6-6

श्रीवाग्भटविरचितम्

अष्टांगहृदयम्

सर्वांगसुन्दरी व्याख्या विभूषितम्

श्री लालचन्द्र वैद्यः

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : पटना : वाराणसी

अष्टांगहृदयम्

ॐ

श्रीवाग्भटविरचितम्

अष्टांगहृदयम्

सर्वांगसुन्दरी व्याख्या विभूषितम्

व्याख्याकारः

श्री लालचन्द्र वैद्यः

प्राध्यापकः, झांसी आयुर्वेदिक विश्वविद्यालय, झांसी

(भू. पू. प्रधानाचार्य—अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, वाराणसी)

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

© मोतीलाल बनारसीदास
भारतीय संस्कृति ग्रन्थमाला के प्रमुख प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता
प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना-४ (बिहार)

•

प्रथम संस्करण : वाराणसी, १९६३
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९७७

मूल्य : रु० ४५.०० (अजिल्द)
० ५५.०० (सजिल्द)

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये
रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५,
फेस-१, इंडस्ट्रियल एरिया, नारायणा, नई दिल्ली-२८ द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

ईश्वर का धन्यवाद है कि आज हम इस "अष्टाङ्गहृदय" नामक ग्रन्थ को प्रसन्न हृदय से सहृदय पाठकों के पठनार्थ "सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या" से विभूषित करके उपहृत करने में समर्थ हो रहे हैं।

इस व्याख्या का शुभारम्भ विश्वविख्यात "मोतीलाल बनारसी दास" फर्म के अध्यक्ष, श्री सुन्दरलालजी की प्रेरणा से और उपाध्यक्ष श्री शान्तिलालजी के प्रोत्साहन से ईस्वी सन् १९५९ में किया गया था। यह व्याख्या वस्तुतः सर्वाङ्ग सुन्दरी है अथवा नहीं इसका निर्णय क्षीरनीर-विवेचक विद्वान् पाठक ही करेंगे। हमारा अनुरोध है कि व्याख्या की अपेक्षा इसके वक्तव्यों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय क्योंकि उनमें विषय को स्पष्ट करने के लिये विशेष प्रयत्न किया गया है।

अष्टाङ्ग हृदय—यह ग्रन्थ "यथानाम तथागुणः" लोकोक्ति के अनुसार आयुर्वेद के कायचिकित्सा आदि आठों अङ्गों का हृदय—सारभूत है तथा आयुर्वेद की चेतना का स्थान है जैसे शरीर में हृदय नामक अवयव। ग्रन्थकार के शब्दों में—हृदयमिव हृदयमेतत् सर्वाऽऽयुर्वेदवाङ्मयपयोधेः ॥ ८९ ॥ उ. अ. ४०। फलतः इस ग्रन्थ को चरक सुश्रुत के समान ही सम्मान प्राप्त हुआ है।

निर्माण काल—इस ग्रन्थ के निर्माण काल के सन् सम्वत् का इस ग्रन्थ में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है। प्राचीन लेखक स्यात् इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं समझते थे, क्योंकि चरक एवं सुश्रुत आदि प्राचीन तथा शार्ङ्गधर एवं भावप्रकाश आदि मध्य कालीन किसी ग्रन्थ में 'लेखन काल' का उल्लेख नहीं किया गया है। उनका विचार रहा होगा कि यदि साहित्य उत्तम होगा तो अपने बल पर अमर रहेगा।

ग्रन्थकर्त्ता—इस ग्रन्थ का नाम यद्यपि "अष्टाङ्गहृदय" है परन्तु गुणग्राहक पाठक ग्रन्थकर्त्ता के नामस्मरणार्थ इसे "वाग्भट" कहते आए हैं और कहते जा रहे हैं, जैसे कि रोगविनिश्चय को माधवनिदान एवं वैद्यजीवन को लोलिम्बराज कहा जाता है। इसके रचयिता वास्तव में वाग्भट—वाणी के भट—शूर थे।

वंश—श्रीवाग्भटाचार्य श्रीसिंहगुप्त के पुत्र थे और इनके पितामह का नाम भी वाग्भट था। जैसा कि इस ग्रन्थ के पूर्व स्वरचित अष्टाङ्गसंग्रह नामक ग्रन्थ के उत्तर अ. ५० में इन्होंने स्वयं लिखा है—

भिषग्वरो वाग्भट इत्यभूत् मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य।
सुतोऽभवत् तस्य च सिंहगुप्तः तस्याऽप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा॥

इसके अतिरिक्त अधिक वंशावली निवास नगर एवं जाति आदि का कुछ भी उल्लेख इन्होंने नहीं किया है।

गुरु—इनके गुरु का नाम "अवलोकित" था परन्तु इन्होंने अपने पिता से भी आयुर्वेद की प्रतिभा प्राप्त की थी जैसा कि अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर अ. ५० में स्वयं लिखा है—

समधिगम्य गुरोः अवलोकितात् गुरुतरात् च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोकनात् सुविहितोऽङ्ग विभागविनिर्णयः॥

इन के पिताजी उक्त गुरुजी से भी गुरुतर अर्थात् अधिक प्रतिभाशाली—अनुभवी थे। और उन्होंने बहुत से चिकित्सा शास्त्रों का अवलोकन—अनुशीलन किया था।

देश—इन्होंने उल्लिखित श्लोक में "सिन्धुषु लब्धजन्मा" कह कर अपना देश सिन्धु बतलाया है परन्तु सिन्धु का वर्तमान तथाकथित सिन्ध देश की सीमा उस समय कहाँ तक थी पता नहीं, क्योंकि देशों की सीमायें समय २ पर परिवर्तित होती रहती हैं जैसे आज के भारत की सीमा सन् १९४७ के पूर्व के भारत जैसी नहीं है

और कभी तो बर्मा एवं लङ्का आदि भी भारत की सीमा में थे। एक बात और है वह यह कि—भाषा भेद से सिन्धु शब्द का उच्चारण "हिन्दु" समझा जाता है सम्भव है इसका अर्थ हिन्दु हो या हिन्दुस्थान (हिन्दुस्तान) हो। जो कुछ हो, हमें इस पर कोई आग्रह नहीं है सिन्धुषु—देश के लिये बहुवचन का प्रयोग होता ही है यथा—

काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥ ३० ॥ सु. चि. अ. २१ ।

मत—श्रीवाग्भट भले ही बौद्ध मतावलम्बी थे तथापि विषैली साम्प्रदायिकता के तीव्र विष से अभिभूत नहीं थे क्योंकि इन्होंने दूसरों को भी—अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥ ३० ॥ (सू. अ. ४) का उपदेश दिया है और यत्र तत्र वैदिक विधि—विधानों का विधान किया है तथा शंख, द्विज एवं वेदाध्ययन ध्वनि को यात्रा में शुभ माना है (दे. शा. अ. ६ में शुभशकुन)। हमारा विश्वास है कि ये शाक्यसिंह नामक भगवान् बुद्ध से पूर्व के बौद्धमत के अनुयायी थे। और शाक्यसिंह बौद्धमत के प्रचारक थे प्रवर्त्तक नहीं ।

व्यक्तित्व—इन्हों ने अपने विचार बड़ी निर्भीकता से व्यक्त किये हैं जो कि उ. अ. ४० के ८३ से ८८ वें श्लोकों में दिखाई पड़ते हैं। ये उदार विचार के व्यक्ति थे क्योंकि इन्होंने तत्कालीन सभी मान्यताओं का समादर किया है।

पाण्डित्य—श्रीवाग्भट सुरसरस्वती संस्कृत भाषा, छन्दः शास्त्र एवं अलङ्कारशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और गागर में सागर भरने की भी क्षमता रखते थे जिसका इस ग्रन्थ में स्थान २ पर प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

कवित्व शक्ति—ये कोरे आयुर्वेदज्ञ ही नहीं थे अपितु सरस साहित्यक कवि गद्य एवं पद्य दोनों प्रकार की साहित्य रचना करने में कुशल थे : इस लिये इन को अष्टाङ्ग संग्रह जैसा चम्पू काव्य लिखने में अभूतपूर्व सफलता मिली थी। गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। तथा—गद्यपद्यात्मकं काव्यं "चम्पू" इति अभिधीयते।

इन्होंने गर्भोत्पत्ति का स्वाभाविक वर्णन किया है, प्रकृति, पुरुष, षड्धातुज अथवा चतुर्विंशति राशि पुरुष आदि दार्शनिक विषयों को नहीं उठाया है स्यात् इसलिये कि जितने भी दार्शनिक वाद हैं वे सब विवादग्रस्त हैं।

आत्मा या चेतना धातु के लिये श्रीवाग्भट ने "सत्त्व" शब्द का प्रयोग किया है जैसा कि बौद्ध दर्शन एवं जातक आदि बौद्ध साहित्य में बोधिसत्त्व नाम से किया गया है। दे. शा. अ. १ प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्लोक।

स्वस्थ के स्वास्थ्य रक्षण एव आतुर के विकार प्रशमन नामक आयुर्वेदीय प्रयोजन को ध्यान में रख कर यह ग्रन्थ लिखा गया है अतः इन्हीं दो विषयों पर अधिक बल दिया है।

अष्टाङ्गहृदय एवं अष्टाङ्गसंग्रह में लशुन रसायन का वर्णन एवं उसके आगे पलाण्डु का वर्णन देख कर और—पलाण्डु के वर्णन में "रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्" और—"यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारात् इव निर्मितानाम्। कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव।" इत्यादि स्थान स्थान पर साहित्यक कवित्वमयी रचना देख कर जो अनुमान लगाया जाता है कि "शकों का आगमन या आक्रमण ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ था और उसके पश्चात् इस ग्रन्थ की रचना होनी चाहिये" युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि—इससे पूर्व भी शकों का आगमन कोई अवरुद्ध नहीं था, वे सदा से भारत में आते जाते रहे हैं क्योंकि च. चि. अ. ३० में उनका संकेत पाया जाता है यथा—

वाह्लीकाः पल्लवाः चीनाः शूलीका यवनाः शकाः ॥३१६॥ और लशुन एवं पलाण्डु का वर्णन च. सू. अ. २७ के हरितवर्ग में तथा सु. सू. अ. ४६ में भी आया है और इन दोनों को म्लेच्छ कन्द तथा यवनेष्ट कहा गया है और धर्मशास्त्रों में इनके भक्षण का निषेध भी पाया जाता है तो क्या इन सब ग्रन्थों की रचना ईसा की दूसरी शताब्दी के पश्चात् मान ली जाय ? पाठक स्वयं विचार करें कि इन ऐतिहासिकों की अटकलें कहाँ तक विश्वसनीय हैं।

यूरोपीय विद्वानों का दृष्टिकोण—ये सब प्रायः हमारे वेद, उपनिषद्, पुराण एवं काव्य आदि साहित्य की रचना काल ईसा की १-२-३-४ शताब्दी पूर्व अथवा पश्चात् ही मानते हैं या अपनी अटकलों द्वारा

सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और अधिकांश आधुनिक भारतीय विद्वान् भी उन्हीं के गतानुगतिक बन कर मानसिक दासता का परिचय दे रहे हैं किन्तु यह भी सत्य है कि वे तथा ये किसी ऐतिहासिक तथ्य में एक मत नहीं हैं। जैसे—आज पाठ्यपुस्तकों, समाचार पत्रों तथा आकाश वाणी द्वारा लिखा, पढ़ा तथा कहा सुना जाता है कि आलू नामक कन्द २-३ सौ वर्ष पूर्व भारत में अमेरिका से आया है परन्तु—च सू. अ. २७ में इसका वर्णन पाया जाता है यथा—तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात् कन्दत्वात् च मुखप्रियम् ॥ १२३ ॥ पिण्ड-आलुक पिण्डाकार गोल आलु और वह आज के समान उस समय भी मुखप्रिय था। यद्यपि वह त्रिदोष कारक एवं बद्धविण्मूत्र है अतएव उसमें सर्वाधिक स्नेह, मिरच मसाले एवं खटाई का प्रयोग किया जाता है और यही नहीं सु. सू, अ. ४६ के २९८ वें पाठ में पिण्डालु, मध्वालु (शकरकन्द), हस्त्यालु (स्यात् वण्डा), काष्ठालु (कचालू—कड़ा आलू जो शीघ्र नहीं पकता), शंखालु तथा रक्तालु (रतालू) नामक अनेक कन्दों का वर्णन है तो क्या चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता को २-४ सौ वर्ष के इधर का मानलिया जाय। सम्भव है इस प्रकार के ऐतिहासिक तथा कथित विद्वान् कुछ शताब्दियों या सहस्राब्दियों के पश्चात् इन प्राचीन ग्रन्थों को १६-१७ वीं शताब्दी के पश्चात् का लिखा हुआ मानने लगें क्योंकि इनमें आलू का वर्णन है (अमेरिका की खोज भले ही कोलम्बस् ने की हो परन्तु भारतीय मानव उससे पूर्व भी अमेरिका से परिचित था)। और सुनिये—सर्पगन्धा (धवल बरुआ) के प्रयोग को कुछ लेखक आज का आविष्कार कहने में संकोच नहीं करते परन्तु उन्माद में उसका प्रयोग न जाने कब से होता आया है हमने स्वयम् दिल्ली के उद्योगपति सर श्री राय के पुरोहित या गुरु काशी निवासी श्री जगदीश जी वैद्य (लाहौरी टोला) के यहाँ वि. सं. १८७७-८० के पत्र जो कि पटियाला एवं वठिण्डा (पञ्जाब) से इस दवा को मँगाने के लिये लिखे गये थे सन् १९२४-२५ में देखे थे और सर्पगन्धा का स्पष्ट एवं नामोल्लेख पूर्वक वर्णन सु. क. अ. ५ के ८४ वें श्लोक में आया है। परन्तु उन्माद नाश एवं निद्राजनन के लिये उसका प्रयोग इधर के भारतीय चिकित्सकों का नूतन आविष्कार था भले ही विज्ञापन बाजी के ढोल न बजाए गये हों—यह था मूकतपस्या काल। और शुद्धोदन एवं माया देवी के पुत्र तथा गौतम ऋषि के शिष्य शाक्यमुनि या शाक्यसिंह नामक बुद्ध आज से २५ सौ वर्ष पूर्व जन्मे थे जिनके द्वारा बौद्ध सम्प्रदाय का अधिक प्रचार हुआ था परन्तु इस से भी पूर्व बौद्ध मत प्रचलित था जिसके प्रवर्त्तक सर्वज्ञ, सुगत, बुद्ध, धर्मराज, तथागत, अर्हत् और शास्ता कहे जाते थे (दे. अमर कोश) हमारे विचार से—इन्हीं को श्री वाग्भटाचार्य ने "बुद्धाय तस्मै नमः" कह कर आदि में नमस्कार किया है और अ. सं. सू. अ. ३ में—

शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वशय्यां चाऽथ संविशेत् ॥ १२० ॥

कह कर उन्हीं का स्मरण करके रात्रि में सोने को कहा है। और फिर श्री शाक्यसिंह तो स्वयं "बुद्धं शरणं गच्छामि—धर्मं शरणं गच्छामि" का उपदेश दिया करते थे। अतः विश्वास किया जा सकताहै कि यह ग्रन्थ २५०० वर्ष से भी पूर्व लिखा गया होगा।

इत्सिंग नामक चीनी यात्री ईसा की सातवीं शताब्दी में भारत आया था उसने भारत में अष्टाङ्ग संग्रह के पठन पाठन का उल्लेख किया है इसके अनुसार वाग्भट का समय १-२ शताब्दी पूर्व मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उस समय जबकि लेखन एवं प्रकाशन की आज की सी सुविधा नहीं थी १-२ शताब्दी में किसी पुस्तक का भारत जैसे विशाल देशमें उल्लेखनीय प्रचार नहीं हो सकता था और यदि इत्सिंग का ध्यान इस ओर गया तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि इस ग्रंथ का निर्माण इत्सिंग की यात्रा से १-२ शताब्दी पूर्व ही मान लिया जाय।

जो कुछ भी हो यह बहुत पुरानी कथा है इसके सम्बन्ध में जैसे अन्य व्यक्तियों ने अपने २ विचार व्यक्त किये हैं वैसे ही हमने भी अपने विचार व्यक्त कर दिये हैं। अपने विचारों के लिये हमें कोई आग्रह भी नहीं है और यह भी एक सचाई है कि—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्" के अनुसार नूतन-पुरातनता कोई अर्थ नहीं रखती। जो साहित्य साधु होता है वह आदर पाता है और चिर स्थायी भी होता है वह नूतन हो अथवा पुरातन। इत्यलमतिविस्तरेण।

धन्यवाद—

झांसी आयुर्वेद विश्वविद्यालय के संस्थापक एवं उत्तर प्रदेशीय विधान परिषद् के वर्तमान अध्यक्ष महामहिम श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर जी का हार्दिक धन्यवाद है जिनकी छत्र छाया में रहकर इस महान् ग्रन्थ की व्याख्या के गुरुतर कार्य का सम्पादन कर सका हूँ।

कृतज्ञता प्रकाशन—

जिन ग्रन्थकारों, टीकाकारों एवं परामर्श दाताओं से इस कार्य में सहायता प्राप्त हुई है उन सबका कृतज्ञ हूँ।

क्षमा याचना—

विद्वत्समाज भली भांति समझता है कि चरक, सुश्रुत एवं अन्यान्य संहिताओं से और स्वयं श्री वाग्भट विरचित अष्टाङ्ग संग्रह आदि संग्रह ग्रन्थ से भी यह अष्टाङ्ग हृदय नामक ग्रन्थ अत्यन्त कठिन एवं क्लिष्ट है अतः इस की व्याख्या में जो कुछ भी मानवसुलभ भूलें हुई हों उनको गुणग्राहक पाठक क्षमा करें और सुधारने का कष्ट करें। क्योंकि—"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तो भवन्तः।" केवल अच्छाइयों पर ध्यान दें।

यदि इस कृति से किसी को कुछ भी प्रबोध एवं सन्तोष की प्राप्ति होगी तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझ लूंगा और मेरी यह कामना भी सफल हो—

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।

तथा—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिः यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः
व्यशेमहि देव हितं यदायुः।

शुद्ध आश्विन शुक्ल
विजया दशमी
सं० २०२०

विदुषां विधेयः—
लालचन्द्रो वैद्यः
झांसी आयुर्वेद विश्वविद्यालय
झांसी

❀ श्रीः ❀

विषय-सूची ।

सूत्रस्थान

विषय	पृष्ठ
आयुष्कामीय पहला अध्याय—	
मंगलाचरण	१
आयुर्वेद का प्रयोजन	२
आयुर्वेदावतरण	३
आयुर्वेद के आठ अंग	,,
दोषों का वर्णन	,,
दोषों के मुख्य स्थान एवं प्रकोप का काल	४
दोषों का अग्नि एवं कोष्ठ पर प्रभाव	,,
दोषों से गर्भ की प्रकृति का वर्णन	,,
दोषों के गुण, संसर्ग तथा सन्निपात	५
धातु तथा मल का वर्णन	,,
दोष धातु तथा मलों की वृद्धि एवं क्षय	,,
रसों का वर्णन एवं उनका वातादि पर प्रभाव	,,
द्रव्य वीर्य विपाक तथा गुणों का वर्णन	६
रोग एवं आरोग्य के कारण	,,
रोग, आरोग्य, रोगभेद, रोगाधिष्ठान तथा मनोदोष	७
रोगी एवं रोग की परीक्षा	,,
देश के भेदों का वर्णन	८
काल एवं औषध के भेद	,,
शारीर एवं मानसिक दोषों की परमौषधि	,,
चिकित्सा के चारपाद	९
साध्यासाध्य विवेक	,,
त्याज्यरोगी	१०
अध्यायों एवं स्थानों का विवरण	,,
दिनचर्या दूसरा अध्याय—	
जागरणमलोत्सर्जन एवं दन्तधावन	१२
अञ्जन	,,
नस्य एवं गण्डूष आदि का संकेत	१३
ताम्बूलसेवन	,,
अभ्यङ्ग का वर्णन	,,
व्यायाम एवं मर्दन का वर्णन	,,

विषय	पृष्ठ
उबटन	१४
स्नान	,,
भोजन आदि आचरण	,,
सुख का हेतु धर्म	१५
सद्वृत्त (धर्म) का वर्णन	,,
अन्यान्य सदुपदेश	१७
सदाचार सूत्र	१८
विचारशीलता	,,
उपसंहार	,,
ऋतुचर्या तीसरा अध्याय—	
६ ऋतु तथा उनके मास	१८
उत्तरायण एवं दक्षिणायन	१९
हेमन्त एवं शिशिर की चर्या	२०
वसन्त ऋतुचर्या	२१
ग्रीष्म ,,	२२
शरद् ,,	२३
ऋतुचर्या सूत्र	२४
ऋतुचर्या का संकेत	,,
रोगानुत्पादनीय चौथा अध्याय—	
वेग न रोकने का उपदेश	२५
अपानवायु रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा	,,
पुरीष, मूत्र एवं उद्गार का वेग रोकने से हानि तथा उसकी चिकित्सा	,,
छींक रोकने से हानि व उसकी चिकित्सा	२६
तृषा रोध से ,, ,,	,,
क्षुधारोध से ,, ,,	,,
निद्रारोध से ,, ,,	,,
कासरोध से ,, ,,	,,
श्रमश्वासरोध से ,, ,,	२७
जृम्भारोध से ,, ,,	,,

विषय	पृष्ठ
अश्रुरोध से हानि व उसकी चिकित्सा	२७
छर्दि रोध से ,, ,,	,,
शुक्रवेगरोध से ,, ,,	,,
वेगरोधी का असाध्य लक्षण	२८
उपसंहार	,,
रोकने योग्य वेग	,,
शोधन की आवश्यकता	,,
शोधनोत्तर रसायनादि सेवन	२९
,, उपचार	,,
आगन्तु रोगों का वर्णन	,,
निज एवं आगन्तु रोगों का निरोध एवं शमन	,,
शोधन योग्य ऋतु	३०
निरोग रहने के उपाय	,,
द्रवद्रव्यविज्ञानीय पाँचवां अध्याय—	
गङ्गाजल का वर्णन	३०
गाङ्ग एवं सामुद्र जल का वर्णन	,,
पीने योग्य जल	३१
न पीने योग्य जल	,,
न पीने योग्य अन्यजल	,,
नदियों के जल का वर्णन	३२
कूप आदि के जल का वर्णन	,,
जलपान की विधि	,,
शीतल जल	३३
उष्ण जल	,,
शृतशीत एवं वासी जल	,,
नारियलका जल	,,
वर एवं अवर जल	,,
दुग्धमात्र एवं गोदुग्ध	३४
भैंसका दुग्ध	,,
बकरीका ,,	,,
ऊंटनीका ,,	,,
मानुषी, भेड़ी, हस्तिनी, घोड़ी, गधीका दुग्ध	,,
दूध के अन्यगुण	,,
दधिका वर्णन	,,
तक्रका ,,	३५
मस्तुका ,,	,,
नवनीतका ,,	,,
घृतका ,,	३६
किलाट एवं पीयूषका वर्णन	,,
ईखके रसका ,,	,,
फाणित आदिका वर्णन	३७
मधुका ,,	,,
तैलवसा एवं मज्जाका ,,	३८
मद्यका ,,	३९
नूतन एवं पुरातन मद्य	,,
मद्यका निषेध	,,
भिन्न सुराओंका वर्णन	,,
अरिष्टका ,,	,,
अन्यान्यमद्योंका ,,	४०
सीधुका ,,	,,
मध्वासव एवं शुक्तका ,,	,,
गुड आदिके शुक्तका ,,	,,
शाण्डाकी आदिका ,,	,,
मूत्रका ,,	४१
उपसंहार	४२
अन्नस्वरूपविज्ञानीय छठा अध्याय—	
शूकधान्योंका वर्णन	४२
व्रीहि ,, ,,	४३
तृण ,, ,,	,,
धान्योंका विशिष्ट ,,	,,
शिम्बी धान्योंका सामान्य वर्णन	४४
,, ,, विशिष्ट ,,	,,
कुलथीका ,,	,,
सेमका ,,	,,
माषका ,,	,,
काकोण्डोला तथा किवांच ,,	,,
तिलका ,,	,,
अतसीतथा कुसुम्भबीज ,,	,,
विवेचन	४५
अन्यविवेचन	,,
कृतान्नों का वर्णन	,,
ओदनका ,,	,,
मांसरस आदिका निर्देश	४६
तिलपिण्याक आदिका वर्णन	,,
रसाला ,, ,,	,,
यूप, लाजा एवं पृथुकका ,,	,,
धाना तथा सत्तूका ,,	,,
पिण्याक एवं वेसवारका ,,	४७
अपूपोंका ,,	,,
मांसवर्गका ,,	,,

विषय	पृष्ठ
बकरी एवं भेड़का वर्णन	४८
भिन्न भिन्न मांसोंका ,,	,,
बकरा एवं भेड़के मांसका ,,	४९
गौ आदिके ,, ,,	,,
मत्स्य ,, ,,	,,
भक्ष्य एवं अभक्ष्य ,, ,,	,,
अवयवविशेषके ,, ,,	,,
शाकोंका ,,	५०
मकोय आदिक शाकका ,,	,,
पटोल आदिके ,, ,,	५१
परवल आदिशाकों का विशिष्ट वर्णन	,,
करीर आदि ,,	,,
विदारी कन्द एवं जीवन्ती	,,
कूष्माण्ड आदिका वर्णन	५२
शीर्ण वृन्त ,, ,,	,,
मृणाल आदिका ,,	,,
कलम्ब आदिका ,,	,,
अन्यान्य शाक ,,	,,
करञ्ज आदिका शाक	५३
मूलीका ,,	,,
पिण्डालु आदिका ,,	,,
सुरसा ,, ,,	५४
लशुनका वर्णन	,,
पलाण्डुका ,,	,,
गृंजन और सूरणका ,,	,,
शाकोंका विवेचन	,,
फलवर्ग	,,
अनारका वर्णन	५५
केला आदिका ,,	,,
ताल आदिका ,,	,,
बिल्वफलका ,,	,,
जामुनफलका ,,	,,
आमआदि फलोंका ,,	५६
मातुलुङ्ग का ,,	,,
भिलावा का ,,	,,
पारेवत आदिका ,,	,,
[illegible] आदिका ,,	,,
त्याज्य धान्य, शाक एवं फल	५७
लवणों का वर्णन	,,
जैखार आदि क्षारोंका ,,	५८

विषय	पृष्ठ
हिंगुका वर्णन	५८
हरड़ बहेड़ा तथा आमलाका वर्णन	,,
त्रिजात एवं चतुर्जातका ,,	५९
मरिच, पीपल, सोंठ, त्रिकुट ,,	,,
चव्य, पीपलामूल, चित्त, पंचकोल का वर्णन	,,
पांच पंचमूलों का	,,
उपसंहार	६०
अन्नरक्षा सातवां अध्याय—	
राजाको वैद्यकी आवश्यकता	६०
राजाकी आवश्यकता	,,
विषयुक्त भातका लक्षण	६१
,, व्यंजनका ,,	,,
विषमिश्रित मांसरस आदिके लक्षण	,,
विषदाताके लक्षण	,,
विषमिश्रित अन्नकी अग्निमें परीक्षा	६२
,, ,, अन्नकामक्षिका आदि पर प्रभाव	,,
स्पर्श आदिसे विषका प्रभाव	,,
मुखमें विषका प्रभाव	६३
आमाशयपर ,, ,,	,,
ताम्र भस्म एवं स्वर्णका प्रयोग	,,
विरोधी आहारों का वर्णन	,,
विरुद्ध आहारका सामान्य लक्षण	६५
विरोधी आहार से हानि	,,
पथ्यापथ्य के सेवन एवं त्याग की विधि	,,
उक्तविधिका फल	,,
तीन उपस्तम्भ	६६
आहार नामक उपस्तम्भ	,,
निद्रा ,, ,,	,,
निद्राविषयक अन्यान्य विचार	६७
निद्राके भेद	६८
ब्रह्मचर्य नामक उपस्तम्भ	,,
ग्राम्य धर्मका वर्णन	,,
मैथुनमें अन्य विचार	६९
मैथुन विषयक अन्यविचार	,,
संयमका महत्व	७०
मैथुनोत्तर कर्तव्य	,,
राजा या मानवका कर्तव्य	,,
मात्राशितीय आठवां अध्याय —	
आहारमात्राका वर्णन	७१
हीनमात्र एवं अतिमात्र आहार से हानि	,,

विषय	पृष्ठ
विसूचिका एवं अलसक	७२
अलसक एवं विसूचिका में भेद	”
विसूचिकामें दोषबल लक्षण	”
अलसक एवं दण्डालसक का वर्णन	”
आमविष का वर्णन	७३
अन्यान्य उपचार	”
आमादि अजीर्णोंका वर्णन	७४
आमाजीर्ण आदिकी चिकित्सा	”
विलम्बिका का वर्णन	”
रसशेषाजीर्ण की चिकित्सा	”
अजीर्ण का सामान्य लक्षण	७५
अजीर्णके अन्यान्य कारण	”
समशन आदिके लक्षण	”
उचित भोजनकी विधि	”
त्याज्यभोजन	७६
भोजन के अयोग्य आहार	”
भोजन योग्य आहार	”
अन्यपदार्थ खानेकी व्यवस्था	”
आमाशय के चार भाग	”
भिन्न-भिन्न अनुपान	७७
प्रशस्त अनुपान	”
अनुपानका फल	”
” निषेध	”
” त्याग	”
आहार का समय	७८
द्रव्यादिविज्ञानीय नवां अध्याय—	
द्रव्य की प्रधानता	७८
द्रव्यका स्वरूप, उत्पत्ति, विशेषता	”
रसों की उत्पत्ति	”
द्रव्यगत गुरु आदि गुण	७९
पार्थिव आदि द्रव्योंका वर्णन	”
द्रव्य के वामकत्व आदि भेद	”
उपसंहार	”
द्रव्यगत वीर्यका वर्णन	८०
वीर्यके विशिष्ट लक्षण	”
विपाकका वर्णन	”
स्वाभाविक बल	८१
प्रभावका वर्णन	”
उपसंहार	”

विषय	पृष्ठ
रसभेदीय दसवाँ अध्याय—	
मधुर आदि रसोंकी उत्पत्ति का कारण	८२
मधुर आदि रसोंके लक्षण	”
मधुररसके कर्म	”
अम्लरसके कर्म	८३
लवणरसके कर्म	”
तिक्तरस ”	”
कटुरस ”	”
कषायरसके कर्म	८४
मधुर स्कन्ध	”
अम्लस्कन्ध	”
लवणस्कन्ध	”
तिक्तस्कन्ध	८५
कटुस्कन्ध	”
कषायस्कन्ध	”
रसोंके विशिष्ट विवेचन	”
रसों के द्विविध वीर्य	”
रसोंके रूक्ष एवं स्निग्ध गुण	”
रसोंके गुरु एवं लघु गुण	८६
रसोंके ६३ भेद	”
उपसंहार	८७
६ पंचक योग	”
पृथक् पृथक् ६ रस	
१५ चतुष्कयोग	”
१५ द्विकयोग	”
२० त्रिकयोग	८८
१ षडास्वादयोग	”
असद्रूप योग	”
दोषादिविज्ञानीय ग्यारहवाँ अध्याय—	
प्रकृतिस्थ दोषोंके कर्म	८९
रस आदि धातुओंके कर्म	”
पुरीषादि मलोंके मुख्य कर्म	”
वायु आदि दोषोंकी वृद्धिके लक्षण	९०
रसादि धातुओंकी वृद्धिके लक्षण	”
पुरीषादिमलोंकी ”	”
वातादि दोषोंके लक्षण	९१
रसादि धातुओंके क्षयके लक्षण	”
पुरीषादि मलोंके ” ”	”
कर्णमल आदिके ” ”	”

विषय	पृष्ठ
वृद्धि एवं क्षयका संकेत	९२
मलोंका महत्त्व	”
वायु आदिके विविध स्थान	”
रक्तादिकी वृद्धिकी चिकित्सा	”
मलोंके वृद्धिक्षय की ”	९३
धातुओंके वृद्धिक्षयका अन्यकारण	”
धातुमल एवं स्रोतोंकी दुष्टि	९४
ओजस् का वर्णन	”
ओजःक्षयकी चिकित्सा	९५
वृद्धिक्षयका चिकित्सा सूत्र	”
द्वेष एवं प्रार्थनाका कारण	९६
अवस्थानुसार दोषों का कर्म	”
दोषोंको सम रखनेका उपदेश	”
दोषभेदीय बारहवाँ अध्याय—	
वायुके मुख्य स्थान	९६
पित्तके ”	९७
कफके ”	”
वायु के ५भेद तथा प्राणवायु	”
उदानवायुका वर्णन	”
व्यानवायुका ”	”
समानवायुका ”	९८
अपानवायुका ”	”
पित्तका ”	”
पाचकपित्तका ”	”
रञ्जक पित्तका ”	”
भ्राजक पित्तका ”	९९
साधक पित्तका ”	”
आलोचक पित्तका ”	”
कफका ”	”
अवलम्बक कफ	१००
क्लेदक कफ	”
बोधक कफ	”
तर्पक कफ	”
श्लेषक कफ	”
उपसंहार	”
वायुके चय कोप एवं शम का वर्णन	”
पित्तके ” ” ”	”
कफके ” ” ” ”	”
चय एवं कोपका वर्णन	१०१
कालस्वभाव से चयादि का वर्णन	”

विषय	पृष्ठ
दोषोंके चयादिका विविध वर्णन	१०१
दोषोंकी व्याप्ति एवं निवृत्ति	”
सामान्य निदान रूप एवं चिकित्सा	१०२
सामान्य निदान	”
हीनयोगादि , काल एवं कर्म का वर्णन	”
उपसंहार एवं त्रिविध रोगमार्ग	१०३
बाह्य रोगमार्ग का वर्णन	१०४
आभ्यन्तर ” ”	”
मध्यम ” ”	”
वातपित्त एवं कफ के कर्म	”
चिकित्सकका कर्तव्य	१०५
अभ्यासका फल	”
रोगोंके भेद तथा क्षय	”
विविधभेदसे रोगोंके दो प्रकार	”
इनकी चिकित्साका संकेत	१०६
सभी विकारोंका नाम निर्देश	”
दूष्यादि जानने की आवश्यकता	”
रोग की गुरु-लघुता का विवेचन	”
इस भूलका कुफल	१०७
चिकित्सकका कर्त्तव्य	”
दोष भेदोंका वर्णन	”
दोषोंके असंख्य भेद	१०८
दोषोपक्रमणीय तेरहवाँ अध्याय—	
वातदोषके उपक्रम	१०९
पित्त ” ”	”
श्लेष्म” ”	”
उपसंहार	११०
चिकित्सा संकेत	”
उपक्रमकाल	”
शुद्धप्रयोग का वर्णन	”
दोषों का स्थानान्तर गमन	”
पुनः रोगोत्पादन	”
अन्याश्रयमें दोषों का कोप	”
इस दशामें चिकित्सानिर्देश	१११
तिर्यक् गामी दोषकी चिकित्सा	”
साम एवं निराम दोष का लक्षण	”
आमका वर्णन	”
आमविषयक मतान्तर	”
सामदोष एवं सामरोग	”
सामदोषोंकी चिकित्सा	११२

विषय	पृष्ठ
आसन्नदोष का निर्हरण	११२
दोषनिर्हरण का निर्देश	"
शोधन का काल एवं आवश्यकता	"
औषध सेवनके १० काल	११३
रोगानुसार औषध सेवन काल	"
द्विविधोपक्रमणीय चौदहवाँ अध्याय--	
उपक्रम के दो भेद	११४
स्नेह आदि का विवेचन	"
अपतर्पण के भेद	"
शमनका लक्षण एवं उसके भेद	"
संतर्पणयोग्य रोगी एवं रोग	११५
अपतर्पण योग्य " "	"
शोधनशमन योग्य " "	"
संतर्पण अपतर्पणका संकेत	११६
" " सम्यग्योग	"
उनके अतियोग यहीनयोग	"
अतिस्थौल्य आदि रोग	"
चिकित्सा	"
व्योषादि योग	११७
अतिकार्श्य आदि रोग	"
स्थौल्य एवं कार्श्य की विशेषता	"
" " " चिकित्सा	"
कृशता की चिकित्सा	११८
स्थौल्य-कार्श्य की अन्य चिकित्सा	"
उपसंहार	"
शोधनादिगणसंग्रह पन्द्रहवाँ अध्याय--	
छर्दन गण	११९
विरेचन गण	"
निरूहण गण	"
शिरोविरेचन गण	"
वातनाशक "	"
पित्तनाशक "	१२०
कफनाशक "	"
जीवनीय "	"
विदार्यादि "	"
सारिवादि "	"
पद्मकादि "	"
परूषकादि "	"
अञ्जनादि "	"
पटोलादि "	१२१
गुडूच्यादि गण	१२१
आरग्वधादि "	"
असनादि "	"
वरुणादि "	"
ऊषकादि "	"
वीरतरादि "	"
रोध्रादि "	१२२
अर्कादि "	"
सुरसादि "	"
मुष्कादि "	"
वत्सकादि "	"
वचादि तथा हरिद्रादि गण	"
प्रियंग्वादि तथा अम्बष्ठादि गण	"
मुस्तादि गण	२३
न्यग्रोधादि "	"
एलादि "	"
श्यामादि "	"
गणद्रव्यग्रहणका संकेत	"
गणों के प्रयोग की विधियाँ	१२४
स्नेहविधि सोलहवाँ अध्याय--	
स्नेहन एवं लक्षणका वर्णन	१२०
चार प्रकारके स्नेह द्रव्य	११५
स्नेहों के मुख्य गुण	"
स्नेह योगोंके पारिभाषिक नाम	"
स्नेहन के योग्य एवं अयोग्य	"
भिन्न भिन्न स्नेहोंके योग्य	"
ऋतु एवं काल भेद से स्नेह सेवन	१२६
स्नेहसेवनके प्रकार	"
स्नेह पाक कालके अनुसार मात्रा	१२७
शोधनार्थ एवं शमनार्थ स्नेह मात्रा	"
बृंहणार्थ स्नेहपान	"
स्नेहका प्रभाव	"
स्नेहोंके अनुपान	१२८
स्नेहपानमें आहार	"
स्नेहपानमें विहार	"
शमन स्नेहपानमें उपचार	"
स्नेहपानकी अवधि	"
सम्यक् स्निग्धके लक्षण	१२९
मिथ्या स्निग्धके "	"
स्नेहव्यापद् में उपचार	"

विषय	पृष्ठ
विरूक्षणका संकेत	१२९
स्नेहन के पश्चात् स्वेदन	"
स्नेहन के पूर्व लक्षण	"
असात्म्य स्नेहका वर्णन	१३०
सद्यः स्नेहनयोग	"
सद्यः स्नेहनयोगोंका निषेध	"
कुष्ठादिके योग्य स्नेह	"
क्षीणोंके योग्य स्नेहन	"
स्नेह सेवनके लाभ	१३१
स्वेदविधि सत्रहवां अध्याय—	
स्वेद के ४ भेद तथा तापस्वेद	१३१
उपनाह स्वेदका वर्णन	१३२
ऊष्म स्वेदका "	"
द्रवस्वेद "	"
स्वेदग्रहण की विधि	१३३
स्थानभेदसे स्वेदभेद	"
स्वेदके सम्यक् योग एवं अतियोग में उपचार	
स्वेदन एवं स्तम्भन का भेद	१३४
स्तम्भनके सम्यक् योग एवं अतियोग के लक्षण	"
स्वेदन के अयोग्य रोगी व रोग	"
स्वेदन के योग्य "	१३५
अनाग्नेय स्वेदका विधान	"
अनाग्नेय स्वेदोंका वर्णन	"
स्वेदनका सुफल	"
वमनविरेचन विधि अठारहवां अध्याय—	
वमनविरेचन एवं वमन के योग्य	१३६
वमनके अयोग्य	"
वमनादि का निषेध	१३७
विरेचनके योग्य एवं अयोग्य	"
वमन देने की विधि	"
वमनका हीनयोग	१३८
वमनके सम्यग्योग अतियोग	"
वमनोत्तर उपचार	१३९
वमनानन्तर स्नान एवं भोजन	"
पेयादि क्रमका वर्णन	"
पेया आदिके सेवन से लाभ	१४०
वमन-विरेचनके वेग तथा परिणाम	"
वमनके पश्चात् विरेचन प्रयोग	"
कोष्ठ भेदसे विरेचन का वर्णन	१४१
हीनयोग सम्यग्योग तथा अतियोग	"
सम्यक्योगका पश्चात्कर्म	१४२
विरेचनोत्तर अन्य उपचार	"
पेयादिक्रमकी आवश्यकता	"
पेयाका निषेध	"
वमन-विरेचन की प्रतीक्षा	"
स्वयं वमनविरेचन होने पर उपचार	"
मृदुविरेचन का विधान	१४३
अन्य संकेत	"
दुर्बलके दोषों का विचार	"
अग्निवर्धनानन्तर शोधन	"
विरेचन में अन्यान्य विचार	"
स्नेह एवं स्वेदन का बार-बार प्रयोग	१४४
मलोंका उत्क्लेशन	"
स्नेहन स्वेदनकी उपयोगिता	"
संशोधन का सुफल	"
वस्तिविधि १९वां अध्याय—	
वस्तिका वर्णन उससे लाभ	१४५
निरूहणके अयोग्य	"
निरूहण, अनुवासन के योग्य	१४६
वस्तिनेत्रका वर्णन	"
नेत्रकी लम्बाई	"
नेत्रकी स्थूलता तथा छिद्र	"
कर्णिका एवं वस्तिपुटका वर्णन	१४७
उक्तवस्तिके अभावमें अन्य वस्तिपुट	"
निरूहण एवं अनुवासन की मात्रा	"
वस्तिदेनेकी विधि	१४८
वस्तिनेत्रका प्रवेशन करने की विधि	"
वस्तिदान के पश्चात् कर्म	"
स्नेह लौटने पर पथ्य न लौटने पर उपचार	"
अनुवासन वस्तिका पुनः प्रयोग	१४९
अनुवासन के पश्चात् निरूहणप्रयोग	"
निरूहण वस्तिकी विधि	"
वस्तिद्रव तैयार करनेकी विधि	"
पश्चात् कर्म	१५०
निरूहणके सम्यग्योग आदिका संकेत	"
अनुवासन वस्तियों की संख्या आदि का वर्णन	१५१
विधिभेदसे तीन वस्तियां	"
उक्त सब मतोंकी प्रामाणिकता	"
अपवाद मत	१५२
वस्तिकर्म काल तथा योगका वर्णन	"
स्नेहवस्ति व निरूहणवस्तिका साथ साथ प्रयोग	"

विषय	पृष्ठ
मात्रावस्तिका वर्णन	१५२
उत्तरवस्तिका वर्णन	१५३
नेत्र वस्तिपुट तथा मात्राका वर्णन	,,
उत्तर वस्ति देनेकी विधि	१५४
,, की संख्या एवं संकेत	,,
स्त्रियों की उत्तरवस्ति	१५५
भग एवं मूत्रमार्गकी नेत्रका परिमाण	,,
स्नेहकी मात्राका निर्देश	,,
नारीको वस्ति देनेकी विधि	,,
वमन आदिका काल निर्देश	,,
वस्तिद्वारा शरीर भरके दोषों का निर्हरण	,,
वस्तिकी प्रशंसा	,,
सिरावेध के समान वस्ति का महत्त्व	,,
नस्यविधि बीसवाँ अध्याय—	
नस्यका वर्णन और उसके भेद	१५६
विरेचन नस्यका प्रयोग	,,
बृंहण ,, ,,	१५७
शमन ,, ,,	,,
नस्यद्रव्यों का संकेत	,,
बृंहणविरेचन नस्य के भेद	,,
नस्यकी मात्रा	,,
नस्यके योग्य तथा नस्य का काल	१५८
स्वस्थके नस्य सेवनका काल	,,
रोगानुसार नस्य एवं उसकी अवधि	,,
नस्य का पूर्व कर्म	१५९
नस्य देने की विधि	,,
मूर्च्छानामक उपद्रवकी शान्ति तथा पश्चात्कर्म	,,
दोनों नस्यों के समयोग, हीनयोग तथा अतियोग	१६०
प्रतिमर्श के योग्य-अयोग्य रोगी एवं काल	,,
प्रतिमर्श नस्य के काल	,,
नस्यकर्म आदिमें वयस् का विचार	१६१
प्रतिमर्श में ,, ,,	,,
तैलकी नस्यका विधान	,,
मर्श-प्रतिमर्श में फल भेद	,,
नस्योपयोगी अणुतैल वर्णन	,,
स्नेहनस्य से लाभ	१६२
धूमपान विधि इक्कीसवाँ अध्याय—	
धूमपानका वर्णन	१६२
धूमके भेद तथा अयोग्य रोग	,,
धूमपान से हानि तथा उसका उपचार	१६३
त्रिविध धूमसेवनके काल	,,
धूमनेत्रका वर्णन	१६४
धूमनेत्रकी लम्बाई	,,
धूमपान करनेकी विधि	,,
नासा एवं मुखसे धूमपान	,,
धूमपान की संख्या तथा मृदुधूम के द्रव्य	,,
मध्य तथा तीक्ष्ण धूमके द्रव्य	१६५
धूमवर्तिका वर्णन	,,
कासघ्न धूमपान विधि	,,
धूमपानके लाभ	,,
गण्डूषादि विधि बाईसवाँ अध्याय—	
गण्डूषके भेद तथा द्रव्य	१६६
गण्डूषके कुछ योग	,,
गण्डूषकी विधि	,,
गण्डूष एवं कवलमें भेद	१६७
कवल धारणसे लाभ	,,
प्रतिसारणका वर्णन	,,
मुखालेपका वर्णन	,,
मुखालेपका निषेध एवं विधान	,,
ऋतुभेदसे मुखालेप के ६ योग	१६८
मुखालेपसे लाभ	,,
मूर्ध तैलका वर्णन	,,
शिरोवस्ति की विधि	१६९
कर्णपूरण का वर्णन	,,
मात्रा काल का ,,	,,
मूर्ध तैलका फल	,,
आश्चोतनाञ्जनविधि तेईसवाँ अध्याय—	
आश्चोतनका वर्णन	१७०
आश्चोतनकी विधि	,,
निषिद्ध आश्चोतन	,,
आश्चोतनका कर्म	,,
अञ्जनका वर्णन	,,
अंजनके भेद	१७१
अंजन लगानेकी शलाका	,,
अंजनोंकी विविध कल्पना	,,
अंजनोंकी मात्रा	,,
अंजनका अकाल एवं काल	१७२
लोह एवं नेत्रकी समानता	,,
तीक्ष्ण अंजन का शीतकाल में निषेध	,,

विषय	पृष्ठ
अंजनके अयोग्य	१७२
निषिद्ध अंजन	१७३
अंजन लगाने की विधि	,,
अंजनोत्तर प्रक्षालन शोधन	,,
प्रक्षालन शोधन न करने से हानि	,,
अंजनानन्तर धूमपान	,,
प्रत्यञ्जन का वर्णन	१७४
तर्पण पुटपाकविधि चौबीसवाँ अध्याय—	
तर्पणका वर्णन	१७४
तर्पणका पश्चात्कर्म	१७५
तर्पणके सम्यग्योग हीनयोग अतियोग	,,
पुटपाकका वर्णन	,,
पुटपाकोंके द्रव्य एवं विधि	,,
तर्पण एवं पुटपाकका निषेध एवं अवधि	१७६
नेत्ररक्षाकी आवश्यकता	,,
यन्त्रविधि–पच्चीसवाँ अध्याय—	
यन्त्रोंका वर्णन	१७६
स्वस्तिक यन्त्रोंका वर्णन	१७७
संदंशक यन्त्र ,,	,,
संदंशके अन्य भेद	,,
तालयन्त्रका वर्णन	१७८
नाडीयन्त्रोंका वर्णन	,,
,, ,, विवरण	,,
शल्यनिर्घातिनी नाडी	,,
अर्शोयन्त्र	,,
शमी एवं भगन्दर यन्त्र	१७९
घ्राणयन्त्र	,,
अंगुलित्राणक यन्त्र	,,
योनिव्रणेक्षण ,,	,,
नाडीव्रणके अभ्यंजन, प्रक्षालनयंत्र	,,
जलोदरका जल निकालने का नाड़ी यंत्र	,,
शृङ्गनाडी यंत्र	१८०
तुम्बी एवं घटीयंत्र	,,
शलाकायंत्र	,,
अश्मरीहरण यंत्र	१८१
प्रमार्जनी शलाका	,,
गर्भशंक्वादि शलाकायंत्र	,,
शलाका, जाम्बवौष्ठ आदिका प्रयोग	,,
अनुयंत्रों का वर्णन	१८२
यंत्रों के २४ कर्म	,,
कंकमुखयंत्र की प्रशंसा	१८२
शस्त्रविधि छब्बीसवाँ अध्याय—	
शस्त्रोंका वर्णन	१८३
शस्त्रोंके आकार व कर्मोंका वर्णन	,,
वृद्धिपत्रके ,, ,,	,,
कुशपत्रक आदिशस्त्रों का ,,	१८४
लिंगनाश, वेधनी, अंगुली शस्त्रका वर्णन	,,
बडिश शस्त्रका वर्णन	१८५
करपत्र ,,	,,
कर्तरी ,,	,,
नखशस्त्र ,,	,,
दन्तलेखन ,,	,,
सूचियोंका ,,	,,
खज शस्त्रका ,,	१८६
यूथिका, आरा, कर्णवेधका वर्णन	,,
अनुशस्त्रोंका ,,	,,
शस्त्रकर्मोंका ,,	,,
शस्त्रोंके दोष ,,	,,
शस्त्रग्रहण विधि	१८७
शस्त्रकोशका वर्णन	,,
जोंकोंका वर्णन	,,
निषिद्धजोंकका वर्णन	१८८
जोंक रखने तथा लगाने की विधि	,,
दूषित रक्तग्रहण का दृष्टान्त	,,
लगाई हुई जोंक छुड़ाने का वर्णन	,,
जोंकका रक्तमद	,,
जोंकोंका पालन	१८९
जोंकका पश्चात्कर्म	,,
रक्तस्रावणका फल व पुनः रक्तस्रावण	,,
अलाबूघटिका एवं शृंगका वर्णन	,,
प्रच्छानका वर्णन	,,
प्रच्छान आदि का विकल्प	१९०
रक्तस्रावण में उपद्रव शान्तिका उपाय	,,
शिराव्यध विधि सत्ताईसवाँ अध्याय—	
रक्तका वर्णन	१९०
रक्तदुष्टि एवं रक्तज रोग	१९१
शिरावेध का वर्णन	,,
रोगविशेष में शिरावेध	,,
शिराबंधन की विधि	१९२

विषय	पृष्ठ
सिरावेधनकी विधि	१९३
नासा एवं जिह्वाकी सिराका वेध	”
ग्रीवा की ”	”
बाहु व पार्श्व की ”	”
मेहन आदि की ”	”
सिरावेधमें क्षतका परिमाण	१९४
सम्यक् वेध आदिका वर्णन	”
रक्त न बहनेके अन्यकारण	”
रक्तस्रावणके उपाय	”
मूर्च्छा नामक उपद्रव	”
दूषित रक्त के लक्षण	१९५
रक्तमें परिमाण आदिका वर्णन	”
अधिक रक्तस्राव का निषेध	”
रक्तशोधनके उपाय	”
रक्तस्तम्भन चिकित्सा	१९६
रक्तस्रावणका पश्चात्कर्म	”
रक्तस्रावणमें पथ्य	”
रक्तशुद्धिका लक्षण	”
शल्याहरण विधि अठाईसवाँ अध्याय—	
शल्यकी गतियोंका वर्णन	१९६
अन्तःशल्यका लक्षण	१९७
विशिष्ट लक्षण	”
शल्यव्रणका रोपण	१९८
अदृश्यशल्य जाननेके उपाय	”
शल्यकी आकृतिका अनुमान	”
शल्य निकालनेका उपाय	”
निर्घातनके अयोग्य शल्य	१९९
शल्य निकालनेकी विधि	”
सिरा आदिके शल्य निकालनेकी विधि	”
अस्थिगत शल्य निकालने के उपाय	२००
शल्य निकालने के अन्य उपाय	”
अन्यान्य उपाय	”
जतु आदि शल्य निकालनेकी विधि	२०१
कण्ठसंलग्न शल्याहरण के उपाय	”
नेत्र एवं व्रण में पड़े शल्यका उद्धरण	”
उदर गत जल एवं कृमि निकालने की विधि	”
कर्णगत जल एवं कृमि निकालनेकी विधि	”
शल्यका शरीरमें विलयन	”
अविलेय शल्य	२०२
शल्य निकालनेके अन्य उपाय	”
शल्य निकालनेका संकेत	”
शस्त्रकर्मविधि उन्तीसवाँ अध्याय—	
व्रण का वर्णन	२०२
आमशोथका लक्षण	२०३
पच्यमानशोथका ”	”
पक्वशोथका ”	”
वातादि के मुख्य ”	”
पाकातिक्रान्तका वर्णन	”
गम्भीरपाकका ”	”
दारण, लेपन एवं पाटन	२०४
आमशोथमें शस्त्रकर्मका निषेध	”
पक्वशोथमें शस्त्रकर्मका विधान	”
अनिश्चितकारी चिकित्सक की निन्दा	”
शस्त्रकर्मका पूर्वकर्म	२०५
शस्त्रकर्मकी विधि	”
शस्त्रकर्ममें प्रशंसनीय	”
तिर्यक् छेदनका विधान	”
शस्त्रकर्मका पश्चात्कर्म	२०६
पट्टी आदिकी शुद्धिका निर्देश	”
व्रणरक्षाका विधान	”
आहार विहारका निर्देश	”
दिवास्वप्न आदिका निषेध	”
व्रणरोगीका आहार	२०७
जीर्ण एवं अजीर्णसे लाभ हानि	”
त्याज्य आहार	”
अन्यान्य उपदेश	”
पुनः प्रक्षालनादि कर्म	”
विकेशिका आदिका वर्णन	२०८
विदग्धव्रणका उपचार	”
सद्योव्रणका उपचार	”
सीवनकर्मका निषेध	”
सीवन कर्मकी विधि	”
सीवनका पश्चात्कर्म	२०९
सीवनके संकेत	”
बन्धनोंका वर्णन	”
बन्धनोके १५ भेद	”
विधिभेदसे बन्धभेद	२१०
बन्धनकी आवश्यकता	”
बन्धनसे लाभ	”
बन्धनसे अन्यान्य लाभ	”
पत्रदान उपक्रम	२११
बन्धनका निषेध	”

विषय	पृष्ठ
व्रणजक्रमियोंका वर्णन	२११
रोपणकर्ममें त्वराका निषेध	”
रोपण होनेपर भी आहारविहार	२१२
भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें संकेत	”
क्षाराग्निकर्मविधि तीसवाँ अध्याय—	
क्षार प्रशंसा	२१२
क्षारका प्रयोग	”
क्षारनिर्माण की विधि	२१३
क्षारके दसगुण	११४
क्षारका सम्यग्योग	”
क्षार लगानेकी विधि	”
क्षारका पश्चात्कर्म	२१५
क्षारदग्ध व्रणका रोपण	२१५
सम्यग्दग्ध आदिके लक्षण	”
गुदवलियोंके अतिदग्धके लक्षण	”
नासा आदिमें ” ”	२१६
क्षारका शमन	”
अग्निकर्मकी विधि	”
अग्निकर्मकी प्रशंसा	”
अग्नि कर्मका विधि-निषेध	”
सुदग्ध आदिका वर्णन	२१७
अग्निदग्धके चार भेद	”
अग्निदग्धोंकी चिकित्सा	”
उपसंहार	२१८

शारीरस्थान

विषय	पृष्ठ
गर्भावक्रान्ति पहला अध्याय—	
गर्भकी उत्पत्तिका वर्णन	२२०
” वृद्धिका ”	”
जीवका गर्भाशय प्रवेश	”
गर्भकी आकृतिका हेतु	”
पुमान् आदि गर्भोंकी उत्पत्तिके कारण	२२१
रजःप्रवृत्ति का वर्णन	”
उत्तम एवं अधम गर्भका वर्णन	”
बीजासमर्थ शुक्र एवं रजस्	”
” ” ” चिकित्सा	२२२
गर्भाधानसमर्थ शुक्र एवं रजस्	”
गर्भाधान का पूर्व क्रम	”
ऋतुमती का लक्षण	”
ऋतुकालमें ही गर्भाधान होगा	२२३
रजःस्वलाका वर्णन	”
रजःस्वलाका कर्तव्य	”
ऋतुस्नाता द्वारा पति का दर्शन	”
ऋतुकाल एवं पुत्रादि की उत्पत्ति	”
पुत्रेष्टिका संकेत	२२४
सन्तान मात्रके लिये सहवास	”
इष्ट सन्तान प्राप्तिके उपाय	”
गर्भाधानकी विधि एवं गृहीतगर्भा के लक्षण	”
पुंसवनका लक्षण	२२५
गर्भवतीके लिये त्याज्य आहार व्यवहार	”
गर्भपर वातादि दोषोंका प्रभाव	२२६
द्वितीय मासमें गर्भका आकार	”
तृतीय ” ” ”	”
चतुर्थ से सप्तम ” ”	२२७
अष्टम मासका वर्णन	”
प्रसव काल	२२८
नवम मासका उपचार	”
पुत्र आदि गर्भका अनुमान	”
सूतिकागृहकी व्यवस्था	”
उपस्थित प्रसवका वर्णन	२२९
प्रसवका वर्णन	”
प्रसवमें विलम्ब होनेपर उपचार	”
अपरा पातनका उपचार	२३०
प्रसूताका उपचार तथा मक्कल शूल	”
वातवृद्धि का निरोध	”
प्रसूता संज्ञा	”
गर्भव्यापद शारीर दूसरा अध्याय—	
गर्भवती के सशक्त रक्तका वर्णन	२३१
रक्तदर्शन की भीषणता	२३२
गर्भपातके अनन्तर का उपचार	”
उपसंहार	”
उपविष्टक गर्भ का वर्णन	”
नागोदर ” ”	”
उपविष्टक नागोदरकी चिकित्सा	”
लीन नामक गर्भका वर्णन	२३३
गर्भवती के उदावर्तकी चिकित्सा	”

विषय	पृष्ठ
मृतगर्भका वर्णन	,,
मृतगर्भका उपचार	,,
मूढगर्भमें शस्त्रचिकित्सा	२२४
मूढगर्भके दारणकी विधि	,,
अवस्था भेदमें दारण कर्म	२३४
उपसंहार	,,
जीवितगर्भके दारणका निषेध	,,
मूढगर्भकी असाध्य अवस्था	,,
,, निकल जानेपर उपचार	,,
अन्यान्य उपचार	२३५
बलातैल निर्माण विधि	,,
गर्भवतीकी मृत्यु पर गर्भरक्षा	२३५
गर्भरक्षकयोग	२३६
गर्भका संदेह	,,
अङ्गविभाग शारीर तीसरा अध्याय—	
अङ्गों तथा प्रत्यङ्गोंका वर्णन	२३७
शरीरमें महाभूतोंके गुण	,,
,, ,, भाग	,,
मातृज आदि भाव	,,
त्वचाओंका वर्णन	२३८
कला आशय तथा कोष्ठाङ्गोंका वर्णन	,,
जीवित के १० मुख्य स्थान	२३९
जाल कण्डरा आदिका वर्णन	,,
मांस पेशियोंका वर्णन	,,
शिराओं का ,,	२४०
,, , विवरण	,,
उपसंहार	२४१
सिराओं के चारभेद	,,
उक्त ४ प्रकार की सिराओंका वर्णन	,,
धमनियोंका वर्णन	२४२
बाहरीस्रोतोंका ,,	,,
भीतरी ,, ,,	,,
,, ,, वर्ण आदि	२४३
स्रोतोंकी दुष्टि के कारण	,,
,, का, लक्षण	,,
स्रोतोंका स्वरूप	,,
स्रोतोवेधका वर्णन	,,
पाचन क्रियाका वर्णन	,,
ग्रहणीका वर्णन	,,
अग्निका ,,	२४४
आहार से रसादि का पोषण	,,
आहार पाककर्म	,,
आहार से कफ आदि की उत्पत्ति एवं	,,
आहार से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति एवं वृद्धि	,,
आहार के दो भाग	२४५
आहार सार से रसादि की उत्पत्ति	,,
आहार किट्ट से मलों की उत्पत्ति	,,
धातुओंकी परम्परा	,,
आहारपाक कालमें भिन्न मत	,,
रसका परिभ्रमण	२४६
उपसंहार	,,
जठराग्निके मन्द आदि अवस्थाभेद	,,
बलका वर्णन	२४७
देशभेद	,,
मज्जा आदिका परिमाण	,,
सात प्रकारकी प्रकृति	,,
वातप्रकृतिका वर्णन	,,
पित्तप्रकृतिका ,,	२४८
कफप्रकृतिका ,,	२४९
अन्यान्य प्रकृतियों का संकेत	,,
वयस् का वर्णन	२५०
सुख एवं आयु का पात्र शरीर	,,
शरीर के सुलक्षण	२५१
सारोंका वर्णन	२५२
सत्त्व, रजस्, तमस्, का वर्णन	,,
पुण्य एवं आयुवर्द्धक गुण	,,
मर्मविभागशारीर चौथा अध्याय—	
मर्मों की संख्या	२५३
शाखागत मर्मोंका वर्णन	,,
कोष्ठगत ,, ,,	२५४
उरोगत ,, ,,	,,
पृष्ठगत मर्मोंका वर्णन	२५५
कटीकतरुणके दो मर्म	,,
कुकुन्दर नामक दो मर्म	,,
नितम्ब ,, ,,	,,
पार्श्वसन्धि ,, ,,	,,
बृहती ,, ,,	,,
अंसफलक ,, ,,	,,
अंस ,, ,,	,,
जत्रुके ऊपरके मर्म—	,,

विषय	पृष्ठ
नीला एवं मन्या नामक ४ मर्म	२५५
मातृका नामक ४ मर्म	,,
कृकाटिका नामक दो मर्म	२५६
विधुर ,, ,,	,,
फणा ,, ,,	,,
अपाङ्गआवर्त,, ,,	,,
शंख ,, ,,	,,
उत्क्षेप ,, ,, तथा स्थपनी नामक एक मर्म	,,
शृङ्गाटक नामक चार मर्म	,,
सीमन्त नामक पांच मर्म	,,
अधिपति नामक एक मर्म	,,
मर्म का सामान्य लक्षण	२५७
मर्मस्थल की विशेषता	,,
विधिभेद से मर्म भेद	,,
,, मर्म संख्या	,,
मांस मर्मके वेधका लक्षण	,,
अस्थिमर्मके ,,	,,
स्नायुमर्मके ,,	२५८
धमनीमर्मके ,,	,,
सिरामर्मके ,,	,,
सन्धिमर्मके ,,	,,
सद्योमारक मर्म	,,
कालान्तर मारक ,,	,,
विशल्यघ्न ,,	,,
वैकल्यकर ,,	,,
मर्मोका परिमाण	२५९
मर्मोकी विशेषता	,,
मर्मवेधपर प्राणरक्षाका उपाय	,,
मर्मपर क्षारकर्म आदिका निषेध	,,
मर्मपर आघातका दुष्फल	२६०
विकृतिविज्ञानीय शारीर पाँचवां अध्याय—	
रिष्टका लक्षण	२६०
,, प्रभाव	,,
रिष्टके दोभेद	,,
रिष्टका सामान्य लक्षण	२६१
केशविषयक रिष्ट	,,
नेत्रविषयक रिष्ट	,,
नासादि, ओठ, दन्तएवं जीभके रिष्ट	,,
ग्रीवा, पीठ, हनुका रिष्ट	,,
अन्यान्य अंगोंके रिष्ट	,,
६मासमें मृत्युसूचक रिष्ट	२६२
पित्तजरोगोंके रिष्ट	,,
एकमासमें मृत्युसूचक रिष्ट	,,
तीन दिनमें ,, ,,	,,
१५दिनमें ,, ,,	,,
वर्णविषयक रिष्ट	,,
अन्यरिष्ट लक्षण	,,
एकवर्षमें मृत्यु	,,
अन्यान्य रिष्ट	२६३
मूत्रादिविषयक रिष्ट	,,
दर्शनविषयक ,,	,,
एकवर्षके भीतर मृत्यु	,,
श्रोत्रादि इन्द्रियविषयक रिष्ट	२६१
स्वरविषयक रिष्ट	२६४
अन्यान्य रिष्ट	,,
छायाविषयक रिष्ट	,,
प्रतिच्छाया एवं छायाका वर्णन	,,
प्रतिच्छायाविषयक रिष्ट	,,
भौतिकी छायाका वर्णन	,,
प्रभाका वर्णन	२६५
छाया तथा प्रभामें भेद	,,
अन्यान्य रिष्ट	,,
,, ,,	२६६
स्वभावपरिवर्तनरूपी रिष्ट	,,
भक्तिआदि ,, ,,	,,
६ दिनका रिष्ट	,,
अन्यान्यरिष्ट	२६७
ज्वरके रिष्ट लक्षण	,,
रक्तपित्तके रिष्ट	,,
कासश्वासके रिष्ट	,,
छर्दिके रिष्ट	,,
तृषाके रिष्ट	,,
मदात्ययके रिष्ट	२६८
अर्शका ,,	,,
अतिसारका ,,	,,
अश्मरी एवं प्रमेहके रिष्ट	,,
प्रमेहपिटिकाकेरिष्ट	,,
गुल्मरोगका ,,	,,
उदररोगका ,,	,,
पाण्डुरोगका ,,	,,

विषय	पृष्ठ
शोषरोगका रिष्ट	२६९
शोष एवं शोषका ,,	,,
विसर्पका ,,	,,
कुष्ठका ,,	,,
वातव्याधि एवं वातरक्तका रिष्ट	,,
सबरोगोंका रिष्ट	,,
४५ दिनका रिष्ट	२७०
वाताष्ठीलाका ,,	,,
सद्योमारक ,,	,,
,, लक्षण	,,
अन्यरिष्ट	,,
मसूरिकाका रिष्ट	,,
विस्फोटके ,,	,,
कामलाका ,,	२७१
दुष्टव्रणका ,,	,,
व्रणके रिष्ट	,,
भगन्दरका ,,	,,
अन्यरिष्ट	,,
तिल एवं व्यङ्गोंके रिष्ट	,,
अन्यरिष्ट	२७२
रिष्टज्ञ चिकित्सकका कर्तव्य	
रिष्टमें चिकित्साकी व्यर्थता	,,
रिष्टज्ञानकी आवश्यकता	२७३
मृत्युका मुख्यकारण	,,

विषय	पृष्ठ
दूतादिविज्ञानीयशारीर छठा अध्याय—	
दूतका सामान्यफल	२७३
अप्रशस्तदूत	,,
दूतागमनका अप्रशस्त समय	२७४
दूतके अङ्गःस्पर्श आदि	,,
दूतके समय आदिका वर्णन	,,
अशुभ शकुन	,,
अन्यान्यअशुभ शकुन	२७५
अन्यान्य शकुन	,,
इन्द्रधनुषका वर्णन	,,
रोगीके घर प्रवेशके शकुन	,,
वैद्यका कर्तव्य	,,
शुभशकुन	२७६
उपसंहार	,,
स्वप्नविचार	,,
अन्यान्य दुःस्वप्न	२७७
मृत्युसूचक स्वप्न	,,
दुःस्वप्नका हेतु	२७७
स्वप्नोंके ७भेद	२७८
विफल एवं सफल स्वप्न	,,
स्वप्नविषयक अन्यविचार	,,
शुभस्वप्न	,,
रोगीके घरकी शुभ अवस्था	२७९
शारीरस्थानका उपसंहार	,,

निदानस्थान

विषय	पृष्ठ
सर्वरोगनिदान पहला अध्याय—	
रोगमात्रके नाम	२८०
रोगोंका विज्ञान	,,
उपशयका वर्णन	२८१
सम्प्राप्तिका वर्णन	,,
उपसंहार	,,
वातप्रकोपका निदान	२८२
पित्त ,, ,,	,,
कफ ,, ,,	,,
त्रिदोष ,, ,,	,,
सबरोगोंकी सामान्य संप्राप्ति	,,
ज्वरनिदान दूसरा अध्याय—	
ज्वरकी सम्प्राप्ति	२८३
ज्वरके पूर्वरूप	,,
वातज्वरका रूप	२८४

विषय	पृष्ठ
पित्तज्वरका रूप	,,
कफज्वरके लक्षण	२८५
काल, सम्प्राप्ति, उपशय तथा अनुपशय	,,
द्वन्द्वज ज्वरोंका रूप	,,
त्रिदोषज ज्वरका ,,	,,
दाहपूर्वक एवं शीतपूर्वकज्वर	२८६
आगन्तुज्वरका वर्णन	,,
उपसंहार एवं विधिभेदसे ज्वरभेद	२८७
इन सबका विवरण	,,
ज्वरके ५भेद	२८८
सन्ततज्वरकी संप्राप्ति	,,
सन्ततज्वरका वर्णन	२८९
विषमज्वरकी संप्राप्ति	,,
ज्वरमें बाधका लय	,,
सतत आदि ज्वरोंका लक्षण	२८९

विषय	पृष्ठ
चतुर्थक ज्वरका लक्षण	२८९
चतुर्थक विपर्ययका वर्णन	"
ज्वर वैषम्यका कारण	"
ज्वरमोक्षणका लक्षण	२९०
ज्वरमुक्तिका "	"
रक्तपित्तकासनिदान तीसरा अध्याय—	
रक्तपित्तका निदान और संप्राप्ति	२९२
रक्तपित्तका वर्णन	"
" की प्रवृत्ति	"
" के पूर्वरूप	"
ऊर्ध्वगामी अधोगामी रक्तपित्त	"
साध्य रक्तपित्त	"
याप्य "	२९३
असाध्य "	"
रक्तपित्तकी परीक्षा तथा उपद्रवोंका संकेत	"
कासनिदान	२९४
पूर्वरूप तथा सम्प्राप्ति	"
वातज कासका रूप	२९५
पित्तज " "	"
कफज " "	"
क्षतज " "	"
क्षयज " "	"
असाध्यत्व आदिका विचार	२९६
कासके उपद्रव	"
श्वासहिक्कानिदान चौथा अध्याय—	
श्वासका निदान व संप्राप्ति	२९६
श्वासकी संप्राप्ति	"
पूर्वरूप एवं क्षुद्रश्वास	२९७
तमकश्वास एवं उसके भेद	"
छिन्नश्वासका वर्णन	"
महाश्वासका "	२९८
ऊर्ध्वश्वासका "	"
साध्यासाध्यविवेक	"
हिक्कानिदान आदिका संकेत	"
क्षुद्राहिक्का	"
यमला "	"
महती "	२९९
गम्भीरा "	"
साध्यासाध्यविवेक	"
राजयक्ष्मानिदान पाँचवाँ अध्याय—	
राजयक्ष्माका वर्णन	"
राजयक्ष्माका निदान	३००
सम्प्राप्ति	"
पूर्वरूप	"
एकादशरूप	"
सातउपद्रव	"
राजयक्ष्मामें वातादिदोषोंके लक्षण	३०१
प्रकारान्तरसे संप्राप्ति	"
असाध्य एवं साध्य दशा	"
स्वरभेदनिदान स्वरभेदका वर्णन	"
अरोचक निदान	३०२
छर्दिरोगनिदान-छर्दिरोगका वर्णन	"
वातज छर्दि	"
पित्तज "	"
कफज "	३०३
त्रिदोषज "	"
अन्यान्य "	"
हृद्रोगनिदान	"
वातज हृद्रोग	"
पित्तज "	"
कफज "	"
त्रिदोषजएवं कृमिज हृद्रोग	"
तृषानिदान-तृषारोगका वर्णन	३०४
वातज आदि तृषारोग	"
अन्यान्य तृषाओंका वर्णन	"
मदात्ययादि निदान छठा अध्याय—	
मद्यके १० गुण	३०५
विषके १० "	"
संप्राप्ति प्रथम द्वितीयभेद	"
मध्यम एवं उत्तम भेदकी सन्धि	३०६
मदकी निन्दनीय दशा	"
तृतीयकोटिका मद	"
मदसेवनका निषेध	"
मद्यकी निन्दा	"
अयुक्ति युक्त मद्य	"
मदका प्रभाव	"
मदात्ययके भेद	"
सामान्य लक्षण	"
वातज आदि मदात्यय	३०७
ध्वंसज एवं विक्षयका वर्णन	"
मद्यत्यागका सुफल	"
मद, मूर्च्छा तथा सन्यास सम्प्राप्ति	"

विषय	पृष्ठ
संख्या सम्प्राप्ति	"
वातल आदि मद	"
मूर्च्छानिदान वातजमूर्छा	३०८
पित्तज मूर्छा	"
कफज "	"
त्रिदोषज "	"
संन्यासनिदान संन्यासरोगकी विशेषता	३०९
सम्प्राप्ति	"
मद्यके दोष	"
विचारपूर्वक मद्यपानसे लाभ	"
अर्शःनिदान सातवाँ अध्याय—	
अर्शःकी निरुक्ति एवं सम्प्राप्ति	३०९
अर्शःके भेद तथा गुदका वर्णन	"
सहज अर्शः	३१०
" " के रूप	"
जन्मोत्तरकालज अर्शः	"
निदानसंप्राप्ति एवं पूर्वरूप	"
सामान्यरूप	३११
वातज अर्शः	३१२
पित्तज "	"
कफज "	"
द्वन्द्वज "	"
त्रिदोषज "	"
रक्तज "	"
अर्शःमें उदावर्त	"
असाध्यत्व एवं याप्यत्व विवेक	"
अन्यान्य अर्शः	३१४
चर्मकील	"
चिकित्सामें सावधानी	"
अतीसार ग्रहणीरोगनिदान आठवाँ अध्याय—	
अतीसारका, निदान, संप्राप्ति, पूर्वरूप तथा रूप	३१४
पित्तातिसारका लक्षण	३१५
कफातिसारका "	"
भयज तथा शोकज अतिसार	"
साम एवं निराम "	३१६
अतीसारमें ग्रहणीरोग	"
ग्रहणीरोगनिदान-सामान्य लक्षण,	"
संख्या, एवं सम्प्राप्ति	"
ग्रहणीका पूर्वरूप	३१७
सामान्य रूप	"
वातज ग्रहणीका लक्षण	"

विषय	पृष्ठ
पित्तज ग्रहणीका लक्षण	३१७
कफज " "	"
ग्रहणीरोगका संकेत	"
आठमहारोग	"
मूत्राघातनिदान नवाँ अध्याय	
वस्ति आदि अवयवोंका आश्रय	३१८
वस्तिका वर्णन	"
मूत्रकृच्छ्रोंके लक्षण	"
अश्मरीका वर्णन	३१९
सामान्य रूप	"
वातज अश्मरी	"
पित्तज "	"
कफज "	"
शुक्राश्मरी एवं शर्करा	३२०
मूत्राघातोंका वर्णन	"
वाताष्ठीला	"
वातकुण्डलिका एवं मूत्रातीत	३२१
मूत्रजठर एवं मूत्रोत्सर्ग	"
मूत्रग्रन्थिका वर्णन	"
मूत्रशुक्र "	"
विड्विघात "	"
उष्णवात "	"
मूत्रक्षय "	३२२
मूत्रसाद "	"
उपसंहार	"
प्रमेहनिदान दसवाँ अध्याय—	
प्रमेहकी संख्या एवं निदान	३२२
संप्राप्ति	३२३
साध्यत्व, याप्यत्व एवं असाध्यत्व	"
सामान्य लक्षण तथा भेदका कारण	"
कफजनित १० प्रमेह	"
पित्तजनित ६ "	३२४
वातजनित ४ "	"
उपेक्षा जनित मधुमेह	"
प्रमेहोंके उपद्रव	"
प्रमेह पिडिका	३२५
प्रमेह पिडिकाओं के लक्षण	"
प्रमेह के रूप	३२६
प्रमेह एवं रक्त पित्तका विवेचन	"
विधिभेद से प्रमेह के दो भेद	"
असाध्यत्व, याप्यत्व एवं साध्यत्व	"

विषय	पृष्ठ
विद्रधि, वृद्धि, गुल्मनिदान ग्यारहवाँ अध्याय—	
विद्रधिका वर्णन	३२७
,, विवरण	,,
स्थानभेद से लक्षण	३२८
आमपक्व एवं विदह्यमान का संकेत	,,
अन्तर्विद्रधि के स्राव	,,
स्तनविद्रधि का वर्णन	,,
वृद्धिनिदान-संख्या संप्राप्ति	३२९
वातज आदि वृद्धियाँ	,,
अन्त्रवृद्धि	,,
गुल्म की सम्प्राप्ति एवं आकृति	३३०
वातजगुल्म का वर्णन	,,
पित्तज गुल्म का ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
गुल्मोंके स्थान आदिका वर्णन	,,
रक्तगुल्मका वर्णन	,,
गुल्म एवं विद्रधिमें भेद	३३१
अन्तराश्रित एवं बहिराश्रित गुल्मका भेद	,,
आनाह निदान	,,
अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला	३३२
तूनी एवं प्रतूनी	,,
गुल्मका पूर्वरूप	,,
उदरनिदान बारहवाँ अध्याय—	
उदररोगका निदान, संप्राप्ति एवं संख्या	३३३
सामान्य लक्षण एवं पूर्वरूप	,,
जलरहित उदररोगका लक्षण	३३४
वातोदरका लक्षण	,,
पित्तोदरका	,,
कफोदरका ,,	,,
सन्निपातोदरका ,,	३३५
प्लीहाका वर्णन	,,
बद्धोदरका वर्णन	,,
क्षतोदरका ,,	३३६
जलोदरका ,,	,,
उपेक्षासे जलोदरकी उत्पत्ति	,,
साध्यासाध्यविचार	३३७
प्रारम्भसे ही कष्टसाध्यता	,,
पाण्डुरोग, शोफ, विसर्पनिदान तेरहवाँ अध्याय	
पाण्डुरोग संप्राप्ति सामान्य लक्षण तथा संख्या	३३७
पूर्वरूप एवं विशिष्ट लक्षण	३३८

विषय	पृष्ठ
मृत्तिका जनित पाण्डुरोग	३३८
कामला एवं कुम्भकामला	,,
हलीमकका वर्णन	३३९
शोथरोगनिदान	,,
सामान्य-विशेष निदान एवं संप्राप्ति	,,
शोथका पूर्वरूप	३४०
वातादि जनित शोथोंके लक्षण	,,
अभिघातज शोथका वर्णन	,,
विषज शोथका ,,	३४१
साध्यासाध्यका निर्देश	,,
विसर्पनिदान-विसर्पका वर्णन	,,
वातादि जनित विसर्पोंके लक्षण	,,
अग्निविसर्पका लक्षण	३४२
ग्रन्थिविसर्पका ,,	,,
कर्दमविसर्पका ,,	,,
त्रिदोषजविसर्पका वर्णन	३४३
अभिघातज ,, ,,	,,
साध्यासाध्यविवेक	,,
कुष्ठश्वित्रकृमिनिदान चौदहवाँ अध्याय—	
कुष्ठका निदान व संप्राप्ति	,,
कुष्ठ एवं श्वित्रका विवेक	,,
महाकुष्ठके सातभेद	३४४
महाकुष्ठ एवं क्षुद्रकुष्ठ	,,
कुष्ठके पूर्वरूप	,,
कापाल कुष्ठका लक्षण	,,
उदुम्बर कुष्ठका ,,	,,
मण्डल ,, ,,	३४५
विचर्चिका ,, ,,	,,
ऋक्षजिह्वा ,, ,,	,,
चर्मकुष्ठ एवं कुष्ठ तथा किटिभके लक्षण	,,
सिध्म, अलसक, विपादिकाके लक्षण	,,
दद्रूके लक्षण	,,
शतारुके ,,	,,
पुण्डरीक विस्फोट तथा पामाके ल०	,,
चर्मदल तथा काकणकके ल०	३४६
दोषों तथा साध्यता आदिका विवेक	,,
त्वचा आदि धातुओंमें स्थित कुष्ठोंके लक्षण	,,
श्वित्रका वर्णन	,,
संक्रामकरोग	३४७
कृमिनिदान	,,

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कफज कृमियोंका वर्णन	,,	खञ्जपंगु एवं कलायखञ्ज का वर्णन	३५३
रक्तज ,, ,,	३४८	ऊरुस्तम्भका वर्णन	,,
पुरीषज ,, ,,	,,	क्रोष्टुशीर्षका वर्णन	,,
वातव्याधिलक्षण पन्द्रहवाँ अध्याय—		वातकण्टकका ,,	,,
वायुकी महिमा	३४९	गृध्रसी का ,,	,,
वायुविषयक संकेत	,,	पादहर्षका ,,	३५४
वातजरोगोंका कारण व संप्राप्ति	,,	पाददाहका ,,	,,
स्थानभेदसे कुपित वायुके ल०	,,	**वातशोणित निदान सोलहवाँ अध्याय—**	
आक्षेपकका वर्णन	३५०	वातरक्तका निदान संप्राप्ति पूर्वरूप	३५५
अपतंत्रक व अपतानकका वर्णन	,,	वातरक्तके दो भेद	,,
अन्तरायाम बाह्यायाम	,,	उनके लक्षण	,,
व्रणायामका वर्णन	३५१	विशिष्ट लक्षण	,,
आक्षेपकोंमें वेग	,,	वातरक्तकी साध्यासाध्यता	,,
जिह्वा स्तम्भ	,,	वायुके आवरणोंका वर्णन	,,
अर्दितका वर्णन	३५२	प्राण आदि वायुके रोग	३५६
सिराग्रहणका ,,	,,	वायुके आवरण	,,
पक्षाघातका ,,	,,	प्राण आदि के परस्पर आवरण	३५७
दण्डकका ,,	,,	आवरणोंका वर्णन	३५८
अवबाहुकका ,,	,,	आवरणोंकी असंख्येयता	,,
विश्वाचीका ,,	,,	उपसंहार	,,

चिकित्सा स्थान

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ज्वर चिकित्सा पहला अध्याय—		ज्वरमें कषायपान	३६३
ज्वरमें लंघनकी व्यवस्था	३५९	औषध दानका समय	,,
वमनकारक योग	,,	शमन औषधका काल	३६४
लंघनसे लाभ	,,	शमन औषध	,,
लंघनकी आवश्यकता एवं अवधि	३६०	सन्तत आदिके लिये ५ योग	,,
तृषामें उष्ण जल	,,	ज्वर नाशक कषाय	,,
उष्ण जलका निषेध	,,	द्राक्षादि योग वातपित्त ज्वर में	,,
ज्वरमें पित्तवर्धक उपचारका निषेध	,,	कुटकी स्वरस	३६५
,, स्नानादिका निषेध	,,	वातकफज्वरमें	,,
आमज्वरमें औषध तथा दूधका निषेध	३६१	पित्तकफज्वरमें	,,
ज्वरमें स्वेदन	,,	सन्निपातज्वरमें	,,
आहार विहारका संकेत	,,	वातकफप्रधान सन्निपातमें	,,
ज्वरमें दोषोंके पाचन	,,	सर्वज्वरनाशक योग	,,
लंघनका निषेध	,,	पेयापानका विवेचन	३६६
यवागूका उपयोग	३६२	ज्वरमें पथ्य	,,
नाना पेयाओंके उदाहरण	,,	ज्वरमें जूस	,,
अन्यान्य उदाहरण	,,	,, शाक एवं मांसरस	,,
पेयाका निषेध लाजतर्पणका वर्णन	३६३	अन्यान्य व्यंजन तथा अनुपान	,,

विषय	पृष्ठ
भोजनका समय	३६७
अन्यकाल विचार	,,
ज्वरमें घृतसेवन काल	,,
जीर्ण ज्वरमें घृतकी उपयोगिता	,,
पिप्पल्यादि घृत	३६८
वात पित्त ज्वरमें घृतयोग	,,
कफ ज्वरमें	,,
अन्य ५ घृत	,,
घृत सेवनके पश्चात् पथ्य	,,
जीर्ण ज्वरमें शोधन	३६९
विरेचन करने में अन्यान्य विचार	,,
ज्वरमें निरूहणका प्रयोग	,,
जीर्ण ज्वरमें दुग्ध प्रयोग	,,
ज्वरमें निरूहण	३७०
,, अनुवासन	,,
निरूहण बस्तिके योग	,,
अनुवासन योग	३७१
ज्वरमें नस्य	,,
ज्वरमें धूम गण्डूष तथा कवल	,,
जीर्ण ज्वरमें अभ्यङ्ग आदि	,,
अभ्यङ्ग आदिके कुछ योग	,,
दाहयुक्त ज्वरमें उपचार	३७२
ज्वरमें शीत शमनके उपाय	,,
त्रिदोषज ज्वरकी चिकित्सा	,,
सन्निपातका एक उपद्रव	३७३
ज्वरमें सिरावेध	,,
विषम ज्वरकी चिकित्सा	,,
विषमज्वर नाशक योग	,,
विषमज्वर नाशक अंजन	३७४
,, ,, नस्य	,,
,, ,, धूम	,,
अपराजित धूम	,,
अन्य उपचार	,,
अन्य ज्वरोंकी चिकित्सा	,,
ग्रहादि जनित ज्वरोंकी चिकित्सा	,,
स्मृति जनित ,, ,,	३७
ज्वरमें परिकर्म	,,
अन्य चेतावनी	,,
चिकित्सामें सावधानता	,,
ज्वरशान्तिके अन्य उपाय	,,
रक्तपित्तचिकित्सा दूसरा अध्याय-	
साध्य, याप्य एवं असाध्य रक्तपित्त	३७६
निदानके अनुसार चिकित्सा	३७७
अयनके ,, ,,	,,
बलके ,, ,,	,,
रक्तपित्तमें देने योग्य विरेचन	,,
,, ,, वमन	३७८
,, मन्थ	,,
,, पेयाके योग्य	,,
,, यवागू तथा मांसरस	,,
,, अन्यान्य आहार	,,
,, पीने योग्य द्रव	,,
,, अन्यान्य मांसरस	
रक्तपित्तमें परिहार्य	३७९
रक्तपित्तशामक योग	,,
अडूसाकी प्रशंसा	,,
अन्ययोग	,,
अन्य दो योग	,,
ग्रन्थि मुक्त रक्तपित्तके लिये	,,
अधिक रक्त स्राव हो जाने पर	,,
रक्तपित्त शामक दो योग	,,
अन्यसंकेत	३८०
मूत्रमार्गगामी रक्तपित्त	,,
पुरीषमार्गगामी	,,
संकेत	,,
वासाघृत	,,
अन्य दो घृत	,,
रक्तपित्तमें क्षार प्रयोग	३८१
,, वस्ति	,,
नासाप्रवृत्त रक्तपित्त चिकित्सा	,,
रक्तपित्तमें संकेत	,,
कासचिकित्सा तीसरा अध्याय—	
चिकित्सासूत्र	३८१
वातकास नाशकघृत	३८२
अन्यघृत	,,
रास्नादिघृत	,,
विदार्यादि घृत	,,
पित्तकासमें घृत तथा चूर्ण	,,
विडङ्गादि चूर्ण	,,
दुरालभादि चूर्ण	,,
अन्यान्य कासनाशकयोग	,,

विषय	पृष्ठ
अन्ययोग	३८३
कासमें धूम्रपान	”
” पथ्य	”
कासनाशक पेया	”
वातकासनाशक पेया	”
पित्तकास चिकित्सा	”
पित्तकासमें विरेचन	”
शोधनके पश्चात्	३८४
कासनाशक दो अवलेह	”
अन्य अवलेह	”
पित्तकासमें पथ्य आहार	”
द्राक्षादिदुग्ध तथा पेया	”
अन्ययोग	”
शर्करादि घृत	”
कफकास चिकित्सा	३८५
कफकासमें शोधन तथा पथ्य	”
” पीनेके लिये	”
” नाशक तीन अवलेह	”
” ” आठ अवलेह	”
वातकफ नाशक तीन अवलेह	”
दाड़िमादि योग	३८६
गुडादि ”	”
संकेत	”
कासमें पिप्पली कल्क	”
दशमूलघृत	”
अन्य दो घृत	”
पुनर्नवादि घृत	”
कण्टकारी घृत प्रथम	”
कण्टकारी अवलेह	३८७
कासमें धूमपान	”
तमक श्वासयुक्त कासका उपचार	”
अनुबन्धी दोषों की चिकित्स.	३८८
शुष्क तथा आर्द्र कास की चिकित्सा	”
क्षतजकास चिकित्सा	”
उरःक्षतमें लाक्षा प्रयोग	”
क्षतजकासमें दो अन्ययोग	”
मधूकादि लेह	”
एलादि गुटिका	”
अन्ययोग	३८९
न्यग्रोधादि योग	”

विषय	पृष्ठ
अन्य चिकित्सा	३८९
अमृत प्रास घृत	”
श्वदंष्ट्रादिघृत.	३९०
घृतके पान तथा लेहन का विवेक	३९१
घृत सेवनमें संकेत	”
कूष्मांड रसायन पाक	”
नागबला आदिके योग	”
नागबला सर्पि.	३९२
अगस्त्य हरीतकी रसायन	”
वसिष्ठोक्त हरीतकी रसायन	”
सैन्धवादि चूर्ण	३९३
खाण्डव चूर्ण	”
क्षतजकासमें धूमपान	”
क्षयजकास चिकित्सा	३९४
क्षयजकासमें घृतपान	”
” घृत दुग्ध, अनुवासन	”
मांसाहारी के लिये मांस	”
उनका फल	”
चविकादि घृत	”
कासमर्दादि घृत	३९५
अन्यान्य घृतयोग	”
विजयावलेह	”
अन्ययोग	”
कासमें पेया	३९६
यूषविधान	”
क्षयजकासमें अन्यान्य यूष एवं रस	”
श्वासहिक्काचिकित्सा चौथा अध्याय—	
श्वास एवं हिक्काकी सामान्य चिकित्सा	३९६
विशेष चिकित्सा	३९७
विरेचनका उपदेश।	”
श्वासमें धूमपान	”
स्वेदकी परमावश्यकता	३९८
शोधनोत्तर उपचार	”
कषाय आदिका उपयोग	”
क्षीण आदिके श्वासका उपचार	”
मांसरस एवं यूष	”
पेया	३९९
आहार	”
सत्तू	”
अन्नमें मसाला	”

विषय	पृष्ठ
पान	३९९
तक्रपान	"
अन्ययोग	"
गौके गोबर एवं अश्वकी लीदरस	४००
अन्यान्य योग	"
जीवन्त्यादि चूर्ण	"
शट्यादि चूर्ण	"
नस्य	"
कणादिघृत	४०१
तेजोवत्यादि घृत	"
घृतपानका संकेत	"
हिक्कामें अन्यउपाय	"
श्वास एवं हिक्कामें पथ्य	"
शमन-बृंहणकी श्रेष्ठता	"
राजयक्ष्माचिकित्सा पाँचवां अध्याय—	
शोधनका प्रधान	४०२
वमन- विरेचनयोग	"
राजयक्ष्मामें आहार	"
बकराके मांसरसका प्रयोग	४०३
सुरा आदिका विधान	"
घृतका विधान	"
जीवन्त्यादि घृत	"
खर्जूरादि घृत	"
अन्यान्य ,,	४०४
पंचकोलादि,,	"
मांससर्पिः	"
एलादि सर्पिगुड	"
स्वगादि चूर्ण	४०५
स्वरभेद चिकित्सा	"
अरोचक ,,	४०६
विशेष ,,	"
एलादि चूर्ण	४०७
यवानी षाण्डव,,	"
तालीसादि ,,	"
लालास्राव चिकित्सा	"
प्रसेक का लक्षण	४०८
पीनस आदि की चिकित्सा	"
राजयक्ष्मा के अतीसार की चिकित्सा	"
मद्य एवं मांस की आवश्यकता	"
अवगाहन, मर्दन, उद्वर्तन	४०९

विषय	पृष्ठ
उद्वर्तन	४०९
उद्वर्तन तथा स्नान	"
गन्धमाल्यादि धारण	"
अन्यान्य उपचार	"
छर्दि-हृद्रोग-तृष्णा चिकित्सा छठा अध्याय—	
छर्दि की सामान्य चिकित्सा	४१०
,, विशेष ,,	"
पित्तज छर्दि को ,,	"
कफ जनित तृषा को ,,	४११
अन्यान्य छर्दियों की ,,	"
छर्दि में वायु प्रकोप की ,,	"
हृद्रोग की चिकित्सा	४१२
,, ,,	४१३
पित्तजनित हृद्रोग की ,,	"
कफज ,, ,,	"
शूल चिकित्सा	४१४
तृष्णा ,,	"
तृषा की विशेष चिकित्सा	४१५
वातज तृषाकी ,,	"
पित्तज ,, ,,	"
कफज ,, ,,	"
अन्यान्य तृषाओंकी ,,	"
तृषाकी भीषणता	४१६
मदात्यय चिकित्सा सातवां अध्याय—	
मदात्यय की सामान्य चिकित्सा	४१६
वात मदात्यय की चिकित्सा	४१७
पित्त ,, ,,	४१८
अन्यान्य ,, ,,	"
अवस्था भेद से अन्यान्य उपाय	"
दाह की चिकित्सा	"
कफज मदात्यय की चिकित्सा	४१९
१० प्रकार के मदात्ययों की चिकित्सा का संकेत	४२०
सभी मदात्ययों के शामक योग	"
मदात्यय की संप्राप्ति	"
अवस्थाभेद से उपचार	"
अन्यान्य उपचार तथा पुनः मद्यपान	४२१
मद्य की प्रशंसा	"
सुरापान का फल	४२२
सुरा का निषेध	"
सुरा की आवश्यकता	"

विषय	पृष्ठ
मद्य सेवनकी विधि	४२३
मद्यपानोत्तर विधि	४२४
वनिता रंजन प्रशंसा	४२५
इस मद्यपानके पश्चात्	,,
मद्यपान विषयक अन्यविचार	,,
प्रकृतिके अनुसार मद्यपान विधि	४२६
मद एवं मूर्च्छाकी चिकित्सा	,,
अन्यान्य उपचार	,,
विशेष चिकित्सा	४२७
सन्यास चिकित्सा	,,
वेग रोकनेके उपाय	,,
अर्शश्चिकित्सा आठवा अध्याय—	
अर्शपर क्षार आदि का प्रयोग	४२८
अन्य संकेत	,,
कुछ उपद्रवोंकी चिकित्सा	४२९
दाहकर्मके अयोग्य ,,	,,
अर्शके लिए धूपन योग	४३०
,, वर्ति	,,
,, लेप	,,
,, अभ्यङ्ग	,,
कुछ योग तथा तक्र प्रयोग	४३१
अर्शमें पेया आदि का विधान	४३२
,, पुरीष रोध की चिकित्सा	,,
एक अन्य तक्र प्रयोग	४३३
सीधु आदिका प्रयोग	,,
पीपलका ,,	,,
पाठाका ,,	,,
अभयारिष्ट	,,
दन्त्यरिष्ट	४३४
दुरालभारिष्ट	,,
अर्शमें घृत	,,
,, मांसरस	,,
,, अन्यान्य शाकादि	,,
,, पान	४३५
वातादि अनुलोमनकी आवश्यकता	,,
अर्श में अनुवासन	,,
अनुवासनार्थ पिप्पल्यादि तेल	,,
अर्शमें निरूहण	,,
रक्तार्शकी चिकित्सा	४३६
अनुबन्धनका लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
विशिष्ट चिकित्सा	३६
रक्तार्श नाशक योग	,,
कुटजादि रसक्रिया	४३७
कुटजावलेह	,,
रोध्रादि योग	,,
यष्ट्यादि चूर्ण	,,
रोध्रादि	,,
अन्यान्य चूर्ण एवं घृत	,,
अर्शमें नवनीत प्रयोग	४३८
अन्य उपचार	,,
रक्तार्शमें पलाण्डु प्रयोग	,,
अधिकरक्तस्राव होनेपर	,,
रक्तार्शमें पिच्छावस्ति	,,
,, अनुवासनवस्ति	४३९
चांगेरी घृत	,,
चिकित्सा संकेत	,,
उदावर्तकी चिकित्सा	,,
कल्याणक्षार	४४०
चिकित्सा संकेत	,,
पूतिकरंज चुक्र	,,
पीलुफल चुक्र	,,
दशमूलगुड	,,
चित्रकावलेह	,,
गुडादि गुटिका	,,
सूरण पुटपाक	,,
सूरण गुटिका	,,
सूरण पिण्डी	४४१
वड़वामुख चूर्ण	,,
कलिंगादि वटिका	४४२
सैन्धवादि चूर्ण	,,
अर्शकी सर्वश्रेष्ठ औषध	,,
आहार आदिका संकेत	,,
अर्श, अतीसार, ग्रहणीका परस्पर संबन्ध	,,
अतीसार चिकित्सा नवाँ अध्याय—	
अतीसारमें लंघन	४४२
,, वमन	४४३
,, उपेक्षा	,,
,, हरड़का प्रयोग	,,
मध्यदोषमें	,,
अल्पदोषमें	,,

विषय	पृष्ठ
अतीसारमें जल	४४३
अन्यान्य आहार	,,
कफपित्तमें पेया	४४४
दीप्ताग्निके अतीसारमें	,,
निरामातिसारमें	,,
पक्वातिसारमें यवागू	,,
प्रवाहिका नाशक योगखल	४४५
अपराजित नामक खल	,,
पुरीषक्षयकी चिकित्सा	,,
प्रवाहिकामें बालबिल्वादि योग	४४६
निरामातिसारकी चिकित्सा	,,
तैलकी प्रशंसा	,,
गुदभ्रंश आदिकी	४४७
पित्तातिसार की	,,
अनुबन्ध हो तो	,,
इन्द्रजी आदिके तीनयोग	४४८
पित्तातिसार नाशक अन्ययोग	,,
पक्वातिसारकी चिकित्सा	,,
कभी पुरीष कभी रक्त जाता हो तो	,,
अनुवासन वस्ति	,,
पिच्छा ,,	,,
कुटजा फाणित	४४९
पुटपाकका विधान	,,
पुटपाकके योग	,,
रक्तातिसारका निदान एवं चिकित्सा	,,
रक्तातिसारमें शतावरी कल्क	४५०
,, अन्यान्ययोग.	,,
गुदपाककी चिकित्सा	,,
शतावरी योग	४५१
नवनीत योग	,,
न्यग्रोधादि घृत	,,
कफातिसारकी चिकित्सा	,,
पाठादि क्वाथ	,,
सौवर्चलादि चूर्ण	,,
अन्यान्य योग	,,
यवान्यादि चूर्ण	,,
दाडिमाष्टक ,,	४५२
कफातिसारमें जल	,,
अतिसारमें घृतका प्रयोग	,,
पिच्छावस्ति	,,
अनुवासन वस्ति	४५२
आनुपूर्वी चिकित्सा	
आगन्तु अतीसारकी चिकित्सा	४५३
अतिसार निवृत्तिका लक्षण	,,
ग्रहणीदोष चिकित्सा दसवाँ अध्याय	
चिकित्सा संकेत	४५३
ग्रहणीरोगमें आहार	
आमदोष होतो	
तक्रप्रयोग	
चतुर्भद्रादि चूर्ण	४५४
नागरादिक्वाथ-तक्रादियोग	,,
अन्यान्य योग	,,
पिप्पलादि चूर्ण	,,
लवणपंचकादिगुटिका	,,
तालीसादि गुटिका	४५५
निराम ग्रहणी चिकित्सा	
ग्रहणी रोग में अनुवासन	,,
दशमूलादि घृत	,,
दशमूलादि चूर्ण	४५६
पित्त ग्रहणी रोग की चिकित्सा	,,
पटोलादि चूर्ण	,,
भूनिम्बादि ,,	,,
नागरादि ,,	,,
चन्दनादि घृत	,,
कफज ग्रहणी चिकित्सा	४५७
मधूकासव	,,
,, (द्वितीय)	,,
अन्यान्य आसव	,,
हिंग्वादि क्षार	,,
भूनिम्बादि क्षार	,,
हरिद्रादि भस्म	४५८
क्षार गुटिका	,,
मातुलुङ्गादि चूर्ण	,,
कफज ग्रहणी में घृत प्रयोग	,,
क्षार घृत	,,
त्रिदोषज ग्रहणी चिकित्सा	,,
प्रसेक चिकित्सा	,,
वातादिवर्च की चिकित्सा	४५९
पुरीषकाठिन्य ,,	,,
अन्यान्य अवस्थाओं की चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
यांस के प्रयोग	४५९
स्नेहआदिक फल	”
स्नेह एवं आहार की आवश्यकता	४६०
अत्यग्निका वर्णन	”
अत्यग्नि में अन्नपान एवं आहार	”
अत्यग्नि से मृत्यु	४६१
जठराग्नि प्रशंसा	”
मूत्राघात चिकित्सा ग्यारहवां अध्याय—	
वातज मूत्राघात चिकित्सा	४६१
दशमूल आदि के विविध योग	”
मूत्राघात में मदिरा का योग	४६२
पित्तज मूत्राघात की चिकित्सा	”
कफज ” ”	”
चिकित्सा संकेत	”
अश्मरी की चिकित्सा	”
वाताश्मरी ”	४६३
अश्मरी नाशक कल्क	”
पित्ताश्मरी चिकित्सा	”
कफाश्मरी ”	”
संकेत	”
शर्करा पातन का उपाय	”
” अन्य उपाय	”
अश्मरी पातन का उपाय	४६४
अन्य उपाय	”
शर्करा एवं अश्मरी में क्षार	”
अन्यान्य योग	”
मूत्राघातों में संकेत	”
” अनेक योग	”
अश्मरी पातन का एक उपाय	”
संकेत	”
शुक्राश्मरी चिकित्सा	४६५
अश्मरीमें शस्त्र कर्म	”
शस्त्र कर्म विधि	”
व्रणोपचार	४६६
तत्पश्चात्	”
सावधानी	”
प्रमेह चिकित्सा बारहवाँ अध्याय—	
प्रमेह की चिकित्सा	४६७
शमन योग	”
अन्यान्य शमन व स्राव	”
संकेत	४६७
वातज प्रमेहों में	४६८
प्रमेहोंमें आहार	”
शालादि योग	”
प्रमेहों में स्नेह प्रयोग	”
धान्वन्तर घृत	”
लोध्रासव	४६९
अयस्कृति	”
प्रमेहमें आहार विहार	”
शिलाजीतका प्रयोग	४७०
निर्धन प्रमेही की चिकित्सा	”
कृश प्रमेहीकी चिकित्सा	”
प्रमेह पिडिकाओंकी चिकित्सा	”
पाठादि चूर्ण तथा नवायस लोह	”
मधुमेह में शिलाजतु	४७१
विद्रधि वृद्धि चिकित्सा तेरहवाँ अध्याय—	
सामान्य चिकित्सा	४७१
विशिष्ट ”	”
आभ्यन्तर विद्रधिकी चिकित्सा	४७२
त्रायन्त्यादि क्वाथ	”
त्रायमाणादि घृत	”
द्राक्षादि घृत	”
विद्रधि में रक्तस्रावण	”
पच्यमान विद्रधि पर उपनाह आदि	”
दशदिनके पश्चात्	४७३
विद्रधि में गुग्गुलु एवं शिलाजतु	”
सावधान	”
स्तनविद्रधि चिकित्सा	”
वृद्धि	”
वातज वृद्धि ”	४७४
पित्तज ” ”	”
कफज ” ”	”
मेदोज ” ”	”
मूत्रज, अन्त्रज ”	”
सुकुमार रसायन	”
अंत्रवृद्धिमें अन्य उपचार	
गुल्म चिकित्सा चौदहवाँ अध्याय	
वातगुल्मकी चिकित्सा	४७५
गुल्ममें स्नेहपान एवं बस्ति	४७६
वातगुल्ममें अन्नपान	”
गुल्ममें बस्ति	”

विषय	पृष्ठ
हिंग्वादि घृत	४७६
हपुषाद्य घृत	,,
दाधिक घृत	,,
त्र्यूषणाद्य ,,	४७७
लशुनादि ,,	,,
वातगुल्म में षट्पद घृत	,,
वातगुल्म में वमन	,,
संकेत	,,
चूर्णों के अनुपान	,,
चूर्णों की भावना	,,
हिंग्वादि चूर्ण	४७८
वैश्वानर चूर्ण	,,
हिंग्वष्टक चूर्ण	,,
शार्दूल चूर्ण	,,
सैन्धवादि ,,	,,
पूतीकादि भस्म	,,
हिंग्वादि योग	४७९
मातुलुंगादि ,,	,,
शुंठ्यादि ,,	,,
एरण्ड तैल	,,
विरेचन एवं रक्तमोक्षण	,,
लशुनक्षीर	,,
तैलादियोग	,,
चित्रकादिक्वाथ	,,
पुष्करादि ,,	,,
बलादि ,,	,,
वातगुल्म में शिलाजीत तथा भोजन	,,
गुल्म में घृतपान	४८०
नीलिनी घृत	,,
वातगुल्म में मांस तथा वारुणी	,,
पित्तगुल्म चिकित्सा	,,
विरेचनार्थ घृत	,,
पित्त गुल्म में द्राक्षादि योग	४८१
त्रायमाणाक्वाथ	,,
पित्त गुल्म में अभ्यङ्ग	,,
रक्तमोक्षण	,,
मांस का प्रयोग	,,
चिकित्सा संकेत	,,
पित्त गुल्म में आहार	,,
कफ गुल्म की चिकित्सा	,,
कफज गुल्म में स्वेदन	,,
दशमूल घृत	४८२
भल्लातकाद्य घृत	,,
स्वेदन की आवश्यकता	,,
गुल्म में घटी प्रयोग	,,
कफगुल्म में स्वेदन योग	
फिर विरेचन	४८३
विरेचनार्थ मिश्रक स्नेह	,,
,, दन्तीहरीतकी	,,
अन्यान्य स्नेह	,,
अन्य विरेचन योग	,,
विरेचन तथा निरूहण	,,
क्षार अरिष्ट एवं अग्निकर्म	४८४
क्षारों का संकेत	,,
क्षार गद योग	,,
कफ गुल्म में क्षार	,,
आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग	,,
गुल्मरोग में मद्य पान	,,
सुरा का प्रयोग	४८५
कफ गुल्म का दाह	,,
अग्नि कर्म की विधि	,,
आम दोष युक्त गुल्म की चिकित्सा	,,
रक्तज गुल्म की	,,
तिलादि क्वाथ	,,
भार्ङ्ग्यादि चूर्ण	,,
पलाशक्षार का स्नेह	,,
गुल्मभेदन की विधि	,,
संकेत	४८६
उदरचिकित्सा पन्द्रहवां अध्याय	
उदर रोग में विरेचन	,,
,, स्नेहन	,,
नागरादि घृत तैल	,,
चित्रक घृत	४८७
यवादि ,,	,,
विरेचन की विधि	,,
पटोलादि चूर्ण	,,
गवाक्ष्यादि ,,	,,
नारायण ,,	,,
हपुषादि चूर्ण	४८८
नीलिन्यादि ,,	,,
दुग्ध का सेवन	,,
हरीतकी घृत	,,

विषय	पृष्ठ
स्नुही क्षीरं घृत	४८८
पीलुघृ.	४८९
हरीतकी आदि के प्रयोग	
चित्रकादि कल्क	,,
विडंगादि ,,	,,
सेहुण्ड दूध का प्रयोग	,,
बिल्वक्षार तैल	,,
एरण्ड तैल	,,
देवदार्वादि लेप	४९०
सेचन	,,
वस्त्र वेष्टन	,,
तिल्वकबस्ति	,,
तीक्ष्णबस्तियाँ	,,
उपसंहार	,,
वातोदर चिकित्सा	,,
पित्तोदर ,,	४९१
कफोदर ,,	,,
हिंग्वादि क्षार का योग	,,
सन्निपातोदर चिकित्सा	४९२
प्लीहोदर ,,	,,
यकृद्दाल्युदर ,,	४९३
बद्धगुदोदर ,,	,,
छिद्रोदर ,,	४९४
जलोदर ,,	,,
क्षार गुटिका	,,
उदर रोग में शस्त्र कर्म	,,
शस्त्र कर्म की विधि	,,
जलोदर की चिकित्सा	४९५
इसके पश्चात्	,,
संशमन चिकित्सा	,,
उदर रोग में आहार	,,
,, अपथ्य	४९६
,, तक्र	,,
,, दूध	,,
पाण्डुरोग चिकित्सा सोलहवाँ अध्याय—	
पाण्डुरोग में स्नेहन	,
,, शोधनं	४९७
,, लोहभस्म	,,
हरीतकी प्रयोग	,,
विप्पल्यादि चूर्ण	,,

विषय	पृष्ठ
अन्यान्य योग	४९७
मण्डूर वटक	,,
ताप्यादि चूर्ण	४९८
शिलाजतु वटक	,,
धात्री अवलेह	,,
द्राक्षा ,,	,,
लघुपंचमूल आदियोग	४९९
उपसंहार	,,
विशेषचिकित्सा	,,
कामला चिकित्सा	,,
कामलामें श्वेतपुरीष आ.नेपर	५००
कुम्भकामलाकी चिकित्सा	,,
हलीमक चिकित्सा	,,
श्वयथुचिकित्सा सत्रहवां अध्याय—	
सामान्य चिकित्सा	५०१
अवस्थाभेदसे अन्यान्ययोग	,,
वर्द्धमान गुडार्द्रकयोग	,,
आर्द्रकंघृत	,,
यवानकादि घृत	५०२
अन्यान्य घृत	,,
दशमूल हरीतकी	,,
शोथमें अन्नपान	,,
,, पेया	५०३
,, बाह्योपचार	,,
एकांगव्यापी शोथमें लेप	,,
विशेष चिकित्सा	,,
पित्तजशोथकी चिकित्सा	,,
कफजशोथकी ,,	५०४
एकदेशीय शोथमें अन्यउपचार	,,
दो चूर्ण योग	,,
अमृतादि चूर्ण	,,
क्षतज एवं विषज शोथ चिकित्सा	,,
शोथमें अपथ्य	,,
विसर्प चिकित्सा अठारहवाँ अध्याय—	
सामान्य चिकित्सा	५०५
विसर्पमें वमन	,,
,, विरेचन	,,
शमनचिकित्सा	,,
तृषायुक्त विसर्पमें	,,
विसर्पमें रक्तमोक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
विसर्पमें घृतपान	५०५
,, बाह्योपचार	,,
,, लेपनयोग	,,
सेचन आदिका संकेत	५०६
संसृष्ट दोषोंमें	,,
अग्निविसर्पकी चिकित्सा	,,
ग्रंथिविसर्पकी ,,	,,
ग्रन्थियोंका भेदनलेप	,,
अन्यान्य उपचार	,,
ग्रन्थियों पर क्षार कर्म आदि	५०७
रक्तमोक्षण	,,
रोपण कर्म	,,
रक्तमोक्षण का महत्व	,,
घृत विषयक विचार	,,
कुष्ठ चिकित्सा १९ वाँ अध्याय—	
सामान्य चिकित्सा	,,
विशेष चिकित्सा	५०८
तिक्त घृत	,,
महातिक्त घृत	,,
कफ प्रधान कुष्ठ चिकित्सा	,,
त्रिदोषज ,,	,,
कुष्ठ में रक्तमोक्षण	५०९
वज्रकघृत	,,
महावज्रक घृत	,,
दन्ती घृत	,,
आवर्तकी घृत	,,
शैलीतक वसा प्रयोग	५१०
कुष्ठरोग में पथ्यापथ्य	,,
पटोलमूलादि क्वाथ	,,
माणिभद्रयोग	५११
भूनिम्बादि चूर्ण	,,
वरादि योग	,,
वृक्षक क्वाथ	,,
कुटजादि सिद्ध हरीतकी	५१२
दार्व्यादिक्वाथ	,,
अन्यान्यक्वाथ एवं घृत	,,
पाठादियोग	,,
लाक्षादि चूर्ण	,,
निम्बादि वटिका	,,
सप्तसमागुटिका	,,

विषय	पृष्ठ
चन्द्रकलादि वटक	५१२
विडंगादि पिण्डी	,,
शशांकलेखादि लेह	५१३
अन्यान्य योग	,,
मुस्तादि चूर्ण	,,
रसायनयोग	,,
कुष्ठ में बाह्योपचार	,,
,, स्वेदन, लेखन एवं लेपन	,,
कुष्ठ पर क्षार प्रयोग	५१४
,, अगदों का लेप	,,
,, घर्षण	,,
मुस्तादि कषाय	,,
करवीरादि लेप	,,
श्वेत करवीरादि लेप	,,
अन्य लेप	,,
निम्बादि उबटन	,,
मुस्तादि अवचूर्णन	५१५
अन्यान्य लेप	,,
गुग्गुल्वादि घर्षण	,,
मरिचादि लेप	,,
अपामार्ग क्षार का लेप	,,
वायसजङ्घादि लेप	,,
जीवन्त्यादि घृत तैल	,,
वज्रक तैल	५१६
महावज्रक तैल	,,
कुष्ठादि तैल	,,
सिक्थकादि तैल	,,
दद्रुनाशक लेप	,,
अन्यान्य ६ लेप	,,
कफपित्तज कुष्ठ पर लेप	५१७
दाह युक्त ,,	,,
खदिरादि योग	,,
वमन आदि का संकेत	,,
इसका फल	,,
संशोधन की आवश्यकता	,,
कुष्ठ में क्षत आदि का विधान	५१८
श्वित्र कृमि चिकित्सा बीसवाँ अध्याय—	
श्वित्र की चिकित्सा में शीघ्रता	५१९
मलयू प्रयोग	,,
स्फोटोत्पत्ति का अन्य उपाय	,,

विषय	पृष्ठ
गोमूत्रासव	५१९
श्वित्रनाशक योग	"
अन्यान्य लेप	"
भल्लातक लेप	"
हाथी की लीद का योग	"
भल्लातकादि लेप	"
उदरगत कृमियों की चिकित्सा	५२०
विडंगादि यवागू	५२१
सिरस आदि के रस	"
अश्वशकृत् का प्रयोग	"
प्रधमननस्य	"
कृमिरोग में आहार	"
अन्य आहार	"
भल्लातक तैल आदि	५२२
पुरीष कृमि चिकित्सा	"
कफज कृमि चिकित्सा	"
रक्तज " "	"
कृमिरोगमें परिहार	"
वातव्याधि चिकित्सा इक्कीसवाँ अध्याय—	
वातव्याधियोंकी सामान्य चिकित्सा	५२३
स्वेदनका फल	"
स्नेहनका "	"
वातव्याधिमें शोधन	"
मलशोधनके अन्य उपाय	५२४
आमाशयादिगत वायुकी चिकित्सा	"
त्वचादिमें कुपित " "	"
गर्भशोष की "	५२५
स्नायुआदिमें कुपित वायुकी "	"
अपतानक	"
अपतानकमें महालेह	"
" अन्यउपचार	"
धनुःस्तम्भकी चिकित्सा	५२६
हनुस्तम्भकी "	"
जिह्वास्तम्भमें "	५२७
अर्दितकी "	"
पक्षाघातकी "	"
ऊरुस्तम्भकी "	"
शेषवातजरोगोंकी "	५२८
सहचरादि क्वाथ	"
रास्नादि घृत	"

विषय	पृष्ठ
निम्बादि घृत	५२८
शिरोगत वायुकी चिकित्सा	५२९
रसाप्रयोग	"
जीर्ण पिण्याकादितैल	"
प्रसारिणी तैल	"
सहाचरादि तैल	"
" (द्वितीय)	"
बलातैल	५३०
उक्तसबस्नेहोंका उपयोग	"
वस्तियोंका प्रयोग	"
वातशोणित चिकित्सा बाईसवाँ अध्याय—	
वातरक्तमें रक्तस्रावण	५३१
रक्तस्रावका निषेध	"
वातरक्तमें विरेचन	"
पित्तप्रधान वातरक्त की चिकित्सा	"
कफ प्रधान " "	५३२
उपसंहार	"
सर्जरसलेप	"
पिण्डतैल	"
वातरक्त में सेचन	५३३
अन्य उपचार	"
वात रक्त में लेप	"
" उपनाह	"
वात रक्त में अभ्यङ्ग	५३४
विधि भेद से चिकित्सा संकेत	"
मधुयष्ट्यादि तैल	"
बलातैल	५३५
वातरक्त में चिकित्सा संकेत	"
प्राणादि वायु प्रकोप में चिकित्सा संकेत	"
आमयुक्त वायु की चिकित्सा	५३६
पित्तावृत " "	"
कफावृत " "	"
संसर्ग युक्त " "	"
रक्तादि से आवृत " "	"
मलावृत " "	"
सब स्थानों में आवृत वायु की "	५३७
अपान वायु आवरण की "	"
कुछ संकेत	"
लशुनका प्रयोग	"
उपसंहार	५३८
चिकित्सापर्याय	"

कल्पसिद्धिस्थान

विषय	पृष्ठ
वमन कल्प पहला अध्याय—	
वमन कल्प	५३९
वमन विरेचन के लिए श्रेष्ठ द्रव्य	,,
मदनफल संग्रहविधि	,,
सेवन विधि:	,,
वमन में संकेत	५४०
अन्यान्य कल्प	,,
जीमूत कल्प	५४१
इक्ष्वाकु कल्प	५४२
धामार्गव कल्प	,,
क्ष्वेडकल्प	५४३
कुटज फल कल्प	,,
उपसंहार	५४४
विरेचन कल्प दूसरा अध्याय—	
त्रिवृतश्यामकल्प	५४४
त्रिवृत लेह	५४५
अजगन्धादि योग	,,
इक्षुकाण्ड योग	,,
तर्पण	,,
विडंगादियोग	,,
कल्याण गुड़	,,
अविपत्ति योग	,,
वर्षाकालोपयोगी विरेचन	५४६
शरत् ,, ,,	,,
हेमन्त ,, ,,	,,
सर्वर्तूपयोगी ,,	,,
श्यामाका योग	५४७
राजवृक्ष कल्प	,,
रूक्षवृक्षके ग्रहणकी विधि	,,
उसके प्रयोग	,,
तिल्वक कल्प	,,
सुधाकल्प	५४८
शंखिनी सप्तलाकल्प	,,
दन्तीद्रवन्ती कल्प	,,
उपसंहार	,,
हरीतकी कल्प	,,
चिकित्सक का कर्त्तव्य	५४९
विरेचनोपयोगी द्रव्य	,,

विषय	पृष्ठ
वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि तीसरा अध्याय—	
वमनकी प्रतिकूल गति	५४६
विरेचन की ,, ,,	,,
ग्रथितत्व, पाक तथा गौरव नामक व्यापद्	५५०
इनकी चिकित्सा	,,
दोषोत्क्लेश तथा भृशाध्मान व्यापद्	,,
प्रवाहिका, परिस्रव तथा परिकर्तिका व्यापद्	,,
हृद् ग्रहण नामक व्यापद्	५५१
सर्वगात्र परिग्रह व्यापद्	५५२
धातुस्रव नामक व्यापद्	,,
वमनातियोगकी चिकित्सा	,,
जीवदानका वर्णन	५५३
,, की चिकित्सा	,,
गुदभ्रंश आदिकी ,,	५५४
दोषापहरण वस्ति कल्प चौथा अध्याय—	
निरूहण कल्प	,,
दशमूलादि निरूहण कल्प	५५५
बलादि निरूहण ,,	,,
एरण्डादि ,, ,,	,,
यष्ट्यादि वस्तिकल्प	,,
रास्नादि निरूहण वस्तिकल्प	,,
कोषातकादि निरूहण वस्ति	५५६
प्रसृतवस्तियों का वर्णन	,
भगवान् पुनर्वसु के शब्दोंमें	,,
प्रसृतवस्तियों के योग	,,
सिद्ध वस्तियों का वर्णन	,,
मधुतैलिक वस्ति	५५७
यापन ,,	,
युक्तरथ ,,	,,
दोषहर ,,	,,
सिद्ध ,,	,,
गोमूत्र ,,	,,
यापन राजवस्तियोग	,,
अतिवृष्य रसायन	५५८
मयूर वस्ति	,,
संकेत	,,
गोधादि वस्ति	,,
सिद्ध वस्तियों में आहार	५५९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्नेह बस्तियोंकी कल्पना	५५६	अत्यशनावृत स्नेह व्यापत्	५६७
परिहार युक्त स्नेह बस्तियों की कल्पना	,,	विडावृत ,,	,,
बस्ता स्नेह का अनुवासन	,,	अभुक्त तथा धून्याशय व्यापद्	,,
तैल स्नेह	५६०	आमदत्त स्नेह व्यापद्	५६८
घृत ,,	,,	सवातप्रणीत व्यापद्	,,
वसा ,,	,,	अतिद्रुत तथा उत्क्षिप्त व्यापद्	,,
सैन्धवादि तैल	,,	उल्लुप्त व्यापद्	,,
कफनाशक अन्यान्य अनुवासन	,,	तिर्यक्, कम्पित, अतिप्रणदन, मन्द एवं बाह्य व्यापदें	५६९
कुछ संकेत	५६१	अतिवेग व्यापद्	,,
तीक्ष्ण एवं मृदु बनाने के संकेत	,,	वमनादि के अनन्तर कर्तन	,,
बस्तिव्यापत् सिद्धि पाँचवाँ अध्याय—		भेषजकल्प छठा अध्याय—	
विभ्रंशव्यापत्	५६२	औषध देश आदि	५७०
गौरवव्यापद्	५६३	औषध संग्रह विधि	५७१
आध्मानव्यापद्	,,	प्राणिज द्रव्यों के ग्रहण का संकेत	,,
शिरोरुक् व्यापद्	,,	कषायकल्पना	५७२
दाहक व्यापद्	५६४	कषाय बनाने की विधि	,,
ऊर्ध्वमारुता व्यापद्	,,	सामान्य मात्रा आदि का निषेध	५७३
कुक्षिशूल	५६५	स्नेहपाक विधि	,,
हिक्का व्यापद्	,,	स्नेहसिद्धि का लक्षण	,,
हृत्पीडा ,,	,,	अवलेह बनाने की विधि	,,
कर्तन ,,	,,	स्नेह पाक के भेद	५७४
स्तब्धव्यापद्	५६६	,, में द्रव का संकेत	,,
उपसंहार	,,	मान तौलका वर्णन	,,
व्यापदों का कारण	,,	आर्द्र एवं द्रवद्रव्यों के मान का संकेत	,,
वातावृत स्नेहव्यापद्	५६७	औषधमानका संकेत	,,
पित्तावृत ,,	,,	मान विषयक अन्य संकेत	,,
कफावृत ,,	,,	औषध भूमि	,,

उत्तरस्थान

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
बालोपचरणीय पहला अध्याय—		सूतिकोत्थान एवं नामकरण	५८१
जन्मके अनन्तर उल्बशोधन आदि उपचार	५७७	आयुकी परीक्षा	,,
नालच्छेदन एवं स्नान	५७८	शिशुके शय्या आदि	५८२
स्नेहपिचु आदि उपचार	,,	धूपनद्रव्य	,,
स्तनप्रवृत्ति	५७९	धारणयोग्यमणि एवं औष	,,
स्तन्यावतरणके पूर्व शिशुका आहार	,,	खेलनेकी भूमि	५८३
शिशुके लिये दुग्धव्यवस्था	५८०	कुमारागार	,,
स्तन्यनाश तथा स्तन्यवृद्धि	,,	बहिर्निष्क्रमण	,,
रोगकारक दूध	,,	उपवेशन एवं अन्नप्राशन	,,
उक्तस्तन्यके अभावमें	,,	कर्णवेध संस्कार	५८४
रक्षा विधान	५८१	चूडकर्म	५८५

विषय	पृष्ठ
स्तन्यपानसे निरोध	५८५
अन्यान्य संकेत	”
ब्राह्मीघृत	५८६
अष्टाङ्गघृत	”
सारस्वतघृत	”
वचादिघृत	”
चारयोग	”
वाक्शुद्धिकर योग	”
बालामयप्रतिषेध दूसरा अध्याय—	
बालकके तीन प्रकार	५८८
शुद्ध एवं अशुद्ध दूध	”
शिशुकी वेदना परीक्षा	५८९
धात्रीकी चिकित्सा	”
दन्तोद्भेद	५९०
शिशुकी औषधमात्रा	५९१
वमनका विधान	”
विरेचन एवं मर्शनस्य	५९२
स्तन्यदोष नाशक लेह	”
दन्तोत्पत्तिके उपाय	”
रजन्यादि चूर्ण	”
मुद्ग कषायपोषित घृत	”
आहार विहार	”
बालशोष—सुखण्डी	”
सुखण्डीकी चिकित्सा	५९३
यष्ट्यादिघृत	”
वचादि तैल	”
लाक्षादि तैल	”
अतिविषालेह	”
दुग्धजनित वमन चिकित्सा	”
अन्यउपाय	५९४
सदन्तजननमें शान्ति	”
पारिगर्भिकरोग	”
सामस्तन्यपान	५९५
स्तन्य जनित अतीसार	”
अतिक्षुधा	”
पर्वातुल्लक	”
तालुकण्टक	”
अहिपूतन रोग	५९६
क्षुद्रभक्षणजनित रोगचिकित्सा	”
नाभिपचन	५९७
तुण्डी आदिका वर्णन	”

विषय	पृष्ठ
स्तनलेपन	५९८
बालग्रहप्रतिषेध तीसरा अध्याय—	
बालग्रहोंकी उत्पत्ति एवं संख्या	५९८
ग्रहावेशका पूर्वरूप	५९९
” सामान्यरूप	”
स्कन्दावेशका लक्षण	”
स्कन्दापस्मार ”	”
नैगमेष ग्रहका लक्षण	”
श्वानामक ” ”	६००
पितृ ग्रहका लक्षण	”
शकुनि ” ”	”
पूतना ” ”	”
शीतपूतना ग्रहका लक्षण	
अन्धपूतना ” ”	”
मुखमंडिता ” ”	६०१
रेवती ” ”	”
शुष्करेवती ग्रहका लक्षण	”
असाध्य ग्रहावेशका ”	”
शुष्करेवतीका असाध्य लक्षण	”
ग्रहावेशके कारण	”
हिंसाके लिये आवेशके लक्षण	”
रतिके लिये ” ”	६०२
बलिके लिये ” ”	”
अन्यसंकेत	”
ग्रहावेशकी चिकित्सा	”
पूत्यादिधूप	६०३
वचाङ्गधूप	”
सर्षपादिधूप	”
अनन्तादिधूप	”
रास्नादिघृत	”
सारिवादिघृत	”
गोशृङ्गादिधूप	”
संकेत	६०४
बलि एवं धूप	”
होम तथा स्नपन	”
स्नानार्थं जल	”
चिकित्साका संकेत	”
भूतविज्ञान चतुर्थ अध्याय—	
भूतावेशका सामान्यलक्षण	६०५
” विशिष्ट लक्षण	”
छिद्र-आवेशका अवसर—	६०६

विषय	पृष्ठ
आवेशकी तिथियाँ एवं काल	६०६
भूतावेशका पूर्वरूप	,,
देवावेशका लक्षण	६०७
असुरावेशका ,,	,,
गन्धर्वावेशका ,,	,,
उरगावेशका ,,	,,
यक्षावेशका ,,	,,
ब्रह्मराक्षसावेशका ,,	६०८
राक्षसावेशका ,,	,,
पिशाचावेशका ,,	,,
प्रेतावेश ,,	,,
कूष्माण्डावेशका ,,	६०९
निषादावेशका ,,	,,
औकिरणावेशका ,,	,,
वेतालावेशका ,,	,,
पितृग्रहावेशका ,,	,,
गुरु आदिसे अभिशापका लक्षण	,,
असाध्य भूतावेश	,,
भूतप्रतिषेध पांचवाँ अध्याय—	
भूतावेशको चिकित्सा	६१०
औषध — हिंग्वादिवर्ग	,,
गव्याह्वादि योग	६११
सिद्धार्थतैलका अगद	,,
सिद्धार्थगुल्क गुटिका	,,
कार्पासास्थ्यादि धूप	,,
भूतराव घृत	,,
महाभूतराव घृत	६१२
अन्यान्य संकेत	,,
विशेष संकेत	,,
हिंग्वादि घृत	,,
असुरग्रहमें नस्य एवं बलि	६१३
नागग्रहमें बलिं, नस्य, अंजन	,,
यक्षग्रहमें ,, ,, ,,	,,
ब्रह्मराक्षसमें बलिआदि ,,	,,
राक्षसग्रहमें ,,	,,
पिशाचग्रहमें ,,	,,
अन्यसंकेत	६१४
शिवपूजनादि उपाय	,,
अन्यसंकेत	,,
उन्मादप्रतिषेध छठा अध्याय—	
उन्मादरोगकी संख्या	६१५
उन्मादका सामान्यलक्षण	६१५
उन्मादका निदान, सम्प्राप्ति आदि	,,
वातज उन्मादके लक्षण	६१६
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
त्रिदोषज उन्मादके लक्षण	६१७
आधिज ,, ,,	,,
विषज उन्माद	,,
सामान्य चिकित्सा	,,
हिंग्वादिघृत	६१८
ब्राह्मीघृत	,,
कल्याणघृत	,,
महाकल्याणघृत महापैशाचिक घृत	,,
ब्राह्म्यादिवर्ति	६१९
अन्यान्य उपाय	,,
अन्य धूप धाम आदि	,,
उन्माद में सिरावेध	,,
अन्य उपचार	६२०
भूतानुबन्धी उन्माद की चिकित्सा	,,
किसको उन्माद नहीं होता	६२१
उन्माद मुक्तिका लक्षण	,,
अपस्मारप्रतिषेध सातवाँ अध्याय—	
निदान संप्राप्ति एवं सामान्य लक्षण	६२२
अपस्मारका पूर्वरूप	,,
वातज अपस्मारका लक्षण	,,
पित्तज ,, ,,	,,
कफज ,, ,,	,,
त्रिदोषज ,, ,,	,,
अपस्मारकी सामान्य चिकित्सा	६२३
,, विशेष ,,	,,
पञ्चगव्यघृत	,,
महापञ्चगव्यघृत	,,
ब्राह्मीघृत	,,
यमकस्नेह	,,
अन्यघृत	,,
लक्षादिदुग्ध	,,
कूष्माण्डघृत	६२४
नस्ययोग	,,
धूप	,,
अपस्मारनाशक योग	,,
अन्यान्य उपचार	,,
रोगशान्तिके पश्चात कर्तव्य	,,

विषय	पृष्ठ
वर्त्मरोग विज्ञानीय आठवाँ अध्याय—	
नेत्ररोगोंका सामान्य निदान एवं सम्प्राप्ति	६२५
पक्ष्म तथा वर्त्मके २४ रोग	६२६
चिकित्सा संकेत	६२७
वर्त्मरोग प्रतिषेध नवाँ अध्याय—	
कृच्छ्रोन्मील चिकित्सा	६२८
कुम्भीका चिकित्सा	६२९
लेखनविधिका वर्णन	,,
पित्तोत्क्लिष्ट एवं रक्तोत्क्लिष्ट चिकित्सा	६३०
पक्ष्मशातन रोग चिकित्सा	,,
पोथकी ,,	,,
कफोत्क्लिष्ट ,,	,,
लगण ,,	,,
कुकूणक ,,	६३१
पक्ष्मोपरोध ,,	६३२
सन्धि सितासित रोग विज्ञान दसवाँ अध्याय—	
सन्धिरोग	,,
१—जलास्रव का वर्णन	६३३
२—कफ स्रव का ,,	,,
३—उपनाहरोग ,,	,,
४—रक्तस्रव का ,,	,,
५—पर्वणीका ,,	,,
६—पूयास्राव ,,	,,
७—पूयालस ,,	,,
८—अलजी ,,	,,
९—कृमिग्रंथि ,,	६३४
चिकित्सा संकेत	,,
श्वेतमण्डल रोग—	
१—शुक्ति शुक्तिका रोग	,,
२.३—शुक्लार्म एवं बलास ग्रथित	,,
४—पिष्टक रोग	,,
५—सिरोत्पात, ६—सिराहर्ष	,,
७—सिराजाल	,,
८—शोणितार्म	६३५
९—अर्जुन	,,
१०—प्रस्तारी कर्म ११—स्नायु कर्म	,,
१२—अधिमांसार्म १३—सिराज पिटिका	,,
चिकित्सा सूत्र	,,
१—क्षतशुक्र का वर्णन	,,
२—शुद्धशुक्र ,,	६३६
३—अजका ,,	,,
४—शिराशुक्र का वर्णन	६३६
५—अक्षिपाकात्यय जनित शुक्र.	,,
अन्यान्य शुक्र	,,
सन्धि सितासित रोग प्रतिषेध ग्यारहवाँ अध्याय—	
उपनाह चिकित्सा	६३७
पर्वणी ,,	,,
पूयालस ,,	,,
कृमि ग्रन्थि ,,	,,
शुक्तिका, बलास, ग्रथित तथा पिष्टक चिकित्सा	,,
सिरोत्पात, सिराहर्ष, सिराजाल तथा अर्जुन चिकित्सा	६३८
अर्म की सामान्य चिकित्सा	,,
पश्चात्कर्म	,,
महर्षि निमि प्रोक्त ३ अंजन	६३९
सिराजाल चिकित्सा	,,
शुक्र ,,	,,
विशेष ,,	,,
क्षत शुक्र हर वर्ति	६४०
दन्त वर्ति	,,
निम्न क्षत शुक्र चिकित्सा	,,
शुद्ध शुक्र ,,	,,
महानीला गुटिका	,,
स्थिरशुक्र चिकित्सा	,,
शुक्र हर्षण के उपाय	६४१
शुक्र नाशक अंजन	,,
शुक्र में लेखन कर्म आदि	,,
अंजन वर्ति	,,
अजका चिकित्सा	,,
अजका पर शस्त्रकर्म	६४२
अन्य उपचार	,,
दृष्टिरोग विज्ञानीय बारहवाँ अध्याय—	
दृष्टि रोग का सामान्य लक्षण	६४२
तिमिररोग का विशिष्ट लक्षण	६४३
गम्भीरिका नामक दृष्टिरोग का वर्णन	६४४
पित्तज दृष्टि रोग	,,
कफज ,,	,,
रक्तज ,,	,,
द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज दृष्टिरोग	६४५
नकुलान्ध्य लक्षण	,,
दोषान्ध्य-रतौंधी लक्षण	,,
उष्णविदग्ध दृष्टि	,,
नक्तान्ध्य का वर्णन	,,

विषय	पृष्ठ
अम्लविदग्धा दृष्टि का वर्णन	६४५
धूमर रोग का वर्णन	,,
औपसर्गिक लिंगनाश	६४६
साध्यसाध्य विवेचन	,,
तिमिर प्रतिषेध तेरहवाँ अध्याय—	
चिकित्सा संकेत	६४६
जीवन्त्यादि घृत	,,
द्राक्षादि ,,	,,
पटोलादि ,,	६४७
त्रिफला ,,	,,
महात्रिफला ,,	,,
त्रिफला घृत पर महर्षि निमिका विचार	,,
त्रिफला योग	,,
अन्ययोग	,,
त्रिफला और हरड़ के योग	६४८
चूर्णांजन	,,
मांस्यादि अंजन	,,
मरिचादि ,,	,,
विदेहपति निर्मित अंजन	,,
भास्कर अंजन	,,
तिमिरांतकर ,,	६४९
तुत्थांजन	,,
सीसक शलाका	,,
रसेन्द्रांजन	,,
गृध्राञ्जन	,,
कृष्णसर्पास्याञ्जन	६५०
कुक्कुटपुरीषाञ्जन	,,
सर्पवसाञ्जन	,,
अप्रतीसार-अञ्जन	,,
अक्षबीजादि गुटिका	,,
षण्मासिक अञ्जन	,,
रत्नाञ्जन	,,
तिलतैलादिनस्य	६५१
चिकित्सा संकेत	,,
उपसंहार	,,
वातजतिमिर चिकित्सा	,,
नस्य के लिए जीवन्ती तैल	,,
अन्यनस्य तैल	,,
अञ्जन—प्रत्यंजन	६५२
दूसरा तर्पण	,,
पित्तजतिमिर चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
विरेचन	६५२
वर्ति – अंजन	,,
चूर्ण ,,	,,
सौवीरादि ,,	,,
नस्य	,,
कफज तिमिर चिकित्सा	,,
विरेचन योग	६५३
नस्य	,,
विमला वर्ति	,,
कोकिला वर्ति	,,
शशदन्तादिवर्ति	,,
रक्तजतिमिर चिकित्सा	,,
वर्ति—अंजन	,,
द्वन्द्वज तथा त्रिदोषज तिमिर चिकित्सा	,,
नस्य एवं शिरोवस्ति	,,
रस रूप अंजन	,,
चूर्ण—अंजन	,,
काचचिकित्सा	६५४
रस रूप अंजन	,,
नकुलान्ध्य चिकित्सा	,,
निशान्ध्य ,,	,,
,, नाशक वर्ति	,,
पिप्पली पुटपाक	,,
खानेकी औषध	,,
घृतपान	,,
धूमर आदि रोगों की चिकित्सा	६५५
अंजन, नस्य, तर्पण	,,
दृष्टि दौर्बल्य का वर्णन	,,
सन्तर्पण	,,
दृष्टि रक्षाकी आवश्यकता	,,
दृष्टिरक्षाका प्रयत्न	६५६
लिङ्गनाश प्रतिषेध चौदहवाँ अध्याय—	
लिङ्गनाश में वेधनकर्म	६५६
असंजात लिंगनाश का लक्षण	,,
आवर्तकी आदि उपद्रवों के लक्षण	६५७
वेधनविधि के अयोग्य	,,
वेधन कर्मकी विधि	,,
पथ्यापथ्य का निर्देश	६५८
वेध कालीन व्यापद	६५९
शिरावेध	,,
लिंगनाश के दोष	६६०

विषय	पृष्ठ
वर्तिअंजन	६६१
पिण्डाञ्जन	,,
सर्वाक्षिरोग विज्ञान १५ वां अध्याय—	
वाताभिष्यन्द अधिमन्थ और हताधिमन्थ	६६१
अन्यतोवात तथा वातविपर्यय	६६२
पित्तज एवं कफज अभिष्यन्द और अधिमन्थ	,,
रक्तज अभिष्यन्द और अधिमन्थ	,,
शुष्काक्षिपाकका वर्णन	६६३
सशोफ पाक रोग का वर्णन	,,
अल्पशोफ का वर्णन	,,
अक्षिपाकात्यय का वर्णन	,,
अम्लोषित का ,,	६६४
सर्वगत रोग संख्या	,,
असाध्य रोग	,,
अधिमन्थ की काल मर्यादा	,,
सर्वाक्षि रोग प्रतिषेध १६ वां अध्याय—	
अभिष्यन्द के पूर्व रूप में	६६४
बिडालक विधान	,,
अवगुण्ठन विधान	६६५
पाकसूका अवचूर्णन	,,
सूतीविधान	,,
दारुहल्दी का सेचन	,,
शिग्रुपत्र का स्वरस	६६६
वातज अभिष्यन्द नाशक रोग	,,
अन्यान्य आश्च्योतन	,,
अन्य ,,	,,
,, पोटली	,,
लोध्रादि ,,	,,
नागरादि आश्च्योतन	,,
अभिष्यन्दों में अन्यान्य उपचार	,,
अधिमन्थ चिकित्सा	६६७
अधिमन्थों में वर्तिअञ्जन	,,
पाशुपतयोग	,,
शुष्काक्षिपाक चिकित्सा	,,
सशोफ तथा अल्पशोफ चिकित्सा	६६८
सन्धान योग	,,
तालीसादि गुटिकाञ्जन	,,
व्याघ्रादि सन्धान	६६९
अम्लोषित चिकित्सा	,,
पिल्लरोग तथा उनकी चिकित्सा	,,
की सामान्य चिकित्सा	,,
पिल्ल रोगकी विशेष चिकित्सा	६६९
तुत्थादि सेचन	,,
करञ्जादि रसक्रिया	
रसांजनादि अञ्जन	,,
पिल्लनाशक दो अञ्जन	,,
पिल्लशुक्रनाशक वर्ति	६७०
पुष्पकासीसादि अञ्जन	,,
आलादि चूर्णाञ्जन	,,
लाक्षादि मसी	,,
पिल्लरोगमें लेखनकर्म	,,
पूयालसमें दाहकर्म	,,
उपसंहार	,,
नेत्रोंके लिये पथ्य	,,
,, अपथ्य	६७१
नेत्रोंमें पादोपचार आदि	,,
कर्णरोग विज्ञानीय १७ वां अध्याय—	
वातज कर्णशूलका वर्णन	६७१
पित्तज ,, ,,	६७२
कफज ,, ,,	,,
रक्तज ,, ,,	,,
त्रिदोषज ,, ,,	,,
कर्णनादका ,,	,,
उच्चैः श्रुति तथा बधिरता	,,
प्रतिनाहरोगका वर्णन	,,
कर्णकण्डू तथा कर्णशोथ	,,
पूतिकर्णकरोग	६७३
कृमिकर्णक	,,
विद्रधि, शोथ, अर्श तथा अर्बुद	,,
कर्णशष्कुलीके रोग	,,
कूचिकर्णक	,,
पिप्पली एवं विदारिका का वर्णन	,,
पालीशोषका वर्णन	६७४
तन्त्रिकाका ,,	,,
परिपोट एवं उत्पादन वर्णन	,,
उन्मन्थका ,,	,,
दुःखवर्धनका ,,	,,
लेह्यपिटिकाका ,,	,,
साध्यासाध्य विवेक एवं संख्या	६७५
कर्णरोगप्रतिषेध १८वां अध्याय—	
वातज कर्णशूल चिकित्सा	६७५
पित्तज ,, ,,	

विषय	पृष्ठ
कफज कर्णशूल चिकित्सा	६७६
रक्तज ,, ,,	,,
कर्णपाककी ,,	,,
कर्णस्राव नाशक तैल	,,
कर्णनाद एवं बाधिर्य चिकित्सा	६७७
एरण्डादि तैल	,,
अतिविषातैल	,,
क्षारतैल	,,
कर्णस्वापचिकित्सा	,,
कर्णरोगोंमें वमन	,,
बाधिर्य चिकित्सा	,,
बिल्वादि तैल	६७८
प्रतिनाह, कण्डू, एवं शोथचिकित्सा	,,
पूतिकर्ण एवं कर्णकृमि ,,	,,
कर्णविद्रधि चिकित्सा	,,
अर्श, अर्बुद एवं विदारिका चिकित्सा	,,
पालीशोष चिकित्सा	६७९
अभ्यङ्गार्थ तैल	,,
तन्त्रिका एवं परिपोट चिकित्सा	,,
उत्पात एवं उन्मन्थ ,,	,,
दुःखवर्धन चिकित्सा	६८०
लेह ,,	,,
छिन्नकर्णकी ,,	,,
कर्णरोग विधानम्	,,
कर्णपाली वर्धक स्नेह	६८१
नासासन्धान विधि	,,
ओष्ठ सन्धान ,,	६८२
नासारोगविज्ञानीय १९वां अध्याय—	
प्रतिश्यायका सामान्य वर्णन	६८२
वातज प्रतिश्यायका ,,	६८३
कफज ,,	,,
पित्तज ,,	,,
त्रिदोषज ,,	,,
रक्तज ,,	,,
दुष्ट ,,	,,
पक्व ,,	,,
भ्रंशथुका लक्षण	६८४
नासाशोष एवं नासानाहके लक्षण	,,
घ्राणपाक तथा नासा स्राव	,,
अपीनसका वर्णन	,,
दीप्तिरोगका ,,	६८५
पूतिनासका वर्णन	६८५
पूयरक्तरोगका ,,	,,
पुटक ,, ,,	,,
नासार्श एवं नासार्बुदनिर्देश	,,
साध्यासाध्य विवेक	,,
नासारोग प्रतिषेध बीसवाँ अध्याय—	
प्रतिश्यायकी चिकित्सा	६८६
व्याघ्रादि वटी	,,
प्रतिश्यायमें धूमपान	,,
प्रतिश्यायमें अपथ्य	६८७
वातज प्रतिश्याय चिकित्सा	,,
पित्तज रक्तज ,,	,,
कफज ,,	,,
दुष्ट प्रतिश्यायकी ,,	,,
धूमवर्ति	६८८
भ्रंशथु एवं पुष्कर चिकित्सा	,,
नासाशोष एवं नासानाह	,,
पूतिनाश एवं अपीनास चिकित्सा	,,
पूयरक्त, अर्श, अर्बुद ,,	६८९
मुखरोग विज्ञानीय इक्कीसवाँ अध्याय—	
मुख रोगोंका निदान एवं सम्प्राप्ति	६८९
खण्डौष्ठका वर्णन	,,
ओष्ठ रोगोंका ,,	६९०
दन्त रोगोंका ,,	,,
दन्तमूलके १३ रोगोंका वर्णन	६९१
जिह्वा के रोगोंका ,,	६९२
तालुगत रोगोंका ,,	,,
कण्ठ रोगोंका ,,	६९३
शालूकका ,,	,,
वृन्दरोगका ,,	६९४
तुण्डिकेरी का ,,	,,
गलौघका ,,	,,
वलय का ,,	,,
गलायुका वर्णन	,,
शतघ्नीका ,,	,,
गलविद्रधिका वर्णन	६९५
गलार्बुदका ,,	,,
गलगण्डका ,,	,,
स्वरहारोगका ,,	,,
वृन्दका ,,	,,
मांसतानका ,,	,,

विषय	पृष्ठ
विदारीका वर्णन	६९५
सर्वमुखव्यापीरोगोंका वर्णन	६९६
बालमुखपाक	,,
ऊर्ध्वगुदरोगका वर्णन	,,
पित्तज तथा रक्तज मुखपाकका वर्णन	,,
कफज मुखपाक	,,
मुखार्बुदका वर्णन	,,
त्रिदोषज मुखपाक	,,
पूतिविकारका वर्णन	,,
मुखरोगोंकी संख्या एवं साध्यासाध्यता	,,
मुखरोग प्रतिषेध २२वां अध्याय—	
खण्डोष्ठ चिकित्सा	६९७
वातज ओष्ठ ,,	,,
पित्तज अभिघातज रक्तज एवं कफज ओष्ठरोग चिकित्सा	,,
मेदोज ओष्ठरोग चिकित्सा	,,
जलार्बुद चिकित्सा	६९८
गण्डालजी ,,	,,
दन्तरोगोंकी चिकित्सा	,,
दन्तहर्ष ,,	,,
दन्तचाल ,,	,,
अधिदन्त ,,	,,
दन्तशर्करा ,,	,,
कपालिका ,,	,,
कृमिदन्तक ,,	६९९
शीताद ,,	,,
उपकुश ,,	७००
दन्तपुप्पुट ,,	,,
विद्रधि ,,	,,
सौषिर ,,	,,
अधिमांस ,,	,,
विदर्भ ,,	,,
दन्तनाडी ,,	,,
जीभके रोगोंकी ,,	७०१
अलसरोग ,,	,,
गलशुण्डिका ,,	७०२
तालुपाक ,,	,,
तालुशोष ,,	,,
कण्ठरोग ,,	,,
वातजरोहिणी ,,	७०३
पित्तजरोहिणी ,,	,,

विषय	पृष्ठ
रक्तज रोहिणी चिकित्सा	७०३
कफज ,, ,,	,,
वृन्द, शालूक, तुण्डिकेरी तथा गलायु चि०	,,
विद्रधि चि०	,,
गलगण्ड चि०	,,
मुखपाकों की सामान्य चि०	७०४
,, विशिष्ट ,,	,,
मुखार्बुद चिकित्सा	७०५
पूति मुखरोग ,,	,,
विदेह प्रणीत गुटिका	,,
खदिरादि तैल	,,
मुखकान्तिकारक उबटन	,,
बाणादितैल	,,
खदिरादि गुटिका	७०६
अरिमेद तैल	,,
उक्त गुटिका तथा तैल प्रशंसा	,,
क्षुद्रादि कवल	,,
पाठादि मञ्जन	,,
काल्कचूर्ण	,,
पीतक चूर्ण	७०७
द्राक्षादि रसक्रिया	,,
मुखरोगों में पथ्य प्रयोग	,,
सप्तच्छदादि क्वाथ	,,
पटोलादि ,,	,,
दार्वीका घनक्वाथ	,,
परवलआदिका ,,	,,
खदिरादि गण्डूष	,,
मुखरोगों में रक्तस्रावण	७०८
शिरोरोग विज्ञानीय २३ वां अध्याय—	
शिरोरोगों का वर्णन	७०८
शिरः कम्पका लक्षण	७०९
शङ्खकरोग का वर्णन	,,
सूर्यावर्त का ,,	,,
क्षयज शिरोरोग का वर्णन	७१०
अनन्तवात का ,,	,,
शिरः कपाल के रोग	,,
उपशीर्षक	,,
पिटिका, अर्बुद एवं विद्रधि	,,
अरुंषिका वर्णन	
दारुणक ,,	

विषय	पृष्ठ
इन्द्रलुप्त वर्णन	७११
खलति ,,	,,
पलित ,,	,,
साध्यासाध्य विवेक	,,
शिरोरोग प्रतिषेध २४ वां अध्याय—	
वातज शिरोरोग चिकित्सा	७१२
अर्द्धावभेदक ,,	,,
सूर्यावर्त ,,	७१३
अनन्तवात ,,	,,
क्षयज शिरोरोग ,,	,,
पित्तज, रक्तज एवं शंखक ,,	,,
कफज एवं त्रिदोषज शिरोरोग चि०	,,
कृमिज शिरोरोग चि०	७१४
शिरः कम्प ,,	,,
उपशीर्षक ,,	,,
विद्रधि, पिटिका तथा अर्बुद चि०	,,
अरुंषिका चि०	७१५
दारुणक चि०	,,
इन्द्रलुप्त चि०	,,
खलित—पलित चि०	,,
इन्द्रलुप्त में गल स्पर्श निषेध	,,
पलित में नील्यादि तैलनस्य	७१६
क्षीरादि तैल की नस्य	,,
पलित में लेप	,,
हरिल्लोम तथा वलियों में लेप	,,
केशवृद्धिकर लेप	,,
पलित नाशक दो योग	,,
प्रपौण्डरीकादि तैल	,,
यमक नस्य	७१७
मायूर घृत	,,
महामायूर घृत	,,
अन्यान्य घृतों की कल्पना	,,
शालाक्य तंत्र के रोगों की संख्या	,,
उत्तमाङ्गगत रोगों की चिकित्सा में सावधानता	,,
व्रणप्रतिषेध २५ वां अध्याय—	
व्रण के भेद	७१८
दुष्टव्रणका सामान्य लक्षण	,,
व्रण के १५ प्रकार	७१९
शुद्ध व्रण के लक्षण	७२०
व्रण के आशय	,,
सुख साध्य व्रण	७२०
कृच्छ्रसाध्य व्रण	,,
असाध्य ,,	७२१
रोपण बाधक हेतु	,,
व्रण रोहण का लक्षण	,,
व्रणशोथ चिकित्सा	७२२
व्रणशोथ में शोधन	,,
,, शीतोपचार	,,
,, रक्तस्रावण	,,
रक्तमोक्षणानन्तर शीतल लेप एवं सेचन	,,
दाह शामक लेप	,,
वातज व्रणशोथ चिकित्सा	,,
विम्लापन विधि	७२३
उपनाह विधि	,,
दारणकर्म विधि	,,
पीडन कर्म	,,
क्षालन आदि कर्म	,,
उत्सादन कर्म	७२४
अवसादन कर्म	,,
क्षारकर्म	,,
अग्नि कर्म	,,
रोपण लेप	७२५
अमरोपण ले।	,,
रोपण घृत एवं तैल	,,
रोपण लेप	,,
अवचूर्णन कर्म	,,
त्वचाशोधन लेप	,,
सवर्ण कारक लेप	,,
रोमसंजनन लेप	,,
व्रणरोगी का पथ्य	७२६
सामान्य चिकित्सा निर्देश	,,
जात्यादि घृत	,,
सद्योव्रण प्रतिषेध २६ वां अध्याय—	
सद्योव्रण का वर्णन	७२६
चिकित्सा—सेचन	७२७
लेपन आदि	,,
सन्धान	,,
शोधनादि उपचार	,,
स्नेहपानादि ,,	,,
कालनिर्देश	,,

विषय	पृष्ठ
नेत्रगत सद्योव्रणों की चिकित्सा	७२८
कर्णशष्कुली च्युति ,,	,,
कृकाटिका छेदन ,,	,,
शाखा आघात ,,	७२९
विलम्बित मुष्क ,,	,,
पातितसद्योव्रण ,,	,,
विद्ध विदलित व्रण ,,	,,
भिन्न व्रण वर्णन	७३०
,, चिकित्सा	,,
अन्त्र के भिन्न व्रण	,,
उदरगत भिन्न व्रण चिकित्सा	७३१
अन्त्र प्रवेश विधि	,,
तालीसादि तैल	७३२
सद्योव्रणों में चिकित्सा संकेत	,,
तैलद्रोणी का विधान	,,
भग्नप्रतिषेध २७ वां अध्याय—	
भग्न का निदान एवं उसके भेद	७३३
कष्टसाध्य अस्थि भग्न	७३४
असाध्य भग्न	,,
अस्थिभेद से भग्नभेद	,,
सन्धिमुक्त चिकित्सा	,,
बन्ध का महत्त्व	७३५
बन्धनपरिवर्तन	,,
सेचन एवं लेपन	,,
भग्न में लाक्षा योग	,,
सकलभग्न चिकित्सा	,,
उपसंहार	७३६
सन्धानस्थिरता की अवधि	,,
कपाटशयन	,,
पुराने भग्न की चिकित्सा	,,
रूढ़ काण्ड भग्न की चिकित्सा	,,
पाक रोकने का प्रयत्न	,,
भग्न में पथ्य एवं अपथ्य	,,
गन्ध तैल	७३७
भगन्दर प्रतिषेध २८ वां अध्याय—	
भगन्दर का वर्णन	७३९
,, विशिष्ट वर्णन	,,
वातपोनक आदि के लक्षण	७४०
लक्षण संकेत	,,
साध्यासाध्य विवेक	,,
भगन्दर चिकित्सा	७४१
गोतीर्थक आदि छेदों का वर्णन	,,
ज्योतिष्मती तैल	,,
मधुकादि तैल	७४२
विडंगादि योग	,,
गुग्गुलु के दो योग	,,
अन्य दो गुग्गुलु योग	,,
त्रिफला गुग्गुलु	,,
पथ्यादि का संकेत	,,
अपथ्यपरिहार	,,
ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, अपची, नाड़ी, विज्ञान २९ वां अध्याय—	
ग्रन्थिका वर्णन	७४३
साध्यासाध्य विवेक	७४४
अर्बुदका वर्णन	,,
शोणितार्बुद	,,
साध्यासाध्य विवेक	,,
श्लीपदका वर्णन	,,
अपची गण्डमालाका वर्णन	,,
नाड़ीव्रणका वर्णन	७४५
ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, नाड़ी, अपची प्रतिषेध ३० वां अध्याय—	
ग्रन्थि चिकित्सा	७४६
अर्बुद चिकित्सा	,,
श्लीपद ,,	७४७
अपची ,,	,,
भद्राश्रितादि तैल	७४८
वचादि तैल	,,
शरपुंखायोग	,,
उत्तमवारुण्यादि तैल	,,
लेप	७४९
अपचीमें शस्त्रकर्म	,,
नाड़ीव्रण चिकित्सा	,,
चिकित्सा संकेत	७५०
चञ्चुफल प्रयोग	,,
नाड़ीव्रण नाशक वर्ति	,,
अन्यान्ययोग	,,
क्षुद्ररोगविज्ञान ३१वां अध्याय—	
अजगल्लिका पिटिका	७५१
यवप्रख्या ,,	,,

विषय		पृष्ठ
कच्छपी	पिटिका	७५१
पनसिका-पाषाणगर्दभ	,,	,,
मुखदूषिका	,,	,,
पद्मकण्टक	,,	,,
विवृता	,,	,,
मसूरिका	,,	,,
विस्फोट	,,	,,
विद्ध तथा गर्दभी		७५२
कक्षाका	वर्णन	,,
गन्धनामाका	,,	,,
राजिका	,,	,,
जालगर्दभ	,,	,,
अग्निरोहिणी	,,	,,
इरिवेल्लिका	,,	,,
विदारी लक्षण		,,
शर्करार्बुदका वर्णन		७५३
वल्मीकका	,,	,,
कदरका	,,	,,
रुद्धगुदका	,,	,,
उपनखका	,,	,,
कुनखका	,,	,,
अलसका	,,	,,
तिलकालक आदि वर्णन		७५४
व्यङ्गका	,,	,,
प्रसुप्तिका	,,	,,
उत्कोठ एवं कोठ	,,	,,
उपसंहार		,,
क्षुद्ररोगप्रतिषेध ३२ वां अध्याय—		
अजगल्लिका, यवप्रख्या, कच्छपी,		
पनसिका, तथा पाषाणगर्दभकी चिकित्सा		७५५
मुखदूषिका चिकित्सा		,,
पद्मकंटक		,,
विवृतासे जालगर्दभपर्यन्तकी चि०		,,
जालगर्दभ चिकित्सा		,,
विदारिका	,,	,,
शर्करार्बुद	,,	,,
वल्मीक	,,	,,
कदर	,,	७५६
रुद्धगुद	,,	,,
चिप्प	,,	,,
कुनख, अलस एवं तिलकालक चि०		,,

विषय		पृष्ठ
चर्मकील एवं जतुमणि चि०		७५६
लाञ्छन व्यङ्ग एवं नीलिका चि०		,,
कुंकुमादि तैल		७५७
मञ्जिष्ठादि स्नेह		,,
भृंगराज नस्य		,,
प्रसुप्तिकी चिकित्सा		,,
उत्कोठकी चिकित्सा		,,
गुह्यरोगविज्ञान ३३वां अध्याय—		
गुह्यरोगका निदान एवं सम्प्राप्ति		७५८
उपदंशका वर्णन		७५९
मांसकीलका	,,	,,
सर्षपिकाका	,,	,,
अवमन्थका	,,	,,
कुम्भीकाका	,,	,,
संव्यूढपिटिका	वर्णन	७६०
मृदितपिटिका	,,	,,
अष्ठीलिकाका	,,	,,
विवृत्तका	,,	,,
अवपाटिकाका	,,	,,
निरुद्धमणिका	,,	,,
ग्रथितका	,,	,,
स्पर्शहानिका	,,	,,
शतपोनकका	,,	,,
त्वक्पाकका	,,	,,
मांसपाकका	,,	,,
रक्तार्बुदका	,,	,,
मांसार्बुद एवं विद्रधिका संकेत		७६१
तिलकालकका वर्णन		,,
साध्यासाध्य विवेक		,,
योनिव्यापदका वर्णन		,,
वातज व्यापद्		,,
अतिचरणा व्यापद्		,,
प्राक्चरणा	,,	७६२
उदावृत्त एवं वातघ्नी व्यापद्		,,
अन्तर्मुखी	,,	,,
सूचीमुखी	,,	,,
शुष्का	,,	,,
वामिनी	,,	७६३
षण्ढा	,,	,,
महायोनि	,,	७६४
पैत्तिकी एवं रक्तयोनि व्यापद्		,,

विषय	पृष्ठ
श्लैष्मिकी एवं लोहितक्षया व्या०	७६४
परिप्लुता व्या०	,,
उपप्लुता तथा विप्लुता	,,
कर्णिनी तथा सन्निपातकी व्यापद	७६५
उपसंहार	,,
गुह्यरोग प्रतिषेध ३४ वां अध्याय—	
उपदंश चिकित्सा	,,
मांसकीलक ,,	७६६
सर्षपिका ,,	,,
अवमन्थ ,,	,,
कुम्भीका ,,	,,
अलजी ,,	,,
उत्तमा ,,	,,
पुष्करिका सम्मूढ़ा चिकित्सा	,,
त्वक्पाक, स्पर्श हानि, मृदित चिकित्सा	,,
अष्ठीलिका चिकित्सा	,,
विवृत्त एवं अवपाटिका चिकित्सा	,,
निरुद्धमणि चिकित्सा	७६७
ग्रथित चिकित्सा	,,
शतपोनक चिकित्सा	,,
शोणितार्बुद ,,	,,
उपसंहार	,,
योनिव्यापद् चिकित्सा	,,
काश्मर्यादि तैल	७६८
वचादि योग	,,
अन्यान्य उपचार	,,
पित्तज योनिव्यापद् चिकित्सा	७६९
शतावरी अवलेह	,,
अन्य दूध एवं घृत	,,
बलादि यमक स्नेह	,,
रक्तयोनि चिकित्सा	,,
पुष्यानुग चूर्ण	७७०
श्लैष्मिकी व्यापद् चिकित्सा	,,
धातक्यादि तैल	७७१
योनिव्यापदोंमें अन्यान्य योग	,,
अवचूर्णन योग	,,
अवचूर्णन एवं परिषेचन	,,
अन्यान्य उपचार	,,
उपसंहार	,,
शुक्रदोष चिकित्सा संकेत	७७२
मञ्जिष्ठादि योग फलघृत	७७२
विषप्रतिषेध ३५ वाँ अध्याय—	
विषकी प्रागुत्पत्तिका वर्णन	,,
विषके भेद	७७३
,, गुण	,,
,, मारकत्व	,,
विषद्वारा मृत्यु	,,
स्थावर विषके सातवेग	७७४
विष चिकित्सा	,,
विषनाशक यवागू	,,
चन्द्रोदय नामक अगद	७७५
दूषीविषका वर्णन	,,
,, चिकित्सा	७७६
दूषीविषारि अगद	,,
विषदिग्ध विद्धका वर्णन	,,
दिग्धविद्धकी चिकित्सा	७७७
गर विषका वर्णन	,,
गर विषकी चिकित्सा	७७८
साध्यासाध्य विवेक	,,
विष वर्द्धक आहार विहार	,,
विषवृद्धि एवं विष ह्रास	,,
,, चिकित्सा संकेत	,,
सर्प विष प्रतिषेध ३६ वां अध्याय—	
सर्प उनके विष, तथा दष्ट का वर्णन	७७९
सर्पदंशनके कारण	७८०
चिकित्सा संकेत	,,
सर्पदंशके भेद	,,
विषका रक्तसे योग	,,
स्पर्श से शोथकी उत्पत्ति	७८१
शंकाविष	,,
सविषदंश	,,
दर्वीकर सर्पके विषवेग	,,
मण्डली सर्पके ,,	,,
राजीमान् ,,	,,
चिकित्सा निर्देश	७८२
अल्पविष सर्प	,,
तीव्रविषसर्प	,,
असाध्य लक्षण	,,
सर्पदष्टकी मृत्युके पूर्वरूप	,,
अन्य लक्षण	

विषय	पृष्ठ
चिकित्सा संकेत	७८१
विषसंक्रमण काल	७८३
तात्कालिक अन्य उपचार	"
अरिष्टा बन्धन	"
उत्कर्तन कर्म	"
विषपर अग्नि कर्म	"
आचूषण लेपन एवं सेचन	"
सिरावेध आदि	७८४
हृदयावरण	"
विशेष चिकित्सा	७८५
दर्वीकर विष चिकित्सा	"
तण्डुलीयकादि अगद	"
सुवर्चादि "	"
हिमवान् "	"
काश्मर्यादि पान	"
अष्टाङ्ग अगद	"
कटुकादि "	७८६
काण्डचित्रा विष चिकित्सा	"
करवीरादि अगद	"
शिरीषादि "	"
नलादि "	"
दर्वीकरकी वेगानुसार चिकित्सा	"
मण्डलीकी " "	"
राजिमान्की " "	७८७
चिकित्सा संकेत	"
वज्रनामक अगद	"
बिल्वादि "	"
विषोद्धरणकी आवश्यकता	"
पश्चात्कर्म	"
सर्पाङ्गाभिहत एवं शंकाविष चि०	"
दिव्यौषधि धारण	७८८
कीटलूतादि विष प्रतिषेध ३७ वां अध्याय—	
कीटोंका वर्णन	७८८
वृश्चिकका वर्णन	"
उच्चिटिंग कीट का वर्णन	७८९
कीटों की प्रकृति तथा चिकित्सा संकेत	"
वातादि कोपक विषके लक्षण	"
चिकित्सा	७९०
विषनाशकधूप	"
चिकित्सा संकेत	"
विरेचनयोग	७९०
अन्यान्य योग	"
बिच्छू के विष की चिकित्सा	"
अन्यान्य उपचार	७९१
लूता का वर्णन	"
लूतादंश का सामान्य लक्षण	७९२
विष उगलने का वर्णन	७९३
लूता की चिकित्सा	"
रक्तस्रावण आदि उपचार	"
पद्म अगद	"
चम्पक "	"
मन्दर तथा गन्धमादन अगद	७९४
शोधन का विधान	"
वमनयोग	"
विरेचन योग	"
कर्णिकापातन	"
विष में घृतका महत्त्व	"
तीन अगद	"
रोध्रादि अगद	७९५
मूषिकालर्कविष प्रतिषेध ३८ वां अध्याय—	
मूसा का वर्णन	७९५
असाध्य लक्षण	७९६
कुत्ता के विष का वर्णन	"
असाध्य लक्षण	"
जलत्रास का वर्णन	"
आखुविष की चिकित्सा	"
कुत्ता आदि के विष की चिकित्सा	७९७
अन्यान्य प्राणियों के विष की चि०	७९८
रसायनाध्याय ३९ वां अध्याय—	
रसायन का फल तथा निरुक्ति	७९९
रसायन के समय आदि	"
रसायन सेवन के दो प्रकार	"
कुटीनिर्माणविधि	८००
प्रवेश आदि की विधि	"
विरेचन योग	"
ब्राह्मरसायन योग	८०१
अभयामलकावलेह	"
आमलक रसायन	"
च्यवनप्राश रसायन	८०२
त्रिफला रसायन	८०३

विषय	पृष्ठ
मेध्यरसायन	८०३
मलयादि घृत रसायन	"
पञ्चारविन्द घृत	"
चतुष्कुवलय घृत	"
ब्राह्म्यादि रसायन	८०४
नागबला रसायन	"
अन्यान्य रसायनयोग	"
चित्रक रसायन	८०५
(१) भल्लातक रसायन	"
(२) भल्लातक स्वरस	८०६
(३) अमृतप्राश रसायन	"
(४) भल्लातक तैल	"
भल्लातक के अनेक योग	८०७
" गुणदोष	"
तुवरक रसायन	"
पिप्पली रसायन	८०८
शुण्ठी आदि के रसायन प्रयोग	८०९
सोमराजी रसायन	"
लशुन रसायन	"
पलाण्डु	८११
शिलाजतु रसायन	८१२
रसायन विधि निर्देश	"
वयः स्थापक चार योग	८१३
हरीतकी रसायन	"
अन्य हरीतकी रसायन	"
आमलक "	"
धात्र्यादि रसायन योग	"
लौहभस्मादि रसायन	"
विडंगादि "	"
त्रिफला "	"
बीजक "	"
पुनर्नवा "	"
पौनर्नवकल्प	८१४
शतावरी रसायन	"
अश्वगन्धा "	"
तिल "	"
श्वदंष्ट्रादि चूर्ण	"
तिलादिरसायन	"
तिलाजस्वादि "	"
भृङ्गराज "	"

विषय	पृष्ठ
वचा रसायन	८१४
मण्डूकपर्णी "	"
काङ्क्ष्यादि गुडिका	"
नारसिंह घृत रसायन	८१५
अन्य रसायन योग	"
नारसिंह तैल रसायन	८१६
उपसंहार	"
व्यापद् चिकित्सा निर्देश	"
आचार रसायन	"
नित्य रसायन एवं रसायन योगों का फल	"
परिपूर्ण रसायन का लक्षण	"
वाजीकरण विधि ५० वां अध्याय—	
वाजीकरण का विवरण	८१७
वाजीकरण का पूर्व कर्म	"
सन्तान हीन की निन्दा	८१८
सन्तान प्रशंसा	"
वाजीकरण प्रयोग	"
शरमूलादि वाजीकरण योग	८१९
विदार्यादि योग	"
आत्मगुप्तादि "	"
तिलप्रयोग	"
विदारीकन्द योग	"
आमलक योग	"
मधुयष्टि योग	८२०
कर्कटशृङ्गी "	"
क्षीरकाकोली "	"
स्वयंगुप्तादि "	"
उच्चटा एवं शतावरी योग	"
दधियोग	"
गोक्षुरादि योग	"
उपसंहार	"
विषय सुख की महिमा	"
नारी प्रशंसा	"
रतिचर्याकी विधिका संकेत	८२१
सहायक वाजीकरण	८२२
रोगनाशकमुख्य द्रव्य संकेत	८२३
चिकित्सा एवं अचिकित्सा विषयक प्रश्नोत्तर	८२४
कालाऽकाल मृत्युका विचार	८२५
चिकित्साशास्त्रमें विश्वास	८२६
चिकित्साशास्त्रकी प्रशंसा	८२७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आयुर्वेदका अमृतत्व	८२७	अष्टांगहृदयके पाठककी प्रशंसा	८२८
कुवैद्य निन्दा	"	अभिनिवेशकी निन्दा	८२९
सद्वैद्य प्रशंसा	"	अन्य कारण	"
ग्रन्थप्रशंसा	८२८	इसीका पुनः समर्थन	८३०
इसके पठन पाठनकी प्रेरणा	"	शुभकामना	"
इसग्रन्थका फल	"		

卐 श्रीगणेशाय नमः 卐

श्रीमद्वाग्भटविरचितम्

अष्टाङ्गहृदयम्

"सर्वाङ्गसुन्दरी" व्याख्या विभूषितम्

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण

रागादिरोगान् सततानुषक्तान्,
अशेषकायप्रसृतानशेषान्।
औत्सुक्यमोहाऽरतिदाञ्जघान
योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १ ॥

व्याख्या—जिसने राग द्वेष आदि रोगों को, जो कि सर्वदा मानव के पीछे लगे रहते हैं एवं समस्त शरीर में फैले रहते हैं और उत्सुकता, मोह एवं अरति को उत्पन्न करते रहते हैं, उन सबको नष्ट किया (या नष्ट करने का प्रयत्न किया था) उस अपूर्व वैद्य को नमस्कार हो ॥१॥

वक्तव्य—रागादि रोग—राग, द्वेष, लोभ, मोह, मत्सर एवं ईर्ष्या आदि मानसिक रोग।

अशेष काय प्रसृत—इन राग आदि रोगों का प्रभाव मनस् एवं शरीर दोनों पर पड़ता है फलतः औत्सुक्य की उत्पत्ति हो जाती है, तदनन्तर मोह (वैचित्य—चित्त विकृति की उत्पत्ति हो जाती है और तदनन्तर अरति (व्याकुलता—बेचैनी) की उत्पत्ति हो जाती है, यह दशा मानव मात्र के लिये बड़ी ही बुरी हो जाती है।

अपूर्व वैद्य—वही अपूर्व वैद्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वैद्य था जिसने अपने इन राग आदि रोगों को नष्ट किया अथच दूसरों को इन रोगों के परित्याग का उपदेश दिया उसको श्री वाग्भट जी का नमस्कार हो।

धम्मपद (धर्मपद) नामक ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि (धर्मपद—यमक वर्ग,—

अल्पामपि संहितां भाषमाणो धर्मस्य भवति अनुधर्मचारी।
रागं द्वेषं प्रहाय मोहं सम्यक् प्रजानन् सुविमुक्तचित्तः।
अनुपाददत् इह वा अमुत्र वा स भागवान् श्रामण्यस्य भवति।

अर्थात्—जो मानव—थोड़ी सी भी धर्मसंहिता (धर्म-ग्रन्थ) पढ़कर तदनुसार धर्माचरण करता है और राग, द्वेष तथा मोह का परित्याग करके एवं सांसारिक कर्मों को भली भाँति समझता हुआ फलतः उनका ग्रहण न करता हुआ विमुक्त-(अनासक्त) होकर रहता है वह इस लोक में अथवा परलोक में श्रमणता का अधिकारी होता है—सुखी या बन्धनमुक्त रहता है।

और गीता अ० २ में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गः तेषु उपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

अर्थात्—ऐन्द्रियक विषयों का चिन्तन करने से विषयों में सङ्ग (राग—आसक्ति) और सङ्ग से काम (कामना) काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह (चित्त विकृति), सम्मोह से स्मृति विभ्रम (भूलना—अरति) स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश (विवेक का नाश) और बुद्धि नाश से मानव का विनाश हो जाता है अर्थात् इह लोक और पर लोक बिगड़ जाता है।

जिस किसी भी उपदेशक ने मानव के अथवा अपने राग आदि रोगों को नष्ट करने का प्रयत्न किया अथवा उपाय बतलाया उस महान् आत्मा (महापुरुष) को नमस्कार किया गया है। यद्यपि यहाँ किसी नाम का उल्लेख नहीं है तथापि—हमारे विचार में श्री वाग्भटाचार्य का यह अपूर्व वैद्य भगवान् बुद्ध ही हैं क्योंकि—श्री वाग्भटाचार्य ने इस अष्टाङ्ग हृदय ग्रन्थ की रचना के पूर्व अष्टाङ्ग संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें आपने जो मङ्गलाचरण किया है वह इस प्रकार है—

तृष्णादैर्घ्यमसद्विकल्पशिरसं प्रद्वेषचञ्चत्फणं
कामक्रोधविषं वितर्कदशनं रागप्रचण्डेक्षणं।
मोहाऽऽस्यं स्वशरीरकोटरशयं चित्तोरगं दारुणम्
प्रज्ञामन्त्रबलेन यः शमितवान् बुद्धाय तस्मै नमः ॥१॥

अर्थात्—जिसने प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान) रूपी मन्त्र शक्ति द्वारा—अपने शरीर रूपी कोटर (बाम्बी) में रहने वाले मनस् रूपी भीषण सर्प को शान्त (विकार रहित) कर दिया उस बुद्ध भगवान को नमस्कार है, उस सर्प की लम्बाई तृष्णा (वासना विषयोपभोग की लालसा) है, शिरस् - दूषित विचार है, फन—चमचमाता द्वेष है, विष – काम एवं क्रोध है, दन्त—विविध तर्क-वितर्क (विपरीत विचार) हैं, नेत्र—प्रचण्ड (अपराधी चाण्डाल)—राग (संग—आसक्ति) हैं और मुख—मोह (चित्त विकृति) है।

और द्वितीय श्लोक इस प्रकार है —

रागादिरोगाः सहजाः समूला
येनाऽऽशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ताः ।
तमेकवैद्यं शिरसा नमामि
वैद्याऽऽगमज्ञांश्च पितामहादीन् ॥२॥

अर्थात्—जिसने अपने एवं संसार (दूसरों) के सहज (स्वाभाविक) राग आदि सब रोगों को मूलतः (जड़से) दूर भगा दिया (फेंक दिया) उस एक मात्र वैद्य को तथा वेत्ता ब्रह्मा आदि को शिर नवाकर प्रणाम करता हूँ।

इसी द्वितीय श्लोक को परिवर्तित करके उक्त "रागादि रोगान्······नमोस्तु तस्मै" श्लोक की रचना की गई है।

अशेष काय—अशेषाश्च ते काया इति अशेषकायाः अर्थात् समस्त प्राणियों के काय—मानवमात्र के शरीर अथवा समस्त शरीर।

अष्टांग हृदय – आयुर्वेद के आठ अंग हैं (देखिये श्लो० ८) उन आठों अंगों का हृदय अर्थात् सार—इस ग्रन्थ में आठों अंगों का सार वर्णित है—अष्टानां अंगानां हृदयमिव हृदयम् इति अष्टांगहृदयम्।

सूत्रस्थान— सु० सू० अ० ३

सूचनात् सूत्रणात् चैव स्रवनात् च अर्थ सन्ततेः ।
·····················सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥१२॥

अर्थात्—सूत्र स्थान में—अर्थ समूहों का सूचन (सूचना विज्ञापन) होता है अथच उनका सूत्रण (संग्रन्थन) होता है और उन्हीं का शरीर स्थान आदि अन्य स्थानों में स्रवन (जनन—विवेचन या विस्तार) होता है इन सब कारणों से इस स्थान (३० अध्यायात्मक ग्रन्थ भाग) का नाम है "सूत्रस्थान"। इस ग्रन्थमें इस प्रकार के ६ स्थान हैं यथा—१—सूत्र स्थान, २—शारीर स्थान, ३—निदान स्थान, ४—चिकित्सा स्थान, ५—कल्प स्थान और ६ – उत्तर स्थान।

मङ्गलाचरण—प्राचीन शिष्टों की परम्परा है कि किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण होना चाहिये अतः श्री वाग्भटाचार्य ने ग्रन्थ रचना के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में अपने इष्ट को नमस्कार किया है। तदनुसार हम भी इस व्याख्या के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हैं यथा—

पितरं शिवचन्द्राख्यं श्रद्धादेवीं स्वमातरम् ।
स्वसारं शंकरीं देवीं प्रणमाम्यन्तरात्मना ।

अथात आयुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब आयुष्कामीय अध्याय की व्याख्या करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में जो कुछ कहा जायगा वह सब आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि के चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार कहा जायगा उनसे विपरीत नहीं। अष्टाङ्ग संग्रह में आपने कहा है कि—

न मात्रा मात्रमप्यत्र किंचित् आगम वर्जितम् ।

अर्थात्—इस ग्रन्थ में बिन्दु विसर्ग एवं अ, आ आदि मात्रा मात्र भी आगम (वेद एवं शिष्टानुमोदित, लोकानुग्रहकारी शास्त्र) से रहित नहीं है सब कुछ (आप्तशास्त्राति-रिक्त नहीं है सब कुछ) शास्त्रानुकूल है।

आयुष्कामीय—आयुः कामयन्ते ये ते आयुष्कामाः तेभ्यो हितः अध्यायः आयुष्कामीयः। अर्थात् आयु की कामना करने वालों का जो हित है उसका नाम है "आयुष्कामीय"। इस अध्याय में – समस्त आयुर्वेद शास्त्र की मान्यताओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है और उन्हीं का वर्णन समस्त ग्रन्थ में विस्तार से किया जायगा ॥ १ ॥

आयुर्वेद का प्रयोजन

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ २ ॥

व्याख्या- धर्म, अर्थ एवं काम नामक पुरुषार्थों का साधन आयुः है अतः आयु की कामना करने वाले को आयुर्वेद के उपदेशों में परम आदर करना चाहिये।

वक्तव्य—अर्थात्—आयुर्वेद के उपदेशों (विधि एवं निषेधों) का आदर (पालन) करने से आयुः का लाभ होता है और उससे धर्म आदि की सिद्धि।

धर्म—उस विधि-निषेध का नाम है जिससे धारण एवं पोषण होता है, अर्थ—धन सम्पत्ति आदि विविध जीवनोपयोगी उपकरणों का नाम है और सुख—शारीरिक एवं मानसिक और ऐहिक एवं पारलौकिक सुख का नाम है। यह सब आयुः की स्थिति पर निर्भर है और आयुः की स्थिति आयुर्वेद के उपदेशानुसार चलने से रह सकती है अतः आयुर्वेद के उपदेशों का आदर करना चाहिये। जिस शास्त्र के द्वारा आयुः का लाभ होता है उसका नाम "आयुर्वेद" है

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के शब्दों में—च० सू० अ० १—

हिताऽहितं सुखं दुःखं आयुः तस्य हिताऽहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेदः स उच्यते ॥४१॥

अर्थात्—जिस शास्त्र में हित आयु:, अहित आयु:, सुख आयु: एवं दु:ख आयु: का वर्णन हो तथा आयु: के लिये हित एवं अहित आहार-विहार एवं औषध का वर्णन हो और आयु: का मान बतलाया गया हो तथा आयु: का वर्णन हो वह "आयुर्वेद" कहलाता है। जितने समय पर्यन्त शरीर एवं आत्मा का संयोग रहता है उतने समय का नाम 'आयु:' है। इसी समय में प्राणी धर्म, अर्थ एवं काम की सिद्धि कर सकता है। हित, अहित, सुख एवं असुख आयु का वर्णन—च० सू० अ० ३० में देखिये ॥ २ ॥

आयुर्वेदाऽवतरण

ब्रह्मा स्मृत्वाऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत् ।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ॥३॥
तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे ।
तेभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः ॥४॥
क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयं नातिसंक्षेपविस्तरम् ।

व्याख्या—सर्वप्रथम ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण करके दक्ष प्रजापति को पढ़ाया था, प्रजापति ने अश्विनी-कुमारों को पढ़ाया था, अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को पढ़ाया था और इन्द्र ने अत्रिपुत्र अर्थात् आत्रेय आदि महर्षियों को पढ़ाया था और आत्रेय आदि ने अग्निवेश आदि को आयुर्वेद का उपदेश किया था फिर अग्निवेश आदि ने पृथक्-पृथक् तन्त्रों-शास्त्रों की विस्तार के साथ रचना की थी। श्री वाग्भटाचार्य कहते हैं कि—इधर-उधर बिखरे हुए उन तन्त्रों में से उत्तम-उत्तम सार लेकर यह उच्चय संग्रह किया गया है। इस संग्रह ग्रन्थ का नाम—"अष्टाङ्ग हृदय" है। इसमें न अत्यन्त संक्षेप ही है और न अत्यन्त विस्तार ही है।

वक्तव्य—यह आयुर्वेद की अवतरणिका है, वर्तमान चरक संहिता अध्याय १ में लिखा है कि इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को पढ़ाया था और च० चि० अ० १ पाद १ में लिखा है कि—भृगु, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित एवं गौतम आदि महर्षि आयुर्वेद का उपदेश सुनने के लिये इन्द्र के पास गये थे।

सु० सू० अ० १ में लिखा है कि—धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था और धन्वन्तरि से सुश्रुत आदि ने पढ़ा था। अस्तु—यह बहुत पुरातन कथा है। अन्यान्य पुराण आदि में अन्यान्य प्रकार से आयुर्वेद की अवतरणिका का भी कोई पुरातन आधार होगा क्योंकि आपने अष्टांग-संग्रह में भी ऐसा ही लिखा है। सारतरोच्चय—सारभूत विषयों का उत्कृष्ट संचय ॥ ३, ४ ॥

आयुर्वेद के आठ अङ्ग

कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ॥५॥
अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ।

व्याख्या—आयुर्वेद के आठ अंग हैं यथा—१—काय चिकित्सा, २—बालतंत्र (कौमार भृत्य), ३—ग्रह चिकित्सा (भूत विद्या), ४—ऊर्ध्वांग चिकित्सा, (शालाक्य तंत्र), ५—शल्य चिकित्सा (शल्य तंत्र), ६—दंष्ट्राविष चिकित्सा (अगद तंत्र), ७—जरा चिकित्सा (रसायनतंत्र) तथा ८—वृष चिकित्सा (वाजीकरण तंत्र) इन आठ अंगों में चिकित्सा समीचीन प्रकार से आश्रित है। अर्थात् चिकित्सा सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—दंष्ट्रा शब्द से क्लिष्ट कल्पना करके स्थावर विष, जंगम विष तथा गरविष का बोध कर लेना चाहिये। देखिये उत्तर तंत्र अ० ३६ से ३९। च० सू० अ० ९ में चिकित्सा लक्षण—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।
प्रवृत्तिः धातुसाम्यार्था चिकित्सा इत्यभिधीयते ॥५॥

रोगों की शान्ति के लिये जो उपाय किया जाता है उसका नाम "चिकित्सा" है परन्तु आयुर्वेद का प्रयोजन है—वत्स सुश्रुत इह खलु आयुर्वेदप्रयोजनम्—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं च (सु० सू० अ० १—१४)—अर्थात्—रोगियों के रोग की शान्ति और स्वस्थों के स्वास्थ्य की रक्षा, यही आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं और इन दोनों का वर्णन श्री वाग्भटजी ने इस ग्रन्थ में किया है। स्वस्थ वृत्त का वर्णन अ० २-३-४-५-६ तथा ७ में विशेष रूप से किया है और व्याधिशान्ति का समग्र ग्रन्थ में वर्णन किया गया है ॥ ५ ॥

दोषों का वर्णन

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥६॥
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ।

व्याख्या—आयुर्वेद में संक्षेपतः तीन दोष माने जाते हैं यथा—१—वायु, २—पित्त, और ३—कफ।

ये तीनों दोष विकृत (वृद्ध अथवा क्षीण) होकर शरीर को नष्ट (मृत अथवा रुग्ण) करते हैं और अविकृत (सम) रहते हुए जीवित या स्वास्थ्य रखते हैं। दोषों का वर्णन देखिये सू० अ० ११ में।

वक्तव्य—पञ्च महाभूत शरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ॥२२॥ (सु० सू० अ० १)—अर्थात्—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश नामक ५ महाभूत एवं चेतना धातु के संयोग से निर्मित प्राणी का नाम "पुरुष" है। इनमें आकाश तत्त्व तो अवकाश मात्र है और पृथिवी तत्त्व आधार मात्र है

अतः दोनों निष्क्रिय हैं। इन दोनोंमें वस्तुतः किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती और जल तत्त्व (कफ), अग्नितत्त्व (पित्त) तथा वायु तत्त्व (वायु) नामक तीन तत्त्व क्रियावान् हैं अतः वे ही स्वास्थ्य एवं रोग के कारण माने जाते हैं। ये शरीर दोष हैं, रजस् एवं तमस् दो मनोदोष हैं।

समासतः—संक्षेप में ऐसा माना जाता है और इसी विचार से इन दोष कहलाने वाले वात, पित्त एवं कफ के अनुसार विषमाग्नि आदि अग्नियों तथा वात प्रकृति आदि प्रकृतियों का वर्णन किया जाता है और—"सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" आदि वाक्यों से इन्हीं तीनों को रोगों का कारण माना जाता है और चिकित्सा विधि का आधार भी इन्हीं तीनों को माना जाता है। वैसे यदि विस्तार से विचार किया जाय तो रजस् एवं तमस् नामक दो दोष मनस् के भी माने जाते हैं और वातादि के ५–५ भेद माने जाते हैं, । शालाक्य तन्त्र में वाताभिष्यन्द आदि के अतिरिक्त रक्ताभिष्यन्द आदि भी माने जाते हैं और अनेक आगन्तु निदान भी माने जाते हैं। अस्तु।

उक्त सप्तम श्लोक के आगे किसी किसी प्रति में निम्नलिखित श्लोक भी पाया जाता है—यथा—

प्रत्येकं ते त्रिधा वृद्धि क्षय साम्यविभेदतः।
उत्कृष्टमध्याऽल्पतया त्रिधा वृद्धिक्षयौ अपि ॥

अर्थात् उक्त वातादि दोष—वृद्धि, साम्य रूपी विधि भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं और उनके वृद्धि तथा क्षय भी उत्कृष्टता, मध्यमता तथा अल्पता के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं।

दोषाः—आयुर्वेद में—वायु, पित्त एवं कफ का नाम "दोष" रूढ़ हो गया है। वस्तुतः वे तीनों तभी "दोष" कहे जाते हैं जब वे विकृत हो जाते हैं अन्यथा नहीं, क्योंकि—

शरीरदूषणात् दोषा धातवो देहधारणात्।
वात-पित्त-कफा ज्ञेया मलिनीकरणात् मलाः ॥

अर्थात् जब वे शरीर को दूषित (विकृत या रुग्ण) करते हैं तब दोष, जब स्वस्थ रखते हैं तब धातु और जब मलिन करते हैं तब मल कहे जाते हैं निष्कर्ष यह है कि—इनका नाम दोष ही नहीं अपितु धातु और मल भी है।

भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च० वि० अ० १—

दोषाः पुनः त्रयः वातपित्तश्लेष्माणः ते प्रकृतिभूताः (अविकृताः) शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिम् आपन्ना (विकृताः) तु खलु (अवश्यं) नानाविधैः विकारैः शरीरं उपतापयन्ति ।५।

वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसंग्रहः (५७ । च० सू० अ० १ ॥ ६ ॥

दोषों के मुख्य स्थान एवं प्रकोप का काल—

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ॥७॥
वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्त-मध्याऽऽदिगाःक्रमात्।

व्याख्या—यद्यपि ये तीनों दोष समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं तथापि नाभि से निचले भाग में वायु का, नाभि एवं हृदय के मध्य भाग में पित्त का और हृदय के उपरि भाग में कफ का आश्रय है। और यद्यपि ये तीनों दोष सर्वदा गतिशील (क्रियाशील) रहते हैं। तथापि वयस् के अन्तकाल (वृद्धावस्था) में, मध्यम काल (यौवन) में तथा आदिकाल (बाल्यकाल) में और दिन, रात्रि तथा भुक्त (आहार कर चुकने के पश्चात्) के अन्त, मध्य तथा आदि काल में विशेष रूप से गतिशील होते हैं।

वक्तव्य—गतिशील अर्थात् बढ़ना। त्रिधा विभक्त दिन तथा त्रिधा विभक्त रात्रि और त्रिधाविभक्त आहार पाककाल के अन्तिम भागों में वायु की, मध्यम भागों में पित्त की और आदिम भागों में कफ की वृद्धि होती है॥ ७ ॥

दोषों का अग्नि एवं कोष्ठ पर प्रभाव—

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः ॥८॥
कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।

व्याख्या—इन दोषों के प्रभाव से (वृद्धि से)—अग्नि (जठराग्नि) भी क्रमशः १—विषम (वायु से,) तीक्ष्ण (पित्त से) तथा मन्द (कफ से) होती है और इन तीनों के सम रहने पर अग्नि भी सम रहती है।

और कोष्ठ भी वायु से क्रूर, पित्त से मृदु तथा कफ से मध्य रहता है और तीनों के सम रहने से मध्य रहता है।

वक्तव्य—विषमाग्नि आदि का वर्णन सू० अ० ८ में और कोष्ठ की क्रूरता आदि का वर्णन सूत्र अ० १८ में देखिये ॥ ८ ॥

दोषों से गर्भ की प्रकृति का वर्णन—

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः॥९॥
तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजाः ॥१०॥

व्याख्या—गर्भाधान के समय जनक के शुक्र तथा जननी के आर्त्तव में अधिकता से उपस्थित इन तीनों दोषों से गर्भ की क्रमशः तीन प्रकृतियाँ बनती हैं—वायु से हीन प्रकृति, २—पित्त से मध्य प्रकृति और कफ से उत्तम प्रकृति और वह सब में श्रेष्ठ होती हैं।

और जो प्रकृतियाँ दो दो दोषों के संसर्ग से बनती हैं वे निन्दनीय होती हैं।

इस प्रकार प्राणियों की प्रकृति सात प्रकार की होती हैं।

शुक्र एवं आर्त्तव में वातादि दोषों की उपस्थिति रहने पर भी गर्भाधान वैसे ही हो जाता है जैसे विष में भी विषकृमि की उत्पत्ति हो जाती है अथवा यों पहले गर्भ में वातादि दोषों के गुण दोष वैसे आ जाते हैं जैसे विषकृमि में विष के।१०।

वक्तव्य—सच यह है कि वातादि के प्रभाव से प्रभावित शुक्र एवं रजस् से जो गर्भ होता है वह भी वातादि से प्रभावित होता है। इन सात प्रकृतियों का वर्णन सू० अ० ३ में देखिये। और च० वि० अ० ६ में तथा सु० शा० अ० ४ में देखिये। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कटः।
प्रकृतिः जायते तेन .... ।। ६३ ।।

अर्थात् शुक्र एवं शोणित के संयोग में जो दोष अधिक होता है उससे गर्भ की प्रकृति बनती है भिन्न २ मानव की भिन्न २ प्रकृति होती है ।। ९, १० ।।

दोषों के गुण, संसर्ग तथा सन्निपात—

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम् ॥११॥
स्निग्धःशीतो गुरुर्मन्दःश्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।
संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रि-क्षयकोपतः ॥१२॥

व्याख्या—इन तीनों दोषों में वायु—रूक्ष, लघु, शीत, खर सूक्ष्म तथा चल (गतिशील) होता है।

पित्त—कुछ स्निग्ध तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, विस्र (अप्रिय गन्धवाला), सर तथा द्रव होता है।

और कफ—स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, श्लक्ष्ण, मृत्स्न (पिच्छिल) तथा स्थिर होता।

और आयुर्वेदीय परिभाषानुसार दो दो दोषों के एक साथ क्षय अथवा वृद्धि का नाम "संसर्ग" है और तीनों के क्षय अथवा वृद्धि का नाम "सन्निपात" है। १२।

वक्तव्य—दोषों का विशिष्ट वर्णन च० सू० अ० १२ में देखिये। शरीर में उक्त रूक्ष आदि गुणों की वृद्धि से वातादि की वृद्धि समझ ली जाती है और क्षय से क्षय समझ लिया जाता है। और तदनुसार दोषों की वृद्धि एवं क्षय को समावस्था में लाने का उपाय किया जाता है इसी उपाय का नाम चिकित्सा है ।। ११, १२ ।।

धातु तथा मल का वर्णन—

रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्ज-शुक्राणि धातवः।
'सप्तदूष्याः' मला-मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च॥१३॥

व्याख्या—आयुर्वेद में—रस (आहार रस), रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र। ये सात द्रव्य (शरीर के पदार्थ) धातु कहे जाते हैं।

और मूत्र, पुरीष एवं स्वेद आदि "मल" कहे जाते हैं और सब दूष्य;, अर्थात् दूषित होने वाले हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में-सु० सू० अ० १५—दोष धातुमल मूलं हि शरीरम्। ३। अर्थात्-वातादि दोष,रस रक्त आदि धातु और मूत्र आदि मल शरीरके मूल हैं अर्थात् दोष धातु मल मय ही शरीर है और—सु० सू० अ० १४—ते एते शरीरधारणात् धातवः इत्युच्यन्ते। २०।

अर्थात् ये सब शरीर का धारण करते हैं अतः "धातु" कहे जाते हैं। दोष दूषयन्ति इति दोषाः—दूष्यन्ति वा दोषाः—जो दूसरों को दूषित करते हैं अथवा स्वयं दूषित होते हैं वे दोष कहे जाते हैं और दूष्य—जो दूसरों द्वारा दूषित होते हैं वे दूष्य कहे जाते है। आयुर्वेद के दृष्टिकोण से दोष ही रसादि धातुओं तथा मलों को दूषित करते हैं यद्यपि दोष भी मिथ्या आहार-विहार से दूषित होते हैं। तत्र त्रयः शरीरदोषा; वातपित्तश्लेष्माणः ते शरीरं दूषयन्ति। ३५। च० शा० अ० ४ ।। १३ ।।

दोष, धातु तथा मलों की वृद्धि एवं क्षय—

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

व्याख्या—शरीराश्रित उक्त सब दोष, धातु तथा मलों के समान गुण वाले द्रव्यों (आहार विहारों) का सेवन करने से उन (दोष, धातु एवं मल) की वृद्धि होती है विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से क्षय होता है। १३।

वक्तव्य—सर्वेषां सर्वदा वृद्धिः तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः।
भावैः भवति भावानां विपरीतैः विपर्ययः।

अर्थात्—समान द्रव्य, गुण एवं कर्म वाले भावों से सभी समान भावों की वृद्धि होती है और असमान द्रव्य, गुण एवं कर्म वाले भावों (आहार विहारों) से असमान भावों (द्रव्य गुण एवं कर्म) का क्षय होता है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैः वाऽपि आहारविकारैः अभ्यस्यमानैः वृद्धि प्राप्नुवन्ति, ह्रासं (क्षयं) तु विपरीतगुणभूयिष्ठैः वाऽपि आहारैः अभ्यस्यमानैः (च० शा० अ० ६-९)।

रसों का वर्णन और उनका वातादिपर प्रभाव—

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ॥१४॥
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः।
तत्राऽऽद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ॥१५॥
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।

व्याख्या—रस ६ हैं—१—स्वादु (मधुर—मीठा), २—अम्ल ( ) ३—लवण (नमकीन), ४—तिक्त (यथा निम्ब एवं चिरायता आदि का रस), ५—ऊषण

(कटु—चरपरा) और ६—कषाय (कसैला जैसा हरड़ आदि का ।

ये सब रस भिन्न द्रव्यों में पाए जाते हैं या उनसे प्राप्त किये जाते हैं और ये पूर्व पूर्व बलकारक होते हैं अर्थात् मधुर रस सब की अपेक्षा बलकारक और कषाय सब की अपेक्षा बलनाशक होता है ।

और प्रथम तीन रस (मधुर, अम्ल एवं लवण) वायु को नष्ट करते हैं और तिक्त आदि तीन रस कफ को नष्ट करते हैं और कषाय, तिक्त एवं मधुर रस पित्त को नष्ट करते हैं और इससे विपरीत रस वात, पित्त एवं कफ को करते या बढ़ाते हैं । १५ ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च० वि० अ० १—तत्र दोषं एकैकं त्रयः त्रयः रसा जनयन्ति, त्रयः त्रयः च उपशमयन्ति, तद् यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति मधुरअम्ललवणाः तु एनं (वातं) शमयन्ति । कटुअम्ल-लवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायाः तु एनत् (पित्तं) शमयन्ति । मधुर-अम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्त-कषायाः तु एनं (कफं) शमयन्ति । ६ । रस—रसनार्थो रसः । ६४ । (च० सू० अ०) १—

अर्थात्—रसना द्वारा जिसका अनुभव होता है या जो जाना जाता हैं या रसेन्द्रिय का जो विषय है वह "रस" कहलाता है और रसो निपाते द्रव्याणाम् । ७१ । च० सू० अ० २६—अर्थात्—द्रव्यों का रसना (जीभ) पर निपात (संयोग—रखना या स्पर्शन) होने पर रस का अनुभव होता हैं । रसोंका वर्णन देखिये सू० अ० १० में ॥१४,१५॥

द्रव्य, वीर्य, विपाक तथा गुणोंका वर्णन—

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ॥१६॥
उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम् ।
त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः॥१७॥
गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥१८॥

व्याख्या—विधि भेद से द्रव्य (हरड़, गेहूँ एवं स्वर्ण आदि) तीन प्रकार के होते हैं —१—शमन (वातादि दोष का शामक) २—कोपन (वातादि का कोपक-वर्द्धक) और ३—स्वास्थ्यहित (स्वास्थ्य कारक) ।

द्रव्यों में शीतगुण एवं उष्ण गुण की अधिकता से दो प्रकार के "वीर्य" माने जाते हैं ।

द्रव्यों का विपाक तीन प्रकार का होता है १—मधुर, २—अम्ल और ३—कटु ।

और द्रव्यों में २० गुण माने जाते हैं—१—गुरु २—लघु, ३—मन्द, ४—तीक्ष्ण, ५—शीत ६—उष्ण, ७—स्निग्ध ८—रूक्ष, ९—श्लक्ष्ण, १०—खर, ११—सान्द्र, १२—द्रव, १३—मृदु, १४—कठिन, १५—स्थिर, १६—सर, १७—सूक्ष्म, १८—स्थूल, १९—विशद और २०—पिच्छिल ।

इनमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक गुण से दूसरा गुण विपरीत होता है यथा गुरु से लघु और शीत से उष्ण आदि २ । १७ ।

वक्तव्य—द्रव्य, वीर्य तथा विपाक का वर्णन सू० अ० ९ में देखिये । रसों के समान गुण भी द्रव्यों में आश्रित रहते हैं, स्वतन्त्र नहीं । शीत एवं उष्ण को गुण भी कहा जाता हैं और वीर्य भी । कुछ आचार्यों ने तो १—मृदु, २—तीक्ष्ण, ५—गुरु, ४—लघु, ५—स्निग्ध, ६—रूक्ष, ७—उष्ण तथा ८—शीत नामक ८ गुणों को "वीर्य" माना है । और भगवान् पुनर्वसु ने तो "वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया—नाऽवीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृताः क्रियाः" ।७०। (च० सू० अ० २६)—द्रव्य की कर्म शक्ति को वीर्य माना है और श्री धन्वन्तरि ने भी (सु० सू० अ० ४० में) कहा है कि—येन कुर्वन्ति तद् वीर्यम् । इनके अतिरिक्त प्रभाव का वर्णन भी अ० ९ में देखिये ॥ १६, १८ ॥

रोग एवं आरोग्य के कारण

कालार्थकर्मणां योगो हीन-मिथ्याऽतिमात्रकः ।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगाऽऽरोग्यैककारणम्॥१९॥

व्याख्या—काल, अर्थ तथा कर्म के हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग रोग के एक मात्र कारण होते हैं ।

और काल, अर्थ एवं कर्म का सम्यक् योग आरोग्य का एक मात्र (मुख्य) कारण होता है । १८ ।

वक्तव्य—काल तीन प्रकार का होता है—१—शीत काल, २—उष्ण काल और ३—वर्षा काल । इन तीन कालों का वर्ष (सम्वत्सर) होता है । यहाँ यही काल अभिप्रेत है । इन कालों में शीत आदि का अधिक पड़ना "अतियोग" थोड़ा पड़ना हीनयोग तथा विपरीत पड़ना "मिथ्यायोग" कहलाता है ।

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक विषयों का नाम "अर्थ" है । इन अर्थों का श्रोत्र आदि इन्द्रियों के साथ अधिक संयोग "अतियोग" अल्प संयोग "हीन योग" और अनिष्ट संयोग "मिथ्यायोग" कहलाता है । यथा—श्रोत्रेन्द्रिय के साथ अत्यन्त ऊँचे शब्द का या अधिक समय तक शब्दों का संयोग (श्रवण-सुनना) अतियोग होता है, शब्दों का असंयोग अथवा क्षीण शब्द-को सुनने का प्रयत्न हीनयोग और अशिष्ट (गाली आदि अप्रिय) शब्द का श्रवण मिथ्यायोग कहलाता है । इसी प्रकार चक्षुः नामक इन्द्रिय के साथ रूप नामक अर्थ का, रसना नामक इन्द्रिय के साथ रस नामक अर्थ का, घ्राण नामक इन्द्रिय के साथ गन्ध नामक अर्थ का

तथा त्वचा नामक इन्द्रिय के साथ स्पर्श नामक अर्थ का अतियोग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग किसी न किसी रोग का कारण होता है और श्रोत्र आदि इन्द्रिय के साथ शब्द आदि विषय का समीचीन रूप से संयोग (ग्रहण) सम्यक् योग कहलाता है जो आरोग्य का कारण होता है।

कर्म—वाणी, मनस् तथा शरीर की चेष्टा का नाम "कर्म" है। वाणी आदि के कर्म की अतिप्रवृत्ति (चेष्टा) का नाम कर्म का "अतियोग" सर्वथा अप्रवृत्ति का अथवा अत्यन्त अल्प प्रवृत्ति का नाम हीनयोग है और अनुचित प्रवृत्ति का नाम "मिथ्यायोग" है। यथा—

बहुत बोलना वाणी का अतियोग, सर्वथा न बोलना हीनयोग तथा असत्य बोलना, अप्रिय बोलना तथा असमय में बोलना आदि सब वाणी का मिथ्यायोग कहलाता है।

चिन्तन, विचार, ऊहापोह, ध्यान एवं संकल्प ये सब मनस् के कर्म हैं इनका अधिक करना "अतियोग" न करना "अयोग" या बहुत थोड़ा करना हीनयोग और अनुचित करना "मिथ्यायोग" कहलाता है। भय, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या एवं व्यर्थ विचार आदि सब मनस् के मिथ्यायोग हैं।

और शरीर द्वारा अधिक व्यायाम आदि कर्म करना "अतियोग" कुछ न करना निठल्ले पड़े रहना हीनयोग तथा मूत्रादि के वेग रोकना, उनको बलात् प्रवृत्त करना, ऊँचे नीचे स्थान पर चलना, लेटना, बैठना, गिरना, फिसलना अथवा कूदना आदि शरीर का मिथ्यायोग कहलाता है।

ये सब हीनयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग किसी न किसी रोग के कारण—उत्पादक होते हैं। और वाणी, मन तथा शरीर के सम्यग्योग आरोग्य का कारण होता है। देखिये च० सू० अ० ११ के पाठ ३७ से ४१ तक ॥ १९ ॥

रोग, आरोग्य, रोग भेद, रोगाधिष्ठान तथा मनोदोष—

> रोगस्तु, दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
> निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः ॥२०॥
> तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।
> रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ॥२१॥

व्याख्या—वात, पित्त, एवं कफ नामक दोषों के 'वैषम्य" (विषम अवस्था) का नाम "रोग" (व्याधि, आतङ्क, आमय, यक्ष्मा, ज्वर, विकार, रुजा, रुक् तथा क्लेश एवं दुःख आदि रोगमात्र के नाम हैं) है। अर्थात् जब दोष विषम हो जाते हैं तब कोई न कोई रोग हो जाता है।

और उन दोषों के साम्य (सम अवस्था) का नाम आरोग्य है अर्थात् जब वे सम अवस्था में रहते हैं तब आरोग्य बना रहता है इसी का नाम "सुख" है।

रोग दो प्रकार के होते हैं—१—निज (वातादि दोषों की विषमता से उत्पन्न) और २—आगन्तु (अभिघात आदि बाहरी कारणों से उत्पन्न)।

रोगों के अधिष्ठान (आश्रय) भी दो हैं—१—काय अर्थात् शरीर और २—मनस्।

मनस् के दोष दो हैं—१—रजस् (रजो गुण) और २ तमस् (तमो गुण)।

वक्तव्य—ज्वर, अतिसार एवं पाण्डुरोग आदि दोषों का अधिष्ठान काय है और उन्माद, मूर्च्छा तथा संन्यास आदि रोगों का अधिष्ठान—अधिकृत या प्रधान स्थान अर्थात् केन्द्र मनस् है। जैसे शारीरिक रोगों के हेतु वात आदि दोष हैं वैसे ही मानसिक रोगों के हेतु रजस् एवं तमस् हैं। सत्त्वगुण मानसिक आरोग्य का हेतु है ॥२०,२१॥

रोगी एवं रोग की परीक्षा

> दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।
> रोगं निदान-प्राग्रूप-लक्षणोपशयाऽऽप्तिभिः ॥२२॥

व्याख्या—दर्शन (देखना), स्पर्शन (छूना—हाथ आदि से छूकर देखना। तथा प्रश्न (पूछना) से रोगी की परीक्षा करनी चाहिये।

और निदान, पूर्वरूप, लक्षण, उपशय तथा सम्प्राप्ति से रोग की परीक्षा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि का कथन है—सु० सू० अ० १०—कि रोगी को भलीभाँति देखे, उसके अङ्ग प्रत्यंगो को छूकर देखे और उससे आवश्यक या रोग विषयक प्रश्न करे। इन तीन उपायों से प्रायः रोगी के रोग समझ लिये जाते हैं ऐसा अनेक आचार्य कहते हैं परन्तु यह समीचीन होने पर भी बहुत समीचीन (ठीक) नहीं है। वस्तुतः रोग को जानने के उपाय ६ हैं यथा—श्रोत्र आदि ५ ज्ञानेन्द्रिय और छठा प्रश्न। ऐसा ही भगवान् पुनर्वसु ने च० वि० अ० ४ में कहा है—रोगी के शरीरगत शब्दों को श्रोत्रेन्द्रिय से, उष्ण-शीत आदि एवं खर श्लक्ष्ण आदि भावों को स्पर्शनेन्द्रिय से, पीतकृष्ण आदि वर्णों को चक्षुरिन्द्रिय से, रसों को रसनेन्द्रिय से तथा गन्धों को घ्राणेन्द्रिय से जाने। यह सब सम्भव है परन्तु रोगी के मुखगत रस को प्रश्न से ही जाना जा सकता है और जूओं के अपसर्पण से रोगी के शरीर की विरसता को और मक्षिकाओं के उपसर्पण से मधुरता को और चिउँटियों के उपसर्पण से मूत्र की मधुरता आदि को जानना चाहिये। और शिर एवं उदर आदि की वेदना को प्रश्न से जानना चाहिये। यह सब प्रत्यक्ष ज्ञान से परीक्षा के उपाय हैं परन्तु कुछ अनुमान से भी परीक्षा की जाती है जैसे—जठराग्नि की स्थिति पाचन शक्ति से, बल की स्थिति उठने, बैठने, चलने फिरने एवं करवट बदलने आदि से, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की

शक्ति की स्थिति शब्द आदि विषयों के ग्रहण से, मानसिक बल की स्थिति वाक्यार्थ को समझने से तथा उचित उत्तर देने आदि से समझी जाती है। और निदान, पूर्वरूप तथा लक्षण आदि की व्याख्या देखिये अ० हृ० नि अ० १ में।२२।

देश के भेदों का वर्णन—

भूमि-देह-प्रभेदेन 'देश' माहुरिह द्विधा।
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्वणम् ॥२३॥
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत्।

व्याख्या—आयुर्वेदिक साहित्यमें देश शब्दसे दो प्रकार का देश माना जाता है—१—भूमि देश और २—देह देश—शरीर के भिन्न २ अवयव जैसे शिरोदेश, उदर देश या वक्षोदेश, आदि।

भूमि देश तीन प्रकार का माना जाता है—१—जाङ्गल देश या जङ्गल देश, इस भूदेश में वायु अधिक वहता है और वायु के रोग भी अधिक होते हैं। २—अनूप देश—इस भूदेश में जल अधिक रहता है और कफ के रोग भी अधिक होते हैं। और ३—साधारण देश इस भूदेश में तीनों दोष समावस्था में रहते हैं फलतः अधिक रोग नहीं होते।

वक्तव्य—जाङ्गल देश आदि का विशद वर्णन च० क० अ० १ में देखिये। संक्षेपतः

बहूदकनगोऽनूपः कफमारुतरोगवान्।
जांगलोऽल्पाम्बुशाखीच पित्ताऽसृङ् मारुतोत्तरः ॥
संसृष्ट लक्षणो यस्तु देशः साधारणो मतः।
समाः साधारणे यस्मात् शीतवर्षोष्ममारुतः ॥
समता तेन दोषाणां तस्मात् साधारणो वरः।

अर्थात्—जिस देश में जल (नदी, नाले, झील, ताल एवं समुद्र की खाड़ी आदि), पर्वत एवं वृक्ष अधिक होते हैं और कफ एवं वायु के रोग अधिक होते हैं वह देश "अनूप" कहलाता है।

जिस देश में जल थोड़ा एवं गहरा होता है और वृक्ष भी थोड़े एवं छोटे २ होते हैं और पित्त, रक्त एवं वायु के रोग अधिक होते हैं वह "जांगल देश" कहलाता है।

और जिस देश में उक्त दोनों देशों के लक्षण मिले जुले होते हैं वह "साधारण" देश माना जाता है इस देश में क्योंकि शीत, वर्षा, उष्ण (गर्मी) तथा वायु सम रहते हैं अतः दोषों की समता बनी रहती है परिणामतः वह देश श्रेष्ठ माना जाता है।

अनूप देश—जैसे आसाम ब्रह्मा एवं बंगाल की खाड़ी के देश। जांगल देश—जैसे बीकानेर, जैसलमेर, अर्ब एवं अफ्रीका के रूखे सूखे मरुस्थल। साधारण देश—जैसे पंजाब उत्तर प्रदेश तथा भूमण्डल के समशीतोष्ण प्रान्त। साधारण देशों के निवासी दूसरे देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ नीरोग तथा सौंदर्य आदि शरीर सम्पद्युक्त होते हैं।२३॥

काल एवं औषध के भेद—

क्षणादिर्व्याध्यवस्था च 'कालो' भेषजयोगकृत्॥२४॥
शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा॥

व्याख्या—आयुर्वेदमें काल शब्दसे दो समयों का बोध होता है अतः वह दो प्रकार का माना जाता है—१—क्षण अर्थात् प्रातः काल, सायं काल आदि और २—रोग की आमावस्था एवं जीर्णावस्था आदि। इन दोनों के अनुसार चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

और संक्षेपतः औषध अर्थात् चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है—१—शोधन अर्थात् वमन विरेचनादि रूप और २—शमन अर्थात् दोष शामक। २४।

वक्तव्य—काल का विचार करके शोधन शमन आदि चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है (शीतकाल, उष्णकाल, वर्षा काल एवं समशीतोष्ण काल, प्रातः काल, मध्याह्न काल सायं काल, स्वपन काल, जागरण काल में अथवा १—१ घण्टा पर या ४—४ घण्टा पर औषध खाना, लगाना या पीना चाहिये यह सब क्षणादि काल कहलाता है और ज्वर की आमावस्था में अमुक और जीर्णावस्था में अमुक औषध का प्रयोग होना चाहिये यह सब व्याधि—अवस्था रूपी काल कहलाता है। यहाँ औषध तथा भेषज शब्द का अर्थ चिकित्सित है यथा—च० वि० अ०—१

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनम् औषधम्।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्। ३।
विद्यात् भेषज नामानि......................।

और चतुष्पादं षोडशकलं भेषजं इति भिषजो भाषन्ते, तद् भेषजं युक्तियुक्तं अलं आरोग्याय इति पुनर्वसुः आत्रेयः। ३। (च० सू० अ० १०)। शोधन एवं शमन चिकित्सा का वर्णन सू० अ० हृ० अ० १४ में देखिये। और घृत, तैल एवं हरीतकी आदि द्रव्य का नाम भी औषध या भेषज है।

शरीर एवं मानसिक दोषों की परमौषधि—

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण 'परमौषधम्' ॥२५॥
वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।
धीधैर्यात्मादिविज्ञानं 'मनोदोषौषधं' परम्॥२६॥

व्याख्या—शारीरिक दोषकी उत्तम चिकित्सा इस प्रकार है यथा वायु की वस्ति कर्म, पित्त की विरेचन कर्म तथा कफ की वमन कर्म उत्तम चिकित्सा है और वायु का तैल, पित्त का घृत और कफ का मधु उत्तम शामक है।

और मानसिक दोषों (रजस् तथा तमस्) की उत्तम चिकित्सा है—बुद्धि एवं धैर्य से काम लेना और अपनी

स्थिति का तथा अपने बल, धन, सहायक तथा देश एवं काल आदि को समझना।

वक्तव्य—वस्ति आदि से वातादि दोषों का शोधन एवं शमन होता है और बुद्धि एवं धैर्य आदि रजोगुण से उत्पन्न राग आदि का तथा तमस् से उत्पन्न क्रोध आदि का शमन हो जाता है ॥ २६ ॥

चिकित्सा के चार पाद—

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥२७॥
दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।
बहुकल्पं बहुगुणं संपन्नं योग्यमौषधम् ॥२८॥
अनुरक्तःशुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकःसत्त्ववानपि॥२९॥

व्याख्या—चिकित्सा कर्म के चार पाद माने जाते हैं यथा—१—भिषक् (चिकित्सक वैद्य) २—द्रव्य (मदन फल आदि शोधन, गुडूची आदि शमन तथा वस्ति आदि अन्यान्य उपकरण), ३—उपस्थाता (परिचारक—रोगी की देख-भाल करनेवाला—उठाने, बिठाने, खिलाने-पिलानेवाला) और ४—रोगी।

ये चारों प्रत्येक चार ४ गुणोंवाले हों, यथा—

भिषक्—१—दक्ष हो, २—आचार्य द्वारा शास्त्र के अर्थ को समझ चुका हो, ३—चिकित्सा कर्म की विधियों को देख चुका हो, और ४—शुचि (पवित्र-सदाचारी) हो।

द्रव्य—१—बहुकल्प (स्वरस, क्वाथ एवं चूर्ण आदि बहुत से रूपों में दिये जाने—सेवन करने योग्य) हो, २—अनेक गुणोंवाला हो, ३—सम्पन्न (नूतनता एवं अपने गुणों की सम्पद् से युक्त) हो और ४—योग्य (रोग, रोगी, देश एवं काल आदि के अनुकूल) हो।

उपस्थाता—१—अनुरक्त (रोगी से स्नेह रखनेवाला) हो, २—शुचि (पवित्र—सदाचारी) हो, ३ दक्ष हो और ४—बुद्धिमान् (समझदार) हो।

रोगी—१—आढ्य (धन और जन आदि साधन सम्पन्न) हो, २—वैद्य की आज्ञानुसार पथ्यादि रखनेवाला हो, ३—ज्ञापक (सब कुछ बतलाने में समर्थ) हो और ४—सत्त्ववान् (मानसिक शक्ति सम्पन्न) हो।

वक्तव्य—दक्ष—चतुर, पेशल (कोमल प्रकृतिवाला), पटु (नीरोग—स्वस्थ), उद्योगी तथा उष्ण (शीघ्रकारी—आलस्य रहित) का नाम दक्ष है, वैद्य एवं परिचारक वस्तुतः ऐसे ही होने चाहिये। रोगी का विशेषण ज्ञापक है परन्तु शिशु रोगी एवं मूक रोगी, सन्निपात एवं उन्माद आदि से पीड़ित रोगी ज्ञापक नहीं हो सकता, तथापि उसके पार्श्ववर्ती एवं परिचारक आदि से एवं स्वयं अनुमान से सब कुछ जानने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिये और शिशु के कुछ रोगों को जानने का उपाय उ० तं० अ० २ में बतलाया गया है।

पाद अर्थात् पांव। उक्त प्रकार के भिषक् आदि चिकित्सा के चार पांव हैं, जिनसे चिकित्सा चल सकती है। इनमें से किसी एक पांव के अभाव में चिकित्सा लँगड़ी होती है, चल नहीं सकती अर्थात् आरोग्य रूप सफलता प्राप्त करने में असमर्थ होती है ॥ २७—२९ ॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

सर्वौषधक्षमे देहे यूनःपुंसो जितात्मनः।
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः ॥३०॥
अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिःपादसंपदि।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः'सुखः' ॥३१॥
शस्त्रादिसाधनः'कृच्छ्रः'संकरे च ततो गदः।
शेषत्वादायुषो 'याप्यः' पथ्याभ्यासाद्विपर्यये॥३२॥
'अनुपक्रम' एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये।
औत्सुक्य-मोहाऽरतिकृद्दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः॥३३॥

व्याख्या—विधि भेद से रोग चार प्रकार के होते हैं—१—सुखसाध्य, २—कष्टसाध्य, ३—याप्य और ४—अनुपक्रम अर्थात् चिकित्सा करने के अयोग्य—प्रत्याख्येय।

सुखसाध्य वह रोग है जो सब प्रकार की चिकित्सा विधियों को सहन करने में समर्थ शरीर हो, युवक एवं जितेन्द्रिय हो, मर्मस्थल में उत्पन्न न हो, जिसके हेतु, पूर्वरूप एवं रूप थोड़े एवं मृदु हों, जिसमें कोई उपद्रव न हो तथा जिसमें दूष्य, देश, ऋतु (काल) एवं प्रकृति समान न हो, चिकित्सा करते समय—चिकित्सा के उक्त चारों पाद अपने ४ गुणों से सम्पन्न हों, ज्योतिःशास्त्रानुसार सूर्य आदि ग्रह अनुकूल हों, रोग एक दोषज हो, एक मार्गगामी हो (जैसे रक्तपित्त रोग) तथा नूतन हो।

कष्ट साध्य—वह रोग है जिसमें शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म एवं विष प्रयोग आदि के प्रयोग की आवश्यकता हो तथा सुख साध्य के उक्त लक्षण पूर्ण रूप से विद्यमान न हों।

याप्य—वह रोग है जिसमें सुख साध्य के उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण हों परन्तु आयु के शेष (अवशेष) होने के कारण तथा पथ्य आहार-विहार एवं औषध (चिकित्सा) के अभ्यास (निरन्तर सेवन) के कारण रोगी चलता फिरता या जीवित रहता है।

अनुपक्रम—वह रोग है जो सुख साध्य लक्षणों की अत्यन्त विपरीतता में स्थित—वर्त्तमान हो और औत्सुक्य (हर्षातिरेक च० पा० टीका—हर्ष का अति आधिक्य—हंसना आदि तथा उठ २ कर दौड़ना आदि लक्षण) अथवा मोह (मूर्च्छा एवं चित्तविकृत—प्रलाप आदि)

अथवा अरति (बेचैनी—छटपटाना—हाथ पाँव पटकना आदि) लक्षणों को कर रहा हो जिसमें अरिष्ट (मृत्यु सूचक) लक्षणों की उत्पत्ति हो गई हो तथा श्रोत्र आदि एक अथवा अनेक इन्द्रियों का नाश हो गया हो (अभिन्यास हो गया हो)।

वक्तव्य—साध्य रोग दो प्रकार के होते हैं—१—सुख साध्य और २—कृच्छ्र साध्य।

असाध्य रोग भी दो प्रकार के होते हैं १--याप्य—इसमें चिकित्सा से कुछ लाभ होता हैं और रोगी लस्टम पस्टम चलता फिरता रहता है किन्तु रोग समूल नष्ट नहीं होता। और २--अनुपक्रम—इसमें किसी भी प्रकार का उपक्रम (चिकित्सा) सफल नहीं होता अन्ततोगत्वा इसी रोग से मृत्यु हो जाती है। इस रोग को प्रत्याख्येय भी कहते हैं। अर्थात् चिकित्सक इस रोग की चिकित्सा करने से नकार कर देवे अथवा नकार करके चिकित्सा करे अन्यथा भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च० सू० अ० १७—

अर्थं विद्यां यशो हानिं उपक्रोशं असंग्रहम्।
प्राप्नुयात् नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्। ८।

अर्थात्—जो वैद्य असाध्यरोग की चिकित्सा करनेमें प्रवृत्त होता है वह अर्थ (धन आदि), विद्या (विद्वत्ता का सम्मान) तथा यश की क्षति को और उपक्रोश (गालियों) तथा असंग्रह (मित्रता आदि का अभाव) को अवश्य प्राप्त करता है।

एक दोषमार्ग—रोग विधिभेद से तीन प्रकार के होते हैं—१—एक दोषज, २—द्विदोषज और ३ —त्रिदोषज।

रोग मार्ग भी तीन होते हैं—१—शाखा अर्थात् रक्त आदि धातु तथा त्वचा, २—मर्म, अस्थि तथा सन्धियाँ, ३—कोष्ठ जिसे महास्रोतस्, शरीरमध्य या आमपक्वाशय कहते हैं। मार्ग अर्थात् रास्ता। इन्हीं तीन मार्गों से रोग फैलते हैं। च० सू० अ० ११ ॥ ३० — ३३॥

त्याज्य रोगी

त्यजेदार्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषं द्विषम्।
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम् ॥३४॥
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम्।

व्याख्या—वैद्य इस प्रकार के रोगियों की चिकित्सा करने में प्रवृत्त न हो—१—जिससे राजा (मुखिया—चौधरी) द्वेष करता है—अपना द्वेषी हो, २—जो राजाओं से द्वेष करता हो, ३—वैद्य से द्वेष करता हो —अपना द्वेषी हो, ४—जिसके पास चिकित्सा कराने योग्य साधन न हों, ५—व्यग्र हो अर्थात् चिकित्सा कराने में तत्पर न हो-- इधर उधर भटकता हो, ६—जो वैद्य की आज्ञा न मानता हो, ७--जो गतायु मुमूर्षु हो, ८—जो चण्ड— अत्यन्त क्रोधी हो, ९—पुत्र मरण आदि शोक से पीड़ित हो, १०—जो भीरु--वमन विरेचन आदि एवं शस्त्र क्रिया आदि से डरने वाला हो; ११—जो कृतघ्न हो--- उपकार को न मानने वाला हो, और १२—जो अपने को वैद्य मानता हो (वैद्य न होने पर भी अपने को वैद्य समझता हो)।

वक्तव्य—एतान् उपाचरन् वैद्यो बहून् दोषान्. अवाप्नुयात्। ६। (च० सि० अ० २) अर्थात् ऐसे रोगियों की चिकित्सा करता हुआ वैद्य—बहुत दोषों (बुराइयों) को प्राप्त करता है। और—व्याधि पुरा परीक्ष्यैवं आरभेत ततः क्रियाम्। (अ० सं० सू० अ० ३) अर्थात् इस प्रकार साध्या-साध्य विचार पूर्वक रोग की परीक्षा करके चिकित्सा करना प्रारम्भ करे ॥ ३४॥

अध्यायों एवं स्थानों का विवरण

तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः ॥३५॥
आयुष्कामदिनर्त्वीहारोगाऽनुत्पादनद्रवाः।
अन्नज्ञानाऽन्नसंरक्षामात्राद्रव्यरसाश्रयाः ॥३६॥
दोषादिज्ञानतद्भेदतच्चिकित्साद्युपक्रमाः।
शुद्ध्यादिस्नेहन-स्वेद-रेकाऽऽस्थापन-नावनम् ॥३७॥
धूम-गण्डूष-दृक्सेक-तृप्ति-यन्त्रक-शस्त्रकम्।
सिराविधिःशल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मिकौ ॥३८॥
सूत्रस्थानमिमेऽध्याया 'त्रिंशत्' 'शारीरमुच्यते'।
गर्भावक्रान्तितद्व्यापदङ्गमर्मविभागिकम् ॥३९॥
विकृतिर्दूतजं 'षष्ठं' 'निदानं सार्वरोगिकम्'।
ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम् ॥४०॥
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च।
पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च 'षोडश' ॥४१॥
चिकित्सितं ज्वरे रक्ते कासे श्वासे च यक्ष्मणि।
वमौ मदात्ययेऽर्शःसु विशि द्वौ द्वौ च मूत्रिते ॥४२॥
विद्रधौ गुल्मजठरपाण्डुशोफविसर्पिषु।
कुष्ठश्वित्रानिलव्याधिवातास्रेषु चिकित्सितम् ॥४३॥
'द्वाविंशति' रिमेऽध्यायाः 'कल्पसिद्धिरतःपरम्'।
कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्वस्तिकल्पना ॥४४॥
सिद्धिर्वस्त्यापदां, 'षष्ठो' द्रव्यकल्पो 'ऽत उत्तरम्'।
बालोपचारे तद्व्याधौ तद्ग्रहे द्वौ च भूतगे ॥४५॥
उन्मादेऽथ स्मृतिभ्रंशे द्वौ द्वौ वर्त्मसु संधिषु।
दृक्तमोलिंगनाशेषु त्रयो द्वौ द्वौ च सर्वगे ॥४६॥
कर्णनासामुखशिरोव्रणे भङ्गे भगन्दरे।
ग्रन्थ्याद क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम् ॥४७॥
विषे भुजङ्गे कीटेषु मूषकेषु रसायने।
चत्वारिंशोऽनपत्यानामध्यायो बीजपोषणः ॥४८॥
इत्यध्यायशतं विंशं षड्भिः स्थानैरुदीरितम् ॥४९॥

व्याख्या—इस के आगे इस शास्त्र (ग्रन्थ) के अध्यायों का नामोल्लेख किया जाता है—यथा—१—आयुष्कामीय अध्याय, २—दिन चर्या अध्याय. ३—ऋतु चर्या अध्याय, ४—रोगानुत्पादनीय अध्याय, ५—द्रव द्रव्य विज्ञानीय अध्याय, ६—अन्न स्वरूप विज्ञानीय अध्याय, ७—अन्नरक्षाऽध्याय, ८—मात्राशितीय, ९—द्रव्यादि विज्ञानीय, १०—रसभेदीय, ११—दोषादि विज्ञानीय, १२—दोषभेदीय, १३—दोषोपक्रमणीय, १४—द्विविधोपक्रमणीय, १५—शोधनादि गण संग्रह, १६—स्नेहविधि, १७—स्वेदविधि, १८—वमन विरेचन विधि, १९—बस्तिविधि, २०—नस्यविधि, २१—धूमपानं विधि, २२—गण्डूषादिविधि, २३—आश्चोतनाञ्जन विधि, २४—तर्पण पुट पाक विधि, २५—यन्त्र विधि, २६—शस्त्र विधि, २७—सिराव्यधविधि, २८—शल्याहरण विधि, २९—शस्त्र कर्म विधि तथा ३०—क्षाराग्नि कर्म विधि।

ये ३० अध्याय सूत्र स्थान में हैं—

शारीर स्थान में ६ अध्याय हैं यथा—१—गर्भावक्रान्ति, २—गर्भव्यापद, ३—अङ्गविभाग, ४—मर्मविभागीय, ५—विकृतिविज्ञानीय, और ६—दूतादि विज्ञानीय अध्याय।

निदान स्थान में १६ अध्याय हैं यथा—१—सर्व रोगनिदान २—ज्वर निदान, ३—रक्त पित्त कास निदान, ४—श्वास हिक्का निदान, ५—राजयक्ष्मा निदान, ६—मदात्यय निदान, —अर्शो निदान, ८—अतिसार ग्रहणी रोग निदान, ९—मूत्राघातनिदान, १०—प्रमेह निदान, ११—विद्रधि वृद्धि गुल्म निदान, १२—उदर रोग निदान, १३—पाण्डुरोग शोफ विसर्प निदान, १४—कुष्ठ श्वित्र क्रिमि निदान, १५—वात व्याधि निदान तथा १६—वात शोणित निदान। इन १६ अध्यायों का नाम निदान स्थान है।

चिकित्सित स्थान में २२ अध्याय हैं—यथा—१ ज्वर चिकित्सित, २—रक्तपित्त चिकित्सित, ३—कासचिकित्सत, ४—श्वास हिक्का चिकित्सित, ५—राजयक्ष्मादि चिकित्सित ६—छर्दि—हृद्रोग—तृष्णा चिकित्सित ७—मदात्ययादि चिकित्सित ८—अर्शसां चिकित्सित, ९—अतिसार चिकित्सित, १०—ग्रहणी रोग चिकित्सित, ११—मूत्राघात चिकित्सित, १२—प्रमेह चिकित्सित, १३—विद्रधि वृद्धि चिकित्सित, १४—गुल्मचिकित्सित, १५—उदर चिकित्सित, १६—पाण्डुरोग चिकित्सित, १७—श्वयथु चिकित्सित, १८—विसर्प चिकित्सित, १९—कुष्ठ चिकित्सित, २० श्वित्र क्रिमि चिकित्सित, २१—वात व्याधि चिकित्सित, २२ वातशोणित चिकित्सित।

इन २२ अध्यायों का चिकित्सित स्थान है।

कल्प सिद्धि स्थान—१—वमन कल्प, २—विरेचन कल्प, ३—वमन विरेचन सिद्धि, ४—वस्तिकल्प, ५—बस्ति व्यापद सिद्धि, ६—भेषज कल्प। इन ६ अध्यायों का नाम कल्प स्थान एवं सिद्धि स्थान है।

उत्तर स्थान—१—बालोपचरणीय, २—बालामय प्रतिषेध, ३—बालग्रह प्रतिषेध, ४—भूत विज्ञानीय, ५—भूतप्रतिषेधीय, ६—उन्माद प्रतिषेध, ७—अपस्मार [स्मृतिभ्रंश] प्रतिषेध, ८—वर्त्म रोग विज्ञान, ९—वर्त्मरोग प्रतिषेध, १०—सन्धि सिताऽसित रोग विज्ञानीय, ११—सन्धि सितासित रोग प्रतिषेध, १२—दृष्टिरोग विज्ञानीय, १३—तिमिर प्रतिषेध, १४—लिङ्गनाश प्रतिषेध, १५—सर्वाक्षिरोग विज्ञान, १६—सर्वाक्षिरोग प्रतिषेध, १७—कर्णरोग विज्ञानीय, १८—कर्ण रोग प्रतिषेध, १९—नासा रोग विज्ञानीय, २०—नासा रोग प्रतिषेध, २१-मुख रोग विज्ञान, २२—मुखरोग प्रतिषेध, २३—शिरोरोग विज्ञान, २४—शिरोरोग प्रतिषेध, २५—व्रणविज्ञानीय, २६—सद्यो व्रण प्रतिषेध, २७—भङ्ग प्रतिषेध, २८—भगन्दर प्रतिषेध, २९—ग्रन्थि-अर्बुद श्लीपद-अपची नाडी विज्ञान, ३०—ग्रन्थि-अर्बुद श्लीपद-अपची-नाड़ी प्रतिषेध, ३१—क्षुद्र रोग विज्ञानीय, ३२—क्षुद्र रोग प्रतिषेध, ३३—गुह्य रोग विज्ञान, ३४—गुह्य रोग प्रतिषेध, ३५—विष प्रतिषेध, ३६—सर्प विष प्रतिषेध, ३७—कीट लूतादि प्रतिषेध, ३८—मूषिक-अलर्क विष प्रतिषेध, ३९—रसायनाऽध्याय तथा ४०—वाजीकरणाऽध्याय। इन ४० अध्यायों का उत्तर स्थान है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में १२०अध्याय कहे गये हैं।

वक्तव्य—उक्त १२० अध्यायों में चिकित्सा शास्त्र के आठों अंगों का वर्णन किया गया है।।३५-४६।।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातो दिनचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब दिन चर्या नामक अध्याय का वर्णन करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—दिन चर्या का वर्णन च० सू० अ० ५ तथा ७ तथा ८ में, सु०चि० अ० २४ में तथा अ० सं० सू० अ० ३ में देखिये।

दिनचर्या—दिने-दिने चर्या, दिनस्य वा चर्या दिनचर्या।

चरणं चर्या—उभयलोकहितं आहार - विहार-चेष्टितं इति यावत्, प्रतिदिनं यत्कर्त्तव्यम् (स० सु० टीका)—अर्थात्- प्रतिदिन की चर्या का नाम दिन चर्या है, चर्या का अर्थ है चरण अर्थात् आचरण। इस अध्याय में उस चर्या का वर्णन किया गया है जो इस लोक तथा पर लोक के लिये हित है। मानव (नर नारी) का कर्त्तव्य कर्म दिन चर्या कहलाता है। चर गति भक्षणयोः धातु से चर्या शब्द की निष्पत्ति होती है। चरितुं योग्या चर्या, वह आचरण जो योग्य या उचित हो। शेष देखिये श्लोक ४८ का वक्तव्य।

जागरण, मलोत्सर्जन एवं दन्तधावन—

'ब्राह्मे' मुहूर्त उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः॥१॥
अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिजम्।
प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्॥२॥
कनीन्यग्रसमस्थूलं प्रगुणं द्वादशांगुलम्।
भक्षये 'दन्तपवनं' दन्तमांसान्यबाधयन्॥३॥
नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्ऽदिती।
तृष्णाऽऽस्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्॥४॥

व्याख्या—स्वस्थ मानव ब्राह्ममुहूर्त्त में शय्या पर से उठ जाय ऐसा करने से आयु की रक्षा होती है और उठते ही शरीर पर ध्यान देवे (यदि अस्वस्थता प्रतीत हो तो न भी उठे और कुछ समय तक विश्राम करे) तदनन्तर शौच विधि कर (पुरीष उत्सर्जन करके मेहन, गुद तथा हस्तादि का शोधन करे)।

दन्त धावन—तत्पश्चात्—आक, वट, खैर (बबूर भी खैर की ही जाति का वृक्ष है), करञ्ज (डिठोरी नामक वृक्ष) अथवा अर्जुन वृक्ष आदि किसी उपयुक्त या उपलब्ध वृक्ष की प्रशाखा की दतवन करे।

दतवन दिन में दो बार करे १—प्रातः काल (इससे रातभर की मलिनता दूर हो जाती है) और २—भोजन के अनन्तर (इससे दन्तों में फंसे भोजन कण दूर हो जाते हैं)।

दतवन का अग्र भाग चबाकर अथवा कूट कर मृदु कर लेना चाहिये।

दतवनों का रस कषाय (जैसा बबूर का) अथवा कटु (जैसा तेजबल का) अथवा तिक्त (जैसा निम्ब का) होना चाहिए।

दन्तों का घर्षण—दतवन इस प्रकार चबाकर करे जिससे मसूड़ों पर बाधा (खरोंश) न हो और प्रत्येक दन्त स्वच्छ हो जाय।

दन्त धावन का निषेध—अजीर्ण में, छर्दि रोगमें, श्वास रोग में, कास रोग ज्वर (आम ज्वर) रोग में, अर्दित रोग में, तृषा रोग में (जब तृषा लगी हो), मुख पाक में, हृदय रोग में, नेत्र रोग में (अभिष्यन्द में), शिरो रोग में तथा कर्ण रोग में दतवन न करे। इस दशा में अंगुली से दन्त साफ किये जा सकते हैं।

वक्तव्य—ब्राह्ममुहूर्त—चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर तड़के। स्वस्थ-नीरोग, रोगी के लिये यह आवश्यक नहीं है। दन्त धावन—जिसके द्वारा दन्त धोए जाते हैं—स्वच्छ किये जाते हैं उसका नाम है दन्त धावन अर्थात् दतवन। उक्त वृक्षों अथवा बबूर एवं निम्ब आदि की प्रशाखा के खण्ड दतवन नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त अंगुली से अथवा दन्तमञ्जन से भी दन्त साफ किये जाते हैं, दन्तमञ्जन भी कषाय, कटु एवं तिक्त रस वाले द्रव्यों के योगसे बनाया गया हो। कषाय रससे दन्तवेष्टों का संकोच होता है फलतः दन्तमूल दृढ रहते या हो जाते हैं। कटु रस से लाला स्राव हो जाता है और तिक्त रस से क्रिमि नाशन एवं रक्त शोधन हो जाता है। इसलिये दन्तरोगों एवं दन्तवेष्ट रोगों तथा समस्त मुख रोगों की उत्पत्ति नहीं होती तथा शान्ति हो जाती है, दन्त दृढ बने रहते हैं, मुख स्वच्छ एवं दुर्गन्ध रहित बना रहता है। दतवन की लम्बाई १२-१४ अंगुल हो ओर मोटाई कनिष्ठिका अंगुली से अधिक न हो। यथा सम्भव ताजी या रात्रि भर जल में डुबोई गई आर्द्र।

जिह्वा निर्लेखन—जीभी द्वारा अथवा दतवन को फाड़ कर उसके एक भाग द्वारा जीभ को रगड़ कर स्वच्छ करना चाहिये। तदनन्तर शीतल जल से मुख धोना और नेत्रों पर सिञ्चन करना चाहिये। इसके पश्चात् अञ्जन करे—॥१-४

अञ्जन

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्।
चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात् श्लेष्मतो भयम्॥५॥
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात्स्रावणार्थं 'रसाञ्जनम्'।

व्याख्या—सौवीर अञ्जन नेत्रों के लिये लाभदायक है अतः प्रतिदिन लगाना चाहिये। यह प्रसादन या प्रत्यञ्जन कहलाता है।

स्रावण अञ्जन—चक्षु (नेत्र या दृष्टि) तेजोमय (अग्नि गुण प्रधान) अवयव है उसको विशेष रूप से कफ का भय है इसलिये कफ के स्रावणार्थ सप्ताह में एक बार रसाञ्जन अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—नेत्र नामक अवयव अग्निगुण प्रधान है और कफ अग्नि का विरोधी है। कफ का स्रावण होता रहे तो कफ का सञ्चय ही नहीं होता। फलतः नेत्र में कोई रोग भी नहीं हो पाता, विशेषतः कांच (मोतिया) की सम्भावना भी नहीं रहती। इसलिये सप्ताह में कम से कम एक बार कोई

स्रावण (जिससे नेत्र का पानी निकल जाय) करते रहना आवश्यक है ॥ ५ ॥

नस्य एवं गण्डूष आदि का संकेत

ततो नावन-गण्डूष-धूम-ताम्बूल-भाग्भवेत् ॥६॥

व्याख्या—इसके पश्चात् नस्य लेवे, गण्डूष करे, धूम्र पान करे तथा ताम्बूल (पान) का सेवन करे।

वक्तव्य—नस्य का वर्णन सू० अ० २० में, गण्डूष का वर्णन सू० अ० २२ में तथा धूमपान का वर्णन सू० अ० २१ में देखिये ॥ ६ ॥

ताम्बूल सेवन

ताम्बूलं क्षतपित्तास्ररूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्।
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणामपि ॥७॥

व्याख्या—ताम्बूल सबको खाना चाहिये परन्तु—उरःक्षत एवं किसी प्रकार के क्षत से पीड़ित, पित्त विकार एवं रक्त विकार (एवं रक्त पित्त) से पीड़ित, रूक्ष, नेत्ररोगी, विष विकार से पीड़ित, मूर्च्छा से तथा मदात्यय आदि से पीड़ित और शोष रोगी को ताम्बूल नहीं खाना चाहिये।

वक्तव्य—स्वच्छता, रुचि एवं सुगन्धि के लिये जायफल, लता कस्तूरी, सुपारी, लवङ्ग तथा दाल चीनी एवं इलायची आदि को मुख में रखना चाहिये ॥ ७ ॥

अभ्यङ्ग का वर्णन

'अभ्यङ्ग' माचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ॥८॥
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।
'वर्ज्योऽभ्यङ्ग' कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः॥९॥

व्याख्या—प्रतिदिन अभ्यंग करना चाहिये क्योंकि वह जरा (बुढापा), श्रम (थकान) तथा वात विकार को नष्ट करता है और दृष्टि को स्वच्छ करता है, शरीर को पुष्ट करता है, आयु को बढ़ाता है, निद्रा लाता है, त्वचा को सुन्दर बनाता है, और मांस पेशियों को दृढ़ बनाता है।

और सिर पर, कानों पर तथा पाँव के तलुओं पर विशेष रूप से अभ्यंग करना चाहिये।

अभ्यंग का निषेध—प्रतिश्याय आदि कफ विकारों से पीड़ित, जिसने अभी २ वमन अथवा विरेचन किया हो तथा जिसे अजीर्ण हो वह अभ्यंग न करे।

वक्तव्य—तैल आदि स्नेह लगाना, मलना या पोतना अभ्यङ्ग कहलाता है ॥ ९ ॥

व्यायाम एवं मर्दन का वर्णन

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं 'व्यायामादुपजायते' ॥१०॥
वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च 'तं' त्यजेत्।
'अर्धशक्त्या' निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः॥११॥
शीतकाले वसन्ते च 'मन्दमेव' ततोऽन्यदा।
तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ॥१२॥
तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः।
'अतिव्यायामतः' कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते॥१३॥
व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम्।
गजं सिंह इवाकर्षन् 'भजन्नति विनश्यति' ॥१४॥

व्याख्या—व्यायाम करने से शरीर में एवं मन में भी लघुता आती है, कर्म करने की शक्ति बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, मेदस् का (स्थौल्य का) क्षय होता है, अङ्ग प्रत्यङ्ग विभक्त एवं घन (ठोस) हो जाते हैं।

व्यायाम का निषेध—वात एवं पित्त के विकारों से पीड़ित, बालक, वृद्ध एवं अजीर्ण रोगी व्यायाम न करे।

व्यायाम का परिणाम—बलवान् एवं स्निग्ध भोजन करने वाले मानव—शीत काल में एवं वसन्त ऋतु में आधी शक्ति भर व्यायाम करें और इससे अतिरिक्त ऋतुओं में बहुत थोड़ा व्यायाम करें।

व्यायामोत्तर कर्म—मर्दन—व्यायाम के अनन्तर शरीर का सब ओर से अनुलोम एवं सुख पूर्वक मर्दन करना चाहिए।

व्यायाम से हानि—अधिक व्यायाम करने से—तृषा, क्षय, प्रतमक श्वास, रक्त पित्त, तत्काल श्रम एवं क्लम (मानसिक दुर्बलता) और कास, ज्वर अथवा छर्दि आदि राग हो सकते हैं। देखा गया है कि बुढ़ापा में जाकर आमवात, ऊरुस्तम्भ तथा अर्श अथवा अण्ड वृद्धि नामक रोग हो जाते हैं।

व्यायाम आदि का निषेध—व्यायाम, जागरण, मार्गगमन, मैथुन, हास्य एवं भाषण आदि किसी भी प्रकार के साहस का अधिक सेवन करने से मानव वैसे (रुग्ण या मृत या बेकार) हो जाता है जैसे हाथी को खींचता हुआ सिंह नष्ट हो जाता है अर्थात् सिंह साहस करके हाथी को मार तो डालता है परन्तु उसके भारी शरीर को यदि खींचने का साहस करता है तो सिंह स्वयं मर जाता है।

वक्तव्य—आधी शक्ति या बलार्द्ध का लक्षण—

सु. चि. अ. २४

हृदि स्थानस्थितो वायुः यदा वक्त्रं प्रपद्यते।
व्यायामं कुर्वतो जन्तोः तद्बलार्द्धस्य लक्षणम् ॥ ४७ ॥
और—कक्षाललाटनासासु हस्तपादादिसन्धिषु।
प्रस्वेदात् मुखशोषात् च बलार्द्धंतद्धिनिर्दिशेत्।

अर्थात्—व्यायाम करते समय जब श्वास फूलने लगे अथवा कांख, माथा, नासा, हाथ, पांव तथा सन्धियों पर स्वेद आ जाय तथा मुख सूख जाय तब समझे कि आधी शक्ति का व्यय हो गया है।

व्यायाम का लक्षण—च. सू., अ. ७—

शरीर चेष्टा या च इष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी।
देह व्यायाम संख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥ ३१ ॥

अर्थात्—जो भी शरीर की चेष्टा (व्यापार)—उचित, स्थिरता लाने वाली तथा बल वर्द्धक हो उस का नाम व्यायाम है और उसे मात्रा (आधी शक्ति) से करना चाहिये।

साहस—अपनी शक्ति का विचार किये बिना जो व्यायाम आदि किया जाता हैं वह "साहस" कहलाता है और साहस राजयक्ष्मा तथा उरः क्षत का कारण है और "राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम्" तथा च अयथाबलम् आरम्भः प्राणोपरोधिनाम्" (च. सू. अ. २५) रोगों में राजयक्ष्मा अत्यन्त भीषण है और शक्ति से बाहिर कार्य करना प्राण नाशकों में सबसे भीषण है। अतएव भगवान् पुनर्वसु ने कहा है कि—च. सू. अ. ७

व्यायाम हास्य भाष्याध्वा ग्राम्यधर्म प्रजागरान्।
न उचितान् अपि सेवेत बुद्धिमान् अतिमात्रया ॥ ३१ ॥

अर्थात्—यद्यपि मानव के लिये व्यायाम आदि उचित (लाभदायक) हैं तथापि इन का अधिक सेवन उचित नहीं है।

विश्व में अनेक प्रकार के व्यायाम प्रचलित हैं उनमे से जो इष्ट हो उस का सेवन नर नारी के लियें आवश्यक है और वे ही नहीं बाहिरी एवं धरेलू काम धन्धे भी व्यायाम ही हैं। और जब थकावट का अनुभव हो तब समझना चाहिये कि मानसिक शक्ति का आधा भाग व्यय हो गया है ॥१०-१४॥

उबटन

'उद्वर्तनं' कफहरं मेदसः प्रविलायनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ॥१५॥

व्याख्या—व्यायाम के पश्चात् उबटन करना चाहिये। उबटन—कफ नाशक है, मेदस् को विलीन करता है, अङ्गों को स्थिर (दृढ़-बलवान्) करता है और त्वचा को अत्यन्त स्वच्छ (कान्तिमान्) करता है।

वक्तव्य—जौ अथवा चना का आटा, तैल एवं हलदी को जल में सान कर अथवा सरसों का कल्क बना कर शरीर पर मलना उद्वर्तन, उबटन या उत्सादन कहलाता है। इस से शरीर पर का मैल भली भान्ति उतर जाता है और त्वचा स्निग्ध एवं कोमल हो जाती है। उबटन के पश्चात् स्नान करे ॥ १५ ॥

स्नान

दीपनं वृष्यमायुष्यं 'स्नान' मूर्जाबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥१६॥
'उष्णाम्बुना'ऽधः कायस्य परिषेको बलावहः।
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥१७॥
स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु।
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च 'गर्हितम्' ॥१८॥

व्याख्या—स्नान—अग्नि को प्रदीप्त करता है, वृष्य है, आयु को बढ़ाता है, उत्साह एवं बल को बढ़ाता है, कण्डू, मल (त्वचा की मलिनता), थकान, स्वेद, तन्द्रा, तृषा, दाह तथा पाप (बुरे विचार तथा अपराध) को नष्ट करता है।

उष्ण जल से अधः काय (ग्रीवा के नीचे के शरीर) का परिषेचन (स्नान) बलवर्द्धक है परन्तु उससे शिर का स्नान केशों तथा नेत्रों की शक्ति को हानि पहुँचाता है।

स्नान का निषेध—अर्दित रोग, नेत्र रोग, मुख रोग कर्ण रोग· अतिसार रोग, अफरा, पीनस तथा अजीर्ण में और भोजन के अनन्तर स्नान निन्दित (हानिकारक) है।

वक्तव्य—स्नान के अनन्तर केशों में कंघी करके स्वच्छ वस्त्र को धारण करे परन्तु स्नान के अनन्तर शरीर एवं केशों को स्वच्छ अंगोछा से पोंछ कर सुखा लेवे ॥१६-१८॥

भोजन आदि आचरण—

'जीर्णे' हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात्।
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम् ॥१९॥

व्याख्या—स्नान के अनन्तर अथवा पूर्व कृत भोजन पच जाने पर कोई हित (धारण पोषण कारक) एवं मित (उचित मात्रा में या परिमित-थोड़ा) भोजन करे। ऋतु एवं सात्म्य असात्म्य का विचार करके जो हित हो वह आहार खावे।

मूत्र पुरीष आदि के वेगों को बलपूर्वक प्रेरित न करे और उनका वेग होने पर दूसरे कार्यों में न लगे अपितु सब कुछ छोड़कर वेग का उत्सर्जन करे तब दूसरे कार्य में लगे।

इतना ही नहीं साध्य रोग को जीते बिना अर्थात् रोग की चिकित्सा किये बिना किसी अन्य कार्य में न लगे।

वक्तव्य—करने योग्य कर्म का नाम "कार्य" है। वेगों का उत्सर्जन किये बिना और रोग की उचित चिकित्सा किये बिना कार्य-कर्तव्य कर्म भी न करे, उपेक्षा करने से वेगरोध

जन्य रोग (देखिये अ. ४) हो सकते हैं और साध्य रोग असाध्यावस्था को प्राप्त हो सकता है। आशुकारी रोगों के लिये ऐसा कहा गया है परन्तु अर्श आदि याप्य रोगों में तो सांसारिक कार्य करते ही रहना चाहिये ॥ १९ ॥

सुख का हेतु धर्म—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्मा'द्धर्मपरो' भवेत् ॥२०॥

व्याख्या—सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियाँ (कार्यारम्भ) सुख की प्राप्ति के लिये होती हैं और सुख की प्राप्ति 'धर्म' के विना नहीं होती—हो सकती, इस लिये सबको धर्म में तत्पर रहना चाहिये।

वक्तव्य—धर्म मनुस्मृति आदि धर्म ग्रन्थों में—धारणात् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारणात्मकः आदि अनेक वाक्यों में धर्म शब्द की व्याख्या की गई है जिनका तात्पर्य यह है कि—जो कर्म अपना और दूसरों का धारण करता है उसका नाम धर्म है उसी को पुण्य,श्रेयस्,सुकृत एवं वृष आदि नामों से लिखा गया है। शुभ कर्म का नाम धर्म और अशुभ कर्म का नाम पाप है जिससे अपना तथा दूसरों का भला हो उस कर्म का नाम धर्म समझना चाहिये। ऐसे कर्म से स्वास्थ्य लाभ होता है, मानसिक शान्ति होती है अतः आयुर्वेद में धर्म की आवश्यकता बतलाई गई है। विधि निषेध के द्वारा धर्म की शिक्षा दी जाती है, यथा—॥ २० ।

सद्वृत्त (धर्म) का वर्णन—

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः।
हिंसास्तेयाऽन्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ॥२१॥
संभिन्नाऽलापव्यापादमभिध्या-दृग्विपर्ययम्।
'पापं कर्मेति दशधा' कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥२२॥
अवृत्ति-व्याधि-शोकाऽऽर्त्ताननुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम् ॥२३॥
अर्चयेद् देव-गो-विप्र-वृद्ध-वैद्य-नृपाऽतिथीन्।
विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नाऽवमन्येत नाऽऽक्षिपेत् ॥२४॥
'उपकारप्रधानः' स्यादपकारपरेऽप्यरौ।
'संपद्विपत्स्वेकमना' हेतावीर्ष्येत्फले न तु ॥२५॥
काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।
पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणा-मृदुः ॥२६॥
नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शङ्कितः।
न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ॥२७॥
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः।
जनस्याऽऽशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ॥२८॥
तं तथैवाऽनुवर्तेत पराराधनपण्डितः।
न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ॥२९॥
त्रिवर्गशून्यं नाऽऽरम्भं भजेत्तं चाविरोधयन्।
अनुयायात्प्रतिपदं 'सर्वधर्मेषु' मध्यमाम् ॥३०॥
नीच-रोम-नखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः।
स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्वणोज्ज्वलः ॥३१॥
धारयेत्सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः।
साऽऽतपत्र-पदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ॥३२॥
निशि चाऽऽत्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान्।
चैत्यपूज्यध्वजाऽशस्तच्छायाभस्मतुषाऽशुचीन् ॥३३॥
नाऽऽक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवोऽपि च।
नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाऽग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ॥३४॥
संदिग्धनावं वृक्षं च नाऽरोहेद् दुष्टयानवत्।
नासंवृतमुखः कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ॥ ३५ ॥
नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद्विलिखेद्भुवम्।
नाङ्गैश्चेष्टेत विगुणं नाऽऽसीतोत्कटकश्चिरम् ॥ ३६ ॥
देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत्।
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् नक्तं सेवेत न द्रुमम् ॥३७॥
तथा चत्वरचैत्यान्तश्चतुष्पथसुरालयान्।
सूनाऽटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न ॥ ३८ ॥
सर्वथेक्षेत नाऽऽदित्यं न भारं शिरसा वहेत्।
नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्ताऽमेध्याऽप्रियाणि च ॥ ३९ ॥
मद्यविक्रय-संधान-दानाऽऽदानानि नाऽऽचरेत्।
पुरोवाताऽऽतप-रजस्तुषारपरुषाऽनिलान् ॥४०॥
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम्।
कूलच्छायां नृपद्विष्टं व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ॥४१॥
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः।
सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ॥४२॥
शत्रु-सत्र-गणाऽऽकीर्ण-गणिका-पणिकाऽशनम्।
गात्रवक्त्रनखैर्वाद्यं हस्तकेशाऽवधूननम् ॥४३॥
तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम्।
मद्यातिसक्तिं विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत् ॥४४॥

व्याख्या—भले मित्रों का भक्ति पूर्वक सेवन सहयोग, उपासना—मेल मिलाप आदि व्यवहार) करे और बुरे मित्रों (तथा कथित दोस्तों) से सदा दूर रहे।

निम्नलिखित दस प्रकार के पापकर्म का शरीर, वाणी एवं मनस् से सदा परित्याग करे यथा—१—हिंसा (मार पीट), २—स्तेय (चोरी, डाका-लूट) तथा ३—अन्यथा काम (मिथ्या प्रकार से सुख भोग—अगम्या गमन आदि) इन शारीरिक कर्मों का शरीर से त्याग करे।

४—पैशुन्य (चुगली) ५—परुष वाक्य (कठोर वचन – गाली गलौज) ६—अनृत (असत्य एवं मिथ्या वचन तथा ७—संभिन्न आलाप (कभी कुछ तो कभी कुछ कहना दोगलापन या पुनरुक्ति— द्विरभिभाषण)

इन वाचिक पापों का वाणी से परित्याग करे—ऐसे वचनों का प्रयोग न करे।

८—व्यापद (किसी को मार डालने का विचार—योजना), ९—अभिध्या (दूसरों के धन आदि बलाद् ले लेने का विपर्यय—विपरीतता अर्थात् कहने वाले के भाव का विपरीत अर्थ करना या आप्त वाक्यों का उलटा अर्थ करना या मानसिक पापों (दोषों) का मनस् से परित्याग करता रहे।

जीविकाहीनों, रोग एवं शोक से पीड़ितों की यथा शक्ति सहायता, चिकित्सा एवं आश्वासन आदि से सहायता करे (अनुकूल वर्ताव करे।)

कीड़ों एवं चिउटियों को भी सदा अपने समान देखे-समझे अर्थात् क्षुद्र प्राणियों को कष्ट न पहुँचावे।

देव, गौ, विप्र, वृद्ध, वैद्य, राजा तथा अतिथि की पूजा अर्थात् उचित रूप से सत्कार करे। आदर-सम्मान करे।

अर्थियों (कुछ मांगने वालों) को यथा शक्ति निराश न करे और उनका अपमान न करे और उनपर आक्षेप भी न करे।

अपकार करने में तत्पर का और शत्रु का भी उपकार ही करता रहे। सब का उपकार करे, अपकार (हानि) न करे।

सम्पत्ति (सुख) एवं विपत्ति (दुःख) में एक सा बना रहे। सुख दुःख तथा सफलता असफलता के हेतु (कारण) पर ध्यान देवे, फल (कार्य) पर ध्या- . दवे अर्थात् असफल होने पर दुःखी न होवे बल्कि असफलता के कारण को दूर करने का प्रयत्न करे।

समय पर बोले, हितकर बचन बोले, थोड़ा बोले, अविसंवादी (जिसका विरोध न हो—सत्य) बचन बोले, और मीठा वचन बोले पहिले और सामने (आंख लड़ा कर) आकर बोले और अथवा पहिले अभिवादन—प्रणाम करके अथवा "कुशल तो है" "आप प्रसन्न तो हैं" आदि सामयिक वचन बोल देवे, सुमुख हो कर बोले तथा सदा सुमुख बना रहे, अच्छे स्वभाव वाला बना रहे और करुणा से मृदु बना रहे (दयालु बना रहे)।

एका-.. : सुखी न बन जाय, सर्वत्र विश्वास न करे परन्तु सर्वत्र शंका (सन्देह—अविश्वास) भी न करे।

किसी को अपना शत्रु और अपने को किसी का शत्रु घोषित न करे। अपने अपमान को तथा प्रभु (अपने स्वामी) की स्नेह-हीनता (अप्रेम-द्वेष) को प्रकट न करे।

दूसरे के अभिप्राय को समझ कर तथा जो कोई जिस प्रकार परितुष्ट (सन्तुष्ट) हो उसके साथ वैसा ही परन्तु अनुकूल वर्त्ताव करे और दूसरों को अनुकूल बनाने में चतुर बना रहे।

चक्षु एवं कर्ण आदि इन्द्रियों को रूप एवं शब्द आदि विषयों के उपभोग से वञ्चित न करे परन्तु उनको अत्यन्त लोलुप भी न होने दे।

ऐसा कोई कर्म न करे जिससे धर्म, अर्थ अथवा सुख की प्राप्ति न हो अथवा उनका विरोध (विनाश—हानि) होता हो।

सब प्रकार के धर्मों (सम्प्रदायों) में मध्यम प्रतिपत्ति (मार्ग) का अनुगमन करे (कट्टर पन्थी न बने)।

रोमों, नखों तथा श्मश्रु (केश, दाढ़ी-मोछ) बहुत न बढ़ावे या बढ़ने देवे (अर्थात् इनका कृन्तन-कर्त्तन करते रहना चाहिये) और पाँवों को स्वच्छ करता रहे और गुद आदि मल मार्गों को भी निर्मल रखना चाहिये।

प्रतिदिन स्नान करे (शरीर भर को प्रतिदिन स्वच्छ करे), सुगन्धि लगाकर रहे, सुन्दर वेश में रहे, उद्धतवेश न बनावें परन्तु स्वच्छ वस्त्रों का धारण करे।

सर्वदा रत्न, सिद्ध मन्त्र तथा सिद्ध औषध का धारण करे, छाता लगाकर चले, जूता पहिन कर चले और ४ हाथ आगे का मार्ग देखता हुआ चले।

और रात्रि में अत्यन्त आवश्यक कार्य के लिये ही चले और हाथ में दण्ड (लाठी-छड़ी) लेकर चले, पगड़ी या टोपी पहिन कर चले और सहायक को साथ लेकर चले।

चैत्य (देवताऽधिष्ठित वृक्ष एवं पूज्य स्थान (समाधि आदि) पर न चढे, ध्वजा के दण्ड पर न चढ़े, निन्दनीय कर्म करने वाले की छाया भी न छुए (अथवा चैत्य आदि की छाया पर से होकर न जाए) भस्म के ढेर तथा तुष के ढेर पर और अपवित्र स्थान पर न चढ़े, कंकड़ों एवं ढेलों पर से तथा बलि भूमि एवं स्नान भूमि पर से होकर न चले।

वेगवती (नाद करती हुई) नदी को बाहुबल से तैर कर पार करने का प्रयत्न न करे, अग्निस्कन्ध (भीषण ज्वाला मुखी या अग्नि के ढेर) के समीप न जावे।

जिस नाव के डूब जाने का भय हो, जिस वृक्ष के टूट जाने का भय हो तथा दुष्ट घोड़ा एवं हाथी आदि पर न चढ़े तथा उनकी टंगा आदि सवारी पर न चढ़े।

मुख ढाँपे बिना न छींके, न हँसे और न जम्हाई लेवे और नासा के छिद्रों को कुरेदे नहीं और आवश्यकता के बिना भूमि पर रेखाएँ न खींचे।

टाँग बाँह आदि अंगों द्वारा विकृत चेष्टाएँ न करे जैसे मुख को टेढ़ा-मेढ़ा करना एवं आँखें मटकाना आदि न करे और उत्कटक आसन से (पाँव भार) न बैठे।

शरीर, मन एवं वाणी की चेष्टाओं (कर्मों-व्यापारों) को थकान से पूर्व ही रोक देवे।

चिर काल तक खड़ा न रहे, रात्रि में वृक्ष के नीचे अधिक समय तक न रहे तथा चत्वर (तिमुहानी-तीन मार्गों का संगम) पर, चैत्य के समीप या भीतर, चतुष्पथ (चौरास्ता-चौमुहानी) पर एवं देव मन्दिर (या मद्य-शाला) में भी न रहे और सूना (कसाई खाना-फाँसी देने का स्थान), घोर वन, शून्य घर तथा श्मशान में दिन के समय भी न रहे।

सूर्य को एकटक न देखता रहे। भार को शिर पर न उठावे और सूक्ष्म, चमकीले, अपवित्र तथा अप्रिय द्रव्यों को निरन्तर न देखे।

मद्य का विक्रय (व्यापार) न करे, मद्य का सन्धान (निर्माण) न करे और उसका देन लेन भी न करे (अर्थात् सर्वत्र और सर्वथा मद्य निषेध होना चाहिये)।

और पूर्व दिशा की वायु का तथा सामने की वायु का, धूप का, धूलि का, तुषार (ओस एवं हिम) का, एवं झोंके की वायु (आन्धी) का परित्याग करे।

और शरीर की टेढ़ी मेढ़ी अवस्था में छींकने का, उद्गार (डकार) लेने का, खाँसने का, सोने का, खाने का और मैथुन करने का परित्याग करे।

और कूल (नदी का कटा किनारा) की छाया में न बैठें एवं राजा के द्वेषी का संग साथ न करे।

और सर्प, दन्तों से काटने वाले कुत्ता आदि प्राणियों से तथा सांड़ एवं भैंसा आदि सींग वाले प्राणियों से दूर रहे।

और नीच, अभद्र तथा अत्यन्त निपुण (चण्ट शैतान) जनों की सेवा (नौकरी) न करे, उत्तम (सज्जन भद्र अथवा अपने से तगड़े) जनों से झगड़ा न करे।

और सन्ध्या काल में—खाना, मैथुन, सोना, पढ़ना तथा विचारना त्याग देवे (शान्त होकर ईश्वर चिन्तन तो करे)।

और शत्रु का, यज्ञ का, गण (समुदाय) का, आकीर्ण (इधर उधर फेंका हुआ अथवा चरक के अनुसार बहुजनाकीर्ण स्थान में च. सू. अ. ८) भोजन और गणिक (वेश्याकुल) का तथा पणिक (दुकान-होटल ढाबा) का भोजन न करे।

और गात्रो (कांख एवं ताली आदि) से, मुख से तथा नखों से वाद्य (बाजा) की नकल न करे, हाथों एवं केशों का अवधूनन (कम्पन) न करे (चुटकी बजाना, कांख से शब्द करना एवं ताली-गिढ़ा शिष्टाचार के विरुद्ध है, हाथों, केशों, का कम्पाना उन्माद का लक्षण है)।

जल, अग्नि एवं पूज्यजनों के बीच में से होकर न निकले, श्मशान या चिता के धूम से दूर रहे, मद्य (सुरा एवं भांग आदि मादक द्रव्य) का व्यसनी न बने।

स्त्रियों (माता, भगिनी एवं पत्नी आदि के अतिरिक्त या अपरिचित नारियों) का विश्वास न करे और सभी नारियों को स्वतन्त्रता प्रदान न करे (उच्छृङ्खल न होने देवे या स्वतन्त्रता से घूमने फिरने न देवे)

वक्तव्य—यह सब विधि-निषेध सत्पुरुषों (नर नारियों) का वृत्त है इस प्रकार का आचरण करने से पुरुष—सज्जन कहलाता है। च. सू. अ. ५ में छाता, जूता तथा दण्ड को धारण करने के लाभ इस प्रकार लिखे हैं—

छाता—ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्ति-आवरण शंकरम्।
घर्म-अनिल-रजो-ऽम्बुघ्नं छत्रधारणम् उच्यते ॥१०१॥

पादत्राण—चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोः व्यसनापहम्।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ॥१॥

दण्ड—स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम्।
अवष्टम्भनम् आयुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम् ॥२॥

सु० चि० अ० २४ में उष्णीष के लाभ इस प्रकार लिखे हैं--

पवित्रं केश्यं उष्णीषं वात-आतप रजोऽपहम्।

शेष देखिये च० सू० अ० ८ तथा सु० चि० २४ और अन्यान्य वे ग्रन्थ जिनमें सदाचार का वर्णन किया गया है जैसे मनुस्मृति।

उक्त सब विधिनिषेधो का भाव समझ कर आचरण सुधारने का सर्वदा प्रयत्न करते रहना आवश्यक है। इससे इस लोक में सम्मान की और परलोक में सद्गति की प्राप्ति होती है ॥ २१-४४ ॥

अन्यान्य सदुपदेश—

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे 'परीक्षकः' ॥४५॥

व्याख्या—सब प्रकार के व्यवहार सीखने के लिये बुद्धिमान् का (बुद्धिमान् नर नारी का) सारा संसार ही आचार्य (शिक्षक) है।

तथापि—सांसारिक अर्थ (स्वार्थ एवं परार्थ) की परीक्षा (भलाई बुराई का विचार) करने वाला मानव—संसार का अनुकरण (अनुसरण) करे

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतां आचार्यः, शत्रुश्च अबुद्धिमताम् (च० वि० अ०)—अर्थात् बुद्धिमान् का सारा संसार ही आचार्य है और मूर्ख का सारा संसार शत्रु है।

निष्कर्ष यह है कि सद्गुण जहाँ भी देखे उसका ग्रहण करे और उसी के अनुसार अपना आचरण बना लेवे और दुर्गुण-दुराचार-दुर्वृत्त का परित्याग करे ॥४५॥

सदाचार सूत्र

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः ।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ॥४६॥

व्याख्या—दयालुता, दान और शरीर, वाणी एवं मन पर नियन्त्रण (वश में रखना) तथा दूसरों के अर्थों (मनोरथों-प्रयोजनों) में स्वार्थ भावना (अपनापन)। यह सब पर्याप्त (परिपूर्ण) सदाचार माना गया है ॥४६॥

विचार शीलता—

नक्तंदिनानि मे यान्ति कथंभूतस्य संप्रति ।
दुःखभाङ् न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः॥४७॥

व्याख्या—आज कल मेरे रातदिन कैसे व्यतीत हो रहे हैं और मैं कैसा हो गया हूँ या हो रहा हूँ, इस प्रकार प्रतिक्षण विचार करनेवाला मानव दुःखी नहीं होता। ४७।

वक्तव्य—इस प्रकार सदा सर्वदा विचार करने वाला मानव (नर नारी) अपनी भूलों त्रुटियों तथा बुराइयों को सुधारता रहता है फलतः उसे किसी प्रकार के दुःख या संकट का सामना नहीं करना पड़ता।

उपसंहार—

इत्याचारः समासेन यं प्राप्नोति समाचरन् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशो लोकांश्च शाश्वतान्॥४८॥

व्याख्या—इस प्रकार संक्षेपतः आचार (सदाचार-सद्वृत्त) कह दिया गया है जिसका आचरण करता हुआ मानव—आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश तथा स्वर्ग आदि सनातन लोकों को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—'आचारः प्रथमो धर्मः' तथा 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः' (मनुः), "धनाद् धर्मः ततः सुखम्' (लोकोक्ति) 'धर्मेण हन्यते व्याधिः धर्मेण प्राप्यते सुखम् या यशः' (लोकोक्ति) तथा "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इन वाक्यों का भावार्थ यह है कि—सदाचार प्रथम श्रेणी का "धर्म" है, धर्म का हनन होने से मानव का हनन हो जाता है, धर्म के संरक्षण से मानव की रक्षा होती है, धन से धर्म की और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है, धर्म से रोगों का नाश हो जाता है और सुख एवं यश की प्राप्ति होती है और आचार हीन मानव को वेद (ज्ञान) भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः मानव मात्र को सदाचार का पालन करना चाहिये। ४८।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने द्वितीयोऽध्यायः। २।

तृतीयोऽध्यायः—

अथात ऋतुचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब ऋतुचर्या का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—चर्या अर्थात् उचित या योग्य विहार एवं आहार। ऋतुचर्या का वर्णन च० सू० अ० ६ में तथा विभाग अ० ८ में सु० सू० अ० ६ में तथा चि० अ० २४ में एवं उत्तर अ० ६४ में और अ० सं० अ० ४ में देखिये।

६ ऋतु तथा उनके मास

मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैःक्रमात् षड् ऋतवःस्मृताः ।
शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मवर्षाशरद्धिमाः ॥१॥

व्याख्या—माघ आदि दो दो मासों की क्रमशः ६ ऋतु मानी गई हैं यथा—१—शिशिर (माघ एवं फागुन), २—वसन्त (चैत्र एवं वैशाख) ३—ग्रीष्म (जेठ एवं आषाढ़), ४—वर्षा (सावन एवं भादों) ५—शरद् (आश्विन एवं कार्तिक) तथा ६—हेमन्त (मार्गशिर एवं पौष मास) २।

वक्तव्य—वर्ष में ६ ऋतु होती हैं और १२ मास होते हैं। ये मास सौर मास हैं चान्द्र मास नहीं, चान्द्र मास २७—२८ दिन का होता है अतः ३२ मास के बाद एक चान्द्र मास अधिक हो जाता है।

ये ६ ऋतु शीत, उष्ण एवं वर्षा लक्षण वाली होती हैं इसका कारण है काल स्वभाव। भगवान् धन्वन्तरि के कथनानुसार—सु० सू० अ० ६—

इह तु वर्षा शरद् हेमन्त वसन्त ग्रीष्म प्रावृषः षट् ऋतवो भवन्ति दोषोपचय (सञ्चय) कोपोपशम निमित्तं ते तु भाद्रपदाऽऽश्वयुजौ वर्षा, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरद्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः आषाढ़श्रावणौ प्रावृड् इति। १०।

अर्थात्—ये ६ ऋतु—वातादि दोषों के सञ्चय, प्रकोप, तथा उपशम का हेतु होती हैं। गणना में विशेषता यह है कि—जिन देशों में शीत अधिक पड़ता है वहाँ हेमन्त एवं शिशिर नामक दो ऋतु शीत काल की होती हैं और जिन देशों में वर्षा अधिक पड़ती है वहाँ प्रावृट् एवं वर्षा नामक दो ऋतु वर्षा काल की मानी जाती हैं। यद्यपि अनेक भूभाग ऐसे भी हैं जहाँ वर्ष भर शीत रहता है जैसे हिमालय के प्रदेश, वर्षा रहती है जैसे आसाम के कुछ प्रदेश और उष्ण काल रहता है जैसे दक्षिण के कुछ प्रदेश तथापि कुछ न कुछ ऋतु का प्रभाव वहाँ भी होता ही है। अस्तु।

अ० सं० सू० अ० ४—तैः चतुर्भिः यामैः अहो रात्रिश्च,

पञ्चदश अहोरात्राः पक्षाः—कृष्णपक्षः शुक्लपक्षश्च पक्षद्वयं मासः, स शुक्लान्तः ।

अर्थात्—चार याम (प्रहर) का दिन और चार प्रहर की रात्रि होती है, १५ दिन-रात्रि का १ पक्ष होता है, दो पक्ष का एक मास होता है । परन्तु इस प्रकार के दिन एवं रात्रि वर्ष में केवल दो होते हैं १ लगभग २३-२४ सितम्बर तथा २०-२१ मार्च को, शेष दिनों में घटते बढ़ते रहते हैं । सौर वर्ष में ३६५ दिन होते हैं ।

काल वादियों का विश्वास है कि-अ० स०सू० अ० ४-कालो हि भगवान् (स्वयम्भुः) अनादिमध्यनिधनो यथोपचितकर्माऽनुसारी यदनुरोधात् आदित्यादयः (ग्रहाः), खादयश्च महाभूतविशेषाः तथा तथा विपरिणमन्तो जन्मवतां (प्राणिनां) जन्ममरणस्य, ऋतु रस वीर्य दोष देह बल व्यापत् सम्पदां च कारणत्वं प्रत्ययतां प्रतिपद्यते ।

अर्थात्—काल हीं भगवान् स्वयम्भू हैं, उसका आदि, मध्य एवं अन्त नहीं है अर्थात् वह नित्य है, उचित एवं अनुचित कर्मों के अनुसार चलता है, उसी के अनुरोध से सूर्य एवं चद्रमा आदि ग्रह तथा आकाश एवं वायु आदि महाभूत उस २ प्रकार के परिणाम को (शीत उष्ण आदि भावों को) प्राप्त होते हैं । फलतः जन्मनेवालों (प्राणियों) के जन्म एवं मरण का कारण होते हैं और उक्त ऋतुओं, की और द्रव्यों तथा उन रस एवं वीर्य की तथा दोष, शरीर एवं बल की व्यापत्ति तथा सम्पत्ति का कारण होते हैं । अर्थात् सब कुछ काल के अधीन है, उसी के प्रभाव से सब प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं ॥१॥

उत्तरायण एवं दक्षिणायन

शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम् ।
'आदानं' च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम् ॥२॥
तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षा मार्गस्वभावतः ।
आदित्यपवनाःसौम्यान् क्षपयन्ति गुणान् भुवः॥३॥
तिक्तः कषायः कटुको बलिनोऽत्र रसाः क्रमात् ।
तस्मादादानमाग्नेयमृतवो दक्षिणायनम्॥४॥
वर्षादयो विसर्गश्च यद्बलं विसृजत्ययम् ।
सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रविः ॥५॥
मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले
स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधुरा बलिनो रसाः ॥६॥
शीतेऽग्र्यं वृद्धिवर्षेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः ।

व्याख्या—शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म नामक तीन ऋतुओं का नाम "उत्तरायण" है और उस का दूसरा नाम "आदान काल" है । और वह प्राणियों के बल को प्रतिदिन लेता रहता है अतः "आदान" कहलाता है । क्यों कि उस अयन में मार्ग अर्थात् उत्तर मार्ग में सूर्य की गति होने के कारण, सूर्य की किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उष्ण हो जाती हैं और उन के सम्पर्क से वायु भी उष्ण एवं रूक्ष हो जाती है (बहती है) । इस लिए वे दोनों (सूर्य एवं वायु) भूमि के सौम्य (आर्द्रता एवं शीतता आदि) गुणों को क्षीण करते हैं, फलतः प्राणियों का शरीर एवं बल भी क्षीण हो जाता है । और इस अयन में—क्रमशः तिक्तरस (शिशिर में), कषाय रस (वसन्त में) तथा कटु रस (ग्रीष्म में) बलवान् हो जाते हैं, इस लिए आदान काल आग्नेय (अग्नि गुण प्रधान—शोषक—क्षीणताकारक) होता है ।

और वर्षा, शरद् एवं हेमन्त नामक तीन ऋतुओं का नाम दक्षिणायन है और उस का दूसरा नाम "विसर्ग-काल" है क्योंकि यह सौम्य होने से प्राणियों को बल देता है, इस काल में सोम (चन्द्रमा) बलवान् रहता है और सूर्य क्षीण रहता है और मेघ छाए रहने से, वर्षा होने से फलतः शीतल वायु बहने से पृथिवीतल का सन्ताप शान्त हो जाने पर इस काल में स्निग्धगुणयुक्त अम्लरस (वर्षा में), लवण रस (शरद् में) तथा मधुरस (हेमन्त में) बलवान् होते हैं [इन सब कारणों से-इस दक्षिणायन में प्राणियों का शरीर एवं बल बढ़ता है] ।

निष्कर्ष यह है कि—शीत (हेमन्त एवं शिशिर ऋतुओं) में प्राणियों में उत्तम कोटि का बल रहता है, वर्षा एवं ग्रीष्म ऋतुओं में अल्प (हीन-थोड़ा) बल रहता है और शेष दो (शरद् एवं वसन्त) ऋतुओं में मध्यम कोटि का बल रहता है ॥७॥

वक्तव्य—वर्ष में ६ ऋतु होते हैं और उक्त प्रकार से ३—३ ऋतुओं के दो अयन होते हैं । इन ऋतुओं का प्रभाव पृथिवी पर तथा उस पर रहने वाले प्राणियों पर पड़ता है परिणामतः उक्त प्रकार से उन के बल में वृद्धि, समता एवं क्षय होता है । भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

विसर्गे पुनः वायवो नाति रूक्षा प्रवान्ति, इतरे पुनः आदाने, सोमश्च अव्याहतबलः (सन्) शिशिराभिः भाभिः (किरणैः) आपूरयन् जगत् आप्याययति शश्वत् अतो विसर्गः सौम्यः ।

आदानं पुनः आग्नेयम्, तत्र रविः भाभिः जगतः स्नेहम् आददानः (नराते), वायवः तीव्ररूक्षाश्च उपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु ऋतुषु यथाक्रमं रौक्ष्यं उत्पादयन्तो रूक्षान् रसान् तिक्तकषायकटुकान् अभिवर्द्धयन्तो नृणां दौर्बल्यं आपादयन्ति ॥६॥

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाऽभिमुखे अर्के कालमार्गं मेघवातवर्षाऽभिहतप्रतापे, शशिनि च अव्याहतबले, माहेन्द्र सलिल प्रशान्त सन्तापे जगति, अरूक्षा रसाः प्रवर्द्धन्ते अम्ल

लवणमधुरा यथाक्रमं, तत्र बलम् उपचीयते नृणाम् इति ।।७।।

भावार्थ यह है कि विसर्ग काल में वायु अधिक रूक्ष नहीं बहता और चन्द्रमा बलवान्, वातावरण शीतल होता हैं, अतः प्राणियों का पोषण होता है और आदान काल में वायु अधिक रूक्ष बहता है, सूर्य बलवान्, वातावरण उष्ण रहता है, अतः प्राणियों में कृशता एवं दुर्बलता की वृद्धि होती है। यह सब काल का स्वभाव है ।।२—६।।

हेमन्त एवं शिशिर की चर्या

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमन्ते प्रबलोऽनलः ।।७।।
भवत्यल्पेन्धनो धातून् स पचेद्वायुनेरितः ।
अतो हिमेऽस्मिन्सेवेत स्वाद्वम्ललवणान् रसान्।।८।।
दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः ।
अवश्यकार्यं संभाव्य यथोक्तं शीलयेदनु ।। ९ ।।
वातघ्नतैलैरभ्यङ्गं मूर्ध्नि तैलं विमर्दनम् ।
नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः ।। १० ।।
कषायापहृतस्नेहस्ततः स्नातो यथाविधि ।
कुंकुमेन सदर्पेण प्रदिग्धोऽगुरुधूपितः ।। ११ ।।
रसान् स्निग्धान् पलं पुष्टं गौडमच्छसुरां सुराम् ।
गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः ।। १२ ।।
नवमन्नं वसां तैलं शौचकार्ये सुखोदकम् ।
प्रावाराऽऽजिन-कौशेय-प्रवेणी-कौचवाऽऽस्तृतम् ।।१३।।
उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्रावृतः शयनं भजेत् ।
युक्त्यार्ककिरणान् स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा ।। १४ ।।
पीवरोरुस्तनश्रोण्यः समदाः प्रमदाः प्रियाः ।
हरन्ति शीतमुष्णाङ्ग्यो धूपकुंकुमयौवनैः ।। १५ ।।
अङ्गारतापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारिणः ।
शीतपारुष्यजनितो न दोषो जातु जायते ।। १६ ।।
अयमेव विधिः कार्यः शिशिरेऽपि विशेषतः ।
तदा हि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम् ।। १७ ।।

व्याख्या—हेमन्त चर्या—हेमन्त ऋतु में काल स्वभाव के कारण अधिक बलवान् रहता है और शीतद्वारा अवरुद्ध रहने से जठराग्नि अधिक बलवान् हो जाती है फलतः यदि उसे आहार रूपी इन्धन अल्प मिलता है। तो वह वायु द्वारा प्रेरित (प्रज्वलित) होकर रस आदि धातुओं को पचाने लगती है अतः इस हेमन्त ऋतु में वात नाशक मधुर, अम्ल एवं लवण नामक रसों का सेवन विशेष रूप से करे।

और दूसरे इस काल में रात्रियाँ लम्बी होती हैं अतः प्रातःकाल ही भूख लगने पर—प्रातः कालीन मलोत्सर्गादि एवं दन्त धावनादि आवश्यक कृत्य कर के, उक्त मधुर, अम्ल एवं लवण रस वाले (मिठाई एवं नमकीन) पदार्थों का सेवन कर लिया करे (कुछ कलेवा- व्यालू आदि कर लेना चाहिये)।

इस ऋतु में प्रति दिन—वात नाशक तैलों का अभ्यङ्ग करे और शिर पर तैल का मर्दन करे, कुशल मल्लों के साथ नियुद्ध (कुश्ती) करें परन्तु यदि सम्भव न हो तो युक्ति पूर्वक (थोड़ा अधिक नहीं) पदाघात (बैठक या दण्ड बैठक आदि व्यायाम) अवश्य करे।

इस के पश्चात्—आमला आदि कसैले द्रव्यों के कल्क से (साबुन से नहीं, क्योंकि साबुन क्षारीय होता है फलतः उससे त्वचा एवं केशों में विकृति आती है।) स्नेह (तैलाभ्यङ्ग की चिकनाई) को दूर करे और फिर विधि पूर्वक (उष्ण जल से अथवा उष्ण जल पूर्ण द्रोणी में बैठकर या लेट कर) स्नान करे तत्पश्चात् शरीर को पोंछ कर केशर एवं कस्तूरी आदि आदि उष्ण द्रव्यों का लेप (तिलक) करे और अगुरु की धूप लेवे।

भोजन में—स्नेहयुक्त मांस रस, पुष्ट प्राणियों के मांस, गुड़ के पदार्थ, अच्छसुरा (उच्च कोटि की बराण्डी आदि) अथवा सुरा (साधारण सुरा). गेहूँ, पीठी, उरद, ईख तथा दूध के उत्तम पदार्थ, नूतन धान्य (नये चावल आदि), वसा तथा तैल (में पक्व) का सेवन करे और हाथ धोने आदि कार्य में कोसे जल का प्रयोग करे।

इस ऋतु में—प्रावार (गुरु प्रावरण कम्बलादि च० पा० टीका) अथवा मृग चर्म अथवा रेशमी बिछावन अथवा टाट अथवा कुथक (चित्र कम्बल या गोदड़ी या रूई भरा गद्दा) को बिछा कर और उष्ण (ऊनी कम्बल, चद्दर) परन्तु हलके वस्त्र ओढ़कर सोवे। और प्रातः काल विधि पूर्वक (थोडा समय) सूर्य की किरणों (धूप) का सेवन करे अथवा अन्य प्रकार के किसी स्वेद का सेवन करे और सर्वदा पाद त्राण (जूता मोजा-जुराब) पहने।

और पीन (पुष्ट)-ऊरु, स्तन एवं श्रोणि वाली, सुरापान आदि से मदमत्त, प्रिया, अगुरु आदि के धूपन से, केशर आदि के लेपन से और यौवन के कारण उष्ण शरीर वाली एवं स्वभावतःमदमत्त नारियाँ शीत को हर लेती हैं। (और इस प्रकार के नर नारी के शीत को हरलेते हैं)। और अंगारों के सन्ताप से तपे हुए, भीतरी कमरे में अथवा भूवेश्म (गुफा) में रहने वाले नर नारी को शीताधिक्य से होने वाला कोई दोष कभी नहीं होता। (अर्थात् इस प्रकार के घर में रहें)।

शिशिर चर्या-यही विधि शिशिर ऋतु में भी करनी चाहिये। विशेषता यह है कि इस ऋतु में शीत अधिक होता है और आदान काल का प्रारम्भ हो जाने से रूक्षता बढ़ जाती है अतः इसी विधि को विशेष रूप से बर्तना चा-

हिये (रूक्षता निवारण के लिये तैलाभ्यङ्ग आदि स्निग्धोपचार का अधिक सेवन करना चाहिये) ।१७।

वसन्त ऋतुचर्या

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशुतापितः।
हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत् ॥ १८ ॥
तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः।
व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्वणम् ॥ १९ ॥
स्नातोऽनुलिप्तः कर्पूरचन्दनाऽगुरुकुंकुमैः।
पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक् ॥ २० ॥
सहकाररसोन्मिश्रानास्वाद्य प्रिययाऽर्पितान्।
प्रियाऽऽस्यसंगसुरभीन् प्रियानेत्रोत्पलाऽङ्कितान् ।२१।
सौमनस्यकृतो हृद्यान्वयस्यैः सहितः पिबेत्।
निर्गदानासवारिष्टसीधुमार्द्वीकमाधवान् ॥ २२ ॥
शृङ्गवेराम्बु साराम्बु मध्वम्बु जलदाम्बु च।
दक्षिणाऽनिलशीतेषु परितो जलवाहिषु ॥ २३ ॥
अदृष्टनष्टसूर्येषु मणिकुट्टिमकान्तिषु।
परपुष्टविघुष्टेषु कामकर्मान्तभूमिषु ॥२४॥
विचित्रपुष्पवृक्षेषु काननेषु सुगन्धिषु।
गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत्सुखी ॥२५॥
गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्।

व्याख्या—हेमन्त एवं शिशिर ऋतुओं में उक्त विधि का सेवन करने से एवं शीत के प्रभाव से शीत काल में कफका सञ्चय हो जाता है और वह सञ्चित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से सन्तप्त होकर पिघलता है फलतःजठराग्नि को मन्द करके प्रतिश्याय आदि रोगों को उत्पन्न कर सकता हैं इस लिए उस कफ को शीघ्र ही (वमन एवं नस्य द्वारा) शान्त करने का प्रयत्न करे (हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति)। एतदर्थ (उसको शान्त करने के लिये) तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा वमन करे और तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा प्रति दिन नस्य लेवे, लघु एवं रूक्ष भोजन करे, व्यायाम उबटन तथा आघात (बैठक एवं चम्पी) करता कराता रहे और तीक्ष्ण ही धूम पान तथा कवल ग्रह आदि करता रहे, बढ़े कफ को इस प्रकार जीत कर स्नान किया करे और तत्पश्चात् —कपूर, चन्दन, अगुरु तथा केशर का लेप किया करे और भोजन में-पुराने जौ एवं गेहूँ के रोटी आदि पदार्थों को मधु एवं जाङ्गल (हरिण आदि) प्राणियों के मांस को शूल पर लपेट कर तथा पका कर खावे।

पान में—आम के रस से मिश्रित, प्रिया द्वारा स्वाद लेकर दिये गये, प्रिया के मुख की वायु से सुगन्धित, प्रिया के नेत्रकमलों से अङ्कित (प्रिया-प्रेमी जन द्वारा प्रेम पूर्वक पीने के ध्यान पूर्वक बनाए गये एवं दिये गये), मन को प्रसन्न करने वाले (स्वादिष्ट), हृदय को शक्ति देने वाले, दोषरहित आसव, अरिष्ट, सीधु, मार्द्वीक (मुनक्का अंगूर की सुरा) अथवा माधव (महुवा की सुरा) को मित्रों के साथ बैठ कर पीवें अथवा अदरक का पानी, विजयसार आदि के क्वाथ,मधुमिश्रित जल अथवा मोथा का परिपक्व जल पीवे।

कालयापन—काननों (वन-उपवनों) के विविध प्रकार की गोष्ठी कथाओं (गाना-बजाना, कथा-पुराण आदि का श्रवण तथा क्रीड़ा-ताश शतरञ्ज आदि मनोविनोद आदि) द्वारा मध्याह्न को व्यतीत करे, वे कानन-दक्षिण दिशा की वायु से शीतल हों, इनमें सब ओर जल बह रहा हो, वे इतने घने हों जिनमें कहीं-कहीं कुछ सूर्य दिखे और कहीं-कहीं दिखे ही नहीं, फलतः प्रतीत हो जैसे मणियों का सुन्दर कुट्टिम (फर्श) बना हो, जिनमें कोयल कूक रही हो और जहाँ काम कर्म (मैथुन) सम्पादन की व्यवस्था हो। विविध प्रकार के वृक्ष एवं पुष्प हों तथा सब ओर सुगन्धि फैल रही हो, इस प्रकार दुपहरी की गर्मी में सुखी रह सकता है, किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

अपथ्य—इस ऋतु में—गुरु एवं शीत पदार्थों का, दिवास्वाप का, स्निग्ध, अम्ल तथा मधुर पदार्थों का परित्याग करे (क्योंकि इनसे कफ की वृद्धि होती है या हो सकती है अतः इनका त्याग करे) ॥ १८-२५ ॥

ग्रीष्मऋतु चर्या—

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत्॥२६॥
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते।
अतोऽस्मिन्पटुकटवम्लव्यायामार्ककरांस्त्यजेत्॥२७॥
भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्।
सुशीततोयसिक्ताङ्गो लिह्यात्सक्तून् सशर्करान्॥२८॥
मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं सुबहुवारि वा।
अन्यथा शोफशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्॥२९॥
कुन्देन्दुधवलं शालिमश्नीयाज्जाङ्गलैः पलैः।
पिबेद्रसं नातिघनं रसालां रागखाडवौ ॥३०॥
पानकं पंचसारं वा नवमृद्भाजने स्थितम्।
मोचचोचदलैर्युक्तं साम्लं मृण्मयशुक्तिभिः ॥३१॥
पाटलावासितं चाम्भः सकर्पूरं सुशीतलम्।
शशाङ्ककिरणान्भक्ष्यान् रजन्यांभक्षयन् पिबेत्॥३२॥
ससितं माहिषं क्षीरं चन्द्र-नक्षत्रशीतलम्।
अभ्रङ्कषमहाशालतालरुद्धोष्णरश्मिषु ॥३३॥
वनेषु माधवीश्लिष्टद्राक्षास्तबकशालिषु।
सुगन्धिहिमपानीयसिच्यमानपटालिके ॥३४॥
कायमाने चिते चूतप्रवालफललुम्बिभिः।
कदलीदलकह्लारमृणालकमलोत्पलैः ॥३५॥
कोमलैः कल्पिते तल्पे हसत्कुसुमपल्लवे।
मध्यन्दिनेऽर्कतापार्तः स्वप्याद्धारागृहेऽथवा ॥३६॥

पुत्तस्त्री-स्तन-हस्तास्यप्रवृत्तोशीरवारिणि ।
निशाकरकराकीर्णे सौधपृष्ठे निशासु च ॥३७॥
आसना स्वस्थचित्तस्य चन्दनार्द्रस्य मालिनः ॥
निवृत्तकामतन्त्रस्य सुसूक्ष्मतनुवाससः ॥३८॥
जलार्द्रास्तालवृन्तानि विस्तृताः पद्मिनीपुटाः ।
उत्क्षेपाश्च मृदूत्क्षेपा जलवर्षिहिमानिलाः ॥३९॥
कर्पूरमल्लिकामाला हाराः सहरिचन्दनाः ।
मनोहरकलाऽऽलापाःशिशवः सारिकाःशुकाः॥४०॥
मृणालवलयाः कान्ताः प्रोत्फुल्लकमलोज्ज्वलाः ।
जङ्गमा इव पद्मिन्यो हरन्ति दयिताः क्लमम्॥४१॥

व्याख्या—ग्रीष्म चर्या—तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुः के स्थान में स्नेहमकोऽति तीक्ष्णांशुः पाठान्तर है और चरक सू० अ० ६ में—

मयूखैर्जगतः स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः ॥ २७ ॥ पाठ है तदनुसार व्याख्या की गई है। यथा—ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण होती जाती हैं अतः वह सूर्य पृथ्वी के स्नेह (जलीयांश) को अधिक मात्रा में हरने लगता है फलतः प्रतिदिन कफ का क्षय होता जाता है और वायु की वृद्धि होती जाती है। इसलिए इस ऋतु में लवण, कटु एवं अम्ल रसों (पदार्थों) का, व्यायाम तथा धूप (घाम) का सेवन त्याग देवें और मधुर आहार, लघु, स्निग्ध, शीतल तथा द्रव पदार्थों का सेवन करे, शीतल जल से स्नान करे, खण्ड मिलाकर सत्तू चाटे या पीवे,मद्य न पीवे, पीवे तो थोड़ी पीवे अथवा उसमें अधिक जल मिलाकर पीवे अन्यथा वह शोथ,शिथिलता, दाह एवं मोह को उत्पन्न करती है।

आहार में—कुन्द के समान श्वेत एवं चन्द्रमा के समान शीतल या शीत वीर्य शालिचावल के भात को हरिण बटेर आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस के साथ खावे, पतला मांस रस पीवे, रसाला, राग (रायते) एवं खाण्डव (अम्ल, लवण एवं मधुर रसों के घोल) पीवे और मिट्टी के नूतन (कोरे) भाण्ड में बनाए गये या बनाकर धरे गये तथा केला के अथवा महुवा के पत्तों से शीतल होने के लिये ढँके गये अम्ल रस युक्त पानक (पना-शर्बत) अथवा पञ्चसार को मिट्टी के सिकोरों से पीवे। और पाटल के पुष्पों से सुगन्धित, कपूरयुक्त एवं अत्यन्त शीतल जल पीवे।

और रात्रि में—शशांक किरण नामक भोजनों का सेवन करे और चन्द्रमा एवं तारों द्वारा शीतल तथा खण्डमिश्रित भैंस का दूध पीवे।

और दुपहरी में सूर्य की धूप से पीड़ित मानव (नर-नारी)—आकाश को छूने वाले (अत्यन्त ऊँचे) बड़े २ शालों, तालों एवं तमालों (वृक्षों) से अवरुद्ध सूर्य वाले (अवरुद्ध धूपवाले) माधवीलताओं से आलिंगित, अंगूरों के गुच्छों वाले बनों—उपवनों में, सुगन्धित एवं शीतल जल से बार-बार सींची गई पटालिका (परदों) वाले, आमों के कोमल पत्तों एवं फलों की बन्दनवारों से युक्त कायमान (बांस एवं सरपत के छप्परों से बने घर) में—केला के पत्तों, सुगन्धित कमलों विसों, कमलों तथा नील कमलों से रचित एवं खिले पुष्पों तथा कोमल पत्रों से युक्त बिछे कोमल विस्तर पर सोए अथवा धारागृह (जल धारा पर बने घर) में सोए जिसमें नारीरूप वाली पुतली के स्तनों हाथों तथा मुख से खस के संयोग द्वारा सुगन्धित जल प्रवृत्त हो—फोहारा चल रहा हो।

और रात्रि में—चूना से पुते घर की छत पर बैठे जहाँ चन्द्रमा की किरणें बिखर रही हों, चित्त को स्वस्थ बनाए रहे, चन्दन के लेप से शरीर को आर्द्र करता रहे, फूलों एवं रत्नों की माला (हार) पहिन लेवे, मैथुन से बचा रहे, सूक्ष्म एवं लघु वस्त्र पहने।

व्यजन (पंखे)—जल से भिगोए गये हों, ताड़ के हों अथवा कमल के पत्तों के हों अथवा मोर के पङ्खों के हों, बड़े-बड़े हों और धीरे २ हिलाए जा रहे हों तथा उनसे जल के कण गिर रहे हों और शीतल वायु आ रही हो।

मालाएँ—कपूर की मणियों की एवं मल्लिका के पुष्पों की हों और मोतियों के हार चन्दन से लिप्त हों।

बालबच्चे—आस पास मनोहर, मधुर एवं अस्फुट (अस्पष्ट) बोली बोलने वाले शिशु (लड़के लड़कियाँ) खेल रहे हों और ऐसे ही मैना एवं सुग्गे (तोते) हों।

विस (कमलनाल) के कंकणों वाली, खिले कमलों की सी उज्ज्वल (सुन्दर) एवं चलती फिरती कमलिनियों की सी नारियाँ हों। ये सब साधन ग्रीष्म ऋतु जनित क्लम (क्लेश) को नष्ट कर देते हैं।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि ग्रीष्म ऋतु में सब आहार विहार शीतल एवं मनोहर हों। शशांक किरण नामक भक्ष्य पदार्थका वर्णन चि. स्थान अ.५के श्लोक४९में देखिये। और पञ्चसार का वर्णन—चि.अ.२के श्लोक१३में देखिये।२६-४१।

वर्षाऋतुचर्या

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोऽपि सीदति ।
वर्षासु दोषैर्दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे॥४२॥
सतुषारेण मरुता, सहसा शीतलेन च ।
भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा ॥४३॥
वह्निनैव च मन्देन तेष्वित्यन्योन्यदूषिषु ।
भजेत्साधारणं सर्वमूष्मणस्तेजनं च यत् ॥ ४४ ॥
आस्थापनं शुद्धतनुर्जीर्णं धान्यं रसान् कृतान् ।

जाङ्गलं पिशितं यूषान् मध्वरिष्टं चिरन्तनम् ॥ ४५ ॥
मस्तु सौवर्चलाढ्यं वा पञ्चकोलाऽवचूर्णितम् ।
दिव्यं कौपं शृतं चाम्भो भोजनं त्वतिदुर्दिने ॥ ४६ ॥
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु ।
अपादचारी सुरभिः सततं धूपिताम्बरः ॥ ४७ ॥
हर्म्यपृष्ठे वसेद्बाष्पशीतशीकरवर्जिते ।
नदीजलोदमन्थाहः-स्वप्नायासातपांस्त्यजेत् ॥ ४८ ॥

व्याख्या—वर्षा चर्या—आदान काल के प्रभाव से दुर्बल एवं कृश शरीर वालों की पहिले से ही मन्द हुई जठराग्नि वर्षा ऋतु में—(वर्षाकाल—प्रावृट एवं वर्षा ऋतु में) —दोषों द्वारा अधिक मन्द हो जाती है क्योंकि वे दोष—जल से भरे अतएव लटकते हुए मेघों द्वारा आकाश छाया रहने पर, तुषार से युक्त एवं एका एकी शीतल हुए वायु के स्पर्श से, पृथिवी में से उठी भाप के प्रभाव से, आहार का पाक अम्ल होने से, मलिन जल का प्रयोग होने से तथा जठराग्नि मन्द हो जाने से कुपित हो जाते हैं और वे दोष परस्पर दूषित करने लगते हैं इस प्रकार दोषों के परस्पर दूषित होने पर साधारण आहार विहार (वातादि तीनों दोषों के शामक आहार विहार) का सेवन करे परन्तु विशेषतः अग्निदीपक आहार विहार का सेवन करे।

शोधन—इस ऋतु के प्रारम्भ में (प्रावृट काल में) वमन विरेचन द्वारा शरीर का शोधन करके निरूहण वस्तिका सेवन करे।

आहार—पूर्वकृत भोजन भलीभान्ति पच जाने पर—पुराने जौ एवं गेहूँ आदि का भोजन, संस्कृत मांस रस, हरिण आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों का मांस, मूँग आदि का जूस (पतली दाल), पुराना मधु एवं पुराने अरिष्ट (मद्य विशेष), सञ्चर लवण युक्त अथवा पञ्चकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रा एवं सोंठ) के चूर्ण से युक्त मस्तु (दही का पानी), वर्षा का स्वच्छ जल अथवा कूप का जल अथवा पकाया हुआ जल पथ्य है।

जिस दिन अत्यधिक मेघ छाया हो उस दिन तो पर्याप्त मात्रा में खटाई, लवण एवं स्नेह से युक्त परन्तु सूखा (चबैना आदि) अथच मधु युक्त तथा लघु भोजन होना चाहिये।

विहार—इन दिनों में—कीचड़ में, गीली धरती पर, नंगे पाँव नहीं चलना चाहिये (क्योंकि खिरहीं आदि रोग हो जाते हैं)।

और—इत्र आदि सुगन्धि लगाता रहे, वस्त्रों में धूप देता रहे, चौबारा में निवास करे जहाँ भूमि की भाप न हो शीत न हो और वर्षा की बौछार भी न आती हो।

अपथ्य—नदी के जल का, पतले मण्ठा या सत्तू का, दिवा स्वाप का, अधिक परिश्रम का तथा धूप (घाम) का परित्याग करे।

वक्तव्य—भूबाष्प—धूप पड़ने के पश्चात् जब पानी बरसता है तब भूमि में से भाप निकलती है यह दोष प्रकोप का हेतु होती है अतएव बरसात में प्राणियों का स्वास्थ्य अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक बिगड़ता है और वर्षा ऋतु में जङ्गल एवं साधारण देश भी "अनूप" देश हो जाता है और अनूपा आर्हत देशानाम् (च. सू. अ. २५) अर्थात्—अनूप देश सब (देशों) से अधिक आर्हत होता है। अपादचारी—पाँव से न चले अर्थात्—जूता पर, खड़ाऊँ पर घोड़ा पर, हाथी पर अथवा इक्का गाड़ी आदि पर चले। पाव में बरसाती, गन्दा कीचड़ लगने से अलस (खिरही) नामक रोग हो जाता है (सु. नि. अ. १३) ॥ ४२-४८ ॥

शरद् ऋतुचर्या

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।
तप्तानां संचितं वृष्टौ पित्तं शरदि कुप्यति ॥ ४९ ॥
तज्जयाय घृतं तिक्तं विरेको रक्तमोक्षणम् ।
तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितोऽन्नं भजेल्लघु ॥ ५० ॥
शालिमुद्गसिताधात्रीपटोलमधुजाङ्गलम् ।
तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः ॥ ५१ ॥
समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम् ।
शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम् ॥ ५२ ॥
नाभिष्यन्दि न वा रूक्षं पानादिष्वमृतोपमम् ।
चन्दनोशीरकर्पूरमुक्तास्रग्वसनोज्ज्वलः ॥ ५३ ॥
सौधेषु सौधधवलां चन्द्रिकां रजनीमुखे ।
तुषारक्षारसौहित्यदधितैलवसाऽतपान् ॥ ५४ ॥
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नपुरोवातान् परित्यजेत् ।

व्याख्या—वर्षा ऋतु में शीत से समवेत शरीर में पित्त का सञ्चय होता रहता है और शरद ऋतु में सहसा (एकाएक तीक्ष्ण) सूर्य की किरणों द्वारा सन्तप्त शरीर में—वर्षाकाल का सञ्चित पित्त कुपित हो जाता है (वर्षासु चीयते पित्त शरत्काले प्रकुप्यति)। उस को जीतने के लिए कुष्ठ चिकित्सा अ. १४ में वर्णित तिक्त घृत का सेवन करे, विरेचन करे, रक्त स्रावण करे और तिक्त, मधुर तथा कषाय रस वाले द्रव्यों का सेवन करे।

आहार—भूख लगने पर लघु भोजन करे यथा—शालि चावल, मूँग, खण्ड, आमला, परवल, मधु तथा जाङ्गल मांस का सेवन करे।

जल—दिनमें सूर्य की किरणों से सन्तप्त किया गया तथा रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल किया इस प्रकार आठों प्रहर सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों से सेवित,

और अगस्त्य तारा का उदय होने से निर्विष हुआ, पवित्र एवं निर्मल जल हंसोदक (या अशूदक) कहलाता है यह जल दोष नाशक होता है और न अभिष्यन्दी होता है न रूक्ष होता है, अतः पीने आदि में अमृत के समान लाभदायक होता है यथा सम्भव इसी जल का पान आदि में सेवन करना चाहिए (अभाव में कूप आदि का निर्मल जल होना चाहिए)।

विहार—रजनी मुख (एक दो घण्टा रात्रि व्यतीत होने तक—रात्रि के प्रारम्भ) में चन्दन, खस एवं कपूर का लेप लगा कर, मोतियों की माला एवं स्वच्छ वस्त्र पहिन कर, चूना से पुते भवन की छत पर बैठ कर, चूना के समान श्वेत चान्दनी का सेवन करे (कृष्ण पक्ष में भी छत पर बैठ कर उस समय की शीतल वायु का सेवन करे)।

अपथ्य—इस ऋतु में—ओस, क्षार, भरपेट भोजन, दही, तैल, वसा (तैल तथा वसा में पके पदार्थ), धूप (घाम), तीक्ष्ण-मद्य, दिवास्वाप तथा पूर्वा वायु (पूर्व-दिशा की वायु) का परित्याग करना चाहिए ॥५८॥

वक्तव्य—शरद् ऋतु में ओस अधिक पड़ती है अतः रात्रि भर छत पर अथवा आंगन में बैठना, सोना उचित नहीं उस से प्रतिश्याय हो सकता है केवल रात्रि के प्रारम्भ में १—२ घण्टा बैठना चाहिये ॥४६-५४॥

ऋतु चर्या सूत्र—

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन्वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत् ॥५५॥
स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान् ।
शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयोः ॥ ५६ ॥
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ।

व्याख्या—शीतकाल (हेमन्त एवं शिशिर ऋतु) में और वर्षा (प्रावृट एवं वर्षा ऋतु) काल में—मधुर अम्ल एवं लवण रसों का, वसन्त ऋतु में—तिक्त कटु एवं कषाय रसों का, ग्रीष्म ऋतु में मधुर रस का और शरद् ऋतु में मधुर, तिक्त एवं कषाय रस का सेवन करे।

और शरद् एवं वसन्त ऋतु में रूक्ष, ग्रीष्म एवं शरद् में शीत अन्न पान का सेवन करे।

और हेमन्त, शिशिर तथा वर्षा नामक ऋतुओं में इसको विपरीत अर्थात् स्निग्ध एवं उष्ण अन्न पान का सेवन करे।

वक्तव्य—वर्षा काल में जब अधिक वर्षा के कारण शीत हो तब शीत काल के समान और जब घाम हो तब ग्रीष्म एवं शरद के समान रसों एवं अन्न पान का सेवन करना चाहिये। यह समासतः अर्थात् सूत्र रूप से आहार का निर्देश किया गया है ॥ ५५-५६ ॥

ऋतु चर्या का संकेत

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥ ५७ ॥
ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥ ५८ ॥
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात् ।'

व्याख्या—उत्तम तो यह है कि-सब ऋतुओं में प्रतिदिन सब रसों का सेवन होना चाहिये और उस उस ऋतु में उक्त रसों एवं गुणों से युक्त द्रव्यों का कुछ अधिक सेवन होना चाहिए।

और यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वर्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह और आगामी ऋतु का प्रथम सप्ताह "ऋतु सन्धि" कहलाता है इस ऋतु सन्धि के समय या दिनों में—वर्तमान ऋतु की चर्या का धीरे २ परित्याग और आगामी ऋतु की चर्या का धीरे २ सेवन होना चाहिए क्योंकि—वर्तमान ऋतु की चर्या का एक एक परित्याग करने से और आगामी ऋतु की चर्या का एक एक सेवन करने से असात्म्यजनित रोग हो सकते हैं।

वक्तव्य—सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एक रसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम् (श्रेष्ठतमम्) च. सू. अ. २५। अर्थात्—मधुर आदि सब रसों का अभ्यास (सतत सेवन) बलकारकों में और एक रस का अभ्यास दौर्बल्य कारकों में उत्कृष्ट होताहै।

असात्म्य च. वि. अ. १ —

सात्म्यं नाम तत् यत् आत्मनि उपशेते, सात्म्यार्थोहि उपशयार्थः। तत् त्रिविधं प्रवर अवर मध्य विभागेन। सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगात् च। तत्र सर्वं रसं प्रवरं, एकरस अवरं, मध्यं तु प्रवराऽवरमध्यस्थम्। तत्र अवरमध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेण प्रवरं उपपादयेत् सात्म्यम्। २३—२४।

अर्थात् सात्म्य वह है जो शरीर में उपकारार्थ सो जाय किसी प्रकार की हलचल उत्पन्न न करे, सात्म्य का ही दूसरा नाम उपशय है। वह तीन प्रकार का होता है – १—प्रवर, २—अवर तथा ३—मध्य। विधि भेद से सात प्रकार का होता है—मधुरादि रसों के भेद से ६ प्रकार और सब रसों के योग से एक प्रकार का। सब रसों का सेवन प्रवर सात्म्य, केवल रस का सेवन अवर सात्म्य, तथा १—२—३—४—५ रस या रसों का सेवन मध्य सात्म्य कहलाता है। उचित यह है कि अवर एवं मध्य सात्म्य का परित्याग करते करते प्रवर-सात्म्य का सेवन करे दूसरे शब्दों में—च. वि. अ. ८—१२०—

सात्म्यं नाम तत् यत् सातत्येन उपसेव्यमानं उपशेते, तत्र ये घृत क्षीर तैल मांस रससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः

क्लेशसहाः चिरजीविनश्च भवन्ति''''ये पुनः एकरससात्म्याः ते प्रायेण अल्पबलाः क्लेशाऽसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति। भावार्थ—सात्म्य वह है जो सतत सेवन से लाभप्रद होता है। जो घृत आदि का सेवन करते हैं वे बलवान्, क्लेश सहने में समर्थ तथा चिरजीवी होते हैं और जो एक रस का सेवन करते हैं वे अल्पबल, क्लेश सहने में असमर्थ, अल्पायुः तथा निर्धन होते हैं (उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता) ॥५७,५८।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो रोगानुत्पादनीयाध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब रोगाऽनुत्पादनीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च० सू० अ० ७ तथा चि० अ० २६ में, सु० उ० अ० ५५ में और अ० सं० सू० अ० ५ में देखिये। सुश्रुत के उक्त अध्याय में इस विकृति का नाम उदावर्त्त है।

रोगाऽनुत्पादनीय—जिस प्रकार का आचरण करने से रोगों की उत्पत्ति ही न हो—अथवा जो रोगों की उत्पत्ति रोकने के लिये हित है। चरक में उक्त अध्याय का नाम "नवेगान्धारणीय" है अर्थात् इस अध्याय में वेगों का धारण—निरोध न करने का उपदेश किया गया है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये।
पृथक् पृथक् चिकित्सार्थं तन्मे निगदतः शृणु॥५॥

अर्थात्—मूत्र पुरीष आदि के प्रादुर्भूत वेगों को रोकने वाले को जो २ रोग उत्पन्न हो जाते हैं उनको पृथक् २ सुनो और साथ २ उनकी चिकित्सा भी सुनो जैसा मैं कह रहा हूँ। श्री वाग्भटाचार्य ने सू० अ० २ में दिनचर्या का वर्णन करते समय इसका संकेत इस प्रकार किया है—न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्--(१९)—अर्थात् मूत्रादि के वेग उत्पन्न होने पर दूसरे किसी कार्य में न लगे प्रथम वेग का परित्याग करे तब दूसरे कार्य में लगे।

वेग न रोकने का उपदेश—

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम् ।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाऽश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥ १ ॥

व्याख्या—१—अपान वायु, २—पुरीष, ३—मूत्र, ४—क्षवथु—(छींक), ५—तृषा (प्यास), ६—क्षुधा (भूख), ७—निद्रा, ८—कास (खाँसी), ९—श्रम-जनित श्वास, १०—जृम्भा (जम्भाई), ११—अश्रु (आँसू) १२—छर्दि (उल्टी) तथा १३—शुक्र के वेगों को रोकना नहीं चाहिये।

वक्तव्य—प्रवाह, सञ्चार, संचलन, प्रवृत्ति या गति का नाम वेग है इन अपान वायु आदि के वेगों को रोकने से उत्पन्न रोगों का नाम "उदावर्त्त" है और उदावर्त्त शब्द का अर्थ है--उत् अर्थात् ऊपर की ओर या उलटा आवर्त्त अर्थात् घुमाव या घूम जाना। जिस ओर को अपान वायु आदि को जाना चाहिये उस ओर को न जाने देना वेगरोध कहलाता है। वेग-रोध से अनेक हानियाँ हो सकती हैं जिनका निर्देश इस अध्याय में किया गया है ॥१॥

अपान वायु रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः ।
वातमूत्रशकृत्सङ्गदृष्ट्यग्निवधहृद्गदाः ॥ २ ॥
स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च ।
पानानि वस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥ ३ ॥

व्याख्या—अपान वायु के वेग को रोकने से-गुल्मरोग, उदावर्त्त, शूल तथा क्लम हो सकता है और वायु, मूत्र एवं पुरीष की रुकावट हो सकती है तथा नेत्ररोग, मन्दाग्नि एवं हृद्रोग हो सकता है।

चिकित्सा—इस दशा में स्नेहपान आदि स्नेहन एवं स्वेदन करे, गुदमार्ग में मलप्रवर्तिनी वत्तियों का प्रयोग करे और वायु का अनुलोमन करने वाले भोजनों, पानों तथा अनुवासन एवं निरूहण बस्तियों का प्रयोग करे ॥२-३॥

पुरीष मूत्र एवं उद्गार का वेग रोकने से हानि तथा उसकी चिकित्सा—

शकृतः पिण्डिकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरुजः ।
ऊर्ध्ववायुः परीकर्तो हृदयस्योपरोधनम् ॥
मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामयाः स्मृताः ॥ ४ ॥
अङ्गभङ्गाश्मरीबस्तिमेढ्रवंक्षणवेदनाः ॥ ५ ॥
मूत्रस्य रोधात्पूर्वे च प्रायो रोगा स्तदौषधम् ।
वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदनं बस्तिकर्म च ॥ ६ ॥
अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु ।
मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम् ॥ ७ ॥
जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजना-द्वयम् ।
अवपीडकमेतच्च संज्ञितं 'धारणात्पुनः' ॥ ८ ॥
उद्गारस्यारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः ।
आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम् ॥ ९ ॥

व्याख्या—पुरीष का वेग रोकने से—पिण्डलियों में ऐंठन, प्रतिश्याय, शिर में वेदना, उद्गार, परिकर्त्तिका

(गुदवलियों में कर्त्तन—खरोश), हृदय की गति में रुकावट, मुख से पुरीष की प्रवृत्ति तथा अपान वायु के वेग को रोकने से उत्पन्न होने वाले गुल्म आदि रोगों की उत्पत्ति हो सकती है।

मूत्र के वेग को रोकने से—शरीर में टूटने की सी वेदना, अश्मरी तथा मूत्राशय में, मूत्र मार्ग में तथा वंक्षण (कूल्हा कूल्या-मूत्रवह दोनों स्रोतस्—गवीनी एवं वृक्क) में वेदना और प्रायः अपान वायु एवं पुरीष को रोकने से उत्पन्न होनेवाले रोगों की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—पुरीष को रोकने से उत्पन्न रोगों में—मल प्रवर्त्तिनी वर्त्ति का प्रयोग करे, शरीर पर विशेषतः उदर पर अभ्यङ्ग करे, उष्ण जल में अवगाहन (बैठना) करे, स्वेदन करे, वस्तिकर्म करे और पुरीष को प्रवृत्त करने वाले भोजन एवं पान का सेवन करे।

मूत्र को रोकने से उत्पन्न रोगों में—उक्त सब चिकित्सा करे "अवपीडक घृत" का प्रयोग करे अर्थात् भोजन के पूर्व और भोजन पच जाने पर उत्तम मात्रा में घृतपान करे। इस प्रकार दो बार घृत पान करने का नाम "अवपीडक" है, यह मूत्र को रोकने से उत्पन्न विकारों में प्रशस्त है।

उद्गार का वेग रोकने से—अरुचि, कम्पन, हृदय एवं फुफ्फुस की गति में रुकावट, अफरा, कास तथा हिक्का की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—इस दशा में—हिक्का रोग के समान चिकित्सा करे (देखिए चि. अ. स्थान ४)।

वक्तव्य—मूत्र का वेग रोकने से उत्पन्न रोगों में मूत्र की प्रवृत्ति के लिए—मूत्र मार्ग में कपूर रखना, वस्ति-प्रदेश पर शीतल अथवा कोसे जल का सेचन तथा उदर पर राई ।) भर एवं सौंफ ४ तो० का लेप करना, मूत्र मार्ग में शलाका प्रवेश करना आदि भी लाभप्रद होता है। पाठक ध्यान दें कि-प्रथम श्लोक में उद्गार की गणना नहीं की गई है परन्तु च. सू. अ. ७ के श्लोक ४ में उद्गार की गणना की गई है और वहीं के श्लोक १८ को परिवर्त्तित करके यहाँ लिखा है ॥४—९॥

छींक रोकने से हानि और उसकी चिकित्सा

शिरोर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दितं क्षुतेः।
तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः॥ १०॥
प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत्।

व्याख्या—छींक के वेग को रोकने से—शिर में वेदना, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता, मन्यास्तम्भ एवं अर्दित की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—इस दशा में—रुकी हुई छींक को—तीक्ष्ण द्रव्यों के धूमपान से, तीक्ष्ण अञ्जन से, तीक्ष्ण द्रव्यों की नस्य से अथवा सूर्य की ओर मुख उठाकर देखने से पुनः पुनः (छींक को) प्रवृत्त करने का प्रयत्न करे तथा स्नेहन एवं स्वेदन का सेवन करे ॥१०॥

तृषा रोध से हानि तथा उसकी चिकित्सा—

शोषाङ्गसादबाधिर्यसंमोहभ्रमहृद्गदाः॥ ११॥
तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः।

व्याख्या—तृषा को रोकने (तृषा लगने पर जल न पीने या न मिलने) से—मुख शोष, शरीर एवं मन में शिथिलता, बधिरता, मोह एवं मूर्च्छा, भ्रम तथा हृद्रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—इस दशा में—सब प्रकार के शीतल उपचार (आहार, विहार एवं औषध) का प्रयोग करे ॥११॥

क्षुधारोध से हानि एवं उसकी चिकित्सा—

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः॥ १२॥
तत्र योज्यं लघुः स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम्।

व्याख्या—क्षुधा को रोकने (भूख लगने पर भोजन न करने) से शरीर में टूटने की सी वेदना, अरुचि (भूख मरना या स्वाद न आना) ग्लानि, कृशता, शूल तथा भ्रम की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—इस दशा में—लघु, स्निग्ध, उष्ण तथा थोड़ा भोजन करना चाहिये ॥१२॥

निद्रारोध से हानि तथा उसकी चिकित्सा—

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः॥ १३॥
अङ्गमर्दश्च तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च।

व्याख्या—निद्रा को रोकने से—मोह, शिर एवं नेत्रों में भारीपन, आलस्य, जृम्भा, जड़ता, ग्लानि, भ्रम, अपच (अजीर्ण), तन्द्रा, वात जनित रोग तथा शरीर में टूटने की सी वेदना की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—सुख पूर्वक सोना तथा संवाहन (चम्पी) लाभदायक है ॥१३॥

कास रोध से हानि तथा उसकी चिकित्सा—

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासाऽरुचिहृदामयाः॥ १४॥
शोषो हिध्मा च कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः।

व्याख्या—कास का वेग रोकने से—कास (खांसी) की वृद्धि, श्वास रोग, अरुचि, हृद्रोग, शोष रोग तथा हिक्का रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—कास नाशक सब उपचार (चि. अ, ३) करे ॥१४॥

श्रम श्वासरोध में हानि और उसकी चिकित्सा—

गुल्महृद्रोगसंमोहाः श्रमश्वासाद्विधारितात् ॥ १५ ॥
हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः ।

व्याख्या—श्रम श्वास (श्रम से बढ़ी हुई श्वास गति दम फूलना) को रोकने से—गुल्मरोग, हृद्रोग तथा मूर्च्छा की उत्पत्ति हो सकती है ।

चिकित्सा—इस दशा में—विश्राम (आराम) करे और अभ्यङ्ग आदि वातनाशक उपचार करे ।

वक्तव्य—श्रम श्वास वह है जो दौड़ने, कुश्ती लड़ने एवं व्यायाम आदि के समय श्वास फूलता है या शीघ्र २ आने लगता है—श्वास चढ़ने लगता है इसे हठात् रोकना बुरा है परन्तु प्राणायाम विधि से श्वास रोकना बुरा नहीं है अपितु लाभदायक है ॥१५॥

जृम्भारोध से हानि और उस की चिकित्सा—

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वश्चाऽनिलजिद्विधिः ॥ १६ ॥

व्याख्या—जम्भाई को रोकने से—छींक को रोकने के समान रोग हो सकते हैं (देखिये श्लोक ११) ।

चिकित्सा—इस दशा में वातशामक उपचार करे॥१६॥

अश्रु रोध से हानि और उसकी चिकित्सा—

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्-मन्यास्तम्भाऽरुचिभ्रमाः ।
सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः॥१७॥

व्याख्या—प्रिय जन मिलन अथवा प्रियजन वियोग आदि के समय प्रवृत्त आँसुओं को रोकने से—पीनस (प्रतिश्याय), नेत्ररोग, शिरोरोग, हृद्रोग, मन्या स्तम्भ, अरुचि, भ्रम एवं गुल्मरोग की उत्पत्ति हो सकती है ।

चिकित्सा—इस दशा में—सोना, मद्य (मादक द्रव्य) का सेवन तथा मनोहर एवं उपदेशप्रद कथाओं का श्रवण हित है ।

वक्तव्य—यह विकार नारियों में अधिक पाया जाता है यद्यपि वे रोने धोने में कमी नहीं करतीं । इस अवसर पर रोना बुरा नहीं है, आँसू बहा देने से उक्त रोगों की सम्भावना कम हो जाती है । प्रिय मिलन में मनोहर वार्त्तालाप तथा प्रिय वियोग में सान्त्वना देने वाली और प्रिय मरण में गरुड़ पुराण आदि उपदेश प्रद कथाओं का श्रवण आदि लाभप्रद होता है ॥१७॥

छर्दि रोध से हानि तथा उसकी चिकित्सा—

विसर्प कोठकुष्ठाक्षि-कण्डूपाण्ड्वामयज्वराः ।
सकासश्वासहृल्लास-व्यङ्गश्वयथवो वमेः॥ १८ ॥
गण्डूषधूमानाहारा रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः ।
व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्र विरेचनम् ॥ १९ ॥
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ।

व्याख्या—छर्दि का वेग रोकने से—विसर्प रोग, कोठ (शीतपित्त-ज्वलपित्ती), कुष्ठरोग, नेत्ररोग, कण्डू, पाण्डुरोग, ज्वर, कास, श्वास, मिचली, व्यङ्ग तथा शोथरोग की उत्पत्ति हो सकती है ।

चिकित्सा—इस दशा में—उपयुक्त गण्डष धारण, धूम पान एवं उपवास करे अथवा रूक्ष (भुना चना आदि) अन्न का सेवन करे अथवा भोजन खाकर तत्काल वमन करे, सम्भव हो तो व्यायाम करे यदि विसर्प आदि रोग उत्पन्न हो गये हों तो रक्त स्रावण करे और विरेचन करे तथा क्षारमिश्रित एवं लवण मिश्रित तैल का अभ्यङ्ग करे ॥१८,१९॥

शुक्रवेग रोध से हानि तथा उसकी चिकित्सा—

शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्य-वेदना श्वयथुर्ज्वरः ॥ २० ॥
हृद्व्यथा मूत्रसङ्गाऽङ्ग-भङ्ग-वृद्ध्यश्मषण्ढताः ।
ताम्रचूडसुराशालि-बस्त्यभ्यङ्गाऽवगाहनम् ॥ २१ ॥
बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः ।

व्याख्या—शुक्र का वेग रोकने से—मूत्र के साथ शुक्र का स्राव, गुह्य अङ्ग (शिश्न, भग, गुद, अण्डकोष आदि अवयव) में वेदना तथा शोथ, ज्वर (काम ज्वर), हृदय में व्यथा, मूत्रमें रुकावट, शरीर में टूटने की सी वेदना (अथवा अङ्गड़ाइयाँ आना), अण्ड वृद्धि, शुक्राश्मरी तथा नपुंसकता की उत्पत्ति हो सकती है ।

चिकित्सा—इस दशा में—मुरगा के मांस का, सुरा का, शालि धान्यों का, वस्ति (उत्तर वस्ति) कर्म का, अभ्यङ्ग का जलावगाहन का, वस्ति शोधक (मूत्रल) द्रव्यों (गोखरू आदि) के संयोग से सिद्ध दूध का सेवन करे और प्रिया नारी का सेवन करे ।

वक्तव्य—यहाँ मैथुन के लिये "स्त्री" शब्द का प्रयोग किया गया है जो बहुत अच्छा प्रतीत नहीं होता और चरक के इस प्रसंग में "शस्तं मैथुन मेव च" (च. सू. अ. ६ श्लोक ११) लिखा है जो बहुत ही उचित है । और दूसरे शुक्र स्त्री में भी होता है और उसका वेग रोकने से उसको भी उक्त कुछ हानियां होती हैं या हो सकती हैं तथा उस दशा में स्त्री के लिये भी उक्त चिकित्सा लाभप्रद होती है । वस्तुतः मिथुन (नर नारी) के कर्म का नाम "मैथुन" है और उस कर्म से मिथुन को हानि एवं लाभ समान रूप से होते हैं । ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् जब कि ब्रह्मचर्य का महत्त्व दोनों के लिये समान है तब तो

किसी प्रकार का सन्देह रह ही नहीं जाता। पाठकों से निवेदन है कि जहाँ २ "स्त्री" शब्द का प्रयोग "मैथुन" वाचक मिले वहाँ२ इस विवेचन का स्मरण कर लिया जाय॥

वेगरोधी का असाध्य लक्षण—

तृट्शूलार्तं त्यजेत् क्षीणं विड्वमं वेगरोधिनम्॥ २२॥

व्याख्या—जो वेगरोध से पीड़ित मानव-तृषा एवं शूल से पीड़ित हो, क्षीण हो तथा पुरीष का वमन कर रहा हो उसकी चिकित्सा न करे अर्थात् वह प्रत्याख्येय (असाध्य) समझा जाता है॥ २२॥

उपसंहार

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः।
निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति॥ २३॥
ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति।
अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीताऽतोऽनुलोमनम्॥ २४॥

व्याख्या—यद्यपि वायु, पुरीष एवं मूत्र आदि के अनागत वेगों के उदीरण (हठात् या बलात् प्रेरण) से तथा आगत वेगों के धारण (बलात् रोकने) से सभी रोग हो जाते या हो सकते हैं परन्तु जो रोग प्रायः हो जाते हैं उनका और उनकी चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है। और उक्त कारणों से जो वायु अनेक प्रकार से कुपित हो जाता है उसकी शान्ति के लिये सामान्यतः उस २ अन्न, पान एव औषध का प्रयोग करना चाहिये जो २ उस कुपित वायु (प्रतिलोम वायु) को अनुलोम स्वमार्ग गामी या प्रकृतिस्थ) करने वाला हो (जिससे वायु शान्त हो जाय)।

वक्तव्य—यद्यपि इस प्रकरण में वेगों को रोकने से उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है परन्तु वेगों के उदीरण से उत्पन्न होने वाले रोगों का और उनकी चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया है तथापि—यदि उनके उदीरण से कोई रोग हो जाय तो उसकी उचित चिकित्सा करनी चाहिये, सर्वप्रथम वायु के अनुलोमन का प्रयत्न करना चाहिये॥२३,२४॥

रोकने योग्य वेग—

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्य-रागादीनां जितेन्द्रियः॥ २५॥

व्याख्या इस लोक और परलोक में हित (भला) चाहने वाला मानव (नर नारी) लोभ, ईर्ष्या, मत्सरता तथा राग द्वेष आदि के वेगों को सदा सर्वदा रोकने का प्रयत्न करता रहे और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहे।

वक्तव्य—लोभ अर्थात् लोलुपता-लालच। ईर्ष्या अर्थात् दूसरों के उत्कर्ष को देख कर जलना। मत्सरता—दूसरों के दुःख को देखकर प्रसन्न होना। राग—संग—विषयों में आसक्ति। द्वेष—दूसरों के अपकार की इच्छा—हानि पहुँचाने का प्रयत्न। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में च. सू. अ. ७—

इमान् तु धारयेत् वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम्। २६।
लोभ शोक भय क्रोध मान वेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्य-ईर्ष्याऽतिरागाणां अभिध्यायांश्च बुद्धिमान्॥२७॥
परुषस्याऽतिमात्रस्य सूचकस्याऽनृतस्य च।
वाक्यस्याऽकालयुक्तस्य धारयेत् वेगमुत्थितम्॥ २८॥
देहप्रवृत्तिः या काचित् विद्यते परपीडया।
स्त्री भोग स्तेय हिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत्॥२६॥

अर्थात्—इन मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक अप्रशस्त कर्मों का परित्याग करने वाला मानव (नर एवं नारी)

पुण्य शब्दो विपापत्वान् मनोवाक् कायकर्मणाम्।
धर्माऽर्थकामान् पुरुषः सुखी भुंक्ते चिनोति च॥३०॥

यश को प्राप्त करता है और मन, वाणी तथा शरीर के पाप रहित (पवित्र) रहने से सुखी रह कर धर्म, अर्थ एवं काम का उपभोग करता है और परलोक में सुख की प्राप्ति के लिये धर्म आदि का सञ्चय कर लेता है। लोभ, शोक, भय, क्रोध, अभिमान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, राग एवं अभिध्या (मन से पर द्रोह चिन्तन या दूसरों की सम्पत्ति को हड़पने की इच्छा) ये सब मनस के वेग हैं।

कठोर वचन, आवश्यकता से अधिक वचन, सूचक (चुगली) वचन, अनृत (मिथ्या) वचन तथा अकाल वचन (असामयिक वचन) ये सब वाणी के वेग हैं।

दूसरों को मारना पीटना, बलात्कार, चोरी-डाका तथा लाठी सोटा की लड़ाई ये सब शरीर के वेग हैं। यदि समझदारी से काम लिया जाय तो इन बुरे वेगों को रोका जा सकता है अतः इस लोक तथा परलोक में भला चाहने वालों को चाहिये कि वे इन वेगों को रोकने का प्रयत्न करें अन्यथा यह लोक और परलोक दोनों विगड़ जाते हैं॥२५॥

शोधन की आवश्यकता—

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति।
अत्यर्थसंचितास्ते हि क्रुद्धाः स्युर्जीवितच्छिदः॥२६॥
दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥ २७॥

व्याख्या—वात, पित्त, कफ नामक दोषों एवं पुरीष आदि मलों का संशोधन उचित काल में या समय पर

करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए क्योंकि अत्यन्त सञ्चित दोष कुपित हो कर जीवन का विनाश कर सकते हैं (भगवान् पुनर्वसु का कथन है कि-लंघन एवं पाचन उपचारों द्वारा शान्त किये गये दोष कभी (समय पाकर) कुपित हो सकते हैं परन्तु जो संशोधनों द्वारा (वमन विरेचन आदि द्वारा) शुद्ध कर दिये जाते हैं उनका पुनः कोप नहीं होता।

वक्तव्य--तात्पर्य यह है कि--स्वस्थ को भी वमन विरेचन आदि द्वारा शरीर का शोधन करते रहना चाहिये, सञ्चय काल में ही दोषों का अपहरण कर देने से कोप का अवसर ही नहीं आता ॥२६,२७॥

शोधनोत्तर रसायनादि सेवन--

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥ २८ ॥

व्याख्या--कालवित् (काल के साथ २ देश, बल, शरीर, आहार सात्म्य मनोबल तथा प्रकृति आदि का वेत्ता) चिकित्सक-संशोधन के पश्चात् विधि पूर्वक यथा योग्य रसायनों तथा वृष्ययोगों का प्रयोग करे।

वक्तव्य---रसायन-लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।

अर्थात्--जिस के सेवन से प्रशस्त रस रक्त आदि धातुओं का लाभ हो उस विधि का नाम "रसायन" है।

वृष्ययोग---अर्थात् वाजीकरण योग-रति शक्ति बढ़ाने वाले तथा उत्तम सन्तान की उत्पत्ति में सहायता करने वाले उपायों का नाम वृष्य योग है। इन दोनों विधियों का सेवन स्वस्थ को करना चाहिये और वह भी शोधन के पश्चात्। विशेष देखिये उत्तर तन्त्र अ ३९-४० ॥ २८ ॥

शोधनोत्तर उपचार---

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृंहणं क्रमात्।
शालिषष्टिकगोधूम-मुद्गमांसघृतादिभिः ॥ २९ ॥
हृद्यदीपनभैषज्य-संयोगाद्रुचिपक्तिदैः।
साभ्यङ्गोद्वर्तनस्नान-निरूहस्नेहबस्तिभिः॥ ३० ॥
तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम्।
धीवर्णेन्द्रियवैपुल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः ॥ ३१ ॥

व्याख्या--शोधन आदि चिकित्सा से शरीर में कृशता एवं दुर्बलता आजाने पर निम्नलिखित आहारों द्वारा क्रमशः (धीरे २) एक बृंहण (पुष्टिकारक एवं बलकारक) उपचार करें। यथा--शालि धान्यों के, साठी धान्यों के, गेहूँ के, मूँग के, मांस के एवं घृत के बने हुए और हृदय को प्रिय लगने वाले या शक्ति देने वाले (रुचिकारक) एवं धनिया जीरा आदि अग्नि दीपक द्रव्यों के संयोग से रुचि एवं पाचन शक्ति को बढ़ाने वाले आहार देवे, साथ २ अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, निरूहण बस्ति एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग करे, ऐसा आहार विहार करने से वह मानव सुख, पाचक पित्त आदि सभी अग्नियों की पटुता (क्रियाशीलता); बुद्धि, कान्ति, इन्द्रियों की निर्मलता, वृषता (रति शक्ति आदि वाजीकरण के लाभ) तथा दीर्घायुः को प्राप्त कर लेता है (पुष्ट एवं सबल हो जाता है) ॥ २९-३१ ॥

आगन्तु रोगों का वर्णन---

ये भूतविषवाय्वग्नि-क्षतभङ्गादिसम्भवाः।
कामक्रोधभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः ॥ ३२ ॥

व्याख्या---जो भूतावेश, विषप्रयोग, बाह्य वायु के (अतिशीत अथवा अति उष्ण वायु के) स्पर्श तथा अग्नि द्वारा जलने, क्षत (घाव) होने, तथा अभिघात (चोट) आदि द्वारा अस्थि आदि के टूटने से रोग हो जाते हैं और जो राग, क्रोध एव भय आदि रोग हैं वे सब रोग "आगन्तु" कहे जाते हैं।

वक्तव्य---मिथ्या आहार विहार द्वारा वातादि दोषों का कोप होने पर जो रोग होते हैं वे सब "शारीर" या निज कहे जाते हैं ॥३२॥

निज एवं आगन्तु रोगों का निरोध एव शमन---

त्यागः प्रज्ञाऽपराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञान सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥ ३३ ॥
(अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्।
भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक्) ॥
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥ ३४ ॥

व्याख्या -उक्त निज एव आगन्तु रोगों की अनुत्पत्ति (उत्पत्ति न होने) के लिये और उत्पन्नों की शान्ति के लिये संक्षेप में यह विधि बतलाई गई है कि---प्रज्ञापराधों का परित्याग, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का उपशम (वश में रखना), सदुपदेश आदि का स्मरण, देश, काल एव अपने शरीर एव मन का सम्यक् ज्ञान तथा सदाचार के अनुसार वर्त्ताव (व्यवहार) ॥ ३५ ॥

व्याख्या---प्रज्ञापराध---आहार विहार में होने वाली भूलें, इन्द्रियोपशम-इन्द्रियों का अनुचित शब्द आदि विषयों की ओर आसक्त न होना, स्मृति – सदुपदेशों का सदा सर्वदा स्मरण-सावधानता, देशकालात्म विज्ञान-कैसा देश है, कैसा काल है और अपनी शक्ति योग्यता एवं परि थति कैसी है इसे पूर्णरूपसे समझना, सद्वृत्तं देखिये अ. २ में दिनचर्या एवं

अ. ८ आदि। इस विधि से रहने पर कोई रोग होता ही नहीं यदि किसी प्रकार हो भी जाये तो इस विधि के पालन से शान्त हो जाता है ॥२३,२४॥

शोधन योग्य ऋतु—

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते,
विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्,
प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ २५ ॥

व्याख्या—शीतकाल (हेमन्त ऋतु) में जो दोषों का सञ्चय होता है उस को वसन्त ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु में जो दोषों का सञ्चय होता है उस को प्रावट् ऋतु में और वर्षा ऋतु में जो दोष संचय होता है उस को शरद् ऋतु में विधिपूर्वक या भली भान्ति शोधन करता हुआ मानव (नर नारी) ऋतु प्रभाव जनित रोगों को कभी भी प्राप्त नहीं होता।

वक्तव्य—निष्कर्ष यह है कि - उक्त ऋतुओं में वमन विरेचन आदि करने रहने से ऋतुभाव जनित विकार नहीं होते और वमन विरेचन के लिए उपयुक्त ऋतु भी यही हैं क्यों कि इन में काल समशीतोष्ण होता है परन्तु यह स्वस्थ के लिये है रोगी के लिये नहीं। देखिये सू अ १३। इन ऋतुओं में भी श्रावण, कार्तिक एवं चैत्र मास में शोधन करे देखिये सू अ. १६ ॥२५॥

नीरोग रहने के उपाय—

नित्यं हिताहारविहारसेवी,
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्,
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ २६ ॥

व्याख्या—सदा हित आहार एवं हित विहार का सेवन करने वाला, भली भान्ति देख भाल कर कर्म करने वाला, विषयों में आसक्त न होने वाला, दाता (दान शील), सबको समान रूप से देखने-समझने वाला, सत्य (सचाई) में तत्पर, क्षमाशील (सहनशील) रहने वाला तथा आप्त (शिष्ट) जनों का सेवन (सङ्ग साथ) करने वाला मानव (नर नारी) नीरोग रहता है (सदा सुखी रहता है)

वक्तव्य—ये दोनों श्लोक च. शा. अ. २ से उद्धृत किये गये हैं। वहीं एक अन्य बहुत ही सुन्दर श्लोक है—यथा—
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपः तत्परता च योगे यस्याऽस्ति तं नाऽनुतपन्ति रोगाः ४७

अर्थात्—जिस के विचार, वचन एवं कर्म ऐसे हो जिनका फल सुख हो, मनस् वशीभूत हो, बुद्धि स्वच्छ हो, ज्ञान तप (कर्मठता) एवं योग (कर्म कौशल) तत्परता (लगन) हो उसे शारीरिक एवं मानसिक रोग या निज एवं आगन्तु रोग कभी नहीं सताते अर्थात् वह सदा सर्वदा सुखी रहता है।

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो द्रव-द्रव्य-विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब द्रव्य (पतले-तरल) द्रव्यों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. सू. अ. २७ में, सु. सू. अ० ४५ में तथा अ. सं. सू. अ० ६ में देखिये।

गाङ्ग जल का वर्णन—

जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम्।
तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम् ॥ १ ॥
गङ्गाम्बु नभसो भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः।
हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥ २ ॥

व्याख्या—आकाश से गिरा हुआ (दिव्य) गङ्गाम्बु (गंगाजल) —जीवन (जीवित करने वाला या जीवित रखनेवाला), तर्पण (तृप्ति करने वाला), हृदय के लिए हित, आह्लाद कारक, बुद्धिवर्द्धक तनु (पतला), अव्यक्त रस (मधुर लवण आदि किसी व्यक्त रस से रहित), स्वच्छ (निर्मल या शुद्ध), शीत, लघु तथा अमृत के समान होता है! और गिरने के कुछ काल पश्चात् वह जल—सूर्य, चन्द्र तथा वायु के स्पर्श से तथा देश एवं काल की अपेक्षा (प्रभाव) से हित भी होता है और अहित भी हो जाता है। अच्छे देश (स्थान) एवं काल (समय) में अच्छा बना रहता है और बुरे देश में एवं काल में बुरा—खराब हो जाता है ॥२॥

गाङ्ग एवं सामुद्र जल का भेद—

येनाऽभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजतस्थितम्।
अक्लिन्नमविवर्णं च तत्पेयं गाङ्गमन्यथा ॥ ३ ॥
सामुद्रं तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना।

व्याख्या—जिस जल के बरसते समय - घर के भीतर चान्दी आदि के पात्र में स्थित शाली चावलों का भात - निर्मल बना रहे, क्लेद युक्त न हो अर्थात् पसीज न जाय

और उसका वर्ण विकृत न हो जल "गाङ्ग जल" होता है और वही पीने योग्य होता है इसके विपरीत जो जल होता है या बरसता है वह "सामुद्र जल" होता है और वह पीने योग्य भी नहीं होता। यह जल आश्विन मास के अतिरिक्त मासों (श्रावण एवं भाद्रपद मासों) में बरसता है।

वक्तव्य--भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. सू. अ. २७—जलं एकविधं सर्वं पतति ऐन्द्रं नभस्तलात् ॥१९६॥ तत् पतत् पतितं चैव देशकाली अपेक्षते। तथा – यत् अन्तरिक्षात् पतति इन्द्र सृष्टं चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः। तत्-ऐन्द्रं इत्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ॥ २०२ ॥ भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. सू.अ.४५—पानीयं अन्तरिक्ष अनिर्देश्यरसं अमृतं जीवनं हर्पणं धारणं आश्वास जननं श्रम क्लमपिपासा मदमूर्च्छा तन्द्रा निद्रा दाह प्रशमनं एकान्ततः पथ्यतमं च ॥ ३ ॥

आकाश के जल को ऐन्द्रजल (इन्द्र का जल), अन्तरिक्ष जलं, दिव्य जल (अन्तरिक्ष या द्यौ–दिव का जल) एवं वर्षाजल कहा गया है। यह दिव्य जल प्राणीमात्र को सदा सर्वदा प्राप्त होता है इसी के लिये वेद से "आपो भवन्तु पीतये" अर्थात् पीने के लिये आप्-आकाश में व्याप्त जल प्राप्त होते रहें कहा गया है।

और वर्षा जल जो मेघों द्वारा बरसाया जाता है वह दो प्रकार का होता है—गाङ्गजल जो नदियों, झीलों एवं तालों आदि का मधुर जल भाप के रूप में उड़ कर पुनः पृथिवी पर वर्षा के रूप में गिरता या बरसता है।

और २—सामुद्र जल—जो समुद्र के खारे जल की भाप उड़ कर और मेघ बन कर पुनः पृथिवी पर बरसता है। यह वही है जो मानसून के मेघों द्वारा बरसाया जाता है, जिन दिनों में यह जल बरसता है उन दिनों में बासी भात पसीज जाता है क्योंकि यह जल क्लेद जनक होता है भले खारा नहीं होता और जिन दिनों वर्षा होती रहने पर भात नहीं पसीजता उन दिनों जैसे आश्विन से जेठ तक के मासों में गाङ्ग जल की वर्षा है। वर्षा का गाङ्ग जल पेय होता है और सामुद्र जल अपेय ॥ ३ ॥

पीने योग्य जल—

ऐन्द्रमम्बु सुपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत् ॥ ४ ॥
तदभावे च भूमिष्ठमन्तरिक्षानुकारि यत्।
शुचिपृथ्वसितश्वेते देशेऽर्कपवनाहतम् ॥ ५ ॥

व्याख्या—सच यह है कि—वर्षा का जो जल-स्वच्छ भाण्ड में धरा हुआ विकृत हो (विकार रहित बना रहे) उस को पीना चाहिये, इसके अभाव में वह जल पीना चाहिये जो आकाश के उक्त जल जैसा हो तथा पृथिवी के स्वच्छ एवं पवित्र तथा काले अथवा श्वेत भाग में सञ्चित हो तथा जिसमें सूर्य की धूप एवं स्वच्छ वायु का भली भाँति स्पर्श होता हो। अतएव झील एवं तड़ाग के जल पीने योग्य होते हैं जैसे हिमालय के निवासी झील आदि के जल का पान करते हैं ॥ ४-५ ॥

न पीने योग्य जल—

न पिबेत्पङ्कशैवाल-तृणपर्णाविलास्तृतम्।
सूर्येन्दुपवनादृष्टमभिवृष्टं घनं गुरु ॥ ६ ॥
फेनिलं जन्तुमत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः।

व्याख्या--उस जल को न पीवे जो कीचड़, सिवार, तृण तथा पत्तों के संयोग से मलिन हो तथा उन से व्याप्त हो और जिस पर सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों का तथा शुद्ध वायु का स्पर्श न हो और अभी अभी या प्रथम बार बरसा हो, जो घन (मोटा) एवं भारी हो, जिस पर झाग आ रही हो, जो क्रिमि युक्त हो, उष्ण हो तथा अत्यन्त शीत होने से दन्तों में लगता हो ॥ ६ ॥

न पीने योग्य अन्य जल—

अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत् ॥ ७ ॥
लूतादितन्तुविण्मूत्र-विषसंश्लेषदूषितम्।

व्याख्या—वर्षा ऋतु के अतिरिक्त ऋतुओं की वर्षा तथा वर्षा ऋतु की भी पहिली वर्षा का जल और लूता आदि प्राणियों के तन्तु (लाला जनित जाले), पुरीष, मूत्र एवं विष के सम्पर्क से दूषित जल भी नहीं पीना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ वर्षा शब्द से प्रावृट् ऋतु समझना चाहिये क्यों कि प्रावृट् में वर्षा बरसना प्रारम्भ होता है और उस समय कई मास के पश्चात् जल बरसता है अतः उस जल में आकाश में व्याप्त धूलि आदि अनेक अपद्रव्य मिल जाते हैं फलतः वह जल पीने योग्य नहीं होता और वर्षाकाल की प्रावृट् एवं वर्षा नामक ऋतुओं के अतिरिक्त ऋतुओं में भी जब एक आध वर्षा होती है तब भी ऐसा ही होता है भगवान धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. सू. अ. ४५—

तत्र वर्षासु आन्तरिक्षं औद्भिदं वा सेवेत महागुणत्वात्। शरदि सर्वं प्रसन्नत्वात् हेमन्ते सारसं ताडागं वा, वसन्ते कौपं प्रास्रवणं, वा ग्रीष्मेऽपि एवं प्रावृषि चौण्ट्यं अनभिवृष्टं सर्वं चेति ॥ ८ ॥ भावार्थ—वर्षा ऋतु में आन्तरिक्ष जल और प्रावृट् ऋतु में अनभिवृष्ट जल पीना चाहिए। ऐसे जल में स्नान भी न करे—

योऽवगाहेत वर्षासु पिबेद् वापि नवं जलम्।
स बाह्याऽऽभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव वा ॥ १० ॥

अर्थात् उक्त प्रकार के दूषित जल तथा नव (प्रथम अभिवृष्ट) का पान करता है अथवा उस में अवगाहन (स्नान या डुबकी लगाना आदि) करता है वह त्वचा गत रोग तथा उदर गत रोगों को प्राप्त होता है। कोई विश्वास करे अथवा न करे—महर्षि कश्यप ने लिखा है कि—

बलाहकाद्याः समदाः कीटा लूताश्च खेचराः।
तद्विषोत्सर्गं संसर्गात् अग्राह्यं तत् तदा जलम्।

अर्थात् आकाश चारी अनेक प्रकार के कीट एवं लूताएँ होती हैं। वे वर्षा के साथ पृथिवी पर गिरती हैं जो कुछ हो बरसात की प्रारम्भिक दिनों की वर्षा के जल में स्नान करने से कण्डू आदि बाह्य रोग और उसका पान करने से कास आदि भीतरी रोग हो जाते हैं। किसी अन्य शुद्ध जल के अभाव में उस जल को गाढ़े कपड़ा में से छान कर, अथवा ताप कर अथवा-निर्मली आदि से विधि पूर्वक निर्मल एवं स्वच्छ करके पिया जा सकता है एवं उस से स्नान किया जा सकता है ॥ ७ ॥

नदियों के जल का वर्णन—

पश्चिमोदधिगाः शीघ्र-वहा याश्चाऽमलोदकाः ॥ ८ ॥
पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्त्वतोऽन्यथा।
उपलास्फालनाक्षेप-विच्छेदैः खेदितोदकाः ॥ ९ ॥
हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्या, स्ता एव च स्थिराः।
कृमिश्लीपदहृत्कण्ठ-शिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥ १० ॥
प्राच्याऽऽवन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि महेन्द्रजाः।
उदरश्लीपदातङ्कान् सह्यविन्ध्योद्भवाः पुनः ॥ ११ ॥
कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान्, दोषघ्न्यः पारियात्रजाः।
बलपौरुषकारिण्यः सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ॥ १२ ॥

व्याख्या—संक्षेपतः—पश्चिम समुद्र में गिरने वाली नदियाँ और जो शीघ्रवाहिनी (वेग से बहने वाली) तथा निर्मल जल वाली नदियाँ हैं वे सब पथ्य (प्राणिमात्र के लिये हित) हैं और इसके विपरीत जो नदियाँ हैं वे अपथ्य हैं।

और हिमालय एवं मलयगिरि से निकलने वाली वे नदियाँ जिनका जल—पाषाणों पर टकराने, गिरने एवं छिन्न-भिन्न होने से खिन्न (आलोडित विलोडित) हो जाता है पथ्य है और वे ही अपथ्य हैं जहाँ वे स्थिर या मन्दगामिनी हो जाती हैं। वे (अर्थात् उनका जल)—क्रिमिरोग, श्लीपद, हृदय रोग, गलगण्ड आदि गल रोग तथा शिरोरोगों को उत्पन्न करती हैं।

प्राच्य (आसाम बंगाल प्रान्त की), आवन्त्य (अवन्ती मालव देश की) तथा अपरान्त (कोंकण देश) की नदियाँ अर्श रोग को उत्पन्न करती हैं और सह्याऽचल एवं विन्ध्याचल की नदियाँ—कुष्ठ, पाण्डुरोग तथा शिरोरोगों को उत्पन्न करती हैं और पारियात्र पर्वत की नदियाँ दोषनाशक होती है तथा बल एवं पौरुष (उत्साह या आरोग्य) को बढ़ाने वाली होती हैं और समुद्र का जल त्रिदोष कोपक होता है। अर्थात् उन्हीं नदियों का जल समुद्र में जाकर हानिकारक हो जाता है ॥ ११ ॥

वक्तव्य—तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्या लघूदकत्वात्, पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते गुरूदकत्वात्, दक्षिणाभिमुखा न अतिदोषलाः साधारणत्वात् (सु. सू अ. ४५—२१)। पश्चिम सागर में गिरनेवाली शतद्रू आदि, पूर्वसमुद्र में गिरने वाली सरजू, गंगा एवं ब्रह्मपुत्र आदि तथा दक्षिण सागर में गिरने वाली गोदावरी आदि नदियों का उक्त प्रभाव उनके समीप निवास करने वालों पर प्रत्यक्ष देखा जाता है। एक ही नदी जहाँ शीघ्र गामिनी है वह पथ्य और जहाँ मन्द गामिनी है वहाँ अपथ्य होती है ॥ ८-१२ ॥

कूप आदि के जल का वर्णन—

विद्यात्कूपतडागादीन् जाङ्गलानूपशैलतः।

व्याख्या—कूप, तड़ाग एवं झील आदि के जलों के गुण दोष जाङ्गल देश, अनूप देश तथा पर्वतीय देश के अनुसार होते हैं।

वक्तव्य—जांगल देश के कूप आदि का जल आरोग्य कर, अनूप देशके कूप आदि का जल अनारोग्य कर और पर्वत प्रदेश का जल कहीं २ आरोग्य कर और कहीं २ अनारोग्य कर होता है।

वक्तव्य— जल शोधन की विधि—सु.सू.अ, ४५—

तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति-कतक (निर्मली) गोमेदक (मणि विशेष), बिसग्रन्थि शैवाल मूल वस्त्राणि मुक्तामणिश्च (१७)

पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति—फलक (फट्टा), त्र्यष्टकं, मुञ्जवलयं उदकमञ्चिका शिक्यं चेति (१८)

सप्त शीतीकरणानि—प्रवातस्थापनम्, उदकप्रक्षेपणम्, यष्टिका भ्रामणम्, व्यजनं, वस्त्रोद्धरणम्, बालुका प्रक्षेपणम्, शिक्याऽवलम्बनम् चेति। १९।

जलपान की विधि—

नाम्बु पेयमशक्त्या वा स्वल्पमल्पाग्निगुल्मिभिः ॥ १३ ॥
पाण्डूदरातिसारार्शो-ग्रहणीशोषशोथिभिः।
ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः ॥ १४ ॥
समस्थूलकृशा भक्त-मध्यान्तप्रथमाम्बुपाः।

व्याख्या—शक्ति के बाहिर (अत्यधिक) जल नहीं पीना चाहिए। मन्दाग्नि, गुल्म, पाण्डुरोग, उदररोग, अतिसार, अर्श, ग्रहणीरोग तथा शोथ रोग के रोगियों को

बहुत थोड़ा जल पीना चाहिये। शरद् ऋतु एवं ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में स्वस्थ पुरुष भी थोड़ा जल पीवे।

भोजन के मध्य में जल पीने वालों का शरीर "सम" रहता है और अन्त में पीने वालों का स्थूल तथा पूर्व में पीने वालों का कृश हो जाता है ॥ १४ ॥

शीतल जल—

शीतं मदात्ययग्लानि-मूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान् ॥ १५ ॥
तृष्णोष्णदाहपित्तास्र-विषाण्यम्बु नियच्छति।

व्याख्या—शीतल जल—मदात्यय, ग्लानि, मूर्च्छा, छर्दि, थकावट, भ्रम, तृषा, ऊष्मा (गर्मी या स्वेद की अधिकता), दाह, पित्त विकार, रक्त विकार तथा विष विकार को नष्ट करता है। १५।

उष्ण जल—

दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णं बस्तिशोधनम्॥ १६ ॥
हिध्माऽऽध्मानाऽनिल-श्लेष्म-सद्यःशुद्धि-र्नवज्वरे।
कासाऽऽम-पीनस-श्वास-पार्श्वरुक्षु च शस्यते ॥ १७ ॥

व्याख्या—उष्ण जल—जठराग्नि को दीप्त करता है, आम को पचाता है, रुचिकारक है, लघु है, वस्ति को शुद्ध करता है और हिक्का, अफरा, वातविकार, कफ विकार, तत्काल किये गए वमन एवं विरेचन, नवज्वर, कास, आमाजीर्ण, पीनस (प्रतिश्याय), श्वास एवं पार्श्वशूल में प्रशस्त है॥

वक्तव्य—अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा।
अथवा क्वथनेनैव सिद्धं उष्णोदकं भवेत्।

अर्थात्—अष्टमांशावशिष्ट, चतुर्थांशावशिष्ट, अर्धावशिष्ट जल अथवा केवल उबाला गया जल "उष्णजल" कहलाता है।

शृतशीत एवं बासी जल—

अनभिष्यन्दि लघु च तोयं क्वथितशीतलम्।
पित्तयुक्ते हितं दोषे व्युषितं तत् त्रिदोषकृत् ॥ १८ ॥

व्याख्या—उक्त विधि से पका कर शीतल किया गया जल—अभिष्यन्दी नहीं होता, लघु होता है, और वह पित्त एवं कफ के संसर्ग में, सन्निपात तथा पित्तयुक्त वात में लाभ कर होता है।

और बासी जल अर्थात् उष्ण जल आठ प्रहर के पश्चात् त्रिदोष कारक हो जाता है। गुरु परम्परा तो यह है कि—प्रातःकाल उष्ण किया गया जल सायंकाल तक और सायं काल उष्ण किया गया जल प्रातः काल तक पिया जाय।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में निम्नलिखित पाठ अधिक पाया जाता है—

यथा—पानीयं प्राणिनां प्राणाः विश्वमेवहि तन्मयम्।
अतोऽत्यन्त निषेधेऽपि न क्वचिद्वारि वार्यते।
आस्य शोषाङ्गसादाऽऽद्या मृत्युर्वा तदलाभतः।
नहि तोयाद् विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य वा।

अर्थात्—जल प्राणियों का प्राण है क्योंकि समस्त संसार जलमय है इसलिए जल का अत्यन्त निषेध होने पर भी सर्वथा निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि जल की प्राप्ति न होने से मुखशोष तथा अवसाद आदि रोग हो जाते हैं अथवा मृत्यु हो जाती है और स्वस्थ तथा रोगी का जल के बिना निर्वाह नहीं होता।

वक्तव्य—शोथ एवं ग्रहणी रोग में जल का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है परन्तु उसके स्थान में दूध अथवा तक्र का पान किया जाता है जो द्रव होने से जल जैसा होता है और जलमय होता है ॥१८॥

नारियल का जल—

नालिकेरोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु।
तृष्णा-पित्ताऽनिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—नारियल का पानी—स्निग्ध, स्वादु, वृष्य, शीत तथा लघु होता है और तृषा, पित्त विकार तथा वात विकार को नष्ट करता है, अग्नि को प्रदीप्त तथा वस्ति को शुद्ध करता है।

वक्तव्य—कच्चे नारियलमें दूधका सा द्रव होता है वही नारिकेलोदक कहलाता है ॥१९॥

वर एवं अवर जल—

वर्षासु दिव्य-नादेये परं तोये वराऽवरे।

व्याख्या—वर्षा ऋतु में दिव्य (वर्षा) का जल श्रेष्ठ होता है और नदी का जल अत्यन्त निन्दित होता है।

वक्तव्य—पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों में एक महाभूत जल है यह महाभूत पृथिवी से वाष्प रूप में आकाश में जाता रहता है और आकाश से धारा (वर्षा), कार (वर्षोपल—ओले), तौषार (तुषार—ओस) तथा हिम (बर्फ) के रूप में भूमि पर गिरता रहता है और समस्त प्राणी उस से जीवन प्राप्त करते रहते हैं उस के बिना किसी भी प्राणी का प्राण (जीवन) स्थिर नहीं रह सकता अतः एवं जल को जीवन कहा जाता है। जितने भी द्रव पदार्थ पाए जाते हैं वे सब जल तत्त्व प्रधान होते हैं जैसे प्राणियों के दूध एवं रक्त और फलों के रस तथा औषधियों के स्वरस।

इति तोयवर्गः

अथ क्षीरवर्गः

दुग्धमात्र एवं गोदुग्ध—

स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम् ॥ २० ॥
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् ।
प्रायः पयोऽत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ॥ २१ ॥
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम् ।
श्रम-भ्रम-मदाऽलक्ष्मी-श्वास-कासाऽतितृट्क्षुधः ॥२२॥
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत् ।

व्याख्या—दूध प्रायः रस एवं पाक में मधुर, स्निग्ध, ओजोवर्द्धक, रसादि धातु वर्द्धक, वात पित्त शामक, वृष्य, कफ कारक, गुरु तथा शीत होता है ।

गोदुग्ध विशेष रूप से—जीवनीय एवं रसायन है और क्षत (उरः क्षत एवं घायल) तथा क्षीण (क्षय पीड़ित) के लिये हित है, बुद्धि वर्द्धक, बलकारक, दुग्धवर्द्धक तथा सर है और थकावट, भ्रम, मद, अलक्ष्मी (कान्ति हीनता तथा निर्धनता), श्वास, कास, अधिक तृषा, भूख की अधिकता (भस्मक रोग), जीर्ण ज्वर, मूत्र कृच्छ्र तथा रक्त पित्त को नष्ट करता है ॥२०-२२॥

भैंस का दुग्ध—

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम् ॥ २३ ॥

व्याख्या—भैंस का दूध—तीक्ष्णाग्नि तथा निद्रानाश से पीड़ितों के लिये हित है अत्यन्त गुरु तथा शीतल होता है ॥२३॥

बकरी का दुग्ध

अल्पाम्बुपानव्यायाम-कटुतिक्ताशनैर्लघु ।
आजं शोषज्वरश्वास-रक्तपित्तातिसारजित् ॥ २४ ॥

व्याख्या—बकरी जल थोड़ा पीती है, कूदना, फाँदना एवं दौड़ना आदि व्यायाम करती रहती है, तिक्त एवं कटु पत्ते खाती है इसलिये उसका दूध लघु होता है और शोष (राजयक्ष्मा), ज्वर, श्वास रक्त पित्त तथा अतिसार को नष्ट करता है ॥२४॥

ऊण्टनी का दुग्ध—

ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रकं दीपनं लघु ।
शस्तं वातकफानाह-कृमिशोफोदरार्शसाम् ॥ २५ ॥

व्याख्या—ऊण्टनी का दूध—थोड़ा रूक्ष, उष्ण एवं लवण रस युक्त होता है, अग्नि दीपक एवं लघु होता है और वात विकार, कफ विकार, आनाह, क्रिमिरोग, शोथ उदर रोग तथा अर्श रोग में प्रशस्त है ॥२५॥

मानुषी, भेड़ी, हस्तिनी, घोड़ी तथा गधी के दूध—

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित् ।
तर्पणाऽऽश्चोतनैर्नस्यैः अहृद्यं तूष्णमाविकम् ॥ २६ ॥
वातव्याधिहरं हिध्मा-श्वासपित्तकफप्रदम् ।
हस्तिन्याः स्थैर्यकृद् बाढमुष्णं त्वैकशफं लघु ॥ २७ ॥
शाखावातहरं साम्ल-लवणं जडताकरम् ।

व्याख्या—मानुषी (नारी) का दूध—वात, पित्त, रक्त एवं अभिघात से उत्पन्न नेत्र रोगों में तर्पण, आश्चोतन एवं नस्य करने से लाभ करता है ।

भेड़ी का दूध—हृदय को अप्रिय या हानिकारक होता है तथा उष्ण होता है, वात व्याधि को (मर्दन एवं पान से) नष्ट करता है और हिक्का, श्वास, पित्त एवं कफ को उत्पन्न करता है ।

हथिनी का दूध—शरीर में स्थिरता (दृढ़ता) उत्पन्न करता है ।

घोड़ी एवं गधी आदि एक शफ (खुर) वाली का दूध—अत्यन्त उष्ण एवं लघु होता है, शाखा (टांग, बाँह एवं रक्तादिधातु तथा त्वचा) की वायु को नष्ट करता है, कुछ अम्ल एवं लवणरस से युक्त होता है और जड़ता (आलस्य-बुद्धि हीनता) को उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—इस प्रकार आठ दुग्ध माने जाते हैं । आयुर्वेद में इन के दूध पर विचार किया गया है और इन दूधों का प्रयोग बतलाया गया है ॥ २६,२७ ॥

दूध के अन्य गुण

पयोभिष्यन्दि गुर्वामं युक्त्या शृतमतोऽन्यथा॥ २८ ॥
भवेद्गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपमम् ।

व्याख्या—आम (कच्चा) दूध अभिष्यन्दी एवं गुरु होता है और युक्ति पूर्वक थोड़ा पकाया (गर्म किया) गया दूध इसके विपरीत होता है । अत्यन्त पकाया गया दूध अत्यन्त गुरु हो जाता है और धारोष्ण दूध-अमृत जैसा होता है । २८ ।

वक्तव्य—धारोष्ण—तत्काल दुहा गया उष्ण २ अथवा मुख से चूसा गया या चूँघा गया जैसे बच्चे एवं बछड़े चूंघते हैं कुछ बढ़े मुख से धार गिरा कर दूध पीते हैं । २८।

दधि का वर्णन—

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित् ॥ २९ ॥
मेदःशुक्रबलश्लेष्म-पित्तरक्ताऽग्निशोफकृत् ।
रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे ॥ ३० ॥
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च रूक्षे तु ग्रहणीगदे ।
नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न ॥ ३१ ॥

नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम्।
न चानामलकं नापि नित्यं नोऽमन्दमन्यथा ॥ ३२ ॥
ज्वरासृक्पित्तवीसर्प-कुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम्।

व्याख्या—दही—पाक एवं रस में अम्ल होता है, ग्राही, गुरु, उष्ण तथा वातनाशक होता है और मेदस्, शुक्र, बल, कफ, पित्त, रक्त, अग्नि तथा शोथ को करता एवं बढ़ाता है तथा रुचिकारक है और अरुचि, शीत पूर्वक विषमज्वर, पीनस तथा मूत्र कृच्छ्र में प्रशस्त है और ग्रहणी रोग में रूक्ष दही प्रशस्त होता है।

रात्रि में दही न खावे, उष्ण २ दही न खावे, वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु में दही न खावे और मूंग की दाल (एवं उसके बड़े आदि) से रहित, मधु से रहित, घृत से रहित, मिश्री (खण्ड एवं गुड़) से रहित आमलों से रहित दही न खावे, प्रतिदिन न खावे और मन्दक (कच्चा या भली भान्ति न जमा) दही न खावे अन्यथा वह—ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डुरोग अथवा भ्रम को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—रूक्ष दही—जिस का तरभाग (मलाई) अलग कर दिया गया हो और नवनीत निकाले दूध का दही जो काशी आदि में "मखनिया दही" कहा जाता हैं। दूध ही ४-६ पहर में दही बन जाता है ॥२९-३२॥

तक्र का वर्णन—

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित् ॥ ३३ ॥
शोफोदरार्शोग्रहणी-दोषमूत्रग्रहाऽरुचीः।
प्लीहगुल्मघृतव्यापद्-गरपाण्ड्वामयान् जयेत् ॥३४॥

व्याख्या—तक्र (मण्ठा-लस्सी)—लघु, कषाय एवं अम्ल, अग्निदीपक तथा कफ वात नाशक होता है और शोथ, उदररोग, अर्श, ग्रहणीरोग, मूत्राघात, अरुचि, प्लीहाविकार, गुल्म, घृतपान से उत्पन्न विकार (स्नेह व्यापद्), गरविष तथा पाण्डुरोग को नष्ट करता है।

वक्तव्य—विलोए हुए दही का नाम तक्र है—सु सू. अ.४५—

मन्थनादि पृथग्भूतस्नेहमर्द्धोदकं च यत्।
नाऽति सान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे।
यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलम् उच्यते। ८५।
नैव तक्रं क्षते दद्यात् न उष्ण काले न दुर्बले।
न मूर्च्छा भ्रम दाहेषु न रोगो रक्त पैत्तिके। ८६।
शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफोत्थेषु आमयेषु च।
मार्गाऽवरोधदुष्टे च वायौ तक्रं प्रशस्यते। ८७।
वस्तुनः मधुर श्लेष्म प्रकोपणं पित्त प्रशमनं च, अम्लवातघ्नं पित्तकरं च।८८।
वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम्।
पिबेत् तक्रं कफे चापि व्योषक्षार समन्वितम्।८९।

अर्थात्—मन्थन (विलोना-रिड़कना आदि द्वारा-दही का स्नेह पृथक् हो जाने पर और उसे निकाल लेने पर वह "तक्र" कहलाता हैं और मन्थन के पूर्व उस में आधा जल दिया जाता है। इस स्नेह का नाम "नवनीत" है।

जो दही थोड़ा विलोया जाता है जिस से उसका स्नेह पृथक् न हो और जल भी न मिलाया गया हो उस का नाम "घोल" है।

इस का रस दही का सा होता है। तक्र का सेवन क्षत में, उष्ण काल में, दुर्बलता में, मूर्च्छा, भ्रम, दाह तथा रक्तज एवं पित्तज रोग में नहीं करना चाहिये।

अम्ल तक्र का सेवन—वायु में सैन्धव लवण, मिला कर करे। मीठे तक्र का सेवन पित्तविकार में खण्ड मिलाकर करे और कफरोग में कोई क्षार तथा त्रिकटु का चूर्ण मिला कर तक्र पीना चाहिये।

तक्र के विषय में एक सुभाषित है—
न तक्रसेवी व्यथते कदाचित् न तक्रदग्धाः प्रभवन्तिरोगाः
यथा सुराणां अमृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमस्ति॥

मस्तु का वर्णन—

तद्वन्मस्तु सरं स्रोतःशोधि विष्टम्भजिल्लघु।

व्याख्या—मस्तु अर्थात् दही का पानी—तक्र के समान गुणवाला होता है विशेषतः सर, स्रोतों का शोधक, विष्टम्भ नाशक तथा लघु होता है।

वक्तव्य—तक्र का पानी भी ऐसा ही होता है।

नवनीत का वर्णन—

नवनीतं नवं वृष्यं शीतं वर्णबलाग्निकृत् ॥ ३५ ॥
संग्राहि वातपित्तासृक्-क्षयार्शोऽर्दितकासजित्।
क्षीरोद्भवं तु संग्राहि, रक्तपित्ताक्षिरोगजित् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—नव (ताजा-तत्काल निकाला गया) नवनीत (माखन)—वृष्य, शीत, कान्तिकारक, बलवर्द्धक, अग्निदीपक तथा संग्राही (अतिसार एवं स्वेद का निरोधक) होता है और वात विकार, रक्त विकार, क्षय, (राजयक्ष्मा) रोग, अर्श रोग (विशेषतः रक्तार्श), अर्दित तथा कास को नष्ट करता है।

और दूध से निकाला गया नवनीत (नैयनू-नोनी या क्रीम)—विशेष रूप से संग्राही होता है तथा रक्तरोग, पित्तरोग एव नेत्ररोगों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—दही अथवा दूध को विलोकर जो स्नेहभाग प्राप्त किया जाता है उस का नाम "नवनीत" है। आज के

दही दूध का माखन नवनीत और गत दिन के दूध दही का माखन हैयंगवीन कहाता है। इस में स्नेह एवं दूध अथवा दही का भाग रहता है, पकाने पर स्नेह ऊपर आ जाता है और दूध दही का भाग नीचे बैठ जाता है जो चहेड़ू कहलाता है और स्नेह घृत ॥३५-३६॥

घृत का वर्णन—

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्नि-बलायुःशुक्रचक्षुषाम्
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥ ३७ ॥
क्षतक्षीणपरीसर्प-शस्त्राग्निग्लपितात्मनाम् ।
वातपित्तविषोन्माद-शोषाऽलक्ष्मीज्वरापहम् ॥ ३८ ॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम् ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥ ३९ ॥
मदापस्मारमूर्च्छाय-शिरःकर्णाक्षियोनिजान् ।
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम् ॥ ४० ॥

व्याख्या—घृत—बुद्धि, स्मरण शक्ति, मेधा (समन्वय—सङ्गति करने वाली मति), जठराग्नि, बल, आयुः, शुक्र तथा दृष्टि के लिए प्रशस्त है, बाल तथा वृद्ध के लिए प्रशस्त है और प्रजा (सन्तति), कान्ति, सुकुमारता तथा सुरीला स्वर चाहने वालों के लिए प्रशस्त है और क्षत (आहत-घायल), क्षीण (क्षय पीडित) तथा विसर्प रोगी के लिये, शस्त्र एवं अग्नि से आहतों एवं दग्धों के लिये प्रशस्त है और वात विकार, पित्त विकार, विषविकार, उन्माद, शोष, अलक्ष्मी (निर्धनता) एवं ज्वर को नष्ट करता है. सब प्रकार के स्नेहों में उत्तम है, शीत है, यौवन को स्थिर रखता है और शास्त्रोक्त विधियों से परिपक्व घृत सहस्रों शक्तियों वाला और सहस्रों कर्म करने वाला हो जाता है।

पुराना (एक वर्ष से १०० वर्ष तक का पुराना) घृत-मद (मद्य जनित मदात्यय आदि विकार), अपस्मार, मूर्च्छा तथा शिर, कर्ण एवं योनि (गर्भाशय एवं भग) के रोगों को नष्ट करता है और व्रण का शोधन एवं रोपण करता है ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—पुराना घृत प्रायः अभ्यंग में प्रयुक्त किया जाता है और उस का अभ्यंग—हृद्रोग, पार्श्वशूल, वात कास एवं श्वास रोग में वक्षस् एव पार्श्व प्रदेश पर किया जाता है, शिर के तालु पर लगाने से ज्वर की तीव्रता एवं प्रलाप घट जाता है, नि.ा आ जाती है।

किलाट एवं पीयूष आदि का वर्णन—

बल्याः किलाट-पीयूषकूर्चिकामोरणादयः ।
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः ॥ ४१ ॥
गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे ।

व्याख्या—दूध के पदार्थ—किलाट, पीयूष, कूर्चिका एवं मोरण (या मोरट) आदि सब-बल, शुक्र, निद्रा तथा कफ को बढ़ाते हैं और विष्टम्भी, गुरु तथा दोषल (हानिकर) हैं।

गौ का दूध एवं घृत श्रेष्ठ और भेड़ का दूध एवं घृत निन्दित होता है ॥

वक्तव्य—तत्र किलाटोऽल्पक्षीरो बहुना तक्रेण कृतः (इन्दु टीका), और— कूर्चिकाभूतक्षीरस्य घनभागः किलाटः (सुश्रुत की डल्लन टीका)—थोड़ा सा दूध एवं बहुतसा तक्र मिला कर पकाया गया एवं गाढ़ा किया गया पदार्थ अथवा फटे दूध का छेना "किलाट' कहलाता है।

पीयूष—फेडंस या बाहुली (पञ्जाबी भाषा में) जो तत्काल प्रसूता गौ अथवा भैंस आदि का दूध पकाने पर उष्ण करने मात्र से फट कर गाढ़ा हो जाता है। प्रसव के ५—७ दिन तक का दूध या जब तक स्वच्छ न हो जाय।

कूर्चित—दही तथा तक्र का गाढ़ा भाग या पनीर (इन्दु)। अथवा खुरचन या खड़ी।

मोरण—आचार्य जेज्जट के कथनानुसार (सु. टी. अ. ४५) फटे दूध का पानी। पकते दूध में यदि निम्बू का रस अथवा फिटकरी डाल दी जाती है तो दूध फट जाता है। उस के पानी का नाम मोरण है, यह मोती झरा ज्वर में पिया जाता है। खोया तो प्रसिद्ध है।

इति क्षीर वर्गः

अथ इक्षुवर्गः

ईख के रस का वर्णन—

इक्षो रसो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत् ॥ ४२ ॥
वृष्यः शीतोऽस्रपित्तघ्नः स्वादुपाकरसः सरः ।
सोऽग्रे सलवणो, 'दन्त-पीडितः' शर्करासमः ॥४३॥

व्याख्या—सामान्य रूप से ईख का रस—गुरु, स्निग्ध, पुष्टिकारक, कफ एवं मूत्र का वर्द्धक, वृष्य, शीत, अम्लपित्त नाशक, रस एवं पाक में मधुर तथा सर होता है।

ईख के अग्रभाग का रस (ग्रन्थि भाग का रस)-कुछ लवणरस युक्त (नमकीन) होता है (मध्यभाग) का रस मधुर तथा मूलभाग का रस अधिक मधुर होता है) और दन्त से चबा कर चूसा गया रस खण्ड के समान गुण वाला होता है ॥ ४२-४३ ॥

रस के भेद तथा ईख के भेद—

मूलाऽग्रजन्तुजग्धादि-पीडनान्मलसङ्करात् ।
किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः ॥४४॥

विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ तत्र पौण्ड्रकः।
शैत्यप्रसादमाधुर्यैर्वरस्तमनुवांशिकः ॥ ४५ ॥
शातपर्वक-कान्तार-नैपालाद्यास्ततः क्रमात्।
सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः ॥४६॥

व्याख्या—यन्त्र से पीड कर निकाला रस-जड़, अग्र भाग तथा क्रिमियों से भक्षित भाग आदि सब भाग एक साथ पीडा जाने से और यन्त्र का मल मिश्रित हो जाने से और कुछ समय तक धरा रहने से विकृत हो जाता है इस लिये वह विदाहकारी, गुरुपाकी तथा विष्टम्भी हो जाता है (यदि उक्त कारण न हों तो नहीं भी होता)।

ईख कई प्रकार का होता है—उनमें पौण्ड्रक जो मोटा एवं कोमल होता है) का रस—शीतता, स्वच्छता एवं मधुरता के कारण श्रेष्ठ होता है और बाँस (जो मोटा एवं कठोर होता है का रस पोण्डा के रस से कुछ हीनगुण होता है और शतपर्वक (छोटी २ बहुत सी पोरियों वाला), कान्तार (किनारा नामक ईख जिसकी ग्रन्थि २ के पास ऊपर की ओर हरी वलयाकार रेखा होती है) तथा नैपाल आदि ईख के रस क्रमशः कुछ २ खारे,कुछ २ कसैले,कुछ उष्ण तथा कुछ २ विदाहकारी होते हैं।

वक्तव्य—सन् १६२० ईस्वी तक उक्त जातियों के ईख होते थे और प्रायः इन्हीं नामों से कृषक उनका पृथक २ नाम निर्देश करते थे परन्तु इधर कृषि सुधार विभाग ने जब से नवीन संकर जाति के ईखों का आविष्कार किया है तब से इन का लोप हो गया एवं होता जा रहा है अगली पीढ़ी तो उन का नाम भी भूल जायगी क्योंकि उन पुराने ईखों का बीज ही नष्ट हो चला है अस्तु। कहा जाता है कि इन वर्तमान ईखों का रस एवं गुड़ आदि उन पुराने ईखों के रस आदि कासा स्वादु एवं आरोग्यप्रद नहीं है भले ही इन की उत्पादन शक्ति उन से अधिक है लगभग दूनी तिगुनी ॥४४-४६॥

फाणित आदि का वर्णन—

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम्।
नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्ट-मूत्र-शकृद्-गुडः ॥ ४७ ॥
प्रभूतक्रिमिमज्जासृङ्-मेदोमांसकफोऽपरः।
हृद्यः पुराणः पथ्यश्च नवः श्लेष्माऽग्निसादकृत् ॥४८॥
वृष्याः क्षतक्षीणहिता रक्तपित्तानिलापहाः।
मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः ॥४९ ॥
तद्गुणा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा।
दाहतृट्छर्दिमूर्च्छासृक्-पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः ॥ ५० ॥
शर्करेक्षुविकाराणां फाणितञ्च वराऽवरे।

व्याख्या—फाणित (राव - क्षुद्रगुड या लाट)—गुरु, अभिष्यन्दी, दोषों तथा मलों का सञ्चय करने वाली परन्तु मूत्र का शोधन (प्रवर्त्तन) करने वाली होती है।

स्वच्छ या निर्मल रस का गुड़—कुछ कफ कारक तथा मूत्र एवं पुरीष का प्रवर्त्तक होता है।

मलिन (जिसकी मैल नहीं निकाली गई) रस का गुड़—उदर में क्रिमि उत्पन्न करता है और मज्जा, मेदस् , रक्त, मांस तथा कफ को बढ़ाता है।

पुराना गुड़—हृदय को शक्ति देता है एवं पथ्य होता है और नूतन गुड़—कफ कारक एवं मन्दाग्नि कारक होता है।

निर्मल गुड़ की अपेक्षा मत्स्यण्डिका (मैली खण्ड जिस में कुछ शीरा रहता है) गुणवान् होती है, इस की अपेक्षा खण्ड और खण्ड की अपेक्षा सिता (श्वेत खण्ड) गुणवान् होती है।

जवासा की खण्ड भी ईख की खण्ड के समान वर्ण, रस, आकार एवं गुण वाली होती है परन्तु कुछ तिक्त रस युक्त, मधुर एवं कषाय रस वाली होती है।

सब प्रकार की खण्ड—दाह, तृषा, छर्दि, मूर्च्छा तथा रक्त पित्त को करती हैं।

ईख के द्रव्यों में शर्करा (श्वेत खण्ड) श्रेष्ठ होती है और फाणित (राव या लाट) अधम होती है॥

वक्तव्य—मिशरी या फूल मिशरी—श्वेत खण्ड का रहा सहा शीरा चुआ कर तथा जमा कर "सितोपला" (सिता के उपलपाषाण जैसे खण्ड अर्थात् मिशरी) बनाई जाती है।

जवासा नामक क्षुप के गोन्द को यास शर्करा कहते हैं।
मत्स्यण्डिका-इक्षो रसो यः सम्पक्वो घनः किञ्चिद्द्रवान्वितः
मन्दं यत् स्पन्दते तस्मात् तत् मत्स्यण्डी निगद्यते।
गुड—इक्षो रसो यः सम्पक्वो जायते लोष्टवद् घनः (दृढ़)।
स गुडो, गौड देशे तु मत्स्यण्डी एव गुडो मतः।
खण्ड—खण्डं तु सिकता रूपं सुश्वेतं शर्करा सिता (भा. प्र. निघण्टु)।

सर्व शर्करा—ताड़ के एवं दाख तथा खजूर आदि के मधुर रसों की बनाई गई शर्करा या खण्ड ॥४७-५०॥

इति इक्षुवर्गः

मधु का वर्णन—

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्म-विषहिध्मास्रपित्तनुत् ॥५१॥
मेहकुष्ठक्रिमिच्छर्दि-श्वासकासातिसारनुत्।
व्रणशोधनसन्धान-रोपणं वातलं मधु ॥ ५२ ॥
रूक्षं कषायमधुरं तत्तुल्या मधुशर्करा।
उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत् ॥ ५३ ॥

प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते।
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ॥ ५४ ॥

व्याख्या—मधु—नेत्रों के लिये हित है (नेत्र में लगाने से लाभ करता है), लेखन है (जमे हुए कफ आदि को काट देता है) और तृषा, कफ, विष विकार, हिक्का, रक्त पित्त, प्रमेह, कुष्ठ, क्रिमि, छर्दि, श्वास, कास, तथा अतिसार को नष्ट करता है, व्रणों का शोधन, सद्यो व्रणों का सन्धान तथा व्रणों का रोपण करता है और वात कारक. रूक्ष, कुछ कषाय रस वाला तथा मधुर होता है।

मधु की खण्ड एवं शर्करा भी मधु के समान गुण-वाली होती हैं। मधुका निषेध—उष्ण मधु, उष्ण (धूप एवं गर्मी) से पीड़ित. मानव को, उष्ण काल में (ग्रीष्म ऋतु एवं धूप के समय) और उष्ण जल आदि के साथ खाने पीने से हानि करता है। परन्तु वमन एवं निरूहण बस्ति में प्रयुक्त उष्ण २ या उष्ण द्रव में मिला मधु हानिकारक नहीं होता क्योंकि उनमें प्रयुक्त मधु-शरीर में पके बिना ही तत्काल लौट आता है—निकल जाता है ॥५६॥

वक्तव्य—कुछ मधु ऐसे होते हैं जिनमें १—२—३ मास पड़ा रहने पर नीचे खण्ड बैठ जाती है और तरल भाग ऊपर आ जाता है। यह खण्ड "मधु शर्करा" कहलाती है। मधु मक्षिकाओं के जाति भेद से मधु आठ प्रकार के होते हैं देखिये सु. सू. अ. ३५ ॥ ५१-५४ ॥.

तैल, वसा एवं मज्जा का वर्णन—

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ॥ ५४ ॥
कृशानां बृंहणायाऽलं स्थूलानां कर्शनाय च।
बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वदोषजित् ॥ ५६ ॥
सतिक्तोषण 'मैरण्डं' तैलं स्वादु सरं गुरु।
वर्ध्मगुल्मानिलकफान्, उदरं विषमज्वरम् ॥ ५७ ॥
रुक्शोफौ च कटीगुह्य-कोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत्।
तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्रं 'रक्तैरण्डोद्भवं' त्वति ॥५८॥
कटूष्णं 'सार्षपं' तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्।
लघुपित्तास्रकृत् कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित् ॥ ५९ ॥
'आक्षं' स्वादु हिमं केश्यं गुरु पित्तानिलापहम्।
नात्युष्णं 'निम्बजं' तिक्तं कृमिकुष्ठकफप्रणुत् ॥ ६० ॥
'उमाकुसुम्भजं' चोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत्।
वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ ॥ ६१ ॥
मांसानुग स्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव।

व्याख्या—तैल—सरसों, तिल एवं एरण्ड आदि अपने कारणों के समान गुणों वाला होता है। इस प्रकार के सब तैलों में तिल का तैल मुख्य है क्योंकि वही "तैल" कहला सकता है और वह—तीक्ष्ण (आशुकारी) व्यवायी, त्वचा को दूषित करने वाला, नेत्र के लिये हानि कारक, सूक्ष्म एवं उष्ण होता है, स्निग्ध होने पर भी कफ कारक नहीं होता, कृशों को पुष्ट करता है और स्थूलों को कृश करता है, पुरीष को बान्धता है, क्रिमि नाशक है तथा संस्कार करने से वात आदि सब दोषों को नष्ट कर सकता है।

एरण्ड का तैल—कुछ तिक्त एवं कुछ कटु होता है परन्तु मधुर होता है, विरेचक तथा गुरु होता है, अण्ड-वृद्धि, गुल्म, वातरोग, कफरोग, उदर रोग एवं विष विकार को नष्ट करता है और कटि, गुह्य प्रदेश, उदर तथा पीठ की वेदना एवं शोथ को नष्ट करता है।

लाल एरण्ड का तैल—अत्यन्त तीक्ष्ण, उष्ण; पिच्छिल तथा अप्रिय गन्ध वाला होता है।

सरसों का तैल—कटु, उष्ण एवं तीक्ष्ण होता है और कफ शुक्र एवं वायु का नाशक है, लघु है, पित्त एवं रक्त का वर्द्धक है और कोठ (शीतपित्त), कुष्ठ, अर्श, व्रण तथा क्रिमियों को नष्ट करता है।

बहेड़ा की गिरी का तैल—स्वादु, शीत, केशों के लिये हित एवं गुरु है और पित्त एवं वायु को शान्त करता है।

निम्ब की गिरी का तैल—अत्यन्त उष्ण नहीं है, तिक्त होता है और क्रिमि, कुष्ठ तथा कफ विकार को नष्ट करता है।

अतसी (अलसी) तथा कुसुम्भ (बरें) के तैल—उष्ण हैं और त्वचा के विकार (कुष्ठ), कफ तथा पित्त को बढ़ाते हैं।

प्राणियों की वसा एवं मज्जा नामक स्नेह—वात नाशक हैं और बल, पित्त तथा कफ को बढ़ाते हैं तथा मांस के समान गुण वाले हैं और मेदस् (चर्बी) भी वसा एवं मज्जा के समान गुण वाली है।

वक्तव्य—स्नेहों का वर्णन देखिये सू अ १६ में (स्नेह के दो आशय हैं १—स्थावर और २ जंगम। स्थावर हैं—तिल, सरसों, बादाम, चिरोञ्जी, नारियल एवं एरण्ड आदि इन के बीजों को पीड कर स्नेह प्राप्त किया जाता है जो तैल कहलाता है और जो प्राणियों के शरीर से प्राप्त होता है वह जांगल स्नेह कहलाता है जैसे घृत, वसा, मज्जा एवं मेदस्। विशेष देखिये च सू. अ. १३ तथा सु. सू अ. ४५ तथा चि अ. ३१। एरण्ड तैल उत्तम कोटि का निष्पाप विरेचन है मात्रा २—४ तो० ॥ ५५-६१ ॥

मद्य का वर्णन—

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम् । ६२ ॥
सस्वादुतिक्तकटुकम्, अम्लपाकरसं सरम् ।
सकषायं स्वरारोग्य-प्रतिभावर्णकृल्लघु ॥ ६३ ॥
नष्टनिद्राऽतिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम् ।
कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम् ॥ ६४ ।
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा ।

व्याख्या—मद्य (सामान्यतः सभी प्रकार के मद्य)—अग्नि दीपक है, रुचिकारक है, तीक्ष्ण एवं उष्ण है, तुष्टि (मानसिक सन्तोष) तथा पुष्टि (शारीरिक पुष्टि) का दाता है, कुछ स्वाद है, तिक्त तथा कटु है, पाक में अम्ल है, सर है, कुछ कषाय रस वाला है और स्वर, आरोग्य, प्रतिभा तथा कान्ति को बढ़ाता है, लघु है, निद्रानाश तथा अतिनिद्रा से पीड़ितों के लिये लाभ दायक है अर्थात् निद्रा के अभाव तथा आधिक्य को शान्त करता है, पित्त एवं रक्त को दूषित करता है, कृश को पुष्ट करता है और स्थूल को कृश करता है, रूक्ष तथा सूक्ष्म है, स्रोतों को शुद्ध करता है और युक्ति पूर्वक पिया गया जल वात एवं कफ को नष्ट करता है परन्तु युक्ति रहित पिया गया विष के समान हानिकारक है ।

वक्तव्य—कृश स्थूल हितं—मद्य एवं तैल में यह विशेषता है कि—ये दोनों पदार्थ तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म आदि गुणों तथा स्रोत. शोधन आदि कर्मों के कारण कृशता एवं स्थूलता को नष्ट कर देते हैं, स्रोतों का शोधन होने से—रस धातु का सञ्चार भली भान्ति होने लगता है परिणामत कृशता नष्ट हो जाती है और स्रोतों का शोधन होने से मेदस् का एकत्र सञ्चय होना भी रुक जाता है परिणामतः स्थूलता भी नष्ट हो जाती है ॥६२ ६४॥

नूतन एवं पुरातन मद्य—

गुरु त्रिदोषजननं नवं जीर्णमतोऽन्यथा ॥ ६५ ॥

व्याख्या—नूतन मद्य—गुरु तथा त्रिदोष कोपक होता है और पुराना मद्य—लघु तथा त्रिदोष शामक होता है ॥६५॥

मद्य का निषेध—

पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः ।
नात्यर्थतीक्ष्णमृद्वल्प-सम्भारं कलुषं न च ॥ ६६ ॥

व्याख्या—उष्ण आहार विहार के साथ विरेचन के अनन्तर तथा भूखे पेट मद्य न पीवें और अत्यन्त तीक्ष्ण (तेज), अत्यन्त मृदु (जिसमें मादक अत्यन्त न्यून हो), अल्प सामग्री से बनवाया गया तथा मलिन (अस्वच्छ) मद्य नहीं पीना चाहिये ।

वक्तव्य—अत्यन्त तीक्ष्ण मद्य दाहक होता है फलतः मुख एवं आहार मार्ग को क्षत विक्षत कर देता है अतः उस में जल मिला कर पीना चाहिये ॥ ६६ ॥

भिन्न सुराओं का वर्णन—

गुल्मोदरार्शोग्रहणी-शोषहृत् स्नेहनी गुरुः ।
'सुरा'ऽनिलघ्नी मेदोऽसृक्-स्तन्यमूत्रकफावहा ॥ ६७ ॥
तद्गुणा 'वारुणी' हृद्या लघुस्तीक्ष्णा निहन्ति च ।
शूलकासवमिश्वास-विबन्धाध्मानपीनसान् ॥ ६८ ॥
नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या 'वैभीतकी सुरा' ।
व्रणे पाण्ड्वामये कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते ॥ ६९ ॥

व्याख्या—सुरा—गुल्मरोग, उदर रोग, अर्श, ग्रहणी रोग तथा शोष रोग को नष्ट करती है, स्नेहन एवं गुरु है, वात नाशक है, तथा मेदस्, रक्त, स्तन्य (दूध) मूत्र एवं कफ को बढ़ाती है ।

वारुणी भी सुरा के समान गुण दोष वाली है विशेषतः—हृदय को शक्ति देती है, लघु तथा तीक्ष्ण है और शूल, कास, छर्दि, श्वास, विबन्ध (स्रोतोरोध—मूत्र पुरीष बन्ध), आध्मान तथा पीनस को नष्ट करती है ।

बहेड़ा की सुरा—अधिक तीव्र है मद नहीं करती, लघु, तथा पथ्य (हित) होती है और वह व्रण, पाण्डुरोग तथा कुष्ठ में भी हानिकारक नहीं होती (जैसे अन्यान्य सुरा) ॥ ७३ ॥

वक्तव्य—किसी २ प्रति में निम्नलिखित पा० अधिक पाया जाता है यथा—

विष्टम्भिनी यवसुरा गुर्वी रूक्षाऽति(त्रि)दोषजा ।
कौहली बृंहणी गुर्वी श्लेष्मलस्तु मधूलकः ।

अर्थात्—जौ की सुरा-विष्टम्भ कारक, गुरु, रूक्ष तथा अत्यन्त दोष कारक या त्रिदोष कोपक होती है और कौहली नामक सुरा-बृंहण तथा गुरु होती है और मधूलक नामक मद्य कफकारक होती है ॥६७-६९॥

अरिष्ट का वर्णन—

यथाद्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः ॥ ७० ॥
ग्रहणीपाण्डुकुष्ठार्शःशोफशोषोदरज्वरान् ।
हन्ति गुल्मक्रिमिप्लीह, कषायकटुवातलः ॥ ७१ ॥

व्याख्या—अरिष्ट—जिन द्रव्यों के संयोग से बनाया जाता है उन द्रव्यों के समान गुण वाला होता है परन्तु वह उन मद्यों की अपेक्षा अधिक गुणवान् होता है और ग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, कुष्ठ रोग, अर्श रोग, शोथ, शोष, उदररोग, ज्वर, गुल्म, क्रिमि तथा प्लीहा विकार को नष्ट करता है और कसैला, कटु तथा वात वर्द्धक होता है ।

वक्तव्य—अरिष्ट प्रायः रोग शान्तिके लिये पिया जाता है मदके लिये नहीं। यथा अमृतारिष्ट एवं पुनर्नवारिष्ट। और यह रोग शामक अनेक द्रव्यों के संयोग से बनाया जाता है।

अन्यान्य मद्यों का वर्णन—

'मार्द्वीकं' लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम्।
अल्पपित्तानिलं पाण्डु'मेहार्शः कृमिनाशनम् ॥ ७२ ॥
अस्मादल्पा तरगुणं 'खार्जूरं' वातलं गुरु।
'शार्करः सुरभिः स्वादुर्हृद्यो नातिमदो लघुः ॥ ७३ ॥
सृष्टमूत्रशकृद्वातो 'गौड'स्तर्पणदीपनः।

व्याख्या—मुनक्का (दाख-अंगूर) का मद्य लेखन है, हृदय के लिये हित है, बहुत उष्ण नहीं होता, मधुर एवं सर होता है, थोड़ा पित्त एवं वायु को बढ़ाता है और पाण्डु रोग, प्रमेह, अर्श तथा क्रिमि को नष्ट करता है।

खजूर के मद्य में—उक्त मद्य के गुणों में कुछ अन्तर (भेद) है और वह वात कारक एवं गुरु होता है।

खण्ड के संयोग से बनाया गया मद्य—सुगन्धित, मधुर, हृदय के लिये हित, अधिक मद न करने वाला तथा लघु होता है।

गुड़ के संयोग से बनाया गया मद्य—मूत्र, पुरीष एवं वायु का प्रवर्त्तक होता है, तृप्तिकारक तथा अग्निदीपक होता है।

वक्तव्य—मद्य के नाम हैं–१सुरा, शराब तथा दारू आदि यह अनेक द्रव्यों का सन्धान करके और फिर मयूरयन्त्र द्वारा चुआई जाती है जैसे सौंफ आदि के अर्क निकाले जाते हैं—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. चि. अ. २४—

यानि संस्कारनामाद्यैः विशेषैः बहुधा च या।
भूत्वा भवति एक विधा समान्यात् मद लक्षणात् ६।

अर्थात्—योनि (जिन द्रव्यों के संयोग से बनाई जाती हैं उन घटकों), संस्कार (निर्माण विधि) तथा नाम (सुरा एवं वारुणी आदि) और नूतन, पुरातन, मृदु एवं तीक्ष्ण आदि भेदों के कारण बहुत प्रकार कही जाने पर भी सुरा एक ही प्रकार की होती है क्योंकि सबको पीने से मद (नशा) समान रूप से (एक ही प्रकार का) होता है। शेष देखिए च सू अ २५। सन्धान के कारण सुरा में मद की उत्पत्ति हो जाती है भले ही उसके वे घटक द्रव्य मादक नहीं होते जिनसे वह बनाई जाती है। सुरा के सेवन की विधि, उसके हानि एवं लाभ देखिये चि. अ. ८। सन्धान के लिए खण्ड अथवा गुड आदि मधुर द्रव्य आवश्यक हैं ॥ ७२-७३ ॥

सीधु का वर्णन—

वातपित्तकरः'सीधुः' स्नेहश्लेष्मविकारहा ॥ ७४ ॥
मेदःशोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पक्वरसो वरः।

व्याख्या—सीधु—वात पित्तकारक होता है, स्नेहजनित विकार (स्नेह व्यापद) तथा कफ विकार को नष्ट करता है और मेदस्, शोफ (व्रण शोथ), उदर रोग तथा अर्श रोग को नष्ट करता है। सीधुओं में पक्वरस सीधु श्रेष्ठ होता है।

वक्तव्य—सीधु दो प्रकार का होता है—१—शीतरस सीधु और २—पक्व रस सीधु। शीतरस सीधु वह है जो ईख आदि के कच्चे रस से बनाया जाता है और पक्व रस सीधु वह है जो रस को कुछ पका कर बनाया जाता है। ईख एवं अङ्गूर आदि के सिरका नाम सीधु है। प्रथम की अपेक्षा दूसरा सीधु उत्तम होता है ॥ ७४ ॥

मध्वासव एवं शुक्त का वर्णन—

छेदी 'मध्वासव' स्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित् ॥ ७५ ॥
रक्तपित्तकफोत्क्लेदि 'शुक्तं' वातानुलोमनम्।
भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्लं हृद्यं रुचिकरं सरम् ॥ ७६ ॥
दीपनं शिशिरस्पर्शं पाण्डुदृक्कृमिनाशनम्।

व्याख्या—मध्वासव (मधु के संयोग से बनाया गया आसव-सुरा)—छेदी तथा तीक्ष्ण होता है और प्रमेह, पीनस तथा कास को नष्ट करता है।

शुक्त—रक्त, पित्त एवं कफ को उभारता (आर्द्र करता) है, वायु का अनुलोमन करता है, अत्यन्त उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष तथा अम्ल होता है और हृदय के लिये अत्यन्त हित एवं रुचिकारक होता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है, स्पर्श में (सेचन एवं पिचु-फाहा के रूप में प्रयुक्त) शीतल होता है और पीने से—पाण्डुरोग, दृष्टि तथा क्रिमियों को नष्ट करता है ॥ ७५-७६ ॥

गुड़ आदि के शुक्तों का वर्णन—

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीक-शुक्तं लघु यथोत्तरम् ॥
कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात्तदाऽऽसुतम् । ७७ ॥

व्याख्या—गुड़ से बनाया गया, ईख के रस से बनाया गया, मद्य की विधि से बनाया गया तथा मुनक्का (दाख-अंगूर) से बनाया गया शुक्त उत्तरोत्तर (एक से दूसरा) लघु होता है और आलू आदि कन्द, मूली आदि मूल तथा भण्टा (बैंगन) आदि फलों से बनाया गया आसुत (सन्धित द्रव) भी वैसा ही लघु होता है । ७७ ॥

शाण्डाकी आदि का वर्णन—

'शाण्डाकी' चाऽऽसुतं चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु।
'धान्याम्लं' भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत्स्पर्शशीतलम् ॥
श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं बस्तिशूलनुत्।
शस्तमास्थापने हृद्यं लघु वातकफापहम् ॥ ७९ ॥

व्याख्या—शाण्डाकी एवं आसुत तथा दूसरे वे अम्ल-द्रव जो कुछ काल (३-४ दिन) पर्यन्त धरा रहने पर अम्ल हो जाते हैं वे रुचिकारक एवं लघु होते हैं।

और चावल एवं जौ आदि धान्यों के योग से जो अम्ल द्रव बनाये जाते हैं वे पुरीष भेदक, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तकारक, स्पर्श में शीतल, श्रम (शारीरिक थकान एवं क्लम (मानसिक थकान) के नाशक, रुचिकारक, अग्नि-दीपक, मूत्र संस्थान के शूल के शामक, निरूहण वस्ति में उपयोगी, हृदय के लिए हित, लघु तथा वात कफ शामक होते हैं।

वक्तव्य—सीधु दो तीन मास में तैयार होता है निर्माण विधि यह है कि—ईख आदि के रस को घड़ा में डाल कर धूप में धर दिया जाता है, २०—२५ दिन में उस पर जाला बैठ जाता है इस दशा में उसे छानकर दूसरे घड़ा में डाल कर धर दिया जाता है। यही क्रम बार २ किया जाता है, जब जाला पड़ना बन्द हो जाता है और वह द्रव काला, स्वच्छ (इतना स्वच्छ कि उस में मुख दीखने लगता है), अत्यन्त अम्ल (इतना अम्ल कि उस की बून्द लिपी पुती धरती पर पड़ जाय तो वह उफन आती है। एवं मद्य की सी गन्ध वाला हो जाता है। इस दशा में समझा जाता है कि शिरका तैयार हो गया है।

शुक्त निर्माण विधि—गुड़ को आठगुने जल में घोल कर अथवा ईख आदि के रस को घड़ा में डाल कर धर दिया जाता है जब वह अम्ल हो जाता है समझ लिया जाता है कि शुक्त तैयार हो गया है। शुक्त, कन्द आदि के आसुत, शाण्डाकी एवं धान्याम्ल आदि सब "काञ्जी" नाम से प्रसिद्ध हैं। गर्मियों में २—३ दिन में और शीत काल में ४—५—६ दिन में काञ्जी तैयार हो जाती है। काञ्जी मीठी भी होती है जो ईख के रस आदि से बनाई जाती है और नमकीन भी जो केवल जल में बनाई जाती है, राई डालने से कुछ शीघ्र तैयार हो जाती है ॥७८-७९॥

मूत्र का वर्णन—

मूत्रं गोऽजाविमहिषी-गजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम् ।
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु ॥ ८० ॥
कृमिशोफोदरानाह-शूलपाण्डुकफानिलान् ।
गुल्मारुचिविषश्वित्र-कुष्ठार्शांसि जयेल्लघु ॥ ८१ ॥

व्याख्या—आयुर्वेद में—१—गौ का, २—बकरी का, ३—भेडी का, ४—भैंस का, ५—हाथी का, ६—घोडा का, ७—ऊँट का तथा ८—गधा का मूत्र चिकित्सा के लिए उपयोगी माना है।

सामान्यतः मूत्र—पित्तकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, कुछ लवण रसयुक्त तथा कटु (चरपरा) होता है

और क्रिमिरोग, शोथ, उदर रोग, आनाह, शूल, पाण्डु रोग, कफ विकार, वात विकार, गुल्म रोग, अरुचि, विष विकार (सर्प विष वेग), श्वित्र (कुल बहरी—श्वेत दाग), कुष्ठ तथा अर्श को नष्ट करता है तथा लघु होता है। सर्प विष में पिलाने से और बिच्छू बर्रे आदि के विष में सेचन से लाभ होता है।

वक्तव्य—विरेकास्थापना लेपस्वेदादिषु च पूजितम् ।
दीपनं पाचनं भेदि तेषु गोमूत्रमुत्तमम् ।

अर्थात्—मूत्र का प्रयोग—विरेचन के लिये निरूहण वस्ति में, लेपों में तथा स्वेदन के लिये उपयोगी, दीपन, पाचन एवं मल भेदक होता है। उन में गोमूत्र उत्तम है। इस प्रसंग में पित्तद्रव का वर्णन कर देना भी आवश्यक है—अ सं. सू अ ७—

पित्तं तिक्तं क्रिमिहरं रोचनं कफवातजित् ।

अर्थात्—प्राणियों का पित्तद्रव (गोरोचन आदि)—तिक्त रस वाला, क्रिमि नाशक, रुचिकारक तथा कफ वात जनित श्वास आदि रोगों को नष्ट करता है। सच यह है कि मूत्र में पित्त मिला रहता है अतः पित्त के अभाव में मूत्र का प्रयोग किया जाता है। प्राणियों की लाला (लार) भी अनेक रोगोंमें प्रयुक्त होती है जैसे दद्रू में।

हाँ—अष्टांग संग्रह के इस अ. ७ में—शकृत् अर्थात् पुरीष का भी वर्णन किया है यथा—

कषायतिक्तमेतेषां हिध्माश्वासहरं शकृत् ।
मार्गमोजःक्षयहरं वैष्किरं वातरोगनुत् ।
प्रसहानामपस्मारसुन्मादं च नियच्छति ।
महामृगसमुद्भूतं कुष्ठहृत् जलचारिणाम् ।
नेत्ररोगहरं पित्तं प्रवृद्धं च नियच्छति ।

अर्थात्—उक्त गौ एवं अजा आदि का शकृत् (गोबर एवं मेंगन)—कषाय एवं तिक्त होता है और हिक्का एवं श्वास को नष्ट करता है।

इन के अतिरिक्त—हरिण आदि मृगों का शकृत्—ओजः क्षय को नष्ट करता है, लाव, मोर एवं मुर्गा आदि विष्किर जाति के पक्षियों का शकृत् (बीठ)—वात रोग नाशक होता है।

प्रसह जाति के मृग पक्षियों का शकृत्—अपस्मार एवं उन्माद को नष्ट करता है और महामृगों का शकृत्—कुष्ठ को नष्ट करता है और जल चारियों का शकृत्—नेत्ररोग नाशक तथा पित्त शामक होता है। इन मृगों एवं पक्षियों का वर्णन अगले अ. ६ में देखिये।

सुश्रुत तथा अष्टांग संग्रह में नर मूत्र का वर्णन है।

मूत्रं मानुषं तु विषापहम् ।२१८।

अर्थात्—नर मूत्र विष नाशक होता है। यह सर्प विष में सफल होते देखा भी गया है, शार्ङ्गधरोक्त सञ्जीवनी वटी ३—३ गोली तथा नर मूत्र के १—१ घण्टा पर सेवन से वेग शान्त हो गये थे। कबूतर एवं मुरगा की वीठ उत्तम दारण है ॥८०-८१॥

उपसंहार

तोय-क्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्।
इति-द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृतः ॥ ८२ ॥

व्याख्या—इस अध्याय में जलवर्ग, दुग्धवर्ग, इक्षु वर्ग, तैलवर्ग (स्नेह वर्ग) तथा मद्य वर्ग का क्रमशः वर्णन किया गया है इस प्रकार स्थूल रूप से द्रव द्रव्यों का एक देश लिखा गया है।

वक्तव्य—और मूत्र वर्ग का भी तो वर्णन किया गया है अतः यह पाठ—अष्टांग संग्रहानुसार होने पर भी अपूर्ण है। अस्तु।

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ।५।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

व्याख्या—अब अन्न द्रव्यों के स्वरूप (रस, विपाक, गुण, प्रभाव तथा कर्म आदि स्वभाव) के विज्ञान के लिये उपयोगी अध्याय को व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. सू. अ. २७ , सु सू अ. ४६ तथा अ सं सू. अ ७ एवं १२ में देखिये।

जो द्रव्य खाये जाते हैं उनका नाम "अन्न" है और वह विध भेद से दो प्रकार का होता है —१—स्थावर जैसे गेहूं एवं चावल आदि और २—जाङ्गम जैसे मांस आदि। स्थावरों में धान्य दो प्रकार के होते हैं १—शूक धान्य-जिन पर शूक होता है जैसे चावल, गेहूँ जौ आदि और २—शिम्बी या शमी धान्य जो फली के भीतर होते हैं जैसे चना एवं उरद आदि। शूक धान्यों के प्रायः भात, रोटी, बाटी, पूड़ी एवं चिलड़ा आदि बनाए जाते हैं और शिम्बी धान्यों की प्रायः दालें एवं जूस आदि बनाए जाते हैं।

शूक धान्या का वर्णन—

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः।
सारामुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगन्धकः ॥१॥
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः।
स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः ॥२॥
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः।
शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा ॥ ३ ॥
महांस्तस्यानु कलमस्तं चाप्यनु ततः परे।
यवका हायनाः पांसु-बाष्पनैषधकादयः ॥४॥
स्वादूष्णा गुरवः स्निग्धाः पाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः ॥ ५ ॥

व्याख्या—शालि धान्य—रक्त शालि, महा शालि, कलम शालि, तूर्णक शालि, शकुनाहृत शालि, सारा मुख, दीर्घशूक, रोध्रशूक (लोध के फूल के सदृश शूक वाला), सुगन्धित (सुगन्धी चावल-बासमती) पतङ्ग तथा तपनीय आदि अन्य असंख्य प्रकार के शालि चावल उत्तम होते हैं और वे सब रस एवं पाक में मधुर, स्निग्ध तथा वृष्य होते हैं उन का पुरीष (मलभाग) थोड़ा एवं बन्धा हुआ बनता है (रस भाग एवं मूत्र भाग अधिक बनता है)। वे कुछ कषाय रस वाले, पथ्य (स्वस्थ एवं रुग्ण के लिये हित), लघु, मूत्र प्रवर्त्तक तथा शीत वीर्य होते हैं।

ये सब शूक धान्य हैं इन में रक्त शालि श्रेष्ठ होता है और वह तृषा एवं त्रिदोष को शान्त करता या रखता है।

रक्त शालि की अपेक्षा महाशालि और उसकी अपेक्षा कलम शालि और उस की अपेक्षा तूर्णक शालि आदि क्रमशः हीन गुण होते हैं।

और यवक, हायनक, पांसु बाष्प एवं नैषधक आदि अन्य अनेक प्रकार के शालि धान्य—मधुर, उष्ण, गुरु, स्निग्ध, पाक में अम्ल, कफ पित्त कारक, मूत्र एवं पुरीष के प्रवर्त्तक होते हैं।

ये सब यथा पूर्व निन्दित (निन्दनीय—हीन—अधम) होते हैं अर्थात् यवक (जई) सब से निन्दित होता है।

वक्तव्य—किसी प्रति में श्लो० २ के आगे—

पुण्ड्रः पाण्डुः पुण्डरीकः प्रमोदो गौरसारिवौ।
काञ्चनो महिषः शूको दूषकः कुसुमाण्डकः।
लाङ्गला लोहवालाख्याः कर्दमाः शीतभ रुकाः।

पाठ अधिक पाया जाता है। ये भी शालि धान्यों के नाम हैं

यवका शूकधान्यानां अपथ्यतमत्वे प्रकृष्टतमा भवन्ति। तथा-लोहितशालयः (रक्तशालि) शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमाः (च. सू. अ २५)। उक्त सब धान्य आज भी उपलब्ध हैं परन्तु भाषापरिवर्त्तन के कुपरिणाम के कारण उनको पहिचानना कठिन या असम्भव होगया है, आज भी चावलों के

अनेक नाम हैं यथा-शाहजीरा, कालीमुंज, वेगम, चहोड़ा, सेला, वासमतो, हंसराज तथा जीरी आदि। ये सब उच्चकोटि के चावल हैं ॥१-५॥

व्रीहि धान्यों का वर्णन

स्निग्धो ग्राही लघुःस्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः।
षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गौरश्चाऽसितगौरतः ॥६॥
ततः क्रमान्महाव्रीहि-कृष्णव्रीहि-जतूमुखाः।
कुक्कुटाण्डकपालाख्य-पारावतक-शूकराः ॥७॥
वरकोद्दालकोज्ज्वाल-चीनशारददर्दुराः।
गन्धनाः कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः ॥८॥
स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरुः
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥९॥

व्याख्या—व्रीहि धान्यों में षष्टिक (साठी धान्य) — स्निग्ध, ग्राही (पुरीष एवं स्वेद का रोधक) गुरु, स्वादु (मधुर), त्रिदोष शामक, स्थिर (विलम्ब से पचने वाला) तथा शीत वीर्य होता है।

यह दो प्रकार का होता है—१—गौर (श्वेत वर्ण वाला) और २—असित गौर (कालापन लिये श्वेत)। असित गौर की अपेक्षा गौर श्रेष्ठ होता है।

और उक्त षष्टिक से—महाव्रीहि, कृष्ण व्रीहि, जतुमुख, कुक्कुटाण्ड, कपाल, पारावतक, शूकर, वरक, उद्दालक (कोदों), उज्ज्वाल (जुआर-चरी या मक्का मक्की-जुनरी) चीन (चीना), शारद, दुर्दुर, गन्धन तथा कुरुविन्द नामक धान्य गुणों (उत्तमता) में कुछ अन्तर वाले होते हैं अर्थात् सामान्यतः षष्टिक के समान स्निग्ध आदि गुणों वाले ही होते हैं।

इनसे भिन्न व्रीहि धान्य—स्वादु, विपाक में अम्ल पित्तकारक, गुरु एवं उष्ण होता है और उसका अधिक भाग मूत्र एवं पुरीष में परिणत हो जाता है। उष्णता अधिक प्राप्त होती है।

और पाटल नामक व्रीहि त्रिदोषकारक होता है।

वक्तव्य—शालिधान वे हैं जो अधिक जल चाहते हैं और हेमन्त में जाकर पकते हैं और अधिक श्वेत होते हैं। षष्टिक धान्य वे हैं जो लगभग साठ दिन में पक जाते हैं। व्रीहि-व्रीहिः इति शारदाऽऽशुधान्यस्य संज्ञा (च सू. अ. २७ श्लो० १५ की च. पा टीका) अर्थात्—व्रीहि वह धान्य है जो शरद् ऋतु में और शीघ्र पक जाता है। ये सब धान्य वर्षा काल में बोए जाते हैं दो मास में शरद् के प्रारम्भ में पक जाते हैं॥

तृणधान्यों का वर्णन—

कंगुकोद्रवनीवार-श्यामाकादि हिमं लघु।
तृणधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तहृत् ॥१०॥

व्याख्या—कङ्गु (कंगुनी), कोद्रव (जंगली कोदों), नीवार (तीनी) तथा श्यामाक (सामा-साँका) आदि तृण धान्य हैं। वे सब शीत, लघु, वातकारक, लेखन तथा कफ पित्तनाशक होते हैं।

वक्तव्य—तृण धान्य अर्थात् घास के बीज या दाने। यह सब बरसात से स्वतः उत्पन्न हो जाते है, कभी२बोए भी जाते हैं इनके दाने (धान्य) सञ्चित कर लिये जाते हैं और व्रत आदि के दिन खीर या भात आदि बना कर खाए जाते हैं। सु. सू अ. ४६ में इनको "कुधान्य" कहा गया है ॥१०॥

धान्यों का विशिष्ट वर्णन—

भग्नसंधानकृत्तत्र प्रियंगुर्बृंहणी गुरुः।
कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शशीतो विषापहः ॥११॥
रूक्षः शीतो गुरुः स्वादुः सरो विड्वातकृद्यवः।
वृष्य स्थैर्यकरो मूत्रमेदःपित्तकफान् जयेत् ॥१२॥
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठत्वगामयान्।
न्यूनो यवादनुयवः रूक्षोष्णो वंशजो यवः ॥१३॥
वृष्यः शीतो गुरुः स्निग्धो जीवनो वातपित्तहा।
संधानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यकृत्सरः ॥१४॥
पथ्या नंदीमुखी शीता कषायमधुरा लघुः।

व्याख्या—तृण धान्यों में कथित प्रियंगु अर्थात् कंगुनी नामक धान्य—टूटी अस्थि को जोड़ता है, पुष्टिकारक तथा गुरु होता है।

कोदों नामक धान्य—अत्यन्त ग्राही है, स्पर्श (लेप आदिके रूपमें प्रयुक्त) शीत है और विषविकार नाशक है।

उद्दालक धान्य उष्णवीर्य और नीवार धान्य कफकारक है। और जौ नामक धान्य—रूक्ष, शीत, गुरु, स्वादु, सर तथा वातकारक है। और उसका अधिकांश पुरीष रूप में परिणत हो जाता है तथापि वृष्य एवं दृढ़ता कारक होता है और मूत्राधिक्य, (प्रमेह), मेदोवृद्धि (स्थौल्य), पित्त, कफ, पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तम्भ, कण्ठ रोग तथा त्वचा रोग को नष्ट करता है।

अनुयव (छोटा जौ—इसके दाने कुछ छोटे होते हैं) उक्त जौ की अपेक्षा न्यून गुण वाला होता है।

और बाँस के जौ रूक्ष एवं उष्ण वीर्य होते हैं।

गोधूम (गेहूँ-कनक)—वृष्य, शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध, जीवनी शक्ति देने वाला, वातपित्त नाशक, टूटी अस्थि को जोड़ने वाला, मधुर; दृढता कारक तथा सर होता है।

नान्दी मुखी (मुण्डी गेहूँ इसका शूक अत्यन्त छोटा होता है)—पथ्य, शीतवीर्य, कुछ कषाय, मधुर एवं लघु होती है। ११-१४।

इतिशूकधान्यवर्गः—

अथ शिम्बिधान्य वर्गः—

शिम्बी धान्य का सामान्य वर्णन—

मुद्गाढकीमसूरादि शिबीधान्यं विबंधकृत् ॥१५॥
कषायं स्वादु संग्राहि कटुपाकं हिमं लघु ।
मेद श्लेष्मास्रपित्तेषु हितं लेपोपसेकयोः ॥१६॥

व्याख्या—मूंग, अरहर एवं मसूर आदि शिम्बी धान्य कहे जाते हैं ।

सामान्यतः शिम्बी धान्य-मूत्र पुरीष को बाँधने वाले, कषाय रस वाले, स्वादु, ग्राही (अतिसार नाशक), पाक में कटु, शीतवीर्य एवं लघु होते हैं और मेदो विकार, कफ विकार, रक्त विकार एवं पित्त विकार में लेप के रूप में तथा उप सेक अर्थात् सूप (दाल एवं कढ़ी आदि व्यंजन) के रूप में हित हैं ।

वक्तव्य—अष्टांग संग्रह का पाठ है—सूपालेपादि योजनात् । और चरक सू. अ २७ श्लोक २९ का पाठ है—सूपेष्वालेपनेषु च । जिससे भात आदि खाद्य उपसिक्त किये जाते हैं, सींच कर खाए जाते हैं । शिम्बी धान्य को सूप धान्य या सूप्य अर्थात् सूपोपयोगी भी कहा जाता है ॥१५,१६॥

शिम्बी धान्यों का विशिष्ट वर्णन—

मूँग, कलाय एवं राजमाष का वर्णन—

वरोऽत्र मुद्गोऽल्पवलः कलायस्त्वतिवातलः ।
राजमाषोऽनिलकरो रूक्षो बहुशकृद्गुरु ॥१७॥

व्याख्या—इन सब शिम्बी धान्यों में—मूँग श्रेष्ठ है, थोड़ा वात वर्द्धक अवश्य है ।

कलाय (मटर)—अत्यन्त वात कारक होता है । और राजमाष (रुआँह)—वात कारक, रूक्ष तथा गुरु होता है । और उसका अधिकांश पुरीष रूप में परिणत हो जाता है (रस थोड़ा बनता है) ॥ १७ ॥

कुलथी का वर्णन—

उष्णाः कुलत्थाः पाकेऽम्लाः शुक्राश्मरश्वासपीनसान् ।
कासार्शःकफवातांश्च घ्नंति पित्तास्रदाः परम् ॥१८॥

व्याख्या—कुलथी—उष्ण, पाक में अम्ल है और शुक्राश्मरी, श्वास, पीनस, कास, अर्श, कफ विकार तथा वात विकार को नष्ट करती है परन्तु पित्त एवं रक्त को बढ़ाती है (अश्मरी को तोड़ कर निकालती है) ॥१८॥

सेम का वर्णन—

निष्पावो वातपित्तास्र-स्तन्यमूत्रकरो गुरुः ।
सरो विदाही दृक्शुक्र-कफशोफविषापहः ॥१९॥

व्याख्या—निष्पाव (बड़ी सेम के बीज)—वात, पित्त, रक्त, दूध तथा मूत्र को बढ़ाता है, गुरु है, सर है विदाही पचते समय दाह कारक) है और दृष्टि, शुक्र, कफ, शोथ तथा विष विकार को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—सेम अनेक प्रकार के होते हैं अत एव कृष्णात्रेय महर्षि ने—निष्पावा मधुरा रूक्षाः सकषाया विदाहिनः । उदावर्ते प्रशस्यन्ते गुरवो वात पित्तलाः (सर्वाङ्ग सुन्दरी टीका) इस पाठ में बहुवचन का प्रयोग किया है ॥१९॥

माष का वर्णन—

माषः स्निग्धो बलश्लेष्म-मलपित्तकरः सरः ।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत् ॥२०॥

व्याख्या—माष (उरद—मांह)—स्निग्ध, बलवर्द्धक तथा कफ कारक है, उसका अधिक भाग पुरीष में परिणत हो जाता है अर्थात् पुरीष क्षय में लाभदायक है, पित्त कारक है, सर है, गुरु है, उष्ण है, वात नाशक है, मधुर है, शुक्र वर्द्धक है तथा विरेचन है ॥२०॥

काकाण्डोला तथा किवाँच का वर्णन—

फलानि माषवद्विद्यात् काकाण्डोलात्मगुप्तयोः ।

व्याख्या—काकाण्डोला (शूक रहित किवाँच का नाम है) तथा किवाँच के बीज भी उरद के समान गुण कर्म वाले होते हैं ।२१।

तिल का वर्णन—

उष्णस्त्वच्यो हिमः स्पर्शे केश्यो बल्यस्तिलो गुरुः॥२१॥
अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाऽग्निकफपित्तकृत् ।

व्याख्या—तिल—उष्ण, त्वचा के लिए हित, स्पर्श में शीत, केशों के लिए हित, बल कारक, गुरु, मूत्र की मात्रा को घटाने वाला तथा कटु है और मेधा, जठराग्नि, कफ तथा पित्त को बढ़ाता है ॥ २१ ॥

अतसी तथा कुसुम्भबीज का वर्णन—

स्निग्धोमा स्वादुतिक्तोष्णा कफपित्तकरी गुरुः ॥२२॥
दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके तद्वद्बीजं कुसुम्भजम् ।

व्याख्या—उमा (अतसी या अलसी)—स्निग्ध, स्वादु, तिक्त, उष्ण, कफ पित्त कारक, गुरु, दृष्टिनाशक, शुक्रनाशक तथा पाक में कटु है ।

कुसुंभ (कुसुम्भा—कर्ड—बरें) के बीज भी अतसी के समान गुण कर्म वाले होते हैं ।

वक्तव्य—उक्त तीनों द्रव्यों के प्रायः तैल निकाले जाते हैं तथापि शिम्बी धान्य होने के कारण इस वर्ग में लिखे गये हैं । तिल तीन प्रकार के होते हैं—१—काले, २—श्वेत तथा ३—काला पन लिये लाल ॥२२॥

विवेचन—

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु च ॥२३॥

व्याख्या—इन शिम्बी धान्यों में उरद अवर (निकृष्ट) होता है और शूक धान्यों में यवक (जई अवर होता है ।

वक्तव्य—यवका शूकधान्यानां अपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति, मांषा शमीधान्यानां (च सू. अ. २५) अर्थात् यवक नामक धान्य शूक धान्यों में और उरद शमी-धान्यों में अपथ्य होते हैं। यह स्मरणीय है कि—यहाँ तम प्रत्यय स्वार्थ में है अतिशयार्थ में नहीं है अर्थात् वे अत्यन्त अपथ्य नहीं होते (च. च: पा टीका) केवल मूँग आदि की अपेक्षा अपथ्य होते हैं क्योंकि सर्वथा अथच स्वस्थों के लिये अपथ्य नहीं होते ॥२३॥

अन्य विवेचन—

नवं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोषितम् ।
शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुषं युक्तिभर्जितम् ॥२४॥

व्याख्या—उक्त दोनों प्रकार के नूतन धान्य अभि-ष्यन्दी होते हैं और १ वर्ष पुराने लघु होते हैं ।

और जो धान्य शीघ्र पकते हैं जैसे साठी धान्य और सूपोपयोगी धान्य छिलका रहित (धुले मूँग आदि) तथा युक्तिपूर्वक भूने गये लघु होते हैं ।

वक्तव्य—महर्षि खरनाद के पुत्र खारनादि का वचन है—

वर्षे स्थितं सर्वधान्यं परित्यजति गौरवम् ।
न तु त्यजति तद् वीर्यं वीर्यं मुञ्चत्यतः परम् ।

अर्थात्—वर्ष भर का पुराना धान्य गुरुता को त्याग देता है—लघु हो जाता है किन्तु शक्तिहीन नहीं हो जाता परन्तु अत्यन्त पुराना शक्तिहीन हो जाता है ।

शीघ्र जन्म—जो धान्य जितना शीघ्र उग कर पक जाता है वह उतना ही लघु होता है और जो विलम्ब से पकता है वह गुरु होता है । मक्का दो मास में पकता है और गेहूं ६ मास में पकता है अतः मक्का लघु और गेहूँ गुरु होता है ।

सूप्य—सूप अर्थात् दाल एवं कढ़ी आदि व्यञ्जन के लिये हित यथा मूँग, उरद एवं चना आदि देखिये कृतान्न वर्ग ।

निष्तुष—धुले—छिलका रहित दालें ॥२४॥

कृतान्नों का वर्णन—

मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम् ।
यथापूर्वं शिवस्तत्र मण्डो वातानुलोमनः ॥२५॥
तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः पाचनो धातुसाम्यकृत् ।
स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी सन्धुक्षयति चानलम् ॥२६॥
क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्य-कुक्षिरोगज्वरापहा ।
मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी ॥२७॥
विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता ।
व्रणाक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम् ॥२८॥

व्याख्या—मण्ड, पेया, विलेपी तथा ओदन (भात) पूर्वपूर्व लघु होते हैं ।

इनमें मण्ड—शिव (कल्याणकारी—हानिरहित), वायु का अनुलोमन करने वाला, तृषा, ग्लानि तथा शोधन के पश्चात् बचे खुचे दोष का शामक, पाचन तथा धातु-साम्य (आरोग्य) कारक होता है और स्रोतों को मृदु करता है, स्वेद लाता है और जठराग्नि को समीचीन प्रकार से धुकाता है)

पेया—क्षुधा तथा तृषा को शान्त करती है, ग्लानि, दौर्बल्य, उदररोग तथा ज्वर में पथ्य है, पुरीष आदि को अनुलोमन (प्रवृत्त) करती है, स्वस्थ एवं रोगी के लिये पथ्य है और दीपन एवं पाचन है ।

विलेपी—अतिसार को नष्ट करती है, हृदय को शक्ति देती है, तृषा को शान्त करती है, अग्नि को प्रदीप्त करती है तथा सबके लिए हित (पथ्य) है और व्रण, नेत्ररोग विरेचनादि से शुद्ध दुर्बल, स्नेह पान करने वाले के लिये लाभदायक होती है ।

वक्तव्य—मण्ड—माण्ड या पिच्छ—शूक धान्यों का माण्ड । पेया—आहार का वह रूप जिस से वह पीने योग्य हो, पातुं योग्या पेया, जैसे पतली खीर वा बारली ।

विलेपी—आहार का वह रूप जो करछुल पर—लिप—सट—लग जाता है —विलिम्पति दर्वी इति विलेपी ।

ओदन—अर्थात् भात । कृतान्न—किये गये या बनाए-पकाये गये अन्न—खाने के पदार्थ ॥२५-२८॥

ओदन का वर्णन—

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नोऽत्यक्तोष्मा चौदनो लघुः ।
यश्चाग्नेयौषधक्वाथ-साधितो भृष्टतण्डुलः ॥२९॥
विपरीतो गुरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः ।
इति द्रव्यक्रियायोग-मानाद्यैः सर्वमादिशेत् ॥३०॥

व्याख्या—जो भात-चावलों को धोकर, पक जाने पर और मण्ड निकाल देने पर उष्ण २ एवं भाप युक्त रहता है वह लघु होता है और जो चित्रा एवं सोंठ आदि उष्ण वीर्य द्रव्यों के क्वाथ में बनाया जाता है अथवा चावलों को कुछ भून कर बनाया जाता है वह भी लघु होता है ।

और जो इसके विपरीत होता है अर्थात् जिसका मण्ड

नहीं निकाला जाता, केवल जल में पकाया जाता है तथा शीतल हो गया होता है अथवा जो दूध अथवा मांस आदि के साथ पकाकर बनाया जाता है वह भात गुरु होता है।

इस प्रकार द्रव्य, कर्म (संस्कार), संयोग (सहयोगी द्रव्य) तथा उनके मान (परिमाण) आदि का विचार करके सभी आहारों के लघुत्व एवं गुरुत्व आदि गुण दोषों को समझ लेना चाहिये ॥२९,३०॥

मांस रस आदि का निर्देश—

बृंहणः प्रीणनो वृष्यश्चक्षुष्यो व्रणहा रसः ।
मौद्गस्तु पथ्यः संशुद्धःव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम् ॥३१॥
वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित् ।

व्याख्या—मांस रस—धातु वर्द्धक (पुष्टिकारक), तृप्तिकारक, रति शक्ति वर्द्धक, नेत्रों के लिए हित तथा व्रण नाशक है।

मूंग का रस अर्थात् जूस—वमन आदि से शुद्ध (शोधित), व्रणरोगी, कण्ठ रोगी तथा नेत्ररोगी के लिये हित है।

कुलथी का रस (जूस)—वायु को अनुलोम करता है, गुल्म रोग, तूनी तथा प्रतूनी (वात व्याधि विशेष) को नष्ट करता है।

वक्तव्य—आयुर्वेदीय परिभाषानुसार शूक धान्य के द्रवका नाम "मण्ड" मांसों एवं शाकों के द्रवभाग का नाम "रस" और शिम्बी धान्यों के द्रवभाग का नाम "यूष" या जूस है। यद्यपि अनेक स्थलों पर मांस रस आदि को भी यूष कहा गया है ॥३१॥

तिल पिण्याक आदि का वर्णन—

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं निरूढकम् ॥३२॥
शाण्डाकीवटकं दृग्घ्नं दोषलं ग्लपनं गुरु ।

व्याख्या—तिल कुट, तिल एवं सरसों आदि के खल से बने पदार्थ चना सरसों आदि के सुखाये गये पत्तों एवं गन्दलों आदि के शाक, विरूढ़ (अकुरित धान्य) तथा काञ्जी के बड़े—दृष्टि नाशक, दोषकारक, ग्लानि कारक तथा गुरु होते हैं ॥ ३२ ॥

रसाला आदि का वर्णन—

रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा ॥३३॥
श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरं पानकं प्रीणनं गुरु ।
विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथाद्रव्यगुणं च तत् ॥३४॥

व्याख्या—रसाला (शिखरन)—रस-रक्तादि धातु वर्द्धक, वृष्य, स्निग्ध, बल कारक तथा रुचि कारक होती है।

पानक (पन्ना एवं ठंडाई आदि पेय)—थकावट, क्षुधा, तृषा तथा क्लम को नष्ट करता है, तृप्तिकारक तथा गुरु होता है, विष्टम्भकारक, मूत्र लाने वाला तथा हृद्य (हृदयको शक्ति देने वाला) होता है और वह जैसे द्रव्यों से बनाया जाता है वैसे गुणों वाला होता है।

वक्तव्य—मलाई युक्त उत्तम दही को कपडा में बान्धकर लटका दिया जाता है, पानी निचुड़ जाने पर, कपड़ा में से हाथ से मथ कर निकाल लिया जाता है और उसमें उचित मात्रा में मिर्च, इलायची, एवं केशर आदि सुगन्धित द्रव्य तथा खण्ड मिला दी जाती है यह एक लेह्य पदार्थ बन जाता है इस का नाम "रसाला" है।

पानक—इमली, फालसा अथवा आलू बुखारा आदि को शीतल जल में भिगोकर, मथकर और लवण, जीरा एवं मरिच आदि उचित मात्रा में मिलाकर जो पन्ना बनाया जाता है अथवा आम को उबाल कर या भून कर और शीतल जल में घोल कर भी पन्ना बनाया जाता है अथवा बादाम पोस्ता दाना तथा कद्दू, खरबूजा आदि के बीज आदि को शीतल जल में पीस एवं, घोल तथा छान कर ठंडाई बनाई जाती है यह सब पानक कहे जाते हैं ॥३३,३४॥

सूप, लाजा एवं पृथुक का वर्णन—

लाजास्तृट्छर्द्यतीसार-मेहमेदःकफच्छिदः ।
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिमाः ॥३५॥
पृथुका गुरवो बल्याः कफविष्टम्भकारिणः ।

व्याख्या—माष सूप (उरद की दाल)—अधिकांश पुरीष रूप में परिणत हो जाती है (पुरीष क्षय में लाभ दायक होती है)।

लाजा (लावा-खीले-फुल्लियाँ)—तृषा, छर्दि, अतिसार, प्रमेह, मेदस् तथा कफ को नष्ट करती हैं, कास एवं पित्त को शान्त करती हैं, अग्नि दीपक, लघु तथा शीत होती हैं।

पृथुक (चिउवा—चूड़ा)—गुरु, बलकारक, कफ कारक तथा विष्टम्भ कारक होते हैं।

वक्तव्य—गाढ़ी दाल का नाम "सूप" है, भुने—खिले धान्यों का नाम "लाजा" है और उबाल कर तथा कुछ सुखा कर चिपटे किये गये चावलों का नाम "पृथुक" है॥३५॥

धाना एवं सत्तू का वर्णन—

धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः ॥३६॥
सक्तवो लघवः क्षुत्तृट्-श्रमनेत्रामयव्रणान् ।
घ्नन्ति सन्तर्पणाः पानात्सद्य एव बलप्रदाः ॥३७॥
नोदकान्तरिताङ्क द्विर्न निशायां न केवलान् ।
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून् ॥३८॥

व्याख्या—धाना (भुने जौ)—विष्टम्भ कारक, रूक्ष, तृप्ति कारक, लेखन तथा गुरु होती हैं।

सत्तू—लघु होते हैं और क्षुधा, तृषा, थकावट, नेत्र रोग तथा व्रण को नष्ट करते हैं, जल में घोल कर पीने से तृप्ति कारक तथा तत्काल बल दायक होते हैं।

सत्तू खाते समय बीच २ में जल नहीं पीना चाहिये, दिन भर में दो बार सत्तू न खावे, रात्रि में भी न खावे, केवल अर्थात् लवण अथवा खण्ड आदि से रहित अकेले सत्तू न खावे, भोजन के अनन्तर सत्तू न खावे, दन्तों से काट काट कर या चबा २ कर भी न खावे और अधिक मात्रा में भी सत्तू न खावे।

वक्तव्य—जौ, चना आदि को भून कर और पीस कर सत्तू बनाए जाते हैं और जल में घोल कर, घृत खण्ड में मिलाकर अथवा लवणमिरच मिलाकर जल में सान कर खिलाए जाते हैं ॥३६-३८॥

पिण्याक एवं वेसवार का वर्णन—

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः।
वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः ॥३९॥
मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः।

व्याख्या—पिण्याक (खल तिल आदि की केवल खल या खली)—ग्लानिकारक, रूक्ष, विष्टम्भ कारक तथा दृष्टि विकार कारक होता है।

वेसवार—गुरु, स्निग्ध, बल कारक तथा पुष्टि कारक होता है।

और मूँग एवं उरद आदि के वेसवार—गुरु होते हैं और जिस आहार द्रव्य के बनाए जाते हैं उसी के समान गुण कर्म वाले होते हैं।

वक्तव्य—वेषवार—मांस को कूट-काट कर और उस में अदरक, धनियाँ, जीरा, हींग एवं लवण आदि मिलाकर घृत अथवा तैल में तल कर बनाया गया खाद्य, अथवा मांस के स्थान में मूँग, उरद अथवा चना आदि का आटा सान कर बनाए गये खाद्य अथवा आलू आदि को उबाल कर और अदरक आदि मिला कर बनाया गया चाप आदि। वेसवार का वर्णन सूद शास्त्र (पाक शास्त्र) में इस प्रकार है—च. सू. अ. २७ श्लोक २७१ की च. पा. टीका में—

मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनः दृषदि पेषितम्।
पिप्पली शुण्ठ मरिच गुडसर्पिः समन्वितम्।
ऐकध्यं विपचेत् सम्यक् वेसवार (वेशवार) इतिस्मृतः।

अर्थात्—अस्थिरहित मांस को उबाल कर, शिला पर पीस कर और उस में पीपल, सोंठ, मरिच, गुड़ एवं घृत मिला कर एक साथ सान कर भली भाँति पकावे—तले। इस का नाम वेसवार है और इस प्रकार मूँग आदि की पीठी के बने पदार्थ भी वेसवार कहे जाते हैं। जैसे चाप एवं पकौड़े या पतौड़े आदि ॥३९॥

अपूपों का वर्णन—

कुकूलकर्परभ्राष्ट्रकन्द्वङ्गारविपाचितान् ॥४०॥
एकयोनींल्लघूनिवद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्।

व्याख्या—कुकूल, कर्पर, भ्राष्ट्र, कन्दुक तथा अंगारों पर पकाए गये, गेहूँ आदि किसी एक ही धान्य के (आटा के) अपूप उत्तरोत्तर लघु होते हैं।

वक्तव्य—यह संस्कार का प्रभाव है जिस से गेहूँ की रोटी भी पाक विधि में थोड़ा भेद होने पर गुरु अथवा लघु होती है। कुकूल—तुषों भुस्सा की अग्नि या उपलों के चूर की अग्नि, कर्पर—मिट्टी का तवा (खपरा), भ्राष्ट्र—भट्ठी या तन्दूर, कन्दु कड़ाही—लोह का तवा; अंगार—मोटी लकड़ी के अंगारे—बिना तवा के केवल अंगारों पर रोटी सेकना तथा गोहरी आदि के अंगारों में बाटी बनाना। अपूप—रोटी, पूड़ी, फुलका, मण्डा, चिलड़ा, मोटी रोटी एवं मालपुआ आदि का नाम है ॥४०॥

इति कृतान्नवर्गः

इस प्रकार किये गये, पकाए गये या संस्कृत अन्नों—भक्ष्यों का वर्ग समाप्त हुआ।

मांस वर्ग का वर्णन—

हरिणैणकुरङ्गर्क्षगोकर्णमृगमातृकाः ॥४१॥
शशशम्बरचारुष्क शरभाद्या मृगाः स्मृताः।
लाववार्तिकवार्तीररक्तवर्त्मककुक्कुभाः ॥४२॥
कपिञ्जलोपचक्राख्य-चकोरकुरुवाहवः।
वर्तको वर्तिका चैव तित्तिरिः क्रकरः शिखी ॥४३॥
ताम्रचूडाख्यबकर-गोनर्दगिरिवर्तिकाः।
तथा शारपदेन्द्राभवरटाद्याश्च 'विष्किराः' ॥४४॥
जीवञ्जीवकदात्यूह-भृङ्गाह्वशुकसारिकाः।
लट्वा-कोकिल-हारीत-कपोतचटकादयः ॥४५॥
प्रतुदाः भेकगोधाहि-श्वाविदाऽऽद्या 'विलेशयाः'।
गोखराश्वतरोष्ट्राश्व-द्वीपिसिंहर्क्षवानराः ॥४६॥
मार्जारमूषकव्याघ्र-वृकबभ्रुतरक्षवः।
लोपाक-जम्बुक-श्येन-चाष-वान्ताद-वायसाः ॥४७॥
शशघ्नीभासकुरर-गृध्रोलूककुलिङ्गकाः।
धूमिका मधुहा चेति 'प्रसहा' मृगपक्षिणः ॥४८॥
वराहमहिषन्यङ्क-रुरुरोहितवारणाः।
सृमरश्चमरः खड्गो गवयश्च 'महामृगाः' ॥४९॥
हंससारसकादम्बबककारण्डवप्लवाः।

बलाकोत्क्रोशचक्राह्व-मद्गुक्रौञ्चादयोऽप्चराः ॥५०॥
मत्स्या रोहितपाठीन-कूर्मकुम्भीरकर्कटाः ।
शुक्तिशङ्खोद्रशम्बूक-शफरीवर्मिचन्द्रिकाः ॥५१॥
चुलूकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिलाः ।
राजीचिलिचिमाद्याश्च मांसमित्याहुरष्टधा ॥ ५२ ॥

व्याख्या—१—हरिण, एण, कुरङ्ग, गोकर्ण, मृगमातृका, शशक (खरगोश), शम्बर, चारुष्क तथा शरभ आदि प्राणी "मृग" कहे जाते हैं।

२-लाल (लवा), वर्तीक, रक्त वर्त्मक, कुक्कुभ, कपिञ्जल, उपचक्र (चकवा), चकोर, कुरुवाहु, वर्त्तक, वर्त्तिका, तीतर, क्रकर, मयूर (मोर), मुरगा, वकर, गोनर्द गिरिवर्त्तिका, शारपद, इंद्राभ, तथा वारट नामके पक्षी "विष्किर" कहे जाते हैं।

३—जीवं जीवक, दात्यूह, भृंग, शुक (सुग्गा-तोता) सारिका (मैना), लट्वाक, कोयल, हरियल, कबूतर तथा चटक (चिड़िया चिड़ी-गौरैया) आदि पक्षी "प्रतुद" कहे जाते हैं।

४—भेक (मेण्ढक), गोह, सर्प तथा सेह (साही—झाहा) आदि प्राणि "विलेशय" कहे जाते हैं।

५—गौ, गधा, खच्चर, ऊँट, घोड़ा, द्वीपि, सिंह, रीछ (भालू), वानर (बन्दर), बिल्ला (बिलाव-बिल्ली), चूहा, वाघ, वृक (हुण्डार-बघियाड़), नेवला, तरक्षु, (लकड़ बग्घा), लोमड़ी, सियार, (गीदड़), सिगरा(बाज), चाष, कुत्ता, कौवा, चील, भास कुरर, गिद्ध, उल्लू कुलिंगक, धूमिक, तथा मधुहा नामक मृग एवं पक्षी "प्रसह" कहे जाते हैं।

६—सूअर, भैंसा (भैंस-झोटा), न्यङ्कु, रुरु, रोहित, हाथी, सृमर, चमर, गैंडा तथा गवय नामक प्राणी "महामृग" कहे जाते हैं।

७—हंस, सारस, कादम्ब, वगुला, कारण्डव, प्लव, बलाका, उत्क्रोश, चकवा, मद्गु एवं कुञ्ज आदि पक्षी "जल चर" कहे जाते हैं।

८—रोहू, पाठीन, कछुवा, कुम्भीर, कैंकड़ा, सीपी (सीपी का क्रिमि), शंख (शंख का क्रिमि), उद्र (जल बिलाव), शम्बूक (घोंगा का क्रिमि), शफरी (छोटी जाति की मछली), वर्मी नामक मछली, चंद्रिका, चुलुकी, नक्र (नाका), मगर, शिशुमार (सेहूंस), तिमिङ्गल (ह्वेल मछली), राजिमान् तथा चिलिचिम आदि "मत्स्य" कहे जाते हैं।

इस प्रकार मांस आठ प्रकार का माना जाता है।

वक्तव्य—मृग—जो व्याधों द्वारा-ढूंढे जाते हैं। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में ये सब सूखी धरती पर रहते हैं- जंगल देश में उत्पन्न होते हैं और वहीं प्रायः चलते हैं-घूमते और खाते हैं। विष्किर—बिखेर कर खाने-चुगने वाले-इनके सामने दानों की ढेरी लगादी जाय तो भी उनको बिखेर देते हैं फिर १-१ दाना चुंगकर खाते हैं। प्रतुद—चोंच मार कर खाने वाले। बिलेशय— विल में रहने वाले। प्रसह—छीन कर-झपट कर खाने वाले। महामृग—बड़े २ मृग। जल चर—जल में चरने वाले—तैरने वाले परन्तु जल के बाहर रहने वाले। मत्स्य—जलज—जलेशय—जल में ही शयन करने वाले-निवास करने वाले। चिलिचिम नामक मत्स्य—स पुनः शकली लोहितनयनः सर्वतो लोहितराजी रोहिताकारः—प्रायो भूमौ चरति (च. सू. अ. २६) ॥४१-५२॥

बकरी एवं भेड़ का वर्णन—

योनिरजावी व्यामिश्र-गोचरत्वादनिश्चिते ।
आद्यान्त्या जाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ ॥५३॥

व्याख्या—बकरी एवं भेड़ की योनि—(उत्पत्तिस्थान) के सम्बन्ध में निश्चय नहीं किया जा सकता क्यों कि वे दोनों—जङ्गल देश तथा आनूप देश में चलने वाली हैं अतः उक्त आठ प्रकार की मांस योनियों में वे किस योनि की हैं नहीं कहा जा सकता।

आदिम तीन वर्ग (मृग, विष्किर तथा प्रतुद)जाङ्गल और अन्तिम तीन वर्ग (महामृग, जलचर तथा मत्स्य) आनूप कहे जाते हैं और मध्यम दो वर्ग (बिलेशय एवं प्रसह) साधारण (उभय लक्षण युक्त)माने जाते हैं। ५३।

भिन्न २ मांसों का वर्णन—

तत्र बद्धमलाः शीता लघवो जाङ्गला हिताः ।
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥ ५४ ॥
दीपनः कटुकः पाके ग्राही रूक्षो हिमः शशः ।
ईषदुष्णगुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः ॥५५॥
तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत् ।
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम् ॥५६॥
नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ।
तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यः ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः ॥५७॥
मेधाऽनलकरा हृद्याः क्रकराः सोपचक्रकाः ।
गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत् ॥ ५८ ॥
चटकाःश्लेष्मलाःस्निग्धा वातघ्नाः शुक्रलाः परम् ।
गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम् ॥ ५९ ॥
मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः ।
शीता महामृगास्तेषु क्रव्यादप्रसहाः पुनः ॥ ६० ॥
लवणानुरसाः पाके कटुका मांसवर्धनाः ।
जीर्णार्शोग्रहणीदोष-शोषार्तानां परं हिताः ॥ ६१ ॥

व्याख्या—इनमें जाङ्गल प्राणियों के मांस—पुरीष को बाँधते हैं, शीत, लघु तथा हित होते हैं तथा पित्त-प्रधान, मध्यवात एवं हीन कफ वाले सन्निपात में लाभ करते हैं।

शशक का मांस—अग्निदीपक, पाक में कटु, ग्राही, रूक्ष तथा शीत होता है।

वर्त्तक आदि के मांस—कुछ उष्ण, गुरु, स्निग्ध एवं पुष्टिकारक होते हैं। इनमें भी तीतर का मांस श्रेष्ठ है क्यों कि वह मेधा, अग्नि, बल तथा शुक्र को बढ़ाता है तथा ग्राही है, कान्तिकारक है और वात प्रधान सन्निपात का नाशक है।

मोर का मांस—अत्यन्त पथ्य नहीं है तथापि कर्णेन्द्रिय, स्वरवाही स्रोतस्, वयस् तथा दृष्टिके लिए पथ्य है।

बनमुरगी का मांस—मोर के मांस के समान होता है और वृष्य है।

ग्राम के मुरगा का मांस—कफ कारक एवं गुरु होताहै।

क्रकर एवं उपचक्रक के मांस—मेधावर्द्धक, अग्नि-दीपक एवं हृदय के लिए हित हैं।

काण कपोत (जंगली कबूतर) का मांस—गुरु, कुछ लवण रसयुक्त तथा वातादि दोषकारक होता है।

चटकों का मांस- कफ कारक, स्निग्ध, वातनाशक तथा अत्यन्त शुक्रवर्द्धक होता है।

और उक्त आठों मांस वर्ग—उत्तरोत्तर गुरु, उष्ण, स्निग्ध तथा मधुर हैं, मूत्र एवं शुक्र को बढ़ाते हैं, बल-कारक हैं, वात नाशक तथा कफ पित्तकारक होते हैं।

इन में भी—महामृगों के मांस—शीत होते हैं और क्रव्यादों (कच्चा मांस खाने वालों) के तथा प्रसहों के मांस—कुछ २ लवण रस वाले, पाक में कटु एवं मांस वर्द्धक हैं तथा पुराने अर्श रोग ग्रहणी रोग तथा शोष से पीड़ितों के लिए अत्यन्त हित होते हैं ॥ ५४-६१ ॥

बकरा एवं भेड़ के मांस का वर्णन—

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ।
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ॥ ६२ ॥
विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत् ।

व्याख्या—बकरा का मांस—अति शीत नहीं है। (सम शीतोष्ण है) अति गुरु एवं अति स्निग्ध भी नहीं है अतः किसी दोष का बर्द्धक भी नहीं है और मानव शरीर की धातुओं के समान होने से अभिष्यन्दी भी नहीं है अपितु पुष्टिकारक है। भेड़ का मांस इसके विपरीत गुण वाला है परन्तु पुष्टिकारक अवश्य है ॥ ६२ ॥

गौ आदि के माँस का वर्णन—

शुष्ककासश्रमात्यग्निविषमज्वरपीनसान् । ॥ ६३ ॥
कार्श्यं केवलवातांश्च गोमांसं सन्नियच्छति ।
उष्णो गरीयान्महिषः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत् ॥ ६४ ॥
तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ।

व्याख्या—गो मांस—सूखी खाँसी (वात कास), थकान, तीक्ष्णाग्नि (भस्मक रोग), विषम ज्वर, पीनस, कृशता तथा केवल वात जनित रोगों को नष्ट करता है।

भैंस का मांस—उष्ण, अत्यन्त गुरु, निद्राजनक एवं दृढ़ता कारक है तथा शरीर को बड़ा-पुष्ट करता है।

सूअर का मांस भी भैंस के मांस के समान होता है और थकान को नष्ट करता है, रुचि, शुक्र तथा बल को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—गोमांसं मृगमांसानाम् (च. सू अ. २५) अर्थात् गोमाँस मृग संज्ञक प्राणियों के मांसों में सबसे अधिक अपथ्य—अहित होता है। निन्दितो गौ. सदर्दुरः (अ. से. सु. अ. ७) ॥ ६३,६४ ॥

मत्स्य मांस का वर्णन—

मत्स्याः परं कफकराः चिलिचीमस्त्रिदोषकृत् ॥ ६५ ॥
लावरोहितगोधैणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम् ।

व्याख्या—सब प्रकार के मत्स्यों के मांस-अत्यन्त कफ कारक होते हैं और चिलिचिम का मांस त्रिदोष कारक होता है।

अपने २ वर्ग में लाव पक्षी (विष्किर वर्ग में) रोहू मछली (मत्स्य वर्ग में), गोह (विलेशय वर्ग में) तथा एण नामक हरिण (मृग वर्ग में) अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं।६५।

भक्ष्य एवं अभक्ष्य मांस का वर्णन—

मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत् त्यजेत् ॥६६॥
मृतं कृशं भृशं मेद्यं व्याधिवारिविषैर्हतम् ।

व्याख्या—तत्काल मारे गये, युवक प्राणी का शुद्ध-स्वच्छ या निर्दोष मांस खावे और स्वतः मृत का, अत्यन्त कृश का, अत्यन्त स्थूल मेदस्वी का, रोग से, जल में डूबने से तथा विष से मरे प्राणी का मांस न खावे ॥ ६६ ॥

अवयव विशेष के मांस का वर्णन—

पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे गुरुणी, गर्भिणी गुरुः ॥६७॥
लघुर्योषिच्चतुष्पात्सु, विहङ्गेषु पुनः पुमान् ।
शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्याः सक्थ्नोश्च गौरवम् ॥६८॥
तथाऽऽमपक्वाशययोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत् ।

शोणितप्रभृतीनां च धातूनामुत्तरोत्तरम् ॥६९॥
मांसाद्गरीयो वृषण-मेढ्र-वृक्क-यकृद्गुदम् ।

व्याख्या—पुमान् प्राणी के शरीर के पूर्वार्द्ध भाग का मांस गुरु होता है एवं गर्भवती का मांस भी गुरु होता है।

चौपायों में पुमान् की अपेक्षा स्त्री का मांस और पक्षियों में स्त्री की अपेक्षा पुमान् पक्षी का मांस लघु होता है।

शिर, कन्धे, ऊरु, पीठ, कटि, टांग, आमाशय एवं पक्वाशय का मांस पूर्वपूर्व गुरु होता है और रक्त आदि धातु उत्तरोत्तर गुरु होते हैं।

और मांस की अपेक्षा—वृषण (अण्ड), शिश्न, वृक्क (गुरदे), यकृत् तथा गुद भाग का मांस उत्तरोत्तर गुरु होता है।

वक्तव्य—मांस प्राणियों के शरीर से उपलब्ध होता है और मांस के गुरु एवं लघु गुण जानने के लिये उस २ प्राणी के—१—चर, २—शरीर के अवयव, ३—स्वभाव, रक्त आदि धातु, ५—क्रिया, ६—लिंग, ७—प्रमाण, ८—संस्कार तथा ९—मात्रा का परीक्षण किया जाता है।

१—चर—प्राणी के उत्पन्न होने, घूमने, तथा खान पान का विचार यथा-जंगल देश में रहने चरने, शीघ्र चलने एवं लघु आहार करने वालों का मांस लघु होता है और अनूपदेश में रहने वालों तथा गुरु आहार करने वालों का मांस गुरु होता है।

२—शरीर के अवयव जैसा श्लोक ६८ में कहा गया है। यथा शिर एवं कन्धे आदि का मांस पूर्वपूर्व गुरु होता है।

३—स्वभाव—अर्थात् प्रकृति से कुछ प्राणी गुरु होते हैं और कुछ प्राणी लघु होते हैं जैसे—सूअर एवं भैंस आदि का मांस गुरु होता है और हरिण आदि का मांस स्वभावतः लघु होता है।

४—रक्त आदि धातु—रक्त, मांस एवं मेदस् आदि धातु उत्तरोत्तर गुरु होते हैं देखिये श्लोक ६९।

५—क्रिया-कर्म अधिक दौड़ने-घूमने वालों की अपेक्षा थोड़ा चलने-फिरने वालों का मांस गुरु होता है।

६—लिङ्ग—पुलिंग प्राणी की अपेक्षा स्त्रीलिङ्ग प्राणी का मांस लघु होता है। देखिये श्लो० ६७।

७—प्रमाण—शरीर का परिमाण एक ही जाति के बड़े शरीर वाले की अपेक्षा छोटे शरीर वाले का मांस लघु होता है।

८—संस्कार—संस्कारो हि गुणान्तराधानं उच्यते (च. वि. अ. १) इसी का नाम "करण" है अर्थात् स्वाभाविक द्रव्यों का अभिसंस्कार-जैसे जल एवं अग्नि का संयोग करना, कुछ काल पर्यन्त रखना आदि २। संस्कार द्वारा गुरु द्रव्य लघु और लघु द्रव्य गुरु बना दिये जाते हैं।

९—मात्रा—अल्प मात्रा में गुरु द्रव्य भी लघु और अधिक मात्रा में लघु भी गुरु होते हैं।

इस प्रकार गुरुता एवं लघुता का विचार केवल दुर्बलों, थोड़ा काम करने वालों, रोगियों, सुकुमारों एवं सुखियों के लिये किया जाता है सब के लिये नहीं। दे. च. सू. अ. २७। कुछ जातियों एवं सम्प्रदायों में मांस खाने का निषेध है तथापि मानव मांस भक्षण करते ही हैं। आयुर्वेद किसी जाति विशेष या सम्प्रदायविशेष का नहीं अपितु मानव मात्र का है।६७-६९।

अथ शाकवर्गः ।

शाकों का वर्णन—

शाकं पाठाशठीसूषा-सुनिषण्णसतीनजम् ॥७०॥
त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षव-वास्तुकम् ।
सुनिषण्णोऽग्निकृद्वृष्यस्तेषु राजक्षवः परम् ॥७१॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नः वर्चोभेदि तु वास्तुकम् ।

व्याख्या—अब शाकों का वर्णन किया जाता है—पाठा, शटी (कचूर), सूषा (सुषा—कासमर्द) सुनिषण्णक (चौपतिया), तीनी, नक छिकनी तथा बथुवा का शाक त्रिदोषशामक लघु तथा ग्राही होता है।

इन में सुनिषण्णक—अग्नि दीपक एवं वृष्य होता है और नक छिकनी का शाक—उत्तम कोटि का ग्रहणी रोग तथा अर्श का नाशक होता है और बथुवा का शाक पुरीष भेदक होता है ॥७०-७१॥

मकोय आदि के शाक का वर्णन—

हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी ॥७२॥
काकमाची सरा स्वर्या चाङ्गेर्यम्लाऽग्निदीपनी ।
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्म-हितोष्णा ग्राहिणी लघुः ॥७३॥

व्याख्या—काकमाची (मकोय) का शाक—त्रिदोष शामक, कुष्ठ नाशक, वृष्य, कुछ उष्ण, रसायन, सर तथा स्वर वर्द्धक या स्वरभेद नाशक होता है।

चांगेरी (खटकल—तिपतिया) का शाक—अम्ल होता है, अग्नि दीपक होता है, ग्रहणी रोग, अर्श, वात-विकार तथा कफ विकार के लिये हित होता है और उष्ण, ग्राही तथा लघु होता है।

वक्तव्य—चांगेरी सदृशैः पत्रैः सुनिषण्णः चतुर्दलः ।
शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्री इति कथ्यते ।

अर्थात् चांगेरी में तीन और सुनिषण्णक में चार पत्र होते

हैं चांगेरी को तिपतिया और सुनिषण्णक को चौपतिया कहते हैं ॥७२-७३॥

पटोल आदि के शाक का वर्णन—

पटोलसप्तलारिष्ट-शार्ङ्गेष्टावल्गुजाऽमृताः ।
वेत्राग्रबृहती वासा कुन्तलीतिलपर्णिकाः ॥ ७४ ॥
मण्डूकपर्णीकर्कोट-कारवेल्लक-पर्पटाः ।
नाडीकलायं गोजिह्वा वार्ताकं वनतिक्तकम् ॥७५॥
करीरं कुलकं नन्दी कुचैला शकुलादनी ।
कठिल्लं केम्बुकं शीतं सकोशातक-कर्कशम् ॥ ७६ ॥
तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित् ।

व्याख्या—परवल, सातला, निम्ब, शार्ङ्गेष्टा (काक तिक्ता च० पा० अङ्गार वल्लिका स० सु०), वाकुची, गिलोय, बेत के कोमल अग्रभाग, बनभण्टा, अडूसा, कुन्तली (सूक्ष्म तिल जाति स० सु०), तिलपर्णी, मण्डूक पर्णी, ककोड़ा, करेला, पापड़ा, नाडीशाक, गाजवान्, भण्टा (बैंगन) वनतिक्तक (कुरैया), करीर (कैर-डेले), कुलक (छोटा करेला—करेली—बार करेला), नन्दी (पारस पीपल), कुचेला (कृष्णपाठा), कुटकी, कठिल्ल (लम्बे पत्र वाली पुनर्नवा), करेमू, तरोई तथा कर्कश (कवीला के कोमल पत्र) ये २८ द्रव्य—शीत हैं, तिक्त हैं, पाक में कटु हैं, ग्राही हैं, वात कारक हैं तथा कफ पित्त नाशक हैं ।

वक्तव्य—रुचिभेद एवं प्रचार भेद से उक्त द्रव्यों के पत्तों एवं फलों आदि के शाक बनाए जाते हैं । ७४-७६ ॥

परवल आदि शाकों का विशिष्ट वर्णन—

हृद्यं 'पटोलं' कृमिनुत्स्वादुपाकं रुचिप्रदम्, ॥७७॥
पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं 'बृहतीद्वयम्', ।
'वृषं' तु वमि-कासघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ॥७८॥
'कारवेल्लं' सकटुकं दीपनं कफजित्परम्, ।
'वार्ताकं' कटु तिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित् ॥७९॥
सक्षारमग्निजननं हृद्यं रुच्यमपित्तलम् ।

व्याख्या—विशेषतः इन शाकों में परवल का शाक—हृदय को शक्ति देता है, क्रिमि नाशक है, पाक में मधुर है और रुचिकारक है ।

वनभण्टा एवं कण्टकारी के फलों का शाक—पित्त-कारक, अग्नि दीपक, पुरीष भेदक तथा वात नाशक होता है ।

अडूसा के पत्ता का शाक—छर्दि, कास एवं रक्त पित्त में अत्यन्त लाभ करता है ।

करेला का शाक—कुछ कटु (तिक्त), अग्नि दीपक तथा उच्च कोटि का कफ नाशक है ।

बैंगन (भण्टा)—दो प्रकार का होता है १—कटु एवं तिक्त, २—मधुर । यह दोनों उष्ण, कफ वात नाशक, कुछ खारे, अग्निवर्द्धक, हृदय को शक्ति देने वाले, रुचिकारक तथा कुछ पित्त कारक होते हैं ।

वक्तव्य—बैंगन के विषय में एक स्मरणीय सुभाषित—

भोजनं धिक् अवृन्ताकं वृन्ताकं धिक् अवृन्तकम् ।
सवृन्तं धिक् अतैलाढ्यं तैलाढ्यं धिक् अहिंगुकम् ।

अर्थात्—भोजन को धिक्कार है जिसमें बैंगन नहीं, बैगन को धिक्कार है जिसके साथ वृन्त-बूण्डा नहीं पकाया गया, वृन्त सहित को धिक्कार है जो पर्याप्त तैल में तला नहीं गया और उसको भी धिक्कार है यदि उसमें हींग नहीं डाली गई ॥ ७७-७९ ॥

करीर आदि के शाकों का वर्णन—

'करीर'माध्मानकरं कषायं स्वादु तिक्तकम् ॥ ८० ॥
'कोशातकावल्गुजकौ' भेदिनावग्निदीपनौ ।
'तण्डुलीयो' हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः ॥ ८१ ॥
मदपित्तविषास्रघ्नः मुञ्जातं वातपित्तजित् ।
स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत्परम् ॥ ८२ ॥
गुर्वी सरा तु 'पालङ्क्या' मदघ्नी चाप्युपोदका ।
पालङ्क्यावत्स्मृतश्चञ्चुः स तु सङ्ग्रहणात्मकः ॥ ८३ ॥

व्याख्या—करीर—आध्मान कारक होता है और रस में कषाय, मधुर एवं तिक्त होता है ।

तरोई एवं वाकुची—पुरीष भेदक एवं अग्नि दीपक होती हैं ।

चौलाई (तान्दला)—शीत, रूक्ष, रस एवं पाक में मधुर तथा लघु होती है और मदात्यय, पित्त विकार, विष विकार तथा रक्त विकार (विशेषतः रक्त प्रदर) को नष्ट करती है ।

मुञ्जात—वात पित्त नाशक, स्निग्ध, शीत, गुरु, मधुर, पुष्टिकारक तथा उच्चकोटि का शुक्रवर्द्धक होता है।

पालक—गुरु एवं सर होता है और पोई—गुरु एवं सर तो है ही मद नाशक भी है ।

चञ्चु नामक शाक—पालक के समान है परन्तु ग्राही होता है ।

वक्तव्य—करीर में पत्र तो होते नहीं उसके फलों का शाक भी बनाया जाता है और अचार भी डाला जाता है । मुञ्जात एक प्रकार का कन्द है जो कश्मीर में होता है ॥८०-८३॥

विदारी कन्द एवं जीवन्ती—

'विदारी' वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादुशीतला ।
जीवनी बृंहणी कण्ठ्या गुर्वी वृष्या रसायनम् ॥८४ ॥
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी 'जीवन्ती' मधुरा हिमा ।

व्याख्या—विदारी कन्द—वात पित्तनाशक, मूत्र-प्रवर्तक, मधुर, शीतल, जीवन, बृंहण, कण्ठ के लिए हित गुरु, वृष्य तथा रसायन है।

जीवन्ती—दृष्टि के लिए हित, त्रिदोष शामक, मधुर तथा शीतवीर्य है।

वक्तव्य—हिमालय के निवासी—आलू के समान विदारी कन्द का शाक प्रतिदिन खाते हैं ॥८४॥

कूष्माण्ड आदि का वर्णन—

कूष्माण्डतुम्बकालिङ्ग-कर्कार्वेर्वारुतिण्डिशम् ॥८५॥
तथा त्रपुसचीनाक-चिर्भटं कफवातकृत्।
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु ॥ ८६ ॥
वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित्।
वस्तिशुद्धिकरं वृष्यम् 'त्रपुसं' त्वतिमूत्रलम् ॥ ८७ ॥
'तुम्बं' रूक्षतरं ग्राहि कालिङ्गैर्वारुचिर्भटम्।
बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्वमतोऽन्यथा ॥ ८८ ॥

व्याख्या—कूष्माण्ड (कोंहणा पेठा-कद्दू), तुम्ब (तूम्बा-मोटे छिलका वाला जिसके जल पात्र एवं सितार, वीणा आदि बनाए जाते हैं), कालिङ्ग (तरबूज-मतीरा), कर्कारु (ककड़ी), एर्वारू (राजकर्कटी-बड़ी ककड़ी), तिण्डिश (टिण्डों-टिण्डें , त्रपुस (खीरा); चीनाक तथा चिर्भट (चिम्भड़-कचरी), सब वातपित्त कारक हैं, मलभेदक हैं, विष्टम्भकारक है, अभिष्यंदी हैं, पाक एवं रस में मधुर हैं, तथा गुरु हैं।

वेलों (लताओं) में लगने वाले इन सब फलों में कोंहड़ा सर्वश्रेष्ठ है एवं वातपित्त नाशक है, वस्ति को शुद्ध करता है तथा वृष्य है। खीरा—मूत्र प्रवर्तक है। तुम्बा, तरबूज, ककड़ी एवं चिम्भड़ अत्यन्त रूक्षतथा ग्राही हैं। उक्त सब फल जब तक कच्चे रहते हैं तब तक पित्तनाशक एवं शीतवीर्य होते हैं और जब पक जाते हैं तब पित्तकारक एवं उष्णवीर्य हो जाते हैं ॥८५–८८॥

शीर्णवृन्त का वर्णन—

शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित्।
रोचनं दीपनं हृद्यमष्ठीलाऽऽनाहनुल्लघु ॥८९॥

व्याख्या—शीर्णवृन्त—कुछ खारा, पित्तकारक, कफ वातनाशक, रुचिकारक, अग्निदीपक, हृदय के लिये हित, अष्ठीला एवं आनाह का नाशक तथा लघु है।

वक्तव्य—शीर्णवृन्त कचरी का नाम है जिसे श्लोक ८६ में चिर्भट कहा गया है परन्तु यहाँ उस कूष्माण्ड (कोंहडा) आदि का नाम है जो भली भांति पक जाने पर स्वतः लता-वृन्त से अलग हो जाता है ॥८९॥

मृणाल आदि का वर्णन—

मृणाल-बिस-शालूक-कुमुदोत्पलकन्दकम्।
नन्दीमाषककेलूट-शृङ्गाटक-कशेरुकम् ॥ ९० ॥
क्रौञ्चादनं कलोड्यं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु।

व्याख्या—मृणाल (कमल नाल) बिस (भिस, भें, भसीडां), शालूक (पद्ममूल), कुमुद एवं उत्पल (लाल कमल) के कन्द, नन्दी (तुण्डी केरिका)माषक(वास्तुल), केलूट (हिस्मक संज्ञक उदुम्बर भेद), शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), कसेरु, क्रौञ्चादन (जल में होने वाला एक प्रकार का कन्द) तथा गालोड्य (कमल बीज-कमलगट्टा) ये सब रूक्ष, ग्राही, शीतवीर्य तथा गुरु होते हैं।

वक्तव्य—मृणाल एवं बिस आदि शाक आदि के रूप में खाए जाते हैं और सब जल पंक में झील आदि के उथले जल में पाए जाते हैं ॥९०॥

कलम्ब आदि का वर्णन—

कलम्बनालिकामार्ष-कुटिंजरकुतुंबकम् ॥९१॥
चिल्ली लट्वाक लोणिका कुरुटक गवेधुकम्।
जीवन्तझुञ्झ्वेडगजयवशाकसुवर्चलाः ॥९२॥
आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि लक्ष्मणम्।
स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु ॥९३॥
शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति।
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं नातिदोषलम् ॥९४॥

व्याख्या—करेमू, नालीशाक, मरसा, कुटिञ्जर,तूमा, चिल्ली (लाल बाथू), लट्वाक, लोणिका शाक (सलूनक या खटुवा-कुलफा), शितिवारी (सिलारा), गवेधुक (इस नाम के तृण धान्य के पत्र), जीवन्ती, चुच्चू, पनवाड (चक्रमर्द), जौ के कोमल पत्र, हुल हुल, सब प्रकार के आलू,सब प्रकार के चना उरद आदि सूप्य धान्यों के पत्र तथा लक्ष्मण (मुलेठी के पत्र)—यह सब शाक—स्वादिष्ट, रूक्ष, कुछ लवण रस युक्त (पत्तों में कुछ लवण रस होता है) , वात कफ कारक, गुरु, शीतवीर्य, पुरीष प्रवर्त्तक, मूत्र प्रवर्त्तक, प्रायः विष्टम्भ पूर्वक पचने वाले होते हैं।

परन्तु यदि इनको उबाल–सिजाकर और निचोडकर तथा पर्याप्त घृत तैल आदि स्नेह में सिद्ध किया जाय तो अधिक हानिकारक नहीं होते ॥९१-९४॥

अन्यान्य शाक—

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तूकसमा मता।
तर्कारीवरणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित् ॥९५॥

वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम्
दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान् ॥९६॥

व्याख्या — छोटे पत्तों वाला चिल्ली नामक शाक-गुणों में वाथू के समान होता है।

अरणी एवं वरणा के कोमल पत्तों एवं फलों का शाक स्वादिष्ट, कुछ तिक्त तथा कफ वात नाशक होता है।

दोनों प्रकार की पुनर्नवाओं का तथा काला मरसा का शाक-कुछ खारा, कटु एवं तिक्त होता है, अग्निदीपक तथा मलभेदक होता है और गरविष विकार, शोथ, कफ विकार एवं वात विकार को नष्ट करता है ॥९५,९६॥

करञ्ज आदि का शाक—

दीपनाः कफवातघ्ना 'चिरबिल्वाङ्कुराः' सराः।
'शतावर्यङ्कुरा' स्तिक्ता वृष्या दोषत्रयापहाः ॥९७॥
रूक्षो 'वंशकरीर'स्तु विदाही वातपित्तलः।
'पत्तूरो' दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शःकफवातजित् ॥९८॥
कृमिकासकफोत्क्लेदान् 'कासमर्दो' जयेत्सरः।
रूक्षोष्णमम्लं 'कौसुम्भं' गुरु पित्तकरं सरम् ।॥ ९९ ॥
गुरूष्णं 'सार्षपं' बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत् ।

व्याख्या — करञ्ज के कोमल पत्तों का शाक-अग्निदीपक कफ वात नाशक तथा सर होता है।

शतावर के कोमल पत्तों का शाक तिक्त, वृष्य तथा त्रिदोष नाशक होता है।

बाँस के कोमल अग्रभाग का शाक-रूक्ष, विदाह कारक तथा वात पित्त कारक होता है।

पत्तूर (मछेछी) का शाक—अग्निदीपक तथा तिक्त होता है और प्लीहविकार, अर्श, कफविकार तथा वातविकार का नाशक होता है।

कसौन्दी का शाक - क्रिमि रोग, कास, कफविकार तथा मिचली को नष्ट करता है और रेचक होता है।

कुसुम्भा के पत्तों का शाक—रूक्ष, उष्ण, अम्ल, गुरु, पित्तकारक तथा रेचक होता है।

सरसों के पत्तों का शाक—गुरु एवं उष्ण, होता है, पुरीष एवं मूत्र को बाँधने वाला और त्रिदोष कारक होता है।

वक्तव्य — मक्का की रोटी के साथ सरसों का शाक त्रिदोष कारक नहीं होता परन्तु गेहूं की रोटी के साथ होता है ॥९७-९९॥

मूली का शाक—

यद्बालमव्यक्तरसं किंचित्क्षारं सतिक्तकम् ॥१००॥
'तन्मूलकं' दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति।
गुल्मकासक्षयश्वास-व्रणनेत्रगलामयान् ॥१०१॥
ज्वराग्निसादोदावर्त-पीनसांश्च महत्पुनः।
रसे पाके च कटुकमुष्णवीर्यं त्रिदोषकृत् ॥ १०२ ॥
गुर्वभिष्यन्दि च स्निग्धसिद्धं तदपि वातजित्।
वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वम् आमं तु दोषलम् ॥ १०३ ॥

व्याख्या—जो मूलक (मूली) कच्चा, अव्यक्त रस वाला अथवा कुछ खारा एवं कुछ तिक्त रस वाला रहता है वह त्रिदोष नाशक, लघु एवं कुछ उष्ण होता है और गुल्म रोग, कास, क्षय, श्वास, व्रण, नेत्र रोग, कण्ठ रोग, स्वरभेद, मन्दाग्नि, उदावर्त्त तथा पीनस को नष्ट करता है और बड़ा मूलक—रस एवं विपाक में कटु, उष्णवीर्य तथा त्रिदोष कारक होता है, गुरु एवं अभिष्यन्दी भी होता है परन्तु वह भी यदि स्नेह में स्विन्न (पक्व) कर लिया जाता है तो वातनाशक होता है।

सभी सूखे—वासी मूलक—वातकफ नाशक होते हैं और आम कच्चे मूलक प्रायः दोष कारक होते हैं।

वक्तव्य—यह वर्णन मूली के शाक का है, कच्ची मूली नहीं खाई जाती यदि खाना ही हो तो लवण मरिच आदि लगा कर खाना चाहिये जिससे वह दोष कारक न हो ॥१०३॥

पिण्डालू आदि के शाक—

कटूष्णो वातकफहा 'पिण्डालुः' पित्तवर्धनः।
कुठेरशिग्रुसुरस-सुमुखासुरिभूस्तृणम् ॥१०४॥
फणिज्जार्जकजम्बीर-प्रभृति ग्राहि शालनम्
विदाहि कटु रूक्षोष्णं हृद्यं दीपनरोचनम् ॥१०५॥
दृक्शुक्रक्रिमिहृत्तीक्ष्णं दोषोत्क्लेशकरं लघु।

व्याख्या—पिण्डालु (गोल आलू)—कुछ कटु एवं उष्ण तथा पित्तवर्द्धक है।

कुठेरक, सहजन (के पत्र एवं फली), सुरस, (कृष्ण तुलसी), सुमुख (कटु पत्र वाली तुलसी), राई के पत्र, भूस्तृण, फणिज्जक, अर्जक (खरदरे पत्तों वाली तुलसी) तथा जम्बीर (के पत्तों) आदि के शाक—ग्राही एवं प्रशस्त होते हैं, विदाह कारी, कटु, रूक्ष, उष्ण, हृदय को शक्ति देने वाले, दीपन, एवं रुचिकारक होते हैं और दृष्टि, शुक्र तथा क्रिमि के नाशक, तीक्ष्ण, दोषों का उत्क्लेश करने वाले तथा लघु होते हैं।

वक्तव्य—प्रभृति शब्द से अष्टाङ्ग संग्रहोक्त शाकों का ग्रहण किया जाता है। यथा — धान्य तुम्बरु, सालेय, यवानी, शृङ्गवेरकाः। पर्णासो, गृञ्जनो,ऽजाजी, कण्डीरं, जल-पिप्पली। फणिज्जकाऽर्जक जम्बीरं खराश्वा कालमालिका।

दीप्यकः क्षवकृत्, द्वीपि वस्तगन्धादि बद्धविट्। अ. सं. सू. अ. ७ ॥१०४-१०५॥

सुरसा आदि के शाक—

हिध्माकासविषश्वास-पार्श्वरुक्पूतिगन्धहा ॥१०६॥
सुरसः सुमुखो नातिविदाही गरशोफहा ।
'आर्द्रिका' तिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत् ॥१०७॥

व्याख्या—सुरसा का शाक—हिक्का, कास, क्षुद्र श्वास अथवा श्रम एवं श्वास, पार्श्वशूल एवं मुख आदि की दुर्गन्ध को नष्ट करता है।

सुमुख नामक तुलसी का शाक—अधिक विदाह कारक नहीं होता, गर विकार एवं शोथ को नष्ट करता है।

आर्द्रिका—हरा धनिया का शाक—तिक्त एवं मधुर होता है, मूत्र प्रवर्त्तक होता है और पित्त कारक नहीं होता ॥१०६-१०७॥

लशुन का वर्णन—

'लशुनो' भृशतीक्ष्णोष्णः कटुपाकरसः सरः ।
हृद्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्निग्धो रोचनदीपनः ॥१०८॥
किलासकुष्ठगुल्माऽर्शो-मेहक्रिमिकफानिलान् ।
सहिध्मापीनसश्वास-कासान् हन्त्यस्रपित्तकृत् ॥१०९॥

व्याख्या—लशुन का शाक—अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उष्ण होता है (अतः केवल लशुन का शाक नहीं बनाया जाता), विपाक एवं रस में कटु होता है, सर, हृदय के लिये हित, केशों के लिये हित, गुरु, वृष्य, स्निग्ध, रुचिकारक एवं अग्नि दीपक होता है और श्वित्र (लेप द्वारा कुष्ठ, गुल्म, अर्श, प्रमेह, क्रिमि, कफरोग, वायुरोग, हिक्का, पीनस, श्वास एवं कास को नष्ट करता है परन्तु रक्त पित्त को बढ़ाता है। लशुन का रसायन विधि से सेवन उ० तं० अ० ३९ में देखिये ॥१०८-१०९॥

पलाण्डु का वर्णन—

'पलाण्डु'स्तद्गुणन्यूनः श्लेष्मलो नातिपित्तलः ।
कफवातार्शसां पथ्यः स्वेदेऽभ्यवहृतौ तथा ॥११०॥

व्याख्या—पलाण्डु (पियाज) का शाक—लशुन की अपेक्षा न्यून गुण वाला होता है (अतः केवल पियाज का शाक बनाया जाता है), कफ वर्द्धक होता है और अधिक पित्त कारक नहीं होता, कफ विकार, वात विकार एवं अर्श के लिये पथ्य होता है और उस का लेप (आघात, व्रण शोथ आदि पर) भी किया जाता है तथा वह खाया भी जाता है ॥११०॥

गृञ्जन और सूरण का वर्णन—

तीक्ष्णो 'गृञ्जनको' ग्राही पित्तिनां हितकृन्न सः ।
दीपनः 'सूरणो' रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः ॥१११॥
विशेषादर्शसां पथ्यः भूकन्दस्त्वतिदोषलः ।

व्याख्या—गाजर (या शलजम)—तीक्ष्ण है, ग्राही है परन्तु वह पित्त विकार वालों के लिये हितकर नहीं है।

सूरण—अग्नि दीपक है, रुचि कारक है, विशद अर्थात् पिच्छिलता नाशक है, लघु है तथा अर्श के लिये पथ्य है और भूकन्द--जिमी कन्द अत्यन्त दोष कारक है।

वक्तव्य—सूरण दो प्रकार का होता है १—वह जिसमें काण्टे नहीं होते और वह गुजरात प्रान्त में होता है और २— वह जिसमें काण्टे होते हैं खाने पर मुख का भीतरी भाग सूज जाता है इसको इमली के पत्तों में उबाल कर अथवा चूना, फिटकरी आदि में उबाल कर और घृत में तल कर खाया जाता हैं तथापि कुछ न कुछ विकार करता ही है यही भूकन्द या जिमी कन्द है ॥१११॥

शाकों का विवेचन—

पत्रे पुष्पे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात् ॥११२॥
वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षपं त्ववरं परम् ।

व्याख्या--उक्त शाकों के पत्रशाक, पुष्पशाक, नालशाक, तथा कन्दशाक में उत्तरोत्तर गुरुता होती है।

शाकों में जीवन्ती श्रेष्ठ और सरसों के पत्र निन्द्य होते हैं।

वक्तव्य—शाक दस प्रकार के होते हैं—

यथा—१—मूल एवं कन्द, २—पत्र, ३—करीर (वांस आदि के कोमल अंकुर), ४—अग्रभाग (जैसे ताड एवं खजूर की मस्तक मज्जा), ५—फल (जैसे भण्टा एवं परवल आदि) ६—काण्ड (गन्दल) ७—अधिरूढ (वृक्ष आदि पर उगने वाले ठिकोरी आदि), ८—त्वचा-छिलका, ९—पुष्प (गोभी, सेमल, कचनार आदि के फूल) तथा १०—छत्रक—खुंब; सर्पच्छत्र आदि देशाचार एवं रुचि के अनुसार विविध प्रकार के शाक बनाए जाते हैं ॥११२॥

इतिशाकवर्गः

अथ फलवर्गः ।

द्राक्षा फलोत्तमा वृष्या चक्षुष्या सृष्टमूत्रविट् ॥११३॥
स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरुः ।
निहन्त्यनिलपित्तास्र-तिक्तास्यत्वमदात्ययान् ॥११४॥
तृष्णाकासश्रमश्वास-स्वरभेदक्षतक्षयान् ।

व्याख्या—द्राक्षा (दाख, किसमिस एवं मुनक्का—छोटे बड़े अंगूर) सर्वश्रेष्ठ फल है, वृष्य, नेत्र के लिये

हितकर, मूत्र एवं पुरीष की प्रवर्त्तक, विपाक तथा रस में मधुर, स्निग्ध, कुछ कषाय (थोड़ा अम्ल), शीतवीर्य तथा गुरु होता है और वात विकार, पित्त विकार, रक्त विकार, मुख की तिक्तता, मदात्यय तृषा, कास, श्रम, श्वास, स्वरभेद, उरः क्षत आदि क्षत (घाव) तथा रस आदि धातुओं के क्षय या क्षय रोग को नष्ट करती है।

वक्तव्य—अंगूर विधिभेद से – मीठे एवं खट्टे, छोटे एवं बड़े, सबीज एवं निर्बीज दो२ प्रकार के होते हैं। अंगूरों को उष्ण जल में थोड़ा स्विन्न करके सुखाते हैं यही मुनक्का या दाख कहे जाते हैं, स्विन्न किये विना सुखाने का प्रयत्न करने पर वे सड़ जाते हैं सूखते नहीं हैं। कच्चे सभी अंगूर खट्टे ही रहते हैं ॥११३-११४॥

अनार का वर्णन—

उद्रिक्तपित्तान् जयति त्रीन् दोषान् स्वादु दाडिमम्॥११५॥
पित्ताऽविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम्।
सर्वं हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम्॥११६॥

व्याख्या—मीठा दाडिम—(अनार)—पित्त प्रधान तीनों दोषों को शान्त करता है।

खट्टा दाडिम भी (अम्ल होने परभी) पित्त को कुपित नहीं करता और अधिक उष्ण भी नहीं होता और वात एवं कफ को शान्त करता है।

सब प्रकार के दाडिम—हृदय के लिये हित, लघु, स्निग्ध, ग्राही, रुचिकारक तथा अग्निदीपक होते हैं।

वक्तव्य—बीजों के वर्णभेद से भी अनार दो प्रकार के होते हैं—१—लाल बीज वाले और २—श्वेत बीज वाले। इनका छिलका भी औषधोपयोगी होता है उसे पञ्जाब में "नास पाल" कहते हैं। गुण-विशेषतः पित्तातिसार में, दन्तोद्भेद जनित अतिसार में, कास में, कण्ठरोग में, विशेषतः टाउन्सल में चूषणार्थ दिया जाता है ॥१ ५-११६॥

केला आदि का वर्णन—

मोच-खर्जूर-पनस-नालिकेर-परूषकम्।
आम्रात-ताल-काश्मर्य-राजादनमधूकजम्॥११७॥
सौवीरबदराङ्कोल्ल-फल्गुश्लेष्मातकोद्भवम्।
वाताभाभिषुकाक्षोड-मुकूलकनिकोचकम्॥११८॥
उरुमाणं प्रियालं च बृंहणं गुरु शीतलम्।
दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम्॥११९॥
स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत्।

व्याख्या—मोच (केला की फली) खजूर, कटहल, नारियल, फालसा, आमड़ा, ताड़ का फल, खिरनी, महुवा का फल, सौवीर, बदर (बेर), अंकोल, गूलर, लिसोड़ा, बादाम, अभिषुक (पिस्ता), अखरोट, मकूलक यह भी पिश्ता जैसा होता है), निकोचक (नियोजा) उरुमाण (खुरमानी) तथा चिरोञ्जी—ये सब-बृंहण, गुरु, शीतल हैं और दाह, उरःक्षत एवं अन्य स्थानों के क्षत, रसादि धातुओं के क्षय एवं शोष रोग को नष्ट करते हैं रक्त एवं पित्तको शुद्ध करते हैं विपाक एवं रस में मधुर हैं, स्निग्ध, विष्टम्भ कारक, कफ वर्द्धक हैं ॥ ११७-११९ ॥

ताल आदि का विशिष्ट वर्णन—

फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम्॥१२०॥
शकृन्मूत्रविबन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम्।
वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम्॥ १२१ ॥
परं वातहरं स्निग्धमनुष्णं तु प्रियालजम्।
प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहा॥ १२२ ॥
कोलमज्जा गुणैस्तद्वत् तृट्छर्दिकासजिच्च सः।

व्याख्या—परन्तु ताल का फल—पित्त कारक एवं रेचक होता है। गम्भार का फल—शीत वीर्य, मूत्र एवं पुरीष के बन्ध का नाशक, केश एवं मेधा के लिये हित तथा रसायन है। बादाम आदि उरुमाणान्त फल—उष्ण व कफ पित्त कारक, रेचक, उच्च कोटि के वात नाशक तथा स्निग्ध होते हैं। चिरोञ्जी कुछ उष्ण वीर्य होती है।

चिरोञ्जी की मज्जा (गिरी) मधुर, वृष्य तथा पित्त एवं वात को नष्ट करती है। बेर की मज्जा भी गुणों में चिरोञ्जी के समान है विशेषतः—वह तृषा, छर्दि तथा कास की नाशक होती है ॥१२०-१२२॥

बिल्वफल का वर्णन—

पक्वं सुदुर्जरं बिल्वं दोषलं पूतिमारुतम्॥ १२३ ॥
दीपनं कफवातघ्नं बालं, ग्राह्युभयं च तत्।
कपित्थमामं कण्ठघ्नं दोषलं, दोषघाति तु॥ १२४ ॥
पक्वं हिध्मावमथुजित्, सर्वं ग्राहि विषापहम्।

व्याख्या—बिल्व का पका फल—कठिनता से पचता है, दोष कारक होता है और अपान वायु को दुर्गन्ध-युक्त करता है।

कच्चा फल—अग्नि दीपक एवं कफ वात नाशक है। और दोनों ही ग्राही होते हैं।

कैथ का कच्चा फल—कण्ठ को हानि पहुँचाता है और दोष वर्द्धक होता है परन्तु पका फल—दोष शामक हिक्का तथा छर्दि को नष्ट करता है और दोनों ग्राही तथा विष नाशक होते हैं ॥१२३-१२४॥

जामुन फल का वर्णन—

जाम्बवं गुरु विष्टम्भि शीतलं भृशवातलम्॥१२६॥

सङ्ग्राहि मूत्रशकृतोरकण्ठ्यं कफपित्तजित्।

व्याख्या—जामुन का फल—गुरु, विष्टम्भकारक, शीतल, अत्यन्त वातवर्द्धक, मूत्र एवं पुरीष का रोधक, कण्ठ के लिये हानिकारक तथा कफ पित्त नाशक होता है।

वक्तव्य—जामुन दो प्रकार की होती है १—जम्बू इस के फल बड़े और लकड़ी दुर्बल, २—काष्ठजाम्बू कठ जामुन —जमोया—इसके फल छोटे और लकड़ी सबल एवं चिर स्थायी होती है।।१२५।।

आम आदि फलों का वर्णन—

वातपित्तास्रकृद्बालं, बद्धास्थि कफपित्तकृत्॥ १२६॥
गुर्वाम्रं वातजित्पक्वं स्वाद्वम्लं कफशुक्रकृत्।
वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्महरं लघु॥ १२७॥
शम्या गुरूष्णं केशघ्नं रूक्षं पीलु तु पित्तलम्।
कफवातहरं भेदि प्लीहार्शःक्रिमिगुल्मनुत्॥ १२८॥
सतिक्तं स्वादु यत्पीलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित्।

व्याख्या—आम का वह फल जिस में गुठली नहीं बैठी हो वात कारक, पित्त कारक एवं रक्त दूषक होता है। और जिसमें गुठली बैठ गई हो वह वात पित्त जनक होता है। पका मीठा आम—गुरु एवं वात नाशक होता है। और खट्टा आम कफ वर्द्धक एवं शुक्र वर्द्धक होता है।

विषांविल का फल—ग्राही, रूक्ष, उष्ण, वात कफ नाशक तथा लघु होता है।

शमी का फल (फली)—गुरु, उष्ण, केश नाशक, तथा रूक्ष होता है।

पीलू का फल—पित्त कारक कफ वात नाशक, मल भेदक तथा प्लीहाविकार, अर्श, क्रिमि एवं गुल्म का नाशक होता है और जो पीलू कुछ तिक्त एवं मधुर होता है वह अधिक उष्ण नहीं होता और त्रिदोष शामक होता है।

वक्तव्य—शमी-झाण्टी, जण्डी या जण्ड नाम से और पीलू पीलाँ नाम से प्रसिद्ध हैं। यह दिल्ली से मुलतान तक के प्रान्त में अधिक होते हैं।।१२६-१२८।।

मातुलुङ्ग का वर्णन—

त्वक्तिक्तकटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित्।।१२९।।
बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु।
लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्मामदात्ययान्।।१३०।।
आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान्।
गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत्।।१३१।।

व्याख्या—मातुलुङ्ग नाम निम्बू का छिलका—तिक्त एवं कटु होता है और स्निग्ध एवं वात नाशक है।

उस का मांस (गूदा)—बृंहण मधुर, वातपित्त नाशक एवं गुरु होता है।

उस का केशर—लघु होता है और कास, श्वास, हिक्का, मदात्यय, मुख शोष, बातरोग, कफरोग, पुरीष आदि के विबन्ध, छर्दि, अरुचि, गुल्म, उदर रोग, अर्श शूल तथा मन्दाग्नि को नष्ट करता है।।१२९-१३१।।

भिलावा का वर्णन—

भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम्।
तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम्॥ १३२॥

व्याख्या—भिलावा का छिलका एवं गूदा—बृंहण, तथा शीतल होता है उसकी गुठली—अग्नि के समान दाहक या तीक्ष्ण, मेधा के लिये हित तथा उत्तम कोटि की कफ वात नाशक होती है।

वक्तव्य—इसका छिलका एवं गूदा खाया जाता है और गुठली औषधों में प्रयुक्त होती है।।१३२।।

पारेवत आदि का वर्णन—

स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पालेवतं गुरु।
रुच्यमत्यग्निशमनं रुच्यं मधुरमारुकम्॥ १३३॥
पक्वमाशु जरां याति नात्युष्णगुरुदोषलम्।

व्याख्या—पारेवत दो प्रकार का होता है—१—मीठा और २—खट्टा। मीठा शीत वीर्य और खट्टा उष्ण वीर्य होता है। दोनों गुरु, रुचिकारक तथा तीक्ष्णाग्नि को शान्त करते हैं।

आडू—रुचि कारक तथा मधुर होता है और पका आडू—शीघ्र पच जाता है, अत्यन्त उष्ण नहीं होता, गुरु तथा दोष कारक होता है।

वक्तव्य—पारेवत को रेवतक या हरफारे वड़ी कहते हैं।।१३३।।

कच्चे दाख आदि का वर्णन—

द्राक्षापरूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम्॥ १३४॥
गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं सकरमर्दकम्।
तथाऽम्लं कोलकर्कन्धू-लकुचाम्रातकारुकम्॥ १३५॥
ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम्।
नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम्॥ १३६॥
दीपनं भेदनं शुष्कमम्लीकाकोलयोः फलम्।
तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः॥ १३७॥
फलानामवरं तत्र लकुचं सर्वदोषकृत्।

व्याख्या—दाख एवं फालसा के कच्चे फल—खट्टे एवं पित्त कारक होते हैं।

करौन्दा—गुरु, उष्णवीर्य, वातनाशक, सर तथा अम्ल होता है और कोल (बड़े बेर), कर्कन्धू (छोटे बेर) बड़हल फल, आमड़ा, आड़ू, एरावत (नारंगी); दन्त शठ (जम्बीरी निम्बू), शहतूत, लम्बा शहतूत, ये सब भी कच्ची दाख के समान गुणदोष वाले हैं। इन में पका एवं सूखा करौन्दा अधिक पित्त कारक नहीं होता। इमली एवं बेर के सूखे फल—दीपक, मलभेदक होते हैं, तृषा, श्रम एवं क्लम के नाशक होते हैं और कफ एवं वायु में लाभदायक होते और लघु होते हैं।

फलों में बड़हर (ल) का फल—निन्दनीय (अधम) होता है क्यों कि वह सब दोषों को विकृत करता है।॥१३४-॥१३७॥

त्याज्य धान्य, शाक एवं फल—

हिमानलोष्णदुर्वात व्याललालादिदूषितम् ॥ १३८ ॥
जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ।
अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽति च ॥ १३९ ॥
धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम् ।
असञ्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात् ।१४०॥
प्रायेण फलमप्येवं तथामं बिल्ववर्जितम् ।

व्याख्या—हिम (हिमपात, शीत तथा कोहरा) से, शीतल वायु (बर्फीली वायु) लगने से, उष्ण (कड़ी धूप एवं अग्नि सन्ताप) से, दूषित वायु के स्पर्श से अथवा सर्प आदि विषैले प्राणियों की लाला (लार) से दूषित, क्रिमियों से युक्त या भक्षित, जल में मग्न (डूबे हुए सड़े हुए), विपरीत गुण वाली भूमि में उत्पन्न, विपरीत ऋतु में उत्पन्न, विरोधी गुण वाले किसी अन्य धान्य से मिश्रित (यथा यवक के साथ रक्त शालि), शक्ति हीन अथवा पुराना होने से शक्ति हीन धान्य त्याज्य होते हैं।

इस प्रकार के शाक भी त्याज्य होते हैं और जो घृत आदि स्नेह के विना ही सिद्ध किये गये हों और जो कोमल न हो, जिस में रस गुण आदि की उत्पत्ति न हुई हो और अथवा सूख गये हों, वे भी त्याज्य होते हैं— खाने योग्य नहीं होते।

परन्तु सूखी मूली या मूल प्रधान शाक खाए जा सकते हैं। (देखिये श्लोक १०७)।

और उक्त प्रकार के फल भी त्याज्य होते हैं परन्तु बिल्व का फल कच्चा ही ग्राह्य होता है। इस के अतिरिक्त कच्चे सब फल त्याज्य होते हैं।

वक्तव्य—औषधरूप में कच्चे बिल का गूदा ही लिया जाता है और वैसे पका बिल भी खाया जाता है।१३८-१४०

इति फलवर्गः

अथ लवणवर्गः

लवणों का वर्णन—

विष्यन्दि लवणं सर्वं सूक्ष्मं सृष्टमलं मृदुः ॥१४१॥
वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत् ।
सैन्धवं तत्र सुस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत् ॥१४२॥
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम् ।
लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम् ॥१४३॥
कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम् ।
ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं बिडम् ॥१४४॥
विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम् ।
विपाके स्वादु सामुद्रं गुरु श्लेष्मविवर्धनम् ॥१४५॥
सतिक्तकटुकक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ।
कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः ॥१४६॥
रोमकं लघु, पांसूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरु ।
लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादि प्रयोजयेत् ॥१४७॥

व्याख्या—सब प्रकार के लवण—विष्यन्दन शील (अभिष्यन्दी), सूक्ष्म (सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्रोतों में प्रविष्ट होने वाले), पुरीष एवं मूत्र आदि मलों के प्रवर्त्तक, वात नाशक, पाचन (आहार एवं व्रण शोथ को पचाने-पकाने वाले), तीक्ष्ण, उष्ण, रुचिकारक तथा कफ पित्तकारक होते हैं।

इनमें सैन्धव लवण—स्वादिष्ट (कुछ मधुर), वृष्य, हृदय के लिये हितकर, त्रिदोष शामक, लघु, कुछ उष्ण तथा नेत्र के लिये हित होता है, विदाहकारक नहीं होता परन्तु अग्निदीपक होता है।

सौवर्चल (सञ्चर) लवण—लघु, हृदय के लिये हितकर, सुगन्धित, उद्गार को शुद्ध करने-लाने वाला, विपाक में कटु, पुरीष एवं मूत्र आदि के विबन्ध का नाशक, अग्निदीपक तथा रुचिकारक होता है।

विड लवण (विरिया नमक)—कफ को ऊपर की ओर और वायु को नीचे की ओर निकालता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है और पुरीष एवं मूत्र आदि के विबन्धको, आनाह (आमाशय एवं मलाशय की गति की रुकावट) को विष्टम्भ (अन्त्रगति निरोध) को, शूल तथा उदर की गुरुता को नष्ट करता है।

समुद्र लवण (समुद्र के जल को सुखाकर प्राप्त किया

गया लवण)—विपाक में मधुर, गुरु तथा कफ वर्द्धक होता है।

औद्भिद लवण (भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाला नमक जो रेह नमक या ऊषर नमक कहलाता है—ऊषर भूमि की उफनी हुई मिट्टी को जल में घोल कर और निथार कर तथा सुखा कर प्राप्त किया जाता है)—कुछ तिक्त एवं कटु रस वाला, अधिक खारा, तीक्ष्ण तथा क्लेद जनक होता है।

काले नमक में सौञ्चर नमक के समान गुण होते हैं परन्तु उसके समान गन्ध नहीं होती।

एक अन्य रोमक नामक लवण होता है जो पांसु या धूलि से उत्पन्न होता है इसे 'शोरा' कहते हैं यह लघु, कुछ खारा, कफ कारक तथा गुरु होता है।

सामान्यतः लवणों के उल्लेख में सैन्धव आदि का प्रयोग करना चाहिये यथा लवण शब्द का उल्लेख होने पर केवल सैन्धव, दो लवणों का उल्लेख होने पर सैन्धव एवं सौवर्चल का प्रयोग करना चाहिये इसी प्रकार त्रिलवण, चतुर्लवण एवं पञ्च लवण का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—सैन्धवं लवणानां हिततमं तथा ऊषरं लवणानामहिततमम् (च. सू. अ. २५)। अर्थात्—लवणों में सैन्धवलवण उत्तम एवं ऊषर लवण अधम होता है ॥१४७॥

जौखार आदि क्षारों का वर्णन—

गुल्महृद्ग्रहणीपाण्डु-प्लीहानाहगलामयान्।
श्वासार्शःकफकासांश्च शमयेद्यवशूकजः ॥१४८॥
क्षारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्णः क्रिमिजिल्लघुः।
पित्तासृग्दूषणः पाकी छेद्य-हृद्यो विदारणः ॥१४९॥
अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजःकेशचक्षुषाम्।

व्याख्या—जौखार—गुल्म, हृद्रोग, ग्रहणी रोग, पांडु रोग, प्लीह रोग, आनाह, कण्ठ रोग, श्वास, अर्श, कफ रोग एवं कास को नष्ट करता है।

सब प्रकार के क्षार—अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उष्ण हैं, क्रिमि नाशक एवं लघु हैं, पित्त एवं रक्त को दूषित करते हैं। पाचक (आहार पाचक एवं व्रण शोथ पाचक, अर्श आदि तथा रोमों-बालों के छेदक हैं, हृदय के लिये अहित हैं, पक्व शोथ का दारण करते हैं और कटु रस एवं लवण रस से युक्त होने के कारण—शुक्र ओजस्, केशों एवं नेत्रों के लिये हानिकारक हैं।

वक्तव्य—क्षार निर्माणकी विधि एवं विशिष्ट विवरण-सु. सू. अ. ११ में देखिये ॥१४८-१४९॥

हिंगु का वर्णन—

हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥१५०॥
कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु।

व्याख्या—हींग—वातविकार, कफ विकार, आनाह तथा शूल को नष्ट करती है, पित्त को कुपित करती है, विपाक एवं रस में कटु है, रुचिकारक, अग्निदीपक, पाचन तथा लघु है ॥१५०॥

हरड़, बहेड़ा तथा आमला का वर्णन—

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः ॥१५१॥
दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परम्।
उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ॥१५२॥
कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान्।
शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान् ॥१५३॥
सशोषशोफातीसार-मेदमोहवमिक्रिमीन्।
श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम् ॥१५४॥
विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम्।
हरीतकी जयेद्व्याधींस्तांस्तांश्च कफवातजान् ॥१५५॥
तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम्।
कटु पाके हिमं केश्यमक्षमोपच तद्गुणम् ॥१५६॥
इयं रसायनवरा त्रिफलाऽक्ष्यामयापहा।
रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥१५७॥

व्याख्या—हरीतकी (हरड़)-रस में कषाय, विपाक में मधुर, गुण में रूक्ष एवं लघु, लवण रस से रहित (मधुर आदि ५ रसों से युक्त), अग्निदीपक, पाचन, मेधावर्द्धक, वयस् को स्थिर रखने में सर्वश्रेष्ठ वीर्य में उष्ण रेचक, आयु के लिए हित, बुद्धि एवं इन्द्रियों को बल देनेवाली है और कुष्ठ, कान्तिहीनता, स्वरभेद, जीर्ण ज्वर, विषमज्वर, शिरोरोग, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, हृदयरोग, कामला, ग्रहणी रोग, शोष रोग, शोथ, अतिसार, मेदोदोष (स्थौल्य आदि) मोह, (एवं मूर्च्छा), छर्दि, क्रिमिरोग श्वास, कास, प्रसेक (लाला स्राव एवं योनिस्राव आदि) अर्श, प्लीहारोग, आनाह, गरविष, उदररोग, स्रोतों के विबन्ध, गुल्मरोग, ऊरुस्तम्भ, अरोचक तथा कफ वात जनित उन २ अनेक रोगों को नष्ट करती है।

आमला भी हरड़ के समान गुण धर्म वाला है परन्तु वीर्य में शीत एवं रस में अम्ल होता है और पित्त एवं कफ को नष्ट करता है।

बहेड़ा भी हरड़ के समान गुण धर्म वाला है परन्तु विपाक में कटु एवं वीर्य में उष्ण तथा केशों के लिए हित है और हरड़ की अपेक्षा कुछ गुण हीन है।

उक्त तीनों फलों के योग का नाम "त्रिफला" है और

कोटि का रसायन, नेत्ररोग नाशक, व्रणरोपण, त्वचा विकार (कुष्ठ आदि), क्लेद (सड़न), मेदोदोष, प्रमेह, कफरोग तथा रक्तरोग को नष्ट करता है।

वक्तव्य—त्रिफला—१ हरड़ २ कर्ष की उत्तम होती है, बहेड़ा १ कर्ष का और आमला १ कर्ष का उत्तम होता है। इस प्रकार एक हरड़, दो बहेड़े तथा चार आमले मिलाने पर सम होते हैं यथा—एका हरीतकी योज्या द्वौ च योज्यौ विभीतकौ। चत्वारि आमलकानि स्युः त्रिफलैषा प्रकीर्तिता। तीनों का चूर्ण समान भाग लेकर मिला लिया जाता है जो त्रिफला चूर्ण कहलाता है ॥१५१-१५७॥

त्रिजात एवं चतुर्जात का वर्णन—

सकेसरं चतुर्जातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्।
पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम् ॥१५८॥

व्याख्या—दालचीनी, तेजपत्ता तथा बड़ी इलायची के योग का नाम "त्रिजात" या त्रिजातक है और इस में नागकेसर मिलाने पर इस योग का नाम "चतुर्जातक" हो जाता है। यह दोनों योग—पित्तवर्द्धक, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, अग्निदीपक तथा रुचिकारक होते हैं ॥ १५८ ॥

मरिच, पीपल, सोंठ एवं त्रिकटु का वर्णन —

रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु।
श्लेष्मला स्वादुशीताऽऽर्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली॥१५९॥
सा शुष्का विपरीताऽतः स्निग्धा वृष्या रसे कटुः।
स्वादुपाकाऽनिलश्लेष्मश्वासकासापहा सरा ॥१६०॥
न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना।
नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत् ॥ १६१ ॥
रुच्यं लघु स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित्।
तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत् ॥ १६२ ॥
स्थौल्याग्निसादश्वास-कासश्लीपदपीनसान्।

व्याख्या—मरिच (काली मरिच)—रस एवं विपाक में कटु, कफ नाशक तथा लघु होती है।

आर्द्र (हरी) पीपल—कफ वर्द्धक, मधुर, शीतवीर्य, गुरु तथा स्निग्ध होती है और सूखी (पकी) पीपल—इस से विपरीत गुण वाली होती है परन्तु स्निग्ध, वृष्य तथा रस में कटु और विपाक में मधुर होती है तथा वात कफ, श्वास एवं कास की नाशक एवं रेचक है, रसायन विधि के विना उसका अधिक उपयोग न करे।

सोंठ—अग्निदीपक, वृष्य, ग्राही, हृदय के लिये हितकर, पुरीष के विबन्ध की नाशक, रुचिकारक, लघु, विपाक में मधुर, स्निग्ध, उष्ण तथा कफ वात नाशक है।

आर्द्रक—(अदरक-हरी सोंठ)—भी सोंठ के समान होती है।

उक्त मरिच, पीपल तथा सोंठ के योग का नाम "त्रिकटुक" (या त्र्यूषण-कटुत्रय-तीन कटु द्रव्यों का योग) है और वह स्थूलता, मन्दाग्नि, श्वास, कास, श्लीपद तथा पीनस को नष्ट करता है।

वक्तव्य—पीपल, क्षार तथा लवण के अति उपयोग से होने वाली हानियों का विवरण देखिये च. वि. अ. १ में। सुखाए गये अदरक का नाम सोंठ है ॥१५९-१६२॥

चव्य, पीपलामूल, चित्ता एवं पञ्चकोल—

चविका पिप्पलामूलं मरिचाल्पान्तरं गुणैः ॥ १६३ ॥
चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शःकृमिकुष्ठहा।
'पञ्चकोलक' मेतच्च मरिचेन विना स्मृतम् ॥ १६४ ॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं दीपनं परम्।

व्याख्या—चव्य तथा पीपला मूल-गुणों में लगभग मरिच के समान है। चित्ता (की जड़की छाल)-पाक (आहारको पचाने में, व्रणशोथ को पकाने में तथा त्वचा पर फफोला उत्पन्न करने) में अग्नि के समान है तथा शोफ, अर्श, क्रिमि तथा कुष्ठ का नाशक है।

मरिच के विना उक्त पीपल, सोंठ, चव्य, पिप्पलामूल तथा चित्ता के योग का नाम "पञ्चकोल" है और वह गुल्म, प्लीह विकार, उदर रोग, आनाह तथा शूल को नष्ट करता है एवं उच्च कोटिका अग्नि दीपक है।

वक्तव्य—मरिच सहित उक्त पञ्चकोल का नाम "षडूषण" है ॥ १६३,१६४॥

पाँच पञ्चमूलों का वर्णन—

बिल्वकाश्मर्यतर्कारी-पाटलाटुण्टकैर्महत् ॥ १६५ ॥
जयेत्कषायतिक्तोष्णं 'पञ्चमूलं' कफानिलौ।
'ह्रस्वं' बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम् ॥ १६६ ॥
स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित्।
बलापुनर्नवैरण्ड-शूर्पपर्णीद्वयेन तु ॥ १६७ ॥
मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं सरम्।
अभीरुवीराजीवन्ती-जीवकर्षभकैः स्मृतम् ॥ १६८ ॥
'जीवनाख्यं' तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम्।
'तृणाख्यं' पित्तजिद्दर्भ-काशेक्षुशरशालिभिः ॥ १६९ ॥

व्याख्या—बिलगिरी, गम्भारकी, अरणी की, पाढल की एवं सोना पाठा की छाल (मूल की छाल) के योग का नाम "महत् पंचमूल" है और वह कषाय, तिक्त एवं उष्ण वीर्य होता है तथा कफ एवं वायु को शान्त करता है।

वनभण्टा, कण्टकारी, शालपर्णी, पृष्ठ पर्णी तथा गोखरू के योग का नाम "ह्रस्व पचमूल" या लघु पंचमूल है और वह विपाक एवं रस में मधुर, सम शीतोष्ण एवं सर्वदोष शामक है।

बला, पुनर्नवा, एरण्डमूल, माषपर्णी एवं मुद्गपर्णी के योग का नाम "मध्य पंचमूल" है और वह कफ वात नाशक है, अत्यधिक पित्तवर्द्धक नहीं है तथा रेचक है।

शतावर, मेदा, जीवन्ती, जीवक एवं ऋषभक के योग का नाम "जीवन पंचमूल" है और वह नेत्रों के लिये हित वृष्य तथा पित्त एवं वायु का शामक है।

दर्भ (दाभ-डाभ) कास (काही-पन्हीं) ईख, शर (सरपत खड-खर-झुण्ड) तथा शालि धान्य के मूलों (जड़ों) के योग का नाम "तृण पंचमूल" है और वह पित्त शामक (एव मूत्रल) होता है।

वक्तव्य—इनके अतिरिक्त दो पञ्चमूल अन्य भी हैं यथा—
अजश्रृंगी हरिद्रा च विदारी सारिवाऽमृता।
वल्ल्याख्यं, कण्टकाख्यं तु-श्वदंष्ट्राऽभीरु सैर्यकैः।
अहिंस्रा करमर्दीकैः सर्वदोषहरे च ते। अ. सं. सू. अ. १२।

भावार्थ—वल्ली पञ्चमूल तथा कण्टक पञ्चमूल। ये दोनों सब दोषों के शामक हैं। इनके अतिरिक्त अनेक काष्ठौषधियों, स्वर्ण आदि धातुओं, पारद आदि रसों, शंख शुक्ति आदि प्राणिजों तथा हीरा आदि खनिजों का वर्णन निघण्टुओं में देखिये। ये सब औषध कहे जाते हैं। कुछ विहार भी ध्यान देने योग्य हैं यथा—

आस्या वर्ण श्लेष्ममेदः सौकुमार्यकृत्, अन्यथा।
अतोऽध्वाऽग्निबलाऽऽयूंषि कुर्यात् चंक्रमणं सुखम्।
मारुतस्याऽऽनुलोम्यं च वपुःस्तम्भश्रमापहम्।
अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलकृत् शुक्लं तथा।
वर्ण्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षाऽऽतपाऽपहम्।
आतपो भ्रमतृट्स्वेददाहमूर्च्छाविवर्णताः।
कुर्यात् पित्ताऽस्त्रवह्नींश्च छायात्वेतान् व्यपोहति।

भावार्थ—आस्या-बैठना-विश्राम करना। अध्वा-मार्ग चलना-यात्रा करना। चंक्रमण-टहलना। पादत्र-जूता-मोजा-जुराव। छत्र-छाता। आतप—धूप-घाम। छाया-छाया।१६६।

इति औषधवर्गः

उपसंहार—

शूक-शिम्बीज-पकान्न-मांस-शाक-फलौषधैः।
वर्गितैरन्नलेशोऽयमुक्तो नित्योपयोगिकः॥ १७०॥,

व्याख्या—इस प्रकार १—शूकधान्य वर्ग २—शिम्बी-धान्य वर्ग ३—पक्वान्न वर्ग ४—मांस वर्ग, ५—शाक वर्ग ६—फल वर्ग और ७—औषध वर्ग के वर्णन में आहार का लेश (कुछ भाग) कह-दिया गया जो प्रायः उपयोगी (प्रयोग में आने वाला) है।

वक्तव्य—अत्यन्त उपयोगी द्रव्यों का वर्णन संक्षेपतः किया गया है, विस्तार से वर्णन करना तो कठिन या असम्भव है॥ १७०॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने षष्ठोऽध्यायः। ६।

अथ सप्तमोऽध्यायः।

अथातोऽन्नरक्षाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब अन्न रक्षा नामक अध्यायका व्याख्यान करेंगे। इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—च. सू. अ. ११, २१, २६, शा. अ, ८, सि. अ. अ. १२ में, सु. सू. अ. २०, ३४, शा० अ० ४, चि. अ. २४, क. अ. १ में तथा अ. सं. सू. अ. ८ एवं ९ इस विषय का वर्णन देखिये।

राजा को वैद्य की आवश्यकता—

राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत्।
सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्र प्रतिजागृविः॥ १॥

व्याख्या—राजा अपने निवास स्थान के समीप चिकित्सक को बसावे, इस प्रकार समीप रहने से वह चिकित्सक-राजा के आहार-विहार में सर्वदा जागरूक (सावधान) रहता है।

वक्तव्य—राजा शब्द उपलक्षणमात्र है, वैसे सभी को वहाँ वसना चाहिये जहाँ चिकित्सक समीप ही बस रहा हो जिससे समय पर उसकी सहायता ली जासके। और अपने आहार आदि पर ध्यान रखना चाहिये जिससे जीवन रक्षा होती रहे॥ १॥

राजा की आवश्यकता—

अन्नपानं विषाद्रक्षेद्विशेषेण महीपतेः।
योगक्षेमौ तदायत्तौ धर्माद्या यन्निबन्धनाः॥ २॥

व्याख्या—राजा के अन्न एवं पान की विशेष रूप से विष प्रयोग से रक्षा करते रहना चाहिये क्यों कि पूजा के योग (जीविका-स्थिति) एवं क्षेम (कुशल) की रक्षा राजा की रक्षा होने पर ही हो सकती है और योग क्षेम की रक्षा होने पर धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का लाभ हो सकता है।

वक्तव्य—अन्नपान भी उपलक्षण है राजा के वस्त्र एवं माला आदि पर भी चिकित्सक को ध्यान रखना चाहिये जिस से विषप्रयोग न होने पावे। राजा ही को नहीं सभी को शत्रुओं से सावधान रहना चाहिये॥ २॥

विषयुक्त भात का लक्षण—

ओदनो विषवान् सान्द्रो यात्यविस्राव्यतामिव ।
चिरेण पच्यते पक्वो भवेत्पर्युषितोपमः ॥ ३ ॥
मयूरकण्ठतुल्योष्मा मोहमूर्च्छाप्रसेककृत् ।
हीयते वर्णगन्धाद्यैः क्लिद्यते चन्द्रकाचितः ॥ ४ ॥

व्याख्या—विषयुक्त भात—सान्द्र अर्थात् सना हुआ सा रहता है जैसे उस में से मण्ड का स्राव न किया गया हो।

यदि पकते समय विष मिलाया जाता है तो चावल विलम्ब से पकते-सिजते हैं और यदि पकजानेपर विष मिलाया जाता है तो भात बासी भात कासा अथवा सड़े भात कासा होता है, उसकी भाप मोर की ग्रीवा के सदृश वर्ण वाली (नीली) होती है और भाप लगने से अथवा उस भात को खाने से मोह, मूर्छा एवं लालास्राव होने लगता है। भात अपने गन्ध, वर्ण एवं रस आदि से हीन हो जाता है। वह सड़ा हुआ सा या पसीजा हुआ सा होजाता है। और उस पर चमक दिखाई पड़ती है जैसे जल पर तैल डालने से चमक दिखलाई पड़ती है ॥ ३, ४ ॥

विषयुक्त व्यंजन का लक्षण—

व्यञ्जनान्याशु शुष्यन्ति ध्यामक्वाथानि तत्र च ।
हीनातिरिक्ता विकृता छाया दृश्येत नैव वा ॥ ५ ॥
फेनोर्ध्वराजीसीमन्त-तन्तु-बुद्बुद-सम्भवः ।
विच्छिन्नविरसा रागाः खाडवाः शाकमाहिषम् ॥ ६ ॥

व्याख्या विष मिश्रित व्यंजन (तरकारी एवं शाक आदि जो दही, तक्र एवं अनार दाना आदि के संयोग से बनाए जाते हैं) शीघ्र सूख जाते हैं और उनके रस मलिन होते हैं और उन में प्रतिबिम्ब (परछाईं)-- हीन (अङ्ग हीन एवं छोटा) अथवा अतिरिक्त (अधिक अङ्गों वाला एवं बड़ा) अथवा विकृत आकार वाला दिखाई पड़ता है अथवा दिखता ही नहीं। और, उन में झाग उत्पन्न होने लगती है लवणयुक्त रसों में अम्ल विष मिलने से झाग उठती है) और राजियाँ उत्पन्न हो जाती है, सीमन्त अथवा तन्तु एवं बुलबुले उत्पन्न हो जाते हैं।

राग (रायता एवं अचार आदि), खाण्ड (अम्ल-रस वाले शाक-तरकारियाँ), शाक तथा मांस के व्यंजनों को आकार कटे फटे से एवं उनके रस विकृत हो जाते हैं ।५,६।

विषमिश्रित मांस रस आदि के लक्षण—

नीला राजी रसे, ताम्रा क्षीरे, दधनि दृश्यते ।
श्यावा, ऽऽपीताऽसिता तक्रे, घृते पानीयसन्निभा ॥ ७ ॥
मस्तुनि स्यात्कपोताभा, राजी कृष्णा तुषोदके ।
काली मद्याम्भसोः, क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा ॥ ८ ॥
पाकः फलानामामानां पक्वानां परिकोथनम् ।
द्रव्याणामार्द्रशुष्काणां स्यातां म्लानिविवर्णते ॥ ९ ॥
मृदूनां कठिनानां च भवेत्स्पर्शविपर्ययः ।
माल्यस्य स्फुटिताग्रत्वं म्लानिर्गन्धान्तरोद्भवः ॥ १० ॥
ध्याममण्डलता वस्त्रे, सदनं तन्तुपक्ष्मणाम् ।
धातुमौक्तिककाष्ठाश्म-रत्नादिषु मलाक्तता ॥ ११ ॥
स्नेहस्पर्शप्रभाहानिः, सप्रभत्वं तु मृण्मये ।

व्याख्या—विशिष्ट लक्षण--विष मिश्रण से, मांस रस में नीली रेखा, दूध में लाल, दही में साँवली, तक्र में पीली, घृत में जल कीसी, मद्य एवं जल में काली, मधु में हरी, तैल में अरुण (कालापन लिये लाल) मस्तु (दही के पानी) में जङ्गली कबूतर के वर्ण वाली तथा कांजी में काली रेखा (धारी) दिखाई पड़ती है।

विषके प्रभाव से कच्चे फल शीघ्र पक जाते हैं और पके फल सड़ जाते हैं ।

अन्यान्य आर्द्र एवं सूखे पदार्थ मलिन होजाते हैं और उनके वर्ण विकृत हो जाते हैं।

मृदु द्रव्य कठिन-कठोर हो जाते हैं और कठिन द्रव्य मृदु-कोमल हो जाते हैं।

फूलों के अग्रभाग स्फुटित हो जाते हैं और उन में मलिनता आजाती है एवं भिन्न प्रकार की गन्ध उत्पन्न हो जाती हैं।

वस्त्रों पर विष का सम्पर्क होने से--मैले दाग-चिन्ह पड़ जाते हैं तथा उनके तन्तु एवं वम्बल टूटने लगते हैं। स्वर्ण आदि धातुओं के भूषण आदि में, मोती आदि में, काष्ठमय छड़ी एवं तख्त आदि पर, पाषाण के भाण्ड एवं पात्रों पर तथा हीरक आदि रत्नों पर मलिनता दिखलाई पड़ती है और उनकी स्निग्धता, स्पर्श एवं प्रभा की हानि हो जाती है और मिट्टी के पात्रों में चमक आ जाती है।

वक्तव्य—उक्त प्रकार की विष जनित विकृतियों को देख-कर सावधान हो जाना चाहिये और उनका उपयोग नहीं करना चाहिये तथा तत्काल कर्मचारियों की गति विधि देख कर विष का प्रयोग करनेवाले का पता लगाना चाहिये यथा—।

विषदाता के लक्षण—

विषदः श्यानशुष्कास्यो विलक्षो वीक्षते दिशः ॥ १२ ॥
स्वेदवेपथुमांस्त्रस्तो भीतः स्खलति जृम्भते ।

व्याख्या—विष देने वाले-उक्त वस्तुओं पर विष का

प्रयोग करने वाले का मुख कालापन लिये श्वेत सा तथा सूखा हुआ उतरा हुआ-कान्तिहीन हो जाता है, वह जन लज्जित होकर इधर उधर दूर तक देखता रहता है, उसको पसीना आने लगता है तथा कम्पन होने लगता है और वह घबरा जाता है, डरता है, चलने में लड़खड़ाता है तथा जम्भाइयाँ लेता है।

वक्तव्य—इन लक्षणों के अतिरिक्त लक्षण भी देखे जाते हैं यथा विष का प्रयोग करने वाला प्रसंग के विना ही हँसता रहता है, पूछने पर असम्बद्ध उत्तर देता है, अथवा चुप रह जाता है, बोलते २ व्याकुल हो जाता है, अंगुलियाँ मटकाता है, शिर खुजाता है, ओठ चाटता है, भौएँ चलाता है, कार्य करने में अनावश्यक शीघ्रता करता है, भूमि कुरेदता है, स्वभाव से विपरीत आचरण करता है, अपने स्थान पर या एक स्थान पर टिक कर नहीं बैठता किसी भी मार्ग से भाग जाने का प्रयत्न करता है अथवा भाग जाता है, तृण तोड़ता है, उन्मत्त के समान बड़बड़ाता है अथवा मूर्छित हो जाता है।

परन्तु कभी २ इस हलचल में कोई २ निरपराध भी भय के कारण अथवा घबरा कर उक्त प्रकार की चेष्टाएँ करने लगता है इसलिये अधिकारी का कर्त्तव्य है कि अत्यन्त सावधानता के साथ अपराधी का निर्णय करे। देखिये श्लोक ७,८ का वक्तव्य ॥ १२ ॥

विष मिश्रित अन्न की अग्नि पर परीक्षा

प्राश्यान्नं सविषं त्वग्निरेकावर्तः स्फुटत्यति ॥ १३ ॥
शिखिकण्ठाभधूमार्चिरनर्चिर्वोग्रगन्धवान् ।

व्याख्या—विष मिश्रित अन्न को पाकर अग्नि (चुल्हा-हवन कुण्ड की अग्नि) एकावर्त्त होती है (उस में एक ही ओर ज्वाला उठती है), चट चटाती है, धूम एवं ज्वाला का वर्ण मोर की ग्रीवा के सदृश होता है अथवा ज्वाला उठती ही नहीं और गन्ध अत्यन्त उग्र-तीक्ष्ण आती है।

वक्तव्य—भोजन के पूर्व आहार का कुछ भाग लेकर अग्नि में डालने का जो विधान है उसका एक यह भी अर्थ है जिससे विषमिश्रण का ज्ञान होजाता है ॥१३॥

विषमिश्रित आहार का मक्षिका आदि पर प्रभाव

म्रियन्ते मक्षिकाः प्राश्य काकः क्षामस्वरो भवेत् ॥ १४ ॥
उत्क्रोशन्ति च दृष्ट्वैतच्छुकदात्यूहसारिकाः ।
हंसः प्रस्खलति ग्लानिर्जीवञ्जीवस्य जायते ॥ १५ ॥
चकोरस्याऽक्षिवैराग्यं क्रौञ्चस्य स्यान्मदोदयः ।
कपोतपरभृद्दक्षचक्रवाका जहत्यसून् ॥ १६ ॥
उद्वेगं याति मार्जारः, शकृन्मुञ्चति वानरः ।
हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्या मन्दतेजो भवेद्विषम् ॥ १७ ॥
इत्यन्नं विषवज्ज्ञात्वा त्यजेदेवं प्रयत्नतः ।
यथा तेन विपद्येरन्नपि न क्षुद्रजन्तवः ॥ १८ ॥

व्याख्या—विषमिश्रित अन्न को खाकर मक्षिकाएँ तो मर ही जाती हैं और कौवा का स्वर क्षीण हो जाता है। विषमिश्रित आहारको देखकर-सुग्गा (तोता), दात्यूह नामक पक्षी तथा सारिका (मैना) नामक पक्षी चिल्लाने लगते हैं। हंस लड़खड़ाने लगता है और जीवंजीवक पक्षी को ग्लानि हो जाती है। चकोर के नेत्रों का वर्ण विगड़ जाता है या नष्ट हो जाता है, क्रुञ्च नामक पक्षी को मद हो जाता है और कबूतर, कोयल, मुरगा तथा चकवा नामक पक्षी मर जाते हैं, विलाव घबरा जाता है और वानर पुरीषोत्सर्ग कर देता है, मोर हृष्ट हो जाता है—नाचने लगता है और उसे देख कर या उसके देखने से विष का तेजस् मन्द (हीन वीर्य) हो जाता है।

उक्त प्रकार से आहार को विषमिश्रित समझ कर त्याग देवे—उस का सेवन न करे और उस आहार को एकान्त में ले जा कर जला देवे अथवा गढ़ा में दबा देवे जिस से अन्यान्य क्षुद्र जन्तु भी उस आहार को खा कर न मर जायँ।

वक्तव्य—अन्न तो उपलक्षण मात्र है माला, पुष्प एवं वस्त्र आदि का भी अन्न के समान परित्याग कर देवे और उनको इस प्रकार नष्ट कर देवे जिससे दूसरों को हानि न पहुँचे। और धातु मौक्तिक (श्लोक १२) आदिको निम्नलिखित (श्लोक २०) सेव्य चन्दन आदि के क्वाथ द्वारा शुद्ध कर लेवे तथा मिट्टी के पात्र एवं काष्ठकी वस्तुओं का परित्याग कर देवे। अनुलेपन, उवटन, दतवन, स्नानजल, कंघी, काठी, पादुका एवं जूता आदि में भी विष का प्रयोग करादिया जाता है और विष कन्या एवं उपदंश आदि से पीडित नर नारियों का भी प्रयोग शत्रुओं द्वारा किया जाता है। इस लिये सबको सदा सर्वदा अपनी रक्षाके लिये सावधान रहना चाहिये और राजा एवं बड़े लोग तो अत्यन्त प्रमादी होते हैं अतः उनकी रक्षा के लिये-चिकित्सक को सदा सावधान रहना चाहिये। तथापि यदि प्रमाद अथवा भूल से विषयुक्त अन्न तथा माला आदि का उपयोग हो जाय तो—।

स्पर्श आदि से विष का प्रभाव—

स्पृष्टे तु कण्डूदाहोष्माज्वरार्तिस्फोटसुप्तयः ।
नखरोमच्युतिः शोफः, सेकाद्या विषनाशनाः ॥ १९ ॥
शस्तास्तत्र प्रलेपाश्च सेव्य-चन्दन-पद्मकैः ।
ससोमवल्कतालीस-पत्रकुष्ठाभृतानतैः ॥ २० ॥

व्याख्या—विषयुक्त माला एवं वस्त्र आदि स्पर्श होने

पर-कण्डू, दाह, ऊष्मा (एक देशीय दाह या भाप सी निकलना), ज्वर, वेदना, फफोले, शून्यता, नख एवं रोम उखड़ना अथवा शोथ हो जाता है। इस दशा में तत्काल विष नाशक सेचन एवं लेपन आदि उपचार करे इस के लिये प्रशस्त है—

खस, श्वेत चन्दन, पद्मकाष्ठ, कायफल का छिलका, तालीस पत्र, सुगन्धी, कूठ, गिलोय तथा तगर के कल्क का लेप तथा क्वाथ का सेचन एवं पान आदि ॥१९,२०॥

मुख में विष का प्रभाव—

लाला जिह्वोष्ठयोर्जाड्यमूषा चिमिचिमायनम् ।
दन्तहर्षो रसाज्ञत्वं हनुस्तम्भश्च वक्त्रगे ॥ २१ ॥
सेव्याद्यैस्तत्र गण्डूषाः सर्वं च विषजिद्धितम् ।

व्याख्या—ग्रास अथवा दतवन आदि के द्वारा मुख में विष चला जाने पर—लालास्राव, जीभ एवं ओठों में जड़ता (शून्यता तथा स्तब्धता), जलन तथा चुनचुनाहट, दन्त हर्ष, रस का अनुभव न होना तथा हनुस्तम्भ ये लक्षण होते हैं।

इस दशा में उक्त (श्लोक २०) खस आदि कषाय के गण्डूष करे और विष नाशक द्रव्यों के मंजन आदि सब उपचार करे ॥२१॥

आमाशय आदि पर विष का प्रभाव —

आमाशयगते स्वेदमूर्च्छाध्मानमदभ्रमाः ॥ २२ ॥
रोमहर्षो वमिर्दाहश्चक्षुर्हृदयरोधनम् ।
बिन्दुभिश्चाऽऽचयोऽङ्गानां, पक्वाशयगते पुनः ॥ २३ ॥
अनेकवर्णं वमति मूत्रयत्यतिसार्यते ।
तन्द्रा कृशत्वं पाण्डुत्वमुदरं बलसङ्क्षयः ॥ २४ ॥
तयोर्वान्तविरिक्तस्य हरिद्रे कटभीं गुडम् ।
सिन्दुवारितिनिष्पाव-चाष्पिकाशतपर्विकाः ॥ २५ ॥
तण्डुलीयकमूलानि कुक्कुटाण्डमवल्गुजम् ।
नावनाञ्जनपानेषु योजयेद्विषशान्तये ॥ २६ ॥

व्याख्या—आमाशय गत विष के लक्षण—स्वेद, मूर्च्छा, अफरा, मद, भ्रम, रोमाञ्च, छर्दि, दाह, नेत्रों के आगे अन्धकार, हृदय की गति में रुकावट या रुक जाना (मृत्यु), अथवा शरीर पर नाना वर्ण के बिन्दुओं की उत्पत्ति।

पक्वाशयगत विष के लक्षण—अनेक वर्ण की छर्दि, मूत्र तथा अतिसार, तन्द्रा (चेतना ह्रास), कृशता, शरीर में पाण्डुता, उदर रोग (यदि मारक विष नहीं है तब) और बल का क्षय।

इन दोनों दशाओं में—भली भाँति वमन कराओ यदि स्वतः हो रही हो तो सम्यक् वान्त के लक्षण दिखने तक वमन होने दो और विरेचन कराओ यदि स्वतः विरेचन हो रहा है तो सम्यक् विरिक्त के लक्षण (अ० १८ देखिये) दिखने तक विरेचन होने दो।

जब देखो कि भली भाँति वमन एवं विरेचन हो गये हैं तब—हल्दी, दारु हल्दी की छाल, अपराजिता, गुड़, सम्भालू के पत्र एवं जड़, मटर, हिंगुपत्री, बालवच, चौलाई की जड़, मुरगी के अण्डा का द्रव तथा बाकुची का प्रयोग—नस्य, अंजन तथा पीने में करो इससे उक्त विष विकार शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—वमन विरेचन द्वारा यथासम्भव अधिकांश विष स्वरूपतः निकल जाता है और जो पच चुका होता है। वह भी शरीर भर से लौट कर निकल जाता है और रहा सहा उक्त औषधियों के प्रभाव से शान्त होजाता है। केवल अण्डा की जरदी दूध में मिलाकर पिलाने से बहुत लाभ होता है। अथवा गो घृतके पान से भी लाभ होता है ॥२६॥

ताम्र भस्म एवं स्वर्ण का प्रयोग—

विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा ।
सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ॥ २७ ॥
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ।
न सज्जते हेमपाऽङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ॥ २८ ॥
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः ।

व्याख्या—जिस ने विष खाया है उसे वमन एवं विरेचन द्वारा शुद्ध होने पर—ताम्र भस्म १॥ रत्ती अथवा १ रत्ती प्रतिदिन १ तो० मधु में मिला कर प्रातः सायं चटना चाहिये इस से हृदय का विशेष रूप से शोधन हो जता है। हृदय शुद्धि हो जाने पर स्वर्ण भस्म एक शाण (१-१ रत्ती मात्रा से २४ दिन में) मधु अथवा मधु घृत में मिला कर चटाता रहे।

और सर्वदा स्वर्ण का सेवन करने वाले के शरीर पर विष का प्रभाव नहीं होता और विष का विकार शान्त हो जाता है जैसे कमल पत्र पर जल का बुरा प्रभाव नहीं होता, कमल पत्र जल में रहने पर भी सड़ता नहीं है।

और स्वर्ण का सेवन करने से आयुः बढ़ती है। तथा गर विषों—विष विकारों में भी यही चिकित्सा की जाती है।

वक्तव्य—विषों का विशेष वर्णन उत्तर अ. ३५ में देखिये ॥ २७,२८ ॥

विरोधी आहारों का वर्णन—

विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम् ॥ २९ ॥

आनूपमामिषं माषक्षौद्रक्षीरविरूढकैः ।
विरुध्यते सह बिसैर्मूलकेन गुडेन वा ॥ ३० ॥
विशेषात्पयसा मत्स्या मत्स्येष्वपि चिलीचिमः ।
विरुद्धमम्लं पयसा सह सर्वं फलं तथा ॥ ३१ ॥
तद्वत्कुलत्थवरक-कङ्गुवल्लमकुष्ठकाः ।
भक्षयित्वा हरितकं मूलकादि पयस्त्यजेत् ॥ ३२ ॥
वाराहं श्वाविधा नाऽद्याद्दध्ना पृषतकुक्कुटौ ।
आममांसानि पित्तेन, माषसूपेन मूलकम् ॥ ३३ ॥
अविं कुसुम्भशाकेन, बिसैः सह विरूढकम् ।
माषसूपगुडक्षीर-दध्याज्यैर्लाकुचं फलम् ॥ ३४ ॥
फलं कदल्यास्तक्रेण दध्ना तालफलेन वा ।
कणोषणाभ्यां मधुना काकमाचीं गुडेन वा ॥ ३५ ॥
सिद्धां वा मत्स्यपचने पचने नागरस्य वा ।
सिद्धामन्यत्र वा पात्रे कामात्तामुषितां निशाम् ॥ ३६ ॥
मत्स्यनिस्तलनस्नेहे साधिताः पिप्पलीस्त्यजेत् ।
कांस्ये दशाहमुषितं सर्पिरुष्णं त्वरुष्करे ॥ ३७ ॥
भासो विरुध्यते शूल्यः कम्पिल्लस्तक्रसाधितः ।
ऐकध्यं पायससुराकृशराः परिवर्जयेत् ॥ ३८ ॥
मधुसर्पिर्वसातैलपानीयानि द्विशस्त्रिशः ।
एकत्र वा समांशानि विरुध्यन्ते परस्परम् ॥ ३९ ॥
भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतः ।
मधुपुष्करबीजं च, मधुमैरेयशार्करम् ॥ ४० ॥
मन्थानुपानः क्षैरेयो, हारिद्रः कटुतैलवान् ।
उपोदिकाऽतिसाराय तिलकल्केन साधिता ॥ ४१ ॥
बलाका वारुणीयुक्ता कुल्माषैश्च विरुध्यते ।
भृष्टा वराहवसया सैव सद्यो निहन्त्यसून् ॥ ४२ ॥
तद्वत्तित्तिरिपत्राढ्य-गोधालावककपिञ्जलाः ।
ऐरण्डेनाग्निना सिद्धस्तत्तैलेन विमूर्च्छिताः ॥ ४३ ॥
हारीतमांसं हारिद्र-शूलक-प्रोत- पाचितम् ।
हरिद्रावह्निना सद्यो व्यापादयति जीवितम् ॥ ४४ ॥
भस्मपांशुपरिध्वस्तं तदेव च समाक्षिकम् ।

व्याख्या—विरुद्ध या परस्पर विरोधी आहार भी विष (मारक विष) तथा गरविष (दूषी विष) के समान होता है ।

यथा०—अनूप देशीय सूअर आदि का मांस—उरद, मधु, दूध तथा विरूढ़ (अंकुरित) धान्यों के साथ विरुद्ध होता है । और विष (में), मूली तथा गुड़ के साथ विरुद्ध होता है ।

मछलियों का मांस विशेषतः चिलिचिम नामक मछली का मांस दूध के साथ विरुद्ध होता है ।

अम्लरस वाले पदार्थ तथा सब प्रकार के अम्ल फल—दूध के साथ विरुद्ध होते हैं । इस प्रकार कुलथी, बरू, कंगनी धान्य, मटर तथा मोठ भी दूध के साथ विरुद्ध होते हैं । और मूली आदि हरे पदार्थ खाकर भी दूध नहीं पीना चाहिये ।

सूअर का मांस साही (सेह) के मांस के साथ मिला कर और हरिण तथा मुरगा मांस दही के साथ नहीं खाना चाहिये ।

कच्चे मांसों को पित्त द्रव के साथ, मूली को उरद की दाल के साथ, भेड़ के मांस को कुसुम्भा के शाक के साथ, विरूढ धान्यों को विष के साथ और बड़हर के फल को उरद की दाल, गुड़, दूध, दही तथा घृत के साथ नहीं खाना चाहिये ।

केला के फल (फली) को तक्र, दही अथवा ताड़ के फल के साथ और मकोय को पीपल एवं मरिच के साथ, मधु अथवा गुड़ के साथ नहीं खाना चाहिये ।

और जिस भाण्ड में मछली का मांस अथवा सोंठ का शाक पकाया जाता हो उसमें पकाई गई मकोय को न खावे ।

अथवा किसी अन्य भाण्ड में भी पकाई गई परन्तु रात्रि भर की बासी मकोय को भर पेट न खावे ।

जिस घृत अथवा तैल आदि स्नेह में मछली का मांस तला गया हो उसमें तली गई पीपल न खावे ।

कांसा के पात्र में दस दिन पर्यन्त धरा-पड़ा घृत न खावे (यह घृत नीला हो जाने पर वामक हो जाता है) ।

और भिलावा के सेवनकाल में उष्ण आहार विहार न करे ।

भास (चील पक्षी) का मांस शूल पर लपेट कर अङ्गारों पर पकाया गया विरुद्ध होता है ।

तक्र में पकाया गया कवीला विरुद्ध होता है ।

खीर, खोया एवं मलाई आदि दूध के पदार्थ, सुरा (शराब) एवं खिचड़ी को एक साथ न खावे ।

सम भाग मधु, घृत, वसा, तैल तथा जल दो-दो अथवा तीन-तीन अथवा सब एक साथ मिलाकर न खावे क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध हैं ।

परस्पर न्यूनाधिक परिमाण में भी मिलाए गये मधु एवं घृत वर्षा जल के अनुपान से विरुद्ध हो जाते हैं ।

मधु एवं कमलगट्टा और मधु, मैरेय (खजूर की सुरा) तथा शर्करासव (शर्करा की सुरा) भी विरुद्ध होते हैं ।

खीर—तक्र (या सत्तू के घोल) के अनुपान से विरुद्ध हो जाती है ।

और हारिद्रक (सर्पच्छत्रानुकारी, कुप्रसवः पीताऽवभासः शाक विशेषः स० सु०) को सरसों के तैल में तल

कर न खावे।

तिलकुट के साथ सिद्ध की गई पोई (शाक विशेष) को खाने से अतिसार हो जाता है।

बलाका का मांस—वारुणी (सुरा) तथा कुल्माष (उबाले हुए मूंग आदि धान्य) के साथ खाने से विरुद्ध होता है और सूअर की चर्बी में तल कर खाने से तत्काल मार डालता है।

और तीतर, मोर, गोह, लवा तथा गौरेया के मांस—एरण्ड काष्ठ की अग्नि पर तथा एरण्ड के तैल में तले गये मार डालते हैं।

हरियल पक्षी का मांस—दारु हलदी की शलाका (काण्ड–टहनी) पर पिरोकर (लपेट कर) और दारु हल्दी की लकड़ी को अग्नि पर पकाया गया सद्योमारक होता है। और भस्म तथा धूलि से धूसरित एवं मधु से युक्त भी सद्योमारक होता है।

वक्तव्य—इस प्रकार के विरोधी आहारों के दुष्परिणाम-

विस्फोटगुल्ममदविद्रधिशोफयक्ष्म

तेजोबलस्मृतिमतीन्द्रिय चित्तनाशम्।

कुर्याद् विरुद्धमशनं ज्वरमस्रपित्त -

मष्टौ गदांश्च महतो विषवच्च मृत्युम्॥

(अ सं. सू अ. ९)

अर्थात्—विरुद्ध भोजन-विस्फोट, गुल्म, मद, विद्रधि, शोफ, राजयक्ष्मा, तेजोनाश, बलनाश,स्मृतिनाश, बुद्धिनाश, इन्द्रिय नाश, चित्तनाश,ज्वर, रक्त पित्त तथा आठ प्रकार के महा रोगों को अथवा कभी कभी विष के समान मृत्यु को कर सकता है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. सू. अ. २६

षाण्ढ्याऽऽन्ध्यवीसर्प दकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्
मूर्छाभ्रमाध्मानगलामयानां पाण्ड्वामयस्याऽऽम विषस्य चापि।
किलास कुष्ठ ग्रहणीगदानां शोथाम्लपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योः विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम्॥१०९

भावार्थ—विरोधी अन्न नपुन्सकता आदि रोगों का अथवा मृत्यु का कारण हो सकता है॥ २९-४४॥

विरुद्ध आहार का सामान्य लक्षण —

यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य न हरेत्तत्समासतः॥ ४५॥
विरुद्धं शुद्धिरत्रेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः।
द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः॥ ४६॥

व्याख्या—जो कोई आहार—वातादि दोषों को उत्क्लिष्ट कर देता है परन्तु निकालता नहीं है वह आहार सामान्यतः "विरुद्ध या" विरोधी कहलाता है।

इस दशा में वमन विरेचन द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिये, अथवा उन-उन विरुद्ध आहारों के विरोधी आहारों एवं औषधों द्वारा शमन चिकित्सा करनी चाहिये, अथवा उक्त प्रकार के द्रव्यों द्वारा पहिले ही से संस्कार कर लेना चाहिये।

वक्तव्य—विरुद्धभोजन भी यदि देश सात्म्य आदि द्वारा सात्म्य कर लिये जाते हैं तो अभ्यास सात्म्य के कारण अहित नहीं होते अनेक देशों में दूध के साथ खिचड़ी खाई जाती है मध्य प्रान्त के जिला होशंगाबाद एवं रायपुर आदि में वहाँ के निवासियों को उससे कुछ भी हानि नहीं होती॥

विरोधी आहार से अहानि—

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्नि-वयःस्थ-बलशालिनाम्।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम्॥ ४७॥

व्याख्या—व्यायाम करने वाले, स्निग्ध शरीर वाले, प्रदीप्त अग्नि वाले युवक एवं उत्तम स्वास्थ्य वाले तथा बलवान् को विरोधी आहार से कुछ भी हानि नहीं होती और देश सात्म्य तथा अभ्यास सात्म्य अथवा मात्रा में थोड़ा विरोधी आहार भी हानिकारक नहीं होता॥४७॥

पथ्याऽपथ्य के सेवन एवं त्याग की विधि—

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्।
निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम्॥ ४८॥
अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा।
सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते सहसाऽन्यथा॥ ४९॥

व्याख्या—अभ्यस्त अपथ्य (विरोधी आहार एवं हानिकारक विहार) को भी चौथाई क्रम से अथवा पादपाद अर्थात् सोलहवें क्रम से फिर एक, दो तथा तीन दिन का अन्तर देकर त्यागना—छोड़ना चाहिये और इसी प्रकार अनभ्यस्त हित अर्थात् पथ्य का सेवन करना चाहिये। क्योंकि उक्त क्रम के विना एकाएक अपथ्य का परित्याग करने से और पथ्य का भी सेवन करने से—सात्म्यपरित्याग जनित और असात्म्य सेवन जनित नानाविध विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि किसी भी आहार एवं विहार का सहसा सेवन भी नहीं करना चाहिये और परित्याग भी नहीं करना चाहिये—परित्याग करना हो तो थोड़ा-थोड़ा करके करना चाहिये फिर भले ही सर्वथा त्याग हो जाय अथवा सेवन होता रहे॥ ४८,४९॥

उक्त विधि का फल—

क्रमेणाऽपचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च॥ ५०॥
अत्यन्तसन्निधानानां दोषाणां दूषणात्मनाम्।
अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति॥ ५१॥

व्याख्या—सच यह है कि–क्रमशः घटाए गये दोष

पुनः वृद्धि को प्राप्त नहीं होते और क्रमशः सञ्चित किये गये गुण स्थायी होते हैं।

शरीर में दोष सर्वदा वर्तमान–विद्यमान रहते हैं और उनका स्वभाव है शरीर को दूषित करना। इसलिये विद्वान् (पथ्याऽपथ्य के ज्ञाता) का कर्त्तव्य है कि वह अहित आहार विहार द्वारा उन दसों को दूषित न करें।

वक्तव्य—अन्यथा दोष दूषित होकर उसे रोगी अथवा मृत कर सकते हैं अर्थात् दोषों को दूषित होने का अवसर ही नहीं देना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अपथ्य सेवन से दोष विकृत होते हैं अतः अपथ्य का सेवन न करे। विरुद्ध या विरोधी आहार की निरपवाद परिभाषा यह है—च. सू. अ. २६—

देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिः विरोधमापद्यन्ते, परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् संयोगात्, संस्कारात् अपराणि, देशकालमात्रादिभिः च अपराणि तथा स्वभावात् अपराणि। ८६।

अर्थात्—जो द्रव्य शरीर की धातुओं (शरीर धारण करने वाले भावों) के प्रतिकूल होते हैं वे यदि खालिये जाते हैं तो शरीर की उन धातुओं के विरुद्ध हो जाते हैं। फलतः हानि पहुँचाते हैं—शरीर में विकृति उत्पन्न कर देते हैं। वे कुछ द्रव्य गुणों में परस्पर विरुद्ध होते हैं। कुछ संयोग-मात्र से, तो कुछ संस्कार मात्र से, तो कुछ देश, काल, मात्रा आदि से और कुछ स्वभावतः विरुद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में जो द्रव्य अकेला-अकेला खाने से हानि नहीं करते अपितु मिलाकर खाने से अथवा संस्कार आदि से हानिकारक हो जाते हैं वे विरुद्ध कहे जाते हैं। हाँ—अष्टाङ्ग संग्रह में—क्रमेण ······भवन्तिहि ५० वाँ श्लोक इस प्रकार है—

क्रमेणाऽनेन संत्यक्ता दोषाः संवर्द्धिता गुणाः।
प्रभवन्ति न पीडायै प्राप्नुवन्ति स्थिरात्मताम्।

अर्थात्—श्लोक ४८-४९ में बतलाये गये क्रम से त्यागे गये दोष एवं बढ़ाये गये गुण किसी प्रकार की हानि नहीं करते अपितु स्थायी होते हैं॥ ५०,५१॥

तीन उपस्तम्भ—

आहारशयनाऽब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितः।
शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः॥ ५२॥

व्याख्या—जीवन के तीन उपस्तम्भ हैं–१–आहार, २–शयन अर्थात् निद्रा तथा ३–ब्रह्मचर्य। उन तीनों का युक्ति पूर्वक प्रयोग–उपयोग-करने से शरीर का धारण होता है जैसे धरनों (स्तम्भों-खम्भों) का युक्ति युक्त प्रयोग करने से आगार अर्थात् भवन का धारण होता है।

वक्तव्य—त्रयः उपस्तम्भा इति—आहारः, स्वप्नो ब्रह्मचर्यं इति, एभिस्त्रिभिः युक्तियुक्तैः उपस्तम्भैः उपस्तब्धं शरीरं बल वर्ण–उपचयोपचितं अनुवर्त्तते यावत् आयुः संस्कारं अहितं अनुपसेवमानस्य य इहैव उपदेक्ष्यते। ३५। च. सू. अ. ११।

भावार्थ—इन तीन उपस्तम्भों के युक्ति युक्त उपयोग से शरीर जीवन भर बल, कान्ति एवं पुष्टि से युक्त बना रहता है। परन्तु तब जब अहित आहार विहार का सेवन नहीं होता, जिसका वर्णन इसी अध्याय में तथा अन्यान्य अध्यायों में किया गया है॥ ५२॥

आहार नामक उपस्तम्भ—

आहारो वर्णितस्तत्र तत्र तत्र च वक्ष्यते।

व्याख्या—प्रथम उपस्तम्भ आहार है और आहार का वर्णन ऋतु चर्या सू. अ. ३ में तथा सू. अ. ५,६ एवं ७ में कर दिया गया है और आगे भी यथास्थान किया जायगा।

वक्तव्य—अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम् च. सू. अ. २५। तथा—विविधमशितपीतलीढखादितं जन्तोः हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेन ऊष्मणा सम्यक् विपच्यमानं कालवत् अनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचय बल वर्ण सुखाऽऽयुषा योजयति शरीरधातून् ऊर्जयति च (च. सू. अ. २८)

तथा—अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः (वेद) तथा—इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः प्रत्यक्षफलदर्शनात्। तदिन्धना हि अन्तरग्नेः स्थितिः, तत् सत्त्वं ऊर्जयति, तत् शरीर धातु व्यूह बलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तं उपसेव्यमानं विपरीतम् अहिताय सम्पद्यते। ३। च. सू. अ. २७।

अर्थात्—जीवन रक्षक भावों में अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है। और 'प्राणिनां पुनः मूलमाहारो बलवर्णौजसां च' (सु. सू. अ. ४६)। अर्थात् प्राणियों का जीवनमूल आहार है और बल, वर्ण एवं ओजस् का मूल भी आहार है।

निद्रा नामक उपस्तम्भ—

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्॥ ५३॥
वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च।
अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता॥ ५४॥
सुखायुषी पराकुर्यात्कालरात्रिरिवाऽपरा।
रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा॥ ५५॥
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्।

व्याख्या—दूसरा उपस्तम्भ शयन अर्थात् निद्रा है—

सुख एवं दुःख, पुष्टि एवं कृशता, बल एवं दुर्बलता, वृषता (मैथुन सामर्थ्य या रति शक्ति) एवं क्लीवता (मैथुनाऽशक्ति), ज्ञान एवं अज्ञान (बुद्धिहीनता) तथा जीवन एवं मरण ये सब समीचीन तथा असमीचीन निद्रा के अधीन हैं।

अकाल में निद्रा का सेवन, अत्यधिक निद्रा का सेवन अथवा सर्वथा निद्रा का न सेवन—सुख एवं आयुः को नष्ट कर देता है इस प्रकार की निद्रा काल रात्रि के समान होती है।

रात्रि में जागना रूक्ष (रुक्षता कारक) और दिन में सोना स्निग्ध (स्निग्धता कारक) होता है।

बैठे २ ऊंघना (झपकी लेना) न रूक्ष ही होता है और न अभिष्यन्दी (स्निग्ध) ही होता है।

वक्तव्य—अ. सं. सू. अ. ९—

सैव युक्ता पुनर्युक्ते निद्रा देहं सुखाऽऽयुषा।
योगाऽभियोगिनां बुद्धिर्निर्मला तपसा यथा।

अर्थात्—युक्ति युक्त निद्रा शरीर को सुख एवं आयु से युक्त करती है जैसे योगियों की निर्मल बुद्धि उनको तपस् से युक्त करती है॥ ५३-५५॥

निद्रा विषयक अन्यान्य विचार—

ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः॥ ५६॥
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन्कफपित्तकरो हि सः।
मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्व-मद्यस्त्रीभारकर्मभिः॥ ५७॥
क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिणः।
वृद्धबालाऽबलक्षीण-क्षततृट्शूलपीडितान्॥ ५८॥
अजीर्णाभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि।
धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति॥ ५९॥
बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाऽहनि।
विषार्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि॥ ६०॥
अकालशयनान्मोह-ज्वरस्तैमित्यपीनसाः।
शिरोरुक्शोफहृल्लास-स्रोतोरोधाग्निमन्दताः॥ ६१॥
तत्रोपवासवमनस्वेदनावनमौषधम्।
योजयेदतिनिद्रायां तीक्ष्णं प्रच्छर्दनाञ्जनम्॥ ६२॥
नावनं लङ्घनं चिन्तां व्यवायं शोकभीक्रुधः।
एभिरेव च निद्राया नाशः श्लेष्मातिसङ्क्षयात्॥ ६३॥
निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः।
जाड्यग्लानिभ्रमाऽपक्ति-तन्द्रारोगाश्च वातजाः॥ ६४॥
यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः।
असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान्॥ ६५॥
शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान् दधि।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्धकर्णाक्षितर्पणम्॥ ६६॥
कान्ताबाहुलताश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता।
मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः॥ ६७॥

व्याख्या—ग्रीष्म ऋतु में—वायु का संचय होने से, आदान काल जनित रूक्षता होने से तथा रात्रि छोटी होने से दिन में सोना हित होता है और अन्यान्य ऋतुओं में वह कफ कारक होता है।

परन्तु बोलने से, सवारी करने से, मार्ग चलने से मद्यपान से, मैथुन से, काम-धन्धों से, क्रोध से, शोक से तथा भय से पीड़ितों (थकों) को, श्वास, हिक्का तथा अतिसार के रोगियों को, वृद्ध, बालक, दुर्बल, क्षीण, क्षत (घायल) को, तृषा एवं शूल से पीड़ित को, अजीर्ण रोगी को, अभिहत (चोट खाए हुए) को तथा उन्माद रोगी को और जिनको दिन में सोना उचित (सात्म्य-अनुकूल-अभ्यस्त) है उनको सभी ऋतुओं में सोना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि दिन में सोने से उनको धातुसाम्य—आरोग्य का लाभ होता है और कफ उनके अङ्गों को पुष्ट करता है।

जिनके शरीर में मेदस् तथा कफ अधिक है और जो प्रतिदिन स्नेहों—स्निग्ध आहारों का सेवन करते हैं उनको दिन में नहीं सोना चाहिये।

विष से पीड़ित तथा कण्ठ रोगी रात्रि में भी कभी न सोए।

अकाल में सोने से—मोह, ज्वर, स्तैमित्य (शरीर में चिपचिपाहट), पीनस, शिरो रोग, शोथ, मिचली, रस-वाही स्रोतों का अवरोध तथा मन्दाग्नि नामक विकार हो सकते हैं।

इस दशा में—उपवास, वमन, स्वेदन तथा नस्य चिकित्सा का प्रयोग करे।

अतिनिद्रा (अधिक निद्रा आने) में—तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण अञ्जन, तीक्ष्ण नस्य तथा उपवास, चिन्ता, मैथुन, शोक, भय तथा क्रोध लाभदायक होते हैं और इन्हीं से निद्रा का नाश भी हो जाता है और कफ के क्षय से भी निद्रा का नाश होता है।

और निद्रा नाश से—शरीर में मर्दन कीसी वेदना, शिर में भारीपन, जम्भाई, जडता, ग्लानि, भ्रम, अपच, तन्द्रा तथा वात जनित अन्यान्य रोग हो जाते हैं।

इस लिये समय पर रात्रि में और यदि अनुकूल हो तो दिन में भी निद्रा का सेवन करें।

यदि असात्म्य जागरण किया हो—उचित समय पर निद्रा न आई हो या न ली हो तो प्रातः काल का भोजन न करके आधी निद्रा ले लेनी चाहिये अर्थात् यदि रात्रि

में ४ घण्टा जगरण किया हो तो दिन में २ घण्टा सो लेना चाहिये।

जिसको निद्रा थोड़ी आती हो वह—दूध, मद्य, (किसी भी मादक द्रव्य), मास रस, दही, अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान तथा कान में एवं नेत्र में तर्पण स्नेह प्रयोग का सेवन करे।

और सामान्यतः—कान्ता (प्रिया) या कान्त (प्रिय) की बाहु रूपी लता का आश्लेष (आवेष्टन—आलिंगन), निर्वृति (सुख—आरोग्य), कृत कृत्यता (कर्त्तव्य कर्म कर चुकना) तथा मनोनुकूल शब्द (गीत) आदि विषयों का लाभ, ये सब पर्याप्त-इच्छानुसार निद्रा सुख को देने वाले हैं।

वक्तव्य—निद्रा का वर्णन देखिये च. सू. अ. २१ में तथा सु. शा. अ. ४ में। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

यदातु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः।३५।

अर्थात्—जब मनस् एवं इन्द्रियां थक जाती हैं और विषयों से निवृत्त हो जाती हैं तब मानव सो जाता है।

निद्रा के भेद—

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनः शरीरश्रमसम्भवा च।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्त्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा॥

और

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशंति।

और भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानं च उपदिशन्ति सा स्वभावत एव सर्व प्राणिनोऽभिस्पृशति तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रविशति तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवति, अनवबोधिनी, सा प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानाम् अहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानाम् अनिमित्तम् सत्वभूयिष्ठानाम् अर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणां अनिलबहुलानां मनः शरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति।३३।

हृदयं चेतनास्थानम् उक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्।३४।
निद्राहेतुः तमः, सत्त्वं बोधने हेतुः उच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुः गरीयान् परिकीर्त्यते।३५।
सर्वर्तुषु दिवास्वापो निषिद्धः अन्यत्र ग्रीष्मात्।
विकृतिः हि दिवा स्वप्नो नाम तत्र स्वपतां अधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च·········। रात्रौ अपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्ताः ते एव उपद्रवा भवन्ति।३८।
तस्मात् न जागृयात् रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरौ एतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्।३९।
निद्रा सात्म्यीकृता यैः तु रात्रौवा यदि वा दिवा।
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वापि जायते।४१।

उचित निद्रा वैष्णवी या भूतधात्री है और अयुक्त निद्रा पाप या वैकारिकी होती है अतः साधारणतः ६-८ घण्टा सोना, ४-६ घण्टा विश्राम एवं मनो-विनोद तथा ६-८ घण्टा काम-धन्धा स्वास्थ्य के लिये आवश्यक या उपयोगी है और २ घण्टा नित्य कर्म—मलोत्सर्जन एवं स्नानादि के लिए।

चरकोक्त भूतधात्री (प्राणियों की पालिका) निद्रा का नाम सुश्रुत की वैष्णवी निद्रा है. विष्णु भी पालन के अधिष्ठात्री देवता हैं। यह निद्रा रात्रि में स्वभावतः आती है और चरकोक्त तमोभवा आदि निद्राओं का नाम सुश्रुत में "पाप्मा" या पाप हानिकारक व्यापार है या रोग रूप है। उचित समय पर सोना एवं जागना स्वास्थ्यरक्षा के लिये परमावश्यक है ॥ ५६–६७ ॥

ब्रह्मचर्य नामक उपस्तम्भ—

ब्रह्मचर्यरतेग्राम्यसुखनिःस्पृहचेतसः।
निद्रासन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ॥ ६८ ॥

व्याख्या—जिसकी युक्ति युक्त ब्रह्मचर्य में रति (रुचि) है, मैथुन की ओर से मनस् निःस्पृह (लिप्सा रहित) रहता है और जो सन्तोष से तृप्त रहता है उसकी निद्रा भी अपने समय का अतिक्रमण नहीं करती अर्थात् समय पर आती है और समय पर खुल जाती है ॥६८॥

ग्राम्य धर्म का वर्णन—

ग्राम्यधर्मे त्यजेन्नारीमनुत्तानां रजस्वलाम्।
अप्रियामप्रियाचारां दुष्टसङ्कीर्णमेहनाम्। ६९ ॥
अतिस्थूलकृशां सूता गर्भिणीमन्ययोषितम्।
वर्णिनीमन्ययोनिं च गुरुदेवनृपालयम् ॥ ७० ॥
चैत्यश्मशानाऽऽयतन-चत्वराम्बुचतुष्पथम्।
पर्वाण्यनङ्ग दिवसं शिरोहृदयताडनम् ॥ ७१ ॥

व्याख्या—ग्राम्य अर्थात् मैथुन में इस प्रकार की नारी का परित्याग करे—जो उस समय उत्तान (चित लेटी हुई) न हो, जो रजस्वला हो, जो प्रिया न हो, जिसका आचरण प्रिय (प्रीतियुक्त) न हो, जिसकी भग उपदंश आदि किसी रोग से दूषित हो तथा संकीर्ण (संकुचित हो अनिच्छा से ऐसा होता है, इस दशा में किया गया मैथुन बलात्कार कहलाता है और इच्छा होने पर भग कुछ विवृत हो जाती है), जो अत्यन्त स्थूल हो, जो अत्यन्त कृश हो, जो प्रसूता (प्रसव से ४०-४५ दिन तक प्रसूता संज्ञा रहती है) हो, जो गर्भवती हो, जो पराई नारी

हो तथा जो ब्रह्मचारिणी हो । और जो अन्य जातीया हो (अथवा अजा आदि पशु योनि हो)।

और गुरुगृह, चैत्य, श्मशान भूमि, वध्य भूमि (कसाई खाना या फांसी घर) चौतरा (तिमुहानी, त्रिपथ या ग्राम वासियों का पूज्य स्थान), जल (तालाब एवं झील आदि) तथा चौरास्ता आदि स्थान का परित्याग करे।

और संक्रान्ति आदि पर्व के दिनों का परित्याग करे, भग के अतिरिक्त अङ्गों में मैथुन न करे तथा दिन में मैथुन न करे। और काम सूत्रोक्त शिरः ताड़न एवं हृदय ताड़न आदि न करे।

वक्तव्य—'दुष्टसकीर्णं मेहनाम्' पाठ में मेहन शब्द भग या योनि के लिये प्रयुक्त किया गया है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता, अस्तु श्री वाग्भट की जैसी इच्छा। सु. चि. अ. २४ में योनिदोष प्रपीडिताम् पाठ है। दुष्ट भग के संसर्ग से तथा रजस्वला के संसर्ग से उपदंश आदि एवं सकीर्ण भग के संसर्ग से अवपाटिका रोग हो सकता है। गर्भिणी का गर्भ स्राव या गर्भपात हो सकता है। यह सब आयुर्वेद, लोकाचार तथा कामसूत्र के मिश्रित दृष्टिकोण से लिखा गया है वैसे आयुर्वेद का तो उपदेश है कि केवल गर्भाधान या सन्तानोत्पादन के लिये ही नर-नारी का संसर्ग होना चाहिये यथा—सन्तोऽप्याहुः अपत्यार्थं दम्पत्योः संगतिं रहः (शा. अ. १)।

अप्रिया, अप्रियाचारा, दुष्ट शिश्न, अतिस्थूल तथा अतिकृश आदि विशेषण नर के लिये भी समझना चाहिये, अर्थात् नारी ऐसे नर से संसर्ग न करे। देखिये सु. नि. अ. १२ में उपदंश प्रकरण तथा च. चि. अ. ३० में ध्वजभंग प्रकरण एवं योनि व्यापद् आदि २ प्रकरण। वास्तविकता यह है कि नर एवं नारी दोनों को परस्पर ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि मैथुन मिथुन अर्थात् नर-नारी दोनों का कर्म है ॥ ६९-७१ ।

मैथुन में अन्य विचार—

अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् दुःस्थिताङ्गः पिपासितः ।
बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम् ॥७२॥

व्याख्या—जिसने अधिक भोजन किया हो, जो अधीर या घबराया हुआ या भयभीत हो, जो भूखा हो, जिसका शरीर सम स्थित न हो (टेढ़े मेढ़े लेट कर या उलटे सीधे होकर या खड़े होकर मैथुन करना उचित नहीं है), जो प्यासा हो, जो बालक हो, जो वृद्ध होगया हो, जिसको मूत्र पुरीष आदि का वेग उपस्थित हो तथा जो रोगी हो वह मैथुन न करे।

वक्तव्य—ये विशेषण नर एवं नारी दोनों के लिये हैं! उपपत्ति पाठक स्वयं करें। सु. चि. अ. २४ का एक श्लोक—

रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्धावरणमेव च ।
स्थितावुत्तानशयने विशेषेण च गर्हितम् ॥१२०॥

अर्थात्—शुक्र का अत्यधिक क्षरण, शिश्न अथवा गर्भाशय के शिर का आवरण (फ्रेञ्चलेदर अथवा पेसरी का प्रयोग जो कि मनचलों द्वारा गर्भनिरोधार्थ किया जाता है), खड़े होकर तथा नर नीचे एवं नारी ऊपर होकर (विपरीतरति) मैथुन कर्म में विशेषतः निन्दित हैं। और—क्रीड़ायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत्। अर्थात्—बुद्धिमान् एवं भला चाहने वाले नर-नारी का कर्त्तव्य है कि क्रीड़ा-मनोविनोद मात्र के लिये मैथुन का परित्याग करें। अ. सं. सू. अ. ९ के कुछ श्लोक—

न चर्ते षोडशाद् वर्षात् सप्ततेः परतो न च ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ।
अतिबालो ह्यसंपूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजन् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम् ।
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियं व्रजन् ।
कायस्य तेजः परमं हि शुक्रं
आहारसारादपि सारभूतम् ।
जितात्मना तत् परिरक्षणीय
ततो वपुः सन्ततिरप्युदारा ।

अर्थात्—सोलह वर्ष की आयु के पूर्व और सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् मैथुन करना उचित नहीं है।

अत्यन्त बालक-बालिका के शरीर की धातुयें असंपूर्ण होती हैं अतः मैथुन करने से उनका शरीर वैसे सूख जाता है जैसे थोड़े जल वाला तड़ाग। और अत्यन्त वृद्ध नर-नारी का शरीर सूखे-रूखे काष्ठ के समान टूट-फूट जाता है।

शुक्र धातु शरीर का परम सार है और आहार रस का भी सार है अतः उसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि उसकी रक्षा से शरीर भी बना रहता है और सन्तान भी उत्तम होती है।

इस प्रकार आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य नामक तीन उपस्तम्भों का वर्णन किया गया है। इनके आश्रय से शरीर रूपी भवन टिका रहता है अन्यथा ढह जाता है ॥७२॥

मैथुन विषयक अन्य विचार

सेवेत कामतः कामं तृप्तो वाजीकृतां हिमे ।
त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वर्षानिदाघयोः ॥७३॥
भ्रमक्लमोरुदौर्बल्य-बलधात्विन्द्रियक्षयाः ।
अपर्वमरणं च स्यादन्यथा गच्छतः स्त्रियम् ॥७४॥

व्याख्या—वाजीकरण आहार एवं औषध से तृप्त-पुष्ट नर नारी ही हिम—शीतकाल (हेमन्त एवं शिशिर ऋतुओं) में यथेष्ट मैथुन का सेवन करें वसन्त एवं शरद् ऋतुओं में तीन दिन पर और वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतुओं में १५ दिन पर मैथुन का सेवन करें। इस के विपरीत मैथुन करने से—भ्रम, क्लम, ऊरुओं में दुर्बलता एवं कृशता, तथा बल, रसादि धातु एवं इन्द्रियों का क्षय अथवा अकाल मृत्यु हो सकती है ॥ ७३, ७४ ॥

संयम का महत्त्व—

स्मृतिमेधायुरारोग्यपुष्टीन्द्रिययशोबलैः ।
अधिका मन्दजरसो भवन्ति स्त्रीषु संयताः ॥७५॥

व्याख्या—जो मैथुन में संयत—संयमन शील रहते हैं वे—स्मरण शक्ति, मेधा (धारणा शक्ति), आयु आरोग्य, पुष्टि, श्रोत्रादि द्वारा शब्दादि ग्रहण सामर्थ्य, यश तथा शारीरिक बल में अधिक (अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट) होते हैं और उन की जरा (बुढ़ापा) विलम्ब से आती है।

वक्तव्य—अष्टाङ्ग संग्रह का एक स्मरणीय श्लोक—

अप्रमत्तो भजेद् भावान् तदात्वसुखसंज्ञकान् ।
सुखोदर्केषु सज्जेत देहस्य एतत् अलं हितम् ।

अर्थात्—तत्काल सुख संज्ञक भावों का सेवन सावधान होकर करे (अन्धा-धुन्ध नहीं) और उत्तरकाल में सुख देने वाले भावों में आसक्त रहे, यह देह के लिये पर्याप्त हित हैं। मैथुन भी तदात्व सुख है अतः उसका सेवन सावधान होकर करे असावधान होकर न करे। इसके लिये देखिये मु. चि. अ. २४ ॥ ७५ ॥

मैथुनोत्तर कर्त्तव्य—

स्नानानुलेपनहिमानिलखण्डखाद्य-
शीताम्बुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः ।
सेवेत चानु शयनं विरतौ रतस्य
तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धाम ॥७६॥

व्याख्या—मैथुन के अन्त में—स्नान (समस्त शरीर अथवा उपस्थ का प्रक्षालन), चन्दन एवं कस्तूरी आदि का कालानुसार अनुकूल लेपन, शीत वायु, खण्ड के खाद्य (मिठाई), शीतल जल अथवा दूध, मांस रस अथवा उरद आदि का जूस, सुरा अथवा प्रसन्ना नामक मद्य का सेवन करे और फिर सो जाय इस प्रकार उस के शरीर में पुनः तेजस् आ जाता है ॥७६॥

राजा या मानव मात्र का कर्त्तव्य—

श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ
भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य ।
भवति विपुलतेजःस्वस्थकीर्तिप्रभावः
स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायुः ॥७७॥

व्याख्या—उच्च कोटि के शिक्षित, एवं चरित्रवान्, चिकित्सा कुशल, दयालु वैद्य में (को) निःशंक होकर अपने शरीर की रक्षा को सम्भाल कर—भूमिपाल—राजा—अत्यन्त तेजस्वी, स्वस्थ, यशस्वी, प्रभावशाली, अपने पुण्य के फल (सुख) का उपभोग करने वाला तथा दीर्घायुः होता है।

वक्तव्य—विशेष देखिये सु. क. अ. १। सम्पन्नों के, धनिकों के विशेषतः राजाओं—शासकों के मित्रों की अपेक्षा शत्रु अधिक होते हैं वे अथवा उनके द्वारा नियुक्त नर अथवा नारियां शत्रुता वश विष का प्रयोग कर देते हैं और जिनके घर में एक से अधिक स्त्रियाँ होती हैं उनके यहाँ भी ऐसी दुर्घटना होती है, सौभाग्य लोभ से अथवा किसी के बहकावे में आकर नारियाँ इस प्रकार की भूल कर बैठती हैं। इसलिये सदा सर्वदा अच्छे चिकित्सक का आश्रय लेना आवश्यक है किसी चिकित्सक को अपना गृहचिकित्सक अवश्य बना रखना चाहिये जो समय पर जीवन रक्षा एवं रोग शान्ति का उपाय कर सके। तम् अर्थमानाभ्यां यथाकालं गुरुमिव शिष्यः पितरमिव पुत्रः पूजयेत्। अ. सं. सू. अ. ८। विष कन्या—

नच कन्यामविदितां संस्पृशेत् अपरीक्षिताम् ।
विविधान् कुर्वते योगान् कुशलाः खलु मानवाः ।
आजन्मविषसंयोगात् कन्या विषमयी कृता ।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिः हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम् ।
तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् म्लायेते पुष्पपल्लवौ ।
शय्यायां मत्कुणा, वस्त्रे यूकाश्च, स्नानवारिणा ।
म्रियन्ते जन्तवो ज्ञात्वा ताम् एवं दूरतः त्यजेत् ।

अर्थात्—अपरिचिता एवं अज्ञात कुलशीला नारी का स्पर्श भी न करे क्योंकि इससे बहुत बड़ी हानि हो सकती है। जन्म से लेकर विष सेवन करने से विषमयी-विष कन्या बनाई जाती है जिसके स्पर्श एवं श्वास के प्रभाव से मृत्यु हो सकती है। उसकी परीक्षा है—उसके माथा के स्पर्श से पुष्प एवं कोमल पत्र मुर्झा जाते हैं, शय्या के खटमल, वस्त्र कीं जूएँ, स्नान जल से अन्यान्य जन्तु मर जाते हैं। चिकित्सक की देखरेख के एवं सम्मति के विना कोई आहार एवं विहार नहीं करना चाहिये ॥७७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने सप्तमोऽध्यायः ।

——

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब मात्राशितीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस का वर्णन—च० सू० अ० ५ एवं २७, वि० अ० २, चि० अ० १५ एवं सि० अ० १२ में, सु० सू० अ० ४६, उ० अ० ५६ एवं ११ में देखिये ।

आहार मात्रा का वर्णन —

मात्राशी सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका ।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि ॥१॥
गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता ।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति ॥२॥

व्याख्या—स्वस्थ एवं रोगी को सदा मात्रा पूर्वक आहार करना चाहिए क्योंकि मात्रा ही जठराग्नि की प्रवर्त्तक (दीपक) होती है ।

यथा गुरु द्रव्यों के आहार की आधी तृप्ति (आधे पेट खाना) एवं लघु द्रव्यों के आहार की न न्यून और न अत्यधिक तृप्ति अथवा जो सुखपूर्वक पच जाय वह "मात्रा" अर्थात् आहार मात्रा कहलाती है ॥२॥

वक्तव्य—मात्रा—परिमाण, मान, तौल का नाम है। अ० सं० सू० अ० ११—मात्राशी स्यात्, मात्रा पुनः अग्निबलाऽऽहारद्रव्याऽपेक्षिणी । कुक्षेः अप्रतिपीडनम्, आहारेण हृदयस्य असंरोधः, पार्श्वयोः अविपाटनं, अनतिगौरवम् उदरस्य, प्रीणनम् इन्द्रियाणां, क्षुत् पिपासयोः उपरतिः, स्वस्थानाऽऽसनशयन गमन उच्छ्वास प्रश्वास हास्य संकथासु सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्ण—उपचय करत्वं चेति मात्राया लक्षणम् अर्थात्—मात्रानुसार आहार का अभ्यासी होना चाहिये । और मात्रा जठराग्नि के बल एवं आहार द्रव्यों के गुरुत्व एवं लघुत्व की अपेक्षा रखती है । उचित मात्रा वह होती है—जिस से आमाशय आदि उदरावयवों का पीड़न न हो हृदय पर दबाव न पड़े या उसकी सम्यक् गति में रुकावट न हो , पार्श्वों (फुप्फुसों) पर दबाव न पड़े , उदर में अधिक भारीपन का अनुभव न हो, इन्द्रियों का प्रीणन-तर्पण हो, भूख एवं प्यास की शान्ति हो जाय, खड़ा रहने में, बैठने में, लेटने में, चलने में, श्वास प्रश्वास की क्रिया में, हँसने में तथा वार्त्तालाप (व्याख्यान, गाना एवं पढ़ाना आदि) में, सुख का अनुभव हो, सायंकाल का प्रातःकाल और प्रातःकाल का आहार सायंकाल तक भलीभाँति पच जाय—रस रक्तादि प्रसाद भाग में एवं पुरीष मूत्रादि किट्ट भाग में परिणत हो जायँ और बल, वर्ण (कान्ति) एवं पुष्टि का लाभ हो, यह मात्रा का निरपवाद लक्षण है ।

भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. वि. अ. २—

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेत् अवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः तद्यथा—एकमवकाशांशं मूर्तानां विकाराणाम् एकं द्रवाणामेकं पुनः वातपित्तश्लेष्मणाम् । एतावतीं माहारमात्रामुपयुञ्जानो न अमात्राहारजं किञ्चित् अशुभं प्राप्नोति ॥ ३ ॥

अर्थात्—आहार का उपयोग करते समय आमाशय के तीन अवकाशों की कल्पना कर लेनी चाहिये । यथा—एक अवकाश मूर्तिमान् (रोटी, पूड़ी, भात आदि) द्रव्यों के लिये, एक अवकाश द्रवद्रव्यों (जल एवं दूध आदि) के लिये और एक अवकाश-वायु की (आमाशया लोड़नरूप) गति के लिये. पित्त एवं कफ की क्रिया के लिये । इतनी मात्रा का उपयोग करने से मानव हीन मात्रा एवं अधिक मात्रा (आहार परिणाम) से उत्पन्न होने वाले अशुभ भावों (रोगों) को कदापि प्राप्त नहीं करता । दूसरे शब्दों में—च. सू. अ, अ. ५—

यावत् हि अस्य अशितमशनम् अनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावत् अस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।४

अर्थात्—प्रत्येक मानव के आहार की मात्रा उतनी समझनी चाहिये जितनी खाने पर स्वास्थ्य को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना अपने समय पर पच जाय । क्योंकि—

"मात्रावत् हि अशनं अशितं अनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्ण सुखायुषा योजयति उपभोक्तारम् अवश्यम् इति" ॥ ८ ॥

अर्थात्—मात्रानुसार उपभुक्त आहार—स्वास्थ्य को किसी प्रकार की हानि पहुंचाये बिना उपभोक्ता को बल, वर्ण, सुख एवं आयुः से अवश्य जोड़ता है । अमात्रावान् आहार दो प्रकार का होता है—१—हीन मात्र और २—अति मात्र ॥१, २॥

हीनमात्र एवं अतिमात्र आहार से हानि—

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे ।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते ॥३॥
अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत् ।

व्याख्या—हीन मात्रा वाला आहार—बल, पुष्टि एवं ओजस् का वर्द्धक नहीं होता अपितु सभी वात व्याधियों का उत्पादक होता है ।

और अधिक मात्रावाला आहार—वायु आदि सब दोषों को तत्काल प्रकुपित कर देता है ॥ २ ॥

विसूचिका एवं अलसक—

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः ॥४॥
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाऽऽविश्य कुर्वते ।
विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विषूचिकाम् ॥५॥
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाजितात्मनः ।
प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते ॥६॥
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ।
विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः ॥७॥
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विषूचिका ।

व्याख्या—उक्त अतिमात्रा वाले आहार से पीड़ित वातादि दोष उस अपक्व एवं दूषित आहार द्वारा एक साथ कुपित होकर और उसी आहार में मिश्रित होकर विष्टम्भ (विष्टब्धाजीर्ण या आमाशय की गति का निरोध) करते हुए "अलसक" नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं ।

अथवा—मुखमार्ग से छर्दि द्वारा और गुदमार्ग से अतिसार द्वारा आहार को निकालते हुए "विसूचिका" नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं ।

यह दोनों रोग सहसा—अर्थात् एकाएक हो जाते हैं और होते हैं प्रायः उसको जो खाते समय अपने को वश में न रख कर—लालच वश अधिक मात्रा में खा जाता है ।

अलसक एवं विसूची में भेद—

जिस में—वह दूषित आहार—छर्दि एवं अतिसार के रूप में निकलता नहीं है और पचता भी नहीं है किन्तु आमाशय में गतिहीन होकर पड़ा रहता है वह रोग "अलसक" कहलाता है ।

और जिस में—वायु आदि दोषों के अत्यधिक प्रकोप के कारण उत्पन्न विविध प्रकार की शूल आदि वेदनाओं द्वारा सूचीवेध के समान अङ्ग २ बिंधते प्रतीत होते हैं उस रोग का नाम "विसूचिका" है ॥४-७॥

विसूचिका में दोषज लक्षण—

तत्र शूलभ्रमाऽऽनाहकम्पस्तम्भादयोऽनिलात् ॥८॥
पित्ताज्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृट्प्रलयादयः ।
कफाच्छर्द्यङ्गगुरुतावाक्सङ्गष्ठीवनादयः ॥९॥

व्याख्या—विसूचिका में वायु से-शूल, भ्रम, आनाह, कम्पन एवं स्तम्भन आदि (अंगमर्द, मुख शोष, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह एवं सिरासंकोच—ऐंठन नामक) लक्षण होते हैं-

पित्त से—ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, तृषा तथा मूर्च्छा आदि (मद भ्रम एवं प्रलाप नामक) लक्षण होते हैं ।

और कफ से—छर्दि शरीर में भारीपन, वाणी में अवरोध (शीताङ्गता भी) एवं लालास्राव नामक लक्षण होते हैं ॥ ८, ९ ॥

अलसक एवं दण्डालसक का वर्णन—

विशेषाद्दुर्बलस्याल्पवह्नेर्वेगविधारिणः ।
पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा ॥१०॥
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम् ।
शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान् ॥११॥
सोऽलसः, अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टाऽऽम-बद्ध-खाः ।
यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत् ॥१२॥
दंडकालसकं नाम तं त्यजेदाशुकारिणम् ।

व्याख्या—अलसक का विशिष्ट वर्णन—यह रोग विशेषतः उसे होता है जो दुर्बल, मन्दाग्निवाला (फलतः अधिक कफ वाला) तथा वात, मूत्र एवं पुरीष के वेगों को रोकता है । इस रोग में खाया हुआ आहार—वायु द्वारा पीड़ित तथा कफ द्वारा आमाशय में ही अवरुद्ध होकर गति हीन या क्रिया हीन हो जाता है और दोषों द्वारा संचालित होने पर भी आमाशय में ही शल्य के समान स्थिरी भूत या वेदना कारक होता हुआ शूल आदि (श्लोक ९ में कथित) विकारों को उत्पन्न करता है परन्तु इस में छर्दि एवं अतिसार नामक दो लक्षण नहीं होते इसीलिये इस रोग का नाम "अलस" अर्थात् 'अलसक" है (पंजाब में इसे "गुम हैजा" कहते हैं) ।

और उक्त कारणों से वातादि दोष-अत्यन्त दुष्ट कुपित होकर तथा दूषित आम अन्न द्वारा-मुख एवं गुद की ओर के मार्ग रुक जाने के कारण अवरुद्ध होकर और तिर्यग्वाही अर्थात् रसवाही स्रोतों द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त होकर यदि शरीर को दण्ड के समान स्तब्ध कर देते हैं तो उसे "दण्डाऽलसक" कहते हैं । यह रोग आशुकारी अर्थात् शीघ्रमारी होता है अतः इसकी चिकित्सा न करे क्यों कि उससे कोई लाभ नहीं होता ।

वक्तव्य-विसूचिका का असाध्य लक्षण-अ. सं. सू. अ. ११—

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो
वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिः
यायात् नरः सोऽपुनरागमाय ।

अर्थात्—विसूचिका रोग में—जब दन्त, ओठ तथा नख साँवले हो जाते हैं, संज्ञा क्षीण हो जाती है । इस दशा में रोगी को अतिसार होने आदि का ज्ञान नहीं होता । बारम्बार वमन होता है । (औषध एवं जल भी नहीं पचता-तत्काल वमन हो जाता है), नेत्र धँस जाते हैं, स्वर बैठ जाता है तथा सन्धियाँ विमुक्त-शिथिल हो जाती हैं अर्थात्-

उठने बैठने एव करवट बदलने की भी शक्ति नष्ट हो जाती है तब मृत्यु हो जाती है। इस दशा के पूर्व यदि उचित उपचार हो जाता है तो प्राण रक्षा हो जाती है।

प्रायः प्रज्ञापराधेन रोगग्रामः प्रजायते।
नृणाम् अशनलुब्धानां विशेषेण विसूचिका ॥

अर्थात् प्रायः अपनी भूलों अथवा प्रमादों के कारण रोगों की उत्पत्ति होती है तथापि भोजन के लालचियों को विशेषतः विसूचिका हो जाती है ॥१०—१२।

आमविष का वर्णन —

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम्। १३।
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम्।
विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः। १४।

व्याख्या—विरुद्ध (दे० अ० ७), अध्यशन (दे० श्लोक ३४) तथा अजीर्ण-अपक्व आहार अथवा त्रिविध अजीर्ण रोग में भी आहार करने वाले का आम दोष-विष भक्षण के समान लक्षणों वाला अत्यन्त घोर आम-विष के समान आशुकारी-शीघ्रमारक होने से और उसकी चिकित्सा का भी प्रभाव विरुद्ध होने से, उसे त्याग देवे-चिकित्सा न करे, क्यों कि कोई लाभ नहीं होता।१३।

वक्तव्य—इसके लक्षण वैसे होते हैं जैसे संखिया खाने पर होते हैं। विरोधी द्रव्य विष का रूप धारण कर लेते हैं, आम दोष ही विष रूप हो जाता है। इसमें चावल के धोअन कासा मल-ऐंठन के साथ आमातिसार के समान निकलता है और इसी प्रकार की कै होती है। विरुद्ध-उपक्रम-आम को ध्यान में रख कर की गई उष्ण चिकित्सा विष विरुद्ध होती है और विष को ध्यान में रख कर की गई शीत चिकित्सा आम विरुद्ध होती है। कभी-कभी प्रायः वसन्त के अन्त में तथा ग्रीष्म के आरम्भ में यह रोग तथा विसूचिका रोग मरक के रूप में भी फैलते हैं। ऐलोपेथी में इस आमविष को "कौलरा" कहते हैं। १३,१४ ॥

आम दोष की चिकित्सा—

अथाऽऽममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत्।
पीत्वा सोग्रापटुफलं वार्युष्णं योजयेत्ततः।१५॥
स्वेदनं फलवर्तिं च मलवातानुलोमनीम्।
नाम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत्॥१६॥
विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाहः प्रशस्यते।
तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत्। १७।

व्याख्या—जब आम दोष-अलसक के रूप में हो और साध्य हो तब —बाल वच, लवण तथा मैन फल को उष्ण जल में मिलाकर अथवा जल में पका कर और उष्ण २ पिलाकर तुरन्त वमन करा देवे तत्पश्चात् उदर एवं सर्वाङ्ग पर स्वेदन करके कपड़ा से कस कर बाँध देवे। यदि विसूची का वेग बहुत बढ़ गया हो तो एड़ी में अग्नि द्वारा दाह कर्म करे। इस प्रकार चिकित्सा करने से रोग शान्त हो जाने पर उस दिन उपवास करा कर विरिक्त के समान संसर्जन क्रम (पेया विलेपी आदि के प्रकार से दे० सू० अ० १८) से उपचार करे। १६।

अन्यान्य उपचार—

तीव्रार्तिरपि नाजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्।
आमसन्नोऽनलो नालं पक्तुं दोषौषधाशनम् ॥१८॥
निहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम्।

व्याख्या—भीषण वेदना होने पर भी अजीर्ण रोगी—शूल नाशक (केवल शूल नाशक-शून्यता कारक) औषध न पीवे क्यों कि आम दोष से अवसन्न (मन्दी भूत) जठराग्नि-दोष, औषध एवं अशन (आहार) को पचाने में समर्थ नहीं होती अपितु इन दोष, औषध एवं अशन का विभ्रम (व्यापत्ति) रोगी को सहसा मार सकता है।

वक्तव्य—चरक का वह गद्यात्मक पाठ जिसको लेकर श्री वाग्भट ने इन पद्यों की रचना की है वह इस प्रकार है—तत्र साध्यम् आमं प्रदुष्टम् अलसीभूतम् उल्लेखयेत् आदौ पाययित्वा सलवणम् उष्णं च वारि। ततः स्वेदन वर्तिप्रणिधानाभ्याम् उपाचरेत्, उपवासयेत् च एनम्। विसूचिकायां तु लंघनं एवं अग्रे विरिक्तवत् च आनुपूर्वी।

आमप्रदोषेषु तु अन्नकाले जीर्णाहारं पुनः दोषावलिप्तामाशयं स्तिमित गुरु कोष्ठम् अनन्नाभिलाषिणं अभिसमीक्ष्य पाययेत् दोषशेष पाचनार्थं औषधं अग्निसन्धुक्षणार्थं च। नतु एव अजीर्णाशनम्। आमदोषदुर्बलो हि अग्निः न युगपद् दोषं औषधमाहारजातं च शक्तः पक्तुम्। अपि च आम प्रदोष-आहार-औषध विभ्रमो अतिबलवत्त्वात् उपरत कायाग्नि सहसा एव आतुरम् अबलम् अति पातयेत्। च० वि० अ० २ ॥ १८ ॥

अन्यान्य उपचार—

जीर्णाशने तु भैषज्यं युञ्ज्यात् स्तब्धगुरूदरे ॥१९॥
दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्षणाय च।
शान्तिरामविकाराणां भवति त्वपतर्पणात् ॥२०॥
त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत्।

व्याख्या - भोजन पच जाने पर, उदर में स्तब्धता एवं गुरुता रहने पर-अवशिष्ट दोष के पाचन के लिये और अग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषध का प्रयोग करे।

आम दोष से उत्पन्न रोगों की शान्ति—अपतर्पण — उपवास—लघु भोजन आदि से हो जाती है और उस

अपतर्पण को तीन प्रकार के आम दोष में भलीभाँति विचार कर निम्न प्रकार से प्रयुक्त करे।

वक्तव्य—अल्प, मध्य तथा प्रभूत भेद से आमदोष तीन होते हैं— ॥ १९,२० ॥

तत्राऽल्पे लङ्घनं पथ्यं, मध्ये लङ्घनपाचनम् ॥२१॥
प्रभूते शोधनं, तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान्।
एवमन्यानपि व्याधीन् स्वनिदानविपर्ययात् ॥२२॥
चिकित्सेदनुबन्धे तु सति हेतुविपर्ययम्।
त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो युञ्ज्याद्व्याधिविपर्ययम ॥२३॥
तदर्थकारि वा, पक्वे दोषे विद्धे च पावके।
हितमभ्यञ्जन-स्नेहपान-बस्त्यादि युक्तितः ॥२४।

व्याख्या—उन तीनों प्रकार के आम दोषों में—यदि आम दोष स्वल्प हो तो उपवास पथ्य है, यदि मध्य हो तो उपवास के साथ-साथ पाचन औषध भी करे और यदि प्रभूत (अधिक या तीव्र) हो तो शोधन (वमन विरेचन) करे क्योंकि वह मलों को मूल से उन्मूलित कर देता है—निकाल देता है। इसी प्रकार ज्वर आदि अन्य रोगों की भी हेतु विपरीत चिकित्सा करे और हेतु विपरीत चिकित्सा करने पर भी रोग शान्त न हो तो साथ-साथ अथवा उसे छोड़ कर यथायोग्य व्याधि विपरीत चिकित्सा करे। अथवा विपरीतार्थकारी चिकित्सा करे और फिर दोष पच जाने पर तथा जठराग्नि प्रदीप्त हो जाने पर आवश्यकतानुसार विधिपूर्वक—अभ्यञ्जन, स्नेह पान तथा वस्ति आदि का प्रयोग करे।

वक्तव्य—आमप्रदोषजनित रोगों की शान्ति प्रायः अपतर्पण—उपवास से ही हो जाती है। यदि न हों तो साथ-साथ व्याधि शामक चिकित्सा करे आवश्यक हो तो विपरीतार्थकारी चिकित्सा भी करनी चाहिये। यथा यदि छर्दि नाशक चिकित्सा करने पर भी छर्दि न रुके तो छर्दि कारक—(वमन कारक) औषध देकर शोधन कर देवे इस प्रकार विकार निकल जाने पर छर्दि शान्त हो जाती है इसका नाम "विपरीतार्थकारी" उपाय है ॥२१–२४॥

आम आदि अजीर्णों का वर्णन—

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगण्डयोः।
सद्योभुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेशगौरवम् ॥२५॥
विष्टब्धमनिलाच्छूलविबन्धाध्मानसादकृत्।
पित्ताद्विदग्धं तृण्मोहभ्रमाम्लोद्गारदाहकृत् ॥२६॥

व्याख्या—कफ के प्रकोप से आम नामक अजीर्ण होता है उसमें—नेत्र तथा गालों पर शोथ, तत्काल खाए हुए आहार की गन्ध एवं रस के समान गन्ध एवं रस वाला उद्गार, लाला स्राव, मिचली तथा उदर एवं शरीर में भारी पन। ये लक्षण होते हैं।

वायु के प्रकोप से "विष्टब्ध" नामक अजीर्ण होता है उसमें—शूल, पुरीष मूत्र एवं वायु का विबन्ध, अफरा तथा शिथिलता ये लक्षण होते हैं।

और पित्त के प्रकोप से "विदग्ध" नामक अजीर्ण होता है इसमें—तृषा, मोह (मूर्च्छा भी), भ्रम, खट्टे उद्गार तथा दाह ये लक्षण होते हैं ॥ २५,२६ ॥

आमाजीर्ण आदि की चिकित्सा—

लङ्घनं कार्यमामे तु, विष्टब्धे स्वेदनं भृशम्।
विदग्धे वमनं, यद्वा यथावस्थं हितं भजेत् ॥२७॥

व्याख्या—आमाजीर्ण में उपवास या लघु भोजन करे, विष्टब्धाऽजीर्ण में उदर पर स्वेदन करे और विदग्धाऽजीर्ण में—वमन करे और अन्यान्य लक्षणों की शान्ति के लिये अवस्थाऽनुसार उचित चिकित्सा करे ॥२७॥

विलम्बिका का वर्णन—

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका।
कफवातानुबद्धाऽऽमलिङ्गा तत्समसाधना ॥२८॥

व्याख्या—अत्यन्त भीषण आमदोष जो लीन-विलीन रहता है अर्थात् छर्दि एवं अतिसार के रूप में प्रवृत्त नहीं होता उससे "विलम्बिका" हो जाती है इसमें कफ एवं वायु के लक्षणों से युक्त आमाजीर्ण के लक्षण होते हैं और उन्हीं अजीर्णों के समान उसकी चिकित्सा होती है।

वक्तव्य—सुश्रुत उत्तर तन्त्र अ० ५६ में विलम्बिका का लक्षण इस प्रकार है—

लीनं तु भुक्तं कफ मारुताभ्यां प्रवर्त्तते नोर्ध्वम् अधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुःचिकित्स्यां आचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः।

तात्पर्य यह है कि इस रोग में भुक्त आहार पर कफ एवं वायु का ही प्रभाव पड़ता है पित्त का नहीं फलतः वह उदर में लीन हो जाता है अर्थात् सट (श्लिष—लीङ्-श्लेषणे धातु दिवादि गणीय) जाता है—न छर्दि होती है और न अतिसार और वामक एवं विरेचक औषध भी कार्य कर नहीं होती है अतः इसमें मृत्यु ही हो जाती है। भृश दुःचिकित्स्याम् के स्थान में "तु विवर्जनीयाम्" पाठ भी है ॥ २८ ॥

रसशेषाजीर्ण की चिकित्सा—

अश्रद्धा हृद्व्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषतः।
शयीत किंचिदेवात्र सर्वश्चानाशितो दिवा। २९॥
स्वप्यादजीर्णी, सञ्जातबुभुक्षोऽद्यान्मितं लघु।

व्याख्या—आहार पच जाने पर भी कभी-कभी रस का

परिपाक न होने पर रसशेषाजीर्ण होता है— उसका लक्षण—उद्गार शुद्ध होने पर भी—रस शेष—अपक्व होने से अरुचि तथा हृदय में वेदना होती है।

इस दशा में कुछ भी खाए बिना, दिन में भी थोड़ा सो लेना चाहिये।

और सभी अजीर्णों में सोना चाहिये तथा भलीभांति भूख लगने पर थोड़ी मात्रा में तथा लघु आहार खाना चाहिये ॥ २९ ॥

अजीर्ण का सामान्य लक्षण—

विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता ॥३०॥
अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रमः ।

व्याख्या—अजीर्ण का सामान्य लक्षण है—पुरीष की प्रवृत्ति न होना, अथवा अत्यन्त प्रवृत्ति होना, ग्लानि, वायु की प्रतिलोमता—उद्गार एवं अपान वायु के रूप में प्रवृत्त न होना, आमाशय आदि में उचित गति न होना, उदर एवं शरीर में भारीपन तथा भ्रम।

वक्तव्य—अजीर्ण—आहार का उचित रूप से जीर्ण न होना। इसे अपच-अनपच-बदहजमी कहते हैं। आमाजीर्ण—आहार आम—अपक्व रह जाना, विष्टब्धाजीर्ण आमाशय एवं अन्त्र में स्तब्धता हो जाने पर आहार का स्थिर रह जाना, विदग्धाजीर्ण—आहार का विकृत दाह-पाक होना ॥ ३० ॥

अजीर्ण के अन्यान्य कारण—

न चातिमात्रमेवान्नं, मामदोषाय केवलम् ॥३१॥
द्विष्ट-विष्टम्भि-दग्धाऽऽम-गुरु-रूक्ष-हिमाऽऽशुचि ।
विदाहि शुष्कमत्यम्बुप्लुतं चान्नं न जीर्यति ॥३२॥
उपतप्तेन भुक्तं च शोकक्रोधक्षुदादिभिः ।

व्याख्या—स्मरणीय—केवल अधिक मात्रा में खाया हुआ आहार ही आम दोष—(अजीर्ण) का कारण नहीं होता अपितु—द्विष्ट—असचिकर अन्न, विष्टम्भ कारक अन्न, दग्ध—जला हुआ अन्न, आम—कच्चा अन्न, गुरु अन्न, रूक्ष अन्न, शीत—ठण्डा—बासी अन्न, अपवित्र अन्न, विदाहकारी अन्न तथा सूखा-रूखा अन्न भी नहीं पचता और अधिक जल पीने से अथवा सर्वथा जल न पीने से भी नहीं पचता और शोक, क्रोध एवं अधिक काल तक लगी भूख आदि से पीड़ित द्वारा खाया गया आहार भी नहीं पचता।

वक्तव्य—आदि शब्द से—काम,क्रोध,लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, अपमान, उद्वेग तथा भय से पीडित होने पर अथवा पीडित द्वारा खाया हुआ आहार भी नहीं पचता। क्षुधा से पीडित—जिसने अनशन किया है—व्रत किया है उसे यदि रोटियां दी जाती हैं तो अजीर्ण हो जाता है अतः उसे प्रथम—फलों का रस, निम्बू का पानक तथा पेया आदि देवे—अग्नि दीप्त हो जाने पर रोटियां या स्वाभाविक आहार देवे ॥ ३१, ३२ ॥

समशन आदि के लक्षण—

मिश्रं पथ्यमपथ्यं च भुक्तं 'समशनं' मतम् ॥३३॥
विद्याद् 'अध्यशनं' भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम् ।
अकाले बहु चाल्पं वा भुक्तं तु 'विषमाशनम्' ॥३४॥
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा ।

व्याख्या—पथ्य एवं अपथ्य मिलाकर जो खाया जाता है उसका नाम "समशन" है।

भोजन पर जो भोजन खा लिया जाता है उसका नाम "अध्यशन" है।

अकाल—असमय में तथा बहुत अथवा थोड़ा जो भोजन खाया जाता है उसका नाम "विषमाशन" है।

यह तीनों प्रकार के अशन—आहार मृत्युकारक होते हैं अथवा अनेक भीषण रोगों को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—समशन आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है इसका यौगिक समीचीन अशन अर्थ नहीं है। अकाल—सायं प्रातः मनुष्याणां भोजनं विधिनिर्मितम्—मानव को प्रातः सायं दोबार भोजन करना चाहिये अथवा जब सच्ची भूख लगे तब करना चाहिये इसके अतिरिक्त जो भोजन किया जाता है वह अकाल भोजन कहलाता है ॥ ३३,३४ ॥

उचित भोजन की विधि—

काले सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः ॥३५॥
षड्रसं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम् ।
स्नातः क्षुद्वान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः ॥३६॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानतिथीन् बालकान्गुरून् ।
प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान् ॥३७॥
समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम् ।
इष्टमिष्टैःसहाश्नीयाच्छुचि भक्तजनाऽऽहृतम् ॥३८॥

व्याख्या—समय पर, सात्म्य, शुचि, हित, स्निग्ध, उष्ण २, लघु, तन्मन होकर—मन लगाकर, छः रसों से युक्त, प्रायः मधुर, न बहुत शीघ्रता के साथ, न बहुत विलम्ब के साथ (बहुत धीरे-धीरे), स्नान करके, अच्छी भूख लगने पर, एकान्त में बैठ कर, हाथ-पाँव तथा मुख धोकर, पितरों का तर्पण करके, देवताओं को बलि देकर (अग्नि में आहुति डाल कर), बालकों तथा गुरुजनों (वृद्धजनों) को खिलापिला कर, पशु-पक्षियों की ओर भी

ध्यान देकर (उनके चारे चोगे की व्यवस्था करके, अभ्यागतों एवं अतिथियों तथा परिजनों की व्यवस्था करके अर्थात् सबको खिलापिला कर गृहपति—अपने शरीर एवं स्थिति का भलीभांति विचार करके, किसी की अथवा भोजन की निन्दा न करता हुआ, न बोलता हुआ, इष्ट-मित्रों के साथ बैठ कर, पवित्र एवं सेवक जनों द्वारा परोसा गया द्रव प्राय एवं रुचिकर आहार करे।

वक्तव्य—विशेष देखिए च. वि. अ. १ तथा सू. अ. ८ का पाठ २० ॥ ३५-३८ ॥

त्याज्य भोजन—

भोजनं तृणकेशादि-जुष्टमुष्णीकृतं पुनः ।
शाकाऽवरान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत् ॥३९॥

व्याख्या—जिस आहार में—तिनके एवं केश (रोम-बाल) तथा मक्षिका आदि विकारकारी एवं घृणाजनक द्रव्य पड़े—मिले—गिरे हों, जो फिर से उष्ण किया गया हो, जिसमें शाक एवं कुत्सित (हानिकारक एवं अपुष्टिकर) अन्न अधिक मात्रा में हो, जो अत्यन्त उष्ण (स्पर्श एवं वीर्य से उष्ण) हो तथा जिसमें लवण अधिक पड़ा हो उस आहार का त्याग कर देना चाहिये (उसे नहीं खाना चाहिये) ॥३९॥

शीलन के अयोग्य आहार—

किलाटदधिकूर्चीका-क्षारशुक्ताऽऽममूलकम् ।
कृशशुष्कवराहावि-गोमत्स्यमहिषामिषम् ॥४०॥
माषनिष्पावशालूक-बिसपिष्टविरूढकम् ।
शुष्कशाकानि यवकान् फाणितं च न शीलयेत् ॥४१॥

व्याख्या—किलाट, दही, कूर्चिका, क्षार, शुक्त, कच्ची मूली, कृशप्राणी का मांस, सुखाया गया मांस और सूअर, भेड़, गौ, मछली, भैंस के मांस तथा उरद, निष्पाव, शालूक कन्द, बिस, पीठी के पदार्थ विरूढ़ धान्य, सुखाए गए शाक, यवक (जई) तथा राब का अधिक एवं निरन्तर सेवन न करे ॥ ४०,४१ ॥

शीलन योग्य आहार—

शीलयेच्छालिगोधूम-यवषष्टिकजाङ्गलम् ।
पथ्यामलकमृद्वीका-पटोलीमुद्गशर्कराः ॥४२॥
घृतदिव्योदकक्षीर-क्षौद्रदाडिमसैन्धवम् ।
त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च ॥४३॥
स्वास्थ्याऽनुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत् ।

व्याख्या—शालिधान्य, गेहूँ, जौ तथा साठी धान्य, जांगल प्राणियों के मांस, हरड, आमला, दाख-मुनक्का, परवल, मूंग, खण्ड, घृत, वर्षा जल, (गाङ्ग जल) दूध, मधु, अनार तथा सैन्धव लवण का और दृष्टि की शक्ति के लिये रात्रि में मधु एवं घृत में मिला कर त्रिफला का शीलन करे और जो कुछ भी स्वास्थ्य की रक्षा करने वाला हो तथा रोग का नाशक हो इसका भी शीलन करे।

वक्तव्य—शीलन—अभ्यसन का अर्थ है—निरन्तर लगातार खाना सेवन करना। किलाट आदि का निरन्तर सेवन हानिकारक होता है—हो सकता है। अतः उनको कभी २ स्वाद के लिये, रुचि बदलने के लिये ही खाना चाहिये और शालि आदि का शीलन हानिकारक नहीं होता अपितु लाभ-दायक होता है, जीवन के लिये उपयोगी है। ४२,४३॥

अन्य पदार्थ खाने की व्यवस्था—

बिसेक्षुमोचचोचाऽऽम्र-मोदकोत्कारिकादिकम् ॥४४॥
अद्यात् द्रव्यं गुरु स्निग्धं स्वादु मन्दं स्थिरं पुरः ।
विपरीतमतश्चान्ते मध्येऽम्ललवणोत्कटम् ॥ ४५ ॥

व्याख्या—बिस, ईख, मोच-केला, चोच-नारियल अथवा बड़हर, आम लड्डू तथा उत्कारिका (लपसी-हलुवा) नामक द्रव्य तथा अन्य गुरु, स्निग्ध, स्वादु, मन्द तथा स्थिर पदार्थ पहिले—मुख्य आहार के पहिले और इसके विपरीत गुण वाले द्रव्य अन्त में और अम्ल एवं लवण रस वाले पदार्थ मध्य में खाने चाहिये।

वक्तव्य—वात शामक पहिले, कफ शामक अन्त में तथा अग्निदीपक मध्य में खाना चाहिये। लवणादि रस प्रधान आहार के अन्त में "मधुरेण समापयेत्" और मधुर प्रधान आहार के अन्त में "भोजनान्ते पिबेत् तक्रम्" का स्मरण करना चाहिये। उपपत्ति पाठक स्वयं समझें ॥ ४४,४५ ॥

आमाशय के चार भाग—

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् ।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—कुक्षि—आमाशय के दो भाग अन्न से, तीसरा भाग पान (जल आदि द्रव्य) से पूर्ण करे और चौथाई भाग वात, पित्त एवं कफ की क्रिया के लिये अवशिष्ट रख लिया करे।

वक्तव्य—समस्त आमाशय को आहार (अन्न एवं पान) से भर लेना उचित नहीं होता इससे विसूची आदि उक्त रोग हो सकते हैं क्योंकि आहार द्वारा कस जाने से आमाशय में आलोडन—विलोडन रूप गति नहीं होती जिसके बिना आहार का पाक भी नहीं होता। भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है—त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेत् अवकाशांशं आहारस्य आहारं उपयुञ्जानः तद्यथा—एकम् अवकाशांशं मूर्त्तानाम् आहार-

विकाराणाम् एकं द्रवाणां एकं पुनः वातपित्तश्लेष्मणाम्। एतावतीम् आहारमात्राम् उपयुञ्जानो न अमात्राऽऽहारजं किञ्चित् अशुभं प्राप्नोति। तथा मात्रावान् आहार का या आहार की मात्रा का अनपवाद लक्षण लिखा है तद् यथा— कुक्षेः अप्रपीडनम् आहारेण, हृदयस्य अवरोधः, पार्श्वयोः अवपाटनम् अनतिगौरवम् उदरस्य, प्रीणनम् इन्द्रियाणाम्, क्षुत् पिपासोपरमः, स्थानाऽऽसन, शयन, गमन, उच्छ्वास प्रश्वास हास संकथासु च सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनम्, बलवर्ण-उपचयकरत्वं च इति मात्रावतो लक्षणं आहारस्य भवति। च. वि. अ. २ ॥ ४६ ॥

भिन्न भिन्न अनुपान—

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम्।
दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे, कोष्णं पिष्टमयेषु तु ॥४७।
शाकमुद्गादिविकृतौ मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम्।
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थं, स्थूलानां तु मधूदकम् ॥४८।
शोषे मांसरसो, मद्यं मांसे स्वल्पे च पावके।
व्याध्यौषधाध्वभाष्यस्त्री-लङ्घनातपकर्मभिः ॥४९॥
क्षीणे वृद्धे च बाले च पयः पथ्यं यथाऽमृतम्।

व्याख्या—अनुपान—जौ एवं गेहूँ का, तथा दही का, मद्य का, विष- विष वाली औषध का तथा मधु का शीतल जल, पीठी के कचौरी आदि पदार्थों का कोसा जल, शाक तथा मूंग केबड़े आदि पदार्थों का मस्तु, तक्र एवं खट्टी काञ्जी अनुपान होना चाहिये।

कृशों की पुष्टि के लिये सुरा का तथा स्थूलों को कृश करने के लिये मधु मिश्रित जल का अनुपान हित है।

शोष रोग में मांस रस, मांसाहार में तथा मन्दाग्नि रोग में मद्य का अनुपान हित होता है।

और रोग, औषध सेवन, मार्ग गमन, भाषण, मैथुन, लंघन—उपवास, धूप तथा काम धन्धा से क्षीण में, वृद्ध तथा बालक में दूध का अनुपान अमृत के समान पथ्य होता है ॥ ४७-४९ ॥

प्रशस्त अनुपान—

विपरीतं यदन्नस्य गुणैः स्यादविरोधि च ॥५०।
अनुपानं समासेन, सर्वदा तत्प्रशस्यते।

व्याख्या—संक्षेपतः—जो अन्न के गुणों से विपरीत गुणों वाला हो परन्तु विरोधी भी न हो वह अनुपान, सर्वदा-सब दशाओं में प्रशस्त होता है।

वक्तव्य—यथा—शीत अन्न के साथ उष्ण अनुपान और उष्ण अन्न के साथ शीत अनुपान, रूक्ष के साथ स्निग्ध और स्निग्ध के साथ रूक्ष अनुपान हित होता है ॥ ५० ॥

अनुपान का फल—

अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम् ॥५१॥
अन्नसङ्घातशैथिल्य-विक्लित्तिजरणानि च।

व्याख्या—अनुपान—ऊर्जा (बल एवं प्राणन— ऊर्ज-बलप्राणनयोः—धातुः चुरादिगणीयः), तृप्ति-तर्पण-सन्तोष, व्याप्ति—आहार रस की व्यापकता, अंगों में दृढ़ता, अन्न की कठोरता का नाश. विक्लित्ति—विक्लेद—आर्द्रता तथा जरण-पाचन करता है।

वक्तव्य—अनुपान—अनु—पश्चात् सह वा पीयते इति अनुपानम् अर्थात् जो भोजन के पश्चात् अथवा साथ पिया जाता है उसे अनुपान कहते हैं। भोजन के साथ जो जल, मद्य, कांजी आदि पिये जाते हैं वे सब अनुपान कहे जाते हैं ॥ ५१ ॥

अनुपान का निषेध—

नोर्ध्वजत्रुगद-श्वास-कासोरःक्षतपीनसे ॥५२॥
गीतभाष्यप्रसङ्गे च स्वरभेदे च तद्धितम्।

व्याख्या—परन्तु जत्रु के ऊपर के रोगों में अर्थात् मुखरोग, कर्णरोग, नेत्र रोग तथा शिरो रोगों में श्वास, कास, उरः क्षत, पीनस (नासा रोग मात्र), में तथा गाने एवं भाषण के प्रसंग में तथा स्वर भेद में अनुपान हित नहीं होता। इन दशाओं में पेय पदार्थ हानिकारक होते हैं ॥५२॥

अनुपान का त्याग—

प्रक्लिन्नदेहमेहाक्षि-गलरोगव्रणातुराः ॥ ५३ ॥
पानं त्यजेयुः सर्वश्च भाष्याध्वशयनं त्यजेत्।
पीत्वा, भुक्त्वाऽऽतपं वह्निं यानं प्लवनवाहनम् ॥५४॥

व्याख्या—जिनके शरीर में कहीं भी प्रक्लेद-आर्द्रता या सड़न हो तथा जो प्रमेह, नेत्र रोग, गलरोग तथा व्रण के रोगी हों वे भी अनुपान का परित्याग करें।

और सभी (स्वस्थों एवं रोगियों) को पान करके अर्थात् पेय पदार्थ पीकर—भाषण, मार्ग गमन, स्वाप का परित्याग करना चाहिये और खा-पीकर—धूप सेवन, अग्नि सेवन तापना), रथ, तांगा आदि से यात्रा, कूदना, तैरना तथा घोड़ा आदि की सवारी का परित्याग करना चाहिये।

वक्तव्य—जिनको अनुपान का निषेध किया गया है उनका अनुपान—तत् हि कण्ठोरसि स्थितम्। स्नेहम् आहारजं हत्वा भूयो दोषाय कल्पते। च. सू अ २७ श्लो. ३३०।

अर्थात्—कण्ठ एवं उरस् में स्थित आहार रस को नष्ट-विकृत करके दोष प्रकोप का हेतु हो जाता है ॥५३,५४॥

आहार का समय—

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति।
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः॥५५॥

व्याख्या—मूत्र एवं पुरीष का भलीभांति उत्सर्ग हो जाने पर, हृदय विमल—स्वच्छ होने पर, वातादि दोषों के स्वमार्ग गामी—अनुलोम होने पर, शुद्ध उद्गार आने पर, भूख लगने पर, अपान वायु का अनुरूप निःसरण होने पर, अग्नि प्रदीप्त होने पर, इन्द्रियां निर्मल होने पर तथा शरीर लघु होने पर—आहार का सेवन करे और वही आहार का शास्त्रोक्त समय है। अथवा—विधिनियमित अर्थात् विधिपूर्वक आहार करे क्योंकि वही आहार का समय है।

वक्तव्य—भोजन करने का यह अनपवाद काल है इस काल में किया गया भोजन—आयु, ओजस्, तेजस्, रसादि धातु, श्रोत्रादि इन्द्रिय, बल, तुष्टि, पुष्टि, प्रतिभा तथा आरोग्य का वर्द्धक होता है। इस समय के भोजन रूपी इन्धन को पाकर जठराग्नि समावस्था में स्थित रहती है और "अग्नि-मूलं हि देहधारणम्" (अ. सं. सू. अ. १०) अर्थात्—"अग्नि—जठराग्नि ही शरीर" धारण करती है। अतः अग्नि की रक्षा के लिये उक्त समय पर भोजन करना चाहिये एतद् विपरीत काल में लोभ—लालच वश भोजन करने से हानि ही होती है॥५५॥

इति अष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने अष्टमोऽध्यायः।

नवमोऽध्यायः।

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब द्रव्य, रस, गुण, विपाक, वीर्य एवं प्रभाव का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च० सू० अ० २६, सु० सू० अ० ४० एवं ४१ तथा अ० सं० सू० अ० १७ में देखिये।

द्रव्य की प्रधानता—

'द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं ते हि तदाश्रयाः।

व्याख्या—रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव में हरीतक्यादि द्रव्य ही श्रेष्ठ या मुख्य—प्रधान माना जाता है क्योंकि वे रस आदि द्रव्य में ही आश्रित रहते हैं (द्रव्य में ही पाए जाते हैं।

द्रव्य का स्वरूप, उत्पत्ति एवं विशेषता—

पञ्च भूतात्मकं तत्तु क्ष्मामधिष्ठाय जायते॥१॥
अम्बुयोन्यग्निपवन-नभसां समवायतः।
तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा॥२॥

व्याख्या—वह द्रव्य—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश नामक पंच महाभूतों के संयोग से निर्मित होता है और पृथिवी का आश्रय पाकर उत्पन्न होता है।

द्रव्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण जल है परन्तु—अग्नि, वायु एवं आकाश के अनुकूल संयोग—उचित संपर्क से उस की उत्पत्ति या निर्माण होता है और उन्ही अग्नि आदि महाभूतों के संयोग भेद से द्रव्यों में विशेषता अर्थात् भिन्नता होती है और उन पृथिवी आदि तत्वों की अधिकता से द्रव्यों की पार्थिव, आग्नेय, वायव्य एवं नाभस आदि व्यावहारिक संज्ञा होती है॥ १,२॥

रसों की उत्पत्ति—

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवात्।
नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः॥३।
अव्यक्तोऽनुरसः किंचिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते।

व्याख्या—पृथिवी आदि महाभूतों के संयोग (समवाय संघात) से उत्पन्न होने के कारण द्रव्य भी केवल किसी एक रस वाला नहीं होता और यही कारण है कि उस द्रव्य के सेवन से उत्पन्न होने वाले ज्वर आदि रोग भी एक दोष वाले नहीं हैं (पाए जाते हैं)

उस द्रव्य में जो मधुर आदि रस व्यक्त होता है उस का वही "रस" माना जाता है और जो रस व्यक्त रस का अनुभव होने के पश्चात् व्यक्त होता है अथवा बहुत थोड़ा व्यक्त होता है वह रस "अनुरस" कहलाता है

वक्तव्य—द्रव्य प्रधान है कि रस आदि इसका विवेचन भिन्न-भिन्न आचार्यों ने जिस प्रकार प्रतिपादित किया है उसका विवरण सु सू० अ० ४० में देखिये। उनके वे मत एकीय मत हैं सर्व सम्मत या अनपवाद नहीं हैं। अतः भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है कि—

पृथक्त्वदर्शिनां एवं वादिनां वादसंग्रहः।
चतुर्णामपि सामग्र्यं इच्छन्ति अत्र विपश्चितः।१६।
तद् द्रव्यमात्मना किञ्चित् किञ्चित् वीर्येण सेवितम्।
किंचित् रस विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा।१७।

इस प्रकार श्रेष्ठ अश्रेष्ठ का प्रश्न ही नहीं उठता तथापि—

पाको नास्ति विना वीर्यात् वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्यात् द्रव्यं श्रेष्ठम् अतः स्मृतम्।१८।

केवल इस विचार से द्रव्य श्रेष्ठ माना जाता है। और इसी विचार से श्री वाग्भट ने भी द्रव्य को श्रेष्ठ कहा है अस्तु और रस आदि में भी प्रायः प्रभाव या द्रव्य एवं रस आदि का स्वभाव ही उत्कृष्ट माना एवं देखा जाता है अतः श्री धन्वन्तरि ने कहा है कि—

अमीमांस्यानि अचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः
आगमेन उपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः। १९।
और—प्रत्यक्ष लक्षण फलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
न (ताः) औषधीः विद्वान् परीक्षेत कथंचन।२०।३।

द्रव्यगत गुरु आदि गुण—

गुर्वादयो गुणाद्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये ॥४॥
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः।

व्याख्या—गुरु आदि बीस गुण (अ० १ श्लोक १७) निम्नलिखित पार्थिव आदि द्रव्य में रहते हैं और द्रव्य ही मधुर आदि रसों का आश्रय है परन्तु साहचर्य-संयोग-सहयोग होने को मान कर वे गुरु आदि गुण रसों में भी कह दिये जाते हैं (दे. अ. १०)।

वक्तव्य—हमारे विचार में "पृथिव्यादौ" के स्थान में "पार्थिवादौ" पाठ होना चाहिये क्यों कि अगले श्लोक में "पार्थिवं" शब्द का प्रयोग है। पृथिवी आदि भूत हैं द्रव्य नहीं हैं क्यों कि द्रव्य "पञ्चभूतात्मकं" (श्लोक १) होता है ॥४॥

पार्थिव आदि द्रव्यों का वर्णन—

तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलस्थिरगन्धगुणोल्बणम् ॥५।
पार्थिवं गौरवस्थैर्यसङ्घातोपचयावहम्।
द्रवशीतगुरुस्निग्धमन्दसान्द्ररसोल्बणम्। ६।
आप्यं स्नेहनविष्यन्दक्लेदप्रह्लादबन्धकृत्।
रूक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरूपगुणोल्बणम् ।७।
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम्।
वायव्यं रूक्षविशदलघुस्पर्शगुणोल्बणम् ॥८॥
रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम्।
नाभसं सूक्ष्मविशदलघुशब्दगुणोल्बणम् ॥९॥
सौषिर्यलाघवकरं जगत्येवमनौषधम्।
न किंचिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः ॥१०॥

व्याख्या—द्रव्यों में जो द्रव्य—गुरु, स्थूल, स्थिर गुण प्रधान तथा गन्ध गुण प्रधान होता है वह पार्थिव द्रव्य कहलाता है और वह गुरुता; स्थिरता, संहनन (ठोसपन) तथा उपचय-पुष्टि करने वाला होता है।

जिस द्रव्य में—द्रव, शीत, गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र तथा रस गुण अधिक होते हैं वह द्रव्य "आप्य" या जलीय कहलाता है और वह स्नेहन, विष्यन्दन (अभिष्यन्दन) क्लेदन (आर्द्रता), प्रह्लाद (प्रसाद-आनन्द) तथा बन्ध करने (पिण्ड करने-सटाने) वाला होता है।

जिस द्रव्य में—रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, विशद, सूक्ष्म तथा रूप गुण अधिक होते हैं वह द्रव्य "आग्नेय" कहलाता है और वह दाह, कान्ति वर्ण, प्रकाश तथा पाचन (पाक) करने वाला होता है।

जिस द्रव्य में—रूक्ष, विशद, लघु तथा स्पर्श गुण अधिक होते हैं वह "वायव्य" कहलाता है और वह रूक्षता, लघुता, विशदता, विचार (विविध प्रकार की गति) तथा ग्लानि करने वाला होता है।

और जिस में सूक्ष्म, विशद, लघु तथा शब्द गुण अधिक होते हैं वह द्रव्य "नाभस" आकाशीय कहलाता है और वह सौषिर्य (खोखलापन) तथा लघुता करने वाला होता है।

इस प्रकार जगत् में कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है अर्थात् सब द्रव्य औषध रूप हैं क्योंकि सभी द्रव्य नाना—अनेक अर्थों—प्रयोजनों में तथा योगों—योजनाओं में प्रयुक्त होते हैं।

वक्तव्य—गुरु आदि बीस गुण तो अध्याय १ में लिखे ही हैं परन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक विषय भी गुण कहे जाते हैं। यथा—ऊपर के श्लोकों में गन्ध आदि को गुण लिखा है। और—उक्त शब्द आदि विषय गुरु आदि २० गुण, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख तथा प्रयत्न, तथा परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण संस्कार तथा अभ्यास और बुद्धि भी गुण कहे जाते हैं। संसार का कोई भी स्थावर, जङ्गम तथा उद्भिज द्रव्य ऐसा नहीं जो "औषध" न हो। सभी द्रव्य—अकेले-अकेले अथवा किसी अन्य द्रव्य के साथ मिलने पर औषध का काम करते हैं। ५-१० ॥

द्रव्य के वामकत्व आदि भेद—

द्रव्यमूर्ध्वगमं तत्र प्रायोऽग्निपवनोत्कटम्।
अधोगामि च भूयिष्ठं, भूमितोयगुणाधिकम् ॥११॥

व्याख्या—जो द्रव्य—ऊर्ध्वगामी (वामक) होता है उस में प्रायः अग्नि एवं वायु के गुण अधिक होते हैं। और जो द्रव्य—अधोगामी—(विरेचक) होता है उस में प्रायः पृथिवी तथा जल के गुण अधिक होते हैं।

वक्तव्य—जो एक ही द्रव्य वामक एवं विरेचक होता है अर्थात् एक साथ वमन विरेचन करता है उसमें उक्त चारों भूतों के गुण अधिक होते हैं ॥११॥

उपसंहार—

इति द्रव्यं रसान् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते।

व्याख्या—इस प्रकार द्रव्य का वर्णन कर दिया गया है और रस का वर्णन अगले अ० १० में किया जायगा ॥

द्रव्यगत वीर्य का वर्णन—

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु ॥१२॥
लघुरूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा ।
चरकस्त्वाह वीर्यं तत्क्रियते येन या क्रिया ॥१३॥
नावीर्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता हि सा ।
गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते ॥१४॥
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु ।
व्यवहाराय मुख्यत्वाद्बह्वग्रग्रहणादपि ॥१५॥
अतश्च विपरीतत्वात्सम्भवत्यपि नैव सा ।
विवक्ष्यते रसाद्येषु, वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः ॥१६॥
उष्णं शीतं द्विधैवाऽन्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च ।
नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ ॥१७॥
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ।

व्याख्या—वीर्य का वर्णन—कुछ आचार्यों का कहना है कि—वीर्य आठ प्रकार का है—यथा १—गुरु, २—स्निग्ध, ३—हिम (शीत), ४—मृदु, ५—लघु, ६—रूक्ष, ७—उष्ण तथा ८—तीक्ष्ण ।

परन्तु भगवान् चरक का कथन है कि -वीर्य वह है जिस से जो क्रिया (कर्म) की जाती है, कोई भी द्रव्य वीर्य के विना कुछ भो कर्म नहीं करता या कर सकता, सभी क्रियाएँ वीर्य से होती हैं । श्री वाग्भटाचार्य कहते हैं कि—इस प्रकार से वीर्य संज्ञा गुरु आदि उक्त आठ गुणों में ही सार्थक है—अनुकूल अर्थ रखती है इसलिये उक्त आठ गुणों को वीर्य संज्ञा दी गई है और क्योंकि वे आठ गुण ही उक्त बीस गुणों में सार या प्रधान-मुख्य हैं और अपनी शक्ति के उत्कर्ष से विविध प्रकार से क्रिया करते हैं, चिकित्सा व्यवहार में मुख्य हैं और सब से पूर्व उन का ग्रहण (गणना) भी किया गया है और इन सब विशेषताओं से विपरीत होने के कारण रस, विपाक एवं प्रभाव को वीर्य नहीं कहा गया है यद्यपि उन को भो "वीर्य" कहा जा सकता है—कहना सम्भव है । इस लिये गुरु आदि आठ गुणों का नाम "वीर्य" है ।

और कुछ आचार्यों का कहना है कि वीर्य दो प्रकार का है १—उष्ण तथा २—शीत । श्री वाग्भटाचार्य कहते हैं कि यह कहना भी ठीक है, क्योंकि अनेक प्रकार के द्रव्य भी महाबल वाले—अग्नि एवं सोम (जल) का अतिक्रमण कभी नहीं करते जैसे व्यक्त (कार्य) और अव्यक्त कारण) जगत् अग्नि एवं सोम का अतिक्रमण नहीं करता ।

वक्तव्य—कोई आचार्य उक्त प्रकार से ८ तो कोई २ गुणों को वीर्य मानते हैं और श्री वाग्भट भी उक्त प्रकार से उनको उपपन्न मानते हैं परन्तु भगवान् चरक श्री पुनर्वसु के कथनानुसार उसको वीर्य मानते हैं जिसके द्वारा द्रव्य—कर्म—क्रिया को सम्पन्न करता है । कर्म का लक्षण है—प्रयत्नादि कर्म चेष्टितं उच्यते (च सू. अ. १), तथा वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया । न भवीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया (च. सू. अ २६) । द्रव्याश्रितं च कर्म, यत् उच्यते क्रिया इति (च सू. अ. ८) । और औषध कर्माणि—ऊर्ध्वाऽधोभाग—उभय भाग संशोधन, संशमन, सांग्राहिक, अग्निदीपन, पीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, विलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणघ्न, विष प्रशमनादीनि, वीर्यप्राधान्यात् भवन्ति (सु. सू. अ ४० में एकीय मत) । अर्थात् औषध द्रव्य के उक्त कर्म जिसके द्वारा होते हैं उसका नाम "वीर्य" है ॥ १२-१७ ॥

वीर्य के विशिष्ट लक्षण—

तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानि-स्वेददाहाशुपाकिताः ॥१८॥
शमं च वातकफयोः करोति, शिशिरं पुनः ।
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः ॥१९॥

व्याख्या—उन दोनों में उष्ण नामक वीर्य—भ्रम, तृषा, ग्लानि, स्वेद, दाह तथा आशुपाकिता (शीघ्र पकना या पचना) को करता है तथा वायु एवं कफ का शमन करता है और शीतवीर्य—आह्लाद (मनः प्रसाद), जीवन स्वेदादि का स्तम्भन तथा रक्त एव पित्त का प्रसाद—निर्मलता करता है ।

वक्तव्य—इससे प्रतीत होता है श्री वाग्भट उक्त दो गुणों का वीर्य मानते थे ॥ १८, १९ ॥

विपाक का वर्णन—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् ।
रसानां परिणामान्ते स 'विपाक' इति स्मृतः ॥२०॥
स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः ।
तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ॥२१॥
रसै रसस्तुल्यफलस्तत्र द्रव्यं शुभाशुभम् ।
किंचिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चाऽपरम् ॥२२॥
गुणान्तरेण वीर्येण प्रभावेणैव किंचन ।

व्याख्या—आहार पाक के समय—जठराग्नि के संयोग से मधुर आदि रसों का परिपाक होने पर जो जो आहार रस से भिन्न रस उत्पन्न होता है वह "विपाक" कहलाता है ।

प्रायः मधुर एवं लवण रस का विपाक मधुर होता है, अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है और तिक्त, कटु एवं कषाय रसों का विपाक कटु होता है ।

विपाक का फल रस के फल के समान होता है। यह सब होने पर भी—कोई द्रव्य मधुर आदि रस से कर्म करता है तो कोई विपाक से, कोई गुण से तो कोई वीर्य से और कोई केवल प्रभाव से कर्म करता है और कर्म शुभ—सुखदायक भी होता है और अशुभ—दुःख दायक भी ॥ २०-२२ ॥

स्वाभाविक बल—

यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते ॥२३॥
अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते।
विरुद्धगुणसंयोगो भूयसाऽल्पं हि जीयते ॥२४॥
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्व्यपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥२५॥

व्याख्या—प्रतीत होता है कि—द्रव्य में—रस, विपाक गुण, वीर्य तथा प्रभाव में से जो २ बलवान् होकर कर्म करता है या रहता है वह २ दूसरों को अभिभूत करके—दबाकर कार्य शुभ अशुभ कर्म का कारण होता है। और परस्पर विरोधी गुणों के संयोग में भूयान्—बलवान् द्वारा अल्प—दुर्बल जीत लिया जाता है।

और कभी २ रस एवं विपाक आदि के बल की समता होने पर रस को विपाक जीत लेता है और रस एवं विपाक को वीर्य जीत लेता है और रस, विपाक एवं वीर्य को प्रभाव जीत लेता है। यह द्रव्यों या रस आदि का स्वाभाविक बल माना जाता है ॥२३—२५॥

प्रभाव का वर्णन—

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी ॥२६॥
मधुकस्य च मृद्वीका, घृतं क्षीरस्य दीपनम्।

व्याख्या—रस एवं विपाक आदि की समता होने पर भी द्रव्य का जो विशिष्ट कर्म होता है वह प्रभाव जनित होता है यथा—दन्ती (नामक द्रव्य)—रस विपाक आदि में चित्ता नामक द्रव्य के समान होने पर भी विरेचनी होती है। इसी प्रकार मुनक्का महुवा के समान होने पर भी विरेचन होता है और घृत दूध के समान होने पर भी अग्नि दीपक होता है जबकि चित्ता एवं महुवा विरेचन तथा दुग्ध दीपन नहीं होता।

वक्तव्य—रस वीर्य विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावः तस्य स स्मृतः।
यथा—कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णः चित्रको मतः।
तद्वत् दन्ती प्रभावात् तु विरेचयति मानवम्।
और—विष विषघ्नं उक्तं यत् प्रभावः तत्र कारणम्।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम्।
और—मणीनां धारणीयानां कर्म यत् विविधात्मकम्।
तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावो अचिन्त्य उच्यते।
च. सू. अ. २६।

श्री शार्ङ्गधराचार्य के शब्दों में—द्रव्ये रसो, गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। कर्म स्वं स्वं प्रकुर्वन्ति द्रव्यम् आश्रित्य ये स्थिताः। अर्थात् द्रव्य में रस, गुण आदि रहते हैं और अपना-अपना कर्म करते हैं ॥ २६ ॥

उपसंहार—

इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां, पुनश्च तत् ॥२७॥
विचित्रप्रत्ययारब्ध-द्रव्यभेदेन भिद्यते।
स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजित्, वातकृद्यवः ॥२८॥
'उष्णा मत्स्याः पयः शीतं कटुः सिंहो न शूकरः।'

व्याख्या—इस प्रकार द्रव्य और द्रव्यगत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के कर्मों का सामान्य रूप से वर्णन कर दिया गया है परन्तु इस के विपरीत भी द्रव्यों के कर्म में विविध प्रकार के भेद पाए जाते हैं और उस कर्म भेद का कारण यह है कि—प्रत्येक द्रव्य का निर्माण महाभूतों के विचित्र संयोग से होता है अर्थात् भले ही प्रत्येक द्रव्य का निर्माण पञ्चमहाभूतों के संयोग से होता है तथापि प्रत्येक द्रव्य में महाभूतों का संयोग विचित्र या भिन्न २ प्रकार से होता है।

उदाहरण के लिये—गेहूँ एवं जौ दोनों द्रव्य—मधुर एवं गुरु हैं परन्तु गेहूँ वातशामक है और जौ वातकारक है और मत्स्य मांस उष्ण होता है और दूध शीत होता है इसी प्रकार सिंह का मांस तथा सूअर का मांस मधुर एवं गुरु होता है परन्तु सिंह का मांस विपाक में कटु होता है और सूअर का मांस विपाक में मधुर होता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य विचित्र कारणों अथवा कारणों के विचित्र संयोग से उत्पन्न होता है अतः उसमें रस, गुण एवं विपाक आदि भी विचित्र होते हैं। यही कारण है जिससे पाञ्चभौतिक होने पर भी प्रत्येक द्रव्य विचित्र होता है और उसके कर्म भी विचित्र होते हैं। सच यह है कि मानव ने द्रव्यों एवं उसके रस आदि का अन्वेषण करके कुछ निश्चय किये हैं परन्तु द्रव्य की शक्ति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मानव की शक्ति से बाहर है यही कारण है कि नित्य नूतन आविष्कार होते जा रहे हैं ॥ २७-२८ ॥

इति अष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने नवमोऽध्यायः। ९।

दशमोऽध्यायः।

अथातो रसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब रस भेदीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. सू. अ. २६ तथा वि. अ. ८ में, सु. सू अ. ४२ तथा उ. तं. अ ६३ में और अ. सं. सू अ. १७ तथा १८ में देखिये। रस ६ माने जाते हैं जैसा सू अ. १ में कहा गया है यथा—

रसाः स्वादु अम्ल लवण तिक्त ऊषण कषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः ।१४।

ये ६ रस किसी न किसी द्रव्य में पाए जाते हैं, स्वतन्त्र उपलब्ध नहीं होते गुड़ एवं लवण भो द्रव्य श्रेणी के पदार्थ हैं स्वतन्त्र रस नहीं है। श्रोत्र आदि पञ्चज्ञानेन्द्रियों में जो रसन नामक इन्द्रिय है उसके द्वारा जिस रस नामक विषय का ज्ञान होता है उसका नाम "रस" है, रसन नामक इन्द्रिय का अधिष्ठान रसना अर्थात् जिह्वा है! द्रव्य का रसना के साथ सम्पर्क होने पर मधुर आदि रसों का अनुभव या ज्ञान होता है। पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिक सयोग भेद से उक्त ६ रसों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति हो जाती है जैसे जंगम एवं स्थावर प्राणियों में वर्ण एवं आकृति आदि में विभिन्नता हो जाती है यद्यपि सब प्राणी पाञ्चभौतिक होते हैं।

मधुरादि रसों की उत्पत्ति का कारण—

क्ष्माम्भोऽग्निक्ष्माम्बुतेजःख-वाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः
द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥१॥

व्याख्या—दो दो महाभूतों की अधिकता से मधुर आदि रसों की उत्पत्ति होती है यथा—पृथिवी एवं जल तत्त्व की अधिकता से मधुर रस की, अग्नि एवं पृथिवी तत्त्व को अधिकता से अम्ल रस की, जल एवं अग्नि तत्त्व की अधिकता से लवण रस की, आकाश एवं वायु की अधिकता से तिक्त रस की, अग्नि एव वायु की अधिकता से कटु रस की उत्पत्ति तथा पृथिवी एवं वायु तत्त्व की अधिकता से कषाय रस की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य यद्यपि सब द्रव्य पञ्चभूतात्मक हैं तथापि उन महाभूतों में से किन्हीं दो दो की अधिकता से द्रव्यों में मधुर आदि भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न हो जाते हैं। देखिये च० सू० अ० २६।४० ॥ १ ॥

मधुर आदि रसों के लक्षण—

तेषां विद्याद्रसं 'स्वादु' यो वक्रमनुलिम्पति।
आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः ॥२॥
प्रियः पिपीलिकादीनाम्, अम्लः क्षालयते मुखम्।
हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुवनिकोचनः ॥३॥
'लवणः' स्यन्दयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत।
'तिक्तो' विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च ॥४॥
उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमिचिमां 'कटुः'।
स्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च ॥५॥
'कषायो' जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत्।

व्याख्या—उन रसों में मधुर रस वह है जो मुख के भीतर लिपट जाता है और स्वाद लेने पर समस्त शरीर को आह्लादित (प्रसन्न) कर देता है और समस्त इन्द्रियों को भी प्रसन्न कर देता है तथा जो चिउंटियों एवं मक्खियों आदि का भी प्रिय होता है।

अम्ल रस वह है जो मुख को धो डालता है (अत्यधिक लाला स्राव करता है) और रोम हर्ष तथा दन्त हर्ष करता है और नेत्र तथा भौं को संकुचित कर देता है।

लवण रस वह है जो खाते समय—लालास्राव करता कपोल तथा गल (मुख के भीतरी भाग) में दाह उत्पन्न करता है।

तिक्त रस वह है जो खाते समय-मुख को विशद (स्वच्छ) करता है (चिपचिपापन मिटाता है) तथा रसनेन्द्रिय को क्रिया हीन कर देता है (अन्य रस-ग्रहण की शक्ति को नष्ट कर देता है)।

कटुरस (मरिच पीपल आदि का रस) वह है जो खाते समय जीभ के अग्र भाग को उद्विग्न कर देता है (तड़पा देता है), चिमचिमाहट उत्पन्न करता है, नेत्र, नासा तथा मुख से स्राव को प्रवृत्त करता है और कपोलों में दाह जलन) करता है।

और कषाय रस (हरड एवं आमला आदि का रस) वह है जो खाते समय—जीभ को जड़ (स्तब्ध या रस ग्रहण में असमर्थ) कर देता है और कण्ठ स्रोतस् को बान्धता (रोकता) है (उस में ऐंठन उत्पन्न कर देता है)।

वक्तव्य— ये रसों के स्वरूप है जो खाते समय अनुभूत होते हैं। विशेष देखिये च० सू० अ० २६ तथा सु० सू० अ० ४२ ॥२–५॥

मधुर रस के कर्म—

रसानामिति रूपाणि, कर्माणि मधुरो रसः ॥६॥
आजन्मसात्म्यात्कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्।
बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-वर्णकेशेन्द्रियौजसाम् ॥७॥
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद् गुरुः।
आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः ॥८॥
कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदःश्लेष्मजान् गदान्।
स्थौल्याग्निसादसन्न्यास-मेहगण्डार्बुदादिकान् ॥९॥

व्याख्या—इस प्रकार मधुर आदि रसों के रूप कह दिये हैं और कर्म इस प्रकार हैं—यथा—

मधुर रस-जन्म से ही सात्म्य (उपशय-अनुकूल या हित) होने के कारण रस एवं रक्त आदि धातुओं को प्रबल बल (शक्ति—ओजस्) देता है, बाल, वृद्ध, क्षत (घायल) क्षीण (धातु क्षय से या धातु क्षयों से पीडित —रोग आदि से कृश), वर्ण, केश, इन्द्रियों तथा ओजस् के लिये हित है बृंहण है, कण्ठ (स्वरवह स्रोतस् तथा श्वास मार्ग) के लिये हित है, दूध को बढ़ाता है, टूटी अस्थि को जोड़ता है (भग्न का सन्धान करता है), गुरु है, आयु के लिये हित है, जीवन है, स्निग्ध है (स्नेह-वसा का जनक है), पित्त, वात तथा विष का नाशक है ।

परन्तु अधिक खाने से यह—मेदस एवं कफ से होने वाले रोगों को उत्पन्न करता है और विशेषतः—स्थौल्य, मन्दाग्नि, संन्यास, प्रमेह, गलगण्ड एवं अर्बुद आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ६-९ ॥

अम्ल रस के कर्म—

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत्स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः ।
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः ॥१०॥
करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः ।
सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम् ॥११॥
कण्डुपाण्डुत्ववीसर्प-शोफविस्फोटतृड्ज्वरान् ।

व्याख्या—अम्ल रस—अग्नि को प्रदीप्त करता है, स्निग्ध है, हृदय के लिये हित है (हृत्कम्प आदि का नाशक है), पाचन है, रुचिकारक है, उष्ण वीर्य है परन्तु स्पर्श में शीत है, प्रीणन है, क्लेद कारक तथा लघु है, कफ, पित्त एवं रक्त का वर्द्धक है तथा प्रतिलोम वायु को अनुलोम करता है ।

परन्तु अधिक खाने से—शरीर में शिथिलता, तिमिर नामक नेत्र रोग, भ्रम, खुजली, पाण्डु रोग, विसर्प, शोथ, विस्फोट (बड़ी शीतला आदि), तृषा तथा ज्वर को उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—मृदु अम्ल रस स्पर्श में शीतल होता है जैसे काञ्जी, परन्तु तीव्र अम्ल रस दाहक या विस्फोट (फफोले) उत्पन्न कर देता है या जला देता है जैसे तेजाब ॥१०,११॥

लवण रस के कर्म—

लवणः स्तम्भसङ्घात-बन्धविध्मापनोऽग्निकृत् ॥१२॥
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेद-भेदकृत् ।
सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम् ॥१३॥
तृट्कुष्ठविषवीसर्पान् जनयेत्क्षपयेद् बलम् ।

व्याख्या—लवण रस—स्तम्भ (स्तब्धता), संघात तथा बन्ध (सङ्ग—रुकावट—मूत्र पुरीष आदि के अवरोध) को नष्ट करता है, अग्नि को बढ़ाता है, स्नेहन है, स्वेदन है, तीक्ष्ण है, रुचिकारक है, छेदन एवं भेदन है ।

परन्तु अधिक खाने से—वात रक्त, खालित्य (खलिति) केशों की श्वेतता, वलि (झुर्रियाँ), तृषा, कुष्ठ, विष विकार की वृद्धि तथा विसर्प रोग करता है और बल को क्षीण करता है ।

वक्तव्य—लवण—लेप द्वारा मांस वृद्धि (व्रणगत मांस वृद्धी) का छेदन करता है और पक्वशोष का भेदन या दारण करता है ॥१२,१३॥

तिक्त रस के कर्म—

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमितृड्विषम् ॥१४॥
कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्क्लेश-दाहपित्तकफान् जयेत्
क्लेदमेदोवसामज्ज-शकन्मूत्रोपशोषणः ॥१५॥
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्यकण्ठविशोधनः
धातुक्षयाऽनिलव्याधीनतियोगात्करोति सः ॥१६॥

व्याख्या—तिक्त रस स्वयं अरुचिकर है पर अरुचि को नष्ट करता है, क्रिमि, तृषा, विष, कुष्ठ, मूर्च्छा, ज्वर, उत्क्लेश (मिचली एवं छर्दि), दाह, पित्त विकार तथा कफ विकार को नष्ट करता है और क्लेद (पन्छा-सड़न), मेदस्, वसा, मज्जा, पुरीष तथा मूत्र को सुखाता है, लघु है, बुद्धि (मेधा शक्ति) के लिये हित है, शीत वीर्य है, रूक्ष, दुग्ध शोधक तथा कण्ठ शोधक है ।

परन्तु अधिक खाने से—रसादि धातुओं का क्षय तथा वात रोग उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च० सू० अ० २६—स एवं गुणोऽपि एक एव अत्यर्थम् उपयुज्यमान रौक्ष्यात खरविशद स्वभावात् च रस रुधिर मांस मेदोऽस्थिमज्ज शुक्राणि उच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वम् उपपादयति, बलम् आदत्ते, कर्षयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनम् उपशोषयति अपरान् च वातविकारान् उपजनयति ।४७।

सुप्रसिद्ध कुनायन के अधिक सेवन से उक्त लक्षण उत्पन्न होते देखे जाते हैं क्योंकि वह तिक्त रस वाली होती है या उसमें तिक्त रस अत्यन्त तीव्र होता है परन्तु मात्रानुसार एवं दुग्ध के साथ अथवा उसके सेवन के अनन्तर पर्याप्त दुग्ध का सेवन करने से कोई हानि नहीं होती । निम्ब के सेवन से भी उक्त प्रकार के हानिलाभ देखे जाते हैं ॥१४-१६॥

कटु रस के कर्म—

कटुर्गलामयोदर्द-कुष्ठालसकशोफजित् ।
व्रणावसादनः स्नेहमेदक्लेदोपशोषणः ॥१७॥

दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः।
छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः ॥१८॥
कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम्।
मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम् ॥१९॥

व्याख्या—कटु रस—गल रोग, उदर्द (कोठ—शीत-पित्त), कुष्ठ, अलसक तथा शोथ को नष्ट करता है, व्रण की कठोरता को शिथिल करता है, स्नेह (स्निग्धता), मेदस् तथा क्लेद को सुखाता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है, आम को पचाता-पकाता है, रुचिकारक है (आहार को रुचिकर बनाता है), मुख का, नासा का, नेत्र का एवं शिर का शोधन (स्रावण एवं रेचन) करता है, भुक्त आहार को सुखाता है (तृषा जनक एवं अतिसार नाशक है), बन्धों (मल बन्ध एवं कफ आदि की रुकावट आदि) को तोड़ता है (जैसे सोंठ), स्रोतों को खोलता है तथा कफ को नष्ट करता है।

परन्तु अधिक खाने से तृषा को उत्पन्न करता है, शुक्र एवं बल का क्षय करता है, मूर्च्छा, अवयवों में संकोच कम्पन और कटि एवं पीठ आदि में वेदना उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में लाल मरिच का वर्णन नहीं पाया जाता परन्तु वह भी एक कटु द्रव्य है अतः उसके गुण कर्म का निश्चय इस पाठ से कर लेना चाहिये। १७-१९।

कषाय रस के कर्म—

कषायः पित्तकफहा गुरुरस्रविशोधनः।
पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः ॥२०॥
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽति त्वक्प्रसादनः।
करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मानहृद्रुजः ॥२१॥
तृट्कार्श्यपौरुषभ्रंशस्रोतोरोधमलग्रहान्।

व्याख्या—कषाय रस—पित्त एवं कफ को शान्त करता है, गुरु है, रक्त को शुद्ध करता है, (पीडन पक्व शोथ को दबाकर पूय को निकालता है और अवयवों में ऐंठन उत्पन्न करता) है, व्रण का रोपण करता है, शीत वीर्य है, क्लेद एवं मेदस् को सूखाता है, आम दोष को रोकता है, ग्राही है (जैसे आम की मज्जागिरी), अत्यन्त रूक्ष है और त्वचा को स्वच्छ करता है।

परन्तु अधिक खाने से विष्टम्भ, आध्मान, हृदय रोग, तृषा, कृशता, उत्साह नाश, स्रोतों में अवरोध तथा पुरीष आदि मलों में रुकावट करता है।

वक्तव्य—मधुर आदि रस कहीं स्वरूपतः प्राप्त नहीं होते वे द्रव्यों में ही पाए जाते है जिनका वर्णन निम्नलिखित मधुर स्कन्ध आदि में किया गया है। उक्त प्रकार से पृथक्-पृथक् छः रसों का वर्णन किया गया है इनका पृथक्-पृथक् अथवा मिलाकर समीचीन उपयोग करने से प्राणिमात्र का उपकार होता है और असमीचीन उपयोग करने से अपकार होता है इसलिए इनका मात्रानुसार केवल उपकार के लिए ही उपयोग करना चाहिये। २०, २१।

मधुर स्कन्ध—

घृत-हेम-गुडाऽक्षोड-मोच-चोच-परूषकम् ॥२२॥
अभीरु-वीरा-पनस-राजादन-बलात्रयम्।
मेदे चतस्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ ॥२३॥
मधूकं मधुकं विम्बी विदारी श्रावणीयुगम्।
क्षीणशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे ॥२४॥
क्षीरेक्षु-गोक्षुर-क्षौद्र-द्राक्षादि मधुरो गणः'।

व्याख्या—मधुर द्रव्य गण—घृत, स्वर्ण (सोना), गुड़ अखरोट, मोच (केला), चोच (दालचीनी, नारियल), मीठा फालसा, शतावर, वीरा (काकोली), कटहल, चिरौंजी, बला, अतिबला, नागबला, मेदा, महा-मेदा, शालपर्णी, पृश्नपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक, महुवा, मुलेठी, कुन्दरू (कन्दूरी), विदारी कन्द, मुण्डी, बड़ा मुण्डी, क्षीरविदारी, वंशलोचन, छोटी तथा बड़ी दुग्धिका (दूधी—दूधकल), गम्भार, सहा तथा महासहा। सेवती तथा बहारी गुलाब), दूध, ईख, गोखरू, मधु तथा दाख (किसमिस एवं मुनक्का) आदि जितने मधुर (मीठे) द्रव्य हैं वे सब मधुर गण में गिने जाते हैं।

वक्तव्य—इनके अतिरिक्त खजूर एवं सिंघाड़ा आदि अनेक द्रव्य हैं जो मधुर गण में गिने जा सकते हैं ॥२२-२४॥

अम्ल स्कन्ध—

'अम्लो' धात्रीफलाऽम्लीका-मातुलुङ्गाऽम्लवेतसम् ॥२५॥
दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि।
आम्रमाम्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम् ॥२६॥

व्याख्या—अम्ल द्रव्यगण—आमला, इमली, निम्बू, अम्लवेत, अनार, रजत (चान्दी), तक्र, चुक्र, (चोका या कांजी), पालेवत, दही, आम, आमड़ा, कमरख, कैथ तथा करौन्दा आदि जितने भी अम्ल (खट्टे) पदार्थ हैं वे सब अम्ल वर्ग में गिने जाते हैं ॥ २५, २६ ॥

लवण स्कन्ध—

वरं सौवर्चलं कृष्णं बिडं सामुद्रमौद्भिदम्।
रोमकं पांसुजं शीसं क्षारश्च 'लवणो गणः' ॥२७॥

व्याख्या—लवण गण—सैन्धव लवण, सञ्चर लवण, काला नमक, विड लवण, (नौसादर), समुद्र लवण, रेह

नमक, रोमक लवण (साम्भर नमक), पांशुज लवण (मिट्टी का लवण) सीसक धातु तथा विविध क्षार आदि जितने भी लवण रस वाले पदार्थ हैं वे सब लवण वर्ग में गिने जाते हैं ॥२७॥

तिक्त स्कन्ध—

'तिक्तः' पटोली त्रायन्ती वालकोशीर चन्दनम् ।
भूनिम्ब-निम्ब-कटुका-तगराऽगुरु-वत्सकम् ॥२८॥
नक्तमाल-द्विरजनी-मुस्त-मूर्वाऽटरूषकम् ।
पाठाऽपामार्ग-कांस्याऽयो-गुडूची-धन्वयासकम् ॥२९॥
पञ्चमूलं महद्व्याघ्र्यौ विशालाऽतिविषा वचा ।

व्याख्या—तिक्त गण—कड़ुवा परवल, त्रायमाणा, नेत्रबाला खस, दोनों चन्दन, चिरायता, निम्ब, कुटकी, तगर, अगुरु, कुरैया, करंज हलदी, दारु हलदी, मोथा, मूर्वा, अडूसा, पाठा, अपामार्ग, कांस्य धातु, लोह धातु, गिलोय, धमासा, बृहत्पंचमूल, वनभण्टा, कण्टकारी, इन्द्रायण, अतीस तथा बाल वच आदि जितने भी तिक्तरस वाले द्रव्य हैं वे सब तिक्त वर्ग में गिने जाते हैं ॥२८,२९॥

कटु स्कन्ध—

'कटुको' हिङ्गु-मरिच-कृमिजित्पञ्चकोलकम् ॥३०॥
कुठेराद्या हरितकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम् ।

व्याख्या—कटु गण—हींग, मरिच, विडंग, पंचकोल (पीपल, पीपला मूल, चव्य, चित्ता एवं सोंठ), कुठेरक आदि हरितक वर्ग (सू० अ० ६ देखिये—यह वर्ग शालन के द्रव्य हैं जो चटनी आदि में प्रयुक्त होते हैं पुदीना आदि) के द्रव्य, पित्त (प्राणियों के पित्त द्रव) गोमूत्र आदि सब मूत्र तथा भिलावा आदि जितने भी कटु (चरपरे) रस वाले द्रव्य हैं वे सब कटु वर्ग में गिने जाते हैं ॥३०॥

कषाय स्कन्ध—

वर्गः 'कषायः' पथ्याऽक्षं शिरीषः खदिरो मधु ॥३१॥
कदम्बोदुम्बरं मुक्ताप्रवालाञ्जनगैरिकम् ।
बालं कपित्थं खर्जूरं बिसपद्मोत्पलादि च ॥३२॥

व्याख्या—कषायद्रव्यगण—हरड़, बहेड़ा, सिरस, खैर (एवं बबूल, कीकर आदि), मधु, कदम्ब, गूलर, मोती, मूँग, अञ्जन, गेरू, कच्चा कैथ, कच्ची खजूर, विस (भें—भिस), कमल एवं उत्पल आदि जितने भी कषाय कसैले) रस वाले द्रव्य हैं वे सब कषायवर्ग में गिने जाते हैं ॥३१, ३२॥

रसों का विशिष्ट विवेचन—

'मधुरं' श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते ।
मुद्गाद्गोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात् ॥३३॥
'प्रायो' ऽम्लं' पित्तजननं दाडिमामलकादृते ।
अपथ्यं 'लवणं' प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैन्धवात् ॥३४॥
'तिक्तं कटु च' भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम् ।
ऋतेऽमृतापटोलाभ्यां शुण्ठीकृष्णारसोनतः ॥३५॥
'कषायं' प्रायशः शीतं स्तम्भनं चाऽभयां विना ।

व्याख्या—प्रायः सभी मधुर द्रव्य कफकारक होते हैं परन्तु पुराने शालिधान्य, जौ, मूँग, गेहूँ, मधु, श्वेत-खण्ड तथा मृग आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस के बिना ।

प्रायः सभी अम्ल द्रव्य पित्तकारक होते हैं परन्तु अनार एवं आमला के बिना ।

प्रायः सभी लवण नेत्रों के लिए अपथ्य होते हैं परन्तु सैन्धव लवण के बिना ।

प्रायः सभी तिक्त द्रव्य अवृष्य एवं वातकारक होते हैं परन्तु गिलोय एवं तिक्त परवल के बिना ।

प्रायः सभी कटु द्रव्य अवृष्य (रतिशक्ति नाशक) तथा वातकारक होते हैं परन्तु सोंठ, पीपल तथा लशुन के बिना ।

और प्रायः सभी कषाय द्रव्य शीत वीर्य एवं स्तम्भन होते हैं परन्तु हरड़ के बिना । देखिये च० सू० अ० २७ पाठ ४ ॥ ३३–३५ ॥

रसों के द्विविध वीर्य—

रसाः कट्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम् ॥३६॥
तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलः ।

व्याख्या—कटु, अम्ल एवं लवण रस उत्तरोत्तर वीर्य में उष्ण होते हैं, अर्थात्—कटु से अम्ल और अम्ल से लवण रस अधिक उष्णवीर्य होता है । और तिक्त, कषाय एवं मधुर रस उत्तरोत्तर वीर्य में शीत होते हैं, अर्थात् तिक्त रस से कषाय रस और कषाय रस से मधुर रस अधिक शीतवीर्य होता है ॥३६॥

रसों के रूक्ष एवं स्निग्ध गुण—

तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा ॥३७॥
पट्वम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ।

व्याख्या—तिक्त रस, कटु रस एवं कषाय रस उत्तरोत्तर वीर्य (या गुण) में रूक्ष होते हैं तथा मल को बान्धने वाले होते हैं ।

और लवण रस, अम्ल रस एवं मधुर रस उत्तरोत्तर वीर्य (गुण) में स्निग्ध होते हैं तथा पुरीष, मूत्र एवं वायु के प्रवर्त्तक होते हैं ॥३७॥

रसों के गुरु एवं लघु गुण—

पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः ।।३८।।
लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः ।

व्याख्या—लवण रस से कषाय रस तथा कषाय रस से मधुर रस (वीर्य या गुण में) अधिक गुरु होता है। और अम्लरस लघु होता है परन्तु अम्ल रस की अपेक्षा कटुरस और कटुरस की अपेक्षा तिक्तरस (वीर्य या गुण में) अधिक लघु होता है ।

वक्तव्य—यद्यपि उक्त प्रकार से रसों के अनुसार गुण एवं वीर्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है, परन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं, विपाक के अनुसार भी गुण एवं वीर्य का ज्ञान किया जाता है—यथा तिक्त एवं कषाय होने पर भी महापञ्चमूल और मधुर होने पर भी मछली एवं सूअर का मांस उष्ण होते हैं। इसी प्रकार लवण रस वाला होने पर भी सैन्धव लवण तथा अम्ल होने पर भी आमला उष्ण नहीं होता। इसी प्रकार आक, अगुरु तथा गिलोय तिक्त होने पर भी उष्ण होते हैं इसलिये केवल रस के अनुसार सब द्रव्यों के गुणों का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि समान रस वाले द्रव्यों में भी गुणों का भेद देखा जाता है। देखिये च० सू० अ० २६ ।। ३८ ।।

रसों के ६३ भेद—

संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।।३९।।
रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते ।

व्याख्या—मधुर आदि रसों के संयोग ५७ प्रकार के होते हैं और ६ रस पृथक् २ होते हैं, इस प्रकार रसों की कल्पना ६३ प्रकार की होती है और यह कल्पना दोषों के ६३ भेदों में उपयोगी होने के कारण स्थूल रूप से मानी गई है।

वक्तव्य—और सूक्ष्म रूप से तो दोषों के समान यह संख्या गणनातीत होती है। दोषों के ६२ भेदों का वर्णन सू. अ. १२ में देखिये। रसों के समयोग के ५७ मिश्रण निम्नलिखित श्लोकों में देखिये—।।३९।।

दो दो रसों के १५ संयोग—

एकैकहीनांस्तान्पञ्च, पञ्च यान्ति रसा द्विके ।।४०।।
त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककम् ।
चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत् ।।४१।।
पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते ।
द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्तश्च षड्रसाः ।।४२।।

व्याख्या—द्विक अर्थात् दो दो रसों के संयोग १५ होते हैं, यथा—

मधुर रस के साथ अम्ल आदि ५ रसों के संयोग	५
अम्ल रस के साथ लवण आदि ४ रसों के संयोग	४
लवण रस के साथ तिक्त आदि ३ रसों के संयोग	३
तिक्त रस के साथ कटु आदि २ रसों के संयोग	२
कटु रस के साथ एक कषाय रस का संयोग	१
योग—	१५

तीन तीन रसों के संयोग—

त्रिक अर्थात् तीन २ रसों के संयोग २० होते हैं, यथा—

मधुर रस के साथ अन्य दो दो रसों के संयोग	१०
अम्ल रस के साथ अन्य दो दो रसों के संयोग	६
लवण रस के साथ अन्य दो दो रसों के संयोग	३
तिक्त रस के साथ अन्य दो रसों का संयोग	१
योग—	२०

चार चार रसों के संयोग—

चतुष्क अर्थात् चार चार रसों के संयोग १५ होते हैं, यथा—

मधुर रस के साथ अन्य तीन तीन रसों के संयोग	१०
अम्ल रस के साथ अन्य तीन तीन रसों के संयोग	४
लवण रस के साथ अन्य तीन रसों का संयोग	१
योग—	१५

पाँच पाँच रसों के संयोग—

पंचक अर्थात् ५-५ रसों के संयोग ६ होते हैं, यथा—

मधुर रस के साथ अन्य चार चार रसों के संयोग	५
अम्ल रस के साथ अन्य चार रसों का संयोग	१
योग—	६

६ रसों का संयोग—

षट्क अर्थात् ६ रसों का संयोग एक होता है, यथा—

मधुर रस के साथ अन्य ५ रसों का संयोग	१
योग—	१

और असंयुक्त अर्थात् संयोग रहित पृथक् पृथक् मधुर अम्ल, लवण, तिक्त, कटु तथा कषाय नामक ६ रस

योग—६
सर्वयोग—६३

वक्तव्य—तेषां षण्णां रसानां योनिः उदकम् (च. सू. अ. २६ पाठ ८) अर्थात् उन मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय नामक ६ रसों की योनि (उत्पादक मूल

उदक (क्लेद-आर्द्रताजनक) नामक एकमात्र महाभूत हैं। और —

सौम्याः खलु आपोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्च अव्यक्त रसाश्च, तास्तु अन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्च-महाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीः अभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षट् अभिमूर्च्छन्ति रसाः।३९।

अर्थात्—अन्तरिक्ष (गगन-द्यौ एवं पृथ्वी का मध्य) में वर्तमान आप् (व्याप्तिशील जल) सौम्य (आह्लादक) स्वभावतः शीत, लघु (उड़न शील) तथा अव्यक्त रस वाले हैं और वे अन्तरिक्ष से भ्रश्यमान (सर्वदा पृथिवी पर गिरते रहते हुए) और भ्रष्ट (गिरे हुए) पञ्चमहाभूतों के गुणों से संयुक्त होकर वृक्ष-पौदे आदि स्थावर तथा मानव आदि जङ्गम प्राणियों की मूर्त्तियों (देहों) का अभियोग पूर्वक या सब ओर से-सब प्रकार से प्रीणन (तर्पण—सिञ्चन) करते रहते हैं और उन मूर्त्तियों में मधुर आदि ६ रस व्यक्त होते हैं। उन ६ रसों के उक्त प्रकार से ६३ भेद माने जाते हैं और चिकित्सा में उन्हीं का प्रयोग होता हैं। दोषों की ६२ प्रकार की विषमावस्था में रसों के ६२ प्रयोग लाभदायक होते हैं और समावस्था (स्वास्थ्य) में संयुक्त षड रस का भेदन किया जाता है, क्योंकि—

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम् ॥४०॥ (च० सू० अ० २५) अर्थात् सब रसों का उचित मात्रा में सेवन बलकारक भावों में सर्वश्रेष्ठ हैं और किसी एक रस का अभ्यास दुर्बलताकारक भावों में मुख्य है ॥४०–४२॥

उपसंहार—

षट्पञ्चका,षट् च पृथग्रसा स्युश्चतुर्द्विकौ पञ्चदशप्रकारौ।
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः४३

व्याख्या—६ पंचक (५-५ रसों के संयोग), ६ मधुर आदि पृथक २ रस (असंयुक्त रस), १५ चतुष्क (चार२ रसों के संयोग), १५ द्विक (दो दो रसों के संयोग), २० त्रिक (तीन तीन रसों के संयोग) और १ षट्क (६ रसों का संयोग) इस प्रकार ६३ भेद होते हैं।

वक्तव्य—६ पंचक संयोग—

१—अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय का संयोग (मधु हीन)।

२—मधुर, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय का संयोग (अम्ल हीन)।

३—मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु एवं कषाय का संयोग (लवण हीन)।

४—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, एवं कषाय का संयोग (तिक्त हीन)।

५—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त एवं कषाय का संयोग (कटु हीन)।

६—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त एवं कटु का संयोग (कषाय हीन)।

पृथक पृथक् ६ रस—

१—मधुर, २—अम्ल, ३—लवण, ४—तिक्त, ५—कटु, ६—कषाय।

१५—चतुष्कयोग—

१—मधुर, अम्ल, लवण एवं तिक्त रस का संयोग (क० क० हीन)।

२—मधुर, अम्ल, लवण, एवं कटु रस का संयोग (ति० कषाय हीन)।

३—मधुर, अम्ल, लवण एवं कषाय रस का संयोग (ति० क० हीन)।

४—मधुर, अम्ल, तिक्त एवं कटु रम का संयोग (ल० कषाय हीन)।

५—मधुर, अम्ल, तिक्त एवं कषाय का संयोग (ल० कटु हीन)।

६—मधुर, अम्ल, कटु एवं कषाय का संयोग (ल० ति० हीन)।

७—मधुर, लवण, तिक्त एवं कटु का संयोग (अ० कषाय हीन)।

८—मधुर, लवण, तिक्त एवं कषाय का संयोग (अ० कटु हीन)।

९—मधुर, लवण, कटु एवं कषाय का सयाग (अ० ति० हीन)।

१०—मधुर, तिक्त, कटु एवं कषाय का संयोग अ० ल० हीन)।

११—अम्ल, लवण, तिक्त एवं कटु का संयोग (म० कषाय हीन)।

१२—अम्ल, लवण, तिक्त एवं कषाय का संयोग (म० कटु हीन)।

१३—अम्ल, लवण, कटु एवं कषाय का संयोग (म० ति० हीन)।

१४—अम्ल, तिक्त, कटु एवं कषाय का संयोग (म० ल० हीन)।

१५—लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय का संयोग (म० अ० हीन)।

१५ द्विक योग—

१—मधुर एवं अम्ल रस का संयोग।

२—मधुर एवं लवण रस का संयोग।

३—मधुर एवं तिक्त रस का संयोग।
४—मधुर एवं कटु रस का संयोग।
५—मधुर एवं कषाय रस का संयोग।
६—अम्ल एवं लवण रस का संयोग।
७—अम्ल एवं तिक्त रस का संयोग।
८—अम्ल एवं कटु रस का संयोग।
९—अम्ल एवं कषाय रस का संयोग।
१०—लवण एवं तिक्त रस का संयोग।
११—लवण एवं कटु रस का संयोग।
१२—लवण एवं कषाय रस का संयोग।
१३—तिक्त एवं कटु रस का संयोग।
१४—तिक्त एवं कषाय रस का संयोग।
१५—कटु एवं कषाय रस का संयोग।

२० त्रिक योग—

१—मधुर, अम्ल एवं लवण रस का संयोग।
२—मधुर, अम्ल एवं तिक्त रस का संयोग।
३—मधुर अम्ल एवं कटु रस का संयोग।
४—मधुर, अम्ल एवं कषाय रस का संयोग।
५—मधुर, लवण एवं तिक्त रस का संयोग।
६—मधुर, लवण एव कटु रस का संयोग।
७—मधुर, लवण एवं कषाय रस का संयोग।
८—मधुर, तिक्त एवं कटु रस का संयोग।
९—मधुर; तिक्त एवं कषाय रस का संयोग।
१०—मधुर, कटु एवं कषाय रस का संयोग।
११—अम्ल, लवण एवं तिक्त रस का संयोग।
१२—अम्ल, लवण एवं कटु रस का संयोग।
१३—अम्ल, लवण एवं कषाय रस का सयोग।
१४—अम्ल, तिक्त एवं कटु रस का संयोग।
१५—अम्ल, तिक्त एवं कषाय रस का संयोग।
१६—अम्ल, कटु एवं कषाय रस का संयोग।
१७—लवण, तिक्त एवं कटु रस का संयोग।
१८—लवण, तिक्त एवं कषाय रस का संयोग।
१९—लवण, कटु एवं कषाय रस का संयोग।
२०—तिक्त, कटु एवं कषाय रस का संयोग।

१ षड्रास्वाद योग—

१—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय रस का संयोग इस प्रकार ६-६-२५-१५-२०-१=६३ प्रकार की रसों की कल्पना कही गई है ॥ ४३ ॥

असंख्य योग—

ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च।
सम्भवन्ति गणनां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्याः॥

व्याख्या—वे ६३ रस भेद रस एवं अनुरस के भेद से तथा तारतम्य की परिकल्पना से गणनाऽतीत (असंख्य) हो जाते हैं तथापि उनका प्रयोग वातादि दोषों का तथा हरीतकी आदि औषधों का विचार करके उचित रूप से केवल उपकार के लिए करना चाहिये।

वक्तव्य—रसानुरस—मुख्य रस जैसे हरीतकी का कषाय रस और अनुरस अमुख्य रस जैसे हरीतकी के लवण रहित अन्य चार रस।

तारतम्य—तर एवं तम प्रत्यय का योग—यथा—मधुरतर एवं मधुरतम जैसे कोई द्रव्य मधुर होता है तो कोई मधुरतर अथवा मधुरतम इस प्रकार कुछ द्रव्य अम्ल तो कुछ अम्लतर अथवा अम्लतम। एक से दूसरा और दूसरे से तीसरा अधिक व्यक्त रस वाला होता है। दोष के बल को देख कर—विचार कर भेषज के रस का भी विचार करना आवश्यक होता है। वस्तुतः—द्रव्यं एकरस नास्ति न रोगोऽपि एकदोषजः।

अर्थात्—कोई भी ऐसा द्रव्यम् (औषध - भेषज) नहीं जिसमें कोई एक ही रस हो, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में एक से अधिक रस होते हैं परन्तु तथापि जो रस मुख्य या प्रधान (व्यक्त) होता है वह उस द्रव्य का रस माना जाता है और दूसरे रस अनुरस माने जाते हैं।

और इसी प्रकार ज्वर आदि कोई रोग जिसकी चिकित्सा करनी पड़ती है एकदोषज नहीं होता, सभी रोगियों के रोगों में तीनों दोषों की विकृति होती है, क्योंकि—

एकस्तु कुपितो दोष इतरौ अपि कोपयेत्।

एक दोष कुपित होकर दूसरे दोषों को भी कुपित या विकृत कर देता है, अतः प्रत्येक रोग में एक से अधिक रसों का प्रयोग करना आवश्यक होता है और वह दोषों की अवस्था (क्षय वृद्धि) के अनुसार भलीभांति विचार करके किया जाता है ॥४४॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः।

अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब दोषों धातुओं तथा मलों के विज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा है कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च० सू० अ० १२, १७, १८ तथा २८ में, सु० सू० अ० १५ में और अ० सं० सू० अ० १९ में देखिये।

प्रकृतिस्थ दोषों के कर्म—

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य तं चलः ।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वास-चेष्टावेगप्रवर्तनैः ॥१॥
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च ।
अनुगृह्णात्यविकृतः, पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः ॥२॥
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधा-धीशौर्यतनुमार्दवैः ।
श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्व-सन्धिबन्धक्षमादिभिः ॥३॥

व्याख्या—वातादि तीन दोष, रस आदि सात धातु तथा स्वेद आदि मल देह (काय) के मूल (कारण) हैं और सदा अर्थात् जीवनभर मूल (स्थापक) रहते हैं ।

उस देह को प्रकृतिस्थ वायु सदा सर्वदा-उत्साह, श्वास, प्रश्वास, चेष्टा (शारीरिक व्यापार), पुरीष आदि के वेगों की प्रवृत्ति, रस आदि धातुओं की उचित गति तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों की पटुता (विषयग्रहण कर्म) से अनुगृहीत करता रहता है ।

इसी प्रकार प्रकृतिस्थ पित्त—देह को सर्वदा-पाचन, उष्णता, दर्शन (दर्शन व्यापार) क्षुधा, तृषा, रुचि, प्रभा, मेधा, बुद्धि, शूरता तथा शारीरिक मृदुता से अनुगृहीत करता रहता है ।

और इसी प्रकार प्रकृतिस्थ कफ—देह को सर्वदा-स्थिरता, स्निग्धता, सन्धिबन्धन तथा क्षमा (सहन शीलता) आदि से अनुगृहीत करता रहता है ।

वक्तव्य—पञ्चमहाभूतात्मक शरीर में पृथिवी-तत्त्व तो आधार ही है और आकाशतत्त्व अवकाश मात्र है, अतः दोनों ही निष्क्रिय हैं या रहते हैं और उस आधार एवं अवकाश में वायु तत्त्व वायु के, अग्नि तत्त्व पित्त के तथा जल तत्त्व कफ के कर्म करते हुए शरीर का धारण करते हैं, क्योंकि यही तीन महाभूत या तत्त्व क्रियावान् (जीवन भर सक्रिय) रहते हैं । सदा शब्द के स्थान में यदि "समा." शब्द होता तो स्यात् अधिक युक्तियुक्त होता ॥१-३॥

रस आदि के धातुओं के कर्म—

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे ।
गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात्स्मृतम् ॥४॥

व्याख्या—रस आदि धातुओं के मुख्य कर्म क्रमशः ये हैं-१—प्रीणन (शरीर का तर्पण-सिञ्चन), २—जीवन (प्राणकारण), ३-लेप (अस्थिपञ्जर का लेपन), ४—स्नेह (स्नेहन—शरीर को स्निग्ध बनाये रखना), ५-धारण (अवलम्बन) ६—पूरण (अस्थियों की पूर्ति) तथा ७—गर्भोत्पादन (गर्भ का आधान या उत्पत्ति) ।

वक्तव्य—इन कर्मों के अतिरिक्त रस धातु रक्त की एवं समस्त धातुओं की पुष्टि करता है एवं धारण एवं यापन करता है (सु. सू अ. १४) तथा मानसिक तुष्टि (या सन्तोष—अलोलुपता) को बनाए रखता है ।

रक्तधातु—वर्ण को स्वच्छ रखता है तथा मांस का तथा सब धातुओं का पोषण करता रहता है ।

मांस धातु—शरीर को पुष्ट बनाए रखता है और मेदस् धातु का पोषण करता रहता है ।

मेदस् धातु—शरीर को स्निग्ध रखने के साथ २ स्वेद की उत्पत्ति, शरीर की दृढ़ता तथा अस्थियों का पोषण करता रहता है ।

अस्थि धातु—शरीर धारण के साथ २ मज्जाधातु का पोषण भी करता रहता है ।

मज्जा धातु—पूरण के साथ २—स्नेह (दूसरों के प्रतिप्रेम), शारीरिक शक्ति तथा शुक्र धातु का पोषण करतारहता है ।

और शुक्र धातु—गर्भोत्पादन के अतिरिक्त धैर्य, काम वासना के समय धैर्यनाश, प्रीति (प्रेम) तथा बल की वृद्धि का हेतु होता है तथा हर्ष (मैथुनाभिलाष एवं शिश्नोत्थान का हेतु होता है । सु० सू० अ० १५ ॥ ४ ॥

पुरीषादिमलों के मुख्य कर्म—

अवष्टम्भः पुरीषस्य, मूत्रस्य क्लेदवाहनम् ।
स्वेदस्य क्लेदविधृतिः,

व्याख्या—पुरीष का कर्म है—अवष्टम्भ (अवलम्ब-उपयोगी बल का रक्षण तथा मलाशय को स्वस्थ रखना साथ साथ वायु तथा अग्नि का धारण) ।

मूत्र का कर्म है—क्लेद (शरीर में आर्द्रता बनाये रखना और) को बहा देना ।

स्वेद का कर्म है—शरीर में आर्द्रता रखना (तथा त्वचा को कोमल बनाए रखना) ।

वक्तव्य—पाचन क्रिया द्वारा आहार का रस पृथक् हो जाने के पश्चात् जो मल द्रव रह जाता है उस के किट्ट-भाग को पुरीष, और जलीयांश को मूत्र एवं स्वेद का रूप धारण करता है, अतः यह तीनों मल कहे जाते हैं, परन्तु जब तक शरीर में रहते हैं तब तक शरीर के लिये अत्यन्त उपयोगी भी होते हैं । अतएव भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है कि—सु० सू० अ० १५—

एषां विधिवत् परीक्षणं कुर्वीत ॥ ६ ॥
दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् ॥ ३ ॥

अर्थात्—वातादि दोषों का, रसादि धातुओं का तथा पुरीषादि मलों का सब प्रकार से विधिपूर्वक परीक्षण करना चाहिये, क्योंकि दोष,धातु तथा मल शरीर का मूल हैं ॥

वायु आदि दोषों की वृद्धि के लक्षण—

वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः ॥५॥
कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामत्व-कम्पाऽऽनाहशकृद्ग्रहान्।
बलनिद्रेन्द्रियभ्रंश-प्रलापभ्रमदीनताः ॥६॥
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाऽल्पनिद्रताः।
पित्तम् श्लेष्माऽग्निसदन-प्रसेकालस्यगौरवम् ॥७॥
श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः।

व्याख्या—विविध कारणों से बढ़ा हुआ वायु-कृशता, कृष्णता, (नख नेत्रादि में कालापन), उष्ण आहार विहार की अभिलाषा, कम्पन, आनाह (अन्त्र गति का निरोध), पुरीष का अवरोध, बलनाश, निद्रानाश, इन्द्रियनाश (या इनका क्षय-ह्रास), प्रलाप, भ्रम तथा दीनता (मानसिक शक्ति का क्षय) करता है।

विविध कारणों से बढ़ा हुआ पित्त—पुरीष, मूत्र, नेत्र, एवं त्वचा में पीलापन, क्षुधा एवं तृषा की अधिकता, दाह एवं अल्पनिद्रता (निद्रा की अल्पता-निद्रा थोड़ी आना) करता है।

और विविध कारणों से बढ़ा हुआ कफ मन्दाग्नि, लालास्राव, आलस्य, गुरुता, पुरीष आदि में श्वेतता, शीतता (शीत लगना-अवयवों में ठण्डापन) अङ्गों में शिथिलता, श्वास, कास तथा अतिनिद्रता (निद्रा की अधिकता) करता है ।८।

वक्तव्य—इनकी वृद्धि या प्रकोप के कारण देखिये निदान स्थान अ. १ में ॥६-७॥

रसादि धातुओं की वृद्धि के लक्षण—

रसोऽपि श्लेष्मवत् रक्तं विसर्पप्लीहविद्रधीन् ॥८॥
कुष्ठवातास्रपित्तास्र-गुल्मोपकुशकामलाः।
व्यङ्गाग्निनाशसम्मोह-रक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः ।९।
मांसं गण्डार्बुदग्रन्थिगण्डोरूदरवृद्धिताः।
कण्ठादिष्वधिमांसं च तद्वन्मेदस्तथा श्रमम् ॥१०॥
अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलम्बनम्।
अस्थ्यध्यस्थ्यधिदन्तांश्च मज्जा नेत्राङ्गगौरवम् ॥११॥
पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात्कृच्छ्राण्यरूंषिच।
अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि ॥१२॥

व्याख्या—विविध कारणों से बढ़ा हुआ रसधातु बढ़े हुए कफ के समान विकारों को उत्पन्न करता है (देखिये श्लो ८)।

बढ़ा हुआ रक्त धातु-विसर्प, प्लीह विकार, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, पित्त रोग, रक्तपित्त, रक्त गुल्म, उपकुश (दन्त वेष्ट का रोग विशेष उ० तं० अ० २१); कामला, व्यङ्ग (क्षुद्र रोगविशेष), मन्दाग्नि, सम्मोह (मूर्च्छा मद एवं संन्यास आदि मनोरोग) तथा त्वचा, नेत्र एवं मूत्र में लालिमा उत्पन्न करता है।

बढ़ा हुआ मांस धातु-गण्डमाला, गलगण्ड, अर्बुद, ग्रन्थि शोथ करता है और गण्डों (कपोल-गालों) में ऊरुओं में तथा उदर में वृद्धि (बढ़ाव-मोटा पन), कण्ठ एवं गुद में मांस वृद्धि (टाउन्सिल एवं अर्शोङ्कुर आदि) करता है।

बढ़ा हुआ मेदोधातु-बढ़े हुए मांसधातु के समान विकारों को करता है और थकावट तथा थोड़ा भी परिश्रम करने पर श्वास (हँफनी-श्वास फूलना) करता है और स्फिक् (नितम्ब), स्तन एवं उदर में लम्बन (लटकन-थलथल पना करता है।

बढ़ा हुआ अस्थि धातु—अधिक अस्थि तथा अधिक दन्त उत्पन्न) करता है।

बढ़ा हुआ मज्जा धातु—नेत्र एवं शरीरगुरुता और सन्धियों पर स्थूल-मूल वाला (चकली दार एवं कष्ट साध्य (कष्टप्रद) फुन्सियाँ उत्पन्न करता है।

और बढ़ा हुआ शुक्रधातु—मैथुन की अत्यन्त कामना तथा शुक्राश्मरी उत्पन्न करता है।

वक्तव्य— वृद्ध धातुओं के लक्षण लिखते समय श्री वाग्भटाचार्य की लेखनी कुछ अधिक गतिशील हो गई प्रतीत होती है। वह वृद्धि के साथ २ दुष्टि के लक्षण भी लिख गई। अस्तु, पाठक विचारशीलता से काम लें और सु. सू. अ. १५ का १४ वां पाठ देखने की कृपा करें। वस्तुतः—विसर्प, कुष्ठ एवं व्यङ्ग आदि रक्तदुष्टि के लक्षण हैं, रक्तवृद्धि के नहीं, इसी प्रकार अन्य विचार स्वय करें॥ ८-१२॥

पुरीष आदि मलों की वृद्धि के लक्षण—

कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनं शकृत्।
मूत्रं तु बस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसञ्ज्ञताम् ॥१३॥
स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्यकण्डूः एवं च लक्षयेत्।
दूषिकादीनपि मलान् बाहुल्यगुरुतादिभिः ॥१४॥

व्याख्या—बढ़ा हुआ पुरीष-कुक्षि (उदर या मलाशय) में अफरा, गुडगुडाहट, गुरुता एवं वेदना करता है।

बढ़ा हुआ मूत्र-वस्ति (मूत्राशय, मूत्रवह स्रोतस् एवं वृक्क) में वेदना (शूल) करता है और मूत्रोत्सर्ग करने पर भी प्रतीत होता है मूत्र लगा है या मूत्रोत्सर्ग किया ही नहीं (बार बार मूत्र आता है)।

बढ़ा हुआ स्वेद—स्वेद की अधिकता, शरीर भर में दुर्गन्ध तथा कण्डू उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार दूषिका आदि (नेत्रमल, नासा मल एवं कर्णमल आदि) मलों की अधिकता तथा मलमार्गों की

गुरुता आदि से उनकी वृद्धि समझनी चाहिये।

वक्तव्य—सु० सू० अ० १५ में इनके अतिरिक्त आर्त्तव (रजस्) स्तन्य (दुग्ध) तथा गर्भ की वृद्धि के लक्षणों का भी उल्लेख है, यथा—आर्त्तवं अङ्गमर्दं अतिप्रवृत्ति दौर्गन्ध्यं च, स्तन्यं स्तनयोः आपीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्ति तोदं च, गर्भो जठराऽभि वृद्धि स्वेदं च।

और—वृद्धि पुनः एषां (दोषधातुमलानां) स्वयोनिवर्द्धनाऽत्युपसेवनात् भवति ॥१६॥ तथा—तेषां (वृद्धानां) यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयात् अविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥१३,१४॥

वातादि दोषों के लक्षण—

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम्।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसम्भवः ॥१५॥
पित्ते मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः कफे भ्रमः।
श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रवः श्लथसन्धिता ॥१६॥

व्याख्या—वायु का क्षय (न्यूनता-ह्रास) होने पर शरीर में अवसाद (शिथिलता), बोलने एवं चेष्टा में अल्पता, संज्ञा (समीचीन ज्ञान) में मोह (असमीचीन ज्ञान—ठीक ठीक न समझना) तथा कफ की वृद्धि से होने वाले विकारों की उत्पत्ति।

पित्त का क्षय होने पर—मन्दाग्नि, शीत लगना, शरीर शीत होना तथा कान्ति का क्षय।

और कफ का क्षय होने पर भ्रम (एवं भ्रम), कफ आशयों (शिर एवं उरस आदि) की शून्यता (रिक्तत्व प्रतीति), हृदय की गति में वृद्धि (धड़कन—धुकधुकी एवं नाड़ी की गति में तीव्रता) तथा सन्धियों में शिथिलता॥

वक्तव्य—इनके अतिरिक्त वृद्धि के लक्षणों से विपरीत लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥१५,१६॥

रसादि धातुओं के क्षय के लक्षण—

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दाऽसहिष्णुता।
रक्तेऽम्लशिशिरप्रीति-शिराशैथिल्यरूक्षताः ॥१७॥
मांसेऽक्षग्लानिगण्डस्फिक्शुष्कतासन्धिवेदनाः।
मेदसि स्वपनं कट्याः प्लीह्नो वृद्धिः कृशाङ्गता ॥१८॥
अस्थ्न्यस्थितोदः सदनं दन्तकेशनखादिषु।
अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम् ॥१९॥
शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा।
तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च ॥२०॥

व्याख्या—रस धातु का क्षय होने पर—शरीर में रूक्षता, थकावट, शोष (कृशता), ग्लानि (मानसिक बल का ह्रास) तथा शब्द सुनने में द्वेष (वार्त्तालाप एवं ऊँचे बोलना अच्छा न लगना)।

मांस का क्षय होने पर—इन्द्रियों में दुर्बलता, गालों एवं नितम्बों में शुष्कता एवं सन्धियों में वेदना।

मेदस् धातु का क्षय होने पर-कटि में स्वाप (शून्यता की प्रतीति), प्लीहा की वृद्धि तथा शरीर में कृशता।

अस्थि का क्षय होने पर—अस्थियों में व्यथा तथा दन्त, केश एवं नखों का गिरना (टूटना)।

मज्जाधातु का क्षय होने पर—अस्थियों में खोखलापन, भ्रम अन्धकार दीखना (नेत्रों के आगे अन्धकार की प्रतीति)।

और शुक्र का क्षय होने पर मैथुन में शुक्र विलम्ब से स्खलित होना अथवा शुक्र के स्थान में रक्त निकलना, वृषणों (अण्ड एवं शुक्र वह स्रोतस्) में व्यथा, शिश्न में से (नारी के भग में से) धुआँ निकलता प्रतीत होना ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—इनके अतिरिक्त वृद्धि के लक्षणों से विपरीत लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥१७–२०॥

पुरीष आदि मलों के क्षय के लक्षण—

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव।
कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन् भृशम् ॥२१॥
मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं सास्रमेव वा।
स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः ॥२२॥

व्याख्या—पुरीष का क्षय होने पर—वायु शब्द (गुड़गुड़ाहट) करता हुआ तथा अन्तड़ियों को उमेठता हुआ सा उदर भर में घूमता है और हृदय एवं पार्श्वों में पीड़ा करता हुआ ऊपर को जाता है।

मूत्र का क्षय होने पर मूत्र थोड़ा आता है, कष्ट (कड़क) के साथ आता है, विकृत वर्ण वाला अथवा रक्तमिश्रित आता है (मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात के लक्षण हो सकते हैं)।

स्वेद का क्षय होने पर—रोम उखड़ (झड़) जाते हैं अथवा स्तब्ध (कड़े—कठोर) हो जाते हैं तथा त्वचा फट जाती है ॥२१,२२॥

कर्णमल आदि के क्षय का लक्षण—

मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम्।
स्वमलायनसंशोष-तोदशून्यत्वलाघवैः ॥२३॥

व्याख्या—कर्ण आदि के मल अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, अतः उनका क्षय सरलता से नहीं जाना जा सकता तथापि उन सब के क्षय को—कर्ण नेत्र आदि मलमार्गों के सूखने

से और उन में व्यथा होने से तथा सूनापन एवं लघुता की प्रतीति होने से जानने का प्रयत्न करे ॥२३॥

वृद्धि एवं क्षय का संकेत—

दोषादीनां यथास्वं च विद्याद् वृद्धिक्षयौ भिषक्।
क्षयेण विपरीतानां गुणानां वर्धनेन च ॥२४॥
वृद्धिं मलानां सङ्गाच्च क्षयं चातिविसर्गतः।

व्याख्या—दोषों, धातुओं तथा मलों के वृद्धि एवं क्षय को चिकित्सक—निम्न प्रकार से जाने, यथा—

दोषादि के विपरीत प्रतिकूल) गुणों एवं कर्मों के क्षय से उनकी वृद्धि और विपरीत गुणों के वर्द्धन से क्षय समझे।

और मलों के सङ्ग (शरीर में अवरोध होने या रहने) से मलों की वृद्धि समझे और मलों का अति विसर्ग (निःसरण) हो जाने पर मलों का क्षय समझे।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि—शरीर में यदि वातादि दोषों एवं रसादि धातुओं के गुण-कर्म बढ़ गये हों तो वृद्धि और घट गये हों तो क्षय समझना चाहिये और मलों के सङ्ग (सञ्चय) होने से वृद्धि तथा निःसरण हो जाने पर उनका क्षय समझना चाहिये। २४॥

मलों का महत्त्व—

मलोचितत्वाद् देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः ॥२५॥

व्याख्या - मल कहे जाने वाले पुरीष आदि भी देह के लिये उचित (उपयोगी--आवश्यक) होते हैं, अतः उनका क्षय उनकी वृद्धि की अपेक्षा कष्टकारक होता है।

वक्तव्य—मलों को "मल" समझ कर देह के लिये अनावश्यक नहीं मानना चाहिये, वे भी शरीर के लिये या जीवन के लिये उतने ही उपयोगी हैं जितने रस आदि धातु, एवं अन्यान्य पदार्थ, भले ही उनका नाम "मल" है। उनकी वृद्धि उतनी हानिकारक नहीं होती जितना उनका क्षय हानिकारक होता है, तात्पर्य यह है कि मलों का शरीरमें विद्यमान रहना उतना ही उपयोगी एवं आवश्यक है जितना दोष कहे जाने वाले वात आदि का एवं रस रक्त आदि धातु कहे जाने वाले अन्यान्य पदार्थों का विद्यमान रहना, क्योंकि—दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्। सु० सू० अ० १५—३ ॥२५॥

वायु आदि के विशिष्ट स्थान—

तत्रास्थनि स्थितो वायुः, पित्तं तु स्वेदरक्तयोः।
श्लेष्मा शेषेषु, तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः ॥२६॥
यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम्।
अस्थिमारुतयोर्नैवं, प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात् ॥२७॥
श्लेष्मणाऽनुगता तस्मात् संक्षयस्तद्विपर्ययात्।
वायुनाऽनुगतोऽस्माच्च वृद्धिक्षयसमुद्भवान् ॥२८॥
विकारान् साधयेच्छीघ्रं क्रमाल्लङ्घनबृंहणैः।
वायोरन्यत्र, तज्जांस्तु तैरेवोत्क्रमयोजितैः ॥२९॥

व्याख्या—अस्थियों में वायु, स्वेद एवं रक्त में पित्त और शेष रस एवं मांस आदि में कफ रहता है, इसलिये दोषों एवं धातु तथा मलों का आश्रय एवं आश्रयी सम्बन्ध है। फलतः उन आश्रय (अस्थि आदि) तथा आश्रयी (वात आदि) की परस्पर जो औषध (आहार विहार भी) एक (आश्रय) की वर्द्धन (वर्द्धक) होती है वह दूसरे (आश्रयी) की भी वर्द्धन होती है और इसी प्रकार जो एक की क्षपण (क्षयकारक) होती है वह दूसरे की भी क्षपण होती है।

परन्तु अस्थि (आश्रय) एव वायु (आश्रयी) में ऐसा नहीं होता, क्योंकि—वृद्धि प्रायः तर्पण से होती है और वह कफ के अनुकूल होती है और क्षय अपतर्पण से होता है और वह वायु के अनुकूल होता है, इस कारण भी वृद्धि से उत्पन्न रोगों को तत्काल लंघन (अपतर्पण) से और क्षय से उत्पन्न रोगोंको बृंहण (सन्तर्पण) से सिद्ध (शान्त) करने का प्रयत्न करे, परन्तु वायु में ऐसा नहीं किया जाता अपितु वायुके रोगों को (वायु की वृद्धि से उत्पन्न रोगों को) लंघन (अपतर्पण) से सिद्ध करने का प्रयत्न करे।

वक्तव्य—इस सन्दर्भ को समझने के लिये देखिये च० सू० अ० २२ तथा २३। और अ० स० अ० १४ का श्लोक ८ यथा—

बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्ताऽनिलस्य च।

पिण्डितार्थ यह है कि—सन्तर्पण से सब की वृद्धि होती है परन्तु वायु का क्षय होता है और अपतर्पण से सब का क्षय होता है, परन्तु वायु की वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में सभी आश्रय एवं आश्रयी की चिकित्सा समान होती है परन्तु अस्थि एवं वायु की चिकित्सा समान नहीं होती। अथवा यों समझिये कि—सब की वृद्धि से उत्पन्न रोगों में लंघन से लाभ होता है परन्तु वायु की वृद्धि से उत्पन्न रोगों में लंघन से लाभ नहीं होता है। इसी प्रकार सबके क्षयसे उत्पन्न रोगोंमें बृंहण से लाभ होता है परन्तु वायु के क्षय से उत्पन्न रोगों में बृंहण से लाभ नहीं होता है ॥२६-२९॥

रक्तादि की वृद्धि की चिकित्सा—

विशेषाद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः।
मांसवृद्धिभवान् रोगान् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः ॥३०॥

स्थौल्यकार्श्योपचारेण मेदोजानस्थिसंक्षयात् ।
जातान् क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुतैर्बस्तिभिस्तथा ॥३१॥

व्याख्या—विशेषतः रक्तवृद्धि से उत्पन्न विकारों को रक्त स्रावण एवं विरेचनों से सिद्ध (शान्त) करे ।

मांस वृद्धि से उत्पन्न रोगों को शस्त्र कर्म, क्षार कर्म एवं अग्नि कर्म से सिद्ध करे ।

मेदोवृद्धि से उत्पन्न विकारों को–स्थौल्य चिकित्सा से और मेदः क्षय से उत्पन्न विकारों को कार्श्य चिकित्सा (देखिये अ० १४) से सिद्ध करे ।

और अस्थि क्षय से उत्पन्न विकारों को दूध एवं घृत के सेवन से तथा तिक्त रसयुक्त वस्तियों के प्रयोग से सिद्ध करे ।

वक्तव्य—किसी-किसी प्रति में श्लोक ३१ से आगे यह पाठ है यथा—

मज्जशुक्रामयानां तु भोजनं स्वादु शीतलम् ।
शुद्धिव्यवायव्यायामं यच्चान्यत् शुक्रशोधनम् ॥

अर्थात्—मज्जा एवं शुक्र के विकारों में मधुर एवं शीतल भोजन, वमन विरेचन रूपी शोधन, मैथुन, व्यायाम तथा शुक्रशोधन की व्यवस्था करे ।

और किसी प्रति में इस प्रकार का पाठ है, यथा—

मज्जशुक्रोद्भवान् रोगान् भोजनैः स्वादुतिक्तकैः ।
वृद्धं शुक्रं व्यवायाऽऽद्यैः यच्चान्यत् शुक्रशोधनम् ।
प्रत्यनीकौषधं मज्जशुक्रवृद्धिक्षये हितम् ।

ये सब पाठ रहने पर भी यह समग्र पाठ अपूर्ण ही रह जाता है, क्योंकि इसमें कुछ वृद्धियों एवं कुछ क्षयों का ही वर्णन किया गया है सब का नहीं तथापि विशेषात् पाठ को ध्यान में लाकर इस आपत्ति का निराकरण किया जा सकता है । पाठक अपना मनस्तोष सु० सू० अ० १५ के इन पाठों या उपदेशों से कर सकते हैं, यथा—

तत्रापि स्वयोनिवर्द्धनद्रव्योपयोगः प्रतिकारः ।१०।

अर्थात्—क्षयों में तत्तत् धातु को बढ़ाने वाले द्रव्यों का प्रयोग ही चिकित्सा है । और—

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयाद् अविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ।१७।

अर्थात्—वृद्धियों में यथायोग्य संशोधन तथा क्षपण (क्षयकारक उपाय) तथा अन्यान्य ऐसे उपाय करे जिनसे धातुओं का अत्यन्त क्षय न हो केवल आवश्यक क्षय हो । विशेष देखिये च० सू० अ० २८ के श्लो० ३८ से ४४ । और देखिये च० शा० अ० ६ के पाठ ६ से ११ ॥ ३०,३१ ॥

मलों के वृद्धि क्षय की चिकित्सा—

विड्वृद्धिजानतीसार-क्रियया, विट्क्षयोद्भवान् ।
मेषाजमध्यकुल्माष-यवमाषद्वयादिभिः ॥३२॥
मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया ।
व्यायामाभ्यञ्जनस्वेद-मद्यैः स्वेदक्षयोद्भवान् ॥३३॥

व्याख्या—पुरीषवृद्धि से उत्पन्न विकारों को–अतिसार चिकित्सा से और पुरीषक्षय से उत्पन्न विकारों को–मेढा एवं बकरा के मध्य काय के मांस के भक्षण से अथवा कुल्माष (अर्द्धस्विन्न उबाले हुए जौ आदि धान्य) जौ, उरद तथा राजमाष आदि के भक्षण से सिद्ध करे ।

मूत्र वृद्धि से उत्पन्न विकारों को प्रमेहचिकित्सा से और मूत्र क्षय से उत्पन्न विकारों को मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा से सिद्ध करे ।

और स्वेदक्षय से उत्पन्न विकारों को व्यायाम, अभ्यङ्ग स्वेदन तथा मद्य पान से सिद्ध करे । और स्वेद वृद्धि से उत्पन्न विकारों को ग्रीष्मचर्योक्त शीतोपचारों (अ० ३ देखिये) से सिद्ध करे ।

वक्तव्य—विड्वृद्धिजानतीसारक्रियया वाक्य की व्याख्या सर्वाङ्गसुन्दरी एवं आयुर्वेद रसायन नामक टीकाओं के अनुसार की गई है, परन्तु हमारे विचार से यह व्याख्या समीचीन नहीं है । क्योंकि—सामान्यतः अतिसार की चिकित्सा पुरीषरोधक होती है जो पुरीष वृद्धि में लाभप्रद नहीं हो सकती । अतः इस पाठ को व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये, यथा—पुरीष वृद्धि से उत्पन्न विकारों को वस्तियों के प्रयोग से सिद्ध करे । श्लोक ३१ के वस्तिभिस्तथा ।३२। विड्वृद्धिजान्, पाठ मिला कर व्याख्या करना उचित है । पाठक गम्भीरता से उचितानुचित का विचार करें और यही व्याख्या चरक सू० अ० २८ के श्लोक ४१ के अनुकूल भी है । और-

अतीसारक्रियया विट्क्षयोद्भवान् । अर्थात् विट्क्षय से उत्पन्न विकारों को अतिसार के समान चिकित्सा से सिद्ध करे ॥३२,३३॥

धातुओं के वृद्धि क्षय का अन्य कारण—

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः ।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥३४॥

व्याख्या—स्वस्थान में स्थित (भी) अग्नि (पाचकाग्नि) के अंश (भाग जो धातुओं में उष्ण भूत रहते हैं धात्वग्नि कहलाते हैं) रस एवं रक्त आदि धातुओं में आश्रित रहते हैं—उन के मन्द होने से धातुओं की वृद्धि हो जाती है और उनके अत्यन्त प्रदीप्त (तीक्ष्ण) हो जाने से रसादि धातुओं का क्षय हो जाता है ।

वक्तव्य—धातुगत अग्नितत्व के मन्द होने से (न्यून होने से) धातु का पाक नहीं होता, फलतः वह धातु बढ़ जाता

है और इसी प्रकार धातुगत अग्नितत्त्व के तीक्ष्ण होने से धातु का अधिक पाक हो जाता है फलतः वह धातु घट जाता है यही कारण है कि सब धातुओं की वृद्धि अथवा क्षय एक साथ नहीं होता, कभी किसी धातु का क्षय अथवा वृद्धि होती है कभी किसी धातु का क्षय अथवा वृद्धि होती है। यह भी धातुओं की वृद्धि एवं क्षय का एक कारण या प्रकार है ॥३४॥

वृद्धि क्षय का अन्य कारण—

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।

व्याख्या—और पूर्व (प्रथम) धातु बृद्ध होकर पर धातु को भी वृद्ध कर देता है और क्षीण होकर पर धातु को क्षीण कर देता है।

वक्तव्य—जैसे—यदि रस धातु बढ़ जाता है तो रक्त धातु को बढ़ा देता है और यदि कदाचित् रक्तधातु बढ़ जाता है तो मांस धातु को बढ़ा देता है। इसी प्रकार मांस मेदस् को, मेदस् अस्थि को, अस्थि मज्जा को और मज्जा शुक्र को बढ़ा देता है या बढ़ा सकता है। इसी प्रकार क्षीण रस धातु रक्त को क्षीण कर देता है और रक्त मांस को, मांस मेदस् को,मेदस् अस्थि को, अस्थि मज्जा को और मज्जा धातु शुक्र को क्षीण कर देता है या कर सकता है। यह भी धातुओं के वृद्धि क्षय का एक प्रकार है। कारण के क्षय से कार्य का क्षय और कारण की वृद्धि से कार्य की वृद्धि हो जाती है। इसी न्याय से ऐसा होता है और रस धातु की स्वाभाविक वृद्धि से सभी धातु का वर्द्धन (पोषण) और स्वाभाविक क्षय से सब धातुओं का क्षय होता है, यथा सु. सू. अ. १४— तत्रैतेषां धातूनां अन्नपानरसः प्रीणयिता। ११।

अर्थात् अन्नपान का रस इन धातुओं का प्रीणन—तर्पण—सिञ्चन करता है और—तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते ॥२१॥

धातुओं के क्षय एवं वृद्धि का निमित्त कारण रक्त है।

धातु, मल एवं स्रोतों की दुष्टि—

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् ॥३५॥
अधो द्वे, सप्त शिरसि, खानि स्वेदवहानि च।
मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ॥३६॥

व्याख्या— वातादि दोष—मधुर आदि रसों द्वारा दुष्ट होकर—रस रक्त आदि धातुओं को दूषित कर देते हैं और वे दोष एवं धातु पुरीषादि मलों को दूषित कर देते हैं और वे मल अपने २ मलायनों (मलमार्गों) को दूषित (मलिन) कर देते हैं। अतः उन मलायनों में यथास्व रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मलायन ये हैं—

अधोभाग के दो—१—मूत्र मार्ग और २—पुरीष मार्ग। शिरोभाग के ७ मलायन हैं—यथा—२—कर्ण स्रोत, २—नासा रन्ध्र, २—नेत्र तथा १—मुख और शरीर भर के असंख्य स्वेदवह स्रोतस्।

वक्तव्य—यथास्वं यो यस्य स्वं- स्वकीयं-अर्थात् जो जिसका स्व अर्थात् स्वकीय—अपना है वह। यथा—वायु के रोग—वायु के स्थानों में, पित्त के रोग पित्त के स्थानों में, कफ रोग कफ के स्थानों में, धातुओं के रोग धातुओं में होते हैं, परन्तु मलों के रोग मलायनों में होते हैं, यथा—मूत्र के रोग—मूत्रवाहक संस्थान (वृक्क, मूत्रवह स्रोत, वस्ति तथा मूत्रमार्ग) में, पुरीष के रोग पुरीषमार्ग में, कर्णमल के रोग कर्ण में, नासामल के रोग नासा में, नेत्र मल के रोग नेत्र में और मुखमल के रोग मुख में होते हैं। किन्तु—धातुगत रोगों मेंदोषों के और मलजनित रोगों में दोष एवं धातुओं की दुष्टि के लक्षण भी रहते हैं ॥ ३१, ३६ ॥

ओजस् का वर्णन—

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥३७॥
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्।
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ॥३८॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यान- शोक- श्रमादिभिः ॥३९॥
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
विच्छायो दुर्मना रूक्षो भवेत्क्षामश्च तत्क्षये ॥४०॥

व्याख्या – रसादि शुक्रान्त धातुओं का परम (उत्कृष्ट) तेजस् "ओजस्" कहलाता है, वह हृदय में स्थित रहता है तथापि समस्त शरीर में व्याप्त रहता है, शरीर की स्थिति का आधार है और वह स्निग्ध है, सोमगुण युक्त (प्रसाद जनक) है, शुद्ध है (या शुद्ध अवस्था में) वर्णतः कुछ २ लाल एवं पीला सा रहता है, यह ओजस् वह है जिसका नाश होने पर अवश्य मृत्यु हो जाती है और जिसकी स्थिति रहने पर जीवन रहता है और जिसके कारण—अनेक प्रकार के शारीरिक कान्ति एवं पराक्रम आदि भाव निष्पन्न (सम्पन्न) होते हैं—

ओजस् क्षय के हेतु—क्रोध, भूख, चिन्ता, शोक एवं परिश्रम आदि क्लेशों से ओजस् का क्षय हो जाता है।

ओजस् क्षय के लक्षण—ओजस् का क्षय होने पर—भय लगता है (अकारण डरता है)- दुर्बल हो जाता है, बार २ या अत्यन्त चिन्ता करता है, इन्द्रियाँ व्यथित (दुर्बल) हो जाती हैं, कान्ति विकृत हो जाती है, मन दूषित या दुःखी बना रहता है (बुरे विचार उठते रहते हैं), शरीर रूक्ष एवं क्षीण (कृश) हो जाता है।

वक्तव्य—देखिये सु० सू० अ० १५ में पाठ १६ से २१ और च० सू० अ० १७ में श्लोक ७३ से ७७ तथा सू० अ० ३० के श्लोक ८ से १४। भगवान् धन्वन्तरि ने ओजस् को स्वशास्त्र के सिद्धान्त से "बल" कहा है और—कहा है कि—

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता, सर्वचेष्टासु अप्रतिघात', स्वरवर्णप्रसादो, बाह्यानां आभ्यन्तराणां च करणानां आत्मकार्य प्रतिपत्तिः भवति ॥२०॥

अर्थात्—बल (ओजस्) के कारण—मांस (मांस पेशियाँ) स्थिर (दृढ़) एवं पुष्ट बना रहता है, शरीर की सब चेष्टाओं (व्यापारों) में रुकावट नहीं पड़ती, स्वर एवं वर्ण में उदारता बनी रहती है और कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों के अपने २ कार्य ठीक २ होते रहते हैं।

परन्तु अन्य आचार्य उसे द्रव्य मानते हैं। उनका कथन है कि ओजस्—स्निग्ध आदि गुणों वाला है, यथा—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ॥२१॥

यही श्रीवाग्भट ने भी "स्निग्धं……पीतकम्" पाठ से स्वीकार किया है। हमारे विचार में हृदयगत साधक नामक पित्त जो रक्त में मिला रहता है या साधक पित्त मिश्रित रक्त का नाम ओजस् है अथवा हृदय स्थित अवलम्बक कफ जो रक्त में मिला रहता है उस का नाम ओजस् है और इस प्रकार ओजस् के विषय में आचार्यों के तीन मत हैं १—गुण (बल) एवं गुणी (द्रव्य) में अभेदोपचार से उसे "बल" मानते हैं, जैसे तीन कटु द्रव्यों के संयोग को त्रिकटु कह दिया जाता है। २—उसे ईषत्-लोहित पीतक मानते हैं और ३—उसे "शुक्ल" मानते हैं। हमारा विश्वास है कि यह केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। आज का शवच्छेदक इस विषय में मौन हैं, क्योंकि शव में इस प्रकार का कोई पृथक् पदार्थ उसे नहीं मिलता। हमारा मत है कि शव में वह होता ही नहीं या रहता ही नहीं। और जो इस प्रकार का तरल मिलता भी है उसे ओजस् मानने के लिये आज का विचारक स्यात् तैयार नहीं है। सच यह है कि आत्मा (चेतना धातु) के समान ओजस् मृत (शव) में रहता भी नहीं या उस रूप में नहीं रहता अतः मिले तो कैसे मिले ॥३८-४०॥

ओजःक्षय की चिकित्सा—

जीवनीयौषधक्षीर-रसाद्यास्तत्र भेषजम्।
ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ॥४१॥

व्याख्या—ओजस् के क्षय में—जीवनीय द्रव्यों का सेवन, दुग्ध का पान तथा मांस रस एवं शर्करा, बलवर्द्धक फल आदि का सेवन ही चिकित्सा है अर्थात् इन के सेवन से ओजस् की वृद्धि हो जाती है।

इस प्रकार ओजोवर्द्धक आहार विहारों के सेवन से ओजस् की वृद्धि होने पर देह की तुष्टि (मन का सन्तोष), पुष्टि तथा बल का उदय (उत्पत्ति एवं वृद्धि) होता है।

वक्तव्य—अष्टाङ्गसंग्रह का ओजोविषयक पाठ इस प्रकार है—

तेजो यत् सर्वधातुनां ओजःतत् परमुच्यते।
मृदु सोमात्मकं शुद्धं रक्तम् ईषत् सपीतकम् ॥
यत् सार आदौ गर्भस्य यत् तद् गर्भरसात् रसः।
संवर्त्तमान हृदयं समाश्रयति यत् पुरा ॥
यत् शरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः।
यस्याऽनाशात् न नाशोऽस्ति प्रीणिता येन देहिनः।
हृदयस्थं अपि व्यापि तत् परं जीवितास्पदम्।

अर्थात्—जो सब धातुओं का तेजस् है वह परम ओजस् कहा जाता है और वह मृदु, सोमात्मक, शुद्ध कुछ लाल एव कुछ पीला पदार्थ है और जो गर्भ (भ्रूण) का आदिम सार है एवं गर्भ के रस का भी रस (सारभूत) है और जो हृदय के निर्माण के समय सर्व प्रथम हृदय में आश्रित होता है, जो शरीर के रस का स्नेह है और जिस में प्राण (जीवन) आश्रित रहते हैं और जिस का नाश हुए विना नाश (मृत्यु) नहीं होता और जिससे प्राणी प्रीणित (तर्पित) बने रहते हैं, जो हृदयाश्रित होता हुआ भी समस्त शरीर में व्याप्त होता रहता है वह ओज जीवन का परम (सर्व श्रेष्ठ) आस्पद (आश्रय) है। (तात्पर्य यह है कि यद्यपि मस्तिष्क (चेतनावाहक संस्थान), हृदय (रक्तवाहक संस्थान) तथा फुप्फुस (श्वासवाहक संस्थान) और नाभि (रसवाहक संस्थान) एवं यकृत आदि सभी अवयव जीवन के हेतु हैं तथापि ओजस् सर्वश्रेष्ठ जीवन हेतु है, क्योंकि उससे सब को बल मिलता है या सब का तर्पण होता है ॥ ४१ ॥

वृद्धि क्षय का चिकित्सा सूत्र—

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु।
तत्तत्त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत् ॥४२॥

व्याख्या—जिस अन्न (आहार एवं विहार भी) से द्वेष (अरुचि) करता है उसका परित्याग करता हुआ मानव—उस २ वृद्धि (दोष, धातु एवं मल की वृद्धि) पर विजय प्राप्त कर लेता है और जिस अविरोधी अन्न की प्रार्थना (अभिलाषा) करता है उसका सेवन करता हुआ मानव—उस २ क्षय (दोष, धातु एवं मल के क्षय) पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥४२॥

द्वेष एवं प्रार्थना का कारण—

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न ॥४३॥

व्याख्या—क्योंकि—वृद्ध दोष प्रायः विपरीत गुण वाले आहार (एवं विहार) में रुचि (अभिलाषा) उत्पन्न करते हैं और क्षीण दोष—प्रायः समान गुण वाले आहार (एवं विहार) में रुचि उत्पन्न करते हैं, परन्तु इस सचाई को प्रायः मूर्ख जन नहीं समझते (बुद्धिमान् जन इस सूक्ष्म दशा को समझ लेते हैं)।

वक्तव्य—दोष ही नहीं रस आदि धातु एवं पुरीष आदि मलों की भी यही दशा है, क्योंकि जब वे या उनमें से कोई एक अथवा एक से अधिक शरीर में बढ जाते हैं तब मानव के मन में उन-उन आहारों के सेवन की इच्छा उत्पन्न होती है जो-जो उसको या उनको घटाने वाले होते हैं और जब घट जाते हैं तब उन-उन आहारों की इच्छा उत्पन्न होती है जो उन-उन को बढ़ाने वाले होते हैं यथा – वायु की वृद्धि में मधुर स्निग्ध एवं उष्ण आहार की इच्छा होती है, पित्तवृद्धि में मधुर एवं शीत आहार की और कफवृद्धि कटु, रूक्ष एवं उष्ण आहार की इच्छा स्वभावतः उत्पन्न होती है और माँस क्षय में मांस अथवा मांसवर्द्धक या पुष्टिकारक और दुर्बलता में बलवर्द्धक आहारों की इच्छा होती है और वायु आदि के क्षय में वायु आदि के समान गुण वाले आहारों की इच्छा होती है यह सब स्वभावतः होता है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुण-भूयिष्ठैः वाऽपि आहारविकारैः (विहारैः) अभ्यस्यमानैः वृद्धं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैः विपरीतगुणभूयिष्ठैः वाऽपि आहारैः अभ्यस्यमानैः ।९। च० शा० अ० ६।

सीधी-सीं बात है कि—जब शरीर में जल रहता है तब जल से द्वेष (अरुचि) होता है और जब जल का क्षय (कमी) होता है तब जल की इच्छा (रुचि) होती है। अनेक बार देखा गया है कि रोगी की रुचि के अनुसार आहार देने पर रोग की शान्ति हो गई और रुचि पूरी न होने पर रोग की वृद्धि हो गई ॥ ४३ ॥

अवस्थानुसार दोषों का कर्म—

यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते।
रूपाणि, जहति क्षीणाः, समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥४४॥

व्याख्या—बढ़े हुए (वृद्ध दोष) अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने लक्षणों का विस्तार (प्रदर्शन) करते हैं।

घटे हुए दोप (क्षीण दोप—क्षय परिमाणानुसार) अपने २ लक्षणों (स्वाभाविक गुण कर्मों) का परित्याग करते हैं और समदोष—अपना २ कर्म करते रहते हैं (दे० श्लो० ४)।

वक्तव्य—दोषों की वृद्धि, क्षय तथा समता जानने का यह भी एक उपाय है ॥४४॥

दोषों को सम रखने का उपदेश—

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै त एव दोपा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव, क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥४५॥

व्याख्या—जो वातादि दोष—सम रहने पर शरीर की वृद्धि (अर्थात् पोषण एवं रक्षण) का कारण होते हैं वे ही दोष विषम होने पर शरीर के वध (विकृति एवं विनाश) का कारण हो जाते हैं, इसलिए हित आहार-विहार द्वारा दोषों की वृद्धि के समान ही क्षय से भी रक्षा करनी चाहिये ॥४५॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि दोषों (और धातुओं एवं मलों) की वृद्धि ही हानिकारक नहीं होती उनका क्षय भी हानिकारक होता है, अतः ऐसा आहार-विहार करना चाहिये जिससे दोषों को वृद्धि भी न हो और क्षय भी न हो।

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने एकादशोऽध्यायः ।११।

— —

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो दोषभेदीयाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब दोषभेदीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे। इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च० सू० अ० ११, १७, १९, २० तथा २८ में, शा० अ० १ में तथा चि० अ० २८ में और सु० सू० अ० २१ एवं २४ में नि० अ० १ तथा ३ अ० ६६ में और अ० सं० सू० अ० २० एवं २२ में देखिये।

वायु के मुख्य स्थान—

पक्वाशय-कटी-सक्थि-श्रोत्राऽस्थिस्पर्शनेन्द्रियम्।
स्थानं वातस्य, तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥१॥

व्याख्या—पक्वाशय (मलाशय), कटी (कमर), सक्थि (दोनों टाँगें), श्रोत्र (कान), अस्थियाँ तथा त्वचा ये वायु के स्थान हैं इनमें भी पक्वाधान विशिष्ट स्थान हैं।

वक्तव्य—यद्यपि वायु सर्वशरीरगामी है तथापि उक्त स्थानों में वायु विशेष रूप से गतिशील रहता है और इन

स्थानों पर वायु की विकृति का विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। पक्वाधान अर्थात् मलाशय। स्थान अर्थात् कर्मभूमि ॥१॥

पित्त के मुख्य स्थान—

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य, नाभिरत्र विशेषतः। २।

व्याख्या—नाभि, आमाशय, स्वेद नामक मल (स्वेद वाही स्रोतस्), लसीका, रक्त धातु, रस धातु, दृष्टि (चक्षुः नामक इन्द्रिय का अधिष्ठान—नेत्र) तथा स्पर्शन (त्वचा) ये सब पित्त के स्थान हैं। इनमें भी नाभि पित्त का विशिष्ट स्थान है।

वक्तव्य—नाभि अर्थात् नाभि नामक मर्म-यथा—पक्वाऽऽमाशययोः मध्यं सिराप्रभवो नाभिर्नाम मर्म (सु० शा० अ० ६) अर्थात् पक्वाशय (मलाशय) तथा आमाशय का मध्य भाग नाभि नामक मर्म है। इसी का नाम क्षुद्रान्त्र है जहाँ आहार का पाक होता है यही पित्त (पाचक पित्त) की प्रधान कर्मभूमि है। देखिये (श्लोक १२)। स्मरण रखिये कि यह नाभि बाह्य नाभि नहीं है जिसे घुन्नी या तुन्नी कहते हैं। लसीका—यत् तु त्वगन्तरे व्रणगतं "लसीका" शब्दं लभते (च० शा० अ० ७) अर्थात् त्वचामात्र पर घृष्ट व्रण होने से जो लसीका द्रव निकलता है उसका नाम "लसीका" है। त्वचा वायु एवं पित्त दोनों का स्थान माना गया है। हमारे विचार में वायु का स्थान स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् वेदनी नामक पांचवी त्वचा है। क्योंकि उसी में शीतोष्ण आदि स्पर्श का अनुभव होता है अतएव उसका नाम वेदनी है और पित्त का स्थान अवभासनी नामक प्रथमा या बाह्य त्वचा है जिसमें भ्राजक नामक पित्त रहता है। अस्तु, इन स्थानों पर पित्त की विकृति आदि का विशेष प्रभाव पड़ता है ॥२॥

कफ के मुख्य स्थान—

उरःकण्ठशिरःक्लोम-पर्वाण्यामाशयो रसः।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य, सुतरामुरः ॥३॥

व्याख्या—उरस्, कण्ठ, शिरस्, क्लोम, सन्धियाँ, आमाशय, रस धातु, मेदस् धातु, घ्राण, (नासा—घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान) तथा जिह्वा (रसना-रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान) ये सब कफ के स्थान हैं और विशेषतः कफ का स्थान उरस् है।

वक्तव्य—उरस्—इयर्त्ति इति उरः जो सर्वदा गति करता रहता है (ऋ गतौ धातु जुहोत्यादिगणीय)। वक्षस्थल के भीतर हृदय एवं दोनों फुफ्फुस हैं जो जीवन भर गति करते हैं, और उनके ऊपर सामने की ओर श्लेष्माशय रहता है (देखिये आशयों का वर्णन शा. अ. ३)। उरस शब्द से इन सब का बोध होता है और कफ के वे ही प्रधान स्थान हैं ॥ ३ ॥

वायु के ५ भेद तथा प्राण वायु का वर्णन—

प्राणादिभेदात्पञ्चात्मा वायुः प्राणोऽत्र मूर्धगः।
उरःकण्ठचरो बुद्धि-हृदयेन्द्रियचित्तधृक् ॥४॥
ष्ठीवनक्षवथूद्गार-निःश्वासान्नप्रवेशकृत्।

व्याख्या—प्राण, उदान, व्यान, समान एवं अपान भेद से वायु ५ प्रकार या स्वरूप का माना जाता है।

इनमें प्राण वायु—शिरस् में गतिशील रहता है और उरस् एवं कण्ठ में घूमता है तथा बुद्धि, हृदय (हृत्—हार्ट-हृदय नामक सिरामर्म), दसों इन्द्रियों तथा चित्त (मनस्) का धारण करता है।

और ष्ठीवन (लालास्राव), क्षवथु (छींक), उद्गार, निःश्वास (श्वास प्रश्वास) तथा अन्नप्रवेश (निगलना) नामक कर्म करता है ॥५॥

वक्तव्य—प्राणः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यत् उत्तमाङ्गं अंगानां शिरः तत् अभिधीयते। १२।
(च० सू० अ० १७)

तथा—शिरसि इन्द्रियाणि, इन्द्रिय प्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि (च० सि० अ० ९)।

अर्थात्—जहाँ प्राणियों के प्राण तथा सब इन्द्रियाँ आश्रित हैं और जो सब अंगों में उत्तम अंग है वह शिर कहलाता है। जत्रु के ऊपर का ग्रीवा समेत अंग "शिर" है और यह समग्र अंग मर्ममय या ३७ मर्मों का अधिष्ठान है (सु० शा० अ० ६)। और ष्ठीवन आदि कर्म प्राण वायु के ही अधीन है ॥ ४ ॥

उदान वायु का वर्णन—

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् ॥५॥
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जा-बलवर्णस्मृतिक्रियः।

व्याख्या—उदान वायु का मुख्य स्थान उरस् है और वह नासा, नाभि (अन्त्र) तथा गल (आहार-मार्ग एवं श्वास मार्ग) में गति करता रहता है। वाक् प्रवृत्ति (बोलना), प्रयत्न (उत्साह), ऊर्जा (प्राणन), बल, वर्ण तथा स्मृति (स्मरण) नामक कर्म उसी उदान वायु के अधीन हैं ॥५॥

व्यान वायु का वर्णन—

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ॥६॥
गत्यपक्षेपणोत्क्षेप-निमेषोन्मेषणादिकाः।
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥७॥

व्याख्या—व्यान वायु का मुख्य स्थान हृदय है और

वह समस्त शरीर में घूमता रहता है, क्योंकि वह वायु अत्यन्त वेगवान् है और गति (रसमिश्रित रक्त का भ्रमण) अपक्षेपण (अंगों का अधोनयन), उत्क्षेपण (ऊपर की ओर ले जाना), निमेष (नेत्र निमीलन) तथा उन्मेष (नेत्रोन्मीलन) आदि सब क्रियाएँ (कर्म) प्रायः उसी व्यान वायु के अधीन हैं।

वक्तव्य—व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥
(शा० अ० ३)

अर्थात्—रक्तीभूत रसधातु हृदय स्थित व्यान वायु द्वारा जीवन भर निरन्तर शरीर में सब ओर फेंकी जाती है। यह वायु कितना वेगवान् है यह हृदय की गति से एवं रस धातु के विक्षेपण तथा शरीर में भ्रामण से जाना जा सकता है। हृदय आदि अवयवों की गतियाँ प्रसारण एवं आकुञ्चन आदि व्यापार इसी व्यान वायु के अधीन है ॥६,७॥

समान वायु का वर्णन—

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति ॥८॥

व्याख्या—समान वायु—अग्नि (पाचकाग्नि) के समीप रहता है और कोष्ठ में सब ओर घूमता है (पाचन में सहायक बना रहता है) और अन्न को ग्रहण करता (पचाए बिना आगे नहीं जाने देता) है, पचाता है तथा रस एवं मल द्रव रूप में विभाजित करता है और रस को शरीर में तथा मल द्रव को मलाशय में छोड़ देता है।

वक्तव्य—स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निर्बलप्रदः ॥
च० चि० अ० २८ ॥ ८ ॥

अपान वायु का वर्णन—

अपानोऽपानगः श्रोणि-बस्तिमेढ्रोरुगोचरः।
शुक्रार्तवशकृन्मूत्र-गर्भनिष्क्रमणक्रियः ॥९॥

व्याख्या—अपान वायु—अपान (गुद) प्रदेश में रहता है एवं कटी, वस्ति (मूत्राशय, मूत्रवह स्रोतस् एवं वृक्क तथा वस्ति गह्वर के गर्भाशय आदि अवयव), मेहन (मूत्र मार्ग शुक्रवाही एवं आर्त्तववाही स्रोतस्) तथा ऊरुओं (सक्थियों) में गतिशील रहता है और शुक्र, आर्त्तव, पुरीष, मूत्र तथा गर्भ को निकालना (समय पर निकालना) उस वायु का कर्म है।

वक्तव्य—अदादिगण की "अन प्राणने" धातु से प्राण आदि शब्दों की निष्पत्ति होती है यथा—प्रसरणेन अनिति इति प्राणः, उत्—ऊर्ध्वं—ऊर्ध्वशरीरे वा अनिति इति उदानः। व्याप्य समस्तशरीरं अथवा विशेषेण वा समन्तात् सर्वशरीरे अनिति इति व्यानः, समन्तात् कोष्ठे, सम्यक्, समं वा अनिति इति समानः, अपसरणेन अधो वा अधः शरीरे वा अनिति इति अपानः। अर्थात् जो-जो वायु उक्त प्रकार से उक्त अवयवों को प्राणवान् या अनुप्राणित करते हैं उनके प्राण आदि नाम हैं और अदादिगण की वा गति-गन्धनयोः धातु से वात एवं वायु शब्द की निष्पत्ति होती है यथा—वाति इति वायुः (सु० सू० अ० २१) अर्थात् गतिशील तत्व ॥९॥

पित्त का वर्णन—

पित्तं पञ्चात्मकं तत्र, पक्वामाशयमध्यगम्।
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥१०॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादि-कर्मणाऽनलशब्दितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा ॥११॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन 'पाचकं' नाम तत्स्मृतम् ॥१२॥
आमाशयाश्रयं पित्तं 'रञ्जकं' रसरञ्जनात्।
बुद्धिमेधाभिमानाद्यै, रभिप्रेतार्थसाधनात् ॥१३॥
'साधकं' हृद्गतं पित्तं रूपालोचनतः स्मृतम्।
दृक्स्थमालोचकं त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः ॥१४॥

व्याख्या—पित्त दोष भी ५ प्रकार का होता है यथा १—पाचक, २—रञ्जक, ३—साधक, ४—आलोचक तथा ५—भ्राजक।

पाचक पित्त का वर्णन—

उनमें जो पित्त—पक्वाशय एवं आमाशयके मध्यभाग (मध्यगत अवयव—क्षुद्रान्त्र) में गतिशील (कार्यकारी) होता है और जो पञ्च भूतात्मक होने पर भी—तैजस (आग्नेय गुण-सन्ताप या पाचन-कर्म) के उदय (आधिक्य) से त्यक्त द्रवत्व (द्रव रूप के अतिरिक्त अग्नि रूप) है और पाचन आदि कर्म से एवं शरीर को सन्ताप देना आदि कर्म से अग्नि संज्ञक है और अन्न को पचाता है—पकाता है तथा सार (रस) एवं किट्ट (द्रव मल) रूप में विभाजित करता है और वहाँ (क्षुद्रान्त्र या पित्ताशय में) रहता हुआ भी रञ्जक आदि अन्यान्य पित्तों को बलदान—शक्तिदान द्वारा अनुग्रहीत करता रहता है वह पित्त "पाचक" कहलाता है।

रञ्जक पित्त का वर्णन—

जो पित्त आमाशय में रहता है वह "रञ्जक" कहलाता है। क्योंकि वह रसधातु को रग लाल वर्ण का रक्त धातु बनाता है।

साधक पित्त का वर्णन—

जो पित्त हृदय में रहता है वह "साधक" कहलाता है, क्योंकि वह बुद्धि, मेधा तथा अभिमान (अहंकार) आदि द्वारा अभीष्ट अर्थ को सिद्ध करता है।

आलोचक पित्त का वर्णन—

जो पित्त दृष्टि में रहता है वह "आलोचक" कहलाता है, क्योंकि वह रूप (आकार एवं वर्ण) को देखने में सहायक होता है।

भ्राजक पित्त का वर्णन—

और जो पित्त त्वचा (अवभासिनी त्वचा) में रहता है वह त्वचा को कान्ति युक्त करता या रखता है, अतः "भ्राजक" कहलाता है।

वक्तव्य—"आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात्" यद्यपि समीचीन प्रतीत नहीं होता तथापि विचारणीय अवश्य है, क्योंकि अष्टांगसंग्रह सूत्र अ० २० में भी ऐसा ही पाठ है यथा "आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनात् रञ्जकम्" और सर्वाङ्गसुन्दरी एवं आयुर्वेदरसायन नामक टीकाओं में भी यही पाठ स्वीकृत किया गया है और भले ही भगवान् धन्वन्तरि के एतद्विषयक वाक्यों से मेल नहीं खाता, यथा—

यत् तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निः इति संज्ञा (सु. सू अ २१) तथा

स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागम् उपैति (सु. सू. अ. २१)

अर्थात्—जो पित्त यकृत् एव प्लीहा में रहता है उसका नाम "रञ्जक" अग्नि (पित्त) है और—

शरीर का आप्यायन-पोषण करने वाला रस धातु (आहार रस) यकृत् एवं प्लीहा में प्राप्त होकर राग (लालिमा—रक्तपन) को प्राप्त होता है और शार्ङ्गधराचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है, यथा—

यकृत् रञ्जकपित्तस्य स्थानं रक्तस्य संश्रयः ।४०। तथा हृदयं यकृति यत् यत् पित्तं तद् रसं शोणितं नयेत् ।२७। (पू. खं अ. ५) अर्थात् रञ्जक पित्त का स्थान यकृत् है तथा यकृत् में जो पित्त रहता है वह रस धातु को रक्त बनाता है। तथापि हमारा विचार है कि—स्यात् वाग्भट जी का तात्पर्य "हाइड्रो क्लोरिक अम्ल" नामक आमाशयिक रस से है जो कि पित्त के समान पाचन में सहायक होता है और उसके मिश्रण से यकृत् एवं प्लीहा में जाने पर रस का रञ्जन सरलता से हो जाता है। यह भी कहा जाता है कि इस रस के अभाव से पाण्डुरोग या कामला या हलीमक नामक रोग हो जाते हैं। अस्तु।

साधक पित्त—इसके कर्मों पर गहरा ध्यान देने से प्रतीत होता है कि यह पित्त ओजस् का वह भाग है जो अ० ११ के श्लोक १९ में "ईषत् लोहितपीतकम्" पाठ में पीतक कहा गया है। यह रक्त में घुला-मिला रहता है और उसे द्रव बनाये रखता है तथा उष्णता देता रहता है और इसी अध्याय १२ के श्लोक ३ में रक्त को पित्त का स्थान भी माना है।

आलोचक पित्त—नेत्र गत "पीतविन्दु" है,देखिये हमारे शरीर की रचना अध्याय २३। त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में नेत्र के अन्यान्य स्थानों की अपेक्षा पीतविन्दु में देखने की शक्ति सबसे अधिक होती है।

भ्राजक पित्त—त्वचागत द्रव में पीलापन ही भ्राजक पित्त है यह जितना अधिक होता है उतनी ही कान्ति अधिक होती है।

पाचक पित्त—इन सब पित्तों को जो पित्त शक्तिप्रदान करता है वह पाचक पित्त है और पित्त को शक्ति प्राप्त होती है पित्त वर्द्धक आहार विहारों एवं औषधों से। शरीर का अग्नि तत्त्व आयुर्वेदीय वाङ्मय में "पित्त" कहलाता है। पित्त शब्द की निष्पत्ति सु० सू० अ० २१ में "तप् सन्तापे" धातु से मानी गई है अर्थात् शरीर में जो सन्ताप या उष्णता है अथवा जिससे शरीर उष्ण बना रहता है वह पित्त है। पित्त की वृद्धि से सन्ताप की वृद्धि तथा क्षय से सन्ताप का क्षय हो जाता है और जब पित्त सम बना रहता है तब शरीर का सन्ताप भी सम बना रहता है और पित्त नामक जो पदार्थ पाया जाता हैं वह आग्नेय या अग्निगुण प्रधान होता है। श्री सुश्रुत के प्रश्न के उत्तर में भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था कि—न खलु पित्तव्यतिरेकात् अन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिषु अभिप्रवर्त्तमाने अग्निवत् उपचारः क्रियते अन्तरग्निरिति (सु० सू० अ० २१) अर्थात् पित्त का ही नाम अन्तरग्नि या जठराग्नि है क्योंकि वह दहन एवं पचन आदि कर्म करता है ॥१०-१४॥

कफ का वर्णन—

श्लेष्मा तु पञ्चधा उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा ॥१५॥
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्।
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंस्थितः ॥१६॥
क्लेदकः सोऽन्नसङ्घात-क्लेदनात् रसबोधनात्।
बोधको रसनास्थायी शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् ॥१७॥
तर्पकः सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः।

व्याख्या—कफ भी ५ प्रकार का माना जाता है, १—अवलम्बक, २—क्लेदक, ३—बोधक, ४—तर्पक तथा ५—श्लेषक।

अवलम्बक कफ का वर्णन—

उन में जो उरस् में रहने वाला कफ है वह अपनी शक्ति से त्रिक (कमर-त्रिकास्थि) का तथा आहार रस से हृदय का अवलम्बन करता है और वहीं स्थित रह कर अपनी शक्ति से जल-कर्म द्वारा आमाशय आदि अन्यान्य कफ स्थानों का अवलम्बन (सहायता) करता है, इस लिये वह "अवलम्बक" कहलाता है।

क्लेदक कफ का वर्णन—

जो कफ आमाशय में रहता है (कार्य करता है) वह अन्न के संघात को आर्द्र करता है, अतः "क्लेदक" कहलाता है।

बोधक कफ का वर्णन—

जो कफ रसना (जीभ) में रहता है वह मधुर आदि रसों का बोध (ज्ञान) कराता है अतः 'बोधक" कहलाता है।

तर्पक कफ का वर्णन—

जो कफ शिर (के भीतर मस्तिष्क) में रहता है वह इन्द्रियों का तर्पण करता है, अतः "तर्पक" कहलाता है।

श्लेषक कफ का वर्णन—

और जो कफ सन्धियों में रहता है वह सन्धियों को श्लिष्ट करता—सटाता है, अतः "श्लेषक" कहलाता है।

वक्तव्य—कफ शरीर का जलतत्त्व है. कफ का नाम श्लेष्मा है, इस शब्द की निष्पत्ति सु० सू० अ० २१ में "श्लिष् आलिङ्गने" नामक धातु से बतलाई गई है और क्योंकि यह शरीर का जलतत्व है अतः जल से इसकी वृद्धि एवं क्षय से क्षय होता है और जब शरीर में जलतत्त्व सम रहता है तब श्लेष्मा भी सम बना रहता है और जो कफ पाया जाता हैं उसमें जलांश अधिक एवं कुछ पृथिवी तत्त्व होता हैं। वायु-आकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तं, अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा (अ० सं० सू० अ० २०) और वात पित्त श्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः । ३ । (सु० सू० अ० २१) इस प्रकार पञ्चमहाभूतात्मक वात, पित्त एवं कफ शरीर की उत्पत्ति के हेतु हैं ॥ १५-१७ ॥

उपसंहार—

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्॥१८॥
व्यापिनामपि जानीयात्कर्माणि च पृथक्पृथक् ।

व्याख्या—इस प्रकार प्रकृतिस्थ वात, पित्त एवं कफ नामक दोषों (एवं उनके भेदों) के मुख्य मुख्य स्थान कह दिये हैं। भले ही वे दोष सर्व शरीरव्यापी हैं और उनके मुख्य मुख्य कर्म भी पृथक् पृथक् कह दिये हैं भले ही शरीर में जितने कर्म होते हैं वे सब उन्हीं के हैं या उन्हीं के द्वारा होते रहते हैं अतः उन सबको भली भांति समझना चाहिये ।१८।

वायु के चय, कोप एवं शम का वर्णन —

उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम् ॥१९॥
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धाद्यो गुणा. ।

व्याख्या—उष्ण वीर्य से युक्त रूक्ष आदि गुण वायु का सञ्चय करते हैं और शीत वीर्य से युक्त रूक्ष आदि गुण वायु का कोप करते हैं और उष्ण वीर्य से युक्त स्निग्ध आदि गुण वायु का शमन करते हैं।

वक्तव्य—वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ॥१३॥ (सू० अ० १) के सिद्धान्तानुसार वायु के समान स्वभाव वाले—रूक्ष, शीत, खर, सूक्ष्म, चल तथा विशद गुण वाले द्रव्यों के सेवन से वायु की वृद्धि होती है। वृद्धि के दो रूप हैं १—चय अर्थात् सञ्चय और २—कोप अर्थात् प्रकोप। रूक्ष आदि गुणों वाले द्रव्यों का यदि उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों के साथ उपयोग किया जाता है तो वायु का चय तो होता है, परन्तु कोप नहीं होता, क्योंकि उष्ण वीर्य वायु का कोप नहीं होने देता ॥१९॥

पित्त के चय आदि का वर्णन—

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते ॥२०॥
उष्णेन कोपं, मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः ।

व्याख्या—शीत वीर्य से युक्त तीक्ष्ण आदि गुण पित्त का संचय करते हैं और उष्ण वीर्य से युक्त तीक्ष्ण आदि गुण पित्त का कोप करते हैं और शीत वीर्य से युक्त मन्द आदि गुण पित्त का शमन करते हैं।

वक्तव्य—पित्त के समान स्वभाव वाले स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, विस्र, सर तथा द्रव गुण तथा अम्ल लवण एवं कटु रस वाले द्रव्यों के सेवन से पित्त की वृद्धि होती है। वृद्धि के दो रूप हैं १—सञ्चय और २—प्रकोप। उक्त गुणों वाले द्रव्यों का उपयोग यदि शीत वीर्य द्रव्यों के साथ मिला कर किया जाता है तो पित्त का सञ्चय तो होता है परन्तु कोप नहीं होता क्योंकि शीत वीर्य द्रव्य पित्त का प्रकोप नहीं होने देता।

कफ के चय आदि का वर्णन—

शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम् ॥२१॥
उष्णेन कोपं, तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम् ।

व्याख्या—शीत वीर्य से युक्त स्निग्ध आदि गुण कफ का संचय करते हैं और उष्ण वीर्य से युक्त स्निग्ध आदि गुण कफ का कोप करते हैं और उष्ण वीर्य से युक्त रूक्ष

आदि गुण कफ का शमन करते हैं।

वक्तव्य—कफ के समान स्वभाव वाले स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द श्लक्ष्ण, मृत्स्न, स्थिर, मृदु, मधुर एवं पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों के सेवन से कफ का सञ्चय होता है परन्तु कोप नहीं होता क्यों कि शीत वीर्य के प्रभाव से वह स्कन्न (जमा हुआ) रहता है और उष्णवीर्य के प्रभाव से पिघलने पर कुपित हो जाता है ॥ २१ ॥

चय एवं कोप का वर्णन—

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ॥२२॥
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता।
लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः ॥२३॥
स्वस्थानस्थस्य समता विकाराऽसम्भवः शमः।

व्याख्या—वातादि दोषों की जो अपने ही स्थान में वृद्धि होती है उसका नाम "चय" या सञ्चय है। इस दशा में वृद्धि के कारणों (आहार विहारों) में द्वेष (अरुचि) होता है और विपरीत गुण वाले आहार विहार की इच्छा (अभिलाषा-रुचि) होती है।

वातादि दोषों का जो उन्मार्ग गमन (अन्यत्र गमन) होता है उसका नाम "कोप" या प्रकोप है। इस दशा में दोषों के अपने अपने लक्षण दीखने लगते हैं (उत्पन्न हो जाते हैं), अस्वस्थता का अनुभव होता है और किसी न किसी रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

और दोषों का अपने स्थान में साम्यावस्था में रहना तथा विकार (अस्वास्थ्य एवं रोग) की उत्पत्ति न होना "शम" या शमन कहलाता है।

वक्तव्य—शम की अगली अवस्था का नाम क्षय है, उसका वर्णन अ. ११ में देखिये। इस प्रकार दोषों के चय, कोप एवं शम का वर्णन कर दिया गया है ॥२२,२३॥

काल स्वभाव से चय, कोप एवं शम का वर्णन—

चय-प्रकोप-प्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥२४॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादिषु।

व्याख्या—वायु का चय ग्रीष्म ऋतु में, प्रकोप वर्षा ऋतु में और प्रशम शरद् ऋतु में होता है।

पित्त का चय वर्षा ऋतु में, प्रकोप शरद् ऋतु में और प्रशम हेमन्त ऋतु में होता है।

और कफ का चय शिशिर ऋतु में, प्रकोप वसन्त ऋतु में और प्रशम ग्रीष्म ऋतु में होता है।

वक्तव्य—इस प्रकार काल स्वभाव से भी दोषों का थोड़ा बहुत चय, प्रकोप एवं प्रशम होता रहता है ॥२४॥

दोषों के चय आदि का विशिष्ट वर्णन—

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ॥२५॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ॥२६॥
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ॥२७॥
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति।
इति कालस्वभावोऽयम् आहारादिवशात्पुनः ॥२८॥
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु।

व्याख्या—ग्रीष्म ऋतु में—लघु एवं रूक्ष गुण वाली औषधियों (आहारों) के कारण, लघु एवं रूक्ष शरीर में लघु एवं रूक्ष गुण वाला वायु सञ्चित तो हो जाता है परन्तु ग्रीष्म काल की उष्णता के कारण कुपित नहीं होता (क्योंकि वायु शीत है फलतः वर्षा काल में शीत के कारण कुपित हो जाता है)

वर्षा ऋतु में—जल एवं औषधियों (आहारों) का विपाक अम्ल होने के कारण अम्लविपाक वाला पित्त सञ्चित तो हो जाता है परन्तु वर्षा काल की शीतता के कारण कुपित नहीं होता (और शरद् ऋतु में काल की उष्णता के कारण कुपित हो जाता है)।

और हेमन्त ऋतु में—स्निग्ध एवं शीतल जल एवं औषधियों (आहारों) से स्निग्ध एवं शीत गुण वाला कफ संचित तो हो जाता है परन्तु स्निग्ध एवं शीत काल एवं शरीर रहने पर भी शरीर में स्कन्न (घनीभूत—शीत से जमा हुआ) होने के कारण कुपित हो जाता है)।

यह सब काल का स्वभाव या प्रभाव है और आहार विहार के प्रभाव से सद्यः (तत्काल या अकाल में) भी वातादि दोष चय, कोप अथवा शम को प्राप्त हो जाते हैं अथच काल (चय आदि के उक्त काल) में चय आदि को प्राप्त नहीं होते।

वक्तव्य—काल स्वभाव से दोषों के चय एवं कोप को रोकने के लिये और उनको साम्यावस्था में रखने के लिये ऋतुचर्यानुसार आहार विहार का सेवन करना आवश्यक है। और दिन रात्रि के प्रायः आदि काल के प्रभाव से होने वाले चय एवं कोप को रोकने के लिये दिन चर्या का सेवन भी आवश्यक है। विवरण देखिये सु. सू. अ. ६ में ॥ २५–२८ ॥

दोषों की व्याप्ति एवं निवृत्ति—

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम् ॥२९॥
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत्।

व्याख्या—कुपित दोष-समस्त शरीर में सहसा (शीघ्र) व्याप्त हो जाता है, परन्तु जल प्रवाह के समान थोड़ा २ निवृत्त (शान्त) या दूर होता है—धीरे २ शान्त होता है।

वक्तव्य—इसी पाठ का अनुवाद एक कहावत है कि रोग आता है घोड़ा की दौड़ और जाता है चिउंटी की चाल। दोषों की व्याप्ति अर्थात् रोगों की उत्पत्ति, निवृत्ति अर्थात् शान्ति यह स्थिति प्रायः वातजरोगों में देखी जाती है ॥ २९ ॥

सामान्य निदान, रूप एवं चिकित्सा—

नानारूपैरसङ्ख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः॥३०॥
तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम् ।
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥३१॥

व्याख्या—कुपित दोष—अनेक लक्षणों वाले असंख्य रोगों द्वारा शरीर को सन्तप्त (दुखी-रुग्ण) करते हैं। इसलिये एक २ रोग के निदान, आकृति (रूप एवं पूर्व रूप) तथा साधन(चिकित्सा) नहीं कहे जा सकते। अतः सामान्य (सर्वव्यापक) निदान, आकृति तथा साधन यहाँ कह दिया जाता है ॥३०,३१॥

सामान्य निदान

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् ।
यथा पक्षी परिपतन् सर्वतः सर्वमप्यहः ॥३२॥
छायामत्येति नात्मीयां यथा वा कृत्स्नमप्यदः ।
विकारजातं विविधं त्रीन् गुणान्नातिवर्तते ॥३३॥
तथा स्वधातुवैषम्य-निमित्तमपि सर्वदा ।
विकारजातं त्रीन्दोषान् तेषां कोपे तु कारणम् ॥३४॥
अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम् ।
हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा ॥३५॥

व्याख्या—सब रोगों का एक मात्र कारण (निदान) वातादि तीन दोष ही हैं, क्योंकि जैसे पक्षी दिनभर सब ओर उड़ता हुआ भी अपनी छाया का अतिक्रम नहीं करता और जैसे स्थावर जङ्गमरूप यह समस्त विकार समूह (कार्य जगत्) अनेक प्रकार का होता हुआ भी सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुणों का अतिक्रमण नहीं करता वैसे शरीर के वातादि दोष, रसादि धातु तथा पुरीषादि मलों की विषमता के कारण उत्पन्न होता हुआ भी यह विकारसमूह (रोग समूह) सर्वदा वातादि तीन दोषों का अतिक्रमण नहीं करता।

और उन वातादि दोषों के कोप का कारण (सामान्य कारण) है —१—असात्म्य (हानिकारक-अहित) अर्थों (शब्द आदि विषयों) के साथ संयोग (इन्द्रियों का सम्पर्क), २—काल (परिणाम-शीत, उष्ण एवं वर्षा रूप काल का प्रभाव या विकृति) तथा ३—दुष्कृत कर्म (इस जन्म एवं पूर्व जन्म का किया हुआ पाप कर्म अर्थात् प्रज्ञापराध)।

और उक्त तीन प्रकार का निदान पुनः विधि भेद से तीन प्रकार का है, यथा —१—हीनयोग, २—अतियोग तथा ३—मिथ्यायोग।

वक्तव्य—सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्, तल्लिङ्गत्वात्, दृष्टफलत्वात्, आगमात् च।......। दोषदूषितेषु अत्यर्थं धातुषु संज्ञा-रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयं, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिः इति।८। (सु. सू. अ. २४)। अर्थात् वात, पित्त एवं कफ ही सब रोगों का मूल कारण हैं, क्योंकि सब रोगों में उनके लक्षण पाये जाते हैं, तदनुसार चिकित्सा करने से लाभ होता है और पुरातन शास्त्र भी ऐसा कहते हैं और दोषों द्वारा रसादि धातुओं के अत्यन्त दूषित हो जाने पर अमुक रोग रसज है अथवा रक्तज है आदि शब्दोंमें भले ही कह दिया जाता है।३२-३५।

हीनयोग आदि तथा काल एवं कर्म का वर्णन—

हीनोऽर्थेनेन्द्रियस्याल्पः संयोगः स्वेन नैव वा ।
अतियोगोऽतिसंसर्गः, सूक्ष्मभासुरभैरवम् ॥३६॥
अत्यासन्नातिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च ।
यदक्ष्णा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः ॥३७॥
एवमत्युच्चपूत्यादीनिन्द्रियार्थान् यथायथम् ।
विद्यात् कालस्तु शीतोष्ण-वर्षभेदात्त्रिधा मतः ॥३८॥
स हीनो हीनशीतादिरतियोगोऽतिलक्षणः ।
मिथ्यायोगस्तु निर्दिष्टो विपरीत-स्वलक्षणः ॥३९॥
काय-वाक्चित्तभेदेन कर्मापि विभजेत्त्रिधा ।
कायादिकर्मणो हीना प्रवृत्तिर्हीनसंज्ञकः ॥४०॥
अतियोगोऽतिवृत्तिस्तु, वेगोदीरणधारणम् ।
विषमाङ्गक्रियारम्भ-पतनस्खलनादिकम् ॥४१॥
भाषणं सामिभुक्तस्य रागद्वेषभयादि च ।
कर्म प्राणातिपातादि दशधा यच्च निन्दितम् ॥४२॥
मिथ्यायोगः समस्तोऽसाविह वाऽमुत्र वा कृतम् ।

व्याख्या—चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने रूप आदि विषयों के साथ बहुत थोड़ा संयोग अथवा सर्वथा असंयोग "हीन योग" या "अयोग" कहलाता है तथा अत्यधिक संयोग "अतियोग" कहलाता है। और चक्षु द्वारा जो अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त भासुर (चमकीला), भयानक, अत्यन्त समीपस्थ अत्यन्त दूरस्थ, अप्रिय एवं विकृत (वीभत्स) रूप देखा जाता है वह "मिथ्या योग" कह-

लाता है और वह अत्यन्त अहित—हानिकारक होता है।

और—श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अति ऊँचे (बिजली की कड़क, ढोल एवं बन्दूक आदि की ध्वनि) शब्द का श्रवण अतियोग, सर्वथा अश्रवण हीनयोग या अयोग तथा अनिष्ट शब्दों का श्रवण "मिथ्या योग" कहलाता है।

और घ्राणेन्द्रिय द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उग्र गन्धों का घ्राण "अतियोग" सर्वथा अघ्राण "हीनयोग" या "अयोग" कहलाता है तथा दुर्गन्ध आदि अनिष्ट गन्ध का घ्राण "मिथ्यायोग" कहलाता है।

और रसनेन्द्रिय द्वारा—मधुर आदि रसों का अत्यन्त रसन "अतियोग" सर्वथा अरसन "हीनयोग" या 'अयोग' तथा अनिष्ट रसों का रसन "मिथ्यायोग" कहलाता है।

और स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा—अत्यन्त शीत अथवा उष्ण आदि स्पर्शों का स्पर्शन "अतियोग" सर्वथा अस्पर्शन "हीन योग" या "अयोग" तथा अनिष्ट या अहित स्पर्शों का स्पर्शन "मिथ्यायोग" कहलाता है। ये तीन प्रकार के योग दोष प्रकोप के हेतु होते हैं।

काल का वर्णन—

काल तीन प्रकार का होता है—१—शीत काल, २ उष्ण काल और ३—वर्षा काल।

जिस काल में शीत, उष्ण अथवा वर्षा स्वल्प होते हैं वह काल का "हीन योग" जिस में अधिक होते हैं वह "अतियोग" और जिस में विपरीत लक्षण होते हैं वह काल का "मिथ्यायोग" कहलाता है।

कर्म का वर्णन—

कर्म भी तीन प्रकार का होता है—१—काय कर्म, २—वाक्कर्म तथा ३—चित्तकर्म।

उक्त काय कर्म आदि की स्वल्प प्रवृत्ति का नाम "हीनयोग" और अत्यधिक प्रवृत्ति का नाम "अतियोग" है और—पुरीषादि वेगों का प्रेरणा अथवा निरोध, विषम हस्त पादादि अंगों द्वारा कर्म करना, गिरना एवं फिसलना आदि कायकर्म का "मिथ्या योग" कहलाता है।

आहार निगलते समय बोलना आदि वाक्कर्म का "मिथ्यायोग" कहलाता है।

और राग, द्वेष, भय एवं शोक आदि चित्तकर्म का "मिथ्यायोग" कहलाता है।

और प्राणातिपात अर्थात् आत्महत्या आदि कर्म तथा जो दस प्रकार का निन्दित कर्म (सू० अ० श्लोक० २३) कहा गया है वह सब इस लोक (जन्म) में अथवा उस लोक (पूर्व जन्म) में किया गया काय, वाक् तथा चित्त के कर्म का "मिथ्यायोग" है।

वक्तव्य—विशेष विवरण देखिये च० सू० अ० ११, नि० अ० १ तथा शा० अ० १ श्लोक ९८। और देखिये इसी ग्रन्थ के सू० अ० १ का श्लोक १८ ॥३६-४२॥

उपसंहार एवं त्रिविध रोगमार्ग—

निदानमेतद्दोषाणां, कुपितास्तेन नैकधा ॥४३॥
कुर्वन्ति विविधान् व्याधीन् शाखाकोष्ठास्थिसन्धिषु।

व्याख्या—यह काल, अर्थ एवं कर्म के हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग—सब दोषों के कोप का निदान (मुख्य कारण) है। इस के द्वारा अनेक प्रकार से कुपित दोष—शाखा, कोष्ठ तथा सन्धियों में विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—इस श्लोक की उक्त व्याख्या सर्वाङ्गसुन्दरी नामक टीकानुसार की गई है, परन्तु हमारे विचार से इसकी व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये, यथा—यह काल, अर्थ एवं कर्म के हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग दोषों के कोप का निदान है और इस निदान के द्वारा शाखा, कोष्ठ तथा सन्धियों में अनेक प्रकार से कुपित दोष—विविध रोगों को उत्पन्न करते है। क्योंकि अ० सं० अ० २२ में मूल पाठ इस प्रकार है यथा—त्रयश्च रोगाणां मार्गा बाह्यमध्याभ्यन्तराः। तत्र बाह्यो रक्तादिधातवः त्वक् च स पुनः शाखाख्यः। मध्यो मूर्द्धहृदयबस्त्यादीनि मर्माणि आस्थि सन्धयश्च। आभ्यन्तरो महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नं आमपक्वाशयाश्रयः कोष्ठोऽन्तर इति पर्यायाः।

और च० सू० अ० ११ का पाठ इस प्रकार है, यथा—त्रयो रोगमार्गा इति शाखा, मर्मास्थिसन्धयः कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवः त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। मर्माणि पुनः बस्तिहृदयमूर्द्धादीनि, अस्थिसन्धयो अस्थिसंयोगाः, तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोग मार्गः। कोष्ठः पुनः उच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नं आमपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैः तन्त्रे स रोग मार्ग अभ्यन्तरः।४८।

अर्थात्—ये तीन रोगमार्ग हैं इन्हीं तीन मार्गो से शरीर में रोगों का प्रवेश होता है। शीत, उष्ण, सर्पविष एवं आघात आदि से बाह्य रोग मार्ग द्वारा, मिथ्याहार से आभ्यन्तर रोग मार्ग द्वारा और इनसे भिन्न वस्ति आदि में उत्पन्न विकृति से मध्यम रोग मार्ग द्वारा रोगों का शरीर में प्रवेश होता है। इस प्रकरण में रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा का नाम "शाखा" है ॥४३॥

बाह्य रोग मार्ग का वर्णन

'शाखा' रक्तादयस्त्वक् च बाह्यरोगायनं हि तत् ॥४४॥
तदाश्रया मष-व्यङ्ग-गण्डा-लज्यर्बुदादयः।
'बहिर्भागाश्च' दुर्नाम-गुल्म-शोफादयो गदाः ॥४५॥

व्याख्या - रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा का नाम "शाखा" है और वह बाह्यरोग मार्ग कहलाता है और उस में मषक (मस्से, तिल, लशुन), व्यङ्ग (झाई-नीलिका), गण्ड, अलजी तथा अर्बुद आदि विकार और शरीर के बहिर्मार्ग में उत्पन्न अर्श, गुल्म, एवं शोफ (व्रणशोथ एवं शोथरोग) आदि होते हैं ।

वक्तव्य—श्री वाग्भट ने यहाँ और अष्टांग संग्रह अ. २२ में "तदाश्रय" पाठ का उपयोग किया है जो समीचीन प्रतीत नहीं होता और भगवान् पुनर्वसु ने च. स. अ. ११ के इस प्रकरण में-शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः, मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः तथा कोष्ठानुसारिणो भवन्ति रोगाः ।४१। वाक्यों का उपयोग किया है जो समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि अनुसारी शब्द का अर्थ है अनुसरण करने वाला। इसी प्रकार वाग्भट महाशय के निम्न श्लोकों में प्रयुक्त— तत्स्थानाः तथा स्थितास्तत्र पाठ भी समीचीन हैं कि नहीं पाठक स्वयं विचार करे ॥४४, ४५ ॥

आभ्यन्तररोग मार्ग का वर्णन—

अन्तःकोष्ठो 'महास्रोत' आमपक्वाशयाश्रयः ।
तत्स्थानाश्छर्द्यतीसारकासश्वासोदरज्वराः ॥४६॥
'अन्तर्भागं' च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधिः ।

व्याख्या-आभ्यन्तर रोगमार्ग के पर्याय वाचक शब्द हैं १—अन्तः या अन्तर, कोष्ठ, महास्रोतस् (सबसे बड़ा स्रोत) तथा आम पक्वाशयाश्रय (दोनों का मध्य क्षुद्रान्त्र भी) है यह अन्तः रोगमार्ग है और यह—छर्दि, अतिसार कास, श्वास, उदररोग तथा ज्वर आदि का उत्पत्ति स्थान है तथा भीतरी शोथ, अर्श, गुल्म, विसर्प एवं विद्रधि का भी स्थान है। यह आभ्यन्तर रोगमार्ग कहलाता है ।

वक्तव्य—उक्त रोगों का अनुसरण इस मार्ग से होता हैं यहाँ आहार अथवा आहाररस विकृत होकर शरीर में जाता है और रोगोत्पत्ति हो जाती है ॥४६॥'

मध्यम रोग मार्ग का वर्णन

शिरोहृदयवस्त्यादि-मर्माण्यस्थ्नां च सन्धयः ॥४७॥
तन्निबद्धाः सिरास्नायु-कण्डराद्याश्च 'मध्यमः'।
रोगमार्गे स्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः ॥४८॥
मूर्धादिरोगाः सन्ध्यस्थि-त्रिकशूलग्रहादयः ।

व्याख्या—शिर, हृदय एवं वस्ति आदि मर्म तथा अस्थियों की संधियाँ और उनसे सम्बद्ध सिरा, स्नायु तथा कण्डरा आदि सब "मध्यम रोग मार्ग" कहलाता है। उनमें—राजयक्ष्मा, पक्षाघात, अर्दित एवं अपतन्त्रक आदि वातज रोग, शिरोरोग, हृदयरोग, वास्तिरोग (प्रमेहआदि), सन्धिशूल (आमवात आदि), अस्थिशूल, त्रिकशूल (कटि शूल) तथा उन के ग्रह (जकड़न) एवं गुदभ्रंश आदि रोग होते हैं ।

वक्तव्य—इस मार्ग से उक्त रोगों की प्रवृत्ति होती है अथवा यों कहिये कि इन स्थानों की विकृति से ये रोग शरीर में अनुसरण करते हैं ॥४७, ४८॥

वात, पित्त एवं कफ के कर्म—

स्रंसव्यासव्यधस्वाप-सादरुक्तोदभेदनम् ॥४९॥
सङ्गाऽङ्गभङ्ग-सङ्कोच-वर्त-हर्षण-तर्षणम् ।
कम्प-पारुष्य-सौषिर्य- शोष-स्पन्दन-वेष्टनम् ॥५०॥
स्तम्भः काषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा ।
कर्माणि 'वायोः' 'पित्तस्य' दाहरागोष्मपाकिताः ॥५१॥
स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः ।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः ॥५२॥
श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्य-कण्डूशीतत्वगौरवम् ।
बन्धोपलेपस्तैमित्य-शोफापक्त्यतिनिद्रताः ।५३॥
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता ।
इत्यशेषाऽऽमय-व्यापि यदुक्तं दोषलक्षणम् ॥५४॥

व्याख्या—स्रंस (अवयव का अपने स्थान से खिसकना), व्यास (विस्तार—फैलना), व्यध (विंधने की सी वेदना) स्वाप (अंगों का सोना—शून्य होना), साद (शिथिलता—अवसाद), रुक् (रुजा—वेदना—पीड़ा) तोद (चुभने की सी वेदना व्यथा), भेदन (त्वचा आदि का फटना या फटने की सी वेदना), सङ्ग (गति में रुकावट), अंगों का भङ्ग (टूटना या टूटने की सी वेदना), संकोच (सिकुड़न), वर्त्त (घूमना-ऐंठना), हर्ष (झुनझुनी-सनसनी), तर्षण (तृषा-प्यास), कम्पन, पारुष्य (खरदरापन), सौषिर्य (खोखलापन), शोष (सूखना), स्पन्दन (फरकना-फरफराहट), वेष्टन ग्रथन-गाँठ बँधना) तथा स्तम्भ (स्तब्धता—कठोरता), मुख में कषाय रस की प्रतीति, वर्ण में कालापन अथवा कालापन लिये लालिमा (ओठ एवं नेत्र आदि पर) ये सब वायु के कर्म हैं।

पित्त के कर्म—दाह (जलन), राग (लालिमा), उष्ण (भाप निकलना), पाक (पकना), स्वेद, क्लेद (सड़न), स्राव (पच्छा जाना), कोथ (दुर्गन्धयुक्त सडन), सदन (अवसाद), मूर्च्छा, मद, कटु एवं अम्ल

रस की प्रतीति, श्वेत एवं रक्त वर्ण के अतिरिक्त पीला नीला आदि वर्ण।

कफ के कर्म हैं—स्नेह (स्निग्धता), कठोरता, कण्डू, शीतता (शीत लगना—हाथ पाँव आदि में शीतता), गुरुता (भारीपन), बन्ध (स्रोतोरोध), उपलेप (जीभ आदि पर लेपन), स्तैमित्य (चिपचिपाहट), शोफ (उत्सेध—ऊँचाई), अपाक (पाक का अभाव) निद्रा की अधिकता, मूत्रादि में श्वेतता, मधुर एवं लवण रस की प्रतीति और विलम्ब से कार्य करना।

वात, पित्त एवं कफ के ये वे लक्षण हैं जो उनके सभी रोगों में पाए जाते हैं।

वक्तव्य—देखिये च. सू. अ० २० (इन लक्षणों से वातादि दोषों की वृद्धि का ज्ञान हो जाता है ॥५४॥

चिकित्सक का कर्त्तव्य—

दर्शनाद्यैरवहितस्तत्सम्यगुपलक्षयेत्।
व्याध्यवस्था-विभागज्ञः पश्यन्नार्तान् प्रतिक्षणम् ॥५५॥

व्याख्या—रोगों की अवस्थाओं के विभाग को शास्त्रोपदेश द्वारा जाननेवाला चिकित्सक क्षण-क्षण में देखता हुआ सावधान होकर वायु, पित्त एवं कफ के उक्त लक्षणों को दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न द्वारा भलीभांति समझने का अभ्यास करे ॥५५॥

अभ्यास का फल—

अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी।
रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते। ५६॥

व्याख्या—चिकित्सा कर्म का या दोषों के लक्षणों को बार २ देखने का अभ्यास करने से चिकित्सा की सफलता को बतलानेवाली दृष्टि (बुद्धि) प्राप्त की जा सकती है (केवल पढ़ने से नहीं) क्यों कि रत्नों के सत् एवं असत् (सच्चा रत्न है या झूठा रत्न है) होने का ज्ञान अभ्यास (बार २ देखने—समझने—जाँचने) से ही होता है केवल शास्त्र पढ लेने से नहीं होता।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि का आदेश है कि—अधिगततन्त्रेण, उपासिततन्त्रार्थेन, दृष्टकर्मणा, कृत योग्येन वैद्येन चिकित्सा अनुप्रवेष्टव्या (सु. सू. अ. ७) अर्थात् बार बार शास्त्रों का एवं चिकित्सा कर्मों का अभ्यास करके चिकित्सक को कर्मभूमि में प्रवेश करना चाहिये ॥५६॥

रोगों के भेद तथा क्षय—

दृष्टापचारजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः।
तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः ॥५७॥
यथानिदानं दोषोत्थः कर्मजो हेतुभिर्विना।
महारम्भोऽल्पके हेतावातङ्को दोषकर्मजः ॥५८॥
विपक्षशीलनात्पूर्वः कर्मजः कर्मसंक्षयात्।
गच्छत्युभयजन्मा तु दोषकर्मक्षयात्क्षयम् ॥५९॥

व्याख्या—विधि भेद से रोग तीन प्रकार के होते हैं १—जो प्रत्यक्ष मिथ्या आहार-विहार से होता है, २—जो पूर्वजन्मकृत अपराध से होता है और ३—जो उक्त दोनों कारणों के संयोग से होता है।

इनमें प्रथम रोग—दोषोत्थ कहलाता है और वह निदान अर्थात् रोगोत्पादक हेतु के अनुसार होता है।

दूसरे का नाम "कर्मज" है और वह प्रत्यक्ष कारणों के बिना ही उत्पन्न हो जाता है अर्थात् इसका कोई मिथ्या आहार विहार हेतु नहीं होता।

तीसरे का नाम "कर्मदोषज" है और वह स्वल्प हेतु होने पर भी भीषण होता है।

प्रथम रोग—दोषानुसार एवं रोगानुसार चिकित्सा करने से शान्त हो जाता है।

दूसरा रोग—कर्मभोग हो चुकने पर ही शान्त होता है।

और तीसरा रोग—दोष का एवं कर्म का क्षय होने पर शान्त होता है ॥ ५७-५९ ॥

विधभेद से रोगों के दो प्रकार—

'द्विधा' स्वपरतन्त्रत्वाद्व्याधयोऽन्त्याः पुन 'र्द्विधा'।
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या, जाताः पश्चा'दुपद्रवा' ॥६०॥
यथास्वजन्मोपशयाः 'स्वतन्त्राः' स्पष्टलक्षणाः।
विपरीतास्ततोऽन्ये तु विद्यादेवं मलानपि ॥६१॥
तांल्लक्षयेदवहितो विकुर्वाणान प्रतिज्वरम्।

व्याख्या—विधि भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं—१ स्वतन्त्र और २—परतन्त्र।

इनमें—परतन्त्र रोग दो प्रकार के होते हैं—१—पूर्वज जो पूर्वरूप कहे जाते हैं और २—पश्चाज्जात जो "उपद्रव" कहलाते हैं।

स्वतन्त्र रोग वे हैं जो अपने निदान से उत्पन्न होते हैं और अपनी चिकित्सा से शान्त हो जाते हैं तथा उनके अपने लक्षण स्पष्ट होते हैं। परतन्त्र रोग इनसे विपरीत होते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक रोग में विकृति उत्पन्न करते हुए मलों—दोषों को भी स्वतन्त्र एवं परतन्त्र भेद से जानने का सावधान होकर प्रयत्न करना चाहिये।

वक्तव्य—च० वि० अ० ६ में तथा अ. सं० सू० अ० २२ में स्वतन्त्र रोग को अनुबन्ध्य (प्रधान) तथा पर-

तन्त्र रोग को अनुबन्ध (अप्रधान) कहा है। इसी प्रकार प्रत्येक रोग में वातादि दोष भी स्वतन्त्र एवं परतन्त्र होते हैं जो दोष प्रधान होता है वह स्वतन्त्र और जो अप्रधान होता है वह परतन्त्र कहलाता है। ६०,६१॥

इनकी चिकित्सा का संकेत—

तेषां प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा ॥६२॥
पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा बलवन्तमुपद्रवम्।
व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरो हि सः ॥६३॥

व्याख्या—इनमें प्रधान रोग एवं प्रधान दोष का शमन हो जाने पर अप्रधान का प्रशमन हो जाता है। परन्तु यदि प्रशमन न हो तो उनकी चिकित्सा पीछे करे अथवा यदि कोई उपद्रव बलवान हो तो उसकी चिकित्सा तुरन्त करे क्योंकि प्रधान रोग से दुखी शरीर के लिये वह उपद्रव अत्यधिक पीड़ाकारक होता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि पहिले प्रधान रोग की चिकित्सा करे परन्तु यदि अप्रधान रोग बलवान होता जाय तो पहिले अप्रधान की ही चिकित्सा करनी चाहिये। उदाहरणार्थ—यदि मुख्य शत्रु की अपेक्षा उसका साथी अधिक उछलकूद कर रहा हो तो पहिले उसी को दबाना चाहिये ॥६२,६३॥

सभी विकारों का नाम निर्देश—

विकारनामाऽकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥६४॥
स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।
स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून् ॥६५॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।
बुद्ध्वा हेतुविशेषांश्च शीघ्रं कुर्यादुपक्रमम् ॥६६॥

व्याख्या—रोगों के नामों में अकुशल (अजान-अनजान) वैद्य कभी भी लज्जित न हो क्योंकि सब रोगों का नाम निश्चित नहीं है या नहीं किया जा सकता।

कारण यह है कि वही दोष निदान के भेद से और भिन्न-भिन्न स्थानों—अवयवों में जाकर असंख्य रोगों को उत्पन्न करता है जिनका भिन्न-भिन्न नाम निर्देश नहीं किया जा सकता।

इसलिये रोग के मूल कारणों अर्थात् वातादि दोषों को, भिन्न-भिन्न स्थानों को और मिथ्या आहार-विहार आदि निदानों को समझकर तदनुसार चिकित्सा करे।

वक्तव्य—यह तीनो श्लोक च. सू. अ. १८ से उद्धृत किये गये हैं। इसके आगे भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है—

यो ह्येतत् त्रिविधं ज्ञात्वा कर्माणि आरभते भिषक्।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति ॥४७॥

अर्थात् जो चिकित्सक रोग के मूल कारण आदि तीनों को समझकर, शास्त्रानुसार चिकित्सा करता है वह असफल नहीं होता। तात्पर्य यह है कि यदि किसी रोगी के रोग का शास्त्रोक्त ज्वर, अतिसार आदि नाम का निश्चय न हो सके तो रोग के निदान, स्थान तथा लक्षण समझकर चिकित्सा कर देनी चाहिये। और—तत्र व्याधयः अपरिसंख्येया भवन्ति अति बहुत्वात्, दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्ति अनतिबहुत्वात् (च. वि. . ६) अर्थात्—अत्यधिक होने के कारण रोग असंख्य हैं अतः उनका नाम निर्देश नहीं हो सकता और दोष तो तीन ही हैं अतः उनके लक्षणानुसार चिकित्सा करने से आरोग्यलाभ हो जाता है। तथापि—॥

दूष्यादि जानने की आवश्यकता—

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ॥६७॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥६८॥

व्याख्या—जो चिकित्सक रस, रक्त आदि एवं पुरीष मूत्र आदि दूष्य, अनूप, जाङ्गल एवं साधारण नामक भूमि देश तथा आमाशय, पक्वाशय आदि शरीर देश, रोग एवं रोगी का बल, शीत आदि काल तथा लंघन आदि के योग्य या अयोग्य काल, मन्द एवं तीक्ष्ण आदि जठराग्नि, प्रकृति (वात प्रकृति आदि अथवा वातादि दोष) बाल्य आदि वयस्, सत्त्व (मनस्), सात्म्य (उपशय) तथा आहार और अनेक प्रकार की सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्थाएँ भली-भाँति विचारकर दोषानुसार औषध के निरूपण में प्रवृत्त रहता है वह चिकित्सा में कभी भी असफल नहीं होता है ॥ ६७,६८ ॥

रोग की गुरुता लघुता का विवेचन—

गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं सत्त्वदेहबलाबलात्।
दृश्यतेऽप्यन्यथाकारं तस्मिन्नवहितो भवेत् ॥६९॥
गुरुं लघुमिति व्याधिं कल्पयंस्तु भिषग्ब्रुवः।
अल्पदोषाकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते ॥७०॥

व्याख्या—कभी कभी रोगी के मनस् एवं शरीर के सबल एवं दुर्बल होने के कारण गुरु एवं लघु व्याधि का लक्षण विपरीत दिखाई पड़ता है इस विषय में चिकित्सक को सावधान रहना चाहिये क्यों कि इस दशा में कभी-कभी चिकित्सक गुरु (भीषण) रोग को लघु (मृदु) समझकर दोष (रोग) की लघुता के अनुसार

पथ्य (चिकित्सा) की व्यवस्था करने में भूल कर बैठता है ।

वक्तव्य—कभी-कभी रोगी का मनस् एवं शरीर सबल रहने पर दारुण रोग भी मृदु प्रतीत होता है और कभी-कभी रोगी का मनस् एवं शरीर दुर्बल रहने पर मृदु रोग भी दारुण प्रतीत होता है इसलिये रोग की दारुणता एवं मृदुता के विवेचन में चिकित्सक को सावधान रहना चाहिये क्योंकि दारुण रोग को मृदु और मृदु रोग को दारुण मानकर चिकित्सा करने में भूल हो जाती है । देखिये च. वि. अ०७।

इस भूल का कुफल —

ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा गुरुव्याधौ प्रयोजितम् ।
उदीरयेत्तरां रोगान् संशोधनमयोगतः ॥७१॥
शोधनं त्वतियोगेन विपरीतं विपर्यये ।
क्षिणुयान्न मलानेव केवलं वपुरस्यति ॥७२॥

व्याख्या—और इस भूल से गुरु व्याधि में अल्प मात्रा में अथवा अल्प वीर्यवाली दी गई संशोधन औषध संशोधन न करने अथवा थोड़ा संशोधन करने के कारण व्याधि को अधिक बढ़ा देती है ।

और लघु व्याधि में अधिक मात्रा में अथवा तीक्ष्ण वीर्यवाली संशोधन औषध-संशोधन (वमन अथवा विरेचन) का अतियोग हो जाने से केवल पुरीषादि मलों का ही क्षय नहीं करती अपितु शरीर का भी क्षय कर देती है ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि गुरु व्याधि को लघु व्याधि मानकर तदनुसार संशोधन की औषध देने से और लघु व्याधि को गुरु व्याधि मानकर तदनुसार संशोधन की औषध देने से लाभ के स्थान में हानि होती है । इस दशा में यदि थोड़ा भी सन्देह हो तो संशमन औषध का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७१,७२ ॥

चिकित्सक का कर्तव्य—

अतोऽभियुक्तः सततं सर्वमालोच्य सर्वथा ।
तथा युञ्जीत भैषज्यमारोग्याय यथा ध्रुवम् ॥७३॥

व्याख्या—इसलिये चिकित्सा कर्म में तत्पर होकर सब प्रकार से सब कुछ विचारकर औषध (चिकित्सा) का—विशेषतः संशोधन चिकित्सा का प्रयोग वैसे करे जैसे वह अवश्यमेव आरोग्यकारक सिद्ध हो ।

वक्तव्य —अ० सं० सू० अ० २१—

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन योनाऽऽविशति योगिवत् ।
आतुरस्याऽन्तरात्मानं न स रोगान् चिकित्सति ॥

अर्थात्—जो चिकित्सक शास्त्रज्ञान एवं अपनी बुद्धि का दीपक लेकर, योगी के समान रोगी के भीतर प्रविष्ट नहीं होता वह रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता ।

ज्ञानांशेन नहि ज्ञानं कृत्स्ने ज्ञेये प्रवर्त्तते ।
बुभुत्सेत भिषक् तस्मात् तत्त्वं तन्त्रानुशीलनात् ।

अर्थात्-क्योंकि ज्ञान के एक देश से सम्पूर्ण ज्ञातव्य विषय का ज्ञान नहीं होता अतः सब प्रकार से तत्त्व को समझने का प्रयत्न होना चाहिये ॥ ७३ ॥

दोषभेदों का वर्णन—

वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः।
पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गंस्त्रिधा, तत्र तु तान्नव ॥७४॥
त्रीनेव समया वृद्ध्या, षडेकस्यातिशायने ।
त्रयोदश समस्तेषु षड्द्व्येकातिशायनेन तु ॥७५॥
एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् ।
पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः ॥७६॥
एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट् ।
एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्यययाऽपि ते ॥७७॥
भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम् ॥

व्याख्या—इसके आगे वातादि दोषों का वृद्धि एवं क्षय के विविध भेद से वर्णन किया जायगा । यथा—

दोषों की वृद्धि के तीन भेद—

१—वात वृद्ध, २—पित्त वृद्ध तथा ३—कफ वृद्ध ।

संसर्ग के ९ भेद—

समवृद्धि के तीन भेद—१—वात पित्त वृद्ध, २—वात कफ वृद्ध तथा ३—पित्त कफ वृद्ध ।

एक दोष की अतिशय वृद्धि के ६ भेद—१—वात वृद्ध पित्त वृद्धतर, २—पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर, ३—वात वृद्ध, कफ वृद्धतर, ४—कफ वृद्ध, वात वृद्धतर, ५—पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर, ६—कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर ।

समस्त दोषों की वृद्धि के १३ भेद—

इन भेदों में दो-दो दोषों की और एक की अतिशय वृद्धि के ६ भेद होते हैं—यथा—

१—वात पित्त की अतिवृद्धि, २—वात कफ की अतिवृद्धि, ३—पित कफ की अतिवृद्धि, ४—वात की अतिवृद्धि, ५—पित्त की अतिवृद्धि, ६—कफ की अतिवृद्धि ।

१—तुल्य वृद्धि (तीनों दोषों की समान वृद्धि)। और तर (अधिकतर) एवं तम (अधिकतम) के विकल्प से ६ भेद होते हैं —यथा—

१—वात वृद्ध, पित्त वृद्धतर, कफ वृद्धतम ।

२—वात वृद्ध, कफ वृद्धतर, पित्त वृद्धतम।
३—पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर, वात वृद्धतम।
४—पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर, कफ वृद्धतम।
५—कफ वृद्ध, वात वृद्धतर, पित्त वृद्धतम।
६—कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर, वात वृद्धतम।

इस प्रकार वृद्ध दोषों के २५ भेद होते हैं और इसी प्रकार क्षीण दोषों के २५ भेद होते हैं (२५-२५=५० योग)

वृद्धि, समता एवं क्षय के ६ भेद—

एक एक दोष की वृद्धि, समता एवं क्षय के ६ भेद होते हैं यथा—

१—वात की वृद्धि, पित्त की समता तथा कफ का क्षय।
२—पित्त की वृद्धि, वात की समता तथा कफ का क्षय।
३—कफ की वृद्धि, पित्त की समता तथा वात का क्षय।
४—कफ की वृद्धि, वात की समता तथा पित्त का क्षय।
५—वात की वृद्धि, कफ की समता तथा पित्त का क्षय।
६—पित्त की वृद्धि, कफ की समता तथा वात का क्षय।

और एक दोष के क्षय तथा दो दोषों की वृद्धि से और एक दोष की वृद्धि तथा दो दोषों के क्षय से ६ भेद होते हैं यथा—

१—वात का क्षय, पित्त एवं कफ की वृद्धि
२—पित्त का क्षय, वात एवं कफ की वृद्धि।
३—कफ का क्षय, वात एवं पित्त की वृद्धि।
४—वात एवं पित्त का क्षय, कफ की वृद्धि।
५—वात एवं कफ का क्षय, पित्त की वृद्धि।
६—पित्त एवं कफ का क्षय, वात की वृद्धि।

(योग १२)

इस प्रकार दोषों के ६२ भेद कहे गये हैं जो अस्वास्थ्य अर्थात् रोग के कारण होते हैं और एक प्रकार का दोष साम्य होता है जो स्वास्थ्य अर्थात् अरोगता का कारण होता है। इस प्रकार विकृत एवं अविकृत (विषम एवं सम) दोषों के ६३ भेद हैं।

वक्तव्य—रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यम् अरोगता ।।१९।। (सू० अ० १) अर्थात् दोषों के वैषम्य अर्थात् वृद्धि-क्षय का नाम रोग है और दोषों के साम्य (समावस्था) का नाम आरोग्य है। विशेष देखिये च०सू०अ० १७ श्लो० ४१-४४ और १३ प्रकार के सन्निपातों के लक्षण च० चि० अ० ३ में देखिये। तथा सु० उ० अ० ६३ श्लो० ६-१२ में देखिये ।। ७४-७७ ।।

दोषों के असंख्य भेद—

संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां
दोषांस्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः।
आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान्
जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ।।७८।।

व्याख्या—इन दोषभेदों का रस रक्त आदि धातुओं तथा पुरीष आदि मलों के साथ संसर्ग होने से और उनके क्षय, समता तथा वृद्धि के भेदों से और तर तथा तम के योग से दोषों के अनन्त (असंख्य) भेद हो जाते हैं उनको भी सावधान होकर ठीक ठीक समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

वक्तव्य—जैसे पञ्चमहाभूतों के संयोग विशेष से हरीतकी एवं गोधूम आदि असंख्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है वैसे ही तीन दोषों, सात धातुओं तथा पुरीषादि मलों के संयोग विशेष से असंख्य रोगों की उत्पत्ति हो जाती है उन रोगों में दोषादि के विषम संयोग को यथासम्भव समझने का प्रयत्न करे। सामान्यतः दोषों के विषम संयोग उक्त प्रकार से ६२ होते हैं और एक सम संयोग होता है। विषम संयोग अस्वास्थ्य के कारण होते हैं और सम संयोग स्वास्थ्य का कारण होता है। इसी प्रकार मधुरादि रसों के भी संयोग विशेष ६२ होते हैं और एक षड्रस संयोग होता है। इनमें ६२ विषम संयोग होते हैं और एक सम संयोग होता है और रसों के भी रसानुरस तथा तर तम की कल्पना से असंख्य भेद होते हैं देखिये अ० १० के श्लोक ४०-४४। दोषों के ६२ संयोगों में रसों के ६२ संयोगों का प्रयोग किया जाता है और दोषों के सम संयोग में षड्रस संयोग का प्रयोग किया है। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—(सु० उ० अ० ६६)—

.... दोषभेदविकल्पनैः
रोगं विदित्वा उपचरेत् रसभेदैर्यथेरितैः ।।१३।।
भिषक् कर्त्ताऽथ करणं रसाः दोषास्तु कारणम्।
कार्यमारोग्यमेव एकस्तनारोग्यमतोऽन्यथा ।।१४।।

अर्थात्—दोषों के ६२ विषम संयोगों के अनुसार रोग को समझकर रसों के ६२ संयोगों द्वारा उपचार करना चाहिये क्योंकि—वैद्य कर्त्ता (स्वतन्त्रः कर्त्ता) है, मधुरादि रस करण (कार्य सिद्धि के उपकरण) हैं, दोष कारण (रोगोत्पत्ति के कारण)) हैं और आरोग्य एकमात्र कार्य (कर्त्तव्य कर्म) है। और कर्त्ता करणों द्वारा, कारण को शान्त करके आरोग्य की प्राप्ति करता है। अन्यथा अनारोग्य की प्राप्ति करता है ।।७८।।

इति अष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो दोषोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

अब दोषोपक्रमणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—उपक्रम अर्थात् सोच समझकर कार्यारम्भ। ज्ञात्वाऽऽरम्भ, उपक्रमः (अमर कोश ब्रह्म वर्ग)।

इस विषय का वर्णन च. चि. अ. ३०, सु. उ अ. ६४ तथा अ.सं. सू. अ० २१ तथा २३ में देखिये।

वात दोष के उपक्रम—

'वातस्योपक्रमः' स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु।
स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यङ्गमर्दनम् ॥१॥
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम्।
स्निग्धोष्णा बस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलता ॥२॥
दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः।
विशेषान्मेध्यपिशितरसतैलानुवासनम् ॥३॥

व्याख्या—वायु के उपक्रम हैं—स्नेहपान, स्वेदन, मृदु संशोधन (वमन आदि), मधुर, अम्ल, लवण तथा उष्ण भोजनों का सेवन, अभ्यङ्ग, मर्दन (दबाना एवं चम्पी भी), वेष्टन (पट्टी आदि से कसकर बाँधना—लपेटना), त्रासन (डराना—धमकाना), सेक (सेचन-उष्ण जल आदि का सेचन-स्नान), मद्य का पान (एवं सेचन एवं मलना), विशेषतः पीठी एवं गुड़ के मद्य का सेवन, स्निग्ध एवं उष्ण वस्ति, वस्ति का नियमानुसार सेवन, सुख से रहना (आराम—विश्राम करना), दीपन एवं पाचन द्रव्यों के संयोग से सिद्ध अनेक प्रकार के स्नेहों का सेवन, विशेषतः सुअर आदि मेदस्वी प्राणी के मांस-रस या मांस का सेवन तथा नारायण तैल या एरण्ड तैल की अनुवासन वस्ति का सेवन ॥१–३॥

पित्तदोष के उपक्रम—

'पित्तस्य' सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम्।
स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च ॥४॥
सुगन्धिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम्।
कण्ठे गुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः ॥५॥
कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे।
प्रदोषश्चन्द्रमाः सौधं हारि गीतं हिमोऽनिलः ॥६॥
अयन्त्रणसुखं मित्रं पुत्रः सन्दिग्धमुग्धवाक्।
छन्दानुवर्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः ॥७॥
शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिकाः।
सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥८॥
साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमाकुले।
सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः ॥९॥

व्याख्या—पित्त के उपक्रम हैं—घृतपान, मधुर एवं शीतल द्रव्यों द्वारा विरेचन, मधुर, तिक्त एवं कषाय रसों से युक्त आहार एवं औषध, सुगन्धित, शीत वीर्य एवं हृदय को शक्ति देनेवाले गन्धों (खस के इत्र आदि) का सेवन, कंठियों का गले में, हारों एवं मणियों का वक्षःस्थल पर धारण, कपूर, चन्दन एवं खश का बार बार लेपन, रात्रि का प्रारम्भिक भाग, चन्द्रमा की चाँदनी, चूना से लिपा-पुता भवन (में निवास), मनोहर गीत, शीतल वायु, बन्धनरहित सुख (इच्छानुसार आहार विहार), मित्र मिलाप, तोतली एवं मनोहर बोली बोलनेवाला पुत्र (कोई भी बालक बालिका), मनोनुकूल बर्ताव करने वाली नारी, सुन्दर स्वभाववाले प्रियजन, शीतल जल-धारावाले घर (निवास स्थान), उपवन में बहने वाली जलधारा (नालियाँ कस्सी कूल अथवा बावली), सुन्दर घाटवाले, विशाल, निर्मल जलवाले जलाशय के पार्श्ववर्ती बालुकामय स्थान में या पर बैठना एवं घूमना और कमलों से युक्त जल के तीर पर बने या बनाए गये छप्पर के घर में जो सब ओर से वृक्षों से घिरा या ढंका हो में निवास, सभी सौम्य (आह्लादजनक) भाव (रहन सहन), दूध, माखन का सेवन और विशेषतः विरेचन ॥४–९॥

श्लेष्म दोष के उपक्रम—

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम्।
अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥१०॥
दीर्घकालस्थितं मद्यं रतिप्रीतिः प्रजागरः।
अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षं विमर्दनम् ॥११॥
विशेषाद्वमनं यूषः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम्।
धूमोपवासगण्डूषा निःसुखत्वं सुखाय च ॥१२॥

व्याख्या—कफ के उपक्रम—विधिपूर्वक तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन का प्रयोग और रूक्ष, मात्रा में स्वल्प, तीक्ष्ण—मरिच आदि से युक्त, उष्ण वीर्य; स्पर्श में भी उष्ण तथा कटु, तिक्त एवं कषाय रस से युक्त भोजन, पुराना मद्य (सुरा आसव आदि), मैथुन में रुचि, अधिक जागना, अनेक प्रकार का व्यायाम, चिन्ता (फिकर), रूखा (मिट्टी, सोंठ चूर्ण आदि) द्रव्य मलना विशेषतः वमन, दालों के जूस, मधु, मेदोनाशक चिकित्सा, धूमपान, उपवास, गण्डूष (कवलधारण तथा सुख (आराम) का अभाव ये सब उपक्रम—सुख के लिये होते हैं।

वक्तव्य—तत्र आस्थापनाऽनुवासन तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यं वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः तत्, आदितः एव पक्वाशय

मनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति, तत्र अवजिते वाते शरीरान्तर्गता वातविकारा प्रशान्तिमापद्यन्ते यथा वनस्पतेःमूले छिन्ने स्कन्ध शाखा प्ररोह कुसुम फल पलाशादीनां नियतो विनाशः तद्वत् ।

विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तत् हि आदितः एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्र अवजिते पित्ते शरीरान्तर्गता पित्तविकारा प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा अग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतो भवति तद्वत् ।

वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तत् हि आदितः एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमुत्क्षिपति, तत्र अवजिते श्लेष्मणि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते यथा भित्ते केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीनि अभिष्यन्दमानानि अम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वत् ॥ च. सू. अ. २० ॥

वात में वस्ति, पित्त में विरेचन तथा कफ में वमन सब उपक्रमों से श्रेष्ठ हैं । (उपक्रमस्तूपधायां ज्ञात्वारम्भे च विक्रमे । चिकित्सायाम्, इति मेदिनी कोषः) अर्थात् चिकित्सा का नाम उपक्रम है ।।१०--१२।।

उपसंहार

उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तितः ।
संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत् ।।१३।।

व्याख्या—जो यह उपक्रम तीनों दोषों के लिये कहा गया है वह संसर्ग (द्वन्द्वज रोगों) तथा सन्निपात (त्रिदोषज रोगों में) दोषानुसार मिलाकर करना चाहिये ।।१३।।

चिकित्सा संकेत—

ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते ।
मरुतो योगवाहित्वात्, कफपित्ते तु शारदः ।।१४।।

व्याख्या—वातपित्त जनित रोगों में प्रायः ग्रीष्म ऋतु की चर्या, कफवातजनित रोगों में प्रायः वसन्तऋतु की चर्या तथा वायु के योगवाही होने के कारण कफपित्तजनित रोगों में शरद् ऋतु की चर्या का सेवन करे ।

वक्तव्य—ऋतुचर्या का वर्णन अ. ३ में देखिये ।।१४।।

उपक्रम काल—

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन् ।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः ।।१५।।

व्याख्या—दोषों के सञ्चयकाल में ही दोषों को शान्त कर देना चाहिये परन्तु उस समय यदि कोई दोष कुपित हो उसको भी शान्त करने का साथ २ उपाय करते रहना चाहिये और यदि सब दोष कुपित हों तो उनमें जो बलवान् हो उसको सर्वप्रथम शान्त करना चाहिये परन्तु साथ साथ दूसरे दोषों को भी शान्त करने का उपाय करते रहना चाहिये ।। १५ ।।

शुद्ध प्रयोग का वर्णन—

प्रयोगः शमयेद्व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत् ।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ।।१६।।

व्याख्या—जो प्रयोग (चिकित्सा) एक व्याधि (रोग एवं दोष) को शान्त करता है और दूसरे को बढ़ाता है वह प्रयोग विशुद्ध (श्रेष्ठ) नहीं होता प्रत्युत विशुद्ध प्रयोग वह होता है जो एक को शान्त करे और दूसरे को न बढ़ावे-कुपित न करे ।। १६ ।।

दोषों का स्थानान्तर गमन—

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि ।
कोष्ठाच्छाखाऽस्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च ।।१७।
दोषा यान्ति तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात् ।
वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात् ।१८

व्याख्या—व्यायाम करने से, जठराग्नि की तीक्ष्णता से, अहित आहार विहार से अथवा वायु के शीघ्रगामी होने से–कोष्ठ नामक आभ्यन्तर रोगमार्ग में से–दोष–रोगजनक भाव–शाखानामक बाह्य रोगमार्ग अथवा अस्थि मर्म आदि मध्यम रोगमार्ग में पहुँच जाते हैं और स्रोतों के मुख–अयन शुद्ध–विवृत होने से, वृद्धि होने से, अभिष्यन्द होने से, पाक होने से अथवा वायु के अवरोध से—उन बाह्य रोग मार्ग अथवा मध्यम रोग मार्ग में से दोष कोष्ठ में पहुँच जाते हैं ।।१७-१८।।

पुनः रोगोत्पादन—

तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ।

व्याख्या—और दोष कोष्ठ में स्थित रहते हैं कोई विकार–रोग उत्पन्न नहीं करते परन्तु दुबारा हेतु–कारण की प्रतीक्षा करते रहते हैं । हेतु पाकर–स्थानान्तर में चले जाते हैं या विकार उत्पन्न करते हैं ।

अन्याश्रय में दोषों का कोप—

ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ।।१९।।

व्याख्या—वे दोष—काल एवं देश तथा अपथ्य आदि द्वारा—बल—सहायता –वृद्धि पाकर दूसरों के स्थानों में भी कुपित हो जाते हैं—विकार उत्पन्न करते हैं ।

वक्तव्य—वायु के स्थानों में पित्त एवं कफ, पित्त के स्थानों में वायु एवं कफ तथा कफ के स्थानों में वायु एवं पित्त कुपित होकर रोगोत्पादन करते हैं । यद्यपि ऐसा नहीं

होना चाहिये परन्तु काल आदि का बल पाकर ऐसा होता है, हो सकता है ।।१९।।

इस दशा में चिकित्सा निर्देश—

तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु ।
कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ।।२०।।
आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ।

व्याख्या—इस दशा में—यदि दूसरे के स्थान में स्थित दोष—दुर्बल हो तो स्थानीय दोष की चिकित्सा करे और यदि वह दोष अपनी शक्तिसे स्थानीय दोष को दबाकर बैठा हो तो उसी की चिकित्सा करे। अथवा स्थानीय दोष की चिकित्सा करके तब आगन्तु दोष की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—इस सन्दर्भ को इस दृष्टान्त से समझिये—कोई दस्यु (डाकू) किसी के घर में आश्रय पाकर डाका डालना हो तो यदि दस्यु दुर्बल हो तो घरवाले का दमन करे और यदि दस्यु प्रबल हो—बलात् किसी के घर में आश्रित होकर डाका डालता हो तो दस्यु का ही दमन करे। अथवा घर-वाले का दमन करके दस्यु का दमन करे अर्थात् दोनों का साथ-साथ दमन करे ।।२०।।

तिर्यक्-गामी दोष की चिकित्सा—

'प्रायस्तिर्यग्गता' दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम् ।।२१।।
कुर्यान्न तेषु त्वरया देहाग्निबलवित् क्रियाम् ।
शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत् ।२२।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत् ।

व्याख्या—प्रायः तिर्यक्-मार्गों—मध्यम रोग मार्गों में गए हुए दोष—चिरकाल तक रोगियों को कष्ट देते रहते हैं उस दशा में—शरीर, अग्नि एवं बल का विचार करता हुआ वैद्य - वमन विरेचन आदि या छेदन भेदन आदि—शीघ्रकारी चिकित्सा न करें अपितु उन दोषों—रोगों को प्रयोग—लंघन पाचन आदि के लम्बे उपचार अथवा स्नेह स्वेदन आदि सरल उपचार के द्वारा—कोष्ठ में ले आने का प्रयत्न करे और कोष्ठ में आए जान कर यथासन्न—आमाशय से वमन द्वारा और पक्वाशय से विरेचन द्वारा निकाल देवे ।।२१,२२।।

साम एवं निराम दोष का लक्षण—

स्रोतोरोधबलभ्रंश-गौरवानिलमूढताः ।।२३।।
आलस्यापक्तिनिष्ठीव, मलसङ्गाऽरुचिक्लमाः ।
लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्ययः ।२४।

व्याख्या—स्रोतों में अवरोध, बल का क्षय, गुरुता, वायु की प्रतिलोमता, आलस्य, अपच, थूक की अधिकता पुरीष आदि मलों का अवरोध, अरुचि तथा क्लम (मान-सिक अस्वस्थता) ये सब साम दोषों के लक्षण हैं और इससे विपरीत लक्षण हैं निराम दोषों के ।

वक्तव्य—आम से युक्त दोष साम कहे जाते हैं और आम से रहित दोष निराम कहे जाते हैं। आम का वर्णन निम्न श्लोक में देखिये ।।२३,२४।।

आम का वर्णन—

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं 'रसमामं' प्रचक्षते ।२५।

व्याख्या—अग्नि का बल घट जाने से जो रस धातु परिपक्व नहीं होता या अपक्व रह जाता है और आमाशय में ही दोषों से दूषित हो जाता है उस रस का नाम "आम" है

वक्तव्य—यहाँ ऊष्मा—अग्नि शब्द रस धातुगत अग्नि के लिये प्रयुक्त है। आहार पच जाने पर जो रस धातु बनता है वह अपनी अग्नि से परिपक्व नहीं होता तब वह "आम" कहलाता है। इसका स्पष्ट वर्णन इस श्लोक में है यथा—आद्य आहारधातुः हि यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स मूलं सर्व-रोगाणामाम इति अवधीयते।

यह आमरस शरीर के जिस अवयव में जाकर रुक जाता है उसी में रोग-वेदना उत्पन्न करता है। उस रोग में उस दोष के लक्षण होते हैं जिस दोष की अधिकता होती है और उसके साथ-साथ आम के वे लक्षण भी रहते हैं जो श्लो० २३,२४ में कहे गये हैं। देखिये—सु.उ.त.अ. ५६ श्लो० १० ।।२५।।

आम विषयक मतान्तर—

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ।।२६।।

व्याख्या—कुछ आचार्यों का मत है कि—अत्यन्त दुष्ट वातादि दोषों का परस्पर मिश्रण होने से "आम" की उत्पत्ति हो जाती है जैसे कोदो नामक धान्य में विषकी ।

वक्तव्य—इनका दृष्टिकोण यह है कि—जब वात आदि अपना-अपना कार्य नहीं करते तो शरीर में आम दोष उत्पन्न हो जाता है अर्थात् शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। गम्भीर विचार करने पर भाव एक ही निकलता है केवल शब्द भेद है। तात्पर्य यह है कि निर्विष रस ही विकृत होकर विषवत् हो जाता है—विकारकारक हो जाता है ।२६।

साम दोष एवं साम रोग—

आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ।।२७।।

व्याख्या—उस आम से युक्त वातादि दोष एवं रस रक्त आदि धातु दूषित होने पर "साम" कहे जाते हैं और उन दोषों से एवं दूष्यों से उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि रोग भी उस आम से युक्त होने से "साम" कहे जाते हैं अर्थात् साम दोषों से उत्पन्न ज्वर आदि रोग भी साम कहे जाते हैं।

वक्तव्य—जैसे आम ज्वर, आमातिसार आदि। निराम दोषों से उत्पन्न निराम ज्वर, निरामातिसार आदि। तथा आम रस का पाक हो जाने पर साम दोष एवं रोग निराम कहलाता है ॥२७॥

सामदोषों की चिकित्सा—

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान् न निर्हरेत्।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥२८॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः।

व्याख्या—समस्त शरीर में फैले हुए साम दोषों का निर्हरण—(वमन विरेचन द्वारा शोधन) न करे क्योंकि वे धातुओं में लीन-विलीन होते हैं और विशेषतः तब जब वे उत्क्लिष्ट—निकलने के लिये उन्मुख नहीं होते, जैसे कच्चे फल में से रस-गूदा का निर्हरण न करे। इस दशा में में दुर्निर्हर होने से आश्रय अर्थात् शरीर के नाशक हो सकते हैं।

वक्तव्य—जैसे आमशोष का छेदन निषिद्ध है वैसे ही आमदोष का निकालना भी निषिद्ध है। कारण--निकालने से वे निकलते भी नहीं हैं, उलटे शरीर को हानि पहुँचाते हैं जैसे कच्चे फल को निचोड़ने से रस नहीं निकलता फल ही फट-फूट जाता है ॥ २८ ॥

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ॥२९॥
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्।

व्याख्या—इसलिये उन साम दोषों को—पाचन, दीपन, स्नेहन एवं स्वेदन द्वारा परिष्कृत अर्थात् शोधन के योग्य बनाकर—शोधन योग्य काल में—यथासन्न तथा यथाबल—शोधन कर्म द्वारा शोधन करे।

वक्तव्य - यथासन्न—जिस ओर से दोष समीप हो या आकर रुके हों। यथाबल—रोग एवं रोगी की शक्ति के अनुसार ॥२९॥

आसन्न दोष का निर्हरण—

हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान् ॥३०॥
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च।

व्याख्या - इस दशा में—प्रयुक्त शोधन औषध-आमाशय में आए हुए विकार को मुख से (वमन द्वारा) निकाल देता है, जत्रु के ऊपर के विकार को नासा द्वारा निकाल देता है। और पक्वाशय गत विकार को गुदमार्ग से निकाल देता है। अथच—मुख द्वारा प्रयुक्त औषध (वामक द्रव्य) वमन द्वारा, गुद द्वारा प्रयुक्त (निरूहण द्रव्य) पक्वाशयगत विकार को और घ्राण द्वारा प्रयुक्त तीक्ष्ण—रेचन नस्य) द्रव्य—शिरोगत विकार को निकाल देता है।

वक्तव्य—यही यथासन्न का तात्पर्य है ॥३०॥

दोषनिर्हरण का निर्देश—

उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान् वहतः स्वयम् ॥३१॥
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः।
प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः ॥३२॥
विबद्धान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत वा।

व्याख्या--निकलने के लिये उन्मुख, मुख मार्ग अथवा गुद मार्ग से स्वतः बहते हुए आम दोषों को औषध—(स्तम्भन औषध) द्वारा न रोके क्योंकि रुके हुए वे आम दोष—अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकते हैं।

इसलिये—प्रवृत्त दोषों की प्रथम उपेक्षा करे अर्थात् प्रवृत्त होने दे, रोगी को पथ्य भोजन देता रहे। और जो आम दोष—शरीर में विबद्ध स्तब्ध या अवरुद्ध हों उनका उन २ उचित पाचनों द्वारा पाचन करे अथवा यदि पक्व होने पर भी अवरुद्ध हों तो शोधनों द्वारा निर्हरण करे।३३।

वक्तव्य—यह सन्दर्भ साम मलों के लिये है और इस में दोष शब्द मल वाचक भी है। विसूची एवं आमातिसार आदि में अथच आमज छर्दि में स्वतः प्रवृत्त दोष या मल नहीं रोके जाते, रोकने पर हानि करते हैं और यदि रुके होते हैं तो उनको प्रवृत्त कर दिया जाता है जैसे अलसक रोग में—वमन का विधान है ॥३१,३२॥

शोधन का काल एवं आवश्यकता—

श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात् ॥३३॥
ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्!
अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः ॥३४॥
सन्धौ साधारणे तेषां दुष्टान् दोषान् विशोधयेत्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य, व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥३५॥
कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम्।
प्रयोजयेत्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥३६॥

व्याख्या—शोधन कर्म का काल—श्रावण मास, कार्तिक मास तथा चैत्र मास साधारण (समशीतोष्ण) होते हैं अतः इन्हीं मासों में—क्रमशः—ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त ऋतु में सञ्चित वात, पित्त एवं कफ का शोधन करे।

क्योंकि—ग्रीष्म में उष्ण गर्मी), वर्षा में वर्षा एवं हेमन्त में शीत अत्यधिक होते हैं, इसलिये—ऋतुओं के सन्धिकाल—उक्त साधारण कालों में दुष्ट दोषों का शोधन करना चाहिये। परन्तु उक्त विधि—स्वस्थ के लिये है। रोग में तो रोग के अनुसार—शीत, उष्ण एवं वर्षा का प्रतिकार करके यथायोग्य या जैसे हो वैसे आवश्यक वमन विरेचन का प्रयोग करे—किन्तु क्रियाकाल को हाथ से न जाने दे। अर्थात् जब शोधन की आवश्यकता हो तभी शोधन कर देवे।

वक्तव्य—स्वस्थ तो उक्त मासों में स्वास्थ्य-रक्षार्थ शोधन करे परन्तु रोगी जब आवश्यक हो तभी शोधन कर देवे, समय पर किया गया कर्म फलदायक होता है ॥३३ ३६॥

औषध सेवन के १० काल—

युञ्ज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे।
ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशि चौषधम् ॥३७॥

व्याख्या—औषध का प्रयोग—सेवन निम्नलिखित १० समयों में करे—१ अनन्न-अभक्त अर्थात् केवल औषध का सेवन करे अन्न का नहीं—जैसे लंघन में (उपवास में) होता है।

२—अन्न के पूर्व—प्राग्भक्त—जैसे आहार के पूर्व खाया जाता है।

३—अन्न के मध्य में—मध्ये भक्त—जैसे भोजन के मध्य में पिया जाता है।

४—भोजन के अन्त में—जैसे खाकर पिया जाता है।

५—कवल के भीतर धर कर या दो ग्रासों के मध्य-काल में या दोपहर एवं रात्रि के भोजन के मध्य में अर्थात् तीसरे प्रहर। अन्तराभक्त।

६—ग्रास ग्रास में—प्रत्येक ग्रास के साथ।

७—मुहुःमुहुः—बार२ दिन भर में अनेक बार।

८—सान्न—अन्न में मिलाकर।

९—सामुद्ग—भोजन के आदि में और अन्त में।

१०—निशि—सोते समय।

वक्तव्य—विशेष देखिये सु. उ. अ. ६४ ॥३७॥

रोगानुसार औषध सेवनकाल—

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः।
अन्नादौ विगुणेऽपाने, समाने मध्य इष्यते ॥३८॥
व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य, सायमाशस्य तूत्तरे।
ग्रासग्रासान्तयो प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि॥३९॥
मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मातृट्श्वासकासिषु।
योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके ॥४०॥
कम्पाक्षेपकहिध्मासु सामुद्गं लघुभोजिनाम्।
ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते ॥४१॥

व्याख्या—१—अनन्न औषध—कफ के प्रकोप में, बलवान् रोग में तथा बलवान् रोगी को लाभप्रद होती है।

२—अन्न के आदि में औषध—अपान वायु की विकृति में लाभप्रद होती है।

३—भोजन के मध्य में औषध—समान वायु की विकृति में लाभप्रद होती है।

४—भोजन के अन्त में औषध—प्रातःकालीन भोजन के अन्त में व्यान वायु की विकृति में और सायंकालीन भोजन के अन्त में उदान वायु की विकृति में लाभप्रद होती है।

५—प्रति ग्रास (कवल) के अन्त में औषध प्राण वायु की विकृति में लाभप्रद होती है।

६—ग्रास में मिलाकर औषध भी—प्राण वायु की विकृति में लाभप्रद होती है।

७—मुहुः मुहुः अर्थात् बारबार औषध—विषविकार, छर्दि, हिक्का, तृषा, श्वास एवं कास में लाभप्रद होती है।

८—सभोज्य (सभक्त—सान्न) अर्थात् भोजन में मिलाकर औषध—रुचिकर भोजनों के साथ—मिलाकर अरुचि में लाभप्रद होती है।

९—सामुद्ग औषध—कम्प रोग, आक्षेपक रोग तथा हिक्का रोग में लाभप्रद होती है परन्तु साथ में भोजन लघु होना चाहिये।

१०—निशि—(स्वप्नकाल—रात्रि) में औषध—जत्रु के ऊपर के नासा कर्ण आदि के रोगों में लाभप्रद होती है।

वक्तव्य – ग्रासग्रासान्तयोः पाठ के स्थान में ग्रासे ग्रासान्तरे पाठ होना चाहिये तभी औषध सेवन के १० काल हो सकते हैं। सु० उ० अ० ६४ के इस प्रकरण में ग्रासेतु-यत् पिण्डव्यामिश्रम् ॥८०॥ तथा ग्रासान्तरे तु यत् ग्रासान्तरेषु ॥८१॥ पाठ है अर्थात् १—ग्रास पिण्ड में मिलाकर औषधि खाना जैसे हिंग्वष्टक चूर्ण कवल में मिला कर खाया जाता है और २—ग्रास के भीतर धर औषध निगलना जैसे हलुवा या दलिया या चूरमा की कूपी में धर कर औषध निगल ली जाती है अथवा खण्ड की कूपी में चन्दन तैल आदि डाल कर निगला जाता है और रस कपूर के योग से बनाई गई बटी निगली जाती है। और ग्रासान्तरे का अर्थ यह भी समझा जाता है कि—दो ग्रासों के मध्य में औषध का सेवन यथा एक ग्रास निगल कर औषध खाना या पीना और उसके अनन्तर दूसरा ग्रास खाना जैसे श्वास रोग में हलुवा आदि का एक ग्रास अथवा दो चार ग्रास खाकर धूम्रपान किया

जाता है और मूत्रपान के अनन्तर पुनः हलुआ खाया जाता है अथवा मद्यपान किया जाता है। भगवान् धन्वन्तरि ने उक्त प्रकार से औषध सेवन के कारण एवं लाभ का वर्णन भी किया है यथा १—अनन्न (अन्न रहित) औषध (जैसे लंघन—उपवास के समय) अधिक वीर्यवान् होती है और रोग को शीघ्र शान्त कर देती है परन्तु बालक, वृद्ध एवं सुकुमार को दुर्बल भी करती है आदि २ ॥३८-४१॥

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

—

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातो द्विविधोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब द्विविध—उपक्रमणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च० सू० अ० २१, २२, २३, सु० सू० अ० १५, वि० अ०१ श्लोक ११-१३) उ० अ० ३९ (श्लोक १०२-१०५) तथा अष्टांग सं सू० अ० २४ में देखिये ।

उपक्रम के दो भेद—

'उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः ।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥१॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ।
बृंहणं यद् बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत् ॥२॥
देहस्य भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते ।

व्याख्या—क्योंकि—साम एवं निराममेद से उपक्रम्य (रोग) दो प्रकार का होता है अतः उपक्रम (चिकित्सा कर्म) भी विधिभेद से दो प्रकार का माना गया है।

१—सन्तर्पण और २—अपतर्पण—सन्तर्पण का दूसरा नाम बृंहण है और अपतर्पण का दूसरा नाम लंघन है ।

बृंहण वह कर्म है जो शरीर को बृहत् (बड़ा, पुष्ट एवं भारी) करता है और लंघन वह कर्म है जो शरीर को लघु (छोटा, कृश एवं हल्का) करता है ।

इनमें बृंहण कर्म में पृथिवीतत्त्व एवं जलतत्त्व प्रधान होता है और लंघन कर्म में अग्नि, वायु तथा आकाश तत्त्व प्रधान होते हैं ।

वक्तव्य—जिस उपक्रम से शरीर में पृथिवी तत्त्व एवं जल तत्व की वृद्धि होती है वह "बृंहण" और जिससे शरीर में अग्नि, वायु एवं आकाश की वृद्धि होती हैं वह "लंघन" कहलाता है। इस दृष्टिकोण से आहार, विहार एवं औषध रूप समस्त उपक्रम के दो भेद हैं, १—सन्तर्पण अर्थात् बृंहण और २—अपतर्पण अर्थात् लंघन या कर्षण ॥१,२॥

स्नेह आदि का विवेचन—

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत् ॥३॥
भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वितयं नातिवर्तते ।

व्याख्या—जो स्नेहन कर्म तथा रूक्षण कर्म अथवा जो स्वेदन तथा तद् विपरीत स्तम्भन कर्म हैं वे भी उक्त सन्तर्पण एवं अपतर्पण उपक्रमों से पृथक् नहीं हैं क्योंकि पृथिवी आदि तत्त्वों से उत्पन्न द्रव्य एवं प्राणी भी दो ही प्रकार के हैं ।

वक्तव्य—पृथिवी आदि महाभूत अथवा पार्थिव आदि पञ्चभूतात्मक द्रव्य सन्तर्पण एवं अपतर्पण से पृथक् नहीं हैं इसी प्रकार स्नेहन एवं स्तम्भन उपक्रम सन्तर्पण और रूक्षण एवं स्वेदन नामक उपक्रम अपतर्पण के अन्तर्गत हो जाते हैं ॥३॥

अपतर्पण के भेद—

शोधनं शमनं चेति द्वधा तत्रापि 'लङ्घनम्' ॥४॥
यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा 'शोधनं' च तत् ।
निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः ॥५॥

व्याख्या—विधि भेद से लंघन उपक्रम दो प्रकार का होता है—१—शोधन और २—शमन ।

शोधन उपक्रम वह है जो दोषों (मलों—विकारकारी भावों) को बाहिर निकाल देता है ।

और वह शोधन ५ प्रकार का होता है यथा—१—निरूहण वस्ति, २—वमन, ३—विरेचन, ४—शिरोविरेचन नस्य तथा ५—रक्त स्रावण ।

वक्तव्य—इन उपक्रमों द्वारा शरीर का शोधन होता है या किया जाता है अतः इनका नाम "शोधन" है ॥४,५॥

शमन का लक्षण एवं उसके भेद

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा ॥६॥
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः ।
बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ।७॥

व्याख्या—जो उपक्रम—दोषों का शोधन भी न करे तथा सम दोषों की वृद्धि भी न करे और विषम दोषों को सम करे (या करता है) वह "शमन" कहलाता है ।

शमन उपक्रम ७ प्रकार का होता है यथा—

१—पाचन अर्थात् आम दोषों को पकाने वाला,

२—दीपन अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करने वाला,

३—क्षुधा अर्थात् उपवास करना—भूखे रहना—लघु भोजन,

४—तृषा अर्थात् जल न पीना—प्यासे रहना या बहुत थोड़ा जल पीना,

५—व्यायाम अर्थात् घूमना—टहलना—परिश्रम करना।

६—आतप अर्थात् धूप में रहना या अग्नि तापना और—

७—मारुत अर्थात् वायु का सेवन—खुले स्थान में रहना।

उक्त अपतर्पण (लंघन) नामक उपक्रम से जो विपरीत उपक्रम हैं वे बृंहण कहे जाते हैं और वायु एवं पित्तयुक्त वायु का शमन बृंहण से ही होता है।

वक्तव्य—सन्तर्पण से सब भावों की वृद्धि और अपतर्पण से सब भावों का ह्रास होता है परन्तु वायु एवं पित्तयुक्त वायु की वृद्धि अपतर्पण से और ह्रास सन्तर्पण से होता है यह सिद्धान्त भली भाँति समझ लेना चाहिये और ध्यान में रखना चाहिये ॥६,७॥

सन्तर्पण योग्य रोगी एवं रोग—

बृंहयेद् व्याधिभैषज्य-मद्यस्त्रीशोककर्शितान्।
भाराध्वोरःक्षतक्षीण-रूक्षदुर्बलवातलान् ॥८।
गर्भिणीसूतिकाबाल-वृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि।
मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः ॥९॥
स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्ग-स्नाननिर्वृतिहर्षणैः।

व्याख्या—ज्वर आदि रोग से, मद्यपान से, मैथुन से अथवा शोक से कृशों का, भार ढोने से, मार्ग चलने से अथवा उरःक्षत से क्षीणों का, रूक्ष शरीरवालों का, दुर्बलों का, वात रोग से पीड़ितों का, गर्भवती का, प्रसूता का, बालक एवं वृद्ध का और ग्रीष्म ऋतु में प्रायः सब का बृंहण उपक्रम होना चाहिये।

बृंहण उपक्रम हैं—मांस का, दूध का, खाँड मिश्री का, घृत का, दाख आदि मधुर द्रव्यों का तथा अनुवासन बस्तियों का सेवन और सोना, सुख शय्या, अभ्यङ्ग, स्नान, निर्वृति (निश्चिन्तता) तथा हर्षण (प्रसन्नता)।

वक्तव्य—अर्थात्—इनका इन आहार विहारों से बृंहण होता है। ये सब आहार विहार सन्तर्पण उपक्रम हैं ॥८,९॥

अपतर्पण योग्य रोग एवं रोगी—

मेहाऽऽमदोषाऽतिस्निग्ध-ज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिनः ॥१०॥
विसर्पविद्रधिप्लीहशिरःकण्ठाक्षिरोगिणः।
स्थूलांश्च लङ्घयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि ॥११॥

व्याख्या—प्रमेह, आम दोष (आमवात, आम ज्वर तथा आमातिसार आदि रोग), अति स्निग्ध रोगी (स्नेहपान जनित रोग से पीड़ित), ज्वर, ऊरुस्तम्भ, कुष्ठ, विसर्प रोग, विद्रधि (अपक्व विद्रधि फोड़ा), प्लीह विकार, शिरोरोग, कण्ठ रोग तथा नेत्र रोग (आमाभिष्यन्द आदि) से पीड़ितों का और स्थूलों को सर्वदा और शिशिर ऋतु में प्रायः सब को अपतर्पण उपक्रम करना चाहिये।

वक्तव्य—इन रोगों एवं रोगियों में, आवश्यकतानुसार ५ प्रकार का शोधन तथा सात प्रकार का शमन नामक अपतर्पण उपक्रम करना चाहिये ॥१०,११॥

शोधन एवं शमन के योग्य रोग एवं रोगी—

तत्र संशोधनैः स्थौल्य-बलपित्तकफाधिकान्।
आमदोषज्वरच्छर्दिरतीसारहृदामयैः ॥१२॥
विबन्धगौरवोद्गार-हृल्लासादिभिरातुरान्।
मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः ॥१३।
एभिरेवामयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान्।
क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान् मध्यबलैर्दृढान् ॥१४॥
समीरणाऽऽतपाऽऽयासैः किमुताल्पबलैर्नरान्।

व्याख्या—अपतर्पण नामक दोनों उपक्रमों में—शोधन नामक उपक्रमों द्वारा तो—अत्यधिक स्थौल्य से पीड़ित, अत्यधिक बलवान्, अत्यधिक पित्तवाले तथा अत्यधिक कफवाले की चिकित्सा करे।

और आम दोष (आम वातादि रोग), ज्वर, अर्श, अतिसार, हृदयरोग, विबन्ध, गौरव, उद्गार (एवं छर्दि भी) तथा हृल्लास आदि (विसूची, अरोचक आदि) से पीड़ितों की तथा मध्यम कोटि के, स्थौल्य, बल, पित्त एवं कफवालों की प्रायः प्रथम पाचन एवं दीपन नामक अपतर्पणों द्वारा चिकित्सा करे।

और उक्त आमदोष आदि विकारों से पीड़ितों की तथा हीन कोटि के स्थौल्य एवं बल आदि वालों की चिकित्सा—क्षुधानिग्रह एवं तृषा निग्रह नामक अपतर्पणों द्वारा करे अर्थात् उन को उपवास करावे एवं प्यासा रखने का प्रयत्न करे।

और मध्यम कोटि के बलवाले आम दोष आदि रोगों से पीड़ितों किन्तु दृढ़ों (सबलों) की चिकित्सा—वात सेवन, आतप सेवन तथा व्यायाम नामक अपतर्पणों द्वारा करे

और अल्पबल वाले आमदोष आदि रोगों से पीड़ितों की और दृढ़ों की चिकित्सा यथेष्ट वात सेवन आदि अपतर्पणों द्वारा करे।

वक्तव्य—५ प्रकार के शोधनों का वर्णन १८,१९,२० तथा २७ में देखिये और सात प्रकारके शमनों का वर्णन यत्र तत्र देखिये। इन उक्त रोगों एवं रोगियों में कुछ वे हैं जिनको शोधन नामक अपतर्पण और कुछ वे हैं जिनको शमन नामक अपतर्पण की व्यवस्था करनी होती है ॥१२-१४॥

संतर्पण एवं अपतर्पण का संकेत—

न बृंहयेल्लङ्घनीयान् बृंह्यांस्तु मृदु लङ्घयेत् ॥१५।
युक्त्या वा देशकालादि-बलतस्तानुपाचरेत्।

व्याख्या—जो अपतर्पण के योग्य हैं उनका कदापि सन्तर्पण न करे परन्तु जो सन्तर्पण के योग्य हैं उनका थोड़ा अपतर्पण किया जा सकता है अथवा देश, काल एवं सात्म्य आदि का विचार करके बलानुसार उपचार करे।

वक्तव्य—उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालबलं प्रति।
यस्यां कार्यं अकार्यं स्यात् कार्यं कर्म च वर्जितम्
और—न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुधः।
स्वयमापन्नवैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ॥२५॥

(च० सि० अ० २) चरक के इन वाक्यों द्वारा यही कहा है कि—देश, काल एवं बल के अनुसार ऐसी दशा भी उपस्थित हो जाती है जिसमें शास्त्र विहित कर्म नहीं किया जाता और शास्त्र वर्जित कर्म करना पड़ता है अतः वैद्य को स्वयं भी विचारना चाहिये केवल निर्दिष्ट विषय में अभिनिवेश (हठाग्रह) नहीं करना चाहिये ॥१५॥

सन्तर्पण एवं अपतर्पण का सम्यक् योग—

बृंहिते स्याद्बलं पुष्टिस्तत्साध्याऽऽमयसंक्षयः ॥१६॥
विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः।
क्षुत्तृट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ॥१७॥
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते।

व्याख्या—सम्यक सन्तर्पण होने पर—बल एवं पुष्टि का लाभ हो जाता है और सन्तर्पण साध्य (श्लो० १०) रोगों का क्षय होता है।

और सम्यक् अपतर्पण होने पर—इन्द्रियों में निर्मलता पुरीषादि मलों का उचित रूप से उत्सर्ग, शरीर में लघुता, भोजन में रुचि, भूख एवं प्यास का एक साथ उदय (लगना), हृदय, उद्गार एवं कण्ठ की शुद्धि, रोग की मृदुता (घट जाना), उत्साह की उत्पत्ति और तन्द्रा का नाश। ये लक्षण होते हैं। १६,१७॥

उनके अतियोग एवं हीनयोग—

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ॥१८॥
अतिस्थौल्याऽतिकार्श्यादीन्, वक्ष्यन्ते ते च सौषधाः।
रूपं तैरेवच ज्ञेयमतिबृंहितलङ्घिते ॥१९॥

व्याख्या—अनपेक्षित (आवश्यकता से अधिक सन्तर्पण का सेवन करने से अति स्थौल्य आदि रोग (श्लोक २०) हो जाते हैं और अधिक अपतर्पण का सेवन करने से या हो जाने से अति कार्श्य आदि रोग (श्लोक १९–३०) उत्पन्न हो जाते हैं, उनका वर्णन एवं चिकित्सा आगे देखिये और उन्हीं अतिस्थौल्य एवं अतिकार्श्य आदि लक्षणों द्वारा अति सन्तर्पण एवं अति अपतर्पण का स्वरूप जान लेना चाहिये।

वक्तव्य—इस प्रकार सन्तर्पण एवं अपतर्पण के सम्यक् योग, अतियोग एवं हीनयोग का ज्ञान हो जाता है जिससे चिकित्सक सावधान रह सकता है।१८-१९॥

अति स्थौल्य आदि रोग

अतिस्थौल्याऽपचीमेह-ज्वरोदरभगन्दरान्।
कास-सन्न्यास- कृच्छ्राम-कुष्ठादीनतिदारुणान् ॥२०॥

व्याख्या—सन्तर्पण जनित अतिस्थौल्य आदि रोग ये हैं—अति स्थौल्य (मोटापा), अपची रोग, प्रमेह, ज्वर, उदर रोग, भगन्दर, कास, संन्यास, मूत्रकृच्छ्र, आमवात तथा कुष्ठ आदि दारुण रोग ॥२०॥

चिकित्सा—

तत्र मेदोऽनिलश्लेष्म-नाशनं सर्वमिष्यते।
कुलत्थचूर्णश्यामाक-यवमुद्गमधूदकम् ॥२१॥
मस्तुदण्डाहतारिष्ट-चिन्ताशोधनजागरम्।
मधुना त्रिफलां लिह्याद् गुडूचीमभयां घनम् ॥२२॥
रसाञ्जनस्य महतः पञ्चमूलस्य गुग्गुलोः।
शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हितः ॥२३॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु।
यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥२४॥

व्याख्या—उन स्थौल्य आदि रोगों में—मेदस, वायु एवं कफ को नष्ट करने वाले सब आहार, विहार एवं औषध लाभप्रद होते हैं विशेषतः—

कुलथी, जुआर, सामा, जौ तथा मूंग के आहार, मधु मिश्रित जल, दही का पानी, मठा तथा अरिष्टों का (सुरा आदि मद्यों का) पान, चिन्ता, शोधन एवं जागरण का सेवन लाभप्रद होता है।

और त्रिफला के चूर्ण को, गिलोय के स्वरस को हरड़ के चूर्ण को अथवा मोथा के चूर्ण का मधु में मिलाकर प्रतिदिन चाटना चाहिये।

अथवा—रसवत का, विल्वादि महापंचमूल का गूगल का अथवा शिलाजीत का प्रयोग (दीर्घकालपर्यन्त

सेवन । अरणी की छाल के क्वाथ के साथ करना चाहिये ।

विडंगादि योग– वायविडंग, सोंठ, जौखार (अथवा कोई अन्य क्षार), लोह भस्म, जौ का आटा तथा आमला का चूर्ण इन सब को मधु में मिलाकर बनाया गया य ग अति स्थौल आदि विकारों को नष्ट करता है ॥२१-२४॥

व्योषादि योग—

व्योषकट्वीवराशिग्रु-विडङ्गाऽतिविषास्थिराः ।
हिङ्गुसौवर्चलाजाजी-यवानीधान्यचित्रकाः ॥२५॥
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठा मूलं च केम्बुकात् ।
एषां चूर्णं मधु घृतं तैलं च सदृशांशकम् ॥२६॥
सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहन्ति तत् ।
अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान् ॥२७॥
हृद्रोगकामलाश्वित्र- श्वासकासगलग्रहान् ।
बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याऽग्नेश्च दीपनम् ॥२८॥

व्याख्या—सोंठ, मरिच, पीपल, कुटकी, हरड़ बहेड़ा, आमला, सहजन के बीज, वायविडंग, अतीस, शालपर्णी, हींग, संचर नमक, जीरा, अजवायन, धनियाँ, चित्ता, हलदी, दारु हलदीकी छाल, कण्टकारी, वनभण्टा, हपुषा पाठा तथा करेमू की जड़। इन सब का समभाग चूर्ण १ तोला मधु, घृत तथा तिल तैल १–१ तोला और जौ के सत्तू १६ तोला मिलाकर और जल में घोल कर प्रतिदिन पावे। यह योग—अतिस्थौल्य आदि रोगों को तथा सन्तर्पण-जनित उस प्रकार के अन्यान्य रोगों को नष्ट करता है और हृद्रोग, कामला, श्वित्र (श्वेत दाग), श्वास, कास तथा गलग्रह को नष्ट करता है और बुद्धि, मेधा एवं स्मृति को बढ़ाता है और मन्द हुई अग्नि को प्रदीप्त करता है ।

वक्तव्य—यह योग औषध भी है और आहार भी है मेदो जनित गलगण्ड आदि रोगों के प्रभाव से बुध्दि, मेधा एवं स्मृति भी मन्द हो जाती है और इसके सेवन से मेदस् का क्षय भी होता है और साथ २ बुद्धि आदि की वृद्धि भी होने लगती है ॥२५-२८॥

अतिकार्श्य आदि रोग—

अतिकार्श्यं भ्रमः कासस्तृष्णाऽऽधिक्यमरोचकः ।
स्नेहाग्निनिद्राद्दक्श्रोत्र-शुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः ॥२९॥
बस्तिहृन्मूर्धजङ्घोरु-त्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः ।
प्रलापोर्ध्वाऽनिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम् ॥३०॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात् ।

व्याख्या—अधिक लंघन (सन्तर्पण के अतियोग) से—अधिक कृशता, भ्रम, कास, तृषा की अधिकता तथा अरुचि की उत्पत्ति हो जाती है और स्नेह (शरीर की स्निग्धता, निद्रा, दृष्टि, श्रवण शक्ति, शुक्र, ओजस , भूख तथा स्वर का क्षय हो जाता है और वस्ति में मूत्राघात आदि रोग, हृदय में कम्पन-धड़कन एवं अवसाद आदि रोग तथा शिर में अर्द्धावभेदक आदि रोग, जंघा एवं उरु में शिथिलता, कमर में एवं पार्श्वों में वेदना आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं और ज्वर एवं प्रलाप की वृद्धि वायु का ऊपर की ओर उठना (उद्गार की अधिकता), मानसिक ग्लानि, छर्दि (सूखी छर्दि एवं मिचली), पोरों तथा सन्धियों में टूटने कीसी वेदना तथा मूत्र एवं पुरीष में रुकावट आदि२ विकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

वक्तव्य—ज्वर आदि रोगों में उपवास आदि अपतर्पण उपक्रम करते समय उक्त लक्षणों का ध्यान रखना चाहिये यदि दुर्भाग्यवश उक्त लक्षण उत्पन्न हो जायँ तो आहारादि की व्यवस्था तत्काल करनी चाहिये ॥२९ ३०॥

स्थौल्य एवं कार्श्य की विशेषता—

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यात् न हि स्थूलस्य भेषजम् ॥३१॥
बृंहणं लङ्घनं वाऽलमतिमेदोऽग्निवातजित् ।

व्याख्या—स्थूलता की अपेक्षा (स्वस्थ के लिये) कृशता ही अच्छी है क्योंकि स्थूलता की कोई सरल चिकित्सा नहीं है । कारण यह है कि स्थूलता में अधिक बढ़ी हुई मेदो धातु तथा अधिक बढ़े हुए अग्नि एवं वायु पर विजय पाने के लिए न बृंहण (सन्तर्पण) ही समर्थ है और न लंघन (अपतर्पण) ही समर्थ है ।

वक्तव्य—बृंहण उपक्रम से यदि वायु एवं अग्नि पर विजय प्राप्त होती भी है तो मेदस् बढ़ जाती है और लंघन उपक्रम से यदि मेदस् पर विजय प्राप्त होती है तो अग्नि एवं वायु बढ़ जाते हैं । कुछ भी हो स्थूलता उतनी शीघ्रता एवं सरलता से नष्ट नहीं होती जितनी शीघ्रता एवं सरलता से कृशता नष्ट हो जाती है और रोगजनित कृशता तो बहुत ही शीघ्रता एवं सरलता से नष्ट हो जाती है । और यह भी देखा जाता है कि कृश की अपेक्षा स्थूल का जीवन अधिक कष्टमय होता है । कृशता सुख भोगने से नष्ट होती है और स्थूलता दुःख भोगने से नष्ट होती है । स्थूलता सुखियों को होती है और कृशता दुखियों को होती है फलतः सुखियों को दुःख भोगना कष्टकारक होता है और दुखियों को सुख भोगना आनन्ददायक होता है । इन सब कारणों से स्थूलता की अपेक्षा कृशता को अच्छा कहा गया है ॥३१॥

स्थौल्य एवं कार्श्य की चिकित्सा—

मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन च नश्यति ॥३२॥

कृशिमा स्थविमाऽत्यन्तविपरीतनिषेवणैः ।

व्याख्या—कृशता—मधुर एवं स्निग्ध पदार्थों को सदा भरपेट खाते रहने से और सर्वदा सुखों का उपभोग करते रहने से नष्ट होती है ।

और स्थूलता—इस के विपरीत कटु तिक्त एवं कषाय तथा रूक्ष पदार्थों को सदा भरपेट खाते रहने से तथा दुःखों-कष्टों का उपभोग करते रहने से नष्ट होती है ।

वक्तव्य—अतएव स्थूलता की अपेक्षा कृशता अच्छी कही गई है ॥३२॥

कृशता की चिकित्सा—

योजयेद् बृंहणं तत्र सर्वं पानान्नभेषजम् ॥३३॥
अचिन्तया हर्षणेन ध्रुवं सन्तर्पणेन च ।
स्वप्नप्रसङ्गाच्च कृशो वराह इव पुष्यति । ३४॥
न हि मांससमं किञ्चिदन्यद् देहबृहत्त्वकृत् ।
मांसादमांसं मांसेन सम्भृतत्वाद्विशेषतः ॥३५ ।

व्याख्या—कृशता में—पान में दुग्ध आदि, आहार में मांस आदि तथा औषधों में अश्वगन्धा आदि सब बृंहण पदार्थों का प्रयोग करना चाहिये ।

और चिन्ता न करने से, प्रसन्न रहने से, सन्तर्पण (तृप्तिपूर्वक भोजन आदि) करते रहने से और अधिक सोने से कृश मानव सूअर के समान पुष्ट-स्थूल हो जाता है ।

मांस के समान अन्य कोई भी द्रव्य शरीर को बृहत् (अर्थात् बड़ा-पुष्ट) करनेवाला नहीं है । और

मांसभक्षी प्राणियों का मांस—स्वयं मांस द्वारा पुष्ट होने के कारण शरीर को विशेष रूप से पुष्ट करनेवाला होता है ।।३३-३५॥

स्थौल्य एवं कार्श्य की अन्य चिकित्सा—

गुरु चातर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे ।
यवगोधूममुभयोस्तद्योग्याहितकल्पनम् ।३६।।

व्याख्या—स्थूलता में—गुरु द्रव्यों का अपतर्पण (आधे पेट खाना) हितकारक होता है और कृशता में—लघु द्रव्यों का सन्तर्पण (भर पेट खाना) हितकर होता है ।

और जौ एवं गेहूँ भिन्न २ कल्पना करके स्थूल एवं कृश दोनों के लिये हितकर होते हैं ।

वक्तव्य—स्थूलता में गुरु द्रव्य-बढ़ी हुई अग्नि तथा वायु को घटाते हैं और आधे पेट खाने (भूखा रहने) से मेदस् को घटाते हैं फलतः स्थूलता जाती रहती है ।

और कृशता में लघु द्रव्य भलीभाँति पच जाने के कारण रसादि सब धातुओं की पुष्टि करते हैं और भर पेट खाने से पर्याप्त मात्रा में रसादि धातुओं का निर्माण होता है फलतः शरीर पुष्ट हो जाता है और कृशता जाती रहती है ।

यद्यपि स्थूल के लिये जौ तथा कृश के लिए गेहूं हितकर है परन्तु उचित संस्कार करने से दोनों दोनों के लिये हितकर हो सकते हैं । यथा जौ को दूध एवं घृत में और गेहूं को तैल एवं तक्र आदि में संस्कृत करके दिया जा सकता है ।

मांसाद मांस—गिद्ध आदि मांसाहारी प्राणियों का मांस दुर्गन्धित होने के कारण यद्यपि नहीं खाया जाता परन्तु सुना है कि बकरा एवं मुरगा आदि को मांस रस पिलाकर पुष्ट करके उनका मांस खाया जाता है । जो कुछ हो । किसी मांस अथ च मांसरस के सेवन से पुष्टि अवश्य होती है यद्यपि निरामिष भोजी भी वैसे ही पुष्ट एवं स्थूल देखे जाते हैं ।।३६॥

उपसंहार—

दोषगत्याऽतिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदतः ।
उपक्रमा न ते द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव ॥३७॥

व्याख्या—यद्यपि दोषों (रोगों) की गति भेद के अनुसार और ग्राही एवं भेदी आदि भेदों से अन्य अनेक प्रकार के उपक्रम (चिकित्सा विधि विधान) कहे जाते हैं तथापि वे सब सन्तर्पण एवं अपतर्पण से अतिरिक्त नहीं माने जाते जैसे लक्षण, हेतु एवं स्थान के भेद से अनेक होने पर भी सब रोग—साम एवं निराम दशा के भेद से दो ही प्रकार के होते ।

वक्तव्य—इस अध्याय में जो दो प्रकार के उपक्रम बतलाए गये हैं उन में सभी प्रकार के उपक्रम अन्तर्भूत हो जाते हैं क्यों कि चिकित्सा करते समय जो भी उपचार किये जाते हैं वे सब इस विधि भेद से दो ही प्रकार के होते हैं १—सन्तर्पण अर्थात् बृंहण और २—अपतर्पण अर्थात् लंघन।

भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में-(च० सू० अ० २२)-
यत् किञ्चित् लाघवकरं देहे, तत् लंघनं स्मृतम्
बृहत्त्वं यत् शरीरस्य जनयेत्, तत् च बृंहणम् ॥ १० ॥

अर्थात्—जो भी आहार विहार एवं उपचार शरीर में लघुता (कृशता-हल्का पन) उत्पन्न करते हैं वे सब लंघन कहे जाते हैं और जो आहार विहार एवं उपचार शरीर में बृहत्व (गुरुता—मोटापन) उत्पन्न करते हैं वे बृंहण कहे जाते हैं ।

और—एवं अन्येषां अपि शरीर धातूनां सामान्य विपर्ययाभ्यां वृध्दि ह्रासौ यथाकालंकर्त्तव्यौ (च० शा० अ० ६)

और शार्ङ्गधराचार्य के शब्दों में—

चिकित्सतं कर्षणं बृंहणाख्यं कुर्वित वैद्यो... (३)

शा० प्र० ख० अ० १)—

विचार कर देखा जाय तो स्वस्थ एवं रोगी के लिये यही दो उपचार किये जाते हैं अथवा स्वभावतः हैं सदा सर्वदा होते रहते हैं ॥ ३७ ॥

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातः शोधनादिगणसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब शोधनादिगण संग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—'

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च० सू० अ० ४ में, सु० सू० अ० ३७, ३८ एवं ३९ में और अ० सं० सू० अ० १४, १५ एवं १६ में देखिये ।

छर्दन गण—

'मदन-मधुक-लम्बा-निम्ब-बिम्बी-विशाला
त्रपुस-कुटज-मूर्वा-देवदालीकृमिघ्नम् ।
विदुल-दहन-चित्राः कोशवत्यौ करञ्जः
कण-लवण-वचैला-सर्षपाश्छर्दनानि ॥१॥

व्याख्या—वमनोपयोगी द्रव्य—मैनफल, मुलेठी, लम्बा(लम्बी कटुतुम्बी)निम्बकन्दरू (कन्दूरी), इन्द्रायण,खीरा, कुरैया,मूर्वा, बन्दाल डोडा, विडंग,जल वेतस,चित्ता, चित्रा (मूषकपर्णी), धामार्गव तथा राज कोशातकी, करञ्ज, पीपल, लवण, बलवच, इलायची तथा सरसों ।

वक्तव्य—ये सब द्रव्य—वामक हैं अथवा वमनोपयोगी हैं देखिये क० अ० १ । इनमें मैनफल सर्वश्रेष्ठ वामक है इसकी अथवा इसके बीजों की चूर्ण रूप में अथवा क्वाथ बनाकर खाने-पीने के लिये आधा तोला से१तोला मात्रा है । २-३तो० लवण को जल में पकाकर उष्ण२ पीने से,नीम की पत्तियों का कल्क जल में घोलकर पीने से वमन हो जाता हैं मात्रा २-३ तो० । खीरा एवं इलायची भी किस रूप या किस मात्रा में वामक हैं यह विचारणीय हैं । अन्यान्य द्रव्यों के विषय में भी यही बात है । अस्तु ॥ १ ॥

विरेचन गण—

निकुम्भ-कुम्भ-त्रिफला-गवाक्षी
स्नुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि ।
शम्पाक-कम्पिल्लक-हेमदुग्धा
दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि ॥२॥

व्याख्या—दन्ती की जड़, निसोत की जड़ की छाल, त्रिफला, इन्द्रायण की जड़, सेहुण्ड का दूध, शंखिनी, नील नामक क्षुप के बीज, लोध की छाल, अमलतास का गूदा, कबीला, स्वर्णक्षीरी की जड़, दूध तथा गोमूत्र आदि मूत्र ।

वक्तव्य—इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक द्रव्य विरेचन हैं देखिये सु० सू० अ० ३९ विरेचनगण । विरेचन द्रव्यों के उपयोग की विधि कल्पस्थान अ० २ में देखिये ॥२॥

निरूहण गण—

मदन-कुटज-कुष्ठ-देवदाली-
मधुकवचा-दशमूल-दारु-रास्नाः ।
यव-मिशि-कृतवेधनं कुलत्था
मधुलवणं त्रिवृता निरूहणानि ॥३॥

व्याख्या—मैनफल, कुरैया को छाल, कूठ, देवदाली (बन्दाल डाडा) मुलेठी, बालवच, दशमूल (बिल्वादि एवं शालपर्ण्यादि दोनों पञ्चमूल), देवदारु, रासना, जौ, सौंफ या सोया), धामार्गव नामक तरोई, कुलथी के बीज, मधु, लवण तथा निसोत । ये सब द्रव्य निरूहण वस्ति के लिये उपयोगी हैं ।

वक्तव्य—इनमें से आवश्यक द्रव्य लेकर, क्वाथ बनाकर और मधु एवं लवण मिलाकर और वस्तिपुट में डालकर वस्ति दी जाती है । वस्ति कल्प देखिये कल्पस्थान अ० ४ और सू० अ० १९ देखिये ॥३॥

शिरोविरेचन गण—

वेल्लाऽपामार्ग-व्योष,दार्वी-सुराला,
बीजं शैरीषं बार्हतं शैग्रवं च ।
सारो माधूकः सैन्धवं तार्क्ष्यशैलं
त्रुट्यौ पृथ्वीका शोधयन्त्युत्तमाङ्गम् ॥४॥

व्याख्या—वायविडंग, अपामार्ग, सोंठ,मरिच, पीपल, दारुहल्दी, श्वेत राल, सिरस के बीज, वनभंटा के बीज, सहजन के बीज, महुवा का सार, सैन्धव लवण, रसवत, छोटी तथा बड़ी इलायची और पृथ्वीका (हिंगुपत्री या कलौंजी) ये द्रव्य शिर का विरेचन करते हैं—नासा में डालने से शिर का रेचन होता है । इनकी नस्य से सिर का शोधन होता है ॥४॥

वातनाशक गण—

भद्रदारु नतं कुष्ठं दशमूलं बलाद्वयम् ।
वायुं वीरतरादिश्च विदार्यादिश्च नाशयेत् ॥५॥

व्याख्या—देवदारु, तगर, कूठ, दशमूल, बला,

अतिबला, वीरतरादि गण (श्लोक २४ देखिये) तथा विदार्यादि गण (श्लोक ९, १० देखिये) वायु का शमन करते हैं ।।५।।

पित्तनाशक गण—

दूर्वाऽनन्ता निम्ब-वासाऽऽत्मगुप्ता,
गुन्द्राऽभीरुः शीतपाकी प्रियङ्गुः ।
न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरे द्वे,
पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम् ।।६।।

व्याख्या—दूब, जवासा, निम्ब, अडूसा, किवांच गुन्द्रा (पटेरक), शतावर, शीतपाकी (शिखण्डिका—काकणन्तिका भेद), प्रियङ्गु (गोन्दनी), न्यग्रोधादि गण (श्लोक ४१ देखिये), पद्मकादि गण (श्लोक १२ देखिये), शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, कमल, मोथा तथा सारिवादि गण (श्लोक ११ देखिये) पित्त को शान्त करते हैं ।।६।।

कफनाशक गण—

आरग्वधादिरर्कादिर्मुष्ककाद्योऽसनादिकः ।
सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्बलासजित् ।।७।।

व्याख्या—आरग्वधादि गण (श्लोक १७), अर्कादि-गण (श्लोक २८), मुष्ककादि गण (श्लोक ३२), असनादि गण (श्लोक १९), सुरसादि गण (श्लोक ३०), मुस्तादि गण (श्लोक ४०) तथा वत्सकादि गण (श्लोक ३३) कफनाशक होते हैं ।७।।

जीवनीय गण—

जीवन्ती काकोल्यौ मेदे द्वे मुद्गमाषपर्ण्यौ च ।
ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः ।।८।।

व्याख्या—जीवन्ती, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, ऋषभक, जीवक तथा मुलेठी । यह जीवनीय नामक गण हैं । ये द्रव्य जीवन-शक्तिवर्द्धक हैं ।।८।।

विदार्यादि गण—

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली वृश्चीव-देवाह्व-शूर्पपर्ण्यः।
कण्डूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे द्वे पञ्चके गोपसुतात्रिपादी।।९।।
विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः ।।१०।।

व्याख्या—विदारी कन्द, एरण्ड, मेढ़ासिंगी, पुनर्नवा, देवदारु, मुद्गपर्णी, माषपर्णी किवाँच जीवन पञ्चमूल, लघु पञ्चमूल, सारिवा तथा हंसराज। यह विदार्यादि गण—हृदय के लिये हित, बृंहण तथा वातपित्तनाशक है और शोष, रोग, गुल्मरोग, शरीर की मर्दन की-सी वेदना, श्वास तथा कास को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—जीवन पञ्चमूल—अभीरु वीरा जीवन्ती जीवक ऋषभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्ताऽनिलापहम् ।।१७१।।

तथा—लघु पञ्चमूल—ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम् ।।१६९।। अ० हृ० सू० अ० ६ ।।९,१०।।

सारिवादि गण—

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम् ।
यष्टी परूषकं हन्ति दाहपित्तास्रतृड्ज्वरान् ।।११।।

व्याख्या—सारिवा, खस, गम्भार, महुवा, श्वेत चन्दन, लालचन्दन, मुलेठी तथा फालसा । यह सारिवादि-गण—दाह, पित्तजरोग, रक्तजरोग, तृषा तथा ज्वर को नष्ट करता है ।।११।।

पद्मकादि गण—

पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगर्द्ध्यः शृङ्ग्यमृता दशजीवनसंज्ञाः।
स्तन्यकराघ्नन्तीरणपित्तं प्रीणनजीवनबृंहणवृष्याः।।१२।।

व्याख्या—पद्म काष्ठ, पुण्डेरिया, वृद्धि, वंशलोचन, ऋद्धि, काकड़ा सिंगी, गिलोय तथा जीवनीय गण के दस द्रव्य श्लोक ८) यह पद्मकादि गण—दूध बढ़ाता है, ओर वातपित्तज रोगों को नष्ट करता है और तृप्तकारक जीवनशक्तिवर्द्धक, बृंहण एवं वृष्य है ।।१२।।

परूषकादि गण—

परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात् फलम् ।
राजाह्वं दाडिमं शाकं तृण्मूत्राऽऽमयवातजित् ।१३।।

व्याख्या—फालसा, त्रिफला, दाख, कायफल के फल, निर्मली के बीज, खिरनी के फल, अनार तथा सागवान् के फल । यह गण—तृषा, मूत्रविकार तथा वातविकार को नष्ट करता है । १४।।

अञ्जनादि गण—

अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसाञ्जनम् ।
सैलामधुकनागाह्वं विषान्तर्दाहपित्तनुत् ।।१४।।

व्याख्या—काला सुरमा तथा श्वेत सुरमा, गोन्दनी, जटामांसी, कमल, श्वेत कमल, रसवत, इलायची बड़ी, मुलैठी तथा नाग केसर ।

यह गण—विषविकार, अन्तर्दाह तथा पित्त का शमन करता है ।।१४।।

पटोलादि गण—

पटोलकटुरोहिणीचन्दनं मधुस्रवगुडूचिपाठान्वितम्।
निहन्तिकफपित्तकुष्ठज्वरान् विषं वमिमरोचकंकामलाम्॥

व्याख्या—परवल; कुटकी, श्वेत चन्दन, मधुस्रव (मुरङ्गी-मीठा सहजन अथवा मूर्वा), गिलोय एवं पाठा यह गण—कफजरोग, पित्तज रोग, कुष्ठरोग, ज्वर, विषविकार, छर्दि, अरोचक तथा कामला को नष्ट करता है ॥१५॥

गुडूच्यादि गण—

गुडूचीपद्मकारिष्ट-धानकारक्तचन्दनम्।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दि-दाहतृष्णाघ्नमग्निकृत्। १६।

व्याख्या—गिलोय, पद्मकाष्ठ, निम्ब की छाल, धनिया तथा लाल चन्दन। यह गण—पित्तविकार, कफविकार, ज्वर, छर्दि, दाह तथा तृषा को नष्ट करता है और जठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

वक्तव्य—इसका क्वाथ शीतपूर्वक विषम ज्वर में रामवाण है ॥१६॥

आरग्वधादि गण—

आरग्वधेन्द्रयवपाटलि–काकतिक्ता–
निम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्म--
सप्तच्छदाग्निसुषवीफलवाणघोण्टाः ॥१७॥
आरग्वधादिर्जयतिच्छर्दिकुष्ठविषज्वरान्।
कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः॥१८॥

व्याख्या—अमलतास, इन्द्र जौ, पाढल, करञ्ज, निम्ब, गिलोय, मूर्वा, स्रुववृक्ष (विकंकत—फलाही) पाठा, चिरायता, कटसरैया, परवल, लता करञ्ज, करंज, (डिठोरी), सतवन, चित्ता, कलौञ्जी, मैनफल, सहचर तथा सुपारी। यह गण—छर्दि, कुष्ठ, विषविकार, ज्वर, कफविकार, कण्डू तथा प्रमेह को नष्ट करता है तथा दुष्ट व्रण का शोधन करता है ॥१७,१८॥

असनादि गण—

असनतिनिशभूर्ज-श्वेतवाहप्रकीर्याः
खदिरकदरभण्डी-शिंशपामेषश्टङ्ग्यः।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ
क्रमुकधवकलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः ॥१९॥
असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन्।
पाण्डुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिबर्हणः ॥२०॥

व्याख्या—विजयसार, तिनिश, (रथोपयोगी वृक्ष का सार), भोजपत्र, अर्जुन, डिठोरी, खैरसार, श्वेतसार खैर, सिरस, शीशम, मेढासिंगी, श्वेत चन्दन, लाल चन्दन; दारु हल्दी, ताड़, पलाश, अगुरु, शाक (सागवान्) शाल (राल वृक्ष), सुपारी, धव, इन्द्र जौ, अजकर्ण तथा अश्वकर्ण। यह गण—श्वित्र, कुष्ठ, कफविकार, कृमिरोग, पाण्डु रोग, प्रमेह तथा मेदोदोष (स्थौल्य) को नष्ट करता है ॥१९,२०॥

वरुणादि गण—

वरुणसैर्यकयुग्मशतावरी-दहनमोरटविल्वविषाणिकाः।
द्विबृहतीद्विकरञ्ज-जवाद्वयंबहलपल्लव-दर्भरुजाकराः २१।
वरुणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति।
आढ्यावातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तः सविद्रधिम् ॥२२॥

व्याख्या—वरुण वृक्ष (बरना), लाल फूल का कटसरैया, श्वेत फूल का कटसरैया, शतावर, चित्ता, मूर्वा, बिल, काकड़ासिंगी, कण्टकारी, वनभण्टा, करंज, पूतिकरंज, अरणी, हरड़, सहजन, दर्भ (डाभ-दाभ) तथा हिन्तालु (तालभेद) यह गण—कफविकार, मेदो विकार, मन्दाग्नि, ऊरुस्तम्भ, शिरःशूल, गुल्म तथा अन्तर्विद्रधि को नष्ट करता है ॥२१,२२।

ऊषकादि गण—

उषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम्।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्म-गुल्ममेदःकफापहम् ॥२३

व्याख्या—ऊषक (ऊसर भूमि या कल्लर भूमि की नमकीन मिट्टी अथवा उसका नमक), तूतिया (भुना हुआ), हींग, हरा कसीस, लाल कसीस, सैन्धव लवण तथा शिलाजीत। यह गण—मूत्र कृच्छ्र, अश्मरी, गुल्म, मेदोविकार तथा कफविकार को नष्ट करता है ॥२३॥

वीरतरादि गण—

वेल्लन्तराऽरणिक-बूक-वृषाऽश्मभेद-
गोकण्टकेत्कट-सहाचरबाणकाशाः।
वृक्षादनी-नल-कुशद्वयगुण्ठ-गुन्द्रा-
भल्लूकमोरट-कुरण्टक-रम्भपार्थाः ॥२४॥
वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान्।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः ॥२५॥

व्याख्या—वेल्लन्तर (वीरतरु—खस), अग्निमन्थ (अरणी), बूक (ईश्वर मल्लिका), अडूसा, पाषाणभेद, गोखरू, इत्कर (काश—कांही—किल्क जिसकी कलम बनाई जाती है), सहचर, बाण (नीले फूल का कटसरैया), काश, बन्दा, नलसर (नरकट- नड़ा), कुश तथा दाभ, गुण्ठ, (कुन्द्र गुण्ठक), पटेरक, सोनापाठा,

मोरट, खिलियारा, करम्भ (उत्तमारणी) तथा अर्जुन अथवा सुवर्चला)।

यह गण—वातजनित रोगों को तथा अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात की वेदना को नष्ट करता है ॥२४,२५॥

रोध्रादि गण—

रोध्र शाबरकरोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ताः।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः सैलवालुपरिपेलवमोचाः॥२६
एष रोध्रादिको नाम मेदःकफहरो गणः।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥२७॥

व्याख्या—लोध, पठानी लोध, पलाश, काला सेमल सरल (चीड़-चीहल या कैल), कायफल, रासना, कदम्ब, केला, अशोक, ऐलवालुक (सुगन्धि द्रव्य), मोथा तथा मोच (सल्लकी, सलई)। यह गण—मेदोदोष, कफदोष तथा योनि रोगों (योनिव्यापद्) को नष्ट करता है, स्तम्भन है, कान्तिकारक है तथा विषविकार नाशक है। २६,२७॥

अर्कादि गण—

अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या,
भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या
श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः ॥२८॥
अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥२९॥

व्याख्या—आक, श्वेत पुष्प का आक, नागदौन, कलिहारी, भारंगी, रासना, ऊण्ट कटारा, करंज, अपामार्ग, माल कांगुनी, डिठोरी, दोनों श्वेता (किणिही तथा इंगुदी । यह गण—कफ विकार, मेदोविकार तथा विषकटभी तथा विकार को नष्ट करता है, क्रिमि तथा कुष्ठ का शामक है और विशेषत व्रणशोधन है ॥२८,२९॥

सुरसादि गण—

सुरस-युग-फणिज्जं कालमाला विडङ्गं
खरबुस-वृषकर्णी-कट्फलं कासमर्दः।
क्षवक-सरसि-भार्ङ्गीकार्मुकाः काकमाची
कुलहल विषमुष्टीभूस्तृणो भूतकेशी ॥३०॥
'सुरसादिर्गणः' श्लेष्ममेदः क्रिमिनिषूदनः।
प्रतिश्यायारुचिश्वास-कासघ्नो व्रणशोधनः ॥३१॥

व्याख्या—श्वेत तुलसी, काली तुलसी, मरुवा, काल माला (कुठेरक तुलसी भेद), विडङ्ग, खरबुस (खरहरे पत्तोंवाली तुलसी), मूसाकर्णी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी तरुणि (-बन धनियाँ), भारंगी, कामुका (रक्तमंजरी), मकोय, मुण्डी, कुचिला, सुगन्धोतृण तथा जटामांसी । यह गण—कफ विकार, मेदोविकार, क्रिमिरोग, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास तथा कास को नष्ट करता है और व्रण का शोधन करता है ॥३०,३१॥

मुष्कादि गण—

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपि-पलाशधवशिंशिपाः।
गुल्ममेहाश्मरीपाण्डु-मेदोऽर्शःकफशुक्रजित् ॥३२॥

व्याख्या—मोखा (क्षारीय वृक्ष), सेहुण्ड, त्रिफला, चित्ता, पलाश, धव तथा शीशम । यह गण—गुल्म, प्रमेह, अश्मरी, पाण्डुरोग, मेदोरोग, अर्श, कफविकार तथा शुक्र दोष को नष्ट करता है ॥३२॥

वत्सकादि गण—

वत्सकमूर्वाभार्ङ्गीकटुका मरिचं घुणप्रिया च गण्डीरम्।
एला पाठाऽजाजी कट्वङ्गफलाजमोदसिद्धार्थवचाः॥३३॥
जीरकहिङ्गुविडङ्गं पशुगन्धा पञ्चकोलकं हन्ति।
चलकफमेदःपीनसगुल्मज्वरशूलदुर्नाम्नः ॥३४॥

व्याख्या—कुरैया, मूर्वा, भारंगी, कुटकी, मरिच, अतीस, सेहुण्ड, इलायची, पाठा, जीर, सोना पाठा, मैनफल, अजवायन, सरसों, बालवच, कालाजीरा, हींग, वाविडङ्ग, अजमोद, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता, तथा सोंठ । यह गण वात, कफ, मेदस्, पीनस, गुल्म, ज्वर, शूल, तथा अर्श को नष्ट करता है ॥३४॥

वचादि तथा हरिद्रादि गण—

वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाभयाः।
हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः ॥३५॥
वचाहरिद्रादिगणावामातीसारनाशनौ।
मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ ॥३६॥

व्याख्या—वचादिगण—बालवच, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस तथा हरड़।

हरिद्रादि गण—हल्दी, दारु हल्दी, मुलेठी, पृष्ठपर्णी तथा इन्द्र जौ।

ये दोनों गण—आमातिसार, मेदस् के रोग, कफरोग, ऊरुस्तम्भ तथा दुग्ध दोष को नष्ट करते हैं ॥३५,३६॥

प्रियंग्वादि तथा अम्बष्ठादि गण—

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्माः
पद्माद्रजो योजनवल्ल्यनन्ता।
मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा
पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः ॥३७॥

अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः ।
रोध्रं धातकिबिल्वपेशिके कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः ॥३८॥
गणौ 'प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी' पक्वातीसारनाशनौ ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ ॥३९॥

व्याख्या—प्रियङ्गु (गोन्दनी), पुष्प (जस्ता का फूल—जयपुरी सुफेदा जो सुफेदा का शगरी नाम से प्रसिद्ध है), काला सुरमा, श्वेत सुरमा, पद्मा (पद्मचारिणी), कमल का केशर, मञ्जीठ, जवासा, सेमल, मोचरस (सेमल का गोन्द), लजावन्ती, नागकेशर, श्वेत चन्दन तथा धाय के फूल। यह प्रियंग्वादि गण है और—

अम्बष्ठादि गण—अम्बष्ठा (पाठा—मोर शिखा), मुलेठी, लजावन्ती, पारस पीपल, पलाश, धमासा, लोध, धाय के फूल, बिलगिरी, सोनापाठा तथा कमल का केसर।

ये दोनों गण—पक्वातिसार नाशक हैं, टूटी अस्थि को जोड़ते हैं, पित्त विकारों में हित हैं और व्रणरोपण हैं।

वक्तव्य—प्रियंगुपुष्प (प्रियंगु के फूल) तथा अञ्जनयुग्म (काला एवं श्वेत सुरमा) अर्थ भी है ॥३८,३९॥

मुस्तादि गण—

मुस्तावचाग्नि-द्विनिशा द्वितिक्ता-
भल्लात-पाठा-त्रिफलाविषाख्याः ।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनि-
स्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥४०॥

व्याख्या—नागर मोथा, बालवच, चित्ता, हलदी, दारु हलदी, कुटकी, यवतिक्ता (कालमेघ), भिलावा, पाठा, त्रिफला, अतीस, कूठ, इलायची तथा श्वेत वच।

यह गण—योनिरोग (योनिव्यापद्) तथा दुग्ध-विकार को नष्ट करता है तथा मल का पाचन है ॥४०॥

न्यग्रोधादि गण—

न्यग्रोधपिप्पलसदाफल रोध्रयुग्मं
जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः ।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दी
कोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥४१॥
'न्यग्रोधादिर्गणो' व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः ।
मेदः पित्तास्रतृड्दाह-योनिरोगनिबर्हणः ॥४२॥

व्याख्या—बट, पीपल वृक्ष, गूलर, लोध, पठानी लोध, जामुन, कठ जामुन (जमोया), अर्जुन, आमड़ा, कायफल, पाकर (पिल्कन), आम, वेत, चिरोञ्जी का वृक्ष, पलाश, पारस पीपल, बेर, कदम्ब, तेन्दु, मुलेठी तथा महुवा।

यह न्यग्रोधादि गण—व्रण के लिये हित, ग्राही, टूटी अस्थि को जोड़नेवाला, मेदस्, पित्त, रक्त विकार, तृषा, दाह तथा योनिरोग का नाशक है ॥४१,४२॥

एलादि गण—

एलायुग्म तुरुष्ककुष्ठफलिनी-मांसीजलध्यामकं
स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगर-स्थौणेयजातीरसाः ।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरुः श्रीवासकः कुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयम् ॥४३॥
'एलादिको' वातकफौ विषं च विनियच्छति ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः ॥४४॥

व्याख्या—बड़ी इलायची, छोटी इलायची, लोबान (अथवा रूमी मस्तगी), कूठ, प्रियंगु, जटामांसी, नेत्रबाला, सुगन्धी तृण, असवर्ग, चोरक (ग्रन्थिपर्णी), दालचीनी, तेजपत्ता, तगर, थुनेर, बोल, सीप, नाखूना, देवदारु, अगरु, गन्धाविरोजा, केशर, चण्डा, गूगल, राल, कुन्दरू गोन्द, लाल नागकेसर तथा नागकेसर। यह एलादि गण—वातज रोग, कफज रोग तथा विषविकार को नष्ट करता है, कान्तिकारक है तथा कण्डू, पिडका एवं कोठ (शीतपित्त) को नष्ट करता है ॥४३,४४॥

श्यामादि गण—

श्यामा-दन्तीद्रवन्ती-क्रमुक-कुट-रणा-शङ्खिनी-चर्मसाह्वा-
स्वर्णक्षीरी-गवाक्षी-शिखरि-रजनक-च्छिन्नरोहा-करञ्जाः
बस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात् फलानि
'श्यामाद्यो'हन्ति गुल्मं विषमरुचिकफौ हृद्रुजंमूत्रकृच्छ्रम्

व्याख्या—काली निसोत, दन्ती, द्रवन्ती (जव्वो लोटा), सुपारी, सुफेद निसोत, यवतिक्ता (काल मेघ), सातला (अथवा ब्राह्मी), सत्यानाशी, इन्द्रायण, अपामार्ग, कबीला, गिलोय, करञ्ज, बस्तान्त्री (वृषगन्धा अथवा विधारा), अमलतास, बहल (विहल अथवा शिग्रु—सहजन), बहुरस (ईख) तथा पीलु।

यह श्यामादि गण—गुल्म, विषविकार, अरुचि, कफरोग, हृदयरोग तथा मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है ॥४५॥

गण द्रव्य ग्रहण का संकेत—

त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः ।
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम् ॥४६॥

व्याख्या—ये ३३ द्रव्यवर्ग अर्थात् गण कहे गये हैं इन गणों में यदि कोई द्रव्य न मिले तो उस द्रव्य के समान गुणवाला कोई अन्य द्रव्य मिलाया—लिया जा

सकता है और यदि कोई द्रव्य रोग एवं रोगी के अनुकूल न हो तो उसको निकाला भी जा सकता है।

वक्तव्य—श्री शार्ङ्गधराचार्य के शब्दों में—शा.प्र.ख. अ. १।

व्याधेः अयुक्तं यद् द्रव्यं गणोक्तं अपि तत् त्यजेत्।
अनुक्तमपि यद् युक्तं योजयेत् तत्र तद् बुधः।५४।

भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च० वि० अ० ८ का पाठ १५२—तेभ्यो भिषक् बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद् यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत् तत् अपकर्षयेत्, यद् यद् च अनुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत तत् तत् विदध्यात्, वर्गमपि वर्गेण उपसंसृजेत् एकं एकेन अनेकेन वा युक्ति प्रमाणीकृत्य अस्तु।'४६॥

गणों के प्रयोग की विधियां—

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य
कल्कक्वाथस्नेहलेहादियुक्ताः।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा
लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान्॥४७॥

व्याख्या—ये वर्ग अर्थात् गण—वातादि दोषों, रस रक्तादि दूष्यों तथा मूत्र पुरीषादि मलों का विचार करके—कल्क, क्वाथ, स्नेहविधान तथा अवलेह आदि के रूप में पीने, सूंघने तथा अनुवासन एवं निरूहण वस्ति आदि द्वारा अन्तः प्रयोग तथा लेप एवं अभ्यङ्ग द्वारा बाह्यप्रयोग से कष्टसाध्य रोगों को नष्ट करते हैं।

वक्तव्य–तात्पर्य यह है कि इन गण द्रव्यों का किसी भी रूप में प्रयोग करने से लाभ होता है। ये सब वर्ग सु० सू० अ० ३८ तथा ३९ से उद्धृत किये गये हैं और गद्य के पद्य बनाकर लिखे गये गये है, कुछ द्रव्यों की न्यूनाधिकता भी हो गई है सम्भव है श्री वाग्भट जी के पास जो प्रति थी उसमें ऐसा ही पाठ हो। औषध द्रव्यों के ग्रहण की विधि एवं उनके कल्क आदि बनाने की विधि कल्प अ० ६ में देखिये।

औषधियों को रखने का विधान श्री धन्वन्तरि के शब्दों में—

धूमवर्षाऽनिलक्लेदैः सर्वर्तुषु अनभिद्रुते।
आहयित्वा गृहे न्यस्येत् विधिना औषध संग्रहम्॥८१॥
सु० सू० अ० ३८

अर्थात्—औषधियों को विधिपूर्वक एकत्र कर ऐसे घर में रखना-धरना चाहिये जिसमें किसी भी ऋतु में-धूआं, वर्षा की बौछार, झोंके की वायु तथा क्लेद (सिलाव—सड़न) न हो।

और—सु० सू० अ० ३८ के अनुसार—

प्लोतं मृद्भाण्डः फलक शकु विन्यस्त भेषजम्।
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते॥१७॥

अर्थात्—उस औषधालय में औषधियों को—प्लोत (गठरी, बोरी, थैला, गूथली) में, मृद्भाण्ड (मिट्टी के घड़ों, चीनी के मर्तवान्—जार तथा काच के बोतल, टीन एवं लोह के कनस्तरो—पेटियों) में, फलक (फट्टों—टाण्डों, आलमारियों एवं तखतों) पर तथा शकु (कीलों, खुण्टियों एव विलंग तथा शिकहर) पर रखना चाहिये और औषधालय का भवन—नगर के पूर्व अथवा उत्तर में तथा प्रशस्त भूमि पर होना चाहिये'॥४७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

——

षोडशोऽध्यायः।

अथातः स्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब स्नेहन विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. सू० अ० १३ में, सु. चि अ. ३२ में और अ. सू. स अ. २५ में देखिये।

स्नेहन एवं रूक्षण का वर्णन—

'गुरु-शीत-सर-स्निग्ध-मन्द-सूक्ष्म-मृदु-द्रवम्।
औषधं स्नेहनं प्रायो, विपरीतं विरूक्षणम्॥१॥

व्याख्या—जो औषध (एवं आहार द्रव्य)—गुरु, शीत, सर, स्निग्ध मन्द, सूक्ष्म, मृदु एवं द्रव नामक गुणोंवाला होता है वह प्रायः "स्नेहन" होता है और जो इसके विपरीत होता है वह प्रायः "विरूक्षण" होता है॥१॥

वक्तव्य—जिस द्रव्य के सेवन से शरीर में स्नेह-स्निग्धता की वृद्धि होती है वह "स्नेहन" कहलाता है और जिस द्रव्य के सेवन से शरीर में रूक्षता की वृद्धि होती है वह विरूक्षण कहलाता है। च० स० अ० २२ में स्नेहन का लक्षण इस प्रकार है—

स्नेहनं स्नेह विष्यन्दमार्दव क्लेदकारकम्। तथा–
द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं मतम्॥१५॥
और—रूक्षं लघुसरं तीक्ष्णं उष्णं स्थिरं अपिच्छिलम्।
प्रायशः कठिनं चैव यत् द्रव्यं तत् हि रूक्षणम्॥१६॥

सु. चि. अ. ३२—स्नेहसारोऽयंपुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहो हि पानाऽनुवासन मस्तिष्क शिरोवस्ति उत्तर

वस्तिनस्य कर्ण पूरण गात्राभ्यङ्ग भोजनेषु उपयोज्यः ॥१॥

चार प्रकार के स्नेह द्रव्य—

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।
तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥२॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात् ।

व्याख्या—स्नेहन द्रव्यों में—घृत, मज्जा, वसा तथा तैल नामक चार द्रव्य प्रवर (सर्वश्रेष्ठ) माने जाते हैं। इनमें भी घृत उत्तम माना जाता है क्योंकि वह संस्कार के अनुकूल कार्य करता है, मधुर होता है, विदाहकारी नहीं होता और जन्मकाल से ही उसका सेवन किय जाता है।२।

वक्तव्य—इनमें घृत, मज्जा तथा वसा नामक स्नेह जंगम प्राणियों से प्राप्त होते हैं अतः "जंगम स्नेह" कहे जाते हैं और तैल नामक स्नेह तिल आदि स्थावरों से प्राप्त किये जाते हैं अतः स्थावर कहे जाते हैं।

घृत इसलिये उत्तम माना जाता है कि वह जिस प्रकार के द्रव्यों के संयोग से सिद्ध अर्थात् संस्कृत कर लिया जाता है उस प्रकार के कार्य करता है और वह मधुर होने के कारण जन्म से लेकर मरणपर्यन्त प्राणिमात्र के लिये सात्म्य होता है तथा रसादि धातुओं को प्रबल कोटि का बल(शक्ति) देता है (देखिये सू. अ. १०) । और वह शरीर में किसी प्रकार का विदाह उत्पन्न नहीं होने देता और जन्म से ही उसका सेवन प्रारम्भ कर दिया जाता है यथा—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में —

अथ जातस्य...घृताक्तं मूर्धनि पिचु दद्यात्...
अथ कुमारं...मधुसर्पिः...अंगुल्याऽनामिकया लेहयेत् ॥१३॥

अर्थात्—जन्मते ही शिशु के शिर पर घृत का पिचु रखना चाहिये और मधु एवं घृत मिलाकर अनामिका अंगुली से चटाना चाहिये। और सु० शा० अ० १० के श्लोक ६८—७० में शिशु की आयुः, मेधा, बल तथा बुद्धिको बढ़ाने के लिये सुवर्ण आदि के योग घृत एवं मधु में मिलाकर चटाने का विधान किया गया है ॥२॥

स्नेहों के मुख्य गुण—

पित्तघ्नास्ते यथा पूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम् ॥३॥
घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च ।

व्याख्या—वे स्नेह—पूर्व पूर्व पित्तशामक हैं और उत्तरोत्तर कफवात शामक होते हैं और घृत से तैल, तैल से वसा और वसा से मज्जा गुरु होते हैं ॥३॥

स्नेह योगों के पारिभाषिक नाम—

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान् ॥४॥

व्याख्या—उक्त गुरुत्व क्रमानुसार घृत एवं तैल नामक दो स्नेहों का नाम 'यमक' घृत तैल एवं वसा नामक तीन स्नेहों का नाम "त्रिवृत" तथा घृत, तैल, वसा एवं मज्जा नामक चार स्नेहों का नाम "महान्" है।

वक्तव्य—ये यमक, त्रिवृत एवं महान् शास्त्रीय संज्ञा हैं॥४॥

स्नेहन के योग्य एवं अयोग्य—

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकाः ।
वृद्धबालाबलकृशा रूक्षाः क्षीणास्त्ररेतसः ।५॥
वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधिनः ।
'स्नेह्याः' न त्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ॥६॥
ऊरुस्तम्भातिसाराऽऽम—गलरोगगरोदरैः ।
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्म-तृष्णामद्यैश्च पीडिताः ॥७॥
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने ।

व्याख्या—जो स्वेदन के योग्य हैं (देखिये अ० १७ के श्लोक २३—२५) जो संशोधन के योग्य हैं (देखिये अ० १८ में श्लोक २—३ और श्लोक ६—११), जो मद्यपान, मैथुन तथा व्यायाम में आसक्त हैं, जो चिन्तक हैं (विचारक या चिन्ताशील हैं),जो वृद्ध हैं, जो बालक हैं, कृश हैं, रूक्ष शरीर एवं कोष्ठ वाले हैं, जिनका रक्त अथवा शुक्र क्षीण हो चुका है, जो वायु से पीड़ित रहते हैं, अभिष्यन्द अथवा तिमिर रोग (नेत्ररोग देखिये) से पीड़ित हैं, जिनको नेत्र खोलने में अथवा जागने में (निद्रा खुलने में) कष्ट होता है वे सब स्नेहन के योग्य होते हैं।

और जो अत्यन्त मन्दाग्नि वाले हैं अथवा तीक्ष्णाग्नि वाले हैं और अत्यन्त स्थूल अथवा दुर्बल हैं जो ऊरुस्तम्भ, अतिसार, आमाजीर्ण, गलरोग, दूषीविष अथवा उदर रोग (या दूष्योदर रोग), मूर्च्छा, छर्दि, अरुचि, कफज-रोग, तृषा तथा मद्यपानजनित मदात्यय आदि रोग से पीड़ित हैं और गर्भस्राव अथवा गर्भपातवाली नारी और जिसको नस्य कर्म अथवा वस्ति कर्म (अनुवासन वस्ति) अथवा विरेचन कर्म तत्काल किया गया है वे सब स्नेहन के अयोग्य होते हैं अर्थात् उनको स्नेहन नहीं करना चाहिये ॥५॥

भिन्न २ स्नेहों के योग्य—

तत्र धीस्मृतिमेधादि-कांक्षिणां शस्यते घृतम् ॥८॥
ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्म—मेदोमारुतरोगिषु ।
तैलं लाघवदार्ढ्यार्थि-क्रूरकोष्ठेषु देहिषु ॥९॥
वातातपाध्वभारस्त्री व्यायामक्षीणधातुषु ।
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्नि- वातावृतपथेषु च ॥१०॥

शेषौ वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ।
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।।११।।

व्याख्या—घृत-बुद्धि, स्मृति (स्मरण शक्ति), मेधा (मस्तिष्क) एवं जठराग्नि की वृद्धि चाहने वालों के लिये घृत प्रशस्त है ।

तैल—ग्रन्थि रोग, नाड़ी व्रण, क्रिमिरोग, कफ विकार, मेदो रोग तथा वातरोग वालों के लिये और शरीर की लघुता तथा दृढता चाहनेवालों के लिये एवं क्रूर कोष्ठ वालों के लिये तैल प्रशस्त है ।

वसा एवं मज्जा—जिन के रसरक्तादि धातु वात-वृद्धि से, मार्ग गमन से, धूप में रहने से, भार वहन से, मैथुन से अथवा व्यायाम से क्षीण हो गये हों, जो रूक्ष हों, कष्ट सह रहे हों या कष्ट सहने में समर्थ हों, जिन की जठराग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो अथवा जिन के स्रोतस् वायु से आवृत हों (वायु के स्रोतस् कफ आदि से आवृत हों) उन के लिये वसा एवं मज्जा प्रशस्त हैं ।

वसा—जिन की सन्धियों, अस्थियों, मर्मों अथवा उदर में वेदना हो, जो अग्नि द्वारा दग्ध हों, आघात से आहत हों, जिन की योनि (गर्भाशय) खिसक गई हो (योनिभ्रंश हो गया हो) और जिनके कर्ण एवं शिर में वेदना हो उन के लिये केवल वसा प्रशस्त है ।।८-११।।

ऋतु एवं काल भेद से स्नेह सेवन—

तैलं प्रावृषि, वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे ।
ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽह्नि विमले रवौ ।।१२।।
तैलं त्वरायां शीतेऽपि घर्मेऽपि च घृतं निशि ।
निश्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि ।।१३।।
निश्यन्यथा वातकफाद्रोगाः स्युः पित्ततो दिवा ।

व्याख्या—प्रावृट् ऋतु में तैल का, शरद् ऋतु में घृत का, वसन्त ऋतु में वसा एवं मज्जा का सेवन करना चाहिये ।

और साधारण (सम शीत-उष्ण-वर्षा वाले) ऋतुओं में दिन में जब सूर्य निर्मल हो अर्थात् मेघ अथवा धुन्ध से ढंका न हो तब स्नेह का सेवन करे (रात्रि में नहीं) ।

और शीतकाल में भी यदि पान की तत्काल आवश्यकता हो तो तैल का सेवन करे और उष्णकाल में तत्काल स्नेह की आवश्यकता हो तो रात्रि में घृत का सेवन करे ।

और पित्त की अथवा वायु की प्रधानता में तथा पित्तवात तथा पित्तकफ की प्रधानता में भी यदि तत्काल स्नेह की आवश्यकता हो तो रात्रि में घृत का सेवन करे ।

इस के विपरीत शीत काल में रात्रि में घृत का सेवन करने से वात कफ जनित रोग हो सकते हैं और उष्ण काल में दिन में तैल का सेवन करने से पित्त जनित रोग हो सकते हैं ।

वक्तव्य—यथा सत्वं तु शीतोष्णे वसामज्जोस्तु निर्दिशेत् । अर्थात्—रोगी की प्रकृति का विचार करके शीत काल में अथवा उष्ण काल में वसा अथवा मज्जा का प्रयोग किया जा सकता है ।। १२,१३ ।।

स्नेह सेवन के प्रकार—

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन वस्तिभिः ।।१४।
नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः ।
रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः ।।१५।।
स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः ।
यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेयो विचारणा ।।१६।।
स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात् ।

व्याख्या—स्नेह का सेवन युक्ति से किया जाना चाहिये यथा—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य अथवा पेय आहार के साथ या उसमें मिलाकर तथा नस्य के रूप में, अभ्यङ्ग के रूप में, गण्डूष के रूप में, शिरोवस्ति के रूप में, कर्ण पूरण के रूप में तथा अक्षितर्पण के रूप में स्नेहों का सेवन करे ।

इन प्रकारों से स्नेहकी विचारणा ६४ प्रकार की मानी जाती है यथा—मधुर आदि ६ रसों के जो ६३ भेद सू० अ० १० के श्लो० ४२-४३ में बतलाए गये हैं उन एक एक रस भेद के साथ स्नेह का मिश्रण करके खाने में ६३ विचारणा और नस्य एवं अभ्यङ्ग आदि के रूप में सेवन करने में एक विचारणा मानी जाती है । इस प्रकार ६३ और १ = ६४ प्रकार की विचारणा होती है ।

परन्तु उक्त प्रकारों के अभाव में अच्छपेय (केवल स्नेह का पान) विचारणा नहीं माना जाता तथापि स्नेह-पान का यह कल्प (अच्छपान) श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि इससे स्नेह कर्म की सिद्धि शीघ्र हो जाती है (स्नेहन शीघ्र हो जाता है ।)

वक्तव्य—च० सू० अ० १३ में विचारणा २४ प्रकार की मानी गई है और अच्छपेय (अच्छपान) को विचारणा नहीं माना है । चारणा (विचारणा या प्रविचारणा) शब्द का अर्थ श्री चक्रपाणि ने इस प्रकार किया है—प्रविचार्यते-अव-चार्यते अनुकल्पेन उपयुज्यते अनया इति प्रविचारणा—ओदनादयः—

अर्थात्—ओदन (भात) एवं विलेपी आदि भिन्न प्रकार की आहार-कल्पनाओं में स्नेह को मिलाकर चारना (खिलाना) एवं वस्तियों द्वारा तथा नस्यकर्म आदि द्वारा

स्नेह को शरीर में प्रविष्ट करना प्रविचारणा (प्रकृष्ट एवं विविध प्रकार से चारणा चारना)कहलाता है और इसप्रकार की कल्पना न करने के कारण "अच्छपेय" चारणा नहीं कहलाता क्योंकि उसके सेवन में प्र० वि० प्रकार की चारणा नहीं होती और क्योंकि इसमें प्रविचारणा के बिना ही केवल-अकेला स्नेह पी लिया जाता है और अत एव उदर में जाकर अकेला ही पचता है फलतः शीघ्र ही स्नेह कर देता है अतः श्रेष्ठ माना जाता है । तात्पर्य यह है कि दाल भात आदि में खाया गया स्नेह अधिकांश पुरीष के साथ निकल जाता है और अकेला पिया गया सब पच जाता है बस यही इस सारी कथा का निष्कर्ष है ।।१४-१६।।

स्नेह पाक काल के अनुसार मात्रा—

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति याः क्रमात् ।।१७।।
ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च ह्रसीयसीम् ।
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु ह्रसीयसीम् ।।१८।।

व्याख्या—स्नेह की जो मात्रा—दो प्रहर में पचती है वह "ह्रस्वा मात्रा" जो चार प्रहर में पचती है वह "मध्या या मध्यमा मात्रा" और जो आठ प्रहर में पचती है वह "उत्तमा मात्रा" कही जाती है ।

परन्तु दोष एवं देश काल आदि का विचार करके उन तीनों मात्राओं से भी अत्यन्त ह्रस्वा (छोटी—थोड़ी) मात्रा का प्रयोग करना चाहिये और सर्वप्रथम तो इस छोटी से भी छोटी मात्रा का प्रयोग होना चाहिये ।

वक्तव्य—अ० स० सू० अ० २५—के अनुसार कारण यह है कि—

अज्ञातकोष्ठे हि बहुः कुर्यात् जीवितसंशयम् । और—
ह्रस्वा पेया सुखा सा हि परिहारेऽनुवर्तते ।
चिरात् च बल्या, न रुजे व्यापन्नाऽपि प्रकल्प्यते ।

अर्थात्—अज्ञात कोष्ठ में दी गई स्नेह की अधिक मात्रा हानि कर सकती है अतः ह्रस्वा मात्रा सुख दायक होती है और परिहार में भी अनुकूल रहती है । भले ही चिर से बल देती है—लाभ करती है परन्तु व्यापन्न होने पर भी किसी रोग का हेतु नहीं बनती । इसलिए प्रथम छोटी से छोटी मात्रा देना उचित है ।। १७, १८ ।।

शोधनार्थं एवं शमनार्थं स्नेह मात्रा—

ह्रस्तने जीर्णं एवान्ने स्नेहोऽच्छः शुद्धये बहुः ।
शमनः क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते ।।१९।।

व्याख्या—शुद्धि के लिये (शोधन के लिये) अच्छ स्नेह की उत्तम मात्रा का सेवन कल का भोजन पच जाने पर करना चाहिये ।

और शमन के लिये स्नेह की मध्यमा मात्रा का सेवन भूख लगने पर किन्तु भोजन किये बिना करना चाहिये ।

वक्तव्य—शुद्धि (विरेचन एवं वमन) के लिये उत्तम मात्रा का विधान इसलिये है कि तत्काल शोधन हो जाय जैसे एरण्ड तैल की उत्तम मात्रा से विरेचन और तुवरक तैल की उत्तम मात्रा से वमन तत्काल हो जाता है और शमन स्नेह का विधान भोजन किये बिना इसलिये है कि वह अकेला सब का सब और शीघ्र पच जाय। चरक में उत्तमा मात्राको "दोषानुकर्षणी" कहा है (च. सू. १३ श्लो० ३४ देखिये) ।।१९।।

बृंहणार्थ स्नेहपान—

बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पहितः स च ।
बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु ।।२०।।
स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्नि-सुखितक्लेशभीरुषु ।
मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च ।।२१।

व्याख्या—और बृंहण (पुष्टि) के लिये—स्नेह की अल्पमात्रा का मांस रस में मिला कर और मद्य के अनुपान से सेवन करे ।

और यह (मात्रा) स्नेह—बाल, वृद्ध तृषा से पीडित, स्नेह से द्वेष करने वाले; मद्य का सेवन करने वाले मैथुन शील, प्रति दिन भोजन में स्नेह का सेवन करने वाले, मन्दाग्नि वाले, सुखी, क्लेश (परिश्रम आदि कष्ट) से डरने वाले, मृदुकोष्ठ वाले, अल्प दोष वाले तथा कृश के लिये और उष्ण काल में सब के लिये हित होता है ।

वक्तव्य—यह वह स्नेह है जो प्रतिदिन दाल, शाक भात एवं रोटी आदि के साथ खाया जाता है और क्योंकि वह पुष्टि कारक होता है अतः "बृंहण" कहलाता है और शमन स्नेह दोषोंको शान्त और शोधन स्नेह दोषों को निकालता है । इस प्रकार विधि भेद से स्नेह तीन प्रकार का होता है ।।२०,२१।।

स्नेह का प्रभाव—

प्राङ्मध्योत्तरभक्तोऽसावधोमध्योर्ध्वदेहजान् ।
व्याधीञ्जयेद्बलं कुर्यादङ्गानां च यथाक्रमम् ।।२२।।

व्याख्या—यह बृंहण स्नेह (अथवा शोधन एवं शमन स्नेह भी) भोजन के पूर्व पीने खाने से शरीर के अधोभाग की व्याधियों को, मध्य में पीने खाने से मध्य भाग की व्याधियों को और उत्तर में (पीछे) पीने खाने से ऊर्ध्व भाग की व्याधियों को नष्ट करता है और उन्हीं-उन्हीं भागों (अङ्गों) में बल देता है (विशेष रूप से बल देता है) ।।२२।।

स्नेहों के अनुपान—

वार्युष्णमच्छेऽनु पिबेत् स्नेहे तत्सुखपक्तये ।
आस्योपलेपशुद्ध्यर्थं च, तौवरारुष्करे न तु ॥२३॥
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत् ।
तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात्ततश्च लघुता रुचिः ॥२४॥

व्याख्या—अच्छ स्नेह का अनुपान उष्ण जल होना चाहिये इससे वह सुखपूर्वक पच जाता है और मुख के उपदेह (चिपचिपाहट) की शुद्धि भी हो जाती है ।

परन्तु—तुवरक (चालमोगरा) तथा भिलावा का स्नेह पीने पर उष्ण जल नहीं पीना चाहिये (अपितु शीतल जल पीना चाहिये) ।

और उक्त दोनों स्नेहों के अतिरिक्त सभी स्नेहों के पान में—जीर्ण (पचने) एवं अजीर्ण (न पचने) का सन्देह होने पर बार २ उष्ण जल पीना चाहिये इससे वह पच जाता है फलतः—उद्गार की शुद्धि, शरीर में लघुता तथा भोजन में रुचि होती है ।

वक्तव्य—विरेचनार्थ एरण्ड तैल का अनुपान भी उष्ण जल अथवा उष्ण दूध ही होना चाहिये और विचारणा के रूप में मालपूआ, गुलगुला, कचौरी एवं लड्डू आदि में जो स्नेह खाया जाता है उसके पश्चात् जो तृषा लगती है उस समय भी शीत जल ही पीना चाहिये ॥२३,२४॥

स्नेहपान में आहार—

भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि ।
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम् ॥२५॥

व्याख्या—जब आगामी दिवस में स्नेह पान करना हो तब अर्थात् स्नेह पान के एक दिन पूर्व, जिस दिन स्नेह पिया जाय उस दिन और एक दिन पश्चात् अर्थात् स्नेहपान के अगले दिन, मात्रा पूर्वक (उचित मात्रा में), थोड़ा, द्रव, उष्ण तथा जो अभिष्यन्दी न हो, अत्यधिक स्नेह युक्त न हो और जो संकीर्ण (अनेक भाँति का) न हो भोजन करना चाहिये ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि—स्नेहपान के एक दिन पूर्व, स्नेह पान के दिन और अगले दिन उक्त प्रकार का पथ्य करना चाहिये । यह विधान उस स्नेह के लिये है जो एक दिन या एक बार पिया जाता है जैसे विरेचनार्थ एरण्ड तैल । वैसे तो जितने दिन स्नेहपान किया जाय उतने दिन इसी प्रकार का आहार करना चाहिये और एक दिन पूर्व तथा एक दो चार दिन पश्चात् भी इसी प्रकार का आहार करना चाहिये ॥२५॥

स्नेहपान में विहार—

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।
न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ॥२६॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यासनसंस्थितीः ।
नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च ॥२७॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ।
सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः ॥२८॥

व्याख्या—स्नेहपान जितने दिन किया जाय उतने दिनों में और उतने ही अगले दिनों में—स्नान-पान एवं कुल्ला आदि करने में उष्ण जल का प्रयोग हो, ब्रह्मचर्य का पालन हो (मैथुन से बचाव हो), केवल रात्रि में सोया जाय (दिन में न सोया जाय), पुरीष मूत्र आदि के वेगों को न रोका जाय और—व्यायाम, क्रोध, शोक, शीत, घाम, झोंके की वायु, घोड़ा एवं तांगा आदि द्वारा यात्रा, मार्ग चलना, बहुत बोलना, बहुत बैठना, बहुत खड़ा रहना (जैसे ड्यूटी पर सिपाही) और नीचा तथा अत्यन्त ऊँचा सिरहाना, दिन में सोना, धूआँ तथा धूलि में रहना—सांस लेना सर्वथा त्याग दिया जाय । उक्त प्रकार के आहार (श्लोक २५ देखिये) तथा इस प्रकार के विहार केवल स्नेह पान में ही नहीं अपितु स्वेदन विधि में, वमन और विरेचन आदि सभी कर्मों में तथा रोग द्वारा क्षीणों (कृशों एवं दुर्बलों) में भी प्रायः उपयोगी होते हैं ॥२६-२८॥

शमन स्नेहपान में उपचार—

उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत् ।

व्याख्या—शमन स्नेह सेवन में—विरिक्त के समान उपचार करे ।

वक्तव्य—विरिक्त का उपचार देखिये - अ० १८ के श्लोक २८.२६- । उपचार शब्द का अर्थ है आहार एव विहार ।

स्नेहस्य पानात् पूर्वं तु दातव्यं मृदु भेषजम् ।
उत्तेजनं हुताशस्य कोष्ठलाघवकारि च । अ० स० अ० २५ ।

अर्थात्—स्नेह पान के पूर्व—मृदु, अग्निदीपक तथा उदर में लघुता करने वाली किसी औषध का (एवं आहार का) सेवन अवश्य होना चाहिये ।

स्नेहपान की अवधि—

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत् ॥२९॥
सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्मीभवेत्परम् ।

व्याख्या—अच्छ स्नेह—मृदु कोष्ठ रहने पर तीन दिन पीना चाहिये और क्रूर कोष्ठ रहने पर सात दिन पीना चाहिये । अथवा—जब तक कोष्ठ सम्यक् स्निग्ध हो जाय तब पीना चाहिये और उसके पश्चात स्नेह सात्म्य हो

जाता है।

वक्तव्य—सात्म्य अर्थात् अभ्यस्त हो जाता है फलतः—शोधनोपयोगी स्नेहन नहीं करता अथवा अतिस्निग्ध के विकारों को उत्पन्न करता है ॥२९॥

सम्यक् स्निग्ध आदि के लक्षण—

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ॥३०॥
स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक्स्निग्धे, रूक्षे विपर्ययः।
अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः ॥३१॥

व्याख्या—सम्यक् स्निग्ध के लक्षण—वायु की अनुलोमता, अग्नि की प्रदीप्ति, पुरीष की स्निग्धता तथा असंहतता (ग्रन्थि रहित होना), स्नेहपान में अरुचि (घृणा) तथा मन में क्लम।

रूक्ष रहने पर या सम्यक् स्नेहन न होने पर—सम्यक् स्निग्ध के विपरीत लक्षण होते हैं।

अति स्निग्ध के लक्षण—शरीर में पांडुता और नाक से सींढ का, मुख से लाला का तथा गुद से स्नेह का या स्नेह मिश्रित पतले मल का स्राव ॥३०, ३१॥

मिथ्या स्निग्ध के लक्षण—

अमात्रयाऽहितो काले मिथ्याहारविहारतः।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रास्तम्भविसंज्ञताः ॥३२॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहभ्रमादिकान्।

व्याख्या—मात्रा का विचार किये विना, प्रतिषिद्ध स्नेह का, अकाल में (काल का विचार किये विना तथा मिथ्या आहार-विहार करने पर—स्नेह—शोथ, अर्श, हृदय में स्तम्भ, संज्ञा नाश, कण्डू, कुष्ठ, ज्वर, मिचली, शूल, आनाह एवं भ्रम आदि विकारों को उत्पन्न करता है या कर सकता है।

वक्तव्य—यह सब मिथ्या स्नेहन के निदान एवं लक्षण हैं। इस मिथ्या स्नेहन को ही स्नेह व्यापद् कहते हैं ॥३२॥

स्नेह व्यापद् में उपचार—

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ॥३३॥
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवम्।
पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलुः ॥३४॥
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम्।

व्याख्या—भूखे रहना, प्यासे रहना, उल्लेखन (वमन एवं मरिच आदि लेखन द्रव्यों का सेवन), स्वेदन, रूक्ष पान, रूक्ष भोजन तथा रूक्ष औषधों का सेवन, तक्र एवं अरिष्टों का पान, खल (तिल अथवा सरसों आदि की खली), यव कोदों, सामा तथा कोदों का सेवन और पीपल, त्रिफला, मधु, हरड़, सेवन। इन सबका सेवन शोथ एवं अर्श आदि (श्लो० ३२) स्नेह व्यापद् में रोगानुसार करना चाहिये। यह स्नेह व्यापद की चिकित्सा है।

वक्तव्य—यह सब उपचार विरूक्षण हैं अर्थात् रौक्ष्योत्पादक हैं ॥३३,३४॥

विरूक्षण का संकेत—

विरूक्षणे लङ्घनवत्कृतातिकृतलक्षणम् ॥३५॥

व्याख्या—उक्त उपचारों द्वारा विरूक्षण होने पर लंघन के सम्यग् योग तथा अतियोग के समान लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—लंघन के सम्यग् योग का लक्षण देखिये अ० १४ का श्लो० १७ और अतियोग का लक्षण देखिये अ० १४ के श्लोक २९–३०। इस पाठ की व्याख्या अगले स्निग्ध द्रवोष्ण'''माचरेत् पाठ को मिला कर करना उचित प्रतीत होता है अर्थात्-विरूक्षण होने पर स्नेह युक्त, द्रव, उष्ण आहार एवं मृग आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस रस का सेवन करता हुआ स्वेदन करे। तथापि इसकी व्याख्या स० सु० एवं आयुर्वेद रसायन नामक टीकाओं के अनुसार कर दी गई है ॥३५॥

स्नेहन के पश्चात् स्वेदन आदि

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत्।
स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं, वमनं पुनः ॥३६॥
एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः।

व्याख्या—सम्यक् स्नेहन होने पर तत्काल स्वेदन करे और स्वेदन करते समय (स्वेदन के दिनों में) स्नेह युक्त, द्रव एवं उष्ण आहार का सेवन अथवा मृग आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस रस का सेवन करे।

स्नेहन के पश्चात् तीन दिन रुक कर विरेचन करना चाहिये। परन्तु यदि वमन करना आवश्यक हो तो—एक दिन रुक कर, अगले दिन कफ कारक पेया आदि द्वारा कफ का उत्क्लेशन करके वमन करे।

वक्तव्य—इसके आगे अ० सं० में पाठ है यथा—

तिलमाष दधि क्षीर गुड मत्स्य रसादिभिः

अर्थात् तिल, उरद, दही, दूध, गुड़ अथवा मछली के मांस रस आदि कफ कारक पदार्थों का सेवन करके कफ का उत्क्लेश करे और वमन कर देवे ॥३६॥

स्नेहन के पूर्व रूक्षण

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः ॥३७॥

स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत्ततः ।
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते ॥३८॥

व्याख्या—जो मानव-मांसल (मांस सार या अधिक मांस वाले मोटे-ताजे) हों जो मेदस्वी (स्थौल्य युक्त) हों, जो अधिक कफ वाले हों, जिनकी जठराग्नि विषम हो और जिनको स्नेह सात्म्य हो (प्रतिदिन अधिक स्नेह का सेवन करने वाले हों) उनको जब संशोधन के विचार से स्नेहन करना हो तब उन को प्रथम रूक्षण करे और रूक्षण होने के पश्चात्-सम्यक् स्नेहन करके शोधन (वमन अथवा विरेचन) करे इस प्रकार स्नेह व्यापद् नहीं होती ॥३७,३८॥

असात्म्य स्नेह का वर्णन—

अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः ।

व्याख्या—वस्तुतः असात्म्य स्नेहन ही मलों का प्रेरण करनेमें समर्थ होता है (सात्म्य हो जाने पर नहीं) ।

वक्तव्य—मृदु कोष्ठ में तीन दिन और क्रूर कोष्ठ में सात दिन स्नेह पान करना चाहिये इसके पश्चात् वह सात्म्य हो जाता है (देखिये श्लोक २९) और सात्म्य हो जाने पर शोधनोपयोगी नहीं रह जाता अतः शोधन के पूर्व उतना स्नेह करने का विधान है जिससे वातादि दोषों तथा पुरीपादि मलो का प्रेरण हो जाय और शोधन की औषध से सुख पूर्वक उनका निःसरण हो जाय । और कभी कभी असात्म्य स्नेह से ही वमन विरेचन हो जाते हैं ऐसा देखा गया है ।

सद्यः स्नेहन योग—

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु ॥३९॥
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत् ।
प्राज्यमांसरसास्तेषु, पेया वा स्नेहभर्जिता ॥४०॥
तिलचूर्णश्च सस्नेहफाणितः, कृशरा तथा ।
क्षीरपेया घृताढ्योष्णा, दध्नो वा सगुडः सरः ॥४१॥
पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः ।
सप्तैते स्नेहनाः सद्यः, स्नेहाश्च लवणोल्बणाः ॥४२॥
तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ।

व्याख्या—बाल, वृद्ध एवं सुकुमार आदि जो स्नेह विधि के परिहार को सहन न कर सकें उनको इन निम्नलिखित योगों का प्रयोग करे सेवन करावे क्यों कि ये योग तत्काल स्नेहन भी करते हैं और उनम अरुचि भी नहीं होती यथा १—अधिक घृत युक्त मांस रस, २—अधिक घृत से छौंकी हुई पेया-३—स्नेह एवं राब (शीरा युक्त खण्ड) से युक्त तिल कल्क (तिलकुट—कुल्लर तीलों का भुग्गा), ४—खिचडी, ५—घृत मिश्रित उष्ण उष्ण खीर, ६—गुड मिश्रित दही को मलाई, ७—घृत, तैल, वसा एवं मज्जा मज्जा दो पल और चावल दो पल मिलाकर पकाई गई पेया । ये सात योग तत्काल स्नेहन करते हैं और अथवा ८—पर्याप्त लवण मिला कर घृत आदि स्नेहों का पान करने से तत्काल स्नेहन हो जाता है क्यों कि—लवण अभिष्यन्दी है, रूक्ष भी नहीं है अर्थात् स्निग्ध भी है, सूक्ष्म है, उष्ण है तथा व्यवायी है ॥४४॥

वक्तव्य—यदि स्नेह पान का अवसर न हो तो उक्त योगों में से किसी सुलभ योग सेवन करके शोधन किया जा सकता है विशेषता यह है कि इन रोगों के सेवन से स्वेदन भी हो जाता है अतः पृथक् स्वेदन की आवश्यकता नहीं पड़ती । उक्त योगों का सेवन पर्याप्त घृत आदि स्नेह डालना चाहिये । इस प्रकार के स्नेहन से अरुचि भी नहीं होती और स्नेहन भी भली भान्ति हो जाता है ॥३९-४२॥

सद्यः स्नेहन योगों का निषेध—

गुणानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ॥४३॥
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेद् ।

व्याख्या—इसी प्रकार गुड़, अनूप देशीय प्राणियों का मांस, दूध (विशेषतः धारोष्ण दूध) तिल, उरद के पदार्थ, सुरा तथा दही भी सद्यः स्नेहन हैं परन्तु उनका सेवन—कुष्ठ, शोथ तथा प्रमेह रोग में स्नेहनार्थ नहीं करना चाहिये ॥४५॥

कुष्ठादि के योग्य स्नेह—

त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ॥४४॥
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ।

व्याख्या—कुष्ठ, शोथ तथा प्रमेह रोगों में-स्नेहन के लिये-त्रिफला, पीपल, हरड़ तथा गुग्गुलु आदि के संयोग से सिद्ध (परिपक्व) स्नेहों का प्रयोग करे क्यों कि ये स्नेह उक्त रोगों में विकारकारी (हानि कारक) नहीं होते ॥४४॥

क्षीणों के योग्य स्नेहन

क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् ॥४५॥

व्याख्या—और ज्वर आदि रोगों द्वारा क्षीणों (कृशों एवं दुर्बलों) को स्नेहनार्थ उन स्नेहों का प्रयोग करें जो स्नेह जठराग्नि को प्रदीप्त करने में तथा शरीर को पुष्ट एव सबल करने में समर्थ हों ।

वक्तव्य—यथा—जीर्ण ज्वर में अथवा "ज्वरान्ते च

विरेचनम्'' के अनुसार ज्वर के अन्त में विरेचन देने के पूर्व स्नेहनार्थ पिप्पल्यादि घृत आदि के प्रयोग से अग्नि प्रदीप्त तथा शरीर कुछ पुष्ट एवं सबल हो जाने पर विरेचन कर देना चाहिये क्यों कि कृशता एवं दुर्बलता में विरेचन करने से अनेक प्रकार की हानि, कृशता एवं दुर्बलता की वृद्धि अथवा प्राण संकट का भय हो सकता है ।।४५।।

स्नेह सेवन से लाभ—

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः,प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः

व्याख्या—स्नेहों का सेवन करने से जठराग्नि प्रदीप्त बनी रहती है, कोष्ठ (मध्य काय) के सभी अवयव शुद्ध रहते हैं, रस रक्त आदि धातु नवीन बने रहते हैं अर्थात् उनका जितना व्यय-क्षय होता है उतनी पूर्ति होती रहती है फलतः प्राणी बल एवं कान्ति से युक्त बना रहता है। इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहती हैं, बुढ़ापा शीघ्र नहीं आता एवं थोड़ा आता है और मानव १०० वर्ष की आयु भोगता है ।।४८।

वक्तव्य—ये सब लाभ उस स्नेह में हैं जो प्रति दिन दाल, भात, रोटी, शाक, हलुवा, पूड़ी एवं लड्डू आदि में खाया जाता है और अभ्यङ्ग आदि में प्रयुक्त होता है।

और जो वमन विरेचन के पूर्व केवल स्नेहन के लिये स्नेह पान किया जाता है उसका लाभ है शरीर भर के विशेषतः उदर के विकारकारी भावों (दोषो एवं मलों) को स्निग्ध करके सुख पूर्वक निकलने योग्य बना देना और वमन विरेचन से उत्पन्न होने वाली दुर्बलता से बचाना बस यही स्नेह सेवन का रहस्य है।

यह भी स्मरणीय है कि यदि कोई दरिद्र अपने आहार में प्रत्यक्ष किसी स्नेहन का सेवन नहीं कर पाता तो उसके शरीर में स्वभावतः स्नेह का आवश्यक उत्पादन होता रहता है जिससे उसका स्वास्थ्य बना रहता है और वह भी स्नेहोपसेवीके समान उक्त सद्गुणों का उपभोग करता देखा जाता है। इस विषय में श्री शार्ङ्गधराचार्य का कथन है कि—शा. सं. प्र. खं. अ. ६

याति आमाशयम् आहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः ॥१॥
वह्नेः बलेन माधुर्यं स्निग्धतां याति तद् रसः ।
पुष्णाति धातून् अखिलान् सम्यक्पक्वोऽमृतोपमः ॥७॥

भावार्थ—आहार का रस भली भांति पक्व होकर स्वभावतः मधुर एवं स्निग्ध हो जाता है और फलतः समस्त धातुओं का पोषण करता है। मानव की ही नहीं पशु आदि प्राणियों की भी यही कथा है अर्थात् उनके आहार का पाक भी इसी प्रकार होता है ।।४६।।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

सप्तदशोऽध्यायः।

अथातः स्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब स्वेदविधि की व्याख्या करेगें इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—स्वेदविधि का वर्णन—च० सू० अ० १४ में, सु० चि० अ० ३२ में और अ० सं० सू० अ० २६ में देखिये।

भगवान् पुनर्वसु ने च० सू० अ० १४ में १३ प्रकार से स्वेदन का उपदेश दिया है परन्तु वे सब प्रकार निम्नलिखित ४ प्रकार के स्वेदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। संक्षेपतः जिस किसी भी उपचार से शरीर भर का अथवा किसी एक अङ्ग का स्वेद (पसीना) निकाला जाता है उसका नाम स्वेद विधि या स्वेदन है।

स्वेद के चार भेद तथा ताप स्वेद का वर्णन—

स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः ।
'तापो'ऽग्नितप्त-वसन-फालहस्ततलादिभिः ॥१॥

व्याख्या—स्वेद चार प्रकार का है १—ताप स्वेद, २—उपनाह स्वेद, ३—ऊष्म स्वेद तथा ४—द्रव स्वेद।

इनमें ताप स्वेद वह है जो अग्नि द्वारा तपाए गये वस्त्र, फाल तथा हस्ततल (हथेली) आदि से किया जाता है।

वक्तव्य—यहाँ वसन शब्द से सब प्रकार के वस्त्रों का तथा फाल शब्द से केवल कपास की रूई के वस्त्र आदि का ग्रहण है। ताप स्वेद का स्पष्ट वर्णन भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में इस प्रकार है—सु० चि० अ० ३२—

तत्र तापस्वेदः—पाणि (हाथ के तल) कांस्य (कांसा आदि धातु के पात्र), कन्दुक (तकिया-गेन्द-गण्डूसा) कपाल (मिट्टी के पात्रों के टुकड़े-ठीकरे, ईंट आदि) बालुका (बालु या उसकी पोटली) वस्त्रैः (दुलाई—कम्बल आदि से) प्रयुज्यते (प्रयोग किया जाता है), शयानस्य च अङ्गतापो बहुशः खदिराऽङ्गारादिभिः। ४। संक्षेपतः अग्नि तापना आदि सूखे स्वेदन का नाम "ताप स्वेद" है। तापेन

स्वेदः = ताप स्वेदः ॥१॥

उपनाह स्वेद का वर्णन—

'उपनाहो' वचाकिण्वशताह्वादेवदारुभिः ।
धान्यैः समस्तैर्गन्धैश्च रास्नैरण्डजटामिषैः ॥२॥
उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैः ।
केवले पवने, श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ॥३॥
पित्तेन पद्मकाद्यैस्तु साल्वणाख्यैः पुनः पुनः ।
स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः ॥४॥
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाविकशाटकैः ।
रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ॥५॥

व्याख्या—उपनाह स्वेद वह है जो—बाल वच, किण्व (काञ्जी अथवा सुरा सन्धान के नीचे बैठे द्रव्य), सौंफ, सोया, देवदारु का बुरादा या गोन्द, जौ एवं गेहूँ आदि सब प्रकार के धान्य, नालुका एवं लवंग आदि सब गन्ध द्रव्य, रास्ना, एरण्ड मूल एवं उसके बीज एवं पत्र और मांस को यथा लाभ लेकर पर्याप्त लवण मिलाकर और घृत आदि स्नेह, चुक्र, तक्र अथवा दूध में पका कर बाँधा जाता है।

यह उक्त वचा (बाल वच) आदि का उपनाह केवल वायु के विकारों में उपयोगी है और वायु के साथ कफ का संसर्ग होने पर सुरसादिगण (सू० अ० १५ का ३० वाँ श्लोक) की औषधियों का उपनाह करना चाहिये और वायु के साथ पित्त का संसर्ग हो तो पद्मकादिगण (सू० अ० १५ का बारहवां श्लोक) के द्रव्यों का उपनाह करना चाहिये। और साल्वण नामक योगों का बार बार उपनाह करना चाहिये ।

उपनाह पर बन्धन—उक्त द्रव्यों का हलुवा या लपसी सी बना कर पीडित अङ्ग पर लगा कर या धर कर ऊपर से–स्निग्ध, उष्ण वीर्य स्वच्छ तथा कोमल चमड़ा की पट्टी उपलब्ध न हो तो एरण्ड आदि वात नाशक वृक्षों के पत्ते धर कर रेशमी अथवा ऊनी कपड़ा की पट्टी बाँध देवे। दिन का किया गया उपनाह रात्रि में और रात्रि का किया उपनाह दिन में खोल दिया करे—बदल देना चाहिय।

वक्तव्य—उपयोगी द्रव्यों को पीस कर, पका कर, उष्ण २ ही बांधना "उपनाह" कहलाता है उसी का नाम पुल्टिस है। जैसे तीसी (अलसी) आदि स्निग्ध द्रव्यों की पुल्टिस बाँधी जाती हैं। रहस्य यह है कि उष्ण होने तथा बन्धन करने से स्वेद की प्रवृत्ति होती है । साल्वण स्वेद का वर्णन स. चि. अ. ७ में इस प्रकार है—

काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाऽम्लद्रव्यसंयुतः ॥१४॥
सानूपौदकमांसश्च सर्वस्नेहसमन्वितः ।
सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

अर्थात् काकोल्यादि गण के द्रव्य, वात नाशक द्रव्य, सब प्रकार के अम्ल द्रव्य, अनूप देशीय तथा मछली आदि प्राणियों के मांस, सब प्रकार के स्नेह तथा पर्याप्त मात्रा में लवण मिलाकर जो कोसा २ एवं मोटा लेप किया जाता है उसका नाम साल्वण है। इस प्रकार के द्रव्य यथा लाभ ले लिए जाते हैं, यह आवश्यक नहीं कि सभी द्रव्य लिए जायें। यद्यपि पट्टी इसलिये बाँधी जाती है कि लेप की औषधि गिर न जाय परन्तु यथा सम्भव पट्टी भी वात नाशक होनी चाहिए ॥२-५॥

ऊष्म स्वेद का वर्णन—

'ऊष्मा' तूत्कारिकालोष्ट कपालोपलपांसुभिः ।
पत्रभङ्गेन धान्येन करीषसिकतातुषैः ॥६॥
अनेकोपायसन्तप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः ।

व्याख्या—ऊष्म स्वेद (वाष्प स्वेद) तो यह है जो उत्कारिका (गर्म गर्म लपसी या रोटी) से, लोष्ट (मिट्टी का ढेला) एवं ईंट आदि से कपाल (मिट्टी के बर्त्तन के टुकड़ों) से उपल (पाषाण खण्ड या शिला) से, पांसु (धूलि-मिट्टी) से, पत्तों के समूह (तपी हुई भूमि पर पत्ते बिछा कर लेटना) से, धान्यों (उरद आदि को उबाल कर और बिछा कर लेटना) से, करीष (गोबर का तथा वात नाशक द्रव्यों का चूर्ण गढ़ा में भर कर अग्नि लगादी जाती है, निर्धूम होने पर, खटिया धर कर और उस पर लेटना-कूप स्वेद) से, वालू (उष्ण बालू पर लेटना) से तथा तुष (भुस्सा) को अनेक प्रकार के उपायों से तप्त करके ऊष्मा (वाष्पभाव का प्रयोग देश एवं काल के अनुसार किया जाता है।

वक्तव्य—संक्षेपतः ऊष्म स्वेद वह है जो भाप देना या भफारा देना कहलाता है। पत्थर, ईंट एव बालू आदि को तपा कर और उनपर काञ्जी आदि छिड़क कर और कपड़ा में लपेट कर जो स्वेदन किया जाता है वह सब ऊष्म स्वेद ही है। अ. सं. सू. अ. २६ में इस स्वेद के ८ प्रकार लिखे हैं यथा—पिण्डः, संस्तरो, नाड़ी, घनाश्मा, कुम्भी, कूपः, कुटी, जेन्ताकश्च ॥६॥

द्रवस्वेद का वर्णन—

शिग्रुवारणकैरण्ड–करञ्जसुरसार्जकात् ॥७॥
शिरीषवासावंशार्क–मालती दीर्घवृन्ततः ।
पत्रभङ्गैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥८॥
दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वा यथामलम् ।
स्नेहवद्भिः सुराशुक्तवारिक्षीराधिसाधितैः ॥९॥

कुम्भीर्गलन्तीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम्।
वाससाऽऽच्छादितं गात्रंस्निग्धं सिञ्चेद्यथासुखम्।।१०
तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुण्डं सर्वाङ्गगेऽनिले।
अवगाह्यातुरस्तिष्ठेदर्शःकृच्छ्रादिरुक्षु च ।।११।।

व्याख्या—द्रव स्वेद दो प्रकार का होता है—१—परिषेक या सेक और २—अवगाह स्वेद।

परिषेक स्वेद वह कहलाता है जो—सहजन के, वारणक (कण्टकी करञ्ज) के, एरण्ड के, करञ्ज के, तुलसी के, वन तुलसी के, सिरस के, अडूसा के, बांस के, अंक के, मालती के तथा सोनापाठा के पत्र समूह अथवा अन्यान्य वात नाशक वृक्षों के पत्र समूह अथवा वचादि गण (अ० १५ अथवा वचा आदि द्रव्य जो उपनाह स्वेद में कहे गये हैं श्लोक ३ देखिये) तथा सूअर आदि अनूपदेशीय प्राणियों के मांस तथा मछली आदि जल जन्तुओं के मांस अथवा दशमूल के द्रव्यों को—दोषानुसार पृथक् २ अथवा सब को लेकर सुरा, शुक्त (सिरका), जल अथवा दूध में पका कर और तैल आदि स्नेह मिला कर, छान कर और घडा में अथवा झज्झर में (लोटा आदि में) अथवा नाली (पिच कारी) में भर कर और रोगयुक्त अङ्ग पर अभ्यङ्ग करके और उसे कपड़ा से ढाँक कर सुख पूर्वक (कोसा २, सुहाता २) सेचन किया जाता है।

और अवगाह स्वेद वह है जो उक्त इन्ही द्रव्यों से कुण्ड (द्रोणी—टब) भर कर और उसमें रोगी बैठ या लेट जाता है। यह स्वेद—सर्वाङ्ग व्यापी वायु के रोगों में तथा अर्श एवं मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में किया जाता है।

वक्तव्य—संक्षेपतः—वात नाशक द्रव्यों के क्वाथ से अथवा दूध, मांस रस, जूस, मण्ड, तैल, काञ्जी, घृत, वसा एवं मूत्र आदि से भरे कुण्ड में रोगी को बैठाना या लेटाना अवगाहन कराना "अवगाह स्वेद" कहलाता है और उन्हीं द्रवों का किसी एक अवयव पर सेचन करना "परिषेक स्वेद" कहलाता है। यह स्वेद प्रायः पित्त युक्त वायु में किया जाता है। केवल उष्ण जल से स्नान करना भी "द्रव स्वेद" ही है। इस प्रकार सुश्रुत संहितानुसार चार प्रकार के स्वेदों का वर्णन किया गया है और च. सू. १४ में जो १२ प्रकार के स्वेद कहे गये हैं। उन सब का अन्तर्भाव इन्हीं ४ स्वेद विधियों में हो जाता है। ये सब आग्नेय स्वेद हैं क्योंकि इन में अग्नि का सम्पर्क होता है और अनाग्नेय स्वेद का वर्णन श्लो० २७ में देखिये ।।७-१०।।

स्वेदग्रहण की विधि—

निवातेऽन्तर्वहिःस्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत्।
व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम् ।।१२।।
कफार्तो रूक्षणं रूक्षो, रूक्षः स्निग्धं कफानिले।

व्याख्या—स्नेहपान द्वारा अथवा भात आदि में स्नेह के सेवन द्वारा भीतर से तथा स्नेहाऽभ्यङ्गद्वारा बाहिर से स्नेहन करके और भोजन पच जाने पर तथा वायु रहित स्थान में (घर के भीतर) स्वेदन करना चाहिये।

और रोग, रोगी, देश तथा ऋतु के अनुसार मध्यम, उत्तम अथवा अवर कोटि का स्वेदन करना चाहिये।

कफ रोग से पीडित रोगी रूक्ष रह कर (स्नेहन न करके)—रूक्ष द्रव्यों से रूक्षण (रूक्षता कारक १—ताप स्वेद) स्वेद करे और रूक्ष रोगी तथा कफ एव वायु के रोगों में रूक्ष एवं स्निग्ध द्रव्यों के द्वारा (द्रव स्वेद) स्वेदन करे।

वक्तव्य—और पित्त के विकारों में तो स्वेद की आवश्यकता ही नहीं पड़ती क्योंकि उन में प्रायः स्वतः स्वेद होता रहता है ।।१२।।

स्थान भेद से स्वेद भेद

आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते ।।१३।।
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः।
अल्पं वङ्क्षणयोः, स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा ।।१४।।

व्याख्या—स्थान के विचार से—आमाशय गत वायु में प्रथम रूक्ष स्वेद करे और फिर स्निग्ध स्वेद करे और मलाशय गत वायु में प्रथम स्निग्ध और फिर रूक्ष स्वेद करे।

और वंक्षणों (वृक्क आदि मूत्र संस्थान) में अल्प (अवर कोटिका) स्वेदन करे और दृष्टि (नेत्र), अण्ड कोश तथा हृदय पर स्वल्प (बहुत थोड़ा) स्वेदन करे अथवा सर्वथा न करे।

वक्तव्य—क्योंकि आमाशय कफ का स्थान है अतः रूक्ष स्वेद और मलाशय वायु का स्थान है अत. स्निग्ध स्वेद किया जाता है और जब सर्वाङ्ग में स्वेदन किया जाय अथवा हो रहा हो तब नेत्र, अण्डकोश तथा हृदय पर शीतल पत्रों का आच्छादन कर देना चाहिये जिससे अंग स्वेद से बचे रहें ।। १३,१४ ।।

स्वेद के सम्यग् योग एवं अतियोग में उपचार—

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे।
स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत् ।।१५।।
पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छा-स्वराङ्गसदनभ्रमाः।
सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम् ।।१६।।
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च, तत्र स्तम्भनमौषधम्।
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च ।।१७।।

व्याख्या—स्वेद का सम्यक् योग-जब शीत एवं शूल की शान्ति हो जाय और स्तब्ध अङ्ग-प्रत्यङ्ग मृदु हो जायें तब समझना चाहिये कि स्वेद का सम्यक् योग हो गया है इस अवस्था में—शरीर का धीरे २ मर्दन करे और फिर कोसे जल से स्नान करे तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार स्नेह विधि अर्थात् स्नेहपानादि एवं स्नेहाभ्यङ्ग का सेवन करे

स्वेद के अतियोग से—पित्त विकार, रक्त विकार, तृषा, मूर्च्छा, स्वर एवं शरीर में शिथिलता, भ्रम, सन्धियों में-वेदना, ज्वर, काले एवं लाल धप्पड़ों की उत्पत्ति तथा छर्दि हो सकती है। इस दशा में स्तम्भन चिकित्सा (उपचार) करना चाहिये और विष विकार, क्षार दाह, अग्नि दाह, अतिसार, छर्दि रोग तथा मोह(एवं मूर्च्छा) के रोगियों में भी स्तम्भन उपचार करे।

वक्तव्य—स्वेदन से विपरीत उपचार स्तम्भन है।१६॥

स्वेदन एवं स्तम्भन का भेद—

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः, स्तम्भनमन्यथा।
द्रव-स्थिर-सर-स्निग्ध-रूक्ष सूक्ष्मं च भेषजम् ॥१८॥
स्वेदनं, स्तम्भनं श्लक्ष्णं रूक्ष-सूक्ष्म-सर-द्रवम्।
प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः ॥१९॥

व्याख्या—संक्षेपतः गुरु, तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों का उपयोग प्रायः स्वेदन (स्वेद कारक) होता है और इस के विपरीत अर्थात् लघु, मृदु एवं शीत द्रव्यों का उपयोग "स्तम्भन" होता है।

और द्रव,स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष, एवं सूक्ष्म द्रव्य "स्वेदन" (स्वेद लाने वाला—स्वेदल) होता है।

और श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर एवं द्रव द्रव्य प्रायः "स्तम्भन" होता है और रसों के विचार से समासतः (प्रायः)—तिक्त, कषाय एवं मधुर रस वाले द्रव्य— "स्तम्भन" होते हैं और लवण, अम्ल एवं कटु रस वाले द्रव्य "स्वेदन" होते हैं।।

वक्तव्य—इस प्रकरण में स्तम्भन उस उपाय का नाम है जो स्वेद को रोकता है। रूक्ष, सूक्ष्म, सर एवं द्रव द्रव्य संस्कार भेद से स्वेदन भी होते हैं और स्तम्भन भी जैसे उष्ण जल स्वेदन एवं शीतल जल स्तम्भन होता है ॥१८, १९॥

स्तम्भन के सम्यक् योग एवं अतियोग का लक्षण

स्तम्भितः स्याद् बले लब्धे यथोक्तामयसङ्क्षयात्।
स्तम्भत्वक्स्नायुसङ्कोच-कम्पहृद्वाग्घनुग्रहैः॥२०॥
पादौष्ठत्वक्करैः श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत्।

व्याख्या—सम्यक् योग का लक्षण—बल का लाभ और स्वेदातियोग जनित पित्तादि कोप आदि (श्लो० १५-१६ में कथित) का क्षय अर्थात् शान्ति।

अतियोग के लक्षण—शरीर की स्तब्धता, त्वचा एवं स्नायु का संकोच, कम्पन, हृदय की वाणी की तथा हनु की गति में रुकावट, पाँव में, ओठ में, त्वचा में तथा हाथों एवं नखों में साँवलापन-नीलापन।

वक्तव्य—सन्निपात ज्वर एवं विसूची आदि तथा शीतोपद्रव नामक (शीत खाना-शीत लगना) आदि विकारों में जब स्तम्भन के अतियोग के लक्षण होते हैं तब स्वेदन की व्यवस्था की जाती है यथा—कस्तूरी भैरव रस, उष्ण जल एवं उष्ण दूध आदि का सेवन ॥२०॥

स्वेदन के अयोग्य रोगी एवं रोग—

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान् ॥२१॥
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षामभद्यविकारिणः।
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ॥२२॥
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान्।
भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान् ॥२३॥
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान्।
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां, मृदु चात्ययिके गदे ॥२४॥

व्याख्या—स्वेदन के आयोग्य अत्यन्त स्थूल (इसे स्वतः स्वेदाबाध होता है), अत्यन्त रूक्ष (इसे स्नेहन करके स्वेदन करे), अत्यन्त दुर्बल, मूर्च्छा रोगी, स्तम्भन योग्य रोग एवं रोगी (श्लोक १५, १६ तथा १९ देखिये) क्षत (उरः क्षत तथा अन्यत्र के क्षत से पीडित), क्षीण (धातु क्षय से पीडित), क्षाम (कृश-खिन्न) मदात्यय आदि मद्यपान जनित विकार से पीडित, तिमिर रोगी, उदर रोगी, विसर्प रोगी, शोष रोगी, वात रक्त का रोगी, जिसने दूध, दही, स्नेह अथवा मधु का तत्काल पान किया है, जिसको तत्काल विरेचन किया गया है या हो गया है अथवा हो रहा है, जिसका गुदा निकल आया है अथवा अग्नि कर्म से अथवा क्षार कर्म से दग्ध हो गया है जो ग्लानि (मानसिक क्लेश) क्रोध, शोक अथवा भय से युक्त है, भूखा एवं प्यासा है, कामला, पाण्डु रोग, प्रमेह अथवा पित्तजनित रोग से पीडित है और गर्भवती रजस्वला तथा प्रसूता को स्वेदन नहीं करे और यदि बहुत ही आवश्यकता होतो मृदु (थोड़ा) स्वेदन करे।

वक्तव्य—यहाँ सूता (प्रसूता) को स्वेद का निषेध किया गया हैं जो विचारणीय है क्योंकि—च. सू. अ. १४ में उक्त सब को गिना है परन्तु उनमें सूता का नाम नहीं लिया है (देखिये १६-१९)। और च. शा. अ. ८ में पिप्पल्यादि गण के संयोग से सिद्ध सुस्निग्ध एवं द्रव यवागू पीने का तथा दोनों समय उष्णोदक से परिषेचन का विधान है

ये दोनों स्वेदन ही हैं। और सु. चि. अ. ३२ में भी पाण्डुमेही ....नैते स्वेद्या यश्चमत्योऽतिसारी ॥ २५ ॥ प्रायः इन सब को स्वेद का निषेध किया गया है परन्तु सूता का नाम नहीं लिया है और सु. शा. अ. १० में सूता (सूतिका) के लिए ऐसे आहार-विहार की व्यवस्था का उपदेश दिया हैं जो स्वेदन हैं और सु. चि. अ. ३२ में प्रजाता के लिए स्वेदन का विधान है यथा—

सम्यक् प्रजाता काले वा पश्चात्स्वेद्या विजानता ।१८।

और लोकाचार में मी प्रसूता को स्वेदन किया जाता है ॥२१-२४॥

स्वेदन के योग्य—

श्वास-कास-प्रतिश्याय-हिध्मा-ध्मान-विबन्धिषु ।
स्वरभेदानिलव्याधिश्लेष्मामस्तम्भगौरवे ॥२५॥
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ।
महत्त्वे मुष्कयोः खल्ल्यामायामे वातकण्टके ॥२६॥
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थि-शुक्राघाताढ्यमारुते ।
स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः ॥२७॥

व्याख्या—श्वास, कास, प्रतिश्याय, हिक्का, अफरा तथा विबन्ध के रोगियों में, स्वर भेद, वात व्याधि, कफ रोग तथा आमरस जन्य रोग, स्तम्भ (हनुस्तम्भ आदि रोग), गुरुता, अङ्गमर्द और कटिग्रह, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कुक्षि ग्रह (आमाशय एवं अन्त्र की गति में रुकावट) तथा हनु ग्रह, अण्ड वृद्धि, खल्ली, आयाम (अन्तरायाम एवं बाह्यायाम), वात कण्टक, मूत्रकृच्छ्र (तथा मूत्राघात) अर्बुद, ग्रन्थि, शुक्रोदावर्त्त या शुक्र जनित मूत्राघात तथा आढ्य वात (ऊरुस्तम्भ या वातरक्त) में विधि पूर्वक एवं उस उस रोग को नष्ट करने वाली औषधियों के संयोग से स्वेदन करे ॥२५-२७॥

अनाग्नेय स्वेदका विधान—

स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेदःकफावृते ।

व्याख्या—मेदस् एवं कफ से आवृत्त वायु (ऊरुस्तम्भ आदि) में तो अनाग्नेय स्वेद हित होता है।

वक्तव्य—अनाग्नेय स्वेद वह होता है जिसमें अग्नि का संयोग (जैसे ताप स्वेद आदि ४ प्रकार के स्वेदों में अग्नि का संयोग होता है) नहीं किया जाता परन्तु स्वेदन हो जाता है। एतदर्थं अगला श्लोक देखिये।

अनाग्नेय स्वेदों का वर्णन—

निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम् ।
उपनाऽऽहाहव-क्रोधा भूरिपानं क्षुधाऽऽतपः ॥२८॥

व्याख्या—अनाग्नेय स्वेद के दस प्रकार हैं यथा १—निवात गृह-वायु रहित घर में निवास-रहना, बैठना एवं लेटना, २—आयास परिश्रम-व्यायाम-दौड़ना, भार उठाना आदि, ३—गुरु प्रावरण-कम्बल एवं दुलाई आदि भारी कपड़े ओढ़ना, ४—भय (भय से भी पसीना आजाता है) ५—उपनाह-कपड़ा पहिनना पट्टी आदि से कस कर बाँधना जैसे-शिरः शूल में तथा टांग बाँह आदि की पीड़ा में कपड़ा आदि से बन्धन किया जाता है, ६—आहव (नियुद्ध-कुश्ती), ७—क्रोध (इससे भी पसीना आजाता है), ८—अधिक मात्रा में मद्य या मादक द्रव्य का पान, ९—क्षुधा (भूख या भूखे रहना) तथा १०—आतप धूप में चलना, बैठना लेटना एवं काम करना)।

वक्तव्य—क्षुधा से भी स्वेद होता है जैसे ज्वर में स्वेद वाही स्रोतों के अवरोध के कारण जब स्वेद नहीं होता तब लंघन (उपवास) करने पर स्रोत खुल जाने से स्वेद की प्रवृत्ति होने लगती है अतः क्षुधा को भी अनाग्नेय स्वेदों में गिना है।

स्वेदोत्तर आहार एवं विहार—अ. सं. सू अ. २६—

स्विन्नोऽन्नं पथ्यमश्नीयात् दोषरोगानुरोधतः ।
तदहः स्विन्नसर्वाङ्गो व्यायामं सुतरां त्यजेत् ॥

अर्थात्—जिस दिन स्वेदन किया जाय उस दिन-दोष एवं रोग के अनुसार पथ्य आहार का सेवन करे और समस्त शरीर पर अभ्यंग करे और किसी प्रकार व्यायाम या परिश्रम न करे—आराम करे। और—अग्नेः दीप्ति मार्दवं त्वक् प्रसादं भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्। कुर्यात् स्वेदो जाड्यतन्द्राऽपहारं स्तब्धान् सन्धीन् चेष्टयत्याशु चास्य ॥

अर्थात्—स्वेद-अग्नि को प्रदीप्त, अंगों को मृदु, त्वचा को स्वच्छ, भोजन में रुचि एवं स्रोतों में निर्मलता करता है और जड़ता तथा तन्द्रा को नष्ट करता है और स्तब्ध सन्धियों को चेष्टावान् कर देता है ॥२८॥

स्वेदन का सुफल—

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा,
स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं
नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते ॥२९॥

व्याख्या—कोष्ठगत (कोष्ठ के अवयवों में आश्रित) दोष, अथवा रस रक्त आदि धातुओं में व्याप्त दोष तथा स्रोतों में-विलीन (सटे हुए लीन् श्लेषे धातु) दोष तथा शाखा (सक्थियों एवं बाहुओं तथा त्वचा) में और अस्थियों में स्थित दोष (विकार कारक भाव)—स्नेहन

द्वारा आर्द्र (ढीले या चिकने) किये गये और फिर स्वेदों द्वारा द्रव किये गये कोष्ठ (आमाशय अथवा मलाशय या महास्रोतस्) में पहुँचा दिये जाते हैं और फिर शुद्धियों (वमनों अथवा विरेचनों) से सम्यक् (भली भान्ति या सुख पूर्वक) प्रकार से निकाले जा सकते हैं।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि–स्नेहन से स्निग्ध एवं स्वेदन से स्विन्न होकर शरीर भर के विकारकारी दोष कोष्ठ में आ जाते हैं और फिर वमन अथवा विरेचन देने पर सरलता से निकल जाते हैं। अतः शोधन के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन अत्यावश्यक है देखिये अ० १८ का श्लो० ५६।

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अथातो वमनविरेचनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

व्याख्या—अब वमन एवं विरेचन की विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. सू. अ. १५ एवं १६ में सि. स्थां. अ. १—२ एवं ६ में, सु. चि. अ ३३ एवं ३६ में और अ. सं. सू. अ. २७ में देखिये।

भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. क. अ. १—

तत्र दोषहरणं ऊर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचन संज्ञकम् ॥ ४ ॥

अर्थात्—मुख मार्ग से जो दोषों का निर्हरण किया जाता है उसका नाम वमन है और गुद मार्ग से जो दोषों का निर्हरण किया जाता है उसका नाम विरेचन है। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. चि. अ. ३३—प्राधान्येन वमनविरेचने वर्त्तेते निर्हरणे दोषाणाम्। तथा वृद्धा निर्हर्त्तव्याः। अर्थात्—दोषों को शरीर से बाहर निकालने के प्रधान उपाय हैं वमन एवं विरेचन। और बढ़े हुए दोषों को निकाल देना श्रेयस्कर होता है।

वमन विरेचन एवं वमन के योग्य—

कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोल्वणे।
तद्वद्विरेचनं पित्ते विशेषेण तु वामयेत् ॥१॥
नवज्वरातिसाराधः पित्तासृग्राजयक्ष्मिणः।
कुष्ठ-मेहा-पची-ग्रन्थि-श्लीपदोन्मादकासिनः ॥२॥
श्वास-हृल्लास-वीसर्प-स्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः।

व्याख्या—कफ में (कफ जनित रोगों में, अथवा कभी कभी कफ प्रधान वातपित्त जनित रोगों में) अथवा (कभी) पित्तप्रधान संयोग में (वात कफ जनित रोगों में) विरेचन करे।

विशेषरूप से—नव ज्वर (सद्योमुक्त के ज्वर) में अतिसार में, अधोगामी रक्त पित्त में, राजयक्ष्मा (राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था) में, कुष्ठ में, अपची में, ग्रन्थि में (या अपची की ग्रन्थियों में), श्लीपद रोग में, उन्माद रोग में, कफ कास में, श्वास रोग में, मिचली में, विसर्प रोग में, दुग्धदोष (धात्री एवं शिशु के दुग्ध जनित विकारों) में तथा कर्णनासा आदि जत्रु के ऊपर के रोगों में वमन करना चाहिये।

वक्तव्य—इन रोगों में कफ प्रधान होता है या जब इन रोगों में कफ की प्रधानता हो तब वमन करना आवश्यक है और प्रथम वमन का विधान इसलिए किया गया है कि—

विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक्—अर्थात् कफ का क्षय हो जाने पर यदि विरेचन दिया जाता है तो सम्यक् प्रकार से विरेचन हो जाता है और—

अवान्तस्य तु अधः स्रस्तो ग्रहणीं संछादयेत् कफः—

अर्थात्— वमन किये बिना यदि विरेचन किया जाता है तो नीचे की ओर गया हुआ कफ पाचन क्रिया को मन्द कर सकता है। तात्पर्य यह है कि–यथा सम्भव विरेचन के पूर्व वमन कराना चाहिये ॥१,२॥

वमन के अयोग्य—

'अवम्या' गर्भिणी रूक्षः क्षुधितो नित्यदुःखितः ॥३॥
बालवृद्धकृशस्थूल-हृद्रोगिक्षतदुर्बलाः।
प्रसक्तवमथुप्लीह-तिमिरक्रिमिकोष्ठिनः ॥४॥
ऊर्ध्वप्रवृत्तवाय्वस्र-दत्तबस्तिहतस्वराः।
मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्बलोऽत्यग्निरर्शसः ॥५॥
उदावर्तभ्रमाष्ठीला-पार्श्वरुग्वातरोगिणः।
ऋते विषगराजीर्ण-विरुद्धाभ्यवहारतः ॥६॥

व्याख्या—निम्नलिखित रोगी एवं रोगों में वमन नहीं करना चाहिये—यथा—गर्भवती, रूक्षकोष्ठ वाला, क्षुधापीडित (भूखे पेट), सदा दुखी रहने वाला—दीर्घरोगी, बाल, वृद्ध, कृश, स्थूल, हृदय रोगी, क्षत (उरःक्षत तथा अन्यत्र के क्षत वाला—घायल मानव), दुर्बल, जिसे बार बार छर्दि हो रही हो या हो जाती हो, प्लीह रोगी, तिमिर रोगी, जिसके उदर (मलाशय) में क्रिमि हों, ऊर्ध्ववात एवं ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में, जिसे वस्ति दी गई हो या दी जा चुकी हो स्वरभेद रोग में, मूत्राघात, उदर

रोग तथा गुल्म के रोगी, जिसे वमन करने में कष्ट होता हो, तीक्ष्णाग्नि तथा अर्श रोग का रोगी, उदावर्त्त (पुरीषोदावर्त्त—मूत्रोदावर्त्त तथा वातोदावर्त्त), भ्रम, वाताष्ठीला, पार्श्वशूल तथा केवल वायु जनित रोग। इनमें वमन से कोई लाभ नहीं होता उल्टे हानि हो सकती है।

परन्तु—यदि इन्हें विषविकार हो, गरविष विकार हो, आमाजीर्ण हो अथवा विरुद्धाऽऽहार जनित कोई विकार हो तो वमन अवश्य करना चाहिये।

वक्तव्य—यदि कदाचित् गर्भवती आदि ने विष भक्षण कर लिया हो तो प्राणरक्षार्थ वमन आवश्यक है क्योंकि वमन से उक्त विकारों में स्वरूपतः विष निकल जाता है और साथ में कफ निकल जाने से विष का प्रभाव भी न्यून या नष्ट हो जाता है ॥३-६॥

वमनादि का निषेध—

प्रसक्तवमथोः पूर्वे प्रायेणाऽऽमज्वरोऽपि च।
धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्याः, सर्वैरेव त्वजीर्णिनः ॥७॥

व्याख्या—उक्त में कहे गये प्रसक्त वमथु के पूर्व गर्भिणी से दुर्बल पर्यन्त ११ रोगियों को और प्रायः आम ज्वर के रोगी को वमन कर्म का ही नहीं अपितु विरेचन से धूमपान पर्यन्त सभी कर्मों का निषेध है और अजीर्ण के रोगियों को तो वमन से गण्डूष पर्यन्त सभी कर्मों का निषेध है।

वक्तव्य—प्रायेण आमज्वरोऽपि च। पाठ में प्रायः शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि यदि तत्काल भोजन के पश्चात् ज्वर हुआ हो तो वमन अवश्य करना चाहिये क्योंकि वमन करने से ज्वरोत्पादक हेतु का निर्हरण हो जाने पर ज्वर की वृद्धि रुक जाती है और शान्ति भी हो सकती है। धूमान्त कर्म है—वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, नस्य तथा धूमपान। और सर्वैः का अर्थ है उक्त वमन आदि ६ तथा गण्डूष एवं कवल। आमाजीर्ण में केवल पाचन एवं उपवास करना चाहिए ॥७॥

विरेचन के योग्य एवं अयोग्य—

विरेकसाध्या गुल्मार्शोविस्फोटव्यङ्गकामलाः।
जीर्णज्वरोदरगर-च्छर्दिप्लीहहलीमकाः ॥८॥
विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यन्दः पक्वाशयव्यथा।
योनिशुक्राश्रया रोगाः कोष्ठगाः कृमयो व्रणाः ॥९॥
वातास्रमूर्ध्वगं रक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः।
वाम्याश्च कुष्ठमेहाद्याः न तु रेच्यो नवज्वरी ॥१०॥
अल्पाग्न्यधोगपित्तास्र-क्षतपाय्वतिसारिणः।
सशल्यास्थापितक्रूर-कोष्ठातिस्निग्धशोषिणः ॥११॥

व्याख्या—विरेचन के योग्य—गुल्मरोग, अर्श रोग, विस्फोट, व्यंग, कामला, जीर्ण ज्वर, उदर रोग, गर विष विकार, छर्दि, प्लीह विकार, हलीमक, विद्रधि, तिमिर, काच, अभिष्यन्द (ये तीनों नेत्र रोग हैं), मलाशय की वेदना, योनिरोग (योनि व्यापद्), शुक्र दोष, उदर गत क्रिमि, व्रण, वात रक्त, ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त, मूत्राघात, पुरीष ग्रह (मलरोध), और वमनीयों में कथित (श्लोक ३ में कहे गये) कुष्ठ एवं प्रमेह आदि रोग।

विरेचन के अयोग्य—नवज्वर, मन्दाग्नि, अधोगामी रक्त पित्त, गुद गत क्षत तथा अतिसार के रोगी और जिसके शरीर में कहीं पर शल्य हो, निरूहण वस्ति दी गई हो, जिसका कोष्ठ क्रूर हो, जिसने अत्यन्त स्नेह का सेवन किया हो तथा जो शोष रोग से पीडित हो ॥८-११॥

वमन देने की विधि—

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधि।
श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभिः ॥१२॥
निशां सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्णे कृतमङ्गलम्।
निरन्नमीषत्स्निग्धं वा पेयया पीतसर्पिषम् ॥१३॥
वृद्ध-बालाऽबल-क्लीब-भीरून् रोगानुरोधतः।
आकण्ठं पायितान्मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम् ॥१४॥
अथ विकारविहितां मधुसैन्धवसंयुताम्।
कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रिताम् ॥१५॥
ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्र-भूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु वः ॥१६॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम्।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥१७॥
ओंनमो भगवते भैषज्यगुरवे वैडूर्यप्रभराजाय।
तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय। तद्यथा।
ओंभैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा॥
प्राङ्मुखं पाययेत् पीतो मुहूर्तमनुपालयेत्।
तन्मनाः जातहृल्लासप्रसेकश्छर्दयेत्ततः ॥१८॥
अङ्गुलिभ्यामनायस्तो नालेन मृदुनाऽथवा।
गलताल्वरुजन् वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् ॥१९॥
प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासने स्थितः।
उभे पार्श्वे ललाटे च वमतश्चास्य धारयेत् ॥२०॥
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः।
कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति ॥२१॥
वमेत् स्निग्धाम्ललवणः संसृष्टे मरुता कफे।
पित्तस्य दर्शनं यावच्छेदो वा श्लेष्मणो भवेत् ॥२२॥

व्याख्या—इस प्रकार वमन विरेचन की योग्यता एवं अयोग्यता का विचार करके, समशीतोष्ण काल में, विधिपूर्वक स्नेह एवं स्वेदन करके, आगामी कल वमन

करना हो तो आज (अर्थात् वमन के एक दिन पूर्व) मछली का मांस, उरद के तथा तिल आदि के पदार्थ (तिलकुट, दूध, दही, एवं मांस रस आदि द्रव पदार्थ) खिला कर कफ का उत्क्लेशन (निकलने के लिये उभार) करे और रात्रि को सुला देवे ।

प्रातःकाल जागने पर विचार करे कि कल का खाया हुआ आहार पच गया अथवा नहीं, यदि पच गया हो तो इष्ट देवता आदि का स्मरण पूजन आदि मंगलाचार करे और कुछ भी खिलाए पिलाए बिना ही अथवा पेया के साथ घृत पिला कर थोड़ा स्नेहन करे ।

यदि वह वृद्ध है, बालक है, दुर्बल है, क्लीव (वमन के क्लेश को न सहनेवाला या सुकुमार) है अथवा भीरु (वमन से डरने वाला) है तो रोगानुसार मद्य, दूध, ईख का रस अथवा मांस रस कण्ठ तक अर्थात् भर पेट पिला देवे ।

इसके पश्चात् रोग के अनुसार तथा कोष्ठ की मृदुता एवं क्रूरता आदि का विचार करके मधु एवं सैन्धव लवण से मिश्रित मैनफल आदि वामक औषध (देखिये कल्प अ. १) की मात्रा तैयार करे और उसे निम्नलिखित मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे वे मन्त्र हैं—

१—ब्रह्म दक्षा .... पान्तु वः ॥ १७ ॥
२—रसायन मिव .... मस्तुते ॥ १८ ॥
३—ओं नमो .... सम्बुद्धाय ।
४—ओं भैषज्ये .... स्वाहा ।

तदनन्तर पूर्व की ओर मुख करा कर रोगी को पिला देवे । और रोगी औषध पीकर तन्मना होकर (वमन होगा ऐसा मनमें सोचता हुआ) दो घड़ी (लगभग ४५ मिन्ट प्रतीक्षा करे ।

जब मिचली होने लगे और मुख से पानी जाने लगे तब वमन कर देवे यदि वमन भली भाँति न हो रहा हो तो आयास किये बिना (बल न लगाकर) अंगुलियों द्वारा अथवा कमल नाल या रबर की कोमल नाली द्वारा गल (कण्ट के भीतर) एवं तालु का मृदु स्पर्श कर करके वमन के रुके वेगों को प्रवृत्त करे अथच प्रवृत्त वेगों को भी अधिक प्रवृत्त करे जिससे भली भाँति वमन हो जाय । यह सब काम जानुभर ऊँचे आसन (कुरसी) पर बैठ कर करना चाहिये ।

जब वमन हो रहा हो तब दूसरा परिचार—उसके दोनों पार्श्वों तथा शिर को सुहलाता रहे और नाभि तथा पीठ का अनुलोम-पीडन करता रहे ।

औषध की मात्रा—कफ प्रधान रोगों में तीक्ष्ण, उष्ण एवं कटु द्रव्यों से, पित्त प्रधान रोग में मधुर एवं शीतल द्रव्यों से और वायु कफ के रोग में स्निग्ध, अम्ल एवं लवण द्रव्यों से तैयार करे अथवा इस प्रकार के द्रव्यों का अनुपान देवे ।

वमन तब तक होते रहना चाहिये जब तक उसमें पित्त का दर्शन (निः सरण) हो अथवा कफ छेदन होजाय (हरा पीला खट्टा कड़ुवा पित्त एवं कफ के लच्छे-जाले पूर्ण रूप से निकल जायँ) ।

वक्तव्य—वामक औषध पीने के अनन्तर जब स्वेद हो तब जानो कि दोष विलीन हो रहा है, जब रोम हर्ष हो तब जानो कि दोष समस्त शरीर से विचलित हो रहा है, आध्मान से जानो कि कुक्षि (आमाशय) में आ गया है और हृदय प्रदेश के उपमर्दन से, हृल्लास (मिचली) तथा मुखस्राव (प्रसेक—लालास्राव) से जानो कि दोष निकलने के लिये तैयार हो रहा है, तदनन्तर वमन होना प्रारम्भ हो जाता है और वमन प्रतिग्राह या पतद्ग्रह (पीकदान या तसला में करे, धरती पर नहीं और उस पर तत्काल भस्म या चूना मिट्टी डाल देवे जिससे मक्षिका न बैठे ॥ १२-२२ ॥

वमन का हीन योग—

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैः ।
वमेत्पुनः पुनः तत्र वेगानामप्रवर्तनम् ॥२३॥
प्रवृत्तिः सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा ।
अयोगस्तेन निष्ठीव-कण्डूकोठज्वरादयः ॥२४॥

व्याख्या—यदि वमन के वेग थोड़े हो रहे हों तो-पीपल, आमला, सरसों तथा लवण का क्वाथ पी पीकर वार-वार वमन करे जब तक उक्त लक्षण (पित्त का दर्शन एवं कफ का छेद) दिखाई दे ।

वमन का हीन योग—वामक औषध पीने पर वमन की प्रवृत्ति ही न होना, अथवा रुक-रुक कर प्रवृत्ति होना अथवा वमन में केवल औषध निकलना । यह अयोग कहलाता है इससे लालास्राव, कण्डू, कोठ (शीत पित्त) तथा ज्वर आदि हो सकते हैं ॥ २३,२४ ॥

वमन के सम्यग् योग एवं अतियोग—

निर्विबन्धं प्रवर्तन्ते कफपित्तानिलाः क्रमात् ।
'सम्यग्योगे' 'अतियोगे' तु फेनचन्द्रकरक्तवत् ॥२५॥
वमितं क्षामता दाह- कण्ठशोषस्तमो भ्रमः ।
घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात् ॥२६॥

व्याख्या—वमन के सम्यक् योग में—रुकावट के बिना क्रमशः—कफ, पित्त तथा वायु की प्रवृत्ति होती है अर्थात् पहिले कफ निकलता है फिर पित्त निकलता है और फिर शुद्ध उद्गार आ जाता है ।

और अतियोग में—झाग, चमक तथा रक्त वाली वमन होती है तथा दुर्बलता का अनुभव होता है तथा दाह, कण्ठशोष (तृषा - मुखशोष), अन्धकार की प्रतीति, भ्रम तथा खल्ली आदि वायु जनित रोग हो जाते हैं और जीव रक्त निकल जाने पर मृत्यु भी हो जाती है।

वक्तव्य—अतियोग होते ही वमन को रोकने की उचित व्यवस्था तत्काल करनी चाहिये देखिये चि० अ० ६ में छर्दि चिकित्सा और वमन विरेचन व्यापत् सिद्धि अ०३।।२५,२६।।

वमनोत्तर उपचार—

सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वास्य पाययेत्।
धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथादिशेत् ।।२७।।

व्याख्या—जिसको सम्यक् योग से वमन हुआ हो उसे थोड़ा विश्राम करा कर, कुछ स्वस्थ हो जाने पर तीन प्रकार के धूमों में से किसी एक प्रकार के उपयुक्त धूम का पान करावे और उसके अनन्तर स्नेहाचार का पालन करने का आदेश दे देवे।

वक्तव्य—वमन करने में थोड़ा कष्ट होता है अत: वमन के अनन्तर, आश्वासन देवे, पंखा करे और कोसे जल से कुल्ले कराकर सुखदायक शय्या पर लेटा देवे और चिकित्सक एवं अन्य प्रिय जन पास बैठ कर मनोहर वार्तालाप करें और यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करें कि वमन कर देने से रोग शमन आदि अनेक लाभ होंगे और वमन न करने से अमुक अमुक हानियां हो सकती थीं। इस प्रकार थोड़ा स्वस्थ हो जाने पर हाथ पांव एवं मुख को कोसे जलसे प्रक्षालित करे और धूमपान करा कर भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में यह उपदेश-आदेश दे देवे—च० सू० अ० १३—

योगेन तु खलु एनं छर्दितवन्तं अभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालित-पाणिपादं मुहुर्त्तम् आश्वास्य स्नैहिक वैरेचनिक-उपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरेव उदकमुपस्प-र्शयेत् ।।१४।।

उपस्पृष्टोदकं च एनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य च अनुशिष्यात्—उच्चैर्भाष्यं, अत्यशनं, अतिस्थानं, अति-चङ्क्रमणं, क्रोधशोकहिमाऽऽतपाऽवश्यायाऽनि प्रवातान्, यानयानं, ग्राम्यधर्मं, अस्वपनं निशि, दिवास्वप्नं, विरुद्धाऽजीर्णाऽसात्म्याऽकालप्रमिताऽतिहीनगुरुविषमभोजनं, वेगसन्धा-रणोदीरणं इति भावान् एतान् मनसाऽपि असेवमानः सर्व-महो गमयस्व इति। स तथा कुर्यात् ।।१५।।

तीन प्रकार के धूम १—स्निग्ध धूम जो वायु में उप-योगी होता है और २—मध्य धूम जो वात कफ में उपयोगी होता है और ३- तीक्ष्ण धूम जो कफविकारों में पिलाया जाता है देखिये सू० अ० २१। स्नेहाचार—उष्णोदकोपचारी स्यात् . ...आदि देखिये सू० अ० १६ श्लोक ३० ।। २७ ।।

वमनानन्तर स्नान एवं भोजन—

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्वान् स्नातः सुखाम्बुना।
भुञ्जानो रक्तशाल्यन्नं भजेत्पेयादिकं क्रमम् ।।२८।।

व्याख्या—इसके पश्चात् सायंकाल अथवा अगले दिन प्रातःकाल जब भली भाँति भूख लग जाय तब उष्ण जल से स्नान करके, निम्नलिखित पेयादि क्रम से लाल शालि धन्यों का भोजन करे।

वक्तव्य—हमारे विचार में इस श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार होना चाहिये—भुञ्जीत रक्तशाल्यन्नं भजन् पेयादिकं क्रमम्। अर्थात् पेयादि क्रम का सेवन करता हुआ रक्तशा-लिधान्यों के प्राकृतिक भोजन का प्रारम्भ करे। अस्तु। तात्पर्य यह है कि वमन विरेचन के अनन्तर भूख लगते ही दाल रोटी जैसा प्राकृतिक भोजन न करे। अथवा सुश्रुत के कथनानुसार—ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेहम् उष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम्। कुलत्थमुद्गाऽऽढकिजाङ्गलानां यूषै रसै-र्वाऽप्युपभोजयेत्तम् ।। ११ ।।

अर्थात्—वमन अथवा विरेचनसे शरीरशुद्धि हो जाने पर उष्ण जल से स्नान कराकर, कुलथी, मूँग अथवा अरहर के जूस के साथ अथवा जांगल प्राणियों के मांसरस के साथ उचित भोजन करावे। लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्य-तमत्वे श्रेष्ठतमाः (च. सू. अ. २५ पाठ ३७)।

अर्थात् रक्तशालि सर्वश्रेष्ठ पथ्य हैं रोगी एवं स्वस्थ के लिये हित हैं ।। २८ ।।

पेयादि क्रम का वर्णन—

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च, यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्याऽवरशुद्धिशुद्धः।

व्याख्या—शुद्धि तीन प्रकार की होती है १—प्रधान, २—मध्य तथा ३—अवर। अन्नकाल दो होते हैं १ - प्रातः (दिन) तथा २—सायं (रात्रि)। शुद्ध के आहार ६ होते हैं १—पेया (पीने योग्य), २—विलेपी (पेया से कुछ गाढ़ा जो कडछुली में या अगुलियों पर लिप जाय), ३—अकृत यूष (जिसमें सोंठ एवं लवण आदि न डाले गये हों), ४—कृत यूष (जिसमें सोंठ आदि डाले गये हों) ५—अकृत मांस रस तथा ६—कृत मांस रस। प्रधान शुद्धि से शुद्ध मानव ३-३ अन्न कालों में पेया आदि का क्रमशः सेवन कर के उन्नीसवें दिन प्राकृतिक भोजन करे। मध्य शुद्धि से शुद्ध मानव २-२ अन्न कालों में उक्त पेया आदि का क्रमशः सेवन

करके तेरहवें अन्नकाल में प्राकृतिक भोजन करे और अवर शुद्धि से शुद्ध मानव एक एक अन्न काल में पेया आदि का सेवन करके सातवें अन्न काल में प्राकृतिक भोजन करे। निष्कर्ष यह है कि—प्रधानशुद्धि-शुद्ध को ६ दिन मध्य-शुद्धि-शुद्ध को ६ दिन और अवर-शुद्धि-शुद्ध को ३ दिन पेया आदि का सेवन करना चाहिये।२६।

पेया आदि के सेवन से लाभ

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः
सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव
शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः ॥३०॥

व्याख्या—जैसे चुल्हा की अग्नि-तृण (घास फूस) एवं सूखे गोमय (गोहरी-कण्डा-उपले) आदि इन्धन से धुकाई (सुलगाई) गई क्रमशः महान् (शक्तिमान्), स्थिर (न बुझने वाली) तथा सर्व पच (सब कुछ पकाने वाली) हो जाती है वैसे ही वमन विरेचन से शुद्ध मानव की जठराग्नि उक्त पेया विलेपी आदि क्रम के सेवन से महान्, स्थिर तथा सर्वपच हो जाती है ॥३०॥

वमन एवं विरेचन के वेग तथा परिमाण—

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगा—
श्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके
प्रस्थस्तथा स्याद् द्विचतुर्गुणश्च ॥३१॥
पित्तावसानं वमनं विरेका-
दर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः।
द्वित्रान् सविट्कानपनीतवेगान्
मेयं विरेके, वमने तु पीतम् ॥३२॥

व्याख्या—जघन्य (अवर), मध्य तथा प्रवर (प्रधान) वमन में क्रमशः चार, छ एवं आठ वेग (वमन होना) होते हैं और विरेचन में दस, वीस एवं तीस वेग होते हैं।

भार के विचार से विरेचन में निकलने वाले मलों का भार जघन्य विरेचन में १ प्रस्थ, मध्यविरेचन में दो प्रस्थ तथा प्रवर विरेचन में चार-प्रस्थ होना चाहिये। यह भार पुरीष युक्त दो तीन वेगों को छोड़ कर होना चाहिये।

वमन में मलों का भार विरेचन से आधा हो जैसे-जघन्य वमन में निकले मलों का भार आधा प्रस्थ, मध्य वमन में एक प्रस्थ और प्रवर वमन में दो प्रस्थ होना चाहिये परन्तु यह भार वमन में पूर्व पिये गये मद्य आदि (श्लोक १५) तथा वामक क्वाथ को छोड़ कर होना चाहिये।

और—वेगों की संख्या तथा मलों का भार कुछ भी हो परन्तु वमन पित्तान्त होना चाहिये और विरेचन कफान्त होना चाहिये।

वक्तव्य—वमन विरेचन के विषय में तीन प्रकार के विचार हैं—

१—वेगों की संख्या का विचार, २—निकले हुए मलों के भार (तौल) का विचार और ३—पित्तान्त अर्थात् वमन में पित्तनिःसरण का और विरेचन में कफान्त अर्थात् कफ निःसरण का।

हमारे विचार में तीसरा विचार अपेक्षाकृत उत्तम है परन्तु उस से भी उत्तम है सुवान्त (देखिये श्लो० २६ का पाठ "निर्विबन्धं········सम्यग्योगे" के लक्षणों का विचार और सुविरिक्त के लक्षणों का विचार। सुविरिक्त के लक्षण हैं—च. सि. अ. १—

स्रोतो विशुद्धि-इन्द्रियसंप्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निः अनामयत्वम् प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग् विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण

अर्थात्—स्रोतों की विशुद्धि, श्रोत्रादि इन्द्रियों का संप्रसाद (विषयग्रहण में समर्थ होना), शरीर में लघुता, जठराग्नि की दीप्ति, नीरोगता का लाभ और क्रमशः पुरीष, पित्त, कफ तथा केवल अपान वायु का निःसरण। निष्कर्ष यह है कि - वेगों की संख्या में न्यूनाधिकता तथा भार में न्यूनाधिकता हो सकती है और कभी२ पित्तान्त और कफान्त में भी सन्देह हो सकता है परन्तु सुवान्त एवं सुविरिक्त के लक्षण सम्यग्योग के निरपवाद सूचक होते हैं ॥ ३१,३२ ॥

वमन के पश्चात् विरेचन का प्रयोग—

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्।
श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत् ॥३३॥

व्याख्या—अथ अर्थात् वमन के पश्चात् और पेया विलेपी आदि के विधिपूर्वक सेवन के पश्चात् इस वामित को पुनः स्नेहन एवं स्वेदन से उपपन्न करके कफ काल (प्रातः काल या कफ का बल काल) व्यतीत हो जाने पर, मृदु, मध्य एवं क्रूर के भेद से कोष्ठ का विचार कर के उपयुक्त औषधों से विरेचन का सम्यक् प्रयोग करे।

वक्तव्य—अथ एवं पुनः अपि स्नेहस्वेदाभ्याम् उपपाद्य अनुपहतमनसं अभिसमीक्ष्य सुखोषितं, सुप्रजीर्णभक्तं, कृत होमबलिमङ्गलजपप्रायश्चित्तं, इष्टे तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्त्ते, ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्कम् अक्षमात्रं यथाऽर्हाऽऽलोडन प्रतिविनीतं पाययेत्, प्रसमीक्ष्य दोषभेषज-देश काल बल शरीराऽऽहार सात्म्य सत्त्व प्रकृति वयसां अवस्थान्तराणि, विकारान् च ॥१७॥ च. सू. अ. १५।

भावार्थं यह है कि वमन के पश्चात् जब विरेचन देना हो तब भी पुनः स्नेहन एवं स्वेदन करके विरेचन देना चाहिये।

कोष्ठ भेद से विरेचन का वर्णन—

बहुपित्तो मृदुः कोष्ठः क्षीरेणापि विरिच्यते।
प्रभूतमारुतः क्रूरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि ॥३४॥
कषायमधुरैः पित्ते विरेकः, कटुकैः कफे।
स्निग्धोष्णलवणैर्वायावप्रवृत्तौ तु पाययेत् ॥३५॥
उष्णाम्बु, स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम्।
उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन्भुक्त्वाऽन्येद्युःपुनः पिबेत् ॥३६॥
अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः।
भूयोऽप्युपस्कृततनुः स्नेहस्वेदैर्विरेचनम् ॥३७॥
यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमनुक्रमम्।

व्याख्या—जिसमें पित्त की अधिकता होती है वह कोष्ठ (उदर) "मृदु" होता है उसमें केवल दूध पीने से विरेचन हो जाता है। अथवा यों कहिये कि मृदु नामक कोष्ठ में पित्त की अधिकता होती है अतः केवल दूध पीने से विरेचन हो जाता है।

और क्रूर कोष्ठ में वायु अधिक होता है अतः काली निसोत (जो कि तीक्ष्ण विरेचन होती है) से भी कठिनता या कष्ट से विरेचन होता है अतः कोष्ठ का विचार करके ही विरेचन की औषध का विवेचन करना चाहिये।

पित्त के विकारों में—कषाय एवं मधुर द्रव्यों द्वारा विरेचन देवे, कफ के विकारों में कटु द्रव्यों से विरेचन देवे और वायु के विकारों में स्निग्ध, उष्ण तथा लवण द्रव्यों से विरेचन देवे। इस प्रकार दोषानुसार द्रव्यों का विवेचन करे।

यदि कदाचित् विरेचन की प्रवृत्ति न हो तो उष्ण जल पिलावे और हाथ को तपातपा कर उसके उदर का स्वेदन करे (इन उपायों से विरेचन की प्रवृत्ति होने लगती है)।

यदि विरेचन की प्रवृत्ति थोड़ी हो तो उस दिन सायंकाल खिचड़ी अथवा दलिया जैसा मृदु आहार खाकर अगले दिन पुनः विरेचनार्थ औषध का पान करें।

उदर का भली भांति स्नेहन न होने के कारण यदि विरेचन न हुआ हो तो दस दिन के पश्चात् विरेचनार्थ औषध का पान करे और इन दस दिनों में स्नेहन एवं स्वेदन से पुनः भलीभांति शरीर या उदर को स्निग्ध एवं स्विन्न बना लेना चाहिये। तदनन्तर पूर्वोक्त प्रकार से औषध का सब प्रकार विवेचन एवं अभिमन्त्रण आदि का स्मरण करके किसी उपयोगी औषध का पान करे।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि ऐसी औषधि का पान करे जिसमें सम्यक् विरेचन हो जाय,और औषध पानके अनन्तर—

पीतमात्रे एव च औषधे छर्दिविघाताय मुखं अस्य सहसा शीताम्बुना सिञ्चयेत्, ततश्च उष्णोदकेश सोऽन्तर्मुखं विशोध्य आर्द्रसुरभि मृत्तिका मातुलुङ्ग जम्बीर सुमनः सौगन्धिकादि हृद्य गन्धान् उपजिघ्रेत्, निवातसुखशय्यास्थितश्च अविबन्धार्थम् अल्पाल्पम् उष्णोदकं अनुकण्ठयन् तन्मना वेगान् अविधारयन् न निरयमाणश्च शय्यासन्ने प्रतिग्राहे अशीतस्पृक् विरिच्येत्।

अर्थात्—विरेचनौषध पीते ही छर्दि को रोकने के लिये (इस दशा में कभी २ उलटी हो जाती है।) मुख पर शीतल जल के छींटे देने चाहिये और कोसे जल से मुख के भीतर की शुद्धि करके (कुल्ले करके) आर्द्र एवं सुगन्धित मिट्टी को, निम्बू के छिलकों को अथवा चमेली के फूलों आदि सुगन्धि द्रव्यों को सूंघे इससे हृदय को बल मिलता है और मन प्रसन्न हो जाता है (औषध पान की ग्लानि मिट जाती है) और निवात गृह के भीतर सुखदायक शय्या पर बैठे या लेटे तथा थोड़ा थोड़ा कोसा २ जल पीता रहे इससे विरेचन में रुकावट नहीं होती तथा किसी शीतल वस्तु का स्पर्श भी न करे तन्मय होकर, वेगोंको न रोकता हुआ दुखी या गन्दा न होता हुआ शय्या के पास ही प्रतिग्राह (तसला-बेटपेन) में मलोत्सर्ग करता रहे और प्रक्षालनादि में उष्ण जल का प्रयोग करे। ॥ ३४-३७ ॥

हीनयोग, समयोग तथा अतियोग—

हृत्कुक्ष्यशुद्धिररुचिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः ॥३८॥
कण्डूर्विदाहः पिटिकाः पीनसो वातविड्ग्रहः।
अयोगलक्षणं योगो वैपरीत्ये यथोदितात् ॥३९॥
विट्पित्तकफवातेषु निःसृतेषु क्रमात्स्रवेत्।
निःश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम् ॥४०॥
मांसधावनतुल्यं वा मेदःखण्डाभमेव वा।
गुदनिःसरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम् ॥४१॥
भवन्त्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामयाः।

व्याख्या—विरेचन के हीनयोग का लक्षण—हृदय एवं उदर की अशुद्धि (ठीक२ शुद्धि न होना—उनमें भारीपन का अनुभव), अरुचि, पित्त एवं कफ का उत्क्लेश (वृद्धि), कण्डू, दाह, पिडिकाओं की उत्पत्ति, पीनस और वायु एवं पुरीष का (मूत्र का भी) निरोध—रुकावट।

सम्यक् योग का लक्षण—हीनयोग के लक्षणों के विपरीत लक्षण होना। देखिये श्लोक ३२ का वक्तव्य।

अतियोग का लक्षण—विरेचन में क्रमशः पुरीष, पित्त, कफ एवं वायु निकल जाने पर—कफ पित्त रहित, श्वेत, कृष्ण तथा लाल या शोणित मिश्रित जल का स्राव

होना और फिर मांस के धोअन कासा श्वेत स्राव अथवा मेदस् के टुकड़ों कासा स्राव होना और साथ ही—गुदभ्रंश, तृषा, भ्रम, नेत्रों का धंस जाना और साथ२ वमन के अतियोग के लक्षणों का उत्पन्न होना (देखिये श्लोक २६)।

वक्तव्य—विरेचन एवं वमन के अतियोग में जो लक्षण बतलाए गए हैं वे ही लक्षण दारुण विसूचिका में (हैजा या कालरा) में होते हैं अथवा आम विष (देखिये अ० ८) में होते हैं। हीनयोग में उचित व्यवस्था करे परन्तु अतियोग में तत्काल विरेचन रोकने का प्रयत्न करे अन्यथा मृत्यु हो सकती है ॥३८-४१।

सम्यक् योग का पश्चात् कर्म—

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत् ॥४२॥
धूमवर्ज्येन विधिना ततो वमितवानिव।
क्रमेणान्नानि भुञ्जानो भजेत्प्रकृतिभोजनम् ॥४३॥

व्याख्या—विरेचन का सम्यग् योग होने पर, इसका धूमपान के विना वमनोक्त विधि (देखिये श्लोक २७ तथा उसका वक्तव्य) से (अर्थात् स्नेहाचार) उपचार करे। तदनन्तर सम्यग् वान्त के समान पेया विलेपी आदि का सेवन क्रमशः करता हुआ प्राकृतिक भोजन का सेवन करे।

वक्तव्य—पेया विलेपी आदि का विधान देखिये श्लो० २९। प्राकृतिक भोजन या प्रकृति भोजन वह है जो सर्वदा का स्वाभाविक भोजन होता है ॥४२,४३॥

विरेचनोत्तर अन्य उपचार—

मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम्।
अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लंघयेत्पीतभेषजम् ॥४४॥
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसंगैरिति न बाध्यते।

व्याख्या—वमन विरेचन के पश्चात् यदि अग्नि मन्द हो अथवा भली भाँति शोधन न हुआ हो, और क्षीणता-दुर्बलता न हो अथवा दोष दुर्बलता न हो अथवा दोष दुर्बल हों अथवा अपच के लक्षण विद्यमान हों तो लंघन (उपवास) कराना चाहिये क्योंकि—उपवास करने से—स्नेहन एवं स्वेदन के कारण उत्पन्न उत्क्लेश (मिचली आदि) से तथा मलों के अवरोध से उत्पन्न किसी प्रकार की बाधा (कष्ट) नहीं रह जाती है।

वक्तव्य—इन दशाओं में लंघन से ही लाभ हो जाता है ॥४२॥

पेयादि क्रम की आवश्यकता

संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलंघनैः ॥४५॥
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत्।

व्याख्या—वमन, विरेचन, रक्त स्रावण, स्नेह पान तथा लंघन (अतिलंघन) के पश्चात् प्रायः जठराग्नि मन्द हो जाती है अतः पेयादि क्रम का सेवन करना चाहिये ॥४५॥

पेया का निषेध—

अल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ॥४६॥
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः।

व्याख्या—परन्तु जिसका पित्त एवं कफ थोड़ा निकला हो जो मद्य पायी हो अथवा जो वात पित्त जनित विकारों से पीड़ित हो उनको पेया न पिलावे अपितु उनको तर्पणादि का सेवन करावे वही उनके लिये हित होता है

वक्तव्य—पेयादि क्रम के स्थान में तर्पणादि क्रम का प्रयोग करे। पेया के स्थान में सत्तू का घोल पिलावे वह शीतवीर्य होता है और लघु, सुपच एवं तृप्ति कारक भी। तर्पण के योग च.सू अ.२३ में देखिये और इसी ग्रन्थ के अ. १४ में देखिये ॥४६॥

वमन एवं विरेचन की प्रतीक्षा—

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम् ॥४७॥
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत्।

व्याख्या—वमन कारक औषध पीने के अनन्तर-पचे विना ही (शीघ्र ही) दोषों को निकाल देती है और विरेचन कारक औषध पचती हुई (कुछ विलम्ब से) दोषों को निकालती है अतः वमन की अधिक काल पर्यन्त प्रतीक्षा न करे।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि वामक औषध से वमन कुछ शीघ्र हो जाता है और विरेचक औषधसे विरेचन कुछ विलम्ब से होता है क्योंकि वामक औषध आमाशय से ही लौट जाती है और विरेचन औषध आमाशय एवं अन्त्र को पार करके बाहिर निकलता है। अतः तदनुसार उचित उपचार की व्यवस्था करते रहना चाहिये। उदर में वामक द्रव्य की क्रिया छर्दि की सम्प्राप्ति के समान और विरेचक द्रव्य की क्रिया अतिसार की सम्प्राप्ति के समान होती है ॥४७॥

स्वयं वमन एवं विरेचन होने पर उपचार—

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ॥४८॥
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत्।

व्याख्या—यदि उदर दोष (मल) अधिक हों और रोगी दुर्बल हो परन्तु दोषों का पाक होजाने के कारण स्वतः विरेचन हो रहे हों (किसी विरेचक औषध के विना ही विरेचन प्रारम्भ हो गया हो) तो उसे भेदनीय (मल भेदक) आहारों द्वारा उपपन्न करे।

वक्तव्य—ऐसी दशा में विरेचन हो जाने देना चाहिये अपितु बथुआ का शाक आदि भेदक आहार खिला कर विरेचन में सहायता करनी चाहिये जिससे भली भान्ति विरेचन, होकर कोष्ठ का शोधन हो जाय। देखिये च.क.अ.१२ का श्लो० ६२। और इसी प्रकार यदि कदाचित् आमाशय में दोषों का सञ्चय रहने पर स्वतः वमन प्रारम्भ हो जाय तो उष्णोदक अथवा लवणोदक आदि पिला कर वमनमें सहायता करनी चाहिये। निष्कर्ष यह है कि इस दशा में विरेचन एवं वमन को रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इसे ईश्वर या प्रकृति की कृपा समझना चाहिये कि वमन अथवा विरेचन की औषध दिये बिना ही स्वतः वमन विरेचन द्वारा वह कार्य हो रहा है जो वमन विरेचन की औषध से होता ॥४८॥

मृदु विरेचन का विधान—

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः ॥४९॥
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम्।

व्याख्या—जो दुर्बल हो, जिसे पहिले शोधन किया जा चुका है, अब पुनः उसके उदर में थोड़ा दोष हो तथा जो कृश हो अथवा जिसके कोष्ठ की मृदु एवं क्रूरता आदि का वैद्य को ज्ञान न हो (किसी कारण से ज्ञान न किया जा सका हो या किया जा सकता हो) उसे वमन एवं विरेचन की मृदु औषध एवं अल्प मात्रा में औषध पीना चाहिये या देना चाहिये ॥४९॥

अन्य संकेत—

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥५०॥
हरेद्बहूंश्चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः।

व्याख्या—वमन अथवा विरेचन की औषध को बार-बार (थोड़ा थोड़ा बार बार) पीना अच्छा है क्यों कि एक साथ (एकही बार) अधिक (मात्रा में) पीना संशयावह (हानि कारक) होता है-हो सकता है। इस लिये अधिक दोषों को अथवा स्वतः प्रवृत्त (निकल रहे या निकलने के लिये उन्मुख) दोषों को थोड़ा थोड़ा एवं बार बार निकालना चाहिये ॥५०॥

दुर्बल के दोषों का विचार—

दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान् ॥५१॥
क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युर्वैनमनिर्हृताः।

व्याख्या—दुर्बल प्राणी के स्वल्प दोषों को मृदु द्रव्यों द्वारा यथा सम्भव शान्त करने का ही प्रयत्न करे (शमन चिकित्सा द्वारा उपचार करे)। परन्तु यदि वे दोष नहीं निकाले जाते (शोधन नहीं किया जाता) तो वे उसे चिरकाल पर्यन्त क्लेश (कष्ट) देते हैं अथवा मार सकते हैं।

वक्तव्य—यह श्लोक कुछ विचारणीय है, सम्भवतः ग्रंथ कर्त्ता का अभिप्राय यह है कि दुर्बलता के कारण शोधन न देवे, शमन का प्रयत्न करे, यदि चिरकाल पर्यन्त दोष कष्ट देते रहें तो मृदु द्रव्यों से शोधन कर ही देवे क्योंकि शरीर में बड़े २ दोष कष्ट देते ही रहते हैं। जो कुछ हो। च. क. अ. १२ में इसके स्थान पर इस प्रकार का पाठ है—

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः।
मृदुभिः भेषजैः दोषाः हन्युः एवम् अनिर्हृताः ॥६६॥

इस चरकोक्त पाठ में "महादोषो" पाठ अ. हृ में अल्पान् पाठ है इसी आधार पर उक्त प्रकार का समाधान किया जा सकता है ॥५१॥

अग्निवर्द्धनानन्तर शोधन—

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ॥ ५२ ॥
सन्धुक्षिताग्निं विजित-कफवातं च शोधयेत्।

व्याख्या—जिस की जठराग्नि मन्द हो और कोष्ठ क्रूर हो उसे जौखार एवं लवण से मिश्रित घृत का सेवन करा कर अग्नि को प्रदीप्त करे और उसके कफ एवं वात को शान्त करे तत्पश्चात् विधि पूर्वक शोधन करे।

वक्तव्य—मन्दाग्नि में किया गया शोधन विसूचिका का रूप धारण कर सकता है और क्रूर कोष्ठ में शोधन निफल हो जाता है ॥५२॥

विरेचन में अन्यान्य विचार—

रूक्षबह्वनिलक्रूर-कोष्ठ-व्यायामशीलिनाम् ॥५३॥
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति।
तेभ्यो वस्तिं पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ॥५४॥
शकृन्निर्हृत्य वा किंचित्तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः।
प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम् ॥५५॥
विषाभिघातपिटिका-कुष्ठशोफविसर्पिणः।
कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान् विशोधयेत् ॥५६॥

व्याख्या—जिन का कोष्ठ रूक्ष है, वायु रुका रहता है, कोष्ठ क्रूर है, जो व्यायाम करते रहते हैं तथा जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त है उनको दी गई विरेचक औषध—विरेचन किये बिना ही पच जाती है।

ऐसे मानवों को विरेचन के पूर्व स्नेह वस्ति (अनुवासन) देवे तत्पश्चात् एरण्ड तैल आदि से स्निग्ध विरेचन देवे अथवा तीक्ष्ण द्रव्यों की बनाई गई फल वर्त्ति गुद में देकर थोड़ा मल (पुरीष) निकाल कर स्निग्ध विरेचन देवे क्योंकि उक्त प्रकारों से प्रवृत्त पुरीष को

स्निग्ध विरेचन सुख पूर्वक निकाल देता है।

और विषविकार, अभिघात (चोट एवं घाव), पिडिका, कुष्ठ, शोथ, विसर्प, कामला, पाण्डुरोग तथा प्रमेह से पीड़ितों को थोड़ा सा स्नेहन करके विरेचन दे देना चाहिये।

सभी को स्नेह विरेचन देना चाहिये परन्तु स्नेह से भावितों (आहार में स्वभावतः स्नेहों का अधिक सेवन करने वालों) को रूक्ष विरेचन देना चाहिये।

वक्तव्य—कभी कभी मलाशय में पुरीष इतना सूख जाता है जिससे उस की गांठें बन्ध जाती हैं और वे गुद वलियों में फंस जाती हैं या मलाशय में रुकी पड़ी रहती हैं इस दशा में अनुवासन देकर गुदमार्ग एवं मलाशय को स्निग्ध करना आवश्यक होता है। अथवा फलवर्तिसे प्रवाहणी वलिमें गति उत्पन्न करना आवश्यक होता है जिससे पुरीष की गाँठें खिसक कर निकल जायें और फिर स्निग्ध विरेचन से मलाशय सुख पूर्वक शुद्ध हो जाता है।

एरण्ड तैल आदि स्नेह विरेचन हैं और त्रिफला एवं निसोत आदि रूक्ष विरेचन हैं। विषविकार आदि से पीडितों को अधिक स्नेहन नहीं करना चाहिये ॥५३-५६॥

स्नेह एवं स्वेदन का बार २ प्रयोग—

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे ॥५७॥
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत, स्नेहमन्ते बलाय च।

व्याख्या—वमन विरेचन आदि कर्मों के बीच २ में पुनः पुनः स्नेहन एवं स्वेदन का प्रयोग करते रहना चाहिये और पञ्चकर्म एवं चिकित्सा कर्म मात्र के अन्त में बल वृद्धि के लिये स्नेहन का प्रयोग करना चाहिये (स्नेहों का सेवन करना चाहिये)।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. चि. अ. ३१—स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः, स्नेहसाध्याश्च भवन्ति, स्नेहो हि पान अनुवासनमस्तिष्कशिरोवस्तिउत्तरवस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषुउपयोज्यः॥ ३॥

अर्थात्—स्नेह (घृत आदि स्नेह या स्निग्ध पदार्थ) प्राणी का सार है (बल है), प्राणों का आश्रय है तथा स्नेह से वे सफल (स्वस्थ) रह सकते हैं या हो सकते हैं और स्नेह का उपयोग—पीने में, अनुवासन वस्ति में, शिर पर लगाने में, शिरो वस्ति के रूप में, उत्तर वस्ति में, नस्य कर्म में, कान में भरने-डालने में, शरीर पर पोतने-लगाने में तथा भोजन में करना चाहिये ॥५७॥

मलों का उत्क्लेशन—

मलो हि देहादुत्क्लेश्य ह्रियते वाससो यथा ॥५८॥
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लिष्टः शोध्यते शोधनैर्मलः।

व्याख्या—जैसे वस्त्र से स्नेहन स्वेदन द्वारा मल (मैल) को उगाल कर निकाला जाता है वैसे ही शरीर से स्नेहन स्वेदन द्वारा मलों को उगाल कर वमन विरेचन आदि आदि शोधनों से निकाल दिया जाता है ॥५८॥

स्नेहन स्वेदन की उपयोगिता—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः ॥५९॥
दारु शुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते ॥६०॥

व्याख्या—स्नेहन एवं स्वेदन का अभ्यास (सेवन) किये विना जो संशोधन का प्रयोग करता है उसका शरीर वैसे विदीर्ण हो जाता है जैसे स्नेहन एवं स्वेदन किये विना (दबाने–मोड़ने में) सूखी लकड़ी (सीधी लाठी आदि लकड़ी) विदीर्ण हो जाती है (टूट जाती है या फट जाती है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि—विरेचन एवं वमन के पूर्व स्नेहन एवं स्वदन अत्यावश्यक है। स्नेहन एवं स्वभावतः सर्वदा होता रहता है अतः व्यवहार में प्रत्यक्षतः स्नेहन स्वेदन किये विना भी वमन विरेचन किये जाते हैं और लाभ भी होता है प्रायः कोई हानि भी नहीं होती, तथापि शोधन के पूर्व इसका विचार अवश्य कर लेना चाहिये कि शरीर संशोधन के योग्य स्निग्ध एवं स्विन्न है कि नहीं ॥५९,६०॥

संशोधन का सुफल—

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम्।
चिराच्च पाकं वयसः करोति
संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥६१॥

व्याख्या—विधि पूर्वक सेवन किया गया संशोधन—बुद्धि को निर्मल करता है, इन्द्रियों को बलवान् बनाता है, धातुओं में स्थिरता उत्पन्न करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है और बुढ़ापा को शीघ्र नहीं आने देता।

वक्तव्य—बुद्धिप्रसाद अर्थात् उन्माद एवं अतत्वाभिनिवेश आदि बौद्धिक रोगों का विनाश एवं अनुत्पत्ति तथा जड़ता का अभाव एवं विनाश। बलम् इन्द्रियाणां अर्थात् मनस् में स्फूर्त्ति, उत्साह एवं शुभ संकल्प का तथा श्रोत्रादि में शब्द आदि विषयों के ग्रहण की शक्ति। ज्वलनस्य दीप्तिः अर्थात् जठराग्नि एवं भ्राजक एवं रञ्जक आदि पञ्चविध पित्तों की स्वकर्म में प्रवृत्ति। वयसः चिरात् पाकः अर्थात् बुढ़ापा के आगमन में विलम्ब फलतः चिर काल पर्यन्त यौवन बना रहना।

भवन एवं नगर के भीतरी भाग की सफाई कर देने से तथा वस्त्र को धो देने से जो लाभ होते हैं वे ही लाभ शरीर

के भीतरी भाग का शोधन कर देने से होते हैं और उनकी सफाई न करने से जो हानियाँ होती हैं वे ही संशोधन न करने से होती हैं अतः समय समय पर स्वस्थ के शरीर का शोधन परमावश्यक होता है इससे तत्काल एवं स्थायी लाभ होता है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च.सू.अ.२६—

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः संशोधनैः ये तु न तेषां पुनः उद्भवः ॥२०॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

ऊनविंशोऽध्यायः।

अथातो वस्तिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब वस्तिकर्म की विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. सि. स्था. अ० १—२—३ में, सु. चि. अ. ३५,३७ तथा ३८ में और अ. सं. सू. अ. २८ में देखिये।

वस्ति शब्द का प्रयोग इस प्रकरण में समग्रवस्ति यन्त्र जिसमें वस्तिनेत्र (नली) तथा वस्ति पुट नामक उपकरण जुड़े रहते हैं के लिये, वस्तिकर्म के लिये, केवल वस्तिपुट के लिये तथा वस्ति यन्त्र द्वारा दिये जाने वाले द्रव पदार्थ के लिये किया गया है।

वस्ति का वर्णन तथा उस से लाभ—

वातोल्बणेषु दोषेषु वाते वा वस्तिरिष्यते।
उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणीस्त्रिविधस्तु सः ॥१॥
निरूहोऽन्वासनं वस्तिरुत्तरस्तेन साधयेत्।
गुल्माऽनाह-खुड-प्लीह-शुद्धाऽतीसार-शूलिनः ॥२॥
जीर्णज्वर-प्रतिश्याय-शुक्राऽनिलमलग्रहान्।
वर्ध्माऽश्मरीरजोनाशान् दारुणांश्चाऽनिलामयान् ॥३॥

व्याख्या—वस्ति का प्रयोग—वात प्रधान दोषों में तथा केवल वायु में लाभदायक होता है।

वस्ति सभी उपक्रमों (चिकित्सा विधानों) में श्रेष्ठ मानी जाती है।

विधिभेद से वस्ति तीन प्रकार की होती है १—निरूहण (निरूहण—आस्थापन), २—अन्वासन (अनुवासन—स्नेहवस्ति) तथा ३—उत्तर वस्ति।

निरूहण वस्ति द्वारा—गुल्म, आनाह, खुड रोग (वात रक्त रोग), प्लीह विकार, निरामातिसार, शूल, जीर्ण ज्वर, प्रतिश्याय, शुक्रग्रह (शुक्रोदावर्त्त—शुक्ररोध), वातग्रह (वातोदावर्त्त—वायु की रुकावट), मलग्रह (पुरीषोदावर्त्त—पुरीष रोध), वृद्धि रोग (अण्ड वृद्धि एवं आन्त्रवृद्धि), अश्मरी (अश्मरी के समय का मूत्ररोध), रजोरोध तथा वात जनित भीषण रोगों को नष्ट करने का प्रयत्न करे।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में —तत्र द्विविधो वस्तिः—नैरूहिकः स्नैहिकश्च। आस्थापनम् निरूह इति अनर्थान्तरम्। स दोषनिर्हरणात् शरीरनीरोहणाद् वा निरूहः वयःस्थापनात् आयुःस्थापनात् वा आस्थापनम्।

अनुवसन् अपि न दुष्यति अनु दिवसं दीयते इति अनुवासनः। (सु. चि. अ. ३५—पाठ—१८)। तथा शा. ध. सं. ३. खं. अ. ५—

कषायक्षारतैलैः यो दीयते स निरूहगम्।
यः स्नेहः दीयते स स्यात् अनुवासन नामकः।

भावार्थ—वस्ति द्रव्य भेद से दो प्रकार की होती है—

१—निरूहण और २—स्नेहन।

जो कषाय (क्वाथ–उष्ण, क्षार तथा तैल मिलाकर दी जाती है उस का नाम "अनुवासन" है।

उत्तर वस्ति—जो वस्ति मूत्र मार्ग एवं भग मार्ग में दी जाती है उसका नाम "उत्तरवस्ति" है यह भी उक्त प्रकार से दो प्रकार की होती है १— निरूहण तथा २—अनुवासन।

व्रणवस्ति—व्रण धोने की वस्ति जिससे व्रण धोए जाते हैं इसी से कान भी धोए जाते हैं, नेत्र में औषध द्रव डालने का ड्रापर भी व्रणवस्ति का छोटा रूप है वस्ति अर्थात् पिचकारी ॥१–३॥

निरूहण के अयोग्य

अनास्थाप्यस्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशं कृशः।
आमातिसारी वमिमान् संशुद्धो दत्त-नावनः ॥४॥
श्वासकासप्रसेकार्शोहिध्माध्मानाल्पवह्नयः।
शूनपायुः कृताहारो बद्धच्छिद्रोदकोदरी ॥५॥
कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी।

व्याख्या—अतिस्निग्ध (एवं पीत स्नेह), उरःक्षत वाला, अत्यन्त कृश, आमातिसार से पीड़ित, छर्दि से पीड़ित, वमन विरेचन से संशोधन करते ही, जिसे नस्य दिया गया है, कास, श्वास, प्रसेक, अर्श, हिक्का तथा आध्मान के रोगी, जिसके मलाशय में पुरीष थोड़ा हो अथवा गुद में शोथ हो, भोजन के अनन्तर, बद्धगुदोदर, छिद्रोदर तथा जलोदर के रोगी, कुष्ठ तथा मधुमेह के रोगी

और सात मास की गर्भवती इन सब को निरूहण का प्रयोग (लम्बा योग) नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—शेष देखिये च. सि. अ. २ के पाठ १४-१५ और वहाँ मासान् सप्त च गर्भिणी,, पाठ के स्थान में "आमप्रजाता" पाठ है ॥४,५॥

निरूहण एवं अनुवासन के योग्य—

आस्थाप्या एव चान्वास्या विशेषादतिवह्नयः ॥६॥
रूक्षाः केवलवातार्ताः नानुवास्यास्त एव च।
येऽनास्थाप्यास्तथा पाण्डुकामलामेहपीनसाः ॥७॥
निरन्नप्लीहविड्भेदिगुरुकोष्ठकफोदराः।
अभिष्यन्दिकृशस्थूलकृमिकोष्ठाढ्यमारुताः ॥८॥
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान्।

व्याख्या—जो आस्थापन (निरूहण) के योग्य होते हैं वे अनुवासन के योग्य भी होते हैं (दोनों वस्तियाँ क्रमशः साथ२ दी जाती हैं)।

विशेषतः—प्रदीप्त जठराग्नि वाले, रूक्ष तथा केवल वायु से पीड़ित मानव अनुवासन के योग्य होते हैं।

जो आस्थापन वस्ति के अयोग्य होते हैं वे प्रायः अनुवासन के भी अयोग्य होते हैं (क्योंकि किसी एक ही वस्ति का प्रयोग नहीं किया जाता)।

विशेषतः—पाण्डु रोग, कामला, प्रमेह, पीनस, भूखा या जिसने उपवास किया है, प्लीहाविकार, अतिसार, उदर की गुरुता, कफोदर, अभिस्यन्दन, अतिस्थूल, क्रिमिरोग, ऊरुस्तम्भ, जिसने विषपान किया है, गरविष,, अपची, श्लीपद तथा गलगण्ड वाला ये सब रोगी एवं रोग अनुवासन के अयोग्य होते हैं ॥६-८॥

वस्ति नेत्र का वर्णन—

तयोस्तु नेत्रं हेमादिधातुदार्वस्थिवेणुजम् ॥९॥
गोपुच्छाकारमच्छिद्रं श्लक्ष्णजु गुलिकामुखम्।

व्याख्या-निरूहण एवं अनुवासन का नेत्र-सोना तामा आदि किसी धातु का अथवा लकड़ी, अस्थि अथवा बाँस का बनाया जाय। और वह गोपुच्छ के सदृश—मूल में मोटा और अग्र भाग की ओर क्रमशः पतला हो, उसके पार्श्व में कोई छिद्र न हो और वह चिकना एवं सीधा हो तथा उसका मुख (अग्र भाग) गुलिकाकार हो अर्थात् तीखा न हो।

वक्तव्य—इस नेत्र के मूल की ओर वस्तिपुट बांधा जाता है और यह नलिकाकार होता है अर्थात् इसमें इस ओर से उस ओर तक सुराख होता है इसी के द्वारा वस्तिगत द्रव तलाशय तक पहुँचता है।

नेत्र की लम्बाई—

ऊनेऽब्दे पञ्च, पूर्णेऽस्मिन्नासप्तम्याऽङ्गुलानि षट् ॥१०॥
सप्तमे सप्त, तान्यष्टौ द्वादशे, षोडशे नव।
द्वादशैव परं विंशाद्वीक्ष्य वर्षान्तरेषु च ॥११॥
वयोबलशरीराणि प्रमाणमभिवर्धयेत्।

व्याख्या—नेत्र का प्रमाण (लम्बाई) एक वर्ष से न्यून वयस् में ५ अंगुल, एक से ६ वर्ष पर्यन्त ६ अंगुल, सातवें वर्ष में ७ अंगुल, बारहवें वर्ष में ८ अंगुल, सोलहवें वर्ष में ९ अंगुल और बीस वर्ष पूर्ण होने पर जीवन भर १२ अंगुल होना चाहिये।

और अनिर्दिष्ट वर्षों में तथा वयस्, बल एवं शरीर के परिमाण के अनुसार विचार कर के उक्त परिमाण को बढ़ा लिया जा सकता है (और घटा भी लिया जा सकता है) ॥१०,११॥

नेत्र की स्थूलता तथा छिद्र—

स्वांगुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनाग्रे कनिष्ठया ॥१२॥
पूर्णेऽब्देऽङ्गुलमादाय तदर्धार्धप्रवर्धितम्।
त्र्यंगुलं परमं छिद्रं मूलेऽग्रे वहते तु यत् ॥१३॥
मुद्गं माषं कलायं च क्लिन्नं कर्कन्धुकं क्रमात्।

व्याख्या—वस्ति नेत्र मूल भाग में रोगी के अंगूठा के समान मोटा और अग्रभाग में कनिष्ठा अंगुली के समान पतला होना चाहिये।

वस्ति नेत्र का छिद्र (छेद सुराख)-एक वर्ष की वयस् पूर्ण होने पर एक अंगुल से लेकर चौथाई चौथाई अंगुल बढ़ाया गया परम (बड़े से बड़ा) तीन अंगुल होना चाहिये। छिद्र का यह परिमाण मूल भाग में होना चाहिये। यथा १ से ६ वर्ष की वयस् में १ अंगुल, सात से ११ वर्ष की वयस् में १। अंगुल, १२ से १५ वर्ष की वयस् से १॥ अंगुल, १६ वर्ष की वयस् में१॥। अंगुल, १७ वर्ष की वयस् में २ अंगुल, १८ की वयस् में २। अंगुल, १९ वर्ष की वयस् में २॥ अंगुल, २० वर्ष की वयस् में २.॥ अंगुल, और इस के पश्चात् ३ अंगुल का छिद्र होना चाहिए।

और अग्रभाग में जो छिद्र-मूंग (१ वर्ष से ६ वर्ष), माष (७ से ११ वर्ष); कलाय (१२ से १५ वर्ष), उबाला हुआ-फुलाया हुआ या हरा कलाय (मटर का दाना) १६ से २० वर्ष) तथा कर्कन्धु अर्थात् छोटा बेर-झाड़ी का बेर (२० वर्ष से जीवन भर) को बहने वाला हो वैसा होना चाहिए।

वक्तव्य—यह नेत्र के मूल भाग तथा अग्रभाग के छिद्र का परिमाण बता या गया है परन्तु पूर्णेऽब्दे…परमं छिद्रं

मूले'' पाठ विचारणीय है तथापि इसकी व्याख्या सर्वाङ्ग सुन्दरी एवं आयुर्वेद रसायन नामक टीकाओं के अनुसार कर दी गई है। जब कि मूल में नेत्र की मोटाई ही अंगूठा के समान है तब उसमें तीन अंगुल का छिद्र करने का उपदेश समझ में नहीं आता और चरक एवं सुश्रुत में इस प्रकार का कोई उपदेश—आदेश नहीं है। यद्यपि अ० सं० सू० अ० २८ में ऐसा ही पाठ है' एक प्रकार से कल्पना करके संगति अवश्य बैठ सकती है कि—मूल भाग पर तो वस्तिपुट ही बांधा जाता है अतः वह कितना भी मोटा क्यों न हो परम छिद्रं मूले—अर्थात् नेत्र को मूल प्रदेश में इतना मोटा बनाया जा सकता है जिसमें तीन अंगुल का छिद्र बन सके। जो कुछ हो विद्वान् पाठक समादधति पण्डिता: का अनुसरण करें ॥१२,१३॥

कर्णिका एवं वस्ति पुट का वर्णन

मूलच्छिद्रप्रमाणेन प्रान्ते घटितकर्णिकम् ॥१४॥
वर्त्याग्रे पिहितं, मूले यथास्वं द्व्यंगुलान्तरम्।
कर्णिकाद्वितयं नेत्रे कुर्यात् तत्र च योजयेत् ॥१५॥
अजाविमहिषादीनां वस्तिं सुमृदितं दृढम्।
कषायरक्तं निश्छिद्रग्रन्थिगन्धशिरं तनुम् ॥१६॥
ग्रथितं साधु सूत्रेण सुखसंस्थाप्यभेषजम्।

व्याख्या—मूलच्छिद्र प्रमाण के समान—प्रान्त (अग्रभाग) पर अर्थात् १२ अंगुल के नेत्र पर अग्र की ओर ३ अंगुल पर— एक कर्णिका बनानी चाहिये और अग्रभाग के छिद्र में बत्ती डाल रखनी चाहिये।

और नेत्र के मूलभाग की ओर तीन अंगुल पर दो अगुल के अन्तर (दूरी) से दो कर्णिका बनानी चाहिए और उन्हीं पर वस्ति पुट बांधना चाहिए।

वस्तिपुट—बकरा, भेड़ा अथवा भैंसा आदि के मूत्राशय का होता है जिसको भली भांति मर्दित किया गया हो और दृढ़ हो, कषाय रस (बबूल आदि की छाल के कषाय रस) से रंगा गया हो, उस में एक छिद्र के अतिरिक्त कोई छिद्र न हो, कोई ग्रन्थि न हो, दुर्गन्ध न हो और वह सिराओं से रहित हो तथा तनु (तनी हुई या कोमल) हो और यह इतना बड़ा हो जिस में औषध द्रव सुख पूर्वक भरा (भरा जा सकता) जा सकता हो और वह नेत्र पर सूत्र (डोरा) से भली भाँति बान्धा गया हो।

वक्तव्य—कर्णिका अर्थात् कंगनी। यह अग्रभाग पर इसलिये बनाई जाती है जिससे नेत्र तीन अंगुल से अधिक प्रविष्ट न हो और मूल भाग पर इसलिये बनाई जाती है जिससे वस्तिपुट में से नेत्र खिसक न जाय। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—(सु० चि० अ० ३५)—नेत्र की लम्बाई—

तत्र साम्वत्सरिकाऽष्ट द्विरष्ट वर्षाणां षट् अष्टदशांगुल प्रमाणानि कनिष्ठिकाऽनामिकामध्यमाऽङ्गुलिपरिणाहानि, अग्रेऽध्यर्द्धाङ्गुल — द्व्यङ्गुलाऽर्द्धतृतीयाऽङ्गुलसनिविष्टकर्णिकानि, कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि, मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदद्ध्यात् नेत्राणि। तेषु च आस्थापनद्रव्यप्रमाणम् आतुरहस्तसम्मितेन प्रसृतेन सम्मितो प्रसृती द्वौ चत्वारोऽष्टो च विधेयाः।

पञ्चविंशतेः ऊर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं (नेत्रं), मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरिणाहम्, अग्रे कनिष्ठिकोदरपरिणाहम्, अग्रे अंगुलसन्निविष्टकर्णिकम्। गृध्रपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं, कोलाऽस्थिमात्रछिद्रम्, क्लिन्नकलायमात्रछिद्रम् इति एके, सर्वाणि च मूले वस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि, आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु विहितं द्वादशप्रसृताः, सप्ततेः ऊर्ध्वं नेत्रप्रमाणं एतत् एव, द्रव्यप्रमाणं तु द्विरष्टवर्षवत् ॥१४–१६॥

उक्त वस्ति के अभाव में अन्य वस्ति पुट—

वस्त्यभावेऽङ्कपादं वा न्यसेद्वासोऽथवा घनम् ॥१७॥

व्याख्या—यदि उक्त बकरा आदि का मूत्राशय वस्ति पुट बनाने के लिये उपलब्ध न हो तो बकरा आदि के ऊरु के नली जैसे चमड़ा अथवा गाढ़े कपड़े का वस्तिपुट बना लेवे।

वक्तव्य—अथवा बत्तख एवं मोर आदि की ग्रीवा के नली जैसे चमड़ों का वस्तिपुट बना लिया जा सकता है और अब तो रबड़ का वस्तिपुट भी बनाया जाता है और समस्त नेत्र समेत वस्तियन्त्र ही बना बनाया मिलता है ॥१७॥

निरूहण एवं अनुवासन की मात्रा—

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरात्परम्।
प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट् प्रसृतास्ततः ॥१८॥
प्रसृतं वर्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु।
आसप्ततेरिदं मानं, दशैव प्रसृताः परम् ॥१९॥
यथायथं निरूहस्य पादो मात्राऽनुवासने।

व्याख्या—निरूहण वस्ति में दिये जाने वाले घोल मात्रा प्रथम वर्ष में १ प्रकुञ्च (१ पल = ४ कर्ष) होनी चाहिये। इसके पश्चात् प्रतिवर्ष १-१ प्रकुञ्च मात्रा बढ़ानी चाहिये जब तक ६ प्रसृत मात्रा (१२ प्रकुञ्च = १२ पल) हो जाय। इसके पश्चात् १-१ प्रसृत मात्रा बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार १८ वर्ष की वयस् में १२ प्रसृत मात्रा हो जाती है इसके पश्चात् ७० वर्ष की वयस पर्यन्त यही मात्रा रहनी चाहिये और उसके पश्चात् १०

प्रसृत की मात्रा होनी चाहिये।

और इसी क्रम से बढ़ाते बढ़ाते अनुवासन वस्ति में दिये जाने वाले स्नेहन की मात्रा निरूहण वस्ति में बतलाये गये घोल से चौथाई (चतुर्थांश) होनी चाहिये।

वक्तव्य—यह ध्यान देने योग्य बात है कि—नेत्र का परिमाण लिखते समय २० वर्ष पर्यन्त विचार किया है और मात्रा लिखते समय १८ वर्ष तक का उल्लेख किया है। अस्तु। प्रकुञ्च ४ कर्ष का होता है जिसे पल कहते हैं और प्रसृत दो प्रकुञ्च का होता है। पादो मात्रानुवासने पाठ का तात्पर्य है कि–जिस वयस् में निरूहण की मात्रा १ पल कही है उस वयस् में अनुवासन की मात्रा १ कर्ष होनी चाहिये ॥ १८,१९ ॥

वस्ति देने की विधि—

आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलं पुनः ॥२०॥
अन्वासनार्हं विज्ञाय पूर्वमेवानुवासयेत्।
शीते वसन्ते च दिवा रात्रौ केचित्ततोऽन्यदा ॥२१॥
अभ्यक्तस्नातमुचितात्पादहीनं हितं लघु।
अस्निग्धरूक्षमशितं सानुपानं द्रवादि च ॥२२॥
कृतचङ्क्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे।
नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः ॥२३॥
सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम्।

व्याख्या—निरूहण के योग्य मानव को विधिपूर्वक स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन एवं विरेचन द्वारा शुद्ध करे तत्पश्चात् पुनः पूर्णरूप से स्वस्थ-बलवान् हो जाने पर यदि अनुवासन के योग्य होतो प्रथम अनुवासन वस्ति देवे।

कुछ आचार्यों का कथन है कि—शीत काल (हेमन्त एवं शिशिर ऋतु) में एवं वसन्त ऋतु में अनुवासन वस्ति दिन में देवे और अन्य ऋतुओं (ग्रीष्म, प्रावृट् एवं शरद्) में अनुवासन वस्ति रात्रि में देनी चाहिये।

उस दिन अभ्यंग करा कर स्नान करावे और उचित आहार से चतुर्थांश, पथ्य, लघु, न अति स्निग्ध और न अतिरूक्ष द्रव एवं उष्ण आदि गुणयुक्त, उचित अनुपान के साथ भोजन खिलाकर और थोड़ा टहला कर तथा पुरीष एवं मूत्र का उत्सर्जन करा कर, सुखदायक शय्या पर जो न बहुत ऊँची हो तथा सिरहाना भी अधिक ऊँचा न हो बाईं करवट लेटा देवे और उसकी दाहिनी टाँग को सकुचित कर देवे और बाईं टाँग को प्रसारित कर देवे ॥ २०,२३ ॥

वस्ति नेत्र का प्रवेशन करने की विधि—

अथास्य नेत्रं प्रणयेत्स्निग्धे स्निग्धमुखं गुदे ॥२४॥
उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमकम्पयन्।
पृष्ठवंशं प्रति ततो नातिद्रुतविलम्बितम् ॥२५॥
नातिवेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत्।
सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥२६॥

व्याख्या—इसके पश्चात्—वस्ति पुट में औषध का घोल डाल कर एवं उसमें नेत्र को भली भांति बांध कर और उसमें की वायु को निकाल कर (वस्ति पुट को दबाने से वायु निकल जाता है), नेत्र पर तथा गुदमार्ग में स्नेह चुपड़ कर, गुद में नेत्र का प्रवेश पृष्ठ वंश के अनुकूल करे, नेत्र का प्रवेश करते समय हाथ कम्पित न हो तदनन्तर न अति शीघ्रता से और न अति विलम्ब से न अतिवेग से और न अति मन्दता से धीरे धीरे एक साथ (बिना रुके) वस्ति पुट को प्रपीडित करे, परन्तु उतना ही प्रपीडित करे जिससे समस्त द्रव चला जाय क्यों कि अवशिष्ट द्रव में वायु रहता है वह न चला जाय (फिर धीरे धीरे नेत्र को गुदमें से निकाल लेवे)॥२४-२६॥

वस्तिदान के पश्चात् कर्म—

दत्ते तूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिजौ।
तत्पार्ष्णिभ्यां तथा शय्यां पादतश्च त्रिरुत्क्षिपेत् ॥२७॥
ततः प्रसारिताङ्गस्य सोपधानस्य पार्ष्णिके।
आहन्यान्मुष्टिनाऽङ्गं च स्नेहेनाभ्यज्य मर्दयेत् ॥२८॥
वेदनार्तमिति स्नेहो न हि शीघ्रं निवर्तते।
योज्यः शीघ्रं निवृत्तेऽन्यः स्नेहोऽतिष्ठन्नकार्यकृत् ॥२९॥

व्याख्या—इस प्रकार वस्तिकर्म कर चुकने पर उसे चित लेटा देवे तथा फिर उसके स्फिचों को मले या थपथपावे अथवा उसीकी एड़ियों द्वारा थपथपावे तथा पैताना की ओर से शय्या को थोड़ा उठा कर पटके तथा तकिया लगा कर एवं हांथ पांव पसार कर लेटे हुए की एड़ियों एवं पालियों पर मुट्ठी से थपथपावे तथा शरीर पर स्नेह का अभ्यंग करके मर्दन करे विशेषतः जहां जहां वेदना हो, ऐसा करने से वस्ति द्वारा दिया गया स्नेह शीघ्र नहीं निकलता, यदि शीघ्र निकल ही जांय तो तत्काल दुबारा स्नेह वस्ति दे देनी चाहिये क्योंकि यदि स्नेह भीतर कुछ समय के लिये रुकता नहीं है तो कार्य अर्थात् लाभ भी नहीं होता ॥२७-२९॥

स्नेह लौटने पर पथ्य, न लौटने पर उपचार—

दीप्ताग्निं त्वागतस्नेहं सायाह्ने भोजयेल्लघु।
निवृत्तिकालः परमस्त्रयो यामास्ततः परम् ॥३०॥
अहोरात्रमुपेक्षेत, परतः फलवर्तिभिः।

तीक्ष्णैर्वा बस्तिभिः कुर्याद्यत्नं स्नेहनिवृत्तये ॥३१॥
अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जड्यादिदोषकृत्।
उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिबेत् ॥३२॥
प्रातर्नागरधान्याम्भः कोष्णं, केवलमेव वा ।

व्याख्या—स्नेह लौट आने पर यदि जठराग्नि प्रदीप्त हो तो सायं काल लघु भोजन करा देवे ।

स्नेह लौटने का समय अधिक से अधिक तीन प्रहर है । इसके पश्चात् भी ८ प्रहर तक उपेक्षा या प्रतीक्षा करे तत्पश्चात्—तीक्ष्ण फलवर्त्ति द्वारा अथवा तीक्ष्ण वस्ति (निरूहण वस्ति) द्वारा स्नेह को लौटाने का प्रयत्न करे ।

यदि मलाशय की रूक्षता के कारण—स्नेह न निकला हो और जाड्य आदि दोष—विकार भी न कर रहा हो तो अवश्य उपेक्षा करे—निकालने का प्रयत्न ही न करे । अपितु—रात्रि या विश्राम करने पर—प्रातःकाल—सोंठ एवं धनियाँ का उष्ण जल अथवा केवल उष्ण जल का पान करे ॥३०-३२॥

अनुवासन वस्ति का पुनः प्रयोग—

अन्वासयेत्तृतीयेऽह्नि पञ्चमे वा पुनश्च तम् ॥३३॥
यथा वा स्नेहपक्तिः स्यादतोऽत्युल्वणमारुतान् ।
व्यायामनित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरम् ॥३४॥

व्याख्या—इसके पश्चात् उसे तीसरे अथवा पाँचवें दिन फिर अनुवासन वस्ति देवे अथवा जैसे२ स्नेह का पाचन होता जाय वैसे २ अनुवासन देता जाय । इसी कारण- जिनके शरीर में वायु बहुत हो, जो प्रति दिन व्यायाम करता हो, जिनकी अग्नि प्रदीप्त हो तथा जो रूक्ष हों उनको प्रति दिन अनुवासन दिया जा सकता है ॥ ३३,३४ ॥

अनुवासन के पश्चात् निरूहण का प्रयोग—

इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये ।
निरूहं शोधनं युञ्ज्यादस्निग्धे स्नेहनं तनोः ॥३५॥

व्याख्या—इस प्रकार तीन चार स्नेह वस्तियों द्वारा भलीभाँति स्नेहन हो जाने पर—स्रोतों की शुद्धि के लिये—शोधन करनेवाली निरूहण वस्ति का प्रयोग करे परन्तु यदि शरीर स्निग्ध न हो तो स्नेहन वस्ति का ही प्रयोग करे या स्नेहपान द्वारा शरीर का स्नेहन करे ॥३५॥

निरूहण वस्ति की विधि—

पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे ।
मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले ॥३६॥
अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलं नातिबुभुक्षितम् ।
अवेक्ष्य पुरुषं दोषभेषजादीनि चादरात् ॥३७॥
बस्तिं प्रकल्पयेद्वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह ।

व्याख्या—अनुवासन वस्ति कर्म के पश्चात्—पाँचवें अथवा तीसरे दिन अथवा ज्योतिषशास्त्रानुसार किसी भी अच्छे दिन, मध्याह्नकाल कुछ ढल जाने पर—बलिदान एवं मङ्गलकार्य—इष्टदेवता का पूजन करके, मानव को—अभ्यङ्ग तथा स्वेदन करके तथा मलमूत्र का त्याग कराकर, जब वह अत्यन्त भूखा न हो तब दोष एवं औषध का भली-भाँति विचार करके और आवश्यकता हो तो वस्ति कर्म को जानने वाले वैद्य के साथ परामर्श करके वस्ति द्रव को तैयार करे ॥३६-३७॥

वस्ति द्रव तैयार करने की विधि—

क्वाथयेद्विंशतिपलं द्रव्यस्याष्टौ फलानि च ॥३८॥
ततः क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत् ।
पित्ते स्वस्थे च षष्ठांशमष्टमांशं कफेऽधिके ॥३९॥
सर्वत्र चाष्टमं भागं कल्काद्भवति वा यथा ।
नात्यच्छसान्द्रता वस्तेः पलमात्रं गुडस्य च ॥४०॥
मधुपटुवादिशेषं च युक्त्या सर्वं तदेकतः ।
उष्णाम्बुकुम्भीबाष्पेण तप्तं खजसमाहतम् ॥४१॥
प्रक्षिप्य वस्तौ प्रणयेत्पायौ नात्युष्णशीतलम् ।
नातिस्निग्धं न वा रूक्षं नातितीक्ष्णं न वा मृदु ॥४२॥
नात्यच्छसान्द्रं नोनातिमात्रं नापटु नाति च ।
लवणं तद्वदम्लं च पठन्त्यन्ये तु तद्विदः ॥४३॥
मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोः पृथक् ।
कर्षार्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥४४॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत् ।
माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ॥४५॥
आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः ।

व्याख्या—निरूहणोपयोगी द्रव्य (देखिये कल्पस्थान अ० ४) २० पल भर लेकर और ८ मैनफल मिलाकर जौ कुट करके आठगुने जलमें क्वाथ करे और अष्टमांशावशिष्ट रहने पर छान लेवे और वायु की अधिकता हो तो क्वाथ से चतुर्थांश स्नेह (एरण्डतैल आदि कोई उपयुक्त स्नेह) मिलावे, पित्त की अधिकता हो तो एवं स्वस्थ (तीनों दोषों की समता हो अर्थात् स्वस्थ मानव को वस्ति देना) हो तो छठा भाग स्नेह मिलावे और कफ की अधिकता हो तो आठवाँ भाग स्नेह मिलावे ।

और सब दशाओं में कल्क द्रव्यों का कल्क आठवाँ भाग मिलावे अथवा जिससे उक्त क्वाथ न बहुत पतला रहे और न बहुत गाढ़ा हो जाय उतना कल्क मिलावे ।

और गुड़ १ पल मिलावे तथा मधु एवं लवण तथा जौखार, मांस रस, सुरा, आसव, काञ्जी एवं दूध आदि आवश्यक पदार्थ उचित मात्रा से मिलावे।

सबको एक भाण्ड में मिलाकर—डाल कर, उबलते जल में धर कर उष्ण करे और मथानी से भलीभांति मथे। और जब वह द्रव—न बहुत उष्ण हो और न बहुत शीतल हो (अर्थात् समशीतोष्ण—गुनगुना हो) तथा न अति स्निग्ध हो न अति रूक्ष हो, अति तीक्ष्ण एवं अति मृदु भी न हो, अत्यन्त द्रव एवं अत्यन्त सान्द्र (गाढ़ा) भी न हो, न मात्रा में न्यून हो न अधिक हो, न अधिक लवण-वाला हो न लवण रहित ही हो, न बहुत अम्ल हो और न अम्ल रहित ही हो तब वस्ति पुट में डाल कर वस्ति दे देवे।

दूसरे आचार्यों (वस्ति विशेषज्ञों) का कथन है कि स्नेह एवं मधु की मात्रा ३-३ पल, लवण आधा कर्ष, कल्क २ पल तथा अन्य सभी द्रव पदार्थ १० पल (क्वाथ समेत १० पल) मिला कर स्वस्थ के लिये वस्ति द्रव तैयार करे।

मिलाने की विधि—भाण्ड में सर्व प्रथम मधु, फिर लवण, फिर स्नेह, फिर कल्क और फिर क्वाथ एवं अन्य काञ्जी आदि उपयुक्त द्रव डाल डाल कर मथानी से मथता जाय यह निरूहवस्ति के द्रव्यों को मिलाने की विधि है इस प्रकार एक एक मिलाने से वे सब द्रव्य भली भांति घुल मिल जाते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार द्रव को तैयार करके पुनः समशीतोष्ण करके और वस्ति पुट में डाल कर वस्ति दे देवे ॥३८-४५॥

पश्चात् कर्म –

उत्तानो दत्तमात्रे तु निरूहे तन्मना भवेत् ॥४६॥
कृतोपधानः सञ्जातवेगश्चोत्कटकः सृजेत्।
आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परम् ॥४७॥
तत्रानुलोमिकं स्नेहक्षारमूत्राम्लकल्पितम्।
त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं वस्तिमन्यं प्रपीडयेत् ॥४८॥
विदध्यात्फलवर्ति वा स्वेदनोत्त्रासनादि च।
स्वयमेव निवृत्ते तु द्वितीयो वस्तिरिष्यते ॥४९॥
तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता।

व्याख्या—निरूहण वस्ति देने के अनन्तर तत्काल तन्मना होकर अर्थात् वस्ति के वेग लौटने की प्रतीक्षा करता हुआ तकिया लगा कर चित लेट जावे और वेग होते ही पाँव भार बैठ कर उसका त्याग कर देवे।

निरूहण वस्ति के लौटने का समय अधिक से अधिक एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी (लगभग ५० मिनट) है। इसके पश्चात् मृत्यु हो सकती है।

इस दशा में तुरन्त अनुलोमन (विरेचन) करने वाली स्नेह, क्षार एवं गो मूत्र मिलाकर बनाई गई, स्निग्ध तीक्ष्ण एवं उष्ण उष्ण दूसरी वस्ति का प्रयोग कर देना चाहिये अथवा मलप्रवर्तनी फलवर्ति दे देवे तथा उदर पर स्वेदन करे एवं उत्त्रासन (भय भीत करना) आदि करने का प्रयत्न करे जिससे पुरीष प्रवृत्ति के समान निरूहण वस्ति द्वारा दिया गया द्रव निकल जाय।

यदि इस प्रकार के विना ही स्वयं वस्ति द्रव लौट आवे तो आवश्यकतानुसार दूसरी, तीसरी अथवा चौथी वस्ति तब तक देते जाना चाहिये जब तक सम्यग् निरूहण के लक्षण देखे जायँ।

वक्तव्य—वस्तुतः मलाशय में अवरुद्ध मलों के निर्हरण के लिये निरूहण वस्ति दी जाती है यदि कदाचित् निर्हरण न हो तो उक्त स्नेह, क्षार एवं गोमूत्र की वस्ति देने से अवश्य निर्हरण हो जाता है और कभी कभी केवल दूध की वस्ति रुक जाती है उसको निकालने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। और निरपाय वस्ति है साबुन के घोल में २-४ तो० एरण्ड तैल मिला कर जो वस्ति दी जाती है ॥४६-४९॥

निरूहण के सम्यग्योग आदि का संकेत

विरिक्तवच्च योगादीन्विद्यात् योगे तु भोजयेत् ॥५०॥
कोष्णेन वारिणा स्नातं तनुधन्वरसौदनम्।
विकारा ये निरूढस्य भवन्ति प्रचलैर्मलैः ॥५१॥
ते सुखोष्णाम्बुसिक्तस्य यान्ति भुक्तवतः शमम्।

व्याख्या—निरूहण वस्ति के सम्यग्योग, हीनयोग तथा अतियोग के लक्षण विरेचन के सम्यग्योग आदि के समान होते हैं (देखिये सू० अ० १८)।

निरूहण वस्ति का सम्यग्योग होने पर कोसे जल से स्नान करा कर, जाङ्गल देशीय मृग पक्षियों के मांस रस के साथ भात खिलावे।

क्यों कि—निरूहण वस्ति के प्रयोग से मलों के प्रचलित होने के कारण जो तात्कालिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं वे सब कोसे जल से स्नान करने पर तथा मांस रस के साथ भोजन करने पर शान्त हो जाते हैं ॥५०,५१॥

अनुवासन वस्ति का वर्णन—

अथ वातार्दितं भूयः सद्य एवानुवासयेत् ॥५२॥
सम्यग्घीनातियोगाश्च तस्य स्युः स्नेहपीतवत्।
किंचित्कालं स्थितो यश्च सपुरीषो निवर्तते ॥५३॥

सानुलोमानिलः स्नेहस्तत्सिद्धमनुवासनम् ।

व्याख्या—वात रोग से पीडित को निरूहण के पश्चात् तत्काल अनुवासन वस्ति देनी चाहिये ।

अनुवासन वस्ति के सम्यग्योग, हीनयोग तथा अति योग स्नेह पान के सम्यग्योग, हीनयोग तथा अति योग के समान (लक्षणोंवाले) होते हैं ।

जो अनुवासन वस्ति द्वारा दिया गया स्नेह कुछ समय तक ठहर कर पुरीष के साथ लौटता है और साथ में वायु अनुलोमन हो जाता है वह अनुवासन सिद्ध कहलाता है अर्थात् वह अनुवासन का सम्यग्योग समझा जाता ।

वक्तव्य—वास्तव में निरूहण विरेचन के समान और अनुवासन स्नेह पान के समान होता है अतः उनके सम्यक्-योग आदि के लक्षण विरेचन एवं स्नेहपान के सम्यक् योग आदि के लक्षणों के समान होते हैं । सिद्धान्त कौमुदी के उणादि प्रकरण में पायु की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है यथा—पिबति तैलादिकं इति पायुः । अर्थात् जो तैलादि का पान करता है वह पायु कहलाता है, संस्कृत साहित्य में पायु गुद का नाम है—गुदं तु अपानं पायुः नाइत्यमर ।

तात्पर्य यह है कि वस्ति द्वारा दिये गये द्रव का मलाशय में शोषण होता है और फिर आहार रस के समान शरीर में सात्मीकरण हो जाता है ॥५२, ५३॥

अनुवासन वस्तियों की संख्या आदि का वर्णन—

एकं त्रीन् वा बलासे तु स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत् ॥५४॥
पञ्च वा सप्त वा पित्ते, नवैकादश वाऽनिले ।
पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः ॥५५॥
कफपित्तानिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात् ।
वातघ्नौषधनिष्क्काथत्रिवृतासैन्धवैर्युतः ॥५६॥
बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वितः ।
न्यग्रोधादिगणक्काथ-पद्मकादिसितायुतौ ॥५७॥
पित्ते स्वादुहिमौ साज्य-क्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ।
आरग्वधादिनिष्क्काथ-वत्सकादियुतास्त्रयः ।५८॥
रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ।
त्रयस्ते सन्निपातेऽपि दोषान् घ्नन्ति यतः क्रमात् ।५९॥
त्रिभ्यः परं बस्तिमतो नेच्छन्त्यन्ये चिकित्सकाः ।
न हि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति ॥६०॥

व्याख्या—स्नेह वस्तियाँ कफ में एक अथवा तीन, पित्त में ५ अथवा ७ और वायु में ९ अथवा ११ देनी चाहिये ।

इससे आगे भी यदि आवश्यकता होतो अयुग्म (असम संख्या में यथा १३ अथवा १५ आदि) वस्तियाँ देवे और साथ साथ या बीच बीच में निरूहण वस्तियाँ भी देते रहना चाहिये (क्योंकि—अनुवासन के पश्चात् स्नेह को दूर करने के लिये निरूहण आवश्यक होता है परन्तु वायु की अत्यन्त अधिकता में प्रति दिन भी अनुवासन वस्तियाँ दी जा सकती हैं (देखिये श्लोक २४) ।

इन दिनों में कफ में यूष के साथ, पित्त में दूध के और वायु में मांस रस के साथ भोजन देते रहना चाहिये ।

वातादि दोषानुसार वस्तियों की कल्पना—वायु में दश मूल आदि वात शामक द्रव्यों का क्वाथ, निशोत एवं सैन्धव लवण तथा स्नेह, मधुर एवं अम्ल रस तथा उष्ण वीर्य उपयोगी द्रव्य मिलाकर एक वस्ति देवे ।

पित्त में न्यग्रोधादि गण का क्वाथ, पद्मकादि गण का कल्क तथा मिशरी मिलाकर, घृत, दूध, ईख का रस तथा मधु आदि मधुर एवं शीतल द्रव्य मिलाकर दो वस्तियां देवें ।

और कफ में आरग्वधादि गण का क्वाथ, वत्सकादि गण का कल्क तथा रूक्षण युक्त मधु, गोमूत्र, तीक्ष्ण, उष्ण एवं कटुद्रव्य मिलाकर तीन वस्तियां देवें ।

और सन्निपात तथा संसर्ग में भी उक्त वात नाशक पित्त नाशक एवं कफ नाशक तीनों वस्तियां क्रमानुसार दी जाती हैं इस विचार से तीन ही वस्तियां होनी हैं क्यों कि चौथा कोई दोष हो नहीं है जिसके लिये वस्ति दी जाय अर्थात् किसी चौथे प्रकार की वस्ति की कल्पना की जाय । ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ।

वक्तव्य—यह भी एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार उक्त तीन प्रकार की वस्तियाँ तीन ही मानी जाती हैं अर्थात् दोषानुसार वस्तियों के ये तीन प्रकार हैं ॥५४-६०॥

विधिभेद से तीन वस्तियाँ—

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ।
त्रिधेव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ॥६१॥

व्याख्या—कुछ आचार्यों का कथन है कि वस्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—१—उत्क्लेशन (दोषों को उभारने—उबालने—उगालनेवाली) २—शुद्धिकर (शोधन करनेवाली तथा ३—शमन (दोषों का शमन—शान्ति करनेवाली) ।

वक्तव्य—इस विधि से सभी वस्तियां तीन प्रकार की होती हैं । यह भी संख्या का एक दृष्टिकोण है ॥६१॥

उक्त सब मतों की प्रामाणिकता—

दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत् ।

व्याख्या—परन्तु—वातादि दोषों तथा भिन्न २ गुण वाली औषधों एवं रोग, देश तथा काल आदि के विचार से उक्त सब मतों (दृष्टिकोणों) को प्रमाणित मानना चाहिये (सभी मानने योग्य हैं केवल विधिभेद का अन्तर है)।

अनपवाद मत—

सम्यङ्निरूढलिङ्गं तु नासम्भाव्य निवर्तयेत् ॥६२॥

व्याख्या—उचित यह है कि जब तक सम्यक् निरूहण के लक्षण (श्लो० ५२) दिखाई न दें तब तक वस्ति कर्म करते जाना चाहिये।

वक्तव्य—जैसे वमन विरेचन एवं स्नेहन स्वेदन आदि में सम्यक् योग के लक्षण देखे जाते हैं वैसे वस्ति विधान में भी देखना चाहिये क्योंकि सम्यक् योग ही रोग शान्ति मुख्य लक्षण है ॥६२॥

वस्ति कर्म, वस्तिकाल तथा वस्तियोग का वर्णन—

प्राक्स्नेह एकः पञ्चाऽन्ते द्वादशास्थापनानि च।
सान्वासनानि कर्मैवं वस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥६३॥
कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा।
षट् पञ्च वस्त्यन्तरिताः योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु ॥६४॥
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ।

व्याख्या—संख्या भेद से वस्ति प्रयोग के तीन भेद—

१—वस्ति कर्म—इसमें प्रारम्भ में १ स्नेह वस्ति दी जाती है और अन्त में ५ स्नेह वस्तियाँ दी जाती हैं और मध्य में १२ निरूहण वस्तियाँ और १२ अनुवासन (स्नेह) वस्तियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार ३१ वस्तियों के प्रयोग का नाम "वस्ति कर्म" है।

२—वस्तिकाल—इस में प्रथम १ स्नेह वस्ति दी जाती है और अन्त में ३ स्नेह वस्तियाँ दी जाती हैं और मध्य में ६ स्नेह वस्तियां और ५ निरूहण वस्तियाँ (एक के पश्चात् दूसरी) अन्तरित करके दी जाती हैं इस प्रकार १५ वस्तियों के प्रयोग का नाम "वस्तिकाल" है।

३—वस्तियोग—इस में प्रथम १ स्नेह वस्ति और अन्त में १ स्नेह वस्ति दी जाती है और मध्य में ३ निरूहण एवं ३ अनुवासन वस्तियाँ अन्तरित करके (एक के पश्चात् दूसरी) दी जाती है। इस प्रकार ८ वस्तियों का प्रयोग "वस्तियोग" कहलाता है।

वक्तव्य—"वस्ति कर्म" "वस्ति काल", एवं "वस्ति योग" शास्त्रीय पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं ॥६३, ६४॥

स्नेहवस्ति एवं निरूहण वस्ति का साथ २ प्रयोग—

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ॥६५॥
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम्।
तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः ॥६६॥
स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषजित्।

व्याख्या—स्मरणीय है कि—केवल स्नेह वस्तियों का अथवा केवल निरूहण वस्तियों का निरन्तर सेवन करना उचित नहीं है क्योंकि—केवल स्नेह वस्तियों का सेवन करने से दोषों का उत्क्लेश (पित्त एवं कफ की वृद्धि तथा पुरीषादि का उगाल) हो सकता है तथा जठराग्नि का वध हो जाता है और केवल निरूहण का अधिक सेवन करने से वायु की वृद्धि का भय रहता—हो सकता है। इसलिये निरूहण के पश्चात् स्नेह वस्ति का और स्नेह वस्ति के पश्चात् निरूहण वस्ति का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार स्नेह वस्ति द्वारा स्नेहन एवं निरूहण वस्ति द्वारा शोधन के योग से वस्तियों का प्रयोग त्रिदोष नाशक होता है ॥६५, ६६॥

मात्रावस्ति का वर्णन—

ह्रस्वया स्नेहपानस्य मात्रया योजितः समः ॥६७॥
मात्राबस्तिः स्मृतः स्नेहः शीलनीयः सदा च सः।
बालवृद्धाध्वभारस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकैः ॥६८॥
वातभग्नाबलाल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः।
दोषघ्नो निष्परीहारो बल्यः सृष्टमलः सुखः ॥६९॥

व्याख्या—मात्रावस्ति का परिमाण—स्नेह पान की ह्रस्व मात्रा के तुल्य (अर्थात् कर्ष परिमित स्नेह), वस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह वस्ति (अनुवासन वस्ति) का नाम "मात्रावस्ति" है।

और वह मात्रावस्ति—बाल, वृद्ध, मार्ग चलने वालों (प्रतिदिन यात्रा करनेवालों), प्रतिदिन मैथुन करनेवालों तथा व्यायाम करनेवालों, भार ढोनेवालों चिन्तकों (विचारकों), वातपीड़ितों अस्थिभङ्ग से पीड़ितों, दुर्बलों, मन्दाग्निवालों, राजाओं, धनवानों तथा सुखियों को सदा (प्रतिदिन) सेवन करने योग्य है अर्थात्—इस मात्रावस्ति का सेवन बाल वृद्ध आदि को प्रतिदिन करना चाहिये।

यह मात्रावस्ति दोष शामक है, इस में किसी प्रकार के परिहार (परहेज) की आवश्यकता नहीं है और यह बलवर्द्धक है, पुरीष आदि मलों की प्रवर्त्तक है तथा सुखदायक (स्वास्थ्य वर्द्धक है)।

वक्तव्य—स्नेह पान की ह्रस्वा मात्रा वह होती है जो दोप्रहर में पच जाती है। उसी प्रकार मात्रा वस्ति द्वारा दिया गया स्नेह भी दो प्रहर में पच जाता है (देखिये अ.१६

श्लो० १७) और सामान्यतः स्नेह मात्रा का परिमाण यह है यथा—

उत्तमस्य पलं मात्रा त्रिभिश्चाऽक्षैश्च मध्यमा ।
जघन्यस्य पलार्द्धेन स्नेह क्वाथ्योपयेसु च ।

अर्थात्—स्नेहपान में स्नेह की मात्रा का परिमाण इस प्रकार है—उत्तम मात्रा १ पल, मध्यम मात्रा तीन कर्ष और और ह्रस्वा मात्रा आधा पल (२ कर्ष) । तात्पर्य यह है कि जैसे आहार में प्रतिदिन स्नेह का सेवन किया जाता है और उसमें किसी प्रकार के परिहार की आवश्यकता नहीं होती । वैसे ही मात्रा में वस्ति में भी परिहार की आवश्यकता नहीं होती । और ह्रस्वमात्र स्नेहपान से जो लाभ होते हैं वे मात्रा वस्ति से भी होते हैं। और जैसे बाल वृद्ध आदि को प्रति दिन आहार में स्नेह सेवन से लाभ होता है वैसे मात्रा वस्ति से होता है ।।६७-६९।।

उत्तर वस्ति का वर्णन—

वस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च ।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्वस्तिमुत्तरम् ७०।।

व्याख्या—नर एवं नारियों के वस्तिगत तथा मूत्रमार्ग गत रोगों में तथा नारियों के योनि (भग) तथा गर्भाशय के रोगों में उत्तर वस्ति का प्रयोग करना चाहिये परन्तु उत्तर वस्ति के पूर्व दो तीन बार निरूहण वस्ति या प्रयोग करके मलाशय का शोधन कर लेना चाहिये ।

वक्तव्य—नर के मूत्र मार्ग में मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, शुक्रदोष, तथा मूत्राशय के रोगों की शान्ति के लिये और नारियों के उक्त मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों तथा योनिव्यापद् नामक रोगों की शान्ति के लिये भगमार्ग में जो वस्ति दी जाती है उसका नाम है उत्तर वस्ति । यह भी दो प्रकार की होती है १—निरूहण-शोधन वस्ति तथा रोपण वस्ति और २—अनुवासन या स्नेहन वस्ति । मूत्र मार्ग में यदि क्षत होता है तो व्रण रोपण पिच्छिल द्रव्यों के द्रव की अथवा गेरू के जल की अथवा पञ्चवल्कल के हिम की अथवा शर्करोदक की उत्तर वस्ति देने से रोपण हो जाता है, और मूत्र की कडक शान्त हो जाती है । देखिये पित्त शामक वस्ति श्लो० ५८ ।।७०।।

नेत्र वस्तिपुट तथा मात्रा का वर्णन—

आतुरांगुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशांगुलम् ।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ।।७१।।
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम् ।
कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम् ।।७२।।
तस्य वस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा ।

व्याख्या—नर रोगी के मूत्रमार्ग में जो वस्ति दी जाती है उसके नेत्र (नलिका) की लम्बाई रोगी के अंगुल से १२ अङ्गुल होनी चाहिये और वह नेत्र गोल परन्तु गौ की पुच्छ (पूंछ) के सदृश मूल की ओर कुछ मोटा और आगे की ओर पतला (परन्तु तीखा नहीं अपितु गुलिका मुख) हो और उसके मूल भाग पर (जहाँ वस्तिपुट बाँधना होता है) दो कर्णिका हो और मध्य भाग पर ६ अङ्गुल पर) एक कर्णिका हो ।

उस नेत्र में—सरसों के दाना के प्रवेश योग्य छिद्र हो, और नेत्र श्लक्ष्ण हो (खरदरा न हो अपितु अत्यन्त चिकना हो) तथा सोना अथवा चान्दी आदि किसी धातु का बना हो और उसकी मोटाई कुन्द, कनेर अथवा चमेली के फूल के वृन्त जैसी हो और वह नेत्र दृढ हो (टूटने वाला नहीं हो) ।

उत्तर वस्ति का वस्तिपुट गुद वस्ति की अपेक्षा कोमल तथा छोटा हो । इस वस्ति में स्नेह की मात्रा एक शुक्ति (दो कर्ष) हो अथवा रोगी के बल, वयस् एवं सत्त्व बल आदि के अनुसार कुछ न्यूनाधिक हो ।

वक्तव्य—सु० चि० अ० ३७ के अनुसार—

स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्त्तितः ।
पञ्चविंशात् अधो मात्रां विदध्यात् बुद्धिकल्पिताम् ।।१०२।।

अर्थात्—स्नेह की उत्तम मात्रा एक प्रकुञ्च (पल = कर्ष) हो और २५ वर्ष की वयस् के पूर्व यथायोग्य अर्थात् ३ कर्ष अथवा २ कर्ष हो । और —

चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रं आतुराङ्गुलसम्मितम् ।।१०१।।

अर्थात् पुमान् के लिये नेत्र १४ अंगुल का होना चाहिये।

और—क्वाथप्रमाणं प्रसृतं स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत् ।।११६।।

अर्थात्—नर के लिये क्वाथ (निरूहण वस्ति में) का परिमाण एक प्रसृत (२ पल = ८ कर्ष) हो और नारी के लिये दो प्रसृत हो ।

और—अप्रत्यागच्छति भिषक् वस्तौ उत्तरसंज्ञिते ।।११७।।
भूयो वस्ति विदध्यात् तु संयुक्तं शोधनैः गणैः ।
गुदे वर्त्ति निदध्याद् वा शोधनद्रव्यसंयुताम् ।।११८।।
प्रवेशयेद् वा मतिमान् वस्तिद्वारमथैषणीम् ।
पीडयेद् वाऽधो नाभेः बलेनोत्तरमुष्टिना ।।११९।।
आरग्वधस्य पत्रेषु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च ।
कुर्याद् गोमूत्रपिष्टेषु वर्त्तिं वाऽपि ससैन्धवाम् ।।१२०।
मुद्गैलासर्षपसमा प्रविभज्य वयांसि तु ।
वस्तेः आगमनार्थाय तां निदध्यात् शलाकया । १२१।।

भावार्थ—उत्तर वस्ति द्वारा दिया गया स्नेह यदि लौट न रहा हो तो शोधन द्रव्यों से युक्त निरूहण वस्ति (मूत्र-

मार्ग में) देवे अथवा वायु के अनुलोमनार्थ गुद में मलप्रवर्त्तनी वर्ति दे देवे अथवा मूत्रमार्ग में वस्तिद्वार पर्यन्त एषणी शलाका का प्रवेश करे अथवा नाभि के अधोभाग में मुट्ठी का बलपूर्वक दबाव देवे अथवा अमलतास के पत्र एवं सैन्धव लवण को सम्भालू के स्वरस एवं गोमूत्र में पीस कर मूंग, इलायची के दाना अथवा सरसों जैसी वत्ती बना कर मूत्र-मार्ग में शलाका द्वारा प्रविष्ट करे इस प्रकार स्नेह लौट आता है ॥७१, ७२॥

उत्तर वस्ति देने की विधि—

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानतः ॥७३॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदा ।
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये ॥७४॥
सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनि ।
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पगुदवत्ततः ॥७५॥
पीड़िते ऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ।

व्याख्या—प्रातःकाल या वस्ति दान के पूर्व मङ्गला-चरण करे और स्नेह वस्ति की विधि से—कोसे जल से स्नान करा कर और उचित भोजन खिला कर, जानु भर ऊँचे, कोमल (गद्दीदार) पीठ (कुरसी) पर, सीधा एवं सुखपूर्वक बैठा देवे—तदनन्तर—हृष्ट एवं सीधे मेढ्र (मूत्र मार्ग) में—मार्ग शोधन के लिये सूक्ष्म शलाका (मूत्र शलाका - सिलाई—कैथीटर) का धीरे२ प्रवेश करे, उसके द्वारा मार्ग शुद्धि (का ज्ञान) हो जाने पर, सीवन के अनुकूल मेहन पर्यन्त (मूत्र मार्ग के अन्त तक) नेत्र का प्रवेश करे, इस समय चिकित्सक का हाथ न काँपे जैसा गुद वस्ति में कहा गया है वैसे वस्तिपुट का पीडन करे और स्नेह (निरूहण का द्रव) भीतर (मूत्राशय में) प्रविष्ट हो जाने पर स्नेह वस्ति (गुद वस्ति) के समान नेत्र को निकाल लेवे और कुछ समय के पश्चात् स्नेह लौट आने पर, अपराह्न में या भूख लगने पर दूध के साथ, यूष के साथ अथवा मास रस के साथ उचित भोजन खिला देवे जैसा अनुवासन वस्ति के अन्त में उपचार कहा गया है (देखिये श्लोक ३२ से ३६) वैसा उपचार करे। इस प्रकार का स्नेहोत्तर वस्ति का क्रम हित होता है।

वक्तव्य—यहाँ तथा अष्टांग संग्रह में "हृष्टे मेढ्रे" पाठ है और सुश्रुत चि० अ० ३७ के श्लोक ११० में "ततः समं स्थापयित्वा नालम् अस्य प्रहर्षितम्" पाठ है और च० सि० अ० ९ के श्लोक ५४ में "ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तया" पाठ है। हमारा विचार है कि उक्त चारों ग्रंथों के पाठ चिन्तनीय हैं क्योंकि हृष्ट या प्रहर्षित मेढ्र (शिश्न) इतना तन जाता है जिससे उसका छिद्र (मूत्र स्रोतस्) तङ्ग हो जाता है यहाँ तक कि इस अवस्था में मूत्र भी सरलता से नहीं उतरता फिर इस दशा में शलाका तथा वस्ति नेत्र का प्रवेश कैसे हो सकता है पाठक गम्भीर विचार करें और फिर ऐसा किया भी नहीं जाता। श्री शार्ङ्गधराचार्य का एतद् विषयक पाठ इस प्रकार है—यथा—शा० स० उ० खं० अ० ७—

अथाऽऽस्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः ॥३॥
स्थितस्याजानुमात्रे च पीठेऽन्विष्य शलाकया ।
स्निग्धया, मेढ्रमार्गं च ततो नेत्रं नियोजयेत् ॥४॥
शनैः शनैः घृताऽभ्यक्तं मेढ्रान्ध्रेऽङ्गुलानि षट् ।
ततोऽवपीडयेद् वस्तिं शनैः नेत्रं च निर्हरेत् ॥५॥
ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ।

अर्थात्—निरूहण वस्ति द्वारा मलाशय का शोधन करने के पश्चात् और उत्तर वस्ति के पूर्व स्नान एवं भोजन कराकर और जानुभर ऊँचे पीठ पर बिठा कर, स्नेहलिप्त शलाका से मूत्र मार्ग का अन्वेषण करके घृतलिप्त नेत्र को मूत्र मार्ग में धीरे-धीरे ६ अंगुल प्रविष्ट करे और फिर वस्तिपुट का प्रपीडन करे तदनन्तर धीरे-धीरे नेत्र को निकाल लेवे, कुछ समय (१ मुहूर्त भर) के पश्चात् स्नेह लौट आने पर अनुवासन वस्ति के समान आहार विहार की व्यवस्था का उपदेश कर देवे। इस पाठ में मेढ्र को हृष्ट या प्रहर्षित करने का उल्लेख नहीं है। उचिताऽनुचित का निर्णय पाठक स्वयं करें ॥७३-७५॥

उत्तर वस्ति की संख्या एवं संकेत—

बस्तीननेन विधिना दद्यात्त्रींश्चतुरोऽपि वा ॥७६॥
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत् ।

व्याख्या—इस विधि से मूत्र मार्ग में तीन अथवा चार वस्तियाँ देवे और सब—सम्यक् योग, अतियोग, हीनयोग आदि का विचार तथा आहार, विहार एवं उपचार आदि की व्यवस्था अनुवासन वस्ति के समान करे।

वक्तव्य—और मूत्राशय में से स्नेह निर्गमन आदि का विचार भी अनुवासन वस्ति के समान ही करे विशेष देखिये श्लोक ७५. का वक्तव्य। इस विषय में महर्षि खरनाद के पाठ भी स्मरणीय हैं जो सर्वाङ्ग सुन्दरी टीका में पाए जाते हैं—

यथा—अथापरं प्रवेशयान्तः स्नेहस्याऽर्धपलं भवेत् ।
प्रत्यागते द्वितीयं वा तृतीयं वा प्रदापयेत् ।
स चेत् अनुवसेत्, तत्र क्रिया इयं विशेषतः ।
पिप्पली-आरग्वधाऽऽगारधूमवत्सकसैन्धवैः ।
मूत्राऽम्लपिष्टैः गुलिका माष सर्षप सन्निभाः ।

छागस्तु शुष्का ताः शिश्ने दद्यात् सर्षप सन्निभाः ।
पूर्वं, माषोपमाः पश्चात्, ताभिः स्नेहं समानयेत् ।
स्नेहे प्रत्यागते च स्यात् आनुवासनिको विधिः ॥७६॥

स्त्रियों की उत्तर वस्ति का वर्णन --

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः ॥७७॥
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ।
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे । ७८॥

व्याख्या—भग मार्ग में नारियल की उत्तर वस्ति आर्त्तव काल में देनी चाहिये क्योंकि उस काल में गर्भाशय का मुख खुला रहता है फलतः वह स्नेह का ग्रहण कर लेता है इसलिये गर्भाशय की विशुद्धि के लिये उसी काल में वस्ति का प्रयोग करे परन्तु अत्यन्त आवश्यकता होने पर ऋतुकाल के अतिरिक्त काल में भी वस्ति दी जा सकती है जैसे योनिभ्रंश में, योनिशूल में, योनिव्यापदों में तथा प्रदर रोग में उचित वस्तियों का प्रयोग किया जाता है ॥७७, ७८॥

भग एवं मूत्रमार्ग के नेत्र का परिमाण—

नेत्रं दशांगुलं मुद्गप्रवेशं चतुरंगुलम् ।
अपत्यमार्गे योज्यं स्याद्, द्व्यंगुलं मूत्रवर्त्मनि ॥७९॥
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु, बालानां त्वेकमंगुलम् ।

व्याख्या—इस वस्ति का नेत्र १० अंगुल लम्बा हो, इसका छिद्र—स्रोत मूंग के दाना के प्रवेश के योग्य हो और वह अपत्यपथ अर्थात् भगमार्ग में केवल चार अंगुल प्रविष्ट करना चाहिये परन्तु मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में मूत्रमार्ग में केवल एक अंगुल ही प्रविष्ट करना चाहिये ॥७९॥

स्नेह की मात्रा का निर्देश—

प्रकुञ्चो मध्यमा मात्रा, बालानां शुक्तिरेव तु ॥८०॥

व्याख्या—नारियों के लिये स्नेह की मध्यमा मात्रा १ पल तथा बालिकाओं के लिये मध्यमा मात्रा एक शुक्ति (२ कर्ष) होना चाहिये । ८०॥

नारी को वस्ति देने की विधि—

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् संकोच्य सक्थिनी ।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ॥८१॥
बस्तीस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयन् ।
त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम् ॥८२॥

व्याख्या—नारी को चित लेटा कर, सक्थियों को संकुचित कराकर, जानुओं को ऊपर कराकर वस्ति देवे । इस प्रकार ८ प्रहर में तीन अथवा चार बार वस्ति का प्रयोग करे । इस प्रकार तीन दिन पर्यन्त वस्तियाँ देवे और स्नेह की मात्रा कुछ २ बढ़ाता जावे । तीन दिन रुक कर पुनः पूर्ववत् तीन दिन पर्यन्त वस्तियाँ देवे ।

वक्तव्य—मूत्र मार्ग में नारी को एवं बालिका को नर के समान वस्ति देवे । नारी का वस्तिकर्म नारी चिकित्सिका ही करे पुमान् चिकित्सक के लिये न्याय संहिता में निषेध किया गया है । लोकाचार से भी अनुचित है ॥८१, ८२॥

वमन आदि का काल निर्देश—

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम् ।
सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥८३॥

व्याख्या—स्वस्थ मानव का पञ्चकर्म करते समय—वमन करने के १५ दिन पश्चात् विरेचन करे और विरेचन के १५ दिन पश्चात् निरूहण वस्ति का प्रयोग करे और निरूहण के अनन्तर तत्काल (अथवा भोजन करने के पश्चात्) अनुवासन वस्ति का प्रयोग करें । और विरेचन के ७ दिन पश्चात् अनुवासन करे ॥८३॥

वस्ति द्वारा शरीर भर के दोषों का निर्हरण—

यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्वस्तिर्निर्हरते मलान् ॥८४॥

व्याख्या—यद्यपि वस्ति—गुदा मार्ग द्वारा केवल मलाशय में ही जाती है और उस से केवल मलाशय का ही विकार निकलना चाहिये तथापि जैसे कुसुम्भ आदि रंगों से मिश्रित जल में से वस्त्र रंग को ग्रहण कर लेता है वैसे ही स्नेहन स्वेदन द्वारा द्रवीभूत मलों को वस्ति शरीर से बाहिर निकाल देती है ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि वस्ति के सेवन से समस्त शरीर की शुद्धि हो जाती है ॥८४॥

वस्ति की प्रशंसा—

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा
　मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो
　वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥८५॥
विट्श्लेष्मपित्तादिमलोच्चयानां
　विक्षेपसंहारकरः स यस्मात् ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्य-
　द्वस्तेर्विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥८६॥

व्याख्या—जो रोग—शाखा अर्थात् त्वचा एवं रक्तादि धातुओं द्वारा और कोष्ठ अर्थात् महास्रोतस् द्वारा तथा मर्मस्थानों की विकृति द्वारा शरीर में व्याप्त होते हैं तथा

शिर एवं समस्त शरीर में अथवा शरीर के किसी एक अवयव में व्याप्त होते हैं उन सब की उत्पत्ति में वायु के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण नहीं होता। अर्थात् वायु ही मुख्य कारण होता है।

क्योंकि—पुरीष एवं मूत्र, कफ एवं पित्त तथा शरीर के अन्यान्य मल के सञ्चयों का विक्षेप (स्थानान्तरनयन-सञ्चार या विक्षोभ) तथा संहार (शमन या क्षय) करने वाला वायु ही है (क्योंकि गतिशील वही है), और बढ़े हुए एवं विकृत हुए वायु की शान्ति के लिये वस्ति कर्म के बिना कोई अन्य औषध (चिकित्सा) नहीं है (अर्थात् वस्ति जैसी कोई अन्य चिकित्सा नहीं है) ॥८५,८६॥

सिरावेध के समान वस्ति का महत्त्व—

तस्माच्चिकित्सार्ध इति प्रदिष्टः
कृत्स्ना चिकित्साऽपि च वस्तिरेकैः।
तथा निजागन्तुविकारकारि-
रक्तौषधत्वेन सिराव्यधोऽपि।८७।

व्याख्या—इसलिये वस्ति को चिकित्सार्ध अर्थात् आधी चिकित्सा माना जाता है, कुछ आचार्य तो उसे पूर्ण चिकित्सा भी मानते हैं। इसी प्रकार शारीरिक तथा आगन्तुक रोगों के उत्पादक रक्त की प्रधान चिकित्सा होने के कारण सिरावेध भी आधा अर्थात् पूर्ण चिकित्सा मानी जाती है।

वक्तव्य - सिराव्यधः चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यक् वस्तिः कायचिकित्सिते।२३। (सु. शा. अ. ८) अर्थात्—शल्य तन्त्र में जैसा सिरावेध का महत्व है काय चिकित्सा में वस्ति कर्म का वैसा ही महत्त्व है ॥८७॥

इत्यष्टांगहृदये सूत्रस्थाने एकोनविंशोऽध्यायः।१६।

— —

विंशोऽध्यायः

अथातो नस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब नस्यविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च सि.अ. १,२ एवं ६ में, सु.चि.अ. ४० में तथा अ.सं.सू.अ. २६ में देखिये। अष्टांग संग्रह का पाठ कितना स्पष्ट है देखिये—

नासायां प्रणीयमानं औषधं नस्यम्। तत् नावनं नस्तःकर्म इति च संज्ञां लभते। नासा हि शिरसो द्वारं, तत्राऽवसेचितं औषधं स्रोतः शृंगाटकं प्राप्य, व्याप्य च मूर्द्धानं नेत्रश्रोत्रकण्ठादिसिरामुखानि च मुञ्जात् इषीकाम् इव आसक्तामूर्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषां दोषसंहतिमुत्तमाङ्गात् आशु अपकर्षति इति—अर्थात्—नासारन्ध्रों में जो औषध दी जाती है वह "नस्य" कहलाती है, नावन एवं नस्तः कर्म उसके पर्याय हैं। सचाई यह है कि नासारन्ध्र शिर का द्वार है अतः उसमें या उस मार्ग से दी गई औषध—शृङ्गाटक (देखिये शा० अ० श्लोक ३१) नामक मर्म स्थल में पहुँचकर और समस्त शिर तथा नेत्र, श्रोत्र एवं कण्ठ आदि की सिराओं के मुखों में व्याप्त होकर, शिर भर में व्याप्त समस्त विकारकारी दोष समूह को शिर से वैसे ही तत्काल निकाल डालती है जैसे मूञ्ज में से इषीका निकाल दी जाती है। यही कारण है कि नस्य से अभिष्यन्द आदि नेत्र रोगों में, कर्णशूल आदि कर्ण रोगों में, प्रतिश्याय आदि नासा रोगों में, दन्त शूल आदि मुख के समस्त रोगों में तथा अर्द्धावभेदक आदि शिरोरोगों तथा मूर्च्छा आदि संज्ञावाही स्रोतों के रोगों में तत्काल लाभ होता देखा जाता है।

नस्य का वर्णन और उसके भेद—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।
नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥१॥
विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि तत्।

व्याख्या—जत्रु के ऊपर (ग्रीवा समेत शिर भर) के रोगों में विशेष रूप से "नस्य कर्म" लाभदायक होता है। क्योंकि नासा नामक रन्ध्र शिर का द्वार है और नस्य उस द्वार (मार्ग) द्वारा शिर में व्याप्त होकर शिर के उन उन रोगों को नष्ट कर देती है ॥ २ ॥

नस्य कर्म के भेद—

वह नस्य कर्म विधि-भेद से तीन प्रकार का होता है यथा—

१—विरेचन—जो शिर में से दोषों को निकाल देता है।
२—बृंहण—जो शिर के अवयवों का पोषण करता है।
३—शमन—जो दोषों का शमन करता है।

वक्तव्य—ये विरेचन- बृंहण और शमन पारिभाषिक रूप में जैसे अन्यत्र लिये जाते हैं वैसे ही नस्य में भी लिये जायेंगे। देखिये श्लोक ६ का वक्तव्य ॥ १ ॥

विरेचन नस्य का प्रयोग—

विरेचनं शिरःशूलजाड्यस्यन्दगलामये ॥२॥
शोफगण्डकृमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे।

व्याख्या—विरेचन नस्य—शिर के शूल में, जाड्य

(बुद्धि, मन एवं घ्राण आदि इन्द्रियों की जड़ता) में अभिष्यन्द नामक नेत्र रोग में, गल के शोथ एवं स्वर भेद आदि रोगों में मुख शोथ आदि शोथों में, गलगण्ड में, नासा, शिर, दन्त एवं कर्ण कृमि नामक क्रिमि रोगों में ग्रन्थि (श्लैष्मिक ग्रन्थियों के शोथ) में, कुष्ठ में, अपस्मार में तथा पीनस (प्रतिश्याय) में लाभ करती है ॥ २ ॥

बृंहण नस्य का प्रयोग

बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये ॥३॥
नासास्यशोषे वाक्सङ्गे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके ।

व्याख्या—बृंहण नस्य—वात जनित वेदना में, सूर्यावर्त्त में, स्वरक्षय (स्वर भेद) में, नासा शोष में, मुख शोष में, वाणी की रुकावट (मूकता आदि रोगों) में, कृच्छ्र बोध (कष्ट से निद्रा खुलना या निद्रा खुलने में कष्ट का अनुभव) में तथा अवबाहुक नामक वात व्याधि में लाभ करती है ॥३॥

शमन नस्य का प्रयोग—

शमनं नीलिकाव्यंगकेशदोषाक्षिराजिषु ॥४॥

व्याख्या—शमन नस्य—नीलिका (काली झांई), व्यङ्ग, केशों का पकना एवं झड़ना आदि दोष (इन्द्र लुप्त आदि) तथा नेत्र राजि (सिरा हर्ष नामक नेत्र रोग) में प्रयुक्त की जाती है ॥४॥

विरेचन आदि नस्यों के द्रव्यों का संकेत—

यथास्वं यौगिकः स्नेहैर्यथा स्वं च प्रसाधितैः ।
कल्कक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुपट्वासवैरपि ॥५॥
बृंहणं धन्वमांसोत्थरसासृक्खपुरैरपि ।
शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन वा ॥६॥

व्याख्या—विरेचन नस्य—रोगानुसार उपयोगी सर्षप तैल आदि स्नेहों से, तत्तत् रोगनाशक द्रव्यों के संयोग से सिद्ध स्नेहों से, नकछिकनी एवं कटफल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के कल्क, क्वाथ एवं स्वरस (एवं चूर्ण) आदि से अथवा मधु, लवण एवं आसव से आद्य अर्थात् विरेचन नस्य दी जाती है ।

बृंहण नस्य—जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस रस से अथवा उनके रक्त से अथवा राल एवं गुग्गुल आदि निर्यासों (गोन्दों) से दी जाती है ।

और शमन नस्य—घृत आदि मृदु स्नेहों से अथवा मृदु द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ आदि से अथवा दूध से अथवा शुद्ध जल (या खण्ड के शर्बत आदि) से दी जाती है ।

वक्तव्य—जिस से शिर का विरेचन होता है अर्थात् नासा आदि द्वारा श्लेष्मा एवं पानी निकलता है उस नस्य का नाम "विरेचन" नस्य है, जिससे शिर के भीतरी अवयवों की पुष्टि होती है उस का नाम "बृंहण" नस्य है और जिससे शिरो गत दोषों का शमन होता है उस का नाम "शमन" नस्य है । औषधम् औषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम् ॥२१॥ (सु, चि. अ. ४०) ।

उक्त नस्य के विरेचन, बृंहण एवं शमन तीन भेद हैं ।५,६।

बृंहण एवं विरेचन नस्य के भेद—

मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया ।
कल्काद्यैरवपीडस्तु तीक्ष्णैर्मूर्धविरेचनः ॥७॥
ध्मानं विरेचनश्चूर्णो युञ्ज्यात्तं मुखवायुना ।
षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया ॥८॥
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति ।

व्याख्या—इन में स्नेहन नस्य (बृंहण नस्य)—मात्रा के भेद से दो प्रकार की होती है (देखिये श्लोक१०) १—मर्श तथा २—प्रतिमर्श ।

शिरो विरेचन नस्य भी दो प्रकार की होती है—अवपीड अर्थात् जो कल्क को निचोड़ कर उस के रस से अथवा क्वाथ आदि बना कर दी जाती है और २—ध्मान जो शिरो विरेचन (कटफल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों) के चूर्ण की दी जाती है । ध्मान नस्य देने की विधि है कि उस चूर्ण को दोनों ओर मुख वाली एवं ६ अंगुल लम्बी नाली में थोड़ा सा डाल कर चिकित्सक अपने मुख की वायु से रोगी के नासारन्ध्रों में डाल या चढ़ा देता है । इस प्रकार फूँकने से और चूर्ण रूप होने से वह शिर के बहुत दोष (विकारकारी मल) खींच लेता है—निकाल देता है ।

वक्तव्य—ध्मान का नाम प्रधमन और अवपीड़ का नाम अवपीडन भी है । ध्मान का प्रयोग उक्त प्रकार की नाली के बिना भी किया जाता है जैसे औषध का चूर्ण चुटकी भर कर नाक में डाल कर सुड़क लिया जाता है प्रतिमर्श नस्य का वर्णन श्लोक २६ में देखिये ॥७-८॥

नस्य की मात्रा—

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ॥९॥
यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते ।
मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् ॥१०॥
बिन्दुद्वयोनाः कल्कादेः

व्याख्या—किसी द्रव में प्रदेशिनी अङ्गुली के दो पर्व डुबा कर निकालने पर जो बिन्दु गिरता है उस का

नाम "विन्दु" है अर्थात् बून्द ।

उस विन्दु के परिणाम (संख्या) से मर्श नामक नस्य की तीन प्रकार की मात्रा है—१—उत्कृष्ट (उत्तम) मात्रा जो १० विन्दु की होती है (प्रत्येक नासारन्ध्र में ५—५ विन्दु)। २—मध्यम मात्रा जो ८ विन्दु की होती है (प्रत्येक नासारन्ध्र में ४—४ विन्दु)। ३—और ऊन (छोटी) मात्रा जो ६ विन्दु की होती है (प्रत्येक नासा रन्ध्र में ३—३ विन्दु)

और विरेचन एवं शमन नामक नस्यों की मात्रा जो कल्क के रस एवं क्वाथ और दूध अथवा जल की होती है उस के इसी क्रम से ८ विन्दु की उत्कृष्ट मात्रा, ६ विन्दु की मध्यमा मात्रा और ४ विन्दु की ऊन मात्रा मानी जाती है ।

वक्तव्य—प्रतिमर्श की मात्रा का उल्लेख श्लोक २९ से ३३ में । भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में प्रतिमर्श का वर्णन इसप्रकार है—

ईषत् उच्छिङ्घतः स्नेहो यावत् वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः ॥५१॥

(सु. चि. अ. ४०) अर्थात् जितना सा स्नेह नाक में डाला गया सुडकने पर कण्ठ में चला जाय उतना स्नेह "प्रतिमर्श" की एक मात्रा होती है । भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. सि.अ. ९—प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत् ॥९२॥

अर्थात्—प्रतिमर्श नस्य के रूप में स्नेह-निर्दोष (व्यापत्ति रहित) होता है और स्नेह एवं विरेचन नामक दोनों प्रयोजन करता है । श्री शार्ङ्गधराचार्य के शब्दों में—शा.सं उ खं.अ.८ ....प्रतिमर्शो द्विविन्दुकः ॥४०॥

अर्थात् प्रतिमर्श की मात्रा दोनों नासापुटों में एक एक बिन्दु की होती है । निष्कर्ष यह है कि यह वही नस्य है जो प्रतिदिन सरसों के तैल आदि को नाक में लगाया जाता है ॥९,१०॥

नस्य के योग्य तथा नस्य का काल—

योजयेन्न तु नावनम् ।
तोयमद्यगरस्नेह-पीतानां पातुमिच्छताम् ॥११॥
भुक्तभक्तशिरःस्नात-स्नातुकामस्रुतासृजाम् ।
नवपीनसवेगार्त-सूतिकाश्वासकासिनाम् ॥१२॥
शुद्धानां दत्तबस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने ।
अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः अथ नस्यं प्रयोजयेत् ॥१३॥
प्रातः श्लेष्मणि, मध्याह्ने पित्ते, सायंनिशोश्चले,

व्याख्या—ये नस्य कर्म के अयोग्य हैं—जिसने अभी-अभी जल का पान किया है, मद्य का पान किया है, गर विष का सेवन किया है अथवा जो जल आदि का पान करना चाहता है अर्थात् जलपान आदि के पश्चात् और पूर्व नस्य का प्रयोग न करे और भोजन के अनन्तर शिर धोने के अनन्तर और शिर धोने के पूर्व, रक्तस्रावण के अनन्तर, नव प्रतिश्याय (आम प्रतिश्याय) से तथा मूत्र पुरीष आदि के वेग से जो पीड़ित हैं और प्रसूता नारी तथा कास एवं श्वास से पीड़ित, जिनको वमन विरेचन से शुद्ध किया गया है अर्थात् शोधन के अनन्तर, जिनको बस्ति दी गई है वर्षा ऋतु से अतिरिक्त ऋतुओं में जब बादल छाए हों तब । इन सब दशाओं में नस्य का प्रयोग न करे । परन्तु अत्यावश्यक हो तो किया जा सकता है । जैसे अभिन्यास ज्वर में अथवा अत्यन्त भीषण शिरा-रोग आदि में ।

नस्य के योग्य काल कफ जनित रोगों में प्रातः काल, पित्तजनित रोगों में मध्याह्न काल तथा वातजनित रोगों में सायं काल ॥११-१३॥

स्वस्थ के नस्य सेवन का काल—

स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्कालवसन्तयोः ॥१४॥
शीते मध्यन्दिने, ग्रीष्मे सायं वर्षासु सातपे ।

व्याख्या—स्वस्थ वृत्त में (स्वस्थ मानव को) शरद् ऋतु में तथा वसन्त ऋतु में प्रातः काल, हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में मध्याह्न काल में ग्रीष्म ऋतु में सायं काल और वर्षा ऋतु में जब धूप निकली हो तब नस्य देना चाहिये ।

वक्तव्य—यह उसी नस्य (नावन) का वर्णन है जिसका विधान सू० अ० २ के श्लोक ९ में किया गया है अर्थात् स्वस्थ वृत्त का पालन करने वाले को इस प्रकार ऋतु का विचार करके नस्य लेना चाहिये । इस १४ वें श्लोक से जिन कालों का निर्देश किया गया है वे सब काल (समय) समशीतोष्ण होते हैं और जो श्लोक १३ में काल का निर्देश है वह वात आदि दोषों के उद्रेक का समय होता है और उद्रेक के समय नस्य लेने से उनका निःसरण हो जाता है और उसी समय उनका शमन भी आवश्यक होता है ॥१४॥

रोगानुसार नस्य एवं उसकी अवधि—

वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामपतानके ॥१५॥
मन्यास्तम्भे स्वरभ्रंशे सायंप्रातर्दिने दिने ।
एकाहान्तरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत् ॥१६॥

व्याख्या—शिर में वायु की वृद्धि होने पर, हिक्का में, अपतन्त्रक नामक वातव्याधि में, मन्यास्तम्भ में तथा स्वर भेद में प्रति दिन प्रातःकाल एवं सायंकाल नस्य का सेवन करना चाहिये । इन से अतिरिक्त रोगों में एक दिन

का अन्तर देकर नस्य का प्रयोग करना चाहिये। और नस्य का सेवन सात दिन करना चाहिये।

वक्तव्य—इस पाठ के आगे अ० सं० का पाठ इस प्रकार है—

अनेकविधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि नस्यं दद्यात आसम्यग् योगाद् वा (सू० अ० २६)। अर्थात्-इस विधि से ५, ७ अथवा ९ दिन नस्य देवे अथवा जब तक सम्यग्योग हो तब तक देना चाहिये ॥१५, १६॥

नस्य का पूर्व कर्म—

स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य प्राक्कृतावश्यकस्य च।
निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् पुनः ॥१७॥

व्याख्या—नस्य कर्म के पूर्व शिरोभाग का विधिपूर्वक अभ्यङ्ग आदि द्वारा स्नेहन एवं नाली स्वेदन द्वारा स्वेदन करना चाहिये और नस्य देने के कुछ समय पूर्व मूत्रोत्सर्ग आदि आवश्यक कार्य सम्पन्न हो जाना चाहिये तत्पश्चात् रोगी निर्वात स्थान में शय्या पर लेट जाय और उस समय शिरोभाग पर पुनः स्वेदन करना चाहिये इसके अनन्तर निम्नलिखित विधि से नस्य देना चाहिये।

वक्तव्य—जैसे वमन विरेचन आदि के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन करके विकार कारक मलों को मृदु एवं द्रव करना आवश्यक होता है फलतः शिरो भाग का शोधन भली भांति हो जाता है। हाथों को तपा तपा कर सिर पर स्वेदन करे ॥१७॥

नस्य देने की विधि—

अथोत्तानजुर्देहस्य पाणिपादे प्रसारिते।
किञ्चिदुन्नतपादस्य किञ्चिन्मूर्धनि नामिते ॥१८॥
नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत्।
उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रणाड्या पिचुनाऽथवा ॥१९॥
दत्ते पादतलस्कन्ध-हस्तकर्णादि मर्दयेत्।
शनैरुच्छिङ्घ्य निष्ठीवेत्पार्श्वयोरुभयोस्ततः ॥२०।
आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत्।

व्याख्या—नस्य देते समय—रोगी को उक्त शय्या पर चित एवं सीधा, हाथ एवं पांव पसरवा कर, पांव की ओर से कुछ ऊँचा तथा शिर की ओर से कुछ नीचा करके लेटा देवे फिर एक नासापुट को ढॉप कर दूसरे नासापुट में औषध द्रव डाले। यह औषध द्रव उष्ण जल में धर कर कोसा किया गया हो और उसे नलिका द्वारा अथवा पिचु द्वारा नासा में डालना चाहिये।

इस प्रकार नस्य दे देने पर पॉव के तलुओं का, स्कन्धों का, हाथों तथा कानों का मर्दन करना चाहिये।

तदनन्तर उसे सिड़क (ऊपर की ओर खींच) कर दोनों नासा पुटों के मल का दोनों ओर निष्ठीवन कर देना चाहिये।

अर्थात् दाहिनी ओर का दाहिनी ओर और बाईं ओर का बाईं ओर मुख मोड़ कर खींढ निकाल देना चाहिये।

इस प्रकार मर्शनस्य की मात्रा (देखिये श्लोक १०) को दो तीन बार में नासा पुटों में डाले (एक ही बार सब नहीं डाले) ॥२१॥

मूर्च्छा नामक उपद्रव की शान्ति तथा पश्चात्कर्म—

मूर्च्छायां शीततोयेन सिञ्चेत्परिहरन् शिरः ॥२१॥
स्नेहं विरेचनस्यान्ते दद्याद्दोषाद्यपेक्षया।
नस्यान्ते वाक्शतं तिष्ठेदुत्तानः, धारयेत्ततः ॥२२॥
धूमं पीत्वा कवोष्णाम्बुकवलान् कण्ठशुद्धये।

व्याख्या—यदि कदाचित् नस्य देते समय मूर्च्छा आ जाय तो शिर को छोड़ कर समस्त शरीर पर शीतल जल के छींटे देना चाहिये जिससे मूर्च्छा खुल जाय।

और शिरोविरेचन नस्य के अन्त में दोष, देश एवं काल का विचार करके (देखिये श्लोक १३-१४-१५) तदनुसार किसी स्नेह की नस्य देनी चाहिये।

और नस्य के अनन्तर-१०० वाक् परिमित काल (३-४ मिण्ट) पर्यन्त रोगी चित ही लेटा रहे तत्पश्चात् धूम पान करके कण्ठ शुद्धि के लिये कोसे जल के ५-७ कुल्ले करे।

वक्तव्य—अ० सं० के अनुसार—न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहास्यव्याहारस्पन्दनउच्छिन्दनानि आचरेत्, तथा हि शिरोरुक्प्रतिश्यायकासतिमिरखलतिपलितव्यङ्ग तिलकालकमुख दूषिकाणां सम्भवः दत्तमात्रे तु नस्ये कर्ण ललाट केश भूमि गण्ड मन्या स्कन्ध पाणि पादतलानि अनुमुखं मर्दयेत्, शनैश्च उच्छिन्द्येत्। अर्थात्-जब नस्य का नासा पुटों में निषेचन किया जा रहा हो तब-क्रोध हास्य, भाषण और अवयवों का कम्पन तथा सुड़कना न करे क्योंकि ऐसा करने से-शिरोरोग, प्रतिश्याय, कास, तिमिर रोग, खलति, पलित व्यङ्ग तिल, कालक तथा मुख दूषिका (मुहाँसे) की उत्पत्ति हो सकती है और नस्य देते ही कर्णमूल, माथा, केशभूमि (शिर), कपोल, मन्या, स्कन्ध, हाथ एवं पांव के तलों को सुखपूर्वक मलना चाहिये। और नस्य के स्नेह को धीरे धीरे सुड़कना चाहिये। स्मरण रहे कि यह स्नेह की नस्य के समय का उपचार है। क्यों कि तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवा स्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादनार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यकल्पः ॥२२॥ (सु० चि० अ० ४०) भावार्थ—स्नेह की

जो नस्य दी जाती है उसके लिये विशेष रूप से "नस्य" शब्द का प्रयोग होता है ॥२१,२२॥

दोनों नस्यों के सम्यग्योग, हीनयोग तथा अतियोग—

सम्यक्स्निग्धे सुखोच्छ्वासस्वप्नबोधाक्षपाटवम् ॥२३॥
रूक्षेऽक्षिस्तब्धता शोषो नासास्ये मूर्धशून्यता।
स्निग्धेऽपि कण्डूगुरुताप्रसेकारुचिपीनसाः ॥२४॥
सुविरिक्तेऽक्षिलघुतावक्त्रस्वरविशुद्धयः ।
दुर्विरिक्ते गदोद्रेकः, क्षामताऽतिविरेचिते ॥२५॥

व्याख्या—स्नेहन नस्य के सम्यग्योग के लक्षण—श्वास की गति सुखपूर्वक होती है, सुखपूर्वक निद्रा आती है और सुखपूर्वक जागरण होता है और श्रोत्रादि इन्द्रियों में पटुता अर्थात् शब्दादि विषयों के ग्रहण में समर्थता होती है।

रूक्ष (स्नेह के हीनयोग) में—नेत्रों में स्तब्धता, नासापुटों तथा मुख में शोष (सूखापन) और शिर में शून्यता रहती है।

स्नेहन नस्य के अतियोग होने पर—नासा में कण्डू, शिर में भारीपन, लालास्राव (नासा एवं नेत्र से भी स्राव), अरुचि तथा पीनस (प्रतिश्याय) होता है।

और विरेचन नस्य के सम्यग्योग में—नेत्रों में लघुता, स्वर एवं मुख में विशुद्धि। विरेचन नस्य के मिथ्यायोग तथा हीनयोग में रोग की वृद्धि और विरेचन नस्य के अतियोग में कृशता एवं दुर्बलता।

वक्तव्य—अथाऽस्य स्नेहोक्तमाचारमादिशेत्, अतिद्रवपानं च वर्जयेत्, पुनश्च तृतीयेऽहनि नस्यं अवसेचयेत्, हिध्मास्वरोपघातमन्यस्तम्भाऽपतानकेषु शिरसि चानिलाऽऽर्त्याद्यभिभूते प्रत्यहं सायप्रातरुभयकालं वा। अ० सं० सू० अ० २९—

अर्थात्—नस्य के दिनों में और उसके पश्चात् प्रकृतिस्थ होने तक स्नेहाचार (अ० १६ श्लोक २७-३० देखिये) का आदेश दे देवे और अतिद्रव आहार का त्याग करे, फिर तीसरे दिन स्नेहन नस्य का अवसेचन करे परन्तु—हिक्का, स्वरभेद, मन्यास्तम्भ तथा अपतानक रोगों में और शिर की वातजनित वेदना आदि में प्रति दिन प्रातः अथवा सायंकाल अथवा दोनों समय नस्य देवे और विरेचन नस्य के पश्चात् तत्काल स्नेहन नस्य देना चाहिये जैसे निरूहण के पश्चात् अनुवासन दिया जाता है ॥२१–२५॥

प्रतिमर्श के योग्य एवं अयोग्य रोगी एवं काल—

'प्रतिमर्शः' क्षतक्षामबालवृद्धसुखात्मसु ।
प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि न त्विष्टो दुष्टपीनसे ॥२६॥
मद्यपीतेऽबलश्रोते कृमिदूषितमूर्धनि ।
उत्कृष्टोत्क्लिष्टदोषे च, हीनमात्रतया हि सः ॥२७॥

व्याख्या—प्रतिमर्श नस्य—उरःक्षत में, कृशता में, बाल, वृद्ध तथा सुखात्मा (सुकुमार) में तथा अकाल वर्षा एवं दुर्दिन में भी अर्थात् सदा—प्रति दिन दी जानी चाहिये। परन्तु दुष्ट पीनस में (दुष्ट प्रतिश्याय में), मद्यपान के अनन्तर एवं मद्यपान जनित मदात्यय आदि रोगों में, श्रोत्रेन्द्रिय की दुर्बलता (उच्चैः श्रुति एवं बधिरता) में तथा शिर के भीतर क्रिमि होने पर और वृद्ध तथा उत्क्लिष्ट दोषों में प्रतिमर्श नस्य लाभदायक नहीं होती क्योंकि उसकी मात्रा हीन (स्वल्प) होने से वह दोषों की वृद्धि कर सकती है अतः इन रोगों में या दशाओं में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥२६,२७॥

प्रतिमर्श नस्य के काल—

निशाहर्भुक्तवान्ताहः स्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् ।
शिरोभ्यञ्जनगण्डूष-प्रस्रावाञ्जनवर्चसाम् ॥२८॥
दन्तकाष्ठस्य हास्यस्य योज्योऽन्तेऽसौ द्विबिन्दुकः
पञ्चसु स्रोतसां शुद्धिः, क्लम-नाशस्त्रिषु क्रमात् ॥२९॥
दृग्बलं पञ्चसु, ततो दन्तदार्ढ्यं मरुच्छमः ।

व्याख्या—प्रतिमर्श नस्य के १५ काल हैं १–निशा के अन्त में (प्रातःकाल विस्तरे से उठते ही), २—दिन के अन्त में (सायंकाल), ३—भोजन के अन्त में, ४—वमन के अन्त में, ५—दिवास्वाप के अन्त में, ६—मार्ग गमन के अन्त में, ७—परिश्रम के अन्त में, ८—व्यवाय के अन्त में, ९—शिरोऽभ्यङ्ग के अन्त में, १०—कवल (कुल्ले) करने के अन्त में, ११—प्रस्राव (पेशाव–मूत्रण) के अन्त में, १२–अञ्जन करने के अन्त में, १३—पुरीषोत्सर्ग के अन्त में, १४—दतवन के अन्त में तथा हास प्रहास के अन्त में। प्रतिमर्श की एक मात्रा दो विन्दु है।

प्रथम ५ कालों (१–२–३–४–५) में नस्य लेने से—स्रोतों की शुद्धि होती है, तीन कालों (६–७–८) में नस्य लेने से क्लम का नाश (मनः प्रसाद एवं शिर की लघुता) होता है, ५ कालों (९–१०–११–१२–१३) में नस्य लेने से दृष्टि का बल बढ़ता है और दतवन के अन्त में नस्य लेने से दन्तों में दृढ़ता होती है और हँसने (हास प्रहास) के अन्त में नस्य लेने से वायु की शान्ति होती है।

वक्तव्य—अष्टाङ्ग संग्रह के अनुसार प्रतिमर्श का परिमाण—

प्रमाणं प्रतिमर्शस्य विन्दुद्वितयमिष्यते ।
बिन्दुर्वा येन चोललेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते ।
निष्ठूते यत्र वा स्नेहो न साक्षात उपलक्ष्यते ।

अर्थात्—प्रतिमर्श नस्य के स्नेह की मात्रा (परिमाण या प्रमाण) दो बिन्दु है अथवा एक बिन्दु है अथवा जिसे अनुत्क्लिष्ट दोष का उत्क्लेश न हो अथवा जो स्नेह थूक में साक्षात् दिखाई न देवे। यह प्रतिमर्श नस्य के स्नेह का निरपवाद परिमाण है ॥२८,२६॥

नस्य कर्म आदि में वयस् का विचार—

न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे ॥३०।
न चोनाष्टादशे धूमः, कवलो नोनपञ्चमे।
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ ॥३१॥

व्याख्या—सामान्यतः—सात वर्ष की वयस् के पूर्व तथा अस्सी वर्ष की वयस् के पश्चात् नस्य कर्म (मर्श नस्य) का प्रयोग न करे। १८ वर्ष की वयस् के पूर्व धूमपान का प्रयोग न करे। ५ वर्ष की वयस् के पूर्व कवल एवं गण्डूष का प्रयोग न करे। १० वर्ष की वयस् के पूर्व तथा ७० वर्ष की वयस् के पश्चात् शोधन (वमन, विरेचन तथा सिरावेध आदि रक्त स्रावण) का प्रयोग न करे।

वक्तव्य—यह सब सामान्य नियम है और सम्भवतः स्वस्थ के लिये लिखा गया है, आवश्यकता पड़ने पर सब कुछ करना पड़ता है जैसे जन्म से ही शोधन किया जाता है। विरेचन नस्य का तो जन्म से ही प्रयोग लाभदायक होता है ॥३०, ३१॥

प्रतिमर्श में वयस् का विचार—

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात् ॥३२॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।

व्याख्या—परन्तु—प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग—जन्म से मरण पर्यन्त (जीवन भर) प्रशस्त है जैसे वस्ति (मात्रा वस्ति) का, और प्रतिमर्श प्रति दिन लेने से मर्श के समान ही गुण (लाभ) भी करती है और उसमें किसी प्रकार की यन्त्रणा (आहार विहार के नियम) के पालन की भी आवश्यकता नहीं है और उससे मर्श के समान व्यापत्तियों का भी भय नहीं है।

वक्तव्य—मर्श नस्य में अनेक प्रकार के आहार-विहार की आवश्यकता होती है। जैसे पञ्चकर्म करते समय वमन विरेचन एवं वस्ति कर्म में होती है और उसमें व्यापदों का भय रहता है ॥३२॥

तैल की नस्य का विधान—

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥३३॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे।

व्याख्या—स्वस्थ के लिये प्रतिदिन के नस्य प्रयोग के लिये (प्रतिमर्श नस्य के लिये) तैल (विशेषतः सरसों का तैल) ही प्रशस्त है क्योंकि—शिर कफ का (स्नेहन कफ का) स्थान है अतः एव घृत आदि दूसरे स्नेह प्रशस्त नहीं हैं।

वक्तव्य—तैल स्निग्ध होने पर कफवर्द्धक नहीं होता परन्तु घृत आदि दूसरे स्नेह कफ कारक होते हैं अतः तैल ही प्रशस्त है। ३३॥

मर्श एवं प्रतिमर्श में फल भेद—

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कर्षापकृष्टता ॥३४॥
मर्शे च प्रतिमर्शे च विशेषो न भवेद्यदि।
को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः ॥३५॥
अच्छपान-विचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती।
अन्वासमात्रावस्तो च तद्वदेव विनिर्दिशेत् ॥३६।

व्याख्या—मर्श नस्य विधान—आशुकारी (शीघ्र ही फल देने वाला) अधिक गुण करने वाला होता है और प्रतिमर्श नस्य विधान—(विलम्ब से फल देने वाला) तथा थोड़ा गुण करने वाला होता है।

इस प्रकार मर्श एवं प्रतिमर्श में यदि यह भेद न होता तो मर्श का सेवन कौन करता जब कि मर्श नस्य विधान में बहुत से परिहार (आहार विहार के नियन्त्रण) हैं और हीनयोग एवं अतियोग आदि से अनेक व्यापद् हो सकती हैं। इसी प्रकार—स्नेह विधान के अच्छपान तथा विविध अवचारणा (विचारणा) में और रसायन विधान के कुटी प्रावेशिक एवं वातातपिक प्रयोग में और वस्ति विधान के अनुवासन तथा मात्रावस्ति प्रयोग में भेद का कारण समझना चाहिये। अर्थात् यदि इनमें भेद न होता तो अच्छपान आदि का सेवन कौन करता।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि अच्छपान, कुटीप्रावेशिक तथा अनुवासन आशुकारी एवं गुणों में उत्कृष्ट हैं। यद्यपि उनमें परिहार की आवश्यकता है तथा अनेक व्यापद् हो सकती हैं तथापि उनका सेवन किया जाता है और स्नेह की अवचारणा वातातपिक रसायन तथा मात्रावस्ति चिरकारी हैं और गुणों में न्यून (अपकृष्ट) है परन्तु उन में परिहार की अधिक आवश्यकता नहीं है और व्यापदों का भय भी नहीं है ॥३४-३६॥

नस्योपयोगी अणु तैल का वर्णन—

जीवन्तीजलदेवदारुजलद-त्वक्सेव्यगोपीहिमं-
दर्वीत्वङ्मधुकप्लवागुरुवरीपुण्ड्राह्वबिल्वोत्पलम्।
धावन्यौ सुरभिः स्थिरे कृमिहरं पत्रं त्रुटिं रेणुकां
किञ्जल्कं कमलाद्दयंशतगुणे दिव्येऽम्भसि क्वाथयेत् ॥३७॥

तैलाद्रसं दशगुणं परिशोष्य तेन
तैलं पचेत् सलिलेन दशैव वारान् ।
पाके क्षिपेच्च दशमे सममाजदुग्धं
नस्यं महागुणमुशन्त्यणुतैलमेतत् ॥३८॥

व्याख्या—जीवन्ती, नेत्रबाला, देवदारु, मोथा, दालचीनी, खस, सारिवा, चन्दन, दारुहल्दी, मुलेठी, नागरमोथा, अगुरु, त्रिफला, पुण्डेरिया, गिलगिरी, कमल, कण्टकारी, वनभण्टा, रास्ना, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वायविडंग, तेजपत्ता, छोटी इलायची, रेणुका तथा कमल का केसर। सब द्रव्य समान भाग लेकर और कूट कर सौगुने वर्षा जल में क्वाथ करे, दशमांश रहने पर छान लेवे और क्वाथ से दशमांश तैल लेकर और तैल के समभाग उक्त क्वाथ डाल २ कर दस बार पाक करे। परन्तु दसवें पाक में तैल के समान भाग बकरी का दूध डाल कर पाक कर लेवे। यह "अणु तैल" है और नस्य में प्रयुक्त होता है।

वक्तव्य—जीवन्ती आदि सब द्रव्य १ सेर, वर्षा जल १०० सेर, अवशिष्ट १० सेर, प्रत्येक पाक में १ सेर क्वाथ मिलाकर ९ पाक करे अर्थात् ९ सेर ९ बार करे, दसवें पाक में एक सेर क्वाथ तथा एक सेर बकरी का दूध मिलाकर पाक करे और सिद्ध होने पर छान कर रख लेवे, मर्श एवं प्रतिमर्श में इस का प्रयोग करे। किसी २ प्रति में "कमला-द्वला"पाठ है और वह चरकानुकूल भी है (च०सं०अ० ५-श्लोक ६३-७०) अतः बला अर्थात् वरियारा का ग्रहण करना चाहिये ॥३७ ३८॥

स्नेह नस्य से लाभ—

घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः ।
दृढेन्द्रियास्त्वपलिता भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥३९॥

व्याख्या—जो स्नेहन नस्य का सेवन करते हैं—उनके त्वचा, कन्धे, ग्रीवा, मुखमण्डल तथा वक्षस् (छाती)—घन (निविड—ठोस—मोटे), उन्नत (ऊँचे—उभरे—पुष्ट) तथा प्रसन्न (स्वच्छ—रमणीय—सुन्दर) हो जाते हैं, इन्द्रियाँ दृढ़ (बलवान) हो जाती हैं (बनी रहती हैं) तथा केश काले बने रहते हैं (शीघ्र नहीं पकते) ॥३९॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

अथातो धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब धूमपान विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—धूमपान का वर्णन च० सू० अ० ५ में सु० चि० अ० ४० में तथा अ० सं० सू० अ० ३० में देखिये।

धूमपान का वर्णन—

जत्रूर्ध्वकफवातोत्थविकाराणामजन्मने ।
उच्छेदाय च जातानां पिबेद्धूमं सदाऽऽत्मवान् ॥१॥

व्याख्या—आत्मवान् (बुद्धिमान्, मानसिक बल से युक्त—प्रशस्त आत्मा वाला) मानव—जत्रु के ऊपर होने वाले कफवात जनित रोगों की उत्पत्ति को रोकने के लिये तथा उत्पन्न रोगों की शान्ति के लिये सदा धूमपान किया करे।

वक्तव्य—यह वही धूमपान है जिसका विधान दिनचर्याऽध्याय२ के श्लोक ९ में किया गया है। आत्मवान् कहने का तात्पर्य यह है कि धूमपान प्रायः व्यसन का रूप धारण कर लेता है अतः इस प्रकार धूमपान करे जिससे वह व्यसन का रूप धारण न करे। अष्टाङ्ग संग्रह के कथनानुसार—

धूमो हि शिरोऽक्षिकर्णशूलाऽभिष्यन्दगौरवाऽर्द्धावभेदकपीनसकासश्वासाऽऽस्यवैरस्यप्रसेकवैस्वर्यपूतिघ्राणमुखहिध्मागलरोगदन्तशूलदौर्बल्याऽरुचिहनुमन्याग्रहक्रिमिकण्डूपाण्डुत्वक् केशदोषक्षवथुनाशबाहुल्यतन्द्राऽतिनिद्राऽक्कथनजत्रूर्ध्वगतकफवातव्याधिप्रशमनाय प्रयुज्यते तथा शिरःकपालेन्द्रियमनोबृंहणप्रसादनाय च। स शीतद्रव्यनिर्वृत्तोऽपित्वग्निसंयोगात् उष्णतया पित्तरक्तविरुद्धः ।

अर्थात् वह धूम—शिर, नेत्र तथा कर्ण के शूल, अभिष्यन्द एवं भारीपन की तथा—अर्द्धावभेदक (आधा सीसी) प्रतिश्याय, कास, श्वास, मुख वैरस्य, लालास्राव, स्वरभेद, नासा एवं मुख की दुर्गन्ध, हिचकी, कण्ठरोग, दन्त के शूल एवं दौर्बल्य, अरुचि, हनुग्रह, मन्याग्रह, नासा आदि के कृमि एवं कण्डू, पाण्डुरोग, अकाल पलित आदि के सदोष, छींक के नाश एवं बाहुल्य, तन्द्रा, निद्रा की अधिकता, क्कथन (प्रसुप्तावस्था में ध्वनि होना—खुर्राटे मारना) तथा जत्रु के ऊपर के ये एवं अन्यान्य कफ वात जनित रोगों की शांति के लिए प्रयुक्त किया जाता है और शिर (मस्तिष्क) एवं कपाल (खोपड़ी), श्रोत्र आदि इन्द्रियों एवं मनस् की पुष्टि के लिए तथा प्रसादन के लिए भी धूम का प्रयोग किया जाता है। शीतवीर्य द्रव्यों का धूम भी अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है अतः पित्तज एवं रक्तज रोगों में धूमपान का प्रयोग न करे ॥१॥

धूम के भेद तथा अयोग्य रोग—

स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णश्च वाते वातकफे कफे

योज्यो न रक्तपित्तार्तविरिक्तोदरमेहिषु ॥२॥
तिमिरोर्ध्वानिलाध्मानरोहिणीदत्तवस्तिषु।
मत्स्यमद्यदधिक्षीरक्षौद्रस्नेहविषाशिषु। ३॥
शिरस्यभिहते पाण्डुरोगे जागरिते निशि।

व्याख्या—विधि भेद से धूम तीन प्रकार का होता है—१—स्निग्ध, २—मध्य तथा ३—तीक्ष्ण।

वात विकारों में स्निग्ध, वात कफ के विकारों में मध्य तथा कफ के विकारों में तीक्ष्ण धूम का प्रयोग करना चाहिये।

धूम पान का निषेध—रक्तपित्त जनित रोगों में, विरेचन के पश्चात्, उदर रोग में, प्रमेह रोग में, तिमिर रोग में, ऊर्ध्वगामी वायु में, आध्मान में, रोहिणी रोग (कण्ठ रोग विशेष) में, वस्ति देने पर और मछली का मांस खाने एवं मद्य, दही, दूध, मधु, तथा स्नेह का पान करने पर, विष खाने पीने पर, शिर में चोट आने पर, पाण्डु रोग में और रात्रि जागरण करने पर धूमपान का प्रयोग न करे (इन दशाओं में सिग्रेट तम्बाकू का भी निषेध होना चाहिये ।।४॥

धूमपान से हानि तथा उसका उपचार—

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्यतृण्मूर्च्छामदमोहकृत् ॥ ४ ॥
धूमोऽकालेऽतिपीतो वा तत्र शीतो विधिर्हितः।

व्याख्या—अकाल में अथवा अधिक धूमपान करने पर—रक्त पित्त जनित रोग, अन्धापन, बहिरापन, तृषा, मूर्च्छा, मद तथा मोह (मूर्च्छा भी) हो जाते हैं। इस दशा में सब प्रकार की शीतल चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—विशेषतस्तु सर्वं स्रोतोऽभिगते धूमे तीव्रतरा वेदना भवति ओषाऽऽध्माननेत्ररागश्वासकासपीनसांऽगस्वरसादाऽम्लकाः तत्र घृतक्षीरेक्षुरसद्राक्षाशर्करोपयोगः तद्विधैरेव वमनं कटुतिक्तै रपि च नस्यगण्डूषाः। (अ. सं. सू. अ, ३०) अर्थात्—यदि कदाचित् अधिक धूमपान से अथवा धूमवाले भवन में रहने से धूम नासा आदि सभी स्रोतों में व्याप्त हो जाता है तो बहुत भीषण वेदना होती है और दाह, आध्मान, नेत्रों में लालिमा, श्वासावरोध, कास, प्रतिश्याय, शिथिलता, स्वरभेद एवं अम्लपित्त नामक बिकार हो जाते हैं।

इस दशा में घृतपान एवं नवनीत का सेवन, दुग्ध, ईख के रस, अंगूर के रस तथा खण्ड-मिश्री के शर्बत का उपयोग करना चाहिये और इन्हीं के अनुपान के साथ मैनफल आदि वामक द्रव्य खिला कर वमन होने की व्यवस्था करनी चाहिये और कटु एवं तिक्त रस वाले द्रव्यों की नस्य एवं गण्डूष का प्रयोग करना चाहिये। कभी कभी बन्द कमरा में कोला सुलगा कर सो जाने वाले की मृत्यु भी हो जाती है। सु. सू.अ. १२ में इसका उल्लेख धूमोपहत नाम से है यथा—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम्।
श्वसिति क्षौति चाऽत्यर्थं अत्याधमति कासते।
चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥३०॥
सधूमकं निःश्वसिति घ्रेयमन्यत् न वेत्ति च।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चाऽस्योपहन्यते ॥३१॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति।
धूमोपहत इत्येषः शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥३२॥
सर्पिः इक्षुरसं द्राक्षा पयो वा शर्कराम्बु वा।
मधुराम्लौ रसौ वापि वमनाय प्रदापयेत् ॥३३॥
वमतः कोष्ठशुद्धिःस्यात् धूमगन्धश्च नश्यति।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥३४॥
दाह मूर्च्छातृषाऽऽध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः।
मधुरैः लवणाऽम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥३५॥
सम्यक् गृह्णातीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति।
शिरोविरेचनं चाऽस्मै दद्यात् योगेन शास्त्रवित् ॥३६॥
दृष्टिः विशुध्यते चास्य शिरोग्रीवं च देहिनः।
अविदाहि लघु स्निग्धमाहारं चाऽस्य कल्पयेत् ॥३७॥

त्रिविध धूम सेवन के काल—

क्षुतजृम्भितविण्मूत्रस्त्रीसेवाशस्त्रकर्मणाम् ॥ ५ ॥
हासस्य दन्तकाष्ठस्य धूमसन्ते पिबेन्मृदुम्।
कालेष्वेषु निशाहारनावनान्ते च मध्यमम् ॥ ६ ॥
निद्रानस्याञ्जनस्नानच्छर्दितान्ते विरेचनम्।

व्याख्या—छींक होने के, जम्हाई लेने के, पुरीष एवं मूत्र का उत्सर्ग करने के, मैथुन के, शस्त्र कर्म के, हँसने के तथा दतवन करने के अन्त में मृदु (स्निग्ध) धूम का पान करे। उक्त समयों में और रात्रि के आहार के तथा नस्य कर्म के अन्त में मध्यम (मध्य—शमन—प्रायोगिक) धूम पान करे। और निद्रा के, स्नेहन नस्य के, अञ्जन के, स्नान के तथा वमन के अन्त में विरेचन (तीक्ष्ण) धूम का पान करे (क्यों कि इन समयों में धूम से कफ का उत्क्लेश होता है)।

वक्तव्य—इनके अतिरिक्त अ० सं० सू० अ० ३० में तीन प्रकार के अन्य धूमों का उल्लेख है १—कासघ्न अर्थात् कास श्वास नाशक, २—वामन अर्थात् वमन कारक और ३—व्रणधूपन अर्थात् जो व्रण में धूप दिया जाता है। और सु० चि० अ० ४ में ५ प्रकार का धूम माना है १—प्रायोगिक जिसे यहाँ मध्य या मध्यम कहा है, २—स्नैहिक (स्निग्ध), ३—वैरेचनिक (विरेचन या तीक्ष्ण या शोधन) जिससे मुख एवं नासा से कफ का स्राव हो जाता है, ४—कासघ्न (कास श्वास नाशक) जिसका पान कास एवं श्वास

में किया जाता है और ५—वामनीय जिससे वमन हो जाती है (यह कास नाशक धूम देखिये चि० अ०) ॥ ५, ६ ॥

धूम नेत्र का वर्णन—

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेदृजु ॥ ७ ॥
मूलाग्रेऽङ्गुष्ठकोलास्थिप्रवेशं धूमनेत्रकम् ।

व्याख्या—धूमनेत्रक (धूम पान की नली)—उन्हीं स्वर्ण आदि धातु अथवा काष्ठ आदि का बनाया जाता है जिन का वस्ति नेत्र (वस्ति की नली) बनाया जाता है (देखिये अ० १६ का श्लोक १०)। इस नेत्रक में तीन कोश (पर्व) हों, वह सीधा हो, मूल भाग में (जहाँ धूम वर्त्ति या धूम द्रव्य धरे जाते हैं) अंगूठा के प्रवेश योग्य छिद्र हो और अग्रभाग (जहाँ मुख लगा कर धूमपान किया जाता है) में बेर की गुठली के प्रवेश योग्य छिद्र हो ॥८॥

धूम नेत्र की लम्बाई—

तीक्ष्णस्नेहनमध्येषु त्रीणि चत्वारि पञ्च च ॥ ८ ॥
अंगुलानां क्रमात्पातुः प्रमाणेनाष्टकानि तत् ।

व्याख्या—धूम नेत्रक की लम्बाई—तीक्ष्ण धूम पीने के लिये तीन अष्टक (२४), स्नेहन धूम पीने के लिये चार अष्टक (३२) तथा मध्य धूम पीने के लिये पाँच अष्टक (४०) अगुल हो। यह अंगुलमान पीने वाले के अंगुलों का होना चाहिये।

वक्तव्य—धूमनेत्रक धूम पान की नलिका का नाम हैं और हुक्का, कली एवं सटक आदि इसी के रूपान्तर हैं। च० चि० अ० १८ श्लोक ६६ में शराव सम्पुट के छिद्र में नेत्रक (नली या नाली) लगा कर धूम पान का विधान है और च० चि० अ० १७ के श्लोक ७ ९ में "मल्लक सम्पुटे" पाठ है ये दोनों शब्द "चिलम" के रू० या सूचक है। शब्द विचारकों का विचार है कि "मल्लक" का उच्चारण ही वर्ण विपर्यय के सिद्धान्त से "कल्लम" और कल्लम से चिलम बन गया है। जो कुछ हो। इस प्रसंग में यत्र तत्र चिलम में नली लगाने का विधान किया गया है। यह केवल कहने का प्रकार है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता हैं कि नली में चिलम लगा देवे जैसे हुक्का पर चिलम धरी जाती है परन्तु क्यों कि इस धूम पान यन्त्र का मुख्य उपकरण चिलम है उसी में धूम द्रव्य धरा जाता है अतः चिलम में हुक्का लगाने को कहा गया है ॥८।

धूम पान करने की विधि—

ऋजूपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यस्त्रिपर्ययम् ॥ ९ ॥
पिधायच्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिबेत् ।

व्याख्या—नासिका से धूम पान की विधि—सीधा बैठ कर, धूम पान में मन लगाकर, नासा के एक छिद्र को ढाँप कर दूसरे छिद्र पर नेत्रक लगाकर, विवृतास्य—मुख खोल कर, तीन पर्यायों से नासा द्वारा धूम पान करे। इसी प्रकार दूसरे नासा स्रोत को ढाँप कर धूम पान करे ॥९॥

नासा एवं मुख से धूमपान का वर्णन

प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते ॥ १० ॥
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कण्ठगे ।
मुखेनैवोद्वमेद्धूमं नासया दृग्विघातकृत् ॥ ११ ॥
आक्षेपमोक्षैः पातव्यो धूमस्तु त्रिस्त्रिभिस्त्रिभिः ।

व्याख्या—नासा एवं शिर में दोष रहने पर प्रथम नासास्रोतों द्वारा धूम पान करे। उस दोष के उत्क्लेशन (उभारने) के लिये प्रथम मुख से धूम पान करे फिर नासा से और कण्ठ में दोष रहने पर प्रथम मुख से फिर नासा से धूम पान करे। परन्तु मुख अथवा नासा से पिये गये धूम को मुख से निकाले, नासा से निकालने पर नेत्र को हानि हो सकती है। तीन तीन आक्षेप-मोक्षों द्वारा तीन बार धूम पान करना चाहिये।

वक्तव्य—विवृतास्यः पाठ विचारणीय है, एक प्रकार से संगति बैठ सकती है नासा से पीकर मुख खोल कर धूम निकाल देवे। अन्यथा मुख खुला रखने पर नासा से धूम पिया नहीं जा सकता।

आक्षेप मोक्ष—धूम पीना आक्षेप तथा निकालना मोक्ष कहलाता है इस एक आक्षेप मोक्ष का नाम "पर्यय" है इस प्रकार के तीन पर्ययों से धूम पान करना चाहिये। उत्क्लिष्ट दोष—जो निकलने को उन्मुख है, उत्क्लेशन—उत्क्लिष्ट करने का उपाय है ॥१०,११॥

धूमपान की संख्या तथा मृदु धूम के द्रव्य—

अह्नः पिबेत्सकृत् स्निग्धं, द्विर्मध्यं, शोधनं परम् ॥१२॥
त्रिश्चतुर्वा मृदौ तत्र द्रव्याण्यगुरुगुग्गुलु ।
मुस्तस्थौणेयशैलेय-नलदोशीरवालकम् ॥ १३ ॥
वराङ्गकौन्तीमधुकबिल्वमज्जैलवालुकम् ।
श्रीवेष्टकं सर्जरसो ध्यामकं मदनं प्लवम् ॥ १४ ॥
शल्लकी कुंकुमं माषा यवाः कुन्दुरुकस्तिलाः ।
स्नेहः फलानां साराणां मेदोमज्जा वसा घृतम् ॥१५॥

व्याख्या—दिन भर में स्निग्ध धूम एक बार, मध्य धूम दो बार तथा शोधन धूम (तीक्ष्ण-विरेचन) तीन अथवा चार बार पीना चाहिये।

उन तीनों धूमों में मृदु धूम में—अगुरु गुग्गुलु, मोथा, थुनेर, शरीला, जटा मांसी, गन्ध नेत्र बाला दाल-

चीनी, रेणुका मुलेठी, बिलगिरी, ऐलवालुक (सुगन्धी द्रव्य विशेष), विरोजा, राल, कटृण, मोम, नागरमोथा, सलाई, उरद, केशर, जौ, कन्दरु गोन्द, तिल, बादाम, आदि फलों के तैल चन्दन आदि सारकाष्ठों के स्नेह, मेदस्, मज्जा, वसा एवं घृत आदि द्रव्य डाले जाते हैं ॥१२-१५॥

मध्य तथा तीक्ष्ण धूम के द्रव्य—

शमने शल्लकी लाक्षा पृथ्वीका कमलोत्पलम् ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वचः सिता ॥ १६ ॥
यष्टीमधु सुवर्णत्वक् पद्मकं रक्तयष्टिका ।
गन्धाश्चाकुष्ठतगराः तीक्ष्णे ज्योतिष्मती निशा ॥१७॥
दशमूलमनोह्वालं लाक्षा श्वेता फलत्रयम् ।
गन्धद्रव्याणि तीक्ष्णानि गणो मूर्धविरेचनः ॥ १८ ॥

व्याख्या—शमन (मध्य) धूम में सलाई का बुरादा, लाख, कलौञ्जी, कमल, श्वेत कमल, तथा वट, गूलर, पीपल, पाकर एवं लोध नामक वृक्षों की छालें, मिश्री, मुलेठी, अमलतास की छाल, पद्म काष्ठ, मंजीठ, कूठ एवं तगर के विना एलादिगण के सब सुगन्धि द्रव्य डाले जाते हैं ।

तीक्ष्ण धूम में—मालकागुनी, हल्दी, दशमूल, मैनसिल, हरिताल, लाख, अपामार्ग, त्रिफला, तीक्ष्ण गन्ध द्रव्य और शिरो विरेचन गण के द्रव्य (अ० १५ श्लोक ४) डाले जाते हैं ॥१६-१८॥

धूमवर्त्ति का वर्णन—

जले स्थितामहोरात्रमिषीकां द्वादशांगुलाम् ।
पिष्टैर्धूमौषधैरेवं पञ्चकृत्वः प्रलेपयेत् ॥ १९ ॥
वर्तिरंगुष्ठकस्थूला यवमध्या यथा भवेत् ।
छायाशुष्कां विगर्भां तां स्नेहाभ्यक्तां यथायथम् ।२०।
धूमनेत्रार्पितां पातुमग्निप्लुष्टां प्रयोजयेत् ।

व्याख्या—धूमवर्त्ति बनाने की विधि—डाभ अथवा सरपत की बारह अंगुल लम्बी शलाका को आठ पहर भर जल में धर लिया जाय जब वह कुछ फूल जाय तब उसके ६ अंगुल भार पर पीसे गये धूम द्रव्यों का ५ बार लेप करे जैसे वह अंगूठा जैसी मोटी हो जाय और वह जौ के सदृश मध्य भाग में मोटी तथा दोनों ओर कुछ पतली रहे, उसे छाया में सुखावे सूखने पर उसमें से शलाका को निकाल देवे और वत्ती को उपयुक्त स्नेह से चुपड़ कर और धूम नेत्रक में लगाकर तथा अग्नि से सुलगा कर धूम पान करे ।

वक्तव्य—यह धूमपान का एक प्रकार है । बीड़ी एवं सिगरेट इसी के प्रतिनिधि हैं ॥१९,२०॥

कासघ्न धूमपान की विधि—

शरावसम्पुटच्छिद्रे नाडीं न्यस्य दशांगुलाम् ॥ २१ ॥
अष्टांगुलां वा वक्त्रेण कासवान् धूममापिबेत् ।

व्याख्या—शराव सम्पुट (चिलम) के छिद्र में दस अंगुल लम्बी अथवा ८ अंगुल लम्बी नली लगाकर कास रोगी मुख से धूम का पान करे ।

वक्तव्य—यह भी धूमपान का एक प्रकार है अब तो चिलम ही ८-१० अंगुल लम्बी बना ली जाती है उसी में धूम द्रव्य धर कर धूम पान किया जाता है, गाञ्जा, चरस एवं तम्बाकू तीक्ष्ण धूम के प्रतिनिधि हैं ॥२१॥

धूम पान के लाभ—

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं ।
पूतिर्गन्धः पाण्डुता केशदोषाः ।
कर्णास्याक्षिस्रावकण्ड्वर्तिजाड्यं
तन्द्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशन्ति ॥ २२ ॥

व्याख्या—कास, श्वास, प्रतिश्याय, स्वरभेद, मुख एवं नासा की दुर्गन्ध, मुख मण्डल का पीला पन, केशों के गिरने, टूटने एवं श्वेत पीत होना आदि दोष, कान के, मुख के एवं नेत्र के स्राव, कण्डू, वेदना (दन्त शूल आदि) तथा जडता आदि दोष, तन्द्रा एवं हिक्का नामक विकार धूम पान करने वाले का स्पर्श भी नहीं करते और नष्ट भी हो जाते हैं ।

वक्तव्य—च. सू. अ ८ के पाठ १८ में सद्वृत्त का वर्णन करते समय "धूमपः" लिखकर धूमपान का उल्लेख किया गया है और श्री चक्रपाणि ने च. सू. अ. ५ श्लोक, ३३ की व्याख्या में—"प्रायोगिक एव प्रायः स्वस्थवृत्ताधिकारे" अर्थात् स्वस्थ को प्रायोगिक (मृदु) धूम का पान करना चाहिये । तम्बाकू जैसे तीक्ष्ण धूम का नहीं और प्रायोगिक धूमपान के ८ काल हैं—च. सू. अ. ५—

स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान्निघृष्य च ।
नावनाञ्जननिद्रान्ते चाऽऽत्मवान् धूमपो भवेत् ।
वातश्लेष्मसमुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते ॥ ३४ ॥

अर्थात्—स्नान के, भोजन के, वमन के, छींक के, दतवन के, नस्य के अञ्जन के तथा निद्रा के अनन्तर धूमपान करे क्योंकि इन समयों में कफ की वृद्धि होती है । तम्बाकू नामक विषैले द्रव्य का जो धूम पिया जाता है वह अवश्य हानिकारक है एवं व्यसन है । प्रायोगिक धूम द्रव्यों में एक भी द्रव्य विषैला नहीं है ।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो गण्डूषादिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब गण्डूष, कवल, प्रतिसारण, मुखालेप, मूर्ध तैल तथा कर्ण पूरण की विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि —

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. सू. अ. ५, सु. चि. अ ४० तथा उ. तं. अ. १८ और अ. सं. अ, ३१ में देखिये।

गण्डूष के भेद तथा द्रव्य—

चतुष्प्रकारो गण्डूषः स्निग्धः शमनशोधनौ ।
रोपणश्च त्रयस्तत्र त्रिषु योज्याश्चलादिषु ॥१॥
अन्त्यो व्रणघ्नः स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्लपटुसाधितैः ।
स्नेहैः संशमनस्तिक्तकषायमधुरौषधैः ॥२॥
शोधनस्तिक्तकट्वम्लपटूष्णैः रोपणः पुनः ।
कषायतिक्तकैः तत्र स्नेहः क्षीरं मधूदकम् ॥३॥
शुक्तं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम् ।
कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथास्पर्शं प्रयोजयेत् ॥४॥

व्याख्या—गण्डूष चार प्रकार का होता है। यथा—१—स्निग्ध (स्नेह करनेवाला)। २—शमन (दोषों का शमन करनेवाला), ३—शोधन (मुख गत दोषों का शोधन करनेवाला) तथा—४—रोपण (मुखगत व्रणों का रोपण करने वाला)। इन में स्निग्ध गण्डूष वायु में, शमन गण्डूष पित्त में तथा शोधन गण्डूष कफ में किया जाता है। और अन्तिम (रोपण गण्डूष) का प्रयोग मुखगत मसूढ़ा जीभ एवं तालु आदि के व्रणों के विनाश के लिये किया जाता है।

स्निग्ध गण्डूष—मधुर द्रव्यों, अम्ल द्रव्यों तथा लवणों के संयोग से सिद्ध किये गये तैल आदि स्नेहों से किया जाता है। शमन गण्डूष—तिक्त, कषाय तथा मधुर औषधों के क्वाथ आदि से किया जाता है। शोधन गण्डूष—तिक्त, कटु, अम्ल, लवण, यथा उष्ण द्रवों से किया जाता है। और रोपण गण्डूष—कषाय एवं तिक्त द्रव्यों से किया जाता है।

उन गण्डूषों में—घृत आदि स्नेह, गो दुग्ध आदि दूध, मधु एवं जल का घोल अथवा पृथक् २ शिरका, मधु, मांस रस, औषधों के स्वरस, मूत्र तथा काञ्जी आदि द्रव पदार्थ रोग आदि के अनुसार कल्कों से मिश्रित अथवा केवल और उष्ण अथवा शीत प्रयुक्त किये जाते हैं ॥१-४॥

गण्डूषों के कुछ योग—

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके ।
सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम् ॥५॥
गण्डूषधारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा ।
ऊषादाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे ॥६॥
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा ।

व्याख्या—दन्त हर्ष में, दन्तों के हिलने में तथा वात जनित मुख शोष में—तिल कल्क मिश्रित जल को उष्ण करके अथवा शीतल ही गण्डूष करना हित होता है।

स्वस्थ के लिये प्रतिदिन तैल का अथवा मांस रस का गण्डूष हित होता है।

ऊषा (मरिचा आदि की सी जलन) तथा दाह से युक्त मुखपाक में, आगन्तुज क्षत में, विष, चूना आदि क्षार तथा उष्ण जल (दूध आदि भी) गत अग्नि द्वारा जल जाने पर—घृत अथवा शीतल दूध के गण्डूष करना चाहिये ॥५, ६॥

अन्यान्य गण्डूष योग—

वैशद्यं जनयत्यास्ये सन्दधाति मुखव्रणान् ॥७॥
दाह तृष्णा-प्रशमनं मधुगण्डूषधारणम् ।
धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥८॥
तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं परम् ।
आशु क्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम् ॥९॥
सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम् ।

व्याख्या—मधु अथवा मधु मिश्रित जल के गण्डूष मुख में स्वच्छता उत्पन्न करते हैं (चिपचिपाहट को नष्ट करते हैं), मुखगत व्रणों का रोपण करते हैं तथा दाह एवं तृषा को शान्त करते हैं।

काञ्जी के गण्डूष—मुख की विरसता, मल तथा दुर्गन्ध को नष्ट करते हैं और लवण रहित काञ्जी के गण्डूष शीतल (दाह शामक) होते हैं तथा मुख शोष को अवश्य नष्ट करते हैं।

चूना आदि क्षार से मिश्रित जल के गण्डूष—कफ के सञ्चय को नष्ट करते हैं और कोसे जल के गण्डूष करने से मुख में लघुता आ जाती है ॥७-९॥

गण्डूष करने की विधि—

निवाते सातपे स्विन्नमृदितस्कन्धकन्धरः ॥१०॥
गण्डूषमपिबन् किञ्चिदुन्नतास्यो विधारयेत् ।
कफपूर्णास्यता यावत्स्रवद्घ्राणाक्षताऽथवा ॥११॥
असञ्चार्यो मुखे पूर्णे गण्डूषः, 'कवलो'ऽन्यथा ।

व्याख्या—निर्वात स्थान में अथवा धूप में बैठ कर कन्धों एवं ग्रीवा पर स्वेदन करके तथा मर्दन करके—गण्डूष द्रव्य को न पीता हुआ, मुख को ऊपर उठाकर

मुख में धारण करे। और जब तक उस में कफ भर जाय अर्थात् गण्डूष द्रव लालामय हो जाय अथवा जब तक नासा एवं नेत्र से स्राव होने लगे तब तक धारण करे फिर गिरा देवे। और पुनः मुख को भर लेवे इस प्रकार आवश्यकतानुसार २-३-४-५-६ अथवा ७ बार गण्डूष करे)।

गण्डूष एवं कवल में भेद-

जो द्रव्य मुख में भर लिया जाता है अथवा जिससे मुख इतना भर लिया जाता है कि भरा हुआ द्रव्य इधर उधर सञ्चार न कर सके अर्थात् चलाया-घुमाया न जा सके वह "गण्डूष" कहलाता है और जो द्रव्य मुख में घुमाया जा सकता है वह "कवल" कहलाता है।

वक्तव्य—गण्डूषो मुखपूर्तिः इति बोपपालितः तथा ग्रासस्तु कवलः पुमान् इति अमरकोशः। अर्थात् जिससे मुख की पूर्ति हो जाती है वह गण्डूषा (गण्डूष) है और जो ग्रास जैसा होता है वह "कवल" है। श्री शार्ङ्गधराचार्य का कथन है कि—शा. तृतीय खण्ड अ. १०

तत्र द्रवेण गण्डूषः कल्केन कवलः स्मृतः ॥४॥

अर्थात् दूध आदि द्रव पदार्थों से "गण्डूष" (कुल्ले) किया जाता है और कल्क से "कवल" किया जाता है। पान भी कवल ही है ॥१०,११॥

कवल धारण से लाभ—

मन्या-शिरः-कर्ण-मुखाऽक्षिरोगाः
प्रसेक-कण्ठाऽऽमय-वक्त्र-शोषाः।
हृल्लास-तन्द्राऽरुचि-पीनसाश्च
साध्या विशेषात्कवलग्रहेण ॥१२॥

व्याख्या—मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णरोग, मुखरोग तथा नेत्ररोग और लालास्राव, कण्ठरोग, मुखशोष, मिचली, तन्द्रा, अरुचि तथा प्रतिश्याय नामक रोगों में कवल ग्रहण से विशेषरूप से लाभ होता है ॥१२॥

प्रतिसारण का वर्णन—

कल्को रसक्रिया चूर्णस्त्रिविधं प्रतिसारणम्।
युञ्ज्यात्तत् कफरोगेषु गण्डूषविहितौषधैः ॥१३॥

व्याख्या—प्रतिसार अर्थात् मञ्जन तीन प्रकार का होता है यथा—१-कल्क, औषध द्रव्यों की चटनी जैसा, २—रस क्रिया—पकाने पर अवलेह जैसा तथा ३—चूर्ण-सूखा पीसा गया द्रव्य।

इन प्रतिसारणों का प्रयोग कफ रोगों में किया जाता है और प्रतिसारण उन्हीं द्रव्यों का बनाया जाता है जिन द्रव्यों से गण्डूष एवं कवल बनाये जाते हैं।

वक्तव्य—उदाहरणार्थ त्रिफला के क्वाथ से गण्डूष, कल्क से कवल एवं चूर्ण से प्रतिसारण किया जा सकता है। ये सब विधियाँ मुख के भीतरी भाग के रोगों में प्रयुक्त होती हैं ॥१३॥

मुखालेप का वर्णन—

'मुखालेप' त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च सः।
उष्णो वातकफे शस्तः, शेषेष्वत्यर्थशीतलः ॥१४॥
त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्धाङ्गुलोन्नतिः।
अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य,शुष्को दूषयति च्छविम् ॥१५॥
तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदन्तेऽभ्यङ्गमाचरेत्।
विवर्जयेद्दिवास्वप्नभाष्याग्न्यातपशुक्क्रुधः ॥१६॥

व्याख्या—मुख (मुखमण्डल) पर लगाने का लेप तीन प्रकार का होता है—१—दोषहा (वातादि दोष शामक), २—विषहा (विषविकार नाशक) तथा ३—वर्णकृत् (कान्तिकारक)।

यह लेप वात एवं कफ के विकारों में उष्ण वीर्य द्रव्यों का तथा उष्ण करके लगाया जाता है और विष विकार में तथा कान्ति के लिये अत्यन्त शीतवीर्य द्रव्यों का तथा शीत ही लगाया जाता है।

उसके तीन प्रमाण (परिमाण—मोटाई) हैं—१—चौथाई अङ्गुल मोटा, २—तिहाई अङ्गुल मोटा और ३—आधा अङ्गुल मोटा।

यह लेप जब तक गीला रहे तब तक लगा रहने देना चाहिये अर्थात् सूखने के पूर्व ही उतार देना चाहिये।

लगा हुआ लेप—सूखने पर कान्ति को विकृत कर देता है। यदि कुछ सूख जाय तो गीला करके उतारना चाहिये और उतारने पर तैल का अभ्यङ्ग कर लेना चाहिये।

जब तक लेप लगा रहे तब तक—दिन में सोना, बहुत बोलना, अग्नि तापना, धूप में बैठना, चलना तथा रहना, शोक तथा क्रोध करना त्याज्य है ॥१४-१६॥

मुख लेप का निषेध एवं विधान—

न योज्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे।
अरोचके जागरिते स तु हन्ति सुयोजितः ॥१७॥
अकालपलितव्यङ्गवलीतिमिरनीलिकाः।

व्याख्या—मुखालेप का प्रयोग—पीनस रोग में, अजीर्ण में, नस्य देने पर, हनुग्रह में, अरुचि में तथा अधिक जागने पर नहीं करना चाहिये।

और भली भाँति प्रयुक्त किया गया मुखालेप—अकाल पलित (यौवन काल में ही बाल पकना), व्यङ्ग, वली (मुख पर झुरियाँ पड़ना), तिमिर रोग तथा नीलिका

(मुख की झाईं) को नष्ट करता है ॥१७॥

ऋतु भेद से मुखालेप के ६ योग—

कोलमज्जा वृषान्मूलं शावरं गौरसर्षपाः ॥१८॥
सिंहीमूलं तिलाः कृष्णा दार्वीत्वङ्निस्तुषा यवाः।
दर्भमूलहिमोशीरशिरीषमिशितण्डुलाः ॥१९॥
कुमुदोत्पलकह्लारदूर्वामधुकचन्दनम्।
कालीयक-तिलोशीरमांसीतगरपद्मकम् ॥२०॥
तालीसगुन्द्रापुण्ड्राह्वयष्टीकाशनतागुरु।
इत्यर्धार्धोदिता लेपा हेमन्तादिषु षट् स्मृताः ॥२१॥

व्याख्या—१—हेमन्त ऋतु में—वेर की गिरी, अडूस की जड़, पठानी लोध, तथा पीली सरसों का लेप।

२—शिशिर ऋतु में—वनभण्टा की जड़, काले तिल,दारु हल्दी की छाल तथा जौ के आटा का लेप।

३—वसन्त ऋतु में—दाभ की जड, कपूर, खस, सिरस के बीज सौफ एवं चावलों का आटा का लेप।

४—ग्रीष्म ऋतु में—कोई (भवूल), श्वेत कमल, लाल कमल, दूब, मुलेठी तथा चन्दन का लेप।

५—वर्षा (प्रावृट्) में—काला अगरु, तिल, खस, जटामांसी, तगर तथा पद्म काष्ठ का लेप।

६—शरद् ऋतु में—तालीसपत्र, गुन्द्रपटेर,पुण्डेरिया, मुलेठी, कास की जड़, तगर तथा अगरु का लेप।

इस प्रकार आधे २ श्लोक में हेमन्त आदि ऋतुओं में करने योग्य ६ लेप बताए गये हैं ॥१८ २१॥

मुखालेप से लाभ—

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम्।
वदनं चापरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम् ॥२२॥

व्याख्या—मुखालेप का अभ्यास करने वालों की दृष्टि दृढ़ (सबल) बनी रहती है और मुख मण्डल पुष्ट, श्लक्ष्ण (चिकना) तथा लाल कमल कासा लाल (कोमल एवं कान्तिमान्) बना रहता है।

वक्तव्य—मानव सर्वदा से सुन्दरता का उपासक एवं अभिलाषी रहा हैं। सुन्दरता की प्राप्तिका एक यह भी साधन है। मुख दूषिका एवं नीलिका आदि आदि से सुन्दरता की हानि होती है अतः मुखालेप का विधान किया गया है। वर्त्तमान काल में जो क्रीम (नवनीत-माखन) आदि लगाए जाते हैं वे सब "मुखालेप" ही हैं। विषहा शब्द का सब टीकाकारों ने विषघ्न या विषनाशक अर्थ किया है और यह अर्थ इस दृष्टि से उचित भी है कि समस्त शरीर वस्त्रों आदि से आच्छादित रहता है और मुख मण्डल नग्न, जब कभी विषैली वायु चलती है अथवा शत्रुओं द्वारा विष उड़ाई अथवा फेंकी जाती है तब मुख पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो विष का सम्पर्क शरीर के किसी भी अवयव पर हो सकता है और वहां भी विषनाशक चिकित्सा आवश्यक होती है। अतः मुखलेप का एक भेद "विषहा" मानना कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होता।

हमारे विचार में "विषह" शब्द अधिक समीचीन प्रतीत होता है—वि उपसर्ग लगाकर सह मर्षणे धातु से "विषह" शब्द बनता है, अर्थ होता है शीत उष्ण आदि की क्षमता देने वाला या जिससे शीतादि का सहन हो सके और इस के उदाहरण हैं ६ ऋतुओं के योग्य ६ लेपयोग। तात्पर्य यह है कि ऋतुसम्बन्धी दूष्यभाव को मिटाने के लिये या उत्पन्न ही न होने देने के लिये सदैव मुखालेप का प्रयोग करना चाहिये जैसे स्नानादि एवं वस्त्रधारण का किया जाता है ॥२२॥

मूर्ध तेल का वर्णन—

अभ्यङ्गसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।
मूर्धतैलम् बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम् ॥२३॥
तत्राभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु।
अरूंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु तु ॥२४॥
परिषेकः पिचुः केशशातस्फुटनधूपने।
नेत्रस्तम्भे च बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे ॥२५॥
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे।

व्याख्या—मूर्ध तैल ४ प्रकार का होता है यथा—अभ्यङ्ग अर्थात् शिर पर तैल पोतना, लगाना या मलना। २—सेक सेचन अर्थात् शिर या तैल की धारा डालना—गिराना। ३—पिचु—कोहा अर्थात् पिचु को तैल में भिगो कर शिर पर रखना और ४—बस्ति अर्थात् शिरोवस्ति। ये प्रकार उत्तरोत्तर गुणवान् होते हैं।

उन में से अभ्यङ्ग का प्रयोग—शिर की रूक्षता में, कण्डू में तथा मलिनता आदि में करना चाहिये।

परिषेक (सेक)—अरुंषिका (शिर की पिटिकाएँ) में, शिर की वेदना में, दाह में, पाक में तथा व्रणों में करना चाहिये।

पिचु—केशों के झड़ने एवं टूटने में, शिर की त्वचा के फटने में, धूम निकलने की प्रतीति में तथा नेत्र गोलकों की स्तब्धता में करना चाहिये।

और वस्ति का प्रयोग—शिर की शून्यता में, अर्दित में, जागने अर्थात् निद्रानाश में, नासा एवं मुख के शोष में, तिमिर रोग तथा भीषण शिरोरोग में करना चाहिये।

वक्तव्य—दारुणक नामक कपाल रोग भी है उसमें भी इसका प्रयोग करे ॥२३-२५॥

शिरोवस्ति को विधि—

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥२६॥
शुद्धाक्त-स्विन्न-देहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम् ।
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम् ॥२७॥
आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते ।
चलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत् ॥२८॥
ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत् ।
ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलम् धारयेच्च तम् ॥२९॥
आवक्त्रनासिकोत्क्लेदाद्दशाष्टौ षट् चलादिषु ।
मात्रासहस्राण्यरुजे त्वेकं स्कन्धादि मर्दयेत् ॥३०॥
मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम् ।

व्याख्या—अभ्यंग आदि तो प्रसिद्ध ही हैं परन्तु शिरो वस्ति की विधि यह है कि—सर्व प्रथम यथावश्यक वमन आदि से शोधन करे फिर उस दिन अभ्यंग एवं स्वेदन करे तदनन्तर—सायंकाल जानुभर ऊँचे एवं कोमल आसन (गद्देदार कुरसी) पर बैठा कर शिर पर गौ अथवा भैंस के चमड़े की पट्टी जो चौड़ाई में १२ अंगुल और लम्बाई में शिर के सब ओर लपेटने योग्य हो, कान के पास से लेजाकर बाँध देवे परन्तु बाँधने के पूर्व शिर के सब ओर कपड़ा की दो अंगुल चौड़ी पट्टी लपेट देवें और उस पर से चमड़ा की उक्त पट्टी को लपेट कर कपड़ा की लम्बी वेणी (रस्सी या डसी से बाँध कर उदर के आटा को जल में सान कर लेप कर देवे जिस से तैल चूए नहीं ।

तदनन्तर—रोगानुसार सिद्ध नारायण तैल आदि तैल को कोसा करके शिर पर इतना डाले जितना केश भूमि से दो अंगुल ऊपर तक भर जावे और उसे तब तक धारण करना चाहिये जब तक मुख एवं नासा से जल कासा स्राव होना प्रारम्भ हो जाय ।

अथवा—वायु रोग में दस सहस्र मात्रा, पित्तरोग में आठ सहस्र मात्रा, कफ रोग में सहस्र मात्रा और स्वस्थ मानव में एक सहस्र मात्रा परिमित काल तक धारण करे । इस के पश्चात् शिर को टेढ़ा करके तैल को निकाल लेवे तथा वस्ति को खोल देवे और उस के स्कन्ध (कन्धे आदि अवयवों का मर्दन करे ।

इस प्रकार शिर वस्ति का प्रयोग अधिक से अधिक सात दिन करना चाहिये (जैसे स्नेहपान का प्रयोग किया जाता है ॥२६–३०॥

कर्ण पूरण का वर्णन—

धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन् ।
रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ॥३१॥

व्याख्या—पार्श्व के भार लेटा कर कान में तैल डालना चाहिये कान के मूल में अंगुलि से मर्दन करते रहना चाहिये तब तक लेटे रहना चाहिये जब तक वेदना घट जाय और यदि स्वस्थ के कान में तैल डाला गया हो तो वह एक सौ मात्रा परिमित काल पर्यन्त लेटा रहे ।

वक्तव्य—कान में तैल को साफ करके डाले अन्यथा कभी२ वेदना होने लगती है ॥३१॥

मात्रा काल का वर्णन—

यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम् ।
निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता । ३२॥

व्याख्या—जितना समय जानु मण्डल पर दाहिना हाथ घुमाने में लगता है अथवा नेत्र के निमेष एवं उन्मेष में लगता है उतने समय के समान काल का नाम "मात्रा" है ।

वक्तव्य—१०० मात्रा लगभग ३ मिन्ट के समान होती है ॥३२॥

मूर्ध तैल का फल—

कचसदनसितत्वपिञ्जरत्वं
परिस्फुटनं शिरसः समीररोगान् ।
जयति, जनयतीन्द्रियप्रसादं
स्वरहनुमूर्धबलं च मूर्धतैलम् ॥३४॥

व्याख्या—शिर पर तैल का सेवन—केशों के टूटने झड़ने, श्वेत एवं पीले होने को, शिर की त्वचा के फटने को एवं शिरभर के वात जनित रोगों को नष्ट करता है और इन्द्रियों की विषय ग्रहण शक्ति को तथा स्वर, हनु, एवं शिर (मस्तिष्क) को बलवान् करता है ।

वक्तव्य—शिर पर तैल के अभ्यङ्ग आदि का प्रयोग जन्म से ही प्रारम्भ कर दिया जाता है इससे शिर, कर्ण, नासा एवं नेत्र के विकारों की उत्पत्ति रुकती है और शान्ति भी होती हैं, उक्त अवयवों को बल की प्राप्ति तथा मस्तिष्क की पुष्टि होती है । दिनचर्याऽध्याय का श्लोक ८ तथा ६ देखिये । कर्ण पूरण प्रतिदिन नहीं तो तीसरे चौथे दिन अवश्य होना चाहिये वह भी यथा सम्भव रात्रि में सोते समय । अनेक बार देखा गया है कि कान में कोसा तैल डालने से दन्त शूल शान्त हो जाता है । दन्तों पर या मुख के भीतर तैल लगाना स्नेह गण्डूष का प्रतिनिधि है ।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथात आश्चोतनाञ्जनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब आश्चोतन एवं अञ्जन की विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च० चि० अ० २६ में, सु० उ० अ० १८ में तथा अ० स० सू० अ० ३२ में देखिये।

सामान्यतः आश्चोतन का अर्थ है आँख में किसी भी द्रव औषध के बिन्दु चुआना—टपकाना और अञ्जन का अर्थ है आँख में किसी भी औषध को लगाना—आञ्जना ।

आँख में औषध का प्रयोग करने के ये दो प्रकार हैं ।

आश्चोतन का वर्णन—

'सर्वेषामक्षिरोगाणामादावाश्चोतनं हितम् ।
रुक्तोदकण्डूघर्षाश्रु-दाहरागनिबर्हणम् ॥१॥
उष्णं वाते, कफे कोष्णं, तच्छीतं रक्तपित्तयोः ।

व्याख्या—सब प्रकार के नेत्ररोगों के लिये प्रारम्भ में प्रायः "आश्चोतन" लाभदायक होता है और वह नेत्र की वेदना, व्यथा, कण्डू घर्ष (रड़क—बालु के कण पड़ने की सी वेदना), आँसू बहना, दाह तथा लालिमा को नष्ट करता है ।

वह आश्चोतन द्रव—वातज विकार में उष्ण (वीर्य एवं स्पर्श में उष्ण, कफ विकार में कोष्ण (कोसा—कुछ २ उष्ण) तथा रक्त विकार एवं पित्त विकार में शीत (वीर्य एवं स्पर्श में शीत होना चाहिये ।

वक्तव्य—आश्चोतन एक प्रकार का सेचन भी है जैसे पोटली, नेत्र पर धारापात करना जैसे नेत्र धोया जाता है ।१।

आश्चोतन की विधि—

निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनम् ।२॥
शुक्त्या प्रलम्बयाऽन्येन पिचुवर्त्या कनीनिके ।
दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यङ्गुलादवसेचयेत् ॥३॥
ततः प्रमृज्य मृदुना चैलेन कफवातयोः ।
अन्येन कोष्णपानीय-प्लुतेन स्वेदयेन्मृदु ॥४॥

व्याख्या—रोगी को निवात स्थान में लेटाकर, बाएँ हाथ से नेत्र को खोल कर, लम्बी सीप से अथवा नाली (ड्रापर) से अथवा पिचु की बत्ती से कनीनक (कोया—नासा समीप की सन्धि) पर, १० अथवा १२ बून्द द्रव औषध को दो अंगुल ऊँचे से टपकाना चाहिये । तत्पश्चात् कोमल कपड़े से साफ करके, यदि कफ का अथवा वायु का रोग हो तो कोसे एवं स्वच्छ जल में भिगोये गये दूसरे फोहा से थोड़ा स्वेदन करना चाहिये ।

वक्तव्य—यदि पित्त अथवा रक्त रोग हो तो स्वेदन नहीं करना चाहिये केवल सम शीतोष्ण जल से प्रक्षालन कर देवे ॥२-४॥

निषिद्ध आश्चोतन—

अत्युष्णतीक्ष्णं रुग्रागदृङ्नाशायाक्षिसेचनम् ।
अतिशीतं तु कुरुते निस्तोद-स्तम्भ-वेदनाः ॥५॥
कषायवर्त्मतां घर्षं कृच्छ्रादुन्मेषणं बहु
विकारवृद्धिमत्यल्पसंरम्भमपरिस्रुतम् ॥६॥

व्याख्या—अत्यन्त उष्ण अथवा तीक्ष्ण अक्षिसेचन (आश्चोतन) वेदना का, लालिमा का अथवा नेत्रगोलक एवं दर्शन शक्ति के नाश का हेतु हो जाता है ।

अत्यन्त शीतल अक्षिसेचन—व्यथा, स्तब्धता तथा वेदना को उत्पन्न करता है । अधिक मात्रा में अक्षिसेचन—वर्त्मों में रूक्षता या संकोच, घर्ष (करकराहट) तथा खोलने में कष्ट (क्लेश) को उत्पन्न करता है । अत्यन्त अल्पमात्रा का अक्षि सेचन—विकार को बढ़ाता है और अक्षिसेचन के द्रव को न निकालना शोथ को उत्पन्न कर देता है ।

वक्तव्य—उक्त दोषों से रहित अक्षि सेचन करना चाहिये और वह उपयुक्त नाना द्रव्यों से बनाया गया—दाह, शोथ रुजा, घर्ष, स्राव, कण्डू, भेद, पाक, पिच्छिलता, दूषिका तथा लालिमा आदि को नष्ट करता है । पक्ष्म को बचाकर वर्त्मों पर लेप लगाना शालाक्य तन्त्र के शब्दों में "बिड़ालक" कहलाता है । इस सब का प्रयोग रात्रि में नहीं करे और दिन में अथवा प्रातः काल करे ॥५,६॥

आश्चोतन का कर्म—

गत्वा सन्धिशिरोघ्राणमुखस्रोतांसि भेषजम् ।
ऊर्ध्वगान्नयने न्यस्तमपवर्तयते मलान् ॥७॥

व्याख्या—नेत्र में डाला गया द्रव औषध—सन्धियों, शिर, नासा तथा मुख के स्रोतों में व्याप्त होकर, जत्रु के ऊपर के सब मलों (दोषों) को निकाल देता है ॥७॥

अञ्जन का वर्णन—

अथाञ्जनं शुद्धतनोर्नेत्रमात्राश्रये मले ।
पक्वलिङ्गेऽल्पशोफातिकण्डूपैच्छिल्यलक्षिते ॥८॥
मन्दघर्षाश्रुरागेऽक्ष्णि प्रयोज्यं घनदूषिके ।
अर्ते पित्तकफासृग्भिर्मारुतेन विशेषतः ।९॥

व्याख्या—अब अञ्जन का वर्णन किया जाता है—अंजन का प्रयोग—वमन विरेचन द्वारा शिरः शोधन होने के पश्चात्, जब मल (दोष—विकारकारी भाव) केवल नेत्र में स्थित हो और वह भी जब पच चुका हो तब करना चाहिये।

दोष पचने का लक्षण—शोथ की अल्पता, कण्डू की अधिकता तथा चिपचिपापन होना, घर्ष (करकराहट), स्राव, तथा लालिमा (एवं वेदना) की अल्पता और गाढ़ी दूषिका (गीड़—कीचड़) का आना।

पित्त, कफ एवं रक्त से पीड़ित नेत्र में विशेषतः वायु से पीड़ित नेत्र में अंजन का प्रयोग करे।

वक्तव्य—साम दोष युक्त नेत्र में अञ्जन नहीं लगाना चाहिये। साम नेत्र रोग का लक्षण है—

उदीर्णवेदनं नेत्रं रागशोथसमन्वितम्।
घर्षनिस्तोदशूलाऽश्रुयुक्तम् आमान्वितं विदुः।

निराम नेत्ररोग का लक्षण—

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाऽश्रुप्रशान्तता।
प्रशस्तवर्णता चाऽक्ष्णोः सम्यक्त्वं दोषमादिशेत् ॥८,९॥

अंजन के भेद—

लेखनं रोपणं दृष्टिप्रसादनमिति त्रिधा।
अञ्जनं लेखनं तत्र कषायाम्लपटूषणैः ॥१०॥
रोपणं तिक्तकैर्द्रव्यैः स्वादुशीतैः प्रसादनम्।

व्याख्या—अंजन तीन प्रकार का होता है—१—लेखन, २—रोपण और ३—दृष्टि प्रसादन—प्रसादन।

इन में—कषाय, अम्ल, लवण एवं कटु द्रव्यों का अंजन "लेखन" होता है, तिक्त द्रव्यों का अंजन रोपण होता है और मधुर एवं शीतल द्रव्यों का अंजन "प्रसादन" होता है।

वक्तव्य—इस पाठ के आगे किसी प्रति में निम्नलिखित अधिक पाठ हैं। यथा—

तीक्ष्णाऽञ्जनाभिसन्तप्ते नयने यत् प्रसादनम्।
प्रयुज्यमानं लभते प्रत्यञ्जनसमाह्वयम्।

इसका मूल पाठ अ० सं० सू० अ० ३२ में इस प्रकार है। "प्रसादन एव च चूर्णः तीक्ष्णाञ्जनाभिसन्तप्ते चक्षुषि प्रयुज्यमानं प्रत्यञ्जनसंज्ञां लभते।"

अर्थात्—तीक्ष्ण अञ्जन का प्रयोग करने से सन्तप्त नेत्र में जो सन्ताप शान्ति के लिये चूर्ण रूप प्रसादन अञ्जन का प्रयोग किया जाता है उसका नाम "प्रत्यञ्जन" है।

प्रसादन अञ्जन वह कहलाता है जो अभिष्यन्द आदि रोगों की शान्ति हो जाने के अनन्तर अथवा धूप (घाम एवं अग्नि सन्ताप आदि से सन्तप्त नेत्र अथवा स्वस्थ के नेत्र को प्रसन्न (स्वच्छ एवं सन्तुष्ट) करने के लिये लगाया जाता है और यही जब प्रतिदिन लगाया जाता है तब "प्रत्यञ्जन" कहलाता है। प्रतिदिन लगाने योग्य अञ्जन का नाम "प्रत्यञ्जन" है। विकारकारक मल को निकालने वाला अञ्जन "लेखन" और नेत्र गत क्षत का रोपण करने वाला अञ्जन "रोपण" कहलाता है। विधि भेद से अञ्जन दो प्रकार का होता है—१—तीक्ष्ण अर्थात् लेखन और २—मृदु अर्थात् रोपण एवं प्रसादन ॥१०॥

अंजन लगाने की शलाका—

दशाङ्गुला तनुर्मध्ये शलाका मुकुलानना ॥११॥
प्रशस्ता, लेखने ताम्री, रोपणे काललोहजा।
अङ्गुली च, सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने ॥१२॥

व्याख्या—अंजन लगाने की शलाका (सलाई—सुरमचू)—१० अंगुल लम्बी हो, मध्य भाग अतनु अर्थात् कुछ मोटी हो तथा अग्रभाग में मुकुलाकार (वर्तुल या गोल) हो (तीखी न हो)।

लेखन अंजन लगाने के लिये ताम्र की, रोपण अंजन लगाने के लिये लोह की और प्रसादन अंजन लगाने के लिए सोना अथवा चान्दी की शलाका होनी चाहिये। और—रोपण अंजन लगाने के लिये अंगुली ही उत्तम होती है क्योंकि वह मृदु होती है) प्रसादन अंजन भी अंगुली से लगाया जाता है।

वक्तव्य—अञ्जनाधानी (सुरमादानी)-सोना, चान्दी, पीतल, कांसा, जस्ता अथवा काच की हो और शलाका भी प्रायः सीसक धातु, यशद (जस्ता) अथवा काच की हो और वह अत्यन्त श्लक्ष्ण हो। उसकी मोटाई मटर की सी या राजमाष की सी हो ॥११,१२॥

अंजनों की त्रिविध कल्पना—

पिण्डो, रसक्रिया, चूर्णस्त्रिधैवाञ्जनकल्पना।
गुरौ मध्ये लघौ दोषे ताः क्रमेण प्रयोजयेत् ॥१३॥

व्याख्या—अंजन तीन प्रकार के बनाए जाते हैं—१—पिण्ड—गोली या वत्ती के रूप में, २—रस क्रिया (जैसे काजल या मधु के से) के रूप में, और ३—चूर्ण रूप में जैसे नयनामृत आदि सुरमे।

उन का प्रयोग—क्रमशः गुरु दोष में (पिण्ड का) मध्य दोष में (रस क्रिया का) तथा लघु दोष में (चूर्ण रूप का अंजन का) करना चाहिये ॥१३॥

अंजनों की मात्रा—

हरेणुमात्रा पिण्डस्य वेल्लमात्रा रसक्रिया।
तीक्ष्णस्य, द्विगुणं तस्यं मृदुनः चूर्णितस्य च ॥१४॥

द्वे शलाके तु तीक्ष्णस्य, तिस्रःस्युरितरस्य च

व्याख्या—तीक्ष्ण पिण्डांजन की मात्रा हरेणु परिमित तथा तीक्ष्ण रस क्रियांजन की मात्रा एक विडङ्ग परिमित होती है। और मृदु पिण्डांजन की मात्रा दो हरेणु परिमित तथा—मृदु रस क्रियांजन की मात्रा दो विडङ्ग परिमित होती है। और तीक्ष्ण चूर्णांजन की मात्रा दो शलाका परिमित (भर) तथा मृदु चूर्णांजन की मात्रा तीन शलाका भर होती है।

वक्तव्य—तीक्ष्ण अञ्जन—मरिच एवं ताम्रभस्म या तूतिया आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के बनाए जाते हैं और मृदु अञ्जन—वटशुङ्ग, स्वर्ण एवं काला सुरमा आदि द्रव्यों के बनाये जाते हैं। किसी प्रति में इसका पाठान्तर इसप्रकार है—यथा—

पिण्डस्य तीक्ष्णद्रव्यस्य मृदुद्रव्यकृतस्य च।
हरेणुमात्रं द्विगुणं प्रमाणं कथयन्त्यपि।
रसक्रियायामप्याहुः विडंगफलमात्रकम्।
शलाकां द्विगुणां तीक्ष्णे चूर्णे च त्रिगुणां मृदौ।
इस पाठ का तात्पर्य वही है ॥१४॥

अञ्जन का अकाल एवं काल—

निशि स्वप्ने न मध्याह्ने म्लाने नोष्णगभस्तिभिः ॥१५॥
अक्षिरोगाय दोषाः स्युर्वर्धितोत्पीडितद्रुताः।
प्रातः सायं च तच्छान्त्यै व्यभ्रेऽर्केऽतोऽञ्जयेत्सदा १६
वदन्त्यन्ये तु न दिवा प्रयोज्यं तीक्ष्णमञ्जनम्।
विरेकदुर्बलं चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति ॥१७॥
स्वप्नेन रात्रौ कालस्य सौम्यत्वेन च तर्पिता।
शीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनः ॥१८॥
अत्युद्रिक्ते बलासे तु लेखनीयेऽथवा गदे।
काममह्न्यपि नात्युष्णे तीक्ष्णमक्ष्णि प्रयोजयेत् ॥१९॥

व्याख्या—रात्रि में, सोते समय, दोपहर में, सूर्य की किरणों (धूप) से सन्तप्त होने या रहने पर अंजन न करे क्यों कि उक्त दशाओं में मल (दोष)-वर्द्धित (बढे हुए), उत्पीडित (अन्य स्थान गत) तथा द्रुत (विलीन–पिघले हुए) होते हैं फलतः अंजन करने से नेत्र रोगों के उत्पादक हेतु हो सकते हैं इसलिये उन मलों की शान्ति के लिये सदा (प्रति दिन) प्रातः काल, सायं काल तथा वर्षा काल में जब मेघ न छाये हों तब अंजन लगाना चाहिये।

कुछ आचार्यों का मत है कि तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग दिन में करना ही न चाहिये क्यों कि तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग करने से नेत्र का विरेचन हो-जाने पर नेत्र दुर्बल हो गया होता है और वह सूर्य के प्रकाश को पाकर नष्ट हो सकता है। और रात्रि में सोने से तथा काल की शीतता से नेत्रतीक्ष्ण अंजन द्वारा विरेचित होने पर भी पुनः तृप्त (सबल) हो जाता है क्यों कि दृष्टि (नेत्र) आग्नेय अवयव है फलतः वह तीक्ष्ण अंजन लगाने पर भी पुनः स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि कफ की अधिकता में अथवा अन्यान्य लेखनीय रोगों में तीक्ष्ण अंजन दिन में भी लगाया जा सकता है तथापि अत्यन्त उष्ण काल में तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग कदापि न करे।

वक्तव्य—निष्कर्ष यह है कि तीक्ष्ण अञ्जन का प्रयोग–समशीतोष्ण काल में करना चाहिये उष्ण काल में नहीं ॥१५–१९॥

लोह एवं नेत्र की समानता—

अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता।
उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः ॥२०॥

व्याख्या—जैसे लोह की उत्पत्ति पाषाण से होती है, उसकी तीक्ष्णता भी पाषाण (पत्थर) द्वारा ही होती है और वह टूटता भी पाषाण (पत्थर) से ही है वैसे ही नेत्र (दृष्टि) की उत्पत्ति तेजस् (अग्नि तत्व) से होती है, उसकी तीक्ष्णता (दर्शन शक्ति) भी तेजस् से ही होती है और उसका उपघात (विकृति या नाश) भी तेजस् से ही होता है ॥२०॥

वक्तव्य—वास्तविकता यह है कि—नेत्रगत जल तत्त्व–तेजस् से नेत्र की रक्षा करता रहता है और तीक्ष्ण अञ्जन से जल तत्त्व का स्राव हो जाता है या ह्रास हो जाता है फलतः (वाहिरी तेजस् लगने से) तेजस् से नेत्र का उपघात हो सकता है अतः दिन में या धूप में एवं बिजली के तीव्र प्रकाश में रात्रि में भी तीक्ष्ण अञ्जन का प्रयोग न करे।

तीक्ष्ण अंजन का शीत काल में निषेध—

न रात्रावपि शीतेऽति नेत्रे तीक्ष्णाञ्जनं हितम्।
दोषमस्रावयत्स्तम्भ-कण्डूजाड्यादिकारि तत् ॥२१॥

व्याख्या—रात्रि मे भी जब अत्यधिक शीत हो तब तीक्ष्ण अंजन लाभप्रद नहीं होता, क्यों कि वह शीत के प्रभाव से जमे हुए दोष का स्रावण नहीं कर सकता और उलटे नेत्र में स्तब्धता, कण्डू तथा जड़ता आदि विकारों को उत्पन्न कर देता है ॥२१॥

अञ्जन के अयोग्य—

नाञ्जयेद्भीतवमित-विरिक्ताशितवेगिते।
क्रुद्धज्वरिततान्ताक्षि-शिरोरुक्शोकजागरे ॥२२॥

अदृष्टेऽर्के शिरःस्नाते पीतयोर्धूममद्ययोः ।
अजीर्णेऽग्न्यर्कसन्तप्ते दिवासुप्ते पिपासिते ॥२३॥

व्याख्या—भयभीत की आंख में, वमन के अनन्तर, विरेचन के अनन्तर, भोजन करते ही, पुरीष मूत्रादि का वेग होने पर, क्रोध तथा ज्वर के समय, अत्यन्त चमकीली तथा सूक्ष्म वस्तुओं को देखते देखते श्रान्त नेत्र में (रोदन के अनन्तर), अधिक जागने पर, मेघों द्वारा सूर्य ढँका रहने पर, सिर स्नान के अनन्तर, धूमपान तथा मद्यपान के अनन्तर, अजीर्ण में (या आम दोष युक्त नेत्र में), अग्नि अथवा धूप के कारण सन्तप्त नेत्र में, दिवा स्वाप के अनन्तर तथा प्यास लगी रहने पर अंजन न करे ।

वक्तव्य—कारण देखिये सु० उ० अ० १८ के श्लोक ६१ से ७४ ॥२२,२३॥

निषिद्ध अंजन—

अतितीक्ष्णमृदुस्तोक-बह्वच्छ-घन-कर्कशम् ।
अत्यर्थशीतलं तप्तमञ्जनं नावचारयेत् ॥२४॥

व्याख्या—अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त मृदु, बहुत ही थोड़ा, बहुत अधिक, बहुत अच्छा (द्रव), बहुत घन (गाढा) बहुत खरदरा (मोटा पीसा हुआ) अत्यन्त शीतल (स्पर्श एवं वीर्य में शीतल) और अत्यन्त तप्त (स्पर्श एवं वीर्य में उष्ण) अंजन का प्रयोग न करे ।

वक्तव्य—इस प्रकार के अञ्जनों से अनेक प्रकार की हानियाँ हो सकती हैं अञ्जन ही नहीं इस प्रकार के अन्य आश्चोतन आदि भी हानिकारक होते हैं इससे विपरीत गुण वाले अञ्जन आदि का प्रयोग करना चाहिये ॥२४॥

अंजन लगाने की विधि—

अथानुन्मीलयन् दृष्टिमन्तः सञ्चारयेच्छनैः ।
अञ्जिते वर्त्मनी किञ्चिच्चालयेच्चैवमञ्जनम् ॥२५॥
तीक्ष्णं व्याप्नोति सहसा, न चोन्मेषनिमेषणम् ।
निष्पीडनं च वर्त्मभ्यां क्षालनं वा समाचरेत् ॥२६॥

व्याख्या—अंजन लगाने के अनन्तर—नेत्र को न खोलता हुआ नेत्र गोलक को भीतर ही भीतर धीरे धीरे इधर उधर एवं नीचे ऊपर घुमावे और नेत्रवर्त्म को कुछ कुछ सञ्चालित करे इस प्रकार अंजन की औषध समस्त नेत्र में व्याप्त हो जाती है विशेषतः तीक्ष्ण अंजन की । इस समय एकाएक नेत्र का निमेष एवं उन्मेष नहीं करना चाहिये और वर्त्मों द्वारा नेत्र गोलक पर डालना और तत्काल नेत्रों का प्रक्षालन करना भी उचित नहीं है ।

वक्तव्य—अञ्जन लगाने की विधि भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में इस प्रकार है—सु० उ० अ० १८—

वामेनाऽक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः ।
शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् कानीनमञ्जनम् ॥६४॥
आपाङ्गं वा यथायोगं कुर्यात् चापि गताऽऽगतम् ।
वर्त्मोपलेपि वा यत् तत् अंगुल्यै व प्रयोजयेत् ॥६५॥

अर्थात्—बाएँ हाथ से नेत्र वर्त्म को उलट कर या खोल कर और दाएँ हाथ में सलाई लेकर सावधान होकर कनीनिका पर्यन्त (कोया पर्यन्त) अथवा अपांग (नेत्र का कान की ओर का भाग) पर्यन्त सलाई को घुमावे जिससे समस्त नेत्र में अंजन की औषध भली भांति लग जाय और जो अंजन केवल वर्त्म के भीतर लगाने का हो (जैसे काजल) उसे अंगुलि से ही लगाया जा सकता है ॥२५-२६॥

अंजनोत्तर प्रक्षालन शोधन—

अपेतौषधसंरम्भं निर्वृतं नयनं यदा ।
व्याधिदोषर्तुयोग्याभिरद्भिः प्रक्षालयेत्तदा ।२७।
दक्षिणाङ्गुष्ठकेनाक्षि ततो वामं सवाससा ।
ऊर्ध्ववर्त्मनि सङ्गृह्य शोध्यं वामेन चेतरत् ॥२८।

व्याख्या—अंजन के अनन्तर जब औषध का संरम्भ (लगना स्राव आदि) शान्त हो जाय, किसी प्रकार का घर्षण आदि न रहे (तत्कालीन कष्टों से रहित हो जाय) तब रोग, दोष तथा काल के अनुकूल (शीत अथवा कोसे) जल से नेत्र का प्रक्षालन करे ।

तदनन्तर दाहिने अंगुठा पर कोमल कपड़ा लपेट कर और ऊपर के वर्त्म को पकड़ कर या उठा कर बाएँ नेत्र का शोधन कर देवे और इसी प्रकार बाएँ अंगूठा से दाहिनी आंख का शोधन करे ॥२७, २८॥

प्रक्षालन एवं शोधन न करने से हानि—

वर्त्मप्राप्ताऽञ्जनाद्दोषो रोगान् कुर्यादतोऽन्यथा ।

व्याख्या—अंजन के पश्चात् उक्त प्रकार से प्रक्षालन एवं शोधन न करने से, वर्त्म के भीतर रहे हुए अंजन से क्षुभित दोष किसी प्रकार की विकृतियों को उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—तीक्ष्ण अञ्जन यदि अधिक समय नेत्र में लगा रहता है तो नेत्र का पानी अधिक बह जाता है या अधिक समय तक बहता रहता है और उससे —अ. सं सू. अ. ३२ —अतिविरेकात् सन्ताप निस्तोद शूल स्तम्भ वर्षा ऽश्रु दारुण प्रतिबोध कषाय वर्त्मता शिरोरुक् दृष्टि दौर्बल्यानि । अर्थात्—सन्ताप आदि रोग उत्पन्न हो जाते है । अतः प्रक्षालन एवं शोधन करना आवश्यक है ।

अंजन के अनन्तर धूमपान—

कण्डूजाड्येऽञ्जनं तीक्ष्णं धूमं वा योजयेत् पुनः ।२९।

व्याख्या—यदि नेत्र में कण्डू अथवा जड़ता हो तो तीक्ष्ण अंजन अथवा तीक्ष्ण धूम का प्रयोग करे ।.२६॥

प्रत्यञ्जन का वर्णन—

तीक्ष्णाञ्जनाभितप्तं तु चूर्णं प्रत्यञ्जनं हितम् ।२०॥

व्याख्या—तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग करने पर यदि नेत्र में सन्ताप हो जाय तो चूर्ण रूप शीतल अंजन का प्रयोग करे ।

वक्तव्य – नेत्र तैजस अवयव है अतः उसमें प्रतिदिन शीतल अञ्जन का प्रयोग होना चाहिए देखिए दिनचर्या अध्याय २ । शेष देखिए सु. उ. अ. १८ । ३१॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।२३।

——

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब तर्पण एवं पुटपाक की विधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन सु. उ० अ०१८ में और अ० सं० सू० अ० ३१ में देखिये और चरक में शालाक्य तन्त्र का वर्णन विस्तार से नहीं किया गया है । अतः इसका वर्णन भी नहीं है ।

संक्षेपतः तर्पण का अर्थ है नेत्र का तर्पण करना या उपयुक्त औषधों द्वारा नेत्र को तृप्त करना । पुटपाक का अर्थ है औषधों को पुटपाक की विधि से पकाकर और फिर निचोड़ कर उस रस को नेत्र में डालना । ये भी नेत्र में औषध का प्रयोग करने के दो प्रकार हैं ।

तर्पण का वर्णन—

नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रूक्षेऽभिघातिते ।
वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्णपक्ष्माविलेक्षणे ॥ १ ॥
कृच्छ्रोन्मीलसिराहर्षसिरोत्पाततमोऽर्जुनैः ।
स्यन्दमन्थान्यतोवातवातपर्ययशुक्रकैः ॥ २ ॥
आतुरे शान्तरागाश्रु-शूलसंरम्भदूषिके ।
निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्धकाययोः ॥ ३ ॥
काले साधारणे प्रातः सायं वोत्तानशायिनः ।
यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोशाद्बहिः समाम् ॥ ४ ॥
द्व्यङ्गुलोच्चां दृढां कृत्वा यथास्वं सिद्धमावपेत् ।
सर्पिर्निमीलिते नेत्रे तप्ताम्बुप्रविलायितम् ॥ ५ ॥
नक्तान्ध्यवाततिमिरकृच्छ्रबोधादिके वसाम् ।
आपक्ष्माग्राद् अथोन्मेषं शनकैस्तस्य कुर्वतः ॥ ६ ॥
मात्रां विगुणयेत्तत्र वर्त्मसन्धिसितासिते ।
दृष्टौ च क्रमशो व्याधौ शतं त्रीणि च पञ्च च ॥ ७ ॥
शतानि सप्त चाष्टौ च, दश मन्थे, दशानिले ।
पित्ते षट्, स्वस्थवृत्ते च बलासे पञ्च धारयेत् ॥८॥

व्याख्या—जब नेत्रों के सामने अन्धकार प्रतीत हो, नेत्रों में स्तब्धता, शुष्कता तथा रूक्षता रहती हो, उसपर किसी प्रकार से चोट आ गई हो (नेत्र चुभ गया हो), नेत्र वात पित्त जनित विकारों से पीड़ित हों, नेत्र गोलक टेढा हो गया हो (टीरा या तिर्यक् प्रेक्षी हो गया हो); पक्ष्म उखड़ गये हों, दृष्टि मलिन हो गई हो, नेत्र खोलने में कष्ट होता हो और जब सिराहर्ष से, सिरोत्पात से, तिमिर रोग से, अर्जुन रोग से, अभिष्यन्द से, अधिमन्थ से, अन्यतोवात से, वातपर्यय से अथवा शुक्र (नेत्र रोग विशेष) रोग से पीडित हो तब तर्पण का प्रयोग करना चाहिये ।

किन्तु जब लालिमा, आँसू बहना, शूल, संरम्भ (शोथ-उठाव) तथा दूषिका (गींड—कीचड़) शान्त हो जायँ तब तर्पण करे ।

नस्य से शिर का तथा वमन विरेचन से शरीर का शोधन करके, साधारण (समशीतोष्ण) काल में, निवात स्थान में, प्रातःकाल अथवा सायंकाल, रोगी को चित लेटा कर, नेत्र कोश के बाहिर, जौ अथवा उरद के पिसान की समानाकार पाली (थाला) बनावे जो दो अंगुल ऊँची तथा दृढ़ हो (औषध भरने से टूट न जाय) ।

फिर उस पाली में—दोष एवं रोग के अनुसार सिद्ध स्नेह भर देवे, वह स्नेह यदि घृत है तो उसे तप्त जल में धर कर पिघला लेवे और डालते समय नेत्र को मुन्दवा देना चाहिये । रतौन्धी, वात जनित तिमिर रोग तथा कष्ट से निद्रा खुलने आदि विकारों में वसा नामक स्नेह भरना चाहिये ।

नेत्र में स्नेह पक्ष्म (बरौनी-निमेषण के बाल) के अग्रभाग तक भरना चाहिये तदनन्तर रोगी नेत्र को धीरे२ खोलने का प्रयत्न करे ।

इस समय चिकित्सक पास बैठ कर मात्रा की गणना करे-यथा वर्त्म गत रोग में १००, सन्धिगत रोग में ३००, श्वेत मण्डल के रोग में ५००, कृष्ण मण्डल के रोग में ७००, दृष्टि मण्डल के रोग में ८००, अधिमन्थ रोग में १०००, वात पर्यय आदि वातज नेत्र रोग में भी १०००, पित्त जनित नेत्र रोग में ६००, स्वस्थ वृत्त में भी ६०० और कफ जनित रोग में ५०० मात्रा परिमित काल पर्यन्त स्नेह का धारण होना चाहिये ।

वक्तव्य—१०० मात्रा लगभग ३ मिन्ट के समान होती है । १-८।।

तर्पण का पश्चात् कर्म—

कृत्वाऽपाङ्गे ततो द्वारं स्नेहं पात्रे निगालयेत् ।
पिबेच्च धूमं, नेक्षेत व्योम रूपं च भास्वरम् ॥ ९ ॥
इत्थं प्रतिदिनं वायौ, पित्ते त्वेकान्तरं, कफे ।
स्वस्थे च द्व्यन्तरं दद्यादातृप्तेरिति योजयेत् ॥१०॥

व्याख्या—उक्त मात्रा परिमित समय के अनन्तर—अपाङ्ग (नेत्र का बाह्य कोण) की ओर पाली में द्वार कर के स्नेह को किसी पात्र में निकाल लेवे और सत्तू के उबटन से नेत्र के बाह्य भाग को साफ करके धूमपान करे (करावे) और रोगी—आकाश की ओर अर्थात् दूर तक तथा सूर्य, अग्नि आदि चमकीली वस्तुओं को न देखे ।

इस प्रकार—वायु में प्रति दिन, पित्त में एक दिन का अन्तर देकर (तीसरे दिन), कफ में तथा स्वस्थ वृत्त में—दो दिन का अन्तर देकर (चौथे दिन) तर्पण का प्रयोग करे । इस प्रकार तब तक तर्पण करे जब तक सम्यक् तर्पण के लक्षण उत्पन्न हो जायँ (देखिये श्लोक ११) ।

वक्तव्य—आधारौ च अपनीय कल्केन अक्षिकोशौ प्रमृज्य स्नेहेरितकफोपशान्तये विरेचनं यथार्हं धूमं पाययेत्, सुखोदक प्रक्षालितमुखं च एनं यथार्हं भोजयेत् । अ. सं. सू. अ. ३३ ।

अर्थात् तर्पण का स्नेह निकालने के अनन्तर आधार (पाली-थाला) को हटा कर, त्रिफला अथवा जौ के कल्क द्वारा नेत्र कोणों का प्रमार्जन करके स्नेह प्रेरित कफ की शान्ति के लिये कोई उपयुक्त विरेचन धूम पिलावे और फिर कोसे जल से मुख धुलाकर रोगानुसार पथ्य भोजन खिलावे ।।९,१०।।

तर्पण के समयोग, हीनयोग तथा अतियोग—

प्रकाशक्षमता स्वास्थ्यं विशदं लघु लोचनम् ।
तृप्ते, विपर्ययोऽतृप्तेऽतितृप्ते श्लेष्मजा रुजः ॥११॥

व्याख्या—समयोग का लक्षण—प्रकाश (चमकीली वस्तुओं की चमक) को सहने की शक्ति, नेत्र की स्वस्थता का अनुभव, नेत्र की स्वच्छता तथा लघुता की प्रतीति । हीनयोग का लक्षण – समयोग के उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण होना । अतियोग का लक्षण –कफ जनित रोगों की उत्पत्ति ।

वक्तव्य—हीन तर्पण में तर्पण का तब तक प्रयोग करे जब तक समयोग के लक्षण उत्पन्न हो जायँ और अतियोग में नस्य, धूम, अञ्जन तथा कवल का प्रयोग करे जो कफनाशक हों । शेष देखिये सु. उ. अ. १८ के श्लो० ११ से १९ ।

पुटपाक का वर्णन—

स्नेहपीता तनुरिव क्लान्ता दृष्टिर्हि सीदति ।
तर्पणानन्तरं तस्माद् दृग्बलाधानकारिणम् ॥१२॥
पुटपाकं प्रयुञ्जीत पूर्वोक्तेष्वेव पद्मसु ।
स वाते स्नेहनः, श्लेष्मसहिते लेखनो हितः ॥१३॥
दृग्दौर्बल्येऽनिले पित्ते रक्ते स्वस्थे प्रसादनः ।

व्याख्या—जैसे स्नेहपान करने पर शरीर शिथिल हो जाता है वैसे ही स्नेह से तर्पण करने पर दृष्टि शिथिल हो जाती है । इसलिये—तर्पण के अनन्तर दृष्टि में बल का आधान करने के लिये पुटपाक विधान का प्रयोग करे और पुटपाक का प्रयोग—पूर्वोक्त (श्लोक २-३ में कथित) रोगों में करना चाहिये ।

पुटपाक के भेद—पुटपाक तीन प्रकार के होते हैं — १—स्नेहन जो वातज रोगों में किया जाता है, २—लेखन जो कफ युक्त वायु में (या नेत्र में) किया जाता है और ३ –प्रसादन जो दृष्टि की दुर्बलता में, वायु, पित्त एवं रक्त के नेत्र रोग में तथा स्वस्थ वृत्त में हित होता है ।।१२,१३।।

पुटपाकों के द्रव्य एवं विधि—

भूशयप्रसहानूप-मेदोमज्जवसामिषैः ॥१४॥
स्नेहनं पयसा पिष्टैर्जीवनीयैश्च कल्पयेत् ।
मृगपक्षियकृन्मांस-मुक्तायस्ताम्रसैन्धवैः ॥१५॥
स्रोतोजशङ्खफेनालैर्लेखनं मस्तुकल्कितैः ।
मृगपक्षियकृन्मज्ज-वसान्त्रहृदयामिषैः ॥१६॥
मधुरैः सघृतैः स्तन्यक्षीरपिष्टैः प्रसादनं ।
बिल्वमात्रं पृथक् पिण्डं मांसभेषजकल्कयोः ॥१७॥
उरुबूकवटाम्भोजपत्रैः स्नेहादिषु क्रमात् ।
वेष्टयित्वा मृदा लिप्तं धवधन्वनगोमयैः ॥१८॥
पचेत्प्रदीप्तैरग्न्याभं पक्वं निष्पीड्य तद्रसम् ।
नेत्रे तर्पणवद्युञ्ज्यात् शतं द्वे त्रीणि धारयेत् ॥१९॥
लेखनस्नेहनान्त्येषु कोष्णौ पूर्वौ, हिमोऽपरः ।
धूमपोऽन्ते तयोरेव योगास्तत्र च तृप्तिवत् ॥२०॥

व्याख्या—स्नेहन पुटपाक—भूशय (बिलेशय-बिल वासी लोमड़ी आदि), प्रसह (अ० ६ श्लोक ४ –४६) एवं आनूप (अनूप देशीय) मृग पक्षियों की मेदा, मज्जा, वसा तथा मांस एवं जीवनीय गण के द्रव्यों को दूध में पीस कर बनाया – पकाया गया ।

लेखन पुटपाक—जङ्गल देशीय मृग पक्षियों के यकृत् एवं मांस, मोती, लोह भस्म, ताम्र भस्म, सैन्धवलवण, काला सुरमा, श्वेत सुरमा, शंख, समुद्र फेन तथा हरिताल को दही में पीसकर बनाया—पकाया गया ।

प्रसादन पुटपाक—बकरी एवं मोर आदि मृग पक्षियों

के यकृत्, मज्जा, वसा, अन्त्र, हृदय एवं मांस तथा मधुर गणीय द्रव्यों को घृत, नारी दुग्ध एवं गो दुग्ध में पीसकर बनाया गया निम्नलिखित विधि से पकाया गया पुटपाक।

पुटपाक की विधि—उक्त मांस आदि एवं औषध द्रव्यों का कल्क १-१ पल मिला कर गोला बनाओ और स्नेहन में एरण्ड, लेखन में वट तथा प्रसादन में कमल के पत्तों में लपेट कर, मिट्टी का दो अंगुल मोटा लेप करके, स्नेहन में धव, लेखन में धामिन तथा प्रसादन में उपलों के अंगारों में पकाओ, जब ऊपर से लाल हो जाय तब मिट्टी एवं पत्ते हटा कर, गोला को निचोड़ कर रस निकाल लो इस रस का तर्पणविधि से प्रयोग करो।

पुटपाक का धारण—लेखन में १००, स्नेहन में २०० तथा प्रसादन में ३०० मात्रा तक करे, लेखन एवं स्नेहन पुटपाक के रस कोसे तथा प्रसादन का रस शीत होना चाहिये।

लेखन एवं स्नेहन के अन्त में धूमपान करे (प्रसादन के अन्त में नहीं) इसमें समयोग, हीनयोग तथा अतियोग तर्पण के समान (दे० श्लोक ११) होते हैं ॥१४-२०॥

तर्पण एवं पुटपाक का निषेध एवं अवधि—

तर्पणं पुटपाकं च नस्यानर्हे न योजयेत्।
यावन्त्यहानि युञ्जीत द्विस्ततो हितभुग्भवेत् ॥२१।
मालतीमल्लिकापुष्पैर्बद्धाक्षो निवशेन्निशि ॥२२॥

व्याख्या—जिनको नस्य का निषेध है (अ० २० श्लोक ११ से १३) उनको तर्पण एवं पुटपाक का भी निषेध है। तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग जितने दिन किया गया हो उस से दूने दिनों पर्यन्त पथ्य का सेवन करना आवश्यक है। इन दिनों में—रात्रि में सोते समय चमेली तथा मल्लिका के फूलों को नेत्रों पर बाँध कर सोना चाहिये।

वक्तव्य—देखिये सु० उ० अ० १८ के श्लोक २० से ४०। यदि कभी तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग करते समय कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो तत्काल उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥२१,२२॥

नेत्र रक्षा की आवश्यकता—

सर्वात्मना नेत्रबलाय यत्नं कुर्वीत नस्याञ्जनतर्पणाद्यैः।
दृष्टिश्च नष्टा विविधं जगच्च तमोमयं जायत एकरूपम् २३

व्याख्या—नस्य, अंजन एवं तर्पण आदि उचित उपचारों द्वारा सब प्रकार से नेत्रों को बलवान् बनाए रखने के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिये। क्योंकि यदि नेत्रों में विकृति आजाने से दृष्टि नष्ट हो जाती है तो अनेक प्रकार का यह स्थावरजङ्गमात्मक संसार अन्धकारमय एक रूप का हो जाता है अर्थात् कुछ नहीं दीखता।

वक्तव्य—नेत्रों के रोगों का तथा उनकी चिकित्सा का विशद वर्णन उत्तर तन्त्र अ० ८ से १६ में देखिये। सु० उ० अ० १८ में उक्त आश्चोतन, अंजन, तर्पण एवं पुटपाक के अतिरिक्त एक "सेक" नामक कल्प का भी वर्णन है। सेक का अर्थ है नेत्र पर उपर्युक्त द्रव्य का सेचन करना। शारंगधर संहिता उत्तर खण्ड अ० १३ में पिण्डी एवं विड़ाल (विडालक) नामक दो अन्य कल्पों का वर्णन है। पिण्डी अर्थात् उपर्युक्त औषध का कल्प बनाकर नेत्र पर बांधना या धरना और विडाल शब्द शालाक्य तन्त्र का पारिभाषिक शब्द है उसका प्रयोग नेत्र के बाहिर वर्त्मों पर लेप के रूप में किया जाता है। यह पोटली सेचन का ही प्रतिनिधि या रूपान्तर है ॥२३॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

पंचविंशतितमोऽध्यायः

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यायामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब यन्त्रविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन सु० सू. अ. ७ में तथा अ. सं. सू. अ. ३४ में देखिए और चरक में इसका वर्णन नही पाया जाता क्योंकि वह काय चिकित्सा का ग्रन्थ है तथापि कुछ संकेत यत्र तत्र पाए जाते हैं।

यन्त्रों का वर्णन—

नानाविधानां शल्यानां नानादेशप्रबाधिनाम्।
आहुर्तुमभ्युपायोयस्तद्यन्त्रं यच्च दर्शने ॥१॥
अर्शोभगन्दरादीनां शस्त्रक्षाराग्नियोजने।
शेषाङ्गपरिरक्षायां तथा बस्त्यादिकर्मणि ॥२॥
घटिकालाबुशृङ्गे च जाम्बवौष्ठादिकानि च।
अनेकरूपकार्याणि यन्त्राणि विविधान्यतः ॥३॥
विकल्प्य कल्पयेद्बुद्ध्या यथास्थूलं तु वक्ष्यते।

व्याख्या—शरीर के भिन्न भिन्न देशों अर्थात् अवयवों में निविष्ट (स्थिति) शल्यों को निकालने के जो उत्तम उपाय अर्थात् साधन हैं उन का नाम "यन्त्र" है। और जो अर्श एवं भगन्दर आदि को देखने में प्रयुक्त होते हैं तथा मुख, नासा, भग एवं गुद आदि में शस्त्र क्षार एवं अग्निकर्म का प्रयोग करते समय शेष स्वस्थ

अङ्ग की रक्षा के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं उन का नाम भी "यन्त्र" है और वस्ति (गुदवस्ति, उत्तरवस्ति एवं शिरोवस्ति) आदि कर्म में नेत्र एवं पुट आदि के रूप में और घटिका (लोटा—गिलास), तुम्बी तथा सिंगी आदि रक्त एवं वायु के आचूषण में प्रयुक्त किए जाते हैं वे भी "यन्त्र" हैं। और जो क्षार आदि लगाने में जाम्बवोष्ठ एवं कण्टक आदि निकलने में सन्देश (चिमटी) आदि प्रयुक्त किये जाते हैं उन का नाम भी "यन्त्र" है।

उन यन्त्रों के अनेक रूप (आकार—आकृति—स्वरूप) तथा अनेक कर्म (कार्य) होते हैं (उन से अनेक कार्य किये जाते हैं) अतः वे अनेक प्रकार के होते हैं और आवश्यकतानुसार विचार करके वे भिन्न भिन्न प्रकार के बना लिये जाते हैं तथापि मोटे रूप में उनका वर्णन आगे किया जायगा।

वक्तव्य—यन्त्र—जिसके द्वारा पकड़ा जाता है या नियंत्रण नियम या पकड़ने का साधन या उपकरण "यन्त्र" कहलाता है। जैसे शरीर में धँसे कण्टक को पकड़ कर निकालने का उपकरण है मुचण्डी या चिमटी, दंत को निकालने का उपकरण है जमूर। निमीलित अवयव को दबा कर विवृत करने का उपकरण है अर्शोयन्त्र। शल्य का वर्णन देखिये अ० २८ में श्लो० १-२ का वक्तव्य। यन्त्र असंख्य प्रकार के होते हैं तथापि स्थूलतः—यन्त्रशतमेकोत्तरम्, अत्र हस्त मेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ, (किं कारणं ? यस्मात् हस्ताद् ऋते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव) तद् अधीनत्वात् यन्त्रकर्मणाम् ।३। (सु. सू. अ. ७) १०१ यन्त्र कहे जाते हैं इसमें हाथ ही प्रधानतम यन्त्र है क्योंकि उसके बिना यन्त्रों की प्रवृत्ति ही नहीं होती या यन्त्रों का प्रयोग उसी के अधीन है। यन्त्रों की ६ जातियाँ या गण हैं यथा—

१—स्वस्तिक यन्त्र २४, २—सन्दंश यन्त्र २, ३—ताल यन्त्र २, ४—नाड़ी यन्त्र २०, ५—शलाका यन्त्र २८ तथा ६—उप यन्त्र २५, योग—१०१। ये यन्त्र प्रायः लोहे के होते हैं अथवा लोह जैसी किसी अन्य धातु के बनाए जाते हैं और अनुयन्त्र देखिए श्लोक ३९ एवं ४० में ।१-३

स्वस्तिक यन्त्रों का वर्णन—

तुल्यानि कङ्कसिंहर्क्षकाकादिमृगपक्षिणाम् ॥४॥
मुखैर्मुखानि यन्त्राणां कुर्यात्तत्संज्ञकानि च
अष्टादशाङ्गुलायामान्यायसानि च भूरिशः ॥५॥
मसूराकारपर्यन्तैः कण्ठे बद्धानि कीलकैः।
विद्यात्स्वस्तिकयन्त्राणि मूलेऽङ्कुशनतानि च ॥६॥
तैर्दृढैरस्थिसंलग्नशल्याहरणमिष्यते।

व्याख्या—स्वस्तिक यन्त्रों के मुख—कंक नामक पक्षी, सिंह, भालु (रीछ) तथा काक (कौवा) आदि मृग एवं पक्षियों के मुख के समान आकार वाले होते हैं। और उनके नाम भी वैसे ही होते हैं जैसे कंकमुख एवं सिंहमुख यन्त्र आदि २। वे यन्त्र—१८ अंगुल लम्बे हों और यथासम्भव लोह धातु के हों या बनाए जायँ। और वे कण्ठ में (मुख के नीचे के भाग में) मसूर को आकृतिवाले (डोडीयुक्त) कील से बद्ध हों और मूलभाग (मूठ) में अंकुश के सदृश कुछ अवनत (झुके हुए) हों तथा दृढ़ हों और इन स्वस्तिक यन्त्रों द्वारा अस्थि में शल्यों का आहरण करना चाहिये।

वक्तव्य—मूल भाग में अवनत होने से खींचते समय हाथ खिसकता नहीं है ॥४-६॥

सन्दंशयन्त्र का वर्णन—

कीलबद्धविमुक्ताग्रौ सन्दंशौ षोडशाङ्गुलौ ॥७॥
त्वक्सिरास्नायुपिशितलग्नशल्यापकर्षणौ।

व्याख्या—सन्दंश यन्त्र दो प्रकार के होते हैं—१—सनिग्रह या सनिबन्धन अर्थात् कील बद्ध और २—अनिग्रह या अर्थात् अनिबन्धन या विमुक्ताग्र। इनकी लम्बाई प्रायः १६ अंगुल होती है। इनके द्वारा—त्वचा, सिरा, स्नायु और मांस में धँसे शल्य खींच कर निकाले जाते हैं ।७॥

सन्दंश के अन्य भेद—

षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम् ॥८॥
मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जुर्मूले रुचकभूषणा।
गम्भीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च ।९॥

व्याख्या—एक अन्य ६ अंगुल लम्बा सन्दंश होता है जो सूक्ष्म शल्य (कण्टक) तथा उपपक्ष्म (परवाल) को निकालने (उखाड़ने) में प्रयुक्त किया जाता है, उस का नाम "मुचण्डी" (चिंडची—नकचुण्डी) है, उस के दन्त सूक्ष्म (छोटे एवं पतले) होते हैं और वह सीधी ही होती है तथा उस के मूल की ओर रुचक (अंगूठी या छल्ला) जैसा भूषण (सौन्दर्य साधन परन्तु कर्म में अनावश्यक) होता है, उसके द्वारा गम्भीर व्रणों के मांसों का तथा अवशिष्ट अर्म (नेत्र रोग विशेष) का आहरण किया जाता है।

वक्तव्य—सन्दंश को सँडसी या सण्डासी कहते हैं और चिमटा या चिमटी उसी के रूपान्तर हैं। ये कर्म की सुविधा के लिये अनेक आकार-प्रकार के बनाये जाते हैं। रुचक सम्भवतः उसे भी कहा गया है जो सन्दंशों पर छल्ला या

कंगन कासा उपकरण होता है जिसकी सहायता से सन्दंश को कस दिया जाता है और कसा जाने के कारण उसके मुख से शल्य छूट नहीं सकता और चिकित्सक अपनी समस्त शक्ति शल्य को खींचने में लगा सकता है ॥८,९॥

ताल यन्त्र का वर्णन—

द्वे द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवद् द्व्यकतालके ।
तालयन्त्रे स्मृते कर्णनाडीशल्यापहारिणी । १०॥

व्याख्या—ताल यन्त्र दो होते हैं १—एक तालक अर्थात् एकतालवाला और २—द्वितालक अर्थात् दो ताल वाला ।

इनके ताल मछली के गलताल जैसे होते हैं और लम्बाई १२ अंगुल होती है, इनके द्वारा कर्ण नासा तथा नाड़ी व्रण के भीतर का शल्य निकाला जाता है ।

वक्तव्य—अत्र तालशब्देन प्रदेश उच्यते, तेन एकतालम् एकप्रदेशो यस्य तत् एकतालम्, द्वे ताले प्रदेशौ यस्य तत् द्वितालकम्, एतेन मत्स्यशकलवत् प्रतनु मुखैकप्रदेशं एकतालम्, मत्स्यशकलवत् प्रतनु मुखद्विप्रदेशं द्वितालम् इत्युक्तम् । परिणाहस्तु कर्णादिप्रवेशी ज्ञेय इति हेमाद्रिः ॥१०॥

नाड़ी यन्त्रों का वर्णन—

नाडीयन्त्राणि सुषिराण्येकानेकमुखानि च ।
स्रोतोगतानां शल्यानामामयानां च दर्शने ॥११॥
क्रियाणां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणाय च ।
तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोऽनुरोधतः ॥१२॥

व्याख्या—नाड़ी यन्त्र सुषिर अर्थात् खोखले होते हैं, उनमें एक अथवा अनेक मुख होते हैं, वे गुद एवं भग आदि स्रोतों में गये शल्यों को एवं उनमें उत्पन्न अर्श आदि व्याधियों को देखने में प्रयुक्त होते हैं तथा क्षारकर्म एवं अग्निकर्म आदि करने में सरलता के लिये प्रयुक्त होते हैं और रक्त आदि के आचूषण करने में प्रयुक्त होते हैं । स्रोतों का विचार करके तदनुसार उन के विस्तार (छोटा-बड़ापन) परिणाह (मोटा-पतलापन) तथा दैर्घ्य (लम्बाई में छोटा-बड़ापन) बनाए जाते हैं ।

वक्तव्य—नाड़ी यन्त्र नाली या नलिका—नली जैसे होते हैं, सिंगी एवं वस्ति नेत्र भी नाड़ी यन्त्र ही हैं । स्रोतोगत शल्यों का उद्धरण भी इन यन्त्रों के द्वारा किया जाता है । इनमें एक ओर, दोनों ओर तथा पार्श्व की ओर छिद्र होते हैं और इनका प्रयोग केवल स्रोत को विवृत करने में भी होता है जैसे भग को विवृत करके गर्भाशय के मुख पर औषध लगाई जा सके ॥११,१२॥

नाड़ी यन्त्रों का विवरण—

दशाङ्गुलाऽर्धनाहाऽन्तःकण्ठशल्यावलोकिनी ।
नाडी पञ्चमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य सङ्ग्रहे ।१३।
वारङ्गस्य, द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः ।
वारङ्गकर्णसंस्थानानाहदैर्घ्यानुरोधतः ॥१४॥
नाडीरेवंविधाश्चान्या द्रष्टुं शल्यानि कारयेत् ।

व्याख्या—कण्ठगत शल्य को देखने के लिये जो नाड़ी बनाई जाती है वह १० अंगुल लम्बी और ५ अंगुल मोटी होती है उससे कण्ठगत शल्य देखा जाता है ।

और चार कर्ण वाले वारंग को पकड़ने के लिये पञ्चमुखछिद्रा (पंचमुख वाली) नाड़ी और दो कर्ण वाले वारङ्ग को पकड़ने के लिये त्रिछिद्र मुखी नाड़ी बनाई जाती है और उसका प्रमाण (परिमाण) वारंगों के प्रमाण के अनुसार छोटा बड़ा बनाया जाता है ।

और शल्य के वारंग (मूठ), कर्ण (फर–फण), संस्थान (आकार), आनाह (परिणाह–मोटाई) तथा दैर्घ्य (लम्बाई) के अनुसार शल्य को देखने के लिये इस प्रकार की अनेक नाड़ियाँ (नाड़ी यन्त्र) बनाई जाती हैं (जा सकती हैं) ॥१३,१४॥

शल्य निर्घातिनी नाड़ी—

पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशि द्वादशाङ्गुला ॥१५॥
चतुर्थसुषिरा नाडी शल्यनिर्घातिनी मता ।

व्याख्या—जिसका सिरोभाग कमल की कर्णिका के सदृश होता है, लम्बाई १२ अंगुल होती है परन्तु चौथाई अंगुल भाग खोखला होता है उसका नाम "शल्य निर्घातिनी" नाड़ी है ।

वक्तव्य—खोखला भाग शल्य पर लगा दिया जाता है और शिरोभाग पर आघात किया जाता है जिससे शल्य निकल जाता है । इसका प्रयोग उस दशा में किया जाता है जब शल्य का मुख दूसरी ओर निकल आता है और इस यन्त्र को शल्य के उस ओर लगाया जाता है जिस ओर से आघात करने पर शल्य सरलता से निकल सकता हो ॥१५॥

अर्शो यन्त्र—

अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरङ्गुलम् ॥१६॥
नाहे पञ्चाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडङ्गुलम् ।
द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रं तु कर्मणि ॥१७॥
मध्येऽस्य त्र्यङ्गुलं छिद्रमङ्गुष्ठोदरविस्तृतम् ।
अर्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकं च तदूर्ध्वतः ॥१८॥

व्याख्या—अर्शो यन्त्र का आकार गौ के स्तन का सा होता है लम्बाई चार अंगुल होती है । उसकी मोटाई

नरों के लिये पाँच अंगुल और नारियों के लिये छः अंगुल होती है। यह यन्त्र दो प्रकार का होता है—

१—व्याधि को देखने के लिये प्रयुक्त होता है इसमें दो छिद्र होते हैं।

२—क्षार कर्म आदि में प्रयुक्त होता है इसमें एक छिद्र होता है। ये छिद्र यन्त्र के पार्श्व में होते हैं।

यह छिद्र यन्त्र के मध्य पार्श्व में तीन अंगुल लम्बा और अंगूठा भर चौड़ा होता है। और यन्त्र के मुख प्रदेश में आधा अंगुल ऊँची तथा मुड़ी हुई कर्णिका (ओठ) होती है!

वक्तव्य—एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराऽग्नीनामतिक्रमो न भवति (सु० चि० अ० ६ पाठ ११)। अर्थात् गुद आदि में यन्त्र को प्रविष्ट करके जो शस्त्र, क्षार अथवा अग्नि का प्रयोग किया जाता है उससे आसपास के अवयव की रक्षा होती है ॥१६-१८॥

शमी यन्त्र एवं भगन्दर यन्त्र—

शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यन्त्रमर्शःप्रपीडनम्।
सर्वथाऽपनयेदोष्ठं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे ॥१९॥

व्याख्या—अर्शोयन्त्र जैसा एक शमीयन्त्र होता है परन्तु उस में छिद्र नहीं होता। उस यन्त्र से अर्श का प्रपीडन किया जाता है।

और भगन्दर यन्त्र भगन्दर की चिकित्सा (उसमें क्षार आदि का प्रयोग) करने में प्रयुक्त होता है इस यन्त्र में छिद्र तो होता है परन्तु ओठ (कर्णिका) नहीं होता।

वक्तव्य—ये चारों यन्त्र छोटे गिलास के से होते हैं ॥१९॥

घ्राणयन्त्र—

घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाड्यङ्गुलद्वया।
प्रदेशिनीपरीणाहा स्याद्भगन्दरयन्त्रवत् ॥२०॥

व्याख्या—यह यन्त्र—नासारन्ध्र के अर्बुद तथा अर्श पर क्षार कर्म आदि का प्रयोग करने में प्रयुक्त होता है। इसमें एक छिद्र होता है और इस यन्त्र की लम्बाई दो अंगुल होती है और इसकी मोटाई प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली जैसी होती है और यह भगन्दर यन्त्र का सा होता है (ओठ रहित) ॥२०॥

अंगुलित्राणक यन्त्र—

अङ्गुलित्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम्।
द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौ सुखम् ॥२१॥

व्याख्या—यह यन्त्र हाथीदन्त का अथवा कठोर लकड़ी का बनाया जाता है (अथवा शीसम का), चार अंगुल लम्बा दोनों ओर छिद्र वाला तथा गौ के स्तन के आकार वाला होता है और उसे अंगुलि पर चढ़ा लिया जाता है। यह रोगी का मुख खोलने में, दन्तों से अंगुलि की रक्षा रहने के लिये सहायक होता है।

वक्तव्य—यह मुख में प्रवेशित अंगुलि का त्राण अर्थात् रक्षण करता है अतः "अंगुलि त्राणक" कहा जाता है ॥२१॥

योनिव्रणेक्षण यन्त्र—

योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशाङ्गुलम्।
मुद्राबद्धं चतुर्भित्तमम्भोजमुकुलाननम् ॥२२॥
चतुःशलाकमाक्रान्तं मूले तद्विकसेन्मुखे।

व्याख्या—यह योनि के व्रण आदि की स्थिति देखने में प्रयुक्त होता है और यह खोखला, सोलह अंगुल लम्बा चार भित्तियों अर्थात् पाटियों से निर्मित, बाहिर से मुद्रा (कंगनी) द्वारा बंधा हुआ, न खिले हुए कमल के सदृश मुख वाला तथा भित्तियों के मूल भाग में चार शलाकाओं वाला होता है और योनि में प्रविष्ट करके शलाकाओं पर दबाव देने से (डालने से) वह अग्रभाग (मुखभाग) की ओर से विकसित हो जाता है खिल जाता है जिस से योनि विवृत हो जाती है और वहां के व्रण आदि सरलता से देखे जा सकते हैं ॥२२॥

नाड़ी व्रण के अभ्यंजन तथा प्रक्षालन के यन्त्र—

यन्त्रे नाडीव्रणाभ्यङ्गक्षालनाय षडङ्गुले ॥२३॥
वस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽङ्गुष्ठकलाय-खे।
अग्रतोऽकर्णिके मूले निबद्धमृदुचर्मणी ॥२४॥

व्याख्या—ये दो यन्त्र १—नाड़ी व्रण का अभ्यंजन करने के लिये अर्थात् नाड़ी व्रण के भीतर स्नेह आदि औषध पहुँचाने के लिये प्रयुक्त होता है और २—नाड़ी व्रण का प्रक्षालन करने के लिये।

इन दोनों की लम्बाई ६ अंगुल होती है और आकार वस्तियन्त्र का सा होता है इनके मूल भाग में अंगूठा का सा और मुख भाग में मटर का सा छिद्र रहना चाहिये इसके अग्रभाग पर कर्णिका नहीं बनाई जाती, जैसी गुद वस्ति के नेत्र पर बनाई जाती है परन्तु मूल भाग पर दो कर्णिका बनाई जाती हैं और उन पर कोमल चमड़ा का पुट बांधा जाता है जैसा गुदवस्ति के नेत्र पर बांधा जाता है

वक्तव्य—इसका नाम व्रणवस्ति है यह व्रण धोने की वस्ति है ॥२३-२४॥

जलोदर का जल निकालने का नाड़ी यन्त्र आदि—

द्विद्वारा नलिका पिच्छनलिका वोदकोदरे।
धूमवस्त्यादियन्त्राणि निर्दिष्टानि यथायथम् ॥२५॥

व्याख्या—यह नालिका (नाड़ी यन्त्र) रांगा अथवा जस्ता धातु की बनाई जाती है अथवा मोर तथा गिद्ध के पंखों का खोखला भाग ले लिया जाता है। इसके दोनों ओर द्वार (छिद्र) होते हैं और यह जलोदर का जल निकालने में प्रयुक्त होती है (देखिये चि० अ० १५)।

और धूमयन्त्र (अ० २१ में), वस्तियन्त्र (अ० १९ में तथा प्रधमन नस्य के लिये यन्त्र (अ० २० में श्लोक ८) एवं नेत्र में आश्च्योतन के लिये नाड़ी यन्त्र (अ० २३ में) आदि अनेक नाड़ी यन्त्र यथास्थान कह दिये गये हैं और कह दिये जाएँगे ॥२५॥

शृङ्ग नाड़ी यन्त्र (सिंगी)—

त्र्यङ्गुलास्यं भवेच्छृङ्गं चूषणेऽष्टादशाङ्गुलम्।
अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति ॥२६॥

व्याख्या—वायु अथवा रक्त का चूषण करने के लिये शृङ्ग का प्रयोग किया जाता है। उसका मुख तीन अंगुल विस्तृत होता है वह अट्ठारह अंगुल लम्बा हो, उसके अग्रभाग में सरसों के समान छिद्र हो, जो शरीर में लगानेपर बन्द कर दिया जाता है, शृङ्ग चूचक के आकार का हो।

वक्तव्य—शृङ्ग अर्थात् सिंगी का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है,—१—कच्ची या फोंकी —इस में मांसल अवयव पर सिंगी धर कर, हाथ से दबाकर और अग्रभाग के छिद्र पर चिकित्सक अपना मुख लगा कर आचूषण करता है—बल पूर्वक चूसता है। फलतः सिंगी के भीतर का वायु आचूषित हो जाता है और तत्काल छिद्र पर मोमी कागज का टुकड़ा चिपका देता है और लगभग १ घण्टा प्रतीक्षा करता है इतने में उस स्थान का दूषित वायु आचूषित हो कर सिंगी में भर जाता है तत्पश्चात् सिंगी को हाथ से बल पूर्वक पृथक् कर देता है इस प्रकार वायु की स्थानीय वेदना शान्त हो जाती है

२—पक्की सिंगी—इसमें पीडित अवयव पर उस्तुरा द्वारा पच्छ लगा कर उक्त प्रकार से सिंगी लगाई जाती है। शृंग १८ अंगुल का और ६–७ अंगुल का भी लिया जाता है, उसके भीतर का गूदा निकाल कर शृंग स्वच्छ कर लिया जाता है, शृंग यथासम्भव सीधा एवं चूचुकाकार देखभाल कर उपयोगी बना लिया जाता है। कच्ची सिंगी से वायु और पक्की से वात दूषित रक्त निकाला जाता है। उष्णं समधुरं स्निग्धं गवां शृंगं प्रकीर्तितम्। तस्मात् वातोपसृष्टे तु तदवसेचने। अर्द्धचन्द्राकृति महत् तनु सप्ताङ्गुलायतम्। प्रच्छिते दापयेत् शृङ्गमास्येनाऽऽचूषयेत् बली। सु० सू० अ० १३। और देखिये अगला अ० २९ श्लोक ५१–५२ ॥२६॥

तुम्बी एवं घटी यन्त्र—

स्याद्द्वादशाङ्गुलोऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशाङ्गुलः।
चतुस्त्र्यङ्गुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तः श्लेष्मरक्तहृत् ॥२७॥
तद्वद्घटी हिता गुल्मविलयोन्नमने च सा।

व्याख्या—अलाबु अर्थात् तुम्बी—१२ अंगुल लम्बी, १८ अंगुल मोटी ४ अथवा ३ अंगुल चौड़े मुख वाली हो और उसके भीतर दीप जलाकर—उष्ण होने पर लगाई जाय, इससे कफ दूषित रक्त के विकार शान्त किये जाते हैं। इसी आकार-प्रकार की घटी (लोटा-गिलास) भी उपयोग में लाई जाती है उसके द्वारा गुल्म का विलयन तथा उन्नयन किया जाता है।

वक्तव्य-सिंगी के समान ही तुम्बी का प्रयोग किया जाता है परन्तु उसमें की वायु दीप के सन्ताप की सहायता से निकाली जाती है चूस कर नहीं अतः उस पर सरसों का सा छिद्र भी नहीं होता। सान्तर्दीपया अलाबवा सु सू. अ. १३। यह भी मांसल अवयव पर लगाई जाती है जैसे—उदर पर। पीडित स्थान पर दीपक धर दिया जाता है अथवा कपूर का दीपक जला दिया जाता है उसकी लौ पर गिलास या लोटा को अधोमुख करके तपाया जाता है, तप जाने पर दीपक को उसी से ढाँक दिया जाता है फलत; गिलास उदर पर जम जाता है एक घण्टा की प्रतीक्षा के पश्चात् एक ओर से अंगुली द्वारा दबा कर उसका वायु निकाल दिया जाता है और गिलास या लोटा तुम्बी को अलग करके उस स्थान के उभार को मल दिया जाता है। इस प्रयोग से उदर शूल में तत्काल लाभ होता है ॥२७॥

शलाका नामक यन्त्र—

शलाकाख्यानि यन्त्राणि नानाकर्माकृतीनि च ॥२८॥
यथायोगप्रमाणानि तेषामेषणकर्मणि।
उभे गण्डूपदमुखे स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी ॥२९॥
मसूरदलवक्त्रे द्वे स्यातामष्टनवाङ्गुले।
शङ्कवः षट् उभौ तेषां षोडशद्वादशाङ्गुलौ ॥३०॥
व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ द्वौ दशद्वादशाङ्गुलौ।
चालने शरपुङ्खास्यौ आहार्ये बडिशाकृती ॥३१॥
नतोऽग्रे शङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः।
अष्टाङ्गुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः ॥३२॥

व्याख्या—शलाका नामक यन्त्र–इनका प्रयोग अनेक कर्मों में होता है तथा इनके आकार भी अनेक प्रकार के होते हैं और इनका प्रमाण—लम्बाई—मोटाई यथायोग्य होती है। इनमें दो एषणी नामक शलाका होती हैं जो एषण- अन्वेषण कर्म में प्रयुक्त की जाती हैं।

दोनों का मुख केंचुए के समान—सदृश होता है। दो शल्य हारिणी नामक शलाका होती हैं इनके द्वारा नासा आदि के स्रोतों में फंसे शल्य निकाले जाते हैं इनका मुख मसूर की दाल या पत्ते जैसा होता है। लम्बाई ८-६ अंगुल होती है। शंकु नामक शलाका ६ होती हैं—उनमें दो-एक १६ अंगुल लम्बी दूसरी १२ अंगुल लम्बी होती है। इन के मुख सर्प के फण के से होते हैं इनका प्रयोग व्यूहन कर्म में होता है। दो शङ्कु—१०-१२ अंगुल के होते हैं इनका मुख शर बाण के पुंख-पर के सदृश होता है, इनका प्रयोग शल्य के चालन में (उसको हिलाने-डुलाने में) किया जाता है। दो शङ्कु—बडिश (मछली पकड़ने के कण्टक) के सदृश होते हैं इनका प्रयोग आहरण में (खींचने में) किया जाता है।

एक गर्भ शङ्कु होता है जो अग्रभाग में शङ्कु के समान नत अर्थात् अवनत रहता है वह ८ अंगुल लम्बा होता है और उसके द्वारा नारी का मूढगर्भ (फँसा हुआ गर्भ) निकाला जाता है (देखिये—शा० अ० २ में मूढ गर्भ चिकित्सा) ॥२८-३२॥

अश्मरी हरण यन्त्र—

अश्मर्याहरणं सर्पफणावद्वक्रमग्रतः।
शरपुङ्खमुखं दन्तपातनं चतुरङ्गुलम् ॥३३॥

व्याख्या—अश्मरी को निकालने का जो यन्त्र होता है उसका अग्रभाग सर्प के फण के सदृश होता है। इस यन्त्र का नाम "सर्पफण" है।

एकशरपुंखमुख नामक यन्त्र होता है जो चार अंगुल लम्बा होता है और वह हिलते दन्त को निकालने में प्रयुक्त होता है ॥३३॥

प्रमार्जनी शलाका—

कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट् प्रमार्जने।

व्याख्या—प्रमार्जन (व्रण आदि को साफ करने) के लिये ६ प्रकार की शलाका होती हैं उनके अग्रभाग पर प्रमार्जन के समय रूई लपेट ली जाती है।

पायु यन्त्र आदि शलाका यन्त्र—

पाय्वासन्नदूरार्थे द्वे दशद्वादशाङ्गुले ॥३४।
द्वे षट्सप्ताङ्गुले घ्राणे, द्वे कर्णेऽष्टनवाङ्गुले।
कर्णशोधनमश्वत्थ-पत्रप्रान्तं स्रुवाननम् ॥३५॥

व्याख्या—दो पायु यन्त्र (गुद यन्त्र) होते हैं—१-समीप के व्रण का प्रमार्जन आदि करने के लिये होता है और वह १० अंगुल लम्बा होता है। २—दूर के व्रण का प्रमार्जन आदि करने के लिये होता है और वह १२ अंगुल लम्बा होता है।

दो घ्राण यन्त्र होते हैं—१—समीप के लिये और वह ६ अंगुल का और २—दूर के लिये सात अंगुल का होता है।

दो कर्ण यन्त्र होते हैं—१—समीप के लिये ८ अंगुल का लम्बा और २—दूर के लिये ६ अंगुल का लम्बा (यह उक्त ६ शलाका हैं)

और एक कर्ण शोधन यन्त्र होता है। वह यन्त्र—पीपल के पत्र के सदृश (अतीक्ष्ण) प्रान्तवाला एवं स्रुव (कड़छुली या चमची के सदृश मुखवाला) होता है इससे कान का मैल निकाला जाता है ॥ ३४,३५ ॥

शलाका एवं जाम्बवोष्ठ आदि का प्रयोग—

शलाकाजाम्बवौष्ठानां क्षारेऽग्नौ च पृथक् त्रयम्।
युञ्ज्यात् स्थूलाणुदीर्घाणां शलाकामन्त्रवर्त्मनि ॥३६॥
मध्योर्ध्ववृत्तदण्डां च मूले चार्धेन्दुसन्निभाम्।
कोलास्थिदलतुल्यास्या नासार्शोऽर्बुददाहकृत ॥३७॥
अष्टाङ्गुला निम्नमुखास्तिस्रः क्षारौषधक्रमे।
कनीनीमध्यमाऽनामीनख-मान-समैर्मुखैः ॥३८॥
स्वं स्वमुक्तानि यन्त्राणि मेढ्रशुद्ध्यञ्जनादिषु।

व्याख्या—क्षार कर्म के लिये और अग्निकर्म के लिये तीन शलाकायन्त्र तथा तीन जाम्बवोष्ठ यन्त्र होते हैं। इन में शलाका यन्त्र—कोई स्थूल (मोटे) तथा कोई अणु (पतले) और लम्बे होते हैं और जाम्बवोष्ठ यन्त्र जामुन के फल के समान मुख वाले होते हैं वे १२,१० तथा ८ अंगुल लम्बे होते हैं।

एक शलाका अन्त्रवृद्धि में प्रयुक्त होती है वह मध्य भाग से ऊपर दण्ड वाली और मूल भाग में अर्द्ध चन्द्राकार होती है। एक शलाका नासा के अर्श एवं अर्बुद पर क्षारकर्म एवं अग्नि कर्म करने में प्रयुक्त होती है उसका मुख वेरफल की आधी गुठली के तुल्य होता है।

तीन शलाका क्षारौषध का प्रयोग करने के लिये होती हैं उनका मुख निम्न (गढा का सा या चमच या कड़छी जैसा) होता है। उन की लम्बाई आठ अंगुल होती है। उन के मुख क्रमशः कनीनिका (चींची सब से छोटी), मध्यमा तथा अनामिका नामक अंगुलियों के नखों के समान होते हैं।

और मूत्रमार्ग की शुद्धि के लिये (अ० १९ में

देखिये उत्तरवस्ति विधि) तथा अञ्जन लगाने के लिये (उ० तं० में० नेत्र चिकित्सा के अध्याय) अनेक शलाका यन्त्रों का वर्णन उन २ स्थलों में किया गया है जहाँ उन के द्वारा चिकित्सा की आवश्यकता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद के जिस अंग में शलाका द्वारा चिकित्सा का विधान विशेष रूप से होता है उस अंग का नाम "शालाक्य तन्त्र" है ॥३६–३८।

अनुयन्त्रों का वर्णन—

अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुवस्त्राश्ममुद्गराः ॥३९॥
वध्रान्त्रजिह्वबालाश्च शाखानखमुखद्विजाः।
कालः पाकः करः पादो भयं हर्षश्च, तत्क्रियाः ॥४०॥
उपायविल्लविभजेदालोच्य निपुणं धिया।

व्याख्या—अनुयन्त्र या उपयन्त्र हैं—यथा—चुम्बक लोह, रस्सी—धागा—डोरा—डोरी, वस्त्र (इन से लपेटने या बांधने का कर्म किया जाता है), पाषाण (पत्थर इस से दबाव दिया जाता है), मुद्गर (इस से आघात निर्घातन किया जाता है), पट्ट (पट्टिया—पाटियाँ जो भग्नास्थि पर रखने में प्रयुक्त होती हैं), अन्त्र (अन्त्र के डोरे आदि), जीभ (दन्त लग्न अन्न कण आदि को निकालने में प्रयत्न करती है), बाल अर्थात् केश (इन में फँसा कर शल्य खींचा जाता है) वृक्ष की शाखा (इसे नवाकर और शल्य के वारङ्ग को इस से बाँध कर छोड़ दिया जाता है यह क्रिया हाथी आदि बड़े प्राणियों के शल्य निकालने में की जाती है), नख (नख से कण्टक पकड़ कर निकाला जाता है), मुख—ओठ (आचूषण करने में प्रयुक्त होते हैं) तथा दन्त (इन से भी पकड़ कर शल्य निकाला जाता है जैसे गर्भशल्य एवं मूत्र पुरीष आदि), पाक (पकना उस से भी शल्य निकल जाता है जैसे व्रणशोथ का दोष शल्य एवं कण्टक आदि), हाथ (इस से पकड़ कर शल्य खींच लिया जाता है), पाँव, भय (से क्रोध शल्य आदि) तथा हर्ष (इस से शोक शल्य निकल जाता है)।

कुशल चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि अपनी बुद्धि से गम्भीर विचार करके इन अनुयन्त्रों के कर्मों का विभाग करे अर्थात् इन का उपयोग—प्रयोग करके उचित कार्य सम्पादन करे।

वक्तव्य—चुम्बक से लोह शल्य का आकर्षण किया जाता है ॥३९,४०॥

यन्त्रों के १५ कर्म—

निर्घातनोन्मथनपूरणमार्गशुद्धि-
संव्यूहनाहरणबन्धनपीडनानि।
आचूषणोन्नमननामनचालभङ्ग-
व्यावर्तनर्जुकरणानि च यन्त्रकर्म ॥४१॥

व्याख्या—१—निर्घातन (आघात—मुद्गर आदि से चोट मारना), २—उन्मथन (मथना—आलोडन), ३—पूरण (भरना जैसे वस्ति आदि से मलाशय आदि पूर्ण करना), ४—मार्ग शुद्धि (स्रोतों का शोधन) ५—संव्यूहन (सञ्चित करना), ६—आहरण (निकालना), ७—बन्धन (बाँधना), ८—पीडन (दबाना), ९—आचूषण (चूसना जैसे सिंगी से वायु), १०—उन्नमन (ऊपर को उठाना), ११—नामन (नीचे झुकाना) १२—चाल—चालन (हिलाना), १३—भङ्ग—भंजन (तोड़ना), १४—व्यावर्त्तन (विविध प्रकार से घुमाना) तथा १५—ऋजु करण (सीधा करना)। यह सब कर्म यन्त्रों द्वारा किये जाते हैं।

वक्तव्य—इन के अतिरिक्त ९ कर्म अष्टांग सं. सू. अ. ३४ इस प्रकार हैं—१ विवरण (खोलना-विवृत करना), २—एषण (खोजना), ३—प्रमार्जन (साफ करना), ४—प्रक्षालन (धोना), ५—प्रधमन (धौंकना जैसे नाली में औषध चूर्ण नासा में फूंका जाता है), ६—विकर्षण (खींचना), ७—व्यजन (हवा करना] ८—अंजन (अंजन—चुपड़ना तथा ९—दारण (फाड़ना—विभक्त करना)। इस प्रकार ९ + १५ = २४ कर्म कहे गये हैं और सु. सू. अ. ७ में भी २४ ही कहे गये हैं यह संख्या निर्धारण प्रायेण है वैसे तो यन्त्र कर्म असंख्य होते हैं।

सुश्रुत संहिता में यन्त्रों के १२ दोष लिखे हैं यथा—१ अतिस्थूलता, २—असारता, ३—अतिदीर्घता, ४—अतिह्रस्वता, ५—अग्राहिता, ६—विषमग्राहिता, ७—वक्रता, ८—शिथिलता, ९—अत्युन्नतता, १०—मृदुकीलता, ११—मृदु मुखता तथा १२—मृदु पाशता इन दोषों से रहित यन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये ॥४१॥

कंकमुख यन्त्र की प्रशंसा—

विवर्तते साध्ववगाहते च
ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात्।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं
स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि यच्च ॥४२॥

व्याख्या—सब यन्त्रों में कंक मुख नामक यन्त्र प्रधान माना जाता है क्योंकि वह—आवश्यकतानुसार घूम जाता है—घुमाया जा सकता है; स्रोतों में भली भांति चला जाता है—पहुँचाया जा सकता है, ग्रहण योग्य शल्य को पकड़ कर निकाल लेता है और सब अवयवों में अधिकार

पूर्वक कर्म कर सकता है ॥४२॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५॥

षड्विंशोऽध्यायः

अथातः शस्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब शस्त्रविधि का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन सु० सू० अ० ८ एवं १३ में तथा अ० सं० सू० अ० ३४ एवं ३५ में देखिये और चरक में इस विषय का विशद वर्णन नहीं किया गया है तथापि चि० अ० २५ देखिये ।

शस्त्रों का वर्णन—

षड्विंशतिः सुकर्मारैर्घटितानि यथाविधि ।
शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट् ॥१॥
सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत् ।
अकरालानि सुध्मातसुतीक्ष्णावर्तितेऽयसि ॥२॥
समाहितमुखाग्राणि नीलाम्भोजच्छवीनि च ।
नामानुगतरूपाणि सदा सन्निहितानि च ॥३॥
स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलान्येकैकशोऽपि च ।
प्रायो द्वित्राणि, युञ्जीत तानि स्थानविशेषतः ॥४॥

व्याख्या—शस्त्रों की संख्या सामान्यतः २६ है और वे शस्त्र-कुशल कर्मारों (कार्यकर—कारीगर—शस्त्रों का निर्माण करने वालों) द्वारा विधि पूर्वक बनाये जाते हैं, इतने तीक्ष्ण हों जो रोमों को काट सकें (जैसे उस्तुरा) और लम्बाई में प्रायः ६ अंगुल हों ।

वे शस्त्र—देखने में सुन्दर हों, उनकी धार भी सुन्दर हो और पकड़ने की मूठ भी सुन्दर हो और वे भयानक न हों तथा भली भांति धमाए गये (तपा कर शुद्ध किये गये) तथा पिघलाये उत्तम कोटि के तीक्ष्ण लोह (फौलाद) के बनाये गये हों । उन के मुखाग्र (फल) दृढ़ (कठोर) हों, उनका वर्ण नील कमल की सी कान्ति वाला हो (चमकीला हो) और शास्त्रोक्त नामों के अनुकूल उनका आकार (आकृति) हो और वे सर्वदा चिकित्सक के पास विद्यमान हों । उन का फल मूठ समेत शस्त्र की लम्बाई की अपेक्षा आधे परिमाण वाला अथवा चौथाई परिमाण वाला होना चाहिये ।

उनका प्रयोग—व्याधि स्थान भेद एवं कर्म भेद से एक शस्त्र का, दो का अथवा तीन का किया जाता है अर्थात् कभी २ एक ही शस्त्र कर्म में कई शस्त्रों की आवश्यकता पड़ जाती है ।

वक्तव्य—किसी२ प्रति में श्लोक ५ के आगे यह पाठ है—इसमें उक्त २६ शस्त्रों के नामों का उल्लेख है—यथा १—मण्डलाग्रं, २ वृद्धिपत्र, ३—उत्पल, ४—अध्यर्द्धं धार के । ५—सर्पं ६—एषण्यौ ७—वेतसाग्रं ८—शरारीस्य ९—त्रिकूर्चके ॥१॥ १०—कुशास्यं ११—साऽऽटत्रवदनं १२—अन्तरवक्त्राऽर्द्धं चन्द्रकम् । १३—व्रीहिमुखं..१४—कुठारीच १५—शलाकां १६—ऽगुलिशस्त्रके ॥२॥ १७—वडिशं १८—करपत्राख्यं १९—कर्त्तरी २०—नख शस्त्रकम् । २१—दन्तलेखनकं २२—सूच्यः २३—कूर्चो नाम २४—खजाह्वयम् ॥३॥ २५—आरा चतुर्विधाऽऽकारा तथा स्यात् २६—कर्णवेधनम् । और सुश्रुत सू० अ० ८ में २० ही शस्त्र लिखे है ॥१॥

शस्त्रों के आकार एवं कर्म का वर्णन—

'मण्डलाग्रं' फले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृति ।
लेखने छेदने योज्यं पोथकीशुण्डिकादिषु ॥५॥

व्याख्या—उक्त शस्त्रों में जो मण्डलाग्र नामक शस्त्र होता है वह तर्जनी अंगुलि के अन्तर्नख के सदृश आकार वाला होता है और इसका प्रयोग पोथकी (नेत्र वर्त्म रोग—रोहे) में तथा गल शुण्डिका आदि रोगों में लेखन कर्म एवं छेदन कर्म में किया जाता है ॥५॥

वृद्धि पत्र के आकार एवं कर्म का वर्णन—

'वृद्धिपत्रं' क्षुराकारं छेदभेदनपाटने ।
ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गम्भीरे च तदन्यथा ॥६॥
नताग्रं पृष्ठतो दीर्घह्रस्ववक्त्रं यथाश्रयम् ।
'उत्पलाध्यर्धधाराख्ये' भेदने छेदने तथा ॥७॥
'सर्पास्यं' घ्राणकर्णार्शश्छेदनेऽर्धाङ्गुलं फले ।
गतेरन्वेषणे श्लक्ष्णा गण्डूपदमुखैषणी ॥८॥
भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा ।
वेतसं व्यधने स्राव्ये शरार्यास्यत्रिकूर्चके ॥९॥

व्याख्या—वृद्धिपत्र नामक शस्त्र—उस्तुरा के आकार का होता है, उस का अग्र भाग सीधा होता है और इस ऊँचे शोथ (व्रण शोथ) आदि में छेदन कर्म, भेदन एवं पाटन (लम्बा चीरा) कर्म के लिये प्रयुक्त होता है ।

और गम्भीर (गहरे) शोथ के छेदन आदि कर्म के लिये इसके विपरीत आकार वाला वृद्धिपत्र नामक शस्त्र प्रयुक्त होता है और वह शस्त्र अग्रभाग में पीछे की ओर झुका हुआ होता है तथा शोथ के आशय (आश्रय)

के अनुसार दीर्घ अथवा ह्रस्व मुखवाला होता है।

उत्पल पत्रक तथा अध्यर्धधारक नामक दो शस्त्र छेदन कर्म एवं भेदन कर्म में प्रयुक्त होते हैं।

सर्पास्य (सर्प) नामक शस्त्र का फल आधा अंगुल होता है और वह नासा एवं कर्ण के अर्श का छेदन करने में प्रयुक्त होता है।

एक एषणी नामक शस्त्र—नाड़ीव्रण के अन्वेषण में प्रयुक्त होता है और उसका मुख केन्चुए के मुख के सदृश होता है और वह एषणी श्लक्ष्ण स्पर्श में कोमल होती है)। दूसरा एषणी नामक शस्त्र–भेदन में प्रयुक्त होता है उस का मुख तीक्ष्ण होता है तथा उस के मूल में छिद्र होता है जिस में क्षारसूत्र डाल कर भगन्दर एवं अर्श की चिकित्सा की जाती है।

वेतस (वेतस पत्रक) नामक शस्त्र—व्यधन (वेधन कर्म में प्रयुक्त होता है। शरारिमुख (शरारिः दीर्घचंचुः पक्षिविशेषः) तथा त्रिकूर्चक (गोदने की कूची कासा) नामक शस्त्र—स्रावण कर्म में प्रयुक्त किये जाते हैं।

वक्तव्य—वृद्धि अर्थात् छेदन (वृधु छेदने धातु से निष्पन्न वृद्धि शब्द) के लिये है पत्र (पत्ती-फल) जिसका वह शस्त्र "वृद्धिपत्र" कहलाता है जैसे चाकू एवं छुरा या उस्तूरा। इसी प्रकार कमल की पंखुरी के सदृश पत्र वाला "उत्पल पत्रक" एवं सर्प के फण के सदृश आकार वाला 'सर्पास्य" कहलाता है। एक एषणी वह है जिस का मुख केचुवा के मुख कासा होता है वह यन्त्रों में गिनी गई है देखिये अ० २५। और दूसरी एषणी जिसका मुख तीक्ष्ण होता है वह शस्त्रों में गिनी गई है। इसी प्रकार वेत के पत्र के समान पत्र वाला शस्त्र "वेतसपत्रक" शरारि नामक पक्षी के मुख के सदृश मुखवाला शस्त्र "शरारिमुख" और तीन अथवा तीन से अधिक सूइयों की तीन कूचियों को मिलाकर बनाया गया शस्त्र "त्रिकूर्चक" कहलाता है। (कूर्च देखिये श्लोक २४ में) ॥६-९॥

कुशपत्रक आदि शस्त्रों का वर्णन—

कुशाटावदने स्राव्ये द्व्यङ्गुलं स्यात्तयोः फलम्।
तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्द्धमङ्गुलम् ॥१०॥
'अर्धचन्द्राननं' चैतत् तथाऽध्यर्धाङ्गुलं फले।
'व्रीहिवक्त्रं' प्रयोज्यं च तत्सिरोदरयोर्व्यधे ॥११॥
पृथुः 'कुठारी' गोदन्तसदृशाऽर्धाङ्गुलानना।
तयोर्ध्वदण्डया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां सिराम् ॥१२॥

व्याख्या—कुशपत्रक तथा 'आटामुख" (आटीमुख) नामक दो शस्त्र स्रावण कर्म में प्रयुक्त होते हैं और उन के फल की लम्बाई दो अंगुल होती है। अर्द्धचन्द्रक नामक शस्त्र का फल अर्ध चन्द्र के आकार का होता है और उस की धार भीतर को ओर होती है तथा लम्बाई डेढ़ अंगुल भर।

व्रीहिमुख (जौके सदृश मुख वाला) नामक शस्त्र का प्रयोग सिरा वेध में तथा जलोदर वेध में किया जाता है इसकी धार भी डेढ़ अंगुल होती है और इसका प्रयोग मांसल प्रदेश की सिरा के वेध में एवं अण्डवृद्धि, गुल्म एवं विद्रधि के वेधन में तथा भेदन कर्म में किया जाता है (अ० सं० सू० अ० ३४)

कुठारी नामक शस्त्र का आकार गौ के दन्त के समान आधा अंगुल चौड़ा होता है, इसके ऊपरी भाग में कुल्हाड़ी के सदृश दण्ड (बेंट या बीण्डा) लगा रहता है इसके द्वारा अस्थि के ऊपर वर्त्तमान सिरा का वेध किया जाता है।

वक्तव्य—देखिये सिरावेध विधि अ० २७ श्लोक २३ कुठारी या कुठारिका नामक शस्त्र लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी के आकार का परन्तु छोटा होता है इसे सिरा पर धर कर एवं उसके ऊर्ध्व भाग पर अंगूठा से स्तब्ध मध्यमा अंगुली से चोट मारी जाती है जिससे सिरा का वेध हो जाता है। सुश्रुत के शब्दों में "कुठारिकां वामहस्तन्यस्तामितरहस्तमध्यमाऽगुल्या अंगुष्ठविष्टब्धया अविहन्यात्' (सु० सू० अ० ८ तथा सु० शा० अ० ८ देखिये)। इस शस्त्र में दण्ड (वेण्ट) वहीं होता है जहाँ कुल्हाड़ी में होता है ॥१०-१२॥

लिङ्गनाश वेधनी तथा अंगुली शस्त्रक का वर्णन—

ताम्री 'शलाका' द्विमुखी मुखे कुरुबकाकृतिः।
लिङ्गनाशं तया विध्येत् कुर्यादङ्गुलिशस्त्रकम् ॥१३॥
मुद्रिकानिर्गतमुखं फले त्वर्धाङ्गुलायतम्।
योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा समम् ॥१४॥
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्व–प्रमाणार्पणमुद्रिकम्।
सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने ॥१५॥

व्याख्या—एक ताम्र की शलाका होती है इसके दोनों ओर मुख (धार) होना चाहिये, इसके मुख लाल सहचर (कटसरैया) के पुष्प की कली के सदृश होते हैं, इसके द्वारा लिंग नाश (मोतियाबिन्द नामक नेत्ररोग) का वेधन किया जाता है।

एक अंगुलिशस्त्रक नामक शस्त्र होता है वह अंगूठी जैसा होता है परन्तु उसका मुख आगे की ओर निकला रहता है, इसका फल आधा अंगुल लम्बा होता है, स्वरूप (आकार) में यह वृद्धिपत्रक अथवा मण्डलाग्र नामक शस्त्र के सदृश होता है, इसकी मुद्रिका (छल्ला)

प्रदेशिनी अंगुली (तर्जनी अंगुली) के अग्रिम पर्व (पोर) में आने (फँसने) योग्य होती है, इसमें सूत्र (धागा डोरा) बाँधकर चिकित्सक अपनी कलाई में बाँध लेता है जिससे वह निकल न जाय। इसके द्वारा गल के भीतरी स्रोतस् के गलशुण्डी एवं अर्श (टाउसिल) आदि का छेदन एवं भेदन किया जाता है ॥१३-१५॥

वडिश शस्त्र का वर्णन—

ग्रहणे शुण्डिकार्मादे 'वडिशं' सुनताननम्।

व्याख्या—एक वडिश नामक शस्त्र होता है उसका मुख अङ्कुश के समान नत (मुड़ा हुआ) होता है। उसके द्वारा गलशुण्डी (नामक कण्ठरोग विशेष) का एवं अर्म (नेत्ररोग विशेष) का ग्रहण (छेदन) किया जाता है।

वक्तव्य—वडिशं दन्तशंकुश्च आनताग्रे (सु. सू. अ.८)

करपत्र शस्त्र का वर्णन—

छेदेऽस्थ्नां 'करपत्रं' तु खरधारं दशाङ्गुलम् ॥१६॥
विस्तारे द्व्यङ्गुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम्।

व्याख्या—एक करपत्र नामक शस्त्र होता है उसकी धार खरदरी होती है, लम्बाई १० अंगुल और चौड़ाई दो अंगुल होती है, उसके दन्त (दान्ते) सूक्ष्म (बहुत छोटे-छोटे) होते हैं और उसके मूल भाग में त्सरु (मूठ) बंधी रहती है, इसके द्वारा अस्थि का छेदन किया जाता है।

वक्तव्य—यह शस्त्र लकड़ी चीरने के आरे जैसा परन्तु उससे छोटा होता है ॥१६।

कर्त्तरी शस्त्र का वर्णन—

स्नायुसूत्रकचच्छेदे 'कर्तरी' कर्तरीनिभा ॥१७॥

व्याख्या—एक कर्त्तरी नामक शस्त्र होता है जो कपड़ा काटने को कैंची जैसा होता है उसके द्वारा स्नायु सूत्र तथा केश का छेदन किया जाता है।

नख का शस्त्र का वर्णन—

वक्रर्जुधारं द्विमुखं 'नखशस्त्रं' नवाङ्गुलम्।
सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छानलेखने ॥१८॥

व्याख्या—एक नख शस्त्र होता है उसके दोनों ओर मुख (धार) होता है, एक वक्र (टेढ़ा) और दूसरा ऋजु (सीधा)। उसकी लम्बाई ९ अंगुल होती है। इसके द्वारा कण्टक आदि सूक्ष्म शल्य निकाला जाता है और छेदन, भेदन, प्रच्छन (पच्छना) तथा लेखन (छिल्लना) कर्म किये जाते हैं।

वक्तव्य—यह सुप्रसिद्ध "नहेरना" है जिससे नख उतारे जाते हैं ॥१८॥

दन्त लेखन का वर्ण—

एकधारं चतुष्कोणं प्रबद्धाकृति चैकतः।
'दन्तलेखनकं' तेन शोधयेद्दन्तशर्कराम् ॥१९॥

व्याख्या—एक दन्तलेखनक नामक शस्त्र होता है और वह एक धारवाला, चार कोनोंवाला (जिससे हाथमें पकड़ा हुआ घूम न जाय) तथा एक ओर प्रबद्ध आकृतिवाला होता है इसके द्वारा दन्तों की शर्करा (देखिये दन्तरोग) का शोधन (लेखन) किया जाता है ॥२१॥

सूचियों का वर्णन—

वृत्ता गूढदृढाः पाशे तिस्रः सूच्योऽत्र सीवने।
मांसलानां प्रदेशानां त्र्यस्रा त्र्यङ्गुलमायता ।२०॥
अल्पमांसास्थिसन्धिस्थव्रणानां द्व्यङ्गुलायता।
व्रीहिवक्त्रा धनुर्वक्रा पक्वामाशयमर्मसु ॥२१॥
सा सार्धद्व्यङ्गुलां सर्ववृत्तास्ताश्चतुरङ्गुलाः।
'कूर्चो' वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबन्धनाः ॥२२
संयोज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातन कुट्टने।

व्याख्या—सीवन कर्म के लिये तीन प्रकार की सूचियाँ (सुइयाँ) होतीं हैं ये गोल होती हैं जैसी कपड़ा सीने की सूइयाँ, और पाश (धागा डालने का छिद्र) के स्थान पर गूढ (मोटी नहीं) तथा दृढ (जो टूटे नहीं) होती हैं। परन्तु मांसल प्रदेशमें सीवन करनेके लिये जो सूई होती है वह तीन अस्त्रियों वाली एवं तीन अंगुल लम्बी होती है। और थोड़े मांस वाले प्रदेश के तथा अस्थि पर के तथा सन्धि पर के व्रणों (घावों) को सीने के लिये दो अंगुल लम्बी सूई होती है।

पक्वाशय के, आमाशय के तथा अन्यान्य मर्म स्थलों सीवन कर्म के लिये जो सूई होती है वह जौ जैसे मुख वाली, धनुष जैसी टेढ़ी एवं २॥ अंगुल लम्बी होती है।

एक कूर्चक नामक शस्त्र होता है इस में सात अथवा आठ, गोल एवं चार अंगुल लम्बी सुइयाँ एक सुन्दर पीठ में स्थित एवं सुन्दर बन्धन से बन्धी रहती हैं यह कूर्चक (कूची जैसा) कहलाता है इस के द्वारा नीलिका पर, व्यङ्ग पर तथा इन्द्रलुप्त आदि पर रक्त स्रावणार्थ कुट्टन कर्म किया जाता है।

वक्तव्य—कई सुइयों के गुच्छे का नाम कूर्चक है। कुट्टन अर्थात् वार २ चुभाना। इसी के द्वारा गोदना गोदा जाता है। गोदना को पञ्जाब में "खुबना" कहते हैं। २०-२२॥

खज नामक शस्त्र का वर्णन—

अर्धाङ्गुलमुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः 'खजः' ॥२३॥
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक् ।

व्याख्या—एक खज (मथनी का सा) नामक शस्त्र होता है उस में आधा २ अंगुल के, गोल मुखों वाले आठ कण्टक होते हैं। इस को नासा स्रोतों में डाल कर और हाथों से मथनी के समान मन्थन करके नासा स्रोतों में से रक्त का स्रावण किया जाता है।

वक्तव्य—यह खज नामक शस्त्र एक छोटे आकार की मथानी का सा होता है जैसे दही में मथानी मथी जाती हैं वैसे ही इसे नासारन्ध्र में डालकर हाथों से मन्थन किया जाता है ॥२३॥

यूथिका, आरा तथा कर्णवेधन का वर्णन—

व्यधनं कर्णपालीनां यूथिकामुकुलाननम् ॥२४॥
'आरा'ऽर्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशा तथोर्ध्वतः ।
चतुरस्रा, तया विध्येच्छोफं पक्वामसंशये ॥२५॥
कर्णपालीं च बहलां बहलायाश्च शस्यते ।
'सूची' त्रिभागसुषिरा त्र्यङ्गुला कर्णवेधनी ॥२६॥

व्याख्या—एक यूथिकानामक शस्त्र होता है उसका मुख जुही की कली के सदृश होता है उसके द्वारा कर्णपालियों का वेधन किया जाता है। एक आरा नामक शस्त्र होता है उसका मुख आधा अंगुल परिमित गोल होता है और उसका प्रवेश भी आधा अंगुल परिमित किया जाता है और मुख के उपरि भाग में चार अस्त्रियां होती हैं उस शस्त्र के द्वारा शोथ का तब वेधन किया जाता है जब शोथ की पक्व एवं अपक्व अवस्था का संदेह होता है, और मोटी कर्णपालीका वेधन भी उसी से किया जाता है। और मोटी कर्णपाली का वेधन करने के लिये एक कर्णवेधनी सूची (सुई) भी होती है उसका तिहाई भाग खोखला होता है और वह तीन अंगुल लम्बी होती है।

वक्तव्य—रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्यते ।१। (सु. सू. अ. १६) अर्थात् रक्षा के लिये तथा भूषणों के लिए बालक-बालिकाओं के कर्ण वेधे जाते हैं और नाथ सम्प्रदाय में भी कान वेधे जाते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री गुरु गोरखनाथ कहे जाते हैं। कर्णवेध का वर्णन उत्तर तन्त्र अ० १ में देखिये ॥२४-२६॥

अनुशस्त्रों का वर्णन—

जलौकःक्षारदहनकाचो पलनखादयः ।
अलौहान्यनुशस्त्राणि, तान्येवं च विकल्पयेत् ॥२७॥
अपराण्यपि यन्त्रादीन्युपयोगं च यौगिकम् ।

व्याख्या—जोंक, क्षार, अग्नि, कांच, पाषाण (नोक वाले काँच एवं पत्थर) तथा नख आदि "अनुशस्त्र" कहे जाते हैं। और इसी प्रकार के अन्यान्य छेदन भेदन आदि में उपयुक्त बाँस की छाल, बबूल के कण्टक, गाजवान् आदिके खरदरे पत्र, समुद्र फेन एवं शुष्क गोबर आदि भी "अनुशस्त्र" कहे जाते हैं भलेही वे लोह के बने नहीं होते। उन सबका भी उक्त लोहमय शस्त्रों के समान उपयोग-प्रयोग किया जाता है और इसी प्रकार अन्यान्य यंत्रों एवं शस्त्रों का यथायोग्य आवश्यकतानुसार उपयोग करना चाहिये ॥२७॥

शस्त्र कर्मों का वर्णन—

उत्पाट्यपाट्यसीव्यैष्यलेख्यप्रच्छानकुट्टनम् ॥२८॥
छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः ।

व्याख्या—शस्त्रों एवं अनुशस्त्रों के कर्म—१. उत्पाट्य—उत्पाटन (शस्त्र की नोक धँसाकर शल्य निकालना), २. पाट्य—पाटन (फाड़ना—चीरना), ३. सीव्य—सीवन (सीना), ४. एष्य—एषण (चीर कर व्रण गति को खोजना), ५. लेख्य—लेखन (छीलना) ६. प्रच्छान (पछना), ७. कुट्टन (गोदना) ८. छेद्य—छेदन (काटना), ९. भेद्य-भेदन (फोड़ना-फाड़ना), १०. व्यध—(वेधन-बींधना), ११. मन्थ—(मन्थन—मथना), १२. ग्रह— (चूसना—खींचना यथा जोंक) तथा १३. दाह-जलाना (जैसे क्षार एवं अग्नि से)।

वक्तव्य—उक्त १३ कर्म शस्त्रों एवं अनुशस्त्रों द्वारा किये जाते हैं। सु. सू. अ. ५ में आठ और च. चि. अ. २५ में छ कर्म लिखे हैं गम्भीर विचार करने पर संख्या मात्र का भेद है ॥२८॥

शस्त्रों के दोष—

कुण्ठखण्डतनुस्थूलह्रस्वदीर्घत्ववक्रताः ॥२९॥
शस्त्राणां खरधारत्वमष्टौ दोषाः प्रकीर्तिताः ।

व्याख्या—शस्त्रों के आठ दोष होते हैं—१. कुण्ठता (खुंढापन तीक्ष्ण न होना), २. खण्डता (टूटा हुआ होना या कर्म के समय टूटने वाला), ३. तनुता (छोटा-पन—पतलापन), ४. स्थूलता (मोटापन—बड़ापन), ५. ह्रस्वता (लम्बाई में न्यूनता), ६. दीर्घता (अधिक लम्बापन), ७. वक्रता (टेढ़ापन) तथा ८. खरधारत्व (धार में खरदरापन)।

वक्तव्य—अतो विपरीतगुण माददीत, अन्यत्र करपत्रात् तद् हि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम् (सु. सू. अ. ८ पा. ३)

अर्थात् उक्त दोषों से रहित शस्त्र लेना चाहिये परन्तु करपत्र (आरी) के बिना, क्योंकि वह खरधार ही होता है उससे अस्थि का छेदन किया जाता है ॥२९॥

शस्त्रग्रहण विधि—

छेदभेदनलेख्यार्थं शस्त्रं वृन्तफलान्तरे ॥३०॥
तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैर्गृह्णीयात्सुसमाहितः ।
विस्रावणानि वृन्ताग्रे तर्जन्यङ्गुष्ठकेन च ॥३१॥
तलप्रच्छन्नवृन्ताग्रं ग्राह्यं व्रीहिमुखं मुखे ।
मूलेष्वाहरणार्थानि क्रियासौकर्यतोऽपरम् ॥३२॥

व्याख्या—छेदन, भेदन एवं लेखन कर्म करते समय शस्त्र को वृन्त (मूठ—बीन्डा) तथा फूल के मध्य भाग (संयोगस्थल) पर तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों तथा अंगूठा से सावधान होकर पकड़ना चाहिये ।

विस्रावण कर्म करते समय—शस्त्र को वृन्त के अग्र-भाग से तर्जनी अंगुली तथा अंगूठा से पकड़ना चाहिए । व्रीहिमुख शस्त्र को मुख पर से तर्जनी अंगुली तथा अंगूठा से पकड़ कर और उसके वृन्त को हाथ के तले में ढाँक कर कर्म करना चाहिये । आहरण के लिये शस्त्र को मूल भाग (वृन्त) में पकड़ना चाहिये और अन्यान्य शस्त्रों को वहाँ से पकड़ना चाहिये जहाँ से पकड़ने पर कर्म करने में सरलता हो ।

वक्तव्य—तेषां पायना त्रिविधा क्षार-उदक-तैलेषु । तत्र क्षारपायितं शरशल्य-अस्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदन भेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधन स्नायुच्छेदनेषु ।१२। अर्थात्—शस्त्रों की पायना (पान-पाण चढ़ाना) तीन प्रकार की होती है—१—क्षार के जल में, २—निर्मल जलमें तथा ३—तैल में । शस्त्रों को तपाकर उक्त किसी एक द्रव में डुबा कर शीतल करना "पायना" या पान चढ़ाना कहलाता है । तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा, धारा संस्थापनार्थं शाल्मलीफलकम् ॥ १३ ॥ अर्थात्—शस्त्रों को तीक्ष्ण करने के लिए चिकनी एवं उरद कीसी काली शिला—सिल्ली होनी चाहिए । धार बैठाने के लिये सेमल की पाटी ।

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ।
१४ । सु. सू. अ ८ ।

अर्थात् इस प्रकार जब शस्त्र रोम काटनेवाला हो जाय तब उस से छेदन भेदन आदि कर्म करना चाहिए ॥३०-३२॥

शस्त्रकोष का वर्णन—

स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः ।
क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥३३॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः ।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसञ्चयः ॥३४॥

व्याख्या—शस्त्र कोश (शस्त्र रखने की पेटी) का विस्तार (चौड़ाई) ९ अंगुल और लम्बाई १२ अंगुल हो, वह घन हो जिससे शस्त्र हिलें नहीं और वह रेशमी कपड़ा का, पत्रों का, ऊनी कपड़ा का, कौशेय (कौथा) वस्त्र का, दुकूल वस्त्र का अथवा कोमल चमड़ा का बनाया गया हो, उस में पेटी लगी हो, भली भांति सिया गया हो, उस में प्रत्येक शस्त्र दूर २ ऊन से धरा रहे जिस से परस्पर टकरा न सके और उनकी धार पर मोर्चा न लग सके । इस कोश में शस्त्रों का अच्छा सञ्चय—संग्रह रहना चाहिये और कोश का मुख बन्द रहे तथा शलाका लगी रहे ॥३३,३४॥

जोंकों का वर्णन—

'जलौकसस्तु' सुखिनां रक्तस्रावाय योजयेत् ।
दुष्टाम्बुमत्स्यभेकाहिशवकोथमलोद्भवाः ॥३५॥
रक्ताः श्वेता भृशं कृष्णाश्चपलाः स्थूलपिच्छिलाः ।
इन्द्रायुधविचित्रोर्ध्वराजयो रोमशाश्च ताः ॥३६॥
सविषा वर्जयेत् ताभिः कण्डूपाकज्वरभ्रमाः ।
विषपित्तास्रनुत्कार्यं तत्र शुद्धाम्बुजाः पुनः ॥३७॥
निर्विषाः शैवलश्यावा वृत्ता नीलोर्ध्वराजयः ।
कषायपृष्ठास्तन्वङ्ग्यः किञ्चित्पीतोदराश्च याः ॥३८॥

व्याख्या—सुखियों (सुकुमारों) के रक्त स्रावण के लिये जोंकों का प्रयोग करे । जो जोंकें—दूषित जलमें अथवा मछली, मेंडक अथवा सर्प के शवों के सड़न अथवा उन के मूत्र एवं पुरीष में मिश्रित कीचड़ में उत्पन्न होती हैं तथा जो लाल श्वेत अत्यन्त काली चपल (चञ्चल), मोटी (बड़ी) तथा चिपचिपी होती हैं तथा जिनकी पीठपर इन्द्र-धनुष की सी विचित्र रेखाएँ होती हैं तथा जिन पर रोम होते हैं वे सब विषैली होती हैं अतः उन का रक्त स्रावण में प्रयोग न करे ।

उस का प्रयोग करने से—कण्डू, पाक, ज्वर तथा भ्रम आदि उपद्रव हो जाते हैं, इस दशा में विष नाशक पित्त शामक तथा रक्त शोधक चिकित्सा करे ।

और जो जोंक शुद्ध जल में उत्पन्न होती हैं वे निर्विष होती हैं । उन का वर्ण सिवार के सदृश श्याव (श्यामल साँवला) शरीर गोल (लम्बा परन्तु केचुवा का सा गोल) तथा उस पर नीली रेखाएँ होती हैं और उन की पीठ का वर्ण वट वृक्ष की हरी छाल का सा होता है, शरीर तनु—लम्बा एवं पतला होता है और उदर का वर्ण कुछ कुछ पीला होता है ॥३५-३८॥

निषिद्ध जोंकों का वर्णन—

ता अप्यसम्यग्वमनात् प्रततं च निपातनात् ।
सीदन्तीः सलिलं प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत् ॥३९॥

व्याख्या—वे निर्विष जोंकें भी यदि रक्तपान के अनन्तर भली भाँति न निचोड़ी जाने के कारण अथवा रक्त चूषणार्थ कई बार लगाई जाने के कारण पूर्ववत् जल में डाली जाने पर शिथिल बनी रहें अथवा रक्तमद (इन्द्रमद) के कारण स्वस्थवत् चेष्टा न करें तो उनका परित्याग कर देना चाहिये । फेंक देना चाहिये) ।

वक्तव्य – विशेष देखिये सु. सू. अ. १३। भारत में जोंक पालने एवं लगाने वाले "जोकयारा" कहे जाते हैं वे जोंकों को शुद्ध जल में से कच्चे चमड़ा द्वारा पकड़ते हैं अथवा पर्वतीय भूमि पर घूमती जोंकों को पकड़ते हैं और मिट्टी के बड़े से भाण्ड में ताला या झील का जल तथा थोड़ा सा कीचड़ डाल कर उसमें जोंकों को धर देते हैं और ५-७ दिन पर भाण्ड एव जल बदलते रहते हैं ॥३९॥

जोंक रखने तथा लगाने की विधि—

अथेतरा निशाकल्कयुक्तेऽम्भसि परिप्लुताः ।
अवन्तिसोमे तक्रे वा पुनश्चाश्वासिता जले ॥४०॥
लागयेद्घृतमृत्स्तन्य-रक्त-शस्त्र निपातनैः ।
पिबन्तीरुन्नतस्कन्धाश्छादयेन्मृदुवाससा ॥४१॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से परीक्षा करने के पश्चात् जो निर्विष हो अथवा परित्याग योग्य न हों उनको हल्दी के कल्क से मिश्रित जल से नहलाकर अथवा काञ्जी से अथवा तक्र से नहलाकर पुनः थोड़े समय के लिये जल में रख कर तदनन्तर पीडित अवयव पर लगावे। यदि स्वयं न लगे तो वहाँ थोड़ा घृत, मिट्टी, स्त्री का दूध अथवा रक्त लगा देवे अथवा शस्त्र द्वारा पच्छ लगा देवे इस प्रकार वह लग जाती है। जब वह अपने स्कन्ध को ऊँचा करके चिपट जाय तब समझे कि रक्त पान कर रही है और उस समय उसे कोमल कपड़े के टुकड़े से ढंक देना चाहिये ॥४०-४१॥

दूषित रक्त ग्रहण का दृष्टान्त—

सम्पृक्ताद्दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम् ।
आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव ॥४२॥

व्याख्या—दुष्ट एवं शुद्ध रक्त के मिश्रण में से जोंक पहिले दुष्ट रक्त को चूसती है जैसे दूध एवं जल के मिश्रण में से हंस नामक पक्षी पहिले दूध को ग्रहण कर लेता है ।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है—

गुल्माऽर्शोविद्रधीन् कुष्ठवातरक्तगलामयान् ।
नेत्ररुग्विषवीसर्पान् शमयन्ति जलौकसः ॥

अर्थात्—जोंक लगा कर रक्त निकालने से गुल्म आदि रोग शान्त हो जाते हैं । यह कहावत है कि जोंक अशुद्ध रक्त का ही पान करती है शुद्ध का नहीं ॥४२॥

लगाई गई जोंक छुड़ाने का वर्णन—

दंशस्य तोदे कण्ड्वां वा मोक्षयेद् वामयेच्च ताम् ।
पटुतैलाक्तवदनां श्लक्ष्णकण्डनरूषिताम् ॥४३॥

व्याख्या—जब दंश में जहाँ जोंक लगी हो वहाँ सूई के चुभने कीसी व्यथा हो अथवा कण्डू हो तब उसे छुड़ा देना चाहिये (उस समय वह शुद्ध रक्त चूस रही होती है) यदि वह स्वयं अलग न हो तो वहाँ लवण का चूर्ण बुरक देवे अथवा तैल लगा देवे इस प्रकार वह अलग हो जाती है । अलग हो जाने पर उसके शरीर पर चांवलों का चूर्ण लगा देवे और बाएँ हाथ से पूँछ की ओर से पकड़ कर और दाहिने हाथ की अंगुली एवं अंगूठा का दबाव देकर धीरे-धीरे रक्त निचोड़ देवे जब तक सम्यक् वमन के निम्नलिखित लक्षण दिखाई दें ॥४३॥

जोंक का रक्तमद—

रक्षन् रक्तमदाद्भूयः सप्ताहं ता न पातयेत् ।

व्याख्या—सम्यक् वमन न होने से "रक्तमद" नामक असाध्य रोग हो जाता है जिससे जोंक मर जाती है। एक बार लगाने के पश्चात् सात दिन तक उस जोंक को पुनः नहीं लगाना चाहिये ।

रक्त वमन के संयोग, अतियोग तथा मिथ्या योग—

पूर्ववत् पटुता दार्ढ्यं सम्यग्वान्ते जलौकसाम् ॥४४॥
क्लमोऽतियोगान्मृत्युर्वा दुर्वान्ते स्तब्धता मदः ।

व्याख्या—सम्यक्-वान्ता का लक्षण—जोंक का सम्यक् वमन हो जाने पर उस में पूर्ववत् पटुता आ जाती है अर्थात् जल में डाल देने पर खाने का इच्छा से इधर उधर घूमने लगती है तथा सबल हो जाती है । अति वमन होने पर—जोंक को क्लम (ग्लानि) होती है अथवा मर जाती है । वमन का मिथ्या योग होने पर—स्तब्धता होती है अर्थात् इधर उधर नहीं घूमती अथवा रक्तमद हो जाता है, जिस से वह मर जाती है ।

वक्तव्य—यथा सम्भव जोंक को रक्तमद से बचाना चाहिये । दुर्वान्ता को पुनः वमन करा देना अर्थात् निचोड़ कर उसके उदर से रक्त निकाल देना चाहिये । देखा जाता है कि जो रक्त पीती २ फूल कर अंगूठा कीसी मोटी हो जाती है और पेट भर जाने पर स्वतः छूट जाती है परन्तु यदि न छूटे तो उसके मुख पर श्लोक ४३ के अनुसार छुड़ाने

का उपाय करना चाहिये अन्यथा उसकी मृत्यु हो सकती है ॥ ४४ ॥

जोंकों का पालन—

अन्यत्रान्यत्र ताः स्थाप्या घटे मृत्स्नाम्बुगर्भिणि ॥४५॥
लालादिकोथनाशार्थं, सविषाः स्युस्तदन्वयात् ।

व्याख्या—जोंकों को पकड़ कर—मिट्टी एवं शुद्ध जल अथवा तालाब के जल वाले भिन्न २ भाण्डों में रखना चाहिये अथवा बदलते रहना चाहिये जिससे उन में जोंकों के लालास्राव से सड़न की उत्पत्ति न हो; क्यों कि लालास्राव के संयोग से वे विषैली हो जाती हैं ॥४५॥

जोंक का पश्चात्कर्म—

अशुद्धौ स्रावयेद् दंशान् हरिद्रागुडमाक्षिकैः ॥४६॥
शतधौताज्यपिचवस्ततो लेपाश्च शीतलाः ।

व्याख्या—जोंक छूट जाने पर भी रक्त बहता है यदि वह रक्त अशुद्ध हो तो बहने देना चाहिये, यही नहीं अपितु हल्दी, गुड़ एवं मधु लगाकर बहने में सहायता करनी चाहिये जिस से वह भली भाँति बह जाय। यदि शुद्ध रक्त बह रहा हो तो शतधौत घृत का पिचु रख देना चाहिये तथापि रक्त न रुके तो शीतल द्रव्यों का लेप करना चाहिये । इस प्रकार रक्त रुक जाता है ।

वक्तव्य—रक्त रोकने के लिये—शीतल जल का सेचन, व्रण का बन्धन तथा लोध एवं गेरू आदि कषाय रसवाले द्रव्यों का अवचूलन आदि रक्तरोधक उपाय करना चाहिये । प्रायः देखा गया है कि जोंक छूट जाने पर रक्त स्वतः रुक जाता है कुछ समय के लिये बहता भी है तो बहुत थोड़ा २, उस से किसी प्रकार की हानि नहीं होती ॥४६॥

रक्तस्रावण का फल एवं पुनः रक्तस्रावण—

दुष्टरक्तापगमनात्सद्यो रागरुजां शमः ॥४७॥
अशुद्धं चलितं स्थानात्स्थितं रक्तं व्रणाशये ।
व्यम्लीभवेत्पर्युषितं तस्मात्तत्स्रावयेत्पुनः ॥४८॥

व्याख्या—दूषित रक्त निकल जाने पर रोगी की वेदनाओं की तत्काल शान्ति हो जाती है। और अशुद्ध रक्त शरीर भर से या रोगस्थल से विचलित हो कर, जोंक के मुख लगने के व्रण में आकर रुक जाता है और वहाँ बासी होकर अम्ल होने लगता है इस लिये तीसरे दिन पुनः वहीं जोंक लगा कर रक्त स्रावण करना चाहिये ।

वक्तव्य—जोंक दो बार लगाई जाती है, २–३ दिन का अन्तर देकर । लोकभाषा में कहा जाता है कि प्रथम बार मीठा रक्त और दूसरी बार खट्टा रक्त निकालना चाहिए इसी वाक्य को ही वाग्भट ने श्लोकबद्ध किया है। देखा गया है कि जो व्रण महीनों तक मल्हमों का प्रयोग करने पर भी शान्त नहीं हुए थे वे जोंक द्वारा रक्त निकाल देने पर दिनों में शान्त हो गये । खेद है कि तथाकथित बड़े २ चिकित्सक इस ओर ध्यान नहीं देते या बहुत ही थोड़ा ध्यान देते हैं । यह परमोपयोगी विज्ञान अशिक्षित चिकित्सकों के पास आज कहीं २ सुरक्षित है भगवान् उन अशिक्षितों का भला करे और रक्षा भी । इसी प्रकार सिंगी एवं तुम्बी का व्यवहार भी आयुर्वेद के वे ही सुपूत करते हैं भले ही आज का सभ्य कहलानेवाला मानव उनका उचित सत्कार नहीं करता ॥४७,४८।

अलाबू घटिका एवं शृंग का वर्णन—

युञ्ज्यान्नालाबुघटिका रक्ते पित्तेन दूषिते ।
तासामनलसंयोगाद् युञ्ज्यात्तु कफवायुना ॥४९॥
कफेन दुष्टं रुधिरं न शृङ्गेण विनिर्हरेत् ।

व्याख्या—पित्त से दूषित रक्त का स्रावण करने के लिये—अलाबुघटिका (तुम्बी) का प्रयोग न करे क्योंकि उस में अग्नि का संयोग (दीपक का प्रयोग) होता है परन्तु कफ एवं वायु से दूषित रक्त में उस का प्रयोग करना चाहिये । कफ से दूषित रक्तको शृंग (सिंगी) से निकालना चाहिये क्यों कि कफ के कारण रक्त जमा हुआ रहता है । परन्तु वात एवं पित्त से दूषित रक्त को शृंग से निकालना चाहिये ।

वक्तव्य—अलाबु घटिका अर्थात् तुम्बी एवं शृंग से भी रक्त का स्रावण किया जाता है देखिए अ० २५ के श्लो० २४–२५ का वक्तव्य । पच्छ लगा कर यदि तुम्बी अथवा शृङ्ग का प्रयोग किया जाता है तो रक्त का अवसेचन होता है और यदि पच्छ नहीं लगाया जाता तो वायु का आकर्षण होता है ॥४९॥

प्रच्छान का वर्णन—

गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् ।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥५१॥
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः ।
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरन् ॥५२॥
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः ।
हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि सिराव्यधैः ॥५३॥

व्याख्या—पच्छ लगाने की विधि—यदि शाखाओं में पच्छ लगा कर रक्त निकालना हो तो जहाँ पच्छ लगाना हो उससे ८-१० अंगुल ऊपर गात्र को रज्जु (रस्सी) अथवा पट्टी से कस कर बाँध कर पच्छ लगाना चाहिये परन्तु स्नायु मर्म, सन्धि मर्म तथा अस्थि मर्म पर पच्छ नहीं लगाना चाहिये—इन को बचा कर लगाना

चाहिये। पच्छ लगाने में—शस्त्र द्वारा नीचे से ऊपर की ओर पद करने चाहिये और वे पद न बहुत गहरे हों, न सघन—समीप २ हों, न तिरछे हों और न पद पर पद किया जाय।

एक देशीय दूषित रक्त की प्रच्छान (पच्छ) द्वारा, ग्रन्थि एवं अर्बुद आदि में ग्रथित रक्त को जोंकों द्वारा, स्वाप युक्त रक्त को शृंग द्वारा और सर्वशरीरव्यापी दूषित रक्त को सिरावेध द्वारा निकालना चाहिये ॥५१-५३॥

प्रच्छान आदि का विकल्प—

प्रच्छानं पिण्डिते वा स्याद् अवगाढे जलौकसः।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं सिरैव व्यापकेऽसृजि ॥५४॥
वातादिधाम वा शृङ्गजलौकोऽलाबुभिः क्रमात्।

व्याख्या—अथवा पिण्डित (घनीभूत) रक्त में प्रच्छान का, गम्भीर रक्त में जोंक का, त्वचागत रक्त में अलाबु घटी का अथ च शृंग का और सर्वशरीरव्यापी दूषित रक्त में सिरावेध का प्रयोग करे।

अथवा—वात दूषित रक्त का शृंग द्वारा, पित्त दूषित रक्त का जोंक द्वारा और कफ दूषित रक्त का अलाबु द्वारा स्रावण करना चाहिये

वक्तव्य—प्रच्छान दो प्रकार से किया जाता है १—वह जिसमें खरोंच के रूप में नीचे की ओर से ऊपर की ओर को पद किये जाते हैं और २—वह जिसमें उस्तुरा आदि तीक्ष्ण शस्त्र का आघात किया जाता है। प्रच्छान कर्म में खरोंच अथवा शस्त्राघात उतना ही किया जाता है जिससे रक्त सिमसिमाने लगता है, जैसे क्षौर कर्म में कभी कभी उस्तुरा लगने से रक्त सिमसिमाता है। ५४॥

रक्त स्रावण में उपद्रव शांति का उपाय—

स्रुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः ॥५५॥
सतोदकण्डूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत् ॥५६॥

व्याख्या—रक्त स्रावण के पश्चात् कभी कभी रक्त को रोकने के लिये शीतल लेप अथवा शीतल सेचन आदि उपाय करने पर वायु का कोप हो जाने के कारण वहाँ व्यथा एवं कण्डू से युक्त शोथ हो जाता है इस दशा में वहाँ कोसे-कोसे घृत का सेचन करे।

वक्तव्य—सु. सू. अ. ५ के कथनानुसार—

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन ॥४१॥

अर्थात् शस्त्राघात जनित वेदना मुलेठी के चूर्ण से मिश्रित कोसे घृत के सेचन से शान्त हो जाती है ॥५५-५६॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः।

अथातः सिराव्यधविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब सिरावेध विधि का वर्णन करेंगे। इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च० सू० अ० २४ में, सु० सू० अ० १४ में तथा अ० सं० सू० अ० ३६ में देखिये। सिरावेध का वर्णन सु० शा० अ० ८ में देखिये।

रक्त का वर्णन—

मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम्।
पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम् ॥१॥
लोहितं प्रवदेत्, शुद्धं, तनोस्तेनैव च स्थितिः।

व्याख्या—मधुर रस युक्त, कुछ लवण रस युक्त, सम-शीतोष्ण, संघात रहित (ग्रन्थि रहित) अर्थात् द्रव तथा कमलकी पंखुरी, वीर बहूटी एवं अत्यन्त प्रतप्त सोना के सदृश वर्ण वाला तथा भेड़ एवं खरगोश के रक्त का सा लाल लोहित (रक्त) धातु शुद्ध होता है (इससे विपरीत अशुद्ध होता है)। और इसी शुद्ध रक्त के कारण शरीर की (जीवन एवं स्वास्थ्य की) स्थिति रहती है (अन्यथा मृत्यु हो जाती है या स्वास्थ्य बिगड़ जाता है)।

वक्तव्य—मानव आदि प्राणियों के शरीर में जो लाल वर्ण का द्रव पाया जाता है वही रक्त नामक धातु है। इस द्रव को लाल होने से रक्त, उस में लोह, धातु रहने से "लोहित" उस के गतिशील होने से शोणित, क्षत होने पर प्रादुर्भाव होने से क्षतज और व्यान वायु द्वारा इधर उधर क्षिप्त होने से अस्र या असृक् कहते हैं। यद्यपि सोना पीला होता है परन्तु तपाने पर लाल हो जाता है अतः च० सू० अ० २४ में कहा है कि—

तपनीय-इन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥२२॥

मधुर का अर्थ स्वादु है अतः शुद्ध रक्त को कुत्ता आदि भी चाटते हैं अशुद्ध को नहीं। रक्त में थोड़ा लवण घुला रहता है वही रक्त में से पृथक् होकर मूत्र एवं स्वेदन के साथ बाहिर निकल जाता है। अशीतोष्ण—रक्त का ताप मान १०० डिगरी (फायरन हाइट) होता है यह मान स्वास्थ्य का सूचक है। रक्त का महत्त्व बतलाते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने अ० १४ में कहा है कि—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेण एव धार्यते।
तस्मात् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥४४॥

तथा इन्द्रगोपप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् इति ।२२। ते एते क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते ॥१२॥

रक्त दुष्टि एवं रक्तज रोग—

तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते कुरुते ततः ॥२॥
विसर्पविद्रधिप्लीहगुल्माग्निसदनज्वरान् ।
मुखनेत्रशिरोरोगमदतृड्लवणास्यता ॥३॥
कुष्ठवातास्रपित्तास्रकट्वम्लोद्गिरणभ्रमान् ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ॥४॥
सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति ते च रक्तप्रकोपजाः ।

व्याख्या—वह रक्त प्रायः पित्त एवं कफ को बढ़ाने वाले आहार विहारों से दूषित हो जाता है और दूषित होने पर वह—विसर्प, विद्रधि, प्लीहविकार, गुल्म, मन्दाग्नि, ज्वर, मुखरोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, मद, तृषा, मुखमें लवण रस की प्रतीति, कुष्ट, वातरक्त, पित्तरक्त (रक्तपित्त), कड़ुवे एवं खट्टे उद्गार, छर्दि एवं भ्रमरोग को उत्पन्न करता है।

सामान्यतः जो रोग शीत एवं उष्ण तथा स्निग्ध एवं रूक्ष उपचारों द्वारा उचित चिकित्सा करने पर भी और साध्य होने पर भी सिद्ध (शान्त) नहीं होते वे सब "रक्तज" होते हैं।

वक्तव्य—इन रक्तज रोगों में रक्त स्रावण आदि एवं रक्त शोधक आदि उचित उपचार करे ॥२—४॥

शिरावेध का वर्णन—

तेषु स्रावयुतं रक्तमुद्रिक्तं व्यधयेत्सिराम् ॥५॥
नतूनषोडशातीतसप्तत्यब्दस्रुतास्रजाम् ।
अस्निग्धास्वेदितात्यर्थस्वेदितानिलरोगिणाम् ॥६॥
गर्भिणीसूतिकाजीर्णपित्तास्रश्वासकासिनाम् ।
अतिसारोदरच्छर्दिपाण्डुसर्वाङ्गशोफिनाम् ॥७॥
स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पञ्चसु कर्मसु ।
नायन्त्रितां सिरां विध्येन्न तिर्यङ्नाप्यनुत्थिताम् ।८।
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्रात्ययिकाद्गदात् ।

व्याख्या—उक्त सब रोगों में विकृत रक्त को निकालने के लिये निम्नलिखित विधि से सिरा का वेध करे। परन्तु १६ वर्ष की वयस् के पूर्व और ७० वर्ष की वयस् के पश्चात् सिरावेध न करे और जिनका रक्तक्षत आदि अन्यान्य कारणों से निकल चुका हो और जिनको स्नेहन और स्वेदन नहीं किया गया हो अथवा अत्यन्त स्वेदन हो चुका हो और वात रोगी, गर्भवती, प्रसूता और अजीर्ण, रक्तपित्त, श्वास, कास, अतिसार, उदररोग, छर्दि, पाण्डुरोग तथा सर्वाङ्ग शोथ के रोगियों का और स्नेहपान करते ही तथा पञ्चकर्म के अनन्तर सिरा वेध नहीं करना चाहिये। और यन्त्रण किये बिना, टेढी सिरा का और जो उभरी नहीं हो उसका वेधन नहीं करना चाहिये।

अत्यन्तशीत काल में, अत्यन्त उष्ण काल में तथा जब अत्यन्त वायु चलता हो और मेघ छाये हों तब भी सिरा वेध नहीं करना चाहिये। परन्तु यदि अत्यन्त आवश्यकता हो तो इन सब दशाओं में भी सिरावेध कर डालना चाहिये।

वक्तव्य—यन्त्रण का वर्णन श्लोक १८-२२ में देखिये ।५-८।

रोगविशेष में सिरा वेध—

शिरोनेत्रविकारेषु ललाट्यां मोक्षयेत्सिराम् ॥९॥
अपाङ्ग्यामुपनास्यां वा कर्णरोगेषु कर्णजाम् ।
नासारोगेषु नासाग्रे स्थितां नासाललाटयोः । १० ।
पीनसे मुखरोगेषु जिह्वौष्ठहनुतालुगाः ।
जत्रूर्ध्वग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशङ्खशिरःश्रिताः ।११॥
उरोऽपाङ्गललाटस्था उन्मादेऽपस्मृतौ पुनः ।
हनुसन्धौ समस्ते वा सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥१२॥
विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरे ।
तृतीयकेंऽसयोर्मध्ये स्कन्धस्याधश्चतुर्थके ।१३॥
प्रवाहिकायां शूलिन्यां श्रोणितो द्व्यङ्गुले स्थिताम् ।
शुक्रमेढ्रामये मेढ्रे ऊरुगां गलगण्डयोः । १४॥
गृध्रस्यां जानुनोऽधस्तादूर्ध्वं वा चतुरङ्गुले ।
इन्द्रबस्तेरधोऽपच्यां द्व्यङ्गुले चतुरङ्गुले ॥१५॥
ऊर्ध्वं गुल्फस्य सक्थ्यर्तौ, तथा क्रोष्टुकशीर्षके ।
पाददाहे खुडे हर्षे विपाद्यां वातकण्टके ॥१६॥
चिप्पे च द्व्यङ्गुले विध्येदुपरि क्षिप्रमर्मणः ।
गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम् यथोक्तानामदर्शने । १७॥
मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत् सिरान् ।

व्याख्या—शिरोरोग तथा नेत्र रोगों में ललाटी (माथा-भाल पर की) सिरा का अथवा अपाङ्गी (अपाङ्ग -नेत्र के बाह्य कोण की) सिरा का अथवा उपनास्या (नासा के समीप की) सिरा का वेध करे।

कर्णरोगों में कर्ण के समीप की सिरा का वेध करे और नासारोगों में (गन्ध का ज्ञान न होने पर) नासा के अग्रभाग की सिरा का वेध करे। प्रतिश्याय में नासा एवं ललाट की सिरा का वध करे।

मुख रोगों में—जीभ, ओठ, हनु, अथवा तालु की सिरा का वेध करे, जत्रु के ऊपर की ग्रन्थियों में—ग्रीवा, कर्ण, शंख तथा शिर की सिरा का वेध करे।

उन्माद रोग में—उरस् अपाङ्ग अथवा ललाट की सिरा का वेध करे और अपस्मार में हनु अथवा भ्रू के मध्य की सिरा का वेध करे।

विद्रधि तथा पार्श्व शूल में—पार्श्वगता, कक्षागता तथा स्तनमध्यगता सिरा का वेध करे।

तृतीयक ज्वर में—अंसफलकों के मध्य में सिरा का वेध करे और चतुर्थक ज्वर में स्कन्ध सन्धि के अधोभाग में किसी एक शूलयुक्तप्रवाहिका में—श्रोणि के इधर उधर दो अंगुल पर सिरावेध करे।

परिवर्त्तिका, उपदंश तथा शूक दोष आदि शिश्न गत रोगों में तथा शुक्र दोषों में मेहन (शिश्न) की सिरा का वेध करे।

गलगण्ड रोग में—ऊरुमूलगता शिरा का वेध करे।

गृध्रसी रोग में—जानु सन्धि के चार अंगुल नीचे अथवा ऊपर ऊपर सिरावेध करे।

अपची (गण्ड माला) रोग में—इन्द्र वस्ति नामक मर्म के दो अंगुल नीचे सिरावेध करे।

खंजता एवं पंगुता आदि ऊरुस्थिगत वातज रोगों में तथा क्रोष्टुशीर्षक रोग में गुल्फ सन्धि के चार अंगुल ऊपर सिरावेध करे।

पाद दाह, खुड रोग (वात रक्त), पादहर्ष, विपादिका वात कण्टक तथा चिप्प नामक रोगों में क्षिप्र नामक मर्म के दो अंगुल ऊपर सिरावेध करे।

विश्वाची नामक रोग में—गृध्रसी के समान अर्थात् कूर्पर सन्धि के चार अंगुल नीचे अथवा ऊपर सिरावेध करे।

उक्त रोगों में उक्त सिराएँ यदि दिखाई न दें अर्थात् उत्थित न हों तो समीप के किसी मर्म रहित अवयव पर किसी अन्य सिरा का वेध कर देना चाहिये।

वक्तव्य—अष्टांग संग्रह सू० अ० ३६ में तथा सु० शा० अ० ८ में केवल इतना ही लिखा है कि—गृध्रसीमिव विश्वाच्याम्। परन्तु "एतेन इतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ" के अनुसार उक्त व्याख्या की गई है। इस प्रसंग में अ० सं० एवं सु० शा० में कुछ अधिक पाठ हैं यथा—विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकाऽनामिकयोः मध्ये वा (सु०)। एवमेव दक्षिणबाहौ यकृदाल्ये (सु०) कफोदरे च। एतामेव च कासश्वासयोः अपि आदिशन्ति। अर्थात्—प्लीह विकृति में वाम बाहु की कूर्पर सन्धि के भीतर की ओर की अथवा कनिष्ठा एवं अनामिका नामक अंगुलियों के मध्य की सिरा का वेध करे और यकृत्–विकार में दक्षिण बाहु की उक्त सिरा का वेध करे और कास एवं श्वास में भी इसी सिरा का वेध करना चाहिये। और बाहु शोष एवं अवबाहुक नामक रोगों में अंसफलकों के मध्य की सिरा का वेध करे॥९-१७॥

सिरायन्त्रण की विधि—

अथ 'स्निग्धतनुः' सज्ज सर्वोपकरणो बली ॥१८॥
कृतस्वस्त्ययनः स्निग्धरसान्नप्रतिभोजितः।
अग्नितापातपस्विन्नो जानूच्चासनसंस्थितः ॥१९॥
मृदुपट्टात्तकेशान्तो जानुस्थापितकूर्परः।
मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्यां मन्ये गाढं निपीडयेत् ॥२०॥
दन्तप्रपीडनोत्कासगण्डाध्मानानि चाचरेत्।
पृष्ठतो यन्त्रयेच्चैनं वस्त्रमावेष्टयन्नरः ॥२१॥
कन्धरायां परिक्षिप्य न्यस्यान्तर्वामतर्जनीम्।
एषोऽन्तर्मुखवर्ज्यानां सिराणां यन्त्रणे विधिः ॥२२॥

व्याख्या—सिरावेध के पूर्व-विधिपूर्वक स्नेहन करे, सिरावेध के लिये रज्जु, पट्टी, कुठारिका आदि शस्त्र तथा रक्त रोधक एवं रक्त स्रावक आदि तत्कालोपयोगी उपकरण तैयार करे, रोगी सिरावेध के योग्य बलशाली हो, उस समय स्वस्ति वाचन आदि माङ्गलिक कार्य करे तथा रोगी दोष शामक एवं स्नेह युक्त मांस रस के साथ भोजन करे तथा अग्नितापक अथवा आतप (धूप) से स्वेदन करे और जानु भर ऊँचे आसन पर बैठ जावे, उस के केश कोमल पट्टी से बाँध दिये जायँ, उसके दोनों कूर्परों (कोहनियों) को दोनों जानुओं पर स्थापित किया जाय और दोनों हाथों में कपड़े के टुकड़े देकर, मुट्ठियाँ बाँध कर दोनों मन्याओं (ग्रीवा के दोनों ओर की धमनियों) पर रख कर दबाव दिया जाय। इस समय रोगी दन्तों पर दन्तों का दबाव देवे, खाँसने का प्रयत्न करे और गालों को फुलावे।

इसी समय परिचारक पीठ की ओर खड़ा होकर मुट्ठियों पर से कपड़ा लपेटता हुआ, अपने बाएँ हाथ की अंगुलियों को कपड़ा के दोनों भागों के मध्य में धर कर ग्रीवा पर वेष्टन अर्थात् यन्त्रण करे।

यह मुख के भीतर की सिराओं के अतिरिक्त शिर की अन्य सब सिराओं को वेधनार्थ उत्थित करने के लिये यन्त्रण की विधि है।

वक्तव्य—इस प्रकार यन्त्रण करने पर माथा एवं शंख आदिपर की सब सिरा उत्थित हो जाती हैं—उभर आती हैं यन्त्रण इतना ही कसा जाता है जिससे सिराएं उभर आएँ परन्तु श्वास प्रश्वास में रुकावट न हो, इस समय मुख लाल हो जाता है। थोड़े शब्दों में—रोगी की मुट्ठियों को ग्रीवागत मन्या नामक धमनियों पर धरा कर, ऊपर से कपड़ा की पट्टी को लपेट कर धीरे धीरे तब तक कसा जाता है जब तक माथा पर की सिरा उभर जायँ। इसी प्रकार बाहु आदि भिन्न भिन्न अवयवों में सिराओं को उत्थित करने के लिये यन्त्रण किये जाते हैं। कुछ उदाहरण अगले श्लोकों में

देखिये। यन्त्र से उत्थित सिरा का वेधन यथायोग्य शस्त्र द्वारा किया जाता है। यदि सिरा अस्थि पर से गई हो तो कुठारिका द्वारा वेध किया जाता है और अन्यत्र व्रीहि मुख अथवा नखशस्त्रक आदि किसी शस्त्र से सिरावेध कर दिया जाता है ॥१८-२२॥

सिरावेधन की विधि—

ततो मध्यमयाऽङ्गुल्या वैद्योऽङ्गुष्ठविमुक्तया।
ताडयेद् उत्थितां ज्ञात्वा स्पर्शाद्वाऽङ्गुष्ठपीडनैः। २३।
कुठार्या लक्षयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया।
फलोद्देशे सुनिष्कम्पं सिरां तद्वच्च मोक्षयेत्। २४।
ताडयन् पीडयंश्चैनां विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।

व्याख्या—तदनन्तर चिकित्सक अंगूठा द्वारा छोड़ी गई मध्यमा नामक अंगुली से सिरा का ताड़न करे जब वह भली भाँति उत्थित हो जाय तब मसल कर अथवा अंगूठा से पीडन करके और भी उत्थित कर लेवे तदनन्तर बाएँ हाथ से पकड़ी हुई कुठारिका को सिरा पर रख कर दाएँ हाथ के अंगूठा द्वारा दबा कर बलात् छोड़ी गई मध्यमा अंगुली का आघात कुठारिका की पीठ पर करे जिस से सिराका वेध हो जाय इसके अनन्तर तत्काल कुठारिका को अलग कर लेवे जिससे रक्तस्राव होना प्रारम्भ हो जाय। (अथवा सिरा का ताडन करके और व्रीहिमुख शस्त्र को सिरा पर धर कर तथा अंगूठा से दबा कर सिरा का वेधन कर देवे।)

वक्तव्य—इस प्रकार सिरावेध करके जितना रक्त निकालना अभीष्ट हो उतना निकाल देवे। देखा गया है कि प्रथम नीलाभ रक्त बहता है। कभी कभी तो उसकी ऊँची धारा बहती है। फिर वेग घट जाने पर भी बहता रहता है। इसके पश्चात् जब लाल वर्ण का रक्त आने लगता है तब पट्टी बांध कर रोक दिया जाता है। अथवा स्वतः रुक जाता है। रक्त लगभग पांच तोले से बीस तोले तक निकाल दिया जाता है ॥२३,२४॥

नासा एवं जिह्वा की सिरा का वेध—

अङ्गुष्ठेनोन्नमय्याग्रे नासिकामुपनासिकाम् ॥२५॥
अभ्युन्नतां दन्ताग्र-जिह्वा याधस्तदाश्रयाम्।

व्याख्या—नासिका को अग्र भाग में अंगूठा से ऊपर को उठा कर उपनासिका सिरा का वेध व्रीहिमुख नामक शस्त्र से करे और जीभ को तालु में लेजाकर तथा उसके अग्रभाग को उलट कर तथा दन्तों से दबाकर जीभ के अधोभाग की सिरा का वेध करना चाहिये ॥२५॥

ग्रीवा की सिरा का वेध—

यन्त्रयेत्स्तनयोरूर्ध्वं ग्रीवाश्रितसिराव्यधे ॥२६॥
पाषाणगर्भहस्तस्य जानुस्थे प्रसृते भुजे।
कुक्षेरारभ्य मृदिते विध्येद्बद्धोर्ध्वपट्टके ॥२७॥

व्याख्या—ग्रीवा की सिरा का वेध करने के लिये स्तनों के ऊपर यन्त्रण करना चाहिये और रोगी दोनों हाथों में छोटे छोटे पत्थर दबा कर एवं बाहुओं को घुटनों पर धर कर और पसार कर बैठ जाय और उसके उदर से लेकर ग्रीवा तक मर्दन किया जाय और ऊपर पट्टी बाँध दी जाय तब ग्रीवा में सिरावेध किया जाय।

वक्तव्य—उदर एवं उरस् की सिराओं के वेध के लिये भगवान् धन्वन्तरि का कथन है कि—उदरोरसोःप्रसारितोरस्कस्य उन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य (सु० शा० अ० ८) यह भी सिरा को उत्थित करने का उपाय है। उरस् में कुठारिका से और उदर में व्रीहि मुख से वेध करना चाहिये ॥२६,२७॥

बाहु तथा पार्श्व की सिरा का वेधन—

विध्येद्धस्तसिरां बाहावनाकुञ्चितकूर्परे।
बद्ध्वा सुखोपविष्टस्य मुष्टिमंगुष्ठगर्भिणम् ॥२८॥
ऊर्ध्वं वेध्यप्रदेशाच्च पट्टिकां चतुरंगुले।
विध्येदालम्बमानस्य बाहुभ्यां पार्श्वयोः सिराम् ॥२९॥

व्याख्या—बाहु को पसार कर एवं अंगूठा बीच रख मुट्ठी बाँध कर सुखपूर्वक बैठे हुए रोगी की बाहु पर वेध्य स्थान से चार अंगुल ऊपर पट्टी बाँध कर बाहु की सिरा का वध करे। और बाहुओं के बल लटकते हुए रोगी के दाहिने अथवा बाएँ पार्श्व की सिरा का वेध करें।

वक्तव्य—बाहु में प्रायः कूर्परसन्धि के एक-दो अंगुल ऊपर की सिरा का वेध किया जाता है और प्रगण्ड पर पट्टी बांधी जाती है, पट्टी बांधने पर सिरा उत्थित हो जाती है और कुठारिका अथवा नख शस्त्र से वेध किया जाता है। अतत्त्वाभिनिवेश में, हृदयद्रव एवं हृत्कम्प आदि में इसी सिरा का वेध किया जाता है और सिरावेध के पश्चात् तत्काल स्वास्थ्यलाभ का अनुभव होने लगता है ॥२८,२९॥

मेहन आदि की सिरा का वेध एवं संकेत—

प्रहृष्टे मेहने जङ्घासिरां जानुन्यकुञ्चिते।
पादे तु सुस्थितेऽधस्ताज्जानुसन्धेर्निपीडिते ॥३०॥
गाढं कराभ्यामागुल्फं चरणे तस्य चोपरि।
द्वितीये कुञ्चिते किञ्चिदारूढे हस्तवत्ततः ॥३१॥
बद्ध्वा विध्येत्सिराम् इत्थमनुक्तेष्वपि कल्पयेत्।
तेषु तेषु प्रदेशेषु तत्तद्यन्त्रमुपायवित् ॥३२॥

व्याख्या—मेहन में प्रहर्ष उत्पन्न करके सिरावेध कर (इस में यन्त्रण की आवश्यकता नहीं पड़ती)।

जंघा की सिरा का वेधन—जानु को पसार कर करे। और पाँव की सिरा का वेधन—पाँव को समतल पर भली-भाँति स्थापित कर के जानुसन्धि के नीचे गुल्फसन्धि पर्यन्त हाथों से निपीडित करके, उस पाँव पर दूसरे पाँव को कुछ संकुचित करके धरा कर तथा कुछ ऊँचा करके बाहुसिरा वेध की भाँति वेध्यस्थान से चार अंगुल ऊपर पट्टी बान्ध कर सिरावेध करे।

उक्त प्रकार से बन्धन करके सिरा का वेध करें। और जिनका वर्णन यहाँ नहीं भी किया गया है उन स्थानों की स्थिति का विचार करके भिन्न भिन्न प्रकार से बन्धनों की कल्पना कर लेनी चाहिये।

वक्तव्य—तात्पर्य भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में यह है कि—जो सिरा दिखाई न दे अथवा दिखाई तो दे परन्तु यन्त्रित (बन्धन से बद्ध) न हो अथवा यन्त्रित होने पर भी उत्थित न हो उसका वेध न करे। क्योंकि इस प्रकार की सिरा में से उचित रूप से रक्तस्राव नहीं होता। और यन्त्रित सिरा में दूषित रक्त का सञ्चय हो जाता है अतः वेध होते ही उस में से रक्त बहने लगता है ॥३०-३२॥

सिरावेध में क्षत का परिणाम—

मांसले निक्षिपेद् देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकम्।
यवार्धमस्थ्नामुपरि सिरां विध्यन् कुठारिकाम् ॥३३॥

व्याख्या—अधिक मांस वाले स्थान में व्रीहिमुख शस्त्र से जौ परिमित गहरा क्षत करना चाहिये। अस्थियों के ऊपर से गई सिरा का वेधन करते हुए कुठारिका नामक शस्त्र से आधा जौ परिमित गहरा क्षत करना चाहिए।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि सिरा का वेध उतना बड़ा होना चाहिये जिससे रक्त सरलता से वहे ॥३३॥

सम्यक् वेध आदि का वर्णन—

सम्यग्विद्धा स्रवेद्धारां यन्त्रे मुक्ते तु न स्रवेत्।
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः ॥३४॥
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद् दुःखेन धार्यते।

व्याख्या—सिरा का सम्यक् वेध होने पर—रक्त धारा के रूप में बहता है और यन्त्रणं खोल देने पर सर्वथा रुक जाता है। दुर्वेध (मिथ्यावेध) होने पर रक्त थोड़ा एवं थोड़े समय तक बहता है अथवा तैल मिश्रित स्रावक द्रव्यों का चूर्ण बुरकने पर बहता है। और अति वेध होने पर—शब्द के साथ रक्त बहता है और रोकने का प्रयत्न करने पर रुकता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि यथा सम्भव सम्यक् वेध का प्रयत्न करना चाहिये। रक्त स्रावक द्रव्य श्लोक ३६ में देखिये ॥३४॥

रक्त न बहने के अन्य कारण—

भीमूर्च्छायन्त्रशैथिल्यकुण्ठशस्त्रातितृप्तयः ॥३५॥
क्षामत्ववेगितास्वेदा रक्तस्यास्रुतिहेतवः।

व्याख्या—रोगी के मन में भय, सिरावेध के समय मूर्च्छा होना, यन्त्रण की शिथिलता (बन्धन का ढीलापन), शस्त्र का कुण्ठितपन (सिरा का न कटना), अत्यधिक भोजन करने पर सिरावेध करना, शरीर की क्षीणता मूत्र पुरीष आदि का वेग तथा सिरा वेध के पूर्व स्वेदन न करना। ये सब रक्तस्राव न होने के कारण हैं।

वक्तव्य—इन सब दशाओं में सिरा वेध करने पर रक्त स्राव नहीं होता। ॥ ३५ ॥

रक्तस्रावण के उपाय—

असम्यगस्रे स्रवति वेल्लव्योषनिशानतैः। ३६॥
सागारधूमलवणतैलैर्दिह्यात्सिरामुखम्।
सम्यक्प्रवृत्ते कोष्णेन तैलेन लवणेन च ॥३७॥
अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका।
सम्यक्स्रुत्वा स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत् ॥३८॥

व्याख्या—यदि रक्त का स्रावण भलीभांति न हो रहा हो तो सिरा के मुख पर (विद्ध स्थान पर)—वायविडंग, सोंठ, मरिच, पीपल, हल्दी, तगर, गृहधूम तथा लवण के चूर्ण को तैल में मिलाकर लेप करे इस प्रकार रक्तस्राव भलीभाँति होने लगता है (और पीठ का पीडन करना चाहिए—अ.सं.)।

भलीभांति रक्त स्रावण हो रहा हो तो भी कोसे तैल में लवण मिलाकर सिरा मुख पर लगाना चाहिए इससे रक्तस्राव में रुकावट नहीं होती। सिरावेध करने पर प्रथम दूषित रक्त बहता—निकलता है, जैसे कुसुम्भ के फूलों में से पीला रंग।

भलीभांति उचित मात्रा में रक्त बह कर यदि स्वयं रुक जाय तो उपर्युक्त विडंग आदि द्वारा स्रावण का प्रयत्न न करे क्योंकि वह शुद्ध रक्त जीवन का हेतु होता है।

वक्तव्य—दूषित रक्त निकलने के पश्चात् अदूषित (शुद्ध) रक्त भी निकलने लगता है अतः उसे रोकने का भी प्रयत्न करना चाहिए ॥३६-३८॥

मूर्च्छा नामक उपद्रव का वर्णन—

यन्त्रं विमुच्य मूर्च्छायां वीजिते व्यजनैः पुनः।
स्रावयेन्मूर्च्छति पुनस्त्वपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा। ३९॥

व्याख्या—सिरावेध करते समय यदि मूर्च्छा आजाय तो तत्काल यन्त्रण खोल कर पंखा करना चाहिए और मूर्च्छा नाशक उपाय करना चाहिये और स्वस्थ हो जाने पर पुनः पूर्ववत् सिरा वेध करे यदि इस बार भी मूर्च्छा आ जाय तो दूसरे अथवा तीसरे दिन सिरावेध करे।

वक्तव्य—भीरु अथवा कभी २ मनस्वी मानव को भी सिरावेध के समय मूर्च्छा आ जाती है परन्तु सिरावेध साध्य रोग में सिरावेध आवश्यक होता है एतदर्थ उक्त विधि का अवलम्बन करना चाहिए और देखा गया है कि एक दो बार मूर्च्छा होने पर प्रायः फिर मूर्च्छा नहीं होती ॥ ३९ ॥

दूषित रक्त के लक्षण—

वाताच्छ्यावारुणं रूक्षं वेगस्राव्यच्छफेनिलम्।
पित्तात् पीतासितं विस्रमस्कन्द्यौष्ण्यात्सचन्द्रिकम्॥४०॥
कफात् स्निग्धमसृक्पाण्डु तन्तुमत्पिच्छिलं घनम्।
संसृष्टलिंगं संसर्गात् त्रिदोषं मलिनाविलम् ॥४१।

व्याख्या—वात से दूषित रक्त—अरुण (कालापन लिए लाल) रूक्ष वेगों के साथ बहने वाला, पतला तथा झाग वाला होता है। पित्त से दूषित रक्त कुछ पीला तथा कुछ नीला विस्र (अप्रियगन्ध वाला), अस्कन्दी (शीघ्र न जमने वाला) उष्ण चन्द्रकों (चमकीली रेखाओं अथवा मण्डलों) से युक्त होता है कफ से दूषित रक्त—स्निग्ध, कुछ कुछ पाण्डु वर्ण वाला, तन्तु (लाला) वाला, चिपचिपा तथा गाढ़ा होता है। दो दो दोषों से दूषित रक्त उक्त दो दो दोषों के लक्षणों से युक्त और तीनों दोषों से दूषित रक्त मलिन सा-अस्वच्छ होता है।

वक्तव्य—कांस्यनीलमाकुलं दुर्गन्धं च सन्निपातात् (अ. स. सू.अ. ३६) अर्थात् त्रिदोष से दूषित रक्त जंगाल कासा नीला, उक्त सब लक्षणों से युक्त तथा दुर्गन्धवाला होता है। जब तक उक्त प्रकार का दूषित रक्त बहता रहे तब तक बहने दो, न बहे तो बहाने का प्रयत्न भी करो परन्तु— ॥ ४०,४१ ॥

रक्त के परिमाण आदि का वर्णन—

अशुद्धौ बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम्।
अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारुणा वा चलामयाः ॥४२॥
तत्राभ्यंगरसक्षीररक्तपानानि भेषजम्।
स्रुते रक्ते शनैर्यन्त्रमपनीय हिमाम्बुना ॥४३॥
प्रक्षाल्य तैलप्लोतार्क्तं बन्धनीयं सिरामुखम्।
अशुद्धं स्रावयेद्भूयः सायमह्न्यपरेऽपि वा ॥४४॥
स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम्।

व्याख्या—बलवान मानव का भी अशुद्ध रक्त एक बार में एक प्रस्थ (यहाँ एक प्रस्थ १३॥ पल ५४ कर्ष का ही माना जाता है १६ पल—६४ कर्ष का नहीं) से अधिक नहीं निकलना चाहिय क्यों कि अधिक मात्रा में रक्त निकालने पर मृत्यु हो सकती है अथवा आक्षेपक आदि वातज रोग हो सकते हैं।

यदि कदाचित् अधिक मात्रा में रक्त निकल जाय तो तत्काल–तैल का अभ्यङ्ग, मांस रस का पान, दुग्ध (धारोष्ण दुग्ध हो तो अत्युत्तम है) अथवा बकरा आदि स्वस्थ प्राणी के रक्त का पान ही उत्तम चिकित्सा है।

दूषित रक्त का स्राव (अधिक से अधिक एक प्रस्थ) हो जाने पर धीरे धीरे यन्त्र को खोल कर और शीतल जल से विद्ध स्थान को धोकर और तैल (तिल तैल) का पिचु धर कर पट्टी बाँध देनी चाहिये।

यदि कुछ अशुद्ध रक्त रह गया हो आर उसे भी निकालना आवश्यक हो तो सायंकाल अथवा दूसरे दिन पूर्ववत् वहीं अथवा अन्यत्र वेध करके रक्तस्रावण—१५ दिन पर अथवा १५–१५ दिन पर करना चाहिये और साथ साथ स्नेहन भी करते रहना चाहिये (बलाधान के लिये) ॥४३॥

अधिक रक्त स्राव का निषेध—

किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्तते ॥४५॥
सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत्।
हरेच्छृंगादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत् ॥४६॥

व्याख्या—दूषित रक्त कुछ अवशिष्ट भी रह जाता है तो रोग नहीं बढ़ता इस लिये अवशिष्ट रहने पर रक्तस्राव रोक देना चाहिये परन्तु रक्त का अतिस्राव न करे।

और जो अवशिष्ट रह जाय उसको शृंग आदि उपायों से निकाल देवे अथवा निम्नलिखित शीतोपचार आदि उपायों से शुद्ध कर देवे ॥४५,४६॥

रक्त शोधन के उपाय—

शीतोपचारपित्तास्रक्रियाशुद्धिविशोषणैः।
दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत्। ४७॥
रक्ते त्वतिस्रुते क्षिप्रं स्तम्भनीमाचरेत्क्रियाम्।

व्याख्या—अवशिष्ट दूषित रक्त को–शीतल उपचारों (आहारों विहारों एवं औषधों) से, रक्त पित्त की चिकित्सा से, वमन विरेचन आदि शोधन से, लंघन एवं चणकाहार आदि विशोषण (अपतर्पण) से शुद्ध करे और यदि दूषित रक्त सिरावेध आदि द्वारा निकालने योग्य न हो तो उसे भी इसी प्रकार शीतोपचार आदि से शुद्ध करे।

और यदि कदाचित् सिरावेध के पश्चात् रक्त स्वयं न रुके अथवा उक्त तैलपिचु धर कर (श्लो० ४४) पट्टी बान्धने से भी न रुके तो तत्काल निम्नलिखित रक्त स्तम्भन चिकित्सा करे ॥४७॥

रक्तस्तम्भन चिकित्सा—

रोध्रप्रियंगुपत्तंगमाषयष्ट्याह्वगैरिकैः ॥४८॥
मृत्कपालाञ्जनक्षौममषीक्षीरित्वगंकुरैः ।
विचूर्णयेद्व्रणमुखं पद्मकादिहिमं पिबेत् ॥४९॥
तामेव वा सिरां विध्येद्व्यधात्तस्मादनन्तरम् ।
सिरामुखं वा त्वरितं दहेत्तप्तशलाकया ॥५०॥

व्याख्या—व्रण मुख पर—लोध, प्रियंगु, पत्तङ्ग नामक काष्ठ, उरद, मुलेठी, गेरू, मिट्टी के ठीकरे, अञ्जन (काला या श्वेत सुरमा, रेशम की भस्म, वट आदि क्षीरी वृक्ष की छाल तथा अंकुरों का चूर्ण बुरक देवे अथवा पद्मकादिगण (सू. अ. १५) का हिम पीना चाहिये ।

अथवा वेध स्थल से ३ ४ अंगुल ऊपर की ओर उसी सिरा का वेध कर देवे अथवा अग्नि में तपाई गई लोह शलाका से तुरन्त सिरामुख (जहाँ वेध किया गया है वहाँ दहन कर देवे ।

वक्तव्य—इन उपायों से रक्त अवश्य रुक जाता है । श्री धन्वन्तरि के कथनानुसार—लोध आदि कषाय द्रव्य व्रण का सन्धान (निरोध) कर देते हैं, पद्मकादि हिमपान तथा शीतल सेवन से रक्त जम जाता है, रेशम आदि की भस्म वहाँ पाक प्रारम्भ कर देती है फिर पाक की व्रणवत् चिकित्सा करली जाती है और शलाका से किया गया दाह सिरामुख को संकुचित कर देता है (सु.सू.अ. १४) ॥४८-५०॥

रक्तस्रावण का पश्चात्कर्म—

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन
स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत् ।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रसन्ना-
स्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात् ॥५१॥

व्याख्या—रक्त गत दुष्ट दोष—यन्त्र द्वारा निपीडन होने से उलटे मार्ग में गति शील हो जाते हैं और वे जब तक पुनः अपने अपने स्थान में न आ जायँ (स्वमार्गगामी एवं स्वकर्मकारी न हो जायँ) तब तक हित (पथ्य) आहार विहार का सेवन करते रहना चाहिये ॥५१॥

रक्त स्रावण में पथ्य—

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं
रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् ।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृ-
गग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥५२॥

व्याख्या—रक्त निकालने के पश्चात् वह अन्न एवं पान हित-पथ्य होता है जो न अत्यन्त उष्ण हो और न अत्यन्त शीत हो परन्तु लघु तथा अग्नि दीपक हो क्योंकि उस समय शरीर भर का रक्त अनवस्थित (विचलित—क्षुब्ध) होता है अतः अग्नि को (पाचकादि सब अग्नियों की) विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिये ।

वक्तव्य—सु.सू.अ.१४—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः ।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥३७॥
तं नाऽतिशीतैः लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्द्धनैः ।
ईषत्-अम्लैः अनम्लैः वा भोजनैः समुपाचरेत् ॥३८॥

तात्पर्य यह है कि रक्तस्रावण के पश्चात् स्वस्थ होने तक पथ्य से रहना आवश्यक है । ॥५२॥

रक्त शुद्धि का लक्षण—

प्रसन्नवर्णेन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ५३

व्याख्या जिस का वर्ण प्रसन्न हो (कान्तियुक्त हो) इन्द्रियाँ प्रसन्न हो (विषयग्रहण में समर्थ हों), जो श्रोत्रादि इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों के ग्रहण की इच्छा रखता हो, जिस की पाचन क्रिया व्याघातरहित रुकावट रहित) हो और जो सुख, पुष्टि एवं बल से युक्त हो उस पुरुष को विशुद्ध रक्त वाला समझना चाहिये ।

वक्तव्य—रक्त दूषित रहने पर ये लक्षण नहीं होते और रक्त स्रावण के पश्चात् भी जब तक ये लक्षण न हों तब तक रक्त शोधन के उपाय करते रहना चाहिए और श्लोक ४९ तथा ५० के अनुसार सावधान रहना चाहिए ॥ ५१ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्र स्थाने सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अथातः शल्याहरणविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब शल्यों को निकालने की विधियों का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन —सु. सू. अ. २६ तथा २७ में और अ० सं० सू० अ. ३७ में देखिये ।

शल्य की गतियों का वर्णन—

वक्रर्जुतिर्यगूर्ध्वाधः शल्यानां पञ्चधा गतिः ।

व्याख्या—शरीर के भीतर प्रविष्ट होते समय शल्यों

की गति ५ प्रकार की होता है १—वक्र अर्थात् टेढी मेढी, २—ऋजु अर्थात् सीधी, ३—तिर्यक् अर्थात् तिरछी ४—ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर तथा ५—अधः अर्थात् नीचे की ओर।

वक्तव्य—यह पाठ सुश्रुत सू अ. २६ के इस पाठ के अनुसार लिखा गया है यथा—सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गतिविशेषः—ऊर्ध्वम्, अधो, अर्वाचीनः, तिर्यक्, ऋजुः इति। ५।

परन्तु अष्टाङ्ग सं.अ. ३७ में इसका पाठ इस प्रकार है—त्रिविधा गतिः शल्यानां ऊर्ध्वमधः तिर्यक् च, सा पुनः प्रत्येकम् ऋजु-वक्र-भेदेन द्विधा। १। अस्तु। इसप्रकार भिन्न२ शल्य का भिन्न२ गति से शरीर में प्रवेश होता है।

शल्य शास्त्र में समस्त शरीर में वेदना—विकृति उत्पन्न करने वाला "शल्य" माना जाता है। वह दो प्रकार का होता है १ शारीर-जैसे दूषित रक्तादि धातु एवं दुष्ट वातादि दोष और २. आगन्तु जैसे शर एवं कण्टक आदि। परन्तु इस अध्याय में शर एवं कील आदि लोहमय, सिलत आदि वेणु मयं (बांस की फर चाट आदि), कण्टक आदि वृक्षमय, शृंग आदि एवं अस्थिमय आदि शल्यों का वर्णन किया गया है और उनको निकालने की विधियाँ बतलाई गई हैं।

अन्तःशल्य का लक्षण—

ध्यामं शोफरुजावन्तं स्रवन्तं शोणितं मुहुः॥ १॥
अभ्युद्गतं बुद्बुदवत्पिटिकोपचितं व्रणम्।
मृदुमांसं च जानीयादन्तःशल्यं समासतः॥ २॥

व्याख्या—संक्षेपतः अन्तः शल्य का लक्षण यह है कि—कालापन लिये शोथ तथा वेदनायुक्त शोथ, जहाँ वेदना हो अथवा दबाने पर वेदना हो, जिस में से बार २ रक्त स्राव होता हो, बुलबुला के समान उठा हो, व्रण पिडिकाओं से व्याप्त हो अथवा जहाँ मांस कोमल हो। इन लक्षणों से जाना जाता है कि भीतर शल्य है। यह भीतरी शल्य का सामान्य लक्षण है। १,२॥

विशिष्ट लक्षण—

विशेषात्त्वग्गते शल्ये विवर्णः कठिनायतः।
शोफो भवति मांसस्थे चोषः शोफो विवर्धते॥ ३॥
पीडनाक्षमता पाकः शल्यमार्गो न रोहति।
पेश्यन्तरगते मांसप्राप्तवच्छ्वयथुं विना॥ ४॥
आक्षेपः स्नायुजालस्य संरम्भस्तम्भवेदनाः।
स्नायुगे दुर्हरं चैतत् सिराध्मानं सिराश्रिते॥ ५॥
स्वकर्मगुणहानिः स्यात्स्रोतसां स्रोतसि स्थिते।
धमनीस्थेऽनिलो रक्तं फेनयुक्तमुदीरयेत्॥ ६॥
निर्यांति शब्दवान् स्याच्च हृल्लासः साङ्गवेदनः।
सङ्घर्षो बलवानस्थिसन्धिप्राप्तेऽस्थिपूर्णता॥ ७॥
नैकरूपा रुजोऽस्थिस्थे शोफः तद्वच्च सन्धिगे।
चेष्टानिवृत्तिश्च भवेत् आटोपः कोष्ठसंश्रिते॥ ८॥
आनाहोऽन्नशकृन्मूत्रदर्शनं च व्रणानने।
विद्यान्मर्मगतं शल्यं मर्मविद्धोपलक्षणैः॥ ९॥
यथास्वं च परिस्रावैस्त्वगादिषु विभावयेत्।

व्याख्या—यदि शल्य त्वचा में होता है तो शोथ—त्वचा के वर्ण से भिन्न वर्णवाला होता है और कठोर तथा चौड़ा होता है।

यदि शल्य मांस में चला गया होता है तो शोथ में चोष (चीस) होता है और शोथ बढ़ता जाता है दबाने पर असह्य वेदना होती है, पाक का प्रारम्भ हो जाता है और उपचार करने पर भी शल्यमार्ग (व्रण) का रोपण नहीं होता। और यदि शल्य मांसपेशियों के अन्तराल में होता है तो मांस गत शल्य के उक्त सब लक्षण होते हैं परन्तु शोथ नहीं होता।

यदि शल्य स्नायु में होता है तो स्नायु जाल में आक्षेप (झटका खिचाव), संरम्भ (क्षोभ), स्तम्भ (स्तब्धता) तथा वेदना होती है और वह शल्य कठिनता से निकाला जा सकता है या निकालने में रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है। यदि शल्य सिरा में गया होता है तो सिरा फूल जाती है। और यदि शल्य स्रोतस् में होता है तो स्रोत के कर्म एवं गुण का क्षय हो जाता है।

यदि शल्य धमनी में गया होता है तो वायु फेनयुक्त रक्त को निकालता है वायु एवं फेन से युक्त रक्त निकलता रहता है)। तथा केवल वायु भी फर फर करके निकलता रहता है और साथ २ मिचली तथा शरीर भर में मर्दन कीसी वेदना (एवं प्यास भी) होती है।

यदि शल्य अस्थियों की सन्धि में पहुँचा होता है तो वहाँ बलवान् संघर्षण होता है और अस्थि में पूर्णता होती है (अस्थि भा जाती है)।

यदि शल्य अस्थि में धँसा हुआ होता है तो विविध प्रकार की वेदनाओं का प्रादुर्भाव होता है तथा शोथ होता है। यदि शल्य सन्धियों में गया होता है तो अस्थिगत शल्य के समान लक्षण होते हैं और उस सन्धि की चेष्टा (व्यापार) का नाश हो जाता है।

यदि शल्य कोष्ठ में गया होता है तो आक्षेप (संक्षोभ) तथा अनाह (कोष्ठ की बद्धता—स्तब्धता) होता है और व्रण के मुख से कोष्ठ गत अन्न, पुरीष अथवा मूत्र का निर्गमन होता है। यदि शल्य मर्मस्थल में होता है तो मर्म-

वेध के समान लक्षण होते हैं (देखिये शा० अ० ४)।

और शल्प कृत व्रणों के स्रावों को देख कर भी त्वचा आदि में शल्य की स्थिति का निर्णय कर लेना चाहिये।

यथा—लसीकास्राव हो तो त्वचा में, रक्तस्राव हो तो सिरा में और मज्जास्राव हो तो अस्थि में, अन्न का निर्गमन हो तो आमाशय में, पुरीष का निर्गमन हो तो मलाशय में और मूत्र का स्राव हो तो मूत्राशय में शल्य की स्थिति का निर्णय करना चाहिये।

वक्तव्य—श्लोक ७ में "अस्थिसन्धि प्राप्ते" पाठके स्थान में 'सुश्रुतानुसार अस्थिविवरगते" पाठ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। मर्मविद्ध के लक्षण सु. सू. अ. २५ तथा सु. शा अ. ६ में देखिए ॥३-९॥

शल्य व्रण का रोपण—

रुह्यते शुद्धदेहानामनुलोमस्थितं तु तत् ॥१०॥
दोषकोपाभिघातादिक्षोभाद्भूयोऽपि बाधते।

व्याख्या—वमन विरेचनादि से शोधित अथवा स्वभावतः शुद्ध (निर्विकार) शरीर में शल्य का व्रण, भीतर शल्य रहने पर भी यदि शल्य अनुलोम (ऋजु) रहता है तो रूढाभास (रोपित या रोपित कासा) हो जाता है परन्तु फिर कभी दोषों का प्रकोप—विकृति होने पर, आघात लगने पर अथवा संक्षोभ (हिचकोला लगने आदि से) होने पर कालान्तर में भी बाधा (पीड़ा वेदना—पाक आदि) उत्पन्न कर देता है ॥१०॥

अदृश्य शल्य जानने के उपाय—

त्वङ्नष्टे यत्र तत्र स्युरभ्यङ्गस्वेदमर्दनैः ॥११॥
रागरुग्दाहसंरम्भा यत्र चाज्यं विलीयते।
आशु शुष्यति लेपो वा तत्स्थानं शल्यवद्वदेत् ॥१२॥
मांसप्रणष्टं संशुद्ध्या कर्शनाच्छ्लथतां गतम्।
क्षोभाद्रागादिभिः शल्यं लक्षयेत् तद्वदेव च ॥ १३ ॥
पेश्यस्थिसन्धिकोष्ठेषु नष्टमस्थिषु लक्षयेत्।
अस्थ्नामभ्यञ्जनस्वेदबन्धपीडनमर्दनैः ॥ १४ ॥
प्रसारणाकुञ्चनतः सन्धिनष्टं तथाऽस्थिवत्।
नष्टे स्नायुसिरास्रोतोधमनीष्वसमे पथि ॥१५॥
अश्वयुक्तं रथं खण्डचक्रमारोप्य रोगिणम्।
शीघ्रं नयेत्ततस्तस्य संरम्भाच्छल्यमादिशेत् ॥१६॥
मर्मनष्टं पृथङ्नोक्तं तेषां मांसादिसंश्रयात्।
सामान्येन सशल्यं तु क्षोभिण्या क्रियया सरुक् ॥१७॥

व्याख्या—जहाँ त्वचा में शल्य नष्ट (अदृष्ट) होता है वहाँ अभ्यङ्ग करने से, स्वेदन करने से तथा मर्दन करने से राग (लालिमा), वेदना, दाह तथा क्षोभ होता है और लेप शीघ्र सूख जाता है उस स्थान को शल्यवाला समझना चाहिये। मांस में नष्ट (अदृष्ट) शल्य को—वमन विरेचन द्वारा शोधन जनित कृशता के कारण शिथिल होने पर, संक्षोभ से अथवा राग, वेदना, दाह एवं संरम्भ से पहचान लेवे। और इसी प्रकार मांसपेशियों के अन्तराल में, अस्थियों की सन्धि में तथा कोष्ठ में नष्ट शल्य को पहचान लेवे।

अस्थिमें नष्ट शल्य को अस्थियों का अभ्यञ्जन, स्वेदन, बन्धन, पीडन तथा मर्दन करने पर जहाँ वेदना हो तो शल्य की स्थिति का निर्णय कर लेवे। सन्धि में नष्ट शल्य को वहाँ समझे जहाँ अस्थिगत शल्य के समान अभ्यञ्जन आदि करने पर तथा प्रसारण एवं आकुञ्चन करने पर वेदना हो। स्नायु, सिरा, स्रोत तथा धमनी शल्य नष्ट होने पर रोगी को टूटे (ढीले) चक्र (पहिये) वाले रथ पर बैठा कर और घोड़े जोत कर ऊँचे नीचे पथ पर शीघ्र गति से ले जावे इस दशा में जहाँ वेदना हो वहाँ शल्य की स्थिति समझे।

मर्म नष्ट शल्य को जानन का पृथक् वर्णन नहीं किया गया है क्योंकि मर्मस्थल मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि तथा सन्धियों में ही आश्रित होते हैं। सामान्यतः वहाँ शल्य समझना चाहिये जहाँ सक्षोभण कर्म (दबाने, हिलाने आदि) से वेदना हो ॥११-१७॥

शल्य की आकृति का अनुमान—

वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटं च समासतः।
अदृश्यशल्यसंस्थानं व्रणाकृत्या विभावयेत् ॥१८॥

व्याख्या—अदृष्ट शल्य के संस्थान (आकार) को व्रण की आकृति (आकार) से समझ लेने का प्रयत्न करे क्योंकि सभी शल्यों का आकार संक्षेपतः ४ प्रकार का होता है यथा—१. वृत्त अर्थात् गोल, २. पृथु अर्थात् चौड़ा द्विकोण, ३. चतुष्कोण अर्थात् चौकोना अथवा त्रिपुट अर्थात् तिकोना।

वक्तव्य—इस शल्य के स्थान एवं संस्थान को भलीभाँति समझ कर उसे निकालने का उचित उपाय करे ॥१८॥

शल्य निकालने का उपाय—

तेषामाहरणोपायौ प्रतिलोमानुलोमकौ।
अर्वाचीनपराचीने निर्हरेत्तद्विपर्ययात् ॥१९॥
सुखाहार्यं यतश्छित्त्वा ततस्तिर्यग्गतं हरेत्।

व्याख्या—विधि भेद से शल्यों को निकालने के दो उपाय किये जाते हैं—१. प्रतिलोम अर्थात् शरीरान्तः-प्रवेश विपर्यय या प्रतिकूलाऽऽहरण और २. अनुलोम अर्थात् शरीरान्तःप्रवेशानुगत या अनुकूलाऽऽहरण।

अर्वाचीन शल्य को प्रतिलोम उपाय से निकाले और

पराचीन को अनुलोम उपाय से निकाले। तिर्यग्गत शल्य को जिधर से सुखपूर्वक निकाला जा सके उधर से छेदन क्रिया द्वारा मार्ग बनाकर निकाल देवे।

वक्तव्य—सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा द्वौ एव आहरहेतू भवतः प्रतिलोमो अनुलोमश्च ॥६॥

तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेत्, अनुलोमं पराचीनम् ॥७॥ सु० सू० अ० २६ और—

तिर्यग्गतं यतः सुखाहार्यं भवति ततः छित्वा अपहरेत् (अ० सं० अ० ३७)। तात्पर्य यह है कि जिधर में शल्य घुसा हो उस ओर से अथवा दूसरी ओर जा निकला हो तो दूसरी ओर से शल्य निकालना चाहिये अर्थात् जिधर से निकाला जा सके उधर से निकाल देने का प्रयत्न करे और निकाल अवश्य देवे ॥१९॥

निर्घातन के अयोग्य शल्य—

शल्यं न निर्घात्यमुरःकक्षावंक्षणपार्श्वगम् ॥२०॥
प्रतिलोममनुत्तुण्डं छेद्यं पृथुमुखं च यत्।
नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम् ॥२१॥

व्याख्या—उरस्, कक्षा, वंक्षण तथा पार्श्व (पर्शुकाओं के भीतरी अवयव) में गत शल्य का निर्घातन नहीं करना चाहिये। और जो शल्य प्रतिलोम हो, जिसका तुण्ड (मुख) ऊपर (दूसरी ओर) न निकला हो, जो छेदन योग्य मुखवाला हो तथा जो पृथु (चौड़े) मुख वाला हो उस शल्य का भी निर्घातन नहीं करना चाहिये।

जो शल्य विशल्यघ्न हो (जिसके निकलने पर तत्काल मृत्यु हो सकती हो अर्थात् विशल्यघ्न नामक मर्म में घुसा हो), तथा जो शल्य नष्ट (अदृश्य) हो परन्तु वेदना आदि किसी प्रकार के उपद्रव से रहित हो उसको न निकाले अर्थात् उसके निकालने का प्रयत्न न करे।

वक्तव्य—उत्तुण्डितं छित्वा निर्घातयेत् छेदनीयमुखम् ॥ ८ ॥ छेदनीयमुखान्यपि कुक्षिवक्षः(उरस्)कक्षावंक्षणपर्शुकान्तरपतितानि च। निर्घातयेद्॥९॥ सु०स०अ० ॥२७॥

निर्घातन यन्त्रकर्म है। देखिये अ० हृ० अ० २५ श्लोक ४१ और शल्य निर्घातनी नाड़ी यन्त्र का लक्षण उक्त अध्याय के श्लोक पन्द्रह में देखिये।

विशल्यघ्न मर्म तत्र सशल्यो जीवेत्, पाकात् पतितशल्यो वा जीवेत् न उद्धृतशल्यः ॥२७॥ तथा त्रीणि विशल्यघ्नानि मर्माणि ॥ ८ ॥ तथा विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि शल्यमुखाऽवरुद्धो वायुः यावत् अन्तःतिष्ठति तावत् जीवति उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाऽऽश्रितो वायुः निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवति उद्धृतशल्यो म्रियते, पाकात् पतितशल्यो वा जीवति ॥१६॥ सु० शा० अ० ६ और देखिये अ० हृ० अ० ४ में विशल्यघ्न मर्मों का वर्णन ॥२६॥

शल्य निकालने की विधि—

अथाहरेत्करप्राप्यं करेणैव–इतरत्पुनः।
दृश्यं सिंहाऽहिमकरवर्मिकर्कटकाननैः ॥२२॥
अदृश्यं व्रणसंस्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यतः।
कङ्कभृङ्गाह्वकुररशरारीवायसाननैः ॥२३॥
सन्दंशाभ्यां त्वगादिस्थं तालाभ्यां सुषिरं हरेत्।
सुषिरस्थं तु नलकैः शेषं शेषैर्यथायथम् ॥२४॥
शस्त्रेण वा विशस्यादौ ततो निर्लोहितं व्रणम्।
कृत्वा घृतेन संस्वेद्य बद्धाऽऽचारिकमादिशेत् ॥२५॥

व्याख्या—अथ ईश्वर का नाम लेकर यदि शल्य हाथ से पकड़ने योग्य हो तो हाथ से ही निकाल दिया जाय। और यदि वैसा न हो परन्तु दिखाई देता हो तो सिंहमुख, सर्पमुख, मकरमुख, वर्मिमुख अथवा कर्कटक मुख नामक किसी यन्त्र से पकड़ कर निकाल दिया।

और अदृश्य (जो दिखता न हो) शल्य शल्यव्रण की आकृति को समझ कर, जिस ओर से कंकमुख, भृङ्गराजमुख, कुररमुख शरारिमुख अथवा काकमुख नामक किसी यन्त्र से पकड़ कर निकाला जा सके उस ओर से निकाला जाय।

त्वचा तथा मांस आदि में स्थित शल्य को सन्दंश नामक यन्त्रों द्वारा पकड़ कर निकालना चाहिये। सुषिर (रन्ध्र युक्त) शल्य को ताल यन्त्रों की सहायता से निकालना चाहिये। सुषिर (रन्ध्र) में स्थित शल्य को नाड़ीयों की सहायता से निकालना चाहिये। और शेष शल्यों को शेष यन्त्रों की सहायता से सोच समझ कर निकालना चाहिये।

यदि शल्य निकालने के लिये शस्त्र द्वारा त्वचा एवं मांस आदि का छेदन करना पड़ा हो और अथवा शल्य निकाल देने पर भी रक्त बह रहा हो तो उस स्थान से रक्त को धोकर, अथवा रक्त रुक जाने पर वेदना शान्ति के लिये कोसे घृत से स्वेदन करके, मधु एवं घृत का मिश्रण लगा कर, पट्टी बाँध कर स्नेह विधि अध्याय सोलह में कथित "उष्णोदकोपचारी स्यात्" (श्लोक २८–३०) द्वारा उपदिष्ट आहार विहार की व्यवस्था कर देवे

वक्तव्य—व्रण संस्थानात्—जिस ओर से व्रण बनाकर शल्य घुसा हो उस ओर के व्रण का आकार देख कर और आवश्यकता हो तो यन्त्र प्रवेश योग्य व्रण बनाकर तथा उक्त यन्त्रों की सहायता से पकड़ कर शल्य निकाल दिया जाय ॥

सिरा आदि के शल्य निकालने की विधि—

सिरास्नायुविलग्नं तु चालयित्वा शलाकया।

हृदये संस्थितं शल्यं त्रासितस्य हिमाम्बुना ॥२६॥
ततः स्थानान्तरं प्राप्तमाहरेत्तद्यथायथम् ।
यथामार्गं दुराकर्षम् अन्यतोऽप्येवमाहरेत् ॥२७॥

व्याख्या—सिरा अथवा स्नायु में लगे शल्य को शलाका द्वारा हिला डुला कर निकाल देवे । हृदय में अथवा उसके आस पास लगे शल्य को शीतल जल के छींटो से रोगी को त्रासित (उद्विग्न या अन्य-मनस्क) करके तत्काल यथायोग्य यन्त्र की सहायता से निकाल देवे ।

यदि इसी प्रकार निकालना कठिन हो या हानिकर हो तो किसी प्रकार शल्य को इधर उधर ले जा कर जैसे हो वैसे निकाल देवे । जिस शल्य को निकालने में दुःख या कठिनता हो उसे शल्य मार्ग के अनुसार अथवा इधर उधर बाधा न पहुँचा कर परन्तु माटन कर्म कर के दूसरी ओर से उसी प्रकार निकाल देवे ॥२४॥

अस्थिगत शल्य निकालने के उपाय —

अस्थिदष्टे नरं पद्भ्यां पीडयित्वा विनिर्हरेत् ।
इत्यशक्ये सुबलिभि सुगृहीतस्य किङ्करैः ॥२७॥
तथाऽप्यशक्ये वारङ्गं वक्रीकृत्य धनुर्ज्यया ।
सुबद्धं वक्ककटके बध्नीयात्सुसमाहितः ॥२९॥
सुसंयतस्य पञ्चाङ्ग्या वाजिनः कशयाऽथ तम् ।
ताडयेदिति मूर्धानं वेगेनोन्नमयन् यथा ॥३०॥
उद्धरेच्छल्यमेवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः ।
बद्ध्वा दुर्बलवारङ्गं कुशाभिः शल्यमाहरेत् ॥३१॥

व्याख्या—यदि शल्य अस्थि में धँसा (फँसा) हो तो शल्यपीडित मानव को अपने पाँवों द्वारा दबा कर बल पूर्वक शल्य निकाल देवे । यदि इस प्रकार भी न निकाला जा सके तो शल्य पीडित को किंकरों (बलवान् कर्म-चारियों) द्वारा पकड़वा कर शल्य निकलवा देवे ।

यदि इस प्रकार भी न निकाला जा सके तो शल्य के वारङ्ग (मूठ या मूठ की ओर का भाग) को टेढ़ा करके, धनुष की डोरी से भली भाँति बाँध कर और डोरी के दूसरे छोर को सावधानता पूर्वक, पञ्चाङ्गी से भली भाँति बाँधे गये घोड़े के मुखकटक (कविक, खलीन या मोहरी) से बाँध देवे और फिर उस घोड़ा को चाबुक से ताडित करे इस प्रकार ताड़न से घोड़ा स्वभावतः अपने शिर को वेग के साथ ऊपर की ओर उठाता और शल्य को निकाल देता है । अथवा इसी प्रकार वृक्ष की शाखा में कल्पना करनी चाहिये अर्थात् वृक्ष की शाखा को बल पूर्वक नमा कर और पूर्व वत् शल्य से बँधी डोरी को शाखा में बाँध कर शाखा को छोड़ देवे जिससे ऊपर की ओर उठती हुई शाखा शल्य को निकाल देवे । इन दोनों दशाओं में शल्य पीडित को बलवान् मानवों द्वारा पकड़वा देना अत्यावश्यक है ।

और यदि शल्य का वारङ्ग दुर्बल हो तो उसे भी रस्सियों से कस देना चाहिये अन्यथा वारङ्ग शल्य में से निकल जाता है और शल्य रह जाता है ।

वक्तव्य—हस्ती आदि के तथा विशाल काय, बलवान् एवं अस्थिसार मानवों के ऊरु की अस्थियों में से इसी प्रकार के उपायों से शल्य निकाले जा सकते हैं क्योंकि बल-शाली चिकित्सक के भी हाथों से ऐसे शल्यों का निकालना कठिन या असम्भव होता है ॥२७-३१॥

शल्य निकालने के अन्य उपाय—

श्वयथुग्रस्तवारङ्गं शोफमुत्पीड्य युक्तितः ।
मुद्गराहतया नाड्या निर्घात्योत्तुण्डितं हरेत् ॥३२॥
तैरेव चानयेन्मार्गमभमार्गोत्तुण्डिते तु यत् ।
मृदित्वा कर्णिनां कर्णं नाड्यास्येन निगृह्य वा ॥३३॥

व्याख्या—यदि शल्य के वारङ्ग के ऊपर तक शोथ फैल जाय तो शोथ को युक्ति पूर्वक दबा कर, वारङ्ग को यन्त्र से पकड़ कर शल्य निकाल देवे ।

यदि शल्य का मुख (अग्रभाग) उधर (दूसरी ओर) निकल गया हो तो एकमुखी नाड़ा डाल कर और मद्गर से (हथौड़ा से) निर्घात (प्रहार चोट) करके शल्य को निकाल देवे । और जो शल्य अन्य मार्ग में ऊपर (दूसरी ओर) निकल आया हो उसे निर्घातन आदि उपायों से शल्य मार्ग में लेजाकर निकाल देवे । कर्ण वाले (फर वाले) शल्य के कर्णों को रेती से रगड़कर अथवा नाड़ी यन्त्र से दबाकर शल्य को निकाल देवे ।

वक्तव्य—शल्य निकलते समय भीषण या असह्य वेदना होती है कभी २ तो मूर्च्छा आ जाती है इस दशा में शीतल जल से सेचन तथा पंखा से वायु करना चाहिये और आश्वा-सन देना एवं उत्साह बढ़ाना चाहिये । और चिकित्सक का भी कर्त्तव्य है कि शल्य को पकड़ कर शीघ्रता के साथ झटका से खींच लेवे ॥३२-३३॥

अन्यान्य उपाय—

अयस्कान्तेन निष्कर्णं विवृतास्यमृजूस्थितम् ।
पक्वाशयगतं शल्यं विरेकेण विनिर्हरेत् ॥३४॥
दुष्टवातविषस्तन्यरक्ततोयादि चूषणैः ।
कण्ठस्रोतोगते शल्ये सूत्रं कण्ठे प्रवेशयेत् ॥३५॥
बिसेनाक्ते ततः शल्ये बिसं सूत्रं समं हरेत् ।

व्याख्या—जो लोहमय शल्य सीधा स्थित हो, उसका

व्रणमुख (व्रण मार्ग—शल्यमार्ग) खुला हो और उस में कर्ण भी न हों उसे चुम्बक द्वारा खींच कर निकाल देवे (चुम्बक लोह को खींच लेता है)।

जो शल्य पक्वाशय (मलाशय) में स्थित हो उसे विरेचन द्वारा निकाल देवे। दूषित वायु, सर्पादि के द्वारा दष्ट स्थान के विष, स्तन के (में अटका हुआ) दूध, दूषित रक्त तथा जल (डूबने से उदर में भरे जल) आदि रूपी शल्यों को सिंगी, तुम्बी आदि चूषण यन्त्रों द्वारा चूस कर निकाल देवे।

कण्ठ एवं गल नामक स्रोतस् में शल्य फँसा हो तो—विसनाल के साथ सूत्र का प्रवेश करे, सूत्र एवं विसनाल में शल्य फँस जाने पर सूत्र एवं विसनाल को एक साथ खींच कर शल्य को निकाल देवे।

वक्तव्य—सिंगी आदि का वर्णन अ. २५ में देखिये।

जतु आदि शल्य निकालने की विधि—

नाड्याऽग्नितापितां क्षिप्त्वा शलाकामप्स्थिरीकृताम्।।३६।।
आनयेज्जातुषं कण्ठात् जतुदिग्धामजातुषम्।

व्याख्या—यदि कण्ठ स्रोतस् में जतु (लाख) मय शल्य फँसा हो तो अग्नि में तपाई गई शलाका को नाली में से लेजाकर शल्य में धँसा देवे और उसे शीतल जल द्वारा शीतल करके स्थिर हो जाने पर, कण्ठ में से शल्य को नाली एवं शलाका खींच कर निकाल देवे।

इसी प्रकार जतुभिन्न (काष्ठमय आदि) शल्य को—जतुलिप्त शलाका को अग्नि पर तपा कर एवं नाली में से कण्ठ तक ले जाकर तथा शल्य को चिपका कर जल से शीतल करके स्थिर हो जाने पर शलाका एवं नाली को खींच कर शल्य को निकाल लेवे ।।३६।।

कंठ संलग्न शल्य हरण के उपाय—

केशोन्दुकेन पीतेन द्रवैः कण्टकमाक्षिपेत् ।।३७।।
सहसा सूत्रबद्धेन वमतः तेन चेतरत्।
अशक्यं मुखनासाभ्यामाहर्तुं परतो नुदेत्।।३८।।
अप्पानस्कन्धघाताभ्यां ग्रासशल्यं प्रवेशयेत्।

व्याख्या—यदि अस्थि शल्य अथवा मछली का कण्टक आदि अन्य शल्य कण्ठ में फँसा हो तो केशों की गुट्टी को दृढ़ सूत्र से बाँध कर, दूध आदि द्रव पदार्थ के साथ निगला देवे और फँस जाने पर शल्य को निकाल देवे। यदि उक्त शल्य मुख अथवा नासा से न निकाला जा सके तो दूध आदि द्रव पदार्थ पिला कर भीतर की ओर ढकेल देवे।

यदि आहार का ग्रास फँस गया हो तो जलपान करा-कर निगला देवे अथवा तत्काल निःसंकोच होकर स्कन्ध (कुन्नी ग्रीवा के पिछले भाग) पर मुष्टि का आघात कर देवे इस प्रकार ग्रास भीतर की ओर चला जाता है अथवा बाहिर की ओर निकल जाता है ।।३७,३८।।

नेत्र एवं व्रण में पड़े शल्य निकालने का उपाय—

सूक्ष्माक्षिव्रणशल्यानि क्षौमवालजलैर्हरेत्।।३९।।

व्याख्या—नेत्र अथवा व्रण में पड़े सूक्ष्म शल्य को (बालू आदि के कण को) रेशमी वस्त्र से, केश से अथवा जल के छींटों की सहायता से निकाल देवे ।।३९।।

उदर गत जल निकालने की विधि—

अपां पूर्णं विधुनुयादवाक्शिरसमायतम्।
वामयेद्वामुखं भस्मराशौ वा निखनेन्नरम्।।४०।।

व्याख्या—जिस के उदर में जल भर गया हो (जल में डूबने से ऐसा होता है) उसे नीचे की ओर शिर करके तान कर या लटका कर हिलावे (हिचकोले देवे) ऐसा करने से मुखमार्ग से जल निकल जाता है। अथवा वमन करा देवे अथवा गले तक भस्म के ढेर में गाड़ देवे।

वक्तव्य—अथवा घड़ा को अधोमुख धर कर और उसके तल पर रोगी को उदर के भार लेटा दिया जाता है इस प्रकार भी मुख मार्ग से जल निकल जाता है ।।४०।

कर्णगत जल एवं क्रिमि निकालने की विधि—

कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणी।
क्षिपेदधोमुखं कर्णं हन्याद्वाऽऽचूषयेत वा ।।४१।।
कीटे स्रोतोगते कर्णं पूरयेल्लवणाम्बुना।
शुक्तेन वा सुखोष्णेन मृते क्लेदहरो विधिः ।।४२।।

व्याख्या—कान में जल भर जाने (डुबकी लगाने पर कभी २ कान में जल चला जाता है) पर—तैल एवं जल को हाथ से मथ कर नवनीत कासा हो जाने पर कान में डाल देवे अथवा कान का मुख नीचे की ओर करके हाथ से थपथपावे इस प्रकार जल निकल जाता है अथवा कान में नाली डाल कर चूस लेवे।

कान में क्रिमि चला जाय तो कान में लवण मिश्रित जल अथवा कोसा सिरका अथवा निर्मल जल डाल देवे इस प्रकार क्रिमि स्वतः बाहिर निकल आता है।

यदि कान में गया क्रिमि भीतर ही मर जाय तो—कर्ण प्रक्षालन आदि क्लेद नाशक उपचार करे।४१,४२।

शल्य का शरीर में विलयन—

जातुषं हेमरूप्यादिधातुजं च चिरस्थितम्।
ऊष्मणा प्रायशः शल्यं देहजेन विलीयते।।४३।।

व्याख्या—लाक्षा, सोना एवं चांदी आदि धातु का

सूक्ष्म शल्य चिरकाल पर्यन्त शरीर में पड़ा पड़ा शरीर की ऊष्मा के प्रभाव से प्रायः विलीन हो जाता है ॥४३॥

अविलेय शल्य—

मृद्वेणुदारुशृङ्गास्थिदन्तवालोपलानि च ।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि वा ॥ ४४ ॥
विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्यं चिरादपि ।
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी ॥४५॥

व्याख्या—मिट्टी, बाँस, लकड़ी, सींग, अस्थि, दन्त, बाल, (केश—लोम) तथा पाषाण के शल्य विलीन नहीं होते । शृंग (सींग), बाँस, लोह, ताड़ तथा लकड़ी के शल्य कालान्तर में प्रायः टेढे हो जाते हैं और मांस एवं रक्त में पाक उत्पन्न कर देते हैं ।

वक्तव्य—इस पाठ में मृद् एवं मृण्मयानि वा (श्लो० ५४) दो बार मिट्टी रूपी शल्य का उल्लेख किया गया है जो समीचीन प्रतीत नहीं होता. अ. सं. सू. अ. ३७ में मूल पाठ इस प्रकार है—

विषाण वेणुं दारु-अस्थि दन्त बालोपलानि तु ।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृण्मयानि च ॥

यह पाठ समीचीन है और यही पाठ सु. सू. अ. २६ में है देखिये श्लोक २२ ॥ ४४,४५ ॥

शल्य निकालने के अन्य उपाय—

शल्ये मांसावगाढे चेत्स देशो न विदह्यते ।
ततस्तं मर्दनस्वेदशुद्धिकर्षणबृंहणैः ॥४६॥
तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदाङ्कनैः ।
पाचयित्वा हरेच्छल्यं पाटनैषणभेदनैः ॥४७॥

व्याख्या—जब शल्य मांस में धँसा हो और वह स्थान पक भी न रहा हो तब वहाँ आवश्यकतानुसार मर्दन स्वेदन, शोधन (वमन विरेचन आदि), कर्षण (कृशता कारक उपाय), बृंहण, अजवायन एवं गुड़ आदि तीक्ष्ण उपनाह, उचित पान एवं अन्न तथा शस्त्र द्वारा सघन पच्छ लगाना आदि के प्रयोग से पकाने का प्रयत्न करें और पक जाने पर शल्य स्वतः निकल जाता है । यदि न निकले तो पाटन, एषण अथवा भेदन कर्म करके शल्य को निकाल देवे ।

वक्तव्य—कोई२ शल्य ऐसे भी होते हैं जिनको तत्काल निकालना आवश्यक होता है और पाक की प्रतीक्षा करने से मृत्यु होने का भय रहता है अथवा अङ्ग काटना पड़ता है जैसे बन्दूक की गोली आदि । इस दशा में तत्काल पाटन आदि शस्त्र कर्म द्वारा शल्य निकाल देना चाहिए । ४६,४७॥

शल्य निकालने का संकेत—

शल्यप्रदेशयन्त्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम् ॥
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्यं विद्यात्तथाऽऽहरेत् ॥४८॥

व्याख्या—शल्यों, शरीर के अवयवों तथा यन्त्रों की विविधता को समझ कर, शल्य आदि को जैसा समझे उन उन उपायों (मर्दन आदि उपायों—देखिये श्लोक५७) से वैसे शल्य को निकाल देवे ।

वक्तव्य—क्योंकि—सु. सू. अ. २७ ।

शोथपाकौ रुजश्चोग्राः कुर्यात् शल्यमनाहृतम् ।
वैकल्यं मरणं चापि तस्मात् यत्नं तु विनिर्हरेत् ॥२५॥

अर्थात्—यदि शल्य नहीं निकाला जाता तो साधारण शल्य शोथ, पाक तथा भीषण वेदनाओं को उत्पन्न करता है और दारुण शल्य पक्षाघात आदि विकलता को उत्पन्न करता है अथवा मृत्यु का कारण हो जाता है इसलिये उक्त किसी भी उपाय से शल्य निकाल देना चाहिए ।

निःशल्य का लक्षण—अ. सं. सू अ. ३७—

व्रणे प्रसन्ने प्रान्तेषु नातिस्पर्शाऽसहिष्णुषु ।
अल्पे शोफे च तापे च निःशल्यमिति निर्दिशेत् ॥

अर्थात् व्रण में यदि शल्य का सन्देह हो तो इस प्रकार निर्णय करना चाहिये यथा—यदि व्रण स्वच्छ हो, आस पास दबाने से कष्ट न हो और शोथ तथा संताप घटता जा रहा हो तो समझना चाहिये कि व्रण के भीतर शल्य नहीं हैं ॥४८॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातः शस्त्रकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब शस्त्रकर्म विधि का व्याख्यान (वर्णन) करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वतरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—शस्त्रकर्म विधि का वर्णन सु.सू. अ. ५, १७, १८, १९ तथा २५ में,च. चि. अ० २५ में और अ. सं. सू. अ. ३८ में देखिये ।

व्रण का वर्णन—

व्रणः सञ्जायते प्रायः पाकाच्छ्वयथुपूर्वकात् ।
तमेवोपचरेत्तस्माद्रक्षन् पाकं प्रयत्नतः ॥१॥
सुशीतलेपसेकाऽस्रमोक्षसंशोधनादिभिः ।

व्याख्या—प्रायः शोथपूर्वक पाक होने से व्रण हो

जाता है अतः पाक से रक्षा करता हुआ चिकित्सक प्रथम प्रयत्न पूर्वक शीतल लेपों से, शीतल सेचनों से, रक्त स्रावण से तथा वमन एवं विरेचन आदि संशोधन से शोथ की ही चिकित्सा करे।

वक्तव्य—व्रण का वर्णन देखिए उ. तं. अ. २५ में। एकदेशोत्थित शोथ व्रण का पूर्वरूप होता है जो फोड़ा कहलाता है। शोथ की आमावस्था में उक्त शीतल लेप आदि का प्रयोग करे जिससे पाक का प्रारम्भ ही न हो तथापि यदि वह शोथ पक जाता है तो वह स्वतः फूट जाता है अथवा दारण लेप करने से फूट-फट जाता है परन्तु यदि पाक गम्भीर होता है तो चीरा लगाना आवश्यक होता है। उक्त पाठ का तात्पर्य यह है कि व्रण अर्थात् घाव को यथासम्भव पाक से बचाना चाहिए, पाक होने पर जो व्रण होता है वह अत्यन्त कष्ट साध्य या असाध्य होता है ॥ १ ॥

आम शोथ का लक्षण—

शोफोऽल्पोऽल्पोष्मरुक्सामः सवर्णः कठिनः स्थिरः॥२॥

व्याख्या—आम शोथ (कच्चा फोड़ा) छोटा थोड़ी उष्णता तथा वेदना वाला, त्वचाके सदृश वर्णवाला, कठोर (कड़ा) तथा स्थिर (अचल) होता है।

वक्तव्य—इस अवस्था में उक्त शीतल लेप आदि का प्रयोग करे जिससे फोड़ा बैठ जाय॥ २ ॥

पच्यमान शोथ का लक्षण—

पच्यमानो विवर्णस्तु रागी बस्तिरिवाततः।
स्फुटतीव सनिस्तोदः साङ्गमर्दविजृम्भकः।३॥
संरम्भारुचिदाहोषातृड्ज्वरानिद्रतान्वितः।
स्त्यानं विष्यन्दयत्याज्यं व्रणवत्स्पर्शनासहः॥४॥

व्याख्या—पच्यमान (पकता हुआ) शोथ (फोड़ा) त्वचा से भिन्न वर्णवाला, लालिमावाला, वस्ति के समान तना हुआ, फूटने फूटने कीसी भीषण वेदनावाला चुभने कीसी व्यथा से युक्त, अंग मर्द एवं जृम्भा (जम्भाई) से युक्त, संरम्भ अर्थात् विविध प्रकार की अनिर्वचनीय वेदनाओं से युक्त, अरुचि, दाह ऊष्म (भाप निकलती प्रतीत होना), तृषा, ज्वर तथा निद्रा नाश से युक्त होता है, उस पर लगाया गया घृत शीघ्र पिघल जाता है। और व्रण के समान स्पर्श का सहन नहीं होता ॥३,४॥

पक्व शोथ का लक्षण—

पक्वेऽल्पवेगता म्लानिः पाण्डुता वलिसम्भवः।
नामोऽन्तेषून्नतिर्मध्ये कण्डूः शोफादिमार्दवम् ॥५॥
स्पृष्टे पूयस्य सञ्चारो भवेद्बस्ताविवाम्भसः।

व्याख्या—पकने पर संरम्भ (विविध प्रकारकी वेदनाएँ जो पच्यमान शोथ में थीं) घट जाता है, शोथ छोटा हो जाता है, पीलापन आ जाता है, वलियाँ (झुरियाँ) पड़ जाती हैं, सब ओर से नम जाता है और मध्य भाग में कुछ ऊँचा होता है, कण्डू होती है (शोथ के आस-पास खुजली होने लगती है), शोथ आदि में न्यूनता आ जाती है और स्पर्श करने (दबाने) पर पूय का संचार होता है जैसे वस्तिपुट में जल का।

वक्तव्य—और व्याधेः उपद्रवशान्तिः भक्ताभिकांक्षा च (सु. सू. अ. १७) अर्थात् पच्यमान अवस्था के दाह आदि उपद्रव शांत हो जाते हैं और भोजन की इच्छा होने लगती है इस दशा में यदि स्वयं न फूटे तो चीरा लगाकर पूय निकाल देना चाहिए ॥ ५ ॥

वातादि के मुख्य लक्षण—

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् ॥६॥
रागो रक्ताच्च पाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः।

व्याख्या—वायु के बिना शूल, पित्त के बिना दाह, कफ के बिना शोथ तथा रक्त के बिना राग (लाली) नहीं होता इसलिये रक्तयुक्त तीनों दोषों से "पाक" होता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि पाक के समय उक्त लक्षण वात आदि की विकृति से ही होते हैं अतःपाक में वे सब हेतु-भूत होते हैं। विशद वर्णन देखिये सु. सू. अ. १७ में ॥६॥

पाकातिक्रान्त का वर्णन—

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः ॥७॥
वलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः।

पाक का अतिक्रमण होने पर (यदि वह स्वतः नहीं फूटता अथवा दारण क्रिया द्वारा नहीं फोड़ा जाता अथवा शस्त्रक्रिया द्वारा चीरा नहीं जाता तो) वह (फोड़ा) भीतर से खोखला हो जाता है- उस पर की त्वचा पतली हो जाती है वह दोषों द्वारा भक्षित हो जाता है, उस पर झुरियाँ पड़ जाती हैं, कालापन आ जाता है, तथा वहाँ के रोम उखड़ जाते हैं।

वक्तव्य—इस अवस्था के पूर्व दारण करके शोधन रोपण आदि उचित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिये अन्यथा नाड़ीव्रण हो सकता है ॥७॥

गम्भीर पाक का वर्णन—

कफजेषु तु शोफेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक् ॥८॥
पक्वलिङ्गं ततोऽस्पष्टं यत्र स्याच्छीतशोफता।

त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वं घनस्पर्शत्वमश्मवत् ॥९॥
रक्तपाकमिति ब्रूयात्तं प्राज्ञो मुक्तसंशयः ।

व्याख्या—कफ प्रधान शोफों (फोड़ों) में रक्त का पाक गम्भीर (गहराई में होता हैं इस लिये पाक के लक्षण भी स्पष्ट (पूर्ण रूपेण व्यक्त) नहीं होते परन्तु कई दिन व्यतीत हो जाने पर भी जहाँ शोथ (फोड़ा स्पर्श में शीत हो, त्वचा में भी समानवर्णता हो, वेदना में अल्पता हो गई हो, स्पर्श में पाषाण के समान कठोरता हो वहाँ बुद्धिमान् चिकित्सक बिना सन्देह के "रक्त पाक" (गम्भीर पाक) समझ लेवे ।

वक्तव्य—इस विषय का मूल पाठ अ० स० सू० अ० ३८ में इस प्रकार है—कफजेषु तु शोफेषु केषुचित् गम्भीरत्वात् रक्तमेव विपच्यते ततः च अस्पष्टं पक्वलिङ्गं भवति, यत्र हि त्वक्सावर्ण्यं, शीतशोफता, अल्परुजता अश्मवत् घनता न तत्र मोहमुपेयात्तात् तं रक्तपाकमिति आचक्षते ।

अर्थात्—किन्हीं२ कफज शोफों में गम्भीर होने के कारण केवल रक्त का पाक होता है परन्तु वायु एवं पित्त के शूल एवं दाह आदि लक्षण (श्लो० ६ देखिए) व्यक्त न होने से पाक के लक्षण जो श्लोक ५ में कहे गये हैं स्पष्ट नहीं होते और क्योंकि जहाँ२ त्वक्सवर्णता आदि आमशोथ के लक्षण हो वहाँ शोथ को आम (अपक्व) ही समझते रहना जैसी भूल न करे यह ध्यान में रखना चाहिए कि "रक्त पाक" भी होता है। इस विषय को भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार कहा हैं कि—सु. सू. अ. १७—

स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमपि अपक्वमिति मन्यमानः चिरम् उपेक्षते व्याधिं वैद्य ततः गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदार्य उत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवति असाध्यो वा इति ॥ ८ ॥

अर्थात्—जब चिकित्सक भय अथवा भूल के कारण पक्व शोथ को भी अपक्व मानता हुआ चिरकाल पर्यन्त उपेक्षा करता है—उचित उपचार नहीं करता तब वह पूय गम्भीर होने के कारण (गहराई में होने के कारण) द्वार को न पाकर, अपने आश्रय को फाड़कर, काटर कासा बड़ा अवकाश बनाकर और नाड़ीव्रण का रूप धरकर कष्टसाध्य अथवा असाध्य हो जाता है। देखा गया है कि इस प्रकार का व्रणशोथ (फोड़ा) जब दारण लेपो से भी नहीं फूटता-फटता तब शस्त्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है और चीरा लगाने पर बड़े वेग से पूय निकलता है। इस प्रकार का फोड़ा "गम्भीर" कहा जाता है ॥८, ९॥

दारण लेप एवं पाटन—

अल्पसत्त्वेऽबले बाले पाकाद्वाऽत्यर्थमुद्धते ॥१०॥
दारणमर्मसन्ध्यादिस्थिते चान्यत्र पाटनम् ।

व्याख्या—यदि रोगी का मानसिक बल अल्प हो, शरीर कृश एवं दुर्बल हो अथवा रोगी बालक हो और पाक पूर्णरूप से हो गया हो अथवा व्रण शोथ मर्मस्थ अथवा सन्धि स्थल पर हो तो दारण लेप (उ० अ० २५ का) करे अन्यथा शस्त्र द्वारा पाटन कर्म (चीरा) करे ।

वक्तव्य—दारण लेप से फोड़ा शीघ्र एवं सरलता से फूट जाता है, शस्त्र कर्म की आवश्यकता नहीं पड़ती और सिरा एवं स्नायु आदि की व्यापद का भय भी नहीं होता । दारण लेप का योग उ. तं. अ. २५ श्लो० २७ में देखिये ॥१० ॥

आम शोथ में शस्त्रकर्म का निषेध—

आमच्छेदे सिरास्नायु-व्यापदोऽसृगतिस्रुतिः ॥११॥
रुजोऽतिवृद्धिर्दरणं विसर्पो वा क्षतोद्भवः ।

व्याख्या—आम (अपक्व) शोथका छेदन (पाटन) करने पर सिरा एवं स्नायु की व्यापद् (विकृति) होती है फलतः रक्त का अधिक स्राव तथा वेदनाओं की अधिक वृद्धि हो सकती है और अवदरण अथवा क्षतजनित विसर्प रोग (विद्रधि-सुश्रुत) हो सकता हैं ।

वक्तव्य—अतः आम शोथ पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए परन्तु—॥ ११ ॥

पक्व शोथ में शस्त्रकर्म काविधान—

तिष्ठन्नन्तः पुनः पूयः सिरास्नाय्वसृगामिषम् ॥१२॥
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानलः ।

व्याख्या—और व्रण शोथ के भीतर पूय पड़ा रहने पर वह सिरा, स्नायु, रक्त तथा मांस को जला (सड़ा) देता है जैसे बढ़ा हुआ अग्नि घास के पूला को जला देता है ।

वक्तव्य—पक जाने पर पूय निकालना भी अत्यावश्यक है, दारण लेप से न निकाला जा सके तो पाटन कर्म अवश्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

अनिश्चितकारी चिकित्सक की निन्दा—

यश्छिनत्त्यामसज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते ॥१३॥
श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ ।

व्याख्या—जो चिकित्सक अज्ञान से आम शोथ का छेदन (पाटन) करता है और जो पक्व शोथ की उपेक्षा करता है (दारण अथवा पाटन नहीं करता) वे दोनों चाण्डाल के समान मानने योग्य होते हैं क्योंकि वे दोनों अनिश्चितकारी हैं ।

वक्तव्य—पक्व एवं अपक्व का निश्चय न कर सकने के

कारण से चिकित्सक अनिष्टकारी होते हैं तात्पर्य यह है कि आम एवं पक्व का ज्ञान—अभिज्ञान सावधान होकर करना चाहिये और तदनुसार उपचार करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि ही होती है ॥ १३ ॥

शस्त्रकर्म का पूर्वकर्म—

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदन्नमातुरम् ॥१४॥
पानकं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाक्षमः।
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तःशस्त्रं न बुध्यते ॥१५॥
अन्यत्र मूढगर्भाश्म-मुखरोगोदरातुरात्।

व्याख्या—शस्त्रकर्म के पूर्व रोगी को अभीष्ट (इच्छानुसार हित, प्रिय एवं शक्तिवर्द्धक) आहार खिला देवे और मद्य पीने वाले को तीक्ष्ण मद्य पिला देवे, जो रोगी शस्त्र कर्म की वेदना सहने में असमर्थ हो उसे तीक्ष्ण मद्य अवश्य पिला देना चाहिये क्यों कि—आहार के संयोग से रोगी मूर्च्छित नहीं होता और मद्यपान से शस्त्रकर्म जनित वेदना का अनुभव नहीं करता।

परन्तु आहार तथा मद्य का सेवन-मूढ गर्भ में,अश्मरी में, मुखरोग में तथा उदर रोग में नहीं होना चाहिये।

वक्तव्य—ईश्वर की कृपा से अब "क्लोरोफार्म" नामक संज्ञाहरण औषध का आविष्कार हो गया है तथा छोटे शस्त्र कर्म के लिये स्थानीय शून्यता कारक कोकीन एवं ईथर नामक औषधों का आविष्कार हो गया है जिस से शस्त्रकर्म में बहुत सरलता एवं सुकरता हो गई है ॥ १४-१५ ॥

शस्त्र कर्म की विधि—

अथाहृतोपकरणं वैद्यः प्राङ्मुखमातुरम् ॥१६॥
सम्मुखो यन्त्रयित्वाऽऽशु न्यस्येन्मर्मादि वर्जयन्।
अनुलोमं सुनिशितं शस्त्रमापूयदर्शनात् ॥१७॥
सकृदेवाहरेत्तच्च पाके तु सुमहत्यपि।
पाटयेद् द्व्यङ्गुलं सम्यग्द्व्यङ्गुलत्र्यंगुलान्तरम् ॥१८॥
एषित्वा सम्यगेषिण्या परितः सुनिरूपितम्।
अंगुलीनालवालैर्वा यथादेशं यथाशयम् ॥१९॥
यतो गतां गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात्सुविभक्तं निराशयम् ॥२०॥
आयतं च विशालं च यथा दोषो न तिष्ठति।

व्याख्या—अथ (ईश्वर का स्मरण एवं मंगलाचरण करके) आवश्यक (शस्त्र कर्मोपयोगी) उपकरणों का संग्रह करके, रोगी को पूर्व की ओर मुखकरके बैठा कर अथवा लेटाकर, उसके अंगों को बाँधकर अथवा परिचारकों से पकडवाकर, चिकित्सक उचित स्थान पर खड़ा होकर अथवा बैठ कर, मर्म आदि को बचाकर अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से अनुलोम पाटन कर्म करे, शस्त्र का प्रवेश इतना करे जिससे पूय का दर्शन हो जाय इसके अनन्तर तत्काल शस्त्र को निकाल लेवे।

बड़े से बड़े पाक में दो अंगुल लम्बा व्रण (घव-चीरा) करे आवश्यकता हो तो दो अथवा तीन अंगुल के अन्तर पर दूसरा व्रण कर देवे। इतना ही नहीं अपितु-एषणी, अंगुली, कमल नाल (रबड़ की नाल) अथवा बालों (केशों) की वेणी द्वारा सब और व्रण-शोथ के भीतर पाक के देशों तथा आशय (उत्पत्ति स्थानों) तथा पूय रहने के स्थानों को भलीभाँति समझकर, जहाँ जहाँ पूय की अथ च एषणी की गति हो और जहाँ जहाँ उत्सङ्ग कोटर) हो वहाँ वहाँ व्रण कर देवे जिससे भलीभाँति "पूय" निकल जावे।

ये व्रण सुविभक्त हों (जो परस्पर मिले न हों) निराश्रय या निराशय हों (जिसमें पूय के रहने का स्थान न हो—दोष का मूल अवशिष्ट न हो), आयत हों (लम्बे; उचित लम्बाई वाले) तथा विशाल (चौडे मुख वाले) हों जिससे पूय का भलीभाँति निःसरण हो जाय-होता रहे तथा औषध लगाई एवं पहुचाई जा सके।

वक्तव्य—विवरण देखिये सु० सू० अ० ५ में। तात्पर्य यह है कि यदि एक व्रण करने से पूर्ण रूप से शोधन न हो रहा हो तो एक से अधिक व्रण कर देवे ॥१६-२०॥

शस्त्र कर्म में प्रशंसनीय—

शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्णं शस्त्रमस्वेदवेपथु ॥२१॥
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते।

व्याख्या—शस्त्र कर्म में—शौर्य (निर्भीकता), आशु क्रिया (शीघ्रता पूर्वक शस्त्र का प्रयोग), तीक्ष्ण शस्त्र, स्वेद एवं कम्पन का अभाव तथा वैद्य का असंमोह (मुग्ध-मूर्च्छित या उद्विग्न न होना) प्रशंसा के योग्य है।

वक्तव्य—अर्थात् शस्त्रकर्म के समय उक्त सद्गुण परम आवश्यक हैं ॥२१॥

तिर्यक् छेदन का विधान—

तिर्यक्छिन्द्याल्ललाटभ्रूदन्तवेष्टकजत्रुणि ॥२२।
कुक्षिकक्षाक्षिकूटौष्ठ कपोलगलवंक्षणे।
अन्यत्र छेदनात्तिर्यक् सिरास्नायुविपाटनम् ॥२३॥

व्याख्या—ललाट (माथा), भौं, दन्तवेष्ट (मसूडा), जत्रु, कुक्षि, कक्षा, अक्षिकूट, ओठ, कपोल, गल तथा वंक्षण में तिरछा व्रण करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अवयवों में तिरछा व्रण करने से सिरा एवं स्नायु की व्यापत्ति हो सकती है।

वक्तव्य—और अतिमात्रं वेदना, चिरात् व्रण संरोहः मांस वन्दी प्रादुर्भावश्चेति ।१५। सु० सू० अ० ५ ॥२२॥

शस्त्रकर्म का पश्चात्कर्म

शस्त्रेऽवचारिते वाग्भिः शीताम्भोभिश्च रोगिणम् ।
आश्वास्य परितोऽङ्गुल्या परिपीड्य व्रणं ततः ॥२४॥
क्षालयित्वा कषायेण प्लोतेनाम्भोऽपनीय च ।
गुग्गुल्वगुरुसिद्धार्थहिंगुसर्जरसान्वितैः॥२५॥
धूपयेत्पटुषड्ग्रन्थानिम्बपत्रैर्घृतप्लुतैः ।
तिलकल्काज्यमधुभिर्यथास्वं भेषजेन च ॥२६॥
दिग्धां वर्तिं ततो दद्यात्तैरेवाच्छादयेच्च ताम् ।
घृताक्तैः सक्तुभिश्चोर्ध्वं घनां कवलिकां ततः ॥२७॥
निधाय युक्त्या बध्नीयात्पट्टेन सुसमाहितम् ।
पार्श्वे सव्येऽपसव्ये वा नाधस्तान्नैव चोपरि ॥२८॥

व्याख्या—शस्त्र कर्म के अनन्तर—वाणी (उत्साह-वर्द्धक वचनों) से तथा शीतल जल (पिलाकर तथा उसके छींटे देकर से रोगी को आश्वासन (सान्त्वना) देकर, व्रण को सब ओर से अंगुली द्वारा दबाकर (पूय निकाल कर) निम्ब एवं त्रिफला आदि के कषाय से धोकर, रूई के प्लोत (फाहा) द्वारा वहाँ के जल को दूर करके, गूगल, अगुरु, सरसों, हींग, राल, लवण, बाल वच तथा निम्बपत्र के जौ कुट चूर्ण में घृत मसल के धूप देवे तत्पश्चात् दोष नामक औषध से मिश्रित तिल कल्क, मधु एवं घृत के मिश्रण से उपलिप्त वत्ती को व्रण के भीतर दे देवे और फिर तिल कल्क आदि उल्लिखित द्रव्यों के मिश्रणसे आच्छादित करके ऊपर घृत मिश्रित सत्तुओं की मोटी कवलिका धरकर (व्रण में भर कर) सावधानता पूर्वक पट्टी से बाँध देवे ।

और पट्टी की ग्रन्थि व्रणभूमि के बाँए अथवा दाहिने पार्श्व में देनी चाहिये, व्रण के ऊपर अथवा अवयव के निचले भाग पर नहीं देनी चाहिये ।

वक्तव्य—गहरे व्रण में कवलिका न भरने से बन्ध का उचित दवाव नहीं पड़ता फलतः वत्ती अथवा लेप खिसक सकता है और व्रण पर ग्रन्थि रहने में वह व्रण में चुभ सकती है ॥२४.२८॥

पट्टी आदि की शुद्धि का निर्देश—

शुचिसूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः ।
धूपिता मृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिताः ॥२९॥

व्याख्या—पट्ट (पट्टियाँ), कवलिका, तथा विकेशिका (वत्ती का सूत या कपड़ा)—शुचि (स्वच्छ-शुद्ध), सूक्ष्म (पतलेसूत या कपड़ा की) परन्तु दृढ, धूप देकर शुद्धि की गई, कोमल, श्लक्ष्ण (न चुभने वाली) तथा वली रहित (जिसमें वली या झुर्री न हो) व्रण के लिये लाभदायक होती हैं ॥२९॥

व्रणरक्षा का विधान—

कुर्वीतानन्तरं तस्य रक्षां रक्षोनिषिद्धये ।
बलिं चोपहरेत्तेभ्यः सदा मूर्ध्ना च धारयेत् ॥३०॥
लक्ष्मीं गुहामतिगुहां जटिलां ब्रह्मचारिणीम् ।
वचां छत्रामतिच्छत्रां दूर्वांःसिद्धार्थकानपि ॥३१॥

व्याख्या—उक्त पट्टी बाँधने के अनन्तर राक्षसों की निवृत्ति के लिये रक्षा कर्म करे और राक्षसों के लिये बलि (उपहार) देवे तथा सर्वदा शिरपर लक्ष्मी (पद्म चारिणी), गुहा (पृष्ठपर्णी), अति गुहा (शालपर्णी),जटिला (जटा मांसी) ब्रह्मचारिणी (ब्रह्मयष्टिका), बाल वच, छत्रा (शतपुष्पा-सौंफ-सोया), अतिच्छत्रा (मिश्रेया), दूब तथा सरसों नामक द्रव्यों का धारण करे ।

वक्तव्य—रक्षा विधान या रक्षायन्त्र देखिये सु० सू० अ० ५ में और साबर मन्त्रों से रक्षा की जाती है जिसे 'झाड़ना'' कहते हैं। बलि देशाचार एवं कुलाचार के अनुसार देनी चाहिये । कवलिका—कपड़ा की गद्दी या औषध कल्क का कवल, विकेशिका—औषधलिप्तवर्ति ॥३०—३१॥

आहार विहार का निर्देश—

ततः स्नेहविधानोक्तं तस्याचारं समादिशेत् ।

व्याख्या—इतना सब कर्म करने के पश्चात् रोगी को—स्नेहविधि अध्याय १६ में उष्णोदकोपचारी स्यात् आदि पाठ में बतलाए गये आहार विहार का निर्देश कर देवे । और रोगी उस का पालन करे ।

दिवास्वप्न आदि का निषेध—

दिवास्वप्नो व्रणे कण्डूरागरुक्शोफपूयकृत् ॥३२॥
स्त्रीणां तु स्मृतिसंस्पर्शदर्शनैश्चलितस्रुते ।
शुक्रे व्यवायजान् दोषानसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥३३॥

व्याख्या—दिन में सोना—व्रण कण्डू, लालिमा,वेदना शोथ तथा पूय को उत्पन्न करता है अतः रोगी दिन में न सोवे । गमनीय स्त्रियों का स्मरण, स्पर्शन तथा दर्शन (कामवासना के विचार से) करने से शुक्र का स्खलन एवं स्राव होने पर मैथुन क्रिया के बिना भी मैथुन जनित दोषों की उत्पत्ति हो जाती है ।

वक्तव्य—अतः गमनीय स्त्रियों से पुमान् रोगी और गमनीय पुरुषों से स्त्रीरोगिणी को दूर रहना चाहिये, काम वासना से बचना चाहिये । इस विषय में भगवान् धन्वन्तरि का एक वचन है कि—सु० सू० अ० १९ —

व्रणे श्वयथुः आयासात् स च रागश्च जागरात् ।
तौ च रुक् च दिवास्वापात् ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥३३॥

अर्थात्—परिश्रम से व्रण में शोथ हो जाता है, रात्रि जागरण से शोथ तथा राग (लालिमा), दिन में सोने से शोथ, राग तथा वेदना और मैथुन से शोथ, राग, वेदना तथा मृत्यु हो जाती है या हो सकती हैं ॥३२,३३॥

व्रण रोगी का आहार—

भोजनं च यथासात्म्यं यवगोधूमषष्टिकाः ।
मसूरमुद्गतुवरीजीवन्तीसुनिषण्णकाः ॥३४॥
बालमूलकवार्ताकतण्डुलीयकवास्तुकम् ।
कारवेल्लककर्कोटपटोलकटुकाफलम् ॥३५॥
सैन्धवं दाडिमं धात्री घृतं तप्तहिमं जलम् ।
जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णोदकोत्तरम् ॥३६॥
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति ।

व्याख्या—व्रण रोगी सात्म्य के अनुकूल भोजन करे यथा—जौ, गेहूँ तथा साठी धान्यों का दलिया, रोटी एवं भात आदि मसूर, मूँग तथा तुवरी (तोर—अरहर) की दालें, जीवन्ती, सुनिषण्णक, कच्चीमूली, भण्टा, चौलाई तथा बथुआ के शाक, करेला, खेखसा, परवल तथा कुटकी के फलों के शाक, सैन्धव लवण, अनार, आमला, घृत, तपा कर शीतल किया गया जल विशेषतः—पुराने शालि चावलों का भात जो स्नेह मिश्रित, मात्रा में अल्प तथा उष्ण २ हो तथा अधिक लट पेया आदि द्रव आहार को हरिण आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांसों या मांस रसों के साथ खाता २ रोगी अपने को शीघ्र ही नष्ट कर लेता है (अर्थात् उक्त आहारों के सेवन से शीघ्र ही व्रण का रोपण हो जाता है) ॥३४,३६॥

जीर्ण एवं अजीर्ण से लाभ एवं हानि—

अशितं मात्रया काले पथ्यं याति जरां सुखम् ॥३७॥
अजीर्णात्त्वनिलादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ।
ततः शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात् ॥३८॥

व्याख्या—समय पर मात्रानुसार खाया हुआ पथ्य आहार सुखपूर्वक पच जाता है परन्तु अजीर्ण होने पर वायु आदि का घोर विभ्रम (प्रकोप) हो जा सकता है जिस से व्रण में शोथ, वेदना, पाक तथा दाह और उदर में आनाह की उत्पत्ति हो सकती है ॥३७,३८॥

त्याज्य आहार—

नवं धान्यं तिलान् माषान् मद्यं मांसमजांगलम् ।
क्षीरेक्षुविकृतीरम्लं लवणं कटुकं त्यजेत् ॥३९॥
यच्चान्यदपि विष्टम्भि विदाहि गुरु शीतलम् ।
वर्गोऽयं नवधान्यादिर्व्रणिनः सर्वदोषकृत् ॥४०॥
मद्यं तीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापदयेद् व्रणम् ।

व्याख्या—नूतन धान्य, तिल, उरद मद्य, अनूपदेशीय प्राणियों के मांस, दूध के खोया आदि तथा ईख के गुड़, आदि पदार्थ, आम इमली आदि को खटाई, सैन्धव लवण के अतिरिक्त, लवण, लालमरिच आदि कटु द्रव्यों का परित्याग करना चाहिये। और अन्यान्य जो भी द्रव्य विष्टम्भ कारक हों, विदाह कारक हों, गुरु तथा शीतल हों उन का भी परित्याग करे।

उक्त नवधान्य आदि वर्ग व्रण रोगी के शरीर में सब दोषों को प्रकुपित (विकृत) कर देता है और जो मद्य—तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष तथा अम्ल होता है वह व्रण में पाक आदि उत्पन्न करके व्रण को व्यापन्न (विकृत) कर देता है (इन तीक्ष्ण आदि दुर्गुणों से रहित द्राक्षासव एवं लोध्रासव आदि स्निग्ध एवं मधुर मद्य का थोड़ा मात्रा में सेवन किया जा सकता है) ॥३९-४०॥

अन्यान्य उपदेश—

बलोशीरैश्च वीज्येत न चैनं परिघट्टयेत् ॥४१॥
न तुदेन्न च कण्डूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत् ।
स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाः शृण्वन्मनःप्रियाः ॥४२॥
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति

व्याख्या—मक्षिका एवं मच्छर के बचाव के लिये चमर एवं खस के पंखा से व्रण पर वायु करता रहे, व्रण पर किसी प्रकार का दबाव न देवे, सूई आदि न चुभावे और न खुजली करे, उठते, बैठते तथा चलने आदि में व्रण की रक्षा करता रहे—करे, प्रिय जनों, वृद्धों तथा ब्राह्मणो के मुख से मनोहर कथाएँ सुनता रहे और रोगमुक्ति के लिये आशावान् बना रहे। इस प्रकार व्रण का रोपण शीघ्र हो जाता है ॥४१,४२॥

पुनः प्रक्षालन आदि कर्म—

तृतीयेऽह्नि पुनः कुर्याद् व्रणकर्म च पूर्ववत् ॥४३॥
प्रक्षालनादि, दिवसे द्वितीये नाचरेत्तथा ।
तीव्रव्यथो विग्रथितश्चिरात्संरोहति व्रणः ॥४४॥

व्याख्या—इसके पश्चात् फिर तीसरे दिन प्रक्षालन आदि व्रण कर्म पूर्ववत् करे दूसरे ही दिन न करे क्योंकि ऐसा करने से व्रण में तीव्र वेदना हो सकती है तथा व्रण में ग्रन्थि उत्पन्न हो सकती है और व्रण का रोपण विलम्ब से होता है

वक्तव्य—देखिये सु० सू० अ० ५ का पाठ ३९ ॥४३,४४॥

विकेशिका आदि का वर्णन—

स्निग्धां रूक्षां श्लथां गाढां दुर्न्यस्तां च विकेशिकाम्।
व्रणे न दद्यात्कल्कं वा स्नेहात्क्लेदो विवर्धते ॥४५॥
मांसच्छेदोऽतिरुग्रौक्ष्याद्दरणं शोणितागमः।
श्लथातिगाढदुर्न्यासैर्व्रणवर्त्मावघर्षणम् ॥४६॥
सपूतिमांसं सोत्सङ्गं सगतिं पूयगर्भिणम्।
व्रणं विशोधयेच्छीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका ॥४७॥

व्याख्या—व्रण में विकेशिका अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त रूक्ष, अत्यन्त शिथिल, अत्यन्त कठोर एवं मोटी नहीं देनी चाहिये और जिनसे रोगी को कष्ट हो वैसी भी नहीं देनी चाहिये और इस प्रकार का कल्क (वकल वकालिका) भी नहीं देना चाहिये।

क्यों कि अतिस्नेह से व्रण में क्लेद (आर्द्रता) की वृद्धि होती है, रूक्षता से मांस कटता है (फटता है) तथा वेदना बढ़ जाती है, व्रण भूमि फट जाती है और रक्त बहने लगता है और शिथिल तथा गाढ एवं दुर्न्यस्त विकेशिका से व्रण मार्ग का घर्षण होता है (उसमें रगड़ लगती है) (देखिये सु० सू० अ० १८ के पाठ २१ तथा श्लोक ३८)।

और व्रण के भीतर निर्दोष विकेशिका (वर्ति) देने से व्रण के भीतरका सड़ा हुआ मांस निकल जाता है, व्रण के कोटर तथा नाड़ी व्रण शुद्ध हो जाते हैं, भीतर का पूय निकल जाता है और समस्त व्रण शुद्ध हो जाता है ।।४५-४७॥

विदग्ध व्रण का उपचार—

व्यम्लं तु पाटितं शोफं पाचनैः समुपाचरेत्।
भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभिः ॥४८॥

व्याख्या यदि कदाचित् दिग्ध (अध पके) शोथ का पाटन कर दिया जाता है या कर दिया गया हो तो पाचन (शोथ को पकानेवाले आहारों का तथा उपनाहों (उष्ण वीर्य मं टे लेपों) द्वारा उपचार करे परन्तु वे व्रण को विकृत करने वाले न हों।

वक्तव्य—पाचन आहारों एवं उपनाहों के प्रयोग से रहा सहा दोष पूर्ण रूप से पक कर पूय के रूप में निकल जाता है और फिर शोधन रोपण उपचारों से आरोग्य लाभ हो जाता है। व्रण का पाचन उतना ही होना चाहिये जिस से कोई हानि न हो। यह सब तब किया जाता है जब कभी भूल से अधपके फोड़ा में चीरा दे दिया जाता है ।।४८॥

सद्यो व्रण का उपचार—

सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येद्विवृतानभिघातजान्।
मेदोजांल्लिखितान् ग्रन्थीन् ह्रस्वाः पालीश्च कर्णयोः ४९
शिरोऽक्षिकूटनासौष्ठगण्डकर्णोरुबाहुषु।
ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ्मेढ्रपायूदरादिषु ॥५०॥
गम्भीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वचलेषु च।

व्याख्या—सद्यो व्रणों को जो तलवार आदि के आघात से हो गये हों तथा खुले हों तत्काल सीवन विधि से सी देना चाहिये, टांके लगा देना चाहिये। और मेदोज अण्डवृद्धि एवं ग्रन्थियों का लेखन कर्म करने के अनन्तर सीवन कर्म करना चाहिये।

कर्ण को छोटी पालियों पर लेखन कर्म करने के अनन्तर सीवन कर्म करना चाहिये। और शिर, नेत्र कूट, नासा, ओठ, गण्ड (गाल) कर्ण, ऊरु, बाहु, ग्रीवा (सामने की ओर श्वास मार्ग एवं अन्न मार्ग सु० चि० अ० दो श्लोक ३२), ललाट, अण्डकोश, स्फिक मूत्र मार्ग (अग्रभाग की झिल्ली), गुद तथा उदर के सद्यो व्रणों का तथा गम्भीर व्रणों में और मांसल एवं अचल (सन्धि आदि से भिन्न) प्रदेशों के सद्यो व्रणों में तत्काल सीवन कर्म करना चाहिये ।४९,५०॥

सीवन कर्म का निषेध—

न तु वंक्षणकक्षादावल्पमांसे चले व्रणान् ॥५१॥
वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निजान्।

व्याख्या—वंक्षण (कूल्हा) एवं कक्षा (काँख) आदि के और अल्पमांस वाले अवयवों के तथा चल (गति शील-सन्धि स्थल) अवयवों के सद्यो व्रणों का सीवन न करे और जिन व्रणों में से वायु का वहन होता है जैसे फुफ्फुस, जिनके भीतर शल्य हो तथा जो क्षार विष तथा अग्नि दाह से उत्पन्न हों उन सद्यो व्रणों का सीवन न करे ॥५१॥

सीवन कर्म की विधि—

सीव्येद्बलास्थिशुष्कास्रतृणरोमाऽपनीय तु ॥५२॥
प्रलम्बि मांसं विच्छिन्नं निवेश्य स्वनिवेशने।
सन्ध्यस्थि च स्थिते रक्ते स्नावा सूत्रेण वल्कलैः ॥५३॥
सीव्येन्न दूरे नासन्ने गृह्णन्नाल्पं न वा बहु।

व्याख्या—स्वस्थान से विचलित अस्थि को (तथा टूटी फूटी अस्थि को), शुष्क रक्त को, तृण एवं रोम (पाषाण कण आदि को) निकाल कर सीवन कर्म करे। और कट कर लटकते मांस को उसके स्थान पर टिका कर तथा सन्धि की अस्थि को उसके अपने स्थान पर टिका कर तथा रक्त स्राव रुक जाने पर सीवन कर्म करे।

स्नायु से (अन्य प्राणी के स्नायुसूत्र से), रेशम के द्वारा से अथवा अश्मन्तक (काञ्चनार भेद वृक्ष) के वल्कल

(अन्तर छाल के डोरा) से सीवन करे। और सीवन के टांके (तोपे पञ्जाबी भाषा) न बहुत दूर दूर हों और न बहुत समीप समीप हों और त्वचा का कोर न बहुत ही थोड़ा और न बहुत अधिक ग्रहण किया जाय।

वक्तव्य—देखिये सु० सू० अ० २५ के श्लोक १६, १७, १८, बड़े २ सद्योव्रणों में सीवनकर्म अत्यावश्यक होता है। सीवनकर्म के लिये सूचियों का वर्णन देखिये सू० अ० २६ में। सीवनकर्म समासतः ४ प्रकार से किया जाता है—अ० सं० सू० अ० ३८—

सीवनविकल्पास्तु समासेन चत्वारः—गोष्फणिका, तुन्नसेवनी, वेल्लितकं राजग्रन्थिबन्धनम् इति। तेषां नामभिः एव आकृतिविभागः, प्रहारवशात् च उपयोगः ॥५२,५३॥

सीवन का पश्चात् कर्म—

सान्त्वयित्वा ततश्चार्तं व्रणे मधुघृतद्रुतैः ॥५४॥
अञ्जनक्षौमजमषीफलिनीशल्लकीफलैः।
सरोध्रमधुकैर्दिग्धे युञ्ज्याद्बन्धादि पूर्ववत् ॥५५॥

व्याख्या—सीवन कर्म के पश्चात् रोगी को सान्त्वना देकर और व्रण पर, मधु घृत में मिश्रित अञ्जन (श्वेत सुरमा या काला सुरमा), रेशम की भस्म, प्रियंगु, सलई के फल, लोध तथा मुलेठी के सूक्ष्म चूर्ण का लेप लगा कर पाटन कर्म के समान बन्धन आदि कर देवे।

वक्तव्य—यदि सद्योव्रण में सीवन कर्म न किया जा सके अथवा उसकी आवश्यकता न हो तो भी उक्त लेप अथवा केवल रेशम की भस्म बुरक कर बन्धन कर देवे। ५४,५५॥

सीवन के संकेत—

व्रणो निःशोणितौष्ठो यः किञ्चिदेवावलिख्य तम्।
सञ्जातरुधिरं सीव्येत्सन्धानं ह्यस्य शोणितम् ॥५६॥

व्याख्या—जिस व्रण के ओठों (कोरों) में रक्त न हो उसके कोरों का थोड़ा लेखन करके रक्त सिमा कर सीवन कर्म करे क्योंकि रक्त ही व्रण के सन्धान (जुड़ने) का हेतु होता है ॥५६॥

बन्धनों का वर्णन—

बन्धनानि तु देशादीन् वीक्ष्य युञ्जीत तेषु च।
आविकाजिनकौशेयमुष्णं, क्षौमं तु शीतलम् ॥५७॥
शीतोष्णं तूलसन्तानकार्पासस्नायुवल्कजम्।
ताम्रायस्त्रपुसीसानि व्रणे मेदःकफाधिके ॥५८॥
भङ्गे च युञ्ज्यात्फलकं चर्मवल्ककुशादि च।

व्याख्या—शरीर के प्रदेश एवं वातादि दोषों का विचार करके बन्धनों का प्रयोग करे।

उन बन्धनों में—भेड़ की ऊनके कपड़े का, मृग चर्म का तथा कौशेय (कौथा) नामक रेशमी कपड़े का बन्धन (पट्टी) उष्ण वीर्य होता है, रेशमी वस्त्र का बन्धन शीतल होता है और सेमल तथा कपास की रूई के कपड़ा का, स्नायु तथा वल्कल (वृक्ष की छाल) का बन्धन समशीतोष्ण होता है। और मेदःप्रधान तथा कफप्रधान व्रण पर—ताम्र, लोह, त्रपु (रांगा) तथा सीसा (सीसक–सिक्का) की पत्तियों का बन्धन करे।

और अस्थिभङ्ग (अस्थि टूटने) में—फलक (काठ की पाटी–फट्टी), मोटा चमड़ा, वृक्ष की मोटी छाल अथवा कुश (बांस की पाटी) धर कर ऊपर से बन्धन करना चाहिये।

वक्तव्य—बन्धन के लिये वल्कल की पट्टी—आज भी अफ्रीका के बनों में वे वृक्ष पाए जाते हैं जिन को छाल में ४–४, ६–६ हाथ लम्बे चौड़े वस्त्र उपलब्ध होते हैं। वे वस्त्र या वल्कल वस्त्र वैसे ही ओढ़े बिछाए जा सकते है या जाते हैं जैसे रूई एवं रेशम के वस्त्र। वल्कल की पाटी· मोटी छाल की पाटी। अस्थिभग्न पर सब ओर पाटियाँ धर कर पट्टी से बन्धन किया जाता है जिस से टूटी अस्थि हिले नहीं और सीधा सन्धान हो जाय। कुश—यज्ञोपयोगी कुश नहीं अपितु शल्य शास्त्र में कुश बांस की पाटी का नाम है। और बन्धनोपयोगी पाटी एवं पट्टी का नाम "बन्धन" है।

बन्धन के १५ भेद—

स्वनामानुगताकारा बन्धास्तु दश पञ्च च ॥५९॥
कोशस्वस्तिकमुत्तोलीचीनदामानुवेल्लितम्।
खट्वाविबन्धस्थगिका वितानोत्सङ्गगोफणाः ॥६०॥
यमकं मण्डलाख्यं च पञ्चाङ्गी चेति योजयेत्।
यो यत्र सुनिविष्टः स्यात्तं तेषां तत्र बुद्धिमान् ॥६१॥

व्याख्या—बन्धन (बन्ध) १५ प्रकार के होते हैं और उनके आकार उनके अपने अपने नाम के अनुसार होते हैं। यथा—१—कोश (कोश के आकार वाला), २—स्वस्तिक (स्वस्तिक—सतिया कासा), ३—मुत्तोली, ४—चीन, ५—दाम, ६—अनुवेल्लित, ७—खट्वा, ८—विबन्ध ९—स्थगिका, १०—वितान, ११—उत्सङ्ग, १२—गोफणा, १३—यमक, १४—मण्डल तथा १५—पञ्चाङ्गी।

इन बन्धों में जो बन्ध जिस अवयव पर भलीभाँति टिक सके वहाँ वह बन्ध बाँधना चाहिये।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में विवरण इस प्रकार पाया जाता है—

विदध्यात् तेषु तेष्वेव कोशमंगुलिपर्वसु।
स्वस्तिकं कर्णकक्षादि स्तनेषूक्तं च सन्धिषु ॥१॥
मुत्तोलीं मेढ्रग्रीवादौ युञ्ज्यात् चीनमपांगयोः।

सम्बाधेऽङ्गे तथा दाम, शाखास्वेवानुवेल्लितम् ॥२॥
खट्वां गण्डे हनौ शंखे विबन्धं पृष्ठकोदरे ॥
अंगुष्ठांऽगुलिमेढ्राग्रे स्थगिकामन्त्रवृद्धिषु ॥३॥
वितानं पृथुलांगादौ तथा शिरसि चेरयेत् ।
विलम्बिनि तथोत्संगे, नासौष्ठचिबुकादिषु ॥४॥
गोष्फणं सन्धिषु तथा, यमकं यमके व्रणे ।
वृत्तेऽङ्गे मण्डलाख्यं च पञ्चांगीं चोर्ध्वंजत्रुषु ॥५॥

सु० सू० अ० १८ में उत्संग को छोड़ कर १४ ही बन्ध माने हैं और यही सब कुछ गद्य में कहा गया है ॥५९-६१॥

विधिभेद से बन्धभेद—

बध्नीयाद्गाढमूरुस्फिक्कक्षावङ्क्षणमूर्धसु ।
शाखावदनकर्णोरःपृष्ठपार्श्वगलोदरे ॥६२॥
समं मेहनमुष्के च, नेत्रे सन्धिषु च श्लथम् ।
बध्नीयाच्छिथिलस्थाने वातश्लेष्मोद्भवे समम् ॥६३॥
गाढमेव समस्थाने, भृशं गाढं तदाशये ।
शीते वसन्तेऽपि च तौ मोक्षणीयौ त्र्यहात्त्र्यहात् ॥६४॥
पित्तरक्तोत्थयोर्बन्धो गाढस्थाने समो मतः ।
समस्थाने श्लथो, नैव शिथिलस्याशये तथा ॥६५॥
सायम्प्रातस्तयोर्मोक्षो ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ।

व्याख्या—बन्ध विधिभेद से तीन प्रकार के होते हैं १—गाढ, २—सम और ३—शिथिल ।

ऊरु, स्फिक्, कक्षा, वंक्षण तथा शिर पर गाढ़ बन्ध (कस कर) बाँधे, शाखा, मुख, कर्ण, उरस्, पीठ, पार्श्व, गल तथा उदर (के व्रणों) पर और मेहन एवं मुष्क (के व्रणों) पर सम बन्ध बाँधे और नेत्र तथा सन्धियों (के व्रणों) पर शिथिल (ढीला सा) बन्ध बाँधे ।

और वातकफ प्रधान व्रणों पर—शिथिल बन्ध के योग्य स्थान में समबन्ध और समबन्ध के योग्य स्थान में गाढ बन्ध और गाढबन्ध के योग्य स्थान में अत्यन्त गाढ बन्ध बान्धना चाहिये । शीतकाल (हेमन्त तथा शिशिर ऋतु) तथा वसन्त ऋतु में तीन तीन दिन पर बन्ध खोलना चाहिये ।

पित्तरक्त प्रधान व्रणों पर—गाढ बन्ध के योग्य स्थान पर समबन्ध और सम के स्थान पर शिथिल बन्ध बाँधना चाहिये और शिथिल के स्थान पर बन्ध नहीं बाँधना चाहिये (केवल पतले कपड़े से ढंका रहना चाहिये ।)

रक्तपित्तप्रधान व्रणों पर तथा ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु में बन्ध—प्रातः सायं दोबार खोलना चाहिये ।

वक्तव्य—वर्षा ऋतु में जब शीत हो तब तीन तीन या दो दो दिन पर और जब उष्ण हो तब प्रातःसायं दो बार बन्धन खोलना चाहिये । बन्ध खोलने का उक्त नियम यह भी सूचित करता है कि विकेशिका एवं कवलिका भी बदल देनी चाहिये । कारण यह है कि वायु एवं कफ शीत हैं अतः तीन दिन पर और पित्त एवं रक्त उष्ण हैं अतः प्रातः सायं—चार २ प्रहर पर बन्ध खोल कर लेपादि का परिवर्त्तन कर देना चाहिये ॥६२-६५॥

बन्धन की आवश्यकता—

अबद्धो दंशमशक-शीतवातादिपीडितः ॥६६॥
दुष्टीभवेच्चिरं चात्र न तिष्ठेत्स्नेहभेषजम् ।
कृच्छ्रेण शुद्धिं रूढिं वा याति रूढो विवर्णताम् ॥६७॥

व्याख्या—बन्ध न बाँधने से—दंश (बड़ा मच्छर डाँस) तथा मशक (मच्छर) बैठने से और शीत एवं वायु आदि (मक्षिका, तृण, काष्ठ एवं धूलि आदि) लगने से व्रण दुष्ट हो जाता है और उस पर लगाई गई लेप-विकेशिका तथा कवलिका आदि औषध स्थिर नहीं रहती और व्रणका शोधन एवं रोहण-रोपण भी कष्ट से होता है और यदि हो भी जाता हैतो व्रण स्थान में वर्ण की विकृति हो जाती है जो सदा के लिये रह जाती है ॥६६,६७॥

बन्धन से लाभ—

बद्धस्तु चूर्णितो भग्नो विश्लिष्टः पाटितोऽपि वा ।
छिन्नस्नायुसिरोऽप्याशु सुखं संरोहति व्रणः ॥६८॥
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु न पीड्यते ।

व्याख्या—और बन्ध बाँधने से चूर्णित व्रण, भग्न व्रण, विश्लिष्ट व्रण, पाटित व्रण, तथा जिसमें स्नायु अथवा सिरा कट गयी हो वह व्रण भी शीघ्र तथा सुख पूर्वक भर जाता है । और उठने, सोने तथा लेटने एवं चलने आदि सब चेष्टाओं में भी पीड़ा नहीं होती है ।

वक्तव्य—सुश्रुत (सु० सू० अ० १८) के शब्दों में—
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।
सुखं शय्याऽऽसनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥३१॥६८॥

बन्धन से अन्यान्य लाभ—

उद्वृत्तौष्ठः समुत्सन्नो विषमः कठिनोऽतिरुक् ॥६९॥
समो मृदुररुक् शीघ्रं व्रणः शुध्यति रोहति ।

व्याख्या—जिस व्रण के ओष्ठ (प्रान्त किनारे) अश्व के गुद (लीद करते समय) के समान उद्वृत्त (उलटे) हों, जिसमें मांसवृद्धि हो गई हो, जिसका आकार विषम हो वह बन्ध बाँधने (के प्रभाव) से सम हो जाता है, कठिन व्रण मृदु (कोमल) हो जाता है और अत्यन्त वेदना वाला व्रण वेदना रहित हो जाता है और उसका शोधन एवं रोपण शीघ्र हो जाता है ॥६९॥

पत्रदान उपक्रम—

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम् ॥७०॥
प्रच्छाद्यमौषधं पत्रैर्यथादोषं यथर्तु च ।
अजीर्णतरुणाच्छिद्रैः समन्तात्सुनिवेशितैः ॥७१॥
धौतैरकर्कशैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदम्बजैः ।

व्याख्या—जो व्रण स्थिर (दीर्घकालानुबन्धी) हो, जिन में मांस बहुत ही थोड़ा हो, और जिनका रूक्षता के कारण रोपण न हो रहा हो उन व्रणों पर औषध का लेप लगाकर पत्रदान करना चाहिये (पत्रों) से ढंक देना चाहिये । वे पत्र दोषों के तथा ऋतु के अनुकूल हों यथा बातव्रण में तथा शीत ऋतु में स्निग्ध एवं उष्ण हों, पित्त व्रण तथा उष्ण काल में शीत हों, कफ व्रण तथा उष्ण काल में रूक्ष एवं शीत हों और साधारण काल में साधारण गुण-वीर्य हों ।

वे पत्र न जीर्ण (पुराने पके) हों, न तरुण (कच्चे) हों, न छिद्रों वाले हों, धोए हुए हों तथा खरदरे न हों और व्रण पर सब ओर भली भाँति टिकाकर धर दिये जायँ । और वे पत्र वट आदि क्षीरी वृक्षों के, भोज पत्र के, अर्जुन वृक्ष के तथा कदम्ब वृक्ष के हों ।

वक्तव्य—सु. चि. अ. १ में व्रण के ६० उपक्रमों में एक उपक्रम "पत्रदान" भी है । और उसका फल है कि—

स्नेहमौषधसारं वा पट्टः पत्रान्तरीकृतः ।
नादत्ते यत् ततः पत्रं लेपस्य परि दापयेत् ॥११७॥
शैत्यौष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च ।
दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता ॥ ११८ ॥

अर्थात्—व्रण के लेप पर पत्र रख कर पट्टी बांधने से वह पट्टी—औषध के स्नेह एवं सार (शक्ति) का ग्रहण नहीं करती इसलिये लेप पर पत्र धर कर पट्टी बांधना चाहिए और शीत एवं गर्मी से व्रण की रक्षा के लिये और लेप के स्नेह के संरक्षण एवं व्रणभूमि द्वारा आचूषण के लिये पत्रदान अवश्य करना चाहिये ।

और वातव्रण पर—एरण्ड एवं हल्दी के पत्र, रक्तपि. के व्रण पर वट, पीपल एवं कमल के पत्र और कफ के व्रण पर गिलोय एवं मकोय के पत्र रखना चाहिये । ७०,७१ ॥

बन्धन का निषेध—

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडिकामधुमेहिनाम् ॥७२॥
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे क्षारदग्धा विषान्विताः ।
बन्धनीया न मांसपाके गुदपाके च दारुणे ॥७३॥
शीर्यमाणाः सरुग्दाहाः शोफावस्थाविसर्पिणः ।

व्याख्या—कुष्ठ रोगियों के व्रण, अग्नि दाह के व्रण, मधुमेह की प्रमेह पिडिका, मूषिक विष की कर्णिका, क्षार जनित व्रण, विष जनित तथा विष युक्त व्रण, दारुण मांस पाक तथा गुद पाक के व्रण, फटते हुए व्रण, वेदना एवं दाह से युक्त व्रण शोथ युक्त व्रण तथा विसर्प युक्त व्रण पर बन्धन नहीं बाँधना चाहिये ।

वक्तव्य—परन्तु मक्षिका आदि से रक्षा के लिये सूक्ष्म वस्त्र से ढंकना अवश्य चाहिए । सु. सू. अ. १८ ॥७२,७३॥

व्रणज क्रिमियों का वर्णन—

अरक्षया व्रणे यस्मिन् मक्षिका निक्षिपेत्कृमीन् ॥७४॥
ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजाशोफास्रसंस्रवान् ।
सुरसादिं प्रयुञ्जीत तत्र धावनपूरणे ॥७५॥
सप्तपर्णकरञ्जार्क-निम्बराजादनत्वचः ।
गोमूत्रकल्कितो लेपः सेकः क्षाराम्बुना हितः ॥७६॥
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा व्रणं तानाशु निर्हरेत् ।

व्याख्या—रक्षा न होने से जिस व्रण में मक्षिका क्रिमि उत्पन्न कर देती है उस व्रण को वे क्रिमि खाने लगते हैं फलतः वहाँ वेदना, शोथ तथा रक्तस्राव को उत्पन्न कर देते हैं । इस दशा में क्रिमिनाशनार्थ— व्रण धोने में तथा उस पर लेप आदि करने में सुरसादि गण (सू० अ० १५) का प्रयोग करे अथवा सप्तपर्ण, करञ्ज, आक, निम्ब तथा खिरनी की छालों को गोमूत्र में पीस कर लेप करे अथवा जौखार या चूना आदि किसी क्षार के जल से सेचन करे अथवा मांसपेशी से व्रण को ढाँक कर (जब क्रिमि उसमें लिपट जाँय तब) क्रिमियों को निकाल देवे ।

वक्तव्य—ये क्रिमि "जन्तुमाता" कहे जाते हैं । देखिये निदान अ० १४ में क्रिमियों का वर्णन । मक्षिका—यह एक प्रकार की हरी सी एवं चमकीली मक्षिका होती है इसे साई, हाई तथा किरौनी मक्खी कहते हैं । वह यदि कदाचित् व्रण पर बैठ जाती है तो प्रथम दिन व्रणभूमि पर श्वेत श्वेत धूलि सी दिखती है कहा जाता है कि वह उसके अंडोंका समूह होता है फिर दूसरे या तीसरे दिन क्रिमि व्यक्त हो जाते हैं । हाँ यह किरौनी मक्षिका घरेलू मक्षिकाओं से भिन्न होती है और उन से बड़ी होती है ॥ ७४–७६॥

रोपण कर्म में त्वरा का निषेध—

न चैनं त्वरमाणोऽन्तः सदोषमुपरोहयेत् ॥७७।
सोऽल्पेनाप्यपचारेण भूयो विकुरुते यतः ।

व्याख्या—जब तक व्रण में दोष (पूय एवं शोथ आदि) रहें तब तक रोपण करने की शीघ्रता न करे (अपितु शोधन करता रहे) क्यों कि वह व्रण (रोपण हो

जाने पर भी) थोड़े भी अपचार से फिर विकार उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य— व्रण विकृत हो जाता है अथवा नाड़ी व्रण का रूप धारण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण रूप से शोधन हो जाने पर ही रोपण होना चाहिए ॥ ७७ ॥

रोपण होने पर भी आहार विहार—

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत् ॥७८॥
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावदास्थैर्यसम्भवात्।
आदरेणानुवर्त्योऽयं मासान् षट् सप्त वा विधिः ॥७९॥

व्याख्या—व्रण का रोपण हो जाने पर भी जब तक व्रण भूमि में पूर्ण रूप से स्थिरता न आ जाय तब तक अजीर्ण (अपच) से व्यायाम (कठोर परिश्रम) से तथा मैथुन आदि से बचा रहे और हर्ष, भय तथा क्रोध आदि मानसिक विकारों से भी बचा रहे।

इस प्रकार ६-७ मास पर्यन्त इस विधि का पालन आदर (सावधानता) से करना चाहिये ॥७८,७९॥

भिन्न भिन्न अवस्थाओं में संकेत—

उत्पद्यमानासु च तासु तासु
वार्तासु दोषादिबलानुसारी।
तैस्तैरुपायैः प्रयतश्चिकित्से-
दालोचयन् विस्तरमुत्तरोक्तम् ॥८०॥

व्याख्या—व्रण की अन्यान्य अवस्थाओं में जो बीच-बीच में उत्पन्न होती रहती हैं, दोष, देश एवं काल आदि के बल को विचार कर सावधान (कुशल) चिकित्सक उत्तर तन्त्र, अ० २५, २ , २७, २८, २९, तथा ३० वें अध्यायों का अवलोकन करता हुआ उन उचित उपायों से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—अ. सं. सू. अ. ३८—

इतीदं व्रणमाश्रित्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम्।
उत्तरे विस्तरस्तस्य वक्ष्यते साधनं प्रति॥

अर्थात्—व्रण के विषय में यह सक्षेप से वर्णन किया गया है और विस्तार से उत्तर तन्त्र में किया जायगा ॥७८॥

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

अथातः क्षाराग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब क्षारकर्म तथा अग्निकर्म की विधियों का व्याख्यान करेंगे उस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इन विषयों का वर्णन सु. सू. अ. ११ तथा १२ में और अ. सं. सू. अ. ३९ तथा ४० में देखिए।

क्षार प्रशंसा—

सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्।
छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि ॥ १ ॥
दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च।
अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते ॥ २ ॥

व्याख्या—क्षार नामक द्रव्य उपयोगिता की दृष्टि से सब शस्त्रों एवं अनुशस्त्रों में श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह विषम स्थलों पर भी छेदन, भेदन एवं लेखन आदि अनेक कर्म करता है और नासार्श आदि रोगों में जहाँ शस्त्रों का प्रयोग कठिनाई से किया जा सकता है और दुष्टव्रण आदि में जहाँ शस्त्र प्रयोग से सफलता नहीं मिलती और अन्यान्य कष्टसाध्य रोगों में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि वह निम्नलिखित अर्श एवं मन्दाग्नि आदि रोगों में पीने के लिये भी प्रयुक्त होता है।

वक्तव्य—विधिभेद से क्षार दो प्रकार का होता है १—प्रतिसारणीय अर्थात् दद्रू आदि पर लगाने या मलने योग्य और २—पानीय अर्थात् गुल्म एव मन्दाग्नि आदि में पीने के योग्य। सु. सू. अ. ११। ॥ २ ॥

क्षार का प्रयोग—

स पेयोऽर्शोऽग्निसादाश्मगुल्मोदरगरादिषु।
योज्यः क्षाराग्निमषश्वित्रबाह्यार्शःकुष्ठसुप्तिषु ॥ ३ ॥
भगन्दरार्बुदग्रन्थिदुष्टनाडीव्रणादिषु।
न तूभयोऽपि योक्तव्यः पित्ते रक्ते चलेऽबले ॥४॥
ज्वरेऽतिसारे हृन्मूर्ध-रोगे पाण्ड्वामयेऽरुचौ।
तिमिरे कृतसंशुद्धौ श्वयथौ सर्वगात्रगे ॥५॥
भीरुगर्भिण्यृतुमतीप्रोद्वृत्तफलयोनिषु।
अजीर्णेऽन्ने शिशौ वृद्धे धमनीसन्धिमर्मसु ॥६॥
तरुणास्थिसिरास्नायुसेवनीगलनाभिषु।
देशे ल्पमांसे वृषणमेढ्स्रोतोनखान्तरे ॥७॥
वर्त्मरोगादृतेऽक्ष्णोश्च शीतवर्षोष्णदुर्दिने।

व्याख्या—वह क्षार—अर्श, मन्दाग्नि, अश्मरी, गुल्म उदर रोग तथा गर विष आदि (अजीर्ण, अरोचक, आनाह शर्करा, अन्तर्विद्रधि, क्रिमिरोग तथा विष विकार) में पीना चाहिये अर्थात् उन रोगों में पानीय क्षार का प्रयोग करना चाहिये और मषक मस्सा—मोका), श्वित्र, बाहिरी अर्श, कुष्ठ, सुप्ति (त्वक् शून्यता), भगन्दर, अर्बुद, ग्रन्थि,

दुष्टव्रण तथा नाडीव्रण आदि, किटिभकुष्ठ, दर्भ मण्डल, न्यच्छ, व्यङ्ग, बाह्यविद्रधि, बाह्यक्रिमि, मलज क्रिमि सर्प बिच्छू आदि के दंश, उपजिह्वा, अधिजिह्वा नामक मुख रोग, अपकुश, दन्त वैदर्भ तथा तीन प्रकार की रोहिणी, नामक रोगों में साक्षात् प्रयुक्त करना चाहिये अर्थात् रुग्ण स्थान पर मलना—लगाना चाहिये (यह क्षार प्रतिसारणीय कहलाता है)।

उक्त दोनों प्रकार के क्षार—पित्तजरोग, रक्तजरोग, वातज रोग, दुर्बल मानव, ज्वर, अतिसार, हृद्रोग, शिरोरोग, पाण्डु रोग, अरोचक, तिमिर रोग, वमन विरेचन के अनन्तर, सर्व शरीरव्यापी शोथ, भीरु मानव, गर्भवती, रजस्वला, उदावृत्ता योनिव्यापद, अजीर्ण, बालक, वृद्ध, धमनीस्थल (जहाँ धमनी का ध्यान व्यक्त हो), सन्धि स्थल, मर्मस्थल, तरुणास्थिस्थल, सिरा, स्नायु, सेवनीस्थल, गल तथा नाभि में और अल्पमांस वाले अवयव पर, वृषण, मूत्रमार्ग तथा नखान्तर (नख के भीतर), वर्त्म रोग के अतिरिक्त नेत्रों में, अतिशीत काल, अतिवर्षाकाल, अति ग्रीष्मकाल तथा दुर्दिन (जब बादल हों) में प्रयुक्त न किये जायँ ।

वक्तव्य—प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार का बनाया जाता है—१—मृदु, २—मध्य तथा ३—तीक्ष्ण ॥३-७॥

क्षार निर्माण की विधि—

कालमुष्ककशम्पाककदलीपारिभद्रकान् ॥८॥
अश्वकर्णमहावृक्षपलाशाऽऽस्फोतवृक्षकान् ।
इन्द्रवृक्षाऽर्कपूतीकनक्तमालाऽश्वमारकान् ॥९॥
काकजङ्घामपामार्गमग्निमन्थाऽग्नितिल्वकान् ।
सार्द्रान् समूलशाखादीन् खण्डशः परिकल्पितान् ॥१०॥
कोशातकीश्चतस्रश्च शूकं नालं यवस्य च ।
निवाते निचयीकृत्य पृथक् तानि शिलातले ॥११॥
प्रक्षिप्य मुष्ककचये सुधाश्मानि च दीपयेत् ।
ततस्तिलानां कुन्तालैर्दग्ध्वाऽग्नौ विगते पृथक् ॥१२॥
कृत्वा सुधाश्मनां भस्म द्रोणं त्वितरभस्मनः ।
मुष्ककोत्तरमादाय प्रत्येकं जलमूत्रयोः ॥१३॥
गालयेदर्धभारेण महता वाससा च तत् ।
यावत्पिच्छिलरक्ताच्छस्तीक्ष्णो जातस्तदा च तम् ॥१४॥
गृहीत्वा क्षारनिष्यन्दं पचेल्लौह्यां विघट्टयन् ।
पच्यमाने ततस्तस्मिंस्ताः सुधाभस्मशर्करा ॥१५॥
शुक्ति-क्षार-पङ्क-शङ्ख-नाभीश्चायसभाजने ।
कृत्वाऽग्निवर्णान्बहुशः क्षारोत्थे कुडवोन्मिते ॥१६॥
निर्वाप्य पिष्ट्वा तेनैव प्रतीवापं विनिक्षिपेत् ।
श्लक्ष्णं शकृद् दक्ष-शिखि-गृध-कङ्क-कपोतजम् ॥१७॥
चतुष्पात्पक्षिपित्तालमनोह्वालवणानि च ।
परितः सुतरां क्षारो दर्व्या तमवघट्टयेत् ॥१८॥
सबाष्पैश्च यदोत्तिष्ठेद्बुद्बुदैर्लेहवद्घनः ।
अवतार्य तदा शीतो यवराशावयोमये ॥१९॥
स्थाप्योऽयं मध्यमः क्षारो न तु पिष्ट्वा क्षिपेन्मृदौ ।
निर्वाप्यापनयेत्तीक्ष्णे पूर्ववत् प्रतिवापनम् ॥२०॥
तथा लाङ्गलिकादन्तिचित्रकातिविषावचाः ।
स्वर्जिकाकनकक्षीरीहिङ्गुपूतीकपल्लवाः ॥२१॥
तालपत्री विडं चेति, सप्तरात्रात्परं तु सः ।
योज्यस्तीक्ष्णोऽनिलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदादिषु ॥२२॥
मध्येष्वेष्वेव मध्योऽन्यः पित्तास्रगुदजन्मसु ।
बलार्थं क्षीणपानीये क्षाराम्बु पुनरावपेत् ॥२३॥

व्याख्या—मध्यम क्षार की निर्माण विधि—काला मोखा, अमलतास, केला, फरहद, अश्वकर्ण, पलाश, आस्फोत, (कोविदार—कचनार भेद), कुटज, इन्द्रवृक्ष (अर्जुन), आक, पूतिकरञ्ज, नक्तमाल (पूतिकरञ्ज), कनेर, काकजंघा, अपामार्ग, अरणी, चित्ता तथा लोध । इन सब के मूल एवं शाखा कुछ २ आर्द्र लेकर टुकड़े २ करे और मूल, पत्र, फल तथा शाखा समेत चारो कोशातकी लेवे और जौ के शूक तथा नाली लेवे । (सब को काट कर कुछ २ सुखा लेवे और फिर) उक्त सब द्रव्यों के पृथक् २ शिलाओं पर ढेर लगा देवे और मोखा के ढेर में—चूना के पत्थरों के टुकड़े डाल कर तिलोंके कन्तलों (लकड़ियों) द्वारा सब ढेरों में अग्नि शान्त हो जायं तब चूनाबने पत्थरों को पृथक् कर लेवे, यह चूना १ द्रोण हो, अमलतास आदि सब की भस्म १ द्रोण और मोखा की भस्म १ द्रोण होनी चाहिये ।

गालन विधि—उक्त सब भस्मों को लेकर आधा २ भार (एक एक सहस्र पल) परिमित जल एवं गोमूत्र में घोल कर थोड़ा समय पड़ा रहने देवे तदनन्तर मोटे कपड़ा में से छान कर द्रव को पृथक् कर लेवे और भस्म में से जब तक पिच्छिल (चिपचिपा), लाल, स्वच्छ तथा तीक्ष्ण द्रव निकलता रहे तब तक दुबारा तिबारा छानते रहना चाहिये और अन्त में भस्म को फेंक देवे (इस प्रकार भस्म का क्षार भाग जल एवं गोमूत्र के साथ घुलकर पृथक् हो जाता है)।

इस क्षार निस्पन्द (क्षारीय द्रव) को लेकर लोह की कड़ाही में डालकर पकावे और लोह की कडछुली से हिलाता रहे, उस पकते हुए क्षार द्रव में से १ कुडव भर क्षारीय द्रव को पृथक् करके लोह के पात्र में डाल देवे और उस में वे चूना के टुकड़े (जो मोखा के ढेर में पत्थर डाले

गये थे और चूना बन गये थे) और सीप, क्षीरपंक (खड़िया मिट्टी) तथा शंखनाभि को अग्नि में तपा २ कर लाल होने पर तीन तीन बार देवे और उसी क्षार द्रव में पीस कर पकते हुए क्षार द्रव (क्षार की कड़ाही) में डाल देवे और मुरगा, मोर, गीध, कंक तथा कबूतर की बीठें, गौ आदि चौपाए प्राणियों के तथा मोर आदि पक्षियों के यथा लाभ पित्त और हरिताल, मैनसिल तथा पांचों लवणों का चूर्ण (१-१ पल) उस पकते हुए क्षार द्रव पर सब ओर बुरक कर, कड़छुली भलीभाँति घोल देवे या घोट देवे।

जब पकते २ उस क्षार द्रव में भापयुक्त बुलबुले उठने लगें और क्षार अवलेह के समान गाढ़ा हो जाय तब कड़ाही को अग्नि पर से उतार लेवे, शीतल हो जाने पर, लोह भाण्ड में भर कर जौ अथवा गेहूँ के ढेर में दबा कर धर देवे। यह मध्यम क्षार कहलाता है।

मृदु क्षार बनाने को विधि—मृदुक्षार का निर्माण वैसे ही किया जाता है परन्तु—उस में सुधाशर्करा (चूना) तथा सीप आदि को पीस कर मिलाया नहीं जाता केवल बुझाकर पृथक् कर दिया जाता है। यह क्षार "मृदु" कहलाता है।

तीक्ष्ण क्षार बनाने की विधि— यह क्षार मध्यम क्षार बनाया जाता है और सुधा शर्करा एवं सीप आदि बुझाकर तथा पीस कर मिला दिये जाते हैं परन्तु उसमें कलिहारी कन्द, दन्ती मूल, चित्ता की जड़ की छाल, अतीस, बालबच, सज्जीखार, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) की जड़, हींग, पूति करंज के कोमल पत्र, तालपत्री (मुशली) तथा विड् लवण का सूक्ष्म चूर्ण कर्ष मिला दिया जाता है। और लोह भाण्ड में डाल कर धान्य राशि में दबाकर धर दिया जाता है। यह तीक्ष्ण क्षार है।

प्रयोग विधि— सात दिन के पश्चात् निकाल कर इन क्षारों का विधिपूर्वक प्रयोग करे तीक्ष्ण क्षार का प्रयोग— वातज, कफज तथा मेदोजनित अर्बुद आदि रोगों में करे। मध्यम क्षार का प्रयोग—मध्यम कोटि के क्षार साध्य रोगों में करे। और मृदु क्षार का प्रयोग—पित्त जनित एवं रक्त जनित अर्श पर करना चाहिये।

क्षीण बल वाले क्षार में आवश्यक क्षार बल बढ़ाने के लिये क्षार का जल मिला देना चाहिये जिससे वह क्षार कर्म करने में शक्तिमान् हो जायँ ॥८-२३॥

क्षार के दश गुण—

नातितीक्ष्णमृदुः श्लक्ष्णः पिच्छिलः शीघ्रगः सितः।
शिखरी सुनिर्वाप्यी न विष्यन्दि न चातिरुक् ॥२४॥
क्षारो दशगुणः शस्त्रतेजसोरपि कर्मकृत्।

व्याख्या—क्षार के दस गुण ये हैं १—अति तीक्ष्ण न हो, २—अति मृदु भी न हो, ३—श्लक्ष्ण हो, ४—पिच्छिल हो, ५—शीघ्रगति (व्याप्ति शील) हो, ६—वर्ण में श्वेत हो, ७—शिखरी (जिस पर पिटिकाकार उभार हों) ८—सुख निर्वाप्य (सुख से शीतल हो जाने वाला जिसका दाह शीघ्र शान्त हो सके), ९—न पसीजने वाला तथा १०—अत्यन्त वेदनाजनक न हो। इस प्रकार का क्षार शस्त्र एवं अग्नि का कर्म भी कर देता है अर्थात् शस्त्रकर्म एवं अग्निकर्म के स्थान पर इसी क्षार से कर्म करने पर सफलता मिल जाती है।

वक्तव्य—सु. सू. अ. ११ में क्षार के दोष भी लिखे हैं—यथा—

अतिमार्दव, श्वैत्यौष्ण्य तैक्ष्ण्य पैच्छिल्य सर्पिताः।
सान्द्रताऽपक्वता हीनद्रव्यता दोष उच्यते ॥ २७ ॥

और सुश्रुत के उक्त स्थल में शिखरी तथा सुख निर्वाप्य नामक दो गुणों के अतिरिक्त ८ ही गुण माने गये हैं स्यात् इसलिये कि अधिक काल बीत जाने पर पुराने क्षारों में उभार (शिखर) उत्पन्न होते हैं और सुख निर्वाप्य तो मध्यम एवं मृदु क्षार होते ही हैं और काञ्जी आदि अम्ल द्रव सेचन से क्षार का दाह शान्त हो ही जाता है। जो कुछ हो (चूना, नौसादर,) जौखार तथा कपड़ा धोने का सोडा भी क्षार कर्म के लिये उपयुक्त होता है। साबुन बनाने का कास्टिक सोडा भी तीक्ष्ण क्षार ही है ॥ २४ ॥

क्षार का सम्यक् योग—

आचूषन्निव संरम्भाद्गात्रमापीडयन्निव ॥२५॥
सर्वतोऽनुसरन् दोषानुन्मूलयति मूलतः।
कर्म कृत्वा गतरुजः स्वयमेवोपशाम्यति ॥२६॥

व्याख्या—व्याधित स्थान पर उक्त दशगुण सम्पन्न क्षार लगते ही सब ओर से चूसता हुआ प्रतीत होता है और इस प्रकार वह क्षार सब ओर फैलता हुआ तत्स्थानीय दोषों (विकारों) को मूल से उखाड़ देता है और अपना लेखन आदि कर्म करके वेदना रहित हो कर स्वतः शान्त हो जाता है (किसी प्रकार की व्यापद् नहीं करता) ॥२५,२६॥

क्षार लगाने की विधि—

क्षारसाध्ये गदे छिन्ने लिखिते स्राविते ऽथवा।
क्षारं शलाकया दत्त्वा प्लोतप्रवृतदेहया ॥२७॥
मात्राशतमुपेक्षेत तत्रार्शःस्वावृताननम्।
हस्तेन यन्त्रं कुर्वीत वर्त्मरोगेषुवर्त्मनी ॥२८॥

निर्भुज्य पिचुनाऽऽच्छाद्य कृष्णभागं विनिक्षिपेत्
पद्मपत्रतनुः क्षारलेपो, घ्राणार्बुदेषु च ।२९॥
प्रत्यादित्यं निषण्णस्य समुन्नम्याग्रनासिकाम् ।
मात्रा विधार्याः पञ्चाशत् तद्वदर्शसि कर्णजे ॥३०॥

व्याख्या—अर्बुद आदि क्षारसाध्य रोग का छेदन करके अथवा लेखन करके अथवा पच्छ द्वारा स्रावण करके क्षार को प्लोत से अग्रभाग में लपेटी गई शलाका द्वारा लगा कर १०० मात्रा (लगभग तीन मिनट) परिमित काल पर्यन्त उपेक्षा करे (क्षार कर्म होने देवे ।)

गुद वलि के अर्श रोग में अर्शो यन्त्र लगा कर क्षार का प्रयोग करे और क्षार लगाते ही यन्त्र के मुख को हाथ से आवृत कर देवे (ढँक देवे) वर्त्म रोग (रोहा नामक रोग) में वर्त्म को उलटा करके, नेत्र के कृष्ण भाग को प्लोत से ढंक कर क्षार लगावे और क्षार का लेप कमल की पंखुरी के समान पतला होना चाहिये और इसी प्रकार— नासा के अर्बुद में भी पतला लेप होना चाहिये ।

और नासार्श पर क्षार लगाते समय-रोगी को सूर्य की ओर मुख कराकर बैठावे और नासा के अग्रभाग को ऊँचा करके क्षार का लेप करे और५० मात्रा परिमित काल पर्यन्त उपेक्षा करे । और इसी प्रकार कर्णार्शपर क्षार का प्रयोग करना चाहिये ॥२७-३०॥

क्षार का पश्चात् कर्म—

क्षारं प्रमार्जनेनानु परिमृज्यावगम्य च ।
सुदग्धं घृतमध्वक्तं तत्पयोमस्तुकाञ्जिकैः ॥३१॥
निर्वापयेत्ततः साज्यैः स्वादुशीतैः प्रदेहयेत् ।
अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च ॥३२॥

व्याख्या—उक्त समय के अनन्तर—कोमल कपड़ा अथवा रुई से क्षार प्रमार्जित (पोञ्छ) करके और सम्यक् क्षार दग्ध के लक्षण समझ कर घृत एवं मधु का मिश्रण चुपड़ कर तथा उस पर दूध, मस्तु (दही का पानी) अथवा काञ्जी का सेचन करके निर्वापण करे (क्षार जनित दाह-जलन की शान्ति करे) और तत्पश्चात् मुरेठी आदि मधुर एवं शीतल द्रव्यों के चूर्ण को घृत में फेण्ट कर मोटा लेप करे और रोगी को उरद एवं दही आदि अभिष्यन्दी भोजन खिलावे (कई दिन खिलाता रहे) जिससे क्षार दग्ध व्रण का क्लेदन हो (क्लेदन होने से पन्छा के रूप में विकृत दोष बह कर निकल जाता है) ।

वक्तव्य—क्षरणात् क्षणनात् वा क्षारः ।४। सु. सू. अ. ११ । अर्थात्—क्षार लगाने से अर्श एवं अर्बुद आदि में से विकार का क्षरण अर्थात् स्रवण होता है अथवा उसका क्षणन अर्थात् मूलतः नाश हो जाता है, क्षणन तीक्ष्ण क्षार से होता है अतएव वह द्रव्य "क्षार" कहलाता है । क्षार का प्रयोग होने पर क्लेदन होना लाभकर होता है, देखा गया है कि— अर्श के अंकुरों में से १०-१२ दिन में ५०-६० तोला पानी का सा द्रव बह कर निकलता है और अंकुर सूख कर गिर जाते हैं और अन्त में शतधौत घृत लगा दिया जाता है और क्षत सूख जाता है ॥ ३१-३२ ॥

क्षार दग्ध व्रण का रोपण—

यदि च स्थिरमूलत्वात्क्षारदग्धं न शीर्यते ।
धान्याम्लबीजयष्ट्याह्वतिलैरालेपयेत्ततः ॥३३॥
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः ।

व्याख्या—यदि क्षार द्वारा दग्ध होने पर भी अर्शोङ्कुर आदि रोग दृढ मूल होने के कारण विशीर्ण न हों अर्थात् उनका क्षणन या क्षरण न हो तो खट्टी काञ्जी का किट्ट मुरेठी तथा तिल समभाग लेकर एवं पीस कर लेप कर (इससे उनका मूल मृदु हो जाता है और फिर क्षार प्रयोग करने से क्षरण हो जाता है)। क्षरण हो जाने के पश्चात् व्रणरोपण के लिये—तिल तथा मुलेठी के चर्ण को घृत में फेण्ट कर लेप करे ॥३३॥

सम्यक् दग्ध आदि के लक्षण—

पक्वजम्ब्वसितं सन्नं सम्यग्दग्धं विपर्यये । ३४॥
ताम्रतातोदकण्ड्वाद्यैर्दुर्दग्धं तं पुर्नदहेत् ।
अतिदग्धे स्रवेद्रक्तं मूर्च्छादाहज्वरादयः ।।३५॥

व्याख्या—सम्यक् दग्ध का लक्षण—क्षार दग्ध स्थान पकी जामुन के समान काला हो जाता है, तथा सन्न अर्थात् निम्न हो जाता है (रोग शान्ति, लघुता तथा स्राव शान्ति हो जाती है) ।

दुर्दग्ध का लक्षण—सम्यक् दग्ध के विपरीत लक्षण होते हैं—तामा कीसी लालिमा, तोद (चुभने कीसी व्यथा) तथा कण्डू (जडता एवं रोगवृद्धि) आदि लक्षण होते हैं । इस दशा में पुनः क्षारकर्म करना चाहिये (जिससे सम्यक् दग्ध हो जाय) ।

अतिदग्ध का लक्षण—रक्तस्राव, मूर्च्छा, दाह तथा ज्वर आदि (पाक, राग, अङ्गमर्द, क्लम, पिपासा तथा मृत्यु) लक्षण अतिदग्ध होने पर होते हैं ॥ ३४,३५॥

गुदवलियों के अतिदग्ध के लक्षण—

गुदे विशेषाद्विण्मूत्रसंरोधोऽतिप्रवर्तनम् ।
पुंस्त्वोपघातो मृत्युर्वा गुदस्य शातनाद्ध्रुवम् ॥३६॥

व्याख्या—विशेषतः गुद में अतिदग्ध होने पर-पुरीष

एवं मूत्र का निरोध अथवा अतिप्रवर्त्तन तथा नपुंसकता हो सकती है अथवा गुद फट जाने से मृत्यु हो जाती है ॥ ३६ ॥

नासा आदि में अतिदग्ध के लक्षण—

नासायां नासिकावंशदरणाकुञ्चनोद्भवः ।
भवेच्च विषयाज्ञानं तद्वच्छ्रोत्रादिकेष्वपि ॥३७॥

व्याख्या—नासा में क्षार कर्म करते समय अतिदग्ध होने पर नासा वंश का दरण (फटना) अथवा आकुंचन (सिकुड़ना) तथा गन्ध ज्ञान का नाश हो सकता है और इसी प्रकार कर्ण, नेत्र तथा जीभ पर अतिदग्ध होने से शब्द, रूप एवं रस का ज्ञान नष्ट हो जाता है ॥३७॥

क्षार का शमन—

विशेषादत्र सेकोऽम्लैर्लेपो मधु घृतं तिला ।
वातपित्तहरा चेष्टा सर्वैव शिशिरा क्रिया ॥३८॥
अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः ।
यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम् ॥३९॥

व्याख्या—अतिदग्ध में विशेष रूप से कांजी एवं मस्तु (दही का पानी) आदि अम्ल द्रवों से सेचन करे तथा तिलकल्क को मधु एवं घृत में फेण्ट कर लेप करे और वात पित्त शामक तथा शीतल सब उपचार करे। क्यों कि सौम्य या मृदु अम्ल रस स्पर्श में शीतल होता है और क्षार इसके साथ मिल कर शीघ्र ही (तत्काल) स्वादुता (मधुरता) को प्राप्त हो जाता है इसलिये क्षार की जलन को उक्त कांजी आदि मृदु अम्ल द्रव (के रस) से शान्त करना चाहिये ।

वक्तव्य—सु. सू. अ. ११ में—सुश्रुत जी ने भगवान् धन्वन्तरि से प्रश्न किया था कि—अम्ल रस तो तीक्ष्ण एवं उष्णवीर्य होता है तथा आग्नेय होता है और क्षार भी आग्नेय होता है इस दशा में—आग्नेय अम्ल द्रव से आग्नेय क्षार की शान्ति कैसे हो सकती है ?

भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया था कि—क्षार में अम्ल रस के अतिरिक्त सब रस होते हैं परन्तु कटु रस प्रधान तथा लवण रस अनुरस होता है और वे कटु तथा लवण रस अम्ल रस के साथ मिलकर मधुर हो जाते हैं तथा अपनी तीक्ष्णता का त्याग कर देते हैं फलतः वैसे शान्त हो जाते हैं जैसे जल से अग्नि तत्काल शान्त हो जाती है ।

इसी सिद्धान्त पर-उष्णोपघात (अंशुघात—लू—लू लगना) की शान्ति के लिये आम, इमली अथवा आलू बुखारा का पानक (पन्ना) पिया जाता है क्योंकि सूर्य की किरणें क्षारीय होती हैं। और अति तीक्ष्णपानीय क्षार को पीने से भी मुख से गुद तक महास्रोतस् का दाह हो जाता है और पान तम्बाकू में चूना (तीक्ष्ण चूना) खाने से मुख में क्षत हो जाते हैं इस दशा में भी अम्लरस का पान तथा गण्डूष करना चाहिये ।

और तीक्ष्ण अम्ल तेजाब तथा तीक्ष्ण क्षार पुटाश परमैङ्गनेट एवं कास्टिक सोडा आदि के घन घोल पीने से महास्रोतस् का दाह हो जाता है, फलतः—अ० सं० सू० अ० ३९—

ज्वरातिसारतृण्मोहमूर्च्छाहृद्वेदनार्तिभिः ।
कक्षं दहत्यग्निरिव शरीरं क्षारविभ्रमः ।
पाययेताऽतियोगेऽत्र तं शीघ्रं सघृतं दधि ।
सगुडं वा दधिसरं तैलं वा ससितोपलम् ।
धात्रीफलकपित्थाऽम्लदाडिमस्वरसे घृतम् ।
द्विगुणे साधितं पानसेकैः क्षारातिरुग्हरम् ।

अर्थात्—क्षार का विभ्रम (तीक्ष्ण क्षार का पान तथा स्पर्श) शरीर को वैसे झुलस देता है जैसे घास को अग्नि झुलस देता है और उस के पात से —ज्वर, अतिसार, तृषा, मोह, मूर्च्छा, हृदय शूल तथा शरीर भर में वेदना की उत्पत्ति हो जाती है। और उष्णोपघात में भी ये ही लक्षण पाये जाते हैं और यही चिकित्सा की जाती है। किसी २ प्रति में निम्न श्लोक पाया जाता है —

विषाऽग्नि शस्त्राऽशनिमृत्युतुल्यःक्षारो भवेदल्पमतिप्रयुक्तः ।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ।

अर्थात्—अकुशल चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त क्षार—विष अग्नि, शस्त्र, वज्र, तथा मृत्यु के तुल्य अनिष्टकारक हो सकता है और वही क्षार कुशल चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त भीषण रोगों को तत्काल शान्त कर सकता है ।

अग्नि कर्म विधि—

व्याख्या—अग्नि कर्म को "दागना" या "गुल लगाना" कहते हैं ॥३८,३९॥

अग्निकर्म की प्रशंसा—

अग्निः क्षारादपि श्रेष्ठस्तद्दग्धानामसम्भवात् ।
भेषजक्षारशस्त्रैश्च न सिद्धानां प्रसाधनात् ॥४०॥

व्याख्या—अग्नि कर्म क्षार से भी श्रेष्ठ माना जाता है क्यों कि अग्नि द्वारा दग्ध किये गये अर्श आदि रोग पुनः (फिर कभी) उत्पन्न नहीं होते और जो रोग औषध सेवन, क्षारकर्म तथा शस्त्रकर्म से भी शांत नहीं होते वे अग्निकर्म से शान्त हो जाते हैं ॥४०॥

अग्नि कर्म का विधि-निषेध—

त्वचि मांसे सिरास्नायुसन्ध्यस्थिषु स युज्यते ।

मषाङ्गग्लानिमूर्धार्तिमन्थकीलतिलादिषु ॥४१॥
त्वग्दाहो वर्तिगोदन्तसूर्यकान्तशरादिभिः ।
अर्शोभगन्दरग्रन्थिनाडीदुष्टव्रणादिषु ॥४२॥
मांसदाहो मधुस्नेह-जाम्बवौष्ठगुडादिभिः ।
श्लिष्टवर्त्मन्यसृक्स्रावनील्यसम्यग्व्यधादिषु ॥४३॥
सिरादिदाहस्तैरेव न दहेत्क्षारवारितान् ।
अन्तःशल्यासृजोभिन्नकोष्ठान् भूरिव्रणातुरान् । ४४ ।

व्याख्या—अग्निकर्म—त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि तथा अस्थि पर किया जाता है । यथा—

मषक (मस्सा), अंगग्लानि (बालशोष-सुखण्डी एवं किसी एक अवयव का शोष), शिरोरोग, अधिमन्थ (तथा अभिष्यन्द), चर्म कील तथा तिल आदि में त्वचा का दाह किया जाता है और यह दाह (अग्नि कर्म)—रूई या कपड़ा की बत्ती, गोदन्त, सूर्यकान्त मणि (आतशी शीशा) अथवा शर (लोह शलाका) आदि से करना चाहिये। अर्श भगन्दर, ग्रन्थि, नाड़ी व्रण तथा दुष्ट व्रण आदि में मांस का दाह करना चाहिये और वह दाह—मधु, घृत, आदि स्नेह, जाम्बवोष्ठ नामक यन्त्र (देखिये अ. २५) तथा गुड़ आदि से करना चाहिये ।

श्लिष्ट वर्त्म (नेत्र रोग), रक्तस्राव, नीली (नीलिका-झाई) तथा सिरा के असम्यक् वेध आदि में सिरा आदि का दाह किया जाता है और वह दाह उक्त मधु एवं स्नेह आदि से करना चाहिये । और अग्नि कर्म वहाँ न करे जहाँ क्षार का निषेध है (देखिये श्लोक ४-७) और जिनके शरीर में शल्य हो कोष्ठ में रक्त भरा हो, कोष्ठ फट गया हो तथा जो व्रणों से पीडित हो उनको अग्नि कर्म न करे ।

वक्तव्य—और जिनको स्वेदन का निषेध है उनको अग्निकर्म का भी निषेध है सु. सू. अ. १२ ॥४१-४४॥

सुदग्ध आदि का वर्णन—

सुदग्धं घृतमध्वक्तं स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत् ।
तस्य लिङ्गं स्थिते रक्ते शब्दवल्लसिकान्वितम् ॥४५॥
पक्वतालकपोताभं सुरोहं नातिवेदनम् ।
प्रमाददग्धवत्सर्वं दुर्दग्धाऽत्यर्थदग्धयोः । ४६॥

व्याख्या—सुदग्ध (सम्यक् दग्ध) स्थान पर घृत एवं मधु का मिश्रण चुपड़ कर मुलेठी आदि स्निग्ध एवं शीत द्रव्यों का मोटा लेप कर देवे ।

सुदग्ध का लक्षण— सिरावेध आदि के रक्तस्राव का निरोध, अग्नि कर्म करते समय चिड़ चिड़ शब्द (ध्वनि) के साथ त्वचा का जलना, लसीका स्राव, पके तालफल के सदृश तथा लाल कबूतर के सदृश व्रण का वर्ण, दग्ध व्रण का सुखपूर्वक रोपण तथा अधिक वेदना का अभाव ।

दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध के लक्षण—इनमें प्रमाद से जले के समान सब लक्षण होते हैं (देखिये श्लोक ४८)

वक्तव्य—प्रमाद दग्ध जैसे कभी कभी प्रमादवश कपड़ों में अग्नि लग जाने अथवा लगा लेने से दुष्काण्ड देखे जाते हैं ॥४५,४६॥

अग्नि दग्ध के चार भेद—

चतुर्धा तत्तु तुत्थेन सह तुत्थस्य लक्षणम् ।
त्वग्विवर्णोष्यतेऽत्यर्थं न च स्फोटसमुद्भवः ॥४७॥
सस्फोटदाहतीव्रोषं दुर्दग्धम् अतिदाहतः ।
मांसलम्बनसङ्कोचदाहधूपनवेदनाः ॥४८॥
सिरादिनाशस्तृण्मूर्च्छाव्रणगाम्भीर्यमृत्यवः ।

व्याख्या—अग्नि दग्ध चार प्रकार का होता है १—तुत्थदग्ध, २—दुर्दग्ध, ३—अतिदग्ध तथा ४—सुदग्ध (सम्यक् दग्ध) । तुत्थ दग्ध का लक्षण—इसमें केवल त्वचा में विवर्णता होती है तथा अत्यधिक जलन होती है परन्तु फफोले नहीं उठते ।

दुर्दग्ध का लक्षण—इसमें फफोले उठ आते हैं तथा दाह युक्त तीव्र व्यथा होती है जैसे मरिच या राई का लेप करने पर (और व्रण का रोपण विलम्ब से होता है) ।

अतिदाह का लक्षण—इसमें त्वचा जल जाने पर मांस के लोथड़े लटकने लगते हैं अथवा मांस का संकोच हो जाता है तथा दाह धूवाँ सा निकलना तथा वेदना होना, सिरा आदि का नाश, तृषा, मूर्च्छा गहरे व्रण तथा मृत्यु ।

वक्तव्य—दुर्दग्ध एवं अतिदग्ध प्रमाद से ही होता है या हो सकता है चिकित्सक के द्वारा नहीं । यहाँ तुत्थ शब्द का प्रयोग प्लुष्ट शब्द के लिये आया है सु. सू. अ. बारह में प्लुष्ट लिखा है यथा—अथ प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यक्दग्धमतिदग्धं चेति चतुर्विधमग्निदग्धम् ॥१६॥ किसी प्रति में तुत्थ के स्थान में "तुच्छ" पाठ भी है । अस्तु । तुत्थ एवं तुच्छ दोनों शब्द तुद् व्यथने नामक तुदादिगणीय धातु से निष्पन्न होते हैं ॥४७,४८॥

अग्निदग्धों की चिकित्सा—

तुत्थस्याऽग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं च भेषजम् ॥४९॥
स्त्यानेऽस्रे वेदनाऽत्यर्थं विलीने मन्दता रुजः ।
दुर्दग्धे शीतमुष्णं च युञ्ज्यादादौ ततो हिमम् ॥५०॥
सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः ।

लिम्पेत्साज्यामतैरूर्ध्वं पित्तविद्रधिवत्क्रिया ॥५१॥
अतिदग्धे द्रुतं कुर्यात्सर्वपित्तविसर्पवत् ।
स्नेहदग्धे भृशतरं रूक्षं तत्र तु योजयेत् ॥५२॥

व्याख्या—तुत्थ नामक अग्नि दग्ध में—दग्ध अवयव को अग्नि से तपाना चाहिये और लेप आदि भी उष्ण-उष्ण ही करना चाहिये क्योंकि तुत्थदग्ध के अनन्तर शीत लगने अथवा शीत चिकित्सा करने से वहाँ का रक्त गाढ़ा हो जाता है या जम जाता है फलतः वहाँ वेदना अधिक हो जाती है और अग्नि से तपाने एवं उष्ण उष्ण लेप आदि करने से वहाँ का रक्त पिघला रहता है या पिघल जाता है फलतः वेदना थोड़ी होती है या घट जाती है ।

दुर्दग्ध नामक अग्निदग्ध में प्रथम शीत फिर उष्ण चिकित्सा करे तत्पश्चात् शतधौत घृत का लेप तथा शीतल सेचन करे ।

सम्यक् दग्ध (सुदग्ध) में तुगाक्षीरी (तोखाखीर दुग्धपाषाण—संगजराहत), प्लिक्षन (पाकर) की छाल, रक्त चन्दन, गेरू तथा गिलोय सत्त्व के सूक्ष्म चूर्ण को गोघृत में मिला कर लेप करे यदि इससे लाभ न हो तो पित्त विद्रधि के समान चिकित्सा करे यदि निरन्तर दाह होता रहे ।

अतिदग्ध में तत्काल—पित्तज विसर्प के समान लेपन, सेचन एवं पान-भक्षण (पिलाने एवं खाने में) के रूप में सब प्रकार की चिकित्सा करे ।

स्नेह द्वारा दग्ध होने पर रूक्ष चिकित्सा करे । परन्तु पूर्वोक्त चिकित्सा भी अवस्थानुसार करनी चाहिये ।

वक्तव्य—किसी किसी प्रति में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है—

शस्त्र, क्षाराऽग्नयो यस्मात् मृत्योः परममायुधम् ।
अप्रमत्तो भिषक् तस्मात् तान् सम्यक् अवचारयेत् ।

अर्थात्—शस्त्र, क्षार तथा अग्नि मृत्यु के मुख्य शस्त्र हैं (इनके असम्यक् प्रयोग से मृत्यु हो सकती है) अतः वैद्य सावधान होकर भली प्रकार इनका प्रयोग करे ।

सु० सू० अ० बारह में धूमोपहत के लक्षण भी लिखे हैं यथा—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् ॥२९॥
श्वसिति क्षौति चाऽत्यर्थमत्याध्मायति कासते ।
चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥३०॥
सधूमकं निःश्वसिति घ्रेयमन्यत् न वेत्ति च ।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चाऽस्योपहन्यते ॥३१॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति ।
धूमोपहत इत्येषः शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥३२॥
सर्पिःइक्षु रसं द्राक्षां पयो वा शर्कराऽम्बु वा ।
मधुराऽम्लौ रसौ वापि वमनाय प्रदापयेत् ॥३३॥
वमतः कोष्ठशुद्धिः स्यात् धूमगन्धश्च नश्यति ।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥३४॥
दाहमूर्च्छातृड़ाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः ।
मधुरैः लवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥३५॥
सम्यक् गृह्णातीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति ।
शिरोविरेचनं चाऽस्मै दद्यात् योगेन शास्त्रवित् ॥३६॥
दृष्टिः विशुध्यते चाऽस्य शिरोग्रीवं च देहिनः ।
अविदाहि लघु स्निग्धमाहारं चाऽस्य कल्पयेत् ॥३७॥
उष्णवाताऽऽतपैः दग्धे शीत. कार्यो विधिः सदा ।
शीतवर्षाऽनिलैः दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते ॥३८॥
तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिः नाऽस्ति कथंचन ।
इन्द्रवज्राऽग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत् ।
स्नेहाऽभ्यंगपरीषेकैः प्रदेहैश्च तथा भिषक् ॥३९॥

भावार्थ—धूमोपहत वह कहलाता है जो भवन आदि में अग्नि लग जाने पर भीतरी कोठरी में सोया पड़ा रह जाता है अथवा कोला सुलगा कर द्वार बन्द करके भीतर सो जाता है इस दशा में उस के श्वास द्वारा धूम शरीर में प्रविष्ट हो जाता है फलतः—श्वास लेने में रुकावट होती है, छींकें आती है, आध्मान हो जाता है, खांसी आती है, नेत्रों में दाह एवं लाली उत्पन्न हो जाती है, श्वास धूमयुक्त आता है, गन्ध, रस एवं शब्द का ज्ञान नहीं होता, तृषा, दाह, ज्वर अवसाद अथवा मूर्च्छा की उत्पत्ति हो जाती है ।

इस दशा में—घृतपान, ईख के रस का पान, दाख का भक्षण, दूध अथवा शर्करोदक का पान तथा मधुर एवं अम्ल रसों का पान अथवा वमन का प्रयोग होना चाहिये, वमन से तत्काल कोष्ठ शुद्धि हो जाती है इस प्रकार उपचार करने से उक्त सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं फिर मधुर लवण एवं अम्ल तथा कटु पदार्थों के कवल करते रहना चाहिये और शिरोविरेचन नस्य का सेवन करना चाहिये इस से इन्द्रियाँ, दृष्टि, शिर तथा ग्रीवा के स्वर यन्त्र आदि अवयव शुद्ध हो जाते हैं । अविदाही, लघु तथा स्निग्ध आहार का सेवन होना चाहिये ।

उष्ण वायु तथा तेज धूप (लू या लूक) द्वारा दग्ध होने पर शीत उपचार करे तथा शीत (हिम—वर्फ), वर्षा (खूनी वर्षा जो कभी २ और हिमालय में प्रायः होती है) तथा खूनी वायु द्वारा दग्ध होने पर स्निग्ध एवं उष्ण उपचार करे । अत्यन्त तीक्ष्ण तेजस् (अग्नि—उक्त प्रकार के अग्नि) द्वारा दग्ध हो जाने पर मृत्यु हो जाती है ।

इन्द्रवज्र (बिजली) दग्ध होने पर यदि कोई जी रहा हो तो स्नेह के अभ्यङ्गों तथा सेचनों से और चन्दन एवं खस आदि के लेपनों से उपचार करे ॥४६-५२॥

उपसंहार—

समाप्यते स्थानमिदं हृदयस्य रहस्यवत् ।
अत्रार्थाः सूत्रिताः सूक्ष्माः प्रतन्यन्ते हि सर्वतः ॥५३॥

इति वैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायाम्—अष्टाङ्ग-हृदयसंहितायां प्रथमं सूत्रस्थानं सम्पूर्णम् ।

व्याख्या—इस अष्टाङ्ग हृदय नामक ग्रन्थ का रहस्यों से युक्त यह सूत्रस्थान समाप्त किया गया है, इस में से सूक्ष्म सूक्ष्म अर्थों (विषयों) को सूत्रित (जैसे सूत्र-धागा में मणियाँ) किया गया है और उन्हीं अर्थों का सब ओर (पुस्तक भर में) विस्तार किया गया है ।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने सूत्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—सु० सू० अ० ३—

सूचनात् सूत्रणात् चैव स्रवनात् चाऽर्थसन्ततेः ।
……………सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥१२॥

भावार्थ—सब उपयोगी अर्थसमूहों की सूचना करने से, सूत्रण अर्थात् उन अर्थों को सूत्र में मणियों के समान पिरो देने से तथा उन अर्थों का प्रसवन (जनन—उत्पादन) करने से सूत्रस्थान कहलाता है ।

और सूचनात् सूत्रम्, सूच्यते अनेन सकलतन्त्रार्थः इति सूत्रस्थानम् (सर्वाङ्गसुन्दरी अ० १ श्लोक ३८ ।)

तात्पर्य यह है कि—इस स्थान में समस्त आयुर्वेद शास्त्र का सूत्ररूप से वर्णन किया गया है ।

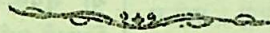
सूत्र स्थान में ३० अध्याय हैं और १६०२ श्लोक हैं ।

इत्यष्टाङ्गहृदये सूत्रस्थाने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इसप्रकार अष्टाङ्गहृदय नामक ग्रन्थ के सूत्र स्थान का ३० वाँ अध्याय समाप्त हो गया ॥ ३० ॥

इसप्रकार वैद्यपति सिंहगुप्तात्मज श्री वाग्भट विरचित अष्टाङ्ग-हृदय नामक संहिता का सूत्र नामक प्रथम स्थान समाप्त हो गया ॥१॥

सूत्रस्थान समाप्त ।



अष्टाङ्गहृदये-शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातोगर्भावक्रान्तिशारीरं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

अब गर्भावक्रान्ति नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. शा. अ. २, ३, ४ तथा ८ में, सु. शा. अ. २, ३, ४ तथा १० में और अ. सं. शा. अ. १,२ तथा ३ में देखिये ।

इस स्थान में शरीर का वर्णन किया गया है अतः इस का नाम शारीरस्थान है। और इस अध्याय में गर्भ के अवक्रमण का वर्णन किया गया है अतः इसका नाम गर्भावक्रान्ति है । अवक्रान्ति अर्थात् सम्प्राप्ति या उत्पत्ति या निर्माण ।

गर्भ की उत्पत्ति का वर्णन—

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशनोदितः ।
गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ ।।१।।

व्याख्या—शुद्ध शुक्र तथा शुद्ध आर्त्तव के संयोग—मिश्रण में अपने अपने पूर्वजन्म कृत शुभाऽशुभ कर्मों तथा राग द्वेष आदि अभिनिवेशों से प्रेरित सत्त्व (जीवात्मा) "गर्भ" रूप में सम्पन्न हो जाता है और यह गर्भ की सम्पत्ति युक्ति-शुक्र एवं आर्त्तव में जीव का संयोग होने से होती है जैसे अरणि में—मथ्य, मन्थन तथा मथनेवाले के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है ।

वक्तव्य—शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ।।५।। च. शा. अ. ४ ।।१।।

गर्भ की वृद्धि का वर्णन—

बीजात्मकैर्महाभूतैः सूक्ष्मैः सत्त्वानुगैश्च सः ।
मातुश्चाहाररसजैः क्रमात्कुक्षौ विवर्धते ।। २ ।।

व्याख्या—शुक्र एवं आर्त्तव के संयोग का नाम "बीज" (गर्भोत्पादक बीज) है और वह बीज पाञ्चभौतिक पदार्थ होता है भले ही उक्त पञ्चभूत उस बीज में सूक्ष्म होते हैं अतः बीजात्मक सूक्ष्म पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों से तथा जीव के साथ सर्वदा रहनेवाले महाभूतों से और माता के आहार-रस जनित महाभूतों से वह गर्भ कुक्षि-गर्भाशय में क्रमशः बढ़ता रहता है ।

वक्तव्य—च. शा. अ. २ में लिखा है कि—पृथिवी आदि अत्यन्त सूक्ष्म चार महाभूतों के साथ ही जीव एक देह से दूसरे देह में जाता है ।।३१।। तथा चार सूक्ष्म महाभूत आत्मा में लीन रह कर गर्भ में प्रविष्ट होते हैं ।।३५।। तथा देखिये च. शा. अ. ४ ।।२।।

जीव का गर्भाशय में प्रवेश

तेजो यथाऽर्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम् ।
नेन्धनं दृश्यते गच्छत्, सत्त्वो गर्भाशयं तथा ।। ३ ।।

व्याख्या—जैसे सूर्य की किरणों का तेज स्फटिक मणि या सूर्यकान्त काँच में से होकर इन्धन में जाता हुआ दिखाई नहीं देता-केवल गया हुआ ही दिखाता है वैसे जीव गर्भाशय में जाता हुआ दिखाई नहीं देता ।

वक्तव्य—प्राचीन काल से इस विषय में दो मत रहे हैं-१—शुक्र शोणित के संयोग में ही चेतना की अभिव्यक्ति हो जाती है और २—उस संयोग में कहीं से आकर चेतना धातु प्रविष्ट होती है। श्री वाग्भट ने दोनों का उल्लेख कर दिया है नर का शुक्र नारी के गर्भाशय में आर्त्तव के साथ संयुक्त हो जाता है और गर्भ का रूप धारण कर लेता है । चरक के शब्दों में—अङ्गेभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते ।

चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ।।

अर्थात् शुक्र में ही जीव रहता है च. चि. अ. २ पा ४ श्लो. ४६ । ३।।

गर्भ की आकृति का हेतु—

कारणानुविधायित्वात्कार्याणां तत्स्वभावता ।
नानायोन्याकृतिः सत्त्वो धत्तेऽतो द्रुतलोहवत् ।। ४ ।।

व्याख्या—कार्य प्रायः कारण के अनुकारी—अनुरूप होते हैं और कार्यों का स्वभाव भी कारण के समान होता है इस लिये वह जीव नानाप्रकार की योनियों की आकृति को धारण कर लेता है जैसे पिघले हुए लोह (सोना चाँदी

आदि धातु) भिन्न भिन्न सांचों में पड़ कर भिन्न आकृतियों को धारण कर लेते हैं।

वक्तव्य कारणानुरूपं कार्यम् इति सु. शा. अ. १ तथा च. शा. अ. ३ । २४ देखिए । मनुष्य, गौ, एवं अन्यान्य प्राणियों के शुक्र-शोणित संयोग में कारण के अनुरूप ही कार्य —गर्भ उत्पन्न होते हैं। जैसे सांचे में सोना चांदी आदि धातु सोना चांदी ही रहते हैं परन्तु उनका आकार सांचे के अनुसार भिन्न२ होता है ॥ ४ ॥

पुमान् आदि गर्भों की उत्पत्ति के कारण—

अत एव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान्।
रक्तस्य स्त्री, तयोः साम्ये क्लीबः शुक्रार्तवे पुनः ॥ ५ ॥
वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता।
वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः ॥ ६ ॥

व्याख्या—इसी लिये शुक्र की अधिकता से पुमान् गर्भ, शोणित की अधिकता से स्त्रीगर्भ और शुक्र-शोणित की समता से क्लीबगर्भ उत्पन्न होता है।

यदि शुक्रार्त्तव का संयोग (बीज)—वायु द्वारा बहुत भागों में विभक्त हो जाता है तो बहुत गर्भ उत्पन्न हो जाते हैं। जितने भागों में विभाजन होता है उतने और वातादि दोषों की विकृति के कारण भिन्न योनि के तथा विकृत आकृति वाले गर्भ उत्पन्न हो जाते हैं ।

वक्तव्य—मनुष्य योनि में २-५, अजायोनि में ३-४ तथा सर्पयोनि में सैकड़ों गर्भ इसी कारण होते हैं और बीज जब वायु आदि दोषों से विकृत हो जाता है तब वियोनि अर्थात् योनि के विपरीत गर्भ उत्पन्न हो जाते हैं जैसे मनुष्य योनि में सर्प एवं वृश्चिक आदि गर्भ हो जाते हैं और उसी कारण से गर्भ के आकार में विकृति आ जाती है यथा सुरूप नर नारी के बीज से कुरूप गर्भ उत्पन्न हो जाते हैं। वामनत्व आदि विकृतियां भी इसी कारण होती हैं ॥ ५,६ ॥

रजः प्रवृत्ति का वर्णन—

मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—स्त्रियों का रजस् प्रत्येक मास (चान्द्र मास) में प्रायः तीन दिन बहता है और वह रजस् रस धातु से उत्पन्न होता है। और प्रायः १२ वर्ष की वयस् से प्रारम्भ होता है और प्रायः ५० वर्ष की वयस् के पश्चात् नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—रजस् के लक्षण देखिये श्लो० १८ में ॥ ७ ॥

उत्तम एवं अधम गर्भ का वर्णन—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ ८ ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ ९ ॥

व्याख्या—पूरे १६ वर्ष की स्त्री, पूरे २० वर्ष के पुमान् से संसर्ग करके, गर्भाशय, अपत्यपथ, रक्त—आर्त्तव, शुक्र, वायु तथा हृदय शुद्ध होने पर वीर्यवान् सुत—गर्भ—सन्तान का प्रसव करती है। इस से न्यून वर्षों की वयस् वाले स्त्री पुमान् का गर्भ रोगी, अल्पायु तथा निर्धन होता है अथवा गर्भ का आधान ही नहीं होता।

वक्तव्य—अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्। तथा—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ ५४ ॥
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ५५ ॥

सु. शा. अ० १० । और अष्टांग संग्रह शा. अ. १ में—स्वयं श्री वाग्भटाचार्य महाशय लिखते हैं कि—षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुत्रार्थं प्रयतेत्। अतः यथा सम्भव १६ वर्ष तक स्त्री एवं २५ वर्ष तक पुमान् को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। कुछ पुमान् एवं स्त्रियां शीघ्र गर्भाधान के योग्य हो जाती हैं अतः २० वर्ष का उल्लेख किया गया है ॥८,९॥

बीजाऽसमर्थ शुक्र एवं रजस्—

वातादि कुणपग्रन्थिपूयक्षीणमलाह्वयम्।
बीजासमर्थं रेतोऽस्रं स्वलिङ्गैर्दोषजं वदेत् ॥ १० ॥
रक्तेन कुणपं, श्लेष्मवाताभ्यां ग्रन्थिसन्निभम्।
पूयाभं रक्तपित्ताभ्यां, क्षीणं मारुतपित्ततः ॥ ११ ॥
कृच्छ्राण्येतान्यसाध्यं तु त्रिदोषं मूत्रविट्प्रभम्।

व्याख्या—वायु के वर्ण एवं वेदना वाले, पित्त के वर्ण एवं वेदना वाले, कफ के वर्ण एवं वेदना वाले और कुणप (शव) कीसी गन्ध वाले, ग्रन्थि वाले, पूय वाले, क्षीण तथा मूत्र-पुरीष कीसी गन्ध वाले शुक्र एवं आर्त्तव बीज धर्म में असमर्थ होते हैं।

वायु आदि के लक्षणों से युक्त वायु दूषित आदि समझे जाते हैं और कुणप रक्त से, ग्रन्थिवाले कफ वात से, पूय जैसे रक्तपित्त से और क्षीण वातपित्त से होते हैं। ये सब कष्टसाध्य होते हैं और मूत्र पुरीष कीसी गन्ध वाले त्रिदोष से होते हैं और असाध्य होते हैं ॥१०,११॥

बीजाऽसमर्थ शुक्र एवं रजस् की चिकित्सा—

कुर्याद्वातादिभिर्दुष्टे स्वौषधं कुणपे पुनः ॥ १२ ॥
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ।
पाययेत्सर्पिरथवा विपक्वमसनादिभिः ॥ १३ ॥
पलाशभस्माश्मभिदा ग्रन्थ्याभे पूयरेतसि ।
परूषकवटादिभ्यां क्षीणे शुक्रकरी क्रिया ॥ १४ ॥
स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम् ।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिभिः ॥१५॥
संशुद्धो विट्प्रभे सर्पिर्हिंगुसेव्यादिसाधितम् ।
पिबेत् ग्रन्थ्यार्तवे पाठाव्योषवृक्षकजं जलम् ॥ १६ ॥
पेयं कुणपपूयास्रे चन्दनं वक्ष्यते तु यत् ।
गुह्यरोगे च तत्सर्वं कार्यं सोत्तरबस्तिकम् ॥१७॥

व्याख्या—वायु आदि से दूषित शुक्र एवं आर्त्तव में—वायु आदि के शमन के लिये चिकित्सा करे ।

कुणपगन्धि में—धाय के फूल, खैरसार, अनार एवं अर्जुन की छाल के क्वाथ एवं कल्क के सिद्ध घृत अथवा असनादि गण (सू० अ० १५।१९,२०) के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत पिलाना चाहिये ।

ग्रन्थिवाले शुक्र एवं आर्त्तव में—पलाश की भस्म तथा पाषाण भेद के रस में सिद्ध घृत पिलाना चाहिये ।

पूय शुक्र में—फालसा की छाल तथा वटादि गण के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत पिलाना चाहिये ।

क्षीण शुक्र में शुक्रवर्द्धक—वाजीकरण चिकित्सा करे और संक्षेपतः शुक्रदोष में—स्नेहपान, वमन, विरेचन, निरूहण तथा अनुवासन करने के अनन्तर उत्तर वस्तियों का प्रयोग करे ।

पुरीषगन्धी शुक्र में—वमन विरेचन से शुद्ध होने पर, हींग तथा खस आदि, (चित्ता, धनियाँ, प्रियंगु, मजीठ तथा मृणाल के क्वाथ एवं बड़ी इलायची तथा दालचीनी के कल्क) से सिद्ध घृत का पान करे ।

ग्रन्थि युक्त आर्त्तव में—पाठा, त्रिकटु तथा कुरैया का क्वाथ पीवे ।

कुणपगन्धित या पूय सदृश आर्त्तव में चन्दन का क्वाथ पीवे और गुह्यरोगाध्याय (उ० तं० अ० ३४) में जो उपाय कहे गये हैं वे सब तथा उत्तर वस्ति कर्म करे ।

वक्तव्य—देखिए सु. शा. अ. २ तथा च. चि. अ. ३०। क्षीण आर्त्तव में नष्ट रक्त के समान रक्तवर्द्धक चिकित्सा करे । शुक्र क्षय में शुक्र वर्द्धक उपचार करे (देखिए उत्तर स्थान अ० ४०) ॥१२-१७॥

गर्भाधान समर्थ शुक्र एवं आर्त्तव—

शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहलं बहु ।
घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भाय आर्तवं पुनः ॥१८॥
लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते ।

व्याख्या—शुक्र—श्वेत, गुरु, स्निग्ध, मधुर, बहल—गाढा तथा बहु—परिमाण में अधिक—पर्याप्त तथा घृत जैसा, माक्षिक नामक मधु कासा अथवा तिलके तैल कासा शुद्ध होता है और वह सत्—उत्तम—श्रेष्ठ गर्भ का हेतु होता है अर्थात् उस से उत्पन्न गर्भ श्रेष्ठ होता है ।

और आर्त्तव—लाख के रस कासा, खरगोश के रक्त कासा और श्वेत कपड़ा पर से धोने पर रंग रहित हो जाने वाला शुद्ध होता है और उस के संयोग से श्रेष्ठ गर्भ होता है ।

वक्तव्य—देखिये सु. शा. अ. २ तथा च. चि. अ. २ पाद २। शुद्ध रजस् का कपड़ा पर दाग नहीं लगता । धोने से रंग छूट जाता है ॥ १८ ॥

गर्भाधान का पूर्व कर्म—

शुद्धशुक्रार्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः ॥१९॥
स्नेहैः पुंसवनैः स्निग्धं शुद्धं शीलितबस्तिकम् ।
नरं विशेषात्क्षीराज्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ॥२०॥
नारीं तैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत् ।

व्याख्या—गर्भाधान के लिये शुद्ध शुक्रवाला पुमान् तथा शुद्ध आर्त्तव वाली स्त्री हो और दोनों स्वस्थ—नीरोग तथा परस्पर स्निग्ध—प्रेमी हों, दोनों पुंसवन स्नेहों से स्निग्ध हों, वमन विरेचन से शुद्ध हों तथा दोनों ने वस्ति कर्म का सेवन किया हो। विशेषतः नर को मुलेठी आदि मधुर औषधों से सिद्ध दूध एवं घृत का और नारी को तैल से बने, उरद से बने तथा पित्तवर्द्धक आहारों का सेवन करना चाहिये ।

वक्तव्य—देखिये सु. शा. अ. २ । २८ । नर दूध घृत के साथ शालि चावलों का भात खावे और नारी तैल का सेवन करे और उरद एवं उरद के तैल में बने पदार्थ को खावे । इस विधि का सेवन मास भर होना चाहिए और मास भर ही ब्रह्मचर्य का सेवन होना चाहिये ॥ १९,२० ॥

ऋतुमती का लक्षण—

क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम् ॥२१॥
स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतुमतीं स्त्रियम् ।

व्याख्या—जिस का मुख क्षाम-म्लान तथा प्रसन्न हो, श्रोणि एवं स्तनों में स्फुरण हो, नेत्र एवं गर्भाशय स्रस्त—विचलित हो तथा पुमान् के सहवास की कामनावाली हो

उसे "ऋतुमती" समझना चाहिये।

वक्तव्य—सु. शा. अ. ३ में यही पाठ है परन्तु क्षाम के स्थान में "पीन" पाठ है जो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है और पाठ भी अधिक है। कभी२ नारी को रजोदर्शन नहीं होता और कोई ऐसी भी नारी होती है जिसे जीवन भर रजः दर्शन नहीं होता परन्तु गर्भाधान होता है इस दशा में उक्त लक्षणों से जान लिया जाता है कि नारी "ऋतुमती" है और ऋतुकाल गर्भाधान का काल होता है कभी२ ऋतु काल के अतिरिक्त काल में भी गर्भाधान हो जाता है परन्तु यह उत्तम गर्भ नहीं होता ॥ २१ ॥

ऋतुकाल में ही गर्भाधान होता है—

पद्मं सङ्कोचमायाति दिनेऽतीते यथा, तथा ॥२२॥
ऋतावतीते योनिः, सा शुक्रं नातः प्रतीच्छति।

व्याख्या—जैसे दिन व्यतीत होने पर पद्म संकुचित हो जाता है वैसे ऋतुकाल व्यतीत होने पर गर्भाशय का मुख संकुचित हो जाता है इसलिये उस में शुक्र का प्रवेश नहीं होता ॥२२॥

रजःस्राव का वर्णन—

मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः ॥२३॥
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत्।

व्याख्या—गर्भाशय की भित्तियों में मास भर में, धमनियों द्वारा रक्त सञ्चित होता रहता है और ऋतुकाल में—उसे वायु गर्भाशय के मुख से बाहिर निकाल देता है यह रक्त कुछ काला तथा गन्धरहित होता है। इसे पुष्प या रजस् कहते हैं।

वक्तव्य—इस दशा में नारी को पुष्पवती या रजस्वला कहते हैं और यह प्रायः ३ से ५ दिन तक बहता रहता है परन्तु किसी२ को १ क्षण भर के लिये बहुत थोड़ा सा दिखाई देता है और किसी२ को सात आठ दिन तक बहता रहता है ॥ २३ ॥

रजस्वला का कर्त्तव्य—

ततः पुष्पेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहम् ॥२४॥
मृजालङ्काररहिता दर्भसंस्तरशायिनी।
क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्षणम् ॥२५॥
पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी।

व्याख्या—तदनन्तर पुष्प—रजस् का दर्शन होते ही नारी तीन दिन पर्यन्त—कल्याण का ध्यान करती रहे—शुभ भावनाओं का विचार करती रहे, स्नान आदि शारीरिक शुद्धि तथा भूषण पहिनना तथा कंघी आदि से केशवेश करना आदि से रहित रहे, अञ्जन आदि का भी परिहार करती रहे, दूध तथा जौ से बने आहार का जो उदर का शोधन तथा शरीर का कर्षण करने वाला हो सेवन करे वह भी पत्तल पर, मिट्टी के शराव—सिकोरा—तश्तरी में अथवा हाथ में ही धर कर खावे और ब्रह्मचारिणी रहे।

वक्तव्य—विशेष देखिए सु. शा. अ. २। २५-२६। और—तीक्ष्णोष्णाऽम्ललवणानि वर्जयेत् (अ.सं. शा. अ. १) अर्थात् इस दशा में मरिच आदि तीक्ष्ण एवं उष्ण, अम्ल एव लवण का त्याग करे ॥२४,२५॥

ऋतुस्नाता द्वारा पति का दर्शन—

चतुर्थेऽह्नि ततः स्नाता शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः ॥२६॥
इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत्पुरः पतिम्।

व्याख्या—तदनन्तर चौथे दिन स्नान करके, श्वेत पुष्पों तथा श्वेत वस्त्रों को धारण करे तथा शुचि—स्वस्ति वाचन तथा माङ्गलिक कार्य करके अन्तः करण से पवित्र होकर पति के सदृश रूप रङ्ग वाले पुत्र—सन्तान की इच्छा करती हुई प्रथम पति का दर्शन करे।

वक्तव्य—पूर्वं पश्येत् ऋतु स्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेत् अतः ॥ २६ ॥
सु. शा. अ. २

और देखिए च. शा. अ. ८। १०-११-१२-१३-१४-१५। यह सच है कि उस दिन सर्व प्रथम जैसे व्यक्ति का दर्शन होता है तदनुसार गर्भ के रूप, रंग तथा स्वभाव पर उसका प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि पति दर्शन के महत्व को न समझने वाली नारियों की सन्तान पति के समान आकृति एवं स्वभाव वाली नहीं होती, अनेक बुद्धिमती नारियाँ पति की अनुपस्थिति में अपना मुख दर्पण में देख लेती हैं अथवा किसी भ्राता आदि सुन्दर पुरुष अथवा अन्यान्य सुन्दर नारी का मुख देख लेती हैं ॥ २६ ॥

ऋतुकाल एवं पुत्रादि की उत्पत्ति—

ऋतुस्तु द्वादशनिशाः पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ॥२७॥
एकादशी च युग्मासु स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका।

व्याख्या—१२ रात्रि ऋतु काल रहता है. इन १२ में प्रथम ३ रात्रि तथा ११ वीं रात्रि गर्भाधान के लिये निन्दित हैं। और युग्म—सम रात्रियों में गर्भाधान होने से पुत्र तथा अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान होने से कन्या होती है।

वक्तव्य—ऋतुकाल—गर्भाधान के लिये उचित काल युग्म रात्रि—चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं तथा बारहवीं रात्रि। अयुग्म रात्रि—पाँचवीं, सातवीं, नौवीं, ग्यारहवीं,

रात्रि। प्रथम ३ रात्रि—जिन में प्रायः रजस् की प्रवृत्ति होती रहती है। ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः। अदृष्टाऽऽर्तवोऽपि अस्ति इत्येके भाषन्ते॥ सु.शा. अ ३। ६। १२ रात्रि के पश्चात् तेरहवीं आदि रात्रियाँ गर्भाधान के लिए निन्दित हैं। यद्यपि किसी किसी को कभी कभी उन रात्रियों में भी गर्भाधान हो जाता है। उत्तरोत्तर रात्रियों में गर्भाधान होने से सन्तान में-आयु,आरोग्य, ऐश्वर्य,सौभाग्य,बल एवं वर्ण की सम्पन्नता होती है॥ २७॥

पुत्रेष्टि का संकेत—

उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम्॥२८॥
नमस्कारपरायास्तु शूद्राया मन्त्रवर्जितम्।
अवन्ध्य एवं संयोगः स्यादपत्यं च कामतः॥२९॥

व्याख्या—पति दर्शन के पश्चात् उसी दिन उपाध्याय-कर्मकाण्डी विद्वान्-विधिपूर्वक पुत्रीय विधि से पुत्रेष्टि कर्म करे। और शूद्रा-शूद्र जाति की नारी का पुत्रेष्टि कर्म केवल नमस्कार पूर्वक ही करे उस में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग न करे। इस प्रकार—नर नारी का संसर्ग निष्फल नहीं होता और इच्छानुसार सन्तान होती है।

वक्तव्य— विशेष देखिए च. शा. अ. ८। ११-१२। कर्मकाण्ड के प्रभाव के अनेक उदाहरण है जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र का जन्म आदि॥२८,२९॥

सन्तान मात्र के लिये सहवास—

सन्तो ह्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः सङ्गतिं रहः।
दुरपत्यं कुलाङ्गारो गोत्रे जातं महत्यपि॥३०॥

व्याख्या—सत्पुरुषों का कथन है कि—नर नारी का संसर्ग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये होना चाहिये (काम वासना की पूर्ति मात्र के लिये नहीं) और वह भी एकांत में होना चाहिये (जिस से दोनों का ध्यान इधर उधर न जाय) इस प्रकार उत्तम सन्तान होती है। और दुष्ट सन्तान तो कुल के लिये अंगार—(जलाने वाली) होती है भले ही महान् (उच्च) कुल में उत्पन्न क्यों न हों॥३०॥

इष्ट सन्तान की प्राप्ति के उपाय—

इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ।
चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ॥३१॥

व्याख्या—वे नर नारी जिस प्रकार की सन्तान चाहें उस प्रकार के रूप एवं चरित्रों का तथा जनपदों—देशों का चिन्तन करें और उसी प्रकार के आहार-विहार तथा परिच्छदों—वेश भूषाओं का सेवन करें।

वक्तव्य—विशेष देखिये च. शा. अ. ८। १०-१८। जनक एवं जननी के आहार, विहार तथा वेशभूषा का प्रभाव गर्भ पर अवश्य पड़ता है॥ ३१॥

गर्भाधान की विधि एवं गृहीतगर्भा के लक्षण—

कर्मान्ते च पुमान् सर्पिःक्षीरशाल्योदनाशितः।
प्राग्दक्षिणेन पादेन शय्यां मौहूर्तिकाज्ञया॥३२॥
आरोहेत् स्त्री तु वामेन तस्य दक्षिणपार्श्वतः।
तैलमाषोत्तराहारा तत्र मन्त्रं प्रयोजयेत्॥३३॥
अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता।
त्वां दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेति॥ ४।
ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम्॥३५॥
सान्त्वयित्वा ततोऽन्योन्यं संविशेतां मुदान्वितौ।
उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः॥३६॥
तथा हि बीजं गृह्णाति दोषैः स्वस्थानमास्थितैः।
लिङ्गं तु सद्योगर्भाया योन्या बीजस्य सङ्ग्रहः॥३७॥
तृप्तिर्गुरुत्वं स्फुरणं शुक्रास्राऽननुबन्धनम्।
हृदयस्पन्दनं तन्द्रा तृड्ग्लानिर्लोमहर्षणम्॥३८॥

व्याख्या—उक्त पुत्रेष्टि कर्म के अनन्तर पुमान् दिन में या सायंकाल दूध घृत के साथ शालि धान्य का भात खावे और नारी तैल एवं उरद प्रधान आहार खावे और रात्रि में ज्योतिःशास्त्रानुसार मुहूर्त—शुभलग्न में पुमान् दाहिने पाँव से और नारी बाँए पाँव से शय्या पर आरोहण करे तथा पुमान् के दक्षिण की ओर रहे। इस समय निम्न मन्त्र का उच्चारण करे मन्त्र है अहिरसि———सुतम्। मन्त्र का सीधा सा अर्थ है—तू गतिशीला है, जीवन एवं प्रतिष्ठा है ईश्वर तुम्हारा धारण पोषण करे ब्रह्मतेज की उत्पत्ति हो, ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, अश्विनी कुमार, भग, मित्र मित्र एवं वरुण देव मुझे वीर पुत्र दें।

मन्त्रोच्चारण करके अनन्तर नर नारी दोनों परस्पर प्रिय भाषण आदि से सान्त्वनायुक्त—विश्वस्त होकर तथा आमोद—हर्ष से युक्त होकर सहवास के लिये लेट जायँ और नारी—उत्ताना—चित्त और तन्मना—अभीष्ट सन्तान के लिये आशावती होकर और अपने सब अवयवों को यथा स्थान स्थित करके लेट जाय इस प्रकार वह बीज—गर्भबीज—शुक्र को ग्रहण कर लेती है क्योंकि इस प्रकार सब वातादि दोष अपने अपने स्थान में स्थित रहते हैं।

सद्योगृहीतगर्भा के लक्षण में—गर्भाशय में बीज—शुक्र का प्रवेश, नारी को तृप्ति का अनुभव, गर्भाशय में

भारीपन की प्रतीति, गर्भाशय में स्फुरण की प्रतीति, शुक्र एवं शोणित का गर्भाशय में से—भग से न निकलना, हृदय में धड़कन, तन्द्रा, तृषा, ग्लानि तथा रोमाञ्च होना।

वक्तव्य—देखिए सु. शा. अ. ३। १३। और च शा. अ. २। २३। गर्भाधान के तत्कालीन उक्त लक्षणों का अनुभव प्रायः बहुशः प्रसूता को ही होता है सबको नहीं॥ ४१॥

पुंसवन का वर्णन—

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्कललीभवेत्।
गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्॥३७॥
बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते।
पुष्ये पुरुषकं हैमं राजतं वाऽथवाऽऽयसम्॥३८॥
कृत्वाऽग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिबेत्।
गौरदण्डमपामार्गं जीवकर्षभसैर्यकान्॥३९॥
पिबेत्पुष्ये जले पिष्टानेकद्वित्रिसमस्तशः।
क्षीरेण श्वेतबृहतीमूलं नासापुटे स्वयम्॥४०॥
पुत्रार्थं दक्षिणे सिञ्चेद्वामे दुहितृवाञ्छया।
पयसा लक्ष्मणामूलं पुत्रोत्पादस्थितिप्रदम्॥४१॥
नासयाऽऽस्येन वा पीतं वटशुङ्गाष्टकं तथा।
ओषधीर्जीवनीयाश्च बाह्यान्तरुपयोजयेत्॥४२॥
उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक्।
नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत्॥४३॥

व्याख्या—गर्भाधान के अनन्तर एक सप्ताह तक गर्भ खेट भूत—श्लेष्मसदृश रहता है और फिर प्रथम मास में कलल रूप हो जाता है परन्तु अव्यक्त रहता है अर्थात् उसमें स्त्री अथवा पुमान का कोई लक्षण व्यक्त नहीं रहता। इस लिये इसी मास में स्त्रीत्व अथवा पुंस्त्व की अभिव्यक्ति के पूर्व ही पुंसवन विधि का प्रयोग करे। क्यों कि पुंसवन रूपी पुरुषार्थ पौरुष कर्म यदि बलवान् होता है तो दैव पूर्व जन्म कृत कर्म के बल को दबा देता है। अर्थात् यदि दैववश कन्या गर्भ भी होने वाला होता है तो पुंसवन से भी पुमान् गर्भ हो जाता है।

पुंसवन प्रयोग—१—स्वर्ण, रजत अथवा लोह की पुरुषाकार पुतली बना कर और उसे अग्नि में लाल करके दूध में बुझा देवे इस दूध की एक अंजलि (सोलह कर्ष परिमित) पीवे। २—गौरदण्ड श्वेत डण्डी वाला अपामार्ग, जीवक, ऋषभक तथा शैर्यक—सहचर इनमें से एक, दो, तीन, अथवा सब द्रव्य लेकर, पुष्य नक्षत्र में, जल में पीस कर पीवे। ३—श्वेत पुष्प वाली कण्टकारी की जड़ को स्वयं दूध में पीस कर, पुत्र के लिये अपने दाहिने नासा पुट में और कन्या के लिये बाएँ नासा पुट में तीन चार बूंद टपकावे। ४—लक्ष्मणा की जड़ को दूध में पीस कर, नासा द्वारा अथवा मुख द्वारा पीने से पुत्र गर्भ की उत्पत्ति भी होती है और गर्भ दीर्घायु भी होता है अर्थात् मृतवत्सादोष भी नष्ट हो जाता है। ५—इसी प्रकार वट के आठ शुङ्गों का भी प्रयोग किया जाता है और वही (लक्ष्मणा के समान) फल होता है। और ६—जीवनीय गण की औषधियों का (सू० अ० १५) स्नानादि में बाहिरी और पीने आदि में भीतरी प्रयोग करे।

गर्भवती का उपचार प्रिय मनोहर मनोनुकूल हित लाभ दायक आहार विहारों से करे और पति द्वारा भृत्यों परिजनों द्वारा प्रिय एवं हित व्यवहार गर्भ धारण में उपयोगी होता है। और गर्भवती के आहार में सदा माखन घृत तथा दूध का प्रयोग होना चाहिये।

वक्तव्य—देखिए च. शा. अ. ८। २० तथा सु. शा. अ० २। ३२। पुंसवन—पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणा इति पुंसवनम्—जिस कर्म के प्रभाव से पुमान् गर्भ हो जाता है। जब कन्या ही कन्या अथवा पुत्र ही पुत्र जन्मते हैं तब यह उपाय किये जाते हैं। चरक में इसका नाम "विवर्त्तन" है—बदलने वाला—परिवर्त्तन करने वाला। इस प्रकार पुंसवन या विवर्त्तन योग अनेक ब्राह्मण, साधु, स्त्रियाँ, दाइयाँ भी परम्परया जानती हैं। गर्भिणी के आहार आदि के लिए देखिये च. शा. अ. ८। ३४। पुमान् शब्द का अर्थ है—पालन पोषण करने वाला व्यक्ति॥ ३७–४३॥

गर्भवती के लिये त्याज्य आहार व्यवहार—

अतिव्यवायमायासं भारं प्रावरणं गुरु।
अकालजागरस्वप्नं कठिनोत्कटकासनम्॥ ४४॥
शोकक्रोधभयोद्वेग-वेगश्रद्धाविधारणम्।
उपवासाध्वतीक्ष्णोष्ण-गुरुविष्टम्भिभोजनम्॥ ४५॥
रक्तं निवसनं श्वभ्रकूपेक्षां मद्यमामिषम्।
उत्तानशयनं यच्च स्त्रियो नेच्छन्ति तत्त्यजेत्॥ ४६॥
तथा रक्तस्रुतिं शुद्धिं बस्तिमामासतोऽष्टमात्।
एभिर्गर्भः स्रवेदामः कुक्षौ शुष्येन्म्रियेत वा॥ ४७॥

व्याख्या—गर्भवती अधिक मैथुन तथा परिश्रम न करे, भार न उठावे, भारी ओढ़ना न ओढ़े, अकाल में जागे नहीं, अकाल में सोवे नहीं, कठिन आसन पर न बैठे, उत्कटक पाँव भार न बैठे तथा शोक, क्रोध, भय, वेग रोध, सच्ची अभिलाषा का निरोध, उपवास, लम्बा मार्ग, तीक्ष्ण उष्ण, गुरु तथा विष्टम्भ कारक भोजन लाल वस्त्र, कूप एवं गहरे गड्ढा में झांकना, देखना, मद्य, मांस, उत्तान-

चित लेटना तथा उन आहार विहारों का जिनको वृद्धा स्त्रियाँ निषिद्ध मानती हैं उन सब का परित्याग करे। और रक्त स्रावण, वमन विरेचन आदि शोधन तथा अष्टम-मास पर्यन्त बस्ति कर्म का भी परित्याग करे। इन कारणों से गर्भ का स्राव अथवा पात हो जाता है. अथवा गर्भाशय में ही गर्भ रुक जाता है अथवा मर जाता है।

वक्तव्य—देखिए च. चि. अ. ८-२२। तथा सु. शा. अ. ३, १६-१७ ॥ ४४-४७॥

गर्भ पर वातादि दोषों का प्रभाव—

वातलैश्च भवेद्गर्भः कुब्जान्धजडवामनः।
पित्तलैः खलतिःपिङ्गः,श्वित्री पाण्डुःकफात्मभिः॥४८॥
व्याधींश्चास्या मृदुसुखैरतीक्ष्णैरौषधैर्जयेत्।

व्याख्या—वात कारक आहार विहार से गर्भ—कुबड़ा, अन्धा, जड़ (बुद्धिहीन) तथा वामन हो जाता है।

पित्त कारक आहार विहार से गर्भ—खलति—खल्वाट (गञ्जा—जिसको खोपड़ी पर बाल नहीं रहते। यह प्रायः यौवन में प्रारम्भ होता है क्योंकि उस समय पित्त की वृद्धि होती है) तथा पिङ्ग (पीले नेत्र, पीले केश वाला) होता है। कफकारक आहार विहार से गर्भ—श्वित्ररोगी तथा पाण्डु (पाण्डु वर्ण वाला) हो जाता है।

गर्भवती के रोगों की चिकित्सा—मृदु गुणयुक्त, सुखदायक—सेवन में सुखदायक—मधुर एवं शीतल तथा तीक्ष्ण गुण रहित औषधों एवं आहारों से करे।

वक्तव्य—देखिए च. शा. अ. ८, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२ तथा ३३ ॥ ४८ ॥

द्वितीय मास में गर्भ का आकार—

द्वितीये मासि कललाद्धनः पेश्यथवाऽर्बुदम् ॥ ४९ ॥
पुंस्त्रीक्लीबाः क्रमात्तेभ्यः तत्र व्यक्तस्य लक्षणम्:
क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा च्छर्दिररोचकः ॥ ५० ॥
जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्।
अम्लेष्टता स्तनौ पीनौ सस्तन्यौ कृष्णचूचुकौ ॥ ५१ ॥
पादशोफो विदाहोऽन्ये श्रद्धाश्च विविधात्मिकाः।
मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् ॥ ५२ ॥
सम्बद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविमाननम्।
देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम्। ५३ ॥
श्रद्धाविघाताद्गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा।

व्याख्या—दूसरे मास में गर्भ—कलल की अपेक्षा घन-ठोस हो जाता है और उसके तीन आकार होते हैं—१—पिण्ड, २—पेशी अथवा ३—अर्बुद जैसा। पिण्ड-आकार से पुमान्, पेशी से स्त्री तथा अर्बुद से नपुंसक गर्भ बनता है। तात्पर्य यह है यदि कोई गर्भिणी मर जाती है और उस का गर्भाशय चीर कर देखा जाता है तब अथवा द्वितीय मास में गर्भस्राव हो जाता है तब यह अनुमान लगाया जाता है कि यदि यह गर्भ पूर्णाङ्ग होकर जन्म लेता तो पुमान्—बालक, स्त्री—कन्या अथवा नपुंसक होता।

इस मास में गर्भाधान के लक्षण व्यक्त हो जाते हैं यथा—शरीर में क्षामता— कृशता, गर्भाशय में गुरुता, कभी कभी मूर्च्छा (यह किसी किसी को होती है), छर्दि (यह किसी किसी को तथा कभी १-२ बार ही और प्रसव तक भी होती है),अरुचि,जृम्भा, लालास्राव,अवसाद (पाण्डु रोग के समान शिथिलता), रोमराजी का उद्गम (रोम खड़े हो जाता), अम्ल पदार्थ खाने की उत्कट इच्छा, स्तनों पर पीनता (पुष्टि) तथा दूध की उत्पत्ति (कभी २ किसी २ के स्तनों में से श्वेत सा स्राव होने लगता है), स्तन चूचकों में कालापन, पाँव में (किसी २ के पाँव में) शोथ तथा दाह और अनेक प्रकार के खाने, पीने तथा पहिनने की प्रबल इच्छा!

वास्तविकता यह है कि—गर्भ का हृदय मातृ अवयव है और माता के हृदय से उस का सम्बन्ध रहता है इसलिये गर्भवती की इच्छाओं का निरोध अच्छा नहीं माना जाता (सम्भव है वह सब गर्भ की इच्छा हो)

इस लिये गर्भवती को उसकी इच्छानुसार कोई अपथ्य भी किसी पथ्य पदार्थ के साथ मिलाकर तथा थोड़ी मात्रा में दे देना चाहिये। क्योंकि उन इच्छाओं को रोकने से गर्भ में कोई विकृति आ सकती है अथवा उस का स्राव हो सकता है।

वक्तव्य—सु. शा, अ ३ के १८ से २८ वें पाठ को देखिये। वहां श्रद्धा को "दौहृद" कहा गया है जो दोहद कहलाता है ॥ ४९-५३ ॥

तृतीय मास के गर्भ का आकार—

व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ॥ ५४ ॥
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च।
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः ॥ ५५ ॥
गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाडी निबध्यते।
यया स पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ॥ ५६ ॥

व्याख्या—तीसरे मास में गर्भ के ५ गात्र व्यक्त हो जाते हैं यथा—१—शिरोभाग, २—दोनों सक्थियाँ तथा ३—दोनों बाहु और इसी मास में अंगुलियाँ तथा कर्ण नासा आदि छोटे २ अवयवों का भी जन्म हो जाता है और इन शिर आदि के साथ २ ही सुख एवं दुःख का

ज्ञान भी हो जाता है।

और—गर्भ की नाभि में तथा माता के हृदय में रस वाहिनी नाड़ी का (नाली—सिरा) का सम्बन्ध रहता है जिस के द्वारा गर्भ का पोषण होता रहता है जैसे खेत की फसल का पोषण कुल्या (कूल—जल प्रणाली) द्वारा होता है ।।५४-५६।।

चतुर्थ से सप्तम मास में गर्भ का आकार –

चतुर्थे व्यक्तताऽङ्गानां, चेतनायाश्च पञ्चमे ।
षष्ठे स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् । ५७ ।
सर्वैः सर्वाङ्गसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे ।
गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः ।
कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्या किक्किसानि च ।।५८।।
नवनीतं हितं तत्र कोलाम्बुमधुरौषधैः ।
सिद्धमल्पपटुस्नेहं लघु स्वादु च भोजनम् ।। ५९ ।।
चन्दनोशीरकल्केन लिम्पेदूरुस्तनोदरम् ।
श्रेष्ठया चैणहरिणशशशोणितयुक्तया ।। ६० ।।
अश्वघ्नपत्रसिद्धेन तैलेनाऽभ्यज्य मर्दयेत् ।
पटोलनिम्बमञ्जिष्ठासुरसैः सेचयेत्पुनः ।। ६१ ।।
दार्वीमधुकतोयेन मृजां च परिशीलयेत् ।

व्याख्या—चौथे मास में—सब अंगों एवं प्रत्यङ्गों का विभाग व्यक्त हो जाता है। सुश्रुत के कथनानुसार इसी मास में दोहद की उत्पत्ति होती है तात्पर्य यही है कि इस मास में भी गर्भवती की इच्छाओं की पूर्ति होती रहे।

पञ्चम मास में—चेतना की अभिव्यक्ति (पूर्ण रूपसे व्यक्तता) हो जाती है (मनस् प्रतिबुद्धतर हो जाता है। सु.)

षष्ठ मास में—स्नायु, सिरा, रोम, बल, वर्ण, नख तथा त्वचा की व्यक्तता हो जाती है।

और सप्तम मास में गर्भ—शारीरिक सब भावों में पुष्ट हो जाता है तथा सर्वाङ्ग परिपूर्ण हो जाता है। कभी कभी इस मास में गर्भ का जन्म भी हो जाता है यद्यपि कुछ कृश एवं दुर्बल होता है तथापि होता है पूर्णाङ्ग। और जीवित भी रहता है।

इस सप्तम मास में- गर्भ वृद्धि से उत्पीडित वात, पित्त एवं कफ नामक दोष गर्भवती के हृदय-उरस् में जाकर विदाह उत्पन्न करते हैं फलतः कण्डू होती है और खुजाने से "किक्किस" की उत्पत्ति हो जाती है। इस दशा में—बेर की छाल के क्वाथ तथा शतावर आदि मधुर औषधों के कल्क से सिद्ध नवनीत १ १तो० समय२ पर खाने को देवे और थोड़े से लवण एवं स्नेह से युक्त, लघु एवं स्वादु भोजन देवे, ऊरु, स्तन तथा उदर पर श्वेत चन्दन एवं खस को जल में पीस कर लेप करे एवं उबटन करे अथवा एण हरिण एवं खरगोश के रक्त में त्रिफला मिलाकर मले अथवा कनेर के पत्तों के कल्क योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे फिर परवल, निम्ब, मञ्जीठ तथा तुलसी के क्वाथ से सेचन करे और दारु हल्दी एवं मुलेठी के जल से स्नान आदि करे।

वक्तव्य—किक्किस—गर्भवती के ऊरु, उदर एवं स्तनों पर उत्पन्न होने वाली रेखाएँ। ये प्रथम गर्भ के समय उत्पन्न होती हैं और जीवन भर बनी रहती हैं। भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है जातकण्डूश्च कण्डूयनं वर्जयेत् त्वग्भेदवैरूप्य परिहारार्थम्। असह्यायां तु कण्डूवा उन्मर्दन-उद्घर्षणाभ्यां परिहारः स्यात्। च. शा. अ. ८। ३४। अर्थात् कण्डू होने पर खुजाना उचित नहीं, खुजाने से त्वचा का रूप विकृत होता है। असह्य कण्डू होने पर मर्दन द्वारा कण्डू की निवृत्ति करे ।। ५७-६१ ।।

अष्टम मास का वर्णन

ओजोऽष्टमे सञ्चरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ।। ६२ ।।
तेन तौ म्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति ।
शिशुरोजोऽनवस्थानान्नारी संशयिता भवेत् । ६३ ।।
क्षीरपेया च पेयाऽत्र सघृताऽन्वासनं घृतम् ।
मधुरैः साधितं शुद्ध्यै पुराणशकृतस्तथा । ६४ ।।
शुष्कमूलककोलाऽम्ल-कषायेण प्रशस्यते ।
शताह्वाकल्कितो बस्तिः सतैलघृतसैन्धवः ।। ६५ ।।

व्याख्या—अष्टम मास में ओजस्—बार२ क्रमशः माता—गर्भवती तथा पुत्र—गर्भ में सञ्चार करता रहता है इसलिए वे दोनों बार २ क्रमशः म्लान-हर्ष रहित तथा मुदित—हर्ष युक्त होते रहते हैं। इस मास में जन्म हुआ गर्भ (शिशु) जीवित नहीं रहता। कारण—उसमें ओजस् की अवस्थिति—(पूर्ण रूप से स्थिति) नहीं होती और नारी के जीवन में संशय रहता है। (कभी शिशु बच जाता है परन्तु जननी की मृत्यु हो जाती है)।

और इस अष्टम मास में—घृत मिश्रित क्षीरपेया (दूध की खीर) खानी चाहिये और पुरातन पुरीष की शुद्धि के लिये—दाख आदि मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। और सूखी मूली तथा बेर चूर के कषाय में, सौंफ का कल्क तथा तैल घृत एवं सैन्धव लवण मिला निरूहण बस्ति देनी चाहिये।

वक्तव्य—देखिए सु. शा. अ. १०, ४ और च. शा. अ. ८, ।। ६२-६५ ।।

प्रसव काल—

तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम्।
वर्षाद्विकारकारी स्यात्कुक्षौ वातेन धारितः ॥ ६६ ॥

व्याख्या—अष्टम मास पूर्ति के पश्चात् एक दिन व्यतीत होने पर भी अर्थात् नवम मास के प्रथम दिन से बारहवें मास की समाप्ति पर्यन्त प्रसव काल होता है। और बारह मास के पश्चात् भी वायु द्वारा रोका हुआ गर्भ यदि गर्भाशय में रह जाता है तो विकार कारक होता है ॥६६॥

नवम मास का उपचार—

शस्तश्च नवमे मासि स्निग्धो मांसरसौदनः।
बहुस्नेहा यवागूर्वा पूर्वोक्तं चानुवासनम् ॥ ६७ ॥
तत एव पिचुं चास्या योनौ नित्यं निधापयेत्।
वातघ्नपत्रभङ्गाम्भः शीतं स्नानेऽन्वहं हितम्। ६८ ॥
निःस्नेहाङ्गी न नवमान्मासात्प्रभृति वासयेत्।

व्याख्या—नवम मास में—स्नेह युक्त मांस रस एवं भात खाना चाहिये अथवा अधिक स्नेह डालकर यवागू (दलिया) खाना चाहिये और अष्टम मास के विधान में कही गई अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। और इसकी योनि—(भग) में स्नेह का पिचु— फाहा) प्रतिदिन रखना चाहिये और एरण्ड आदि वातनाशक पत्तों का क्वाथ, शीतल करके प्रतिदिन स्नान में प्रयुक्त करना चाहिये। और नवम मास के प्रारम्भ से प्रसव पर्यन्त गर्भवती को स्नेह रहित शरीर वाली नहीं रहने देना चाहिये अर्थात् प्रतिदिन स्नेह खाने एवं लगाने में प्रयुक्त करते रहना चाहिये।

वक्तव्य—नवम दशम एकादश द्वादश मासानां अन्यतमस्मिन् जायते अतोऽन्यथा विकारी भवति। सु. शा. अ. ३, ३०। तथा—नवमे तु खलु एनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेन अनुवासयेत्। अतश्च एव अस्याः तैलात् पिचुं योनौ प्रणयेत् गर्भ स्थान-मार्ग स्नेहनार्थम्। च. शा. अ० ८।३४।

पुत्र एवं कन्या आदि गर्भों का अनुमान—

प्राग्दक्षिणस्तनस्तन्या पूर्वं तत्पार्श्वचेष्टिनी ॥ ६९ ।
पुन्नामदौहृदप्रश्न-रता पुंस्वप्नदर्शिनी।
उन्नते दक्षिणे कुक्षौ गर्भे च परिमण्डले ॥ ७० ॥
पुत्रं सूतेऽन्यथा कन्यां या चेच्छति नृसङ्गतिम्।
नृत्यवादित्रगान्धर्वगन्धमाल्यप्रिया च या। ७१ ॥
क्लीबं तत्सङ्करे, तत्र मध्यं कुक्षेः समुन्नतम्।
यमौ पार्श्वद्वयोन्नामा कुक्षौ द्रोण्यामिव स्थिते ॥ ७२ ॥

व्याख्या—जिस के दक्षिण स्तन से प्रथम दूध (दूध जैसा द्रव) प्रवृत्त हो, चलने आदि में प्रथम दाहिने अंगों से चेष्टा—(व्यापार) करे, जो पुंलिंग वाचक प्रश्नों में रत हो—रुचि रखती हो, पुंलिंग वाचक पदार्थों को स्वप्नों में देखे—प्राप्त करे, उदर का दाहिना भाग उन्नत हो, गर्भ का आकार गोल प्रतीत हो (मुख का वर्ण प्रसन्न हो) वह गर्भिणी पुत्र का प्रसव करती है और इस के विपरीत कन्या प्रसव करती है तथा जो गर्भावस्था में नर के संसर्ग की इच्छा रखती है तथा नृत्य, वादित्र (बाजे बजाने में), गान्धर्व (गीत गाने में), इत्र आदि गन्धों तथा मालाओं—पुष्पों में प्रेम (अधिक रुचि) रखती है वह भी कन्या का प्रसव करती है।

उक्त दोनों प्रकार के लक्षण होने पर तथा उदर का मध्य भाग उन्नत होने—(रहने) पर नपुंसक का प्रसव करती है। यदि उदर के दोनों पार्श्व उन्नत हों और द्रोणी—(गून) के समान् उदर की स्थिति हो तो "यमल" युग्म (जोड़ा) का प्रसव करती है।

वक्तव्य—देखिये सु. शा. अ. ३, ३४ तथा च. शा. अ. २। २४–२५। ॥ ६९–७२ ॥

सूतिका गृह की व्यवस्था—

प्राक्चैव नवमान्मासात् सा सूतिगृहमाश्रयेत्।
देशे प्रशस्ते सम्भारैः सम्पन्नं साधकेऽहनि ॥ ७३ ॥
तत्रोदीक्षेत सा सूतिं सूतिकापरिवारिता।
अद्य श्वः प्रसवे ग्लानिः कुक्ष्यक्षिश्लथता क्लमः ॥७४॥
अधोगुरुत्वमरुचिः प्रसेको बहुमूत्रता।
वेदनोरूदरकटी पृष्ठहृद्वस्तिवङ्क्षणे ॥७५॥
योनिभेदरुजातोद स्फुरणस्रवणानि च।
आवीनामनु जन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः ॥७६॥

व्याख्या—नवम मास के पूर्व ही सूतिका गृह की व्यवस्था करे और वह अस्थि, कंकड़ एवं कपाल आदि से रहित स्थान में तथा आवश्यक सम्भारों—उपकरणों से युक्त हो और शुभ नक्षत्र आदि से युक्त—शुभ मुहूर्त्त में गर्भिणी उस में प्रवेश करे। सूतिका गृह में रहती हुई गर्भिणी प्रसव की प्रतीक्षा करे और साथ में बहुशःप्रसूता—प्रजनन कुशला नारियाँ रहें।

जब आज कल में प्रसव होने का होता है तब—ग्लानि, उदर—गर्भाशय एवं नेत्र में शिथिलता, क्लम, शरीर के अधोभाग में भारीपन, भोजन में अरुचि, योनि में से स्राव, मूत्र में अधिकता, ऊरु, उदर, कटि, पीठ, हृदय, वस्ति तथा वंक्षण में वेदना, गर्भाशय में भेदन की सी वेदना, पीड़ा, व्यथा, स्फुरण तथा स्राव होने लगता है। इस के अनन्तर जातियों—प्रसव वेदनाओं का प्रादु-

र्भाव होता है और तदनन्तर गर्भोदक का स्राव होता है।

वक्तव्य—देखिये च शा. अ. ८। ३५-३८। तथा सु. शा. अ. १०, ५-६-७-८। अष्टाङ्ग संग्रह में लिखा है—बहुशः प्रसूताभिः अनुरक्ताभिः अविषादिनीभिः अविसंवादिनीभिः क्लेशसहाभिः परिवृता स्वस्त्ययनपरा अनुलोमनैः आहारविहारैः अनुलोमितवातमूत्रपुरीषा प्रसवकालमुदीक्षेत! स्वल्पेऽपि च विण्मूत्रविबन्धे फलवर्त्तीः प्रयोजयेत्। शा. अ० ॥७३,७६॥

उपस्थितप्रसवा का वर्णन—

अथोपस्थितगर्भां तां कृतकौतुकमङ्गलाम्।
हस्तस्थपुन्नामफलां स्वभ्यक्तोष्णाम्बुसेचिताम् ॥७७॥
पाययेत्सघृतां पेयां तनौ भूशयने स्थिताम् ॥
आभुग्नसक्थिमुत्तानामभ्यक्ताङ्गीं पुनः पुनः ॥७८॥
अधो नाभेर्विमृद्नीयात्कारयेज्जृम्भचङ्क्रमम्।
गर्भः प्रयात्यवागेवं, तल्लिङ्गं हृद्विमोक्षतः ॥७९॥
आविश्य जठरं गर्भो बस्तेरुपरि तिष्ठति।
आव्योऽभित्वरयन्त्येनां खट्वामारोपयेत्ततः ॥८०॥

व्याख्या—जब गर्भ उपस्थित हो—प्रसव होने ही वाला हो तब कौतुक नामक मंगल कर्म करे, उस के हाथ में पुंलिंग वाचक आम—अनार आदि फल धरे, वात नाशक तैल का अभ्यङ्ग करके उष्ण जल से सेचन करे (स्नान करादे) और घृत मिश्रित यवागू—दलिया खिला देवे और कोमल विस्तरा बिछा कर भूमि पर ही लेटा देवे, सक्थियों को संकुचित करके, उत्तान लेटी हुई के शरीर पर बार २ तैल का अभ्यङ्ग करे और नाभि से नीचे मर्दन करे तथा जम्भाई लेने को कहे तथा कुछ इधर उधर टहलने को कहे। इस प्रकार गर्भ नीचे की ओर आने लगता है। उस का लक्षण है—गर्भ—हृदय प्रदेश—हृदय की ओर के—ऊपर के प्रदेश को छोड़ कर उदर में आ जाता है—खिसक आ जाता है और वस्ति के ऊपर स्थिर हो जाता है—गर्भ का दबाव वस्ति पर आ पड़ता है और आवियां इसे व्याकुल करने लगती हैं—बढ़ जाती हैं। इस अवस्था में इसे खड़ा—पलंग पर लेटा देवे।

वक्तव्य—आवियां–प्रसव वेदनाओं का नाम है जो प्रवाहिका की वेदना के समान होती हैं ॥७७-८०॥

प्रसव का वर्णन—

अथ सम्पीडिते गर्भे योनिमस्याः प्रसारयेत्।
मृदु पूर्वं प्रवाहेत बाढमाप्रसवाच्च सा ॥८१॥
हर्षयेत्तां मुहुः पुत्रजन्मशब्दजलानिलैः।
प्रत्यायान्ति तथा प्राणाः सूतिक्लेशावसादिताः ॥८२॥

व्याख्या—तदनन्तर अपत्यपथ में गर्भ का पीडन होने पर भग में तैलाभ्यङ्ग कर अपत्यपथ को प्रसारित करे और फिर प्रसव होने तक बाद—बहुत बल से प्रवाहण करे इससे प्रसव में सहायता मिलती है।

प्रसव होने पर—"पुत्र जन्मा है" कर कह कर तथा जल के छींटे देकर एवं पंखा से वायु देकर उसे बार २ प्रसन्न करे इस प्रकार से प्रसव के क्लेश से अवसन्न हुए प्रसूता के प्राण लौट जाते हैं—प्रसव वेदना का क्लेद घट जाता है ॥८१-८२॥

प्रसव में विलम्ब होने पर उपचार—

धूपयेद्गर्भसङ्गे तु योनिं कृष्णाहिकञ्चुकैः।
हिरण्यपुष्पीमूलं च पाणिपादेन धारयेत् ॥८३॥
सुवर्चलां विशल्यां वा जरायवपतनेऽपि च।
कार्यमेतत्तथोत्क्षिप्य बाह्वोरेनां विकम्पयेत् ॥८४॥
कटीमाकोटयेत्पाष्र्ण्या स्फिजौ गाढं निपीडयेत्।
तालुकण्ठं स्पृशेद्वेण्या मूर्ध्नि दद्यात्स्नुहीपयः ॥८५॥
भूर्जलाङ्गलिकीतुम्बीसर्पत्वक्कुष्ठसर्षपैः।
पृथग्द्वाभ्यां समस्तैर्वा योनिलेपनधूपनम् ॥८६॥
कुष्ठतालीसकल्कं वा सुरामण्डेन पाययेत्।
यूषेण वा कुलत्थानां बिल्वजेनासवेन वा ॥८७॥

व्याख्या—यदि दुर्भाग्य से गर्भ का उक्त प्रकार से जन्म न हो—गर्भ रुक जाय तो—काले सर्प की केञ्चुली की धूप योनि में देवे (अथवा मैनफल की धूप देवे) और हिरण्य पुष्पी की जड़ को अथवा सुवर्चला (हुलहुल) अथवा विशल्या को हाथ पाँव में धारण करे—लाल डोरा में बाँध कर बाँध लेवे, जरायु, का उचित समय में पतन न होने पर भी यही उपचार करे। अथवा गर्भवती को बाहुओं में पकड़ कर विकम्पित करे। कटि पर एड़ी का आघात करे; स्फिचों को निपीड़ित करे (इन उपायों से वायु अनुलोम हो जाता है) और तालु एवं कण्ठ में केशों की वेणी का स्पर्श करे अथवा शिर पर सेहुण्ड के दूध का लेप करे।

अथवा—भोजपत्र, कलिहारी, कटु तुम्बी, सर्प की केञ्चुली, कूठ तथा सरसों नामक एक एक अथवा दो दो अथवा सब द्रव्य लेकर योनि पर लेप करे तथा धूप देवे।

अथवा कूठ एवं तालीसपत्र का कल्क-सुरा के साथ, कुलथी के जूस के साथ अथवा बल्वज (बगई-बव्वड़ नामक घास जिसकी रस्सी बनाई जाती है) के आसव या जूस–क्वाथ के साथ–उनमें भिगो कर, मलकर तथा छान कर पिलावे ॥८३-८७॥

अपरापातन का उपचार—

शताह्वासर्षपाजाजी-शिग्रुतीक्ष्णकचित्रकैः ।
सहिङ्गुकुष्ठमदनैर्मूत्रे क्षीरे च सार्षपम् ॥८८॥
तैलं सिद्धं हितं पायौ योन्यां वाऽप्यनुवासनम् ।
शतपुष्पा-वचा कुष्ठ-कणा सर्षप-कल्कितः ॥८९॥
निरूहः पातयत्याशु सस्नेहलवणोऽपराम् ।
तत्सङ्गे ह्यनिलो हेतुः सा निर्यात्याशु तज्जयात् ॥९०॥
कुशला पाणिनाऽक्तेन हरेत्क्लृप्तनखेन वा ।

व्याख्या—प्रसव के अनन्तर ध्यान देना चाहिये कि अपरा का पतन हुआ है कि नहीं । यदि नहीं हुआ तो—सौंफ, सरसों, जीरा, सहजन, तीक्ष्णक (राई), चित्ता, हींग, कूठ तथा मैनफल के कल्क तथा गोमूत्र एवं दूध के संयोग से सिद्ध सरसों के तैल की गुद तथा भग में अनुवासन वस्ति देनी चाहिये । तत्पश्चात् सौंफ, बाल वच, कुठ, पीपल तथा सरसों का कल्क, स्नेह तथा लवण मिला कर निरूहण वस्ति देनी चाहिये इस प्रकार अपरा का पतन हो जाता है ।

सच यह है कि अपरा के रुकने में वायु ही कारण होता है और उक्त प्रकार से वायु पर विजय प्राप्त हो जाने से अपरा तत्काल निकल जाती है । अथवा प्रजनन कुशला स्त्री (प्रसवयित्री—प्रसव कराने वाली)—हाथ डाल कर अपरा को निकाल देवे परन्तु प्रथम हाथों के नख काट दिये जायँ तथा हाथ पर स्नेह का अभ्यङ्ग कर लिया जाय ।

वक्तव्य—विशेष देखिये च. शा. अ. ८।३८-४५ तथा सु. शा. अ. १०। ६-१३ ॥८८-९०॥

प्रसूता का उपचार तथा मक्कल्ल शूल—

मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गं च मर्दयेत् ॥९१॥
मक्कल्लाख्ये शिरोवस्तिकोष्ठशूले तु पाययेत् ।
सुचूर्णितं यवक्षारं घृतेनोष्णं जलेन वा ॥९२॥
धान्याम्बु वा गुडव्योषत्रिजातकरजोऽन्वितम् ।

व्याख्या—जब गर्भ का जन्म तथा अपरा का पतन हो जाय तब प्रसूता की योनि तथा शरीर पर तैल का मर्दन करे । यदि दुर्भाग्य से मक्कल्ल नामक शूल हो जाय जो कि शिर, वस्ति तथा कोष्ठ (गर्भाशय) एवं समस्त उरद में भीषण शूल होता है तो जौखार का चूर्ण-घृत में मिला कर अथवा उष्ण जल के साथ पिला देवे । अथवा गुड़, सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, बड़ी इलायची तथा तेजपत्ता का चूर्ण मिला कर काञ्जी पिला देवे ।

वक्तव्य—मक्कल्ल शूल के सम्बन्ध में विशेष देखिये सु. शा. अ. १०।२२॥९१,९२॥

नवजात शिशु का उपचार—

'अथ बालोपचारेण' बालं योषिदुपाचरेत् ॥९३॥

व्याख्या—जब उधर अपरा पातन आदि के लिये उचित उपचार किया जारहा हो तब इधर कोई कुशल नारी बालक—नवजात शिशु का उचित उपचार करे ।

वक्तव्य—बलोपचार का वर्णन उत्तर तन्त्र में बलोपचरणीय अ. १ में देखिये । तथा च. शा. अ. ८।४६-५५ और सु. शा. अ. १० में देखिये ॥९३॥

प्रसूता का उपचार—

सूतिका क्षुद्वती तैलाद् घृताद्वा महती पिबेत् ।
पञ्चकोलकिनीं मात्रामनु चोष्णं गुडोदकम् ॥९४॥
वातघ्नौषधतोयं वा, तथा वायुर्न कुप्यति ।
विशुध्यति च दुष्टास्रं द्वित्रिरात्रमयं क्रमः ॥९५॥

व्याख्या—प्रसूता जब भूख लगे तब तैल अथवा घृत (जो सात्म्य हो या वसा अथवा मज्जा) की उत्तम मात्रा शक्ति के अनुसार जितनी उचित हो उतनी मात्रा, पञ्चकोल (पीपल, पीपला मूल, चव्य, चित्ता एवं सोंठ)का चूर्ण मिलाकर पीवे और अनुपान में उष्ण उष्ण गुडोदक (गुड़ का क्वाथ) पीवे इस प्रकार वायु का प्रकोप नहीं होता तथा गर्भाशय से दूषित रक्त भी निकल जाता है दो तीन रात्रि (दिन) तक यही क्रम रहना चाहिये ।

वक्तव्य—देखिये सु. शा. अ. १०।१६। अ. सं. शा. अ. ३॥९४,९५॥

वातवृद्धि का निरोध—

स्नेहायोग्या तु निःस्नेहममुमेव विधिं भजेत् ।
पीतवत्याश्च जठरं यमकाक्तं विवेष्टयेत् ॥९६॥

व्याख्या—यदि प्रसूता स्नेह पान के योग्य न हो तो स्नेहपान के अतिरिक्त इसी विधि का सेवन करे । और उक्त स्नेह का गुड़ोदक का अथवा वात नाशक द्रव्यों के क्वाथ का पान करने पर उसके उदर पर घृत एवं तैल के मिश्रण का अभ्यङ्ग करके, कस कर कपड़ा लपेटदेना चाहिये (इस प्रकार उसके उदर में अवकाश न रहने-मिलने से वायु कुपित नहीं होता ।)

वक्तव्य—देखिये च. शा. अ. ८।५२ ॥९६॥

चार से सात दिन का उपाचार—

जीर्णे स्नाता पिबेत्पेयां पूर्वोक्तौषधसाधिताम् ।
त्र्यहादूर्ध्वं विदार्यादि-वर्गक्वाथेन साधिता ॥९७॥
हिता यवागूः स्नेहाढ्या सात्म्यतः पयसाऽथवा ।
सप्तरात्रात्परं चास्यै क्रमशो बृंहणं हितम् ॥९८॥

द्वादशाहेऽनतिक्रान्ते पिशितं नोपयोजयेत् ।
यत्नेनोपचरेत्सूतां, दुःसाध्यो हि तदामयः ॥९९॥
गर्भवृद्धिप्रसवरुक्क्लेदास्रस्रुतिपीडनैः ।

व्याख्या—उक्त स्नेह आदि पच जाने पर—पुनःभूख लगने पर—उष्णोदक से स्नान करके, पूर्वोक्त पञ्चकोल से सिद्ध की गई पेया (पीने योग्य पतला आहार) पीवे और फिर तीन दिन के अनन्तर विदारीगन्धादि गण के क्वाथ में सिद्ध की गई यवागू स्नेह मिलाकर अथवा सात्म्य के अनुसार दूध के साथ खानी चाहिये । और सात दिन के अनन्तर क्रमशः पुष्टिकारक आहार का सेवन करना चाहिये ।

प्रसव के पश्चात् १२ दिन तक मांस नहीं खाना चाहिये । और प्रसूता का उपचार सावधानता से करना चाहिये क्यों कि उसे यदि कोई रोग हो जाता है तो वह कष्ट साध्य होता है कारण—गर्भ की वृद्धि से उसके शरीर की सब धातुएँ क्षीण एवं शिथिल रहती हैं और प्रसव की वेदना से गर्भोदक तथा रक्त का स्राव होने से शरीर शून्य-रिक्त रहता है ।।९७-९९।।

प्रसूता संज्ञा—

एवं च मासादध्यर्धान्मुक्ताऽहारादियन्त्रणा ॥१००॥
गतसूताऽभिधाना स्यात्पुनरार्त्तवदर्शनात् ॥

व्याख्या—इस प्रकार एक अथवा डेढ़ मास के पश्चात् अथवा पुनः आर्त्तवदर्शन होने पर "प्रसूता" संज्ञा नहीं रह जाती इस दशा में प्रसूता के उक्त आहारविहार के नियम भी छूट जाते हैं या छुड़ा दिये जाते हैं ।

वक्तव्य—देखा जाता है कि प्रसव के पश्चात् ४०-४५ दिन पर थोड़ा बहुत रजःस्राव होता है वह गर्भाशय के स्वास्थ्य का लक्षण हैं । इन ४०-४५ दिनों में प्रसूता संज्ञा रहती है और प्रसूता के आहार बिहार का ध्यान रखा जाता है इसके पश्चात् वह स्वस्थ के समान आहार बिहार कर सकती है । इस अध्यायमें गर्भाधान से प्रसव पर्यन्त और प्रसव के पश्चात् डेढ़मास पर्यन्त प्रसूता के आहार बिहार का वर्णन किया गया है ।।१००।।

इत्यष्टांगहृदये शारीरस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातो गर्भव्यापदं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब गर्भ की व्यापदों का वर्णन करेंगे जैसा आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि कह गये हैं ।

वक्तव्य—गर्भ व्यापद्—गर्भ में होने वाली व्यापत्तियां विकृतियाँ । गर्भस्राव, गर्भपात आदि २ (गर्भ व्यापद् का वर्णन—च शा० अ० २ तथा ८ में, सु० शा० अ० १० तथा चि० अ० १५ में एवं अ० सं० शा० अ० ४ में देखिये ।

गर्भवती के सशूल रक्त दर्शन का वर्णन—

गर्भिण्याः परिहार्याणां सेवया रोगतोऽथ वा ।
पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले बाह्यान्तः स्निग्धशीतलम् ॥१॥
सेव्याऽम्भोजहिमक्षीरि-वल्ककल्काऽज्यलेपितान्
धारयेद्योनिबस्तिभ्यामार्द्रार्द्रान् पिचुनक्तकान् ॥२॥
शतधौतघृताक्तां स्त्रीं तदम्भस्यवगाहयेत् ।
ससिताक्षौद्रकुमुद-कमलोत्पलकेसरम् ॥३॥
लिह्यात् क्षीरघृतं खादेच्छृङ्गाटक-कसेरुकम् ।
पिबेत्कान्ताब्जशालूकबालोदुम्बरवत्पयः ॥४॥
शृतेन शालिकाकोलीद्विबलामधुकेक्षुभिः ।
पयसा रक्तशाल्यन्नमद्यात्समधुशर्करम् ॥५॥
रसैर्वा जाङ्गलैः शुद्धिवर्जं चाऽस्रोक्तमाचरेत् ।

व्याख्या—गर्भवती यदि मिथ्याऽऽहार-विहार करती है अथवा उसे कोई रोग हो जाता है तो पुष्प—रजस् दिखाई देता है अथवा शूल होने लगता है । इस दशा में—लगाने और खाने में स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों का सेवन करे यथा खस, कमल, चन्दन एवं कपूर तथा वट आदि क्षीरि वृक्षों की छाल के कल्क को घृत में मिला कर और पिचु एवं नक्तक-वस्त्र खण्ड में लगा कर आर्द्र आर्द्र—गीले गीले ही योनि में एवं वस्ती पर धारण करे ।

शत धौत घृत का अभ्यङ्ग करके खस आदि के जल में अवगाहन करें जल में बैठे और खण्ड, मधु, कोईं, कमल तथा उत्पल के केसर की क्षीर घृत (दूधको विलोकर निकाले गये माखन) में मिला कर चाटे और सिंघाड़ा तथा कसेरू खावे और प्रियंगु, कमल की पंखुरी, शालूक कन्द तथा कच्चे गूलर से युक्त दूध पीवे । और लाल शालि चावलों के भात को, शालि चावल, काकोली, बला, अति बला, मुलेठी तथा ईख के संयोग से पक्व तथा मधु एवं खण्ड से मिश्रित दूध के साथ खावे । अथवा हरिण आदि जाङ्गल प्राणियों के मांस रस के साथ खावे और वमन विरेचन के अतिरिक्त रक्त पित्त की सब चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—शूलयुक्त रक्त दर्शन हानिकारक होता है । किसी २ को कभी २ प्रसव काल पर्यन्त प्रतिमास रक्त दर्शन—रजःस्राव होता रहता है और गर्भ भी पूर्ण स्वस्थ रहता है और वृद्धाओं का विश्वास है कि, वह गर्भ—सन्तान पुत्री अथवा पुत्र बहुत ही श्रेष्ठ होता है तथा माता पिता का भक्त होता है जैसा श्रवण कुमार ।।५।।

रक्त दर्शन की भीषणता—

असम्पूर्णत्रिमासायाः प्रत्याख्याय प्रसाधयेत् ॥६॥
आमान्वये च तत्रेष्टं शीतं रूक्षोपसंहितम् ।
उपवासो घनोशीरगुडूच्यरलुधान्यकाः ॥७॥
दुरालभापर्पटकचन्दनाऽतिविषा-बलाः ।
कथिताः सलिले पानं तृणधान्यानि भोजनम् ॥८॥
मुद्गादियूषैरामे तु जिते स्निग्धादि पूर्ववत् ।

व्याख्या—यदि उक्त पुष्प दर्शन एवं शूल तीन मास के भीतर हो तो प्रत्याख्यान (नकार) करके चिकित्सा करे और आमातिसार युक्त रक्त दर्शन होने पर भी ऐसा ही करे (प्रायः इन दोनों दशाओं में गर्भस्राव हो ही जाता है) । तथापि इन दशाओं में रूक्ष गुण युक्त शीत द्रव्यों का प्रयोग करे, उपवास करे और नागर मोथा, खस गिलोय, आलु, धनियाँ, धमासा, पित्त पापड़ा, चन्दन, अतीस, तथा बला को जल में क्वाथ करके पावे, सामा आदि तृण धान्यों चावलों का भोजन करे । मूङ्ग आदि के जूस के साथ इस प्रकार आमदोष की शान्ति हो जाने पर पूर्व वत् स्निग्ध एवं शीत आदि उपचार करे ॥६-८॥

गर्भपात के अनन्तर का उपचार—

गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत् ॥९॥
गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणाय च ।
लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिबेत् ॥१०॥
पेयाममद्यपा कल्के साधितां पाञ्चकौलिके ।
बिल्वादिपञ्चकक्काथे तिलोद्दालकतण्डुलैः ॥११॥
मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः ।
लघुरस्नेहलवणो दीपनीययुतो हितः ॥१२॥

व्याख्या—इतना सब उपचार करने पर भी यदि गर्भ गिर ही जाय तो पर्याप्त मात्रा में तीक्ष्ण मद्य का पान करे इस से गर्भाशय की शुद्धि भी हो जाती है और गर्भ-स्राव की पीड़ा का अनुभव भी नहीं होता तत्पश्चात् भूख लगने पर लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्नपर्णी, वनभण्टा, कण्टकारी तथा गोखरू) के क्वाथमें सिद्ध पेया (पीने योग्य पतला आहार) पीवे परन्तु इसमें स्नेह मिलाकर न पीवे ।

जो नारी मद्यपान न करती हो वह पञ्चकोल के कल्क से सिद्ध पेया पीवे । अथवा बिल्वादि पञ्चमूल के क्वाथ में सिद्ध तिल, कोदो तथा चावलों की पेया पीवे । गर्भ पात होने पर यह पेया आदि का क्रम उतने दिन करे जितने मास का गर्भ हो और ये पेया आदि लघु हों तथा स्नेह एवं लवण से रहित हों तथा पञ्चकोल आदि दीपन द्रव्यों से युक्त हों ॥१२॥

उपसंहार

दोषधातुपरिक्लेद-शोषार्थे विधिरित्ययम् ।
स्नेहान्नबस्तयश्चोर्ध्वं बल्यदीपनजीवनाः ॥१३॥

व्याख्या—उक्त सब विधि क्रम पित्त एवं कफ नामक दोष तथा रक्त धातु के क्लेद को सुखाने के लिये किया जाता है और क्लेद का शोषण हो जाने के पश्चात् बल-वर्द्धक, जीवनशक्तिवर्द्धक तथा अग्निदीपन स्नेहों, आहारों एवं वस्तियों का प्रयोग करे ।

वक्तव्य—देखिये सु. शा. अ. १० । ५७-६५ ॥१३॥

उपविष्टक नामक गर्भ का वर्णन—

सञ्जातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात् ।
वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति सस्फुरः ॥१४॥
'उपविष्टक' माहुस्तं, वर्धते तेन नोदरम् ।

व्याख्या—जब गर्भ में सार-बल उत्पन्न हो जाता है तथा वह बड़ा हो जाता है (तीन मास के पश्चात् चतुर्थ आदि मासों में) तब यदि उक्त मिथ्या आहार विहारों के सेवन से गर्भाशय में से रक्त आदि का स्राव होता है तो गर्भ की वृद्धि रुक जाती है क्यों कि गर्भवृद्धि कारक पदार्थ का स्राव हो जाता है) और वह गर्भ बहुत काल तक (९-१२ मास के पश्चात् वर्षों तक या जीवन भर) गर्भा-शय में ही स्थित रहता है, परन्तु क्य कि वह जीवित रहता है अतः फड़कता रहता है, इससे उदर भी नहीं बढ़ता है इसे "उपविष्टक" कहते हैं ॥१४॥

नागोदर नामक गर्भ का वर्णन—

शोकोपवासरूक्षाद्यैरथवा योन्यतिस्रवात् ॥१५॥
वाते क्रुद्धे कृशः कृष्येद्गर्भो 'नागोदरं' तु तम् ।
उदरं वृद्धमप्यत्र हीयते स्फुरणं चिरात् ॥१६॥

व्याख्या—शोक, उपवास तथा रूक्ष आहारों के सेवन से अथवा योनि में से अत्यधिक स्राव होने से वायु कुपित हो जाने पर गर्भ कृश हो जाता है सूख जाता है इसे "नागोदर" कहते हैं । इसमें बढ़ा हुआ भी उदर पुनः छोटा हो जाता है और गर्भ का स्फुरण चिरकाल में अर्थात् कभी कभी होता है ॥१५,१६॥

उपविष्टक एवं नागोदर की चिकित्सा—

तयोर्बृंहणवातघ्न-मधुरद्रव्यसंस्कृतैः ।
घृतक्षीररसैस्तृप्तिरामगर्भांश्च खादयेत् ॥१७॥
तैरेव च सुभिक्षायाः क्षोभणं यानवाहनैः ।

व्याख्या—उन उपविष्टक एवं नागोदर नामक गर्भों में बृंहण—पुष्टि कारक, वात नाशक तथा मधुर द्रव्यों से परि पक्व घृत, दूध, तथा मांस रसों का सेवन तृप्ति पूर्वक भर पेट होना चाहिये तथा अण्डा आदि आम गर्भों का सेवन भक्षण होना चाहिये । और नवम मास का प्रारम्भ

हो जाने पर उन्हीं बृंहण आदि से भली भाँति तृप्त करके गर्भवती का यान-ताङ्गा गाड़ी आदि तथा वाहन घोड़ा आदि पर क्षोभण करना चाहिये गर्भपात के उपाय करने चाहिये ॥१६,१७॥

लीन नामक गर्भ का वर्णन—

लीनाख्ये निस्फुरे श्येनगोमत्स्योत्क्रोशबर्हिजाः ॥१८॥
रसा बहुघृता देया माषमूलकजा अपि ।
बालबिल्वं तिलान्माषान्सक्तूंश्च पयसा पिबेत् ॥१९॥
समेद्यमांसं मधु वा कट्यभ्यङ्गं च शीलयेत् ।
हर्षयेत्सततं चैनामेवं गर्भः प्रवर्धते ॥२०॥
पुष्टोऽन्यथा वर्षगणैः कृच्छ्राज्जायेत, नैव वा ।

व्याख्या—लीन नामक गर्भ, (जिसमें स्फुरण नहीं होता)में श्येन (बाज) नामक पक्षी, गो, मछली, उत्क्रोश नामक पक्षी तथा मोर के मांसरस बहुत सा घृत मिला कर अथवा उरद एवं मूली का जूस पीना चाहिये ।

अथवा बिलगिर, तिल एवं उरदों को खाना चाहिये अथवा दूध के साथ सत्तू पीना चाहिये अथवा दुम्बा आदि मेदुर-मेदस्वी का मांस तथा मुनक्का या महुवा की मधु का सेवन होना चाहिये तथा कटिपर निरन्तर अभ्यंग होना चाहिये । और गर्भिणी को सर्वदा प्रसन्न रखना चाहिये इस प्रकार गर्भ की वृद्धि होने लगती है और पुष्ट हो जाने पर वह जन्म जाता है अन्यथा इस प्रकार का उपचार न करने पर अनेक वर्षों के पश्चात् कष्ट के साथ जन्मता है अथवा नहीं भी जन्मता ।

वक्तव्य—यस्याः पुनः वातोपसृष्टस्रोतसो लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं "लीनम्" इति आहुः (अ० सं० शा० अ० ४)। वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तं मृदुना स्नेहादिक्रमेण उपचरेत् (सुश्रु० शा० अ० १०) ॥१८-२०॥

गर्भवती के उदावर्त्त की चिकित्सा—

'उदावर्तं' तु गर्भिण्याः स्नेहैराशुतरां जयेत् ॥२१॥
योग्यैश्च बस्तिभिर्हन्यात्सगर्भां स हि गर्भिणीम् ।

व्याख्या—गर्भवती के उदावर्त्त नामक रोग की चिकित्सा स्नेह पान द्वारा तथा उदावर्त्त नाशक वस्तियों द्वारा तत्काल करे क्यों कि बिलम्ब होने से वह उदावर्त्त गर्भ एवं गर्भवती दोनों को मार सकता है ॥२१॥

मृतगर्भ का वर्णन—

गर्भेऽतिदोषोपचयादपथ्यैर्दैवतोऽपि वा ॥२२॥
मृतेऽन्तरुदरं शीतं स्तब्धं ध्मातं भृशव्यथम् ।
गर्भास्पन्दो भ्रमस्तृष्णा कृच्छ्रादुच्छ्वसनं क्लमः ॥२३॥
अरतिः स्रस्तनेत्रत्वमावीनामसमुद्भवः ।

व्याख्या—दोषों का अत्यन्त सञ्चय—प्रकोप होने से, अपथ्य आहार विहारों का सेवन करने से अथवा दैवयोग से गर्भाशय में गर्भ की मृत्यु हो जाने पर—उदर शीतल, स्तब्ध—गति हीन—कड़ा, आध्मान युक्त तथा अत्यन्त भीषण वेदना से युक्त हो जाता है, गर्भ का स्पन्दन नहीं होता, भ्रम, तृषा, श्वास में कष्ट, क्लम तथा अरति—बेचैनी होती है, नेत्र गोलक स्थान से च्युत हो जाते हैं तथा आवियों—प्रसव वेदनाओं का नाश हो जाता है ।

वक्तव्य—देखिये च० शा० अ० ८।३१—३२ तथा सु० नि० अ० ८ ॥२२,२३॥

मृतगर्भ का उपचार—

तस्याः कोष्णाम्बुसिक्तायाः पिष्ट्वा योनिं प्रलेपयेत् ॥२४॥
गुडं किण्वं सलवणं तथाऽन्तःपूरयेन्मुहुः ।
घृतेन कल्कीकृतया शाल्मल्यतसिपिच्छया ॥२५॥
मन्त्रैर्योगैर्जरायूक्तैर्मूढगर्भो न चेत्पतेत् ।
अथापृच्छ्येश्वरं वैद्यो यत्नेनाशु तमाहरेत् ॥२६॥
हस्तमभ्यज्य योनिं च साज्यशाल्मलिपिच्छया।
हस्तेन शक्यं तेनैव गात्रं च विषमं स्थितम् ॥२७॥
आञ्छनोत्पीडसम्पीड-विक्षेपोत्क्षेपणादिभिः ।
अनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्जवागतम् ॥२८॥

व्याख्या—इस दशा में उसे उष्ण जल से स्नान करावे—उष्ण जलमें बैठावे और गुड़, किण्व (राई आदि तीक्ष्ण द्रव्य) तथा लवण को पीस कर योनि पर लेप करे और बार बार अपत्यपथ में भरे और शाल्मली (सेमल) के फूल तथा अतसी की पिच्छा (लुआब) को घृत में पीस—मिला कर बार २ योनि के भीतर भरे—लगावे (इस से गर्भ खिसक कर निकल जाता है)। और जरायु—अपरा पातन के लिये बतलाए गये मन्त्रों तथा योगों का प्रयोग करे ।

परन्तु यदि इन सब उपायों से मूढ़गर्भ न गिरे तो राजा एवं घर वालों से अनुमति लेकर वैद्य—प्रयत्न करके गर्भ का आहरण करे । यथा—अपने हाथ पर तथा गर्भवती को भग में सेमल की घृत मिश्रित पिच्छा (लुआव) चुपड़ कर सम्भव हो तो भग में हाथ डालकर हाथ से ही गर्भ को निकाल लेवे और गर्भ के गात्र-हाथ आदि विषम स्थिति में स्थित हों तो आञ्छन (लम्बाई में सोधे) करके या ऊपर की ओर दबा कर या भली भाँति उसी स्थिति में दबा कर या इधर उधर लेजाकर या ऊपर मोड़ कर आदि उपायों से जब वह अपत्यपथ में सीधा होकर आ जाय तब खींच लेवे ॥२४-२८॥

मूढगर्भ में शस्त्र चिकित्सा—

हस्तपादशिरोभिर्यो योनिं भुग्नः प्रपद्यते।
पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः ॥२९॥
विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः।
मण्डलाङ्गुलिशस्त्राभ्यां तत्र कर्म प्रशस्यते ॥३०॥
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं न योनाववचारयेत्।

व्याख्या—जो मूढ गर्भ हाथ, पाँव, तथा शिर की ओर से टेढ़ा होकर अपत्यपथ में आजाता है अथवा जो एक पाँव से अपत्य पथ को और दूसरे पाँव से गुद को टेढ़ा होकर आ जाता है आकर फँस जाता है वे दोनों "विष्कम्भ" मूढ गर्भ कहलाते हैं और उन पर शस्त्र कर्म से दारण करना आवश्यक होता है और वहाँ मण्डलाग्र शस्त्र अथवा अंगुलि शस्त्र से कर्म करना चाहिये। और वृद्धिपत्र नामक शस्त्र का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है अतः उसका प्रयोग योनि में नहीं करना चाहिये ॥२९-३०॥

मूढ गर्भ के दारण की विधि—

पूर्वं शिरःकपालानि दारयित्वा विशोधयेत् ॥३१॥
कक्षोरस्तालुचिबुकप्रदेशेऽन्यतमे ततः।
समालम्ब्य दृढं कर्षेत्कुशलो गर्भशङ्कुना ॥३२॥
अभिन्नशिरसं त्वक्षिकूटयोर्गण्डयोरपि।

व्याख्या—प्रथम शिर के कपालों का दारण करके उनको निकाल देवे तदनन्तर कक्ष काँख, अथवा उरःस्थल अथवा तालु अथवा चिबुक(ठोडी) में गर्भ शङ्कु को फँसा कर कुशलता पूर्वक खींच लेवे। यदि शिर के कपालों का भेदन-दारण न किया गया हो (जब शिर बहुत बड़ा नहीं होता तब भेदन नहीं भी किया जाता) तो अक्षि कूट में अथवा गण्डस्थल में गर्भशङ्कु को फँसा कर खींच लेवे ॥३१-३२॥

अवस्थाभेद में दारणकर्म—

बाहुं छित्त्वांऽससक्तस्य वाताध्मातोदरस्य तु ॥३३॥
विदार्य कोष्ठमन्त्राणि बहिर्वा संनिरस्य च।
कटीसक्तस्य तद्वच्च तत्कपालानि दारयेत् ॥३४॥
यद्यद्वायुवशादङ्गं सज्जेद्गर्भस्य खंडशः।
तत्तच्छित्त्वाऽऽहरेत्सम्यग्, रक्षेन्नारीं च यत्नतः ॥३५॥

व्याख्या – मूढगर्भ—यदि अंस फलक की ओर से रुका हो तो बाहु को अंसभागसमेत काट कर निकाले—गर्भ को खींच लेवे। यदि वायु से उदर फूला हो और अत एव रुका हो तो उदर को फाड़ कर अथवा अन्त्रों को बाहिर निकाल कर गर्भ को खींच लेवे। यदि कटी की ओर से फँसा हो तो कटी के कपालों का दारण करे और गर्भ को खींच लेवे।

अधिक क्या लिखें—वायु की विकृति के कारण गर्भ का जो जो अङ्ग फंस गया हो उस उस अङ्ग को काटकर गर्भ को निकाल देवे ओर प्रयत्न पूर्वक नारी की रक्षा करे ॥३५॥

उपसंहार—

गर्भस्य हि गतिं चित्रां करोति विगुणोऽनिलः।
तत्रानल्पमतिस्तस्मादवस्थापेक्षमाचरेत् ॥३६॥

व्याख्या—वास्तविकता यह है कि वायु विकृत होकर गर्भ की विचित्र—विविध आकृति वाली गति—दशा कर देता है इस लिये कुशल चिकित्सक जैसी दशा—अवस्था हो उसके अनुसार कर्म करे। किसी भी प्रकार से गर्भ को निकाल देने का प्रयत्न करे जिससे नारी के प्राण बच जायँ ॥३६॥

जीवितगर्भ के दारण का निषेध—

छिन्द्याद्गर्भं न जीवन्तं मातरं स हि मारयेत्।
सहात्मना, न चोपेक्ष्यः क्षणमप्यस्तजीवितः ॥३७॥

व्याख्या—जीवित गर्भ का छेदन कर्म (किसी भी प्रकार का शस्त्र कर्म) न करे क्यों कि जीवित गर्भ का छेदन करने से वह माता को मार डालता है और स्वयं भी मर जाता है परन्तु मृतगर्भ की तो क्षणभर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥३७॥

मूढगर्भ की असाध्य अवस्था—

योनिसंवरणभ्रंशमक्कल्लश्वासपीडिताम्।
पूत्युद्गारां हिमाङ्गीं च मूढगर्भां परित्यजेत् ॥३८॥

व्याख्या—योनि संवरण (गर्भाशय का मुख न खुलना), योनि भ्रंश (गर्भाशय का स्थान से च्युत हो जाना), मक्कल्ल नामक शूल तथा श्वास से पीडित; जिसके उद्गार में दुर्गन्ध हो तथा शरीर शीतल हो गया हो उस मूढ-गर्भा नारी का उपचार न करे—यह असाध्य अवस्था है ॥३८॥

मूढ गर्भ निकल जाने पर उपचार—

अथापतन्तीमपरां पातयेत्पूर्ववद्भिषक्।
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ॥३९॥
दद्यादभ्यक्तदेहायै योनौ स्नेहपिचुं ततः।
योनिर्मृदुर्भवेत्तेन शूलं चास्याः प्रशाम्यति ॥४०॥

व्याख्या—यदि उक्त प्रकार से मूढ गर्भ निकाल देने पर अपरा स्वतः न गिरे तो पूर्ववत् अपरापातन के उपाय

(शा० अ० ११६३—१०१) करके गिरा देवे ।

इस प्रकार गर्भशल्य एवं अपरा रूप शल्य निकालने के पश्चात् उष्ण जलसे सेचन (स्नान) करे और समस्त शरीर पर वातनाशक तैल का अभ्यङ्ग करके योनि-अपत्यपथ में स्नेह पिचु दे देवे । इस प्रकार योनि—गर्भाशय समेत अपत्य पथ मृदु हो जाता है और शूल भी शान्त हो जाता है ॥४०॥

अन्यान्य उपचार—

दीप्यकातिविषारास्ना-हिङ्ग्वेलापञ्चकोलकात् ।
चूर्णं स्नेहेन कल्कं वा क्वाथं वा पाययेत्ततः ॥४१॥
कटुकातिविषापाठाशाकत्वग्घिङ्गु तेजिनीः ।
तद्वच्च दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च ॥४२॥
त्रिरात्रमेवं, सप्ताहं स्नेहमेव ततः पिबेत् ।
सायं पिबेदरिष्टं च तथा सुकृतमासवम् ॥४३॥
शिरीषककुभक्वाथ-पिचून् योनौ विनिक्षिपेत् ।
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत् ॥४४॥

व्याख्या—अजवायन, अतीस, रासना, घृतभर्जित हींग, बड़ी इलायची तथा पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता, सोंठ) का चूर्ण अथवा कल्क अथवा क्वाथ स्नेह मिलाकर पिलाना चाहिये । अथवा कुटकी, अतीस, पाठा, सागवान् की छाल, घृत भर्जित हींग तथा तेजबल का चूर्ण अथवा कल्क अथवा क्वाथ स्नेह मिला कर खिलाना पिलाना चाहिये । इन योगों का सेवन दोष—गर्भाशय के दूषित रक्त को निकालने के लिये तथा वेदना की शान्ति के लिये तीन दिन करे इस के पश्चात् ७ दिन स्नेह का पान करे। अथवा सायंकाल—सोते समय अरिष्ट अथवा उच्च कोटि का आसव (वराण्डी आदि उत्तम सुरा) पीवे । और सिरस एवं अर्जुन की छाल के क्वाथ में भिगोए गये पिचु योनि में धरे। और जो अन्यान्य ज्वर अतिसार आदि उपद्रव हो जायँ उनकी यथायोग्य चिकित्सा करे ॥४१-४४॥

अन्यान्य उपचार—

पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ।
रसो दशाहं च परं लघुपथ्याल्पभोजना ॥४५॥
स्वेदाभ्यङ्गपरा स्नेहान् बलातैलादिकान् भजेत् ।
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यः सा क्रमेण सुखानि च ॥४६॥

व्याख्या—तदनन्तर दस दिन रासना आदि वातनाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध दूध भोजन में देना चाहिये और दस दिन भोजन में मांस रस देना चाहिये। इस के पश्चात् लघु, पथ्य तथा मात्रा में अल्प भोजन देते रहना चाहिये और प्रतिदिन बलातैल आदि का अभ्यंग तथा स्वेदन (उष्ण जल से स्नान—अवगाहन आदि) का सेवन करते रहना चाहिये । इस प्रकार चार मास के पश्चात् क्रमशः स्वस्थ वृत्त का तथा अभीष्ट आहार विहार आदि सुखों का सेवन करे ॥४५,४६॥

बलातैल निर्माणविधि—

बलामूलकषायस्य भागाः षट् पयसस्तथा ।
यवकोलकुलत्थानां दशमूलस्य चैकतः ॥४७॥
निष्क्वाथभागो भागश्च तैलस्य तु चतुर्दशः ।
द्विमेदादारुमञ्जिष्ठाकाकोलीद्वयचन्दनैः ॥४८॥
सारिवाकुष्ठतगरजीवकर्षभसैन्धवैः ।
कालानुसार्याशैलेयवचागुरुपुनर्नवैः ॥४९॥
अश्वगन्धावरीक्षीरशुक्लायष्टीवरारसैः ।
शताह्वाशूर्पपर्ण्येला-त्वक्पत्रैःश्लक्ष्णकल्कितैः ॥५०॥
पक्वं मृद्वग्निना तैलं सर्ववातविकारजित् ।
सूतिकाबालमर्मास्थिक्षतक्षीणेषु पूजितम् ॥५१॥
ज्वरगुल्मग्रहोन्मादमूत्राघातान्त्रवृद्धिजित् ।
धन्वन्तरेरभिमतं योनिरोगक्षयापहम् ॥५२॥

व्याख्या—बला (वरियारा) की जड़ का क्वाथ ६ भाग तथा दूध ६ भाग, जौ, बेर, कुलथी तथा दशमूल के क्वाथ का १ भाग और तैल १ भाग (उक्त क्वाथ १३ भाग तथा तैल १ भाग = १४ भाग)। मेदा, महामेदा, देवदारु, मजीठ, काकोली, क्षीरकाकोली, चन्दन, सारिवा, कूठ, तगर, जीवक, ऋषभक, सैन्धव लवण, कृष्ण सारिवा, छरीला, बालवच, अगुरु, पुनर्नवा, असगन्ध, शतावर, क्षीर विदारी, मुलेठी, त्रिफला, बीजाबोल, सोया, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, बड़ी इलायची, दाल चीनी तथा तेजपत्ता का कल्क तैल से चतुर्थांश ।

सब को एक साथ मिला कर मन्द २ अग्नि पर पाक करें सिद्ध होने पर छान कर रख लेवे ।

यह तैल—प्रसूता, बाल, मर्मक्षत, अस्थिक्षत तथाक्षीण के लिये पूजित है, ज्वर, गुल्म, ग्रहावेश, उन्माद, मूत्राघात तथा अन्त्रवृद्धि को नष्ट करता हैं, योनिरोग तथा क्षयरोग को नष्ट करता है और भगवान् धन्वन्तरि का अभिमत हैं ।

वक्तव्य—देखें सु० चि० अ० १५ ॥४७-५२॥

गर्भवती की मृत्यु होने पर गर्भरक्षण—

बस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि ।
जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेच्छिशुम् ॥५३॥

व्याख्या—यदि गर्भवती मर जाय और उदर में वस्ति के पास स्पन्दन हो रहा हो तथा प्रसव का समय उपस्थित हो तो शीघ्र ही उदर-गर्भाशय का पाटन करके

शिशु को निकाल लेवे।

वक्तव्य—केवल योनिसंवरण होने पर भी उदर का पाटन करके शिशु को निकाल लेना चाहिये। और पाटित उदर की सद्यो व्रण के समान सीवन आदि चिकित्सा करे॥

गर्भरक्षक योग—

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकः कृष्णतिलास्ताम्रवल्ली शतावरी॥५४॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा च मधुयष्टिका॥५५॥
बृहतीद्वयकाश्मर्य-क्षीरिशुङ्गत्वचा घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका॥५६॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कसेरु मधुकं सिता।
सप्तैतान् पयसा योगानर्धश्लोकसमापनान्॥५७॥
क्रमात्सप्तसु मासेषु गर्भे स्रवति योजयेत्।
कपित्थबिल्वबृहतीपटोलेक्षुनिदिग्धिजैः॥५८॥
मूलैः शृतं प्रयुञ्जीत क्षीरं मासे तथाऽष्टमे।
नवमे सारिवाऽनन्ता-पयस्यामधुयष्टिभिः।५९॥
योजयेद्दशमे मासि सिद्धं क्षीरं पयस्यया।
अथवा यष्टिमधुक-नागरामरदारुभिः॥६०॥

व्याख्या—१—मुलेठी, सागवान् के बीज, क्षीर विदारी तथा देवदारु। २—अश्मन्तक (कचनार भेद), काले तिल, मञ्जीठ तथा शतावर। ३—वृक्षका वन्दा, क्षीर विदारी, प्रियंगु तथा कृष्ण सारिवा। ४—अनन्त मूल (जवासा), सारिवा, रासना, कमलिनी तथा मुलेठी। ५—बनभण्टा, कण्टकारी, गम्भार, वट आदि क्षीरी वृक्षों के शुङ्ग तथा छाल और घृत। ६—पृश्नपर्णी, बला, सहजन, गोखरू तथा गिलोय। ७—सिंहाडा, बिस (कमल मूल), दाख, कसेरू, मुलेठी तथा खाण्ड।

ये सात योग जो आधे आधे श्लोक में समाप्त किये गये हैं क्रमशः सात मासों में पिलाने चाहिये यदि गर्भ स्राव होने वाला हो (गर्भस्राव की सम्भावना हो)।

अष्टम मास में यदि गर्भस्राव की सम्भावना हो तो कैथ की जड़, बिल्व की जड़, वनभण्टा की जड़, परवलकी जड़, ईख की जड़ तथा कण्टकारी की जड़ से परिपक्व दूध का पान करे।

नवम मास में—सारिवा, कृष्णसारिवा, क्षीरविदारी तथा मुलेठी से परिपक्व दूध का पान करे।

दशम मास में—क्षीरविदारी अथवा मुलेठी, सोंठ तथा देवदारु से परिपक्व दूध का पान करे।

वक्तव्य—इस प्रकार गर्भ की पुष्टि होती है और तीव्र वेदना शान्त होती रहती है। ये मासानुमासिक योग सु० शा० अ० १० से उद्धृत किये गये हैं। देखा गया है कि—गर्भस्राव या गर्भपात का रोग प्रायः निश्चित मास में होता है—अर्थात् यदि किसी नारी का गर्भ चतुर्थ मास में गिरा है तो अगला गर्भ भी चतुर्थ मास में ही गिरता है। गर्भस्राव के रोग वाली को उक्त क्वाथों का प्रति मास सेवन करने से गर्भस्राव की सम्भावना नहीं रहती॥५४-६०॥

गर्भ का सन्देह—

अवस्थितं लोहितमङ्गनाया
वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञाः।
गर्भाकृतित्वात्कटुकोष्णतीक्ष्णैः
स्रुते पुनः केवल एव रक्ते॥६१॥
गर्भं जडा भूतहृतं वदन्ति
मूर्तेर्न दृष्टं हरणं यतस्तैः।
ओजोशनत्वादथवाऽव्यवस्थै-
भूतैरुपेक्ष्येत न गर्भमाता॥६२॥

व्याख्या—कभी कभी नारी का रक्त—रजस् या आर्त्तव—वायु के कारण रुक जाता है और उस दशा में गर्भाधान के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं, इसे अनभिज्ञ नर नारी गर्भ मान लेते हैं और फिर कटु, उष्ण एवं तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन करने से केवल रक्त या स्राव होने पर वे जड-नर नारी कहने लगते हैं कि गर्भ को भूतों ने हर लिया है। भले ही उन्होंने गर्भ के शरीर का हरण होता हुआ देखा नहीं है। और फिर यदि भूत ही गर्भ का हरण करते हैं तो वे गर्भ की माता की उपेक्षा भी नहीं कर सकते अर्थात् उसका भी हरण कर लेते क्यों, कि वे भूत ओजस् का भक्षण करते हैं शरीर का नहीं। अथवा इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है यदि यह व्यवस्था—निश्चित सिद्धान्त हो तो माता के ओजस् का भक्षण-हरण भी वे भूत कर लेते।

वक्तव्य—यह पाठ च० शा० अ० २ से उद्धृत किया है। कुछ शाब्दिक हेर फेरके साथ यहाँ लिखा गया है। हमने तो यह भी देखा है कि एक नारी का उदर बढ़ने लगा, बढ़ते २ वैसा हो गया जैसा गर्भवती का होता है सब को भरोसा हो गया कि गर्भ है, सन्देह था तो केवल यह कि उसकी वयस् ५०-५२ की थी और ३० वर्ष से पहिले—२०—२२ वर्ष की वयस् में सन्तान हो चुकी थी, हम से विचार कराया गया हमने कहा जो कुछ होगा सामने आएगा। ९ वें—१० वें मास में अपान वायु के समान—फर २ करके वायु का निःसरण हुआ और उदर छोटा हो गया॥६१-६२॥

इति अष्टांगहृदये शारीरस्थाने द्वितीयोऽध्यायः॥२।

तृतीयोऽध्यायः।

अथातोऽङ्गविभागं शारीरं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

व्याख्या—अब गर्भ के अंगों के विभाग की व्याख्या करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. अ. २८, वि.अ. ५,६,८, शा.अ.७, चि.अ.१५ में, सु.सू.अ.१४, शा.अ.४,५, ७,८ तथा ९ और अ.सं.शा.अ ५, ६ तथा ८ में देखिये।

अङ्गों तथा प्रत्यंगों का वर्णन—

शिरोऽन्तराधिर्द्वौ बाहू सक्थिनीति समासतः।
षडङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गं तस्याक्षिहृदयादिकम्॥१॥

व्याख्या—संक्षेप में शरीर के ६ अंग है यथा १—शिर (ग्रीवा समेत) २—अन्तराधि (मध्य काय धड़), ३—दो बाहु तथा ४—दो सक्थियाँ। इन ६ अंगों-वाला अंग अर्थात् "शरीर" है और उसके नेत्र एवं हृदय आदि अनेक प्रत्यंग हैं (उपांग अर्थात् अंगों के अंग हैं)।

शरीर में महाभूतों के गुण—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धः क्रमाद् गुणाः।
खानिलाग्न्यब्भुवाम्, एकगुणवृद्ध्यन्वयः परे॥२॥

व्याख्या—शरीर ५ महाभूतों से निर्मित है और इसमें आकाश का गुण शब्द है, वायु के गुण शब्द एवं स्पर्श हैं, अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श एवं रूप हैं, जल के गुण—शब्द स्पर्श, रूप एवं रस हैं और पृथ्वी के गुण शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध हैं। अर्थात् शरीर में जो शब्द एवं स्पर्श आदि गुण हैं वे उक्त आकाश आदि महाभूतों के गुण हैं।

वक्तव्य—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः "पुरुष" इत्युच्यते) सु०सू०अ० १)—तथा-गर्भस्तु खलु अन्तरिक्ष वायु-अग्नितोयभूमिविकारः चेतनाऽधिष्ठानभूतः॥६॥ (च० शा०अ० ४)। अर्थात्-पञ्चमहाभूत तथा चेतना धातु के संयोग से गर्भ अर्थात् प्राणी का निर्माण होता है जो "पुरुष" कहलाता है॥२।

शरीर में महाभूतों के भाग—

तत्र खात् खानि देहेऽस्मिन् श्रोत्रं शब्दो विविक्तता।
वातात्स्पर्शत्वगुच्छ्वासा वह्नेर्दृग्रूपपक्तयः॥३॥
आप्या जिह्वारसक्लेदा घ्राणगन्धास्थि पार्थिवम्।

व्याख्या—इस शरीर में आकाश नामक महाभूत से छिद्र समूह श्रोत्र नामक इन्द्रिय, शब्द नामक गुण तथा विविक्तता अर्थात् पृथकता का निर्माण होता है।

वायु नामक महाभूत से स्पर्श नामक गुण का, त्वचा नामक इन्द्रिय का तथा प्रश्वास आदि गतियों का निर्माण होता है।

अग्नितत्व से दृष्टि दर्शनेन्द्रिय, रूप नामक गुण तथा पाक-पाचक पित्त अग्नि का निर्माण होता है।

जल तत्व से रसनेन्द्रिय, रस नामक गुण तथा क्लेद आर्द्रता का निर्माण होता है और पृथ्वी तत्व से घ्राणेन्द्रिय, गन्ध नामक गुण तथा अस्थि नामक धातु का निर्माण होता है।

वक्तव्य—भगवान पुनर्वसु के शब्दों में—तत्र अस्य गर्भस्य—आकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च। वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं, प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः। अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिः औष्ण्यं च। अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च। पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति च० शा० अ० ४।१२ यह सब इस विचार से कहा गया है कि शरीर का निर्माण आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी नामक ५ तत्वों से होता है और उक्त भाव उन उन तत्वों से निर्मित होते हैं। अस्थि अत्यन्त कठोर वस्तु है अतः उसमें पार्थिव तत्व अत्यधिक माना जाता है॥३॥

मातृज आदि भाव—

मृद्वत्र 'मातृजं' रक्तमांसमज्जगुदादिकम्॥४॥
'पैतृकं' तु स्थिरं शुक्रधमन्यस्थिकचादिकम्।
'चैतनं' चित्तमक्षाणि नानायोनिषु जन्म च॥५॥
'सात्म्यजं' त्वायुरारोग्यमनालस्यं प्रभा बलम्।
'रसजं' वपुषो जन्म वृत्तिर्वृद्धिरलोलता॥६॥
'सात्त्विकं' शौचमास्तिक्यं शुक्लधर्मरुचिर्मतिः।
'राजसं' बहुभाषित्वं मानक्रुद्दम्भमत्सरम्॥७॥
'तामसं' भयमज्ञानं निद्राऽऽलस्यं विषादिता।
इति भूतमयो देहः

व्याख्या—इस शरीर में रक्त, मांस, मज्जा एवं गुद आदि जो मृदु भाव हैं वे सब मातृज—माता की ओर से उत्पन्न होते हैं। जो स्थिर भाव हैं यथा शुक्र, धमनी, अस्थि तथा केश आदि वे सब पैतृक-पितृज पिता की ओर से उत्पन्न होते हैं। जो चित्त मानस्, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ तथा नाना विध योनियों में जन्म उत्पत्ति आदि भाव हैं वे सब चैतन चेतना धातु से सम्बन्ध रखते हैं आयुः आरोग्य, सब चेष्टाओं में उद्योग उत्साह,

प्रभाकान्ति तथा बल शक्ति आदि सब सात्म्यज सात्म्य से प्रादुर्भूत होते हैं। शरीर का जन्म उत्पत्ति निर्माण, वृत्ति-वर्तन जीवितानुबन्ध, वृद्धि-बढ़ना तथा अलोलता तृप्ति आदि सब रसज हैं रस से उत्पन्न होते हैं। शौच पवित्रता आस्तिकता, विश्वास, श्रद्धा, उत्तम (छल रहित) धर्म में रुचि तथा मति प्रज्ञा उच्च विचार ये सब सत्त्व गुण से उत्पन्न होते हैं। बहुत बोलना, मान, अभिमान, क्रोध, दम्भ, छल, कपट, शठता तथा मत्सर, दूसरों के कष्ट में हर्ष दूसरों के शुभ में द्वेष ये सब रजो गुण से उत्पन्न होते हैं और भय, अज्ञान, निद्रा आलस्य तथा विषाद ये सब तमो गुण से उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार आकाश आदि महाभूतों से देह का निर्माण हो जाता है।

वक्तव्य—गर्भ के पितृज, मातृज एवं रसज आदि भाव देखिये सु० शा० अ० ३। ३३। तथा च० शा० अ० ३ तथा अ० ४।१२। एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायात् अभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नाना द्रव्यसमुदायात् यथा रथो नाना रथाङ्गसमुदायात्। च० शा० अ० ३ ।२०। ।४-८।।

त्वचाओं का वर्णन—

तत्र सप्त त्वचोऽसृजः ।। ८ ।।

पच्यमानात्प्रजायन्ते क्षीरात्सन्तानिका इव।

व्याख्या—उस महाभूतमय देह पर रक्त का परिपाक होते होते सात त्वचा उत्पन्न हो जाते हैं जैसे पकते हुए दूध पर सन्तानिका मलाई।

वक्तव्य—तस्य खलु एवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्य अभिपच्यमानस्य क्षीरस्य इव सन्तानिका. सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमा अवभासिनी नाम या सर्वान् वर्णान् अवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति......। द्वितीया लोहिता नाम...। तृतीया श्वेता नाम...। चतुर्थी ताम्रा नाम...। पञ्चमी वेदिनी नाम...। षष्ठी रोहिणी नाम...। सप्तमी मांसधरा नाम...। सु०शा०अ०४ ।४। इनमें पाँचवीं वेदिनी नामक त्वचा ही स्पर्शनेन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान है वेदयति स्पर्शमिति वेदनी। छठी त्वचा में प्ररोह—उभार होते हैं अतः वह रोहिणी कहलाती है। देखिये अ० स० शा० अ० ५। सारांश यह है कि-गर्भाशय में शुक्र शोणित का मिश्रण होते ही उस पर जो स्तर बैठता है वही आगे चल कर ७ त्वचाओं का रूप धारण कर लेता है ।।८।।

कला, आशय तथा कोष्ठाङ्गों का वर्णन—

धात्वाशयान्तरक्लेदो विपक्वः स्वं स्वमूष्मणा ।।९।।
श्लेष्मस्नाय्वपराच्छन्नः 'कलाख्यः' काष्ठसारवत्।
ताः सप्त सप्त चाधारा रक्तस्याद्यः क्रमात् परे ।।१०।।
कफाऽऽमपित्तपक्वानां वायोर्मूत्रस्य च स्मृताः।
गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरे ।।११।।
कोष्ठाङ्गानि स्थितान्येषु हृदयं क्लोम फुप्फुसम्।
यकृत्प्लीहोण्डुकं वृक्कौ नाभिडिम्भान्त्रबस्तयः ।।१२।।

व्याख्या—धातु एवं आशय के अन्तराल का क्लेद, जो अपनी अपनी ऊष्मा से परिपक्व होजाता है तथा श्लेष्मा, स्नायु तथा अपरा से निर्मित होता है। जैसे काष्ठ में सार भाग निर्मित हो जाता है। वह "कला" कहलाता है और वे कला सात होती हैं।

आधार, आशय, में सात हैं १—रक्त का, २—कफ का, ३—आम का, ४—पित्त का, ५—पक्व का, (मल का),६—वायु का, तथा ७—मूत्र का और स्त्री के शरीर में आठवाँ (इन सात के अतिरिक्त) गर्भाशय होता है जो पित्ताशय एवं मलाशय के अन्तराल में स्थित रहता है। कोष्ठ (अन्तराधि) के अंग हैं-हृदय, क्लोम, फुप्फुस, यकृत, प्लीहा, उण्डुक, दो वृक्क, नाभि, डिम्बकोश, अन्त्र तथा वस्ति ये सब अवयव कोष्ठ के भीतर यथास्थान रहते हैं।

वक्तव्य—कला खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तर-मर्यादाः।

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः।

तासां प्रथमा मांसधरा,द्वितीया रक्तधरा,तृतीया मेदोधरा, चतुर्थी श्लेष्मधरा, पञ्चमी पुरीषधरा, षष्ठी पित्तधरा तथा सप्तमी शुक्रधरा कला है। (सु० शा० अ० ५)। और सर्वाङ्गसुन्दरा में निम्न पाठ है—

तत्र—कफरक्तप्रसादात् स्यात् हृदयं स्थानमोजसः।
चेतनानुगभावानां परमं चिन्तितस्य च ।।१।।
मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम्।
तस्य दक्षिणतः क्लोम यकृत् फुप्फुसभास्थितम् ।।२।।
समानवायुप्रध्मातात् रक्तात् देहोष्मपाचितात्।
किञ्चित् उच्छ्रितरूपं तु जायते क्लोमसंज्ञितः ।।३।।
तत्तुल्यहेतुजे प्लीहयकृती भिषजां मते।
रक्तकिट्टात् उण्डुकं स्यात् फुप्फुसो रक्तफेनजः ।।४।।
मेदोऽसृजः पच्यमानात् स्यातां वृक्कौ प्रसादजौ।
नाभिः सर्वसिराणां स्यात् आधारः, यकृतः पुनः ।।५।।
डिम्बं स्यात् रक्तमांसप्रसादात् अन्त्रसम्भवः।
सार्द्धं त्रिव्याममात्राणि पुरुषाणां तु तानि चे.।।६।।
स्त्रीणां त्रिव्याममात्राणि वस्ति मूत्रस्य चाऽऽशयः।।इति।।

संग्रहे चोक्तम् (शा० अ० ५)—कफ रक्तवाहिस्रोतसां महाभूतानां च प्रसादात् इन्द्रियाणि। तेष्वपि नेत्रे श्लेष्मणः प्रसादात् शुक्लमण्डलं तत्तु पितृजम्। असृजः कृष्णमण्डलं तत् मातृजम्। मध्ये दृष्टिमण्डलं तत् उभयात्मकम्। पक्ष्म, वर्त्म शुक्लकृष्णदृष्ट्याख्यानि पञ्च मण्डलानि। तत्सन्धयः चत्वारो द्वौ द्वौ अपाङ्गकनीनिकयोः इति षट् पटलानि—द्वे वर्त्मनो, बाह्यं चाश्रितमव्यम्भसी, द्वितीयं मांसम्। तृतीयं मेदः, चतुर्थमस्थि। तेषां बहलता दृष्टेः पञ्चमांशेन। बन्धगुणाः चत्वारः—सिरा कण्डरा मेदःकफात्मकाः। श्लेष्मातु परं सर्वसन्धिबन्धनं इत्युक्तं प्राक्। नेत्राश्रितं तेजो बाह्य तेजसा स्वयोनिना योगात् शस्त्रमिव अश्मना कर्मण्यं भवति। अति योगात् उपहन्यते। तत् च वैद्युतवत् वडवामुखवत् च अम्भोमध्यगमपि वीर्योत्कर्षात् तेजस्त्वं न जहाति। शेष देखिये सु० शा० अ० ५। च० शा० अ० ७ ॥९-१२॥

जीवित के १० मुख्य स्थान—

दश जीवितधामानि शिरोरसनबन्धनम्।
कण्ठोऽस्रं हृदयं नाभिर्बस्तिः शुक्रौजसी गुदम् ॥१३॥

व्याख्या—जीवित के १० धाम—मुख्य स्थान हैं—१—शिर, २—रसन - जिह्वा का बन्धन स्थान, ३—कण्ठ, ४—रक्त, ५—हृदय, ६—नाभि, ७—वस्ति, ८—शुक्र, ९—ओजस् तथा १०—गुद।

वक्तव्य—च०सू० अ० २९ में—

दश एव आयतनानि आहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौ, मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥३॥

तथा च०शा०अ० ७ में—

दश प्राणायतनानि, तद् यथा—मूर्धा, कण्ठो, हृदयं, नाभिः, गुदं, वस्तिः, ओजः, शुक्रं, शोणितं, मांसम् इति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि ।९। प्रतीत होता है भिन्न आचार्यों के ये तीन मत हैं; इन अवयवों पर आघात अथवा विकार होने से जीवन नष्ट हो जाता है ।१३।

जाल एवं कण्डरा आदि का वर्णन—

जालानि कण्डराश्चाङ्गे पृथक् षोडश निर्दिशेत्।
षट् कूर्चाः सप्त सीवन्यो मेढ्रजिह्वाशिरोगताः ॥१४॥
शस्त्रेण ताः परिहरेच्चतस्रो मांसरज्जवः।
चतुर्दशास्थिसङ्घाताः सीमन्ता द्विगुणा नव ॥१५॥
अस्थ्नां शतानि षष्टिश्च त्रीणि दन्तनखैः सह।
धन्वन्तरिस्तु त्रीण्याह, सन्धीनां च शतद्वयम् ॥१६॥
दशोत्तरं सहस्रे द्वे निजगादात्रिनन्दनः।

व्याख्या—शरीर में १६ जाल हैं और १६ कण्डरा हैं। कूर्च ६ हैं। सीवन ७ हैं—शिश्न में १, जिह्वा में १ तथा शिर में ५। इन में शस्त्र का प्रयोग न करे।

अस्थिसंघात १४ हैं और सीमन्त १८ हैं। भगवान पुनर्वसु (चरक संहिता शा० अ० ७) के कथनानुसार दन्त (३२) एवं नख (२०) के समेत अस्थियाँ ३६० हैं और भगवान् धन्वन्तरि के कथनानुसार ३०० है (सु० शा० अ० ५)।

भगवान् धन्वन्तरि के कथनानुसार सन्धियां २१० है और भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के कथनानुसार २००० (दो सहस्र) हैं।

वक्तव्य—जाल—मांससिरास्नायु-अस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि, तानि, मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्पर निबद्धानि परस्परं गवाक्षितानि चेति, यैः गवाक्षितमिदं शरीरम्।

कण्डरा—षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः अग्रप्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बं, मूर्धोरुवक्षोंस-पिण्डादीनां च।

सीवनी—सप्त सीवन्यः शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वा शेफसोः एकैका, ता परिहर्तव्या शस्त्रेण।

अस्थि संघात—चतुर्दश अस्थ्नां संघाताः—तेषां त्रयो गुल्फजानुवंक्षणेषु, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, त्रिक-शिरसोः एकैकः।

कूर्च—षट् कूर्चाः—ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु—हस्तयोः द्वौ, पादयोः द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोः एकैकः।

अस्थि—त्रीणि सषष्टीनि शतानि अस्थ्नां सह दन्तोलूखलानखेन (च) तथा त्रीणि सषष्टीनि अस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते शल्यतन्त्रेषु तु त्रीणि एव शतानि (सु.)। आज के उपलब्ध सुश्रुत में २१० सन्धियां लिखित हैं परन्तु आज के उपलब्ध चरक में सन्धियां दो सहस्र नहीं अपितु दो सौ (२००) ही लिखित हैं। और वर्तमान समय के मानव में केवल २०० अथवा २०६ अस्थियां पाई जाती हैं। (च० शा० अ० ७।१४) अ० सं० शा० अ० ५ में अस्थियों की गणना इस प्रकार है—बाहु एवं सक्थियों में १४०, मध्यकाय में १२० तथा शिर में—१००, कुल योग ३६० ॥१४-१६॥

मांसपेशियों का वर्णन—

स्नावानवशती पञ्च पुंसां पेशीशतानि तु ॥१७॥
अधिका विंशतिः स्त्रीणां योनिस्तनसमाश्रिताः।

व्याख्या—मानव शरीर में स्नायु ९०० हैं और

पुमान् शरीर में मांस पेशियाँ ५०० और स्त्री शरीर में ५२० है ये २० मांस पेशियाँ—योनि (भग समेत गर्भाशय) में १० तथा दोनों स्तनों में ५-५ हैं।

वक्तव्य—विशेष देखिये सु० शा० अ० ५। मांसपेशी मांस नामक धातु १-१ पेशी या छोटी के रूप में विभक्त रहता है ॥१७॥

शिराओं का वर्णन—

दश 'मूलसिरा' हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः ॥१८॥
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्।
स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत् ॥१९॥
भिद्यन्ते तास्ततः 'सप्तशतान्यासां' भवन्ति तु।

व्याख्या—मूल—मुख्य सिरा १० हैं जो हृदय में स्थित हैं—हृदय से सम्बद्ध हैं और समस्त शरीर में सर्वतः—ऊपर नीचे तथा तिरछे—सब ओर रसरूप ओजस् को बहती हैं और उन्हीं १० शिराओं में निबद्ध हैं सब चेष्टित—वाक्, काय तथा मनस् का व्यापार।

वे शिरा—मूल स्थान में—स्थूल हैं और अग्रभाग में अत्यन्त सूक्ष्म हैं जैसे वट आदि के पत्र में रेखाओं के प्रतान होते हैं। और उस मूल स्थान से आगे जाकर शरीर के अनेक भागों में विभक्त हो जाती हैं जैसे पत्र की रेखा के प्रतान। इस प्रकार विभक्त होकर वे ७२० हो जाती हैं।

वक्तव्य—विशेष देखिये च० सू० अ० ३० यथा—
अर्थे दश महामूलाः समासक्ता महाफलाः।
महत् चार्थश्च हृदयं पर्यायैः उच्यते बुधैः ॥१॥
षडङ्गमङ्गं विज्ञानं इन्द्रियाणि अर्थपंचकम्।
आत्मा च सगुणः चेति. चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥२॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावनामेषां हृदयमिष्यते।
गोपानसीनामागारकर्णिके वार्थचिन्तकैः ॥३॥
तस्योपघातात् मूर्च्छायं भेदात् मरणमृच्छति।
यत् हि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संस्थितम् ॥४॥
तत् परस्योजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रह।
हृदयं महदर्थश्च तस्मात् उक्तं चिकित्सकैः ॥५॥
तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहा शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥६॥
येन ओजसा वर्त्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।
यत् ऋते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥७॥
यत् सारमादौ गर्भस्य यत् च गर्भरसात् रसः।
संवर्त्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा।

और—
हृदो रसोनिःसंरति ततः एव च सर्वतः।
सिराभिः हृदयं च एति तस्मात् हृत्प्रभवाः सिराः॥
(भेलसंहिता)

और—सप्तसिराशतानि भवन्ति; याभिः इदं शरीरं आराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिः उपस्निह्यते इव अनुगृह्यते च आकुञ्चनप्रसारणादिभिः विशेषैः, द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः। तासां नाभिःमूलं ततश्च प्रसरन्ति ऊर्ध्वमधः तिर्यक् च। सु०शा०अ०७।

स्मरणीय—इस समस्त संदर्भ को श्री वाग्भट जी ने केवल दो श्लोकों में निबद्ध कर दिया है। भगवान् पुनर्वसु ने हृदय से ओजस् का सञ्चार लिखा है इसलिये कि हृदय से चल कर ओजस् समस्त शरीर में घूम कर पुनः हृदय में जाता है और यह जाने आने की परम्परा जीवन भर बनी रहती हैं और वह जीवन का हेतु भी है। और भगवान् धन्वन्तरि ने उन सिराओं का मूल नाभि माना है। और नाभि नाम से यहाँ माना है—क्षुद्रान्त्र, जहाँ से रस धातु का सञ्चार होता है। क्षुद्रान्त्र (पक्वाऽऽमाशययोःमध्यं सिराप्रभवा नाभिः नाम मर्म--सु०शा०अ० ६) को सिराओंका मूल इसलिये कहा है कि वस्तुतः आहार रस को हृदय में लेजानेवाली सिराओं का प्रारम्भ नाभि से ही होता है। और—जब तक प्राणी गर्भाशय में रहता है तब तक नाभि अर्थात् धुन्नी में लगी नाल से रस का गर्भ शरीर में सञ्चार होता है ॥१८,१९॥

सिराओं का विवरण—

तत्रैकैकं च शाखायां शतं, तस्मिन्न वेधयेत् ॥२०॥
सिरां जालन्धरां नाम तिस्रश्चाभ्यन्तराश्रिताः।
षोडशद्विगुणाः श्रोण्यां, तासां द्वे द्वे तु वङ्क्षणे ॥२१॥
द्वे द्वे कटीकतरुणे शस्त्रेणाष्टौ स्पृशेन्न ताः।
पार्श्वयोः षोडशैकैकामूर्ध्वगां वर्जयेत्तयोः ॥२२॥
द्वादशद्विगुणाः पृष्ठे पृष्ठवंशस्य पार्श्वयोः।
द्वे द्वे तत्रोर्ध्वगामिन्यौ न शस्त्रेण परामृशेत् ॥२३॥
पृष्ठवज्जठरे तासां मेहनस्योपरि स्थिते।
रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे शस्त्रेण न स्पृशेत् ॥२४॥
चत्वारिंशदुरस्यासां चतुर्दश न वेधयेत्।
स्तनरोहिततन्मूलहृदये तु पृथग्द्वयम् ॥२५॥
अपस्तम्भाख्ययोरेकां तथाऽपालापयोरपि।
ग्रीवायां पृष्ठवत्तासां नीले मन्ये कृकाटिके ॥२६॥
विधुरे मातृकाश्चाष्टौ षोडशेति परित्यजेत्।
हन्वोः षोडश, तासां द्वे सन्धिबन्धनकर्मणी ॥२७॥
जिह्वायां हनुवत्तासामधो द्वे रसबोधने।
द्वे च वाचः प्रवर्तिन्यौ नासायां चतुरुत्तरा ॥२८॥
विंशतिर्गन्धवेदिन्यौ तासामेकां च तालुगाम्।

षट्पञ्चाशन्नयनयोर्निमेषोन्मेषकर्मणी ॥२९॥
द्वे द्वे, अपाङ्गयोर्द्वे च तासां षडिति वर्जयेत्।
नासानेत्राश्रिताः षष्टिर्ललाटे, स्थपनीश्रिताम् ॥३०॥
तत्रैकां, द्वे तथाऽऽवर्तौ, चतस्रश्च कचान्तगाः।
सप्तैवं वर्जयेत्तासाम् कर्णयोः षोडशात्र तु ॥३१॥
द्वे शब्दबोधने शङ्खौ सिरास्ता एव चाश्रिताः।
द्वे शङ्खसन्धिगे तासां मूर्ध्नि द्वादश तत्र तु ॥३२॥
एकैकां पृथगुत्क्षेपसीमन्ताधिपतिस्थिताम्।

व्याख्या—उन ७०० सौ सिराओं में से शाखा में १-१ सौ हैं अर्थात् दोनों सक्थियों में तथा दोनों बाहुओं में १-१ सौ = ४०० हैं।

उक्त १०० सिराओं में एक जालन्धरा नामक सिरा तथा तीन आभ्यन्तराश्रित सिरा अवेध्य हैं। इस प्रकार एक सक्थि में ४ सिरा अवेध्य हैं—इनका वेध न करे। चारों शाखाओं में १६ सिरा अवेध्य हैं। आभ्यन्तराश्रित तीन सिरा हैं—दो ऊर्वी नामक तथा एक लोहिताक्ष नामक।

श्रोणि भाग में ३२ सिरा हैं उनमें आठ सिरा अवेध्य हैं यथा—दो दो अर्थात् चार दोनों वंक्षणों में तथा दो दो अर्थात् चार दोनों कटीक तरुणों में। इन आठों पर शस्त्र का स्पर्श भी न करे। पार्श्वोंमें १६ सिरा हैं—दोनों में आठ आठ। इनमें एक एक ऊर्ध्वगा सिरा अवेध्य है (और पार्श्वसन्धिगत दो दो सिरा अवेध्य हैं।)

पृष्ठ में पृष्ठ वंश के दोनों ओर २४ सिरा हैं इनमें दो दो बृहती नामक ऊर्ध्वगामिनी सिराओंका वेध न करे। उदर में भी २४ सिरा हैं—उनमें मेहन (मूत्रमार्ग के ऊपर रोमराजी के दोनों ओर दो दो सिराओं का वेध न करे। उरस्—वक्षस् में चालीस सिरा हैं उनमें १४ सिरा अवेध्य हैं। यथा—स्तनरोहितों में दो दो, स्तनमूलों में दो दो तथा हृदय में दो, अपस्तम्भों में एक-एक तथा अपलापों में एक-एक। ग्रीवा में २४ सिरा हैं उनमें दो नीला, दो मन्या, दो कृकाटिका, दो विधुरा तथा आठ मातृका इस प्रकार १६ सिरा अवेध्य हैं। हनुओं में १६ सिरा हैं दोनों ओर ८-८, उनमें सन्धि-बन्धन कारिणी दो सिरा अवेध्य हैं। जिह्वा में १६ सिरा हैं उनमें जीभ के अधोभाग में स्थित दो रसबोधनी तथा दो वाक्प्रवर्त्तिनी नामक सिरा अवेध्य हैं। नासा में २५ सिरा हैं उनमें दो गन्धवहिनी तथा एक तालुगता सिरा अवेध्य हैं। दोनो नेत्रों में ५६ सिरा हैं उनमें निमेष-उन्मेष कारिणी दो दो सिरा तथा अपाङ्ग की दो सिरा इस प्रकार ६ सिरा अवेध्य हैं।

नासा एवं नेत्र में आश्रित सिरा ललाट में ६० हैं उन में स्थपनी नामक मर्म गत १, आवर्त्त नामक मर्मो की २ और केशान्तानुगत ४, इस प्रकार ७ सिरा अवेध्य हैं। कर्णों में १६ सिरा हैं इन में शब्द वेधिनी दो सिरा अवेध्य हैं। वे ही कर्ण की सिराएँ शंखों में आश्रित हैं उन में शंखसन्धिगत दो सिरा अवेध्य हैं। शिर में १२ सिरा हैं उन में ८ सिरा अवेध्य हैं। यथा—दोनों उत्क्षेपों में १-१, पाँच सीमन्तों में १—१ तथा अधिपति नामक मर्म में १ इस प्रकार ८ सिरा अवेध्य हैं ॥२०-३२॥

उपसंहार—

इत्यवेध्यविभागार्थं प्रत्यङ्गं वर्णिताः सिराः ॥३३॥
अवेध्यास्तत्र कार्त्स्न्येन देहेऽष्टानवतिस्तथा।
सङ्कीर्णा ग्रथिताः क्षुद्रा वक्राः सन्धिषु चाश्रिताः ॥३४॥

व्याख्या—इस प्रकार से प्रत्येक अङ्ग की सिराओं का वर्णन कर दिया है और साथ ही साथ उन सिराओं का वर्णन भी कर दिया है जो अवेध्य हैं अर्थात् जिन का वेध नहीं करना चाहिये।

शरीर भर में सब ९६ सिरा अवेध्य हैं और वे वेध्य सिरा भी अवेध्य होती हैं जो संकीर्ण अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हों, ग्रथित हों, क्षुद्र—सूक्ष्म हों, वक्र—(टेढी मेढी) हों तथा जो सन्धियों में स्थित हों।

वक्तव्य - उक्त अवेध्य सिरा वास्तव में मर्मस्थान गत हैं—अतः वे अवेध्य मानी जाती हैं ॥३३-३४॥

सिराओं के चार भेद

तासां शतानां सप्तानां पादोऽस्रं वहते पृथक्।
वातपित्तकफैर्जुष्टं शुद्धं चैवं स्थिता मलाः ॥३५॥
शरीरमनुगृह्णन्ति पीडयन्त्यन्यथा पुनः।

व्याख्या—उन ७०० सिराओं में १७५ सिरा वात-युक्त रक्त का, १७५ पित्तयुक्त रक्त का, १७५ कफ युक्त रक्त का तथा १७५ सिरा शुद्ध रक्त का वहन करती हैं और इस प्रकार अपनी २ सिराओं में स्थित वातादि दोष—शरीर को अनुगृहीत करते हैं परन्तु इसके विपरीत—अर्थात् उन्मार्गगामी दोष शरीर को पीड़ित करते हैं।

वक्तव्य—जब कभी रक्तमोक्षण के लिये सिरावेध की आवश्यकता हो तब उक्त अवेध्य सिराओं का वेध न करे। सिरावेध का वर्णन सू०अ० २७ में देखिये ॥३५॥

उक्त चार प्रकार की सिराओं का वर्णन—

तत्र श्यावारुणाः सूक्ष्माः पूर्णरिक्ताः क्षणात्सिराः ॥३६॥
प्रस्पन्दिन्यश्च वातास्रं वहन्ते पित्तशोणितम्।
स्पर्शोष्णाः शीघ्रवाहिन्यो नीलपीताः कफं पुनः ॥३७॥
गौर्यः स्निग्धाः स्थिराः शीता संसृष्टं लिङ्गसङ्करे।
गूढाः समाः स्थिताः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धशोणितम् ॥३८॥

व्याख्या—उन में जो सिरा—कालापन लिये लाल, सूक्ष्म, क्षण २ में पूर्ण एवं रिक्त होने वाली तथा रक्त का अधिक अभिष्यन्दन करनेवाली हैं वे वातयुक्त रक्त का वहन करती हैं। जो स्पर्श में उष्ण हैं, शीघ्र वहन करती हैं एवं नीली तथा पीली हैं वे पित्त युक्त रक्त का वहन करती हैं। जो श्वेत हैं, स्निग्ध हैं, स्थिर तथा शीत हैं वे कफयुक्त रक्त का वहन करती हैं।

उक्त लक्षणों का संकर—संसर्ग एवं सन्निपात होने पर दो दो अथवा तीनों दोषों से युक्त रक्त का वहन करती हैं। और जो गूढ़—गम्भीर हैं, सम रूप से स्थित हैं स्निग्ध तथा लाल हैं वे शुद्ध रक्त का वहन करती हैं।

वक्तव्य—विशेष देखिये सु० शा० अ० ७। वस्तुतः—

नहि वातं सिरा काश्चित् न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१६॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनं अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१७॥

धमनियों का वर्णन—

धमन्यो नाभिसम्बद्धा विंशतिश्चतुरुत्तरा।
ताभिः परिवृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥३९॥
ताभिश्चोर्ध्वमधस्तिर्यग्देहोऽयमनुगृह्यते।

व्याख्या—धमनियाँ २४ हैं और वे नाभि से सम्बद्ध हैं—नाभि से उत्पन्न हुई हैं और नाभि उन धमनियों से इस प्रकार परिवृत (घिरी) है जैसे चक्र की नाभि अरों—गजों से परिवृत रहती है और उन के द्वारा ऊपर, नीचे तथा तिरछे यह शरीर अनुगृहीत रहता है।

वक्तव्य—विशेष देखिये सु० शा० अ० ९। और स्वयं वाग्भटाचार्य ने अष्टाङ्ग संग्रह अ. ६ में इनका विवरण इस प्रकार किया है—धमन्यस्तु चतुर्विंशतिः। ताभिः कायोऽयं आराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिः उपस्निह्यति। ताभिश्च नाभिः चक्रनाभिः आरकैः इव आवृता।२८।

तस्माद् नाभ्यां विशेषेण प्राणा व्यवस्थिताः, यतश्च सा अन्तरग्न्यधिष्ठानम् ॥२९॥

तासां खलु धमनीनां दश ऊर्ध्वं प्रसृता, दश अधः, चतस्रः तिर्यक्। ततः ताभिः यथास्वमंगावयवा धार्यन्ते आप्यायन्ते च॥३०॥

तासामूर्ध्वगा हृदयमभिप्रपन्नाः प्रत्येकं त्रिधा जायन्ते। ततः त्रिंशतो मध्ये द्वे द्वे वातपित्तकफरक्तरसान् वहतः। अष्टाभिः शब्दरूपरसगन्धा गृह्यन्ते। द्वाभ्यां द्वाभ्यां भाषते घोषं करोति स्वपिति प्रतिबुध्यते च। द्वे च अश्रु वहतः। द्वे च स्तनाश्रिते नार्याः स्तन्यं नरस्य शुक्रम् ॥३१॥

अधोगमाः पक्वाशयस्थाः एव त्रिधा जायन्ते। तत्र दश आद्याः पूर्ववत्। द्वे वहतः अन्नमात्राश्रयेण, द्वे तोयं, द्वे मूत्रं, द्वे शुक्रं वहतः द्वे च मुञ्चतः। ते एव नारीणामार्त्तवम्। द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे, शेषाः तु अष्टौ तिरश्चीना स्वेदमभितर्पयन्ति ॥३२॥

तिर्यग्गामिन्यः चतस्रो भिद्यमानाः सुबहुधा भवन्ति उक्तं प्राक् ॥३३॥ ॥३९॥

बाहिरी स्रोतों का वर्णन—

स्रोतांसि नासिके कर्णौ नेत्रे पाय्वास्यमेहनम् ॥४०॥
स्तनौ रक्तपथश्चेति नारीणामधिकं त्रयम्।

व्याख्या—नर के शरीर में बहिर्मुख स्रोतस् ९ हैं दो नासा स्रोतस्, दो कर्णस्रोतस्, दो नेत्र स्रोतस्, एक पायु गुद मार्ग, एक मुख मार्ग तथा एक मूत्र मार्ग और नारी के शरीर में इन ९ के अतिरिक्त तीन स्रोतस् अधिक हैं दो स्तनदुग्धस्रोतस्, एक रक्तपथ-अपत्यपथ-भग ॥४०॥

भीतरी स्रोतों का वर्णन—

जीवितायतनान्यन्तः स्रोतांस्याहुस्त्रयोदश ॥४१॥
प्राणधातुमलाम्भोऽन्नवाहीन्यहितसेवनात्।
तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च ॥४२॥

शरीर के भीतर १३ स्रोतस् कहे जाते हैं जो जीवित के अधिष्ठान हैं या एक प्राणवाही स्रोतस् १, रसादि धातु वाही ७, मूत्र, पुरीष एवं स्वेद नामक तीन मलों का वहन करने वाले ३, जलवाही १ तथा अन्नवाही १। ये स्रोतस् अहित आहार विहारों के सेवन से दुष्ट होने पर रोग कारक होते हैं और जब विशुद्ध रहते हैं तब सुख कारक होते हैं।

वक्तव्य—तत्र प्राणवाहिनां हृदयं मूलं महास्रोतश्च। तानि क्षयरौक्ष्यपिपासाक्षुद्व्यायामवेगधारणादिभिः दुष्यन्ति। ततो ऽतिसृष्टं प्रतिबद्धं कुपितमल्पाऽल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलोच्छ्वसनम्। तत्र श्वासवत् साधनम्।

रसवाहिनां हृदयं मूलं दश धमन्यश्च। रक्तवाहिनां यकृत् प्लीहा च। मांसवाहिनां स्नावानि (स्नायु) त्वक् च। मेदोवाहिनां वृक्कौ मांसं च। अस्थिवाहिनां जघनं मेदश्च। मज्जवाहिनां पर्वाण्यस्थीनि च। शुक्रवाहिनां स्तनौ मुष्कौ मज्जा च।

मूत्रवाहिनां वस्तिर्वंक्षणौ च। शकृत्वाहिनां पक्वाशयः स्थूलान्त्रं च। स्वेदवाहिनां मेदोरोमकूपाश्च। तेषां दूषण विविधम् अहिताऽऽहारविहारं, उपद्रवान् साधनं च दोषादिविज्ञानीयात् यथास्वंवृद्धिक्षयलक्षणे लक्ष्येत।

उदकवाहिनां तालुमूलं क्लोम च। तानि आमभयाऽतिपान उष्ण शुष्कान्न तृष्णिग्रहादिभिः दुष्यन्ति। ततो

अतितृष्णा मुखशोषः कर्णक्ष्वेडनं तमोदर्शनं च। तत्र तृष्णोक्तम् औषधम्। अन्नवाहिनामामाशयो मूलं वामपार्श्वं च। तेषां दुष्टौ सर्वे मात्राशितीयोक्तमवगच्छेत।

अ. सं. शा. अ. ६। तथा सु शा. अ. ६ और च. वि. अ. ५ भी देखिये। यह स्रोतों की दुष्टि के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का विशद वर्णन किया गया है ॥४१,४२॥

भीतरी स्रोतों का वर्ण अदि—

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥४३॥

व्याख्या—उक्त स्रोतों का वर्ण रस आदि वाह्य धातु के समान होता है और वे गोल, मोटे, पतले तथा आकार में लम्बे होते हैं तथा प्रतान—लताप्रपञ्च के समान रहते हैं ॥४३॥

स्रोतोदुष्टि के कारण—

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणो यश्च स्रोतसां स प्रदूषकः ॥४४॥

व्याख्या—जो आहार एवं विहार वातादि दोषों के समान गुणवाले होते हैं वे आहार विहार उक्त प्राणवाही आदि स्रोतों को दूषित करते हैं ॥४४॥

स्रोतो दुष्टि का लक्षण—

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गतो वा गमनं स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥४५॥

व्याख्या—उक्त स्रोतों की दुष्टि का लक्षण है उनमें बहनेवाले प्राण आदि की अतिप्रवृत्ति अथवा संग निरोध-रुकावट, अथवा सिराओं स्रोतों में ग्रन्थियों की उत्पत्ति अथवा उनमें बहनेवालों का विरुद्ध मार्ग—उन्मार्ग में जाना ॥४५॥

स्रोतों का स्वरूप

विसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविसृतानि च।
द्वाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचीयते ॥४६॥

व्याख्या—रस धातुवाही स्रोतों का स्वरूप जिन स्रोतों द्वारा शरीर में रस का वहन होता है उनके द्वार विष के छिद्रों के समान सूक्ष्म हैं तथा दूर तक गये हुए हैं ॥४६॥

स्रोतोवेध का वर्णन—

व्यधे तु स्रोतसां मोह-कम्पाऽऽध्मानवमिज्वराः।
प्रलापशूलविण्मूत्ररोधा मरणमेव वा ॥४७॥
स्रोतोविद्धमतो वैद्यः प्रत्याख्याय प्रसाधयेत्।
उद्धृत्य शल्यं यत्नेन सद्यःक्षतविधानतः ॥४८॥

व्याख्या—स्रोतों का व्यध वेध हो जाने पर मोह मूर्छा, कम्पन, अफरा, छर्दि, ज्वर, प्रलाप, शूल तथा पुरीष एवं मूत्र का निरोध अथवा मरण हो सकता है। अतः स्रोत का वेध होने पर वैद्य प्रत्याख्यान करके (नकार करके) चिकित्सा करे। और शल्य को निकाल कर सद्यो व्रण के समान चिकित्सा करे ॥४७,४८॥

पाचनक्रिया का वर्णन—

अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकाख्यं पुरेरितम्।
दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम् ॥४९॥

व्याख्या—प्रथम कहा गया (सू॰अ॰ १२ में) है कि—अन्न को पकानेवाला पाचक नाम का पित्त है और भगवान् आत्रेय का कथन है कि दोषों, धातुओं एवं मलों की ऊष्मा भी पाचक है ॥४९॥

ग्रहणी का वर्णन—

तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
सैव धन्वन्तरिमते कला पित्तधराह्वया ॥५०॥
आयुरारोग्यवीर्योजोभूतधात्वग्निपुष्टये।
स्थिता पक्वाशयद्वारिभुक्तमार्गार्गलेव सा ॥५१॥
भुक्तमामाशये रुध्वा सा विपाच्य नयत्यधः।
बलवत्यबला त्वन्नमाममेव विमुञ्चति ॥५२॥

व्याख्या—उक्त पाचक पित्त का अधिकृत स्थान ग्रहणी है, और वह अन्न का ग्रहण करती है अतः ग्रहणी कही जाती है और भगवान् धन्वन्तरि के मत में वह पित्तधरा कला कही गई है। यही आयु, आरोग्य, वीर्य, ओजस् की पुष्टि का तथा पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों तथा रस आदि धातुओं की अग्नि (उष्मा) की वृद्धि का हेतु है। वह पक्वाशय के द्वार पर, भुक्त पदार्थ के मार्ग की अर्गला के समान स्थित है और भुक्त पदार्थ को आमाशय में रोक कर तथा भली भाँति पकाकर नीचे (मलाशय में) पहुँचाती रहती है परन्तु यह सब कर्म तभी करती है जब वह बलवती रहती है और जब वह दुर्बल हो जाती है तब भुक्त पदार्थ को आम ही-विना पचाए ही नीचे मलाशय में छोड़ देती है।

वक्तव्य—षष्ठी पित्तधरा या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति॥ १८॥

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तत् जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥ १९॥

(सु. शा. अ. ४) तथा—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता।
पक्वाऽऽमाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्त्तिता।

तथा—पक्वाऽऽमाशययोः मध्ये सिराप्रभवा नाभिः नाम

मर्म (सु. शा. अ. ६ ।२५।) यह वह अवयव है जहाँ आहार का पाचन होता है और वह अन्त्र के भीतरी भागे में कला के रूप में स्थित है ॥ ५०–५२ ॥

अग्नि का वर्णन—

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीबलः ।
दूषितेऽग्नावतो दुष्टा ग्रहणी रोगकारिणी ॥५३॥

व्याख्या—उक्त ग्रहणी नामक अवयव का बल अग्नि-पाचक नामक पित्त है और उक्त अग्नि का बल भी ग्रहणी नामक अवयव है अत एव अग्नि दूषित होने पर वह ग्रहणी भी दूषित हो जाती है और दूषित होकर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—ग्रहणी में ही पाचक पित्त आहार पर क्रियाशील होता है, दोनों ही परस्पर एक दूसरे का बल हैं और एक की विकृति होने पर दूसरे की विकृति हो जाती है फलतः अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आधाराऽऽधेयभाव से ग्रहणी एवं अग्नि परस्पर सहायक हैं ॥५३॥

आहार से रसादि का पोषण—

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषणम् ।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः॥५४॥

व्याख्या—अन्न आहार जो शरीर के रस आदि धातु, ओजस् बल तथा वर्ण आदि का पोषण करता है उसमें भी अग्नि (पाचक अग्नि) ही हेतु है क्यों कि अपक्व आहार से रस आदि का पोषण नहीं होता है ॥५४॥

आहार पाक क्रम—

अन्नं कालेऽभ्यवहृतं कोष्ठं प्राणानिलाहृतम् ।
द्रवैर्विभिन्नसङ्घातं नीतं स्नेहेन मार्दवम् ॥५५॥
सन्धुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम् ।
औदर्योऽग्निर्यथा बाह्यः स्थालीस्थं तोयतण्डुलम् ॥५६॥

व्याख्या—उचित काल में खाया गया आहार, प्राण वायु द्वारा (प्राण ही आदानकर्मा है) कोष्ठ (उदर—आमाशय) में पहुँचा दिया जाता है, वहाँ द्रव (क्लेदक कफ रूप तथा आहार के पेय पदार्थों) के संयोग से आहार के संघात टूट फूट जाते हैं और वह स्नेह के संयोग से मृदु हो जाता है इस प्रकार आमाशय में स्थित उस आहार को, समान वायु द्वारा धुकायी गयी जठराग्नि पकाती–पचाती है जैसे चुल्हा की अग्नि स्थाली—पतीली में जल एवं चावलों को पकाती है ॥५५–५६॥

आहार से कफ आदि की उत्पत्ति एवं वृद्धि—

आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत् ।
फेनीभूतं कफं, यातं विदाहादम्लतां ततः ॥५७॥
पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमानं, च्युतं पुनः ।
अग्निना शोषितं पक्वं पिण्डितं कटु मारुतम् ॥५८॥

व्याख्या—छ रसों वाला भी आहार प्रथम मधुर होकर झाग जैसी कफ को उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् विदग्ध होने से अम्लता का प्राप्त होकर एवं आमाशय से च्युत होता हुआ वह आहार स्वच्छ पित्त को उत्पन्न करता है। फिर वहाँ से च्युत होकर, पक्वाशय में पहुँच-कर, अग्नि द्वारा सूख कर तथा परिपक्व एवं पिण्डित होकर एवं कटु होकर वायु को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—इसप्रकार आहार से कफ, पित्त एवं वायु उत्पन्न हो कर शरीर भर में कार्य करने वाले ५ प्रकार के कफों, ५ प्रकार के पित्तों तथा ५ प्रकार के वायुओं को बल प्रदान करते हैं जिससे शरीर की सब क्रिया उचित रूप से सम्पन्न होती हैं। यों समझिये कि दूसरे आहार काल तक के लिये शरीर की आवश्यकता की कफ पित्त वात विषयिका पूर्ति होने लग गई। इस के पश्चात् फिर आहार काल आ जाता है आहार खा लिया जाता है और वही क्रम चालू हो जाता है। यह परम्परा जीवन में भी चालू रहती है। तात्पर्य यह है कि आहार पचाने में कफ, पित्त एवं वायु का जितना व्यय होता है उसकी पूर्ति आहार के पाक काल में हो जाती है ॥ ५७ ॥

आहार से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति एवं वृद्धि

भौमाऽऽप्याऽऽग्नेय-वायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्त्यनु॥५९॥
यथास्वं ते च पुष्णन्ति पक्वा भूतगुणान् पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च देहगान् ॥६०॥

इसके अनन्तर शरीर गत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश नामक पंच महाभूतों की अपनी अपनी ऊष्मा— अग्नि) आहार गत पृथिवी आदि के अपने अपने पाँच गुणों को पचाती हैं फलतः पृथ्वी आदि के पृथक् गुणों को और पुष्ट करते हैं यथा पृथ्वी के गुण पृथ्वी के गुणों को और जल के गुण जल के गुणों को अग्नि के गुण अग्नि के गुणों को,वायु के गुण वायु के गुणों को और आकाश के गुण आकाश के गुणों को पुष्ट करते हैं।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि पञ्चभूतात्मक शरीर है और आहार भी पञ्चभूतात्मक होता है आहार के पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतांश शरीर के पञ्च महाभूतों का पोषण करते हैं। अथवा यों कहिए कि शरीर के पञ्चमहाभूत आहार के पञ्च महाभूतों को आत्मसात् कर लेते हैं—उनके गुणों को अपने में विलीन कर लेते हैं। आहार का अधिकांश पुरीष के रूप में

परिणत होकर निकल जाता है परन्तु आहार रूप पञ्चमहाभूतों के गुण—सारे शरीर में विलीन हो जाते हैं। शरीर के महा भूतों का जितना क्षय होता है आहार से उसकी पूर्त्ति वृद्धि हो जाती है। प्रतिदिन यह क्रम चलता है जिससे प्राणी स्वस्थ बना रहता है ॥ ६० ॥

आहार के दो भाग—

किट्टं सारश्च तत्पक्वमन्नं सम्भवति द्विधा ।
तत्राऽच्छं किट्टमन्नस्य मूत्रं विद्याद्घनं शकृत् ॥६१॥

व्याख्या—आहार परिपक्व होकर दो भागों में विभक्त हो जाता है १—किट्ट भाग और २—सार भाग। उनमें किट्ट भाग का जो अच्छ सरल भाग होता है वह मूत्र रूप में परिणत हो जाता है और जो घन भाग होता है—मलाशय में ही रह जाता है वह शकृत् पुरीष कहलाता है।

वक्तव्य—ये दोनों मल-मूत्र एवं स्वेद के रूप में तथा पुरीष के रूप में प्रतिदिन शरीर से बाहिर निकल जाते हैं ॥६१॥

आहारसार से रसादि धातुओं की उत्पत्ति—

सारस्तु-सप्तभिर्भूयो यथास्वं पच्यतेऽग्निभिः ।
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ॥६२॥
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते ।

व्याख्या—और आहार का सारभाग (रस) पुनः रस रक्त आदि सात धातुओं की अग्नियों से परिपक्व होता है। और रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र से गर्भ प्रादुर्भूत हो जाता है। अर्थात् धातुओं के प्रसाद भाग से उक्त धातुओं की उत्पत्ति होती है ॥६२॥

आहार किट्ट से मलों की उत्पत्ति—

कफः, पित्तं, मलाः खेषु प्रस्वेदो, नखरोम च ॥६३॥
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः ।
प्रसादकिट्टौ धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः ॥६४॥

व्याख्या—और किट्ट भाग से—मलों की उत्पत्ति होती है। यथा—रस धातु का मल कफ, रक्त का पित्त, मांस का कर्णादि छिद्रों के मल, मेदस् का स्वेद, अस्थि का नख एवं लोम, मज्जा का त्वचागत स्नेह तथा नेत्र एवं पुरीष का स्नेह और शुक्र का मल ओजस् है।

इस प्रकार पाक होने से धातुओं का प्रसाद एवं किट्ट-(मल) रूप में दो प्रकार का विभाग हो जाता है ॥ ६३,६४ ॥

धातुओं की परम्परा—

परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुस्नेहपरम्परा ।

व्याख्या—धातुओं के स्नेह सार की परम्परा—परस्पर के उपस्तम्भ—अवलम्ब—संश्लेष—सम्पर्क से चलती रहती है।

वक्तव्य—अष्टाङ्ग संग्रह में प्रसाद-सार तथा किट्ट-मल का विवरण इस प्रकार है—रसस्य सारो रक्तं मलः कफो लसीका च । रक्तस्य सारो मांसं, कण्डराः सिराश्च, मलः पित्तम् । मांसस्य सारो मेदः त्वचो वसा च, किट्टं कर्णाऽक्षिनासिकाऽऽस्यरोमकूपप्रजननमलाः । मेदसः सारोऽस्थिस्नायुसन्धयः किट्टं स्वेदः । अस्थ्नः सारो मज्जा, किट्टं केशलोमानि नखाः। मज्जस्तु सारः शुक्रं, मलो अक्षि विट् त्वचां स्नेहः । शुक्रस्य सारमोजः । अत्यन्तशुद्धतया च अस्मिन् मलाऽभावः । अन्ये पुनः अत एव तस्य नेच्छन्ति पाकम् । अपरे पुनः शुक्रस्य सारं गर्भं एव आमनन्ति । शा. अ. ६ ॥

आहार पाक काल में भिन्न मत—

केचिदाहुरहोरात्रात्षडहादपरे ,परे ॥६५॥
मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिभिः ।
सन्ततं भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥६६॥
वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यः शुक्रादि कुर्वते ।
प्रायः करोत्यहोरात्रात्कर्मान्यदपि भेषजम् ॥६७॥

व्याख्या—कुछ आचार्यों का कथन है कि आठ प्रहर में, दूसरों का कथन है कि ६ दिन पर और कुछ आचार्यों का कथन है कि एक मास पर अन्न पकते २ शुक्र रूप को प्राप्त होता है। परन्तु सब का मत है कि—भोज्य धातु की परिवृत्ति (भोक्तृधातु के रूप में परिवर्त्तन) चक्र के समान निरन्तर होती रहती है। तथा वृष्य आदि द्रव्य तो अपने प्रभाव से शुक्र आदि को सद्यः—शीघ्र ही उत्पन्न कर देते हैं (उन के इस परिवर्त्तन में आठ प्रहर आदि समय नहीं लगता)। और प्रायः अन्यान्य दीपन पाचन आदि औषध भी आठ प्रहर में अपना कर्म करते हैं।

वक्तव्य—भोज्य धातु—एक धातु दूसरे धातु का भोज्य—आहार है "धातवो हि धात्वाहाराःप्रकृतिमनुवर्त्तन्ते (च०सू०अ० २८। ४) अर्थात् रक्त आदि धातु रस आदि धातु का आहार करते हैं—रस आदि रक्त आदि में परिवर्तित हो जाते हैं और ऐसा होने पर वे प्रकृति का अनुवर्त्तन करते रहते हैं। ये क्रमशः भी रस रक्त आदि रूप में परिवर्त्तित होते हैं और परस्पर भी आदान प्रदान करते हैं और कुछ द्रव्य सीधे जाकर तत्काल भी धातु का

पोषण करते हैं। यथा दूध या उसकी मलाई सद्यः शुक्रका पोषण - उत्पादन करती है तथा लोह भस्म रक्त का, मांस मांस का आदि २। तथा आहार रस भी सब धातुओं का और रक्त भी सब धातुओं का पोषण करता है। यथा—रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च (सु०सू०अ० १५) तथा तत्रैतेषां धातूनाम् अन्नपानरसः प्रीणयिता (सु०सू०अ० ४) तथा—तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते (सु०सू०अ० १४)। औषध का भी आहार के समान परिपाक होता है और प्रभाव भी उसी प्रकार। तात्पर्य यह है कि भुक्त द्रव्य उदर में जाकर पचता है और उक्त प्रकार से रस आदि के रूप में परिणत होकर शरीर में अपना अपना कार्य करता है ॥६५—६७॥

रस का परिभ्रमण—

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥६८।
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
तस्मिन्विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥६९॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्।

व्याख्या—रस धातु को व्यान वायु एक साथ, सर्वदा शरीर में सब ओर निरन्तर प्रेरित करता रहता है क्यों कि व्यान वायु का प्रेरणा करना—(रस को शरीर भर में प्रेरित करना) ही उचित—(स्वाभाविक) कर्म है।

और इस प्रकार प्रेरित किया हुआ वह रस अपनी या स्रोतस् की विकृति के कारण जिस अवयव में रुकता है उसी अवयव में विकार उत्पन्न करता है जैसे आकाश में मेघ जहाँ भी रुकता है वहीं वर्षा कर देता है।

इसी प्रकार वातादि दोषों का भी शरीर के एक देश में प्रकोप हो जाता है अर्थात् वातादि दोष चलते २ जहाँ रुक जाते हैं वहीं विकार हो जाता है।

वक्तव्य—स्वस्थ शरीर में रसधातु तथा रसमिश्रित रक्त धातु, वात, पित्त एवं कफ सर्वदा गतिशील रहते हैं। जहाँ रुकते हैं वहीं रोग उत्पन्न हो जाता है। यथा—तत्र रसगतौ धातुः, रसति अहरहः गच्छति इति रसः (सु०सू०अ०१४), रक्त का नाम शोणित है, शोणित शब्द "शोणृ वर्णगत्योः" धातु से निष्पन्न होता है—शोणति—गच्छति इति शोणितम्। वात एवं वायु शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' से निष्पन्न होते हैं। पित्त शरीर में आग्नेय पदार्थ है और अग्नि शब्द "अगि गतौ" धातु से निष्पन्न होता है। कफ शरीर का जलीय पदार्थ है और जल का एक नाम "पयस्" है जो "पय-गतौ धातु से निष्पन्न होता है। इस प्रकार ये सब सर्वदा शरीर में सर्वत्र गति करते रहते हैं और इनकी गति में सहायक होता है व्यान वायु। जब कहीं पर इनकी गति रुकती है तब वहीं पर विकार उत्पन्न हो जाता है फलतः प्राणी अस्वस्थ हो जाता है। और जब उनकी गति नहीं रुकती तब प्राणी स्वस्थ बना रहता है। खवैगुण्यात् का स्ववैगुण्यात् पाठान्तर है ॥६८,६९॥

उपसंहार—

अन्नभौतिकधात्वग्नि-कर्मेति परिभाषितम् ॥७०॥
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥७१॥
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥७२

व्याख्या—अन्न—आहार को पकानेवाली, पञ्चमहाभूतों को पकानेवाली तथा रस आदि धातुओं को पकानेवाली अग्नियों के कर्म का वर्णन कर दिया गया है। परन्तु इन सब अग्नियों में अन्न को पकानेवाला अग्नि अधिक—प्रधान-मुख्य माना जाता है। क्योंकि अन्य सब अग्नियों का मूल वही पाचक अग्नि है और उस पाचक अग्नि की वृद्धि से अन्यान्य अग्नियों की वृद्धि होती है और क्षय से क्षय होता है। इसलिये हित—पथ्य अन्नपान रूपी इन्धनों के विधिपूर्वक योग से सावधान होकर उस पाचक अग्नि का पालन करना चाहिये क्योंकि उस की स्थिति में ही आयु—जीवन तथा बल (शारीरिक एवं मानसिक शक्ति) की स्थिति है।

वक्तव्य—जो उसका उक्त प्रकार से पालन नहीं करता उसे अनेक रोग हो सकते हैं। (दे. च. चि. अ. १५) अन्नं वै प्राणः (वेद) तथा अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋग्वेद)।

शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवति अनामयः।
रोगी स्यात् विकृते तस्मात् तं प्रयत्नेन पालयेत्।
अ० सं० शा० अ० ६

जठराग्नि के मन्द आदि अवस्था भेद—

समः समाने स्थानस्थे विषमोऽग्निर्विमार्गगे।
पित्ताऽभिमूर्च्छिते तीक्ष्णो मन्दोऽस्मिन्कफपीडिते ॥७३॥
समोऽग्निर्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चैवं चतुर्विधः।
यः पचेत्सम्यगेवान्नं भुक्तं सम्यक् समस्त्वसौ ॥७४॥
विषमोऽसम्यगप्याशु सम्यग्वाऽपि चिरात्पचेत्।
तीक्ष्णो वह्निः पचेच्छीघ्रमसम्यगपि भोजनम् ॥७५॥
मन्दस्तु सम्यगप्यन्नमुपयुक्तं चिरात्पचेत्।
कृत्वाऽऽस्यशोषाटोपाऽन्त्र-कूजनाध्मानगौरवम् ॥७६॥

व्याख्या—समान वायु जब स्वस्थान में स्थित रहता है तब अग्नि सम रहती है, जब वह विमार्ग—उन्मार्ग-

गामी हो जाता है तब विषम हो जाती है, जब वह पित्त से प्रभावित होता है तब अग्नि तीक्ष्ण और जब वह कफ से प्रभावित होता है तब अग्नि मन्द हो जाती है।

इस प्रकार अग्नि—जठराग्नि—पाचक अग्नि चार प्रकार की होती है—१—सम, २—विषम, ३—तीक्ष्ण तथा ४-मन्द। जो अग्नि—सम मात्रा में खाए गये आहार को समीचीन प्रकार से पकाती है वह "सम" कहलाती है। जो अग्नि—अधिक मात्रा में भी खाए गये आहार को विलम्ब से पकाती है वह "विषम" कहलाती है। जो अग्नि—अधिक मात्रा में खाए गये आहार को भी शीघ्र पकाती है वह "तीक्ष्ण" कहलाती है (अधिक तीक्ष्ण होने पर यही अत्यग्नि-भस्मक रोग कहलाती है)। जो अग्नि—सम मात्रा में खाए गये आहार को भी विलम्ब से पकाती—पचाती है वह "मन्द" कहलाती है। तथा जो मुख शोष, आटोप—क्षोभ, अन्त्र कूजन, आध्मान तथा गुरुता उत्पन्न करके पचाती है वह मन्द कहलाती है ।।७३-७६।।

बल का वर्णन—

सहजं कालजं युक्तिकृतं देहबलं त्रिधा ।
तत्र सत्त्वशरीरोत्थं प्राकृतं सहजं बलम् ।।७७।।
वयस्कृतमृतूत्थं च कालजं, युक्तिजं पुनः ।
विहाराहारजनितं तथोर्जस्करयोगजम् ।।७८।।

व्याख्या—देह बल तीन प्रकार का होता है—१—सहज, २—कालज तथा ३—युक्तिकृत इन में सहज बल वह कहलाता है जो सत्त्व—मनस् का तथा शरीर का स्वाभाविक बल होता है। कालज बल वह है जो बाल्य आदि वयस् तथा हेमन्त आदि ऋतु के प्रभाव से उत्पन्न होता है। और युक्तिज-युक्ति कृत बल वह होता है जो बल कारक व्यायाम आदि विहार तथा घृत दुग्ध आदि आहार से तथा च्यवन प्राश आदि बल वर्द्धक योगों के सेवन से उत्पन्न होता है ।।७७-७८।।

देशभेद —

देशोऽल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः ।
आनूपो विपरीतोऽस्मात्समः साधारणः स्मृतः ।।७९।।

व्याख्या—देश भी तीन प्रकार का होता है—१—जाङ्गल, २—आनूप तथा ३—साधारण। जिस देश में—जल (नदी, ताल, झील एवं झरने आदि) वृक्ष तथा पर्वत थोड़े हों तथा रोग भी थोड़े हों वह "जाङ्गल देश" कहलाता है। जो देश इस से विपरीत होता है वह "अनूप" कहलाता है और जो उक्त दोनों देशों के गुणदोषों से युक्त होता है वह देश "साधारण" कहलाता है ।।७९।।

मज्जा आदि का परिमाण—

मज्जमेदोवसामूत्र-पित्तश्लेष्मशकृन्त्यसृक् ।
रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकाञ्जलिवर्धितम् ।।८०।।
पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम् ।
द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियाः ।।८१।।
समधातोरिदं मानं विद्याद्वृद्धिक्षयावतः ।।८२।।

व्याख्या—इस शरीर में—मज्जा (१), मेदस् (२), वसा (३), मूत्र (४), पित्त (५) श्लेष्मा (६), शकृत् (७), रक्त (८), रस (९) तथा जल (१०) एक एक अञ्जलि वर्द्धित हैं और ओजस्, मस्तिष्क (शिरोमज्जा) तथा रेतस् शुक्र एक एक प्रसृत परिमित हैं। नारी के शरीर में दूध दो अञ्जलि तथा रजस् चार अंजलि रहता हैं। यह परिमाण सम धातुवाले शरीर का है इस से विपरीत परिमाण वृद्धि एवं क्षय समझे जाते हैं।

वक्तव्य—विशेष देखिये च. शा. अ. ७। १५। यह परिमाण अपनी अञ्जली एवं प्रसृति (उञ्जला—दोनों हस्तों की अञ्जली तथा प्रसृति—एक हाथ की लप्प) के अनुसार है। मागध अथवा कालिंग नामक मानों के अनुसार नहीं है। यह पूर्ण स्वस्थ का परम परिमाण है। इन के वृद्धि क्षय का अनुमान ही हो सकता है। और भगवान् धन्वन्तरि का तो कथन है कि—

वैलक्षण्यात् शरीराणां अस्थायित्वात् तथैव च ।
दोषधातुमलानां च परिमाण न विद्यते ॥

(सु०शा०अ० १५।३७) अर्थात् प्रत्येक मानव का शरीर विलक्षण—भिन्न भिन्न परिमाण का होता है और दोष, धातु एवं मल सर्वदा एक परिमाण में नहीं रहते—क्षण क्षण में घटते एवं बढ़ते रहते हैं इसलिये इनका कोई निश्चित परिमाण नहीं है ।।८०-८२।।

सात प्रकार की प्रकृति—

शुक्रासृग्गर्भिणीभोज्यचेष्टागर्भाशयर्तुषु ।
यः स्याद्दोषोऽधिकस्तेन प्रकृतिः सप्तधोदिता ।।८३।।

व्याख्या—शुक्र, शोणित, गर्भवती के आहार विहार तथा गर्भाशय एवं ऋतु में जो दोष अधिक होता है उससे प्रकृति की उत्पत्ति होती है और वह सु० अ० १ श्लोक १० में सात प्रकार की मानी गई है।

वक्तव्य—मानवों की प्रकृतियाँ सात प्रकार की होती हैं यथा—।।८३।।

वात प्रकृति का वर्णन—

विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात् ।

स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥८४॥

प्रायोऽत एव पवनाध्युषिता मनुष्या
दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः ।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टा
सौहार्ददृष्टिगतयोऽतिबहुप्रलापाः ॥८५॥

अल्पवित्तबलजीवितनिद्राःसन्नसक्तचलजर्जरवाचः ।
नास्तिका बहुभुजः सविलासागीतहासमृगयाकलिलोलाः॥

मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकाङ्क्षाः
कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चाऽऽर्या
न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा ॥८७॥

नेत्राणि चैषां खरधूसराणि
वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि ।
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते
शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति ॥

अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्बद्धपिण्डिकाः ।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकाऽनूकाश्च वातिकाः ॥८९॥

व्याख्या—सब दोषों में वायु प्रबल माना जाता है क्यों कि वह विभु - व्यापक है, आशुकारी—शीघ्र कारी हैं, बलवान् है, दूसरे दोषों को कुपित करता है, स्वतन्त्र है तथा बहुत रोगों का उत्पादक है। इसलिये प्रायः वात प्रकृति वाले दोषात्मक दूषित स्वभाव वाले (असुन्दर एवं बुरे विचार वाले) होते हैं और उनके केश एवं अंग स्फुरित (टूटने वाले, फटे) तथा धूसर (मलिन) होते हैं। वे शीत के द्वेषी होते हैं और उनकी धृति (धैर्य), स्मृति (स्मरण शक्ति), बुद्धि, चेष्टा, मैत्री, दृष्टि (नेत्र या विचार) तथा गति चंचल होती है, वे बहुत अधिक तथा व्यर्थ बातें करते हैं, उनके पित्त (पाचक भ्राजक आदि), बल, जीवित आयु तथा निद्रा स्वल्प होते हैं, वाणी अवसन्न शिथिल, सक्त—रुकने वाली, चंचल—विचलित होने वाला तथा जर्जर—टूटे कांसा पात्र के समान ध्वनि वाली या फटे बाँस की सा होती है। वे नास्तिक, विश्वास न करने वाले, श्रद्धा हीन, बहु-भोजी, विलासी, गाने, हँसने, शिकार करने तथा कलह करने के इच्छुक होते हैं। उनको मधुर अम्ल, लवण तथा उष्ण पदार्थ अनुकूल होते हैं और उन्हीं की चाह भी होती है, उनके गात्र कृश एवं लम्बे होते हैं, चलने में अस्थियों में शब्द होता है, वे न दृढ़ (शरीर एवं विचार वाले) होते हैं, न जितेन्द्रिय, न भद्र, न स्त्रियों के पियारे और अधिक सन्तान वाले होते हैं, इनकी आँखें खर रूक्ष, मलिन, गोल, असुन्दर तथा मृत की सी होती हैं, सोने पर भी खुली सी रहती हैं, वे स्वप्नों में शैल एवं वृक्षों पर चढ़ते हैं। वे अधन्य—धनहीन, मत्सर द्वेष से पूर्ण तथा चोर होते हैं, उनकी पिण्डलियाँ कुछ ऊँचे पर बद्ध होती हैं और उनका स्वभाव कुत्ता, गीदड़, ऊँट, गिद्ध चूहा एवं कावा के समान होता है ॥८४-८९॥

पित्त प्रकृति का वर्णन—

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मा
त्पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षुः ।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः
शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा ॥९०॥

दयितमाल्यविलेपनमण्डनः
सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः ।
विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो
भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि ॥९१॥

मेधावी प्रशिथिलसन्धिबन्धमांसो
नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः ।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकानां
भुङ्क्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम् ॥९२॥

धर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धि
र्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः ।
सुप्तः पश्यत्कर्णिकारान्पलाशा
न्दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च ॥९३॥

तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां
तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि ।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा
रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ॥९४॥

मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः ।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः ॥९५॥

व्याख्या—पित्त स्वयं अग्नि है अथवा अग्नि से उत्पन्न होता है (आग्नेय है) इस लिये पित्त प्रकृति वाला अधिक या तेज प्यास एवं भूख वाला होता है, गौर वर्ण, उष्ण शरीर, लाल हाथ, पाँव एवं मुख वाला, शूर, अभि-मानी, सुनहले केशों वाला तथा अल्प रोगों वाला होता है, माला, तिलक एवं श्रृंगार का प्रेमी, सदाचारी, पवित्र, आश्रितों का स्नेही, ऐश्वर्य, साहस, बुद्धि एवं बल से युक्त होता है, भय उपस्थित होने पर शत्रुओं को भी आश्रय देने वाला तथा बुद्धिमान् होता है, उसके सन्धि बन्ध तथा मांसपेशियाँ शिथिल होती हैं, वह नारियों का प्रिय नहीं होता, उसका शुक्र एवं काम स्वल्प होता है, उसके केश अकाल में पक जाते हैं तथा त्वचा में वलियाँ झुरियाँ पड़ जाती हैं तथा मुख पर प्रायः झाईं पड़ जाती हैं, वह मधुर, कषाय, तिक्त एवं शीत भोजन करता है, धर्म

द्वेषी होता है, उसे स्वेद अधिक आता है, शरीर से दुर्गन्ध आती है, उसे पुरीष, क्रोध, पान, भोजन तथा ईर्षा अधिक होती है वह स्वप्नों में अमलतास के तथा पलाश के पुष्प युक्त वृक्षों को, दिशाओं के दाह जलने को, उल्कापात को, बिजली की चमक को, सूर्य एवं अग्नि को देखता है, और पित्त प्रकृति वालों के नेत्र पतले, पीले, चचल, पतले छोटे तथा थोड़े पक्ष्म वाले, शीत चाहने वाले तथा क्रोध से, मादक द्रव्य के सेवन से एवं सूर्य के सन्ताप से लाल होजाने वाले होते हैं। ये मध्यम आयु वाले तथा मध्यम बल वाले होते हैं, क्लेश से डरने वाले होते हैं और वे व्याघ्र (बाघ) ऋक्ष (भालू) कपि (वानर), मार्जार (बिलाव) तथा गीध के समान स्वभाव वाले होते हैं।

वक्तव्य—वर्मद्वेषी के स्थान में धर्मद्वेषी पाठान्तर है।।

कफ प्रकृति का वर्णन—

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो
गूढस्निग्धश्लिष्टसन्ध्यस्थिमांसः।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशघर्मैरतप्तो
बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसन्धः ॥९६॥
प्रियङ्गुदूर्वाशरकाण्डशस्त्रगोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षाः महाललाटो घननीलकेशः॥९७॥
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो
बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु
प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ॥९८॥
समदद्विरदेन्द्रतुल्ययानो
जलदाम्भोधिमृदङ्गसिंहघोषः।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो
न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः ॥९९॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्ष-
मल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथाऽपि।
रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घ-
सुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ॥१००॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेहः
प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः।
श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा-
नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥१०१॥
ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सुलज्जो
भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च।
स्वप्ने सपद्मान्सविहङ्गमालां-
स्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च ॥१०२॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः ॥१०३॥

व्याख्या श्लेष्मा अर्थात् कफ सोम-चन्द्र गुण युक्त है अतः कफ प्रकृति वाला भी सौम्य होता है, उसकी सन्धियाँ गूढ, अस्थियाँ स्निग्ध तथा माँस पेशियाँ सटी हुई होती हैं, वह भूख, प्यास, दुःख, क्लेश-तथा घर्म (घाम-धूप,-गरमी) से सन्तप्त दुखी नहीं होता तथा बुद्धिमान्, सत्त्व गुणी एवं सत्यवादी होता है, उसका वर्ण परिपक्व प्रियंगु फल, श्वेत दूब, शर के काण्ड, चमकीले शस्त्र, गोरोचन, कमल तथा सुवर्ण के सदृश गौर होता है, उसके बाहु लम्बे, वक्षःस्थल चौड़ा एवं पुष्ट—मोटा, मस्तक बड़ा, केश घने एवं नीले—चमकीले काले, अङ्ग कोमल, देह—सम प्रमाण वाला, भली भाँति विभागयुक्त अवयवों वाला तथा सुन्दर-सुडौल होता है, उसके ओजस् रति शक्ति, रस धातु, शुक्र धातु, पुत्र - सन्तान तथा भृत्य—नौकर चाकर अधिक होते हैं, वह धर्मात्मा होता है, कभी भी कटु भाषण नहीं करता परन्तु भीतर भीतर चिरकाल तक दृढ वैर का ध्यान रखता है, वह मदमत्त ऐरावत हाथी के समान झूम झूम कर चलता है, उसका घोष—शब्द मेघ गर्जन, समुद्र, मृदङ्ग तथा सिंह (शेर) के समान गम्भीर होता है, वह स्मृति वाला, लगन वाला तथा विनय वाला होता है वह बाल पन में भी अधिक रोने वाला तथा लालची नहीं होता, वह तिक्त, कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष पदार्थ खाता है और आहार भी थोड़ा खाता है तथापि बलवान् बना रहता है उसके नेत्र—कोनों में लाल, सुन्दर एवं स्निग्ध, विशाल, लम्बे तथा अधिक पक्ष्म वाले होते हैं एवं उनके श्वेतभाग तथा कृष्ण भाग सुन्दर एवं व्यक्त-विभक्त होते हैं, वह थोड़ा बोलता है, थोड़ा क्रोध करता है, थोड़ा पीता एवं खाता है, थोड़ी ईर्षा करता है, वह दीर्घायु धनवान्, दीर्घदर्शी (दूरदर्शी), दाता, श्रद्धालु, गम्भीर, बड़े उद्देश-विचार वाला, क्षमावान्—सहनशील, आर्य-भद्र, अधिक सोनेवाला, चिरकारी, कृतज्ञ, सरल स्वभाव वाला, विद्वान्, भाग्यवान्, लज्जा शील, गुरुजनों का भक्त, स्थायी मैत्री वाला, और सुपनों में—कमलों वाले, हंस आदि पक्षियों की पंक्ति वाले जलाशयों—झीलों—तालों तथा बरसने वाले मेघों को प्रायः देखता है। कफ प्रकृति वालों का स्वभाव—ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वरुण, गरुड़, हंस, गजराज, सिंह, घोड़ा, गौ तथा बैल के समान होता है ॥९६-१०३॥

अन्यान्य प्रकृतियों का संकेत—

प्रकृतीर्द्वयसर्वोत्था द्वन्द्वसर्वगुणोदये।
शौचास्तिक्यादिभिश्चैवं गुणैर्गुणमयीर्वदेत् ॥१०४॥

व्याख्या—दो दो प्रकृतियों के गुणों—लक्षणों का उदय होने पर संसर्गज तीन प्रकृतियाँ तथा तीनों प्रकृतियों के गुणों का उदय होने पर एक सन्निपातज प्रकृति समझ लेवे और शौच एवं आस्तिकता आदि गुणों से सत्त्व, रजः तमोमयी प्रकृतियों को समझ लेवे ।

वक्तव्य—विशेष देखिये सु. शा. अ. ४, च. वि. अ. ८ तथा. च. वि. अ. ६ और अष्टाङ्गसंग्रह अ. ८ । प्रतीत होता है कि—शौचाऽऽस्तिक्यादिभिश्चैवं पाठ से श्री वाग्भट का संकेत सुश्रुतोक्त सात्त्विक, राजस एवं तामस प्रकृतियों की ओर है यथा—

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ।
प्रियाऽऽतिथित्वं इज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥८१॥
माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता ।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कामलक्षणम् ॥८२॥
शीतसेवाऽऽसहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता ।
प्रियवादित्वमित्येतत् वारुणं कायलक्षणम् ॥८३॥
मध्यस्थता सहिष्णुत्वं अर्थस्याऽऽगमसञ्चयौ ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं काय लक्षणम् ॥८४॥
गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।
विहारशीलता चैव गन्धर्वं कायलक्षणम् ॥८५॥
प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः ।
रागमोहमदद्वेषै र्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥८६॥
जय व्रत ब्रह्मचर्य होमाऽध्ययन सेविनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नं ऋषिसत्त्वं नरं विदुः ॥८७॥
सप्तैते सात्त्विकाः काया राजसान् तु निबोध मे ।
ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम् ।
एकाशिनं चौदरिकं आसुरं सत्त्वमीदृशम् ॥८८॥
तीक्ष्णमायासिनं भीरुं मायान्वितं चण्डं तथा ।
विहाराऽऽहारचपलं सर्पसत्त्वं विदुः नरम् ॥८९॥
प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च ।
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥९०॥
एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता ।
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥९१॥
उच्छिष्टाऽऽहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥९२॥
असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम् ।
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥९३॥
षट् एते राजसाः कायाः, तामसान् तु निबोध मे ।
दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः॥९४॥
अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्षता ।
परस्परविमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्यलक्षणम् ॥९५॥
एकस्थानरतिः नित्यमाहारे केवले रतिः ।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥९६॥
इति एते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसाः तथा ।

इन प्रकृतियों के ज्ञान की आवश्यकता तथा प्रयोजन—

कायानां प्रकृतीः ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ।
सु. शा. अ. ४ ॥१०४॥

वयस् का वर्णन—

वयस्त्वाषोडशाद्बालं, तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं, तत्रावृद्धिः परं क्षयः ॥१०५॥

व्याख्या—वयस् तीन प्रकार की होती है—१. बाल, यह १६ वर्ष पर्यन्त रहती है इसमें रस आदि धातुओं, इन्द्रियों तथा ओजस् की वृद्धि होती रहती है । २. मध्य—यह ७० वर्ष तक रहती है इस में धातु आदि की वृद्धि नहीं होती । इसके पश्चात् ३. क्षय इसमें धातु आदि का क्षय होता जाता है ।

वक्तव्य—वयः त्रिविधं बाल मध्य वृद्धं च । तत्र आषोडशात् वर्षात् बालम् । आसप्ततेः मध्यमम् । ततो वृद्धम् । तेष्वपि स्तन्याऽऽहार-उभय वृत्या बालं त्रिविधम् । तस्मिन् देहप्रमाणवृद्धिः, श्लेष्मोद्रेकश्च । तेन बालस्य स्नेहमार्दवसौकुमार्याल्पक्रोधत्वसौभाग्यानि भवन्ति । मध्यमपि त्रिविधम्—यौवनं, सम्पूर्णं अपरिहानिश्च । तस्मिन् पित्तोद्रेकः तेन दीप्ताग्निता, प्रज्ञाधिक्यपरिपाकौ व्यवसायश्च । तत्र आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानप्रश्रयगुणसम्पूर्णत्वमतः परमपरिहानिः । वृद्धं तु श्वः श्वः क्षीयमाणधातु-इन्द्रियादिगुणं वलीखलतिकासश्वासाऽग्निसादादिभिः अभिभूयमानं जीर्णं भवनमिवाऽभिवृष्टमवसीदति । तस्मिन् मारुतोद्रेकः, तेन श्लथाऽऽसारमांस सन्धि-अस्थिता त्वक् पारुष्यं, अवनामः कायस्य, वेपथुः कासश्वासश्लेष्मसिंघाणकोदरिणं धातुक्षयश्च । अष्टाङ्ग संग्रह शा. अ. ८ । तथा च. वि. अ. ८ । १२४ देखिये ।

सुख एवं आयु का पात्र शरीर—

स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्धं वपुः पात्रं सुखायुषोः ।
न च यद्युक्तमुद्रिक्तैरष्टाभिर्निन्दितैर्निजैः ॥१०६॥
अरोमशाऽसितस्थूलदीर्घत्वैः सविपर्ययैः ।

व्याख्या—अपने अपने साढे तीन हाथ (८४ अंगुल) का शरीर सुख एवं आयु का पात्र होता है । परन्तु जो शरीर-निम्नलिखित सहज एवं उल्बण आठ निन्दनीय दोषों से युक्त न हो यथा—१. अरोमश—सर्वथा लोमहीन त्वच २. अत्यधिक लोमोंवाला, ३. असित—अत्यन्त काला तथा ४. अत्यन्त गौर, ५. अत्यन्त स्थूल तथा

६. अत्यन्त कृश, ७. अत्यन्त दीर्घ--तथा ८. अत्यन्त ह्रस्व—नाटा-छोटा ।

वक्तव्य—विशेष देखिये च. सू. अ. २१—अष्टौ निन्दितीय अध्याय । इस प्रकार के आठ शरीर सुख एवं आयु के पात्र नहीं होते । इसी प्रकार कान्तिहीन भी सुख एवं आयु का पात्र नहीं होता जैसे वात प्रकृतिवाला ॥ १०६ ॥

शरीर के सुलक्षण--

सुस्निग्धा मृदवः सूक्ष्मा नैकमूलाः स्थिराःकचाः ॥१०७॥
ललाटमुन्नतं श्लिष्टशङ्खमर्धेन्दुसन्निभम् ।
कर्णौ नीचोन्नतौ पश्चान्महान्तौ श्लिष्टमांसलौ ॥१०८॥
नेत्रे व्यक्तासितसिते सुबद्धघनपक्ष्मणी ।
उन्नताग्रा महोच्छ्वासा पीनर्जुर्नासिका समा ॥१०९॥
ओष्ठौ रक्तावनुद्वृत्तौ महत्यौ नोल्बणे हनू ।
महदास्यं घना दन्ताःस्निग्धाः श्लक्ष्णाः सिताः समाः॥
जिह्वा रक्ताऽऽयता तन्वी मांसलं चिबुकं बृहत् ।
ग्रीवा ह्रस्वा घना वृत्ता स्कन्धावुन्नतपीवरौ ॥१११॥
उदरं दक्षिणावर्तगूढनाभिसमुन्नतम् ।
तनुरक्तोन्नतनखं स्निग्धमाताम्रमांसलम् ॥११२॥
दीर्घाच्छिद्राङ्गुलि महत्पाणिपादं प्रतिष्ठितम् ।
गूढवंशं बृहत्पृष्ठं निगूढाः सन्धयो दृढाः ॥११३॥
धीरः स्वरोऽनुनादी च वर्णः स्निग्धः स्थिरप्रभः ।
स्वभावजं स्थिरं सत्त्वमविकारि विपत्स्वपि ॥११४॥
उत्तरोत्तरसुक्षेत्रं वपुर्गर्भादिनीरुजम् ।
आयामज्ञानविज्ञानैर्वर्धमानं शनैः शुभम् ॥११५॥
इति सर्वगुणोपेते शरीरे शरदां शतम् ।
आयुरैश्वर्यमिष्टाश्च सर्वे भावाः प्रतिष्ठिताः ॥११६॥

व्याख्या—वे केश प्रशस्त होते हैं जो सुन्दर एवं स्निग्ध हों, कोमल हों, सूक्ष्म—पतले हों, एक एक रोमकूप में एक एक हों तथा स्थिर--न उखड़ने वाले हों। वह ललाट प्रशस्त होता है जो उन्नत-ऊँचा हो जिससे शंख प्रदेश सटे हों तथा जो अर्द्ध चन्द्र जैसा हो वे कर्ण प्रशस्त होते हैं जो नीचे की ओर लटके हों तथा ऊपर की ओर उन्नत हों, पीछे की ओर महान्—बड़े हों, सटे हों तथा मांसल—पुष्ट हों। वे नेत्र प्रशस्त होते हैं जिन में कृष्ण भाग तथा श्वेत भाग व्यक्त हों जो सुन्दर सन्धियों वाले तथा घने पक्ष्मों वाले हों। वह नासा प्रशस्त होती है जो अग्रभाग में ऊँची हो,जिस के छिद्र बड़े हों—श्वास में अधिक वायु जा सके, जो पुष्ट, सरल तथा सम—वंशसम्पन्ना हो। वे ओठ प्रशस्त होते हैं जो लाल हों तथा ऊपर की ओर उलटे (उठे) न हों—मुख को आच्छादित करने वाले हों। वे हनु (जिन से मुखमण्डल बनता है) प्रशस्त होते हैं जो महान—बड़े हों परन्तु उल्वण—उठे हुए—उभार वाले न हों। आस्य— मुख महान्—बड़ा प्रशस्त होता है। दन्त घने, स्निग्ध, श्लक्ष्ण—चिकने, श्वेत तथा सम (जो विषम--छोटे—बड़े न हों) प्रशस्त होते हैं। जीभ—लाल, उचित लम्बाई एवं चौड़ाई से युक्त तथा पतली प्रशस्त होती है। चिबुक—ठोड़ी—मांसल—पुष्ट तथा बड़ी प्रशस्त होती है। ग्रीवा—गर्दन—लम्बाई में छोटी, घन—मोटी, तथा गोल प्रशस्त होती है। स्कन्ध—कन्धे—उन्नत—ऊँचे तथा पीन—पुष्ट प्रशस्त होते हैं। वह उदर प्रशस्त होता है जिस की नाभि दक्षिणावर्त्त हो (वामावर्त्त न हो) तथा जो ऊँचा हो। हाथ पाँव वे प्रशस्त होते हैं जिन के नख—पतले, लाल तथा उन्नत -उभारयुक्त हों, जो स्निग्ध, लाल तथा पुष्ट हों, जिन की अँगुलियाँ -- लम्बी तथा छिद्र—व्यवधान रहित हों तथा जो बड़े हों। वह पीठ प्रशस्त होती है जिस का पृष्ठ वंश—गूढ़—गम्भीर हो। वे सन्धियाँ प्रशस्त होती हैं जो गूढ़—गम्भीर दृढ हों। धीर—गम्भीर—धैर्य युक्त तथा अनुनादी—ध्वनियुक्त स्वर प्रशस्त होता है। वर्ण—स्निग्ध तथा स्थिर कान्तिवाला प्रशस्त होता है।

सत्त्व—मनस् वह प्रशस्त होता है जो स्वभाव से प्रादुर्भूत हो, स्थिर हो तथा विपत्तियों में भी विकृत नहो।

और समस्त शरीर वह प्रशस्त होता है जिस का क्षेत्र—उत्पत्ति स्थान—कुल उत्तरोत्तर सुन्दर हो, जो गर्भाधान से लेकर रोग रहित—स्वस्थ रहा हो और आयाम—लम्बाई, ज्ञान एवं विज्ञान (कौशल) द्वारा धीरे २ बढ़ रहा हो (अथवा बढ़ा हो)।

इस प्रकार सब गुणों से युक्त शरीर में १०० वर्ष की आयु, ऐश्वर्य—महत्ता तथा सभी अभीष्ट भाव (इच्छाइयाँ) प्रतिष्ठित—स्थित—स्थिर रहते हैं।

वक्तव्य—विशेष देखिए—अष्टाङ्गसंग्रह शा. अ. ८, च. शा. अ. ८ देखिए। उक्त पाठ में कुछ पाठ छूट गये हैं यथा—प्रकृष्टान्तरौ स्तनौ भ्रुवौ च। श्लक्ष्णं तालु जिह्वा च। तथा अनुपूर्ववृत्तौ ऊरू। व्यूढमुपचितमुरः। गूढं जत्रु। उरः त्रिभागहीना समा समुचितमांसा कटी। वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ न अत्युन्नतौ न अत्यवनतौ स्फिचौ। प्रकृतियुक्तानि वातमूत्रपुरीषगुह्यानि। प्रगूढसिराऽस्थिसन्धी जङ्घे।

पाठक उक्त स्थलों पर मिला कर देखें। और च. वि. अ. ८ में अंगुलि प्रमाणों से उत्सेध, विस्तार तथा आयाम का वर्णन किया गया है वह भी अवश्य देखें। तथा अष्टाङ्ग संग्रह

शा. अ. ८, ३० भी देखें। और देखिए सु. सू. अ. ३५।

सारों का वर्णन—

त्वग्रक्तादीनि सत्त्वान्तान्यग्र्याण्यष्टौ यथोत्तरम्।
बलप्रमाणज्ञानार्थं साराण्युक्तानि देहिनाम् ॥११७॥
सारैरुपेतः सर्वैः स्यात्परं गौरवसंयुतः
सर्वारम्भेषु चाशावान्सहिष्णुः सन्मतिः स्थिरः ॥११८॥

व्याख्या—त्वचा एवं रक्त आदि सत्त्व पर्यन्त, उत्तरोत्तर श्रेष्ठ आठ सार कहे गये हैं उन से भी बल के प्रमाण का ज्ञान होता है। उन सब सारों से युक्त जो होता है वह परम गौरव से युक्त होता है और सभी आरम्भों में आशावान्, सहन शील, श्रेष्ठ बुद्धिवाला तथा कर्तव्य कर्म में स्थिर (लगन वाला) होता है।

वक्तव्य—साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थं—उपदिश्यन्ते तद् यथा—त्वगरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्र सत्त्वानि इति।

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माऽल्पगम्भीरसुकुमार-लोमा सप्रभा इव च त्वक् (त्वचा) त्वक्साराणाम्। सा सारता सुखसौभाग्य-ऐश्वर्य-उपभोगबुद्धिविद्याऽऽरोग्यप्रहर्षणानि आयुश्च अनित्वरम् आचष्टे॥ कर्णाऽक्षिमुख जिह्वानासाओष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं च स्निग्धरक्तं श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम्। सा सारता सुखमुद्धनं विपुलां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यम्, नातिबलमक्लेशसहिष्णुत्वं उष्णाऽसहिष्णुत्वं च आचष्टे।

शंखललाटकृकाटिकाऽक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षः पाणिपादसन्धयः स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससाराणाम्। सा सारता क्षमां धृतिमलौल्य वित्तं विद्यां सखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे॥

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तओष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम्। सा सारता वित्त-ऐश्वर्य सुख उपभोगप्रदानानि आर्जवं सुकुमारोपचारतां च आचष्टे॥

पार्ष्णिगुल्फजानु-अरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूला-स्थिनखदन्ताश्च अस्थिसाराः। ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्ति आयुष्मन्तश्च।

मृद्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्त-सन्धयश्च मज्जसाराः। ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतवित्त-विज्ञानाऽपत्यसम्मानभाजश्च भवन्ति॥

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्ष-बहुलाः स्निग्ध वृत्त सार सम संहत शिखर दशनाः प्रसन्न स्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्री प्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्त सम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति॥

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनः त्यक्तविषादाः सुव्यवस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाऽभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः तेषां स्वलक्षणैः एव गुणा व्याख्याताः॥

तत्र सर्वैः सारैः उपेता पुरुषा भवन्ति, अतिबलाः परम-गौरवयुक्ताः क्लेशसहाः, सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः, सुसमाहित गतयः, सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराः, सुखैश्वर्यवित्तोपभोग सन्मानभाजो, मन्दजरसो, मन्दविकाराः प्राय स्तुल्यगुण-विस्तीर्णाऽपत्याः, चिरजीविनः, च प्रायो भवन्ति॥

अतो विपरीता स्त्वसाराः॥ मध्यानां मध्यैः सारविशेषैः गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति॥

इति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाणविशेषज्ञानार्थान्यु-पदिष्टानि भवन्ति॥ १०४–११६। च. वि. अ. ८। और सु. सू. अ. ३५ में सारों का वर्णन देखिए॥११७.११८॥

सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण का वर्णन—

अनुत्सेकमदैन्यं च सुखं दुःखं च सेवते।
सत्त्ववांस्तत्प्रयासानस्तु राजसो नैव तामसः ॥११९॥

व्याख्या—सत्त्व गुण वाला मानव सुख को उत्सेक-दर्प के बिना तथा दुःख को दीनता के बिना सेवन करता है। रजोगुण वाला मानव—सुख को अत्यन्त सुखी होकर और दुःख को दीन होकर सेवन करता है और तमोगुणी मानव—उनका सेवन—अनुभव ही नहीं करता। अथवा सुख में दूसरों को तंग करता तथा दुख में आत्म हत्या कर लेता है।

वक्तव्य—सत्व गुणी मानव—सुख एवं दुःख में विचलित नहीं होता और उसका स्वभाव ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वरुण एवं गन्धर्व का सा होता है वह महान् या महापुरुष होता है। रजोगुणी मानव—सुख दुख में सहसा विचलित हो जाता है और उसका स्वभाव बहुत अच्छा नहीं होता। तमोगुणी मानव पशु के से स्वभाववाला एवं निकम्मा होता है। विशेष देखिए सु. शा. अ. ४ श्लो. ८१ से ९९। तथा च. शा. अ. ४ सूत्र-३८ से ४७॥ ११९॥

पुण्य एव आयु वर्द्धक गुण—

दान-शील-दया-सत्य-ब्रह्मचर्य-कृतज्ञताः।
रसायनानि मैत्री च पुण्यायुर्वृद्धिकृद्गणः ॥१२०॥

व्याख्या—दान (दान शक्ति—दान करना), शील (उत्तम स्वभाव, सब के साथ मधुर व्यवहार), दया (दूसरों पर तथा अपने पर दया करना), सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य (संयम एवं वेदाध्ययन—सदाचार का पालन), कृतज्ञता (दूसरों के उपकार का सदा आभार मानना),

रसायनों का सेवन (देखिये उ. तं अ, ४०) की वृद्धि तथा मैत्री (मित्रता) ये सब सद्‌गुण— पुण्य तथा आयु करते हैं ॥१२०॥

इति अष्टाङ्गहृदये शारीरस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो मर्मविभागं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब मर्मों के विभाग की व्याख्या करेंगे जैसा आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि कह गये हैं।

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. शा. अ. ७, चि. अ. २६ तथा सि. अ. ९ में, सु. शा. अ. ६ में तथा अ. सं. शा. अ. ७ में देखिये ।

मर्मों की संख्या—

सप्तोत्तरं मर्मशतं तेषामेकादशादिशेत् ।
पृथक्सक्थ्नोस्तथा बाह्वोस्त्रीणि कोष्ठे नवोरसि ॥१॥
पृष्ठे चतुर्दशोर्ध्वं तु जत्रोस्त्रिंशच्च सप्त च ।

व्याख्या—समस्त शारीर में १०७ मर्म स्थल हैं, उनमें से-१-१सकथि में तथा १-१ बाहु में ११-११ मर्म हैं, उदर में ३, उरःस्थल में ९, पृष्ठ में १४ और जत्रुके ऊपर ग्रीवा समेत शिर में ३७ मर्म हैं ॥१॥

शाखा गत मर्मों का वर्णन—

मध्ये पादतलस्याहुरभितो मध्यमांगुलिम् ॥२॥
तलहृन्नाम रुजया तत्र विद्धस्य पञ्चता ।
अंगुष्ठांगुलिमध्यस्थं क्षिप्रमाक्षेपमारणम् ॥३॥
तस्योर्ध्वं द्व्यङ्गुले कूर्चः पादभ्रमणकम्पकृत् ।
गुल्फसन्धेरधः कूर्चशिरः शोफरुजाकरम् ॥४॥
जङ्घान्तरे त्विन्द्रवस्तिर्मारयत्यसृजः क्षयात् ॥५॥
जङ्घोर्वोः सङ्गमे जानु खञ्जता तत्र जीवतः ।
जानुनस्त्र्यंगुलादूर्ध्वमाण्यूरुस्तम्भशोफकृत् ॥६॥
उर्व्यूरुमध्ये तद्वेधात्सक्थिशोषोऽस्रसङ्क्षयात् ।
ऊरुमूले लोहिताख्यं हन्ति पक्षमसृक्क्षयात् ॥७॥
मुष्कवङ्क्षणयोर्मध्ये विटपं षण्ढताकरम् ।
इति सक्थ्नोस्तथा बाह्वोर्मणिबन्धोऽत्र गुल्फवत् ॥८॥
कूर्परं जानुवत्कौण्यं तयोर्विटपवत्पुनः ।
कक्षाक्षमध्ये कक्षाधृक् कुणित्वं तत्र जायते ॥९॥

व्याख्या—१—पादतल के मध्य में मध्यमा अंगुली के सामने तल हृदय नामक मर्म है उसका वेध हो जाने पर—वेदनाओं के साथ साथ मृत्यु हो सकती है। २—अंगूठा एवं तर्जनी अंगुली के मध्य में "क्षिप्र" नामक मर्म होता है उसमें वेध हो जाने पर आक्षेपक नामक वातव्याधि द्वारा मृत्यु हो जाती है। ३—क्षिप्र नामक मर्म के ऊपर की ओर कूर्च नामक मर्म होता है उसमें वेध हो जाने पर पावँ घूम जाता है तथा काम्पने लगता है। ४—गुल्फ सन्धि के नीचे "कूर्च शिर" नामक मर्म होता है उसमें वेध हो जाने पर-वेदना तथा शोथ हो जाता है। ५—जंघा तथा चरण की सन्धि में 'गुल्फ' नामक मर्म होता हैं उसमें वेध हो जाने पर-वेदना, स्तब्धता तथा चलने में मन्दता (षण्ढता या खञ्जता भी पाठान्तर हैं) हो जाती है। ६—जंघा के मध्य भाग में एड़ी से १२ अंगुल ऊपर की ओर "इन्द्रवस्ति" नामक मर्म स्थल है उसका वेध हो जाने पर रक्त का क्षय हो जाने से मृत्यु हो जाती है ॥५॥ (अपची नामक रोग में इस मर्मस्थल पर शस्त्रकर्म करने का विधान है देखिये उक्त स्थल)। ७—जंघा ऊरु की सन्धि में "जानु" नामक मर्म है वहाँ वेध होने पर जीवन भर के लिये खञ्जता (लंगड़ापन) हो जाती है। ८—जानु से तीन अंगुल पर दोनों ओर "आणी" नामक मर्म है वहाँ वेध होने पर ऊरुस्तम्भ (सक्थि स्तब्धता) तथा शोथ हो जाता है। ९—ऊरु के मध्य भाग में "उर्वी" नामक मर्म हैं वहाँ वेध होने से रक्त क्षय होकर सक्थि सूख जाती है। १०—ऊरु के मूल में "लोहिताक्ष" या लोहित नामक मर्म है वहाँ वेध होनेपर पक्षाघात हो जाता है। ११—मुष्क (अण्ड) तथा वंक्षण के मध्य में "विटप" नामक मर्म हैंवहाँ वेध होने पर नपुंसकता हो जाती है ।७।

इस प्रकार दोनों सक्थियों में ११-११ मर्म होते हैं और वैसे ही दोनों बाहुओं में भी ११-११ मर्म होते हैं उन मर्मों के नाम भी वहीं हैं। केवल—बाहु में मणिबन्ध नामक मर्म सक्थि के गुल्म नामक मर्म के समान, कूर्पर (कोहनी) नामक मर्म जानु के समान और कक्षधर नामक मर्म विटप के समान हैं जो कक्ष (काँख) तथा अक्षकास्थि वा वक्षस् के मध्य में रहता है। इनके वेध होने पर वे ही उपद्रव होते हैं जो गुल्फ आदि के वेध होने पर होते हैं भेद केवल यह है कि मणिबन्धन का वेध होने पर कुण्डल (हाथ का टेढ़ा पन), कूर्पर का वेध होने पर कुण्य—कुणिता (लुञ्जापन) और कक्षधरा का वेध होनेपर भी कुणिता होती है ।

वक्तव्य—इस प्रकार शाखाओं में ४४ मर्म कह दिये गये हैं ॥२-९॥

कोष्ठगत मर्मों का वर्णन—

स्थूलान्त्रबद्धः सद्योघ्नो विड्वातवमनो गुदः ।
मूत्राशयो धनुर्वक्रोबस्तिरल्पास्रमांसगः ॥१०॥
एकाधोवदनो मध्ये कट्याः सद्यो निहन्त्यसून् ।
ऋतेऽश्मरीव्रणाद्विद्धस्तत्राप्युभयतश्च सः ॥११॥
मूत्रस्राव्येकतो भिन्ने व्रणो रोहेच्च यत्नतः ।
देहामपक्वस्थानानां मध्ये सर्वसिराश्रयः ॥१२॥
नाभिः सोऽपि हि सद्योघ्नो

व्याख्या—१ स्थूलान्त्र से सम्बद्ध एवं वायु (अपान वायु) तथा पुरीष के निकलने का मार्ग "गुद" नामक मर्म है वहाँ वेध होने पर सद्यः मृत्यु हो जाती है ।

२—मूत्र का आशय, धनु के समान वक्राकार, थोड़े से रक्त एवं मांस से निर्मित, नीचे की ओर एक मुख वाला तथा कटि के मध्य में विद्यमान "वस्ति" नामक मर्म है । उसमें अश्मरी निकालने के लिये किये गये व्रण के विना अन्य प्रकार से वेध होने पर मृत्यु हो जाती है, अश्मरी निकालने के लिये भी दो ओर व्रण होने पर मृत्यु हो जाती है । और एक ओर व्रण होने पर मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है जो प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर रूढ हो जाता है–भर जाता है ।

३—शरीर के मध्य में, आमाशय एवं पक्वाशय (मलाशय) के मध्य भाग (क्षुद्र अन्त्र) रूपी तथा सब सिराओं का आश्रय (उत्पत्ति स्थान) "नाभि" नामक मर्म है । उसका भी वेध होने पर सद्यः मृत्यु होती है ।

वक्तव्य—इस प्रकार गुद, वस्ति तथा नाभि नामक ३ मर्मों का वर्णन कर दिया गया है जो उदर में रहते हैं ।

धनुर्वक्र शब्द से प्रतीत होता है कि—दोनों वृक्क जो कि कटि में रहते हैं एवं मूत्रवाही दोनों स्रोतो (गवीनियों) समेत वस्ति (मूत्राशय) का निर्देश किया गया है क्यों कि इन तीनों में अश्मरी की उत्पत्ति होती है और इन तीनों अवयवों को मिलाकर यदि चित्र बनाया जाय अथवा मृत शरीर में उनकी स्थिति देखी जाय तो उनका आकार—वक्र धनुष का सा ही होता है । पाठक ध्यान से देखें कि इन मर्मों का वर्णन कितनी उत्तमता से किया गया है ॥१०–१२॥

उरोगत मर्मों का वर्णन—

द्वारमामाशयस्य च ।
सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम् ॥१३॥
स्तनरोहितमूलाख्ये द्व्यङ्गुले स्तनयोर्वदेत् ।
ऊर्ध्वाधोऽस्रकफापूर्णकोष्ठो नश्येत्तयोः क्रमात् ॥१४॥
अपस्तम्भावुरःपार्श्वे नाड्यावनिलवाहिनी ।
रक्तेन पूर्णकोष्ठोऽत्र श्वासात्कासाच्च नश्यति ॥१५॥
पृष्ठवंशोरसोर्मध्ये तयोरेव च पार्श्वयोः ।
अधोंऽसकूटयोर्विद्यादपालापाख्यमर्मणी ॥१६॥
तयोः कोष्ठेऽसृजा पूर्णे नश्येद्यातेन पूयताम् ।

व्याख्या—आमाशय का द्वार (आमाशय के द्वार के समीप स्थित अथवा आमाशय से आने वाले रस धातु के शरीर में जाने का मार्ग) तथा सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण नामक महागुणों का अधिष्ठान और स्तन मण्डलों (दोनों फुप्फुसों) के मध्य में उरः कोष्ठ के भीतर स्थित एवं सर्वदा गतिशील रहनेवाला "हृदय" नामक मर्म है । यह भी विद्ध होने पर सद्यो मारक है अर्थात् इस मर्म का वेध होने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है ।

२—दोनों स्तनों (फुप्फुसों) के ऊपरी भाग में दोदो अंगुल पर या दो दो अंगुल भर के "स्तन रोहित" नामक दो मर्म हैं ३—और उन दोनों स्तनों के निचले भाग में स्थित दो-दो अंगुल के "स्तन मूल" नाम दो मर्म हैं । इन चारों मर्मों के वेध हो जाने से उनके कोष्ठों में कफ भर जाने पर मृत्यु हो जाती है अर्थात् स्तन रोहित नामक मर्मों में रक्त भर जाने से और स्तन मूल नामक मर्मों के कोष्ठों में कफ भर जाने से मृत्यु हो जाती है । ४—उरस् के भीतर दोनों पार्श्वों में (दोनों फुप्फुसों में जाने वाली) दो नाड़ियाँ (नालियाँ हैं जो वायु अर्थात् श्वास की वायु का वहन करती है अर्थात् श्वास मार्ग में जाने वाले वायु को फुप्फुसों में ले जाती है वे दोनों 'अपस्तम्भ (या अपस्तम्ब) नामक दो मर्म है ।

इन का वेध हो जाने से फुप्फुसों के कोष्ठों में रक्त भर जाने पर कास एवं श्वास हो कर मृत्यु हो जाती है।

५—पृष्ठ वंश एवं उरस् (वक्षस्) के मध्य में परन्तु अंसकूट के नीचे के पार्श्वों में "अपलाप" नामक दो मर्म हैं इनके कोष्ठ रक्त द्वारा पूर्ण हो जाने पर और जब रक्त पूय रूप में परिणत हो जाता है तब मृत्यु हो जाती है ।

वक्तव्य—इस प्रकार ६ मर्म उरस्—हृदय एवं फुप्फुसों के कह दिये गये हैं । स्तनरोहित२, स्तनमूल२, अपस्तम्भ२ तथा अपलाप२ इस प्रकार ८ मर्म फुप्फुस के अवयव हैं, जिन में वेध या क्षत हो जाने पर अवश्य मृत्यु हो जाती है । इस क्षत को उरः क्षत या यक्ष्मा कहते हैं । इस विषय में पाठक शान्त चित्त से विचार करें । यहाँ पर स्तन शब्द फुप्फुस के लिए प्रयुक्त हुआ है । ष्टन् शब्दे धातु (भ्वा० ग०) से स्तन शब्द की निष्पत्ति होती है और बाह्यस्तनों में किसी प्रकार का शब्द नहीं होता केवल सामीप्य के कारण वे स्तन कहे जाते हैं, और फुप्फुसों में फुप्फुस शब्द होता है । वातवाही दो नाड़ियाँ दोनों फुप्फुसों में जाने वाले श्वासमार्ग हैं । और

फुप्फुसों में कोष्ठ भी होते हैं जिनमें श्वास-प्रश्वास की वायु का प्रवेश होता है । अतः हमने स्तन शब्द से फुप्फुस का उल्लेख किया है और बाह्यस्तनों में कोई कर्म होता भी नहीं है ॥ १३-१६ ॥

पृष्ठगत मर्मों का वर्णन—

कटीक तरुण दो मर्म—

पार्श्वयोः पृष्ठवंशस्य श्रोणीकर्णौ प्रतिष्ठते ॥१७॥
वंशाश्रिते स्फिजोरूर्ध्वं 'कटीकतरुणे' स्मृते ।
तत्र रक्तक्षयात्पाण्डुर्हीनरूपो विनश्यति ॥१८॥

व्याख्या—पृष्ठ वंश के दोनों पार्श्वों में श्रोणिकर्ण या श्रोणि काण्ड के ऊपर या सामने स्थित, स्फिचों के ऊपर वंश से आश्रित "कटीक तरुण नामक" दो मर्म हैं । इनका वेध होने पर रक्त का क्षय होने से पाण्डु रोगी के समान कान्ति हीन होने पर रोगी मर जाता है ॥१७,१८॥

२. कुकुन्दर नामक दो मर्म—

पृष्ठवंशं ह्युभयतो यौ सन्धी कटिपार्श्वयोः ।
जघनस्य बहिर्भागे मर्मणी तौ 'कुकुन्दरौ' ॥१९॥
चेष्टाहानिरधःकाये स्पर्शाज्ञानं च तद्व्यधात् ।

व्याख्या—पृष्ठ वंश के दोनों ओर, जघन के बाहिरी भाग में कटिपार्श्व की जो सन्धियाँ हैं वे 'कुकुन्दर" नामक दो मर्म हैं । उन का वेध होने से अधःकाय (सक्थियों) की चेष्टा—व्यापार का क्षय तथा स्पर्श ज्ञान का नाश हो जाता है ॥१९॥

३. नितम्ब नामक दो मर्म—

पार्श्वान्तरनिबद्धौ यावुपरि श्रोणिकर्णयोः ॥२०॥
आशयच्छादनौ तौ तु 'नितम्बौ' तरुणास्थिगौ ।
अधः शरीरे शोफोऽत्र दौर्बल्यं मरणं ततः ॥२१॥

व्याख्या-पार्श्वों के मध्य निबद्ध, श्रोणिकाण्ड के ऊपर वस्ति आदि आशयों का आच्छादन करने वाले जो तरुणास्थिमय अवयव हैं वे "नितम्ब" नामक दो मर्म हैं । उन का वेध होने पर अधःकाय (सक्थियों) में शोथ हो जाता है और दुर्बलता आ जाती है तदनन्तर मृत्यु हो जाती है ॥२०,२१॥

४. पार्श्व सन्धि नामक दो मर्म—

पार्श्वान्तरनिबद्धौ च मध्ये जघनपार्श्वयोः ।
तिर्यगूर्ध्वं च निर्दिष्टौ पार्श्वसन्धी तयोर्व्यधात् ॥२२॥
रक्तपूरितकोष्ठस्य शरीरान्तरसम्भवः ।

व्याख्या—पार्श्वों के निचले भाग में निबद्ध, जघन के पार्श्वों के मध्य में तिरछे एवं ऊपर "पार्श्वसन्धि" नामक दो मर्म हैं । उन का वेध होने से रक्त का क्षय हो जाने पर मृत्यु हो जाती है ॥२२॥

५. बृहती नामक दो मर्म—

स्तनमूलार्जवे भागे पृष्ठवंशाश्रये सिरे ॥२३॥
'बृहत्यौ' तत्र विद्धस्य मरणं रक्तसङ्क्षयात् ।

व्याख्या—स्तनमूल नामक मर्मों से सीधे, दोनों ओर पृष्ठवंश में आश्रित जो दो सिरा हैं वे "बृहती" नामक दो मर्म हैं । उन का वेध होने से रक्त का क्षय हो जाने पर मृत्यु हो जाती है ॥२३॥

६. अंसफलक नामक दो मर्म—

बाहुमूलाभिसम्बद्धे पृष्ठवंशस्य पार्श्वयोः ॥२४॥
अंसयोः फलके बाहुस्वापशोषौ तयोर्व्यधात् ।

व्याख्या—पृष्ठ के उपरिभाग में, बाहुमूलों से सम्बद्ध, पृष्ठ वंश के दोनों पार्श्वों में "अंस फलक" नामक दो मर्म हैं । उनका वेध होने से बाहु में स्वाप—शून्यता तथा शोष हो जाते हैं ॥२४॥

७. अंस नामक दो मर्म—

ग्रीवामुभयतः स्नाव्नी ग्रीवाबाहुसिरोऽन्तरे ॥२५॥
स्कन्धांसपीठसम्बन्धावंसौ बाहुक्रियाहरौ ।

व्याख्या—ग्रीवा के दोनों ओर ग्रीवा, तथा बाहु-शिर (बाहु का शिखर) के मध्य में स्कन्ध तथा अंसपीठ को बाँधने वाले दो स्नायु "अंस" नामक दो मर्म है । उनका वेध होने से बाहु की क्रिया का नाश हो जाता है ।

वक्तव्य—पीठ के १४ मर्मों का वर्णन किया गया है ।

जत्रु के ऊपर के मर्म—

नीला एवं मन्य नामक चार मर्म—

कण्ठनाडीमुभयतः सिरा हनुसमाश्रिताः ॥२६॥
चतस्रस्तासु नीले द्वे मन्ये द्वे मर्मणी स्मृते ।
स्वरप्रणाशवैकल्यं रसज्ञानं च तद्व्यधे ॥२७॥

व्याख्या—कण्ठनाड़ी (नीला) के दोनों ओर हनु से आश्रित चार सिरा (धमनियाँ) हैं उन में दो नीला (दोनों ओर १—१) तथा दो मन्या (दोनों ओर १—१) हैं वे चारों मर्म हैं उन का वेध होने से स्वर का विनाश अथवा विकृति हो जाती है तथा रस का ज्ञान नहीं होता ॥२६,२७॥

मातृका नामक चार मर्म—

कण्ठनाडीमुभयतो जिह्वानासागताः सिराः ।
पृथक् चतस्रस्ताः सद्यो घ्नन्त्यसून्मातृकाह्वयाः ॥२८॥

व्याख्या—कण्ठ नाड़ी के दोनों ओर, चार चार,

जीभ तथा नासा से सम्बद्ध सिरा "मातृका" नामक ४ मर्म हैं। इन का वेध होने पर भी सद्यः मृत्यु हो जाती है ॥२८॥

कृकाटिका नामक दो मर्म—

कृकाटिके शिरोग्रीवासन्धौ, तत्र चलं सिरः।

व्याख्या—शिर एवं ग्रीवा की सन्धि में "कृकाटिका" नामक दो मर्म हैं। इन का वेध होने से शिर हिलने लगता है।

विधुर नामक दो मर्म

अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी ।२९।

व्याख्या—कानों के पीछे निचले भाग में "विधुर" नामक दो मर्म हैं। इन का वेध होने पर श्रवण शक्ति का नाश (बधिरता) हो जाता है ॥२९॥

फणा नामक दो मर्म—

फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ।
अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ ॥३०॥

व्याख्या—नासा मार्ग के दोनों ओर, श्रोत्र (कर्ण) मार्ग तक गये हुए, गल के भीतर स्थित "फणा" नामक दो मर्म हैं। इनका वेध होने पर गन्धका ज्ञान नहीं होता।

वक्तव्य—घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे, तत्र गन्धाज्ञानम्। पाठ है। अन्तर्गल पाठ चिन्तनीय है ॥ ३० ॥

अपाङ्ग एवं आवर्त्त नामक दो दो मर्म—

नेत्रयोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ भ्रुवोः पुच्छान्तयोरधः।
तथोपरि भ्रुवोर्निम्नावावर्तावान्ध्यमेषु तु ॥३१॥

व्याख्या—नेत्रों के बाहर की ओर, भ्रुवों की पुच्छों के अन्त में परन्तु नीचे "अपाङ्ग" नामक दो मर्म हैं। और भ्रुवों के ऊपर कुछ निम्नरूप में "आवर्त्त" नामक दो मर्म हैं। इन चारों का वेध होने से अन्धापन अथवा दृष्टि का उपघात—विकार हो जाता है ॥३१॥

शंख नामक दो मर्म—

अनुकर्णं ललाटान्ते 'शङ्खौ' सद्योविनाशनौ।

व्याख्या—ललाट के अवसान में, दोनों ओर कर्ण के समीप "शंख" नामक दो मर्म हैं। उनमें वेध होने पर भी सद्यः मृत्यु हो जाती है।

उत्क्षेप नामक दो तथा स्थपनी नामक एक मर्म—

केशान्ते शङ्खयोरूर्ध्वमुत्क्षेपौ, स्थपनी पुनः ।३२।
भ्रुवोर्मध्ये, त्रयेऽप्यत्र शल्ये जीवेदनुद्धृते।
स्वयं वा पतिते पाकात्सद्यो नश्यति तूद्धृते ॥३३॥

व्याख्या—केशों के अवसान में, शंखों के ऊपर "उत्क्षेप" नामक दो मर्म हैं और भ्रुवों के मध्य में "स्थापनी" नामक एक मर्म है। इन तीनों में जब तक शल्य रहता है तब तक अथवा पक कर स्वयं शल्य निकल जाने पर जीवन रहता है परन्तु शल्य निकालने पर मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—ये तीन मर्म विशल्यघ्न हैं। तत्रसशल्यो जीवेत् पाकात् पतितशल्यो वा जीवेत् न तूद्धृतशल्यो जीवति। सु. शा. अ. ६ ॥ ३२,३३ ॥

शृङ्गाटक नामक चार मर्म—

जिह्वाऽक्षिनासिकाश्रोत्रखचतुष्टयसङ्गमे।
तालुन्यास्यानि चत्वारि स्रोतसां, तेषु मर्मसु ॥३४॥
विद्धः शृङ्गाटकाख्येषु सद्यस्त्यजति जीवितम्।

व्याख्या—जीभ, नेत्र, नासा तथा श्रोत्र (कर्ण) के चारों छिद्रों के संगम—सन्निपात स्थल रूप तालु में जो उक्त चारों स्रोतों के मुख हैं वे चार "शृंगाटक" नामक मर्म हैं। उन में वेध होने से सद्यः मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणम्। सु. शा. अ. ६। महर्षि भेल के कथनानुसार शिरः तात्वन्तर्गतं मनः—मनस् का क्रिया स्थल यही है ॥३४॥

सीमन्त नामक ५ मर्म—

कपाले सन्धयः पञ्च सीमन्तास्तिर्यगूर्ध्वगाः ॥३५॥
भ्रमोन्मादमनोनाशैस्तेषु विद्धेषु नश्यति।

व्याख्या—शिर में ५ सन्धियाँ जो तिरछी एवं ऊपर की ओर हैं वे ५ "सीमन्त" नामक मर्म हैं। उनका वेध होने पर भ्रम, उन्माद तथा मनोनाश—संज्ञानाश होने से मृत्यु हो जाती है (अन्यथा नहीं) ॥३५॥

अधिपति नामक एक मर्म—

आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं सिरासन्धिसमागमः ॥३६॥
रोमावर्तोऽधिपो नाम मर्म सद्यो हरत्यसून्।

व्याख्या—शिर के भीतर, ऊपर, सिराओं की सन्धियों का संगम—सन्निपात, बहिर्भाग में जहाँ रोमावर्त्त (भँवरी) होता है "अधिप" (अधिपति) नामक मर्म है। उस का वेध होने पर भी सद्यः मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—इसप्रकार जत्रु के ऊपर के ३७ मर्मों का वर्णन कर दिया गया है। अधिकृत्य, अधिकं विशेषेण वा अतिरक्षती त्यधिपतिः अर्थात् आत्मा की कार्यस्थली यही है ॥

मर्म का सामान्य लक्षण—

विषमं स्पन्दनं यत्र पीडिते रुक् च मर्म तत् ॥३७॥

व्याख्या—जहाँ धमनी का स्पन्दन—स्फुरण विषम हो तथा दबाने पर वेदना हो वह "मर्म" होता है॥३७॥

मर्मस्थल की विशेषता—

मांसास्थिस्नायुधमनी-सिरासन्धिसमागमः ।
स्यान्मर्मेति च तेनात्र सुतरां जीवितं स्थितम् ॥३८॥

व्याख्या—जहाँ मांस पेशी, अस्थि, स्नायु, धमनी, सिरा तथा सन्धि का समागम-सन्निपात होता है वह "मर्म" कहलाता है और इस कारण मर्म में जीवित-प्राणों की विशेषतः स्थिति होती है ।

वक्तव्य—मर्माणि नाम मांससिरास्नायु-अस्थिसन्धि-सन्निपाताः तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणाः तिष्ठन्ति, तस्मात् मर्मस्वभिहताः तांस्तान् स्वानापद्यन्ते । सु.शा.अ.६ ।

सामान्य लक्षणं पुनः मर्मणां पीडिते रुजोत्पत्तिः विषमं च स्पन्दनम् । सामान्येनैव च—

देहप्रसुप्तिः गुरुता सम्मोहः शीतकामिता ।
स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥

अपि च—मरणकारित्वात् मर्म । तत्पुनर्मांससिरास्नावास्थिसन्धिसन्निपातः । तेन तस्मिन् पीड्यमाने विशेषतः प्राणाबाधः। अ. सं. शा. अ. ७ ।

विधिभेद से मर्मभेद—

बाहुल्येन तु निर्देशः षोढैवं मर्मकल्पना ।
प्राणायतनसामान्यादैक्यं वा मर्मणां मतम् ॥३९॥

व्याख्या—संख्या के अनुसार मर्म १०७ हैं और मांसगत आदि भेद से मर्म ६ प्रकार के हैं और प्राणाधार के विचार से मर्म १ ही प्रकार के हैं ॥३९॥

विधिभेद से मर्म संख्या—

मांसजानि दशेन्द्राख्यतलहृत्स्तनरोहिताः ।
शङ्खौ कटीकतरुणे नितम्बावंसयोः फले ॥४०॥
अस्थ्न्यष्टौ स्नावमर्माणि त्रयोविंशतिराणयः ।
कूर्चं कूर्चशिरोऽपाङ्गक्षिप्रोत्क्षेपांसबस्तयः ॥४१॥
गुदोऽपस्तम्भविधुरश्रृङ्गाटानि नवादिशेत् ।
मर्माणि धमनीस्थानि सप्तत्रिंशत्सिराश्रयाः ॥४२॥
बृहत्यौ मातृका नीले मन्ये कक्षाधरौ फणौ ।
विटपे हृदयं नाभिः पार्श्वसन्धो स्तनाधरे ॥४३॥
अपालापौ स्थपन्यूर्व्यश्चतस्रो लोहितानि च ।
सन्धौ विंशतिरावर्तौ मणिबन्धौ कुकुन्दरौ ॥४४॥
सीमान्ताः कूर्परौ गुल्फौ कृकाट्यौ जानुनी पतिः ।

व्याख्या—मांस मर्म १० हैं यथा—इन्द्र वस्ति ४, तल हृदय ४ तथा स्तनरोहित २ । २—अस्थिमर्म ८ हैं यथा—शंख २, कटीक तरुण २, नितम्ब २ तथा अंसफलक २ । ३—स्नायुमर्म २३ हैं यथा—आणि ४, कूर्च ४, कूर्च शिर ४, अपाङ्ग २, क्षिप्र ४, उत्क्षेप २, अंस २ तथा वस्ति १ । ४—धमनी मर्म ९ हैं यथा—गुद १, अपस्तम्भ २, विधुर २ तथा श्रृंगाटक ४। ५—सिरामर्म ३७ हैं यथा—बृहती २, मातृका ८, नीला २, मन्या २, कक्षधर २, फणा २, विटप २, हृदय १, नाभि १, पार्श्व सन्धि, २, स्तनमूल २, अपलाप २, स्थपनी १, ऊर्वी ४ तथा लोहिताक्ष ४ । ६—सन्धि मर्म २० हैं यथा—आवर्त २, मणिबन्ध २, कुकुन्दर २, सीमन्त ५ कूर्पर २, गुल्फ २, कृकाटिका २, जानु २ तथा अधिपति १ । इस प्रकार ६ प्रकार के मर्म होते हैं ॥४०-४४॥

मांसमर्म गुदोऽन्येषां, स्नाव्नि कक्षाधरौ तथा ॥४५॥
विटपौ विधुराख्ये च, श्रृङ्गाटानि सिरासु तु ।
अपस्तम्भावपाङ्गौ च, धमनीस्थं न तैः स्मृतम् ॥४६॥

व्याख्या—कुछ आचार्यों का मत है कि—गुद मांस मर्म है धमनी मर्म नहीं है । कक्षधर स्नायु मर्म हैं सिरामर्म नहीं हैं । विटप भी स्नायुमर्म हैं सिरामर्म नहीं हैं, विधुर भी स्नायुमर्म हैं धमनी मर्म नहीं हैं । अपस्तम्भ तथा अभ्यङ्ग शिरामर्म हैं धमनी मर्म तथा स्नायुमर्म नहीं हैं । और उन आचार्यों ने धमनी गत मर्म माने ही नहीं हैं ।

वक्तव्य—देखिए सु. शा. अ. ६ । सुश्रुत में धमनी गत मर्म नहीं माने हैं । और मांस मर्म ११, सिरा मर्म ४१, स्नायु मर्म २७, अस्थि मर्म ८, सन्धि मर्म २० । योग १०७ । प्रतीत होता है यह मतभेद केवल संज्ञाभेद के विचार से ही है वास्तविकता में नहीं । कुछ भी हो हमें तो सभी मतों का उल्लेख कर देना है ॥ ४५,४६ ॥

१. मांस मर्म के वेध का लक्षण—

विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनुः ।
पाण्डुत्वमिन्द्रियाज्ञानं मरणं चाशु मांसजे ॥४७॥

व्याख्या—मांस मर्म का वेध होने पर—रक्त का स्राव निरन्तर होता है और वह रक्त मांस के धोअन कासा होता है और तनु-पतला होता है, शरीर में पीलापन आ जाता है, फिर इन्द्रियों की शक्ति का नाश होते २ अन्त में मृत्यु हो जाती है ॥४७॥

२. अस्थि मर्म के वेध का लक्षण—

मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नःस्रावो रुक् चास्थिमर्मणि ।

व्याख्या—अस्थिमर्म का वेध होने पर—मज्जामिश्रित,

स्वच्छ एवं रुक २ कर स्राव होता है तथा वेदना होती है ।

३. स्नायुमर्म के वेध का लक्षण—

आयामाक्षेपकस्तम्भाः स्नावजेऽभ्यधिकं रुजाः ॥४८॥
यानस्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवाऽन्तकः ।

व्याख्या—स्नायुमर्म का वेध होने पर—आयाम (बाह्यायाम अथवा अन्तरायाम), आक्षेपक, हनुस्तम्भ आदि स्तम्भ, अत्यधिक तीव्र वेदना और सवारी में, खड़ा होने में तथा आसन (बैठने) में असमर्थता, लङ्गड़ापन आदि विकलता अथवा मृत्यु हो जाती है ।

वक्तव्य—पाठक इस पाठ द्वारा स्नायुमण्डल के कर्म का ज्ञान प्राप्त करें ॥४८॥

४. धमनी मर्म के वेध का लक्षण—

रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीस्थे विचेतसः ॥४९॥

व्याख्या—धमनी मर्म का वेध होने पर—मूर्च्छा हो जाती है तथा शब्दयुक्त, फेनयुक्त एवं उष्ण रक्त का स्राव होता है ॥४९॥

५. सिरामर्म के वेध का लक्षण—

सिरामर्मव्यधे सान्द्रमजस्रं बहुसृक्स्रवेत् ।
तत्क्षयात्तृड्भ्रमश्वास-मोहहिध्माभिरन्तकः ॥५०॥

व्याख्या—सिरामर्म का वेध होने पर—गाढ़ा एवं अधिक रक्त निरन्तर निकलता है और रक्त निकल जाने पर तृषा, भ्रम, श्वास, मूर्च्छा तथा हिक्का होकर मृत्यु हो जाती है ॥५०॥

६. सन्धिमर्म के वेध का लक्षण—

वस्तु शूकैरिवाकीर्णं रूढे च कुणिखञ्जता ।
बलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च सन्धिजे ॥५१॥

व्याख्या—सन्धिमर्म का वेध होने पर वस्तु अर्थात् वेधस्थल शूकों (यव के तुषों) से युक्त प्रतीत होता है और वस्तु का रोपण हो जाने पर भी बाहुओं में कुणिता (लुञ्जापन) तथा सक्थियों में खञ्जता (लंगड़ापन) रह जाती है और उन अंगों की शक्ति तथा चेष्टा का क्षय(हानि)होता है और वे अङ्ग सूख जाते हैं परन्तु उनके पर्वों में शोथ रह जाता है ।

वक्तव्य—मर्म विद्ध के लक्षण देखिए सु. सू. श.॥२५॥

१. सद्यो मारक मर्म—

नाभिशङ्खाधिपापानहृच्छृङ्गाटकवस्तयः ।
अष्टौ च मातृकाः सद्यो निघ्नन्त्येकान्नविंशतिः ॥५२॥
सप्ताहः परमस्तेषां कालः कालस्य कर्षणे ।

व्याख्या—नाभि १, शंख २, अधिपति १, गुद १, हृदय १, शृङ्गाटक ४, वस्ति १ तथा मातृका नामक मर्म ८ । ये १९ मर्म वेध होने पर सद्यः मारक होते हैं । मृत्यु होने में अधिक से अधिक एक सप्ताह लग सकता है ॥५२॥

२. कालान्तर मारक मर्म—

त्रयस्त्रिंशदपस्तम्भतलहृत्पार्श्वसन्धयः ॥५३॥
कटीतरुणसीमन्तस्तनमूलेन्द्रबस्तयः ।
क्षिप्रापालापबृहतीनितम्बस्तनरोहिताः ॥५४॥
कालान्तरप्राणहरा मासमासार्धजीविताः ।

व्याख्या—अपस्तम्भ २, तलहृदय ४, पार्श्वसन्धि २, कटीकतरुण २, सीमन्त ५, स्तनमूल २, इन्द्रबस्ति ४, क्षिप्र ४, अपलाप २, बृहती २, नितम्ब २, स्तनरोहित २ । ये ३३ मर्म कालान्तर मारक हैं । इनका वेध होने पर १ मास या आधामास जीवित रह सकता है ॥५३,५४॥

३. विशल्यघ्न मर्म—

उत्क्षेपौ स्थपनी त्रीणि विशल्यघ्नानि, तत्र हि ॥५५॥
वायुर्मांसवसामज्ज-मस्तुलुङ्गानि शोषयन् ।
शल्यापाये विनिर्गच्छन् श्वासात्कासाच्च हन्त्यसून् ॥५६॥

व्याख्या—उत्क्षेप २ तथा स्थपनी १ ये तीन मर्म "विशल्यघ्न" हैं । इन का वेध होने पर वायु—मांस, वसा, मज्जा तथा मस्तुलुङ्ग (शिरोमज्जा) को सुखाता हुआ, शल्य निकालने पर बाहिर निकलता हुआ कास एवं श्वास के द्वारा प्राणों का नाश करता है ।

वक्तव्य—विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो वायुः यावत् अन्तः तिष्ठति तावत् जीवत्युद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुः निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवति, उद्धृतशल्यो म्रियते । पाकात् पतितशल्यो वा जीवति । सु०शा०अ० ६॥५५,५६॥

४, वैकल्यकर मर्म—

फणावपाङ्गौ विधुरे नीले मन्ये कृकाटिके ।
अंसांसफलकावर्तविटपोर्वीकुकुन्दराः ॥५७॥
सजानुलोहिताक्षाणि कक्षाधरकूर्चकूर्पराः ।
वैकल्यमिति चत्वारि चत्वारिंशच्च कुर्वते ॥५८॥
हरन्ति तान्यपि प्राणान् कदाचिदभिघाततः ।

व्याख्या—फणा २, अपाङ्ग २, विधुर २, नीला २, मन्या २, कृकाटिका २, अंस २, अंस फलक २, आवर्त २, विटप, २, ऊर्वी ४, कुकुन्दर २, जानु २, लोहिताक्ष ४, आणि ४, कक्षाधर २, कूर्च ४ तथा कूर्पर २ । ये ४४ मर्म वैकल्यकर होते हैं परन्तु कभी २ भीषण आघात होने से मारक भी हो जाते हैं ॥५७,५८॥

५. रुजाकर मर्म—

अष्टौ कूर्चशिरोगुल्फ-मणिबन्धा रुजाकराः ॥५९॥

व्याख्या—कूर्चशिर ४, गुल्फ २ तथा मणिबन्ध २ ये ८ मर्म रुजाकर (अधिक वेदना कारक) होते हैं ॥५९॥

मर्मों का परिमाण—

तेषां विटपकक्षाधृगुर्व्यः कूर्चशिरांसि च ।
द्वादशाऽङ्गुलमानानि द्व्यङ्गुले मणिबन्धने ॥६०॥
गुल्फौ च स्तनमूले च त्र्यङ्गुलं जानुकूर्परम् ।
अपानबस्तिहृन्नाभिनीलाः सीमान्तमातृकाः ॥६१॥
कूर्चशृङ्गाटमन्याश्च त्रिंशदेकेन वर्जिताः ।
आत्मपाणितलोन्मानाः शेषाण्यर्धाङ्गुलं वदेत् ॥६२॥
पञ्चाशत्षट् च मर्माणि, तिलव्रीहिसमान्यपि ।
इष्टानि समीण्यन्येषाम्

व्याख्या—इनमें विटप, कक्षाधर, ऊर्वी तथा कूर्चशिर नामक १२ मर्मों का परिमाण १-१ अंगुल है। मणि बन्ध, गुल्फ तथा स्तनमूल नामक मर्मों का परिमाण २-२ अंगुल है। जानु तथा कूर्पर नामक मर्मों का परिमाण ३-३ अंगुल है। गुद, वस्ति, हृदय, नाभि, नीला, सीमन्त, मातृका, कूर्च, शृंगाटक, तथा मन्या नामक २९ मर्मों का परिमाण अपने अपने पाणितल (हस्ततल के सामान होता है।

शेष ५६ मर्मों का परिमाण (विस्तार) आधा आधा अंगुल होता है यह सुश्रुत का मत है परन्तु अन्य आचार्यों का मत है कि इनका परिमाण तिल अथवा जौ के समान है।

वक्तव्य—उक्त परिमाण को बचा कर शस्त्र प्रयोग करना चाहिये ॥६०–६२॥

मर्मों की विशेषता—

चतुर्धोक्ताः सिरास्तु याः ॥६३॥
तर्पयन्ति वपुः कृत्स्नं ता मर्माण्याश्रितास्ततः ।
तत्क्षतात्क्षतजात्यर्थ-प्रवृत्तेर्धातुसङ्क्षये ॥६४॥
वृद्धश्चलो रुजस्तीव्राः प्रतनोति समीरयन् ।
तेजस्तदुद्धृतं धत्ते तृष्णाशोषमदभ्रमान् । ६५॥
स्विन्नस्रस्तश्लथतनुं हरत्येनं ततोऽन्तकः ।

व्याख्या—वातयुक्त, पित्तयुक्त, कफयुक्त रक्त को तथा शुद्ध रक्तको बहने वाली जो ४ प्रकार की सिरा कही गई हैं (अ० २ देखिये) वे समस्त शरीर का तर्पण–सिञ्चन करती हैं और वे ही मर्मों–मर्मस्थलों में आश्रित हैं इस लिये उनका क्षत होने पर रक्त की अत्यधिक प्रवृत्ति होती है फलतः धातुओं का क्षय होने पर वायु बढ़ जाता है और वह भीषण वेदनाओं को उत्पन्न करता है और पित्त को भी बढ़ा देता है और बढ़ा हुआ पित्त—तृषा, शोष (मुख शोष), मद, भ्रम, स्वेद, अंगों की चेतना तथा शिथिलता को उत्पन्न करता है तदनन्तर यमराज प्राणों को हर लेता है अर्थात् मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि सिराएँ शरीर भर में है परन्तु मर्म स्थल में गई हुई सिराओं का वेध-क्षत होने पर उक्त प्रकार से मृत्यु हो जाती है। इस दशा में मृत्यु होने के पूर्व निम्न कर्म कर देना चाहिये ॥६४,६५॥

मर्म वेध होने पर प्राणरक्षा का उपाय—

वर्धयेत्सन्धितो गात्रं मर्मण्यभिहते द्रुतम् । ६६।
छेदनात्सन्धिदेशस्य सङ्कुचन्ति सिरा यतः ।
जीवितं प्राणिनां तत्र रक्ते तिष्ठति तिष्ठति ॥६७॥

व्याख्या—मर्म पर अभिघात होते ही—तत्काल मर्म से ऊपर जो सन्धि हो वहाँ से काट देना चाहिये (शाखा मर्मों में ही यह सम्भव है) सन्धि स्थल को काट देने से, उचित उपचार द्वारा सिरा का संकोच हो जाता है और रक्त की प्रवृत्ति नहीं होती और रक्त रुक जाने पर प्राणियों का जीवित भी बच जाता है–प्राणरक्षा हो जाती है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि मर्म पर आघात हो जाय तो मर्म से ऊपर जहाँ कोई मर्म न हो वहाँ से काट देना चाहिये ऐसा करने से प्राण बच जाते हैं। उदाहरणार्थ—इन्द्रवस्ति का वेध होने पर कुछ ऊपर से काट देवे परन्तु वहाँ से काटे जहाँ कोई मर्म न हो ॥६६,६७॥

मर्म पर क्षार कर्म आदि का निषेध—

सुविक्षतोऽप्यतो जीवेदमर्मणि न मर्मणि ।
प्राणघातिनि जीवेत्तु कश्चिद्वैद्यगुणेन चेत् ॥६८॥
असमग्राभिघाताच्च सोऽपि वैकल्यमश्नुते ।
तस्मात्क्षारविषाग्न्यादीन् यत्नान्मर्मसु वर्जयेत् । ६९॥

व्याख्या—जहाँ मर्म नहीं है वहाँ अत्यधिक आघात हो जाने पर भी प्राणरक्षा हो जाती है परन्तु प्राणघाती–सद्यः मारक तथा कालान्तर मारक मर्म पर आघात होने से मृत्यु हो जाती है। परन्तु वैद्य की तत्परता–चिकित्सा कुशलता से अथवा समस्त मर्म पर आघात न होने से यदि कोई प्राणी मृत्यु से बच जाता है तो भी वह विकल अवश्य हो जाता है–लंगड़ा या लूला आदि हो जाता है। इसलिये—चिकित्सा में क्षार कर्म, विषकर्म, अग्निकर्म तथा अन्यान्य सिरा वेध आदि शस्त्र कर्म आदि करते समय मर्मों को अवश्य बचा लेना चाहिये।

वक्तव्य—मर्म स्थल पर क्षार कर्म आदि न करे ।६८,६९॥

मर्म पर आघात का कुफल—

मर्माभिघातः स्वल्पोऽपि प्रायशो बाधतेतराम् ।
रोगा मर्माश्रयास्तद्वत्प्रक्रान्ता यत्नतोऽपि च ॥७०॥

व्याख्या—प्रायः मर्मस्थल पर थोड़ा सा आघात भी अत्यधिक बाधा उत्पन्न करता है और मर्मस्थल में आश्रित–उत्पन्न रोग भी अत्यधिक बाधा उत्पन्न करते हैं भले ही उनकी चिकित्सा यत्नपूर्वक की जाय ।

वक्तव्य—शेष देखिये सु०शा०अ० ६ । यद्यपि समस्त शरीर मर्मों से व्याप्त है तथापि ईश्वर रक्षा करता है और प्राणी जीवन पर अनेक आघातों को सहन करता है क्योंकि मर्मों का आकार बहुत छोटा होता है ॥७०॥

इत्यष्टांगहृदये शारीरस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

——

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो विकृतिविज्ञानीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब विकृतिविज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. इन्द्रिय स्थान के १२ अध्यायों में, सु०सू०अ० २८, ३०, ३१, ३२ तथा ३३ में और अ०सं०शा०अ० ९, १० तथा ११ में देखिये । विकृति शब्द से यहाँ रिष्ट अर्थात् मृत्युसूचक लक्षण समझना चाहिये ।

रिष्ट का लक्षण—

पुष्पं फलस्य धूमोऽग्नेर्वर्षस्य जलदोदयः ।
यथा भविष्यतो लिङ्गं रिष्टं मृत्योस्तथा ध्रुवम् ॥१॥

व्याख्या—जैसे भविष्य (निकट भविष्य) में होने वाले फल का पुष्प, अग्नि ज्वाला का धूम तथा वृष्टि का मेघ लक्षण (सूचक) होता है वैसे ही भविष्य में होने वाली मृत्यु का लक्षण "रिष्ट" या अरिष्ट कहा जाता है ।

वक्तव्य—किसी किसी प्रति में निम्नलिखित ३ श्लोक अधिक पाए जाते हैं यथा—

आयुष्मति क्रियाः सर्वाः सफलाः सम्प्रयोजिताः ।
भवन्ति भिषजां भूत्यै कृतज्ञ इव भूभुजि ॥१॥
क्षीणायुषि कृतं कर्म व्यर्थं कृतमिवाऽधमे ।
अयशो देहसन्देहं स्वार्थहानिं च यच्छति ॥२॥
तदिदानीं गतासूनां लक्षणं सम्प्रचक्षते ।
विकृतिः प्रकृतेः प्राज्ञैः प्रदिष्टा रिष्टसंज्ञया ॥३॥

अर्थात् आयुष्मान् मानव में की गई सब क्रियाएँ सफल होती हैं जिससे चिकित्सक को ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है जैसे कृतज्ञ राजा के लिये किये गये कर्म ॥१॥

और क्षीणायु मानव में किया गया कर्म (चिकित्सा) व्यर्थ होता है जैसे नीच के लिये किया गया कर्म (उपकार) अपयश, देह-सन्देह तथा स्वार्थहानि को देता है ।२॥

इसलिये अब गतासुओं (मरने वालों) के लक्षण लिखे जाते हैं । सामान्यतः प्रकृति (स्वभाव) की विकृति "रिष्ट" कही जाती है ॥३॥

चरक में रिष्ट शब्द को "अरिष्ट" लिखा है, यथा—

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः ।
तथा लिङ्गं अरिष्टाख्यं पूर्वरूपं भविष्यतः । च. इ. स्था. अ० १ । और नियतमरणख्यापकं लिंगमरिष्टम् (मधुकोश व्याख्या) । मृत्यु का निश्चित लक्षण "अरिष्ट" कहलाता है । अरिष्टमशुभे तक्रे सूतिकागारे आसवे । शुभे मरणचिह्ने च—इति मेदिनी कोशः । इस अध्याय में रिष्ट शब्द का ही प्रयोग किया गया है ॥१॥

रिष्ट का प्रभाव—

अरिष्टं नास्ति मरणं दृष्टरिष्टं च जीवितम् ।
अरिष्टे रिष्टविज्ञानं न च रिष्टेऽप्यनैपुणात् ॥२॥

व्याख्या—रिष्ट लक्षण के विना मरण (मृत्यु) नहीं होता मृत्यु के पूर्व रिष्ट लक्षण अवश्य होता है । और रिष्ट लक्षण हो जाने पर मृत्यु अवश्य हो जाती है ।

परन्तु कभी कभी भूल से जो रिष्ट लक्षण नहीं होता उसे रिष्ट लक्षण मान लिया जाता है और कभी कभी रिष्ट लक्षण भी रिष्ट नहीं माना जाता । ऐसा विचारक की भूल या अनिपुणता से होता है ॥२॥

रिष्ट के दो भेद—

केचित्तु तद्द्विधेत्याहुः स्थाय्यस्थायिविभेदतः ।
दोषाणामपि बाहुल्याद्रिष्टाभासः समुद्भवेत् ॥३॥
स दोषाणां शमे शाम्येत्स्थाय्यवश्यं तु मृत्यवे ।

व्याख्या—कुछ आचार्य दो प्रकार का "रिष्ट" मानते हैं—१—स्थायी और २—अस्थायी । अस्थायी रिष्ट का लक्षण—दोषों की अधिकता के कारण जो रिष्टजैसा लक्षण उत्पन्न हो जाता है और वह दोषों की शान्ति होने पर शान्त भी हो जाता है । स्थायी रिष्ट का लक्षण – जो रिष्ट लक्षण मृत्यु के लिये (मृत्यु के पूर्व) अवश्य होता है उससे मृत्यु अवश्य हो जाती है ।

वक्तव्य—मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता ।
अरिष्टं चाप्यसंबुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम् ।

च०इं०अ० २ । इस प्रज्ञापराध से कभी कभी जो लक्षण रिष्ट नहीं भी होता उसे रिष्ट मान लिया जाता है वस्तुतः वह रिष्ट नहीं होता । फलतः उससे मृत्यु भी नहीं होती । और एक विचार यह भी है कि—द्विविधं हि रिष्टम्—नियतं च अनियतं च । तत्र नियतं मृतमेव तम् आत्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः (च०इं०अ० ७ इत्यादि । अनियतं—अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते (च०इं०अ० ५) । च. चक्रपाणि टीका । इस अनियत रिष्ट के लिये—सु. सू. अ. २८ में कहा है—

ध्रुवं त्वरिष्टे मरणं (परन्तु) ब्राह्मणैः तत् किलामलैः ।
रसायनतपोजप्यतत्परैः वा निवार्यते ।

नियत—स्थायी और अनियत—अस्थायी कहलाता है । वा इति विकल्पे—अर्थात् कभी २ तपस्वी ब्राह्मणों के आशीर्वाद आदि से जीवन रक्षा हो जाती है ॥३॥

रिष्ट का सामान्य लक्षण—

रूपेन्द्रियस्वरच्छाया–प्रतिच्छायाक्रियादिषु ॥४॥
अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः ।
विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत् ॥५॥

व्याख्या—रूप-गौर श्याम आदि वर्ण तथा ओठ आदि के आकार, श्रोत्र चक्षु आदि इन्द्रिय, स्वर, छाया प्रतिच्छाया—प्रतिबिम्ब, तथा क्रिया (शारीरिक वाचिक एवं मानसिक कर्म) तथा अन्यान्य प्राकृतिक (स्वाभाविक) भावों में किसी कारण के विना ही जो विकृति उत्पन्न हो वह सामान्य रूप से "रिष्ट" है ।

वक्तव्य—इसी सामान्यरिष्ट का आगे विशेष रूप से वर्णन देखिये—॥४,५॥

केशविषयक रिष्ट—

केशरोम निरभ्यङ्गं यस्याभ्यक्तमिवेक्ष्यते ।

व्याख्या—अभ्यङ्ग किये विना ही जिसके केश एवं रोम ऐसे प्रतीत हों, जैसे तैल का अभ्यङ्ग किया हो ।

नेत्र विषयक रिष्ट—

यस्यात्यर्थं चले नेत्रे स्तब्धान्तर्गतनिर्गते ॥६॥
जिह्मे विस्तृतसङ्क्षिप्ते सङ्क्षिप्तविनतभ्रुणी ।
उद्भ्रान्तदर्शने हीनदर्शने नकुलोपमे ॥७॥
कपोताभे अलाताभे स्रुते लुलितपक्ष्मणी ।

व्याख्या—नेत्र अत्यन्त चञ्चल अथवा स्तब्ध हो जायँ, अत्यन्त अन्तर्गत हो जायँ (धँस जायँ) अथवा निर्गत हो जायँ (बाहिर निकल जायँ) टेढ़े हो जायँ, बड़े हो जायँ, छोटे हो जायँ । और भौं छोटी तथा अवनत हो जायँ (झुक जायँ) । दृष्टि घट जाय अथवा नष्ट हो जाय, घूम जाय । नेत्र का वर्णन नेवले के नेत्र का सा हो जाय, दृष्टि कबूतर की तरह हो जाय, अलात-उल्का या अग्नि कण की सी चमकीली हो जायँ और स्रावयुक्त तथा पक्ष्म (नेत्र के बाल) लुलित विलुलित जटा बद्ध हो जायँ ।

वक्तव्य—विशेष देखिये च. इ. अ. ११२॥६,७॥

नासादि ओठ, दन्त एवं जीभ के रिष्ट—

नासिकाऽत्यर्थविवृता संवृता पिटिकाचिता ॥८॥
उच्छूना स्फुटिता म्लाना यस्यौष्ठो यात्यधोऽधरः ।
ऊर्ध्वं द्वितीयः, स्यातां वा पक्वजम्बूनिभावुभौ ॥९॥
दन्ताः सशर्कराः श्यावास्ताम्राः पुष्पितपङ्किताः ।
सहसैव पतेयुर्वा जिह्वा जिह्मा विसर्पिणी ॥१०॥
शूना शुष्का गुरुः श्यावा लिप्ता सुप्ता सकण्टका ।

व्याख्या—नासा अत्यन्त खुली हो जाय अथवा अवरुद्ध हो जाय-रुक जाय, उसमें अनेक फुन्सियाँ निकल आवें, ऊपर से सूज जाय, फट जाय अथवा म्लान क्षीण हो जाय । निचला ओठ नीचे की ओर लटक जाय, ऊपर का ओठ ऊपर को उठ जाय, अथवा दोनों ओठ पकी जामुन के से नीले हो जायँ । दन्त शर्करायुक्त हो जायँ । नीले अथवा लाल हो जायँ, उन पर पुष्पों का आकार बन जाय अथवा पंक मल उत्पन्न हो जाय अथवा वे एका एक उखड़ जायँ । जीभ टेढ़ी हो जाय सर्पणशील हो जाय सर्वदा घूमती रहे, श्वेत हो जाय, सूख जाय, भारी हो जाय, काली हो जाय, चिपचिपा हो जाय । सो जाय शून्य हो जाय रस का अनुभव न करे अथवा कण्टकों से युक्त हो जाय खरदरी हो जाय ॥८-१०॥

ग्रीवा, पीठ एवं हनुका रिष्ट—

शिरः शिरोधरा वोढुं पृष्ठं वा भारमात्मनः ॥११॥
हनू वा पिण्डमास्यस्थं शक्नुवन्ति न यस्य च ।

व्याख्या—जिसकी ग्रीवा शिर का भार वहन न करे, पीठ शरीर का भार वहन न करे—बैठ न सके अथवा हनु मुख में धरे हुए पिण्ड ग्रास धारण न करे (ग्रास बाहिर गिर जाय) ॥११॥

अन्यान्य अङ्गों का रिष्ट—

यस्यानिमित्तमङ्गानि गुरूण्यतिलघूनि वा ॥१२॥
विषदोषाद्विना यस्य खेभ्यो रक्तं प्रवर्तते ।
उत्सिक्तं स्नेहनं यस्य वृषणावतिनिःसृतौ ॥१३॥
अतोऽन्यथा वा यस्य स्यात् सर्वे ते कालचो (नो) दिताः ।

व्याख्या—जिसके हाथ पाँव आदि अङ्ग किसी कारण के विना ही अत्यन्त भारी हो जायँ अथवा अत्यन्त लघु

हल्के हो जायँ। विष दोष के विना जिसके मुख नासा आदि सब छिद्रों से एक साथ रक्त बहने लगे।

जिसका लिंग उठा हुआ रहे, परन्तु वृषण कंश अत्यन्त ढीले बने रहें (स्वस्थ का जब लिंग उत्थित होता है तब वृषण सट जाते हैं) अथवा इससे विपरीत हो जायँ अर्थात् लिंग शिथिल रहे परन्तु वृषण सट जायँ। जब लिंग शिथिल रहता है तब वृषण भी लटके रहते हैं। उक्त प्रकार के सब काल के वश होते हैं।

वक्तव्य—उल्लिखित सब रिष्ट लक्षण—एक वर्ष के भीतर होने वाली मृत्यु के सूचक हैं ॥१२,१३॥

६ मास में मृत्यु सूचक रिष्ट—

यस्यापूर्वाः शिरालेखा बालेन्द्वाकृतयोऽपि वा ॥१४॥
ललाटे वस्तिशीर्षे वा षण्मासान्न स जीवति।
पद्मिनीपत्रवत्तोयं शरीरे यस्य देहिनः ॥१५॥
प्लवते प्लवमानस्य षण्मासास्तस्य जीवितम्;

व्याख्या—जिसके ललाट पर अथवा वस्तिशीर्ष पर सिराओं की सी रेखा अथवा द्वितीया के चन्द्र की सी टेढ़ी रेखा नवीन उत्पन्न हो जाती हैं वह ६ मास के पश्चात् जीवित नहीं रहता (६ मास के भीतर मृत्यु हो जाती है) और जिसके शरीर पर गिरा हुआ जल-कमलपत्र पर गिरे जल के समान इधर-उधर बिखर जाय भलेही वह जल में तैर रहा हो। वह व्यक्ति ६ मास भर जीवित नहीं रहता ॥१४,१५॥

पित्तज रोगों के रिष्ट—

हरिताभाः सिरा यस्य रोमकूपाश्च संवृताः ॥१६॥
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते।

व्याख्या—जिसके शरीर पर हरे वर्ण की सिरा दिखाई दे तथा रोम कूप अवरुद्ध हो जायँ वह यदि अम्ल पदार्थ खाने का अभिलाषी हो तो वह पित्त की वृद्धि से पित्त जनित रोगों से मृत्यु को प्राप्त करता है ॥१६॥

एक मास में मृत्युके रिष्ट—

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्ध्नि मुखेऽपि वा ॥१७॥
सस्नेहं, मूर्ध्नि धूमो वा, मासान्तं तस्य जीवितम् ॥

व्याख्या—जिसके शिर में अथवा मुख पर गोबर के स्नेह युक्त चूर्ण का सा चूर्ण उत्पन्न हो कर गिरता रहे अथवा शिरमें धूआँ सा प्रतीत हो उसका जीवन एक मास रहता है।

वक्तव्य—शिर में रूसी अथवा कर रूक्ष ही रहती है और झड़ती है अतः वह रिष्ट नहीं होती। स्नेहयुक्त रूसी रिष्ट होती है ॥१७॥

एवं तीन दिन में मृत्यु के रिष्ट—

मूर्ध्नि भ्रुवोर्वा कुर्वन्ति सीमन्तावर्तका नवाः ॥१८॥
मृत्युं स्वस्थस्य षड्रात्रात्त्रिरात्रादातुरस्य तु

व्याख्या—जिसके शिर पर (केशों में) अथवा भ्रुवों में सीमन्त रूप नवीन आवर्त्तक मण्डल पड़ जाय वह यदि स्वस्थ है तो ६ दिन में और यदि रोगी है तो ३ दिन में मर जाता है ॥१८॥

अन्य रिष्ट लक्षण—

जिह्वा श्यावा मुखं पूति सव्यमक्षि निमज्जति ॥१९॥
खगा वा मूर्ध्नि लीयन्ते यस्य तं परिवर्जयेत्।

व्याख्या—जिसकी जीभ काली हो जाय, मुख दुर्गन्ध युक्त हो जाय, बाईं आँख धँस जाय तथा शिर पर पक्षी बैठ जायँ उसकी चिकित्सा न करे। वह मर जाता है ॥१९॥

१५ दिन में मृत्यु—

यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम् ॥२०॥
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति।

व्याख्या—स्नान एवं लेपन के अनन्तर जिसके सब अंग गीले रहने पर सबसे पहिले उरःस्थल सूखता है वह आधा मास नहीं जीता अर्थात् १५ दिन के भीतर मर जाता है ॥२०॥

वर्ण विषयक रिष्ट—

अकस्माद्युगपद्गात्रे वर्णौ प्राकृतवैकृतौ ॥२१॥
तथैवोपचयग्लानिरौक्ष्यस्नेहादि मृत्यवे।

व्याख्या—जिसके शरीर पर किसी कारण के विना ही एकाएक प्राकृत गौर आदि स्वाभाविक तथा नील आदि वैकृत वर्ण तथा उपचय एवं अपचय, ग्लानि एवं हर्ष, रूक्षता एवं स्निग्धता आदि उत्पन्न हो जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—तत्र प्रकृतिवर्णमर्धशरीरे विकृतिवर्णमर्ध-शरीरे, द्वौ अपि वर्णौ मर्यादाविभक्तौ दृष्ट्वा, यदि एवं सव्य-दक्षिणविभागेन यदि एवं पूर्वपश्चिमविभागेन यदि उत्तराधरविभागेन यदि अन्तर्बहिर्विभागेन, तदा आतुरस्य अरिष्टमिति विद्यात्। एवमेव वर्णभेदो मुखेऽपि अन्यत्रवर्त्त-मानो मरणाय भवति च. इं. अ. १ ॥२१॥

एक वर्ष में मृत्यु—

यस्य स्फुटेयुरंगुल्यो नाऽकृष्टा न स जीवति ॥२२॥
त्वक्कासादिषु तथा यस्यापूर्वो ध्वनिर्भवेत्।
ह्रस्वो दीर्घोऽति वोच्छ्वासः पूतिः सुरभिरेव वा ॥२३॥
आसु तानासु ते काये यस्य गन्धोऽतिमानुषः।
मलवस्त्रव्रणादौ वा वर्षान्तं तस्य जीवितम् ॥२४॥

व्याख्या—जिसकी अंगुलियाँ खींचने पर शब्द न करें वह नहीं जीता। जिसके क्षव (छींक) तथा कास आदि की ध्वनि पहिले कीसी (स्वाभाविक) न रहे वह भी नहीं जीता। जिसका श्वास छोटा हो जाय अथवा लम्बा हो जाय अथवा वेग से होने लगे अथवा दुर्गन्ध युक्त हो जाय अथवा सुगन्धित हो जाय वह नहीं जीता। स्नान करने अथवा न करने पर जिसके शरीर से अतिमानुष (अस्वाभाविक) गन्ध आने लगे तथा मल, वस्त्र एवं व्रण में अतिमानुष गन्ध आने लगे उसका जीवन एक वर्ष पर्यन्त रहता है ॥२२–२४॥

एक वर्ष में मृत्यु—

भजन्तेऽत्यङ्गसौरस्याद् यं यूकामक्षिकादयः।
त्यजन्ति वाऽतिवैरस्यात्सोऽपि वर्षं न जीवति ॥२५॥

व्याख्या—जिसके शरीर पर अत्यन्त सुरस हो जाने के कारण यूका (जूएँ) तथा मक्षिका अधिक उत्पन्न हों तथा बैठें अथवा विरस हो जाने के कारण अलग हो जायँ वह भी एक वर्ष नहीं जीता ॥२५॥

अन्यान्य रिष्ट—

सततोष्मसु गात्रेषु शैत्यं यस्योपलभ्यते।
शीतेषु भृशमौष्ण्यं वा स्वेदः स्तम्भोऽप्यहेतुकः ॥२६॥
यो जातशीतपिटिकः शीताङ्गो वा विदह्यते।
उष्णद्वेषी च शीतार्तः स प्रेताधिपगोचरः ॥२७॥

व्याख्या—जिस के निरन्तर उष्ण रहने वाले अवयवों में शीतता आ जाय अथवा शीत रहनेवाले अवयवों में उष्णता आ जाय अथवा किसी कारण के बिना स्वेद हो अथवा स्तब्धता हो वह भी जीवित नहीं रहता। शीत पिटिका उत्पन्न हों अथवा शरीर शीतल हो परन्तु विशेष रूप से दाह हो रहा हो अथवा शीतसे पीडित होने पर भी उष्ण आहार विहार एवं औषध से द्वेष हो तब भी मृत्यु हो जाती है ॥२६,२७॥

अन्यान्य रिष्ट—

उरस्यूष्मा भवेद्यस्य जठरे चातिशीतता।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥२८॥

व्याख्या - जिसके उरःस्थल में उष्मता हो, उदर में अत्यन्त शीतता हो, मलभेद तथा तृषा हो वह भी प्रेत के समान होता है ॥२८॥

मूत्रादिविषयक रिष्ट—

मूत्रं पुरीषं निष्ठ्यूतं शुक्रं वाऽप्सु निमज्जति।
निष्ठ्यूतं बहुवर्णं वा यस्य मासात्स नश्यति ॥२९॥

व्याख्या—जिसका मूत्र, पुरीष, थूक अथवा शुक्र जल में डूब जाता हो अथवा थूक अनेक वर्ण का हो वह एक मास के पश्चात् जीवित नहीं रहता ॥२९॥

दर्शन विषयक रिष्ट—

घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव यो घनम्।
अमूर्तमिव मूर्तं च मूर्तं चामूर्तवत्स्थितम् ॥३०॥
तेजस्व्यतेजस्तद्वच्च शुक्लं कृष्णमसच्च सत्।
अनेत्ररोगश्चन्द्रं च बहुरूपमलाञ्छनम् ॥३१॥
जाग्रद्रक्षांसि गन्धर्वान् प्रेतानन्यांश्च तद्विधान्।
रूपं व्याकृति तद्वच्च यः पश्यति स नश्यति ॥३२॥

व्याख्या—जो आकाश को मेघ जैसा अथवा मेघ को आकाश जैसा देखता है, जो मूर्तिमान् पदार्थों को मूर्तिरहित तथा मूर्तिरहित पदार्थों को मूर्तिमान् समझता है इसी प्रकार तेजस्वी पदार्थ को तेजरहित, तेजरहित को तेजोयुक्त, शुक्ल को कृष्ण तथा कृष्ण को शुक्ल, सत् (विद्यमान) पदार्थ को असत् तथा असत् को सत् मानता है, किंवा नेत्र रोग के बिना चन्द्रमा को अनेक रूपों-वर्णों तथा आकारों वाला तथा लाञ्छन रहित मानता है, जागता हुआ भी राक्षसों, गन्धर्वों, प्रेतों (मृतों) अथवा इसी प्रकार के अन्यान्य पिशाचों आदि को देखता है इसी प्रकार अन्यान्य विकृत रूप वालों को देखता है वह नष्ट हो जाता है—मर जाता है।

वक्तव्य—कभी २ सन्निपात में ऐसी दशा देखी जाती है। रोगी कहा करता है दीपक जल रहा है भले ही वहाँ दीपक नहीं होता, दीपक रहने पर भी कहता है दीपक कहाँ गया आदि आदि ॥३०–३२॥

एक वर्ष के भीतर मृत्यु—

सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम्।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा स न पश्यति तां समाम् ॥३३॥

व्याख्या—जो सप्तर्षि नक्षत्रोंके समीप में स्थित अरुन्धती नामक तारा को नहीं देखता, ध्रुव नामक तारा अथवा आकाश गंगा को नहीं देखता वह उस वर्ष को नहीं देखता—वर्ष के भीतर ही मर जाता है ॥३३॥

श्रोत्र आदि इन्द्रिय विषयक रिष्ट—

मेघतोयौघनिर्घोषवीणापणववेणुजान्।
शृणोत्यन्यांश्च यः शब्दानसतो न सतोऽपि वा ॥३४॥
निष्पीड्य कर्णौ शृणुयान्न यो धुकधुकास्वनम्।
तद्वद्गन्धरसस्पर्शान् मन्यते यो विपर्ययात् ॥३५॥
सर्वशो वा न यो, यश्च दीपगन्धं न जिघ्रति।
विधिना यस्य दोषाय स्वास्थ्यायाविधिना रसाः ॥३६॥
यः पांसुनेव कीर्णाङ्गो योऽङ्गैः घातं न वेत्ति वा।

अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् ॥३७॥
जानात्यतीन्द्रियं यश्च तेषां मरणमादिशेत्।

व्याख्या—जो मेघ के, नदी प्रवाह के, कोलाहल के, वीणा के, ढोल के तथा वेणु (वंशी) के शब्दों को न होने पर भी सुनता है अथवा होने पर भी नहीं सुनता, जो कानों को अंगुली आदि से अवरुद्ध करके धुक धुक शब्द को नहीं सुनता, इस प्रकार गन्धों, मधुर आदि रसों तथा उष्ण मृदु आदि स्पर्शों को विपरीत मानता है अथवा उनका सर्वथा ग्रहण ही नहीं करता। जो तैल के दीपक की गन्ध को जो बुझते समय आती है नहीं सूंघता—उसकी गन्ध का अनुभव नहीं करता। जिसके लिये—मधुर आदि रस विधिपूर्वक सेवन करने पर दोष कारक होते हैं अथवा जिसके लिये विधिरहित सेवन करने पर स्वास्थ्य कारक होते हैं। जो शरीर को धूली-भस्म से अवकीर्ण मानता है—उसे झाड़ने का प्रयत्न करता रहता है। जो शरीर पर किये गये आघात—चोट का अनुभव नहीं करता। जो उग्र तप किये बिना अथवा विधिपूर्वक योगाभ्यास किये बिना अतीन्द्रिय विषयों को जानने लगता है। उन सबका मरण—मृत्यु समझ लेवे ॥३४-३७॥

स्वर विषयक रिष्ट—

हीनो दीनः स्वरोऽव्यक्तो यस्य स्याद्गद्गदोऽपि वा ॥३८॥
सहसा यो विमुह्येद्वा विवक्षुर्न स जीवति।

व्याख्या—जिसका स्वर सहसा किसी कारण के विना हीन-क्षीण अथवा दीन, अथवा अव्यक्त-लुप्त अथवा गद्गद हो जाय और जो बोलने की इच्छा करते ही मूर्च्छित हो जाय वह जीवित नहीं रहता।

वक्तव्य—ऐसे लक्षण सन्निपात ज्वरों में यदि होते हैं तो उचित चिकित्सा से कभी२ शान्त भी हो जाते हैं ॥३८॥

स्वर आदि विषयक रिष्ट—

स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिं च बलवर्णयोः ॥३९॥
रोगवृद्धिमयुक्त्या च दृष्ट्वा मरणमादिशेत्।

व्याख्या—किसी कारण के बिना ही स्वर की दुर्बलता क, बल एवं वर्ण की हानि (क्षय) को और रोग की वृद्धि को देख कर समझ लेवे कि मरण हो जायगा ॥३९॥

अन्यान्य रिष्ट—

अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः ॥४०॥
श्रोतारं चास्य शब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत्।

व्याख्या—जो अस्वाभाविक स्वर से अपना मरण कह रहा हो अथवा अपने मरण का शब्द सुन रहा हो उसकी चिकित्सा न करे वह मर जाता है ॥४०॥

छाया विषयक रिष्ट—

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभयाऽपि वा ॥४१॥
छाया विवर्तते यस्य स्वप्नेऽपि प्रेत एव सः।

व्याख्या—जिसकी छाया संस्थान (आकार) से प्रमाण (परिमाण) से, वर्ण (गौर कृष्णादि) से अथवा प्रभा (कान्ति) से परिवर्त्तित हो जाती है वह स्वप्न में भी अवश्य ही प्रेत मृत होता है ॥४१॥

प्रतिच्छाया एवं छाया का वर्णन

आतपाऽऽदर्शतोयादौ या संस्थानप्रमाणतः ॥४२॥
छायाऽङ्गात्सम्भवत्युक्ता प्रतिच्छायेति सा पुनः।
वर्णप्रभाश्रया या तु सा छायैव शरीरगा ॥४३॥

व्याख्या धूप में, आदर्श-दर्पण में अथच जल आदि में जो आकार एवं प्रमाण के अनुसार छाया पड़ती है उसका नाम "प्रतिच्छाया" (प्रतिबिम्ब) है। और जो वर्ण एवं प्रभा (कान्ति) के रूप में शरीर गामिनी ही हो जाती है शरीर से ही सम्बद्ध रहती है वह "छाया" कहलाती है।

वक्तव्य—गौरादि वर्ण का नाम वर्ण है और कान्ति का नाम 'प्रभा" है ॥४२,४३॥

प्रतिच्छाया विषयक रिष्ट—

भवेद्यस्य प्रतिच्छाया च्छिन्ना भिन्नाऽधिकाऽऽकुला।
विशिरा द्विशिरा जिह्मा विकृता यदि वाऽन्यथा ॥४४॥
तं समाप्तायुषं विद्यान्न चेल्लक्ष्यनिमित्तजा।
प्रतिच्छायामयी यस्य न चाक्ष्णीक्ष्येत कन्यका ॥४५॥

व्याख्या—जिसकी प्रतिच्छाया छिन्न (कटी हुई), भिन्न (फटी हुई), प्रमाण से अधिक, आकुल-व्याकुल चञ्चल, शिर रहित, दो शिर वाली, टेढ़ी-मेढ़ी, विकृत अथवा अन्य आकार प्रकार एवं वर्ण की हो उसको गतायुः समझना चाहिये परन्तु ऐसी विकृति लक्ष्य के कारण न हो जिसको दृष्टि में दूसरे को अपनी प्रतिच्छाया न दीखे वह भी गतायुः होता है।

वक्तव्य—लक्ष्य अर्थात् आतप, आदर्श, एवं जल, चांदनी तथा दीपक का प्रकाश आदि। इनके कारण कभी २ उक्त प्रकार की प्रतिच्छाया; दिखाई पड़ती हैं परन्तु वे मृत्यु सूचक नहीं होतीं। यदि वैद्य को अपनी प्रतिच्छाया रोगी को अथवा स्वस्थ की दृष्टि (दृष्टि मण्डल) में दिखाई न दे तो समझना चाहिये कि उनकी मृत्यु हो जायगी। कन्यका—अर्थात् पुतली। दृष्टि मण्डल में देखनेवाले व्यक्ति की मूर्ति दिखलाई पड़ती है वही कन्यका कहलाती है ॥४४,४५॥

भौतिकी छाया का वर्णन—

खादीना पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।

नाभसी निर्मलाऽऽनीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥४६॥
वाताद्रजोऽरुणा श्यावा भस्मरूक्षा हतप्रभा ।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥४७॥
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा तोयजा सुखा ।
स्थिरा स्निग्धा घना शुद्धा श्यामा श्वेता च पार्थिवी ४८
वायवी रोगमरण-क्लेशग्दाऽन्याः सुखोदयाः ।

व्याख्या—मानव शरीर गत आकाश आदि पञ्च महाभूतों की भिन्न भिन्न लक्षणों वाली ५ छाया होती है। यथा १—आकाश नामक महाभूत की छाया निर्मल स्वच्छ, निर्मल स्वच्छ या आकाश के सदृश नीली- स्नेह युक्त एवं कान्ति युक्त होती है। वायु नामक महाभूत की छाया धूलि युक्त सी—धूमिल सी, कालिमा युक्त लाल, मलिन, भस्म के समान रूक्ष तथा कान्तिहीन होती है। अग्नि नामक महाभूत की छाया विशुद्ध निर्मल लाल, कान्ति युक्त तथा देखने में सुन्दर होती है। जल नामक महाभूत की छाया विशुद्ध वैदूर्य मणि के सदृश निर्मल, स्निग्ध तथा देखने में सुखदायक सुन्दर होती है। पृथ्वी नामक महाभूत की छाया स्थिर धूप आदि में न बदलने वाली, स्निग्ध, घन निर्मल श्यामल, तथा श्वेताभ होती है। इनमें वायु की छाया रोग, मृत्यु, तथा क्लेश का हेतु है और अन्य चार छाया सुख का हेतु हैं।

वक्तव्य—वायु की छाया वाले रोगी, अल्पायु तथा जीवन भर दुःखी रहने वाले होते है और आकाश आदि की छाया वाले स्वस्थ दीर्घायु तथा सुखी रहते हैं। प्राणी के शरीर में जिस भूत की प्रधानता होती है उसी की छाया शरीर में व्यक्त होती हैं ॥४६-४८॥

प्रभा का वर्णन—

प्रभोक्ता तैजसी सर्वा, सा तु सप्तविधाः स्मृता ॥४९॥
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ।
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विमलाश्च याः५०
ताः शुभा, मलिना रूक्षाः सङ्क्षिप्ताश्चाऽशुभोदयाः ।

व्याख्या—निम्नलिखित सब प्रभा तैजसी—अग्निप्रधान होती है—अग्नि तत्त्व से ही प्रभा की उत्पत्ति होती है।

तथापि प्रभा सात प्रकार की मानी जाती है—१—रक्ता-लाल (लाल वर्ण की जातियों के नरनारी देखिये), २—पीता-पीली (चीन के निवासियों को देखिये), ३—सिता-श्वेत स्विट्जरलैन्ड आदि के निवासियों को देखिये) ४—श्यामा, ५—हरिता, ६—पाण्डुर तथा ७—असिता (अफ्रिकानिवासियों को देखिये)।

इन सब प्रभाओं में जो प्रभा जितनी ही अधिक विकास—प्रकाश वाली, स्निग्ध तथा निर्मल होती है वे शुभ होती हैं (अर्थात् उस प्रभावाले भाग्यवान् होते हैं) और जितनी ही अधिक मलिन, रूक्ष तथा संक्षेप युक्त—प्रकाश रहित होती हैं उतनी ही अशुभ होती हैं (अर्थात् ऐसी प्रभा वाले अभागे होते हैं) ॥४९-५०॥

छाया तथा प्रभा में भेद—

वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी ॥५१॥
आसन्ने लक्ष्यते छाया विकृष्टे भा प्रकाशते ।
नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति तु ॥५२॥
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायासमाश्रयाः ।

व्याख्या—छाया गौर आदि वर्ण को ढंक लेती है और प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है। छाया समीप से दिखती है और प्रभा दूर से दिखती है—चमकती है।

वास्तविकता यह है कि कोई मानव—छायारहित भी नहीं है और प्रभारहित भी नहीं। केवल छाया एवं प्रभा की अधिकता मानवों के शुभ एवं अशुभ की उत्पत्ति को समय समय पर सूचित करती हैं।

वक्तव्य—छाया कान्तिहीनता का नाम है और प्रभा कान्ति का नाम है, जो जितना ही कान्तिमान् होता है उतना ही भाग्यवान् होता है। और जो जितना ही छायावान् होता है। उतना ही अभागा होता है। मृत्यु के समय कान्ति नष्ट हो जाती है मुख आदि का वर्ण फीका पड़ जाता है अर्थात् कान्ति चली जाती है छाया रह जाती है। पाठक—भाग्यवान् एवं अभागे व्यक्तियों की तुलना करें तो सब कुछ समझ में आजायगा ॥ ५१,५२ ॥

अन्यान्य रिष्ट—

निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिसर्पति ॥५३॥
हीयते बलतः शश्वद्यो ऽन्नमश्नन् हितं बहु ।
योऽल्पाशी बहुविण्मूत्रो बह्वाशी चाल्पमूत्रविट् ॥५४॥
यो वाऽल्पाशी कफेनार्तो दीर्घं श्वसिति चेष्टते ।
दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं निःश्वस्य परिताम्यति ॥५५॥
ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते भृशम् ।
शिरो विक्षिपते कृच्छ्राद्योऽञ्चयित्वा प्रपाणिकौ ॥५६॥
यो ललाटात्स्रुतस्वेदः श्लथसन्धानबन्धनः ।
उत्थाप्यमानः सम्मुह्येद्यो बली दुर्बलोऽपि वा ॥५७॥
उत्तान एव स्वपिति यः पादौ विकरोति च ।
शयनासनकुड्यादौ योऽसदेव जिघृक्षति ॥५८॥
अहास्यहासी सम्मुह्यन् यो लेढि दशनच्छदौ ।
उत्तरौष्ठं परिलिहन् फूत्कारांश्च करोति यः ॥५९॥
यमभिद्रवति च्छाया कृष्णा पीताऽरुणाऽपि वा ।
भिषग्भेषजपानाऽन्न-गुरुमित्रद्विषश्च ये ॥६०॥

वशगाः सर्व एवैते विज्ञेयाः समवर्तिनः ।

व्याख्या—जो पाँवों को घिसटाता सा और कन्धों को ढीला करके भूमि पर रेंगता हो (चलता हो), जो हितकारक आहार को अधिक से अधिक—पर्याप्त मात्रा में खाता पीता हुआ भी बल हीन होता जा रहा हो, जो थोड़ा खाता हो परन्तु उसे मूत्र एवं पुरीष अधिक परिमाण में हों, जो अधिक मात्रा में खाता हो परन्तु मूत्र एवं पुरीष थोड़े परिमाण में हों, जो थोड़ा आहार करता हो परन्तु कफ से पीडित हो तथा लम्बा लम्बा श्वास लेकर लोट पोट हो रहा हो, जो लम्बा श्वास लेकर और छोटा श्वास निकाल कर मूर्छित हो गया हो या दुःखी हो रहा हो । जो छोटे छोटे श्वास बार बार ले रहा हो और उसकी धमनियों में विषम स्पन्दन-स्फुरण हो रहा हो (पाठक ध्यान से नाड़ी परीक्षा करके इस स्पन्दन को भली भाँति जान सकेंगे ।) जो हाथ के पिछले भाग को संकुचित कर शिर को कष्ट के साथ उधर इधर कर रहा हो (पटक रहा हो), जिस के माथा पर अत्यधिक स्वेद आ रहा हो तथा सन्धिबन्धन शिथिल हो गये हों (हाथ पाँव आदि को हिलाने डुलाने में असमर्थ हो), जो बलवान अथवा रोग से दुर्बल उठाने-बैठाने पर बार बार मूर्छित हो जाता हो, जो उत्तान चित लेटा-लेटा सोरहा हो तथा पावों को पटकता हो या नचा रहा हो । जो शय्या पर से, आसन पर से तथा भित्ति पर से असत् अविद्यमान वस्तु को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहा हो । जो हँसने का विषय न होने पर भी हँस रहा हो और मूर्छितावस्था में भी ओठों को चाट रहा हो । जो ऊपर के ओठ को चाटता हुआ फूँ फूँ कर रहा हो । जिस पर काली, पीली अथवा काली लाल छाया आक्रमण कर रही हो (उसे डरा रही हो), जो वैद्य से औषध से, पीने खाने से, गुरुजन तथा मित्रों से द्वेष करते हों । उक्त सब यमराज—मृत्यु के वशीभूत होते हैं (शीघ्र ही मर जाते हैं) ।।५३-६०।।

अन्य रिष्ट—

ग्रीवाललाटहृदयं यस्य स्विद्यति शीतलम् ।।६१।।
उष्णोऽपरः प्रदेशश्च शरणं तस्य देवताः ।

व्याख्या—जिसकी गर्दन, माथा, हृदय प्रदेश शीतल होने पर भी स्वेद से युक्त हों और दूसरे प्रदेश उष्ण हों उसका रक्षक देवता ही है ।

वक्तव्य—किसी किसी प्रति में निम्न श्लोक भी पाया जाता है—

पूर्वं रूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥

अर्थात् ज्वर के समस्त पूर्वरूप बलवान् हो कर जिसके शरीर में प्रविष्ट होते हैं उसके शरीर में ज्वर को आगे करके मृत्यु प्रविष्ट होती है ॥ ६१ ॥

अन्यान्य रिष्ट—

योऽणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मनाः सदा ।।६२।।
बलिं बलिभृतो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते ।
निर्निमित्तं च यो मेधां शोभामुपचयं श्रियम् ।।६३।।
प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं स प्राप्नोति यमक्षयम् ।

व्याख्या—जिसकी अग्नि मन्द हो, चित्त व्याकुल हो छाया दूषित हो गई हो, मन सदा दुःखी रहता हो तथा जिसकी दी गई बलि को काक आदि बलिभोजी न खावें वह मर जाता है । और जो किसी कारण के बिना ही मेधा को, शोभा को, पुष्टि को अथवा लक्ष्मी को प्राप्त करता है अथवा जिसकी मेधा एवं शोभा आदि नष्ट हो जाती हैं वह यमराज के घर पहुँच जाता है (मर जाता है) ।।६२-६३।।

स्वभाव परिवर्त्तन रूपी रिष्ट—

गुणदोषमयी यस्य स्वस्थस्य व्याधितस्य वा ।।६४।।
यात्यन्यथात्वं प्रकृतिः षण्मासान्न स जीवति ।

व्याख्या—जिसकी सत्वगुण, रजोगुण आदि की प्रकृति परिवर्त्तित हो जाती है वह स्वस्थ हो अथवा रोगी ६ मास तक नहीं जीता (६ मास के भीतर मर जाता है) ।।६४।।

भक्ति आदि परिवर्त्तन रूपी रिष्ट—

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम् ।।६५।।
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यति ।
मत्तवद्गतिवाक्कम्प-मोहा मासान्मरिष्यतः ।।६६।

व्याख्या—६ मास के भीतर मर जाने वाले के १—भक्ति-श्रद्धा २—शील, पवित्र चरित्र, ३—स्मृति-स्मरण शक्ति, ४—त्याग-दान शक्ति, ५—बुद्धि, ६—बल ये ६ गुण किसी कारण के बिना ही नष्ट हो जाते हैं । और १ मास के भीतर मरने वाले के किसी कारण के बिना ही मदमत्त के समान गति (चलना), वाणी (बोलना) कम्पन तथा मोह (चित्त विकृति) हो जाते हैं ।।६५-६६।।

६ दिन का रिष्ट—

नश्यत्यजानन् षडहात्केशलुञ्चनवेदनाम् ।
न याति यस्य चाहारः कण्ठं कण्ठाऽऽमयादृते ।।६७।।

व्याख्या—जो केश नोचने की वेदना का अनुभव नहीं करता वह ६ दिन में मर जाता है । कण्ठ रोग के

बिना ही जिसका आहार कण्ठ के नीचे नहीं उतरता वह ६ दिन के भीतर मर जाता है ॥६७॥

अन्यान्य रिष्ट—

प्रेष्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्यते ।
यस्य निद्रा भवेन्नित्या नैव वा न स जीवति ॥६८।

व्याख्या—जिसके भृत्य (आज्ञाकारी) विपरीत हो जायँ–आज्ञा पालन न करें वह नहीं जीता । जिसको सर्वदा नींद आती हो अथवा सर्वथा न आती हो वह भी जीवित नहीं रहता ।

वक्तव्य—पालन पोषण पानेवाले नौकर-चाकर भृत्य कहे जाते हैं ॥६८॥

अन्यान्य रिष्ट—

वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणां स्विद्यतश्चरणौ भृशम् ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराज्यं गमिष्यतः ॥६९॥
यैः पुरा रमते भावैररतिस्तैर्न जीवति ।

व्याख्या—शीघ्र मरनेवाले का आँसुओं से मुख स्रोतस् पूर्ण हो जाता है–आँसू बहने लगते हैं, पाओं में अत्यधिक स्वेद आता है और नेत्र व्याकुल हो जाते हैं । जीवन भर जिन भावों–कार्यों से सुख का अनुभव करता रहा हो उन्हीं भावों से यदि विरत हो जाय–सुख का अनुभव न हो तो जीवित नहीं रहता, मर जाता है ॥६९॥

अन्यान्य रिष्ट—

सहसा जायते यस्य विकारः सर्वलक्षणः ॥७०॥
निवर्तते वा सहसा, सहसा स विनश्यति ।

व्याख्या—जिसका एकाएक सब लक्षणों वाला ज्वर आदि कोई एक रोग उत्पन्न हो जाय अथवा शान्त हो जाय वह एकाएक मर जाता है ॥७०॥

ज्वर के रिष्ट लक्षण—

ज्वरो निहन्ति बलवान् गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥७१॥
सप्रलापभ्रमश्वासः क्षीणं शूनं हतानलम् ।
अक्षामं सक्तवचनं रक्ताक्षं हृदि शूलिनम् ॥७२॥
संशुष्ककासः पूर्वाह्णे योऽपराह्णेऽपि वा भवेत् ।
बलमांसविहीनस्य श्लेष्मकासससमन्वितः ॥७३॥

व्याख्या—ज्वर का रिष्ट लक्षण बलवान् ६ डिगरी से ऊपर, गम्भीर समस्त धातु गत तथा दीर्घ कालानुबन्धी ज्वर मार डालता है । क्षीण को, शोथ युक्त को तथा मन्दअग्नि वाले को प्रलाप भ्रम तथा श्वास से युक्त, ज्वर मार डालता है। जो क्षीण नहो परन्तु वाणी रुक जाय, नेत्र लाल हों, हृदय में शूल हो, प्रातःकाल सूखी खाँसी हो अथवा अपराह्न में भी सूखी खाँसी हो उसे भी ज्वर मार डालता है । जिसका बल एवं मांस क्षीण–हीन हो गया हो और कफ कास बढ़ा हो उसे भी ज्वर मार डालता है । ७१-७३॥

रक्त पित्त के रिष्ट—

रक्तपित्तं भृशं रक्तं कृष्णमिन्द्रधनुष्प्रभम् ।
ताम्रहारिद्रहरितं रूपं रक्तं प्रदर्शयेत् ॥७४॥
रोमकूपप्रविसृतं कण्ठास्यहृदये सजत् ।
वाससोऽरञ्जनं पूति वेगवच्चाति भूरि च ॥७५॥
वृद्धं पाण्डुज्वरच्छर्दिकासशोफातिसारिणम् ।

व्याख्या— जो रक्तपित्त अत्यन्त लाल हो अथवा अत्यन्त काला हो अथवा इन्द्रधनुष के सदृश कई वर्णों वाला हो, ताम्र का-सा, हल्दी का-सा तथा हरा हो, जिसके प्रभाव से रोगी को सब पदार्थों का वर्ण लाल प्रतीत हो । रोम कूपों से निकल रहा हो, कण्ठ, मुख तथा हृदय में एक साथ रुक रहा हो, उसका रंग कपड़ा पर स्थायी न हो, परन्तु दुर्गन्ध से युक्त हो, वेग से युक्त हो, अत्यधिक परिमाण में निकल रहा हो वह मार डालता है । और पाण्डु रोगी को, ज्वर रोगी को, छर्दि रोगी को, कास रोगी को शोथ रोगी को तथा अतिसार रोगी को बढ़ा हुआ रक्त पित्त मार डालता है॥७४-७६॥

कास श्वास के रिष्ट—

कासश्वासौ ज्वरच्छर्दितृष्णाऽतीसारशोफिनम् ॥७६॥

व्याख्या—कास रोग तथा श्वास रोग, ज्वर, छर्दि, तृषा, अतिसार एवं शोथ से पीडित को मार डालते हैं ।

यक्ष्मा का रिष्ट—

यक्ष्मा पार्श्वरुजानाहरक्तच्छर्द्यंसतापिनम् ।

व्याख्या—राजयक्ष्मारोग पार्श्व शूल आनाह, रक्त की छर्दि तथा अंससन्ताप से पीडित को मार डालता है ॥७७॥

छर्दि का रिष्ट—

'छर्दिर्वेगवती' मूत्रशकृद्गन्धिः सचन्द्रिका ॥७७॥
सास्रविट्पूयरुक्कासश्वासवत्यनुषङ्गिणी ।

व्याख्या—छर्दि अत्यन्त वेग से होने वाली, मूत्र एवं पुरीष के समान गन्ध वाली, चन्द्रिकाओं से युक्त, रक्तातिसार, पूय, वेदना, कास तथा श्वास से युक्त और अनुषङ्गिणी-पुरानी मार डालती है ।

वक्तव्य—चन्द्रिका जैसे जल पर तैल डाला गया हो॥७७॥

तृषा का रिष्ट—

तृष्णाऽन्यरोगक्लपितं बहिर्जिह्वं विचेतनम् ॥७८॥

व्याख्या—तृष्णा मुख रोगों से पीडित को, जिसकी

जीभ बाहर निकल आई हो उसको तथा चेतनाहीन को मार डालती है ॥७८॥

मदात्यय का रिष्ट—

मदात्ययोऽतिशीतार्तं क्षीणं तैलप्रभाननम् ।

व्याख्या—मदात्यय रोग शीत से अत्यन्त पीडित को, क्षीण को तथा जिसके मुख पर तैल पुता प्रतीत हो उसको मार डालता है ॥८०॥

अर्श का रिष्ट—

अर्शांसि पाणिपन्नाभिगुदमुष्कास्यशोफिनम् ॥७६॥
हृत्पार्श्वाङ्गरुजाच्छर्दिपायुपाकज्वरातुरम् ।

व्याख्या—अर्श रोग हाथ, पाँव, नाभि, गुद, अण्ड, कोश तथा मुख पर शोथ वाले को तथा हृदयशूल, पार्श्वशूल समस्त शरीर में वेदना, छर्दि, गुद, गुदपाक तथा ज्वर से पीडित को मार डालता है ॥७९॥

अतिसार का रिष्ट—

अतीसारो यकृत्पिण्डमांसधावनमेचकैः ॥८०॥
तुल्यस्तैलघृतक्षीरदधिमज्जवसासवैः ।
मस्तुलुङ्गमषीपूयवेसवाराम्बुमाक्षिकैः ॥८१॥
अतिरक्तासितस्निग्धपूत्यच्छघनवेदनः ।
कर्बुरः प्रस्रवन् धातून् निष्पुरीषोऽथवाऽतिविट् ॥८२॥
तन्तुमान् मक्षिकाक्रान्तो राजीमांश्चन्द्रकैर्युतः ।
शीर्णपायुवलिं मुक्तनालं पर्वास्थिशूलिनम् ॥८३॥
स्रस्तपायुं बलक्षीणमन्नमेवोपवेशयन् ।
सतृट्श्वासज्वरच्छर्दिदाहानाहप्रवाहिकः॥८४॥

व्याख्या—अतिसार रोग यकृत् के समान वर्ण वाला, मांस के धोवन कासा, नीला, तैल कासा, घृत कासा, दूध कासा, दही कासा, मज्जा कासा, वसा कासा, आसव जैसा, मस्तुलुङ्ग (शिरो मज्जा) जैसा, मषी (स्याही) जैसा काला, पूय जैसा, वेशवार के पानी जैसा, मधु जैसा, अत्यन्त लाल (रक्त युक्त), अत्यन्त काला, अत्यन्त गाढ़ा, अत्यधिक वेदना वाला, अनेक वर्ण वाला, जिसमें रस आदि धातु जारहे हों, पुरीष रहित अथवा अधिक पुरीष वाला, लालावाला चिपचिपा, जिस पर मक्षिका बहुत बैठती हों, राजियों वाला, चन्द्रिकाओं वाला, जिससे गुद वलियाँ कट फट गई हों, नाला—नाडा मल मार्ग के बन्धन नष्ट हो गये हों, पोरों तथा अस्थियों में शूल हो, गुद भ्रंश हो, बलका क्षय हो गया हो जैसा खाया वैसा ही निकल जाता हो, साथ में तृषा, श्वास, ज्वर, छर्दि, दाह, आनाह, तथा प्रवाहिका हो वह मार डालता है ।

वक्तव्य—मुक्त नाल—नाला—नाड़ा उखड़ गया हो ॥८०-८४॥

अश्मरी एवं प्रमेह के रिष्ट—

अश्मरी शूनवृषणं बद्धमूत्रं रुजार्दितम् ।
मेहस्तृड्दाहपिटिकामांसकोथातिसारिणम् ॥८५॥

व्याख्या—अश्मरी—जिसके वृषण सूज गये हों, मूत्र रूक गया हो तथा अत्यन्त वेदना हो, इसे मार डालती है । प्रमेह-तृषा, दाह, प्रमेह पिडका, मांस कोथ (मांस का सड़ जाना) तथा अतिसारवाले को मार डालता है ।

प्रमेह पिटिका के रिष्ट—

पिटिका मर्महृत्पृष्ठस्तनांसगुदमूर्धगाः ।
पर्वपादकरस्था वा मन्दोत्साहं प्रमेहिणम् ॥८६॥
सर्वं च मांससङ्कोचदाहतृष्णामदज्वरैः ।
विसर्पमर्मसंरोधहिध्माश्वासभ्रमक्लमैः ॥८७॥

व्याख्या पिटिका (प्रमेह जनित शराविका आदि फोड़े) यदि मर्म स्थानों पर, हृदय पर, पीठ पर, स्तनों पर, अंस फलक पर, गुद पर, तथा शिर पर, उत्पन्न हों अथवा पर्वों पर, पावों पर, तथा हाथों पर उत्पन्न हों, उत्साह मन्द हो गया हो तो प्रमेह रोगी को मार डालती हैं । और मांस संकोच, दाह, तृषा, मद, ज्वर, विसर्प, मर्म (हृदय वस्ति आदि) की गति में रुकावट, हिक्का, श्वास, भ्रम, तथा क्लम (ग्लानि) से युक्त पिटिका सबको मार डालती हैं ॥८६-८७॥

गुल्म रोग का रिष्ट—

गुल्मः पृथुपरीणाहो घनः कूर्म इवोन्नतः ।
सिरानद्धो ज्वरच्छर्दि-हिध्माऽऽध्मानरुजान्वितः ॥८८॥
कासपीनसहृल्लास-श्वासातीसारशोफवान् ।

व्याख्या—गुल्म विस्तार युक्त—बड़ा, ठोस, तथा कछुआ के समान उभरा हुआ, जिसमें से सिरा गई हुई हों, ज्वर, छर्दि, हिक्का, अफरा तथा वेदना से युक्त, कास, पीनस, मिचली, श्वास, अतिसार, तथा शोथ से युक्त मार डालता है ॥८८॥

उदर रोग का रिष्ट

विण्मूत्रसङ्ग्रहश्वास-शोफहिध्माज्वरभ्रमैः ॥८९॥
मूर्च्छाच्छर्द्यतिसारैश्च जठरं हन्ति दुर्बलम् ।
शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिष्टतनुत्वचम् ॥९०॥
विरेचनहृतानाहमानह्यन्तं पुनः पुनः ।

व्याख्या—उदर रोग—मूत्ररोध, पुरीषरोध, श्वास, शोथ, हिक्का, ज्वर, भ्रम, मूर्च्छा, छर्दि तथा अतिसार से युक्त दुर्बल रोगी को मार डालता है । जिस उदर रोग में नेत्रों पर शोथ हो, लिंग टेढ़ा होगया हो, त्वचा आर्द्र सी

तथा पतली हो गई हो, विरेचन द्वारा आनाह नष्ट हो जाने पर पुनः पुनः आनाह हो जाता हो वह भी मार डालता है ॥८९,९०॥

पाण्डु रोग का रिष्ट—

पाण्डुरोगः श्वयथुमान् पीताक्षिनखदर्शनम् ॥९१॥

व्याख्या—पाण्डु रोग शोथ से युक्त, जिससे नेत्र तथा नख पीले हो गये हों तथा सब पदार्थ पीले प्रतीत होते हों वह मार डालता है ॥९१॥

शोथ रोग का रिष्ट—

तन्द्रादाहारुचिच्छर्दिमूर्च्छाध्मानातिसारवान् ।
अनेकोपद्रवयुतः पादाभ्यां प्रसृतो नरम् ॥९२॥
नारीं शोफो मुखाद्धन्ति, कुक्षिगुह्यादुभावपि ।
राजीचितः स्रवंश्छर्दिज्वरश्वासातिसारिणम् ॥९३॥

व्याख्या—शोथ रोग—तन्द्रा, दाह, ज्वर, (अथवा अरुचि), छर्दि, मूर्च्छा, अफरा तथा अतिसार से युक्त, अनेक उपद्रवों से युक्त, शोथ पाँव से उत्पन्न हो कर ऊपर को फैलने वाला पुमान् को और मुख से उत्पन्न हो कर नीचे को फैलने वाला नारी को और उदर तथा उपस्थ पर उत्पन्न होकर सब शरीर में फैलने वाला नर-नारी दोनों को मार डालता है। और रेखाओं से युक्त, दोषानुसार स्राव युक्त शोथ छर्दि, ज्वर, श्वास तथा अतिसार वाले को मार डालता है ॥९२-९३॥

शोथ रोग का रिष्ट—

ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये ।
दुर्बलस्य विशेषेण जायन्तेऽन्ताय देहिनः ॥९४॥

व्याख्या—यदि शोथ के अन्त में ज्वर एवं अतिसार हो जाते हों और ज्वर एवं अतिसार के अन्त में शोथ हो जाता हो और रोगी विशेष रूप से दुर्बल हो तो उसकी मृत्यु हो जाती है ॥९४॥

शोथ का रिष्ट—

श्वयथुर्यस्य पादस्थः परिस्रस्ते च पिण्डिके ।
सीदतः सक्थिनी चैव तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥९५॥

व्याख्या—जिसके पाँव पर शोथ हो, पिंडलियाँ अपने स्थान से खिसक गई हों तथा सक्थियों में अवसाद शिथिलता हो उसको चिकित्सक छोड़ देवे उसकी चिकित्सा न करे वह रोगी मर जाता है ॥९५॥

शोष एवं शोथ का रिष्ट—

आननं हस्तपादं च विशेषाद्यस्य शुष्यतः ।
शूयेते वा विना देहात्स मासाद्याति पञ्चताम् ॥९६॥

व्याख्या—जिसके मुख एवं हाथ पाँव विशेष रूप से सूख जायँ, अथवा शरीर पर शोथ हुए बिना सूज जायँ वह रोगी एक मास में पञ्चत्व को प्राप्त होजाता है (मर जाता है ॥९६॥

विसर्प का रिष्ट—

विसर्पः कासवैवर्ण्यज्वरमूर्च्छाङ्गभङ्गवान् ।
भ्रमास्यशोफहृल्लास-देहसादातिसारवान् ॥९७॥

व्याख्या—विसर्प रोग—कास, विवर्णता, ज्वर, मूर्छा, तथा अङ्ग-भङ्ग से मुक्त और भ्रम, मुखशोथ शोष, हृल्लास, शरीर की शिथिलता तथा अतिसार से युक्त मार डालता है ॥९७।

कुष्ठ का रिष्ट—

कुष्ठं विशीर्यमाणाङ्गं रक्तनेत्रं हतस्वरम् ॥९८॥
मन्दाग्निं जन्तुभिर्जुष्टं हन्ति तृष्णातिसारिणम् ।

व्याख्या—कुष्ठ रोग उसको मार डालता है जिस के अंगुलि आदि अवयव सड़ रहे हों, स्वर नष्ट होगया हो-विगड़ गया हो, अग्नि मन्द हो गई हो, क्रिमि उत्पन्न हो गये हों, तृषा तथा अतिसार उत्पन्न हो गये हों।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि—इस प्रकार का कुष्ठ शांत नहीं होता भले ही रोगी कुछ काल तक जीवित रहता है ॥ ९८ ॥

वातव्याधि एवं वात रक्त के रिष्ट—

वायुः सुप्तत्वचं भुग्नं कम्पशोफरुजातुरम् ।
वातास्रं मोहमूर्च्छायमदास्वप्नज्वरान्वितम् ॥९९॥
शिरोग्रहारुचिश्वाससङ्कोचस्फोटकोथवत् ।

व्याख्या—वायु रोग (आक्षेपक आदि वातजरोग) उसे मार डालता है जिसकी त्वचा सो गई हो—शून्य हो गई हो, जिसके अवयव टूट गये हों तथा जो कफ विकारों से या कम्प से, शोथ से एवं वेदना से पीडित हो। वात रक्त उसको मार डालता है जो मोह, मूर्च्छा, मद, निद्रा तथा ज्वर से युक्त हो और जो शिरोग्रह—शिर की जकड़न, अरुचि, श्वास, अङ्ग की सिकड़न, फफोले तथा मांस की सड़न से युक्त हो ॥९९॥

सब रोगों का रिष्ट—

शिरोरोगारुचिश्वासमोहविड्भेदतृड्भ्रमैः ॥१००॥
घ्नन्ति सर्वामयाः क्षीणस्वरधातुबलानलम् ।

व्याख्या—ज्वर आदि सभी रोग उसको मार डालते हैं जो शिरोग्रह, अरुचि, श्वास, मोह, मलभेद, तृषा तथा भ्रम से पीडित हो तथा जिसके स्वर, रसादि धातु, बल तथा अग्नि का क्षय हो गया हो।

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी रक्त्युदरी क्षयी ।।१०१।
गुल्मी मेही च तान् क्षीणान् विकारेऽल्पेऽपि वर्जयेत् ।

व्याख्या—वातव्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, रक्त पित्त, उदर रोग, राजयक्ष्मा, गुल्म तथा प्रमेह के रोगी की उस समय चिकित्सा न करे जब वह क्षीण कृश एवं दुर्बल हो गया हो, भलेही रोग बलवान् न हो ।।१०१।।

४५ दिन का रिष्ट—

बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ।।१०२।।
यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान्न स जीवति ।

व्याख्या—जिस रोगी के बल एवं मांस का अत्यधिक क्षय हो गया हो, रोग बढ़ता जा रहा हो और अरोचक हो वह तीन पक्ष (४५ दिन) पर्यन्त जीवित नहीं रहता ।।१०२।।

वाताष्ठीला का रिष्ट—

वाताष्ठीलाऽतिसंवृद्धा तिष्ठन्ती दारुणा हृदि ।।१०३।।
तृष्णया तु परीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ।

व्याख्या—हृदय में बहुत बड़ी वाताष्ठीला स्थित हो उसमें भी भीषण वेदना हो तथा तृषा बढ़ गई हो तो उसकी सद्यः मृत्यु हो जाती है ।

वक्तव्य—च. इन्द्रिय स्थान का सद्यो मरणीय अध्याय १० देखिये । सद्यः शब्द का अर्थ—सद्यः शब्देन इह केचित् सप्तरात्रमिच्छन्ति । अपरे त्रिरात्रम् इति चक्रपाणिः । सद्यः सपदि तत्क्षणे इति अमरः । यद्यपि सद्यः शब्द का अर्थ तत्क्षण—तत्काल है परन्तु इस प्रकरण में ७ दिन अथवा ३ दिन का वाचक है इस प्रकरण में सद्यो मारक लक्षणों का वर्णन किया जायगा ।। १०३ ।।

सद्यो मारक रिष्ट —

शैथिल्यं पिण्डके वायुर्नीत्वा नासां च जिह्मताम्।।१०४।।
क्षीणस्यायम्य मन्ये वा सद्यो मुष्णाति जीवितम् ।

व्याख्या—वायु-प्रकुपित वायु पिण्डलियां को शिथिल करके, नासा वंश को टेढ़ा करके अथवा क्षीण प्राणी की मन्याओं को तान कर जीवन को सद्यः चुरा लेता है (मार डालता है) ।।१०४।।

सद्योमारक लक्षण—

नाभीगुदान्तरं गत्वा वङ्क्षणौ वा समाश्रयन् ।।१०५।
गृहीत्वा पायुहृदये क्षीणदेहस्य वा बली ।
मलान् बस्तिशिरो नाभिं विबद्ध्य जनयन् रुजम् ।।१०६
कुर्वन् वङ्क्षणयोः शूलं तृष्णां भिन्नपुरीषताम्;
श्वासं वा जनयन् वायुर्गृहीत्वा गुदवङ्क्षणम् ।।१०७।।
वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः ।
स्तिमितस्यातताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ।।१०८।।

व्याख्या—अथवा वायु—नाभि एवं गुद के बीच में चल कर (वेदना के रूप में प्रतीत होता हुआ) वंक्षणों में वेदना करता है तब जीवित को चुरा लेता है । अथवा क्षीण शरीर वाले का बलवान् वायु—गुद एवं हृदय को पकड़ कर—उनमें वेदना उत्पन्न करके जीवित को चुरा लेता है । अथवा मूत्र एवं पुरीष को, बस्तिशिर को तथा नाभि को रोककर, वेदना उत्पन्न करके जीवित को सद्यः चुरा लेता है । अथवा वंक्षणों में शूल तृषा तथा मलभेद—अतिसार को उत्पन्न करके जीवित को सद्यः चुरा लेता है। अथवा बलवान् वायु—गुद एवं वंक्षण को गति हीन करके या उनमें वेदना उत्पन्न करके श्वास को उत्पन्न करता हुआ जीवित को सद्यः चुरा लेता है । अथवा बलवान् वायु—पर्शुकाओं के अग्रभागों को तान कर और उरस् (हृदय) को गति हीन करके या उसमें वेदना उत्पन्न करके और नेत्रों को स्तब्ध एवं तान करके जीवित को सद्यः चुरा लेता है ।।१०५-१०६।।

सद्यो मारक लक्षण—

सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः ।
विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ।।१०९।।

व्याख्या—एकाएक मरने वाले का ज्वर अत्यन्त बढ़ जाता है (१०५ डिगरी से ऊपर हो जाता है), तृषा, मूर्च्छा, बल हानि तथा सन्धियों का विश्लेषण (हिलना डुलना—करवट बदलना आदि का नाश) होता है ।।१०९।।

अन्य रिष्ट—

गोसर्गे वदनाद् यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ।।११०।।

व्याख्या—जिसके मुख पर प्रातः काल अत्यन्त स्वेद आवे और वह प्रलेपक ज्वर से पीडित हो तो उसका जीवन दुर्लभ है अर्थात् वह मर जाता है ।।१११।।

वक्तव्य—परन्तु उष्णोपघात (लू लगना) में ऐसा होने पर भी रोगी बच जाता है ।। ११० ।।

मसूरिका का रिष्ट—

प्रवालगुलिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः ।
उत्पद्याशु विनश्यन्ति न चिरात्स विनश्यति ।।१११।।

व्याख्या—जिसके शरीर पर प्रवाल (मूंगा) की गोलियों के सदृश वर्ण (लाल) वाली मसूरिका उत्पन्न होकर एकाएक लुप्त हो जायँ वह शीघ्र ही मर जाता है ।

वक्तव्य—मसूरिका—शीतला या छोटी माता ।।१११।।

विस्फोट के रिष्ट—

मसूरविदलप्रख्यास्तथा विद्रुमसन्निभाः ।

अन्तर्वक्राः किणाभाश्च विस्फोटा देहनाशनाः ॥११२॥

व्याख्या—मसूर की दाल जैसे तथा मूंगा के समान वर्ण (लाल) वाले, भीतर की ओर मुख वाले तथा किण मांस ग्रन्थि के से (कठोर) विस्फोट देह नाशक–मृत्यु कारक होते हैं ।

वक्तव्य—विस्फोट—बड़ी शीतला या बड़ी माता ।११२।

कामला का रिष्ट—

कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शङ्खयोर्मुक्तमांसता ।
सन्त्रासश्चोष्णताऽङ्गे च यस्य तं परिवर्जयेत् ॥११३॥

व्याख्या—जिसके नेत्रों में कामला (गहरा पीलापन) हो, मुख पूर्ण—स्वाभाविक हो या पुष्ट हो, शंखों—पुड़पुड़ियों का मांस मुक्त–शिथिल हो गया हो, अत्यन्त त्रास–भय लगता हो तथा शरीर में उष्णता हो उसकी चिकित्सा न करे—वह मर जाता है ॥११३॥

घृष्टव्रण का रिष्ट—

अन्तर्दाहा निरूष्माणः प्राणनाशकरा व्रणाः ।

व्याख्या—जिसके त्वचा मात्र का विघृष्ट व्रण (केवल त्वचा की खरोंच) किसी कारण के बिना ही फैलता जाय उसकी भी चिकित्सा न करे ।

वक्तव्य इसके आगे किसी किसी प्रति में निम्न पाठ अधिक है—

व्रण के रिष्ट—

यथा—चन्दनोशीरमदिरा कुणपध्वाङ्क्षगन्धयः ।
शैवाल कुक्कुट शिखा कुङ्कुमाऽऽलमषीप्रभाः ॥
अन्तर्दाहा निरूष्माणः प्राणनाशकरा व्रणाः ।

अर्थात्—वे व्रण प्राण नाशक होते हैं जिनकी गन्ध—चन्दन, खस, सुरा, शव अथवा कौवा की सी हो और प्रभा (कान्ति–वर्ण)—शैवाल (सिवार–काई–बूर), मुरगा की शिखा, केशर, हरिताल अथवा मषी (काली स्याही) की सी हो और जिनके भीतर दाह हो तथा बाहिर दाह-पाक न हो ।

व्रण का रिष्ट—

यो वातजो न शूलाय स्यान्न दाहाय पित्तजः ॥११४॥
कफजो न च पूयाय मर्मजश्च रुजे न यः ।
अचूर्णश्चूर्णकीर्णाभो यत्राकस्माच्च दृश्यते ॥११५॥
रूपं शक्तिध्वजादीनां सर्वांस्तान्वर्जयेद् व्रणान् ।

व्याख्या—जो व्रण वात जनित हो पर उसमें वेदना न हो, जो व्रण पित्त जनित हो पर उसमें दाह न हो, जो व्रण कफ जनित हो पर उसमें पूय (पीप) न हो, जो व्रण मर्म स्थल में हो पर उसमें वेदना न हो, जिस व्रण पर कोई चूर्ण न बुरका गया हो परन्तु उस में चूर्ण बुरका गया प्रतीत हो और जिन व्रणों में किसी कारण के बिना शक्ति (बर्छी) तथा ध्वज (पताका) आदि का रूप दिखाई देवे उन सब व्रणों को त्याग देवे—वे असाध्य होते हैं ।

वक्तव्य—इस पाठ में "अकस्मात्" पाठ संगत प्रतीत नहीं होता ! सुश्रुत सू० अ० २८ में यह पाठ इस प्रकार है—

शक्तिध्वज रथाः कुन्त वाजि वारण गो वृषाः ।
येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादाकृतयस्तथा ॥ १६ ॥

अन्यान्य लक्षणों का वर्णन भी उक्त अध्याय में ही देखना चाहिए ॥ ११४, ११५ ॥

भगन्दर का रिष्ट—

विण्मूत्रमारुतवहं कृमिणं च भगन्दरम् ॥११६॥

व्याख्या—उस भगन्दर की भी चिकित्सा न करे जिसमें से होकर पुरीष मूत्र एवं अपान वायु बह रहे हों तथा जिसमें क्रिमि पड़ गये हों॥११६॥

अन्य रिष्ट—

घट्टयन् जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन् ।
योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥११७॥

व्याख्या—जो रोगी जानु को दूसरे जानु से टकराता है और पावों को उठाकर पटकता है और मुख को बारबार इधर उधर करता है वह जीवित नहीं रहता ॥११७॥

अन्य रिष्ट—

दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि तैश्च केशांस्तृणानि च ।
भूमिं काष्ठेन विलिखन् लोष्टं लोष्टेन ताडयन् ॥११८॥
हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शुष्ककासी ज्वरी च यः ।
मुहुर्हसन् मुहुः क्ष्वेडन् शय्यां पादेन हन्ति यः ॥११९॥
मुहुश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति ।

व्याख्या—जो दन्तों द्वारा नखों के अग्रभागों को काटता रहता है तथा नखों से केशों को तोड़ता रहता है और लकड़ी से पृथिवी पर लेखन करता रहता है वह रोग से मुक्त नहीं होता (च० इं० अ० ८ श्लो० १८) । जो ढेला से ढेला तोड़ता—फोड़ता रहता है, जिसको रोमाञ्च हो, मूत्र गाढ़ा हो सूखी खाँसी तथा ज्वर हो वह जीवित नहीं रहता । जो बारबार हँसता हो बारबार शब्द करता हो-चिल्लाता—कहरता हो, पावों को शय्या पर पटकता हो तथा नासा कर्ण आदि के छिद्रों को बार बार छूता हो उनमें अंगुली डालता हो वह रोगी जीवित नहीं रहता ॥११८-११९॥

तिल एवं व्यङ्ग के रिष्ट—

मृत्यवे सहसाऽऽर्तस्य तिलकव्यङ्गपिप्लवः ॥१२०॥
मुखे,दन्तनखे पुष्पं, जठरे विविधाः सिराः ।

व्याख्या—रोगी के मुख पर एकाएक तिलों की व्यंगों का तथा पिल्लुओं (कालक—लशुन—काले चिह्न) की उत्पत्ति, दन्तों तथा नखों पर पुष्प जैसे चिह्नों की उत्पत्ति तथा उदर पर विविध वर्ण की सिराओं की उत्पत्ति मृत्यु का कारण होती है ॥१२०॥

अन्य रिष्ट—

ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवङ्क्षणम् ॥१२१॥
शर्म चानधिगच्छन्तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ।

व्याख्या—जब ऊर्ध्व श्वास चलरहा हो, शरीर शीतल हो गया हो, वंक्षणों में शूल हो रहा हो तथा किसी भी दशा में शान्ति न मिल रही हो तब रोगी की चिकित्सा न करे ॥१२१॥

अन्य रिष्ट—

विकारा यस्य वर्धन्ते प्रकृतिः परिहीयते ॥१२२॥
सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ।

व्याख्या—जिसके एकाएक रोग बढ़ रहे हों, स्वास्थ्य—स्वभाव हीन हो रहा हो उसकी एकाएक मृत्यु हो जाती है ॥१२२॥

अन्य रिष्ट—

यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः सम्पादयितुमौषधम् ॥१२३॥
यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ।

व्याख्या—चिकित्सक जिस रोगी के लिये प्रयत्न करने पर भी औषध—चिकित्सा का सम्पादन न कर सके उसका जीवन दुर्लभ है ॥१२३॥

अन्य रिष्ट—

विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम् ॥१२४॥
न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ।

व्याख्या—जिसके रोग में—विशेषरूप से जानी हुई, बहुत बार की अनुभूति—सफल तथा विधिपूर्वक प्रयोग में लाई गई औषध सिद्ध-सफल न हो उसकी कोई चिकित्सा नहीं है ॥१२४॥

अन्य रिष्ट—

भवेद्यस्यौषधेऽन्ने वा कल्प्यमाने विपर्ययः ॥१२५॥
अकस्माद्वर्णगन्धादेः स्वस्थोऽपि न स जीवति ।

व्याख्या—जिसके लिये—औषध अथवा दाल भात आदि में बनाते समय—किसी कारण के बिना ही वर्ण एवं गन्ध आदि का विपर्यय (विपरीतता) हो जाय वह स्वस्थ भी जीवित नहीं रहता ॥१२५॥

अन्य रिष्ट—

निवाते सेन्धनं यस्य ज्योतिश्चाप्युपशाम्यति ॥१२६॥
आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥१२७॥

व्याख्या—जिस रोगी के घर में—इन्धनयुक्त भी अग्नि शान्त हो जाय अथवा भाण्ड—अधिक टूटते हों अथवा गिरते हों उसका जीवन दुर्लभ है ॥१२६,१२७॥

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।
संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥१२८॥

व्याख्या—जिस दुर्बल रोगी को—रोग एकाएक छोड़ देता है उसके जीवित को भगवान् आत्रेय संशय को प्राप्त हुआ मानते हैं ॥१२८॥

रिष्टज्ञ चिकित्सक का कर्त्तव्य—

कथयेन्न च पृष्टोऽपि दुःश्रवं मरणं भिषक् ।
गतासोर्बन्धुमित्राणां न चेच्छेत्तं चिकित्सितुम् ॥१२९॥

व्याख्या—उक्त रिष्ट लक्षणों को देख कर, मृत्यु का निश्चय होजाने पर भी मरने वाले की मृत्यु को वैद्य पूछा जाने पर भी न कहे, यदि रोगी के बन्धु तथा मित्रों के लिये दुखदाई हो, परन्तु चिकित्सा करने की इच्छा न करे ।

वक्तव्य—अनेक बार प्रिय जन की मृत्यु का निश्चय हो जाने प्रिय जन विषभक्षण आदि द्वारा स्वयं प्राणत्याग कर देते हैं । भगवान् चरक के शब्दों में—उपस्थित मृत्यु बिना पूछे तो बतलाना ही नहीं चाहिये और पूछने पर भी वहां नहीं ही बतलाना चाहिये जहाँ रोगी अथवा प्रिय जन का विनाश हो सकता हो, मृत्यु को स्पष्ट रूप से न कह कर चिकित्सा करना छोड़ देवे । च. इं. अ. १२ श्लो. ६२—६४ ॥ १२९ ॥

रिष्ट में चिकित्सा की व्यर्थता—

यमदूतपिशाचाद्यैर्यत्परासुरुपास्यते ।
घ्नद्भिरौषधवीर्याणि तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥१३०॥

व्याख्या—क्यों कि परासु (मरने वाले) के पास रह कर यमदूत तथा पिशाच आदि औषधों की शक्तियों को नष्ट करते रहते हैं, इस लिये उसकी चिकित्सा न करे ।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. सू. अ. ३१—

प्रेता भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च ।
मरणाभिमुखं नित्यं उपसर्पन्ति मानवम् ॥३१॥
तानि भेषजवीर्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया ।
तस्मात् मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषाम् ॥३२॥

अर्थात्—मरने वाले के पास सर्वदा—प्रेत, भूत, पिशाच तथा अनेक प्रकार के राक्षस घूमते रहते हैं और वे रोगी को मार डालने की इच्छा से औषधों की शक्तियों को नष्ट करते रहते हैं इसलिए मरने वालों की सब चिकित्सा मोघ-व्यर्थ

विफल होती रहती है ३२ ॥१३०॥

रिष्ट ज्ञान की आवश्यकता—

आयुर्वेदफलं कृत्स्नं यदायुर्ज्ञे प्रतिष्ठितम् ।
रिष्टज्ञानाऽऽहतस्तस्मात्सर्वदैव भवेद्भिषक् ॥१३१॥

व्याख्या—क्योंकि आयुः का ज्ञान रखनेवाले वैद्य में ही आयुर्वेद का समस्त फल प्रतिष्ठित होता है इस लिये वैद्य रिष्ट लक्षणों को जानने में सर्वदा आदर करता रहे।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. सू. अ. ३१—

एतानि रिष्टरूपाणि सम्यक् बुध्येत यो भिषक् ।
साध्याऽसाध्यपरीक्षायां स राज्ञः संमतो भवेत् ॥७॥

तथा भगवान् चरक के शब्दों में—च. इ. अ. ११—

पादाः समेताः चत्वारः सम्पन्नाः साधकैः गुणैः ।
व्यर्था गतायुषो, द्रव्यं विना नास्ति गुणोदयः ।२७।

तथा—परीक्ष्यमायुः भिषजा नीरुजस्यातुरस्य च ।
आयुर्ज्ञानफलं कृत्स्नं आयुर्ज्ञे ह्यनुवर्त्तते ॥२८॥

भावार्थ—आयु रहने पर ही चिकित्सा सफल होती है अतः चिकित्सा करते समय आयुः का ज्ञान उक्त लक्षणों द्वारा करलेना आवश्यक है ॥१३१॥

मृत्यु का मुख्य कारण—

मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात् ।
तयोरप्यक्षयाद्दृष्टं विषमाऽपरिहारिणाम् ॥१३२॥

व्याख्या—प्राणियों की मृत्यु आयुः का अथवा पुण्य-सुकृत का अथवा आयु एवं पुण्य दोनों का क्षय हो जाने पर होती है परन्तु उक्त दोनों का क्षय न होने पर भी मिथ्या आहार एवं विहार करने से मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. सू. अ. ३१—

विषमेणोपचारेण कर्मभिश्च पुरा कृतैः ।
अनित्यत्वात् च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत्॥३०॥१३२॥

इति अष्टाङ्गहृदये शारीरस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ।५।

षष्ठोऽध्यायः

अथातो दूतादिविज्ञानीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब दूतादि विज्ञानीय शारीर की व्याख्या करेंगे इस सम्बन्ध में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च० इ० अ० ५ एवं १२ में, सु. सू. अ. २९ तथा अ. सं. शा. ११ में देखिए।

दूत का सामान्य फल—

पाखण्डाश्रमवर्णानां सवर्णाः कर्मसिद्धये ।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥१॥

व्याख्या—पाखण्ड, आश्रम तथा वर्ण के समान पक्ष के दूत चिकित्सा की सिद्धि के हेतु होते हैं और इनके विपरीत दूत चिकित्सा की विपत्ति अर्थात् विफलता के हेतु होते हैं।

वक्तव्य—पाखण्ड का पर्याय पाषण्ड शब्द भी है। पाषण्डाः सर्व लिङ्गिनः--इत्यमरकोषः। पालनात् च त्रयी धर्मः "पा" शब्देन निगद्यते। तं खण्डयन्ति ते तस्मात् पाखण्डाः तेन हेतुना। इति अमरव्याख्यासुधायां पाठः। सर्वाणि च तानि लिङ्गानि, सर्वेषां लिङ्गानि वा सर्वलिङ्गानि सन्ति तेषां ते सर्वलिङ्गिनः इति व्याख्यासुधा। वेदविरुद्ध सम्प्रदायों के अनुयायी पाखण्ड कहे जाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम कहे जाते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र ये चार वर्ण कहे जाते हैं। जिस पाखण्ड, आश्रम अथवा वर्ण का रोगी हो उसी पाखण्ड, आश्रम अथवा वर्ण का दूत शुभ होता हैं और इसके विपरीत अशुभ होता है। जो चिकित्सक को बुलाने अथवा रोगी का समाचार देने जाता है उसका नाम "दूत" है। "स्यात् सन्देशहरो दूत" इति अमरः। दूतस्याऽपि जातिवेशभाषाचेष्टितदेशकाला, वैद्यस्य च तत्संगमसंकल्पप्रस्थानप्रयाणप्रवेशाग्रहचारः पूर्वसम्भवः स्वप्रदर्शनानि च रोगिणः शुभाऽशुभं सूचयन्ति (अ०सं०शा० अ० १२)। सारांश यह है कि दूत की जाति एवं वेश आदि का प्रभाव रोगी के शुभाऽशुभ का सूचक होता है अतः उस पर ध्यान देना चाहिये ॥१॥

अप्रशस्त दूत—

दीनं भीतं द्रुतं त्रस्तं रूक्षाऽमङ्गलवादिनम् ।
शस्त्रिणं दण्डिनं षण्ढं मुण्डश्मश्रुजटाधरम् ॥२॥
अमङ्गलाह्वयं क्रूरकर्माणं मलिनं स्त्रियम् ।
अनेकं व्याधितं व्यङ्गं रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥३॥
तैलपङ्काङ्कितं जीर्णविवर्णार्द्रैकवाससम् ।
खरोष्ट्रमहिषारूढं काष्ठलोष्टादिमर्दिनम् ॥४॥
नानुगच्छेद्भिषग्दूतमाह्वयन्तं च दूरतः ।

व्याख्या—जो दूत—दीन (दरिद्र) हो, भयभीत हो, दौड़कर आया हो, त्रस्त—उद्विग्न (घबराया हुआ) हो, रूखे एवं अमंगल—अशुभ वचन बोल रहा हो, शस्त्र लिये हो, दण्ड लिये हो, षण्ढ—नपुंसक हो, मुण्डी (शिर मुण्डा) हो, दाढ़ी एवं जटा बढ़ाए हो, अशुभ नामवाला

हो, क्रूर कर्म करने वाला हो, मैला कुचैला हो, स्त्री हो, अनेक रोगियों का समाचार लेकर आया हो, व्यङ्ग–विकृत अंग वाला (लंगड़ा– काना आदि) हो, लाल वर्ण की माला पहिने हो, लाल वर्ण का तिलक आदि लेप किये हो, तैल लगाए हो, कीचड़ से लथपथ हो, पुराना विकृत वर्ण का गीला एवं एक वस्त्र पहिने हो, गधा, ऊण्ट अथवा भैंसा पर सवार होकर आया हो, काष्ठ—लकड़ी अथवा ढेला आदि तोड फोड़ रहा हो अथवा दूर से ही वैद्य को बुला रहा हो उस दूत के साथ वैद्य न जावे (क्योंकि ये लक्षण अशुभ सूचक होते हैं) ॥२-४॥

दूताऽऽगमन का अप्रशस्त समय—

अशस्तचिन्तावचने नग्ने छिन्दति भिन्दति ॥५॥
जुह्वाने पावकं पिण्डान् पितृभ्यो निर्वपत्यपि ।
सुप्ते मुक्तकचेऽभ्यक्ते रुदत्यप्रयते तथा ॥६॥
वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम् ।

व्याख्या—जिस समय चिकित्सक–निन्दनीय चिन्तन कर रहा हो तथा वचन कह रहा हो, नग्न हो, कुछ काट रहा हो, कुछ फोड़ रहा हो, अग्नि में आहुति डाल रहा हो, पितरों के निमित्त पिण्डदान कर रहा हो, सो रहा हो, केश खोले हो, तैल का अभ्यंग कर रहा हो, रो रहा हो, अथवा किसी कार्य में प्रयत्न शील न हो या पवित्र न हो उस समय जो दूत आते हैं वे मरने वालों के होते हैं । (अशुभ सूचक होते हैं) ॥५-६॥

दूताऽऽगमन का अप्रशस्त काल आदि—

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक् ॥७॥
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ।

व्याख्या—ज्वर आदि रोग के तुल्य गुणवाले देश में अथवा काल में आए दूत को देखकर उस रोगी की चिकित्सा न करे ।

वक्तव्य—विकार सामान्य गुण वाला देश—यथा रक्तपित्त नामक रोग में जलती अग्नि के समीप का देश–स्थान, अतिसार में वह देश जहाँ पानी का बांध टूट रहा हो आदि आदि, काल–कफजनित रोगों में घृत दूध आदि स्निग्ध द्रव्यों के क्रयविक्रय का समय, ज्वर में मध्याह्न काल आदि आदि ॥७॥

दूत के अङ्ग स्पर्श आदि का वर्णन—

स्पृशन्तो नाभिनासास्यकेशरोमनखद्विजान् ॥८॥
गुह्यपृष्ठस्तनग्रीवाजठरानामिकाङ्गुलीः ।
कार्पासबुससीसास्थिकपालमुशलोपलम् ॥९॥
मार्जनीशूर्पचैलान्तभस्माङ्गारदशातुषान् ।
रज्जूपानत्तुलापाशमन्यद्वा भग्नविच्युतम् ॥१०॥
तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मरिष्यताम् ।

व्याख्या—वैद्य के समक्ष आकर नाभि, नासा, मुख के भीतरी भाग, केश, रोम, नख, दन्त, गुह्य अवयव, पीठ, स्तन, ग्रीवा, उदर, अनामिका नामक अंगुली (कनिष्ठा के समीप की अंगुली), रूई, भुस्सा, सीसक धातु, अस्थि कपाल (कपालास्थि), मुशल, पत्थर, झाडू, सूप, वस्त्र के अन्तिम भाग, भस्म, अंगार, बत्ती अथवा वस्त्र के अग्रभाग के बम्बल, तुष, रस्सी, जूता, तराजू, पाश (फाही–जाल) अथवा इस प्रकार के अन्यान्य पदार्थ अथवा टूटे फूटे ढीले पदार्थ का सर्व प्रथम स्पर्श करते हुए दूत रोगी की मृत्यु के सूचक होते हैं ॥८–१०॥

दूत के समय आदि का वर्णन –

तथार्धरात्रे मध्याह्ने सन्ध्ययोः पर्ववासरे ॥११॥
षष्ठीचतुर्थीनवमीराहुकेतूदयादिषु ।
भरणीकृत्तिकाऽऽश्लेषापूर्वाऽऽर्द्रापैत्र्यनैर्ऋते ॥१२॥
यस्मिंश्च दूते ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् ।
पश्येन्निमित्तमशुभं तं च नानुव्रजेद्भिषक् ॥१३॥

व्याख्या—तथा आधी रात, मध्याह्न, प्रातः सन्ध्या, सायं सन्ध्या, पर्व के दिन, षष्ठी, चतुर्थी, नवमी तिथि, राहु केतु के उदय के समय, भरणी, कृत्तिका, आश्लेषा, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वा भाद्रपदा, आर्द्रा, मघा अथवा मूल नामक नक्षत्र में जो दूत आते हैं वे भी रोगी की मृत्यु के सूचक होते हैं । जब दूत रोगी का समाचार कहने लगे तब यदि अशुभ शकुन हो तो भी वैद्य उस दूत के साथ (चिकित्सा करने) न जाय॥११-१३॥

अशुभ शकुन—

तद्यथा विकलः प्रेतः प्रेतालङ्कार एव वा ।
छिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसि वा ॥१४॥
रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् ।
स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वाऽन्यदपि तादृशम् ॥१५॥
तत्सर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा पुनः ।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ॥१६॥

व्याख्या—अशुभ शकुन हैं–लँगड़ा एवं काना आदि का दिखना, मृत का अथवा मृत के कफन आदि का दिखना, अथवा छिन्न (कटा हुआ द्रव्य), दग्ध (जला हुआ द्रव्य), विनष्ट (टूटा फूटा द्रव्य) दिखाई देना अथवा इस प्रकार के वचन सुनाई देना, मरिच आदि कटु रस वाले द्रव्य की प्राप्ति, अथवा शव की सी भीषण गन्ध का अनुभव, दुखदायी स्पर्श होना, अथवा अन्यान्य इस प्रकार के अपशकुन रोगी का समाचार कहने के पूर्व

अथवा कहते समय होना अथवा ऐसें काल में दूत का आना देख कर वैद्य उस रोगी की चिकित्सा न करे ॥१६॥

अन्यान्य अशुभ शकुन—

हाहाक्रन्दितमुत्क्रुष्टमाक्रुष्टं स्खलनं क्षुतम् ।
वस्त्राऽऽतपत्रपादत्रव्यसनं व्यसनीक्षणम् ॥१७॥
चैत्यध्वजानां पात्राणां पूर्णानां च निमज्जनम् ।
हतानिष्टप्रवादाश्च दूषणं भस्मपांसुभिः ॥१८॥
पथश्छेदोऽहिमार्जारगोधासरटवानरैः ।
दीप्तां प्रतिदिशं वाचः क्रूराणां मृगपक्षिणाम् ॥१९॥
कृष्णधान्यगुडोदश्विल्लवणासवचर्मणाम् ।
सर्षपाणां वसातैलतृणपङ्केन्धनस्य च ॥२०॥
क्लीबक्रूरश्वपाकानां जालवागुरयोरपि ।
छर्दितस्य पुरीषस्य पूतिदुर्दर्शनस्य च ॥२१॥
निःसारस्य व्यवायस्य कार्पासादेररेरपि ।
शयनासनयानानामुत्तानानां तु दर्शनम् ॥२२॥
न्युब्जानामितरेषां च पात्रादीनामशोभनम् ।

व्याख्या—हाय हाय करके रोना, ऊँचे ऊँचे कोसना या त्रास युक्त रोना, चिल्लाना (या मैथुनार्थ पुरुष द्वारा स्त्री को और स्त्री द्वारा पुरुष को बुलाना), फिसलना, छींक होना, वैद्य अथवा अन्य के वस्त्र, छाता तथा जूता का व्यसन (फटना, फँसना, टूटना, खोया जाना आदि) शराबी आदि व्यसनी का दिखना, चैत्य का, ध्वज का तथा पूर्ण जल आदि से भरे पात्रों का गिरना, डूबना, मर गया, चोट लगी, आदि अनिष्ट शब्द सुनना, मार्ग में वैद्य पर भस्म या धूलि पड़ना, अथ च सर्प, बिल्ली, गोह, किरला अथवा वानर द्वारा मार्ग कटना—मार्ग लाँघना, जिधर सूर्य हो अथवा दक्षिण दिशा की ओर सिंह कौवा आदि क्रूर मृगों तथा पक्षियों का बोलना। मार्ग में—काले धान्य, गुड़, काञ्जी, नमक, आसव, चमड़ा, सरसों, वसा, तैल, तृणों, कीचड़, इन्धन, नपुंसक, कसाई आदि क्रूर मानव, श्वपाक (चाण्डाल), जाल, वागुरा (फाही) उल्टी, पुरीष, दुर्गन्ध युक्त पदार्थ, भीषण आकार वालों, सारहीन पदार्थ, मैथुन, कपास एवं भुस्सा आदि, शत्रु और उलटी खटिया-पलंग, उलटे आसन तथा उलटे गाडी-टांगा आदि यान दिखना तथा दूसरे कटोरा घड़ा आदि उलटे-अधोमुख पात्रोंका दिखना अशुभ होता है॥१७-२२॥

अन्यान्य शकुन—

पुंसंज्ञाः पक्षिणो वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः ॥२३॥
प्रदक्षिणं खगमृगा यान्तो नैवं श्वजम्बुकाः ।
अयुग्माश्च मृगाः शस्ताः शस्ता नित्यं च दर्शने ॥२४॥
चाषभासभरद्वाजनकुलच्छागबर्हिणः ।

व्याख्या—पुमान् नाम से प्रसिद्ध बटेर आदि पक्षियों का बाईं ओर और स्त्री नाम से प्रसिद्ध मैना आदि का दाहिनी ओर दिखना शुभ है। पक्षियों एवं मृगों का दाहिनी ओर जाना और कुत्ता एवं सियार का बाईं ओर जाना शुभ है। ३-५-७-९-आदि अयुग्म संख्या में मृगों का दिखाना शुभ है। और चाष, भास (श्वेत चील), भरद्वाज नामक पक्षियों का, नकुल का, बकरा तथा मोर का सब ओर दिखना सदा शुभ है ॥२३,२४॥

अशुभ शकुन—

अशुभं सर्वथोलूकबिडालसरटेक्षणम् ॥२५॥

व्याख्या—उल्लु, बिल्ली तथा किरला का दिखना सर्वथा अशुभ है ॥२५॥

प्रशस्ताः कीर्त्तने कोलगोधाहिशशजाहकाः ।
न दर्शने न विरुते, वानरर्क्षावतोऽन्यथा ॥२६॥

व्याख्या—सूअर, गोह, सर्प, खरगोश तथा जाहक प्राणी का बोलना शुभ है परन्तु दिखना तथा रोना शुभ नहीं है और वानर एवं भालू का बोलना अशुभ है और दिखना तथा रोना शुभ है।

वक्तव्य—जाहक के स्थान में "चातक" पाठ भी है अष्टाङ्गसंग्रह का पाठ है—शशसर्पाऽजाऽविकगोधादाहक-सूकराणां तु कीर्त्तनम् इष्टं, न दर्शनं विरुतं च, विपरीतम् ऋक्षवानरयोः। सर्वमपि च अनिष्टं सरटकुक्कुटविडालो-लूकानाम्। शा० अ० १२। इस पाठ के अनुसार सरट आदि का बोलना, दिखना एवं रोना सब अशुभ है ॥२६॥

इन्द्र धनुष का दर्शन—

धनुरैन्द्रं च लालाटमशुभं, शुभमन्यतः ।

व्याख्या—इन्द्र धनुष का सामने दिखना अशुभ है और दाएँ बाएँ दिखना शुभ है।

रोगीगृह में प्रवेश के समय शकुन—

अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च ॥२७॥
दध्यक्षतादि निर्गच्छद् वक्ष्यमाणं च मङ्गलम् ।
वैद्यो मरिष्यतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥२८॥

व्याख्या—मरने वालों के घर में प्रवेश करते समय वैद्य—अग्नि से भरे टूटे तथा खाली पात्रों को देखता है और देखता है कि दही एवं चावल आदि (जो अग्रिम श्लोक ३०-३६ में कहे जाएंगे) पदार्थ घर से बाहिर लेजाए जारहे हैं ॥२७-२८॥

वैद्य का कर्त्तव्य—

दूताद्यसाधु दृष्ट्वैवं त्यजेदार्तमतोऽन्यथा ।
करुणाशुद्धसन्तानो ज्ञातस्तमुपा ॥२९॥

व्याख्या—उक्त प्रकार के अशुभ दूत एवं शकुन आदि को देख कर रोगी की चिकित्सा करना प्रारम्भ न करे इसके विपरीत शुभ दूत आदि को देख कर- करुणा-दया से पूर्ण हृदयवाला होकर यत्नपूर्वक चिकित्सा करे ॥ २९ ॥

शुभ शकुन—

दध्यक्षतेक्षुनिष्पावप्रियङ्गुमधुसर्पिषाम् ।
यावकाञ्जनभृङ्गारघण्टादीपसरोरुहाम् ॥३०॥
दूर्वार्द्रमत्स्यमांसानां लाजानां फलभक्षयोः ।
रत्नेन पूर्णकुम्भानां कन्यायाःस्यन्दनस्य च ॥३१॥
नरस्य वर्धमानस्य देवतानां नृपस्य च ।
शुक्लानां सुमनोवालचामराम्बरवाजिनाम् ॥३२॥
शङ्खसाधुद्विजोष्णीषतोरणस्वस्तिकस्य च ।
भूमेः समुद्धतायाश्च वह्नेः प्रज्वलितस्य च ॥३३॥
मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च ।
नृभिर्धेन्वाः सवत्सायाः वडवायाः स्त्रिया अपि ॥३४॥
जीवञ्जीवक सारङ्ग सारस प्रियवादिनाम् ।
रुचकादर्शसिद्धार्थ रोचनानां च दर्शनम् ॥३५॥
गन्धः सुसुरभिर्वर्णः सुशुक्लो मधुरो रसः ।
गोपतेरनुकूलस्य स्वनस्तद्वद्गवामपि ॥३६
मृगपक्षिनराणां च शोभिनां शोभना गिरः ।
छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिष्टुतिः ॥३७॥
भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुण्याहनिःस्वनाः ।
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः ॥३८॥
पथि वेश्मप्रवेशे च विद्यादारोग्यलक्षणम् ।

व्याख्या—दही, चावल, ईख, मटर, फुलप्रियगु, मधु घृत, यावक (उबले हुए जौ या महावर), अञ्जन-सुर्मा भृंगार (सुराही या सोना का जलभाण्ड), घण्टा, दीपक, कमल, दूब, गीली मछली तथा गीला (ताजा) मांस, लावा (खिल), फल तथा लड्डू आदि भक्ष्य, रत्न, हाथी, जलपूर्ण घड़ा, कन्या, रथ, धन एवं सम्मान आदि से बढ़ता हुआ-भाग्यवान् मानव, देवता, राजा, श्वेत फूल, श्वेत चमर, श्वेत वस्त्र, श्वेत घोड़ा, शंख, साधु—सज्जन मानव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, उष्णीष (पगड़ी, टोपी आदि शिरोवस्त्र), तोरण-बन्दनवार, स्वस्तिक (सतिया का चित्र), जोती—वाही हुई भूमि, जलती हुई अग्नि, मनोहर अन्न तथा पान, मानवों से भरी गाड़ी, बछड़ा वाली गौ, बछेरा वाली घोड़ी, बच्चा वाली स्त्री, जीवञ्जीवक पक्षी, सारङ्ग पक्षी, सारस पक्षी, प्रियवादी (चातक) नामक पक्षी, रुचक (अंगूठी—कंगन) आदर्श (दर्पण), सरसों तथा गोरोचन का दिखना शुभ होता है। सुगन्धित गन्ध, श्वेत वर्ण, मधुर रस, शान्त साँड तथा गौ का स्वर (रम्भना), शुभ मृगों का, बोलना, छत्र का, ध्वज (बड़ा झण्डा) तथा पताका (छोटी झण्डी) का उत्क्षेपण (तानना—खड़ा करना—लहराना), स्तुति-प्रशंसा, भेरी (ढोल-धौंसा) का, मृदंग का तथा शंख का बजना, पुण्य-पवित्र वाणियों का उच्चारण, वेदपाठ की ध्वनि, सुखदायक शीतल, मन्द एवं सुगन्ध और अनुकूल वायु का बहना। ये सब शकुन वैद्य के मार्ग में तथा रोगी के घर में प्रविष्ट होते समय-आरोग्य सूचक समझे जाते हैं ॥३०-३८॥

उपसंहार—

इत्युक्तं दूतशकुनं स्वप्नानूर्ध्वं प्रचक्ष्महे ॥३९॥

व्याख्या—इस प्रकार शुभ तथा अशुभ दूतों एवं शकुनों का वर्णन कर दिया गया। आगे स्वप्नों का वर्णन किया जाता है ॥४२॥

स्वप्न विचार—

स्वप्ने मद्यं सह प्रेतैर्यः पिबन् कृष्यते शुना ।
स मर्त्यो मृत्युना शीघ्रं ज्वररूपेण नीयते ॥४०॥
रक्तमाल्यवपुर्वस्त्रो यो हसन् ह्रियते स्त्रिया ।
साऽस्रपित्तेन महिषश्ववराहोष्ट्रगर्दभैः ॥४१॥
यः प्रयाति दिशं याम्यां मरणं तस्य यक्ष्मणा ।
लता कण्टकिनी वंशस्तालो वा हृदि जायते ॥४२॥
यस्य तस्याशु गुल्मेन यस्य वह्निमनर्चिषम् ।
जुह्वतो घृतसिक्तस्य नग्नस्योरसि जायते ॥४३॥
पद्मम् नश्यत्कुष्ठेन चण्डालैः सह यः पिबेत् ।
स्नेहं बहुविधं स्वप्ने स 'प्रमेहेण' नश्यति ॥४४॥
उन्मादेन जले मज्जेद्यो नृत्यन् राक्षसैः सह ।
अपस्मारेण यो मर्त्यो नृत्यन् प्रेतेन नीयते ॥४५॥
यानं खरोष्ट्रमार्जारकपिशार्दूलसूकरैः ।
यस्य प्रेतैः शृगालैर्वा स मृत्योर्वर्तते मुखे ॥४६॥
अपूपशष्कुलीजग्ध्वा विबुद्धस्तद्विधं वमन् ।
न जीवत्यक्षिरोगाय सूर्येन्दुग्रहणेक्षणम् ॥४७॥
सूर्याचन्द्रमसोः पातदर्शनं दृग्विनाशनम् ।

व्याख्या—स्वप्न में जो रोगी प्रेतों के साथ बैठ कर मद्य पीता है और कुत्तों द्वारा खींचा-घसीटा जाता है उसकी ज्वर से मृत्यु हो जाती है। जो लाल फूलों की माला पहिनता है शरीर को लाल रंग से रंगा देखता है, लाल वस्त्र पहिनता है, हँसता है और स्त्री द्वारा खींचा जाता है उसकी रक्तपित्त द्वारा मृत्यु हो जाती है। जो भैंसा, कुत्ता, सूअर, ऊँट पर अथवा गधा पर चढ़ कर दक्षिण दिशा को जाता है उसकी राजयक्ष्मा से

मृत्यु हो जाती है। जिसके हृदय प्रदेश पर- काण्टों वाली लता-बेल, बाँस अथवा ताड़ उत्पन्न हो जाता है उसकी गुल्मरोग से मृत्यु हो जाती है। जो ज्वाला रहित अग्नि में आहुतियाँ डालता है, नंगा होकर शरीर पर घृत का सेवन करता है और उसके वक्षः स्थल पर कमल उग आता है उसकी कुष्ठ से मृत्यु हो जाती है। जो चाण्डालों के साथ बैठ कर घृत तैल आदि अनेक प्रकार के स्नेहों का पान करता है उसकी प्रमेह से मृत्यु हो जाती है। जो राक्षसों के साथ नाचता हुआ जल में डूब जाता है या डुबकी लगाता है उसकी उन्माद रोग से मृत्यु हो जाती है। जो नाचता हुआ प्रेत (मृत) द्वारा खींचा—घसीटा जाता है उसकी अपस्मार द्वारा मृत्यु हो जाती है। जो रोगी—गधा, ऊँट बिल्ली, बन्दर, शार्दूल तथा सूअर के साथ अथवा प्रेतों अथवा सियारों के साथ चलता है या उन पर चढ़ कर चलता है उस की मृत्यु हो जाती है। जो स्वप्न में मालपूआ-रोटी अथवा कचौरी खाता है और जागने पर वैसी ही वमन करता है वह जीवित नहीं रहता। स्वप्न में सूर्य अथवा चन्द्रमा का ग्रहण देखना नेत्ररोगों का कारण और इनका पतन देखना का दृष्टिनाश (अन्धापन) का कारण होता है ॥४८॥

अन्यान्यदुःस्वप्न—

मूर्ध्नि वंशलतादीनां सम्भवो वयसां तथा ॥४८॥
निलयो मुण्डता काक-गृध्राद्यैः परिवारणम्।
तथा प्रेतपिशाचस्त्रीद्रविडाऽऽन्ध्रगवाशनैः ॥४९॥
सङ्गो वेत्रलतावंशतृणकण्टकसङ्कटे।
श्वभ्रश्मशानशयनं, पतनं पांसुभस्मनोः ॥५०॥
मज्जनं जलपङ्कादौ शीघ्रेण स्रोतसा हृतिः।
नृत्यवादित्रगातानि रक्तस्रग्वस्त्रधारणम् ॥५१॥
वयोऽङ्गवृद्धिरभ्यङ्गो विवाहः श्मश्रुकर्म च।
पक्वान्नस्नेहमद्याशः प्रच्छर्दनविरेचने ॥५२॥
हिरण्यलोहयोर्लाभः कलिर्बन्धपराजयौ।
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः ॥५३॥
हर्षो भृशं प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम्।
प्रदीपग्रहनक्षत्र दन्तदैवतचक्षुषाम् ॥५४॥
पतनं वा विनाशो वा, भेदनं पर्वतस्य च।
कानने रक्तकुसुमे पापकर्मनिवेशने ॥५५॥
चितान्धकारसम्बाधे जनन्यां च प्रवेशनम्।
पातः प्रासादशैलादेर्मत्स्येन ग्रसनं तथा ॥५६॥
काषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम्।
रक्ताक्षाणां च कृष्णानां दर्शनं जातु नेष्यते ॥५७॥

व्याख्या—स्वप्न में-शिर पर बांस, लता एवं झाड़ियों की उत्पत्ति होना, अथवा पक्षियों का बैठना या घोंसला बनाना, अथवा शिर का मुण्डन अथवा कौवा एवं गिद्ध आदि पक्षियों द्वारा घिर जाना तथा प्रेतों, पिशाचों, स्त्रियों, द्रविड़ों, (द्रविड़ देश के निवासियों), आन्ध्रों (आन्ध्र देश के निवासियों), अथवा गोमांस भक्षकों द्वारा घिर जाना, बेतों के, लताओं के, बाँसों के, तृणों के तथा कांटों के झुरमुट में फस जाना तथा गड्ढा एवं श्मशान में सोना, धूलि तथा भस्म में गिरना, जल अथवा कीचड़ में डूबना या डुबकी लगाना, शीघ्रवाही नदी-नाला में बह जाना, नाचना, बजाना, तथा गाना, लाल फूलों की माला तथा वस्त्रों का धारण, वयस् की वृद्धि (युवक बूढ़ा हो जाय या बाल युवा हो जाय), तथा अंगों की वृद्धि (संख्या या परिमाण में वृद्धि), अभ्यङ्ग, विवाह, क्षौर कर्म, पक्वान्न भक्षण, स्नेह पान, मद्य पान, वमन, विरेचन, सोना, अथवा लोह का लाभ (प्राप्ति-मिलना) कलह (लड़ाई झगड़ा), बँध जाना, पराजित होना, दोनों जूते खो जाना, पाँव के चर्म का गिर जाना, बहुत हर्ष, प्रकुपित पितरों द्वारा झिड़का जाना, और दीपक, सूर्य आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र (तारा), दन्त, देव-मूर्ति तथा नेत्र का गिरना अथवा विनाश, पर्वत का फटना और वन में, लाल पुष्प में, पापियों के घर में, चिता में, अन्धकार में, भीड़ में, संकट में अथवा माता के गर्भाशय में प्रवेश, प्रासाद (छत) पर से अथवा पर्वत पर से गिरना (वृक्ष आदि पर से भी) मछली द्वारा निगला जाना, और कषायवस्त्र धारियों का क्रूरों का, नग्नों का, दण्ड धारियों का, लाल लाल आँख वालों का तथा काले वर्ण वालों का दिखना किसी भी दशा (स्वास्थ्य एवं रोग) में शुभ नहीं है ॥४९-५७॥

मृत्यु सूचक स्वप्न—

कृष्णा पापाऽऽननाहारा दीर्घकेशनखस्तनी।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥५८॥

व्याख्या—स्वप्न में—काले वर्ण वाली, दुर्मुखी, दुराचारिणी, लम्बे केशों, नखों, तथा स्तनों वाली, विकृत वर्ण वाली, माला तथा विकृत वर्ण वाले वस्त्रों वाली स्त्री का दिखना काल रात्रि (के समान) माना जाता है ॥५८॥

दुःस्वप्न का हेतु—

मनोवहानां पूर्णत्वात्स्रोतसां प्रबलैर्मलैः।
दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ॥५९॥
अरोगः संशयं प्राप्य कश्चिदेव विमुच्यते।

व्याख्या—अत्यन्त प्रकुपित वातादि दोषों द्वारा मनोवाही स्रोत भर जाने से उक्त प्रकार के दारुण भीषण

स्वप्न दिखते हैं जिसके कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है। और स्वस्थ भी रोगी हो जाता है तथा कोई कोई ही रोग मुक्त हो पाता है ॥५९॥

स्वप्नों के सात भेद—

दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा ॥६०॥
भाविको दोषजश्चेति स्वप्नः सप्तविधो मतः ।

व्याख्या—स्वप्न (सुपना) सात प्रकार का माना जाता है १—दृष्ट (दिन में या सोने के पूर्व देखा गया) २—श्रुत (सुना हुआ-घटनाचक्र), ३—अनुभूत (शेषेन्द्रिय ज्ञात-त्वग्, जिह्वा तथा घ्राण नामक इन्द्रियों द्वारा जाना हुआ) ४—प्रार्थित (याचित अभिलषित पदार्थ), ५—कल्पित (मन से कल्पना की गई-सोचा विचारा गया विषय), ६—भाविक होनहार भावी शुभ या अशुभ का सूचक) तथा ७—दोषज (वातादि की वृद्धि के समय आने वाले सुपने)।

वक्तव्य—चरक के शब्दों में स्वप्न का लक्षण—

नाति प्रसुप्तः पुरुषः सफलान् अफलान् अपि ।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ।

च०इं०अ०५। अर्थात् जब मानव गहरी निद्रा में नहीं होता तब दशों इन्द्रियों के ईश-प्रेरक मन द्वारा वह अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। कभी श्रोत्रेन्द्रिय से सुनता, चक्षुरिन्द्रिय से देखता है, त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का अनुभव करता है, रसनेन्द्रिय से रस का और घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का अनुभव करता है, वागिन्द्रिय से बोलता है-बड़बड़ाता है, हस्तेन्द्रिय से पकड़ता है, गुदेन्द्रिय से पुरीष का (एवं मूत्र का) त्याग करता है, उपस्थेन्द्रिय (शिश्न एवं भग) से शुक्र का त्याग करता है यही सुप्रसिद्ध स्वप्नदोष है जिसमें शुक्र स्खलन हो जाता है और पादेन्द्रिय से चलता है इस प्रकार दस इन्द्रिय के स्वप्न दोष होते हैं और मनस् नामक इन्द्रिय से सुख दुःख का अनुभव होता है यथा स्वप्न में डर लगता है, क्रोध एवं शोक आदि का अनुभव होता है। ये ११ प्रकार के स्वप्नदोष हैं परन्तु अधिकतर उपस्थ का स्वप्नदोष अधिक होता है वह भी युवावस्था में अथवा रात्रि के भोजन में शुक्र वर्द्धक मलाई एवं दुग्ध आदि के सेवन से अथवा उत्कट मैथुनाभिलाष से। पाठक विश्वास करें कि स्वप्नदोष पुमान् एवं स्त्री दोनों को होता है और ऋतुस्नाता स्त्री को तो कभी कभी गर्भाधान भी हो जाता है भले ही वह अस्थि आदि पैतुक गुणों से हीन होता है। देखिये सु०शा०अ० २ श्लो० ४८—४९। शय्यामूत्र जो प्रायः बालक बालिकाओं को होता है और स्वप्नदोष जो युवक युवतियों को होता है वह सब स्वप्न के दोष हैं ॥६०॥

विफल एवं सफल स्वप्न—

तेष्वाद्या निष्फलाः पञ्च यथास्वप्रकृतिर्दिवा ॥६१॥
विस्मृतो दीर्घह्रस्वोऽतिपूर्वरात्रे चिरात्फलम् ।
दृष्टः करोति तुच्छं च गो सर्गे तदहर्महत् ॥६२॥
निद्रया वाऽनुपहतः प्रतीपैर्वचनैस्तथा ।

व्याख्या—उन सात प्रकार के स्वप्नों में आदिम ५ स्वप्न तो निष्फल होते हैं और जो स्वप्न वातादि प्रकृति के अनुसार होते हैं, दिन में आते हैं, भूल जाते हैं, बहुत लम्बे अथवा बहुत छोटे होते हैं वे सब भी निष्फल होते हैं। अन्तिम दो प्रकार के स्वप्न सफल होते हैं वे भी जो रात्रि के पूर्व भाग में आते हैं उनका फल चिर काल के पश्चात् होता है तथा तुच्छ अर्थात् स्वल्प फल होता है और प्रातः काल का स्वप्न उसी दिन बहुत बड़ा फल देता है और जिस स्वप्न को देख कर पुनः निद्रा नहीं आती और जो स्वप्न प्रतिकूल वचनों से उपहत नहीं होता उसका भी उसी दिन बहुत बड़ा फल (शुभ अथवा अशुभ फल) होता है ॥६१,६२॥

स्वप्न विषयक अन्यान्य विचार—

याति पापोऽप्यफलतां दानहोमजपादिभिः ॥६३॥
अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः ।
पश्येत्सौम्यं शुभं तस्य शुभमेव फलं भवेत् ॥६४॥

व्याख्या—पाप—अशुभ स्वप्न का अशुभ फल विधि पूर्वक दान, हवन तथा जप आदि करने से स्वल्प हो जाता है। अशुभ स्वप्न को देख कर जो पुनः सो जाता है और उसमें शुभ स्वप्न देखता है अथवा सुख दायक स्वप्न देखता है उसका फल शुभ होता है। और शुभ स्वप्न को देख कर पुनः अशुभ स्वप्न देखता है उसका अशुभ फल होता है ॥६४॥

शुभ स्वप्न—

देवान् द्विजान् गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान् ।
साधून् यशस्विनो वह्निमिद्धं स्वच्छान् जलाशयान् ॥६५॥
कन्याः कुमारकान् गौरान् शुक्लवस्त्रान्सुतेजसः ।
नराशनं दीप्ततनुं समन्ताद्रुधिरोक्षितम् ॥६६॥
यः पश्येल्लभते यो वा छत्रादर्शविषामिषम् ।
शुक्लाः सुमनसो वस्त्रममेध्यालेपनं फलम् ॥६७॥
शैलप्रासादसफलवृक्षसिंहनरद्विपान् ।
आरोहेद्गोऽश्वयानं च, तरेन्नदह्रदोदधीन् ॥६८॥
पूर्वोत्तरेण गमनमगम्यागमनं मृतम् ।
सम्बाधान्निःसृतिर्देवैः पितृभिश्चाऽभिनन्दनम् ॥६९॥
रोदनं पतितोत्थानं द्विषतां चावमर्दनम् ।
यस्य स्यादायुरारोग्यं वित्तं बहु च सोऽश्नुते ॥७०॥

व्याख्या—स्वप्न में जो देवताओं द्विजों, साँढो, जीवित मित्रों, राजाओं, सज्जनों, यशस्वियों, इन्धन युक्त अग्नि, निर्मल जल के जलाशयों, कन्या, बालकों, गौर वर्ण वालों, श्वेत वस्त्र वालों, तेजस्वियों अथवा देदीप्यमान शरीर वाले रक्त से सिञ्चित शरीरवाले राक्षसों को देखता है और जो छत्र, दर्पण, विष; मांस, श्वेत फूलों श्वेत वस्त्र, अपवित्र (पुरीष आदि) पदार्थ के लेपन को अथवा आम्र आदि फलों को प्राप्त करता है, और जो पर्वत, भवन, फलवाले वृक्ष, सिंह, मानव की पीठ, हाथी, अथवा गौ-बैल की तथा घोड़ा की गाड़ी पर चढ़ता है, जो नद नदी, झील, तथा समुद्रको तैर कर पार करता है, जो पूर्वोत्तर की ओर जाता है, जो अगम्या नारी से सहवास करता है, जो-मति-मरण को देखता है, भीड़ संकट में से निकल जाता है, जिसका देवताओं एवं पितरों द्वारा अभिनन्दन होता है, जो रोता है, जो गिर कर उठ खड़ा होता है तथा जो शत्रुओं का मर्दन करता है वह आयु को, आरोग्य को तथा बहुत धन को प्राप्त करता है भोगता है ॥६५-७०॥

रोगी के घर की शुभ अवस्था—

मङ्गलाचारसम्पन्नः परिवारस्तथाऽऽतुरः ।
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च प्रभूतव्ययसङ्ग्रहः ॥७१॥

सत्त्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु ।
चिकित्सायामनिर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ॥७२॥

व्याख्या—जहा—घर वाले तथा रोगी शुभ आचार, आहार-विहार या आचरण से युक्त हों और श्रद्धालु हों, अनुकूल हों (कहना माननेवाले हों,), जहाँ पर्याप्त द्रव्यों-उपयोगी पदार्थों का संग्रह हो, सत्त्वगुणी लक्षण हों, वैद्य एवं द्विजातियों में भक्ति हो तथा चिकित्सा कर्म में उत्साह हो यह सब आरोग्य प्राप्ति के लक्षण हैं ॥७१,७२॥

शारीर स्थान का उपसंहार—

इत्यत्र जन्ममरणं यतः सम्यगुदाहृतम् ।
शरीरस्य तत स्थानं शारीरमिदमुच्यते ॥७३॥

इति श्री वैद्यपतिसिंहगुप्तसूनोर्वाग्भटस्य कृतावष्टाङ्गहृदय-संहितायां शारीरस्थानं समाप्तम् ।

व्याख्या—उक्त प्रकार से इस स्थान-प्रकरण में शरीर का जन्म (उत्पत्ति प्रकार) तथा मरण भली-भाँति कहा गया है इसलिये यह स्थान "शारीर" कहलाता है ।

वक्तव्य—इस विषय का विशद वर्णन देखिये—चरक शारीर स्थान के आठ अध्याय तथा इन्द्रिय स्थान के १२ अध्यायों तथा सुश्रुत शारीर स्थान तथा सूत्रस्थान के अध्याय २९ में ॥७३॥

इत्यष्टाङ्गहृदये शारीरस्थाने षष्ठोऽध्यायः

शारीरस्थान समाप्त ।

अष्टाङ्गहृदये-निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः सर्वरोगनिदानं व्याख्या यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अत्र सब रोगों के सामान्य निदान की व्याख्या करेंगे । इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च० नि० अ० १ में, सु० सू० अ० ३५ में तथा अ० सं० नि० अ० १ में देखिये । हेतुलक्षणनिर्देशात् निदानानि (सु० सू० अ० ३) अर्थात् हेतु एवं लक्षण का निर्देश जिससे हो वह निदान कहलाता है ।

रोग मात्र के नाम—

रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः ।
यक्ष्माऽऽतङ्कगदाऽऽबाधशब्दाः पर्यायवाचिनः । १ ॥

व्याख्या—रोग, पाप्मा, ज्वर, व्याधि, विकार, दुःख, आमय, यक्ष्मा, आतंक, गद, तथा आबाध । ये सब शब्द पर्याय वाचक हैं ।

वक्तव्य—अत्र व्याधिः, आमयः, गदः, आतंकः, यक्ष्मा, ज्वरः, विकारः, रोगः इत्यनर्थान्तरम् । च० नि० अ० १ । अर्थात् इन शब्दों में अर्थ का अन्तर नहीं है, सब रोगमात्र के नाम हैं जो कि शास्त्र में व्यहारार्थ प्रयुक्त किये गये हैं । ज्वर रोगमात्र का भी नाम है और बुखार का भी और यक्ष्मा राजयक्ष्मा का भी नाम है और रोग मात्र का भी । जब किसी प्रकार के दुःख का अनुभव होता है तब समझा जाता है कि कोई न कोई रोग है ।।१।।

रोगों का विज्ञान—

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ २ ॥

व्याख्या—रोगों का विज्ञान ५ प्रकार का माना जाता है यथा—१. निदान, २. पूर्वरूप, ३. रूप, ४. उपशय तथा ५. सम्प्राप्ति ।

वक्तव्य—तस्योपलब्धिः निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशय सम्प्राप्तितः (च० नि० अ० १) अर्थात् रोग का ज्ञान निदान, पूर्वरूप, लिंग, उपशय तथा सम्प्राप्ति से होता है । रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः (सु० सू० अ० १) प्रत्येक रोग का निश्चय एवं निर्णय निदान आदि के द्वारा किया जाता है और निदान आदि श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा प्रश्न द्वारा जान लिये जाते हैं । २।।

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ।
निदानमाहुः पर्यायैः प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ३ ॥
उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।
लि ङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम् ॥ ४ ॥
तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ।
संस्थानं व्यञ्जनं लि ङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥ ५ ॥

निदान के पर्यायवाची शब्द हैं—१. निमित्त, २. हेतु, ३. आयतन, ४. प्रत्यय, ५. उत्थान, ६. कारण तथा ७. निदान । पूर्वरूप—जिस से उत्पन्न होने वाला रोग जाना जाता है उसे पूर्वरूप या प्राग्रूप कहते हैं परन्तु वह रोग व्यक्त रूप से वातादि दोष द्वारा अधिष्ठित नहीं होता । और उस समय वह लक्षण अव्यक्त होता है क्योंकि व्याधियाँ अल्प स्वल्प होती हैं । पूर्वरूपावस्था में व्याधि भी अल्प होती है अतः उस के लक्षण भी अव्यक्त—अस्पष्ट होते हैं । रूप—वही पूर्वरूप जब व्यक्त—स्पष्ट हो जाता है तब "रूप" कहलाता है । रूप के पर्यायवाची शब्द हैं—१. संस्थान, २. व्यञ्जन, ३. लिङ्ग, ४. लक्षण, ५. चिह्न तथा ६. आकृति ।

वक्तव्य—रोगोत्पादको हेतुः निदानम् (मधुकोश व्याख्या) अर्थात् रोगजनक कारण का नाम निदान है । निदान दो प्रकार का होता है १—विप्रकृष्ट जिससे दोषों का प्रकोप या वैषम्य होता है यथा-इह खलु, हेतुः, निमित्तं आयतनं, कर्त्ता, कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम् । तत् निदानं त्रिविधम् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति (च० नि० अ० १) । २—सन्निकृष्टकारण यथा—सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ।। श्लोक १६) । पूर्वरूप—पूर्वरूपं प्राक् उत्पत्तिलक्षणं व्याधेः (च० नि० अ० १) तथा भाविव्याधिबोधकंलिंग पूर्वरूपम् (मधुकोश व्याख्या) अर्थात् भावी—भविष्य में उत्पन्न होने वाली व्याधि का लक्षण "पूर्व रूप" कहलाता,

है। रूप-प्रादुर्भूतलक्षणं पुनः लिंगम् (च० नि० अ० १) अर्थात् प्रादुर्भूत उत्पन्न व्याधि का लक्षण "रूप" कहलाता है। अष्टाङ्ग हृदय के पाठ उतने स्पष्ट नहीं हैं और अतिव्याप्ति आदि दोषों युक्त हैं, यथा—वात ज्वर के पूर्वरूप—तथा अतिसार के पूर्वरूप देखिये—॥३-५॥

उपशय का वर्णन—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ६ ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।
विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याऽभिसंज्ञितः ॥ ७ ॥

व्याख्या—हेतु (कारण-निदान) तथा व्याधि (रोग) के विपरीत प्रतिकूल तथा विपरीत अर्थ (प्रयोजन को रोक करने वाले औषध, अन्न (आहार) तथा विहार के सुखावह उपयोग (प्रयोग—सेवन) का नाम व्याधि का "उपशय" है। उपशय का पर्यायवाची शब्द "सात्म्य" है। उपशय के विपरीत का नाम "अनुपशय" है उस का पर्यायवाची शब्द है "असात्म्य"।

वक्तव्य—उपशयः पुनः हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां च औषध-अन्न-विहाराणामुपयोगः सुखानुबन्ध (च. नि. अ. १) तथा—सात्म्यं नाम तत् यत् आत्मनि उपशेते सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः (च. वि अ. १)। उपशय से भी रोग का निदान-निर्देश होता है कभी २ जब रोग के लक्षण गूढ़ होते हैं—यथा गूढ़लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत् (च. नि. व. ४)। ६,७॥

सम्प्राप्ति का वर्णन—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार से दुष्ट-प्रकुपित—विकृत विषम हुए तथा शरीर में एक स्थान से दूसरे तीसरे आदि स्थान में सर्पण—गमन करते हुए वातादि दोष से रोग की उत्पत्ति होती है, उसका नाम सम्प्राप्ति है। उस के पर्यायवाची शब्द हैं—जाति तथा आगति।

वक्तव्य—शास्त्र में जो रोगों की उत्पत्ति का प्रकार लिखा गया है उसका नाम सम्प्राप्ति है यथा—ज्वर की सम्प्राप्ति—अ. २श्लो० ३--४--५ में वर्णित है ॥८॥

सम्प्राप्ति के भेद—

सङ्ख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ।
सा भिद्यते, यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ९ ॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत १०
हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥११॥

व्याख्या—सम्प्राप्ति के ५ भेद हैं—१. संख्या, २. विकल्प, ३. प्राधान्य, ४. बल तथा ५ व्याधिकाल। संख्यासम्प्राप्ति—रोगों की संख्या का उल्लेख जैसे ज्वर आठ हैं ऐसा कहा जायगा। विकल्प सम्प्राप्ति—मिले हुए दोषों की अंश-अंश कल्पना का नाम "विकल्प" है। अर्थात् एक व्याधि में कौन दोष कितनी मात्रा में है इस का विचार या निश्चय करना "विकल्प सम्प्राप्ति" है दोषों के लक्षणों की न्यूनाधिकता देख कर ऐसा निश्चय किया जाता है। स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता के विचार से व्याधि का प्राधान्य (प्रधानता) निश्चित किया जाता है। इसी को च० वि० अ० ६ में—स्वतन्त्र व्याधि का अनुबन्ध कहा गया है। यथा—स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवति अनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणः तु अनुबन्धः। तथा—प्राधान्यं पुनः दोषाणां तारतम्याभ्यामुपलभ्यते। तत्र द्वयोः तरः त्रिषु तम इति। च० नि० अ० १। हेतु—निदान तथा पूर्वरूप एवं रूप की पूर्णता (समग्रता) से व्याधि को बलवान् तथा उनके अवयव (अपूर्णता) से व्याधि को अबल समझा जाता है। इस विचार द्वारा जो निश्चय होता है उस का नाम "बल" सम्प्राप्ति है। काल सम्प्राप्ति—रात्रि के तीन भागों से, दिन के तीन भागों से, ग्रीष्म आदि आदि ६ ऋतुओं के तीन भागों से तथा भोजन परिपाक के तीन भागों से वातादि दोषों की वृद्धि को देख कर व्याधिकाल का जो निश्चय किया जाता है उस का नाम "काल" सम्प्राप्ति है।

वक्तव्य—उक्त सब निदान, पूर्वरूप एवं रूप आदि के द्वारा रोग का निश्चय सावधान होकर करना चाहिये। देखिए सू. अ० १ का २१ वाँ श्लोक तथा उसका वक्तव्य ॥९-११॥

उपसंहार—

इति प्रोक्तो निदानार्थः तं व्यासेनोपदेक्ष्यति ।

व्याख्या—इस प्रकार निदान का अर्थ भली भाँति कह दिया गया है और निदान का वर्णन विस्तार से आगे निदान स्थान भर में किया जायगा।

वक्तव्य—इति अर्थ संग्रहो निदानस्थानस्य उद्दिष्टो भवति। तं विस्तरेण उपदिशन्तो भूयस्तरमतोऽनुव्याख्यास्यामः। च.नि. अ. १—१८।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥१२॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।
अहितं त्रिविधो योगस्त्रयाणां प्रागुदाहृत ॥१३॥

व्याख्या—कुपित-विकृत वातादि दोष ही सब रोगों का निदान-कारण हैं। परन्तु उन वातादि के प्रकोप का निदान है अनेक प्रकार के अहित (हानि कारक आहार विहारों) का सेवन। और अहित है जो सूत्रस्थान अ० १ श्लोक १८ में काल (परिणाम), अर्थ (शब्द आदि विषय) तथा कर्म (काय वाक्—मनः प्रवृत्ति) का तीन प्रकार का (हीनयोग: मिथ्यायोग तथा अतियोग) योग कहा गया है।

वक्तव्य—और सू. अ. १२ में 'तेषां कोपे तु कारणम्। अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम्' आदि पाठ से स्पष्ट किया गया है देखिए श्लो०—३२ से ४० तक॥१२,१३॥

वात प्रकोप का निदान—

तिक्तोषणकषायाल्परूक्षप्रमितभोजनैः।
धारणोदीरणनिशाजागरात्युच्चभाषणैः॥१४॥
क्रियातियोगभीःशोक चिन्ताव्यायाममैथुनैः।
ग्रीष्माहोरात्रिभुक्तान्ते प्रकुप्यति समीरणः॥१५॥

व्याख्या—तिक्त, कटु, कषाय रस वाले द्रव्यों के सेवन से, अल्प, रूक्ष तथा प्रमित (धान्यं पुनरनिष्पन्नं ज्ञेयं तत् प्रमिताशनम्। अतीतकालं यद्भुक्तं) भोजन का सेवन करने से, मूत्र आदि के वेगों का धारण तथा प्रेरण करने से, अधिक काम करने से, भय से, शोक से, चिन्ता से, व्यायाम से तथा मैथुन से और ग्रीष्म ऋतु में, दिन के अन्तिम तिहाई भाग में, रात्रि के अन्तिम तिहाई भाग में तथा आहार पाक के अन्त में वायु प्रकुपित होता है।

वक्तव्य—प्रमित का अर्थ है सदा एकही प्रमाण-तौल में खाना भूख की न्यूनाधिकता का विचार न करना॥१४,१५॥

पित्तं कट्वम्लतीक्ष्णोष्णपटुक्रोधविदाहिभिः।
शरन्मध्याह्नरात्र्यर्धविदाहसमयेषु च॥१६॥

व्याख्या—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण, क्रोध तथा विदाह कारक भोजन करने से, शरद् ऋतु में, मध्याह्न में, आधीरात (मध्य रात्रि) में तथा भोजन के परिपाक के मध्यभाग में पित्त प्रकुपित होता है॥१६॥

कफ प्रकोप का निदान—

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वभिष्यन्दिशीतलैः।
आस्यास्वप्नसुखाजीर्णदिवास्वप्नातिबृंहणैः॥१७॥
प्रच्छर्दनाद्ययोगेन भुक्तमात्रवसन्तयोः।
पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे च श्लेष्माद्वन्द्वं तु सङ्करात्॥१८॥

व्याख्या—मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी तथा शीतल भोजनों के सेवन से, आस्या (बैठे रहना) से, सोने से, सुखोपभोग से, अजीर्ण से, दिन में सोने से तथा अत्यन्त पुष्टिकारक पदार्थों के सेवन से, वमन आदि न करने से, भोजन के परिपाक के प्रारम्भ काल में, वसन्त ऋतु में, दिन के प्रथम भाग में तथा रात्रि के प्रथम भाग में कफ कुपित होता है। और दो दो दोषों के प्रकोपक आहार विहार का सेवन करने से दो दो दोष प्रकुपित होते हैं॥१७,१८॥

त्रिदोष कोप का निदान—

मिश्रीभावात्समस्तानां सन्निपातस्तथा पुनः।
सङ्कीर्णाजीर्णविषमविरुद्धाध्यशनादिभिः॥१९॥
व्यापन्नमद्यपानीयशुष्कशाकाऽऽममूलकैः।
पिण्याकमृद्यवसुरापूतिशुष्ककृशामिषैः॥२०॥
दोषत्रयकरैस्तैस्तैस्तथाऽन्नपरिवर्तनात्।
ऋतोर्दुष्टात्पुरोवाताद् ग्रहावेशाद्विषाद् गरात्॥२१॥
दुष्टान्नात् पर्वताश्लेषाद् ग्रहैर्जन्मर्क्षपीडनात्।
मिथ्यायोगाच्च विविधात्पापानां च निषेणात्॥२२॥
स्त्रीणां प्रसववैषम्यात्तथा मिथ्योपचारतः।

व्याख्या—सब दोषों को प्रकुपित करने वाले उक्त आहार विहारों को मिला कर सेवन करने से सन्निपात—(तीनों दोष) प्रकुपित होता है और संकीर्ण (मिले जुले अनेक आहार), अजीर्ण (अपाक), विषम तथा विरुद्ध आदि भोजनों से, बिगड़े हुए मद्य तथा जल का पान करने से, सूखे शाक तथा कच्ची मूली खाने से, पिण्याक (तिल कल्क-तिलकुट), मन्द वीर्य यव सुरा के पान से तथा दुर्गन्ध युक्त (सड़े हुए), सूखे एवं कृश (अपुष्ट) मांस का सेवन करने से, त्रिदोष-कारक उन उन (कच्चा दही राब एवं सर्षप शाक आदि) पदार्थों का सेवन करने से, आहार में सहसा परिवर्त्तन होने पर, ऋतु दूषित होने से, पूर्व दिशा का वायु चलने से, ग्रहों की क्रूर दृष्टि से, विषभक्षण से, गरविष का प्रकोप होने से, दूषित अन्न खाने से, पर्वत की तराई में रहने से, ग्रहों द्वारा जन्म नक्षत्र का पीडन होने से, अनेक प्रकार के मिथ्यायोगों से, पापकर्म करने से—पापियों के साथ रहने से, नारियों को प्रसव की विषमता होने से तथा प्रसूतावस्था में उचित उपचार न होने से सन्निपात त्रिदोष का प्रकोप होते है१९-२२।

सब रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति—

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः॥२३॥
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते!

व्याख्या—इस प्रकार प्रकुपित वात आदि दोष—रोगों के अधिष्ठानों में जाने वाली रसायनियों के द्वारा शरीर में जाकर विविध विकार उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—उक्त तीन ही दोष—उक्त कारणों से प्रकुपित होकर—शरीर के भिन्न स्थानों में पहुँचकर भिन्न २ प्रकार के ज्वर एवं रक्त पित्त आदि अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं।२७।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब ज्वर निदान की व्याख्या करेंगे इस सम्बन्ध में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इसका वर्णन—च०नि०अ० १, चि०अ०३ में, सु०उ०अ० ३९ तथा अ०सं०नि०अ० २ में देखिये ॥२॥

ज्वरो रोगपतिः पाप्मा मृत्युरोजोऽशनोऽन्तकः।
क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः॥१॥
जन्मान्तयोर्मोहमयः सन्तापात्माऽपचारतः।
विविधैर्नामभिः क्रूरो नानायोनिषु वर्तते॥२॥

व्याख्या—ज्वर नामक रोग—रोगपति(रोगों में प्रधान) है, पाप्मा (पाप स्वभाव वाला) है, मृत्यु (मृत्यु का हेतु) है, ओजोशन (ओजस्-बल का नाशक) है, अन्तक (मृत्यु कारक है) क्रोध (दक्ष द्वारा अपमानित भगवान् रुद्र के कोप से उत्पन्न हुआ) है, दक्षाध्वरध्वंसी (दक्ष के यज्ञ का ध्वंस करने वाला) है, रुद्रोर्ध्वनयनोद्भव (रुद्र के उपर वाले—तीसरे नेत्र से उत्पन्न हुआ) है, जन्म एवं मृत्यु के समय मोह रूप है,सन्तापात्मा (सन्ताप ही उसका स्वरूप) है और नाना प्रकार के अपचारों—मिथ्या आहार विहारों से उत्पन्न हो जाता है, इसके पाकल आदि अनेक नाम हैं, क्रूर—नृशंस है, दुश्चिकित्स्य है, अनेक—हस्ती आदि योनियों में भी होता है।

वक्तव्य—ज्वर के भिन्न २ योनियों में भिन्न भिन्न नाम—पाकलस्तद्गजेभानामभितापो हयेषु च।

> गवां गोकर्णकश्चैव पक्षिणां मकरः तथा।
> वान्तादानमलर्कः स्यात् अब्जेष्विन्द्रमदः स्मृतः।
> औषधीषु तथा ज्योतिः चूर्णको धान्यजातिषु।
> जलेषु नीलिका भूमौ—ऊषो नृणां ज्वरो मतः।
> इति सर्वाङ्गसुन्दरायां पाठः।

सारांश यह है कि ज्वर नामक रोग केवल मानव जाति को ही नहीं होता अपि तु प्राणीमात्र को होता है और उसके प्रभाव को देव एवं मनुष्य प्राणी ही सह सकते हैं अन्य कोई प्राणी नहीं ॥१, २॥

ज्वर की सम्प्राप्ति—

स जायतेऽष्टधा दोषैः पृथङ्मिश्रैः समागतैः।
आगन्तुश्च मलास्तत्र स्वैः स्वैर्दुष्टा प्रदूषणैः॥३॥
आमाशयं प्रविश्याऽऽममनुगम्य पिधाय च।
स्रोतांसि, पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलनं बहिः।
सह तेनाभिसर्पन्तस्तपन्तः सकलं वपुः।
कुर्वन्तो गात्रमत्युष्णं ज्वरं निर्वर्तयन्ति ते॥५॥
स्रोतोविबन्धात्प्रायेण ततः स्वेदो न जायते।

व्याख्या—ज्वर की संख्या सम्प्राप्ति—वह ज्वर ८ प्रकार से उत्पन्न होता है। पृथक् २ दोषों से यथा—१. वायु से, २. पित्त से और ३. कफ से और मिले-जुले दो दो दोषों से यथा—१. वात-पित्त से, २. वात-कफ से तथा ३. पित्त-कफ से और एक तीनों दोषों के समागम सान्निपात से यथा—१. त्रिदोषज और २. आगन्तु यथा अभिघात आदि से।

ज्वर की सम्प्राप्ति—अर्थात् उत्पत्ति का प्रकार—यथा अपने अपने कारणों से (देखिये नि० अ० १ के १८ से २६ वें श्लोक) दूषित वातादि दोष आमाशय में प्रविष्ट हो कर (आमाशय में दूषित होकर) तथा आम रस का अनुगमन करके (उस में मिल कर तथा समस्त शरीर में जाकर) तथा रसवाही एवं स्वेदवाही स्रोतों में रुकावट डालकर तथा जठराग्निको पाचन संस्थान से बाहिर निकाल कर (समस्त शरीर में फैला कर) और उसके साथ साथ स्वयं भी फैलते हुए परिणामतः समस्त शरीर को सन्तत करते हुए—शरीर को अत्यन्त (स्वाभाविक दशा से अधिक) उष्ण करते हुए ज्वर नामक रोग को उत्पन्न करते हैं। और रसवाही एवं स्वेदवाही स्रोतों में रुकावट हो जाने के कारण प्रायः ज्वर में स्वेद नहीं आता।

वक्तव्य—शरीर गर्म होने पर स्वभावतः स्वेद आना चाहिए परन्तु स्रोतों में रुकावट हो जाने से ज्वर में गर्मी तो बढ़ जाती है किन्तु स्वेद नहीं आता। पित्त ज्वर में जो स्वेद आता है पह अपवाद न्याय से आता है। स्वेद आने पर ज्वर उतर जाता है अथवा घट जाता है परन्तु पित्त ज्वर में ज्वर बना रहता हैं ॥३—५॥

ज्वर के पूर्वरूप—

तस्य प्राग्रूपमालस्यमरतिर्गात्रगौरवम्॥६॥
आस्यवैरस्यमरुचिजृम्भासास्राकुलाक्षिता।
अङ्गमर्दोऽविपाकोऽल्पप्राणता बहुनिद्रता॥७॥
रोमहर्षो विनमनं पिण्डिकोद्वेष्टनं क्लमः।
हितोपदेशेष्वक्षान्तिः प्रीतिरम्लपटूषणे॥८॥
द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येषु तथा बालेषु तृड् भृशम्।

शब्दाग्निशीतवाताम्बुच्छायोष्णेष्वनिमित्ततः ॥९॥
इच्छा द्वेषश्च तदनु ज्वरस्य व्यक्तता भवेत् ।

व्याख्या—ज्वर का पूर्वरूप—आलस्य, बेचैनी—किसी कार्य में मन न लगना, शरीर में भारीपन का अनुभव, मुख में विरसता, भोजन में अरुचि, जम्भाई, नेत्रों से आँसू टपकना, नेत्रों में व्याकुलता, शरीर भर में वेदना, आहार न पचना, दुर्बलता, निद्रा की अधिकता, रोमाञ्च, अंगों का नमन, पिण्डलियों में ऐंठन, क्लम (ग्लानि), लाभदायक उपदेश अच्छे न लगना, अम्ल-रस, लवण तथा कटुरस में प्रेम, मधुर भोजनों में द्वेष-अरुचि, बालकों में भी द्वेष (उनका नाचना कूदना, हल्ला गुल्ला बुरा लगता है), अधिक प्यास और शब्द (गीत, वार्त्तालाप आदि) में, अग्नि तापने में, शीत, वायु;, जल, छाया तथा धूप आदि में बार बार इच्छा (अभिलाषा) तथा द्वेष होना। (इस दशा में सन्ताप नहीं रहता परन्तु इसके अनन्तर ज्वर व्यक्त हो जाता है।

वक्तव्य—ज्वरस्य पूर्वरूपाणि भवन्ति प्राक् सन्तापात् अपि चैनं सन्तापार्तमनुबध्नन्ति। च० नि० अ० १। यदि इस दशा में उचित उपचार नहीं किया जाता तो ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है ॥६-९॥

वात ज्वर का रूप—

आगमाऽपगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम् ॥१०॥
वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः ।
पादयोः सुप्तता स्तम्भः पिण्डिकोद्वेष्टनं श्रमः ॥११॥
विश्लेष इव सन्धीनां साद ऊर्वोः कटीग्रहः ।
पृष्ठं क्षोदमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम् ॥१२॥
छिद्यन्त इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः ।
हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः ॥१३॥
स्कन्धयोर्मथनं बाह्वोर्भेदः पीडनमंसयोः ।
अशक्तिर्भक्षणे हन्वोर्जृम्भणं कर्णयोः स्वनः ॥१४॥
निस्तोदः शङ्खयोःमूर्ध्नि वेदना विरसास्यत ।
कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम् ॥१५॥
रूक्षारुणत्वगास्याक्षिनखमूत्रपुरीषता ।
प्रसेकारोचकाश्रद्धाऽविपाकास्वेदजागराः १६॥
कण्ठौष्ठशोषस्तृट्शुष्कौ च्छर्दिकासौ विषादिता ।
हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथुग्रहः ॥१७॥
भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे ।

व्याख्या—ज्वर के आने में, उतरने में विषमता, वेदनाओं तथा उष्माओं में विषमता, शिर एवं पीठ आदि अवयवों में चल—चञ्चल—लहर के समान उठनेवाली वे वे विविध प्रकार की वेदना यथा—पावों का सोना तथा जकड़ना, पिण्डलियों में ऐंठना, थकावट, सन्धियों का विश्लेष—उठने बैठने आदि में असमर्थता ऊरुओं में शिथिलता, कटि में ग्रह—जकड़न (हूक—चूक), पीठ में क्षोद की प्रतीति (रोगी के शब्दों में चूर चूर हो जाने, टूटने पीटने की प्रतीति), उदर में पीडासी, अस्थियों में छेदन कीसी वेदना, विशेषतः पर्शुकाओं में वेदना, हृदय की गति में रुकावट (धमनी ठहर ठहर कर चलना), वक्षःस्थल में चुभने कीसी वेदना, कन्धों में मथने कीसी वेदना, बाहुओं में फटने कीसी वेदना, अंसफलकों में पीडने कीसी वेदना, चबाने में हनुओं की असमर्थता, जम्भाई कानों में साँय साँय शब्द, शंखों में चुभने कीसी वेदना, शिर में वेदना, मुख में विरसता, अथवा मुख में कसैलापन, पुरीष आदि मलों की प्रवृत्ति न होना, मुख पर, नेत्रों में, नखों में, मूत्र में तथा पुरीषमें रूखापन तथा कालापन लिये ललिमा, मुख से पानी जाना, अरुचि, भोजन की इच्छा न होना, अविपाक (अपच), स्वेद न होना, निद्रा न आना, कण्ठ तथा ओठों का सूखना तृषा, सूखी छर्दि (छर्दि—उबकाई होना परन्तु उसमें कुछ न निकलना) सूखी खाँसी, मानसिक विषाद (प्रसन्नता का अभाव), रोमों में, अंगों में तथा दन्तों में हर्ष-झनझनाहट), कम्पन, छींक का अभाव, भ्रम, प्रलाप, धूप में बैठने की इच्छा तथा अंगों में नमन। ज्वर में ये सब—समस्त अथवा व्यस्त लक्षण वायु के होते हैं।

वक्तव्य—आवश्यक नहीं कि सब लक्षण हों परन्तु यह सच है कि ये लक्षण वायु के हैं ॥१० १७॥

पित्त ज्वर का रूप—

युगपद्व्याप्तिरङ्गानां प्रलापः कटुवक्त्रता ॥१८॥
नासास्यपाकः शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा मदोऽरतिः ।
विट्स्रंसः पित्तवमनं रक्तष्ठीवनमम्लकः ॥१९॥
रक्तकोठोद्गमः पीतहरितत्वं त्वगादिषु ।
स्वेदो निश्वासवैगन्ध्यमतितृष्णा च पित्तजे ॥२०॥

व्याख्या—एक साथ या सहसा सब अंगों में ज्वर—सन्ताप की व्याप्ति, प्रलाप, मुख में कटुता, नासापाक, मुखपाक, शीत की अभिलाषा, भ्रम, मूर्च्छा, मद, बेचैनी, मलभेद (अतिसार), पित्त की (खट्टी, कडवी, हरी पीली) छर्दि, थूक में रक्त जाना, अम्ल उद्गार, लाल लाल कोठों की उत्पत्ति, त्वचा, नेत्र, मुख, नख, मूत्र एवं पुरीष में पीलापन तथा हरापन, स्वेद, निकालनेवाले श्वास में दुर्गन्ध तथा अत्यन्त तृषा। ज्वर में ये पित्त के लक्षण समस्त अथवा व्यस्त होते है ॥१८--२०॥

कफ ज्वर के लक्षण—

विशेषादरुचिर्जाड्यं स्रोतोरोधोऽल्पवेगता।
प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेपश्वासपीनसाः।।२१।।
हृल्लासश्छर्दनं कासः स्तम्भः श्वैत्यं त्वगादिषु।
अङ्गेषु शीतपिटिकास्तन्द्रोदर्दः कफोद्भवे।।२२।।

व्याख्या—विशेष रूप से अरुचि, जडता, रसवह एवं स्वेदवह स्रोतों का निरोध, ज्वर का वेग मन्द (अधिक ताप न होना), मुख से पानी जाना, मुख में मीठापन, हृदय लिपा सा प्रतीत होना, श्वास, प्रतिश्याय, मिचली, छर्दि, कास, अवयवों में स्तब्धता, त्वचा, नेत्र, मुख, नख, मूत्र तथा पुरीष में श्वेतता, अंगों—ग्रीवा वक्षः एवं उदर पर शीत (न पकने वाली) पिटिकाओं (सूक्ष्म सूक्ष्म फुन्सियाँ) की उत्पत्ति, तन्द्रा तथा उदर्द कफाधिक शीत पित्त)। ज्वर में ये कफ के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—एलोपैथी का टायफाइडज्वर पित्त ज्वर तथा मोतीझरा कफ ज्वर है पाठक ध्यान दें।।२१,२२।।

काल सम्प्राप्ति, उपशय तथा अनुपशय

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा।
निदानोक्ताऽनुपशयो विपरीतोपशायिता।

व्याख्या—काल सम्प्राप्ति—वात पित्त एवं कफ के अपने अपने काल में वात ज्वर, पित्त ज्वर एव कफ ज्वर की प्रवृत्ति—प्रारम्भ अथवा ज्वर की वृद्धि होती है। ज्वर का उपशय तथा अनुपशय—ज्वर का जो निदान कहा गया है वही ज्वर का अनुपशय होता है और निदान के विपरीत उपशय होता है।

वक्तव्य—निदान स्थान का प्रथम अध्याय और उसमें उपशय, अनुपशय तथा सम्प्राप्ति तथा उसके भेद देखिये

द्वन्द्वज ज्वरों का रूप—

यथास्वं लिङ्गसंसर्गज्वरः संसर्गजः, अपि च। २३

शिरोऽर्तिमूर्च्छावमिदाहमोह-
कण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदाः।
उनिद्रतातृड्भ्रमरोमहर्षा
जृम्भातिवाक्त्वं च चलात्सपित्तात्।।२४।।
तापहान्यरुचिपर्वशिरोरुक्,
पीनसश्वसनकासविबन्धाः।
शीतजाड्यतिमिरभ्रमतन्द्राः
श्लेष्मवात जनितज्वरलिङ्गम्।।२५।।
शीतस्तम्भस्वेददाहाऽव्यवस्था,
तृष्णाकासश्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः।
मोहस्तन्द्रालिप्ततिक्तास्यता च
ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य।।२६।।

व्याख्या—दो दो दोषों के लक्षणों का संसर्ग होने पर तीन संसर्गज-द्वन्द्वज ज्वर होते हैं यथा विशेषतः वात पित्त ज्वर के लक्षण-शिर में वेदना, मूर्च्छा, छर्दि, दाह, मोह, कण्ठ शोष (किसी किसी प्रति में कम्प पाठ है), मुख शोष, बेचैनी, पोरों में टूटने की सी वेदना (पर्व सन्धि), निद्रा नाश, तृषा, भ्रम, रोमहर्ष, जम्भाई तथा बहुत बोलना (प्रलाप बड़बड़ाना)। वात कफ जनित ज्वर के लक्षण—ज्वर के सन्ताप की अल्पता, अरुचि, सन्धियों तथा शिर में वेदना, पीनस, श्वास, कास, रसवह तथा स्वेदवह स्रोतों की रुकावट, शीत लगना, जड़ता, तिमिर (आँखों के आगे अन्धकार), भ्रम तथा तन्द्रा। पित्त कफ ज्वर के लक्षण—शीत लगना, शरीर में जकड़न स्वेद, दाह इन लक्षणों की अव्यवस्था, तृषा, कास, कफ पित्त की छर्दि मोह, तन्द्रा तथा मुख में चिपचिपाहट एवं तिक्तता।।२ -२६।।

त्रिदोष ज्वर का रूप—

सर्वजो लक्षणैः सर्वैर्दाहोऽत्र च मुहुर्मुहुः।
तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि।।२७।।
सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा।
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्।।२८।।
साश्रुणी कलुषे रक्ते भुग्ने लुलितपक्ष्मणी।
अक्षिणी पिण्डिकापार्श्वमूर्धपर्वास्थिरुग्भ्रमः।।२९।।
सस्वना सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवाचितः।
परिदग्धा खरा जिह्वा गुरुः स्रस्ताङ्गसन्धिता।।३०।।
रक्तपित्तकफष्ठीवो लालनं शिरसोऽतिरुक्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्।।३१।।
हृद्व्यथा मलसंसर्गः प्रवृत्तिर्वाऽल्पशोऽति वा।
स्निग्धास्यता बलभ्रंशः स्वरसादः प्रलापिता।।३२।।
दोषापाकश्चिरात्तन्द्रा प्रततं कण्ठकूजनम्।
सन्निपातमभिन्यासं तं ब्रूयाच्च हृतौजसम्।।३३।।

व्याख्या—सन्निपात ज्वर के लक्षण उक्त सब लक्षणों से युक्त परन्तु इसमें बार बार दाह तथा बार बार शीत होता है, दिन में गहरी निद्रा तथा रात्रि में जागरण अथवा दिन रात निद्रा अथवा निद्रा का सर्वथा अभाव, स्वेद अत्यधिक होता है अथवा होता ही नहीं। गाना, नाचना तथा हँसना आदि (उठ उठ कर भागना, कपड़े उतार फेंकना आदि) विकृत चेष्टाओं की प्रवृत्ति नेत्र आँसुओं से युक्त, मलिन, लाल अथवा टेढ़े हो जाते हैं उनके पक्ष्म लुलित-विचलित रहते हैं, पिण्डलियों में पसलियों में, शिर में, सन्धियों में तथा अस्थियों में वेदना भ्रम कानों में सायँ सायँ शब्द तथा वेदना, कण्ठ में तुष कण्टक फँसने की प्रतीति, जीभ जली सी, खरदरी तथा

गुरु, शरीर तथा सन्धियों में शिथिलता रक्त पित्त तथा कफ से मिश्रित थूक शिर का लोलन-लोठन हिलाते रहना अत्यन्त वेदना (पाठान्तर अतितृट् अत्यधिक प्यास ', काले, लाल, तथा गोल कोठों चकत्तों की उत्पत्ति हृदय में चुभने कीसी वेदना, स्वेद, मूत्र एवं पुरीष का सङ्ग-रुकना, अथवा उनकी प्रवृत्ति, अत्यन्त थोड़ा अथवा अत्यन्त अधिक होना, मुख पर चिकनापन, बलनाश, स्वर की शिथिलता (मूकता भी कभी कभी) अथवा प्रलाप बड़-बड़ाना व्यर्थ बोलना चिरकाल में (१५ से ५० दिन तक के पश्चात्) दोषों का पकड़ना, तन्द्रा तथा निरन्तर कण्ठ में ऊंह ऊंह की ध्वनि होना। जिस सन्निपात में ओजस् का नाश हो जाता है उसको "अभिन्यास" नामक सन्निपात कहना चाहिये।

वक्तव्य—वङ्गसेन में अभिन्यास ज्वर का लक्षण है—

यथा—निद्रोपेतमभिन्यासं क्षिप्रं विद्यात् हृतोजसम्।
अचिताऽऽमाशयकफे सन्निपातज्वरे दृढे।
शान्तेऽप्यवश्यं तस्याऽऽशु तन्द्रा समुपजायते।
अतिःखरसक्षीरदिवास्वप्ननिषेवणात्।
दुर्बलस्याऽल्पवातस्य जन्तोः श्लेष्मा प्रकुप्यति।
वायुमार्गं समावृत्य धमनीः अनुसृत्य सः।
तन्द्रां सुघोरां जनयेत् तस्या वक्ष्यामि लक्षणम्।
उन्मीलिते विनिर्भुग्ने परिवर्त्तिततारके।
भवतः तस्य नयने लुलिते चलपक्ष्मणी।
विवृताननदन्तौष्ठं मुहुरुत्तानशायिनः।
पिच्छिलाच्छिन्न तन्तुइव कण्ठात् श्लेष्माऽस्य गच्छति।
कण्ठमार्गोपरोधश्च वैकृतं चोपजायते।
सोऽर्वाक् त्रिरात्रात् साध्यः स्यात् असाध्यस्तु ततः परम्।
त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगा भृशम्।
आमाविबद्धा ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः।
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं नृणाम्।
प्रध्वस्तगात्रः श्वसिति न चेष्टां कांचिदीहते।
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने।
न च गन्धरसस्पर्शशब्दान् चाप्यवबुध्यते।
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णं आहारं नाऽभिनन्दति।
कूजते वुद्यते चैव प्रतिपत्तिश्च हीयते।
कलं प्रभाषते किञ्चित् किञ्चित्सन्दिग्धवाक्चिरात्।
न वा प्रभाषते किञ्चित् अभिन्यासः स उच्यते।
प्रत्याख्येयः स भूयिष्ठं कश्चिद्देवाऽत्र सिद्ध्यति।

दोषों का चिर से पकना - साम ज्वर के लक्षण बने रहना, देखिये श्लो० ५७—ज्वरोपद्रवतीक्ष्णत्व......सामज्वराकृतिः। साम ज्वर से विपरीत लक्षणों की उत्पत्ति ही दोष पाक का लक्षण है ॥२७-३३॥

त्रिदोषज ज्वर की कृच्छता एवं असाध्यता—

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः।
असाध्यः सोऽन्यथा कृच्छ्रो भवेद्वैकल्यदोऽपि वा ॥३४

व्याख्या—वातादि दोषों का विबन्ध रहने पर उनकी उचित प्रवृत्ति न होने पर, अग्नि मन्द होने पर - पाचक भ्राजक आदि सब अग्नियों की क्रिया मन्द हो जाने पर, सब तथा बलवान् लक्षणों से युक्त उक्त सन्निपात ज्वर "असाध्य" होता है, इस से विपरीत भी कष्टसाध्य अवश्य होता है, शान्त होजाने पर भी कभी कभी शरीर में किसी प्रकार दी वधिरता आदि विकलता उत्पन्न कर देता है ॥३४॥

दाहपूर्वक एवं शीतपूर्वक ज्वर—

अन्यच्च सन्निपातोत्थो यत्र पित्तं पृथक् स्थितम्।
त्वचि कोष्ठेऽथवा दाहं विदधाति पुरोऽनु वा ॥३५॥
तद्वद्वातकफौ शीतं, दाहादिर्दुस्तरस्तयोः।
शीतादौ तत्र पित्तेन कफे स्यन्दितशोषिते ॥३६॥
शीते शान्तेऽम्लको मूर्च्छा मदस्तृष्णा च जायते।
दाहादौ पुनरन्ते स्युस्तन्द्राष्ठीवविमिक्लमाः ॥३७॥

व्याख्या—एक सन्निपात ज्वर और होता है जिसमें पित्त दोष पृथक् रह कर त्वचा में अथवा कोष्ठ (हृदय आदि) में तथा ज्वर के पूर्व अथवा ज्वर के अन्त में दाह उत्पन्न करता है इसी प्रकार वात एवं कफ शीत उत्पन्न करते हैं। इन दोनों सन्निपात ज्वरों में दाह पूर्वक ज्वर कष्टसाध्य होता है इनमें शीत पूर्वक ज्वर में पित्त द्वारा जब कफ पिघल कर परिस्रुत तथा शोषित हो जाता है तब शोथ शान्त हो जाने पर अम्लक-अम्ल छर्दि, मूर्छा, मद तथा तृषा की उत्पत्ति हो जाती है और इसी प्रकार दाह पूर्वक में—वात कफ द्वारा पित्त की शान्ति हो जाने पर अन्त में तन्द्रा, ष्ठीवन (मुख से पानी जाना), छर्दि तथा क्लम की उत्पत्ति हो जाती है ॥३५-३७॥

आगन्तु ज्वर का वर्णन—

आगन्तुरभिघाताभिषङ्गशापाभिचारजः।
चतुर्धा, अत्र क्षतच्छेददाहाद्यैरभिघातजः ॥३८॥
श्रमाच्च तस्मिन्पवनः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं, सरुजं कुरुते ज्वरम् ॥३९॥
ग्रहावेशौषधिविषक्रोधभीशोककामजः।
अभिषङ्गाद् ग्रहेणास्मिन्नकस्माद्धासरोदने ॥४०॥
ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः।
विषान्मूर्च्छातिसारास्यश्यावतादाहहृद्रुजः ॥४१
क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजे।
कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्री-निद्रा-धी-धृति-क्षय. ॥४२॥

ग्रहादौ सन्निपात य भयादौ मरुतस्त्रये ।
कोप कोपेऽपि पित्तस्य यौ तु शापाऽभिचारजौ ॥४३॥
सन्निपातज्वरौ घोरौ तावसह्यतमौ मतौ ।
तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते ॥४४॥
पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः ।
सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः ॥४५॥

व्याख्या—आगन्तु ज्वर चार प्रकार का या चार कारणों से होता है यथा—१. अभिघात (चोट लगने से) से, २. अभिषङ्ग से, ३. अभिशाप से तथा ४. अभिचार से । इन में—अभिघातज ज्वर वह है जो क्षत-तलवार आदि के द्वारा क्षत होने से अथवा छेदन-अंग-छेद हो जाने से अथवा अग्नि एवं क्षार आदि द्वारा जल जाने से अथवा अनेक प्रकार के मार्ग गमन आदि श्रम से उत्पन्न होता है । इस ज्वर में प्रायः वायु प्रधान रहता है और वह रक्त मांस आदि को दूषित करता हुआ—व्यथा-वेदना, शोथ तथा विवर्णता एवं पीड़ा से युक्त ज्वर को उत्पन्न करता है । अभिषङ्गज ज्वर वह है जो देवादि ग्रहों के आवेश से, किसी२ औषधि की गन्ध से, विष के बहिः या अन्तः प्रयोग से, क्रोध से, भय से, शोक से अथवा काम से उत्पन्न होता है । इस ज्वर में—ग्रहावेश होने पर-रोगी हँसता अथवा रोता है अथवा घबराता तथा काम्पता है । जो ज्वर औषधि की गन्ध से उत्पन्न होता है उस में—मूर्च्छा, शिर में वेदना, वेपथु-कम्पन (श्वयथु तथा वमथु भी पाठान्तर है—श्वयथु-शोथ तथा वमथु-छर्दि) तथा छींक होती है । जो ज्वर विष से होता है उसमें—मूर्च्छा, अतिसार, मुख पर कालापन, दाह तथा हृदयग्रह (हृदय की गति में रुकावट) होता है जो ज्वर क्रोध से होता है उसमें कम्पन तथा शिर में वेदना होती है । जो ज्वर भय अथवा शोक से होता है उसमें प्रलाप होता है और कामज ज्वर में—भ्रम (या मोह-मूर्च्छा), अरुचि, दाह, लज्जा नाश, निद्रा नाश, बुद्धि नाश तथा धैर्य नाश हो जाता है । ग्रहावेश, औषधि गन्ध तथा विष से उत्पन्न ज्वर में सन्निपात का कोप होता है, भय, शोक तथा काम से उत्पन्न ज्वर में वायु का तथा—क्रोध से उत्पन्न ज्वर में पित्त का कोप होता है । और जो शाप एवं अभिचार से उत्पन्न होते हैं उनमें सन्निपात का कोप होता है और वे घोर-भीषण तथा असह्यतम-प्रायः मारक होते हैं इनमें—जिसके नाम से मारण मोहन एवं उच्चाटन आदि के मन्त्रों द्वारा हवन किया जाता है उसका प्रथम मनस् सन्तप्त होता है—ग्लानि एवं क्लेश का अनुभव होता है तत्पश्चात्-शरीर में सन्ताप-ज्वर हो जाता है और साथ में—विस्फोट, तृषा, भ्रम, दाह तथा मूर्छा नामक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और प्रतिदिन ज्वर बढ़ता जाता है ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—अभिचार एवं अभिशाप से उत्पन्न ज्वरों का विवरण-यथा—

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्त्तते ।
सन्निपातज्वरो घोरः स विशेषः सुदुःसहः ।
सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यद् तस्य तत् स्मृतम ।
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्त्तयोऽन्याश्च नैकधा ।
प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि ।
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा ।
वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके ।
यथा कर्म प्रयोगेण लक्षणं स्यात् पृथक् विधम् ॥११६-१२२। चि. अ. ३ ।

भावार्थ—सिद्धों द्वारा किये गये अभिचार से गुरुजनों द्वारा दिये गये शाप से ज्वर आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं उनके लक्षण भी विलक्षण होते हैं और निर्णय सुनकर अथवा अनुमान से किया जाता है तथा उपाय भी अभिचार एवं शाप के शान्ति कर्म द्वारा किया जाता है ॥३८-४५॥

उपसंहार एवं विधिभेद से ज्वर के भेद—

इति ज्वरोऽष्टधा दृष्टः समासाद् द्विविधस्तु सः ।
शारीरो मानसः सौम्यस्तीक्ष्णोऽन्तर्बहिराश्रयः ॥४६।
प्राकृतो वैकृतः साध्योऽसाध्यः सामो निरामकः ।

व्याख्या—इस प्रकार आठ प्रकार का ज्वर देखा गया है । और दूसरे दृष्टिकोण से—वह ज्वर दो दो प्रकार का देखा गया है—अर्थात् संक्षेप से वे सब ज्वर दो दो प्रकार के होते हैं यथा—१. शारीर अर्थात् वातादि शरीर दोषों के वैषम्य से उत्पन्न होने वाला और २. मानस अर्थात् रजो गुण तथा तमोगुण नामक मानसिक दोषों से उत्पन्न होने वाला । और १. सौम्य-शीत प्रधान तथा २. तीक्ष्ण—दाह प्रधान । और १. अन्तराश्रय-अन्तर्वेग तथा २. बहिराश्रय—बहिर्वेग । और १. प्राकृत—ऋतुस्वभाव के अनुसार होनेवाला तथा २. वैकृत—ऋतुस्वभाव के विपरीत होने वाला । और १. साध्य तथा २. असाध्य । और १. साम ज्वर तथा २. निराम ज्वर ॥४६॥

इन सब का विवरण इस प्रकार है—

पूर्वं शरीरे शारीरे तापो मनसि मानसे ॥४७॥
पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत् ।
दाहः पित्तयुते, मिश्रं मिश्रेऽन्तःसंश्रये पुनः ॥४८॥
ज्वरेऽधिकं विकाराः स्युरन्तःक्षोभो मलग्रहः ।
बहिरेव बहिर्वेगे तापोऽपि च सुसाध्यता ॥४९॥
वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्रायश्च प्राकृतोऽनिलात् ॥५०॥

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।
कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलं कफः ॥५१॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नाऽनशनाद्भयम् ।
कफो वसन्ते तमसि वातपित्तं भवेदनु ॥५२॥

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ।
सर्वथा विकृतिज्ञाने प्रागसाध्य उदाहृतः ॥५३॥

ज्वरोपद्रवतीक्ष्णत्वमग्लानिर्बहुमूत्रता ।
न प्रवृत्तिर्न विड् जीर्णा न क्षुत्सामज्वराकृतिः ॥५४॥
ज्वरवेगोऽधिकं तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥५५॥
जीर्णताऽऽमविपर्यासात्सप्तरात्रं च लङ्घनात् ।

व्याख्या—शारीर ज्वर में पहिले शरीर में सन्ताप होता है और मानस ज्वर में पहिले मन में सन्ताप होता है। वायु योगवाही है अतः जब वह कफ से मिश्रित होता है तब शीत होता है। और जब पित्त से मिश्रित होता है तब दाह होता है और जब दोनों से मिश्रित होता है तब शीत एवं दाह दोनों होते हैं। अन्तराश्रय ज्वर में—ज्वर के लक्षण अधिक होते हैं, कोष्ठ में क्षोभ—दाह—तीव्र दाह तथा पुरीष आदि मलों की रुकावट होती है। बहिराश्रय ज्वर में त्वचा में अधिक सन्ताप होता है तथा अन्तः क्षोभ तथा मलग्रह नहीं होता और यह ज्वर सुखसाध्य होता है। वर्षा ऋतु में वायु से शरद् ऋतु में पित्त से तथा वसन्त ऋतु में कफ से जो ज्वर होता है वह "प्राकृत" कहलाता है और वह सुख साध्य भी होता है। इस प्राकृत ज्वर से जो विपरीत होता है वह "वैकृत" कहलाता है और, वह कष्टसाध्य होता है। प्रायः वायु से उत्पन्न प्राकृतिक ज्वर भी कष्ट साध्य होता है। वर्षा ऋतु में वायु कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है उस के सहायक पित्त एवं कफ होते हैं। शरद् ऋतु में पित्त कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है उसका सहायक कफ होता है। इन ज्वरों में लंघन करने से कुछ भी भय (हानि) नहीं होता क्योंकि पित्त एवं कफ—स्वभाव से ही लंघनसहिष्णु होते हैं और इन दोनों ऋतुओं में विसर्ग काल होता है जो प्राणियों के बल की वृद्धि करता है (जिससे लंघन सहा जा सकता है) और वसन्त ऋतुमें कफ कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है और उसके सहायक वायु एवं पित्त उत्पन्न होते हैं। इस ज्वर में लंघन से भय हो सकता है क्योंकि वसन्त ऋतु में आदान काल होता है जो प्राणियों के बल का क्षय करता है। और असाध्य ज्वर का लक्षण विकृति विज्ञानीय अध्याय (शा० अ० ५) में पहिले कहा गया है। आम—साम ज्वर का लक्षण—ज्वर के उपद्रवों-लक्षणों की तीक्ष्णता, ग्लानि न हो, मूत्र की अधिकता, पुरीष की प्रवृत्ति न होना, अथवा जीर्ण—पक्व पुरीष की प्रवृत्ति न होना और न भूख लगना। पच्यमान ज्वर का लक्षण ज्वर का वेग बढ़ा रहता है, तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मल की प्रवृत्ति तथा मिचली। निराम ज्वर का लक्षण—उक्त सामज्वर के विपरीत दशा होने पर (सामज्वर के तथा पच्यमान ज्वर के लक्षण शान्त हो जाने पर) और लंघन पूर्वक सात रात्रि व्यतीत होने पर निराम ज्वर समझा जाता है।

वक्तव्य—चरक के शब्दों में निराम ज्वर का लक्षण—

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिः अष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ।१३७। च. चि. अ. ३'।
वैचित्त्यमरतिः ग्लानिः मनसः तापलक्षणम् ।३६। चि अ. ३।।

ज्वर के ५ भेद—

ज्वरः पञ्चविधः प्रोक्तो मलकालबलाबलात् ॥५६॥
प्रायशः सन्निपातेन भूयसा तूपदिश्यते ।
सन्तत सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥५७॥

व्याख्या—मल अर्थात् वातादि दोषों के अपने २ काल—कोप काल या वृद्धि काल में बलवान् अथच अन्य काल में अबलवान् अर्थात् मृदु होने के कारण ५ प्रकार का ज्वर कहा गया है और वह प्रायः सन्निपात अर्थात् तीनों दोषों की विकृति से होता है परन्तु दोष की अधिकता या प्रधानता से वातज, पित्तज तथा कफज आदि नाम से कहा जाता है। उस ज्वर के नाम हैं—१. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युः, ४. तृतीयक तथा ५. चतुर्थक।

वक्तव्य—ये ५ ज्वर भी उक्त वात ज्वर आदि ज्वरों में ही गिने जाते हैं और विषम ज्वर कहलाते हैं ॥५६,५७॥

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति—

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः ।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः ॥५८॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः ।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वा ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम् ॥५९॥

व्याख्या—वातादि दोष—रस आदि धातुओं, मूत्र तथा पुरीष का वहन करने वाले स्रोतों में व्याप्त होकर समस्त शरीर में सन्ताप उत्पन्न करते हुये और समान गुण वाले रस आदि धातुओं तथा देश एवं काल से बल शक्ति को प्राप्त कर फलतः बलवान् होकर, गुरु—(साम) तथा स्तब्ध—(निश्चल) होकर विशेषतः रसधातु में मिल कर और अन्य किसी दोष एवं देश आदि की प्रतिद्वन्द्विता प्रत्यनीकता न होने पर सन्तत ज्वर को उत्पन्न

करते हैं। यह ज्वर बहुत दुःसह—कष्टदायक तथा कष्टसाध्य होता है ॥५८,५९॥

सन्तत ज्वर का वर्णन—

मलं ज्वरोष्मा धातून्वा स शीघ्रं क्षपयेत्ततः।
सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याऽशुद्ध्याऽपि वा क्रमात्॥६०॥
वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादश वासरान्।
प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च॥६१॥
इत्यग्निवेशस्य मतं, हारीतस्य पुनः स्मृतिः।
द्विगुणा सप्तमी यावन्नवम्येकादशी तथा॥६२॥
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च।
शुद्ध्यशुद्धौ ज्वरः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते॥६३॥

व्याख्या—तदनन्तर ज्वर की ऊष्मा—अग्नि—मूत्र एवं पुरीष आदि मलों को अथवा रस आदि धातुओं को शीघ्र ही क्षीण कर देती है। इसी कारण से—रस आदि धातुओं की सब प्रकार से शुद्धि होने से—वात ज्वर सात दिन, पित्त ज्वर दस दिन तथा कफ ज्वर बारह दिन प्रायः बना रहता है और फिर शान्त हो जाता है और रसादि धातुओं की शुद्धि न होने से वात ज्वर सात दिन में, पित्त ज्वर दश दिन में तथा कफ ज्वर बारह दिन में मृत्यु का कारण होता है—मार डालता है, यह अग्निवेश का मत है। और हारीत का मत है कि रस आदि धातुओं की शुद्धि होने से—वात ज्वर १४ दिन में, पित्त ज्वर १८ दिन में तथा कफ ज्वर २२ दिन में शान्त हो जाता है और रसादि धातुओं की शुद्धि न होने से वात ज्वर १४ दिन में, पित्त ज्वर १८ दिन में तथा कफ ज्वर २२ दिन में मार डालता है।

उनकी कुछ शुद्धि तथा कुछ अशुद्धि रहने पर ज्वर दीर्घ काल पर्यन्त भी लगा रहता है।

वक्तव्य—सन्तत ज्वर की ये दोनों अवस्थायें देखी जाती हैं और यह भी देखा जाता है कि इससे भी दूनी मर्यादा हो जाती है अर्थात्—२८–३६ तथा ४४ दिन। इन दिनों में १—२ दिन का आगा पीछा भी देखा जाता है। अतएव—रसादि धातुओं की कुछ शुद्धि तथा कुछ अशुद्धि होने पर उक्त मर्यादा से अधिक काल पर्यन्त भी ज्वर बना रहता है। और इसमें प्रायः पित्त ज्वर के रक्त कोठों अथवा कफ ज्वर की शीत पिटिकाओं का उद्भव देखा जाता है। शेष दे० च० चि० अ० ३ श्लो० ५१–६० ॥६०-६३॥

विषम ज्वर की सम्प्राप्ति—

कृशानां व्याधिमुक्तानां मिथ्याहारादिसेविनाम्।
अल्पोऽपि दोषो दूष्यादेर्लब्ध्वाऽन्यतमतो बलम्॥६४॥
सविपक्षो ज्वरं कुर्याद्विषमं क्षयवृद्धिभाक्।
दोषः प्रवर्तते तेषां स्वे काले ज्वरयन् बली॥६५॥
निवर्तते पुनश्चैष प्रत्यनीकबलाऽबलः।

व्याख्या—कृशों का, व्याधिमुक्तों (जिनका ज्वर शान्त हो गया है) का तथा अपथ्य आहार विहार का सेवन करने वालों का अल्प भी दोष रस आदि दूष्यों तथा काल एवं प्रकृति में से किसी एक से बल पाकर, परन्तु किसी विपक्ष–प्रत्यनीक के कारण हीन बल होकर विषम ज्वर को उत्पन्न करता है वह विषम ज्वर बढ़ने एवं घटने वाला होता है। उन कृश आदि का दोष—अपने काल में बलवान् होकर प्रवृत्त होता है—ज्वर को उत्पन्न करता है और काल व्यतीत होने पर—विपक्ष—प्रत्यनीक के बल के कारण दुर्बल होकर निवृत्त हो जाता है ज्वर उतर जाता है।

वक्तव्य—दे० च० चि० अ० ३ श्लो० ६३—६४॥६४,६५॥

ज्वर में दोष का लय—

क्षीणे दोषे ज्वरः सूक्ष्मो रसादिष्वेव लीयते॥६६॥
लीनत्वात्कार्श्यवैवर्ण्य–जाड्यादीनादधाति सः।
आसन्नविवृतास्यत्वात्स्रोतसां रसवाहिनाम्॥६७॥
आशु सर्वस्य वपुषो व्याप्तिर्दोषेण जायते।
सन्ततःसततस्तेन विपरीतो विपर्ययात्॥६८॥
विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्।

व्याख्या—परन्तु सर्वथा शान्त नहीं होता अपितु—दोष का क्षय होने पर (बलहीन होने पर) ज्वर सूक्ष्म होकर रसादि धातुओं में ही लीन हो जाता है और लीन होने से वह कृशता, विवर्णता तथा जड़ता–गुरुता आदि बनाए रखता है, सर्वथा शान्त नहीं होता। रसवाही स्रोतों का मुख समीप तथा खुला हुआ होने के कारण दोष की व्याप्ति समस्त शरीर में शीघ्र शीघ्र होती रहती है इसलिये सन्तत ज्वर निरन्तर बना रहता है—उतरता नहीं है—केवल काल आदि के बलाबल के कारण घटता-बढ़ता रहता है। और सन्तत ज्वर के विपरीत दशा होने से—रक्त वाही स्रोतों का मुख दूर तथा सूक्ष्मतर होने से सतातादिनामक ज्वर सन्तत से विपरीत होता है अर्थात् सन्तत के समान निरन्तर नहीं बना रहता अतः वह विषम कहलाता है क्योंकि उसका प्रारम्भ विषम होता है यथा—कोई शिर से तो कोई पीठ से तो कोई जंघा से प्रारम्भ होता है, उसकी क्रिया भी विषम होती है यथा—कोई शीत कारक तो कोई दाहकारक होता है और उसका काल भी विषम होता है यथा कोई (या कभी) प्रातः तो कोई मध्याह्न में, कोई सायं काल तो कोई रात्रि में चढ़ता है। और यह ज्वर दीर्घ काल तक पीछा नहीं छोड़ता।

वक्तव्य—इस विषय को समझने केलिए—अष्टाङ्ग संग्रह का पाठ स्मरणीय है—यथा—

सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्वेषु दूरदूर तरेषु च ।
दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैः अल्पः चिरेण यत् ।
याति देहं च नाऽशेषं भूयिष्ठं भेषजेऽपि च ।
क्रमोऽयं तेन विच्छिन्न सन्तापो लक्ष्यते ज्वरः ।
दोषो ज्वरयति क्रुद्धःचिरात् चिरतरेण वा ।
च० चि० अ०३ श्लो० ६७ की च० पा०

भावार्थ—सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर स्रोतोमुख वाली रसादि धातुओं में स्थित वातादि दोष भिन्न भिन्न काल में ज्वर को उत्पन्न करते हैं ॥६६-६८॥

सतत आदि ज्वरों का लक्षण—

दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति 'सततं' ज्वरम् ॥६९॥
अहोरात्रस्य स द्विः स्यात् सकृदन्येद्युराश्रितः ।
तस्मिन्मांसवहा नाडीः मेदोनाडीस्तृतीयके ॥७०॥
ग्राही पित्तानिलान्मूर्ध्नस्त्रिकस्य कफपित्ततः ।
स पृष्ठस्यानिलकफात्स चैकाहान्तरः स्मृतः ॥७१॥

व्याख्या—प्रायः रक्त धातु में आश्रित वातादि दोष—सतत नामक विषम ज्वर को उत्पन्न करता है और वह दिन रात्रि में (८ प्रहर में) दो बार चढ़ता है (एक बार दिन में और एक बार रात्रि में जब उस दोष का समय होता है)। अन्येद्यु:नामक विषम ज्वर दिन रात में एक बार चढ़ता है। उस में दोष मांसगामिनी नाड़ियों में आश्रित होता है। तृतीयक ज्वर में दोष—मेदोगामिनी नाड़ी में आश्रित रहता है और तृतीयक ज्वर एक दिन का अन्तर देकर चढ़ता है—तीसरे दिन चढ़ता है जब दोषके कोप का काल होता है। तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है—१, वात-पित्त की प्रधानता से होता है जो शिर से प्रारम्भ होता है। २. कफ - पित्त की प्रधानता से होता है जो त्रिक—कटि से प्रारम्भ होता है और ३. वात-कफ की प्रधानता से होता है जो पीठ सहित त्रिक से प्रारम्भ होता है—उक्त अवयवों में प्रथम वेदना होती है तब ज्वर चढ़ता है ॥६९—७१॥

चतुर्थक ज्वर का वर्णन—

'चतुर्थको' मले मेदो-मज्जाऽस्थ्यन्यतमस्थिते ।
मज्जस्थ एवेत्यपरे प्रभावं स तु दर्शयेत् ॥७२॥
द्विधा कफेन जङ्घाभ्यां स पूर्वं शिरसोऽनिलात् ।

व्याख्या—चतुर्थक ज्वर तब होता है जब दोष—मेदो धातु में अथवा मज्जा धातु में अथवा अस्थि धातु में स्थित होता है। कुछ आचार्यों का मत है कि - केवल मज्जा धातु में स्थित दोष चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। वह चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है—१. कफ की अधिकता से जंघा से प्रारम्भ होता है और २—वायु की अधिकता से शिर से प्रारम्भ होता है—उक्त अवयवों में प्रथम वेदना होती है तब ज्वर चढ़ता है। और दो दिन छोड़कर चौथे दिन चढ़ता है ॥७४॥

वक्तव्य—इस विषय को समझने के लिये—

अहोरात्रे सततको द्वौ कालौ अनुवर्त्तते ।
अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः ।
दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः । चरक का पाठ स्मरणीय है। (च. चि. अ. ३) तथा सुश्रुत का पाठ भी—
सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते ।
अहोरात्रे सततको द्वौ कालौ अनुवर्त्तते ।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रात् एककालं प्रवर्त्तते ।
तृतीयकः तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः ।
स्मरणीय है ॥७२॥

चतुर्थक विपर्यय का वर्णन—

अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः ॥७३॥
त्रिधा, द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं तु मुञ्चति ।

व्याख्या - जब दोष—अस्थि एवं मज्जा नामक दोनों धातुओं में स्थित होता है तब "चतुर्थक विपर्यय" नामक ज्वर होता है और वह तीन प्रकार का होता है—१. वातज, २. पित्तज तथा ३. कफज। वह ज्वर दो दिन चढ़ा रहता है और एक दिन उतरा रहता है ॥७३॥

ज्वर के वैषम्य का कारण—

बलाबलेन दोषाणामन्नचेष्टादिजन्मना ॥७४॥
ज्वरः स्यान्मनसस्तद्वत्कर्मणश्च तदा तदा ।
दोषदूष्यर्त्वहोरात्रप्रकृतीनां बलाज्ज्वरः ॥७५॥
मनसो विषयाणां च कालं तं तं प्रपद्यते ।

व्याख्या—वातादि दोषों के बलाऽबल के कारण जिस की उत्पत्ति आहार विहार से तथा रजोगुण तथा तमोगुण नामक मानसिक दोषों से अथवा पूर्वजन्म कृत कर्म से होती है सतत आह्निक ज्वर उक्त-उस उस समय में चढ़ता और उतरता रहता है अथवा यों कहिये कि—वातादि दोष, रसादि दूष्य, वसन्त आदि ऋतु, दिन तथा रात्रि आदि के बल से और मानसिक दोषों के बल से और शब्द एवं स्पर्श आदि विषयों के बल से या चिन्तन आदि मानसिक कर्म के बल से ज्वर उस उस काल में चढ़ता है और अबल से उतरता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने ज्वर की विषमता के अन्य कारण भी बतलाये हैं यथा—सु. उ. अ. ३९—

वातेनोदीर्यमाणाश्च हीयमाणाश्च सर्वतः ।
एकद्विदोषा मर्त्यानां तस्मिन्नेवोदितेऽहनि ॥७१॥
वेलां तामेव कुर्वन्ति ज्वरवेगं मुहुर्मुहुः ।
वातेनोद्धूयमानस्तु यथा पूर्यते सागर ॥७२॥
वातेनोदीरिताः तद्वत् दोषाः कुर्वन्ति वै ज्वरान् ।
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः ॥७३॥
वेगहानौ तदेवाम्भः तत्रैवाऽन्तः प्रलीयते ।
दोषवेगोदये तद्वत् उदीर्येत ज्वरोऽस्य वै ॥७४॥
वेगहानौ प्रशाम्येत यथाऽम्भः सागरे तथा ।

तथा—अहोरात्रात् अहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते ।
ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्यात् ज्वरं नृणाम् ।
परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदुदाहृतः ।
आगन्तुः अनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ।

सु. उ. अ. ३९

तथा—देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः । अथवा—
स्थायिनः केचिदल्पेन कालेनाऽभिप्रवर्द्धिताः ।
दर्शयन्ति विकारान् तु विश्वरूपान् निसर्गतः । अ. ६१

इस प्रकार अनेक कारण माने जाते हैं परन्तु निर्विवाद हेतु-कारण—स्वभाव है । शेष विवरण च. नि, अ. १ तथा चि. अ. ३ और सु. उ, अ. ३९ देखिये और—

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति ।
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ।
कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः
पुनः विवृद्धः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ।

इन ज्वरों में जो दोष प्रधान होता है उसी के लक्षण व्यक्त होते हैं परन्तु उनके साथ साथ रस आदि दूष्य धातु के लक्षण भी रहते हैं—देखिये चरक एवं सुश्रुत के उक्त स्थल तथा माधव निदानका ज्वर निदान । ७४,७५॥

ज्वर मोक्षण का लक्षण—

धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते ॥७६॥
ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते ।
वेपते प्रलपत्युष्णैः शीतैश्चाङ्गैर्हतप्रभ ॥७७॥
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते ।
सदोषशब्दं च शकृद् द्रवं सृजति वेगवत् ॥७८॥

व्याख्या—ज्वर के मोक्ष काल में—वातादि दोष—रसादि धातुओं को अत्यन्त क्षुब्ध करता हुआ विलीन होता है इसलिये उस समय—श्वास बढ़ जाता है, स्वेद आता है, रोगी कहरता है, कै करता है, छटपटाता है—लोट पोट करता है, कांपता है, प्रलाप करता है, उस का शरीर उष्ण अथवा शीत हो जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, संज्ञाहीन हो जाता है, ज्वर के वेग से पीड़ित वह क्रुद्ध सा दिखता है और उसे दोष तथा शब्द से युक्त, पतला तथा वेग के साथ पुरीष होता है ।७६-७८॥

ज्वरमुक्ति का लक्षण—

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः
पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् ।
स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा
कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ॥७९॥

व्याख्या—ज्वरमुक्ति के लक्षण—शरीर लघु हो जाता है, क्लम, मोह तथा सन्ताप सर्वथा दूर हो जाते हैं, मुख में पाक (ओठों पर फुन्सियाँ) होता है, इन्द्रियाँ विमल हो जाती हैं, मानसिक एवं शारीरिक व्यथा शान्त हो जाती है उचित रूप से स्वेद आने लगता है, छींकें आती हैं, मनस् स्वभाव के अनुकूल—कार्य में लगने वाला हो जाता है, अन्न में रुचि होती है तथा शिर में खुजली ।

वक्तव्य—पाठक उक्त दोनों सन्दर्भों को च० चि० अ० ३ के श्लो० १२४—१२९ से मिलाकर देखें । ७९॥

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्त-कासनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब रक्त पित्तनामक रोग तथा कास रोग के निदान की व्याख्या करेंगे । इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—दे० च० नि० अ० २, चि० अ० ४, ११,१८। सु०उ० ४५, ५२, अ० सं० नि० अ० ३ ॥२॥

रक्तपित्त का निदान और सम्प्राप्ति—

भृशोष्णतीक्ष्णकट्वम्ललवणादिविदाहिभिः ।
कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्तद्युक्तैरतिसेवितैः ॥१॥
कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्छिते ।
ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम् ॥२॥

व्याख्या—अत्यन्त—उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, अम्ल तथा लवण आदि विदाह कारक द्रव्यों के तथा कोदों तथा उद्दालक नामक अन्नों के अत्यन्त सेवन से अथवा उष्ण आदि से युक्त- मिश्रित कोदों आदि के अत्यन्त सेवन से तथा अन्यान्य पित्तवर्द्धक आहार विहारों के अधिक सेवन से पित्त कुपित एवं रक्त धातु द्रव होकर परस्पर मिल जाते

हैं और समान रूपता को प्राप्त होकर शरीर भर में व्याप्त हो जाते हैं ।।१,२।।

रक्तपित्त का वर्णन—

पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद्दूषणादपि ।
गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते ।।३।।

व्याख्या—क्यों कि पित्त नामक दोष—रक्त का विकार कार्य है—उससे उत्पन्न होता है—उसका मल है और रक्त पित्त का संसर्ग—संयोग होता है और पित्त रक्त को दूषित करता है और वह पित्तके समान गन्ध एवं वर्णवाला हो जाता है इसलिये इस रोग का नाम—"रक्तपित्त" है (पित्तरक्त नहीं है) ।।३।।

रक्तपित्त की प्रवृत्ति—

प्रभवत्यसृजः स्थानात्प्लीहतो यकृतश्च तत् ।

व्याख्या—रक्तपित्त की प्रवृत्ति रक्त के मूल स्थान यकृत् एवं प्लीहा से होती है ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—उक्त अनेक पित्तवर्द्धक कारणों से—पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्त्तते । तस्मिन् (रक्ते) प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पत् यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखानि आसाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहितं दूषयति । तत् लोहित-संसर्गात्, लोहितप्रदूषणात्, लोहितगन्धवर्णाऽनुविधानात् च पित्तं "लोहितपित्तं" इति आचक्षते । च० नि० अ० २)
तथा च—तैः हैतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते ।
तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्द्धते तत् प्रदूषयत् ।७।
तस्योष्मणा द्रवो धातुः धातोः धातोः प्रसिच्यते ।
स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयः तत् अधिगच्छति ।८।
संयोगात् दूषणात् तत् तु सामान्यात् गन्धवर्णयोः ।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ।९।
प्लीहानं यकृतं चैव तत् अधिष्ठाय वर्त्तते ।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ।१०।
च. चि. अ. ४

तात्पर्यार्थ—पित्तवर्द्धक हेतुओं से पित्त बढ़ कर रक्त में मिलने लगता है और रक्त उत्पद्यमान नूतन पित्त पाकर बढ़ता रहता है और वह रक्त को दूषित करता जाता है, वह रक्त प्रत्येक मांस आदि धातु से पसीज कर नासा मुख आदि बहिर्मुख स्रोतों से झरने लगता है, उसकी मूल प्रवृत्ति यकृत एवं प्लीहा से होती है क्योंकि रक्त का निर्माण वहीं होता है तथा विकृति भी वहीं होती है । अन्य सब दशाओं में रक्त की प्रवृत्ति क्षत होने पर ही होती है परन्तु रक्तपित्त में क्षत के बिना ही होती है ।

रक्त पित्त के पूर्वरूप—

शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः ।४।।
छर्दिश्छर्दितबैभत्स्यं कासः श्वासो भ्रमः क्लमः ।
लोहलोहितमत्स्यामगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः ।।५।।
रक्तहारिद्रहारितवर्णता नयनादिषु ।
नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम् ।।६।।
स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन् भविष्यति ।

व्याख्या—शिर में भारीपन, अरुचि, शीतल आहार विहारों की इच्छा, कण्ठ में से धूआँ निकलने की प्रतीति, अम्ल रस का उद्गार, छर्दि, छर्दि में निकलने वाला द्रव्य बीभत्स—घृणा जनक, कास, श्वास, भ्रम, क्लम, मुख से—जल में बुझाए गये लोह कीसी, रक्त कीसी, मछली कीसी तथा आम कीसी गन्ध, स्वरभेद, नेत्र आदि (हस्त आदि अवयव तथा पुरीष, मूत्र, स्वेद, क्षार, सीढ, गीड, कर्णमल तथा फुन्सियों) में लाल, हल्दी का सा तथा हरा वर्ण, नीला, लाल तथा पीले पदार्थों के वर्ण एक जैसे दिखना, स्वप्नों में भी नीले, लाल तथा पीले वर्ण के पदार्थ दिखना । यह लक्षण तब होते हैं जब रक्तपित्त नामक रोग होनेवाला होता है ।।४-६ ।

ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी रक्त पित्त—

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः ।।७।।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ।

व्याख्या—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त—नासा से, नेत्रों से, कान से तथा मुख से प्रवृत्त होता है । अधोगामी रक्तपित्त मूत्र मार्ग, योनि तथा गुद से प्रवृत्त होता है और अत्यन्त कुपित रक्त पित्त—उक्त सब मार्गों से तथा सब रोम कूपों से भी प्रवृत्त होता है ।।७।।

साध्य रक्तपित्त—

ऊर्ध्वं साध्यं कफाद् यस्मात्तद्विरेचनसाधनम् ।।८ ।
बह्वौषधं च पित्तस्य विरेको हि वरौषधम् ।
अनुबन्धी कफो यश्च तत्र तस्यापि शुद्धिकृत् ।।९।।
कषायाः स्वादवोऽप्यस्य विशुद्धश्लेष्मणो हिताः ।
किमु तिक्ताः कषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः ।।१०।।

व्याख्या—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य होता है क्योंकि वह कफ की अधिकता से होता है । विरेचन ही उसकी चिकित्सा है, मधुर, तिक्त एवं कषाय रस वाली बहुत औषध हैं । विरेचन—पित्त की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है । उसके साथ जो कफ का अनुबन्ध होता है उसका भी विरेचन से शोधन हो जाता है और विशुद्ध कफ के लिये—कषाय एवं स्वादु (मधुर) पदार्थ लाभप्रद होते हैं और तिक्त एवं कषाय तो स्वभावतः कफ शामक होते हैं ।८-१०।।

याप्य रक्तपित्त—

अधो याप्यं चलाद्यस्मात्तत्प्रच्छर्दनसाधनम् ।
अल्पौषधं च पित्तस्य वमनं न वरौषधम् ॥११॥
अनुबन्धी चलो यश्च शान्तयेऽपि न तस्य तत् ।
कषायाश्च हितास्तस्य मधुरा एव केवलम् ॥१२॥

व्याख्या—अधोगामी रक्तपित्त "याप्य" होता है क्यों कि वह वायु की अधिकता से होता है । वमन उसकी चिकित्सा है और उसकी शामक बहुत थोड़ी औषध हैं—वमन पित्त की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा नहीं है, उसके साथ जो वायु का अनुबन्ध होता है वमन से उसकी शान्ति भी नहीं होती है और कषाय रस तथा तिक्त रस वाले द्रव्य—वातवर्द्धक होने के कारण हानिकारक होते हैं उसके लिये केवल मधुर द्रव्य ही लाभ दायक होते हैं ।

वक्तव्य—रक्त पित्त के साध्य एवं याप्य होने का कारण भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में सुनिये—नि० अ० २

साध्यं लोहितपित्तं तत् यत् ऊर्ध्वं प्रतिपद्यते ।
विरेचनस्य योगित्वात् बहुत्वात् भेषजस्य च ॥१२॥
विरेचनं तु पित्तस्य जयार्थं परमौषधम् ।
यश्च तत्रान्वयः श्लेष्मा तस्य चाऽनधनं स्मृतम् ॥१३॥
भवेत् योगावहं तत्र मधुरं चैव भेषजम् ।
तस्मात्साध्यं मतं रक्तं यत् ऊर्ध्वं प्रतिपद्यते ॥१४॥

तथा—रक्तं तु यत् अधो मार्गं तत् याप्यमिति निश्चितम् ।
वमनस्याल्पयोगित्वात् अल्पत्वात् भेषजस्य च ॥१५॥
वमनं हि न पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते ।
यश्च तत्रानुगो वायुः तत् शान्तौ चावरं स्मृतम् १६
तच्चाऽयोगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च ।
तस्मात् याप्यं समाख्यातं यद् रक्तमनुलोमनम् ।

तात्पर्य—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त इसलिये साध्य होता है क्यों कि उसमें विरेचन उपयोगी होता है जो कि पित्त का शमन रेचन तो करता ही है अनुगामी कफ को भी शान्त करता है या उसके लिये हानिकारक नहीं होता और उन दोनों दोषों की शान्ति के लिये मधुर कषाय एवं तिक्त रस वाले द्रव्य बहुत मिलते हैं या साधारण प्रतिदिन या अधिकतर उपयोग में आते हैं इसलिये ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य होता है । और अधोगामी रक्तपित्त इसलिये याप्य होता है क्यों कि—उसमें वमन उपयोगी होता है जो कि पित्त की शान्ति के लिये श्रेष्ठ उत्तम नहीं होता और वायु की शान्ति तो उससे होती ही नहीं अपितु वृद्धि हो जाती है और उसके लिये कषाय एवं तिक्त रस वाले द्रव्य वातवर्द्धक होने से हानि कारक होते हैं केवल मधुर द्रव्य ही रह जाते हैं जिनसे लाभ हो सकता है । बहुत्वात् का तात्पर्य—ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त में तीन रस वाले द्रव्यों का प्रयोग हो सकता है और अधोगामी रक्तपित्त में एकमात्र मधुर रस वालों का । इन सब कारणों से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य होता है और अधोगामी याप्य होता है ॥११-१२॥

असाध्य रक्तपित्त—

कफमारुतसंसृष्टमसाध्यमुभयायनम् ।
अशक्यप्रातिलोम्यत्वादभावादौषधस्य च ॥१३॥
न हि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिलोमगम् ।
शोधनं प्रतिलोमं च रक्तपित्ते भिषग्जितम् ॥१४॥
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।
संसृष्टेषु हि दोषेषु सर्वजिच्छमनं हितम् ॥१५॥

व्याख्या—कफ एवं वायु के संसर्ग से होने वाला रक्तपित्त—उभयायन होता है अर्थात् ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी होता है और वह असाध्य होता है क्योंकि उस में वमन अथवा विरेचन रूप प्रतिलोम चिकित्सा (संशोधन चिकित्सा) नहीं की जा सकती और उसके लिये कोई शामक औषध भी नहीं रह जाती है । कारण यह है कि इस उभयायन रक्तपित्त के लिये कोई भी प्रतिलोम संशोधन नहीं है और रक्तपित्त की चिकित्सा है "प्रतिलोम" संशोधन ही । (प्रतिलोम अर्थात् ऊर्ध्वगामी में अधोगामी विरेचन और अधोगामी रक्तपित्त में ऊर्ध्वगामी वमन) इस प्रकार इस उभयायन रक्तपित्त की उत्तम वमन औषध भी नहीं है क्यों कि संसृष्टदोषों में सर्वदोष-शामक औषध ही हित-सफल हो सकती है ।

वक्तव्य—इन सब कारणों से उभयमार्गगामी रक्त पित्त असाध्य होता है । देखिये च० नि० अ० २ श्लोक १८-२० । यथा—

रक्तपित्तं तु यत् मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते ।
असाध्यमिति तत् ज्ञेयं पूर्वोक्तादेव कारणात् ।
नहि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम् ।
प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ।
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।
संसृष्टेषु च दोषेषु सर्वजित् शमनं मतम् ।
इत्युक्तं त्रिविधोदर्कं रक्तमार्गं विशेषतः ।

त्रिविधोदर्क—तीन प्रकार है उदर्क अर्थात् फल जिसका साध्यत्व, २. याप्यत्व तथा ३, असाध्यत्व ॥१३-१५॥

रक्तपित्त की परीक्षा तथा उपद्रवों का संकेत—

तत्र दोषानुगमनं सिरास इव लक्षयेत् ।
उपद्रवांश्च विकृतिज्ञानतस्तेषु चाधिकम् ॥१६॥
आशुकारी यतः कासस्तमेवातः प्रवक्ष्यति ।

व्याख्या—रक्त पित्त में निकलने वाले रक्त की परीक्षा

उसी प्रकार करनी चाहिये जैसे सिरावेध विधि में बतलाई गई है देखिये सूत्र अ० २७ श्लोक ३९-४० और रक्त-पित्त के उपद्रवों को विकृति विज्ञानीय अध्याय के अनुसार जानना चाहिये (देखिये शा० अ० ५ श्लोक ७४,७५) उन उपद्रवों में कास नामक उपद्रव ही अधिक आशुकारी--शीघ्र मारक होता है इस लिये कास का ही वर्णन रक्त पित्त के पश्चात् किया जा रहा है ।

वक्तव्य—रक्तपित्त के असाध्य लक्षण हैं-यथा—

रक्तपित्तस्य विज्ञानमिदं तस्योपदिश्यते ।
यत् कृष्णमथवा नीलं यद् वा शक्रधनुःप्रभम् ।
रक्तपित्तमसाध्यं तत् वाससो रञ्जनं च यत् ।
भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रववत् च यत् ।
बलमांसक्षये यच्च तत् च रक्तमसिद्धिमत् ।
येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येत् दृश्यं वियत् चापि तद् चासाध्यमसंशयम् ।

च. नि. अ. २ ।

तथा उपद्रव—

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा,
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीड़ा ।
तृष्णा कण्ठस्य(कोष्ठस्य)भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं
द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपि च एते रक्तपित्तोपसर्गाः ।
सु. उ. तं. अ. ४५ ।

रक्तपित्त में रक्तपित्त (पित्त दूषित रक्त) निकल रहा है अथवा जीव शोणित (शुद्ध रक्त) निकलरहा है इसकी परीक्षा का प्रकार—जीव शोणित रक्त पित्तयोश्च जिज्ञासार्थं—तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत् यदि उष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तत् जीवशोणितमवगन्तव्यम् अथवा—सभक्तंसक्तुमिश्रं वा शुने दद्यात्, स यद्युपभुञ्जीत तत् जीवशोणितमवगन्तव्यम् । अन्यथा रक्तपित्तमिति (सु. चि. अ. ३४) अर्थात् —रक्तपित्त में कपड़ा भिगोकर सुखा दिया जाय तत्पश्चात् उसे उष्ण जल से धोया जाय यदि कपड़ा पर रंग रह जाय तो, अथवा रक्तपित्त को भात अथवा सत्तू में मिलाकर कुत्ता के आगे धर दिया जाय यदि वह उसे खालेवे तो समझे कि जीव शोणित जा रहा है अन्था रक्तपित्त ॥१६॥

अथ कासनिदानम्—

पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः॥१७॥
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ।

व्याख्या—कास रोग ५ प्रकार के होते हैं १. वात से २. पित्त से, ३. कफ से, ४. उरःक्षत से तथा ५. रस आदि धातुओं के क्षय से यदि इन कासों की उचित चिकित्सा समय पर न की जाय तो अन्त में क्षय रोग हो जाता है और ये सब कास उत्तरोत्तर (एक से दूसरा) बलवान् होते हैं अधिक कष्ट दायक तथा कष्ट साध्य होते हैं ।१७॥

पूर्व रूप एवं सम्प्राप्ति—

तेषां भविष्यतां रूपं कण्ठे कण्डूररोचकः ॥१८॥
शूकपूर्णाभकण्ठत्वम् तत्राधो विहतोऽनिलः ।
ऊर्ध्वं प्रवृत्तः प्राप्योरस्तस्मिन् कण्ठे च संसजन् ॥१९।
शिरःस्रोतांसि सम्पूर्य ततोऽङ्गान्युत्क्षिपन्निव ।
क्षिपन्निवाक्षिणी पृष्ठमुरःपार्श्वे च पीडयन् ॥२०॥
प्रवर्तते स वक्त्रेण भिन्नकांस्योपमध्वनिः ।
हेतुभेदात्प्रतीघातभेदो वायोः सरंहसः ॥२१॥
यद्रुजाशब्दवैषम्यं कासानां जायते ततः ।

व्याख्या—कास का पूर्व रूप—कण्ठ में कण्डू—खुजली खरखराहट, अरुचि तथा प्रतीत होता है कि जैसे कण्ठ में तुष भरे हों (धसे हों) कास की सम्प्राप्ति—नीचे की ओर से (पक्वाधान से) प्रतिहत हुआ वायु ऊपर की ओर चला हुआ उरस् (हृदय एवं फुफ्फुस) में आकर, उरस् तथा कण्ठ (श्वास मार्ग) में रुकता हुआ सरलता से न निकलता हुआ, शिर के स्रोतों को भर कर, तदनन्तर अङ्गों में आक्षेप सा उत्पन्न करके तथा नेत्रों में उत्क्षेप करता हुआ और पीठ, उरस् तथा पार्श्वों में पीडा उत्पन्न करता हुआ मुख से निकलता है उस समय उसकी ध्वनि ऐसी होती है जैसी फूटे हुए कांसा के पात्र की ध्वनि होती है । इस सम्प्राप्ति के अनुसार यद्यपि कास-रोग एक ही प्रकार का होता है (५ प्रकार का नहीं कहा जा सकता) तथापि उक्त ५ हेतुओं के भेद से वेगवान् वायु के प्रतिघात-प्रतिहनन में भेद हो जाता है और इसी लिये उक्त पाञ्चों प्रकार के कासों में वेदना (कष्ट की अनुभूति) तथा शब्द अर्थात् कास की ध्वनि में विषमता उत्पन्न हो जाती है ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है—जैसे ज्वर सन्ताप के विचार से एक ही प्रकार का होता है तथा पाण्डु रोग पाण्डु वर्ण के विचार से एक ही प्रकार का होता है इसी प्रकार कास भी कसन के विचार से एक ही प्रकार का होता है परन्तु उस में—वायु की गति के भेद से और पीड़ा—अन्यान्य लक्षणों के भेद से तथा कास होते समय ध्वनि के भेद से कास के भिन्न ५ भेद—प्रकार होते हैं अतः वह भी जैसे ज्वर ८ प्रकार का तथा पाण्डु रोग ५ प्रकार का हो जाता है या माना जाता है वैसे ही कास भी ५ प्रकार का होता है या माना जाता है । इसी प्रकार श्वास आदि अन्यान्य रोगों में भी हेतु एवं लक्षणों के भेद से भेद माने जाते हैं ॥१८—२१॥

वातज कास का रूप—

कुपितो वातलैर्वातः शुष्कोरःकण्ठवक्त्रताम् ॥२२॥
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलं मोहक्षोभस्वरक्षयान् ।
योति शुष्कं सकासं च महावेगरुजास्वनम् ॥२३।
सोऽङ्गहर्षी कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतांव्रजेत् ।

व्याख्या—वात कारक आहार विहारों के सेवन से कुपित वायु उरस् कण्ठ तथा मुख में सूखापन, हृदय, पार्श्व, उरस् तथा शिर में शूल और मोह, क्षोभ (शरीर भर हलचल) तथा स्वर भेद को उत्पन्न करता है, उस समय सूखी खाँसी आती है और बहुत वेग के साथ आती है तथा उक्त अवयवों में बहुत वेदना होती है ओर उसकी ध्वनि भी बहुत होती है, रोमाञ्च होता है थोड़ी सूखी कफ कष्ट के साथ निकल जाने पर खाँसी कुछ घट जाती है ॥२२-२३॥

पित्तज कास का रूप—

पित्तात्पीताक्षिकफता तिक्तास्यत्वं ज्वरो भ्रमः । २४॥
पित्तासृग्वमनं तृष्णा वैस्वर्यं धूमकोऽम्लकः ।
प्रततं कासवेगेन ज्योतिषामिव दर्शनम् ॥२५॥

व्याख्या—नेत्रों में तथा निकलने वाले कफ में पीलापन, मुख में तिक्तता, ज्वर, भ्रम, पित्त तथा रक्त की छर्दि, तृषा, स्वर भेद, कण्ठ में से धूआँ निकलने की प्रतीति, मद तथा कास का वेग होने पर ज्योतियाँ सी दिखना ॥२४-२५॥

कफज कास का रूप—

कफादुरोऽल्परुङ्मूर्धहृदयं स्तिमितं गुरु ।
कण्ठोपलेपः सदनं पीनसच्छर्द्यरोचकाः । २६॥
रोमहर्षो घनस्निग्धश्वेतश्लेष्मप्रवर्तनम् ।

व्याख्या—उरस् में थोडी वेदना, शिर तथा हृदय में स्तिमितता तथा भारीपन, कण्ठ में चिपचिपाहट, शिर में शिथिलता, पीनस, छर्दि, अरुचि, रोमाञ्च और गाढ़े, स्निग्ध एवं श्वेत कफ की प्रवृत्ति ॥२६॥

क्षतज कास का वर्णन—

[युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम् ॥२७॥
उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली ।
कुपितः कुरुते कासं कफं तेन सशोणितम् । २८॥
पीतं श्यावं च शुष्कं च ग्रन्थितं कुथितं बहु ।
ष्ठीवेत्कण्ठेन रुजता विभिन्नेनेव चोरसा ॥२९॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
पर्वभेदज्वरश्वास तृष्णा वैस्वर्यकम्पवान् ॥३०॥
पारावत इवाकूजन् पार्श्वशूली ततोस्य च ।
क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्ता बलं वर्णश्च हीयते ॥३१।
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः ।

व्याख्या—युद्ध आदि उन उन साहसों का शक्ति से अधिक सेवन करने से उरस् के भीतर क्षत होने पर वायु पित्त के साथ मिल कर बलवान् होकर कुपित हो जाता है और कास को उत्पन्न करता है इस कास से रक्त मिश्रित पीला, काला सा, सूखा, गाँठवाला, सड़ा हुआ तथा परिमाण में अधिक कफ निकलता है, कण्ठ में वेदना होती है, उरस् फटा सा प्रतीत होता है और उसमें तीक्ष्ण सुइयाँ सी चुमती अथवा शूल चुमता प्रतीत होता है (रोगी अपने शब्दों में ऐसा कहता है), पोर-पोर में फटने की सी पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृषा, स्वरभेद तथा कम्प होता है, रोगी कबूतर के समान ऊँह-ऊँह करता रहता है और पार्श्वों में शूल हो जाता है इसके पश्चात् धीरे २ क्रमशः शक्ति, रुचि, पाचन शक्ति, बल तथा वर्ण (कान्ति या ओजस्) का क्षय होता जाता है । अधिक मैथुन से यदि शुक्र का क्षय होता और शुक्र वह स्रोतों में क्षत हो जाता है तो मूत्र के साथ रक्त आता है, पीठ तथा कटि में जकड़न हो जाती है ॥२७-३१॥

क्षयज कास का वर्णन—

वायुप्रधानाः कुपिता धातवो राजयक्ष्मिणः ॥३२॥
कुर्वन्ति यक्ष्मायतनैः कासं ष्ठीवेत्कफं ततः ।
पूतिपूयोपमं पीतं वस्रं हरितलोहितम् ॥३३॥
लुञ्च्येते इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च ।
अकस्मादुष्णशीतेच्छा बह्वाशित्वं बलक्षयः ॥३४॥
स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमद्दर्शननेत्रता ।
ततोऽस्य क्षयरूपाणि सर्वाण्याविर्भवन्ति च॥३५॥

व्याख्या—राजयक्ष्मा से पीडित रोगी के वात प्रधान वातादि दोष राजयक्ष्मा के सहित, वेगरोध, धातु क्षय तथा विषमाशन नामक कारणों से कुपित हो कर कास को उत्पन्न कर देते हैं फलतः दुर्गन्ध युक्त, पूय जैसा, पीला, विस्र (आम मांस कीसी गन्ध वाला), हरा तथा लाल कफ निकलता है, पार्श्व (फुप्फुस) स्वस्थान से च्युत से प्रतीत होते हैं (खिसक जाते हैं), हृदय भी स्वस्थान से गिरा सा प्रतीत होता है (खिसक जाता है), किसी कारण के बिना ही उष्ण तथा शीत आहार विहार की इच्छा होती है, भोजन का परिमाण बढ़ जाता है अधिक भोजन खाता है परन्तु बल का क्षय होता जाता है, मुख स्निग्ध एवं प्रसन्न बना रहता है, नेत्र कान्तिमान् तथा सुन्दर दिखते हैं इसके पश्चात् राजयक्ष्मा के सभी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥३२-३५॥

अशाध्यत्व आदि का विचार—

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
याप्यो वा बलिनां तद्वत् क्षतजोऽभिनवौ तु तौ ॥३६॥
सिध्येतामपि सानाथ्यात् साध्या दोषैः पृथक् त्रयः ।
मिश्रा याप्या द्वयात्सर्वे जरसा स्थविर य च ॥३७॥

व्याख्या—इस प्रकार यह क्षयजनित कास क्षीणों (धातुक्षय के कारण कृशों तथा दुर्बलों) का असाध्य होता है और बलवानों का कभी कभी याप्य होता है इसी प्रकार क्षतज कास भी क्षीणों का असाध्य तथा बलवानोंका याप्य होता है । परन्तु वे दोनों का यदि नूतन हों (पुराने न हों) तथा सनाथ हों अर्थात् चिकित्सा के चारों पाद गुणवान् हों तो कभी कभी साध्य भी होते हैं । और वातज पित्तज तथा कफज कास साध्य होते हैं । और द्वन्द्वज कास याप्य होते हैं और वृद्धावस्था के कारण जो कास उत्पन्न हो जाते हैं वे सब याप्य होते हैं ॥३६,३७॥

कास के उपद्रव —

कासाच्छ्वासक्षयच्छर्दिस्वरसादादयो गदाः ।
भवन्त्युपेक्षया यस्मात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥३८॥

व्याख्या—उपेक्षा करने से समय पर उचित चिकित्सा न करने से कास रोग से श्वास, क्षय, छर्दि, स्वरभेद तथा प्रतिश्याय आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये कास की चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये ।

वक्तव्य—देखिये च०चि० अ० १८ तथा सु०उ०तं अ० ५२ । कण्ठशुण्ठी आदि कण्ठ रोगों के कारण तथा स्निग्ध पदार्थ खाने के अनन्तर शीतल जल पीने के कारण तथा प्रतिश्याय आदि के कारण जो खाँसी आती है वह वस्तुतः कास रोग नहीं होता वह तो दूसरे रोग का लक्षण मात्र होता अतः मूलरोग के शान्त हो जाने पर सरलता से शान्त भी हो जाता है परन्तु जो उक्त प्रकार से मूलतः कास रोग होता है उसमें उक्त प्रकार के लक्षण होते हैं और कास रोग के अनुसार उसकी चिकित्सा करने से ही लाभ होता है । और उसी कास रोग के लिये कहावत है कि—रोग की जड़ खाँसी और लड़ाई की जड़ हाँसी । और हाँसी भी लड़ाई की जड़ वही होती है जो—मर्म पर प्रहार करने वाली होती है अन्य प्रकार की विनोदपूर्ण हाँसी नहीं । कास रोग का प्रभाव भी मर्म स्थलों पर होता है देखिये उसकी सम्प्राप्ति का वर्णन ॥३८॥

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने तृतीयोऽध्यायः । ३॥

———

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः श्वासहिध्मानिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब श्वास तथा हिक्का के निदान की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—विशेष देखिये—च०चि०अ०१७ तथा सु०उ० अ० ५० तथा ५१ । अ०सं०नि०अ० ४ ।

श्वास का निदान एवं सम्प्राप्ति —

कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्वैर्वा दोषकोपनैः
आमातिसारवमथुविषपाण्डुज्वरैरपि ॥१॥
रजोधूमानिलैर्मर्मघातादतिहिमाम्बुना ।
क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चमः ॥२॥

व्याख्या—श्वास का निदान—कास की वृद्धि से श्वासरोग हो सकता है अथवा दोषों का प्रकोप करनेवाले पूर्वोक्त (नि. अ. १ श्लोक १८ से २७) कारणों से, कभी २ आमातिसार, छर्दि, विषविकार, पाण्डुरोग अथवा ज्वर से भी हो जाता है, और धूलि, धूप तथा शीतल वायु लगने से, मर्म (हृदय एवं फुफ्फुस आदि पर) पर आघात होने से तथा अत्यन्त शीतल जल पीने से (हिम खाने से) भी श्वास हो जाता है । संख्या सम्प्राप्ति—श्वास ५ प्रकार का होता है—१. क्षुद्र श्वास, २. तमक श्वास, ३. छिन्न श्वास, ४. महान् श्वास तथा ५. उर्द्ध श्वास ॥२॥

श्वास की सम्प्राप्ति—

कफोपरुद्धगमनः पवनो विष्वगास्थितः ।
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टः स्रोतांसि दूषयन् ॥३॥
उरःस्थः कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम् ।

व्याख्या—पवन (श्वास में आने जानेवाला वायु) का मार्ग कफ से रुकने लगता है और वह सब ओर फैल जाता है तथा दूषित—कुपित हो जाता है तथा प्राणवाही, उदकवाही तथा अन्नवाही स्रोतों को दूषित करने लगता है तथा उरस् (हृदय, फुफ्फुसों एवं श्वास मार्ग) में स्थित—वर्त्तमान होकर श्वास रोग को उत्पन्न करता है वस्तुतः श्वास आमाशय से उत्पन्न होता है ।

वक्तव्य—यदि आमाशय का कफ न बढ़े और वायु के मार्ग में रुकावट न डाले तो श्वास की उत्पत्ति ही न हो ।

विष्वगास्थितः—अतः एव समस्त शरीर पर श्वास का प्रभाव पड़ता है । प्राणवाही आदि स्रोतस् दूषित होने से—श्वास की गति भली भाँति नहीं होती तथा—तत्र प्राणवाहानां

स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च । प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तत् यथा—अतिसृष्टमतिबद्धमल्पाऽल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूल उच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवाहीनि अस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानि इति विद्यात् ।

उदकवहानां स्रोतसां मूलं तालु क्लोम च । प्रदुष्टानां तु खलु एषामिदं विशेषविज्ञानं भवति । तद् यथा—जिह्वा तालु ओष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां च अति वृद्धां दृष्ट्वा उदकवाहानि अस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानि इति विद्यात् । अन्नवाहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वम् । प्रदुष्टानां तु खलु एषामिदं विशेष-विज्ञानं भवति तद् यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाऽविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वा अन्नवाहानि अस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानि इति विद्यात् । च० वि० अ० ५ ।

उरःस्थः—मुख्य रूप से श्वास का केन्द्र उरस—हृदय एवं फुफ्फुस है । और कारण है उरस् में रहने वाला वायु । भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।
विष्वक् व्रजति संरुद्धः तदा श्वासान् करोति सः ॥४५॥
च० चि० अ० १७ ॥३॥

पूर्वरूप एवं क्षुद्र श्वास—

प्राग्रूपं तस्य हृत्पार्श्वशूलं प्राणविलोमता ॥४॥
आनाहः शङ्खभेदश्च तत्रायासातिभोजनैः ।
प्रेरितः प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वयं संशमनं मरुत् ॥५॥

व्याख्या—श्वास का पूर्वरूप—हृदय एवं पार्श्व में वेदना, प्राण वायु—श्वास प्रश्वास आदि वायु के कार्यों की विपरीतता—उचित कार्य न होना, आनाह (अन्त्र की गति बिगड़ जाना) तथा शंखों में फटने की सी वेदना । क्षुद्र श्वास का लक्षण परिश्रम—व्यायाम आदि से तथा अधिक भोजन करने से प्रेरित वायु क्षुद्र श्वास को उत्पन्न करता है और वह श्वास कुछ समय के विश्राम से स्वयं शान्त हो जाया करता है ।

वक्तव्य—क्षुद्र श्वास वह है जिसे ''दमफूलना'' कहते हैं शक्ति से अधिक व्यायाम अथवा ऊँचे पर चढ़ना आदि के समय हो जाया करता है ॥४.५॥

तमक श्वास तथा उस के भेद—

प्रतिलोमं सिरा गच्छन्नुदीर्य पवनः कफम् ।
परिगृह्य शिरोग्रीवमुरःपार्श्वे च पीडयन् ॥६॥
कासं घुर्घुरकं मोहमरुचिं पीनसं तृषम् ।
करोति तीव्रवेगं च श्वासं प्राणोपतापिनम् ॥७॥
प्रताम्येत्तस्य वेगेन निष्ठ्यूतान्ते क्षणं सुखी ।
कृच्छ्राच्छयानः श्वसिति निषण्णः स्वास्थ्यमृच्छति ॥८॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुःश्वासी काङ्क्षत्युष्णं सवेपथुः ॥९॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते ।
स याप्यस्तमकः साध्यो नवो वा बलिनो भवेत् ॥१०॥
ज्वरमूर्च्छायुतः शीतैः शाम्येत्प्रतमकस्तु सः ।

व्याख्या तमक श्वास का विवरण—वायु—स्रोतों में प्रतिलोम गति करता हुआ कफ को बढ़ाकर, शिर एवं ग्रीवा को जकड़ कर, उरस् तथा पार्श्व में पीडन करता हुआ—प्रथम कास को उत्पन्न करता है, फिर कण्ठ में घुरघुराहट को, मोह, अरुचि, पीनस तथा तृषा को उत्पन्न करता है साथ ही तीव्र वेग से श्वास उत्पन्न हो जाता है जिससे प्राणान्त कष्ट होता है । वेग इतना बढ़ता है जिस से नेत्रों के आगे अन्धकार प्रतीत होने लगता है, कफ निकल जाने पर क्षणभर के लिये सुख मिलता है । लेटने पर श्वास लेने में भी कष्ट होता है; बैठने पर कुछ सुख मिलता है । वेग के समय नेत्र ऊपर चढ़ जाते हैं, माथा पर स्वेद आता है, रोगी अत्यन्त दुःखी हो जाता है, मुख सूखता है, बार बार श्वास आता है, उष्ण आहार विहार की इच्छा होती है, कम्पन होता है । मेघ छाने पर, पानी बरसने पर, शीत पड़ने पर पूर्व दिशा का वायु चलने पर तथा कफ वर्द्धक आहार विहार होने पर श्वास बढ़ता है । यह तमक श्वास है और याप्य है परन्तु नूतन अथवा बलवान् का कभी २ साध्य भी होता है । जो श्वास—ज्वर एवं मूर्च्छा से युक्त होता है और शीत चिकित्सा से शान्त होता है उस का नाम ''प्रतमक'' है प्रतमक का ही नाम सन्तमक है ।

वक्तव्य—श्वास के चलते फिरते जितने रोगी पाये जाते हैं वे सब इसी तमक या प्रतमक के रोगी होते हैं । यह निरन्तर भी रहता है और वेग से भी होता है । कभी२ इसका वेग वर्षों के पश्चात् होता है । यह प्रायः याप्य होता है अत एव ''दमा दमों के साथ'' कहा जाता है । प्रतमक में पित्त प्रधान होता हैं अतः शीत उपचार से लाभ होता है ॥६–१०॥

छिन्न श्वास का वर्णन—

छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नं मर्मच्छेदरुजार्दितः ॥११॥
सस्वेदमूर्च्छः सानाहो बस्तिदाहनिरोधवान् ।
अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचनः ॥१२॥
शुष्कास्यः प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतनः ।

व्याख्या—छिन्न नामक श्वास का लक्षण—इस श्वास के कारण कुछ समय के लिये स्वभाविक श्वास आता है और फिर शीघ्र शीघ्र श्वास आने लगता है बार बार ऐसा होता है और हृदय आदि मर्मों में भीषण वेदना होने से रोगी त्रस्त होजाता है, स्वेद (शीतल स्वेद) आता है,

मूर्छा हो जाती है, उदर में आनाह होता है, मूत्राशय में दाह होता है और मूत्र रुक जाता है, दृष्टि नीचे हो जाती है, नेत्र से जल आने लगता है, बार बार संज्ञानाश या चित्त विकृति होती है, एक नेत्र लाल हो जाता है, मुख सूखता है, प्रलाप होता है, कान्ति नष्ट हो जाती है और अन्त में चेतना भी नष्ट हो जाती है—मृत्यु हो जाती है ॥११,१२॥

महाश्वास का वर्णन—

महता महता दीनो नादेन श्वसिति क्रथन् ॥१३॥
उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्तनयनाननः ॥१४॥
वक्षः समाक्षिपन् बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ।
शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्णशङ्खशिरोऽतिरुक् ॥१५॥

व्याख्या—महाश्वास का लक्षण—महाश्वास के कारण रोगी दीन हो जाता है, श्वास में बहुत नाद होता है—श्वास बोलता है, कण्ठ में घरघराहट होती है, शरीर में कम्पन होता है, संरम्भ होता है—रोगी क्रुद्ध सा दिखता है, मदमत्त बैल के समान निरन्तर एवं ऊँचे ऊँचे श्वास लेता है, उसके ज्ञान (ऐन्द्रियक शब्दादि के ज्ञान) तथा विज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) नष्ट हो जाते हैं, नेत्र घूम जाते हैं, मुख खुल जाता है, श्वास लेते समय वक्षः स्थल फूल जाता है, मूत्र एवं पुरीष रुक जाते हैं, वाणी टूट जाती है—बोलते बोलते रुक जाती है, कण्ठ सूख जाता है, बार बार संज्ञाहीन होता है, कर्ण, शंख तथा शिर में भीषण वेदना होती है ॥१३-१५॥

ऊर्ध्व श्वास का वर्णन—

दीर्घमूर्ध्वं श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥१६॥
ऊर्ध्वदृग्वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परितः क्षिपन् ।
मर्मसु च्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक् ॥१७॥

व्याख्या—ऊर्ध्व श्वास का लक्षण—श्वास बाहिर लम्बा निकलता है परन्तु भीतर लम्बा श्वास नहीं जाता क्यों कि श्वासवाही स्रोतों के मुख कफ से अवरुद्ध हो जाते हैं, रोगी कुपित वायु से पीडित हो जाता है फलतः नेत्रों की पुतली ऊपर चढ़ जाती हैं अथवा दृष्टि में भ्रम उत्पन्न हो जाता है अथवा नेत्र इधर उधर घूमने लगते हैं, हृदय आदि मर्मों में कटने की सी वेदना होती है (लोक भाषा में यम यातना होती है) और अन्त में वाणी रुक जाती है (मृत्यु हो जाती है) ॥१६,१७॥

साध्यासाध्य विवेक—

एते सिद्ध्येयुरव्यक्ताः व्यक्ताः प्राणहरा ध्रुवम् ।

व्याख्या—उक्त तीनों श्वास, यदि उनके उक्त सब लक्षण व्यक्त—पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं होते तो उचित चिकित्सा से शान्त हो सकते हैं रोगी के प्राण बच जाते हैं और यदि व्यक्त हो जाते हैं तो मृत्यु अवश्य हो जाती है ।

वक्तव्य ये तीनों श्वास प्रायः मृत्यु के समय ही देखे जाते हैं । अनेकों की मृत्यु इन्हीं से होती देखी जाती है ।

इति श्वासनिदानम् ।

अथ हिक्कानिदानम्

निदान आदि का संकेत—

श्वासैकहेतुप्राग्रूपसङ्ख्याप्रकृतिसंश्रयाः ॥१८॥
हिध्मा भक्तोद्भवा क्षुद्रा यमला महतीति च ।
गम्भीरा च मरुत्तत्र त्वरयाऽयुक्तिसेवितैः ॥१९॥
रूक्षतीक्ष्णखरासात्म्यैरन्नपानैः प्रपीडितः ।
करोति हिध्मामरुजां मन्दशब्दां क्षवानुगाम् ॥२०॥
शमं सात्म्यान्नपानेन या प्रयाति च सान्नजा ।

व्याख्या—हिक्का के हेतु—कारण, पूर्व रूप, संख्या, प्रकृति (सम्प्राप्ति या स्वभाव) तथा संश्रय (अधिष्ठान) सब श्वास के ही समान होते हैं । उसके नाम हैं १—भक्तोद्भवा अर्थात् अन्नजा, २—क्षुद्रा, ३—यमला, ४—महती-महा हिक्का तथा ५—गम्भीरा ।

अन्नजा का वर्णन—सहसा तथा विधिरहित खाए गये रूक्ष, तीक्ष्ण, कठोर तथा असात्म्य (प्रतिकूल) अन्नों एवं पानों द्वारा प्रपीडित (अवरुद्ध—कुपित) वायु जिस हिध्मा को उत्पन्न करता है और उसमें किसी प्रकार की वेदना भी नहीं होती, ध्वनि भी मन्द होती है, साथ में छींक आती हैं तथा जो सात्म्य अन्न पान से शान्त हो जाती है वह "अन्नजा" कहलाती है ॥१८-२०॥

क्षुद्रा हिक्का—

आयासात्पवनः क्षुद्रः क्षुद्रां हिध्मां प्रवर्तयेत् ॥२१॥
जत्रुमूलप्रविसृतामल्पवेगां मृदुं च सा ।
वृद्धिमायास्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ॥२२॥

व्याख्या—व्यायाम आदि परिश्रम से वायु थोड़ा क्रुद्ध होकर क्षुद्रा नामक हिक्का का प्रारम्भ करता है वह हिक्का जत्रुमूल—कण्ठ प्रदेश से प्रारम्भ होती है और उसका वेग भी स्वल्प ही होता है अतः वह मृदु होती है—अधिक कष्टप्रद नहीं होती । वह परिश्रम से बढ़ती है और कुछ खालेने पर मृदु हो जाती है (या शान्त हो जाती है) ॥२१,२२॥

यमला हिक्का—

चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते ।

परिणामोन्मुखे वृद्धिं परिणामे च गच्छति ॥२३॥
कम्पयन्ती शिरोग्रीवमाध्मातस्यातितृष्यतः ।
प्रलापच्छर्द्यतीसारनेत्रविप्लुतिजृम्भिणः ॥२४।
यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा ।

व्याख्या—यमला हिक्का का वर्णन—जो हिक्का—भोजन पचते समय दो दो वेगों के साथ प्रारम्भ होती है और भोजन पच जाने पर बढ़ जाती है, वेग के समय शिर एवं ग्रीवा में कम्पन उत्पन्न करती है और जिससे आध्मान, अत्यधिक तृषा, प्रलाप, छर्दि, अतिसार, नेत्रस्राव तथा जृम्भा भी (कभी कभी) होती हैं । उसका नाम यमला, वेगिनी तथा परिणामवती है ।

वक्तव्य—कभी२ साधारण हिक्का भी दो वेग वाली होती है और उसमें उक्त उपद्रव नहीं होते । यमला में कुछ विलम्ब से एक साथ दो हिचकी आती है ॥२३,२४॥

महती हिक्का—

स्तब्धभ्रूशङ्खयुग्मस्य सास्रविप्लुतचक्षुषः ॥२५॥
स्तम्भयन्ती तनुं वाचं स्मृतिं सञ्ज्ञां च मुष्णती ।
रुन्धती मार्गमन्नस्य कुर्वती मर्मघट्टनम् ॥२६॥
पृष्ठतो नमनं शोषं महाहिध्मा प्रवर्तते ।
महामूला महाशब्दा महावेगा महाबला ॥२७॥

व्याख्या—जिस हिक्का में—दोनों भ्रू तथा शंख स्तब्ध हो जाते हैं, नेत्र अश्रुयुक्त तथा चंचल हो जाते हैं, शरीर तथा वाणी में स्तब्धता हो जाती है; स्मृति एवं संज्ञा नष्ट हो जाती है, आहार मार्ग रुक जाता है, हृदय आदि मर्मों में वेदना होती है, पीठ नम जाती है, एवं वक्षस् उठ जाता है तथा शरीर सूख जाता है वह महाहिक्का कहलाती है । इस का कारण भी महान् होता है और शब्द वेग तथा बल भी महान होता है (यह सद्यः मारक होती है) ॥२५-२७॥

गम्भीरा हिक्का—

पक्वाशयाद्वा नाभेर्वा पूर्ववद्या प्रवर्तते ।
तद्रूपा सा मुहुः कुर्याज्जृम्भामङ्गप्रसारणम् ॥२८॥
गम्भीरेणानुनादेन गम्भीरा

व्याख्या—उक्त महाहिक्का के समान ही जो हिक्का पक्वाशय—मलाशय अथवा नाभि (क्षुद्रान्त्र) में प्रारम्भ होती है, उसके लक्षण भी महाहिक्का के समान होते हैं । विशेषतः—बार बार जम्भाई आती है और वक्षस् आदि फैलते हैं और उसका नाद—शब्द भी गम्भीर होता है उसका नाम "गम्भीरा" है ॥२८॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

तासु साधयेत् ।
आद्ये द्वे वर्जयेदन्त्ये सर्वलिङ्गां च वेगिनीम् ॥२९॥
सर्वाश्च सञ्चितामस्य स्थविरस्य व्यवायिनः ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य भक्तच्छेदक्षतस्य वा ॥३०॥

व्याख्या—इन ५ हिक्काओं में प्रथम दो (अन्नजा तथा क्षुद्रा, की चिकित्सा करे और अन्तिम दो (महती एवं गम्भीरा) का त्याग कर देवे और सब लक्षणों वाली यमला का भी त्याग कर देवे । और अति सञ्चित आम दोष वाले, वृद्ध, अधिक मैथुन करने वाले, रोगों से क्षीण शरीर वाले तथा लंघन के कारण कृश की सभी हिक्का को त्याग कर देवे (असाध्य होने से) ॥३०॥

सर्वेऽपि रोगा नाशाय न त्वेवं शीघ्रकारिणः ।
हिध्माश्वासौ यथा तौ हि मृत्युकाले कृतालयौ ॥३१॥

व्याख्या—यद्यपि सभी रोग मृत्यु का कारण होते हैं परन्तु वे सब वैसे शीघ्रकारी नहीं होते जैसे हिक्का एवं श्वास क्योंकि वे मृत्यु के समान प्रायः हो जाते हैं ॥३१॥

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो राजयक्ष्मादिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या अब राजयक्ष्मा, स्वरभेद, अरोचक, छर्दि, हृद्रोग तथा तृषा रोग का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—देखिए च. नि. अ. ६, चि. अ. ८ तथा सु. उ. तं. अ. ४१ ।अ. सं. नि. अ ५।

राजयक्ष्मा का वर्णन—

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः ।
राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः ॥१॥
नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा ।
यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः ॥२॥
देहौषधक्षयकृतेः क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः ।
रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु राजनात् ॥३॥

व्याख्या—इस रोग को इसलिये राजयक्ष्मा कहते हैं क्योंकि इस के साथ या अनुगत अनेक स्वरभेद आदि रोग होते हैं और अनेक कास एवं रक्तपित्त आदि रोग इस से पूर्व उत्पन्न होते हैं यह राजयक्ष्मा, क्षय, शोष तथा रोगराज कहलाता है । और क्योंकि सर्व प्रथम यह रोग अश्विनी आदि नक्षत्रों तथा द्विजों के राजा– चन्द्रमा

को हुआ था और यह रोगों का राजा रूप रोग है अतः "राजयक्ष्मा" कहलाता है और यह देह तथा औषधों की शक्ति का क्षय करता है तथा देह का क्षय होने से उत्पन्न होता है अतः क्षय कहलाता है। रस आदि धातुओं को सुखा देता है इस लिये शोष कहलाता है। और सब रोगों में यह अपना प्रभाव दिखलाता है अतः "रोगराज" कहलाता है ॥ १–३ ।

राजयक्ष्मा के निदान—

साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजःस्नेहसङ्क्षयः ।
अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः ॥४॥

व्याख्या—इस के चार हेतु हैं—१. साहस—शक्ति से अधिक परिश्रम करना, २. वेगरोध—पुरीषादि के वेग रोकना, ३. शुक्र, ओजस्—रस तथा स्नेह का अत्यधिक क्षय तथा ४. अन्नपान—आहार की विधि का परित्याग—विषमाशन ॥४॥

सम्प्राप्ति—

तैरुदीर्णोऽनिलः पित्तं कफं चोदीर्य सर्वतः ।
शरीरसन्धीनाविश्य तान् सिराश्च प्रपीडयन् ॥५॥
मुखानि च स्रोतसां रुद्ध्वा तथैवातिविवृत्य वा ।
सर्पन्नूर्ध्वमधस्तिर्यग्यथास्वं जनयेद्गदान् ॥६॥

व्याख्या—राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति—उक्त साहस आदि कारणों से प्रकुपित वायु—पित्त एवं कफ को प्रकुपित करके—सब ओर शरीर की सन्धियों में प्रविष्ट होकर सन्धियों तथा सिराओं को पीडित करता हुआ—स्रोतों के मुखों को रोक कर तथा अत्यन्त खोल कर ऊपर की ओर फैलता हुआ पीनस आदि को, नीचे की ओर फैलता हुआ मलभेद आदि को तथा तिरछे फैलता हुआ—पार्श्व शूल आदि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—इस प्रकार यह रोग समस्त शरीर के अवयवों को विकृत कर डालता है ॥५,६।

पूर्वरूप—

रूपं भविष्यतस्तस्य प्रतिश्यायो भृशं क्षवः ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं सदनं वह्निदेहयोः ॥७॥
स्थाल्यमत्रान्नपानादौ शुचावप्यशुचीक्षणम् ।
मक्षिकातृणकेशादिपातः प्रायोऽन्नपानयोः ॥८॥
हृल्लासश्छर्दिररुचिरश्नतोऽपि बलक्षयः ।
पाण्योरवेक्षा पादास्यशोफोऽक्ष्णोरतिशुक्लता ॥९॥
बाह्वोः प्रमाणजिज्ञासा काये बैभत्स्यदर्शनम् ।
स्त्रीमद्यमांसप्रियता घृणित्वं मूर्धगुण्ठनम् ॥१०॥
नखकेशातिवृद्धिश्च स्वप्ने चाभिभवो भवेत् ।
पतङ्गकृकलासाहिकपिश्वापदपक्षिभिः ॥११॥
केशास्थितुषभस्मादिराशौ समधिरोहणम् ।
शून्यानां ग्रामदेशानां दर्शनं शुष्यतोऽम्भसः ॥१२॥
ज्योतिर्गिरीणां पततां ज्वलतां च महीरुहाम् ।

व्याख्या—राज यक्ष्मा का पूर्वरूप—प्रतिश्याय, छींकों की अधिकता, लालास्राव, मुख में मीठापन, मन्दाग्नि, अवसाद, स्थाली (पाकपात्र—जिस में भोजन पकाया जाता है), अमत्र (अन्यान्य भाजन—पात्र) तथा अन्न पान आदि को पवित्र होने पर भी अपवित्र समझना, अन्नपान में प्रायः मक्षिका, तृण एवं केश आदि का पड़ना, मिचली, छर्दि, अरुचि, उचित भोजन करने पर भी बल का क्षय—ह्रास, हाथों को देखते रहना, पाँव तथा मुख पर शोथ, नेत्रों में अत्यधिक श्वेतता, बाहुओं के प्रमाण (लम्बाई तथा वज़न) को जानने की उत्कण्ठा, सुन्दर होने पर भी शरीर में असुन्दरता या स्वच्छ होने पर भी मलिनता की प्रतीति, मैथुन, मद्य तथा मांस में अभिरुचि सब वस्तुओं में घृणा, शिर को ढँकने का विचार नख एवं केशों की अत्यधिक वृद्धि, स्वप्नों में—पतङ्गों (पतिंगों) किरलों, सर्पों, वानरों, व्याघ्र आदि श्वापदों तथा काक आदि पक्षियों द्वारा तिरस्कार, केशों, अस्थियों, तुषों, भस्मों आदि की राशियों (ढेरों) पर चढ़ना, सूने ग्रामों तथा देशों को देखना, सूखते जल को देखना, तारा आदि ज्योतियों तथा पर्वतों को गिरते देखना और वृक्षों को जलते देखना॥

वक्तव्य—उक्त विलक्षणता रोग के प्रभाव से होती है ॥

एकादश रूप—

पीनसश्वासकासांससमूर्धस्वररुजोऽरुचिः ॥१३॥
ऊर्ध्वं विड्भ्रंशसंशोषावधश्छर्दिश्च कोष्ठगे ।
तिर्यक्स्थे पार्श्वरुग्दोषे सन्धिगे भवति ज्वरः ॥१४॥
रूपाण्येकादशैतानि जायन्ते राजयक्ष्मिणः ।

व्याख्या—राज यक्ष्मा रोगी के निम्नलिखित ११ रूप लक्षण उत्पन्न होते हैं शरीर के ऊपरी भाग में स्थित दोष से १. पीनस-प्रतिश्याय, २. श्वास, ३. कास, ४. अंस सन्ताप, ५. शिरो वेदना, ६. स्वर भेद तथा ७. अरोचक अधो भाग में स्थित दोष से ८. पुरीष भेद अथवा पुरीष शोष-बद्ध पुरीषता। कोष्ठ गत दोष से ९—छर्दि, तिर्यग्गामी दोष से १०. पार्श्व शूल और सन्धिगत दोष से ११. ज्वर।

वक्तव्य—उक्त ११ रोगों के समूह का नाम राजयक्ष्मा है॥

सात उपद्रव—

तेषामुपद्रवान् विद्यात्कण्ठोद्ध्वंसमुरोरुजम् ॥१५॥
जृम्भाऽङ्गमर्दनिष्ठीववह्निसादाऽऽस्यपूतिताः ।

व्याख्या—उक्त पीनस आदि के उपद्रव हैं १. कण्ठोध्वंस श्वास मार्ग में क्षत या विकृति, २. उरस् स्थल के भीतर वेदना (क्षत आदि), ३. जृम्भा, ४. अङ्गों में मर्दन की सी वेदना, ५. लाला स्राव, ६. मन्दाग्नि तथा ७. मुख में दुर्गन्ध ॥१५॥

राजयक्ष्मा में वातादि दोषों के लक्षण—

तत्र वाताच्छिरःपार्श्वशूलमांसाङ्गमर्दनम् ॥१६॥
कण्ठोद्ध्वंसः स्वरभ्रंशः पित्तात्पादांसपाणिषु ।
दाहोऽतिसारोऽसृक्छर्दिर्मुखगन्धो ज्वरो मदः ॥१७॥
कफादरोचकश्छर्दिः कासो मूर्धाङ्गगौरवम् ।
प्रसेकः पीनसः श्वासः स्वरसादोऽल्पवह्निता ॥१८॥

व्याख्या—उस राजयक्ष्मा में वायु से शिरः शूल तथा पार्श्व शूल, अंसों-अंसफल कों तथा शरीर भर में मर्दन की सी पीड़ा, कण्ठ का उद्धंस तथा स्वरभेद होता है। पित्त से पाँव, अंस फलक तथा हाथों में दाह, अतिसार, रक्त मिश्रित छर्दि, मुख में दुर्गन्ध, ज्वर तथा मद (जैसे किसी मादक द्रव्य का सेवन किया) होता है। और कफ से अरोचक, छर्दि, कास, शिर तथा शरीर भर में भारीपन, लाला स्राव, पीनस, प्रतिश्याय, श्वास, स्वर भेद तथा मन्दाग्नि नामक लक्षण होते हैं ॥१६-१८॥

प्रकारान्तर से सम्प्राप्ति—

दोषैर्मन्दानलत्वेन सोपलेपैः कफोल्बणैः ।
स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु धातूष्मस्वल्पकेषु च ॥१९॥
विदह्यमानः स्वस्थाने रसस्तांस्तानुपद्रवान् ।
कुर्यादगच्छन्मांसादीनसृक् चोर्ध्वं प्रधावति ॥२०॥
पच्यते कोष्ठ एवान्नमन्नपक्त्रैव चास्य यत् ।
प्रायोऽस्मान्मलतां यातं नैवालं धातुपुष्टये ॥२१॥
रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु ।
उपस्तब्धः स शकृता केवलं वर्तते क्षयी ॥२२॥

व्याख्या—राजयक्ष्मा में मन्दाग्नि होने से कफ प्रधान वातादि दोष उपलेप आम से युक्त हो जाते हैं और उनके द्वारा रसवाही स्रोतों के मुख अवरुद्ध हो जाते हैं फलतः रक्तादि धातुओं की अग्नियाँ भी मन्द हो जाती हैं। इन सब कारणों से रस धातु अपने स्थान में ही विदग्ध अपक्व रह कर उक्त कण्ठोध्वंस आदि उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है और वह रस मांस एवं रक्त आदि धातुओं में न जाकर धातु रूप में परिणत न होकर मुख मार्ग से कफ रूप में प्रवृत्त होता रहता है—कफ होकर निकलता रहता है। इस दशा में केवल पाचक अग्नि द्वारा कोष्ठ में अन्न पकता है अतः वह प्रायः पुरीष ही बनता रहता है, उससे धातुओं की पुष्टि नहीं होती इसका रस रक्त रूप में ही परिणत नहीं होता मांस का निर्माण कैसे हो, रस से रक्त मांस आदि का पोषण ही नहीं होता। यह रोगी केवल पुरीष के भरोसे सहारे पर जीवित रहता है ॥१९-२२॥

असाध्य एवं साध्य दशा—

लिङ्गेष्वल्पेष्वपि क्षीणं व्याध्यौषधबलाऽक्षमम् ।
वर्जयेत् साधयेदेव सर्वेष्वपि ततोऽन्यथा ॥२३॥

व्याख्या—उक्त पीनस आदि लक्षण अल्प होने पर भी यदि रोगी क्षीण हो बल एवं मांस का क्षय हो गया हो और रोग तथा औषध के बलका सहन करने में असमर्थ हो तो उसको त्याग देवे चिकित्सा न करे। और यदि रोगी वैसा नहीं हो तो सब लक्षण रहने पर भी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि राजयक्ष्मा के कारण यदि रोगी का बल एवं मांस क्षीण—अत्यन्त क्षीण नहीं होता तो वह साध्य होता है अन्यथा असाध्य। राजयक्ष्मा का व्यञ्जन है धातुओं का क्षय या शोषण, अन्य पीनस आदि सब लक्षण या उपद्रव हैं ॥२३॥

इति राजयक्ष्मनिदानम् ।

अथ स्वरभेदनिदानम् ।

स्वरभेद का वर्णन—

वक्तव्य—विशेष देखिए—च. चि. अ. ८ श्लो० ५३-५६ तथा सु. उ. तं. अ. ५३। अ. सं. नि. अ. ५।

स्वर भेद का वर्णन—

दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च क्षयात् षष्ठश्च मेदसा ।
स्वरभेदो भवेत् तत्र क्षामो रूक्षश्चलः स्वरः ॥२४॥
शूकपूर्णाऽऽभकण्ठत्वं स्निग्धोष्णोपशयोऽनिलात् ।
पित्तात्तालुगले दाहः शोष उक्तावसूयनम् ॥२५॥
लिम्पन्निव कफात्कण्ठं मन्दः खुरखुरायते ।
स्वरो विबद्धः सर्वैस्तु सर्वलिङ्गः क्षयात्क्षपेत् ॥२६॥
धूमायतीव चात्यर्थं मेदसा श्लेष्मलक्षणः ।
कृच्छ्रलक्ष्यात्तरश्चात्र सर्वैरन्त्यं च वर्जयेत् ॥२७॥

व्याख्या—स्वरभेद ६ प्रकार का होता है १. वात से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. सन्निपात से, ५. क्षय से तथा ६. मेदस् धातु की विकृति से। इन में वात कोप से स्वर क्षाम-दुर्बल, रूक्ष तथा चल अर्थात् गद्गद या विचलित होता है और प्रतीत होता है जैसे कण्ठ में शूक भरे हों। इस स्वरभेद में स्निग्ध एवं उष्ण पदार्थों से लाभ होता है। पित्त कोप से जो स्वरभेद होता है उस में तालु एवं गल में दाह तथा शोष होता है और बोलने में असमर्थता का अनुभव होता है। कफ से जो स्वरभेद होता है उसमें कण्ठ में लेप सा बना रहता है तथा कण्ठ में खुरखुराहट रहती है और स्वर मन्द धीमा अथवा

सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। सन्निपात से जो स्वरभेद होता है उसमें सब लक्षण होते है। क्षय से जो स्वरभेद होता है उसमें कण्ठ में खरोश पड़ जाती है और कण्ठ में से धूआँ सा निकलता है। और मेदस् से जो स्वरभेद होता है उसमें कफज स्वरभेद के लक्षण होते हैं तथा शब्दाक्षर कठिनाई से समझ में आते हैं। सुनने वाला समझ नहीं पाता कि रोगी क्या बोल रहा है। इनमें सन्निपातज तथा मेदस् जनित स्वरभेद असाध्य होते हैं।

वक्तव्य—श्री सुश्रुत ने क्षयज स्वरभेद भी असाध्य माना है। यथा—धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयात् च वाक्, एष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः।६। तथा—

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य चापि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति।७।

इसका निदान एवं सम्प्राप्ति है—

अत्युच्चभाषण विषाऽध्ययनाभिघातशीतादिभिःप्रकुपिताः पवनादयस्तु। स्रोतस्सु ते स्वरवहेषु गता प्रतिष्ठां हन्युः स्वरं भवति चापिहि षड्विधः सः। सु. उ. अ. ५३।

स्वरभेद को–स्वर बैठना, गला बैठना, कण्ठ बैठना आदि नामों से कहा जाता है। इसी की उत्पत्ति स्वरवाही स्रोतों की विकृति से होती है ॥२४–२७॥

अथारोचक निदानम्

अरोचको भवेद्दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रयैः।
सन्निपातेन मनसः सन्तापेन च पञ्चमः ॥२८॥
कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात्।
सर्वोत्थे विरसं शोकक्रोधादिषु यथामलम् ॥२९॥

व्याख्या—जिह्वा एवं हृदय (मनस् भी) में आश्रित दोषों से अरोचक नामक रोग की उत्पत्ति होती है और वह ५ प्रकार का होता है १—वायु से, २—पित्त से, ३—कफ से, ४—सन्निपात से तथा ५—मानसिक दुःख से। वातज में मुख का रस कसैला, पित्तज में तिक्त, कफज में मधुर, सन्निपातज में विकृत रस और शोक एवं क्रोध आदि मानसिक दुःख से दोषानुसार रहता है।

वक्तव्य—देखिए च. चि. अ. ८ तथा सु. उ. तं. अ० ५७। यहाँ हृदय शब्द मनस् का वाचक है और मनस् के दोष हैं रजस् तथा तमस्। परन्तु त्रिदोष सिद्धान्त के अनुसार शोक एवं क्रोध आदि में भी वातादि दोष विकृत होते हैं यथा—कामशोकभयात् वायुः क्रोधात् पित्तं, त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः। अरोचक का अर्थ है भोजन में रुचि न होना, उसमें स्वाद न आना, भोजन स्वाद न लगना फलतः खाया न जाना। और सीधे मानसिक दोषों के प्रभाव से भी अरोचक होता है जैसे राग एवं द्वेष के कारण भोजन नहीं खाया जाता या छूट जाता है अथवा उसका स्वाद नहीं आता ॥२८,२९॥

अथ छर्दिरोगनिदानम्

छर्दिरोग का वर्णन—

छर्दिर्दोषैः पृथक्सर्वैर्द्विष्टैरर्थैश्च पञ्चमी।
उदानो विकृतो दोषान् सर्वास्वप्यूर्ध्वमस्यति ॥३०॥
तासूत्क्लेशास्यलावण्यप्रसेकारुचयोऽग्रगाः।

व्याख्या—छर्दि ५ प्रकार की होती है—१—वात से, २—पित्त से, ३—कफ से, ४—सन्निपात से तथा ५—द्विष्ट-अप्रिय अर्थों—विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के योग से। छर्दि की सम्प्राप्ति—उदान वायु विकृत होकर सब दोषों को ऊपर से—मुख मार्ग से बाहिर निकाल—फेंकता है। इसी का नाम छर्दि (उल्टी–कै–वमन) है। छर्दि का पूर्व रूप—उत्क्लेश (मिचली) मुख में लवण रस का अनुभव, प्रसेक—लाल स्राव—मुख से पानी जाना तथा अरोचक ॥३३॥

वातज छर्दि—

नाभिपृष्ठं रुजन् वायुः पार्श्वे चाहारमुत्क्षिपेत् ॥३१॥
ततो विच्छिन्नमल्पाल्पं कषायं फेनिलं वमेत्।
शब्दोद्गारयुतं कृष्णमच्छं कृच्छ्रेण वेगवत् ॥३२॥
कासास्यशोषहृन्मूर्धस्वरपीडाक्लमान्वितः।

व्याख्या—वायु जनित छर्दि का वर्णन—उदान वायु-कुपित होकर—नाभि एवं पीठ में वेदना करता हुआ तथा पार्श्व में वेदना करता हुआ उदर गत आहार को मुख मार्ग से निकाल देता है तत्पश्चात्—वेग के साथ थोड़ा थोड़ा कषाय रस वाला तथा झाग वाला वमन होता है। साथ में उद्गार आते हैं, वमन होते समय शब्द (ओ ओ—गलल गलल) होता है, काला काला सा, अथवा स्वच्छ (केवल तरल) पदार्थ कष्ट के साथ तथा वेग के साथ निकलता है और साथ में—कास, मुख शोष, हृदय में तथा शिर में वेदना, स्वरभेद तथा क्लम होते हैं ॥३५॥

पित्तज छर्दि—

पित्तात्क्षारोदकनिभं धूम्रं हरितपीतकम् ॥३ ॥
सासृगम्लं कटूष्णं च तृण्मूर्च्छातापदाहवत्।

व्याख्या - पित्त से जो छर्दि होती है उसमें—क्षार—चूना के पानी जैसा, धुमिला, हरा एवं पीला, कभी कभी रक्त मिश्रित, कभी कभी अम्ल एवं कटु तथा उष्ण उष्ण वमन होता है और साथ में—तृषा, मूर्च्छा, सन्तापवाद दाह होता है ॥३३॥

कफज छर्दि—

कफात् स्निग्धं घनं शीतं श्लेष्मतन्तुगवाचितम् ॥३४॥
मधुरं लवणं भूरि प्रसक्तं लोमहर्षणम् ।
मुखश्वयथुमाधुर्यतन्द्रा हृल्लासकासवान् ॥३५॥

व्याख्या—कफ से जो छर्दि होती है उसमें—स्निग्ध, गाढ़ा, शीत, कफ की तारों से युक्त, मधुर, कभी कभी लवण रस युक्त तथा परिमाण में वात एवं पित्त की छर्दि की अपेक्षा अधिक वमन होता है और यह वमन बार बार होता है, वमन होते समय रोमाञ्च होता है तथा साथ में—मुख पर शोथ, मुख में मीठापन, तन्द्रा, मिचली एवं कास होते हैं ॥३४,३५॥

त्रिदोषज छर्दि—

सर्वलिङ्गामलैः सर्वैः रिष्टोक्ता या च तां त्यजेत् ।

व्याख्या—सन्निपात से जो छर्दि होती है उसमें उक्त सब लक्षण होते हैं और उसे तथा विकृति विज्ञानीय (शा० अ० ५) अध्याय में कथित छर्दि को त्यागदेवे (वे दोनों असाध्य होती हैं) ।

द्विष्टार्थज छर्दि—

पूत्यमेध्याशुचिद्विष्ट दर्शनश्रवणादिभिः ॥३६॥
तप्ते चित्ते हृदि क्लिष्टे छर्दिर्द्विष्टार्थयोगजा ।

व्याख्या—दुर्गन्धि वाले, अमेध्य—अपवित्र, अशुचि—अस्वच्छ अर्थात् मलिन एवं द्विष्ट (जिससे घृणा हो) पदार्थों को देखने, सुनने तथा छूने आदि से मनस् में सन्ताप तथा हृदय में उत्क्लेश होने पर जो छर्दि होती है वह द्विष्ट—अर्थयोगजा (द्विष्ट अर्थों के संयोग से उत्पन्न होने वाली) होती है ॥३६॥

अन्यान्य छर्दियाँ—

वातादीनेव विमृशेत्कृमितृष्णाऽऽमदौहृदे ॥३७॥
शूलवेपथुहृल्लासैर्विशेषात् कृमिजां वदेत् ।
कृमिहृद्रोगलिङ्गैश्च

व्याख्या—क्रिमियों से, तृषा से, आमदोष, (विसूची आदि) से तथा दौहृद (गर्भवती होने) से उत्पन्न छर्दियों में वात, पित्त एवं कफ का ही विमर्श—विचार कर लेना चाहिये। परन्तु क्रिमिजनित छर्दि में विशेषरूप से शूल, कम्पन, मिचली तथा क्रिमिजनित हृद्रोग के लक्षण (श्लो० ४६-४७ , होते हैं ।

वक्तव्य—देखिये सु० उ० तं० अ० ४९ तथा च० चि. अ. २० । अ. सं. नि. अ. ५ । क्रिमिजा आदि छर्दियों में क्रिमिरोग आदि के लक्षण होते हैं वे स्वतन्त्र या अनुबन्ध्य नहीं होती हैं अतः इनकी पृथक् गणना नहीं की गई है ॥३७॥

इति छर्दिनिदानम्

अथ हृद्रोगनिदानम्

स्मृताः पञ्च तु हृद्गदाः ॥३८॥
तेषां गुल्मनिदानोक्तैः समुत्थानैश्च सम्भव ।

व्याख्या—हृद्रोग ५ माने जाते हैं। उनकी उत्पत्ति गुल्म के निदान में कहे गये कारणों से होती है।

वक्तव्य—हृत् अर्थात् हृदय जो उरस् में दोनों फुफ्फुसों के मध्य में रहता है ॥३८॥

वातज हृद्रोग—

वातेन शूल्यतेऽत्यर्थं तुद्यते स्फुटतीव च ॥३९॥
भिद्यते शुष्यति स्तब्धं हृदयं शून्यता द्रवः ।
अकस्माद्दीनता शोको भयं शब्दासहिष्णुता ॥४०॥
वेपथुर्वेष्टनं मोहः श्वासरोधोऽल्पनिद्रता ।

व्याख्या—वातज हृद्रोग का लक्षण—हृदय में अत्यधिक शूल , व्यथा, फूटने एवं फटने कीसी वेदना या हृदय फूट अथवा फट जाना, सूखना, स्तब्ध होना (हृदय की गति रुकना), शून्यता (हृदय कोष्ठों का खाली रहना), द्रव—हृदय की गति बढ़ना—धुक धुक होना, किसी कारण के बिना ही दीनता, शोक, भय, शब्द न सहना—बोल चाल बुरी लगना, कम्पन, ऐंठन, मोह, श्वास में रुकावट तथा अल्पनिद्रता—निद्रा थोड़ी आना।

वक्तव्य—पाठक वातज हृद्रोग के लक्षणों पर विशेषतः ध्यान दें ॥३९,४०॥

पित्तज हृद्रोग—

पित्तात्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा दाहः स्वेदोऽम्लकः क्लमः ॥४१॥
छर्दनं चाम्लपित्तस्य धूमकः पीतता ज्वरः ।

व्याख्या—पित्तज हृद्रोग का लक्षण—तृषा, भ्रम, मूर्च्छा दाह, स्वेद, अम्ल उद्गार, क्लम, अम्लपित्त की छर्दि, कण्ठ में से धूम सा निकलना, शरीर पर पीलापन तथा ज्वर ॥४१॥

कफज हृद्रोग—

श्लेष्मणा हृदयं स्तब्धं भारिकं साश्मगर्भवत् ॥४२॥
कासाग्निसादनिष्ठीवनिद्रालस्यारुचिज्वराः ।

व्याख्या—कफज हृद्रोग का लक्षण—हृदय की गति में स्तब्धता, भारीपन की प्रतीति, हृदय के भीतर पाषाण की प्रतीति, कास, मन्दाग्नि, लालास्राव निद्रा की अधिकता, आलस्य, अरुचि तथा ज्वर ॥४२।

त्रिदोषज हृद्रोग—एवं क्रिमिज हृद्रोग—

सर्वलिङ्गैस्त्रिभिर्दोषैः क्रिमिभिः श्यावनेत्रता ॥४३॥
तमःप्रवेशो हृल्लासः शोषः कण्डूः कफस्रुतिः ।

हृदयं प्रततं चात्र क्रकचेनेव दार्यते ॥४४॥
चिकित्सेदामयं घोरं तं शीघ्रं शीघ्रकारिणम् ।

व्याख्या—सन्निपातज हृद्रोग में उक्त सब लक्षण होते हैं। और क्रिमिजनित हृद्रोग में—नेत्रों में कालापन, नेत्रों के आगे अन्धकार या मूर्च्छा, मिचली, शोष, हृदय में कण्डू, मुख से कफ का स्राव, हृदय के कोष्ठों में तनाव तथा आरा द्वारा काटने कीसी वेदना या हृदय का कट जाना। वैद्य हृद्रोग की शीघ्रता पूर्वक चिकित्सा करे क्योंकि यह रोग शीघ्रकारी है—इससे शीघ्र ही मृत्यू हो सकती है।

वक्तव्य : देखिए—सु. उ. तं. अ. ४३—हृद्रोग का निदान—

वेगाघातोष्णरूक्षान्नैः अतिमात्रोपसेवितैः ।
विरुद्धाऽध्यशनाऽजीर्णैः असात्म्यैश्चातिभोजनैः ॥ १ ॥

सम्प्राप्ति—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणाः हृदयं गताः ।
कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥

तथा च. चि. अ. २६ श्लो० ७७—८० । और च० सि० स्था० अ० ६ पाठ १—८ । अ. सं. नि. अ. ५ देखिये। इस हृद्रोग के पाठों से पाठक नाड़ी परीक्षा का ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं थोड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है ॥४३, ४४॥

इति हृद्रोगनिदानम् ।

अथतृषानिदानम्

तृषा रोग का वर्णन—

वातात्पित्तात्कफात्तृष्णा सन्निपाताद्रसक्षयात् ॥४५॥
षष्ठी स्यादुपसर्गाच्च वातपित्ते तु कारणम् ।
सर्वासु तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रशोषणात् ॥४६॥
सर्वदेहभ्रमोत्कम्प तापतृड्दाहमोहकृत् ।
जिह्वामूलगलक्लोम तालुतोयवहाः सिराः ॥४७॥
संशोष्य तृष्णा जायन्ते तासां सामान्यलक्षणम् ।
मुखशोषो जलातृप्तिरन्नद्वेषः स्वरक्षयः ॥४८॥
कण्ठौष्ठजिह्वाकार्कश्यं जिह्वानिष्क्रमणं क्लमः ।
प्रलापश्चित्तविभ्रंशस्तृड्ग्रहोक्तास्तथाऽऽमयाः ॥४९॥

व्याख्या—तृषा रोग ६ प्रकार का होता है—१—वायु से, २—पित्त से, ३—कफ से, ४—सन्निपात से, ५—रस धातु के क्षय से तथा ६—उपसर्ग से—(दूसरे विकारों में उपद्रव रूप)। सब तृषाओं का कारण वात पित्त है क्योंकि—वातपित्त का प्रकोप—रस आदि सौम्य धातुओं का शोषण करने के कारण—समस्त शरीर में भ्रम, कम्पन, सन्ताप, तृषा, दाह तथा मोह को उत्पन्न करता है तृषा की सम्प्राप्ति—जिह्वामल स्थान, गल, क्लोम तथा तालु की जलवाहिनी सिराओं को सुखा कर तृषा उत्पन्न होती हैं। तृषाओं का सामान्य लक्षण—मुख शोष, जलपान से भी तृप्ति न होना-भोजन में अरुचि, स्वर का क्षय—स्वर बैठना, कण्ठ, ओठ तथा जीभ में खरदरापन, जीभ बाहिर निकलना, क्लम, प्रलाप, चित्त का विभ्रंश—घबराहट तथा तृष्णा निग्रह से उत्पन्न होने वाले रोग (सू० अ० ४ श्लो० १२) ॥४५—४९॥

वातज आदि तृषा रोग—

मारुतात्क्षामता दैन्यं शङ्खतोदः शिरोभ्रमः ।
गन्धाज्ञानास्यवैरस्यश्रुतिनिद्राबलक्षयाः ॥५०॥
शीताम्बुपानाद्वृद्धिश्च पित्तान्मूर्च्छाऽऽस्यतिक्तता ।
रक्तेक्षणत्वं प्रततं शोषो दाहोऽतिधूमकः ॥५१॥
कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम् ।
स्रोतःसु स कफस्तेन पङ्कवच्छोष्यते ततः ॥५२॥
शूकैरिवाचितः कण्ठो निद्रा मधुरवक्त्रता ।
आध्मानं शिरसो जाड्यं स्तैमित्यच्छर्द्यरोचकाः ॥५३॥
आलस्यमविपाकश्च सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणा ।

व्याख्या—वात जनित तृषा के लक्षण—क्षामता—क्षिणता, दीनता, शंखों में भेदन कीसी वेदना, शिर में घुमटा, गन्ध का ज्ञान न होना, मुख में विरसता, श्रवण शक्ति का, निद्रा का तथा बल का क्षय शीतल जल पीने पर तृषा की वृद्धि। पित्त जनित तृषा के लक्षण—मूर्च्छा मुख में तिक्तता, नेत्रों में लालिमा, निरन्तर मुख सूखना, दाह तथा कण्ठ में से धूम निकलने की प्रतीति। कफ जनित तृष्णा का वर्णन—कफ कुपित होकर जल वाही स्रोतों में वायु को रोक देता है और फिर उस वायु द्वारा कीचड़ के समान सुखाया जाता है फलतः—कण्ठ में शूकों के से कण्ठक प्रतीत होते हैं, निद्रा अधिक आती है मुख में मीठापन, अफरा, शिर में जड़ता, शरीर में चिपचिपाहट, छर्दि, अरुचि, आलस्य तथा अविपाक—अपच। सन्निपात से उत्पन्न तृषा में उक्त सब लक्षण होते हैं ॥५५॥

अन्यान्य तृषाओं का वर्णन—

आमोद्भवा च भक्तस्य संरोधाद्वातपित्तजा ॥५४॥
उष्णक्लान्तस्य सहसा शीताम्भो भजतस्तृषम् ।
ऊष्मा रुद्धो गतः कोष्ठं यां कुर्यात्पित्तजैव सा ॥५५॥
या च पानातिपानोत्था तीक्ष्णाग्नेः स्नेहजा च या ।
स्निग्धगुर्वम्ललवणभोजनेन कफोद्भवा ॥५६॥
तृष्णा रसक्षयोक्तेन लक्षणेन क्षयात्मिका ।
शोषमोहज्वराद्यन्यदीर्घरोगोपसर्गतः ॥५७॥
या तृष्णा जायते तीव्रा सोपसर्गात्मिका स्मृता ॥५८॥

व्याख्या—आम जनित तृषा—आहार का उचित

पाक न होने से उत्पन्न होती है और उसमें वातपित्त जनित तृषा के उक्त लक्षण होते हैं। उष्ण—धूप एवं अग्नि के योग से थका यदि तत्काल शीतल जल पीता है तो उसकी रुकी हुई ऊष्मा—गर्मी—कोष्ठ में जाकर जिस तृषा को उत्पन्न करती है वह भी पित्तज तृषा होती है अर्थात् उसमें पितजनित तृषा के लक्षण होते हैं। जो अधिक मद्यपान से तथा तीक्ष्ण अग्निवाले को स्नेहपान से तृषा उत्पन्न होती है वह दोनों पित्तज तृषा होती हैं। जो तृषा—स्निग्ध, गुरु, अम्ल तथा लवण युक्त आहार खाने से उत्पन्न होती है वह कफज तृषा होती है। जो क्षयजनित तृषा होती है उसमें रसक्षय में कथित लक्षण (सू० अ० ११ श्लो० १८) होते हैं। और जो तृष्णा शोषरोग, मोह—मूर्च्छा, ज्वर एवं अन्यान्य दीर्घ रोगों में उपसर्ग अर्थात् उपद्रव रूप से उत्पन्न हो जाती है वह बहुत भीषण या तेज होती है और वह उपसर्गजा तृषा मानी जाती है।

वक्तव्य—देखिये अ. सं. नि. अ. ५ । च. चि. अ. २२ तथा सु. उ. अ. ४८ । सुश्रुत में एक क्षतजा तृषा भी मानी गई है, यथा—क्षतस्य रुक् शोणित निर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु । तयाऽभिभूतस्य निशादिनानि गच्छन्ति दुःखं पिबतोऽपि तोयम् ।१२। तृषा के असाध्य लक्षण देखिये शा. अ. ५ श्लो० ७९ । तृषा या तृष्णा या पिपासा का सीधा सादा अर्थ है आवश्यकता से अधिक प्यास लगना और प्यास तब लगती है जब शरीर में जल तत्त्व की न्यूनता हो जाती है। परन्तु वातजनित तृषा में ऐसा नहीं होता उसमें उदर में पानी छलकता रहता है परन्तु मुख सूखता रहता है।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

——

षष्ठोऽध्यायः

अथातो मदात्ययादिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब मदात्यय, मद, मूर्च्छा तथा संन्यास नामक रोगों के निदान की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

मद्य के १० गुण—

तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्माम्लं व्यवाय्याशुकरं लघु ।
विकाशि विशदं मद्यमोजसोऽस्माद्विपर्ययः ॥१॥

व्याख्या—मद्य में दस गुण होते हैं यथा—१. तीक्ष्ण, २. उष्ण, ३. रूक्ष, ४. सूक्ष्म, ५. अम्ल, ६. व्यवायी, ७. आशुकारी, ८. लघु, ९. विकाशी तथा १०. विशद । और ओजस में इस से विपरीत गुण होते हैं यथा—१. मन्द, २. शीत, ३. स्निग्ध, ४. सान्द्र, ५. मधुर, ६. स्थिर, ७. चिरकारी, ८. गुरु, ९. श्लक्ष्ण तथा १०. पिच्छिल ॥१॥

विष के १० गुण—

तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताश्चित्तोपप्लाविनो गुणाः ।
जीवितान्ताय जायन्ते विषे तूत्कर्षवृत्तितः ॥२॥

व्याख्या—चित्त-मनस् में उपप्लव (विक्षेप-चञ्चलता) उत्पन्न करने वाले उक्त तीक्ष्ण आदि दस गुण "विष" में भी होते हैं परन्तु वे मद्य की अपेक्षा विष में—उत्कृष्ट—तीव्र—बलवान् होने के कारण मृत्युकारक होते हैं।

वक्तव्य—मद्य में वे गुण तीव्र नहीं होते अतः मद्य से मृत्यु नहीं होती। केवल मद-नशा होता है जैसे सुरा, भाँग एवं अफीम का मद ॥२॥

सम्प्राप्ति, प्रथम एवं द्वितीय मद—

तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्मद्यं मन्दादीनोजसोगुणान् ।
दशभिर्दशसङ्क्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥३॥
आद्ये मदे द्वितीये तु प्रमादायतने स्थितः ।
दुर्विकल्पहतो मूढः सुखमित्यधिमुच्यते ॥४॥

व्याख्या—मद्य (मादक द्रव्य)—अपने उक्त तीक्ष्ण आदि दस गुणों द्वारा ओजस् के मन्द आदि दस गुणों को संक्षुब्ध करके चित्त में विकृति उत्पन्न करता है—यह प्रथम कोटि के मद में होता है जिसमें एक अनुपम सुख की अनुभूति होती है यथा—च० चि० अ० २४—

पञ्चस्वर्थेषु कान्तेषु या रतिः प्रथमे मदे ।
यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि ॥६६।
बहुदुःखहतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च ।
विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम् ॥६७॥

तथा सु. उ. अ. ४७—

काम्यता मनसः तुष्टिः धैर्यं तेजोऽतिविक्रिमः ।
विधिवत् सेव्यमाने तु मद्ये संनिहिता गुणाः ॥८॥

तथा—बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्द्धनश्च
सम्पाठगीतस्वरवर्द्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदोहि ॥
भा. प्र. मदात्यय रोग—

और दूसरी कोटि का जो मद होता है वह प्रमाद—उन्माद का हेतु-घर होता है उसमें स्थित-प्राप्त मानव-निन्दनीय एवं विकृत कल्पनाओं-विचारों से उपहत हो जाता है और कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य विचार से शून्य हो जाता है तथापि वह उसे सुख समझता है। इस मद का नाम मध्यम मद है ॥३,४॥

मध्यम एवं उत्तम मद की सन्धि—

मध्यमोत्तयोः सन्धिं प्राप्य राजसतामसः।
निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः ॥५॥

व्याख्या—मध्यम तथा उत्तम कोटि के मद की सन्धि में प्राप्त होकर रजोगुणी तथा तमोगुणी मानव—निरंकुश हिंसक पशु के समान हो जाता है और सब प्रकार के दुष्कर्म कर सकता है—करने लगता है अथवा जड़ या संज्ञाहीन होकर पड़ जाता है ॥५॥

मद की निन्दनीय दशा—

इयंभूमिरवद्यानां दौःशील्यस्येदमास्पदम्।
एकोऽयं बहुमार्गाया दुर्गतेर्देशिकः परम् ॥६॥

व्याख्या—अतः यह मदावस्था निन्दनीय कार्यों की भूमि—उत्पत्तिस्थान है, दुःशीलता आदि दुर्गुणों का आस्पद—निवास स्थान है और बहुत मार्गों वाली दुर्गति का यह एक मात्र देशिक-मार्गदर्शक है ॥६॥

तृतीय कोटि का मद—

निश्चेष्टः शववच्छेते तृतीये तु मदे स्थितः।
मरणादपि पापात्मा गतः पापतरां दशाम् ॥७॥

व्याख्या—तीसरी कोटि के मद में प्राप्त मानव—चेष्टाहीन होकर मृत के समान सो जाता है। और वह पापात्मा मरण से भी बुरी दशा को प्राप्त हो जाता है ॥७॥

मद सेवन का निषेध—

धर्माधर्मे सुखं दुःखमर्थानर्थं हिताहितम्।
यदासक्तो न जानाति कथं तच्छीलयेद्बुधः ॥८॥

व्याख्या—जिस में आसक्त मानव—धर्म एवं अधर्म को सुख एवं दुःख को, अर्थ एवं अनर्थ को और हित एवं अहित को नहीं जानता उस मद्य का कोई सत्पुरुष कैसे सेवन करे ॥८॥

मद्य की निन्दा—

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रिताः।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥९॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधु यत्।

व्याख्या—जिस मद्य में—मोह-चित्त विकार, भय, शोक, क्रोध तथा मृत्यु का आश्रय है तथा जिस से उन्माद, मद, मूर्च्छा, अपस्मार अथवा अपतानक नामक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं जहाँ अकेला बुद्धि विभ्रंश (विवेक का नाश) हो जाता है वहाँ सब कुछ असाधु-अशोभन होता है ॥९॥

अयुक्तियुक्त मद्य—

अयुक्तियुक्तमन्नं हि व्याधये मरणाय वा ॥१०॥
मद्यं त्रिवर्गधीधैर्यलज्जादेरपि नाशनम्।

व्याख्या—अयुक्तियुक्त अन्न तो रोग अथवा मृत्यु का ही कारण होता है परन्तु अयुक्ति युक्त मद्य—धर्म अर्थ, काम, बुद्धि, धैर्य तथा लज्जा आदि का भी नाशक होता है ॥१०॥

मद का प्रभाव—

नातिमाद्यन्ति बलिनः कृताहारा महाशनाः ॥११॥
स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः।
मेदःकफाधिकाः मन्दवातपित्ता दृढाग्नयः ॥१२॥
विपर्ययेऽतिमाद्यन्ति विश्रब्धाः कुपिताश्च ये।
मद्येन चाम्लरूक्षेण साजीर्णे बहुनाऽति च ॥१३॥

व्याख्या—ऐसे मानवों को अधिक मद नहीं होता जो बलवान् हैं, जो आहार कर चुके हैं, जो अधिक खाते हैं, जो स्नेहपान—स्नेहसेवन करते हैं, जो सत्त्ववान् हैं, जो युवक हैं, जो प्रतिदिन मद्य का सेवन करते हैं जो मद्य सेवियों के वंशज हैं, जिनके शरीर में मेदस् तथा कफ अधिक है, वात पित्त न्यून हैं और अग्नि दृढ (तीक्ष्ण-बलवान्) है। और इनके विपरीतों को मद अत्यधिक होता है तथा—विश्वासियों एवं क्रोधियों को भी अधिक मद होता है और अम्ल तथा रूक्ष मद्य से भी अधिक मद होता है। और कुछ अजीर्ण रहने पर मद्यपान करने से अथच अधिक मात्रा में मद्यपान करने से भी अधिक मद होता है ॥११-१३॥

मदात्यय के भेद—

वातात्पित्तात्कफात्सर्वैश्चत्वारः स्युर्मदात्ययाः।
सर्वेऽपि सर्वैर्जायन्ते व्यपदेशस्तु भूयसा ॥१४॥

व्याख्या—मदात्यय चार प्रकार के होते हैं—यथा—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से तथा ४. सन्निपात से। वास्तव में सब मदात्यय सब दोषों से उत्पन्न होते हैं केवल वातादि दोष की अधिकता से वातमदात्यय आदि नाम कहे जाते हैं।

वक्तव्य—मदात्यय उस विकार का नाम है जो मद्यपान से उत्पन्न हो जाता है। विशेष देखिए सु. उ. अ. ४७ तथा च. चि. अ. २४। अ. सं. नि. अ. ६ ॥१४॥

सामान्य लक्षण—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रमोहो हृदयव्यथा।
विड्भेदः प्रततं तृष्णा सौम्याग्नेयो ज्वरोऽरुचिः ॥१५॥
शिरःपार्श्वास्थिरुक् कम्पो मर्मभेदस्त्रिकग्रहः।
उरोविबन्धस्तिमिरं कासः श्वासः प्रजागरः ॥१६॥
स्वेदोऽतिमात्रं विष्टम्भः श्वयथुश्चित्तविभ्रमः।
प्रलापश्छर्दिरुत्क्लेशो भ्रमो दुःस्वप्नदर्शनम् ॥१७॥

व्याख्या—उक्त सब मदात्ययों का सामान्य लक्षण है—प्रमोह—चित्तविकृति, हृदय में वेदना, मलभेद, निरन्तर तृषा, शीतपूर्वक अथवा दाहपूर्वक ज्वर, अरुचि, शिर, पार्श्व तथा अस्थियों में वेदना, शरीर भर में विशेषतः हृदय में कम्पन, हृदय आदि मर्म स्थलों में फटने कीसी वेदना एवं उनका फट जाना, कटि में जकड़न, उरस् (हृदय एवं फुफ्फुस) की गति में रुकावट, नेत्रों के सामने अन्धकार, कास, श्वास, निद्रा नाश, अत्यन्त स्वेद, विष्टम्भ (विष्टब्धाजीर्ण), शोथ, चित्त में विशेष रूप से भ्रान्ति, प्रलाप, छर्दि, मिचली, भ्रम तथा दुष्ट स्वप्न दिखना ॥१५-१७॥

वातज आदि मदात्यय—

विशेषाज्जागरश्वास-कम्पमूर्धरुजोऽनिलात् ।
स्वप्ने भ्रमत्युत्पतति प्रेतैश्च सह भाषते ॥१८।
पित्ताद्दाहज्वरस्वेदमोहातीसारतृड्भ्रमाः ।
देहो हरितहारिद्रो रक्तनेत्रकपोलता ॥१९॥
श्लेष्मणश्छर्दिहृल्लासनिद्रोदर्दाङ्गगौरवम् ।
सर्वजे सर्वलिङ्गत्वम्

व्याख्या—मदात्यय के विशेष लक्षण—वात मदात्यय के लक्षण—निद्रानाश, श्वास, कम्पन, शिर में वेदना, स्वप्नों में भ्रम होना, उछलना या आकाश में उड़ना तथा प्रेतों—मृतों के साथ वार्त्तालाप करना। पित्त मदात्यय के लक्षण—दाह, ज्वर, स्वेद, मोह, अतिसार, तृषा, भ्रम, शरीर में हरापन तथा हल्दी कासा पीलापन, नेत्रों तथा कपोलों पर ललिमा। कफ मदात्यय के लक्षण—छर्दि, मिचली, निद्रा, शीतपित्त तथा शरीर में भारीपन। सन्निपात मदात्यय के लक्षण—इसमें उक्त सब लक्षण होते है ॥१८,१९॥

ध्वंसक एवं विक्षय का वर्णन—

मुक्त्वा मद्यं पिबेत्तु यः ॥२०॥
सहसाऽनुचितं वाऽन्यत्तस्य ध्वंसकविक्षयौ ।
भवेतां मारुतात्कष्टौ दुर्बलस्य विशेषतः ॥२१॥
ध्वंसके श्लेष्मनिष्ठीवःकण्ठशोषोऽतिनिद्रता ।
शब्दासहत्वं तन्द्रा च विक्षयेऽङ्गशिरोऽतिरुक् ॥२२॥
हृत्कण्ठरोगः सम्मोहः कासस्तृष्णा वमिर्ज्वरः ।

व्याख्या—जो मानव—उचित—सात्म्य मद्य को छोड़ कर पुनः पीता है अथवा अधिक मात्रा में पीता है अथवा अन्य प्रकार का मद्य पीता है उसको ध्वंसक अथवा विक्षय नामक विकार हो जाते है और ये दोनों रोग—वायुजनित तथा कष्टदायक होते है तथा विशेषतः दुर्बल को होते हैं। ध्वंसक का लक्षण—कफमय थूक,—कफ की वृद्धि, कण्ठ सूखना, निद्रा की अधिकता, शब्द-ध्वनि या वार्त्तालाप को न सहना-तथा तन्द्रा। विक्षय के लक्षण—शरीर भर में विशेषतः शिर में अत्यन्त वेदना, हृदयरोग, कण्ठरोग-स्वरभेद, सर्वथा मोह, कास, तृषा, छर्दि तथा ज्वर।

वक्तव्य देखिये च. चि. अ. २४ श्लो० १९९-२०५।

मद्यत्याग का सुफल—

निवृत्तो यस्तु मद्येभ्यो जितात्मा बुद्धिपूर्वकृत् ॥२३॥
विकारैः स्पृश्यते जातु न स शारीरमानसैः ।

व्याख्या—जो मानव सब प्रकार के मद्यों—मादक द्रव्यों के सेवन से निवृत्त रहता है; जितात्मा-जितेन्द्रिय बना रहता है और बुद्धिपूर्वक कर्म करता है उसे शारीरिक रोग तथा उन्माद आदि मानसिक रोग कभी नहीं छूते—

इति मदात्ययनिदानम्।

मद, मूर्च्छा तथा संन्यास का वर्णन

सम्प्राप्ति—

रजोमोहाहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदाः ॥२४॥
रसासृक्चेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवाः ।
मद-मूर्च्छाय-सन्न्यासा यथोत्तरबलोत्तराः ॥२५॥

व्याख्या—रजोगुण तथा तमोगुण में तत्पर अथवा अहित आहार करने में तत्पर मानव को तीन रोग हो जाते हैं—यथा—१—मद (मादक द्रव्य का सेवन किये बिना ही मद होना), २—मूर्च्छाय या मूर्च्छा, ३—संन्यास। ये सब रोग रसवाही, रक्तवाही तथा चेतनावाही स्रोतों के निरोध से उत्पन्न होते हैं और उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं।

वक्तव्य—यह मद आदि की सम्प्राप्ति एवं संख्या सम्प्राप्ति है। इनका वर्णन च. सू. अ. २४ तथा सु. उ. तं. अ. ४६ और अ. सं. नि. अ. ६ में देखिए ॥२४,२५॥

अथ मदनिदानम्

संख्या सम्प्राप्ति—

मदोऽत्र दोषैः सर्वैश्च रक्तमद्यविषैरपि ।

व्याख्या—उक्त मद आदि रोगों में मद नामक रोग सात प्रकार का होता है—१—वायु से, २—पित्त से, ३—कफ से, ४—त्रिदोष से, ५—रक्त विकृति से, ६—मद्य सेवन से तथा ७—विष के प्रभाव से।

वातज आदि मद—

सक्तानल्पद्रुतभाषश्चलः स्खलितचेष्टितः ॥२६॥
रूक्षश्यावारुणतनुर्मदे वाताद्भवे भवेत् ।
पित्तेन क्रोधनो रक्तपीताभः कलहप्रियः ॥२७॥

स्वल्पासम्बद्धवाक्पाण्डुः कफाद् ध्यानपरोऽलसः ।
सर्वात्मा सन्निपातेन रक्तात्स्तब्धाङ्गदृष्टिता ॥२८॥
पित्तलिङ्गं च मद्येन विकृतेहास्वराङ्गता ।
विषे कम्पोऽतिनिद्रा च सर्वेभ्योऽभ्यधिकस्तु सः ॥२९॥
लक्षयेल्लक्षणोत्कर्षाद् वातादीन् शोणितादिषु ।

व्याख्या—वातज मद का लक्षण—वाणी रुक जाती है अथवा वह बहुत अधिक बोलता है तथा शीघ्र २ बोलता है, शारीरिक व्यापार में चञ्चलता तथा स्खलन (लड़खडाना), शरीर एवं नेत्र आदि की आभा रूक्ष, श्याम तथा अरुण । पित्तज मद का लक्षण—क्रोध त्वचा आदि की आभा लाल एवं पीली तथा कलह अभिरुचि । कफज मद का लक्षण—बहुत थोड़ा तथा असम्बद्ध बोलना (प्रलाप), त्वचा आदि का वर्ण पाण्डु । त्रिदोषज मद में उक्त सब लक्षण होते हैं । रक्तज मद में—अंग प्रत्यङ्ग तथा दृष्टि में स्तब्धता हो जाती है । मद्य जनित मद में—पित्तज मद के लक्षण होते हैं तथा चेष्टा, स्वर एवं अंगों में विकृति आ जाती है । विष जनित मद में—कम्पन तथा अधिक निद्रा होती है और वह मद सब मदों की अपेक्षा भीषण होता है ।

उक्त रक्तज मद आदि में—लक्षणों की अधिकता से वातादि दोषों का विचार कर लेना चाहिये ।

वक्तव्य—क्योंकि—यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः । सर्व एते मदा न ऋते वातपित्तकफत्रयात् ।

अर्थात्—उक्त तीनों मद भी वात पित्त एवं कफ के बिना नहीं होते ॥२६-२९॥

इति मदनिदानम् ।

अथ मूर्च्छानिदानम्

वातज मूर्च्छा—

अरुणं कृष्णनीलं वा खं पश्यन्प्रविशेत्तमः ॥३०॥
शीघ्रं च प्रतिबुध्येत हृत्पीडा वेपथुर्भ्रमः ।
कार्श्यं श्यावारुणा छाया मूर्च्छाये मारुतात्मके ॥३१॥

व्याख्या—वात जनित मूर्च्छा में—रोगी—आकाश को लाल, काला अथवा नीला देखता हुआ तमस् में प्रवेश करता है—मूर्छित होता है और अन्यान्य मूर्च्छाओं की अपेक्षा शीघ्र प्रतिबुद्ध—संज्ञावान् हो जाता है, उस के हृदय में वेदना होती है तथा कम्पन, भ्रम, कृशता तथा त्वचा आदि का वर्ण श्याव एवं अरुण होता है॥३०,३१॥

पित्तज मूर्च्छा—

पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः ।
विबुध्येत च सस्वेदो दाहतृट्तापपीडितः ॥३२॥
भिन्नविण्नीलपीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः ।

व्याख्या—पित्त के कारण रोगी—आकाश को लाल अथवा पीला देखता हुआ तमस् में प्रवेश करता है और प्रतिबोध होते समय स्वेद आ जाता है, दाह, तृषा तथा सन्ताप—ज्वर से पीड़ित रहता है, मलभेद होता है, त्वचा का वर्ण नीला पीला सा होता है और नेत्र-लाल, पीले तथा व्याकुल होते हैं ॥३२॥

कफज मूर्च्छा—

कफेन मेघसङ्काशं पश्यन्नाकाशमाविशेत् ॥३३॥
तमश्चराच्च बुध्येत सहृल्लासः प्रसेकवान् ।
गुरुभिः स्तिमितैरङ्गैरार्द्रचर्मावनद्धवत् ॥३४॥

व्याख्या—कफ के कारण रोगी—आकाश को मेघों से ढँका हुआ सा देखता हुआ तमस् में प्रवेश करता है, अन्यान्य मूर्च्छाओं की अपेक्षा विलम्ब से प्रतिबुद्ध होता है, उस समय मिचली तथा लालास्राव होता है । उसे प्रतीत होता है जैसे उसके अंग भारी हों तथा आर्द्रचर्म से लपेटे गये हों ॥३३,३४॥

त्रिदोषज मूर्च्छा—

सर्वाकृतिस्त्रिभिर्दोषैरपस्मार इवापरः ।
पातयत्याशु निश्चेष्टं विना बीभत्सचेष्टितैः ॥३५॥

व्याख्या—त्रिदोषज मूर्च्छा में उक्त सब लक्षण होते हैं तथा वह मूर्च्छा अपस्मार की सी होती है, परन्तु रोगी को चेष्टाहीन करके पृथिवी पर गिरा देती है और उस में अपस्मार की सी बीभत्स चेष्टाएँ नहीं होतीं (मुख से झाग जाना आदि लक्षण नहीं होते) ।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने इनके अतिरिक्त तीन मूर्च्छा अधिक मानी हैं यथा – रक्तज मूर्च्छा—

पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः ।
तस्मात् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥१०॥
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति ।
स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्छितः ॥११॥

मद्यज मूर्च्छा—

मद्येन विलपन् शेते नष्टविभ्रान्तमानसः ।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावत् न याति तत् ।१२।

विषज मूर्च्छा—

वेपथुः स्वप्नतृष्णाः स्युः स्तम्भश्च विषमूर्च्छिते ।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ।।१३॥

सु. उ. तं. अ ४६ ।

भावार्थ—कुछ व्यक्ति अथवा कभी२ रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं । कुछ व्यक्ति अथवा कभी २ मद्य पीने से मूर्च्छित हो जाते हैं और इसी प्रकार विष के प्रभाव से खाने अथवा सूंघने जैसे क्लोरो फार्म से मूर्च्छित हो जाते हैं ।३५।

अथ संन्यासनिदानम्

संन्यास रोग की विशेषता—

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति सन्न्यासो नौषधैर्विना ॥३६॥

व्याख्या—दोषों का वेग समाप्त हो जाने पर मद एवं मूर्च्छा की स्वयं शान्ति हो जाती है परन्तु संन्यास नामक रोग की शान्ति चिकित्सा के बिना नहीं होती ॥३६॥

वक्तव्य—मद उतर जाने पर तथा मूर्च्छा खुल जाने पर रोगी संज्ञावान् हो जाता है परन्तु संन्यास की यदि तत्काल सद्यः फला–तीक्ष्ण नस्य एव तीक्ष्ण अञ्जन आदि चिकित्सा न की जाय या न हो सके तो मृत्यु हो जाती है ॥३५॥

सम्प्राप्ति—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यासं सन्निपतिताः प्राणायतनसंश्रयाः ॥३७॥
कुर्वन्ति तेन पुरुषः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
म्रियेत शीघ्रं, शीघ्रं चेच्चिकित्सा न प्रयुज्यते ॥३८॥
अगाधे ग्राहबहुले सलिलौघ इवाऽतटे।
सन्न्यासे विनिमज्जन्तं नरमाशु निवर्तयेत् ॥३९॥

व्याख्या—संन्यास रोग की सम्प्राप्ति—अत्यन्त बलवान् वातादि दोष वाणी, शरीर एवं मनस् की चेष्टाओं को आक्षिप्त-नष्ट करके परस्पर मिलकर–प्रकुपित होकर तथा हृदय में आश्रित होकर संन्यास रोग को उत्पन्न करते हैं इस से मानव काष्ठ के समान तथा मृत के समान हो जाता है और यदि शीघ्र सद्यःफला चिकित्सा का प्रयोग नहीं किया जाता तो शीघ्र ही मर जाता है।

जैसे मगर आदि हिंसक जन्तुओं वाले तथा तटरहित जल प्रवाह में डूबते मानव को शीघ्र ही निकालना चाहिये वैसे ही संन्यास नामक रोग में डूबते मानव को सद्यःफला चिकित्सा द्वारा शीघ्र ही निकालना–बचाना चाहिये।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि संन्यासरोग में यदि तत्काल उचित चिकित्सा हो जाती है तो प्राणरक्षा हो सकती है अन्यथा मृत्यु हो जाती है ॥३७-३९॥

मद्य के दोष—

मद मान रोष तोष प्रभृतिभिररिभिर्निजैः परिष्वङ्गः।
युक्तायुक्तं च समं युक्तिवियुक्तेन मद्येन ॥४०॥

व्याख्या—विधि रहित मद्यसेवन से—मद, मान-अभिमान, रोष-क्रोध तथा संतोष आदि से अभिषङ्ग होता है जो कि अपने शत्रु हैं। यही नहीं अपितु कर्तव्य एवं अकर्तव्य का भी ज्ञान नहीं रह जाता ॥४०॥

विचार पूर्वक मद्यपान से लाभ—

बल-काल-देश सात्म्य-प्रकृति-सहायाऽऽमयवयांसि।
प्रविभज्य तदनुरूपं यदि पिबति ततः पिबत्यमृतम् ॥४१॥

व्याख्या—यदि कोई बल, काल, देश, सात्म्य, प्रकृति सहाय (साथी तथा सहयोगी आहार एवं विहार), रोग तथा वयस् का विचार करके बल काल आदि के अनुसार मद्य पीता है तो वह अमृत पीता है।

वक्तव्य—विधिपूर्वक मद्यपान से लाभ हो सकता है और विधिरहित मद्यपान से हानि होती है।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने षष्ठोऽध्यायः।

——

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां निदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब अर्श रोग का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गए हैं कि—

अर्श की निरुक्ति एवं सम्प्राप्ति—

अरिवत्प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत्।
अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः ॥१॥
दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥२॥

व्याख्या—अर्श शब्द की निरुक्ति—गुदवलिगत मांसकील (कील के से मांसांकुर) गुदमार्ग का निरोध–अवरोध करके प्राणियों को अरि–शत्रु के समान दुःखी करते हैं अतः ये "अर्श" कहलाते हैं।

अर्श की सम्प्राप्ति—वातादि दोष–गुदवलि एवं कर्ण तथा नासा आदि में त्वचा, मांस एवं मेदस् को दूषित करके विविध आकार वाले मांसांकुरों को उत्पन्न कर देते हैं उन्हीं को "अर्श" कहते हैं।

वक्तव्य—लोक भाषा में अर्श को बवासीर कहते हैं ।१,२।

अर्श के भेद तथा गुद का वर्णन—

सहजन्मोत्तरोत्थानभेदाद् द्वेधा समासतः।
शुष्कस्राविविभेदाच्च गुदः स्थूलान्त्रसंश्रयः ॥३।
अर्धपञ्चाङ्गुलस्तस्मिंस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलाः स्थिताः।
वल्यः प्रवाहिणी तासामन्तर्मध्ये विसर्जनी ॥४॥
बाह्यासम्वरणी तस्या गुदौष्ठो बहिरङ्गुले।
यवाध्यर्धः प्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम् ॥५॥

व्याख्या—विधिभेद से अर्श संक्षेपतः दो दो प्रकार के हैं। यथा—उत्थान-जन्य भेद से दो प्रकार के होते हैं १. सहज—जो गर्भनिर्माण के साथ ही उत्पन्न होते जाते हैं और २. उत्तरजन्मा—जो जन्म होने के पश्चात् जीवन में कभी भी उत्पन्न होते हैं। और शुष्क एवं स्रावी भेद से भी दो प्रकार के होते हैं—१. शुष्क-जो सूखे रहते हैं उनमें से किसी प्रकारका स्राव नहीं होता तथा २. स्रावी-उनमें से रक्त आदि का स्राव होता है।

गुद का वर्णन—गुद वह है जा स्थूलान्त्र से सम्बद्ध है तथा ४॥ अंगुल लम्बा है अर्थात् उसकी लम्बाई ४॥ अंगुल है। उसमें तीन वलियाँ हैं जो १।-१॥ अंगुल मोटी हैं। उनके नाम हैं १. प्रवाहिणी जो भीतर की ओर स्थित है और पुरीष का प्रवाहण-प्रेरण करने के कारण प्रवाहिणी कहलाती है। २. उससे नीचे और संवरणी के ऊपर दोनों के मध्य में "विसर्जनी" नामक बली है और वह पुरीष का विसर्जन करती है अतः "विसर्जनी" कहलाती है। ३. उस से नीचे बाहर की ओर संवरणी नामक बली है और वह पुरीष का संवरण-निरोध करती है इसलिये "संवरणी" कहलाती है।

उस संवरणी से नीचे बाहर की ओर एक अंगुल पर "गुदौष्ठ" (गुद का ओठ) है जो १॥ जौ के समान मोटा है। इस गुदौष्ठ के परे रोमवती त्वचा है अर्थात् उक्त अवयवों पर रोम नहीं होते।

वक्तव्य—विशेष देखिए चरक चि. अ. १४ तथा सु. नि. अ. २। यथा—इह खलु अग्निवेश! द्विविधानि-अर्शांसि—कानिचित् सहजानि, कानिचित् जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः—मातापित्रोः अपचारः, पूर्वकृतं च कर्म, तथा अन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। तत्र सहजानि-सहजातानि शरीरेण। अर्शांसि इति अधिमांसविकाराः। सर्वेषां च अर्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्द्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तराः तिस्रो गुदवलयः, क्षेत्रम् इति देशः। केचित् तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां—शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसि इति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं-मेदोमांसं त्वक् च च. चि. अ. १४।

तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्द्धचतुराङ्गुलं गुदमाहुः, तस्मिन् वलयः तिस्रः अध्यर्द्धाङ्गुलान्तरसंभूताः प्रवाहिणी विसर्जनी संवरणी चेति चतुरङ्गुलायताः, सर्वाः तिर्यक् एकाङ्गुलोच्छ्रिताः। शंखावर्त्तनिभाश्चापि उपर्युपरिसंश्रिताः।
गलतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्त्तिताः।
रोमान्तेभ्यो यवाऽध्यर्द्धो गुदौष्ठः परिकीर्त्तितः।
प्रथमात्तु गुदौष्ठात् अंगुलमात्रे। सु. नि. अ. २ ॥३-५॥

सहज अर्शः—

तत्र हेतुः सहोत्थानां वलीबीजोपतप्तता।
अर्शसां बीजतप्तिस्तु मातापित्रपचारतः ॥६॥
दैवाच ताभ्यां कोपो हि सन्निपातस्य तान्यतः।
असाध्यान्येवमाख्याताः सर्वरोगाः कुलोद्भवाः ॥७॥

व्याख्या—सहज अर्शों का हेतु है—गर्भ की वलियों के उपादानभूत बीज अर्थात् शुक्र शोणितांश की उपतप्ति-विकृति। और उक्त बीज की उपतप्ति होती है माता पिता के अपचार—मिथ्या आहार एवं विहार से और दैव-पूर्वजन्म कृत कर्म से। उक्त दोनों कारणों से सन्निपात-तीनों दोषों का कोप होता है इसलिये सहज अर्श असाध्य होते हैं। इसी प्रकार कुलज कुष्ठ प्रमेह आदि अन्यान्य सब रोग भी असाध्य होते हैं ॥६,७॥

सहजार्श के रूप—

सहजानि विशेषेण रूक्षदुर्दर्शनानि च।
अन्तर्मुखानि पाण्डूनि दारुणोपद्रवाणि च ॥८॥

व्याख्या—उक्त सहज अर्श विशेषरूप से रूक्ष, देखने में बीभत्स, भीतर की ओर मुख वाले, पाण्डुवर्ण वाले तथा दारुण उपद्रवों से युक्त होते हैं।

वक्तव्य—देखिये श्लो. २३ से. २६ तक ॥८॥

जन्मोत्तर कालज अर्श—

षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयास्रतः।
शुष्काणि वातश्लेष्मभ्यामार्द्राणि त्वस्रपित्ततः ॥९॥

व्याख्या—जो अर्श जन्म के पश्चात् उत्पन्न होते हैं वे ६ प्रकार के होते हैं—१ वातज, २ पित्तज, ३. कफज, ४. संसर्गज, ५ त्रिदोषज तथा ६. रक्तज (रक्तार्श) शुष्कार्श वात कफ से होते हैं और आर्द्र (स्रावी) अर्श रक्त एवं पित्त से होते हैं ॥९॥

निदान, सम्प्राप्ति एवं पूर्वरूप—

दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते।
अग्नौ मलेऽतिनिचिते पुनश्चातिव्यवायतः ॥१०॥
यानसङ्क्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात्।
बस्तिनेत्राश्मलोष्टोर्वीतलचेलादिघट्टनात् ॥११॥
भृशं शीताम्बुसंस्पर्शात्प्रततातिप्रवाहणात्,
वातमूत्रशकृद्वेगधारणात्तदुदीरणात् ॥१२॥
ज्वरगुल्मातिसारामग्रहणीशोफपाण्डुभिः।
कर्शनाद्विषमाभ्यश्च चेष्टाभ्यो योषितां पुनः ॥१३॥
आमगर्भप्रपतनाद्गर्भवृद्धिप्रपीडनात्।
ईदृशैश्चापरैर्वायुरपानः कुपितो मलम् ॥१४॥

पायोर्वलीषु तं धत्ते तास्वभिष्यण्णमूर्तिषु ।
जायन्तेऽर्शांसि तत्पूर्वलक्षणं मन्दवह्निता ॥१५।
विष्टम्भः सक्थिसदनं पिण्डिकोद्वेष्टनं भ्रमः ।
सादोऽङ्गे नेत्रयोः शोफः शकृद्भेदोऽथवा ग्रहः ॥१६॥
मारुतः प्रचुरो मूढः प्रायो नाभेरधश्चरन् ।
सरुक् सपरिकर्तश्च कृच्छ्रान्निर्गच्छति स्वनन् ॥१६॥
अन्त्रकूजनमाटोपः क्षामतोद्गारभूरिता ।
प्रभूतं मूत्रमल्पा विट् अश्रद्धा धूमकोऽम्लकः ॥१८॥
शिरःपृष्ठोरसां शूलमालस्यं भिन्नवर्णता ।
तन्द्रेन्द्रियाणां दौर्बल्यं क्रोधो दुःखोपचारता ॥१९॥
आशङ्का ग्रहणीदोषपाण्डुगुल्मोदरेषु च ।
एतान्येव विवर्धन्ते जातेषु हतनामसु ॥२०॥

व्याख्या—दोषों के प्रकोप का हेतु तो प्रथम (नि० अ० १) कहा जा चुका है उस हेतु से अग्नि मन्द हो जाने पर, मलों का सञ्चय हो जाने पर, फिर भी अधिक मैथुन करने से, घोड़ा आदि की पीठ पर चढ़ने से, हिच कोला खाने से, विषम तथा कठिन आसन पर बैठने से, उत्कटक (औकडूं-पावँभार) आसन से बैठने से, गुद वलि पर वस्ति नेत्र, पाषाण, ढेला, भूतल अथवा वस्त्र आदि के घट्टन (रगड़-आघात) लगने से, गुद वलि पर अत्यन्त शीतल जल का स्पर्श होने से, निरन्तर काँखने से, अपान वायु, मूत्र तथा पुरीष का वेग रोकने से अथवा उनका उदीरण—प्रेरण करने से, ज्वर, गुल्म, अतिसार, आमातिसार, ग्रहणीरोग, शोथ तथा पाण्डु रोग के प्रभाव से, कृशता कारक आहार विहारों के सेवन से,विषम चेष्टाओं से और नारियों को आमगर्भ गिर जाने से अथवा गर्भ का गुद वलियों पर दबाव पड़ने से अथवा इस प्रकार के अन्यान्य कारणों से प्रकुपित अपान वायु पुरीष को गुद वलियों में सञ्चित करता है फलतः उनमें अभिष्यन्द होने लगता है और अतः वहाँ अर्श उत्पन्न हो जाते हैं।

अर्श रोग का पूर्वरूप--मन्दाग्नि, विष्टम्भ (अन्त्र की गति में निरोध फलतः पुरुष की उचित रूप से प्रवृति न होना), टांगों में अवसाद-शिथिलता, पिण्डलियों में ऐण्ठन, भ्रम, शरीर भर में शिथिलता, नेत्रों पर शोथ, पुरीषभेद अथवा पुरीषरोध, प्रायः अपानवायु का अधिक निःसरण होना अथवा मूढ (प्रतिलोम) होकर नाभि (अन्त्र) के निचले भाग (मलाशय) में घूमना तथा वेदना के साथ एवं कटने कीसी वेदना के साथ कष्टपूर्वक और पिड़ पिड़ शब्द के साथ निकलना, अन्त्रों में कुलकुल शब्द या गुडगुडाहट, कृशता, उद्गारों की अधिकता, मूत्र की अधिकता, पुरीष की अल्पता, अरोचक, धूआँसे उद्गार एवं अम्ल उद्गार, शिर, पीठ तथा उरःस्थल में शूल, आलस्य, त्वचा के वर्ण में भेद, नेत्र आदि इन्द्रियों में दुर्बलता, क्रोध की वृद्धि, रोगों की कष्ट साध्यता, ग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, गुल्मरोग अथच उदररोग का सन्देह। और अर्श की उत्पत्ति हो जाने पर यही लक्षण बढ़ जाते हैं (अधिक व्यक्त हो जाते हैं) ।

वक्तव्य—यह सब पाठ सुश्रुत के गद्य का पद्यानुवाद है। सुश्रुत के शब्दों का थोड़ा उदाहरण देखिये—जातेष्वेतान्येव लक्षणानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति। ६। नि. अ. २। यह– "तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते" का भी अच्छा उदाहरण है। अर्थात् यह अर्श का रूप है ॥१० २०॥

सामान्य रूप—

निवर्तमानोऽपानो हि तैरधोमार्गरोधतः ।
क्षोभयन्ननिलानन्यान् सर्वेन्द्रियशरीरगान् ॥२१॥
तथा मूत्रशकृत्पित्तकफान् धातूंश्च साशयान् ।
मृद्नात्यग्निं ततः सर्वो भवति प्रायशोऽर्शसः ॥२२॥
कृशो भृशं हतोत्साहो दीनः क्षामोऽतिनिष्प्रभः ।
असारो विगतच्छायो जन्तुजुष्ट इव द्रुमः ॥२३॥
कृत्स्नैरुपद्रवैर्ग्रस्तो यथोक्तैर्मर्मपीडनैः ।
तथा कासपिपासास्य-वैरस्य-श्वासपीनसैः ॥२४॥
क्लमाङ्गभङ्गवमथु क्षवथुश्वयथुज्वरैः ।
क्लैब्यबाधिर्यतैमिर्य -शर्कराऽश्मरिपीडितः ॥२५॥
क्षामभिन्नस्वरो ध्यायन्मुहुः ष्ठीवन्नरोचकी ।
सर्वपर्वास्थिहृन्नाभि पायुवङ्क्षणशूलवान् ॥२६॥
गुदेन स्रवता पिच्छां पुलाकोदकसन्निभाम् ।
विबद्धमुक्तं शुष्कार्द्रं पक्वामं चान्तराऽन्तरा ॥२७॥
पाण्डुपीतं हरिद्रक्तं पिच्छिलं चोपवेश्यते ।

व्याख्या—अर्श की उत्पत्ति हो जाने पर—गुदमार्ग रुक जाने के कारण अपान वायु लौटता हुआ फलतः प्राण आदि अन्यान्य वायुओं—जो सब इन्द्रियों तथा शरीरभर में गति करते हैं, को क्षुब्ध-विचलित करता हुआ तथा मूत्र, पुरीष, पित्त एवं कफ को और रस रक्त आदि धातुओं को एवं आमाशय आदि आशयों को क्षुब्ध करता हुआ अग्नि-पाचकाग्नि को मन्द कर देता है इसलिये प्रायः सभी अर्शोरोगी—अत्यन्त कृश, उत्साह हीन, दीन, क्षाम (सहन शील), कान्ति हीन, सार हीन (दुर्बल-त्वक्सार एवं रक्त सार आदि आठों सारोंसे रहित च०वि०अ०८),छायारहित एवं क्रिमियों से व्याप्त-भक्षित तरु के सदृश और मर्मों का पीड़न करने वाले पूर्वोक्त उपद्रवों द्वारा ग्रस्त हो जाते हैं तथा कास, तृषा, मुख की विरसता, श्वास, पीनस (प्रतिश्याय), क्लम, अंगमर्द (शरीर में टूटने की सी वेदना), छर्दि, छींक, शोथ, ज्वर, नपुंसकता (मैथुन में अशक्ति), बधिरता, तिमिररोग, शर्करा एवं अश्मरी से पीड़ित हो

जाते हैं, उन का स्वर क्षीण तथा भिन्न—जर्जर हो जाता है, वे चिन्ता ग्रस्त रहते हैं, बार २ थूकते रहते हैं, अरुचि से युक्त रहते हैं, उन के सभी पर्वों—पोरों में, अस्थियों में, हृदय में, नाभि (अन्त्र) में, गुद में तथा वंक्षण में वेदना होती रहती है और गुदमार्ग से—साम चावल आदि के धोअन की सी पिच्छा (लुआव-आँव) रहती है, कभी २ पुरीष बँधा आता है कभी २ पतला, कभी २ सूखा कभी २ गीला, कभी २ पका और कभी कच्चा, श्वेत, पीला, हरा, लाल तथा पिच्छिल (चिपचिपा) आता है।

वक्तव्य—यह पाठ च. चि. अ. १४ के पाठ ८ के गद्य का पद्यानुवाद है। सहजार्श से पीड़ित जन्म से ही इन उपद्रवों से पीड़ित रहता है और जन्मोत्तर कालजार्शं से पीड़ित भी इन उपद्रवों से पीड़ित हो जाता है ।।२१-२७।।

वातज अर्श—

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमिचिमान्विताः ।।२८।।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विषमाः परुषाः खराः ।
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः ।।२९।।
बिम्बीकर्कन्धुखर्जूर-कार्पासीफलसन्निभा ।
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः ।।३०।।
शिरः पार्श्वांसकट्यूरु-वङ्क्षणाभ्यधिकव्यथाः ।
क्षवथूद्गारविष्टम्भ-हृद्ग्रहारोचकप्रदाः ।।३१।।
कासश्वासाग्निवैषम्य-कर्णनादभ्रमावहाः ।
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् ।।३२।।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ।
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्र-नेत्रवक्त्रश्च जायते ।।३३।।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीला सम्भवस्तत एव च ।

व्याख्या—वातज अर्श के लक्षण—इस के अर्शोंकुर—सूखे, चिमचिमाहट—चुनचुनाहट से युक्त, मलिन, काले अथवा कालापन लिये लाल, कठोर, विषम (छोटे बड़े) परुष (शाक पत्र के समान खरदरे), खर परस्पर असदृश (भिन्न २ आकार के), टेढ़े, तीखे, फटे हुए मुख वाले और कुन्दरू, बेर, खजूर अथवा कपास के फल जैसे होते हैं। कोई (कदम्ब के पुष्प (फल) के से बड़े तथा कोई सरसों के दाना केसे, छोटे होते हैं। इन के प्रभाव से—शिर, पार्श्व, अंसफलक, कटि ऊरु तथा वंक्षण में अधिक व्यथा बनी रहती है और छींक तथा उद्गार आते हैं, विष्टम्भ रहता है, हृदय की गति में रुकावट रहती है (अथवा हृदय की गति बढ़ जाती है—धुकधुकी बनी रहती है) तथा अरोचक रहता है और कास, श्वास, विषमाग्नि, कानों में नाद होता एवं भ्रम बना रहता है। इन्हीं के कारण पीड़ित को पुरीष—गाँठों वाला, थोड़ा, शब्द के साथ, प्रवाहिका रूप में, वेदना झाग तथा पिच्छा से युक्त अथवा विशेषरूप से बन्धा हुआ आता है। उस के त्वचा नख, पुरीष, मूत्र, नेत्र तथा मुख का वर्ण काला रहता है तथा इस अर्श के कारण गुल्म रोग, प्लीहा विकार, उदर रोग अथवा वाताष्ठीला की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यह चरक एवं सुश्रुत के गद्यों का पद्यानुवाद है। इस में "खराः" एवं "तीक्ष्णाः" शब्द विचारणीय हैं।३३।

पित्तज अर्श—

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः ।।३४।।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ।
शुकजिह्वायकृत्खण्ड-जलौकावक्त्रसन्निभाः ।।३५।।
दाहपाकज्वरस्वेद-तृण्मूर्च्छाऽरुचिमोहदाः ।
सोष्माणो द्रवनीलोष्ण-पीतरक्तामवर्चसः ।।३६।।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ।

व्याख्या—पित्त प्रधान अर्श के लक्षण—इस के अर्शोंकुर—नीले मुख वाले, लाल, पीली अथवा काली आभा वाले होते हैं, उन में से पतला रक्त बहता है, विस्र गन्ध आती है, वे पतले, कोमल तथा शिथिल होते हैं, शुक की चोंच या जीभ के से, यकृत खण्ड के से अथवा जोंक के मुख के से होते हैं। इन के प्रभाव से—गुद में दाह एवं पाक, ज्वर, स्वेद, तृषा, मूर्च्छा, अरुचि तथा मोह की उत्पत्ति हो जाती है। उन में से ऊष्मा निकलती प्रतीत होती है तथा उनके प्रभाव से पुरीष—द्रव्य नीला, उष्ण, पीला, लाल तथा आम (कच्चा) आता है, वे अंकुर जौं के समान—मूल एवं अग्र भाग में पतले तथा बीच से मोटे होते हैं, उन के प्रभाव से त्वचा एवं नख आदि हरे, पीले एवं हल्दी के से वर्ण वाले हो जाते हैं ।।३४-३६।।

कफज अर्श—

श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः ।।३७।।
उच्छूनोपचिताः स्निग्धाः स्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः ।
पिच्छिला स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ।।
करीरपनसाऽस्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ।
वङ्क्षणानाहिनः पायु-बस्तिनाभिविकर्तिनः ।।३९।।
सकासश्वासहृल्लास प्रसेकाऽरुचिपीनसाः ।
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः ।।४०।।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ।
वसाभासकफप्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः ।।४१।।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ।

व्याख्या—कफप्रधान अर्श के लक्षण—ये अंकुर-बड़े मूल वाले, घन (सघन), मन्द २ वेदना वाले, श्वेत, उठे हुए, पुष्ट, स्निग्ध स्तब्ध, गोल गुरु स्थिर (अचल या स्थायी), चिपचिपाहट वाले, स्तिमित, श्लक्ष्ण (स्पर्श में खरता रहित), कण्डू से युक्त होते हैं, स्पर्श से सुख मिलता है, वे करीर अथवा कटहल की गुठली के से अथवा गौ के स्तन के से होते हैं' इनके प्रभाव से-वंक्षणों में आनाह, गुदवलियों, वस्ति तथा नाभि (अन्त्रों में—कटने की सी वेदना अथवा खरोश (क्षत), कास, श्वास, मिचली, लालास्राव, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, शिर में जड़ता, छर्दि तथा आमजनित रोग हो जाते हैं और वसा जैसा, कफ मिश्रित या कफ वेष्टित तथा अधिक पुरीष आता है, साथ में प्रवाहिका बनी रहती है। इन अंकुरों में से न किसी प्रकार का स्राव होता है और न ये फूटते हैं। इनके प्रभाव से त्वचा एवं नख आदि श्वेत एवं स्निग्ध हो जाते हैं ॥३७-४१॥

द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज—

संसृष्टलिङ्गाः संसर्गाद् निचयात्सर्वलक्षणाः ।४२॥

व्याख्या—दो दो दोषों की अधिकता से दो दो दोषों के उक्त लक्षण होते हैं और तीनों दोषों की अधिकता से सब लक्षण होते हैं ॥४२॥

रक्तज अर्श—

रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताऽऽकृतिसमन्विताः ।
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।४३॥
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्प्रतिपीडिताः ।
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ॥४४॥
भेकाभः पीड्यते दुःखैःशोणितक्षयसम्भवैः ।
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ॥४५॥

व्याख्या—रक्तप्रधान अर्श के लक्षण—ये अर्श पित्त प्रधान अर्श के लक्षणों से युक्त होते हैं विशेषतः—अर्शो-ङ्कुर वट की जटा के लाल प्ररोहों जैसे अथवा लाल गुञ्जा जैसे अथवा लाल मूँगा जैसे होते हैं। उन पर जब गाढ़ा कठिन पुरीष का दबाव पड़ता है तब सहसा दूषित एवं उष्ण रक्त निकलता है और रक्त की अत्यधिक प्रवृत्ति होने से रोगी का वर्ण मेंढक जैसा पीला-काला हो जाता है और वह रक्तक्षय जनित कष्टों से पीडित हो जाता है उसका वर्ण (कान्ति बल तथा उत्साह) क्षीण हो जाता है ओजस् घट जाता है तथा श्रोत्र एवं चक्षु: आदि इन्द्रिय दुर्बल हो जाते हैं।

वक्तव्य—रक्तक्षय के कष्ट देखिये सू. अ. ११ में—रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिसिराशैथिल्यरूक्षताः। तथा सु. सू. अ. १५ में—शोणितक्षये त्वक्पारुष्यं, अम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च।६। यह पाठ सु. नि अ. २ के १३ वें गद्य का पद्यानुवाद है। पित्तार्श में पुरीष पतला और रक्तार्श में गाढ़ा आता है यही दोनों में भेद है ॥४३-४५॥

अर्श में उदावर्त्त नामक उपद्रव—

मुद्गकोद्रवजूर्णाह्व करीरचणकादिभिः ।
रूक्षैः सङ्ग्राहिभिर्वायुः स्वे स्थाने कुपितो बली ॥४६।
अधोवहानि स्रोतांसि संरुध्याधः प्रशोषयन् ।
पुरीषं वातविण्मूत्रसङ्गं कुर्वीत दारुणम् ॥४७॥
तेन तीव्रा रुजा कोष्ठपृष्ठहृत्पार्श्वगा भवेत् ।
आध्मानमुदरावेष्टो हृल्लासः परिकर्तनम् ॥४८॥
वस्तौ च सुतरां शूलं गंडश्वयथुसम्भवः ।
पवनस्योर्ध्वगामित्वं ततश्छर्द्यरुचिज्वराः ॥४९॥
हृद्रोगग्रहणीदोषमूत्रसङ्गप्रवाहिकाः ।
बाधिर्यतिमिरश्वासशिरोरुक्कासपीनसाः ॥५०॥
मनोविकारस्तृष्णाऽस्र-पित्तगुल्मोदरादयः ।
ते ते च वातजा रोगा जायन्ते भृशदारुणाः ॥५१॥
दुर्नाम्नामित्युदावर्तः परमोऽयमुपद्रवः ।
वाताभिभूतकोष्ठानां तैर्विनाऽपि स जायते ॥५२॥

व्याख्या—मूंग, कोदों, जुआर करीर तथा चना आदि रूक्ष एवं संग्राही पदार्थों को खाने से-मलाशय में कुपित एवं बलवान् होकर, अधोगामी (गुद) स्रोतस् में अवरोध करके, नीचे की ओर से पुरीष को सुखाता हुआ, अपान वायु, पुरीष तथा मूत्र की प्रवृत्ति में भीषण अवरोध उत्पन्न करता है उससे उदर, पीठ, हृदय तथा पार्श्व (वक्षस्थल के भीतर) में तीव्र वेदना होती है तथा अफरा, उदर में ऐंठन (मरोड़), मिचली एवं परिकर्त्तिका की उत्पत्ति हो जाती है, वस्ति में अधिक शूल होता है, गालों पर शोथ हो सकता है एवं उद्गार आते हैं। तत्पश्चात् छर्दि, अरुचि, ज्वर, हृद्रोग, ग्रहणी दोष (पाचन में विकार), मूत्रावरोध, प्रवाहिका, बधिरता, तिमिररोग, श्वास, शिरोवेदना, कास, पीनस, उन्माद आदि मानसिक रोग, तृषा, अम्लपित्त, गुल्म एवं उदर आदि रोग एवं वातजनित आक्षेपक आदि भीषण रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह उदावर्त्त नामक रोग अर्श रोग का बहुत बड़ा उपद्रव है और वातदूषित उदर-वालों को अर्श के बिना भी हो जाता है ॥४६-५२॥

असाध्यत्व एवं याप्यत्व आदि विवेक—

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरे बलौ ।
स्थितानि तान्यसाध्यानि, याप्यन्तेऽग्निबलादिभिः ॥५३॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च ।

कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥५४॥
बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥५५॥

व्याख्या—जो अर्श सहज होते हैं, त्रिदोषज होते हैं और भीतर की (प्रवाहिणी) वली में उत्पन्न हुए होते हैं वे असाध्य होते हैं, यदि जठराग्नि एवं शारीरिक बल आदि उत्तम कोटि के हों तो याप्य होते हैं। जो अर्श द्विदोषज होते हैं, दूसरी बली में आश्रित होते हैं तथा एक वर्ष के पुराने होते हैं वे कृच्छ्रसाध्य होते हैं। जो बाहर वाली बली (संवरणी) में आश्रित होते हैं, एकदोषज होते हैं तथा एक वर्ष से अधिक पुराने नहीं होते वे सुखसाध्य होते हैं ॥५३-५५॥

अन्यान्य अर्श—

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं नाभिजानि तु ।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥५६॥

व्याख्या—मेहन एवं योनि आदि में भी अर्शस् होते हैं उनका वर्णन उन २ अंगों के रोगों का वर्णन करते समय किया जायगा। किन्तु नाभि (धुन्नी) में जो अर्श होते हैं वे केञ्चुवा के मुख की सी आकृति वाले, पिच्छिल तथा कोमल होते हैं।

वक्तव्य—अर्श शिश्न, अपत्यपथ, गल, तालु, मुख, नासा, कर्ण, नेत्रवर्त्म तथा त्वचा पर कहीं भी होते हैं उनका वर्णन उपदंश आदि अध्यायों में देखिये। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति, ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिन् क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टात् वा, ते तु शेफो विनाशयन्ति, उपघ्नन्ति च पुंस्त्वम्। योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान्, पिच्छिलरुधिरस्राविणः छत्राकारान् करीरान् जनयन्ति। ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्त्तवं च। नाभिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान्, दुर्गन्धान्, पिच्छिलान्, गण्डूपदमुखसदृशान् करीरान् जनयन्ति। एत एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षि-घ्राण-वदनेषु अर्शांस्यभिनिर्वर्त्तयन्ति; तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च, नेत्रजेषु वर्त्मावरोधो वेदना स्रावो दर्शननाशश्च, घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रंक्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखं च, वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिन्, तैः गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति।१७ सु. नि. अ. ॥५६॥

चर्मकील—

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तं विदुः ॥५७॥

वातेन तोदः पारुष्यं पित्तादसितरक्तता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥५८॥

व्याख्या—व्यान वायु (सर्व शरीरगामी वायु) कफ को दूषित करके त्वचा के बाहिर अर्श को उत्पन्न करता है वह अर्श कील कामा स्थिर एवं खर (कठोर) होता है उसे "चर्मकील" कहते हैं। उन चर्मकीलों में वायु की प्रधानता से तोद व्यथा एवं परुषता (खरदरापन) होती है। पित्त की प्रधानता से उनमें कालापन एवं लालपन होता है। कफ की प्रधानता से स्निग्धता एवं गठीलापन होता है परन्तु उनका वर्ण त्वचा के सदृश ही रहता है।

वक्तव्य—ये शरीर पर कहीं भी हो जाते हैं, कभी२ दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से शांत हो जाते हैं। इन को मस्सा या मोहका कहते हैं। ये शुभाशुभ सूचक भी होते हैं अतः इनके काटने आदि से अनर्थ भी होते देखे गये हैं ॥५७,५८॥

चिकित्सा में सावधानता—

अर्शसां प्रशमे यत्नमाशु कुर्वीत बुद्धिमान् ।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥५९॥

व्याख्या—अर्श की शान्ति का प्रयत्न शीघ्र करना चाहिये क्योंकि वे गुद को रोककर बद्धगुदोदर उत्पन्न कर सकते हैं।

वक्तव्य—बद्ध गुदोदर से मृत्यु हो सकती है बद्ध गुदोदर का वर्णन अ० १२ में देखिये। अर्श का वर्णन–च. चि. अ. १४, सु. नि. अ. २ तथा अ. सं नि. अ. ७ में देखिये।६१।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने सप्तमोऽध्यायः ।७।

अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽतीसारग्रहणीदोषनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब अतिसार एवं ग्रहणी रोग के निदान का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

संख्या, निदान, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप तथा रूप—

दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च भयाच्छोकाच्च षड्विधः ।
अतीसारः स सुतरां जायतेऽत्यम्बुपानतः ॥१॥
कृश शुष्काऽऽमिषाऽसात्म्य तिलपिष्टविरूढकैः ।
मद्यरूक्षातिमात्रान्नैरर्शोभिः स्नेहविभ्रमात् ।२॥
कृमिभ्यो वेगरोधाच्च तद्विधैः कुपितोऽनिलः ।
विस्रंसयत्यधोऽब्धातुं हत्वा तेनैव चानलम् ।३॥
व्यापद्यानुशकृत्कोष्ठं पुरीषं द्रवतां नयन् ।

प्रकल्पतेऽतिसाराय लक्षणं तस्य भाविनः ॥४॥
तोदो हृद्गुदकोष्ठेषु गात्रसादो मलग्रहः ।
आध्मानमविपाकश्च तत्र वातेन विड्जलम् ॥५॥
अल्पाल्पं शब्दशूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते ।
रूक्षं सफेनमच्छं च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः ॥६॥
तथा दग्धगुडाभासं सपिच्छापरिकर्तिकम् ।
शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनन् ॥७॥

व्याख्या—अतिसार की संख्या सम्प्राप्ति—अतिसार रोग छः प्रकार का होता है—१. वात से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. सन्निपात से, ५. भय से तथा ६. शोक से। अतिसार का निदान–कारण–वह अतिसार–प्रायः अधिक जल पीने से, कृश तथा शुष्क मांस खाने से, प्रकृतिविरुद्ध आहार से, तिल की पीठी (तिलकुट–कुल्लर) खाने से, विरूढ अर्थात् अङ्कुरित चना आदि धान्य खाने से, मद्यपान से, रूक्ष पदार्थ खाने से, अधिक मात्रा में खाने से, अर्श रोग के प्रभाव से, विधिरहित स्नेहपान करने से, उदर में क्रिमि उत्पन्न हो जाने से अथवा पुरीष आदि का वेग रोकने से उत्पन्न हो जाता है। अतिसार की सम्प्राप्ति—उक्त प्रकार के कारणों से प्रकुपित वायु–शरीर गत जल धातु को अधोभाग (अन्त्र) में ले आता है और उसी से जठराग्नि को मन्द करके तदनन्तर मलाशय को विकृत करके और पुरीष को पतला करता हुआ अतिसार नामक रोग उत्पन्न कर देता है। अतिसार का पूर्वरूप—हृदय, गुद तथा उदर में व्यथा, शरीर में अवसाद, पुरीष का निरोध, आध्मान तथा अपच। वातज अतिसार का लक्षण–पुरीष–सड़े हुए कीचड़ के जलकणों या खली के बल काला, थोड़ा थोड़ा, शब्द एवं शूल से युक्त तथा गोठोंवाला आता है और रूक्ष, झागवाला, स्वच्छ (केवल जल) अथवा मेंगन कीसी गाँठों से मिश्रित और बार बार आता है तथा जले हुए गुड के सदृश वर्ण वाला, पिच्छा एवं परिकर्त्तिका के साथ आता है। रोगी का मुख सूख जाता है, गुदवलियाँ बाहर निकल आती हैं, रोमाञ्च होता है तथा रोगी काँखता रहता है।

वक्तव्य—विनिष्टनन् के स्थान में "विनष्टवाक्"पाठान्तर है अर्थात् रोगी मूक हो जाता है और च. चि. अ. १९ पाठ ७ में "विनिःश्वसन्" पाठ है अर्थात् रोगी का श्वास फूलता है। चरक के उक्त गद्य का ही यह पद्यानुवाद है यथा—"पक्वं वा विबद्धमल्पाऽल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्त्तिकं हृष्टरोमा, विनिःश्वसन् शुष्कमुखः कटि-ऊरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुः विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्, तमाहुः अनुग्रथितमित्येके, वातानुग्रथितत्वात्।

पाठक देखें इसी पाठ का श्री वाग्भट ने अविकल रूप से पद्यानुवाद किया है। विड्जलम्–विलन्नोदकप्रायम् इति इन्दुः। विड्जलम् इति पाठान्तरम्–किण्वोदकप्रायम्।

पित्तातिसार का लक्षण—

पित्तेन पीतमसितं हारिद्रं शाद्वलप्रभम् ।
सरक्तमतिदुर्गन्धं तृण्मूर्च्छास्वेददाहवान् ॥८॥

व्याख्या—पित्त के कारण जो अतिसार होता है उसमें–पीला, काला, हल्दी के वर्णवाला हरे घास के सदृश वर्णवाला (हरा), रक्त मिश्रित, अत्यन्त दुर्गन्धवाला पुरीष आता है और साथ में तृषा, मूर्च्छा, स्वेद दाह होता है शूल, गुद में जलन तथा पाक भी होता है।

वक्तव्य—यह पाठ चरक के "तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तं पित्तोपहितमतिदुर्गन्धम् अतिसार्यते पुरीषम्, तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीतः इति पित्तातिसारः ।६।" पाठ का पद्यानुवाद है ॥८॥

कफातिसार का लक्षण

सशूलं पायुसन्तापपाकवान् श्लेष्मणा घनम् ।
पिच्छिलं तन्तुमच्छ्वेतं स्निग्धमामं कफान्वितम् ॥९॥
अभीक्ष्णं गुरु दुर्गन्धं विबद्धमनुबद्धरुक् ।
निद्रालुरलसोऽन्नद्विडल्पाल्पं सप्रवाहिकम् ॥१०॥
सरोमहर्षः सोत्क्लेशो गुरुवस्ति गुदोदरः ।
कृतेऽप्यकृतसंज्ञश्च सर्वात्मा सर्वलक्षणः ॥११॥

व्याख्या—कफ से जो अतिसार होता है उस में—गाढा, पिच्छिल (चिपचिपा), लालायुक्त, श्वेत, स्निग्ध, आम (अपक्व), कफमिश्रित, बार बार, गुरु (जो जल में डूब जाता है), दुर्गन्धयुक्त, बन्धा हुआ–गाँठो वाला निरन्तर वेदना युक्त, थोड़ा२ तथा प्रवाहिका से युक्त अतिसार आते हैं। इससे निद्रा अधिक आती है, आलस्य तथा अरोचक होता है, रोमाञ्च तथा मिचली होती है और वस्ति, गुद तथा उदर में भारीपन प्रतीत होता है। और अतिसार हो जाने पर भी रोगी को प्रतीत होता है कि पुरीष नहीं निकला है। त्रिदोष अतिसार में तीनों दोषों के उक्त सब लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—यह पाठ भी चरक के पाठ का पद्यानुवाद है यथा—तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमत् आमं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं, गुरूदरगुदवस्तिवंक्षणप्रदेशः कृतेऽपि अकृतसंज्ञः सलोमहर्षणः सोत्क्लेशो निद्रालस्य परीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ॥९-११॥

भयज तथा शोकज अतिसार—

भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत् ।

वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम् ॥१२॥
वातपित्तसमं लिङ्गैराहुः तद्वच्च शोकतः ।

व्याख्या—भय तथा शोक से चित्त विचलित हो जाने पर कुपित वायु पित्त से मिलकर पुरीष को पतला कर देता है इसलिये तत्काल—उष्ण, पतला, प्लव (जल पर तैरने वाला) तथा वातपित्तज अतिसारों के उक्त लक्षणों वाला अतिसार होता है ।

वक्तव्य—भगवान् चरक के शब्दों में—

आगन्तू द्वौ अतीसारौ मानसौ भयशोकजौ ।
तद् तयोः लक्षणं वायोः यदतीसारलक्षणम् ।१५।
मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति ।
तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाऽऽश्वासनानि च ।१६।

शोकातिसार का लक्षण है—सु. उ. अ. ४०—

तैस्तैः भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पाऽऽवेगः पक्तिमाविश्य जन्तोः । कोष्ठं गत्वा क्षोभयत्यस्य रक्तं तच्चाधस्तात् काकणन्ति प्रकाशम् । वर्चोमिश्रं निःपुरीषं सगन्धं निर्गन्धं वा सार्यते तेन कृच्छ्रात् । शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ।

देखा जाता है कि शोकातिसार में प्रायः रक्त आता है ।

साम एवं निराम अतिसार—

अतीसारः समासेन द्विधा सामो निरामकः ॥१३॥
सासृङ्निरस्रः तत्राद्ये गौरवादप्सु मज्जति ।

व्याख्या—अतिसार नामक रोग संक्षेपतः (विधि भेद से) दो प्रकार का होता है—१. साम अर्थात् आमदोष युक्त तथा २. निराम अर्थात् आमदोष रहित और १. रक्त युक्त अर्थात् रक्त से मिश्रित तथा २. रक्त रहित ।

वक्तव्य—साम को आमातिसार तथा निराम को पक्वातिसार कहते हैं और रक्त मिश्रित को रक्तातिसार कहते हैं। आमातिसार का लक्षण—आमातिसार में—पुरीष गुरु होने से जल में डूब जाता है तथा दुर्गन्धयुक्त होता है और उस में आटोप, विष्टम्भ, वेदना तथा लालास्राव होता है । निरामातिसार का लक्षण—यह अतीसार आमातिसार से विपरीत होता है—इसमें उसके लक्षण नहीं होते । परन्तु कफातिसार का पुरीष पक्व-निराम भी जल में डूब जाता है ।१३।

अतिसार में ग्रहणी रोग—

शकृद् दुर्गन्धमाटोपविष्टम्भार्तिप्रसेकिनः ॥१४।
विपरीतो निरामस्तु कफात्पकोऽपि मज्जति ।
अतीसारेषु यो नातियत्नवान् ग्रहणीगदः ॥१५।
तस्य स्यादग्निविध्वंसकरैरन्यस्य सेवितैः ।
सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनातिसार्यते॥१६॥
सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः।

व्याख्या—अतिसार रोग में जो प्रयत्न पूर्वक चिकित्सा नहीं करता उसे ग्रहणी रोग हो जाता है अथवा जठराग्नि को विकृत करनेवाले आहार विहारों के सेवन से स्वस्थ को भी ग्रहणी रोग हो जाता है । जिस अतिसार से आहार पच जाने पर आम अथवा निराम (पक्व) मल का अतिसरण—(पतला पुरीष निकलना) होता है वह "अतिसार" कहलाता है और वह स्वभाव से ही पुरीष का अतिसार होने के कारण "आशुकारी" होता है ।

वक्तव्य—"मलायत्तं बलं पुंसाम्" के अनुसार अतिसार में पुरीष का अधिक एवं शीघ्र निःसरण होने से अतिसार आशुकारी होता है और ग्रहणी रोग चिरकृत्-चिरकारी होता है देखिये श्लो० १७ । आशुकारी—शीघ्रमारी या शीघ्र शांत होने वाला । चिरकृत—चिर से मारने वाला या शान्त होने वाला ॥१४-१६॥

इति अतिसारनिदानम्

अथ ग्रहणीरोगनिदानम्

सामान्य लक्षण एवं संख्या संप्राप्ति—

सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैव वा ॥१७॥
अकस्माद्वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः ।
चिरकृद् ग्रहणीदोषः सञ्चयाच्चोपवेशयेत् ॥१८॥
स चतुर्धा पृथक्दोषैः सन्निपाताच्च जायते ।

व्याख्या—ग्रहणी दोष अर्थात् ग्रहणी रोग चिरकारी होता है इस में—कभी आम युक्त कभी अन्न युक्त (जो खाय वही—अन्न पर पाचन का कुछ प्रभाव नहीं होता), कभी अपच होने पर, कभी अन्न पच जाने पर, कभी पका हुआ पुरीष आता है और कभी आता ही नहीं, कभी किसी अपथ्य आदि कारण के बिना ही बार बार आता है, कभी बँधा हुआ आता है कभी बार बार पतला पुरीष आता है और कभी कभी २—१० दिन पर्यन्त सञ्चय होने के पश्चात् पतले अतिसार बार २ होने लगते हैं । इस विकार का नाम ग्रहणी दोष—ग्रहणी रोग है । यह चार प्रकार का होता है—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से और ४. सन्निपात से ।

वक्तव्य—पाचन संस्थान की उक्त प्रकार की विकृति का नाम "ग्रहणी रोग" है । भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—षष्ठी पित्तधरा (कला)-या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतंपक्वाशयोपस्थितं धारयति । सु. शा. अ. ४ । तथा-षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वाऽऽमाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ।१६। पित्तधरा कला का नाम ग्रहणी है । तथा—

दुष्यति ग्रहणी जन्तोः अग्निसादनहेतुभिः ।

अतीसारे निवृत्तोऽपि मन्दाग्नेः अहिताऽशिनः ।
भूयः संदूषितो वह्निः ग्रहणीमभिदूषयेत् ।१६७।
तथा—ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः ।
तस्मात् सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी संप्रदुष्यति ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ।१७१।
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ।१७२।
सु. उ. तं. अ० ४० ।

ग्रहणी की दुष्टि का नाम "ग्रहणी रोग" है ॥१७, १८॥

ग्रहणी रोग का पूर्वरूप—

प्राग्रूपं तस्य सदनं चिरात्पचनमम्लकः । १९॥
प्रसेको वक्त्रवैरस्यमरुचिस्तृट् क्लमो भ्रमः ।
आनद्धोदरता छर्दिः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम् ॥२०॥

व्याख्या—अवसाद (शिथिलता), खाया हुआ चिर से पचना, उस का पाक अम्ल होना (खट्टे उद्गार आना), लालास्राव, मुख में विरसता, अरुचि, तृषा, क्लम (मानसिक थकावट), भ्रम, उदर में आनाह, कभी २ छर्दि, कर्णक्ष्वेड (कान में ध्वनियाँ) तथा अन्त्र में कुलकुलाहट ॥१९,२०॥

सामान्य रूप—

सामान्यं लक्षणं कार्श्यं धूमकस्तमको ज्वरः ।
मूर्च्छा शिरोरुग्विष्टम्भः श्वयथुः करपादयोः । २१॥

व्याख्या—ग्रहणी रोग का सामान्य लक्षण—कृशता, धूआँ से उद्गार, नेत्रों के सामने अन्धकार या नेत्र की शक्ति का ह्रास, ज्वर, मूर्च्छा, शिर में वेदना, उदर में विष्टम्भ तथा हाथ पाँव पर शोथ ॥२१॥

वातज ग्रहणी का लक्षण—

तत्राऽनिलात्तालुशोषस्तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजाऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥२२॥
रसेषु गृद्धिः सर्वेषु क्षुत्तृष्णा परिकर्तिका ।
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यं समश्नुते ॥२३॥
वातहृद्रोगगुल्मार्शः प्लीहपाण्डुत्वशङ्कितः ।
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ॥२४।
पुनःपुनः सृजेद्वर्चः पायुरुक्श्वासकासवान् ।

व्याख्या—वातज ग्रहणी का लक्षण—उस में वायु के कारण—तालु सूखना, तिमिर रोग, कानों में स्वन (सनसनाहट), पार्श्वों, ऊरुओं, वंक्षणों तथा ग्रीवा में वेदना, बार बार विसूची होना, सब कुछ खाने की तीव्र अभिलाषा, भूख एवं प्यास की अधिकता, परिकर्तिका (अन्त्रों में एवं गुदवलियों में खरोश), खाया हुआ पच जाने पर अथवा पचते समय अफरा; खा लेने पर कुछ समय के लिये शान्ति, वातविकार, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, प्लीह विकार तथा पाण्डुरोग की शंका (सन्देह), विलम्ब से, कष्ट के साथ, पतला अथवा सूखा, थोड़ा, आम, शब्द एवं फेन से युक्त बार २ पुरीष आना, गुद में वेदना, श्वास तथा कास ॥२२-२४॥

पित्तज ग्रहणी का लक्षण—

पित्तेन नीलं पीताभं पीताभः सृजति द्रवम् ॥२५॥
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ।

व्याख्या—पित्तज ग्रहणी का लक्षण—इस में नीला, पीला सा तथा द्रव पुरीष आता है, रोगी का वर्ण भी पीलासा हो जाता है और दुर्गन्ध युक्त एवं खट्टे उद्गार, हृदय एवं कण्ठ में दाह, अरुचि तथा तृषा होती है ॥२५॥

कफज ग्रहणी रोग—

श्लेष्मणा पच्यते दुःखमन्नं छर्दिररोचकः ॥२६॥
आस्योपदेहनिष्ठीवकासहृल्लासपीनसाः ।
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ॥२७॥
उद्गारो दुष्टमधुरः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ।
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्ट गुरुवर्चःप्रवर्तनम् ॥२८॥
अकृशस्यापि दौर्बल्यम् सर्वजे सर्वसङ्करः ।

व्याख्या—कफज ग्रहणी के लक्षण—इस में अन्न दुःख के साथ पचता है, छर्दि, अरोचक, मुख में चिपचिपापन, थूक की अधिकता, कास, मिचली, पीनस, हृदय में भारीपन की या गतिहीनता की प्रतीति, उदर में गतिहीनता तथा भारीपन की प्रतीति, दूषित एवं मीठे उद्गार, शिथिलता, मैथुन में अशक्ति, टूटे २, आम कफ मिश्रित एवं गुरु (जल में डूबने वाला) पुरीष की प्रवृत्ति । शरीर में कृशता नहीं होती परन्तु दुर्बलता होती है । सन्निपातज ग्रहणी में उक्त सब लक्षण होते हैं ।२८॥

ग्रहणी रोग का संकेत—

विभागेऽङ्गस्य ये चोक्ता विषमाद्यास्त्रयोऽग्नयः ॥२९॥
तेऽपि स्युर्ग्रहणीदोषाः समस्तु स्वास्थ्यकारणम् ।

व्याख्या—शारीर स्थान के अंगविभाग नामक तीसरे अध्याय में जो विषम, तीक्ष्ण एवं मन्द नामक तीन प्रकार की अग्नियाँ बतलाई गई हैं वे सब भी ग्रहणी दोष ही हैं । केवल समाग्नि स्वास्थ्य का कारण होती है ॥२९॥

आठ महारोग—

वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः ।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः ॥३०॥

व्याख्या—१. वात व्याधि, २. अपस्मार, ३. कुष्ठ,

४. प्रमेह, ५. उदररोग, ६. भगन्दर, ७. अर्श तथा ८. ग्रहणी दोष, ये आठ रोग "महारोग" कहे जाते हैं और ये कष्टसाध्य होते हैं।

वक्तव्य—च. चि. अ १५–१६ तथा सु. उ, तं. अ. ४० देखिए। अ. सं. नि अ. ८ देखिये। पाचन क्रिया की विकृति मात्र को 'ग्रहणी रोग" कहा जा सकता है।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने अष्टमोऽध्यायः ।८।

नवमोऽध्यायः

अथातो मूत्राघातनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

व्याख्या—अब मूत्राघात के निदान की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस अध्याय में मूत्र नामक मल के विकारों का तथा मूत्राशय के रोगों का वर्णन है।

वस्ति आदि अवयवों का आश्रय—

बस्ति बस्तिशिरो मेढ्रं कटी वृषणपायवः।
एकसम्बन्धनाः प्रोक्ता गुदास्थिविवराश्रयाः ॥१॥

व्याख्या—वस्ति—मूत्राशय, वस्तिशिर (वृक्क–मूत्र वाही दोनों स्रोतस् सहित), मेढ्र (मूत्रमार्ग), कटी, वृषण तथा गुद इन सब अवयवों की गुदास्थि विवर में आश्रय है और इनका परस्पर सम्बन्ध है।

वक्तव्य—यह श्लोक सु० नि० अ० ३ में इसप्रकार है यथा—वस्ति वस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदः।
एक संबन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवराश्रिताः ॥१९॥
इस पाठ में कटी शब्द के स्थान में "पौरुष" शब्द है स्यात् श्री वाग्भट ने इस "पौरुष" नामक अवयव के लिए ही कटी शब्द का प्रयोग किया है। वस्ति शिर–जहाँ से मूत्र स्रोतस् निकलते हैं अर्थात् वृक्क और वस्ति–जहाँ आकर मूत्र ठहरता है–मूत्राशय। मूत्रवह स्रोत–जिनके द्वारा मूत्र वृक्कों से वस्ति में आता है ॥१॥

वस्ति का वर्णन—

अधोमुखोऽपि बस्तिर्हि मूत्रवाहिसिरामुखैः।
पार्श्वेभ्यः पूर्यते सूक्ष्मैः स्यन्दमानैरनारतम् ॥२॥
यैस्तैरेव प्रविश्यैनं दोषाः कुर्वन्ति विंशतिम्।
मूत्राघातान् प्रमेहांश्च कृच्छ्रान्मर्मसमाश्रयान् ॥३॥

व्याख्या—वस्ति का मुख नीचे की ओर है जिससे मूत्र बाहिर निकलता है। वह वस्ति–मूत्र वाही सिराओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मुखों द्वारा पार्श्वों से पूरित होती रहती है मुखों के द्वारा वस्ति में सर्वदा मूत्र आता रहता है। और उन्हीं मुखों द्वारा वातादि दोष वस्ति में प्रविष्ट होकर बीस प्रकार के मूत्राघातों तथा बीस प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं जिनका वस्ति नामक मर्म में आश्रय है।

वक्तव्य—वस्ति नामक अवयव का वर्णन सुश्रुत में इस प्रकार है—नाभि पृष्ठ कटी मुष्क गुद वंक्षण शेफसाम्।
एकद्वारः तनुत्वक्को मध्ये वस्तिः अधोमुखः ।१८।
अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः।
मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ।२०।
पक्वाशयगताः तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ।२१।
सूक्ष्मत्वात् नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।
नाडीभिः उपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ।२२।
जाग्रतः स्वपतः चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।
आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ।२३।
घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते।
एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि वा ।२४।
मूत्रयुक्ता उपस्नेहात् प्रविश्य कुरुतेऽश्मरीम्।
अप्सु स्वच्छास्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे।
कालान्तरेण पंकः स्यात् अश्मरी सम्भवः तथा।
मारुते प्रगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि ।२७।
मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च।
मूत्रदोषाश्च ये केचित् वस्तौ एव भवन्ति हि ।२८।
सु. नि. अ. ३ ।

और चरक में इस प्रकार है—वस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां नाडी (ली) नां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्व स्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा ।४। च. सि. अ. ९। इस अध्याय में उन वस्तिगत रोगों का वर्णन है जिनमें मूत्र का आघात होता है। आघात अर्थात् मूत्र में रुकावट एवं मूत्रप्रवृत्ति में कष्ट। पौरुष नामक अवयव मूत्रमार्ग को लपटे रहता है उसमें शोथ होने से मूत्र रुकता है, वृषण—अण्ड एवं शुक्रवह दोनों स्रोतस् पायु–गुद ।२,३।

मूत्रकृच्छ्रों के लक्षण—

बस्तिवंक्षणमेढ्रार्तियुक्तोऽल्पाल्पं मुहुर्मुहुः।
मूत्रयेद्वातजे कृच्छ्रे पैत्ते पीतं सदाहरुक् ॥४॥
रक्तं वाकफजे बस्तिमेढ्रगौरवशोफवान्।
सपिच्छं सविबन्धं च सर्वैः सर्वात्मकं मलैः ॥५॥

व्याख्या—वातज मूत्रकृच्छ्र में—वस्ति, वंक्षण तथा मेहन (मूत्रमार्ग) में वेदना होती है और थोड़ा थोड़ा एवं बार बार मूत्र आता है। पित्तज मूत्रकृच्छ्र में—पीला; दाह एवं वेदना के साथ मूत्र आता है अथवा

मूत्र में रक्त आता है। कफज मूत्र कृच्छ्र में वस्ति तथा मेहन में भारीपन एवं शोथ होता है और मूत्र पिच्छायुक्त एवं रुक रुक कर आता है। त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में उक्त सब लक्षण होते हैं।

वक्तव्य--मूत्रकृच्छ्र में मूत्रण में कष्ट(कड़क) होता है।४,५

अश्मरी का वर्णन—

यदा वायुर्मुखं वस्तेरावृत्य परिशोषयेत्।
मूत्रं सपित्तं सकफं सशुक्रं वा तदा क्रमात्॥६॥
सञ्जायतेऽश्मरी घोरा पित्ताद् गोरिव रोचना।
श्लेष्माश्रया च सर्वा स्याद् अथाऽस्या पूर्वलक्षणम्॥७।
बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक्।
मूत्रे च बस्तगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः॥८॥

व्याख्या—अश्मरी की सम्प्राप्ति—जब वायु वस्ति के मुख को रोककर पित्त, कफ अथवा शुक्र से युक्त मूत्र को सुखाता जाता है तब क्रमशः (धीरे धीरे) भीषण "अश्मरी" (पथरी) उत्पन्न-निर्मित हो जाती है जैसे गौ के पित्त से (उसके पित्ताशय में पित्त सूखकर) गोरोचन निर्मित हो जाता है। सब अश्मरियों का आश्रय-निर्माणाधार श्लेष्मा है। अश्मरी का पूर्वरूप—मूत्राशय में अफरा, वस्ति के समीप के अवयवों में सब ओर वेदना, मूत्र में बकरा के मूत्र कीसी गन्ध, मूत्रप्रवृत्ति में कष्ट, ज्वर तथा अरुचि।

वक्तव्य – मूत्राशय में वायु-पित्त, कफ एवं शुक्र के मूर्त्त कणों को सुखाकर अश्मरी का निर्माण करता है वे कण श्लेष्मा में सट कर धीरे२ सञ्चित होते२ अश्मरी के रूप में परिणत हो जाते हैं। शुक्र का वेग रोकने से-मूत्र मार्ग में आया हुआ शुक्र मूत्राशय में प्रविष्ट हो जाने पर अश्मरी निर्माण में सहायक हो जाता है। देखिए श्लो० १९।६-८।

सामान्य रूप—

सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु।
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने॥९॥
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम्।
तत्संक्षोभात् क्षते सास्रम्,आयासाच्चातिरुग्भवेत्॥१०॥

व्याख्या—अश्मरी का सामान्य लक्षण—नाभि (के समीप), सेवनी तथा वस्ति शिरस् (वृक्क एवं मूत्रवह स्रोत) में वेदना, अश्मरी द्वारा मूत्रमार्ग रुक जाने पर मूत्र की धारा टूट टूट कर आती है—उचितरूप से मूत्र नहीं आता—रुक रुक कर आता है, अश्मरी मूत्रमार्ग के सामने से हट जाने पर मूत्र सुख से—उचित रूप से आता है। मूत्र स्वच्छ एवं गोमेदमणि के सदृश वर्ण वाला (गो मूत्र के सदृश वर्ण वाला) होता है। अश्मरी के हिलने से यदि भीतर क्षत हो जाता है तो रक्तयुक्त मूत्र आता है, परिश्रम करने से मूत्राशय में अत्यन्त वेदना होती है।९,१०।

वातज अश्मरी—

तत्र वाताद्भृशार्त्यार्तो दन्तान् खादति वेपते।
मृद्नाति मेहनं, नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन्॥११॥
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति विन्दुशः।
श्यावा रूक्षाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव॥१२॥

व्याख्या—वातज अश्मरी का लक्षण—रोगी अत्यधिक वेदना से पीडित होता है, दान्त कटकटाता है—पीसता है (किसी भी वेदना में स्वभावतः ऐसा होता है), काम्पता है, मेहन को मलता है, नाभि का पीडन करता है - मुट्ठी से दबाता है, निरन्तर हाय हाय करता है, अपान वायु के साथ पुरीषोत्सर्ग करता है और बार बार बून्द बून्द मूतता है। और शस्त्रकर्म द्वारा जब अश्मरी निकाली जाती है तब वह काली सी, रूखी रूखी एवं कण्टकों जैसे उभारों से व्याप्त पाई जाती है।

वक्तव्य—उक्त सब लक्षण तब होते हैं जब कभी अश्मरी द्वारा मूत्रावरोध होता है। वैसे तो देखा गया है कि रोगी को अनुभव भी नहीं होता कि उसके मूत्राशय में अश्मरी है। विधाता की लीला है जिस से वस्ति में अश्मरी (पाषाण जैसे ढेले) का निर्माण हो जाता है। वह भी १ नहीं अनेक होती हैं हमने एक वृद्ध के मूत्राशय से १७ अश्मरियाँ निकली देखी हैं छोटी बड़ी सब प्रकार की।११,१२।

पित्तज अश्मरी—

पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मवान्।
भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताऽश्मरी॥१३॥

व्याख्या—पित्तज अश्मरी का लक्षण—वस्ति में दाह, जैसे पाक हो रहा हो वैसी उष्मा (वाष्प) की प्रतीति और यह भिलावा की गुठली जैसी, लाल, पीली एवं काली होती है।

वक्तव्य—शस्त्र कर्म द्वारा निकालने पर उक्त आकार एवं वर्ण देखे जाते हैं।१३।

कफज अश्मरी—

वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः।
अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता॥१४॥

व्याख्या—कफज अश्मरी का लक्षण—वस्ति में व्यथा सी होती है, शीतता एवं गुरुता की प्रतीति होती है। और यह अश्मरी अन्यान्य अश्मरियों की अपेक्षा बड़ी होती है, श्लक्ष्ण (काँच के समान साफ) तथा वर्ण में मधु जैसी अथवा श्वेत होती है॥१४॥

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ।
आश्रयोपचयाल्पत्वाद् ग्रहणाहरणे सुखाः ॥१५॥

व्याख्या—उक्त तीनों अश्मरियाँ प्रायः बालकों (बच्चों) को होती हैं और उन की वस्ति छोटी तथा अल्प मांस वाली होने से अश्मरी सुख से पकड़ी एवं निकाली जा सकती है।

वक्तव्य—वैसे ये अश्मरियाँ युवकों एवं वृद्धों को भी होती हैं। यह १ तो० से १० तो० तक की होती हैं। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—प्रायेण एताः तिस्रो अश्मर्यो दिवास्वप्न समशन-अध्यशन शीत स्निग्ध गुरु मधुराऽऽहारप्रियत्वात् विशेषेण बालानां भवन्ति । तेषामेवाल्पवस्तिकायत्वात् अनुपचितमांसत्वात् च वस्तेः सुखग्रहणाऽऽहरणा भवन्ति । सु. नि. अ. ३ ॥१५॥

शुक्राश्मरी तथा शर्करा का वर्णन—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ।
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिल ॥१६॥
शोषयत्युपसङ्गृह्य शुक्रं तच्छुष्कमश्मरी ।
बस्तिरुक्कृच्छ्रमूत्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी ॥१७॥
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ।
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन् अश्मर्येव च शर्करा ॥१८॥
अणुशो वायुना भिन्ना सा त्वस्मिन्ननुलोमगे ।
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे विबध्यते ॥१९॥

व्याख्या—शुक्रज अश्मरी का वर्णन—शुक्राश्मरी तो युवकों को ही शुक्र का वेग रोकने से होती है। मैथुन आदि में अपने स्थान से जब शुक्र च्युत अर्थात् चलित हो जाता है परन्तु मुक्त नहीं होता—निकल नहीं जाता तब उस शुक्र को लेकर वायु मुष्कों (मेहन एवं वृषण) के मध्य भाग में उसे सुखा देता है वह शुक्र (सूखा हुआ शुक्र "अश्मरी" कहलाता है। उस से वस्ति में वेदना, मूत्रप्रवृत्ति में कष्ट तथा मुष्कों में शोथ हो जाता है। इस की प्रारम्भिक दशा में शुक्र आता है और इस स्थान को पीड़ित करने से अश्मरी विलीन—नष्ट हो जाती है। यह शुक्राश्मरी कहलाती है। और उक्त तीनों अश्मरियाँ जब कभी वायु द्वारा टूट-फूट जाती हैं—बालू के से सूक्ष्म२ कणों के रूप में परिणत हो जाती हैं, तब "शर्करा" कहलाती हैं। जब वायु अनुलोम होता है तब वह मूत्र के साथ निकल जाती है और जब वायु प्रतिलोम होता है तो रुक जाती है—कभी २ मूत्रमार्ग में फँस जाती है।

वक्तव्य—अश्मरी बड़ी होने से मूत्र के साथ नहीं निकल सकती। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में महतां तु शुक्राश्मरी शुक्रनिमित्ता भवति मैथुनविघातादतिमैथुनात् वा शुक्रं चलितमनिर्गच्छत् विमार्गगमनात् अनिलोऽभितः संगृह्य मेढ्रवृषणयोः अन्तरे संहरति, संहृत्य च उपशोषयति, सा मूत्र मार्गमावृणोति, मूत्रकृच्छ्रं वस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते, तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् । सु. नि. अ. ३ । शुक्राश्मरी अश्म—पाषाण का रूप धारण नहीं करती या अश्मवत् कठोर नहीं होती । अतः अश्मरी तीन ही मानी गई हैं ॥१९॥

मूत्राघातों का वर्णन—

मूत्रसन्धारिणः कुर्याद्रुद्ध्वा बस्तेर्मुखं मरुत् ।
मूत्रसङ्गं रुजं कण्डूं कदाचिच्च स्वधामतः ॥२०॥
प्रच्याव्य बस्तिमुद्वृत्तं गर्भाभं स्थूलविप्लुतम् ।
करोति तत्र रुग्दाहस्पन्दनोद्वेष्टनानि च ॥२१॥
बिन्दुशश्च प्रवर्तेत मूत्रं बस्तौ तु पीडिते।
धारया द्विविधोऽप्येष वातबस्तिरिति स्मृतः ॥२२॥
दुस्तरो दुस्तरतरो द्वितीयः प्रबलानिलः ।

व्याख्या—वातबस्ति नामक मूत्राघात का वर्णन—मूत्र का वेग रोकनेवाले का वायु—वस्ति के मुख को रोक कर मूत्ररोध करता है और साथ में वेदना एवं खुजली को उत्पन्न करता है और कभी २ वह वायु—वस्ति को उस के स्थान से च्युत करके उद्वृत्त—ऊपर या इधर उधर मुखवाली कर देता है फलतः वस्ति गर्भ जैसी स्थूल हो जाती है और उसमें चंचलता प्रतीत होती है तथा वेदना, दाह, स्पन्दन (मूत्र टपकना) तथा ऐंठन होती है, बून्द २ मूत्र आता है परन्तु दबाने पर मूत्र धारारूप में भी प्रवृत्त होता है। इसका नाम "वातबस्ति" है। यह दो प्रकार का होता है। इनमें प्रथम (जिसमें केवल मूत्ररोध होता है) कष्टसाध्य होता है और दूसरा (जिसमें वस्ति का मुख उद्धृत होता जाता है) अत्यन्त कष्टसाध्य होता है क्योंकि उसमें वायु अत्यन्त प्रबल होता है।

वक्तव्य—दूसरे में वस्ति—मूत्राशय अपने स्थान स इधर उधर हट जाता है जैसे नारियों का गर्भाशय-(धरा) कभी२ इधर उधर हट जाता है। इस दशा में चतुर चिकित्सक मर्दन द्वारा वस्ति को स्वस्थान में स्थित कर देता है।२२।

वाताष्ठीला—

शकृन्मार्गस्य बस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः ॥२३॥
अष्ठीलाभं घनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम् ।
वाताष्ठीलेति साऽऽध्मान विण्मूत्राऽनिलसङ्गकृत्॥२४॥

व्याख्या—वाताष्ठीला का वर्णन—पुरीषमार्ग (गुद) एवं वस्ति के मध्यभाग में स्थित वायु (अपान वायु)—अष्ठीला (देला) जैसी गाँठ उत्पन्न कर देता है जो घन

(कठोर), अचल तथा उन्नत होती है और उस से अफरा होता है और पुरीष, मूत्र एवं अपान वायु में रुकावट होती है। इस का नाम "वाताष्ठीला" है ॥२३,२४॥

वात कुण्डलिका एवं मूत्रातीत का वर्णन—

विगुणः कुण्डलीभूतो बस्तौ तीव्रव्यथोऽनिलः।
आविश्य मूत्रं भ्रमति सस्तम्भोद्वेष्टगौरव॥२५॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा विमुञ्चति शकृत्सृजन्।
वातकुण्डलिकेत्येषा, मूत्रं तु विधृतं चिरम्॥२६॥
न निरेति विबद्धं वा मूत्रातीतं तदल्परुक्।

व्याख्या—वस्ति में वायु विगुण—प्रतिलोम होकर एवं कुण्डल (बगोला के समान) रूप होकर तीव्र वेदना करता हुआ, मूत्र में प्रविष्ट होकर घूमता है, साथ २ ऐंठन शरीर में स्तब्धता तथा भारीपन होता है, मूत्र थोड़ा २ आता है अथवा पुरीषोत्सर्ग के साथ २ आता है। इस रोग का नाम "वातकुण्डलिका" है।

मूत्रातीत का वर्णन—चिरकाल पर्यन्त मूत्र को रोकने से मूत्रोत्सर्ग के समय मूत्र नहीं उतरता अथवा प्रयत्न करने पर रुक रुक कर थोड़ा २ आता है उस समय थोड़ी वेदना होती है। इसका नाम "मूत्रातीत है" ॥२५,२६॥

मूत्रजठर एवं मूत्रोत्संग—

विधारणात्प्रतिहतं वातोदावर्तितं यदा॥२७॥
नाभेरधस्तादुदरं मूत्रमापूरयेत्तदा।
कुर्यात्तीव्ररुगाध्मानमपक्तिमलसङ्ग्रहम्॥२८॥
तन्मूत्रजठरं छिद्रवैगुण्येनानिलेन वा।
आक्षिप्तमल्पं मूत्रं तु बस्तौ नालेऽथवा मणौ॥२९॥
स्थित्वा स्रवेच्छनैः पश्चात्सरुजं वाऽथवारुजम्।
मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्नतच्छेषगुरुशेफसः॥३०॥

व्याख्या—मूत्र जठर का वर्णन—मूत्र को रोकने से जब रुका हुआ मूत्र वायु द्वारा उदावृत्त हो जाता है—मूत्रोदावर्त्त हो जाता है—तब वह मूत्र नाभि (अन्त्र) के निचले भाग में उदर को भर देता है—उदर में भर जाता है और उदर में तीव्र वेदना, अफरा, अपच-अजीर्ण एवं पुरीषरोध कर देता है। इसका नाम 'मूत्रजठर' है।

मूत्रोत्संग का वर्णन—मूत्रमार्ग की विकृति के कारण आता हुआ थोड़ा मूत्र वस्ति में ही अथवा नाल (मूत्रमार्ग) में अथवा मणि में आकर रुक जाता है, कुछ समय के पश्चात् वेदना के साथ अथवा वेदना के बिना धीरे २ निकलता है और उक्त स्थानों में कुछ मूत्र रह जाने से शिश्न में भारीपन प्रतीत होता है। इसका नाम "मूत्रोत्संग है ॥२७-३०॥

मूत्रग्रन्थि का वर्णन—

अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्प सहसा भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग् ग्रन्थिः मूत्रग्रन्थिः स उच्यते॥३१॥

व्याख्या—वस्ति के मुख के भीतर एकाएक (किसी प्रत्यक्ष कारण के बिना) गोल, स्थिर, छोटी सी एवं अश्मरी के समान वेदनावाली ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है वह "मूत्रग्रन्थि" कहलाती है ॥ ३१ ॥

मूत्रशुक्र का वर्णन—

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते॥३२॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रस्तदुच्यते।

वक्तव्य—वस्ति में मूत्र रहने पर मैथुन करने से वायु की विकृति के कारण आहत एवं अपने स्थान से च्युत विचलित शुक्र मूत्रोत्सर्ग के समय मूत्र के पूर्व अथवा पीछे भस्म मिश्रित जल का सा श्वेत निकलने लगता है इसका नाम "मूत्रशुक्र" (धातु जाना) है ॥

वक्तव्य—भगवान् सुश्रुत के शब्दों में—

यथा—प्रत्युपस्थितमूत्रस्तु मैथुनं योऽभिनन्दति।
तस्य मूत्रयुतं रेतः सहसा संप्रवर्तते॥२०॥
पुरस्तात् वापि मूत्रस्य पश्चात् वापि कदाचन।
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते॥२१॥
सु. उ. तं. अ. ५८।

विड्विघात का वर्णन—

रूक्षदुर्बलयोर्वातादुदावृत्तं शकृद्यदा॥३३॥
मूत्रस्रोतोऽनुपर्येति संसृष्टं शकृता तदा।
मूत्रंविट्तुल्यगन्धं स्याद् विड्विघातं तमादिशन्॥३४॥

व्याख्या—रूक्ष शरीरवालों एवं दुर्बलों का पुरीष जब उदावृत्त होता है—पुरीषोदावर्त्त नामक रोग होता है फलतः पुरीषरस से मिश्रित मूत्र मूत्रस्रोतों में आ जाता है तब मूत्र पुरीष कीसी गन्धवाला हो जाता है। इस विकार का नाम "विड्विघात" है।

वक्तव्य—शरीर रचना एवं मूत्रनिर्माण के अनुसार मूत्र में पुरीष आना असम्भव है, हाँ पुरीषगन्धी रस अवश्य आ सकता है ॥३३,३४॥

उष्णवात का वर्णन—

पित्तं व्यायामतीक्ष्णोष्णभोजनाध्वातपादिभिः
प्रवृद्धं वायुना क्षिप्तं बस्त्युपस्थगुदाहवन्॥३५॥
मूत्रं प्रवर्तयेत्पीतं सरक्तं रक्तमेव वा।
उष्णं पुनः पुनः कृच्छ्राद 'उष्णवातं' वदन्ति तम्॥३६॥

व्याख्या—व्यायाम, तीक्ष्ण एवं उष्ण आहार, मार्ग-

गमन तथा आतप (घाम-धूप) आदि के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त, वायु (व्यान वायु) द्वारा रस (रक्त) के साथ शरीर में व्याप्त होकर मूत्रवह स्रोतों में जाकर-वैसे मूत्र को प्रवृत्त करता है जिस से वस्ति एवं मूत्रमार्ग में वेदना एवं दाह होता है और पीला, रक्तमिश्रित अथवा केवल रक्त ही होता है और उष्ण एवं बार २ कष्ट के साथ उतरता है। इस विकार का नाम "उष्णवात" है।

मूत्रक्षय का वर्णन—

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥३७॥

व्याख्या—रूक्ष एवं ज्वर आदि रोगों के कारण कृश शरीरवाले की वस्ति में स्थित पित्त एवं वायु मूत्र का क्षय कर देते हैं इससे वस्ति में वेदना एवं दाह होता है। इस विकार का नाम "मूत्रक्षय" है।

वक्तव्य—देखा गया है कि वस्ति में मूत्र का सञ्चय ही नहीं होता फलतः मूत्रप्रवृत्ति के लिये मूत्रमार्ग में दिये गये कपूर से तथा वस्ति पर किए गए राई आदि के लेप से मूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं हुई। जब वृक्क पर मूत्रप्रवर्त्तक राई आदि का लेप किया गया और सोरा का जल पिलाया गया तब मूत्र की प्रवृत्ति हुई। यह विकार विसूची में प्रायः हो जाता है और उस दशा में रोगी को उष्ण जल में बिठाना आवश्यक है। इस रोग में वृक्क की क्रिया नष्ट हो जाती है फलतः मूत्र का निर्माण ही नहीं होता।३७।

मूत्रसाद का वर्णन—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत्।
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पित्तं रक्तं श्वेतं घनं सृजेत् ॥३८॥
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेच्च तत्।
शुष्कं समस्तवर्णं वा 'मूत्रसादं' वदन्ति तम् ॥३९॥

व्याख्या—यदि वस्ति में पित्त अथवा कफ अथवा दोनों वायु के साथ मिल जाते हैं तब कष्ट के साथ पीला, लाल, श्वेत एवं गाढा मूत्र दाह के साथ उतरता है और वह सूखने पर गोरोचन का सा पीला अथवा शंख चूर्ण (शखभस्म) का सा श्वेत अथवा दोनों के वर्ण वाला हो जाता है। उस विकार का नाम "मूत्रसाद" है ॥३८,३९॥

उपसंहार—

इति विस्तरतः प्रोक्ता रोगा मूत्राऽप्रवृत्तिजाः।
निदानलक्षणैरूर्ध्वं वक्ष्यन्तेऽतिप्रवृत्तिजाः ॥४०॥'

व्याख्या—इस प्रकार वे रोग कह दिये गये जो मूत्र की उचित रूप से प्रवृत्ति न होने से उत्पन्न होते हैं या जिसमें मूत्र की उचित प्रवृत्ति नहीं होती। अगले अध्याय में उन रोगों का निदान एवं लक्षण कहा जायगा जो मूत्र की अतिप्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं या जिनमें मूत्र की अति प्रवृत्ति होती है।

वक्तव्य—इस अध्याय में बीस प्रकार के मूत्राघातों का वर्णन किया गया है यथा—४ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र—वातज, पित्तज, कफज तथा त्रिदोषज। ४ प्रकार की अश्मरी—वातज, पित्तज, कफज तथा शुक्रज। १२ प्रकार के मूत्राघात—१-वात वस्ति, २—वाताष्ठीला, ३—वात कुण्डलिका, ४—मूत्रातीत, ५-मूत्रजठर, ६—मूत्रोत्सङ्ग, ७-मूत्रग्रन्थि, ८—मूत्रशुक्र, ९—विड्विघात, १०-उष्णवात, ११-मूत्रक्षय तथा १२—मूत्रसाद। सुश्रुत संहिता में इनका वर्णन भिन्न अध्यायों में किया गया है—मूत्रकृच्छ्र का उ. तं. अ. ५९ में, मूत्राघात का अ० ५८ में तथा अश्मरी का नि० अ० ३ में। चरक चि० अ० २६ में तथा सि. अ. ९ में इन सबका वर्णन देखिए तथा अ. सं. नि. अ. ९ में देखिए ॥४०॥

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

अथाऽतः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब प्रमेह रोग के निदान की व्याख्या करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

प्रमेह की संख्या एवं निदान—

प्रमेहा विंशतिस्तत्र श्लेष्मतो दश, पित्ततः।
षट्, चत्वारोऽनिलात्, तेषां मेदोमूत्रकफावहम् ॥२॥
अन्नपानक्रियाजातं यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम्।
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुरुपिच्छिलशीतलम् ॥१॥
नवधान्यसुरानूप-मांसेक्षुगुडगोरसम्।
एकस्थानासनरतिः शयनं विधिवर्जितम् ॥३॥

व्याख्या—प्रमेह बीस प्रकार के होते हैं—कफ से १०, पित्त से ६ और वायु से ४। योग २०।

प्रमेह का कारण—जो जो अन्न, पान एवं विहार—मेदस्, मूत्र एवं कफ का वर्द्धक होता है वह सब प्रायः प्रमेह का उत्पादक होता है और मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल तथा शीतल पदार्थ, नवीन धान्य, सुरा, अनूपदेश के प्राणियों का मांस, ईख, गुड़ तथा दधि आदि दूध के पदार्थ, एक ही स्थान पर बैठे रहना और दिवास्वाप आदि विधि रहित शयन—सोना प्रमेह का कारण हैं ॥१-३॥

सम्प्राप्ति—

वस्तिमाश्रित्य कुरुते प्रमेहान् दूषितः कफः ।
दूषयित्वा वपुःक्लेदस्वेदमेदोरसामिषम् ॥४॥
पित्तं रक्तमपि क्षीणे कफादौ मूत्रसंश्रयम् ।
धातून् वस्तिमुपानीय तत्क्षयेऽपि च मारुतः ॥५॥

व्याख्या—प्रमेह की सम्प्राप्ति—उक्त कारणों से दूषित कफ-शरीर भर के क्लेद (जलांश), स्वेद, मेदस् वसा तथा मांस को दूषित करके वस्ति में लाकर—स्वयं आकर १० प्रमेहों को उत्पन्न करता है। पित्त दो१— कफ आदि सौम्य धातुओं का क्षय होने पर—बढ़ कर— मूत्र के आश्रयभूत रक्त को दूषित करके ६ प्रमेहों को उत्पन्न करता है। और वायु दूषित होकर वसा मज्जा आदि धातुओं को वस्ति में ले जाकर चार प्रमेहों को उत्पन्न करता है। इन में वसा आदि का क्षय हो जाता है ॥४,५॥

साध्यत्व, याप्यत्व एवं असाध्यत्व—

साध्य-याप्य-परित्याज्या मेहास्तेनैव तद्भवाः ।
समाऽसमक्रियतया महात्ययतयाऽपि च ॥६॥

व्याख्या—कफ जनित १० प्रमेह समक्रिया (दोष एवं दूष्यों की समान चिकित्सा) होने के कारण साध्य होते हैं। पित्तजनित ६ प्रमेह विषम क्रिया (दोष एवं दूष्यों की चिकित्सा विषम) होने के कारण याप्य होते हैं। वातजनित चार प्रमेह—विरुद्ध चिकित्सा होने के कारण त्याज्य—असाध्य होते हैं। ६॥

सामान्य लक्षण तथा उनके भेद का कारण—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥७॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।

व्याख्या—प्रमेहों का सामान्य लक्षण—मूत्र की अधिकता तथा मलिनता अस्वच्छता। सभी प्रमेहों में मूत्र अधिक तथा मलिन होता है (अधिक मूत्र होना तथा मलिन—अस्वच्छ मूत्र होना ही प्रमेह है)। यद्यपि दोष एवं दूष्यों में कुछ भेद नहीं है तथापि उन के संयोग में भेद होते हैं फलतः मूत्र के वर्ण एवं रस आदि में भेद होने से प्रमेहों में भेदों की कल्पना कर ली जाती है अतएव २० प्रमेह माने जाते हैं।

वक्तव्य—देखिए सु. नि. ६ तथा च. नि. अ. ४ और च. चि. अ. ६। प्रमेह के दोष एवं दूष्य—

कफः सपित्तः पवनश्च दोषाः, मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः

भगवान् सुश्रुत ने कहा है कि—सर्व एव प्रमेहाः सर्व-दोषसमुत्थाः... ।७। इसी गद्य का श्री वाग्भट ने पद्यानुवाद किया है 'दोष दूष्या...कल्प्यते' के रूप में ।७।

कफ जनित १० प्रमेह—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥८॥
मेहत्युदकमेहेन किंचिच्चाविलपिच्छिलम् ।
इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥९॥
सान्द्रीभवेत्पर्युषितं सान्द्रमेही प्रमेहति ।
सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥१०॥
संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम् ।
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥११॥
मूर्त्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।
शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥१२॥
शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।
लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥१३॥

व्याख्या—१. उदक मेह से मूत्र—स्वच्छ (अन्यान्य प्रमेहों की अपेक्षा स्वच्छ), मात्रा में अधिक, शीत, गन्ध रहित एवं जल जैसा आता है तथापि कुछ २ मलिन एवं पिच्छिल होता ही है (चरक में यही पाठ है परन्तु "किंञ्चिदाविलपिच्छिलम्" नहीं है)। २. इक्षुमेह से मूत्र ईख के रस के समान अत्यन्त मधुर होता है (और वैसा ही शीतल एवं थोड़ा पिच्छिल एवं मलिन होता है तथा वर्ण में ईख के रस जैसा होता है)। ३. सांद्रमेह से मूत्र—भाण्ड में धरा हुआ बासी होने पर सांद्र गाढा—घन हो जाता है। ४. सुरामेह से मूत्र सुरा जैसा होता है जो टिकाकर रख देने पर ऊपर स्वच्छ और नीचे गाढा हो जाता है। ५. पिष्टमेह से मूत्र— चावल आदि की पीठी के जल के सदृश गाढा एवं श्वेत होता है साथ साथ रोमाञ्च होता है। ६. शुक्रमेह से मूत्र—शुक्र जैसा अथवा शुक्र मिश्रित होता है। ७. सिकतामेह से मूत्र—बालू के से मूर्त्त एवं सूक्ष्म सूक्ष्म कणों से युक्त होता है। ८. शीत मेह से मूत्र—बार बार आता है तथा मधुर एवं अत्यन्त शीतल होता है। ९. शनैर्मेह से मूत्र—धीरे धीरे एवं थोड़ा थोड़ा आता है। १०. लालामेह से मूत्र—लाला (लार) कीसी तारों से युक्त एवं पिच्छिल होता है।

वक्तव्य—चरक संहिता में 'सुरामेह' को "सान्द्रप्रसाद" मेह कहा गया है। और लाला मेह को "आलाल मेह" कहा गया है। ये १० प्रमेह कफ की प्रधानता से होते हैं अतः मूत्र में कफ के से लक्षण पाये जाते हैं। और—ते दश प्रमेहाः साध्याः समानगुणमेदःस्थानकत्वात् कफस्य प्राधान्यात् समक्रियत्वात च ।१२। च. नि. अ. ४।२८॥८-१३॥

पित्तजनित ६ प्रमेह—

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ।
नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मषीनिभम् ॥१४॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभं दहन्
विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥१५॥
विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः ।

व्याख्या—१. क्षारमेह से मूत्र—क्षार के जल के समान गन्ध, वर्ण, रस एवं स्पर्श से युक्त होता है । २. नील मेह से मूत्र—नील वर्ण वाला होता है । ३. काल मेह से मूत्र—मसी जैसा काला होता है । ४. हारिद्र मेह से मूत्र—कटु, हल्दी के जल कासा (पीला) तथा दाह के साथ उतरता है । ५. माञ्जिष्ठ मेह से मूत्र—कच्चे मांस कीसी गन्ध वाला तथा मञ्जीठ के जल के समान वर्ण वाला होता है । और ६. रक्तमेह से मूत्र—कच्चे मांस कीसी गन्धवाला, उष्ण, अधिक लवण रसयुक्त तथा रक्त कासा लाल होता है ।

वक्तव्य—ये ६ प्रमेह पित्त की प्रधानता से होते हैं अतः मूत्र में पित्त के लक्षण पाये जाते हैं । और—सर्वे एव ते याप्याः संसृष्टदोषमेदःस्थानकत्वात् विरुद्धोपक्रमत्वात् च ।२८। च. नि. अ. ४ ।२३। ॥१४,१५॥

वातजनित ४ प्रमेह—

वसामेही वसामिश्रं वसां वा मूत्रयेन्मुहुः । १६॥
मज्जानं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः
हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ।१७॥
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ।
मधुमेही मधुसमं जायते स किल द्विधा ॥१८॥
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषाऽऽवृतपथेऽथवा ।
आवृत्तो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयेत् ॥१९॥
क्षीणः क्षणात्क्षणात् पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ;

व्याख्या—१. वसामेह से मूत्र—वसा से मिश्रित एवं बार बार आता है अथवा केवल वसा जैसा आता है । २. मज्जामेह से मूत्र—मज्जा जैसा अथवा मज्जा से मिश्रित एवं बार बार आता है । ३. हस्तिमेह से मूत्र—मदमत्त हाथी के समान निरन्तर (सर्वदा) परन्तु प्रवाह से रहित (बूँद बूँद) तथा लसीला आता है अथवा सर्वथा रुक जाता है (यह प्रमेह प्रायः बुढ़ापा में होता है) । और ४. मधुमेह से मूत्र—मधु कासा आता है और वह दो प्रकार से होता है १. धातुओं का क्षय हो जाने पर वायु की वृद्धि होने से तथा २ दोषों द्वारा वायु का मार्ग रुक जाने से । इस दूसरे में वायु जिस दोष से आ[वृ]त होता है उसके लक्षणों को किसी कारण के बिना ही दिखलाता—उत्पन्न करता है और मूत्राशय—क्षण भर में मूत्र से पूर्ण और क्षण भर में रिक्त—अपूर्ण होता रहता है इस दशा में यह मधुमेह कष्टसाध्य होता है और प्रथम असाध्य होता है ।

वक्तव्य—ये ४ प्रमेह वायु की प्रधानता से होते हैं । 'तानिमान् चतुरः प्रमेहान् वातजान् असाध्यान् आचक्षते भिषजः, महात्ययिकत्वात् विरुद्धोपक्रमत्वात् च' ।३८। च. नि. अ० ४ । चरक में मधुमेह का लक्षण—

कषायमधुरं पाण्डु रूक्षं मेहति यो नरः ।
वातप्रकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥४३॥

उपेक्षाजनित मधुमेह—

कालेनोपेक्षिताः सर्वे यान्ति मधुमेहताम् ॥२०॥
मधुरं यच्च सर्वेषु प्रायो मध्विव मेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥२१॥

व्याख्या—सभी प्रमेह—उचित चिकित्सा न होने पर, पुराने होकर "मधुमेह" रूप में परिणत हो जाते हैं, सभी प्रमेहों में प्रायः मधु के समान मधुर मूत्र आता है और शरीर भी प्रायः मधुर है (अधिकांश मधुर उपादानों से निर्मित एवं मधुर द्रव्यों से वर्द्धित और मांसादि मधुर धातु मय है) इन सब कारणों से सभी प्रमेह प्रायः मधुमेह संज्ञक हो जाते हैं ।

वक्तव्य—पित्तज ६ प्रमेह तो शास्त्र में ही देखे जाते हैं रोगी तो प्रायः कफज एवं वातज प्रमेहों के ही पाये जाते हैं और इन सब में मूत्र कुछ न कुछ मधुर अवश्य होता है । इसी विचार से यह सन्दर्भ (श्लो० २१) लिखा गया प्रतीत होता है स्वाभाविक मूत्र लवण रस युक्त होता है परन्तु जब उसमें मधुर रस आने लगता है तब वह विकृत माना जाता है ॥२०,२१॥

प्रमेहों के उपद्रव—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥२२॥
बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाऽम्लको मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ।२३।
वातिकानामुदावर्त-कण्ठहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥२४॥

व्याख्या—कफ जनित प्रमेहों के उपद्रव—आहार न पचना, अरुचि, कभी २ छर्दि, निद्रा की अधिकता, कास तथा पीनस—बार २ प्रतिश्याय । पित्त जनित प्रमेहों के उपद्रव—बस्ति तथा मूत्रमार्ग में व्यथा, आण्ड—शुक्रवह स्रोतस् का फटना, ज्वर, दाह, तृषा, अम्ल उद्‌गार या अम्लपित्त, मूर्च्छा तथा पुरीष भेद—अतिसार । वात

जनित प्रमेहों के उपद्रव—उदावर्त्त रोग, कण्ठ (श्वास मार्ग) तथा हृदय में रुकावट (नाड़ी ठहर ठहर कर चलना), सब पदार्थों को खाने की उत्कट अभिलाषा, शूल, निद्रानाश, शोष—कृशता (स्थूलता का नाश), कास तथा श्वास ।

वक्तव्य—ये उपद्रव उक्त प्रमेहों में आगे चल कर अवश्य हो जाते हैं अतः ये लक्षण भी कहे जा सकते हैं । ऊपर श्लो० ८ से २० पर्यन्त श्लोकों में केवल प्रमेही के मूत्र का वर्णन किया गया है उस से जो शरीर पर प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन इन उपद्रवों को लिख कर किया गया है । और क्योंकि ये लक्षण प्रमेहों की उत्पत्ति के पश्चात् होते हैं अतः उपद्रव कहे जाते हैं ॥२२-२४॥

प्रमेह पिटिका—

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी ।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥२५।
विद्रधिश्चेति पिटिकाः प्रमेहोपेक्षया दश ।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ।२६॥

व्याख्या—प्रमेह रोग की उपेक्षा करने से १० प्रकार की पिटिका उत्पन्न हो जाती हैं—उन के नाम हैं—१. शराविका, २. कच्छपिका, ३. जालिनी, ४. विनता, ५. अलजी, ६ मसूरिका, ७. सर्षपिका, . पुत्रिणी, ९. विदारिका तथा १०. विद्रधि । ये सन्धियों पर तथा स्फिक् आदि मांसल (जहाँ मांस अधिक होता है) प्रदेशों में उत्पन्न होती हैं ॥२५,२६॥

प्रमेह पिड़काओं के लक्षण—

अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा क्लेदरुजाऽन्विता ।
शरावमानसंस्थाना पिटिका स्याच्छराविका ।२७॥
अवगाढाऽतिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा ।
श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिटिका 'कच्छपी' मता ॥२८।
स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया ।
रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ।२९॥
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वा जठरेऽपि वा ।
महती पिटिका नीला विनता विनता स्मृता ॥३०॥
दहती त्वचमुत्थाने भृशं कष्टा विसर्पिणी ।
रक्तकृष्णातितृट्स्फोटदाहमोहज्वरा ऽलजी ॥३१॥
मानसंस्थानयोस्तुल्या मसूरेण मसूरिका ।
सर्षपामानसंस्थाना क्षिप्रपाका महारुजा ॥३२॥
सर्षपा सर्षपातुल्यपिटिकापरिवारिता ।
पुत्रिणी महती भूरि-सुसूक्ष्मपिटिकावृता ॥३३॥
विदारीकन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका ।
विद्रधिर्वक्ष्यतेऽन्यत्र तत्राद्यं पिटिकात्रयम् ॥३४॥
पुत्रिणी च विदारी च दुःसहा बहुमेदसः ।
सह्याः पित्तोल्बणास्त्वन्याः सम्भवन्त्यल्पमेदसः ॥३५॥
तासु मेहवशाच्च स्याद्दोषोद्रेको यथायथम् ।
प्रमेहेण विनाऽप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।
तावच्च नोपलक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥३६॥

व्याख्या—जो पिटिका—सब ओर से उठी हुई, मध्य भाग में निम्न-गहरी, श्याव वर्णवाली, क्लेद एवं वेदना से युक्त और शराव (सिकोरा—कूँडी) के समान आकार वाली होती है वह "शराविका" कहलाती है । जो पिटिका—भीषण वेदना एवं व्यथा से युक्त, बड़े घेरेवाली (चकला दार), स्पर्श में श्लक्ष्ण तथा कछुवा के पीठ कीसी होती है वह "कच्छपिका" कहलाती है । जो पिडिका—स्तब्ध (कठोर), सिराओं के जालवाली, स्निग्ध स्राववाली बड़े आशयवाली, बहुत वेदना तथा व्यथावाली और छोटे छोटे छिद्रों—मुखों वाली है वह "जालिनी" कहलाती है । जो पिटिका—गहरी वेदना वाली, अधिक क्लेद वाली, पीठ अथवा उदर में उत्पन्न, बहुत बड़ी, नील वर्ण वाली तथा विनता (झिल्ली हुई—जो उठी हुई नहीं) होती है वह "विनता" कहलाती है । जो पिटिका—उत्पन्न होते समय त्वचा में दाह करती है, अत्यन्त कष्टप्रद होती है, फैलती जाती है, लाल एवं काले वर्ण वाली तथा अधिक तृषा, स्फोट (फफोले), दाह, मोह एवं ज्वर से युक्त होती है वह "अलजी" कहलाती है । जो पिटिका—परिमाण एवं स्वरूप में मसूर के दाना कैसी होती है वह "मसूरिका" कहलाती है । जो पिटिका—परिमाण एवं स्वरूप में सरसों के दाना जैसी, शीघ्र पकने वाली भीषण वेदना वाली तथा सरसों जैसी अन्य पिटिकाओं से घिरी हुई होती है वह "सर्षपिका" कहलाती है । जो पिटिका—स्वयं बड़ी और बहुत सी छोटी छोटी पिटिकाओं से घिरी हुई होती है वह "पुत्रिणी" (पुत्रों वाली) कहलाती है । जो पिटिका—विदारीकन्द के समान गोल एवं कठोर होती है वह "विदारिका" कहलाती है । और विद्रधि का वर्णन—अगले अध्याय (अ०११) में किया जायगा । मेदस्वी के शरीर पर उत्पन्न—प्रथम तीन पिटिका (शराविका, कच्छपिका तथा जालिनी) और पुत्रिणी तथा विदारिका नामक पिटिका कष्टप्रद एवं कष्टसाध्य होती हैं और अन्य (विद्रधि के अतिरिक्त) थोड़ी मेदस वाले के शरीर पर उत्पन्न पित्तप्रधान ४ पिटिका—सहने योग्य—अल्प कष्टप्रद तथा सुखसाध्य होती हैं । उन सब पिटिकाओं में प्रमेह के अनुसार दोषों की प्रधानता होती है । और ये पिटिका—दुष्ट मेदस् वाले के शरीर पर कभी कभी प्रमेह के बिना भी उत्पन्न हो जाती हैं । और वे तब तक

स्पष्टतया उपलक्षित नहीं होतीं जब तक अपना आश्रय नहीं बना लेतीं ॥२७-३६॥

प्रमेह एवं रक्तपित्त का विवेचन—

हारिद्रवर्णं रक्तं वा मेहप्राग्रूपवर्जितम् ।
यो मूत्रयेन्न तं मेहं रक्तपित्तं तु तद्विदुः ॥३७॥

व्याख्या—जिसमें प्रमेह के पूर्वरूपों के बिना ही हल्दी के जल जैसा अथवा लाल मूत्र आता है उसे प्रमेह नहीं माना जाता, वह रक्तपित्त होता है । अर्थात् रक्तपित्त के प्रभाव से मूत्र में हल्दी जैसा वर्ण एवं रक्त वर्ण होता है । ४८॥

प्रमेह के पूर्व रूप—

स्वेदोऽङ्गगंधःशिथिलत्वमङ्गेशय्यासनस्वप्नसुखाभिषङ्गः
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः३८
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगणस्यरूपंमूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च

व्याख्या—भावी प्रमेह के लक्षण—अधिक स्वेद, शरीर में विशेष प्रकारकी अप्रिय गन्ध, शरीर में शिथिलता, लेटने, बैठने तथा सोने के सुख में लोभ-लालसा, हृदय में, नेत्रों में, जीभ तथा कानों में भारीपन, चिपचिपाहट या मलसञ्चय, शरीर के अवयवों में घनता, केश तथा नखों की अधिक वृद्धि, शीतल आहार विहार में प्रीति, गल एवं तालु में शोष, मुख में मधुरता, हाथ पाँव में दाह तथा मूत्र पर चिउटियाँ लगना—मूत्र में कुछ कुछ मधुरता आजाती है फलतः चिउटियाँ एवं मक्षिका उस पर बैठती हैं ॥ ३८,३९ ॥

विधिभेद से प्रमेह के दो भेद—

दृष्ट्वा प्रमेहंमधुरंसपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधोविचारः
सन्तर्पणाद्वाकफसम्भवःस्यात्क्षीणेषुदोषेष्वनिलात्मकोवा

व्याख्या—प्रमेह में—मूत्र को मधुर, पिच्छायुक्त एवं मधु जैसा देखकर दो प्रकार का विचार होता है—यदि वह प्रमेह तर्पण अर्थात् पुष्टि कारक—कफवर्द्धक आहार विहार से हुआ हो तो कफज मेह माना जाता है और यदि कफ आदि के क्षय से हुआ हो तो वातज मेह माना जाता है ॥४०॥

असाध्यत्व, याप्यत्व एवं साध्यत्व—

सपूर्वरूपाःकफपित्तमेहा
क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः ।
साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्या;
साध्यास्तु, मेदो यदि नातिदुष्टम् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—जो उक्त पूर्वरूपों से युक्त कफ एवं पित्त से उत्पन्न प्रमेह—धीरे २ वातज प्रमेह के रूप में परिणत हो जाते हैं वे सब असाध्य होते हैं । पित्तज प्रमेह याप्य होते हैं परन्तु यदि मेदस् अत्यन्त दूषित न हो गया हो तो वे भी साध्य होते हैं ।

वक्तव्य—वातज प्रमेहों की असाध्यता के विषय में सुश्रुत की सम्मति—कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदो मज्जवसायुतः
अधः प्रक्रमते वायुः तेनासाध्यास्तु वातजाः ।२१।

प्रमेहों में वर्णभेद का दृष्टान्त—यथा हि पञ्चानां वर्णानां उत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण शवलबभ्रुकपिलकपोत-मेचकादीनामनेकेषां वर्णानामुत्पत्तिर्भवति एवमेव दोषधातु-मलाऽऽहारविशेषेणोत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण प्रमेहाणां नानाकरणं भवति ।२६।

प्रमेही के आलस्य वर्णन में सुश्रुत का सुभाषित—
स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति ।
आसनात् वृणुते शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति ॥२५॥

अर्थात्—प्रमेह वाला—चलते२ खड़ा होना चाहता है, खड़ा होने पर बैठना चाहता है, बैठने पर लेटना और लेटने पर सोना चाहता है । चरक सूत्र स्थान अ० १७ में मधुमेह का वर्णन है कि—

गुरु स्निग्धाम्ललवणं भजतामतिमात्रशः ।
नवमन्नं च पानं च निद्रामास्यासुखानि च ।७८।
त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् ।
श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्द्धते ।७९।
तैरावृतगतिर्वायुः ओज आदाय गच्छति ।
यदा वस्तिं, तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्त्तते ।८०।
स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः ।८१।

अर्थात्—जो गुरु, स्निग्ध, अम्ल एवं लवण पदार्थों का, नूतन अन्न, पान, निद्रा एवं आसन का अधिक सेवन करते हैं, शारीरिक व्यायाम एवं चिन्तन तथा वमन विरेचन आदि संशोधन का सेवन नहीं करते उनके कफ, पित्त, मेदस् एवं मांस अधिक बढ़ जाते हैं और उन कफ आदि के द्वारा वायु अवरुद्ध हो कर तथा ओजस् को लेकर जब बस्ति में पहुँचने लगता है तब कष्टप्रद मधुमेह की प्रवृत्ति होने लगती है इस दशा में वात, पित्त एवं कफ के लक्षण बार२ उत्पन्न होते रहते हैं और यह रोग घट२ कर पुनः पुनः बढ़ता रहता है मूलतः नष्ट नहीं होता ।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने दशमोऽध्यायः ।१०।

——

एकादशोऽध्यायः ।

अथाऽतो विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब विद्रधि, वृद्धि तथा गुल्म के निदानों की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—विद्रधि का वर्णन—च० सू० अ० १७, सु० अ० ६, अ० सं० नि० अ० ११ में देखिये।

विद्रधि का वर्णन—

भुक्तैः पर्युषितात्युष्ण रूक्षशुष्कविदाहिभिः।
जिह्मशय्याविचेष्टाभिस्तैस्तैश्चासृक्प्रदूषणैः ॥ १ ॥
दुष्टत्वङ्मांसमेदोऽस्थि स्नाय्वसृक्कण्डराश्रयः।
यः शोफो बहिरन्तर्वा महामूलो महारुजः ॥ २ ॥
वृत्तः स्यादायतो यो वा स्मृतः षोढा स विद्रधिः।
दोषैः पृथक्समुदितैः शोणितेन क्षतेन च ॥ ३ ॥

बासी तिवासी, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त रूक्ष, अत्यन्त शुष्क तथा अत्यन्त विदाहकारी भोजन से तथा टेढ़ीमेढ़ी शय्या पर टेढ़ेमेढ़े होकर शयन करने से, विरुद्ध विहार करने से तथा रक्त को दूषित करने वाले उन उन आहार विहारों के सेवन से दूषित-विकृत त्वचा, मांस, मेदस्, अस्थि, स्नायु, रक्त तथा कण्डराओं में आश्रित—शरीरके बाहिरी अथवा यकृत् आदि भीतरी अवयवों में—बड़े मूल वाला (चकलीदार), भीषण वेदना वाला गोल अथवा चौड़ा जो शोथ हो जाता है वह "विद्रधि" कहलाता है। और वह ६ प्रकार का होता है—१.वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. त्रिदोष से, ५. रक्त से तथा ६. क्षत से।

वक्तव्य—विद्रधि का वर्णन च० सू० अ० १७ में देखिये तथा सुश्रुत नि० अ० ९ में देखिये। अ० सं० नि० अ० ११ में देखिये ॥१-३॥

विद्रधि का विवरण—

बाह्योऽत्र तत्र तत्राङ्गे दारुणो ग्रथितोन्नतः।
आन्तरो दारुणतरो गम्भीरो गुल्मवद्घनः ॥४॥
वल्मीकवत्समुच्छ्रायी शीघ्रघात्यग्निशस्त्रवत्।
नाभिबस्तियकृत्प्लीह क्लोमहृत्कुक्षिवंक्षणे ॥५॥
स्याद्वृक्कयोरपाने च वातात्तत्राऽतितीव्ररुक्।
श्यावारुणश्चिरोत्थानपाको विषमसंस्थितिः ॥६॥
व्यधच्छेदभ्रमानाहस्पन्दसर्पणशब्दवान्।
रक्तताम्रासितः पित्तात्तृण्मोहज्वरदाहवान् ॥७॥
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च पाण्डुः कण्डूयुतः कफात्।
सोत्क्लेशशीतकस्तम्भजृम्भारोचकगौरवः ॥८॥
चिरोत्थानविदाहश्च सङ्कीर्णः सन्निपाततः।
सामर्थ्याच्चात्र विभजेद्बाह्याभ्यन्तरलक्षणम् ॥९॥
कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः।
पित्तलिङ्गोऽसृजा बाह्यः स्त्रीणामेव तथान्तरः ॥१०॥
शस्त्राद्यैरभिघातेन क्षते वाऽपथ्यकारिणः।
क्षतोष्मा वायुविक्षिप्तः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥११॥
पित्तासृग्लक्षणं कुर्याद्विद्रधिं भूर्युपद्रवम्।

व्याख्या—उक्त बाह्य एवं आभ्यन्तर नामक दोनों विद्रधियों में बाह्य विद्रधि—शरीर के उन २ अवयवों में उत्पन्न होते हैं और वह बहुत भीषण, ग्रथित (कठोर-घन एवं उन्नत) होते हैं। और आभ्यन्तर विद्रधि बहुत भीषण, गम्भीर तथा गुल्म के समान घन (कठोर-ठोस), बाम्बी के समान उन्नत शिखरोंवाला, शीघ्र घाती (मारक) होता है जैसे अग्नि एवं शस्त्र शीघ्र घाती होते हैं। इस की उत्पत्ति के स्थान—नाभि, वस्ति, यकृत, प्लीहा, क्लोम, हृदय, कुक्षि, वंक्षण, वृक्क तथा गुद हैं। वातज विद्रधि के लक्षण—विद्रधि में अत्यन्त तीव्र वेदना, वर्ण श्याव—काला एवं कालापन लिये लाल, चिरकाल में उत्पत्ति, चिरकाल में पकना (सुश्रुत में 'चित्रोत्थानप्रपाकः' पाठ है जो अधिक युक्ति संगत है) आकार में विषम और विंधने की सी, कटने की सी वेदना से युक्त तथा भ्रम, आनाह, स्पन्द (पन्छा वदना) सर्पण—फैलना तथा शब्द वाला होता है। पित्तज विद्रधि का लक्षण—पित्त के प्रभाव से विद्रधि का वर्ण लाल—ताम्र कासा तथा काला होता है, तृषा, मोह, ज्वर तथा दाह होता है, वह शीघ्र उठता तथा शीघ्र पकता है। कफज विद्रधि का लक्षण—इसका वर्ण श्वेत होता है, इस में कण्डू होती है तथा साथ में मिचली, शीत लगना, शरीर में स्तम्भ, जम्भाई, अरुचि एवं भारीपन होता है और यह चिरकाल में उठता एवं पकता है। त्रिदोषज विद्रधि में उक्त सब लक्षण मिले जुले रहते हैं। उक्त लक्षणों के साथ २ बाह्य विद्रधि एवं आभ्यन्तर विद्रधि के पंचम श्लोकोक्त लक्षणों का विचार करे। अर्थात् बाह्य विद्रधि के लक्षणों से बाह्य विद्रधि तथा आभ्यन्तर विद्रधि के लक्षणों से आभ्यन्तर विद्रधि समझें। रक्तज विद्रधि का वर्णन—यह काले काले फफोलों से घिरी हुई, श्याम वर्ण वाली, तीव्र दाह, तीव्र वेदना तथा तीव्र ज्वर से युक्त तथा पित्त विद्रधि के लक्षणों वाला होता है और यह पुरुषों को बाह्य विद्रधि होता है किन्तु रक्तज अन्तर विद्रधि नारियों को ही होता है। क्षतज विद्रधि का लक्षण—शस्त्र आदि के अभिघात से क्षत हो जाने पर, मिथ्या आहार विहार करने वाले का क्षतोष्मा (क्षत जनित अग्नि) वायु द्वारा फैल कर रक्तयुक्त पित्त को प्रेरित करता है और पित्तज एवं रक्तज विद्रधियों के लक्षणों वाले विद्रधि को उत्पन्न करता है उस में अनेक उपद्रव होते हैं

वक्तव्य—गर्भाशय गत अन्तर्विद्रधि नारियों को ही होता है और वैसा रक्त विद्रधि सब को हो सकता है ॥४-११।

स्थानभेदसे लक्षण—

तेषूपद्रवभेदश्च स्मृतोऽधिष्ठानभेदतः ॥१२॥
नाभ्यां हिध्मा भवेद्बस्तौ मूत्रं कृच्छ्रेण पूति च।
श्वासो यकृति रोधस्तु प्लीह्न्युच्छ्वासस्य तृट् पुनः॥१३॥
गलग्रहश्च क्लोम्नि स्यात्सर्वाङ्गप्रग्रहो हृदि।
प्रमोहस्तमकः कासो हृदये घट्टनं व्यथा ॥१४॥
कुक्षिपार्श्वान्तरांसार्तिः कुक्षावाटोपजन्म च।
सक्थ्नोर्ग्रहो वङ्क्षणयोर्वृक्कयोः कटिपृष्ठयोः ॥१५॥
पार्श्वयोश्च व्यथा पायौ पवनस्य निरोधनम्।

व्याख्या—उन विद्रधियों में नाभि आदि स्थानों के भेद से भिन्न २ उपद्रव होते हैं यथा—नाभिगत विद्रधि में हिचकी आती है, वस्तिगत विद्रधि में मूत्र कष्ट के साथ तथा दुर्गन्ध युक्त आता है, यकृतगत विद्रधि में श्वास होता है, प्लीहागत विद्रधि में श्वास में निरोध होता है, क्लोमगत विद्रधि में तृषा तथा गल—कण्ठ में अवरोध होता है, हृदयगत विद्रधि में—समस्त शरीर में स्तब्धता, प्रमोह, तमक श्वास तथा हृदय में घट्टन एवं व्यथा होती है, कुक्षिगत विद्रधि में—कुक्षि में तथा पार्श्वों में और अंसफलकों में वेदना तथा कुक्षि में आटोप होता है, वंक्षण गत विद्रधि में सक्थियों (टाँगों) में स्तब्धता, वृक्कगत विद्रधि में कटि, पीठ तथा पार्श्वों में व्यथा और गुदगत विद्रधि में अपान वायु का निरोध होता है ॥१२-१५॥

आम पक्व एवं विदह्यमान का संकेत—

आमपक्वविदग्धत्वं तेषां शोफवदादिशेत् ॥१६॥

व्याख्या—विद्रधि की आमता, पक्वता तथा विदग्धता के लक्षण व्रण शोथ के समान होते हैं। देखिये—सू० अ० २९ श्लोक १—६ ॥१७॥

अन्तर्विद्रधि के स्राव—

नाभेरूर्ध्वं मुखात्पक्वाः प्रस्रवन्त्यधरे गुदात्।
उभाभ्यां नाभिजो विद्याद्दोषं क्लेदाच्च विद्रधौ ॥१७॥
यथास्वं व्रणवत् तत्र विवर्ज्यः सन्निपातजः।
पक्वो हृन्नाभिबस्तिस्थो भिन्नोऽन्तर्बहिरेव वा ॥१८॥
पक्वश्चान्तः स्रवन्वक्त्रात् क्षीणस्योपद्रवान्वितः।

व्याख्या—नाभि से ऊपरि भाग के अवयवों में उत्पन्न विद्रधि पक कर फूटने पर मुखमार्ग से, निचले भाग के अवयवों में उत्पन्न विद्रधि पककर फूटने पर गुदमार्ग से बहते हैं और नाभिगत (अन्तर्गत) विद्रधि पककर फूटने पर गुद एवं मुख दोनों मार्गों से बहता है (उनका पूय निकलता है)। विद्रधि के क्लेद अर्थात् पूय या स्राव को देख कर भी वातादि दोष का निश्चय—निर्णय कर लेना चाहिये जैसे व्रण का व्रण के पूय को देख कर किया जाता है देखिये—उ० तं० अ० २५ तथा सु० चि० अ० १। उनमें त्रिदोषज विद्रधि त्याज्य अर्थात् असाध्य होता है। और हृदय, नाभि तथा बस्ति का विद्रधि—पकने पर यदि भीतर की ओर अथवा बाहर की ओर फूटकर बहता है तो वह भी असाध्य होता है और जो भी विद्रधि पक कर एवं फूटकर भीतर की ओर बहता है और उसका स्राव मुख मार्ग से निकलता है वह भी असाध्य होता है। और क्षीण रोगी का विद्रधि हिक्का आदि उक्त उपद्रवों से जो युक्त होता है वह भी असाध्य होता है ॥१६॥

स्तनविद्रधि का वर्णन—

एवमेव स्तनसिरा विवृताः प्राप्य योषिताम् ॥१९॥
सूतानां गर्भिणीनां वा सम्भवेच्छ्वयथुर्घनः।
स्तने सदुग्धेऽदुग्धे वा बाह्यविद्रधिलक्षणः ॥२०॥
नाडीनां सूक्ष्मवक्त्रत्वात्कन्यानां तु न जायते।

व्याख्या—इसी प्रकार प्रसूता अथवा गर्भवती नारियों की खुली हुई दुग्धवाहिनी सिराओं को आक्रान्त करके घन-कठोर शोथ उत्पन्न हो जाता है वह दुग्ध वाले अथवा दुग्ध रहित स्तनों में बाह्य विद्रधि के लक्षणों वाला होता है और वह "स्तन विद्रधि" कहलाता है। यह विद्रधि—कन्याओं—बालिकाओं के स्तनों में नहीं होता क्यों कि उनके स्तनों की उक्त नाड़ियों के मुख सूक्ष्म होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत का कथन है कि—

आमो वा यदि वा पक्वो महान् वा यदि वेतरः।
सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते ॥२४॥

और मज्ज परिपाक का वर्णन भी सुश्रुत ने किया है—
यथा—अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते

सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा।
ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते ॥२५॥
अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत्।
विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेत् आतुरं चिरम् ॥२६॥
अथास्य कर्मणा व्याधिः द्वारं तु लभते यदा।
ततो मेदप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु ॥२७॥
भिन्नेऽस्थ्नि निःस्रवेत् पूयमेतत् अस्थिगतं विदुः।
विद्रधिं शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम् ॥२८॥

यह प्रायः अंगुली में होता देखा गया है जो अंगुली में होता है उसे काशी के आस पास "गलका माता" पञ्जाब में "फिरमूहाँ" मध्य भारत में "अंगुलवेडा" कहते हैं। जयपुर के चिकित्सक उसे "अंगुलिवेष्टक" कहते हैं। स्तनविद्रधि को "थनैला" कहते हैं। इस मज्जपाक विद्रधि का मल अस्थि में होता है, अस्थि सड़ जाती है। यह अस्थि का फोड़ा है ॥२१॥

इति विद्रधिनिदानम् ।

अथवृद्धिनिदानम्

क्रुद्धो रुद्धगतिर्वायुः शोफशूलकरश्चरन् ॥२१॥
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोशाभिवाहिनीः ।
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोशयोः ॥२२॥

व्याख्या—अनेक कारणों से वायु (अपान वायु) अवरुद्ध-आवृत तथा कुपित होकर वंक्षण स्थान से मुष्क—वृषण में पहुँच कर फल कोश का वहन करने वाली नाड़ियों को प्रपीडित करके और वहाँ शोथ शूल करता हुआ प्रारम्भ म इधर उधर घूमता हुआ (इस दशा में वृद्धि रोग कभी बढ़ जाता है और कभी शान्त हो जाता है) फल कोशों (कभी एक में कभी दोनों कोशों में) में वृद्धि नामक रोग की उत्पत्ति करता है।

वक्तव्य—श्री धन्वन्तरि के शब्दों में—अधः प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोशवाहिनीः अभिप्रपद्य धमनीः फलकोशयोः वृद्धिं जनयति, तां "वृद्धि" इति आचक्षते ।४। सु० नि० अ० १२। इस विकार में एक अथवा दोनों अण्डकोश बढ़ जाते हैं। यह रोग हिमालय की तराई में तथा विन्ध्याचल के प्रदेशों में अधिक होता है ॥२१,२२॥

सख्या सम्प्राप्ति—

दोषाऽस्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ।
मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् ॥२३॥

व्याख्या—वह वृद्धि रोग ७ प्रकार का होता है—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. रक्त से, ५. मेदस् से, ६. मूत्र से तथा ७. अन्त्र से (अन्त्र उतरने से)। मूत्रज वृद्धि तथा अन्त्रज वृद्धि तो वायु से ही होती हैं केवल हेतु के भेद से पृथक् गिनी गई हैं ॥२३॥

वातज आदि वृद्धियों का वर्णन—

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक् ।
पक्वोदुम्बरसङ्काशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान् ॥२४॥
कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ।
कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्ततः ॥२५॥
कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ।
मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः ॥२६॥
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत्क्षोभं याति सरुङ्मृदुः ।
मूत्रकृच्छ्रमधस्ताच्च वलयं फलकोशयोः ॥२७॥

व्याख्या—वात वृद्धि का लक्षण—इस में अण्डकोश वायु से भरी दृति (चर्मपुट–थैली—मशक), के समान स्पर्श वाला, ऊपर से रूक्ष तथा किसी प्रत्यक्ष कारण के बिना ही वेदना वाला होता है। पित्तवृद्धि का लक्षण—इस में अण्डकोश—पके गूलर फल के सदृश वर्ण (पीला लाल) वाला तथा उसमें दाह, एवं उष्मा (उष्णता-माप सी निकलती प्रतीत होना) होती है और साथ २ ज्वर रहता है। कफ वृद्धि का लक्षण—इस में अण्डकोश-शीतल, भारी, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, कठोर तथा थोड़ी २ वेदनावाला होता है। रक्त वृद्धि का लक्षण—इस में अण्डकोश पर काले काले फफोले निकसते हैं और पित्त-वृद्धि के समान लक्षण होते हैं। मेदोवृद्धि का लक्षण—इस में कफ वृद्धि के समान लक्षण होते हैं तथा अण्ड कोश ताड़ के फल जैसा हो जाता है। मूत्र वृद्धि का वर्णन—जो मूत्र के वेग को रोकता रहता है उसे मूत्र वृद्धि हो जाती है और उस का अण्डकोश—चलते समय जल से भरी दृति के समान क्षुब्ध होता है (थलथलाता है) उस में थोड़ी वेदना रहती है तथा वह स्पर्श में मृदु होता है, मूत्र कष्ट के साथ उतरता है और फल कोश में नीचे की ओर वलय (कंकण) जैसा शोथ हो जाता है।

वक्तव्य—पित्तज एवं रक्तज वृद्धियाँ बहुत थोड़ी देखी जाती हैं अधिकतर मेदोवृद्धि तथा मूत्रवृद्धि देखी जाती हैं। इन में शस्त्रकर्म की आवश्यकता पड़ती है। और वात वृद्धि प्रायः प्रारम्भ में वात नाशक चिकित्सा से शान्त हो जाती है। पुरानी होने पर नहीं॥२६॥

अन्त्रवृद्धि—

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ।
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्त्तनैः ॥२८॥
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥२९॥
उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धि-
माध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः ।
प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति
प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥३०॥
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ।

व्याख्या—अन्त्र वृद्धि का वर्णन—वायु को कुपित करने वाले आहारों के सेवन से, शीतल जल में अवगाहन करने से, मूत्र पुरीष आदि के वेग रोकने से अथवा उनका

बलात् प्रेरण करने से, भार उठाने से, शीघ्र २ मार्ग चलने से, व्यायाम आदि में अङ्गों का विषम प्रवर्त्तन करने से अथवा शरीर को क्षुब्ध करनेवाले अन्यान्य कारणों से कुपित वायु—जब क्षुद्र अन्त्र (अन्तड़ी) के अवयव (एक देश) को विगुण (द्विगुण—दुहरी या संकुचित करके अपने (अन्त्र के) स्थान से नीचे (वंक्षण सन्धि में) ले जाता है तब वंक्षण सन्धि में स्थित वायु—वहाँ ग्रन्थि जैसा शोथ कर देता है (वह वास्तविक शोथ नहीं होता अन्त्र का ही अवयव होता है) (इस दशा में उचित उपाय न करने पर वह वायु—अन्त्रजनित वृद्धि कर देता है अर्थात् अन्त्रका वह अवयव अण्डकोश में उतर आता है उस समय अण्डकोश में आध्मान, अत्यन्त वेदना तथा स्तब्धता होती है। अण्डकोश को दबाने पर स्वन (कलकल या गलगल शब्द) के साथ भीतर—ऊपर की ओर (वह अन्त्र का अवयव अपने स्थान में) चला जाता है और छोड़ देने पर—दबाव हटा लेने पर वह अन्त्र का अवयव पुनः अण्डकोश में आजाता है। इसके सब लक्षण वातवृद्धि के समान होते हैं परन्तु यह असाध्य होती है (शस्त्रकर्म द्वारा साध्य होती है)।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—भारहरण-बलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिः आयासविशेषैः वायुः अभिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्य इतरस्य (क्षुद्रान्त्रस्य) च एकादेशं विगुणम् (द्विगुणं इत्यपि पाठः) आदाय अधो गत्वा वंक्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा अप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातः वस्ति इव आततः प्रदीर्घः स शोफो भवति, सशब्दम् अवपीडितश्च उर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनः आध्मायते, ताम् अन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ॥६॥ सु० नि० अ० १२।

इस रोग में अन्त्र का ही एक भाग प्रथम वंक्षण सन्धि में और फिर अण्डकोश में बार बार उतरने लग जाता है। श्री वाग्भट ने "शीततोयावगाहनै." पाठ दिया है जो श्री धन्वन्तरि ने नहीं लिखा है अतः विचारणीय है। क्योंकि शीततोयावगाहन से अन्त्रवृद्धि में लाभ होता है—अन्त्र ऊपर चढ़ जाता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। वृद्धिरोग का वर्णन च० चि० अ० १२ में, सु० नि० अ० १२ मे तथा अ० सं० नि० अ० ११ में देखिये ॥२८-३०॥

इति वृद्धिनिदानम्

अथ गुल्मनिदानम्

गुल्म की संक्षप्त सम्प्राप्ति—

रूक्षकृष्णारुणसिरातन्तुजालगवाक्षितः ॥३१॥
गुल्मोऽष्टधा पृथग्दोषैः संसृष्टैर्निचयं गतैः।
आर्तवस्य च दोषेण नारीणां जायतेऽष्टमः ॥३२॥

व्याख्या—रूक्ष, कृष्ण एवं अरुण वर्ण वाली सिरा के तन्तुओं के जाल से गवाक्षित—व्याप्त या आक्रान्त गुल्म होता है और वह आठ प्रकार का होता है—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. वातपित्त से, ५. वातकफ से, ६. पित्तकफ से, ७. त्रिदोष से और आर्त्तव के दोष से। यह आठवाँ गुल्म केवल नारियों के ही (गर्भाशय में होता है)।

वक्तव्य—श्री अरुणदत्तेन "रूक्षकृष्ण" इत्यादि श्लोकार्द्धस्य गुल्मेन सम्बन्धः प्रतिपादितः किन्तु इदं श्लोकार्द्धम् अन्त्रवृद्धिना सम्बन्धनीयम्, युक्ततरत्वात् चन्द्र तोडर इन्दुभिः (व्याख्याकारैः) व्याख्यातत्वात् च। इति हरिशास्त्री। गुल्म रोग को "वायु गोला" कहते हैं। विशेष च० नि० अ० ३ तथा चि० अ० ५ और सु० उ० तं० अ० ४२। तथा अ० सं० नि० अ० ११ में देखिये ॥३१-३२॥

गुल्म का निदान एवं सामान्य स्वरूप—

ज्वरच्छर्द्यतिसाराद्यैर्वमनाद्यैश्च कर्मभिः।
कर्शितो वातलान्यत्ति शीतं वाऽम्बु बुभुक्षितः ॥३३॥
यः पिबत्यनु चान्नानि लङ्घनं प्लवनादिकम्।
सेवते देहसङ्क्षोभि च्छर्दिं वा समुदीरयेत् ॥३४॥
अनुदीर्णान् उदीर्णान्वा वातादीन् विमुञ्चति।
स्नेहस्वेदावनभ्यस्य शोधनं वा निषेवते ॥३५॥
शुद्धो वाऽऽशुविदाहीनि भजते स्यन्दनानि वा।
वातोल्बणास्तस्य मलाः पृथक् क्रुद्धा द्विशोऽथवा ॥३६॥
सर्वे वा रक्तयुक्ता वा महास्रोतोऽनुशायिनः।
ऊर्ध्वाधोमार्गमावृत्य कुर्वते शूलपूर्वकम् ॥३७॥
स्पर्शोपलभ्यं गुल्माख्यमुत्प्लुतं ग्रन्थिरूपिणम्।

व्याख्या—जो ज्वर, छर्दि अथवा अतिसार आदि रोगों से अथवा वमन विरेचन आदि कर्मों से कृश रहता हुआ वातकारक आहार खाता है अथवा भूखा—खाली पेट शीतल जल पीता है अथवा भोजन करते ही लंघन (लाँघना) एवं प्लवन आदि (कूदना—उछलना भागना और शरीर को क्षुब्ध करने वाले कर्मों का सेवन करता है अथवा उत्क्लेश हुए बिना छर्दि लाने—उल्टी करने का प्रयत्न करता है अथवा वात मूत्र आदि के वेगों को रोकता है अथवा स्नेहन एवं स्वेदन किये बिना वमन विरेचन का सेवन करता है अथवा वमन विरेचन द्वारा शुद्ध होते ही विदाहकारी अथवा अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करता है उस के वातप्रधान दोष—पृथक् पृथक् अथवा दो दो अथवा सब (तीनों) अथवा रक्त युक्त (चारों) कुपित होकर—

महास्रोतस् (आमाशय एवं पक्वाशय रूप बड़ा स्रोतस्) में अधिष्ठान बनाकर, ऊपर तथा नीचे के मार्गों का निरोध—अवरोध करके ग्रन्थि जैसे गुल्म नामक रोग को उत्पन्न करते हैं। उसका पूर्वरूप शूल होता है और वह स्पर्श करने पर ग्रन्थि जैसा उपलब्ध होता है तथा ऊपर की ओर फरकता प्रतीत होता है ॥३३-३७॥

गुल्म की सम्प्राप्ति एवं आकृति—

कर्शनात्कफविट्पित्तैर्मार्गस्यावरणेन वा ॥३८॥
वायुः कृताशयः कोष्ठे रौक्ष्यात्काठिन्यमागतः।
स्वतन्त्रः स्वाश्रये दुष्टः परतन्त्रः पराश्रये ॥३९॥
पिण्डितत्वादमूर्तोऽपि मूर्तत्वमिव संश्रितः।
गुल्म इत्युच्यते बस्तिनाभिहृत्पार्श्वसंश्रयः ॥४०॥

व्याख्या—शरीर में कृशता आ जाने से अथवा कफ, पुरीष एवं पित्त के द्वारा मार्ग रुक जाने से—कोष्ठ (महास्रोतस्) में वायु आश्रित होकर—और रूक्षता के कारण कठोर होकर, अपने स्थान (पक्वाशय) में स्वतन्त्र अथवा पराए स्थान (आमाशय एवं अन्त्र) में परतन्त्र (कफ एवं पित्त के अधीन) होकर, मूर्त्तिरहित होने पर भी पिण्डाकार होने के कारण मूर्तिमान् का सा होकर "गुल्म" कहलाता है और उस का आश्रय बस्ति, नाभि, हृदय तथा पार्श्वों में होता है ॥३८-४०॥

वातगुल्म का वर्णन—

वातान्मन्याशिरःशूलं ज्वरप्लीहान्त्रकूजनम्।
व्यधः सूच्येव विट्सङ्गः कृच्छ्रादुच्छ्वसनं मुहुः ॥४१॥
स्तम्भो गात्रे मुखे शोषः कार्श्यं विषमवह्निता।
रूक्षकृष्णत्वगादित्वं चलत्वादनिलस्य च ॥४२॥
अनिरूपितसंस्थानस्थानवृद्धिक्षयव्यथः।
पिपीलिकाव्याप्त इव गुल्मः स्फुरति तुद्यते ॥४३॥

व्याख्या—वायु से—मन्याओं एवं शिर में शूल, ज्वर, प्लीह विकार, अन्त्र कूजन, सूई में विंधने की सी वेदना, पुरीष में रुकावट, श्वास में बार २ कष्ट, शरीर में स्तब्धता, मुख शोष, कृशता, विषमाग्नि, त्वचा एवं पुरीष आदि में रूक्षता एवं कालापन, वायु के चल होने के कारण गुल्म के स्वरूप में, स्थान में, बढ़ने एवं घटने में तथा व्यथा में अनिश्चितता—परिवर्त्तक, चिउँटियों से व्याप्त के समान गुल्म में स्फुरण-फरफराहट तथा उन के द्वारा काटने की सी व्यथा होती है ॥४१-४३॥

पित्तज गुल्म—

पित्ताद्दाहोऽम्लको मूर्च्छाविड्भेदस्वेदतृड्ज्वराः।
हारिद्रत्वं त्वगाद्येषु गुल्मश्च स्पर्शनासहः ॥४४॥
दूयते दीप्यते सोष्मा स्वस्थानं दहतीव च।

व्याख्या—पित्त से—दाह, खट्टे उद्गार, मूर्च्छा, पुरीष भेद-अतिसार, स्वेद, तृषा, ज्वर, त्वचा एवं मूत्र आदि में हल्दी का सा वर्ण, गुल्म अंगुलि आदि के स्पर्श का सहन नहीं करता छूने से वेदना होती है, उस में दाह होती है, जलता हुआ प्रतीत होता है, उस में से भाप सी निकलती प्रतीत होती है, और वह अपने स्थान को जलाता हुआ सा प्रतीत होता है ॥४४॥

कफज गुल्म—

कफात्स्तैमित्यमरुचिः सदनं शिशिरज्वरः ॥४५॥
पीनसालस्यहृल्लास कासशुक्लत्वगादिताः।
गुल्मोऽवगाढः कठिनो गुरुः सुप्तः स्थिरोऽल्परुक् ॥४६॥

व्याख्या—कफ से—शरीर में स्तिमितता (आर्द्रता), अरुचि, अवसाद (शिथिलता), शीत ज्वर, पीनस, आलस्य, मिचली, कास, त्वचा आदि में श्वेतता, गुल्म-गम्भीर, कठोर, भारीसा, शून्य, एक स्थान में स्थिर तथा थोड़ी वेदना वाला ॥४५,४६॥

गुल्मों के स्थान आदि का वर्णन—

स्वदोषस्थानधामानः स्वे स्वे काले च रुक्कराः।
प्रायः त्रयस्तु द्वन्द्वोत्था गुल्माः संसृष्टलक्षणाः ॥४७॥
सर्वजस्तीव्ररुग्दाहः शीघ्रपाकी घनोन्नतः।
सोऽसाध्यो रक्तगुल्मस्तु स्त्रिया एव प्रजायते ॥४८॥

व्याख्या—प्रायः सभी गुल्म—अपने २ सहयोगी दोषों के स्थान में होते हैं यथा—वात गुल्म मलाशय में, पित्तगुल्म क्षुद्रान्त्र में तथा कफगुल्म आमाशय में रहता है और अपने २ समय में अधिक वेदना करते हैं यथा—वातगुल्म वातप्रकोप काल में, पित्तगुल्म पित्त-प्रकोप काल में और कफगुल्म कफप्रकोप काल में (देखिये कालसम्प्राप्ति)। द्विदोषज गुल्म दो दो दोषों के लक्षणोंवाले होते हैं। त्रिदोषज गुल्म—तीव्र वेदना एवं तीव्र दाह से युक्त, शीघ्र पकनेवाला, कठोर तथा उन्नत होता है और वह असाध्य होता है। और रक्तज गुल्म—नारी के ही (गर्भाशय में) में होता है। उसका वर्णन निम्न पाठ में देखिये ॥४७,४८॥

रक्तगुल्म का वर्णन—

ऋतौ वा नवसूता वा यदि वा योनिरोगिणी।
सेवते वातलानि स्त्री क्रुद्धस्तस्याः समीरणः ॥४९॥
निरुणद्ध्यार्तवं योन्यां प्रतिमासमवस्थितम्।
कुक्षिं करोति तद्गर्भलिङ्गमाविष्करोति च ॥५०॥
हृल्लासदौहृदस्तन्य दर्शनं क्षामतादिकम्।
क्रमेण वायुसंसर्गात्पित्तयोनितया च तत् ॥५१॥

शोणितं कुरुते तस्या वातपित्तोत्थगुल्मजान्।
रुक्स्तम्भदाहातीसारतृड्ज्वरादीनुपद्रवान ॥५२॥
गर्भाशये च सुतरां शूलं दुष्टासृगाश्रये।
योन्याश्चस्रावदौर्गन्ध्यतोदस्यन्दनवेदनाः ॥५३॥
न चाङ्गैर्गर्भवद्गुल्मः स्फुरत्यपि तु शूलवान्।
पिण्डीभूतः स एवास्याः कदाचित्स्पन्दते चिरात् ॥५४॥
न चास्या वर्धते कुक्षिर्गुल्म एव तु वर्धते।

व्याख्या—जो नारी—ऋतु काल में अथवा जो नव प्रसूता—प्रसव के पश्चात ४०—४५ दिन पर्यन्त अथवा जो गर्भस्राव आदि योनिरोगोंवाली नारी—वातवर्द्धक आहार-विहार का सेवन करती है उसका कुपितं वायु—योनि (गर्भाशय) में आर्त्तव—रजस् को प्रतिमास रोकता रहता है और वह अवरुद्ध आर्त्तव—कुक्षि—गर्भाशय—को उदर को बढ़ाता जाता है तथा हृल्लास (मचली—छर्दि,), दौहृद (दोहद लक्षण), स्तनों में स्तन्यदर्शन (स्तन वृद्धि) तथा कृशता आदि गर्भ के लक्षणों को प्रकट करता है और वह रक्त वायु का संसर्ग होने से तथा पित्त का हेतु होने से (रक्त से ही पित्त की उत्पत्ति होती है) उस नारी के शरीर में वातपित्त जनित गुल्म से उत्पन्न होने वाले—वेदना, स्तम्भ, दाह, अतिसार, तृषा एवं ज्वर आदि उपद्रवों को उत्पन्न करता है और गर्भाशय में भीषण शूल उत्पन्न करता है क्यों कि दूषित आर्त्तव का वही आश्रय है और साथ साथ योनि से स्राव होता है, दुर्गन्ध आती है, उसमें व्यथा, स्फुरण एवं वेदना होती हैं। और वह गुल्म—गर्भ के समान अङ्गों द्वारा नहीं फरकता किन्तु शूल होता रहता है (जो गर्भ रहने पर नहीं होता) तथा वह पिण्ड कासा कभी कभी चिर काल के पश्चात् फरकता है (गर्भ के समान शीघ्र शीघ्र तथा सर्वदा नहीं फरकता) और गर्भ रहने के समान उदर अधिक नहीं बढ़ता परन्तु गुल्म बढ़ता रहता है।

वक्तव्य—यही सब गुल्म एवं गर्भ में भेद है। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु. उ. तं. अ. ४२—

नवप्रसूताऽहितभोजनाया या चाऽऽमगर्भं प्रस्रवेत् ऋतौ वा।
वायुः हि तस्या परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्।
पैत्तस्य गुल्मस्य-समानलिंगं विशेषणं चाप्यपरं निबोध।
यःस्पन्दने नोदरमोतंवृद्धिं भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनाम्।
तं गर्भकालातिक्रमे चिकित्स्यं असृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः।

गुल्म एवं विद्रधि में भेद—

स्वदोषसंश्रयो गुल्मः सर्वो भवति तेन सः ॥५५॥
पाकं चिरेण भजते नैव वा विद्रधिः पुनः।
पच्यते शीघ्रमत्यर्थं दुष्टरक्ताश्रयत्वतः ॥५६॥
अतः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधिः सोऽभिधीयते।

व्याख्या—सब गुल्मों का अपने वात, पित्त एवं कफ नामक दोषों में आश्रय होता है अतः वह चिरकाल में पकता है अथवा कभी नहीं पकता और विद्रधि अत्यन्त शीघ्र पक जाता है क्यों कि उसका दुष्ट रक्त आश्रय होता है और अतएव शीघ्र विदाही—शीघ्र पकने वाला होने से वह "विद्रधि" कहा जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरिके शब्दों में—सु.नि.अ.६—

गुल्मः तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिः मांस शोणिते।
विद्रधिः पच्यते तस्मात् गुल्मश्चापि न पच्यते ।३।

तथा—कुपितानिलमूलत्वात् गूढमूलोदयात् अपि।
गुल्मवत् वा विशालत्वात् गुल्म इत्यभिधीयते ।५।
स यस्मात् आत्मनि चयं गच्छत्यप्स्विवबुद्बुदः।
अन्तः सरति यस्मात् च न पाकमुपयात्यतः ।७।
सु. उ. तं. अ. ४२।

अन्तराश्रित एवं बहिराश्रित गुल्म का भेद—

गुल्मेऽन्तराश्रये बस्तिकुक्षिहृत्प्लीहवेदनाः ॥५७॥
अग्निवर्णबलभ्रंशो वेगानां चाप्रवर्तनम्।
अतो विपर्ययो बाह्ये कोष्ठाङ्गेषु तु नातिरुक् ॥५८॥
वैवर्ण्यमवकाशस्य बहुरुन्नतताऽधिकम्।

व्याख्या—अन्तराश्रित गुल्म में—वस्ति, कुक्षि, हृदय तथा प्लीहा में वेदना होती है और जठराग्नि, कान्ति- तथा बल का ह्रास—क्षय होता है तथा वेगों की उचित प्रवृत्ति नहीं होती। और बहिराश्रय गुल्म में इस से विपरीत लक्षण होते हैं और कोष्ठ के उक्त वस्ति आदि अवयवों में अधिक वेदना नहीं होती जहाँ गुल्म होता है वहाँ का वर्ण विकृत हो जाता है और बाहर की ओर अधिक ऊँचापन होता है ॥५७, ५८॥

इति गुल्मनिदानम्।

अथ आनाहनिदानम्।

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मानमुदरं भृशम् ॥५९॥
ऊर्ध्वाधो वातरोधेन तमानाहं प्रचक्षते।

व्याख्या—आनाह का लक्षण—उस रोग को "आनाह" कहते हैं जिस में—उदर में गुड़गुड़ शब्द होता है, अत्यधिक वेदना होती है अत्यधिक अफरा होता है तथा उद्गार एवं अपान वायु का निरोध हो जाता है।

वक्तव्य—इस रोग में महास्रोतस् की गति रुक जाती है फलतः उक्त लक्षण होते हैं। सुश्रुत में इसे इन्हीं शब्दों में

"आध्मान" कहा है। सु. नि. अ. १ श्लो० ८४। और वहाँ "प्रत्याध्मान" का भी वर्णन है यथा—

विमुक्तपार्श्वं हृदयं तदेवाऽऽमाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानलम्।।८६।

अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला का वर्णन—

घनोऽष्ठीलोपमो ग्रन्थिरष्ठीलोर्ध्वं समुन्नतः।।६०।।
आनाहलिङ्गस्तिर्यक्तु प्रत्यष्ठीला तदाकृतिः।

व्याख्या—उदर में अष्ठीला (ढेला) जैसी घन—कठोर, ऊपर की ओर उठी हुई तथा उक्त आनाह के लक्षणों से युक्त ग्रन्थि "अष्ठीला" कहलाती है और यही ग्रन्थि यदि तिरछी होती है तो "प्रत्यष्ठीला" कहलाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत में इसे 'वाताष्ठीला" कहा है।६०।

तूनी एवं प्रतूनी का वर्णन—

पक्वाशयाद् गुदोपस्थं वायुस्तीव्ररुजः प्रयान्।
तूनी, प्रतूनी तु भवेत्स एवातो विपर्यये।।६१।।

व्याख्या—तूनी का वर्णन—वायु (अपान वायु)—मलाशय से उठकर अत्यन्त वेदना करता हुआ गुद एवं उपस्थ (शिश्न एवं भग) की ओर जाता है उस विकार का नाम तूनी है और इस से विपरीत अर्थात् वह वायु—उपस्थ से उठकर यदि ऊपर—मलाशय की ओर जाता है तो उसे "प्रतूनी" कहते हैं। इन दोनों में वेदना की तरंग (लहर) उठती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता।
भिन्दन्तीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते।८६।
गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमप्रसर्पिणी।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता।८७।

सु. नि. अ. १।।६१।।

गुल्म का पूर्वरूप—

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्ध-
तृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्ति-
मासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम्।।६२।।

व्याख्या—गुल्म का पूर्व रूप—उद्गारों की अधिकता, पुरीष का निरोध, तृप्ति का सहन न होना अन्त्र में कूजन (कुलकुलाहट), उदर में आटोप (गुड़गुड़ाहट), अफरा, अपच, अशक्ति (दुर्बलता।

वक्तव्य—विशेष देखिए—च. नि. ३ तथा चि०अ०५।।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने एकादशोऽध्यायः।११।

द्वादशोऽध्यायः

अथाऽत उदरनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब उदररोग के निदान की व्याख्या करेंगे और आत्रेय आदि महर्षि इस विषय में इस प्रकार कह गये हैं कि—

उदररोग का निदान, सम्प्राप्ति एवं संख्या—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि तु।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसञ्चयात्।।१।।
ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनीः।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य कुर्युस्त्वङ्मांससन्धिगाः।।२।।
आध्माप्य कुक्षिमुदरम् अष्टधा तच्च भिद्यते।
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः।।३।।

व्याख्या—उदररोग का कारण—प्रायः सभी रोग मन्दाग्नि होने पर उत्पन्न होते हैं परन्तु उदर रोग तो मन्दाग्नि होने पर प्रायः हो जाते हैं तथा अजीर्ण होने से, मलिन आहार खाने से और उदर में मलों का सञ्चय होने से उदर रोग हो जाते हैं।

उदर रोग की सम्प्राप्ति—वातादि दोष—जलवाही स्रोतों को ऊपर नीचे से रोक कर, प्राण वायु को, जठराग्नि तथा अपान वायु को दूषित करके त्वचा एवं मांस की सन्धि (मध्य भाग) में जाकर तथा उदर में आध्मान उत्पन्न करके "उदर रोग" की उत्पत्ति करते हैं। संख्या सम्प्राप्ति—उदर रोग आठ प्रकार का होता है—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. त्रिदोष से, ५. प्लीहविकृति (यकृत—विकृति से भी) से ६. मलबद्धता से, ७. अन्त्र में क्षत होने से तथा ८. उदर में जल की उत्पत्ति हो जाने से।।१।।

सामान्य लक्षण एवं पूर्वरूप—

तेनार्त्ताः शुष्कताल्वोष्ठाः शूनपादकरोदराः।
नष्टचेष्टाबलाहाराः कृशाः प्रध्मातकुक्षयः।।४।।
स्युः प्रेतरूपाः पुरुषाः भाविनस्तस्य लक्षणम्।
क्षुन्नाशोऽन्नं चिरात्सर्वं सविदाहं च पच्यते।।५।।
जीर्णाजीर्णं न जानाति सौहित्यं सहते न च।
क्षीयते बलतः शश्वच्छ्वसित्यल्पेऽपि चेष्टिते।।६।।
वृद्धिर्विशोऽप्रवृत्तिश्च किंचिच्छोफश्च पादयोः।
रुग्बस्तिसन्धौ ततता लघ्वल्पभोजनैरपि।।७।।
राजीजन्म वलीनाशो जठरे जठरेषु तु।
सर्वेषु तन्द्रा सदनं मलसङ्गोऽल्पवह्निता।।८।।
दाहः श्वयथुराध्मानमन्ते सलिलसम्भवः।

व्याख्या—उदर रोग से पीडित रोगियों के तालु एवं ओठ सूखे रहते हैं, पावँ, हाथ तथा मुख पर शोथ हो जाता है, चेष्टा (कर्म शक्ति), बल तथा आहार नष्ट हो जाते हैं—घट जाते हैं, शरीर में कृशता हो जाती है उदर में आध्मान रहता है और वे प्रेत जैसे हो जाते हैं। उदररोग का पूर्वरूप—भूख का नाश, मधुर, स्निग्ध तथा गुरु अन्न चिर से पचता है, अन्य प्रकार का सब अन्न भी विदग्ध होकर पचता है, पचने एवं न पचने का अनुभव नहीं होता, तृप्ति का सहन नहीं होता, निरन्तर बलक्षय होता जाता है, थोड़ी सी चेष्टा करने पर श्वास फूलता है, पुरीष का परिमाण बढ़ जाता है, उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, पावँ पर थोड़ा शोथ आ जाता है, वस्ति के पास वेदना होती है तथा लघु भोजन अथवा अल्प भोजन करने पर अथवा सर्वथा भोजन न करने पर उदर तन जाता है, उदर पर सिरा दिखने लगती हैं तथा उदर की बलियों का नाश हो जाता है । उदर रोग का सामान्य लक्षण—सब प्रकार के उदर रोगों में—तन्द्रा, अवसाद (शिथिलता), पुरीष में रुकावट, मन्दाग्नि, दाह, शोथ तथा आध्मान होता है और अन्त में उदर रोगों में जल की उत्पत्ति हो सकती है ।।४-८।।

जल रहित उदर रोग का लक्षण—

सर्वं त्वतोयमरुणमशोफं नातिभारिकम् ।।९।।
गवाक्षितं सिराजालैः सदा गुडगुडायते ।
नाभियन्त्रं च विष्टम्भ वेगं कृत्वा प्रणश्यति ।।१०।।
मारुतो हृत्कटीनाभिपायुवङ्क्षणवेदनः ।
सशब्दो निश्चरेद्वायुर्विड्बन्धो मूत्रमल्पकम् ।।११।।
नातिमन्दोऽनलो लौल्यं न च स्याद्विरसं मुखम् ।

व्याख्या—उदक रहित उदर के लक्षण—जबतक उदर में जल की उत्पत्ति नहीं होती तबतक उदर—वर्ण में लाल रहता है, उस पर शोथ नहीं होता, वह अत्यन्त भारी नहीं हो जाता, सिरा जालों से गवाक्षित-व्याप्त रहता है (सिरा दिखती रहती हैं), सर्वदा गुड़गुड़ाता रहता है, उसमें वायु नाभि तथा अन्त्र में विष्टम्भ उत्पन्न करके और वेग (वेदना तरङ्ग या इधर उधर दौड़ना) करके शान्त हो जाता है अर्थात् हृदय, कटी, नाभि, गुद तथा वंक्षण में वेदना करके शान्त हो जाता है, अपान वायु पिड़पिड़ शब्द करके निकलता रहता है, पुरीष में रुकावट रहती है या वह बंधा हुआ रहता है, मूत्र थोड़ा आता है, जठराग्नि अत्यन्त मन्द नहीं हो जाती सब पदार्थों को खानेकी इच्छा रहती है और मुख भी विरस नहीं हो जाता। जलोदर हो जाने के लक्षण आगे श्लो० १५-४८ देखिये ।

वक्तव्य—यह पाठ च. चि. अ. १३ श्लो० ५५-५६ का कुछ परिवर्तित पाठ है । श्री वाग्भट ने चरक के "नाभि विष्टभ्य पायी तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति" के स्थान में—"नाभि अन्त्रं च विष्टभ्य वेगं कृत्वा प्रणश्यति" पाठ कर दिया है । पाठक विचार करें कि कौन पाठ युक्ति संगत है ।९-११

वातोदर का लक्षण —

तत्र वातोदरे शोफः पाणिपान्मुष्ककुक्षिषु ।।१२।।
कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ।
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधोगुरुता मलसङ्ग्रहः ।।१३।।
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत् ।
सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णसिराततम् ।।१४।।
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतोगतिः ।।१५।

व्याख्या—वातज उदर रोग में—हाथ, पावँ, अण्ड कोश तथा कुक्षि (उदर) पर शोथ, कुक्षि, पार्श्व, उदर कटी तथा पीठ में वेदना, पोर पोर में टूटने-कटने की सी वेदना, सूखी खांसी, शरीर भर में मर्दन की सी वेदना, शरीर के अधो भाग में भारी पन, पुरीष में रुकावट, त्वचा आदि में श्यावता एवं अरुणता, उदर किसी कारण के बिना ही घटने-बढ़ने वाला, व्यथा एवं फटने कीसी वेदना वाला, पतली एवं काली सिराओं से व्याप्त रहता है और आहनन (थपथपाना—आकोटन—ठेपन) करने पर फूली हुई (वातपूर्ण) दृति (मशक) जैसा शब्द (डब-डब) करता है और उदर में वायु सब ओर वेदना एवं शब्द करता हुआ घूमता है ।।१२-१५।।

पित्तोदर का लक्षण—

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता ।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ।।१६।।
पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते ।
धूमायति मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ।।१७।।

व्याख्या—पित्त जनित उदर रोग में—ज्वर, कभी कभी मूर्च्छा, दाह, तृषा की अधिकता, मुख में कटुता, भ्रम, अतिसार, त्वचा एवं नख आदि पर पीलापन, उदर पर हरापन, उदर—पीली एवं ताम्र वर्ण की सिराओं से व्याप्त, स्वेद युक्त, ऊष्मा युक्त तथा दाह युक्त रहता है, उसमें से धूआँ सा निकलता प्रतीत होता रहता है, छूने में कोमल होता है और तपता रहता है तथा उसमें शीघ्र ही जल की उत्पत्ति हो जाती है ।।१६,१७।।

कफोदर के लक्षण—

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वापश्वयथुगौरवम् ।

निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता॥१८
उदरं स्तिमितं श्लक्ष्णं शुक्लराजीततं महत्।
चिराभिवृद्धि कठिनं शीतस्पर्शं गुरुस्थिरम् ॥१९॥

व्याख्या—कफजनित उदररोग में—शरीर में अवसाद (शिथिलता), स्वाप, शोथ तथा भारीपन, निद्रा की अधिकता, मिचली, अरुचि, श्वास, कास, त्वचा आदि में श्वेतता और उदर—स्तिमित (आर्द्र) श्लक्ष्ण, श्वेत सिराओं से व्याप्त, बहुत बड़ा, विलम्ब से बढ़नेवाला, कठोर, स्पर्श में शीतल, गुरु तथा स्थिर (निश्चल) होता है ॥१८॥

सन्निपातोदर का वर्णन—

त्रिदोषकोपनैस्तैस्तैः स्त्रीदत्तैश्च रजोमलैः।
गरदूषीविषाद्यैश्च सरक्ताः सञ्चिता मलाः ॥२०॥
कोष्ठं प्राप्य विकुर्वाणाः शोषमूर्च्छाभ्रमान्वितम्।
कुर्युस्त्रिलिङ्गमुदरं शीघ्रपाकं सुदारुणम् ॥२१॥
बाधते तच्च सुतरां शीतवाताभ्रदर्शने।

व्याख्या—त्रिदोष को कुपित करने वाले उन उन आहारों (अपथ्य, आम विरोधी तथा गुरु भोजनों) के सेवन से और दुष्टा स्त्री द्वारा दिये गये रजस् एवं मलों—(पुरीष, मूत्र, अस्थि, नख आदि) के मिश्रणों के सेवन से तथा गर एवं दूषीविषों के सेवन से रक्त सहित वातादि दोष सञ्चित होकर, विकृति उत्पन्न करते हुए सन्निपातोदर को उत्पन्न कर देते हैं। इसमें—हाथ पाँव सूखते हैं, मूर्च्छा एवं भ्रम होता है, तीनों दोषों के उक्त लक्षण रहते हैं और यह शीघ्र ही जलोदर का रूप धारण कर लेता है तथा बहुत भीषण होता है और शीत पड़ने पर, पूर्वदिशा की वायु चलने पर तथा आकाश में मेघ छाने पर अधिक बाधा—क्लेश देता है (उक्त समयों में उक्त लक्षण उग्र हो जाते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत नि० अ० ७ में इस का नाम दूष्युदर या दूष्योदर है। दुष्टास्त्रियाँ बहकावे में आकर, सौभाग्य की दुराशा से पति को अथवा जार को वशीकरण के लिए उक्त प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग कर बैठती हैं अथवा शत्रुओं द्वारा दूषीविषों का प्रयोग किया जाता है जिससे वह विचारा घुल-घुल कर मर जाता है ॥२०,२१॥

प्लीहा का वर्णन—

अत्याशितस्य सङ्क्षोभाद्यानयानादिचेष्टितैः ॥२२॥
अतिव्यवायकर्माध्ववमनव्याधिकर्शनैः।
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानाद्विवर्धते ॥२३॥
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत्।
सोऽष्ठीलेवातिकठिनः प्राक्ततः कूर्मपृष्ठवत् ॥२४॥
क्रमेण वर्धमानश्च कुक्षावुदरमावहेत्।
श्वासकासपिपासास्यवैरस्याध्मानकज्ज्वरैः ॥२५॥
पाण्डुत्वच्छर्दिमूर्च्छार्तिदाहमोहैश्च संयुतम्।
अरुणाभं विवर्णं वा नीलहारिद्रराजितम् ॥२६॥
उदावर्तरुगानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥२७॥
प्लीहवद्दक्षिणात्पार्श्वात् कुर्याद्यकृदपि च्युतम्।

व्याख्या—अधिक भोजन करने पर—शरीर को क्षुब्ध करने से, गाड़ी आदि पर चढ़कर यात्रा करने से, अत्यधिक चेष्टा करने—दौड़ने-कूदने आदि से, अधिक मैथुन करने से, भार उठाने से, चलने से और वमन करने से अथवा ज्वर आदि रोगों द्वारा कृश होने से—वामपार्श्व में आश्रित प्लीहा अपने स्थान से च्युत होकर बढ़ने लगती है अथवा च्युत न होने पर भी—रस आदि धातुओं की अपेक्षा रक्त धातु बढ़ कर उसे (प्लीहा को) बढ़ाने लगता है। इस दशा में—प्लीहा पहिले देला की सी कठोर हो जाती है फिर कछुवा की पीठ के समान उन्नत हो जाती है और इस प्रकार कुक्षि में बढ़ते २ उदर रोग को उत्पन्न कर देती है (उदर में अन्न आदि को दबा कर फैल जाती है)। साथ में—श्वास, कास, तृषा, मुख में विरसता, अफरा, शूल, ज्वर, पाण्डु रोग, छर्दि, मूर्च्छा, शरीर भर में वेदना, दाह तथा मोह की भी उत्पत्ति हो जाती है, उदर का वर्ण काला लाल सा अथवा विकृत वर्णवाला तथा नीली एवं हल्दी की सी पीली राजियों से व्याप्त हो जाता है। प्लीहोदर में भी वात, पित्त एवं कफ का सम्बन्ध रहता है और—उदावर्त, वेदना तथा आनाह से वायु का; मोह, तृषा, दाह तथा ज्वर से पित्त का और गुरुता, अरुचि तथा प्लीहा की कठोरता से कफ का आधिक्य समझा जाता है। प्लीहा के समान ही दक्षिण पार्श्व में स्थित यकृत—स्थान से च्युत होकर अथवा बढ़कर उदर रोग को उत्पन्न करता है उसे "यकृदुदर" या "यकृद्दाल्युदर" कहते हैं।

वक्तव्य—एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात् तस्य प्लीहजठरे एव अवरोध इति। च. चि. अ. १३।३८। प्लीह एवं यकृत् की वृद्धि अथवा विकृति होने पर कभी२ उदर रोग की सम्प्राप्ति से उदर रोग की उत्पत्ति हो जाती है। वैसे तो विषम ज्वर में प्लीहा एवं यकृत् बढ़ जाते हैं और शान्त भी हो जाते हैं ॥२२-२७॥

बद्धोदर का वर्णन—

पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे ॥२८॥

दुर्नामभिरुदावर्तैरन्यैर्वान्त्रोपलेपिभिः ।
वर्चः पित्तकफान् रुद्ध्वा करोति कुपितोऽनिलः ॥२९॥
अपानो जठरं तेन स्युर्दाहज्वरतृट्क्षवाः ।
कासश्वासोरुसदनं शिरोहृन्नाभिपायुरुक् ॥३०॥
मलसङ्गोऽरुचिश्छर्दिरुदरं मूढमारुतम् ।
स्थिरं नीलारुणसिराराजिवद्धेमराजि वा ॥३१॥
नाभेरुपरि च प्रायो गोपुच्छाकृति जायते ।

व्याख्या—पक्ष्म अथवा बाल यदि अन्न के साथ उदर में चले जाते हैं तो उनके द्वारा मलमार्ग अवरुद्ध हो जाता है अथवा अर्श के मस्सों से अथवा उदावर्त्त नामक रोग से (देखिये नि० अ० ७) अथवा अन्यान्य अन्त्र में चिपकने वाले आहारों से मलमार्ग रुक जाने पर—कुपित अपान वायु—पुरीष, पित्त एवं कफ को (उनकी क्रिया को) रोक कर बद्ध गुदोदर नामक उदर रोग को कर देता है। उसमें—दाह, ज्वर, छींक, कास, श्वास, ऊरुओं में शिथिलता, शिर में, हृदय में, नाभि (अन्त्र) में तथा गुद में वेदना, पुरीष का अवरोध, अरुचि, छर्दि एवं उदर में वायु की मूढता—विलोमता होती हैं और उदर स्थिर—अचल बना रहता है, उसपर नीली एवं अरुण सिरामय राजियाँ दिखती हैं अथवा नहीं दिखतीं। और उदर नाभि के ऊपरी भाग में गोपुच्छ के आकार वाला हो जाता है (यहाँ पर पुरीष का सञ्चय रहता है)॥३१॥

क्षतोदर का वर्णन—

अस्थ्यादिशल्यैः सान्नैश्चेद्भुक्तैरत्यशनेन वा ॥३२॥
भिद्यते पच्यते वान्त्रं तच्छिद्रैश्च स्रवन्बहिः ।
आम एव गुदादेति ततोऽल्पाल्पं स विड्रसः ॥३३॥
तुल्यः कुणपगन्धेन पिच्छिलः पीतलोहितः ।
शेषश्चापूर्य जठरं जठरं घोरमावहेत् ॥३४॥
वर्धते तदधो नाभेराशु चैति जलात्मताम् ।
उद्रिक्तदोषरूपं च व्याप्तं च श्वासतृड्भ्रमैः ॥३५॥
छिद्रोदरमिदं प्राहुः परिस्रावीति चापरे ।

व्याख्या—आहार के साथ अस्थि आदि (तृण, काच, लकड़ी, पाषाण, लौहकण्टक सीसक आदि) शल्य—निकाल लिये जाने से अथवा अधिक भोजन खाने से यदि अन्त्र फट जाता है अथवा अन्त्र पककर फट जाता है तो अन्त्र के उस छिद्र में से बाहिर चू चू कर आम रस ही थोड़ा थोड़ा पुरीष रस से मिश्रित, मृत की सी गन्ध वाला, पिच्छिल तथा वर्ण में पीला लाल गुदमार्ग से निकलता रहता है और अवशिष्ट वह स्राव उदर में भरकर घोर उदर रोग को उत्पन्न कर देता है। इस दशा में नाभि के निचले भाग में उदर बढ़ता जाता है और फिर जलोदर के रूप में परिणत हो जाता है; तथा वातादि दोषों के लक्षण तीव्र हो जाते हैं और साथ में श्वास, तृषा तथा भ्रम भी हो जाते हैं। इसको छिद्रोदर या छिन्नान्त्रोदर कहते हैं और कोई आचार्य इसे 'परिस्रावी" उदर रोग भी कहते हैं ॥३४॥

जलोदर का वर्णन—

प्रवृत्तस्नेहपानादेः सहसाऽऽमाम्बुपायिनः ॥३६॥
अत्यम्बुपानान्मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा ।
रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः ॥३७॥
वर्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ ।
ततः स्यादुदरं तृष्णागुदस्रुतिरुजायुतम् ॥३८॥
कासश्वासारुचियुतं नानावर्णसिराततम् ।
तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथु ॥३९॥
दकोदरं महत्स्निग्धं स्थिरमावृत्तनाभि तत् ।

व्याख्या—स्नेह पान एवं स्वेदन (वमन विरेचन आदि) आदि करते समय सहसा शीतल-आम या अधिक जल पीने से, मन्दाग्नि रहने पर; क्षीणता में अथवा अनशन आदि से उत्पन्न अत्यधिक कृशता में अधिक जल पीने से वायु तथा कफ उस जल में मिश्रित या उससे कुपित होकर जलवाही स्रोतों को रोक कर उस जल को बढ़ा देते हैं और उस स्थान (क्लोम) से उदर में आकर अवरुद्ध हो जाते हैं फलतः उदर रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इस दशा में तृषा लगती है, गुद से स्राव निकलता है तथा उदर में वेदना होती रहती है कास, श्वास, तथा अरुचि हो जाती है, उदर पर अनेक वर्ण की सिरा दिखने लगती हैं उदर का स्पर्श करने पर जलपूर्ण दृति के समान शब्द तथा संक्षोभ (थलथलाना) तथा कम्पन होता है। उदर बड़ा, स्निग्ध तथा स्थिर (अचल) हो जाता है और नाभि (धुन्नी) में परिवर्त्तन हो जाता है (गम्भीरता नहीं रह जाती)। इस का नाम दकोदर उदकोदर या जलोदर है।

उपेक्षा से जलोदर की उत्पत्ति—

उपेक्षया च सर्वेषु दोषाः स्वस्थानतश्च्युताः ॥४०॥
पाकाद् द्रवा द्रवीकुर्युः सन्धिस्रोतोमुखान्यपि ।
स्वेदश्च बाह्यस्रोतःसु विहतस्तिर्यगास्थितः ॥४१॥
तदेवोदकमाध्माप्य पिच्छां कुर्यात्तदा भवेत् ।
गुरूदरं स्थिरं वृत्तमाहतं च न शब्दवत् ॥४२॥
मृदु व्यपेतराजीकं नाभ्यां स्पृष्टं च सर्पति ।
तदनूदकजन्मास्मिन्कुक्षिवृद्धिस्ततोऽधिकम् ॥४३॥
सिरान्तर्धानमुदकजठरोक्तं च लक्षणम् ।

व्याख्या—सभी उदर रोगों में उपेक्षा करने से—

उचित चिकित्सा न करने से वातादि दोष अपने २ स्थान से (तथा अपने २ कर्म से) च्युत—विमुख होकर पाक होने से (जलरूप में परिवर्त्तित होने से) तथा उस द्रव से सन्धियों एवं स्रोतों के मुखों को भी द्रव (आर्द्रता युक्त) कर देते हैं और स्वेद बाहिरी स्रोतों (स्वेदवाही स्रोतों) में रुक कर वहीं स्थित रहने लगता है और उस जल को बढ़ा कर पिच्छा उत्पन्न कर देता है। उस दशा में—उदर भारी, स्थिर—अचल तथा गोल सा हो जाता है, आहनन करने पर (थपथपाने पर) किसी प्रकार का शब्द नहीं करता, कोमल रहता है, उस पर राजियाँ नहीं दिखतीं, और स्पर्श करने पर नाभि में ही गति प्रतीत होती है। इस के पश्चात् उदर में जल की उत्पत्ति हो जाती है। और इस दशा में पहिले से उदर की वृद्धि अधिक हो जाती है, सिराजाल लुप्त हो जाता है तथा जलोदर के उक्त लक्षण पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—जलोदर की प्रारम्भिक दशा में पिच्छा का सञ्चय होता है और तत्पश्चात् वह पिच्छा जलरूप में परिणत हो जाती है—अधिक तरल होजाती है। इसका वर्ण दोषानुसार होता है विशेषतः मूत्र कासा पीला। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकप्राप्तमुदरं त्वरमाणः चिकित्सेत्, उपेक्षितानां हि एषां दोषाः स्वस्थानात् अपवृत्ताः परिपाकात् द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिः तिर्यक्-अवतिष्ठमानः तदेव उदकमप्यायचति, तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमितमाकोठितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पति । ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः । तस्य रूपाणि—कुक्षेः अतिमात्रवृद्धिः, सिरान्तर्धानगमनम्, उदक पूर्णदृतिसंक्षोभसंस्पर्शत्वं च ।४८। और—तदा आतुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति—छर्दि अतिसार तमक तृष्णा श्वास कास हिक्का दौर्बल्य पार्श्वशूल अरुचि स्वरभेद मूत्रसङ्गादयः। तथाविधम् अचिकित्स्यं विद्यात् इति ।४९। च. चि. अ. १३ ॥४०-४३॥

साध्याऽसाध्य विचार—

वातपित्तकफप्लीहसन्निपातोदकोदरम् ॥४४॥
कृच्छ्रं यथोत्तरम्, पक्षात्परं प्रायोऽपरे हतः।
सर्वं च जातसलिलं रिष्टोक्तोपद्रवान्वितम् ॥४५॥

व्याख्या—वातज, पित्तज, कफज, प्लीहज, सन्निपातज तथा उदकोदर रोग—उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं और बद्धगुदोदर तथा क्षतोदर प्रायः १ पक्ष (१५ दिन) में मार डालते हैं। और सभी उदर रोग जल की उत्पत्ति हो जाने पर रिष्टाध्यायोक्त (शा. अ. ५ श्लोक ८९) उपद्रव उत्पन्न हो जावें तो मार डालते हैं ॥४४-४५॥

प्रारम्भ से ही कष्टसाध्यता—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥४६॥

व्याख्या—सभी उदर रोग प्रायः प्रारम्भ से ही अत्यन्त कष्टसाध्य होते हैं तथापि यदि रोगी बलवान् होता है, उदर में जल की उत्पत्ति भी नहीं हो जाती और वह नवीन होता है तो प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर साध्य होता है।

वक्तव्य—वास्तविकता यह है कि उदर रोग में प्रारम्भ से ही मध्य काय के सभी अवयव दोषाक्रान्त एवं विकृत हो जाते हैं अतः वे सब कष्ट साध्य होते हैं। इस उदर रोग का वर्णन—च. चि. अ. १३ में, सु० नि० अ० ७ तथा अ. सं. नि. १२ में देखिए ॥४६॥

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगशोफविसर्पनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब पाण्डु रोग, शोथ तथा विसर्प रोग के निदान की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

पाण्डुरोगसम्प्राप्ति, सामान्य लक्षण तथा संख्या—

पित्तप्रधानाः कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मलाः।
तत्रानिलेन बलिना क्षिप्तं पित्तं हृदि स्थितम् ॥१॥
धमनीर्दश सम्प्राप्य व्याप्नुवत्सकलां तनुम्।
श्लेष्मत्वग्रक्तमांसानि प्रदूष्यान्तरमाश्रितम् ॥२॥
त्वङ्मांसयोस्तत्कुरुते त्वचि वर्णान् पृथग्विधान्।
पाण्डुहारिद्रहरितान् पाण्डुत्वं तेषु चाधिकम् ॥३॥
यतोऽतः पाण्डुरित्युक्तः स रोगः, तेन गौरवम्।
धातूनां स्याच्च शैथिल्यमोजसश्च गुणक्षयः ॥४॥
ततोऽल्परक्तमेदस्को निःसारः स्याच्छ्लथेन्द्रियः।
मृद्यमानैरिवाङ्गैर्ना द्रवता हृदयेन च ॥५॥
शूनाक्षिकूटः सदनः कोपनः ष्ठीवनोऽल्पवाक्।
अन्नद्विट् शिशिरद्वेषी शीर्णरोमा हतानलः ॥६॥
सन्नसक्थिर्ज्वरी श्वासी कर्णक्ष्वेडी भ्रमी श्रमी।
स पञ्चधा पृथग्दोषैः समस्तैर्मृत्तिकादनात् ॥७॥

व्याख्या—पित्त प्रधान (पित्त है प्रधान—प्रबल जिनमें) वातादि दोष—अपने २ कारणों से (जिनका वर्णन नि० अ० १ में किया गया है) कुपित हो जाते हैं

उन में बलवान् वायु द्वारा प्रेरित पित्त हृदय में जा पहुँचता है और वहाँ से दस धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में प्राप्त होकर व्याप्त होता हुआ, कफ, त्वचा, रक्त तथा मांस को दूषित करके और त्वचा एवं मांस के मध्य-अन्तराल में आश्रित होकर त्वचा पर भिन्न २ प्रकार के पाण्डु पीताभ श्वेत), हारिद्र (हल्दी के से पीत) तथा हरित (हरे) वर्णों को व्यक्त कर देता है परन्तु उनमें जिस से पाण्डु वर्ण अधिक होता है इसलिये वह "पाण्डुरोग" कहलाता है। इस रोग से—शरीर में भारीपन की प्रतीति होती है और रस आदि धातु शिथिल हो जाते हैं और ओजस् के बल वर्ण एवं स्नेह आदि गुणों का क्षय (न्यूनता) हो जाता है फलतः रोगी के रक्त एव मेदस् धातु घट जाते हैं, सार—बल निकल जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, अंगों में मर्दन की सी वेदना होती है, हृदय धड़कने लगता है, नेत्रों पर शोथ हो जाता है, आलस्य बढ़ जाता है, क्रोध बढ़ जाता है, थूक अधिक आता है, वचन शक्ति घट जाती है, आहार एवं शीत से द्वेष हो जाता है, रोम झड़ जाते हैं, जठराग्नि मन्द हो जाती है, टांगों में अवसाद होता है, मन्द२ ज्वर रहता है, श्वास (दम फूलता है) तथा कानों में ध्वनि, भ्रम तथा श्रम (थकावट) से पीडित रहता है।

संख्या सम्प्राप्ति—यह पाण्डुरोग ५ प्रकार का होता है—१-वायु से, २-पित्त से, ३-कफ से. ४-सन्निपात से तथा ५-मिट्टी खाने से।

वक्तव्य—देखिए च. चि. अ. १६ तथा सु. उ. तं. अ. ४४। पाण्डुरोग में वर्ण—पाण्डु-पीताभ श्वेत, कामला में हल्दी कासा पीला और हलीमक में हरा होता है।१-७।

पूर्वरूप एवं विशिष्ट लक्षण—

प्राग्रूपमस्य हृदयस्पन्दनं रूक्षता त्वचि।
अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता ॥८॥
सादः श्रमोऽनिलात्तत्र गात्ररुक्तोदकम्पनम्।
कृष्णरूक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता ॥९॥
शोफाऽऽनाहाऽऽस्यवैरस्यविट्शोषाः पार्श्वमूर्धरुक्।
पित्ताद्धरितपीताभसिरादित्वं ज्वरस्तमः ॥१०॥
तृट्स्वेदमूर्च्छाशीतेच्छा दौर्गन्ध्यं कटुवक्त्रता।
वर्चोभेदोऽम्लको दाहः कफाच्छुक्लसिरादिता ॥११॥
तन्द्रा लवणवक्त्रत्वं रोमहर्षः स्वरक्षयः।
कासश्छर्दिश्च निचयान्मिश्रलिङ्गोऽतिदुःसहः ॥१२॥

व्याख्या—इस पाण्डुरोग का पूर्वरूप—हृदय में धड़कन, त्वचा में रूक्षता, भोजन में अरुचि, मूत्र में पीलापन, स्वेद का अभाव, मन्दाग्नि, शरीर में शिथिलता तथा थकावट। उन में वातज पाण्डुरोग के विशिष्ट लक्षण—शरीर में वेदना, व्यथा तथा कम्पन, सिराओं में, नखों में, पुरीष में, मूत्र में तथा नेत्रों में कालापन, रूखापन तथा कालापन लिये लालिमा, शोथ, आनाह, मुख में विरसता, पुरीष में सूखापन, पार्श्वों तथा शिर में वेदना, पित्तज पाण्डु रोग के लक्षण—उक्त सिरा आदि में हरापन तथा पीलापन, ज्वर, नेत्रों के सामने अन्धकार, तृषा, स्वेद, मूर्च्छा, शीत आहार विहार की अभिलाषा, शरीर एवं पुरीष में दुर्गन्ध, मुख में कटुता, पुरीष भेद, अम्ल उद्गार, तथा दाह। कफज पाण्डुरोग के लक्षण—उक्त सिरा आदि में श्वेतता, तन्द्रा, मुख में लवणता, रोमहर्ष, स्वरभेद, कास तथा छर्दि। त्रिदोषज पाण्डुरोग का लक्षण—इसमें सब दोषों के उक्त लक्षण होते हैं और यह अत्यन्त कष्टप्रद एवं कष्टसाध्य होता है ॥८-१२॥

मृत्तिका जनित पाण्डुरोग का वर्णन—

मृत् कषायाऽनिलं पित्तमूषरा मधुरा कफम्।
दूषयित्वा रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्ष्य च ॥१३॥
स्रोतांस्यपक्वैवापूर्य कुर्याद्रुद्ध्वा च पूर्ववत्।
पाण्डुरोगं, ततः शूननाभिपादास्यमेहनः ॥१४॥
पुरीषं कृमिमन्मुञ्चेद्भिन्नं सासृक्कफं नरः।

व्याख्या—मिट्टी खानेवाले का कोई दोष कुपित हो जाता है यथा—कषायरस वाली मिट्टी वायु को, खारी मिट्टी पित्त को और मीठी मिट्टी कफ को दूषित करके और रस आदि धातुओं एवं अन्न को रूक्ष करके, स्वयं अपचनशील होने से न पच कर रसवाही स्रोतों में भर और फिर उन्हें रोक कर पूर्ववत् अर्थात् पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति (श्लो० ३) के प्रकार से पाण्डुरोग कर देता है। उससे नाभि, पाँव मुख तथा शिश्न पर शोथ हो जाता है, पुरीष क्रिमिमिश्रित पतला, रक्त एवं कफ से मिश्रित आता है ।।१३,१४॥

कामला एवं कुम्भकामला वर्णन—

यः पाण्डुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम् ॥१५॥
कोष्ठशाखाश्रयं पित्तं दग्ध्वाऽसृङ्मांसमावहेत्।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वङ्नखवक्त्रशकृत्तया ॥१६॥
दाहाविपाकतृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेन्द्रियः।
भवेत्पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च ॥१७॥
उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला।

व्याख्या—जो पाण्डुरोगी—पित्तवर्द्धक पदार्थ खाता है उसका पित्त कुपित होकर—रक्त एवं मांस को दूषित करके "कामला" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है। वह दो प्रकार का होता है—१. कोष्ठाश्रया—जो कोष्ठमहास्रोतस् एवं यकृत् आदिमें आश्रित होता है और २. शाखाश्रया—

जो रक्तादि धातुओं एवं त्वचा में आश्रित होता है। इससे नेत्र, मूत्र, त्वचा, नख, मुख तथा पुरीष हल्दी के से पीले हो जाते हैं तथा दाह, अपच, तृषा, वर्ण मेंढक कासा तथा इन्द्रियाँ दुबली हो जाती हैं। और यह कामला पित्त बढ़ जाने पर—पाण्डुरोग के बिना भी हो जाता है अर्थात् स्वतन्त्र भी होता है। उपेक्षा करने से—समय पर उचित चिकित्सा न करने से—कामला जब शोथयुक्त हो जाता है तब वह कुम्भकामला कहलाता है और वह कामला की अपेक्षा कष्टप्रद एवं कष्टसाध्य होता है ॥१५ १७॥

हलीमक का वर्णन—

हरितश्यावपीतत्वं पाण्डुरोगे यदा भवेत् ॥१८॥
वातपित्ताद् भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुर्ज्वरः।
तन्द्रा बलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम् ॥१९॥
अलसं चेति शंसन्ति तेषां पूर्वमुपद्रवाः।
शोफप्रधानाः कथिताः स एवातो निगद्यते ॥२०॥

व्याख्या—पाण्डुरोग में जब वर्ण वायु एवं पित्त के प्रकोप से हरा, श्याव (काला) एवं पीला हो जाता है तब भ्रम, तृषा, मैथुन की असमर्थता—शिश्न में हर्ष न होना, मन्दर ज्वर, तन्द्रा, बलनाश तथा अग्निनाश,मन्दाग्नि हो जाती है इस रोग का नाम लोढर, हलीमक एवं अलस है। और उक्त पाण्डुरोग आदि में शोथप्रधान अनेक उपद्रव होते हैं अतः आगे शोथरोग का वर्णन किया जाता है।

वक्तव्य - सु. उ. तं. अ. ४४ में—पाण्डु रोग के ही अवस्थाभेद से या लक्षणभेद से कामला आदि नाम लिखे हैं यथा—

स कामला पानकि पाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघरकोऽलसाख्यः।
विभाष्यते लक्षणमस्य कृत्स्नं निबोध वक्ष्याम्यनुपूर्वशस्तत्।
ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्राक्षयान्वितो लाघरकोऽलसाख्यः।
तं वातपित्तात् हरितपीतनील हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः। २।

श्री वाग्भट ने स्यात् लाघरक या लाघवक को ही "लोढर" नाम दिया है। हमारे विचार से हलीमक ही "कालाजार" है ॥१८-२०॥

इति पाण्डुरोगनिदानम्।

अथ शोथरोगनिदानम्

पित्तरक्तकफान्वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥२१॥
उत्सेधं संहतं शोफं तमाहुर्निचयादतः।
सर्वं, हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥२२॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि।
द्विधा वा निजमागन्तुं सर्वाङ्गैकाङ्गजं च तम् ॥२३॥
पृथून्नतग्रथितताविशेषैश्च त्रिधा विदुः।

व्याख्या—अपने कारणों से दुष्ट–कुपित वायु–अपने कारणों से दुष्ट–विकृत पित्त, रक्त एवं कफ को बाहिर वाली सिराओं में लेजाकर और उन्हीं पित्त आदि के द्वारा अवरुद्ध होकर त्वचा एवं मांस में उत्सेध (ऊँचाई) उत्पन्न करता है वह उत्सेध संहत–निश्चल–ठोस होता है और शोफ या शोथ कहलाता है। सब शोथ उक्त त्रिदोष (रक्तमिश्रित-त्रिदोष) से उत्पन्न होता है। शोथ–हेतुओं के विशेष (भेद) से उत्पन्न रूप भेद से ९ प्रकार का होता है यथा-१–वायु से, २–पित्त से, ३–कफ से, ४–वातपित्त से, ५–वातकफ से, ६–पित्तकफ से, ७–त्रिदोष से, ८–अभिघात (चोट) से ९–विष से। विधिभेद से वह सब शोथ दो प्रकार का होता है—१–निज अर्थात् वातादि शरीर दोषों से तथा २–आगन्तु अर्थात् अभिघात एवं विष लगने से। और विधि भेद से वह दो प्रकार का होता है—१– सर्वाङ्गज–समस्त शरीर पर होने वाला तथा २–एकाङ्गज–शरीर के किसी एक अङ्ग पर होने वाला। विधिभेद से वह तीन प्रकार का होता है—१–पृथु–चौडा या बिछा हुआ २–उन्नत-ऊँचा तथा ३-ग्रथित।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसुने-त्रिविधो निजश्च सर्वाऽर्ध-गात्राऽवयवाश्रितत्वात्। इस प्रकार निजशोथ के तीन भेद माने हैं। इस प्रकरण में उस शोथ का वर्णन है जो शोथरोग या सूजन कहलाता है, व्रणशोथ नहीं ॥२१-२३॥

सामान्य निदान, विशेष निदान एवं सम्प्राप्ति—

सामान्यहेतुः शोफानां दोषजानां विशेषतः ॥२४॥
व्याधिकर्मोपवासादि क्षीणस्य भजतो द्रुतम्।
अतिमात्रमथान्यस्य गुर्वम्लस्निग्धशीतलम् ॥२५॥
लवणक्षारतीक्ष्णोष्णं शाकाम्बु स्वप्नजागरम्।
मृद्ग्राम्यमांसवल्लूरमजीर्णश्रममैथुनम् ॥२६॥
पदातेर्मार्गगमनं यानेन क्षोभिणाऽपि वा।
श्वासकासातिसारार्शो जठरप्रदरज्वराः ॥२७॥
विसूच्यलसकच्छर्दिगर्भवीसर्पपाण्डुताः।
अन्ये च मिथ्योपक्रान्तास्तैर्दोषा वक्षसि स्थिताः ॥२८॥
ऊर्ध्वं शोफमधोवस्तौ मध्ये कुर्वन्ति मध्यगाः।
सर्वाङ्गगाः सर्वगतं प्रत्यङ्गेषु तदाश्रयाः ॥२९॥

व्याख्या—दोषज अर्थात् निज शोथों के सामान्य कारण तो दोष प्रकोपण कारण होते ही हैं जो निदानस्थान के प्रथम अध्याय में कहे हैं परन्तु विशेषतः—ज्वरादि रोगों से, वमन विरेचनादि कर्मों से अथवा उपवास आदि से कृश एवं दुर्बल अथवा स्वस्थ के भी गुरु, अम्ल, स्निग्ध, शीतल,

लवण, क्षार, तीक्ष्ण, उष्ण, शाक, जल, स्वप्न, जागरण, मिट्टी, ग्राम्य प्राणियों का मांस, तथा सूखा मांस खाने, अजीर्ण रहने पर भी परिश्रम एवं मैथुन, पाँव से मार्ग चलना अथवा संक्षोभी (हिचकोला मारने वाला) यान (गाडी तांगा आदि सवारी) से यात्रा का अत्यधिक सेवन करने से और श्वास, कास, अतिसार, अर्श, उदररोग, प्रदर, ज्वर, विसूचि, अलसक, छर्दि, गर्भाधान (तथा विषम प्रसव-गर्भपात आदि), विसर्प एवं पाण्डुरोग तथा अन्यान्य रोगों का विधिरहित उपचार करने से शोथ रोग हो जाता है। इन कारणों से—वक्षःस्थल में स्थित दोषों द्वारा शरीर के ऊर्ध्व भाग में (मुख आदि पर) वस्ति (एवं मलाशय) में स्थित दोषों द्वारा शरीर के पाव आदि अधो भाग में, मध्य काय में स्थित दोषों द्वारा मध्य काय में, सर्वशरीरगत दोषों द्वारा समस्त शरीर में तथा किसी एक अङ्ग में स्थित दोषों द्वारा उस अङ्ग में शोथ की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—उक्त कारणों से उक्त स्थानों में दोष कुपित होने से उक्त अवयवों पर शोथ हो जाता है ॥२४-२९॥

शोथ का पूर्वरूप—

तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ।

व्याख्या—शोथ का पूर्व रूप है—नेत्र आदिमें अथवा शोथोत्पत्ति स्थान में सन्ताप, शरीर भर की अथवा उस स्थान की सिराओं का तन जाना और शरीर भर में अथवा उस स्थान में भारीपन का अनुभव ।

वातादि जनित शोथों के लक्षण—

वाताच्छोफश्चलो रूक्षः खररोमारुणासितः ॥३०॥
सङ्कोचस्पन्दहर्षार्तितोदभेदप्रसुप्तिमान् ।
क्षिप्रोत्थानशमः शीघ्रमुन्नमेत्पीडितस्तनुः ॥३१॥
स्निग्धोष्णमर्दनैः शाम्येद्रात्रावल्पो दिवा महान् ।
त्वक् च सर्षपलिप्तेव तस्मिंश्चिमिचिमायते ॥३२॥
पीतरक्तासिताभासः पित्तादाताम्ररोमकृत् ।
शीघ्रानुसारप्रशमो मध्ये प्रागजायते तनुः ॥३३॥
सतृड्दाहज्वरस्वेदद्रवक्लेदमदभ्रमः ।
शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो मृदुः ॥३४॥
कण्डूमान् पाण्डुरोमत्वक् कठिनः शीतलो गुरुः ।
स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानो निद्राच्छर्द्यग्निसादकृत् ॥
आक्रान्तो नोन्नमेत्कृच्छ्रशमजन्मा निशाबलः ।
स्रवेन्नासृक्चिरात्पिच्छां कुशशस्त्रादिविक्षतः ॥३६॥
स्पर्शोष्णकाङ्क्षी च कफात् यथास्वं द्वन्द्वजास्त्रयः ।
सङ्करात् हेतुलिङ्गानां, निचयान्निचयात्मकः ॥३७॥

व्याख्या—वायु से शोथ—चल, रूक्ष, खरदरे रोमों वाला, लाल तथा काला होता है वहाँ संकोच, स्पन्दन, रोमाञ्च, वेदना, व्यथा, फटने की सी वेदना तथा स्वाप होता है, वह शोथ शीघ्र उठता है और शीघ्र शान्त हो जाया करता है, दबाने पर शीघ्र उठ आता है, पतला होता है, स्निग्ध एवं सोंठ कायफल आदि उष्ण पदार्थों के मर्दन से शान्त हो जाती है, रात्रि में घट जाता है और दिन में बढ़ जाता है त्वचा पर राई के लेप करने के समान चिमचिमाहट होती है। पित्त से शोथ—पीला, लाल, तथा काला सा होता है वहाँ के रोम कुछ२ ताम्रा के से लाल हो जाते हैं वह शीघ्र फैलता है और शीघ्र शान्त होता है प्रथम मध्यकाय में उत्पन्न होता है,पतला होता है, साथ २ तृषा, दाह, ज्वर स्वेद, सन्ताप, क्लेद (आर्द्रता) मद तथा भ्रम होता है, शीत की अभिलाषा, पुरीष भेद तथा अप्रिय गन्धवाला होता है, छूने से कष्ट होता है। तथा कोमल होता है।

कफ से शोथ—कण्डू से युक्त रहता है, वहाँ के रोम तथा त्वचा श्वेत हो जाते हैं,वह कठोर, शीतल तथा भारी सा, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, स्थिर तथा स्त्यान (चिपचिपा) होता है, साथ में निद्राधिक्य, छर्दि तथा मन्दाग्नि होते हैं, दबाने पर उठता नहीं है—गढा सा रह जाता है, कष्ट के साथ उत्पन्न तथा शान्त होता है, रात्रि में बढ़ जाता है, कुश कण्टक से अथवा शस्त्र आदि से क्षत होने पर उसमें से रक्त नहीं निकलता अपितु विलम्ब से लसीका निकलती है और छूने की तथा उष्ण प्रलेप आदि की इच्छा होती है या उससे सुख का अनुभव होता है। दो दो दोषों के कारणों से तथा लक्षणों के संसर्ग से तीन प्रकार के द्विदोषज शोथ होते हैं। तीनों दोषों के कारणों से तथा लक्षणों के सन्निपात से एक प्रकार का त्रिदोषज शोथ होता है।

वक्तव्य—इस प्रकार सात प्रकार का "निज" शोथ होता है ॥३०-३७॥

अभिघातज शोथ का वर्णन—

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥३८॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥३९॥

व्याख्या—दण्ड एवं मुष्टि आदि की चोट से, शस्त्र आदि द्वारा छेदन, भेदन एवं क्षत आदि व्रण हो जाने से, वर्फीली वायु लगने से;समुद्रीवायु लग ने से,भिलावा का रस लगने से, किवाँच के शूक लगने से शोथ हो जाता है यह शोथ—विसर्पणशील—फैलनेवाला, अत्यन्त ऊष्मावाला

(जिससे भाप सी निकलती प्रतीत होती है) लाल वर्ण का तथ. पित्त शोथ के लक्षणों वाला होता है ।३८,३९॥

विषज शोथ का वर्णन—

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखापातादविषप्राणिनामपि ॥४०॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसङ्करात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥४१॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः ।

व्याख्या—विषैले प्राणियों के परिसर्पण से—शरीर पर से होकर जाने से तथा मूत्रणसे—शरीर पर मूत देने से, और निर्विषप्राणियों के भी दंष्ट्रा, दन्त एवं नख आदि के आघात से, विषैले प्राणियों के पुरीष, मूत्र तथा शुक्र से मलिन तृण एवं काष्ठ आदि के स्पर्शन से एवं मलिन वस्त्र को धारण करने से भिलावा आदि विषैले वृक्ष का वायु लगने से, गरविष के मिश्रण का शरीर पर अवचूर्णन (बुरकना) होने से शोथ हो जाता है। वह शोथ—कोमल, चलनशील, अवलम्बित सा प्रतीत होने वाला, शीघ्र उत्पन्न होने वाला तथा बढ़ने वाला तथा दाह एवं वेदना करने वाला होता है ।

वक्तव्य—इस प्रकार दो प्रकार का "आगन्तु" शोथ होता है ॥४०,४१॥

साध्याऽसाध्य का निर्देश—

नवोऽनुपद्रवः शोफः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥४२॥

व्याख्या—नूतन तथा उपद्रवों से रहित शोथ—साध्य होता है और विकृति विज्ञानीय अध्याय (शा. अ, ५) में श्लो० ६१ द्वारा कहा गया असाध्य होता है ।

वक्तव्य—देखिए च. चि. अ. १२ तथा चरक सू० अ० १८ और सु० चि० अ० २३ तथा अ० सं० नि० अ० १३ ।

इति शोफनिदानम् ।

अथ विसर्पनिदानम्

विसर्प का वर्णन—

स्याद्विसर्पोऽभिघातान्तैर्दोषैर्दूष्यैश्च शोफवत् ।
त्र्यधिष्ठानं च तं प्राहुर्बाह्यान्तरुभयाश्रयात् ॥४३॥
यथोत्तरं च दुःसाध्याः तत्र दोषा यथायथम् ।
प्रकोपनैः प्रकुपिता विशेषेण विदाहिभिः ॥४४॥
देहे शीघ्रं विसर्पन्ति तेऽन्तरन्तःस्थिता बहिः ।
बहिःस्था द्वितये द्विस्था विद्यात्तत्रान्तराश्रयम् ॥४५॥
मर्मोपतापात्सम्मोहादयनानां विघट्टनात् ।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥४६॥
आशु चाग्निबलभ्रंशाद् अतो बाह्यं विपर्ययात् ।

व्याख्या—वात,पित्त, कफ एवं अभिघात नामक दोषों (कारणों) से तथा पित्त रक्त एवं कफ नामक दूष्यों से शोथ के समान विसर्प नामक रोग होता है। विसर्प के तीन अधिष्ठान हैं—१. बाह्य अर्थात् शरीरका बाहिरी भाग त्वचा, २. अन्तः अर्थात् शरीर के भीतरी अवयव तथा ३. उभय भाग अर्थात् शरीर के बाहिरी तथा भीतरी भाग और ये तीनों विसर्प उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं। उनमें अपने अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित विशेषतः विदाहकारी कारणों से प्रकुपित वातादि दोष शरीर में शीघ्र ही विसर्पण करते हैं—फैलते हैं विकृति उत्पन्न करते हैं। और वे दोष—शरीर के भीतरी अवयवों में स्थित होकर अन्तः अर्थात् भीतरी अवयवों में, बाहिरी अवयव में स्थित बाहिर अर्थात् त्वचा पर और दोनों में स्थित दोनों पर विसर्प की उत्पत्ति करते हैं। भीतरी विसर्प को—हृदय आदि में उपताप होने से, अत्यन्त मोह—वैचित्य होने से, कर्ण नासा आदि मार्गों के विघट्टन—संचलन या स्फुरण से, तृषा की अधिकता से, मलमूत्रादि के वेगों की विषम प्रवृत्ति से तथा शीघ्र ही अग्नि एवं बल का क्षय हो जाने से जान लेना चाहिए, अनुमान से समझ लेना चाहिये कि भीतरी अवयवों में विसर्प हो गया है और इससे विपरीत लक्षणों से बाहिरी विसर्प को जान लेना चाहिये वह तो प्रत्यक्ष होता ही है ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में–च० सू० अ० १८
यस्य पित्तं प्रकुपितं सरक्तं त्वचि सर्पति ।
शोफं सरागं जनयेत् विसर्पः तस्य जायते ।३०। तथा देखिए च० चि० अ० २१ और देखिए सु० नि० अ० १० ।

वातादि जनित विसर्पों के लक्षण—

तत्र वातात्परीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥४७॥
शोफस्फुरणनिस्तोदभेदाऽऽयामार्तिहर्षवान् ।
पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥४८॥
कफात्कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।
स्वदोषलिङ्गैश्चीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः ॥४९॥
तेपक्वभिन्नाः स्वं स्वं च बिभ्रति व्रणलक्षणम् ।

व्याख्या - उनमें वायुसे जो विसर्प होता है उसमें वातज्वर की सी व्यथा होती है तथा वह शोथ से, स्फुरण से, सुई के चुभने की सी वेदना से, फटने की सी वेदना से, आयाम (तनाव) पीड़ा तथा रोमाञ्च से युक्त रहता है। जो पित्त से होता है वह शीघ्र फैलता है पित्त ज्वर के समान लक्षणों वाला तथा अत्यन्त लाल होता है। जो कफ से होता है वह कण्डू से युक्त, स्निग्ध तथा कफज्वर के समान लक्षणों वाला होता है। उक्त सभी विसर्प—समय

पर उचित उपचार न करने पर अपने २ दोषों के लक्षणों से युक्त स्फोटों-फफोलोंसे व्याप्त हो जाते हैं और वे स्फोट पकने पर तथा फूटने पर अपने अपने दोषों से युक्त लक्षणों व लेवणों का रूप धारण कर लेते हैं। देखिये उ, तं. अ २५।

अग्निविसर्प का लक्षण—

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छाऽतीसारतृड्भ्रमैः ॥५०॥
अस्थिभेदाऽग्निसदनतमकाऽरोचकैर्युतः।
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ॥५१॥
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत्स सः।
शान्ताङ्गाराऽसितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते॥५२
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतं च सः।
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ॥५३॥
व्यथेताङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत्।
हिध्मां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न वा ॥५४॥
क्वचिच्छर्माऽरतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु।
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहश्रमोद्भवाम् ॥५५॥
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते।

व्याख्या—अग्निविसर्प वातपित्त से उत्पन्न होता है और वह विसर्प—ज्वर, छर्दि, मूर्च्छा, अतिसार, तृषा, भ्रम, अस्थियों में टूटने-फूटने की सी वेदना, मन्दाग्नि, तमक श्वास, तथा अरोचक से युक्त होता है और रोगी को प्रतीत होता है जैसे समस्त शरीर पर अंगार डाले गये हों, जिस जिस अवयव पर विसर्प फैलता है वह वह अवयव कोला के सदृश काला, नीला अथवा अत्यन्त लाल हो जाता है तदनन्तर शीघ्र ही वह अवयव—अग्नि से दग्ध के समान फफोलों से व्याप्त हो जाता है (वहाँ फफोले निकल आते हैं) और शीघ्रगामी होने से वह त्वरित ही समीपस्थ मर्म की ओर फैलता है अतएव तदनन्तर वायु अत्यन्त बढ़ कर शरीर भर में वेदना उत्पन्न करता है, संज्ञा को हर लेता है। निद्रा, श्वास, एवं हिक्का को बढ़ा देता है फलतः वह रोगी इस दशा को प्राप्त होकर किसी दशा में शान्तिलाभ नहीं करता, अरति से ग्रस्त हो जाता है और पृथिवी, शय्या तथा आसन आदि पर छटपटाता रहता है—कभी भूमि पर कभी शय्या पर तो कभी आसन पर लेटता बैठता रहता है तत्पश्चात् इस प्रकार दुखी होकर मानसिक एवं शारीरिक श्रम से उत्पन्न निद्रा को प्राप्त हो जाता है जिससे फिर कभी भी नहीं जागता। यह "अग्निविसर्प" कहलाता है ॥५०-५५॥

ग्रन्थिविसर्प का वर्णन—

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ॥५६॥
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम्।
दूषयित्वा च दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम् ॥५७॥
ग्रन्थीनां कुरुते मालां रक्तानां तीव्ररुग्ज्वराम्।
श्वासकासातिसारास्यशोषहिध्मावमिभ्रमैः ॥५८॥
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम्।
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः ॥५९॥

व्याख्या - कफ से अवरुद्ध वायु—उस कफ का अनेक प्रकार से भेदन करके अथवा बढ़े हुए रक्त वाले के रक्त को जो त्वचा, सिरा, स्नायु एवं मांस में व्याप्त रहता है उसे दूषित करके लम्बी, छोटी, गोल, मोटी एवं खरदरी ग्रन्थियों की माला को उत्पन्न कर देता है, ये ग्रंथियाँ लाल होती हैं और साथ में तीव्र वेदना एवं ज्वर रहता है और श्वास, कास, अतिसार, मुख शोष, हिक्का, छर्दि, भ्रम, मोह, विवर्णता, मूर्च्छा, शरीर में टूटने कीसी वेदना तथा मन्दाग्नि से युक्त यह ग्रंथिविसर्प कहलाता है और यह कफ एवं वायु के प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥५६-५९॥

कर्दमविसर्प का वर्णन—

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रातन्द्राशिरोरुजः।
अङ्गावसादविक्षेपप्रलापारोचकभ्रमाः ॥६०॥
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम्।
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ॥६१॥
प्रायेणामाशये गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक्।
पिटकैरवकीर्णोऽति पीतलोहितपाण्डुरैः ॥६२॥
मेचकाभोऽसितः स्निग्धो मलिनः शोफवान् गुरुः।
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ॥६३॥
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः।
शवगन्धिश्च वीसर्पं कर्दमाख्यमुशन्ति तम् ॥६४॥

व्याख्या—कफ एवं पित्त के प्रकोप से कर्दमविसर्प होता है, उससे—ज्वर, शरीर भरमें स्तब्धता (जकड़न), निद्रा की अधिकता, तन्द्रा, शिर में वेदना, अंगों में शिथिलता, विक्षेप, प्रलाप, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा, मन्दाग्नि अस्थियों में टूटने की सी वेदना, तृषा, इन्द्रियों में गुरुता (जडता) आम पुरीष का उत्सर्ग तथा स्रोतों में चिपचिपाहट ये लक्षण होते हैं और यह विसर्प प्रायः आमाशय में उत्पन्न होता है, एक देश में आक्रान्त रहता है (अलसकः चरक), इसमें अधिक वेदना नहीं होती फिर अत्यन्त पीली, लाल तथा श्वेताभ पिटिकाओं से व्याप्त हो जाता है और वह स्थान—मेचक—मोर की ग्रीवा केसे वर्णवाला, काला, स्निग्ध, मलिन, शोथयुक्त, गुरु, भीतर से पका हुआ तथा अत्यन्त उष्मावाला रहता है, छूने मात्र से फट जाता है, सड़ जाता है, मांस सड़कर कीचड़ कासा हो जाता है, उसमें सिरा एवं स्नायु दिखने लगते हैं और

मृत कीसी गन्ध आती है उसे "कर्दमविसर्प" कहते हैं।

वक्तव्य—उक्त तीनों विसर्पों का पाठ चरक के गद्यों का पद्यानुवाद है। देखिए च० चि० अ० २१ ॥६०-६४॥

त्रिदोषज विसर्प का वर्णन—

सर्वजो लक्षणैः सर्वैः सर्वधात्वतिसर्पणः।

व्याख्या—सर्वज त्रिदोषज विसर्प—उक्त सब लक्षणों वाला तथा सब धातुओं में फैलने वाला होता है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥४१। च० चि० अ० २१।

अभिघातजविसर्प का वर्णन—

बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥६५॥
विसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्।
स्फोटैः शोफज्वररुजादाहाढ्यं श्यावलोहितम् ॥६६॥

व्याख्या—तलवार भाला आदि बाहिरी कारणों द्वारा क्षत हो जाने से कुपित वायु—रक्तयुक्त पित्त को दूषित करके विसर्प को करता है वह कुलथी के दानों केसे फफोलों से व्याप्त होता है और शोथ, ज्वर, वेदना तथा दाह से युक्त होता है और उसका वर्ण काला एवं लाल होता है।

वक्तव्य—यह पाठ सु० नि० अ० १० के पाठ का परिवर्तित पाठ है—यथा—

सद्यः क्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं-
रक्तं च दोषबहुलस्य करोति शोफम्।
श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाक
स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥७॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

पृथग्दोषैस्त्रयः साध्या द्वन्द्वजाश्चानुपद्रवाः।
असाध्यौ क्षतसर्वोत्थौ सर्वे चाक्रान्तमर्मकाः ॥६७॥
शीर्णस्नायुसिरामांसाः प्रक्लिन्नाः शवगन्धयः।

व्याख्या—पृथक् पृथक् दोषों से उत्पन्न तीन विसर्प साध्य होते हैं। उक्त दो दो दोषों से उत्पन्न तीन विसर्प (अग्नि विसर्प, ग्रन्थि विसर्प तथा कर्दम विसर्प)—उपद्रव रहित साध्य होते हैं (उपद्रवयुक्त असाध्य होते हैं) और क्षतज विसर्प तथा त्रिदोषज विसर्प असाध्य होते हैं तथा मर्म स्थलों पर उत्पन्न या उन पर आक्रान्त होने वाले और जिनमें स्नायु, सिरा तथा मांस गल-सड़ गये हों, सड़ी सी तथा मृत कीसी गन्ध आती हो वे भी असाध्य होते हैं।

वक्तव्य—च० चि० अ० २१ के अनुसार विसर्प के दोष एवं दूष्य—

रक्तं लसीका त्वक् मांसं दूष्यं, दोषाः त्रयो मलाः।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥१५॥ ६७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथाऽतः कुष्ठश्वित्रक्रिमिनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब कुष्ठ, श्वित्र तथा क्रिमियों के निदान की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

कुष्ठ का निदान एवं सम्प्राप्ति—

मिथ्याऽऽहारविहारेण विशेषेण विरोधिना।
साधुनिन्दावधाऽन्यस्वहरणाद्यैश्च सेवितैः ॥१॥
पाप्मभिः कर्मभिः सद्यः प्राक्तनैश्चेरिता मलाः।
सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषम् ॥२॥
दूषयन्ति श्लथीकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहिः।
त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत् ॥३॥

व्याख्या—इस जन्म में मिथ्या आहार-विहार करने से, विशेषतः विरोधी आहारों एवं विहारों का सेवन करने से, साधुजनों की निन्दा करने से, उनका वध करने से, दूसरों के धन—सम्पत्ति का हरण एवं विनाश आदि पाप कर्म करने से अथवा पूर्वजन्म कृत पापों का उदय हो जाने पर वातादि दोष कुपित होकर तिर्यग्गामिनी सिराओं में पहुँच कर त्वचा, लसीका, रक्त तथा मांस को दूषित—विकृत करते हैं और उनको शिथिल (क्रियाहीन) करके बाहिर निकल कर त्वचा पर विवर्णता उत्पन्न कर देते हैं। उस विकार को "कुष्ठ" कहते हैं ॥१-३॥

कुष्ठ एवं श्वित्र का विवेक—

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः।
प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् सङ्क्लेद्य चावहेत् ॥४॥
सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन्सूक्ष्मान्सुदारुणान्।
लोमत्वक्स्नायुधमनी तरुणास्थीनि यः क्रमात् ॥५॥
भक्षयेत् श्वित्रमस्माच्च कुष्ठं बाह्यमुदाहृतम्।

व्याख्या—वह कुष्ठ रोग—उचित चिकित्सा न करने पर समय पाकर क्योंकि समस्त शरीर को सड़ा देता है अतः "कुष्ठ" कहलाता है। और वह शरीर की सब धातुओं के भीतर प्रविष्ट होकर और उनको सड़ा कर वहां क्रिमियों को उत्पन्न कर देता है। उनसे स्वेद अधिक आता है, धातुओं में क्लेद (आर्द्रता—पञ्छा) तथा कोथ उत्पन्न हो जाता है, वे क्रिमि अत्यन्त सूक्ष्म तथा भीषण होते हैं और क्रमशः—रोमों को, त्वचा को, स्नायु मण्डल को, धमनियों को तथा तरुणास्थियों को खा जाते हैं। और

क्यों कि श्वित्र में ऐसा नहीं होता उससे केवल त्वचा पर श्वेतता आती है अतः वह कुष्ठ से पृथक् माना जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—

मिथ्याऽऽहाराऽऽचारस्य विशेषतः गुरु विरुद्ध असात्म्य अजीर्ण अहिताशिनः स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायाम ग्राम्यधर्म सेविनो ग्राम्याऽऽनूपौदकमांसानि वा पयसाऽभीक्ष्णमश्नतो यो वा मज्जति अप्सु उष्णाभितप्तः सहसा वा छर्दि प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परीगृह्य अनिलः प्रवृद्धः तिर्यग्गाः सिराः संप्रपद्य समुद्धूय बाह्यं मार्गं प्रति समन्तात् विक्षिपति. यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निश्चरति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नः त्वचि दोषः तत्र तत्र परिवृद्धिं प्राप्य अप्रतिक्रियमाणः अभ्यन्तरं प्रतिपद्यते धातून् अभिदूषयन्।३। सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रमीणि च भवन्ति। सु. नि. अ. ५।

कुष्ठ बाह्यम्—"वाह्यकुष्ठम्" भी पाठान्तर है प्रथम पाठ का अर्थ है कुष्ठ से पृथक् और दूसरे का अर्थ है वाहिरी कुष्ठ। श्वित्र का प्रभाव प्रायः ताम्रा नामक चौथी त्वचा पर होता है और उस में कुष्ठके समान कोथ नहीं होता।४,५।

महाकुष्ठ के सात भेद—

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथङ्मिश्रैः समागतैः ॥६॥
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः।

व्याख्या—कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. वातपित्त से, ५. वातकफ से, ६. पित्तकफ से तथा ७, त्रिदोष से।

यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं तथापि दोष की अथवा दोषों की अधिकता-प्रधानता से उक्त व्यपदेश—पृथक् २ सात प्रकार माने जाते हैं।६॥

महा कुष्ठ एवं क्षुद्र कुष्ठ—

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तादौदुम्बरं कफात् ॥७॥
मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋक्षाख्यं वातपित्तजम्।
चर्मैककुष्ठकिटिभ-सिध्मालसविपादिकाः ॥८॥
वातश्लेष्मोद्भवाः, श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥९॥
सर्वैः स्यात्काकणं, पूर्वं त्रिकं दद्रु सकाकणम्।
पुण्डरीकर्क्षजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥१०॥

व्याख्या—वायु से कापाल नामक कुष्ठ होता है, पित्त से औदुम्बर नामक कुष्ठ होता है, कफ से मण्डल कुष्ठ तथा विचर्ची या विचर्चिका नामक कुष्ठ होते हैं, वातपित्त से ऋक्ष-ऋष्यजिह्व नामक कुष्ठ होता है, वातकफ से चर्म-कुष्ठनामक एक कुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलस-अलसक तथा विपादिका नामक कुष्ठ होते हैं, कफ पित्त से दद्रु-दद्रू-दर्द्रू, शतारुः, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा तथा चर्मदल नामक कुष्ठ होते हैं और त्रिदोष से काकण-काकणक नामक कुष्ठ होता है। इन १८ कुष्ठों में कापाल, औदुम्बर तथा मण्डल नामक तीन कुष्ठ और दद्रू, काकण-पुण्डरीक तथा ऋक्ष, जिह्व नामक चार एवं सात कुष्ठ "महा कुष्ठ" और शेष ११ कुष्ठ "क्षुद्र कुष्ठ" कहे जाते हैं।

वक्तव्य—कुष्ठ का वर्णन—सु. नि. अ. ५ में तथा च. नि. अ. ५ और च. चि. अ. ७ में तथा अ. सं. नि. अ. १४ में देखिये।७-१०।

कुष्ठ के पूर्वरूप—

अतिश्लक्ष्णखरस्पर्श-स्वेदास्वेदविवर्णताः।
दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिः श्रमः॥११॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपि कोपनम् ॥१२॥
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम्।

व्याख्या—त्वचा पर अत्यन्त श्लक्ष्णता अथवा अत्यन्त खरदरापन, अधिक स्वेद आना अथवा सर्वथा स्वेद न आना, विवर्णता—वर्ण में विकृति, दाह तथा कण्डू, स्वाप शून्यता तथा व्यथा सूई चुभने कीसी वेदना और ठोस (चकत्ते-धप्पड़) निकलना, भ्रम, व्रण हो जाने पर अत्यन्त शूल, व्रण शीघ्र फैलते हैं और चिरकाल तक बने रहते हैं, व्रण का रोपण हो जाने पर भी वहाँ रूखापन बना रहता है, थोड़ा सा कारण बना होने पर व्रणों में वृद्धि (अथवा थोड़ी चोट लगने पर भी अधिक वेदना), रोम हर्ष तथा रक्त में कालापन। यह सब कुष्ठ के पूर्वरूप हैं जो कुष्ठो-त्पत्ति के पूर्व प्रादुर्भूत होते हैं ॥११, १२॥

कापाल कुष्ठ का लक्षण—

कृष्णारुणकपालाभं रूक्षं सुप्तं खरं तनु ॥१३॥
विस्तृतासमपर्यन्तं दूषितैर्लोमभिश्चितम्।
तोदाढ्यमल्पकण्डूकं 'कापालं' शीघ्रसर्पि च ॥१४॥

व्याख्या—जो कुष्ठ (कुष्ठ के व्रण) काले अथवा अरुण (कालापन लिये लाल) कपालों (दण्डिका आदि के टूटे खपरों) कासा होता है, रूक्ष, सुप्त (शून्य-स्पर्श ज्ञान रहित) खरदरा, पतला, फैला हुआ, विषय पर्यन्तों वाला, दूषित रोमों वाला (अथवा दुष्ट रोमों वाला), व्यथा युक्त, थोड़ी कण्डू वाला और शीघ्र फैलने वाला होता है वह "कापाल" कुष्ठ होता है ॥१३,१४॥

उदुम्बर कुष्ठ का लक्षण—

पक्वोदुम्बरताम्रत्वग्रोमगौरसिराचितम्।
बहलं बहुलक्लेदरक्तं दाहरुजाधिकम् ॥१५॥
आशूत्थानावदरणक्रिमि विद्या'दुदुम्बरम्'।

व्याख्या—जो कुष्ठ (कुष्ठ के व्रण) गूलर के पके फल के सदृश वर्ण वाला, लाल त्वचा तथा लाल रोमों वाला, श्वेत सिराओं से व्याप्त, मोटा, अधिक क्लेद वाला, अधिक रक्त वाला, अधिक दाह एवं वेदना से युक्त, जो शीघ्र उत्पन्न होता तथा फटता है और जिसमें क्रिमि शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं वह "उदुम्बर" या "औदुम्बर" कुष्ठ होता है ॥१५॥

मण्डल कुष्ठ का लक्षण—

स्थिरं स्त्यानं गुरु स्निग्धं श्वेतरक्तमनाशुगम् ॥१६॥
अन्योन्यसक्तमुत्सन्नं बहुकण्डूस्रुतिक्रिमि ।
श्लक्ष्णपीताभपर्यन्तं मण्डलं 'परिमण्डलम्' ॥१७॥

व्याख्या—जो कुष्ठ (कुष्ठ के व्रण) स्थिर, स्त्यान (आर्द्रसा) गुरु, स्निग्ध, श्वेत लाल वर्ण वाला, धीरे २ फैलने वाला, परस्पर मिला सटा हुआ, ऊँचा, अधिक खुजली, स्राव एवं क्रिमियों वाला, श्लक्ष्ण एवं पीताभ पर्यन्तों वाला तथा गोल गोल होता है वह "मण्डल" कुष्ठ होता है ॥१६,१७॥

विचर्चिका कुष्ठ का लक्षण—

सकण्डूपिटिका श्यावा लसीकाढ्या 'विचर्चिका'।

व्याख्या—जो कुष्ठ कण्डू एवं पिटिकाओं वाला, काला सा तथा लसीका स्राव युक्त होता है वह "विचर्चिका" कहलाता है ।

ऋक्षजिह्व कुष्ठ का लक्षण—

परुषं तनु रक्तान्तमन्तःश्यावं समुन्नतम् ॥१८॥
सतोददाहरुक्क्लेदं कर्कशैः पिटिकैश्चितम् ।
ऋक्षजिह्वाकृति प्रोक्तमृक्षजिह्वं बहुक्रिमि ॥१९॥

व्याख्या—जो कुष्ठ (कुष्ठ के व्रण) खरदरा, पतला, लाल पर्यन्तों वाला मध्य भाग में कालासा, ऊँचा, व्यथा, दाह, वेदना तथा क्लेद से युक्त, खरदरी पिटिकाओं से व्याप्त, ऋक्ष नामक हरिण की जीभ के समान आकृति वाला तथा अधिक क्रमियों वाला होता है वह "ऋक्षजिह्व" कहलाता है ॥१८,१९ ।

चर्म कुष्ठ, एक कुष्ठ तथा किटिभ के लक्षण—

हस्तिचर्मखरस्पर्शं चर्म, एकाख्यं महाश्रयम् ।
अस्वेदं मत्स्यशकलसन्निभं किटिभं पुनः ॥२०॥
रूक्षं किणखरस्पर्शं कण्डूमत्परुषासितम् ।

व्याख्या—जो कुष्ठ हाथी के चर्म कासा खरदरा (तथा काला) होता है वह "चर्म कुष्ठ" (भैंसिया दाद) कहलाता है । जो कुष्ठ महाश्रय महा वास्तु (बड़े आश्रय-घर वाला), स्वेद रहित, मछली के टुकड़ों कासा वह "एककुष्ठ" होता है । और जो रूक्ष, किण अर्थात् व्रण स्थान में खरदरा, कण्डू युक्त, अधिक खरदरा तथा काला होता है वह "किटिभ" कहलाता है ॥२०॥

सिध्म, अलसक तथा विपादिका के लक्षण—

सिध्मं रूक्षं बहिः स्निग्धमन्तर्घृष्टं रजः किरेत् ॥२१॥
श्लक्ष्णस्पर्शं तनु श्वेतताम्रं दौग्धिकपुष्पवत् ।
प्रायेण चोर्ध्वकाये स्याद् गण्डैः कण्डूयुतैश्चितम् ॥२२॥
रक्तैरलसकम् , पाणिपाददार्यो विपादिका ।
तीव्रार्त्यो मन्दकण्ड्वश्च सरागपिटिकाचिताः ॥२३॥

व्याख्या—जो कुष्ठ पर्यन्तों में रूक्ष, भीतरी भाग में स्निग्ध होता है, जिस पर से खुजाने पर रजस गिरती है, जो स्पर्श में श्लक्ष्ण होता है, पतला, श्वेत, एवं लाल वर्ण से युक्त, अलाबू के फूल केसे वर्ण वाला तथा प्रायः ऊर्ध्वकाय उरस् एवं मुख पर होता है वह "सिध्म" कहलाता है । जो कुष्ठ कण्डू युक्त लाल गण्डों (ग्रन्थियों) से व्याप्त होता है वह "अलसक" कहलाता है । जो हाथ पाँव के तलुवों का दारण करता है और जिसमें तीव्र वेदना तथा थोड़ी कण्डू भी होती है और लाल लाल पिटिका रहती हैं वह "विपादिका" कहलाता है । (पाद गत विपादिका इससे भिन्न है)॥२१-२३॥

दद्रू का लक्षण—

दीर्घप्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छविः ।
उत्सन्नमण्डला दद्रूः कण्डूमत्यनुषङ्गिणी ॥२४॥

व्याख्या—दद्रू के प्रतान (बढ़ें) दूब के समान लम्बी होती है, वर्ण अतसी के पुष्प कासा होता है, मण्डल (चकत्ते) ऊँचे होते हैं, कण्डू होती रहती है तथा जीवन भर बनी रहती है या शान्त होकर पुनः होती रहती है।२४

शतारुः का लक्षण—

स्थूलमूलं सदाहार्ति रक्तश्यावं बहुव्रणम् ।
शतारुः क्लेदजन्त्वाढ्यं प्रायशः पर्वजन्म च ॥२५॥

व्याख्या—शतारुः नामक कुष्ठ का मूल स्थूल होता है, उसमें दाह तथा वेदना होती है, वर्ण लाल कालासा होता है, वह बहुत व्रणों से युक्त होता है, क्लेद तथा जन्तुओं क्रमियों से युक्त होता है और प्रायः पोरों पर उत्पन्न होता है ॥२५॥

पुण्डरीक, विस्फोट तथा पामा के लक्षण—

रक्तान्तमन्तरा पाण्डु कण्डूदाहरुजान्वितम् ।
सोत्सेधमाचितं रक्तैः पद्मपत्रमिवांशुभिः ॥२६॥
घनभूरिलसीकासृक्प्रायमाशु विभेदि च ।
पुण्डरीकं तनुत्वगिभश्चितं स्फोटैः सितारुणैः ॥२७॥

विस्फोटं पिटिका पामा कण्डूक्लेदरुजाधिकाः ।
सूक्ष्माः श्यावारुणा बह्वयः प्रायः स्फिक्पाणिकूर्परे ॥२८॥

व्याख्या—पुण्डरीक नामक कुष्ठ पर्यन्तों में लाल तथा मध्य भाग में श्वेताभ (कमल की पंखुरी के सदृश वर्ण वाला), कण्डू दाह तथा वेदना से युक्त, ऊँचाई से युक्त, पद्म के पत्र की सी लाल २ रेखाओं से व्याप्त होता है, उसमें से गाढ़ी तथा बहुत लसीका निकलती है, प्रायः रक्त बहता है और वह शीघ्र फटता है विस्फोट नामक कुष्ठ पतली त्वचा वाले, श्वेत एवं लाल (लाल काले) स्फोटों (फफोलों) से युक्त होता है । पामा नामक कुष्ठ में असंख्य पिटिका होती हैं और उनमें कण्डू, क्लेद तथा वेदना अधिक होती है, वे पिटिका छोटी छोटी काली एवं अरुण वर्ण की तथा बहुत सी होती हैं और प्रायः स्फिचों (चूतड़ों) हाथों तथा कोहनियों पर होती हैं ॥२६-२८॥

चर्मदल तथा काकणक के लक्षण—

सस्फोटमस्पर्शसहं कण्डूषातोददाहवत् ।
रक्तं दलच्चर्मदलम् काकणं तीव्रदाहरुक् ॥२९॥
पूर्वं रक्तं च कृष्णं च काकणन्तीफलोपमम् ।
कुष्ठलिङ्गैर्युतं सर्वैर्नैकवर्णं ततो भवेत् ॥३०॥

व्याख्या—चर्मदल नामक कुष्ठ—फफोलों से युक्त होता है, स्पर्श का सहन नहीं करता, कण्डू, व्यथा तथा दाह से युक्त होता है, वर्ण में लाल होता है तथा फटता रहता है । काकण कुष्ठ—इस में तीव्र दाह तथा वेदना होती है, पहिले लाल तथा काला, लाल गुञ्जा का सा और उक्त सभी कुष्ठों के लक्षणों से युक्त अतः एवं एक वर्ण वाला नहीं होता—अनेक वर्ण वाला होता है ।

दोषों तथा साध्यता आदि का विवेक—

दोषभेदीयविहितैरादिशेल्लिङ्गकर्मभिः ।
कुष्ठेषु दोषोल्बणताम् , सर्वदोषोल्बणं त्यजेत् ॥३१॥
रिष्टोक्तं यच्च यच्चाऽस्थि मज्जशुक्रसमाश्रयम् ।
याप्यं मेदोगतं कृच्छ्रं पित्तद्वन्द्वास्रमांसगम् ॥३२॥
अकृच्छ्रं कफवाताढ्यं त्वक्स्थमेकमलं च यत् ।

व्याख्या—दोषभेदीय अध्याय (सू० अ० १२) में कहे गये लक्षणों एवं कर्मों के अनुसार कुष्ठों में दोषों की अधिकता का विवेचन करे । तदनुसार—जिस कुष्ठ में सब दोष कुपित—अधिक हों उसे त्याग देवे—चिकित्सा न करे, जिसमें रिष्टोक्त लक्षण हों (शा० अ० ५, कुष्ठ के असाध्य लक्षण) और जो कुष्ठ अस्थि, मज्जा एवं शुक्र में आश्रित हो उसे भी त्याग देवे । मेदो धातु गत कुष्ठ याप्य होता है । पित्त प्रधान, द्विदोष प्रधान तथा रक्त में और मांस में आश्रित कुष्ठ कष्टसाध्य होता है । कफप्रधान, वातप्रधान, त्वचा में आश्रित एकदोषप्रधान कुष्ठ साध्य होता है ॥३१-३२॥

त्वचा आदि धातुओं में स्थित कुष्ठों के लक्षण—

तत्र त्वचि स्थिते कुष्ठे तोदवैवर्ण्यरूक्षताः ॥३३॥
स्वेदस्वापश्वयथवः शोणिते पिशिते पुनः ।
पाणिपादश्रिताः स्फोटाः क्लेदः सन्धिषु चाधिकम् ॥३४॥
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां दलनं स्याच्च मेदसि ।
नासाभङ्गोऽस्थिमज्जस्थे नेत्ररागः स्वरक्षयः ॥३५॥
क्षते च कृमयः शुक्रे स्वदाराऽपत्यबाधनम् ।
यथापूर्वं च सर्वाणि स्युर्लिङ्गान्यसृगादिषु ॥३६॥

व्याख्या—त्वचा में स्थित कुष्ठ के लक्षण—व्यथा, विवर्णता तथा रूक्षता । रक्त में स्थित कुष्ठ के लक्षण—स्वेद, स्वाप अर्थात् शून्यता तथा शोथ । मांस में स्थित कुष्ठ के लक्षण—हाथों तथा पावों में स्फोट (फफोले) तथा सन्धियों में अधिक क्लेद । मेदो धातु में स्थित कुष्ठ के लक्षण—कुणिता-लुञ्जापन, चलने-हिलने डुलने की शक्तिका क्षय तथा अंगों (अंगुलि आदि) का दलन—झड़ना । अस्थि तथा मज्जा में स्थित कुष्ठ के लक्षण—नासा का भंग—झड़ जाना, नेत्रों में लालिमा, स्वर का क्षय तथा क्षतों (व्रणों में) क्रिमियों की उत्पत्ति । शुक्र में स्थित कुष्ठ के लक्षण—कुष्ठी की स्त्री तथा पुत्र पौत्र आदि में कुष्ठ का संक्रमण । यह स्मरणीय है कि रक्त आदि धातुओं में स्थित कुष्ठों में प्रथम धातु एवं पूर्व धातुओं के लक्षण भी रहते हैं यथा रक्तगत कुष्ठ में त्वचागत कुष्ठ के लक्षण और मेदोगत कुष्ठ में त्वचागत एवं रक्तगत कुष्ठ के लक्षण रहते हैं इसी प्रकार उत्तरोत्तर धातुगत कुष्ठ में पूर्व पूर्व धातुगत कुष्ठ के लक्षण रहते हैं ॥३३-३६॥

श्वित्र का वर्णन—

कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं दारुणं च तत् ।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥३७॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥३८॥
सकण्डु च क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ।
वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥३९॥
अशुक्लरोमाऽबहुलमसंसृष्टं मिथो नवम् ।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमितोऽन्यथा ॥४०॥
गुह्यपाणितलोष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।

व्याख्या—श्वित्र का कारण कुष्ठ के समान होता है । श्वित्र के नाम—श्वित्र, किलास तथा दारुण । कुष्ठ तथा श्वित्र में भेद—श्वित्र में से किसी प्रकार का स्राव नहीं होता और कुष्ठ में से स्राव होता है और श्वित्र केवल रक्त, मांस

एवं मेदस् नामक तीन धातुओं में उत्पन्न एवं आश्रित होता है और कुष्ठ सब धातुओं में आश्रित होता है। वातज श्वित्र का लक्षण—रूक्ष एवं कालापन लिये लाल। पित्तज श्वित्र का लक्षण—ताम्र कासा लाल अथवा लाल कमल की पंखुरी कासा लाल तथा दाह युक्त एवं रोम शातन—वहाँ के रोम उड़ जाते हैं। कफज श्वित्र का लक्षण—यह श्वेत, घना, गुरु एवं कण्डूयुक्त होता है। वातज श्वित्र रक्त में, पित्तज श्वित्र मांस में तथा कफज श्वित्र मेदस् धातु में आश्रित होता है। वातादिजनितत्व एवं रक्तादिधात्वाश्रयित्व दोनों केवल उक्त वर्ण भेद से ज्ञात होते हैं और वे तीनों उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं। साध्य श्वित्र—जिस पर के रोम श्वेत न हो गये हों, जो बहुत अधिक न हो, परस्पर मिल न गया हो, नूतन हो तथा अग्निदग्ध से उत्पन्न न हुआ हो वह साध्य होता है और इस से विपरीत असाध्य होता है। तथा गुह्य अंगों पर (शिश्न एवं भग पर), हाथों के तलुओं पर तथा ओठों पर उत्पन्न श्वित्र-नूतन भी असाध्य होता है।

वक्तव्य—देखिये-च. चि. अ. ७ सु. नि. अ. ५। चरक का पाठ-दारुणं चारणं श्वित्रं किलासं नामभिः त्रिभिः।१७३। यद्यपि यह केवल त्वचा आदि गत माना गया है तथापि यह अपत्यसंक्रान्त भी देखा जाता है ॥३७-४०॥

सङ्क्रामक रोग—

स्पर्शैकाहारशय्यादि सेवनात्प्रायशो गदाः ॥४१॥
सर्वे सञ्चारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः।

व्याख्या—स्पर्शन से, एक शय्या पर लेटना तथा एक साथ खाना आदि के सेवन से प्रायः सभी (ज्वर विसूची आदि) रोग संचारी (एक से दूसरे पर संक्रमण करनेवाले) होते हैं और अभिष्यन्द आदि नेत्र रोग तथा कुष्ठ उपदंश आदि त्वचा रोग विशेषतः संचारी (संक्रामक) होते हैं ॥४१॥

इति श्वित्रनिदानम्

अथ कृमिनिदानम्—

कृमयस्तु द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥४२॥
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः।
नामतो विंशतिविधा बाह्यास्तत्राऽसृगुद्भवाः ॥४३॥
तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः।
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः ॥४४॥
द्विधा ते कोठपिटिका कण्डूगण्डान् प्रकुर्वते।

व्याख्या—विधिभेद से कृमि दो प्रकार के होते हैं-१. बाह्य—शरीर से बाहिर रहने वाले और २. आभ्यन्तर—शरीर के भीतर रहने वाले। उत्पत्ति भेद से चार प्रकार के होते हैं—१. बाहर की—शरीर पर की केशों कपड़ों आदि की मल (मैल) में उत्पन्न होने वाले, २. कफ में उत्पन्न होने वाले, ३. रक्त में उत्पन्न होने वाले तथा ४—पुरीष में उत्पन्न होने वाले। नाम भेद से २० प्रकार के होते हैं (नाम आगे देखिये)। उन में बाह्यकृमि—शरीर एवं वस्त्र आदि की शुद्धि (शोधन प्रक्षालन) न करने से उत्पन्न होते हैं, तिलों के से परिमाण, आकार तथा वर्ण वाले होते हैं, केशों (रोमों में भी) तथा कपड़ों में रहते हैं, अनेक पाँवों वाले तथा सूक्ष्म—छोटे २ होते हैं। उन के नाम हैं—यूका (जूएँ) तथा लिक्षा (लीख—चमजूएँ)। चरक के वचनानुसार 'पिपीलिका'। ये दोनों कोठ (चकत्ते—धप्पड़), पिटिका (फुन्सियाँ), कण्डू तथा गण्ड (ग्रन्थियाँ) उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—उक्त २० कृमियों के अतिरिक्त भगवान् पुनर्वसु ने 'सहज' कृमि भी माने हैं देखिये च. वि. अध्याय ७ तथा भगवान् धन्वन्तरि ने "दन्ताद" कृमि भी माने हैं देखिए सु. उ. अ. ५४ और कृमिदन्तक रोग का वर्णन भी किया है देखिये सु. नि. अ. १६ ॥४२-४४॥

कृमियों का निदान—

कुष्ठैकहेतवोऽन्तर्जाः श्लेष्मजास्तेषु चाधिकम् ॥४५॥
मधुराम्लगुडक्षीरदधिसक्तुनवौदनैः।
शकृज्जा बहुविड्धान्य पर्णशाकोलकादिभि ॥४६॥

व्याख्या—आभ्यन्तर कृमियों का कारण कुष्ठ के समान होता है और विशेषतः कफज कृमि—मधुर रस वाले आहारों, गुड़, दूध, दही, शिरका आदि अम्ल पदार्थों तथा नूतन चावल का अधिक सेवन करने से उत्पन्न होते हैं। और पुरीषज कृमि—उरद एवं जौ आदि धान्य पालक आदि पत्रशाक तथा उलक—हरे-कच्चे शिम्बि धान्यों—जिनका अधिकांश भाग पुरीष बनता है के सेवन से उत्पन्न होते हैं ॥४५,४६॥

कफज कृमियों का वर्णन—

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः।
पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः ॥४७॥
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः।
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ॥४८॥
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः।
चुरवो दर्भकुसुमा सुगन्धास्ते च कुर्वते ॥४९॥
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्।
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान् ॥५०॥

व्याख्या—कफज कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं

बढ़कर-बड़े होकर सब ओर (ऊपर की ओर जो मुख से छर्दि में निकलते हैं, नीचे की ओर जो पुरीष के साथ निकलते हैं अथवा दोनों ओर) रेंगते हैं, आकार में—चौड़ी वद्धी के से, कोई केंचुवे के से कोई विरूढ धान्य के अंकुर के से, कोई पतले, कोई लम्बे तो कोई सूक्ष्म होते हैं, वर्ण से श्वेत अथवा तामा के से लाल होते हैं। उनके सात नाम हैं यथा—१. अन्त्राद (अन्त्रों को खा जाने वाले जिनसे अन्त्रों में क्षत हो जाते हैं) जैसे आन्त्रिक ज्वर में और अन्त्र क्षय आदि हो जाते हैं। २. उदरावेष्ट-उदराद (च०)—उदर-आमाशय को खाने वाले। ३. हृदयाद—हृदय को खा जाने वाले देखिये कृमिज हृद्रोग निदान अ० ५। ४. महाकुहा—महागुहा (च०) महास्रोतस् है गुहा-निवासस्थान जिनका। ५. कुरु—चुरु (च०)-आहार रस को चुराने वाले, ६. दर्भकुसुम-दर्भ के फूल केसे, दर्भपुष्प (च०)। ७. सुगन्ध—सौगन्धिक (च०) (नासागत एवं शिरोगत)। और ये कृमि—हृल्लास, मुखस्राव, अपच, अरोचक, मूर्च्छा, ज्वर, अनाह, छींक तथा पीनस को उत्पन्न करते हैं—जृम्भा, अङ्गमर्द, कृशता तथा त्वचा में खरदरापन करते हैं (च०) ॥४७-५०॥

रक्तज कृमियों का वर्णन—

रक्तवाहिशिरोत्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः।
अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः॥५१॥
केशादा लोमविध्वंसा लोमद्वीपा उदुम्बराः।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः॥५२॥

व्याख्या—रक्तज कृमि-रक्तवाहिनी सिराओं में उत्पन्न होते हैं, आकार में—अणु (सूक्ष्म), पाँव रहित, गोल तथा कोई कोई अत्यन्त सूक्ष्म होने से अदृश्य होते हैं और वर्ण में ताम्र के से लाल होते हैं। संख्या में वे ६ होते हैं यथा—१. केशाद—केशों को खा जाने वाले। २. लोम विध्वंसा—रोमादा-रोमों को खा जाने वाले। ३. लोम द्वीपा—रोममूलों में आश्रय वाले। ४. उदुम्बर—औदुम्बर (च०)—उदुम्बर कीसी ग्रन्थि के भीतर उत्पन्न होने वाले ५. सौरस—तरुणास्थियों का आस्वादन भक्षण करने वाले। ६. मातृ—जन्तुमाता (च०)-जन्तु-किरौनी मक्षिका है माता-जननी जिनकी-ये व्रण पर किरौनी मक्षिका बैठने से उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब कुष्ठ (कोथ) को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—प्रभावः—केश श्मश्रुनख लोमं पक्ष्माऽपर्ध्वंसो व्रणगतानां च हर्षकण्डूतोद संसर्पणानि, अतिवृद्धानां च त्वक् सिरा स्नायु मांस तरुणाऽस्थि भक्षणम् वति। च० वि० अ० ७। इनकी चिकित्सा भी कुष्ठ के समान ही की जाती है। इन से कुष्ठ की उत्पत्ति तथा कुष्ठ में इनकी उत्पत्ति हो जाती है ॥५१,५२॥

पुरीषज कृमियों का वर्णन—

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः।
वृद्धास्ते स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः॥५३॥
तदाऽस्योद्गारनिःश्वासाविड्गन्धानुविधायिन।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः॥५४॥
ते पञ्च नाम्ना कृमयः ककेरुकमकेरुकाः।
सौसुरादाः सलूनाख्या लेलिहा जनयन्ति च॥५५॥
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विनिर्गमात्॥५६॥

पुरीषज कृमि—पक्वाशय—मलाशय में उत्पन्न होते हैं और बड़े होकर गुद की ओर रेंगते हैं परन्तु जब आमाशय की ओर आ जाते हैं तब मुख, उद्गार एवं निःश्वास में पुरीष की सी गन्ध आती है। ये आकार में—चौड़े, गोल, पतले अथवा मोटे होते हैं वर्ण में—श्याव, पीले, श्वेत अथवा काले होते हैं। नाम से वे ५ हैं, यथा—१. ककेरुक २. मकेरुक (चुराने-खाने वाले रस-आहार रस को चुराने वाले या उस के लोनी)। —३. सौसुराद, ४. सलून—सशूलक (चरक) छेदक एवं शूलजन ५. लेलिहा—चाटने वाले। (रस चाटने वाले) इन के कर्म या प्रभाव—ये पुरीष भेद—कृमि जनित अतिसार, शूल, विष्टम्भ, कृशता, त्वचा में खरदरापन, पाण्डुरोग, रोमहर्ष तथा मन्दाग्नि को उत्पन्न करते हैं निकलते समय—गुद में कण्डू उत्पन्न करते हैं—कभी २ इतने अधिक कृमि हो जाते हैं जो गुद के आस पास रेंगते हैं।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—त एव चास्य गुदमुखं पर्य्यासते। त एव जातहर्षा गुदनिष्क्रमणमतिवेलं कुर्वन्ति१-। च० वि७ अ० । कृमिरोग का वर्णन-च० वि० अ० ७ में, सु० उ० तं० अ० ५४ तथा अ० सं० नि० अ० १४ में देखिये। १-कृमियों की परम्परा बुढ़ापा पर्यन्त पिण्ड नहीं छोड़ती ऐसा देखा गया है।५३।

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः।१४।

पञ्चदशोऽध्यायः

अथाऽतो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब वात व्याधि का व्याख्यान करेंगे और इस विषय

में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वायु की महिमा—

सर्वार्थानर्थकरणे विश्वस्यास्यैककारणम् ।
अदुष्टदुष्टः पवनः शरीरस्य विशेषतः ॥१॥
स विश्वकर्मा विश्वात्मा विश्वरूपः प्रजापतिः ।
स्रष्टा धाता विभुर्विष्णुः संहर्ता मृत्युरन्तकः ॥२॥
तद्दुष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सदा ।

व्याख्या—अदुष्ट—प्रकृतिस्थ वायु—संसार के सब अर्थ—शुभ-उत्पत्ति एवं स्थिति करने एवं रखने में और दुष्ट वायु—उसके अनर्थ—अशुभ-विकृति-एवं विनाश करने में एक अर्थात् प्रधान कारण है और विशेषरूप से शरीर के अर्थ एवं अनर्थ करने में कारण है। वह वायु—विश्वकर्मा अर्थात् संसार एवं शरीर का जनन, वर्द्धन, धारण, भञ्जन एवं शोषण आदि कर्म करने वाला है, विश्वात्मा—सब का आत्मा है, विश्वरूप अर्थात् सब रूपों वाला है, प्रजापति अर्थात् प्रजाओं का पालक है, स्रष्टा अर्थात् सब की रचना करने वाला है, धाता अर्थात् विश्व का धारक है विभु अर्थात् प्रभावशाली है, विष्णु अर्थात् संसार भर में व्याप्त है, संहर्त्ता—संहार करने वाला है, मृत्यु है अर्थात् प्राण नाशक है एवं अन्तक अर्थात् यम रूप है। इसलिये सदा ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये जिस से वायु की दुष्टि न हो।

वक्तव्य—देखिये च० सू० अ० १२ तथा च० चि० अ० २८ और सु० नि० अ० १। अ० सं०, नि० अ० १५। सामान्यतः वायु का वर्णन आयुर्वेद में यत्र, तत्र सर्वत्र पाया जाता है ॥१,२॥

वायु विषयक संकेत—

तस्योक्तं दोषविज्ञाने कर्म प्राकृतवैकृतम् ॥३॥
समासाद्व्यासतो दोषभेदीये नाम धाम च ।
प्रत्येकं पञ्चधा चारो व्यापारश्च, इह वैकृतम् ॥४॥
तस्योच्यते विभागेन सनिदानं सलक्षणम् ।

दोषविज्ञानीय अध्याय (सू० अ० ११) में उस वायु के स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक कर्म संक्षेप से और दोषभेदीय अध्याय (सू० अ० १२) में उसके नाम एवं धाम (स्थान) और उसके चार (गति) एवं—व्यापार विस्तार से कह दिये हैं। इस अध्याय में उस के वैकृत (अस्वाभाविक) कर्म निदान एवं लक्षणों के साथ पृथक् पृथक् करके कहे जाते हैं।

वक्तव्य—किसी२ प्रति में इस चतुर्थ श्लोक के नीचे यह पाठ भी पाया जाता है यथा—

असंख्यमपि संख्याय यदशीत्या पुरेरितम् (अ० सं०)

अर्थात् वायु के वैकृत कर्म असंख्य हैं तथापि जो दूसरे आचार्यों द्वारा अस्सी (८०) वात रोग माने गये हैं उनका वर्णन यहां किया जाता है। देखिए च० सू० अ० २०। और वहां पुनर्वसु जी ने भी यही कुछ इन्हीं शब्दों कहा है कि —......

इति अशीतिः वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानां आविष्कृततमा व्याख्याताः ।१२। तथा—संख्यानतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः। अशीतिः नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः ।१३। चि० अ० २८ ॥३,४॥

वातज रोगों का कारण एवं सम्प्राप्ति—

धातुक्षयकरैर्वायुः कुप्यत्यतिनिषेवितैः ॥५॥
चरन् स्रोतःसु रिक्तेषु भृशं तान्येव पूरयन् ।
तेभ्योऽन्यदोषपूर्णेभ्यः प्राप्य वाऽऽवरणं बली ॥६॥

व्याख्या—रसादि धातुओं का क्षय करने वाले आहार-विहारों के अधिक सेवन से शरीर के रिक्त (खाली-खोखले) स्रोतों में घूमता हुआ और उन में स्वयं भरता हुआ उन्हें अपने द्वारा पूर्ण कर फुलाता हुआ) वायु कुपित होता है अथवा उन में भरे हुए पित्त कफ आदि दोषों द्वारा आवरण पाकर—आवृत—अवरुद्ध होकर बलवान् वायु कुपित हो जाता है।

वक्तव्य—वायु को प्रकोप दो प्रकार से होता है—१—धातुओं के क्षय के कारण वायु के लिए रिक्त शून्य स्थान मिल जाने से और २—उसका मार्ग रुक जाने से, यथा—वायोः धातुक्षयात् कोपो मार्गस्याऽऽवरणेन वा। च० चि० अ० २८ श्लो० ५९। और बाह्य वायु का कोप भी दो प्रकार से होता है—१. ग्रीष्म एवं वसन्त ऋतु में आकाश रिक्त हो जाने पर २. वर्षा ऋतु में जल तत्त्व द्वारा आकाश का अवरोध हो जाने से ॥५,६॥

स्थानभेद से कुपित वायु के लक्षण—

तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहान्त्रकूजनम् ।
मलरोधाश्मवर्ध्मार्शस्त्रिकपृष्ठकटीग्रहम् ॥७॥
करोत्यधरकायेषु तांस्तान्कृच्छ्रानुपद्रवान् ।
आमाशये तृड्वमथुश्वासकासविसूचिकाः ॥८॥
कण्ठोपरोधमुद्गारान् व्याधीनूर्ध्वं च नाभितः ।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं त्वचि स्फुटनरूक्षणे ॥९॥
रक्ते तीव्रा रुजः स्वापं तापं रागं विवर्णताम् ।
अरूंष्यन्नस्य विष्टम्भमरुचिं कृशतां भ्रमम् ॥१०॥
मांसमेदोगतो ग्रन्थींस्तोदाढ्यान् कर्कशान् श्रमम्
गुर्वङ्गं चातिरुक्स्तब्धं मुष्टिदण्डहतोपमम् ॥११॥
अस्थिस्थः सक्थिसन्ध्यस्थिशूलं तीव्रं बलक्षयम् ।
मज्जस्थोऽस्थिषु सौषिर्यमस्वप्नं स्तब्धतां रुजम् ॥१२॥
शुक्रस्य शीघ्रमुत्सर्गं सङ्गं विकृतिमेव च ।

तद्वद्गर्भस्य शुक्रस्थः सिरास्वाध्मानरिक्तते ॥१३॥
तत्स्थः स्नावस्थितः कुर्याद्गृध्रस्यायामकुब्जता ।
वातपूर्णदृतिस्पर्शं शोफं सन्धिगतोऽनिलः ॥१४॥
प्रसारणाऽऽकुञ्चनयोः प्रवृत्तिं च सवेदनाम् ।
सर्वाङ्गसंश्रयस्तोदभेदस्फुरणभञ्जनम् ॥१५॥
स्तम्भमाक्षेपणं स्वापं सन्ध्याकुञ्चनकम्पनम् ।

व्याख्या—पक्वाशय—मलाशय में कुपित वायु—शूल आनाह, अन्त्रकूजन, पुरीष रोध, अश्मरी रोग, अण्डवृद्धि, अर्श, त्रिकग्रह, पृष्ठ ग्रह, कटी ग्रह, तथा शरीर के अधोभाग में उन उन कष्टसाध्य रोगों को उत्पन्न करता है । आमाशय में कुपित वायुः—तृष्, छर्दि, श्वास, कास, विसूची, कण्ठरोध, उद्गार तथा नाभि के ऊपर के भाग में होने वाले अन्यान्य रोगों को उत्पन्न करता है । श्रोत्र एवं चक्षु आदि इन्द्रियाधिष्ठानों में कुपित वायु - उन उन इन्द्रियों का वध (विकृति तथा विनाश) करता है । त्वचा में कुपित वायु—त्वचा में स्फुटन (फटना) तथा रूक्षपन करता है । रक्तधातु में कुपित वायु—तीव्र पीड़ा, स्वाप (शून्यता), ताप (दाह), लालिमा, विवर्णता, छोटी छोटी फुन्सियाँ, अन्न का विष्टम्भ, अरुचि, कृशता तथा भ्रम उत्पन्न करता है । मांस एवं मेदस् में कुपित वायु—व्यथायुक्त ग्रन्थियाँ, श्रम (थकावट), शरीर में गुरुता, अत्यन्त वेदना तथा स्तब्धता करता है । और शरीर को ऐसा करता है जैसा मुक्का एवं दण्डों से पीटा गया हो । अस्थियों में कुपित वायु—टाँगों में, सन्धियों में तथा अस्थियों में तीव्र शूल तथा बलहानि करता है । मज्जा धातु में कुपित वायु—अस्थियों में सुषिरता (खोखलापन), निद्रानाश, स्तब्धता तथा वेदना उत्पन्न करता है । शुक्र में कुपित वायु—शीघ्रस्खलन अथवा शुक्र की रुकावट, शुक्रदोष और वैसे गर्भ के विकार (गर्भस्राव; पात, विकृति, मूढगर्भ आदि) उत्पन्न करता है । सिराओं में कुपित वायु—सिराओं में आध्मान तथा रिक्तता करता है । स्नायु में कुपित वायु—गृध्रसी, आयाम (बाह्यायाम—अन्तरायाम) तथा कुब्जता करता है । सन्धियों में कुपित वायु—वायु से भरी दृति के समान स्पर्श वाले शोथ को उत्पन्न करता है और प्रसारण एवं आकुञ्चन में वेदना उत्पन्न करता है । समस्त शरीर में कुपित वायु—समस्त शरीर में—व्यथा, भेदन कीसी वेदना (फटना), स्फुरण, भञ्जन (टूटने कीसी वेदना), स्तब्धता, आक्षेप (झटके), स्वाप, सन्धियों में संकोच तथा कम्पन उत्पन्न करता है ॥७-१५॥

आक्षेपक का वर्णन—

यदा तु धमनीः सर्वाः क्रुद्धोऽभ्येति मुहुर्मुहुः ॥१६॥
तदाङ्गमाक्षिपत्येष व्याधिराक्षेपकः स्मृतः ।

व्याख्या—जब कुपित वायु - शरीर भर की धमनियों में बलपूर्वक पहुँचता है तब शरीर को बार बार अक्षिप्त करता है—झटकता है—पटकता है इस व्याधि का नाम "आक्षेपक" है ।

वक्तव्य—इस रोग में शरीर में या टाँगों-बाहों में झटके आते हैं ॥१६॥

अपतन्त्रक एवं अपतानक का वर्णन—

अधः प्रतिहतो वायुर्व्रजत्यूर्ध्वं हृदाश्रिताः ॥१७॥
नाडीः प्रविश्य हृदयं शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।
आक्षिपेत्परितो गात्रं धनुर्वच्चाऽस्य नामयेत् ॥१८॥
कृच्छ्रादुच्छ्वसिति स्तब्धस्रस्तमीलितदृक्ततः ।
कपोत इव कूजेत्स निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥१९॥
स एव चाऽपतानाऽऽख्यो मुक्ते तु मरुता हृदि ।
अश्नुवीत मुहुः स्वास्थ्यं मुहुरस्वास्थ्यमावृते ॥२०॥
गर्भपातसमुत्पन्नः शोणितातिस्रवोत्थितः ।
अभिघातसमुत्थश्च दुश्चिकित्स्यतमो हि सः ॥२१॥

व्याख्या—अधोभाग—मलाशय से प्रतिहत—प्रतिलोम हुआ वायु-ऊपर की ओर चलता है (रोगी के शब्दों में धूनसा उठता है) और हृदय में आश्रित नाडियों में प्रविष्ट होकर हृदय, शिर तथा शंख प्रदेश में पीडन करता हुआ शरीर को आक्षिप्त करता है—झटका देकर गिरा देता है (रोगी बैठा या खड़ा नहीं रह सकता) और शरीर के हाथ पावँ आदि सब अवयवों को धनुष के समान नमाता है—ऐंठता है—टेढे मेढे कर देता है, इस दशा में रोगी बड़े कष्ट से श्वास लेता है । उसके नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं—टकटकी बन्ध जाती है, स्रस्त हो जाते हैं—शिथिल हो जाते हैं तथा मिच जाते हैं कभी कभी खुले भी रह जाते हैं, रोगी कबूतर के समान कूजन करता है—ऊहं ऊहं करता है—कण्ठ में कूजन होता है और संज्ञाहीन हो जाता है इस व्याधि का नाम "अपतन्त्रक" है । इसे कोई कोई आचार्य "अपतानक" भी कहते हैं । जब वायु—हृदय को छोड़ देता है तब रोगी स्वस्थता का अनुभव करता है परन्तु जब पुनः वायु हृदय को आवृत—आक्रान्त कर लेता है तब पुनः अस्वस्थता का अनुभव करता है अर्थात् पहिले की सी दशा हो जाती है (फलतः इस रोग के वेग होते हैं) । जो अपतन्त्रक—गर्भपात अथवा रक्त का अधिक स्राव हो जाने से अथवा आघात लगने से उत्पन्न होता है वह अत्यन्त कष्ट साध्य या असाध्य होता है ॥१७-२१॥

अन्तरायाम एवं बाह्यायाम का वर्णन—

मन्ये संस्तभ्य वातोऽन्तरायच्छन् धमनीर्यदा ।

व्याप्नोति सकलं देहं जत्रुरायम्यते तदा ॥२२॥
अन्तर्धनुरिवाङ्गं च वेगैः स्तम्भं च नेत्रयोः ।
करोति जृम्भां दशनं दशनानां कफोद्गमम् ॥२३॥
पार्श्वयोर्वेदनां वाक्यहनुपृष्ठशिरोग्रहम् ।
अन्तरायाम इत्येष बाह्यायामश्च तद्विधः ॥२४॥
देहस्य बहिरायामात्पृष्ठतो नीयते शिरः ।
उरश्चोत्क्षिप्यते तत्र कन्धरा चावमृद्यते ॥२५॥
दन्तेष्वास्ये च वैवर्ण्यं प्रस्वेदः स्रस्तगात्रता ।
बाह्यायामं धनुष्कम्भं ब्रुवते वेगिनं च तम् ॥२६॥

व्याख्या—कुपित वायु—जब मन्या नामक नाडियों को स्तब्ध करके धमनियों को भीतर की ओर खींचता हुआ समस्त शरीर में व्याप्त होता है तब जत्रु (ग्रीवा) का आयामन होता है और शरीर धनुष के समान भीतर की ओर झुकने लगता है, नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं, जृम्भा होती है अर्थात् मुख खुला रह जाता है अथवा दन्तों का दंशन हो जाता है—दन्त लग जाते हैं, कफ का स्राव होता है—लार बहती है, पार्श्वों में वेदना होती है, वाणी रुक जाती है, हनु, पीठ तथा शिर जकड़ जाते हैं—हिलते नहीं हैं, यह सब वेग के समय होता है सर्वदा नहीं होता रहता। इस रोग का नाम 'अन्तरायाम" है।

इसी प्रकार का "बाह्यायाम" होता है उस में—शरीर का बाहिर की ओर आयमन—झुकाव होता है, शिर पीठ की ओर झुकने लगता है, उरःस्थल ऊपर उठ जाता है, ग्रीवा में मर्दन की सी वेदना होती है, दन्तों, ओठों तथा मुख का वर्ण विकृत हो जाता है, स्वेद अधिक आता है तथा अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। इस को बाह्यायाम—कहते हैं। और इन दोनों का नाम "धनुस्तम्भ" है क्योंकि इनमें धनुष के समान झुकाव होता है और ये दोनों रोग वेगवान् होते हैं क्योंकि वेग के समय ही उक्त सब विकार होते हैं—वेग हो चुकने पर शान्त हो जाते हैं ॥२२-२६॥

व्रणायाम का वर्णन—

व्रणं मर्माश्रितं प्राप्य समीरणसमीरणात् ।
व्यायच्छन्ति तनुं दोषाः सर्वामापादमस्तकम् ॥२७॥
तृष्यतः पाण्डुगात्रस्य व्रणायामः स वर्जितः ।

व्याख्या—मर्मों में उत्पन्न व्रण (घाव) में कुपित वायु से प्रेरित पित्त एवं कफ कुपित होकर, पाँव से शिर पर्यन्त समस्त शरीरको आक्रान्त करते हैं—झुका देते हैं तथा उस समय तृषा लगती है और शरीर श्वेताभ हो जाता है। इस का नाम "व्रणायाम" है और यह असाध्य होता है ॥२७॥

आक्षेपकों में वेग—

गते वेगे भवेत्स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकेषु च ॥२८॥

व्याख्या—उक्त सब आक्षेपक रोगों में रोग का वेग हो चुकने पर रोगी "स्वस्थ" हो जाता है।

वक्तव्य—अपतन्त्रक के लिये देखिये च० सि० स्था० अ० ६ श्लो० १२–१५ तथा सु० नि० अ० १। जिसे यहाँ व्रणायाम कहा गया है वही सुश्रुत में अभिघातज आक्षेपक कहा गया है। धनुस्तम्भ वह होता है जिस में वेग के समय अङ्ग प्रत्यङ्ग धनुष के समान झुकते हैं और वेग शांत होने पर सीधे हो जाते हैं—स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं और एक "दण्डापतानक" होता है जिसमें अङ्ग प्रत्यङ्ग दण्ड के समान सीधे स्तब्ध हो जाते हैं यथा—

कफान्वितो भृशं वायुः तास्वेव यदा तिष्ठति ।
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः ।५३।
सु० नि० अ० १ ।२५।

हनुस्रंस—हनुस्तम्भ का वर्णन—

जिह्वातिलेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनू ॥२९॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुस्रंसः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥३०॥

व्याख्या—जीभ का निर्लेखन (जैसे दन्तधावन को फाड़ कर जीभ साफ की जाती है) से, चना आदि सूखे द्रव्य चबाने से अथवा अभिघात (तमाचा आदि की चोट से हनु के मूल में स्थित वायु कुपित होकर हनु को स्रस्त—स्तब्ध कर देता है, इस दशा में मुख खुला ही रह जाता है अथवा संवृत-मिचा ही रह जाता है। इस रोग का नाम हनुस्रंस या हनुस्तम्भ है इस रोग से (जब यह बलवान् नहीं होता तब) चबाने में तथा बोलने में कठिनता होती है।

वक्तव्य – यह रोग दो प्रकार का होता है—१. जिसमें मुख खुला ही रह जाता है और २. जिसमें मुख मिच जाता है। इस दूसरे को "दन्त लगना" कहते हैं और पञ्जाब में "दन्तसिक्कड़" कहते हैं। अथो हनु की गति में स्तब्धता होने से चबाने में तथा भाषण में कठिनाई होती है।

वक्तव्य—उक्त चारों रोगों में बाहु एवं सक्थि की मांस पेशियाँ सूख भी जाती हैं ॥२९,३०॥

जिह्वास्तम्भ का वर्णन—

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥३१॥

व्याख्या—वाणी का वहन करने वाली सिराओं ("द्वाभ्यां भाषते" सु० शा० अ० ९ तथा "वाग्वहे द्वे" सु० शा० अ० ७) में स्थित वायु—जीभ को स्तब्ध कर

देता है। इस रोग का नाम "जिह्वास्तम्भ" है। इस से खाने, पीने तथा बोलने में कठिनता अथवा असमर्थता हो जाती है ॥३१॥

अर्दित का वर्णन—

शिरसा भारहरणादतिहास्यप्रभाषणात् ।
उत्त्रासवक्त्रक्षवथु-खरकार्मुककर्षणात् ॥३२॥
विषमादुपधानाच्च कठिनानां च चर्वणात् ।
वायुर्विवृद्धस्तैस्तैश्च वातलैरूर्ध्वमास्थितः ॥३३॥
वक्रीकरोति वक्त्रार्धमुक्तं हसितमीक्षितम् ।
ततोऽस्य कम्पते मूर्द्धा वाक्सङ्गः स्तब्धनेत्रता ॥३४॥
दन्तचालः स्वरभ्रंशः श्रुतिहानिः क्षवग्रहः ।
गन्धाज्ञानं स्मृतेर्मोहस्त्रासः सुप्तस्य जायते ॥३५॥
निष्ठीवः पार्श्वतो यायादेकस्याक्ष्णो निमीलनम् ।
जत्रोरूर्ध्वं रुजा तीव्रा शरीरार्धेऽधरेऽपि वा ॥३६॥
तमाहुरर्दितं केचिदेकायाममथापरे ।

व्याख्या—शिर पर भार उठाने से, अधिक हँसने से, अधिक बोलने से, उत्त्रास-भय से, वक्र—(टेढा) मुख करके छींकने से, कठोर धनुष खीचने से, टेढा मेढा सिरहाना लगाने से अथवा कठोर द्रव्य चबाने से, अथवा उन उन वातवर्द्धक कारणों से बढ़ा हुआ वायु—ऊपर की ओर आकर मुख के आधे भाग को वक्र-टेढा कर देता है फलतः बोलना, हँसना तथा देखना, भी टेढ़ा कर देता है इस से शिर काँपने लगता है, वाणी रुकने लगती है, उस ओर का एक नेत्र स्तब्ध हो जाता है, दन्त हिल जाते हैं—शिथिल हो जाते हैं, स्वरभेद हो जाता है, उस ओर का कान बहरा हो जाता है, छींक नहीं आती, उस ओर की नासा से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, स्मृति का ह्रास हो जाता है, निद्रितावस्था में भय लगता है थूक एक ओर से गिरता है, उस एक ओर की आँख मिची रहती है, जत्रु के ऊपर के आधे भाग में तीव्र वेदना होती है अथवा (कभी २) शरीर के अधोभाग में भी वेदना होती है। इस रोग को "अर्दित" (लकवा) कहते हैं और कोई २ आचार्य "एकायाम" कहते हैं ॥३२-३६॥

सिराग्रह का वर्णन—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः ॥३७॥
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ।

व्याख्या—रक्त में आश्रित वायु शिरोधरा सिराओं को रूक्ष, वेदना युक्त तथा काली कर देता है। इस का नाम "सिराग्रह" है और यह रोग असाध्य होता है ॥३७॥

पक्षाघात का वर्णन—

गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥३८॥
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥३९॥
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।
सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥४०॥
शुद्धवाताहतः पक्षः कृच्छ्रसाध्यतमो मतः ।
कृच्छ्रस्त्वन्येन संसृष्टो विवर्ज्यः क्षयहेतुकः ॥४१॥

व्याख्या—कुपित वायु—सहसा कुपित वायु—शरीर के आधे भाग का ग्रहण करके, सिरा एवं स्नायुओं को सुखा कर दाहिने अथवा बाएँ एक भाग को क्रियाहीन कर देता है और सन्धिबन्धनों को मुक्त कर देता है फलतः समस्त आधा शरीर क्रियाहीन तथा चेतनाहीन हो जाता है—अर्थात् उस ओर की कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय क्रियाहीन हो जाती हैं। इस रोग को "एकाङ्गरोग" कहते है और कोई कोई आचार्य "पक्षवध" कहते हैं। जब समस्त शरीर में—दोनों पक्षों में वायु आश्रित होता है तब उसी प्रकार का "सर्वाङ्ग रोग" हो जाता है। केवल वायु से जो पक्षाघात (पक्षवध) होता है वह अत्यन्त कष्टसाध्य होता है, पित्त अथवा कफ से संसृष्ट वायु से जो होता है वह कष्टसाध्य होता है और क्षय रोग से या रक्त आदि के क्षय से जो होता है वह असाध्य होता है ॥३८-४१॥

दण्डक का वर्णन—

आमबद्धायनः कुर्यात्संस्तभ्याङ्गं कफान्वितः ।
असाध्यं हतसर्वेहं दण्डवद् दण्डकं मरुत् ॥४२॥

व्याख्या—कफ से अनुगत वायु—आमदोष द्वारा मार्ग अवरुद्ध हो जाने पर, समस्त शरीर को दण्ड के समान स्तब्ध-कठोर कर देता है फलतः समस्त शरीर के सब व्यापार नष्ट हो जाते हैं। इस रोग का नाम "दण्डक" है और यह असाध्य होता है ॥४२॥

अवबाहुक का वर्णन—

अंसमूलस्थितो वायुः सिराः सङ्कोच्य तत्रगाः ।
बाहुप्रस्पन्दितहरं जनयत्यवबाहुकम् ॥४३॥

व्याख्या—अंस फलक के मूल में आश्रित वायु—वहाँ की सिराओं को संकुचित करके "अवबाहुक" नामक रोग को उत्पन्न करता है। इस रोग से—बाहु के स्पन्दन (हिलना-चलना-प्रसारण-आकुञ्चन) का नाश हो जाता है ॥४३॥

विश्वाची का वर्णन—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा बाहुपृष्ठतः ।

बाहुचेष्टापहरणी विश्वाची नाम सा स्मृता ।।४४।।

व्याख्या—जो कण्डरा—बाहु के पृष्ठ भाग से अंगुलियों के तलों की ओर विद्यमान है वह जब वायु से आक्रान्त हो जाती है तब बाहु की चेष्टा का अपहरण हो जाता है। इस विकार का नाम "विश्वाची" है ।।४४।।

खञ्ज, पङ्गु एवं कलायखञ्ज का वर्णन—

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।
तदा खञ्जो भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोरपि ।।४५।।
कम्पते गमनारम्भे खञ्जन्निव च याति यः ।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ।।४६।।

व्याख्या—कटि में आश्रित वायु जब कुपित होकर सक्थि (एक टाँग) की कण्डरा को आक्षिप्त करती है तब प्राणी—खञ्ज (लंगड़ा) हो जाता है। यदि वह वायु दोनों सक्थियों की कण्डराओं को आक्षिप्त करती है तो वह "पङ्गु" हो जाता है। जो चलने के प्रारम्भ में काँपता है और खञ्ज के समान चलता है वह "कलाय खञ्ज" कहलाता है। इस व्याधि में सन्धियों के बन्धन मुक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त चारों रोगों में बाहु एवं सक्थि की मांस पेशियाँ सूख भी जाती हैं।४५,४६।

ऊरुस्तम्भ का वर्णन—

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससङ्क्षोभस्वप्नजागरैः ।।४७।।
सश्लेष्ममेदः पवनमाममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ।।४८।।
सक्थ्यस्थीनि प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन तत ।
तदा स्कभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ।।४९।।
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ।।५०।।
संयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ।।५१।।

व्याख्या—भूखे पेट अथवा भोजन करते हो—शीत अथवा उष्ण, द्रव अथवा शुष्क, गुरु एवं स्निग्ध पदार्थों के तथा परिश्रम सक्षोभ (हिचकोले) दिवास्वाप अथवा रात्रि जागरण के अतिसेवन से—अत्यन्त संचित आमरस-कफ, मेदस् तथा वायु के साथ मिलकर और पित्त को क्षीण करके यदि ऊरुओं में पहुँच जाता है और तब वहीं सक्थियों की अस्थियों को मन्दगामी कफ के द्वारा भीतर पूर्ण करके स्तब्ध कर देता है। इस से ऊरु स्तब्ध हो जाते हैं और शीतल, चेतनाहीन तथा गुरु हो जाते हैं तथा प्रतीत होता है जैसे दूसरे के हों और उन में अत्यन्त वेदना होती है, इस दशा में रोगी चिन्तित रहता है तथा अंगमर्द, स्तैमित्य, तन्द्रा, छर्दि, अरुचि तथा ज्वर से युक्त हो जाता है, पाँव में शिथिलता होती है, पाँवों को बड़े कष्ट के साथ उठा–हिला–डुला सकता है और पाँव सो जाते हैं। इस रोग का नाम "ऊरुस्तम्भ" है कुछ आचार्य इसे "आढ्यवात" कहते हैं।

वक्तव्य—इस रोग का वर्णन च० चि० अ० २७ में देखिये तथा सु० चि० अ० ५ श्लो० ३१--३२--३३ देखिये। इस रोग में ऊरुओं के भीतर उक्त दोषों का सञ्चय हो जाता है, वे अधिक स्थूल हो जाते हैं और चलने में प्रथम कष्ट होता है और फिर चला ही नहीं जाता। यह रोग प्रायः आढ्यों--धनियों को होता है अतः "आढ्यवात" कहलाता है और इससे ऊरु स्तब्ध हो जाते हैं अतः "ऊरुस्तम्भ" कहलाता है। इस रोग में रोगी दौड़ नहीं सकता भले ही कुछ चलता फिरता रहे ४७-५१।

क्रोष्टुशीर्ष का वर्णन—

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः ।
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षश्च स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् ।।५२।।

व्याख्या—जानुओं पर वातरक्त के प्रकोप से अत्यन्त वेदना वाला शोथ उत्पन्न हो जाता है और श्रृगाल के शिर का सा मोटा होता है—ऊरु एवं जंघा पतले पड़ जाते हैं केवल जानु मोटा हो जाता है। इस का नाम है "क्रोष्टुशीर्ष" (क्रोष्टुशीर्षक) ।।५२।।

वातकण्टक का वर्णन—

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ।
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ।।५३।।

व्याख्या—पाँव नीचे ऊँचे स्थान पर पड़ जाने पर अथवा परिश्रम के कारण जब गुल्फसन्धि में आश्रित वायु से वेदना हो जाती है उसे "वातकण्टक" कहते हैं।

वक्तव्य—इस रोग को "मोच" कहते हैं। सुश्रुत में इसका दूसरा नाम "खुडक" भी है।५३।।

गृध्रसी का वर्णन—

पार्ष्णि प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा मारुतार्दिता ।
सक्थ्युत्क्षेपं निगृह्णाति गृध्रसीं तां प्रचक्षते ।।५४।।
विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता ।

व्याख्या—टांग की जो कण्डरा एडी पर से अंगुलियों पर्यन्त गई है वह जब वायु के प्रकोप से पीड़ित होकर सक्थि उत्क्षेप (उठाना) को रोक देती है तब उस रोग को "गृध्रसी" कहते हैं। जब विश्वाची एवं गृध्रसी

एक साथ उत्पन्न हो जाती है और तीव्र वेदना होती है तब वह "खल्ली" कहलाती है ।

वक्तव्य—इस का पाठ सुश्रुत में भी इसी प्रकार है परन्तु च०चि० अ० २८ में इसका पाठ इस प्रकार है यथा--

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात् ।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैः गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥५६॥
वाताद् वातकफात् तन्द्रा गौरवाऽरोचकान्विता ।

इस रोग में सक्थि के प्रसारण एवं आकुञ्चन में कष्ट होता है फलतः रोगी चल नहीं पाता । चरक के उक्त पाठ के नीचे खल्ली का वर्णन इस प्रकार है—

खल्ली तु पादजंघोरुकरमूलाऽवमोटनी ॥५७॥

यह रोग विसूचिका में प्रायः देखा जाता है । गृध्रसी प्रायः एक सक्थि में होती है और विश्वाची एक बाहु में परन्तु खल्ली दोनों सक्थियों तथा बाहुओं में होती है ।५४।

पादहर्ष का वर्णन—

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां च प्रसुप्तवत् ॥५५॥
पादहर्षः स विज्ञेयः कफमारुतकोपजः ।

व्याख्या—जिस रोग में पाँव में झुनझुनी होती है तथा पाँव सो जाते हैं वह "पाद हर्ष" कहलाता है और वह रोग वात एवं कफ के प्रकोप से उत्पन्न होता है।।५५।।

पाददाह का वर्णन—

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥५६॥
विशेषतश्चङ्क्रमिते पाददाहं तमादिशेत् ॥

व्याख्या—पित्त एवं रक्त के साथ मिल कर वायु—पाँवों में दाह उत्पन्न करता है उस का नाम "पाददाह" है और यह विकार अधिक चलने पर प्रायः हो जाता है अथवा बढ़ जाता है ।

वक्तव्य—इस अध्याय में वायु के मुख्य२रोगों का वर्णन किया गया है । वायु के ८० रोगों के नामों का निर्देश च० सू० अ० २० में तथा अ० सं० सू० अ० २० में देखिये ।५४।

इति अष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने पञ्चदशोऽध्यायः ।१५।

षोडशोऽध्यायः ।

अथाऽतो वातशोणितनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब वातरक्त रोग की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वातरक्त का निदान, सम्प्राप्ति एवं पूर्वरूप—

विदाह्यन्नं विरुद्धं च तत्तच्चासृक्प्रदूषणम् ।
भजतां विधिहीनं च स्वप्नजागरमैथुनम् ॥१॥
प्रायेण सुकुमाराणामचङ्क्रमणशीलिनाम् ।
अभिघातादशुद्धेश्च नृणामसृजि दूषिते ॥२॥
वातलैः शीतलैर्वायुर्वृद्धः क्रुद्धो विमार्गगः ।
तादृशेनासृजा रुद्धः प्राक्तदेव प्रदूषयेत् ॥३॥
आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम् ।
तदाहुर्नामभिस्तच्च पूर्वं पादौ प्रधावति ॥४॥
विशेषाद्यानयानाद्यैः प्रलम्बौ तस्य लक्षणम् ।
भविष्यतः कुष्ठसमं तथा सादः श्लथाङ्गता ॥५॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
कण्डूस्फुरणनिस्तोदभेदगौरवसुप्तताः ॥६॥
भूत्वा भूत्वा प्रणश्यन्ति मुहुराविर्भवन्ति च ।
पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ॥७॥
आखोरिव विषं क्रुद्धं कृत्स्नं देहं प्रधावति ।

व्याख्या—जो विदाहकारी अन्न का, विरोधी आहार का, रक्तदूषक उन-उन आहार-विहारों का, विधिहीन स्वप्न, जागरण तथा मैथुन का सेवन करते हैं, जो सुकुमार हैं और जो चलते फिरते नहीं हैं उनका वातरक्त कुपित हो जाता है । चोट लगने से अथवा शरीर की या रक्त की शुद्धि न करने से रक्त दूषित हो जाने पर, वातवर्द्धक एवं शीतल द्रव्यों के सेवन से बढ़ा हुआ तथा क्रुद्ध वायु प्रतिलोम होकर, वैसे ही पूर्ववत् दूषित रक्त द्वारा अवरुद्ध (आवृत) होकर पहिले रक्त को दूपित कर देता है (फिर धीरे धीरे मांसादि को भी दूषित कर देता है । इस रोग के नाम हैं—आढ्यरोग (धनिकों का रोग), खुड (पहिले खुर—पाँव पर होता है), वातबलास, तथा वातशोणित (वातरक्त—क्यों कि पहिले वात एवं रक्त एक साथ विकृत होते हैं) । इस रोग का स्वभाव है कि पहले यह पाँवों पर उत्पन्न होता है—फैलता है, विशेषतः उन पाँवों पर जो घोड़ा ऊण्ट आदि की सवारी में लटकते रहते हैं । उस रोग का पूर्वरूप कुष्ठ के समान होता है (देखिये नि०अ० १४) तथा अवसाद, शरीर में शिथिलता, जानु, जंघा, ऊरु, कटी, अंसफलक, हाथों, पावों तथा शरीर भर की सन्धियों में—कण्डू, स्फुरण (फरकना), सूई के चुभने कीसी वेदना फटने कीसी पीड़ा या त्वचा का भेद, भारीपन तथा स्वाप उत्पन्न हो हो कर नष्ट होते हैं और पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं । यह रोग कुपित होकर, पाँवों में कभी कभी हाथों में मूल स्थान बना कर मूषक के विष के समान (देखिये उत्तर तन्त्र अ० ३८ तथा सुश्रुत कल्प स्थान अ० ७) समस्त शरीर में फैल जाता है ॥१-७॥

वातरक्त के दो भेद—

त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः ॥८॥
कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवत् ।

व्याख्या—अवस्थाभेद से वातरक्त दो प्रकार का होता है—१. उत्तान-जो केवल त्वचा एवं मांस में उत्पन्न होता है और २. गम्भीर-जो कालान्तर में सभी धातुओं में व्याप्त हो जाता है ॥८॥

उन दोनों के लक्षण—

कण्ड्वादिसंयुतोत्ताने त्वक्ताम्रश्यावलोहिता ॥९॥
सायामा भृशदाहोषा गम्भीरेऽधिकपूर्वरुक् ।
श्वयथुर्ग्रथितः पाकी वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु ॥१०॥
छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ।
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन् ॥११॥

व्याख्या—उत्तान वातरक्त में—त्वचा-कण्डू, स्फुरण, निस्तोद, भेद, गौरव तथा सुप्तता से युक्त, ताम्र की सी काली एवं लाल, तनाव युक्त तथा अत्यन्त दाह एवं उष्मा से युक्त हो जाती है और गम्भीर वात रक्त में उक्त वेदनाएँ अधिक हो जाती हैं, ग्रन्थियों वाला शोथ हो जाता है, वह शोथ पक जाता है और वायु—सन्धियों में, अस्थियों में तथा मज्जा में छेदन की सी वेदना करता हुआ घूमता है, शरीर के अवयवों को टेढा कर देता है—रोगी खंज, पंगु, लुंजा हो जाता है और वायु वेग के साथ समस्त शरीर में घूमता है—शरीर में वेदना तरङ्ग उठते रहते हैं ॥९-११॥

विशिष्ट लक्षण—

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणतोदनम् ।
शोफस्य रौक्ष्यकृष्णत्व-श्यावतावृद्धिहानयः ॥१२॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः ॥१३॥
रक्ते शोफोऽतिरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः ॥१४॥
पित्ते विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट् ।
स्पर्शाक्षमत्वं रुग्रागः शोफपाकौ भृशोष्मता ॥१५॥
कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः ।
कण्डूर्मन्दा च रुग् द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च सङ्करे ॥१६॥

व्याख्या-वात रक्त रोग में वायु अधिक होने पर उक्त शूल, स्फुरण तथा तोद अधिक होते हैं—शोथ में—रूक्षता, कृष्णता, श्यावता, वृद्धि तथा क्षय होते रहते हैं, धमनियों, अंगुलियों तथा सन्धियों में अधिक संकोच होता है, अगों में स्तब्धता तथा वेदना अधिक होती है, शीतल आहार—विहारों में द्वेष—अरुचि होती है और शीतल आहार-विहार के सेवन से रोग बढता है, शरीर में स्तब्धता, कम्पन तथा स्वाप होते हैं।

रक्त की अधिकता होने पर—शोथ में वेदना तथा सूई के चुभने कीसी व्यथा अधिक होती है, वह अधिक लाल होता है और चिमचिमाता रहता है, स्निग्ध अथवा रूक्ष द्रव्यों के सेवन से शान्त नहीं होता, उसमें कण्डू होता है तथा क्लेद—पन्छा उत्पन्न हो जाता है। पित्त की अधिकता होने पर—दाह, मोह, स्वेद, मूर्च्छा, मद तथा तृषा होती है, छूने मात्र से वेदना होती है, सदा वेदना होती रहती है, शोथ लाल होता है, पक जाता है तथा उस में ऊष्मा अधिक होती है। कफ की अधिकता होने पर—स्तिमितता, भारीपन, स्वाप, स्निग्धता तथा शीतता रहती है, कण्डू अधिक तथा वेदना मन्द होती है। दो दो दोषों की अधिकता होने पर दो दो दोषों के उक्त लक्षण होते हैं। और तीनों दोषों (रक्तसमेत तीनों दोषों) की अधिकता होने पर उक्त सब लक्षण होते हैं ॥१२-१६॥

वातरक्त की साध्याऽसाध्यता—

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजं त्यजेत्स्रावि स्तब्धमर्बुदकारि च ॥१७॥

व्याख्या—जो वातरक्त एकदोषाधिक तथा नूतन होता है वह साध्य, द्विदोषज याप्य तथा त्रिदोषज असाध्य होता है और जो स्रावयुक्त, स्तब्ध तथा अर्बुदयुक्त होता है वह भी असाध्य होता है।

वक्तव्य—वातरक्त का वर्णन च. चि.अ० २९ में तथा सु. नि. अ० १ में अ. सं. नि. अ० १६ में देखिये ॥१७॥

वायु के आवरणों का वर्णन—

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः ।
निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरत्यसून् ॥१८॥

व्याख्या—शाखा एवं सन्धियों में आश्रित वायु—रक्त के मार्ग को अवरुद्ध करके और परस्पर आवरण करके अनेक प्रकार की वेदनाओं द्वारा प्राणों का हरण करता है।

वक्तव्य—हमारे विचार में यहाँ शाखा शब्द से रक्त आदि धातु एवं त्वचा समझना चाहिये और सन्धियाँ तो समस्त शरीर में व्याप्त हैं ही। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वायु—प्राण एवं उदान आदि वायुओं द्वारा, पित्त एवं कफ द्वारा तथा धातुओं एवं मलों द्वारा आवृत होकर अथवा उनको आवृत करके रोगों की उत्पत्ति करता है। यथा—वायोः धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा। च. चि. अ० २८ श्लोक० ५९। इन आवरणों का वर्णन आगे श्लो०

२० से ५६ तक किया गया है ।।१८।।

प्राण आदि वायु के रोग—

वायौ पञ्चात्मके प्राणो रौक्ष्यव्यायामलङ्घनैः ।
अत्याहाराभिघाताध्व-वेगोदीरणधारणैः ।।१९।।
कुपितश्चक्षुरादीनामुपघातं प्रवर्तयेत् ।
पीनसार्दिततृट्कासश्वासादींश्चामयान्बहून् ।।२०।।
उदानः क्षवथूद्गारच्छर्दिनिद्राविधारणैः ।
गुरुभारातिरुदितहास्याद्यैर्विकृतो गदान् ।।२१।।
कण्ठरोधमनोभ्रंशच्छर्द्यरोचकपीनसान् ।
कुर्याच्च गलगण्डादींस्तांस्तान् जत्रूर्ध्वसंश्रयान् ।।२२।।
व्यानोऽतिगमनध्यानक्रीडाविषमचेष्टितैः ।
विरोधिरूक्षभीहर्षविषादाद्यैश्च दूषितः ।।२३।।
पुंस्त्वोत्साहबलभ्रंशशोफचित्तोत्प्लवज्वरान् ।
सर्वाङ्गरोगनिस्तोदरोमहर्षाङ्गसुप्तताः ।।२४।।
कुष्ठं विसर्पमन्यांश्च कुर्यात्सर्वाङ्गगान् गदान् ।
समानो विषमाजीर्णशीतसङ्कीर्णभोजनैः ।।२५।।
करोत्यकालशयनजागराद्यैश्च दूषितः ।
शूलगुल्मग्रहण्यादीन् पक्वामाशयजान् गदान् ।।२६।।
अपानो रूक्षगुर्वन्नवेगघातातिवाहनैः ।
यानयानासनस्थानचङ्क्रमैश्चातिसेवितैः ।।२७।।
कुपितः कुरुते रोगान् कृच्छ्रान् पक्वाशयाश्रयान् ।
मूत्रशुक्रप्रदोषार्शो गुदभ्रंशादिकान्बहून् ।।२८।।
सर्वं च मारुतं सामं तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
स्निग्धत्वारोचकाऽलस्यशैत्यशोफाऽग्निहानिभिः ।।२९।।
कटुरूक्षाभिलाषेण तद्विधोपशयेन च ।
युक्तं विद्यान्निरामं तु तन्द्रादीनां विपर्ययात् ।।३०।।

व्याख्या—वायु ५ प्रकार का है उनमें—प्राण वायु शरीर में रूक्षता होने से, व्यायाम से, उपवास से, अधिक आहार से, अभिघात लगने से, अधिक चलने से तथा वेगों के प्रेरण अथवा धारण से कुपित होकर चक्षुः इन्द्रिय आदि का उपघात (विकृति) तथा पीनस, अर्दित, तृषा, कास तथा श्वास आदि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। उदान वायु—छींक, उद्गार, छर्दि तथा निद्रा के वेग रोकने से कुपित होकर अथवा अधिक भार उठाने से, अधिक रोने से अथवा अधिक हँसने आदि से विकृत होकर—कण्ठावरोध, मानसिक शक्ति का भय, छर्दि, अरुचि, पीनस तथा जत्रु के ऊपर के भाग में उत्पन्न होने वाले गलगण्ड आदि अन्यान्य अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। व्यान वायु—अधिक चलने से, अधिक खड़ा रहने से, अधिक क्रीडा (खेलकूद) से, विषम चेष्टाओं से, विरोधी एवं रूक्ष आहार से, भय से, चिन्ता से तथा अधिक विषाद (शोक) आदि से दूषित होकर—पुंस्त्व (मैथुन शक्ति), उत्साह तथा बल का क्षय, शोथ चित्त का उपप्लव (घबराहट उद्वेग), ज्वर, सर्व शरीर व्यापी रोग (सर्वाङ्गघात), सूई के चुभने की सी व्यथा, रोमहर्ष, अंगों की शून्यता, कुष्ठ, विसर्प तथा सर्व शरीरव्यापी अन्यान्य रोगों को उत्पन्न करता है। समान वायु—विषम, अपक्व, शीत तथा संकीर्ण भोजनों से, अकालस्वप्न तथा अकाल जागरण आदि कारणों से—दूषित होकर—शूल, गुल्म ग्रहणी रोग आदि पक्वाशय एवं आमाशय में उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अपान वायु—रूक्ष एवं गुरु अन्नों के सेवन से, वेगों को रोकने से तथा वेगों का प्रेरण करने से, गाड़ी आदि पर बैठ कर यात्रा करने से, बैठे रहने से, खड़ा रहने से तथा अधिक चलने से कुपित होकर—पक्वाशय में होने वाले अनेक कष्टप्रद रोगों को तथा मूत्ररोग, शुक्ररोग, अर्श एवं गुदभ्रंश आदि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। और आमदोष से युक्त सब प्रकार के वायु—तन्द्रा, स्तैमित्य, गुरुता, स्निग्धता, अरोचक, आलस्य, शीतता, शोथ, मन्दाग्नि, कटु एवं रूक्ष पदार्थों के सेवन लाभ से युक्त होते हैं और निराम—आमदोष से रहित सब प्रकार के वायु उक्त तन्द्रा आदि लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाले होते हैं (उन में तन्द्रा आदि रोग नहीं होते अर्थात् तन्द्रा आदि लक्षण आम रस के हैं)।।

वायु के आवरण—

वायोरावरणं चातो बहुभेदं प्रवक्ष्यते ।
लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः ।।३१।।
कटुकोष्णाम्ललवणैर्विदाहः शीतकामता ।
शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ।।३२।।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामता च कफावृते ।
रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजा भृशम् ।।३३।।
भवेच्च रागी श्वयथुः जायन्ते मण्डलानि च ।
मांसेन कठिनः शोफो विवर्णः पिटिकास्तथा ।।३४।।
हर्षः पिपीलिकानां च सञ्चार इव जायते ।
चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफो गात्रेष्वरोचकः ।।३५।।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृते ।
स्पर्शम् अस्थ्यावृतेऽत्युष्णं पीडनं चाभिनन्दति ।।३६।।
सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं सीदति शूल्यते ।
मज्जावृते विनमनं जृम्भणं परिवेष्टनम् ।।३७।।
शूलं च पीड्यमानेन पाणिभ्यां लभते सुखम् ।
शुक्रावृतेऽतिवेगो वा न वा निष्फलताऽपि वा ।।३८।।
भुक्ते कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ।
मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृते भवेत् ।।३९।।

विडावृते विबन्धोऽधः स्वस्थाने परिकृन्तति ।
व्रजत्याशु जरां स्नेहो, भुक्ते चानह्यते नरः ॥४०॥
शकृत्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात्सृजेत् ।
सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठरुक् ॥४१॥
विलोमो मारुतोऽस्वस्थं हृदयं पीड्यतेऽति च ।
भ्रमो मूर्च्छा रुजा दाहः पित्तेन प्राण आवृते ॥४२॥
विदग्धेऽन्ने च वमनम् उदानेऽपि भ्रमादयः ।
दाहोऽन्तरूर्जोभ्रंशश्च दाहो व्याने च सर्वगः ॥४३॥
क्लमोऽङ्गचेष्टासङ्गश्च ससन्तापः सवेदनः ।
समान ऊष्मोपहतिरतिस्वेदोऽरतिः सतृट् ॥४४॥
दाहश्च स्याद्, अपाने तु मले हारिद्रवर्णता ।
रजोऽतिवृद्धिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु ॥४५॥
श्लेष्मणा त्वावृते प्राणे सादस्तन्द्राऽरुचिर्वमिः ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गार निःश्वासोच्छ्वाससङ्ग्रहः ॥४६॥
उदाने गुरुगात्रत्वमरुचिर्वाक्स्वरग्रहः ।
बलवर्णप्रणाशश्च व्याने पर्वास्थिवाग्ग्रहः ॥४७॥
गुरुताऽङ्गेषु सर्वेषु स्खलनं च गतौ भृशम् ।
समानेऽतिहिमाङ्गत्वमस्वेदो मन्दवह्निता ॥४८॥
अपाने सकफं मूत्रशकृतः स्यात्प्रवर्तनम् ।
इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः ॥४९॥

व्याख्या—अब वायु के अनेक प्रकार के आवरणों का वर्णन किया जाता है—१. पित्तावृत वायु के लक्षण—दाह, तृषा, शूल, श्रम (थकावट), नेत्रों के सामने अन्धकार तथा कटु, उष्ण, अम्ल तथा लवण पदार्थों के सेवन से विदाह (विदग्धाजीर्ण) तथा शीतल आहार-विहार की अभिलाषा । २. कफावृत वायु के लक्षण—शीतता, गुरुता, शूल, कटु एवं उष्ण आदि कफ नाशक द्रव्यों के सेवन से लाभ और उपवास, परिश्रम, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों की अधिक अभिलाषा । ३. रक्तावृत वायु के लक्षण—त्वचा तथा मांस में दाहयुक्त वेदना की अधिकता, लाल वर्ण युक्त शोथ तथा मण्डल (चकत्ते) । ४. मांसावृत वायु के लक्षण—कठोर तथा विकृत वर्ण वाला शोथ तथा इसी प्रकार की पिटिका (फुन्सियाँ), रोमहर्ष तथा चिउटियों के सञ्चार की प्रतीति । ५. मेदो धातु से आवृत वायु के लक्षण—अंगों पर चल, स्निग्ध, कोमल तथा शीतल शोथ तथा अरुचि, इस विकृति का नाम आढ्यवात है और यह कष्टसाध्य समझा जाता है । ६. अस्थि से आवृत वायु के लक्षण—रोगी अत्यन्त उष्ण स्पर्श (लेपादि) का तथा पीडन का अभिनन्दन करता है, उस के शरीर में सुई से विंधने की सी अत्यन्त वेदना होती हैं, आलस्य तथा शूल होता है । ७. मज्जावृत वायु का लक्षण—अंगों में विनमन—झुकाव, जम्भाई, परिवेष्टन (ऐंठन या रज्जु आदि से बद्ध की सी प्रतीति), तथा शूल । और हाथों से पीडन करने (दबाने—चम्पी करने) से सुख का लाभ । ८. शुक्र से आवृत वायु के लक्षण—शुक्र का अधिक वेग (शीघ्र पतन) अथवा वेगहीन होना अथवा उस से गर्भाधान न होना (गर्भस्राव, गर्भपात—गर्भविकृति आदि भी) । ९—अन्न से आवृत वायु के लक्षण—भोजन करते ही आमाशय में वेदना तथा पच जाने पर वेदना की शान्ति । १०. मूत्र से आवृत वायु के लक्षण—मूत्र की प्रवृत्ति न होना (मूत्राघात) तथा वस्ति में आध्मान । ११. पुरीष से आवृत वायु के लक्षण—पुरीष मार्ग में में विबन्ध—पुरीषरोध, पुरीषमार्ग में परिकर्त्तिका—खरोश, गुदमार्ग में दिया हुआ स्नेह त्वरित पच—सूख जाता है, भोजन करने पर आनाह हो जाता है; दूसरे तीसरे आहार का दबाव पड़ने पर, दुःख के साथ तथा सूखा पुरीष—विलम्ब से आता है । १२. सब धातुओं से आवृत वायु के लक्षण—कटि प्रदेश, वंक्षण तथा पीठ में वेदना रहती है, वायु प्रतिलोम बना रहता है, हृदय व्याकुल रहता है तथा उसमें पीड़ा होती है । १३. पित्त से आवृत प्राण के लक्षण—भ्रम, मूर्च्छा, वेदना, दाह और भोजन पचते समय वमन । १४. पित्तावृत उदान के लक्षण—उक्त भ्रम एवं मूर्च्छा आदि लक्षण, अन्तर्दाह होना तथा ओजस् का भ्रंश । १५. पित्तावृत व्यान के लक्षण—समस्त शरीर में दाह, क्लम, अङ्गों के व्यापार में रुकावट, सन्ताप तथा वेदना । १६. पित्तावृत समान के लक्षण—जठराग्नि की मन्दता, स्वेद की अधिकता (अस्वेद-चरक), अरति, तृषा तथा दाह । १७. पित्तावृत अपान के लक्षण—पुरीष का हल्दी कासा वर्ण, रजस् की अतिप्रवृत्ति (प्रदर) तथा योनि, मूत्रमार्ग एवं गुद में सन्ताप । १८. कफ से आवृत प्राण के लक्षण—शिथिलता, तन्द्रा, अरुचि, छर्दि होना, लालास्राव, छींक, उद्गार, निःश्वास एवं उच्छ्वास में रुकावट । १९. कफ से आवृत उदान के लक्षण—शरीर में भारीपन, अरुचि और वाणी तथा स्वर में रुकावट, बल तथा वर्ण का क्षय । २०. कफ से आवृत व्यान के लक्षण—सन्धियों, अस्थियों तथा वाणी की गति में रुकावट, सब अङ्गों में भारीपन तथा चलने में अत्यन्त स्खलन—गिरना—पड़ना । २१. कफ से आवृत समान वायु के लक्षण—शरीर में अत्यन्त शीतता, स्वेद का अभाव तथा मन्दाग्नि । २२. कफ से आवृत अपान के लक्षण—कफ युक्त मूत्र एवं पुरीष की प्रवृत्ति । इस प्रकार २२ प्रकार के आवरण होते हैं॥३१-५०॥

प्राण आदि के परस्पर आवरण—

प्राणादयस्तथाऽन्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम् ।
सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च तत् ॥५०॥

व्याख्या—प्राण आदि पाँच प्रकार के वायु—परस्पर आवरण करते हैं, वे सब क्रमशः २० होते हैं ।

वक्तव्य—यथा—प्राण वायु द्वारा उदान आदि चार का आवरण होता है और उन चारों द्वारा प्राण का आवरण होता है इस प्रकार ८ । उदान द्वारा तीन का आवरण होता है और तीनों द्वारा उदान का आवरण होता है इस प्रकार ६ । व्यान द्वारा दो का आवरण होता है और दोनों द्वारा व्यान का आवरण होता है इस प्रकार ४ । समान द्वारा एक का और एक द्वारा समान का आवरण होता है इस प्रकार २ । सर्व योग २० ॥५०॥

आवरणों का वर्णन—

निःश्वासोच्छ्वाससंरोधः प्रतिश्यायः शिरोग्रहः ।
हृद्रोगो मुखशोषश्च प्राणेनोदान आवृते ॥५१॥
उदानेनाऽऽवृते प्राणे वर्णौजोबलसङ्क्षयः ।
दिशाऽनया च विभजेत्सर्वमावरणं भिषक् ॥५२॥
स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ।

व्याख्या—उदाहरणार्थ—प्राण वायु द्वारा उदान वायु का आवरण होने पर-निःश्वास एवं उच्छ्वास का अवरोध, प्रतिश्याय, शिर की क्रिया में रुकावट, हृद्रोग तथा मुख शोष और उदान वायु द्वारा प्राण वायु का आवरण होने पर-वर्ण—कान्ति, ओजस् तथा बल का क्षय हो जाता है । इसी प्रकार चिकित्सक सब वायुओं के स्थानों को उनके कर्म की वृद्धि तथा हानि—क्षय को विचार कर सब प्रकार के आवरणों का विभाग करे—निश्चय करे ।

वक्तव्य—उक्त पाँचों वायुओं के स्थान दोषभेदीय अध्याय (सू. अ. १२) में देखिए । आवरण करने वाला बलवान् होता है अतः उसके लक्षणों की वृद्धि होती है और आवृत होने वाला दुर्बल होता है अतः उसके लक्षणों की हानि होती है । इस विचार से आवरक तथा आवार्य वायु का निर्णय कर लेना चाहिए । देखिए च. चि. अ. २८ ।५४।

आवरणों की असंख्येयता—

प्राणादीनां च पञ्चानां मिश्रमावरणं मिथः ॥५३॥
पित्तादिभिर्द्वादशभिर्मिश्राणां मिश्रितैश्च तैः ।
मिश्रैः पित्तादिभिस्तद्वन्मिश्रणाभिरनेकधा ॥५४॥
तारतम्यविकल्पाच्च यात्यावृतिरसङ्ख्यताम् ।
तां लक्षयेदवहितो यथास्वं लक्षणोदयात् ॥५५॥
शनैःशनैश्चोपशयाद् गूढामपि मुहुर्मुहुः ।

व्याख्या—प्राण आदि पाँचों वायुओं का परस्पर मिश्रण होता है, उनका पित्त आदि १२ के साथ मिश्रण होता है और उन परस्पर मिश्रितों के साथ उसी प्रकार प्राण आदि का अनेक प्रकार से मिश्रण होता है और फिर उन सबका तर तम (अधिक, अत्यन्त अधिक) भेद से मिश्रण होता है इस प्रकार ये सब आवरण असंख्य हो जाते हैं । तथापि चिकित्सक सावधान होकर उन उन के लक्षणों की उत्पत्ति और धीरे २ होने वाली शान्ति होने से उन गूढ–गम्भीर आवरणों को जानने का प्रयत्न अवश्य करे ॥५३-५५॥

उपसंहार—

विशेषाज्जीवितं प्राण उदानो बलमुच्यते ॥५६॥
स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च ।
आवृता वायवोऽज्ञाता ज्ञाता वा वत्सरं स्थिताः ॥५७॥
प्रयत्नेनापि दुःसाध्या भवेयुर्नाऽनुपक्रमाः ।
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ।५८।

इति श्री नृसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायां
अष्टांगहृदयसंहितायां तृतीयं निदानस्थानम् ॥३॥

व्याख्या—यद्यपि सभी वायुओं में जीवित की स्थिति है तथापि—प्राण वायु में विशेषरूप से जीवित (आयुः) की और उदान में बल की स्थिति मानी जाती है अतः उन प्राण तथा उदान वायु के पीडन (विकृति-दुष्टि) से आयु तथा बल की हानि होती है । (देखिये चि.अ० २२) । उक्त प्रकार से आवृत वायुओं का ज्ञान हो जाने पर अथवा न होने पर यदि एक वर्ष व्यतीत हो जाता है तो वे कष्टसाध्य अथवा असाध्य हो जाते हैं । उनकी उपेक्षा करने पर (समय पर चिकित्सा न करने से) विद्रधि, प्लीहा,हृद्रोग, गुल्मरोग तथा मन्दाग्नि आदि अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं ।

वक्तव्य—आवरण का अर्थ है अवरोध–रुकावट–उचित गुण कर्म में व्याघात,आवरक का अर्थ है आवरण करने वाला और आवृत तथा आवार्य का अर्थ है अवरुद्ध होने वाला—जिसका आवरण होता है । यह सब उन विकारों का वर्णन है जिनमें आवरक आवार्यों का आवरण करते हैं अर्थात् जो विकार आवरकों द्वारा आवार्यों का आवरण होने से उत्पन्न होते हैं । जब कोई आवरक किसी आवार्य का किसी स्थान में आवरण करता है तब अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥६०

इत्यष्टाङ्गहृदये निदानस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

निदानस्थान समाप्त

अष्टाङ्गहृदये-चिकित्सितस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथाऽतो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब ज्वर चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—ज्वर चिकित्सा च. चि. अ. ३, नि. अ. १, सु. उ. अ. ३८ तथा अ. सं० चि. अ० १ एवं २ में देखिए ।

ज्वर में लंघन की व्यवस्था—

आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत् ।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात्कुर्वीत लङ्घनम् ॥१॥
प्राग्रूपेषु ज्वरादौ वा बलं यत्नेन पालयन् ।
बलाधिष्ठानमारोग्यमारोग्यार्थं क्रियाक्रमः ॥२॥
लंघनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति ।
स्वास्थ्यं क्षुत् तृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते ॥३॥
तत्रोत्क्लिष्टे समुत्क्लिष्टे कफप्राये चले मले ।
सहृल्लासप्रसेकाऽन्नद्वेषकासविसूचिके ॥४॥
सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः ।
वमनं वमनार्हस्य शस्तं, कुर्यात्तदन्यथा ॥५॥
श्वासातिसारसम्मोहहृद्रोगविषमज्वरान् ।

व्याख्या—क्यों कि आमाशय में स्थित दोष-आमरस के साथ मिल कर तथा रसवाही स्रोतों को रोक कर (उन में रुकावट डाल कर) ज्वर को उत्पन्न करता है इसलिये ज्वर के पूर्व रूप में तथा ज्वर की प्रारम्भिक दशा में लंघन (उपवास या लघु भोजन) करना चाहिये । परन्तु लंघन बल की रक्षा करते हुये करना चाहिए (ऐसा या इतना अधिक लंघन न करे जिससे बल का क्षय हो जाय) क्यों कि बल ही आरोग्य का अधिष्ठान—मुख्य हेतु है और आरोग्य के लिये ही चिकित्सा की जाती है । उचित लंघनों के द्वारा—दोषों (आम युक्त दोष) का क्षय हो जाता है, अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और शरीर में लघुता प्रतीत होती है इस अवस्था में—स्वास्थ्य का लाभ होता है तथा भूख, प्यास, खाने की इच्छा, पाचन शक्ति (आमरस का पाक) फलतः बल एवं ओजस् (उत्साह) की उत्पत्ति हो जाती है । ज्वर के प्रारम्भ में यदि दोष (आमाशयस्थ आमयुक्त दोष) अत्यन्त बढ़ा हुआ हो, निकलने के लिए उन्मुख हो, कफ प्रधान हो, शिथिल हो, साथ में हृल्लास, लाला स्राव, अन्न में अरुचि, कास अथवा विसूचिका (वमन-विरेचन) हो अथवा भोजन करते ही ज्वर उत्पन्न हुआ हो विशेषतः आम ज्वर (आम ज्वर के लक्षणों वाला) हो और रोगी वमन करने योग्य हो तो वमन प्रशस्त है अन्यथा वमन श्वास, अतिसार, मोह-मूर्च्छा, हृद्रोग अथवा विषम, ज्वर को उत्पन्न करता है (वमन से उक्त विकार हो सकते हैं अतः वमन प्रशस्त नहीं है) ॥१-५ ।

वमन कारक योग—

पिप्पलीभिर्युतान् गालान् कलिङ्गैर्मधुकेन वा ॥६॥
उष्णाम्भसा समधुना पिबेत्सलवणेन वा ।
पटोलनिम्बकर्कोटवेत्रपत्रोदकेन वा ॥७॥
तर्पणेन रसेनेक्षोर्मद्यैः कल्पोदितानि वा ।
वमनानि प्रयुञ्जीत बलकालविभागवित् ॥८॥

व्याख्या—वमन के लिये—मैनफल का चूर्ण पीपल मिलाकर अथवा इन्द्र जौ (कटु इन्द्र जौ) अथवा मुलेठी मिलाकर मधु मिश्रित अथवा लवण मिश्रित उष्ण जल के साथ पीना चाहिए अथवा परवल के पत्र (कटु पटोल), निम्ब के पत्र, बाँझ ककोड़ा के पत्र, तथा वेत के पत्र के क्वाथ के साथ अथवा तर्पण (सत्तू का घोल) के साथ अथवा ईख के रस के साथ अथवा मद्य के साथ पीना चाहिये । अथवा रोग एवं रोगी के बल तथा वमन के काल के अनुसार-कल्प स्थान (अ. १) में बतलाये गये अन्यान्य वमन द्रव्यों का प्रयोग करे ।

लंघन से लाभ—

कृतेऽकृते वा वमने ज्वरी कुर्याद्विशोषणम् ।
दोषाणां समुदीर्णानां पाचनाय शमाय च ॥९॥

व्याख्या—उक्त दशा में वमन करने पर अथवा विपरीत दशा में वमन न करने पर ज्वर रोगी—बढे दोषों के पाचन के लिये तथा शमन के लिए विशोषण अर्थात्

लंघन करे।

वक्तव्य—लंघन से अग्नि प्रदीप्त होती है अतः उन दोषों-आम युक्त दोषों का पाचन हो जाता है। वमन से पश्चात् भी दोष शेष के पाचनार्थ थोड़ा बहुत लंघन आवश्यक होता है।९।

लंघन की आवश्यकता एवं अवधि—

आमेन भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते।
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत् ॥१०॥

व्याख्या—जैसे भस्म से आच्छादित अग्नि पर तन्दुल आदि का पाक नहीं होता वैसे ही दोष द्वारा अग्नि(जठराग्नि) आछन्न रहने पर खाया हुआ अन्न नहीं पचता। इसलिये-दोष पच जाने पर्यन्त ज्वर रोगी को उपवास (लंघन) करना चाहिये ॥१०॥

तृषा में उष्ण जल—

तृष्णगल्पाल्पमुष्णाम्बु पिबेद्वातकफज्वरे।
तत्कफं विलयं नीत्वा तृष्णामाशु निवर्तयेत् ॥११॥
उदीर्य चाऽग्निं स्रोतांसि मृदूकृत्य विशोधयेत्।
लीनपित्तानिलस्वेदशकृन्मूत्रानुलोमनम् ॥१२॥
निद्राजाड्यारुचिहरं प्राणानामवलम्बनम्।
विपरीतमतः शीतं दोषसंघातवर्धनम् ॥१३॥

व्याख्या—तृषा लगने पर-वातज ज्वर तथा कफज ज्वर में उष्ण जल थोड़ा थोड़ा पीवे, वह कफ को पिघला कर तृषा को शीघ्र शान्त करता है। और जठराग्नि को प्रदीप्त करके तथा स्रोतों को मृदु करके शुद्ध करता है फलतः—रुके हुए पित्त, वायु, स्वेद, पुरीष तथा मूत्र को प्रवृत्त करता है तथा निद्राधिक्य, जड़ता एवं अरुचि को हरता है और प्राणों की सहायता करता है (बलकारक है) और शीतल जल इससे विपरीत होता है अतः वह दोषों के संघात-समूह को बढ़ाता है।

वक्तव्य—लंघन के समान उष्ण जलपान भी ज्वर का निरपाय उपाय है ॥११-१३॥

उष्ण जल का निषेध—

उष्णमेवंगुणत्वेऽपि युञ्ज्यान्नैकान्तपित्तले।
उद्रिक्तपित्ते दवथुदाहमोहातिसारिणि ॥१४॥
विषमद्योत्थिते ग्रीष्मे क्षतक्षीणेऽस्रपित्तिनि।
घनचन्दनशुण्ठ्यम्बुपर्पटोशीरसाधितम् ॥१५॥
शीतं तेभ्यो हितं तोयं पाचनं तृड्ज्वरापहम्।

व्याख्या—उक्त प्रकार से उष्ण जल इस प्रकार के गुणों वाला होने पर भी केवल पित्तजनित ज्वर में प्रयुक्त नहीं किया जाता और किसी भी पित्तप्रधान रोग में, सन्ताप में, दाह में, मोह-मूर्च्छा में, अतिसार में, विषविकार में, मद्य विकार में, ग्रीष्म ऋतु में, उरः क्षत में, क्षय में तथा रक्त पित्त में प्रयुक्त नहीं करना चाहिये इस दशा में इस प्रकार के रोगियों को-नागरमोथा, लाल चन्दन, सोंठ, नेत्र वाला, पित्त पापड़ा तथा खस से परिपक्व जल शीतल करके देना चाहिये। यह जल पाचन है तृषा एवं ज्वर का शामक है।

वक्तव्य—अथ अग्निवेशः पप्रच्छ-किंनु खलु भगवन् ज्वरितेभ्यः पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठं न तथा शीतम्, अस्ति च शीतसाध्योऽपि धातुः ज्वरकर इति ।४५।

तमुवाच भगवान् आत्रेयः—ज्वरितस्य कायसमुत्थान—देशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः। ज्वरो हि आमाशयसमुत्थः। प्रायो भेषजानि च आमाशयसमुत्थाना विकाराणां पाचनवमनापतर्पणसंशमनान्येव भवन्ति पाचनार्थं च पानीयमुष्णं, तस्मात् एतत् ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्। तच्चैषां पीतं वातमनुलोमयति, अग्निमुदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेष्माणं च परिशोषयति, स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते, तथा युक्तमपि चैतत् नात्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रमप्रलापाऽतिसारे वा प्रदद्येम्, उष्णेन हि दाह—भ्रमप्रलापाऽतिसारा भूयोऽभिवर्द्धन्ते शीतेन चोपशाम्यन्ति ।४६। च० वि० अ० ३। इसी गद्य का श्रीवाग्भट ने पद्यानुवाद किया है ॥१४,१५॥

ज्वर में पित्तवर्द्धक उपचार का निषेध—

ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना ॥१६॥
तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम्।

व्याख्या—ऊष्मा (उष्णता-सन्ताप) पित्त के बिना नहीं होता और ज्वर ऊष्मा के बिना नहीं होता अर्थात् ऊष्मा या सन्ताप ही ज्वर कहलाता है इसलिये सभी ज्वरों में विशेषतः पित्तप्रधान ज्वर में पित्त वर्द्धक आहार, विहार एवं औषध का त्याग करना चाहिए ॥१६॥

ज्वर में स्नानादि का निषेध—

स्नानाभ्यङ्गप्रदेहांश्च परिशेषं च लंघनम् ॥१७॥

व्याख्या—यही नहीं अपितु ज्वर में स्नान, अभ्यङ्ग, प्रदेह तथा अन्यान्य प्रकार के लंघन का भी त्याग करना चाहिये (प्रयोग न करना चाहिये)।

वक्तव्य—सूत्र अध्याय १४ में लंघन दो प्रकार का माना गया है १. शोधन और २. शमन। और शोधन नामक लंघन ५ प्रकार का माना है यथा—१. निरूहण, २. वमन, ३. विरेचन, ४. शिरोविरेचन तथा ५. रक्तस्रावण। शमन नामक लंघन ७ प्रकार का माना है यथा—१.

पाचन, २. दीपन, ३. भूख सहन, ४. तृषा सहन, ५. व्यायाम, ६. आतप सेवन तथा ७. वायुसेवन। सामान्य रूप से सभी ज्वरों में उक्त सब प्रकार के लंघनों का त्याग करना चाहिये। केवल उपवास रूप लंघन ही यहाँ अभिप्रेत है। यद्यपि उपवासरूप लंघन उसी दशा में किया जाता है जब ज्वर में आमदोष रहता है तथापि क्योंकि ज्वर आमाशय में अधिष्ठान बनाकर तथा रसवाही स्रोतों का अवरोध करके उत्पन्न करना होता है अतः उसमें थोड़ा बहुत लंघन करना ही चाहिये। यह सामान्य नियम है विशेष नियमों से तो अवस्थानुसार उक्त सब प्रकार के लंघन ज्वरों में किये ही जाते हैं। केवल आम ज्वर मे लंघन आवश्यक एवं सफल होता है। देखिये सु० उ० अ० ३९ श्लोक० १५६—१५८॥

वक्तव्य—आम ज्वर में शमन औषध का सेवन नहीं होना चाहिये उस से ज्वर और अधिक हो जाता है अतः आम ज्वर में लंघन एवं पाचन की व्यवस्था करे। पाचन का वर्णन श्लोक २१ में देखिये। आम ज्वर में दूध से हानि—तदेव तरुणे पीतं विषवत् हन्ति मानवम् ।१४५। सु० उ० अ० ३९ ।।१४-१७।।

आम ज्वर में औषध तथा दूध का निषेध—

अजीर्ण इव शूलघ्नं सामे तीव्ररुचि ज्वरे।
न पिबेदौषधं तद्धि भूय एवाममावहेत् ॥१८।
आमाभिभूतकोष्ठस्य क्षीरं विषमहेरिव।

व्याख्या—जैसे अजीर्ण में तीव्र वेदना होने पर भी शूलनाशक (केवल वेदना शामक) औषध नहीं पीनी चाहिये वैसे ही आम ज्वर में ज्वर नाशक (केवल ज्वर शामक-ज्वर उतारने वाली) औषध नहीं पीनी चाहिये क्योंकि वह आमदोष से व्याप्त कोष्ठवाले रोगी के आम दोष को अधिक बढ़ा देती है। जैसे दूध सर्पके विषको बढ़ा देता है (यद्यपि दूध विषनाशक है परन्तु सर्प को दूध पिलाने पर उसका विष बढ़ जाता है)। इस दशा में दूध नहीं पीना चाहिये वह भी ज्वर को बढ़ा देता है जैसे सर्प के विष को।

ज्वर में स्वेदन—

सोदर्दपीनसश्वासे जंघापर्वास्थिशूलिनि ॥१९॥
वातश्लेष्मात्मके स्वेदः प्रशस्त, स प्रवर्तयेत्।
स्वेदमूत्रशकृद्वातान् कुर्यादग्नेश्च पाटवम् ॥२०॥

व्याख्या—उदर्द, पीनस तथा श्वास से युक्त ज्वर में, जंघा, पोर तथा अस्थियों के शूलसे युक्त ज्वर में तथा वात कफ जनित ज्वर में स्वेदन प्रशस्त है उससे स्वेद, मूत्र, पुरीष तथा वायु की प्रवृत्ति होती है तथा अग्नि प्रदीप्त होती है। १९,२०॥

आहार विहार का संकेत—

स्नेहोक्तमाचारविधिं सर्वशश्चानुपालयेत्।

व्याख्या—सभी ज्वरों में तथा ज्वर की सभी अवस्थाओं में स्नेह पान विधि नामक अध्याय (सू. अ. १६) में कथित आचार विधि (उष्णोदकोपचारी स्यात् आदि) का पालन करे।

ज्वर में दोषों के पाचन—

लंघनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः ॥२१॥
मलानां पाचनानि स्युर्यथावस्थं क्रमेण वा।

व्याख्या—ज्वर की अवस्था के अनुसार अथवा क्रमशः आममलों के ५ पाचन हैं—१. लंघन-उपवास, २. स्वेदन (श्लो० १९), ३. काल-न्यून से न्यून ८ दिन पर्यन्त प्रतीक्षा करना तब तक शमन का प्रयत्न न करना, ४. पाचन द्रवों के क्वाथ में बनाई यवागुओं मात्र का सेवन—बल की रक्षा के लिये केवल यवागू पर निर्वाह करना, और तिक्त रस वाले द्रवों का यवागू एवं पीने के जल में प्रयोग।

वक्तव्य—जब तक दोष आमावस्था में रहें, ज्वर की तरुण अवस्था रहे तब तक दोष पाचनार्थ यही क्रम रखना चाहिए—ज्वर को शान्त करने के लिये शमन चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इन पाचनों के द्वारा कुछ दिनों में दोष पच जाते हैं, ज्वर मृदु हो जाता है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

लंघनं स्वेदनं कालो यवाग्वः तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ॥१४२॥
च० चि० अ० ३ ॥२१॥

लंघन का निषेध—

शुद्धवातक्षयाऽऽगन्तुजीर्णज्वरिषु लंघनम् ॥२२।
नेष्यते तेषु हि हितं शमनं यन्न कर्शनम्।
तत्र सामज्वराकृत्या जानीयादविशोषितम्। २३॥
द्विविधोपक्रमज्ञानमवेक्षेत च लंघने।

व्याख्या—शुद्ध-केवल वात ज्वर में, क्षयजनित ज्वर में, आगन्तु ज्वरों में तथा जीर्ण ज्वरों में लंघन-उपवास नहीं करना चाहिये। इन ज्वरों में शमन-ज्वर शामक चिकित्सा करे परन्तु जो कर्शन-कृशता करने वाली न हो। उन ज्वरों में यदि आम ज्वर के कुछ लक्षण हों तो समझना चाहिये कि लंघन उचित रूप से नहीं हुआ है, अर्थात् आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत लंघन करे और लंघन को भली भाँति जानने के लिये सूत्रस्थान का द्विविधोपक्रमणीय अध्याय (अ० १४) देखना चाहिये।

वक्तव्य—उक्त अध्याय में सम्यक् लंघन के लक्षणों

पर ध्यान देवे यथा—

विमलेन्द्रियता, सर्गो मलानां, लाघवं रुचिः ।
क्षुत्तृट् सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ।
व्याधिमार्दवं उत्साहः तन्द्रा नाशश्च लंघिते ।

जब तक ये सब लक्षण न दिखाई दें तब तक लंघन की व्यवस्था करते रहना चाहिये ॥२२,२३॥

यवागू का उपयोग—

युक्तं लंघितलिङ्गैस्तु तं पेयाभिरुपाचरेत् ॥२४॥
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ॥२५॥
षडहं वा मृदुत्वं वा ज्वरो यावदवाप्नुयात् ।

व्याख्या—जब रोगी सम्यक् लंघन के उक्त लक्षणों से युक्त हो जाय तब उसे "पेया" का पान कराना चाहिये और वे "पेया" दोषानुसार उचित औषधों से युक्त तथा उन के क्वाथ में सिद्ध करके देना चाहिये । परन्तु उन से भी पूर्व मण्ड देना चाहिये और यह क्रम ६ दिन पर्यन्त करना चाहिये अथवा जब तक ज्वर मृदु-मन्द हो जाय । इन के प्रयोग से उस की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है जैसे अग्नि को प्रज्वलित करने वाली लकड़ियों से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है ।

वक्तव्य—यवागू, पेया तथा मण्ड आहार के भिन्न २ प्रकार हैं । मण्ड तो प्रसिद्ध ही है जैसे चावलों का मांड़ । इस में आहार द्रव्यों का सार-रस घुला रहता है सिक्थ नहीं रहते । पेया—पातुं योग्या—पीने योग्य आहार । जैसे लपसी, वारली या साबूदाना आदि । इसमें सिक्थ धुले मिले रहते हैं और यह मण्ड से गाढ़ी होती है—बनाई जाती हैं और यवागू वह है जिसमें आहार द्रव्य का मिश्रण रहता है जैसे दलिया एवं पतली खिचड़ी इस से कुछ पतला आहार "विलेपी" कहलाता है जो कडछुली पर लिपटता—लगता है । ये सब आहार लघु एवं सुपच होते हैं अतः लंघन के पश्चात् दिये जाते हैं । विशेष वहाँ २ देखिये जहाँ २ इनकी व्यवस्था की गई है—उपयोग बतलाया गया है । ये उपयोगी औषधियों के क्वाथों—रसोंमें बनाई—पकाई जाती हैं ॥२५॥

उक्त पेयाओं के उदाहरण—

प्राग्लाजपेयां सुजरां सशुण्ठीधान्यपिप्पलीम् ॥२६॥
ससैन्धवां तथाम्लार्थी तां पिबेत्सहदाडिमाम् ।

व्याख्या—सब से पूर्व—लाजा की पेया पीनी चाहिये उस में सोंठ (अदरक अथवा साठे), धनियाँ (सूखा या हरा), पीपल तथा सैन्धव लवण मिलाकर पीवे, यदि अम्लरस की आवश्यकता हो तो अनारदाना मिलाकर-घोलकर पीवे ।

वक्तव्य—भर्जित जौ, गेहूँ एवं चावलों का नाम 'लाजा' या लावा है । इनको भून कर जल में पकाकर जो मण्ड निकाला जाता है उसका नाम "लाजमण्ड" है । यह साधारण मण्ड से लघु एवं सुपच होता है ॥२६॥

अन्यान्य उदाहरण—

सृष्टविड् बहुपित्तो वा सशुण्ठीमाक्षिकां हिमाम् ॥२७॥
बस्तिपार्श्वशिरःशूली व्याघ्रीगोक्षुरसाधिताम् ।
पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः ॥२८॥
सिद्धां ज्वरातिसार्यम्लां पेयां दीपनपाचनीम् ।
ह्रस्वेन पञ्चमूलेन हिक्कारुक्श्वासकासवान् ॥२९॥
पञ्चमूलेन महता कफार्तो यवसाधिताम् ।
विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः कृताम् ॥३०॥
यवागू सर्पिषा भृष्टां मलदोषानुलोमनीम् ।
चविकापिप्पलीमूलद्राक्षाऽऽमलकनागरैः ॥३१॥
कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत् परिकर्तिनि ।
कोलवृक्षाम्लकलशीधावनीश्रीफलैः कृताम् ॥३२॥
अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः सितामलकनागरैः ।
सितावदरमृद्वीका-सारिवामुस्तचन्दनैः ॥३३॥
तृष्णाच्छर्दिपरीदाहज्वरघ्नीं क्षौद्रसंयुताम् ।
कुर्यात्पेयौषधैरेव रसयूषादिकानपि ॥३४॥

व्याख्या—यदि अतिसार या मल भेद हो अथवा पित्त अधिक हो तो सोंठ एवं मधु मिलाकर एवं शीतल पेया पीवे । यदि मूत्राशय (मूत्र संस्थान), पार्श्व तथा शिर में शूल हो तो कण्टकारी एवं गोखरू के क्वाथ में सिद्ध पेया पीवे । यदि ज्वरातिसार हो तो पृष्ठपर्णी, बला-मूल, बिल गिरी, सोंठ, कमल एवं धनियाँ के क्वाथ में सिद्ध पेया अनार दाना की खटाई मिलाकर पीवे । यह पेया दीपन एवं पाचन होती है । यदि हिक्का, श्वास एवं कास हो तो लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, वनभण्टा, कण्टकारी तथा गोखरू) के क्वाथ में सिद्ध पेया पीवे । यदि कफ अधिक हो तो महापञ्चमूल (बिलगिरी, अरणी, सोना पाठा, अरलू तथा गम्भार) के क्वाथ में सिद्ध जौ की पेया पीवे । यदि पुरीषबन्ध हो तो जौ की पेया पीपल एवं आमला के संयोग से पकावे । इसे घी का छौंक लगाकर पीवे । यह पुरीष एवं अपान वायु का अनुलोमन करती है । यदि उदर में विबन्ध एवं वेदना हो तो चव्य, पीपलामूल, दाख (मुनका), आमला तथा सोंठ के संगोग से अथवा उन के क्वाथ में सिद्ध पेया पीवे । यदि परिकर्तिका (मलमार्ग में क्षत) हो तो बेर (फल छाल, पत्र अथवा मूलत्वक्), वृक्षाम्ल, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी तथा बिलगिरी के क्वाथ में सिद्ध पेया पीवे । यदि स्वेद एवं निद्रा न आती हो तथा तृषा हो तो मिश्री

(श्वेत खण्ड), आमला तथा सोंठ के संयोग से सिद्ध पेया पीवे। यदि तृषा एवं छर्दि हो तो मिशरी, बेर, मुनक्का, सारिवा, मोथा तथा लालचन्दन के संयोग से सिद्ध पेया को मधु मिला कर पीने यह दाह एवं ज्वर को भी नष्ट करती है। आवश्यकतानुसार—उक्त पेयाओं के लिये कही गई औषधों के संयोग से रस एवं यूष आदि का निर्माण भी किया जा सकता है।

वक्तव्य—रस-मांस के जो व्यञ्जन बनाए जाते हैं उनको "रस" कहा जाता है और जो मूँग एवं मसूर आदि दालों के आहार बनाए जाते हैं उन को यूष या जूस कहते हैं जैसे मूँग का जूस—पतली दाल ॥२७-३४॥

पेया का निषेध एवं लाज तर्पण का विधान—

मद्योद्भवे मद्यनित्ये पित्तस्थानगते कफे।
ग्रीष्मे तयोर्वाधिकयोस्तृट्छर्दिदाहपीडिते ॥३५॥
ऊर्ध्वं प्रवृत्ते रक्ते च पेयां नेच्छन्ति तेषु तु।
ज्वरापहैः फलरसैरद्भिर्वा लाजतर्पणम् ॥३६॥
पिबेत्सशर्कराक्षौद्रं ततो जीर्णे च तर्पणे।
यवाग्वामोदनं क्षुद्वानश्नीयाद् भृष्टतण्डुलम् ॥३७॥
दकलावणिकैर्यूषै रसैर्वा मुद्गलावजैः।
इत्ययं षडहो नेयो बलं दोषं च रक्षता। ३८॥

व्याख्या—यदि मद्यपान से ज्वर हुआ हो, रोगी प्रतिदिन मद्यपान करने वाला हो, पित्त के स्थान में कफ गया हुआ हो, ऋतु ग्रीष्म हो, पित्त अथच कफ प्रबल हों, तृषा, छर्दि तथा दाह हो ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त हो तो पेया का पान अभीष्ट नहीं होता। इस दशा में—लाजा के सत्तुओं का तर्पण पीवे जो ज्वर नाशक अनार अंगूर आदि के रसों से अथवा ज्वर नाशक द्रव्यों के संयोग से सिद्ध जल से बनाया गया हो और उसमें खण्ड एवं मधु मिलाया गया हो। तत्पश्चात् जब तर्पण अथवा उक्त पेया पचने लग जाय तब भूख लगने पर—भूने गये चावलों का भात—मूँग आदि के जूस अथवा लावपक्षी के मांस रस के साथ खावे ये जूस एवं रस दक लावणिक हों अर्थात् पानी के से पतले एवं लवण युक्त हों (केवल जल एवं लवण के योग से बनाए गये हों। इस प्रकार बल एवं दोष की रक्षा (बल की रक्षा एवं दोष का पाचन) करते हुए ६ दिन बिता देने चाहियें (६ दिन यही क्रम रहना चाहिये।

वक्तव्य—देखिये च० चि० अ० ३ श्लोक १४६ से १५६। तात्पर्य यह है कि प्रायः ६, ७-८ दिन में दोषों का पाक हो जाता है यदि न हो तो अगले दिनों में भी यही क्रम रखना चाहिये ॥३५-३८॥

ज्वर में कषायपान—

ततः पक्वेषु दोषेषु लङ्घनाद्यैः प्रशस्यते।
कषायो दोषशेषस्य पाचनः शमनो यथा ॥३९॥
तिक्तः पित्ते विशेषेण प्रयोज्यः कटुकः कफे।
पित्तश्लेष्महरत्वेऽपि कषायस्तु न शस्यते ॥४०॥
नवज्वरे मलस्तम्भात्कषायो विषमज्वरम्।
कुरुतेऽरुचिहृल्लासहिध्माऽऽध्मानादिकानपि ॥४१॥

व्याख्या—इस प्रकार लंघन एवं पेया तर्पण आदि के द्वारा दोषों का पाक हो जाने पर—कुछ अवशिष्ट दोष के पाचन अथवा सर्वथा पक्व दोष के शमन के लिये कषाय का प्रयोग करे। विशेष रूप से नव ज्वर में यदि पित्त की अधिकता हो तो तिक्त द्रव्यों का, कफ की अधिकता हो तो कटु द्रव्यों का कषाय प्रयुक्त करे और पित्त एवं कफ का नाशक होने पर भी कषाय रस वाले द्रव्यों का कषाय नव ज्वर में प्रशस्त नहीं होता क्यों कि कषाय रस मल का रोधक होने के कारण—उस ज्वर को विषम ज्वर के रूप में परिवर्त्तित कर देता है और अरुचि, हृल्लास, हिक्का तथा आध्मान आदि उपद्रवों को भी उत्पन्न कर सकता है।

वक्तव्य—तिक्त रस ज्वर शामक तथा कटुरस पाचन दीपन होने से दिये जा सकते हैं परन्तु कषाय रस आमस्त-म्भन होने से नहीं दिया जाता ॥३९-४१॥

औषध दान का समय—

सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः।
केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणे न तु ॥४२॥
तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगादयो यतः।
दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि ॥४३॥
अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम्।

व्याख्या—कुछ आचार्यों का कथन है कि ज्वर में सात दिन के पश्चात् ज्वर नाशक (शमन) औषध देना चाहिये। कुछ आचार्यों का कथन है कि दस दिन बीत जाने पर शमन औषध देनी चाहिये। और कुछ आचार्यों का कथन है कि—लंघन के पश्चात् पेया और लघु आहार खाने से जब दोष पच जाय तब शमन औषध देनी चाहिये (यही कथन अनपवाद—निर्विवाद भी है)। परन्तु आम ज्वर में शमन औषध देनी ही नहीं चाहिये। क्योंकि-आम ज्वर (तरुण ज्वर रहने पर, दोषों के वेग का उदय काल वृद्धिकाल रहने पर, अथवा दोषों का अत्यन्त सञ्चय रहने पर जबकि तन्द्रा एवं स्तैमित्य विद्यमान हों उस समय-शमन औषध न पचने के कारण ज्वर को अधिक ज्वलित-तीव्र कर देती है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि आम ज्वर में केवल ज्वर शामक औषध नहीं देनी चाहिये अपितु आमदोष के पाचनार्थ द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये, दोष पच जाने पर शमन का प्रयोग करे अन्यथा उस से ज्वर बढ़ जाता है अथवा विषम ज्वर हो जाता है। यही निम्न श्लोक में कहा गया है।

शमन औषध का काल—

मृदुर्ज्वरो लघुर्देहश्चलिताश्च मला यदा॥४४॥
अचिरज्वरितस्यापि भेषजं योजयेत्तदा।

व्याख्या—जब ज्वर मृदु हो जाय तथा, शरीर लघु हो जाय तथा दोष विचलित हो जायँ (स्तब्ध न रहें) तब भले ही ज्वर एक दो दिन का भी क्यों न हो ज्वर शामक (शमन) औषध का प्रयोग कर देना चाहिये।

वक्तव्य—वास्तविकता यह है कि उक्त अवस्था दोषों के पच जाने पर ही होती है और उस अवस्था में ज्वर शामक औषध देने से लाभ ही होता है॥४४॥

शमन औषध

मुस्तया पर्पटं युक्तं शुण्ठ्या दुःस्पर्शयाऽपि वा॥४५॥
पाक्यं शीतकषायं वा पाठोशीरं सबालकम्।
पिबेत्तद्वच्च भूनिम्ब गुडूचीमुस्तनागरम्॥४६॥
यथायोगमिमे योज्याः कषाया दोषपाचनाः।
ज्वरारोचकतृष्णाऽऽस्य वैरस्याऽपक्तिनाशनाः॥४७॥

व्याख्या—उक्त अवस्था में—१. पित्तपापड़ा एवं मोथा का, अथवा २ पित्त पापड़ा एवं सोंठ का, अथवा ३. पित्तपापड़ा एवं जवासा का, अथवा ४. पाठा, खस एवं नेत्रवाला का शीत कषाय (हिम) अथवा क्वाथ बना कर पीवे और ५. इसी प्रकार चिरायता, गिलोय, मोथा तथा सोंठ का शीत कषाय अथवा क्वाथ बनाकर पीवे। इन कषायों का दोष देश एवं काल आदि के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। ये कषाय-दोष पाचन हैं और ज्वर, अरोचक, तृषा, मुखवैरस्य तथा अपच (आम दोष के नाशक भी हैं॥४५-४७॥

सन्तत आदि के लिये ५ योग—

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी॥४८॥
पटोलं सारिवा मुस्ता पाठा कटुकरोहिणी।
पटोलनिम्बत्रिफलामृद्वीकामुस्तवत्सकाः॥४९॥
किराततिक्तममृतां चन्दनं विश्वभेषजम्।
धात्री मुस्ताऽऽमृता क्षौद्रमर्धश्लोकसमापनाः॥५०॥
पञ्चैते सन्ततादीनां पञ्चानां शमना मताः।

व्याख्या—ये निम्न लिखित ५ योग जो आधे २ श्लोक में समाप्त किये (लिखे) गये हैं सन्तत आदि ५ ज्वरों का शमन करते हैं यथा—

१. इन्द्र जौ परवल के पत्र तथा कुटकी का कषाय (पाक्य अथवा शीत) सन्तत ज्वर को शान्त करता है। २. परवल के पत्र, सारिवा, मोथा, पाठा तथा कुटकी का कषाय सतत ज्वर को शान्त करता है। ३. परवल के पत्र, निम्ब की छाल, त्रिफला, मुनका, मोथा तथा कुरैया की छाल का कषाय अन्येद्युष्क ज्वर को शान्त करता है। ४. चिरायता, गिलोय, लालचन्दन तथा सोंठ का कषाय तृतीयक ज्वर को शान्त करता है। ५. आमला मोंथा तथा गिलोय का कषाय मधु मिलाकर पीने से चतुर्थक ज्वर को शान्त करता है॥४८-५०॥

ज्वरनाशक कषाय—

दुरालभाऽमृता मुस्ता नागरं वातजे ज्वरे॥५१॥
अथवा पिप्पलीमूलं गुडूची विश्वभेषजम्।
कनीयः पञ्चमूलं च पित्ते शक्रयवा घनम्॥५२॥
कटुका चेति सक्षौद्रं मुस्ता पर्पटकं यथा।
सधन्वयासभूनिम्बं वत्सकाद्यो गणः कफे॥५३॥
अथवा वृष गाङ्गेयीशृङ्गवेर दुरालभाः।
रुग्विबन्धानिलश्लेष्म युक्ते दीपनपाचनम्॥५४॥
अभया पिप्पलीमूल शम्पाक कटुका घनम्।

व्याख्या—वातजनित ज्वर में—जवासा, गिलोय, मोथा तथा सोंठ का अथवा पीपलामूल, तथा सोंठ का अथवा लघुपञ्चमूल का क्वाथ पीवे। पित्त जनित ज्वर में—इन्द्र जौ, नागरमोथा तथा कुटकी का कषाय (हिम कषाय) मधु मिलाकर अथवा मोथा, पित्तपापड़ा, धमासा तथा चिरायता का कषाय मधु मिला कर पीवे। कफज ज्वर में—वत्सकादि गण (सू० अ० १५) का क्वाथ अथवा अडूसा, नागरमोथा, सोंठ तथा जवासा का क्वाथ पीवे। उदर की वेदना, मलरोध तथा वातकफ के लक्षणों से युक्त ज्वर में हरड़, पीपलामूल, अमलतास, कुटकी तथा नागरमोथा का क्वाथ पीवे। यह क्वाथ दीपन एवं पाचन है॥५१-५४॥

द्राक्षादि योग—वात पित्त ज्वर में—

द्राक्षामधूकमधुकं रोध्रकाश्मर्यसारिवाः॥५५॥
मुस्तामलकह्रीबेरपद्मकेसरपद्मकम्।
मृणालचन्दनोशीरनीलोत्पलपरूषकम्॥५६॥
फाण्टो हिमो वा द्राक्षादिर्जातीकुसुमवासितः।
युक्तो मधुसितालाजैर्जयत्यनिलपित्तजम्॥५७॥
ज्वरं मदात्ययं छर्दिं मूर्च्छां दाहं श्रमं भ्रमम्।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं च पिपासां कामलामपि॥५८॥

व्याख्या—दाख (मुनका), महुवा के फूल, मुलेठी,

लोध, गम्भार (छाल अथवा फल), सारिवा, नागर मोथा, आमला, नेत्रवाला, कमल का केसर, पद्मकाठ, मृणाल (कमलनाल), लाल चन्दन, खस, नील कमल तथा फालसा (फल अथवा छाल) का फाण्ट अथवा हिम चमेली के फूलों से सुगन्धित करके तथा मधु, खण्ड एवं लाज (भूने धान्य का चूर्ण मिलाकर पीने से—वातपित्त जनित ज्वर, मदात्यय, छर्दि, मूर्च्छा दाह श्रम भ्रम, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, तृषा तथा कामला को नष्ट करता है इस योग का नाम "द्राक्षादि" है।

वक्तव्य—फाण्ट के निर्माण की विधि क० स्था० अ० ६ में देखिये और हिम बनाने की विधि भी वहीं देखिये ॥५८॥

कुटकी स्वरस—

पाचयेत्कटुकां पिष्ट्वा कर्परेऽभिनवे शुचौ ।
निष्पीडितो धृतयुतस्तद्रसो ज्वरदाहजित् ॥५९॥

व्याख्या—कुटकी को नवीन एवं स्वच्छ कर्पर(मृत्पात्र) में जल डालकर पकावे, आधा चौथाई अथवा अष्टमांश रहने पर मल कर छान लेवे और घृत मिलाकर पीवे। यह रस ज्वर एवं दाह को शान्त करता है।

वक्तव्य—१ तो० कुटकी, घृत १ तो०। इसके सेवन से विरेचन हो जाता है और यह तभी दिया जाता है जब ज्वर में विरेचन की आवश्यकता होती है। यदि पिप्पल्यादि घृत हो तो और अच्छा ॥५९॥

वात कफ ज्वर में—

कफवाते वचा तिक्तापाठाऽऽरग्वधवत्सकाः ।
पिप्पलीचूर्णयुक्तो वा क्वाथश्छिन्नोद्भवोद्भवः ॥६०॥

व्याख्या—कफ वात जनित ज्वर में बालवच, कुटकी, पाठा, अमलतास तथा कुरैया की छाल का क्वाथ अथवा पीपल का चूर्ण मिला कर गिलोय का क्वाथ पीवे ॥६०॥

पित्त कफ ज्वर में—

व्याघ्रीशुण्ठ्यमृताक्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ।
वातश्लेष्मज्वरश्वासकासपीनसशूलजित ॥६१॥

व्याख्या—कण्टकारी, सोंठ तथा गिलोय का क्वाथ पीपल का चूर्ण मिलाकर पीने से वात कफ ज्वर, श्वास, कास, पीनस तथा शूल को नष्ट करता है ।६१।

वात कफ ज्वर में—

पथ्याकुस्तुम्बरीमुस्ता शुण्ठीकट्तृणपर्पटम् ।
सकट्फलवचाभार्ङ्गी देवाह्वं मधुहिङ्गुमत् ॥६२॥
कफवातज्वरेष्वेव कुक्षिहृत्पार्श्ववेदनाः ।
कण्ठामयास्यश्वयथु कासश्वासानियच्छति ॥६३।

व्याख्या—हरड़, धनियाँ, मोथा, सोंठ, कत्तृण(रोहिष तृण—कत्तृण—गन्धतृण), पित्तपापड़ा, कायफल (छाल) बालवच, भारंगी तथा देवदारु का क्वाथ मधु एवं घृत भर्जित हिंगु मिलाकर पीने से वात कफ जनित ज्वरों में उत्पन्न उदर, हृदय तथा पार्श्व की वेदनाओं को, कण्ठ रोग मुखशोथ, कास तथा श्वास को नष्ट करता है ॥६२-६३॥

पित्त कफ ज्वर में—

आरग्वधादिः सक्षौद्रः कफपित्तज्वरं जयेत् ।
तथा तिक्तावृषोशीरत्रायन्तीत्रिफलाऽमृताः ॥६४॥

व्याख्या—आरग्वधादि गण (सू० अ० १५) का क्वाथ—मधु मिलाकर पीने से कफ पित्त जनित ज्वर को नष्ट करता है तथा कुटकी, अडूसा के पत्र, खस, त्रायमाणा त्रिफला तथा गिलोय का क्वाथ भी कफपित्त ज्वर को नष्ट करता हैं।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में इसके आगे पाठ निम्न है—

पटोलातिविषानिम्बमूर्वाधन्वयवासकाः ।

अर्थात्—परवल के पत्र, अतीस, निम्ब की छाल, मरोड़ फली तथा धमासा का क्वाथ भी पित्त कफ ज्वर को नष्ट करता है ॥६४॥

सन्निपात ज्वर में—

सन्निपातज्वरे व्याघ्री देवदारुनिशाघनम् ।
पटोलपत्रनिम्बत्वक् त्रिफलाकटुकायुतम् ॥६५॥

व्याख्या—कण्टकारी, देवदारु, हल्दी, नागर मोथा, परवल के पत्र, निम्ब की छाल, त्रिफला तथा कुटकी का क्वाथ सन्निपात ज्वर में पीना चाहिये ।६५।

वातकफ प्रधान सन्निपात में—

नागरं पौष्करं मूलं गुडूची कण्टकारिका ।
सकासश्वासपार्श्वार्तौ वातश्लेष्मोत्तरे ज्वरे ॥६६॥

व्याख्या—वातकफाधिक सन्निपात ज्वर में—जिसमें कास श्वास तथा पार्श्वशूल हो अथवा होता है—सोंठ, पोहकर मूल, गिलोय तथा कण्टकारी का क्वाथ पीवे ॥६६॥

सर्व ज्वर नाशक योग—

मधूकपुष्पं मृद्वीका त्रायमाणा परूषकम् ।
सोशीरतिक्ता त्रिफला काश्मर्यं कल्पयेद्धिमम् ॥६७॥
कषायं तं पिबन् काले ज्वरान्सर्वानपोहति !
जात्यामलकमुस्तानितद्वद्धन्वयवासकम् ॥६८॥
बद्धविट् कटुकाद्राक्षा त्रायन्तीत्रिफलागुडान् ।

व्याख्या—महुवा के पुष्प, मुनक्का, त्रायमाणा, फालसा (फल या छाल), खस, कुटको, त्रिफला तथा गम्भार का हिम बनावे। इस हिम कषाय को समय पर (प्रातःकाल या दोष पच जाने पर) पीता हुआ रोगी सब ज्वरों को दूर कर देता है। इसी प्रकार चमेली के पत्र, आमला तथा नागर

मोथा का हिम अथवा धमांसा का हिम सब ज्वरों को नष्ट करता है। और मलरोध रहने पर—कुटकी, दाख, त्रायमाणा, त्रिफला तथा गुड़ का हिम या क्वाथ भी सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है ॥६७,६८॥

पेयापान का विवेचन—

जीर्णौषधोऽन्नं पेयाद्यमाचरेच्छ्लेष्मवान्न तु ॥६९॥
पेया कफं वर्धयति पङ्कं पांसुषु वृष्टिवत् ।
श्लेष्माभिष्यण्णदेहानामतः प्रागपि योजयेत् ॥७०॥
यूषान् कुलत्थचणकदाडिमादिकृतान् लघून् ।
रूक्षांस्तिक्तरसोपेतान् हृद्यान् रुचिकरान् पटून् ॥७१॥

व्याख्या—उक्त प्रकार के क्वाथ हिम आदि औषध पच जाने पर रोगी—पेया आदि अन्न का सेवन करे। परन्तु कफ ज्वर में अथवा कफदोष रहने पर पेया का सेवन न करे क्योंकि पेया कफ को बढ़ा देती है जैसे पंक को वर्षा। इस लिये कफ से व्याप्त देह वालों को प्रथम—यूष देवे जो कुलथी एवं चना की दाल की हों और उन में अनारदाना आदि डाला गया हो, जो लघु हों, रूक्ष हो (उनमें स्नेह न डाला गया हो), तिक्त रस से युक्त हो (मरीच आदि से युक्त हों), हृदय की शक्ति बढ़ाने वाले हों, रुचिकर हों तथा लवण रस वाले हों।

वक्तव्य—कफ ज्वर में पेया नहीं अपितु कुलत्थ आदि के जूस देना चाहिये ॥६९-७१॥

ज्वर में पथ्य—

रक्ताद्याः शालयो जीर्णाः षष्टिकाश्च ज्वरे हिताः ।
श्लेष्मोत्तरे वीततुषास्तथा वाट्यकृता यवाः ॥७२॥
ओदनस्तैः शृतो द्विस्त्रिः प्रयोक्तव्यो यथायथम् ।
दोषदूष्यादिबलतो ज्वरघ्नक्वाथसाधितः ॥७३॥

व्याख्या—ज्वर में रक्तशालि आदि पुराने शालि (सू० अ० ६) तथा साठी धान्य लाभ प्रद होते हैं। यदि कफ की अधिकता हो तो तुष रहित—छिलका रहित तथा भूनकर दले गये जौ लाभप्रद होते हैं (अन्यान्य धान्य नहीं)। उन धान्यों का भात दोष एवं दूष्य (वातादि दोष तथा रस रक्तादि दूष्य) का विचार करके, दो तीन वार मण्ड निकाल कर बनाया गया अथवा ज्वर नाशक द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध किया खिलाना चाहिये।

वक्तव्य—ये सब भात या दलिया के रूप हैं ॥७२,७३॥

ज्वर में जूस—

मुद्गाद्यैर्लघुभिर्यूषाः कुलत्थैश्च ज्वरापहाः ।

व्याख्या—मूँग, मसूर, चना अथवा कुलथकी तथा मोठ नामक लघु दालों (उरद आदि गुरु नहीं) के यूष—जूस (पतली दाल या दाल का पानी) ज्वर नाशक होते हैं।

वक्तव्य—मुद्गान् मसूरान् चणकान् कुलत्थान् समकुष्टकान्
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥१८८॥
च० चि० अ० ३।

ज्वर में शाक एवं मांस रस—

कारवेल्लककर्कोटबालमूलकपर्पटैः ॥७४॥
वार्ताकनिम्बकुसुमपटोलफलपल्लवैः ।
अत्यन्तलघुभिर्मांसैर्जाङ्गलैश्च हिता रसाः ॥७५॥
व्याघ्रीपरूषकर्कारी द्राक्षाऽऽमलकदाडिमैः ।
संस्कृताः पिप्पलीशुण्ठीधान्यजीरकसैन्धवैः ॥७६॥
सितामधुभ्यां प्रायेण संयुता वा कृताऽकृताः ।

व्याख्या—करेला, ककोडा, कच्ची मूली, पित्त पापड़ा, बैंगन, निम्ब के फूल, परवल के फल तथा पत्र आदि अत्यन्त लघु शाकों के योग से अथवा हरिण एवं बटेर आदि अत्यन्त लघु जाङ्गल प्राणियों के मांस के योग से बनाए गये रस लाभप्रद होते हैं। ये सब आवश्यकतानुसार—दोष दूष्य आदि का विचार करके—कण्टकारी के फल अथवा बीज, फालसा के फल, अरणी के फल, दाख, आमला एवं अनार दाना आदि की खटाई से युक्त तथा पीपल, सोंठ (अदरक) धनियाँ, जीरा तथा सैन्धव लवण से युक्त, प्रायः खण्ड एवं मधु से मिश्रित कृत अथवा अकृत हों।

वक्तव्य—कृत यूष—जो जीरा धनियाँ हिंगु आदि से संस्कृत कर लिये जाते हैं। अकृत यूष—जो उक्त प्रकार से संस्कृत नहीं किये गये। गुर्जर प्रान्त तथा सिन्धु प्रान्त आदि में यूषों एवं रसों में (दालों शाकों में) स्वस्थों के लिये भी सिता—खण्ड अथवा गुड़ डाला जाता है ॥७४-७६॥

अन्यान्य व्यंजन तथा अनुपान—

अनम्लतक्रसिद्धानि रुच्यानि व्यञ्जनानि च ॥७७॥
अच्छान्यनलसम्पन्नान्यनुपानेऽपि योजयेत् ।
तानि क्वाथितशीतं च वारि मद्यं च सात्म्यतः ॥७८॥

व्याख्या—रोगियों के लिये—अन्यान्य व्यंजन (दाल) भी बनाए जाते हैं जिनमें अम्ल तक्र आदि नहीं मिलाए जाते परन्तु वे भी रुचिकारक अर्थात् स्वादु हों, अच्छ-स्वच्छ—पतले हों (गाढे नहीं) तथा अग्नि पर सिद्ध किये गये हों (कच्चे नहीं)। अन्य प्रकार के आहारों के अनुपान में भी उन का प्रयोग किया जाता है और पकाकर शीतल किया गया जल अथवा मद्य (आसव अरिष्ट एवं सुरा आदि) भी रोग एवं रोगी के अनुकूल समझ कर अनुपान में दिये जाते हैं ॥७७,७८॥

वक्तव्य—अनुपान—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—अथानुपानकर्मगुणान् प्रवक्ष्यामः—अनुपानं तर्पयति, प्रीणयति, ऊर्जयति, पर्याप्तिमधिनिर्वर्त्तयति, भक्तमवसादयति, अन्नसंघातं भिनत्ति, मार्दवमापादयति, क्लेदयति, जरयति, सुखपरिणामितामाशुव्यवायितां चआहारस्योपजनयति इति।३२७

अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशुमानवम् ।
सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च ॥३२८॥

और—

यत् आहारगुणैः पानं विपरीतं तत्-इष्यते ।
अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च ॥३२१॥
आसवानां समुद्दिष्टा अशीतिः चतुरुत्तरा ।
जलं पेयमपेयं च परीक्ष्यानुपिबेत् हितम् ॥३२२॥

तथा—

स्निग्धोष्णं मारुते शस्तं पित्ते मधुरशीतलम् ।
कफेऽनुपानं रूक्षोष्णं क्षये मांसरसः परम् ॥३२३॥
उपवासाऽध्वभाष्यस्त्री मारुतातपकर्मभिः ।
क्लान्तानामनुपानार्थे पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ॥३२४॥
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थमनुपानं प्रशस्यते ।
कार्श्यार्थं स्थूलदेहानामनुशस्तं मधूदकम् ॥३२५॥
अल्पाग्नीनामनिद्राणां तन्द्रा शोक भय क्लमैः ।
मद्यमांसोचितानां च मद्यमेवाऽनु शस्यते ॥३२६॥

च चि अ. २७

और आहार व्यवस्था के लिये देखिये सू. अ. ६ और अनुपान के लिये देखिए सू. अ. ५, ६, ७ तथा ८।७७-७८।

भोजन का समय—

सज्वरं ज्वरमुक्तं वा दिनान्ते भोजयेल्लघु ।
श्लेष्मक्षयविवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा ॥७९

व्याख्या—ज्वर रोगी को अथवा ज्वर मुक्त को (जब तक वह दुर्बल एवं कृश रहे) दिन के अन्त में (सायंकाल) लघु भोजन देना चाहिये क्योंकि उस समय कफ का क्षय हो जाने के कारण जठराग्नि की उष्मा (शक्ति) बढी हुई रहती है ।

वक्तव्य—उस से पूर्व दिन में भूख लगने पर अनार आदि के रस तथा मण्ड आदि अत्यन्त लघु पदार्थ दिये जा सकते हैं।

अन्य काल विचार—

यथोचितेऽथवा काले देशसात्म्यानुरोधतः ।
प्रागल्पवह्निर्भुञ्जानो न ह्यजीर्णेन पीड्यते ॥८०॥

व्याख्या—अथवा जब तक अग्नि मन्द रहे तब तक प्रथम २ उचित समय में (भली भाँति भूख प्यास लगने पर जब कभी भी), देश एवं काल के अनुरोध से (अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर या उस के अनुसार) कुछ पथ्य—आहार खाने वाला रोगी—अजीर्ण अपच से पीड़ित नहीं होता ।

वक्तव्य—इसके विपरीत मनमाना भोजन करने से अजीर्ण तथा अजीर्ण जनित अनेक विकार उत्पन्न हो सकते हैं। सुश्रुत में लिखा है कि—अरुचि रहने पर भी ज्वर रोगी पथ्य आहार लेता रहे क्योंकि भूख के समय न खाने से क्षीणता अथवा मृत्यु हो सकती है । सु.उ.अ.३९ श्लो०१४६ ॥८०॥

ज्वर में घृत सेवन काल—

कषायपानपथ्यान्नैर्दशाह इति लङ्घिते ।
सर्पिर्दद्यात्कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ॥८१॥
पक्वेषु दोषेष्वमृतं तद्विषोपममन्यथा ।
दशाहे स्यादतीतेऽपि ज्वरोपद्रववृद्धिकृत् ॥८२॥
लङ्घनादिक्रमं तत्र कुर्यादाकफसङ्क्षयात् ।

व्याख्या—उक्त प्रकार से कषाय पान तथा मण्ड आदि पथ्य सेवन के द्वारा दस दिन (अथवा इससे अधिक दिन) व्यतीत हो जाने पर, जब कफ का क्षय हो चुका हो और ज्वर में वात एवं पित्त प्रधान हो तथा दोष का पूर्ण रूप से परिपाक हो चुका हो तब घृत (पिप्पल्यादि घृत आदि संस्कृत घृत) का प्रयोग करें इस दशा में घृत अमृत के समान लाभदायक होता है अन्यथा विष के समान हानिकारक होता है क्योंकि—दस दिन व्यतीत हो जाने पर भी घृत सेवन से ज्वर के उपद्रव बढ़ जाते हैं । यदि कभी वैद्य की भूल से ऐसा हो जाय तो वहाँ पुनः तब तक पूर्वोक्त लंघन आदि चिकित्सा करे जब तक कफ का पूर्ण रूप से क्षय हो जाय (कफ क्षय हो जाने पर पुनः घृत का प्रयोग करें) ।८१,८२।

जीर्ण ज्वर में घृत की उपयोगिता—

देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ॥८३॥
रूक्षं हि तेजो ज्वरकृत्तेजसा रूक्षितस्य च ।
वमनस्वेदकालाम्बुकषायलघुभोजनैः ॥८४॥
य स्यादतिबलो धातुः सहचारी सदागतिः ।
त य संशमनं सर्पिर्दीप्तस्येवाम्बु वेश्मनः ॥८५॥
वातपित्तजितामग्र्यं संस्कारमनुरुध्यते ।
सुतरां तद्ध्यतो दद्याद्यथास्वौषधसाधितम् ॥ ८६ ॥
विपरीतं ज्वरोष्माणं जयेत्पित्तं च शैत्यतः ।
स्नेहाद्वातं घृतं तुल्ययोगसंस्कारतः कफम् ॥८७॥
पूर्वे कषायाः सघृताः सर्वे योज्या यथामलम् ।
त्रिफलापिचुमन्दत्वङ्मधुक बृहतीद्वयम् ।
समसूरदलं क्वाथः सघृतो ज्वरकासहा । ८८ ।

व्याख्या—शरीर की धातुओं के दौर्बल्य के कारण—जो ज्वर लगा रहता है (उक्त दोषपाक हो जाने पर भी

नहीं छूटता) वह जीर्ण ज्वर कहलाता है। क्योंकि—ज्वर कारक तेजस् (अग्नि या पित्त) रूक्ष होता है और उक्त तेजस् से रूक्षता होने पर और ज्वर शान्ति के लिये किये गये—वमन, स्वेदन, कालयापन, जल (उष्ण आदि जल) के सेवन, कषायपान तथा लघु भोजनों से जो वायु अधिक बलवान् होता है वह उस तेजस् का सहचारी—सहयोगी—वर्द्धक हो जाता है उस दशा में घृत उन दोनों का शमन करता है जैसे जल—जलते हुए भवन की अग्नि का शमन करता है। घृत वायु एवं पित्त का विजय करने वालों में सर्वश्रेष्ठ है और संस्कार के अनुकूल कार्य करता है इसलिये रोग नाशक औषधों के संयोग से सिद्ध घृत का सुतरां प्रयोग करना चाहिये। घृत अपनी शीतता से विपरीत गुणधर्म वाली ज्वर की ऊष्मा तथा पित्त को और स्नेहभाव से वायु को जीतता है और सहयोगी औषधों के साथ संस्कार हो जाने से समान गुणवाले कफ को भी जीतता है। इसलिये पहिले जो ज्वर नाशक कषाय लिखे गये हैं उन में भी दोष का विचार करके घृत मिलाया जा सकता है। यथा—त्रिफला, निम्ब की छाल मुलेठी, कण्टकारी, वनभण्टा तथा मसूर की दाल का क्वाथ—घृत मिलाकर पीने से—ज्वर एवं कास को नष्ट करता है ।।८३-८८।।

पिप्पल्यादि घृत—

पिप्पलीन्द्रयवधावनितिक्तासारिवाऽऽमलकतामलकीभिः।
बिल्वमुस्तहिमपालनिसेव्यैर्द्राक्षयाऽतिविषया स्थिरया च।
घृतमाशु निहन्ति साधितं ज्वरमग्निं विषमं हलीमकम्।
अरुचिंभृशतापमंसयोर्वमथुं पार्श्वशिरोरुजं क्षयम्।।९०।।

व्याख्या—पीपल, इन्द्र जौ, कण्टकारी, कुटकी, सारिवा, आमला, भूमि आमला, बिलगिरी, नागर मोथा, चन्दन, त्रायमाणा, खस, दाख, अतीस तथा शालपर्णी का कल्क १ भाग, घृत ४ भाग, जल १६ भाग मिलाकर पाक करो सिद्ध होने पर छान कर रखलो।

प्रयोग—ज्वर, विषमाग्नि, हलीमक, अरुचि, अंसाभिताप, छर्दि, पार्श्वशूल, शिरोरोग तथा क्षय ।।८९,९०।।

वातपित्त ज्वर में घृतयोग—

तैल्वकं पवनजन्मनि ज्वरे
योजयेत्त्रिवृतया वियोजितम्।
तिक्तकं वृषघृतं च पैत्तिके
यच्च पालनिकया शृतं हविः ।।९१।।

व्याख्या—वात व्याधि चिकित्सा (चि० अ० २१) में कहा गया तैल्वक घृत वात ज्वर में खिलाना चाहिये परन्तु उस का पाक करते समय उस योग में कही गई निसोत नहीं डालनी चाहिये। पित्त ज्वर में तिक्तक घृत (कुष्ठ चिकित्सा अ० १९) तथा वृष घृत (रक्तपित्त चिकित्सा अ० २) अथवा त्रायमाणा से सिद्ध घृत खिलाना चाहिये ।।९१।।

कफ ज्वर में घृतयोग—

विडङ्गसौवर्चलचव्यपाठा
व्योषाग्निसिन्धूद्भवयावशूकैः।
पलांशकैः क्षीरसमं घृतस्य
प्रस्थं पचेज्जीर्णकफज्वरघ्नम् ।।९२।।

व्याख्या—वायविडंग, सौवर्चल नमक, चव्य, पाठा, त्रिकटु, चित्ता, सैन्धव लवण तथा जौखार १—१ पल, गोघृत १ प्रस्थ, गो दुग्ध १ प्रस्थ। सब को एक में पाक करो सिद्ध होने पर छान कर रखलो। यह घृत कफ जनित जीर्ण ज्वर को नष्ट करता है ।।९२।।

अन्य ५ घृत—

गुडूच्या रसकल्काभ्यां त्रिफलाया वृषस्य च।
मृद्वीकाया बलायाश्च स्नेहाः सिद्धा ज्वरच्छिदः ।।९३।।

व्याख्या—गिलोय के रस एवं कल्क से, २—त्रिफला के रस एवं कल्क से, ३—अडूसा के रस एवं कल्क से, सिद्ध घृत ज्वर को नष्ट करते हैं।

वक्तव्य—यहाँ पर स्नेहपाक की परिभाषा के अनुसार कल्क १ भाग, रस १६ भाग तथा गो घृत ४ भाग लेकर पाक करना चाहिये ।।९३।।

घृत सेवन के पश्चात् पथ्य—

जीर्णे घृते च भुञ्जीत मृदु मांसरसौदनम्।
बलं ह्यलं दोषहरं परं तच्च बलप्रदम् ।।९४।।

व्याख्या—घृत पच जाने पर—मृदु (जो तीक्ष्ण न हो मरिच आदि से रहित हो) मांस रस तथा मृदु भात का सेवन करे क्योंकि बल (शक्ति) सर्व श्रेष्ठ दोष नाशक होता है और उक्त मांस रस एवं भात सर्व श्रेष्ठ बलप्रद होता है ।।९४।।

और

कफपित्तहरा मुद्गकारवेल्लादिजा रसाः।
प्रायेण तस्मान्न हिता जीर्णे वातोत्तरे ज्वरे ।।९५।।
शूलोदावर्तविष्टम्भजनना ज्वरवर्धनाः।

व्याख्या—मूंग एवं करेला आदि के रस प्रायः कफ पित्त नाशक होते हैं इसलिये वे वात प्रधान जीर्ण ज्वर में लाभ नहीं करते अपितु कभी२ शूल उदावर्त्त तथा विष्टम्भ को उत्पन्न कर देते हैं और ज्वर को बढ़ा देते हैं।

वक्तव्य—कफज तथा पित्तज जीर्ण ज्वर में मूंग एवं करेला आदि (श्लो० ७४-७५ देखिए) के रस दिये जायें

और वातज जीर्ण ज्वर में मांस रस दिया जाय ॥९५॥

जीर्ण ज्वर में शोधन—

न शाम्यत्येवमपि चेज्ज्वरः कुर्वीत शोधनम् ॥९६॥
शोधनार्हस्य, वमनं प्रागुक्तं तस्य योजयेत् ।
आमाशयगते दोषे बलिनः पालयन्बलम् ॥९७॥
पक्वे तु शिथिले दोषे ज्वरे वा विषमद्यजे ।
मोदकं त्रिफलाश्यामा त्रिवृत्पिप्पलिकेसरैः ॥९८॥
ससितामधुभिर्द्व्याद्व्योषाद्यं वा विरेचनम् ।
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा ॥९९॥
त्रिफलां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ।
विरिक्तानां च संसर्गी मण्डपूर्वा यथाक्रमम् ॥१००॥

व्याख्या—उक्त प्रकार के सब उपचार करने पर भी यदि ज्वर शान्त न हो तो शोधन करे परन्तु यदि रोगी शोधन के योग्य हो तथा बलवान् हो। वमन—यदि दोष आमाशय में हो तो पूर्वोक्त (श्लो० ७-८ तथा सू. स्था. अ. १८ और कल्प स्थान अ० १ देखिये) वमन का प्रयोग करे परन्तु रोगी के बल की रक्षा करता रहे—इतना और ऐसा वमन करावे जिससे बल क्षय होने न पावे। यदि दोष पक्व होकर शिथिल हो रहा हो—स्तब्ध न हो अथवा ज्वर विष अथवा मद्य के सेवन से उत्पन्न हुआ हो तो विरेचन देवे।

विरेचनार्थ योग—१. त्रिफलादि मोदक—त्रिफला, काली निसोत (अरुणा निसोत), पीपल तथा नागकेसर को पीसकर खण्ड एवं मधु के योग से मोदक बनाओ। २. अथवा व्योषादि (कल्प स्था. अ. २—व्योषत्रिजातकाऽमोद आदि पाठ देखिये) योग का विरेचन देवे। ३. अथवा अमलतास का गूदा (१-१। -२ तो०) दूध के साथ ४. अथवा मुनका के रस के साथ देवे। ५. अथवा त्रिफला चूर्ण को ६. अथवा त्रायमाणा को दूध के साथ ज्वर रोगी पीवे। उचित वमन अथवा विरेचन हो जाने पर मण्ड पूर्वक क्रमानुसार संसर्गी—आहार व्यवस्था करे (दे. सू. अ. १८)।

वक्तव्य—ये सब विरेचन योग हैं इन में से कोई उपयुक्त योग देकर विरेचन करावे ॥९६-१००॥

विरेचन करने में अन्यान्य विचार—

च्यवमानं ज्वरोत्क्लिष्टमुपेक्षेत मलं सदा।
पक्वेऽपि हि विकुर्वीत दोषः कोष्ठे कृतास्पदः ॥१०१॥
अतिप्रवर्तमानं वा पाचयन्सङ्ग्रहं नयेत् ।
आमसङ्ग्रहणे दोषा दोषोपक्रम ईरिताः ॥१०२॥
पाययेद्दोषहरणं मोहादामज्वरे तु यः ।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत् ॥१०३॥

व्याख्या—यदि ज्वर के कारण दोष (मल) उत्क्लिष्ट (पक्व) होकर स्वयं निकल रहा हो तो उसे निकल जाने देवे क्योंकि पक्व दोष भी यदि उदर में पड़ा रहता है तो विकार उत्पन्न करता है। (इसलिये 'ज्वरान्ते च विरेचनम्' कहा गया है)। अथवा यदि वह दोष अत्यधिक प्रवृत्त हो रहा हो तो उसका पाचन करते हुए निरोध करना चाहिये। क्योंकि आम दोष का निरोध करने से दोषोपक्रमणीय अध्याय (सू. अ, १३) में कहे गये दोष-विकार उत्पन्न हो जाते हैं और जो चिकित्सक प्रमाद से आम ज्वर में दोष हरण अर्थात् वमन विरेचन रूप शोधन औषध पिलाता है वह सोए हुए काले सर्प को अंगुली से छूता है (अर्थात् आम दोष रहने पर शोधन औषध नहीं देना चाहिये) ॥१०१-१०३॥

ज्वर में निरूहण का प्रयोग—

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं च विरेचनम् ।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥१०४॥

व्याख्या—ज्वर से क्षीण रोगी को न वमन और न विरेचन लाभप्रद होता है। उसके मलों को आवश्यकतानुसार दूध पिला कर अथवा निरूहण वस्ति देकर निकालना चाहिये।

वक्तव्य—निरूहण वस्ति की विधि सू. अ. १९ में देखिये तात्पर्य—रोगी की दशा वमन विरेचन के योग्य न हो तो मलशोधनार्थ निरूहण का प्रयोग करे।१०४।

जीर्ण ज्वर में दुग्ध प्रयोग—

क्षीरोचितस्य प्रक्षीणश्लेष्मणो दाहतृड्वतः ।
क्षीरं पित्तानिलार्तस्य पथ्यमप्यतिसारिणः ॥१०५॥
तद्ध्युर्लङ्घनोत्तप्तं प्लुष्टं वनमिवाग्निना ।
दिव्याम्बु जीवयेत्तस्य ज्वरं चाशु नियच्छति ॥१०६॥
संस्कृतं शीतमुष्णं वा तस्माद्धारोष्णमेव वा ।
विभज्य काले युञ्जीत ज्वरिणं हन्त्यतोऽन्यथा ॥१०७॥
पयः सशुण्ठीखर्जूरमृद्वीकाशर्कराघृतम् ।
शृतशीतं मधुयुतं तृड्दाहज्वरनाशनम् ।१०८॥
तद्वद् द्राक्षाबलायष्टीसारिवाकणचन्दनैः ।
चतुर्गुणेनाम्भसा वा पिप्पल्या वा शृतं पिबेत् ॥१०९॥
कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् ।
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूली शृत पयः ॥११०॥
शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा ज्वरात् ।
धारोष्णं वा पयः पीत्वा विबद्धानिलवर्चसः ॥१११॥
सरक्तपिच्छातिसृतेः सतृट्शूलप्रवाहिकात् ।
सिद्धं शुण्ठीबलाव्याघ्रीगोकण्टकगुडैः पयः ॥११२॥

शोफमूत्रशकृद्वातविबन्धज्वरकासजित् ।
वृश्चीवबिल्ववर्षाभूसाधितं ज्वरशोफनुत् ॥११३॥
शिंशिपासारसिद्धं वा क्षीरमाशु ज्वरापहम् ।

व्याख्या—जिसको दूध अनुकूल होता है या हो, जिसका कफ क्षीण हो, जो दाह तथा तृषा से पीडित हो तथा पित्त एवं वायु से पीडित हो उसे यदि अतिसार भी हो तो भी दूध पथ्य-लाभप्रद होता है। वह दूध लंघन एवं ज्वर से उपतप्त शरीर को वैसे जीवन दान करता है जैसे अग्नि से झुलसे हुए वन को वर्षा का जल। और वह ज्वर को शीघ्र ही शान्त कर देता है। वह दूध निम्नलिखित प्रकार से संस्कृत किया गया शीतल करके अथवा उष्ण २ पिलाना चाहिये अथवा धारोष्ण दूध पिलाना चाहिये और देश एवं दोष आदि का विचार करके समय पर पिलाना चाहिये। अन्यथा रोगी को हानि भी करता है। जैसे—सोंठ, खजूर (छोहारा), मुनक्का, खण्ड तथा घृत डाल कर पकाया गया दूध, शीतल होने पर, मधु मिलाकर पीने से तृषा, दाह तथा ज्वर को नष्ट करता है। अर्थात् उक्त विकारों में इस प्रकार संस्कृत करके दूध पिलाना चाहिये। अथवा दाख, बलामूल, मुलेठी, सारिवा, पीपल तथा चन्दन (लाल चन्दन) के योग से संस्कृत अथवा केवल चौगुना जल अथवा पीपल (२-४) डाल कर पकाया गया दूध पिलाना चाहिये। और ज्वर रोगी लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, कण्टकारी, वनभण्टा, तथा गोखरू) के योग से परिपक्व दूध पीकर कास, श्वास, शिरःशूल, पार्श्वशूल तथा जीर्ण ज्वर से मुक्त हो जाता है। और एरण्ड मूल के योग से अथवा बिलगिरी के योग से परिपक्व दूध अथवा धारोष्ण दूध पीकर रोगी उस ज्वर से मुक्त हो जाता है जिसमें अपान वायु एवं पुरीष का निरोध हो, रक्त एवं पिच्छा (आम) का अतिसरण हो तथा साथ में तृषा, शूल एवं प्रवाहिका हो। और सोंठ, बलामूल, कण्टकारी, गोखरू तथा गुड़ के योग से पक्व दूध शोथ, मूत्राघात, पुरीष एवं वायु के निरोध, ज्वर तथा कास को नष्ट करता है। और पुनर्नवा, बिलगिरी तथा वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाली पुनर्नवा के योग से सिद्ध दूध ज्वर एवं शोथ को नष्ट करता है। और सीसम वृक्ष के सारकाष्ठ के बुरादा के योग से सिद्ध दूध ज्वर को शीघ्र ही नष्ट करता है।

वक्तव्य—उक्त प्रकार से दुग्धपाक की विधि यह है—

द्रव्यात् अष्टगुणं क्षीरं क्षीरात् तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥

अर्थात् औषध द्रव्य से चौगुना दूध और दूध से चौगुना जल मिला कर पाक करे, केवल दूध रह जाने पर छान कर पिला देवे। परन्तु पीपल आदि तीक्ष्ण द्रव्य विचार करके डाले जाते हैं। यथा—पीपल २-४ डाल कर दूध पकाया जाता है और कभी२ थोड़ा जल डाल कर ही पकाया जाता है और ध्यान रखना चाहिये कि दूध गाढा न हो जाय॥१०५-११३॥

ज्वर में निरूहण

निरूहस्तु बलं वह्निं विज्वरत्वं मुदं रुचिम् ॥११४॥
दोषे युक्तः करोत्याशु पक्वे पक्वाशयं गते।
पित्तं वा कफपित्तं वा पक्वाशयगतं हरेत् ॥११५॥
स्रंसनं त्रीनपि मलान् बस्तिः पक्वाशयाश्रयान्।

व्याख्या—जब दोष परिपक्व होकर मलाशय में विद्यमान हो तब निरूहण वस्ति देने से बल एवं अग्नि की वृद्धि होती है, ज्वर शान्त हो जाता है, प्रसन्नता तथा अन्न में रुचि उत्पन्न होती है विरेचन तो मलाशय में वर्त्तमान पित्त को अथवा कफ एवं पित्त को निकालता है परन्तु वस्ति तो मलाशय में वर्त्तमान तीनों दोषों को निकाल देती है॥११४-११५॥

ज्वर में अनुवासन—

प्रक्षीणकफपित्तस्य त्रिकपृष्ठकटिग्रहे ॥११६॥
दीप्ताग्नेर्बद्धशकृतः प्रयुञ्जीतानुवासनम्।

व्याख्या—जिसके कफ एवं पित्त क्षीण हो गये हों (वायु बढ़ा हो) और त्रिक, पीठ एवं कटि में जकड़न हो, अग्नि प्रदीप्त हो और पुरीष रुका हो उसे अनुवासन वस्ति (स्नेह वस्ति) देवे।

वक्तव्य—तात्पर्य—मलाशय रूक्ष हो तो अनुवासन वस्ति देवे॥११६॥

निरूहण वस्ति के योग—

पटोलनिम्बच्छदन-कटुकाचतुरङ्गुलैः ॥११७॥
स्थिराबलागोक्षुरकमदनोशीरबालकैः।
पयस्यर्धोदके क्वाथ्यं क्षीरशेषं विमिश्रितम् ॥११८॥
कल्पितैर्मुस्तमदनकृष्णामधुकवत्सकैः।
बस्तिर्मधुघृताभ्यां च पीडयेज्ज्वरनाशनम् ॥११९॥

व्याख्या—परवल के पत्र, निम्ब की छाल, कुटकी, अमलतास, शालपर्णी, बलामूल, गोखरू, मैन फल, खस तथा नेत्रवाला के योग से दूध एवं जल को समान भाग मिला कर क्वाथ करो, दुग्ध मात्र रहने पर छानलो, उसमें मोथा, मैनफल, पीपल, मुलेठी तथा कुटजत्वक् का कल्क मिला दो और मधु एवं घृत मिला कर वस्ति देदो। इससे ज्वर शान्त होजाता है॥११७-११९॥

अथवा—

चतस्रः पर्णिनीर्यष्टीफलोशीरनृपद्रुमान्।

क्वाथयेत्कल्कयेद्यष्टीशताह्वाफलिनीफलम् ॥१२०॥
मुस्तं च बस्तिः सगुडक्षौद्रसर्पिर्ज्वरापहः।

व्याख्या—शालपर्णी, पृश्नपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी मुलेठी, मैनफल, खस, तथा अमलतास की गुदी का क्वाथ करो और उस में मुलेठी, सौंफ, प्रियंगु तथा मैनफल का कल्क मिलाओ और उसमें गुड़, मधु तथा घृत मिलाकर वस्ति दे दो यह वस्ति भी ज्वर नाशक है ॥१२०॥

अनुवासन योग—

जीवन्तीं मदनं मेदां पिप्पलीं मधुकं वचाम् ॥१२१॥
ऋद्धिं रास्नां बलां बिल्वं शतपुष्पां शतावरीम्।
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं चैकत्र साधितम् ॥१२२॥
ज्वरेऽनुवासनं दद्याद्यथास्नेहं यथामलम्।
ये च सिद्धिषु वक्ष्यन्ते बस्तयो ज्वरनाशनाः ॥१२३॥

व्याख्या—जीवन्ती, मैनफल, मेदा, पीपल, मुलेठी, वालवच ऋद्धि, रासना, बलामूल, विलगिरी सौंफ तथा शतावर का कल्क (१ पाव), दूध, जल, घृत तथा तैल (१-१ सेर)। सब को मिलाकर स्नेह पाक करो, सिद्ध होने पर छानलो। इस स्नेह की अनुवासन वस्ति ज्वर में दोषानुसार देवे। और जो कल्प-सिद्ध स्थान में वस्तियाँ कहीं जायँगी वे भी ज्वर को नष्ट करती हैं।

वक्तव्य—'यथास्नेहं यथामलम्' के स्थान में—'यथा दोषं यथाबलम्' पाठान्तर है यह उपयुक्त भी है।१२१-१२३।

ज्वर में नस्य—

शिरोरुग्गौरवश्लेष्महरमिन्द्रियबोधनम्।
जीर्णज्वरे रुचिकरं दद्यान्नस्यं विरेचनम् ॥१२४॥
स्नैहिकं शून्यशिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम्।

व्याख्या—विरेचन नस्य (कायफल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण की नस्य) शिर की वेदना, शिर का भारीपन तथा कफविकार को नष्ट करती है, इन्द्रियों को प्रबुद्ध करती है और जीर्ण ज्वर में रुचि उत्पन्न करती है। और स्नेहन नस्य—शिर की शून्यता को, दाह की पीड़ा को तथा पित्त को नष्ट करती है ॥१२४॥

ज्वर में धूम, गण्डूष तथा कवल—

धूमगण्डूषकवलान् यथादोषं च कल्पयेत् ॥१२५॥
प्रतिश्यायास्यवैरस्य-शिरःकण्ठामयापहान्।

व्याख्या—ज्वर में दोषानुसार—धूमपान, गण्डूष तथा कवलों की भी व्यवस्था करे जो प्रतिश्याय, मुखवैरस्य शिर तथा कण्ठ के रोगों के नाशक हों।

वक्तव्य धूमपान की विधि सू. अ. २१ में देखिये और गण्डूष एवं कवल की विधि सू. अ.२२ में देखिये ॥१२५॥

अरुचि में दो कवल—

अरुचौ मातुलुङ्गस्य केसरं साज्यसैन्धवम् ॥१२६॥
धात्रीद्राक्षासितानां वा कल्कमास्येन धारयेत्।

व्याख्या—अरुचि रहने पर—बिजौरा का केसर घृत तथा सैन्धव लवण का अथवा आमला, दाख तथा मिशरी का कवल मुख में धारण करे ॥१२६॥

जीर्ण ज्वर में अभ्यङ्ग आदि—

यथोपशयसंस्पर्शान् शीतोष्णद्रव्यकल्पितान् ॥१२७॥
अभ्यङ्गालेपसेकादीन् ज्वरे जीर्णे त्वगाश्रिते।
कुर्यादञ्जनधूमांश्च तथैवाऽऽगन्तुजेऽपि तान् ॥१२८॥

व्याख्या—त्वचामात्र में स्थित जीर्ण ज्वर में—जो जो उचित हों उन उन शीत अथवा उष्ण द्रव्यों द्वारा बनाए गये अभ्यङ्ग, लेप तथा सेचन आदि का प्रयोग करे। और आगन्तुज ज्वर में ज्वरनाशक अञ्जनों तथा धूमों (धूम पान तथा धूप-धूपन) का और अभ्यङ्ग, लेप तथा सेचन (अवगाहन आदि) का प्रयोग करे।१२८।

अभ्यंग आदि के कुछ योग—

दाहे सहस्रधौतेन सर्पिषाऽभ्यङ्गमाचरेत्।
सूत्रोक्तैश्च गणैस्तैस्तैर्मधुराम्लकषायकैः ॥१२९॥
दूर्वादिभिर्वा पित्तघ्नैः शोधनादिगणोदितैः।
शीतवीर्यैर्हिमस्पर्शैः क्वाथकल्कीकृतैः पचेत् ॥१३०॥
तैलं सक्षीरमभ्यङ्गात्सद्यो दाहज्वरापहम्।
शिरोगात्रं च तैरेव नाऽतिपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥१३१॥
तत्क्वाथेन परीषेकमवगाहं च योजयेत्।
तथाऽऽरनालसलिलक्षीरशुक्तघृतादिभिः ॥१३२॥
कपित्थमातुलुङ्गाम्लविदारीरोध्रदाडिमैः।
बदरीपल्लवोत्थेन फेनेनारिष्टजेन वा ॥१३३॥
लिप्तेऽङ्गे दाहरुङ्मोहाश्छर्दिस्तृष्णा च शाम्यति।

व्याख्या—दाह में सहस्रधौत गो घृत का अभ्यङ्ग करे। अथवा सूत्र स्थान अध्याय १० में कहे गए मधुर गण, अम्लगण तथा कषाय गण के उचित द्रव्यों के अथवा दूर्वा आदि पित्त नाशक द्रव्यों के तथा शोधनादि गण संग्रह (सू० अ० १५) नामक अध्याय में कहे गये शीत वीर्य एवं शीतस्पर्श द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क के योग से तथा दुग्ध के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे, वह शीघ्र ही दाह एवं ज्वर को शान्त करता है। तथा उन्हीं द्रव्यों को थोड़ा पीसकर शिर एवं हस्तपाद आदि पर अथवा समस्त शरीर पर लेप करें। उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से सेचन करे अथवा क्वाथ में अवगाहन करे। अथवा काञ्जी, जल, दूध, शुक्त (सिरका आदि अम्ल द्रव) अथवा घृत आदि का सेचन करे अथवा काञ्जी आदि में

अवगाहन करे। और कैथ (कच्चे फल अथवा कोमल पत्र), बिजौरा निम्बू, अम्लवेतस, विदारीकन्द, लोध तथा अनार दाना को पीस कर लेप करने से अथवा बेर के पत्तों की झाग का अथवा निम्ब के पत्तों की झाग (पत्तों को पीस कर जल में मसल कर झाग बना ली जाती है) का लेप करने से—दाह, वेदना, मोह, छर्दि तथा तृषा की शान्ति हो जाती है ॥१२९-१३३॥

दाह युक्त ज्वर में उपचार—

यो वाणतः पित्तहरो दोषोपक्रमणे क्रमः ॥१३४॥
तं च शीलयतः शीघ्रं सदाहो नश्यति ज्वरः।

व्याख्या—दोषोपक्रमणीय अध्याय (सू. अ. १३) में जो पित्तनाशक उपाय लिखे हैं उनके सेवन करने से भी दाह युक्त ज्वर शीघ्र शांत हो जाता है ॥१३४॥

ज्वर में शीत शमन के उपाय—

वीर्योष्णैरुष्णसंस्पर्शैस्तगरागुरुकुङ्कुमैः ॥१३५॥
कुष्ठस्थौणेयशैलेयसरलामरदारुभिः।
नखरास्नामुरवचाचण्डैलाद्वयचोरकैः ॥१३६॥
पृथ्वीकाशिग्रुसुरसाहिंस्राध्यामकसर्षपैः।
दशमूलाऽमृतैरण्डद्वयपत्तूररोहिषैः ॥१३७॥
तमालपत्रभूनिम्बशल्लकीधान्यदीप्यकैः।
मिशिमाषकुलत्थाग्निप्रकीर्यानाकुलीद्वयैः ॥१३८॥
अन्यैश्च तद्विधैर्द्रव्यैः शीते तैलं ज्वरे पचेत्।
क्वथितैः कल्कितैर्युक्तैः सुरासौवीरकादिभिः ॥१३९॥
तेनाभ्यञ्ज्यात्सुखोष्णेन तैः सुपिष्टैश्च लेपयेत्।
कवोष्णैस्तैः परीषेकमवगाहं च कल्पयेत् ॥१४०॥
केवलैरपि तद्वच्च शुक्तगोमूत्रमस्तुभिः।
आरग्वधादिवर्गं च पानाभ्यञ्जनलेपनैः ॥१४१॥
धूपानगरुजान् यांश्च वक्ष्यते विषमज्वरे।
अग्न्यनग्निकृतान्स्वेदान् स्वेदिभेषजभोजनम् ॥१४२॥
गर्भभूवेश्मशयनं कुथाकम्बलरल्लकान्।
निर्धूमदीप्तैरङ्गारैर्हसन्तीश्च हसन्तिकाः ॥१४३॥
मद्यं सत्र्यूषणं तक्रं कुलत्थव्रीहिकोद्रवान्।
संशीलयेद्वेपथुमान् यच्चाऽन्यदपि पित्तलम् ॥१४४॥
दयिताः स्तनशालिन्यः पीना विभ्रमभूषणाः।
यौवनासवमत्ताश्च तमालिङ्गेयुरङ्गनाः ॥१४५॥
गतशीतं च विज्ञाय तास्ततोऽपनयेत्पुनः।

व्याख्या—उष्णवीर्य एवं उष्ण स्पर्श द्रव्यों-यथा-तगर, अगुरु, केसर, कुठ, थुनेर, शरीला, सरल (चीढ), देवदारु, नालूना, रासना, मुरा, बालवच, चण्डा, बड़ी इलायची, छोटी इलायची, चोरक, कलौंजी, सहजन, तुलसी, अहींस, गन्धतृण, सरसों, दशमूल, गिलोय, एरण्ड, लाल एरण्ड, पत्तूर, रोहिषतृण, तमालपत्र, पूति करञ्ज, सलई, धनियाँ, अजवायन, सोया, उरद, कुलथी, चित्रामूल, करञ्ज, नाकुली तथा गन्ध नाकुली और इसी प्रकार के उष्णवीर्य तथा उष्णस्पर्श वाले द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क के योग से तैल पाक करे और उसमें सुरा (शराब) एवं सौवीरक आदि (जौ की शराब) आदि मिला कर, कोसा करके शीत ज्वर में अभ्यंग करे। अथवा उन्हीं द्रव्यों को भलीभान्ति पीस कर लेप करे। अथवा उनके कोसे कोसे क्वाथ का सेवन करे अथवा उनके क्वाथ में अवगाहन करे। अथवा उनमें से किसी एक ही द्रव्य को शुक्त (शिरका आदि अम्ल द्रव), गो मूत्र अथवा मस्तु (दही का पीताभ जल) के साथ पीस कर लेपादि करे अथवा केवल शुक्त आदि से सेचन करे अथवा उनमें से किसी एक में अवगाहन करे। अथवा आरग्वधादि गण (सू० अ० १५) को पीने में, अभ्यङ्ग में तथा लेप में प्रयुक्त करे। और इस शीताधिक्य में अगुरु आदि के धूप देवे जो आगे विषम ज्वर में (पलंकषादि तथा पुरादि अर्थात् अपराजित धूप श्लो० १६१-१६२) कहे जाएँगे। अथवा शीत शांति के लिए—अग्नि कृत अथवा अनग्नि कृत स्वेदों (सू० अ० १७) का प्रयोग करे तथा स्वेद जनक औषधों एवं भोजनों का प्रयोग करे। तथा रोगी-गर्भगृह में अथवा भूमिगत गृह में शयन करे और कुथा (कन्था-गद्दा-गोदड़ी-मोटा बिछावन) कम्बल तथा रल्लक (सुखदायक कोमल कम्बल-पश्मीना) को बिछाकर एवं ओढ़ कर शयन करे। और धूमरहित एवं प्रदीप्त अंगारों से पूर्ण हँसती हुई सी हसन्तिकाओं (अंगीठियों) का सेवन करे (उनको पास धर कर तापे) अथवा मद्य का, त्रिकटु मिश्रित तक्र का, कुलथी की दाल का, व्रीही धान्य तथा कोदों का सेवन करे (इनके चूर्ण शीतग्रस्त हाथों पावों पर मले भी जाते हैं)। जब कम्पन हो रहा हो (शीत लग रहा हो या शरीर शीतल होता जा रहा हो) तब अन्यान्य-कस्तूरी, केशर, बृहद् वातचिन्तामणि आदि पित्तकारक आहार, विहार तथा औषध का सेवन करे। और शीतशान्ति के लिये प्रिया, पुष्ट कुचों वाली, पुष्ट शरीर वाली, विलासवती, यौवन तथा मद्यसे मत्त नारियाँ उसका आलिङ्गन करें। जब शीत शान्त हो जाय तब उन नारियों को अलग कर देवे (वह मैथुन न करने पावे) ॥१३५-१४५॥

त्रिदोषज ज्वर की चिकित्सा—

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च ॥१४६॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यकक्षाञ्जयेन्मलान्।

व्याख्या—क्षीण दोष का वर्द्धन करके तथा वृद्ध दोष का क्षपण-क्षय करके और समकक्ष दोषों को आमाशय आदि कफ स्थानों की आनुपूर्वी से शान्त करे।

वक्तव्य—कफ स्थानानुपूर्वी—कफ के ५ स्थान हैं—आमाशय, शिर, कण्ठ, हृदय तथा सन्धियाँ—लंघन द्वारा आमाशय, नस्य द्वारा शिर, कवल ग्रह द्वारा कण्ठ, उष्ण जल आदि द्वारा हृदय एवं फुफ्फुस तथा स्वेदन द्वारा सन्धियों में व्याप्त कफ का शमन करे, कफ का शमन होने पर स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं फलतः पित्त एवं वायु का सुख से शमन हो सकता है। यथा—

सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यात् आमकफापहम्।
पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ।

सन्निपात का एक उपद्रव—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ॥१४७॥
शोफः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते।
रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिःपानैश्च तं जयेत् ॥१४८॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः।

व्याख्या—सन्निपात ज्वर के अन्त में कर्णमूल में शोथ हो जाता है यदि वह अत्यन्त दारुण होता है तो उससे कोई ही रोगी मुक्त होता है–या छुटकारा पाता है। उस की चिकित्सा–उस पर जोक आदि का प्रयोग करके रक्त निकाल देवे, घृत पान करावे, कफ पित्त नाशक लेप करे, नस्य देवे तथा कवल का धारण करावे।

वक्तव्य—उक्त शोथ पर लगाने योग्य कफ पित्त नाशक लेप—कुलत्थकट्फले शुण्ठी कारवी च समांशकैः।
सुखोष्णैः लेपनं दद्यात् कर्णमूले मुहुर्मुहुः।
अथवा—गैरिके पांशुजं शुण्ठी वचाकट्फलकाञ्चिकैः।
कर्णमूलहरो लेपः सन्निपातज्वरे नृणाम्।
अथवा–सुखोष्णदशमूलेन प्रलेपोऽपि महागलः।

इसके अतिरिक्त यदि कोई उपद्रव हो जायँ तो उन की शान्ति का उपाय सादर करते रहना चाहिये ॥१४७-१४८॥

ज्वर में सिरावेध—

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ॥१४९॥
शाखानुसारी,तस्याशु मुञ्चेद्बाह्वोः क्रमात्सिराम्।

व्याख्या—जिस का ज्वर—शीतल अथवा उष्ण चिकित्सा से, स्निग्ध अथवा रूक्ष चिकित्सा से शान्त न हो उस रोगी का ज्वर रक्त आदि धातुओं अथवा त्वचा मात्रमें रहता है अतः उसकी बाहुओं में सिरा वेध करके रक्त मोक्षण कर देवे इससे ज्वर शीघ्र शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—अनेक बार देखा गया है कि सब प्रकार की चिकित्सा करने पर जब ज्वर नहीं छूटा तो सिरा वेध किया गया। उस से ज्वर छूट गया। शाखानुसारीशाखा रक्तादि धातुओं का तथा त्वचा का नाम है। देखिये–सू. अ. १२ श्लो० ४२। सिरावेध विधि सू. अ. २७ में देखिये।

विषम ज्वर की चिकित्सा—

अयमेव विधिः कार्यो विषमेऽपि यथायथम् ॥१५०॥
ज्वरे विभज्य वातादीन् यश्चानन्तरमुच्यते।

व्याख्या—विषम ज्वरों में भी यही सब चिकित्सा दोषादि का विचार करके करनी चाहिये और जो चिकित्सा नीचे लिखी गई है वह भी करनी चाहिये—॥१५०॥

विषम ज्वर नाशक योग—

पटोलकटुकामुस्ताप्राणदामधुकैः कृताः ॥१५१॥
त्रिचतुःपञ्चशः क्वाथा विषमज्वरनाशनाः।
योजयेत्त्रिफलां पथ्यां गुडूचीं पिप्पलीं पृथक् ॥१५२॥
तैस्तैर्विधानैः सगुडैर्भल्लातकमथाऽपि वा।
लङ्घनं बृंहणं चाऽपि ज्वरागमनवासरे ॥१५३॥
प्रातः सतैलं लशुनं प्राग्भक्तं वा तथा घृतम्।
जीर्णं तद्वद्दधिपयस्तक्रं सर्पिश्च षट्पलम् ॥१५४॥
कल्याणकं पञ्चगव्यं तिक्ताख्यं वृषसाधितम्।
त्रिफलाकोलतर्कारीक्वाथदध्ना शृतं घृतम् ॥१५५॥
तिल्वकत्वक्कृतावापं विषमज्वरजित्परम्।
सुरां तीक्ष्णं च यन्मद्यं शिखितित्तिरिकुक्कुटान् ॥१५६॥
मांसं मध्योष्णवीर्यं च सहान्नेन प्रकामतः।
सेवित्वा तदहः स्वप्यादथवा पुनरुल्लिखेत् ॥१५७॥
सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा तच्छर्दयेत्पुनः।
नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ॥१५८॥
पिबेज्ज्वरस्यागमने स्नेहस्वेदोपपादितः।
मनोह्वा सैन्धवं कृष्णा तैलेन नयनाञ्जनम् ॥१५९॥
योज्यं हिङ्गुसमा व्याघ्री वसा नस्यं ससैन्धवम्।
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत्ससैन्धवा ॥१६०॥
पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी।
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपो विड् वा बिडालजा ॥१६१॥
पुरध्यामवचासर्जं निम्बार्काऽगरुदारुभिः।
धूपो ज्वरेषु सर्वेषु प्रयोक्तव्योऽपराजितः ॥१६२॥
धूपनस्याञ्जनत्रासा ये चोक्ताश्चित्तवैकृते।
दैवाश्रयं च भैषज्यं ज्वरान्सर्वान्व्यपोहति ॥१६३॥
विशेषाद्विषमान्प्रायस्ते ह्यागन्त्वनुबन्धजाः।
यथास्वं च सिरां विध्येदशान्तौ विषमज्वरे ॥१६४॥

व्याख्या—परवल के पत्र, कुटकी, नागर मोथा, हरड तथा मुलेठी। इन ५ द्रव्यों में से तीन, चार अथवा पाँच

द्रव्यों के क्वाथ विषम ज्वरों को नष्ट करते हैं। अथवा—त्रिफला अथवा हरड़ अथवा गिलोय अथवा पीपल अथवा शुद्ध भिलावा का उन उन विधियों से गुड़ के साथ प्रयोग करे। विधियाँ उ० तं० अ० ३९ में देखो। अथवा—ज्वर आने के दिन उपवास कराओ अथवा रोगी को बृंहण (खीर, मालपूआ आदि अथवा मांस रस का सेवन) का सेवन कराओ। अथवा प्रातः काल ज्वर आने के पूर्व—लशुन का कल्क तैल में मिलाकर खिलाओ। अथवा भोजन के पूर्व—प्रातः काल पुराना घृत पिलाओ। अथवा भरपेट उत्तम दही पिलाओ अथवा भरपेट दूध पिलाओ अथवा तक्र पिलाओ अथवा षट्पल घृत (चि० अ० ५) पिलाओ अथवा कल्याणघृत (उ० अ० ६) अथवा पञ्चगव्यघृत (उत्तर तन्त्र अ० ७) अथवा तिक्त घृत (चि० अ० १९ अथवा वृषघृत—वासाघृत (चि० अ० २) पिलाओ। अथवा त्रिफला, बेरफल तथा अरणी का क्वाथ ४ सेर, दही १ सेर, घृत १ सेर, लोधकी छाल का कल्क १ पाव। सबको एक में मिला कर पाक करो, सिद्ध होने पर छान लो। यह घृत भी विषमज्वर नाशक है—विरेचक है। अथवा सुरा या किसी भी तीक्ष्ण मद्य का, मोर, तीतर अथवा मुरगा के मांस का अथवा किसी भी मेदस्वी एवं उष्ण वीर्य मांस का भोजन के साथ इच्छापूर्वक (यथेष्ट—भरपेट) सेवन करके उसदिन (ज्वर आने के दिन) या दिन भर सोता रहे अथवा उक्त मद्य मांस एवं अन्न को खाकर वमन कर देवे। अथवा घृत की उत्तम मात्रा पीकर वमन कर देवे। अथवा स्नेहन एवं स्वेदन करके—ज्वर आदि के दिन—ज्वर आने से ६—८ घड़ी पूर्व—नील के पत्र, अजमोद, निसोत तथा कुटकी का चूर्ण या क्वाथ पीवे। यह भी विरेचक योग है।

विषम ज्वर नाशक अञ्जन—

मैनसिल, सैन्धव लवण, तथा पीपल को कडु तैल में पीस कर- ज्वर आने के पूर्व अञ्जन करे।

अथवा विषम ज्वर नाशक नस्य—

हींग एवं सैन्धव लवण को व्याघ्र की वसा में मिलाकर नस्य देवे अथवा पुराना घृत, सिंह की वसा तथा सैन्धव लवण मिला कर नस्य देवे।

अथवा धूप—

गूगल (या लोबान), निम्ब के पत्र, बाल वच, सुगन्धी कूट, हरड़, सरसों, जौ तथा घृत मिला कर धूप देवे अथवा बिलाव के पुरीष की धूप देवे।

अपराजित धूप—

गूगल, गन्धतृण, बालवच, राल, निम्ब के पत्र आक की जड़ अगुरु तथा देवदारु का बुरादा अथवा गोन्द। सब समान भाग लेकर, दरदरा कूट कर रख लो। यह धूप सब ज्वरों में देनी चाहिये।

अन्य उपचार—

और उन्माद रोग तथा अपस्मार रोग आदि मानसिक रोगों में जो जो धूप, नस्य, अञ्जन तथा त्रासन आदि बतलाए हैं उनका प्रयोग करे। और मणि धारण, बलिदान, मङ्गल चलन, प्रायश्चित्त, जप तथा हवन आदि दैव व्यपाश्रय चिकित्सा भी सब ज्वरों को विशेषतः विषम ज्वरों को नष्ट करती है क्यों कि विषम ज्वर प्रायः भूताभिषङ्ग आदि आगन्तु कारण से उत्पन्न होते हैं। अथवा इतना सब कुछ करने पर भी यदि विषम ज्वर की शान्ति न हो तो शास्त्रोपदिष्ट सिरा का वेध करे।

वक्तव्य -यथास्वं च सिरां विध्येत्-अर्थात्—

तृतीयकेंऽसयोः मध्ये स्कन्धस्याऽधः चतुर्थके।१३।

सू. अ. २७। उन्माद का वर्णन उ. तं. अ. ६ में तथा अपस्मार का वर्णन उ. तं. अ. ७ में देखिये ॥१५१-१६४॥

अन्य ज्वरों की चिकित्सा—

केवलानिलवीसर्पं विस्फोटाभिहतज्वरे।
सर्पिःपानं हिमालेपसेकमांसरसाशनम् ॥१६५॥
कुर्याद्यथास्वमुक्तं च रक्तमोक्षादिसाधनम्।

व्याख्या—केवल वातजनित ज्वर में, विसर्प जनित ज्वर में, विस्फोट (शीतला)जनित ज्वर में तथा अभिघात जनित ज्वर में—घृत पान (उक्त घृतों का सेवन), शीतल लेप तथा सेचन एवं मांस रस के साथ भोजन करे और उक्त सब चिकित्सा विधान जो कहा गया है करे और रक्तमोक्षण आदि चिकित्सा करे।

वक्तव्य—पञ्जाब एवं राजस्थान में शीतलारोगीको घृत-पक्व मोती चूर के मोदक खिलाये जाते हैं।१६५।

ग्रहादि जनित ज्वरों की चिकित्सा—

'ग्रहोत्थे' भूतविद्योक्तं बलिमन्त्रादिसाधनम् ॥१६६॥
ओषधीगन्धजे पित्तशमनं विषजिद्विषे।
इष्टैरर्थैर्मनोज्ञैश्च यथादोषशमेन च ॥१६७॥
हिताहितविवेकैश्च ज्वरं क्रोधादिजं जयेत्।
क्रोधजो याति कामेन शान्तिं क्रोधेन कामजः ॥१६८॥
भयशोकोद्भवौ ताभ्यां भीशोकाभ्यां तथेतरौ।
शापाथर्वणमन्त्रोत्थे विधिर्दैवव्यपाश्रयः ॥१६९॥
ते ज्वराः केवलाः पूर्वं व्याप्यन्तेऽनन्तरं मलैः।

तस्माद्दोषानुसारेण तेष्वाहारादि कल्पयेत् ॥१७०॥
न हि ज्वरोऽनुबध्नाति मारुताद्यैर्विना कृतः ।

व्याख्या—सूर्य-आदि ग्रहों के प्रभाव से अथच देव आदि भूतों के आवेश से उत्पन्न ज्वर में—भूतविद्या में कहे गये बलि मन्त्र आदि उपाय करे (भूतविद्या देखिये उ० तं० अ० १ से ८) । औषध की गन्ध से उत्पन्न ज्वर में पित्तशामक चिकित्सा करे। विषजनित ज्वर में विषनाशक उपाय करे। क्रोध एवं काम आदि से उत्पन्न ज्वरों को अभीष्ट एवं मनोहर शब्दादि (गीत आदि) के द्वारा, दोषानुसार चिकित्सा के द्वारा तथा हित एवं अहित के विवेचन—ज्ञान (समझाने बुझाने) द्वारा शान्त करे। यह सत्य है कि—क्रोध जनित ज्वर काम से (कामना-इच्छा की पूर्ति से शान्त हो जाता है और काम जनित ज्वर क्रोध से (क्रोध उत्पन्न कर देने-छिड़ा देने से) शान्त हो जाता है। और भय एवं शोक से उत्पन्न ज्वर क्रोध एवं काम से शान्त हो जाते हैं और काम एवं क्रोध से उत्पन्न ज्वर भय एवं शोक से शान्त हो जाते हैं। शाप तथा मोहन-उच्चाटन मन्त्र-कर्म आदि से उत्पन्न ज्वर में दैवव्यपाश्रय (बलि मङ्गल आदि) विधि-चिकित्सा करे। उक्त सब आगन्तु ज्वर-प्रथमावस्था में केवल ज्वर रूप-सन्ताप रूप में रहते हैं और तदनन्तर-तत्काल वातादि दोषों से व्याप्त हो जाते हैं इसलिए उन में वातादि दोषों के विचार से आहार, विहार एवं औषध की कल्पना-व्यवस्था करे। और यह स्मरण रखिए कि-उक्त कारणों से उत्पन्न ज्वर वायु आदि के संसर्ग के बिना अधिक समय तक नहीं रह सकता (तत्काल मार डालता है अथवा छूट ही जाता है) ॥१७०॥

स्मृति जनित ज्वर की चिकित्सा—

ज्वरकालं स्मृतिं चास्य हारिभिर्विषयैर्हरेत् ॥१७१॥
करुणार्द्रं मनः शुद्धं सर्वज्वरविनाशनम् ।

व्याख्या—जिसे ज्वर के समय का स्मरण करके ज्वर चढ़ जाता हो उसकी स्मृति को मनोहर एवं विचित्र शब्द स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक विषयों द्वारा नष्ट कर देवे (उसके मनस् में ज्वर की स्मृति ही न आने देवे) । और राग द्वेष आदि से रहित तथा करुणा से पूर्ण मनस् सब ज्वरों को नष्ट कर देता है अर्थात् पवित्र विचार तथा शुभ कर्म करने से भी कभी२ ज्वर शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—देखिये श्लो० ७६ तथा च. चि. अ. ३ श्लो. ३०८ से ३१४ ॥१७१॥

ज्वर में परिहार्य—

त्यजेदाबललाभाच्च व्यायामस्नानमैथुनम् ॥१७२॥
गुर्वसात्म्यविदाह्यन्नं यच्चान्यज्ज्वरकारणम् ।

व्याख्या—ज्वर रहने पर अथवा छूट जाने पर भी जब तक बल का लाभ न हो तब तक-व्यायाम (सब प्रकार के श्रम) स्नान, मैथुन, एवं गुरु, असात्म्य तथा विदाह कारी अन्न और अन्यान्य ज्वरोत्पादक आहारविहार का परित्याग होना चाहिये ॥१७२॥

अन्य चेतावनी—

न विज्वरोऽपि सहसा सर्वान्नीनो भवेत्तथा ।
निवृत्तोऽपि ज्वरः शीघ्रं व्यापादयति दुर्बलम् ॥१७३॥

व्याख्या—ज्वर छूट जाने पर भी रोगी—एकाएक (बलवान् होने के पूर्व) सब प्रकार के अन्नों का भक्षक न बने क्योंकि छूटा हुआ भी ज्वर पुनः आकर. पहिले से ही दुर्बल रोगी को शीघ्र मार डालता है (अथवा कष्ट देता है) ।

वक्तव्य—मिथ्या आहार विहार से पुनरावर्त्तक ज्वर हो जाता है ॥१७३॥

चिकित्सा में सावधानता—

सद्यः प्राणहरो यस्मात्तस्मात्तस्य विशेषतः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्कुर्याद्भिषग्जितम् ॥१७४॥

व्याख्या—ज्वर क्योंकि शीघ्र ही प्राण (बल एवं जीवन) को हर लेता है इसलिये विशेष रूप से ज्वर की उस अवस्था में वह वह-शास्त्रोक्त चिकित्सा करे।

वक्तव्य—चिकित्सा में उपेक्षा करने से बहुत बड़ी हानि हो सकती है ॥१७४॥

ज्वर शान्ति के अन्य उपाय —

ओषधयो मणयश्च सुमन्त्राः साधुगुरुद्विजदैवतपूजाः ।
प्रीतिकरा मनसो विषयाश्च घ्नन्त्यपि विष्णुकृतंज्वरमुग्रम्

व्याख्या—सहदेवी एवं दूर्वा आदि औषधियों का-शिर एवं कण्ठ आदि अङ्गों पर धारण करने से तथा ज्वर नाशक माङ्गलिक नीलम आदि मणियों का धारण करने से, उत्तम मन्त्रों का जप करने से या उनके द्वारा प्रोक्षण करने-झाड़ने से, साधु-महात्माओं की, माता पिता आदि गुरु जनों की, ब्राह्मणों की तथा विष्णु एवं शिव आदि देवताओं की पूजा-स्तोत्र पाठ एवं षोड़शोपचार से पूजन करने से और मनस् को प्रसन्न करने वाले विषयों का सेवन करने से विष्णु भगवान्-परमेश्वर द्वारा उत्पन्न किया हुआ भीषण ज्वर भी शान्त हो जाता है, मिथ्या आहार विहार तथा अभिघात-अभिचार आदि से उत्पन्न किये गये ज्वरों की तो कथा ही क्या है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ।

धारणात् अगदानां च सेवनात् न भवेत् ज्वरः ।३०८।
सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।३०९।
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराऽचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन् नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ।३१०।
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ।
गङ्गां मरुद्गणान् चेष्ट्या पूजयन् जयति ज्वरान् ।३११।
भक्त्या च मातापितृणां गुरूणां पूजनेन च ।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च ।३१२।
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ।
ज्वरात् विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ।३१३।

अष्टाङ्गसंग्रहकार के शब्दों में—चि. अ. २—

कथाः त्रिवर्गसंयुक्ता रुक् निद्रादि विनोदिनीः ।
शास्त्रं विचित्रं शृणुयात् प्रेतव्याधिव्यपाश्रयम् ।
मनोभिराममविषयं वचनं हार्दि दक्षिणम् ।
मातरं पितरं देवान् वैद्यान् विप्रान् हरं हरिम् ।
पूजयेत् शीलयेत् दानदमसत्यदयाऽऽर्जवान् ।
धारयेत् च शुचिः मूर्ध्ना मणिरत्नमहौषधीः ।
आर्याऽवलोकितं पर्णं शवरीमपराजिताम् ।
प्रणमेत् आर्यतारां च सर्वज्वरनिवृत्तये ।
जयन् तथागतोष्णीषं सर्वं व्याधि चिकित्सितम् ।
आगन्तुदोषसहजैः सर्वरोगैः विमुच्यते ।

आयुर्वेद का विश्वास है कि—ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोप प्रभवः, सर्वप्राणिनां प्राणहरः, देहेन्द्रियमनस्तापकरः, प्रज्ञाबलवर्णहर्षोत्साहह्रासकरः, श्रमक्लममोहाऽऽहारो रोधसंजननः ज्वरयति शरीराणि इति ज्वरः, नान्ये व्याधयः तथा दारुणाः, बहूपद्रवा दुश्चिकित्स्यतमाश्च यथा अयम् इति । स सर्वरोगाधिपतिः नानातिर्यक्योनिषु च बहुविधैः शब्दैः अभिधीयते । सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते स ज्वरा एव म्रियन्ते च, स महामोहः । तेन अभिभूताः प्राग्दैहिकं देहिनः कर्म किञ्चिदपि न स्मरन्ति, सर्वप्राणभृतां च ज्वर एव अन्ते प्राणान् आदत्ते । च. नि. अ. १–४० । तथा–

रुद्र कोपाभिसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः
ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम् ।
कर्मणा लभते यस्मात् देवत्वं मानुषादपि ।
पुनश्चैव च्युतः स्वर्गात् मानुष्यमनुवर्तते ।
तस्मात् च देवभावेन सहंते मानुषा ज्वरम् ।
शेषा सर्वे विपद्यन्ते तैर्यग्योना ज्वरार्दिताः ।

सु उ. तं. अ. ३९ ।

इन सब कारणों से ज्वर दैवी रोग है अतः इस में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा भी की जाती है और विशेषतः विषम ज्वर में कुछ आचार्यों का दृढ़ विश्वास है कि भूताभिषङ्ग होता ही है अतः दैवव्यपाश्रय चिकित्सा अधिक सफल होती है । वैसे अर्श, कामला, प्लीहवृद्धि, मुक्त नाल (नाला उखड़ना), पुत्रघ्नी तथा वामिनी नामक योनि व्यापदों और सुखण्डी (बाल शोष) आदि में भी दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की जाती है । ज्वर का विवरण देखिये नि. अ. २ में । प्रतीत होता है—आर्यावलोकित, पर्णशवरी, अपराजिता तथा आर्यतारा नामक कोई इष्ट देवता हैं जो बौद्ध मत में मानी जाती हैं और तथा गतोष्णीष बुद्ध भगवान् का नाम है अथवा उसके किसी स्तोत्र अथवा मन्त्र का ।।१७५।।

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सास्थाने प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

अब रक्त पित्तकी चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषयमें आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं—

वक्तव्य—रक्तपित्त की चिकित्सा च. नि. अ. २, चि. अ. ४, सु. उ. अ. ४५ तथा अ. सं. चि, अ. ३ में देखिए ।

साध्य, याप्य एवं असाध्य रक्तपित्त—

ऊर्ध्वगं बलिनोऽवेगमेकदोषानुगं नवम् ।
रक्तपित्तं सुखे काले साधयेन्निरुपद्रवम् ।। १ ।।
अधोगं यापयेद्रक्तं यच्च दोषद्वयानुगम् ।
शान्तं शान्तं पुनः कुप्यन्मार्गान्मार्गान्तरं च यत् ।।२।।
अतिप्रवृत्तं मन्दाग्नेस्त्रिदोषं द्विपथं त्यजेत् ।

व्याख्या—बलवान् रोगी का ऊर्ध्वगामी, वेग रहित, एक दोषज, नूतन तथा उपद्रव रहित और शीत काल हो तो रक्तपित्त साध्य होता है । जो रक्तपित्त अधोगामी हो, द्विदोषज हो, शान्त हो कर पुनः प्रवृत्त हो जाता हो और नासा एवं मुख आदि मार्गों से कभी किसी से तथा कभी किसी मार्ग से निकलता हो वह याप्य होता है । जो रक्तपित्त—अत्यधिक परिमाण में प्रवृत्त हो, रोगी की जठराग्नि मन्द हो, त्रिदोषज हो तथा ऊपर एवं नीचे के मार्गों से निकल रहा हो वह असाध्य होता है ।

वक्तव्य—देखिए नि. अ. ३ श्लो० १ से १६ । तथा उपद्रव देखिए शा अ. ५ । किसी२ प्रति में इस पाठ के आगे निम्नलिखित पाठ पाया जाता है और उस पर सर्वाङ्गसुन्दरा तथा हेमाद्रिकृत आयुर्वेद रसायन नामक टीकाएं भी हैं अतः प्रतीत होता है कि पुरानी सब प्रतियों में यह पाठ रहा होगा वह पाठ यह है—

यथा—

ज्ञात्वा निदानमयनं मलावनुबलौ बलम् ।
देशकालाद्यवस्थां च रक्तपित्ते प्रयोजयेत् ।
लङ्घनं बृंहणं वाऽऽदौ शोधनं शमनं तथा ।

अर्थात्—निदान–रोगोत्पादक कारण को, उसके अयन–मार्ग को, वायु एवं कफ नामक अनुबल–अनुबन्धी दोषों को, बल (मृदु एवं दारुण के भेद से रोग के बल) को तथा देश (जाङ्गल अनूप एवं साधारण या उष्ण एवं शीत देश–रोगी की निवास भूमि)तथा काल (उष्ण,शीत भेद से) की अवस्था का विचार करके रक्त पित्त में—लङ्घन (कर्षण) अथवा बृंहण तथा शोधन अथवा शमन चिकित्सा का प्रयोग करे यह पाठ अ. सं. चि. अ. ३ का है। और इन सब निदान आदि के अनुसार ही आगे चिकित्सा लिखी गई है पाठक ध्यान देने का प्रयत्न करें ॥१,२॥

निदान के अनुसार चिकित्सा—

सन्तर्पणोत्थं बलिनो बहुदोषस्य साधयेत् ॥३॥
ऊर्ध्वभागं विरेकेण वमनेन त्वधोगतम् ।
शमनैर्बृंहणैश्चान्यल्लङ्घ्यबृंह्यानवेक्ष्य च ॥४॥

व्याख्या—सन्तर्पण से उत्पन्न, बलवान् तथा अधिक दोषों वाले रोगी के ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त को विरेचन से और अधोगामी को वमन से सिद्ध करे अर्थात् प्रथम इनका प्रयोग करे। और लङ्घनीय रोगी को देख कर शमन उपायों से तथा बृंहणीय रोगी को देख कर बृंहण उपायों से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—शमन भी लंघन का एक भेद है—

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ।४।

(सू० अ० १४) और लङ्घनीय तथा बृंहणीय आदि का वर्णन भी उसी अध्याय में देखिये ॥३-४॥

अयन के अनुसार चिकित्सा—

ऊर्ध्वं प्रवृत्ते शमनौ रसौ तिक्तकषायकौ ।
उपवासश्च निःशुण्ठीषडङ्गोदकपायिनः ॥५॥
अधोगे रक्तपित्ते तु बृंहणो मधुरो रसः ।
ऊर्ध्वगे तर्पणं योज्यं, प्राक्च पेया त्वधोगते ॥६॥

व्याख्या—ऊर्ध्व गामी रक्तपित्त में शमनार्थ तिक्त एवं कषाय रसों का प्रयोग करे और शुण्ठी रहित षडङ्गपानीय पिलावे और उपवास करावे। अधोगामी रक्तपित्त में बृंहणार्थ मधुर रस का प्रयोग करे। ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में प्रथम तर्पण का प्रयोग करे और अधोगामी रक्तपित्त में प्रथम पेया का प्रयोग करे।

वक्तव्य—इस पाठ में यह भी संकेत है कि ऊर्ध्वगामी में कफ तथा अधोगामी में वायु अनुबल होता है तदनुसार उचित व्यवस्था करे। षडङ्ग पानीय का पाठ—चि० अ०१ श्लो०१५ में है ॥५,६॥

बल के अनुसार चिकित्सा—

अश्नतो बलिनोऽशुद्धं न धार्यं तद्धि रोगकृत् ।
धारयेदन्यथा शीघ्रमग्निवच्छीघ्रकारि तत् ॥७॥

व्याख्या—जो रोगी स्वस्थवत्–उचित मात्रा में भोजन कर लेता हो और बलवान् हो और रक्तपित्त में अशुद्ध–दुष्ट रक्त बह रहा हो तो उस रक्तपित्त का स्तम्भन नहीं करना चाहिये क्यों कि स्तम्भन चिकित्सा द्वारा रुक जाने से वह अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अन्यथा–इस से विपरीत दशा में रक्तपित्त को शीघ्र रोकना चाहिये। क्योंकि वह अग्नि के समान शीघ्रकारी (मारक) होता है।

वक्तव्य—रोगकृत्—रक्तपित्त का दुष्ट रक्त रोकने से जो रोग हो सकते हैं उनको सू० अ० २७ में देखिये। और भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

यथा—गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ॥२५॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम् ।
बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात् स्तम्भितमादितः ॥२६॥
च० चि० अ० ४।

और यदि रक्तपित्त में शुद्ध रक्त बह रहा हो तो उसे तत्काल रोकना भी चाहिये क्यों कि रक्त ही जीवन है ॥७॥

रक्तपित्त में देने योग्य विरेचन—

त्रिवृच्छ्यामाकषायेण कल्केन च सशर्करम् ।
साधयेद्विधिवल्लेहं लिह्यात्पाणितलं तत ॥८॥
त्रिवृता त्रिफला श्यामा पिप्पली शर्करा मधु ।
मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तशोफज्वरापहः ॥९॥
त्रिवृत्समसिता तद्वत् पिप्पलीपादसंयुता ।

व्याख्या—१—निसोत तथा काली निसोत के क्वाथ तथा कल्क और खण्ड का अवलेह सिद्ध करे। उसमें से १ कर्ष मात्रा में खावे। २—निसोत, त्रिफला, काली निसोत, पीपल तथा मधु के योग से बनाया मोदक (१– १तोले का वटक)—सन्निपात, ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त, शोथ तथा ज्वर को नष्ट करता है (विरेचनार्थ देना होता है)। निसोत का चूर्ण १ भाग, खण्ड १ भाग तथा पीपल चौथाई भाग मिलाकर उन्हीं रोगों में विरेचनार्थ देना चाहिए।

वक्तव्य—रक्तपित्त की जिस अवस्था में विरेचन का विधान है उसमें उक्त योगों द्वारा विरेचन करना चाहिये। ये योग पित्त शामक विरेचन हैं ॥८-९॥

रक्तपित्त में देने योग्य वमन—

वमनं फलसंयुक्तं तर्पणं ससितामधु ॥१०॥
ससितं वा जलं क्षौद्रयुक्तं वा मधुकोदकम् ।
क्षीरं वा रसमिक्षोर्वा शुद्धस्यानन्तरो विधिः ॥११॥
यथास्वं मन्थपेयादिः प्रयोज्यो रक्षता बलम् ।

व्याख्या—१—मदन फल (मैनफल) से मिश्रित तर्पण (सत्तुओं का घोल) खण्ड एवं मधु मिलाकर वमनार्थ पीवे । २—अथवा–मदन फल से मिश्रित खण्ड का शर्बत पीवे ! ३—अथवा–मदन फल से मिश्रित मुलेठी का क्वाथ मधु मिलाकर पीवे ४—अथवा–मदन फल से मिश्रित दूध पीवे ५—मदन फल से मिश्रित ईख का रस पीवे इस प्रकार विरेचन अथवा वमन के द्वारा शोधन के अनन्तर यथोचित मन्थ एवं पेया आदि की व्यवस्था करे । विरेचन अथवा वमन का प्रयोग—रोगी के बल की रक्षा करते हुए करना चाहिये अर्थात् उतना ही शोधन करे जितने मे बल क्षय न हो ॥१०-११॥

रक्तपित्त में मन्थ—

मन्थो ज्वरोक्तो द्राक्षादिः पित्तघ्नैर्वा फलैः कृतः ॥१२॥
मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताम्भसा ।
मन्थो वा पञ्चसारेण सघृतैर्लाजसक्तुभिः ॥१३॥
दाडिमामलकाम्लो वा मन्दाग्न्यम्लाभिलाषिणाम् ।

व्याख्या—१—मन्थ–ज्वर चिकित्सा (अ. १ श्लो. ५६ से ५८) में कहा गया द्राक्षादि मन्थ पीवे अथवा–२—पित्तनाशक दाख, आमला, गम्भार एवं अन्यान्य फलों के रसों से किया गया मन्थ पीवे । अथवा ३—मधु, दाख, मुनक्का, फालसा तथा खण्ड के जल के योग से बनाया गया मन्थ पीवे । इसी का नाम "पञ्चसार" है । अथवा—४—लावा के सत्तुओं का घृत मिश्रित मन्थ पीवे। अथवा ५—यदि रोगी की अग्नि मन्द हो और अम्ल पदार्थों की अभिलाषा हो तो अम्ल अनार दाना तथा आमला के योग से अम्ल बनाया गया मन्थ पिलावे ॥१२-१३॥

रक्तपित्त में पेया के योग—

कमलोत्पलकिञ्जल्कपृश्निपर्णीप्रियंगुकाः ॥१४॥
उशीरं शाबरं रोध्रं शृङ्गवेरं कुचन्दनम् ।
ह्रीवेरं धातकीपुष्पं बिल्वमध्यं दुरालभा ॥१५॥
अर्धार्धैर्विहिताः पेया, वक्ष्यन्ते पादयौगिकाः ।
भूनिम्बसेव्यजलदा, मसूराः पृश्निपर्ण्यपि ॥१६॥
विदारिगन्धा मुद्गाश्च, बला सर्पिर्हरेणुका ।

व्याख्या—आधे आधे श्लोक में कही गई तीन पेया—१—कमल तथा उत्पल नामक कमलों के केसर, पृष्ठपर्णी तथा प्रियङ्गु के क्वाथ में बनाई गई, अथवा २—खस, पठानी लोध, अदरक तथा लाल चन्दन के क्वाथ में बनाई गई, अथवा ३—नेत्रबाला, धाय के फूल, बिलगिरी तथा यवासा के क्वाथ में बनाई गई पेया (पीने योग्य आहार) देवे । चौथाई चौथाई श्लोक में कही गई चार पेया–१—चिरायता, खस तथा नागर मोथा के क्वाथ में, २—मसूर पृष्ठपर्णी के योग से, ३—शालपर्णी तथा मूंग के योग से अथवा ४—बलामूल, घृत एवं हरेणुका के योग से बनाई गई पेया देवे ॥१४-१६॥

रक्तपित्त में यवागू तथा मांस रस—

जाङ्गलानि च मांसानि शीतवीर्याणि साधयेत् ॥१७॥
पृथक्पृथग्जले तेषां यवागूः कल्पयेद्रसे ।
शीताः सशर्कराक्षौद्रास्तद्वन्मांसरसानपि ॥१८॥
ईषदम्लाननम्लान्वा घृतभृष्टान्सशर्करान् ।

व्याख्या—शशक आदि शीतवीर्य प्राणियों के मांसों को पृथक् २ (एक से अधिक प्राणियों का मांस एक साथ न मिलावे) जल में पकावे और उन रसों में यवागुओं की कल्पना करे । अथवा इसी प्रकार मांस रसों की कल्पना करके शीत होने पर खण्ड एवं मधु मिलाकर पिलावे । अथवा इनमें अनारदाना आदि की थोड़ी खटाई मिलावे अथवा न मिलावे और घृत में छौंक कर तथा खण्ड मिला कर पिलावे ॥१७-१८॥

रक्तपित्त में अन्यान्य आहार—

शूकशिम्बीभवं धान्यं रक्तं शाकं च शस्यते ॥१९॥
अन्नस्वरूपविज्ञाने यदुक्तं लघु शीतलम् ।

व्याख्या—जो २ शूक धान्य तथा शिम्बीधान्य तथा शाक अन्नस्वरूप विज्ञानीय अध्याय (सू, अ, ६) में लघु एवं शीतवीर्य कहे गये हैं उनका प्रयोग रक्तपित्त में करे ॥१९॥

रक्तपित्त में पीने योग्य द्रव—

पूर्वोक्तमम्बु पानीयं पञ्चमूलेन वा शृतम् ॥२०॥
लघुना शृतशीतं वा मध्वम्भो वा फलाम्बु वा ।

व्याख्या—पूर्वोक्त शुण्ठी रहित षडंगपानीय अथवा लघुपञ्चमूल के योग से परिपक्व जल शीतल होने पर अथवा. मधु मिश्रित जल अथवा अनार सन्तरा आदि के रस पीने को देवे ॥२०॥

रक्तपित्त में अन्यान्य मांस रस—

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे तित्तिरिः पुनः ॥२१॥
उदुम्बरस्य निर्यूहे साधितो मारुतेऽधिके ।
प्लक्षस्य बर्हिणस्तद्वन्न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः ॥२२॥

व्याख्या—यदि रक्त पित्त में पुरीष बन्धन हो तो शशक का मांस वाथू के शाक में पकाकर खिलावे या उस का रस पिलावे । वायु की अधिकता रहने पर—गूलर के क्वाथ में तीतर का मांस, पाकर के क्वाथ में मोर का मांस, अथवा बट के क्वाथ में मुरगा का मांस बनाकर खिलावे या उनका रस पिलावे ।

वक्तव्य—गूलर, पाकर एवं वट नामक वृक्षों की छाल का प्रयोग किया जाता है ॥२१,२२॥

रक्तपित्त में परिहार्य—

यत्किंचिद्रक्तपित्तस्य 'निदानं' तच्च वर्जयेत् ।

व्याख्या—जो कोई भी आहार, विहार तथा औषध रक्तपित्त का कारण-उत्पादक हो उसका त्याग कर देवें।

वक्तव्य—सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । अर्थात्—चिकित्सा का समान्य सहयोगी है निदान का परित्याग । अतः रक्तपित्त में भी निदान का परित्याग आवश्यक है ।

रक्तपित्त शामक योग—

वासारसेन फलिनी मृद्रोध्राञ्जनमाक्षिकम् ॥२३॥
पित्तासृक् शमयेत्पीतं निर्यासो वाऽटरूषकात् ।

व्याख्या—प्रियंगु, मुलतानी मिट्टी (कोई मधुर मिट्टी या गेरू), लोध, श्वेत सुरमा (या रसाञ्जन या काला सुरमा) तथा सोनेमाखी (अथवा मधु) का योग (अथवा पृथक् २) अडूसा के स्वरस के साथ पीने से अथवा केवल अडूसा का स्वरस पीने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है ॥२३॥

अडूसा की प्रशंसा—

शर्करामधुसंयुक्तः केवलो वा शृतोऽपि वा ॥२४॥
वृषः सद्यो जयत्यस्रं स ह्यस्य परमौषधम् ।

व्याख्या—केवल अडूसा का स्वरस अथवा क्वाथ—खण्ड एवं मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्त को शीघ्र शान्त करता है क्योंकि अडूसा रक्तपित्त की सर्व श्रेष्ठ औषध है ।

वक्तव्य—सचमुच अडूसा (वसूटा या वासा) रक्तपित्त की परमौषध है अतएव किसी ने इसका सुभाषित कहा है—

वासायां विद्यमानायां आशायां जीवितस्य च ।
रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति ।

ये तीनों रोगी यदि साध्य हों तो वासा स्वरस के सेवन से अवश्य रोगमुक्त हो जाते हैं ॥२४॥

अन्य योग—

पटोलमालतीनिम्बचन्दनद्वयपद्मकम् ॥२५॥
रोध्रो वृषस्तण्डुलीयः कृष्णामृन्मदयन्तिका ।
शतावरी गोपकन्या काकोल्यौ मधुयष्टिका ॥२६॥
रक्तपित्तहराः क्वाथास्त्रयः समधुशर्कराः ।

व्याख्या—रक्तपित्त नाशक तीन क्वाथ— १–परवल के पत्र, मालती के पत्र या पुष्प (किसी २ प्रति में "पटोलाऽऽमलकी" पाठ भी है तदनुसार मालती नहीं अपितु आमला) निम्ब के पत्र, श्वेत चन्दन, लाल चन्दन तथा लोध का क्वाथ, अथवा २–लोध, अडूसा, चौलाई, काली मिट्टी तथा मदयन्तिका–जूही के पत्र या फूल का क्वाथ, अथवा ३–शतावर, सारिवा, काकोली, क्षीर काकोली तथा मुलेठी का क्वाथ मधु एवं खण्ड मिलाकर पिलावे ॥२५,२६॥

अन्य दो योग—

पलाशवल्कक्वाथो वा सुशीतः शर्करान्वितः ॥२७॥
पिबेद्वा मधुसर्पिर्भ्यां गवाश्वशकृतो रसम् ।

व्याख्या—१—पलाश की छाल का क्वाथ–शीतल होने पर खण्ड मिलाकर पीवे अथवा २–गौ के गोबर तथा घोड़ा की लीद का रस मधु एवं घृत मिलाकर पीवे ॥२७॥

ग्रन्थियुक्त रक्तपित्त के लिये—

सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात्पारावतं शकृत ॥२८॥

व्याख्या—यदि रक्तपित्त में ग्रन्थियुक्त रक्त जारहा हो तो कबूतर की बीठ के चूर्ण में मधु मिलाकर चाटे ।२८।

अधिक रक्तस्राव हो जाने पर—

अतिनिःस्रुतरक्तश्च क्षौद्रेण रुधिरं पिबेत् ।
जाङ्गलं भक्षयेद्वाजमामपित्तयुतं यकृत् ॥२९॥

व्याख्या—यदि रक्त अधिक परिमाण में निकल गया हो तो तत्काल, जांगल प्राणियों का रक्त मधु मिलाकर पी जावे अथवा बकरा का पित्त समेत कच्चा (पकाए विना) ही यकृत् खा जावे ।

वक्तव्य—यह पाठ सु०उ०अ० ४५ में भी इसी प्रकार है और च० सि० अ० ६ में लिखा है कि यदि जीवशोणित निकल रहा हो तो जीवित हरिण, गौ भैंस अथवा बकरा का ताजा रक्त पीना चहिए उससे जीवन की रक्षा होती है ॥२९॥

रक्त पित्त शामक २ योग—

चन्दनोशीरजलदलाजमुद्गकणायवैः ।
बलाजले पर्युषितैः कषायो रक्तपित्तहा ॥३०॥
प्रसादश्चन्दनाम्भोजसेव्यमृद्भृष्टलोष्टजः ।
सुशीतः ससिताक्षौद्रः शोणितातिप्रवृत्तिजित् ॥३१॥

व्याख्या—चन्दन, खस, मोथा, लावा (भुने धान्य),

मूंग, पीपल तथा जौ को कूट कर बलामूल के क्वाथ में रात्रि भर भिगो देवे प्रातः मल छान कर पीवे। यह योग रक्तपित्त को नष्ट करता है। अथवा - चन्दन, कमल, खस भुना हुआ मिट्टी का ढेला। इन सब को जल में भिगो देवे और शीतल होने पर नितरा हुआ जल—खण्ड एवं मधु मिलाकर पीवे। इस से रक्त की अति प्रवृत्ति रुक जाती है ॥३०,३१॥

अथवा

आपोथ्य वा नवे कुम्भे प्लावयेदिक्षुगण्डिकाः।
स्थितं तद्गुप्तमाकाशे रात्रिं प्रातः श्रृतं जलम् ॥३२॥
मधुमृद्वीकजाम्भोजकृतोत्तंसं च तद्गुणम्।

व्याख्या—ईख की गण्डेरियों को कूट-कुचल कर नूतन घट (मिट्टी के घड़ा) में डाल जल में डुबा देवे उस पर कम्बल धर देवे और रात्रि भर खुले आकाश में शिकहर पर सुरक्षित धरा रहने देवे और प्रातःकाल छानकर एवं मधु मिलाकर पीने से भी रक्त की अति प्रवृत्ति रुक जाती है ॥३२॥

अन्य संकेत—

ये च पित्तज्वरे चोक्ताः कषायास्तांश्च योजयेत् ॥३३॥

व्याख्या—जो जो कषाय पित्त ज्वर (चि. अ. १) में कहे गये हैं उन सब का रक्तपित्त में प्रयोग करे ॥३३॥

तथा

कषायैर्विविधैरेभिर्दीप्तेऽग्नौ विजिते कफे।
रक्तपित्तं न चेच्छाम्येत्तत्र वातोल्बणे पयः ॥३४॥
युञ्ज्याच्छागं श्रृतं तद्वद्गव्यं पञ्चगुणेऽम्भसि।
पञ्चमूलेन लघुना श्रृतं वाससितामधु ॥३५॥
जीवकर्षभकद्राक्षाबलागोक्षुरनागरैः।
पृथक्पृथक् श्रृतं क्षीरं सघृतं सितयाऽथवा ॥३६॥

व्याख्या—इन सब अनेक प्रकार के कषायों के सेवन से अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर तथा कफ का क्षय हो जाने पर रक्तपित्त शान्त न हो और वायु बढ़ जाय तो बकरी का दूध पकाकर पीवे अथवा ५गुने जल में गौ का दूध पकाकर दूध मात्र रहने पर पीवे अथवा लघु पञ्चमूल के योग से सिद्ध दूध-खण्ड एवं मधु मिलाकर पीवे अथवा जीवक, ऋषभक, दाख, बला, गोखरु, तथा सोंठ के योग से पृथक् २ पकाया गया दूध-घृत अथवा खण्ड मिलाकर पीवे ॥३४-३६॥

मूत्रमार्ग गामी रक्तपित्त—

गोकण्टकाऽभीरुश्रृतं पर्णिनीभिस्तथा पयः।
हन्त्याशु रक्तं सरुजं विशेषान्मूत्रमार्गगम् ॥३७॥

व्याख्या—गोखरू एवं शतावर के योग से अथवा शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, माषपर्णी एवं मुद्गपर्णी के योगसे परिपक्व दूध मूत्र मार्ग गामी एवं वेदना युक्त रक्तस्राव को विशेष रूप से नष्ट करता है ॥३७॥

पुरीषमार्ग गामी रक्तपित्त—

विण्मार्गगे विशेषेण हितं मोचरसेन तु।
वटप्ररोहैः शुङ्गैर्वा शुण्ठ्युदीच्योत्पलैरपि ॥३८॥

व्याख्या—गुदमार्ग गामी रक्तपित्त में-विशेष रूप से मोच रस के योग से, वट के प्ररोह अथवा शुंगों के योग से अथवा सोंठ, नेत्रबाला तथा कमल के योग से सिद्ध दूध लाभ दायक होता है ॥३८॥

संकेत—

रक्तातिसारदुर्नामचिकित्सां चाऽत्र योजयेत्।
पीत्वा कषायाद् पयसा भुञ्जीत पयसैव च ॥३९॥
कषाययोगैरेभिर्वा विपक्वं पाययेद्घृतम्।

व्याख्या—रक्तपित्त में रक्तातिसार तथा रक्तार्श की चिकित्सा का प्रयोग भी करना चाहिये उक्त कषायों को दूध के साथ (सिद्ध करके) पीकर दूध ही के साथ भोजन करे। अथवा उक्त कषायों के योगों के संयोग से विपक्व घृत पिलावे (पीवे)।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि रोगी—दूध पर ही निर्वाह करे अथवा केवल दूध के साथ थोड़ा बहुत अन्न खावे परन्तु लवण का सेवन कदापि न करे। देखा गया है कि लवण का त्याग करने से सफलता शीघ्र मिलती है ॥३९॥

वासा घृत—

समूलमस्तकं क्षुण्णं वृषमष्टगुणेऽम्भसि ॥४०॥
पक्त्वाऽष्टांशावशेषेण घृतं तेन विपाचयेत्।
पुष्पगर्भं च तच्छीतं सक्षौद्रं पित्तशोणितम् ॥४१॥
पित्तगुल्मज्वरश्वासकासहृद्रोगकामलाः।
तिमिरभ्रमवीसर्पस्वरसादांश्च नाशयेत् ॥४२॥

व्याख्या—अडूसा के मूल से शिखर पर्यन्त सब अंग (मूल शाखा एवं पत्र) लेकर कूटो और अष्टगुण जल में पकाओ अष्टमांश रहने पर उसके योग से तथा अडूसा के फूलों का कल्क डालकर घृत का पाक करो, सिद्ध होने पर छान कर रख लो, शीत होने पर मधु मिलाकर पिलाओ-खिलाओ-चटाओ। यह घृत रक्तपित्त जनित गुल्म, जीर्ण ज्वर, श्वास, कास, हृद्रोग, कामला, तिमिररोग (नेत्ररोग) भ्रम, विसर्प तथा स्वरभेद को नष्ट करता है ॥४०-४२॥

अन्य दो घृत—

पालाशवृन्तस्वरसे तद्गर्भं च घृतं पचेत्।

सक्षौद्रं तच्च रक्तघ्नं तथैव त्रायमाणया ॥४३॥

व्याख्या—पलाश के कोमल पत्रों एवं पुष्पों के दूधों के स्वरस तथा कल्क के संयोग से घृत सिद्ध करो, शीतल होने पर मधु मिलाकर चटाओ। और इसी प्रकार त्राय-माणा के योग से घृत सिद्ध करो शीतल होने पर मधु मिला कर चटाओ। ये दोनों घृत रक्त पित्त को नष्ट करते हैं।

वक्तव्य—घृत १ भाग, स्वरस ४ भाग और कल्क घृत से चौथाई भाग लेकर पाक किया जाता है ॥४३॥

रक्तपित्त में क्षार प्रयोग—

रक्ते सपिच्छे सकफे ग्रथिते कण्ठमार्गगे।
लिह्यान्माक्षिकसर्पिर्भ्यां क्षारमुत्पलनालजम् ॥४४॥
पृथक्पृथक् तथाम्भोजरेणुश्यामामधूकजम्।

व्याख्या—यदि कण्ठ मार्ग से पिच्छायुक्त (चिप-चिपा), कफ मिश्रत तथा ग्रन्थि युक्त रक्त जा रहा हो तो कमलनाल का क्षार अथवा लाल कमल के केसर का, कृष्ण सारिवा का अथवा महुवा का पृथक् २ क्षार मधु एवं घृत मिलाकर चाटना चाहिये।

वक्तव्य—देखिये च०चि०अ०४ श्लो० ८३–८४॥४४॥

रक्तपित्त में वस्ति—

गुदागमे विशेषेण शोणिते बस्तिरिष्यते ॥४५॥

व्याख्या—यदि गुदवलियों में से रक्त जा रहा हो तो पिच्छा वस्ति का विशेष रूप से प्रयोग करे।

वक्तव्य—और मूत्र मार्ग तथा योनिमार्ग से यदि रक्त पित्त जा रहा हो तो उत्तर वस्ति का प्रयोग करे और वह भी शीतल एवं पिच्छिल द्रव्यों के स्वरस की हो ॥४७॥

नासाप्रवृत्त रक्तपित्त चिकित्सा—

घ्राणगे रुधिरे शुद्धे नावनं चानुषेचयेत्।
कषाययोगान् पूर्वोक्तान् क्षीरेक्ष्वादिरसाऽऽप्लुतान् ॥४६॥
क्षीरादीन्ससितांस्तोयं केवलं वा जलं हितम्।
रसो दाडिमपुष्पाणामाम्रास्थ्नः शाद्वलस्य वा ॥४७॥
कल्पयेच्छीतवर्गं च प्रदेहाभ्यञ्जनादिषु।

व्याख्या—नासा मार्ग से जब शुद्ध रक्त जा रहा हो तब निम्नलिखित रसों का नासा रन्ध्रों में सेचन करे. यथा पूर्वोक्त रक्तपित्त नाशक कषाय अथवा उनमें दूध एवं ईख का रस आदि मिला कर, मिश्री मिश्रित दूध, मिश्री मिश्रित जल, अथवा केवल जल, अनार के फूलों का रस, आम की गुठली का रस अथवा दूब का रस। और शिर पर लेपन तथा अभ्यञ्जन आदि में शीतवीर्य-शीतस्पर्श द्रव्यों का प्रयोग करे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च०चि०अ० ४-कषाययोगा य इहोपदिष्टाः ते चाऽवपीडे भिषजा प्रयोज्याः।
घ्राणात् प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेत् निःसृतदुष्टदोषम्॥९७॥
रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे कुष्ठप्रतिश्यायशिरोविकाराः।
रक्तं सपूयं कुणपं सगन्धं स्यात्घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः॥९८॥
नीलोत्पलं गैरिकशंखयुक्तं सचन्दनं स्यात् तु सिता जलेन।
नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसःसमङ्गा सधातकी मोचरस.सरोध्रः॥९९॥
द्राक्षा रसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वा स्वरसस्य चैव।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम्॥१००॥

रक्तपित्त में संकेत—

यच्च पित्तज्वरे प्रोक्तं बहिरन्तश्च भेषजम्।
रक्तपित्ते हितं तच्च क्षतक्षीणे हितं च यत् ॥४८॥

व्याख्या—पित्त ज्वर में अन्तः प्रयोग में जो २ चिकित्सा कही गई और क्षत क्षीण में (अ. ५) जो चिकित्सा कही जायगी वह सब रक्तपित्त में हित होती है ॥५१॥

इत्यष्टांगहृदये चिकित्सास्थाने द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

अथाऽतः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब कास रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं—

वक्तव्य—कासरोग का वर्णन नि०स्था०अ.३ में देखिये।

चिकित्सा सूत्र—

केवलानिलजं कासं स्नेहैरादावुपाचरेत्।
वातघ्नसिद्धैः स्निग्धैश्च पेयायूषरसादिभिः ॥१॥
लेहैर्धूमैस्तथाभ्यङ्गैः स्वेदसेकावगाहनैः।
बस्तिभिर्बद्धविड्वातं सपित्तं त्वौर्ध्वभक्तिकैः ॥२॥
घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः।

व्याख्या—वातजनित कास में प्रथमतः वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क के संयोग से सिद्ध स्नेहों द्वारा चिकित्सा करे तथा स्नेह युक्त पेया, यूष एवं मांसरस तथा शाकरस के साथ आहार देवे और वातनाशक अवलेहों, धूमों, अभ्यङ्गों, स्वेदों, सेचनों तथा अवगाहनों का प्रयोग करे। यदि पुरीषबन्ध हो तथा अपान वायुमें रुकावट हो तो अनुवासन एवं निरूहण वस्तियों का प्रयोग करे। पित्त जनित कास में-भोजन के पश्चात् घृतपान तथा दुग्ध पान का प्रयोग करे। और कफजनित कास में एरण्ड तैल आदि

द्वारा स्नेह विरेचनों का प्रयोग करे ॥१,२॥

वातकास नाशक घृत —

गुडूचीकण्टकारीभ्यां पृथक्त्रिंशत्पलाद्रसे ॥३॥
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः ।

व्याख्या—गिलोय का रस ३० पल, कण्टकारी का रस ३० पल, घृत १ प्रस्थ मिलाकर पाक करे, सिद्ध होने पर पिलावे, चटावे । यह वात-कास को नष्ट करता है और अग्नि को प्रदीप्त करता है ॥३॥

अन्य घृत—

क्षाररास्नावचाहिङ्गुपाठायष्ट्याह्वधान्यकैः ॥४॥
द्विशाणैः सर्पिषः प्रस्थः पञ्चकोलयुतैः पचेत् ।
दशमूलस्य निर्यूहे पीतो मण्डानुपायिना ॥५॥
सकासश्वासहृत्पार्श्वग्रहणीरोगगुल्मनुत् ।

व्याख्या—जौखार, रासना, बालवच, हींग, पाठ, मुलेठी तथा धनियाँ और पीपल, पीपलामल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ २–२ शाण (आधा आधा तो०) लेकर कल्क करो, गो घृत एक प्रस्थ (६४ तो०) तथा दशमूल का क्वाथ घृत से चतुर्गुण । सबको एक साथ मिलाकर पाक करो, सिद्ध होने पर पिलाओ और अनुपान रूप में मण्ड का पान कराओ । यह घृत—कास, श्वास, हृदयरोग, पार्श्व-शूल, ग्रहणीरोग तथा गुल्मरोग को नष्ट करता है ॥४॥

अन्यघृत—रास्नादि घृत—

द्रोणेऽपां साधयेद्द्राक्षादशमूलशतावरीः ॥६॥
पलोन्मिता द्विकुडवं कुलत्थं बदरं यवम् ।
तुलार्धं चाजमांसस्य तेन साध्यं घृताढकम् ॥७॥
समक्षीरं पलांशैश्च जीवनीयैः समीक्ष्य तत् ।
प्रयुक्तं वातरोगेषु पाननावनबस्तिभिः ॥८॥
पञ्चकासान् शिरःकम्पं योनिवङ्क्षणवेदनाम् ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलान् जयेत् ॥९॥

व्याख्या—रासना, दशमूल के दस द्रव्य तथा शतावर १–१ पल, कुलथी, बेर तथा जौ दो दो कुडव तथा बकरा का मांस आधा तुला (५० पल), गोघृत एक आढक, गोदुग्ध एक आढक, जीवनीय गण (सू अ. १५) के दस द्रव्य १–१ पल-कल्क । सब को मिलाकर घृत सिद्ध करो । आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग—पान, नस्य तथा बस्ति द्वारा वात रोगों में करे यह घृत ५ प्रकार के कासों, शिरः कम्पन, योनि शूल, वंक्षण शूल, सर्वाङ्ग गत वात रोग, एकाङ्गगत वात रोग, प्लीहरोग तथा उद्गार आदि रोगों को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—देखिए च. चि. अ. १८ श्लो० ४३–४६ ।९।

विदार्यादि घृत—

विदार्यादिगणक्वाथकल्कसिद्धं च कासजित् ।

व्याख्या—विदार्यादि गण (सू. अ. १५) के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध घृत कास को नष्ट करता है ।

पित्तकास में घृत तथा चूर्ण—

अशोकबीजक्षवकजन्तुघ्नाञ्जनपद्मकैः ॥१०॥
सविडैश्च घृतं सिद्धं तच्चूर्णं वा घृतप्लुतम् ।
लिह्यात्पयश्चानुपिबेदाजं कासाभिपीडितः ॥११॥

व्याख्या—कासमे अत्यन्त पीडित रोगी अशोक बीज, क्षवक (नकछिकनी), वायविडंग, रसाञ्जन, पद्म काष्ठ तथा विड् लवण के योग से सिद्ध घृत को चाटे अथवा इनके चूर्ण को घृत में मिलाकर और अनुपान रूप में बकरी का दूध पीवे ॥१०-११॥

विडङ्गादि चूर्ण—

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम् ।
भार्ङ्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ॥१२॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिध्माहताग्निषु ।

व्याख्या—वायविडङ्ग, सोंठ, रासना, पीपल, हींग, सैन्धव, लवण, भारंगी तथा जौखार सम भाग लेकर चूर्ण बनावे । इस चूर्ण को घृत में मिलाकर चाटे अथवा घृत की उत्तम मात्रा में मिलाकर पीवे । प्रयोग—कफ युक्त वातज कास, श्वास, हिक्का तथा मन्दाग्नि में करे ।

वक्तव्य—चाटने अथवा पीने में जो भेद है या गुणों में अन्तर है उसे समझने के लिये देखिये श्लो० १०६ तथा १०७ थोड़े से घृत में मिलाकर चाटा जाता है और अधिक घृत में मिलाकर पिया जाता है प्रायः चाटने में १ तो० और पीने में ४ तो० घृत लिया जाता है ॥१२॥

दुरालभादि योग—

दुरालभां शृङ्गवेरं शठीं द्राक्षां सितोपलाम् ॥१३॥
लिह्यात्कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ।

व्याख्या—जवासा, अदरक, सोंठ, दाख तथा मिश्री का चूर्ण अथवा काकडासिंगी का चूर्ण तैल में मिलाकर वातजनित कास में चाटे ॥१३॥

अन्यान्य कास नाशक योग—

दुःस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तां भार्ङ्गीं कर्कटकीं शठीम् ॥१४॥
पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितान्यवलेहयेत् ।
तद्वत्सकृष्णां शुण्ठीं च सभार्ङ्गीं तद्वदेव च ॥१५॥

व्याख्या—जवासा, पीपल, मोथा, भारंगी, काकड़ासिंगी तथा कचूर का चूर्ण अथवा पीपल एवं सोंठ का चूर्ण अथवा भारंगी एवं सोंठ का चूर्ण—पुराना गुड़ एवं तैल में

मिलाकर चाटना चाहिए।

वक्तव्य—प्रायः १-२ तो० गुड़ तथा १-१ तो० तैल मिला कर चाटा जाता है और चूर्ण २-४ माशा लिया जाता है। १४,१५॥

अन्य योग—

पिबेद् कृष्णां कोष्णेन सलिलेन ससैन्धवाम्।
मस्तुना ससितां शुण्ठीं दध्ना वा कणारेणुकाम् ॥१६॥
पिबेद्बदरमज्जो वा मदिरादधिमस्तुभिः।
अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥१७॥

व्याख्या—पीपल एवं सैन्धव लवण का चूर्ण-उष्ण जल के साथ पीवे। सोंठ एव मिशरी का चूर्ण-दहीके पानी के साथ पीवे। अथवा पीपल एवं रेणुका का चूर्ण-दही के साथ पीवे। अथवा वेर की गिरी का चूर्ण-सुरा, दही अथवा दही के पानी के साथ पीवे। अथवा पीपल के कल्क को घृत में भून कर तथा सैन्धव लवण मिलाकर चाटे और ऊपर से सुरा, दही अथवा दही का जल पीवे।१६,१७।

कास में धूम्रपान—

कासी सपीनसो धूमं स्नैहिकं विधिना पिबेत्।
हिध्माश्वासोक्तधूमांश्च क्षीरमांसरसाशनः ॥१८॥

व्याख्या—कास रोगी को यदि साथ में पीनस भी हो तो विधि पूर्वक स्नैहिक धूम पीवे अथवा हिक्का चिकित्सा तथा श्वास चिकित्सा में कहे गये धूम पीवे और उसके पश्चात् दुग्ध पीवे अथवा मांस रस के साथ भोजन करे।

वक्तव्य—धूमपान की विधि सू. अ. २१ में देखिये और उस विधि से चि. अ. ४ में जो हिक्का एवं श्वास के लिए धूम लिखे हैं उनका पान करे। इन धूमों का पान करने के अनन्तर गुड़ का शर्बत अथवा गुड़ मिला दूध पीवे अन्यथा कण्ठ पक जाता है ॥१८॥

कास में पथ्य—

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥१९॥

व्याख्या—कास रोगी को—ग्राम्य, आनूप तथा औदक प्राणियों के मांस रस (देखिये सू. अ. ६) के साथ अथवा उरद तथा किवाँच के जूस के साथ शालि चावलों का भात, जौ का, गेहूँ का तथा साठी धान्यों का दलिया-रोटी आदि जो हित हो खिलावे ॥१९॥

कासनाशक पेया—

यवानी पिप्पली बिल्वमध्यनागरचित्रकैः।
रास्नाऽजाजीपृथक्पर्णीपलाशशठिपौष्करैः ॥२०॥

सिद्धां स्निग्धाम्ललवणां पेयामनिलजे पिबेत्।
कटिहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिध्माप्रणाशिनीम् ॥२१॥

व्याख्या—अजवायन, पीपल, बिलगिरी, सोंठ, चित्रा, रासना, जीरा, पृष्ठपर्णी, पलाशबीज, कचूर तथा पोहकर मूल के क्वाथ में सिद्ध,घृत आदि स्नेह तथा अनारदाना आदि अम्ल और सैन्धव लवण से युक्त पेया वात कास में पीवे। यह पेया कटि, हृदय, पार्श्व तथा उदर की पीड़ा और श्वास तथा हिक्का को नष्ट करती है (इन रोगों में आहार रूप में पिलाई जाती है ॥२०,२१॥

वात कास नाशक पेया आदि—

दशमूलरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम्।
पिबेत्पेयां समतिलां क्षैरेयीं वा ससैन्धवाम् ॥२२॥
मात्स्यकौक्कुटवाराहैर्मांसैर्वा साज्यसैन्धवाम्।
वास्तुको वायसीशाकं कासघ्नः सुनिषण्णकः ॥२३॥
कण्टकार्याः फलं पत्रं बालं शुष्कं च मूलकम्।
स्नेहास्तैलादयो भक्ष्या, क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥२४॥
दधिमस्त्वारनालाम्लफलाम्बुमदिराः पिबेत्।

व्याख्या—उक्त प्रकार से—दशमूल के क्वाथ में सिद्ध पेया पञ्चकोल चूर्ण तथा गुड़ मिलाकर पीवे। अथवा तिलों के योग से सिद्ध दूध की पेया (रबड़ी-खीर) सैन्धव लवण मिलाकर पीवे। अथवा मछली, मुरगा अथवा सूअर के मांस के योग से सिद्ध पेया घृत तथा सैन्धव मिलाकर पीवे। शाक बाथू, मकोय, कसौन्दी, सुनिषण्णक, कण्टकारी के कोमल फल तथा पत्र, कच्ची सूखी मूली। और तिल तैल आदि स्नेह का प्रयोग करे। दूध की खीर, मलाई तथा रबड़ी आदि, ईख के रस से बने तथा गुड़ के योग से बने मालपुआ, गुल गुला आदि भक्ष्य खावें। और उत्तम दही, दही का पानी, आरनाल (काञ्जी) अनार आदि अम्ल फलों का रस तथा सुरा पीवे ॥२२-२४॥

पित्तकास चिकित्सा—

पित्तकासे तु सकफे वमनं सर्पिषा हितम् ॥२५॥
तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः।
फलयष्ट्याह्वकल्कैर्वा विदारीक्षुरसाप्लुतैः ॥२६॥

व्याख्या—पित्तकास में यदि कफ का संसर्ग हो तो घृत के योग से वमन लाभप्रद होता है। अथवा मैनफल गम्भार फल तथा मुलेठी के क्वाथ से अथवा विदारी कन्द एवं ईख के रस में घोले गये मुलेठी कल्क से वमन किया जाना चाहिए ॥२५,२६॥

पित्तकास में विरेचन—

पित्तकासे तनुकफे त्रिवृतां मधुरैर्युताम्।

गुर्व्यातिरेकाय युतां घनश्लेष्मणि तिक्तकैः ॥२७॥

व्याख्या—पित्तकास में यदि कफ थोड़ा या पतला हो तो निसोत को खण्ड आदि मधुर द्रव्यों में मिलाकर विरेचनार्थ खिलावे और यदि कफ गाढ़ा हो तो कुटकी आदि तिक्त द्रव्यों में निसोत मिलाकर खिलावे ॥२७॥

शोधन के पश्चात्—

हृतदोषो हिमं स्वादु स्निग्धं संसर्जनं भजेत् ।
घने कफे तु शिशिरं रूक्षं तिक्तोपसंहितम् ॥२८॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से वमन विरेचन द्वारा शोधन होने के पश्चात् शीतल, मधुर तथा स्निग्ध पेया आदि संसर्जन क्रम का सेवन करे परन्तु यदि कफ गाढ़ा हो तो शीत रूक्ष एवं तिक्त द्रव्यों से युक्त पेया आदि संसर्जन क्रम का सेवन करे ।

वक्तव्य—संसर्जन क्रम देखिये सू. अ. १८ में ।२८।

कासनाशक दो अवलेह—

लेहः पित्ते सिताधात्रीक्षौद्रद्राक्षाहिमोत्पलैः ।
सकफे साब्दमरिचः सघृतः सानिले हितः ॥२९॥

व्याख्या—पित्तकास में—खण्ड, आमला, मधु, दाख, श्वेत चन्दन तथा कमल का अवलेह, कफयुक्त पित्त कास में नागर मोथा एवं मरिच युक्त अवलेह और वात युक्त पित्त कास में घृत मिश्रित उक्त अवलेह लाभप्रद होता है ।

वक्तव्य—यह पाठ च. चि. अ. १८ के श्लो० ९० का परिवर्तित रूप है इस पाठ में केवल "चन्दन" तथा शर्करा को हिम तथा सिता नाम में परिवर्तित किया गया है ॥२९॥

अन्य अवलेह—

मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीः शर्करा पलम् ।
लेहयेन्मधुना गौर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम् ॥३०॥

व्याख्या—मुनक्का ५० दाना, पीपल ३० संख्यक, खण्ड १ पल (४ तो०) को पीस कर और मधु में मिला कर थोड़ा २ दिन रात में चटा देवे और यदि रोगी बालक केवल दूध पर निर्वाह करने वाला बालक हो तो गौ के गोबर का रस मधु मिलाकर चटावे ॥३०॥

अन्य अवलेह—

त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः ।
लाजमुस्ताशठीरास्नाधात्रीफलविभीतकैः ॥३१॥
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहो हृद्रोग-कासहा ।

व्याख्या—दालचीनी, बड़ी इलायची, सोंठ, मरिच, पीपल, मुनक्का, पीपलामूल, पोहकरमूल, धान का लावा, मोथा, कचूर, रास्ना, आमला तथा बहेड़ा का चूर्ण खण्ड मधु तथा घृत में मिलाकर अथवा अवलेह बना कर चटावे तो यह हृद्रोग एवं कास को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—चरक चि अ १८ में—इस लेह को श्वास, हिक्का एवं क्षय का नाश भी माना है । दे. श्लो. ६२-६३ ।

पित्तकास में पथ्य—आहार—

मधुरैर्जाङ्गलरसैर्यवश्यामाककोद्रवाः ॥३२॥
मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ।
घनश्लेष्मणि लेहाश्च तिक्तका मधुसंयुताः ॥३३॥
शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ।
शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसाः पयः ॥३४॥
काकोलीबृहतीमेदाद्वयैः सवृषनागरैः ।
पित्तकासे रसक्षीरपेयायूषान् प्रकल्पयेत् ॥३५॥

व्याख्या—जौ सामा तथा कोदों के आहार—जांगल प्राणियों के मधुर मांसरसों के साथ तथा मूंग आदि के जूषों के साथ तथा तिक्त रस वाले शाकों के साथ उचित मात्रा से लाभप्रद होते हैं कफ गाढ़ा हो तो तिक्त द्रव्यों के अवलेह मधु में मिलाकर चाटने से लाभ होता है कफ पतला हो तो उक्त मांस रस आदि के साथ शालिधान्यों तथा साठी धान्यों के आहार लाभप्रद होते हैं । अनुपान में खण्ड का जल (शर्बत घोल) तथा दाख तथा ईख का रस एवं दूध लाभप्रद होता है । और पित्त कास में—काकोली, बनभण्टा, मेदा, महामेदा, अडूसा, तथा सोंठ के योग से अनेक प्रकार के मांस रस, शाक रस, दूध पेया तथा यूषों की कल्पना करे ॥३२-३५ ।

द्राक्षादि दुग्ध तथा पेया—

द्राक्षां कणां पञ्चमूलं तृणाख्यं च पचेज्जले ।
तेन क्षीरं शृतं शीतं पिबेत्समधुशर्करम् ॥३६॥
साधितां तेन पेयां वा सुशीतां मधुनाऽन्विताम् ।

व्याख्या—दाख, पीपल तथा तृणपञ्चमूल को जल में पकावे और उस क्वाथ से दुग्ध सिद्ध करे, उसे शीतल होने पर मधु एवं खण्ड मिलाकर पीवे । अथवा उस क्वाथ में पेया सिद्ध करे शीतल होने पर मधु मिलाकर पीवे ॥३६॥

अन्य योग—

शठीह्रीबेरबृहतीशर्कराविश्वभेषजम् ॥३७॥
पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ।

व्याख्या—कचूर, नेत्रबाला, बनभण्टामूल, खण्ड एवं सोंठ को जल में पीसकर, रस को कपड़ा से छान कर तथा घृत मिला कर पीवे ॥३७॥

शर्करादि घृत—

शर्करां जीवकं मुद्गमाषपर्ण्यौ दुरालभाम् ॥३८॥

कल्कीकृत्य पचेत्सर्पिः क्षीरेणाष्टगुणेन तत् ।
पानभोजनलेहेषु प्रयुक्तं पित्तकासजित् ॥३९॥
लिह्याद्वा चूर्णमेतेषां कषायमथवा पिबेत् ।

व्याख्या—शर्करा, जीवक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी तथा जवासा का कल्क मिलाकर, आठ गुने दूध में घृत का पाक करे, सिद्ध होने पर उस घृत को पान (पीने) में, भोजन तथा अवलेह में प्रयुक्त करे यह घृत पित्तकास को नष्ट करता है अथवा उक्त द्रव्यों का चूर्ण घृत में मिलाकर चाटे अथवा उन द्रव्यों का कषाय पीवे ।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में शर्करां जीवकं आदि पाठ के ऊपर आधा श्लोक इस प्रकार पाया जाता है, यथा—मेदां विदारीं काकोलीं स्वयंगुप्ताफलं बलाम् । अर्थात्—मेदा, विदारीकन्द, काकोली, किवाँच के बीज तथा बलामूल ।अ. सं. चि. अ. ४ में भी यह पाठ है ॥३८,३९॥

कफकास चिकित्सा—

'कफकासी' पिबेदादौ सुरकाष्ठात्प्रदीपितात् ॥४०॥
स्नेहं परिस्रुतं व्योषयवक्षारावचूर्णितम् ।

व्याख्या—कफकास का रोगी सर्व प्रथम—देवदारु का स्नेह पीवे जो उसे जलाने पर झरता है और पीते समय उसमें त्रिकटु तथा जौखार का चूर्ण बुरक लेवे ।

वक्तव्य—देवदारु के सार को लटका कर नीचे के सिरा में अग्नि लगाने पर उस में से टुप टुप स्नेह के विन्दु गिरते हैं उनका सञ्चय कर लेवे नीचे पात्र धर कर । अथवा चन्दन के तैल की विधि से देवदारु के बुरादा का तैल प्राप्त करे ।अथवा तारपीनके तैल का प्रयोग करे, यह तैल देवदारु के सार काष्ठ से अथवा गोन्द से प्राप्त किया जाता है । ४०॥

कफकास में शोधन तथा पथ्य—

स्निग्धं विरेचयेदूर्ध्वमधो मूर्ध्नि च युक्तितः ॥४१॥
तीक्ष्णैर्विरेकैर्बलिनं संसर्गी चास्य योजयेत् ।
यवमुद्गकुलत्थान्नैरुष्णरूक्षैः कटूत्कटैः ॥४२॥
कासमर्दकवार्ताकव्याघ्रीक्षारकणान्वितैः ।
धान्वबैल्वरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपनिम्बजैः ॥४३॥

व्याख्या—कफकास में स्नेहन करके विधिपूर्वक वमन, विरेचन तथा शिरो विरेचन नस्य देकर शुद्धि करे और यदि रोगी बलवान् हो तो तीक्ष्ण विरेचन देवे । शोधन के अनन्तर निम्नलिखित द्रव्यों की पेया एवं यूष आदि से संसर्जन क्रम द्वारा उपचार करे । यथा—जो मूंग एवं कुलथी आदि अन्न जो उष्ण तथा रूक्ष हों तथा उन में मरिच सोंठ आदि कटु द्रव्य डाले गये हों । और कसौन्दी, भण्टा तथा कण्टकारी का रस जौखार तथा पीपल से युक्त हो तथा जाङ्गलदेशीय अथवा लोमड़ी आदि बिलेशय प्राणियों के मांस रस जो तिल, सरसों तथा निम्ब के स्नेहों—तैलों के संयोग से बनाए गये हों उनके साथ भोजन देवे ।

वक्तव्य—निम्बजैः के स्थान में च. चि. अ. १८ श्लो. ११० के अनुसार बिल्वजैः पाठ उचित है क्योंकि निम्बस्नेह अत्यन्त अरुचिकर होता है और तिक्त भी ॥४१-४३ ।

कफकास में पीने के लिये—

दशमूलाम्बु घर्माम्बु मद्यं मध्वम्बु वा पिबेत् ।
मूलैः पौष्करशम्पाकपटोलैः संस्थितं निशाम् ॥४४॥
पिबेद्वारि सहक्षौद्रं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु ।

व्याख्या—कफकास का रोगी—दशमूल का पकाजल, उष्ण जल, मद्य अथवा मधु मिश्रित जल पीवे । भोजन के पूर्व, साथ में तथा अन्त में अर्थात् जब तृषा हो तब पोहकर मूल, अमलतास अथवा परवल की जड़ का रात्रि भर धरा गया जल (हिम) मधु मिलाकर पीवे ॥४४॥

कफकास नाशक तीन अवलेह—

पिप्पली पिप्पलीमूलं शृङ्गबेरं बिभीतकम् ॥४५॥
शिखिकुक्कुटपिच्छानां मषी क्षारो यवोद्भवः ।
विशाला पिप्पलीमूलं त्रिवृता च मधुद्रवाः ॥४६॥
कफकासहरा लेहास्त्रयः श्लोकार्धयोजिताः ।

व्याख्या—आधे आधे श्लोक में कहे गए निम्नलिखित तीन अवलेह कफकास को नष्ट करते हैं यथा—१. पीपल, पीपलामूल, अदरक (सोंठ) तथा बहेड़ा का चूर्ण मधु के साथ घोल कर । २. मोर तथा मुरगा के पंखो की काली भस्म तथा जौखार को मधु में मिलाकर । और ३. इन्द्रायण, पीपलामूल तथा निसोत का चूर्ण मधु में मिलाकर चटावे ॥४५,४६॥

आठ अवलेह—

मधुना मरिचं लिह्यान्मधुनैव च जोङ्गकम् ॥४७॥
पृथग्रसांश्च मधुना व्याघ्रीवार्ताकभृङ्गजान् ।
कासघ्नस्याश्वशकृतः सुरसस्यासितस्य च ॥४८॥

व्याख्या—१-मरिच, २-अगुरु, ३-कण्टकारी का रस, ४-वनभण्टा का रस, ५-भांगरा का रस, ६-कसौन्दी का रस, ७-घोड़ा की लीद का रस, अथवा काली तुलसी का रस, मधु में मिलाकर चाटे । ये आठों अवलेह कफ कास को नष्ट करते हैं । देखिये च० चि० अ०१८ श्लो० ११७ ।

वात कफ कास नाशक तीन अवलेह—

देवदारुशठीरास्नाकर्कटाख्यादुरालभाः ।
पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्या धात्री सितोपला ॥४९॥

लाजा सितोपला सर्पिः शृङ्गी धात्रीफलोद्भवा ।
मधुतैलयुता लेहास्त्रयो वातानुगे कफे ॥५०॥

व्याख्या—१—देवदारु (का बुरादा अथवा गोन्द), कचूर, रासना, काकड़ासिंगी तथा जवासा (का चूर्ण) । २—पीपल, सोंठ, नागरमोथा, हरड़, आमला तथा मिश्री (का चूर्ण) । अथवा ३—लाज (भुने धान्य), मिश्री, घृत, काकड़ासिंगी, तथा आमला का चूर्ण मधु एवं तैल में मिलाकर अवलेह बनावे । यह तीनों अवलेह वातयुक्त कफकास में लाभ करते हैं ॥४९,५०॥

दाडिमादि योग—

द्वे पले दाडिमादष्टौ गुडाद्व्योषात्पलत्रयम् ।
रोचनं दीपनं स्वर्यं पीनसश्वासकासजित् ॥५१॥
गुडक्षारोषणकणादाडिमं श्वासकासजित् ।

व्याख्या—अनार (के फल का छिलका—नासपाल नाम से प्रसिद्ध) दो पल, गुड़ (कम से कम १ वर्ष पुराना) आठ पल, त्रिकटु का चूर्ण तीन पल । सबको मिलाकर चूर्ण अथवा पका कर गोली बनावे । यह रुचिकारक है, अग्निदीपक है, स्वरभेद नाशक तथा स्वरवर्द्धक है, और पीनस, श्वास तथा कास का शामक है ॥५०॥

गुडादि योग—

क्रमात्पलद्वयार्धाक्षकर्षार्धपलोन्मितम् ॥५२॥

व्याख्या—गुड दो पल, जौ खार आधा कर्ष, मरिच एक कर्ष, पीपल आधा कर्ष तथा अनार एक पल । यह योग भी श्वास एवं कास का विजेता है ।

वक्तव्य—पथ्यादि पाचन का योग—"पथ्या कुस्तुम्बरु मुस्ता" आदि है ॥५२॥

संकेत—

पिबेज्ज्वरोक्तं पथ्यादि सशृङ्गीकं च पाचनम् ।

व्याख्या—कास रोग में यदि आम दोष हो तो ज्वर चिकित्सा अध्याय १ (श्लो० ६२) में कहा गया पथ्यादि पाचन योग—काकड़ासिंगी का चूर्ण मिलाकर पीवे ।

वक्तव्य—तिल का अथवा सरसों का तैल १-४ तोला लिया जा सकता है ।

अथवा—

अथवा द्व्यक्षत्रिवृच्छिखानागरघनपौष्करम् ॥५३॥
सकणं क्वथितं मूत्रे कफकासी जलेऽपि वा ।

व्याख्या—अथवा कफकास में—अजवायन, निशोत, इन्द्रायण की जड़, नागर मोथा तथा पोहकर मूल को गोमूत्र में पका कर और उसमें पीपल का चूर्ण मिलाकर पीवे अथवा केवल जल में पका कर पीवे ॥५३॥

कास में पिप्पली कल्क—

तैलभृष्टं च वैदेहीकल्काक्षं ससितोपलम् ॥५४॥
पाययेत्कफकालघ्नं कुलित्थसलिलाप्लुतम् ।

व्याख्या—पीपल का कल्क १ तो० कटु तैल में पका कर तथा १ तो० मिश्री मिलाकर और कुलथी का क्वाथ मिला कर पिला देवे । यह भी कफज कास का नाशक है ।

वक्तव्य—अर्थात् इस के सेवन से कास आदि नष्ट हो जाते हैं और उत्पन्न भी नहीं होते ॥५४॥

दशमूल घृत—

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ॥५५॥
पुष्कराह्वशठीबिल्वसुरसाव्योषहिङ्गुभिः ।
पेयानुपानं तत्सर्पिर्वातश्लेष्मामयापहम् ॥५६॥

व्याख्या—दशमूल का क्वाथ १ आढक, गो घृत १ प्रस्थ, कल्कार्थ—पोहकर मूल, कचूर, बिलगिरी, तुलसी, त्रिकटु तथा हींग १-१ कर्ष । सबको मिलाकर पाक करो, सिद्ध होने पर घृत को छान कर रख लो । इस घृत की उचित मात्रा खिला,-चटा-पिला कर ऊपर से पेया पिलाओ यह घृत वात कफ के सब रोगों को विशेषतः कास को नष्ट करता है ॥५५,५६॥

अन्य दो घृत—

निर्गुण्डीपत्रनिर्याससाधितं कासजिद् घृतम् ।
घृतं रसे विडङ्गानां व्योषगर्भं च साधितम् ॥५७॥

व्याख्या—सम्भालू के पत्तों के स्वरस से सिद्ध घृत कास को नष्ट करता है और विडंग के स्वरस या क्वाथ में, त्रिकटु का कल्क डाल कर सिद्ध किया गया घृत—भी कास को नष्ट करता है ॥५७॥

पुनर्नवादि घृत—

पुनर्नवशिवाटिकासरलकासमर्दामृता-
पटोलबृहतीफणिज्जकरसैः पयःसंयुतैः ।
घृतं त्रिकटुना च सिद्धमुपयुज्य सञ्जायते
न कासविषमज्वरक्षयगुदाङ्कुरेभ्यो भयम् ॥५८॥

व्याख्या—श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, सरल (चीड़) का बुरादा, कसौन्दी, गिलोय, परवल के पत्र, वनभण्टा मूल तथा मरुवा का रस या क्वाथ ४ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, त्रिकटु का कल्क ¼ प्रस्थ तथा घृत १ प्रस्थ । विधिपूर्वक घृत सिद्ध करो । इसका उपयोग करने से—कास, विषम ज्वर, क्षय तथा अर्श रोग का भय नहीं रहता ॥५८॥

कण्टकारी घृत —प्रथम

समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके ।
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशठिदाडिमैः ॥५९॥

सौवर्चलयवक्षारमूलामलकपौष्करैः ।
वृश्चीववृहतीपथ्यायवानीचित्रकर्द्धिभिः ॥६०॥
मृद्वीकाचव्यवर्षाभूदुरालम्भाम्लवेतसैः ।
शृङ्गीतामलकीभार्ङ्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत् ॥६१॥
कल्कैस्तत्सर्वकासेषु श्वासहिध्मासु चेष्यते ।

व्याख्या—कण्टकारी के पञ्चाङ्ग का रस या क्वाथ १ आढक, गो घृत १ प्रस्थ, कल्कार्थ—बलामूल, त्रिकटु, विडंग, कचूर, अनार, सौञ्चर लवण, जौखार, पीपलामूल, आमला, पोहकरमूल, पुनर्नवा, वनभण्टा, हरड़, अजवायन, चित्ता, ऋद्धि, मुनका, चव्य, लाल पुनर्नवा (जो वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती है), जवासा, अम्ल वेत, काकडासिंगी, भूमि आमला, भारंगी, रासना तथा गोखरू का कल्क ¼ प्रस्थ। सबको एक साथ मिलाकर पाक करो। सिद्ध होने पर घृत छान कर रख लो यह घृत—सब प्रकार के कास रोगों में तथा श्वास एवं हिक्का रोग में लाभदायक है।

वक्तव्य—च चि. अ. १८ में इस पाठ के नीचे यह पाठ है—कण्टकारी घृतं ह्येतत् कफव्याधिनिषूदनम् ।१२८। अर्थात् यह कण्टकारी घृत कफ रोगों का नाशक है। और चरक पाठ में आमला नहीं है। और किसी२ प्रति में ''मूलामलकपौष्करैः पाठ के स्थान में ''पिप्पलीमूलपौष्करैः'' पाठ है जो चरक पाठ के अनुकूल है ॥५९-६१॥

कण्टकारी अवलेह—

पचेद्व्याघ्रीतुलां क्षुण्णां वाहेऽपामाढकस्थिते ॥६२।
क्षिपेत् पूते तु संचूर्ण्य व्योषरास्नाऽमृताग्निकान् ।
शृङ्गीभार्ङ्गीघनग्रन्थिधन्वयासान् पलार्धकान् ॥६३॥
सर्पिषः षोडशपलं चत्वारिंशत्पलानि च ।
मत्स्यण्डिकायाः शुद्धायाः पुनश्च तदधिश्रयेत् ॥६४॥
दर्वीलेपिनि शीते च पृथग् द्विकुडवं क्षिपेत् ।
पिप्पलीनां तवक्षीर्या माक्षिकस्याऽनवस्य च ॥६५॥
लेहोऽयं गुल्महृद्रोगदुर्नामश्वासकासजित् ।

व्याख्या—एक तुला भर (१०० पल) कण्टकारी को कूट कर १ वाह भर (४ द्रोण = १६ आढक) जल में पकाओ, १ आढक रहने पर छान लो फिर उसमें—त्रिकटु, रासना, गिलोय, चित्ता, काकडासिंगी, भारंगी, नागरमोथा, पीपलामूल तथा धमासा आधा आधा पल पीस कर डाल दो और गो घृत १६ पल तथा शुद्ध राव (खण्ड मिश्रित शीरा) ४० पल डाल कर चुल्हा पर चढादो तब तक पाक करो जब तक वह कडछुली में चिपकने—लगने लगे, फिर उतारकर रख दो, शीतल होने पर उसमें—पीपल का चूर्ण, वंशलोचन का चूर्ण (अथवा तोखाखीर नामक पार्थिव द्रव्य) तथा पुराना मधु २—कुडव डाल कर मिला दो। यह अवलेह—गुल्म, हृद्रोग, अर्श, श्वास तथा कास को नष्ट करता है।

वक्तव्य—श्री चक्रपाणि ने च. चि. अ. ८ में सितोपलादि चूर्ण की टीका करते समय—''तुगाक्षीरी वंशलोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्'' लिखा है और अब भी पञ्जाब के वैद्य तोखाखीर नाम से रेलखड़ी या संगे जराहत का ग्रहण—उपयोग करते हैं, हमारा विचार है कि तोखाखीर शब्द ''तुगाक्षीरी'' शब्द का अपभ्रंश है किसी प्रतिमें ''तवक्षीर्याः'' पाठ है तथा यूनानी चिकित्सा में वंशलोचन को ''तबाशीर'' भी कहते हैं। प्रयोगमें उक्त दोनों द्रव्य लाभप्रद हैं॥६२-६५॥

कास में धूमपान—

शमनं च पिबेद्धूमं शोधनं बहले कफे ॥६६॥
मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदीत्वचः ।
धूमं कासघ्नविधिना पीत्वा क्षीरं पिबेदनु ॥६७॥
निष्ठ्यूतान्ते गुडयुतं कोष्णं धूमो निहन्ति सः ।
वातश्लेष्मोत्तरान् कासानचिरेण चिरन्तनान् ॥६८॥

व्याख्या—कास में कफ की अधिकता होने पर—शमन धूम का पान करे अथवा—मैनसिल, हरताल, मुलेठी, जटामांसी, नागरमोथा तथा एंगुदी की छाल का धूम कास नाशक विधि से पीकर, कफ निकल जाने पर अन्त में—गुड मिश्रित कोसा२ दूध पीवे। यह धूम—वातकफ प्रधान पुराने कास रोगों को थोड़े ही काल में नष्ट करता है।

वक्तव्य—धूमपान की विधि सूत्र अ. २१ में देखिये। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. चि. अ. १८—

शिरसः पीडने, स्रावे नासाया, हृदि ताम्यति ।
कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥६५॥
सहास्य तैक्ष्ण्यात विच्छिद्य श्लेष्माणमुरसि स्थितम्।
निष्कृष्य शमयेत् कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥६८॥
मनः शिलाऽऽलमधुकमांसी मुस्तेङ्गुदैः पिबेत् ।
धूमं ...स्याऽनु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥६९॥
एषः कासान् पृथग्दोषसन्निपातसमुद्भवान् ।
धूमो हन्यात् असंसिद्धान् अन्यैः योगशतैरपि ॥७०॥

चरक में अन्यान्य धूम योगों का भी वर्णन है वह भी देखिये। उक्त धूमपानके अनन्तर गुड़ मिश्रित दूध अवश्य पीवे अन्यथा कण्ठमें रूक्षता का अनुभव होता है। अनुभव-मैनसिल एवं हरिताल ४-४ माशा, मुलेठी आदि द्रव्य १-१ तो० कूटकर मिलावे और ४-६ माशा चिलम में धर कर जल रहित हुक्का में पीवे ॥६६-६८॥

तमक श्वास युक्त कास का उपचार—

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत्पित्तानुबन्धजः ।

पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ।।६९।।

व्याख्या—कफ कास के साथ२ यदि पित्त के संसर्ग के कारण तमक श्वास (तमक का भेद प्रतमक नामक श्वास—देखिए नि. अ. ४) हो तो आवश्यकतानुसार पित्त कास की चिकित्सा का प्रयोग-अधिक काल पर्यन्त योग ।६९।।

अनुबन्धी दोषों की चिकित्सा—

कफानुबन्धे पवने कुर्यात्कफहरां क्रियाम् ।
पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशनीम् ।।७०।।

व्याख्या—वातज कास में यदि कफ का अनुबन्ध हो तो कफनाशक चिकित्सा करे और वात कफ जनित कास में पित्त का अनुबन्ध हो तो पित्त नाशक चिकित्सा करे ।।७०।।

शुष्क तथा आर्द्र कास की चिकित्सा—

वातश्लेष्मात्मके शुष्के स्निग्धं चार्द्रे विरूक्षणम् ।
कासे कर्म सपित्ते तु कफजे तिक्तसंयुतम् ।।७१।।

व्याख्या—वात कफ जनित कास यदि शुष्क हो तो स्निग्ध उपचार (आहार, विहार तथा औषध) करे और आर्द्र हो तो रूक्ष उपचार करे । और पित्तयुक्त कफकास में तो तिक्त रस युक्त उपचार करे ।।७१।।

क्षतज कास चिकित्सा

उरः क्षत में लाक्षाप्रयोग—

उरस्यन्तःक्षते सद्यो लाक्षां क्षौद्रयुतां पिबेत् ।
क्षीरेण शालीन् जीर्णेऽद्यात्क्षीरेणैव सशर्करान् ।।७२।।
पार्श्ववस्त्यादिरुक्चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम् ।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ।।७३।।
लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयं गणं सिताम् ।
त्वक्क्षीरीसंमितं क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ।।७४।।

व्याख्या—उरस् के भीतर क्षत हो जाने पर-तत्काल लाक्षा (पीस १ तो०) को मधु में मिलाकर चाटे और ऊपर से दूध पीवे । पथ्य में—लाक्षा पच जाने पर खण्ड मिश्रित शालि चावलों का भात दूध के ही साथ खावे । जिस रोगी के पार्श्व तथा वस्ति आदि में वेदना हो, पित्त एवं अग्नि क्षीण--मन्द हों वह उसे (लाक्षा को) सुरा के साथ पीवे । जिस रोगी को साथ में पुरीष भेद-अतिसार हो वह लाक्षा को मोथा, अतीस तथा पाठा के साथ मिला कर अथवा कुरैया की छाल के साथ मिलाकर खावे । जिस की अग्नि प्रदीप्त हो वह घृत, मोम, जीवनीय गण, खण्ड, तुगाक्षीरी (वंशलोचन या तोखाखीर देखिये श्लो० ६२ का वक्तव्य) तथा समिता (गेहूँ का मैदा--थोड़ा भून कर) को दूध में पकाकर पीवेत ७२-७४।

क्षतज कास में दो अन्य योग—

इक्षुवालिकाबिस(स)ग्रन्थिपद्मकेसरचन्दनैः ।
शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं क्षती पिबेत् ।।७५।।
यवानां चूर्णमामानां क्षीरे सिद्धं घृतान्वितम् ।
ज्वरदाहे सिताक्षौद्रसक्तून्वा पयसा पिबेत् ।।७६।

व्याख्या—उरः क्षत का रोगी--इक्षुवालिका, बिस (कमल नाल) की ग्रन्थियाँ, कमल का केशर तथा श्वेत चन्दन डाल कर पकाया गया दूध मधु मिलाकर पीवे । इस से क्षत का सन्धान हो जाता है यदि साथ में ज्वर एवं दाह हो तो कच्चे जौवों का चूर्ण (आटा) दूध में पकाकर तथा घृत डाल कर खावे अथवा जौ के सत्तुओं को श्वेत खण्ड एवं मधु मिला कर दूध के साथ पीवे ।

वक्तव्य—उक्त लाक्षा का प्रयोग तथा उक्त दो योग च. चि. अ. ११ से उद्धृत किये गये हैं ।।७५,७६।।

कासवांश्च पिबेत्सर्पिर्मधुरौषधसाधितम् ।
गुडोदकं वा क्वथितं सक्षौद्रमरिचं हिमम् ।।७७।
चूर्णमामलकानां वा क्षीरपक्वं घृतान्वितम् ।
रसायनविधानेन पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ।।७८।।

व्याख्या—कास रोग वाला--मुलैठी आदि मधुर द्रव्यों के संयोग से सिद्ध किया गया घृत पीवे । अथवा गुड का क्वाथ-शीतल होने पर मधु एवं मरिच मिलाकर पीवे । अथवा आमलों के चूर्ण को दूध में पकाकर और उसमें घृत मिला कर पीवे अथवा रसायन विधि से पिप्पलियों का दीर्घ काल पर्यन्त सेवन करे ।

वक्तव्य—उ. तं अ ३९ में पिप्पली रसायन की विधि श्लो० ९६ से १०३ पर्यन्त देखिये ।।७७,७८।।

मधूकादि लेह—

कासी पर्वास्थिशूली च लिह्यात्सघृतमाक्षिकाः ।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः ।।७९।।

व्याख्या—जिस कास रोगी के पर्वों एवं अस्थियों में शूल हो वह--महुआ के पुष्प, मुलैठी, दाख, तुगाक्षीरी, पीपल तथा बलामूल के चूर्ण को घृत एवं मधु में मिलाकर चाटे ।

वक्तव्य—यह पाठ च० चि० अ० ११ श्लो० २० में देखिये ।।७९।।

एलादि गुटिका—

त्रिजातमर्धकर्षांशं पिप्पल्यर्धपलं सिता ।
द्राक्षामधूकखर्जूरं पलांशं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।।८०।।
मधुना गुटिका घ्नन्ति ता वृष्याः पित्तशोणितम् ।

कासश्वासाऽरुचिच्छर्दिमूर्च्छाहिध्मावमिभ्रमान् ॥८१॥
क्षतक्षयस्वरभ्रंशप्लीहाशोफाढ्यमारुतान्।
रक्तनिष्ठीवहृत्पार्श्वरुक्पिपासाज्वरानपि ॥८२।

व्याख्या—बड़ी इलायची, तेजपत्र तथा दालचीनी आधा आधा कर्ष, पीपल आधा पल (२तो०), श्वेत खण्ड (या मिश्री), दाख, महुआ के फूल तथा पिण्ड खजूर १-१पल। सब द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर मधु के योगसे गोलियाँ (खरबेर की गुठली की सी) बनावे। वे गोलियाँ वृष्य-रतिशक्तिवर्द्धक (तथा तर्पण-तृप्तिकारक च.) है और रक्तपित्त, कास, श्वास, अरुचि, छर्दि, मूर्च्छा, हिक्का, मद, भ्रम, उरः क्षत, क्षय, स्वरभेद, प्लीह विकार, शोथ, ऊरुस्तम्भ (तथा वातरक्त), मुख से होने वाले रक्त स्राव, हृदयशूल, पार्श्वशूल, तृषा तथा ज्वर को भी नष्ट करती हैं।

वक्तव्य - यह पाठ भी च० चि० अ० ११ के श्लो० २१-२४ का परिवर्त्तित पाठ है। एलादिगुटिका का प्रयोग प्रायः प्रत्येक चिकित्सक द्वारा किया जाता है ॥८०-८२॥

अन्य योग—

वर्षाभूशर्करारक्तशालितण्डुलजं रजः।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥८३॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम्।
यथास्वमार्गविसृते रक्ते कुर्याच्च भेषजम् ॥८४॥

व्याख्या—लाल पुनर्नवा, श्वेत खण्ड एवं रक्त शालि चावलों का चूर्ण बनाकर उसे दाख के रस, दूध तथा घृत में सिद्ध करके पीवे। अथवा महुआ के फूल, मुलेठी तथा दूध में सिद्ध किया गया चौलाई का शाक खावे। यह दोनों योग उसे देवे जिसके थूक में रक्त जाता हो। यदि शिर, मूत्राशय आदि में क्षत हो जाने से रक्त जा रहा हो तो उस प्रकार की चिकित्सा करे जो उसके लिये लाभदायक हो ॥८३,८४॥

अन्यान्य योग—

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम्।
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्को मन्दनिद्रोऽग्निदीप्तिमान् ॥८५॥
शृतक्षीरसरेणाद्यात्सघृतक्षौद्रशर्करम्।
शर्करां यवगोधूमं जीवकर्षभकौ मधु ॥८६॥
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात्क्षीणः क्षतः कृशः।
क्रव्यात्पिशितनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः ॥८७॥
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम्।

व्याख्या—यदि वायु की गति मूढ-विलोम हो तो बकरी की मेदस् को सुरा में भूनकर तथा थोड़ा सैन्धवलवण मिला कर खावे। जो रोगी क्षाम दुर्बल हो, क्षीण-कृश हो तथा उसके उरस् के भीतर क्षत हो, निद्रा थोड़ी आती हो और अग्नि प्रदीप्त हो तो वह पके दूध, सर-मलाईके साथ, घृत, मधु तथा खण्ड से युक्त भोजन करे। अथवा क्षीण, क्षत एवं कृश रोगी-शर्करा जौ, गेहूँ, जीवक तथा ऋषभक के चूर्ण को मधु में मिला कर चाटे और ऊपर से पका हुआ दूध पीवे। अथवा वह कच्चा मांस खाने वाले प्राणी के मांस का रस-घृत में छौंक कर तथा पीपल एवं मधु मिला कर पीवे। यह सब योग मांस एवं रक्तको बढ़ाते हैं।

न्यग्रोधादियोग—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः ॥८८॥
तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः।
सान्वकर्णैः शृतात्क्षीरादद्याज्जातेन सर्पिषा। ८९॥
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रबलेन्द्रियः।

व्याख्या—जिसके उरस् के भीतर क्षत हो, शुक्र, बल तथा इन्द्रिय क्षीण हो गये हों वह रोगी—वट, गूलर, पीपल वृक्ष, पाकर, शाल तथा प्रियंगु के फलों के और तालमस्तक, जामुन की छाल, चिरौञ्जी, पद्म काठ तथा पालाश की त्वचा के योग से दध पका और उसे जमा कर विलोडन करे, उस से जो घृत-नवनीत प्राप्त हो उसके साथ शालि चावलों का भात खावे ॥८८,८९॥

अन्य चिकित्सा—

वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्मतः ॥९०॥
तैलैश्चानिलरोगघ्नैः पीडिते मातरिश्वना।
हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः ॥९१॥
कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत्।
यष्ट्याह्वानागबलयोः क्वाथे क्षीरसमे घृतम् ॥९२॥
पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कैः सिद्धं क्षते हितम्।

व्याख्या—यदि वायु एवं पित्त के प्रकोप से शरीर में भेदन की सी वेदना हो तो घृत का अभ्यङ्ग करे और यदि केवल वायु के कोप से वेदना हो तो वात नाशक तैल से अभ्यङ्ग करे। यदि हृदय एवं पार्श्व में वेदना हो तो जीवनीय घृत का पान करे। और वात रोग नाशक सब चिकित्सा करे परन्तु जो पित्त वर्द्धक न हो उरःक्षत में-मुलेठी तथा नागबला के क्वाथ (४ सेर) तथा गो दुग्ध (१ सेर) में, क्षीर विदारी, पीपल तथा वंश लोचन के कल्क (१ पाव) के योग से सिद्ध किया गया घृत (१ सेर) हित होता है ॥९०-९२॥

अमृत प्राश घृत—

जीवनीयो गणः शुण्ठी वरी वीरा पुनर्नवा ॥९३॥
बला भार्ङ्गी स्वगुप्तर्द्धिः शठी तामलकी कणा।

शृङ्गाटकं पयस्या च पञ्चमूलं च यल्लघु ॥९४॥
द्राक्षाऽक्षोडादि च फलं मधुरस्निग्धबृंहणम् ।
तैः पचेत्सर्पिषः प्रस्थं कर्षांशैः श्लक्ष्णकल्कितैः ॥९५॥
क्षीरधात्रीविदारीक्षुच्छागमांसरसान्वितम् ।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलारजः ॥९६॥
पलार्धकं च मरिचत्वगेलापत्रकेसरम् ।
विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां यथाबलम् ॥९७॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम् ।
सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥९८॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान् ।
स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥९९॥
कासहिध्माज्वरश्वासदाहतृष्णाऽस्रपित्तनुत् ।
पुत्रदं छर्दिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥१००॥

व्याख्या—जीवनीय गण के दस द्रव्य (सू० अ० १५ में देखिये), सोंठ, शतावर, विदारी कन्द, पुनर्नवा, बलामूल, भारंगी, किवाँच के बीज, कचूर, भूमि आमला, पीपल, सिंघाड़ा, दुग्धिका, शालपर्णी आदि लघु पञ्चमूल के ५ द्रव्य, दाख तथा अखरोट, खजूर, बादाम एवं पिशता आदि मधुर, स्निग्ध एवं शीतल फलों की गिरियाँ । इन सब द्रव्यों को १-१ कर्ष लेकर भली भाँति पीस कर कल्क बनावे और एक प्रस्थ गो घृत में डालकर तथा उसमें दूध, आमला का रस, विदारी कन्द का रस, ईख का रस तथा बकरा के मांस का रस १-१ प्रस्थ मिलाकर पाक करे शीतल होने पर आधा प्रस्थ मधु तथा आधातुला शर्करा (खण्ड) मिला देवे और मरिच, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्र, तथा नाग केशर का चूर्ण आधा आधा पल मिला देवे । मात्रा रोगी एवं रोगके बलानुसार चाटे । यह अमृतप्राश घृत मानवों के लिए अमृत के समान है । चाटने में सुधा या अमृत के समान रस वाला है और इसे खाने वाला मानव दूध अथवा मांस रस के साथ भोजन किया करे । यह घृत—उन सब को पुष्ट करता है जिनका शुक्र नष्ट हो गया है, उरस् के भीतर क्षत है, जो क्षीण हैं, दुर्बल हैं, ज्वर आदि रोग के कारण कृश हो गये हैं, अधिक मैथुन करते हैं, कृश हैं, और जिनका वर्ण एवं स्वर हीन हो गया है । और यह घृत—कास, हिक्का ज्वर, श्वास, दाह, तृषा तथा रक्त पित्त को नष्ट करता है । पुत्र दाता है , छर्दि, मूर्च्छा, हृद्रोग, योनिरोग तथा मूत्र रोग को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इस पाठ को च० चि० अ० ११ के श्लो० ३५-४३ से मिलाकर देखिये । हमारे विचार से इस योग को घृत नहीं "अमृतप्राश अवलेह" कहना चाहिये. क्योंकि इस का कल्क पृथक् नहीं किया जाता ॥९३-१००॥

श्वदंष्ट्रादि घृत—

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकट्तृणम् ।
दर्भमूलं पृथक् पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिरा ॥१०१॥
पालिकानि पचेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदकर्षभजीवकैः ॥१०२॥
शतावर्यर्द्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः ।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्रोगशूलनुत् ॥१०३॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शः कासशोषक्षयापहः ।
धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः ॥१०४॥

व्याख्या—गोखरू, खस,मजीठ, बलामूल, गम्भार के फल, सुगन्धी तृण, दर्भ का मूल, पृष्टपर्णी, पलाश की छाल ऋषभक तथा शालपर्णी १ १ पल लेकर क्वाथ करे उस में क्वाथ से चतुर्गुण गो दुग्ध मिलावे और किवाँच, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावर, ऋद्धि, मुनका, शर्करा, गोरखमुण्डी तथा बिष का कल्क (घृत से चतुर्थांश) मिलावे तथा एक प्रस्थ गो घृत मिलाकर पाक करे सिद्ध होने पर घृत छान लेवे । यह घृत—वात रोग, पित्तरोग, हृद्रोग तथा शूल को नष्ट करता है, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह अर्श कास, शोष तथा क्षय को नष्ट करता है और जो मानव धनुष से व्यायाम करते, २ मैथुन से, मद्यपान से, भार उठाने-ढोने से तथा मार्ग चलने से थक गये हैं उनके बल तथा मांस को बढ़ाता है ।

वक्तव्य—देखिये च० चि० अ० ११ का श्वदंष्ट्रादि घृत ।

मधुकादि लेह—

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थकाथे पचेद् घृतम् ।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥१०५॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत्
समसक्तु क्षतक्षीणरक्तगुल्मेषु तद्धितम् ॥१०६॥

व्याख्या—मुलेठी ८ पल तथा दाख १ प्रस्थ का क्वाथ गोघृत १ प्रस्थ तथा पीपल का कल्क ८ पल । सब को मिलाकर पाक करे, सिद्ध होने पर तथा शीतल होने पर मधु तथा शर्करा (खण्ड) ८-८ पल मिला देवे और सब के समान सत्तू मिला देवे अथवा खाते समय समान सत्तू मिलाकर खावे । यह अवलेह उरःक्षत, क्षय तथा रक्त गुल्म में हित है ॥१०५,१०६॥

धात्री घृत—

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसाद् घृतात् ।
गव्याजयोश्च पयसोः प्रस्थं प्रस्थं विपाचयेत् ॥१०७॥
सिद्धपूते सिताक्षौद्रं द्विप्रस्थं विनयेत्ततः ।

यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥१०८॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम् ।

व्याख्या—आमलों का स्वरस, विदारीकन्द का स्वरस, ईख का रस तथा जीवनीयगण के दश द्रव्यों का स्वरस, गोघृत, गोदुग्ध तथा बकरी का दुग्ध १-१ प्रस्थ मिलाकर पाक करे, सिद्ध होने पर उसमें खण्ड तथा मधु १-१ प्रस्थ मिला देवे। यह अवलेह राजयक्ष्मा, अपस्मार, रक्तपित्त, कास, प्रमेह तथा क्षय को नष्ट करता है. वयस् का स्थापन करता है जरा को रोकता है, आयु बढ़ाता है तथा मांस शुक्र एवं बल का दाता है।

वक्तव्य—उक्त दोनों योग च० चि० अ० ११ से उद्धृत किये गये हैं ॥१०७,१०८॥

घृत के पान तथा लेहन का विवेक—

घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वाताधिके पिबेत् ॥१०९॥
लीढं निर्वापयेत्पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम् ।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥११०॥

व्याख्या—पित्त की अधिकता में घृत का लेहन करे और वायु की अधिकता में पान करे। लेहन में मात्रा अल्प होती है अतः वह पित्तको शान्त करता है और अग्निको मन्द नहीं करता। और पान में मात्रा अधिक होती है अतः वह वायु को दबाता है पर अग्नि को मन्द कर देता है।

वक्तव्य—शास्त्र में जहां "लिह्यात्" आदि शब्दों से चाटने का विधान किया गया है वहां अल्प मात्रा तथा जहां पिबेत् आदि शब्दों से पीने का विधान किया गया है वहां अधिक मात्रा का प्रयोग समझना चाहिये ॥१०९,११०॥

घृत सेवन में संकेत—

क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि तु ।
त्वक्क्षीरीपिप्पलीलाजचूर्णैः पानानि योजयेत् ॥१११।
सर्पिर्गुडान्समध्वंशान् कृत्वा दद्यात्पयोऽनु च ।
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥११२॥

व्याख्या—जिन का शरीर श्रान्त, क्षीण तथा कृश हो गया हो उन के लिये—इन्हीं घृतों का प्रयोग वंश लोचन, शर्करा (खण्ड) तथा सत्तू मिलाकर करे। इन्हीं घृतों को मधु के योग से मोदक बना कर खिलावे और अनुपान में दूध पिलावे इनके सेवन से शीघ्र ही—शुक्र- वीर्य, बल तथा पुष्टि को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—चरक में "पानानि" के स्थान में "स्त्यानानि" पाठ है अर्थ है वंशलोचन आदि के चूर्ण के संयोग से "जमाए गये" अर्थात् बरफी के समान पाक करके जमाए गये सर्पि- र्गुड घृत के लड्डू। च. चि. अ. ११ में सर्पिर्गुडों के तीन चार योग हैं ॥१११,११२॥

कूष्माण्ड रसायन-पाक—

वीतत्वगस्थिकूष्माण्डतुलां स्विन्नां पुनः पचेत् ।
घट्टयन् सर्पिषः प्रस्थे क्षौद्रवर्णेऽत्र च क्षिपेत् ॥११३।
खण्डाच्छतं कणाशुण्ठ्योर्द्विपलं जीरकादपि ।
त्रिजातधान्यमरिचं पृथगर्धपलांशकम् ॥११४॥
अवतारितशीते च दत्त्वा क्षौद्रं घृतार्धकम् ।
खजेनामथ्य च स्थाप्यं तन्निहन्त्युपयोजितम् ॥११५॥
कासहिध्माज्वरश्वासरक्तपित्तक्षताशयान् ।
उरःसन्धानजननं मेधास्मृतिबलप्रदम् ॥११६॥
अश्विभ्यां विहितं हृद्यं कूष्माण्डकरसायनम् ।

व्याख्या—श्वेत कोंहड़ा को छिल कर तथा उसके बीज एवं बीजाधार (जाला) को अलग कर दे—गूदा को कद्दूकश करे। इस प्रकार कद्दूकश किया गया कोंहड़ा १ तुला लेकर जल में स्वेदन करे, फिर निचोड़ कर १ प्रस्थ घृत में पकावे और कड़छुली या खुरचना से हिलाता-चलाता रहे जब मधु का सा वर्ण हो जाय तब उस में—खण्ड. १०० पल मिला कर चुल्हा से नीचे उतार लेवे और उसमें— पीपल, सोंठ तथा जीरा का चूर्ण २--२पल, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, धनियाँ तथा मरिच का चूर्ण १--१ पल मिला देवे और शीतल हो जाने पर आधा प्रस्थ मधु डाल कर खज (मकसूद) से मथ कर स्वच्छ भाण्ड में धर देवे। यह-कास, हिक्का, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त, उरः क्षत तथा क्षय को नष्ट करता है, उरस् के क्षत का सन्धान-- रोपण करता है, मेधा, स्मृति तथा बल बढ़ाता है, और हृदय के लिये हित है। इस कूष्माण्ड रसायन नामक योग का विधान स्वर्गीय वैद्य श्रीअश्विनीकुमारों ने किया था।

वक्तव्य—यह योग कूष्माण्डावलेह वा कूष्माण्ड पाक नाम से प्रसिद्ध है ॥११३-११६॥

नागबला आदि के योग—

पिबेन्नागबलामूलस्यार्धकर्षाभिवर्धितम् ॥११७॥
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ।
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलवर्णकरः परम् ॥११८॥
मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं यष्ट्या विश्वौषधस्य च ।

व्याख्या—नाग बला के मूल की छाल का चूर्ण प्रथम दिन आधा कर्ष, दूसरे दिन १ कर्ष, तीसरे दिन १॥ कर्ष, इस प्रकार आठवें दिन एकपल की मात्रामें और फिर प्रति दिन एक पल की मात्रा में एक मास पर्यन्त दूध के साथ खावे, केवल दूध इच्छानुसार पीवे, अन्न न खावे।

यह प्रयोग-पुष्टि, आयु, बल तथा वर्ण (कान्ति) बढ़ाने

वाला सर्व श्रेष्ठ कल्प है। इसी प्रकार मण्डूकपर्णी का, मुलेठी का तथा सोंठ का कल्प किया जाता है।

वक्तव्य—यह कल्प कायाकल्प नाम से प्रसिद्ध है।११७,११८।

नागबलासर्पिः-

पादशेषं जलद्रोणे पचेन्नागबलातुलाम् ॥११९॥
तेन क्वाथेन तुल्यांशं घृतं क्षीरेण पाचयेत्।
पलाधिकैश्चातिबलाबलायष्टीपुनर्नवैः ॥१२०॥
प्रपौण्डरीककाश्मर्यप्रियालकपिकच्छुभिः।
अश्वगन्धासिताभीरुमेदायुग्मत्रिकण्टकैः ॥१२१॥
काकोलीक्षीरकाकोलीक्षीरशुक्लाद्विजीरकैः।
एतन्नागबलासर्पिः पित्तरक्तक्षतक्षयान् ॥१२२॥
जयेत्तृड्भ्रमदाहांश्च बलपुष्टिकरं परम्।
वर्ण्यमायुष्यमोजस्यं वलीपलितनाशनम् ॥१२३॥
उपयुज्य च षण्मासान् वृद्धोऽपि तरुणायते।

व्याख्या—नाग बला का मूल एक तुला भर लेकर एक द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे, क्वाथ के सम भाग गो घृत तथा दुग्ध (१-१ आढक). अतिबला, बला, मुलेठी, पुनर्नवा, पुण्डेरिया, गम्भार, चिरौञ्जी, किवाँच, असगन्ध, खण्ड, शतावर, मेदा, महा-मेदा, गोखरू, काकोली क्षीर काकोली, क्षीर विदारी, जीरा तथा कालाजीरा आधा आधा पल लेकर कल्क करे। सब को एक साथ मिलाकर पाक करे सिद्ध होने पर छान लेवे। यह नाग बला घृत-रक्त पित्त, उरः क्षत, क्षय, तृषा, भ्रम तथा दाह को नष्ट करता है और वली तथा पलित को नष्ट करता है। इस घृत का ६ मास पर्यन्त उपयोग करके वृद्ध भी तरुण कासा आचरण करता है ॥११९-१२३॥

क्षतज कास में अवस्था भेद से चिकित्सा सूत्र—

दीप्तेऽग्नौ विधिरेष स्यान्मन्दे दीपनपाचनः ॥१२४।
यक्ष्मोक्तः क्षतिनां शस्तो ग्राही शकृति तु द्रवे।

व्याख्या—क्षतज कास में यदि अग्नि दीप्त हो तो उक्त प्रकार से चिकित्सा करे परन्तु यदि अग्नि मन्द हो तो राज यक्ष्मा (अ० ५) में कही गई दीपन पाचन चिकित्सा करे, यदि पुरीष पतला हो तो तत्काल ग्राही-पुरीषरोधक चिकित्सा करे जिस का वर्णन राजयक्ष्मा में किया गया है।

वक्तव्य—उरःक्षत तथा क्षय रोग अथवा तज्जनित कास रोग में मलभेद अत्यन्त हानिकारक होता है अतः मल की रक्षा के लिये तत्काल प्रयत्न करना चाहिये ॥१२५॥

अगस्त्यहरीतकी रसायन—

दशमूलं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शठीं बलाम् ॥१२५॥
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान्।
भार्ङ्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशान् यवाढकम् ॥१२६॥
हरीतकीशतं चैव जले पञ्चाढके पचेत्।
यवस्विन्ने कषायन्तं पूतं तच्चाभयाशतम् ॥१२७॥
पचेद्गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतात्।
तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकात् ॥१२८॥
लेहं द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात्।
तद्वलीपलितं हन्याद्वर्णायुर्बलवर्धनम् ॥१२९॥
पञ्चकासान् क्षयं श्वासं सहिध्मं विषमज्वरम्।
मेहगुल्मग्रहण्यर्शोहृद्रोगारुचिपीनसान् ॥१३०।
अगस्तिविहितं धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम्।

व्याख्या—दशमूल, किवाँच, शंखपुष्पी कचूर, बला-मूल, गजपीपल, अपामार्ग, पीपलामूल, चित्ता, भारंगी तथा पोहकरमूल, २-२ पल, जौ १ आढक, बड़ी हरड़ १०० दाना। सब को ५ आढक जल में पकावे, जब जौ गल जायँ उतार कर छान लेवे शेष द्रवों को फेंक देवे फिर हरड़ो को तथा क्वाथ को एक तुलाभर गुड़ तथा घृत एवं तैल १-१ कुडव मिला कर पाक करे जब अवलेह बन जाय तब उतार लेवे शीतल होने पर उस में पीपल का चूर्ण तथा मधु १-१ कुडव मिला देवे और यह ध्यान रखे कि हरड़ें टूटने न पावें। इस अवलेहमें से सवा तीन पल अव-लेह तथा दो हरड़ प्रति दिन खावे। यह वली तथा पलित को नष्ट करता है, वर्ण (कान्ति), आयुः तथा बल को बढ़ाता है और ५ प्रकार के कास रोगों को तथा क्षय, श्वास, हिक्का, विषम ज्वर, प्रमेह, गुल्म, ग्रहणीरोग, अर्श, हृद्रोग, अरुचि तथा पीनस को नष्ट करता है। यह अगस्त्य मुनि का बतलाया हुआ योग धन्य तथा सर्वश्रेष्ठ रसायन है।

वक्तव्य—उचित यह है कि हरड़ों को घृत तथा तैल में थोड़ा तल लेना चाहिये इससे वे टूटती नहीं हैं। इसे हरड़ का मुरब्बा समझना चाहिये। यह उक्त रोगों में तब देना चाहिये जब पुरीष रोध हो धन्य अर्थात् धन सम्पत्ति देने वाला, स्वास्थ्य लाभ होने पर धन लाभ के लिये प्रयत्न किये जा सकते हैं ॥१२५-१३०॥

वसिष्ठोक्त हरीतकी रसायन—

दशमूलं बलां मूर्वां हरिद्रे पिप्पलीद्वयम् ॥१३१॥
पाठाऽश्वगन्धापामार्गस्वगुप्ताऽतिविषाऽमृतम्।
बालबिल्वं त्रिवृद्दन्तीमूलं पत्रं च चित्रकात् ॥१३२॥
पयस्यां कुटजं हिंस्रां पुष्पं सारं च बीजकात्।
बोटस्थविरभल्लातविकङ्कतशतावरीः ॥१३३॥
पूतीकरञ्जशम्पाकचन्द्रलेखासहाचरम्।
शोभाञ्जनकनिम्बत्वगिक्षुरं च पलांशकम् ॥१३४॥
पथ्यासहस्रं सशतं यवानां चाढकद्वयम्।

पचेदष्टगुणे तोये यवस्वेदेऽवतारयेत् ॥१३५॥
पूते क्षिपेत्सपथ्यं च तत्र जीर्णगुडात्तुलाम् ।
तैलाज्यधात्रीरसतः प्रस्थं प्रस्थं ततः पुनः ॥१३६॥
अधिश्रयेन्मृदावग्नौ दर्वीलेपेऽवतार्य च ।
शीते प्रस्थद्वयं क्षौद्रात्पिप्पलीकुडवं क्षिपेत् ॥१३७॥
चूर्णीकृतं त्रिजाताच्च त्रिपलं निखनेत्ततः ।
धान्ये पुराणकुम्भस्थं मासं खादेच्च पूर्ववत् ॥१३८॥
रसायनं वशिष्ठोक्तमेतत्पूर्वगुणाधिकम् ।
स्वस्थानां निःपरीहारं सर्वर्तुषु च शस्यते ॥१३९॥

व्याख्या—दशमूल, बलामूल, मरोड़फली, हल्दी, दारुहल्दी, पीपल, गजपीपल, पाठा, असगन्ध, अपामार्ग, किवाँच, अतीस, गिलोय, बिलगिरी, निसोत, दन्तीमूल, चित्ता के पत्र, क्षीर विदारी, कुरैया की छाल, हींस की जड़, विजय सार के फूल तथा सार काष्ठ, मुण्डी, शरीला, शुद्ध भिलावा, विकङ्कत, शतावर, पूति करञ्ज, अमलतास का गूदा, चन्द्र लेखा (बाकुची), कटसरैया, सहजन की छाल, निम्ब की छाल तथा गोखरू १-१ पल, बड़ी हरड़ ११०० सौ (१ सहस्र १ सौ), जौ २ आढक। सब को आठगुने जल में पकावे, जौ सीज जाने पर उतार लेवे और क्वाथ छान लेवे हरड़ों को अलग कर लेवे शेष द्रवों को फेंक देवे। फिर हरड़ों को १ प्रस्थ घृत तथा १ प्रस्थ तैल में थोड़ा तल लेवे और उन में उक्त क्वाथ, उक्त हरड़ तथा आमला का स्वरस १ प्रस्थ डालकर चुल्हा पर चढ़ा देवे तथा १ तुला पुराना (१--२--४ वर्ष का पुराना) गुड़ डाल कर पाक करे जब कड़छुली पर अवलेह चिपकने लग जाय तब उतार लेवे शीतल होने पर मधु २ प्रस्थ, पीपल का चूर्ण १ कुडव तथा त्रिजात (दालचीनी, बड़ी इलायची एवं तेज पत्र) का चूर्ण तीन पल (१--१ पल) मिला देवे तदनन्तर पुराने स्निग्ध भाण्ड में डालकर धान्य राशि में धर देवे एक मास के पश्चात् निकाल कर अगस्त्य हरीतकी विधि से (दो दो हरड़ तथा थोड़ा २ अवलेह) खावे। यह महर्षि वसिष्ठ का कहा हुआ रसायन योग है और पूर्वोक्त अगस्त्य हरीतकी रसायन से भी अधिक गुणों वाला है। इसे स्वस्थ मानव भी सब ऋतुओं में खा सकते हैं और इसमें किसी प्रकार का परिहार (परहेज) भी नहीं है।

वक्तव्य—यद्यपि आज हमें महर्षि वसिष्ठ का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिल रहा है परन्तु सम्भव है श्री वाग्भट महाशय के पास रहा हो और यह तो हमें ज्ञात ही है कि श्री वसिष्ठ जी उस सम्मेलन में सम्मिलित थे जिसका उल्लेख च० सू० अ० १ में मिलता है तथा उन महर्षियों के साथ स्वयं भी भगवान् इन्द्र के पास आयुर्वेद की शिक्षा पाने के लिये गये थे जिसका उल्लेख च० चि० अ० १ पाद ४ में मिलता है ॥१३ -१३९॥

सैन्धवादि चूर्ण—

पालिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात्पले ।
कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमार्जकम् ॥१४०॥
एकैकां मरिचाऽऽजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके ।
शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥१४१॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपानेषु दापयेत् ।
रुच्यं तद्दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासजित् ॥१४२॥

व्याख्या—सैन्धव लवण १ पल, सोंठ का चूर्ण १ पल, सौवर्चल लवण २ पल, अम्लवेत (या जिरिष्क), अनारदाना (खट्टा) तथा वन तुलसी के पत्र (सूखे पत्र) का चूर्ण १-१ कुडव, मरिच तथा जीरा का चूर्ण १--१ पल, धनियाँ का चूर्ण २ पल तथा खाण्ड १२ पल सब को मिला कर खरल करे सूक्ष्म होने पर बोतल में धर देवे। यह सैन्धवादि चूर्ण रुचि कारक, अग्नि दीपक तथा बलवर्द्धक है और पार्श्व शूल, श्वास तथा कास को नष्ट करता है, इस की उचित मात्रा खाने पीने के पदार्थों में भी मिलाई जाती है।

वक्तव्य—यह सैन्धवादि चूर्ण का योग च० चि० अ० ११ से उद्धृत किया गया है। तथा निम्नलिखित खाण्डव चूर्ण भी ॥१४०-१४२॥

खाण्डव चूर्ण—

एकां षोडशिकां धान्याद् द्वे द्वे चाऽजाजिदीप्यकात् ।
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लैर्द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ॥१४३॥
शुण्ठ्याः कर्षं कपित्थस्य मध्यात्पञ्च पलानि च ।
तच्चूर्णं षोडशपलैः शर्कराया विमिश्रयेत् ॥१४४॥
खाण्डवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् ।

व्याख्या—धनियाँ का चूर्ण १ कर्ष, जीरा एवं अजवायन का चूर्ण २--२ कर्ष, अनारदाना तथा वृक्षाम्ल ४--४ कर्ष, सौंचर लवण १ पल, सोंठ एक कर्ष, कैथ का गूदा ५ पल तथा खाण्ड १६ पल। यह षाडव चूर्ण (या खाण्डव चूर्ण) अन्नपानों--खाने पीने के पदार्थों में सैन्धवादि चूर्ण के समान प्रयुक्त करना चाहिये ॥१४३,१४४॥

क्षतज कास में धूम पान—

विधिश्च यक्ष्मविहितो यथावस्थं क्षते हितः ॥१४५॥
निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्धे उरः शिरः ।
दाल्यते कासिनो यस्य स धूमानापिबेदिमान् ॥१४६॥
द्विमेदाद्विबलायष्टीकल्कैः क्षौमे सुभाविते ।
वर्तिं कृत्वा पिबेद्धूमं जीवनीयघृतानुपः ॥१४७॥

मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरनागरैः ।
तद्वदेवाऽनुपानं तु शर्करेक्षुगुडोदकम् ॥१४८॥
पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया ।
ससर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥१४९॥

व्याख्या—क्षतज कास में अवस्थानुसार राजयक्ष्मा के समान चिकित्सा करे। क्षत दोष निवृत्त हो जाने के पश्चात् यदि कफ बढ़ जाने पर उरस् तथा शिर में फटने की सी वेदना हो तो रोगी निम्नलिखित धूमों का पान करे यथा—
१— मेदा, महामेदा, बला, अतिबला तथा मुलेठी का कल्क बना कर, रेशमी कपड़ा पर लगा कर बत्ती बनावे और उसका धूम पीवे, ऊपर से जीवनीय घृत का पान करे
२—मैनसिल, पलाश के फूल या पत्र, तुलसी के पत्र, दालचीनी तथा सोंठ का कल्क बना कर पूर्वोक्त प्रकार से बत्ती बना कर धूम पीवे परन्तु अनुपान में शर्करा का जल, ईख का रस अथवा गुड़ का पानी पीवे। अथवा ३—मैनसिल तथा आर्द्र वट शुङ्ग सम भाग लेकर पीस लेवे उसमें थोड़ा घृत मिला कर धूमपान करे और अनुपान में तीतर के मांस का रस पीवे।

वक्तव्य—देखिये च० चि० अ० १८ ॥१४५-१४९॥

क्षयज कास चिकित्सा—

क्षयजे बृंहणं पूर्वं कुर्यादग्नेश्च वर्धनम् ।
बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम् ॥१५०॥
शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया ।
तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥१५१॥
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणमेदो विशोधनम् ।

व्याख्या—क्षयज कास में सर्व प्रथम बृंहण-पुष्टिकारक तथा अग्नि दीपक चिकित्सा करे। यदि रोगी के शरीर में दोष (मल) अधिक हों तो उसे स्नेह युक्त मृदु विरेचन देवे। यथा—अमलतास के योग से अथवा निसोत के कल्क तथा मुनका के रस के योग से अथवा लोध के कषाय के योग से अथवा विदारी कन्द के स्वरस के योग से सिद्ध घृत को विरेचनार्थ युक्ति पूर्वक पीवे

वक्तव्य—यह पाठ चरक चि० अ० १८ से उद्धृत किया गया है परन्तु श्री वाग्भट महाशय ने इसके पूर्व का एक श्लोक तथा अन्त का आधा श्लोक छोड़ दिया है यथा-पूर्व श्लोक-सम्पूर्ण रूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत् ।
नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाऽऽचरेत् क्रियाम् ॥१४९॥
अन्त का–हितं तत् देहबलयोः अस्य संरक्षणं मतम् ॥१५२॥

क्षयज कास में घृत पान—

पित्ते कफे धातुषु च क्षीणेषु च क्षयकासवान् ॥१५२॥
घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ।

व्याख्या—क्षयज कास का रोगी--पित्त, कफ तथा रस आदि धातुओं का क्षय हो जाने पर-काकड़ासिंगी तथा बला एवं अतिबला के कल्क तथा गो दुग्ध के योग से सिद्ध घृत का पान करे ॥१५२॥

क्षयज कास में घृत, दूध तथा अनुवासन—

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैश्च साधितम् ॥१५३॥
घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ।
शूले सवेदने मेढ़्रे पायौ सश्रोणिवङ्क्षणे ॥१५४॥
घृतमण्डेन लघुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ।

व्याख्या—विदारीकन्द, कदम्ब अथवा तालफल के योग से सिद्ध घृत तथा दूध पीवे। यदि मूत्र का वर्ण विकृत हो, मूत्रकृच्छ्र हो, मूत्रमार्ग, गुद, श्रोणि तथा वंक्षण में शोथ एवं वेदना हो तो घृतमण्ड से अथवा मिश्रक अर्थात् घृत एवं तैल के मिश्रण से अनुवासन वस्ति देवे ॥

मांसाहारी के लिये मांस—

जाङ्गलैः प्रतिभक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः ॥१५५॥
क्रमशः प्रसहास्तद्वत्प्रयोज्याः पिशिताशिनः ।

व्याख्या—यदि रोगी मांसाहारी हो तो हरिण आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस के साथ भोजन देवे फिर क्रमशः वत्तख आदि, लोमड़ी आदि बिलवासी तथा प्रसह संज्ञक प्राणियों के मांस का प्रयोग करे ॥१५५॥

उन का फल—

औष्ण्यात्प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते १५६
कफं शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग् वहन् रसः ।

व्याख्या—वे मांस उष्णवीर्य होने से तथा प्रमाथी होने से स्रोतों में से कफ को निकाल देते हैं फलतः शुद्ध स्रोतों द्वारा भलीभाँति बहता हुआ रसधातु शरीर को पुष्ट कर देता है।

वक्तव्य—प्रमाथी द्रव्य का लक्षण खरनाद नामक आचार्य ने कहा है —यथा—

स्रोतांसि दोषलिप्तानि प्रमथ्य विवृणोति यत् ।
प्रविश्य सौक्ष्म्यात् तैक्ष्ण्यात् च तत् प्रमाथीति संज्ञितम्।

अर्थात्—जो द्रव्य सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण होने के कारण—दोष कफ से लिप्त स्रोतों को भली भांति मथ कर विवृत्त कर देता है—खोल देता है वह द्रव्य "प्रमाथी" कहलाता है। इस प्रकार स्रोतों के मुख खुल जाने पर आहार का रसधातु शरीर में व्याप्त होने लगता है फलतः शरीर पुष्ट होने लगता है ॥१५६॥

चविकादि घृत —

चविकात्रिफलाभार्ङ्गीदशमूलैः सचित्रकैः ॥१५७॥

कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ।
श्रृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशठिपौष्करैः ॥१५८॥
पिष्टैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ।
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्चलवणानि च ॥१५९॥
दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ।

व्याख्या—चव्य, त्रिफला, भारंगी, दशमूल, चित्ता, कुलथी, पीपलामूल, पाठा, बेर फल तथा जौ के क्वाथ और सोंठ, जवासा, पीपल, कचूर, पोहकर मूल तथा काकड़ा सिंगी के कल्क के योग से घृत पाक करे, सिद्ध होने पर उसमें दोनों क्षार (जौखार तथा सज्जीखार) तथा पाचों लवण का चूर्ण युक्ति पूर्वक मिलाकर (जिससे स्वाद हो जाय) मात्रा पूर्वक पीवे जो क्षयज कास से पीड़ित हो।

वक्तव्य—इस घृत का नाम च०चि०अ०१८ में "द्विपञ्चमूलादि घृत" है ॥१५७-१५९॥

कासमर्दादि घृत—

कासमर्दाभयामुस्तापाठाकट्फलनागरैः ॥१६०॥
पिप्पल्या कटुरोहिण्या काश्मर्याः स्वरसेन च ।
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके ॥१६१॥
पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ।

व्याख्या—कसौन्दी, हरड़, मोथा, पाठा, कायफल, सोंठ, पीपल, कुटकी, गम्भार तथा तुलसी का कल्क १-१ कर्ष, गोघृत १ प्रस्थ और दूध तथा दाख का रस १ आढक सब को मिलाकर घृत पाक करे। यह घृत-शोष, ज्वर प्लीह विकार तथा सब प्रकार के कास को नष्ट करता है और आरोग्य प्रद है ॥१६०,१६१॥

अन्यान्य घृत योग—

वृषव्याघ्रीगुडूचीनां पत्रमूलफलांकुरात् ॥१६२॥
रसकल्कैर्घृतं पक्वं हन्ति कासज्वरारुचीः ।
द्विगुणे दाडिमरसे सिद्धं वा व्योषसंयुतम् ॥१६३॥
पिबेदुपरि भुक्तस्य यवक्षारयुतं नरः ।
पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम् ॥१६४॥
एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम् ।
स्युर्दोषबद्धकण्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये ॥१६५॥

व्याख्या—अडूसा, कण्टकारी तथा गिलोय के पत्र, मूल, फल तथा अंकुर के रस एवं कल्क के योग से सिद्ध घृत—कास, ज्वर तथा अरुचि को नष्ट करता है। अथवा—यवक्षार के कल्क तथा घृत से द्विगुण अनार के रसमें सिद्ध किया गया घृत त्रिकटु का चूर्ण मिलाकर भोजन के अनन्तर पीवे अथवा पीपल एवं गुड़ के कल्क तथा बकरी के दूध के योग से सिद्ध घृत भोजन के अनन्तर पीवे। ये सब घृत क्षय कास के रोगियों की अग्नि को बढ़ाने के लिए तथा दोषों से अवरुद्ध कण्ठ तथा उरस् के स्रोतों की शुद्धि के लिए उपयोगी होते हैं।

वक्तव्य—च. चि. अ, १८ में दोषबद्ध कोष्ठोरः स्रोतसां पाठ है जो अधिक संगत प्रतीत होता है अर्थात् दोषों से बद्ध अवरुद्ध कोष्ठ—उदर भर के तथा उरस्—वक्षःस्थल भर के स्रोतों की विशुद्धि के लिये उपयोगी होते हैं। तात्पर्य यह है कि—कोष्ठ तथा उरस् के अवयवों के स्रोतस् शुद्ध हो जाने पर रस धातु का संवहन भली भाँति होने लगता है फलतः क्षीण धातुओं की पूर्ति होने लगती है और शरीर पुष्ट होता जाता है ॥१६२-१६५॥

विजयावलेह—

प्रस्थोन्मिते यवक्वाथे विंशतिर्विजयाः पचेत् ।
स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन्पुराणात्षट्पलं गुडात् ॥१६६॥
पिप्पल्या द्विपलं कर्षं मनोह्वाया रसाञ्जनात् ।
दत्त्वाऽर्धाक्षं पचेद्भूयः स लेहः श्वासकासनुत् ॥१६७॥

व्याख्या—एक प्रस्थ जौ के क्वाथ में २० बड़ी हरड़ों को पकावे जब हरड़ स्विन्न (कोमल) हो जायँ तब उनको मसल कर उसमें पुराना गुड़ ६ पल, पीपल का चूर्ण २ पल शुद्ध मैनसिल १ कर्ष तथा रसाञ्जन आधा कर्ष डालकर पुनः पकावे अवलेह सिद्ध होने पर उतार लेवे। यह अवलेह श्वास तथा कास को नष्ट करता है।

वक्तव्य—च. चि. १८में इस योग का नाम "हरीतकीलेह" है ॥१६६,१६७॥

अन्य योग—

श्वाविधां सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ।
श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा मधुसर्पिषा ॥१६८॥
एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् ।
लेहयेत् क्षारमेवं वा सुरसैरण्डपत्रजम् ॥१६९॥
लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ।
पद्मकं त्रिफला व्योषं विडङ्गं देवदारु च ॥१७०॥
बला रास्ना च तच्चूर्णं समस्तं समशर्करम् ।
खादेन्मधुघृताभ्यां च लिह्याद्वा कासहरं परम् ॥१७१॥
तद्वन्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
पथ्याशुण्ठीघनगुडैर्गुटिकां धारयेन्मुखे ॥१७२॥
सर्वेषु श्वासकासेषु केवलं वा बिभीतकम् ।

व्याख्या—सेह (साही नामक प्राणी के कण्टकों को जलाकर मधु एवं घृत के साथ चाटे ये दोनों योग श्वास एवं कास को नष्ट करते हैं। अथवा एरण्ड के पत्तों का क्षार त्रिकटु तैल तथा गुड़ मिलाकर चाटे। अथवा तुलसी एवं

एरण्ड के पत्तों का क्षार त्रिकटु तैल तथा गुड़ मिलाकर चाटे। अथवा त्रिकटु का चूर्ण-पुराने गुड़ तथा घृत में मिलाकर चाटे। अथवा पद्मकाठ, त्रिफला, त्रिकटु, विडंग देवदारु, बला तथा रासना का चूर्ण समभाग और सबके समान खण्ड मिलाकर खावे अथवा मधु एवं घृत में मिला कर चाटे। यह योग उत्तम कोटि के कास नाशक है। अथवा मरिच चूर्ण को घृत, मधु तथा खाण्ड मिलाकर चाटे। अथवा हरड़, सोंठ एवं नागरमोथा के चूर्ण को दूने गुड़ में पका कर गोलियाँ बना मुख में धारण करे चूसता रहे अथवा केवल बहेड़ा का छिलका चुसे ये योग सब प्रकार के श्वास तथा कास में लाभ करते हैं ॥१७२॥

कास में पेया—

पत्रकल्कं घृतभृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम् ॥१७३।
पेया वोत्कारिका छर्दितृट्कासाऽऽमातिसारनुत्।

व्याख्या—लोध के पत्तों का कल्क बना कर घृत में तल कर तथा खण्ड मिलाकर पेया अथवा पूरी बनावे यह छर्दि, तृषा, कास तथा आमातिसारको नष्ट करती है ।१७३

यूष विधान—

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः ॥१७४॥
सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्।

व्याख्या—कण्टकारी के क्वाथ में बनाया गया मूंग का यूष—हींग, जीरा, धनियाँ तथा लवण से भली भाँति संस्कृत-परिपक्व, आमला की खटाई युक्त सब प्रकार के कास रोगों में परमौषध है—दिया जाय ॥१७४॥

क्षयज कास में अन्यान्य यूष एवं रस—

वातघ्नौषधनिःक्वाथे क्षीरं यूषान् रसानपि ॥१७५।
वैष्किरान् प्रातुदान् बैलान् दापयेत्क्षयकासिने।

व्याख्या—क्षयज कास वाले के लिये—दशमूल आदि वात नाशक औषधों के क्वाथ में सिद्ध दूध, यूष अथवा विष्किर, प्रतुद तथा विलेशय प्राणियों के मांसरस दिलावे-खिलावे-पिलावे ॥१७५॥

सामान्य चिकित्सा निर्देश —

क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निदर्शिताः ॥१७६।
क्षयकासेऽपि ते योज्या वक्ष्यते यच्च यक्ष्मणि।
बृंहणं दीपनं चाग्नेः स्रोतसां च विशोधनम् ॥१७७॥
व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं प्रशस्यते।
सन्निपातोद्भवो घोरः क्षयकासो यतस्ततः।
यथादोषबलं तस्य सन्निपातहितं हितम् ॥१७८॥

व्याख्या—क्षतज कास में जो जो धूम पान युक्त बतलाए गये हैं उनका उपयोग क्षयज कास में भी करे। और जो जो राजयक्ष्मा अध्याय में बृंहण, अग्नि दीपन तथा स्रोतो विशोधन के लिए उपचार लिखे जायँगे उनका आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्त्तन करके उपयोग करे। और क्षय कास वालों के लिए सब प्रकार के बलवर्द्धक उपचार करे। और क्योंकि क्षयज कास त्रिदोषज फलतः घोर-दारुण होता है अतः दोषों के बल के अनुसार उसकी वह चिकित्सा करे जो सन्निपात अर्थात् तीनों दोषों के लिये हितकारक हो।

वक्तव्य—इस विषय को समझने के लिये देखिये अगला अध्याय ५ तथा च. चि.अ. १८ एवं ११ तथा अ. १८ और सु. उ. तं. अ. ४१ तथा ४५ तथा ५२ अ. सं. चि. अ. ४ तथा ५ देखिये ॥ ७२॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथाऽतः श्वासहिध्माचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब श्वास एवं हिक्का नामक रोगों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में महर्षि आत्रेय आदि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—च. चि. अ. १७, सु. उ. अ. ५० तथा ५१, अ. सं. चि. अ० ६ देखिये।

श्वास एवं हिक्का की सामान्य चिकित्सा—

श्वासहिध्मा यतस्तुल्यहेत्वाद्याः साधनं ततः ॥१॥
तुल्यमेव तदार्तं च पूर्वं स्वेदैरुपाचरेत्।
स्निग्धैर्लवणतैलाक्तं तैः खेषु ग्रथितः कफः ॥२॥
सुलीनोऽपि विलीनोऽस्य कोष्ठं प्राप्तः सुनिर्हरः।
स्रोतसां स्यान्मृदुत्वं च मारुतस्यानुलोमता ॥३॥
स्विन्नं च भोजयेदन्नं स्निग्धमानूपजै रसैः।
दध्युत्तरेण वा दद्यात्ततोऽस्मै वमनं मृदु ॥४॥

व्याख्या—क्यों कि श्वास एवं हिक्का के हेतु अर्थात् बाह्य कारण, उत्पत्तिस्थान तथा मूल अर्थात् दोष तुल्य होते हैं अतः उन की चिकित्सा भी तुल्य-समान ही होती है। इन दोनों रोगों से पीडित रोगियों की चिकित्सा करते समय पहिले लवण युक्त तैल से अभ्यङ्ग करके स्निग्ध स्वेदन करे इन स्वेदों के प्रभाव से स्रोतों में ग्रथित एवं अत्यन्त लीन (सटा हुआ—फँसा हुआ) भी कफ विलीन हो कर-पिघल कर कोष्ठ-उदर में पहुँच जाता है फलतः सुखपूर्वक निकल जाता है अथवा निकाला जा सकता है और स्रोतस् मृदु

हो जाते हैं तथा वायु अनुलोम हो जाता है। इस प्रकार सम्यक् स्वेदन हो जाने पर स्नेहयुक्त भोजन सूकर आदि अनूप देशीय प्राणियों के मांस रस के साथ अथवा दही की मलाई के साथ खाने को देवे और फिर मृदु वमन करावे।

वक्तव्य—इस पाठ का "श्वास हिक्का......तुल्यमेव" पाठ च. चि. अ० १७ के श्लोक ७० का परिवर्त्तित रूप है यथा—कारणस्थानमूलैक्यात् एकमेव चिकित्सितम्। द्वयोरपि यथादृष्टं ॥७०॥

अभ्यङ्ग विशेषतः वक्षस् पार्श्व तथा पीठ एवं ग्रीवा पर किया जाता है, इससे श्वास लेने में सरलता हो जाती है और हिक्का में भी लाभ होता है एवं उसके वेग रुक जाते हैं ॥४॥

विशेष चिकित्सा—

विशेषात्कासवमथु हृद्ग्रहस्वरसादिने।
पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत् ॥५॥
निर्हृते सुखमाप्नोति सकफे दुष्टविग्रहे।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ॥६॥

व्याख्या—यदि श्वास अथवा हिक्का के साथ२ कास, छर्दि, हृदय की गति में रुकावट अथवा स्वर भेद हो तो पीपल, सैन्धव लवण तथा मधु से युक्त वमन देवे परन्तु वह वमन वातवर्द्धक न हो। इस प्रकार वमन द्वारा दुष्ट वातादि दोषों द्वारा अवरुद्ध कफ निकल जाने पर रोगी को सुख मिलता है और स्रोतस् शुद्ध हो जाने पर वायु (श्वास में) बिना रुकावट के आता जाता है ॥५,६॥

विरेचन का उपदेश—

ध्मानोदावर्ततमके मातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
हिङ्गुपीलुबिडैर्युक्तमन्नं स्यादनुलोमनम् ॥७॥
ससैन्धवं फलाम्लं वा कोष्णं दद्याद्विरेचनम्।
एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपजाः ॥८॥
तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थमूर्ध्वाधः शोधनं हितम्।
उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्वहज्जलम् ॥९॥
यथाऽनिलस्तथा तस्य मार्गमस्माद्विशोधयेत्।

व्याख्या—आध्मान एवं उदावर्त से युक्त तमक श्वास में बिजौरा निम्बू, अम्लवेत, घृत भर्जित हींग, पीलु फल तथा बिड् लवण से युक्त आहार देवे। यह आहार वायुका अनुलोमन है। अथवा यदि रोगी बलवान् हो तो सैन्धव लवण आलुबुखारा आदि फलों की खटाई से युक्त कोई कोसा विरेचन देवे। क्योंकि ये श्वास एवं हिक्का नामक रोग-कफ द्वारा अवरुद्ध प्राण वायु के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं इसलिये प्राण वायु के मार्ग की शुद्धि के लिये वमन एवं विरेचन लाभप्रद होता है। जैसे बहता हुआ जल मार्ग रुक जाने से बहुत उमड़ आता है वैसे ही वायु भी मार्ग रुक जाने से उमड़ आता है इस लिये उस के मार्ग का शोधन करना चाहिये।

वक्तव्य—चिकित्सक को तमक श्वास की ही चिकित्सा का अवसर मिलता है क्यों कि प्रथम तीन श्वास तो असाध्य ही होते हैं अथवा मृत्यु के समय स्वल्प काल के लिये उत्पन्न होते हैं और क्षुद्र श्वास की ओर रोगी ध्यान ही नहीं देता। यदि प्राण वायु के मार्ग शुद्ध रहते हैं अथवा शुद्ध कर दिये जाते हैं तो श्वास होता ही नहीं अथवा शान्त हो जाता है। प्राण वायु के मार्ग कफ से रुकते हैं और वमन विरेचन द्वारा कफ निकल जाने से वायु के मार्ग शुद्ध हो जाते हैं फलतः वायु की गति उचित रूप से होने लगती है। बस यही इस समस्त सन्दर्भ का तात्पर्य है ॥७-९॥

श्वास में धूमपान—

अशान्तौ कृतसंशुद्धेर्धूमैर्लीनं मलं हरेत् ॥१०॥
हरिद्रापत्रमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम्।
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत् ॥११॥
तां घृताक्तां पिबेद्धूमं यवान्वा घृतसंयुतान्।
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं वा गुरु वाऽगुरु ॥१२॥
चन्दनं वा तथा शृङ्गं वालान्वा स्नावजान्गवाम्।
ऋक्षगोधाकुरङ्गैणचर्मशृङ्गखुराणि वा ॥१३॥
गुग्गुलं वा मनोह्वां वा शालनिर्यासमेव वा।
शल्लकीं गुग्गुलुं लोलं पद्मकं वा घृतप्लुतम् ॥१४॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकार से शोधन करने पर भी यदि श्वास शांत न हो तो लीन--सटे--फंसे हुए कफ दोष का हरण धूमपान से करे। यथा—हलदी के पत्र, एरण्ड की जड़ का छिलका, लाख, मैनसिल, देवदारु (का बुरादा या गोन्द), हरताल तथा जटामांसी को जल में पीस कर बत्ती बनावे और उस पर घृत चुपड़ कर धूमपान करे। अथवा जौ के चूर्ण में घृत मिला कर अथवा मोम, राल तथा घृत को मिला कर अथवा गुरु अर्थात् भारी (श्रेष्ठ) अगुरु-काला अगुरु अथवा चन्दन अथवा गौ का सींग एवं बाल--रोम अथवा स्नायु अथवा भालू, गोह, कुरङ्ग नामक हरिण तथा एण नामक हरिण के चर्म, सींग तथा खुर (पाँव के नख) अथवा गूगल अथवा मैनसिल अथवा शाल का गोन्द अथवा शल्लकी, गूगल, अगुरु तथा पद्म काष्ठ का बुरादा घृत में मसल कर धूम पीवे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने धूम द्रव्य को "मल्लक" सम्पुट में भर के धूम पीने का विधान किया है। मल्लक चिलम का संस्कृत नाम है और चिलम मल्लक का अपभ्रंश।

फारसी में "क" अक्षर का उच्चारण 'च" है और वर्ण विपर्यय करने से चलम या चिलम बन गया है। धूम पान के अन्त में वही अनुपान देना चाहिये जो कास चिकित्सा अ० ३ के श्लो० ६५ में तथा उसके वक्तव्य में बतलाया गया है। १०-१४॥

स्वेद की परमावश्यकता—

अवश्यं स्वेदनीयानामस्वेद्यानामपि क्षणम्।
स्वेदयेत्ससिताक्षीरैः सुखोष्णस्नेहसेचनैः ॥१५॥
उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदाध्यायोक्तभेषजैः।
उरः कण्ठं च मृदुभिः सामे त्वामविधिं चरेत् ॥१६॥

व्याख्या—स्वेदनीय रोगियों को अवश्य स्वेदन करे और अस्वेदनीय रोगियों को भी थोड़ा स्वेदन अवश्य करे और उनके उरः स्थल पर तथा कण्ठ पर—खण्ड मिश्रित कोसेर दूध अथवा घृत आदि स्नेह के सेचन से अथवा लपसी या रोटी बान्ध कर अथवा स्वेदाध्याय (सू. अ. १७) में बतलाए गये उपायों से मृदु स्वेदन करना चाहिये। और यदि दोष आम हो तो आमपाचन का उपाय करे तद नन्तर वमन एवं विरेचन से शोधन कर देवे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में स्पष्टीकरण देखिये—न स्वेद्याः पित्तदाहार्त्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः।

क्षीण धातु बला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः। परन्तु ये भी—कोष्णैः कामं उरः कण्ठं स्नेह सेकैः सशर्करैः।

उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेत् मृदुभिः क्षणम् ॥८३॥
तिलोमामाषगोधूमचूर्णैः वातहरैः सह।
स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लोः सक्षीरैः वा कृता हिता ॥८४॥
नव ज्वराऽऽमदोषेषु रूक्षस्वेदं विलङ्घनम्।
समीक्ष्योल्लेखनं वापि कारयेत् लवणाम्बुना ॥८५॥
च०चि०अ० १७।

तात्पर्यार्थ—यद्यपि पित्त एवं दाह आदि से पीडित रोगियों को स्वेदन नहीं किया जाता तथापि श्वास एवं हिक्का के रोगियों के उरस् एवं कण्ठ स्थल पर उक्त प्रकार से स्वेदन करना चाहिये उससे कोई हानि नहीं होती अपितु लाभ होता है ॥१५,१६॥

शोधनोत्तर उपचार—

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः।
स्निग्धै रसाद्यैर्नात्युष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥१७॥

व्याख्या—यदि कदाचित् वमन विरेचन के अतियोग से वायु बढ़ जाय तो उसे वात नाशक, स्निग्ध मांस रस आदि आहारों से तथा कोसेर अभ्यंगों से शान्त करे ॥१७॥

कषाय आदि का उपयोग—

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां हि शोधनात्।
वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याऽऽशु हरेदसून् ॥१८॥
कषायलेपस्नेहाद्यैस्तेषां संशमयेदतः।

व्याख्या—जिन का कफ निकलने के लिये उन्मुख नहीं होता तथा स्वेदन नहीं किया गया होता तथा जो दुर्बल होते हैं उन का वायु विशोधन से आश्रय पाकर और मर्म (हृदय) को सुखा कर प्राण हर सकता है इस लिये उन के श्वास को कषायपान, अवलेह तथा स्नेह पान आदि से शान्त करे। सबलों की शोधन तथा दुर्बलों की शमन चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के रोगियों को वमन विरेचन न करा कर केवल कषाय आदि से उपचार करे और यदि परम आवश्यकता हो तो स्नेहन, स्वेदन तथा बलवर्द्धक आचार विहार का सेवन कराकर जब शोधन के योग्य हो जायें तब वमन विरेचन करे। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

दृढान् बहुकफान् तस्मात् रसैः आनूप वारिजैः।
तृप्तान् विशोधयेत् स्विन्नान् बृंहयेत् इतरान् भिषक् ॥९१॥
च० चि० अ० १७॥१८॥

क्षीण आदि के श्वास का उपचार—

क्षीणक्षतातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान् ॥१९॥
मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिध्माश्वासानुपाचरेत्।

व्याख्या—क्षयरोग, उरः क्षत, अतिसार, रक्त पित्त अथवा दाह रोग से उत्पन्न या युक्त हिक्का एवं श्वास का उपचार मधुर, स्निग्ध, शीतल औषध, अन्न एवं विहार से करे।

वक्तव्य—यह शमन चिकित्सा है ॥१९॥

मांस रस एवं यूष

कुलत्थदशमूलानां क्वाथे स्युर्जाङ्गला रसाः ॥२०॥
यूषाश्च शिग्रुवार्ताककासघ्नवृषमूलकैः।
पल्लवैर्निम्बकुलकबृहतीमातुलुङ्गजैः ॥२१॥
व्याघ्रीदुरालभाशृङ्गीबिल्वमध्यत्रिकण्टकैः।

व्याख्या—कुलथी एवं दशमूल के क्वाथ में हरिण आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांस के रस बनावे और सहजन, बैंगन, कसौन्दी, अडूसा तथा मूली के योग से अथवा निम्ब, परवल, वनभण्टा तथा बिजौरा निम्बू के पत्तों के योग से अथवा कण्टकारी, जवासा, काकड़ासिंगी बिलगिरी तथा गोखरू के योग से यूष बनावे।

वक्तव्य—किसी किसी प्रति में इस पाठ के नीचे—

साम्रुताऽग्नि कुलत्थैश्च यूषः स्यात् क्वथितैः जले।
तद्वद् रास्नाबृहत्यादि बला मुद्गैः सचित्रकैः।

अर्थात्—गिलोय, चित्ता तथा कुलथी को जलमें पकाकर अथवा रासना, बनभण्टा आदि लघु पञ्चमूल, बला, चित्ता तथा मूंग को जल में पका कर यूष बनावे ॥२१॥

पेया—

पेया च चित्रकाजाजीशृङ्गीसौवर्चलैः कृता ॥२२॥
दशमूलेन वा कासश्वासहिध्मारुजापहा।
दशमूलशठीरास्नाभार्ङ्गीबिल्वर्द्धिपुष्करैः॥२३॥
कुलीरशृङ्गीचपलातामलक्यमृतौषधैः।
पिबेत्कषायं जीर्णेऽस्मिन्पेयां तैरेव साधिताम् ॥२४॥

व्याख्या—चित्ता, जीरा, काकड़ासिंगी तथा सौवर्चल लवण के योग से बनाई गई पेया पीवे। अथवा—दशमूल के योग से सिद्ध पेया पीवे। यह दोनों कास, श्वास तथा हिक्का को नष्ट करती हैं। अथवा—दशमूल, कचूर, रासना, भारंगी, बिलगिरी, पोहकर मूल, काकड़ासिंगी, पीपल, भूमि आमला, गिलोय तथा सोंठ का क्वाथ पीवे और क्वाथ पच जाने पर इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध की गई पेया पीवे।२४।

आहार—

शालिषष्ठिकगोधूमयवमुद्गकुलत्थभुक्।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्ति हिध्माश्वासप्रशान्तये ॥२५॥

व्याख्या—कास, हृद्ग्रह, पार्श्वशूल, हिक्का तथा श्वास की शान्ति के लिए—शालि, साठी धान्य, गेहूँ, जौ, मूंग तथा कुलथी का आहार करे ॥२५॥

सत्तू—

सक्तून् वाऽर्कांकुरक्षीरभावितानां समाक्षिकान्।
यवानां दशमूलादिनिःक्वाथलुलितान् पिबेत् ॥२६॥

व्याख्या—अथवा आक के अंकुरों के दूध से भावित जौ के सत्तू मधु मिलाकर और दशमूल के क्वाथ में घोल कर पीवे।

वक्तव्य—आंक का दूध—२-४ या ५-७ बून्द से अधिक न हो ॥२६॥

अन्न में मशाला—

अन्ने च योजयेत् क्षारं हिङ्ग्वाज्यविडदाडिमान्।
सपौष्करशठीव्योष-मातुलुङ्गाम्लवेतसान् ॥२७॥

व्याख्या—और आहार में—जौखार, हींग, घृत, विड लवण, अनारदाना, पोहकरमूल, कचूर, त्रिकटु, निम्बू तथा अम्लवेत का प्रयोग करे ॥२७॥

पान—

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः।
पिबेद्वा वारुणीमण्डं हिध्माश्वासी पिपासितः ॥२८॥

व्याख्या—हिक्का एवं श्वास का रोगी तृषा लगने पर दशमूल का अथवा देवदारु का क्वाथ अथवा सुरा ताड़ी पीवे।

तक्र पान—

पिप्पलीपिप्पलीमूलपथ्याजन्तुघ्नचित्रकैः।
कल्कितैर्लेपिते रूढे निःक्षिपेद् घृतभाजने ॥२९॥
तक्रं मासस्थितं तद्धि दीपनं श्वासकासजित्।

व्याख्या—पीपल, पीपलामूल, हरड़, विडंग तथा चित्तामूल को जल में पीसकर घृत स्निग्ध भाण्ड के भीतरी भाग पर लेप करे, सूखने पर उसमें तक्र भर देवे और मुखरोध करके धर देवे, एक मास के पश्चात् पीवे। यह तक्र दीपन है तथा श्वास एवं कास को नष्ट करता है॥२९॥

अन्य योग—

पाठां मधुरसां दारु सरलं निशि संस्थितम् ॥३०॥
सुरामण्डेऽल्पलवणं पिबेत्प्रसृतिसंमितम्।
भार्ङ्गीशुण्ठ्यौ सुखाम्भोभिः क्षारं वा मरिचान्वितम्॥
स्वक्वाथपिष्टां लुलितां बाष्पिकां पाययेत वा।

व्याख्या—सुरामण्ड में पाठा, मूर्वा, देवदारु तथा सरल का चूर्ण डालकर रात्रिभर पड़ा रहने देवे और फिर थोड़ा लवण मिलाकर दो पल की मात्रा में पीवे अथवा भारंगी एवं सोंठ के कोसे जल के साथ मरिच मिश्रित यवक्षार पीवे। अथवा हिंगु पत्री को उसी के क्वाथ में पीसकर पिलावे (चिकित्सिक) ॥३०,३१॥

अन्यान्य योग—

स्वरसः सप्तपर्णस्य पुष्पाणां वा शिरीषतः ॥३२॥
हिध्माश्वासे मधुकणायुक्तः, पित्तकफानुगे।
उत्कारिका तुगाकृष्णामधूलीघृतनागरैः ॥३३॥
पित्तानुबन्धे योक्तव्या पवने त्वनुबन्धिनि।
श्वाविच्छशामिषकणाघृतशल्यकशोणितैः ॥३४॥
चतुर्गुणाम्बुसिद्धं वा पयः सगुडनागरम्।
सुवर्चलादि सिद्धं वा तयोः शाल्योदनादनु ॥३५॥

व्याख्या—हिक्का एवं श्वास में यदि पित्त एवं कफ का अनुबन्ध हो तो सप्तपर्ण अथवा सिरस के फूलों का स्वरस एवं पीपल मिला कर पीवे। पित्त का अनुबन्ध हो तो तुगाक्षीरी, पीपल, मधूली (मुलेठी अथवा गेहूँ) तथा सोंठ की घृत में बनाई उत्कारिका (लपसी या रोटी) का प्रयोग करे। वायु का अनुबन्ध हो तो सेह एवं खरगोश का मांस, पीपल तथा सेह का रक्त मिलाकर घृत के योग से बनाई गई उत्कारिका का प्रयोग करे अथवा चतुर्गुण

जल में सिद्ध दूध गुड़ तथा सोंठ मिलाकर पीवे। वात एवं पित्त का अनुबन्ध होने पर घुरघुर के स्वरभ, निकुल तथा घृत के योग से सिद्ध किया गया दूध शालि चावल का भात खाकर अनुपान में पीवे ।।३२,३३।।

गौ के गोबर एवं अश्व की लीद रस

पिप्पलीमूलमधुकगुडगोऽश्वशकृद्रसान् ।
हिध्माभिष्यन्दकासघ्नान् लिह्यान्मधुघृतान्वितान् ।।३६।।

व्याख्या—पीपलामूल, मुलेठी गुड़, गो तथा घोड़ा के पुरीष का रस, मधु एवं घृत मिलाकर चाटे। यह हिक्का अभिष्यन्द तथा कास को नष्ट करता है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च०चि०अ०१७
मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोऽश्वशकृद् रसः ।
घृतं क्षौद्रं कासश्वासहिक्काऽभिष्यन्दिनां शुभम् ।।११५।।

अन्यान्य योग—

गोगजाऽश्ववराहोष्ट्रखरमेषाजविड्रसम् ।
सम्बौकैकशो लिह्याद्बहुश्लेष्माऽथवा पिबेत् ।।३७।।
चतुष्पाच्चर्मरोमास्थिखुरशृङ्गोद्भवां मषीम् ।
तथैव वाजिगन्धाया लिह्यात् श्वासी कफोल्बणः ।।३८।।
शठीपुष्करधात्रीर्वा पौष्करं वा कणान्वितम् ।
गैरिकाञ्जनकृष्णां वा स्वरसं वा कपित्थजम् ।।३९।
रसेन वा कपित्थस्य धात्रीसैन्धवपिप्पलीः ।
घृतक्षौद्रेण वा पथ्याविडङ्गोषणपिप्पलीः । ४०।।
कोललाजामलद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ।
गुडतैलनिशाद्राक्षाकणारास्नोषणानि वा ।।४१।।
पिबेद्रसाम्बुमद्याम्लैर्लेहौषधरजांसि वा ।

व्याख्या—जिस रोगी का कफ बढ़ा हुआ हो वह–गौ हाथी, घोड़ा, सूअर, ऊंट, गधा, भेड़ अथवा बकरा के पुरीष का पृथक् २ रस मधु मिलाकर चाटे अथवा पीवे। जिस का कफ बढ़ा हुआ हो वह श्वास रोगी—चौपाए पशुओं के चर्म रोम अस्थि खुर तथा सींगों की मषी (काली भस्म) अथवा असगन्ध को मषी को मधु एवं घृत में मिलाकर चाटे। अथवा—कचूर, पोहकर मूल एवं आमला का चूर्ण मधु मिलाकर चाटे। अथवा पोहकर एवं पीपल का चूर्ण अथवा गेरु, अञ्जन (श्वेत सुरमा) एवं पीपल का चूर्ण अथवा कैथ का स्वरस मधु मिलाकर चाटे अथवा कैथ के रस के साथ आमला, सैन्धव लवण तथा पीपल का चूर्ण चाटे अथवा हरड़, विडंग मरिच तथा पीपल का चूर्ण घृत एवं मधु में मिलाकर चाटे। अथवा कोल (झरबेर या बदरास्थि), लाजा (भुने धान्य), आमला, दाख, पीपल, तथा सोंठ का चूर्ण अथवा गुड़, तैल, हल्दी, दाख, पीपल, रासना तथा मरिच का योग अथवा अवलेहों की अन्यान्य औषधों के चूर्णों को मांसरस जल, मद्य तथा अम्लरसों के साथ पीवे ।।३७-४१।।

जीवन्त्यादि चूर्ण—

जीवन्तीमुस्तसुरसत्वगेलाद्वयपौष्करम् ।।४२।
चण्डातामलकीलोहभार्ङ्गीनागरवालकम् ।
कर्कटाख्या शटी कृष्णा नागकेशरचोरकम् ।।४३।।
उपयुक्तं यथाकामं चूर्णं द्विगुणशर्करम् ।
पार्श्वरुग्ज्वरकासघ्नं हिध्माश्वासहरं परम् । ४ ।।

व्याख्या—जीवन्ती, नागरमोथा, तुलसी, दालचीनी, बड़ी इलायची, छोटी इलायची, पोहकरमूल, चण्डा, भूमि आमला, अगुरु, भारंगी, सोंठ, नेत्रबाला, काकड़ा सिंगी, कचूर, पीपल, नागकेशर तथा चोरक का चूर्ण सम भाग लेकर दूनी खण्ड मिला देवे। इसका उपयोग इच्छानुसार अनुपान सहपान एवं आहार विहार के साथ पार्श्वशूल, ज्वर, कास, हिक्का एवं श्वास के नाशार्थ करे ।।४२-४४।।

शठ्यादि चूर्ण—

शठी तामलकी भार्ङ्गी चण्डावालकपौष्करम् ।
शर्कराष्टगुणं चूर्णं हिध्माश्वासहरं परम् ।।४५।।

व्याख्या—कचूर, भूमिआमला, भारंगी, चण्डा, नेत्रबाला तथा पोहकरमूल का सम भाग चूर्ण आठगुनी खण्ड मिलाकर रख लेवे। यह चूर्ण हिक्का एवं श्वास का उत्तम नाशक है ।।४५।।

नस्य—

तुल्यं गुडं नागरं च भक्षयेन्नावयेत वा ।
लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा ।।४६।।
चन्दनाद्वा रसं दद्यान्नारीक्षीरेण नावनम् ।
स्तन्येन मक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन वा ।।४७।।

व्याख्या—हिक्का एवं श्वास में—गुड़ एवं सोंठ को सम भाग मिलाकर खावे अथवा सूंघे (नस्य लेवे)। लशुन का रस अथवा पलाण्डु का रस अथवा गृञ्जन (शलजम) का रस अथवा चन्दन का रस नारी के दूध में मिलाकर नस्य में देना चाहिये। अथवा मक्षिका की वीट को नारी के दूध में अथवा लाक्षा के रस में मिलाकर नस्य देवे।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में निम्न लिखित २ श्लोक अधिक हैं—स सैन्धवं घृताऽच्छं वा सिद्धं स्तन्येन वा घृतम् ।
कल्कितैः मधुरद्रव्यैः तत् पिबेत् नावयेत वा ।
सकृत् उष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासात् ससिताभधु ।
तद्वत्पयः तथा सिद्धं अधोभागौषधैः कृतम् ।

और यह दोनों श्लोक चरक अ० १७ के श्लोक १३३,१३४ तथा १३५ के श्लोकों के परिवर्तित रूप हैं ॥४६,४७॥

कणादि घृत—

कणासौवर्चलक्षारवयस्याहिङ्गुचोरकैः ।
सकायस्थैर्घृतं मस्तुदशमूलरसे पचेत् ॥४८॥
सर्पिस्तज्जीवनीयैर्वा लिह्यात्ससधुसाधितम् ।

व्याख्या—पीपल, सौवर्चल लवण, जौखार, क्षीर-विदारी, हींग, चोरक तथा हरड़ का कल्क १ भाग, गो घृत ४ भाग तथा मस्तु (दही का पानी) तथा दशमूल का क्वाथ१६ भाग मिलाकर पाक करे और सिद्ध होने पर घृत पीवे । अथवा उसी प्रकार जीवनीय गण के कल्क के योग से सिद्ध घृत में मधु मिलाकर चाटे ॥४८॥

तेजोवत्यादि घृत—

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ॥४९॥
भूतिकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शठी ।
पटुद्वयं तामलकी जीवन्ती विल्वपेशिका ॥५०॥
वचा पत्रं च तालीसं कर्षांशैस्तैर्विपाचयेत् ।
हिङ्गु पादैर्घृतप्रस्थं पीतमाशु निहन्ति तत् ॥५१॥
शाखानिलार्शोग्रहणीहिध्माहृत्पार्श्ववेदनाः ।

व्याख्या—तेजबल (की छाल या बीज), हरड़, कूठ, पीपल, कुटकी, सुगन्धि तृण, पोहकर मूल, पलाश (बीज अथवा गोन्द या छाल), चित्ता, कचूर, सैन्धव-लवण, सौवर्चल लवण, भूमिआमला, जीवन्ती, बिलगिरी, बालवच, तेजपत्ता, तथा तालीसपत्र १-१ कर्ष, हींग १शाण, गो घृत १ प्रस्थ (तथा ४प्रस्थ जल) । सब को मिलाकर पाक करे । सिद्ध होने पर पिया गया यह घृत—शाखागत (रक्त आदि धातु तथा त्वचा में व्याप्त) वायु, अर्श, ग्रहणी रोग, हिक्का, हृदय शूल तथा पार्श्व शूल को शीघ्र ही नष्ट करता है ॥४९-५१॥

घृत पान का संकेत—

अर्धांशेन पिबेत्सर्पिः क्षारेण पटुनाऽथवा ॥५२॥
धान्वन्तरं वृषघृतं दाधिकं हपुषादि वा ।

व्याख्या—घृत से अर्द्धांश जौखार अथवा सैन्धव लवण मिलाकर धान्वन्तर घृत (चि अ. १२ प्रमेह रोग) अथवा वृष घृत (चि. अ. २ रक्तपित्त रोग) अथवा दाधिक घृत (चि. अ. १४ गुल्मरोग) अथवा हपुषादि घृत (चि. अ. १५ उदर रोग) पीने से श्वास एवं हिक्का को नष्ट करता है ॥५२॥

हिक्का में अन्य उपाय—

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासविक्षेपभीशुचः ॥५३॥
हर्षेर्ष्योच्छ्वाससंरोधा हितं कीटैश्च दंशनम् ।

व्याख्या – हिक्का में सहसा शीतल जल के छींटे देना या उसे उडेल देना अथवा रोगी को त्रास देना—घबराहट में डाल देना, अथवा विक्षेपण—झकझोरना, भयभीत करना अथवा शोक समाचार सुनाकर शोकार्त्त कर देना अथवा हर्ष जनक समाचार सुनाकर हर्षयुक्त कर देना अथवा ईर्ष्या उत्पन्न करके चिढ़ा देना अथवा मुख एवं नासा रोक कर श्वास रोक देना अथवा पिपीलिका आदि कीटों से कटा देना हितकर है । इनसे हिक्का (क्षुद्रा हिक्का) का वेग रुक जाता है ।

वक्तव्य – भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम् ।
क्रोधहर्षप्रियोद्वेगाः हिक्काप्रच्यावना मताः ॥१३३॥

विस्मापन—विस्मय में डालना—विस्मित करना । यह उपाय क्षणिक हिक्का में लाभ करते हैं ॥५३॥

श्वास एवं हिक्का में पथ्य –

यत्किंचित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ।
तत्सेव्यं प्रायशो यच्च सुतरां मारुतापहम् ॥५४॥

व्याख्या—श्वास एवं हिक्का में वह वह आहार विहार एवं औषध पथ्य होती हैं जो जो कफवात नाशक हो, उष्ण हो, वायु को अनुलोमन करे और वातनाशक हों ।

शमन तथा बृंहण की श्रेष्ठता—

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ।
नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्षणे ॥५५॥
शमनैर्बृंहणैश्चातो भूयिष्ठं तानुपाचरेत् ।
कासश्वासक्षयच्छर्दिहिध्माश्चान्योन्यभेषजैः ॥५६॥

व्याख्या – सभी रोगों की चिकित्सा में—बृंहण चिकित्सा करते समय कोई अपाय (उपद्रव—हानि—नूतन रोग) यदि हो जाता है तो वह अल्प (मृदु) होता है और बृंहण द्वारा बल लाभ होने के कारण सुखसाध्य होता है । और शमन चिकित्सा करते समय तो प्रायः कोई उपाय होता ही नहीं है । और कर्षण (वमन विरेचन रूप शोधन) चिकित्सा करते समय यदि कोई अपाय हो जाता है तो वह बलवान् (दारुण) होता है क्योंकि कर्षण चिकित्सा से रोगी दुर्बल हो गया होता है अतएव वह अपाय प्रायः असाध्य या कष्टसाध्य होता है । इसलिए श्वास एवं हिक्का में प्रायः शमन एवं बृंहण चिकित्सा से उपचार करना चाहिए । और कारण, स्थान एवं मूल कारणों में समानता होने से कास, श्वास, क्षय, छर्दि तथा हिक्का की चिकित्सा परस्पर लाभदायक औषधों के प्रयोग से करे ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च०चि०अ०१७
सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत्।
नाऽत्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥१४६॥
तस्मात् शुद्धान् अशुद्धान् च शमनैः बृंहणैः अपि।
हिक्काश्वासार्ऽर्दितान् जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥१५०

अर्थात्–श्वास एवं हिक्का में रोगी का शोधन करके अथवा शोधन किये बिना ही शमन एवं बृंहण चिकित्सा करे कर्षण चिकित्सा यथासम्भव करे ही नहीं

कासादि रोगों का प्रभाव प्रायः आमाशय, फुफ्फुस, हृदय एवं कण्ठ पर होता है अतः एक रोग की चिकित्सा दूसरे रोगों में लाभप्रद होती है। ५५,५६॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने चतुर्थोऽध्यायः। ४॥

—

पञ्चमोऽध्यायः

अथाऽतो राजयक्ष्मादिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब राजयक्ष्मा, स्वरभेद, अरोचक एवं पीनस की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इन रोगों की चिकित्सा च०चि०अ० ८ तथा २६ में, सु० उ० तं० अ० ४१, ५३ तथा ५७ में देखिये। और इनका निदान देखिये अ० हृदय नि० अ० ५।

शोधन का विधान—

बलिनो बहुदोषस्य स्निग्धस्विन्नस्य शोधनम्।
ऊर्ध्वाधो यक्ष्मिणः कुर्यात्सस्नेहं यन्न कर्षणम् ॥१॥

व्याख्या—जो रोगी बलवान् हो और उसके शरीर में दोष (मल) अधिक हों उस राजयक्ष्मा रोगी को स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन एवं विरेचन द्वारा शोधन करे परन्तु वह शोधन स्नेहयुक्त हो तथा कृशता कारक न हो।

वक्तव्य—अधिक शोधन से शिथिलता आ जाती है देखिये च०चि० अ० ८ श्लो० ८७–८८ ॥१॥

वमन एवं विरेचन योग—

पयसा फलयुक्तेन मधुरेण रसेन वा।
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनद्रव्यसिद्धया ॥२॥
वमेद् विरेचनं दद्यात्त्रिवृच्छ्यामानृपद्रुमान्।
शर्करामधुसर्पिर्भिः पयसा तर्पणेन वा। ३॥
द्राक्षाविदारीकाश्मर्यमांसानां वा रसैर्युतान्।

व्याख्या—मदन फल को दूध में पकाकर अथवा ईख आदि के मधुर रस के साथ पीकर अथवा मदनफल के योग से सिद्ध एवं पर्याप्त घृत मिश्रित यवागू खाकर वमन करे (वैद्य इन योगों से वमन करावे)। और निसोत, काली निसोत तथा अमलतास को—खण्ड, मधु एवं घृत के साथ अथवा दूध के साथ अथवा तर्पण (सत्तू के घोल) के साथ अथवा दाख के रस के साथ अथवा विदारी कन्द के रस के साथ अथवा गम्भार के फलों के साथ अथवा मांस के साथ मिलाकर विरेचन करावे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च०चि०अ०८
कफप्रसेके बलवान् श्लैष्मिकः छर्दयेत् नरः ॥११८॥

अर्थात् जब रोगी बलवान् हो और कफ प्रकृति का हो तथा कफ का प्रसेक हो रहा हो तब उक्त योगों द्वारा वमन करे अन्यथा नहीं। और वमन के पश्चात्—

वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नं आददीत सदीपनम् ॥११६॥

भोजन के समय—भूख लगने पर लघु एवं दीपन द्रव्यों से मिश्रित अन्न का सेवन करे। और पुरीष का अत्यधिक सञ्चय होने पर ही विरेचन देवे अन्यथा नहीं क्योंकि—

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं तु जीवितम्।
अतो विशेषात् संरक्षेत् यक्ष्मिणो मलरेतसी।

अर्थात् - बल एवं जीवन की रक्षा के लिये शुक्र एव मल की विशेषरूप से रक्षा करना चाहिये। २,३॥

राजयक्ष्मा में आहार—

शुद्धकोष्ठस्य युञ्जीत विधिं बृंहणदीपनम् ॥४॥
हृद्यानि चाऽन्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च।
शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गं समोषितम् ॥५॥
आजं क्षीरं घृतं मांसं क्रव्यान्मांसं च शोषजित्।
काकोलूकवृकद्वीपिगवाश्वनकुलोरगम् ॥६॥
गृध्रभासखरोष्ट्रं च हितं छद्मोपसंहितम्।
ज्ञातं जुगुप्सितं तद्धि छर्दिषे न बलौजसे ॥७॥
मृगाद्याः पित्तकफयोः पवने प्रसहादयः।
वेसवारीकृताः पथ्या रसादिषु च कल्पिताः ॥८॥
भृष्टाः सर्षपतैलेन सर्पिषा वा यथायथम्।
रसिका मृदवः स्निग्धा मृदुद्रव्याभिसंस्कृताः ॥९॥
हिता मौलककौलत्थास्तद्वद्यूषाश्च साधिताः।

व्याख्या—उक्त प्रकार से कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर बृंहण पुष्टिकारक तथा अग्नि दीपन चिकित्सा का प्रयोग करे। और एतदर्थ—रुचिकारक, वात नाशक एवं लघु अन्न पान (खाने पीने के पदार्थ) का प्रयोग करे और एक वर्ष पुराने शालि धान्य, साठी धान्य, गेहूँ, जौ तथा मूंग के आहार बनाकर देवे। और बकरी का दूध, घृत तथा मांस और कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों का मांस भी राजयक्ष्मा नाशक होता है एतदर्थ—काक (कौवा),

उल्लू; वृक (हुण्डार या विग्यार), द्वीपी (व्याघ्र-बाघ) गौ, घोड़ा, नेवला, साँप ,गिद्ध भास (चील) गधा तथा ऊण्ट का मांस छल पूर्वक खिलावे क्योंकि निन्दित होने के कारण ज्ञात होने पर छर्दि का हेतु हो जाता है और उससे बल एवं ओजस् का लाभ नहीं होता। वात एवं कफ की अधिकता में मृग प्रतुद तथा विष्किर वर्ग के प्राणियों के मांस तथा वायु की अधिता में प्रसह एवं अप्चर आदि वर्ग के प्राणियों के मांस वेशवार बनाकर तथा रस आदि के रूप में बनाकर खाने से पथ्य-लाभप्रद होते हैं। और इन सब को सरसों के तैल में तल कर अथवा आवश्यकतानुसार घृत में तलकर; रस युक्त बनाकर मृदु होने पर स्नेह युक्त लवण अदरक आदि से युक्त बनावे। तथा इसी प्रकार मूली कुलथी आदि के जूष बना कर देवे। यह सब राजयक्ष्मा में लाभप्रद होते हैं।

वक्तव्य—जिन रोगियों के लिए—काक आदि के मांस घृणा जनक हों उनको छलपूर्वक अर्थात् अन्य रोचक प्राणियों के मांस का नाम लेकर खिलावे जिससे वसे छर्दि आदि न हो—मानसिक घृणा न हो। किसी भी आहार में खाने वाले की रुचि होना परम आवश्यक है अन्यथा आहार से बल एवं ओजस् की प्राप्ति नहीं होती। जिन जातियों में—देशों में (जैसे चीन में सर्प आदि) काक आदि खाए जाते हैं वहाँ छल करने की आवश्यकता नहीं। रुचि के अनुसार ही उक्त शालि आदि के मण्ड आदि, मूंग आदि के जूस, मांसरस तथा शाकरस देना चाहिये। ४-६॥

बकरा के मांस का रस का प्रयोग—

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ।१०॥
सदाडिमं सामलकं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्।
तेन षड्विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः ॥११॥

व्याख्या—पीपल, जौ, कुलथी, सोंठ, अनारदाना तथा आमला के योग से बनाया स्नेहन मिश्रित अजामांसरस (बकरा के मांस का रस पीवे) इससे पीनस आदि ६ विकार निवृत्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—पीनस आदि ६ विकार—देखिये नि०अ० ५ तथा भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च०चि०अ० ८

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये।
पार्श्वशूले च वि बधाः क्रियाः साधारणीः श्रृणु ॥६७॥

इन प्रतिश्याय (पीनस) आदि ६ लक्षणों वाले राजयक्ष्मा में सचमुच बकरा का मांसरस अद्भुत लाभ करता है॥

सुरा आदि का विधान—

पिबेच्च सुतरां मद्यं जीर्णं स्रोतोविशोधनम्।
पित्तादिषु विशेषेण मध्वरिष्टाऽच्छवारुणीः ॥१२॥
सिद्धं वा पञ्चमूलेन तामलक्याऽथवा जलम्।
पर्णिनीभिश्चतसृभिर्धान्यनागरकेण वा ॥१३॥
कल्पयेच्चानुकूलोऽस्य तेनान्नं शुचि यत्नवान्।

व्याख्या—प्रति दिन उचित मात्रा में पुरानी मद्य का पान करे वह रसवाही स्रोतों का विशोधन करती है। विशेषतः पित्त की अधिकता में मधु की सुरा, कफ में अरिष्ट तथा वायु की अधिकता में वारुणी का पान करे। अथवा लघु पञ्चमूल से सिद्ध अथवा भूमि आमला से सिद्ध अथवा चारों पर्णिनी (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, माषपर्णी तथा मुद्गपर्णी) से सिद्ध अथवा धनियाँ एवं सोंठ से सिद्ध जल पीवे। और राजयक्ष्मा रोगी के लिये अनुकूल (माता आदि प्रियजन) तथा प्रयत्नवान् (सावधान-भोजन बनाने में कुशल) परि चारक-शुचि (पवित्र एवं रुचिकारक) भोजन को लघु पञ्चमूल आदि द्रव्यों के संयोग से बनावे ॥१२,१३॥

घृत विधान—

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन वा ॥१४॥
बलागर्भं घृतं योज्यं क्रव्यान्मांसरसेन वा।
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा ॥१५॥

व्याख्या—दशमूल के क्वाथ एवं कल्क तथा दूध के योग से सिद्ध अथवा मांस रस एवं बला के कल्क के योग से सिद्ध अथवा कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों के मांसरस के योग से सिद्ध घृत मधु मिलाकर चाटे।

वक्तव्य—ये घृत भी पीनस आदि ६ विकारों को नष्ट करते हैं ॥१४,१५॥

जीवन्त्यादि घृत—

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च।
पुष्कराह्वं शठीं कृष्णां व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम् ॥१६॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्।
कल्कीकृत्य घृतं पक्वं रोगराजहरं परम् ॥१७॥

व्याख्या—जीवन्ती, मुलेठी, दाख, इन्द्र जौ, पोहकर मूल, कचूर, पीपल, कण्टकारी, गोखरू, बलामूल नील कमल, भूमि आमला, त्रायमाणा तथा जवासा का कल्क डालकर पकाया गया घृत राजरोग-राजयक्ष्मा का परम नाशक है ॥१६,१७॥

खर्जूरादि घृत—

घृतं खर्जूरमृद्वीकामधुकैः सपरूषकैः।
सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम् ॥१८॥

व्याख्या—खजूर, दाख, मुलेठी, फालसा तथा पीपल

के योग से सिद्ध घृत–स्वरभेद, कास, श्वास तथा ज्वर को नष्ट करता है ॥१८॥

अन्यान्य घृत—

दशमूलशृतात्क्षीरात्सर्पिर्यदुदियान्नवम् ।
सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत्परं स्वरबोधनम् ॥१९॥
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम् ।
पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतम् ॥२०॥

व्याख्या—दशमूल के योग से दूध पकावे फिर उसे बिलोवे उसमें से जो घृत (माखन) निकले उसे तत्काल-पीपल एवं मधु मिलाकर खावे । अथवा महत्पञ्च मूल आदि पञ्चमूलों (देखिये सू. अ. ६ में १. महत्पञ्च मूल, २. ह्रस्वपञ्चमूल, ३. मध्यपञ्चमूल, ४. जीवनपञ्च-मूल, तथा ५. तृणपञ्चमूल) के योग से पकाए गये दूध से जो घृत निकले उसे पीपल एवं घृत मिलाकर चाटे । ये दोनों घृत स्वरवर्द्धक हैं तथा शिर, पार्श्व एवं अंसफलक के शूल को नष्ट करते हैं तथा कास, श्वास एवं ज्वर को नष्ट करते हैं ॥१९,२०॥

अन्य घृत—

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकं बलम् ॥२१॥

व्याख्या—पांच पंचमूलों के क्वाथ तथा घृत से चौगुने दूध में परिपक्व घृत यक्ष्मारोग के सात बलों—उपद्रवों को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—यक्ष्मा रोग के सात उपद्रव देखिये नि०अ० ५ श्लो० १६ । यथा–१.कण्ठोद्ध्वंस, २.अरोचक, ३.जृम्भा, ४.अङ्गमर्द, ५.निष्ठीव, ६.वह्निसाद तथा ७.आस्यपूतिता.२१।

पंचकोलादि घृत—

पञ्चकोलयवक्षारषट्पलेन पचेद् घृतम् ।
प्रस्थोन्मितं तुल्यपयः स्रोतसां तद्विशोधनम् ॥२२॥
गुल्मज्वरोदरप्लीहग्रहणीपाण्डुपीनसान् ।
श्वासकासाऽग्निसदनश्वयथूर्ध्वानिलाञ्जयेत् ॥२३॥

व्याख्या—पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता, सोंठ तथा जौखार १-१ पल, गोघृत १ प्रस्थ तथा गो दुग्ध १ प्रस्थ । घृत सिद्ध करे । यह घृत—रसवाही स्रोतों को शुद्ध करता है और गुल्म, ज्वर उदररोग प्लीहविकार ग्रहणीरोग पाण्डुरोग पीनस श्वास कास मन्दाग्नि शोथ तथा उद्गार को नष्ट करता है । इस घृत का नाम "षट्पल" घृत भी है ॥२२,२३॥

अन्य घृत—

रास्नाबलागोक्षुरक-स्थिरावर्षाभुवारिणि ।
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषजिद् घृतम् ॥२४॥
अश्वगन्धाशृतात्क्षीराद् घृतं चससितापयः ।

व्याख्या—रास्नादि घृत रासना, बलामूल, गोखरू, शालपर्णी तथा पुनर्नवा के क्वाथ में जीवन्ती तथा पीपल का कल्क एवं दूध मिलाकर घृत सिद्ध करे । वह घृत शोष रोग को नष्ट करता है । असगन्ध के योग से दूध पकावे और फिर उसे बिलोवे उसमें से जो घृत निकले उसे खण्ड एवं दूध मिलाकर खावे-पीवे । यह भी शोष को नष्ट करता है ॥२२॥

मांस सर्पिः—

साधारणामिषतुलां तोयद्रोणद्वये पचेत् । २५॥
तेनाष्टभागशेषेण जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
साधयेत्सर्पिषः प्रस्थं वातपित्तामयापहम् ॥२६॥
मांससापरिदं पीतं युक्तं मांसरसेन वा ।
कासश्वासस्वरभ्रंशशोषहृत्पार्श्वशूलजित् ॥२७॥

व्याख्या—साधारण मांस १तुला लेकर २द्रोण जल में पकावे अष्टमांश रहने पर छान लेवे जीवनीय गण के द्रव्य १-१ पल लेकर कल्क करे, घृत १ प्रस्थ । सब को एक साथ मिलाकर सिद्ध करे । यह घृत—पीने से वात एवं पित्त के रोगों को नष्ट करता है और मांस रस के साथ पीने से—कास, श्वास, स्वरभेद, शोष, हृदयशूल तथा पार्श्वशूल को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—साधारण मांस— विलेशय तथा प्रसह वर्ण के प्राणियों के मांस देखिये सू०अ० ६ श्लो० ६० । जीवनीय गण सू० अ० १५ श्लो० ६ ॥२५,२७॥

एलादि सर्पिर्गुड—

एलाजमोदात्रिफलासौराष्ट्रीव्योषचित्रकान् ।
सारानरिष्टगायत्रीशालबीजकसम्भवान् ।२८॥
भल्लातकं विडङ्गं च पृथगष्टपलोन्मितं ।
सलिले षोडशगुणे षोडशांशस्थिते पचेत् ॥२९॥
पुनस्तेन घृतप्रस्थं सिद्धे चास्मिन्पलानि षट् ।
तवक्षीर्याः क्षिपेत्त्रिंशत्सितायाः द्विगुणं मधु ॥३०॥
घृतान्त्रिजातान्त्रिपलं ततो लीढं खजाऽऽहतम् ।
पयोऽनुपानं तत्प्राह्वं रसाशनमयन्त्रणम् ॥३१॥
मेध्यं चक्षुष्यमायुष्यं दीपनं हन्ति चाचिरात् ।
मेहगुल्मक्षयव्याधिपाण्डुरोगभगन्दरान् ॥३२॥
ये च सर्पिर्गुडाः प्रोक्ताः क्षते योज्याः क्षयेऽपि ते ।

व्याख्या—बड़ी इलायची, अजमोद, त्रिफला, छोटी इलायची, त्रिकटु, चितामूल और निम्ब, खैर, शाल तथा विजयसार के सारकाष्ठ और भिलावा तथा वायविडंग ८-८ पल लेकर सोलह गुने जल में पकावे सोलहवाँ भाग रहने

पर छान लेवे और फिर उसके योग से १ प्रस्थ घृत सिद्ध करे फिर उस घृत में —तुगाक्षीरी ६ पल, खण्ड ३० पल, मधु २ प्रस्थ तथा त्रिजात (दालचीनी बड़ी इलायची तथा तेजपत्र) ३ पल मिलाकर मकखूद से भली भाँति मल देवे। प्रातःकाल इस अवलेह में से १-२ कर्ष की मात्रा खाकर दूध पीवे। यह रसायन है और इसके सेवन काल में किसी प्रकार के परिहार को आवश्यकता नहीं है। यह रसायन योग— बुद्धि दृष्टि तथा आयु के लिये हित है और अग्नि दीपक है तथा प्रमेह, गुल्म, क्षय रोग, पाण्डुरोग एवं भगन्दर को नष्ट करता है। और जो जो सर्पिगुंड उरःक्षत या क्षतकास (चि. अ. ३ तथा च. चि. अ. ११) में लिखे हैं वे क्षय रोग—राजयक्ष्मा में प्रयुक्त किये जायँ ॥२९,३२॥

त्वचादि चूर्ण—

त्वगेलापिप्पलीक्षीरीशर्करा द्विगुणाः क्रमात् ॥३३॥
चूर्णिता भक्षिताः क्षौद्रसर्पिषा चाऽवलेहिताः।
स्वर्याः कासक्षयश्वासपार्श्वरुक्कफनाशनाः ॥३४॥

व्याख्या —दालचीनी १ भाग, बड़ी इलायची २ भाग, पीपल ४ भाग, तुगाक्षीरी ८ भाग तथा मिश्री १६ भाग लेकर चूर्ण बनावे और घृत एवं मधु में मिला कर खावे अथवा चाटे। यह चूर्ण—स्वरभेद, कास, क्षय, श्वास, पार्श्वशूल तथा कफ रोगों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—यह पाठ च० चि० अ० ८ श्लो० १०३—१०४ का परिवर्तित रूप है और इसके गुण वर्णन का पाठ लिखने में संक्षेप का सहारा लिया गया है अथवा भूल की गई है पाठक ध्यान देने की कृपा करें। चरक का पाठ इस प्रकार है—

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम्।
अन्त्यात् ऊर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेत् मधु सर्पिषा ॥१०३॥
चूर्णितं प्राशयेत् वा तत् श्वासकासकफातुरम्।
सुप्तजिह्वाऽरोचकिनं अल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम् ।१०४

और यह योग सुप्रसिद्ध सितोपलादि चूर्ण का है। इसे खावे अर्थात् एकसाथ खालेवे अथवा चाटे अर्थात् दिनरात थोड़ा थोड़ा चाटता रहे। इसीकी टीका में श्री चक्रपाणि ने लिखा "तुगाक्षीरी वंशलोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्"—पञ्जाब के चिकित्सक तोखारवी नाम से संगे जराहत का प्रयोग करते हैं यह द्रव्य उक्त रोगों में लाभप्रद प्रमाणित होता है। और श्री शाङ्र्गधराचार्य ने सितोपलादि चूर्ण के गुण पाठ में लिखा है कि—यह चूर्ण—हस्तपादाङ्ग दाह जित्—हाथ पाँव तथा अंगों के दाह को नष्ट करता है और-ज्वरमूर्ध्वंगतं रक्तपित्तमाशु व्यपोहति—ज्वर तथा ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त को नष्ट करता है। और चरक में इस पाठ के नीचे पाठ है—हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे। श्री शाङ्र्गधराचार्य ने इस पाठ को सितोपलादि चूर्ण के साथ पढ़ लिया है परन्तु श्री चक्रपाणि ने ऐसा नही किया है। यह सत्य है—अनुभव सिद्ध है सितोपलादि इन रोगों में भी लाभप्रद है। देखिए शाङ्र्गधर संहिता म. खं. अ. ६ ॥३३,३४॥

स्वरसाद (स्वरभेद) चिकित्सा—

विशेषात्स्वरसादेऽस्य नस्यधूमादि योजयेत्।
तत्रापि वातजे कोष्णं पिबेदुत्तरभक्तिकम् ॥३५॥
कासमर्दकवार्ताकीमार्कवस्वरसैर्घृतम्।
साधितं कासजित्स्वर्यं सिद्धमार्तगलेन वा ॥३६॥
बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्।
तैलं वा मधुकद्राक्षापिप्पलीकृमिनुत्फलैः ॥३७॥
हंसपाद्याश्च मूलेन पक्वं नस्तो निषेचयेत्।
सुखोदकानुपानं च ससर्पिष्कं गुडौदनम् ॥३८॥
अश्नीयात्पायसं चैवं स्निग्धं स्वेदं नियोजयेत्।
पित्तोद्भवे पिबेत्सर्पिः श्रृतशीतपयोऽनुपः ॥३९॥
क्षीरिवृक्षाङ्कुरकाथकल्कसिद्धं समाक्षिकम्।
अश्नीयाच्च ससर्पिष्कं यष्टीमधुकपायसम् ॥४०॥
बलाविदारिगन्धाभ्यां विदार्या मधुकेन च।
सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्वर्यमनुत्तमम् ॥४१॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला।
साधितं क्षीरसर्पिश्च तत्स्वर्यं नावनं परम् ॥४२॥
लिह्यान्मधुरकाणां च चूर्णं मधुघृताप्लुतम्।
पिबेत्कटूनि मूत्रेण कफजे रूक्षभोजनः ॥४३॥
कट्फलामलकव्योषं लिह्यात्तैलमधुप्लुतम्।
व्योषक्षाराग्निचविकाभार्ङ्गीपथ्यामधूनि वा ॥४४॥
यवैर्यवागूं यमके कणाधात्रीकृतां पिबेत्।
भुक्त्वाऽद्यात्पिप्पलीं शुण्ठीं तीक्ष्णं वा वमनं भजेत् ४५।
शर्कराक्षौद्रमिश्राणि श्रृतानि मधुरैः सह।
पिबेत्पयांसि यस्योच्चैर्वदतोऽभिहतः स्वरः ॥४६॥

व्याख्या —यद्यपि पूर्वोक्त चिकित्सा योगों से भी स्वरभेद में लाभ होता है तथापि विशेष रूप से राजयक्ष्मा रोगी के स्वरभेद में नस्य एवं धूमपान आदि का प्रयोग करे। उसमें भी —वातज स्वरभेद में—कसौन्दी, वनभण्टा तथा भाँगरा के स्वरस से सिद्ध घृत-कोसा२ भोजन के पश्चात् पीवे। यह घृत कासनाशक है, स्वर वर्द्धक है। अथवा नीले पुष्प वाले कटसरैया के रस एवं कल्क से सिद्ध घृत पीवे। अथवा बेर के पत्तों का कल्क—घृत में तल कर तथा सैन्धव लवण मिला कर खावे। अथवा—मुलेठी, दाख, पीपल, वायविडंग, मदनफल तथा हंसपादी (हंसराज-

परसौसा) की जड़ के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध तैल नासारन्ध्रों में टपकावे-नस्य देवे। अथवा आहार में—गुड़ एवं घृत के साथ भात खाकर कोसा २ जल पीवे। या गुड़ का मीठा भात घृत डाल कर खावे। अथवा दूध की खीर घृत डालकर खावे और ऊपर से कोसा २ जल पीवे और स्निग्ध स्वेदन का प्रयोग करे—गल तथा उरस् पर-स्वेदनार्थ स्निग्ध उपनाह करे। हलुवा एवं लपसी आदि स्निग्ध पदार्थ बान्धे)। पित्तज स्वर भेद में—वट आदि क्षीर वृक्षों के अंकुरों (कोपलों) के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध घृत—मधु मिला कर पीवे अनुपान में पका कर शीतल किया गया दूध पीवे और मुलेठी के योग से बनाई गई दूध की खीर या रबड़ी घृत मिला कर खावे। और बलामूल, शाल पर्णी, विदारी कन्द तथा मुलेठी के योग से सिद्ध घृत में लवण मिलाकर नस्य देवे। यह नस्य सर्वश्रेष्ठ नस्य है। अथवा—प्रपौण्डरीक, मुलेठ', पीपल, वन भण्टा तथा बला के योग से सिद्ध दूध का घृत (दही का घृत नहीं) भी सर्वश्रेष्ठ स्वरवर्द्धक नस्य हैं। और मुलेठी एवं शतावर आदि मधुर रस वाले द्रव्यों का चूर्ण—घृत एवं मधुके साथ मिला कर चाटे। कफज स्वर भेद में—मरिच एवं पीपल आदि कटु द्रव्यों का चूर्ण गोमूत्र में मिला कर पीवे तथा चना आदि रूक्ष अन्नों का भोजन करे। और कायफल- आमला तथा त्रिकटु का चूर्ण तैल एवं मधु में मिला कर चाटे। अथवा—त्रिकटु, जौखार, चित्ता, चव्य, भारंगी तथा हरड़ का चूर्ण मधु में मिला कर चाटे। आहार—घृत एवं तैल में सिद्ध की गई जौ की यवागू पीपल एवं आमला मिला कर खावे। और भोजन के पश्चात् पीपल एवं सोंठ खावे। अथवा—तीक्ष्ण वमन करे। जिस का स्वर ऊँचे बोलने से बैठ गया हो वह रोगी—दाख मुलेठी आदि मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध किया गया दूध खण्ड एवं मधु मिला कर पीवे।

वक्तव्य स्वर भेद की चिकित्सा—च० चि० अ० २६ में तथा सु० उ० तं० अ० ५३ में देखिये ॥३५-४६॥

इति स्वरभेद-चिकित्सा

अथ अरोचक चिकित्सा—

विचित्रमन्नमरुचौ हितैरुपहितं हितम्।
बहिरन्तर्मृजा चित्तनिर्वाणं हृद्यमौषधम् ॥४७॥
द्वौ कालौ दन्तधवनं भक्ष्येन्मुखधावनैः।
कषायैः क्षालयेदास्यं धूमं प्रायोगिकं पिबेत् ॥४ ॥
तालीसचूर्णवटकाः सकर्पूरसितोपलाः।
शशाङ्ककिरणाख्याश्च भक्ष्या रुचिकरा भृशम् ॥४९॥

व्याख्या—अरुचि की सामान्य चिकित्सा—अरोचक रोग में—लाभदायक पदार्थों से युक्त विचित्र—भिन्न भिन्न प्रकार का आहार लाभदायक होता है। और—स्नानादि से शरीर की बाह्य शुद्धि तथा वमनविरेचन आदि से अन्तः शुद्धि, चित्त की रजस् तमस्—काम एवं क्रोध आदि से मुख और हृदय के लिये प्रिय एवं शक्ति वर्द्धक औषध लाभ प्रद होते हैं। दोनों समय—प्रातः सायं दतवन करे और मुख को शुद्ध करने वाले कषायों (रस, फाण्ट, क्वाथ, हिम तथा कल्क) द्वारा मुख के भीतरी भाग को धोना चाहिये और प्रायौगिक धूम का पान करना चाहिये। और कपूर एवं मिशरी के योग से बनी तालीस पत्र के चूर्ण की गोलियाँ मुख में रख चूसना चाहिये। और शशाङ्ककिरण नामक भक्ष्य (खाद्य) भी अत्यन्त रुचिकारक होते हैं।

वक्तव्य—दन्त धवन या दन्त पवन के लिये देखिए सू० अ. २। वैसे ही द्रव्यों के कषायों से मुख प्रक्षालन—कुल्ले करे प्रायौगिक धूम देखिए सू. अ. २१। तालीस चूर्ण वटक—ये गोलियाँ तृषा, स्वरभेद तथा अरुचि को नष्ट करती हैं और आजकल रेलों में, मेलों में तथा प्रदर्शनियों में इस प्रकार की गोलियाँ बेची खरीदी जाती हैं और कपूर पिपरमेण्ट आदि से सुगन्धित लेमनजूस आदि इसी प्रकार का रूपान्तर हैं। शशांक किरण नामक भक्ष्य—श्री अरुणदत्त ने अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरा नामक टीका में "कर्पूर नाडिकख्यातू" तथा हेमाद्रि ने आयुर्वेद रसायन नामक टीका में "शशाङ्ककिरणाः कर्पूर नालिकादयः" (सू. अ. ३ श्लो० ३६) लिखा है और इस श्लोक की भी उक्त दोनों टीकाओं में यही कुछ लिखा है। हमारे विचार में-शशांक किरण नामक भक्ष्य-लिलेबी एवं इमरती-अमृती ही हैं क्योंकि ये दोनों शशाङ्क अर्थात् चन्द्र के समान गोल तथा नलिकाकार होती हैं और सर्व जन प्रिय एवं उत्तम कोटि के भक्ष्य है ॥४७-४९॥

अरोचक की विशेष चिकित्सा—

वातादरोचके तत्र पिबेच्चूर्णं प्रसन्नया।
हरेणुकृष्णाकृमिजिद्-द्राक्षासैन्धवनागरात् ॥५०॥
एलाभार्ङ्गीयवक्षारहिङ्गुयुक्तघृतेन वा।
छर्दयेद्वा वचाम्भोभिः पित्ताच्च गुडवारिभिः ॥५१॥
लिह्याद्वा शर्करासर्पिर्लवणोत्तममाक्षिकम्।
कफाद्वमेन्निम्बजलैर्दीप्यकारग्वधोदकम् ॥५२॥
पानं समध्वरिष्टाश्च तीक्ष्णाः समधुमाधवाः।
पिबेच्चूर्णं च पूर्वोक्तं हरेण्वाद्युष्णवारिणा ॥५३॥

व्याख्या—वात जनित अरोचक में—हरेणु, पीपल, विडंग, दाख, सैन्धव लवण तथा सोंठ का चूर्ण प्रसन्ना (उत्तम मद्य) के साथ पीवे अथवा बड़ी इलायची, भारंगी, जौखार तथा हिंगु से युक्त घृत के साथ पीवे।

यदि इस से भी लाभ न हो तो वालवचं का क्वाथ पीकर वमन कर देवे (और फिर उक्त चूर्ण का सेवन करे)। पित्त जनित अरोचक में—मदनफल का चूर्ण गुड के पानी के साथ पीकर वमन करे। तत्पश्चात् अजवायन एवं अमलतास का क्वाथ मधु मिलाकर पीवे और मुनका के तथा महुआ के तीक्ष्ण अरिष्ट (आसव) पीवे अथवा पूर्वोक्त हरेण्वादि चूर्ण उष्ण जल के साथ पीवे।

वक्तव्य—यह पाठ भगवान् धन्वन्तरि के निम्नलिखित पाठ का परिवर्त्तित रूप है यथा-सु० उ० तं० अ० ५७—

वाते वचाम्बुवमनं कृतवान् पिबेच्च
स्नेहैः सुराभि रयवोष्णजलेन चूर्णम् ॥६॥
कृष्णाविडंगयवभस्महरेणुभार्ङ्गी
रास्नैलहिंगुलवणोत्तमनागराणाम्।
पित्ते गुडाम्बुमधुरे वमनं प्रशस्तं
स्नेहः ससैन्धवसितामधुसर्पिरिष्टः ॥७॥
निम्बाम्बुवामितवतः कफजेऽनुपानं
राजद्रुमाम्बुमधुनातु सदीप्यकं स्यात्।
चूर्णं यदुक्तमथवाऽनिलजे तदेव......॥८॥५०-५३॥

एलादि चूर्ण—

एलात्वङ्नागकुसुमतीक्ष्णकृष्णामहौषधम्।
भागवृद्धं क्रमाच्चूर्णं निहन्ति समशर्करम् ॥५४॥
प्रसेकारुचिहृत्पार्श्वकासश्वासंगलामयान्।

व्याख्या—बड़ी इलायची १ भाग, दालचीनी २ भाग, नाग केसर ३ भाग, मरिच ४ भाग, पीपल ५ भाग, सोंठ ६ भाग तथा खण्ड सब के समान भाग (२१ भाग)। यह चूर्ण—लालास्राव, अरुचि, हृदय रोग, पार्श्व रोग, कास, श्वास तथा गलरोगों को नष्ट करता है ॥ ५४ ॥

यवानीषाण्डव चूर्ण—

यवानीतिन्तिडीकाम्लवेतसौषधदाडिमम् ॥५५॥
कृत्वा कोलं च कर्षांशं सितायाश्च चतुष्पलम्।
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम् ॥५६॥
पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च।
चूर्णमेतत्परं रुच्यं ग्राहि हृद्यं हिनस्ति च ॥५७॥
विबन्धकासहृत्पार्श्वप्लीहार्शोग्रहणीगदान्।

व्याख्या—अजवायन, जिरिष्क, अम्लवेत, सोंठ, अनारदाना तथा वेरचूर १-१ कर्ष, मिशरी ४ पल (१६ कर्ष), धनियाँ, सौंचर लवण, जीरा तथा दालचीनी आधा कर्ष, पीपल १०० दाना तथा मरिच २०० दाना। सब को पीस कर चूर्ण बनावे। यह चूर्ण—रुचिकारक, हृद्य तथा ग्राही है और पुरीषरोध, कास, हृदयरोग, पार्श्व-रोग, प्लीह विकार, अर्श तथा ग्रहणी रोग को नष्ट करता है।

वक्तव्य—शा० सं० म० खं० अ० ६ में भी यह योग है वहाँ २॥ शाण, तथा १० शाण पीपल का विधान है। शाण चौथाई कर्ष भर होता है ॥५५-५७॥

तालीसादि चूर्ण—

तालीसपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली कणा ॥५८॥
यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके।
तद्रुच्यं दीपनं चूर्णं कणाऽष्टगुणशर्करम् ॥५९॥
कासश्वासारुचिच्छर्दिप्लीहहृत्पार्श्वशूलनुत्।
पाण्डुज्वरातिसारघ्नं मूढवातानुलोमनम् ॥६०॥

व्याख्या—तालीस पत्र १ भाग, मरिच २ भाग, सोंठ ३ भाग पीपल ४ भाग, दालचीनी तथा बड़ी इलायची आधा आधा भाग पीपल से आठगुनी खण्ड (३२ भाग) लेकर चूर्ण बनावे। यह चूर्ण—रुचिकारक तथा अग्नि दीपन है और कास, श्वास, अरुचि, छर्दि, प्लीह विकार, हृदय शूल, पार्श्वशूल, पाण्डुरोग, ज्वर तथा अतिसार को नष्ट करता है और मूढ़ वायु का अनुलोमन है।

वक्तव्य—उक्त दोनों चूर्ण-च० चि० अ० ८ से उद्धृत किये गये हैं। तालीशादि चूर्ण के नीचे निम्न पाठ है यथा—

कल्पयेद् गुटिकां चैतत् चूर्णं पक्त्वा सितोपलाम्।
गुटिका ह्यग्निसंयोगात् चूर्णात् लघुतराः स्मृताः ॥११८॥

अर्थात् मिशरी की चाशनी बना कर और उस में उक्त चूर्ण मिला कर गोलियाँ बनावे। यह गोलियाँ अग्नि पर पाक कर के बनाई जाती हैं। अतः चूर्ण की अपेक्षा लघु होती हैं।

प्रसेक (लालास्राव) चिकित्सा—

अर्कामृताक्षारजले शर्वरीमुषितैर्यवैः।
प्रसेके कल्पितान्सक्तून् भक्ष्यांश्चाद्याद्बली वमेत् ॥६१॥
कटुतिक्तैस्तथा शूल्यं भक्षयेजाङ्गलं पलम्।
शुष्कांश्च भक्ष्यान् सुलघूंश्चणकादिरसानुपः ॥६२॥

व्याख्या—आक तथा गिलोय के क्षारीय जल में जौ को रात्रिभर भिगो देवे, प्रातःकाल निकाल कर सुखावे और भूनकर सत्तू बना लेवे अथवा उनको पीस कर आटा बनावे अथवा दल कर दलिया बनावे। इन में से किसी एक आहार को बलवान् रोगी खावे और वमन कर देवे। तथा कटु एवं तिक्त द्रव्यों के योग से शूल पर लपेट कर पकाया गया जाङ्गलदेशीय प्राणियों का मांस खावे। और अथवा सूखे एवं लघु भक्ष्य (भुने चना चबेना आदि) खावे और अनुपान में चना आदि रूक्ष दालों का रस पीवे। यह सब प्रसेक अर्थात् लालास्राव या उत्क्लेश (मिचली) में लाभ करते हैं ॥६१,६२॥

प्रसेक का लक्षण—

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति ।
कफप्रसेकं तं विद्वान्स्निग्धोष्णैरेव निर्जयेत् ॥६३॥

व्याख्या—कफ का अतिस्राव होने में वायु कफ को निकालता है—बाहिर फेंकता है, इसी विकार का नाम "प्रसेक" या "कफ प्रसेक" है। इसे स्निग्ध एवं उष्ण पदार्थों के द्वारा शान्त करे।

वक्तव्य—श्वास मार्ग आदि में श्लेष्मा का अधिक निर्माण होता एवं सेचन होता है और उसे वायु बाहर निकालता रहता है इसका नाम "कफ प्रसेक" है लोक भाषा में इसे 'कफ क्षयी' कहते हैं। इसमें थोड़ा सा खाँसने पर थक्का थक्का कफ निकलता रहता है ॥६३॥

पीनस आदि की चिकित्सा—

पीनसेऽपि क्रममिमं वमथौ च प्रयोजयेत् ।
विशेषात्पीनसेऽभ्यङ्गान् स्नेहस्वेदांश्च शीलयेत् ॥६४॥
स्निग्धानुत्कारिकापिण्डैः शिरःपार्श्वगलादिषु ।
लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान् स्नेहोपसंहितान् ॥६५॥
शिरोंऽसपार्श्वशूलेषु यथादोषविधिं चरेत् ।
औदकानूपपिशितैरुपनाहाः सुसंस्कृताः ॥६६॥
तत्रेष्टाः सचतुःस्नेहा दोषसंसर्ग इष्यते ।
प्रलेपो नतयष्ट्याह्वशताह्वाकुष्ठचन्दनैः ॥६७॥
बलारास्नातिलैस्तद्वत्ससर्पिर्मधुकोत्पलैः ।
पुनर्नवाकृष्णगन्धाबलावीराविदारिभिः ॥६८॥
नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः ।
तैलान्यभ्यङ्गयोगीनि बस्तिकर्म तथा परम् ॥६९॥
शृङ्गाद्यैर्वा यथादोषं दुष्टमेषां हरेदसृक् ।
प्रदेहः सघृतैः श्रेष्ठः पद्मकोशीरचन्दनैः ॥७०॥
दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेसरैर्वा घृतप्लुतैः ।
वटादिसिद्धतैलेन शतधौतेन सर्पिषा ॥७१॥
अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ।

व्याख्या—राजयक्ष्मा में यदि पीनस अथवा छर्दि हो तो कफप्रसेक के समान चिकित्सा करे। विशेषरूप से पीनसरोग में विविध प्रकार के अभ्यङ्गों तथा स्नेहन एवं स्वेदों का सेवन करे जो कि शिर पार्श्व, गल तथा वक्षःस्थल पर स्निग्ध लपसी या रोटी बाँध कर तथा पिण्ड—पोटली द्वारा किये जायँ। और लवण, अम्ल तथा कटु द्रव्यों से युक्त और स्नेह से मिश्रित मांस रसों तथा शाकरसों का सेवन करे। और शिर, अंसफलक तथा पार्श्व के शूलों के दोषानुसार चिकित्सा करे। इस दशा में उन अवयवों पर जल में तथा अनूपदेश में उत्पन्न होने वाले प्राणियों के मांसों को भली भाँति संस्कृत करके उपनाह स्वेद लाभदायक होते हैं और आवश्यकतानुसार घृत आदि चारों स्नेहों का उपयोग भी लाभदायक होता है। पीनस में दोषों का संसर्ग होने पर—तगर, मुलेठी, सोया, कुठ तथा लालचन्दन का लेप करे अथवा बलामूल, रासना, तिल, मुलेठी एवं कमल को घृत में फेंट कर लेप करे अथवा पुनर्नवा, कृष्णगन्धा, बलामूल, शतावर तथा विदारीकन्द का लेप (उक्त अवयवों पर) करे। उचित नस्य देवे, धूमपान की व्यवस्था करे तथा भोजन के पश्चात् स्नेह पान का प्रबन्ध करे और अभ्यङ्ग के लिये उपयोगी तैलों का उपयोग करे तथा वस्ति कर्म करे। इतने पर भी यदि पीनस शान्त न हो तो समझ लेवे कि रक्त का दोष है और उस दुष्ट रक्त को दोषानुसार सींगी आदि से निकाल देवे (वायु में सींगी से, पित्त में जोंक से तथा कफ में तुम्बी से)। पद्मकाष्ठ, खश तथा चन्दन के चूर्ण को घृत में फेंट कर लेप करे अथवा दूब, मुलेठी, मञ्जीठ तथा नागकेसर के चूर्ण को घृत में फेंट कर लेप करे अथवा वट पीपल आदि क्षीरी वृक्षों के योग से सिद्ध तैल से अथवा शतधौत घृत से अभ्यंग करे और दूध से अथवा मुलेठी के शीत कषाय से सेचन करे ॥६४-७१॥

राजयक्ष्मा के अतिसार की चिकित्सा—

प्रायेणोपहताग्नित्वात्सपिच्छमतिसार्यते ॥७२॥
तस्यातिसारग्रहणीविहितं हितमौषधम् ।
पुरीषं यत्नतो रक्षेच्छुष्यतो राजयक्ष्मिणः ॥७३॥
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ।

व्याख्या—राजयक्ष्मा में प्रायः मन्दाग्नि हो जाने के कारण—पिच्छा अर्थात् आमरस युक्त अतिसार होने लगता है उस दशा में अतिसार रोग तथा ग्रहणी रोग में कही गई चिकित्सा लाभदायक होती है। सच यह है कि प्रति दिन सूखते हुए राजयक्ष्मा वाले रोगी के पुरीष की रक्षा यत्न पूर्वक करते रहना चाहिये क्यों कि—वह रोगी सब धातुओं के क्षय से पीडित रहता है अतः उसका बल पुरीष के ही अधीन होता है अर्थात् वह पुरीष के ही बल पर जीवित रहता है यदि पुरीष का भी क्षय हो जाता है तो रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥७२,७३॥

राजयक्ष्मा में मांस एवं मद्य की आवश्यकता—

मांसमेवाश्नतो युक्त्या माद्वीकं पिबतोऽनु च ॥७४॥
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ।

व्याख्या—जो युक्ति पूर्वक मांसका ही भोजन करता है तथा अनुपान में मुनक्का का आसव (सुरा) पीता है और पुरीष आदि के वेगों का निरोध नहीं करता उसके शरीर में राजयक्ष्मा नामक रोग—स्थान प्राप्त नहीं करता या बल नहीं पकड़ता ॥७४॥

इस लिये—

सुरां समण्डां मार्द्वीकमरिष्टान् सीधुमाधवान ॥७५॥
यथार्हमनुपानार्थे पिबेन्मांसानि भक्षयन् ।
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलौजःपुष्टये च तत् ॥७६॥

व्याख्या—रोगी—मांस खाता हुआ—रसवाही स्रोतों के विबन्ध (रुकावट) के मोक्षण (खुलने) के लिये—अनुपान में दोषानुसार मण्ड युक्त सुरा (प्रसन्ना-स्वच्छ सुरा), मृद्वीकासव, द्राक्षारिष्ट, सीधु अथवा माधवासव (महुवा की सुरा) का सेवन करे। उससे बल, ओजस् तथा पुष्टि का लाभ होता है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. चि. अ. ८

मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च ।
नियताऽनल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥१६३॥

तथा—वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः ।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ॥१६४॥

अवगाहन, मर्दन तथा उद्वर्त्तन—

स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।
उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैर्भूयोऽभ्यक्तं सुखैः करैः ॥७७॥
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखं चोद्वर्तयेत्परम् ।

व्याख्या—अभ्यङ्ग करके घृत आदि स्नेह, दूध अथवा कोसे जलकोष्ठ (द्रोणी-टब) में अवगाहन करावे और उसे कोष्ठ में से बाहिर निकाल कर मिश्रक (गुल्म चि० अ० १४ देखिये) स्नेहों से पुनः अभ्यङ्ग करके सुखदायक हाथों से मर्दन करे और फिर सुखपूर्वक बिठा कर निम्नलिखित उद्वर्त्तन करे ॥७७॥

उद्वर्त्तन योग—

जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥७८॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ।
विदारीं सर्षपान् कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥७९॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ।
यवचूर्णं त्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥८०॥
एतदुद्वर्तनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् ।

व्याख्या—जीवन्ती, शतावर, मञ्जीठ, पुनर्नवा, असगन्ध, अपामार्ग, अरणी, मुरेठी, बलामूल, विदारी कन्द, सरसों, कूट, अलसी, चावल, उरद, तिल तथा खली सब को एक साथ पीस लेवे और सबसे दूना जौ का आटा मिला कर दही तथा मधु में सान लेवे। इसका उबटन राजयक्ष्मा में करना चाहिये। यह पुष्टि, कान्ति तथा बल का दाता है ॥७८-८०॥

उद्वर्त्तन तथा स्नान—

गौरसर्षपकल्केन स्नानीयौषधिभिश्च सः ॥८१॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयोपसाधितैः ।

व्याख्या—अथवा पीली सरसों के कल्क का उबटन कर के स्नानोपयोगी खस आदि गन्धद्रव्यों के योग से सिद्ध तथा ऋतु के अनुसार शीत अथवा कोसे पर्याप्त जल से अथवा जीवनीय गण के द्रव्यों के योग से सिद्ध जल से स्नान करे।८१

गन्धमाल्यादि धारण—

गन्धमाल्यादिकैर्भूषामलक्ष्मीनाशनीं भजेत् ॥८२॥
सुहृदां दर्शनं गीतवादित्रोत्सवसंश्रुतिः ॥

व्याख्या—स्नान के पश्चात् सुगन्धित फूलों की माला एवं स्वच्छ वस्त्रों तथा अभीष्ट एवं लघु भूषणों का धारण करे। यह सब अलक्ष्मी का नाश करते हैं—मनस् को प्रसन्न करते हैं-एक प्रकार के विशिष्ट सुख का अनुभव होता है इसके पश्चात् इष्ट मित्रों का दर्शन करे-उनके साथ बैठ कर वार्तालाप आदि से मनोविनोद करे और गीत, वादित्र (सितार आदि मनोहर वाद्य) तथा उत्सव-शुभ समाचार सुने ॥८२॥

अन्यान्य उपचार—

वस्तयः क्षीरसर्पींषि मद्यं मांसं सुशीलता ॥८३॥
दैवव्यपाश्रयं तत्तदथर्वोक्तं च पूजितम् ।

व्याख्या—राजयक्ष्मा रोग में बलवर्द्धक वस्तियों का सेवन, दूध एवं घृत का सेवन, मद्य एवं मांस का सेवन, शुद्ध आचरणों का सेवन तथा बलि, मंगल, होम एवं जप आदि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का सेवन और अथर्ववेदोक्त यज्ञ याग आदि का विधान पूजित-लाभप्रद होता है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. चि. अ ८

अभ्यङ्गोत्सादनैश्चैव वासोभिः अहतैः प्रियैः ।
यथर्तु विहितैः स्नानैः अवगाहैः विमार्जनैः ॥१८४॥
वस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिः मांसैः मांसरसौदनैः ।
इष्टैः मद्यैः मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ॥१८५॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः ।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियाश्रुतिभिरेव च ॥१८६॥
हर्षणाऽऽश्वासनैः नित्यं गुरूणां समुपासनैः ।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवताऽर्चनैः ॥१८७॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गल्यैरप्यहिंसया ।
वैद्यविप्राऽर्चनात् चैव रोगराजो निवर्तते ॥१८८॥
यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥१८९॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ५।

—

षष्ठोऽध्यायः

अथाऽतश्छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब छर्दि रोग, हृद्रोग तथा तृषारोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इनका निदान देखिए नि. स्था. अ. ५ में । और च. चि. अ. २०, २६ तथा २२ में तथा सु. उ. तं. अ. ४६, ४३ तथा ४८ । अ. सं चि अ. ८ में देखिये ।

छर्दि की सामान्य चिकित्सा—

आमाशयोत्क्लेशभवाः प्रायश्छर्द्यो हितं ततः ।
लङ्घनं प्रागृते वायोर्वमनं तत्र योजयेत् ॥१॥
बलिनो बहुदोषस्य वमतः प्रततं बहु ।
ततो विरेकं क्रमशो हृद्यं मद्यैः फलाम्बुभिः ॥२॥
क्षीरैर्वा सह सह्यूर्ध्वगतं दोषं नयत्यधः ।
शमनं चौषधं रूक्षदुर्बलस्य तदेव तु ॥३॥
परिशुष्कं प्रियं सात्म्यमन्नं लघु च शस्यते ।
उपवासस्तथा यूषा रसाः काम्बलिकाः खलाः ॥४॥
शाकानि लेहभोज्यानि रागखाण्डवपानकाः ।
भक्ष्याः शुष्का विचित्राश्च फलानि स्नानघर्षणम् ॥५॥
गन्धाः सुगन्धयो गन्धफलपुष्पान्नपानजाः ।
भुक्तमात्रस्य सहसा मुखे शीताम्बुसेचनम् ॥६॥

व्याख्या—प्रायः सभी प्रकार के छर्दि रोग आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न होते हैं इसलिये उन सब में प्रथम लंघन करना चाहिये परन्तु वातजनित छर्दि रोग में लंघन नहीं करना चाहिये (अपितु कुछ खिलाते-पिलाते रहना चाहिए) । और जो रोगी बलवान् हो तथा उसके उदर में कफ एवं पित्त अधिक हो और वह निरन्तर—वार २ बहुत अधिक मात्रा में या थोड़ी २ वमन कर रहा हो उसे वमन करा देना चाहिये (वमन करा देने से छर्दि शान्त हो जाती है) । इतने पर भी यदि छर्दि शान्त न हो तो वमन के पश्चात् पित्तनिःसारक विरेचन करा देना चाहिये । और वह विरेचन—हृदय को शक्ति देने वाला एवं प्रिय हो तथा दाख—मुनक्का एवं आलु बुखारा आदि फलों के रस के साथ अथवा दूध के साथ देना चाहिये क्योंकि वह विरेचन छर्दि रोग में ऊपर की ओर आने—निकलने वाले विकार को नीचे की ओर ले जाता है । और जो रोगी रूक्ष एवं दुर्बल हो उसे शमन औषध देनी चाहिये क्योंकि उस के लिये वमन विरेचन के स्थान में वही लाभकारी होती है । छर्दि रोग में आहार आदि—भुना चना आदि सूखे, रुचिकर, सात्म्य (स्वभावानुकूल) तथापि लघु अन्न प्रशस्त होते हैं । यदि कुछ भी खाने की इच्छा न हो तो उपवास ही प्रशस्त है । तथा मूँग आदि के जूस, मांस एवं शाकों के रस, काम्बलिक, खड़, शाक, अवलेह (चटनियाँ), भोज्य, राग, खाण्डव, पानक (पन्ना), सूखे एवं विविध प्रकार के (चना चबैना, पकौड़ा आदि) भक्ष्य तथा फल खाने में प्रशस्त होते हैं । और स्नान, घर्षण (मर्दन एवं उबटन), अभीष्ट गन्ध वाले गन्ध, अभीष्ट गन्ध वाले फल, पुष्प, अन्न तथा पान (पीने के पदार्थ) प्रशस्त होते हैं । और भोजन करते ही मुख पर शीतल जल का सेचन भी प्रशस्त होता है ॥१-६॥

छर्दि की विशेष चिकित्सा—

हन्ति मारुतजां छर्दिं सर्पिः पीतं ससैन्धवम् ।
किंचिदुष्णं विशेषेण सकासहृदयद्रवाम् ॥७॥
व्योषत्रिलवणाढ्यं वा सिद्धं वा दाडिमाम्बुना ।
सशुण्ठीदधिधान्येन शृतं तुल्याम्बु वा पयः ॥८॥
व्यक्तसैन्धवसर्पिर्वा फलाम्लो वैष्किरो रसः ।
स्निग्धं च भोजनं शुण्ठीदधिदाडिमसाधितम् ॥९॥
कोष्णं सलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम् ।

व्याख्या—सैन्धव लवण मिश्रित कोसा घृत पीने से वातजनित छर्दि को नष्ट करता है, विशेषतः उस छर्दि को जिस में कास तथा हृदय द्रव (हृदय की गति बढ़ी हुई हो या हृदय धुक धुक कर रहा हो—घबराहट) हो । अथवा—त्रिकटु एवं त्रिलवण से मिश्रित कोसा घृत अथवा अनार के रस के योग से सिद्ध घृत अथवा सोंठ, दही एवं धनियाँ के योग से सिद्ध घृत अथवा काञ्जी अथवा दूध भी वातज छर्दि को नष्ट करता है । और सोंठ, दही, अनार दाना आदि रुचिकर पदार्थों के योग से बनाया गया स्निग्ध तथा कोसा २ लवणयुक्त अन्न भी वातज छर्दि को नष्ट करता है या उस में लाभप्रद होता है । और—एरण्ड तैल आदि का स्निग्ध विरेचन भी प्रशस्त होता है (विरेचन से छर्दि के वेग रुक जाते हैं क्यों कि वायु अनुलोमन हो जाता है) ॥७-९॥

पित्तज छर्दि की चिकित्सा—

पित्तजायां विरेकार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसैस्त्रिवृत् ॥१०॥
सर्पिर्वा तैल्वकं योज्यं वृद्धं च श्लेष्मधामगम् ।
ऊर्ध्वमेव हरेत् पित्तं स्वादुतिक्तैर्विशुद्धिमान् ॥११॥
पिबेन्मन्थं यवागूं वा लाजैः समधुशार्कराम् ।
मुद्गजाङ्गलजैर्द्याद्व्यञ्जनैः शालिषष्टिकम् ॥१२॥
मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं सुशीतं सलिलं पिबेत् ।
मुद्गोशीरकणाधान्यैः सह वा संस्थितं निशाम् ॥१३॥
द्राक्षारसं रसं वेक्षोर्गुडूच्यम्बुपयोऽपि वा ।

जम्ब्वाम्रपल्लवोशीरवटशुङ्गावरोहजः ॥१४॥
क्वाथः क्षौद्रयुतः पीतः शीतो वा विनियच्छति।
छर्दिं ज्वरमतीसारं मूर्च्छां तृष्णां च दुर्जयाम् ॥१५॥
धात्रीरसेन वा शीतं पिबेन्मुद्गदलाम्बु वा।
कोलमज्जसितालाजमक्षिकाविट्कणाञ्जनम् ॥१६॥
लिह्यात्क्षौद्रेण पथ्यां वा द्राक्षां वा बदराणि वा।

व्याख्या—पित्त जनित छर्दि में—विरेचनार्थ—दाख एवं ईख के रस के साथ निसोत का चूर्ण अथवा तिल्वक घृत (अ० २१ वातव्याधि) देवे। यदि पित्त बढ़ा हुआ हो और आमाशय में वर्त्तमान हो तो मधुर एवं तिक्त द्रव्यों के प्रयोग से मुखमार्ग से ही—वमन करा कर ही निकाल देवे। इस प्रकार शोधन हो जाने पर रोगी—भूख लगने पर—यवागू (मण्ड एवं पेया आदि) पीवे अथवा मधु एवं खण्ड मिलाकर लाजा—सत्तू का मन्थ—घोल पीवे। फिर मूँग के जूस के साथ अथवा जांगलदेशीय प्राणियों के मांसरस के साथ शालिधान्य अथवा साठी धान्य के आहार खाने और मिट्टी के ढेले को भूनकर और उसे जल में बुझाकर तथा उस जल को शीतल करके पीवे। और मूँग, खस, पीपल तथा धनिया को दाख के रस में भिगो कर रात्रिभर रख देवे और प्रातःकाल पीवे। अथवा इसी प्रकार ईख के रस में, गिलोय के जल में अथवा दूध में उक्त मूग आदि को भिगोकर प्रातःकाल पीवे। जामुन तथा आम के कोमल पत्तों को, खश, वट के शुङ्ग तथा प्ररोह को लेकर क्वाथ बनावे अथवा हिम बनावे और मधु मिलाकर पीवे। यह योग—छर्दि, ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा तथा कष्टसाध्य तृषा को नष्ट करता है। मूँग के पत्तों का या दाल का पानी शीतल करके आमला का रस घोल कर पीवे। बेरगिरी, मिश्री, लाजा, मक्षिका का पुरीष, पीपल तथा श्वेत सुरमा की भस्म मिलाकर—मधु के साथ चाटे अथवा दाख को अथवा बेर चूर्ण को मधु के साथ चाटे।

वक्तव्य—मक्षिका के विट का प्रयोग यूनानी चिकित्सक करते हैं। श्वेत सुरमा को तपा तपा कर मुलेठी के क्वाथ में बार२ बुझाने से मृदु भस्म तैयार हो जाती है ॥१०-१६॥

कफजनित तृषा की चिकित्सा—

कफजायां वमेन्निम्बकृष्णापीडितसर्षपैः ॥१७॥
युक्तेन कोष्णतोयेन दुर्बलं चोपवासयेत्।
आरग्वधादिनिर्यूहं शीतं क्षौद्रयुतं पिबेत् ॥१८॥
मन्थान् यवैर्वा बहुशश्छर्दिघ्नौषधभावितैः।
कफघ्नमन्नं हृद्यं च रागाः सार्जकभूस्तृणाः ॥१९॥
लीढं मनःशिलाकृष्णामरिचं बीजपूरकात्।
स्वरसेन कपित्थाच सक्षौद्रेण वमिं जयेत् ॥२०॥
खादेत्कपित्थं सव्योषं मधुना वा दुरालभाम्।

व्याख्या कफजनित छर्दि में—निम्ब की छाल, मदन फल तथा सरसों (राई) के कल्क से युक्त कोसे जल से वमन करे और यदि रोगी दुर्बल हो तो उपवास करे। इस प्रकार आमाशय शुद्ध हो जाने पर—आरग्वधादि गण (सू० अ० १५) का क्वाथ; शीतल करके मधु मिला कर पीवे। अथवा—छर्दि नाशक औषधियों से अनेक बार भावित जौ के सत्तुओं का मन्थ पीवे। कफ नाशक तथा रुचिकारक अन्न खावे और अर्जक (सुगन्धितुलसी का भेद-नाजबू) तथा सुगन्धितृण के राग (चटनियाँ) खावे। शुद्ध मैनसिल, पीपल तथा मरिच का चूर्ण—बिजौरा निम्बू के रस अथवा कैथ के रस के साथ मधु मिलाकर चाटने से छर्दिको नष्ट करता है। अथवा—त्रिकटु मिश्रित कैथ का गूदा खावे अथवा जवासा को मधु में मिला कर चाटे।

वक्तव्य—किसी२ प्रति में इस के आगे निम्न पाठ पाया जाता है—यथा—

लिह्यात् मरिचचोचैलागोशकृत्--रसमाक्षिकम्।

अर्थात्—मरिच, दालचीनी बड़ी इलायची, गौ के गोबर का रस तथा मधु मिलाकर चाटे। यह पाठ हेमाद्रिसम्मत भी है। मैनसिल को अदरक के रस में सात बार या तीन बार पीस कर शुद्ध कर लिया जाता है ॥१७-२०॥

अन्यान्य छर्दियों की चिकित्सा का संकेत

अनुकूलोपचारेण याति द्विष्टार्थजा शमम् ॥२१॥
कृमिजा कृमिहृद्रोगगदितैश्च भिषग्जितैः।
यथास्वं परिशेषाश्च तत्कृताश्च तथामयाः ॥२२॥

व्याख्या—द्विष्ट-शब्द स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के कारण उत्पन्न छर्दि भली भाँति छर्दि हो जाने पर अनुकूल—अभीष्ट शब्द आदि के प्रयोग से शान्त हो जाती है। कृमि जनित छर्दि—कृमिज हृद्रोग नाशन चिकित्सा से (कृमिनाशक चिकित्सा अ० २० में देखिये) शान्त हो जाती है। और विसूची आदि में उत्पन्न छर्दियाँ और छर्दि से उत्पन्न अन्यान्य रोग—मूल रोगानुसार तथा दोषानुसार चिकित्सा से शान्त हो जाते हैं ॥२१,२२॥

छर्दि में वायुप्रकोप की चिकित्सा—

छर्दिप्रसङ्गेन हि मातरिश्वा
धातुक्षयात्कोपमुपैत्यवश्यम्।
कुर्यादतोऽस्मिन् वमनातियोग-
प्रोक्तं विधिं स्तम्भनबृंहणीयम् ॥२३॥
सर्पिर्गुडा मांसरसा घृतानि
कल्याणक-त्र्यूषण-जीवनानि।
पयांसि पथ्योपहितानि लेहा-
श्छर्दिप्रसक्तां प्रशमं नयन्ति ॥२४॥

व्याख्या—अधिक छर्दि होने से—रस आदि धातुओं का क्षय होने के कारण—वायु अवश्य कुपित हो जाता है इसलिये इस दशा में—वमनातियोग में कही गयी चिकित्सा (देखिये क० स्था० अ० ३) को और स्तम्भन तथा बृंहण चिकित्सा करे। स्तम्भन एवं बृंहण चिकित्सा का संकेत—कासरोग तथा राजयक्ष्मा में बतलाए गये सर्पिर्गुड, मांस रस, कल्याणक घृत, त्र्यूषण घृत तथा जीवनी घृत, पथ्य द्रव्यों के योग से सिद्ध दूध तथा अवलेह योग—निरन्तर होने वाली छर्दि को शान्त कर देते हैं ॥२३,२४॥

इति छर्दि चिकित्सा।

अथ हृद्रोग चिकित्सा—

हृद्रोगे वातजे तैलं मस्तुसौवीरतक्रवत्।
पिबेत्सुखोष्णं सविडं गुल्मानाहार्तिजिच्च तत् ॥२५॥
तैलं च लवणैः सिद्धं समूत्राम्लं तथागुणम्।
बिल्वं रास्नां यवान्कोलं देवदारुं पुनर्नवाम् ॥२६॥
कुलत्थान्पञ्चमूलं च पक्त्वा तस्मिन्पचेज्जले।
तैलं तन्नावने पाने वस्तौ च विनियोजयेत् ॥२७॥
शुण्ठीवयस्थालवणकायस्थाहिंगुपौष्करैः।
पथ्यया च शृतं पार्श्वहृद्रुजागुल्मजिद् घृतम् ॥२८॥
सौवर्चलस्य द्विपले पथ्यापञ्चाशदन्विते।
घृतस्य साधितः प्रस्थो हृद्रोगश्वासगुल्मजित् ॥२९॥
पुष्कराह्वशठीशुण्ठीबीजपूरजटाऽभयाः।
पीताः कल्कीकृताः क्षारघृताम्ललवणैर्युताः ॥३०॥
विकर्तिका शूलहराः क्वाथः कोष्णश्च तद्गुणः।
यवानीलवणक्षारवचाऽजाज्यौषधैः कृतः ॥३१॥
सपूतिदारुबीजाह्वविजयाशठिपौष्करैः।
पञ्चकोलशठीपथ्यागुडबीजाह्वपौष्करम् ॥३२॥
वारुणीकल्कितं भृष्टं यमके लवणान्वितम्।
हृत्पार्श्वयोनिशूलेषु खादेद् गुल्मोदरेषु च ॥३३॥
स्निग्धाश्चेह हिताः स्वेदाः संस्कृतानि घृतानि च।
लघुना पञ्चमूलेन शुंठ्या वा साधितं जलम् ॥३४॥
वारुणीदधिमण्डं वा धान्याम्लं वा पिबेत्तृषि।
सायामस्तम्भशूलाभे हृदि मारुतदूषिते ॥३५॥
क्रियैषा सद्रवायामप्रमेहे तु हिता रसाः।
स्नेहाढ्यास्तित्तिरिक्रौञ्चशिखिवर्तकदक्षजाः ॥३६॥
बलातैलं सहृद्रोगः पिबेद्वा सुकुमारकम्।
यष्ट्याह्वशतपाकं वा महास्नेहं तथोत्तमम् ॥३७॥
रास्नाजीवकजीवन्तीबलाव्याघ्रीपुनर्नवैः।
भार्ङ्गीस्थिरावचाव्योषैर्महास्नेहं विपाचयेत् ॥३८॥
दधिपादं तथाम्लैश्च लाभतः स निषेवितः।
तर्पणो बृंहणो बल्यो वातहृद्रोगनाशनः ॥३९॥
दीप्तेऽग्नौ सद्रवायामे हृद्रोगे वातिके हितम्।
क्षीरं दधि गुडः सर्पिरौदकानूपमामिषम् ॥४०॥
एतान्येव च वर्ज्यानि हृद्रोगेषु चतुर्ष्वपि।
शेषेषु स्तम्भजाड्यामसंयुक्तेऽपि च वातिके ॥४१॥

व्याख्या—वातजनित हृद्रोग में—मस्तु (दही का पानी), काञ्जी अथवा तक्र में मिलाकर तैल कोसा करके पीवे और इसमें विड़ लवण मिला कर पीवे तो वह गुल्म एवं आनाह की वेदना को नष्ट करता है। और पञ्चलवण से सिद्ध तैल— गोमूत्र एवं काञ्जी में मिला कर पीवे तो वातज हृद्रोग गुल्म तथा आनाह को नष्ट करता है। बिलगिरी, रासना, जौ, बेर, देवदारु, पुनर्नवा, कुलथी तथा पञ्चमूल का क्वाथ करे फिर उस क्वाथ में तैल सिद्ध करे और उस तैल का नस्य में, पीने में तथा वस्ति में प्रयोग करे। सोंठ आमला, लवण, काकोली, हिंगु, पोहकर मूल तथा हरड़ के योग से सिद्ध घृत—पार्श्वशूल, हृद्रोग तथा गुल्म को नष्ट करता है। सोंचर लवण २ पल, हरड ५० दाना तथा घृत १ प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध करे। यह घृत हृद्रोग, श्वास तथा गुल्म को नष्ट करता है। किसी किसी प्रति में इसके आगे यह श्लोक है—

दाडिमं कृष्णलवणं शुण्ठी हिंग्वम्लवेतसम्।
अपतन्त्रकहृद्रोगश्वासघ्नं चूर्णमुत्तमम्।

अर्थात् — अनार दाना, काला लवण, सोंठ, घृतभर्जित हींग तथा अम्ल वेत का चूर्ण – अपतन्त्रक, हृदयरोग तथा श्वास को नष्ट करता है। अथवा पोहकर मूल, कचूर, सोंठ, बिजौरा की जड़ की छाल तथा हरड़ का कल्क बनाकर और जौ खार, घृत, काञ्जी तथा लवण में मिलाकर पीने से—विकर्त्तिका (कर्त्तनवत् खरोंच) से युक्त हृदयशूल शान्त होता है। अथवा—अजवायन, लवण, जौखार, वालवच, जीरा तथा सोंठ का क्वाथ अथवा पूतिकरञ्ज, देवदारु, विजयसार, हरड़, कचूर तथा पोहकर मूल का क्वाथ—कोसा २ पीने से भी वही लाभ होता है जो ऊपर वाले कल्क से होता है। पञ्च कोल, कचूर, हरड़, गुड़, विजयसार तथा पोहकर मूल का वारुणी में कल्क करे फिर उसे घृत एवं तैल में तल लेवे और लवण मिला कर हृदय शूल, पार्श्वशूल तथा योनि शूल में और गुल्म रोग एवं उदररोग में खावे। वातजनित हृद्रोग में—स्निग्ध स्वेदन तथा संस्कृत घृत लाभप्रद होते हैं। और तृषा लगने पर—लघु पञ्चमूल अथवा सोंठ के योग से परिपक्व जल अथवा वारुणीमण्ड (ताड़ी) अथवा काञ्जी पीवे। यही सब चिकित्सा—आयाम (अन्तरायाम), स्तम्भ (धनुःस्तम्भ), शूल तथा आमदोष में एवं वायु द्वारा हृदय दूषित होने पर करनी चाहिये। और हृदयद्रव (धुकधुकी) में, आयाम में तथा

मोह में—तीतर, क्रौञ्च, मोर, वत्तख तथा मुरगा के स्नेह मिश्रित मांस रस लाभप्रद होते हैं। हृद्रोग का रोगी—बला तैल (चि० अ० २१ तथा शा० अ० २) अथवा कुमारक तैल (चि० अ० १३) अथवा यष्टि शतपाक (मुलेठी के क्वाथ एवं कल्क के योग से १०० बार पक्व तैल) अथवा महास्नेह (चि० अ० २१) नामक तैल का पान करे। एक अन्य महास्नेह—रास्ना, जीवक, जीवन्ती, बला, कण्टकारी, पुनर्नवा, भारंगी, शालपर्णी, वचा तथा त्रिकटु के कल्क, चतुर्थांश दही एवं चतुर्गुण काञ्जी आदि यथालाभ अम्ल द्रवों के योग से परिपक्व महास्नेह (घृत, तैल, वसा एवं मज्जा नामक चारों स्नेह मिलाकर) सिद्ध करे। यह स्नेह - सेवन किया गया—तर्पण है, बृंहण है बल वर्द्धक है तथा वातज हृद्रोग नाशक है। अग्नि प्रदीप्त हो, हृदयद्रव से तथा हृदयायाम से युक्त वातज हृद्रोग हो तो दूध, दही, गुड़, घृत तथा मछली आदि औदक प्राणियों का एवं सूअर आदि आनूप प्राणियों का मांस लाभदायक होता है परन्तु यह सब अन्यान्य चारों प्रकार के हृद्रोगों में त्याज्य होते हैं—हानिकारक होते हैं। विशेषतः स्तम्भ (हृदय की गति में रुकावट), जड़ता (हृदय की गति में मन्दता) तथा आमदोष से युक्त वातज हृद्रोग में भी उक्त दूध आदि द्रव्य त्याज होते हैं।२५-४१।

हृद्रोग की चिकित्सा—

कफानुबन्धे तस्मिंस्तु रूक्षोष्णामाचरेत्क्रियाम्।

व्याख्या—वातज हृद्रोग में कफ का अनुबन्ध होने पर—रूक्ष एवं उष्ण चिकित्सा करे।

पित्त जनित हृद्रोग की चिकित्सा—

पैत्ते द्राक्षेक्षुनिर्याससिताक्षौद्रपरूषकैः ॥४२॥
युक्तो विरेको हृद्यः स्यात् क्रमः शुद्धे च पित्तहा।
क्षतपित्तज्वरोक्तं च बाह्यान्तःपरिमार्जनम् ॥४३॥
कट्वीमधुककल्कं च पिबेत्ससितमम्भसा।
श्रेयसीशर्कराद्राक्षाजीवकर्षभकोत्पलैः॥४४॥
बलाखर्जूरकाकोलीमेदायुग्मैश्च साधितम्।
सक्षीरं माहिषं सर्पिः पित्तहृद्रोगनाशनम् ॥४५॥
प्रपौण्डरीकमधुकबिसग्रन्थिकसेरुकाः।
सशुण्ठीशैवलास्ताभिः सक्षीरं विपचेद् घृतम् ॥४६॥
शीतं समधु तच्चेष्टं स्वादुवर्गकृतं च यत्।
बस्तिं च दद्यात्सक्षौद्रं तैलं मधुकसाधितम् ॥४७॥

व्याख्या—पित्त जनित हृद्रोग में—दाख एवं ईख के रस, खाण्ड, मधु एवं फालसा के संयोग से दिया गया विरेचन—हृदय के लिये लाभदायक होता है और विरेचन द्वारा शुद्धि हो जाने पर पित्त नाशक पेया आदि क्रम या चिकित्सा करे। और उरःक्षत एवं क्षतज कास तथा पित्तज्वर में कही गई बाहिरी एवं भीतरी शुद्धि की व्यवस्था करे। विरेचनार्थ—कुटकी एवं मुलेठी का कल्क मिशरी मिलाकर जल के साथ पीवे (या मिशरी के शर्बत के साथ पीवे च०चि०अ० २६ श्लोक० ६१)। गजपीपल, खाण्ड, दाख, जीवक, ऋषभक, कमल, बलामूल, खजूर, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा तथा महामेदा के कल्क तथा भैंस के दूध के योग से सिद्ध किया गया भैंस का घृत—पित्तज हृद्रोग को नष्ट करता है। पुण्डेरिया, मुलेठी, बिस की ग्रन्थि, कसेरु, सोंठ तथा सिवार (काई) इन सब के तथा दूध के योग से सिद्ध किया गया घृत, शीतल होने पर मधु मिलाकर खाने से हृद्रोग में लाभ करता है और मधुर वर्ग (सू० अ० १०) के उपयुक्त द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत भी हृद्रोग में लाभ करता है। और मुलेठी के योग से सिद्ध किया गया तैल—मधु मिला कर वस्ति में प्रयुक्त करे ॥४२-४७।

कफज हृद्रोग की चिकित्सा—

कफोद्भवे वमेत्स्विन्नः पिचुमन्द-वचाम्बुना।
कुलत्थधन्वोत्थरसतीक्ष्णमद्ययवाशनः ॥४८॥
पिबेच्चूर्णं वचाहिंगुलवणद्वयनागरात्।
सैला-यवानीक-कणा-यवक्षारात् सुखाम्बुना ॥४९॥
फलधान्याम्लकौलत्थयूषमूत्रासवैस्तथा।
पुष्कराह्वाभयाशुण्ठीशठीरास्नावचाकणाः ॥५०॥
क्वाथं तथाऽभयाशुण्ठीमाद्रीपीतद्रुकट्फलात्।
क्वाथे रौहीतकाश्वत्थखदिरोदुम्बरार्जुने ॥५१॥
सपलाशवटे व्योषत्रिवृच्चूर्णान्विते कृतः।
सुखोदकानुपानस्य लेहः कफविकारहा ॥५२॥
श्लेष्मगुल्मोदिताऽऽज्यानि क्षारांश्च विविधान् पिबेत्।
प्रयोजयेच्छिलाह्वं वा ब्राह्मं चात्र रसायनम् ॥५३॥
तथामलकलेहं वा प्राश्यं वाऽगस्तिनिर्मितम्।

व्याख्या—कफ जनित हृद्रोग में—प्रथम स्वेदन कर और फिर निम्ब के पत्र तथा बालवच के क्वाथ से वमन करे तदनन्तर कुलथी की दाल— जूस) के साथ अथवा जाङ्गल प्राणियों के मांस रस के साथ जौ का दलिया या रोटी खावे और साथ में किसी तीक्ष्ण मद्य का पान करे। और बालवच, घृत भर्जित हींग, सैन्धव लवण, सौंचर लवण, सोंठ, बड़ी इलायची, अजवायन, पीपल, तथा जौखार का चूर्ण—उष्ण जल से पीवे (खाया करे) अथवा फलों के अम्लरसों के साथ, धान्याम्लों (काञ्जियों) के साथ, कुलथी के यूष के साथ, गोमूत्र के साथ अथवा आसव के साथ पीवे। तथा पोहकर मूल, हरड़, सोंठ, कचर, रास्ना बालवच तथा पीपल का चूर्ण उक्त उष्ण

जल आदि के साथ पीवे। तथा हरड़, सौंठ, अतीस दारुहल्दी तथा कायफल का क्वाथ पीवे। रोहिडा, पीपल वृक्ष की छाल, खैरसार, गूलर तथा अर्जुन की छाल, पलाश तथा वट की छाल के क्वाथ में त्रिकटु तथा निसोत का चूर्ण मिला कर बनाया गया अवलेह खावे और अनुपान में कोसा जल पीवे। यह कफ के सभी विकारों को नष्ट करता है। कफज गुल्म की चिकित्सा (चि०अ०१४) में कहे गये घृतों तथा विविध प्रकार के क्षारीय योगों का पान करे। और—शिलाजतु रसायन (उ० अ० ३९) अथवा ब्राह्म रसायन (उ०अ०३९) अथवा आमलक रसायन (च्यवनप्राश—उ०अ०३९) अथवा अगस्त्य महर्षि निर्मित प्राश्य (चि० अ० ३) प्रयोग करे ॥४८-५३॥

अथ शूल चिकित्सा—

स्याच्छूलं यस्य भुक्तेऽन्ने जीर्यत्यल्पं जरां गते ॥५४॥
शाम्येत्सकुष्ठकृमिजिल्लवणद्वयतिल्वकैः।
सदेवदार्वतिविषैश्चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥५५॥
यस्य जीर्णेऽधिकं स्नेहैः स विरेच्यः फलैः पुनः।
जीर्यत्यन्ने तथा मूलैस्तीक्ष्णैः शूले सदाधिके ॥५६॥
प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गतः।
तस्यानुलोमनं कार्यं शुद्धिलंघनपाचनैः ॥५७॥

व्याख्या—जिस के हृदय में अथवा उदर में—भोजन करने पर शूल होता हो और भोजन पचते समय घट जाता हो और पच जाने पर शान्त हो जाता हो वह रोगी—कूठ, विडङ्ग, सैन्धव लवण, सौञ्चर लवण, लोध, देवदारु तथा अतीस का चूर्ण—उष्ण जल के साथ पीवे। जिस के हृदय में (अथवा उदर में)—भोजन पच जाने पर अधिक शूल हो उस रोगी को—एरण्ड तैल आदि स्नेह पिला कर विरेचन करे। जिस के भोजन पचते समय शूल हो उसे मुनक्का आदि फलों से विरेचन देवे और जिसे सर्वथा शूल हो उसे दन्ती आदि मूल विरेचन द्रव्यों से विरेचन देवे। प्रायः आमाशय गत वायु की गति रुक जाने से शूल होता है अतः वमन विरेचन द्वारा, उपवास द्वारा तथा पाचन चिकित्सा द्वारा वायु का अनुलोमन करे।

वक्तव्य—विरेचन फल—मृद्वीकाऽथ विडंगानि खर्जूराणि परूपकम्। आरग्वधोऽथाऽमलकहरीतक्यो विभीतकम्। कम्पिल्लकोपचित्रे च त्रपुषं च मुकूलकम्। नीलिका कुवलं पीलु भवेत् फलविरेचनम्। विरेचन मूल—सप्तला शंखिनी दन्ती द्रवन्ती गिरिकर्णिका। त्रिवृत् श्यामोदकीर्या च प्रकीर्या क्षीरिणी तथा। छगलाण्डी गवाक्षी च कुचाक्षी गिरिकर्णिका। मसूरं विदला चैव भवेत् मूलविरेचने। और देखिये च० सू० १० १ ॥५४-५७।

कृमिज हृद्रोग चिकित्सा—

कृमिघ्नमौषधं सर्वं कृमिजे हृदयामये।

व्याख्या—कृमि जनित हृद्रोग में सब प्रकार की कृमि नाशक चिकित्सा करे।

वक्तव्य—देखिये चि० अ० २०। तथा च० वि० अ० ७ और च. सू. अ. १७ श्लो० ३०-४०। तथा सु. उ. अ. ४३।

अथ तृष्णा चिकित्सा—

तृष्णासु वातपित्तघ्नो विधिः प्रायेण युज्यते ॥५८॥
सर्वासु शीतो बाह्यान्तस्तथा शमनशोधनम्।
दिव्याम्बु शीतं सक्षौद्रं तद्वद्भौमं च तद्गुणम् ॥५९॥
निर्वापितं तप्तलोष्टकपालसिकतादिभिः।
सशर्करं वा क्वथितं पञ्चमूलेन वा जलम् ॥६०॥
दर्भपूर्वेण मन्थश्च प्रशस्तो लाजसक्तुभिः।
वाट्यश्चामयवैः शीतः शर्करामाक्षिकान्वितः ॥६१॥
यवागूः शालिभिस्तद्वत्कोद्रवैश्च चिरन्तनैः।
शीतेन शीतवीर्यैश्च द्रव्यैः सिद्धेन भोजनम् ॥६२॥
हिमाम्बुपरिषिक्तस्य पयसा ससितामधु।
रसैश्चानम्ललवणैर्जाङ्गलैर्घृतभर्जितैः ॥६३॥
मुद्गादीनां तथा यूषैर्जीवनीयरसान्वितैः।
नस्यं क्षीरघृतं सिद्धं शीतैरिक्षोस्तथा रसः ॥६४॥
निर्वापणाश्च गण्डूषाः सूत्रस्थानोदिता हिताः।
दाहज्वरोक्ता लेपाद्या निरीहत्वं मनोरतिः ॥६५॥
महासरिद्ध्रदादीनां दर्शनस्मरणादि च।

व्याख्या—तृष्णा की सामान्य चिकित्सा—प्रायः सभी प्रकार की तृषाओं में वातपित्त शामक चिकित्सा करे। और बाहिरी एवं भीतरी शीतल उपचार करे तथा शमन अथवा शोधन चिकित्सा की भी व्यवस्था करे। पीने के लिये—आकाश—मेघ का पानी, मधुमिश्रित शीतल पानी, कूप आदि का स्वच्छ पानी—शीतल एवं मधु मिश्रित, वह पानी जिसमें—तपा हुआ ढेला-ईंट या पाषाण, कपाल अथवा बालू बुझाया गया हो, खण्ड का पानी अथवा तृण पञ्चमूल से परिपक्व पानी देवे और उस के लिये—लाजा के सत्तुओं का मन्थ-घोल भी प्रशस्त होता है। खाने के लिये—कच्चे जौओं का वाट्य—दलिया-शीतल करके खण्ड एवं मधु मिलाकर देवे। अथवा इसी प्रकार से शालिधान्यों की यवागू अथवा पुराने कोदों की यवागू देवे। अथवा शीतवीर्य द्रव्यों के योग से सिद्ध दूध के साथ भोजन देवे। अथवा शीतल जल से स्नान कराकर खण्ड एवं मधु से युक्त भोजन दूध के साथ देवे। अथवा—जीवनीय गण के योग से सिद्ध मूँग आदि के यूष के

साथ भोजन देवे। तृषा में नस्य—शीतल द्रव्यों के योग से सिद्ध दूध का घृत अथवा ईख का रस नस्य में देवे। तृषा में गण्डूष—सूत्र स्थान अ० २२ में कहे गये दाह शामक गण्डूष भी लाभ करते हैं। और दाहयुक्त ज्वर (चि० अ० १) की शान्ति के लिये लिखे गये लेप एवं सेचन आदि की व्यवस्था करे। और तृषा शान्ति के लिये—चेष्टा रहित रहना-विश्राम करना, मानसिक प्रसन्नता या निश्चिन्तता, बड़ी २ नदियों एवं झीलों का दर्शन एव स्मरण-ध्यान भी लाभदायक होता है ॥५८-६५॥

तृषा की विशेष चिकित्सा

वातज-तृषा की चिकित्सा—

तृष्णायां पवनोत्थायां सगुडं दधि शस्यते ॥६६॥
रसाश्च बृंहणाः शीता विदार्यादिगणाम्बु वा।

व्याख्या—वातजनित तृषा में—गुड मिला दही पीवे। पुष्टिकारक मांस रस जो शीतल हों पीवे अथवा विदार्यादि गण (सू० अ० १५) का हिम पीवे ॥६६।

पित्तज तृषा की चिकित्सा—

पित्तजायां सितायुक्तः पक्वोदुम्बरजो रसः ॥६७॥
तत्क्वाथो वा हिमस्तद्वत्सारिवादिगणाम्बु वा।
तद्विधैश्च गणैः शीतकषायान् ससितामधून् ॥६८॥
मधुरैरौषधैस्तद्वत् क्षीरिवृक्षैश्च कल्पितान्।
बीजपूरकमृद्वीकावटवेतसपल्लवान् ॥६९॥
मूलानि कुशकाशानां यष्ट्याह्वं च जले शृतम्।
ज्वरोदितं वा द्राक्षादि पञ्चसाराम्बु वा पिबेत् ॥७०॥

व्याख्या - पित्तजनित तृषा में—पके गूलर का रस खण्ड मिला कर अथवा उस का क्वाथ शीतल करके, अथवा उसका हिम खण्ड मिला कर अथवा सारिवादिगण (सू० १५) का रस या पानी पीवे। अथवा इसी प्रकार के शीतवीर्य गणों के शीत कषाय हिम-फाण्ट एवं मधु मिलाकर के पीवे इसी प्रकार मधुर रस वाले द्रव्यों के अथवा क्षीरि वृक्षों के कषाय-क्वाथ एवं हिम-फाण्ट आदि बना कर पीवे। अथवा—बिजौरा निम्बू, मुनक्का, वट तथा बेंत के कोमल पत्रों, कुश तथा काश की जड़ों को और मुलेठी को जल में पका कर पीवे। अथवा ज्वर चिकित्सा (चि० अ० १) में कहा गया द्राक्षादि फाण्ट अथवा हिम अथवा पंचसार योग (चि० अ० २) पीवे ॥६७-७०।

कफज तृषा की चिकित्सा—

कफोद्भवायां वमनं निम्बप्रसववारिणा।
बिल्वाढकीपञ्चकोलदर्भपञ्चकसाधितम् ॥७१॥
जलं पिबेद्रजन्या वा सिद्धं सक्षौद्रशर्करम्।
मुद्गयूषं च सव्योषपटोलीनिम्बपल्लवम् ॥७२॥
यवान्नं तीक्ष्णकवल-नस्य-लेहांश्च शीलयेत्।

व्याख्या—कफजनित तृषा में—निम्ब के पत्तों के क्वाथ से वमन करे। बिलगिरी (या बिल के पत्र), अरहर के पत्र, पीपल, पीपलामूल चव्य, चित्ता, सोंठ-तथा तृण पंचमूल के योग से सिद्ध किया गया जल पीवे। अथवा हल्दी के योग से सिद्ध किया गया जल मधु एवं खण्ड मिलाकर पीवे।

खाने के लिए आहार—त्रिकटु, परवल एवं निम्ब के पत्रों के योग से बनाया गया मूंग का जूस तथा जौ का दलिया आदि अन्न खावे। और त्रिकटु आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के कवल- गण्डूष तथा नस्य एवं अवलेह आदि का सेवन करे ॥७१,७२॥

त्रिदोषज एवं आमज तृषा की चिकित्सा—

सर्वैरामाच्च तद्धन्त्री क्रियेष्टा वमनं तथा ॥७३॥
त्र्यूषणारुष्करवचाफलाम्लोष्णाम्बुमस्तुभिः।

व्याख्या—त्रिदोष तथा आमाजीर्ण से उत्पन्न तृषा में—त्रिदोष शामक तथा आम नाशक-पाचन चिकित्सा करे और आवश्यकता हो तो-त्रिकटु, भिलावा, बालवच, अम्लफलों के रस, उष्ण जल अथवा दही के पानी से वमन करावे ॥७३॥

अन्यान्य तृषाओं की चिकित्सा—

अन्नात्ययान्मण्डमुष्णं हिमं मन्थं च कालवित् ॥७४॥
तृषि श्रमान्मांसरसं मद्यं वा ससितं पिबेत्।
आतपात्ससितं मन्थं यवकोलाम्बुसक्तुभिः ॥७५॥
सर्वाण्यङ्गानि लिम्पेच्च तिलपिण्याककाञ्जिकैः।
शीतस्नानात्तु मद्याम्बु पिबेत्तृण्मान् गुडाम्बु वा ॥७६॥
मद्यादर्धजलं मद्यं स्नातोऽम्ललवणैर्युतम्।
स्नेहात्तीक्ष्णतराग्निस्तु स्वभावशिशिरं जलम् ॥७७॥
स्नेहादुष्णाम्बु जीर्णात्तु जीर्णान्मण्डं पिपासितः।
पिबेत्स्निग्धान्नतृषितो हिमस्पर्धि गुडोदकम् ॥७८॥
गुर्वाद्यन्नेन तृषितः पीत्वोष्णाम्बु तदुल्लिखेत्
क्षयजायां क्षयहितं सर्वं बृंहणमौषधम् ॥७९॥
कृशदुर्बलरूक्षाणां क्षीरं छागो रसोऽथवा।
क्षीरं च सोर्ध्ववातायां क्षयकासहरैः शृतम् ॥८०॥
रोगोपसर्गजातायां धान्याम्बु ससितामधु।
पाने प्रशस्तं सर्वा च क्रिया रोगाद्यपेक्षया ॥८१॥

व्याख्या—उपवास करने से उत्पन्न तृषा में काल एवं सात्म्य आदि का विचार करके-वैद्य-उष्ण मण्ड अथवा शीतल मन्थ-सत्तू का घोल देवे। परिश्रम से उत्पन्न

तृषा में - मांस रस अथवा खण्ड मिला कर मद्य देवे। धूप लगने से उत्पन्न तृषा में—जौ के सत्तुओं को वेर चूर के जल में घोल कर और खण्ड मिला कर पीवे और तिलों की खली को काञ्जी में पीस कर समस्त शरीर पर लेप करे अत्यन्त शीतल जल में स्नान करने से उत्पन्न तृषा में—जल में सुरा मिलाकर पीवे अथवा गुड़ का शर्बत पीवे। मद्यपान से उत्पन्न तृषा में—स्नान करके-आधी मात्रा में जल मिला कर और उसमें निम्बू का रस तथा लवण मिला कर सुरा पीवे। स्नेह पान से जिसकी अग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो जाने पर तृषा उत्पन्न हो जाय वह स्वभावतः शीतल जल का पान करे। स्नेह के अजीर्ण से उत्पन्न तृषा में—उष्ण जल पीवे और स्नेह पच जाने पर तृषा लगे तो मण्ड पीवे। स्निग्ध आहार खाने से उत्पन्न तृषा में—हिम (वर्फ) का सा शीतल गुड़ का शर्बत पीवे। गुरु, अम्ल तथा लवण आदि खाने से उत्पन्न तृषा में उष्ण जल पीकर वमन कर देवे। धातुक्षय से उत्पन्न तृषा में—क्षयरोग में लाभदायक सब प्रकार की बृंहण चिकित्सा करे। कृश, दुर्बल तथा रूक्ष रोगियों की तृषा में—दूध अथवा बकरा के मांस का रस लाभ करता है। ऊर्ध्ववात (उद्गार एवं छर्दि) से युक्त तृषा में—क्षयजकास नाशक द्रव्यों के योग से परिपक्व दूध लाभदायक होता है। विसूची एवं ज्वर आदि रोगों में उपद्रव रूप से उत्पन्न तृषा में - धनियाँ का जल-खण्ड एवं मधु मिला कर पीना चाहिये और सब चिकित्सा मूल रोग के अनुसार करनी चाहिये ॥७४-८१॥

तृषा की भीषणता—

तृष्यन् पूर्वामयक्षीणो न लभेत जलं यदि।
मरणं दीर्घरोगं वा प्राप्नुयात्त्वरितं ततः ॥८२॥
सात्म्यान्नपानभैषज्यैस्तृष्णां तस्य जयेत्पुरः।
तस्यां जितायामन्योऽपि शक्यो व्याधिश्चिकित्सितुम्॥

व्याख्या—ज्वर आदि किसी पूर्वोत्पन्न रोग से क्षीण-कृश एवं दुर्बल रोगी—तृषा लगने पर यदि जल नहीं पाता तो वह मृत्यु को अथवा किसी दीर्घ रोग को प्राप्त करता है इस लिये—उस रोगी की तृषा को—अनुकूल अन्न, पान (पीने के पदार्थों) तथा औषधों के प्रयोग से शीघ्रातिशीघ्र सब से प्रथम शान्त करने का प्रयत्न करे। और तृषा शान्त होने पर दूसरे रोग—धीरे धीरे भी शान्त किये जा सकते हैं।

वक्तव्य—तृषा लगने पर जल अथवा कोई भी द्रव पीना आवश्यक है—अन्यथा—

तृषितो मोहमायाति मोहात् प्राणान् विमुञ्चति।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु न क्वचित् वारि वार्यते।
अन्नेनाऽपि विना जन्तुः प्राणान् धारयते चिरम्।
तोयाऽभावात् पिपासार्तः क्षणात् प्राणैः विमुच्यते।

इस लिए तृषा की चिकित्सा शीघ्र करे। तृषा लगने पर यदि जल नहीं मिलता तो मूर्च्छा हो जाती है तब भी नहीं मिलता तो मृत्यु हो जाती है। अन्न के बिना कई दिन प्राणी जीवित रह सकता है परन्तु जल के बिना शीघ्र ही मर जाता है। यही उक्त श्लोकों का भावार्थ है ॥८२,८३॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने षष्ठोऽध्यायः ।६।

सप्तमोऽध्यायः

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब मदात्यय, मद, मूर्च्छा तथा सन्यास की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—मदात्यय आदि की चिकित्सा च. सू. अ. २४ तथा च. चि. अ. २४ में और सु. उ. अ.४६-४७ में देखिये अ. सं. चि. अ. ९ भी देखिये। इनका निदान देखिये नि. अ. ८ में।

मदात्यय की सामान्य चिकित्सा—

यं दोषमधिकं पश्येत्तस्यादौ प्रतिकारयेत्।
कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यदोषे मदात्यये ॥१॥
पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः।
हीनमिथ्यातिपीतेन यो व्याधिरुपजायते ॥२॥
समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति।
मद्यस्य विषसादृश्याद् विषं तूत्कर्षवृत्तिभिः ॥३॥
तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्योगाद्विपान्तरमपेक्षते।
तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना ॥४॥
मद्येनान्नरसक्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः।
यान्कुर्यान्मदतृण्मोहज्वरान्तर्दाहविभ्रमान् ॥५॥
मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः।
सुतीव्रा वेदना याश्च शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥६॥
जीर्णाममद्यदोषस्य प्रकाङ्क्षालाघवे सति।
यौगिकं विधिवद्युक्तं मद्यमेव निहन्ति तान् ॥७॥
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।
मद्यमम्लेषु च श्रेष्ठं दोषविष्यन्दनादलम् ॥८॥
तीक्ष्णोष्णाद्यैः पुरा प्रोक्तैर्दीपनाद्यैस्तथा गुणैः।
सात्म्यत्वाच्च तदेवास्य धातुसाम्यकरं परम् ॥९॥
सप्ताहमष्टरात्रं वा कुर्यात्पानात्ययौषधम्।
जीर्यत्येतावता पानं कालेन विपथाश्रितम् ॥१०॥

परं ततोऽनुबध्नाति यो रोगस्तस्य भेषजम् ।
यथायथं प्रयुञ्जीत कृतपानात्ययौषधः ॥११॥

व्याख्या—मदात्यय में जिस दोष को अधिक बलवान् देखे प्रथम उसी का प्रतीकार (चिकित्सा) करे ।

यदि मदात्यय में सभी दोष समान हों तो कफ के आमाशय एवं शिर आदि स्थानों की आनुपूर्वी से चिकित्सा करे (अर्थात् कफ की शान्ति का उपाय करे)। क्योंकि मदात्यय में प्रायः अन्त में पित्त एवं वायु का प्रभाव बढ़ता है—प्रथमावस्था में कफ ही प्रधान रहता है मद्य के हीन योग, मिथ्यायोग अथवा अतियोग (हीनपान मिथ्यापान तथा अतिपान) से जो रोग उत्पन्न होता है वह मद्य के सम्यग्योग (सम पान-विधि पूर्वक पीने) से शान्त हो जाता है । क्योंकि मद्य विष के सदृश होती है अतः मद्योत्थ रोग मद्य से ही शान्त हो जाता है । परन्तु विष में तीक्ष्ण एवं उष्ण आदि दस गुण अत्यन्त उत्कृष्ट-तीव्र होते हैं इसलिए वह विष अन्य प्रकार (स्थावर विष जंगम विष की और जंगम विष स्थावर विष को) की विष की अपेक्षा करती है अर्थात् स्थावर जंगम से और जंगम स्थावर विष से शान्त होती है और तीक्ष्ण, उष्ण, मात्रा में अधिक अम्ल तथा विदाहकारी मद्य पीने से अन्न रस का क्लेद विदग्ध होकर और क्षारीय होकर जिन-मद, तृषा, मोह, ज्वर अन्तर्दाह तथा मनोविभ्रम नामक रोगों को उत्पन्न करता है और मद्य से बढ़े हुए दोष (कफ) से स्रोतों में अवरुद्ध होकर वायु शिर में अस्थियों में तथा सन्धियों में जिन अत्यन्त तीव्र वेदनाओं को उत्पन्न करता है उन सब को—कुछ समय के पश्चात् मद्य जनित आम दोष पच जाने पर, भोजन में रुचि तथा शरीर में लघुता उत्पन्न हो जाने पर, यौगिक—कोई उपयोग तथा विधिपूर्वक पिया गया मद्य ही नष्ट कर देता । क्यों कि क्षार अम्ल रस पाकर मधुर हो जाता है और मद्य अम्ल द्रव्यों में श्रेष्ठ अम्ल होता है इसलिये अन्न रस का उक्त क्षारभाव मधुर भाव को प्राप्त हो जाता है फलतः उस क्षारभाव से उत्पन्न मद आदि रोग शान्त हो जाते हैं । और वह मद्य—अपने तीक्ष्ण एवं उष्ण तथा दीपन आदि पूर्वोक्त गुणों से—स्रोतों में वायु का अवरोध करने वाले दोष (कफ) का स्यन्दन-स्रावण कर देने वाला होने से शिर आदि की तीव्र वेदनाओं को शान्त कर देता है । और वह मद्य क्यों कि रोगी को सात्म्य—अनुकूल होता है (मद्यपायी को ही मदात्यय होता है) अतः विधिपूर्वक पीने से धातु साम्य—आरोग्य करने वाला हो जाता है । सात अथवा आठ दिन पर्यन्त मदात्यय की चिकित्सा करे, इतने समय में प्रायः मद्यपान जनित विकार शान्त हो जाते हैं । इसके पश्चात् भी यदि कोई रोग लगा रहे तो उसकी चिकित्सा करे परन्तु साथ २ अथवा प्रथम मदात्यय की चिकित्सा करता रहे अथवा कर लेवे ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च चि अ २४
जीर्णाममद्यदोषस्य मद्यमेव प्रदापयेत् ।
प्रकाङ्क्षालाघवे जाते यदूयद्वस्मै हितं भवेत् ॥११०॥

वातमदात्यय की चिकित्सा—

तत्र वातोल्बणे मद्यं दद्यात्पिष्टकृतं युतम् ।
बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमदीप्यकैः ॥१२॥
यवानीहपुषाजाजीव्योषत्रिलवणार्द्रकैः ।
शूल्यैर्मांसैर्हरितकैः स्नेहवद्भिश्च सक्तुभिः ॥१३॥
उष्णस्निग्धाम्ललवणा मेध्यमांसरसा हिताः ।
आम्राऽऽम्रातकपेशीभिः संस्कृताः रागखाण्डवाः॥ ४॥
गोधूममाषविकृतिर्मृदुश्चित्रा मुखप्रिया ।
आर्द्रिकार्द्रककुल्माषसुक्तमांसादिगर्भिणी ॥१५।
सुरभिर्लवणा शीता निगदा वाऽच्छवारुणी ।
स्वरसो दाडिमात् क्वाथः पञ्चमूलात्कनीयसः ॥१६॥
शुण्ठीधान्यात्तथा मस्तुसुक्ताम्भोऽच्छाम्लकाञ्जिकम् ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमुष्णं प्रावरणं घनम् ॥१७॥
घनश्चागुरुजो धूपः पङ्कश्चागुरुकुङ्कुमः ।
कुचोरुश्रोणिशालिन्यो यौवनोष्णाङ्ग्यस्त्रियः ॥१८॥
हर्षणालिङ्गने युक्ताः प्रियाः संवाहनेषु च ।

व्याख्या—वातप्रधान मदात्यय में—पीठी से बनाया गया मद्य—विजौरा निम्बू, वृक्षाम्ल, बेर चूर, अनारदाना, अजवायन; हाऊबेर, जीरा, त्रिकटु, सैन्धव आदि तीन लवण तथा अदरक का चूर्ण यथालाभ मिला कर पीवे और शूल पर पकाए गये मांसों के साथ अथवा स्नेहयुक्त सत्तुओं के साथ पीवे । इस मदात्यय में—मेदस्वी प्राणियों के मांस रस—उष्ण, स्निग्ध, अम्ल तथा लवण द्रव्यों से युक्त लाभदायक होते हैं । और आम तथा आमड़ा की पेशियों (कतलियों) से बने हुए मुरब्बे तथा आचार, गेहूँ एवं उरद के कोमल (खस्ता) तथा चित्र-विचित्र विविध प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ जिन में हरा धनिया, अदरक, कुल्माष (उबाले धान्य), सिरका तथा मांस आदि पड़े हों (कचौरी, गुझिया एवं पकौड़े) लाभदायक होते हैं । और उसमें—सुगन्धित, लवण युक्त, शीतल, तथा निर्दोष स्वच्छ वारुणी लाभदायक होती है (पीवे) । और अनार का रस तथा लघु पञ्चमूल का क्वाथ भी लाभदायक है तथा सोंठ एवं धनियाँ का क्वाथ, मस्तु, सिरका मिश्रित जल तथा स्वच्छ एवं अम्ल काञ्जी भी लाभदायक होते हैं । और अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, उष्ण वस्त्र तथा गाढ़ा ओढ़ना, अगुरु की गहरी धूप तथा अगुरु एवं केसर का लेप भी

लाभदायक होता है। और संवाहन करने के लिये—वे नारियाँ लाभदायक होती हैं जो हर्षण करने में तथा अलिङ्गन करने में योग्य-हों तथा पुष्ट कुचों, ऊरुओं तथा श्रोणि वाली हों तथा यौवन के कारण उष्ण शरीर वाली हों ॥१२-१८॥

पित्त मदात्यय की चिकित्सा—

पित्तोल्बणे बहुजलं शार्करं मधुना युतम् ॥१९॥
रसैर्दाडिमखर्जूरभव्यद्राक्षापरूषकैः ।
सुशीतं ससितासक्तु योज्यं तादृक् च पानकम् ॥२०॥
स्वादुवर्गकषायैर्वा युक्तं मद्यं समाक्षिकम् ।
शालिषष्टिकमश्नीयाच्छशाजैणकपिञ्जलैः ॥२१॥
सतीनमुद्गामलकपटोलीदाडिमैरपि ।

व्याख्या—पित्तप्रधान मदात्यय में—अधिक बल वाला खण्ड का शर्बत तथा मधु से मिश्रित एवं अनार, खजूर, भव्य (कमरख) दाख एव फालसा के रसों से बनाया गया पानक और खण्ड एवं सत्तुओं से बनाया गया अत्यन्त शीतल पानक (शर्बत) अथवा इसी प्रकार का अन्य पानक लाभप्रद होता है। और मधुर वर्ग (सू० अ० १०) के कषाय (हिम) से युक्त एवं मधु से युक्त मद्य लाभप्रद होता है। उस मदात्यय में—शालि एवं साठी धान्यों के पदार्थ—खरगोश, बकरा, एण नामक हरिण अथवा गौरैया नामक पक्षी के मांस रस के साथ खावे अथवा तीनी,मुद्गामलक यूष, परवल के शाक के साथ अथवा अनारदाना की चटनी के साथ खावे ॥१९-२१॥

अन्यान्य मदात्ययों की चिकित्सा—

कफपित्तं समुत्क्लिष्टमुल्लिखेत्तृड्विदाहवान् ॥२२॥
पीत्वाऽम्बु शीतं मद्यं वा भूरीक्षुरससंयुतम् ।
द्राक्षारसं वा संसर्गी तर्पणादिः परं हितः ॥२३॥
तथाऽग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचनः ।
कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु वा ॥२४॥
तृष्णायां सविदाहायां सोत्क्लेशे हृदयोरसि ।
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा रसम् ॥२५॥
सशृङ्गवेरं युञ्जीत तित्तिरिप्रतिभोजनम् ।
तृष्यते चाऽतिबलाद्वातपित्ते समुद्धते ॥२६॥
दद्याद् द्राक्षारसं पानं शीतं दोषानुलोमनम् ।
जीर्णेऽद्यान्मधुराम्लेन छागमांसरसेन च ॥२७॥
तृष्यल्पशः पिबेन्मद्यं मदं रक्षन् बहूदकम् ।
मुस्तदाडिमलाजाम्बु जलं वा पर्णिनीशृतम् ॥२८॥
पटोल्युत्पलकन्दैर्वा स्वभावादेव वा हिमम् ।

व्याख्या—यदि आमाशय में कफ एवं पित्त बढ़े हुए हों फलतः तृषा एवं दाह हो तो शीतल जल पीकर अथवा ईख के रस से मिश्रित अधिक मात्रा में मद्य पीकर अथवा दाख का (अंगूर का) रस भर पेट पीकर वमन कर देवे और उसके पश्चात् तर्पण आदि संसर्गी-क्रम की व्यवस्था करे ऐसा करने से रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और वह रहे सहे दोषों को तथा अन्न को पचा देती है। यदि मदात्यय के साथ २ कास हो. (थूक में) रक्तस्राव हो, पार्श्व एवं स्तनों—वक्षःस्थल में वेदना हो, तृषा हो, दाह हो, हृदय एव उरस् में उत्क्लेश हो तो—गिलोय एवं नागर मोथा का अथवा सोंठ मिश्रित परवल का रस देवे और भूख लगने पर तीतर के मांस रस के साथ भोजन देवे। यदि तृषा लग रही हो तथा वायु एवं पित्त अत्यन्त बलवान् एवं कुपित हो रहे हों तो—दाख का रस पीने को देवे वह शीत होता है और दोषों का अनुलोमन करता है। इसके पच जाने पर-भूख लगने पर—बकरा के मधुराम्ल(खट मठे) मांस रस के साथ भोजन देवे। तृषा लग रही हो तो—थोड़ी २ मद्य पीवे उसमें अधिक जल मिला कर, जिससे अधिक मद न हो। अथवा स्वभाव से ही तृषा नाशक—मोथा, अनारदाना, लावा का जल पीवे अथवा शालपर्णी, पृष्टपर्णी, माषपर्णी एवं मुद्गपर्णी का क्वाथ पीवे अथवा परवल, कमल एवं उसके कन्द का क्वाथ पीवे। अथवा अन्यान्य स्वभावतः शीतल पानक पीवे ॥२२-२८॥

अवस्था भेद से अन्यान्य उपाय—

मद्यातिपानादब्धातौ क्षीणे तेजसि चोद्धते ॥२९॥
यः शुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य चेष्टते ।
पाययेत्कामतोऽम्भस्तं निशोथपवनाहतम् ॥३०॥
कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः ।
पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥३१॥

व्याख्या—मद्य का अत्यधिक पान करने से, जल धातु का क्षय हो जाने पर तथा पित्त बढ़ जाने पर जब गल, तालु तथा ओठ सूख जाते हैं और रोगी जीभ निकाल कर छटपटाने लगता है उस दशा में—रात्रि भर वायु में रखा गया—बासी पानी इच्छानुसार पिलावे। और मुख पर—खट्टे बेर, अनार, वृक्षाम्ल, चोक (चूका) तथा चांगेरी का लेप करे। इन ५ द्रव्योंके वर्ग का नाम "पञ्चाऽम्लक" है। यह भी तृषा को तत्काल शान्त करता है॥२९-३१॥

दाह की चिकित्सा—

त्वचं प्राप्तश्च पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं तत्राऽतिशिशिरो विधिः ॥३२॥
अशाम्यति रसैस्तृप्ते रोहिणीं व्यधयेत्सिराम् ।

व्याख्या—मद्यपान से उत्पन्न ऊष्मा—पित्त एवं रक्त से मिलकर—उनके संयोग से बढ़कर तथा त्वचा में

ग्रास होकर घोर दाह उत्पन्न कर देती है। इस में अत्यन्त शीत चिकित्सा—उपचार करे। परन्तु यदि शीतल रसों के पान से एवं लेपन से दाह शान्त न हो तो रोहिणी सिरा का वेध करके रक्त मोक्षण करे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में शीत विधि—
शीतलान्यन्नपानानि शीतशय्याऽऽसनानि च।
शीतवातजलस्पर्शा: शीतान्युपवनानि च ॥१५२॥
क्षौम पद्मोत्पलानां च मणीनां मौक्तिकस्य च।
चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाः चन्द्रांशुशीतलाः ॥१५३॥
हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः।
पूर्णानां हिमपूर्णानां हृतीनां पवनाहृताः ॥१५४॥
संस्पर्शाः चन्दनाऽऽर्द्राणां नारीणां च समारुताः।
चन्दनानां च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये ॥१५५॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत् सर्वं विनियोजयेत्।
कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना ॥१५६॥
हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते।
कथाश्च विविधाः शस्ताः शब्दाश्च शिखिनां शिवाः॥१५
तोयदानां च शब्दा हि शमयन्ति मदात्ययम्।
जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहानि च ॥१५८॥
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च। च चि. अ. २४। हिमपूर्ण दृति--बर्फ की पोटली (आयस बेग), जलयन्त्र--फुव्वारा, वात यन्त्र--वायुचालित यन्त्र बिजली के पंखे।

कफज मदात्यय की चिकित्सा—

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेच्छ्लेष्मोल्बणं पिबेत् ॥३३॥
शीतं शुण्ठीस्थिरोदीच्यदुःस्पर्शान्यतमोदकम्।
निरामं क्षुधितं काले पाययेद्बहुमाक्षिकम् ॥३४॥
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव च।
रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् ॥३५॥
यूषेण यवगोधूमं तनुनाऽल्पेन भोजयेत्।
उष्णाम्लकटुतिक्तेन कौलत्थेनाल्पसर्पिषा ॥३६॥
शुष्कमूलकजैश्छागै रसैर्वा धन्वचारिणाम्।
साम्लवेतसवृक्षाम्लपटोलव्योषदाडिमैः ॥३७॥
प्रभूतशुण्ठीमरिचहरितार्द्रकपेशिकम्।
बीजपूररसाद्यम्लभृष्टनीरसवर्तितम् ॥३८॥
करीरकरमर्दादिरोचिष्णु बहुशालनम्।
प्रव्यक्ताष्टाङ्गलवणविकल्पितनिमर्दकम् ॥३९॥
यथाग्नि भक्षयन्मांसं माधवं निगदं पिबेत्।
सितासौवर्चलाजाजीतिन्तिडीकाम्लवेतसम् ॥४०॥
त्वगेलामरिचार्धांशमष्टाङ्गलवणं हितम्।
स्रोतोविशुद्धयग्निकरं कफप्राये मदात्यये ॥४१॥
रूक्षोष्णोद्वर्तनोद्घर्षस्नानभोजनलङ्घनैः।
सकामाभिः सह स्त्रीभिर्युक्त्या जागरेण च ॥४२॥
मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रं समुपशाम्यति।

व्याख्या—कफप्रधान मदात्यय को वमन तथा उपवास कराकर शान्त करे और उस में—सोंठ, शालपर्णी नेत्रवाला अथवा जवासा का शीत कषाय-हिम पीना चाहिये। इस प्रकार आमदोष निकल जाने पर अथवा शान्त हो जाने पर—भूख होगी—भोजन के समय शर्करा से बना मद्य—अधिक मात्रा में मधु डाल कर पीवे अथवा पुराना मधु पीवें अथवा अरिष्ट अथवा सीधु पीवें और उन में रूखे सत्तू तथा अजवायन एवं सोंठ मिला लेना चाहिये। फिर जौ एवं गेहूँ के मिश्रण की रोटी अथवा दलिया—मूँग पतले एवं थोड़े से जूस के साथ खाना चाहिये। अथवा कुलथी के जूस से खाना चाहिये। वह जूस—उष्ण हो, अम्ल, कटु तथा तिक्त द्रव्यों के योग से बना हो और उस में घृत बहुत ही थोड़ा डाला गया हो अथवा सूखी मूली के शाक के रस के साथ अथवा बकरा के मांस रस के साथ अथवा जांगल देशीय प्राणियों के मांस रस के साथ खाना चाहिये और वे रस—अम्लवेत, वृक्षाम्ल, परवल, सोंठ, मरिच, पीपल तथा अनारदाना से मिश्रित हों। इस मदात्यय में—जठराग्नि के अनुसार मांस खाता हुआ-महुआ की निर्दोष सुरा पीवे और वह मांस—अधिक मात्रा में सोंठ, मरिच तथा हरे अदरक की पेशियों (कतलियों) से युक्त हो, बिजौरा निम्बू आदि के रस से अम्ल हो और तलकर उस का रस उसी में सुखा दिया गया हो, करीर के फलों तथा करौन्दा के फलों के योग से रुचिकर-स्वादु बनाया गया हो, जिस में अधिक शालन (पञ्जाबी में सालन नाम से प्रसिद्ध) मसाला पड़ा हो तथा—पर्याप्त मात्रा में निम्न लिखित अष्टांग लवण पड़ा हो और विविध प्रकार की कल्पनाओं से या कल्पनाओं से काट काट कर निमर्दक (ठुकदा बना लिया गया हो (यह मांस का एक प्रकार है). अष्टांग लवण का प्रयोग—खण्ड, सौंचर लवण, जीरा इमली (या जिरिष्क) तथा अम्लवेतस् १-१ भाग तथा दालचीनी, बड़ी इलायची तथा मरिच आधा आधा भाग मिला कर रख लो। इस का नाम "अष्टांग लवण" है। यह कफप्रधान मदात्यय में स्रोतों की विशुद्धि करता है तथा अग्नि को दीप्त करता है। और रूक्ष एवं उष्ण द्रव्यों का उद्वर्तन (उबटन) तथा उद्घर्षण (मलना) करने से और रूक्ष एवं उष्ण जल से स्नान करने से तथा रूक्ष एवं उष्ण आहार करने से, अथवा लघन—उपवास करने से, सकामा स्त्रियों के साथ सहवास करने से (नर का, तथा सकाम नर के साथ सहवास करने से नारी का) और

उचित जागरण करने से कफप्रधान मदात्यय शीघ्र शान्त हो जाता है ॥३१-४२॥

अन्य दस प्रकार के मदात्ययों की चिकित्सा का संकेत—

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति ॥४३॥
सन्निपाते दशविधे तच्छेषेऽपि विकल्पयेत्।

व्याख्या—पूर्वोक्त वातप्रधान, पित्तप्रधान एव कफप्रधान मदात्ययों की जो जो चिकित्सा ऊपर कही गई है वह अवशिष्ट दस प्रकार के सन्निपातज मदात्ययों में भी करनी चाहिये।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने इस श्लोक के नीचे लिखा है कि—च' चि. अ. २४—

यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित्।
स साध्यान् साधयेत् व्याधीन् साध्याऽसाध्यविभागवित्

अर्थात्—जो चिकित्सक दोषों के विकल्पों-भेदों को, जो औषधियों के विकल्पों को तथा रोगों के साध्यत्व एवं असाध्यत्व के विभागों को समझता है वह सभी साध्यव्याधियों को सिद्ध-शान्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मदात्यय रोग सन्निपातज होता है और सन्निपात १३ प्रकार का होता है, तीन प्रकार के मदात्ययों की चिकित्सा तो ऊपर लिखी ही जा चुकी है शेष दस सन्निपातों में उसी को विकल्पित करके प्रयुक्त करना चाहिये। क्योंकि—लिखा है कि—च. चि. अ. २४—सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकेतु यम्।

दोषं मदात्यये पश्येत् तस्याऽऽदौ प्रतिकारयेत् ॥१ ७॥

सारांश यह है कि अन्यान्य ज्वर आदि में जैसे सन्निपातों की चिकित्सा की जाती है वैसे इस रोगमें भी करनी चाहिये। इनका विवरण सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में इस प्रकार हैं—

उत्कर्षेण यदा त्वेको मध्येन द्वौ तदाऽऽदिमः।
उत्कर्षेण यदा द्वौ तु मध्येनैको द्वितीयकः ॥१॥
एको मध्येन दोषः स्यात् द्वौ अल्पेन तृतीयकः।
उत्कर्षेणैक एव स्यात् अल्पेन द्वौ चतुर्थकः। २॥
उत्कर्षेण यदा द्वौ तु अल्पेनैकश्च पञ्चमः।
एकोऽल्पेन तु मध्येन द्वौ दोषौ इति षष्ठकः ॥३॥
उत्कर्षेण समस्ताः स्युः एवं भवति सप्तमः।
मध्येन सर्वेपि यदा तदा भवति चाऽष्टमः ॥४॥
अल्पेन सर्वेऽपि यदा तदा तु नवमः स्मृतः।
अल्पेनैको मध्येनैकः तदात्वन्त्य इति स्फुटाः॥५॥
सन्निपातस्य मुनिना दश भेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥४३॥

सभी मदात्ययों का शामक योग—

त्वङ्नागपुष्पमगधामरिचाजाजिधान्यकैः ॥४४॥
परूषकमधूकैलासुराह्वैश्च सितान्वितैः।
सकपित्थरसं हृद्यं पानकं शशिबोधितम् ॥४५॥
मदात्ययेषु सर्वेषु पेयं रुच्यग्निदीपनम्।

व्याख्या—दाल चीनी, नाग केसर, पीपल, मरिच, जीरा, धनियाँ किसी प्रतिमें "दीप्यकैः" पाठ है तदनुसार अजवायन) फालसा, मुलेठी इलायची तथा देवदारु का चूर्ण और सब के समान खाण्ड मिलाकर रख लेवे। यह चूर्ण—हृदय को शक्ति देता है, रुचि को बढ़ाता है तथा अग्नि को दीप्त करता है। इस के साथ—कैथ के रस का पान करना चाहिये जो पानक कपूर मिला कर सुगन्धित किया गया हो। अथवा उक्त पानक में मिला कर पीना चाहिये। और यह योग सभी मदात्ययों में लाभदायक है ॥४४-४५॥

मदात्यय की सम्प्राप्ति—

नाविक्षोभ्य मनो मद्यं शरीरमविहन्य वा ॥४६॥
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादिष्यते हर्षणी क्रिया।

व्याख्या—कोई मद्य (मदकारी पदार्थ)—मनस् को विचलित-विक्षुब्ध किये बिना और शरीर (शरीराधार ओजस्) का विहनन (विकृति-विध्वंसन) किये बिना मदात्यय रोग को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये मदात्यय में हर्ष (प्रसन्नता-आह्लाद) उत्पन्न करने वाली चिकित्सा करे ॥४६॥

अवस्था भेद से उपचार—

संशुद्धिशमनाद्येषु मददोषः कृतेष्वपि ॥४७॥
न चेच्छाम्येत्कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे।
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च ॥४८॥
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः।
मद्यक्षीणस्य हि क्षीणं क्षीरमाश्वेव पुष्यति ॥४९॥
ओजस्तुल्यं गुणैः सर्वैर्विपरीतं च मद्यतः।

व्याख्या—उक्त प्रकार से विशोधन एवं शमन आदि उपचार करने पर भी यदि मददोष—मदात्यय रोग शान्त न हो तो कफ का क्षय हो जाने पर तथा दुर्बलता एवं लघुता उत्पन्न हो जाने पर उस मद्य से झुलसे हुए तथा वात पित्त प्रधान रोगी के लिए दूध उतना ही लाभदायक होता है जितना ग्रीष्म ऋतु की गर्मी से उपतप्त तरु के लिये वर्षण-वर्षा। क्योंकि दूध मद्य द्वारा क्षीण मानव के क्षीण ओजस् को अपने ओजस् के समान गुणों से शीघ्र ही पुष्ट कर देता है और दूध मद्य के गुणों से सर्वथा विपरीत होता है इसलिए भी लाभप्रद होता है।

वक्तव्य—चरक में इस पाठ के स्थान में—

विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे। पाठ है तात्पर्य यह है कि इस दशा में अर्थात् दुग्ध सेवन काल

में मद्य का परित्याग रहना चाहिए। दूध ओजस् के समान गुणों वाला तथा मद्य से विपरीत गुणोंवाला होता है अतः ओजोवर्द्धक होता है देखिये सू अ ५ मे क्षीरवर्ग। और—च. सू. अ. २७--

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः।
तदेवं गुणमेवौजः सामान्यात् अभिवर्द्धयेत्॥२१८॥

और मद्य में इससे विपरीत दस गुण रहते हैं जैसे विष में। दूध के साथ२ मद्य का सेवन नहीं होना चाहिये क्यों कि मद्य अम्ल होता है और 'विरुद्ध अम्लं पयसा' (सू.अ.७)।

अन्यान्य उपचार तथा पुनः मद्यपान—

पयसा विजिते रोगे बले जाते निवर्तयेत्॥५०॥
क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत्।
न विट्क्षयध्वंसकोत्थैः स्पृश्येतोपद्रवैर्यथा॥५१॥
तयोस्तु स्याद्घृतं क्षीरं बस्तयो बृंहणाः शिवाः।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमन्नपानं न वातजित्॥५२॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से दुग्ध सेवन द्वारा मदात्यय रोग शान्त हो जाने पर तथा शक्ति आ जाने पर दुग्ध का प्रयोग रोक देना चाहिये और क्रमशः मद्य का थोड़ा २ सेवन प्रारम्भ कर देना चाहिये। परन्तु मद्य इतना थोड़ा देवे जिससे विट्क्षय एवं ध्वंसक से उत्पन्न उपद्रव (देखिये नि. अ. ६) न हो जायँ। यदि कदाचित् हो ही जायँ तो उनकी शान्ति के लिए घृत तथा दूध का पान, पुष्टिकारक वस्तियाँ, अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान तथा वातपित्त शामक अन्न एवं पान कल्याणकारी होता है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. चि. अ. २४
विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगः तस्योपजायते॥१६६॥
और देखिये नि. अ. ६ श्लो० २१--२२॥५०-५२॥

मद्य की प्रशंसा—

युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते।
अतोऽस्य वक्ष्यते योगो यः सुखायैव केवलम्॥५३॥
आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या।
दधात्यैन्द्रं च या वीर्यं प्रभावं वैष्णवं च या॥५४॥
अस्त्रं मकरकेतोर्या पुरुषार्थो बलस्य या।
सौत्रामण्यां द्विजमुखे याहुताभे च हूयते॥५५॥
या सर्वौषधिसम्पूर्णान्मथ्यमानात्सुरासुरैः।
महोदधेः समुद्भूता श्री शशाङ्काऽऽमृतैः सह॥५६॥
मधु माधवमैरेय सीधु गौडाऽऽसवादिभिः।
मदशक्तिमनुज्झन्ती या रूपैर्बहुभिः स्थिता॥५७॥
यामासाद्य विलासिन्यो यथार्थं नाम बिभ्रति।
कुलाङ्गनाऽपि यां पीत्वा नयत्युद्धतमानसा॥५८॥
अनङ्गालिङ्गितैरङ्गैः काऽपि चेतो मुनेरपि।
तरङ्गभङ्गभ्रुकुटीतर्जनैर्मानिनीमनः॥५९॥
एकं प्रस्ताव्य कुरुते या द्वयोरपि निर्वृतिम्।
यथाकामं भटावाप्तिपरिहृष्टाप्सरोगणे॥६०॥
तृणवत्पुरुषायुद्धे यामासाद्य त्यजन्त्यसून्।
यां शीलयित्वाऽपि चिरं बहुधा बहुविग्रहाम्॥६१॥
नित्यं हर्षातिवेगेन तत्पूर्वमिव सेवते।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते॥६२॥
गोष्ठीमहोत्सवोद्यानं न यस्याः शोभते विना।
स्मृत्वा स्मृत्वा च बहुशो वियुक्तः शोचते यया॥६३॥
अप्रसन्नाऽपि या प्रीत्या प्रसन्ना स्वर्ग एव या।
अपीन्द्रं मन्यते दुःस्थं हृदयस्थितया यया॥६४॥
अनिर्देश्यसुखास्वादा स्वयंवेद्यैव या परम्।
इति चित्रास्ववस्थासु प्रियामनुकरोति या॥६५॥
प्रियाऽतिप्रियतां याति यत्प्रियस्य विशेषतः।
या प्रीतिर्या रतिर्या वाग् या पुष्टिरिति च स्तुता॥६६॥
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः।
पानप्रवृत्तौ सत्यां तां सुरां तु विधिना पिबेत्॥६७॥

व्याख्या—जो कोई भी युक्तिपूर्वक मद्य का सेवन करता है उसे मद्यजनित कोई रोग नहीं होता। इसलिए यहाँ मद्य का समीचीन योग कहा जायगा जिससे मद्य केवल सुख का ही हेतु हो।

जो सुरा—अश्विनीकुमारों के महान् तेजस् (कान्ति-सौन्दर्य) की, सरस्वती—वाणी के बल को, इन्द्र के वीर्य को तथा विष्णु के प्रभाव को धारण करती है। और जो सुरा—कामदेव का अस्त्र है, बलभद्र का पुरुषार्थ है तथा जो सुरा—सौत्रामणी यज्ञ में ब्राह्मण के मुख में तथा अग्नि में आहुति के रूप में डाली जाती है। जो सुरा—उस महासागर में से लक्ष्मी, चन्द्रमा तथा अमृत से उत्पन्न हुई थी जो महासागर सब औषधियों से (औषधि बीजों से) परिपूर्ण है तथा जो सुरों एवं असुरों द्वारा मथा जा रहा था। जो सुरा—मदरूप शक्ति को धारण करती हुई मदशक्ति का त्याग न करती हुई मधु, माधव, मैरेय, सीधु गौड़ तथा आसव-अरिष्ट आदि बहुत रूपों से—में विद्यमान रहती है। जिस सुरा का पान करके विलासिनी नारियाँ यथार्थतः विलासिनी बन जाती हैं और जिस सुरा को पीकर कुलाङ्गना (कुलीना नारी) भी उद्धत-उच्छृङ्खल-चञ्चल मनवाली हो जाती हैं और काम से व्याप्त अपने अङ्गों के प्रदर्शन से मुनि के चित्त को भी कहीं से

कहीं ले जाती है। जो सुरा—मानिनी-अभिमानवती नारी के भी अकेले मनस् को प्रसन्न करके मन की तरंग के समूहों द्वारा उत्पन्न भौं के तर्जनों से–दोनों (नर-नारी) को सुख देती है। या—मानिनी के मन को भी कहीं से कहीं ले जाती है और दोनों में से एक को भी प्रसन्न करके दोनों को सुख देती है। यदि एक ने भी सुरा पी हो तो दोनों को सुख-लाभ होता है। जिस सुरा को पीकर मानव युद्ध में प्राणों को तृणवत् त्याग देते हैं जिस युद्ध में इच्छानुसार वीर पुरुषों की प्राप्ति से अप्सराएँ अत्यन्त प्रसन्न हो जाती हैं (अर्थात् जो अधिक मदमत्त होता है वही अधिक वीरता दिखलाता है और उसी का अप्सरा वरण करती हैं। जिस सुरा को तथा अनेक प्रकार की सुरा को चिरकाल से अनेक बार पी पी कर भी हर्ष की अधिकता के कारण नित्य नवीन मानकर सेवन करता है पीता है। जिस सुरा को देखकर, पीकर, मानव शोक, उद्वेग, अरति तथा भय से अभिभूत-व्याकुल नहीं होता। जिस सुरा के बिना गोष्ठी (मित्रमण्डल—सुहृत्परिषत्), विवाह आदि उत्सव तथा उद्यान (वन-उपवन यात्रा) शोभायुक्त नहीं होते–अच्छे नहीं लगते। जिस सुरा के बिना मानव पुरानी घटनाओं का बार २ स्मरण करके बहुत बार शोक करता रहता है (खिन्न बना रहता है)। जो सुरा अप्रसन्ना अर्थात् अस्वच्छ भी (घटिया सुरा भी) प्रीति का हेतु होती है और प्रसन्ना (उत्तम सुरा) तो साक्षात् स्वर्ग ही (सुखदायक ही) होती है। जिस सुरा का सेवन करके मानव इन्द्र को अच्छी स्थिति में नहीं समझता (अपने से उच्च नहीं मानता–तुच्छ समझता है)। जिस सुरा के सुख एवं स्वाद का निर्देश–वर्णन नहीं किया जा सकता केवल अनुभव किया जा सकता है। जो सुरा इन विचित्र अवस्थाओं में प्रिय-प्रेमिका का अनुकरण करती है–का सा सुख देती है। जो सुरा विशेषरूप से सुराप्रिय मानव को सर्वप्रिय वस्तु है प्रिया से भी अधिक प्रिय होती है। सुरा—प्रीति है, रति है वाणी है तथा पुष्टि स्वरूप है इस प्रकार जिसकी स्तुति देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा मानव करते हैं। इन सब कारणों से मद्यपान की प्रवृत्ति होने पर भी उस सुरा को विधि पूर्वक अर्थात् आयुर्वेदोक्त विधि से पीवे।

वक्तव्य—मद्य–माद्यन्ति अनेन इति मद्यम्—जिस पदार्थ के सेवन से मद हो जाता है उस का नाम "मद्य" है मद्य का ही नाम सुरा है जो सुरा नहीं पीते वे भांग, गाञ्जा आदि से सुरापान की पूर्ति करते हैं। जहां२ सुरा का निषेध किया है वहां २ मद कारक द्रव्य मात्र का निषेध समझना चाहिये और जहां२ विधान है वहां२ विधान। धर्म शास्त्रों में तीन[1] आश्रमों के लिये सुरा का निषेध है जो उचित ही है और भगवान् मनु ने सुरापान की प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति महाफला मानी है यथा—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

गृहस्थ भी सुरापान–मद्यपान से निवृत्त रहे तो अत्युत्तम है। यदि उसमें प्रवृत्त भी हो जाय तो आयुर्वेदोक्त विधि से उसका पान करे अन्यथा उस से हानि ही हानि होती है।६२।

सुरापान का फल—

विधियुक्तादृते मद्यात्ते न सिध्यन्ति दारुणाः ॥६८॥

व्याख्या—विधि पूर्वक सुरापान करने से—मेदो रोग, वातरोग तथा कफरोग उत्पन्न ही नहीं हो सकते अथवा दारुण नहीं होते और वे रोग भी उत्पन्न नहीं होते जो सुरापान के बिना शान्त नहीं हो सकते—तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक सुरापान से प्रथम तो रोग होते ही नहीं यदि कोई रोग हो भी जाते हैं तो वे सुरापान से ही शान्त भी हो जाते हैं।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युंक्ते श्रेयोभिः उत्तमैः।७।

तथा—हर्षमूर्जं मदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं बलम्।
युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मदसुखावहम् ॥६१।

तथा—किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥५६॥

तथा—मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम् ॥६४॥

अर्थात्—हर्ष आदि की उत्पत्ति होने तथा अमृत के समान होने के कारण कोई रोग ही नहीं होने देती और उस से उत्पन्न रोगों की वही नाशक भी है ॥६८॥

सुरा का निषेध—

अस्ति देहस्य साऽवस्था यस्यां पानं निवार्यते।
अन्यत्र मद्यान्निगदाद्विविधौषधसम्भृतात् ॥६९॥

व्याख्या—शरीर की वह अवस्था भी होती है जिस में मद्य का निषेध—त्याग किया जाता है परन्तु उस अवस्था में भी उसी मद्य का निषेध है जो निर्दोष नहीं होती और विविध द्रव्यों के सम्भार से बनाई गई नहीं होती।

वक्तव्य—देखिये सू. अ. ८ श्लो० ५ तथा नि. अ. श्लो० १२–१३ ॥६९॥

सुरा की आवश्यकता—

आनूपं जाङ्गलं मांसं विधिनाऽप्युपकल्पिताम्

१—ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम

मद्यं सहायमप्राप्य सम्यक् परिणमेत्कथम् ॥७०॥
सुतीव्रमारुतव्याधिघातिनो लशुनस्य च।
मद्यमांसवियुक्तस्य प्रयोगः स्यात्कियान् गुणः ॥७१॥
निगूढशल्याहरणे शस्त्रक्षाराग्निकर्मणि।
पीतमद्यो विषहते सुखं वैद्यविकत्थनाम् ॥७२॥
अनलोत्तेजनं रुच्यं शोकश्रमविनोदकम्।
न चाऽतः परमस्त्यन्यदारोग्यबलपुष्टिकृत् ॥७३॥
रक्षता जीवितं तस्मात्पेयमात्मवता सदा।
आश्रितोपाश्रितहितं परमं धर्मसाधनम् ॥७४॥

व्याख्या—सुअर आदि का अनूपदेशीय मांस और हरिण आदि का जङ्गलदेशीय मांस (जिसे मानव खाता है) विधि पूर्वक बनाया गया भी—पकाया गया भी सुरा-मद्य की सहायता के बिना किस प्रकार पच सकता है—अर्थात् किसी प्रकार नहीं पचता (मांसपाचनार्थ सुरापान आवश्यक है)। वायु जनित भीषण व्याधियों का विनाश करने वाले लशुन का प्रयोग—मद्य एवं मांस के बिना कितना गुण करता है? अर्थात् कुछ नहीं करता—मद्य एवं मांस की सहायता से ही गुण करता है। मद्यपान करके (मदमत्त होकर ही) रोगी—गहरे शल्य को निकलने में तथा शस्त्र कर्म में क्षार कर्म एवं अग्निकर्म में वैद्य द्वारा दिये गये कष्ट को सुख पूर्वक सह लेता है (वैद्य झूठे ही अपने कर्म की प्रशंसा करता है कि रोगी को कोई कष्ट नहीं दिया गया। जठराग्नि को उत्तेजित करनेवाला, रुचिकारक, शोक एवं श्रम का नाशक, आरोग्य, बल तथा पुष्टि को करने वाला कोई भी पदार्थ मद्य से उत्तम नहीं है। इस लिये—जीवन की रक्षा करते हुए, तथा संयम रखते हुए मद्य का सदा पान करना चाहिये। इस प्रकार आश्रितों तथा उपाश्रितों का भला होता है भृत्यों एवं बन्धु बान्धवों का पालन कर सकता है और धार्मिक कृत्यों का भी भली भांति साधन कर सकता है ॥७०-७४॥

मद्य सेवन की विधि—

स्नातः प्रणम्य सुरविप्रगुरूनथास्व
वृत्तिं विधाय च समस्तपरिग्रहस्य।
आपानभूमिमथ गन्धजलाभिषिक्ता-
माहारमण्डपसमीपगतां श्रयेत ॥७५॥
स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये भृत्यमित्ररमणीसमवेतः।
स्वं यशः कथकचारणसङ्घैरुद्धतं निशमयन्नतिलोकम्।
विलासिनीनां च विलासशोभि
गीतं सनृत्यं कलतूर्यघोषैः।
काञ्चीकलापैश्चलकिङ्किणीकैः
क्रीडाविहङ्गैश्च कृतानुनादम् ॥७७॥
मणिकनकसमुत्थैरासनेयैर्विचित्रैः
सजलविविधलेखक्षौमवस्त्रावृताङ्गैः।
अपि मुनिजनचित्तक्षोभसम्पादिनीभि-
श्चकितहरिणलोलप्रेक्षणीभिः प्रियाभिः ॥७८॥
स्तननितम्बकृतादतिगौरवा-
दलसमाकुलमीश्वरसम्भ्रमात्।
इति गतं दधतीभिरसंस्थितं
तरुणचित्तविलोभनकार्मणम् ॥७९॥
यौवनासवमत्ताभिर्विलासाधिष्ठितात्मभिः।
सञ्चार्यमाणं युगपत्तन्वङ्गीभिरितस्ततः ॥८०॥
तालवृन्तनलिनीदलानिलैः शीतलीकृतमतीवशीतलैः।
दर्शनेऽपि विदधद्दृशानुगं स्वादितं किमुत चित्तरञ्जनम् ॥
चूतरसेन्दुमृगैः कृतवासं मल्लिकयोज्ज्वलया च सनाथम्
स्फाटिकशुक्तिगतं सतरङ्गं कान्तमनङ्गमिवोद्धृतदङ्गम् ॥
तालीसाद्यं चूर्णमेलार्दकं वा
हृद्यं प्राश्य प्राग्वयःस्थापनं वा।
तत्प्रार्थिभ्यो भूमिभागे सुमृष्टे
तोयोन्मिश्रं दापयित्वा ततश्च ॥८३॥
धृतिमान् स्मृतिमान्नित्यमन्यूनाधिकमाचरन्।
उचितेनोपचारेण सर्वमेवोपपादयन् ॥८४॥
जितविकसितासितसरो-
जनयनसङ्क्रान्तिवर्धितश्रीकम्।
कान्तामुखमिव सौरभ-
हृतमधुपगणं पिबेन्मद्यम् ॥८५॥

व्याख्या—स्नान करके तथा देवता, ब्राह्मण एवं गुरुजनों को प्रणाम करके और समस्त परिवार के लिये वृत्ति (खाने पीने, पहिनने ओढ़ने तथा काम काज एवं रहन सहन) की पूरी २ व्यवस्था करके, सुगन्धित जल से अभिषिक्त (जहाँ सुगन्धित जल छिड़का गया हो) तथा आहार स्थल के समीपवर्ती आपान भूमि (मद्यपान गृह—स्थल) में जा बैठे—चला जाय। और वहाँ—भली भाँति बिछे हुए शयन (शय्या—आसन) पर बैठ कर, मित्रों, भृत्यों तथा रमणियों से परिवारित होकर, कथकों (नर्त्तक, वादक तथा गायक जनों) एवं चारणों (बन्दीजनों—स्तुति करने वालों) के समूहों (मण्डलियों) द्वारा अपने उत्तम एवं लोकोत्तर यश को सुनता हुआ—और विलासिनी नारियों के विलास से सुशोभित एवं सुन्दर मधुर तूर्य (तुरी-नफीरी) के घोष (ध्वनि के साथ नृत्ययुक्त गीत को सुनता देखता हुआ और उन विलासिनियों की काञ्ची नामक भूषण (करधनी-तागड़ी) जिसमें किंकणी (छुनछुन करनेवाले घुँघरू) हल-हिल रही हों-

बज रही हों, के साथ २ क्रीडार्थ पाले गये पक्षियों के द्वारा किये गये नाद-ध्वनि को सुनता हुआ और मणियों एवं स्वर्ण से निर्मित, विचित्र औपगेयों (गाने के समय उपयोगी भूषणों) द्वारा तथा जल से आर्द्र एवं विविध प्रकार के लेखों (चित्रों-वेलबूटों-फूलों एवं पत्रों के आकारों) वाले रेशमी वस्त्रों से ढँके अङ्गों द्वारा, मुनिजनों के भी चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाली तथा आश्चर्यचकित-चंचल चित्त हरिण के समान चंचल नेत्रों वाली इधर-उधर देखती हुई प्रिया नारियों के साथ—और उस समय वे प्रिया नारियाँ—स्तनों एवं नितम्बों के अति भार से धीरे-धीरे और ईश्वर (गृहपति) के भय से व्याकुलतापूर्ण—शीघ्र २ इस प्रकार असंस्थित होकर (लड़खड़ा कर) चल रही हों और वह चलना—जैसे तरुणों-नवयुवकों के चित्त को लुब्ध करने के लिए कार्मण—कामन-वशीकरण का उपाय किया जा रहा हो वैसा प्रतीत हो—और वे प्रिया नारियाँ—यौवन तथा आसव के मद से मत्त हों तथा उनका मन विलास करने के लिए उतावला हो और वे पतले शरीर वाली हों तथा एक साथ इधर-उधर घूम रही हों—रासलीला कर रही हों—अब वह गृहपति मद्य पीवे-वह मद्य कैसा हो सुनिये—ताड़के पंखों की वायु से अथवा कमलिनी के पत्रों की वायु से जो अत्यन्त शीतल हो-उनकी वायु से शीतल किया गया हो और जो देखने मात्र से कामदेव के वशीभूत कर देता है और पीने पर तो कहना ही क्या—और जो मद्य आम के रस, कपूर तथा कस्तूरी के योग से सुगन्धित किया गया हो, जिसमें मल्लिका के खिले हुए पुष्प धरे गए हों, जो स्फटिक मणि की सीपी (चषक-प्याली) में डाला गया हो, जिसमें तरङ्ग उठ रहे हों और प्रतीत हो जैसे कामदेव के सुन्दर शरीर का वहन कर रहा है—स्वयं कामदेव स्वरूप है—परन्तु पीने के पूर्व तालीसादि चूर्ण अथवा एलादि चूर्ण अथवा कोई भी हृदय की शक्ति बढ़ानेवाला पदार्थ अथवा कोई वयःस्थापन योग खाकर और शुद्ध भूमिभाग पर मद्यपानाभिलाषी देव, दानव एवं भैरव आदि मद्यप्रिय देवी देवता के निमित्त जलमिश्रित थोड़ा मद्य दिलाकर—मद्य की बलि देकर और तत्पश्चात्—धैर्य रख कर (मद्यपान में प्रायः पीने वाला अधीर हो जाता है) तथा स्मृतिमान् होकर (अपने को न भूल कर), प्रतिदिन, न न्यून और न अधिक मात्रा में, मद्यपान के अनुकूल उपचारों के साथ और उक्त प्रकार के सब साधन-सम्भार से सम्पन्न होकर और खिले हुए नील कमल को जीतनेवाले (उससे भी सुन्दर) नयनों द्वारा देखने से बढ़ी हुई शोभा वाले, कान्ता के मुख के से तथा सुगन्धि के कारण भ्रमरों को अपने समीप खींच लाने वाले मद्य को पीवे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

या सुरा सुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः ।
रतिः सुरा इत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ॥१०॥
शरीरकृतसंस्कारः शुचिः उत्तम गन्धवान् ।
प्रावृतो निर्मलैः वस्त्रैः यथर्त्तू दामगन्धिभिः ॥११॥
विचित्र विविध स्रग्वी रत्नाभरणभूषितः ।
देवद्विजातीन् सम्पूज्य स्पृष्ट्वा मङ्गलमुत्तमम् ॥१२॥
देशे यथर्त्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते ।
संवाससम्मते मुख्ये धूपसंमोदबोधिते ॥१३॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने ।
उपविष्टो ऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ॥१४॥
सौवर्णे राजतैश्चापि तथा मणिमयैः अपि ।
भाजनैः विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥१५॥
रूपयौवनमत्ताभिःशिक्षिताभिः विशेषतः ।
वस्त्राऽऽभरणमाल्यैश्च भूषिताभिः यथर्त्तुकैः ॥१६॥
शौचाऽनुराग युक्ताभिः प्रमदाभिः इतस्ततः ।
संवाह्यमानः इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ॥१७॥
मद्याऽनुकूलैः विविधैः फलैः हरितकैः शुभैः ।
लवणैः गन्धपिशुनैः अवदंशैः यथर्त्तुकैः ॥१८॥
भृष्टैः मांसैः बहुविधैः भूजलाऽम्बरचारिणाम् ।
पौरोगवर्गविहितैः भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः ॥१६॥
पूजयित्वा सुरान् पूर्वं आशिषः प्राक् प्रयुज्य च ।
प्रदाय सजलं मद्यमर्थिभ्यो वसुधातले ॥२०॥

यह सब कुछ श्री वाग्भट महाशय ने भिन्न २ छन्दों में लिखा है। इन सब साधनों से सम्पन्न कोई सुरापान करे तो करे अन्यथा सुरापान लोकनिन्दा तथा आत्मपतन का हेतु होता है।

मद्यपानोत्तर विधि—

पीत्वैवं चषकद्वयं परिजनं संमान्य सर्वं ततो
गत्वाऽऽहारभुवं पुरः सुभिषजो भुञ्जीत भूयोऽत्र च ।
मांसापूपघृतार्द्रजादिहरितैर्युक्तं ससौवर्चलैः
द्वित्रिर्वा निशि वाल्पमेव वनितासञ्चालनार्थं पिबेत् ८६।

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकार से सुरा के जो चषक (प्याली प्याला पीकर—सब परिजनों (मित्र मण्डल एवं गायक, नर्त्तक, वादक जनों) को ताम्बूल एवं धन दानादि से सम्मानित करके (सब को विदा करके) और फिर आहार भूमि (रसोई घर) में जाकर तथा सुयोग्य वैद्य के सामने बैठ कर (वैद्य की अनुमति के अनुसार) भोजन करे। और वहीं भोजन करते समय अथवा उस के पश्चात् मांस एवं अण्डों के आपूप (पूए चिलड़े), घृत पक्व पदार्थ, अदरक एवं हरा धनिया तथा सौंचर लवण आदि

पदार्थों से युक्त, दो तीन वार, परन्तु बहुत थोड़ी मात्रा में, रात्रि में नारी के सञ्चालन भर के लिये (नारी रंजन मात्र के लिये) सुरा पीवे।

वक्तव्य—वनिता—उस नारी का नाम है जो भलीभांति भक्ता-सेविका हो और जिसको पति के प्रति अत्यन्त अनुराग हो, तात्पर्य यह है कि मदमत्त होकर जिस किसी स्त्री से संसर्ग करना सर्वथा अनुचित है ॥८६॥

वनिता रंजन प्रशंसा—

रहसि दयितामङ्के कृत्वा भुजान्तरपीडनात्,
पुलकिततनुं जातस्वेदां सकम्पपयोधराम्।
यदि सरभसं सीधूद्गारं न पाययते कृती
किमनुभवति क्लेशप्रायं ततो गृहतन्त्रताम् ॥८७॥

व्याख्या—जो कृती अर्थात् प्रशस्तकर्मा—प्रवीण गृहस्थ—दयिता-वनिता को अङ्क में लेकर, भुजाओं के भीतर निपीडन करने से जिस का शरीर पुलकित हो गया हो तथा स्वेद आने लगा हो और अनुराग के कारण स्तनों में कम्पन होने लगा हो, बल पूर्वक मद्य की गन्धवाले अपने उद्गार (मुखवायु) को यदि नहीं पिलाता तो गृह की अधीनता को-जिसमें अधिकतर क्लेश ही क्लेश हैं क्यों भोगता है।

वक्तव्य—यदि गृहस्थ उक्त प्रकार सुख नहीं ले सकता अथवा लेता तो वह घर के झंझटों को न सहे और अच्छा हैं कि वह गृहस्थाश्रम से पृथक् हो जाय ॥८७॥

इस मद्यपान के पश्चात् की विधि—

वरतनुवक्त्रसङ्गतिसुगन्धितरं सरकं
द्रुतमिव पद्मरागमणिमासवरूपधरम्।
भवति रतिश्रमेण च मदः पिबतोऽल्पमपि-
क्षयमत ओजसः परिहरन् स शयीत परम् ॥८८॥

व्याख्या—जो वनिता के मुख का सम्पर्क होने से और भी अधिक सुगन्धित, रसक (रसीला—स्वादु) एवं पिघली हुई पद्मराग (माणिक रत्न) के मणि जैसे आसव का रूप धारण किये हो वैसे थोड़ी भी मद्य को पीते हुए मानव को और रति के श्रम से मद हो जाता है और उस दशा में मद मत्त हो अधिक मैथुन का अभिलाषी हो जाता है परन्तु इससे बचना चाहिये। इसलिये—रति जनित ओजस् के क्षय का परिहास करता हुआ वह मानव इस के पश्चात् सो जाय—दुबारा तिबारा मैथुन करने का प्रयत्न न करे।

वक्तव्य—रसकं के स्थान में "सरकं" पाठान्तर है। सरक-चषक अर्थात् प्याला का नाम है। यह श्लोक कुछ प्रसादगुणहीन लगता है। सुरा भी लाल वर्ण की होती है।

मद्यपान विषयक अन्य विचार—

इत्थं युक्त्या पिबन्मद्यं न त्रिवर्गाद्विहीयते।
असारसंसारसुखं परमेवाधिगच्छति ॥८९॥
ऐश्वर्यस्योपभोगोऽयं स्पृहणीयः सुरैरपि।
अन्यथा हि विपत्सु स्यात्पश्चात्तापेन्धनं धनम् ॥९०॥
उपभोगेन रहितो भोगवानिति निन्द्यते।
निर्मितोऽतिकदर्योऽयं विधिना निधिपालकः ॥९१॥
तस्माद्व्यवस्थया पानं पानस्य सततं हितम्।
जित्वा विषयलुब्धानामिन्द्रियाणां स्वतन्त्रताम् ॥९२॥
विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्वसवस्तु ये।
यथोपपत्ति तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥९३॥
यावद्दृष्टेर्न सम्भ्रान्तिर्यावन्न क्षोभते मनः।
तावदेव विरन्तव्यं मद्यादात्मवता सदा ॥९४॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से संयम पूर्वक—मद्य का पान करता हुआ गृहस्थ मानव—त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) से हीन नहीं होता—रहता (सांसारिक सब कर्त्तव्य कर्म करता रहता है—किसी भी कर्म में त्रुटि नहीं होती) और इस असार (क्षण भंगुर) संसार के परम—सर्वश्रेष्ठ सुख को प्राप्त करता है—भोगता है। और ऐश्वर्य के इस उपभोग की देवताओं को भी अभिलाषा होती है—इसे वे भी चाहते रहते हैं—यह एक प्रकार का स्वर्गीय सुख है। अन्यथा—इसके विपरीत ऐश्वर्य रहने पर भी यदि उपभोग नहीं किया जाता तो—विपत्तियाँ आने पर (अराजकता होने पर—डाका पड़ने पर—चोरी हो जाने पर) वह धन पश्चात्ताप का इन्धन सुलगाने वाला—जलाने वाला इन्धन (काष्ठ—लकड़ी) के के समान होता है। और उपभोग से रहित मानव की "भोगवान्"—भोगी—सर्प कह कर निन्दा की जाती है कि—यह कदर्य—कृपण केवल धन की रक्षा के लिये विधाता ने उत्पन्न किया है। इसलिये व्यवस्थापूर्वक—नियम—समय पूर्वक— मद्य का पान निरन्तर—सदा ही लाभदायक होता है। और विषयोपभोग की लोभी—लालची इन्द्रियों की स्वतन्त्रता को जीत कर मद्य का पान लाभदायक होता है। यह उक्त प्रकार की सब विधि—मद्यपान की विधि—धनवानों के लिये अथवा उनके लिये कही गई है जिनको भविष्य में कहीं से-किसी प्रकार धनवान् होने की आशा है परन्तु उन सब को भी अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार मात्रा पूर्वक मद्य पीना चाहिये तभी हित होता है। आत्मवान्—संयमी मानव को तब तक मद्यपान से विरत हो जाना चाहिये जब तक दृष्टि में भ्रान्ति न हो और मन में क्षोभ

न हो। अर्थात् उतना ही मद्य पीवे जितने से नेत्रों में भ्रान्ति न हो और मन में क्षोभ न हो।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु का कथन है कि—च. चि. अ. २४। निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः।
शारीरमानसैः धीमान् विकारैः न स युज्यते ॥२०६॥

अर्थात्—जो मद्यपान से निवृत्त एवं जितेन्द्रिय बना रहता है उसे शारीरिक एवं मानसिक कोई विकार नहीं होता।

प्रकृति के अनुसार मद्यपान विधि—

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानवासधूपानुलेपनैः।
स्निग्धोष्णैर्भावितैश्चान्नैः पानं वातोत्तरः पिबेत् ॥९५॥
शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः।
पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति ॥९६॥
उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत्।
श्लैष्मिको जाङ्गलैर्मांसैर्मद्यं मरिचकैः सह ॥९७॥
तत्र वाते हितं मद्यं प्रायः पैष्टिकगौडिकम्।
पित्ते साम्भो मधु कफे मार्द्वीकारिष्टमाधवम् ॥९८॥
प्राक् पिबेच्छ्लैष्मिको मद्यं भुक्तस्योपरि पैत्तिकः।
वातिकस्तु पिबेन्मध्ये समदोषो यथेच्छया ॥९९॥

व्याख्या—वात प्रकृति का मानव—अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, इत्र आदि की सुगन्धि, धूपन, अनुलेन तथा स्निग्ध एवं उष्ण आहार का सेवन करके मद्यपान करे। पित्त प्रकृति का मानव—अनेक प्रकार के अभ्यंग आदि शीतल उपचारों का तथा मधुर, स्निग्ध एवं शीतल आहारों का सेवन करके मद्यपान करे ऐसा करने से कोई कष्ट (मदात्यय नामक रोग) नहीं होता। कफ प्रकृति का मानव—अभ्यङ्ग आदि उष्ण उपचारों का, जौ एवं गेहूँ के भोजन का, जाङ्गल प्राणियों के मांसों के साथ तथा मरिच से युक्त मद्य का पान करे। और वायु की अधिकता में प्रायः पीठी एवं गुड़ से बनी हुई मद्य लाभदायक होती है। पित्त की अधिकता में जलमिश्रित एवं मधु मिश्रित मद्य लाभदायक होती है। कफ की अधिकता में—मुनक्का से बनी, अरिष्ट जाति की तथा मधु अथवा महुवा से बनी मद्य लाभदायक होती है। और कफ प्रकृति का मानव—भोजन के पूर्व, पित्त प्रकृति का भोजन के अनन्तर और वात प्रकृति का मानव-भोजन के मध्य में (साथ) मद्य पीवे और समप्रकृतिका मानव—इच्छानुसार (जब चाहे) मद्यपान कर सकता है।

वक्तव्य—इसके आगे पुनर्वसु के श्लोक भी स्मरणीय हैं यथा—बहुद्रव्यं बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम्।
गुणैः दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते ॥२६॥
विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेत् मद्यं तस्य स्यात् अमृतोपमम् ॥२७॥
यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद् येन पीयते।
रूक्षव्यायामनित्येन विषवत् याति तस्य तत् ॥२८॥
च. चि. अ. २४।

इति मदात्ययचिकित्सितम्।

मद एवं मूर्च्छा की चिकित्सा

मद एवं मूर्च्छा का निदान अ. ६ में देखिये।

मद एवं मूर्च्छा की सामान्य चिकित्सा—

मदेषु वातपित्तघ्नं प्रायो मूर्च्छासु चेष्यते।
सर्वत्रापि विशेषेण पित्तमेवोपलक्षयेत् ॥१००॥
शीताः प्रदेहा मणयः सेका व्यजनमारुताः।
सिताद्राक्षेक्षुखर्जूरकाश्मर्यः स्वरसाः पयः ॥१०१॥
सिद्धं मधुरवर्गेण रसा यूपाः सदाडिमाः।
षष्टिकाः शालयो रक्ता यवाः सर्पिश्च जीवनम् ॥१०२॥
कल्याणकं महातिक्तं षट्पलं पयसाऽश्निकः।
पिप्पल्यो वा शिलाह्वं वा रसायनविधानतः ॥१०३॥
त्रिफला वा प्रयोक्तव्या सघृतक्षौद्रशर्करा।

व्याख्या—मद एव मूर्च्छा में—प्रायः वातपित्त नाशक चिकित्सा लाभदायक होती है। और सब प्रकार के (सात प्रकार के) मदों में तथा सब (४ प्रकार की) मूर्च्छाओं में पित्त पर ही ध्यान देना चाहिये (पित्त शान्ति का उपाय करना चाहिये)। यथा—शीतल लेप, शीत वीर्य मणियों का धारण (मोती आदि का धारण एवं भक्षण भी) शीतल द्रवों का सेचन (एवं स्नान) तथा शीतल पंखों की वायु और खण्ड-मिश्री का शर्बत—पानक, दाख—अंगूर का स्वरस, खजूर एवं गम्भार के फलों का रस, दूध, मधुर वर्ग के योग से सिद्ध दूध, मांस एवं शाक के रस, अनारदाना की खटाई से मिश्रित जूस, साठी धान्य के पदार्थ, लाल शालि धान्य के पदार्थ, जौ, घृत, जीवनीय गण के पदार्थ—द्रव्य, कल्याण घृत (उ. अ. ६), महातिक्त घृत (चि. अ. १९), षट्पल घृत (चि. अ. ५), दूध के साथ चीता मूल, रसायनविधि से पीपल एवं शिलाजतु के प्रयोग अथवा घृत, मधु एवं खण्ड के साथ हरड़ का प्रयोग करे।

वक्तव्य—इन प्रयोगों से सामयिक लाभ भी होता हैं और स्थायी लाभ भी ॥१००-१०३॥

अन्यान्य उपचार—

प्रसक्तवेगेषु हितं मुखनासावरोधनम् ॥१०४॥
पिबेद्वा मानुषीक्षीरं तेन दद्याच्च नावनम्।

मृणालबिसकृष्णा वा लिह्यात्क्षौद्रेण साभयाः ॥१०५॥
दुरालभं वा मुस्तां वा शीतेन सलिलेन वा ।
पिबेन्मरिचकोलास्थिमज्जोशीराह्विकेसरम् ॥१०६॥
धात्रीफलरसे सिद्धं पथ्याक्वाथेन वा घृतम् ।

व्याख्या—जिस समय मूर्च्छा का वेग हो—रोगी मूर्छित पड़ा हो उस समय—मुख एवं नासा का अवरोध करने से तत्काल प्रबुद्ध हो जाता है, प्रबुद्ध होने पर नारी का दूध पीवे अथवा उसकी नस्य लेवे (पिलावे और नस्य देवें) अथवा मृणाल, विस, पीपल एवं हरड को मधु में मिलाकर चाटे (चटावे), जवासा अथवा नागर मोथा को मिला कर चाटे अथवा—मरिच, वेर की गुठली (रुद्राक्ष), वेर की गिरी, खस तथा नाग केसर को शीतल जल में भिगोकर अथवा पीस कर पीवे अथवा आमला के रस में सिद्ध घृत पीवे अथवा हरड़ के (क्वाथ में सिद्ध घृत का पान करे ॥१०४-१०६॥

विशेष चिकित्सा—

कुर्यात्क्रियां यथोक्तां च यथादोषबलोदयम् ॥१०७॥
पञ्च कर्माणि चेष्टानि सेचनं शोणितस्य च ।
सत्त्वस्यालम्बनं ज्ञानमगृद्धिर्विषयेषु च ॥१०८॥
मदेष्वतिप्रवृद्धेषु मूर्च्छायेषु च योजयेत् ।
तीक्ष्णं सन्न्यासविहितं विषघ्नं विषजेषु च ॥१०९॥

व्याख्या—मद एवं मूर्च्छा रोगों में जो दोष बलवान् हो उस की चिकित्सा करे । इन में पञ्चकर्मों (वमन, रेचन, नस्य, निरूहण तथा अनुवासन) का प्रयोग करे और सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करे । रोगी—सत्त्व गुण का अवलम्बन करे (सत्त्वाऽवजय करे अर्थात् अहित विषयों की ओर जाने से मनस् को रोके) (च.सू.अ०११-५४) अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान आहार विहार करे, सदुपदेश सुने एवं सत् शास्त्र पढ़े और विषय वासना का लोभ न करे यह सब व्यवस्था चिकित्सक करे । अत्यन्त बढ़े हुए मद एवं मूर्च्छा में—नीचे लिखी संन्यास नाशक तीक्ष्ण चिकित्सा करे और विष जनित मद एवं मूर्च्छा में विष नाशक चिकित्सा करे ।

वक्तव्य – विष चिकित्सा-देखिये उत्तर तन्त्र अ० ३५॥

अथ संन्यास चिकित्सा—

आशु प्रयोज्यं सन्न्यासे सुतीक्ष्णं नस्यमञ्जनम् ।
धूमप्रधमनं तोदः सूचीभिश्च नखान्तरे ॥११०॥
केशानां लुञ्चनं दाहो दंशो दशनवृश्चिकैः ।
कटवम्लगालनं वक्त्रे कपिकच्छ्ववघर्षणम् ॥१११॥
उत्थितो लब्धसंज्ञश्च लशुनस्वरसं पिबेत् ।
खादेत्सव्योषलवणं बीजपूरककेसरम् ॥११२॥
लघ्वन्नप्रतितीक्ष्णोष्णमद्यात्स्रोतोविशुद्धये ।

व्याख्या—संन्यास नामक रोग में—तत्काल तीक्ष्ण नस्य का, तीक्ष्ण अञ्जन का, तीक्ष्ण धूम (धूप) का, तीक्ष्ण प्रधमन नस्य का प्रयोग करे अथवा नख के भीतर (नख एवं मांस के भीतर) सूई चुभा देवे अथवा केश उखाड़े अथवा दन्तों से काटे अथवा बिच्छू से डसावे अथवा मुख में मरिच आदि कटु तथा इमली निम्बू आदि अम्ल पदार्थ डाले अथवा किवाँच लगा देवे । यह सब सद्यःफला किया हैं इनसे रोगी तत्काल प्रबुद्ध हो जाता है । जब इन क्रियाओं से संज्ञा लाभ हो जाय एवं रोगी उठ बैठे तब फिर लशुन का रस पीवे और बिजौरा निम्बू में त्रिकटु एवं लवण लगा कर चूसे और मनोवाही स्रोतों की विशुद्धि के लिये लघु, तीक्ष्ण एवं उष्ण आहार का सेवन करे ।

वक्तव्य—इन तीक्ष्ण नस्य आदि उपायों से जो क्लेश होता है उस से तत्काल संज्ञालाभ हो जाता है और फिर लशुन आदि का सेवन करने से स्थायी लाभ हो जाता है ॥

संन्यास का वेग रोकने के उपाय—

विस्मापनैः संस्मरणैः प्रियश्रवणदर्शनैः ॥११३॥
पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैर्व्यायामशीलनैः ।
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैः शोणितस्यावसेचनैः ॥११४॥
उपाचरेत्तं प्रततमनुबन्धभयात्पुनः ।
तस्य संरक्षितव्यं च मनः प्रलयहेतुतः ॥११५॥

व्याख्या—संज्ञालाभ हो जाने के पश्चात् भी—विस्मय जनक दृश्य आदि दिखावे—सुनावे, पुरानी घटनाओं का स्मरण करावे, मनोहर एवं सुखदायक समाचार सुनावें, प्रियजनों तथा देशों, नाटकों आदि को दिखावे, मनोहर गीत एवं वाद्य सुनावे, मनोहर शब्द—कहानी, गल्प, आदि सुनावे, व्यायाम करने की व्यवस्था करे, रेचन एवं वमन धूमपान एवं रक्तमोक्षण की व्यवस्था करे । और इस प्रकार के अन्यान्य उपचार सदा—सर्वदा करता रहे जिससे पुनः वेग होने का भय न रहे और सदा उस रोगी के मन बहलाव से तथा संन्यास एवं मूर्च्छा के उत्पादक आहार विहारों के परित्याग द्वारा मनस् की रक्षा करता रहे (जिससे पुनः वेग न हो) ।

वक्तव्य—देखिये च. सू. अ. २४ और संन्यास का निदान देखिये इसी के नि० स्था० अ० ६ में ॥११३-११५॥

इत्यष्टांगहृदये चिकित्सास्थाने सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब अर्श की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—देखिये—च. चि. अ. १४, सु चि. अ. ६, अ. सं. चि. अ. १० ।

काले साधारणे व्यभ्रे नातिदुर्बलमर्शसम् ।
विशुद्धकोष्ठं लघ्वल्पमनुलोमनमाशितम् ॥१॥
शुचिं कृतस्वस्त्ययनं मुक्तविण्मूत्रमव्यथम् ।
शयने फलके वाऽन्य-नरोत्सङ्गे व्यपाश्रितम् ॥२॥
पूर्वेण कायेनोत्तानं प्रत्यादित्यगुदं समम् ।
समुन्नतकटीदेशमथ यन्त्रणवाससा ॥३॥
सक्थ्नोः शिरोधरायां च परिक्षिप्तमृजूस्थितम ।
आलम्बितं परिचरैः सर्पिषाऽभ्यक्तपायवे ॥४॥
ततोऽस्मै सर्पिषाऽभ्यक्तं निदध्यादृजु यन्त्रकम् ।
शनैरनुसुखं पायौ ततो दृष्ट्वा प्रवाहणात् ॥५॥
यन्त्रे प्रविष्टं दुर्नाम प्लोतगुण्ठितयाऽनु च ।
शलाकयोत्पीड्य भिषग् यथोक्तविधिना दहेत् । ६॥
क्षारेणैवार्द्रमितरत्क्षारेण ज्वलनेन वा ।
महद्वा बलिनश्छित्त्वा वीतयन्त्रमथातुरम् ॥७॥
स्वभ्यक्तपायुजघनमवगाहे निधापयेत् ।
निर्वातमन्दिरस्थस्य ततोऽस्याचारमादिशेत् ॥८॥
एकैकमितिसप्ताहात्सप्ताहात्समुपाचरेत् ।

अर्श पर क्षार आदि का प्रयोग—

व्याख्या—सम शीतोष्ण ऋतु में तथा दिन रात्रि के समशीतोष्ण काल में, जब आकाश में मेघ न हों, रोगी अत्यन्त दुर्बल न हो, उस का कोष्ठ वमन विरेचन से शुद्ध किया गया हो, उसे लघु, अल्पमात्रा में तथा वायु को अनुलोम करने वाला आहार खिलाकर, स्नानादि से शरीर को स्वच्छ करके, स्वस्ति वाचन करा कर, मूत्र एवं पुरीष का परित्याग करा कर और ज्वर आदि अन्य किसी रोग से रहित अर्शो रोगी को, शय्या पर अथवा तख्ता पर अथवा अन्य मानव की गोद में लेटा कर, सूर्य-प्रकाश की ओर गुदभाग करके, सीधा लेटाकर, पूर्वकाय को ऊँचा करके, कटिप्रदेश को अधिक ऊँचा करके, यन्त्रण (बंधन) योग्य कपड़ा से सक्थियों तथा ग्रीवा में बन्धन लगा कर, सीधा लेटा कर, परिचारकों द्वारा पकड़वा कर (जिससे कर्म के समय हिले डुले नहीं), गुद में घृत चुपड़ कर तथा शरीर भर पर घृत का अभ्यङ्ग करके, गुद में सीधा तथा धीरे २ घृत से चुपड़ा हुआ यन्त्र (अर्शोयन्त्र) प्रविष्ट करे और उस समय उसे यन्त्र विषयक कोई कष्ट न हो तथा वह रोगी गुदौष्ठ को ढीला करके यन्त्र प्रवेश करा लेवे । चिकित्सक इस प्रकार यन्त्र को प्रविष्ट करे जिससे अर्शोकुर यन्त्र के मुख से दिखने लगे तदनन्तर, रुई अथवा कोमल वस्त्र के प्लोत से गुण्ठित शलाका से उसे दबा कर साफ करके, सूत्रस्थान अध्याय ३० के अनुसार क्षार कर्म अथवा अग्निकर्म करे । परन्तु आर्द्र अर्श (पित्तज एवं रक्त अर्श) पर क्षार का और शुष्कार्श पर क्षार अथवा अग्नि का प्रयोग करके जला देवे । बलवान् रोगी के बड़े बड़े मांसांकुरों को काट कर क्षार अथवा अग्नि का प्रयोग करे । इसके पश्चात् अर्शोयन्त्र को गुद में से निकाल देवे और रोगी के गुद एवं जघन पर अभ्यंग करके, उष्ण जल में बिठा देवे । इस प्रकार वेदना शान्त हो जाने पर जल में से निकाल कर वायु रहित घर के भीतर लेटा देवे और उष्णोदकोपचारी स्यात् (आदि सू० अ० १६ में) आदि पाठ द्वारा बतलाया गया आचार (आहार विहार) का आदेश-उपदेश कर देवे । इस प्रकार एक एक मांसांकुर की चिकित्सा सात सात दिन पर करे एक साथ नहीं ॥८॥

अन्य संकेत—

प्राग्दक्षिणं ततो वाममर्शः पृष्ठाग्रजं ततः ॥९॥
बह्वर्शसः सुदग्धस्य स्याद्वायोरनुलोमता ।
रुचिरन्नेऽग्निपटुता स्वास्थ्यं वर्णबलोदयः ॥१०॥

व्याख्या—उक्त विधि से अधिक संख्या में मांसांकुर हों तो प्रथम दक्षिण ओर के मांसांकुर पर, फिर बाईं ओर के मांसांकुर पर, फिर पीठ की ओर के और फिर आगे की ओर के मांसांकुर पर उक्त क्षार कर्म आदि करे । सम्यक्—दाह होने पर—वायु का अनुलोमन हो जाता है, भोजन में रुचि, अग्नि की दीप्ति तथा स्वास्थ्य का लाभ और कान्ति एवं बल का उदय होने लगता है ।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—चतुर्विधो हि अर्शसां साधनोपायः । तद् यथा—१. भेषजम्, २. क्षारो, ३. अग्निः, ४. शस्त्रं इति । तत्र अचिरकालजातानि अल्प-दोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि, मृदुप्रसृताऽवगाढानि, उच्छ्रितानि क्षारेण, स्थिरकठिनपृथुकठिनानि अग्निना, तनु-मूलानि, उच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण । तत्र भेषजसा-ध्यानामर्शसामदृश्यानां च भेषजं भवति, क्षाराऽग्निशस्त्र साध्यानां तु विधानमुच्यमानमुपधारय । ३ ।

तत्र बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपस्निग्धं परिस्विन्नं अनिलवेदनाऽभिवृद्धिप्रशमनार्थं स्निग्धमुष्णमल्पमन्नंद्रप्रायं भुक्त-वन्तमुपवेश्य संवृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काले समे-फलकेशय्यायां वा प्रत्याऽऽदित्यगुदमन्यस्योत्संगे निषण्ण-

पूर्वकायमुत्तानं किञ्चित्-उन्नतकटिकं वस्त्रकम्बलकोपविष्टं यन्त्रणशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थि परिकर्मिभिः सुपरिगृहीतमस्पन्दनशरीरं कृत्वा, ततोऽस्मै घृताभ्यक्तगुदाय घृताऽभ्यक्तं यन्त्रं ऋजुमनुसुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय, प्रविष्टे च अर्शो वीक्ष्य, शलाकयोत्पीड्य पिचुवस्त्रयोः अन्यतरेण प्रमृज्य क्षारं पातयेत्, पातयित्वा च पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय वाक्शतमात्रमुपेक्षेत, ततः प्रमृज्य क्षारबलं व्याधिबलं च अवेक्ष्य पुनः आलेपयेत्, अथ अर्शः पक्वजाम्बवप्रतिकाशमवसन्नमीषत् नतमभिसमीक्ष्य उपावर्तयेत्, क्षारं प्रक्षालयेत् धान्याम्लेन दधिमस्तुशुक्तफलाम्लैर्वा, ततो यष्टिमधुकमिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य, यन्त्रमपनीय उत्थाप्य आतुरमुष्णोदकोपविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिञ्चेत्, अशीताभिः इति एके, ततो निर्वातमागारं प्रवेश्य आचारिकमादिशेत्, सावशेषं पुनःदहेत्, एवं सप्तरात्रात् सप्तरात्रात् एकैकमुपक्रमेत, तत्र बहुषु पूर्वं दक्षिणं साधयेत् दक्षिणात् वामं, वामात् पृष्ठजं ततोऽग्रजमिति।४।

तत्र वातपित्तनिमित्तानि अग्निक्षाराभ्यां साधयेत्, क्षारेणैव मृदुना पित्तरक्तनिमित्तानि।५।

तत्र वातानुलोम्यमन्नरुचिः अग्निदीप्तिः लाघवं बलवर्णोत्पत्तिः, मनस्तुष्टिः इति सम्यग्दग्धलिंगानि, अतिदग्धे तु गुदावदरणं, दाहो, मूर्च्छा, ज्वर, पिपासा, शोणिताऽतिप्रवृत्तिः तन्निमित्ताश्च उपद्रवाः भवन्ति, श्यामाऽल्पव्रणता, कण्डूः अनिलवैगुण्यं, इन्द्रियाणामप्रसादो विकारस्य च अशान्तिः हीनदग्धे।६।

महान्ति च प्राणवतः छित्वा दहेत्, निर्गतानि च अत्यर्थं दोषपूर्णानि यन्त्राद् विना स्वेदाऽभ्यंगस्नेहावगाहोपनाहविस्रावणाऽऽलेपक्षाराऽग्निशस्त्रैरुपाचरेत्, प्रवृत्तरक्तानि च रक्तपित्तविधानेन, भिन्नपुरीषाणि च अतिसारविधानेन, बद्धवर्चांसि स्नेहपानविधानेन उदावर्तविधानेन वा। एषः सर्वस्थानगतानामर्शसां दहनकल्पः।७।

परं च यत्नमास्थाय गुदे क्षाराऽग्निशस्त्राणि अवचारयेत्, तद् विभ्रमात् षाण्डव शोफ दाह मद मूर्च्छाऽऽटोपाऽऽनाहाऽतिसारप्रवाहणानि भवन्ति मरणं वा।१०। सु. चि. अ ६। इस प्रकार के क्षार, अग्नि एवं शस्त्र कर्म का प्रयोग किसी कुशल चिकित्सक के साथ रह कर सीखना चाहिये।।९-१०।।

कुछ उपद्रवों की चिकित्सा—

बस्तिशूले त्वधो नाभेर्लेपयेच्छ्लक्ष्णकल्कितैः।
वर्षाभूकुष्ठ-सुरभि-मिशि-लोहाऽमराह्वयैः।।११।।
शकृन्मूत्रप्रतीघाते परिषेकावगाहयोः।
वरणाऽलम्बुषैरण्ड-गोकण्टकपुनर्नवैः।।१२।।
सुषवीसुरभीभ्यां च क्वाथमुष्णं प्रयोजयेत्।
सस्नेहमथवा क्षीरं तैलं वा वातनाशनम्।।१३।।
युञ्जीतान्नं शकृद्भेदि स्नेहान् वातघ्नदीपनान्।

व्याख्या—यदि बस्ति में शूल हो जाय तो रक्तपुनर्नवा सुगन्धी कूठ, सुरभि (गन्ध सुरा—तुलसी), सोया, अगुरु तथा देवदारु (बुरादा अथवा गोन्द) को भली भांति—सूक्ष्मातिसूक्ष्म पीस कर—कल्क बना कर नाभि (धुन्नी) के नीचे—वस्ति पर लेप करे। यदि पुरीष एवं मूत्र का निरोध हो जाय तो परिषेचन एवं अवगाहन में— वरुण वृक्ष की छाल, गोरखमुण्डी, एरण्ड मूल, गोखरू, पुनर्नवा, सुषवी तथा सुरभि के उष्ण २ क्वाथ का प्रयोग करे अथवा स्नेह युक्त दूध अथवा वातनाशक किसी तैल का प्रयोग करे और मलभेदक आहार का तथा वातनाशक एवं अग्नि दीपक स्नेहों का प्रयोग करे-खिलावे, पिलावे।।११-१३।।

दाहकर्म के अयोग्य की चिकित्सा—

अथाऽप्रयोज्यदाहस्य निर्गतान् कफवातजान्।।१४।।
संस्तम्भकण्डूरुक्शोफानभ्यज्य गुदकीलकान्।
बिल्वमूलाग्निकक्षारकुष्ठैः सिद्धेन सेचयेत्।१५।।
तैलेनाऽहिबिडालोष्ट्र-वराहवसयाऽथवा।
स्वेदयेदनु पिण्डेन द्रवस्वेदेन वा पुनः।।१६।।
सक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा।
रास्नाया हपुषाया वा पिण्डैर्वा कार्ष्यगन्धिकैः।।१७।।

व्याख्या—जो रोगी—क्षार कर्म एवं अग्निकर्म के अयोग्य हो (देखिये सू. अ० २०) और कफ एवं वायु से उत्पन्न मांसांकुर बाहिर निकले हुए हों तथा स्तब्धता, कण्डू, वेदना तथा शोथ से युक्त हों तो उन पर—बिल की जड़, चित्रामूल, जौखार तथा सुगन्धी कूठ के योगसे सिद्ध तैल से अभ्यङ्ग करे और सेचन करे। अथवा—सर्प की, बिड़ाल की, ऊण्ट की अथवा सूअर की वसा (चर्वी)का अभ्यङ्ग एवं सेचन करे। इसके अनन्तर पिण्ड स्वेद अथवा द्रव स्वेद से स्वेदन करे। पिण्ड स्वेद—तैल एवं घृत को सत्तुओं में मिल कर और पोटली बना कर उससे स्वेदन करे। अथवा रासना, हाऊबेर अथवा कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन—सुहाञ्जना नामक वृक्ष) के कल्क की पोटली से स्वेदन करे।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में इस पाठ के मध्य में कासीसादि तैल का योग पाया जाता है— यथा—

कासीसं सैन्धवं रास्ना शुण्ठी कुष्ठं च लांगली।
शिलाऽभ्रकाऽश्वमारं च जन्तुघ्नदन्तीचित्रकौ।
हरितालं तथा स्वर्णक्षीरी तैश्च पचेत् शनैः।
तैलं सुधार्कपयसी गवां मूत्रे चतुर्गुणे।

तद् अभ्यंगतोऽर्शांसि क्षारवत् पातयेत् द्रुतम् ।
क्षारकर्मकरं ह्येतत् न च दूषयते वलिम् ।

अर्थात्—हरा कसीस, सैन्धव लवण, रासना, सौंठ सुगन्धी कूठ, कलिहारी कन्द, मैंनसिल, अभ्रक, कनेर, बायविडंग, दन्तीमूल, चित्ता, हरिताल तथा सत्यानाशी १-१ कर्ष लेकर कल्क करे, कटु तैल ५६ कर्ष, सेहुण्ड तथा आक के दूध ५६-५६ कर्ष तथा गो मूत्र २२४ कर्ष। सबको एक साथ मिलाकर पाक करे सिद्ध होने पर तैल छान लेवे। इसका अभ्यङ्ग करने से—अर्श गिर जाते हैं जैसे क्षार लगाने से। यह तैल क्षार का कर्म करता है परन्तु गुदवलि में क्षत नहीं करता। क्षार से क्षत हो जाता है और क्षत का रोपण करना पड़ता है।

वक्तव्य—एक कासीसादि तैल सु. चि. अ० ६ में भी अर्शः शातनार्थं लिखा है ॥१४-१७॥

अर्श के लिये धूपन योग—

अर्कमूलं शमीपत्रं नृकेशाः सर्पकञ्चुकम् ।
मार्जारचर्म सर्पिश्च धूपनं हितमर्शसाम् ॥१८॥
तथाऽश्वगन्धा सुरसा बृहती पिप्पली घृतम् ।

व्याख्या—अर्क मूल को छाल, शमी (जण्ड वृक्ष) के पत्र, मानव के केश; सर्प की कैंचुली, विलाव का चर्म तथा घृत की धूप अर्श के लिये हित है। अथवा—असगंध, तुलसी, वनभण्टा के फल, पीपल एवं घृत की धूप अर्श के लिये हित है।

वक्तव्य—इन धूपों से अर्श के अंकुर सूख जाते हैं उनका शोथ नष्ट हो जाता है, वेदना भी शान्त हो जाती है ॥१८॥

अर्श के लिये वर्त्ति—

धान्याम्लपिष्टैर्जीमूतबीजैस्तज्जालकं मृदु ॥१९॥
लेपितं छायया शुष्कं वर्तिर्गुदजशातनी ।
सजालमूलजीमूतलेहे वा क्षारसंयुते ॥२०॥
गुञ्जासूरणकूष्माण्डबीजैर्वर्तिस्तथागुणा ।

व्याख्या—जीमूत नामक तुम्बी के बीजों तथा कोमल जाला को काञ्जी में पीस कर बाहिरी अर्श पर लेप करे अथवा उसे छाया में सुखाकर, बत्ती बनाकर भीतरी अर्श के शातनार्थं गुद के भीतर धरे। अथवा—जीमूत के जाला एवं मूल का लेह बनावे और उस में जौखार, गुञ्जा बीज, सूरण तथा पेठा के बीज का चूर्ण मिला कर बत्ती बनावे। यह भी अर्श का शातन करती है ॥१९,२०॥

अर्श के लिये लेप—

स्नुक्क्षीरार्द्रनिशालेपस्तथा गोमूत्रकल्कितैः ॥२१॥
कृकवाकुशकृत्कृष्णनिशागुञ्जाफलैस्तथा ।
स्नुक्क्षीरपिष्टैः षड्ग्रन्थाहलिनीवारणास्थिभिः ॥२२॥
कुलीरशृङ्गीविजयाकुष्ठारुष्करतुत्थकैः ।
शिग्रुमूलकजैर्बीजैः पत्रैरश्वघ्ननिम्बजैः ॥२३॥
पीलुमूलेन बिल्वेन हिङ्गुना च समन्वितैः ।
कुष्ठं शिरीषबीजानि पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः ॥२४॥
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ।
आर्कं पयः स्नुहीकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः ॥२५॥
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ।
आनुवासनिकैर्लेपः पिप्पल्याद्यैश्च पूजितः ॥२६॥

व्याख्या—१. हल्दी को सेहुण्ड के दूध में पीस कर लेप करे, २. मुरगा की बीठ, पीपल, हल्दी तथा गुञ्जा बीज को गोमूत्र में पीस कर लेप करे, ३. बालवच, कलिहारी, हाथी की अस्थि (दन्त), काकड़ा सिंगी, हरड़ (अथवा भाँग), कूठ, भिलावा तथा तूतिया को सेहुण्ड के दूध में पीस कर लेप करे, ४. सहजन के बीज, मूली के बीज, कनेर के पत्र, निंब के पत्र, पीलू वृक्ष की जड़, बिलगिरी तथा हींग का लेप करे, ५. कुठ, सिरस के बीज, पीपल, सैन्धव लवण, गुड़, आक का दूध, सेहुण्ड का दूध तथा त्रिफला का लेप करे ६. आक का दूध, सेहुण्ड का काष्ठ, कटुतुम्बी के पत्र तथा करञ्जबीज को बकरा के मूत्र में पीस कर लेप करे, अथवा आगे श्लोक ८७-९० में कहे पिप्पली मदन आदि अनुवासनोपयोगी द्रव्यों का लेप करे ॥२१-२६॥

अर्श पर अभ्यंग—

एभिरेवौषधैः कुर्यात्तैलान्यभ्यंजनानि च ।

व्याख्या—इन्हीं लेपन की औषधियों के योग से सिद्ध तैलों का अभ्यंग करे।

धूपन आदि का फल—

धूपनालेपनाभ्यङ्गैः प्रस्रवन्ति गुदाङ्कुराः ॥२७॥
सञ्चितं दुष्टरुधिरं ततः सम्पद्यते सुखी ।
अवर्तमानमुच्छूनकठिनेभ्यो हरेदसृक् ॥२८॥
अर्शोभ्यो जलजाशस्त्रसूचिकूर्चैः पुनः पुनः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्न व्याधिरुपशाम्यति ॥२९॥
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ।

व्याख्या उक्त धूपन, लेपन अथवा अभ्यंग के प्रयोग से—अर्शोंकुर में जो संचित रक्त रहता है वह झर जाता है फलतः रोगी सुखी हो जाता है। परन्तु यदि उक्त धूपन आदि से रक्त न झरे अथवा मांसांकुर शोथ युक्त हों तथा कठोर हों तो उनका रक्त—जौंक, शस्त्र, सूई अथवा कूची नामक शस्त्र के प्रयोग से बार २

थोड़ा २ निकाल देना चाहिये—फलतः रोगी सुखी हो जाता है। क्योंकि—जो व्याधि शीतल एवं उष्ण और स्निग्ध एवं रूक्ष आदि उपचारों से शान्त नहीं हो उस में रक्त दुष्ट होता है। इसलिये ऐसी अवस्था में चिकित्सक—रक्त का अवसेचन—स्रावण कर देवे।

वक्तव्य—इन सब उपायों से तात्कालिक एवं स्थानीय लाभ होता है, स्थायी नहीं। अतः स्थायी लाभ के लिये अथवा चिरस्थायी लाभ के लिये निम्नलिखित योग का प्रयोग करे। यथा—॥२७-२९॥

कुछ योग तथा तक्र प्रयोग—

यो जातो गोरसः क्षीराद्वह्निचूर्णावचूर्णितात् ॥३०॥
पिबंस्तमेव तेनैव भुञ्जानो गुदजान् जयेत् ।
कोविदारस्य मूलानां मथितेन रजः पिबेत् ॥३१॥
अश्नन् जीर्णे च पथ्यानि मुच्यते हतनामभिः ।
गुदश्वयथुशूलार्तो मन्दाग्निर्गौल्मिकान् पिबन् ॥३२॥
हिंग्वादीननुतक्रां वा खादेद्गुडहरीतकीम् ।
तक्रेण वा पिबेत्पथ्याविल्लाग्निकुटजत्वचः ॥३३॥
कलिङ्गमगधाज्योति सूरणान् वांशवर्धितान् ।
कोष्णाम्बुना वा त्रिकटुव्योषहिंग्वम्लवेतसम् ॥३४॥
युक्तं बिल्व-कपित्थाभ्यां महौषधबिडेन वा ।
आरुष्करैर्यवान्या वा प्रदद्यात्तक्रतर्पणम् ॥३५॥
दद्याद्वाहपुषाहिङ्गुचित्रकं तक्रसंयुतम् ।
मासं तक्रानुपानानि खादेत्पीलुफलानि वा ॥३६॥
पिबेद्दहरहस्तक्रं निरन्नो वा प्रकामतः ।
अत्यर्थमन्द-कायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् ॥३७॥
सप्ताहं वा दशाहं वा मासार्धं मासमेव वा ।
बलकालविकारज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत् ॥३८॥
सायं वा लाजसक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ।
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम् ॥३९॥
तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ।
यूषै रसैर्वा तक्राढ्यैः शालीन् भुञ्जीत मात्रया ॥४०॥
रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ।
तक्रं दोषाग्निबलवत्त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥४१॥
न विरोहन्ति गुदजाः पुनस्तक्रसमाहताः ।
निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोलुपम् ॥४२॥
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसो धातूनुपैति यः ।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः परं तुष्टिश्च जायते ॥४३॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं च विनिवर्तते ।
मथितं भाजने क्षुद्रबृहतीफललेपिते ॥४४॥
निशां पर्युषितं पेयमिच्छद्भिर्गुदजक्षयम् ।
धान्योपकुञ्चिका ।जाजीहपुषापिप्पलीद्वयैः ॥४५॥
कारवीग्रन्थिकशठीयवान्यग्नियवानकैः ।
चूर्णितैर्घृतपात्रस्थं नात्यम्लं तक्रमासुतम् ॥४६॥
तक्रारिष्टं पिबेज्जातं व्यक्ताम्लकटु कामतः ।
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम् ॥४७॥
गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम् ।
त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् ॥४८॥
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ।
भाङ्गर्यास्फोतामृतापञ्चकोलेष्वप्येष संविधिः ॥४९॥

व्याख्या—गौ के दूध को पकावे और उस में चित्ता का चूर्ण बुरक कर दही जमा देवे। इस दही को पीवे और इसी के साथ भोजन खावे; इस प्रकार कई मास रहने से अर्श का समूल नाश हो जाता है। अथवा—कचनार की जड़ का चूर्ण—मथित (मण्ठा) के साथ पीते रहने से और उस के पच जाने पर—पूर्वाहार के पूर्ण रूप से पच जाने पर पथ्य आहार करते रहने से अर्श से मुक्त हो जाता है। यदि गुद में शोथ एवं शूल हो तो गुल्म चिकित्सा अ० १४ में कहे गये हिंग्वादि चूर्ण आदि योगों को तक्र के अनुपान से पीता रहे अथवा गुड़ एवं हरड़ का योग तक्र के अनुपान से खाता रहे। अथवा—हरड, वाविडंग, चित्तामूल तथा कुटज की छाल का चूर्ण तक्र के साथ पीता रहे। अथवा—इन्द्र जौ १ भाग, पीपल २ भाग, चित्ता मूल ३ भाग तथा सूरण का सूखा चूर्ण ४ भाग मिला कर तक्र के साथ पीता रहे। अथवा—सैन्धव आदि तीन लवण, त्रिकटु, घृत भर्जित हींग तथा अम्लवेत का चूर्ण कोसे जल से पीता रहे। अथवा—जौ के सत्तुओं को तक्र में घोलकर और उसमें—बिलगिरी एवं कैथ मिला कर अथवा सोंठ एवं विड्लवण मिलाकर अथवा भिलावा का चूर्ण मिलाकर रोगी को देता रहे। अथवा—हाऊवेर, घृतभर्जित हींग तथा चित्ता का चूर्ण तक्र में मिला कर देवे। अथवा—एक मास भर, केवल पीलू के फल तक्र के अनुपान से खाया करे। अथवा प्रतिदिन इच्छानुसार तक्र पीता रहे परन्तु अन्न न खावे। जिस की अग्नि अत्यन्त मन्द हो उसे तक्र का ही सेवन करावे। रोगी एवं रोग के बल के, शीतोष्ण आदि काल के तथा रोग के अनुसार एक सप्ताह अथवा एक दशाह अथवा एक पक्ष (१५ दिन) अथवा एक मास पर्यन्त तक्र का प्रयोग करे। अथवा—दिन भर तक्र पीवे और तक्र पचने पर सायं काल सत्तू का तक्र में अवलेह (लेई—कढ़ी) बनाकर खावे अथवा तक्र में पेया (गेहूँ जौ आदि के आटे की) बना कर और उस में सैन्धव लवण मिलाकर पीवे। इस प्रकार तक्र का उक्त अवधि तक प्रयोग करने के पश्चात् घी आदि स्नेह से मिश्रित भात

तक्र के ही साथ खाया करे। अथवा—तक्र मिश्रित यूष एवं मांस रस तथा शाक रस के साथ शालि चावलों का भात थोड़ी थोड़ी मात्रा में खाया करे। तक्र तीन प्रकार का होता है—१—रूक्ष-जिस में से माखन निकाल लिया गया हो, २—अर्द्धोद्धृत स्नेह-जिस में से आधा माखन निकाला गया हो और ३—अनुद्धृत स्नेह—जिस में से घृत—माखन निकाला ही नहीं गया। इस तीन प्रकार के तक्र को वातादि दोष, अग्नि तथा बल के अनुसार प्रयोग में लेना चाहिये। तक्र द्वारा निर्मूल किये गये मांसांकुर फिर कभी भी उत्पन्न नहीं होते क्योंकि—पृथिवी पर सींचा गया तक्र तृण तथा उपल—लताओं को भी जला देता है। वे पुनः नहीं उगते। और तक्र द्वारा शुद्ध स्रोतों में होकर जो रस धातुओं में पहुँचता है उस से पुष्टि, बल, कान्ति तथा परम सन्तोष की उत्पत्ति होती है और वायु एवं कफ के सैकड़ों रोग नष्ट हो जाते हैं। जो मानव अर्श का समूल नाश चाहते हैं वे—मण्ठा को रात्रिभर उस भाण्ड में धर दें जिस के भीतर कण्टकारी के फलों के कल्क का लेप किया हो और प्रातः उस तक्र को पिया करें। तक्रारिष्ट—धनिया, कलौञ्जी, जीरा हाऊवेर, पीपल, गजपीपल, काला जीरा, पीपलामूल, कचूर अजवायन, चित्तामूल तथा अजमोद का चूर्ण उचित मात्रा में घृत स्निग्ध भाण्ड में डालकर तक्र भर देवे और उस का मुख बन्द करके धर देवे जब उस में थोड़ी अम्लता उत्पन्न हो जाय तब उस आसव को इच्छानुसार-जितना पीना चाहे पीवे अथवा जब उस में भली भाँति अम्ल एवं कटु रस (मद्य का सा रस) उत्पन्न हो जाय तब उस अरिष्ट को पीवे। यह तक्रारिष्ट—अग्नि दीपक है, रुचिकारक है, कान्तिवर्द्धक है, कफ एवं वायु का अनुलोमन करता है और गुद के शोथ को, कण्डू को तथा वेदना को नष्ट करता है और बल को बढ़ाता है। चित्ता के मूल की छाल को पीस कर भाण्ड के भीतर लेप करे और उस में दूध जमा देवे। उससे बना दही अथवा तक्र पीता रहे यह अर्श को नष्ट करता है। इसी विधि से मारंगी, कोयल, गिलोय तथा पञ्चकोल को पीसकर, भाण्ड में लेप कर, दूध जमा कर दही अथवा तक्र दिया करे॥३०-४६॥

अर्श में पेया आदि का विधान—

पिष्टैर्गजकणापाठाकारवीपञ्चकोलकैः।
तुम्बुर्वजाजीधनिकाबिल्वमध्यैश्च कल्पयेत्॥५०॥
फलाम्लान् यमकस्नेहान् पेयायूषरसादिकान्।
एभिरेवौषधैः साध्यं वारि सर्पिश्च दीपनम्॥५१॥
क्रमोऽयं भिन्नशकृतां वक्ष्यते गाढवर्चसाम्।

व्याख्या—गजपीपल, पाठा, काला जीरा, पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ), बनधनिया, जीरा, धनिया तथा बिलगिरी के योग से—पेया, यूष एवं रस (मांसरस एवं शाकरस) बनावे जो अनारदाना आदि अम्ल द्रव्यों के संयोग से अम्ल किये गये हों तथा घृत एवं तैल के मिश्रण से बनाए गये हों (तुम्बरु—तेजबल के बीज का नाम है)। और इन्हीं गजपीपल आदि द्रव्यों के संयोग से पीने का पानी एवं घृत सिद्ध करे जो अग्निदीपक होता है। यह सब क्रम उन अर्शोरोगियों के लिये लाभदायक है जिन को अर्श के साथ २ मलभेद रहता है और उन रोगियों के लिये सब क्रम आगे कहेंगे जिन को पुरीष रोध रहता है।

वक्तव्य—श्री वाग्भट जी ने चरक के पाठ का संक्षेप कर दिया है परन्तु चरक का पाठ इस प्रकार है—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्।
शृंगवेरमजाजीं च कारवीधान्यतुम्बरुम्॥८६॥
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत्।
फलाम्लां यमकैः भृष्टां तां दद्यात् गुदजापहाम्॥६०॥
एतैश्चैव खड़ान् कुर्यात् एतैश्च विपचेत् जलम्।
एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये॥६१॥
और—शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा।
दद्यात् यवागूं तक्राऽम्लां मरिचैरवचूर्णिताम्॥६२॥
शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा।
दधित्थ बिल्व यूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम्॥६३॥
छागलं वा रसं दद्यात् यूषैरेभिः विमिश्रितम्।
लावादीनां फलाऽम्लं वा सतक्रंग्राहिभिः युतम्॥६४॥
रक्तशालिः महाशालिः कलमो लाङ्गलः सितः।
शारदः षष्टिकश्चैव स्यात् अन्नविधिरर्शसाम्॥६५॥
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च क्रियाक्रमः।
येऽत्यर्थं गाढशकृतः तेषां वक्ष्यामि भेषजम्।
च. चि. अ० १४।

एक अन्य ध्यान देने योग्य विषय है कि चरक के पाठ में "धान्यतुम्बरुम्" पाठ है और श्री वाग्भट जी के पाठ में—"तुम्बरु अजाजी धनिका" पाठ है॥५०,५१॥

अर्श में पुरीष रोध की चिकित्सा—

स्नेहाढ्यैः सक्तुभिर्युक्तां लवणां वारुणीं पिबेत्॥५२॥
लवणा एव वा तक्रसीधुधान्याम्लवारुणीः।
प्राग्भक्तं यमके भृष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान्॥५३॥
करञ्जपल्लवान् खादेद्वातवर्चोऽनुलोमनान्।
सगुडं नागरं पाठां गुड क्षार घृतानि वा॥५४॥
गोमूत्राध्युषितामद्यात्सगुडां वा हरीतकीम्।

पथ्याशतद्वयान्मूत्रद्रोणेनाऽऽमूत्रसंक्षयात् ॥५५॥
पक्वान् खादेत्समधुनी द्वे द्वे हन्ति कफोद्भवान्।
दुर्नाम-कुष्ठ-श्वयथु-गुल्म-मेहोदर-क्रिमीन्॥५६॥
ग्रन्थ्यर्बुदापचीस्थौल्य पाण्डुरोगाऽऽढ्यमारुतान्।
अजशृङ्गीजटाकल्कमजामूत्रेण यः पिबेत् ॥५७॥
गुडवार्ताकभुक्तस्य नश्यन्त्याशु गुदाङ्कुराः।
श्रेष्ठारसेन त्रिवृतां पथ्यां तक्रेण वा सह ॥५८॥
पथ्यां वा पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां गुडान्विताम्।
अथवा सत्रिवृद्दन्तीं भक्षयेदनुलोमनीम् ॥५९॥
हते गुदाश्रये दोषे गुदजा यान्ति संक्षयम्।

व्याख्या—घृत आदि किसी स्नेह से मिश्रित सत्तुओं के साथ लवणयुक्त वारुणी (ताड़ी) पीवे। अथवा—लवण मिलाकर—तक्र, सीधु, कांजी अथवा वारुणी पीवे। अथवा—करंज के पत्तों को घृत एवं तैल में तल कर और उन में सत्तू बुरक कर भोजन के पूर्व खावे। यह योग—वायु एवं पुरीष का अनुलोमन करता है। अथवा—गोमूत्र में भावित हरड़ को गुड़ में मिला कर खाया करे। और—दो सौ हरड़ों को एक द्रोण गोमूत्र में तब तक पकावे जब तक मूत्र सूख जाय। उन में से दो दो हरड़ खाया करे तो कफ जनित अर्श, कुष्ठ, शोथ, गुल्म, प्रमेह, उदर रोग, कृमि, ग्रन्थि, अर्बुद, अपची, स्थौल्य, पाण्डु-रोग तथा ऊरुस्तम्भका नाश हो जाता है जो रोगी काकड़ा सिंगी की जड़ के कल्क को बकरी के मूत्र के साथ पीता रहता है औरगुड एवं बैंगनके साथ भोजन करता रहता है उसके अर्शोङ्कुर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अथवा—जो रोगी त्रिफला के रस के साथ निसोत को, तक्र के साथ हरड़ को अथवा घृत में तली गई हरड़ को पीपल एवं गुड़ में मिला कर खाता रहता है उसके अर्श शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अथवा—निसोत तथा दन्ती के कल्क को नित्य खाया करे इससे वायु का अनुलोमन होता है। और वास्तविकता यह है कि गुद में आश्रित दोष का नाश हो जाने पर अर्श का भी क्षय हो जाता है ॥५२-५९॥

एक अन्य तक्र प्रयोग—

दाडिमस्वरसाजाजी-यवानीगुडनागरैः ॥६०॥
पाठया वा युतं तक्रं वातवर्चोऽनुलोमनम्।

व्याख्या—अनार का रस, जीरा, अजवायन, गुड़ सोंठ एवं पाठा से युक्त—वायु एवं पुरीष का अनुलोमन—प्रवर्त्तक है ॥६०॥

सीधु आदि का प्रयोग—

सीधुं वा गौडमथवा सचित्रकमहौषधम् ॥६१॥
पिबेत्सुरां वा हपुषापाठासौवर्चलान्विताम्।

व्याख्या—चित्रकमूल एवं सोंठ का चूर्ण मिला कर सीधु अथवा गुड़ निर्मित मद्य को पिया करे अथवा—हाऊबेर पाठा तथा सौञ्चर लवण मिला कर सुरा पिया करे ॥६१॥

अर्श में पीपल का प्रयोग—

दशादिदशकैर्वृद्धाः पिप्पलीर्द्विपिचुं तिलान् ॥६२।
पीत्वा क्षीरेण लभते बलं देहहुताशयोः।

व्याख्या—दस से प्रारम्भ करके प्रतिदिन दस दस पीपल बढ़ाकर और उसमें दो कर्ष तिल मिला कर तथा पीस कर दूध के साथ पीवे। इस प्रयोग से शरीर तथा अग्नि का बल बढ़ता है।

वक्तव्य—यह भी दूध का कल्प है,-जितना दूध पी सके पीवे और १०० पीपल तक अथवा २०-३० तक बढ़ावे परन्तु २१ दिन अथवा ४० दिन का प्रयोग कर और वृद्धि क्रम के अनुसार ह्रास क्रम करे अर्थात् जैसे २ पीपल की संख्या बढावे वैसे २ ही घटावे ॥६२॥

अर्श में पाठा का प्रयोग—

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा ॥६३॥
एकैकेनाऽपि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम्।

व्याख्या—जवासा, बिलगिरी, अजवायन तथा सोंठ में से किसी एक द्रव्य के साथ पाठा का सेवन करने से अर्शों की वेदना शान्त हो जाती है ॥६३॥

अभयारिष्ट—

सलिलस्य वहे पक्त्वा प्रस्थार्धमभयात्वचम् ॥६४॥
प्रस्थं धात्र्या दशपलं कपित्थानां ततोऽर्धतः।
विशालां रोध्रमरिचकृष्णावेल्लैलवालुकम् ॥६५॥
द्विपलांशं पृथक्पादशेषे पूते गुडात्तुले।
दत्त्वा प्रस्थं च धातक्याः स्थापयेद् घृतभाजने ॥६६॥
पक्षात्स शीलितोऽरिष्टः करोत्यग्निं निहन्ति च।
गुदजग्रहणीपाण्डुकुष्ठोदरगरज्वरान् ॥६७॥
श्वयथुप्लीहहृद्रोगगुल्मयक्ष्मवमिक्रिमीन्।

व्याख्या—४ द्रोण जल में—हरड़ का छिलका आधा प्रस्थ, आमला (गुठली रहित) १ प्रस्थ, कैथ के फल १० पल, इन्द्रायण के फल ५ पल, लोध, मरिच, पीपल, विडंग तथा एलुवा (सुगन्धी द्रव्य) २-२ पल डालकर पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे और उसमें २ तुला गुड़ तथा एक प्रस्थ धाय के फूल डालकर घृत स्निग्ध भाण्ड में डाल कर रख देवे और उसका मुखरोध कर देवे। १५ दिन (शीत काल हो तो १ मास-सन्धान हो जाने पर) इसका पान किया करे। यह अग्नि को बढाता है और अर्श, ग्रहणी

रोग, पाण्डुरोग, कुष्ठ, उदर रोग, गरविष विकार, ज्वर, शोथ, प्लीह विकार, हृद्रोग, गुल्म रोग, राजयक्ष्मा, छर्दि तथा क्रिमिरोग को नष्ट करता है ॥६४-६७॥

दन्त्यारिष्ट—

जलद्रोणे पचेद्दन्तीदशमूलवराग्निकान् ॥६८॥
पालिकान्पादशेषे तु क्षिपेद्गुडतुलां परम् ।
पूर्ववत्सर्वमस्य स्यादानुलोमितरस्त्वयम् ॥६९॥

व्याख्या—एक द्रोण जल में—दन्तीमूल, दशमूल, त्रिफला तथा चित्तामूल १-१ पल डालकर पकावे और चौथाई रहने पर—१ तुला गुड तथा १प्रस्थ धाय के फूल डाल देवे, १५ दिन में सन्धान हो जाने पर छान कर पीवे गुण—अभयारिष्ट के समान है परन्तु यह अरिष्ट उसकी अपेक्षा अधिक अनुलोमन—विरेचन है ॥६८,६९॥

दुरालभारिष्ट—

पचेद्दुरालभाप्रस्थं द्रोणेऽपां प्रास्तृतैः सह ।
दन्तीपाठाऽग्निविजयावासामलकनागरैः ॥७०॥
तस्मिन् सिताशतं दद्यात्पादस्थेऽन्यच्च पूर्ववत् ।
लिम्पेत्कुम्भं तु फलिनीकृष्णाचव्याज्यमाक्षिकैः ॥७१॥

व्याख्या—एक द्रोण जल में—जवासा १ प्रस्थ, दन्तीमूल, पाठा, चित्ता, हरड़, अडूसा, आमला तथा सोंठ २-२ पल डालकर पकावे चौथाई रहने पर १०० पल खण्ड तथा १ प्रस्थ धाय के फूल डाल कर भाण्ड में धर देवे और १५ दिन पर छान कर पीवे । गुण-अभयारिष्ट के समान । परन्तु भाण्ड के भीतर फूलप्रियंगु, पीपल, चव्य, घृत तथा मधु का लेप कर देवे ।

वक्तव्य—दन्त्यरिष्ट एवं दुरालभारिष्ट में अरुणदत्त की सम्मति से धाय का फूल डालना लिखा गया है जो सन्धान के लिये उपयोगी भी है परन्तु च. चि. अ० १४ में इन योगों में धाय का फूल डालने का विधान नहीं है ॥७०,७१॥

अर्श में घृत—

प्राग्भक्तमानुलोम्याय फलाम्लं वा पिबेद् घृतम् ।
चव्यचित्रकसिद्धं वा यवक्षारगुडान्वितम् ॥७२॥
पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम् ।
पिप्पलीपिप्पलीमूलधानकादाडिमैर्घृतम् ॥७३॥
दध्ना च साधितं वातशकृन्मूत्रविबन्धहृत् ।
पालाशक्षारतोयेन त्रिगुणेन पचेद् घृतम् ॥७४॥
वत्सकादिप्रतीवापमर्शोघ्नं दीपनं परम् ।
पञ्चकोलाभयाक्षारयवानीविडसैन्धवैः ॥७५॥
सपाठाधान्यमरिचैः सबिल्वैर्दधिमद् घृतम् ।
साधयेत् वर्जयत्याशु गुदवङ्क्षणवेदनाम् ॥७६॥
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् ।
पाठाजमोदधनिकाश्वदंष्ट्रापञ्चकोलकैः ॥७७॥
सबिल्वैर्दधि चाङ्गेरीस्वरसे च चतुर्गुणे ।
हन्त्याज्यं सिद्धमानाहं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥७८॥
गुदभ्रंशार्तिगुदजग्रहणीगदमारुतान् ।

व्याख्या—अर्श रोग में वायु को अनुलोम करने के लिये—निम्बू आदि अम्ल रसों के संयोग से पक्व घृत अथवा चव्य एवं चित्ता के योग से सिद्ध घृत—जौखार एवं गुड़ मिला कर अथवा पिप्पलीमूल के योग से सिद्ध घृत-गुड़, जो खार एवं सोंठ मिला कर भोजन के पूर्व खा लियां करे । पीपल, पीपलामूल, धनिया तथा अनारदाना का कल्क १ भाग, गोघृत ४ भाग तथा दही ४ भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे । यह घृत वायु पुरीष एवं मूत्र के विबन्ध को नष्ट करता है । पलाशक्षार का जल ३ भाग गोघृत १ भाग वत्सकादि गण (सु० अ० १५) का कल्क ¼ भाग । घृत सिद्ध करे । यह घृत—अर्श नाशक तथा अग्नि दीपक है । पञ्चकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ), हरड, जौखार, अजवायन, विड्लवण, सैन्धव लवण, पाठा, धनिया, मरिच तथा बिलगिरी का कल्क १ भाग, गोघृत ४ भाग, दही १६ भाग । सब को एक साथ मिला कर घृत सिद्ध करे । यह घृत—गुद तथा वङ्क्षण की वेदना, प्रवाहिका, गुद भ्रंश, मूत्र कृच्छ्र तथा परिस्रव (थोड़ा २ झाग युक्त पतला पुरीष) को नष्ट करता है । चाङ्गेरी घृत—पाठा, अजमोद, धनिया, गोखरू, पञ्चकोल के ५ द्रव्य तथा बिलगिरी का कल्क १ सेर, गोघृत ४ सेर तथा दही एवं चांगेरी का स्वरस घृत से चौगुना । घृत सिद्ध करे । यह घृत—आनाह, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, गुदवेदना अर्श, ग्रहणी रोग तथा वात रोग को नष्ट करता है ॥७२-७८॥

अर्श रोग में मांस रस—

शिखितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान् ॥७९॥
दक्षाणां वर्तकानां वा दद्याद्विड्वातसङ्ग्रहे ।

व्याख्या—यदि वायु एवं पुरीष में रुकावट हो तो—मोर, तीतर अथवा लवा पक्षी के मांस का रस अथवा मुरगा अथवा बत्तख के मांस का रस—अनार दाना या दही के योग से अम्ल बना कर एवं धनिया आदि में संस्कृत करके रोगी को देवे ॥७९॥

अर्श में अन्यान्य शाक आदि—

वास्तुकाग्नित्रिवृद्दन्तीपाठाम्लीकादिपल्लवान् ॥८०॥
अन्यच्च कफवातघ्नं शाकं च लघु भेदि च ।
सहिङ्गु यमके भृष्टं सिद्धं दधिसरैः सह ॥८१॥

धनिकापञ्चकोलाभ्यां पिष्टाभ्यां दाडिमाम्बुना ।
आर्द्रिकायाः किसलयैः शकलैरार्द्रकस्य च ॥८२॥
युक्तमङ्गारधूपेन हृद्येन सुरभीकृतम् ।
सजीरकं समरिचं बिडगैर्वर्चलोत्कटम् ॥८३॥
वातोत्तरस्य रूक्षस्य मन्दाग्नेर्बद्धवर्चसः ।
कल्पयेद्रक्तशाल्यन्नव्यञ्जनान् शाकवद् रसान् ।८४॥
गोगोधाछागलोष्ट्राणां विशेषात्क्रव्यभोजिनाम् ।

व्याख्या—अर्श में—पुरीष एवं वायु की रुकावट होने पर—बाथू, चित्रक, निसोत, दन्ती, पाठा तथा इमली आदि के कोमल पत्तों का शाक देवे अथवा अन्य जो भी वात कफ नाशक तथा लघु एवं भेदक शाक हो वह देवे। ये सब शाक—आवश्यकतानुसार हींग से युक्त हों, घृत एवं तैल में तले गये हों तथा दही के योग से सिद्ध किये गये हों उनमें धनिया एवं पञ्चकोल पीस कर, अनार का रस, धनिया के कोमल पत्र, अदरक के टुकड़े, मिलाए गये हों, अंगारों पर घृत डाल कर एवं उसका धुंआर देकर रुचिकर सुगन्धित किये गये हों और उनमें—जीरा, मरिच, बिड लवण तथा सौञ्चर लवण उचित मात्रा में डाला गया हो। और यदि वायु बढ़ा हो, शरीर रूक्ष हो, अग्नि मन्द हो तथा पुरीष में रुकावट हो तो-लाल शालि धान्यों के अन्न बनावे और व्यञ्जन के लिये—पूर्वोक्त शाकों की विधि से-गौ, गोह, बकरा तथा ऊँट के मांसों के रस विशेषतः—कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों के मांसके रस बनावे—॥८४॥

अर्श रोग में पान—

मदिरां शार्करं गौडं सीधुं तक्रं तुषोदकम् ॥८५॥
अरिष्टं मस्तु पानीयं पानीयं वाऽल्पकं शृतम् ।
धान्येन धान्यशुण्ठीभ्यां कण्टकारिकयाऽथवा ।।८६॥
अन्ते भक्तस्य मध्ये वा वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

व्याख्या—अर्श में भोजन के साथ तथा तृषा लगने पर—मदिरा, शर्करासव, गुडासव, सीधु, तक्र, काञ्जी, विविध प्रकार के अरिष्ट, दही का जल परिपक्व एवं थोड़ा जल पीना चाहिये, अथवा धनियाँ एवं सोंठ के योग से पक्व अथवा कण्टकारी के योग से पक्व जल पीना चाहिये और भोजन के अन्त में अथवा मध्य में पीना चाहिये। इस प्रकार से वायु एवं पुरीष का अनुलोमन (प्रवृत्ति) होता है ॥८५,८६॥

वातादि के अनुलोमन की आवश्यकता—

विड्वातकफपित्तानामानुलोम्ये हि निर्मले ॥८७॥
गुदे शाम्यन्ति गुदजाः पावकश्चाभिवर्धते ।

व्याख्या—पुरीष, वायु, कफ एवं पित्त का अनुलोमन (स्वमार्ग प्रवृत्ति) हो जाने पर और गुदमार्ग निर्मल रहने पर अर्शांकुर शान्त हो जाते हैं और अग्नि बढ़ने लगती है ॥८७॥

अर्श में अनुवासन—

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ॥८८॥
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ।

व्याख्या—जिन अर्श रोगियों को उदावर्त—पुरीषोदावर्त रहता है और जिन का शरीर एवं मलाशय अत्यन्त रूक्ष बना रहता है और वायु प्रतिलोम रहता है और जिन के उदर में शूल अधिक रहता है उन के लिये "अनुवासन वस्ति" आवश्यक है।

वक्तव्य—अर्श में पुरीष, मूत्र, एवं अपान वायु के उदावर्त बने रहते हैं जो कभी २ भीषण रूप धारण कर लेते हैं ॥८८॥

अनुवासनार्थ पिप्पल्यादि तैल —

पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम् ॥८९॥
कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं द्विगुणक्षीरसंयुतम् ॥९०॥
अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ।
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥९१॥
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम् ।
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम् ॥९२॥
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ।

व्याख्या—पीपल, मैनफल, बिलगिरी, सोया, मुलेठी, बालवच, कूठ, सोंठ, पोहकर मूल, चित्तामूल तथा देव दारु, का कल्क १ सेर, तिल तैल ४ सेर तथा गो दुग्ध ८ सेर। तैल पाक करे। यह तैल-अनुवासन वस्ति में देने से—प्रतिलोम वायु तथा अर्श को शान्त करता है और गुदभ्रंश, गुदशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटि, ऊरु तथा पृष्ठ की दुर्बलता, वंक्षणों (मूत्रवाही स्रोतों) के आनाह, पिच्छा स्राव, गुदशोथ वायु एवं पुरीष की रुकावट तथा बार २ होने वाले पुरीष के वेग को नष्ट करता है ॥८९-९२॥

अर्श में निरूहण—

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं पाञ्चमूलिकम् ।९३॥
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ।

व्याख्या—अथवा—दूध, पंचमूल का क्वाथ, गोमूत्र, एरण्ड तैल, लवण तथा मैनफल आदि निरूहोपयोगी द्रव्यों का कल्क मिला कर निरूहण वस्ति का प्रयोग करे।

वक्तव्य—इस प्रकार अनुवासन एवं निरूहण का सेवन

करने से सदा के लिये मलरोध नष्ट हो जाता है और अर्श का कष्ट भी मिट जाता है ।.९३॥

रक्तार्श की चिकित्सा—

अथ रक्तार्शसां वीक्ष्य मारुतस्य कफस्य वा ॥९४।
अनुबन्धं ततः स्निग्धं रूक्षं वा योजयेद्धिमम् ।

व्याख्या—रक्तार्श में वायु या कफ के अनुबन्ध को विचार कर स्निग्ध अथवा रूक्ष परन्तु शीतल उपचार करे ।

वक्तव्य—वायु का अनुबन्ध होने पर स्निग्ध तथा कफ का अनुबन्ध होने पर रूक्ष उपचार करे ॥९४॥

अनुबन्ध का लक्षण—

शकृच्छ्यावं खरं रूक्षमधो निर्याति नानिलः ॥९५॥
कट्यूरुगुदशूलं च हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।
तत्रानुबन्धो वातस्य श्लेष्मणो यदि विट् श्लथा ॥९६।
श्वेता पीता गुरुः स्निग्धा सपिच्छा स्तिमितो गुदः ।
हेतुः स्निग्धगुरुर्विद्याद्यथास्वं चास्रलक्षणात् ॥९७॥

व्याख्या—यदि पुरीष श्याव वर्ण का हो, खर (कड़ा) तथा रूक्ष हो, अपान वायु का सरण न हो, कटी, ऊरु एवं गुद में शूल रहता हो और अर्श रूक्ष आहार विहार से उत्पन्न हुआ हो तो वायु का अनुबन्ध समझना चाहिए ।

यदि पुरीष—शिथिल हो, श्वेत हो, कुछ पीत हो, गुरु हो (जल में डूबने वाला), स्निग्ध हो, पिच्छायुक्त हो, गुद में चिपचिपाहट हो और स्निग्ध एवं गुरु आहार विहार से अर्श उत्पन्न हुआ हो तो कफ का अनुबंध समझना चाहिये । और रक्त के लक्षणों से भी वायु एवं कफ का अनुबन्ध समझना चाहिये अर्थात् यदि रक्त थोड़ा एवं पतला हो, कालापन लिये लाल हो तथा झाग वाला हो तो वायु का अनुबन्ध और यदि अर्श या रक्त गाढ़ा हो, लारयुक्त हो, श्वेतता लिये लाल हो तथा चिपचिपा हो तो कफ का अनुबन्ध समझना चाहिये ॥९५-९७॥

विशिष्ट चिकित्सा—

दुष्टेऽस्रे शोधनं कार्यं लङ्घनं च यथाबलम् ।
यावच्च दोषैः कालुष्यं स्रुतेस्तावदुपेक्षणम् ।९८॥
दोषाणां पाचनार्थं च वह्निसन्धुक्षणाय च ।
सङ्ग्रहाय च रक्तस्य परं तिक्तैरुपाचरेत् ।९९॥
यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य वा ।
स्नेहैस्तच्छोधयेद्युक्तैः पानाभ्यञ्जनबस्तिषु ॥१००॥
यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते ।
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम् ॥१०१॥

व्याख्या—यदि रक्त दूषित हो तो दोषानुसार—रक्त शोधन एवं शोधन करे और रोगी के बलानुसार लंघन—उपवास करावे और जब तक दोषों द्वारा रक्त में मलिनता रहे तब तक रक्तस्राव की उपेक्षा करे—उस को रोकने का उपाय न करे । परन्तु साथ २ दोषों के पाचन का तथा अग्नि को प्रदीप्त करने का उपाय करता रहे और जब रक्त की मलिनता दूर हो जाय तब उसे रोकने का उपाय करे और तिक्त द्रव्यों के सेवन से उपचार करे । यदि दोषों का क्षय हो चुका हो अथवा वायु बढ़ा हुआ हो और रक्त बह रहा हो तो पीने में, अभ्यंग में तथा वस्ति में स्नेहों का प्रयोग करके शान्त करे । जो रक्त पित्त की अधिकता से उष्णकाल में प्रवृत्त हो रहा हो और उस में वायु अथवा कफ का अनुबन्ध न हो तो उसे तत्काल रोकना चाहिये ।

वक्तव्य—यदि दुष्ट रक्त को रोका जाता है तो—

प्रवृत्तमादौ अर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान् ।
शोणितं दोषमलिनं तद् रोगान् जनयेत् बहून् ॥१७७॥
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णां अग्निसादमरोचकम् ।
कामलां श्वयथुं शूलं गुदवंक्षणसंश्रयम् ॥१७८॥
कण्डू-अरुः कोठ पिडका कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं गदम् ।
वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम् ॥१७९॥
स्तैमित्यंगुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान् ।
तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं हितम् ॥१८०॥

रक्त पित्त आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं अतः दुष्ट रक्त निकल जाने पर रक्त रोकना चाहिये । च. चि. अ० १४ । यदि रोगी दुर्बल एवं कृश हो अथवा उष्ण काल होतो तत्काल भी रोकना चाहिये—और यदि जीवशोणित बह रहा हो तो भी तत्काल रोकना चाहिये ॥९८-१०१॥

रक्तार्श नाशक योग—

सकफेऽस्रे पिबेत्पाक्यं शुण्ठीं कुटजवल्कलम् ।
किराततिक्तकं शुण्ठीं धन्वयासं कुचन्दनम् ॥१०२॥
दार्वीत्वङ्निम्बसेव्यानि त्वचं वा दाडिमोद्भवाम् ।

व्याख्या—यदि कफ दूषित रक्त बह रहा होतो—१—सोंठ एवं कुरैया की छाल का क्वाथ पीवे अथवा—२—चिरायता, सोंठ, जवासा, लाल चन्दन, दारु हल्दी की छाल, निम्ब की छाल तथा खस का क्वाथ पीवे । अथवा ३—अनार के फल की छाल का क्वाथ पीवे ॥१०२॥

अथवा—

कुटजत्वक्फलं तार्क्ष्यं मात्तिकं घुणवल्लभाम् ॥१०३॥
पिबेत्तण्डुलतोयेन कल्कितं वा मयूरकम् ।

व्याख्या—कुरैया की छाल, इन्द्र जौ, रसवत तथा अतीस का चूर्ण—मधु मिला कर चावल के धोअन के

साथ पीवे अथवा अपामार्ग को चावल के धोअन में पीस कर खावे ॥१०३॥

कुटजादि रसक्रिया—

तुलां दिव्याम्भसि पचेदार्द्रायाः कुटजत्वचः ॥१०४॥
नीरसायां त्वचि क्वाथे दद्यात्सूक्ष्मरजीकृतान् ।
समङ्गाफलिनीमोचरसान्मुष्टयंशकान्समान ॥१०५॥
तैश्च शक्रयवान्पूते ततो दर्वीप्रलेपनम् ।
पक्त्वाऽवलेहं लीढ्वा च तं यथाग्निबलं पिबेत् ।१०६।
पेयां मण्डं पयश्छागं गव्यं वा छागदुग्धभुक् ।
लेहोऽयं शमयत्याशु रक्तातीसारपायुजान् ॥१०७॥
बलवद्रक्तपित्तं च स्रवेदूर्ध्वमधोऽपि वा ।

व्याख्या—कुरैया की आर्द्र छाल १ तुला लेकर—मेघ के जल में पकावे जब छाल रसरहित हो जाय तब छान लेवे इस क्वाथ में—मञ्जीठ (अथवा लाजवन्ती), फूल प्रियंगु तथा मोचरस का सूक्ष्म चूर्ण १-१ पल और इन्द्र जौ का चूर्ण ३ पल मिलाकर पकावे, जब लेह कड़छुली पर चिपकने लगे तब उतार कर रख लेवे । मात्रा—अग्नि एवं बल के अनुसार—१—२ कर्ष । अनुपान–पेया, मण्ड, बकरी का दूध अथवा गौ का दूध और पथ्य–बकरी के दूध के साथ भात अथवा केवल बकरी का दूध । यह अवलेह—रक्तातिसार तथा रक्तार्श को और ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी भीषण रक्तपित्त को शान्त करता है ।

वक्तव्य—कुटजावलेह का प्रयोग ग्रहणी रोग में भी किया जाता है ॥१०४-१०७॥

कुटजावलेह (द्वितीय)—

कुटजत्वक्तुलां द्रोणे पचेदष्टांशशोषिताम् ॥१०८॥
कल्कीकृत्य क्षिपेत्तत्र तार्क्ष्यशैलं कटुत्रयम् ।
रोध्रद्वयं मोचरसं बलां दाडिमजां त्वचम् ॥१०९॥
बिल्वकर्कटिका मुस्तं समङ्गां धातकीफलम् ।
पलोन्मितं दशपलं कुटजस्यैव च त्वचः ॥११०॥
त्रिंशत्पलानि गुडतो घृतात्पूते च विंशतिः ।
तत्पक्वं लेहतां यातं धान्ये पक्षस्थितं लिहन् ॥१११॥
सर्वार्शोग्रहणीदोष–श्वासकासान्नियच्छति ।

व्याख्या—कुरैया की छाल १ तुला लेकर १ द्रोण जल में पकावे अष्टमांश रहने पर छान लेवे और उसमें—रसाञ्जन, सोंठ, मरिच, पीपल, लोध, पठानी रोध, मोच रस, बलामूल, अनार के फल की छाल (किसी २ प्रति में "बाल दाडिमजां त्वचम्" पाठ है—कच्चे अनार की छाल), बिलगिरी, नागर मोथा, मञ्जीठ (अथवा लज्जा वन्ती) तथा धाय के फल का चूर्ण १-१ पल, कुरैया की छाल का चूर्ण १० पल, गुड़ ३० पल और गोघृत २० पल मिलाकर पाक करे. अवलेह हो जाने पर १५ दिन पर्यन्त धान्यराशि में धर देवे तत्पश्चात्—उचित मात्रा (१ कर्ष) में चाटता रहे तो सब प्रकार के अर्श, ग्रहणी रोग, श्वास तथा कास का नाश होता है ॥१०८-१११॥

रोध्रादि योग—

रोध्रं तिलान्मोचरसं समङ्गां चन्दनोत्पलम् ॥११२॥
पाययित्वाऽजदुग्धेन शालींस्तेनैव भोजयेत् ।

व्याख्या—लोध, तिल, मोचरस, मञ्जीठ, लालचन्दन तथा कमल का चूर्ण बकरी के दूध के साथ पिलाकर शालि चावलों का भात बकरी के ही दूध के साथ खिलावे । तो रक्तार्श शान्त हो जाता है ॥११२॥

यष्ट्यादि चूर्ण—

यष्ट्याह्वपद्मकानन्तापयस्याक्षीरमोरटम् ॥११३॥
ससितामधु पातव्यं शीततोयेन तेन वा ।

व्याख्या—मुलेठी, पद्मकाष्ठ, अनन्त मूल, क्षीर विदारी कन्द तथा क्षीर मोरट (मधुस्रावा–जीवन्ती) का चूर्ण—खाण्ड एवं मधु में मिलाकर शीतल जल के साथ पीना चाहिये अथवा बकरी के दूध के साथ पीना चाहिये॥११३॥

रोध्रादि चूर्ण—

रोध्रकट्वङ्गकुटजसमङ्गाशाल्मलीत्वचम् ॥११४॥
हिमकेसरयष्ट्याह्व-सेव्यं वा तण्डुलाम्बुना ।

व्याख्या—लोध, सोनापाठा की छाल, कुरैयाकी छाल, मञ्जीठ तथा सेमल की छाल का चूर्ण अथवा श्वेतचन्दन, नाग केसर, मुलेठी तथा खस का चूर्ण चावल के धोअन के साथ पीना चाहिये ॥११२॥

अन्यान्य चूर्ण एवं घृत—

यवानीन्द्रयवाः पाठा बिल्वं शुण्ठी रसाञ्जनम् ॥११५॥
चूर्णश्चले हितः शूले प्रवृत्ते चाऽतिशोणिते ।
दुग्धिकाकण्टकारीभ्यां सिद्धं सर्पिः प्रशस्यते ॥११६॥
अथवा धातकीरोध्रकुटजत्वक्फलोत्पलैः ।
सकेसरैर्यवक्षारदाडिमस्वरसेन वा ॥११७॥

व्याख्या—यवान्यादि चूर्ण—अजवायन, इन्द्रजौ, पाठा, बिलगिरी, सोंठ तथा रसवत का चूर्ण–मधु आदि उपयोगी द्रव्य के साथ मिलाकर चाटा गया—वायु में, शूल में तथा रक्त की अति प्रवृत्ति में लाभदायक होता है । और इन्ही रोगों में—दूधी एवं कण्टकारी के योग से सिद्ध घृत प्रशस्त है । अथवा धाय के फूल, लोध, कुरैया की छाल, इन्द्र जौ, कमल तथा नागकेसर के योग से सिद्ध घृत प्रशस्त है । अथवा जौखार एवं अनार के स्वरस से सिद्ध घृत प्रशस्त होता है ॥११५-११७॥

अर्श में नवनीत का प्रयोग—

शर्कराऽम्भोजकिञ्जल्कसहितं सह वा तिलैः ।
अभ्यस्तं रक्तगुदजान् नवनीतं नियच्छति ।।११८।।

व्याख्या—खण्ड एवं कमल के केसर के साथ अथवा तिलों के कल्क के साथ दीर्घ काल पर्यन्त माखन खाने से रक्तार्श का नाश हो जाता है ।।११८।।

अन्य उपचार—

छागानि नवनीताज्यक्षीरमांसानि जाङ्गलः ।
अनम्लो वा कदम्लो वा सवास्तुकरसो रसः ।।११९।।
रक्तशालिः सरो दध्नः षष्टिकस्तरुणी सुरा ।
तरुणश्च सुरामण्डः शोणितस्यौषधं वरम् ।।१२०।।

व्याख्या—बकरी के—नवनीत, घृत, दूध तथा मांस, जङ्गलदेशीय प्राणियों के मांस रस तथा बाथू के शाक का रस जो अनार दाना आदि की खटाई से रहित हो अथवा जिसमें थोड़ी खटाई डाली गई हो और लाल चावलों का का भात, दही की मलाई, साठी धान्य, कच्ची सुरा तथा कच्चा सुरामण्ड । ये सब रक्तार्श की शान्ति के लिये उत्तम पदार्थ हैं ।।११९,१२०।।

रक्तार्श में पलाण्डु का प्रयोग—

पेयायूषरसाद्येषु पलाण्डुः केवलोऽपि वा ।
स जयत्युल्बणं रक्तं मारुतं च प्रयोजितः ।।१२१।।

व्याख्या—पेया में, यूष में, मांस रस में तथा शाक रस आदि में अथवा केवल पलाण्डु (पियाज) का दीर्घ काल पर्यन्त किया गया सेवन भीषण रक्तस्राव तथा वायु को शान्त करता है ।।१२१।।

अधिक रक्तस्राव होने पर—

वातोल्बणानि प्रायेण भवन्त्यस्रेऽतिनिःसृते ।
अर्शांसि तस्मादधिकं तज्जये यत्नमाचरेत् ।।१२२।।
दृष्ट्वाऽस्रपित्तं प्रबलमबलौ च कफानिलौ ।
शीतोपचारः कर्तव्यः सर्वथा तत्प्रशान्तये ।।१२३।।
यदा चैवं शमो न स्यात् स्निग्धोष्णैस्तर्पयेत्ततः ।
रसैः कोष्णैश्च सर्पिर्भिरवपीडकयोजितैः ।।१२४।।
सेचयेत्तं कवोष्णैश्च कामं तैलपयोघृतैः ।

व्याख्या—अधिक रक्तस्राव हो जाने पर प्रायः वायु प्रधान अर्श प्रबल हो जाते हैं इस लिये वायु-की शान्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये । जहाँ रक्त एवं पित्त प्रबल हों और कफ एवं वायु क्षीण हों वहाँ रक्त एवं पित्त की शान्ति के लिये शीतल उपचार करना चाहिये । यदि इन सब उपचारों से भी रक्तार्श की शान्ति न हो—रक्तस्राव न रुके तो स्निग्ध एवं उष्ण मांस रसों से तथा अवपीडक विधि से कोसे २ घृतों से तर्पण करे और कोसे २ तैल, दूध एवं घृत से अर्श पर पर्याप्त सेचन करे ।

वक्तव्य—अवपीड़न की विधि—सू. अ० ४ में मूत्रो दावर्त्त में कही गयी है । शीत क्रिया—

मधुकं स पद्मवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरं धवपटोलम् ।।
परिषेचने विदध्यात् वृषककुभयवासनिम्बांश्च ।।२१४।।
रक्तेऽतिवर्त्तमाने दाहे क्लेदेऽवगाहयेत् चाऽपि ।
मधुकमृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिःक्वाथे ।।२१५।।
इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् ।
अवगाहयेत् प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन ।।२१६।।
दत्वा घृतं सशर्करं उपस्थदेशे गुदे त्रिकदेशे च ।
शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या ।।२१७।।
कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः ।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च ।।२१८।।
दूर्वाघृतं प्रदेहः शतधौतं सहस्रधौतमपि सर्पिः ।
व्यजनपवनः सुशीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ।।२१९।।
समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम् ।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां वा ।२२०।
दर्वीत्वक् सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम् ।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः।२२१।।
च. चि. अ० १४-।।२२१-२२४।।

रक्तार्श में पिच्छावस्ति—

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलेः ।।१२५।।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-शुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ।
त्रिप्रस्थे सलिलस्यैतत्क्षीरप्रस्थे च साधयेत् ।।१२६।।
क्षीरशेषे कषाये च तस्मिन्पूते विमिश्रयेत् ।
कल्कीकृतं मोचरसं समङ्गा चन्दनोत्पलम् ।।१२७।।
प्रियङ्गुं कौटजं बीजं कमलस्य च केसरम् ।
पिच्छावस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः ।।१२८।।
प्रवाहिकागदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ।

व्याख्या—जवास, कुश तथा कास (कांही) के मूल सेमल के फूल, वट, गूलर तथा पीपल वृक्ष के शुंग (कोमल, लाल छोटे २ पत्र) २-२ पल लेकर ३ प्रस्थ जल तथा १ प्रस्थ दूध में पकावे, दूध मात्र रहने पर छान लेवे फिर इसमें—मोचरस, मञ्जीठ (अथवा लज्जावन्ती), लाल चन्दन, कमल, फूल प्रियंगु, इन्द्रजौ तथा कमल का केसर १-१ कर्ष पीसकर—जलयोग से कल्क बनाकर मिला देवे और उचित मात्रा में घृत, मधु तथा खण्ड मिला कर वस्ति देवे । यह सिद्ध (सफल) पिच्छा वस्ति—प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्त स्राव तथा ज्वर को नष्ट करती है ।

रक्तार्श में अनुवासन वस्ति—

यष्ट्याह्वपुण्डरीकेण तथा मोचरसादिभिः ॥१२९॥
क्षीरद्विगुणितः पक्वो देयः स्नेहोऽनुवासनम् ।

व्याख्या—मुलेठी एवं पुण्डेरिया के योग से तथा पिच्छा वस्ति (श्लोक १२२-२४) में कहे गये मोचरस आदि द्रव्यों के कल्क के योग से एवं दूना दूध डाल कर सिद्ध किया गया घृत—अनुवासन वस्ति में देना चाहिये।

चांगेरी घृत—

मधुकोत्पलरोध्राम्बुसमङ्गा बिल्वचन्दनम् । १३०॥
चविकातिविषा मुस्तं पाठा क्षारो यवाग्रजः ।
दार्वीत्वङ्नागरं मांसी चित्रको देवदारु च ॥१३१॥
चांगेरीस्वरसे सर्पिः साधितं तैस्त्रिदोषजित् ।
अर्शोऽतिसारग्रहणीपाण्डुरोगज्वरारुचौ ॥१३२॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशेवस्त्यनाहे प्रवाहणे ।
पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले देयं तत्परमौषधम् ॥१३३॥

व्याख्या—मुलेठी, कमल, लोध, नेत्रवाला, मञ्जीठ, बिल गिरी, लालचन्दन, चव्य, अतीस, मोथा, पाठा, जौखार, दारु हल्दी की छाल, सोंठ, जटामांसी, चित्ता एवं देवदारु का कल्क १ भाग, गोघृत ४ भाग, चांगेरी का स्वरस १६ भाग। सब को मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—त्रिदोष का शामक है और—अर्श, अतिसार, ग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, ज्वर, अरुचि मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, बस्तिगत आनाह, प्रवाहिका, पिच्छ-स्राव तथा अर्श की वेदना में परमौषध है।

वक्तव्य—च. चि.अ०१४ में इसका नाम—"ह्रीवेरादि घृत" है श्लो० २३०-२३३। वहाँ इससे आगे सुनिषण्णक चाङ्गेरी घृत भी लिखा है पिच्छास्राव कफजनित अर्श में होता है ॥१३०-१३२॥

चिकित्सा संकेत—

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत् ।
नित्यमग्निबलापेक्षो जयत्यर्शःकृतान् गदान् ॥१३४॥

व्याख्या—प्रतिदिन - अग्नि के बल के अनुसार—परिवर्त्तन पूर्वक—मधुर एवं अम्ल और शीतल एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करता रहे ऐसा करने से अर्श के कारण उत्पन्न अन्यान्य सब रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—देखिये श्लो० १६० तथा १६१। ॥१३०॥

उदावर्त्त की चिकित्सा—

उदावर्तार्तमभ्यज्य तैलैः शीतज्वरापहैः ।
सुस्निग्धैः स्वेदयेत्पिण्डैर्वर्तिमस्मै गदे तत: ॥१३५॥
अभ्यक्तां तत्कराङ्गुष्ठसन्निभामनुलोमनीम् ।
दद्याच्छ्यामात्रिवृद्दन्तीपिप्पलीनीलिनीफलैः ॥१३६॥
विचूर्णितैर्द्विलवणैर्गुडगोमूत्रसंयुतैः ।
तद्वन्मागधिकाराठगृहधूमैः ससर्षपैः ॥१३७॥
एतेषामेव वा चूर्णं गुदे नाड्या विनिर्धमेत ।
तद्विघाते सुतीक्ष्णं तु बस्तिं स्निग्धं प्रपीडयेत् ॥१३८॥
ऋजूकुर्याद्गुदसिरा-विण्मूत्रमरुतोऽस्य सः ।
भूयोऽनुबन्धे वातघ्नैर्विरेच्यः स्नेहरेचनैः ॥१३९॥
अनुवास्यश्च रौक्ष्याद्धि सङ्गो मारुतवर्चसोः ।

व्याख्या—उदावर्त्त में—शीत ज्वर नाशक (उष्ण वीर्य) तैलों का अभ्यंग करके स्नेहयुक्त पिण्ड स्वेदों से स्वेदन करे तत्पश्चात् गुद में वर्त्ति देवे और वह वर्त्ति—रोगी के अंगूठा की सी मोटी एवं लम्बी हो, उस पर एरण्ड तैल आदि कोई स्नेह चुपड़ दिया गया हो और वह वायु का अनुलोमन करने वाली हो और वह—काली निसोत, निसोत, दन्तीमूल, पीपल, नील के पत्ते, सैन्धव लवण, सौंचर लवण तथा गुड़ को गोमूत्र में पीस कर बनाई गई हो। अथवा इन्हीं सब द्रव्यों का चूर्ण नीली में भर कर गुद में धौंकना—चढ़ाना चाहिए। इन उपायों से भी यदि वायु एवं पुरीष की प्रवृत्ति न हो तो तीक्ष्ण द्रव्यों से निर्मित (वामक, विरेचक द्रव्य, मूत्र, तैल क्षार अम्ल तथा वातनाशक द्रव्यों से निर्मित) तथा स्नेहयुक्त निरूहण वस्ति दे देवे और वह वस्ति गुद से शिर पर्यन्त अवयवों को, पुरीष, मूत्र तथा वायु को ऋजु गतिशील—अनुलोम कर देती है।

बार २ उदावर्त्त होने पर—एरण्ड तैल आदि वात नाशक स्निग्ध विरेचन द्रव्यों से विरेचन करे और बार २ अनुवासन वस्ति देवे क्योंकि रूक्षता से ही वायु एवं पुरीष की रुकावट होती है।

वक्तव्य—अर्श रोग में प्रायः उदावर्त्त हो जाया करता है इस लिये यहाँ पर इसकी चिकित्सा लिखी गई है। और च. चि. अ० २३ में उदावर्त्त की चिकित्सा देखिये। यह सब पाठ वहीं से उद्धृत किये हैं—और—"ऋजूकुर्यात् गुद-शिरोविण्मूत्रमरुतोऽस्य सः" के स्थान में—स मूत्र वर्चोऽनिल सङ्ग माशु गूढं सिराश्च प्रगुणी करोति" पाठ है अर्थात् वह वस्ति—मूत्र, पुरीष एवं वायु की रुकावट को तथा गुद एवं सिराओं को प्रगुण-सरल-ऋजु कर देती है। सम्भव है "शिरो" के स्थान में "सिरा" पाठ रहा हो जो किसी प्रति में लेखक की भूल से "सिरा" का "शिरो" लिख दिया गया हो ॥१३५-१३९॥

कल्याण क्षार—

त्रिकटु त्रिपटुश्रेष्ठादन्त्यरुष्करचित्रकम् ॥१४०॥
जर्जरं स्नेहमूत्राक्तमन्तधूमं विपाचयेत्।
शरावसन्धौ मृल्लिप्ते क्षारः कल्याणकाह्वयः। १४१॥
स पीतः सर्पिषा युक्तो भक्ते वा स्निग्धभोजिना।
उदावर्तविबन्धार्शोगुल्मपाण्डूदरक्रिमीन् ॥१४२॥
मूत्रसङ्गाश्मरीशोफहृद्रोगग्रहणीगदान्।
मेहप्लीहरुजानाहश्वासकासांश्च नाशयेत्॥

व्याख्या—सैन्धव आदि तीन लवण, सोंठ मरिच, पीपल, हरड़, बहेडा, आमला, दन्तीमूल, भिलावा तथा चित्तामूल समभाग लेकर एवं कूट कर भाण्ड में भर एवं मिट्टी से मुखरोध करके अन्तर्धूम पाक करे जब सब सर्वथा जल जायँ तब निकाल कर बोतल में भर कर रख लेवे। इस का नाम—"कल्याण क्षार" है। यह घृत में मिला कर पिया जाता है अथवा घृत से स्निग्ध भात में मिला कर खाया जाता है। यह—उदावर्त्त, विबन्ध, अर्श, गुल्म, पाण्डुरोग, उदर रोग, कृमि, मूत्राघात, अश्मरी, शोथ, हृद्रोग, ग्रहणी रोग, प्रमेह, प्लीह रोग, शूल, आनाह, श्वास तथा कास को नष्ट करता है ॥१४२॥

चिकित्सा संकेत—

सर्वं च कुर्याद्यत्प्रोक्तमर्शसां गाढवर्चसाम् ॥१४३॥

व्याख्या—अर्श रोग में पुरीष गाढ़ा होने पर—रुकने पर जो चिकित्सा कही गई है वह सब उदावर्त्त में भी करे ॥१४३॥

पूति करंज शुक्त—

द्रोणेऽपां पूतिवल्क-द्वितुलमथपचेत्पादशेषे च तस्मिन्
देयाऽशीतिर्गुडस्य प्रतनुकरजसो व्योषतोऽष्टौ पलानि।
एतन्मासेन जातं जनयति परमामूष्मणः पक्तिशक्तिं
शुक्तं कृत्वाऽनुलोम्यंप्रजयति गुदजप्लीहगुल्मोदराणि१४४

व्याख्या—१ द्रोण जल में २ तुला पूतिकरंज की छाल डाल कर पाक करे, चौथाई रहने पर भाण्ड में डाल देवे और उस में ८० पल गुड़ तथा त्रिकटु का चूर्ण ८ पल डाल कर घर देवे, एक मास के पश्चात् शुक्त (अम्लद्रव) हो जाने पर उचित मात्रा में पीवे। यह पाचन शक्ति को बढ़ाता है, वायु को अनुलोम करता है और अर्श प्लीह विकार, गुल्म तथा उदर रोग को नष्ट करता है ॥१४४॥

पूतिकरंज चुक्र—

पचेत्तुलां पूतिकरञ्जवल्कादद्वे मूलतश्चित्रककण्टकार्योः
द्रोणत्रयेऽपां चरणावशेषेपूतेशतं तत्रगुडस्य दद्यात् १४५
पलिकं च सुचूर्णितं त्रिजात-
त्रिकटुग्रन्थिकदाडिमाश्मभेदम्।
पुरपुष्करमूलधान्यचव्यं
हपुषामार्द्रकमम्लवेतसं च ॥१४६॥
शीतीभूतं क्षौद्रविंशत्युपेत-
मार्द्रद्राक्षाबीजपूरार्धकैश्च।
युक्तं कामं गण्डिकाभिस्तथेक्षोः
सर्पिः पात्रे मासमात्रेण जातम् ॥१४७॥
चुक्रं क्रकचमिवेदं दुर्नाम्नां वह्निदीपनं परमम्।
पाण्डुगरोदरगुल्मप्लीहानाहाश्मकृच्छ्रघ्नम् ॥१४८॥

व्याख्या—पूतिकरंज की छाल १ तुला, चित्रक मूल तथा कण्टकारी मूल १-१ तुला कूट कर ३ द्रोण जल में पकावे, चौथाई रहने पर छान लेवे फिर उस में १०० पल गुड डाल देवे और दाल चीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, सोंठ, मरिच, पीपल, पीपलामूल, अनारदाना, पाषाण भेद, गूगल, पोहकरमूल, धनिया, चव्य, हाऊबेर, अदरक तथा अम्लवेत का चूर्ण—१-१ पल डाल देवे, शीतल होने पर २० पल मधु १० पल अंगूर तथा १० पल बिजौरा निम्बू और १० पल ईख की गण्डेरी डाल कर घृतस्निग्ध भाण्ड में भर कर धर देवे, १ मास के पश्चात् चुक्र (अत्यन्त अम्ल द्रव) बन जाने पर उचित मात्रा में पीवे। यह चुक्र अर्श के अंकुरों को आरा के समान काट देता है और अग्नि को प्रदीप्त करता है तथा पाण्डुरोग, गरविष विकार, गुल्मरोग, प्लीह विकार, आनाह, अश्मरी एवं मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है ॥१४५॥

पीलुफल शुक्त—

द्रोणं पीलुरसस्य वस्त्रगलितं न्यस्तं हविर्भाजने
युञ्जीतद्विपलैर्मदामधुफलाखर्जूरधात्रीफलैः।
पाठामाद्रिदुरालभाम्लविदुलव्योषत्वगेलोल्लकैः
स्पृक्काकोललवङ्गवेल्लचपलामूलाग्निकैःपालिकैः॥१४९
गुडपलशतयोजितं निवाते
निहितमिदं प्रपिबंश्च पक्षमात्रात्।
निशमयति गुदांकुरान् सगुल्मा-
ननलबलं प्रबलं करोति चाशु ॥१५०॥

व्याख्या—पीलु के फलों का स्वरस १ द्रोण निकाल कर, वस्त्र में छान कर घृतस्निग्ध भाण्ड में डाल देवे और उस में—धाय के फूल, दाख, खजूर तथा आमला २-२ पल तथा पाठा, हरेणुका, जवासा, अम्लवेत, सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, बड़ी इलायची, कुटकी, असवर्ग, बेर, लवङ्ग, विडङ्ग, पीपलामूल तथा चीता १—१ पल पीस कर और गुड़ १०० पल डालकर निर्वात स्थान में धर देवे और १५ दिन के पश्चात् पीवे। यह शुक्त—

अर्श तथा गुल्मरोग को शान्त करता है और जठराग्नि की शक्ति को प्रबल करता है ।

वक्तव्य—दिल्ली के आस पास वठिण्डा, राजस्थान तथा लायलपुर एवं मुलतान आदि में पाया जाता है–१५०॥

दशमूल गुड—

एकैकशो दशपले दशमूलकुम्भ-
पाठादयार्क-घुणवल्लभ-कट्फलानां ।
दग्धे श्रृतेऽनु कलशेन जलेन पक्वे
पादस्थिते गुडतुलां पलपञ्चकं च ॥१५१॥
दद्यात्प्रत्येकं व्योषचव्याभयानां
वह्नेर्मुष्टी द्वे यवक्षारतश्च ।
दर्वीमालिम्पन् हन्ति लीढो गुडोऽयं
गुल्मप्लीहार्शः कुष्ठमेहाग्निसादान् ॥१५२॥

व्याख्या—दशमूल के दश द्रव्य, कुम्भ (निसोत), पाठा, आक, अतीस तथा कायफल १०—१० पल लेकर भस्म करे और क्षारविधि से १ कलश (द्रोण) जल में पकावे चौथाई रहने पर उस में १ तुला गुड़, सोंठ मरिच पीपल, चव्य तथा हरड़ का चूर्ण ५--५ पल, चित्ता का चूर्ण तथा जोखार २- २ पल मिला कर पाक करे जब कड़छुली में चिपकने लगे तब उतार लेवे। यह गुड़— १--२ तोला चाटने से—गुल्म, प्लीह विकार, अर्श कुष्ठ, प्रमेह तथा मन्दाग्नि को नष्ट करता है ॥१५१ १५२॥

चित्रकाऽवलेह—

तोयद्रोणे चित्रकमूलतुलार्धं
साध्यं यावत्पादजलस्थसपीदम् ।
अष्टौ दत्त्वा जीर्णगुडस्य पलानि
क्वाथ्यं भूयः सान्द्रतया सममेतत् ॥१५३॥
त्रिकटुकमिसिपथ्याकुष्ठमुस्तावराङ्ग-
कृमिरिपुदहनैलाचूर्णकीर्णोऽवलेहः ।
जयति गुदजकुष्ठप्लीहगुल्मोदराणि
प्रबलयति हुताशं शश्वदभ्यस्यमानः ॥१५४॥

व्याख्या—१—द्रोण जल में आधी तुला चित्तामूल का चूर्ण डाल कर पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे और उस में ८ पल पुराना गुड़ डालकर पुनः पकावे जब गाढ़ा हो जाय तब उस में - सोंठ, मरिच, पीपल, सोंफ, हरड़, कूठ, मोथा, दालचीनी, वायविडंग, चित्तामूल, तथा बड़ी इलायची का चूर्ण ८ पल मिलाकर रख लेवे। यह अवलेह—अर्श, कुष्ठ, प्लीहविकार, गुल्म तथा उदर रोग को नष्ट करता है तथा अग्नि को प्रबल करता है परन्तु प्रतिदिन खाते रहने से ॥१५३,१५४॥

गुडादि गुटिका—

गुडव्योषवरावेल्लतिलारुष्करचित्रकैः ।
अर्शांसि हन्ति गुटिका त्वग्विकारं च शीलिता॥१५५॥

व्याख्या—त्रिकटु, त्रिफला ३-३ भाग, विडंग, तिल, भिलावा तथा चित्ता १—१ भाग, गुड़ २० भाग। गुड़ को पका कर उस में त्रिकटु आदि का चूर्ण मिला कर झर-बेर कीसी गोलियाँ बनावे। इन का चिरकाल सेवन करने से अर्श तथा कुष्ठ का नाश हो जाता है ॥१५५॥

सूरण पुटपाक—

मृल्लिप्तं सौरणं कन्दं पक्त्वाऽग्नौ पुटपाकवत् ।
अद्यात्सतैललवणं दुर्नामविनिवृत्तये ॥१५६॥

व्याख्या—सूरण कन्द पर मिट्टी का लेप कर के पुटपाक विधि से पाक करे फिर तैल में तल कर तथा लवण मिलाकर खावे इस से अर्श की निवृत्ति होती है।

सूरण गुटिका—

मरिचपिप्पलिनागरचित्रकान्
क्रमविवर्धितभागसमाहृतान् ।
शिखिचतुर्गुणसूरणयोजितान्
कुरु गुडेन गुडान गुदजच्छिदः ॥१५७॥

व्याख्या - मरिच १ भाग, पीपल २ भाग, सोंठ ३ भाग, चित्ता ४ भाग, सूखे सूरण का चूर्ण १६ भाग तथा गुड़ ५२ भाग। गुड़ पकाकर और उसमें चूर्ण मिलाकर गोली बनावे। यह अर्शनाशक योग है ॥१५७॥

सूरण पिण्डी—

चूर्णीकृताः षोडश सूरणस्य
भागास्ततोऽर्धेन च चित्रकस्य ।
महौषधाद् द्वौ मरिचस्य चैको
गुडेन दुर्नामजयाय पिण्डी ॥१५८॥

व्याख्या—सूखे सूरण का चूर्ण १६ भाग, चित्ता ८ भाग, सोंठ २ भाग, मरिच १ भाग, गुड के योग से गोली बनावे। यह अर्श को नष्ट करती है ॥१५८॥

बड़वामुख चूर्ण—

पथ्यानागरकृष्णकरञ्जवेल्लाग्निभिः सितातुल्यैः ।
वडवामुख इव जरयति बहुगुर्वपि भोजनं चूर्णम् ॥१५९॥

व्याख्या—हरड़, सोंठ, पीपल , करंज, विडंग, चित्ता का चूर्ण समभाग खण्ड मिलाकर रख लेवे। यह चूर्ण वडवाग्नि के समान मात्रा में अधिक तथा गुरु भोजन को पचा देता है ॥१५९ ॥

कलिंगादि वटिका—

कलिङ्गलाङ्गलीकृष्णावह्न्यपामार्गतण्डुलैः ।
भूनिम्बसैन्धवगुडैर्गुडा गुदजनाशनाः ॥१६०॥

व्याख्या—इन्द्र जौ, कलिहारी कन्द, पीपल, चित्ता, अपामार्ग के बीज, चिरायता तथा सैन्धव लवण और सब से दूना गुड मिलाकर बनाई गई गोली अर्श को नष्ट करती है ॥१६०॥

सैन्धवादि चूर्ण—

लवणोत्तमवह्निकलिङ्गयवां-
श्चिरबिल्वमहापिचुमन्दयुतान् ।
पिब सप्तदिनं मथितालुडितान्
यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान् ॥१६१॥

व्याख्या—सैन्धव लवण, चित्ता, इन्द्र जौ, करञ्ज बीज तथा बकायन नामक निम्ब के बीज का चूर्ण मण्ठा में मिला कर ७ दिन पीवे यदि अर्श रोग को नष्ट करना चाहे ॥१६१॥

अर्श के सर्वश्रेष्ठ औषध—

शुष्केषु भल्लातकमग्र्यमुक्तं
भैषज्यमार्द्रेषु तु वत्सकत्वक् ।
सर्वेषु सर्वर्तुषु कालशेय-
मर्शःसु बल्यं च मलापहं च ॥१६२॥

व्याख्या—शुष्क अर्श (वातज एवं कफज-अर्श में) भिलावा के योग, आर्द्र अर्श (पित्तज एवं रक्तज अर्श) में—कुरैया की छाल के योग और सब प्रकार के अर्श में तक्र के प्रयोग सर्व श्रेष्ठ औषध हैं । ये सब बलवर्द्धक भी हैं और दोष नाशक भी ।

वक्तव्य—सु.चि. अ० ६ में भिलावा का प्रयोग इस प्रकार है-यथा—भल्लातकानि परिपक्वानि अनुपहतानि आहृत्य ततः एकमादाय द्विधा, त्रिधा चतुर्धा वा छेदयित्वा कषायकल्पेन विपाच्य तस्य कषायस्य शुक्तिमनुष्णां घृताभ्यक्त-तालुजिह्वोष्ठः प्रातः प्रातः उपसेवेत, ततोऽपराह्णे क्षीरं सर्पिः ओदन इत्याहारः एवमेकैकं वर्द्धयेत् यावत् पञ्च इति, ततः पञ्च-पञ्चाभिवर्द्धयेत् यावत्सप्ततिरिति, प्राप्य च सप्ततिमपकर्षयेत् भूयः पञ्च पञ्च यावत् पञ्च इति पञ्चशः तु एकैकं यावत् एकमित्येवं भल्लातकसहस्रमुपयुज्य सर्वकुष्ठाऽर्शोभिर्विमुक्तो बलवान् अरोगः शतायुः भवति १७. और च. चि. अ. १ पाद २ में भी देखिये ॥१६२॥

आहार आदि का संकेत—

भित्त्वा विबन्धाननुलोमनाय
यन्मारुतस्याऽग्निबलाय यच्च ।
तदन्नपानौषधमर्शसेन
सेव्यं विवर्ज्यं विपरीतमस्मात् ॥१६३॥

व्याख्या—अर्शोरोगी उस उस अन्न, पान एवं औषध का सेवन करे जो जो मलरोध को तोड़ कर वायु का अनुलोमन करे और अग्नि के बल को बढ़ावे । और जो जो अन्न, पान एवं औषध इस से विपरीत हो उस उस का परित्याग करे ॥१६३॥

अर्श, अतिसार एवं ग्रहणी रोग का परस्पर सम्बन्ध—

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः
प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः ।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते
रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ॥१६४॥

व्याख्या—अर्श, अतिसार एवं ग्रहणी रोग परस्पर कारणभूत होते हैं—एक दूसरे का हेतु होते हैं, ये तीनों रोग—अग्नि मन्द होने पर उत्पन्न होते हैं अग्नि दीप्त होने पर नहीं होते अथच शान्त हो जाते हैं । इसलिये इन रोगों में अग्नि की विशेष रूप से रक्षा करे ।

वक्तव्य—विशेष देखिये—च. चि. अ० १४ के श्लो० २४४--२४५ तथा २४७--२४८ तथा सु. चि. अ. ६ और उदावर्त्त के लिये सु. उ. तं. अ. ५५ ॥१६४॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थानेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब अतिसार रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—देखिये च. चि. अ. १९ तथा सु. उ. अ.४०, अ. सं. चि. अ. ११ ।

अतिसार में लंघन—

अतीसारो हि भूयिष्ठं भवत्यामाशयान्वयः ।
हत्वाग्निं वातजेऽप्यस्मात् प्राक् तस्मिंल्लङ्घनं हितम् ॥१॥

व्याख्या—अतिसार में प्रायः आमाशय की विकृति होती है और अग्नि मन्द हो जाती है इसलिये सब अतिसारों में पहिले २ लंघन—उपवास अथवा लघु भोजन हित होता है भले ही वातातिसार ही क्यों न हो अर्थात् वातातिसार में भी लंघन हित होता है ॥१॥

अतिसार में वमन—

शूलानाहप्रसेकार्तं वामयेदतिसारिणम् ।

व्याख्या—अतिसार में यदि शूल, आनाह एवं लालास्राव हो तो वमन लाभप्रद होता है ।

अतिसार में उपेक्षा—

दोषाः सन्निचिता ये च विदग्धाहारमूर्च्छिताः ॥२॥
अतिसाराय कल्पन्ते तेषूपेक्षैव भेषजम् ।
भृशोत्क्लेशप्रवृत्तेषु स्वयमेव चलात्मसु ॥३॥

व्याख्या—जो दोष अत्यन्त सञ्चित होते हैं और विदग्ध अर्थात् पक्वाऽपक्व आहार के कारण बढ़े होते हैं और उन्हीं के कारण अतिसार हो रहा होता है उन दोषों की उपेक्षा करना ही चिकित्सा है क्योंकि वे अत्यन्त उत्क्लेश के कारण निकल रहे होते हैं और उनका अपने आप निकल जाना ही अच्छा होता है। अर्थात् इस दशा में उनको रोकना ठीक नहीं अपितु उनको प्रवृत्त करने का उपाय करे ॥२, ३॥

अतिसार में हरड़ का प्रयोग—

प्रयोज्यं न तु सङ्ग्राहि पूर्वमामातिसारिणि ।
अपि चाध्मानगुरुताशूलस्तैमित्यकारिणि ॥४॥
प्राणदा प्राणदा दोषे विबद्धे सम्प्रवर्तिनी ।

व्याख्या—आमातिसार में पहिले ही संग्राही चिकित्सा का प्रयोग न करे और विशेषतः जब आध्मान, उदर में भारीपन, शूल तथा उदर में स्तिमितता हो तब हरड़ ही प्राण दाता होती है क्योंकि वह—विबद्ध दोषों का प्रवर्तन करती है ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में— च.चि.अ.१९ ।
दोषाः संनिचिता यस्य विदग्धाऽऽहारमूर्च्छिताः ।
अतिसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्त्तयेत् ॥१८॥
न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे ।
विबध्यमानाः प्राग् दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥१९॥
दण्डकालसकाऽऽध्मान ग्रहण्यर्शोगदांस्तथा ।
शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ॥२०॥
तस्मादुपेक्षेदुत्क्लिष्टान् वर्त्तमानान् स्वयं मलान् ।
कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्त्तिनीम् ॥२१॥
तया प्रवर्त्तिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः ।
जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्द्धते ॥२२॥
लंघनं चाऽऽमदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ।

तात्पर्य यह है कि अतिसार को रोक देना ही उस की चिकित्सा नहीं कहलाती अपि तु—उक्त प्रकार से—यदि दोष सञ्चित हों तो निकाल देवे । न निकलते हों या थोड़ा २ निकल रहे हों तो हरड़ आदि द्वारा प्रवृत्त करे, मध्यम स्थिति में हों तो दीपन पाचन करे और अल्प हों तो लंघनकरे ॥४॥

मध्य दोष में—

पिबेत्प्रकथितांस्तोये मध्यदोषो विशोषयन् ॥५॥
भूतीकपिप्पलीशुण्ठीवचाधान्यहरीतकीः ।
अथवा बिल्वधनिकामुस्तानागरवालकम् ॥६॥
विडपाठावचापथ्याकृमिजिन्नागराणि वा ।
शुण्ठीघनवचामाद्रीबिल्ववत्सकहिंगु वा ॥७॥

व्याख्या—यदि दोष (वातादि तथा मल) मध्यम में हों तो—उपवास के साथ २ जल में—अजवायन, पीपल, सोंठ, बालवच, धनियाँ तथा हरड़ का क्वाथ बनाकर पीवे अथवा बिलगिरी, धनियाँ, नागरमोथा, सोंठ तथा नेत्रवाला का क्वाथ पीवे। अथवा—विडलवण, पाठा, बालवच, हरड़, विडंग तथा सोंठ का क्वाथ पीवे। अथवा-सोंठ, नागर मोथा, बालवच, अतीस, बिलगिरी, कुरैया की छाल तथा हींग का क्वाथ पीवे ॥५-७॥

अल्प दोष हों तो—

शस्यते त्वल्पदोषाणाम् उपवासोऽतिसारिणाम् ।
वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तापर्पटकेन वा ॥८॥
ह्रीबेरनागराभ्यां वा विपक्वं पाययेज्जलम् ।

व्याख्या—दोषों का संचय अल्प होने पर—अतिसार रोग में उपवास प्रशस्त होता है। और बालवच तथा अतीस का अथवा—मोथा तथा पित्तपापड़ा का अथवा नेत्रवाला तथा सोंठ का पका जल पिलावे ॥८॥

अतिसार में अन्न—

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघ्वन्नं प्रतिभोजयेत् ॥९॥
तथा स शीघ्रं प्राप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ।
तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा ॥१०॥
सुरया मधुना चाथ यथासात्म्यमुपाचरेत् ।

व्याख्या—अतिसार में भलीभाँति भूख लगने पर अन्न के समय (जिस समय स्वस्थ रहता हुआ वह मानव भोजन किया करता था)—लघु अन्न (पेया आदि) खिलावे इस प्रकार वह रोगी शीघ्र ही रुचि को, अग्नि की शक्ति को तथा शरीर की शक्ति को प्राप्त कर लेता है। और जो आहार सात्म्य हो उसे—तक्र से अथवा अवन्ती सोम (काञ्जी) से अथवा यवागू से अथवा तर्पण (सत्तू का घोल) से अथवा सुरा से अथवा मधु के साथ देवे ॥९,१०॥

अन्यान्य आहार—

भोज्यानि कल्पयेदूर्ध्वं ग्राहिदीपनपाचनैः ॥११॥
बालबिल्वशठीधान्यहिंगुवृक्षाम्लदाडिमैः ।

पलाशहपुषाऽजाजीयवानीबिडसैन्धवैः ॥१२॥
लघुना पञ्चमूलेन पञ्चकोलेन पाठया ।

व्याख्या—इस के पश्चात् अनुकूल आहार—ग्राही, दीपन तथा पाचन द्रव्यों के योग से बनावें यथा बालवच, बिलगिरी, कचूर, धनियाँ, हिंगु, वृक्षाम्ल, अनारदाना, पलाशबीज, हाऊवेर, जीरा, अजवायन, बिड् लवण, सैन्धव लवण, लघु पञ्चमूल के द्रव्यों, पंचकोल के द्रव्यों तथा पाठा के योग से आहार पदार्थों का निर्माण करे (क्योंकि ये सब द्रव्य वात कफ नाशक एवं दीपन तथा पाचक हैं और ग्राही बलवर्द्धक तथा रुचिकारक हैं अतः अतिसार में प्रशस्त हैं च. चि.अ. १९श्लोक ३०-३३॥

कफ पित्त में पेया—

शालपर्णीबलाबिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता ॥१३॥
दाडिमाम्ला हिता पेया कफपित्ते समुल्बणे ।
अभयापिप्पलीमूलबिल्वैर्वातानुलोमनी ॥१४॥

व्याख्या—कफ एवं पित्त की अधिकता में—शालपर्णी, बलामूल, बिलगिरी तथा पृष्ठपर्णी के क्वाथ में सिद्ध की गई और अनार दाना के योग से अम्ल बनाई गई पेया हित होती है । और हरड़, पीपलामूल तथा बिलगिरी के क्वाथ में सिद्ध की गई पेया—वायु का अनुलोमन करती है ॥१३,१४॥

दीप्ताग्नि के अतिसार में—

विबद्धं दोषबहुलो दीप्ताग्निर्योऽतिसार्यते ।
कृष्णाविडङ्गत्रिफलाकषायैस्तं विरेचयेत् ॥१५॥
पेयां युञ्ज्याद्विरिक्तस्य वातघ्नैर्दीपनैः कृताम् ।

व्याख्या—मल की गांठों का अवरोध हो, तीनों दोष बढ़े हों तथा अग्नि प्रदीप्त हो तथापि जिसे अतिसार हो उसे—पीपल, वायविडंग तथा हरड़ के क्वाथ से विरेचन दे देवे और विरेचन हो जाने पर वातनाशक तथा दीपन द्रव्यों के योग से सिद्ध पेया खाने को देवे ॥ ५॥

निरामातिसार में—

आमे परिणते यस्तु दीप्ते ऽग्नावुपवेश्यते ॥१६॥
सफेनपिच्छं सरुजं सविबन्धं पुनः पुनः ।
अल्पाल्पमल्पं समलं निर्विड्वा सप्रवाहिकम् ॥१७॥
दधितैलघृतक्षीरैः सशुण्ठीं सगुडां पिबेत् ।
स्विन्नानि गुडतैलेन भक्षयेद्बदराणि वा ॥१८॥
गाढविड्विहितैः शाकैर्बहुस्नेहैस्तथा रसैः ।
क्षुधितं भोजयेदेनं दधिदाडिमसाधितैः ॥१९॥
शाल्योदनं तिलैर्माषैर्मुद्गैर्वा साधु साधितम् ।
शुण्ठ्या मूलकपोतायाः पाठायाः स्वस्तिकस्य वा ॥२०॥
स्नुषायवानीकर्कारुक्षीरिणीचिर्भटस्य वा ।
उपोदिकाया जीवन्त्या वाकुच्या वास्तुकस्य वा ॥२१॥
सुवर्चलायाश्चुञ्चोर्वा लोणिकाया रसैरपि ।
कूर्मवर्तकलोपाकशिखितित्तिरिकौक्कुटैः ॥२२॥

व्याख्या—आम दोष का परिपाक हो जाने पर तथा अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर—जब फेन एवं पिच्छा से युक्त, वेदना एवं विबन्ध के साथ, थोड़ा-थोड़ा, पुरीष युक्त अथवा पुरीष रहित तथा प्रवाहिका (प्रयत्न से—काँखने पर) के साथ अतिसार हो रहे हों तब—सोंठ एवं गुड़ का प्रयोग—दही, तेल, घृत तथा दूध के साथ पीवे । अथवा बेरों को उबाल कर गुड़ एवं तैल के साथ खावे । भूख लगने पर पुरीषभेदक बाथू आदि के शाकों के साथ—जिन में स्नेह अधिक डाला गया हो अथवा दही एवं अनारदाना के योग से सिद्ध किये गये मांसों के रसों के साथ शालि चावलों का भात देवे । अथवा—तिल एवं उरद अथवा मूँग के योग से बनाया गया शालि चावलों का भात (खिचड़ी) देवे । अथवा—सोंठ के पत्र, मूल कपोता के पत्र, पाठा के पत्र, स्वस्तिक के पत्र, स्नुषा के पत्र, अजवायन के पत्र, खीरा, ककड़ी, क्षीरिणी (दुग्धिका), चिर्भड़ (कचरी ,पोई, जीवन्ती, बावची बाथू, हुलहुल,चंचु (नाड़ी शाक) तथा लोणी (कुलफा सलूणक) के शाक के रसों के साथ अथवा कछुवा, बत्तख, लोमड़ी, मोर, तीतर एवं मुर्गा के मांस रसों के साथ शालि चावलों का भात देवे ।

वक्तव्य—यह प्रवाहिका की चिकित्सा है और इस पाठ को च. चि. अ. १९ के श्लोक ३४-३७ से मिला कर देखिए ये ही पुरीष भेदक शाक तथा मांस हैं । प्रवाहिका का लक्षण श्री पराशर जी ने लिखा है कि—

निवाहयेत् सफेनं च निष्पुरीषं मुहुर्मुहुः ।
प्रवाहिकेति सा ख्याता कैश्चित् निर्वाहिकश्च सः ।

तथा -वायुःप्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तात् अहिताशनस्य
प्रवाहमाणस्य मुहुर्मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च
सशोणिता शोणितसम्भवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मता तु
सु. उ. अ ४०

पञ्जाब में आज भी प्रवाहिका को "निबाही" कहते हैं ।२२।

पक्वातिसार में यवागू—

बिल्वमुस्ताक्षिभैषज्यधातकीपुष्पनागरैः ।
पक्वातिसारजित्तक्रे यवागूर्दीपिकी तथा ॥२३॥
कपित्थकच्छुराफञ्जीयूथिकावटशेलुजैः ।
दाडिमीशणकार्पासीशाल्मलीमोचपल्लवैः ॥२४॥

व्याख्या—बिलगिरी, नागरमोथा, लोध, धाय के फूल तथा सोंठ के योग से तक्र अथवा दही में बनाई गई यवागू—रक्तातिसार (निरामातिसार) को नष्ट करती है। तथा कैथ, किवाँच भारंगी, जूही, बट तथा लिसोड़ा के पत्तों के योग से और अनार, शण (सनई), कपास, सेमल तथा केला के कोमल पत्तों के योग से बनाई गई यवागू पक्व तिसार को नष्ट करती है ॥२३,२४॥

प्रवाहिका नाशक योग—खल—

कल्को बिल्वशलाटूनां तिलकल्कश्च तत्समः।
दध्नः सरोऽम्लः सस्नेहः खलो हन्ति प्रवाहिकाम् २५।

व्याख्या—बिलगिरी का तथा तिल का कल्क समभाग बना कर दही की खट्टी मलाई एवं देशाचार के अनुसार घृत अथवा तैल आदि किसी स्नेह के योग से बनाया गया खल नामक पदार्थ प्रवाहिकाको नष्ट करता है।

अपराजित नामक खल—

मरिचं धनिकाजाजीतित्तिडीकशठीबिडम्।
दाडिमं धातकीपाठात्रिफलापञ्चकोलकम्॥२६॥
यावशूकं कपित्थाम्रजम्बूमध्यं सदीप्यकम्।
पिष्टैः षड्गुणबिल्वैस्तैर्दध्नि मुद्गरसे गुडे ॥२७॥
स्नेहे च यमके सिद्धः खलोऽयमपराजितः।
दीपनः पाचनो ग्राही रुच्यो बिम्बिशि-नाशनः ॥२८॥

व्याख्या—मरिच, धनियाँ, जीरा, इमली, कचूर, विड्लवण, अनारदाना, धाय के फूल, पाठा, त्रिफला, पंचकोल, जौखार, कैथ की खटाई, जामुन का फल, (या गिरी) तथा अजवायन उचित मात्रा में लेकर कल्क करे और उस से छःगुना बिलगिरी का कल्क लेवे। इस के योग से दही, मूँग की पतली दाल, गुड़, घृत तथा तैल में खल (व्यंजन) सिद्ध करे। यह अपराजित नामक खल है। यह दीपन, पाचन, ग्राही, रुचिकारक है तथा बिम्बिशि अर्थात् प्रवाहिका को नष्ट करता है।

वक्तव्य—बिम्बिशि प्रवाहिका का नाम है और निवाहिका या निवाही, निश्चारक भी उसी के पर्याय हैं।२६-२८॥

पुरीष क्षय की चिकित्सा—

कोलानां बालबिल्वानां कल्कः शालियवस्य च।
मुद्गमाषतिलानां च धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥२९॥
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसारिकम्।
वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥३०॥
दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम्।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थं प्रयोजयेत् ॥३१॥
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा।
भृष्टान्वा यमके सक्तून् खादेद् व्योषावचूर्णितान् ॥३२॥
माषान् सुसिद्धांस्तद्वद्वा घृतमण्डोपसेवनान्।
रसं सुसिद्धं पूतं वा छागमेषान्तराधिजम् ॥३३॥
पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम्।
रक्तशाल्योदनं तेन भुञ्जानः प्रपिबंश्च तम् ॥३४॥
वर्चःक्षयकृतैराशु विकारैः परिमुच्यते।

व्याख्या—पुरीषक्षय नामक विकार में—बेर, बिलगिरी, शालिधान्य, जौ, मूंग, उरद तथा तिलों के कल्क के योग से "धान्ययूष" बनावे और फिर उसे घृत एवं तैल में पकावे और उसमें दही तथा अनारदाना डाल देवे और उसके साथ शालि चावलों का भात खिलावे जब रोगी का मुख भी सूख रहा हो। अथवा—दही के सार भाग को घृत एवं तैल में पकाकर तथा उसमें गुड़ एवं सोंठ मिलाकर शालि चावलों के भात के साथ खिलावे। अथवा—सुरा (ताडी-ताडका रस) को घृत एवं तैल में पकाकर रुचि के अनुसार व्यञ्जन बनावे और शालि चावलों के भात के साथ खिलावे। अथवा—गृञ्जनक (गाजर या शलजम) का यूष—घृत एवं तैल में पकावे और अनारदाना आदि फल की खटाई डाल कर शालि चावलों के भात के साथ खिलावे। अथवा—सत्तुओं को घृत एवं तैल में पकाकर तथा त्रिकटु का चूर्ण मिलाकर खिलावे। अथवा—उरद की दाल में घृत मण्ड डाल कर भर पेट खिलावे अथवा शालि चावलों के भात के साथ खिलावे। अथवा—बकरा अथवा भेड़ के मध्यकाय का मांस लेकर मांसरस बनावे और उसे अनारदाना के योग से अम्ल बनाकर तथा उसमें धनियाँ, घृत आदि स्नेह मिलाकर भली भाँति प्रस्तुत करे और उसके साथ रक्तशालि चावलों का भात खावे अथवा उसे छान कर रस पीवे। इस प्रकार पुरीषक्षय से उत्पन्न विकारों से रोगी मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य पुरीषक्षय का लक्षण है—

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन् इव।
कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन् भृशम्।

सू. अ. ११। तथा सु. सू.अ. १५ में—पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडासशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ सञ्चरणं च। जब अतिसार में पुरीष का क्षय हो जाता है तब यह दशा उत्पन्न हो जाती है इस दशा में पुरीषोत्पादन की आवश्यकता होती है और इस विधि से यह कार्य हो जाता है। भगवान् पुनर्वसु ने इस पाठ में निम्नलिखित पाठ भी लिखा है यथा—

लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥५२॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्त्तकानां तथा रसाः ।
स्निग्धाम्लाः शालयश्चाऽग्र्या वर्चःक्षयरुजापहाः ॥७३॥
च. चि. अ. १९ ॥२९-३४॥

प्रवाहिका में बालबिल्वादि योग—

बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीविश्वभेषजम् ॥३५॥
लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ।
वल्कलं शाबरं पुष्पं धातक्या बदरीफलम् ॥३६॥
पिबेद्दधिसरक्षौद्रकपित्थस्वरसाप्लुतम् ।
विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः ॥३७॥
सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ।
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा प्रयोजयेत् ॥३८॥
शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पुनः ।
पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तानां विंशतिस्त्रिगुणेऽम्भसि ॥३९॥
क्षीरावशिष्टं तत्पीतं हन्यादामं सवेदनम् ।
पिप्पल्याः पिबतः सूक्ष्मं रजो मरिचजन्म वा ॥४०॥
चिरकालानुषक्ताऽपि नश्यत्याशु प्रवाहिका ।

व्याख्या—जब वायु के सरण में रुकावट हो, शूल तथा प्रवाहिका हो तब—बिलगिरी, पीपल एवं सोंठ को गुड एवं तैल में मिलाकर चाटे । अथवा—पठानी लोध की छाल, धाय के फूल तथा बेरी के पत्रों को पीसकर और दही की मलाई, मधु तथा कैथ के रस में मिलाकर पीवे । जब वायु एवं पुरीष रुका हो, शूल तथा प्रवाहिका बलवान् हों । रक्त तथा पिच्छा का स्राव हो रहा हो तथा तृषा बढ़ी हुई हो तब भर पेट दूध पीवे । अथवा- घृत एवं तैल पीकर धारोष्ण दूध पीवे । अथवा—बिलगिरी के योग से परिपक्व दूध में एरण्ड तैल मिलाकर पीवे । जब वेदना के साथ आमदोष जारहा हो तब-नागर मोथा की २० ग्रंथियाँ १ पाव दूध तथा ३ पाव जल में डाल कर पकावे और दुग्धमात्र रह जाने पर पीवे । पीपल का अथवा मरिच का सूक्ष्म चूर्ण उक्तप्रकार के किसी द्रव में मिलाकर पीवे तो पुरानी प्रवाहिका शीघ्र शान्त हो जाती है ।

वक्तव्य—इन सब दशाओं में स्तम्भन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अपितु उक्त प्रकार के योगों से पुरीष को प्रवृत्त करना चाहिये ॥३५-४०॥

निरामातिसार की चिकित्सा—

निरामरूपं शूलार्तं लङ्घनाद्यैश्च कर्षितम् ॥४१॥
रूक्षकोष्ठमपेक्ष्याग्निं सक्षारं पाययेद् घृतम् ।
सिद्धं दधिसुरामण्डे दशमूलस्य चाम्भसि ॥४२॥
सिन्धूत्थपञ्चकोलाभ्यां तैलं सद्योऽर्तिनाशनम् ।
षड्भिः शुण्ठ्याः पलैर्द्वाभ्यां द्वाभ्यां ग्रन्थ्यग्निसैन्धवात् ।
तैलप्रस्थं पचेद्दध्ना निःसारकरुजापहम् ।

व्याख्या—जब अतिसार आमरहित हो परन्तु शूल हो और रोगी लंघन आदि करते २ कृश हो गया हो तथा उसका कोष्ठ क्रूर हो गया हो तब अग्नि के अनुसार मात्रा में—जौ खार मिलाकर घृत पिलावे । सु.उ.अ.४० श्लो० ७५ । जब शूल हो तब—दही, सुरामण्ड तथा दश मूल के क्वाथ में सैन्धव लवण तथा पञ्चकोल का कल्क एवं तैल मिलाकर सिद्ध किया गया तैल पीने से तत्काल शूल को नष्ट करता है । सोंठ ६ पल, पीपलामूल, चित्ता, सैन्धव लवण २-२ पल, तैल १ प्रस्थ तथा दही ४ प्रस्थ मिलाकर तैल सिद्ध करे । यह तैल पीने से—निःसारक (प्रवाहिका) की वेदना को शान्त करता है ।

वक्तव्य—निःसारक भी निश्चारकका पर्याय है ॥४१-४२॥

तैल की प्रशंसा—

एकतो मांसदुग्धाज्यं पुरीषग्रहशूलजित् ॥४४॥
पानानुवासनाभ्यङ्गप्रयुक्तं तैलमेकतः ।
तद्धि वातजितामग्र्यं शूले च विगुणोऽनिलः ॥४५॥
धात्वन्तरोपमर्दाद्धि चलो व्यापी स्वधामगः ।
तैलं मन्दानलस्याऽपि युक्त्या शर्मकरं परम् ।
वाय्वाशये सतैले हि विम्बिशी (सी) नावतिष्ठते ॥४६॥
क्षीणे मले स्वायतनच्युतेषु
दोषान्तरेष्वीरण एकवीरे ।
को निष्टनन् प्राणिति कोष्ठशूली
नान्तर्बहिस्तैलपरो यदि स्यात् ॥४७॥

व्याख्या—पुरीष की रुकावट तथा शूल को नष्ट करने वाले पूर्वोक्त प्रकार के मांस, दुग्ध तथा घृत एक ओर और पान में, अनुवासन में तथा अभ्यङ्ग में प्रयुक्त तैल एक ओर क्योंकि—वह तैल सर्वश्रेष्ठ वातनाशक द्रव्य है और विकृत वायु ही शूल का हेतु है । और पित्त एवं कफ नामक दूसरे दो दोषों की विकृति से वायु बढ़ता है और चल है अतः शरीर भर में व्याप्त हो जाता है तथापि मलाशय-पक्वाशय नामक अपने धाम में क्रियाशील बना रहता है और तैल युक्तिपूर्वक खाने से मन्दाग्नि को भी प्रदीप्त करता है अतः सुखकारक होता है । इस प्रकार वायु के धाममें तैल जाने पर प्रवाहिका नहीं ठहर सकती । जब अतिसार में पुरीष का क्षय हो चुका होता है पित्त एवं कफ नामक दोष अपने स्थान-कर्म से च्युत हो चुके होते हैं और वायुही एकमात्र वीर-प्रबल हो जाता है तब प्रवाहिका तथा उदर शूल से पीड़ित कौन रोगी जीवित या सुखी रह सकता है, यदि वह बाहिर (अभ्यंग रूप में) तथा अन्तः (पानरूप में) तैल का प्रयोग करने में तत्पर नहीं होता ।

वक्तव्य—प्रवाहिका में तथा उस के शूल आदि उपद्रवों

में तैल ही सर्वश्रेष्ठ औषध है। पशुओं को भी इस दशा में तैल ही दिया जाता है ॥३७॥

गुदभ्रंश आदि की चिकित्सा—

गुदरुग्भ्रंशयोर्युञ्ज्यात्क्षीरं साधितं हविः।
रसे कोलाम्लचाङ्गेर्योर्दध्नि पिष्टे च नागरे ।।४८॥
तैरेव चाम्लैः संयोज्य सिद्धं सुश्लक्ष्णकल्कितैः।
धान्योषणबिडाजाजीपञ्चकोलकदाडिमैः ॥४९॥
योजयेत्स्नेहवस्तिं वा दशमूलेन साधितम्।
शठीशताह्वाकुष्ठैर्वा वचया चित्रकेण वा। ५०॥
प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे।
मधुराम्लैः शृतं तैलं घृतं वाऽप्यनुवासनम् ॥५१॥
प्रवेशयेद्गुदं ध्वस्तमभ्यक्तं स्वेदितं मृदु।
कुर्याच्च गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥५२॥
पञ्चमूलस्य महतः क्वाथं क्षीरे विपाचयेत्।
उन्दुरुं चान्त्ररहितं तेन वातघ्नकल्कवत् ॥५३॥
तैलं पचेद् गुदभ्रंशं पानाभ्यङ्गेन तज्जयेत्।

व्याख्या—गुद की पीड़ा में तथा गुदके भ्रंश में—दूध १ प्रस्थ, बेर तथा चांगेरी का रस १-१ प्रस्थ तथा दही १प्रस्थ, सोंठ का कल्क १ कुडव तथा गो घृत १ प्रस्थ मिलाकर सिद्ध किया गया घृत प्रयुक्त करे (पिलावे)। अथवा उन्हीं बेर चांगेरी एवं दही के योग से तथा धनियाँ मरिच, बिडलवण, जीरा, पञ्चकोल तथा अनारदाना के कल्क के योग से सिद्ध घृत पीवे। अनुवासन वस्ति—दशमूल के योग से अथवा कचूर, सौंफ एवं कुष्ठ के योग से अथवा बालवच के योग से अथवा चित्ता के योग से सिद्ध घृत की अनुवासन वस्ति देवे। प्रवाहिका में, गुदभ्रंश में, मूत्राघात में तथा कटि स्तम्भ में—मधुरगण एवं अम्लगण के उपयोगी द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध तैल अथवा घृत की अनुवासन वस्ति देवे। जब गुद बाहिर निकला हो तब उस पर उक्त घृत अथवा तैल चुपड़ कर, थोड़ा स्वेदन करके, रुई अथवा कोमल कपड़ा की सहायता से अंगूठा का दबाव देकर भीतर प्रविष्ट कर देवे और चर्म (चमड़ा) का गोफणा नामक बन्धन (लँगोटी) बाँध देवे परन्तु उस चर्म में वायु निकलने के लिये छिद्र बना देना चाहिए और बार २ स्वेदन करे। बिल्वादि बृहत् पञ्चमूल के द्रव्यों को दूध में पकावे फिर उस दूध तथा अन्त्र रहित मूसा तथा वातनाशक गण के द्रव्यों के कल्क के योग से तैल सिद्ध करे। यह तैल—पानी से एवं अभ्यंग से गुद भ्रंश को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इस के लिये देखिये सु. चि. अ. २० श्लो० ६१-६६। तथा उ. अ. ४०। प्रवाहिका तथा गुद भ्रंश एवं गुदशूल में तैल का सर्वविधि प्रयोग लाभदायक होता है ५३।

पित्तातिसार की चिकित्सा—

पैत्ते तु सामे तीक्ष्णोष्णवर्ज्यं प्रागिव लङ्घनम् ॥५४॥
तृष्यान् पिबेत् षडङ्गाम्बु सभूनिम्बं ससारिवम्।
पेयादि क्षुधितस्यान्नमग्निसन्धुक्षणं हितम् ॥५५॥
बृहत्यादिगणाभीरुद्विबलाशूर्पपर्णिभिः।

व्याख्या—पित्तातिसारमें यदि आम दोष हो तो वातातिसार के समान सब प्रकार के लंघन कर्म करे और तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों का परित्याग करे। तृषा लगे तो षडंग पानीय (ज्वर चि. अ. १) के द्रव्यों के साथ चिरायता एवं सारिवा मिलाकर और जल में पका कर पीवे। भूख लगने पर—अग्निदीपक पेया आदि का आहार करे और वह पेया—बृहत्यादि गण (लघु पञ्चमूल सू. अ. ६) के द्रव्य तथा शतावर, बला, अतिबला, माषपर्णी तथा मुद्गपर्णी के योग से बनाना चाहिये।

वक्तव्य—पित्तातिसारं पुनः निदानोपशयाऽऽकृतिभिः आमान्वयमुपलभ्य यथाबलं लंघनपाचनाभ्यामुपाचरेत्। तृष्यतस्तु- मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्तकोदीच्यवारिभिरुपचारः। लङ्घितस्य चाहारकाले बलाऽतिबलासूर्यपर्णीशालपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकाशतावरीश्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः। मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाऽऽढकीयूषैः वा लावकपिञ्जलशशहरिणकालप्रच्छकरसैरीषदम्लैरनम्लैः वा क्रमशोऽग्निसन्धुक्षयेत्। अनुबन्धे स्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीय संग्रहणीयान् योगान् संप्रयोजयेत् इति। च. चि. अ. १९ पाठ ५४ ॥५४,५५॥

अनुबन्ध हो तो—

पाययेदनुबन्धे तु सक्षौद्रं तण्डुलाम्भसा ॥५६॥
वत्सकस्य फलं पिष्टं सवल्कं सघुणप्रियम्।
पाठावत्सकबीजत्वग् दार्वीग्रन्थिकशुण्ठि वा ॥५७॥
क्वाथं वाऽतिविषाबिल्ववत्सकोदीच्यमुस्तजम्।
अथवाऽतिविषामूर्वानिशेन्द्रयव-तार्क्ष्यजम् ॥५ ॥
समध्वतिविषाशुण्ठीमुस्तेन्द्रयवकट्फलम्।

व्याख्या—उक्त प्रकार के लंघन आदि उपाय करने पर भी अतिसार शान्त न हो तो—इन्द्रजौ, कुरैया की छाल तथा अतीस का चूर्ण मधु मिलाकर चाटे और अनुपान में चावलों का धोवन पीवें। अथवा पाठा, इन्द्रजौ, कुरैया की छाल, दारुहल्दी (रसवत), पीपलामूल तथा सोंठ का चूर्ण मधु में मिला कर चाटे तथा अनुपान में चावलों का धोवन पीवे। अथवा अतीस, बिलगिरी, कुरैया की छाल, नेत्रबाला तथा नागर मोथा का क्वाथ

पीवे। अथवा अतीस, मरोड़फली; हल्दी इन्द्रजौ तथा रसवत का क्वाथ पीवे। अथवा अतीस, सोंठ, नागरमोथा इन्द्रजौ तथा कायफल का क्वाथ मधु मिलाकर पीवे। अथवा चूर्ण बनाकर मधु के साथ चाटे ॥५६-५८॥

इन्द्रजौ आदि के तीन योग—

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत् ॥५९॥
यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जाठरामयम् ।
मुस्ताकषायमेवं वा पिबेन्मधुसमायुतम् ॥६०॥
सक्षौद्रं शाल्मलीवृन्तकषायं वा हिमाह्वयम् ।

व्याख्या—पित्तातिसार का जो रोगी ४कर्ष इन्द्रजौ का क्वाथ पीता है और मांसरस के साथ भात खाता है वह पित्तातिसार को शीघ्र ही जीत लेता है। अथवा नागरमोथा का क्वाथ मधु मिलाकर पीता है अथवा सेमल के डूसों (अथवा फूलों का शीत कषाय (हिम) पीता है वह पित्तातिसार को शीघ्र जीत लेता है ॥५९,६०॥

पित्तातिसार नाशक अन्य योग—

किराततिक्तकं मुस्तं वत्सकं सरसाञ्जनम् ॥६ ॥
कटङ्कटेरीं ह्रीबेरं बिल्वमध्यं दुरालभाम् ।
तिलान् मोचरसं रोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥६२॥
नागरं धातकीपुष्पं दाडिमस्य त्वगुत्पलम् ।
अर्धश्लोकैः स्मृता योगाः सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुना ॥६३॥

व्याख्या— —चिरायता, नागर मोथा, कुरैया की छाल तथा रसवत, २. दारु हल्दी, नेत्रवाला, बिलगिरी तथा जवासा ३. तिल, मोचरस (सेमल का गोन्द) लोध, मञ्जीठा (या लाजवन्ती, कमल तथा श्वेतकमल, ४. सोंठ धाय के फूल, अनार के फल का छिलका तथा श्वेतकमल। यह ४ योग हैं इन में से किसी एक योग को पीस कर मधु के साथ चटा कर ऊपर से चावलों का धोअन पिलावे ॥६१-६३॥

पक्वातिसार की चिकित्सा—

निशेन्द्रयवरोध्रैलाक्वाथः पक्वातिसारनुत् ।
रोध्राम्बष्ठाप्रियङ्ग्वादिगणांस्तद्वत् पृथक् पिबेत् ॥६४॥
कट्वङ्गवल्कयष्ट्याह्व-फलिनीदाडिमाङ्कुरैः ।
पेयाविलेपीखलकान् कुर्यात्सदधिदाडिमान् ॥६५॥
तद्वद्धित्थबिल्वाम्रजम्बुमध्यैः प्रकल्पयेत् ।
अजापयःप्रयोक्तव्यं निरामे, तेन चेच्छमः ॥६६॥
दोषाधिक्यान्न जायेत बलिनं तं विरेचयेत् ।

व्याख्या—हल्दी, इन्द्रजौ, लोध तथा बड़ी इलायची का क्वाथ पक्वातिसारको नष्ट करता है। इसी प्रकार रोध्रादि गण; अम्बष्ठादि गण तथा प्रियंग्वादि गण के पृथक् २ क्वाथ भी पक्वातिसार को नष्ट करते हैं। पक्वातिसार में—पथ्य—सोना पाठा की छाल, मुलेठी, प्रियंगु तथा अनार के कोंपलों के योग से दही एवं अनारदाना मिला कर अथवा—कैथ, बिलगिरी, आम की गिरी तथा जामुन की गिरी के योग से—पेया, विलेपी खलक बना कर देवे। पक्वातिसार में बकरी के दूध का प्रयोग करे यदि उस से दोषों की अधिकता के कारण शान्ति न हो और रोगी बलवान् हो तो विरेचन दे देवे।

वक्तव्य—रोध्रादिगण तथा अम्बष्ठादिगण प्रियंग्वादि गण देखिए सू. अ. १५ में ॥६४-६६।

कभी पुरीष—कभी रक्त जाता हो तो—

व्यत्यासेन शकृद्रक्तमुपवेश्येत् योऽपि वा ॥६७॥
पलाशफलनिर्यूहं युक्तं वा पयसा पिबेत् ।
ततोऽनु कोष्णं पातव्यं क्षीरमेव यथाबलम् ॥६८॥
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः ।
पलाशवत्प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधनी ॥६९॥

व्याख्या—यदि अतिसार में पुरीष का और कभी रक्त का अतिसार हो रहा हो तो—पलाश के बीजों का क्वाथ पीवे अथवा उनका कल्क दूध के साथ पीवे और तत्पश्चात् जितना पिया जा सके उतना कोसा दूध पीना चाहिए। इस प्रकार मलशुद्धि हो जाने पर अतिसार शान्त हो जाता है। अथवा पलाश के बीजों के प्रकार से त्रायमाणा का प्रयोग भी विशोधनार्थ (मल शुद्धि के लिये) किया जा सकता है ॥६७-६९॥

अनुवासनवस्ति—

संसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते ।
स्रुतदोषस्तु तं शीघ्रं यथावह्न्यनुवासयेत् ॥७०॥
शतपुष्पावरीभ्यां च बिल्वेन मधुकेन च ।
तैलपादं पयोयुक्तं पक्वमन्वासनं घृतम् ॥७१॥

व्याख्या—अतिसार द्वारा पुरीष निकल जाने पर जब पेया एवं विलेपी आदि क्रम किया जा रहा हो तब यदि शूल होता रहता हो तो तत्काल अग्नि का विचार करके अनुवासनवस्ति दे देवे। अनुवासनघृत—सौंफ, शतावर, बिलगिरी तथा मुलेठी के योग से १ भाग तैल तथा ४भाग घृत और दोनों के समभाग दूध मिला कर पाक करे सिद्ध होने पर—अनुवासनवस्ति देवे ॥७०-७१॥

पिच्छावस्ति—

अशान्तावित्यतीसारे पिच्छावस्तिः परं हितः ।
परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः ॥७२॥
कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद्गोमयाग्निना ।

मृच्छोषे तानि सङ्कुद्य तत्पिण्डं मुष्टिसम्मितम् ॥७३॥
मर्दयेत्पयसः प्रस्थे पूतेनास्थापयेत्ततः।
नतयष्ट्याह्वकल्काढ्यक्षौद्रतैलवताऽनु च।
स्नातो भुञ्जीत पयसा जाङ्गलेन रसेन वा ॥७४॥
पित्तातिसारज्वरशोफगुल्मसमीरणास्रग्रहणीविकारान्
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृत्तिं विरेचनास्थापनयोश्च बस्तिः॥

व्याख्या—उक्त उपायों से भी अतिसार शान्त न हो तो अतिसार में पिच्छावस्ति परम हित होती है—पिच्छावस्ति का योग—सेमल के आर्द्र वृन्त (कुसुम बन्धन) लेकर, आर्द्र कुशों से लपेट कर और काली मिट्टी का लेप करके उपलों की अग्नि में स्वेदन करे जब मिट्टी सूख जाय तब निकाल कर कूट लेवे और मुट्ठी भर पिण्ड लेकर एक प्रस्थ दूध में घोलकर मले फिर छान कर उसमें तगर, मुलेठी का कल्क, घृत, मधु एवं तैल मिलाकर वस्ति देवे। इसके पश्चात् स्नान करके दूध के साथ अथवा जंगलदेशीय प्राणियों के मांस रस के साथ भोजन करे। यह पिच्छा वस्ति—पित्तातिसार, ज्वर, गुदशोथ, गुल्म, वातरक्त तथा ग्रहणीरोग को और विरेचन एवं निरूहण वस्ति के अतियोग को शीघ्र नष्ट करती है।

वक्तव्य—सेमल के फूलों को जल में मसल कर पिच्छा (लुआब) पीने से भी वही लाभ होता है ॥७२-७५॥

कुटजफाणित—

फाणितं कुटजोत्थं च सर्वातीसारनाशनम्।
वत्सकादिसमायुक्तं साम्बष्ठादि समाक्षिकम् ॥७६॥

व्याख्या—कुरैया की छाल का स्वरस १ पाव, खण्ड एक सेर पकाकर फाणित काला अवलेह बनावे इसकी मात्रा—२-४ तो० लेकर उसमें वत्सकादि गण के तथा अंबष्ठादि गण के द्रव्यों का चूर्ण तथा मधु मिलाकर चाटे। यह सब प्रकार के पक्वातिसार को नष्ट करता है ॥७६॥

पुटपाक का विधान—

निरुङ्निरामं दीप्ताग्नेरपि सास्रं चिरोत्थितम्।
नानावर्णमतीसारं पुटपाकैरुपाचरेत् ॥७७॥

व्याख्या—शूल रहित, आम रहित, अग्नि प्रदीप्त रहने पर भी रहने वाले अतिसार, रक्तातिसार, पुराने अतिसार तथा नाना वर्ण के अतिसार का उपचार "पुटपाक" विधि से करे ॥७७॥

पुटपाक के योग—

त्वक्पिण्डाद्दीर्घवृन्तस्य श्रीपर्णीपत्रसंवृतात्।
मृल्लिप्तादग्निना स्विन्नाद्रसं निष्पीडितं हिमम् ॥७८॥
अतीसारी पिबेद्युक्तं मधुना सितयाऽथवा।
एवं क्षीरद्रुमत्वग्भिस्तत्प्ररोहैश्च कल्पयेत् ॥७९॥
कट्वङ्गत्वग्घृतयुता स्वेदिता सलिलोष्मणा।
सक्षौद्रा हन्त्यतीसारं बलवन्तमपि द्रुतम् ॥८०॥

व्याख्या—सोनापाठा की छाल का कल्क बना कर गम्भारी के पत्तों में लपेट कर, मिट्टी का लेप करके तथा अग्निमें स्विन्न करके, मिट्टी का वर्ण लाल होने पर निकाल कर और कल्कको निचोड़कर रस निकाल लेवे, शीतल होने पर मधु अथवा खाण्ड मिला कर अतिसार का रोगी पीवे इसी प्रकार वट एवं गूलर आदि क्षीरी-वृक्षों की छाल का और उनके अंकुरों का पुटपाक बनावे। अथवा—सोनापाठा की छाल का कल्क बनाकर उसमें थोड़ा घृत मिला कर, उष्ण जल में सिजा कर, शीत होने पर मधु मिलाकर यदि खाया जाय तो भीषण अतिसार भी नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—पुटपाक भी औषध निर्माण का एक प्रकार है ॥७८-८०॥

रक्तातिसार का निदान एवं चिकित्सा—

पित्तातिसारी सेवेत पित्तलान्येव यः पुनः।
रक्तातिसारं कुरुते तस्य पित्तं सतृड्ज्वरम् ॥८१॥
दारुणं गुदपाकं च, तत्र च्छागं पयो हितम्।
पद्मोत्पलसमङ्गाभिः शृतं मोचरसेन वा ॥८२॥
सारिवायष्टिरोध्रैर्वा प्रसवैर्वा वटादिजैः।
सक्षौद्रशर्करं पाने भोजने गुदसेचने ॥८३॥
तद्वद्रसादयोऽनम्लाः साज्याः पानाल्लयोर्हिताः।
काश्मर्यफलयूषश्च किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥८४॥
पयस्यर्धोदके छागे ह्रीवेरोत्पलनागरैः।
पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्णीरसान्विता ॥८५॥
प्राग्भक्तं नवनीतं वा लिह्यान्मधुसितायुतम्।
बलिन्यस्रेऽस्रमेवाजं मार्गं वा घृतभर्जितम् ॥८६॥
क्षीरानुपानं क्षीराशी त्र्यहं क्षीरोद्भवं घृतम्।
कपिञ्जलरसाशी वा लिहन्नारोग्यमश्नुते ॥८७॥

व्याख्या—पित्तातिसार का रोगी यदि पित्तकारक आहार, विहार एवं औषध का सेवन करता है, उसका बढ़ा हुआ पित्त रक्तातिसार को उत्पन्न करता है, कभी२ उसके साथ तृषा एवं ज्वर भी हो जाते हैं और कभी२ गुद पाक भी हो जाता है तो इस दशामें बकरी का दूध—जो कमल, श्वेत कमल, लज्जावन्ती तथा मोचरस के योग से परिपक्व हो अथवा सारिवा, मुलेठी एवं लोध के योग से परिपक्व हो अथवा वट एवं गूलर आदि क्षीरी वृक्षों के कोमल पत्तों के योग से परिपक्व हो, मधु एवं खाण्ड मिला कर पीने में, भोजन में तथा गुदसेचन में लाभप्रद होता है। और वैसे

ही कबूतर आदि पक्षियों के तथा जंगल देशीय शीतवीर्य शशक एवं मृग आदि के मांसों के रस—अम्लरहित एवं घृतयुक्त बनाकर पीने में तथा भोजन में लाभप्रद होते हैं। वैसे ही—गम्भार के फलों का यूष—अनारदाना आदि डाल कर कुछ अम्ल बना कर तथा खण्ड मिला कर पीने में तथा भोजन में लाभप्रद होता है। बकरी का दूध और उससे आधा जल मिला कर, तथा नेत्र वाला, श्वेत कमल एवं साठे के योग से और पृष्ठपर्णी के रस से युक्त बनाई गई पेया रक्तातिसार को नष्ट करती है। अथवा इस दशा में मधु एवं मिशरी मिला कर माखन भोजन के पूर्व चाटना चाहिए। यदि रक्त अधिक मात्रा में निकल रहा हो-निकल गया हो तो बकरा का अथवा मृग का रक्त-घृत में तल कर खाना-पीना चाहिए। अथवा—दूध के अनुपात से, दूध के साथ भोजन करता हुआ रोगी-दूध से निकाला गया माखन चाट कर-खाकर-अथवा कपिञ्जल (गौरैया चिड़िया) के मांसरस के साथ भोजन करता हुआ रोगी-दूधसे निकाला हुआ माखन चाट कर तीनदिन में आरोग्य लाभ कर लेता है ॥८१-८७॥

रक्तातिसार में शतावरी कल्क—

पीत्वा शतावरीकल्कं क्षीरेण क्षीरभोजनः।
रक्तातिसारं हन्त्याशु तया वा साधितं घृतम् ॥८८॥

व्याख्या—शतावरी के कल्क को दूध में मिलाकर पीकर तथा दूध के साथ भोजन करके अथवा शतावरी के योग से सिद्ध किया गया घृत पीकर रोगी रक्तातिसार को शीघ्र जीत लेता है ॥८८॥

रक्तातिसार में अन्यान्य योग—

लाक्षानागरवैदेहकटुकादार्विवल्कलैः।
सर्पिः सेन्द्रयवैः सिद्धं पेयामण्डावचारितम् ॥८९॥
अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम्।
कृष्णमृच्छङ्खयष्ट्याह्वक्षौद्रासृक्तण्डुलोदकम् ॥९०॥
जयत्यस्रं प्रियङ्गुश्च तण्डुलाम्बुमधुप्लुता।
कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापाञ्चभागिकः ॥९१॥
आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति।
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्बुना ॥९२॥
दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते।

व्याख्या—लाख, सोंठ, पीपल, कुटकी, दारुहल्दी की छाल तथा इन्द्र जौ के योग से सिद्ध घृत—मण्ड एवं पेया में मिलाकर खाने से भीषण एवं त्रिदोष जनित अतिसार को नष्ट करता है। अथवा काली मिट्टी, शंख भस्म अथवा शंख की पिष्टि, मुलेठी, मधु, बकरा आदि का रक्त तथा चावलों का धोअन मिलाकर पीने से अथवा फूल प्रियंगु का चूर्ण चावलों के धोअन एवं मधु में मिलाकर पीने से रक्त रुक जाता है (साथ में जाङ्गल प्राणियों के मांस रस के साथ भोजन करना चाहिये)। अथवा काले तिलों का कल्क ५ भाग और खण्ड १ भाग मिलाकर चूर्ण बनावे और उसे बकरी के दूध के साथ पीवे तो रक्त शीघ्र रुक जाता है। श्वेत चन्दन को चावलों के धोअन में घिसकर तथा खण्ड एवं मधु मिलाकर पीने से—दाह, तृषा, रक्तप्रमेह एवं रक्तस्राव (रक्तातिसार, रक्तार्श, रक्तपित्त, रक्त प्रदर आदि में होने वाले रक्तस्राव से) मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—इस दशा में चन्दन के तैल का प्रयोग भी इसी अनुपात से किया जाता है ॥८९-९२॥

गुदपाक की चिकित्सा—

गुदस्य दाहे पाके वा सेकलेपा हिता हिमाः ॥९३॥
अल्पाऽल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते।
यदा विबद्धो वायुश्च कृच्छ्राच्चरति वा न वा ॥९४॥
पिच्छावस्तिं तदा तस्य पूर्वोक्तमुपकल्पयेत्।
पल्लवान् जर्जरीकृत्य शिंशिपाकोविदारयोः ॥९५॥
पचेद्यवांश्च स क्वाथो घृतक्षीरसमन्वितः।
पिच्छास्रुतौ गुदभ्रंशे प्रवाहणरुजासु च ॥९६॥
पिच्छावस्तिः प्रयोक्तव्यः क्षतक्षीणबलावहः।
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चाऽनुवासनम् ॥९७॥

व्याख्या—गुद में दाह होने पर अथवा पाक होने पर शीतल सेचन एवं लेपन हित होते हैं। जब थोड़ा २ अनेक बार, शूल के साथ रक्तातिसार हो रहा हो अथवा जब रुका वायु कष्ट के साथ निकलता हो अथवा सर्वथा रुका हो तब पूर्वोक्त पिच्छावस्ति (श्लो० ५७-६० देखिये) का प्रयोग करे। अथवा—सीसम एवं कोविदार (कचनार का भेद) के कोमल पत्तों को कूट कर तथा जौ को कूट कर क्वाथ करे और छान कर उसमें घृत तथा दूध मिलावे और उसकी पिच्छावस्ति देवें। यह पिच्छावस्ति—पिच्छास्राव में, गुद भ्रंश में, तथा प्रवाहिका की वेदना में दी जाय। यह क्षत (उरः क्षत तथा गुदक्षत) में तथा क्षयरोग में दी जाय तो बलदायक होती है। अथवा—प्रपौण्डरीक के योग से सिद्ध घृत का अनुवासन देवे।

वक्तव्य—शीतल सेचन तथा लेप—च. चि. अ. १९—

गुदो बहुभिरुत्थानैः यस्य पित्तेन पच्यते।
सेचयेत् तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥९१॥
पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैः घृतैः।
छागैः गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥९२।
प्रक्षालनानां कल्कैः वा ससर्पिष्कैः प्रलेपयेत्।

एषां वा सुकृतैः चूर्णैः तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥९२॥
गुद पाक होने पर पित्तकारक आहार-विहार तथा औषध का सेवन न करे अन्यथा—

यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात् पित्तलानि निषेवते ।
दारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ॥१०१॥

शतावरीयोग—

रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते ।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥९८॥

व्याख्या—जिसको—पुरीषमिश्रित रक्त का अतिसार हो अथवा प्रतिसार के पूर्व अथवा पीछे रक्त जाता हो उसके लिये - शतावरी के योग से घृत सिद्ध करे और उसको चटावे ॥९८॥

नवनीत योग—

शर्करार्धांशकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥९९॥

व्याख्या—तत्काल का निकाला हुआ माखन अर्द्धांश खण्ड तथा चतुर्थांश मधु मिलाकर चाटने से पूर्वोक्त गुदपाक एवं रक्तातिसार को नष्ट करता है। साथ में भूख लगने पर हित आहार खाना चाहिये ॥९९॥

न्यग्रोधादि घृत—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥१००॥
तदर्धशर्करायुक्तं लेहयेत्क्षौद्रपादिकम् ।
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥१०१॥

व्याख्या—वट, गूलर तथा पीपल के टूसों को थोड़ा कूट कर उष्ण जल में भिगोकर ८ प्रहर रख छोड़े और फिर उस जल के योग से घृत पाक करे, उस घृत में आधी खण्ड तथा चौथाई मधु मिलाकर उसे चटावे जिसके पुरीष के पूर्व अथवा पीछे रक्त जाता हो।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—

शकृता यस्तु संसृष्टं अतिसार्येत शोणितम् ।
शाक् पश्चात् वा पुरीषस्य सरुक् सपरिकर्त्तिकः ॥१०॥
क्षीरिवृक्षाङ्कुरोत्सृतं सर्पिः पिबेत् सक्षौद्रशर्करम् ।

सु. उ. तं. अ. ४० ।

कफातिसार की चिकित्सा—

श्लेष्मातिसारे वातोक्तं विशेषादामपाचनम् ।
कर्तव्यमनुबन्धेऽस्य पिबेत्पक्त्वाऽग्निदीपनम् ॥१०२॥
बिल्वकर्कटिकामुस्तप्राणदाविश्वभेषजम् ।
वचाविडङ्गभूतीकधानकाऽमरदारु वा ॥१०३॥
अथवा पिप्पलीमूल-पिप्पलीद्वयचित्रकाः ।

व्याख्या—कफ जनित अतिसार में—वातातिसार के समान चिकित्सा करे और विशेष रूप से आम दोष का पाचन करे अर्थात् लंघन एवं पाचन करे और आमातिसार के समान चिकित्सा करे। यदि लंघन आदि करने पर भी अनुबन्ध हो—अतिसार शान्त न हो तो—निम्न लिखित अग्निदीपन द्रव्यों को जल में पकाकर पीवे—१. बिलगिरी, नागर मोथा, हरड़ तथा सोंठ अथवा २. बाल वच, वायविडंग, पूति करञ्ज, धनियाँ तथा देवदारु अथवा ३. पीपलामूल, पीपल, गज पीपल तथा चित्ता ॥१०२-१०५॥

पाठादि क्वाथ—

पाठाऽग्निवत्सकग्रन्थि-तिक्ताशुण्ठीवचाऽभयाः ॥१०४॥
क्वथिता यदि वा पिष्टाः श्लेष्मातीसारभेषजम् ।

व्याख्या—पाठा, चित्ता, कुरैया की छाल, पीपलामूल, कुटकी, सोंठ, बालवच तथा हरड़ का क्वाथ अथवा कल्क कफातिसार की उत्तम औषध है ॥१०४॥

सौवर्चलादि चूर्ण—

सौवर्चलवचाव्योषहिंगु प्रतिविषाऽभयाः ॥१०५॥
पिबेच्छ्लेष्मातिसारार्तश्चूर्णिताः कोष्णवारिणा ।

व्याख्या—सौंचर लवण, बालवच, सोंठ, मरिच, पीपल, घृत भर्जित हींग, अतीस तथा हरड़ का चूर्ण—उष्ण जल के साथ पीवे तो कफातिसार नष्ट हो जाता है ॥१०५॥

अन्यान्य योग—

मध्यं लीढ्वा कपित्थस्य सव्योषक्षौद्रशर्करम् ॥१०६॥
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ।
कणां मधुयुतां लीढ्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ॥१०७॥
भुक्त्वा वा बालबिल्वानि व्यपोहत्युदरामयम् ।
पाठामोचरसाऽम्भोजधातकीबिल्वनागरम् ॥१०८॥
गुडतक्रेण कृच्छ्रमप्यतीसारं गुडतक्रेण नाशयेत् ।

व्याख्या—कैथ का गूदा, त्रिकटु, मधु एवं खण्ड मिलाकर अथवा कायफल का चूर्ण मधु मिलाकर चाटने से अतिसार नष्ट हो जाता है। पीपल को मधु में मिला कर चाटने से अथवा तक्र में चित्ता मिलाकर पीने से अथवा बिलगिरी खाने से अतिसार नष्ट हो जाता है। पाठा, मोचरस, नागरमोथा, धाय के फूल, बिलगिरी तथा सोंठ का चूर्ण—गुड मिश्रित तक्र के साथ पीने से कष्ट साध्य अतिसार को भी नष्ट करता है ॥१०६-१०८॥

यवान्यादि चूर्ण—

यवानी पिप्पलीमूलचातुर्जातकनागरैः ॥१०९॥
मरिचाग्निजलाजाजीधान्यसौवर्चलैः समैः ।

वृक्षाम्लधातकीकृष्णाबिल्वदाडिमदीप्यकैः ॥११०॥
त्रिगुणैः षड्गुणसितैः कपित्थाष्टगुणैः कृतः ।
चूर्णोऽतिसारग्रहणीक्षयगुल्मोदरामयान् ॥१११॥
कासश्वासाग्निसादार्शःपीनसारोचकाञ्जयेत् ।

व्याख्या—अजवायन, पीपलामूल, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, नाग केसर, सोंठ, मरिच, चित्ता, नेत्रबाला, जीरा, धनियाँ तथा सौंचर लवण १-१ भाग, वृक्षाम्ल, धाय के फूल, पीपल, बिलगिरी, अनारदाना तथा अजमोद ३-३ भाग, खण्ड ६ भाग, कैथ का सूखा गूदा ८ भाग मिलाकर बनाया गया चूर्ण—अतिसार, ग्रहणीरोग, क्षय, गुल्मरोग, उदररोग, कास, श्वास, मन्दाग्नि, अर्श, पीनस तथा अरोचक को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इस चूर्ण का नाम "कपित्थाष्टक" भी है १११।

दाडिमाष्टक चूर्ण—

कर्षोन्मिता तवक्षीरी चातुर्जातं द्विकार्षिकम् ॥११२॥
यवानीधान्यकाजाजीग्रन्थिव्योषं पलांशकम् ।
पलानि दाडिमादष्टौ सितायाश्चैकतः कृतः ॥११३॥
गुणैः कपित्थाष्टकवच्चूर्णोऽयं दाडिमाष्टकः ।
भोज्यो वातातिसारोक्तैर्यथावस्थं खलादिभिः ॥११४॥

व्याख्या—वंशलोचन (अथवा तोखाखीर) १ कर्ष चातुर्जातक के चारों द्रव्य मिलाकर २ कर्ष (अथवा पृथक् पृथक् द्रव्य २–२ कर्ष), अजवायन, धनियाँ, जीरा, पीपलामूल, सोंठ, मरिच एवं पीपल १–१ पल, अनारदाना ८ पल और खण्ड ८ पल। यह दाडिमाष्टक चूर्ण पूर्वोक्त कपित्थाष्टक के समान गुणों वाला है। इसे वातातिसार चिकित्सामें बतलाए गये खल एवं पेया आदि में मिलाकर अवस्थानुसार खाना चाहिये ॥११२-११४॥

कफातिसार में खल—

सविडङ्गः समरिचः सकपित्थः सनागरः ।
चाङ्गेरीतक्रकोलाम्लः खलः श्लेष्मातिसारजित् ॥११५॥

व्याख्या—वायविडंग, मरिच, कैथ का गूदा, सोंठ, चांगेरी (खट्टी खप्कल); तक्र तथा बेर चूर (खट्टे बेरों का चूर्ण) मिला कर बनाया गया खल कफातिसार को नष्ट करता है।

वक्तव्य—खल (खलः कल्के भुविस्थाने क्रूरे कर्णजपेऽधमे । हेम कोश तथा मेदिनी कोश) खल-कल्क अर्थात् चटनी का नाम है तथा उस स्वादु चूर्ण, कढी एवं सुहानी आदि भक्ष्य का या व्यञ्जन का नाम है जो खट्टा मीठा एवं लावणिक हो। सु. सू. अ. ४६ श्लो० २७६–२७८ में खल का नाम खड लिखा है (रलयोः सावर्ण्यात्) क्योंकि कहीं २ रकार एवं लकार का उच्चारण समान होता है या लकार के स्थान में रकार या रकार के स्थान में लकार लिख दिया जाता है ॥

अतिसार में घृत का प्रयोग

क्षीणे श्लेष्मणि पूर्वोक्तमम्लं लाक्षादिषट्पलम् ।
पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥११६॥

व्याख्या—अतिसार में कफ का क्षय हो जाने पर—पूर्वोक्त अम्लघृत अथवा लाक्षादि घृत अथवा षट् पल घृत अथवा पुराना घृत यवागू एवं मण्ड आदि में मिला कर देवे।

वक्तव्य—अम्ल घृत—प्राग्भक्तमानुलोम्याय फलाम्लं वा पिबेत् घृतम् । अ. ८ श्लोक ७० अथवा—गुदनिर्भ्रंशार्तः युञ्ज्यात् सक्षीरं साधितं हविः । रसे कोलाम्लचांगेर्योः दध्नि पिष्टे च नागरे । अ. ६ श्लोक ३८ । लाक्षादिघृत—लाक्षानागरवैदेही इत्यादि श्लोक ७५ । षट्पल घृत—राजयक्ष्म चिकित्सा अ. ५ ॥११६॥

पिच्छा वस्ति—

वातश्लेष्मविबन्धे च स्रवत्यतिकफेऽपि वा ।
शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्तिः प्रशस्यते ॥११७॥
वचाबिल्वकणाकुष्ठशताह्वालवणान्वितः ।

व्याख्या—वायु एवं कफ का विबन्ध हो अथवा कफ अधिक जा रहा हो अथवा शूल एवं प्रवाहिका हो तो—बालवच, बिलगिरि, पीपल, कूठ, सोंफ तथा लवण से मिश्रित—श्लोक ८१ में बतलाई गई पिच्छा वस्ति देवे।

वक्तव्य—श्लोक ८१—"पल्लवान् जर्जरीकृत्य शिंशिपा कोविदारयोः······क्षतक्षीण बलावहः" देखिये ।११७।

अनुवासन वस्ति—

बिल्वतैलेन तैलेन वचाद्यैः साधितेन वा ॥११८॥
बहुशः कफवातार्ते कोष्णेनान्वासनं हितम् ।

व्याख्या—कफ एवं वायु की प्रबलता में—बिलगिरी के योग से सिद्ध तैल से अथवा पूर्वोक्त (११८वाँ का श्लोक देखिये) वचा बिल्व आदि द्रव्यों के योग से सिद्ध तिल तैल से अनुवासन वस्ति देवे। देते समय तैल को कोष्ण कर लेना चाहिए ॥११८।

आनुपूर्वी चिकित्सा—

क्षीणे कफे गुदे दीर्घकालातीसारदुर्बले ॥११९॥
अनिलः प्रबलोऽवश्यं स्वस्थानस्थः प्रजायते ।
स बली सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥१२०॥
वायोरनन्तरं पित्तं पित्तस्याऽनन्तरं कफम् ।
जयेत्पूर्वं त्रयाणां वा भवेद्यो बलवत्तमः ॥१२१॥

व्याख्या—कफ का क्षय हो जाने पर और दीर्घकाल

पर्यन्त रहने वाले अतिसार के कारण गुद मण्डल दुर्बल हो जाने पर अपने स्थान (गुदमण्डल—पक्वाधान) में स्थित वायु (अपान वायु) अवश्य प्रबल हो जाता है और वह प्रबल वायु एकाएक रोगी को मार सकता है—भीषण विपत्ति में डाल सकता है इस लिये उस वायु को तुरत शान्त करना चाहिए अर्थात् विल्व तैल आदि का अनुवासन देना चाहिये (श्लोक ११८)। और वायु की शान्ति के अनन्तर पित्त को और पित्त के अनन्तर कफ को शान्त करना चाहिये अथवा तीनों दोषों में जो दोष अधिक बलवान् हो प्रथम उसे शान्त करना चाहिये (च. चि. अ. १९ श्लोक १२५--१२६) ।।६८।।

आगन्तु अतिसार की चिकित्सा—

भीशोकाभ्यामपि चलः शीघ्रं कुप्यत्यतस्तयोः ।
कार्या क्रिया वातहरा हर्षणाश्वसनानि च ।।१२२।।

व्याख्या—भय एवं शोक से उत्पन्न अतिसारों में वायु ही शीघ्र कुपित होता है अतः उन में वातशामक चिकित्सा करे और हर्षण—(प्रसन्न करना) तथा आश्वासन (धैर्य बँधाना) करे।

वक्तव्य—भय में उत्साह देना तथा शोक में धैर्य देना अत्यावश्यक है—यह हेतुविपरीत चिकित्सा है और साथ २ व्याधिविपरीत—औषधदानरूप चिकित्सा भी करे। भयजे सान्त्वना पूर्वा शोकजे शोकनाशिनी। १५९। सु उ. अ.४०।

अतिसार निवृत्ति का लक्षण—

यस्योच्चाराद्विना मूत्रं पवनो वा प्रवर्तते ।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य शान्तस्तस्योदरामयः ।।१२३।।

व्याख्या—जिस रोगी का मूत्र—उच्चार-पुरीष से पृथक् प्रवृत्त होने लग जाय, और वायु भी—अपान वायु भी पुरीष के बिना प्रवृत्त होने लग जाय,, अग्नि प्रदीप्त हो—भोजन भली भाँति पचने लग जाय और उदर लघु प्रतीत हो उस का उदर रोग (अतिसार आदि उदर विकार) शान्त हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—अतिसार में मूत्र की प्रवृत्ति के समय तथा वायु की प्रवृत्ति के समय पुरीष भी निकल जाया करता है, रोगियों की दशा पर ध्यान दिया जाय ।।१२३।।

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने नवमोऽध्यायः ।।९।।

दशमोऽध्यायः

अथाऽतो ग्रहणीदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब ग्रहणीदोष (ग्रहणीरोग) की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस रोग का विवरण नि. स्था. अ. ८ में देखिये और सु. उ. तं. अ. ४० तथा च. चि. अ. १५ में देखिये। अ. सं. चि. अ. १२ देखिये।

चिकित्सा संकेत—

ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत् ।
अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विपाचयेत् ।।१।।

व्याख्या—ग्रहणी नामक अवयव में (पाचन स्थान में) आश्रित दोष की चिकित्सा अजीर्ण के समान करे और उसके आमदोष का परिपाक—अतिसारोक्त विधि से करे।

वक्तव्य—सू. स्था.अ.८ में अजीर्ण की चिकित्सा देखिये और चि. अ. ९ में अतिसार की चिकित्सा देखिये ।।१।।

ग्रहणीरोग में आहार—

अन्नकाले यवाग्वादि पञ्चकोलादिभिर्युतम् ।
वितरेत्पटुलघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान् ।।२।।

व्याख्या—ग्रहणी रोग में अन्न के समय—भली भाँति भूख लगने पर—पञ्चकोल आदि दीपन पाचन औषधियों से मिश्रित, लवणमिश्रित तथा मात्रा एवं स्वभाव से लघु यवागू, पेया, मण्ड अथच ओदन (भात) आदि अन्न देवे और साथ २ यवानी षाडव आदि २-ग्रहणीरोग नाशक अग्निदीपन योगों का प्रयोग करें ।।२।।

आमदोष हो तो—

दध्यात्क्षातिविषां पेयामामे साम्लां सनागराम् ।
पानेऽतिसारविहितं वारि तक्रं सुरादि च ।।३।।

व्याख्या—ग्रहणीरोग में यदि आमदोष हो तो—अतीस एवं सोंठ से युक्त तथा अनारदाना के रस से अम्ल की गई पेया देवे और पीने के लिये—अतिसार चिकित्सा (अ० ९) में बतलाए गये—जल. तक्र तथा सुरा आदि जो अनुकूल हो देवे ।।३।।

ग्रहणीरोग में तक्र प्रयोग—

ग्रहणीदोषिणां तक्रं दीपनग्राहिलाघवात् ।
पथ्यं मधुरपाकित्वान्न च पित्तप्रदूषणम् ।।४।।
कषायोष्णविकाशित्वाद्रूक्षत्वाच्च कफे हितम् ।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात्सद्यस्कमविदाहि तत् ।।५।।

व्याख्या—ग्रहणी रोग में—तक्र पथ्य—हित होता है क्यों कि वह अग्निदीपन, मलग्राही तथा लघु होता है और विपाक में मधुर होने से पित्त को दूषित नहीं करता, कषायरस वाला, उष्ण वीर्य तथा विकाशी होने और रूक्ष

होने के कारण कफ को शान्त करता है और मधुर, अम्ल तथा सान्द्र (गाढा) होने के कारण वायु को शान्त करता है और सद्यस्क (तत्काल बनाया गया, प्रतिदिन बनाया गया) होने से विदाहकारी नहीं होता।

वक्तव्य—तक्र—ग्रहणी रोग में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है वह त्रिदोष शामक है परन्तु वह सद्यस्क होना चाहिये वासी नहीं। और तक्र के जो २ प्रयोग—उदर रोग तथा अर्शरोग में लिखे गये हैं उन सबका प्रयोग ग्रहणी रोग में भी किया जा सकता है ॥४,५॥

चतुरम्लादि चूर्ण—

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणाच्च पलत्रयम्।
लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम् ॥६॥
तच्चूर्णं शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेद्।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पार्श्वामयशूलनुत् ॥७॥

व्याख्या—चारों अम्ल द्रव्य—१ प्रस्थ, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) ३ पल, पाञ्चों लवण ४ पल, खण्ड ८ पल। यह चूर्ण—शाक, दाल, रोटी एवं भत आदि अन्न तथा राग (रस युक्त शाक एवं पानक) आदि में मिला कर खाना चाहिये। यह—आमाजीर्ण, अरोचक, श्वास, हृदयरोग, पार्श्व शूल तथा शूल को नष्ट करता है।

वक्तव्य – चारों अम्लद्रव्य—१. वृक्षाम्ल, २. अम्ल वेत, ३. अनारदाना तथा ४. खट्टे बेर का चूर्ण-चूर। कुछ आचार्यों का कथन है कि—बेर, अनारदाना, वृक्षाम्ल तथा चुक्रिका (चांगेरी) (सर्वाङ्गसुन्दरा)। और चरक में इसी श्लोक की टीका में श्रीचक्रपाणि तन्त्रान्तर का पाठ लिखते हैं—श्लोक ११२।

वृक्षाम्लमातुलुङ्गाम्ल बदराम्लाऽम्लवेतसैः।
चतुरम्लमिदं प्रोक्तं पञ्चाम्लं तु सदाडिमम्।
रागः कपित्थादिद्रव्यकृतो व्यंजनविशेषः।

पञ्च लवण—सौवर्चलं सैन्धवं च विडं औद्भिदमेव च।
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युः लवणानि च ॥६,७॥

नागरादि क्वाथ एवं कल्क आदि योग—

नागरातिविषामुस्तं पाक्यमामहरं पिबेत्।
उष्णाम्बुना वा तत्कल्कं नागरं वाऽथवाऽभयाम् ॥८॥
ससैन्धवं वचादिं वा तद्वन्मदिरयाऽथवा।

व्याख्या—सोंठ, अतीस एवं नागर मोथा का क्वाथ—पीवे तो आम दोष का नाश हो। अथवा—सोंठ आदि तीनों द्रव्यों का कल्क अथवा सोंठ अथवा हरड़ का चूर्ण या कल्क-उष्ण जल के साथ पीवे अथवा वचादि गण (सू. अ. १५) का चूर्ण या कल्क सैन्धव लवण मिलाकर उष्ण जल अथवा सरा के साथ पीवे ॥८॥

अन्यान्य योग—

वर्चस्यामे सप्रवासे पिबेद्वा दाडिमाम्बुना ॥९॥
विडेन लवणं पिष्टं बिल्वचित्रकनागरम्।
सामे कफानिले कोष्ठे-रुक्करे कोष्णवारिणा ॥१०॥

व्याख्या—पुरीष आम (अपक्व) हो और साथ २ प्रवाहिका हो तो विड लवण को पीस कर अनार के रस के साथ पीवे। अथवा—पुरीष आम हो, कफ एवं वायु-कोष्ठ में वेदना कर रहे हों तो-बिलगिरी, चित्ता तथा सोंठ का चूर्ण कोसे जल के साथ पीना चाहिए ॥९-१०॥

अन्यान्य योग—

कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयम्।
छर्दिहृद्रोगशूलेषु पेयमुष्णेन वारिणा ॥११॥
पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम्।

व्याख्या—छर्दि, हृद्रोग तथा शूल में—इन्द्रजौ, घृत भर्जित हींग, अतीस, बालवच, सौंचर लवण तथा हरड़ का चूर्ण कोसे जल के साथ पीना चाहिये। अथवा-हरड़ सौचर लवण, जीरा तथा मरिच का चूर्ण कोसे जल के साथ पीना चाहिए ॥११॥

पिप्पलादि चूर्ण—

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम् ॥१२॥
चित्रकं कौटजं क्षारं तथा लवणपञ्चकम्।
चूर्णीकृतं दधिसुरातन्मण्डोष्णाम्बुकाञ्जिकैः ॥१३॥
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं परम्।

व्याख्या—पीपल, सोंठ, पाठा, सारिवा, कण्टकारी, वनभन्टा, चित्ता, इन्द्रजौ, जौखार, पाँचों लवण। सबको सम भाग लेकर चूर्ण करे। यह चूर्ण दही, सुरा, दही का पानी, प्रसन्ना, उष्ण जल अथवा काञ्जी के साथ अग्नि की वृद्धि के लिये पिया जाय और यह उदर की वायु को नष्ट करता है ॥१२,१३॥

लवण पञ्चकादि गुटिका—

पटूनि पञ्च द्वौ क्षारौ मरिचं पञ्चकोलकम् ॥१४॥
दीप्यकं हिङ्गु गुलिका बीजपूररसे कृता।
कोलदाडिमतोये वा परं पाचनदीपनी ॥१५॥

व्याख्या—पांचों लवण, दोनों क्षार (जौखार एवं सज्जीखार) मरिच, पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ), अजवायन तथा घृत भर्जित हींग। सब को सम भाग लेकर और विजौरा निम्बू के रस में पीसकर चना कीसी गोलियाँ बनावे। अथवा अम्लबेर तथा अनार के रस में पीसकर गोलियाँ बनावे। यह गोलियाँ उत्तम कोटि की दीपन तथा पाचन हैं।

वक्तव्य—अम्लवेर—खट्टे वेर फल ॥१४,१५॥

तालीशादि गुटिका—

तालीसपत्रचविकामरिचानां पलं पलम् ।
कृष्णातन्मूलयोर्द्वे द्वे पले शुण्ठीपलत्रयम् ॥१६॥
चतुर्जातमुशीरं च कर्षांशं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
गुडेन वटकान्कृत्वा त्रिगुणेन सदा भजेत् ॥१७॥
मद्ययूषरसाऽरिष्टमस्तुपेयापयोऽनुपः ।
वातश्लेष्मात्मनां छर्दिग्रहणीपार्श्वहृद्रुजाम् ॥१८॥
ज्वरश्वयथुपाण्डुत्वगुल्मपानात्ययार्शसाम् ।
प्रसेकपीनसश्वासकासानां च निवृत्तये ॥१९॥
अभयां नागरस्थाने दद्यात्तत्रैव विड्ग्रहे ।
छर्द्यादिषु च पैत्तेषु चतुर्गुणसितान्विताः ॥२०॥
पक्वेन वटकाः कार्या गुडेन सितयाऽपि वा ।
परं हि वह्निसम्पर्काल्लघिमानं भजन्ति ते ॥२१॥

व्याख्या—तालीस पत्र, चव्य तथा मरिच १-१ पल पीपल तथा पीपलामूल २-२ पल, सोंठ तीन पल चतुर्जात (दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता तथा नाग केसर) के चारों द्रव्य तथा खस १-१ कर्ष चूर्ण बनावे और गुड़ सब से तिगुना मिलाकर गोलियाँ (झर वेर कीसी) बनावे और प्रतिदिन खावे । अनुपान में—मद्य (दधि भी पाठान्तर है), जूस, मांसरस, कोई अरिष्ट, दही का पानी, पेया अथवा दूध पीवे । यह योग—वात-कफ जनित छर्दि, ग्रहणी रोग, पार्श्व शूल, हृदयरोग, ज्वर, शोथ, पाण्डुरोग, गुल्मरोग, पानात्यय, (मदात्यय), अर्श, लाला स्राव, पीनस, श्वास तथा कास की निवृत्ति के लिये खाया जाता है । यदि पुरीष की रुकावट हो तो इस योग में सोंठ के स्थान में हरड़ डालना चाहिये । यदि छर्दि आदि रोग पित्त जनित हों तो चौगुनी खन्ड मिलाकर गोलियाँ बनानी चाहिये । गुड़ अथवा खण्ड का पाक करके गोलियाँ बनाना चाहिये । इस प्रकार अग्नि का संयोग हो जाने से वे गोलियाँ अत्यन्त लघु हो जाती हैं ॥१६-२१॥

निराम ग्रहणी की चिकित्सा—

अथैनं परिपक्वामसमारुतग्रहणीगदम् ।
दीपनीययुतं सर्पिः पाययेदल्पशो भिषक् ॥२२॥
किंचित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥२३॥
तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणाऽनिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥२४॥

व्याख्या—वात जनित ग्रहणी रोग में जब आम दोष पच जाय तब दीपनीय द्रव्य मिला कर थोड़ा२ घृत पिलावे जब कुछ अग्नि प्रदीप्त हो जाय परन्तु पुरीष, मूत्र एवं वायु की गति में रुकावट हो तब दो अथवा तीन दिन स्नेहपान कराकर - स्वेदन एवं अभ्यञ्जन करके निरूहण वस्ति दे देवे । निरूहण वस्ति के अनन्तर—वायु की शान्ति हो जाने पर और दोष शिथिल हो जाने पर एरण्ड तैल अथवा तैल्वक घृत (चि० अ० २१) में जौखार मिला कर विरेचन करा देवे ॥२२-२४॥

ग्रहणी रोग में अनुवासन—

शुद्धरूक्षाशयं बद्धवर्चस्कं चाऽनुवासयेत् ।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन तं ततः ॥२५॥
निरूढं च विरिक्तं च सम्यक्चाऽप्यनुवासितम् ।
लघ्वन्नप्रतिसंयुक्तं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ॥२६॥

व्याख्या—जिसका मलाशय शुद्ध हो परन्तु रूक्ष हो और पुरीष का बन्ध हो उसे—दीपन द्रव्यों एवं अम्लद्रव्यों एवं वात नाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल का अनुवासन दे देवे । इस प्रकार निरूहण, विरेचन तथा अनुवासन का भली भाँति प्रयोग करने के पश्चात् पेया विलेपी आदि लघु अन्न में मिलाकर पुनः निम्नलिखित दशमूलादि घृत का दीर्घ काल पर्यन्त सेवन करावे ।

वक्तव्य—च. चि. अ. ५ श्लोक ७७-७९ ॥२५-२६॥

उपयुक्त घृत—दशमूलादि घृत—

पञ्चमूलाभयाव्योषपिप्पलीमूलसैन्धवैः ।
रास्नाक्षारद्वयाजाजीविडङ्गशटिभिर्घृतम् ॥२७॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य वा
शुष्कमूलककोलाम्लचुक्रीकादाडिमस्य च ॥२८॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः ।
काञ्जिकेन च तत्पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥२९॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् ।

व्याख्या—दशमूल, हरड़, त्रिकटु, पीपलामूल, सैन्धव लवण, रासना, जौखार, सज्जीखार, जीरा, वाविडंग तथा कचूर का कल्क १ भाग, गो घृत ४ भाग शिरका, निम्बू का रस, अदरक का रस, सूखी मूली का रस, खट्टे वेरोंका रस, खट्कल का रस, अनार का रस, तक्र, मस्तु (दही का पानी), सुरामण्ड, सौवीर, तुषोदक तथा काञ्जी १६ भाग । सब को मिलाकर पाक करे । यह घृत-अग्नि को प्रदीप्त करता है शूल, गुल्म, उदररोग, श्वास, कास तथा वात कफ जनित विकारों को नष्ट करता है ॥२७-२९॥

अन्य घृत एवं तैल—

सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥३०॥
तैलमभ्यञ्जनार्थं च सिद्धमेभिश्चलाऽपहम् ।

व्याख्या—अथवा बिजौरा निम्बू के रस के योग से सिद्ध घृत पिलावे—खिलावे। और अभ्यञ्जन के लिये—उन्हीं दशमूल एवं हरड़ आदि के योग से सिद्ध तैल का प्रयोग करे। वह तैल भी वात नाशक होता है ॥१०॥

दशमूलादि चूर्ण—

एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥३१॥
वातश्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते।

व्याख्या—जब वायु कफ द्वारा आवृत हो, कफ आम द्वारा आवृत हो तथा वायु द्वारा कुपित हो तब उन्हीं दशमूल एवं हरड़ आदि (श्लोक २७) द्रव्यों का चूर्ण—कोसे जल के साथ पीवे ॥३१॥

पित्तग्रहणी रोग की चिकित्सा—

अग्नेर्निर्वापकं पित्तं रेकेण वमनेन वा ॥३२॥
हृत्वा तिक्तलघुग्राहिदीपनैरविदाहिभिः।
अन्नैः सन्धुक्षयेदग्निं चूर्णैः स्नेहैश्च तिक्तकैः ॥३३॥

व्याख्या—जब पित्त द्रव हो अपनी अग्नि (पाचक शक्ति) को नष्ट कर रहा हो तब उसे विरेचन अथवा वमन के द्वारा निकाल देवे। इस प्रकार द्रव पित्त को निकालने के अनन्तर—तिक्त रस युक्त, लघु, ग्राही, अग्नि दीपक तथा अविदाही द्रव्यों से युक्त और अनारदाना के योग से अम्ल-जाङ्गलप्राणियों के मांसरस, मूँग आदि के यूष तथा खल आदि भोजनों का सेवन करा कर, निम्नलिखित चूर्णों तथा पंचतिक्त घृत आदि के सेवन से उसकी अग्नि को प्रदीप्त करे ॥३२-३३॥

पटोलादि चूर्ण—

पटोलनिम्बत्रायन्तीतिक्तातिक्तकपर्पटम्।
कुटजत्वक्फलं मूर्वा मधुशिग्रुफलं वचा ॥३४॥
दार्वीत्वक्पद्मकोशीरयवानीमुस्तचन्दनम्।
सौराष्ट्र्यतिविषाव्योषत्वगेलापत्रदारु च ॥३५॥
चूर्णितं मधुना लेह्यं पेयं मद्यैर्जलेन वा।
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् ॥३६॥
कामलां सन्निपातं च मुखरोगांश्च नाशयेत्।

व्याख्या—परवल के पत्र, निम्ब के पत्र, त्रायमाणा, कुटकी, चिरायता, पित्तपापड़ा, कुरैया की छाल, इन्द्र जौ, मरोड़फली, मीठे सहजन के बीज, बालवच, दारु हल्दी की छाल, पद्म काष्ठ, खस, अजवायन, मोथा, लाल चन्दन, इलायची, अतीस, त्रिकटु, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेज पत्ता तथा देवदारु। सब द्रव्यों का समभाग। चूर्ण बनावे। सहपान—मधु। अनुपान—मद्य अथवा जल। यह चूर्ण—हृद्रोग, पाण्डु रोग, ग्रहणी रोग, गुल्मरोग, शूल, अरुचि, ज्वर, कामला, सन्निपात तथा मुखरोगों को नष्ट करता है ॥३४-३६॥

भूनिम्बादि चूर्ण—

भूनिम्बकटुकामुस्तात्र्यूषणेन्द्रयवान् समान् ॥३७॥
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत्।
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत् ॥३८॥
कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारजित्।

व्याख्या—चिरायता, कुटकी, मोथा, सोंठ, मरिच, पीपल तथा इन्द्र जौ १-भाग, चित्ता २ भाग, कुरैया की छाल १६ भाग। इस चूर्ण को गुडमिश्रित शीतलजल के साथ पीवे। यह—ग्रहणी दोष, गुल्म रोग, कामला, ज्वर, पाण्डुरोग, प्रमेह, अरुचि तथा अतिसार को नष्ट करता है ॥३७,३८॥

नागरादि चूर्ण—

नागरातिविषामुस्ता-पाठाबिल्वं रसाञ्जनम् ॥३९॥
कुटजत्वक्फलं तिक्ता धातकी च कृतं रजः।
क्षौद्रतण्डुलवारिभ्यां पैत्तिके ग्रहणीगदे ॥४०॥
प्रवाहिकाऽर्शोगुदरुग्-रक्तोत्थानेषु चेष्यते।

व्याख्या—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, पाठा, बिलगिरी, रसवत, कुरैया की छाल, इन्द्र जौ, कुटकी तथा धाय के फूल सब द्रव्य समभाग। चूर्ण बनावे। यह चूर्ण—पित्तज ग्रहणी रोग में, प्रवाहिका में, अर्श में गुद की वेदना में तथा रक्तातिसार में प्रशस्त है। अनुपान—मधु तथा चावलों का धोअन ॥२१॥

चन्दनादि घृत—

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम् ॥४१॥
षड्ग्रन्थासारिवाऽऽस्फोता-सप्तपर्णाऽऽटरूषकान्।
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनम् ॥४२॥
कटुकां रोहिणीं मुस्तां निम्बं च द्विपलांशकान्।
द्रोणेऽपां साधयेत्तेन पचेत्सर्पिः पिचून्मितैः ॥४३॥
किराततिक्तेन्द्रयव वीरामागधिकोत्पलैः।
पित्तग्रहण्यां तत्पेयं कुष्ठोक्तं तिक्तकं च यत् ॥४४॥

व्याख्या—चन्दन, पद्मकाष्ठ, खस, पाठा, मरोड़ फली, सोनापाठा, बालवच, सारिवा, उत्पल सारिवा, सप्तपर्ण, अडूसा, परवल के पत्र, गूलर, पीपल वृक्ष, वट, पिलखन, बेंतस, कुटकी, मोथा तथा निम्बत्वक् २-२ पल लेकर १ द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे और इस क्वाथ के तथा चिरायता, इन्द्र जौ, शतावर, पीपल तथा श्वेत कमल १-१ कर्ष भर कल्क के योग से १ प्रस्थ घृत सिद्ध करे। यह घृत अथवा कुष्ठ चिकित्सोक्त तिक्तक घृत पित्त ग्रहणी में पीना चाहिये ॥४१-४४॥

कफज ग्रहणी की चिकित्सा—

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां तीक्ष्णैः प्रच्छर्दने कृते ।
कट्वम्ललवणक्षारैः क्रमादग्निं विवर्धयेत् ॥४५॥
पञ्चकोलाभयाधान्यपाठागन्धपलाशकैः ।
बीजपूरप्रवालैश्च सिद्धैः पेयादि कल्पयेत् ॥४६॥

व्याख्या कफ जनित ग्रहणी रोग में—तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा विधिपूर्वक वमन करने पर कटु, अम्ल, लवण तथा क्षार के प्रयोग से अग्नि को प्रदीप्त करे और भोजन के लिये—पञ्चकोल, हरड़, धनियाँ, पाठा, तेजपत्ता तथा बिजौरा के योग से सिद्ध जल में पेया आदि बनाकर देवे।

वक्तव्य—च. चि. अ. १५ श्लो० ८०-८ ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में-च. चि. अ. १५
पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम् ॥१४२॥
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं पाठां नागरधान्यकम् ।
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम् ॥१४३॥
पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधयेत् ।
शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाऽथवा पुनः ॥१४४॥
कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ।
अम्लं चाऽनुपिबेत् तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा ॥१४५॥
मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सीधुमेव वा ॥४५,४६॥

मधूकासव—

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गं च ततोऽर्धतः ।
चित्रकस्य ततोऽर्धं च तथा भल्लातकाढकम् ॥४७॥
मञ्जिष्ठाऽष्टपलं चैतज्जलद्रोणत्रये पचेत् ।
द्रोणशेषं स्रुतं शीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥४८॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते ।
कुम्भे मासं स्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥४९॥
ग्रहणीं दीपयत्येष बृंहणः पित्तरक्तनुत् ।
शोषकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणां च नाशनः ॥५०॥

व्याख्या—महुवा के फूल १ द्रोण, विडङ्ग आधा द्रोण (२ आढक), चित्ता तथा भिलावा १-आढक तथा मंजीठ ८ पल। सब को कूटकर तीन द्रोण जल में पकावे, एक द्रोण रहने पर छान लेवे और शीतल हो जाने पर आधा आढक मधु मिलाकर भाण्ड में डालदेवे परन्तु पहले भाण्ड के भीतर—इलायची (बड़ी), कमल नाल अगुरु तथा चन्दन का लेप कर देवे। एक मास के पश्चात् आसव रूप में परिणत हो जाय तब प्रयोग में लावे। यह मधूकासव—अग्नि को प्रदीप्त करता है—ग्रहणी को बलवान् बनाता है, पुष्टिकारक है, पित्त एवं रक्त के विकारों को शान्त करता है और शोषरोग, कुष्ठ तथा किलास (श्वित्र) को एवं प्रमेहों को नष्ट करता है ॥४७-५०॥

मधूकासव (द्वितीय)

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम् ।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत्सन्निधापयेत् ॥५१॥
तत्पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत्सर्वान् हिताशनः ।

व्याख्या—महुवा के फूलों का स्वरस १ मन लेकर पकावे आधा रहने पर और शीतल होने पर—५ सेर मधु मिलाकर उक्त मधूकासव के समान भाण्ड में डालकर रख देवे। १ मास के अनन्तर इसे उचित मात्रा में पीता हुआ रोगी ग्रहणी जनित सभी रोगों से मुक्त हो जाता है परन्तु साथ २ उचित आहार करता रहे ॥५१।

अन्यान्य आसव—

तद्वद्द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥५२॥

व्याख्या—उक्त द्वितीय मधूकासव के समान—दाख (अंगूर) ईख अथवा खजूर के स्वरसों के आसव बनाकर पीवे ॥५२॥

हिंग्वादि क्षार

हिङ्गुतिक्तावचामाद्रीपाठेन्द्रयवगोक्षुरम् ।
पञ्चकोलं च कर्षांशं पलांशं पटुपञ्चकम् ॥५३॥
घृततैलद्विकुडवे दध्नः प्रस्थद्वये च तत् ।
आपोथ्य क्राथयेदग्नौ मृदावनुगते रसे ॥५४॥
अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णीकृत्य घृतालुतम् ।
पिबेत्पाणितलं तस्मिन् जीर्णे स्यान्मधुराशनः ॥५५॥
वातश्लेष्मामयान् सर्वान् हन्याद्विषगरांश्च सः ।

व्याख्या—हींग, कुटकी, वालवच, अतीस, पाठा, इन्द्र जौ, गोखरू, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ १—१ कर्ष, पाचों लवण १-१ पल कूट कर, घृत १ कुडव, तैल १ कुडव और दही २ प्रस्थ में डालकर मन्द मन्द अग्नि पर पकावे, सूख जाने पर भाण्ड में भर कर, मुखरोध करके जला देवे तत्पश्चात् सर्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल कर पीस लेवे। मात्रा १ कर्ष घृत १–२ कर्ष में मिला कर खावे ऊपर से दही पीवे। पच जाने पर मधुर दलिया आदि भोजन करे। यह क्षार—वात कफ जनित सब रोगों को तथा गरविष विकारों को नष्ट करता है।

वक्तव्य – यह रोग च. चि. अ. १५ से उद्धृत है और चरक के पाठ में "माद्री" के स्थान में "अतिविषा" (अतीस) पाठ है। इसलिये माद्री का अर्थ "अतीस" किया गया हैं ।५५।

भूनिम्बादि क्षार—

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम् ॥५६॥
दग्ध्वा माहिषमूत्रेण पिबेदग्निविवर्धनम्।

व्याख्या—चिरायता, कुटकी, परवल के पत्र, निम्ब

के पत्र तथा पित्तपापड़ा को अन्तर्धूम जलाकर भस्म बनावे। इसे भैंस के मूत्र के साथ पीवे तो अग्नि की वृद्धि होती है ॥५६॥

हरिद्रादि भस्म—

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी ॥५७॥
मुस्ता च छागमूत्रेण सिद्धः क्षारोऽग्निवर्धनः।

व्याख्या—हल्दी, दारुहल्दी, बालवच, कुठ, चित्ता, कुटकी तथा मोथा को अन्तर्धूम जलाकर भस्म बनावे। इसे बकरी के मूत्र के साथ पीवे तो अग्नि की वृद्धि होती है ॥५७॥

क्षार गुटिका –

चतुष्पलं सुधाकाण्डात्त्रिपलं लवणत्रयात् ॥५८॥
वार्ताककुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात्पले।
दग्ध्वा रसेन वार्ताकाद् गुटिका भोजनोत्तराः ॥५९॥
भुक्तमन्नं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः।
विसूचिका-प्रतिश्याय-हृद्रोगशमनाश्च ताः ॥६०॥

व्याख्या—सेहुण्ड के काण्ड (दण्ड) ४ पल, सैन्धवादि तीनों लवण ३ पल, भण्टा (परिपक्व एवं सूखे बैंगन) १ कुडव (४ पल), आक की जड़ ८ पल तथा चित्ता २ पल। सब को कूट कर अन्तर्धूम जला देवे और भण्टा के रस में पीस कर झरबेर की सी गोलियाँ बनाकर सुखा लेवे और भोजन के पश्चात् खावें। यह गोलियाँ खाए हुए अन्न को पचाती हैं और कास, श्वास एवं अर्श में लाभ करती हैं तथा विसूची, प्रतिश्याय एवं हृद्रोग को शमन करती हैं। ५८-६०॥

मातुलुङ्गादि चूर्ण—

मातुलुङ्गशठीरास्नाकटुत्रयहरीतकीः।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ पञ्चपटूनि च ॥६१॥
सुखाम्बुपीतं तच्चूर्णं बलवर्णाग्निवर्धनम्।

व्याख्या—सूखे निम्बू, कचूर, रासना, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, सज्जीखार, जौखार तथा पांचो लवण पृथक्। सब द्रव्य समभाग। सब को पीस कर चूर्ण बनावे। यह चूर्ण—बल, कान्ति तथा अग्नि को बढाता है। अनुपान—कोसा जल ॥६१॥

कफज ग्रहणी में घृत प्रयोग —

श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे सवाते तैर्घृतं पचेत् ॥६२॥
धान्वन्तरं षट्पलं च भल्लातकघृताभयाम्।

व्याख्या—कफ जनित ग्रहणी रोग में यदि वायु का अनुबन्ध हो तो—उक्त मातुलुङ्ग आदि के योग से सिद्ध घृत अथवा धान्वन्तर घृत (चि. अ. १२) अथवा षटपल घृत (चि. अ. ५) अथवा भल्लातक घृत (चि.अ.१४) अथवा अभयाघृत (चि० अ० १५) का पान करे ॥६२॥

क्षार घृत—

बिडकाचोषलवणस्वर्जिकायावशूकजान् ॥६३॥
सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चैकतो दहेत्।
सप्तकृत्वः स्रुतस्याऽस्य क्षारस्याऽर्धाढके पचेत् ॥६४॥
आढकं सर्पिषः पेयं तदग्निबलवृद्धये।

व्याख्या—विड लवण, काच लवण, ऊषर लवण, सज्जीखार, जौ खार, सप्तपर्ण, कण्टकारी तथा चित्ता को एक साथ जला कर भस्म बनावें और उसे जल में घोल कर सात बार छान लेवे (जिससे भस्म रहित केवल क्षार जल रह जाय)। इस आधा आढक (२ प्रस्थ) क्षार जल में १ आढक घृत मिलाकर पाक करे। सिद्ध होने पर पीवे। इस के पान से अग्नि एवं बल की वृद्धि होती है।

त्रिदोषज ग्रहणी रोग की चिकित्सा—

निचये पञ्चकर्माणि युञ्ज्याच्चैतद्यथाबलम् ॥६५॥

व्याख्या—त्रिदोषज ग्रहणी रोग में—पंच कर्म का प्रयोग करे और—दोषों के बलानुसार—पूर्वोक्त वातादि जनित ग्रहणी रोगों में बतलाए गये—घृत, क्षार, आसव, अरिष्ट, एवं चूर्ण गुटिका आदि का प्रयोग करे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—
त्रिदोषे विधिवत् वैद्यः पञ्चकर्माणि कारयेत्।
घृतक्षारासवारिष्टान् दद्यात् चाऽग्निविवर्द्धनान् ॥१९८॥
क्रिया या चाऽनिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति।
व्यत्यासात् तां समस्तां वा कुर्याद्दोषविशेषवित् ॥१९९॥
च. चि. अ. १५ ॥६५॥

अवस्था भेद से चिकित्सा—

प्रसेक चिकित्सा—

प्रसेके श्लैष्मिकेऽल्पाग्नेर्दीपनं रूक्षतिक्तकम्।
योज्यं कृशस्य व्यत्यासात्स्निग्धरूक्षं कफोदये ॥६६॥
क्षाणक्षामशरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम्।
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरकैर्युतम् ॥६७॥

व्याख्या—ग्रहणी रोग में यदि कफ प्रधान प्रसेक हो और अग्नि मन्द हो तो—अग्निदीपन तथा रूक्ष एवं तिक्त द्रव्यों का प्रयोग करे। यदि रोगी कृश हो और कफ की अधिकता हो तो कभी स्निग्ध द्रव्यों का तो कभी रूक्ष द्रव्यों का प्रयोग करे। यदि रोगी का शरीर क्षीण किन्तु क्षाम (सबल) हो तो दीपन द्रव्यों को स्नेह में मिला कर प्रयोग करे। यदि पित्त अधिक हो तो दीपन एवं तिक्त द्रव्यों को मधुर द्रव्यों के साथ मिला कर प्रयोग करे।

वक्तव्य—प्रसेक का लक्षण—चि. अ. ५ श्लो० ५७ में देखिये ॥६६,६७॥

वाताधिक्य की चिकित्सा—

स्नेहोऽम्ललवणैर्युक्तो बहुवातस्य शस्यते ।
स्नेहमेवं परं विद्याद्दुर्बलानलदीपनम् ॥६८॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ।

व्याख्या—यदि वायु की अधिकता हो तो अम्ल एवं लवण द्रव्यों को मिला कर स्नेह का प्रयोग करे। दुर्बल अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये स्नेह ही सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि स्नेह से प्रदीप्त हुई अग्नि को गुरु आहार भी शान्त-मन्द नहीं कर सकता अर्थात् पच जाता है ॥६८॥

कफ का क्षय और पुरीष पतला होने पर घृत—

योऽल्पाग्नित्वात्कफे क्षीणे वर्चः पक्वमपि श्लथम् ॥६९॥
मुञ्चेद् यद् द्व्यौषधयुतं स पिबेदल्पशो घृतम् ।
तेन स्वमार्गमानीतः स्वकर्मणि नियोजितः ।७०॥
समानो दीपयत्यग्निमग्नेः सन्धुक्षको हि सः ।

व्याख्या— जब कफका क्षय हो जाने पर; मन्दाग्नि होने से, परिपक्व पुरीष भी शिथिल (पतला—ढीला) होकर निकल रहा हो तब लवण एवं सोंठ मिलाकर थोड़ा घृत पीवे । इस प्रकार अपने मार्ग में लाया गया तथा अपने कर्म में नियुक्त किया गया समान वायु—अग्नि को प्रदीप्त कर देता है क्योंकि वह (समान वायु) अग्नि का सन्धुक्षण करता है ।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—च. चि. अ. १५

तथा समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमास्थितः ।
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम् ॥२०४॥

पुरीषकाठिन्य चिकित्सा—

पुरीषं यश्च कृच्छ्रेण कठिनत्वाद्विमुञ्चति ॥७१॥
स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावमहं पिबेत् ।

व्याख्या—जब पुरीष कठिन कठोर ग्रन्थिरूप हो जाने के कारण कष्ट के साथ निकलता हो तब—लवण मिश्रित घृत पीवे और ऊपर से तत्काल भोजन खा लेवे ॥७१॥

अन्यान्य अवस्थाओं की चिकित्सा—

रौक्ष्यान्मन्देऽनले सर्पिस्तैलं वा दीपनैः पिबेत् ॥७२।
क्षारचूर्णासवारिष्टान् मन्दे स्नेहातिपानतः ।
उदावर्तात्प्रयोक्तव्या निरूहस्नेहबस्तयः ॥७३॥
दोषाऽतिवृद्ध्यामन्देऽग्नौ संशुद्धोऽन्नविधिं चरेत् ।
व्याधिमुक्तस्य मन्देऽग्नौ सर्पिरेव तु दीपनम् ॥७४॥
अध्वोपवासक्षामत्वैर्यवाग्वा पाययेद् घृतम् ।
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत् ॥७५॥

व्याख्या—जब रूक्षता के कारण अग्नि मन्द हो तब सोंठ आदि दीपन द्रव्य मिलाकर घृत अथवा तैल पीवे । जब स्निग्धता-स्नेह के अधिक पान से अग्नि मन्द हो तब—उक्त क्षार (श्लो० २८-२९-३०.देखिये), चूर्ण (श्लो० १९-२० देखिये), आसव और अरिष्ट (श्लो० २५-२६-२७ देखिये) पीवे । जब उदावर्त्त हो तब—निरूहण एवं स्नेह वस्ति का प्रयोग करे । यदि दोषों (एवं पुरीष) की वृद्धि के कारण अग्नि मन्द हो तो वमन एवं विरेचन द्वारा शोधन करके मण्ड पेया आदि आहार विधि का प्रयोग करे। ग्रहणी रोग शान्त हो जाने पर यदि अग्नि मन्द बनी रहे तो अग्नि दीपनार्थ घृतों का प्रयोग करे । मार्ग गमन, उपवास तथा क्षामता के कारण यदि अग्नि मन्द हो रही हो तो यवागू में मिलाकर घृत का सेवन करे क्योंकि अन्न के साथ-मध्य में घृत का सेवन करने से-बल बढ़ता है, अग्नि प्रदीप्त होती है और शरीर पुष्ट होता है ॥७२-७५॥

मांस के प्रयोग—

दीर्घकालप्रसंगात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान् ।
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत्पिशिताशिनाम् ॥७६॥
लघूष्णकटुशोधित्वाद् दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ।
मांसोपचितमांसत्वात्परं च बलवर्धनम् ॥७७॥

व्याख्या—दीर्घ काल पर्यन्त ग्रहणी रोग रहने के कारण जो रोगी-क्षाम, क्षीण एवं कृश हो गये हों उनको प्रसहवर्ग के मांसाहारी प्राणियों के मांस रसों के साथ भोजन देवे और वे मांसरस अनारदाना आदि के योग से अम्ल बनाए गये हों। वे मांसरस-लघु, उष्ण, कटु, (द्रव्ययुक्त) एवं विशोधन (मल शोधक) होने के कारण अग्नि को शीघ्र ही प्रदीप्त करते हैं और उन प्राणियों का शरीर मांस के द्वारा पुष्ट हुआ होता है अतः उन का मांस उत्तम कोटि का बलवर्द्धक होता है एवं पुष्टि कारक भी होता है ।

वक्तव्य—क्षामः—व्यवसाय शून्यः-अध्यवसायशून्यः-कर्म करने में असमर्थ । क्षीणो दुर्बलः—बलहीन । कृशो हीन-मांसः । आयुर्वेद दीपिका चि.अ. १५श्लोक २१०॥७६,७७॥

स्नेह आदि का फल—

स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः ।
सम्यक् प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्धते ॥७८॥

व्याख्या—स्नेहों, आसवों, सुराओं, अरिष्टों, चूर्णों, क्वाथों तथा पथ्य भोजनों के समीचीन प्रयोग से शरीर एवं अग्नि का बल बढ़ता है ॥७८॥

स्नेह एवं आहार की आवश्यकता—

दीप्तो यथैव स्थाणुश्च बाह्योऽग्निः सारदारुभिः ।
सस्नेहैर्जायते तद्वदाहारैः कोष्ठगोऽनलः ॥७९॥
नाऽभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नाऽतिभोजनात् ।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः ॥८०॥

व्याख्या—जैसे लौकिक अग्नि सार युक्त दारुओं (कोष्ठों) के द्वारा जलाई गई स्थाणु—स्थायी होती हैं वैसे ही जठराग्नि स्नेह युक्त आहारों के द्वारा प्रदीप्त की गई स्थायी होती है। आहार न करने से अथवा अधिक आहार करने से जठराग्नि प्रदीप्त नहीं रहता जैसे इन्धन रहित अथवा अत्यधिक इन्धन से ढँकी हुई लौकिक अग्नि प्रदीप्त नहीं रहती।

वक्तव्य—अग्नि की अस्थायी दीप्ति के लिये पथ्य आहार अत्यावश्यक है। देखिये सू. अ १८ का—

यथाणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः।

तात्पर्य यह है कि उचित आहार द्वारा अग्नि-समाग्नि बनी रहती है। और समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥७९,८०॥

अत्यग्नि का वर्णन—

यदा क्षीणे कफे पित्तं स्वस्थाने पवनानुगम् ।
प्रवृद्धं वर्धयत्यग्निं तदाऽसौ सानिलोऽनलः ॥८१॥
पक्त्वाऽन्नमाशु धातूंश्च सर्वानोजश्च सङ्क्षिपन् ।
मारयेत्स्याशनात्स्वस्थो भुक्ते जीर्णे तु ताम्यति ॥८२॥
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ।
तमत्यग्निं गुरुस्निग्धमन्दसान्द्रहिमस्थिरैः ॥८३॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ।
मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥८४॥
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ।

व्याख्या—जब कफ क्षीण हो जाता है और पित्त अपने स्थान में वायु की सहायता पाकर अत्यन्त बढ़ जाता है फलतः वायु अग्नि-पाचन शक्ति को बढ़ा देता है तब वायु युक्त अग्नि—खाए हुए अन्न को शीघ्र ही पचा कर तदनन्तर रक्त आदि सब धातुओं को पचाकर ओजस् का संहार करता हुआ (दुर्बलता उत्पन्न करता हुआ और तृषा आदि निम्नलिखित रोग उत्पन्न करता हुआ) उस रोगी को मार सकता है। इस दशा में वह रोगी कुछ आहार कर लेने पर स्वस्थ रहता है और आहार पच जाने पर तृषा आदि रोगों से उपतप्त होता है। इस प्रकार की अत्यग्नि से उत्पन्न होने वाले रोग हैं—तृषा, कास, दाह, तथा मूर्च्छा आदि।

चिकित्सा—उस अत्यग्नि को—गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र, शीत तथा स्थिर अन्नों एवं पानों द्वारा शान्त करे जैसे प्रदीप्त लौकिक अग्नि को जल द्वारा शान्त किया जाता है। इस दशा में बार २ अजीर्ण रहने पर भी बार २ आहार खिलाना चाहिए जिससे आहार रूपी इन्धन के अभाव में अवसर पाकर वह अग्नि उस रोगी को मार न सके।८१-८४॥

अत्यग्नि में अन्न पान एवं विहार—

कृशरां पायसं स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥८५॥
अश्नीयादौदकानूपपिशितानि भृतानि च ।
मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचरांश्च ये ॥८६॥
आविकं सुभृतं मांसमद्यादत्यग्निवारणम् ।
पयः सहमधूच्छिष्टं घृतं वा तृषितः पिबेत् ॥८७॥
गोधूमचूर्णं पयसा बहुसर्पिःपरिप्लुतम् ।
आनूपरससंयुक्तान्वा स्नेहांस्तैलविवर्जितान् ॥८८॥
श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम्
असकृत्पित्तहरणं पायसं प्रतिभोजनम् ॥८९॥
यत्किंचिद्गुरु मेद्यं च श्लेष्मकारि च भोजनम् ।
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा च स्वपनं दिवा ॥९०॥

व्याख्या—खिचड़ी, पायस (खीर एवं रबड़ी खोया आदि दूध के पदार्थ), स्निग्ध पदार्थ, पीठी के पदार्थ, गुड़ के योग से बने पदार्थ, जल में रहने वाले कछुआ आदि तथा अनूप देश में रहने वाले सूअर आदि प्राणियों के मेदस्वी मांस खावे, विशेषतः मछली का मांस जो कोमल हो और जो झील आदि के स्थिर (अचल), जल में रहने वाली हो उसका मांस खावे। मेढ़ का (या दुम्बा का) मांस जो अत्यन्त पुष्ट हो खावे तो अत्यग्नि का शमन होता है। मोम युक्त उष्ण दूध अथवा घृत पीवे जब २ तृषा लगे तब २ (यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा तृषितः पिबेत्—चरक)। गेहूँ का आटा घोल कर तथा पर्याप्त घृत मिलाकर दूध पीवे अथवा अनूप देश के सूअर आदि प्राणियों के मांसरस तैलवर्जित घृत, वसा एवं मज्जा नामक स्नेह मिला कर पीवे। अथवा—शाली निसोत के योग से परिपक्व दूध विरेचन के लिये देवें और इसके द्वारा बार२ विरेचन देकर पित्तका हरण करे और पथ्य में—दूध की खीर आदि खिलावे। यह स्मरण रखना चाहिये कि—जो २ पदार्थ गुरु हों, मेदोयुक्त हों तथा कफवर्द्धक हों वह सब भोजन के रूप में अत्यग्नि नामक विकार के लिये लाभदायक होते हैं और खाकर तत्काल दिन में भी सो जाना लाभदायक होता है।

वक्तव्य—अत्यग्नि नामक विकार का नाम 'भस्मक' तथा तीक्ष्णाग्नि है ॥८५-९०॥

अत्यग्नि से मृत्यु—

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसङ्क्षये ॥९१॥

व्याख्या—जठराग्नि आहार को पचाती है, आहार के अभाव में दोषों को पचाती है, दोषों का क्षय होने पर रक्त आदि धातुओं को पचाती है और धातुओं का क्षय हो जाने पर जीवित को पचाती है—मार डालती है।

वक्तव्य—अनशन करने पर इसी प्रकार मृत्यु हो जाती है। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

तस्मात् तं विधिवत् युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः।
पालयेत् प्रयतः तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥४०॥

और—आयुः वर्णो बलं स्वास्थ्यं उत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाः प्रोक्ता देहाऽग्निहेतुकाः ॥३॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते देही युक्ते तिष्ठत्यनामयः।
रोगी स्यात् विकृते तस्मात् मूलमग्निर्निरुच्यते ॥४॥
च. चि. अ. १५।

जठराग्नि प्रशंसा—

एतत्प्रकृत्यैव विरुद्धमन्नं संयोगसंस्कारवशेन चेदम्।
इत्याद्यविज्ञाय यथेष्टचेष्टाश्चरन्ति यत्साऽग्निबलस्य शक्तिः
तस्मादग्निं पालयेत्सर्वयत्नैस्तस्मिन्नष्टे याति नाशं सदेव
दोषैर्ग्रस्ते ग्रस्यते रोगसङ्घैर्युक्ते तु स्यान्नीरुजो दीर्घजीवी

व्याख्या—यह आहार प्रकृति अर्थात् स्वभाव से विरुद्ध है अमुक आहार संयोग से विरुद्ध है, अमुक आहार संस्कार से विरुद्ध है और अमुक अमुक मात्रा से, काल से अथवा भाण्ड से विरुद्ध है इत्यादि विचार किये विना जो मानव स्वेच्छया आहार विहार करते हुए भी जीवित एवं नीरोग बने रहते हैं वह सब अग्नि—जठराग्नि के बल का ही प्रभाव है (यदि अग्नि का प्रभाव न हो तो ऐसा नहीं हो सकता)। इस लिये—जठराग्नि का सब प्रकार से पालन करना चाहिये क्योंकि अग्नि का नाश (सर्वथा विनाश) हो जाने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है, वातादि दोषों द्वारा अग्नि की विकृति होने पर (मान्द्य, वैषम्य तथा तीक्ष्णता होने पर) प्राणी अनेक रोगों द्वारा ग्रस्त हो जाता है परन्तु अग्नि युक्त (सम) रहने पर प्राणी—निरोग (स्वस्थ) एवं दीर्घजीवी (दीर्घायुः) बना रहता है।

वक्तव्य—विरुद्ध अन्नों का वर्णन सू. अ. ७ में देखिये। मारीचिः उवाच—अग्निः एवं शरीरे पित्तान्तर्गतः अकुपित-कुपितः शुभाऽशुभानि करोति, तद् यथा—पक्ति-अपक्ति, दर्शनं अदर्शनं-मात्राऽमात्रत्वं ऊष्मणः, प्रकृतिविकृतिवर्णौ, शौर्यं, भयं, क्रोधं, हर्षं, मोहं प्रसादमित्येवमादीनि च अपराणि द्वन्द्वानि इति। च. सू. अ. १२-पाठ ३१ ॥५७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः।

अथाऽतो मूत्राघातचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब मूत्राघात की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—यह मूत्र की न्यूनता का रोग है—इसमें मूत्र स्वल्प होता है। इसका वर्णन च. चि. अ० २६ तथा सिद्धि० अ. ९ में, सुश्रुत उत्तर तन्त्र अ० ५८-५९ में और चि. अ०७ में और अ. सं. चि. अ० १३ में देखिये। इसका निदान देखिये नि. स्था. अ० ९ में।

वातज मूत्राघात की चिकित्सा—

कृच्छ्रे वातघ्नतैलाक्तमधो नाभेः समीरजे।
सुस्निग्धैः स्वेदयेदङ्गं पिण्डसेकावगाहनैः ॥१॥

व्याख्या—वातजनित मूत्राघात में—वात नाशक बला तैल एवं नारायण तैल का अभ्यङ्ग करके—नाभि के निचले भाग पर—स्निग्ध—पिण्डस्वेद दे, सेचन तथा अवगाहन स्वेद से स्वेदन करे।

वक्तव्य—नाभि के निचले भाग से कटि पर्यन्त स्वेदन करना चाहिये, सेचन एवं अवगाहन करने पर स्वतः ही कटि तक का स्वेदन हो ही जाता है ॥२॥

दशमूल आदि के विविध योग—

दशमूलबलैरण्डयवाऽभीरुपुनर्नवैः।
कुलत्थकोलपत्तूरवृश्चीवोपलभेदकैः ॥२॥
तैलसर्पिर्वराहर्क्षवसाः क्वथितकल्कितैः।
सपञ्चलवणाः सिद्धाः पीताः शूलहराः परम् ॥३॥
द्रव्याण्येतानि पानान्ने तथा पिण्डोपनाहने।
सहतैलफलैर्युञ्ज्यात् साम्लानि स्नेहवन्ति च ॥४॥

व्याख्या—दशमूल, बलामूल, एरण्ड बीज, जौ शतावर, पुनर्नवा, कुलथी, बेर, पत्तूर (शालिंच शाक) लाल पुनर्नवा, तथा पाषाणभेद का क्वाथ एवं कल्क और पञ्च लवण मिलाकर तैल, घृत एवं सूअर तथा भालू की वसा को सिद्ध करे। इस स्नेह का पान करने से मूत्राघात जनित शूल का नाश हो जाता है। इन्हीं दशमूल आदि द्रव्यों में तिल एवं बादाम आदि तैल द्रव्य तथा अम्ल

द्रव्य एवं स्नेह मिलाकर अन्न, पान, पिण्डस्वेद तथा उपनाह स्वेद में प्रयोग करे।

वक्तव्य—यह पाठ च. चि. अ० २६ के श्लो० ४५-४६-४७ तथा ४८ का परिवर्त्तित रूप है ॥२-४॥

मूत्राघात में मदिरा का योग—

सौवर्चलाढ्यां मदिरां पिबेन्मूत्ररुजापहाम् ।

व्याख्या—मदिरा में पर्याप्त काला लवण मिलाकर पीवे तो मूत्र की वेदना शान्त हो जाय।

वक्तव्य—देखिये सु. उ. तं. अ० ५८ का श्लो० ३०। सुरा में सोडा वाटर मिला कर पीने से भी यही लाभ होता है और अत एव सुरा में सोडा वाटर मिला कर प्रायः पिया भी जाता है।

पित्तज मूत्राघात की चिकित्सा—

पित्ते युञ्जीत शिशिरं सेकलेपावगाहनम् ॥५॥
पिबेद्वरीं गोक्षुरकं विदारीं सकसेरुकाम् ।
तृणाख्यं पञ्चमूलं च पाकं समधुशर्करम् ॥६॥
वृषकं त्रपुसैर्वारु लट्वाबीजानि कुङ्कुमम् ।
द्राक्षाऽम्भोभिः पिबन् सर्वान् मूत्राघातानपोहति ॥७॥
एर्वारुबीजयष्ट्याह्वदार्वीर्वा तण्डुलाम्बुना ।
तोयेन कल्कं द्राक्षायाः पिबेत्पर्युषितेन वा ॥८॥

व्याख्या—पित्त जनित मूत्राघात में—शीतल सेचन, लेपन तथा अवगाहन का प्रयोग करे शतावर, गोखरू, विदारी कन्द, कसेरू तथा तृण पञ्चमूल का क्वाथ मधु एवं खण्ड मिलाकर पीवे। अथवा—अडूसा के पत्र, खीरा के बीज, ककड़ी के बीज, कुसुम्भा के बीज तथा केशर को अंगूर के रस के साथ पीवे। इससे सब प्रकार के मूत्रघात नष्ट हो जाते हैं। अथवा—ककड़ी के बीज, मुलेठी तथा दारुहल्दी को चावलों के धोअन के साथ पीवे अथवा दाख के कल्क को वासीपानी के साथ पीवे।७॥

कफज मूत्राघात की चिकित्सा—

कफजे वमनं स्वेदं तीक्ष्णोष्णकटुभोजनम् ।
यवानां विकृतीः क्षारं कालशेयं च शीलयेत् ॥९॥
पिबेन्मद्येन सूक्ष्मैलां धात्रीफलरसेन वा ।
सारसास्थिश्वदंष्ट्रैलाव्योषं वा मधुमूत्रवत् ॥१०॥
स्वरसं कण्टकार्या वा पाययेन्माक्षिकान्वितम् ।
शितिवारकबीजं वा तक्रेण श्लक्ष्णचूर्णितम् ॥११॥
धव-सप्ताह्व-कुटजं-गुडूचीचतुरङ्गुलम् ।
कटुकैलाकरञ्जं च पाक्यं समधुसाधितम् ॥१२॥
तैर्वा पेयां प्रवालं वा चूर्णितं तण्डुलाम्बुना ।
सतैलं पाटलाक्षारं सप्तकृत्वोऽथवा स्रुतम् ॥१३॥
पाटलीयवशूकाभ्यां पारिभद्रतिलादपि ।
क्षारोदकेन मदिरां त्वगेलोषकसंयुताम् ॥१४॥
पिबेद्गुडोपदंशान्वा लिह्यादेतान् पृथक् पृथक् ।

व्याख्या—कफ जनित मूत्राघात में—वमन करे और स्वेदन करे तथा तीक्ष्ण, उष्ण एवं कटु पदार्थों से युक्त भोजन करे। जौ के दलिया एवं रोटी, आदि पदार्थ, जौ-खार आदि क्षार तथा तक्र का सेवन करे। छोटी इलायची के चूर्ण या कल्क को सुरा अथवा आमला के रस के साथ पीवे। अथवा सारस पक्षी की अस्थि, गोखरू, छोटी इलायची तथा त्रिकटु के चूर्ण को मधु एवं गोमूत्र में मिलाकर पीवे। अथवा—कण्टकारी के स्वरस को मधु मिलाकर पीवे। अथवा—सिलारा (खिरियारी) के बीजों का सूक्ष्म चूर्ण—तक्र के साथ पीवे। अथवा—धव, सप्तपर्ण, कुरैया की छाल, गिलोय, अमलतास, कटुकी, छोटी इलायची तथा करञ्ज बीज का क्वाथ मधु मिलाकर पीवे। अथवा—इन्हीं धव आदि द्रव्यों के योग से बनाई गई पेया पीवे। अथवा—प्रवाल पिष्टि (मूंग का सूक्ष्म पीसा गया चूर्ण) चावलों के धोअन के साथ पीवे। अथवा—पाटल के क्षार को जल में सात बार छान कर (भस्म रहित क्षार जल) तैल मिला कर पीवे। अथवा— पाटल का क्षार, जौ का क्षार, फरहद का क्षार तथा तिलखंड का क्षार जल में घोल कर और उसमें मद्य तथा दाल चीनी, छोटी इलायची एवं मरिच मिलाकर पीवे और साथ में गुड़ के गुलगुले खावे। अथवा—उक्त क्षारों को पृथक्-पृथक् गुड़ में मिलाकर चाटे ॥९-१४॥

चिकित्सा संकेत—

सन्निपातात्मके सर्वं यथावस्थमिदं हितम् ॥१५॥
अश्मन्यथ चिरोत्थाने वातबस्त्यादिकेषु च ।

व्याख्या—त्रिदोष जनित मूत्राघात में उक्त सब चिकित्सा दोषादि की अवस्था के अनुसार करने से लाभ होता है। और थोड़े समय की अश्मरी में तथा वात बस्ति आदि मूत्राघातों (नि. अ. ९) में उक्त सब चिकित्सा करने से लाभ होता है।

वक्तव्य—इस दशा में—उक्त चिकित्सा के साथ २—

स्नेहस्वेदोपपन्नानां हितं तेषु विरेचनम् ।
ततः संशुद्धदेहानां हिताश्चोत्तरबस्तयः ॥४०॥
क्षीणामतिप्रसंगेन शोणितं यस्य सिच्यते ।
मैथुनोपरमस्तस्य बृंहणश्च विधिः स्मृतः ॥४१॥
ताम्रचूडवसा तैलं हितं चोत्तरबस्तिषु ।

सु० उ० अ० ५८।

अश्मरी की चिकित्सा—

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः ॥१६॥

तरुणो भेषजैः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ।
तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते ॥१७॥

व्याख्या—अश्मरी एक दारुण रोग है और मृत्यु के समान माना जाता है। जब तक वह तरुण (नूतन) रहता है तब तक खाने पीने की औषधियों के सेवन से सिद्ध हो सकता है परन्तु जब बढ़ जाता है (अश्मरी बड़ी हो जाती है) तब शस्त्र द्वारा चिकित्सा आवश्यक होती है। अश्मरी के पूर्वरूपों में स्नेहन एवं स्वेदन तथा वमन आदि चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—देखिये सु. चि. अ. ७ ॥१६,१७॥

वाताश्मरी चिकित्सा—

पाषाणभेदो वसुको वशिरोऽश्मन्तको वरी ।
कपोतवङ्काद्विबलाभल्लूकोशीरकन्तकम् ॥१८॥
वृक्षादनी शाकफलं व्याघ्री गुण्ठस्त्रिकण्टकम् ।
यवाः कुलत्थाः कोलानि वरुणः कतकात्फलम् ॥१९॥
ऊषकादिप्रतीवापमेषां काथे शृतं घृतम् ।
भिनत्ति वातसम्भूतां तत्पीतं शीघ्रमश्मरीम् ॥२०॥

व्याख्या—पाषाण भेद, वसुक (ईश्वर मल्लिका अथवा आक) वशिर (समुद्र लवण), अश्मन्तक (मालुक पर्ण) शतावर, हुलहुल, अतिबला, सोनापाठा, खस, सुगन्धि तृण (शिकाकाई), बन्दा (वृक्ष पर का बन्दा), शागवान् के फल, कण्टकारी, गुण्ड-गुण्ठ (सू. अ. १५ वेल्लन्तरादि गण देखिये), गोखरू, जौ, कुलथी, बेर, वरुण वृक्ष की छाल तथा निर्मली के बीज का क्वाथ, उषकादि गण का कल्क (सू. अ. १५) तथा घृत मिला कर पाक करे—सिद्ध होने पर घृत को छान लेवे। इस घृत का पान करने से अश्मरी का भेदन हो जाता है—वह खर—खर कर धीरे २ निकल जाती है।

वक्तव्य—उक्त गण के क्षार, उक्त गण के योग से बनाये गये यवागू, यूष, कषाय, दूध तथा भोजन भी अश्मरी नाशक होते हैं ॥१८-२०॥

अश्मरी नाशक कल्क—

गन्धर्वहस्तबृहतीव्याघ्रीगोक्षुरकेक्षुरात् ।
मूलकल्कं पिबेद्दध्ना मधुरेणाऽश्मभेदनम् ॥२१॥

व्याख्या—एरण्ड की जड़ की छाल, वनभण्टा, कण्टकारी, गोखरू तथा तालमखाना के मूलों का कल्क-मीठे दही के साथ पीने से अश्मरी का भेदन करता है।

वक्तव्य—इस योग से सात दिन में लाभ होता है (च. चि. अ. १५ श्लोक ६१ देखिये ॥२१॥

पित्ताश्मरी चिकित्सा—

कुशः काशः शरो गुण्ठ इत्कटो मोरटोऽश्मभित्
दर्भो विदारी वाराही शालिमूलं त्रिकण्टकः ॥२२॥
भल्लूकः पाटली पाठा पत्तूरः सकुरण्टकः ।
पुनर्नवा शिरीषश्च तेषां काथे पचेद् घृतम् ॥२३।
पिष्टेन त्रपुसादीनां बीजेनेन्दीवरेण वा ।
मधुकेन शिलाजेन तत्पित्ताश्मरिभेदनम् ॥२४॥

व्याख्या—कुश की जड़, काश की जड़, सरकण्डा की जड़, गुन्द्र, इत्कट तथा ईख की जड़ें, पाषाणभेद, डाभ की जड़, विदारी कन्द, वाराही कन्द, धान की जड़, गोखरू, सोनापठा, पाढल, पाठा, पत्तूर (सिरिपारी शाक), पीला वासा, पुनर्नवा तथा सिरस के क्वाथ में तथा त्रपुसादि (श्लोक ६) के बीजों के कल्क के योग से अथवा कमलगट्टा, मुलेठी एवं शिलाजीत के योग से सिद्ध घृत कफ जनित अश्मरी का भेदन करता है ॥२२-२४।

कफाश्मरी की चिकित्सा—

वरुणादिसमीरघ्नौ गणावेला हरेणुका ।
गुग्गुलुर्मरिचं कुष्ठं चित्रकः ससुराह्वयः ॥२५॥
तैः कल्कितैः कृतावापमूषकादिगणेन च ।
भिनत्ति कफजामाशु साधितं घृतमश्मरीम् ॥२६॥

व्याख्या—वरुणादिगण, वात नाशक वीरतरादि तथा विदार्यादिगण (सू. अ. १५), इलायची, हरेणुका, गूगल, मरिच, कुष्ठ तथा देवदारु के कल्क के तथा उषकादि गण के कल्क के योग से सिद्ध किया गया घृत—कफ जनित अश्मरी का भेदन करता है ॥२५,२६॥

संकेत—

क्षारक्षीरयवाग्वादि द्रव्यैः स्वैः स्वैश्च कल्पयेत् ।

व्याख्या—उक्त वातादि जनित अश्मरियों के लिये बतलाए गये द्रव्यों के योग से बनाए गये—क्षार, सिद्ध किये गये दूध तथा यवागू आदि वातादि जनित अश्मरियों में लाभ करते हैं ॥

शर्करा पातन का उपाय—

पिचुकङ्कोलकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः ॥२७॥
पीतमुष्णाम्बु सगुडं शर्करापातनं परम् ।

व्याख्या—सिरियारी के बीज, अंकोल के फल, निर्मली के बीज सागवान् के बीज तथा कमलगट्टा का चूर्ण गुड़ में मिलाकर उष्ण जल के साथ पीने से शर्करा को निकाल देता है ॥२७॥

शर्करा पातन का अन्य उपाय—

क्रौञ्चोष्ट्ररासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालपत्रिका ॥२८॥
अजमोदा कदम्बस्य मूलं विल्वस्य चौषधम् ।
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा ॥२९॥

व्याख्या—क्रौञ्च (कूंज) नामक पक्षी की, ऊँट एवं गधा की अस्थियाँ, गोखरू, मुशली, अजमोद, कदम्ब, तथा बिल की जड़ें तथा सोंठ का चूर्ण सुरा अथवा उष्ण जल के साथ पीने से शर्करा का भेदन होता है ॥२८,२९॥

अश्मरी पातन का उपाय—

नृत्यकुण्डलबीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ।
अविक्षीरेण सप्ताहं पीतमश्मरिपातनम् ॥३०॥

व्याख्या—तुम्बी के बीजों का चूर्ण—मधु में मिलाकर बकरी के दूध के साथ सात दिन पीने से अश्मरी को गिरा देता है ॥३०॥

अन्य उपाय—

क्वाथश्च शिग्रुमूलोत्थः कदूष्णोऽश्मरिपातनम् ।

व्याख्या—सहजन की जड़का क्वाथ—कोसा २ पीने से अश्मरी को गिरा देता है ।

शर्करा एवं अश्मरी में क्षार—

तिलापामार्गकदलीपलाशयवसम्भवः ॥३१॥
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करास्वश्मरीषु च ।

व्याख्या—तिलसँठ, अपामार्ग, केला, पलाश तथा जौ का क्षार भेड़ के मूत्र के साथ शर्करा एवं अश्मरी रोग में पीना चाहिये ॥३१॥

अन्यान्य योग—

कपोतवङ्कामूलं वा पिबेदेकं सुरादिभिः ॥३२॥
तत्सिद्धं वा पिबेत्क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः ।
हरीतक्यस्थिसिद्धं वा साधितं वा पुनर्नवैः ।३३॥
क्षीरान्नभुग् बर्हिशिखामूलं वा तण्डुलाम्बुना ।

व्याख्या—कपोत वङ्का (ब्राह्मी) का केवल या एक मात्र मूल सुरा आदि के साथ पीवे अथवा उससे सिद्ध किया गया दूध अत्यन्त वेदना से पीड़ित रोगी पीवे। अथवा हरीतक्यादि (त्रिफला) गण अथवा पुनर्नवा से सिद्ध दूध पीवे अथवा मोर सिखा की जड़ को चावलों के धोवन के साथ पीवे और दूध केही साथ भोजन करे ।

वक्तव्य—इन योगों के प्रभाव से अश्मरी एवं शर्करा टूट २ कर मूत्र के साथ निकल जाती है इस दशा में मूत्र भस्म मिश्रित जल जैसा आता है ॥३२,३३॥

मूत्राघातों में संकेत—

मूत्राघातेषु विभजेदतः शेषेष्वपि क्रियाम् ॥३४॥

व्याख्या—अवशिष्ट मूत्राघातों में इसी चिकित्सा का अवस्थानुसार काम करे ॥३४॥

मूत्राघातों में अनेक योग—

बृहत्यादिगणे सिद्धं द्विगुणीकृतगोक्षुरे ।
तोयं पयो वा सर्पिर्वा सर्वमूत्रविकारजित् ॥३५॥
देवदारुं घनं मूर्वां यष्टीमधु हरीतकीम् ।
मूत्राघातेषु सर्वेषु सुराक्षीरजलैः पिबेत् ॥३६॥
रसं वा धन्वयासस्य कषायं ककुभस्य वा ।
सुखाम्भसा वा त्रिफलां पिष्टां सैन्धवसंयुताम् ॥३७॥
व्याघ्रीगोक्षुरकक्वाथे यवागूं वा सफाणिताम् ।
काथे वीरतरादेर्वा ताम्रचूडरसेऽपि वा ॥३८॥
अथादीरतराद्येन भावितं वा शिलाजतु ।

व्याख्या—बृहत्यादि गण में दूना गोखरू डाल कर पकाया गया जल अथवा दूध अथवा घृत-सब प्रकार के मूत्राघातों को नष्ट करता है । देवदारु, नागरमोथा, मरोड़ फली, मुलेठी तथ हरड़ का चूर्ण—सुरा, दूध अथवा जल के साथ सभी मूत्राघातों में पीवे । अथवा जवासा का स्वरस अथवा अर्जुन की छाल का क्वाथ पीवे अथवा त्रिफला को पीस कर, सैन्धव लवण मिला कर कोसे जल के साथ पीवे अथवा—कण्टकारी तथा गोखरू के क्वाथ में यवागू बनाकर और उस में राब मिला कर खावे अथवा वीरतरादिगण के क्वाथ में अथवा मुरगा के मांस रस में पेया बनाकर पीवे । अथवा वीरतरादि गण (सू० अ० १५) के क्वाथ की भावना देकर शिलाजीत बनावे ।३५-३८॥

अश्मरी पातन का एक उपाय—

मद्यं वा निगदं पीत्वा रथेनाश्वेन वा व्रजेत् ॥३९॥
शीघ्रवेगेन सङ्क्षोभात्तथाऽस्य च्यवतेऽश्मरी ।

व्याख्या—अथवा शुद्ध सुरा पीकर, घोड़ा के रथ (टांगा-इक्का) पर बैठ कर चले फलतः शीघ्रगामी घोड़ा के वेग से उत्पन्न संक्षोभ (हिचकोलों) के कारण—अश्मरी गिर जाती है ।

वक्तव्य—इस उपाय से अत्यन्त छोटी अश्मरी गिर सकती है । बड़ी नहीं ॥३९॥

संकेत—

सर्वथा चोपयोक्तव्यो वर्गो वीरतरादिकः ।४०॥
रेकार्थं तैल्वकं सर्पिर्बस्तिकर्म च शीलयेत् ।
विशेषादुत्तरान् बस्तीन् शुक्राश्मर्यां च शोधिते ॥४१॥

व्याख्या—इस प्रकार के मूत्राघातों में—वीरतरादि वर्ग (सू. अ. १५) का प्रयोग—क्वाथ, पेया एवं पेय जल के रूप में करना चाहिये। विरेचनार्थ—तैल्वक घृत (चि० अ० २) का प्रयोग करे और निरूहण एवं

अनुवासन वस्तियों का—विशेषतः उत्तर वस्तियों का सेवन करे ॥४०,४१॥

शुक्राश्मरी चिकित्सा—

तैर्मूत्रमार्गे बलवान् शुक्राशयविशुद्धये ।
पुमान् सुतृप्तो वृष्याणां मांसानां कुक्कुटस्य च ॥४२॥
कामं सकामाः सेवेत प्रमदा मददायिनीः ।

व्याख्या—शुक्राश्मरी में उत्तर वस्तियों द्वारा मूत्रमार्ग का शोधन हो जाने पर, बलवान रोगी (यथ शक्ति) शुक्र वर्द्धक, मुरगा के मांसों से तृप्त हो कर, पुंस्त्व शक्ति उत्पन्न होने पर—शुक्राशयों की शुद्धि के लिये, इच्छानुसार, मैथुनाभिलाषिणी, मदमत्त एवं पुमान् को मदमत्त कर देने वाली स्त्रियों का सेवन करे ॥४२॥

अश्मरी में शस्त्रकर्म—

सिद्धैरुपक्रमैरेभिर्न चेच्छान्तिस्तदा भिषक् ॥४३॥
इति राजानमापृच्छ्य शस्त्रं साध्ववचारयेत् ।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ॥४४॥
निश्चितस्याऽपि वैद्यस्य बहुशः सिद्धकर्मणः ।

व्याख्या—उक्त सब सिद्ध उपायों के प्रयोग से भी यदि शान्ति न हो—अश्मरी टूट-फूट कर न निकले तो चिकित्सक—राजा (शासक—नरपति) को पूछ कर—उससे शस्त्र कर्म की आज्ञा लेकर, सावधान होकर शस्त्र का प्रयोग करे । शस्त्र चिकित्सा न करने पर मृत्यु निश्चित ही है और शास्त्रवेत्ता एवं अनेक बार दृष्टकर्मा वैद्य के द्वारा कर्म करने पर भी जीवन में सन्देह है ।

वक्तव्य—इस पाठ की अपेक्षा भगवान् धन्वन्तरि का पाठ अधिक स्पष्ट है—यथा—

घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सात्तरवस्तिभिः ।
यदि नोपशमं गच्छेत् छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥२७॥
कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाऽध्रुवा ।
उपक्रमो जघन्योऽयमतः संपरिकीर्त्तितः ॥२८॥
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ।
तस्मादापृच्छ्य कर्त्तव्यमीश्वरं साधु कर्मणा । २९॥

सु. चि. अ. ७ ॥४३-४४॥

शस्त्रकर्म विधि—

अथाऽऽतुरमुपस्निग्धं शुद्धमीषच्च कर्शितम् ॥४५॥
अभ्यक्तस्विन्नवपुषमभुक्तकृतमङ्गलम् ।
आजानुफलकस्थस्य नरस्याङ्के व्यपाश्रितम् । ४६॥
पूर्वेण कायेनोत्तानं निषण्णं वस्त्रचुम्भले ।
ततोऽस्याकुञ्चिते जानुकूर्परे वाससा दृढम् ॥४७॥
सहाश्रयमनुष्येण बद्धस्याश्वासितस्य च ।
नाभेः समन्तादभ्यज्याद्धस्तस्याश्च वामतः ॥४८॥
मृदित्वा मुष्टिनाऽऽक्रामेद् यावदश्मर्यधोगता ।
तैलाक्ते वर्धितनखे तर्जनीमध्यमे ततः ॥४९॥
अदक्षिणे गुदेऽङ्गुल्यौ प्रणिधायाऽनुसेवनीम् ।
आसाद्य बलयत्नाभ्यामश्मरीं गुदमेढ्रयोः । ५०॥
कृत्वान्तरे तथा बस्तिं निर्वलीकमनायतम् ।
उत्पीडयेदङ्गुलिभ्यां यावद्ग्रन्थिरिवोन्नतम् ॥५१॥
शल्यं स्यात्सेवनीं मुक्त्वा यवमात्रेण पाटयेत् ।
अश्ममानेन न यथा भिद्यते सा तथा हरेत् ॥५२॥
समग्रं सर्पवक्त्रेण स्त्रीणां बस्तिस्तु पार्श्वगः ।
गर्भाशयाश्रयस्तासां शस्त्रमुत्सङ्गवत्ततः ॥५३॥
न्यसेदतोऽन्यथा ह्यासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत् ।
मूत्रप्रसेकक्षणनान्नरस्याऽप्यपि चैकधा ॥५४॥
वस्तिभेदोऽश्मरीहेतुः सिद्धिं याति न तु द्विधा ।
विशल्यमुष्णपानीयद्रोण्यां तमवगाहयेत् ॥५५॥
तथा न पूर्यतेऽस्रेण बस्तिः पूर्णे तु पीडयेत् ।
मेढ्रान्तः क्षीरिवृक्षाम्बुमूत्रसंशुद्धये ततः ॥५६॥
कुर्याद् गुडस्य सौहित्यं मध्वज्याक्तव्रणः पिबेत् ।
द्वौ कालौ सघृतां कोष्णां यवागूं मूत्रशोधनैः ॥५७॥
त्र्यहं दशाहं पयसा गुडाढ्येनाऽल्पमोदनम् ।
भुञ्जीतोर्ध्वं फलाम्लैश्च रसैर्जाङ्गलचारिणाम् । ५८॥

व्याख्या—राजा से अनुमति लेकर, रोगी का विधिपूर्वक स्नेहन एवं शोधन करे, जब थोड़ा कृश हो जाय तब शरीर भर पर अभ्यङ्ग तथा स्वेदन करे, शस्त्रकर्म के दिन थोड़ा आहार खिलाकर, बलि प्रदान तथा स्वस्तिवाचन आदि मङ्गल करे तदनन्तर जानुभर ऊँचे फलक (तखता) पर बैठाए गये अन्य पुरुष की गोद में रोगी का पूर्वकाय देकर चित लेटा देवे और उसके कटि भाग के नीचे कपड़ा की गद्दी लगाकर कटि भाग को कुछ ऊँचा कर देवे; तदनन्तर रोगी के जानु एवं कोहनी को संकुचित करके, लम्बे वस्त्र से आश्रयपुरुष के शरीर के साथ भली भाँति बाँध देवे, फिर आश्वासन देकर, नाभि के सब ओर अभ्यंग करके, बाईं ओर मुष्टि द्वारा बलपूर्वक तबतक मर्दन करे जब तक अश्मरी अधोभाग में आ जाय तत्पश्चात्—नख कटाकर और तेल लगा कर बाएँ हाथकी तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों को गुद के भीतर सेवनी के अनुकूल डालकर बल एवं प्रयत्न से अश्मरी को गुद एवं मेहन के मध्य लेजाकर, बस्ति को इतना दबावे जिस से उस में वली न रह जाय परन्तु अत्यन्त तन भी न जाय और सम हो जाय तथा अश्मरी ग्रन्थि के समान—अंगुलियों के दबाव से उन्नत हो जाय फिर सेवनी से

थोड़ी दूर—जौभर दूर शस्त्र द्वारा उतना बड़ा पाटन करे जितनी बड़ी अश्मरी हो, यह पाटन सीवन से दक्षिण ओर अथवा वाम ओर करना चाहिये यह ध्यान रखना उचित है कि पाटन करते समय शस्त्र द्वारा अश्मरी टूट-फूट न जाय। और तत्काल सर्पमुख यन्त्र द्वारा समग्र अश्मरी को निकाल लेवे। यदि अश्मरी का चूरा भीतर रह जाता है तो पुनः बढ़कर अश्मरी का रूप धारण कर लेता है। नारियों को वस्ति के पास ही गर्भाशय रहता है इसलिये उन की अश्मरी निकालने के लिये उत्संगवान् शस्त्र का पाटनार्थ प्रयोग करे अन्यथा नारियों की वस्ति में से गर्भाशय में मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है इसी प्रकार मूत्रमार्ग में क्षत हो जाने से नर के भी मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। अश्मरी निकलने के लिये जो वस्ति का भेदन करने में एक ओर व्रण किया जाता है उस का रोपण हो जाता है परन्तु यदि अन्यान्य आघात आदि से वस्ति फट जाती है अथवा दो ओर से व्रण हो जाते हैं तो उनका रोपण नहीं होता।

इस प्रकार शल्य अर्थात् अश्मरी को निकालकर रोगी को उष्ण जल की द्रोणी में बैठा-लेटा देवे ऐसा करने से वस्ति में रक्त नहीं भरता, यदि भर जाय तो वट आदि क्षीरीवृक्ष के कषाय की वस्ति मूत्रमार्ग में से देवे। तत्पश्चात् मूत्रशोधनार्थ—गुड़ का तृप्ति भर सेवन करावे और फिर उक्त व्रण पर मधुघृत का लेप करे। दोनों समय—खाने में—गोखरू आदि मूत्र शोधक द्रव्यों के योग से बनाई गई, घृत मिश्रित, कोसी-कोसी यवागू तीन दिन देवे। फिर गुडमिश्रित दूध के साथ थोड़ा २ भात दस दिन पर्यन्त देवे तत्पश्चात् अनार आदि फलों के संयोग से अम्ल, जांगलदेशीय प्राणियों के मांस रस के साथ उचित भोजन करे ॥४५-५८॥

व्रणोपचार—

क्षीरिवृक्षकषायेण व्रणं प्रक्षाल्य, लेपयेत्।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठायष्ट्याह्वनयनौषधैः ॥५९॥
व्रणाभ्यङ्गे पचेत्तैलमेभिरेव निशान्वितैः।

व्याख्या—व्रण को प्रतिदिन वट आदि क्षीरी वृक्ष की छाल के कषाय से धोता रहे और व्रण पर प्रपौण्डरीक, मजीठ, मुलेठी तथा लोध पठानी का लेप करे और इन्हीं द्रव्यों तथा हल्दी के योग से तैल सिद्ध करे। और उस तैल को व्रण पर लगावे ॥५९॥

तत्पश्चात्—

[illegible] स्वेदयेच्चैनं स्वमार्गं सप्तरात्रतः ॥६०॥
वच [illegible] मग्निना।

स्वमार्गप्रतिपत्तौ तु स्वादुप्रायैरुपाचरेत् ॥६१॥
तं बस्तिभिः, न चारोहेद्वर्षं रूढव्रणोऽपि सः।
नग-नागाऽश्व-वृक्ष-स्त्री-रथान्, नाप्सु प्लवेत च ॥६२॥

व्याख्या—दस दिन पर्यन्त स्नेह अथवा द्रव स्वेद से सावधानता पूर्वक स्वेदन करे। स्वेदन के अनन्तर लगभग सात दिन में यदि मूत्र अपने मार्ग से जाने लग जाय तो—मधुर एवं कषाय रस वाली उत्तर वस्तियों, निरूहण एवं अनुवासन वस्तियों द्वारा उपचार करे। इस प्रकार चिकित्सा करने पर व्रण का रोपण हो जाता है। परन्तु रोपण हो जाने पर भी—एक वर्ष पर्यन्त—पर्वत, हाथी, घोड़ा, वृक्ष तथा रथ पर न चढ़े, मैथुन न करे और जल में न तैरे।

वक्तव्य—यदृच्छया वा मूत्रमार्गप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसा अपहरेत्, एवं च अशक्ये विदार्य नाड़ीं शस्त्रेण वडिशेनोद्धरेत्।

सु. चि. अ. ७ ॥६०-६२॥

सावधान !

मूत्रशुक्रवहौ वस्तिवृषणौ सेवनीं गुदम्।
मूत्रप्रसेकं योनिं च शस्त्रेणाऽष्टौ विवर्जयेत् ॥६३॥

व्याख्या—अश्मरी निकालने के लिये शस्त्रका प्रयोग करते समय—मूत्रवाही एवं शुक्रवाही स्रोतों को तथा वस्ति एवं वृषणों को, सेवनी तथा गुद को, मूत्र प्रसेक (गवीनियों को—मूत्रवहे द्वे सु० शा० अ० ९ जो वृक्कांसे वस्ति में मूत्र लाते हैं) को तथा योनि इन आठ अवयवों को बचाना चाहिये इन पर शस्त्र न लगने पावे।

वक्तव्य—तत्र मूत्रवहच्छेदात् मरणं मूत्रपूर्णवस्तेः, शुक्रवहच्छेदात् मरणं क्लैब्यं वा, मुष्कस्रोतसोरुपघातात् ध्वजभंगः, मूत्रप्रसेकक्षणनात् मूत्रप्रक्षरणम्, सेवनीयोनिच्छेदात् रुजः प्रादुर्भावः, वस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तम् (सु. शा. अ. ८ में)। इस पाठ में वस्ति को भी बचाने का आदेश है परन्तु वस्ति में से अश्मरी निकलने के लिये उसपर शस्त्रकर्म किया ही जाता है। तात्पर्य यह है कि—

मर्माण्यष्टावसम्बुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम्।
व्यापादयेत् बहून् मर्त्यान् शस्त्रकर्माऽपटुः भिषक् ॥३७॥
सेवनी शुक्रहरणी स्रोतसी फलयोः गुदम्।
मूत्रसेकं मूत्रवहं योनिर्वस्तिस्तथाऽष्टमः ॥३८॥

सु. चि. अ. ७।

इन आठ मर्मों पर यदि शस्त्रकर्म में अकुशल वैद्य विना सोचे-समझे शस्त्र का प्रयोग करता है तो बहुत—अनेक मानवों को मार डालता है और यदि शस्त्रकर्म में कुशल वैद्य—सोच

समझ कर शस्त्र का प्रयोग करता है तो अनेक मानवों को अश्मरी रोग से मुक्त कर लेता है। और

स चेत् गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः।
हतवल्लम्बशीर्षश्च निर्विकारो मृतोपमः ॥३१॥
न तस्य निर्हरेत् शल्यं निर्हरेत् तु म्रियेत सः।
विनाश्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं प्रयतेत वै ॥३२॥

और आज कल तो क्लोरोफार्म सुंघा कर रोगी को मूर्छित कर लिया जाता है और सरलता से अश्मरी को निकाल दिया जाता है ॥६३॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथाऽतः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब प्रमेह की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—देखिये च. चि. अ. ६, सु. चि. अ. ११, तथा इसका निदान, अ. हृ. नि. अ. १०, च. नि. अ. ४ तथा सु. नि. ६ । तथा अ. सं. नि. अ. १४ । इस रोग में मूत्र की अधिकता रहती है।

प्रमेह की चिकित्सा—

मेहिनो बलिनः कुर्यादादौ वमनरेचने।
स्निग्धस्य सर्षपाऽरिष्टकुसुम्भाऽक्षकरञ्जकैः ॥१॥
तैलैस्त्रिकण्टकाद्येन यथास्वं साधितेन वा।
स्नेहेन मुस्तदेवाह्वनागरप्रतिवापवत् ॥२॥
सुरसादिकषायेण दद्यादास्थापनं ततः।
न्यग्रोधादेस्तु पित्तार्तं रसैः शुद्धं च तर्पयेत् ॥३॥
मूत्रग्रहरुजागुल्मक्षयाद्यास्त्वपतर्पणात्।
ततोऽनुबन्धरक्षार्थं शमनानि प्रयोजयेत् ॥४॥
असंशोध्यस्य तान्येव सर्वमेहेषु पाययेत्।

व्याख्या—प्रमेह रोग में सर्व प्रथम—सरसों के तैल से, निम्ब के तैल से, निकुम्भ (दन्ती) के तैल से, बहेड़ा अथवा करञ्ज के तैल से अथवा त्रिकण्टकादि तैल (श्लोक १७) से अथवा दोषानुसार अन्यान्य द्रव्यों के योग से सिद्ध किसी स्नेह से स्निग्ध करके बलवान् रोगी को वमन एवं विरेचन करे। तत्पश्चात्—नागर मोथा, देवदारु तथा सोंठ का कल्क और सुरसादि गण का क्वाथ मिला कर निरूहण वस्ति देवे, यदि पित्ताधिक्य हो तो न्यग्रोधादि गण के कषाय से निरूहण वस्ति देवे। इस प्रकार शोधन हो जाने पर जांगल देशीय प्राणियों के मांसरस का तर्पण करे। तर्पण न करने से—मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म तथा क्षयरोग हो सकते हैं। इस के पश्चात्—प्रमेह के अनुबन्ध की रक्षा के लिये—निम्न लिखित शमन योगों का प्रयोग करे। जो रोगी वमन विरेचन आदि के योग्य न हो उसे सब प्रमेहों में शमन योगों का प्रयोग करावे ॥१–४॥

शमन योग—

धात्रीरसप्लुतां प्राह्णे हरिद्रां माक्षिकान्विताम् ॥५॥
दार्वीसुराह्वत्रिफला-मुस्ता वा कथिता जले।
चित्रकत्रिफलादार्वीकलिङ्गान् वा समाक्षिकान्।
मधुयुक्तं गुडूच्या वा रसमामलकस्य वा ॥६॥

व्याख्या—प्रतिदिन प्रातःकाल—हल्दी का चूर्ण-मधु मिलाकर, आमला के स्वरस के साथ पीता रहे। अथवा—दारु हल्दी, देवदारु, त्रिफला एवं मोथा का जल में क्वाथ बनाकर पीता रहे। अथवा—चित्रयमूल, त्रिफला, दारु हल्दी एवं इन्द्र जौ का क्वाथ—मधु मिलाकर पीता रहे। अथवा—गिलोय का स्वरस मधु मिला कर अथवा आमला का रस मधु मिला कर पीता रहे ॥५-६॥

अन्यान्य शमन कषाय—

रोध्राभयातोयदकट्फलानां पाठाविडङ्गार्जुनधान्यकानाम्।
गायत्रिदार्वीकृमिहृद्वचानां कफे त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः।
उशीररोध्रार्जुनचन्दनानां पटोलनिम्बामलकामृतानाम्।
रोध्राम्बुकालीयकधातकीनां पित्ते त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः।

व्याख्या—कफ जनित प्रमेह में—तीन कषाय १. खस, लोध, हरड़, नागरमोथा एवं कायफल का कषाय, २. पाठा, वायविडंग, अर्जुन तथा धनियाँ का कषाय और ३. खैरसार, दारुहल्दी, वायविडंग तथा जौ का कषाय पीवे। पित्त जनित प्रमेह में तीन कषाय—१. खस, लोध, अर्जुन की छाल तथा चन्दन का कषाय, २. परवल के पत्र, निम्ब की छाल, आमला तथा गिलोय का कषाय और ३. लोध, नेत्रबाला, काला अगरु तथा धाय के फूलों का कषाय पीवे। इन सब कषायों में पीते समय मधु मिलाना चाहिये ॥७,८॥

संकेत—

यथास्वमेभिः पानान्नं यवगोधूमभावनाम्।

व्याख्या—उक्त प्रकार के प्रमेहों में—उक्त लोध आदि द्रव्यों के योगसे पीने एवं खाने के पदार्थों का निर्माण करे और जौ एवं गेहूँ आदि अन्नों में भावना दे आहार बनावे।

वातज प्रमेहों में—

वातोल्बणेषु स्नेहांश्च प्रमेहेषु प्रकल्पयेत् ॥९॥

व्याख्या—वात प्रधान प्रमेहों में उक्त लोध आदि द्रव्यों के योग से स्नेहों का निर्माण करे। और उनका पीने आदि में प्रयोग करे ॥९॥

प्रमेहों में आहार—

अपूपसक्तुवाट्यादिर्यवानां विकृतिर्हिता ।
गवाश्वगुदमुक्तानामथवा वेणुजन्मनाम् ॥१०॥
तृणधान्यानि मुद्गाद्याः शालिजीर्णः सषष्टिकः ।
श्रीकुक्कुटोऽम्लः खलकस्तिलसर्षपकिट्टजः ॥११॥
कपित्थं तिन्दुकं जम्बुस्तत्कृता रागखाण्डवाः ।
तिक्तं शाकं मधु श्रेष्ठा भक्ष्याः शुष्काः ससक्तवः ।१२।
धन्वमांसानि शूल्यानि परिशुष्काण्ययस्कृतिः ।
मध्वरिष्टासवा जीर्णाः सीधुः पक्वरसोद्भवः ॥१३॥
तथाऽसनादिसाराम्बु दर्भाम्भो माक्षिकोदकम् ।
वासितेषु वराक्वाथे शर्वरीं शोषितेष्वहः ॥१४॥
यवेषु सुकृतान्सक्तून् सक्षौद्रान् सीधुना पिबेत् ।

व्याख्या—प्रमेह की शान्ति के लिये—जौ के अपूप (रोटी पूड़ी आदि), सत्तू एवं बाटी (जौ के आटा को सानकर और पेड़े बनाकर गोहरी की निर्धूम अग्नि में पका कर बनाई गई) आदि (दलिया आदि भी पदार्थ लाभदायक होते हैं। और जौ गौ अथवा घोड़ा को खिला दिये जायँ फिर जितने जौ गौ के गोबर अथवा घोड़ा की लीद में निकलें उनको चुन कर, धोकर अपूप आदि बनाए जायँ। अथवा बाँस के जौ के अपूप बनाए जायँ। और सामा आदि तृण धान्यों के मूंग एवं कुल्थी आदि के, पुराने शालिधान्यों एवं साठी धान्यों के आहार बनाए जायँ। और तिल एवं सरसों की खली का बनाया गया 'श्री कुक्कुट' नामक खलक (तिलकुट या भुग्गा) जो अम्ल द्रव्य मिलाकर बनाया हो लाभदायक होता है। और कैथ, तेन्दू तथा जामुन के फल और उनसे बनाए गये 'राग' एवं खाण्डव लाभप्रद होते हैं। और—तिक्त रस वाले शाक, मधु, त्रिफला, सूखे भक्ष्य, सत्तू, जङ्गलदेशीय प्राणियों के मांस, शूल पर लपेट कर पकाए गये मांस, परिशुष्क मांस, लोहभस्म एवं उसके योग (नवायस लोह भस्म आदि सु, चि. अ. १२), मधु, पुराने अरिष्ट एवं आसव, पक्वरस, सीधु, विजयसार आदि के (असनादि-वर्ग—सू. अ. १५ के द्रव्यों के सार काष्ठ) सारों का जल दाभ का जल तथा मधु का शर्बत ये सब लाभदायक होते हैं। जौ को त्रिफला के क्वाथ में रात्रि भर भिगो देवे और प्रातःकाल निकालकर दिन भर सुखावे फिर उनके सत्तू बनाकर, छानकर, मधु में मिलाकर खावे और साथ में सीधु पीवे।

वक्तव्य—यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही। यवस्य भक्ष्यान् विविधांस्तथाऽद्यात् कफप्रमेही मधुसंप्रयुक्तान् ॥२१॥ च. चि, अ. ६ ॥१०-१४॥

शालादि योग—

शालसप्ताह्वकम्पिल्लवृक्षकाक्षकपित्थजम् ॥१५॥
रौहीतकं च कुसुमं मधुनाऽद्यात्सचूर्णितम् ।
कफपित्तप्रमेहेषु पिबेद्धात्रीरसेन वा ॥१६॥

व्याख्या—शाल, सप्तपर्ण, कबीला, कुरैया, कैथ तथा रोहिड़ावृक्ष के फूलों का चूर्ण—मधु के साथ खावे अथवा आमला के रस के साथ पीवे। यह योग—कफ जनित एवं पित्त जनित प्रमेहों में लाभ करता है।

वक्तव्य—देखिये च.चि.अ.६श्लो० ३५-३६ ॥१५-१६॥

प्रमेहों में स्नेह प्रयोग—

त्रिकण्टकनिशारोध्रसोमवल्कवचाऽर्जुनैः ।
पद्मकाश्मन्तकारिष्ट-चन्दनाऽगुरुदीप्यकैः ॥१७॥
पटोलमुस्तमञ्जिष्ठा-माद्रीभल्लातकैः पचेत् ।
तैलं वातकफे पित्ते घृतं मिश्रेषु मिश्रकम् ॥१८॥

व्याख्या—गोखरू, हल्दी, लोध, कायफल, बालवच, अर्जुन, पद्म काष्ठ, अश्मन्तक (कचनार भेद), निम्ब, चन्दन, अगुरु, अजवायन, परवल के पत्र, मोथा, मञ्जीठ, अतीस तथा भिलावा के योग से—वात-कफ प्रमेहों में तैल का और पित्त जनित प्रमेहों में घृत का पाक करे और तीनों दोषों के लक्षण रहने पर घृत एवं तैल मिलाकर पाक करे।

वक्तव्य—च, चि.अ.६ के श्लोक ३३-३८-३९ देखिये।

धान्वन्तर घृत—

दशमूलं शठीं दन्तीं सुराह्वं द्विपुनर्नवम् ।
मूलं स्नुगर्कयोः पथ्यां भूकदम्बमरुष्करम् ॥१९॥
करञ्जवरुणान्मूलं पिप्पल्याः पौष्करं च यत् ।
पृथग् दशपलं प्रस्थान् यवकोलकुलत्थतः ॥२०॥
त्रींश्चाष्टगुणिते तोये विपचेत्पादवर्तिना ।
तेन द्विपिप्पलीचव्यवचानिचुलरोहिषैः ॥२१॥
त्रिवृद्विडङ्गकम्पिल्लभार्ङ्गीबिल्वैश्च साधयेत् ।
प्रस्थं घृताज्जयेत्सर्वांस्तन्मेहान् पिटकाविषम् ॥२२॥
पाण्डुविद्रधिगुल्मार्शःशोफशोषगरोदरम् ।
श्वासं कासं वमिं वृद्धिं प्लीहानं वातशोणितम् ॥२३॥
कुष्ठोन्मादावपस्मारं धान्वन्तरमिदं घृतम् ।

व्याख्या—दशमूल, कचूर, दन्तीमूल, देवदारु, पुनर्नवा

लाल पुनर्नवा, सेहुण्ड तथा आक के मूल, हरड़, गोरखमुण्डी, भिलावा, करञ्ज मूल, वरुणवृक्ष का मूल, पीपलामूल तथा पोहकर मूल १०-१० पल, जौ, बेर तथा कुलथी १-१ प्रस्थ लेकर और कूट कर तिगुने जल में पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे। कल्कार्थ—पीपल, गजपीपल, चव्य, बालवच, जल वेतस, रोहिष तृण, निसोत, वाविडंग, कचीला, भारंगी तथा बिल गिरी का कल्क १ कुडव और घृत १ प्रस्थ। सबको मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—सभी प्रमेहों को, पिडका को, विष विकार को तथा—पाण्डुरोग, विद्रधि, गुल्म, अर्श, शोथ, शोष, गरविष विकार, उदररोग, श्वास, कास, छर्दि, अण्ड वृद्धि, प्लीह विकार, वातरक्त, कुष्ठ, उन्माद तथा अपस्मार को नष्ट करता है। इसका नाम "धान्वन्तर घृत" है ॥१६-२३॥

लोध्रासव—

रोध्रमूर्वाशठीवेल्ल-भार्ङ्गीनतनखप्लवान् ॥२४॥
कलिङ्गकुष्ठक्रमुकप्रियङ्ग्वतिविषाऽग्निकाम्।
द्वे विशाले चतुर्जातं भूनिम्बं कटुरोहिणीम् ॥२५॥
यवानीं पौष्करं पाठां ग्रन्थिं चव्यं फलत्रयम्।
कर्षांशमम्बुकलशे पादशेषे स्रुते हिमे ॥२६॥
द्वौ प्रस्थौ माक्षिकाद्दत्वा रक्षेत्पक्षमुपेक्षया।
रोध्रासवोऽयं मेहार्शः-श्वित्रकुष्ठारुचिक्रमीन् ॥२७॥
पाण्डुत्वं ग्रहणीदोषं स्थूलतां च नियच्छति।

व्याख्या—लोध, मरोड़फली, कचूर, विडंग, भारंगी, तगर, नख (नाखूना), नागर मोथा, इन्द्र जौ, कूठ, सुपारी, प्रियंगु, अतीस, चित्ता, इन्द्रायण, बड़ी इन्द्रायण, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, नागकेसर, चिरायता, कुटकी, अजवायन, पोहकर मूल, पाठा, पीपलामूल, चव्य, हरड़, बहेड़ा तथा आमला, १-१ कर्ष लेकर और कूट कर एक द्रोण जल में पकावे चौथाई रहने पर छान देवे, शीतल हो जाने पर दो प्रस्थ मधु डालकर रख देवे, १५ दिन में यह 'लोधासव' तैयार हो जाता है और—प्रमेह अर्श, श्वित्र, कुष्ठ, अरुचि, कृमि, पाण्डुरोग, ग्रहणी रोग तथा स्थूलता को नष्ट करता है।

वक्तव्य—मात्रा २ पल च. चि. अ. ६ ४१-४४।

अयस्कृति—

साधयेदसनादीनां पलानां विंशतिं पृथक् ॥२८॥
द्विवहेऽपां क्षिपेत्तत्र पादस्थे द्वे शते गुडात्।
क्षौद्राढकार्धं पलिकं वत्सकादि च कल्कितम् ॥२९॥
तत्क्षौद्रपिप्पलीचूर्णप्रदिग्धे घृतभाजने।
स्थितं दृढे जतुसृते यवराशौ निधापयेत् ॥३०॥
खदिराङ्गारतप्तानि बहुशोऽत्र निमज्जयेत्।
तनूनि तीक्ष्णलोहस्य पत्राण्यालोहसङ्क्षयात् ॥३१॥
अयस्कृतिः स्थिता पीता पूर्वस्मादधिका गुणैः।

व्याख्या—असनादि गण (सू. अ. १५.) के द्रव्य २०-२० पल लेकर ८ द्रोण जल में पकावे, चौथाई रहने पर उसे छान लेवे और उस में २ तुला गुड़ तथा आधा आढक मधु मिलाकर देवे और वत्सकादि गण के द्रव्य १-१ पल लेकर तथा उनको पीस कर मिला देवे फिर पीपल एवं मधु से प्रलिप्त भाण्ड में डाल कर जौ के ढेर में दबा कर रख देवे, वह भाण्ड दृढ़ हो तथा लाक्षा से लिपा-पुता हुआ हो और घृत से स्निग्ध किया गया होना चाहिये। १५ दिन के पश्चात् लोह के सूक्ष्म यन्त्रों को खैर के अंगारों में भली भाँति तपा-तपा कर उस में डाल देवे और मुखबन्ध करके तब तक पड़ा रहने देवे जब तक लोह के पत्र उस में गल जायँ—विलीन हो जायँ। यह अयस्कृति पी जाय तो पूर्वोक्त लोधासव से गुणों में अधिक श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—सु. चि. अ. १२ में इसी प्रकार का एक योग है -यथा—

शालसारादिनिर्यूहे चतुर्भागावशेषिते।
परिस्रुते ततः शीते मधु माक्षिकमावपेत् ॥१२॥
फाणितीभावमापन्नं गुडं शोधितमेव च।
श्लक्ष्णपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादिगणस्य च ॥१३॥
एकध्यंभावयेत् कुम्भे संस्कृते घृतभाविते।
पिप्पलीचूर्णमधुभिः प्रलिप्तेऽन्तः शुचौ दृढे ॥१४॥
श्लक्ष्णानि तीक्ष्णलोहस्य तत्र पत्राणि बुद्धिमान्।
खादिराङ्गारतप्तानि बहुशः सन्निपातयेत् ॥१५॥
सुपिधानं तु तं कृत्वा यवपल्ले निधापयेत्।
मासान् त्रीन् चतुरो वापि यावदालोहसंक्षयात् ॥१६॥
ततो जातरसं तं तु प्रातः प्रातर्यथाबलम्।
निषेवेत यथायोगमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥१७॥
कार्श्यकृत् बलिनामेषः सर्वस्याऽग्नेः प्रदीपकः।
शोफनुत् गुल्महृत् कुष्ठमेहपाण्ड्वामयापहः ॥१८॥
प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः।
अभिष्यन्दापहरणो लोहारिष्टो महागुणः ॥१९॥

इस प्रकार के अरिष्टों में लोहपत्र १-२-४ सेर डाल दिये जाते हैं जितना घुलना होता है उतना लोह घुल जाता है, शेष बच जाता है ॥२८-३१॥

प्रमेह में आहार विहार—

रूक्षमुद्वर्तनं गाढं व्यायामो निशि जागरः ॥३२॥
यच्चाऽन्यच्छ्लेष्ममेदोघ्नं बहिरन्तश्च यद्धितम्।

व्याख्या—प्रमेहों में—रूक्ष द्रव्यों के उद्वर्तन—

उबटन, गहरा व्यायाम—परिश्रम, रात्रि में जागना और कफ एवं मेदस् का नाश करने वाले अन्यान्य बाहिरी एवं भीतरी उपचार लाभदायक होते हैं ॥३२॥

शिलाजीत का प्रयोग—

सुभावितां सारजलैस्तुलां पीत्वा शिलोद्भवात् ॥३३॥
साराम्बुनैव भुञ्जानः शालिं जाङ्गलजै रसैः।
सर्वान्भिभवेन्मेहान् सुबहूपद्रवानपि ॥३४॥
गण्डमालाऽर्बुदग्रन्थिस्थौल्यकुष्ठभगन्दरान्।
कृमिश्लीपदशोफांश्च परं चैतद्रसायनम् ॥३५॥

व्याख्या—विजयसार एवं खैरसार आदि सारकाष्ठों के क्वाथ से भलीभाँति भावित एक तुलाभर शिलाजीत को उक्तसारों के क्वाथ से खाता हुआ प्रमेह रोगी—अनेक उपद्रवों से युक्त सभी प्रमेहों को जीत लेता है और गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि, स्थौल्य, कुष्ठ, भगन्दर, कृमि, श्लीपद तथा शोथ को जीत लेता है। यह उच्च कोटि का रसायन है।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में मात्रा यह है—पलमर्द्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता ॥५५॥ च चि. अ. १ पाद ३। तुला=१०० पल का सेवन। उक्त मात्रा प्रतिदिन। इसका प्रयोग सभी मेहों में किया जाय विशेषतः मधु मेह में। २-४ तोला शिलाजीत १-२ रत्ती की मात्रा में खाकर लाभ की आशा करना अनुचित हैं। विशेष देखिये सु, चि. अ.१३। उपयुज्य तुलामेवं गिरिजात् अमृतोपमात्। वपुर्वर्णं बलोपेतो मधुमेहविवर्जितः। २। ॥१६॥

निर्धन प्रमेही की चिकित्सा—

अधनश्छत्रपादत्ररहितो मुनिवर्तनः।
योजनानां शतं यायात् खनेद्वा सलिलाशयान् ॥३६॥
गोशकृन्मूत्रवृत्तिर्वा गोभिरेव सह व्रजेत्।

व्याख्या—निर्धन एवं बन्धु-बान्धवहीन रोगी—छाता एवं जूता से रहित होकर, मुनि के समान केवल भिक्षा पर निर्वाह करता हुआ; संयम पूर्वक, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ सैकड़ों योजन की यात्रा करे अथवा कूप एवं तालाब आदि जलाशय खोदे अथवा गौ के गोबर को खाकर तथा मूत्र को पीकर निर्वाह करे और गौओं के ही साथ घूमकर (गौवों को चरावें)

वक्तव्य—महाधनो वा श्यामाक नीवारवृत्तिः, आमलक कपित्थ तिन्दुकाऽश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह बसेत्......। ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिः भूत्वा ब्रह्मरथं (वेदग्रन्थान्) उद्धरेत्, कृषेत् सततमितरः खनेद्वा कूपम् ॥१२॥ सु, चि. अ. ११ ॥३६॥

कृशप्रमेही की चिकित्सा—

बृंहयेदौषधाहारैरमेदोमूत्रलैः कृशम् ॥३७॥

व्याख्या—प्रमेह के कृश रोगी को उन औषधों एवं आहारों के द्वारा पुष्ट करे जो मेदा को तथा मूत्र को बढ़ाने वाले न हों।

वक्तव्य—दोष एवं दूष्यों का विचार करके प्रमेह रोग में प्रायः कर्षण चिकित्साओं का विधान है तथापि कृशता में बृंहण चिकित्सा भी आवश्यक होती है ।३७॥

प्रमेहपिडकाओं की चिकित्सा—

शराविकाद्याः पिटिकाः शोफवत् समुपाचरेत्।
अपक्का व्रणवत्पक्वाः तासां प्राग्रूप एव च ॥३८॥
क्षीरिवृक्षाम्बुपानाय बस्तमूत्रं च शस्यते।
तीक्ष्णं च शोधनं प्रायो दुर्विरेच्या हि मेहिनः ॥३९॥
तैलमेवादिना कुर्याद्गणेन व्रणरोपणम्।
उद्वर्तने कषायं तु वर्गेणारग्वधादिना ॥४०॥
परिषेकोऽसनाद्येन पानान्ने बत्सकादिना।

व्याख्या—शराविका आदि प्रमेह पिटिकाओं का उपचार व्रणशोथ के समान करे—अपक्व पिटिका में व्रण शोथ के समान विम्लापन आदि और पक्व पिटिका में भेदन एवं शोधन रोपण आदि चिकित्सा करे। उनके पूर्वरूप की दशा में—क्षीरीवृक्षों की छाल का क्वाथ और बकरा का मूत्र पीने को देवे और तीक्ष्ण विरेचन देवे। प्रमेह के रोगियों को सरलता से विरेचन नहीं होता अतः तीक्ष्ण द्रव्यों का विरेचन देवे। व्रण रोपण के लिये—एलादि गण (सू. अ. १५) के द्रव्यों के योग से तेल सिद्ध करे। उबटन के लिये—आरग्वधादि गण (सू. अ. १५)का कषाय उपयोग में लावे। परिषेचन के लिये—असनादि गण (सू. अ. १५) का कषाय बनावे। खाने पीने के पदार्थों का निर्माण—वत्सकादि गण के द्रव्यों के संयोग से करे ॥३८-४०॥

पाठादि चूर्ण तथा नवायस लोह—

पाठाचित्रकशाङ्गेष्टासारिवाकण्टकारिकाः ॥४१॥
सप्ताह्वं कौटजं मूलं सोमवल्कं नृपद्रुमम्।
सञ्चूर्ण्य मधुना लिह्यात्तद्वच्चूर्णं नवायसम् ॥४२॥

व्याख्या—पाठा, चित्ता, शार्ङ्गेष्टा, सारिवा, कण्टकारी, सप्तपर्ण, कुरैया की जड़, कायफल तथा अमलतास का चूर्ण बनाकर मधु के साथ चाटे। अथवा—नवायस लोह को मधु में मिलाकर चाटे।

वक्तव्य—त्रिफला, चित्रक, त्रिकटु विडंग मुस्तानां नवभागाः तावन्त एव कृष्णायःचूर्णस्य, तत्सर्वमेकध्यं कृत्वा

यथायोगं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत। एतत् नवायसम्। एतेन जाठर्यं न भवति सन्नोऽग्निः आप्यायते, दुर्नामशोफपाण्डुकुष्ठरोगाऽविपाक कासश्वासप्रमेहाश्च न भवन्ति। सु, चि. अ. १२ पाठ ११। २१॥

मधुमेह में शिलाजतु—

मधुमेहित्वमापन्नो भिषग्भिः परिवर्जितः।
शिलाजतुतुलामद्यात्प्रमेहार्तः पुनर्नवः॥४३॥

व्याख्या—मधुमेह से पीड़ित रोगी—जो अनेक चिकित्सकों द्वारा त्याग गया है, यदि एक तुला भी शिलाजीत का सेवन करे तो पुनः युवक हो जाय।

वक्तव्य—प्रमेह, मधुमेह तथा प्रमेह पिटिका बड़े ही अनुषङ्गी रोग हैं। इनकी चिकित्सा भी दीर्घ काल पर्यन्त होनी चाहिये। शिलाजतु के विषय में श्री धन्वन्तरि का कथन है कि—न सोऽस्ति रोगो यं चापि निहन्यात् न शिलाजतु। शर्करां चिरसम्भूतां भिनत्ति च तथाऽश्मरीम्॥१६॥ तुवरक तैल - जो 'चालमोगरा का तैल' कहलाता है उसके सेवन की विधि है—यथा—सु. चि. अ १३।

स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षात् ऊर्ध्वं प्रयत्नवान्
चतुर्थभक्ताऽन्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे॥२४॥
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेत् मात्रां यथाबलम्।
तेनाऽस्योर्ध्वमधश्चापि दोषा यान्त्यसकृत् ततः।
अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत्॥२७॥
पञ्चाहं प्रपिबेत् तैलमनेन विधिना नरः।
पक्षं परिहरेत् चाऽपि मुद्गयूषौदनाऽशनः॥२८॥
तेनाऽभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताऽऽहारमीरितम्।
अनेनाऽऽशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्॥३१॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठ मेहापहः परः॥३४॥

और—ताभिः पिडकाभिः उपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्। तत्र पूर्वरूपेष्वपतर्पणं वनस्पतिकषायं बस्तमूत्रं चोपदिशेत् (पानार्थम्)। एवमकुर्वतः तस्य मधुराऽऽहारस्य मूत्रं स्वेदः श्लेष्मा च मधुरीभवति प्रमेहश्चाभिव्यक्तीभवति, तत्रोभयतः संशोधनमासेवेत्। एवमकुर्वतः तस्य दोषाः प्रवृद्धा मांसशोणिते प्रदूष्य शोफं जनयन्त्युपद्रवान् वा कांश्चित्, तत्र उक्तः प्रतिकारः सिरामोक्षश्च एवमकुर्वतः तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्रं रुजो विदाहमापद्यते; तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च, एवमकुर्वतः तस्य पूयोऽभ्यन्तरमवदार्य उत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवति। असाध्यः तस्मात् प्रमेहिणमादित एवोपक्रमेत्।४। सु. चि. अ. १२॥

इत्यष्टांगहृदये चिकित्सितस्थाने द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो विद्रधिवृद्धिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब विद्रधि रोग तथा वृद्धि रोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

सामान्य चिकित्सा—

विद्रधिं सर्वमेवामं शोफवत् समुपाचरेत्।
प्रततं च हरेद्रक्तं पक्वे तु व्रणवत्क्रिया॥३॥

व्याख्या—सभी विद्रधियों की आमावस्था में व्रण-शोफ के समान चिकित्सा करे तथा बार २ जलौका द्वारा रक्त मोक्षण करे और पक जाने पर व्रण के समान पटन, शोधन एवं रोपण क्रिया करे।

वक्तव्य—विद्रधि एवं वृद्धि नामक रोगों का वर्णन निदान अ. ११ में देखिये और सु. चि अ. १६ तथा १९ में और च. सू. अ. १७ तथा चि. अ. १२. में तथा अ. सं, वि. अ. १५ में देखिये।१'

विशिष्ट चिकित्सा—

पञ्चमूलजलैर्धौतं वातिकं लवणोत्तरैः।
भद्रादिवर्गयष्ट्याह्व-तिलैरालेपयेद् व्रणम्॥२॥
वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च।
विदारीवर्गसिद्धेन त्रैवृतेनैव रोपयेत्॥३॥
क्षालितं क्षीरितोयेन लिम्पेद्यष्ट्यमृतातिलैः।
पैत्तं घृतेन सिद्धेन मञ्जिष्ठोशीरपद्मकैः॥४॥
पयस्याद्विनिशाश्रेष्ठायष्टीदुग्धैश्च रोपयेत्।
न्यग्रोधादिप्रबालत्वक्फलैर्वा कफजं पुनः॥५॥
आरग्वधाम्बुना धौतं सक्तुकुम्भनिशातिलैः।
लिम्पेत्कुलत्थिकादन्ती-त्रिवृच्छ्यामाऽग्नितिल्वकैः॥६॥
ससैन्धवैः सगोमूत्रैस्तैलं कुर्वीत रोपणम्।
रक्तागन्तूद्भवे कार्या पित्तविद्रधिवत्क्रिया॥७॥

व्याख्या—वात जनित विद्रधि पर—बिल्वादि पंचमूल के क्वाथ का सेचन करे और देवदार्वादि वर्ग (सू. अ. १५) के द्रव्य, मुलैटी तथा तिलों में लवण मिलाकर लेप करे। इस लेप से जब फूट जाय तब वैरेचनिक वर्ग (निकुम्भ कुम्भ आदि श्लोक सू. अ, १५ के द्रव्यों के योग से सिद्ध त्रैवृत (घृत तैल एवं वसा मिलित) नामक स्नेह से व्रण का शोधन करके विदारिपञ्चांगुल आदि वर्ग (सू. अ. १५) के द्रव्यों के संयोग से सिद्ध त्रैवृत नामक स्नेह से रोपण करे। पित्त जनित विद्रधि पर—न्यग्रोधादि क्षीरी वृक्षों के क्वाथ का सेचन करे

और मुलेठी, गिलोय तथा तिलों का लेप करे फूट जाने पर—मजीठ, खश, पद्मकाष्ठ, क्षीरविदारी, हल्दी, दारु हल्दी, त्रिफला, मुलेठी तथा दूध के योग से सिद्ध घृत से रोपण करे अथवा न्यग्रोधादि गण (सू. अ. १५) के कोमल पत्र, छाल तथा फलों के योग से सिद्ध घृत से रोपण करे। और कफजनित विद्रधि पर—आरग्वधादि गण (सू. अ. १५) के द्रव्यों के क्वाथ का सेचन करे और—सत्तू निसोत, हल्दी तथा तिलों का लेप करे फूट जाने पर—कुलथी, दन्तीमूल, निसोत, कृष्ण सारिवा, चित्ता, लोध सैन्धव लवण तथा गोमूत्र के योग से सिद्ध तैल से रोपण करे। रक्त जनित तथा आगन्तु कारण जनित विद्रधि में पित्त विद्रधि के समान चिकित्सा करे।

आभ्यन्तर विद्रधि की चिकित्सा—

वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरस्थिते।
ऊषकादिप्रतीवापं पूर्वाह्णे विद्रधौ पिबेत् ॥८॥
घृतं विरेचनद्रव्यैः सिद्धं ताभ्यां च पाययेत्।
निरूहं स्नेहवस्तिं च ताभ्यामेव प्रकल्पयेत् ॥९॥
पानभोजनलेपेषु मधुशिग्रुः प्रयोजितः।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥१०॥

व्याख्या—अन्तर्विद्रधि जब तक अपक्व हो तब तक-प्रतिदिन प्रातःकाल—वरुणादि गण का क्वाथ—ऊषकादि गण का (सू. अ. १५) प्रक्षेप मिलाकर पीना चाहिये। और उक्त दोनों गणों के द्रव्यों तथा विरेचन गण (निकुंभ कुंभ आदि सू. अ. १५) के द्रव्यों के योग से सिद्धघृत पिलावे तथा उन्हीं दोनों गणों के योग से निरूहण वस्ति और उन्हीं दोनों गणों के योग से सिद्ध घृत से अनुवासन वस्ति देवे। और—पीने के, खाने के तथा लेपन के रूप में मीठे सहजन का कल्क मिलाकर प्रयोग करने से अपक्व विद्रधि नष्ट हो जाता है। उस में दोषानुसार अन्यान्य द्रव्यों का संयोग भी किया जा सकता है ॥८-१०॥

त्रायन्त्यादि क्वाथ—

त्रायन्तीत्रिफलानिम्बकटुकामधुकं समम्।
त्रिवृत्पटोलमूलाभ्यां चत्वारोंऽशाः पृथक् पृथक् ॥११॥
मसूरान्निस्तुषादष्टौ तत्क्वाथः सघृतो जयेत्।
विद्रधीगुल्मवीसर्प-दाहमोहमदज्वरान् ॥१०॥
तृण्मूर्च्छाच्छर्दिहृद्रोगपित्तासृक्कुष्ठकामलाः।

व्याख्या—त्रायमाणा, त्रिफला, निम्ब की छाल, कुटकी तथा मुलेठी १-१ भाग, निसोत तथा परवल की जड़ ४-४ भाग तथा छिलका रहित मसूर की दाल ७ भाग मिलाकर क्वाथ करे और उसमें घृत मिलाकर पीवे। यह क्वाथ—विद्रधि, गुल्म, वीसर्प, दाह, मोह, मद, ज्वर, तृषा, मूर्च्छा, छर्दि, हृद्रोग, रक्तपित्त, कुष्ठ एवं कामलाको नष्ट करता है ॥११-१२।

त्रायमाणादि घृत—

कुडवं त्रायमाणायाः साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ॥१३॥
कुडवं तद्रसाद्धात्रीस्वरसात्क्षीरतो घृतात्।
कर्षांऽशं कल्कितं तिक्तात्रायन्तीधन्वयासकम् ॥१४॥
मुस्तातामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलम्।
पचेदेकत्र संयोज्य तद्घृतं पूर्ववद्गुणैः ॥१५॥

व्याख्या—एक कुडव भर त्रायमाणा को आठगुने जल में पकावे एक कुडव रहने पर छान लेवे, आमला का स्वरस १ कुडव, दूध १ कुडव तथा घृत १ कुडव, कुटकी, त्रायमाणा, धमासा, मोथा, भूमि आमला, शतावर, जीवन्ती, चन्दन तथा कमल १-१ कर्ष लेकर कल्क बनावे। सब को एक साथ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—पूर्वोक्त त्रायन्त्यादि क्वाथ के समान गुण करता है ॥१३-१५

द्राक्षादि घृत—

द्राक्षामधूकं खर्जूरं विदारी सशतावरी।
परूषकाणि त्रिफला तत्क्वाथे पाचयेद्घृतम् ॥१६॥
क्षीरेक्षुधात्रीनिर्यासे प्राणदाकल्कसंयुतम्।
तच्छीतं शर्कराक्षौद्रपादिकं पूर्ववद्गुणैः ॥१७॥

व्याख्या—दाख, मुलेठी, खजूर, विदारी कन्द, शतावर, फालसा के सूखे फल तथा त्रिफला का क्वाथ, गोघृत, दूध, ईख का रस, आमला का रस तथा हरड का कल्क। सब को मिलाकर घृत सिद्ध करे। शीतल होने पर चतुर्थांश खण्ड तथा मधु मिलाकर खावे। यह योग भी त्रायन्त्यादि क्वाथ के समान गुण करता है ॥१६-१७॥

विद्रधि में रक्त स्रावण—

हरेच्छृङ्गादिभिरसृक् सिरया वा यथान्तिकम्।

व्याख्या—विद्रधि में से शृंग-सिंगी एवं जोंक आदि द्वारा अथवा सिरावेध द्वारा रक्त निकालने का यथासम्भव उपाय करे।

वक्तव्य—आम विद्रधि में से रक्त निकाल देने पर पाकारम्भ नहीं होता।

पच्यमान विद्रधि पर उपनाह आदि—

विद्रधिं पच्यमानं च कोष्ठस्थं बहिरुन्नतम् ॥१८॥
ज्ञात्वोपनाहयेत् शूले स्थिते तत्रैव पिण्डिते।
तत्पार्श्वपीडनात्सुप्तौ दाहादिष्वल्पकेषु च ॥१९॥
पक्वः स्याद्विद्रधिं भित्त्वा व्रणवत्तमुपाचरेत्।
अन्तर्भागस्य चाप्येतच्चिह्नं पक्वस्य विद्रधेः ॥२०॥
पक्वः स्रोतांसि सम्पूर्य स यात्यूर्ध्वमधोऽथवा।

स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशिनः ॥२१॥
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षेद्भिषगुपद्रवान् ।
असम्यग्वहति क्लेदे वरुणादिसुखाम्भसा ॥२२॥
पाययेन्मधुशिग्रुं वा यवागूं तेन वा कृताम् ।
यवकोलकुलत्थोत्थयूषैरन्नं च शस्यते ॥२३॥

व्याख्या—कोष्ठ के भीतर की विद्रधि जब पक रही होती है तब बाहिर की ओर उन्नत हो गई रहती है इस दशा में उस पर उपनाह स्वेद करे। उपनाह करते करते जब शूल शान्त हो जाय, विद्रधि पिण्डाकार हो जाय, आस पास दबाने पर वेदना न हो और दाह आदि लक्षण घट गये हों तब जान लेवें कि विद्रधि पक गई है। इस दशा में उसका भेदन करके व्रण के समान उचित उपचार करे। अन्तर्विद्रधि के पकने का भी यही लक्षण है। वह अन्तर्विद्रधि पककर फूट जाने पर—स्रोतों में भर—आकर उपर के अथवा अधोभाग के स्रोतों द्वारा बहती है—उस का पूय बहता है। इस दशा में अपने आप बहने वाले दोष पूय की उपेक्षा करे—बहने देवें—रोकने का प्रयत्न न करे। परन्तु पथ्य आहार देता रहे। दस अथवा बारह दिन उपद्रवों से रक्षा करते हुए चिकित्सक उसे बहने देवे। यदि पूय—भली भाँति न बह रहा हो तो—वरुणादि गण का कोसा जल पिलावे, मीठे सहजन का कल्क खिलावे अथवा उसी के योग से बनाई गई यवागू खिलावे अथवा—जौ, कोल, कुलथी के जूस के साथ भात देवे ॥१९-२३॥

दश दिन के पश्चात्—

ऊर्ध्वं दशाहात्त्रायन्तीसर्पिषा तैल्वकेन वा ।
शोधयेद्बलतः शुद्धः सक्षौद्रं तिक्तकं पिबेत् ॥२४॥
सर्वशो गुल्मवच्चैनं यथादोषमुपाचरेत् ।

व्याख्या—दस दिन या बारह दिन पर्यन्त विद्रधि का पूय—बह चुकने के पश्चात्, रोगी के बलानुसार त्रायन्ती घृत अथवा तैल्वक घृत का पान करा कर शोधन करे और शोधन हो जाने पर मधु मिलाकर तिक्तक घृत (कुष्ठ चिकित्सोक्त—अ० १९) का पान करना चाहिये॥ और वातादि दोषों के अनुसार सब व्यवस्था गुल्म रोग के समान करनी चाहिये ॥२४॥

विद्रधि में गुग्गुलु एवं शिलाजतु—

सर्वावस्थासु सर्वासु गुग्गुलुं विद्रधीषु च ॥२५॥
कषायैर्यौगिकैर्युञ्ज्यात् स्वैः स्वैस्तद्वच्छिलाजतु।

व्याख्या—सभी विद्रधियों की सभी अवस्थाओं में (अपक्व तथा पक्व अवस्था के अनुसार) उपयोगी कषायों के साथ—गुग्गुलु अथवा शिलाजीत का प्रयोग करे ॥२५॥

सावधान—

पाकं च वारयेद्यत्नात् सिद्धिः पक्वे हि दैविकी ॥२६॥
अपि चाऽऽशु विदाहित्वाद्विद्रधिः सोऽभिधीयते ।
सति चालोचयेन्मेहे प्रमेहाणां चिकित्सितम् ॥२७॥

व्याख्या—विद्रधि की प्रयत्नपूर्वक पाक से रक्षा करे यथासम्भव उसे पकने से बचावे क्यों कि पक जाने पर—ईश्वर ही रक्षक है। और विद्रधि शीघ्र पक भी जाता है—शीघ्र पकनेवाला होने के कारण ही उसे "विद्रधि" कहा जाता है। यदि प्रमेह रोग के कारण—प्रमेह पिटिका वाली विद्रधि हो तो प्रमेह चिकित्सा भी साथ २ अवश्य करें ॥२६-२७॥

स्तनविद्रधि चिकित्सा—

स्तनजे व्रणवत्सर्वं न त्वेनमुपनाहयेत् ।
पाटयेत्पालयन् स्तन्यवाहिनीः कृष्णचूचुकौ ॥२८॥
सर्वास्वामाद्यवस्थासु निर्दुहीत च तत्स्तनम् ।

व्याख्या—स्तनविद्रधि (यह नारियों के स्तन में विशेषतः होती है) में—व्रण शोथ के समान सब चिकित्सा करे। इस पर पकने के लिये उपनाह नहीं करना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर यदि पाटन कर्म करना ही पड़े तो स्तन-चूचकों में रहनेवाली स्तन्य वाहिनी सिराओं की रक्षा करता हुआ पाटनकर्म करे। सभी अवस्थाओं में स्तनों में से दूध निकालता रहे ॥२८॥

इति विद्रधि चिकित्सा—

अथ वृद्धि चिकित्सा—

अब अण्डकोष की वृद्धि की चिकित्सा लिखी जाती है—

वक्तव्य—देखिये सु. चि. अ, १९।

वातज वृद्धि की चिकित्सा—

शोधयेत्त्रिवृता स्निग्धं वृद्धौ स्नेहैऽनिलात्मके ॥२९॥
कोशाम्रतिल्वकैरण्डसुकुमारकमिश्रकैः ।
ततोऽनिलघ्ननिर्यूहकल्कस्नेहैर्निरूहयेत् ॥३०॥
रसेन भोजितं यष्टितैलेनान्वासयेदनु।
स्वेदप्रलेपा वातघ्नाः पक्वे भित्त्वा व्रणक्रिया॥३१॥

व्याख्या—वातजनित वृद्धि में—प्रथम घृत, तैल एवं वसा को मिलाकर तथा पिलाकर स्नेहन करे तत्पश्चात् विरेचन दे देवे। अथवा—कोशाम्र अथवा लोध के योग से सिद्ध तैल से अथवा एरण्ड तैल से अथवा सुकुमार नामक स्नेह अथवा मिश्रक स्नेह (गुल्म रोग चिकित्सित अ. १४) नामक स्नेहों के प्रयोग से विरेचन करावे। तत्पश्चात्—वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ,

कल्क तथा स्नेहों के योग से निरूहण वस्तियाँ देवे, फिर मांसरस के साथ भात खिला कर, मुलेठी के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध तैल का अनुवासन करे। और वृद्धि पर वात नाशक स्वेदन एवं लेपन करे। इस प्रकार पक जाने पर भेदन क्रिया करके व्रण के समान शोधन-रोपण चिकित्सा करे।

वक्तव्य—सक्षीरं वा पिबेत् मांसं तैलमेरण्डसम्भवम् ।६ भेदन करते समय—सेवनीं परिवर्जयेत् ।८। सु. चि. अ. ।१६। वृद्धि कभी दैवयोग से पक भी जाती है ॥२९-३१॥

पित्तज विद्रधि चिकित्सा—

पित्तरक्तोद्भवे वृद्धावामपक्वे यथायथम् ।
शोफव्रणक्रियां कुर्यात् प्रततं च हरेदसृक् ॥३२॥

व्याख्या—पित्तजनित वृद्धि में जब वह अपक्व हो तब यथायोग्य व्रणशोथ के समान और पक जाने पर व्रण के समान चिकित्सा करे और रक्त जनित वृद्धि में बार २ जौंक द्वारा रक्त निकाले।

वक्तव्य—पित्तजायामपक्वायां पित्तग्रन्थिक्रमो हितः ।
पक्वायां भेदयेत् भिन्नां शोधयेत् शौद्रसर्पिषा ।
शुद्धायां च भिषग् दद्यात् तैलं कल्कं च रोपणम् ॥१०॥
रक्तजायां जलौकोभिः शोणितं निर्हरेत् भिषक् ।
पिबेत् विरेचनं चाऽपि शर्कराक्षौद्रसंयुतम् ॥११॥
पित्तग्रन्थिक्रमं कुर्यात् आमे पक्वे च सर्वदा ।
सु. चि. अ. १६ ॥३२॥

कफज वृद्धि चिकित्सा—

गोमूत्रेण पिबेत्कल्कं श्लैष्मिके पीतदारुजम् ।
विम्लापनादृते चाऽत्र श्लेष्मग्रन्थिक्रमो हितः ॥३३॥
पक्वे च पाटिते तैलमिष्यते व्रणशोधनम् ।
सुमनोऽरुष्कराङ्कोल्लसप्तपर्णेषु साधितम् ॥३४॥
पटोलनिम्बरजनीविडङ्गकुटजेषु च ।

व्याख्या—कफजनित वृद्धि रोग में—दारु हल्दी का कल्क गोमूत्र के साथ पीवे। और विम्लापन क्रिया के अतिरिक्त सब चिकित्सा-कफग्रन्थि के समान करे। पक जाने पर पाटन भेदन क्रिया करके व्रणशोधन तैल का प्रयोग करे जो तुलसी के पत्र, भिलावा, अंकोल तथा सप्तपर्ण के संयोग से सिद्ध किया गया हो। अथवा— परवल के पत्र, निम्ब के पत्र, हल्दी, वायविडंग तथा कुरैया की छाल के योग से सिद्ध किया गया हो।

वक्तव्य—वृद्धि कफात्मिकामुष्णैः मूत्रपिष्टैः प्रलेपयेत् १२
पीतदारुकषायं वा पिबेत् मूत्रेण संयुतम् ॥१३॥
सु. चि अ. १६ ॥३३-३४॥

मेदोजवृद्धि चिकित्सा—

मेदोजं मूत्रपिष्टैन सुस्विन्नं सुरसादिना ॥३५॥
शिरोविरेकद्रव्यैर्वा वर्जयन्फलसेवनीम् ।
दारयेद्वृद्धिपत्रेण सम्यङ्मेदसि सूद्धृते ॥३६॥
व्रणं माक्षिककासीससैन्धवप्रतिसारितम् ।
सीव्येदभ्यञ्जनं चाऽस्य योज्यं मेदोविशुद्धये ॥३७॥
मनःशिलैलासुमनोग्रन्थिभल्लातकैः कृतम् ।
तैलमाव्रणसन्धानात्स्नेहस्वेदौ च शीलयेत् ॥३८॥

व्याख्या—मेदोजनित वृद्धि में—उस पर स्वेदन करके, सुरसादिगण के द्रव्यों को अथवा शिरोविरेचन गण (सू. अ. १५) के द्रव्यों को गोमूत्र में पीस कर लेप करे। शस्त्र क्रिया के पूर्व उन्हीं से स्वेदन करके, फल-अण्ड तथा सीवन को बचाकर, वृद्धिपत्र नामक शस्त्र से दारण कर्म करे और मेदस् को भलीभांति निकाल देवे तथा कासीस एवं सैन्धव लवण को सूक्ष्म पीस, मधु में मिलाकर व्रण पर प्रतिसारण करे और सीवन कर्म कर देवे और मेदो विशुद्धि के लिये मैनसिल, बड़ी इलायची तुलसी के पत्र, पीपलामूल तथा भिलावा के योग से सिद्ध तैल का अभ्यंग करता रहे और व्रणरोपण पर्यन्त मृदु स्नेहन तथा स्वेदन का सेवन करता रहे ॥३५-३८॥

मूत्रज एवं अन्त्रज वृद्धि की चिकित्सा—

मूत्रजं स्वेदितं स्निग्धैर्वस्त्रपट्टेन वेष्टितम् ॥
विध्येदधस्तात्सेवन्या स्रावयेच्च यथोदरम् ॥३९॥
व्रणं च स्थगिकाबद्धं रोपयेद्, अन्त्रहेतुके ।
फलकोशमसम्प्राप्ते चिकित्सा वातवृद्धिवत् ॥४०॥

व्याख्या—मूत्रजनित वृद्धि पर स्निग्ध द्रव्यों द्वारा स्वेदन करके, वस्त्र की पट्टी से बाँध कर, सीवन के एक ओर एवं नीचे व्रीहिमुख शस्त्र से वेधन कर्म करे और उस विद्ध मार्ग में दो मुखवाली नाली डाल कर, उस में संचित मूत्र जैसे द्रव का स्रावण कर देवे जैसे जलोदर में किया जाता है। तत्पश्चात् नाली निकाल कर स्थगिका नामक बन्ध (सू. अ. २९ में बन्ध के प्रकार देखिये) बाँध देवें और व्रण के समान रोपण कर्म करे। अन्त्र जनित वृद्धि में—जब वह अण्डकोश में न आती हो तब वात वृद्धि के समान चिकित्सा करे ॥३९-४०॥

सुकुमार रसायन—

पचेत्पुनर्नवतुलां तथा दशपलाः पृथक् ।
दशमूलपयस्याश्व गन्धैरण्डशतावरीः ॥४१॥
द्विदर्भशरकाशेक्षु-मूलपोटगलान्विताः ।
वहेऽपामष्टभागस्थे तत्र त्रिंशत्पलं गुडात् ॥४२॥
प्रस्थमेरण्डतैलस्य द्वौ घृतात्पयसस्तथा ।

आवपेद् द्विपलांशं च कृष्णातन्मूलसैन्धवम् ॥४३॥
यष्टीमधुकमृद्वीकायवानीनागराणि च ।
तत्सिद्धं सुकुमाराख्यं सुकुमारं रसायनम् ॥४४॥
वातातपाध्वयानादिपरिहार्येष्वयन्त्रणम् ।
प्रयोज्यं सुकुमाराणामीश्वराणां सुखात्मनाम् ॥४५॥
नृणां स्त्रीवृन्दभर्तॄणामलक्ष्मीकलिनाशनम् ।
सर्वकालोपयोगेन कान्तिलावण्यपुष्टिदम् ॥४६॥
वर्ध्म-विद्रधि-गुल्मार्शो-योनिमेढ्रानिलार्तिषु ।
शोफोदरखुडप्लीहविड्विबन्धेषु चोत्तमम् ॥४७॥

व्याख्या—पुनर्नवा १ तुला (१०० पल) और दशमूल के १० द्रव्य, क्षीर विदारी, असगन्ध, एरण्ड मूल, शतावर, कुश दाभ शर काश ईख तथा नरसल की जड़ें १०-१० पल लेकर एवं कूट कर एक वह (४ द्रोण) जल में पकावे, अष्टमांश रहने पर छान लेवे और उसमें गुड़ ३० पल, एरण्ड तैल १ प्रस्थ, गोघृत तथा गोदुग्ध २-२ प्रस्थ मिला देवे। उसमें पीपल, पीपलामूल, सैन्धवलवण, मुलेठी, मुनक्का, अजवायन तथा सोंठ २-२ पल मिलाकर पाक करे जब अवलेह तैयार हो जाय तब उतार लेवे। यह सुकुमार नामक सुन्दर रसायन है। इसके सेवन काल में वात सेवन, आतपसेवन, मार्ग गमन तथा सवारी करना आदि परिहार्यों से कोई रुकावट नहीं है। यह रसायन—सुकुमार, राजामहाराजा, धनिक, सुखी, तथा अनेक नारियों वाले—अधिक मैथुन करने वाले मानवों को खिलाना चाहिये। यह अलक्ष्मी—निर्धनता को तथा क्लेशों को नष्ट करता है, सदा उपयोग में लाने से—कान्ति, लावण्य तथा पुष्टि देता है और वृद्धि, अन्त्रवृद्धि, विद्रधि, गुल्म, अर्श, योनिरोग, उपदंश आदि शिश्नरोग, वातव्याधि, शोथ, उदररोग, वातरक्त, प्लीह विकार तथा पुरीषरोध में लाभदायक है॥४१-४७॥

अन्त्र वृद्धि में अन्य उपचार—

यायाद्वर्ध्म न चेच्छान्तिं स्नेहरेकानुवासनैः ।
बस्तिकर्म पुरः कृत्वा वङ्क्षणस्थं ततो दहेत् ॥४८॥
अग्निना मार्गरोधार्थं मरुतः अर्धेन्दुवक्त्रया ।
अङ्गुष्ठस्योपरि स्नावपीतं तन्तुसमं च यत् ॥४९॥
उत्क्षिप्य सूच्या तत्तिर्यग्दहेच्छित्त्वा यतो गदः ।
ततोऽन्यपार्श्वेऽन्ये त्वाहुर्दहेद्वाऽनामिकाङ्गुलेः ॥५०॥
गुल्मेऽन्यैर्वातकफजे प्लीह्नि चायं विधिः स्मृतः ।
कनिष्ठिकानामिकयोर्विश्वाच्यां च यतो गदः ॥५१॥

व्याख्या—अन्त्रवृद्धि यदि उक्त प्रकार के स्नेहन, रेचन तथा अनुवासन के प्रयोगों से शान्त न हो तो प्रथम निरूहण वस्ति द्वारा मलाशय शुद्ध करे तत्पश्चाद् वंक्षण में स्थित वृद्धि को तथा वायु का मार्ग रोकने के लिये अग्नि द्वारा दाह कर्म करे। अथवा अंगूठा के ऊपर, पीला तथा तन्तु जैसा जो स्नायु है उसे अर्द्धेन्दुवक्त्रा सूची से उठा कर तथा तिरछा काट कर दाह कर्मकर देवे। अथवा जिस ओर वृद्धिरोग हो उससे दूसरे पार्श्व में जो अंगूठा है उसपर के स्नायु को तिरछा काट कर अग्नि कर्म करे। अथवा अनामिका अंगुली के ऊपर जो उक्त प्रकार का स्नायु है उसको तिरछा काट कर दाहकर्म करे। कुछ आचार्यों का कथन है कि वात-कफजनित गुल्मरोग एवं प्लीहा रोग में इसी विधि से अग्नि कर्म करना चाहिये। और विश्वाची नामक वात व्याधि में जिस ओर रोग हो उस ओर की कनिष्ठिका एवं अनामिका नामक अंगुलियों के ऊपर जो पीला एवं तन्तु जैसा स्नायु है उसे उक्त सूची से उठाकर तिरछा काट कर अग्नि कर्म करे।

वक्तव्य—देखिये कफज गुल्म में अग्नि कर्म का विधान अगले अध्याय १४ में श्लोक ६८ तथा ६६। तथा प्लीहा-रोग का अग्निकर्म अगले अ० १५ श्लोक ६६ ॥४८-५१॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथाऽतो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब गुल्म रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—गुल्म रोग का वर्णन—निदान स्थान अ. ११ में देखिये। और च. चि. अ. ५ तथा सु. उ. तं. अ. ४२ में और अ. सं. चि. अ. १३ में देखिये।

वात गुल्म की चिकित्सा—

गुल्मं बद्धशकृद्वातं वातिकं तीव्रवेदनम् ।
रूक्षशीतोद्भवं तैलैः साधयेद्वातरोगिकैः ॥१॥
पानाऽन्नाऽन्वासनाऽभ्यङ्गैः स्निग्धस्य स्वेदमाचरेत् ।
आनाहवेदनास्तम्भविबन्धेषु विशेषतः ॥२॥
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम् ।
भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति ॥३॥

व्याख्या—जिस गुल्म में पुरीष एवं अपान वायु अवरुद्ध हो, तीव्र वेदना हो एवं वह गुल्म रूक्ष एवं शीत आहार-विहार से उत्पन्न हुआ हो उस में वात व्याधि में (अ. २१) कहे गये तैलों का प्रयोग करे। और उक्त

तैलों के पान, भोजन, अनुवासन तथा अभ्यंग से स्निग्ध रोगी का स्वेदन करे। विशेषतः आनाह, वेदना, स्तम्भ (शरीर में स्तब्धता) तथा पुरीष आदि की रुकावट में स्वेदन अवश्य करे। स्वेदन का फल—स्नेहन से स्निग्ध रोगी का स्वेदन स्रोतों को मृदु करके, बढ़ी हुई वायु को जीत करके और पुरीष आदि के विबन्ध को तोड़ करके गुल्म को नष्ट कर देता है॥१-३॥

गुल्म में स्नेहपान एवं वस्ति—

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे।
पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये॥४॥

व्याख्या—नाभि से उपरिभाग (हृदय एवं पार्श्व) के गुल्म में स्नेहपान विशेषरूप से लाभदायक होता है, मलाशय (पक्वाशय—नाभि का निचला भाग) में गुल्म होतो—निरूहण एवं अनुवासन वस्ति का प्रयोग विशेष रूप से लाभ करता है और जठर (नाभि—अन्त्र) में हो तो स्नेहपान एवं वस्ति कर्म दोनों का प्रयोग करे॥४॥

वातगुल्म में अन्नपान—

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रदापयेत्॥५॥

व्याख्या—जिस गुल्म में अग्नि प्रदीप्त हो तथा अपान वायु एवं पुरीष की रुकावट हो उस में—पुष्टिकारक स्निग्ध एवं उष्ण अन्नों एवं पानों का सेवन करावे॥५॥

गुल्म में वस्ति—

पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः।
प्रयोज्या वातजे गुल्मे कफपित्तानुरक्षिणः॥६॥
वस्तिकर्म परं विद्यात् गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम्।
स्वस्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति॥७॥
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः।
प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः॥८॥

व्याख्या—वातजनित गुल्म में—बार २ स्नेहपान, निरूहण वस्ति तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये और साथ ही वात एवं पित्त की रक्षा-शान्ति भी करते रहना चाहिये। वस्तिकर्म गुल्म शान्ति का उत्तम उपाय है। क्योंकि वह वायु को पक्वाशय में ही जीत कर गुल्म को नष्ट कर देता है। इसलिये बार २ निरूहण एवं अनुवासन का साथ २ प्रयोग करने से वातज, पित्तज एवं कफज गुल्म शान्त हो जाते हैं॥६-८॥

हिंग्वादि घृत—

हिङ्गुसौवर्चलव्योषबिडदाडिमदीप्यकैः।
पुष्कराजाजिधान्याम्लवेतसक्षारचित्रकैः॥९॥
शठीवचाजगन्धैलासुरसैर्दधिसंयुतैः।
शूलानाहहरं सर्पिः साधयेद् वातगुल्मिनाम्॥१०॥

व्याख्या—हिंगु, सौंचर लवण, सोंठ, मरिच, पीपल, विडलवण, अनारदाना, अजवायन, पोहकर मूल, जीरा, धनियाँ, अम्लवेत, जौखार, चित्ता, हाऊवेर, कचूर, बालवच, अजमोद, बड़ी इलायची तथा तुलसी का कल्क १ सेर, दही १६ सेर और गोघृत ४ सेर मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—शूल, आनाह एवं वातगुल्म को नष्ट करता है॥९-१०॥

हपुषाद्य घृत—

हपुषोषणपृथ्वीकपञ्चकोलकदीप्यकैः।
साजाजिसैन्धवैर्दध्ना दुग्धेन च रसेन च॥११॥
दाडिमान्मूलकात्कोलात्पचेत्सर्पिर्निहन्ति तत्।
वातगुल्मोदरानाहपार्श्वहृत्कोष्ठवेदनाः॥१२॥
योन्यर्शोग्रहणीदोषकासश्वासारुचिज्वरान्।

व्याख्या—हाऊवेर, मरिच, कलौञ्जी, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता, सोंठ, अजवायन, जीरा तथा सैन्धव लवण का कल्क, दही, दूध, अनारका रस, मूली का रस तथा बेर का रस और घृत मिलाकर पाक करे। यह घृत—वातगुल्म, उदररोग, आनाह, पार्श्वशूल, हृदयशूल, उदरशूल, योनिव्यापद, अर्शरोग, ग्रहणीरोग, कास, श्वास, अरुचि तथा ज्वर को नष्ट करता है॥११-१२॥

दाधिक घृत

दशमूलं बलां कालां सुषवीं द्वौ पुनर्नवौ॥१३॥
पौष्करैरण्डरास्नाश्वगन्धभार्ङ्ग्यमृताशठीः।
पचेद्गन्धपलाशं च द्रोणेऽपां द्विपलोन्मितम्॥१४॥
यवैः कोलैः कुलत्थैश्च माषैश्च प्रास्थिकैः सह।
क्वाथेऽस्मिन् दधिपात्रे च घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥१५॥
स्वरसैर्दाडिमाम्रातमातुलुङ्गोद्भवैर्युतम्।
तथा तुषाम्बुधान्याम्लयुतैः श्लक्ष्णैश्च कल्कितैः॥१६॥
भार्ङ्गीतुम्बुरुषड्ग्रन्थाग्रन्थिरास्नाऽग्निधान्यकैः।
यवानकयवान्यम्लवेतसासितजीरकैः॥१७॥
अजाजीहिङ्गुहपुषाकरवीयूषकोषकैः।
निकुम्भकुम्भमूर्वेभपिप्पलीवेल्लदाडिमैः॥१८॥
श्वदंष्ट्रात्रपुसैर्वारुबीजहिंस्राऽश्मभेदकैः।
मिशिद्विक्षारसुरससारिवानीलिनीफलैः॥१९॥
त्रिकटुत्रिपटूपेतैर्दाधिकं तद्व्यपोहति।
रोगानाशुतरं पूर्वान्कष्टानपि च शीलितम्॥२०॥
अपस्मारगरोन्मादमूत्राघातानिलामयान्॥

व्याख्या—दशमूल के १० द्रव्य, बलामूल, नील के पत्र, मोटा जीरा, पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, पोहकर मूल,

एरण्ड मूल, रासना, असगन्ध, भारंगी, गिलोय, कचूर तथा तेजपत्ता २--२ पल लेकर और जौ, वेर, कुलथी तथा उरद १--१ प्रस्थ लेकर १ द्रोण जल में पकावे। अष्टमांश रहने पर छान लेवे, दही १ आढक, गो घृत १ प्रस्थ, अनार का रस, आमड़ा का रस तथा निम्बू का रस १--१ प्रस्थ, तुषाम्बु तथा धान्याम्ल नामक काञ्जियाँ १--१ प्रस्थ, भारंगी, तेजबल के बीज (तुम्बुल), वालवच, पीपलामूल, रासना, चित्ता, धनियाँ, अजवायन का भेद (मोटी अजवायन), अजवायन, अम्लवेत, काला जीरा, जीरा, हिंगु, हाउवेर, कलौञ्जी या अजमोद, अडूसा, कल्लर (ऊषर लवण), दन्ती, निसोत, मरोड़ फली, गज पीपल, विडंग, अनार दाना, गोखरू, खीरा के बीज, ककड़ी के बीज, हींस की जड़, पाषाण भेद, सौंफ, जौखार, सज्जीखार, तुलसी, सारिवा, नील के बीज, सोंठ, मरिच, पीपल, सैन्धव लवण, सौवर्चल लवण तथा विड लवण का अत्यन्त पीसा गया कल्क १ कुडव। सब को मिलाकर घृत सिद्ध करे। वह घृत—वात गुल्मोदरानाह (श्लोक १२) आदि सब रोगों को शीघ्र ही नष्ट करता है और अधिक दिनों तक सेवन करने से—अपस्मार, गर विष विकार, उन्माद, मूत्राघात तथा वात व्याधियों को नष्ट करता है ॥१३-२०॥

त्र्यूषणादि घृत—

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यचविकावेल्लचित्रकैः ॥२१॥
कल्कीकृतैर्घृतं पक्वं सक्षीरं वातगुल्मनुत्।

व्याख्या—सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला धनियाँ, चव्य, विडंग तथा चित्ता का कल्क १ सेर, गोघृत ४ सेर, गो दुग्ध १६ सेर। घृत सिद्ध करे। यह घृत वातज गुल्म को नष्ट करता है ॥२१॥

लशुनादि घृत—

तुलां लशुनकन्दानां पृथक्पञ्चपलांशकम् ॥२२॥
पञ्चमूलं महच्चाम्बुभारार्धे तद्विपाचयेत्।
पादशेषं तदर्धेन दाडिमस्वरसं सुराम् ॥२३॥
धान्याम्लं दधि चादाय पिष्टांश्चार्धपलांशकान्।
त्र्यूषणत्रिफलाहिङ्गुयवानीचव्यदीप्यकान् ॥२४॥
साम्लवेतससिन्धूत्थदेवदारूनपचेद्घृतात्।
तैः प्रस्थं तत्परं सर्ववातगुल्मविकारजित् ॥२५॥

व्याख्या—लशुन १ तुला, बिल्वादि महापञ्चमूल के पाँचों द्रव्य ५-५ पल लेकर आधा भार (२ द्रोण) जल में पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे, अनार का रस, सुरा काञ्जी तथा दही १-१ आढक, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, हींग, अजवायन, चव्य, अजमोद, अम्लवेत, सैन्धव लवण तथा देवदारु २-२ कर्ष लेकर कल्क करे। गोघृत १ प्रस्थ। सब को मिलाकर घृत सिद्ध करे। वह घृत सब प्रकार के वातज रोगों तथा गुल्म को नष्ट करता है ॥२२-२५॥

वात गुल्म में षट्पल घृत—

षट्पलं वा पिबेत् सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि।
प्रसन्नया वा क्षीरार्थः सुरया दाडिमेन वा ॥२६॥

व्याख्या—राजयक्ष्म चिकित्सा अ०५ में जो षट्पल नामक घृत लिखा गया है उसे वात-गुल्म के विनाशार्थ पीवे। परन्तु उसमें कहे गये दूध के स्थान में प्रसन्ना अथवा सुरा या अनार का रस अथवा दही का सर डालकर घृत सिद्ध करना चाहिये ॥२६॥

वातगुल्म में वमन—

घृते मारुतगुल्मघ्नः कार्यो दध्नः सरेण वा।
वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि ॥२७॥
हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम्।

व्याख्या—वातगुल्म में कफ बढ़कर, अग्नि को मन्द करके यदि अरुचि, हृल्लास, गुरुता तथा तन्द्रा को उत्पन्न कर देवे तो वमन कराकर कफ को निकाल देवे ।२७।

संकेत—

शूलानाहविबन्धेषु ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ॥२८॥
निर्यूहचूर्णवटकाः प्रयोज्या घृतभेषजैः।

व्याख्या—यदि उदर स्निग्ध होने पर भी शूल, आनाह तथा पुरीषादि का विबन्ध हो तो घृतपाकों में कही गई हिंगु आदि औषधियों के क्वाथ, चूर्ण तथा वटी बनाकर प्रयुक्त करे।

वक्तव्य—देखिये पूर्वोक्त हिंग्वादि के योग ॥२८॥

चूर्णों के अनुपान—

कोलदाडिमघर्माम्बुतक्रमद्याम्लकाञ्जिकैः ॥२९॥
मण्डेन वा पिबेत्प्रातश्चूर्णान्यन्नस्य वा पुरः।

व्याख्या—गुल्मनाशक चूर्णों (वटी आदि) को प्रातःकाल अथवा भोजन के पूर्व—बेर के रस के साथ, अनार के रस के साथ, उष्ण जल के साथ, तक्र के साथ, मद्य के साथ खट्टी काञ्जी एवं सिरका आदि के साथ अथवा मण्ड के साथ पीना चाहिये ॥२९।

चूर्णों की भावना—

चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितान्यसकृद्रसे।
कुर्वीत कार्मुकतरान् वटकान् कफवातयोः ॥३०॥

व्याख्या—कफ एवं वायु की अधिकता में—चूर्णों

को निम्बू के रस की एक से अधिक बार भावना देकर गोलियाँ बनावे (यह चूर्ण की अपेक्षा अधिक कार्य करती है) ॥३०॥

हिंग्वादि चूर्ण—

हिङ्गु वचाविजयापशुगन्धादाडिमदीप्यकधान्यकपाठाः ।
पुष्करमूलशठीहपुषाऽग्निक्षारयुगत्रिपटुत्रिकटूनि ॥३१॥
साजाजिचव्यं सहतिन्तिडीकं
सवेतसाम्लं विनिहन्ति चूर्णम् ।
हृत्पार्श्वबस्तित्रिकयोनिपायु-
शूलानि वाय्वामकफोद्भवानि ॥३२॥
कृच्छ्रान् गुल्मान्वातविण्मूत्रसङ्गं
कण्ठे बन्धं हृद्ग्रहं पाण्डुरोगम् ।
अन्नाऽश्रद्धाप्लीहदुर्नामहिध्मा—
वर्ध्माध्मानश्वासकासाग्निसादान् ॥३३॥

व्याख्या—हींग (घृतभर्जित), बालवच, हरड़, वन तुलसी, अनार दाना, अजवायन, धनियाँ, पाठा, पोहकर मूल, कचूर, हाऊवेर, चित्ता, जौखार, सज्जीखार, सैन्धव लवण, सौचर लवण, विड लवण, सोंठ, मरिच, पीपल, जीरा, चव्य, तिन्तडीक (इमली या जिरिष्क) तथा अम्ल वेत । सब द्रव्यों का समभाग चूर्ण बनावे । यह चूर्ण—हृदयशूल, पार्श्वशूल, बस्तिशूल, त्रिकशूल, योनिशूल, गुदशूल, वातजनित आमजनित कफजनित शूल, कष्टसाध्य गुल्म, वायु, मूत्र एवं पुरीष की रुकावट, गलग्रह, हृद्ग्रह, पाण्डुरोग, अरुचि, प्लीहविकार, अर्श, हिक्का, अन्त्र वृद्धि, अफरा, श्वास, कास तथा मन्दाग्नि को नष्ट करता है ॥३१-३३॥

वैश्वानर चूर्ण—

लवण-यवानी-दीप्यक-कण-नागरमुत्तरोत्तरं वृद्धम् ।
सर्वसमांशहरीतकिचूर्णं वैश्वानरः साक्षात् ॥३४॥

व्याख्या सैन्धव लवण १ भाग, अजवायन २ भाग, अजमोद ३ भाग, पीपल ४ भाग, सोंठ ५ भाग तथा छोटी हरड का चूर्ण १५ भाग । यह चूर्ण साक्षात्—स्वयं अग्नि रूप है ।

वक्तव्य—मात्रा १ तो० अनुपान उष्ण जल । इससे भली भांति पुरीषोत्सर्ग हो जाता है ॥३४॥

हिंग्वष्टक चूर्ण—

त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं जीरके द्वे ।
समधरणधृतानामष्टमो हिंगुभागः ।
प्रथमकवलभोज्यः सर्पिषा चूर्णकोऽयं
जनयति जठराग्निं वातगुल्मं निहन्ति ॥३५॥

व्याख्या—सोंठ, मरिच, पीपल, अजमोद, सैन्धव लवण, जीरा, कालाजीरा तथा घृत भर्जित हींग समभाग लेकर चूर्ण बनावे । यह चूर्ण—घृत में मिलाकर भोजन के प्रथम कवल में मिलाकर खाना चाहिये । यह—अग्नि को प्रदीप्त करता है और वात गुल्म को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—अष्टमांश के स्थान षोडशांश हिंगु भी डाला जाता है ॥३५॥

हिंग्वादि चूर्ण—शार्दूल चूर्ण—

हिंगूग्राविडशुण्ठ्यजाजिविजया-बाल्याभिधानामयै—
श्चूर्णः कुम्भनिकुम्भमूलसहितैर्भागोत्तरं वर्धितैः ।
पीतः कोष्णजलेन कोष्ठजरुजो गुल्मोदरादीनयं
शार्दूलः प्रसभं प्रमथ्य हरति व्याधीन् मृगौघानिव ॥३६॥

व्याख्या—घृत भर्जित हींग १ भाग, बालवच २ भाग, विडलवण ३ भाग, सोंठ ४ भाग, जीरा ५ भाग, हरड ६ भाग, बलामूल ७ भाग, कूठ ८ भाग, निसोत ९ भाग तथा दन्तीमूल १० भाग । सब चूर्ण बना लेवे । यह चूर्ण उष्ण जल के साथ पीवे । यह चूर्ण—उदर शूल, गुल्मरोग तथा उदररोग आदि को वैसे नष्ट कर करता है जैसे—सिंह मृगसमूह को मार डालता है ॥३६॥

सैन्धवादि चूर्ण—

सिन्धूत्थपथ्याकणदीप्यकानां
चूर्णानि तोयैः पिबतां कवोष्णैः ।
प्रयाति नाशं कफवातजन्मा
नाराचनिर्भिन्न इवामयौघः ॥३७॥

व्याख्या—सैन्धव लवण, हरड, पीपल तथा अजवायन का चूर्ण—कोसे जल के साथ पीने वालों के—कफ वातजनित रोग वैसे नष्ट हो जाते हैं जैसे बाणद्वारा नष्ट कर दिये गये हों—अर्थात् तत्काल नष्ट हो जाते हैं ।

वक्तव्य—चूर्ण बनाते समय—भिन्न द्रव्यों के चूर्ण बनाकर और उनको तौल कर मिलाना चाहिये क्योंकि द्रव्य का चूर्ण उतना नहीं बनता जितना द्रव्य लिया जाता है जैसे-जीरा यदि १ सेर लिया जाय तो उसका चूर्ण १ सेर तैयार नहीं होता ॥३७॥

पूतिकादि भस्म—

पूतीकपत्रगजचिर्भटचव्यवह्नि
व्योषं च संस्तरचितं लवणोपधानम् ।
दग्ध्वा विचूर्ण्य दधिमस्तुयुतं प्रयोज्यं
गुल्मोदरश्वयथुपाण्डुगुदोद्भवेषु ॥३८॥

व्याख्या—पूति करञ्ज के पत्र, नागकेसर, चिभडा, चव्य, चित्ता, सोंठ, मरिच, पीपल के चूर्ण को भाण्ड में बिछाकर और उसपर सैन्धव लवण धर, मुखरोध करके

जला देवे। शीतल होने पर इसे पीसकर रख लेवे। इसका प्रयोग दही के पानी के साथ करे। यह गुल्मरोग, उदर रोग, शोथ तथा पाण्डुरोग में लाभ करता है ॥३८॥

हिंग्वादि योग—

हिंगुत्रिगुणं सैन्धवमस्मात्त्रिगुणं तु तैलमैरण्डम्।
तत्त्रिगुणरसोनरसं गुल्मोदरवर्ध्मशूलघ्नम् ॥३९॥

व्याख्या—हिंगु १ भाग, सैन्धव लवण ३ भाग, एरण्ड तैल ९ भाग तथा लशुन का रस २७ भाग मिला कर पीवे। यह योग—गुल्म, उदररोग, अण्ड वृद्धि तथा शूल को नष्ट करता है ॥३९॥

मातुलुङ्गादि योग—

मातुलुंगरसो हिंगु दाडिमं विडसैन्धवम्।
सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ॥४०॥

व्याख्या—निम्बू का रस, घृत भर्जित हींग, अनार दाना, विडलवण तथा सैन्धव लवण मिला कर सुरा के साथ पीने से वातगुल्म की वेदना शान्त हो जाती है॥४०॥

शुण्ठ्यादि योग—

शुण्ठ्याः कर्षं गुडस्य द्वौ धौतात्कृष्णतिलात्पलम्।
खादन्नेकत्र सञ्चूर्ण्य कोष्णक्षीरानुपो जयेत् ॥४१॥
वातहृद्रोगगुल्मार्शोयोनिशूलशकृद्ग्रहान्।

व्याख्या—सोंठ १ कर्ष, गुड़ २ कर्ष, धुले (लुञ्चित) तिल १ पल। सब को एक साथ पीसकर खावे और अनुपान में कोसा दूध पीवे। यह योग—वातजनित हृद्रोग, गुल्म, अर्श, योनिशूल तथा पुरीष रोध को नष्ट करता है ॥४१॥

एरण्ड तैल—

पिबेदेरण्डतैलं तु वातगुल्मी प्रसन्नया ॥४२॥
श्लेष्मण्यनुबले वायौ पित्ते तु पयसा सह।

व्याख्या—वातगुल्म में कफ का अनुबन्ध हो तो दूध के साथ एरण्ड तैल पीना चाहिये ॥४२॥

विरेचन एवं रक्त मोक्षण—

विवृद्धं यदि वा पित्तं सन्तापं वातगुल्मिनः ॥४३॥
कुर्याद्विरेचनीयोऽसौ सस्नेहैरानुलोमिकैः।
तापानुवृत्तावेवं च रक्तं तस्याऽवसेचयेत् ॥४४॥

व्याख्या—वात गुल्म में—यदि पित्त विशेषरूपसे बढ़ कर सन्ताप कर रहा हो तो स्नेहमिश्रित विरेचनों से विरेचन कर देना चाहिये। विरेचन करने पर भी यदि सन्ताप कर रहा हो तो सिरावेध करके रक्तको निकाल देना चाहिये ॥४३-४४॥

लशुन क्षीर—

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुःपलम्।
क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च पाचयेत् ॥४५॥
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम्।
हृद्रोगं विद्रधिं शोषं साधयत्याशु तत्पयः ॥४६॥

व्याख्या—छिला हुआ तथा सुखाया हुआ लशुन (पक्व लशुन) ४ पल लेकर आठगुने दूध एवं जल में पकावे दूध मात्र रहने पर पिलावे। यह दूध—वात गुल्म, उदावर्त्त, गृध्रसी, विषम ज्वर, हृद्रोग, विद्रधि तथा शोष रोग को नष्ट करता है ॥४५-४६॥

तैलादि योग—

तैलं प्रसन्नागोमूत्रमारनालं यवाग्रजः।
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ॥४७॥

व्याख्या—तिल तैल, प्रसन्ना (स्वच्छ सुरा), गोमूत्र, काञ्जी तथा जौखार मिलाकर पीने से—गुल्म, उदर रोग तथा आनाह को नष्ट करता है ॥४७॥

चित्रकादि क्वाथ—

चित्रकग्रन्थिकैरण्डशुण्ठीक्वाथः परं हितः।
शूलानाहविबन्धेषु सहिंगुविडसैन्धवः ॥४८॥

व्याख्या—चित्ता की जड़, पीपलामूल, एरण्ड मूल तथा सोंठ का क्वाथ—घृत भर्जित हींग, विडलवण तथा सैन्धव लवण मिला कर पीने से—शूल आनाह तथा पुरीष रोध में बहुत लाभ होता है ॥४८॥

पुष्करादि क्वाथ—

पुष्करैरण्डयोर्मूलं यवधन्वयवासकम्।
जलेन क्वथितं पीतं कोष्ठदाहरुजापहम् ॥४९॥

व्याख्या—पोहकर मूल, एरण्ड मूल, जौ तथा धमासा का जल में क्वाथ बनाकर पीने से—उदर का दाह तथा शूल नष्ट हो जाता है ॥४९॥

बलादि क्वाथ—

वाट्यालैरण्डदर्भाणां मूलं दारु महौषधम्।
पीतं निःक्वाथ्य तोयेन कोष्ठपृष्ठांसशूलजित् ॥५०॥

व्याख्या बला, एरण्ड तथा डाभ की जड़ें, देवदारु तथा सोंठ का जल में बनाया गया और पिया गया क्वाथ—उदर, पीठ तथा अंसफलक के शूल को नष्ट करता है ॥५०॥

वात गुल्म में शिलाजीत तथा भोजन—

शिलाजं पयसाऽनल्पपञ्चमूलशृतेन वा।
वातगुल्मी पिबेद्वाट्यमुदावर्ते तु भोजयेत् ॥५१॥

स्निग्धं पिप्पलिकैर्यूषैर्मूलकानां रसेन वा ।
बद्धविण्मारुतोऽश्नीयात्क्षीरेणोष्णेन यावकम् । ५२॥
कुल्माषान्वा बहुस्नेहान् भक्षयेल्लवणोत्तरान् ।

व्याख्या—वातगुल्म में—बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ के साथ—अथवा दूध के साथ शिलाजीत पीवे । साथ में उदावर्त्त हो तो पीपल के यूष के साथ अथवा मूली के रस के साथ—स्नेहमिश्रित जौ का दलिया खावे । साथ में पुरीष एवं वायु की रुकावट हो तो उष्ण दूध के साथ जौ का दलिया खावे । अथवा पर्याप्त स्नेह तथा पर्याप्त लवण मिलाकर कुल्माष (बाकली-उबाले हुए चना एवं जौ आदि) खावे ॥५१-५२॥

गुल्म में घृत पान—

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह ॥५३॥
समलाय घृतं देयं सबिडक्षारनागरम् ।

व्याख्या—उदर में मल सञ्चय हो तो घृत में नील के बीज, निसोत, दन्तीमूल, हरड़, कबीला, बिडलवण, जौ खार तथा सौंठ का चूर्ण मिलाकर देवे ॥५३॥

नीलिनी घृत—

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम् ॥५४॥
पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पालिकानि जलाढके ।
रसेऽष्टभागशेषे तु घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥५५॥
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ।
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् । ५६॥
जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद्रसभोजनम् ।
गुल्मकुष्ठोदरव्यंगशोफपाण्ड्वामयज्वरान् ॥५७॥
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं हन्त्येतन्नीलिनीघृतम् ।

व्याख्या—नील के बीज, हरड़, बहेड़ा, आमला, रासना, बलामूल, कुटकी, वाविडंग तथा कंटकारी १-१ पल लेकर एक आढक जल में पकावे, अष्टमांश रहने पर छान लेवे और उस में १ प्रस्थ गोघृत, १ प्रस्थ दही तथा १ पल सेहुण्ड का दूध मिलाकर खिलावे—पिलावे, इस से भली-भाँति विरेचन हो जाने पर तथा भूख लगने पर मांसरस के साथ भोजन खिलावे । यह नीलिनी घृत—गुल्म, कुष्ठ, उदर रोग, व्यंग, शोथ, पाण्डुरोग, ज्वर श्वित्र, प्लीहाविकार तथा उन्माद को नष्ट करता है॥५४-५७॥

वात गुल्म में मांस तथा वारुणी—

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः ॥५८॥
शालयो मदिराः सर्पिर्वातगुल्मचिकित्सितम् ।
मितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् ॥५९॥
समण्डा-वारुणी-पानं तप्तं वा धान्यकैर्जलम् ।

व्याख्या—वातगुल्म में—मुरगा, मोर, तीतर कूञ्ज तथा बत्तख के मांस, शालिधान्यों के पदार्थ, मद्य तथा घृत लाभदायक हैं । परिमित, उष्ण, द्रव तथा स्निग्ध भोजन लाभदायक है । सुरामण्ड मिश्रित वारुणी (ताड़ी) अथवा धनियाँ के योग से पक्व जल का पान हित होता है।

वक्तव्य—च. चि. अ. ५ में—'मितमुष्णं' के स्थान में 'हितमुष्णं' पाठ है । देखिये श्लो० १११ । इसके आगे है—
मन्देऽग्नौ वर्द्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति ।
तस्मान्ना नाति सौहित्यं कुर्यान्नाऽति विलङ्घनम् ॥११२॥
सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते ।
या क्रिया क्रियते सिद्धं सा याति, न विरूक्षिते ॥११३॥

पित्तगुल्म चिकित्सा—

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम् । ६०॥
द्राक्षाऽभयागुडरसं कम्पिल्लं वा मधुद्रुतम् ।
कल्पोक्तं रक्तपित्तोक्तं गुल्मे रूक्षोष्णजे पुनः । ६१॥
परं संशमनं सर्पिस्तिक्तं वासाघृतं शृतम् ।
तृणाख्यपञ्चकक्वाथे जीवनीयगणेन वा ।६२॥
शृतं तेनैव वा क्षीरं न्यग्रोधादिगणेन वा ।
तत्राऽपि स्रंसनं युञ्ज्याच्छीघ्रमात्ययिके भिषक्॥६३॥
वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा पयसाऽपि वा ।

व्याख्या—स्निग्ध एवं उष्ण आहारों के सेवन से उत्पन्न पित्तज गुल्म में—दाख, हरड़ एवं गुड़ के क्वाथ से अथवा मधुमिश्रित कबीला के सेवन से अथवा कल्प स्थान अ० २ में कहे गये योगों से अथवा रक्तपित्त चिकित्सा (चि० अ० २ के त्रिवृता त्रिफला आदि योग) में कहे गये विरेचन योगों से विरेचन करना हित होता है। और रूक्ष एवं उष्ण आहारों के सेवन से उत्पन्न पित्तज गुल्म में—तिक्तक घृत (कुष्ठ चि० अ० १८) अथवा वासा घृत (चि, अ. २), अथवा—तृण पञ्चमूल के क्वाथ (सू. अ. ६) में पकाया गया घृत अथवा जीवनीयगण के योग से सिद्ध घृत हित होता है । अथवा जीवनीयगण के योग से सिद्ध दुग्ध अथवा—न्यग्रोधादिगण के योग से सिद्ध दुग्ध हित होता है । उसमें भी—यदि गुल्म आत्ययिक—शीघ्र पकने वाला—हो तो विरेचनीय गण (सू. अ. १५) के द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत अथवा दुग्ध के योग से तत्काल विरेचन दे देवे ॥६०-६३॥

विरेचनार्थ घृत—

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥६४॥
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ।
पिबेद्वा तैल्वकं सर्पिर्यच्चोक्तं पित्तविद्रधौ ॥६५॥

व्याख्या—आमला एवं ईख के रस ४ प्रस्थ, गोघृत

१ प्रस्थ हरड का कल्क १ कुडव। घृत सिद्ध करे। यह घृत—पित्तगुल्म को नष्ट करता है। अथवा तैल्वक घृत (चि. अ. २१) अथवा पित्तजविद्रधि में बतलाए गये घृत (अ. १३) पीवे ॥६४-६५॥

पित्तगुल्म में द्राक्षादियोग—

द्राक्षां पयस्यां मधुकं चन्दनं पद्मकं मधु।
पिबेत्तण्डुलतोयेन पित्तगुल्मोपशान्तये ॥६६॥

व्याख्या—दाख, क्षीरविदारी, मुलेठी, श्वेतचन्दन तथा पद्मकाष्ठ का कल्क—मधुमिलाकर—चावलों के धोअन के साथ पित्तजनित गुल्म की शान्ति के लिये पीवे ॥६६॥

त्रायमाणा क्वाथ—

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम्।
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ॥६७॥
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम्।
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ॥६८॥

व्याख्या—त्रायमाण २ पल लेकर २ प्रस्थ जल में पकावे अष्टमांश रहने पर छान लेवें और उसमें समभाग दूध मिलाकर कोष्ण २ पीवें तथा उसके ऊपर जितना पीसके उतना उष्ण दूध पीवें। इससे मल निकल जाने पर पित्तजनित गुल्म शान्त हो जाता है ॥६७-६८॥

पित्तगुल्म में अभ्यङ्ग—

दाहेऽभ्यङ्गो घृतः शीतः साज्यैर्लेपो हिमौषधैः।
स्पर्शः सरोरुहां पत्रैः पात्रैश्च प्रचलज्जलैः ॥६९॥

व्याख्या—पित्तजनित गुल्म में यदि दाह हो तो—शतधौत घृत का अभ्यङ्ग करे तथा चन्दन आदि शीतवीर्य द्रव्यों के चूर्ण को घृत में फेण्ट कर लेप करे और कमल के पत्तों का स्पर्श करे और शीतल जलपूर्ण पात्रों का स्पर्श करे—दाह पीडित स्थान पर पत्र अथवा पात्र धरे ॥

रक्तमोक्षण—

विदाहपूर्वरूपेषु शूले वह्नेश्च मार्दवे।
बहुशोऽपहरेद्रक्तं, पित्तगुल्मे विशेषतः ॥७०॥
छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम्।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चाऽस्ति रुक् ॥

व्याख्या—जब पित्तगुल्म में पकने के पूर्वरूप हों तथा अग्नि मन्द हो तब बार २ विशेष रूप में—पर्याप्त मात्रा में रक्तमोक्षण करे। इस प्रकार रक्तरूपी मूल कट जानेपर गुल्मों का विदाह-पाक नहीं होता और वे शान्त भी हो जाते हैं। सत्य यह है कि—रक्त ही पाक को प्राप्त होता है और जब रक्त नहीं रहता अर्थात् निकाल दिया जाता है तब रुजा-पाकरूप रोग भी नहीं होता ॥७० ७१॥

मांस रस का प्रयोग—

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः।
समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ॥७२॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से विरेचन एवं रक्त मोक्षण के द्वारा दोष निकल जाने पर रोगी दुर्बल एवं कृश हो जाता है इस दशा में उसे हरिण आदि जाङ्गल प्राणियों के मांस रसों से तृप्त करे, कुछ बल आने पर कुछ वेदना अवशिष्ट रहे तो पुनः उक्त घृतों का सेवन करावें ॥७२॥

चिकित्सा संकेत—

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्क्रियामनुपलभ्य वा।
गुल्मे पाकोन्मुखे सर्वा पित्तविद्रधिवत्क्रिया ॥७३॥

व्याख्या—रक्त एवं पित्त की अत्यधिक वृद्धि होने से अथवा उचित चिकित्सा (विरेचन एवं रक्तमोक्षण) न होने से यदि गुल्म में पाक का प्रारम्भ हो ही जाय तो पित्त विद्रधि के समान (अ. १३) चिकित्सा करे ॥७३॥

पित्तगुल्म में आहार—

शालिर्गव्याजपयसा पटोली जाङ्गलं घृतम्।
धात्रीपरूषकं द्राक्षा खर्जूरं दाडिमं सिता ॥७४॥
भोज्यं पानेऽम्बु बलया बृहत्याद्यैश्च साधितम्।

व्याख्या—पित्त जनित गुल्म में—शालि धान्यों के पदार्थ, गौ एवं बकरी का दूध, परवल का शाक, हरिण आदि जांगल प्राणियों के मांस, घृत, आमला, फालसा, दाख, खजूर, अनार, मिश्री का भोजन तथा पीने के लिये—बला तथा बृहती आदि गण के द्रव्यों से सिद्ध किया गया जल देना चाहिये ॥७४॥

कफगुल्म की चिकित्सा—

श्लेष्मजे वामयेत्पूर्वमवम्यमुपवासयेत् ॥७५॥
तिक्तोष्णकटुसंसर्ग्या वह्निं सन्धुक्षयेत्ततः।
हिङ्ग्वादिमिश्र द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसैः ॥७६॥

व्याख्या—कफजनित गुल्म में—यदि रोगी वमन के योग्य हो तो प्रथम वमन देवे और यदि वमन के योग्य न हो तो उपवास करावे (वमन के पूर्व स्नेहन एवं स्वेदन कर देना चाहिये)। तत्पश्चात्—तिक्त, उष्ण तथा कटु द्रव्यों के योग से बनाई गई पेया आदि देकर और पूर्वोक्त हिंग्वादि चूर्ण एवं घृत आदि योगों में दुगुने क्षार हींग तथा अम्लवेत से मिश्रित योगों को खिला-पिला कर अग्नि को प्रदीप्त करे ॥७५-७६॥

कफजगुल्म में स्वेदन—

निगूढं यदि वोन्नद्धं स्तिमितं कठिनं स्थिरम्।
आनाहादियुतं गुल्मं संशोध्य विनयेदनु ॥७७॥
घृतं सक्षारकटुकं पातव्यं कफगुल्मिनाम्।

व्याख्या—कफज गुल्म यदि निगूढ़—गम्भीर हो अथवा उन्नत हो, स्तिमित, कठोर तथा स्थिर-अचल हो तथा आनाह आदि से युक्त हो तो उसपर स्वेदन (देखिये श्लो० ५४) करके मर्दन द्वारा शान्त करे। तदनन्तर जौखार एवं त्रिकटु का चूर्ण मिलाकर घृत पीवे ॥७७॥

दशमूल घृत—

सव्योषक्षारलवणं सहिंगुबिडदाडिमम् ॥७८॥
कफगुल्मं जयत्याशु दशमूलश्रृतं घृतम् ।

व्याख्या—दशमूल के क्वाथ एवं कल्क के योग से परिपक्व घृत—सोंठ, मरिच, पीपल, जौखार एवं सैन्धव लवण मिलाकर और हिंगु, विडलवण एवं अनार दाना मिलाकर पीने से कफ जनित गुल्म नष्ट हो जाता है ॥७८॥

भल्लातकाद्य घृत—

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् ॥७९॥
अल्पं तोयाढके साध्यं पादशेषेण तेन च ।
तुल्यं घृतं तुल्यपयो विपचेदक्षसम्मितैः ॥८०॥
विडङ्गहिङ्गुसिन्धूत्थ यावशूकशठीबिडैः ।
सद्वीपिरास्नायष्ट्याह्वषड्ग्रन्थाकणनागरैः ॥८१॥
एतद् भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् ।
प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत् ॥८२॥

व्याख्या—भिलावा २ पल, लघु पञ्चमूल के पाँचों द्रव्य १-१ पल लेकर १ आढक जल में पकावे। चौथाई रहने पर छान लेवे। फिर इसमें १ प्रस्थ गो घृत, १ प्रस्थ गो दुग्ध तथा—वायविडंग, हींग, सैन्धव लवण, जौखार, कचूर, विड़ लवण, चित्तामूल, रासना, मुलेठी, बालवच, पीपल तथा सोंठ का कल्क १-१ कर्ष। सबको मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह भल्लातक घृत कफ गुल्म, प्लीहविकार, पाण्डुरोग, श्वास, ग्रहणीरोग तथा कास को नष्ट करता है ॥७९-८२॥

स्वेदन की आवश्यकता—

ततोऽस्य गुल्मे देहे च समस्ते स्वेदमाचरेत् ।
सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते ॥८३॥
या क्रिया क्रियते याति सा सिद्धिं न विरूक्षिते ।

व्याख्या—उक्त घृतों द्वारा स्नेहन करने के अनन्तर गुल्म पर तथा समस्त शरीर पर स्वेदन करे। क्यों कि—सभी गुल्मों में प्रथम स्नेहन एवं स्वेदन करके जो भी चिकित्सा की जाती है उससे सफलता मिलती है और विरूक्षित रोगी में चिकित्सा करने से कोई लाभ नहीं होता ॥८३॥

गुल्म में घटी प्रयोग—

स्निग्धस्विन्नशरीरस्य गुल्मे शैथिल्यमागते ॥८४॥
यथोक्तां घटिकां न्यसयेद् गृहीतेऽपनयेच्च ताम् ।
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा छित्त्वा गुल्मं प्रमाणवित् ॥८५॥
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत् ।
प्रमृज्याद् गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत् ॥८६॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से स्नेहन एवं स्वेदन करने से जब गुल्म शिथिल हो जाय तब उसपर यन्त्रविधि अध्याय २५ में कही गई घटी का न्यास–प्रयोग करे, उसके द्वारा-उसके मुख में गुल्म का ग्रहण हो जाने पर उस घटी को हटा लेवे। तदनन्तर गुल्म को वस्त्र के भीतर लेकर या वस्त्र से दबा कर तोड़-फोड़ देवे, घट के मुख का परिमाण उतना हो जिसमें गुल्म आ जाय। इसके पश्चात् विमार्ग, अजपद अथवा दर्पण द्वारा दबाकर एकएक गुल्म का मार्जन—मर्दन करे। परन्तु अन्त्र एवं हृदय का स्पर्श न होने पावे।

वक्तव्य—यह क्रिया इस प्रकार की जाती है—एक घटी या मिट्टी की घड़िया में बल्वज (बगई अर्थात् बावड़) नामक तृण अथवा कुश अथवा कपूर डालकर उसके भीतर अग्नि लगा दी जाती है जब घटी तप जाती है तब उस में से अग्नि निकाल दी जाती है और उष्ण २ घटी को तत्काल गुल्म पर औंधी करके दबाकर धर दिया जाता है। फलतः गुल्म प्रदेश खिंचकर घटी में आ जाता है, शीतल होने पर बलपूर्वक घटी को उखाड़ दिया जाता है और गुल्म-स्थल उभरा हुआ मिलता है। बस उस उभरे स्थान को हाथ से ऐसे मला जाता है जैसे गुल्म फूट जाय। गुल्म फूटते समय कुल २ शब्द होता है और उद्गार अथवा अपान वायु का निःसरण होता है। यदि एक से अधिक गुल्म हों तो इस प्रकार १-१ गुल्म का भेदन किया जाता है। विमार्ग[1] अजपद[2] तथा आदर्श[3] मर्दन के ही उपकरण हैं। इसी प्रकार तुम्बी तथा गिलास भी लगाए जाते हैं। इस विधि का प्रयोग भारत के ग्राम २ में होता है। प्रायः सिंगी एवं तुम्बी लगाने वाले भारतीय प्राचीन चिकित्सक इस कार्य को सफलता पूर्वक करते हैं यद्यपि आज वे अवनत तथा हीनदीन दशा में गली २ घूमते पाये जाते हैं। श्री वाग्भटजी ने चरक चि. अ. ५ के श्लोक १३७-१४० को परिवर्तित करके यहाँ लिखा है। घटी लगाने की सरल विधि यह है कि—आटा या मिट्टी की टिकिया गुल्म स्थान पर रख देवे और टिकिया पर कपूर रखकर जला देवे और उसकी लौ पर घटी का मुख करके उष्ण होने पर उदर पर दबा देवे ॥८४-८६॥

कफगुल्म में स्वेदन योग—

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य वा ।

---

१. विमार्ग-चर्मकारों द्वारा प्रयुक्त कलबूत नामक काष्ठ का यन्त्र। २. अजपद—चर्म को कूटने का मूसल। ३. आदर्श—मोटा शीशा का बट्टा।

श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेत्ततः ॥८७॥

व्याख्या—उक्त क्रिया के पश्चात् भी—गुल्म फूट जाने पर भी—तिल, एरण्ड बीज, अलसी तथा सरसों को जल में पीस कर और कोसा करके समस्त उदर पर लेप करे और कोसे २ लोह पात्र से स्वेदन करे ॥८७।

फिर विरेचन—

एवं च विसृतं स्थानात्कफगुल्मं विरेचनैः ।
सस्नेहैर्बस्तिभिश्चैनं शोधयेद्दाशमूलिकैः ॥८८॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से यदि गुल्म फूटे नहीं परन्तु अपने स्थान से विचलित हो जाय तो उसे स्नेह युक्त (एरण्ड तैल युक्त) विरेचनों से अथवा "दाशमूलिक" (क अ.४) नामक निरूहण वस्तियों से निकाल देवे ॥८८॥

विरेचनार्थ मिश्रक स्नेह—

पिप्पल्यामलकद्राक्षाश्यामाद्यैः पालिकैः पचेत् ।
एरण्डतैलहविषोः प्रस्थौ पयसि षड्गुणे ॥८९॥
सिद्धोऽयं मिश्रकः स्नेहो गुल्मिनां स्रंसनं परम् ।
वृद्धिविद्रधिशूलेषु वातव्याधिषु चाऽमृतम् ॥९०॥

व्याख्या—पीपल, आमला, दाख तथा काली निसोत आदि यथालाभ विरेचन द्रव्य १-१ पल लेकर कल्क करे और एरण्ड तैल एवं गोघृत १-१ प्रस्थ, गोदुग्ध १२ प्रस्थ सबको मिलाकर स्नेह सिद्ध करे। यह मिश्रक स्नेह सिद्ध—सफल योग है और गुल्म रोगों में विरेचन के लिये हित है और वृद्धि रोग, विद्रधि, शूल तथा वातव्याधियों में अमृत के समान लाभदायक है ॥८९-९०॥

अन्यान्य स्नेह—

पिबेद्वा नीलिनीसर्पिर्मात्रया द्विपलीकया ।
तथैव सुकुमाराख्यं घृतान्यौदरिकाणि वा ॥९१॥

व्याख्या—अथवा उक्त दशा में विरेचनार्थ—नीलिनीघृत दो पल की मात्रा में पीवे अथवा सुकुमार घृत (विद्रधि चिकित्सा अ० १३ में देखिये) अथवा उदररोग चिकित्सा में लिखे गये विरेचक घृतों का पान करे (उदररोग अ० १५ में देखिये) ॥९१॥

विरेचनार्थ दन्ती हरीतकी—

द्रोणेऽम्भसः पचेद्दन्त्याः पलानां पञ्चविंशतिम् ।
चित्रकस्य तथा पथ्यास्तावतीस्तद्रसे स्रुते ॥९२॥
द्विप्रस्थे साधयेत्पूते क्षिपेद्दन्तीसमं गुडम् ।
तैलात्पलानि चत्वारि त्रिवृतायाश्च चूर्णतः ॥९३॥
कणाकर्षौ तथा शुण्ठ्याः सिद्धे लेहे तु शीतले ।
मधु तैलसमं दद्याच्चतुर्जाताच्चतुर्थिकाम् ॥९४॥
अतो हरीतकीमेकां सावलेहपलामदन् ।
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः ॥९५॥
गुल्महृद्रोगदुर्नामशोफाऽऽनाहगरोदरान् ।
कुष्ठोत्क्लेशारुचिप्लीहग्रहणीविषमज्वरान् ॥९६॥
घ्नन्ति दन्तीहरीतक्यः पाण्डुतां च सकामलाम् ।

व्याख्या—एक द्रोण जल में—दन्तीमूल २५ पल, चित्रा मूल २५ पल तथा हरड़ (बड़ी एवं पुष्ट हरड) २५ पल डाल कर पकावे, दो प्रस्थ जल रह जाने पर उसे छान लेवे और हरडों को पृथक् कर लेवे। फिर ४ पल तैल में हरडों को थोड़ा तल लेवे और उसमें २५ पल गुड तथा उक्त दो प्रस्थ बचा हुआ क्वाथ डाल देवे तथा निसोत का चूर्ण ४ पल और पीपल तथा सोंठ का चूर्ण २-२ कर्ष मिलाकर पाक करे, अवलेह बन जाने पर उतार लेवे और दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता तथा नाग केसर का चूर्ण १-१ कर्ष (मिलित १ पल) मिला देवे इसमें से १ हरड़ तथा १ पल अवलेह खाया करे। स्नेहन के पश्चात् इसे खाने से १ प्रस्थ दोष—पुरीष के अतिरिक्त दोष सुख से निकल जाता है और रोगी नीरोग हो जाता है। यह दन्ती हरीतकी नाम हरडें—गुल्म, हृद्रोग, अर्श, शोथ, आनाह, गरविष विकार, उदररोग, कुष्ठ, उत्क्लेश (मिचली), अरुचि, प्लीहविकार, ग्रहणी रोग, विषम ज्वर, पाण्डुरोग तथा कामला को नष्ट करती हैं।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों का मत है कि हरीतकी संख्या में २५ लेनी चाहिये परन्तु हमारा विचार है कि २५ पल अर्थात् २-२ कर्ष की ५० हरड़ लेनी चाहिये क्योंकि गुड २५ पल, तैल ४ पल, निसोत ४ पल, पीपल एवं सोंठ १ पल, मधु ४ पल, तथा चतुर्जात १ पल। सब द्रव्य ४० पल होते हैं और सूखे द्रव्यों का अवलेह प्रायः सवाया बन जाता है अर्थात् यह अवलेह ५० पल तैयार होगा और १ हरड़ के साथ १ पल अवलेह खाना होगा। यह एक प्रकार का हरड़ का मुरब्बा है इस के सेवन से विरेचन हो जाता हैं। भगवान् पुनर्वसु ने इसके साथ लिखा है—निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः ॥१६०। च. चि. अ. ५ ॥९२-९६॥

अन्य विरेचन योग

सुधाक्षीरद्रवं चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम् ॥९७॥
कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।

व्याख्या—निसोत के चूर्ण को सेहुण्ड के दूध की भावना देवे और १ कर्ष चूर्ण (अथवा ४-६ माशा) लेकर मधु तथा घृत २-२ तो० मिलाकर चाटने से भली भाँति विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—स्नेहन करके यह योग देना चाहिये ॥९७॥

विरेचन तथा निरूहण—

कुष्ठश्यामात्रिवृद्दन्तीविजयाक्षारगुग्गुलुम् ॥९८॥
गोमूत्रेण पिबेदेकं तेन गुग्गुलुमेव वा ।
निरूहान्कल्पसिद्ध्युक्तान् योजयेद् गुल्मनाशनान् ॥९९

व्याख्या—विरेचनार्थ—सुगन्धी कूठ, काली निसोत, दन्तीमूल, हरड़, जौखार तथा गुग्गुल का योग अथवा केवल गुग्गुलु गोमूत्र के साथ पीवे। और कल्प सिद्धि स्थान में कहे गये निरूहों (निरूहण वस्तियों) का प्रयोग गुल्म-नाशन के लिये करना चाहिये ॥९८॥

क्षार अरिष्ट एवं अग्निकर्म—

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम्।
गूढमांसं जयेद्गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ॥१००॥
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा विश्रमय्याऽथवा त्र्यहम्।
शरीरदोषबलयोर्वर्धनक्षपणोद्यतः ॥१०१॥

व्याख्या—जिस गुल्म का मूल बना हो, बहुत सा स्थान घेरे हो, वह कठोर, अचल तथा गुरु हो और मांस में गूढ़ हो उसे क्षार, अरिष्ट तथा अग्नि कर्म से जीतने का प्रयत्न करे और एक, दो अथवा तीन दिन का अन्तर दे कर—रोगी को विश्राम देकर, शरीर का बल बढ़ाने का और दोषों का बल घटाने का उद्योग करता रहे ॥१०१॥

क्षारों का संकेत—

अर्शोऽश्मरीग्रहण्युक्ता क्षारा योज्याः कफोल्वणे।

व्याख्या—कफ प्रधान गुल्म में—उन क्षारों का प्रयोग करे जो अर्श रोग, अश्मरी रोग तथा ग्रहणीरोग की चिकित्सा में कहे गये हैं ॥

क्षारगद योग—

देवदारुत्रिवृद्दन्तीकटुकापञ्चकोलकम् ॥१०२॥
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ श्रेष्ठापाठोपकुञ्चिकाः।
कुष्ठं सर्पसुगन्धां च द्व्यक्षांशं पटुपञ्चकम् ॥१०३॥
पालिकं चूर्णितं तैल-वसा-दधि-घृताऽऽप्लुतम्।
घटस्यान्तःपचेत्पक्वमग्निवर्णे घटे च तम् ॥१०४॥
क्षारं गृहीत्वा क्षीराज्यतक्रमद्यादिभिः पिबेत्
गुल्मोदावर्तवर्ध्माशों-जठरग्रहणीकृमीन् ॥१०५॥
अपस्मारगरोन्माद-योनिशुक्रामयाश्मरीः।
क्षारागदोऽयं शमयेद्विषं चाखुभुजङ्गजम् ॥१०६॥

व्याख्या—देवदारु, निसोत दन्तीमूल, कुटकी, पीपल पीपलामूल, चव्य, चित्ता, सोंठ, सज्जीखार, जौखार, हरड़, बहेड़ा, आमला, पाठा, कलौञ्जी, कूठ, सर्पगन्धा (नाकुली), २-२ कर्ष, पाँचों लवण १-१ पल लेकर चूर्ण करे और उसे तैल, वसा, दही एवं घृत में मसल कर घड़ा में भर देवे और उसका मुख रोधकर गजपुट दे देवे। जब घड़ा भली भांति लाल हो जाय तब सर्वांग शीतल होने पर भस्मरूप क्षार निकालकर रख लेवे। इस क्षार की मात्रा लेकर—दूध, घृत, तक्र अथवा मद्य आदि उचित अनुपान के साथ पीवे। यह क्षाराऽगद योग—गुल्म, उदावर्त, वृद्धिरोग, अर्शरोग, उदररोग, ग्रहणीरोग, कृमि रोग, अपस्मार, गरविष विकार, उन्माद, योनिरोग, शुक्रदोष, अश्मरी, मूषक विष तथा सर्प विष को शान्त करता है।

वक्तव्य—इसी प्रकार का कुछ हेर फेर के साथ एक पिप्पल्यादिक्षार च. चि. अ. १३ में श्लोक १५८--१६१ में लिखा है ॥१०२-१०६॥

कफ गुल्म में क्षार—

श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं रसक्षीरघृताशिनः।
छित्त्वा भित्त्वाऽऽशयं क्षारः क्षारत्वात्पातयत्यधः ॥१०७

व्याख्या कोई भी क्षार—क्षरण-क्षणनशील होने के कारण मधुर एवं स्निग्ध कफ को तोड़ फोड़कर काट छाँट कर उदर से बाहिर गिरा देता है परन्तु क्षार सेवन के साथ रोगी को मांस रस, दूध एवं घृत का आहार करना चाहिये (अन्यथा उदर के भीतर क्षत हो सकता है) ॥१०७॥

आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग—

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्यैर्मद्यैः सस्नेहमश्नताम्।
योजयेदासवारिष्टान्निगदान् मार्गशुद्धये ॥१०८॥

व्याख्या—मन्दाग्नि एवं अरुचि रहने पर अनुकूल मद्यों के साथ स्नेह युक्त आहार देते रहना चाहिए और मार्ग शुद्धि के लिये—उदर शुद्धि के लिये—अभयारिष्ट आदि आसव एवं अरिष्टोंका प्रयोग करना चाहिये ॥१०८॥

गुल्म रोग में अन्नपान—

शालयः षष्टिका जीर्णाः कुलत्था जाङ्गलं पलम्।
चिरविल्वाग्नितर्कारीयवानीवरुणाङ्कुराः ॥१०९॥
शिग्रुस्तरुणबिल्वानि बालं शुष्कं च मूलकम्।
बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमम् ॥११०॥
व्योषं तक्रं घृतं तैलं भक्तं पानं तु वारुणी।
धान्याम्लं मस्तु तक्रं च यवानीबिडचूर्णितम् ॥१११॥
पञ्चमूलशृतं वारि जीर्णं मार्द्वीकमेव वा।

व्याख्या—पुराने शालिधान्यों एवं साठीधान्यों के भात एवं दलिया आदि, कुलथी, जंगल देशीय प्राणियों के मांस, करञ्ज, चित्ता, अरणी, अजवायन एवं वरुण वृक्ष के कोमल पत्तों के शाक, सहजन की फली, कचाविल, कच्ची एवं सूखी मूली, बिजौरा निम्बू, हींग, अम्लवेत, जौ-खार एवं अनार दाना, सोंठ, मरिच, पीपल, तक्र, घृत एवं तैल के योग से बनाये गए व्यंजन, भात, और वारुणी का पान अजवायन एवं विड लवण का चूर्ण मिलाकर कांजी दही के पानी तथा तक्र का सेवन, पञ्चमूल के योग से पका पानी तथा पुराना मृद्वीकासव आदि पीना चाहिये।

वक्तव्य—च. चि. अ. ५ में 'जीर्णं मार्द्वीकमेव वा' के स्थान में 'जीर्णं मधूकमेव वा' पाठ है अर्थात् पुराना महुवा का आसव पीना चाहिये ॥१०९-१११॥

सुरा का प्रयोग—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचित्रकाजाजिसैन्धवैः ॥११२॥
सुरा गुल्मं जयत्याशु जाङ्गलश्च विमिश्रितः।

व्याख्या—पीपल, पीपलामूल, चित्ता, जीरा तथा सैन्धव लवण के चूर्ण से मिश्रित सुरा तथा जांगल प्राणियों के मांस एवं मांस रस गुल्म रोग को शीघ्र ही शान्त करते हैं ॥११२॥

कफ गुल्म का दाह—

वमनैर्लङ्घनैः स्वेदैः सर्पिःपानैर्विरेचनैः ॥११३॥
बस्तिक्षारासवारिष्टैर्गौलिमकैः पथ्यभोजनैः।
श्लैष्मिको बद्धमूलत्वाद्यदि गुल्मो न शाम्यति ॥११४॥
तस्य दाहं हृते रक्ते कुर्यादन्ते शरादिभिः।

व्याख्या—कफज गुल्म—बद्धमूल होने के कारण उक्त प्रकार के वमन, लंघन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, बस्ति, (निरूहण बस्ति एवं अनुवासन बस्ति) क्षारयोग, आसव अरिष्ट, गोली तथा पथ्य भोजन के सेवन से यदि शान्त न हो तो उसका रक्त निकालने के अनन्तर शर (लोह शलाका) आदि द्वारा अग्निकर्म करे।

वक्तव्य—अग्निकर्म की विधि सू अ. २० में देखिये ८७

अग्निकर्म की विधि—

अथ गुल्मं सपर्यन्तं वाससाऽन्तरितं भिषक् ॥१ ५॥
नाभिबस्त्यन्त्रहृदयं रोमराजीं च वर्द्धयन्।
नातिगाढं परिमृशेच्छरेण ज्वलताऽथवा ॥११६॥
लोहेनारणिकोत्थेन दारुणा तैन्दुकेन वा।
ततोऽग्निवेगे शमिते शीतैर्व्रण इव क्रिया ॥११७॥

व्याख्या—अग्निकर्म करते समय—गुल्म के सब ओर कपड़ा से ढंक कर, नाभि (धुन्नी), बस्ति, अन्त्र तथा हृदय को बचाते हुए उत्तान अग्निकर्म करे। केवल—अत्यन्त उष्ण लोहे के शर से अथवा अरणी के काष्ठ से अथवा तिन्दू के जलते हुए काष्ठ से छू देवे तत्पश्चात् अग्नि का वेग (फफोला) शान्त हो जाने पर शीतल उपचारों द्वारा व्रण की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—उक्त शर आदि के छुआने मात्र (स्पर्शनमात्र) से गुल्म स्थल पर फफोला पड़ जाता है उस पर शतधौत घृत आदि शीतोपचार करते रहना चाहिये यदि फफोला फूट जाय अथवा अति दग्ध हो जाय तो शीतोपचार से व्रण की चिकित्सा करनी चाहिये। अग्निकर्म की विधि देखिये सू. अ. ३० ॥११५-११७॥

आमदोष युक्त गुल्म की चिकित्सा—

आमान्वये तु पेयाद्यैः सन्धुक्ष्याग्निं विलङ्घिते।
स्वं स्वं कुर्यात्क्रमं मिश्रं मिश्रदोषे च कालवित् ॥११८॥

व्याख्या—यदि गुल्म रोग में आमदोष का सम्बन्ध हो तो लंघन करने के अनन्तर पेया विलेपी आदि के सेवन से जठराग्नि को प्रदीप्त करके वातादि दोषों के अनुसार चिकित्सा करे। और द्विदोष जनित गुल्मों में तथा त्रिदोष जनित गुल्म में काल का विचार करके—दोषों के अनुसार पूर्वोक्त चिकित्सा क्रमको मिलाजुलाकर चिकित्सा करे ॥११८

रक्तज गुल्म की चिकित्सा—

गतप्रसवकालायै नार्यै गुल्मेऽस्रसम्भवे।
स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम् ॥११९॥

व्याख्या—रक्त जनित गुल्म में—प्रसव काल व्यतीत हो जाने पर नारी को स्नेहन एवं स्वेदन करके एरण्ड तैल अथवा पूर्वोक्त विरेचनोपयोगी किसी स्नेह का विरेचन देवे ॥११९॥

तिलादि क्वाथ—

तिलक्वाथो घृतगुडव्योषभार्ङ्गीरजोन्वितः।
पानं रक्तभवे गुल्मे नष्टे पुष्पे च योषितः ॥१२०॥

व्याख्या—रक्त गुल्म में रजः स्राव न होने पर—घृत, गुड़, सोंठ, मरिच, पीपल तथा भारंगी का चूर्ण मिलाकर तिल का क्वाथ पिलावे ॥१२०॥

भार्ङ्ग्यादि चूर्ण—

भार्ङ्गीकृष्णाकरञ्जत्वग्-ग्रन्थिकाऽमरदारुजम्।
चूर्णं तिलानां क्वाथेन पीतं गुल्मरुजापहम् ॥१२१॥

व्याख्या—भारंगी, पीपल, करञ्ज की छाल, पीपलामूल तथा देवदारु का चूर्ण—तिलों के क्वाथ के साथ पीने से—गुल्म की वेदना शान्त हो जाती है ॥१२१॥

पलाशक्षार का स्नेह—

पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः।
गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ॥१२२॥

व्याख्या—पलाश क्षार २ आढक, तैल एवं घृत १-१ आढक मिलाकर पाक करे और उपयुक्त मात्रा में प्रयोग करे। इसके प्रयोग से गुल्म शिथिल हो जाता है ॥१२२॥

गुल्मभेदन की विधि—

न प्रभिद्येत यद्येवं दद्याद्योनिविरेचनम्।
क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा ततः ॥१२३॥
ताभ्यां वा भावितान्दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान्।
वराहमत्स्यपित्ताभ्यां नक्तकान्वा सुभावितान् ॥१२४॥
किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनौ विशुद्धये।
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥१२५॥
लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रयोजयेत्।
बस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम् ॥१२६॥
अवर्तमाने रुधिरे हितं गुल्मप्रभेदनम्।
यमकाभ्यक्तदेहायाः प्रवृत्ते समुपेक्षणम् ॥१२७॥
रसौदनस्तथाऽऽहारः पानं च तरुणी सुरा।

व्याख्या—उक्त उपायों (तिलादि क्वाथ आदि) से यदि गुल्म का भेदन न हो तो योनि-गर्भाशय का विरेचन-विशोधन करे। यथा—जौखार से मिश्रित मांस की बत्ती बनाकर योनि (अपत्यपथ) में धरे अथवा सेहुण्ड के दूध से मिश्रित मांस की बत्ती योनि में धरे अथवा जौखार एवं सेहुण्ड के दूध की भावना देकर सुखाई गई छोटी मछली को योनि में धरे। अथवा सूअर एवं मछली के पित्त की कपड़ा को भावना देकर उसकी बत्ती योनि में धरे अथवा गुड़ एवं जौखार से मिश्रित किण्व (सुराबीज) की बत्ती योनि में धरे। इन उपचारों से गुल्म का भेदन हो जाता है और गर्भाशय का विशेषरूप से शोधन हो जाता है। और इन उपचारों के साथ २ रक्तपित्त नाशक क्षार (सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतात् शकृत्, रक्तपित्त चिकित्सा अ० २) को मधु एवं घृत में मिलाकर चटावे। और लशुन, तीक्ष्ण (तेज) मदिरा तथा मछलियों के मास का प्रयोग करे। और दशमूल के क्वाथ में दूध, गोमूत्र तथा जौखार मिलाकर निरूहण वस्ति तथा उत्तर बस्ति देवे (दशमूल वस्ति क. स्थान अ. ४ में देखिये द्विपंचमूलस्य प्रदिष्टः पाठः)। जब उक्त खाने पीने की औषधियों के सेवन से रक्त की प्रवृत्ति न हो तभी गुल्म-प्रभेदन उपाय करना चाहिये अन्यथा नहीं। जब रक्त की प्रवृत्ति हो रही हो तब घृत एवं तैल का अभ्यंग करते रहना चाहिये और रक्त रोकने का उपाय नहीं करना चाहिये अपितु—मांस रस एवं भात का आहार और कच्ची सुरा का पान होना चाहिये इस से बल बना रहता है और रक्त जाता रहता है।

वक्तव्य—कभी २ गुल्म-प्रभेदन में गर्भपात एवं गर्भ-स्राव के समान वेदना होती है। १२३-१२७॥

संकेत—

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहराः क्रियाः ॥१२८॥
कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहराः पुनः।
आनाहादावुदावर्तबलासघ्न्यौ यथायथम् ॥१२९॥

व्याख्या—यदि रक्त अधिक परिमाण में जाने लगे तो रक्तपित्त नाशक चिकित्सा करे, वात जनित विकार हों तो वात नाशक उपाय करे और आनाह आदि उपद्रव हों तो उदावर्त्त नाशक तथा कफ नाशक चिकित्सा करे।

वक्तव्य—चरक में इस पाठ के आगे लिखा है—

घृततैलावसेकांश्च तित्तिरीन् चरणायुधान्।
सुरां समण्डां पूर्वं च पानमम्लस्य सर्पिषः ॥१८१॥
प्रयोज्येदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा।
अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनाऽनुवासनम् ॥१८२॥
च. चि. अ. ५।

इत्यष्टाङ्गहृदये गुल्मचिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः।

उदरचिकित्सा

अथाऽत उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब उदर रोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—इस रोग का वर्णन निदान स्थान अ. १२ में देखिये और च. चि. अ. १३ तथा सु. चि. अ. १४ में देखिये और अ. सं. चि. अ. १७ देखिये ॥१॥

उदररोग में विरेचन—

दोषातिमात्रोपचयात्स्रोतोमार्गनिरोधनात्।
सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेनं विरेचयेत् ॥१॥
पाययेत्तैलमैरण्डं समूत्रं सपयोऽपि वा।
मासं द्वौ वाऽथवा गव्यं मूत्रं माहिषमेव वा ॥२॥
पिबेद् गोक्षीरभुक् स्याद्वा करभीक्षीरवर्तनः।
दाहानाहातितृण्मूर्च्छापरीतस्तु विशेषतः ॥३॥

व्याख्या—दूषित मलों का अत्यधिक सञ्चय होने से तथा स्रोतों के मार्ग रुकने से उदररोग उत्पन्न होता है अतः प्रतिदिन विरेचन का प्रयोग करे। एक अथवा दो मास पर्यन्त प्रतिदिन गोमूत्र में अथवा गोदुग्ध में मिला कर एरण्ड तैल पीना चाहिए। जल का सर्वथा परित्याग करे (सुश्रुत)। अथवा गौ का या भैंस का मूत्र प्रतिदिन पीवे और गौ के दूध अथवा ऊँटनी के दूध पर निर्वाह करे (अन्नवारिवर्जी पक्षम्, सुश्रुत)। विशेष रूप से जो रोगी—दाह, आनाह, अधिक तृषा तथा मूर्च्छा से पीड़ित हो वह उक्त प्रकार विरेचन एवं आहार करे ॥१-३॥

उदररोग में स्नेहन—

रूक्षाणां बहुवातानां दोषसंशुद्धिकाङ्क्षिणाम्।
स्नेहनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि योजयेत् ॥४॥
षट्पलं दशमूलाम्बुमस्तुद्व्याढकसाधितम्।

व्याख्या—जो रोगी रूक्ष हों, अतिवृद्ध वायु से पीड़ित हों तथा शोधन के अभिलाषी हों उनको—स्नेहनोपयोगी एवं उदर रोग नाशक घृतों का प्रयोग करे यथा—षट्पल घृत (चि. अ. १५ में लिखित) को दशमूल के क्वाथ दही के पानी को १-२ आढक लेकर उसमें पुनः सिद्ध करके स्नेहनार्थ प्रयोग करे ॥४॥

नागरादि घृत तैल—

नागरं त्रिपलं प्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम् ॥५॥
मस्तुनः साधयित्वैतत्पिबेत्सर्वोदरापहम्।
कफमारुतसम्भूते गुल्मे च परमं हितम् ॥६॥

व्याख्या—सोंठ ३ पल, घृत एवं तैल १ प्रस्थ त

दही का पानी १ आढक। सबको मिलाकर स्नेह सिद्ध करे। यह स्नेह-पीने से सब प्रकार के उदर रोगों को नष्ट करता है और कफजनित एवं वातजनित गुल्मरोग में लाभदायक है ॥५-६॥

चित्रक घृत—

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले।
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् ॥७॥

व्याख्या—घृत १ प्रस्थ, जल ४ प्रस्थ, गोमूत्र २ प्रस्थ, चित्ता का कल्क १ पल। इस सिद्ध घृत को जौखार मिलाकर उदर रोगी पीवे ॥७॥

यवादि घृत—

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलस्य चाम्भसा।
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥८॥

व्याख्या—अथवा—जौ, बेर, कुलथी एवं बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ तथा सुरा एवं सौवीर के योग से सिद्ध घृत पिलाना चाहिये ॥८॥

विरेचन की विधि—

एभिः स्निग्धाय सञ्जाते बले शान्ते च मारुते।
स्रस्ते दोषाशये दद्यात्कल्पदिष्टं विरेचनम् ॥९॥

व्याख्या—उक्त प्रकार के स्नेहों द्वारा स्नेहन करने पर, शक्ति आजाने पर और वायु की शान्ति हो जाने पर तथा मलदोष-मलाशय शिथिल हो जाने पर कल्प स्थान में लिखे गये किसी उपयोगी विरेचन का प्रयोग करे ॥९॥

पटोलादि चूर्ण—

पटोलमूलं त्रिफलां निशां वेल्लं च कार्षिकम्।
कम्पिल्लनीलिनीकुम्भभागान् द्वित्रिचतुर्गुणान् ॥१०॥
पिबेत्सञ्चूर्ण्य मूत्रेण पेयां पूर्वं ततो रसैः।
विरिक्तो जाङ्गलैरद्यात्ततः षड्दिवसं पयः ॥११॥
शृतं पिबेद्व्योषयुतं पीतमेवं पुनः पुनः।
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि ॥१२॥

व्याख्या—परवल का मूल, त्रिफला, हल्दी तथा विडंग १-१ कर्ष, कबीला २ कर्ष नील के बीज ३ कर्ष तथा निसोत ४ कर्ष। चूर्ण बनावे। इसे गोमूत्र के साथ पीवे। आहार में प्रथम विरेचन होने पर पेया पीवे, फिर जंगलदेशीय प्राणियों के मांस रस के साथ भोजन करे फिर ६ दिन पर्यन्त त्रिकटु के योग से परिपक्व दूध मात्र पीवे। इस प्रकार बार २ इस चूर्ण का सेवन करने से सब प्रकार के उदर रोग जिनमें जल भी उत्पन्न हो गया हो नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चाऽपकर्षति।
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम् ॥१२३॥
चरक ॥१०-१२॥

गवाक्ष्यादि चूर्ण—

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम्।
पिबेत्कर्कन्धुमृद्वीकाकोलाम्भोमूत्रसीधुभिः ॥१३॥

व्याख्या—इन्द्रायण के सूखे फल, शंख पुष्पी (शंखिनी नामक औषधि जो विरेचनी होती है), दन्तीमूल, लोध की छाल तथा बालवच का चूर्ण—बेर के रस के साथ, मुनक्का के रस के साथ, बड़े बेर के रस के साथ, गोमूत्र अथवा शिरका के साथ पीवे ॥१३॥

नारायण चूर्ण—

यवानी हपुषा धान्यं शतपुष्पोपकुञ्चिका।
कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शठी वचा ॥१४॥
चित्रकाजाजिकं व्योषं स्वर्णक्षीरी फलत्रयम्।
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम् ॥१५॥
विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा।
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला च चतुर्गुणा ॥१६॥
एष नारायणो नाम चूर्णो रोगगणापहः।
नैनं प्राप्याऽभिवर्धन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः ॥१७॥
तक्रेणोदरिभिः पेयो गुल्मिभिर्बदराम्बुना।
आनाहवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया ॥१८॥
दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्भोभिरर्शसैः।
परिकर्ते सवृक्षाम्लैरुष्णाम्बुभिरजीर्णके ॥१९॥
भगन्दरे पाण्डुरोगे कासे श्वासे गलग्रहे।
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे ॥२०॥
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे।
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ॥२१॥

व्याख्या—अजवायन, हाऊबेर, धनियाँ, सौंफ, कलौंजी, काला जीरा, पीपलामूल, अजगन्धा (बबरी) कचूर, बालवच, चित्ता, जीरा, सोंठ, मरिच, पीपल, सत्यानाशी के बीज, हरड़, बहेड़ा, आमला, जौखार, सज्जी खार, पोहकरमूल, कूठ, सैन्धवलवण, सौवर्चल लवण, विडलवण, समुद्र लवण, औद्भिद लवण तथा वाविडंग ११ भाग, दन्तीमूल ३ भाग, निसोत तथा इन्द्रायण के सूखे फल २-२ भाग तथा सप्तपर्ण की छाल का चूर्ण ४ भाग। यह नारायण नामक चूर्ण सर्व रोग नाशक है इसे पाकर रोग बढ़ नहीं सकते जैसे विष्णु को पाकर असुर। अनुपान—उदर रोग में तक्र, गुल्मरोग में अम्लबेरों का पानी आनाह रोग में सुरा, वातरोग में प्रसन्ना, पुरीषरोध में दही का पानी, अर्शरोग में अनार का रस, परिकर्तिका में वृक्षाम्ल अजीर्ण में उष्ण जल और-भगन्दर, पाण्डुरोग, कास, श्वास, गलग्रह, हृद्रोग, ग्रहणी रोग, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर, दन्तविष, मूलविष, गरविष तथा कृत्रिम विष में रोगानुसार अनुपान देवे। यह चूर्ण विरेचन के लिये-स्नेहन के द्वारा

कोष्ठ स्निग्ध हो जाने पर खाना चाहिये ॥१४-२१॥

इपुषादि चूर्ण—

हपुषां काञ्चनक्षीरीं त्रिफलां नीलिनीफलम् ।
त्रायन्तीं रोहिणीं तिक्तां सातलां त्रिवृतां वचाम् ॥२२॥
सैन्धवं काललवणं पिप्पलीं चेति चूर्णयेत् ।
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः ॥२३॥
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च ।
श्वित्रे कुष्ठेष्वजरके सदने विषमेऽनले ॥२४॥
शोफार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ।
वातपित्तकफांश्चाशु विरेकेण प्रसाधयेत् ॥२५॥

व्याख्या—हाऊबेर, सत्यानाशी के बीज, हरड़, बहेड़ा, आमला, नील के फल, त्रायमाणा, कुटकी, सप्त पर्ण, निसोत, बालवच, सैन्धव लवण, काला लवण तथा पीपल चूर्ण बनावे। अनुपान—अनार का रस, त्रिफला का क्वाथ, या रस, मांस रस, गोमूत्र अथवा उष्ण जल के साथ यह चूर्ण पीना चाहिये। प्रयोग—सब प्रकार के गुल्म, प्लीह विकार, सब प्रकार के उदररोग, श्वित्र कुष्ठ, सब प्रकार के कुष्ठ, अजीर्ण, अवसाद, विषमाग्नि, शोथ, अर्श, पाण्डु रोग, कामला तथा हलीमक में इसका प्रयोग किया जाता है। यह चूर्ण विरेचन द्वारा वात, पित्त तथा कफ को शान्त करता है।

वक्तव्य—च. चि. अ. १३ में—"श्वित्रे कुष्ठेष्वजरके सदने विषमेऽनले" के स्थान में "श्वित्रे कुष्ठे सरुजके सवाते विषमाग्निषु ॥१३६॥ पाठ है ॥२२-२५॥

नीलिन्यादि चूर्ण—

नीलिनीं निचुलं व्योषं क्षारौ लवणपञ्चकम् ।
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत् ॥२६॥

व्याख्या—नील के बीज, वेतसफल, सोंठ, मरिच, पीपल, जौखार, सज्जीखार, सैन्धव लवण, सौवर्चर लवण, विड लवण, समुद्र लवण, औद्भिद लवण तथा चित्रक मूल का चूर्ण—घृत के साथ पीवे। यह चूर्ण—उदररोग तथा गुल्मरोग को नष्ट करता है ॥२६॥

दूध का सेवन—

पूर्ववच्च पिबेद्दुग्धं क्षामः शुद्धोऽन्तरान्तरा ।
करभं गव्यमाजं वा दद्यादात्ययिके गदे ॥२७॥
स्नेहमेव विरेकार्थे दुर्बलेभ्यो विशेषतः ।

व्याख्या—शोधन के पश्चात् दुर्बल एवं कृश रोगी—जाङ्गल मांस रस के बीच २ में गो बकरी अथवा ऊण्टनी का दूध पीवे जैसे पटोलमूलादि चूर्ण (श्लो० १०) में कहा गया है। और अत्यावश्यक होने पर विशेषतः दुर्बल रोगियों के लिये—विरेचन के लिये स्नेहों का ही प्रयोग करना चाहिये (नारायण चूर्ण आदि का नहीं)।

वक्तव्य—विरेचन के लिये निम्नलिखित स्नेह देवे ॥२७॥

हरीतकी घृत—

हरीतकीसूक्ष्मरजःप्रस्थयुक्तं घृताढकम् ॥२८॥
अग्नौ विलाप्य मथितं खजेन यवपल्लके ।
निधापयेत्ततो मासादुद्धृतं गालितं पचेत् ॥२९॥
हरीतकीनां क्वाथेन दध्ना चाम्लेन संयुतम् ।
उदरं गरमष्ठीलामानाहं गुल्मविद्रधिम् ॥३०॥
हन्त्येतत्कुष्ठमुन्मादमपस्मारं च पानतः ।

व्याख्या—हरड़ का सूक्ष्म चूर्ण १ प्रस्थ और गोघृत १ आढक लेकर—मिलाकर अग्नि पर पिघलावे और मथानी से मथ कर जौ के ढेर में दवा देवे एक मास के पश्चात् निकाल कर छान लेवे और हरड़ का क्वाथ तथा खट्टा दही (चतुर्गुण) मिलाकर पाक करे। इस घृत का पान करने से—उदर रोग, गर विकार, वाताष्ठीला, आनाह, गुल्म, विद्रधि, कुष्ठ, उन्मद तथा अपस्मार का नाश हो जाता है ॥२८-३०॥

स्नुही क्षीर घृत—

स्नुक्क्षीरयुक्ताद्गोक्षीराच्छृतशीतात्खजाऽऽहतात् ॥३१
यज्जातमाज्यं स्नुक्क्षीरसिद्धं तच्च तथागुणम् ।
क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धेन युतं दधि ॥३२॥
जातं मथित्वा तत्सर्पिस्त्रिवृत्सिद्धं च तद्गुणम् ।
तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ॥३३॥
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च ।
एषां चाऽनु पिबेत्पेयां रसं स्वादु पयोऽथवा ॥३४॥
घृते जीर्णे विरिक्तश्च कोष्णं नागरसाधितम् ।
पिबेदम्बु ततः पेयां ततो यूषं कुलत्थजम् ॥३५॥
पिबेद्रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं भूयो वा प्रतिभोजितः ।
पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्याऽनयैव च ॥३६॥
घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात्कुशलो भिषक् ।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये ॥३७॥

व्याख्या—सेहुण्ड का दूध १ भाग और दूध ४ भाग मिलाकर पकावे, शीतल होने पर मथानी से मथे जो घृत निकले उसे चतुर्थांश सेहुण्ड का दूध मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह स्नुही क्षीर घृत उक्त हरीतकी घृत के समान गुण करता है। अथवा गो दुग्ध १ द्रोण और सेहुण्ड का दूध आधा प्रस्थ (३२ कर्ष) मिलाकर और पकाकर दही जमा देवे उस दही को मथ कर घृत निकाले फिर उस घृत में चतुर्थांश निशोत का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह भी हरीतकी घृत के समान गुण करता है। अथवा—एक प्रस्थ गो घृत को आठ गुने गो दुग्ध में मिलाकर

और एक पल सेहुण्ड का दूध तथा ६ पल निशोत का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत भी हरीतकी घृत के समान गुण करता है। ये सब घृत विरेचन हैं इनके अनुपान में पेया, अथवा मांस रस अथवा मधुर दूध पीवे। घृत पच जाने पर विरेचन हो जाते हैं और भली भाँति विरेचन हो जाने पर—सोंठ के योग से पक्व कोशा २ जल पीवे, तत्पश्चात् भूख लगने पर पेया पीवे, दूसरी बार भूख लगने पर कुलथी का जूस पीवे। इस विरेचन को तीन दिन पीने पर जब रोगी का उदर रूक्ष (रिक्त) हो जावे तब पेया एवं विलेपी आदि क्रम से प्राकृत आहार खिला कर पुनः इसी घृत का विरेचन देवे इस प्रकार बार २ इन विरेचनों का सेवन करे। ये सब घृत सिद्ध (सफल) हैं इनका प्रयोग कुशल चिकित्सक जब आवश्यकता समझे तब गुल्म, गरविकार तथा उदर रोगों की शान्ति के लिए करे ॥३१-३७॥

पीलु घृत—

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम्।
तैल्वकं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिवेत् ॥३८॥
हृतदोषः क्रमादश्नन् लघुशाल्योदनं प्रति।

व्याख्या—अथवा उदर रोग में आनाह भेदन विरेचन के लिए—पीलु वृक्ष के फलों के कल्क से सिद्ध घृत अथवा तैल्वक घृत (चि. अ. २१) अथवा नीलिनी घृत (चि. अ, १४) अथवा मिश्रक स्नेह (चि. अ १४) पीवे। इन घृतों का पान करके, सब मल दोष निकल जाने पर पूर्ण रूप से शोधन हो जाने पर—क्रमशः पेया विलेपी आदि खाते २ शालि चावलों का लघु भोजन करने लग जाय (जांगल मांस के साथ) ॥३८॥

हरीतकी आदि के प्रयोग

उपयुञ्जीत जठरी दोषशेषनिवृत्तये ॥३९॥
हरीतकीसहस्रं वा गोमूत्रेण पयोऽनुपः।
सहस्रं पिप्पलीनां वा स्नुक्क्षीरेण सुभावितम् ॥४०॥
पिप्पलीं वर्धमानां वा क्षीराशी वा शिलाजतु।
तद्वद्वा गुग्गुलं क्षीरं तुल्यार्द्रकरसं तथा ॥४१॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से विरेचन हो जाने पर भी अवशिष्ट दोष की निवृत्ति हो जाने के लिए १ सहस्र हरड़ों का अथवा १ सहस्र पिप्पलियों का गो मूत्र के साथ सेवन करे और केवल दूध अनुपान में पीवे। पीपल को सेहुण्ड के दूध की भावना भी दी जा सकती है अथवा वर्द्धमान पिप्पली की विधि से (उ. अ. ३९ देखिए) पीपल का सेवन करे। अथवा शिलाजीत का सेवन करे और केवल दूध पर निर्वाह करे। अथवा इसी प्रकार गूगल का सेवन करे और केवल दूध पर निर्वाह करे अथवा समान भाग अदरक का रस मिलाकर दूध का सेवन करे ॥३९-४१॥

चित्रकादि कल्क—

चित्रकाऽमरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिवेत्।
मासं युक्तस्तथा हस्तिपिप्पलीविश्वभेषजम् ॥४२॥

व्याख्या—चित्तामूल एवं देवदारु का कल्क दूध के साथ अथवा गज पीपल एवं सोंठ का कल्क दूध के साथ एक मास पर्यन्त निरन्तर पीवे ॥४२॥

विडंगादि के कल्क—

विडङ्गं चित्रको दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः।
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत् ॥४३॥

व्याख्या—वायविडंग, चित्ता, दन्ती, चव्य, तथा त्रिकटु के कल्क १-१ कोल बनाकर और दूध में मिलाकर पीवे। इससे बढ़ा हुआ उदर रोग नष्ट हो जाता है ॥४३॥

सेहुण्ड के दूध का प्रयोग—

भोज्यं भुञ्जति वा मासं स्नुहीक्षीरघृतान्वितम्।
उत्कारिकां वा स्नुक्क्षीरपीतपथ्याकणाकृताम् ॥४४॥

व्याख्या—अथवा एक मास पर्यन्त—सेहुण्ड का दूध तथा घृत मिलाकर भोजन के पदार्थ बनाकर खावे। अथवा सेहुण्ड के दूध से भावित हरड़ एवं पीपल के योग से बनाई गई रोटी खावे।

वक्तव्य—यह सब भी विरेचन के ही उपाय हैं इस अवस्था में केवल दूध पर निर्वाह करना चाहिये ॥४४॥

बिल्वक्षार तैल—

पार्श्वशूलमुपस्तम्भं हृद्ग्रहं च समीरणः।
यदि कुर्यात् ततस्तैलं बिल्वक्षारान्वितं पिबेत् ॥४५॥
पक्वं वा टिण्टुकबलापलाशतिलनालजैः।
क्षारैः कदल्यपामार्गतर्कारीजैः पृथक्कृतैः ॥४६॥

व्याख्या—यदि वायु—उदररोग में—पार्श्व शूल, पार्श्व स्तम्भ तथा हृदय ग्रहण उत्पन्न कर देवे तो—बिल्व फल का क्षार मिला कर तैल पीवे। अथवा—सोनापाठा, बला, पलाश, तिलनाल, केला, अपामार्ग तथा अरणी के पृथक् २ क्षारों के योग से सिद्ध तैल पीवे।

वक्तव्य—च. चि. अ० १३ श्लो० १६६ से १७२ देखिये ॥४५-४६॥

एरण्ड तैल—

कफे वातेन पित्ते वा ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले।
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम् ॥४७॥

व्याख्या—उदररोगी कुछ बलवान् हो तो—वायु द्वारा कफ का आवरण होने पर, अथवा पित्त का आवरण होने पर अथवा कफ एवं पित्त द्वारा वायु का आवरण होने पर आवरक दोष नाशक औषधों से मिश्रित एरण्ड तैल लाभप्रद होता है।

वक्तव्य—चरक में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—स्वौषधयुतमिति आवरकदोषहरौषधयुतमित्यर्थः। आवृति की अपेक्षा आवरक दोष बलवान् होता है अतः उसको नष्ट करनेवाली औषध मिलाकर एरण्ड तैल पिलाने का उपदेश किया गया है ॥४७॥

-देवदार्वादि लेप—

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः।
साश्वकर्णैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं बहिः ॥४८॥

व्याख्या—उक्त दशा में—देवदारु, पलाश, आक, गजपीपल, सहजन तथा अश्वकर्ण पलाश की छालों को गोमूत्र में पीस कर उदर पर मोटा लेप करे ॥४८॥

सेचन—

वृश्चिकाली वचा शुण्ठीपञ्चमूलपुनर्नवात्।
वर्षाभूधान्यकुष्ठाच्च क्वाथैर्मूत्रैश्च सेचयेत् ॥४९॥

व्याख्या—इस दशा में—वृश्चिकाली (बिछुवा नामक घास), नीलवच, सोंठ, बृहत् पञ्चमूल, पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, धनिया तथा कुठ के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर उदर पर सेचन करे ॥४९॥

वस्त्र वेष्टन—

विरिक्तं म्लानमुदरं स्वेदितं साल्वणादिभिः।
वाससा वेष्टयेदेवं वायुर्नाऽऽध्मापयेत्पुनः ॥५०॥

व्याख्या—जब विरेचन हो जाने पर उदर म्लान हो जाय अर्थात् छोटा एवं कोमल हो जाय तब—साल्वण आदि स्वेदन योगों द्वारा स्वेदन करके वस्त्र से बाँध देवे। ऐसा करने से वायु उदर में पुनः आध्मान नहीं कर सकता।

वक्तव्य—साल्वण स्वेदन सू. अ. १७ में (उपनाह स्वेद) देखिये। सर्वदा उदर पर बन्धन लगा रहना चहिये॥५०॥

निरूहण वस्ति—

सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम्।
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत् ॥५१॥

व्याख्या—भली भाँति विरेचन हो जाने पर भी यदि आध्मान (अफरा) हो ही जाय तो—उसे स्नेह मिश्रित तथा अम्ल द्रव्य एवं लवण से मिश्रित निरूहण वस्तियों द्वारा शान्त करे ॥५१॥

तीक्ष्ण वस्तियाँ—

सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्।
तीक्ष्णाः सक्षारगोमूत्राः शस्यन्ते तस्य बस्तयः ॥५२॥

व्याख्या—इस सब उपचार करने पर भी यदि—कफ अथवा पित्त से आवृत होकर वायु आध्मान करता ही रहे तो क्षार एवं गोमूत्र से मिश्रित निरूहण वस्तियों का प्रयोग करता रहे ॥५२॥

उपसंहार—

इति सामान्यतः प्रोक्ताः सिद्धा जठरिणां क्रियाः।

व्याख्या—इस प्रकार सामान्य रूप से सब उदर रोगों की सिद्ध—सफल चिकित्सा कह दी गई है और—विशिष्ट चिकित्सा आगे देखिये।

वातोदर चिकित्सा—

वातोदरेऽथ बलिनं विदार्यादिश्रृतं घृतम् ॥५३॥
पाययेत्तु ततः स्निग्धं स्वेदिताङ्गं विरेचयेत्।
बहुशस्तैल्वकेनैनं सर्पिषा मिश्रकेण वा ॥५४॥
कृते संसर्जने क्षीरं बलार्थमवचारयेत्।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्तेत बले लब्धे क्रमात्पयः ॥५५॥
यूषै रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम्।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेत्ततः ॥५६॥
तीक्ष्णाऽधोभागयुक्तेन दशमूलिकवस्तिना।
तिलोरुबूकतैलेन वातघ्नाम्लश्रृतेन च ॥५७॥
स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु।
रूक्षं बद्धशकृद्वातं दीप्ताग्निमनुवासयेत् ॥५८॥
अविरेच्यस्य शमना वस्तिक्षीरघृतादयः।

व्याख्या--वातोदर में—बलवान् रोगी (चलने फिरने में समर्थ रोगी) को विदारी गन्धादि गण के द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत पिलावे और उस घृत से स्निग्ध हो जाने पर उचित रूप से स्वेदन करके, बार २ तैल्वक घृत (चि० अ० २१) अथवा मिश्रक स्नेह (चि. अ. १४) के द्वारा विरेचन करे। इस प्रकार विरेचन के पश्चात् पेया विलेपी आदि क्रम से (सू. अ. १८) संसर्जन करने पर बलवृद्धि के लिये दूध का सेवन करावे। यदि दूध पीते २ कभी उत्क्लेश (मिचली—दूध से अरुचि) हो जाय तो दुग्ध पान से निवृत्ति हो जाय—उत्क्लेश से पूर्व निवृत्त हो जाय। और मांस रस आदि बलवर्द्धक आहार लेना प्रारम्भ कर देवे परन्तु यदि उत्क्लेश न हो तो दूध लेता रहे और बललाभ हो जाने पर क्रमशः दुग्धपान को रोक देना चाहिये। दुग्ध पान के पश्चात्—जब जठराग्नि प्रदीप्त हो तब थोड़ा अम्ल रस एवं लवण रस मिलाकर यूष एवं मांस रस से निर्वाह करे। यदि कभी उदावर्त्त हो तो स्नेहन एवं स्वेदन करके, दाशमूलिक वस्ति में तीक्ष्ण विरेचन द्रव्य मिला आस्थापन वस्ति देवे (दाशमूलिक वस्ति कल्प अ० ४ में देखिये)। यदि स्फुरण (शरीर में फरफराहट), आक्षेप तथा सन्धियों में, अस्थियों में, पार्श्व में, पीठ में एवं कटि में वेदना हो तो—वात नाशक द्रव्योंके योग से सिद्ध तिल तैल एवं एरण्ड तैल की अनुवासन वस्ति देवे और जिसका मलाशय रूक्ष हो, पुरीष एवं वायु रुका हो परन्तु अग्नि प्रदीप्त हो उसे भी अनुवासन वस्ति देवे।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

अविरेच्यं तु यं विद्यात् दुर्बलं स्थविरं शिशुम्।
सुकुमारं प्रकृत्याल्पदोपं वाऽयोल्वणानिलम् ॥६६॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः।
वस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः ॥६७॥

च. चि. अ. १३ ॥५३-५८॥

पित्तोदर चिकित्सा—

बलिनं स्वादुसिद्धेन पैत्ते संस्नेह्य सर्पिषा ॥५९॥
श्यामात्रिभण्डीत्रिफलाविपक्वेन विरेचयेत्।
सितामधुघृताढ्येन निरूहोऽस्य ततो हितः ॥६०॥
न्यग्रोधादिकषायेण स्नेहबस्तिश्च तच्छृतः।
दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत्क्षीरबस्तिभिः ॥६१॥
जाते त्वग्निबले स्निग्धं भूयो भूयो विरेचयेत्।
क्षीरेण सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन तम् ॥६२॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनाऽऽरग्वधेन वा।
सकफे वा समूत्रेण सतिक्ताज्येन सानिले ॥६३॥
पयसाऽन्यतमेनैषां विदार्यादिशृतेन वा।
भुञ्जीत जठरं चाऽस्य पायसेनोपनाहयेत् ॥६४॥
पुनः क्षीरं पुनर्वस्तिं पुनरेव विरेचनम्।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् यतः पित्तोदरं जयेत् ॥६५॥

व्याख्या—पित्त जनित उदर रोग में यदि रोगी सबल हो तो द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत से स्नेहन करके, काली निसोत तथा निसोत एवं त्रिफला के योग से परिपक्व घृत से विरेचन दे देवे। तत्पश्चात्—न्यग्रोधादि क्वाथ में खण्ड मधु तथा घृत मिलाकर निरूहण वस्ति देवे और न्यग्रोधादि गण के योग से सिद्ध घृत से अनुवासन वस्ति देवे। यदि रोगी दुर्बल हो तो—प्रथम अनुवासन वस्ति देकर फिर दुग्ध की वस्तियों से शोधन करे। इस प्रकार जठराग्नि एवं बल बढ़ जाने पर पुनः पुनः स्नेहन करके पुनः पुनः विरेचन देवे और विरेचन निसोत के कल्क तथा एरण्ड बीज के कल्क के योग से अथवा सप्तपर्ण एवं त्रायमाणा के योग से अथवा अमल तास के योग से परिपक्व दूध से देना चाहिए। पित्त के साथ कफ का अनुबन्ध हो तो गोमूत्र मिश्रित दूध से और वायु का अनुबन्ध हो तो तिक्तक घृत से मिश्रित दूध से विरेचन देना चाहिये और वह दूध उल्लिखित निसोत आदि किन्हीं द्रव्यों के योग से परिपक्व कर लेना चाहिए। और विदार्यादि गण (सू, अ, १५) के उपयुक्त द्रव्यों के योग से परिपक्व दूध के साथ भोजन करे। और उदर पर दूध की खीर अथवा खोया का मोटा लेप करे। पित्तोदर में पुनः पुनः दुग्ध का सेवन, पुनः पुनः वस्ति का प्रयोग और पुनः विरेचन करना चाहिये। इस क्रम से चिकित्सा करने पर अवश्यमेव पित्तोदर पर विजय प्राप्त हो सकती है ॥५९-६५॥

कफोदर चिकित्सा—

वत्सकादिविपक्वेन कफे संस्नेह्य सर्पिषा।
स्विन्नं स्नुक्क्षीरसिद्धेन बलवन्तं विरेचितम् ॥६६॥
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः।
मूत्रत्र्यूषणतैलाढ्यो निरूहोऽस्य ततो हितः ॥६७॥
मुष्ककादिकषायेण स्नेहबस्तिश्च तच्छृतः।
भोजनं व्योषदुग्धेन कौलत्थेन रसेन वा ॥६८॥
स्तैमित्यारुचिहृल्लासैर्मन्देऽग्नौ मद्यपाय च।
दद्यादरिष्टान् क्षारांश्च कफस्त्यानस्थिरोदरे ॥६९॥
हिङ्गूपकुल्ये त्रिबलां देवदारु निशाद्वयम्।
भल्लातकं शिग्रुफलं कटुकां तिक्तकं वचाम् ॥७०॥
शुण्ठीं माद्रीं घनं कुष्ठं सरलं पटुपञ्चकम्।
दाहयेज्जर्जरीकृत्य दधिस्नेहचतुष्कवत् ॥७१॥
अन्तर्धूमं ततः क्षाराद् बिडालपदकं पिबेत्।
मदिरादधिमण्डोष्ण जलारिष्टसुरासवैः ॥७२॥
उदरं गुल्ममष्ठीलां तून्यौ शोफं विसूचिकाम्।
प्लीहहृद्रोगगुदजानुदावर्तं च नाशयेत् ॥७३॥
जयेदरिष्टगोमूत्रचूर्णायस्कृतिपानतः।
सक्षारतैलपानैश्च दुर्बलस्य कफोदरम् ॥७४॥
उपनाह्यं ससिद्धार्थकिण्वैर्बीजैश्च मूलकात्।
कल्कितैरुदरस्वेदमभीक्ष्णं चाऽत्र योजयेत् ॥७५॥

व्याख्या—कफ जनित उदर रोग में—वत्सकादि गण (सू॰ अ॰ १५) के योग से सिद्ध घृत से स्नेहन करके उचित स्वेदन से स्वेद देवे तदनन्तर—यदि रोगी बलवान् हो तो सेहुण्ड दूध के योगों से विरेचन देवे। तत्पश्चात् कटु तथा क्षार आदि कफ नाशक द्रव्यों से मिश्रित पेया विलेपी आदि अन्नों--आहारों से संसर्जन क्रम करे तदनन्तर मुष्ककादि गण के क्वाथ में गोमूत्र त्रिकटु एवं तैल मिलाकर निरूहण वस्ति देवे। और फिर मुष्ककादि गण (सू॰ अ, १५) के योग से सिद्ध घृत का अनुवासन देवे और त्रिकटु के योग से परिपक्व दूध के साथ अथवा कुलथी के रस (यूष) के साथ भोजन देवे। यदि कफोदर में—स्तैमित्य, अरुचि, हृल्लास तथा मन्दाग्नि हो और रोगी मद्यपायी हो तो अरिष्टों का सेवन कराये और यदि कफ की अधिकता से उदर स्त्यान (चिपचिपा) एवं गुरु हो तो क्षार योगों का सेवन करावे।

इस के लिए हिंग्वादि क्षार का योग—

हींग, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, देवदारु, हल्दी दारु हल्दी, भिलावा, सहजन के बीज, कुटकी, चिरायता बालवच, सोंठ, अतीस, नागरमोथा, कुठ, चीढ़, सैन्धव लवण, सौञ्चर लवण, विडलवण, समुद्र लवण, तथा

औद्भिद लवण, समान भाग लेकर सबको जौ कुट करके, दही, घृत, तैल, वसा एवं मज्जा में मसल कर, घड़ा में भरकर मुख रोध करके गजपुट में जला देवे। शीतल होने पर निकाल कर रख लेवे। इस क्षार की १ कर्ष मात्रा—मदिरा, दही के पानी, उष्ण जल, अरिष्ट, सुरा अथवा आसव के साथ पीवे। यह क्षार—उदर रोग, गुल्म. अष्ठीला, तूनी, प्रतितूनी, शोथ, विसूची, प्लीहविकार, हृद्रोग, अर्शरोग तथा उदावर्त्तको नष्ट करता है। और यदि रोगी दुर्बल हो तो – कफजनित उदर रोग को—अरिष्ट गोमूत्र चूर्ण तथा अयस्कृति (प्रमेह चिकित्सा अ० १२ में देखिये) के पान से और क्षार मिश्रित तैल के पान से जीते। और उदर पर—सरसों, सुराबीज तथा मूली के बीजों को जल में पीस कर तथा पकाकर उष्ण २ मोटा लेप करे। और बार २ स्वेदन का प्रयोग करे ॥६३-७५॥

सन्निपातोदर चिकित्सा—

सन्निपातोदरे कुर्यान्नातिक्षीणबलानले।
दोषोद्रेकानुरोधेन प्रत्याख्याय क्रियामिमाम् ॥७६॥
दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं पाने च शस्यते।
क्रियानिवृत्ते जठरे त्रिदोषे तु विशेषतः ॥७७॥
दद्यादापृच्छ्य तज्ज्ञातीन् पातुं मद्येन कल्कितम्।
मूलं काकादनीगुञ्जा-करवीरक-सम्भवम् ॥७८॥
पानभोजनसंयुक्तं दद्याद्वा स्थावरं विषम्।
यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विमुञ्चति बले विषम् ॥७९॥
तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः।
बहिः प्रवर्तते भिन्नो विषेणाशु प्रमाथिना ॥८०॥
तथा व्रजत्यगदतां शरीरान्तरमेव वा।
हृतदोषं तु शीताम्बुस्नातं तं पाययेत्पयः ॥८१॥
पेयां वा त्रिवृतः शाकं मण्डूक्या वास्तुकस्य वा।
कालशाकं यवाख्यं वा खादेत्स्वरससाधितम् ॥८२॥
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्।
मासमेकं ततश्चैवं तृषितः स्वरसं पिबेत् ॥८३॥
एवं विनिर्हृते शाकैर्दोषे मासात् परं ततः।
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारकं पयः ॥८४॥

व्याख्या—सन्निपातोदर में यदि रोगी का बल एवं जठराग्नि अत्यन्त क्षीण न हो गये हों तो–प्रत्याख्यान कर के रोग को असाध्य कह कर वातादि दोषों के अनुसार निम्नलिखित विधि से चिकित्सा करे। दन्ती के बीजों का तैल विरेचन के लिए देवे इस से विरेचन हो जाने पर उचित चिकित्सा करता रहे। यदि सब प्रकार की चिकित्सा करने पर भी लाभ न हो और विशेषतः सन्निपातोदर में—रोगी के संरक्षकों (कुटुम्बी, मित्र, पत्नी, ब्राह्मण, राजा तथा गुरुजनों) को पूछकर अनुमति लेकर मृत्यु के उत्तरदायित्व से मुक्त होकर जीवन में संदेह कहकर चिकित्सक—लाल गुंजा श्वेत गुंजा तथा कनेर की जड़ों का कल्क मद्य के साथ पीने को दे देवे। अथवा—सिंगिया विष को पीने एवं खाने के पदार्थ में दे देवे। अथवा—कुपित सर्प जिस फल (अनार आम एवं केला आदि) में विष छोड़ देवे उस फल को खिला देवे। इन प्रयोगों के सेवन से —खाने पीने से—दोषों का संघात जो उदर में स्थिर—अचल होकर रहता है, लीन होता है और शरीर भर में व्याप्त रहता है, विष के प्रमाथी गुण के प्रभाव से टूट फूट कर बाहिर निकलने लगता है इस से रोगी नीरोग हो जाता है अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वमन विरेचन द्वारा समस्त दोष निकल जाने पर–शीतल जल से स्नान करा कर, दूध पिलावे अथवा पेया पिलावे अथवा निसोत अथवा मण्डूक पर्णी अथवा बाथू अथवा काला मरसा अथवा जो शाक खाने को देवे और वे शाक उन्हीं के रस में सिद्ध किये जायँ और उनमें अम्ल, लवण तथा स्नेहन डाला जाय और शाक सिजाए जायँ अथवा न सिजाए जायँ और उनके साथ कोई अन्न न खाया जाय इस प्रकार एक मास पर्यन्त रोगी निर्वाह करे और प्यास लगने पर उन्हीं शाकों का रस पीवे। इन शाकों को खाने से एवं उन्हीं का रस पीने से बचा खुचा दोष निकल जाता है फिर एक मास के पश्चात् दुर्बल रोगी को ऊँटनी का दूध पिलाना प्रारम्भ करे क्योंकि वह प्राण एवं बल का पोषण करता है।

वक्तव्य—देखिये च. चि. अ. १३ के श्लोक १७५ से १८३ ॥७६-८४॥

प्लीहोदर की चिकित्सा—

प्लीहोदरे यथादोषं स्निग्धस्य स्वेदितस्य च।
सिरां भुक्तवतो दध्ना वामबाहौ विमोक्षयेत् ॥८५॥
लब्धे बले च भूयोऽपि स्नेहपीतं विशोधितम्।
समुद्रशुक्तिजं क्षारं पयसा पाययेत्तथा ॥८६॥
अम्लस्रुतं बिडकणाचूर्णाढ्यं नक्तमालजम्।
शोभाञ्जनस्य वा क्वाथं सैन्धवाग्निकणान्वितम् ॥८७॥
हिङ्ग्वादिचूर्णक्षाराज्यं युञ्जीत च यथाबलम्।
पिप्पली नागरं दन्ती समांशं द्विगुणाऽभयम् ॥८८॥
बिडार्धांशयुतं चूर्णमिदमुष्णाम्बुना पिबेत्
विडङ्गं चित्रकं सक्तून् सघृतान् सैन्धवं वचाम् ॥८९॥
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत्।
तैलोन्मिश्रैर्बदरकपत्रैः संमर्दितैः समुपनद्धः।
मुशलेन पीडितोऽनु प्रार्ति प्लीहा पयो भुजोनाशम् ॥९०॥
रोहीतकलताः क्लृप्ताः खण्डशः साऽभया जले।
मूत्रे वाऽऽसुनुयात्तत्तु सप्तरात्रस्थितं पिबेत् ॥९१॥

कामलाप्लीहगुल्मार्शः क्रिमिमेहोदरापहम् ।
रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम् ॥९२॥
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ।
पालिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः समेतैश्च तुल्यया ॥९३॥
हरीतकीत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ॥९४॥
कदल्यास्तिलनालानां क्षारेणेक्षुरकस्य च ।
तैलं पक्वं जयेत्पानात्प्लीहानं कफवातजम् ॥९५॥
अशान्तौ गुल्मविधिना योजयेदग्निकर्म च ।
अप्राप्तपिच्छासलिलेः प्लीह्नि वातकफोल्वणे ॥९६॥
पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरवस्तयः ।
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ॥९७॥

व्याख्या—प्लीहोदर में—वातादि दोषों का विचार करके, विधिपूर्वक स्नेहपूर्वक एवं स्वेदन करे फिर उचित समय आने पर उस दिन दही के साथ भोजन कराकर वाम बाहु की कूर्पर गत सिरा का वेध करे तत्पश्चात् शक्ति प्राप्त हो जाने पर पुनःस्नेहन करके वमन विरेचन द्वारा शोधन करे और फिर समुद्र शुक्ति की भस्म को दूध के साथ पिलाना प्रारम्भ करे। अथवा—करंज का क्षार कांजी में चुभा कर विड लवण एवं पीपल का चूर्ण मिलाकर पिलावे। अथवा—सहजन की छाल का क्वाथ सैन्धव लवण, चित्ता तथा पीपल का चूर्ण मिलाकर पिलावे। अथवा—हिंग्वादि चूर्ण में जौखार एवं घृत मिलाकर रोगी एवं रोग के बलानुसार प्रयुक्त करे। अथवा—पीपल एवं सोंठ १—१ भाग, दन्तीमूल दो भाग तथा हरड़ का चूर्ण २ भाग, विड लवण आधा भाग। यह चूर्ण उष्ण जल के साथ पीवे। अथवा—विडंग, चित्तामूल, सत्तू सैन्धव लवण तथा बालवच को घृत में मिलाकर और मिट्टी के कपाल में जला कर रख लेवे और इस क्षारभस्म को दूध के साथ पीवे। यह गुल्म एवं प्लीह को नष्ट करता है। प्लीहा में मर्दन क्रिया—वेर के पत्तों को पीस कर और तैल में मिलाकर, प्लीहा पर बाँध देवे फिर मूसल से पीडन-मर्दन करे। ऐसा करने से प्लीहा पशलियों के भीतर अपने स्थान में चली जाती है और इन दिनों मे रोगी को केवल दूध ही देना चाहिये। रोहीतक लता योग—रोहिडा नामक वृक्ष की डालियों को टुकड़े-टुकड़े करके और समभाग हरड़ों को जल अथवा गोमूत्र में भिगो देवे, सात दिन के पश्चात् सन्धान हो जाने पर पीवे। यह—कामला, प्लीहविकार, गुल्म, अर्श, क्रिमि, प्रमेह तथा उदर रोग को नष्ट करता है। (इसके सेवन काल में औषध पच जाने पर जाङ्गल प्राणियों के मांसरस के साथ भोजन देना चाहिये—च. चि. अ. १३ श्लोक ८३)। रोहीतक घृत—रोहिड़ा वृक्ष की छाल २५ पल, वेर २ प्रस्थ लेकर आठगुने जल में पकावे, चौथाई रहने पर छान लेवे और उस में पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता, सोंठ १-१ पल तथा हरड़ ५ पल पीस कर मिलावे और उस में १ प्रस्थ घृत सिद्ध करे। यह घृत प्रयोग करने से प्लीहवृद्धि को शीघ्र ही शान्त करता है। तथा (गुल्मोदर-श्वासकृमिपाण्डुत्वकामलाः च) को शान्त करता है। कदल्यादि तैल—केला का क्षार, तिलनाल का क्षार तथा तालमखाना का क्षार १ पाव और तैल १ सेर पाक करे। इस तैल का पान करने से—कफ वात प्रधान प्लीह रोग—नष्ट हो जाता है। प्लीह विकार में अग्निकर्म वात कफ प्रधान प्लीहरोग में उक्त सब चिकित्सा करने पर भी यदि शान्ति न हो तो—जब तक उस रोग में पिच्छा एवं जल उत्पन्न न हुआ हो—जलोदर का रूप न आया हो तब तक गुल्म रोग की विधि से (चि० अ० १४ देखिये) अग्निकर्म का प्रयोग करे। पित्त प्रधान प्लीहोदर में—जीवनीय घृतों का सेवन, दूध की वस्तियों का प्रयोग, रक्त का अवसेचन (मोक्षण) कोष्ठ शोधन तथा दुग्धपान प्रशस्त होता है॥

वक्तव्य—यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः ।
लघून्यन्नानि संभुज्य दद्यात् प्लीहोदरे भिषक् ।

अर्थात्—प्लीहोदर में अग्निवर्द्धक द्रव्यों से युक्त यूषों एवं मांसरसों के साथ लघु अन्न देना चाहिये। च. चि. अ. १३ श्लोक ८८ ॥८५-९७॥

यकृद्दाल्युदर की चिकित्सा—

यकृति प्लीहवत्कर्म दक्षिणे तु भुजे सिराम् ।

व्याख्या—यकृद्दाल्युदर में सब चिकित्सा प्लीहोदर के समान करे और अन्तर केवल यह है कि—यकृद्दाल्युदर में सिरावेध दक्षिण बाहु में किया जाता है (जब कि प्लीहोदर में वामबाहु में।

बद्धगुदोदर की चिकित्सा—

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ॥९८॥
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ।
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चास्मै विरेचनम् ॥९९॥
उदावर्तहरं कर्म कार्यं यच्चानिलापहम् ।

व्याख्या—बद्धगुदोदर में—स्वेदन विशेषतः उदर पर स्वेदन करके, गोमूत्र एवं तीक्ष्ण द्रव्यों से मिश्रित निरूहण वस्तियाँ तथा तैल में लवण मिलाकर अनुवासन वस्तियाँ विधि पूर्वक—आवश्यकतानुसार देवे। साथ में विरेचन कारक आहार देवे। यदि इससे भी उदर शुद्धि न हो तो तीक्ष्ण विरेचन देवे। और सब चिकित्सा उदा-

वर्त्त के समान (देखिये अर्श चिकित्सा अ. ८) करे और वात नाशक उपचार करे ।।९८-९९।।

छिद्रोदर की चिकित्सा—

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ।।१००।।
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद्भिषक् ।

व्याख्या—छिद्रोदर में स्वेदन के अतिरिक्त सब चिकित्सा कफोदर के समान करे। और जितना २ रस अन्त्र में से चू चु कर जल रूप धारण करता रहे उतना उतना निकालता रहे इस प्रकार चिकित्सक कालयापन करे, सम्भव है कि इतने से ही रोगी स्वस्थ हो जाय अथवा—आगे लिखा गया शस्त्र कर्म करे। देखिये श्लो० १०७।

वक्तव्य—परन्तु—

तृष्णाकासज्वरार्त्तं तु क्षीणमांसाऽग्निभोजनम् ।
वर्जयेत् श्वासिनं तद्वत् शूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।।९२।।
च. चि. अ. १३ ।।१००।।

जलोदर की चिकित्सा

अपां दोषहराण्यादौ योजयेदुदकोदरे १०१।।
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च ।
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ।।१०२।।

व्याख्या—जलोदर रोग में—सर्व प्रथम—जल दोष नाशक एवं वातादि दोष नाशक, गोमूत्र मिश्रित, तीक्ष्ण एवं अनेक प्रकार के क्षारों से युक्त औषधों का प्रयोग करे और अग्निदीपन तथा कफ नाशक आहारों के द्वारा उपचार करें।

वक्तव्य—जल दोष नाशक अर्थात् पुनर्नवा एवं गोखरू आदि मूत्र प्रवर्त्तक—मूत्र रेचन द्रव्यों का प्रयोग करे। वे द्रव्य उन दोषों के नाशक शामक भी हों जो दोष जलोदर में प्रधान हों। और द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेत् अनुपूर्वशः। (च. चि. अ. १३ श्लो० ९५) अर्थात् जलोदर के रोगी को जल, अनार सन्तरा आदि के रस तथा ईख के रस आदि द्रवों का सेवन करने से धीरे २ रोकना चाहिये ।।९८।।

क्षार गुटिका —

क्षारं छागकरीषाणां स्रुतं मूत्रेऽग्निना पचेत् ।
घनीभवति तस्मिंश्च कर्षांशं चूर्णितं क्षिपेत् ।।१०३।।
पिप्पलीपिप्पलीमूलं शुण्ठीलवणपञ्चकम् ।
निकुम्भकुम्भत्रिफलास्वर्णक्षीरीविषाणिकाः ।।१०४।।
स्वर्जिकाक्षारयवक्षारग्रन्थासातलायबशूकजम् ।
कोलाभा गुटिकाः कृत्वा ततः सौवीरकाऽऽप्लुताः ।।१०५।।
पिबेदजरके शोफे प्रवृद्धे चोदकोदरे ।

व्याख्या—बकरी की मेंगनी के क्षार—भस्म का गोमूत्र अथवा बकरी के मूत्र में चुआकर पाक करे, जब वह गाढ़ा होने लगे तब उसमें—पीपल, पीपला मूल, सोंठ, सैन्धव लवण, सौञ्चर लवण, विड लवण, समुद्र लवण, औद्भिद लवण, दन्तीमूल, निसोत, हरड़, बहेड़ा, आमला, सत्यानाशी की जड़, काकड़ा शिंगी, सज्जीखार, यवखार, वालवच, सप्तपर्ण, जौ खार, का १-१ कर्ष चूर्ण मिला देवे और झर बेर की सी गोलियाँ बनाकर सुखा लेवे। एक दो अथवा तीन गोली काञ्जी में घोल कर—अजीर्ण में, शोथ में तथा उदर रोग में पीवे।

वक्तव्य—इन दिनों में खाने के लिये—श्लोक ७७ में कही गई यवागू आदि मूत्रल आहार देवे। उक्तक्षार गुटिका एवं इस आहार से मूत्र प्रवृत्ति होती है और उदर रोग आदि में लाभ होता है ।।१०३-१०५।।

उदर रोग में शस्त्रकर्म—

इत्यौषधैरप्रशमे त्रिषु बद्धोदरादिषु ।।१०६।।
प्रयुञ्जीत भिषक् शस्त्रमार्तबन्धुनृपाऽर्थितः ।

व्याख्या—इन सब औषधों का उचित रूप से सेवन करने पर भी शान्ति लाभ न हो तो—रोगी,रोगी के बन्धुओं तथा राजा द्वारा प्रार्थना करने पर चिकित्सक—बद्धोदर, क्षतोदर (छिद्रोदर) तथा जलोदर नामक उदर रोगों में शस्त्र का प्रयोग करे ।।१०६।।

शस्त्रकर्म की विधि—

स्निग्धस्विन्नतनोर्नाभेरधो बद्धक्षतान्त्रयोः ।।१०७।।
पाटयेदुदरं मुक्त्वा वामतश्चतुरङ्गुलात् ।
चतुरङ्गुलमानं तु निष्कास्यान्त्राणि तेन च ।।१०८।।
निरीक्ष्याऽपनयेद्वालमललेपोपलादिकम् ।
छिद्रे तु शल्यमुद्धृत्य विशोध्यान्त्रं परिस्रवम् ।।१०९।।
मर्कोटैर्दंशयेच्छिद्रं, तेषु लग्नेषु चाहरेत्
कायं मूर्ध्नोऽनु, चान्त्राणि यथास्थानं निवेशयेत् ।।११०।।
अक्तानि मधुसर्पिर्भ्यामथ सीव्येद्बहिर्व्रणम् ।
ततः कृष्णमृदाऽऽलिप्य बध्नीयाद्यष्टिमिश्रया ।।१११।।
निवातस्थः पयोवृत्तिः स्नेहद्रोण्यां वसेत्ततः ।

व्याख्या—बद्धोदर तथा क्षतोदर में—शरीर भर का स्नेहन एवं स्वेदन करके, नाभि के नीचे बाईं ओर चार अंगुल नाप कर—छोड़कर, परिमाण युक्त शस्त्र द्वारा उदर का पाटन कर्म करे, चार अंगुल परिमित पाटन करे, उस छेद के मार्ग से अन्त्रों को बाहिर निकाल कर, उसमें फंसे हुए बाल (केश), मल, चिपके हुए पदार्थ अथवा पाषाण खण्ड आदि निरोधक द्रव्य को निकाल देवे और छिद्रोदर में—शल्य को निकाल कर और अन्त्र में से चूने वाले स्राव को पोंछ कर, मकोड़ों (पिपल कों—मोटे—बड़े चिउटों) द्वारा उस छिद्र को डसा देवे, जब वे भली

भाँति लग जायँ तब मकोड़ों के काय भाग को काट देवे और उसका शिर भाग लगा रहने देवे, फिर अन्त्रों को यथास्थान निवेशित कर देवे तथा उन पर घृतमधु चुपड़ कर, बाहिर के—उदर के व्रण को सी देवे। तदनन्तर—मुलेठी का चूर्ण एवं काली मिट्टी मिला कर लेप कर देवे और बन्धन बाँध देवे तथा रोगी को निर्वात स्थान में, तैल की द्रोणी (टब) में लेटा देवे और पीने के लिये—थोड़ा २ केवल दूध देवे।

वक्तव्य—मर्कोट—उन चिउँटों का नाम है जिनको पंजाब में आज भी "मकोड़ा" या मकौड़ा कहते हैं। वे प्राणी काले वर्ण के और दूसरे अरुण वर्ण के होते हैं वे जब पकड़ लेते हैं तब छोड़ते नहीं भले ही खींचने पर मध्य भाग से टूट जाते हैं और उनका मध्य भाग होता भी अत्यन्त पतला है ॥१०७-१११॥

जलोदर चिकित्सा—

सजले जठरे तैलैरभ्यक्तस्याऽनिलापहैः ॥११२॥
स्विन्नस्योष्णाम्बुनाऽऽकक्षमुदरे परिवेष्टिते।
बद्धच्छिद्रोदितस्थाने विध्येदङ्गुलिमात्रकम् ॥११३॥
निधाय तस्मिन्नाडीं च स्रावयेदर्धमम्भसः।
अथाऽस्य नाडीमाकृष्य तैलेन लवणेन च ॥११४॥
व्रणमभ्यज्य बद्ध्वा च वेष्टयेद्वाससोदरम्।
तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा यावदाषोडशं दिनम् ॥११५॥
तस्य विश्रम्य विश्रम्य स्रावयेदल्पशो जलम्।
निवेष्टयेद्गाढतरं जठरं वाससा श्लथम् ॥११६॥
निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्।

व्याख्या—जलोदर में—तिल तैल एवं एरण्ड तैल आदि वात शामक तैलों का अभ्यङ्ग करके उष्ण जल से स्वेदन करे, कांख से प्रारम्भ करके उदर पर्यन्त पट्टी बान्ध देवे (इससे उदर का जल नाभि से निचले भाग में सञ्चित हो जाता है) और बद्धोदर एवं छिद्रोदर चिकित्सा (श्लो० ६८-१००) में कहे गये स्थान पर (नाभि के नीचे बाईं ओर ४ अंगुल पर) अंगूठा भर वेध करे (और गहरा अंगुष्ठोदर परिमित या जिससे उदर का जल निकलने लगे और उस वेध में द्विमुखी नाली लगा कर आधा जल निकाल देवे। इसके पश्चात् नाली को निकाल लेवे और लवण मिश्रित तैल चुपड़ कर व्रण पर बन्धन बाँध देवे तथा उदर भर पर कपड़ा लपेट देवे (कस कर बाँध देवे) तत्पश्चात् तीसरे अथवा चौथे दिन बीच बीच में विश्राम ले ले कर १६ दिन में थोड़ा २ जल निकाल देवे (एक साथ सब जल निकालने से हानि हो सकती है)। और जैसे २ जल निकलता जाय वैसे २ गाढ़ा बन्धन बाँधता जाय। जैसे २ उदर ढीला होता जाय बन्धन भी कसकर बाँधना चाहिये। जब निकल जाने पर, लंघन—उपवास के पश्चात् स्नेह एवं लवण से रहित पेया पीवे ॥११२-११६॥

इसके पश्चात्—

स्यात्क्षीरवृत्तिः षण्मासांस्त्रीन्पेयां पयसा पिबेत् ॥११७॥
त्रींश्चाऽन्यान्पयसैवाद्यात् फलाम्लेन रसेन वा।
अल्पशोऽस्नेहलवणं जीर्णं श्यामाककोद्रवम् ॥११८॥
प्रयतो वत्सरेणैवं विजयेत जलोदरम्।
वर्ज्येषु यन्त्रितो दिष्टे नात्यदिष्टे जितेन्द्रियः ॥११९॥

व्याख्या—६ मास पर्यन्त केवल दूध पर निर्वाह करे और फिर ३ माह पर्यन्त—दूध के साथ पेया पीवे, और और ३ माह पर्यन्त—दूध के ही साथ भोजन करे अथवा अनार दाना आदि की खटाई से मिश्रित मांस रस के साथ भोजन करे, भोजन पुराने सामा एवं कोदों के चावलों का होना चाहिये और उसमें थोड़ा स्नेह एवं थोड़ा लवण डालना चाहिये। इस प्रकार एक वर्ष पर्यन्त प्रयत्न पूर्वक रहने से उदर रोग पर विजय प्राप्त हो सकती है। जिन २ आहार विहारों के परित्याग का आदेश दिया जाय उनमें पूर्णरूप से नियन्त्रित रहे और जिनका आदेश नहीं भी दिया गया है उन आहार विहारों में भी जितेन्द्रिय बना रहे लोलुप न बने ॥११७-११९॥

संशमन चिकित्सा—

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं यतः।
अतो वातादिशमनी क्रिया सर्वा प्रशस्यते ॥१२०॥

व्याख्या—क्योंकि सभी उदर रोग त्रिदोषज होते हैं अतः—सब प्रकार के आहार, विहार एवं औषध वातादि दोषों का शमन करने वाले हों ॥१२०॥

उदररोग में आहार—

वह्निर्मन्दत्वमायाति दोषैः कुक्षौ प्रपूरिते।
तस्माद्भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च ॥१२१॥
सपञ्चमूलान्यल्पाम्लपटुस्नेहकटूनि च।
भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां च तण्डुलैः ॥१२२॥
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम्।
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ॥१२३॥
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येषां वातपित्तकफास्तथा।

व्याख्या—क्यों कि—दोषों—दोष दूषित मलों—द्वारा उदर भर जाने के कारण उदर रोग में—अग्नि मन्द हो जाती है इस लिये—इस रोग में—अग्नि दीपक, लघु तथा पञ्चमूल से युक्त—पञ्चमूल के क्वाथ में बनाये गये, थोड़ा अम्ल रस, लवण स्नेह एवं कटु पदार्थ मिलाकर बनाए गये भोजनों का प्रयोग करे। और—गो मूत्र में भावित साठी धान्यों की यवागू बनाकर दूध के साथ देवे और

अनुपान में ईख का रस देवे (यह मूत्रल होता है)। इससे उदर रोग की निवृत्ति हो जाती है तथा वात, पित्त एवं कफ अपने २ स्थान पर चले जाते हैं—अपना २ कार्य करने लग जाते हैं ॥१२१-१२३॥

उदररोग में अपथ्य—

अत्यर्थोष्णाम्ललवणं रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु ॥१२४॥
गुडं तैलकृतं शाकं वारि पानावगाहयोः।
आयासाध्वदिवास्वप्नयानानि न परित्यजेत् ॥ २५॥

व्याख्या—अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त अम्ल, अत्यन्त लवण, अत्यन्त रूक्ष, अत्यन्त ग्राही, अत्यन्त शीत तथा अत्यन्त गुरु पदार्थ, गुड़, तैल में बना शाक, पीने और स्नान में जल, परिश्रम, मार्ग गमन, दिन में सोना तथा गाड़ी घोड़ा आदि की सवारी को त्यागना चाहिये ॥१२४-१२५॥

उदर रोग में तक्र—

नात्यर्थसान्द्रं मधुरं तक्रं पाने प्रशस्यते।
सकणालवणं वाते, पित्ते सोषणशर्करम् ॥१२६॥
यवानीसैन्धवाजाजीमधुव्योषैः कफोदरे।
त्र्यूषणक्षारलवणैः संयुतं 'निचयोदरे' ॥१२७॥
मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः।
प्लीहि, बद्धे तु हपुषायवानीपटुजाजिभिः ॥१२८॥
सकृष्णामाक्षिकं छिद्रे व्योषवत्सलिलोदरे।
गौरवारोचकानाहमन्दवह्न्यतिसारिणाम् ॥ २९॥
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते।

व्याख्या—उदर रोग में—वह तक्र पीना चाहिये जो बहुत गाढ़ा न हो और मीठा हो। वातोदर में—पीपल एवं लवण मिलाकर, पित्तोदर में मरिच एवं खण्ड मिलाकर, कफोदर में—अजवायन, सैन्धव लवण, जीरा, मधु तथा त्रिकटु मिलाकर, सन्निपातोदर में—त्रिकटु, जौखार तथा लवण मिलाकर, प्लीहोदर में—मधु, तैल, बालवच, सोंठ, सोया, कुठ तथा सैन्धव लवण मिला कर, बद्धगुदोदर में—हाऊबेर, अजवायन, सैन्धव लवण तथा जीरा मिला कर, छिद्रोदर में—पीपल एवं मधु मिलाकर और जलोदर में—त्रिकटु मिला कर तक्र का सेवन करना चाहिये। गौरव, अरोचक, आनाह, मन्दाग्नि, अतिसार एवं कफ वात से पीड़ित रोगियों के लिये तक्र-अमृत के समान लाभ करता है।

वक्तव्य—यदि उदर रोगों में दूध अनुकूल न पड़े तो तक्र का—केवल तक्र का सेवन कराया जाता है तक्र अनुकूल न हो तो दूध का सेवन कराया जाता है। दोनों का एक साथ सेवन नहीं कराया जाता ॥१२६-१२९॥

उदर रोग में दूध—

प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत् ॥१३०॥
स्थैर्यकृत्सर्वधातूनां बल्यं दोषानुबन्धहृत्।
भेषजापचिताङ्गानां क्षीरमेवामृतायते ॥१३१॥

व्याख्या—उक्त सभी प्रयोगों—उपायों के साथ २ दूध का प्रयोग करे क्यों कि वह—रस रक्त आदि सभी धातुओं में स्थिरता लाता है, बल बढ़ाता है और दोषों के अनुबन्ध को नष्ट करता है। तथा दूध—औषध सेवन से क्षीण शरीर वालों के लिये अमृत के समान गुण करता है ॥१३०-१३१॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

अथाऽतः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब पाण्डुरोग की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस रोग का वर्णन नि० अ० १३ में देखिये और च० चि० अ० १६ तथा सु. उ. अ. ४४ में देखिये। अ० सं० चि० अ० १८।

पाण्डुरोग में स्नेहन—

पाण्ड्वामयी पिबेत्सर्पिरादौ कल्याणकाह्वयम्।
पञ्चगव्यं महातिक्तं शृतं वाऽऽरग्वधादिना ॥१॥
दाडिमात्कुडवो धान्यात्कुडवार्धं पलं पलम्।
चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यर्धपलं च तैः ॥२॥
कल्कितैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके।
सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत् ॥३॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवातानुलोमनम्।
दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां च प्रशस्यते ॥४॥

व्याख्या—पाण्डु रोग का रोगी सर्व प्रथम—कल्याण नामक घृत (उ. तं. अ. ६) अथवा पंचगव्य घृत (उ. तं. अ. ७) अथवा महातिक्त घृत (चि० अ० १९) अथवा आरग्वधादिगण के योग से (सू० अ० १५) सिद्ध घृत पीवे। अथवा—दाडिमादि घृत यथा—अनारदाना १ कुडव, धनियाँ आधा कुडव (२ पल) तथा चित्ता एवं सोंठ १—१ पल, पीपल आधा पल (२ कर्ष) सब का कल्क, घृत २० पल, जल १ आढक। सब को मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—हृद्रोग, पाण्डुरोग, गुल्म, अर्श प्लीह विकार, वात एवं कफ के रोग, श्वास तथा कास को नष्ट करता है, जिन को कष्ट के साथ प्रसव होता है और जो बन्ध्या हैं उन नारियों के लिये प्रशस्त है।

पाण्डुरोग में शोधन—

स्नेहितं वामयेत्तीक्ष्णैः पुनः स्निग्धं च शोधयेत्।
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ॥ ५ ॥
दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिमासुतम्।
द्राक्षाञ्जलिं वा मृदितं तत् पिबेत् पाण्डुरोगवित् ॥ ६ ॥
मूत्रेण पिष्टां पथ्यां वा तत्सिद्धं वा फलत्रयम्।
स्वर्णक्षीरीत्रिवृच्छ्यामाभद्रदारुमहौषधम् ॥ ७ ॥
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं शृतं तेनैव वा पिबेत्।
साधितं क्षीरमेभिर्वा पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥ ८ ॥

व्याख्या—उक्त घृतों के सेवन से स्नेहन करके—मदन फल आदि तीक्ष्ण वामक द्रव्यों के द्वारा वमन करावे। और पुनः उक्त घृतों से स्नेहन करके गोमूत्र-मिश्रित दूध से विरेचन करावे अथवा केवल दूध भरपेट पिला कर विरेचन करावे। अथवा विरेचनार्थ—दन्ती-मूल के १ पल क्वाथ में गम्भार के फलों का क्वाथ १ अंजलि (४ पल) मिला कर पीवे। अथवा अंगूर का रस १ अंजलि मिलाकर पीवे। यह दोनों योग पाण्डुरोग नाशक हैं। अथवा—गोमूत्र में पीस कर हरड़ खावे! अथवा गो मूत्र में त्रिफला का क्वाथ बनाकर पीवे। अथवा—सत्यानाशी की जड़, निसोत, काली निसोत देवदारु तथा सोंठ को एक अंजलि गोमूत्र में पीस कर अथवा गोमूत्र में पकाकर पीवे। अथवा—सत्यानाशी आदि द्रव्यों को दूध में पका कर पीवे। इससे भी दोषों—मलों का अनुलोमन-विरेचन हो जाता है ॥५-८॥

पाण्डुरोग में लोहभस्म—

मूत्रे स्थितं वा सप्ताहं पयसाऽयोरजः पिबेत्।
जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥ ९ ॥

व्याख्या—लोहभस्म को गोमूत्र की सात दिन में सात भावना देकर दूध के साथ पीवे और भूख लगने पर दूध के साथ भोजन करे अथवा मधुर रसके साथ भोजन करे॥

वक्तव्य—यह योग ७ अथवा १४ दिन खाना चाहिये, लवण एवं अम्लरस का त्याग करना चाहिये। मात्रा—३-४ माशा। सहपान—गुड़, तिल तथा त्रिफला का चूर्ण १ तो०। लोहभस्म की विधि रसेन्द्रसारसंग्रह आदि ग्रन्थों में देखिये ॥९॥

हरीतकी प्रयोग—

शुद्धश्चाभयतो लिह्यात्पथ्यां मधुघृतद्रुताम्।

व्याख्या—अथवा उक्त प्रकार से वमन एवं विरेचन से शोधन हो जाने पर हरड़ के चूर्ण को मधु एवं घृत में घोल कर खावे।

विशालादि चूर्ण—

विशाला कटुका मुस्ता कुष्ठं दारु कलिङ्गकाः ॥ १० ॥
कर्षांशा द्विपिचुर्मूर्वा कर्षार्धांशा घुणप्रिया।
पीत्वा तच्चूर्णमम्भोभिः सुखैर्लिह्यात्ततो मधु ॥ ११ ॥
पाण्डुरोगं ज्वरं दाहं कासं श्वासमरोचकम्।
गुल्माऽऽनाहाऽऽमवातांश्च रक्तपित्तं च तज्जयेत् ॥१२॥

व्याख्या—इन्द्रायण की जड़, कुटकी, मोथा, देवदारु तथा इन्द्रजौ १-१ कर्ष, मरोड़ फली २ कर्ष, अतीस आधा कर्ष। चूर्ण बनावे। इसे कोसे जल के साथ पीकर ऊपर से मधु चाट लेवे। यह चूर्ण—पाण्डुरोग, ज्वर, दाह, कास, श्वास, अरुचि, गुल्म, आनाह, आम वात तथा रक्तपित्त को नष्ट करता है ॥१०-१२॥

अन्यान्य योग—

वासागुडूचीत्रिफलाकटवीभूनिम्बनिम्बजः।
क्वाथः क्षौद्रयुतो हन्ति पाण्डु-पित्तास्र-कामलाः ॥१३॥
व्योषाग्निवल्लत्रिफलामुस्तैस्तुल्यमयोरजः।
चूर्णितं तक्रमध्वाज्यकोष्णाम्भोभिः प्रयोजितम् ॥१४॥
कामलापाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शोमेहनाशनम्।
गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान् ॥१५॥
पिप्पलीद्विगुणान्दद्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे।

व्याख्या—वासादि क्वाथ—अडूसा, गिलोय, त्रिफला, कुटकी, चिरायता तथा निम्ब की छाल का क्वाथ—मधु, मिलाकर पीने से पाण्डुरोग, पित्तरोग, रक्तरोग या रक्त पित्त तथा कामला को नष्ट करता है। नवायस लौह—सोंठ, मरिच, पीपल, चित्रक का मूल, विडंग, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा नागरमोथा १-१ कर्ष, लोहभस्म ९ कर्ष। सब का चूर्ण मिलाकर रख लेवे। इस का प्रयोग—तक्र, मधु घृत अथवा कोसे जल के साथ करे। यह योग—कामला, पाण्डुरोग, हृद्रोग, कुष्ठ, अर्श तथा प्रमेह को नष्ट करता है। गुडादि मण्डूर योग—गुड़, सोंठ, मण्डूर भस्म तथा तिल १-१ भाग तथा पीपल २ भाग, सब को गुड़ में मिलाकर गोलियाँ बनावे और पाण्डुरोगी को देवे। मात्रा आधा तो० से १ तो०। अनुपान—तक्र ॥१३-१५॥

मण्डूर वटक—

ताप्यं दार्व्यास्त्वचं चव्यं ग्रन्थिकं देवदारु च ॥१६॥
व्योषादिनवकं चैतच्चूर्णयेद् द्विगुणं ततः।
मण्डूरं चाञ्जननिभं सर्वतोऽष्टगुणेऽथ तत् ॥१७॥
पृथग्विपक्वे गोमूत्रे वटकीकरणक्षमे।
प्रक्षिप्य वटकान्कुर्यात्तान्खादेत्तक्रभोजनः ॥१८॥
एते मण्डूरवटकाः प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम्।
कुष्ठान्यजरकं शोफमूरुस्तम्भमरोचकम् ॥ १९ ॥
अर्शांसि कामलां मेहान् प्लीहानं शमयन्ति च।

व्याख्या—स्वर्णमाक्षिक भस्म, दारुहल्दीकी छाल, चव्य,

पीपलामूल, देवदारु, तथा व्योषादि ९ द्रव्यों (सोंठ, मरिच, पीपल, चित्तामूल, विडंग, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा नागरमोथा नामक ९ द्रव्य-नवायस लोह देखिये) का चूर्ण सम भाग और सबसे दूनी मण्डूर भस्म जो अञ्जन जैसी काली एवं सूक्ष्म हो। इन सब द्रव्यों को सबसे आठ गुने गोमूत्र में डाल कर पाक करे। जब पकते २ गोली बनाने योग्य हो जाय तब गोलियाँ बना लेवे। इन गोलियों को तक्र अथवा मधु घृत के साथ खावे और तक्र के साथ ही उचित भोजन करे। ये मण्डूर वटक—पाण्डु रोगियों को जीवन दान करते हैं और कुष्ठ, अजीर्ण, शोथ, ऊरुस्तम्भ, अरुचि, अर्श, कामला, प्रमेह तथा प्लीहा को शान्त करते हैं ॥१६-१९॥

तापयादि चूर्ण—

ताप्याऽद्रिजतु-रौप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक् ॥ २० ॥
चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पालिकैः सह ।
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुना द्रुताः ॥ २१ ॥
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम् ।
कुष्ठान्यजरकं मेहं शोफं श्वासमरोचकम् ॥ २२ ॥
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ।

व्याख्या—स्वर्ण माक्षिक भस्म, शिलाजीत, चान्दी का मळ (रजत मण्डूर) तथा मण्डूर (लोह मण्डूर) ५-५ पल, चित्तामूल, हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मरिच, पीपल तथा वायविडंग का चूर्ण १-१ पल, खण्ड ८ पल मिला कर मधु में घोल कर रख लेवे। यह योग—पाण्डुरोग, विष विकार, कास, राजयक्ष्मा, विषम ज्वर, कुष्ठ, अजीर्ण, प्रमेह, शोथ, श्वास तथा अरोचक को विशेषतः अपस्मार, कामला तथा अर्श को नष्ट करता है।

वक्तव्य—अष्टाङ्ग संग्रह चि. अ. १८ में इस योग का नाम "योगराज" है तथा चरक चि. अ. १६ में भी इसका नाम योगराज ही है, और इसे लोह पात्र में रखने का विधान है तथा मात्रा उदुम्बर—गूलर फल के समान अथवा अग्निबल के अनुसार कुछ न्यूनाधिक। भोजन—इच्छानुसार, परन्तु कुल्थी की दाल, मकोय का शाक तथा कबूतर का मांस त्याज्य हैं ॥२०-२२॥

शिलाजतु वटक—

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ॥ २३ ॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा ।
शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥ २४ ॥
त्वक्क्षीरीपिप्पलीधात्रीकर्कटाख्याः पलोन्मिताः ।
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिजातकम् ॥२५॥
मधुत्रिपलसंयुक्तं कुर्यादक्षसमान्गुडान् ।
दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥ २६ ॥
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा ।
पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरम् ॥ २७ ॥
हृन्मूत्रपूतिशुक्राग्निदोषशोषगरोदरम् ।
कासासृग्दरपित्तासृक् शोफगुल्मगलामयान् ॥ २८ ॥
मेहवध्मभ्रमान् हन्युः सर्वदोषहराः शिवाः ।

व्याख्या—इन्द्र जौ, हरड़, बहेड़ा, आमला, निम्ब की छाल, परवल के पत्र या मूल, मोथा तथा सोंठ के रस एवं क्वाथ से ८ पल शिलाजीत को १० दिन अथवा २० दिन अथवा ३० दिन भावना देवे फिर उसमें ८ पल श्वेत खण्ड (या मिशरी) मिला देवे और तीखा खीर (या बंश लोचन), पीपल, आमला तथा काकड़ासिंगी का सूक्ष्म चूर्ण १-१ पल और कण्टकारी के फल तथा मूल का चूर्ण १ पल और सुगन्धित होने योग्य त्रिजातक (दालचीनी, बड़ी इलायची तथा तेजपत्ता) का सूक्ष्म चूर्ण मिला देवे और ३ पल मधु मिलाकर १-१ कर्ष के वटक बना लेवे। इनका नाम अष्टाङ्ग संग्रह में "वज्रवटक" और चरक में "शिलाजतु वटक" है। मात्रा १ वटक। अनुपान—अनार का रस, दूध, पक्षियों का मांस रस, जल, सुरा अथवा आसव है। भोजन न खाकर (प्रातः) अथवा खाने के पश्चात् (सायंकाल) इनका सेवन करे। ये वटक—पाण्डुरोग, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहविकार, तमक श्वास, अर्श, भगन्दर, हृद्रोग, मूत्राघात, शुक्र की दुर्गन्ध, जठराग्नि दोष (ग्रहणी रोग), शोष, गरविष विकार, उदर रोग, कास, प्रदर, रक्तपित्त, शोथ, गुल्मरोग, गलरोग, प्रमेह, वृद्धि तथा भ्रम को नष्ट करते हैं और सर्वरोग नाशक एवं कल्याण कारक—स्वास्थ्य वर्द्धक हैं।

वक्तव्य—इन्द्र जौ आदि द्रव्य शिलाजतु के समान लेकर क्वाथ करे—चौगुने जल में, चौथाई रहने पर छान कर उष्ण २ क्वाथ में शिलाजतु डालकर घोल देवे, सूखने पर पुनः क्वाथ बनाकर डाले इस प्रकार १०-२० अथवा ३० भावना देवे। शिलाजीत की भावना देने की यही विधि है ॥२३-२८॥

धात्री-अवलेह—द्राक्षावलेह—

द्राक्षाप्रस्थं कणाप्रस्थं शर्करार्धतुलां तथा ॥ २९ ॥
द्विपलं मधुकं शुण्ठीं त्वक्क्षीरीं च विचूर्णिताम् ।
धात्रीफलरसद्रोणे तत्क्षिप्त्वा लेहवत्पचेत् ॥ ३० ॥
शीतान्मधुप्रस्थयुताद् लिह्यात्पाणितलं ततः ।
हलीमकं पाण्डुरोगं कामलां च नियच्छति ॥ ३१ ॥

व्याख्या दाख तथा पीपल १—१ प्रस्थ, खण्ड आधीतुला, मुलेठी, सोंठ तथा वंशलोचन (तोखाखीर) का चूर्ण २—२ पल, आमला के फलों का रस १ द्रोण, सब को मिलाकर विधिपूर्वक अवलेह सिद्ध करे। शीतल

होने पर १ प्रस्थ मधु मिला देवे। मात्रा १ कर्ष। अनुपान—रोगानुसार। यह अवलेह—हलीमक, पाण्डुरोग तथा कामला को नष्ट करता है।

वक्तव्य—अष्टांग संग्रह चि० अ० १८ में—"त्रिसुगन्धिकस्य कर्षनयं च चूर्णीकृत्य दर्व्या परिघट्य जातीपुष्पादिवासिते मृद्भाण्डे निदध्यात्। अयं द्राक्षालेहः उपयुज्यमानः पाण्ड्वामयहृद्रोगकामलाहलीमकज्वरगुल्मोदरशोफोदावर्त्तादीन-परानपि विरेकसाध्यान् व्याधीन् प्रसह्य वायुरिवाभ्राण्यपहरति। भोजनं तु सात्म्यतः शालियवगोधूममुद्गजाङ्गलमांसानि, पयो, घृतं, वृषपटोलवेत्रपर्पटकशाकं, द्राक्षादाडिमखर्जूराऽऽमलकानि, पानमनु—पंचमूलसिद्धं वारि वाताधिके, घनह्रीवेरशुण्ठीसाधितं पित्तोत्तरे, श्लेष्मण्यरिष्टसीधुमार्द्वीकासवाः, सर्वत्र वा तक्रम्।" इस अवलेह का उक्त प्रकार से वर्णन है। यह उत्तम कोटि का विरेचन योग हैं ॥२९-३१॥

लघु पञ्चमूल आदि योग—

कनीयः पञ्चमूलाम्बु शस्यते पानभोजने।
पाण्डूनां कामलार्तानां मृद्वीकाऽऽमलकाद्रसः ॥ ३२ ॥

व्याख्या पाण्डुरोग एवं कामला से पीड़ितों के लिये पीने में तथा भोजन निर्माण में—लघु पञ्चमूल का रस मुनक्का का रस तथा आमला का रस प्रशस्त-लाभप्रद है ॥३२॥

उपसंहार—

इति सामान्यतः प्रोक्तं पाण्डुरोगभिषग्जितम्।
विकल्प्य योज्यं विदुषा पृथग्दोषबलं प्रति ॥ ३३ ॥

व्याख्या - इस प्रकार पाण्डुरोग की सामान्य चिकित्सा कह दी गई। इसी का विकल्प—विविध प्रकार की कल्पना करके वातादि दोषों के बलानुसार, बुद्धिमान् चिकित्सक, विशिष्ट चिकित्सा करे। यथा— ॥३३॥

विशेष चिकित्सा—

स्नेहप्रायं पवनजे, तिक्तशीतं तु पैत्तिके,।
श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णं, विमिश्रं सान्निपातिके, ॥ ३४ ॥

व्याख्या—वात जनित पाण्डुरोग में—स्नेह प्रधान, पित्त जनित पाण्डुरोग में—तिक्त प्रधान एवं शीतवीर्य प्रधान, कफ जनित पाण्डुरोग में—कटुरस, रूक्षगुण एवं उष्ण वीर्य प्रधान तथा त्रिदोषज पाण्डु रोग में उक्त सब मिश्रित चिकित्सा करे ॥३४॥

मृत्तिका भक्षण से उत्पन्न पाण्डु की चिकित्सा—

मृदं निर्यापयेत्कायात्तीक्ष्णैः संशोधनैः पुरः।
बलाधानानि सर्पींषि शुद्धे कोष्ठे तु योजयेत् ॥ ३५ ॥
व्योषबिल्वद्विरजनीत्रिफलाद्विपुनर्नवम्।
मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥ ३६ ॥
वृश्चिकाली च भार्ङ्गी च सक्षीरैस्तैः शृतं घृतम्।
सर्वान्प्रशमयत्याशु विकारान्मृत्तिकाकृतान् ॥ ३७ ॥
तद्वत्केसरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षीरशाद्वलैः।
मृद्द्वेषणाय तल्लौल्ये वितरेद्भाविताम् मृदम् ॥ ३८ ॥
वेल्लाग्निनिम्बप्रसवैः पाठया मूर्वयाऽथवा।
मृद्भेदभिन्नदोषाऽनुगमाद्योज्यं च भेषजम् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—मिट्टी खाने के कारण से उत्पन्न पाण्डुरोग म सर्व प्रथम तीक्ष्ण विरेचन देकर उदर में से मिट्टी निकाल देवे, उदर की शुद्धि हो जाने पर बलवर्द्धक घृतों का प्रयोग करे। यथा—व्योषादि घृत—सोंठ, मरिच, पीपल, बिलगिरी, हल्दी, दारु हल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, नागर मोथा, लोहभस्म, पाठा, विडंग, देवदारु, वृश्चिकाली (उष्ट्र कण्टक अथवा मेढ़ा सिंगी) तथा भारंगी का कल्क १ भाग, घृत ४ भाग तथा दूध १६ भाग मिला कर पाक करे, घृत सिद्ध होने पर छान कर रख लेवें। इस घृत का पान करने से मिट्टी के सब रोग शान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार नागकेसर, मुलेठी, पीपल, दूध तथा दूर्वा के योग से घृत सिद्ध करके पिलावें। जो रोगी लालच-लोलुपता के कारण मिट्टी खाना न छोड़े उसका मिट्टी में द्वेष (अरुचि) उत्पन्न करने के लिए—वायविडंग, चित्रक तथा निम्ब के पत्तों के रस से अथवा पाठा के रस से अथवा मरोड़फली के रस से मिट्टी को भावना देकर खाने को देवें। और मिट्टी के कषाय, ऊषर एवं मधुर आदि भेदों के कारण कुपित वातादि दोषों के अनुसार औषधों का प्रयोग करें॥

वक्तव्य—अष्टाङ्ग हृदय एवं चरक में यह पाठ इस प्रकार है—

विडंगेनाऽतिविषया पाठया निम्बपल्लवैः।
वार्त्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैः मूर्वयाऽथवा ॥ १२२ ॥

अर्थात् इन विडंग आदि द्रव्यों के साथ अथवा रस से भावित मिट्टी खाने को देवें, इनके योग से मिट्टी अरुचिकर हो जाती है ॥३५-३९॥

कामला चिकित्सा—

कामलायां तु पित्तघ्नं पाण्डुरोगाविरोधि यत्।
पथ्याशनरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कितः ॥४०॥
प्रस्थः सिद्धो घृताद् गुल्म-कामलापाण्डुरोगनुत्।
आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्याऽऽमलकस्य वा ॥४१॥
सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पाययेत्कामलापहम्।
पिबेन्निकुम्भकल्कं वा द्विगुणं शीतवारिणा ॥४२॥
कुम्भस्य चूर्णं सक्षौद्रं त्रैफलेन रसेन वा।
त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम् ॥४३॥
प्रातः प्रातर्मधुयुतं कामलार्ताय योजयेत्।

निशागैरिकधात्रीभिः कामलापहमञ्जनम् ॥४४॥

व्याख्या—कामला रोग में पित्तशामक चिकित्सा करे परन्तु जो पाण्डुरोग में विरोधी न हो अर्थात् पाण्डुरोग शामक भी हो। यथा—१०० हरड़ों का क्वाथ, ५० हरड़ के टूसों का कल्क तथा १ प्रस्थ गोघृत मिलाकर पाक करे। यह घृत—गुल्म, कामला तथा पाण्डुरोग को नष्ट करता है। अथवा—अमलतास का गूदा १ पल लेकर—और उसमें त्रिकटु का चूर्ण १ माशा मिलाकर—ईख के, विदारीकन्द के अथवा आमला के रस के साथ पिलावे। यह कामला को नष्ट करता है। अथवा दन्ती का चूर्ण २ पल परिमित लेकर शीतल जल के साथ पिलावे अथवा निसोत का चूर्ण मधु में मिलाकर त्रिफला के रस के साथ पिलावे। उक्त तीनों योग विरेचनार्थ दिये जाते हैं। त्रिफला का रस, गिलोय का रस, दारु हल्दी का रस अथवा निम्ब का रस—मधु मिलाकर प्रातःकाल, कामला रोगी को पिलावे। ये योग शामक हैं। हल्दी, गेरू तथा आमला को जल में घिसकर अथवा सूखा अञ्जन कामला को नष्ट करता है ॥४०-४४॥

कामला में श्वेत पुरीष आने पर—

तिलपिष्टनिभं यस्तु कामलावान्सृजेन्मलम्।
कफरुद्धपथं तस्य पित्तं कफहरैर्जयेत् ॥ ४५ ॥
रूक्षशीतगुरुस्वादु व्यायाम बलनिग्रहैः।
कफसम्मूर्च्छितो वायुर्यदा पित्तं बहिः क्षिपेत् ॥ ४६ ॥
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः।
भवेत्साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ॥ ४७ ॥
दौर्बल्याऽल्पाग्निपार्श्वार्ति हिध्माश्वासारुचिज्वरैः।
क्रमेणाल्पेऽनुपज्यत पित्ते शाखासमाश्रिते ॥ ४८ ॥
रसैस्तं रूक्षकटवम्लैः शिखितित्तिरिदक्षजैः।
शुष्कमूलकजैर्यूषैः कुलत्थोत्थैश्च भोजयेत् ॥ ४९ ॥
भृशाम्लतीक्ष्णकटुक लवणोष्णं च शस्यते।
सबीजपूरकरसं लिह्याद्व्योपं, तथाऽऽशयम् ॥ ५० ॥
स्वं पित्तमेति, तेनाऽस्य शकृदप्यनुरज्यते।
वायुश्च याति प्रशमं सहाटोपाद्युपद्रवैः ॥ ५१ ॥
निवृत्तोपद्रवस्याऽस्य कार्यः कामलिको विधिः।

व्याख्या—जब कामला रोगी को—तिलों की पीठी का-सा श्वेत पुरीष आता हो तब—समझना चाहिए कि—पित्त के स्रोतस् कफ द्वारा अवरुद्ध हो गये हैं अर्थात् पित्त पुरीष में मिश्रित नहीं हो रहा है उस दशा में कफ नाशक द्रव्यों के योग से पित्त को शान्त करें जिसमें कफ का अवरोध टूट जाय और पित्त पुरीष में मिल कर निकलने लग जाय। इसका कारण यह है कि—जब रूक्ष, शीत, गुरु तथा मधुर आहारों के सेवन से, व्यायाम न करने से तथा पुरीष आदि के वेग रोकने से कुपित वायु—कफ में मिल कर पित्त को रक्त आदि में मिला देता है तब रोगी के नेत्र, मूत्र एवं त्वचा का वर्ण हल्दी का-सा गहरा पीला हो जाता है और पुरीष का वर्ण श्वेत रह जाता है (क्योंकि पुरीष में पित्त का मिश्रण ही नहीं हो पाता)। इस दशा में—आटोप एवं विष्टम्भ होता है, हृदय गुरु प्रतीत होता है और रोगी क्रमशः—दुर्बलता, मन्दाग्नि, हिक्का, श्वास, अरुचि तथा ज्वर से युक्त हो जाता है क्योंकि पित्त—अल्प रहता है और वह भी शाखा अर्थात् रक्त आदि धातुओं एवं त्वचा में आश्रित रहता है (पाचन में सहायक नहीं होता फलतः पुरीष में मिश्रित भी नहीं होता)। इस दशा में उस रोगी को—रूक्ष, कटु एवं अम्ल द्रव्यों से युक्त मोर, तीतर अथवा मुर्गा के मांस रसों के साथ अथवा सूखी मूली के रस के साथ अथवा कुलथी के यूष के साथ भोजन देवें और अत्यन्त अम्ल, तीक्ष्ण, कटु लवण तथा उष्ण आहार एवं औषधों का सेवन भी प्रशस्त है। और सोंठ, मरिच एवं पीपल का चूर्ण मिला कर (चरक के लेखानुसार मधु भी मिला कर) बिजौरा निम्बू का रस पीवें। ऐसा करने से रोगी का पित्त—अपने आशय—कर्म भूमि अर्थात् पाचन स्थान में आ जाता है और उस पित्त से उसका पुरीष भी पीला होकर आने लगता है और आटोप एवं विष्टम्भ आदि उपद्रवों के साथ २ वायु भी शान्त हो जाता है। इस प्रकार उक्त सब उपद्रव शान्त हो जाने पर—कामला की चिकित्सा पुनः प्रारम्भ कर देनी चाहिए ॥४५-५१॥

कुम्भ कामला की चिकित्सा—

गोमूत्रेण पिबेत्कुम्भकामलायां शिलाजतु ॥ ५२ ॥
मासं माक्षिकधातुं वा किट्टं चापि हिरण्यजम्।

व्याख्या—कुम्भकामला में गोमूत्र के साथ-एक मास पर्यन्त—शिलाजीत अथवा स्वर्णमाक्षिक भस्म अथवा स्वर्णमण्डूर की भस्म का सेवन करें।

वक्तव्य—साथ में आहार विहार एवं औषध कामला के समान करें। स्वर्णमंडूर लौहमंडूर के समान निर्मित होता होगा और रूप्यमंडूर भी। आज तो दोनों नहीं देखे जाते।॥५२

हलीमक की चिकित्सा—

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितेन हलीमकी ॥ ५३ ॥
महिषीहविषा स्निग्धः पिबेद्धात्रीरसेन तु।
त्रिवृतां तद्विरिक्तोऽद्यात्स्वादु पित्तानिलापहम् ॥ ५४ ॥
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च।
यापनान्क्षीरबस्तींश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये।
कासिकं वाऽभयालेहं पिप्पलीमधुकं बलाम् ॥५६ ॥
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम्।

पाण्डुरोगेषु कुशलः शोफोक्तं च क्रियाक्रमम् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हलीमक रोग में—गिलोय का स्वरस तथा दूध मिला कर सिद्ध किये गये भैंस के घृत से स्नेह करके, आमला के स्वरस के साथ निसोत का सेवन करें। इस प्रकार विरेचन हो जाने पर मधुर एवं पित्त तथा वायु का शमन करने वाले आहार का सेवन करें। और पूर्वोक्त (श्लोक २९-३१ द्राक्षाप्रस्थं'''नियच्छति देखिये) द्राक्षावलेह, मधुरद्रव्यों के योग से सिद्ध घृत, यापन वस्तियों (क. स्था. अ. ४), क्षीर वस्तियों तथा अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करें। और अग्नि की वृद्धि के लिए—युक्तिपूर्वक-यथा योग्य मृद्वीकारिष्ट आदि योगों का पान करें। कास चिकित्सा में कहा गया अगस्त्य हरीतकी योग (चि. अ. ३) तथा "प्रस्थोन्मिते यवक्वाथे विंशतिर्विजया पचेत्" (चि. अ. ३, श्लोक १६०) में कहे गये अवलेह का सेवन करे। अथवा—दोषों एवं शारीरिक बल के अनुसार—पीपल, मुलेठी तथा बलामूल का दूध के साथ प्रयोग करें। और पाण्डु रोगों (कामला, कुम्भकामला एवं हलीमक नामक सभी रोगो) में कुशल चिकित्सक—शोथरोग की चिकित्सा विधि का प्रयोग करें।

वक्तव्य—शोथ चिकित्सा अ. १७में देखिये ॥५३-५७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः।

श्वयथुचिकित्सा

अथाऽतः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब शोथरोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—शोथरोग का वर्णन निदान अ० १३ में तथा च० चि० अ० १२, सु० चि० अ० २३ एवं अष्टाङ्ग संग्रह अ० १९ में देखिये।

सामान्य चिकित्सा—

सर्वत्र सर्वाङ्गसरे दोषजे श्वयथौ पुरा।
सामे विशोषितो भुक्त्वा लघु कोष्णाम्भसा पिबेत् ॥१॥
नागरातिविषादारु-विडङ्गेन्द्रयवोषणम्।
अथवा विजयाशुण्ठीदेवदारुपुनर्नवम् ॥२॥
नवायसं वा दोषाढ्यः शुद्ध्यै मूत्रहरीतकीः।
वराक्वाथेन कटुकाकुम्भाऽयस्त्र्यूषणानि वा ॥३॥
अथवा गुग्गुलुं तद्वज्जतु वा शैलसम्भवम्।

व्याख्या—सभी, सर्व शरीरचारी, दोषजनित शोथों में आमदोष का अनुबन्ध होने पर लंघन, पाचन एवं शोधन का आवश्यकतानुसार सेवन करके अनन्तर, लघु भोजन करके, उष्ण जल के साथ सोंठ, अतीस, देवदारु, विडङ्ग, इन्द्र जौ तथा मरिच. अथवा—हरड़, सोंठ, देवदारु तथा पुनर्नवा का सेवन करे। अथवा नवायस योग का सेवन करे। यदि मलदोष हो तो शोधनार्थ—गोमूत्र के साथ हरड़ का सेवन करे। अथवा—कुटकी, निसोत, लोहभस्म, सोंठ, मरीच एवं पीपल के योग का अथवा गूगल अथवा शिलाजतु का त्रिफला क्वाथ के साथ सेवन करे॥

वक्तव्य—नवायस योग अ० १६ श्लोक ९ में देखिये ॥१-३॥

अवस्था भेद से अन्यान्य योग—

मन्दाग्निः शीलयेदाम-गुरुभिन्नविबद्धविट् ॥४॥
तक्रं सौवर्चलव्योषक्षौद्रयुक्तं गुडाभयाम्।
तक्रानुपानामथवा तद्वद्वा गुडनागरम् ॥५॥

व्याख्या—शोथरोग में मन्दाग्नि होने पर तथा आमदोष युक्त, गुरु पुरीष होने पर और मलभेद अथवा मलबन्ध होने पर सौञ्चर लवण, सोंठ, मरीच, पीपल तथा मधु मिलाकर तक्र पीवे। अथवा—गुड एवं हरड़ का योग अथवा गुड़ एवं सोंठ का योग तक्र के अनुपान के साथ पीवे ॥४-५॥

वर्द्धमान गुडाऽऽर्द्रक योग—

आर्द्रकं वा समगुडं प्रकुञ्चार्धविवर्धितम्।
परं पञ्चपलं मासं यूषक्षीररसाशनः ॥६॥
गुल्मोदरार्शः श्वयथुप्रमेहान्
श्वासप्रतिश्याऽलसकाऽविपाकान्।
सकामलाशोफमनोविकारान्
कासं कफं चैव जयेत्प्रयोगः ॥७॥

व्याख्या—अदरक एवं गुड़ समभाग मिलाकर प्रतिदिन दो कर्ष बढ़ाते-बढ़ाते पाँच पल पर्यन्त मात्रा में एक मास पर्यन्त खावे और यूष, दूध अथवा मांसरस के साथ भोजन करता रहे। यह प्रयोग—गुल्मरोग, उदररोग, अर्शः, शोथ, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अजीर्ण कामला, शोष, उन्माद आदि मानसरोग, कास तथा कफ विकार को नष्ट करता है ॥६-७॥

आर्द्रक घृत—

घृतमार्द्रकनागरस्य कल्क—
स्वरसाभ्यां पयसा च साधयित्वा।
श्वयथुस्तवथूदराग्निसादै—
रभिभूतोऽपि पिबन् भवत्यरोगः ॥८॥

व्याख्या—अदरक के कल्क एवं स्वरस के योग से

तथा दूध के योग से घृत सिद्ध करे। इस घृत का पान करने से शोथ, छींक, उदररोग तथा मन्दाग्नि से पीड़ित रोगी नीरोग हो जाता है ॥८॥

निरामो बद्धशमलः पिबेच्छ्वयथुपीडितः।
त्रिकटुत्रिवृतादन्तीचित्रकैः साधितं पयः ॥९॥
मूत्रं गोर्वा महिष्या वा सक्षीरं क्षीरभोजनः।
सप्ताहं मासमथवा स्यादुष्ट्रीक्षीरवर्तनः ॥१०॥

व्याख्या—जब शोथ में आमदोष न रहे, परन्तु पुरीषबन्ध हो तब सोंठ, मरीच, पीपल, निसोत, दन्तीमूल तथा चित्तामूल के योग से सिद्ध किया गया दूध पीवे। अथवा गौ का अथवा भैंस का मूत्र समभाग दूध में मिलाकर पीवे और दूध पर ही निर्वाह करे। अथवा दूध के साथ भोजन करे। ७ दिन अथवा एक मास केवल ऊँटनी का दूध पीकर रहे अन्य कुछ भी न पीवे न खावे ॥९-१०॥

यवानकादि घृत—

यवानकं यवक्षारं यवानीं पञ्चकोलकम्।
मरिचं दाडिमं पाठां धानकामम्लवेतसम् ॥११॥
बासबिल्वं च कर्षांशं साधयेत्सलिलाढके।
तेन पक्वो घृतप्रस्थः शोफार्शोगुल्ममेहहा ॥१२॥

व्याख्या—यवानक (मोटी अजवायन), जौखार, अजवयन, पींपल, पीपलामूल, चव्य, चित्तामूल, सोंठ, मरीच, अनारदाना, पाठा, धनियाँ, अम्लवेत तथा विल-गिरी १-१ कर्ष लेकर, एक आढक जल में क्वाथ करे और इस क्वाथ के योग से सिद्ध किया गया एक प्रस्थ घृत—शोथ, अर्श गुल्म तथा प्रमेह को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इस घृत का योग चरक में इस प्रकार है—
सचित्रकं धान्ययवान्यजाजीसौवर्चलं त्र्यूषणवेतसाम्लम्।
बिल्वात् फलं दाडिमयावशूकौ सपिप्पलीमूलमथापि चव्यम् ।५५
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाऽऽढकेन पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात्
अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं निहन्ति वह्निं च करोति दीप्तम्॥
ओर अष्टाङ्ग संग्रह चि० अ० १९ में इस प्रकार है—
दाडिमयवानीयवानकधनिकापाठाऽम्लवेतसमरिचपञ्चकोलबिल्व-फलयावशूकान् अक्षमात्रान् सलिलाऽऽढके विपाच्य तत्कषायेण घृतप्रस्थं साधयेत् शोफाऽर्शोगुल्म मेहाऽग्निसादहरम् ।११-१२॥

अन्यान्य घृत

दध्नश्चित्रकगर्भाद्वा घृतं तत्तक्रसंयुतम्।
पक्वं सचित्रकं तद्वद्गुणैः युञ्ज्याच्च कालवित् ॥१३॥
धान्वन्तरं महातिक्तं कल्याणमभयाघृतम्।

व्याख्या—चित्तामूल के कल्क से लिप्त घट में जमाए गये दूध के दही से मथकर निकाला गया घृत—उसी के तक्र के योग से पकाकर और उसमें चित्ता का चूर्ण मिला कर पीवे। यह भी गुणों में यवानकादि घृत के समान गुणों वाला है। अथवा धान्वन्तर घृत (चि० अ० १२) अथवा महातिक्त घृत (चि० अ० १९) अथवा कल्याण घृत (उ० तं० अ० ६) अभयाघृत (चि० अ० १५) का आवश्यक समय पर उपयोग करे॥

वक्तव्य—च० चि० अ० १२ में इस घृत का पाठ है—
क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते दध्यागतं साधु विमथ्य तेन।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भंतक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्याम् ॥५८॥
अर्शोतिसारानिलगुल्ममेहान् चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च।
तक्रेण चाद्यात् सघृतेन तेन भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ५९

दशमूल हरीतकी—

दशमूलकषायस्य कंसे पथ्याशतं पचेत् ॥१४॥
दत्वा गुडतुलां तस्मिन् लेहे दद्याद्विचूर्णितम्।
त्रिजातकं त्रिकटुकं किंचिच्च यवशूकजम् ॥१५॥
प्रस्थार्धं च हिमे क्षौद्रात् तन्निहन्त्युपयोजितम्।
प्रवृद्धशोफज्वरमेहगुल्मकार्श्यामवाताम्लकरक्तपित्तम्।
वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोष-श्वासारुचिप्लीहगरोदरं च१६

व्याख्या - दशमूल के एक आढक क्वाथ में, १०० हरड़ तथा १ तुला गुड़ डालकर पाक करे, अवलेह बन जाने पर—दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता का चूर्ण २ पल, सोंठ, मरिच तथा पीपल का चूर्ण ४ पल और जौखार १ कर्ष मिला देवे, शीतल होने पर—आधा प्रस्थ मधु मिला देवे। इसमें से १ हरड़ तथा दो कर्ष अवलेह का उपयोग करे। यह—शोथ, ज्वर, प्रमेह, गुल्म, कृशता, आमवात, अम्लपित्त, रक्तपित्त, कान्तिनाश, मूत्रदोष, वात-रोग, शुक्रदोष श्वास, अरुचि, प्लीहोदर तथा गरविष एवं रोग को नष्ट करता है॥

वक्तव्य—चरक में इस योगका नाम - कंसहरीतकी है। महर्षि जतुकर्ण का पाठ इस प्रकार है—दशमूलकषायस्य कंसे पथ्याशतं गुडात्। तुलां पचेत् ततो दद्यात् व्योषक्षार चतुष्पलम्। त्रिसुगन्धस्य कर्षांशं प्रस्थार्धं मधुनो हिमे। इत्यादि (च० पा० टी०—च० चि० श्लोक ५२)

शोथ में अन्नपान—

पुराणयवशाल्यन्नं दशमूलाम्बुसाधितम्।
अल्पमल्पपटुस्नेहं भोजनं श्वयथोर्हितम् ॥१७॥
क्षारव्योषान्वितैर्मौद्गैः कौलत्थैः सकणै रसैः।
तथा जाङ्गलजैः कूर्मगोधाशल्यकजैरपि ॥१८॥
अनम्लं मथितं पाने मद्यान्यौषधवन्ति च।

व्याख्या—पुराने जौ एवं शालि चावलों के पदार्थ—जो दशमूल के क्वाथ के योग से बनाए गए हों, मात्रा में स्वल्प, थोडे से लवण एवं स्नेह से युक्त शोथ रोग में हित होते हैं। उनका सेवन—जौखार एवं सोंठ, मरीच तथा

पीपल का चूर्ण मिले मूंग के तथा कुलथी के यूष के साथ, अथवा—मृग आदि जाङ्गल प्राणियों के मांस रसों अथवा कछुवा, गोह, तथा सेही के मांसरस के साथ जिनमें पीपल का चूर्ण मिला हो करना चाहिये। और पीने में—तक्र जो खट्टा न हो और उचित औषधों से मिश्रित मद्य का प्रयोग होना चाहिये ॥१०॥

वक्तव्य—और शाक के लिये—च० चि० अ० १२—
सुवर्चला गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम्।
शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः।

अर्थात्—हुलहुल के पत्र, गाजर एवं शलजम, परवल, मकोय, मूली, बेत तथा निम्बपत्र का प्रयोग करे ॥१७-१८॥

शोथ में पेया

अजाजीशठिजीवन्ती कारवीपौष्कराग्निकैः ॥१९॥
बिल्वमध्ययवक्षारवृक्षाम्लैर्बदरोन्मितैः।
कृता पेयाऽऽज्यतैलाभ्यां युक्तिभृष्टा परं हिता ॥२०॥
शोफातिसारहृद्रोगगुल्मार्शोऽल्पाग्निमेहिनाम्।
गुणैस्तद्वच्च पाठायाः पञ्चकोलेन साधिता ॥२१॥

व्याख्या—जीरा, कचूर, जीवन्ती, काला जीरा, पोहकर मूल, चित्तामूल, बिलगिरी, जौखार तथा वृक्षाम्ल आधा-आधा कर्ष मिलाकर पेया (यवागू आदि अन्न) बनावे और उसे घृत एवं तैल से युक्ति पूर्वक छौंक देवे। यह शोथ, अतिसार, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, मन्दाग्नि तथा प्रमेह के रोगियों के लिए हित है। और पाठा एवं पञ्चकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्ता एवं सोंठ) के योग से सिद्ध की गयी पेया भी पूर्ववत् होती है अर्थात् शोथ आदि को नष्ट करती है ॥१९-२१॥

शोथ में बाह्योपचार—

शैलेयकुष्ठस्थौणेय-रेणुकागुरुपद्मकैः।
श्रीवेष्टकनखस्पृक्का-देवदारुप्रियंगुभिः ॥२२॥
मांसीमागधिकावन्यधान्यध्यामकवालकैः।
चतुर्जातकतालीससुस्तागन्धपलाशकैः ॥२३॥
कुर्यादभ्यञ्जने तैलं लेपं स्नानाय तूदकम्।
स्नानं वा निम्बवर्षाभूनक्तमालार्कवारिणा ॥२४॥

व्याख्या—शरीला, कूठ, थुनेर, रेणुका, अगुरु, पद्मकाष्ठ, गन्धाविरोजा, नाखूना, असवर्ग, देवदारु, फूल प्रियंगू, जटामांसी, पीपल, मोथा, धनियाँ, सुगन्धी तृण, नेत्रबाला, चतुर्जातक (दालचीनी, बड़ी इलायची, तेज पत्ता तथा नागकेसर) तालीसपत्र, नागरमोथा, तथा गन्ध पलाशी के योग से सिद्ध तैल का अभ्यंग करे, उक्त द्रव्यों का लेप करे और उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से स्नान करे। अथवा—निम्ब की छाल, पुनर्नवा, करञ्ज एवं आक के क्वाथ से स्नान करे ॥२२-२४॥

एकांगव्यापी शोथ में लेप—

एकाङ्गशोफे वर्षाभूकरवीरक किंशुकैः।
विशालात्रिफलारोध्र-नलिकादेवदारुभिः ॥२५॥
हिंस्राकोशातकी माद्रीतालपर्णीजयन्तिभिः।
स्थूल-काकादनीशालनाकुलीवृषपर्णिभिः ॥२६॥
वृद्धयृद्धिहस्तिकर्णैश्च सुखोष्णैर्लेपनं हितम्।

व्याख्या—शरीर के किसी एक अंग पर शोथ हो तो लाल पुनर्नवा, कनेर के पत्ते, पलाश के फूल, इन्द्रायण की जड़, हरड़, बहेड़ा, आमला, लोध, नलिका, देवदारु का बुरादा, हींस की जड़, कटु तोरी, अतीस, मुशली, अरणी की छाल, बड़ी मकोय, राल, गन्धनाकुली, अडूसा के पत्र, शालपर्णी, पृश्नपर्णी, माषपर्णी, ऋद्धि, वृद्धि तथा हस्तिकर्ण के पत्र को पीसकर और कोषा करके लेप करे॥

विशेष चिकित्सा—

अथाऽनिलोत्थे श्वयथौ मासार्धं त्रिवृतं पिबेत् ॥२७॥
तैलमेरण्डजं वातविडविबन्धे तदेव तु।
प्राग्भक्तं पयसा युक्तं रसैर्वा कारयेत्तथा ॥२८॥
स्वेदाभ्यङ्गान्समीरघ्नान् लेपमेकांगगे पुनः।
मातुलुङ्गाग्निमन्थेन शुण्ठीहिंस्राऽमराह्वयैः ॥२९॥

व्याख्या—वात प्रधान शोथ में निसोत एवं एरण्ड तैल १५ दिन पर्यन्त प्रतिदिन पीवे और वायु एवं पुरीष की रुकावट होने पर एरण्ड तैल भोजन के पूर्व (प्रातःकाल) दूध अथवा मांसरस के साथ पीवे और—वातनाशक स्वेदन एवं अभ्यङ्ग करे (उपनाह भी) और किसी एक अवयव पर वातप्रधान शोथ हो तो बिजौरा निम्बू की जड़, अरणी की छाल, सोंठ, हींस की जड़ तथा देवदारु का लेप करे॥

वक्तव्य—त्रिवृत—घृत, तैल एवं वसा नामक तीन स्नेहों के मिश्रण का नाम भी है ॥२७-२९॥

पित्तज शोथ की चिकित्सा—

पैत्ते तिक्तं पिबेत्सर्पिर्न्यग्रोधाद्येन वा शृतम्।
क्षीरं, तृड्दाहमोहेषु लेपाभ्यंगाश्च शीतलाः ॥३०॥
पटोलमूलत्रायन्ती यष्ट्याह्वकटुकाभयाः।
दारु दार्वी हिमं दन्ती विशाला निचुलं कणा ॥३१॥
तैः क्वाथः सघृतः पीतो हन्त्यन्तस्तापतृड्भ्रमान्।
ससन्निपातवीसर्पशोफदाहविषज्वरान् ॥३२॥

व्याख्या—पित्त प्रधान शोथ में—तिक्त घृत (चि० अ० १९) अथवा न्यग्रोधादिगण के योग से सिद्ध घृत पीवे। और तृषा, दाह तथा मोह हो तो दूध पीवे। और उपयुक्त शीतल द्रव्यों के लेप तथा अभ्यंग करे। पटोलादि क्वाथ—परवल की जड़, त्रायमाण, मुलेठी, कुटकी, हरड़ देवदारु, दारु हल्दी, लालचन्दन, दन्ती मूल, इन्द्रायण की

जड़, वेतस फल तथा पीपल का क्वाथ घृत मिलाकर पीने से अन्तर्दाह, तृषा, भ्रम, सन्निपात, विसर्प, शोथ, दाह, विषविकार तथा ज्वर का नाश होता है ॥

वक्तव्य—इस योग के वर्णन में भगवान् पुनर्वसु का कथन है कि इस क्वाथ में १ कुडव घृत डालना चाहिये। देखिये—च० चि० अ० १२ श्लो० ५३–५४। और अष्टाङ्ग संग्रह में लिखा है कि—घृतक्षीरक्षीरिवृक्षवेतसमञ्जिष्ठा-मृणालचन्दनादिभिः शीतवीर्यैः कल्पयेत् अभ्यङ्गादीन्। चि० अ० १६ ॥३०-३२॥

कफजशोथ की चिकित्सा

आरग्वधादिना सिद्धं तैलं श्लेष्मोद्भवे पिबेत्।
स्रोतोविबन्धे मन्देऽग्नावरुचौ स्तिमिताशयः ॥३३॥
क्षारचूर्णासवारिष्टमूत्रतक्राणि शीलयेत्।
कृष्णापुराणपिण्याक-शिग्रुत्वक्सिकतातसीः ॥३४॥
प्रलेपोन्मर्दने युञ्ज्यात्सुखोष्णा मूत्रकल्किताः।
स्नाने मूत्राम्भसी सिद्धे कुष्ठतर्कारिचित्रकैः ॥३५॥
कुलत्थनागराभ्यां वा, चण्डागुरु विलेपने।
कालाजशृङ्गीसरलबस्तगन्धाहयाह्वयाः ॥३६॥
एकैषिका च लेपः स्याच्छ्वयथावेकगात्रगे।

व्याख्या—कफजशोथ में—आरग्वधादि गण के योग से सिद्ध किया गया (गण सू० अ० १५ में देखिये) तैल पीवे। रसवाही स्रोतों की रुकावट में मन्दाग्नि में, अरुचि में तथा अन्त्रगति की मन्दता में—पूर्वोक्त या उपयुक्त—क्षारों, चूर्णों, आसवों, अरिष्टों, गोमूत्र तथा तक्र का सेवन करे। और पीपल, पुरानी खली, सहजन की छाल, बालू तथा अलसी को गोमूत्र में पीसकर—कोसा करके लेपन तथा उबटन में प्रयुक्त करे। और कुठ, अरणी तथा चित्तामूल के योग से पकाए गए अथवा कुलथी एवं सोंठ के योग से पकाए गए गोमूत्र एवं जल से स्नान करे। और चण्डा (चोरक नामक द्रव्य) तथा अगुरु का लेप करे। किसी एक अवयव पर शोथ (व्रण शोथ) हो तो मञ्जीठ, काकड़ा सिंगी, चीड का गोन्द (गन्धा विरोजा), अजमोद, असगन्ध तथा जटामांसी का लेप करे ॥३३-३६॥

एक देशीय शोथ में अन्य उपचार—

यथादोषं यथासन्नं शुद्धिं रक्तावसेचनम्।
कुर्वीत मिश्रदोषे तु दोषोद्रेकबलात्क्रियाम् ॥३७॥

व्याख्या—किसी एक स्थान पर शोथ (व्रणशोथ) हो तो आवश्यकतानुसार दोषों का विचार करके वमन अथवा विरेचन के द्वारा शोधन करे और जोंक आदि द्वारा रक्त का अवसेचन करे और दोषों के मिश्रण में दोषों के बलानुसार उपचार करे ॥३७॥

दो चूर्ण योग—

अजाजिपाठाघनपञ्चकोलव्याघ्रीरजन्यः सुखतोयपीताः।
शोफं त्रिदोषं चिरजं प्रवृद्धं निघ्नन्ति भूनिम्ब-महौषधे च॥

व्याख्या—अजाज्यादि चूर्ण—जीरा, पाठा, नागरमोथा, पीपल, पीपला मूल, चव्य, चित्ता, सोंठ, कण्टकारी तथा हल्दी का चूर्ण—कोसे जल के साथ पीने से त्रिदोषजनित, पुराना एवं बढ़ा हुआ शोथ नष्ट हो जाता है। भूनिम्बादि चूर्ण—चिरायता एवं सोंठ का चूर्ण भी कोसे जल के साथ पीने से उक्त प्रकार का शोथ नष्ट हो जाता है ॥३८॥

अमृतादि चूर्ण—

अमृताद्वितयं शिवाटिका सुरकाष्ठं सपुरं सगोजलम्।
श्वयथूदरकुष्ठपाण्डुता-क्रिमिमेहोर्ध्वककानिलापहम् ॥३९

व्याख्या—गिलोय, हरड़, सिवाटिका देवदारु तथा गूगल का चूर्ण गोमूत्र के साथ पीने से शोथ, उदररोग, कुष्ठ, पाण्डुरोग, कृमि, प्रमेह, ऊर्ध्वगामी कफ तथा वायु को नष्ट करता है ॥३९॥

क्षतज एवं विषज शोथ की चिकित्सा

इति निजमधिकृत्य पथ्यमुक्तं
क्षतजनिते क्षतजं विशोधनीयम्।
स्रुतिहिमघृतलेपसेकरेकै-
र्विषजनिते विषजिच्च शोफ इष्टम् ॥४०॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकार से दोषजनित शोथ की चिकित्सा कह दी गई है और क्षतजनित शोथ में रक्तमोक्षण, शीतल घृतों के लेपन तथा सेचन और विरेचन करके रक्त का शोधन करे ॥

और विषजनित शोथ में विष नाशक चिकित्सा करे (देखिये उ० अ० ३५) ॥४०॥

शोथ में अपथ्य—

ग्राम्याऽऽनूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं तिलान्नम
गौडं पिष्टान्नं दधि सलवणं विज्जलं मद्यमम्लम्।
धानावल्लूरंसमशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं चाऽरात्रौ श्वयथुगदवान्वर्जयेन्मैथुनं च ॥४१॥

व्याख्या—शोथरोग में—ग्राम, जल तथा अनूप देश में चरने वाले प्राणियों का मांस, लवण, सूखे शाक, तिल के पदार्थ, गुड़ के पदार्थ, पीठी के पदार्थ, दही, खिचड़ी, पिच्छिल एवं अम्ल मद्य, भुने जौ, सूखा मांस, समशन (पथ्य एवं अपथ्य पदार्थों का मिश्रण) गुरु पदार्थ, प्रकृति प्रतिकूल पदार्थ, विदाहकारी पदार्थ, दिन में सोना तथा मैथुन त्याज्य हैं ॥२८॥

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सास्थाने सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

विसर्प चिकित्सा

अथाऽतो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब विसर्प रोगकी चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—विसर्प का वर्णन नि. स्था. अ. १३ में और च. चि. अ. २१ में, सु. चि. अ. १७ में और अष्टाङ्ग संग्रह अ. २० में देखिये ।

सामान्य चिकित्सा—

आदावेव विसर्पेषु हितं लङ्घनरूक्षणम् ।
रक्तावसेको वमनं विरेकः स्नेहनं न तु ॥ १ ॥

व्याख्या—सभी विसर्पों की प्रारम्भिक दशा में—लंघन-उपवास, रूक्ष आहार विहार का सेवन, रक्तमोक्षण, वमन तथा विरेचन हित होता है । परन्तु स्नेहन कदापि हित नहीं होता ॥ १ ॥

विसर्प में वमन—

प्रच्छर्दनं विसर्पघ्नं सयष्टीन्द्रयवं फलम् ।
पटोलपिप्पलीनिम्बपल्लवैर्वा समन्वितम् ॥ २ ॥

व्याख्या—विसर्प रोग में—मुलेठी, इन्द्र जौ तथा मैनफल से अथवा—परवल के पत्र, पीपल, निम्ब के पत्र तथा मैनफल से वमन करना चाहिये ॥ २ ॥

विसर्प में विरेचन—

रसेन युक्तं त्रायन्त्या द्राक्षायाश्चैफलेन वा ।
विरेचनं त्रिवृच्चूर्णं पयसा सर्पिषाऽथवा ॥३ ।
योज्यं कोष्ठगते दोषे विशेषेण विशोधनम् ।

व्याख्या—विसर्प रोग में विरेचन के लिए—निसोत का चूर्ण—त्रायमाणा के रस, दाख के रस अथवा त्रिफला के रस के साथ पीवे अथवा दूध अथवा घृत के साथ पीवे । और उदर गत दोष—मलदोष रहने पर विशेषरूप से विरेचन या वमन-विरेचन दोनों का प्रयोग करें ॥ ३ ॥

शमन चिकित्सा—

अविशोध्यस्य दोषेऽल्पे शमनं चन्दनोत्पलम् ॥४ ॥
मुस्तनिम्बपटोलं वा पटोलादिकमेव वा ।
सारिवामलकोशीरमुस्तं वा कथितं जले ॥ ५ ॥

व्याख्या—यदि रोगी शोधन के योग्य न हो और दोष स्वल्प हो तो—लाल चन्दन एवं कमल का अथवा नागरमोथा, निम्ब एवं परवल पत्र का अथवा पटोलादिगण (सू. अ. १५) का अथवा सारिवा, आमला, खस एवं मोथा का जल में क्वाथ बना कर पीवे ॥४-५॥

तृषायुक्त विसर्प में—

दुरालभां पर्पटकं गुडूचीं विश्वभेषजम् ।
पाक्यं शीतकषायं वा तृष्णावीसर्पवान् पिबेत् ॥ ६ ॥
दार्वीपटोलकटुकामसूरत्रिफलास्तथा ।
सनिम्बयष्टीत्रायन्तीः क्वथिता घृतमूर्च्छिताः ॥ ७ ॥

व्याख्या—तृषा एवं विसर्प से पीडित रोगी—जवासा, पित्त पापड़ा, गिलोय एवं सोंठ का क्वाथ अथवा हिम पीवें । अथवा—दारुहल्दी, परवल के पत्र, कुटकी, मसूर की दाल, त्रिफला, निम्ब के पत्र, मुलेठी तथा त्रायमाणा का क्वाथ—घृत मिला कर पीवें ॥ ६-७ ॥

विसर्प में रक्तमोक्षण—

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ।
त्वङ्मांसस्नायुसङ्क्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥ ८ ॥

व्याख्या—शाखा अर्थात् रक्तादि धातुओं एवं त्वचा में दूषित रक्त होने पर—सर्वप्रथम रक्त को ही निकाल देवें । क्योंकि—रक्त में सड़न उत्पन्न होने से—त्वचा, मांस एवं स्नायु में सड़न-पाक-पन्छा की उत्पत्ति हो जाती है ॥८

विसर्प में घृतपान—

निरामे श्लेष्मणि क्षीणे वातपित्तोत्तरे हितम् ।
घृतं तिक्तं महातिक्तं शृतं वा त्रायमाणया ॥ ९ ॥

व्याख्या—विसर्प में—जब आम दोष न हो अथवा निकल गया हो, कफ क्षीण हों तथा वायु एवं पित्त बढ़े हों तब तिक्त घृत, महातिक्त घृत अथवा त्रायमाणा के योग से सिद्ध घृत हित होता है ।

वक्तव्य - तिक्त घृत एवं महातिक्त घृत अ. २१ में देखिये ॥ ९ ॥

विसर्प पर बाह्योपचार—

निर्हृतेऽस्रे विशुद्धेऽन्तर्दोषे त्वङ्मांससन्धिगे ।
बहिः क्रियाः प्रदेहाद्याः सद्यो वीसर्पशान्तये ॥ १० ॥

व्याख्या—रक्त मोक्षण कर देने पर तथा शोधन द्वारा कोष्ठ शुद्धि हो जाने पर लेपन एवं सेचन आदि बाह्योपचार तत्काल करना चाहिए ॥ १० ॥

विसर्प में लेपन के योग—

शताह्वामुस्तवाराही-वंशार्तगलधान्यकम् ।
सुराह्वा कृष्णगन्धा च कुष्ठं वा लेपनं चले ॥ ११ ॥
न्यग्रोधादिगणः पित्ते तथा पद्मोत्पलादिकम् ।
न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः ॥ १२ ॥
बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः ।
पद्मिनीकर्दमः शीतः पिष्टं मौक्तिकमेव वा । १३ ॥
शङ्खः प्रवालं शुक्तिर्वा गैरिकं वा घृतान्वितम् ।
त्रिफलापद्मकोशीरसमङ्गाकरवीरकम् ॥ १४ ॥
नलमूलान्यनन्ता च लेपः श्लेष्मविसर्पहा ।

धवसप्ताह्वखदिर-देवदारुकुरण्टकम् ॥ १५ ॥
समुस्तारग्वधं लेपो वर्गो वा वरुणादिकः ।
आरग्वधस्य पत्राणि त्वचः श्लेष्मातकोद्भवाः ॥ १६ ॥
इन्द्राणीशाककाकाह्वाशिरीषकुसुमानि च ।

व्याख्या—वातजविसर्प में सौंफ, मोथा, वाराही कन्द, बांस, नीले फूल का कटसरैया, धनियाँ, देवदारु, सहजन छाल तथा कुठ का लेप करे। पित्तज विसर्प में—न्यग्रोधादि गण (सू. अ. १५) पद्मोत्पलादि गण, न्यग्रोधादि वृक्षों की कोमल जड़ें, केला का गर्भ (भाग) तथा विस की ग्रन्थि को शतधौत घृत में फेंट कर लेप करें और कमलों के तल का कीचड़ शीतल-शीतल, मोती का पीसा, शंख, प्रवाल, शुक्ति अथवा गेरूको घृत में मिला कर लेप करें। कफज विसर्प में—त्रिफला, पद्म काष्ठ, खस, लजावन्ती, कनेर, नल की जड़ें तथा अनन्तमूल का लेप करें अथवा—धव की छाल, सप्तपर्ण की छाल, खैरसार, देवदारु, कटसरैया, मोथा एवं अमलतास का लेप करें। अथवा वरुणादि गण का (सू. अ. १५) लेप करें अथवा अमलतास के कोमल पत्र, लिसोड़ा की छाल, इन्द्रायण के पत्र मकोयके पत्र तथा सिरसवृक्षके फूलोंका लेप करें॥११-१६॥

सेचन आदि का संकेत—

सेकव्रणाभ्यङ्गहविर्लेपचूर्णान् यथायथम् ॥ १७ ॥
एतैरेवौषधैः कुर्याद्वायौ लेपा घृताधिकाः ॥

व्याख्या—उक्त औषध द्रव्यों के—सेचन, व्रण पर चुपड़ने के लिए घृत, लेप तथा अवचूर्णन (बुरकने के लिए चूर्ण)—रोग एवं दोष के बलाबल के अनुसार बनावे परन्तु—वायु की प्रधानता में इनमें घृत मिला कर लेप करें ॥ १७ ॥

संसृष्ट दोषों में—

कफस्थानगते सामे पित्तस्थानगतेऽथवा ॥ १८ ॥
अशीतोष्णा हिता रूक्षा, रक्तपित्ते घृतान्विताः ।
अत्यर्थशीतास्तनवस्तनुवस्त्रान्तरास्थिताः ॥ १९ ॥
योज्याः क्षणे क्षणेऽन्येऽन्ये, मन्दवीर्यास्त एव च, ।
संसृष्टदोषे संसृष्टमेतत्कर्म प्रशस्यते ॥ २० ॥

व्याख्या—जब आमयुक्त वायु—कफ के स्थान में व्याप्त हो अथवा पित्त के स्थान में व्याप्त हो तब समशीतोष्ण एवं रूक्ष लेप करें। रक्त एवं पित्त की अधिकता में—घृतमिश्रित, अत्यन्त शीतल, पतले एवं पतले वस्त्र के ऊपर अर्थात् बीच में पतला कपड़ा धर कर और क्षण-क्षण में नूतन-नूतन लेप करें। उसी लेप का पुनः लेप मन्दवीर्य-शक्तिहीन होता है—अतः नये-नये लेप करें। दो दो दोषों की अधिकता में इसी चिकित्सा को मिला जुला कर करें ॥ १८-२० ॥

अग्निविसर्प की चिकित्सा—

शतधौतघृतेनाऽग्निं प्रदिह्यात्केवलेन वा ।
सेचयेद् घृतमण्डेन शीतेन मधुकाम्बुना ॥ २१ ॥
शीताम्भसाऽम्भोजजलैः क्षीरेणेक्षुरसेन वा ।
पानलेपनसेकेषु महातिक्तं परं हितम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—अग्नि विसर्प पर—शतधौत घृत का लेप करे अथवा—केवल घृत मण्ड का सेचन करे अथवा मुलेठी के हिम का सेचन करे अथवा खण्ड के जल से, कमल के स्वरस से, दूध से अथवा ईख के रस में सेचन करे। और पीने में, लेपन में तथा सेचन में महातिक्त घृत चि. अ. १९) परम हित होता है ॥२१-२२॥

ग्रन्थि विसर्प की चिकित्सा—

ग्रन्थ्याख्ये रक्तपित्तघ्नं कृत्वा सम्यग्यथोदितम् ।
कफानिलघ्नं कर्मेष्टं पिण्डस्वेदोपनाहनम् ॥ २३ ॥
ग्रन्थिर्वीसर्पशूले तु तैलेनोष्णेन सेचयेत् ।
दशमूलविपक्वेन तद्वन्मूत्रैर्जलेन वा ॥ २४ ॥
सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्ट्या कृष्णगन्धया ।
नक्तमालत्वचा शुष्कमूलकैः कलिनाऽथवा ॥ २५ ॥

व्याख्या—ग्रन्थि विसर्प में—पूर्वोक्त रक्तपित्त नाशक कर्म भली-भाँति करके, पिण्डस्वेद एवं उपनाह स्वेद आदि कफ वात नाशक कर्म करना चाहिये। ग्रन्थि विसर्प में शूल हो तो—दशमूल के योग से सिद्ध तैल को उष्ण करके सेचन करे अथवा दशमूल के योग से पक्व गोमूत्र अथवा दशमूल के क्वाथ का सेचन करे। अथवा—सहजन की छाल को जल में पीस कर तथा उसे कोसा करके लेप करे अथवा करञ्ज की छाल, सूखी मूली का अथवा बहेड़ा का उसी प्रकार—कोसा-कोसा लेप करे ॥ २१-२५ ॥

ग्रन्थियों का भेदन लेप—

दन्तीचित्रकमूलत्वक् सौधार्कपयसी गुडः ।
भल्लातकास्थिकासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ॥२६॥
बहिर्मर्माश्रितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसम्भवम् ।
दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिमेभिर्भिन्द्याच्च भेषजैः ॥ २७ ॥

व्याख्या—दन्तीमूल, चित्ता मूल की छाल, सेहुण्ड का दूध, आक का दूध, गुड़, भिलावा की गुठली तथा कसीस का लेप शिला को भी फोड़ देता है केवल त्वचा एवं मांस में स्थित कफ जनित ग्रन्थि का तो कहना ही क्या। और पुरानी ग्रन्थि को इन द्रव्यों के लेप से फोड़ा जा सकता है ॥ २६-२७ ॥

अन्यान्य उपचार—

मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः ।
गोधूमान्नैर्यवान्नैश्च ससीधुमधुशार्करैः ॥ २८ ॥
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः ।

त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पल्याः क्षौद्रसंयुतैः ॥ २९ ॥
देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च ।
मुस्तभल्लातसक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च ॥ ३० ॥
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः ।
तप्तायोहेमलवणपाषाणादिप्रपीडनैः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जौखार एवं अनार-दाना से मिश्रित मूली एवं कुलथी के जूषों के साथ गेहूँ तथा जौ का अन्न खाने से, सीधु, मधु, खण्ड एवं मधु मिला कर तथा बिजौरा का रस मिला कर वारुणी मण्ड का पान करने से, त्रिफला एवं पीपल को मधु में मिला कर प्रयोग करने से, देवदारु तथा गिलोय के प्रयोगों से, शिलाजीत के प्रयोग से, नागरमोथा, भिलावा तथा सत्तुओं के प्रयोग से, स्वर्ण-माक्षिक के प्रयोग से, धूमों के प्रयोग से, शिरोविरेचन (वेल्लापामार्ग आदि सू. अ. १५) द्रव्यों के प्रयोग से और पूर्वोक्त गुल्म भेदन के उपायों से अथवा—तपाये गये—लोह, स्वर्ण, लवण पिण्ड तथा पाषाण आदि के प्रपीडन से ग्रन्थियों का भेदन करे ॥ २८-३१ ॥

ग्रन्थियों पर क्षार कर्म आदि—

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बले स्थितः ।
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदि नैवोपशाम्यति ॥ ३२ ॥
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्हेम्नाऽपि वा हितः ।
पाकिभिः पाचयित्वा तु पाटयित्वा समुद्धरेत् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—पत्थर के समान कठोर ग्रन्थि यदि पूर्वोक्त अनेक प्रकार की सब क्रियाओं के द्वारा भी शान्त न हो तो क्षार कर्म द्वारा अथवा अग्नि में प्रतप्त शर (लोह शलाका) अथवा स्वर्ण से दाहकर्म करे अथवा पाचन लेपों से पकाकर और शस्त्रकर्म द्वारा चीर कर उसे मलतः निकाल देवे ॥ ३२-३३ ॥

रक्त मोक्षण—

मोक्षयेद्बहुशश्चाऽस्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् ।
पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—यदि रक्त उत्क्लेश (विकार करने के लिए उन्मुखता को प्राप्त हो रहा हो तो उसे बार-बार पर्याप्त मात्रा में निकाल देवें और रक्त निकल जाने पर—उत्क्लेश शान्त हो जाने पर—वात-कफ नाशक चिकित्सा करे—बार-बार स्वेदन करे ॥ ३४ ॥

रोपण कर्म—

प्रक्लिन्ने दाहपाकाभ्यां बाह्यान्तर्व्रणवत्क्रिया ।
दार्वीविडङ्गकम्पिल्लैः सिद्धं तैलं व्रणे हितम् ॥ ३५ ॥
दूर्वास्वरससिद्धं तु कफपित्तोत्तरे घृतम् ।

व्याख्या—दाह अथवा पाक के कारण व्रण में क्लेद-सड़न-पाक-पूय होने पर शोधन एवं रोपण आदि बाह्य उपचार तथा अभ्यन्तर उपचार के द्वारा व्रण के समान चिकित्सा करे। पकने अथवा शस्त्रकर्म के कारण ग्रंथि में जो व्रण होता है उसके शोधन एवं रोपण के लिये—दारु हल्दी की छाल, वायविडंग तथा कबीला के योग से सिद्ध तैल लाभप्रद होता है। और कफ एवं पित्त की अधिकता होने पर—दूर्वा के स्वरस के योग से सिद्ध घृत लाभप्रद होता है ॥

वक्तव्य—इस पाठ के स्थान में चरक का पाठ है—
कम्पिल्लकं विडंगानि दार्वीकारञ्जकं फलम् ।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम् ॥ १३७ ॥
(च. चि. अ. २१) ॥३५॥

रक्तमोक्षण का महत्त्व—

एकतः सर्वकर्माणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥ ३६ ॥
विसर्पो नह्यसंसृष्टः सोऽस्लपित्तेन जायते ।
रक्तमेवाश्रयश्चास्य बहुशोऽस्त्रं हरेदतः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—विसर्प रोग में—सब प्रकार की लेपन आदि चिकित्सा एक ओर और केवल रक्त मोक्षण एक ओर। क्योंकि - रक्त एवं पित्त के संसर्ग के बिना विसर्प रोग होता ही नहीं है। और इस रोग का आश्रय भी रक्त ही है अतः रक्त का ही बहुत बार-बार उचित मात्रा में मोक्षण—स्रावण करते रहना उचित है ॥ ३६-३७ ॥

घृतविषयक विचार—

न घृतं बहु दोषाय देयं यन्न विरेचनम् ।
तेन दोषो ह्युपस्तब्धस्त्वग्रक्तपिशितं पचेत् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—अधिक दोष वाले रोगी को ऐसा कोई घृत नहीं देना चाहिए जो विरेचक न हो क्योंकि घृत के कारण दोष उपस्तब्ध होकर—त्वचा, रक्त एवं मांस को पका देता है ॥ ३८ ॥

इत्यष्टांगहृदये चिकित्सितस्थाने ऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

कुष्ठचिकित्सा

अथाऽतः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब कुष्ठ की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—कुष्ठ रोग का वर्णन निदान स्थान अ० १४ में तथा च. चि. अ. ७, सु. चि. अ. ९ एवं १० तथा अष्टांग संग्रह चि० अ० २१ में देखिये ।

सामान्य चिकित्सा—

कुष्ठिनं स्नेहपानेन पूर्वं सर्वमुपाचरेत् ।

व्याख्या—कुष्ठ रोग में सर्वप्रथम—पूर्वरूपावस्था में ही स्नेह-पान से उपचार करे ॥

वक्तव्य—तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत (सुश्रुत चि. अ. ९) तथा पूर्वरूपेष्वेव कुष्ठिनं स्नेहपानेन उपक्रमेत—अष्टाङ्ग संग्रह चि. अ. २१ । और –

वातोत्तरेषु सर्पिः वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाऽग्रे ॥ ३९ ॥
च. चि अ. ७ ।

विशेष चिकित्सा—

तत्र वातोत्तरे तैलं घृतं वा साधितं हितम् ॥ १ ॥
दशमूलाऽमृतैरण्डशार्ङ्गेष्टामेषशृङ्गिभिः ।

व्याख्या—वातप्रधान कुष्ठों में—दशमूल, गिलोय, एरण्डमूल, शार्ङ्गेष्टा (काक जंघा) तथा मेढ़ासिंगी के योग से सिद्ध किया गया तैल अथवा घृत—पान एवं अभ्यंग हित होता है ॥ १ ॥

तिक्तक घृत—

पटोलनिम्बकटुका-दार्वीपाठादुरालभाः ॥ २ ॥
पर्पटं त्रायमाणां च पलांशं पाचयेदपाम् ।
द्व्याढकेऽष्टांशशेषेण तेन कर्षोन्मितैस्तथा ॥ ३ ॥
त्रायन्तीमुस्तभूनिम्बकलिङ्गकणचन्दनैः ।
सर्पिषो द्वादशपलं पचेत्तत्तिक्तकं जयेत् ॥ ४ ॥
पित्तकुष्ठ-परीसर्प-पिटिका-दाह-तृड्-भ्रमान् ।
कण्डूपाण्ड्वामयान् गण्डान् दुष्टनाडीव्रणाऽपचीः ॥५॥
विस्फोट-विद्रधी-गुल्म-शोफोन्मादमदानपि ।
हृद्रोग-तिमिर-व्यङ्ग-ग्रहणी-श्वित्र-कामलाः ॥ ६ ॥
भगन्दरमपस्मारमुदरं प्रदरं गरम् ।
अर्शोऽस्रपित्तमन्यांश्च सुकृच्छ्रान् पित्तजान् गदान् ॥७

व्याख्या—परवल के पत्र, निम्ब के पत्र, कुटकी, दारु हल्दी की छाल, पाठा, जवासा, पित्त पापड़ा तथा त्रायमाणा १–१ पल लेकर दो आढक जल में पकावे अष्टमांश रहने पर छान लेवें, कल्कार्थ—त्रायमाण, मोथा, चिरायता, इन्द्र जौ, पीपल तथा लाल चन्दन १–१ कर्ष लेकर कल्क बनावे, गो घृत १२ पल । सबको मिला कर पाक करे । यह तिक्तक नामक घृत है और पित्तज कुष्ठ, विसर्प, पिडका, दाह, तृषा, भ्रम, कण्डू, पाण्डु रोग, गण्ड (गल गण्ड), दुष्ट नाडी व्रण, अपची, विस्फोट, विद्रधि, गुल्मरोग, शोथ, उन्माद, मदजनित मदात्यय आदि रोग, हृद्रोग, तिमिर, व्यंग, ग्रहणीरोग, श्वित्र, कामला, भगन्दर, अपस्मार, उदररोग, प्रदररोग, गर विष, अर्शः, अम्लपित्त तथा अन्यान्य पित्त जनित कष्ट साध्य रोगों को नष्ट करता है ॥ २-७ ॥

महातिक्तक घृत—

सप्तच्छदः पर्पटकः शम्पाकः कटुका वचा ।
त्रिफला पद्मकं पाठा रजन्यौ सारिवे कणे ॥ ८ ॥
निम्ब-चन्दन यष्ट्याह्व-विशालेन्द्रयवाऽमृताः ।
किराततिक्तकं सेव्यं वृषो मूर्वा शतावरी ॥ ९ ॥
पटोलाऽतिविषामुस्ता-त्रायन्तीधन्वयासकम् ।
तैर्जलेऽष्टगुणे सर्पिर्द्विगुणामलकीरसे ॥ १० ॥
सिद्धं तिक्तान्महातिक्तं गुणैरभ्यधिकं मतम् ।

व्याख्या—सतवन की छाल, पित्त पापड़ा, अमलतास, कुटकी, बालवच, हरड़, बहेड़ा, आमला, पद्मकाष्ठ, पाठा, हल्दी, दारु हल्दी की छाल, सारिवा, कृष्ण सारिवा, पीपल, गज पीपल, निम्ब की छाल, लाल चन्दन, मुलेठी, इन्द्रायण, इन्द्र जौ, गिलोय, चिरायता, खस, अडूसा के पत्र, मरोड़फली, शतावर, परवल के पत्र, अतीस, नागरमोथा, त्रायमाणा तथा धमाँसा का कल्क १ भाग, जल ३२ भाग, आमला का रस ८ भाग और गोघृत ४ भाग । सबको मिला कर घृत सिद्ध करे । यह महातिक्त घृत पूर्वोक्त तिक्त घृत की अपेक्षा अधिक या बलवान् गुणों वाला है ॥

वक्तव्य—इन दोनों घृतों का अनेक स्थलों पर स्मरण हुआ है ॥८-१०॥

कफ प्रधान कुष्ठ की चिकित्सा—

कफोत्तरे घृतं सिद्धं निम्ब-सप्ताह्व-चित्रकैः ॥ ११ ॥
कुष्ठोषणवचाशालप्रियालचतुरंगुलैः ।

व्याख्या—कफ प्रधान कुष्ठ में—निम्ब की छाल, सप्तपर्ण की छाल, चित्तामूल, कूठ, मरिच, बालवच, शाल की छाल, चिरौंजी तथा अमलतास के योग से सिद्ध घृत का प्रयोग करे ।

वक्तव्य—अथवा — बृहतीद्वयकाकमाचीशुकनासाक्वाथे, मरिच, विडङ्ग, शिग्रु, जाती, देवदारु, क्षवक हरिद्राऽभयाकल्केन वाजि (अश्व) मूत्रेण च सिद्धं सर्पिः (घृतम् अ. सं. चि. अ. २१) ॥११॥

त्रिदोषज कुष्ठ की चिकित्सा—

सर्वेषु चारुष्करजं तौवरं सार्षपं पिबेत ॥ १२ ॥
स्नेहं घृतं वा कृमिजित्पथ्याभल्लातकैः शृतम् ।
आरग्वधस्य मूलेन शतकृत्वः शृतं घृतम् ॥ १३ ॥
पिबन्कुष्ठं जयत्याशु भजन् सखदिरं जलम् ।
एभिरेव यथास्वं च स्नेहैरभ्यञ्जनं हितम् ॥ १४॥
स्निग्धस्य शोधनं योज्यं विसर्पे यदुदाहृतम् ।

व्याख्या—सभी प्रकार के कुष्ठों में—भिलावा, तुवरक का अथवा सरसों का तैल पीवे । अथवा—विडंग, हरड तथा भिलावा के योग से सिद्ध किया घृत पीवें । अमल-

तास की जड़ के योग से १०० बार सिद्ध किया घृत पीवें और खैरसार का क्वाथ पीवे तो कुष्ठ पर शीघ्र विजय प्राप्त हो। और पूर्वोक्त भल्लातक तैल आदि से आवश्यकतानुसार अभ्यंजन करे और स्नेहन हो जाने पर उस संशोधन का प्रयोग करे जो विसर्प चिकित्सा (अ. १८ श्लोक ४) में कहा गया है ॥

वक्तव्य—भल्लातक योग एवं तुवरक तैल के योग—उ. तं. अ. ३९ में देखिये ॥१२-१४॥

कुष्ठ में रक्तमोक्षण—

ललाटहस्तपादेषु सिराश्चाऽस्य विमोचयेत् ॥ १५ ॥
प्रच्छानमल्पके कुष्ठे शृङ्गाद्याश्च यथायथम् ।
स्नेहैराप्याययेच्चैनं कुष्ठघ्नैरन्तरान्तरा ॥ १६ ॥
प्रभञ्जनस्तथा ह्यस्य न स्याद्देहप्रभञ्जनः ॥ १७ ॥

व्याख्या—रोगी एवं रोग के बलाऽबल का विचार करके ललाट में, बाहु में तथा टांगों में सिरावेध करे। कुष्ठ का प्रकोप स्वल्प हो तो पच्छ लगा कर रक्त निकाले और आवश्यकतानुसार—सींगी, तुम्बी अथवा जोंक लगा कर रक्त निकाले। और शोधन तथा रक्त मोक्षण के बीच २ में कुष्ठ नाशक तिक्त घृत आदि से रोगी का पोषण करता रहे। इस प्रकार पोषण करते रहने से—वायु रोगी के शरीर को कष्ट नहीं दे सकता—शान्त रहता है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—ततः स्निग्धस्य यथादोषं यथासन्नं च संशोधनादि प्रयुञ्जीत। सिरां च बलापेक्षी विध्येत्, एकां द्वे तिस्रः चतस्रः पञ्च वा। अन्तरा अन्तरा च पुनः पुनः स्नेहं पिबेत्। दुर्बलं च शून्यकोष्ठं कुष्ठिनं वायुः अभिभवति। अ. सं. चि. अ. २१ ॥१५-१७॥

वज्रक घृत—

वासाऽमृता-निम्ब-वरा-पटोल-
व्याघ्रीकरञ्जोदककल्कपक्वम् ।
सर्पिर्विसर्पज्वरकामलाऽस्र-
कुष्ठापहं वज्रकमामनन्ति ॥ १८ ॥

व्याख्या—अडूसा के पत्र, गिलोय, निम्ब की छाल, हरड़, बहेडा, आमला, परवल के पत्र, कण्टकारी तथा करंज के क्वाथ (४ भाग) तथा कल्क (चौथाई भाग) के योग से पका हुआ घृत (१ भाग)—विसर्प, ज्वर, कामला, रक्त-विकार तथा कुष्ठ को नष्ट करता है। इस घृत का नाम 'वज्रक' है ॥ १८ ॥

महावज्रक घृत—

त्रिफलात्रिकटुद्विकण्टकारी-
कटुकाकुम्भनिकुम्भराजवृक्षैः ।
सवचाऽतिविषाऽग्निकैः संपाठैः
पिचुभागैर्नववज्रदुग्धमुष्टया ॥ १९ ॥
पिष्टैः सिद्धं सर्पिषः प्रस्थमेभिः
क्रूरे कोष्ठे स्नेहनं रेचनं च ।
कुष्ठश्वित्रप्लीहवर्ध्माश्मगुल्मान्
हन्यात्कृच्छ्रांस्तन् महावज्रकाख्यम् ॥२०॥

व्याख्या—हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मरिच, पीपल, कण्टकारी, वन भण्टा, कुटकी, निसोत, दन्तीमूल, अमलतास, बालवच, अतीस, चित्ता तथा पाठा १-१ कर्ष, सेहुण्ड का दूध १ पल, घृत १ प्रस्थ। सबको मिला कर सिद्ध किया गया घृत—क्रूर कोष्ठ का स्नेहन तथा रेचन करता है। और कुष्ठ, श्वित्र, प्लीहविकार, अन्त्र वृद्धि, अश्मरी तथा गुल्म को नष्ट करता है। भले ही उक्त रोग कष्टसाध्य हों। इसका नाम "महावज्रक" है ॥

वक्तव्य—यह घृत विरेचनार्थ देना चाहिये ॥१९-२०॥

दन्ती घृत—

दन्त्याढकमपां द्रोणे पक्त्वा तेन घृतं पचेत् ।
धामार्गवपले पीतं तदूर्ध्वाधो विशुद्धिकृत् ।२१॥

व्याख्या—एक आढक दन्तीमूल को कूट कर एक द्रोण जल में पकावे अष्टमांश या चतुर्थांश रहने पर छान लेवे, इस क्वाथ तथा एक पल राजकोशातकी नामक तरोई के कल्क के योग से पकाया एक प्रस्थ घृत पीने से वमन तथा विरेचन करता है ॥ २१ ॥

आवर्त्तकी घृत

आवर्तकी तुलां द्रोणे पचेदष्टांशशोषितम् ।
तन्मूलैस्तत्र निर्यूहे घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २२ ॥
पीत्वा तदेकदिवसान्तरितं सुजीर्णे
भुञ्जीत कोद्रवसुसंस्कृतकाञ्जिकेन ।
कुष्ठं किलासमपचीं च विजेतुमिच्छन्
इच्छन्प्रजां च विपुलां ग्रहणं स्मृतिं च ॥ २३ ॥

व्याख्या—आवर्त्तकी नामक द्रव्य—१ तुला लेकर १ द्रोण जल में पकावे, अष्टमांश रहने पर छान लेवे, आवर्त्तकी के मूल का कल्क तथा एक प्रस्थ गोघृत मिला कर पाक करे। इसकी मात्रा—एक दिन का अन्तर देकर अर्थात् तीसरे दिन पीवे। पच जाने पर कोदों का भात काञ्जी के साथ खावे। इसका सेवन वह करे जो कुष्ठ, श्वित्र कुष्ठ एवं अपचीको जीतना चाहता है और चाहता है अधिक सन्तति तथा लाभ एवं स्मरण शक्ति।

वक्तव्य—आवर्त्तकीतुलां सलिलार्मणे अष्टमांशशिष्टं विपाच्य तेन निर्यूहेण तन्मूलैश्च घृतप्रस्थं साधयेत्। ततो मात्रामेकाहान्तां पिबेत्। ऊर्ध्वाऽधो विरिच्यमानः तपिनः शीतलवणमारनालं (पिबेत्)। जीर्णस्नेहश्च तेनैव कोद्रवौदनमश्नीयात्। अनेन कुष्ठश्वित्राऽपचीभगन्दरनाडीव्रणाऽऽखुविषाणि सिध्यन्ति। मेध्यं तत् पुंसवनं च। अ. सं. अ. २२

आवर्त्तकी तिन्दुकिनी विभाण्डी विषाणिका रङ्गलता मनोज्ञा । ता रक्तपुष्पी महदादि जाली सा पीतकीलाऽपि च चर्मरङ्गा । वामावर्त्ती च सम्प्रोक्ता । राजनिघण्टु । सम्भवतः आवर्त्तकी मजीठ का नाम है क्योंकि मञ्जीठ एक उत्तम कुष्ठ नाशक है ।।२२-२३।।

लेलीतक वसा प्रयोग—

यतेर्लेलीतकवसा क्षौद्रजातीरसान्विता ।
कुष्ठघ्नी समसर्पिर्वा सगायत्र्यसनोदका ।। २४ ।।

व्याख्या—रोगी-ब्रह्मचर्य एवं मौन व्रत आदि नियमों का पालन करता हुआ लेलीतकवसा का प्रयोग-मधु एवं चमेली के स्वरस में मिलाकर करे । अथवा—उस लेलीतक वसा में समानभाग घृत मिला कर करे और साथ में खैरसार तथा विजयसार का जल-क्वाथ या हिम पीवे । यह कुष्ठ नाशक है ।।

वक्तव्य—यह प्रयोग चरक में इस प्रकार है—"लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः । सप्तदश कुष्ठघाती···च. चि. अ ७ श्लो० ७० । चरक टीकाकार चक्रपाणि कृत व्याख्या इस प्रकार हैं—लेलीतकः पाषाणभेद औत्तरापथिकः, उच्यते हि निघण्टौ—

आसीद् दैत्यो महाबाहुर्लेलिहानो महासुरः ।
योजनानां त्रयस्त्रिंशत् कायेनाऽऽच्छाद्य तिष्ठति ।
विष्णुचक्रेण संच्छिन्नो पपात धरणीतले ।
वसा तस्य समाख्याता लेलीतक इति क्षितौ ।। इत्यादि

जात्या इति आमलक्याः । श्री अरुण दत्त ने उक्त श्लोक १८ की टीका में लिखा है—लेलीतकवसा सौवर्चललवण तैलं, गन्धकमेके । जातीरसो बोलः । और-लेलीतको गजवसा वैगन्धो गन्धको बलिः ।। ११ ।। मदनपाल निघण्टु सुवर्णादि वर्ग । हमारे विचार में लेलीतक गन्धक का ही नाम है और गन्धक उच्चकोटि का कुष्ठनाशक द्रव्य है । अथवा कोई गन्धक का यौगिक है । यदि वह खनिज है तो हिंगुल—शिंगरफ है क्योंकि इस योग के नीचे ही भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है कि—

श्रेष्ठं गन्धक योगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगात् वा ।
सर्वव्याधिनिवर्हणमद्याय कुष्ठीरसं च निगृहीतम् ।।७१।।

अर्थात्—कुष्ठरोगी—गन्धक के योग—संयोग से अथवा सुवर्ण माक्षिक के संयोग से निगृहीत-बद्ध रस- पारदको खावे वह सब प्रकार के रोगों को नष्ट करता है । सुवर्ण माक्षिक में गन्धक रहता है । और उत्तरापथ उत्तर कुरुदेश का नाम "दरद" है और उस देश में उपलब्ध होने के कारण हिंगुल का नाम "दरद" है गन्धक के संयोग से पारद की कज्जली बना कर और पाक करके ही रससिन्दूर बनाया जाता है वह सिंग्रफ जैसा तथा रक्त वर्ण का होता है । पाठक विचार करें ।।२४।।

कुष्ठरोग में पथ्य एवं अपथ्य—

शालयो यवगोधूमाः कोरदूषाः प्रियङ्गवः ।
मुद्गा मसूरास्तुवरी तिक्तशाकानि जाङ्गलम् ।। २५ ।।
वरा-पटोल-खदिर-निम्बाऽरुष्करयोजितम् ।
मद्यान्यौषधगर्भाणि मथितं चेल्गुराजितम् ।। २६ ।।
अन्नपानं हितं कुष्ठे, नत्वम्ललवणोषणम् ।
दधि-दुग्ध-गुडाऽऽनूप-तिल माषांस्त्यजेत्तराम् ।। २७ ।।

व्याख्या—शालिधान्य, जौ, गेहूँ, कोदों, कांगुनी, मूंग, मसूर, अरहर करेला आदि तिक्त शाक, जाङ्गलदेशीय, प्राणियों के मांस, त्रिफला, परवल, खैरसार, निम्ब तथा भिलावा के योग, रक्त शोधक औषधों के मद्य-आसव-अरिष्ट, तक्र तथा बाकुची से मिश्रित अन्न तथा पान कुष्ठ में हित हैं । और अपथ्य—अम्ल, लवण तथा कटुद्रव्य, दही, दूध, गुड़, अनूपदेशीय मांस, तिल तथा उरद का सर्वथा त्याग करे ।।

वक्तव्य—च. चि. अ. ७ का श्लो० ८२-८३ देखिये ।। २५-२७ ।।

पटोलमूलादि क्वाथ—

पटोलमूलत्रिफलाविशालाः
पृथक्त्रिभागापचितत्रिशालाः ।
स्युस्त्रायमाणा कटुरोहिणी च
भागार्धिके नागरपादयुक्ते ।। २८ ।।
एतत्पलं जर्जरितं विपक्वं
जले पिबेद्दोषविशोधनाय ।।
जीर्णे रसैर्धन्वमृगद्विजानां
पुराणशाल्योदनमाददीत ।। २९ ।।
कुष्ठं किलासं ग्रहणीप्रदोष-
मर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च ।
षड्रात्रियोगेन निहन्ति चैतद्
हृद्बस्तिशूलं विषमज्वरं च ।। ३० ।।

व्याख्या—परवल का मूल, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा इन्द्रायण की जड़ । यह ५ द्रव्य २-२ शाण और तिहाई न्यून १-१ शाण और त्रायमाण एवं कुटकी आधा आधा भाग परन्तु उन्हीं से चौथाई भाग सोंठ मिला कर आधा २ भाग । इस प्रकार १ पल (४ कर्ष) द्रव्य लेकर कूट लेवे और जल में पका कर दोषों के शोधन के लिये —विरेचन के लिये पीवे । औषध पचजाने के विरेचन हो जानेके पश्चात् पुराने शालि चावलोंका भात, जङ्गल देशी मृग अथवा पक्षियों के मांस रस के साथ खावे । यह योग—कुष्ठ, श्वित्र, ग्रहणी रोग, कष्ट साध्य अर्श, हलीमक, हृदय एवं वस्ति के शूल तथा विषम ज्वर को ६ दिन में नष्ट करता है ।

वक्तव्य—इस योग का पाठ अ. स. चि. अ. २१ में इस प्रकार है—पटोलविशालयोर्मूलं त्रिफला च पृथक् त्रिभागोनान्त्रिशाणाः कटुकात्रायमाणे शाणांशे, शुण्ठ्याः त्रिभागोनः शाणः, तत् एतत् पलमेकच्यं सलिले विपाच्य पाययेत्। ऊर्ध्वाऽधो विरिक्तश्च जीर्णे जाङ्गलरसेन भक्तीयात्। तत् षड्रात्रप्रयोगात् परं पित्तकफशोथकुष्ठदुष्टनाडीव्रणार्शोभगन्दरग्रहणीपाण्डुहलीमककामलाविषमज्वरहृद्वस्ति वेदनाघ्नमुमयाऽनुलोमनं वा। और चरक चि. अ. ७ में—

मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्या पृथक पलांशं त्रिफलात्वचश्च।
स्यात् त्रायमाणा कटुरोहिणी च भागार्द्धिका नागरपादयुक्ता६२
पलं तथैषां सह चूर्णितानां जलेभृतं दोषहरं पिबेत् ना।
जीर्णे रसैः धन्वमृगद्विजानां पुराणशाल्योदनमाददीत ॥६३॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च।
षड्रात्रयोगेन निहन्ति चैष हृद्वस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥६४॥

और अग्निवेश संहिता में—

पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलोन्मिता।
पलार्धं त्रायमाणा च तथा कटुकरोहिणी।
कर्षार्धं नागरं दत्वा षट्पलानि अवचूर्णयेत्।
जलं भृतं पिबेत् कोष्णं चूर्णस्याऽत्र पलं पलम्। इत्यादि।

और चक्षुष्येण का कथन है—

पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलांशिका।
कटुका त्रायमाणा च पलार्धा पादनागरा।
तस्मात् षड्भागमुत्क्वाथ्य जलं दोषहरं पिबेत्।

और महर्षि जतुकर्ण का कथन है—

पटोलमूलत्रिफला गवाक्षी त्रिवृता पलैः।
त्रायन्ती कटुका द्वाभ्यां कृत्वा नागरपादिकम्।
चूर्णं पलं पिबेत् तस्मात् भृतं जीर्णे रसान्नभुक्।

तात्पर्यार्थ—सबका तात्पर्य यह है कि पटोलमूल आदि ५ द्रव्य १-१ पल, त्रायमाणा एवं कुटकी १॥-१॥ कर्ष, सोंठ १ कर्ष = योग—६ पल, मात्रा १ पल, सेवन काल ६ दिन। श्री वाग्भट ने एवं अष्टांगसंग्रहकार ने १ दिन की मात्रा बनाने के लिये परिमाण लिखा है परन्तु उसके लिये बहुत गम्भीर गणित करनी पड़ती है, उचित यही है ५ द्रव्य २—१ पल लेकर और त्रायमाणा एवं कुटकी १॥—१॥ कर्ष तथा सोंठ १ कर्ष मिला कर ६ भाग कर लिये जायें ॥२८-३०॥

माणिभद्र योग—

विडङ्गसारामलकाभयानां
पलत्रयं त्रीणि पलानि कुम्भात्।
गुडस्य च द्वादश मासमेष
जितात्मनां हन्त्युपयुज्यमानः ॥ ३१ ॥
कुष्ठं श्वित्रं श्वासकासोदरार्शो-
मेहप्लीहग्रन्थ्यरुग्जन्तुगुल्मान्।
सिद्धं योगं प्राह यक्षो मुमुक्षो-
र्भिक्षोः प्राणान्माणिभद्रः किलेमम् ॥ ३२ ॥

व्याख्या—वाविड़ंग के बीज-गिरी, आमला तथा हरड १-१ पल, निसोत ३ पल, पुराना गुड १२ पल। सब का चूर्ण गुड में मिलाकर रख लेवे। यह योग एक मास में खाना चाहिये अर्थात् इसकी ३० मात्रा करे और रोगी संयम से रहे। यह योग कुष्ठ, श्वित्र, श्वास, कास, उदर रोग, अर्श, प्रमेह, प्लीहविकार, ग्रंथि रोग, कृमि तथा गुल्म रोग को नष्ट करता है। इस सिद्ध योग का उपदेश माणिभद्र नामक यक्ष ने मरणासन्न भिक्षु को किया था और उसे जीवन लाभ हो गया था ऐसी बात सुनी गई है।

वक्तव्य—'वार्त्ता सम्भाव्ययोः किल' इति अमरकोशः। यह विरेचन योग है। प्रति दिन १ मात्रा खाने से विरेचन होता रहता है ॥३१-३२॥

भूनिम्बादि चूर्ण—

भूनिम्ब-निम्ब-त्रिफला-पद्मकाऽतिविषा-कणाः।
मूर्वा-पटोली-द्विनिशा-पाठा-तिक्तेन्द्रवारुणीः ॥ ३३ ॥
सकलिङ्गवचास्तुल्या द्विगुणाश्च यथोत्तरम्।
लिह्याद्दन्तीत्रिवृद्ब्राह्मीश्चूर्णिता मधुसर्पिषा ॥ ३४ ॥
कुष्ठीमेहप्रसुप्तीनां परमं स्यात्तदौषधम्।

व्याख्या—चिरायता, निम्ब की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, पद्मकाष्ठ, अतीस, पीपल, मरोड़फली, परवल, हल्दी, दारुहल्दी की छाल, पाठा, कुटकी, इन्द्रायण, इन्द्रजौ तथा वालवच १-१ भाग, दन्तीमूल २ भाग, निसोत ४ भाग तथा ब्राह्मी ८ भाग। सबका चूर्ण मिलाकर रख लेवे। सहपान—मधु एवं घृत चाटना चाहिये। यह चूर्ण—कुष्ठ, प्रमेह तथा निद्राधिक्य की परम औषध है।

वरादि योग—

वराविडङ्गकृष्णा वा लिह्यात्तैलाढ्यमाक्षिकैः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—हरड़, बहेड़ा, आमला, वाविडंग तथा पीपल का चूर्ण समभाग—तैल, घृत तथा मधु में मिलाकर चाटे। यह भी कुष्ठ आदि की परम औषध है ॥३५॥

वृक्षक क्वाथ

काकोदुम्बरिका-वेल्ल-निम्बाब्दव्योषकल्कवान्।
हन्ति वृक्षकनिर्यूहः पानात्सर्वांस्त्वगामयान् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—कुरैया की छाल का क्वाथ—कठगूलर की छाल, विडंग, निम्ब की छाल, मोथा, सोंठ, मरिच, पीपल का कल्क मिलाकर पीने से सब प्रकार के कुष्ठरोगों को नष्ट करता है ॥ ३५ ॥

कुटजादि सिद्ध हरीतकी—

कुटजाऽग्नि-निम्ब-नृपतरु-खदिराऽसनसप्तपर्ण निर्यूहे।
सिद्धा मधुघृतयुक्ता कुष्ठघ्नीर्भक्षयेदभयाः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—कुरैया की छाल, चित्ता की जड़, निम्ब की छाल, अमलतास, खैरसार तथा सप्तपर्ण के क्वाथ में पकाई गयी हरड़ों को मधु एवं घृत में मिला कर खावे। यह हरड़ों का चूर्ण कुष्ठ नाशक है ॥ ३७ ॥

दार्व्यादि क्वाथ—

दार्वी ःदिरनिम्बानां त्वक्क्काथः कुष्ठसूदनः।

व्याख्या—दारु हल्दी की, खैर की तथा निम्ब की छाल का क्वाथ- कुष्ठ को नष्ट करता है।

अन्यान्य क्वाथ एवं घृत—

निशोत्तमानिम्बपटोलमूल-
तिक्तावचालोहितयष्टिकाभिः।
कृतः कषायः कफपित्तकुष्ठं
सुसेवितो धर्म इवोच्छिनत्ति ॥ ३८ ॥

एभिरेव न शृतं घृतमुख्यं भेषजैर्जयति मारुतकुष्ठम्।
कल्पयंत्खदिरनिम्बगुडूचीदेवदारुरजनीः पृथगेवम् ॥३९

व्याख्या—निशादि क्वाथ—हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आमला, निम्ब की छाल, परवल की जड़, कुटकी, वाल-वच तथा मञ्जीठ का क्वाथ- कफ पित्त जनित कुष्ठ को वैसे नष्ट करता है जैसे धर्म (पुण्य कर्म) का सेवन कुष्ठ को नष्ट करता है। निशादि घृत—इन्हीं हल्दी आदि द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत- वात जनित कुष्ठ को नष्ट करता है। इसी प्रकार खैर की छाल, निम्ब की छाल, गिलोय, देवदारु तथा हल्दी के क्वाथ एवं घृत की कल्पना करे (खैर आदि के क्वाथ एवं कल्क के संयोग से घृत सिद्ध करे) ॥ ३८,३९ ॥

पाठादियोग—

पाठादार्वीवह्निघुणेष्टाकटुकाभि-
र्मूत्रं युक्तं शक्रयवैश्चोष्णजलं च।
कुष्ठी पीत्वा मासमरुक् स्याद् गुदकीली
मेही शोफी पाण्डुरजीर्णी कृमिमांश्च ॥४०॥

व्याख्या—पाठा, दारुहल्दी की छाल, चित्तामूल, अतीस तथा कुटकी का चूर्ण—गोमूत्र में मिला कर अथवा इन्द्र जौ का चूर्ण—उष्ण जल में मिला कर पीने से—कुष्ट रोगी एक मास में निरोग हो जाता है। और—अर्श, प्रमेह, शोथ, पाण्डुरोग, अजीर्ण तथा कृमि का रोगी निरोग हो जाता है ॥ ४० ।

लाक्षादि चूर्ण—

लाक्षादन्तीमधुरसवरा-द्वीपिपाठाविडङ्गं
प्रत्यकपुष्पीत्रिकटुरजनी-सप्तपर्णाऽऽटरूषम्।
रक्ता निम्बं सुरतरुकृतं पञ्चमूल्यौ च चूर्णं
पीत्वा मासं जयति हितभुग्गव्यमूत्रेण कुष्ठम् ॥४१

व्याख्या—लाख, दन्तीमूल, मुलेठी, हरड़, बहेड़ा, आमला, चित्तामल, पाठा, विडंग, अपामार्ग, सोंठ, मरिच, पीपल, हल्दी, सप्तपर्ण की छाल, अडूसा के पत्र, मञ्जीठ, देवदारु का बुरादा तथा दशमूल के दस द्रव्य। सबका चूर्ण समभाग मिला कर रख लो। गोमूत्र के साथ एक मास पर्यन्त इस चूर्ण का सेवन करे और कुष्ठ रोग में लाभप्रद आहार विहार करे। इस प्रकार कुष्ठ पर विजय प्राप्त होती है। ४१ ॥

निशादि वटिका—

निशाकणानागरवेल्लतौवरं
सवह्निताप्यं क्रमशो विवर्धितम्।
गवाम्बुपीतं वटकीकृतं तथा
निहन्ति कुष्ठानि सुदारुणान्यपि ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हल्दी १ भाग, पीपल २ भाग, सोंठ ३ भाग, विडंग ४ भाग, तुवरक बीज ५ भाग, चित्तामूल ६ भाग तथा सुवर्ण माक्षिक ७ भाग। सबका चूर्ण लेकर जल में पीस कर गोली बनावे। अनुपान—गोमूत्र। यह योग दारुण—भीषण कुष्टों को भी नष्ट करता है ॥ ४२ ॥

सप्तसमा गुटिका—

त्रिकटूत्तमातिलारुष्करराज्यमाक्षिकसितोपला विहिता।
गुलिका रसायनं स्यात् कुष्ठजिच्च वृष्या च सप्तसमा ४३

व्याख्या—त्रिकटु १ भाग, त्रिफला १ भाग, तिल १ भाग, भिलाबा १ भाग, घृत १ भाग, मधु एक भाग तथा खाड १ भाग। पीस कर घृत मधु के योग से गोलियाँ बनावे। ये रसायन हैं, कुष्ठ नाशक हैं तथा वृष्य हैं। और इनका नाम "सप्तसमा" है ॥ ४३ ॥

चन्द्रकलादि वटक—

चन्द्रशकलाग्निरजनीविडङ्गतुवरारुष्करत्रिफलाभिः
वटका गुडांशक्लृप्ताः समस्तकुष्ठानि नाशयन्त्यभ्यस्ताः ॥

व्याख्या—बाकुची, चित्तामूल, हल्दी, विडंग, तुवरक की गिरी, भिलावा, हरड, बहेड़ा तथा आमला का चूर्ण समभाग और सबसे दुगुना गुड मिला कर या पका कर गोलियाँ बनावे। इनका निरन्तर सेवन करने से सब प्रकार के कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

विडंगादि पिण्डी—

विडङ्गभल्लातकवाकुचीनां
सद्वीपिवाराहिहरीतकीनाम्।
सलाङ्गलीकृष्णतिलोपकुल्या
गुडेन पिण्डी विनिहन्ति कुष्ठम् ॥ ४५ ॥

व्याख्या—विडंग, भिलावा, बावची, चित्तामूल, वाराही कन्द, हरड़, कलिहारी कन्द, काले तिल तथा पीपल का चूर्ण समभाग, सबसे दूना गुड़ पका कर गोलियाँ बनावे। यह भी कुष्ठ को नष्ट करती हैं ॥ ४५ ॥

शशांक लेखादि लेह—

शशाङ्कलेखा सविडङ्गमूला
सपिप्पलीका सहुताशमूला।
सायोमला सामलका सतैला
कुष्ठानि कृच्छ्राणि निहन्ति लीढा ॥ ४६ ॥

व्याख्या—बाकुची, विडंग बीज, पीपल, चीतामूल, मण्डूर भस्म तथा आमला चूर्ण—तैल में मिला कर चाटने से कष्टसाध्य कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

अन्यान्य योग—

पथ्यातिलगुडैः पिण्डी कुष्ठं सारुष्करैर्जयेत्।
गुडारुष्करजन्तुघ्नसोमराजीकृताऽथवा ॥ ४७ ॥
विडङ्गाऽद्रिजतु क्षौद्र सर्पिष्मत्खादिरं रजः।
किटिभश्वित्रदद्रुघ्नं खादेन्मितहिताशनः ॥ ४८ ॥
सितातैलकृमिघ्नानि धात्र्ययोमलपिप्पलीः।
लिहानः सर्वकुष्ठानि जयत्यतिगुरूण्यपि ॥ ४९ ॥

व्याख्या—पथ्यादि योग—हरड़, तिल, गुड़ तथा भिलावा की पिंडी (बड़ी सी गोली) कुष्ठ को नष्ट करती है। अथवा—गुडादि पिण्डी—गुड़, भिलावा, विडंग तथा वाकुची की पिण्डी कुष्ठ को नष्ट करती है। खदिर चूर्ण—खैरसार का चूर्ण—विडंग, शिलाजीत, मधु तथा घृत मिला कर खाने से और थोड़ा एवं कुष्ठनाशक आहार करने से—किटिभ, श्वित्र तथा दाद का नाश होता है। सितादि अवलेह—खण्ड, तैल, वाविडंग, आमला, मण्डूर भस्म तथा पीपल का बनाया गया अवलेह—चाटते रहने से अत्यन्त दारुण कुष्ठों पर भी विजय प्राप्त होती है ॥

वक्तव्य—सितादि अवलेह में—खण्ड ७ सेर, तैल १ सेर तथा विडंग आदि के चूर्ण १ सेर। मात्रा—२-४ तो०।

मुस्तादि चूर्ण—

मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूले द्वे।
सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशाला चित्रको मूर्वा ॥ ५० ॥
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वंशम्।
नित्यं कुष्ठनिबर्हणमेतत्प्रायोगिकं खादन् ॥ ५१ ॥
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि।
बध्मभगन्दरपिडका-कण्डूकोठापचीर्हन्ति ॥ ५२ ॥

व्याख्या—नागरमोथा, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, मञ्जीठ, देवदारु, बिलगिरी आदि बृहत्पञ्चमूल तथा शालपर्णी आदि लघु पञ्चमूल, सप्तपर्ण की छाल, निम्ब की छाल, इन्द्रायण की जड़, चित्ता तथा मरोड़फली का चूर्ण—१ भाग और सत्तू ९ भाग मिलाकर प्रतिदिन खाता रहे। यह प्रायौगिक अर्थात् बहुत दिनों पर्यन्त खाने योग्य योग है। यह योग—कुष्ठ नाशक है तथा—पाण्डुरोग युक्त शोथ, श्वित्र, ग्रहणी रोग, अर्श, वृद्धि, भगन्दर, पिडका, कण्डू, शीतपित्त तथा अपची को नष्ट करता है ॥ ५०-५२ ॥

रसायन योग—

रसायनप्रयोगेण तुवरास्थीनि शीलयेत्।
भल्लातकं बाकुचिकां वह्निमूलं शिलाह्वयम् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—रसायन विधि से तुवरक के बीजों का अथवा भल्लातक अथवा बावची का अथवा चित्तामूल का अथवा शिलाजीत का सेवन करे ॥

वक्तव्य—इन प्रयोगों से कुष्ठ का नाश हो जाता है। इन प्रयोगों का वर्णन उ. तं. अ. ३९ में देखिये ॥५३॥

कुष्ठ में बाह्योपचार—

इति दोषे विजितेऽन्त-
स्त्वक्स्थे शमनं बहिः प्रलेपादि हितम्।
तीक्ष्णालेपोत्क्लिष्टं
कुष्ठं हि विवृद्धिमेति मलिने देहे ॥ ५४ ॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से भीतरी दोषों का शमन हो जाने पर, केवल त्वचा में दोष रहने पर—बाहिरी लेप एवं स्वेदन आदि से शमन हो जाता है अन्यथा मलिन शरीर रहने पर तीक्ष्ण लेपन आदि के प्रयोग से, रक्त आदि में उत्क्लेश होकर कुष्ठ वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि वमन विरेचन आदि से शरीर का शोधन हो जाने पर ही लेप आदि से लाभ होता है अन्यथा नहीं ॥५४॥

कुष्ठ में स्वेदन, लेखन एवं लेपन—

स्थिरकठिनमण्डलानां कुष्ठानां पोटलैर्हितः स्वेदः।
स्विन्नोत्सन्नं कुष्ठं शस्त्रैर्लिखितं प्रलेपनैर्लिम्पेत् ॥५५॥

व्याख्या—जिन कुष्ठों के मण्डल—स्थिर एवं कठिन हों उन पर पोट्टलियों से स्वेदन करे और स्वेदन से उभरे हुए मण्डल पर शस्त्र द्वारा लेखन कर्म करे और लेखन द्वारा दोष निकल जाने पर—उचित लेप करे ॥

वक्तव्य—यह पाठ अष्टांग संग्रह में इस प्रकार है—

स्थिरकठिनमण्डलानां कुष्ठानां पोट्टलैर्हितः स्वेदः।
स्विन्नोत्सन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥
रुधिरागमार्थमथवा शृंगाऽलाबूभिरपहरेत् रक्तम्।
प्रच्छेत् अल्पं कुष्ठं विरेचयेद् वा जलौकोभिः ॥
ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृताऽस्रदोषाणाम्।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवति तेषाम् ॥

(अ. २१) ॥५५॥

कुष्ठ पर क्षार प्रयोग—

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनेषु कुष्ठेषु।
तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य॥ ५६॥

व्याख्या—जिन कुष्ठों में शस्त्र का प्रयोग न हो सकता हो (अर्थात कोमल हों) और त्वचा नष्ट हो गयी हो उन पर क्षार का प्रयोग करे परन्तु पहिले—रक्त तथा दोषों का विस्रावण—निर्हरण अवश्य कर लेवे।

वक्तव्य—स्पर्शेन्द्रियनाशनेषु का अर्थ यह भी हो सकता है कि—उस स्थान पर स्पर्श का ज्ञान न हो॥ ५६॥

कुष्ठ पर अगदों का लेप—

लेपोऽतिकठिने परुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च।
पीतागदस्य कार्यो विषः समन्त्रोऽगदैश्चाऽनु॥ ५७॥

व्याख्या—अत्यन्त कठोर, खरदरे, स्वापयुक्त शून्य स्थिर तथा पुराने कुष्ठ में—विषनाशक योग पिलाने के पश्चात् विष का लेप करे और उसके पश्चात् मंत्रपूर्वक अगद—विष नाशक औषधों का लेप करे॥

वक्तव्य—अगदों का पान एवं लेप इस लिये किया जाता है कि जिससे विषलेप का विपैला प्रभाव न हो॥५७॥

कुष्ठ में घर्षण—

स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनकण्डुलानि कुष्ठानि।
घृष्टानि शुष्कगोमय-फेनक-शस्त्रैः प्रदेह्यानि॥ ५८॥

व्याख्या—जो कुष्ठ स्तब्ध-कठोर हो, स्वापयुक्त हों, स्वेद रहित हो (जिन पर स्वेद न आता हो) तथा कण्डू युक्त हों उन पर-सूखे गोबर से, समुद्रफेन से अथवा शस्त्र (कूची आदि) से घर्षण करके रक्त सिमा जाने पर उचित लेप करे॥

वक्तव्य—समुद्रफेन से इतना रगड़ा जाता है जिससे रक्त दिखने लगे। इससे लेपादिका प्रभाव अधिक होता है॥५८॥

मुस्तादि कषाय—

मुस्तात्रिफलामदनं करञ्ज आरग्वधकलिङ्गयवाः।
सप्ताह्वकुष्ठफलिनीदार्व्यः सिद्धार्थकं स्नानम्॥ ५९॥
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकरस्तथोद्‌घर्षः।
त्वग्दोषकुष्ठशोफ-प्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः॥६०॥

व्याख्या—नागर मोथा, हरड़, बहेड़ा, आमला, मैनफल, करञ्ज, अमलतास, इन्द्रजौ, सप्तपर्ण, कुठ, प्रियंगु, दारुहल्दी की छाल तथा सरसों का क्वाथ बनाकर स्नान करे। इस कषाय के पान से वमन एवं विरेचन हो जाता है और इस योग का उबटन करने से—कान्ति बढ़ती है, त्वचा के व्यङ्ग आदि दोष, कुष्ठ, शोथ एवं पाण्डुरोग का नाश हो जाता है॥ ५९-६०॥

करवीरादि लेप—

करवीरनिम्बकुटजाच्छम्पाकाश्चित्रकाच्च मूलानाम्।
मूत्रे दर्वीलेपी क्वाथो लेपेन कुष्ठघ्नः॥ ६१॥

व्याख्या—कनेर की जड़ की छाल, निम्ब की जड़ की छाल, कुरैया की जड़ की छाल, अमलतास की जड़ की तथा चित्ता की जड़ की छाल को गोमूत्र में क्वाथ बना कर छान लेवें और उसे पुनः पकावे जब कड़छुली में चिपकने लगे तब उसका लेप करने से कुष्ठ का नाश हो जाता है॥ ६१॥

श्वेत करवीरादि लेप—

श्वेतकरवीरमूलं कुटजकरञ्जात्फलं त्वचो दार्व्याः।
सुमनःप्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः॥ ६२॥

व्याख्या—श्वेत फूल की कनेर की जड़, इन्द्रजौ, करञ्जबीज, दारुहल्दी की छाल तथा चमेली के कोमल पत्र। सब को पीस कर कुष्ठ पर लेप करे। यह सिद्ध लेप है। तथा कुष्ठ नाशक है॥ ६२॥

अन्य लेप—

शैरीषी त्वक्, पुष्पं कार्पास्या, राजवृक्षपत्राणि।
पिष्टा च काकमाची चतुर्विधः कुष्ठहा लेपः॥ ६३॥
व्योषसर्षपनिशागृहधूमैर्यावशूकपटुचित्रककुष्ठैः।
कोलमात्रगुटिकार्धविषांशाः श्वित्रकुष्ठहरणो वरलेपः॥६४

व्याख्या—सिरस की छाल, कपास के फूल, अमलतास के पत्र अथवा मकोय के पत्र को पीस कर पृथक् २ चार लेप—कुष्ठ नाशक हैं। व्योषादि लेप—सोंठ, मरिच, पीपल, सरसों, हल्दी, गृह धूम, जौखार, लवण, चित्ता तथा कुठ १-१ तोला और विष आधा तोला को जल में पीस कर बेर कीसी गोलियाँ बनावे। यह श्वित्र कुष्ठ नाशक उत्तम लेप है।

वक्तव्य—गोलियों को गोमूत्र अथवा जल में पीस कर लेप करना चाहिये॥ ६३-६४॥

निम्बादि उबटन—

निम्बं हरिद्रे सुरसं पटोलं
कुष्ठाश्वगन्धे सुरदारु शिग्रुः।
ससर्षपं तुम्बुरुधान्यवन्यं
चण्डा च चूर्णानि समानि कुर्यात्॥६५॥
तैस्तक्रपिष्टैः प्रथमं शरीरं
तैलाक्तमुद्वर्तयितुं यतेत।
तेनास्य कण्डूः पिटिकाः सकोठाः
कुष्ठानि शोफाश्च शमं व्रजन्ति॥६६॥

व्याख्या—निम्बपत्र, हल्दी, दारुहल्दी की छाल, तुलसीपत्र, सहजन, सरसों, तुम्बरु (तेजबल के बीज) धनियाँ, नागरमोथा तथा चोरपुष्पी का चूर्ण समान भाग प्रस्तुत करे। उन सब चूर्णों को तक्र में पीस कर भली भाँति उबटन करे परन्तु उबटन के पूर्व शरीर पर तैल—

कटुतैल का अभ्यङ्ग कर लेवे। इस उबटन से—कण्डू, पिटिका, धापड़, कुष्ठ तथा शोथ शान्त हो जाते हैं ६५-६६

मुस्तादि अवचूर्णन—

मुस्ताऽमृतासङ्गकटङ्कटेरी
कासीसकम्पिल्लककुष्ठरोध्राः।
गन्धोपलः सर्जरसो विडङ्गं
मनःशिलाले करवीरकत्वक् ॥६७॥
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णा-
न्येतानि दद्यादवचूर्णनार्थम्।
दद्रुः सकण्डूः किटिभानि पामा
विचर्चिका चेति तथा न सन्ति ॥६८॥

व्याख्या—नागर मोथा, मुरदा संग, दारुहल्दी की छाल, हरा कसीस, कबीला, कुठ, लोध, गन्धक, राल, विडंग, मैनसिल, हरताल, कनेर की जड़ की छाल। इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण बनाकर रख लेवे। शरीर पर तैल, चुपड़ कर इस चूर्ण का अवचूर्णन—अवधूलन करे। इस अवचूर्णन से दाद, कण्डू, किटिभ नामक कुष्ठ, पामा तथा विचर्चिका नहीं रह जाते।

वक्तव्य—यह पाठ च. सू. अ. ३ के श्लो. ११ का कुछ परिवर्त्तित रूप है। इस में "अमृतासंग" नामक द्रव्य लिखा गया है। श्री चक्रपाणि ने इस शब्द का अर्थ—"अमृतासङ्ग =तुत्थकं" लिखा है। हमारा विचार है कि यह "मुरदासंग" नामक प्रसिद्ध द्रव्य का नाम है-अमृतासङ्ग शब्द का तत्सम अपभ्रंश "मुरदासंग" है। श्री यादव जी आदि आधुनिक भारतीय विद्वानों ने यूनानी चिकित्सा में प्रसिद्ध मुरदासंग का 'मृद्दार श्रृंग" नाम से उल्लेख किया है। यह द्रव्य—पीताभ, श्लक्ष्ण एवं गुरु तथा भंगुर होता है, प्रायः मलहरों के प्रयोगों में प्रयुक्त किया जाता है। इस द्रव्य का नाम च. चि. अ. २५ के श्लो. १२६ में भी आया है। और वहाँ श्री चक्रपाणि ने "अमृतासंगः—कर्परिका तुत्थम्"। लिखा है। तथा चि. अ. ७ के श्लो. ११४ में भी इस द्रव्य का उल्लेख है ॥६७, ६८॥

अन्यान्य लेप—

स्नुग्गण्डे सर्षपात्कल्कः कुकूलानलपाचितः।
लेपाद्विचर्चिकां हन्ति रागवेग इव त्रपाम् ॥६९॥

व्याख्या - सरसों का कल्क बनाकर सेहुण्ड के दण्ड में भर दिया जाय और उसे पुटपाक विधि से तुषाग्नि में धर कर पाक किया जाय तत्पश्चात् निकाल कर उसका लेप किया जाय। इस लेप से विचर्चिका वैसे नष्ट हो जाती है जैसे मैथुनाभिलाष से लज्जा। २—मनः शिलादि लेप—मैनसिल, हरिताल, मरिच तथा आक का दूध लेकर एक साथ पीस लेवे इस लेप से भी कुष्ठ का नाश हो जाता है। ३—करञ्जादि लेप—करञ्जबीज, पमाड़ के बीज तथा कुठ को गोमूत्र में पीस कर लेप करने से भी कुष्ठ का नाश हो जाता है ॥६९॥

गुग्गुल्वादि घर्षण—

गुग्गुलुर्मरिचविडङ्गैः सर्षपकासीससर्जरसमुस्तैः।
श्रीवेष्टकालगन्धैर्मनःशिलाकुष्ठकम्पिल्लैः ॥७१॥
उभयहरिद्रासहितैश्चाक्रिकतैलेन मिश्रितैरेभिः।
दिनकरकराभितप्तैः कुष्ठं घृष्टं च नष्टं च ॥ ७२ ॥

व्याख्या—गूगल, मरिच, विडंग, सरसों, हराकासीस, राल, मोथा, गन्धाविरोजा, हरताल, गन्धक, मैनसिल, कूठ, कबीला, हल्दी तथा दारुहल्दी की छाल के चूर्ण को चक्रतैल (कोल्हू का ताजा तैल) में मिलाकर और धूप में तपा कर कुष्ठ पर घर्षण करे तो तत्काल कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ ७१-७२॥

मरिचादि लेप—

मरिचं तमालपत्रं कुष्ठं समनःशिलं सकासीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे ॥ ७३ ॥
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्घर्मसेविनोऽपैति।
मासान्नवं किलासं स्नानेन विना विशुद्धस्य ॥ ७४ ॥

व्याख्या मरिच, तमाल के पत्र, कुठ, मैनसिल, तथा हराकासीस समभाग लेकर पीसलेवे और ताम्रपात्र में तैल मिला कर सात दिन धरा रहने देवे। रोगी को वमन विरेचन से शुद्ध करने के पश्चात् सिध्म कुष्ठ पर लेप करे और रोगी धूप में बैठे, स्नान न करे। इस लेप से सात दिन में सिध्म कुष्ठ और एक मास में नया श्वित्र नष्ट हो जाता है ॥ ७३-७४ ॥

अपामार्ग क्षार का लेप—

मयूरकक्षारजले सप्तकृत्वः परिस्नुते।
सिद्धं ज्योतिष्मतीतैलमभ्यङ्गात्सिध्मनाशनम् ॥७५॥

व्याख्या—अपामार्ग के क्षार जल को सातबार छान लेवे और उससे माल कांगुनी का तैल सिद्ध करे। इस तेल का अभ्यंग करने से सिध्म नामक कुष्ठ का नाश हो जाता है ॥७५॥

वायस जङ्घादि लेप—

वायसजङ्घामूलं वमनीपत्राणि मूलकाद्बीजम्।
तक्रेण भौमवारे लेपः सिध्मापहः सिद्धः ॥७६॥

व्याख्या—काकजंघा की जड़, शणपुष्पी के पत्र तथा मूली के बीज समान भाग लेकर और तक्र में पीस कर मंगलवार को दिन में लेप करे। यह सिध्मनाशक सिद्ध लेप है ॥७६॥

जीवन्त्यादि घृत तैल—

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकं पयस्तुत्थम्।
एष घृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्जरसः ॥७७॥

देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन नश्यति ह्यक्ता।
चर्मैककुष्ठकिटिभं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥ ७८ ॥

व्याख्या—जीवन्ती, मञ्जीठ, दारुहल्दी, कवीला, आक का दूध तथा तूतिया १-१ तो०, घृत एवं तैल १२-१२ तोला (मिला कर २४ तोला) जल ९६ तोला। स्नेह सिद्ध होने पर छान लेवे और अन्त में राल तथा मोम ३।३ तोला पिघला देवे। इस का लेप-अभ्यङ्ग करने से विपादिका-बिवाई एवं वैपादिक कुष्ठ, चर्मदल, एक कुष्ठ, किटिभ कुष्ठ तथा अलसक कुष्ठ शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—मोम एवं राल के संगोग से तैल शीतल होने पर जम जाता है। इस प्रकार के तैल "पिण्ड तैल" कहे जाते हैं ॥७७, ७८॥

वज्रक तैल—

मूलं सप्ताह्वात्वक्शिरीषाश्वमाराद्-
अर्कोन्मालत्याश्चित्रकास्फोतनिम्बात्।
बीजं कारञ्जं सार्षपं प्रापुनाटं
श्रेष्ठा जन्तुघ्नं त्र्यूषणं द्वे हरिद्रे ॥७९॥
नैलं तैलं साधितं तैः समूत्रै-
स्त्वग्दोषाणां दुष्टनाडीव्रणानाम्।
अभ्यङ्गेन श्लेष्मवातोद्भवानां
नाशायालं वज्रकं वज्रतुल्यम् ॥८०॥

व्याख्या—सप्तपर्ण की जड़ की छाल, सिरस की छाल, कनेर की छाल, आक की छाल, मालती की छाल, चित्ता की जड़ की छाल, सारिवा की छाल, निम्ब की छाल, करञ्ज के बीज, सरसों, पमाड़ के बीज, हरड़, बहेड़ा, आमला, विडङ्ग, मरिच, पीपल, हल्दी तथा दारु हल्दी की छाल १-१ तोला लेकर कल्क करे और कल्क से चौगुने तिल-तैल में तैल से चौगुना गोमूत्र मिला कर पाक करे। यह तैल—कुष्ठ आदि त्वचागत रोगों, दुष्ट नाडी व्रणों तथा कफवात जनित कुष्ठों के नाश में समर्थ है और इस तैल का नाम "वज्रक तैल" है क्योंकि यह वज्र के समान शक्तिमान् है ॥ ७९-८० ॥

महावज्रक तैल—

एरण्डतार्क्ष्यघननीपकदम्बभार्ङ्गी
कम्पिल्लवेल्लफलिनीसुरवारुणीभिः।
निर्गुण्ड्यरुष्करसुराह्वसुवर्णदुग्धा
श्रीवेष्टगुग्गुलुशिलापटुतालविश्वैः ॥८१॥
तुल्यस्नुगर्कदुग्धं सिद्धं तैलं स्मृतं महावज्रम्।
अतिशयितवज्रगुणं श्वित्रार्शोग्रन्थिमालाघ्नम् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—एरण्ड मूल, तार्क्ष्य (रसाञ्जन-रसवत्), मोथा, वेतस, कदम्ब की छाल, भारंगी, कवीला, विडंग, प्रियंगु, इन्द्रायण की जड़, सम्भालू के पत्र, भिलावा, देवदारु, सत्यानाशी की जड़, गन्धा विरोजा, गूगल, मैनसिल, सैन्धव लवण, हरिताल, सोंठ का कल्क तथा सेहुण्ड का दूध एवं आक का दूध १-१ तोला और तिल-तैल सबसे चौगुना तथा जल तैल से चौगुना मिला कर तैल सिद्ध करे। इस तैल का नाम "महावज्रक" है। इस तैल में वज्रक तैल से अधिक या बलवान् गुण हैं और विशेषतः—श्वित्र, अर्श, तथा गण्डमाला को नष्ट करता है ॥ ८१-८२ ॥

कुष्ठादि तैल—

कुष्ठाश्वमारभृङ्गार्कमूत्रस्नुक्क्षीरसैन्धवैः।
तैलं सिद्धं विषावापमभ्यङ्गात्कुष्ठजित्परम् ॥ ८३ ॥

व्याख्या—कूठ, कनेर की जड़, भांगरा, अर्क दुग्ध, गोमूत्र, सेहुण्ड का दूध, सैन्धव लवण तथा वत्सनाभ विष का कल्क बना कर विधिपूर्वक सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करने से कुष्ठ का नाश अवश्य करता है ॥ ८३ ॥

सिक्थकादि तैल—

सिद्धं सिक्थकसिन्दूरपुरतुत्थकतार्क्ष्यजैः।
कच्छूं विचर्चिकां चाऽऽशु कटुतैलं नियच्छति ॥८४॥

व्याख्या—मोम, सिन्दूर, गूगल, तूतिया, तार्क्ष्य (रसाञ्जन) के योग से सिद्ध कटु तैल—वृषण कच्छू तथा विचर्चिका को नष्ट करता है।

वक्तव्य—उक्त प्रकार के तैल—जिनमें मोम एवं गूगल पड़ता है बनाने की विधि यह है कि—पीसने योग्य द्रव्यों का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे और मोम को तेल में पिघला लेवे। फिर उक्त चूर्ण को उसमें फेंट देवे। इस प्रकार के तैल—पिण्ड तैल अथवा मलहर कहे जाते हैं ॥ ८४ ॥

दद्रुनाशक लेप—

लाक्षा व्योषं प्रापुनाटं च बीजं
सश्रीवेष्टं कुष्ठसिद्धार्थकाश्च।
तक्रोन्मिश्रः स्याद्धरिद्रा च लेपो
दद्रूपुक्तौ मूलकोत्थं च बीजम् ॥ ८५ ॥

व्याख्या—लाक्षा, सोंठ, मरिच, पीपल, पमाड़ के बीज, गन्धा विरोजा, कुठ, सरसों, हल्दी तथा मूली के बीज को तक्र में पीस कर दाद पर लेप करे ॥ ८५ ॥

अन्यान्य ६ लेप-

चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि।
खदिरो धवश्च लेपः श्यामा दन्ती द्रवन्ती च ॥ ८६ ॥
लाक्षारसाञ्जनैलाः पुनर्नवा चेति कुष्ठिनां लेपाः।
दधिमण्डयुताः पादैः षट् प्रोक्ता मारुतकफघ्नाः ॥८७॥

व्याख्या—१—चित्ता की जड़ तथा सहजन की छाल का, २—गिलोय, अपामार्ग तथा देवदारु का,

३—खैरसार तथा धव का, ४—निसोत, दन्तीमूल तथा द्रवन्ती मूल का, ५—लाख, रसाञ्जन तथा बड़ी इलायची का और ६—पुनर्नवा की जड़ का लेप कुष्ठ रोग में किया जाता है। उक्त द्रव्यों को दही के पानी में पीस कर लेप करे और ये लेप वायु एवं कफ जनित कुष्ठों को नष्ट करते हैं ॥ ८६-८७ ॥

कफपित्तज कुष्ठ मे लेप—

जलवाप्यलोहकेसरपत्रप्लवचन्दनमृणालानि ।
भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥ ८८ ॥

व्याख्या—नेत्रबाला १ भाग, कुठ २ भाग, अगुरु ३ भाग, नागकेसर ४ भाग, तेज पत्ता ५ भाग, केवटी मोथा ६ भाग, लाल चन्दन ७ भाग और मृणाल ८ भाग लेकर और जल में पीस कर पित्त कफ प्रधान कुष्ठ पर लेप करे। यह सिद्ध—सफल लेप है ॥ ८८ ॥

दाहयुक्त कुष्ठों पर लेप—

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु ।
तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ॥ ८९ ॥
क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके च चर्मदले ।
शीताः प्रदेहसेका व्यधनविरेकौ घृतं तिक्तम् ॥ ९० ॥

व्याख्या—दाहयुक्त कुष्ठों पर—गिलोय एवं निम्ब आदि तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृतों का, शतधौत एवं सहस्रधौत घृतों का तथा—लाल चन्दन मुलेठी, पुण्डेरिया तथा नील कमल के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे। अथवा—लाल चन्दन आदि द्रव्यों के सूक्ष्माति सूक्ष्म चूर्ण से मिश्रित तैल का मलहर लगावे। जब—पन्छा बह रहा हो, अंगुलियां आदि अंग गिर रहे हों, दाह हो, विस्फोट उत्पन्न हो गये हों तथा चर्मदल हो रहा हो तब—शीतल लेप, शीतल सेचन, रक्त स्रावण, विरेचन तथा तिक्तक घृत एवं महातिक्तक घृतों का प्रयोग करे ॥ ८९-९० ॥

खदिरादि योग—

खदिरवृषनिम्बकुटजाः श्रेष्ठा कृमिजित्पटोलमधुपर्ण्यः ।
अन्तर्बहिः प्रयुक्ताः कृमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः ॥९१॥

व्याख्या—खेरसार, अडूसा के पत्र, निम्ब की छाल, कुरैया की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, विडंग, परवल के पत्र तथा गिलोय का गोमूत्र के साथ—पान एवं लेप कृमियुक्त कुष्ठ को नष्ट करता है।

वक्तव्य—अन्तर्बहिः प्रयोग—खाने पीने में कषाय एवं चूर्ण आदि के रूप में तथा लेपन, सेचन आदि के रूप में प्रयोग—सेवन ॥९१॥

वमन आदि का संकेत—

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्र्यम् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—वात प्रधान कुष्ठों में घृत का पान एवं लेप, कफ प्रधान कुष्ठों में वमन और पित्त प्रधान कुष्ठों में रक्तमोक्षण एवं विरेचन सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ ९२ ॥

इसका फल

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवति तेषाम् ॥ ९३ ॥
दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते शमने ।
स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमतिवर्तते साध्यम् ॥ ९४ ॥

व्याख्या—रक्तमोक्षण द्वारा दूषित रक्त का स्रावण कर देने पर तथा वमन विरेचन द्वारा उदर शुद्धि कर देने पर कुष्ठों पर जो लेप किये जाते हैं उनसे तत्काल या शीघ्र लाभ होता है (अन्यथा नहीं अथवा विलम्ब से लाभ होता है। सत्य यह है कि—वमन आदि द्वारा दोषों को निकाल देने पर, दूषित रक्त निकाल देने पर, इस प्रकार बाहिरी एवं भीतरी दोषों का शमन हो जाने पर तथा समयानुसार स्नेहों का प्रयोग करने पर कोई भी साध्य कुष्ठ अवश्य शान्त हो जाता है ॥ ९३-९४ ॥

संशोधन की आवश्यकता—

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् ।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥ ९५ ॥

पक्षात्पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेया
न्मासान्मासाच्छोधनान्यप्यधस्तात् ।
शुद्धिर्मूर्ध्नि स्यात्त्रिरात्रात्त्रिरात्रात्
षष्ठे षष्ठे मास्यसृङ्मोक्षणं च ॥ ९६ ॥
यो दुर्वान्तो दुर्विरिक्तोऽथवा स्यात्
कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्यतेऽसौ ।
निःसन्देहं यात्यसाध्यत्वमेवं
तस्मात्कृत्स्नान्निर्हरेदस्य दोषान् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—जिस कुष्ठ रोगी के शरीर में दोष-मल अधिक मात्रा में हों उसका बहुत बार शोधन करना चाहिये भले ही वह अत्यन्त कृश एवं दुर्बल हो जाय—केवल प्राण रक्षा का ध्यान रहे क्योंकि एक साथ या एक ही बार दोष निकल जाने पर या अधिक मात्रा में निकल जाने पर दुर्बल रोगी को वायु मार सकता है। अतः—१५-१५ दिन पर वमन देता रहे और १-१ मास पर विरेचन देता रहे, तीन-तीन दिन पर शिरोविरेचन देता रहे और ६-६ मास पर रक्त-मोक्षण करता रहे। इस प्रकार बार-बार शोधन देने से दुर्बलता नहीं आती और दोषों का निर्हरण भी होता रहता है। और जिस रोगी को वमन एवं विरेचन भली-भाँति नहीं होता अथवा कराया नहीं जाता वह रोगी कुपित दोषों से व्याप्त हो जाता है और निःसन्देह "असाध्य"

जाता है इसलिये—उस रोगी के समस्त दोषों को निकाल देना चाहिये ॥ ६५-६७ ॥

कुष्ठ में व्रत आदि का विधान—

व्रतदमयमसेवात्यागशीलाभियोगो
द्विजसुरगुरुपूजा सर्वसत्त्वेषु मैत्री ।
शिवशिवसुतताराभास्कराऽऽराधनानि
प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति ॥ ९८ ॥

व्याख्या—व्रतं (उपवास आदि), दम (उपशम मनःशान्ति), यम (संयम-इन्द्रिय निग्रह), दूसरों की सेवा, त्याग, दान, शील (पवित्र आचरण) का अभियोग—लगन के साथ सेवन, ब्राह्मण, देवता, एवं गुरुजन की सेवा, सभी प्राणियों में मैत्री-प्रेम, शिव, गणेश, तारा-देवी-शक्ति तथा सूर्यदेव का आराधन कुष्ठ को मूलतः नष्ट कर देते हैं क्योंकि उसमें मल एवं पाप ही प्रकट रूप धारण करते हैं और व्रत आदि से पाप का और चिकित्सा से मल-दोष का विनाश हो जाता है ।

वक्तव्य—अष्टांग संग्रह में—"शिव शिवसुत" के स्थान में "जिन जिनसुत" पाठ है । अर्थात् जिन एवं जिन के पुत्र का आराधन । अमरकोश एवं इतिहास जिन (जैन धर्म प्रवर्त्तक) एवं बुद्ध (बौद्ध धर्म प्रवर्त्तक) पृथक् २ मानता है । जो कुछ हो । प्रतीत होता है वाग्भट के समय में जिन के पुत्र का भी आराधन होता था ॥९८॥

इत्यष्टांगहृदये चिकित्सितस्थाने एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

——

विंशोऽध्यायः ।

श्वित्र-कृमिचिकित्सा

अथाऽतः श्वित्रकृमिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब श्वित्ररोग एवं कृमि रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—श्वित्ररोग का वर्णन तथा कृमि रोग का वर्णन निदान अ. १४ में देखिये और श्वित्र का वर्णन च. चि. ७ अ. ७ सु. चि. अ ९ तथा अ. सं. अ. २१ में देखिये ।

श्वित्र की चिकित्सा में शीघ्रता—

कुष्ठादपि बीभत्सं यच्छीघ्रतरं च यात्यसाध्यम् ।
श्वित्रम्, अतस्तच्छान्त्यै यतेत यथा दीप्ते भवने ॥१॥

व्याख्या—श्वित्र रोग—कुष्ठ रोग से भी अधिक बीभत्स-घृणाजनक होता है और शीघ्र ही असाध्य हो जाता है इस लिये उसकी शान्ति का प्रयत्न शीघ्र करे जैसे घर में अग्नि लगने पर किया जाता है ॥१॥

मलयू प्रयोग—

संशोधनं विशेषात्प्रयोजयेत्पूर्वमेव देहस्य ।
श्वित्रे स्रंसनमग्र्यम् मलयूरस इष्यते सगुडः ॥ २ ॥
तं पीत्वाऽभ्यक्ततनुर्यथाबलं सूर्यपादसन्तापम् ।
सेवेत विरिक्ततनुस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत्पेयाम् ॥ ३ ॥
श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान् भिन्द्यात् ।
स्फोटेषु निस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत्त्रिदिनम् ॥४॥
मलयूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य ।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम् ॥ ५ ॥

व्याख्या—श्वित्ररोग में सर्वप्रथम—वमन एवं विरेचन के द्वारा विशेष रूप से शरीर का शोधन करे । इस रोग में —गुडा अर्थात् सेहुण्ड के दूध से मिश्रित मलयूरस प्रधान विरेचन है । इसको पीकर, शरीर पर कटु तैल का अभ्यङ्ग करके यथाशक्ति सूर्य की किरणों के सन्ताप (धूप) का सेवन करे । विरेचन हो जाने पर जब तृषा लगे तब पेया का पान करे । इस विधि से तीन दिन रहे इस प्रकार रहने पर श्वित्र के स्थान पर जो स्फोट (फफोले) उत्पन्न हों उनको बबूर के काण्टों से फोड़ देवे ।

उन फफोलों का जल निकल जाने पर तीन दिन पर्यन्त प्रतिदिन प्रातः काल मलयू, विजयसार, फूलप्रियंगु तथा सौंफ को जल में क्वाथविधि से पका कर अथवा पलाश का पानीयक्षार (क्षारजल) सब मिला कर यथा शक्ति (भर पेट) पीवे ।

वक्तव्य—यहाँ मलयू शब्द का अर्थ बाकुची-बावची तथा गुडा का अर्थ सेहुण्ड श्री अरुणदत्त की सर्वाङ्ग सुन्दर। टीका में किया गया है और यही पाठ चरक में भी है । वहाँ श्रीचक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में मलयू का अर्थ "काको-दुम्बरिका" किया है अर्थात् कठगूलर । यद्यपि निघंटु तथा अमरकोश के अनुसार मलयूनाम काठगूलर का ही है तथापि वाकुची भी उत्तम कोटि की श्वित्र नाशक औषधि है उससे भी स्फोटों की उत्पत्ति होती है । तथा गूलर का भी प्रयोग होता है । इस पाठ के आगे चरक का कथन है कि—यत् च अन्यत् कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तत् शस्तम् ।१६६। अर्थात् इस क्रिया के पश्चात् भी जो २ कुष्ठनाशक योग हैं वे श्वित्र में भी प्रशस्त हैं । फफोलों पर कुछ लगाना नहीं चाहिये वे स्वतः सूख जाते हैं ॥२-५॥

स्फोटोत्पत्ति का अन्य उपाय—

फल्ग्वक्षवृक्षवल्कलनिर्यूहेणेन्दुराजिका कल्कम् ।
पीत्वोष्णस्थितस्य जाते स्फोटे तक्रेण भोजनं निर्लवणम्

व्याख्या—कठगूलर तथा बहेड़ा के वृक्ष की छाल के क्वाथ के साथ बाकुची का कल्क पीकर धूप में बैठ जावे । प्रतिदिन ऐसा करने से जब फफोले उत्पन्न हो जायँ

तब उनको कांटों से फोड़ देवे और भूख लगने पर तक्र के साथ लवण रहित भोजन करे ॥६॥

गोमूत्रासव—

गव्यं मूत्रं चित्रकव्योषयुक्तं
सर्पिःकुम्भे स्थापितं क्षौद्रमिश्रम्।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिभिः पेयमेतत्
कार्यं चास्मै कुष्ठदिष्टं विधानम् ॥७॥

व्याख्या—गौ का मूत्र १ द्रोण, चित्तामूल, सोंठ, मरिच, पीपल का चूर्ण मूत्र का दशमांश तथा मधु १ तो० मिला कर घृतस्निग्ध भाण्ड में धर देवे, १५ दिन पश्चात् सन्धान हो जाने पर श्वित्ररोगी पीवे। और सब आहार विहार आदि कुष्ठ के समान करे ॥७॥

श्वित्रनाशक योग

मार्कवमथवा खादेद् भृष्टं तैलेन लोहपात्रस्थम्।
बीजकशृतं च दुग्धं तदनु पिबेच्छ्वित्रनाशाय ॥८॥

व्याख्या—अथवा भांगरा को लोहपात्र में तैल के साथ छौंक कर (शाक बना कर) खावे और अनुपान में विजयसार के योग से सिद्ध दूध पीवे। श्वित्रनाशार्थ इस का कई दिन सेवन करे ॥७॥

अन्यान्य लेप—

पूतीकाऽर्क व्याधिघातस्नुहीनां
मूत्रैः पिष्टाः पल्लवा जातिजाश्च।
घ्नन्त्यालेपाच्छ्वित्रदुर्नामदद्रू-
पामाकोठान् दुष्टनाडीव्रणांश्च ॥ ९ ॥
द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा
श्वित्रे लेपस्तैलयुक्तो वरिष्ठः।
पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन
क्षारेणाक्तः श्वित्रमेकोऽपि हन्ति ॥१०॥

व्याख्या—पूति करञ्ज के पत्र, आक के पत्र, अमलतास के पत्र, सेहुण्ड के पत्र तथा चमेली के पत्र गोमूत्र में पीस कर लेप करने से—श्वित्र, अर्श, दाद, पामा, कुष्ठ, दुष्ट व्रण तथा नाड़ीव्रण को नष्ट करते हैं। द्वीपि (अर्थात् चित्र काय वाला व्याघ्र-चीता) का चमड़ा जलाकर और तैल में मिला कर श्वित्र पर लेप करे। यह भी उत्तम लेप है। केवल पूति नामक कीड़ा को अमलतास के क्षार के साथ पीस कर लेप करने से श्वित्र का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—पूति कीटः—वर्षाकालोद्भवः पिलिन्दिक इति। लोके प्रसिद्धः। इति सर्वाङ्ग सुन्दरा टीका ॥६-१०॥

भल्लातक लेप—

रात्रौ गोमूत्रे वासितान् जर्जराङ्गान्—
अह्नि च्छायायां शोषयेत्स्फोटहेतून्।
एवं वारांस्त्रींस्तैस्ततः श्लक्ष्णपिष्टैः
स्नुह्याः क्षीरेण श्वित्रनाशाय लेपः ॥ ११ ॥

व्याख्या—भिलावों को दरदरा कूट कर रात्रि में गोमूत्र में भिगो देवे और प्रातःकाल—दिन में छाया में सुखा लेवे। इस प्रकार तीन बार करे तत्पश्चात् सेहुण्ड के दूध में भलीभाँति पीस कर श्वित्रनाशार्थ लेप करे ॥११॥

वक्तव्य—इस लेप से भी छोटी २ फुन्सियाँ उठती हैं और दूषित द्रव निकल जाता है।

अन्यान्य लेप—

अक्षतैलकृतो लेपः कृष्णसर्पोद्भवा मषी।
शिखिपित्तं तथा दग्धं ह्रीबेरं वा तदाप्लुतम् ॥ १२ ॥
कुडवोऽवल्गुजबीजाद्धरितालचतुर्थभागसम्मिश्रः ॥
मूत्रेण गवां पिष्टः सवर्णकरणं परं श्वित्रे ॥ १३ ॥

व्याख्या—काले सर्प की काली भस्म को बहेड़ा के तैल में मिला कर लेप करे, २-मोर के पित्त का लेप करे अथवा—नेत्र वाला की काली भस्म को बहेड़ा के तैल में मिला कर लेप करे। ४-वाकुची का चूर्ण १ कुडव और हरिताल का चूर्ण चौथाई भाग (१ पल) मिलाकर और गोमूत्र के साथ पीस कर श्वित्र पर लेप करे। यह लेप भी उत्तम कोटि का श्वित्र नाशक है। इस से त्वचा का वर्ण स्वस्थ त्वचा के समान हो जाता है।

वक्तव्य—देखा गया है कि वाकुची एवं हरिताल के लेप से भी फफोले उठते है। उनको भी कांटों से फोड़ दिया जाता है ॥१२-१३॥

हाथी की लीद का योग—

क्षारे सुदग्धे गजलिण्डजे च गजस्य मूत्रेण परिस्रुते च।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजानाम्।
श्वित्रं जयेच्चिक्कणतां गतेन तेन प्रलिम्पन्बहुशः प्रघृष्टम्।
कुष्ठं मषं वा तिलकालकं वा
यद्वा व्रणे स्यादधिमांसजातम् ॥१५॥

व्याख्या—हाथी की लीद को जला कर भस्म बनावे और हाथी के मूत्र में घोल कर छान लेवे। यह क्षार द्रव्य १ द्रोण होना चाहिये और उसमें वाकुची के बीज मूत्र का दसवाँ भाग मिला कर भली भाँति पीस लेवे और उसे पकावे। जब पकते २ गाढ़ा हो जाय तब—श्वित्र को उपला से अथवा समुद्र फेन से भली भाँति घिस कर इसका बार २ लेप करे। यह क्षार लेप—कुष्ठ को, मस्सों को, तिलकालक को तथा व्रण में उत्पन्न अधिमांस-मांस वृद्धि को नष्ट करता है ॥१४-१५॥

भल्लातकादि लेप—

भल्लातकद्वीपि सुधार्कमूलं
गुञ्जाफलत्र्यूषणशङ्खचूर्णम्।

तुत्थं सकुष्ठं लवणानि पञ्च
क्षारद्वयं लाङ्गलिकां च पक्त्वा ॥ १६ ॥
स्नुगर्कदुग्धे घनमायसस्थं शलाकया तद्विदधीत लेपम् ।
कुष्ठे किलासे तिलकालकेषु मषेषु दुर्नामसु चर्मकीले ।
शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम् ।
श्वित्रं कस्यचिदेव प्रशाम्यति क्षीणपापस्य ॥ १८ ॥

व्याख्या—भिलावा, चित्ता मूल, सेहुण्ड का मूल, आक का मूल, गुञ्जा के बीज, सोंठ, मरिच, पीपल, शंख भस्म, तूतिया, कूट, पृथक् २ पाँचों लवण, जौखार, सज्जीखार तथा कलिहारी। सब द्रव्य समभाग लेकर सेहुण्ड एवं आक के दूध में पका कर गाढ़ा होने पर लोह के पात्र में धर देवे। इस में से लोह की शलाका द्वारा लेप करे। यह लेप—कुष्ठ, श्वित्र, तिलकालक, अधिमांस (व्रण की मांस वृद्धि), अर्श के अंकुर-मस्से तथा चर्म कील पर किया जाता है। यह स्मरणीय है कि—वमन विरेचन आदि शोधन से, रक्त मोक्षण से और सत्तु आदि रूक्ष भोजनों से किसी का श्वित्र नष्ट होता है वह भी तब जब उस रोगी के पापों का क्षय होता है ॥

वक्तव्य—क्योंकि श्वित्र का कारण-हेतु पाप कर्म है अतः पाप का नाश-क्षय होने पर ही वह शान्त भी होता है। यथा—
वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणं च ।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधिचान्नम् १७७
च. चि अ. ७।
और—यत् च वर्षगणोत्पन्नं तत् श्वित्रं नैव सिध्यति ॥१७५
देखते २ प्रमाद वश कई वर्ष वीत जाने पर वह असाध्य हो जाता है और—साधनं नतु असाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते। (च. सू. अ. १ श्लो.)। उक्तलेपादि से भी कभी २ लाभ होता देखा गया है। सब को लाभ नहीं हो०

अथ कृमि चिकित्सा—

कृमियों का वर्णन नि. अ. १४ में देखिये और च. विमान अ. ७ तथा च. सू. अ. १६ पाठ १३ में, तथा सु. उ. तं अ. ५४ में और अ. सं. अ. २२ में देखिये।

उदरगत कृमियों की चिकित्सा—

स्निग्धस्विन्ने गुडक्षीरमत्स्याद्यैः कृमिणोदरे ।
उत्क्लेशितकृमिकफे शर्वरीं तां सुखोषिते ॥ १९ ॥
सुरसादिगणं मूत्रे क्वाथयित्वाऽर्धवारिणि ।
तं कषायं कणागालकृमिजित्कल्कयोजितम् ॥ २० ॥
सतैलस्वर्जिकाक्षारं युञ्ज्याद्वस्तिं, ततोऽहनि ।
तस्मिन्नेव निरूढं तं पाययेत विरेचनम् ॥ २१ ॥
त्रिवृत्कल्कं फलकणाकषायाऽऽलोडितं ततः ।
ऊर्ध्वाधः शोधिते कुर्यात्पञ्चकोलयुतं क्रमम् ॥ २२ ॥
कटुतिक्तकषायाणां कषायैः परिषेचनम् ।
काले विडङ्गतैलेन ततस्तमनुवासयेत् ॥ २३ ॥

व्याख्या—उदर में कृमि होने पर—स्नेहन एवं स्वेदन के पश्चात् गुड तथा दूध एवं मछली आदि के सेवन से कृमियों तथा कफ को उत्क्लेशित—उदीर्ण करे और उस दिन रोगी को रात्रि में सुखपूर्वक सोने दे। अगले दिन सुरसादि गण (सू. अ. १५) के द्रव्यों को चौगुने गोमूत्र तथा जल में डाल क्वाथ बनावे और उसमें—पीपल, गाल (मैन फल) तथा विडंग का कल्क मिला कर, कटु तैल तथा सज्जी खार मिला कर निरूहणवस्ति दे देवे और फिर निरूहणवस्ति लौट आने पर उसी दिन निसोत के कल्क को मैनफल तथा पीपल के क्वाथ में घोल कर पिला देवे इस प्रकार वमन एवं विरेचन हो जाने पर—उदर शुद्धि हो जाने पर—पंचकोल से मिश्रित पेया एवं विलेपी आदि क्रम (सू. अ. १८) करे। और कटु, तिक्त एवं कषाय रस वाले द्रव्यों के क्वाथ से स्नानादि की व्यवस्था करे। उपयुक्त समय आने पर विडङ्ग तैलका अनुवासन देता रहे।

वक्तव्य—अथैनं कृमिकोष्ठमातुरमग्रे षड्रात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वोभूते एवं संशोधयिता अस्मि संशोधनं पाययितास्मि इति क्षीर दधि गुड तिल मत्स्य अनूप मांस पिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भस्नेहसंप्रयुक्तैः भोज्यैः सायं प्रातश्च उपपादयेत् समुदीरणार्थं कृमीणां कोष्ठाभिसरणार्थं च भिषक्। अथ व्युष्टायां रजन्यां सुखोषितं सुप्रजीर्णं भुक्तं च विज्ञाय आस्थापनवमनविरेचनैः तदहः एव उपपादयेत्, उपपादनीयः चेत् स्यात् सर्वान् परीक्ष्यविशेषान् परीक्ष्य सम्यक् ॥ १६ ॥ प्रत्यागते च पश्चिमे वस्तौ प्रत्याश्वस्तं तदहः एव उभयतो भागहरणं संशोधनं पाययेत् युक्त्या, तस्य विधिः उपदेक्ष्यते—मदनफलपिप्पलीकषायस्य अर्धाञ्जलिमात्रेण त्रिवृत्कल्काऽक्षमात्रमालोड्य पातुमस्मै प्रयच्छेत्, तत् अस्य दोषमुभयतो निर्हरति साधु। अथैनं सम्यक् विरिक्तं विज्ञाय अपराह्णे शैखरिक (अपामार्ग) कषायेण सुखोष्णेन परिषेचयेत्, तेनैव च कषायेण बाह्याऽऽभ्यन्तरान् सर्वोदककार्थान् कारयेत् शश्वत्। तत् अभावे वा कटुतिक्तकषायाणां औषधीनां क्वाथैः मूत्रक्षारैः वा परिषेचयेत्, परिषिक्तं च एन निवातं आगारमनुप्रवेश्य पिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरसिद्धेन यवाग्वादिना क्रमेण उपाचरेत्। विलेप्याः क्रमासतं चैनं अनुवासयेत् विडंगतैलेन एकान्तरं द्विः त्रिः वा। २१ ॥ च. वि. अ. ७ ॥१६-२३॥

शिर के भीतरी कृमियों की चिकित्सा—

शिरोरोगनिषेधोक्तमाचरेन्मूर्धगेष्वनु ।
उद्रिक्ततिक्तकटुकमल्पस्नेहं च भोजनम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—शीर्षाद नामक (शिर के भीतरी भाग को

खाने वाले) कृमियों में शिरोरोग प्रतिषेधाध्याय (उ. तं अ. २४) में कही गई कृमिज शिरोरोग की चिकित्सा करे और उसके अनन्तर अर्थात् कृमि निकल जाने पर अत्यधिक मात्रा में कटु एवं तिक्त द्रव्य मिला और अल्पमात्रा में स्नेह मिलाकर भोजन देवे ॥ २४ ॥

विडंगादि यवागू—

विडङ्गकृष्णामरिचपिप्पलीमूलशिग्रुभिः ।
पिबेत्सस्वर्जिकाक्षारां यवागूं तक्रसाधिताम् ॥ २५ ॥

व्याख्या - वायविडंग, पीपल, मरिच, पीपलामूल तथा सहजन के बीजों के योग से तक्र में सिद्ध की गई यवागू को सज्जी खार मिलाकर पीवे ॥ २५ ॥

सिरस आदि के रस—

रसं शिरीषकिणिही-पारिभद्रक-केम्बुकात् ।
पलाशबीजपत्तूरपूतीकाद्वा पृथक् पिवेत् ॥ २६ ॥
सक्षौद्रं सुरसादीन्वा लिह्यात्क्षौद्रयुतान् पृथक् ।

व्याख्या—सिरस, अपामार्ग, फरहद, केबुक, पलाशबीज, पत्तूर तथा पूतीक के पृथक् २ रस मधु मिलाकर पीवे। अथवा सुरसादि गण (सू. अ. १५) के पृथक् २ द्रव्यों का कल्क मधु मिला कर चाटे ॥

वक्तव्य—पूतीक—पूतिकरञ्ज ॥२६॥

अश्वशकृत् का प्रयोग—

शतकृत्वोऽश्वविट्चूर्णं विडङ्गक्काथभावितम् ॥२७॥
कृमिमान्मधुना लिह्याद्भावितं वा वरारसैः ।

व्याख्या—घोड़ा की लीद के चूर्ण को विडङ्ग के क्काथ की १०० भावना देवे अथवा त्रिफला के क्काथ या स्वरस की १०० भावना देवे। इस चूर्ण की १ कर्ष मात्रा को मधु के साथ मिला कर चाटे ॥

वक्तव्य—अथ अश्वशकृत् आहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्य आतपे शोषयित्वा उदूखले क्षोदयित्वा दृषदि पुनः श्लक्ष्णानि चूर्णानि कारयित्वा विडंगकषायेण त्रिफलाकषायेण वा अष्टकृत्वो दशकृत्वो वा आतपे सुपरिभावितानि भावयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समावाप्य अनुगुप्तं निधापयेत्। तेषां तु चूर्णानां पाणितलं चूर्ण यावत् वा साधु मन्येत तत् क्षौद्रेण संसृज्य कृमिकोष्ठाय लेढुं प्रयच्छेत् ॥ २६ । च. वि. अ. ७ ॥२७॥

प्रधमन नस्य

शिरोगतेषु कृमिषु चूर्णं प्रधमनं च यत् ॥२८॥

व्याख्या—शिरोग—शीर्षाद कृमिरोग में तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण की प्रधमन नस्य देवे ॥

वक्तव्य—अष्टाङ्ग संग्रह में इस श्लोक में "यत्" के स्थान में "तत्" शब्द है और यह पाठ भी शतकृत्वो··· वरारसैः ॥ १२ ॥ के नीचे ही लिखित है अतः यह प्रतीत होता है कि उक्त अश्वपुरीष की ही प्रधमन नस्य देने का विधान किया गया है अस्तु। देखा गया है कि—किसी भी तीक्ष्णनस्य के प्रयोग से कृमि गिरने लगते हैं प्रथम तो नासामार्गों से गिरते हैं और फिर यदि तालु में छिद्र हो जाता है तो उससे गिरते हैं तथा नासा द्वारा कण्ठ में भी कोई २ कृमि गिर जाता है यह दशा बड़ी ही बीभत्स तथा कारुणिक होती है परन्तु—उचित उपचार होते रहने से २–३ दिन में सब कृमि समाप्त हो जाते हैं। और रोगी सदा के लिये स्वस्थ हो जाता है। विशेष देखिये, उ. तं. अ. २४। और भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में यदि पुनः अस्य अति प्रवृद्धान् शीर्षादान् कृमीन् मन्येत शिरसि एव अभिसर्पतः कांश्चित् ततः स्नेहस्वेदाभ्यामस्य शिरः उपपाद्य विरेचयेत् अपामार्ग तण्डुलादिना शिरो विरेचनेन ।२३ च. वि. अ. १७ में देखिये श्लो० २७-१८ ॥२८॥

कृमिरोग में आहार—

आखुपर्णीकिसलयैः सुपिष्टैः पिष्टमिश्रितैः ।
पक्त्वा पूपलिकां खादेद् धान्याऽम्लं च पिबेदनु ।२९
सपञ्चकोललवणमसान्द्रं तक्रमेव वा ।

व्याख्या—अथवा—वेत, भांगरा, तथा सम्भालू के पत्तों के कल्क बनाकर और आटा में सान कर तथा रोटी बनाकर खावे। अथवा—विडंग के चूर्ण से मिश्रित आटा के रोटी आदि भक्ष्य पदार्थ बनाकर खावे और काञ्जी अथवा पीपल आदि का उक्त चूर्ण मिला कर तक्र पीवे ॥ २९ ॥

अन्य आहार—

नीपमार्कवनिर्गुण्डी पल्लवेष्वप्ययं विधिः ॥३०॥
विडङ्गचूर्णमिश्रैर्वा पिष्टैर्भक्ष्यान् प्रकल्पयेत् ।

व्याख्या—अथवा—वेत, भांगरा तथा सम्भालू के पत्तों के कल्क बनाकर और आटा में सानकर तथा रोटी बनाकर खावे। अथवा विडंग के चूर्ण से मिश्रित आटा के रोटी आदि भक्ष्य पदार्थ बनाकर खावे और कांजी अथवा पीपल आदि का उक्त चूर्ण-मिलाकर तक्र पीवे।

वक्तव्य—यस्तु अभ्यवहार्यविधिः प्रकृतिविघाताय उक्तः कृमीणाम्, सोऽनुव्याख्यास्यते—मूषकपर्णीं समूलाग्रप्रतानमाहृत्य खण्डशः छेदयित्वा उलूखले क्षोदयित्वा पाणिभ्यां पीडयित्वा रसं गृह्णीयात् तेन रसेन लोहितशालितण्डुलपिष्टं समालोड्य पूपलिका कृत्वा विधूमेषु अंगारेषु विपाच्य विडंगतैल-लवणोपहिताः कृमिकोष्ठाय भक्षयितुं प्रयच्छेत्, अनन्तरं च अम्लकांजिकमुदश्वित् वा पिप्पल्यादि पञ्चवर्गसंसृष्टं सलवणमनुपाययेत् ॥ २४ ॥

अनेन कल्पेन मार्कवसहचरनीपनिर्गुण्डीसुमुखसुरस-कुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्जकवकुलकुटजसुव-

णंक्षीरीस्वरसानामन्यतमस्मिन् कारयेत् पूपलिकाः, तथा किणिहीकिराततिक्तकसुवहाआमलकहरीतकीबिभीतकस्वरसेषुकारयेत् पूपलिकाः। स्वरसान् च एतेशामेकैकशो द्वन्द्वशः सर्वशो वा मधु विलुलितान् प्रातः अनन्नाय पातुं प्रयच्छेत् ॥ २५ ॥

च. वि. अ. ७ ॥३०॥

भल्लातक तैल आदि—

विडङ्गतण्डुलैर्युक्तमर्धांशैरातपस्थितम् ॥३१॥
दिनमारुष्करं तैलं पाने बस्तौ च योजयेत् ।
सुराह्वसरलस्नेहं पृथगेवं प्रकल्पयेत् ॥३२॥

व्याख्या—भिलावा के तैल में—तैल से अर्द्धभाग परिमित विडङ्ग चूर्ण मिला कर दिन भर धूप में धर देवे। इस तैल का पान में तथा वस्ति में प्रयोग करे। इसी प्रकार देवदारु तथा चीढ़ का तैल निकाल कर और विडङ्ग चूर्ण मिलाकर तथा दिन भर धूप में धर कर तैयार करे ॥

वक्तव्य—भिलावा की गिरियों का तैल निकालना चाहिये, भिलावों का नहीं क्योंकि भिलावा तैल भीषण दाहक होता है। भिलावा का काला रस ही अरुष्कर अर्थात् फुन्सियाँ उत्पन्न करनेवाला होता है। भिलावा की गिरी का तैल विरेचक होता है "तेन साधु विरिच्यते" च० वि० अ० ७ पाठ २७। और देवदारु तथा चीड़ के काष्ठों—सारों का तैल निकालना चाहिये यथा—एवमेव भद्रदारुसरलकाष्ठस्नेहान् उपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत्, अनुवासयेत् च एनं अतः (स्नेहात्) एव अनुवासनकाले ।२८। च० वि० अ० ७। इन दोनों वृक्षों के गोंद का भी तैल बनाया जाता है विधि यह है कि—गोंद में समभाग बालू मिलाकर, तिर्यक्पातन यन्त्र से तैल निकल आता है। यह तैल कृष्णाभ तथा द्रव होता है। भिलावा की गिरियों का तथा देवदारु तथा सरल के काष्ठों का तैल पाताल यन्त्र से निकालने का उपदेश भगवान् पुनर्वसु ने दिया है ॥३१-३२॥

पुरीष कृमि चिकित्सा—

पुरीषजेषु सुतरां दद्याद्वस्तिविरेचने ।

व्याख्या – उक्त सब चिकित्सा के अतिरिक्त—पुरीष गत कृमियों में विशेषतः वस्ति तथा विरेचन का प्रयोग करे ॥

कफजकृमि चिकित्सा—

शिरोविरेकं वमनं शमनं कफजन्मसु ॥३३॥

व्याख्या—कफज कृमियों में विशेपरूप से शिरोविरेचन नस्य का, वमन का तथा निदान परिवर्जन आदि शमन चिकित्सा का प्रयोग करे ॥३३॥

रक्तज कृमिचिकित्सा—

रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात्कुष्ठचिकित्सितात् ।
इन्द्रलुप्तविधिश्चात्र विधेयो रोमभोजिषु ॥३४॥

व्याख्या—रक्तज कृमियों में सब चिकित्सा कुष्ठ के समान करे और रोमभोजी अर्थात् रोमाद एवं रोमविध्वंस नामक कृमियों में इन्द्रलुप्त के समान चिकित्सा करे ॥

वक्तव्य—कुष्ठ चिकित्सा का वर्णन—चि० अ० १६ में देखिये। और इन्द्रलुप्त की चिकित्सा का वर्णन—उ० तं० अ० २४ में देखिये ॥३४॥

कृमि रोग में परिहार—

क्षीराणि मांसानि घृतं गुडं च
दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति ।
समासतोऽम्लान्मधुरान् रसांश्च
कृमीन् जिहासुः परिवर्जयेच्च ॥३५॥

व्याख्या—जो सदा के लिये कृमियों का विनाश चाहता है वह—दूध मांस, घृत, गुड़, दही, पत्तों वाले शाक (पालक आदि पत्र शाक) और अम्ल तथा मधुर पदार्थों का सर्वथा (अथवा मिला कर) परित्याग कर देवे ॥

वक्तव्य—इन पदार्थों का पूर्णरूप से परित्याग नहीं होता और जीवन भर कृमियों की परम्परा जाती नहीं। चिकित्सा करने से बीच में कृमिजनित कष्ट न्यून अवश्य हो जाता है, सर्वथा कृमियों से मुक्ति स्यात् किसी को मिलती हो। बाह्य कृमि व्रणज कृमि तथा शीर्षाद कृमि अवश्य सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। भगवान् पुनर्वसु ने कहा है कि—तत्र सर्वकृमीणामपकर्षण एव आदितः कार्यम्, ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तरं च निदानोक्तानां भावानां (आहारविहाराणाम्) अनुपसेवनम् इति ।१४। तत्र अपकर्षणम्—हस्तेन अभिगृह्य (यूकादीनां) विमृश्य उपकरणवता अपनयनं उपकरणेन, स्थानगतानां तु भेषजेन अपकर्षणं न्यायतः। तत् (अपकर्षणम्) चतुर्विधम्—तद् यथा—१—शिरोविरेचनम् (शिरोगतानां नस्यम्) २—वमनं (आमाशयगतानाम्), ३—विरेचनम् (मलाशयगतानाम्), ४—आस्थापनं च (निरूहणवस्तिः) । इति अपकर्षणविधिः ।१५। प्रकृतिविघातस्तु एषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानाम् द्रव्याणाम् उपभोगः यत् च अन्यत् अपि किञ्चित् श्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तत् स्यात् (सेवनीयम् स्यात्) इति प्रकृतिविघातः।

अनन्तरं निदानोक्तानाम् भावानाम् अनुपसेवनमिति यत् उक्तम् निदानविधौ तस्य विवर्जनं तथ प्रायाणां च अपरेषां द्रव्याणाम् १७।३५।

इत्यष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने विंशोऽध्यायः ॥२०॥

——

एकविंशोऽध्यायः

वातव्याधि चिकित्सा—

अथाऽतो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब वात व्याधियों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे इस सम्बन्ध में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—वात व्याधियों का वर्णन नि स्था. अ. १५ में देखिये—और च. चि. अ. २७-२८ तथा सिद्धि अ. ६ में, सु. चि. अ. ४-५ तथा अ. सं. अ. २३ में देखिये।

वातव्याधियों की सामान्य चिकित्सा—

केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
वायुं, सर्पिर्वसामज्जतैलपानैर्नरं ततः॥ १॥
स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत्पुनः।
यूषैर्ग्राम्यौदकानूप-रसैर्वा स्नेहसंयुतैः॥ २॥
पायसैः कृशरैः साम्ललवणैः सानुवासनैः।
॥तर्पणैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धैः स्नेहयेत्ततः॥३॥
अभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैः सङ्करार्द्यैः पुनः पुनः।

व्याख्या—वातव्याधि में जब केवल वायु विकृत हो और पित्त अथवा कफ का संसर्ग न हो तब सर्व प्रथम स्नेहों से उपचार करे। यथा—घृतपान, वसापान, मज्जापान, अथवा तैलपान का प्रयोग करे। जब अति स्नेह पान के लक्षण (स्नेहोद्वेगः क्लमः आदि सू. अ. १६) उत्पन्न हो जायँ तब स्नेहपान रोक कर और रोगी को आश्वासन देकर पुनः दुग्धपान से स्नेहन करे तथा—यूषों, ग्रामवासी, जलचर एवं अनूपदेशीय प्राणियों के मांस रसों अथवा खीर, खिचड़ी जिसमें अम्लद्रव्य एवं लवण मिला हो तथा अधिक परिमाण में स्नेह मिला हो उनसे स्नेहन करे, अनुवासन वस्तियाँ देवे, वातनाशक, तृप्तिकारक तथा अधिक स्नेहयुक्त अन्नों से उपचार करे अर्थात् उक्त प्रकार से स्नेहन करे। तदनन्तर—भलीभांति अभ्यङ्ग करके स्नेह युक्त शंकर स्वेदों (सू. अ. १७ स्वेद विधि) से बार २ स्वेदन करे॥ १-३॥

स्वेदन का फल—

स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धं सवेदनम्॥४॥
यथेष्टमानमयितुं सुखमेव हि शक्यते।
शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः॥५॥
शक्यं कर्मण्यतां नेतुं किमु गात्राणि जीवताम्।
हर्षतोदरुगायामशोफस्तम्भग्रहादयः॥ ६॥
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते।

व्याख्या—स्नेह का अभ्यङ्ग करके स्वेदन करने पर—टेढ़ा स्तब्ध (कड़ा) वेदनायुक्त अङ्ग इच्छानुसार तथा सुख पूर्वक—सरलता के साथ—नमाया जा सकता है। जब कि—सूखी लकड़ियाँ भी उचित प्रकार से स्नेह एवं स्वेदन करके आवश्यकतानुसार सांधी अथवा टेढ़ी बना कर कर्मोपयोगी बनाई जा सकती हैं तब जीवित प्राणियों के अंगों की बात ही क्या है। इतना ही नहीं स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करने से—हर्ष (सनसनाहट-झुन झुनी), व्यथा (सुई चुभने की सी स्वेदना), रुजा (वेदना), आयाम (तनाव) शोथ, स्तम्भ (जकडन) तथा ग्रह (जैसे कटिग्रह), आदि विविध प्रकार के विकार शान्त हो जाते हैं और अंग अंग तथा त्वचा में मृदुता उत्पन्न हो जाती है॥ ४-६॥

स्नेहन का फल

स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः॥७॥
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणं चाऽस्याभिवर्धयेत्।

व्याख्या—और स्नेहन करने से—सूखी हुई धातुओं की शीघ्रता से पुष्टि हो जाती है, शारीरिक बल, जठराग्नि बल, पुष्टि तथा प्राण (जीवन शक्ति) की वृद्धि होती है॥ ७॥

स्नेहन एवं स्वेदन का फल—

असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्च प्रतिपादयेत्॥ ८॥
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः।

व्याख्या—इस लिये वातव्याधि में बार २ स्नेहन एवं स्वेदन करना चाहिये। ऐसा करने से जब कोष्ठ एवं समस्त शरीर स्निग्ध एवं मृदु हो जाता है तब उस में वात जनित रोग ठहर नहीं सकता॥ ८॥

वातव्याधि में शोधन—

यद्येतेन सदोषत्वात्कर्मणा न प्रशाम्यति॥ ९॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्भेषजैस्तं विशोधयेत्।
घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा॥ १०॥
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम्।
स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः॥११॥
स्रोतो रुद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत्।

व्याख्या - मलदोष होने के कारण यदि—उक्त स्नेहन एवं स्वेदन के द्वारा वातरोग शान्त न हो तो—मृदु तथा स्नेहयुक्त औषधों के द्वारा विरेचन दे देवे। विरेचनार्थ—तिल्वक (लोध) के योग से अथवा सप्तपर्ण के योग से सिद्ध घृत अथवा एरण्ड तैल दूध के साथ पिलाने से मल शोधन हो जाकर कल्याण—आरोग्य लाभ हो जाता है। सत्य यह है कि कभी २ वायु की शान्ति के लिये—प्रयुक्त किये गये—स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा उष्ण आदि आहारों के सेवन से सञ्चित मल अर्थात् पहिले से ही सञ्चित

प्रदोष-स्रोतों को रोक कर वायु को भी रोक रखता है इस लिये वायु का अनुलोमन करने के लिये उक्त प्रकार का विरेचन देवे ॥ ९-११ ॥

मल शोधन के अन्य उपाय—

दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत् ॥ १२ ॥
दीपनैः पाचनीयैर्वा भोज्यैर्वा तद्युतैर्नरम् ।
संशुद्धस्योत्थिते चाऽग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो दुर्बल रोगी विरेचन के योग्य न हो उसे निरूहण वस्तियाँ देवे अथवा—दीपन एवं पाचन तथा विरेचन द्रव्य मिला कर आहार देवे। इस प्रकार इन विरेचनादि उपायों के द्वारा मलशुद्धि हो जाने पर तथा अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर पुनः स्नेहन एवं स्वेदन से लाभ होता है ॥१२-१३॥

आमाशयादि गत वायु की चिकित्सा—

आमाशयगते वायौ वमितप्रतिभोजिते ।
सुखाम्बुना षड्धरणं वचादिं वा प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥
सन्धुक्षितेऽग्नौ परतो विधिः केवलवातिकः ।
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान् बिल्वशलाटुभिः ॥१५॥
वस्तिकर्म त्वधोनाभेः शस्यते चाऽवपीडकः ।
कोष्ठगे क्षारचूर्णाद्या हिताः पाचनदीपनाः ॥१६॥
हृत्स्थे पयः स्थिरासिद्धं शिरोवस्तिः शिरोगते ।
स्नैहिकं नावनं धूमः श्रोत्रादीनां च तर्पणम् ॥१७॥

व्याख्या—आमाशय गत वायु में—प्रथम वमन करना चाहिये और फिर पेया एवं विलेपी आदि द्वारा प्राकृत भोजन पर आ जाने के पश्चात्—षड्धरण चूर्ण का अथवा वचादि गण (सू. अ.१५) के चूर्ण का कोसे जल के साथ प्रयोग करे। इससे अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर वातशामक चिकित्सा करे। नाभि-अन्त्र प्रदेश में वायु कुपित हो तो बिलगिरी के योगसे सिद्ध की गई मछलियों का सेवन करे। नाभि के अधोभाग में वायु कुपित हो तो—निरूहण वस्ति एवं अनुवासन वस्ति का 'कर्म" करे तथा "अवपीडक" स्नेह का प्रयोग करें। समस्त कोष्ठ में वायु कुपित हो तो क्षारीय चूर्णों का-प्रयोग करे जो पाचन भी हों और दीपन भी। हृदय तथा हृदय प्रदेश में वायु कुपित हो तो—शालपर्णी के योग से सिद्ध दूध पीवे। शिर में वायु कुपित हो तो शिरोवस्ति, स्नेहन नस्य, धूमपान तथा कर्ण आदि में तर्पण करे ॥

वक्तव्य—षड्धरण योग—

दार्वी कलिङ्ग कटुकाऽति विषाऽग्नि पाठा
मूत्रेण सूक्ष्म रजसो धरणप्रमाणाः ।
पीता जयन्ति गुदजोदरकुष्ठ मेह-
कोष्ठानिलाऽऽढ्यपवनग्रहणी प्रदोषान् ।
अ. सं. २१ ।

तथा—चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकाऽतिविषाऽभयाः ।
वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥ ४ ॥
सु, चि. अ. ४ ।

वस्तिकर्म—प्राक् स्नेह एक पञ्चाऽन्ते द्वादशाऽऽस्थापनानि च ।
सान्वासनानि कर्मैवं वस्तयः त्रिशदीरिताः ।
सू. अ. १९ ।

अवपीडक—मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम् ।
जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजना द्वयम् ।
अवपीडकमेतत् च संज्ञितं···सू. अ. ४ ।

शिरो वस्ति—इस की विधि देखिये सू. अ. २२ के पाठ में विधिस्तस्य निषण्णस्य···सेवनम्। स्नेहननस्य का वर्णन सू. अ. २० में धूमपान का वर्णन सू. अ. २१ में तथा कर्ण तर्पण का वर्णन-सू. अ. २२ में देखिये ॥१४-१७॥

त्वचा आदि में कुपित वायु की चिकित्सा—

स्वेदाभ्यङ्गानि शस्तानि हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ।
शीताःप्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ॥१८॥
विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च ।
बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्ज-गतं जयेत् ॥ १९ ॥
प्रहर्षोऽन्नं च शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ।
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा तु शुक्रं दद्याद्विरेचनम् । २०॥
विरिक्तं प्रतिभुक्तं च पूर्वोक्तां कारयेत्क्रियाम् ।

व्याख्या—त्वचा में वायु कुपित हो तो—स्वेदन विधियों से स्वेदन करे, अभ्यङ्ग करे, वायुरहित स्थान में निवास करे, और गुरु तथा उष्ण वस्त्र पहिने तथा स्वाद रुचिकर) अन्नों का प्रयोग करे। रक्त धातु में वायु कुपित हो तो—शीतल लेप करे विरेचन तथा रक्त मोक्षण करे। मांस एवं मेदस में वायु कुपित हो तो-विरेचन करे, निरूहण वस्तियों का प्रयोग तथा वातशामक चिकित्सा करे। अस्थि एवं मज्जा में वायु कुपित हो तो स्नेहों का पीने खाने में भीतरी तथा अभ्यङ्ग आदि में बाहिरी प्रयोग करे। और शुक्रधातु में वायु कुपित हो तो मनस् को प्रसन्न करने-रखने का प्रयत्न करे, बल एवं शुक्र के वर्द्धक आहारों का सेवन करे। यदि शुक्र का मार्ग रुका हो तो—विरेचन करे और विरेचन के अनन्तर—पेया आदि के क्रम से प्राकृतिक भोजन पर आ जाने पर—पूर्वोक्त—मनस् को प्रसन्न करनेका प्रयत्न आदि चिकित्सा करे तथा—सू. अ. ४ में कही गई शुक्रोदावर्त्त की चिकित्सा करे ॥ १८-२० ॥

गर्भशोष की चिकित्सा—

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां च विशुष्यताम् ॥२१॥
सिताकाश्मर्यमधुकैः सिद्धमुत्थापने पयः ।

व्याख्या—वात कोप से यदि गर्भ सूख जाय तो अथवा बालक सूख रहा हो तो–गर्भिणी अथवा बालक को मिश्री, गम्भार के फल तथा मुलेठी के योग से सिद्ध दूध देवे २१

स्नायु आदि में कुपित वायु की चिकित्सा—

स्नायुसन्धिसिराप्राप्ते स्नेहदाहोपनाहनम् ॥२२॥
तैलं सङ्कुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ।
आगारधूमलवणतैलैर्लेपः स्रुतेऽसृजि ॥ २३ ॥
सुप्तेऽङ्गे वेष्टयुक्ते तु कर्तव्यमुपनाहनम् ।

व्याख्या—स्नायु, सन्धि तथा सिरा में वायु कुपित हो तो स्नेहन, अग्निकर्म तथा उपनाह स्वेद करे । अंग सिकुड़ रहे हों तो—उरद तथा सैन्धव लवण के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे। पाँव आदि अङ्गों में स्वाद हो तो—पच्छ आदि से रक्त स्नान करने के पश्चात्—गृहधूम, लवण तथा तैल का लेप करे। बाहु प्रकोष्ठ आदि में वेष्टन (ऐण्ठन) हो रहा हो तो उपनाह करे ॥

वक्तव्य—च. चि. अ. २८ में एक अधिक पाठ है—
यथा—बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम् ॥ ९८ ॥

अर्थात्—अंस एवं अंसफलक में वायु कुपित हो तो तैल की नस्य लेवे और भोजन के पश्चात् घृत अथवा तैल का पान करे। और श्रोत्र आदि में वायु कुपित हो तो उनमें वातनाशक तैल आदि डाले, विशेष श्रोत्र आदि के रोगों की चिकित्सा देखिये ।२२–२३॥

अपतानक चिकित्सा—

अथाऽपतानकेनाऽऽर्तमस्रस्ताक्षमवेपनम् ॥२४॥
अस्तब्धमेढ्रमस्वेदं बहिरायामवर्जितम् ।
अखट्वाघातिनं चैनं त्वरितं समुपाचरेत् ॥२५॥
तत्र प्रागेव सुस्निग्धस्विन्नाङ्गैस्तीक्ष्णनावनम् ।
स्रोतोविशुद्धये युञ्ज्यादच्छपानं ततो घृतम् ॥ २६ ॥
विदार्यादिगणक्वाथ दधिक्षीररसैः श्रृतम् ।
नाऽतिमात्रं तथा वायुर्व्याप्नोति सहसैव वा ॥२७॥

व्याख्या—जब तक अपतानक से पीडित रोगी के नेत्र शिथिल न हो गये हों, कम्पन न हो, शिश्न स्तब्ध न रहे, स्वेद न हो, साथ २ बाह्यायाम न हो, वह खटिया पर न पड़ गया हो अर्थात् उठने बैठने में असमर्थ न हो गया हो तब तक उसकी तत्काल-शीघ्राति शीघ्र चिकित्सा करे। इस दशा में सर्व प्रथम—भली भांति स्नेहन करे अर्थात् अभ्यङ्ग करे और सर्वाङ्ग पर स्वेदन करे और शिरः शुद्धि के लिये तीक्ष्ण नस्य देवे तत्पश्चात् इस प्रकार वेग शान्त हो जाने पर—प्रबुद्ध हो जाने पर विदार्यादि गण (सू. अ १५) के क्वाथ, दही, दूध तथा मांस रस के योग से सिद्ध घृत का अच्छ पान (केवल घृत) करावे। ऐसा करने से वायु अधिक भीषण रूप से तथा एकाएकी व्याप्त नहीं होता ॥ २४–२७ ॥

अपतानक में महास्नेह—

कुलत्थयवकोलानि भद्रदार्वादिकं गणम् ।
निःक्वाथ्यानूपमांसं च तेनाम्लैः पयसाऽपि च ॥२८॥
स्वादुस्कन्धप्रतीवापं महास्नेहं विपाचयेत् ।
सेकाभ्यङ्गावगाहान्न-पाननस्यानुवासनैः ॥ २९ ॥
स हन्ति वातं ते ते च स्नेहस्वेदाः सुयोजिताः ।

व्याख्या—कुलथी, जौ, बेर के फल तथा भद्रदार्वादि गण का क्वाथ, अनूपदेशीय प्राणियों का मांसरस, अम्ल दही, दूध तथा मधुर गण का कल्क (सू., अ. १०) और घृत, तैल, वसा तथा मज्जा। सब को मिला कर पाक करे। इस महास्नेह का सेचन, अभ्यङ्ग, अवगाहन, पान, नस्य तथा अनुवासन वस्ति के रूप में प्रयोग करे। यह वायु के रोगों को विशेषतः अपतानक को नष्ट करता है। और अन्यान्य स्नेहों तथा स्वेदों का समीचीन प्रयोग भी लाभ करता है ॥

वक्तव्य—यह योग सुश्रुत का है और वहां इस का नाम "त्रैवृत" है। सु. चि. अ. ५ पाठ १८॥ २८-२९ ॥

अपतानक में अन्य उपचार—

वेगान्तरेषु मूर्धानमसकृच्चास्य रेचयेत् ॥३०॥
अवपीडैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैः श्लेष्मनिबर्हणैः ।
श्वसनासु विमुक्तासु तथा संज्ञां स विन्दति ।
सौवर्चलाभयाव्योषसिद्धं सर्पिश्चलेऽधिके ॥३१॥
पलाष्टकं तिल्वकतो, वरायाः
प्रस्थं, पलाशं गुरुपञ्चमूलम् ।
सैरण्डसिंहीत्रिवृतं घटेऽपां
पक्त्वा पचेत्पादश्रृतेन तेन ॥ ३२
दध्न. पात्रे यावशूकात्त्रिबिल्वैः
सर्पिः प्रस्थं हन्ति तत्सेव्यमानम् ।
दुष्टान्व तानेकसर्वाङ्गसंस्थान्
योनिव्यापद्-गुल्मवर्ध्मोदरं च ॥३३
विधिस्तिल्वकवज्ज्ञेयो शम्पाकाऽशोकयोरपि ।
चिकित्सितमिदं कुर्याच्छुद्धवाताऽपतानके ॥ ३४ ॥
संसृष्टदोषे संसृष्टं चूर्णयित्वा कफान्विते ।
तुम्बुरूण्यभयाहिङ्गुपौष्करं लवणत्रयम् ॥३५॥
यवक्वाथाम्बुना पेयं हृत्पार्श्वार्त्यपतन्त्रके ।
हिङ्गु सौवर्चल शुण्ठीं दाडिमं साम्लवेतसम् ॥३६॥
पिबेद्वा श्लेष्मपवनहृद्रोगोक्तं च शस्यते ।

व्याख्या—अपतानक के वेगों के समय तथा बीच २ में—बार २ तीक्ष्ण नस्य द्वारा शिर का शोधन करते रहना चाहिये। वे नस्य योग—तीक्ष्ण द्रव्यों के अवपीड़ अथवा प्रधमन (देखिये सू. अ. २०) विधि से बनाए तथा दिये जायँ और वे कफ नाशक हों (होते हैं) इन के प्रयोग से स्रोतस् खुल जाते हैं फलतः रोगी संज्ञा (प्रबोध) को प्राप्त कर लेता है। और बार २ संज्ञा नाश नहीं होता। यदि वायु अत्यधिक हो तो—सौचर लवण, हरड़, सोंठ मरिच तथा पीपल के योग से सिद्ध घृत की नस्य देवे तथा उसका सेचन आदि में प्रयोग करे।

तिल्वकघृत—लोध की छाल ८ पल, त्रिफला १ प्रस्थ, महा पञ्चमूल के द्रव्य १–१ पल, एरण्डमूल, बनभण्टा तथा निसोत १–१ पल लेकर १ द्रोण जल में पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे, यह क्वाथ, दही १ आढक, जौखार ३ पल, गोघृत १ प्रस्थ मिलाकर सिद्ध करे। यह—सेक आदि में सेवन करने से—दुष्ट तथा किसी एक अंग में अथवा सर्वांग में व्याप्त वातज रोगों को, योनि व्यापद्, गुल्म, वृद्धि तथा उदर रोग को नष्ट करता है। इसी विधि से लोध के स्थान में अमलतास तथा अशोक की छाल का क्वाथ मिला कर "शम्याक घृत" तथा "अशोक घृत" भी बनाए जाते हैं। यह चिकित्सा—केवल वात जनित अपतानक में करे और पित्त अथवा कफ का संसर्ग होने पर मिला जुला कर चिकित्सा करे। यथा—कफ का संसर्ग होने पर तुम्बुरु (तुम्बुल–तेजबल के बीज), हरड़, घृत भर्जित हींग, पोहकर मूल, सैन्धव लवण, सौवर्चल तथा विड लवण का चूर्ण—जौ के क्वाथ के साथ हृदयशूल, पार्श्वशूल तथा अपतानकरोग में पीवे। इसका नाम—"तुम्बुर्वादि चूर्ण" है अथवा—घृतभर्जित हींग, सौवर्चल लवण, सोंठ, अनार दाना तथा अम्लवेत का चूर्ण—जौ के क्वाथ के साथ पीवे। इस योग का नाम हिंग्वादि चूर्ण है। अपतानक रोग में—कफ जनित एवं वात जनित हृद्रोग की चिकित्सा भी प्रशस्त है॥

वक्तव्य—एतत् तिल्वकसर्पिः स्नेहविरेचनमनिलरोगेषु। न चास्य शोधनार्थं वस्तयः तीक्ष्णाः प्रयोज्याः अ. सं. अ. २३। अभुक्तवता पीतमम्ल दधि भरितववायुक्तमपतानकं हन्ति, तैलसर्पिर्वसा क्षीद्राणि वा सु. चि. अ. ५। अपतानक का ही नाम अपतन्त्रक है—अपतन्त्रकातुरं न अपतर्पयेत्, वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत्, वातश्लेष्मोपरुद्धवासं तीक्ष्णैः प्रध्मापनैः मोक्षयेत्, तुम्बरुपुष्कराह्वहिंगुवम्लवेतसपथ्या लवणत्रयं यवक्वाथेन पातुं प्रयच्छेत्। सु. चि. अ.५ पाठ २१। श्वसनासु विमुक्तासु—श्वसना श्वासवाही फुफ्फुसों एवं हृदय का नाम है, श्वासावरोध दूर होते ही संज्ञा लाभ हो जाता है और रोगी बोलने लगता है। हृदयस्था प्राणवाहिन्यो नाड्यः श्वसनाः कथ्यन्ते। ३०-३६॥

धनुः स्तम्भ का चिकित्सा—

आयामयोरर्दितवद्बाह्याभ्यन्तरयोः क्रिया ॥३७॥
तैलद्रोण्यां च शयनमान्तरोऽत्र सुदुस्तरः।
विवर्णदन्तवदनः स्रस्ताङ्गो नष्टचेतनः ॥३८॥
प्रस्विद्यं च धनुःस्तम्भी दशरात्रं न जीवति।
वेगेष्वतोऽन्यथा जीवेन्मन्देषु विनयोऽथवा ॥३९॥
खञ्जः कुणिः पक्षहतः पङ्गुलो विकलोऽथवा।

व्याख्या—बाह्यायाम तथा आभ्यन्तरायाम में अर्दित रोग के समान (श्लो० ४२) चिकित्सा करे। विशेषतः तैलपूर्ण द्रोणी (टब) में रोगी को लेटा देवे। उक्त दोनों प्रकार के आयामों में अन्तरायाम अत्यन्त कष्टसाध्य होता है। और जिस धनुस्तम्भ (धनुस्तम्भ-बाह्यायाम) में दन्तों एवं मुखका वर्ण विकृत हो जाय,शरीर शिथिल हो जाय, चेतना नष्ट हो जाय, और स्वेद हो रहा हो वह रोगी दस दिन से अधिक जीवित नहीं रहता। यदि इस दशा के विपरीत हो और वेग मन्द हों तो जीवित रह सकता है परन्तु रोगी—विनत (अवनत कुबड़ा), जड़ (बुद्धि हीन), खञ्ज (लंगड़ा), कुणि (लुञ्जा), पक्षाघात से पीड़ित, पंगुल (पिंगला–दोनों टांगों से विकल) अथवा विकल (मूक–गद्गद–मिन्मिन आदि वाणी दोषयुक्त) होकर जीता है ॥३७–३९॥

हनुस्तम्भ की चिकित्सा—

हनुस्रंसे हनूं स्निग्धस्विन्नौ स्वस्थानमानयेत् ॥४०॥
उन्नामयेच्च कुशलश्चिबुकं विवृते मुखे।
नामयेत्संवृते शेषमेकायामवदाचरेत् ॥४१॥

व्याख्या—हनुस्रंस (हनुस्तम्भ) में—हनुओं को स्नेहन (पान एवं अभ्यङ्ग) तथा स्वेदन करके अपने स्थान पर लाने का प्रयत्न करे यथा–मुख खुला रह जाय तो निम्न हनु को कुशलता पूर्वक–धीरे धीरे तथा सीधे ऊपर की ओर उठा देवे और मुख बन्द रहे तो नीचे की ओर लाने का प्रयत्न करे इस प्रकार वह अपने स्थान पर लादी जाय और तत्पश्चात् उसकी पूर्ववत् गति होने के लिये एकायाम अर्थात् अर्दित के समान (श्लो० ४२) चिकित्सा करे॥

वक्तव्य—हनुस्रंसमपि अर्दितवत् चिकित्सेत्, स्वेदयित्वा च हनू स्तब्धौ च स्वस्थानमानीय पाणिभ्यामा पीड्य स्वस्थानमनयेत्)। विवृतास्ये चिबुकं च उन्नामयेत्, संवृतास्ये च नामयेत्। अ. सं. अ. २३। तीक्ष्णनस्य देने से भी तत्काल लाभ हो जाता है ॥४०-४१॥

जिह्वास्तम्भ की चिकित्सा—

जिह्वास्तम्भे यथावस्थं कार्यं वातचिकित्सितम् ।

व्याख्या—जिह्वास्तम्भ में (सन्निपातादि जनित मूकता में) दोषादि की अवस्था के अनुसार वात शामक (कवलग्रह एवं गण्डूष आदि) चिकित्सा करे ॥

वक्तव्य—बालवच का चूर्ण मधु के साथ चाटने से भी लाभ होता है ।

अर्दित की चिकित्सा—

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं श्रोत्राक्षितर्पणम् ॥४२॥

सशोफे वमनं दाहरागयुक्ते सिराव्यधः ।

व्याख्या—अर्दित रोग में स्नेहन एवं लेखन नस्य, शिर पर अभ्यङ्ग, सेक, पिचु तथा शिरोवस्ति के रूप में वात नाशक तैलों का सेवन, कर्ण एवं नेत्र का तर्पण करे । शोथयुक्त अर्दित में वमन करे और दाह एवं राग (लालिमा) से युक्त अर्दित में सिरा वेध करे (शेष वात शामक क्रिया करे ॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—अर्दित में—

नाडीस्वेदोपनाहाश्चाऽप्याऽऽनूपपिशितैः हिताः ॥१००॥

च. चि अ. २८ ॥४२॥

पक्षाघात की चिकित्सा —

स्नेहनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ॥ ३ ॥

व्याख्या—पक्षाघात में—स्नेहन करे (पान एवं अभ्यङ्ग में स्नेह का प्रयोग) तथा एरण्ड तैल आदि से स्निग्ध विरेचन देवे ॥

वक्तव्य—चरक में और किसी २ प्रति में—"स्नेहनं" के स्थान में "स्वेदनं" पाठ है । और इसके आगे किसी २ प्रति में—

माषबला शुक शिम्बी कत्तृण रास्नाऽश्वगन्धोरुबूकाणाम् ।
क्वाथो नस्यनिपीतो रामठलवणान्वितः कोष्णः ।
अपनयति पक्षवातं मन्यास्तम्भं सकर्णनादरुजम् ।
दुर्जयमर्दितवातं सप्ताहात् जयति च अवश्यम् ।

ये दो श्लोक अधिक हैं ॥४३॥

अवबाहुक की चिकित्सा—

अवबाहौ हितं नस्यं स्नेहश्चोत्तरभक्तिकः ।

व्याख्या—अवबाहुक नामक रोग में स्नेहन नस्य तथा भोजन के ऊपर स्नेहपान का प्रयोग करे ।

वक्तव्य—वातशामक अभ्यङ्ग आदि उपचार भी साथ २ करे ॥

ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा—

ऊरुस्तम्भ का वर्णन नि. अ. १५, च. चि. अ. २७, सु. चि. अ. ५ तथा अ. नि, १६ तथा अ. चि. अ. २३ में देखिये ।

ऊरुस्तम्भे न च स्नेहो न च संशोधनं हितम् ॥४४॥
श्लेष्मामभेदोबाहुल्याद्युक्त्या तत्क्षपणान्यतः ।
कुर्याद् रूक्षोपचारश्च यवश्यामाककोद्रवाः ॥४५॥
शाकैरलवणैः शस्ताः, किञ्चित्तैलैर्जलैः शृतैः ।
जाङ्गलैरघृतैर्मांसैर्मध्वम्भोऽरिष्टपायिनः ॥४६॥
वत्सकादिर्हरिद्रादिर्वचादिर्वा ससैन्धवः ।
आमवाते सुखाम्भोभिः पेयः षड्धरणोऽथवा ॥४७॥
लिह्यात्क्षौद्रेण वा श्रेष्ठाचव्यतिक्ताकणाघनान् ।
कल्कं समधु वा चव्यपथ्याऽग्निसुरदारुजम् ॥४८॥
मूत्रैर्वा शीलयेत्पथ्यां गुग्गुलुं गिरिसम्भवम् ।
व्योषाग्निमुस्तत्रिफलाविडङ्गैर्गुग्गुलुं समम् ॥४९॥
खादन् सर्वान् जयेद्व्याधीन् मेदः श्लेष्माऽऽमवातजान् ।
शाम्यत्येवं कफाक्रान्तः समेदस्क प्रभञ्जनः ॥ ५० ॥
क्षारमूत्रान्वितान् स्वेदान् सेकानुद्वर्तनानि च ।
कुर्याद् दिह्याच्च मूत्राढ्यैः करञ्जफलसर्षपैः ॥५१॥
मूलैर्वाऽप्यर्कतर्कारीनिम्बजैः ससुराह्वयैः ।
सक्षौद्रसर्षपाऽपक-लोष्ट्रवल्मीकमृत्तिकैः ॥५२॥
कफक्षयार्थं व्यायामे सह्ये चैनं प्रवर्तयेत् ।
स्थलान्युल्लङ्घयेन्नारीः शक्तितः परिशीलयेत् ॥५३॥
स्थिरतोयं सरः क्षेमं प्रतिस्रोतो नदीं तरेत् ।
श्लेष्ममेदः क्षये चाऽत्र स्नेहादाववचारयेत् ॥५४॥

व्याख्या—ऊरुस्तम्भ में—कफ, आमदोष तथा मेदस् की अधिकता के कारण न स्नेहन (पान अनुवासन बस्ति एवं अभ्यङ्ग) लाभप्रद होता है और न संशोधन अर्थात् वमन, विरेचन तथा निरूहण बस्ति लाभप्रद होते हैं । इसलिये कफ, आमदोष तथा मेदस् का क्षय करने वाले उपचारों का प्रयोग युक्तिपूर्वक करे । यथा—रूक्ष उपचार—आहार विहार करे और जौ, सामा तथा कोदों की रोटी एवं भात—लवण रहित शाकों के साथ खावे और शाक भी—थोड़ा सा तैल तथा पर्याप्त जल में पकावे अथवा घृत रहित जांगल प्राणियों के मांस रस के साथ खावे और मधु मिलाकर जल पीवे तथा उपयुक्त अरिष्टों का पान करे । आढ्यवात अर्थात् ऊरुस्तम्भ में—वत्सकादि गण, हरिद्रादि गण अथवा वचादि गण का (सू० अ० १५) चूर्ण सैन्धव लवण मिलाकर कोसे जल के साथ पीवे । अथवा षड्धरण योग का चूर्ण कोसे जल के साथ पीवे (षड्धरण योग श्लो० १५ के वक्तव्य में देखिये)। अथवा—हरड़, बहेड़ा, आमला, चव्य, कुटकी, पीपल तथा नागरमोथा का चूर्ण मधु के साथ चाटे । अथवा—चव्य, हरड़, चित्ता तथा देवदारु का कल्क मधु मिलाकर चाटे । अथवा—हरड़ का अथवा गुग्गुल का अथवा शिलाजीत का गोमूत्र के साथ सेवन करे । अथवा—सोंठ, मरिच, पीपल,

चित्तामूल, मोथा, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा वायविड़ंग का चूर्ण १-१ भाग, शुद्ध गूगल ६ भाग मिलाकर एरण्ड तेल के योग से कूटकर रख लेवे और उसे गोमूत्र आदि उपयुक्त अनुपान के साथ खाता रहे। इससे मेदस्, कफ तथा आमवात के संयोग (ऊरुस्तम्भ) से उत्पन्न सब विकारों पर विजय प्राप्त होती है। इन सब उपचारों से—कफ से आवृत तथा मेदस् से युक्त वायु शान्त हो जाता है। और साथ २ क्षार एवं गोमूत्र से युक्त द्रव्यों के द्वारा स्वेदन, सेचन तथा उबटन करे और मूत्रयुक्त करंज बीज तथा सरसों का अथवा—आक की जड़, अरणी की जड़, निम्ब की जड़, देवदारु का गोंद, मधु, सरसों, कुछ पकी मिट्टी तथा बाम्बी की मिट्टी का मोटा लेप करे (और उबटन भी करे। कफक्षय के लिये—रोगी यथाशक्ति व्यायाम में प्रवृत्त रहे—थोड़ा बहुत व्यायाम करना प्रारम्भ करे। तथा ऊँचे स्थानों पर चढ़ने का प्रयत्न किया करे और शक्ति के अनुसार मैथुन करे। मगर आदि से रहित तथा स्थिर जल वाले जलाशयों में तैरे और नदी का जल जिस ओर से आ रहा हो उस ओर को तैरने का प्रयत्न करे। इस प्रकार कफ एवं मेदस् का क्षय हो जाने पर आवश्यकतानुसार अवशिष्ट वायु की शान्ति के लिये स्नेह आदि का प्रयोग करे ॥४४-५४॥

शेष वातजरोगों की चिकित्सा—

स्थानदूष्यादि वाऽऽलोच्य कार्या शेषेष्वपि क्रिया।

व्याख्या—इनसे अतिरिक्त वातव्याधियों में—आमाशय आदि स्थानों का, रस रक्त आदि दूष्यों का तथा पित्त आदि के संसर्ग का विचार करके उचित चिकित्सा करनी चाहिये॥

सहचरादि क्वाथ—

सहचरं सुरदारु सनागरं
कथितमम्भसि तैलविमिश्रितम्।
पवनपीडितदेहगतिं पिबेद्
द्रुतविलम्बितगो भवतीच्छया ॥५५॥

व्याख्या—कटसरैया, देवदारु तथा सोंठ को आठगुने जल में क्वाथ बनाकर तथा उसमें तैल मिलाकर पीवे तो वायु के प्रकोप से अवरुद्ध गतिवाला (ऊरुस्तम्भ से पीड़ित) रोगी अपनी आवश्यकतानुसार द्रुतविलम्बित-गामी—शीघ्रगामी तथा विलम्बगामी हो जाता है॥

वक्तव्य—आचार्य वाग्भट का संस्कृत भाषा पर कितना बड़ा अधिकार था वह इस श्लोक से प्रमाणित हो जाता है। इसमें आपने "द्रुतविलम्बित" छन्द का उपयोग कितने अच्छे ढंग से किया है। पाठक विचार करें। तात्पर्य यह है कि इस क्वाथ के सेवन से रोगी शीघ्र भी चल सकता है और धीरे २ भी अर्थात् इच्छानुसार चलने में समर्थ हो जाता है॥५५॥

रास्नादि घृत—

रास्ना-महौषध द्वीपिपिप्पली-शठि-पौष्करम्।
पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिर्वातरोगहरं परम् ॥५६॥

व्याख्या—रासना, सोंठ, चित्तामूल, पीपल, कचूर तथा पोहकरमूल के कल्क के योग से सिद्ध घृत वातरोग नाशक होता है॥ ५६ ॥

निम्बादि घृत—

निम्बामृतावृषपटोलनिदिग्धिकानां
भागान् पृथग्दश पलान् विपचेद्घटेऽपाम्।
अष्टांशशेषितरसेन पुनश्च तेन
प्रस्थं घृतस्य विपचेत्पिचुभासकल्कैः ॥ ५७ ॥
पाठां विडङ्गसुरदारुगजोपकुल्या
द्विक्षारनागरनिशामिशिचव्यकुष्ठैः।
तेजोवतीमरिचवत्सकदीप्यकाग्नि
रोहिण्यरुष्करवचाकणमूलयुक्तैः ॥५८॥
मञ्जिष्ठयाऽतिविषया विषया यवान्य-
संशुद्धगुग्गुलुपलैरपि पञ्चसंख्यैः।
तत्सेवितं प्रधमति प्रबलं समीरं
सन्ध्यस्थिमज्जगतमप्यथ कुष्ठमीदृक् ॥५९॥
नाडीव्रणार्बुदभगन्दरगण्डमाला-
जत्रूर्ध्वसर्वगदगुल्मगुदोत्थमेहान्।
यक्ष्माऽरुचिश्वसनपीनसकासशोफ-
हृत्पाण्डुरोगमदविद्रधिवातरक्तम् ॥६०॥

व्याख्या—निम्ब की छाल, गिलोय, अडूसा, परवल के पत्र तथा कण्टकारी १०-१० लेकर एक द्रोण जल में पाक करे अष्टमांश अवशिष्ट रहने पर उसके योग से १ प्रस्थ गोघृत—तथा—पाठा, विडङ्ग, देवदारु, गजपीपल, जौखार, सज्जीखार, सोंठ, हल्दी, सौंफ, चव्य, कुठ, तेजबल की छाल या बीज, मरिच, कुरैया की छाल, अजवायन, चित्तामूल, कुटकी, भिलावा, बालवच, पीपल, पीपलामूल, युक्ता (रासना), मजीठ, अतीस, द्रवन्ती मूल तथा अजमोद १-१ कर्ष लेकर कल्क बना कर तथा शुद्ध गूगल ५ पल मिला कर पाक करे। यह घृत सेवन करने से—सन्धियों, अस्थियों तथा मज्जा में व्याप्त प्रबल बायु को तथा इस प्रकार के कुष्ठ को और नाडीव्रण, अर्बुद भगन्दर, गण्डमाला, जत्रु से ऊपर के सब रोगों को, गुल्म, अर्श, प्रमेह, राजयक्ष्मा, अरुचि, श्वास, पीनस, कास, शोथ, हृद्रोग, पाण्डुरोग, मदजनितरोग, विद्रधि तथा वातरक्त को नष्ट करता है॥

वक्तव्य यहाँ राजनिघण्टु के अनुसार "विषा" का अर्थ दन्ती का भेद "द्रवन्ती" किया गया है, यद्यपि उ. तं. अ. ५ के "दधितगर······ग्रहघ्नं परम्" श्लोक की टीका में

"विषा" का अर्थ काकोली किया है। टीकाकार श्री इन्दु के कथनानुसार "युक्ता—रास्ना" युक्ता का अर्थ रासना किया गया है। विषा अतीस का नाम भी है। ये सब द्रव्य वात नाशक हैं ॥५७-६०॥

शिरोगत वायु की चिकित्सा—

बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत्।
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं वाते शिरोगते ॥६१॥

व्याख्या—बलामूल एवं बिलगिरी के योग से पक्व दूध में घृतमण्ड का पाक। इस घृत की १ शुक्ति (२कर्ष) अथवा प्रकुञ्च (४ कर्ष) का (कई दिन पर्यन्त) नस्य में प्रयोग—शिरोगत वायु में करे ॥६१॥

बसाप्रयोग—

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा।
विशेषेण प्रयोक्तव्या केवले मातरिश्वनि ॥६२॥

व्याख्या—इसी प्रकार—बलामूल एवं बिल्वगिरि के योग से सिद्ध दूध के योग से सिद्ध-नक्र (कुंभीर), मछली, कछुवा तथा शिशुमार (जलजन्तु-सुसिंह) की बसा केवल वात में प्रयुक्त करे ॥

वक्तव्य—च. चि. अ. २८ में इस श्लोक का उत्तरार्द्ध है—प्रत्यग्रा विधिनाऽनेन नस्यपानेषु शस्यते। १२९॥ अर्थात् उक्त बसा का प्रयोग नस्य एवं पानमें प्रशस्त है ॥६२॥

जीर्ण पिण्याकादि तैल—

जीर्णं पिण्याकं पञ्चमूलं पृथक् च
क्वाथ्यं क्वाथाभ्यामेकतस्तैलमाभ्याम्।
क्षीरादष्टांशं पाचयेत्तेन पानाद्
वाता नश्येयुः श्लेष्मयुक्ता विशेषात् ॥६३॥

व्याख्या—पुरानी खली तथा पञ्चमूल का पृथक् २ क्वाथ करे, इन क्वाथों से एक एक में तैल मिला कर और तैल से अष्टांश दूध मिलाकर पाक करे। इस तैल के पान से-कफावृत वायु विशेष रूप से नष्ट हो जाते हैं ॥

वक्तव्य—चरक में-दोनों क्वाथों में आठ गुना दूध मिला कर १ प्रस्थ तैल पकाने का विधान है। च. चि. अ. २८ श्लो० १३८—१३९ देखें ॥६३॥

प्रसारणी तैल—

प्रसारिणीतुलाक्वाथे तैलप्रस्थं पयःसमम्।
द्विमेदामिशिमञ्जिष्ठाकुष्ठरास्नाकुचन्दनैः ॥६४॥
जीवकर्षभकाकोली-युगलाऽमरदारुभिः।
कल्कितैर्विपचेत्सर्वमारुतामयनाशनम् ॥६५॥

व्याख्या—प्रसारणी का क्वाथ (१ तुला प्रसारणी को आठ गुने जल में बनाया गया अष्टमांश क्वाथ), १ प्रस्थ, दूध १ प्रस्थ, मेदा, महामेदा, सौंफ, मञ्जीठ, कुठ, रासना, लाल चन्दन, जीवक. ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली; तथा देवदारु का कल्क १ कुडव मिलाकर पाक करे। यह तैल वायु के सभी रोगों को नष्ट करता है ॥६४-६५॥

सहाचरादि तैल—

समूलशाखस्य सहाचरस्य तुलां समेतां दशमूलतश्च।
पलानि पञ्चाशदभीरुतश्च पादावशेषं विपचेद्वहेऽपाम् ॥६६॥
तत्र सेव्यनखकुष्ठहिमैला-
स्पृक्प्रियङ्गुनलिकाऽम्बुशिलाजैः।
लोहिता-नलद-लोहसुराह्वः
कोपना-मिसि-तुरुष्कनतैश्च ॥६७॥
तुल्यं क्षीरं पालिकैस्तैलपात्रं
सिद्धं कृच्छ्रान् शीलितं हन्ति वातान्।
कम्पाक्षेपस्तम्भशोषादियुक्तान्
गुल्मोन्मादौ पीनसं योनिरोगान् ॥६८॥

व्याख्या—कटसरैया का मूल एवं शाखा १ तुला, दशमूल १ तुला (१०० पल), शतावर ५० पल लेकर कूट लेवे और ४ द्रोण जल में क्वाथ करे, चौथाई रहने पर छान लेवे। उसमें—खस, नख (नाखूना नामक गन्ध द्रव्य), कुठ, श्वेत चन्दन (अथवा कपूर), बड़ी इलायची, मञ्जीठ, नलद (जटामांसी) अगरु, कोपना (चण्डा) सौंफ (या सोया) तुरुष्क (लोबान) तथा तिल तैल १ आढक मिला कर सिद्ध करे। सेवन करने से यह तैल—कष्टसाध्य वातजनित रोगों को जो कम्प, आक्षेपक, स्तम्भ तथा शोष। (मांस पेशी शोष) से युक्त तथा गुल्म, उन्माद, पीनस तथा योनि रोगों को नष्ट करता है ॥ ६६-६८ ॥

सहाचरादि तैल (द्वितीय)

सहाचरतुलायास्तु रसे तैलाढकं पचेत्।
मूलकल्काद्दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणम् ॥६९॥
अथवा नत-षड्ग्रन्थास्थिरा-कुष्ठ-सुराह्वयान्।
सैलानलदशैलेय-शताह्वारक्तचन्दनान् ॥७०॥
सिद्धेऽस्मिन् शर्कराचूर्णादष्टादशपलं क्षिपेत्।
भेडस्य सम्मतं तैलं तत्कृच्छ्रानिलामयान् ॥७१॥
वातकुण्डलिकोन्माद-गुल्मवर्ध्मादिकान् जयेत्।

व्याख्या—कट सरैया की जड़ तथा शाखा का स्वरस १ तुला (१०० पल); तिल तैल १ आढक (६४ पल) कट सरैया की जड़ का कल्क १० पल, गो दूध ४ आढक मिलाकर तैल सिद्ध करे अथवा—तगर, बालवच, शाल पर्णी, कुठ, देवदारु, इलायची, नलद, शरीला, सौंफ (अथवा शतावर) तथा रक्तचन्दन का कल्क १ प्रस्थ मिलाकर तैल सिद्ध करे। और सिद्ध हो जाने पर उसमें खण्ड १८ पल मिला देवे। यह महर्षि भेल का कहा—

माना हुआ तैल है। कष्ट साध्य बात रोगों और वात कुण्डलिका (मूत्राघात विशेष), उन्माद, तथा वृद्धि आदि रोगों पर विजय प्राप्त करता है ॥६९-७१॥

बलातैल—

बलाशतं छिन्नरुहा-पादं रास्नाष्टभागिकम् ॥७२॥
जलाढकशते पक्त्वा शतभागस्थिते रसे।
दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तस्तैलाढकं समैः ॥७३॥
पचेत्साजपयोर्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः।
शठीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः ॥७४॥
पद्मकातिबलामुस्ताशूर्पपर्णीहरेणुभिः।
यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्र-नखर्षभकजीवकैः ॥७५॥
पलाशरसकस्तूरी-नीलिकाजातिकोशकैः।
स्पृक्काकुङ्कुमशैलेय-जातिका कटूफलाबुभिः ॥७६॥
त्वक्कुन्दरुक-कर्पूर-तुरुष्कश्रीनिवासकैः।
लवङ्गनखकङ्कोल-कुष्टमांसीप्रियङ्गुभिः ॥७७॥
स्थौणेयतगरध्याम–वचामदनकप्लवैः।
सनागकेसरैः सिद्धे दद्याच्चाऽत्रावतारिते ॥७८॥
पत्रकल्कं ततः पूर्तविधिना तत्प्रयोजितम्।
कासश्वासज्वरच्छर्दि–मूर्च्छागुल्मक्षतक्षयान् ॥७९॥
प्लीहशोषमपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत्।
बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ॥८०॥

व्याख्या—बलामूल १०० पल, गिलोय २५ पल, रासना १२॥ पल लेकर १०० आढक जल में पकावे, सौवाँ भाग (एक आढक) रहजाने पर छान लेवे और उसमें—दही, दही का पानी, ईखका रस, शिरका तथा तैल १-१ आढक, बकरी का दूध आधा आढक (२ प्रस्थ) तथा—कचूर, चीढ का बुरादा, दारु हल्दी की छाल, इलायची, मञ्जीठ, अगुरु. लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, अतिफला, मोथा, मासपर्णी, मुद्गपर्णी, हरेणु, मुलेठी, तुलसी, नख, ऋषभक जीवक, पलाश का गोन्द, कस्तूरी, नलिका, जावित्री, असवर्ग, केशर, शरीला, जायफल, कायफल . या कटूफल- लता कस्तूरी), नेत्र बाला, दालचीनी, कुन्दरू गोन्द, कपूर, तुरुष्क (लोवान) गन्धा विरोजा, लवंग, छोटा नख (नख दो प्रकार का होता है – १—छोटा २— बड़ा, यह छोटे पौदों की कलियाँ हैं जो सिंह के नख के सदृश मुड़ी हुई होती हैं।) शीतल चीनी, कुठ, जटामांसी, प्रियंगु, थुनेर, तगर, सुगन्धी तृण, बालबच, मोम, सुगन्धी मोथा तथा नागकेसर का कल्क १—१ पल मिला कर तैल सिद्ध करे। सिद्ध होजाने पर उतार कर तैल को छान कर "पत्रकल्क" मिला देवे। यह बला तैल —विधि पूर्वक—पान एवं नस्य आदि के विधान से—कास, श्वास, ज्वर, छर्दि, मूर्च्छा, गुल्म, क्षत (उरः क्षत आदि क्षय), क्षय, प्लीहविकार, शोष, अपस्मार तथा कान्तिहीनता को नष्ट करता है और उत्तम कोटि का वातव्याधिनाशक है॥

वक्तव्य—पत्र कल्क—यह बला तैल च. चि. अ. ६ से उद्धृत किया गया है, इसमें कुछ २ पाठभेद भी है। और इस पाठ की टीका में श्री चक्रपाणि ने लिखा है कि— पत्रकल्कमिति। सुगन्धत्वात् अस्य तैलस्य, गन्धशास्त्र- परिभाषया पत्रकल्को देयः इत्युच्यते, गन्धशास्त्रे च—चूर्ण- स्वरसपुटाणां सिद्धशीतेऽवतारिते। दीयते गन्धवृद्धयर्थं पत्रकल्को मनीषिभिः इति। तेन अत्र कर्पूरादि "पत्रकल्को" अवतारिते एव देयः ॥१५१॥ तात्पर्य यह है कि "पत्रकल्क" गन्धशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, तैलों में जहाँ पत्रकल्क का विधान हो वहाँ सुगन्धि द्रव्यों का नाम "पत्रकल्क" है और वह पाक के पश्चात् उतार लेने पर कोसे २ तैल में डालना चाहिये अन्यथा अर्थात् साथ में पकाने में उनकी गन्ध उड़ जाती है और गन्धद्रव्यों का सार वस्तुतः गन्ध ही है। शीतल या अपक्व तैल में भी सुगन्धि के लिये "पत्रकल्क" डाला जाता है और डाल कर धूप में ५—७ दिन धर दिया जाता है इस प्रकार पत्रकल्क की गन्ध एवं गुण तैल में आ जाते हैं ॥७२-८०॥

उक्त सब स्नेहों का उपयोग—

पाने नस्येऽन्वासनेऽभ्यञ्जने च
स्नेहाः काले सम्यगेते प्रयुक्ताः।
दुष्टान्वातानाशु शान्तिं नयेयु-
र्वन्ध्या नारीः पुत्रभाजश्च कुर्युः ॥८१॥

व्याख्या—उक्त सब स्नेह –पान में (पीने में), नस्य में, अनुवासन वस्ति में तथा अभ्यङ्ग में—समय २ पर भली भाँति—विधि पूर्वक प्रयुक्त करने पर दुष्ट वात- जनित रोगों को शान्त कर देते हैं और बन्ध्या नारियों को पुत्रवती—सन्तानवती कर देते हैं ॥८१॥

वस्तियों का प्रयोग—

स्नेहस्वेदैर्द्रुतः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः।
पित्तं वा दर्शयेद्रूपं वस्तिभिस्तं विनिर्जयेत् ॥८२॥

व्याख्या—स्नेहनों एवं स्वेदनों के प्रभाव से पिघल कर जब कफ अथवा पित्त पक्वाशय में स्थित हो जाते हैं और अपने २ लक्षण दिखाते हैं तब उनको—उस उस को वस्तियों द्वारा जीतना—शान्त करना चाहिये॥

वक्तव्य—वायु के आवरणों की चिकित्सा आगे अ. २२ में देखिये ॥८२॥

इति अष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

वातरक्त चिकित्सा—

अथाऽतो वातशोणितचिकित्सितं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब वातरक्त की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस रोग का वर्णन—नि० अ० १६ में च० चि० अ० २६, सु० चि० अ० ५, अ० सं० अ० २४ में देखिये।

वातरक्त में रक्तस्रावण—

वातशोणितिनो रक्तं स्निग्धस्य बहुशो हरेत्।
अल्पाल्पं पालयन् वायुं यथादोषं यथाबलम् ॥१॥
रुग्रागतोददाहेषु जलौकोभिर्विनिर्हरेत्।
शृङ्गतुम्बैश्चिमिचिमाकण्डूरुग्दूयनान्वितम् ॥२॥
प्रच्छानेन सिराभिर्वा देशाद्देशान्तरं व्रजेत्।

व्याख्या—वातरक्त वाले का स्नेहन करके—अनेक बार, थोड़ा थोड़ा, वायु की रक्षा करते हुए—उसके कोप को बचाते हुए, पित्त एवं कफ के अनुसार, रोग एवं रोगी के बल के अनुसार रक्त निकालना चाहिये। वेदना, लालिमा, व्यथा तथा दाह रहने पर जोंक लगाकर रक्त निकाले। चिमचिमाहट-चुनचुनाहट, कण्डू, वेदना तथा दाह रहने पर—सिंगी तथा तुम्बी लगाकर रक्त निकालना चाहिये। जो वातरक्त एक स्थान से दूसरे स्थान में फैल रहा हो (उसमें)—पच्छ लगाकर अथवा शिरावेध करके रक्त निकालना चाहिये।

वक्तव्य—रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः।
निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिः हरेत् असून् ॥३५॥
अतः रक्तस्रावण आवश्यक है। च० चि० अ० २६ ॥१७२॥

रक्तस्राव का निषेध—

अङ्गग्लानौ तु न स्राव्यं रूक्षं वातोत्तरं च यत् ॥३॥
गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पस्नायुसिरामयान्।
ग्लानिमन्यांश्च वातोत्थान् कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥४॥

व्याख्या—परन्तु शरीर की कृशता एवं शिथिलता में तथा वातप्रधान वातरक्त में तथा रूक्ष शरीर में रक्तस्राव नहीं करना चाहिये। कारण—इस दशा में रक्त का क्षय हो जाने से—गम्भीर शोथ, स्तब्धता, कम्पन, स्नायु एवं सिरा के वातरोग, कृशता तथा अन्यान्य वातज रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वक्तव्य—खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युञ्चात्यवसेचनात्।
कुर्यात् तस्मात् प्रमाणेन स्निग्धात् रक्तं विनिर्हरेत् ॥ ४० ॥
रक्त स्रावण की विधि सू. अ. २७ में देखिये ॥३-४॥

वातरक्त में विरेचन—

विरेच्यः स्नेहयित्वा तु स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।

व्याख्या—वातरक्त रोग में यदि विरेचन देना हो तो प्रथम—स्नेहन करके स्नेह युक्त ही विरेचन देना चाहिये।

वक्तव्य—अथवा श्रीपुनर्वसु के शब्दों में—

रूक्षैः वा मृदुभिः शस्तमसकृत् वस्तिकर्म च ॥ ४१ ॥
सेकाऽभ्यङ्गप्रदेहाऽन्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते''' । च. चि. अ. २६ ।

वातप्रधान वातरक्त की चिकित्सा—

वातोत्तरे वातरक्ते पुराणं पाययेद्घृतम् ॥ ५ ॥
श्रावणीक्षीरकाकोलीक्षीरिणीजीवकैः समः।
सिद्धं सर्षपकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥ ६ ॥
द्राक्षामधूकवारिभ्यां सिद्धं वाससितोपलम्।
घृतं पिबेत्तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥ ७ ॥
तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्छितम्।
बलाशतावरीरास्ना-दशमूलैः सपीलुभिः ॥ ८ ॥
श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः।
धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम् ॥ ९ ॥

व्याख्या—वातप्रधान वातरक्त में—स्नेहनार्थ—पुरातन घृत पिलावे। श्रावणी घृत—गोरखमुण्डी, क्षीरकाकोली, दुग्धिका, जीवक, ऋषभक समान भाग लेकर कल्क करे। कल्क से चतुर्गुण गोघृत तथा घृत के समान भाग गोदुग्ध मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत भी वातरक्त नाशक है। अन्यान्य योग—दाख एवं महुवा के फूलों के क्वाथ से सिद्ध घृत में मिश्री मिलाकर पीवे। तथा—गिलोय के स्वरस में पकाया गया गोदुग्ध मिश्री मिला कर पीवे। अथवा—तिलतैल, दूध तथा खण्ड मिला कर पीवे। अथवा—बलामूल, शतावर, रासना, दशमूल के १० द्रव्य, पीलु के फल, काली निसोत (या कृष्ण सारिवा) एरण्ड मूल तथा शालपर्णी के योग से पक्व दूध वातरक्त-नाशक होता है।

अथवा—धारोष्ण दूध गोमूत्र मिला कर पीने से—दोषों—मलों का अनुलोमन—रेचन होता है ॥ ५-९ ॥

पित्तप्रधान वातरक्त की चिकित्सा—

पैत्ते पक्त्वा वरीतिक्तापटोलत्रिफलाऽमृताः।
पिबेद्घृतं वा क्षीरं वा स्वादुतिक्तकसाधितम् ॥ १० ॥
क्षीरेणैरण्डतैलं च प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरोदनाशनः ॥ ११ ॥
कषायमभयानां वा पाययेद्घृतभर्जितम्।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा ॥ १२ ॥
निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरबस्तिभिः।
नहि बस्तिसमं किञ्चिद्वातरक्तचिकित्सितम् ॥ १३ ॥

विशेषात्पायुपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु ।

व्याख्या—पित्तप्रधान वातरक्त में शतावर कुटकी, परवल के पत्र, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा गिलोय का क्वाथ पीवे, अथवा इनके योग से सिद्ध घृत पीवे। अथवा—मधुर एवं तिल द्रव्यों के योग से सिद्ध किया गया दूध पीवे। अथवा—अधिक दोषों—मलों वाला रोगी विरेचन के लिये—दूध के साथ एरण्ड तेल निरन्तर पीता रहे, विरेचन के पश्चात् दूध के साथ भात का भोजन करे। अथवा—हरडों का कषाय (स्वरस, कल्क, फाण्ट, हिम अथवा क्वाथ) घृत में छौंक कर पीवे। अथवा—निसोत का चूर्ण दूध के साथ अथवा दाख (अंगूर-मुनका) के रस के साथ पीवे। ये सब योग विरेचन हैं। अथवा—घृत मिश्रित दूध की निरूह वस्तियों द्वारा रोगी के मल—पुरीष मिश्रित दोष को निकालता रहे। क्योंकि वस्ति के समान वातरक्त की अन्य कोई चिकित्सा विधि नहीं है (वस्ति ही सर्व श्रेष्ठ है) विशेषतः—गुद, पार्श्व, ऊरु, पर्व, (पोर पोर) अस्थि तथा उदर की पीड़ा में वस्ति सर्वश्रेष्ठ हैं।

वक्तव्य—चरक का पाठ है—च. चि. अ. २९—
वस्तिवंक्षणपार्श्वोरुपर्वास्थिजठराऽऽऽर्त्तिषु ।
उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवातनाः ॥८९॥
और अष्टाङ्ग संग्रह में —
क्षीरंवस्तीन् वा सघृतान् दद्यात्, इतना ही पाठ है॥१०-१३॥

कफ प्रधान वातरक्त की चिकित्सा—

मुस्तदार्वीहरिद्राणां पिबेत्क्वाथं कफोल्बणे ॥ १४ ॥
सक्षौद्रं त्रिफलाया वा गुडूचीं वा यथा तथा।
यथाऽर्हस्नेहपीतं च वामितं मृदु रूक्षयेत् ॥ १५ ॥
त्रिफलाव्योषपत्रैलात्वक्क्षीरीचित्रकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं लोमशां वृषकं त्वचम् ॥ १६ ॥
ऋद्धिं लाङ्गलिकं चव्यं समभागानि पेषयेत्।
कल्कैर्लिप्त्वायसीं पात्रीं मध्याह्ने भक्षयेदिदम् ॥ १७ ॥
वातास्रे सर्वदोषेऽपि परं शूलान्विते हितम्।
कोकिलाक्षकनिर्यूहः पीतस्तच्छाकभोजिना ॥ १८ ॥
कृपाभ्यास इव क्रोधं वातरक्तं नियच्छति।
पञ्चमूलस्य धात्र्या वा रसैर्लेलीतकीं वसाम् ॥ १९ ॥
खुडं सुरूढमप्यङ्गे ब्रह्मचारी नियच्छति।

व्याख्या—कफ प्रधान वातरक्त में—नागरमोथा, दाल, तथा हल्दी का क्वाथ मधु मिला कर पीवे अथवा त्रिफला का क्वाथ मधु मिला कर पीवे अथवा गिलोय का सब प्रकार से सेवन करे। कफ नाशक या जो उपयुक्त हो स्नेह पिला कर वमन करावे तत्पश्चात् थोड़ा रूक्षण करे रूक्ष आहार-विहार का सेवन करावे। हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मरिच, पीपल, तेजपत्ता, इलायची, त्वक् क्षीरी—(वंशलोचन), चित्ता, बालबच, वायविडंग, पीपलामूल, लोमश (रोमश—हरा कसीस, च. चक्रपाणि), अडूसा, दाल चीनी (या-वृषकत्वचं -अडूसा की छाल), ऋद्धि, भूमि आमला तथा चव्य को समान भाग लेकर जल में पीस लेवे। इस कल्क का - लोहपात्र में प्रातःकाल लेप कर देवे और मध्याह्न में इस कल्क को खा लेवे। यह त्रिदोषप्रधान वातरक्त में तथा शूल युक्त वातरक्त में परम हित है (चरक में—वर्जयेद दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च। पाठ अधिक है)। तालमखाना का क्वाथ पीवे और उसी का शाक खावे तो कृपा का अभ्यास करने पर जैसे क्रोध रोकने का स्वभाव बन जाता है वैसे इस का निरतर सेवन करने से वातरक्त का बल रुक जाता है। लघु पञ्चमूल के क्वाथ अथवा आमला के स्वरस के साथ—लेलीतकी वसा अर्थात् गन्धक का सेवन-पान करे और ब्रह्मचारी बना रहे तो शरीर में दूर पर्यन्त व्याप्त वातरक्त पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

वक्तव्य—लेलीतक वसा का वर्णन—कुष्ठ चिकित्सा अ. १९ के श्लो० १८ के वक्तव्य में देखिये ॥१४-१९॥

उपसंहार

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टं कर्म बाह्यमतः परम् ॥ २० ॥

व्याख्या—इस प्रकार आभ्यन्तर-गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा का वर्णन कर दिया अथवा भीतरी खाने पीने के योगों का वर्णन कर दिया गया है और बाह्य—उत्तान वातरक्त की चिकित्सा का वर्णन आगे किया गया है अथवा लेपन सेचन आदि बाहिरी चिकित्सा का वर्णन आगे किया गया है ॥२०॥

सर्जरस लेप—

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्।
प्रभूते खजितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत्परम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—काञ्जी १ आढक, तैल १ प्रस्थ, राल ४ पल मिला कर पाक करे, काञ्जी समाप्त हो जाने पर तैल को पर्याप्त जल (शीतल जल) में मथे—फेंटे, तत्पश्चात् उसका लेप करे। यह लेप ज्वर, दाह तथा वेदना को शान्त करता है॥

वक्तव्य—मथने पर यह तैल माखन कासा हो जाता है। इस प्रकार के तैल "पिण्ड तैल" कहे जाते हैं। राल के योग से तैल जम जाता है॥ २१ ॥

पिण्ड तैल—

समधूच्छिष्टमञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम्।
पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद् वातरक्तरुजापहम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—मोम मञ्जीठ का सूक्ष्म चूर्ण, राल तथा सारिवा का सूक्ष्म चूर्ण १ भाग, तैल ४ भाग तथा जल १६ भाग मिला कर पाक करे सिद्ध होने पर शीतल जल में मथ कर रख लेवे। यह भी पिण्ड तैल है। इस का अभ्यङ्ग लेपन करने से—वात रक्त की वेदना शान्त हो जाती है॥

वक्तव्य—मोम के योग से तैल जम जाता है यदि न भी मथा जाय तो भी लेप के योग्य हो जाता है।२२॥

वातरक्त में सेचन—

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम्।
परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा॥ २३॥
स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत्।
स्तम्भाऽऽक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः॥ २४॥
तद्वद्गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः।
निःक्वाथैर्जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा लघोः॥ २५॥
द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम्।
सेकार्थं तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्भश्च शस्यते॥ २६॥

व्याख्या—दशमूल के योग से सिद्ध किया गया दूध—सेचन करने से—तत्काल शूल का शमन करता है। यदि वायु अधिक कुपित हो तो कोसे घृत का सेचन करे। अथवा घृत आदि चारों स्नेहों को मधुर गण (सू.अ.१०) के द्रव्यों के योग से सिद्ध करके शरीर भर पर सेचन करे। यदि स्तम्भ, आक्षेप तथा शूल हो तो उनको कोसा कर लेवे और दाह हो तो उनको शीतल ही रहने देवे। शीतल रहने पर वे जमे रहते हैं अभ्यङ्ग हो सकता है परिषेचन नहीं)। इस प्रकार कोसे अथवा शीतल—गोदुग्ध, अजा (बकरी का) दुग्ध तथा भेड़ी (भेड़ी का) दुग्ध से सेचन करे। अथवा जीवनीय गण (सू. अ. १५) के अथवा लघु पञ्चमूल के क्वाथों से सेचन करे। वातरक्त में सेचन के लिये—दाख का रस, ईख का रस, मद्य (सब प्रकार की सुरा), दही का पानी, खट्टी कांजी, चावलों का धोअन, मधु मिश्रित जल तथा शर्करोदक (खण्ड का पानी) प्रशस्त है (पृथक् २ इन का सेचन प्रशस्त है)॥ २३-२६॥

अन्य उपचार—

प्रियाः प्रियंवदा नार्यश्चन्दनार्द्रकरस्तनाः।
स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहरुजं क्लमम्॥ २७॥

व्याख्या—प्यारी प्रियवादिनी, चन्दन से भीगे हुए हाथों एवं स्तनों वाली, स्पर्श में शीत—शीतल शरीरवाली तथा कोमलाङ्गी नारियाँ स्पर्श मात्र से—दाह, वेदना एवं क्लम (मानसिक शिथिलता) को नष्ट करती हैं॥

वक्तव्य—वातरक्त में मैथुन त्याज्य है और यह उपचार केवल तात्कालिक दाह की शान्ति कर सकता है इससे कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता॥ २७॥

वातरक्त में लेप—

सरागे सरुजे दाहे रक्तं हृत्वा प्रलेपयेत्।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः॥ २८॥
ससितोपलकासेक्षुमसूरैरेरकसक्तुभिः।
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिबर्हणः॥ २९॥

व्याख्या—लालिमायुक्त एवं वेदनायुक्त दाह में—र का स्रावण करने के पश्चात्—पुण्डेरिया, मञ्जीठ, दारुहल्दी, मुलेठी, लालचन्दन, मिश्री, कमल, कासमूल, ईख की जड़, मसूर, एरक (होगल) के बीजों के सत्तू का लेप करे। यह लेप—वेदना, दाह, विसर्प लालिमा तथा शोथ को नष्ट करता है॥

वक्तव्य—यह पाठ चरक में इस प्रकार है—

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत्।
मधुकाऽश्वत्थत्वङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः॥१३१॥
तथा—प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः।
सितोपलैरका सक्तु मसूरोशीरपद्मकैः॥१३४॥
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिवारणः।

प्रतीत होता है मधुकादि···शाद्वलान्त पाठ किसी कारण से छूट गया है। जो कुछ हो। च. चि. अ. २९॥२८-२९॥

वातरक्त में उपनाह—

वातघ्नैः साधितः स्निग्धः कृशरो मुद्गपायसः।
तिलसर्षपपिण्डैश्च शूलघ्नमुपनाहनम्॥ ३०॥
औदकप्रसहाऽनूपवेसवाराः सुसंस्कृताः।
जीवनीयौषधस्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने॥ ३१॥
स्तम्भ-तोद-रुगायाम-शोफाऽङ्गग्रहनाशनाः।
जीवनीयौषधैः सिद्धाः सपयस्का वसाऽपि वा॥ ३२॥
घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती च्छागलं पयः
लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद् भृष्टाः पयसि निर्वृताः॥३३॥
क्षीरपिष्टं वाऽऽलेपमेरण्डस्य फलानि वा।
कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वां वाऽनिलेऽधिके॥ ३४॥

व्याख्या—उरद आदि वात नाशक द्रव्यों की बनाई गई खिचड़ी में वसा आदि स्नेह डाल कर अथवा मूंग की दूध में बनाई गई खीर अथवा तिल एवं सरसों का कल्क बनाकर किया गया उपनाह (मोटा एवं उष्ण २ लेप)—शूलनाशक होता है। और—मछली आदि जलचर प्राणियों के गौ एवं खर आदि प्रसह संज्ञक मृग एवं पक्षियों के (सू. अ. ६) तथा—सूअर आदि अनूप देशीय प्राणियों के मांस के वेसवार भलीभांति बनाकर और उनमें जीवनीय औषध द्रव्य (सू. अ. १५) तथा तैल आदि स्नेह मिला कर उपनाह करे। ये उपनाह—स्तम्भ, व्यथा

वेदना, आयाम (तनाव-खिंचाव), शोथ तथा अङ्गग्रह (जकड़न) को नष्ट करते हैं। अथवा—जीवनीय गण के द्रव्य तथा दूध के योग से सिद्ध की गई वसा का लेप—अभ्यङ्ग करे, गोघृत, कट सरैया की जड़, जीवन्ती की जड़ तथा दूध को एक साथ पीस कर लेप करे। अथवा—तिलों को भून कर और तत्काल दूध में बुझा कर—बुझा कर और घृत आदि के साथ पूर्ववत् पीस कर लेप करे। अथवा—अलसी को दूध में पीसकर अथवा एरण्ड के बीजों को दूध में पीसकर अथवा सोया को दूध में पीस कर वाताधिक्य के कारण उत्पन्न शूल की निवृत्ति—शांति के लिये लेप करे॥

वक्तव्य—वेसवार—

चित्रकं पिप्पलीमूलं पिप्पलीचव्यनागरम्।
धान्याकं रजनीश्वेततण्डुलाश्च समांशकाः।
वेसवार इति ख्यातः शाकादिषु नियोजयेत्।
इति आत्रेय संहिता।

और—गतास्थिमांसं सुस्विन्नं पुनः दृषदि पेषयेत्।
व्योषादिसंस्कृतं कृत्वा पचेत् भूयो घृतान्वितम्।
वेसवारोऽयमुद्दिष्टो बल्यो वातहरो गुरुः॥२८॥
स्विन्नमुद्गादि कल्कोऽपि वेसवारोऽपरः स्मृत
मदनपाल निघण्टु कृतान्न वर्ग।

इन योगों में कथित वेसवार अस्थिरहित मांस को कूट पीस कर बनाना चाहिये॥३०-३४॥

वातरक्त में अभ्यङ्ग—

मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम्।

व्याख्या वातरक्त में—गोमूत्र, जौखार तथा सुरा के योग से सिद्ध घृत—अभ्यङ्ग के रूप में हित है।

सेचन एवं अभ्यङ्ग—

सिद्धं समधुशुक्तं वा सेकेऽभ्यङ्गे कफोत्तरे॥ ३५॥
गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम्।
प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते वातकफोत्तरे॥ ३६॥
मधुशिग्रोर्हितं चैतद्वीजं धान्याम्लसंयुतम्।
मुहूर्तलिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरे॥ ३७॥

व्याख्या—पद्मकाष्ठ, दालचीनी, मुलेठी तथा सारिवा के योग से सिद्ध घृत को मधु शुक्त में मिला कर कफ प्रधान वातरक्त में सेचन एवं अभ्यङ्ग करे। गृह धूम, बाल वच, कुठ, सोया, हलदी तथा दारु हलदी का लेप—वात कफ प्रधान वात रक्त के शूल को नष्ट करता है। इसी प्रकार—मीठे सहजन के बीजों को काञ्जी में पीस कर दो घड़ी लेप करे और फिर काञ्जी से धो देवे।

वक्तव्य—चरक में ये पाठ इस प्रकार हैं—

पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैः घृतम्।
सिद्धं समधुशुक्तं स्यात् सेकाभ्यङ्गे कफोत्तरे॥१४६॥

श्री वाग्भट के पाठ में किसी कारण से आधा श्लोक छूट गया किन्तु हमने उचित समझ कर टीका चरकानुसार कर दी है॥ ३५-३७॥

विधिभेद से चिकित्सा संकेत

उत्तानं लेपनाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनैः।
विरेकास्थापनैः स्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत्॥ ३८॥
वातश्लेष्मोत्तरे कोष्णा लेपाद्यास्तत्र शीतलैः।
विदाहशोफरुक्कण्डू-विवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत्॥ ३९॥
पित्तरक्तोत्तरे वातरक्ते लेपादयो हिमाः
उष्णैः प्लोषोषरुग्रागस्वेदावदरणोद्भवैः॥ ४०॥

व्याख्या—उत्तान वातरक्त में—लेपनों, अभ्यङ्गों, सेचनों तथा अवगाहनों से उपचार करे और गम्भीर वात रक्त से—विरेचनों, निरूहण बस्तियों तथा स्नेहपानों से उपचार करे। उक्त लेपन आदि उपचार—कफवात प्रधान वात रक्त में कोसे २ करे, शीतल लेपन आदि से दाह शोथ, वेदना तथा कण्डू की वृद्धि हो जाती है क्योंकि शीतल लेपन आदि स्तम्भन होते हैं फलतः उक्त दाह आदि बढ़ जाते हैं। और पित्तरक्त प्रधान वातरक्त में—उक्त लेपन आदि शीतल २ करे, उष्ण लेपन आदि से—प्लोष (दाह) ऊष (दाह), वेदना, लालिमा, स्वेद तथा अवदारण (फटना) की उत्पत्ति हो जाती॥ ३९॥

वक्तव्य—चरक में निम्नलिखित पाठ है—

रक्तपित्तोत्तरे चोष्णैः दाहः क्लेदोऽवदारणम्।
भवेत् तस्मात् भिषक् दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत् क्रियाम्॥८८

तथापि—वाग्भट ने "प्लोषोष" पाठ बना दिया यद्यपि—ओषः प्लोषे—इति अमरकोशः, तथा "उष दाहे" भ्वा. प. से. धातु तथा "प्लु दाहे" भ्वा. ग. की दोनों धातु दाहार्थक हैं। भला उनकी इच्छा। अष्टाङ्ग संग्रह में भी "प्लोषोष" पाठ है॥३८-४०॥

मधुयष्ट्यादि तैल—

मधुयष्ट्याः पलशतं कषाये पादशेषिते।
तैलाढकं समक्षीरं पचेत्कल्कैः पलोन्मितैः॥ ४१॥
स्थिरा तामलकी दूर्वापयस्याऽभीरुचन्दनैः।
लोहहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः॥ ४२॥
काकोलीक्षीरकाकोलीशतपुष्पर्द्धिपद्मकैः।
जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखबालकैः। ४३॥
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठसारिवैन्द्रीवितुन्नकैः।
चतुःप्रयोगं वातास्रक्पित्तदाहज्वरार्तिनुत्॥४४॥

व्याख्या—१०० पल मुलेठी लेकर चतुर्गुण जल में पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे, उस में तिलतैल १ आढक तथा दूध १ आढक और—शालपर्णी, भूमि आमला,

दूब, पयस्या (अर्कपुष्पी अथवा क्षीरविदारी कन्द), शतावर, श्वेत चन्दन, अगुरु, हंसराज (परसौसा), जटामांसी, मेदा, महामेदा, गिलोय (अनूपं यष्टिमधु-चक्रपाणि), काकोली, क्षीर काकोली, सोया, ऋद्धि, पद्मकाष्ठ, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक, दालचीनी, तेजपत्ता, नख (नाखूना), नेत्रबाला, पुण्डेरिया, मञ्जीठ, सारिवा, इन्द्रायण की जड़ (ऐन्द्री-मत्स्याक्षकः-चक्रपाणि) तथा धनियाँ (परिपेलवत् इति अरुणदत्तः, वितुन्नकः तुत्थं, धान्यकं अपरे इति चक्रपाणिः) का कल्क १-१ पल मिला कर तैल सिद्ध करे। यह तैल—चतुः प्रयोग है अर्थात् इसका १—पान (पीने) में, २—नस्य में, ३—अनुवासन में तथा ४—अभ्यंग में प्रयोग, किया जाता है और—वातरक्त, पित्तप्रकोप, दाह, ज्वर तथा वेदना को शान्त करता है ॥ ४० ॥

बला तैल—

बलाकल्कषायाभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत् ।
सहस्रशतपाकं तद् वातासृग्वातरोगनुत् ॥ ४५ ॥
रसायनं मुख्यतममिन्द्रियाणां प्रसादनम् ।
जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—बलामूल का कल्क (१ भाग) तथा क्वाथ (१६ भाग) तैल (१ भाग) तथा दूध (१ भाग) मिलाकर १००० बार अथवा १०० बार पाक करे। यह तैल—वातरक्त तथा वातव्याधियों को नष्ट करता है और उत्तम कोटिका रसायन है, इन्द्रियों को प्रसन्न-स्वच्छ-बलवान् बनाता है, जीवन है, बृंहण है, स्वर वर्द्धक है, शुक्रदोष तथा रजोदोष का नाशक है।

वक्तव्य—जीवन-जीवन शक्ति वर्द्धक, बृंहण-धातुवर्द्धन द्वारा शरीर पोषक। प्रायः देखा जाता है कि—परिभाषा के अनुसार एक बार तैल पाक करने पर तैल का लगभग चौथाई भाग नष्ट हो जाता है। सम्भव है अर्क की विधि से पाक किया जाय और उड़नेवाले तैल को अर्क पर से पुनः पुनः सञ्चित किया जाय और तैल में मिला २ कर पुनः २ पाक किया जाय तो १०० या १००० पाक हो सकते हैं और तैल की रक्षा भी हो सकती है। मनीषी पाठक विचार करें ॥४५-४६॥

वात रक्त में चिकित्सा संकेत—

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा ।
अतिवृद्ध्याऽनिले शस्तं नाऽऽदौ स्नेहनबृंहणम् ॥ ४७॥
कृत्वा तत्राढ्यवातोक्तं वातशोणितिकं ततः ।
भेषजं स्नेहनं कुर्याद्यच्च रक्तप्रसादनम् ॥ ४८ ॥

व्याख्या—यदि मेदस् अथवा कफ की अत्यधिक वृद्धि के कारण केवल मार्ग रुक जाने से वायु कुपित हो तो- स्नेहन एवं बृंहण कर्म प्रशस्त होता है। इसके अतिरिक्त—ऊरुस्तम्भ (अ. २१) के अनुसार और वातरक्त के अनुसार चिकित्सा करे और तत्पश्चात् उस प्रकार का स्नेहन करे जिससे रक्त का शोधन हो।

वक्तव्य—चरक का पाठ इस प्रकार है—चि. अ. २९

कुपिते मार्गसंरोधात् मेदसो वा कफस्य वा ।
अतिवृद्ध्याऽनिले नाऽऽदौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ॥१५६।
अर्थात्—व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैः विरेचनैः ।
तक्राऽभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसी । १५७ ।
बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेत् मधुना सह ।
वातरक्तं जयत्याऽऽशु त्रिदोषमपि दारुणम् ।१५८।
पुराणयवगोधूमसीध्वरिष्टसुराऽऽसवैः ।
शिलाजतु प्रयोगैश्च गुग्गुलोः माक्षिकस्य च ।१५९।
गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्यात् चेत् तत् वातवत् जयेत् ।
पश्चात् वाते क्रियां कुर्यात् वातरक्तप्रसादनीम् ।१६०।

इस पाठ में "मादी" के स्थान में "नादी" पाठ है जो युक्तियुक्त प्रतीत होता है इस पर गम्भीर विचार किया जाय। इस पर चक्रपाणि लिखते हैं कि—मेदसः कफस्य वा अतिवृद्ध्या कृतात् मार्गसंरोधात् अनिले कुपिते सति आदौ स्नेहनं तथा बृंहणं च न शस्तं इति श्लोकार्थः।
अत्र स्नेहनबृंहण निषेधे सति कर्त्तव्यमाह—
व्याय।मेत्यादिना माक्षिकस्य च इत्यन्तेन ।१५६-१५९।

और श्लो० १६० की व्याख्या करते हुए श्री चक्रपाणि लिखते हैं कि—

गम्भीरे इति अवगाढे अनुत्ताने वातरक्ते, रक्तमाक्रान्तम् इति अभिभूतं वायुना, वातवत् जयेत् इति, एतत् क्रियोत्तरकालीनं कर्त्तव्यमाह—पश्चाद्वातेत्यादि। कफमेदोवृते एव निर्जितकफमेदसि वाते वातरक्तप्रसादिनी क्रिया अत्रैवोक्तस्नेहप्रयोगादिका कार्या, वातविकारत्वात् वातव्याधिचिकित्सितेन जयेत्। एतच्च वातेन रक्ताभिभवनं गम्भीरे एव वातरक्ते प्रायो भवति इति दर्शयितुं गम्भीरे इति कृतम्।
इसके आगे चरक का पाठ है—

रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु नियच्छति ।
भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥१६१॥
इस दशा में—
तयोः क्रिया विधातव्या भेदशोधनरोपणैः ।
क्रियामुपद्रवाणां तु कुर्यात् स्वात् स्वात् चिकित्सितात्॥१६२

यह दशा असाध्य कुष्ठके समान हो जाती है इसे आरोग्य लाभ दुर्लभ होता है परन्तु प्रयत्न करके देख लेना चाहिये ॥ ४७-४८ ॥

प्राणादि वायु प्रकोप में चिकित्सा संकेत—

प्राणादिकोपे युगपद्, यथोद्दिष्टं यथामयम् ।
यथासन्नं च भैषज्यं विकल्प्यं स्याद्यथाबलम् ॥४९॥

व्याख्या—प्राण उदान आदि पांचों प्रकार के वायु का एक साथ प्रकोप होने पर—वात व्याधि की चिकित्सा के अनुसार, उनसे उत्पन्न रोगों की चिकित्सा के अनुसार, शरीर में अथवा उत्पत्ति में उनकी समीपता के अनुसार तथा उनके बल के अनुसार चिकित्सा की विविध कल्पना करे ॥

वक्तव्य—वायु के स्थानों का विवरण सू. अ. १२ में देखिये, तज्जनित रोग लक्षण भी वहीं देखिये और चिकित्सा विधि—चि. अ. २० में देखिये ॥४६॥

आमयुक्त वायु की चिकित्सा—

नीते निरामतां सामे स्वेदलङ्घनपाचनैः ।
रूक्षैश्चालेपसेकाद्यैः कुर्यात्केवलवातनुत् ॥ ५० ॥

व्याख्या—आमयुक्त वायु में प्रथम—स्वेदन, लंघन तथा पाचन के द्वारा तथा सूक्ष्म लेपन एवं सूक्ष्म सेचन आदि के द्वारा वायु को आमदोष रहित करे—आमदोष का पाचन हो जाने पर केवल (पित्तादि के संसर्ग से रहित) वायु की चिकित्सा के समान चिकित्सा करे ॥५०॥

वायु की चिकित्सा में शीघ्रता की आवश्यकता—

शोषाऽऽक्षेपण-सङ्कोच स्तम्भ-स्वपन-कम्पनम् ।
हनुस्रंसोऽर्दितं खाञ्ज्यं पाङ्गुल्यं खुडवातता ॥ ५१ ॥
सन्धिच्युतिः पक्षवधो मेदोमज्जास्थिगा गदाः ।
एते स्थानस्य गाम्भीर्यात्सिध्येयुर्यत्नतो न वा ॥ ५२ ॥
तस्माज्जयेन्नवानेतान् बलिनो निरुपद्रवान् ।

व्याख्या—बाहु आदि अंगों का शोष, आक्षेपक, अंगों का संकोच, स्तम्भ, स्वाप, कम्पन, हनुस्रंस, अर्दित, खाञ्ज्य (लंगड़ापन तथा लुञ्जापन), पांगुल्य (पंगुता), वातरक्त, सन्धिच्युति (स्वस्थान से खिसकना), पक्षवध (पक्षाघात) तथा मेदोधातु गत वातरोग मज्जा एवं अस्थि में व्याप्त वात रोग । ये सब रोग स्थान—आश्रय की गम्भीरता के कारण बड़े प्रयत्न से सिद्ध हो सकते हैं वे भी तब जब नूतन हों—पुराने न हो गये हों और रोगी बलवान् हो तथा उनमें कोई उपद्रव न हो इस लिये इनकी तभी चिकित्सा करे जब वे नूतन हों ॥५१-५२॥

पित्तावृत वायु की चिकित्सा—

वायौ पित्तावृते शीतामुष्णां च बहुशः क्रियाम् ॥ ५३ ॥
व्यत्यासाद्योजयेत्सर्पिर्जीवनीयं च पाययेत् ।
धन्वमांसं यवाः शालिर्विरेकः क्षीरवान्मृदुः ॥ ५४ ॥
सक्षीरा बस्तयः क्षीरं पञ्चमूलबलाशृतम् ।
कालेऽनुवासनं तैलं मधुरौषधसाधितम् ॥ ५५ ॥
यष्टीमधुबलातैल-घृतक्षीरैश्च सेचनम् ।
पञ्चमूलकषायेण वारिणा शीतलेन च ॥ ५६ ॥

व्याख्या—यदि वायु—पित्त से आवृत हो तो कभी शीत और कभी उष्ण चिकित्सा करे । और जीवनीय घृत पिलावे । और जङ्गल देशीय प्राणियों के मांस, जौ के भक्ष्य (रोटी दलिया आदि) शालिधान्य के भक्ष्य, दूध के योग से मृदु विरेचन, दुग्ध की बस्तियाँ, महत्पञ्चमूल तथा बलामूल के योग से परिपक्व दूध, आवश्यक होने पर अनुवासन बस्ति, मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल, मधुयष्टि तैल (श्लो० ४०), बला तैल (श्लो. ४१), गो-घृत तथा दूध से सेचन, पञ्चमूल के कषाय (हिम कभी क्वाथ से) अथवा शीतल जल से स्नान लाभ प्रद होते हैं ।

कफावृत वायु की चिकित्सा—

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः ।
स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ॥ ५७ ॥
पुराणसर्पिस्तैलं च तिलसर्षपजं हितम् ।

व्याख्या—कफ से आवृत वायु में—जौ के आहार, जाङ्गल देशीय मृग पक्षियों के मांस, स्वेदन, तीक्ष्ण निरूहण वस्तियाँ, वमन एवं विरेचन, पुराना घृत, तिल तैल तथा सरसों का तैल लाभ दायक होते हैं ॥ ५७ ॥

संसर्ग युक्त वायु की चिकित्सा—

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥५८॥

व्याख्या—कफ एवं पित्त दोनों से आवृत वायु हो तो—प्रथम पित्त का शमन करे । (पित्त का शमन हो जाने पर कफ का शमन करे) ॥ ५८ ॥

रक्तादि से आवृत वायु की चिकित्सा—

कारयेद् रक्तसंसृष्टे वाते शोणितिकीं क्रियाम् ।
स्वेदाभ्यङ्गरसाः क्षीरं स्नेहो मांसावृते हितः ॥ ५९ ॥
प्रमेहमेदोवातघ्नम्, आढ्यवाते भिषग्जितम् ।
महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्वोक्तं रेतसावृते ॥ ६० ॥

व्याख्या—रक्तादि से आवृत वायु में वातरक्त की चिकित्सा करे । मांस से आवृत वायु में—स्वेदन, अभ्यंग, मांस रस, दुग्ध पान तथा स्नेहपान हित हैं । ऊरुस्तम्भ-आमवात अर्थात् मेदो धातु से आवृत वायु में—प्रमेह नाशक, मेदो नाशक तथा वात नाशक चिकित्सा मिला कर करें । अस्थि एवं मज्जा से आवृत वायु में—महास्नेह अर्थात् घृत, तैल, वसा तथा मज्जा मिला कर प्रयोग में लावे । शुक्र से आवृत वायु में—अ. ११ के श्लोक २० तथा २१ द्वारा कही गई चिकित्सा करे ॥५८-६०॥

अन्नावृत आदि वायु की चिकित्सा—

अन्नावृते पाचनीयं वमनं दीपनं लघु ।
मूत्रावृते मूत्रलानि स्वेदा उत्तरबस्तयः ॥ ६१ ॥
एरण्डतैलं वर्चःस्थे बस्तिस्नेहाश्च भेदिनः ।

व्याख्या—अन्न से आवृत वायु में—पाचन चूर्ण आदि का, वमन का, अग्नि दीपन तथा लघु पदार्थों का

सेवन करे। मूत्र से आवृत वायु में—मूत्र प्रवर्त्तक तथा मूत्रवर्द्धक द्रव्यों का; स्वेदों (द्रवस्वेद तथा उपनाह-स्वेदों) का तथा उत्तर वस्तियों का सेवन करे। पुरीष से आवृत वायु में—एरण्ड का विरेचन, अनुवासन तथा निरूहण वस्तियों का प्रयोग तथा मलभेदक आहार एवं औषधों का सेवन लाभप्रद होता है ॥ ६१ ॥

सब स्थानों में आवृत वायु की चिकित्सा—

कफपित्ताविरुद्धं यद् यच्च वातानुलोमनम् ॥ ६२ ॥
सर्वस्थानावृते त्वाशु तत्कार्यं मातरिश्वनि ।
अनभिष्यन्दि च स्निग्धं स्रोतसां शुद्धिकारणम् ॥ ६३ ॥
यापना बस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ।
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु कायविरेचनम् ॥ ६४ ॥
रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ।
शिलाह्वस्य विशेषेण पयसा शुद्धगुग्गुलोः ॥ ६५ ॥
लेहो वा भार्गवस्तद्वदेकादशसितासितः ।

व्याख्या—सब स्थानों (सब धातुओं—समस्त शरीर) में आवृत वायु में—वह चिकित्सा करे जो कफ एवं पित्त के विरुद्ध न हो। (उनको कुपित न करे) तथा जो वायु का अनुलोमन करे अर्थात् जो कफ पित्त एवं वायुका शमन करे और जो अभिष्यन्दी न हो तथा स्रोतों को शुद्ध करें। और यापन वस्तियों को प्रायः मधुर रस वाली निरूहण वस्तियों का एवं अनुवासन वस्तियोंका प्रयोग करे। दोषों के तथा रोग एवं रोगी के बलाबल का विचार करके मृदु विरेचन करे और सब प्रकार के रसायन योगों का प्रयोग करे। विशेषतः—शिलाजीत का अथवा शुद्ध गुग्गुल का दूध के साथ प्रयोग करे। अथवा—च्यवनप्राश—अवलेह का अथवा एकादश सिताशत अर्थात् ब्राह्मरसायन का प्रयोग करे ॥

वक्तव्य—एकादश सिता शत नामक योग वह है जिसमें ११ सौ पल सिता डालनेका विधान है—देखिये—उ. तं. अ. ३९ श्लोक—११ इस योग में—"तुलयाऽधिकम्। सितोपला सहस्रं" डालने का विधान है और च. चि. अ. १ में श्लोक ४१ से ५७ (पञ्चानां—समश्नुते). में—'सितोपला-सहस्रं च चूर्णितं तुलयाधिकम्' पाठ है। और उस योग का नाम "ब्राह्म रसायन" है ॥६२-६५॥

अपान वायु आवरण की चिकित्सा—

अपाने त्वावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ॥ ६६ ॥
वातानुलोमनं कार्यं मूत्राशयविशोधनम् ।
इति सङ्क्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ॥६७॥
प्राणादीनां भिषक्कुर्याद् वितर्क्य स्वयमेव तत् ।

व्याख्या—अपान वायु का आवरण होने पर—अग्निदीपक तथा ग्राही औषध का प्रयोग करे और जो वायु का अनुलोमन करे तथा मूत्राशय का शोधन करे उस चिकित्सा का प्रयोग करे। इस प्रकार वायु के आवरणों की चिकित्सा संक्षेपतः कह दी गई है और प्राण आदि भिन्न २ वायु के आवरण में—चिकित्सक स्वयं विचार करके चिकित्सा करे ॥६६. ६७॥

कुछ संकेत—

उदानं योजयेदूर्ध्वम्—अपानं चानुलोमयेत् ॥६८॥
समानं शमयेद्विद्वांस्त्रिधा व्यानं च योजयेत् ।
प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि तत्स्थितौ देहसंस्थितिः ॥६९॥
स्वं स्वं स्थानं नयेदेवं वृतान् वातान् विमार्गगान् ।

व्याख्या—आवृत उदान वायु को उद्गार एवं श्वास-प्रश्वास के रूप में ऊपर की ओर ले जाने का प्रयत्न करे अर्थात् ऐसा उपाय करे जिससे उद्गार आवे और श्वास की गति भली भांति होने लग जाय। आवृत (अवरुद्ध) अपान वायु का अनुलोमन करे अर्थात् ऐसा उपाय करे जिससे गुदमार्ग से वायु का निःसरण होने लग जाय। आवृत समान वायु का अग्निदीपक तथा पाचक औषधों द्वारा शमन करे। आवृत व्यान वायु में उक्त प्रकार के तीनों उपाय करे। और उक्त चारों प्रकार की वायुओं की अपेक्षा प्राण वायु की रक्षा विशेष रूप से करें क्योंकि उसकी रक्षा होने पर ही जीवन की रक्षा हो सकती है—प्राण की स्थिति रहने पर ही शरीर की स्थिति होती है। इस प्रकार आवृत तथा विमार्गगामी वायुओं को अपने २ स्थान में पहुँचाने का प्रयत्न करे ॥६२॥

लशुन का प्रयोग—

सर्वं चावरणं पित्तरक्तसंसर्गवर्जितम् ॥७०॥
रसायनविधानेन लशुनो हन्ति शीलितः ।

व्याख्या—रसायन विधि (उ. अ. ३९) से लशुन का सेवन करने से—पित्त एवं रक्त के आवरण के अतिरिक्त सब प्रकार के आवरण नष्ट हो जाते हैं ॥७०॥

पित्त एवं रक्त से आवृत वायु की चिकित्सा—

पित्तावृते पित्तहरं मरुतश्चानुलोमनम् ॥७१॥
रक्तावृतेऽपि तद्वच्च खुडोक्तं यच्च भेषजम् ।
रक्तपित्तानिलहरं विविधं च रसायनम् ॥७२॥

व्याख्या—पित्त से आवृत वायु में—पित्तनाशक एवं वायु का अनुलोमन करने वाली चिकित्सा करे। रक्त से आवृत वायु में उक्त चिकित्सा करे और वातरक्त रोग में कही गई चिकित्सा करे तथा रक्त, पित्त एवं वायु का शमन करने वाली चिकित्सा करे और दोष एवं दूष्य का विचार करके अनेक प्रकार के रसायन योगों (उ. अ.३९) का प्रयोग करे ॥७१, ७२॥

उपसंहार

यथानिदानं निर्दिष्टमिति सम्यक् चिकित्सितम् ।
आयुर्वेदफलं स्थानमेतत्सद्योऽर्तिनाशनम् ॥७३॥

व्याख्या—निदान स्थान में कहे गये रोगों की समीचीन चिकित्सा का वर्णन इस चिकित्सा स्थान में कर दिया गया है। यह चिकित्सा स्थान (चिकित्सा प्रकरण के २२ अध्यायों में कहा गया विषय) समस्त आयुर्वेद का फल है और यह तत्काल रोगोंको नष्ट करने वाला है ॥

वक्तव्य—वस्तुतः आयुर्वेद का फल है रोग का नाश ॥ ७३ ॥

चिकित्सा के पर्याय—

चिकित्सितं हितं पथ्यं प्रायश्चित्तं भिषग्जितम् ।
भेषजं शमनं शस्तं पर्यायैः स्मृतमौषधम् ॥७४॥

इति श्री वैद्यपति सिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया-मष्टाङ्गहृदयसंहितायां चतुर्थे चिकित्सितस्थाने वातशोणितचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

व्याख्या—१—चिकित्सित, २—हित, ३—पथ्य, ४—प्रायश्चित्त, ५—भिषग्जित, ६—भेषज, ७—शमन, ८—शस्त तथा ९ औषध। ये सब चिकित्सा के पर्याय हैं।

वक्तव्य—चिकित्सित—चिकित्सा रुक्प्रतिक्रिया (अमर कोश) अर्थात् रोग के प्रतिकार (निरोध एवं शमन) का नाम चिकित्सा या चिकित्सित या चिकित्सन है ।

हित—जीवन, स्वास्थ्य एवं रोगशान्ति के लिय लाभप्रद, धारण एवं पोषण करने वाला कर्म ।

पथ्य—जीवन पथ-जीवन यात्रा के लिये उपयोगी है।

प्रायश्चित्त—यज्ञ, हवन, व्रत, उपवास एवं पश्चात्ताप आदि द्वारा रोग शान्ति होती है।

भिषग्जित —जिसके द्वारा वैद्य रोगों पर विजय प्राप्त करता है।

भेषज—जिसके द्वारा रोगभीति पर विजय प्राप्त की जाती है। चतुष्पादं षोडशकलं (गुणं) भेषजमिति भिषजो मन्यन्ते ॥३॥ (च. सू. अ. १०) ।

शमन—जिसके द्वारा रोगों की शान्ति की जाती है।

शस्त—जो प्रशंसनीय कर्म है—चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिदपि शुश्रुमः ॥ सु. क. अ. ८ श्लो. १४२ ।

औषध—जिसके द्वारा शरीर में उचित ओष अर्थात् ताप—अग्नितत्त्व का आधान—धारण एवं पोषण किया जाता है। भगवान् पुनर्वसु ने च. चि. अ. १ में व्याधिहर जिसके द्वारा रोग का हरण किया जाता है, साधन—रोग पर सिद्धि का उपाय तथा प्रकृति स्थापन—प्रकृति—स्वभाव—स्वास्थ्य का स्थापित रखना भी पर्याय लिखे हैं।

इति अष्टाङ्गहृदये चिकित्सितस्थाने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

॥ समाप्तं चेदं चिकित्सितस्थानम् ॥

अष्टाङ्गहृदये-कल्पसिद्धिस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

वमन कल्प

अथाऽतो वमनकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब वमन कल्प की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस कल्प एवं सिद्धि स्थान में—वमन विरेचन तथा उनकी व्यापदों की चिकित्सा और वस्ति (अनुवासन, निरूहण तथा उत्तर वस्ति) की कल्पना और उसकी व्यापदों की चिकित्सा और द्रव्य कल्प की व्याख्या की गई है। वमन कल्प—च. क. अ. १ से ६, सु. सू. अ. ४१ तथा अ. सं. क. अ. १ में देखिये।

वमन एवं विरेचन के लिये श्रेष्ठ द्रव्य—

वमने मदनं श्रेष्ठं त्रिवृन्मूलं विरेचने।
नित्यमन्यस्य तु व्याधिविशेषेण विशिष्टता ॥१॥

व्याख्या—सब दशाओं में—वमन के लिये "मदन फल" (मैनफल के बीज) तथा विरेचन के लिये "त्रिवृत्" का मूल (मूल की छाल) श्रेष्ठ हैं और रोग विशेष में जीमूतक, इक्ष्वाकु, दोनों कोशातकी तथा कुटज फल की प्रधानता है॥

वक्तव्य—वमनद्रव्याणां मदनजीमूतकेक्ष्वाकुद्विकोशातकीकुटजफलानि च श्रेष्ठानि। तेष्वपि मदनफलम्। दोषदूष्यादिवशात् च एषामेतत्कल्पनानां प्राधान्यम्। दोषादीनामेव च अति बहु-अवस्थाभेदात् वमनादिषु कल्पानां व्यापदां साधनानां च यत् असंख्येयत्वं, अतो बुद्धिमतां विकल्पमार्गदर्शनार्थमुदाहरणमात्रं कल्पसिद्धिस्थानमुपदेक्ष्यते। अ. सं. कल्पस्थान अ. १॥ १॥

मदनफलसंग्रहविधि—

फलानि तानि पाण्डूनि न चाऽतिहरितान्यपि।
आदायाऽह्नि प्रशस्तर्क्षे मध्ये ग्रीष्मवसन्तयोः॥ २॥
प्रमृज्य कुशमुत्तोल्यां क्षिप्त्वा बद्ध्वा प्रलेपयेत्।
गोमयेनानु मुत्तोलीं धान्यमध्ये निधापयेत् ॥३॥
मृदुभूतानि मद्येष्टगन्धानि कुशवेष्टनात्।
निष्कृष्य निर्गतेऽष्टाहे शोषयेत्तान्यथाऽऽतपे ॥४॥
तेषां ततः सुशुष्काणामुद्धृत्य फलपिप्पलीः।
दधिमध्वाज्यपललैर्मृदित्वा शोषयेत्पुनः ॥५॥
ततः सुगुप्तं संस्थाप्य कार्यकाले प्रयोजयेत्।

व्याख्या—वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं के मध्यकाल (वैशाख एवं ज्येष्ठ मास में अथवा दोनों ऋतुओं के अन्तिम एवं आदिम सप्ताहों में) में, दिन में प्रशस्त नक्षत्र में मदन फलों का संग्रह करे, उस समय भी वे ही फल लिये जायँ जो अत्यन्त पीले हों तथा अत्यन्त हरे वर्ण के न हों। उन को लेकर स्वच्छ करके, कुश की मुत्तोली (मूडक-मूढा- चठाई-कुशपुट) में बाँध कर गोबर का लेप कर देवे तदनन्तर जौ आदि धान्य के ढेर में दबा देवे। आठ दिन के पश्चात् जब वे फल कोमल हो जायँ तथा मधु के समान इष्ट गन्ध से युक्त हो जायँ तब मुत्तोली में से निकाल कर धूप में सुखा लेवे। तत्पश्चात् उन सूखे फलों में से बीज निकाल लेवे और उन बीजों को दही, मधु, घृत तथा तिल चूर्ण (अथवा मांस) में मसल कर पुनः सुखा लेवे। पश्चात् स्वच्छ भाण्ड में भर कर सुरक्षित स्थान में धर देवे और आवश्यकतानुसार—प्रयुक्त करे॥

वक्तव्य—वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते, अनपायित्वात्। तानि वसन्तग्रीष्मयोः अन्तरे पुष्य-अश्व-युग्म्यां मृगशिरसा वा गृह्णीयात् मैत्रे मुहूर्ते। यानि पक्वान्यकाणान्यहरितानि पाण्डून्यक्रिमीण्यपूतीन्यजन्तुजग्धान्यह्रस्वानि तानि प्रमृज्य कुशपुटे बद्ध्वा गोमयेनालिप्य यवतुष-(बुष) माषशालिकुलत्थमुद्गपर्णानामन्यतमे निदध्यात् अष्टरात्रम्। अत ऊर्ध्वं मृदुभूतानि मध्विष्टगन्धान्युद्धृत्य शोषयेत्। सुशुष्काणां फलपिप्पलीः उद्धरेत्। तासां घृतदधिमधुपललविमृदितानां पुनः शुष्काणां नवंकलशं सप्रमृष्टबालुकंमारजस्कमाकण्ठं मपूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्ये अवासज्य सम्यक् स्थापयेत्॥ १३॥ च. क. अ. १॥२-५॥

सेवन विधि—

अथाऽऽदाय ततो मात्रां जर्जरीकृत्य वासयेत् ॥६॥
शर्वरीं मधुयष्ट्या वा कोविदारस्य वा जले।

कर्बुदारस्य बिम्ब्या वा नीपस्य विदुलस्य वा ॥ ७ ॥
शणपुष्प्याः सदापुष्प्याः प्रत्यक्पुष्प्युदकेऽथवा ।
ततः पिबेत्कषायं तं प्रातर्मृदितगालितम् ॥ ८ ॥
सूत्रोदितेन विधिना साधु तेन तथा वमेत् ।

व्याख्या—आवश्यकता पड़ने पर उन फल पिप्पलियों (मैनफल के बीजों) में से उपयुक्त मात्रा–अन्तर्नख मुष्टि परिमित मात्रा लेकर दरदरा कूटकर—मुलेठी के अथवा कोविदार के अथवा कर्बुदार के अथवा कुन्दरु की जड़ के अथवा कदम्ब की छाल के अथवा वेतस के अथवा शणपुष्पी के अथवा सदापुष्पी (वनकर्पासी अथवा अर्क पुष्पी) अथवा अपामार्ग के जल में रात्रि भर भिगो रखना चाहिये । प्रातः काल–मल कर तथा छान कर उस शीत कषाय को सूत्र स्थान अ. १८ में कही गई विधि से पीलेवे । इस प्रकार भली भांति वमन करे ॥ ६–८ ॥

वमन में संकेत—

श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मान्तर्विद्रधीषु च ॥ ९ ॥
प्रच्छर्दयेद्विशेषेण यावत्पित्तस्य दर्शनम् ॥

व्याख्या—विशेष रूप से–कफ ज्वर, प्रतिश्याय, कफजगुल्म तथा अन्तर्विद्रधि नामक रोगों में उक्त विधि से वमन में पित्त (अम्ल कटु तथा तिक्त रस वाला हरा, पीला एवं नीला पदार्थ) निकल जाय ॥ ९ ॥

अन्यान्य कल्प—

फलपिप्पलिचूर्णं वा क्वाथेन स्वेन भावितम् ॥ १० ॥
त्रिभागत्रिफलाचूर्णं कोविदारादिवारिणा ।
पिबेज्ज्वरारुचिष्ठीव-ग्रन्थापच्यर्बुदोदरी ॥ ११ ॥
पित्ते कफस्थानगते जीमूतादिजलेन तत् ।
हृद्दाहेऽधोऽस्रपित्ते च क्षीरं तत्पिप्पलीशृतम् ॥ १२ ॥
क्षैरेयीं वा कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु तु ।
दध्युत्तरं वा दधि वा तच्छृतक्षीरसम्भवम् ॥ १३ ॥
फलादिक्वाथकल्काभ्यां सिद्धं तत्सिद्धदुग्धजम् ।
सर्पिः कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यद्देहे च वामनम् ॥ १४ ॥
स्वरसं फलमज्ज्ञो वा भल्लातकविधिशृतम् ।
आदर्वीलेपनात्सिद्धं लीढ्वा प्रच्छर्दयेत्सुखम् ॥१५ ॥
तं लेहं भक्ष्यभोज्येषु तत्कषायांश्च योजयेत् ।
वत्सकादिप्रतीवापः कषायः फलमज्जजः ॥ १६ ॥
निम्बार्कान्यतरक्वाथसमायुक्तो नियच्छति ।
बद्धमूलानपि व्याधीन् सर्वान्सन्तर्पणोद्भवान् ॥ १७ ॥
राठपुष्पफलश्लक्ष्णचूर्णैर्माल्यं सुखाघ्रितम् ।
वमेन्मण्डरसादीनां तृप्तो जिघ्रन् सुखं सुखी ॥ १८ ॥
एवमेव फलाभावे कल्प्यं पुष्पं शलाटु वा ।

व्याख्या—अथवा मैनफल के बीजों को मैनफल के ही क्वाथ से भावना देकर और उसमें तीन भाग त्रिफला चूर्ण मिलाकर, कोविदार आदि (श्लोक ७ देखिये) किसी एक द्रव्य के कषाय (क्वाथ या शीत कषाय) के साथ पीवे । इस प्रकार—ज्वर, अरुचि, ग्रन्थि, अपची, अर्बुद तथा उदररोग नामक रोगों में वमन करे । अथवा—मैनफल के बीजों का चूर्ण जीमूतक आदि (श्लोक २ का वक्तव्य देखिये) के कषाय के साथ पीवे । इस प्रकार—कफ स्थान (आमाशय) में पित्त आने पर वमन करे (अर्थात् अम्लपित्त नामक रोग में) । और—मैनफल के बीजों के योग से सिद्ध दूध पीकर—हृदयदाह तथा अधोगामी रक्त पित्त में वमन करे । अथवा उस दूध में बनाई गई यवागू (खीर) पीकर उक्त रोगों में वमन करे । और—मैनफल के बीजों के योग से सिद्ध दूध के दही की मलाई खाकर अथवा दही पीकर कफ जनित छर्दि, लालास्राव तथा तमक श्वास में वमन करे और—मैनफल के बीजों के योग से सिद्ध दूध से निकाला गया और मैनफल एवं जीमूतक आदि छ (६) द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध किया गया घृत पीकर वमन करे । इस प्रकार—कफ जनित मन्दाग्नि में तथा शोषरोग की प्रारम्भिक दशा में वमन करे अथवा—मैनफल के बीजों का स्वरस अथवा भल्लातक की विधि से बनाया गया क्वाथ लेकर पकावे जब वह कड़छुली में चिपकने लगे अर्थात् अवलेह बन जाय तब उसे चाटकर सुख पूर्वक वमन करे । और मैनफल के कषायों को अन्न तथा पान में प्रयुक्त करके और उनको खा पीकर वमन करे और मैनफल की मज्जा (बीज) का कषाय-वत्सकादि गण (सू. अ. १५) का कल्क मिलाकर और निम्ब की छाल अथवा अर्कमूल के क्वाथ के साथ पीने से वमन हो जाता है और वह वमन—सन्तर्पण से उत्पन्न एवं बद्धमूल सब व्याधियों (कफज रोगों) को नष्ट करता है और—मैनफल के पुष्प एवं फल का सूक्ष्म चूर्ण—पुष्प पर (कमल के पुष्प पर) बुरक देवे और उसे सूंघकर वमन करे । इस प्रकार सुखी-सुकुमार को वमन करावे । परन्तु सूंघने के पूर्व उसे भरपेट मण्ड अथवा मांस रस पिला देवे । इस प्रकार सुख पूर्वक वमन हो जाता है यदि फलों का संग्रह न हो सके तो मैनफल के पुष्पों तथा कच्चे फलों का भी उक्त सब प्रकारों से कल्प-प्रयोग करे । उनसे भी वमन हो जाता है ॥

वक्तव्य—ततः प्रयोगकाले तासां फलपिप्पलीनां अन्तर्मुखमुष्टिं यावत् वा साधु मन्यते, जर्जरीकृत्य यष्टिमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्पी-अन्यतमकषाये वा रात्रिमुषितं विमृदितं पूतं सुत्रोक्तविधिना पाययेत् । श्लेष्मज्वर गुल्मप्रतिश्याय-

अन्तर्विद्रधिषु विशेषेण पुनः आपित्तगमनात्। तेन साधु वमति। फलपिप्पलीचूर्णं वा स्वक्वाथभावितं त्रिभाग-त्रिफलाचूर्णं कोविदारादिनिर्यूहेण बलवत्कफप्रसेक अपची-अर्बुदग्रन्थिज्वर-उदर-अरोचकेषु पिबेत्। मदनफलमज्ज-चूर्णं वा जीमूतकादिनिर्यूहेण पित्ते कफस्थानगते। मदन-फलमज्जसिद्धं वा पयः, तस्मिन् वा यवागूमधोभागे रक्त-पित्ते हृद्दाहे च। तस्य वा पयसः शीतस्य सन्तानिकाञ्जलिं पित्ते प्रकुपिते, उरःकण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्धे। तज्जं वा दधि, दध्युत्तरं वा कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु। तस्मात् वा पयसो नवनीतमुत्पन्नं फलादिषट्कक्वाथेन फलादिषट्क-चूर्णोन्मिश्रेण सिद्धं कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यच्छरीरे च। फलम-ज्जचूर्णमिश्रेण वाऽऽरग्वधादिद्रव्याणां घोण्टाभूनिम्बवाण-बर्ब्याणां ससोमवल्कपञ्चकोलकानामन्यतमस्य निर्यूहेण साधितं स्नेहमुपयुञ्जीत। फलमज्जचूर्णमिश्रेण वा रेणु-का-एला-शताह्वाकुस्तुम्बुरुतगरकुष्ठत्वक् कोरकमरुवक-अगुरुगुग्गुलुवालकश्रीवेष्टकपरिपेलवमांसीशैलेयकस्थौणेयक सुर-सापालेवतपूति-अशोकरोहिणीना द्वाविंशतेः अन्यतमस्य कषायेण साधितामुत्कारिकां मोदकं वा भक्षयेत्। फलपिप्पली-स्वरसकषायपरिपीतैः वा तिलशालितण्डुलपिष्टैः तत्कषायो-पसृष्टैः सुरसादिद्रव्यान्यतमनिर्यूहोपसृष्टैः वा शष्कुलीः अपूपान् अन्यं वा भक्ष्यं साधयित्वा भक्षयेत्। फलपिप्पलीनां वा भल्लातकविधिशृतं स्वरसमादर्वीप्रलेपात् पक्त्वा लेहयेत्। अन्नपानेषु वा तं लेहमवचारयेत्। तत्कषायैः एव च अन्नपानानि कल्पयेत्। फलमज्जक्वाथं वा वत्सकादि प्रतिवापं निम्बाऽर्काऽन्यतरकषायोपसर्जनं सप्तपर्णोत्थसर्व-श्लेष्मव्याधिहरम्। फलपिप्पलीनां वा फलादिनिर्यूहेण एकविंशतिकृत्वः सुभावितानां कुसुमरजःसदृशेन चूर्णेन अवचूर्णयेत्। सरसि सरोरुहं बृहत् सायाह्ने तद्रात्रिमुषितं प्रभाते पुनः उपचूर्णितं उद्धृत्य हरिद्राक्षुशराक्षीरयवागूनां अन्यतमं सैन्धवगुडफाणितोपेतमाकण्ठं पीतवान् उपजिघ्रन् सुकुमारः समुचितगन्धसम्पत् उत्क्लिष्टकफपित्तो भेषज-द्वेषी च तथा सुखेन छर्दयति। एतेन सर्वमाल्यगन्धप्रावरण-पटा व्याख्याताः। एवमेव च फलाभावे मदनस्य पुष्पाणि शलाटूनि च कल्पयेत्' अ. सं. क. अ. १।

इस प्रकार मदनफल की विविध कल्पना करके उसका वमनार्थ उपयोग किया जा सकता है ॥१०-१८॥

इति मदनफलकल्पः

अथ जीमूतकल्पः—

जीमूताद्याश्च फलवत् जीमूतं तु विशेषतः ॥१९॥
प्रयोक्तव्यं ज्वर-श्वास-कास-हिध्माऽऽदिरोगिणाम्।
पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता ॥२०॥
लोमशे क्षीरसन्तानं दध्युत्तरमलोमशे।
शृते पयसि दध्यम्लं जातं हरितपाण्डुके ॥२१॥
आसुत्य वारुणीमण्डं पिबेन्मृदितगालितम्।
कफादरोचके कासे पाण्डुत्वे राजयक्ष्मणि ॥२२॥
इयं च कल्पना कार्या तुम्बीकोशातकीष्वपि।
पर्यागतानां शुष्काणां फलानां वेणिजन्मनाम् ॥२३॥
चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितः पिबेत्।
द्वे वा त्रीण्यपि वाऽऽपोथ्य क्वाथे तिक्तोत्तमस्य वा ॥२४
आरग्वधादिनवकादासुत्यान्यतमस्य वा।
विमृद्य पूतं तं क्वाथं पित्तश्लेष्मज्वरी पिबेत् ॥२५॥
'जीमूतकल्कं चूर्णं वा पिबेच्छीतेन वारिणा।
ज्वरे पैत्ते, कवोष्णेन कफवातात्कफादपि ॥२६॥

व्याख्या—उक्त मदन फल के समान ही जीमूतक आदि वामक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है विशेषतः जीमूतक का प्रयोग—ज्वर, श्वास, कास तथा हिक्का आदि में करना चाहिये॥ जीमूतक के फूलों का प्रयोग—दूध में पका कर करे। उसके फलों का प्रयोग—दूध में पकाई गई पेया में करे। फलों पर लोम उत्पन्न होने पर—उनका प्रयोग—दूध की मलाई बना कर करे। लोम आने के पूर्व—दूध में पकाकर, दही जमाकर, दही अथवा दही की मलाई खिला कर करे। जब जीमूत के फल—हरे पीले रहें तब दूध में पका कर, दही जमा कर और खट्टा हो जाने पर खिला पिला देवे। अथवा—जीमूतक के फलों का आसव बना कर, मल कर तथा छान कर और नितार कर पीवे। इसका प्रयोग—कफ जनित अरोचक, कास, पाण्डुरोग तथा राजयक्ष्मा में करे॥ इस प्रकार आसव की कल्पना तुम्बी तथा कोशातकी में भी करे॥ जीमूतक के परिपक्व फलों को सुखा कर चूर्ण बना लेवे और चूर्ण की शुक्ति भर (दो कर्ष भर) मात्रा दूध के साथ वह रोगी पीवे जो वायु एवं पित्त के विकारों से पीड़ित हो। जीमूतक के दो अथवा तीन फलों को दरदरा कूट कर निम्ब के क्वाथ में अथवा आरग्वध आदि ९ द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में आसव बना कर, मल कर और छान कर पी लेवे। इसे पित्त कफ ज्वर से पीड़ित रोगी पीवे॥ जीमूतक के चूर्ण को अथवा कल्क को पित्तज्वर में शीतल जल से और कफ वातज्वर तथा कफ ज्वर में कोसे जल से पीवे॥

वक्तव्य—कोलमात्रास्तु वा मताः-च कल्पअ. २। अर्थात जीमूतक की मात्रा १ कोल परिमित होनी चाहिये। जीवक ऋषभक इक्षु शतावरीणां अन्यतमस्य स्वरसेन वा पित्तजे। अथवा पूर्ववत् वा घृतं सिद्धम्। अ. सं. क. अ. १।

तथा जीमूतकक्षीरात् समुत्पन्नं पचेत् घृतम्।
फलादीनां कषायेण श्रेष्ठं तत् वमनं मतम् ॥११॥ च. क. अ. २

जीमूतं—देवदाली। अर्थात् बन्दाल डोडा—घघर वेल नाम से प्रसिद्ध लता का फल। जीमूत कल्प च. क. अ. २ में देखिये जीमूत के नाम—गरागरी, वेणी तथा देवताडक ॥ ॥१९-२६॥

इति जीमूतकल्पः

अथ इक्ष्वाकुकल्पः

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्षिते ।
इक्ष्वाकुर्वमने शस्तः प्रताम्यति च मानवे ॥ २७ ॥
फलपुष्पविहीनस्य प्रवालैस्तस्य साधितम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरे क्षीरं पित्तोद्रिक्ते प्रयोजयेत् ॥ २८ ॥
मृतमध्ये फले जीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि ।
स्यात्तदा कफजे कासश्वासे वम्यां च पाययेत् ॥ २९ ॥
मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः ।
तेन तक्रं विपक्वं वा पिबेत्समधुसैन्धवम् ॥ ३० ॥
भावयित्वाऽऽजदुग्धेन बीजं तेनैव वा पिबेत् ।
विषगुल्मोदरग्रन्थि गण्डेषु श्लीपदेषु च ॥ ३१ ॥
सक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः ।
कफोद्भवे ज्वरे कासे गलरोगेष्वरोचके ॥ ३२ ॥
गुल्मे ज्वरे प्रसक्ते च कल्कं मांसरसैः पिबेत् ।
नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ॥ ३३ ॥
तुम्ब्याः फलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम् ।
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गन्धसम्पत्सुखोचितः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—इक्ष्वाकु अर्थात् कटुतुम्बी का प्रयोग—कास, श्वास, विषविकार, छर्दि रोग, ज्वर, कफ के कारण उत्पन्न कृशता में तथा आँखों के सामने अन्धकार दिखाने पर वमनार्थ किया जाता है। फल एवं पुष्प से रहित इक्ष्वाकु को लता के प्रवालों (कोमल पत्रों) के योग से सिद्ध दूध का प्रयोग पित्त कफ जनित ज्वर तथा पित्त के उद्रेक में वमनार्थ किया जाता है। इक्ष्वाकु के परिपक्व फल का गूदा निकाल देवे और उसमें दूध डालकर रख देवे जब दही जम जाय तब उसे कफ जनित कास श्वास के वमनयोग्य रोगी को पिला देवे। अथवा इक्ष्वाकु के गूदा को मस्तु (दही का पानी) के साथ पीवे। अथवा उस गूदा के योग से परिपक्व तक्र में मधु एवं सैन्धव लवण मिला कर पीवे। यह दोनों योग—पाण्डु रोग, कुष्ठ रोग तथा विषविकार में वमनार्थ देवे। अथवा इक्ष्वाकु के बीजों को बकरी के दूध की भावना देकर, चूर्ण बनाकर और बकरी के दूध के साथ पिलावे। यह योग—विषविकार, गुल्मरोग, उदररोग, ग्रन्थि, गलगण्ड तथा श्लीपद में वमनार्थ देवे। अथवा—सत्तुओं को तुम्बी (इक्ष्वाकु) के स्वरस की भावना देकर और उनका मंथ (घोल) बनाकर पीवे। यह योग—कफज ज्वर, कास, गलरोग तथा अरोचक में दिया जाता है। अथवा—इक्ष्वाकु के कल्क को मांस रस के साथ पीवे। इससे भलीभाँति वमन हो जाता है और दुर्बलता भी नहीं आती। यह योग—गुल्म रोग तथा पुराने ज्वर में दिया जाता है। अथवा तुम्बी (इक्ष्वाकु) के फलों के स्वरस को तथा फूलों को मिलाकर सुखा लेवे और उनका सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे। उस चूर्ण को अन्य सुगन्धित फूलों अथवा कमल पर बुरक देवे इन फूलों को सूँघने से वमन हो जाता है। यह योग उस रोगी के लिये देवे जो सुगन्धित फूलों एवं द्रव्यों को सूँघने का अभ्यासी हो॥

वक्तव्य—इक्ष्वाकु के पर्याय—

लम्बा पिण्डफला तुम्बी कटुकाऽलाबुकी च सा ।
इक्ष्वाकुफलिनी चैव प्रोच्यते तस्य कल्पना ॥ ३ ॥
च क. अ. ३॥

कटु तुम्बी का नाम इक्ष्वाकु है। यह दो प्रकार की होती है १—लम्बी और २ पिण्डफला गोल। अष्टाङ्ग संग्रह में कुछ अधिक पाठ हैं—यथा—तदेव वा गव्यं सगुडपललं भक्षयेत्। इक्ष्वाकुफलतैलं वा पिबेत्। बिल्वमूलं प्रस्थक्वाथेन वा तुम्बीबीजानि क्वाथयेत्। ततः तस्मिन् त्रिभागघृते घृतसमानि पिष्ट्वा तुम्बीबीजानि तदर्द्धांशिकानि च प्रत्येकं जीमूतमङ्गजालिनीवत्सकक्रुतवेधनानि क्वाथतुल्यमेव च त्रिकटुकं भावयेत्। ततः पुनः अपि शृत्वा लेहं साधयेत्। तमवलिह्य प्रमथ्यां अनुपिबेत् तद्वत् अयं एव कल्पः काश्मर्यादिषु चतुर्षु महापञ्चमूलाङ्गेषु पृथक् पृथक् उक्तो वेदितव्यः। क. अ. २। और चरक में इसके बीजों की ५० से १०-१० बढ़ाकर १०० पर्यन्त मात्रा लिखी हैं। यथा—क. क. ३—

पञ्चाशत् दशवृद्धानि फलादीनां यथोत्तरम् ।
पिबेत् विमृद्य बीजानि कषायेषु आशतं पृथक् ॥ १२ ॥

अर्थात् मदन फल आदि ६ द्रव्यों के कषायों में—इक्ष्वाकु बीज ५० से १०० पर्यन्त मलकर पीवे। चरक में कुछ अधिक योग भी लिखे हैं ॥२७—३४॥

अथ धामार्गव कल्पः

कासगुल्मोदरगरे वाते श्लेष्माशयस्थिते ।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसञ्चयजेषु च ॥ ३५ ॥
धामार्गवो गदेष्विष्टः स्थिरेषु च महत्सु च ।
जीवकर्षभकौ वीरा कपिकच्छूः शतावरी ॥ ३६ ॥
काकोली श्रावणी मेदा महामेदा मधूलिका ।
तद्रजोभिः पृथग्लेहाधामार्गवरजोऽन्विताः ॥ ३७ ॥
कासे हृदयदाहे च शस्ता मधुसिताद्रवाः ।
ते सुखाम्भोऽनुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे ॥३८ ॥
धान्यतुम्बरुयूषेण कल्कस्तस्य विषापहः ।

बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा रसे ॥ ३९ ॥
एकं धामार्गवं द्वे वा मानसे मृदितं पिबेत् ।
तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः ॥ ४० ॥

व्याख्या—धामार्गव (राज कोशातकी) का प्रयोग—कास, गुल्मरोग, गरविषविकार, श्लेष्माशय गत वायु कण्ठ एवं मुख में वर्तमान कफ तथा कफसञ्चय जनित रोगों तथा दीर्घ काल स्थायी एवं महान् (बड़े बड़े) रोगों में वमनार्थ किया जाता है। जीवक, ऋषभक, विदारी कन्द, किवाञ्च के बीज, शतावर, काकोली, गोरखमुण्डी, मेदा, महामेदा तथा जल मुलेठी । इन द्रव्यों के पृथक् पृथक् चूर्ण के साथ धामार्गव का चूर्ण मिला देवे और मधु एवं खण्ड के योग से अवलेह बना लेवें। इन योगों का कास तथा हृदय गत दाह में पृथक् पृथक् प्रयोग करे और पित्त से युक्त कफ के विकारों में कोसे जल के साथ इनका प्रयोग करे। धामार्गव का कल्क—धनियाँ के क्वाथ के साथ विष विकार नाशक होता है धामार्गव के एक अथवा दो फलों को—कुन्दसर की जड़ अथवा पुनर्नवा की जड़ अथवा कसौन्दी की जड़ के स्वरस में भिगोकर, मल कर उन्माद आदि मानसिक रोगों में वमनार्थ पीवे। अथवा धामार्गव के योग से परिपक्व दूध का घृत मदन फल आदि वामक द्रव्यों के योग से सिद्ध करके मानसिक रोगों में पीवे ॥

वक्तव्य—धामार्गव के पर्याय—च. क २७.४—

कर्कोटकी कोठ (ट्ठ) फला महाजालिनिरेव च ।
धामार्गवस्य पर्यायाः राजकोशातकी तथा । ३ ।

चरक के उक्त अध्याय में कुछ अधिक योग हैं। यह एक प्रकार की कड़वी तरोई है, जिसमें जाला जैसा गूदा होता है, सूखने पर उससे पांव मले जाते हैं।३५-४०॥

इति धामार्गवकल्पः

अथ क्ष्वेडकल्पः

क्ष्वेडोऽतिकटुतीक्ष्णोष्णः प्रगाढेषु प्रशस्यते ।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥ ४१ ॥
पृथक् फलादिषट्कस्य काथे मांसमनूपजम् ।
'कोशातक्या' समं सिद्धं तद्रसं लवणं पिबेत् ॥ ४२ ॥
फलादिपिप्पलीतुल्यं सिद्धं क्ष्वेडरसेऽथवा ।
क्ष्वेडकाथे पिबेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन वा ॥ ४३ ॥

व्याख्या—क्ष्वेड (कोशातकी) — अत्यन्त कटु, तीक्ष्ण एवं उष्ण होती हैं और इसका वमनार्थ प्रयोग—कुष्ठ पाण्डुरोग, प्लीह विकार, शोथ, गुल्म तथा गरविकार आदि रोगों में किया जाता है। क्ष्वेड के समान भाग, आनूप देशीय मांस को—मदन फल आदि ६ द्रव्यों के पृथक् २ क्वाथ में पकावे। इस में लवण मिलाकर पीवे। अथवा—मदन फल आदि के बीजों के समान भाग मांस को क्ष्वेड के रस में पकाकर पीवे। अथवा—क्ष्वेड के रस में क्ष्वेड को पका कर पीवे अथवा ईख के रस में मिलाकर (या पकाकर) पीवे ॥

वक्तव्य—क्ष्वेड के पर्याय—च. क. अ. ।

कृतवेधननामानि कल्पं चास्य निबोधत ।
क्ष्वेडः कोशातकी जाली मृदङ्गफलमेव च ॥ ३ ॥

यह वह तरोई या तुम्बी है। जिसका उपयोग—सितार तानपूरा एवं वीणा आदि में किया जाता है इसका फल कूष्माण्ड से भी बड़ा देखा जाता है। चरक में इसके अधिक प्रयोग लिखे हैं। ४१-४३ ॥

इति क्ष्वेडकल्पः ।

अथ कुटजफलकल्पः ।

कुटजं सुकुमारेषु पित्तरक्तकफोदये ।
ज्वरे विसर्पे हृद्रोगे खुडे कुष्ठे च पूजितम् ॥ ४४ ॥
सर्षपाणां मधूकानां तोयेन लवणस्य वा ।
पाययेत्कौटजं बीजं युक्तं कृशरयाऽथवा ॥ ४५ ॥
सप्ताहं वाऽर्कदुग्धाक्तं तच्चूर्णं पाययेत्पृथक् ।
फलजीमूतकेक्ष्वाकु-जीवन्तीजीवकोदकैः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—कुटज (वत्सक) के बीजों (इन्द्रजौ) का वमनार्थ प्रयोग—सुकुमारों में किया जाता है जब इनके शरीर में पित्त, रक्त एवं कफ की वृद्धि हो जाती है और ज्वर, विसर्प, हृद्रोग, वातरक्त तथा कुष्ठ रोग में भी उसका प्रयोग किया जाता है। कुटज के बीजों का प्रयोग—सरसों के, महुआ के फूलों के अथवा लवण के जल के साथ अथवा खिचड़ी में मिला कर करे। अथवा—कुटज बीजों के चूर्ण को आक के दूध की सात भावना देवे और उसे—मदन फल के, जीमूतक के, इक्ष्वाकु के जीवन्ती के अथवा जीवक के रस (कषाय) के साथ पिलावे ॥३२-३४॥

वक्तव्य—कुटज का वर्णन—च. क. अ. ५ ।

अथ वत्सकनामानि भेदं स्त्रीपुंसयोः तथा ।
कल्पं चाऽस्तं प्रवक्ष्यामि विस्तरेण यथातथम् ॥ ३ ॥
वत्सकः कुटजः शक्रो वृक्षको गिरिमल्लिका ।
बीजानीन्द्रयवताः तस्य तथोच्यन्ते कलिङ्गका ॥ ४ ॥
बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान भवेत् ।
श्यामा चाऽरुणपुष्पा स्त्री फलवृन्तः चाऽणुभिः ॥ ५ ॥

आज कल दो प्रकार के इन्द्रजौ मिलते हैं १—मीठे तथा २—कडुवे। स्यात् कडुवे इन्द्रजौ वामक होते हैं। चरक में इन्द्र जौ की मात्रा—अन्तर्नख मुष्टि (१ शुक्ति २ कर्ष) लिखी है। अर्क दुग्ध भावितों की मात्रा पाणितल (१ कर्ष लिखी है। उष्ण २ लवणोदक भी वामक होता है।

इति कुटजफल कल्पः ।

उपसंहार—
वमनौषधमुख्यानामिति कल्पदिगीरिता ।
बीजेनानेन मतिमानन्यान्यपि च कल्पयेत् ॥ ४७ ॥

व्याख्या—वमन के लिये इन ६ मुख्य औषधों के कल्प का मार्ग कह दिया गया है, बुद्धिमान् चिकित्सक—इस बीज (संक्षिप्त उपदेश—उदाहरण) से अन्यान्य औषधों की कल्पना भी कर सकता है ॥

वक्तव्य—१—मदन फल, २—जीमूतक, ३—इक्ष्वाकु ४—धामार्गव, ५—क्ष्वेड, तथा ६—वत्सक । यह ६ द्रव्य वामक द्रव्य हैं । इनसे अतिरिक्त अन्यान्य द्रव्य भी वामक—छर्दन हैं । देखिये सू. अ. १५ का "मदन मधुक........ छर्दनानि" श्लोक । वमन करने की विधि सू. अ. १८ में देखिये । चरक के कल्प स्थानों में इस विषय का वर्णन ६ अध्यायों में किया गया है ।

इति अष्टांगहृदये कल्पस्थाने वमनकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः

विरेचनकल्प।

अथाऽतो विरेचनकल्पं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥१॥

अब विरेचन कल्प की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—च. क. अ. ७ से १२, सु. सू. अ. ४४ तथा अ. सं. अ. २ देखिये ।

अथ त्रिवृत्श्यामयोः कल्पः—

'कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका त्रिवृत् ।
कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥ १ ॥
सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः ।
कल्पवैशेष्यमासाद्य जायते सर्वरोगिजित् । २ ॥
द्विधा ख्यातं च तन्मूलं श्यामं श्यामारुणं त्रिवृत् ।
त्रिवृदाख्यं वरतरं निरपायं सुखं तयोः ॥ ३ ॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितम् ।
मूर्च्छासम्मोहहृत्कण्ठ-कर्षणक्षपणप्रदम् ॥ ४ ॥
श्यामं तीक्ष्णाशुकारित्वादतस्तदपि शस्यते ।
क्रूरे कोष्ठे बहौ दोषे क्लेशक्षमिणि चातुरे ॥ ५ ॥
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् ।
गृहीत्वा विसृजेत्कोष्ठं त्वचं शुष्कां विधापयेत् ॥ ६ ॥
अथ काले तु तच्चूर्णं किञ्चिन्नागरसैन्धवम् ।
वातामये पिबेदम्लैः पित्ते साज्यसितामधु ॥ ७ ॥
क्षीरद्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वादुस्कन्धवरारसैः ।
कफामये पीलुरसमूत्रमद्याम्लकाञ्जिकैः ॥ ८ ॥
पञ्चकोलादिचूर्णैश्च युक्तयायुक्तं कफापहैः ।
त्रिवृत्कल्ककषायेण साधितः ससितो हिमः ॥ ९ ॥
मधुत्रिजातसंयुक्तो लेहो हृद्यं विरेचनम् ।
अजगन्धा तवक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत् ॥ १० ॥
चूर्णितं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।
सन्निपातज्वरस्तम्भपिपासादाहपीडितः ॥ ११ ॥
लिम्पेदन्तस्त्रिवृतया द्विधा कृत्वेक्षुगण्डिकाम् ।
एकीकृत्य च तत्स्विन्नं पुटपाकेन भक्षयेत् ॥ १२ ॥
त्रिफलाभ्यां समा नीली त्रैवृत् तैस्च शर्करा ।
चूर्णं फलरसक्षौद्रसक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ॥ १३ ॥
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च ।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ॥ १४ ॥
विडङ्गतण्डुलवरा-यावशूककणास्त्रिवृत् ।
सर्वेभ्योऽर्धेन तल्लीढं मध्वाज्येन गुडेन वा ॥ १५ ॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् परिमार्ष्टि गदान्बहून् ॥ १६ ॥
विडङ्गपिप्पलीमूल-त्रिफलाधान्यचित्रकम् ।
मरिचेन्द्रयवाजाजी-पिप्पलीहस्तिपिप्पलीः ॥ १७ ॥
दीप्यकं पञ्चलवणं चूर्णितं कार्षिकं पृथक् ।
तिलतैलत्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ ॥ १८ ॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलान्वितान् ।
पक्त्वा मृद्वग्निना खादेत्ततो मात्रामयन्त्रणः ॥ १९ ॥
कुष्ठार्शःकामलागुल्म-मेहोदरभगन्दरान् ।
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्ति पुंसवनश्च सः ॥ २० ॥
गुडः कल्याणको नाम सर्वेष्वृतुषु यौगिकः ।
व्योषत्रिजातकाम्भोद-कृमिघ्नामलकैस्त्रिवृद् ॥ २१ ॥
सर्वैः समा समसिता क्षौद्रेण गुटिकाः कृताः ।
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दि-कासशोषभ्रमक्षये ॥ २२ ॥
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ताः सर्वविषेषु च ।
अविपत्तिरयं योगः प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥ २३ ॥
त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ।
क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं 'वर्षाकाले' विरेचनम् ।
त्रिवृद्दुरालभामुस्ता-शर्करोदीच्यचन्दनम् ॥ २४ ॥
द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वसातलं 'जलदात्यये' ।
त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम् ॥ २५ ॥
स्वर्णक्षीरीं च 'हेमन्ते' चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ।
त्रिवृता शर्करातुल्या 'ग्रीष्मकाले' विरेचनम् ॥ २६ ॥
त्रिवृत्-त्रायन्ति-हपुषा-सातला-कटुरोहिणीः ।
स्वर्णक्षीरीं च सञ्चूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्त्र्यहम् ॥ २७ ॥
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहृत् ।
श्यामात्रिवृद्दुरालभा-हस्तिपिप्पलिवत्सकम् ॥ २८ ॥
नीलिनीकटुकामुस्ता-श्रेष्ठायुक्तं सुचूर्णितम् ।
रसाज्योष्णाम्बुभिः शस्तं रूक्षाणामपि सर्वदा ॥ २९ ॥

व्याख्या—त्रिवृत (निशोत)—कषाय एवं मधुर रस वाली है, रूक्ष गुण वाली है, विपाक में कटु है, कफ एवं

पित्त को शान्त करती है और रूक्ष होने के कारण वायु को कुपित करती है और वह त्रिवृत्—वायु, पित्त एवं कफ को नष्ट करने-वाले द्रव्यों के साथ मिलाई गई—कल्प विशेषता को पाकर सर्व रोग नाशक (विरेचन साध्य रोग नाशक) हो जाती है। त्रिवृत् का मूल दो प्रकार का होता है—१—श्याम तथा २—श्यामारुण। इनमें—श्याम मूल का नाम "श्यामा" है और श्यामारुण मूल का नाम त्रिवृत् है। इन दोनों में "त्रिवृत्" नाम का मूल अधिक उत्तम होता है अतः वह निरपाय—व्यापत्ति रहित होता है तथा सुख विरेचन है। अतएव वह सुकुमार, शिशु, वृद्ध तथा मृदुकोष्ठ में लाभदायक होता है। और श्याम मूल—तीक्ष्ण एवं आशुकारी होने से—मूर्छा, मोह, हृदय में कर्षण तथा कण्ठ में क्षवन (क्षत—खरोंच) उत्पन्न करता है तथापि वह—क्रूर कोष्ठ में, बहुत दोष में तथा क्लेश सहने में समर्थ रोगी में दिया जाता है—दिया जा सकता है। इन दोनों प्रकार की निसोत के मूल को (जो गुणवती भूमि में उत्पन्न हो) उखाड़ना चाहिये जो मूल—गहरा गया हुआ हो, श्लक्ष्ण हो और तिरछा फैला हुआ न हो—सीधा गया हुआ हो। उसे लेकर भीतर का काष्ठ निकाल कर फेंक देवे और त्वचा को सुखाकर रख लेवे। जब आवश्यकता हो तब—उस त्वचा का चूर्ण बनाकर और उसमें थोड़ा सोंठ का तथा सैन्धव लवण का चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ निम्नलिखित अनुपातों के साथ पीवे— १. वातविकार में—काञ्जी आदि अम्ल पदार्थों के साथ, २. पित्तविकार में—घृत, खण्ड तथा मधु में मिलाकर दूध, दाख के रस, ईख के रस, गम्भार के रस, मधुर गणीय द्रव्यों के रस—स्वरस अथवा फलों के रस के साथ, ३. कफविकार में—पीलु के स्वरस, गोमूत्र, मद्य खट्टी काञ्जी अथवा पञ्चकोल आदि कफ नाशक द्रव्यों के साथ युक्तिपूर्वक पीवे।

त्रिवृत्—लेह—

त्रिवृत् के कल्क एवं कषाय के योग से खण्ड का पाक कर अवलेह बनावे और शीतल होने पर उसमें मधु एवं त्रिजात दाल चीनी, बड़ी इलायची तथा तेज पत्ता) का चूर्ण मिला देवे। यह विरेचन योग हृदय को शक्ति देता है।

अजगन्धादियोग—

अजगन्धा (अजमोद), तुगाक्षीरी (तोखाशीर) विदारी कन्द, खण्ड तथा निसोत का समभाग चूर्ण बनावे और उसे मधु एवं घृत में मिलाकर चाटे। इस योग से—सन्निपात ज्वर, शरीर की स्तब्धता, तृषा तथा दाहरोग से पीड़ित को भली भांति विरेचन हो जाता है।

इक्षुकाण्ड योग—

त्रिवृत् का कल्क—ईख की गण्डेरी को दो भागों में फाड़ कर लीप देवे और दोनों भागों को मिलाकर पुट पाक विधि से पकावे, स्विन्न हो जाने पर खावे—गण्डेरी को चूसे। इस प्रकार भी विरेचन हो जाता है।

तर्पण—

दाल चीनी एवं बड़ी इलायची का चूर्ण १—१ भाग नील के बीज २ भाग, त्रिवृत् का चूर्ण मिलाकर ४ भाग, खण्ड ८ भाग। सब का चूर्ण मिलाकर—अंगूर आदि फलों के रस, मधु तथा सत्तू के तर्पण (घोल) के साथ पीवे। यह योग—वात, पित्त तथा कफ के रोगों में, मन्दाग्नि में तथा सुकुमारों में हानि रहित विरेचन है।

विडंगादियोग—

बायविडंग, हरड़, बहेड़ा, आमला, जौखार, पीपल तथा त्रिवृत् का चूर्ण समभाग मिलाकर रख लेवे और उस में चूर्ण से आधा भाग मधु एवं घृत अथवा गुड़ मिला कर चाटे। यह योग—गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि तथा कफवात जनित अन्यान्य बहुत रोगों को नष्ट करता है।

कल्याण गुड

बायविडंग, पीपलामूल, हरड़, बहेड़ा, आमला, धनियाँ, चिता की छाल, मरिच, इन्द्र जौ, जीरा, पीपल, गज पीपल, अजवायन, सैन्धव, सौवर्चल, विडलवण, समुद्र लवण तथा साम्भर लवण का चूर्ण १—१ कर्ष, तिल तैल, तथा त्रिवृत् का चूर्ण ८—८ पल, आमलों का रस ३ प्रस्थ, गुड़ ५० पल। मन्द २ अग्नि पर पाक करे गोली बनाने योग्य होने पर गोलियाँ (१—१ कर्ष की) बना लेवे। इसमें से उचित मात्रा (जिससे विरेचन हो जाय) में खावे। इसके सेवन काल में किसी प्रकार के विशिष्ट परिहार की आवश्यकता नहीं है। यह योग—कुष्ठ, अर्शः, कामला, गुल्म, प्रमेह, उदर रोग, भगन्दर, ग्रहणी रोग तथा पाण्डु रोग को नष्ट करता है। और इसके सेवन से पुमान् सन्तान उत्पन्न होता है। इस योग का नाम "कल्याण गुड़" है और सब ऋतुओं में उपयोगी है।

अविपत्ति योग—

सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, नागर मोथा, विडंग तथा आमला १—१ भाग त्रिवृत् १६ भाग, खण्ड १८ भाग। मधु के योग से गोलियाँ (१—१ तो०) बनावे। यह—मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, छर्दि, कास, शोथ, भ्रम, क्षय, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि, तथा सब प्रकार के विष विकारों में प्रशस्त है। यह अविपत्ति योग पित्त रोग में अत्यन्त उपयोगी है।

वर्षाकालोपयोगी विरेचन—

त्रिवृत्, इन्द्र जौ, पीपल तथा सोंठ का चूर्ण-मधु एवं दाख का रस मिलाकर विरेचनार्थ वर्षा ऋतु में खावे।'

शरत्कालोपयोगी विरेचन—

त्रिवृत्, धमासा, मोथा, खण्ड, नेत्र बाला, लाल चन्दन, मुलेठी तथा सप्तपर्ण की छाल का चूर्ण—दाख के रस के साथ विरेचनार्थ—शरद् ऋतु में पीवे॥

हेमन्तकालोपयोगी विरेचन—

त्रिवृत्, चित्रकमूलत्वक्, पाठा, जीरा, सरल (का गोन्द) बाल वच तथा सत्यानाशी की जड़ का छिलका समभाग लेकर चूर्ण बनावे। यह चूर्ण—उष्ण जल के साथ—विरेचनार्थ—उष्ण पीना चाहिये। हेमन्त ऋतु में।

त्रिवृत् का चूर्ण एवं खण्ड सम भाग मिलाकर ग्रीष्म ऋतु में विरेचनार्थ खाना चाहिये॥

सर्वर्तूपयोगी विरेचन—

त्रिवृत्, त्रायमाणा, झाऊ बेर, सप्तपर्ण, कुटकी तथा सत्यानाशी की जड़ के छिलका का चूर्ण सम भाग लेकर-गोमूत्र की तीन भावना देवे और सुखा कर रख लेवे। यह योग सब ऋतुओं में उपयोगी है और स्नेहन करके खाने पर—मल दोष का हरण करता है॥

श्यामा का योग—

श्यामा (नामक निसोत की जड़ का छिलका देखिये श्लो० ४), त्रिवृत्, धमांसा, गज पीपल, कुटज त्वक्, बोल के बीज, कुटकी, मोथा, हरड़, बहेड़ा तथा आमला का समभाग चूर्ण मिलाकर रख लेवे। यह चूर्ण रूक्षों (क्रूर कोष्ठ वालों) के लिये भी सब ऋतुओं में विरेचनार्थ उपयोगी है। अनुपान—मांसरस, घृत तथा उष्ण जल॥

वक्तव्य—श्यामा—काली निसोत का नाम है यह तीक्ष्ण विरेचनी होती है। निसोत के अनेक योग बनाये जाते हैं। इसका वर्णन च. क. अ. ७ में तथा अ. सं. अ. २ में देखिये॥ १-२९॥

इति त्रिवृत्—श्यामयोः कल्पः।

अथ राजवृक्ष कल्पः।

ज्वर-हृद्रोग-वातासृगुदावर्तादिरोगिषु।
राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः॥३०॥
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे।
योज्यो मृद्वनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः॥३१॥
फलकाले परिणतं फलं तस्य समाहरेत्।
तेषां गुणवतां भारं सिकतासु विनिक्षिपेत्॥३२॥
सप्तरात्रात्समुद्धृत्य शोषयेदातपे ततः।
ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ पात्रे निधापयेत्॥३३॥
द्राक्षारसेन तं दद्याद्दाहोदावर्तपीडिते।
चतुर्वर्षे सुखं बाले यावद्द्वादशवार्षिके॥३४॥
चतुरङ्गुलमज्ज्ञो वा कषायं पाययेद्धिमम्।
दधिमण्डसुरामण्डधात्रीफलरसैः पृथक्॥३५॥
सौवीरकेण वा युक्तं कल्केन त्रैवृतेन वा।
दन्तीकषाये तन्मज्ज्ञो गुडं जीर्णं च निक्षिपेत्॥३६॥
समविष्टं स्थितं मासं पाययेत् पक्षमेव वा।

व्याख्या—राज वृक्ष (अमलतास)—ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त तथा उदावर्त्त आदि रोगों में अधिक उपयोगी है और वह मृदु, मधुर तथा शीतल है। मृदु तथा व्यापत्ति रहित होने के कारण—राजवृक्ष—बालक में, क्षत (घायल) में, क्षीण में, तथा सुकुमार मानव में—विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है॥

राजवृक्ष के ग्रहण की विधि—

फलकाल में राजवृक्ष के परिपक्व फलों (लम्बी फली) का संग्रह करे। उन्हीं फलों का संग्रह करे जो गुणवान् हों—सड़े गले, काने, कृमियुक्त न हों। उन फलों का भार बान्धकर बालू (रेत) में दबा देवे। सात दिन के पश्चात् निकालकर धूप में सुखा लेवे। तत्पश्चात् उनकी मज्जा (गूदा—बीजरहित गूदा) निकाल कर स्वच्छ भाण्ड में धर देवे॥

उसके प्रयोग—

उस मज्जाको—दाख के रस के साथ—दाह एवं उदावर्त्त से पीडित ४ से १२ वर्ष के बालक को देवे। अथवा—अमलतास के गूदा का हिम बना-बनाकर पिलावे। अथवा—दही के पानी अथवा सुरा, अथवा आमला के रस अथवा काञ्जी अथवा त्रिवृत् के कल्क के साथ देवे। अथवा—दन्ती मूल के कषाय में अमलतास की मज्जा तथा गुड़ (आसव के परिमाणानुसार) डाल कर एक मास (शीत काल में) अथवा १५ दिन (उष्णकाल में) पर्यन्त रख देवे। इस अरिष्ट को विरेचनार्थ पिलावे॥

वक्तव्य—उत्तम कोटि का मृदु विरेचन है। इसकी पूर्ण मात्रा चरक के कथनानुसार १ प्रसृत (८ कर्ष) अथवा १ अञ्जलि (१६ कर्ष) है। तथापि—२-४ कर्ष की मात्रा से विरेचन हो जाता है। बालक के लिये १-२ कर्ष ही पर्याप्त है। चरक क. अ. ८ से तथा अ. सं. अ. २ में इसके अधिक योग लिखे हैं॥ ३०-३६॥

अथ तिल्वक कल्पः—

त्वचं तिल्वकमूलस्य त्यक्त्वाऽभ्यन्तरवल्कलम्॥३७॥
विशोष्य चूर्णयित्वा च द्वौ मासौ गालयेत्ततः।
रोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत्॥३८॥
कषाये दशमूलस्य तं भागं भावितं पुनः।

शुष्कं चूर्णं पुनः कृत्वा ततः पाणितलं पिबेत् ॥३९॥
मस्तुमूत्रसुरामण्डकोलधात्रीफलाम्बुभिः ।
तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः ॥४०॥
सघृतः साधितो लेहः स च श्रेष्ठं विरेचनम् ।

व्याख्या—तिल्वक वृक्ष के मूल की वह छाल लेवे जिसका भीतरी छिलका पृथक् कर दिया गया हो और उसे सुखाकर चूर्ण बना लेवे। उसके योग—उस चूर्ण के दो भाग लेकर लोध की छाल के क्वाथ में भिगो देवे और मल कर छान लेवे उस क्वाथ से उक्त चूर्ण के एक भाग को भावना देवे और फिर दशमूल के क्वाथ की भावना देकर, सुखाकर स्वच्छ भाण्ड में रख लेवे। इस चूर्ण की १ कर्ष मात्रा—दही के पानी, मूत्र, सुरा, बेर के रस अथवा आमला के रस के साथ—विरेचनार्थ पीवे। लोध की उक्त प्रकार की छाल के क्वाथ तथा कल्क के योग से खण्ड तथा घृत डालकर अवलेह सिद्ध करे वह लेह भी उत्तम कोटि का विरेचन है ॥

वक्तव्य—तिल्वक-लोध का नाम है। च. क. अ. ९ में अ. सं. में इसके अधिक योग लिखे हैं ॥३७–४०॥

अथ सुधाकल्पः—

सुधा भिनत्ति दोषाणां महान्तमपि सञ्चयम् ॥४१॥
आश्वेव कुष्ठविभ्रंशान्नैव तां कल्पयेदतः ।
मृदौ कोष्ठेऽबले बाले स्थविरे दीर्घरोगिणि ॥४२॥
कल्प्या गुल्मोदरगर-त्वग्रोगमधुमेहिषु ।
पाण्डौ दूषीविषे शोफे दोषविभ्रान्तचेतसि ॥४३॥
सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता ।
द्विवर्षा वा त्रिवर्षा वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥४४॥
तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धरयेत्ततः ।
बिल्वादीनां बृहत्योर्वा क्वाथेन सममेकशः ॥ ४५ ॥
मिश्रयित्वा सुधाक्षीरं ततोऽङ्गारेषु शोषयेत् ।
पिबेत्कृत्वा तु गुटिकां मस्तुमूत्रसुरादिभिः ॥४६॥
त्रिवृतादीन्नव वरां स्वर्णक्षीरीं ससातलाम् ।
सप्ताहं स्नुक्पयःपानात् रसेनाज्येन वा पिबेत् ॥४७॥
तद्वद्व्योषोत्तमा कुम्भ-निकुम्भादीन् गुडाम्बुना ।

व्याख्या—सुधा (सेहुण्ड-थूहर) दोषों (मलों) के बहुत बड़े संचय (संघात) को शीघ्र ही तोड़ देती है और कोष्ठ (अन्त्र-समस्त अन्त्र) शिथिल हो जाता है अतः मृदुकोष्ठ में, दुर्बल में, बालक में, वृद्ध में तथा पुराने रोगी (कृश एवं दुर्बल) में उसका प्रयोग न करे ॥ उसका प्रयोग—गुल्म, उदररोग, गरविष विकार, कुष्ठ, मधु प्रमेह, पाण्डुरोग, दूषीविष, शोथ तथा उन्माद में करना चाहिये (इन रोगों में भी—बलवान् रोगी में इसका प्रयोग करे)। सुधा दो प्रकार की होती है—१—थोड़े कण्टकों वाली और २—अधिक कण्टकों वाली—इनमें जो तीखे एवं अधिक कण्टकों वाली होती है वह श्रेष्ठ होती है ॥ दो अथवा तीन वर्ष की सुधा को—शिशिर ऋतु के अन्तिम सप्ताह में—शस्त्र द्वारा काटकर दूध को ग्रहण करे। तत्पश्चात्—बिल्व आदि बृहत्-पंच मूल के तथा वनभण्टा एवं कण्टकारी के पृथक् २ क्वाथ के साथ मिला कर समभाग सुधादुग्ध को अंगारों पर सुखा लेवे और कोल (झरबेर की गुठली सी) जैसी गोलियाँ बना लेवे। और एक गोली को—दही के पानी, गोमूत्र अथवा दूध के साथ पीवे ॥

त्रिवृत आदि ९ द्रव्यों—(१. त्रिवृत्, २. श्यामा ३. राजवृक्ष (आरग्वध), ४. सुधाकाण्ड, ५. शंखिनी, ६. सप्तला, ७ दन्ती, ८. द्रवन्ती तथा, ९. तिल्वक नामक) का चूर्ण अथवा सत्यानाशी मूलत्वक् एवं सप्तपर्णा का मिश्रित चूर्ण लेकर सात दिन में सुधा दुग्ध की सात भावना देवें। इन में से किसी एक चूर्ण को मांसरस अथवा घृत के साथ पीवे ॥ इसी प्रकार—त्रिकटु, त्रिफला, त्रिवृत अथवा दन्ती मूल आदि (सू. अ. १५ में कथित) विरेचन गण के द्रव्यों को सुधा दुग्ध से भावित करके—गुड के पानी के साथ पीवे ॥

वक्तव्य—यथा सम्भव सेहुण्ड का दूध अकेला नहीं दिया जाता अपितु किसी रेचन द्रव्य में उसकी भावना देकर ही दिया जाता है। साथ में हलुवा अथवा गुड़ का शर्बत अथवा गुड़ मिश्रित दूध दिया जाता है। च. क. अ. १० में तथा अ. सं. २ में इसके अधिक योग लिखे हैं। इस का दूध केवल छाल में होता है उस पर चाकू से पच्छ लगाने पर दूध बहने लगता है। खड़े पेड़ से ही दूध प्राप्त किया जाता है। पेड़ के गूदा का रायता भी कुछ विरेचक होता है गूदा को कद्दूकस करके, उष्ण जल से धोकर, दही में मिल कर और लवण मरिच मिलाकर रायता बनाया जाता है।

इति सुधाकल्पः।

अथ शंखिनी-सप्तलयोः कल्पः—

नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम् ॥४८॥
सप्तलायास्तथा मूलं ते तु तीक्ष्णविकाषिणी ।
श्लेष्माऽऽमयोदरगर-श्वयथ्वादिषु कल्पयेत् ॥ ४९ ॥
अक्षमात्रं तयोः पिण्डं मदिरालवणान्वितम् ।
हृद्रोगे वातकफजे तद्वद् गुल्मे प्रयोजयेत् ॥ ५० ॥

व्याख्या—शंखिनी के वे फल प्रयुक्त होते हैं जो अत्यन्त सूखे न हों उनको छील कर प्रयोग में लाया जाता है। और सप्तपर्ण के मूल (की त्वचा) का प्रयोग किया जाता है। ये दोनों द्रव्य—अत्यन्त तीक्ष्ण एवं विकाषी हैं अतः इन का कल्प (प्रयोग)—कफज रोगों में, उदर

रोगों में, गरजनित विष विकारों में तथा शोथ आदि रोगों में किया जाता है। इन दोनों का पृथक् २ एक कर्ष परिमित पिण्ड लेकर सुरा एवं लवण में घोल कर (अथवा लवण मिश्रित सुरा के साथ)—वातकफ जनित हृद्रोग में तथा वातकफ जनित गुल्म रोग में प्रयुक्त किया जाता है।

वक्तव्य—इनके पर्याय—च. क. अ. ११—

शंखिनी तिक्तला चैव यवतिक्ता अक्षिपीडकः।
सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा। ३।

च. के उक्त अध्याय में तथा अ. सं. अ. २ में इनके अधिक प्रयोग लिखे हैं यथा—

शंखिनी चूर्णभागौ द्वौ तिलकल्कस्य चाऽपरः।
हरीतकी कषायेण तत्तैलं पीडितं पिबेत्।
अतसी सर्षप-एरण्ड करञ्जेष्वप्ययं विधिः।

अर्थात्—शंखिनी के बीजों को तिल, अतसी, सरसों, एरण्ड अथवा करञ्ज बीज के साथ मिलाकर एवं तैल निकाल कर पीने इस प्रकार उसकी तीक्ष्णता न्यून हो जाती है। इसी प्रकार जमालगोटा के बीजों का तैल भी निकाला जाता है ॥ ४९-५० ॥

इति शंखिनी-सप्तलयोः कल्पः।

अथ दन्ती-द्रवन्त्योः कल्पः—

दान्तिदन्तस्थिरं स्थूलं मूलं दन्तीद्रवन्तिजम्।
आताम्रश्यावतीक्ष्णोष्णमाशुकारि विकाषि च ॥ ५१ ॥
गुरु प्रकोपि वातस्य पित्तश्लेष्मविलायनम्।
तत्क्षौद्रपिप्पलीलिप्तं स्वेद्यं मृद्दर्भवेष्टितम् ॥ ५२ ॥
शोष्यं मन्दातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्यस्य विकाषिताम्।
तत्पिबेन्मस्तुमदिरा-तक्रपीलुरसासवैः। ५३ ॥
अभिष्यण्णतनुर्गुल्मी प्रमेही जठरी गरी।
गोमृगाजरसैः पाण्डुः कृमिकोष्ठी भगन्दरी ॥ ५४ ॥
सिद्धं तत्क्वाथकल्काभ्यां दशमूलरसेन च।
विसर्पविद्रध्यलजीकक्षादाहान् जयेद् घृतम् ॥ ५५ ॥
तैलं तु गुल्ममेहार्शोविबन्धकफमारुतान्।
महास्नेहः शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलव्यथाः ॥ ५६ ॥

व्याख्या—दन्ती एवं द्रवन्ती का वह मूल लेना चाहिये जो हाथी के दन्त के समान स्थिर (कठोर) तथा स्थूल (पुष्ट) हो, कुछ लाल एवं काला हो। इस प्रकार का मूल—तीक्ष्ण एवं उष्ण होता है और आशुकारी (शीघ्र विरेचक) तथा विकाशी होता है तथा गुरु (भारी) होता है। यह वायु को प्रकुपित करता है तथा पित्त एवं कफ का विलयन करता है। इसे लेकर— मधु एवं पीपल का लेप करे और उस पर कुश लपेट कर मिट्टी का लेप कर देवे और अग्नि में स्वेदन करे तथा फिर धूप में सुखावे। इस प्रकार अग्नि एवं सूर्य (की धूप) उसके विकाशी नामक दोष को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार शुद्ध करके उसका प्रयोग करे। इसे—मस्तु (दही का पानी), सुरा, तक्र, पीलू के रस अथवा आसव के साथ— शरीर में दोष का अभिष्यन्द होने में (शोथ में), गुल्म, प्रमेह, उदर रोग, गर विकार में पीवे। पाण्डु रोग, कृमिरोग तथा भगन्दर में—गौ, हरिण अथवा बकरा के मांस रस के साथ पीवे। उस मूल के क्वाथ एवं कल्क तथा दशमूल के रस के योग से सिद्ध घृत—विसर्प, विद्रधि, अलजी (प्रमेह पिडका) कक्षा (क्षुद्ररोग) तथा दाह में विरेचनार्थ दिया जाता है और उसी प्रकार सिद्ध तैल—गुल्म, प्रमेह, अर्श, विबन्ध, कफ तथा वायु के रोगों में विरेचनार्थ दिया जाता है और उसी सिद्ध महा स्नेह (घृत, तैल, वसा तथा मज्जा मिश्रित)—पुरीषरोध, शुक्र रोध तथा वातरोध में तथा वात व्याधियों में विरेचनार्थ दिया जाता है ॥

वक्तव्य—दन्ती एवं द्रवन्ती के पर्याय—च. क. अ. १२

दन्ती उदुम्बरपर्णी स्यात् निकुम्भोऽथ मकूलकः।
द्रवन्ती नामतः चित्रा न्यग्रोधी मूषिकाह्वया। ३।
तथा मूषिकपर्णी चाप्युपचित्रा च शम्बरी।
प्रत्यक् श्रेणिः सुतश्रेणिः दन्ती रण्डा च कीर्तिता। ४।

च. क. के उक्त अध्याय में तथा अ. सं. क. अ. २ में अधिक योग लिखे हैं ॥५१-५६॥

उपसंहार—

विरेचने मुख्यतमा नवैते त्रिवृदादयः।

व्याख्या—ये त्रिवृत् आदि ९ द्रव्य विरेचन के लिये मुख्य—प्रधान माने जाते हैं।

वक्तव्य—इन्हीं के समान अन्यान्य विरेचन द्रव्यों का उपयोग—प्रयोग किया जा सकता है।

हरीतकी कल्प—

हरीतकीमपि त्रिवृद्विधानेनोपकल्पयेत्। ५७ ॥
गुडस्याष्टपले पथ्याविंशतिः स्यात्पलं पलम्।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश। ५८ ॥
प्रकल्प्य मोदकानेवं दशमे दशमेऽहनि।
उष्णाम्भोऽनु पिबेत्खादेत्तान्सर्वान्विधिनाऽमुना ॥५९॥
एते निःपरिहाराः स्युः सर्वव्याधिनिबर्हणाः।
विशेषाद्ग्रहणीपाण्डुकण्डूकोठार्शसां हिताः ॥ ६० ॥

व्याख्या—हरीतकी (हरड़) का भी त्रिवृत् की विधि से विरेचनार्थ उपयोग करे। हरीतकी मोदक—गुड़ ८ पल, हरड़ २० दाना, दन्ती मूल तथा चित्रक मूल १-१ पल, पीपल तथा त्रिवृत १-१ कर्ष। इन सबका विधिपूर्वक पाक करके १० मोदक बनावे। १०-१० दिन

पर १-१ मोदक खावे, ऊपर से उष्ण जल पीवे। इस प्रकार सब मोदक खावे। इनके सेवनकाल में किसी प्रकार के परिहार की आवश्यकता नहीं है। ये मोदक सर्वरोग नाशक हैं। विशेषतः ग्रहणी रोग, पाण्डु रोग, कण्डू, कोठ (शीत पित्त) तथा अर्शरोग में लाभ करते हैं ।।५७-६०।।

चिकित्सक का कर्त्तव्य—

अल्पस्याऽपि महार्थत्वं प्रभूतस्याऽल्पकर्मताम्।
कुर्यात्साश्लेषविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः। ६१।।

व्याख्या—चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि—किसी अल्प-वीर्य विरेचन योग को—किसी अनुक्त उपयोगी द्रव्य में मिलाकर महत्कार्यकारी बना लेवे, अथवा किसी महा वीर्य—तीक्ष्ण योग को—किसी उक्त द्रव्य को भी निकाल कर अल्प कार्यकारी बना लेवे। इस प्रकार—काल (अवस्थाविशेष) संस्कार (पाक एवं भावना आदि) तथा युक्ति (अल्प एवं बहुत आदि) के द्वारा भी तीक्ष्ण द्रव्य को मृदु और मृदु को तीक्ष्ण बना लेवे।। ६१ ।।

विरेचनोपयोगी द्रव्य—

त्वक्केसराऽऽम्रातकदाडिमैलासितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गैः।
मद्यैश्च तैस्तैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि।६२।

व्याख्या—विरेचन औषध का प्रयोग—दालचीनी नागकेसर एवं इलायची आदि सुगन्धित पदार्थ के साथ, आम्रातक (आमड़ा), अनार एवं निम्बू आदि रुचिकर पदार्थ के साथ मिसरी एवं मधु आदि मधुर पदार्थ के साथ अथवा किसी मद्य के साथ अथवा किसी मनोहर पदार्थ के साथ करना चाहिये।।

वक्तव्य - और वमन औषध का प्रयोग—बीभत्स—अरुचिकर—घृणा कारक द्रव्यों के साथ करना चाहिये।

इति अष्टाङ्गहृदये कल्प सिद्धि स्थाने द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः

अथाऽतो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब वमन एवं विरेचन से उत्पन्न व्यापदों की सिद्धि (साधन—चिकित्सित) की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—वमन एवं विरेचन का प्रयोग करते समय कभी-कभी वैद्य एवं रोगी अथवा परिचारक की औषधि प्रयोग में भूल हो जाने के कारण कोई व्यापद् उत्पन्न हो जाती है उसकी सिद्धि के उपाय इस अध्याय में लिखे गये हैं। सामान्यतः १२ व्यापद् उत्पन्न होती हैं यथा—अ. स. अ. ३—

प्रतिकूला गतिः, पाको, ग्रथितत्वं सगौरवम्।
दोषोत्क्लेशो, भृशाऽऽध्मानं परिकर्त्तः, परिस्रवः।
प्रवाहिका, हृद्ग्रहणं सर्वगात्रपरिग्रहः।
सहधातुस्रवेणैता द्वादशोक्ताः ससाधनाः।
व्यापदो योगविभ्रंशात् द्विविधेऽपि विरेचने।

अर्थात्—वमन तथा विरेचन के समय योग का विभ्रंश हो जाने के कारण प्रतिकूल गति आदि १२ व्यापद-व्यापत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कभी हो सकती हैं उनका वर्णन तथा साधन इस अध्याय में कहा गया है। वमन एवं विरेचन के असम्यक्-योग से उक्त १२ व्यापद हो जाती हैं। च. क. अ १२, सि. अ. ६, सु. चि. अ. ३४ तथा अ. सं. क. अ. ३ में देखिये।

वमन की प्रतिकूल गति—

वमनं मृदुकोष्ठेन तद्वताऽल्पकफेन वा।
अतितीक्ष्णहिमस्तोकजीर्णेन दुर्बलेन वा ।।१।।
पीतं प्रयात्यधस्तस्मिन्निष्टहानिर्मलोदयः।
वामयेत्तं पुनः स्निग्धं स्मरन् पूर्वमतिक्रमम् ।।२।।

व्याख्या—मृदु कोष्ठ होने पर, भूख लगी रहने पर कफ की अल्पता में, अजीर्ण में, अथवा दुर्बलता में—अथवा अत्यन्त, तीक्ष्ण, अत्यन्त शीत तथा अत्यन्त अल्प मात्रा में पी गई वमन की औषध से विरेचन हो जाता है। इस दशा में अभीष्ट अर्थ की हानि होती है वमन से जो लाभ होना चाहिये वह नहीं होता उलटे—मलों का उदय—उत्क्लेश हो जाता है।

इस व्यापद् में सूत्र. अ. १६-१७ तथा अ. १८ के अनुसार स्नेहन एवं स्वेदन करके पुनः वमन कराना चाहिये और जो भूलें प्रथम बार में हुई हो उनकी पुनरावृत्ति न होने पावे यह स्मरण रखना चाहिये ।। १-२ ।।

विरेचन की प्रतिकूल गति—

अजीर्णिनः श्लेष्मवतो व्रजत्यूर्ध्वं विरेचनम्।
अतितीक्ष्णोष्णलवणमहृद्यमतिभूरि वा ।। ३ ।।
तत्र पूर्वोदिता व्यापत्सिद्धिश्च न तथापि चेत्।
आशये तिष्ठति ततस्तृतीयं नावचारयेत् ।। ४ ।।
अन्यत्र सात्म्याद् हृद्याद्वा भेषजान्निरपायतः।

व्याख्या—अजीर्ण में, कफ की अधिकता में, अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त उष्ण, अधिक लवण युक्त, अप्रिय-बीभत्स तथा अत्यधिक मात्रा में पी गई विरेचन औषध से वमन हो जाता है।

इस दशा में वमन की प्रतिकूल गति नामक व्यापद (इष्ट हानि तथा मलोदय) हो जाती है और उसकी सिद्धि भी उसी प्रकार होती है—सू. अ. १६-१७ तथा १८ के अनुसार स्नेहन, स्वेदन करके विरेचन करना। इस दुबारा दिये गये विरेचन से भी यदि वमन हो जायं

तो तिबारा विरेचन नहीं देना चाहिये। परन्तु यदि उक्त प्रतिकूला गति नामक व्यापद्—असात्म्य अथवा अप्रिय औषध के कारण उत्पन्न हो गई हो तो सात्म्य प्रिय (स्वाद) तथा हानि रहित कोई दूसरी विरेचन औषध देकर विरेचन करा देना चाहिये ॥

वक्तव्य—वमन की औषध से विरेचन और विरेचन औषध से वमन हो जाना प्रतिकूला गति नामक व्यापद कहलाती है ॥३-४॥

ग्रथितत्व, पाक तथा गौरव नामक व्यापद्—

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य पुराणं रूक्षमौषधम् ॥ ५ ॥
दोषानुत्क्लेश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद्गदान्।
चिद्भ्रंशं श्वयथुं हिध्मां तमसो दर्शनं तृषम् ॥ ६ ॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम्।
स्निग्धस्विन्नस्य वाऽत्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम् ॥ ७ ॥
शीतैर्वा स्तब्धमामे वा तमुत्क्लेश्याहरन्मलान्।
तानेव जनयेद्रोगानयोगः सर्व एव सः ॥ ८ ॥

व्याख्या—ग्रथितत्व व्यापद्—स्नेहन एवं स्वेदन किये बिना यदि—पुरानी (हीनवीर्य) तथा रूक्ष औषध (वामक अथवा विरेचक औषध) का पान किया है तो—वह दोषों का उत्क्लेश तो कर देती है परन्तु उनको वमन अथवा विरेचन द्वारा निकाल नहीं सकती इस दशा में वह विभ्रंश (शैथिल्य), शोथ, हिक्का, तमोदर्शन (नेत्रों के सामने अन्धकार दर्शन), तृषा, पिण्डलियों में ऐंठन, शरीर भर में कण्डू (शीत पित्त आदि उपद्रव) चलने में अवसाद तथा त्वचा में विवर्णता (कान्ति नाश) को उत्पन्न कर देती है। पाक नामक व्यापद—स्निग्ध एवं स्विन्न शरीर में तथा अग्नि की प्रदीप्ति में—अत्यन्त अल्प मात्रा वाली औषध जीर्ण हो जाती है—पच जाती है वमन अथवा विरेचन नहीं होता फलतः उक्त उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। गौरव नामक व्यापद्—वमन अथवा विरेचन की औषध—शीतोपचार के कारण अथवा दोष आम रहने के कारण—स्तब्ध हो जाती है और दोषों का उत्क्लेश तो कर देती है परन्तु उनको निकाल नहीं सकती। इस दशा में भी वे ही विभ्रंश (इन्द्रहानिः) एवं शोथ आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इन तीनों व्यापदों का नाम "अयोग" है—इनमें वमन विरेचन होता ही नहीं ॥ ५-८ ॥

इनकी चिकित्सा—

तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं संस्तरसङ्करैः।
निरूढं जाङ्गलरसैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥ ९ ॥
फलामागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया।
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत् ॥ १० ॥

व्याख्या—इस दशा में—तैल एवं लवण मिलाकर अभ्यङ्ग करे, प्रस्तर तथा संकर विधि से स्वेदन करे तत्पश्चात् निरूहण करे, जाङ्गल प्राणियों के मांस रस के साथ भोजन देवे और फिर मदनफल, पीपल तथा देवदारु के योग से सिद्ध तैल की अनुवासन वस्ति देवे। फिर वात नाशक तैलों के द्वारा स्नेहन करके वमन विरेचन की तीक्ष्ण वीर्य औषधों द्वारा वमन विरेचन देवे ॥

वक्तव्य—गौरव नामक व्यापत् का लक्षण इस प्रकार है—स्निग्धस्विन्नस्य च वमनमकृत्वा विरेचनं पीतवतः सामत्वं वा मृदु वा विरिक्तस्य अधोभागे अत्यर्थं गुरु स्तब्धोदरत्वा शूलवातपुरीषसङ्गश्च भवति। और सिद्धि इस प्रकार लिखी है यथा—तं अपि अयोगिनं समूत्रैः तीक्ष्णैः आस्थाप्य जाङ्गलरसैश्च भोजयित्वा फलदारुपिप्पलीसिद्धेन तैलेन अनुवास्य वातहरैश्च स्नेहैः उपस्नेह्य पुनः तीक्ष्णैः विरेचयेत्। अ. सं. क. अ. ॥ ९-१० ॥

दोषोत्क्लेश तथा भृशाध्मान व्यापद्—

बहुदोषस्य रूक्षस्य मन्दाग्नेरल्पमौषधम्।
सोदावर्तस्य चोत्क्लेश्य दोषान्मार्गं निरुध्य तैः ॥ ११ ॥
भृशमाध्मापयेन्नाभिपृष्ठपार्श्वशिरोरुजम्।
श्वासं विण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च दारुणम् ॥ १२ ॥
अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादिसनिरूहानुवासनम्।
उदावर्तहरं सर्वं कर्माऽऽध्मातस्य शस्यते ॥ १३ ॥
पञ्चमूलयवक्षारवचाभूतिकसैन्धवैः।
यवागूः सुकृता शूलविबन्धानाहनाशनी ॥ १४ ॥

व्याख्या—जिसके शरीर में दोष (कफ दोष) अधिक हो अथवा शरीर रूक्ष हो, अग्नि मन्द हो तथा उदावर्त हो उस को दी गई वमन विरेचन की (मृदु) औषध—दोषों का उत्क्लेश करके और उनके द्वारा मार्ग रोक कर उदर में भृश (अत्यधिक) आध्मान कर देती और पीठ, पार्श्व तथा सिर में वेदना, श्वास, पुरीष, मूत्र एवं वायु की भीषण रुकावट उत्पन्न कर देती है। इस दशा में—अभ्यङ्ग, स्वेदन तथा गुदवर्ति (मल प्रवर्तनी वर्ति—वत्ती), निरूहण, अनुवासन तथा उदावर्त्त नाशक सब चिकित्सा करे। यह आध्मान नामक व्यापद् के लिए प्रशस्त है। और पञ्चमूल, जौखार, वालवच, रोहिष तृण तथा सैन्धव लवण के योग से विधिपूर्वक सिद्ध की गई यवागू—शूल, विबन्ध तथा आनाह को नष्ट करती है ॥११-१४॥

प्रवाहिका, परिस्रव तथा परिकर्तिका व्यापद्—

पिप्पलीदाडिमक्षारहिङ्गुशुण्ठ्यम्लवेतसाम्।
ससैन्धवान्पिबेन्मद्यैः सर्पिषोष्णोदकेन वा ॥ १५ ॥
प्रवाहिकापरिस्रावे वेदनापरिकर्तने।

व्याख्या—प्रवाहिका, परिस्राव (परिस्राव) तथा वेदनायुक्त परिकर्तिका नामक व्यापदों में—पीपल, अनारदाना, जौखार, घृत भर्जित हींग, सोंठ, अम्लवेत तथा सैन्धव लवण का चूर्ण समभाग मिलाकर रख लेवे और इस चूर्ण को मद्य, घृत अथवा उष्ण जल के साथ पीवे।

वक्तव्य—इन व्यापदों का वर्णन अ. सं. क. ३ में इस प्रकार है—प्रवाहिका व्यापद्—पीतौषधो यदा वेगमुदीरयति निगृह्णाति वा तदा प्रवाहिकाऽस्य जायते। तस्यां सदाहशूलं सपिच्छं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमानः कफमुपविशति तं परिस्रवविधिना उपचरेत्। परिस्राव व्यापद्—क्रूरकोष्ठस्य बहुदोषस्य अल्पमात्रमुष्णं मृदु स्निग्धं वा शोधनं अव धारितंमुत्क्लेश्य दोषान् न निर्हरति अल्पाऽल्पं च पित्तं कफसंसृष्टम् परिस्रवति। विष्टम्भगौरवशोफकोठकण्डूपाण्डुताऽवसादशूलानि च आपादयति। तं तिनिशधवाश्वकर्णपलाश बला निर्यूहैः मधु युक्तैः आस्थापयेत्। उपशान्तपरिस्रवं च पुनः उपस्निग्धंतीक्ष्णैः शोधयेत्। शुद्धं च दीपनान् चूर्णाऽऽसवाऽरिष्टादीन् योजयेत्। परिकर्तिका व्यापद्—क्षामेण अल्पबलेन मृदुकोष्ठाऽग्निना रूक्षेण स्निग्धेन वा स्विन्नेन सामेन वा बलवत्—औषधमुपयुक्तं सपित्तं अनिलं परिदूष्य परिकर्त्तिकामापादयति। तत्र नाभिवस्तिगुद मेढ्रे सदाहंपरिकर्त्तिनं अनिलसङ्गो विष्टम्भश्च। तं कृष्णतिलमधुकयष्टियुक्तैः पिच्छावस्तिभिः अस्थापयेत्। क्षीरिवृक्षशृत क्षीरेण वा। शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं भृतमण्डेन यष्टिमधुक तैलेन अनुवासयेत्। क्षामस्य मधुरो बृंहणश्च सर्वो विधिः इष्टः। सामे लंघनो दीपनश्च लघुरूक्षोष्णं च अन्नपानं। निरामीभूते वातानुबन्धे लघु धाराऽम्लं, वातेऽधिके दधि साम्ल दाडिमत्वचायुक्तं भोजने पाने च युञ्जीत, सदाडिमरसं च सर्पिः पिबेत्। उष्णाम्बुना वा तिलदेवदारुकल्कम्। तात्पर्य यह है कि वमन अथवा विरेचन की औषध देने पर यदि प्रवाहिका हो जाय तो "प्रवाहिका व्यापद्,, परिस्रव हो जाय तो "परिस्रव" और परिकर्तिका हो जाय तो "परिकर्तिका" नामक व्यापद् समझी जाती है।।१५।।

हृद्–ग्रहण नामक व्यापद्—

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः।। १६।।
कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम्।
हिध्मापार्श्वरुजाकास-दैन्यलालाक्षिविभ्रमैः।। १७।
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान्कटकटाययन्।
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तं भिषक्।। १८।।
मधुरैः पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम्।
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत्।। १९।।
कायाऽग्नि च बलम् चास्य क्रमेणाऽभिप्रवर्धयेत्।
पवनेनाऽतिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते।। २०।।
तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात्पित्तकफेऽन्यथा।

व्याख्या—वमन अथवा विरेचन की औषध पीने के अनन्तर—वमन विरेचन के वेग रोकने से—वायु आदि दोष—कुपित होकर और हृदय में जाकर "हृद्–ग्रह" नामक घोर व्यापद् को उत्पन्न कर देते हैं। इसमें—हिक्का, पार्श्व शूल, कास, दीनता (मानसिक दौर्बल्य), लालास्राव तथा नेत्र विभ्रम हो जाते है। और रोगी संज्ञाहीन होकर जीभ को काट लेता है तथा दन्तों को किटकिटाता है—दन्त लग जाते हैं। इस दशा में चिकित्सक को घबराना नहीं चाहिये अपितु तत्काल रोगी को वमन करा देना चाहिये। यदि पित्ताधिक्य से मूर्छा (उक्त दशा) हो तो मधुर पदार्थों (मुलेठी आदि) से और यदि कफ की अधिकता से मूर्छा हो तो पीपल आदि कटु पदार्थों के योग से वमन देवे। और वमन के पश्चात् अवशिष्ट दोष को पाचन चिकित्सा द्वारा पचा देवे। और जठराग्नि तथा शारीरिक बल की वृद्धि को बढ़ाने का क्रमशः उपाय करे। और यदि वमन होते समय वायु के कारण हृदय में पीड़ा उत्पन्न हो जाय तो स्निग्ध, अम्ल एवं लवण द्रव्यों (चूर्ण आदि योगों) का प्रयोग करे और यदि पित्त एवं कफ के कारण हृदय पीड़ा हो जाय तो रूक्ष, मधुर, तिक्त, कटु एवं कषाय द्रव्यों (चूर्ण आदि योगों) का प्रयोग करे।

वक्तव्य—इस व्यापद् में जब रोगी मूर्छित हो तब तत्काल प्रधमननस्य (तीक्ष्णनस्य) दे देवे। जिससे मूर्च्छा नष्ट हो जाय और फिर तत्काल वमन दे देवे। अष्टाङ्ग संग्रह क. अ. ३ में इस व्यापद् का वर्णन इस प्रकार है—पीतौषधस्य भेषजोद्गारच्छर्द्यादीनां निग्रहात् वातादयः कुपिता हृदयंमुपसृत्य हृद्–ग्रहंघोरमावहन्ति। ततः प्रधानमर्मोपतापात् वेदनाभिः अत्यर्थं आतुरः पीड्यते मोहहिध्माकासलालास्रावपार्श्वशूलयुतो वेपथुमान् नष्टसंज्ञो दन्तान् कटकटायति, उद्धृताक्षो जिह्वां खादति तं हृदयोपसरणमाहु (एके आचार्याः)। तस्मै भिषक् शीघ्रम् अमुह्यन् अभ्यङ्ग पूर्वं धान्यस्वेदेन परिस्वेद्य तीक्ष्णमवपीडं दद्यात्, (प्रबोधे-सति) यष्टिमधुकमिश्रेण तन्दुलाम्बुना वमनं (दद्यात्), कटुभिः वा कफोत्तराय, ततो दोषशेषं पाचनीयैः पाचयेत्, यथा दोषोच्छ्रयं च वस्तीन् वितरेत्। तात्पर्य यह है कि—उक्त भीषण दशा में वैद्य घबराये नहीं अपितु उक्त प्रकार से उचित चिकित्सा करके रोगी की प्राणरक्षा करे। देखा गया है कि इस दशा में रोगी पड़ा २ हाथों को नर्त्तक के समान घुमाने लगता है और उक्त चिकित्सानुसार केवल तीक्ष्ण नस्य देने से तथा लवणभास्कर चूर्ण उष्ण जल के साथ पिलाने से सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं। सु. चि. अ. ३४ में इस

व्याद् का नाम "हृदयोपसरण" है। हां इस दशा में नाड़ी रुक जाती है अथवा रुक २ कर चलती है, कूर्पर के ऊपर चलती प्रतीत होती है ॥१६-२०॥

सर्वगात्र परिग्रह व्यापद्—

पीतौषधस्य वेगानां विग्रहेण कफेन वा ॥ २१ ॥
रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः ।
स्तम्भवेपथुनिस्तोद-सादोद्वेष्टार्तिभेदनैः ॥ २२ ॥
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि शस्यते ।

व्याख्या—वमन अथवा विरेचन की औषध पीने के पश्चात्—वेगों को रोकने से अथवा कफ के द्वारा वायु का अवरोध हो जाने से अथवा अधिक वमन एवं विरेचन हो जाने से—वायु समस्त अंगों को जकड़ देता है और—विशेषतः स्तब्धता, कम्पन, व्यथा, अवसाद (शैथिल्य) ऐंठन, वेदना तथा फटने की सी वेदना उत्पन्न कर देता है। इस व्यापद् में—सब प्रकार की स्नेहन एवं स्वेदन आदि वातशामक चिकित्सा प्रशस्त होती है।

वक्तव्य—अ. सं. अ. ३ में इस व्यापद का वर्णन इस प्रकार है—यथा—अस्निग्धस्विन्नेन, अब्रह्मचारिणः (मैथुन करणेन), वेगविधारिणां, मृदुकोष्ठेन, सुकुमारेण वा रूक्षं औषधमतिमात्रंप्रयुक्तमतिविरेकात् वायुं कोंपयति । तेन सर्वाङ्गप्रग्रहो विशेषात् पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मंसु शूलं मूर्च्छा भ्रमः कम्पः स्तम्भो निस्तोदो भेदः उद्वेष्टनं संज्ञानाशश्च स्यात् । तंभ्यज्य धान्यै. स्वेदयित्वा यष्टिमधुविपक्वेन तैलेन अनुवासयेत् । वातहरं च अन्नपानम् ।

धातुस्रव नामक व्यापद्—

बहुतीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ॥२३॥
हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान्धातूनास्रावयेद् द्रवान् ।
तत्रातियोगे मधुरैः शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥२४॥
योज्योऽतिवमने रेको, विरेके वमनं मृदु ।
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तम् ॥२५॥
अञ्जनं चन्दनोशीरमज्जासृक्शर्करोदकम् ।
लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ॥२६॥

व्याख्या—भूखे पेट अथवा मृदुकोष्ठ में—वमन अथवा विरेचन की अधिक मात्रा में अथवा तीक्ष्ण औषध पीने से पुरीष, पित्त एवं कफ शीघ्र ही निकल जाते हैं और फिर रस आदि द्रव धातुओं में से क्षर २ कर निकलने लगता है ॥ इस प्रकार के अतियोग में—उदर में से अवशिष्ट औषध का उल्लेख-वमन कर देवे। इतने पर भी शान्ति न हो तो—वमन की अधिकता में मृदु वमन कर देवे। और सुशीतल—परिषेचन विरेचन एवं अवगाहन आदि द्वारा स्तम्भन कर्म करे जिससे वमन विरेचन रुक जाय ॥ इतने पर भी शान्ति लाभ न हो तो—अञ्जन (सुरमा की भस्म), लालचन्दन तथा खस पीस कर पीवे, बकरी का रक्त अथवा खाण्ड का पानी पीवे अथवा सत्तू को घोल कर पीवे अथवा अन्यान्य वमन विरेचन के अतियोग का नाश करने वाले उपाय करे ॥

वक्तव्य—अ. सं. अ. ३ में धातुस्रव नामक व्यापत का वर्णन इस प्रकार है—स्निग्धस्विन्नस्य अति मृदु कोष्ठस्य क्षुधितस्य वा तीक्ष्णवेगंवि भूरि वा प्रयुक्तं औषधं सर्वं निर्हृत्य मलं धातून् अपि द्रवीकृत्य स्रावयत् अतियोगि भवति । तं शतधौत घृतेन अभ्यज्य कषायस्वादुशीतैः प्रदेहपरिषेकाऽवगाहाऽपान्नैः शर्करामधुमद्भिः स्वन्नेहैः स्तम्भयेत् ॥ चन्दनाऽञ्जनोशीरच्छागासृक् शीतोदके (सितोदकैः लाजसक्तून् पाययेत् , पिच्छावस्ति च अस्मै दद्यात्, मधुरवर्गसिद्धं च क्षीरसर्पिः सर्पिर्मण्डो नाऽनुवासनम्, रक्तपित्तविधानं च कुर्यात् यह अतियोग वमन विरेचन दोनों में होता है। और विसूची की भीषण अवस्था में भी देखा गया है ॥२३-२६॥

वमनातियोग की चिकित्सा—

वमनस्याऽतियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः ।
पिबेत्फलरसैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥२७॥
सोद्गारायां भृशं छर्द्यां, मूर्वाया धान्यमुस्तयोः ।
समधूकाञ्जनं चूर्णं लेह्येन्मधुसंयुतम् ॥२८॥
वमतोऽन्तः प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः ।
स्निग्धाम्ललवणा हृद्या यूषमांसरसा हिताः ॥२९॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः ।
निःसृतां तु तिल-द्राक्षा-कल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥३०॥
वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधितम् ।
यवागूं तनुकां दद्यात्स्नेहस्वेदौ च कालवित् ॥३१॥

व्याख्या—विशेषतः वमन के अतियोग में शीतल जल का समस्त शरीर पर सेचन करे, अनार एवं दाख आदि फलों के रस के साथ घृत, मधु एवं खाण्ड से मिश्रित मन्थ (सत्तू को घोल) पीवे। उद्गार युक्त वमन हो रहा हो तो—मरोडफली, धनिया, मोथा महुआ तथा अञ्जन भस्म का चूर्ण—मधु में मिला कर चाटे ॥ वमन होते समय यदि जीभ भीतर की ओर प्रविष्ट हो गई हो (खिंच गई हो) तो स्निग्ध एवं अम्ल तथा लवण रस वाले कवल तथा गण्डूष, रुचिकारक यूष तथा मांस रस हित होते हैं। और उस रोगी के सामने बैठ कर दूसरे मानव—निम्बू आदि अम्ल फल खावें। यदि जीभ बाहिर निकल आई हो तो तिल तथा दाख का कल्क लीप कर लगा कर उसे भीतर प्रविष्ट कर देवे ॥ यदि वाक्ग्रह (जिह्वास्तम्भ-मूकता) आदि वायु के रोग हो जाँय तो—

घृत एवं मांस रस से सिद्ध की गई, पतली यवागू देवे और समयानुसार-स्नेहन एवं स्वेदन करे ॥

वक्तव्य—अ सं. क. अ. ३ में इस पाठ के साथ २ विरेचनातियोग की चिकित्सा इस प्रकार है—

विरेचनातियोगे तन्दुलाऽम्भसा मिश्रेण वमेत् । प्रियंग्वादि च (सू. अ. १५ में प्रियंग्वादि गण देखिये) तन्दुलोदकेन पिबेत्, रोध्ररसाञ्जनदाडिमत्वचो वा कमलोत्पलसमङ्गा-पद्मकेसराणि वा, क्षौद्रशर्करामधुकोदुम्बरत्वचो वा, रक्तातिसारक्रियां च कुर्वीत, शुद्धं निःसृतमभ्यज्य स्वेदयित्वा कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्, पूर्ववत् च वाक्संगादीन् साधयेत् । मिश्रेण वमेत् पाठ में सम्भवतः "वामक द्रव्येण" पाठ होना चाहिये ॥२७-३१॥

जीवादान का वर्णन—

अतियोगाच्च भैषज्यं जीवं हरति शोणितम् ।
तज्जीवाऽऽदानमित्युक्तमादत्ते जीवितं यतः ॥ ३२ ॥
शुने काकाय वा दद्यात् तेनान्नमसृजा सह ।
भुक्ते तस्मिन् वदेज्जीवमभुक्ते पित्तमादिशेत् ॥ ३३ ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात्पित्ते, शुद्धं तु शोणिते ॥ ३४ ॥

व्याख्या—वमन अथवा विरेचन की औषध के अतियोग से—जीवशोणित (जीवनाधार रक्त—शुद्ध रक्त जाने लगता है । इस दशा (व्यापद्) का नाम "जीवादान" है क्योंकि यह दशा "जीव" (जीवन ले लेती है—मृत्यु का कारण हो सकती हैं ।

परन्तु इस रक्त की परीक्षा कर लेनी चाहिये—यथा—उस रक्त को अन्न (भात आदि) में मिलाकर कुत्ता अथवा कौवा के आगे धर देवें । यदि वह उसे खा लेवे तो समझे कि वह रक्त "जीवरक्त" है और यदि न खावे तो समझे कि वह "रक्तपित्त" का रक्त है । अथवा—उस रक्त से श्वेत वस्त्र खण्ड को भिगोकर सुखा लेवे और फिर कोसे जल से धोवे यदि वस्त्रखण्ड—वर्णरहित हो जावे तो समझे कि "रक्तपित्त" है और यदि वस्त्र खण्ड लाल रह जाय तो समझे कि जीवरक्त (शुद्ध रक्त) है ।

वक्तव्य—जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं—तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत्, यदि उष्णोदकप्रक्षालितम् अपि वस्त्रं रञ्जयति तत् जीवशोणितमवगन्तव्यम्, सभक्तं च शुने दद्यात् शक्तुसंमिश्रं वा, स यदि उपभुञ्जीत तत् जीवशोणितमवगन्तव्यम् अन्यथा रक्तपित्तम् इति । सु. चि. अ. ३४-१४ । इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि रक्तपित्त जा रहा हो तो रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करे और यदि जीवशोणित जा रहा हो तो तत्काल उसे रोकने के लिये निम्नलिखित चिकित्सा करे । इस अवस्था की गणना चरक सिद्धि अ. ६ में व्यापदों में की गई है देखिये—उक्त स्थल के श्लो. २९-३० और उसका वर्णन—श्लो० ७८ से ८४ ॥ ३२-३४ ॥

जीवादान की चिकित्सा—

तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणं क्रियाम् ।
रक्तपित्तातिसारघ्नीं तस्याशु प्राणरक्षणीम् ॥३५॥
मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् ।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ॥३६॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तौ निषेचयेत् ।
श्यामाकाश्मर्यमधुकदूर्वोशीरैः शृतं पयः ॥३७॥
घृतमण्डाञ्जनयुतं बस्तिं वा योजयेद्धिमम् ।
पिच्छाबस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ॥३८॥

व्याख्या—जीवादान की दशा में रोगी-तृष्णा, मूर्च्छा तथा मद से पीडित हो जाता है अतः तत्काल मृत्यु के पूर्व निम्नलिखित चिकित्सा करे (अन्यथा मृत्यु हो जाती है) इस दशा में रक्तपित्त एवं अतिसार को नष्ट करने वाली चिकित्सा रोगी के प्राणों की रक्षा कर सकती है । और तत्काल—जीवित मृग, गौ, महिष अथवा बकरा का सद्यस्क (ताजा—तत्काल निकाला गया) रक्त पीना चाहिये उस से जीव का सब प्रकार से धारण पोषण हो जाता है—जीव शोणित की पूर्ति हो जाती है, क्योंकि वह रक्त तत्काल जीव को प्राप्त हो जाता है—जीवशोणित में मिल जाता है (फलतः प्राण रक्षा हो जाती है) । और उसी रक्त की बस्ति दे देवे अथवा—प्रियंगु, गम्भार के फल, मुलेठी, दूब तथा खस के योग से परिपक्व दूध मण्ड तथा अञ्जन (श्वेताञ्जन भस्म) मिलाकर तथा शीतल होने पर बस्ति दे देवे अथवा अत्यन्त शीतल शाल्मलि-पुष्प आदि की पिच्छा बस्ति दे देवे । अथवा घृत मण्ड की बस्ति दे देवे ।

वक्तव्य—देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ।
तस्मात् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः । ४४ ।
सु. सू. अ. १४ ।

अर्थात् रक्त ही शरीर का मूल है—उत्पत्ति हेतु है और रक्त से ही शरीर का धारण पोषण होता है—रक्त ही शरीर की स्थिति का हेतु है इसलिये रक्त की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिये क्योंकि रक्त ही जीव—प्राण हेतु—जीवन मूल है । जीवताम्—जीवित प्राणी का रक्त लेकर पिलावे, मारकर नहीं । प्रायः बकरा आदि को काट कर और उसका तात्कालिक रक्त लेकर पिया जाता है । यदि रोगी मूर्छित हो पीने में असमर्थ हो तो उक्त रक्त आदि की बस्ति दे देनी चाहिये । इस प्रकार की अवस्था के लिये—आज कल स्वस्थ मानव आदि प्राणियों [illegible] लेकर सरक्षित भी रख

लिया जाता है। जीवित प्राणी के शरीर से सूची-सिरा वस्ति द्वारा रक्त लेकर भी रोगी के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है ॥३५-३८॥

गुदभ्रंश आदि की चिकित्सा—

गुदं भ्रष्टं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्।
विसंज्ञं श्रावयेत्साम-वेणुगीतादिनिस्वनम् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—विरेचन के अतियोग में यदि गुदभ्रंश हो जाय तो पञ्चवल्कल क्वाथ आदि काषाय पदार्थों से स्तब्ध करके प्रविष्ट कर देवे। और संज्ञा नाश हो जाय तो—सामवेद का, वेणु (वंशी) तथा गीत आदि का श्रवण करावे।

वक्तव्य—वमन अथवा विरेचन कर्म करने पर—कभी कभी उक्त व्यापद् उत्पन्न हो जाती है सदा सर्वदा नहीं। इनकी गणना च. सि. अ. ६ में इस प्रकार है—

आध्मानं परिकर्त्तिश्च स्रावो हृद्-गात्रयोः ग्रहः।
जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः।
अयोगात् अतियोगात् च दशैता व्यापदो मताः।
प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च ॥३०॥

तथा. सु. चि ३४ में—वैद्याऽऽतुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते तत्र वमनस्य अधोगतिः ऊर्ध्वं च विरेचनस्य इति पृथक् सामान्ययोः, २. सावशेषौषधत्वं, ३. जीर्णौषधत्वं, ४. हनिदोषाऽपहृतत्वं, ५. वात शूलं, ६. अयोगो ७. अतियोगो, ८. जीवाद नं, ९. आध्मानं, १० परिकर्तिका, ११. परिस्रावः १२ प्रवाहिका, १३. हृदयोपसरणं, १४. निबन्धः, १५. अङ्गप्रग्रहश्च। ३। अष्टांग संग्रह में कुछ अधिक पाठ हैं यथा—दोषेषु अपि च असम्यक्प्रयुक्तवमनविरेचनोपद्रवेषु यथाऽऽमयं दोषान् अवेक्ष्य प्रतिकुर्यात् वस्तिव्यापत्सिद्धिं च अवेक्षेत। एवमुभयतो भागेऽपि शोधने यथावस्थमनुतिष्ठेत्। या तु विरेचने परिकर्त्तिका तत् वमने कण्ठक्षणनं, यः परिस्रवः स कफप्रसेको, यत् प्रवाहणं स शुष्कोद्गार इति।

अतिमात्रमकालेऽल्पं तुल्यवीर्यैरभावितम्।
असम्यक संस्कृतं जीर्णं व्यापद्येत औषधं द्रुतम् ॥
छर्दनं न तु दुश्छर्दं दुर्विरेच्यं न रेचनम्।
पाययेद्दोषधं भूयः तत्निहन्ति तथा हि तौ ॥
यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टम् पीतं यात्यानुलोमिकम्।
वमितं कवलैः शुद्धं लंघितं पाययेत् ततः।
बवद्धेऽल्पे चिरात् दोषे स्रवत्युष्णं पिबेत् जलम्।
तेनाऽऽध्मातां वमिः तृष्णा विबन्धश्चानु शाम्यति ॥
भेषज दोषरुद्ध चेत् नोर्ध्वं नाधः प्रवर्त्तते।
छोद्गारं साङ्गशूलं वा स्वेदं यत्रा ऽचारयेत् ॥
साक्तू विरिक्तमुद्गारे भेषजं मिप्रमुद्विग्नखेद।
अजीर्णमप्रवृत्तौ तु सुशीतैः स्तम्भयेत् भिषक् ॥
कदाचित् श्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम्।
क्षीणे श्लेष्मणि सायाह्ने रात्रौ वा तत् प्रवर्त्तते ॥
रूक्षान् आहारयेत् जीर्णे तिष्ठत्यूर्ध्वंगतेऽपि वा।
वायुना भेषजे स्तब्ध्यत् सस्नेहं लवणं पिबेत् ॥
तृट् मोहभ्रमभूर्च्छाद्याः स्युः जीर्यति भेषजे।
पित्ताघ्नं स्वादुशीतं च भेषजं तत्र शस्यते ॥
लालाहृल्लासविष्टम्भरोमहर्षात् कफावृते।
भेषज तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुत् हितम् ॥

अर्थात् इस प्रकार की भिन्न २ अवस्थाओं में सावधानता पूर्वक आवश्यक उपचार करना चाहिए। और वमन विरेचन का प्रयोग करते समय—सू. अ. १८ में बतलाए गये विधि-विधानों का भली भाँति अनुष्ठान करना चाहिए। वैसा करने से प्रायः व्यापदों की उत्पत्ति ही नहीं होती। अ. सं. क. अ. ३।

इति अष्टांगहृदये कल्पसिद्धिस्थाने तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः।

दोषापहरण वस्तिकल्पः

अथाऽतो दोषहरणाय वस्तिकल्पं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब दोषों के हरण के लिये वस्ति कल्प की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—वस्तिकल्प का वर्णन—च. सि. अ. ३,४ तथा ८ में, सु. चि. अ. ३७ तथा ३८ में, और अ. सं. अ. ४ में किया गया है। वस्तिकल्प दो प्रकार का है—१ निरूह कल्प—निरूहण या आस्थापन वस्ति तथा २—अनुवासन अर्थात् स्नेह वस्ति। इनका वर्णन सू. अ. १९ में देखिये।

निरूहण कल्प—

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां
द्विपञ्चमूलं च पलोन्मितानि।
अष्टौ फलान्यर्धतुलां च मांसा-
च्छागात्पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ॥ १ ॥
पूतो यवानीफलबिल्वकुष्ठ-
वचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम्।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलैर्युक्तः
सुखोष्णो लवणान्वितश्च ॥ २ ॥
बस्तिः परं सर्वसमप्रमाथी
स्वस्थे हितो जीवनबृंहणश्च।
बस्तौ च यस्मिन्पठितो न कल्कः
सर्वत्र दद्यादमुमेव तत्र ॥ ३ ॥

व्याख्या—बलादि कल्प—बलामूल, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आमला, रासना तथा दोनों पञ्चमूलों के १० द्रव्य। ये १६ द्रव्य १-१ पल, आठ मैनफल, बकरा का मांस ५० पल। सबको चतुर्गुण जल में पकावे, चतुर्थांश रहने पर छान लेवे। उत्तम अजवायन, मैनफल, बिलगिरी, कूठ, बालवच, सोया, मोथा या पीपल का कल्क २ पल, गुड़ मधु, घृत, तैल तथा लवण मिलाकर, कोसा घोल बनाकर बस्ति देवे। यह बस्ति सर्व बस्ति है—सर्व रोग नाशक है, स्वस्थ के लिये भी हित है तथा जीवन देनेवाली एवं बृंहण है। जिस बस्ति योग में कल्क का निर्देश न हो उसमें सबके लिये—रोगी एवं स्वस्थ के लिये यही कल्क मिलाना चाहिये॥

वक्तव्य—घृत एवं तैल का मान—ततः क्वाथात् चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत्। पित्ते स्वस्थे च षष्ठांशं अष्टमांशं कफेऽधिके। कल्क का मान—सर्वत्र च अष्टमं भागं क्वाथात् भवति वा यदा। नाऽत्यच्छसान्द्रता बस्तेः। गुड़ का मान—पलमात्रं गुडस्य च। मधु एवं लवण का मान—मधु पट्वादि शेषं च युक्तितः—जिससे अधिक मधुर एवं लावणिक न हो। अ. हृ. सू. अ. १९। १-३॥

बलामूलादि निरूहण कल्प—

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः सच्छागमांसस्य सपूर्वकल्कः।
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः सर्वाऽनिलव्याधिहरः प्रदिष्टः॥

व्याख्या—दोनों पञ्चमूलों के १० द्रव्यों का तथा बकरा के मांस का क्वाथ, काञ्जी, पूर्वोक्त (श्लोक २) अजवायन आदि का कल्क, घृत, तैल तथा वसा मिलाकर दिया गया निरूह—समस्त वातव्याधियों का नाशक होता है॥ ४॥

बलादि निरूहण कल्प—

बलापटोलीलघुपञ्चमूलत्रायन्तिकैरण्डयवात्सुसिद्धात्।
प्रस्थोऽर्धमाच्छागरसाद्युक्तः साध्यः पुनः प्रस्थसमः सयष्ट्
प्रियङ्गुकृष्णाघनकल्कयुक्तः सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च चक्षुर्बलं चोपदधाति सद्यः॥

व्याख्या—बलामूल, परवल के पत्र, लघु पञ्चमूल के ५ द्रव्य, त्रायमाणा, एरण्ड मूल तथा जौ का क्वाथ १ प्रस्थ लेवे और उसमें बकरा के मांस का रस आधा प्रस्थ (८ पल) मिलाकर पुनः पकावे जब एक प्रस्थ रह जाय तब उसमें—प्रियङ्गु, पीपल, तथा नागरमोथा का कल्क, तैल, घृत, मधु तथा सैन्धव (देखिये श्लोक २ का वक्तव्य) मिलाकर बस्ति देवे। यह बस्ति—अग्नि को प्रदीप्त करती है, मांस तथा बल को बढाती है और तत्काल नेत्रों की ज्योति को बलवान् बनाती है॥ ५-६॥

एरण्डादि त्रिपलं पलानिरूहण—

एरण्डमूलात्त्रिपलं पलांशं लघुपञ्चमूलम्।
रास्नाबलाच्छिन्नरुहाश्वगन्धापुनर्नवारग्वधदेवदारु॥ ७॥
फलानि चाऽष्टौ सलिलाढकाभ्यां विपाचयेदष्टकशेषिते ऽस्मिन्
वचाशताह्वाहपुषाप्रियङ्गु-यष्टीकणावत्सकबीजमुस्तम्।
दद्यात्सुपिष्टं सहतार्क्ष्यशैलमक्षप्रमाणं लवणांशयुक्तम्।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो बस्तिर्जयेल्लेखनदीपनोऽसौ॥
जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठकोष्ठ-हृद्गुह्यशूलं गुरुतां विबन्धम्।
गुल्माश्मवर्ध्मग्रहणीगुदोत्थांस्तांश्च रोगान्कफवातजातान्॥

व्याख्या—एरण्डमूल तथा पलाश की छाल ३-३ पल, लघु पंचमूल के ५ द्रव्य १-१ पल, रासना, बलामूल, गिलोय, असगन्ध, पुनर्नवा, अमलतास तथा देवदारु १-१ पल, मैनफल के ८ फल लेकर और सब को जौ कुट करके २ आढक जल में पकावे और अष्टमांश (१६ पल) रहने पर छान लेवे, फिर उस में—बाल बच, सोया, हाऊबेर, प्रियंगु, मुलेठी, पीपल, इन्द्र जौ, नागरमोथा तथा रसाञ्जन १-१ कर्ष लेकर और कल्क बनाकर मिला देवे तथा उचित मात्रा में लवण तथा मधु, तैल तथा गोमूत्र मिला कर बस्ति देवे। यह बस्ति—लेखन (मलाशय में जमे-सटे मल को उखाड़ने वाली) तथा अग्नि को बढ़ाने वाली है और जंघा, ऊरु, पार्श्व, कटि, पीठ, कोष्ठ हृदय तथा गुह्य (भग एवं शिश्न) के शूल गौरव तथा विबन्ध को नष्ट करती है एवं गुल्मरोग, अश्मरी, विबन्ध, ग्रहणी रोग तथा गुद के अर्श आदि कफ वात जनित उक्त २ रोगों को नष्ट करती है॥ ७-१०॥

यष्ट्यादि बस्ति कल्प—

यष्ट्याह्वलोध्राभयचन्दनैश्च शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च
सशर्कराक्षौद्रघृतं सुशीतं पित्तामयान्हन्ति सजीवनीयम्॥

व्याख्या—मुलेठी, लोध्र, खस, लालचन्दन, कमल तथा उत्पल के योग से परिपक्व गोदुग्ध-खण्ड मधु तथा घृत और जीवन्ती आदि जीवनी यगण (सू. अ. १५) का कल्क मिला कर एवं शीतल करके—दी गई बस्ति—पित्तजनित रोगों को नष्ट करती है॥ ११॥

रास्नादि निरूहण बस्ति कल्प—

रास्नांशुमत्यौ बृहतीबलाख्ये तृणपञ्चमूल्यौ।
गोपाङ्गनाचन्दनपद्मकर्द्धि यष्ट्याह्वलोध्राणि पलार्धकानि॥
निःक्वाथ्य तोयेन रसेन तेन शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम्
जीवन्तिमेदर्द्धिवरीविदारीवीराद्धिकाकोलिकसेरुकाभिः॥
सितोपलाजीवकपद्मरेणुः प्रपौण्डरीकोत्पलपुण्डरीकैः।
लोहात्मगुप्तामधुयष्टिकाभिर्नागाह्वमुञ्जातकचन्दनैश्च॥
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरुहं ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात्।
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन्क्षीरेण वाऽश्नात्परिषिक्तगात्रः॥

दाहातिसारप्रदरास्रपित्त हृत्पाण्डुरोगान्विषमज्वरं च ।
सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन्सर्वामयान्पित्तकृतान्निहन्ति॥

व्याख्या—रासना, अडूसा (मूलत्वक्), मञ्जीठ, दूब, बला मूल, लघु पञ्चमूल, तृणपञ्चमूल (सू. अ. १५), सारिवा, लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, ऋद्धि, मुलेठी, तथा लोध २–२ कर्ष लेकर, जौकुट करके, चौगुने जल में पकावे, चौथाई रहने पर आधा आढक (२ प्रस्थ) दूध में मिला कर पकावे दुग्ध मात्र रहने पर—जीवन्ती, मेदा, ऋद्धि, शतावर, विदारी कन्द, क्षीरविदारी, काकोली, कसेरू, मिश्री, जीवक, कमलका केसर, प्रपौण्डरीक उत्पल (कमल) श्वेत कमल, अगुरु, किवाँच बीज, मुलेठी, नागकसेर, मुञ्जातक तथा लालचन्दन, का कल्क (उतना–जिससे स्वच्छ सान्द्रता हो) तथा घृत एवं सैन्धव लवण मिला कर–शीतल ही निरूहण वस्ति दे देवे। वस्ति द्रव्य लौट आने पर–स्नान करके, शालि चावलों का भात–जाङ्गल देशीय मांस रस अथवा दूध के साथ खावे। यह वस्ति—दाह, अतिसार, प्रदर, रक्तपित्त, हृदय रोग, पाण्डुरोग, विषम ज्वर गुल्म, मूत्राघात तथा कामला आदि पित्तजनित सब रोगों को नष्ट करती है ॥१२–१६॥

कोशातकादि निरूहण वस्ति—

कोशातकारग्वधदेवदारुमूर्वाश्वदंष्ट्राकुटजार्कपाठाः ।
पक्त्वा कुलत्थान्बृहतींच तोये रसस्य तस्य प्रसृता दशस्युः
तान्सर्षपैलामदनैःसकुष्ठैरक्षप्रमाणैःप्रसृतैश्च युक्तान्।
क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य क्षारस्य तैलस्यच सार्षपस्य॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिताय मन्दाग्नये चाऽशनविद्विषे च।

व्याख्या—कोशातकी का फल (तद्गत मज्जा) अमलतास, देवदारु, मरोड़फली, गोखरू, कुटजत्वक्, अर्कमूलत्वक्, पाठा, कुलथी तथा वनभण्टा लेकर क्वाथ करे और यह क्वाथ १० प्रसृत (२० पल) हो और उस में–सरसों, बड़ी इलायची, मैन फल तथा कुठ १–१कर्ष, मधु, मैनफल से सिद्ध तैल, जौखार, तिलतैल तथा घृत मिलाकर निरूहण वस्ति देवे। यह वस्ति-कफ रोग में, मन्दाग्नि में तथा अरुचि में देनी चाहिये ॥ १७, १८ ॥

प्रसृत वस्तियों का वर्णन—

वक्ष्ये मृदून्स्नेहकृतो निरूहान्
सुखोचितानां प्रसृतैः पृथक् स्युः ॥१९॥

व्याख्या—अब सुखयों – सुकुमारों के लिये अनुकूल मृदु एवं स्नेहन निरूहण वस्तियों का वर्णन करेंगे जिनका परिमाण पृथक् "प्रसृतों" के द्वारा कहा होता है।

वक्तव्य—इनका वर्णन चरक सि. अ. ८ में किया गया है—अथातः प्रासृतयौगिकीं सिद्धि व्याख्यास्यामः–इति ह स्माह भगवान् आत्रेयः।२। प्रसृतोपलक्षिता योगाः। तान् अधिकृत्य कृता सिद्धिः। च. पा.। इनका निर्माण "प्रसृत नामक मान के अनुसार किया जाता है अतएव इनका नाम "प्रासृत यौगिकी" वस्ति है। स्मरण रखिये—प्रसृत दो पलका होता है।

भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—

अथेमान्सुकुमाराणां निरूहान् स्नेहनान्मृदून् ।
कर्मणा विप्लुतानां तु वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक् ॥२०॥

व्याख्या—अब उन सुकुमारों के लिये जो पञ्चकर्म नहीं कर सकते स्नेहन एवं मृदु (अतीक्ष्ण) निरूहण वस्तियों का वर्णन करूंगा जो पृथक प्रसृत परिमाण से बनाई जाती हैं ॥ २० ॥

प्रसृत वस्तियों के योग—

क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलघृतात् त्रयः ।
खजेन मथितो वस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत्॥२१॥
एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम् ।
बिल्वादिमूलक्वाथाद् द्वौ कौलत्थाद् द्वौ स वातजित् ॥
पटोलनिम्बभूतीक-रास्नासप्तच्छदाम्भसः ।
प्रसृतः पृथगाज्याच्च वस्तिः सर्षपकल्कवान् ॥२३॥
सपञ्चतिक्तोऽभिष्यन्द-कृमिकुष्ठप्रमेहहा ।
चत्वारस्तैलगोमूत्र-दधिमण्डाम्लकाञ्जिकात् ॥२४॥
प्रसृताः सर्षपैः पिष्टैर्विट्सङ्गाऽऽनाहभेदनः ।
पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम् ॥२५॥
एकैकः प्रसृतो वस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत् ।

व्याख्या—दूध २ प्रसृत (४ पल) मधु, तैल तथा घृत ३ प्रसृत (१–१ प्रसृत)। सब को मिलाकर और मथानी से मथकर वस्ति देवे। यह वस्ति—वातनाशक है तथा बलवर्णवर्द्धक है। तैल, मद्य, मधु तथा घृत१–१ प्रसृत, बिल्वादि पञ्चमूल का क्वाथ २–२ प्रसृत मिला कर तथा मथानी से मथ कर वस्ति देवे। यह वस्ति वात नाशक है। पंचतिक्त वस्ति–परवल के पत्र निम्ब के पत्र (अथवा छाल), करञ्ज, रासना तथा सप्तपर्ण का क्वाथ १–१ पल, घृत १ प्रसृत तथा सरसों का कल्क १ प्रसृत मिलाकर और मथानी से मथ कर वस्ति देवे। यह वस्ति—अभिष्यन्द (नेत्र रोग विशेष), कृमि, कुष्ठ तथा प्रमेह को नष्ट करती है। तिल तैल, गोमूत्र, दही का पानी तथा खट्टी कांजी १–१ प्रसृत और सरसों का कल्क मिलाकर वस्ति देवे। यह वस्ति—पुरीषरोध तथा आनाह को नष्ट करती है। क्षीर विदारी का कल्क, ईख का रस, शालपर्णी, रासना तथा विदारी कन्द का क्वाथ, मधु तथा घृत १–१ प्रसृत—पीपल का कल्क मिला कर वस्ति देवे। यह वस्ति—वाजीकरण है।

सिद्ध वस्तियों का वर्णन—

सिद्धवस्तीनतो वक्ष्ये सर्वदा यान्प्रयोजयेत् ॥२६॥

निर्व्यापदो बहुफलान् बलपुष्टिकरान् सुखान् ।
मधुतैले समे कर्षः सैन्धवाद् द्विपिचुर्मिसिः ॥२७॥
एरण्डमूलक्वाथेन निरूहो माधुतैलिकः ।
रसायनं प्रमेहार्शःक्रिमिगुल्मान्त्रवृद्धिनुत् ॥ २८ ॥
सयष्टिमधुकश्चैव चक्षुष्यो रक्तपित्तजित् ।

व्याख्या—अब सिद्ध वस्तियों का वर्णन करेंगे जिनका सर्वदा (सब दशाओं में) प्रयोग किया जा सकता है । और जिन से कोई व्यापद् नहीं होती, फल बहुत होता है, बल एवं पुष्टि का लाभ होता है तथा जो सुख दायक होती है ॥

मधु तैलिक वस्ति—

मधु एवं तिल तैल समभाग (१—१ पल), सैन्धव लवण १ कर्ष, सौंफ २ कर्ष तथा एरण्डमूलत्वक् का क्वाथ ४ पल मिला कर निरूहण वस्ति देवे । इसका नाम "मधुतैलिक" है यह वस्ति रसायन है, तथा प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म तथा अन्त्रवृद्धि को नष्ट करती है ॥

इसी में यदि मुलेठी का कल्क अथवा क्वाथ मिलाया जाय तो नेत्रों के लिये हित तथा रक्तपित्त नाशक हो जाती है ।

वक्तव्य—सु. चि. अ. ३८ में इसका पाठ इस प्रकार है—
मधु तैलं समं कृत्वा क्वाथश्चैरण्डमूलजः ।
पलार्धं शतपुष्पायाः ततोऽर्धं सैन्धवस्य च । १०० ।
फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः ।
देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः । १०१ ।

यापन वस्ति —

यापनो, घनकल्केन मधुतैलरसाज्यवान् । २९ ।
पायुजङ्घोरुवृषणबस्तिमेहनशूलजित् ।
प्रसृतांशैर्घृतक्षौद्रवसातैलैः प्रकल्पयेत् ॥ ३० ॥
यापनं सैन्धवार्धाक्षहपुषार्धपलान्वितम् ।

व्याख्या—मोथा का कल्क, मधु, तैल, मांस रस तथा घृत मिलाकर और मथ कर वस्ति देवे । यह वस्ति—गुद, जंघा, ऊरु, वृषण, वस्ति (मूत्राशय) तथा मेहन के शूल को नष्ट करती है । घृत, मधु, वसा तथा तैल १-१ प्रसृत (२-२ पल), सैन्धव आधा कर्ष तथा हाऊबेर २ कर्ष मिला वस्ति देवे । यह वस्ति भी गुद आदि के शूल को नष्ट करती है । इन दोनों वस्तियों का नाम "यापन" है ॥ २९-३० ॥

युक्तरथ वस्ति—

एरण्डमूलनिःक्वाथो मधुतैलः ससैन्धवः ॥ ३१ ॥
एष युक्तरथो बस्तिः सवचापिप्पलीफलः ।

व्याख्या—एरण्डमूलत्वक् का क्वाथ, मधु, तैल, सैन्धव लवण, वालवच, पीपल तथा मैन फल का कल्क—मिलाकर वस्ति देवे । इसका नाम "युक्तरथ" है ॥

वक्तव्य—रथ एवं हाथी घोड़ा की सवारी के पूर्व भी दी जा सकती है अतः युक्तरथ कही जाती है ॥ ३१ ॥

दोषहर वस्ति—

स क्वाथो मधु षड्ग्रन्था शताह्वा हिङ्गु सैन्धवः । ३२ ।
सुरदारु वचारास्नाबस्तिर्दोषहरः परः ।

व्याख्या—उक्त एरण्ड मूल त्वक् का क्वाथ, मधु, बालवच, सोया, हिंगु, सैन्धव लवण, देवदारु, त्रिफला तथा रासना का कल्क मिलाकर दी गई वस्ति उत्तम कोटि की दोष नाशक है ॥

वक्तव्य—दोषों एवं मलों का निर्हरण करती है अतः दोषहर वस्ति कही जाती है ॥ ३२ ॥

सिद्ध वस्ति—

पञ्चमूलस्य निःक्वाथस्तैलं मागधिका मधु ॥ ३३ ॥
ससैन्धवः समधुकः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः

व्याख्या—लघु पञ्चमूल का क्वाथ, तैल, पीपल, मधु, सैन्धव लवण तथा मुलेठी के योग से बनाई गई वस्ति सिद्ध वस्ति कहलाती है

वक्तव्य—बलोपचयवर्णस्य यस्माद् व्याधिविघातकृत् च ।
अव्यलीकेन सिद्धत्वं सिद्धवस्तिरतो मतः । ११६ ।
सु. चि. अ. ३८ ॥ ३३ ॥

गोमूत्र वस्ति—

द्विपञ्चमूलत्रिफला-फलबिल्वानि पाचयेत् ॥ ३४ ॥
गोमूत्रेण च पिष्टैश्च पाठावत्सकतोयदैः ।
सफलैः क्षौद्रतैलाभ्यां क्षारेण लवणेन च ॥ ३५ ॥
युक्तो बस्तिः कफव्याधिपाण्डुरोगविसूचिषु ।
शुक्रानिलविबन्धेषु बस्त्याटोपे च पूजितः ॥ ३६ ॥

व्याख्या—महापञ्चमूल, लघुपञ्चमूल, त्रिफला मैन फल तथा बिलगिरी को गोमूत्र में पकावे जब द्रव्य गतरस हो जायँ तब छान लेवे, उसमें—पाठा, कुटजत्वक् मोथा, मैन फल, मधु, तैल, जौखार तथा लवण का कल्क मिला देवे । यह वस्ति—कफ जनित रोग, पाण्डुरोग, विसूची, शुक्रोदावर्त, प्रवातोदावर्त तथा वस्ति गत आध्मान में लाभ करती है ॥ ३४-३६ ॥

यापन राजवस्तियोग—

मुस्तापाठामृतैरण्ड-बलारास्नापुनर्नवान् ।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीर-त्रायमाणाऽक्षरोहिणीः ॥ ३७ ॥
कनीयः पञ्चमूलं च पालिकं मदनाष्टकम् ।
जलाढके पचेत्तच्च पादशेषं परिस्रुतम् ॥ ३८ ॥
क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तं क्षीरशेषं पुनः पचेत् ।
सपाद जाङ्गलरस ससर्पिर्मधुसैन्धवः ॥ ३९ ॥
पिष्टैर्यष्टिमिसिस्थिरकामाकलिङ्गकरसाञ्जनैः ।

बस्तिः सुखोष्णो मांसाग्निबलशुक्रविवर्धनः ॥ ४० ॥
वातासृङ्मोहमेहार्शोगुल्मविण्मूत्रसङ्ग्रहम् ।
विषमज्वरवीसर्पवर्ध्माऽऽध्मानप्रवाहिका. ॥ ४१ ॥
वङ्क्षणोरुकटीकुक्षिमन्याश्रोत्रशिरोरुजः ।
हन्यादसृग्दरोन्माद-शोफकासाश्मकुण्डलान् ॥ ४२ ॥
चक्षुष्यः पुत्रदो राजा यापनानां रसायनम् ।

व्याख्या—नागर मोथा, पाठा, गिलोय, एरण्ड मूल-त्वक्, बला मूल त्वक्, रासना, पुनर्नवा, मञ्जीठ, अमलतास, खस, त्रायमाण, कुटकी तथा लघु पञ्चमूल के ५ द्रव्य १–१ पल तथा ८ मैनफल (संख्या में ८) लेकर और कूट कर १ आढक जल में पकावे—एक प्रस्थ रहने पर छान लेवे फिर उसे दो प्रस्थ दूध में मिलाकर पकावे जब दूध मात्र रह जावे तब उसमें ८ पल जाङ्गल देशीय मांस रस मिला देवे और घृत, मधु तथा सैन्धव और मुलेठी, सौंफ, प्रियंगु, इन्द्र जौ तथा रसाञ्जन का कल्क मिला देवे और कोसा करके वस्ति देवे। यह वस्ति—मांस, अग्नि, बल तथा शुक्र को बढ़ाती है और वातरक्त, मोह, प्रमेह, अर्श, गुल्म, पुरीष बन्ध, मूत्राघात, विषम ज्वर, विसर्प, वृद्धि, आध्मान एवं प्रवाहिका को तथा वक्षण ऊरु, कटि, कुक्षि, मन्या, कर्ण तथा शिर की पीड़ा को और रक्त प्रदर, उन्माद, शोथ, कास, अश्मरी तथा वात-कुण्डलिका नामक मूत्राघात को नष्ट करती है और नेत्र के लिये हित है, पुत्र-सन्तान दाता है, रसायन है तथा सभी यापन वास्तियों में श्रेष्ठ है। २४।

वक्तव्य—सु. चि. अ. ३८ में इसका नाम "मुस्तादि वस्ति" है। श्लो० १०६—१११ ॥ ३०-४२ ॥

अतिवृष्य रसायन—

मृगाणां लघुबभ्रूणां दशमूलस्य चाम्भसा ॥ ४३ ॥
हपुषामिसिगाङ्गेयीकल्कैर्वातहरः परम् ।
निरूहोऽत्यर्थवृष्यश्च महास्नेहसमन्वितः ॥ ४४ ॥

व्याख्या—लघु एवं बभ्रु (विशाल बड़े) मृगों के मांस रस तथा दशमूल के क्वाथ में—हाऊवेर सौंफ एवं नागर मोथा का कल्क मिलाकर बनाई गई वस्ति परम वातनाशक होती है। इसमें चारों स्नेह मिला दिये जायँ तो अत्यन्त वृष्य होती है ॥

वक्तव्य—बभ्रु—बभ्रुः विशाले नकुले कृशानौ अजे मुनौ शूलिनि पिंगले च;' इति विश्वकोशः। तथा—"विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात् पिंगले त्रिषु" इति अमर कोश।

मयूरवस्ति

मयूरं पक्षपित्ताऽन्त्र-पाद-विट् तुण्डवर्जितम् ।
मधुना पञ्चमूलेन पालिकेन समन्वितम् ॥ ४५ ॥
पक्त्वा क्षीरजले क्षीरशेषं सघृतमाक्षिकम् ।
सविदारीकणायष्टि-शताह्वाफलकल्कवत् ॥ ४६ ॥
बस्तिरीषत्पटुयुतः परमं बलशुक्रकृत् ।

व्याख्या पंख, पित्ताशय, अन्त्र, पाद, पुरीष तथा चोंच को पृथक् कर मोर को (अर्थात् मोर के मांस को) लेकर और लघु पञ्चमूल के ५ द्रव्य १—१ पल लेकर अठगुण दूध एवं जल में पकावे, दुग्ध मात्र रहने पर उसे छान लेवे फिर उसमें घृत एवं मधु और विदारी कन्द, पीपल, मुलेठी, सोया तथा मैनफल का कल्क और थोड़ा सैन्धव लवण मिलाकर बस्ति देवे। यह वस्ति बल एवं शुक्र को बढ़ाती है ॥

वक्तव्य—क्योंकि इसमें मोर का मांस प्रधान है अतः मयूर बस्ति कहलाती है ॥४५-४६॥

संकेत—

कल्पनेयं पृथक् कार्या तित्तिरिप्रभृतिष्वपि ॥ ४७ ॥
विष्किरेषु समस्तेषु प्रतुदप्रसहेषु च ।
जलचारिषु तद्वच्च मत्स्येषु क्षीरवर्जिता ॥ ४८ ॥

व्याख्या—उक्त मयूर वस्ति की विधि से तीतर आदि विष्किर वर्ग के तथा समस्त प्रतुद एवं प्रसह वर्ग के प्राणियों के मांसरस के योग से पृथक् २ वस्तियों की कल्पना की जा सकती है और जलचरों के मांस रस में उसी प्रकार कल्पना की जा सकती है परन्तु—मछलियों के मांस रस की वस्तियाँ दूध के बिना ही बनानी चाहिये।

वक्तव्य विशेषात् पयसा मत्स्या (विरुध्यन्ते) सु० अ. ७। न मत्स्यान् पयसा सह अभ्यवहरेत् ।८०। च. सू० अ. ।२६। अर्थात् मत्स्य (मछली) एवं दूध परस्पर विरोधी होते हैं। उक्त वस्तियों में मांस १० पल लेना चाहिये।४७-४८॥

गोधादि वस्ति—

गोधानकुलमार्जारशल्यकोन्दुरजं पलम् ।
पृथग्दशपलं क्षीरे पञ्चमूलं च साधयेत् ॥ ४९ ॥
तत्पयः फलवैदेहीकल्कद्विलवणान्वितम् ।
ससितातैलमध्वाज्यो बस्तिर्योज्यो रसायनम् ॥५०॥
व्यायाममथितोरस्कक्षीणेन्द्रियबलौजसाम् ।
विबद्धशुक्रविण्मूत्र-खुड-वात विकारिणाम् ॥ ५१ ॥
गजवाजिरथक्षोभ-भग्नजर्जरितात्मनाम् !
पुनर्नवत्वं कुरुते वाजीकरणमुत्तमम् ॥ ५२ ॥

व्याख्या—गोधा (गोह), नेवला, मार्जार (बिल्ली) शल्यक (सेह-साही) तथा मूषा का मांस १०-१० पल तथा लघु पञ्चमूल १० पल लेकर आठ गुने दूध तथा दूध से चौगुने जल में पकावे दुग्धमात्र रहने पर—मैनफल, पीपल सैन्धवलवण तथा सौवर्चल लवण का कल्क मिलाकर और खण्ड, तैल, मधु तथा घृत मिलाकर वस्ति देवे। यह वस्ति—रसायन है तथा—धनुः आदि के

व्यायाम से सञ्जात उरः क्षत में, क्षय में इन्द्रिय दौर्बल्य में, बलक्षय में, ओजःक्षय में, शुक्ररोध में, पुरीषरोध में मूत्राघात में वातरक्त में तथा वात व्याधियों में लाभ करती है और हाथी, घोड़ा तथा रथ आदि के क्षोभ (हिचकोलों) से भग्न (टूटे) तथा जर्जर शरीर वालों के शरीर को पुनः नूतन कर देती है और वाजीकरणों में श्रेष्ठ है ॥४६-५२॥

सिद्ध वस्तियों में आहार—

सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः ।

व्याख्या—सिद्ध वस्तियों—उक्त वृष्य वस्तियों के सेवनकाल में—किवाँच बीज, श्वेत गुञ्जा बीज तथा तालमखाना बीज के योग से सिद्ध दूध के साथ भोजन करे ।

स्नेहवस्तियों की कल्पना—

स्नेहांश्चायन्त्रणान् सिद्धान्सिद्धद्रव्यैः प्रकल्पयेत् ॥५३॥

व्याख्या—उक्त सिद्ध वस्तियों के द्रव्यों के योग से सिद्ध स्नेहों द्वारा स्नेह वस्तियों—अनुवासनों की कल्पना करे जिन में यन्त्रण—परिहार की कोई आवश्यकता नहीं होती—उनके सेवन में यथेष्ट आहार-विहार किया जा जा सकता है ॥

वक्तव्य—अ. सं. अ. ५ में—

अतो दशदशाहेन यस्तु वस्तीन् निषेवते ।
वाजीव पुष्टो सवृषो गच्छति प्रमदा शतम् ॥
एते माक्षिकसंयुक्ता कुर्वन्ति-अतिवृषं नरम् ।
नातियोगं च नाऽयोगं स्तम्भिनः ते च कुर्वते ॥
निरूहा लेखना प्रायो बृंहणाः स्नेहवस्तयः ।
यापनेष्वयं तस्मात् नेष्ट तेष्वनुवासनम् ॥
मृदुत्वात् न निवर्त्तेरन् यस्य त्वेते प्रयोजिताः ।
सञ्जूतैः वस्तिभिः तीक्ष्णैः आस्थाप्यः क्षिप्रमेव सः ॥
शोथाग्निनाशपाण्डुत्वशूलाऽर्शःपरिकर्तिकाः ।
स्युः ज्वरश्चाऽतिसारश्च यापनात्यर्थसेवनात् ।
अरिष्टक्षारतीक्ष्णाद्यैः तत्रेष्टा दीपनी क्रिया ॥
युक्त्या तस्मात् निषेवेत यापनान् न प्रसंगतः ॥
मृदु-अल्प औषध योगात् पादहीनप्रमाणतः ।
अल्पकालोपयोगाच्च तेषु निष्परिहारता ॥
द्रव्येषु यापनार्थेषु सिद्धान् स्नेहान् पृथक् पृथक् ।
वस्तिषु सर्वेषु वा युञ्ज्यात् परिहारविवर्जितान् ॥

एक निष्परिहार स्नेहवस्ति—

सहाचराऽभीरु बला रास्ना गोक्षुरकात् पृथक् ।
तुलां जलद्रोणशते पक्त्वा द्रोणाऽवशेषिते ॥
पूते शीते बिसद्राक्षा तवक्षीरी निदिग्धिका ॥
मधुकला श्वदंष्ट्रा यष्टीमधु मधूलिका ॥
जीवक-ऋषभकोदीच्य मृणालोत्पलचन्दनम् ।
खर्जूरतालमज्जाऽऽत्मगुप्तातामलकीकणाः ॥
पटोलमेदात्वक्पत्रशीतपाक्योदनाह्वया ।
कल्कीकृत्य क्षिपेत् तस्मिन् पृथक् च प्रस्थसम्मितम् ॥
रसं वराहमहिषवस्तमुष्कोद्भवं तथा ।
शिखिकुक्कुटहंसाण्डसम्भवं तैलसर्पिषी ॥
धात्री विदारी स्वरसं गव्यक्षीराऽऽढकद्वयम् ।
ब्रह्मभेरीमृदंगानां निनादैः साधितं च यत् ॥
सितच्छत्रकृतच्छायं सितवस्त्रावगुण्ठितम् ।
आरोपितं गजस्कन्धे पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥
कृत्वा स्वस्त्ययनं दद्यात् स्नेहवस्तिमयन्त्रणम् ।
प्राप्तस्ततोऽतिवृषतां श्रमयेत् वनिताशतम् ॥
निर्वलीपलितः कान्तः चिरंजीवी भवेत् स च ।
नष्टशुक्रक्षतक्षीणविषमज्वरिणां हितः ॥
व्यापन्नाऽऽर्त्तवशुक्राणां पुत्रदाता रसायनम् ।

संकेत —

एवं च वस्तयोऽन्येऽपि कल्प्याः पाक्याश्च नैकशः ।
शतं वारान् सहस्रं वा पाचयेत् सम्भवे सति ॥ ५३ ॥

परिहारयुक्त स्नेहवस्तियों की कल्पना—

दोषघ्नाः सपरीहारा वक्ष्यन्ते स्नेहबस्तयः ।
दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम् ॥ ५४ ॥
गुडूच्येरण्डभूतीकभार्ङ्गीवृषकरोहिषम् ।
शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशकम् ॥ ५५ ॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थान्प्रसृतोन्मितान् ।
वहे विपाच्य तोयस्य द्रोणशेषेण तेन च ॥ ५६ ॥
पचेत्तैलाढकं पेष्यैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
अनुवासनमित्येतत्सर्ववातविकारनुत् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—अब उन स्नेह वस्तियों की कल्पना लिखी जायगी जो दोष नाशक हैं और जिनमें परिहार की आवश्यकता है। दशमूलादि स्नेह—दशमूल के दश द्रव्य, बलामूल, रासना, असगन्ध, पुनर्नवा, गिलोय, एरण्ड मूलत्वक्, करञ्ज, भारंगी, अडूसा, रोहिष तृण, शतावर, कटसरैया तथा काकनासा १-१ पल, जौ, उरद अलसी, बेर फल तथा कुलथी १-१ प्रसृत (२-२ पल) लेकर १ वाह (४ द्रोण) जल में पकावे और एक द्रोण रहने पर छान लेवे फिर उसके साथ १ आढक (४ प्रस्थ) तिल तैल तथा जीवनीय गण (सू. अ. १५) के १-१ पल द्रव्यों का कल्क मिलाकर पाक करे सिद्ध होनेपर छान लेवे। यह अनुवासन स्नेह—सब प्रकार के वातज रोगों को नष्ट करता है ॥ ५५-५७ ॥

वसा स्नेह का अनुवासन

अनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ।

व्याख्या—सूअर आदि अनूपदेशीय प्राणियों की वसा को जीवनीय गण के कल्क के योग से सिद्ध करके अनुवासन देवे। यह अनुवासन भी सब प्रकार के वातज रोगों को नष्ट करता है।

तैल स्नेह—

शताह्वाचिरबिल्वाम्लैस्तैलं सिद्धं समीरणे ॥ ५८ ॥

व्याख्या—सोया तथा करञ्ज के कल्क तथा काञ्जी के योग से सिद्ध तैल का अनुवासन वायु में लाभ करता है ॥५८॥

घृत स्नेह—

सैन्धवं त्वग्निवर्णेन तप्तं वाऽनिलजिद् घृतम्।

व्याख्या—सैन्धव लवण को अग्नि में तपाकर, लाल हो जाने पर घृत में डालकर बुझा देवे। इस घृत का अनुवासन भी वात नाशक होता है।

यमक स्नेह—

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम् ॥ ५९ ॥
शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम्।
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम् ॥६०॥
पिष्ट्वा तैः सघृतं क्षीरे साधयेत्तच्चतुर्गुणे।
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम् ॥ ६१ ॥
रजःशुक्रामयहरं पुत्रीयमनुवासनम्।

व्याख्या—जीवन्ती, मैनफल, मेदा, मुण्डी, मुलेठी, बलामूल, सोया, ऋषभक, पीपल, काकनासा, शतावर, किवाँच, क्षीरकाकोली, काकड़ासिंगी, कचूर तथा बालवच को पीसकर कल्क बनावे, कल्क से चतुर्गुण तैल एवं घृत मिलाकर चौगुने गोदुग्ध में पाक करे, सिद्ध होने पर छान लेवे। यह अनुवासन—बृंहण है, वात पित्त नाशक है, बल, शुक्र एवं अग्नि को बढ़ाता है, रजस् एवं शुक्र के दोषों को नष्ट करता है और पुत्र दायक है ॥५९-६१॥

सैन्धवादि तैल—

सैन्धवं मदनं कुष्ठं शताह्वा निचुलो वचा ॥६२॥
ह्रीबेरं मधुकं भार्ङ्गी देवदारु सकट्फलम्।
नागरं पुष्करं मेदा चविका चित्रकः शटी ॥६३॥
विडङ्गाऽतिविषा श्यामा हरेणुर्नीलिनी स्थिरा।
बिल्वाजमोदचपला दन्ती रास्ना च तैः समैः ॥ ६४ ॥
साध्यमेरण्डतैलं वा तैलं च कफरोगनुत्।
वर्ध्मोदावर्तगुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान् ॥ ६५ ॥
आनाहमश्मरीं चाशु हन्यात्तदनुवासनम्।

व्याख्या सैन्धव लवण, मैनफल, कूठ, सोया, बेतसफल, बालवच, नेत्रवाला, मुलेठी, भारंगी, देवदारु कायफल, सोंठ, पोहकर मूल, मेदा, चव्य, चित्ता, कचूर, विडंग, अतीस, काली निसोत, हरेणु, नील के पत्र, शालपर्णी, बिलगिरी, अजमोद, पीपल, दन्ती मूल तथा रास्ना सम भाग लेकर और परिभाषानुसार एरण्ड अथवा तिल का तैल सिद्ध करे। यह तैल अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त किया जाता है और कफरोग नाशक है तथा वृद्धिरोग, उदावर्त्त, गुल्म, अर्शः, प्लीह विकार, प्रमेह, वातरक्त (अथवा ऊरुस्तम्भ) आनाह तथा अश्मरी को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इस तैल का प्रयोग अभ्यङ्ग में भी किया जाता है ॥६२-६५॥

कफ नाशक अन्यान्य अनुवासन—

साधितं पञ्चमूलेन तैलं बिल्वादिनाथवा ॥६६॥
कफघ्नं कल्पयेत्तैलं द्रव्यैर्वा कफघातिभिः।
फलैरष्टगुणे चाम्ले सिद्धमन्वासनं कफे ॥ ६७ ॥

व्याख्या—बिल्वादि पंचमूल के योग से सिद्ध तैल कफ विकार नाशक होता है। अथवा—अन्यान्य कफ नाशक द्रव्यों के योग से तिल तैल को सिद्ध करके—कफ नाशक अनुवासनीय स्नेह की कल्पना करे। अथवा—मैनफल के कल्क तथा आठगुने अम्ल द्रव (कांजी) के योग से सिद्ध तिल तैल - कफ विकार में अनुवासनोपयोगी होता है।

वक्तव्य—अ. सं. क. अ. ५ में —

पृष्टवतिरम मुनि मित्यथ धीमान् अग्निवेशः इह किं मु फलानाम्
बस्ति कर्मणि हितं सततं स्यात् तं पुनर्वसुः इति प्रचचार।
इह कुष्ठहिता गरागरी हितमिक्ष्वाकुफलं प्रमेहिणाम्।
कुटजस्य फलं हृदामये प्रवरं कोटफलं तु पाण्डुषु।
उदरे कृतवेधनं हितं मदनं सर्वगदाऽविरोधि तु।
मधुरं सकषायतिक्तकं तदरूक्षं सकटूष्णपिच्छिलम्।
कफपित्तहृदाशुकारि यत् निरपायं पवनानुलोमि च।
प्रवरं तदतः फलादिषु स्मृतमास्थापनयोजनास्विति।
अथ मुनिवृषभे निगद्य वाक्यं स्थितवति विज्ञापयाम्बभूव भूयः।
इदमतिगहनं सहाऽन्यशिष्यैः अवनिगतोऽञ्जलिरमतो निधाय।
चित्रकर्मगुणकृत् गुदणोक्तो बस्तिरूर्ध्वमथ चैति न नाभेः।
शीघ्रमापतति चाऽनु स देहात् सर्वतः कथमपोहति दोषान्।
ऊचे गुरुःस्तिमितमारुतवच्यमेतत्देहस्थयत्बहिरपाचितमन्तरेवा
बुधस्य तस्य जनयन् अनुलोमतां तु बस्तिर्हिनस्ति विषमानतिरोगपूगान्। पाठ है—

अर्थात्—अग्निवेश ने पुनर्वसु से पूछा कि बस्ति कर्म (निरूहणबस्ति) में मदन फल को सतत हित क्यों माना जाता है—भगवान् पुनर्वसु ने बतलाया कि—कुष्ठ में गरागरी (जीमूतक) का, प्रमेह में इक्ष्वाकु का, हृदय रोग में इन्द्र जौ का, पाण्डु रोग में कोटफल (कोठ फला-कटु फला-धामार्गव) का, उदर रोग में कृतवेधन (कोषातकी-मृदंग फल) का तथा सब रोगों में मदनफल का प्रयोग किया जाता है

है। क्योंकि वह—मधुर है, कुछ कषाय एवं तिक्त है, रूक्ष नहीं, कटु एवं उष्ण होने पर भी पिच्छिल है, कफ पित्त नाशक है, आशुकारी है, हानिरहित है तथा वह वायु का अनुलोमन करता है इसलिये उक्त सभी द्रव्यों (वामक द्रव्यों) में मदनफल प्रवर (सर्वश्रेष्ठ) माना जाता है और अतः एव निरूहण वस्ति की योजना (कल्पना) में भी वह प्रवर माना जाता है। इस प्रकार बतला कर जब भगवान् पुनर्वसु चुप हो गये तब अग्निवेश ने अपने सहपाठियों के साथ करबद्ध होकर पुनः पूछा कि—आपने वस्ति को विचित्र कर्मों एवं गुणों वाली बतलाया है परन्तु वस्ति तो नाभि के ऊपर नहीं जाती—केवल मलाशय को शुद्ध करती है—वहीं तक जाती है और शीघ्र ही लौट भी आती है, तब वह समस्त शरीर से दोषों को कैसे दूर करती है?—इसपर गुरु (पुनर्वसु) ने बतलाया कि—शरीर के बाहिरी अथवा भीतरी रोगों का कारण प्रतिलोम वायु होता है और उस दुष्ट (प्रतिलोम) वायु को अनुलोम करती हुई वस्ति—शरीर भर के विषम रोगसमूहों को नष्ट करती है ॥ ६७ ॥

कुछ संकेत—

मृदुवस्तौ जडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो बस्तिरिष्यते।
तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्निग्धो मधुरः शिशिरो मृदुः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—यदि कदाचित्—वस्तिद्रव्य मृदु (हीनवीर्य) होने के कारण—निरूहण वस्ति द्वारा दिया गया—द्रव जड (कर्महीन) हो जाय—मलको लेकर यथासमय न लौटे तो तत्काल तीक्ष्ण वस्ति दे देवे। और यदि कदाचित्—वस्ति द्रव्य तीक्ष्ण होने के कारण—मलों का विशेष रूप से कर्षण (निःसरण) हो जाय तो तत्काल—स्निग्ध, मधुर, शीत तथा मृदु (द्रव की) वस्ति देदेवे।

वक्तव्य ऐसा कर्म यदि तत्काल कर दिया जाता है तो किसी प्रकार की व्यापद् (अ. ५ देखिये) का भय नहीं होता। ६८॥

तीक्ष्ण एवं मृदु बनाने का संकेत—

तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्नि-लवणक्षारसर्षपैः।
प्राप्तकालं विधातव्यं घृतक्षीरैस्तु मार्दवम् ॥६९॥

व्याख्या—आवश्यकता पड़ने पर—गोमूत्र, पीलु फल का रस, चित्रा का क्वाथ, लवण, क्षार तथा सरसों का कल्क मिला कर वस्ति को तीक्ष्ण बना लेना चाहिये और घृत एवं दूध मिला कर मृदु बना लेना चाहिये॥६९॥

तथा—

बलकालरोगदोषप्रकृतीः प्रविभज्य योजितो बस्तिः।
स्वैः स्वैरौषधवर्गैः स्वान् स्वान् रोगान्निवर्तयति ॥७०॥

व्याख्या—बल, काल, रोग, दोष एवं प्रकृति का विचार करके दी गई वस्ति अपनी २ औषधों के वर्ग—गण के द्वारा अपने २ रोगों को नष्ट करती है ॥७०॥

यथा—

उष्णार्तानां शीतान् शीतार्तानां तथा सुखोष्णांश्च
तद्योग्यौषधयुक्तान्बस्तीन्सन्तर्क्य युञ्जीत ॥७१॥
बस्तीन्न बृंहणीयान् दद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु।

व्याख्या—उष्ण से पीड़ितों को शीतल और शीत से पीड़ितों को कोसी वस्तियाँ देवे और उनमें उस २ बल एवं काल आदि के योग्य औषधों से युक्त वस्तियों का विचार पूर्वक प्रयोग करे॥ जो रोग विशोधन (कर्षण) के योग्य हों उन में बृंहण वस्तियों का प्रयोग न करे॥ ७१ ॥

और—

मेदस्विनो विशोध्या ये च नराः कुष्ठमेहार्ताः ॥ ७२ ॥
न क्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कशुद्धदेहानाम्।
दद्याद्विशोधनीयान् दोषनिबद्धायुषो ये च ॥ ७३ ॥

व्याख्या—जो मेदस्वी हैं, तथा कुष्ठ एवं प्रमेह से पीड़ित हैं वे विशोधनीय होते हैं—उनको बृंहण वस्तियाँ न देवे। और क्षीण, क्षत, दुर्बल, मूर्छित, कृश तथा शुष्क शरीरों (सूखे शरीर वालों) को तथा जिनका जीवन दोषों एवं मलों में ही आश्रित अवलम्बित हो उनको निरूहण वस्तियों का प्रयोग न करे॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—
न बृंहणीयान् विदधीत बस्तीन् विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः।
कुष्ठ प्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ॥३६॥
क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान् न शोषिणां नो भृश दुर्बलानाम्।
न मूर्च्छितानां न विशोधितानां येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ॥३७॥
च. सि. अ. १।

अष्टाङ्ग संग्रह में कुछ अधिक संकेत है —यथा—
यच्च पक्वाशयस्थोऽपि दोषान् आपादमस्तकम्।
वीर्येण वस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसान् इव ॥
यत् तत्रौषधवीर्यं हि तत् अपानेन वायुना।
पर्याप्तिमचिरात् एवं समानः प्रतिपद्यते ॥
समानात् उत्तरं चैवं व्यानाद्याः पवनाः क्रमात्।
ते तुष्टाः प्रकृतिं यान्ति शरीराऽनुग्रहे स्थिता ॥
प्रसाद्य पित्तश्लेष्माणौ यथास्थानं निवेश्य च।
सन्तर्पयन्ति परितः स्वान् स्वान् भूतगुणान् तनौ ॥
व्यानः तिर्यक् अपानोऽधः प्राणश्चोर्ध्वं प्रवर्तते।
यथा स्तम्बेश्च नाडीभिः क्षारिणीभिरिवोदकम् ॥
एवं वातैः सिराभिश्च वपुः स्नैः सुयोजितः।
व्याप्नुवन् प्रसभं हन्ति सुकृच्छ्रान् अपि यक्ष्मणः ॥
वस्तिः तस्मात् सर्वकर्मप्रधान
सर्वाऽऽतंकान् हन्ति निःशेषतश्च।

…तः शोधयित्वा च कुर्यात्
दोषान् तेजः शुक्रमेधाऽग्निदीप्तिम् ।

अर्थात्—मलाशय में जाने वाली वस्ति जो समस्त शरीर के विकारों को निकाल देती है वह वैसे जैसे—सूर्य आकाश में (बहुत दूर) रह कर भी भूमि के जलीय अंश को खींच लेता है। वस्ति के द्रव्यों का जो वीर्य है उसे पर्याप्त मात्रा में शीघ्र ही, अपान वायु के कारण, समान वायु प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर—अपान वायु के कारण व्यान आदि वायु क्रमशः तृप्त होकर प्रकृतिस्थ हो जाते हैं एवं शरीर का उपकार करने में रत—संलग्न हो जाते हैं। और वे पित्त एवं कफ को शुद्ध-प्रकृतिस्थ करके तथा उनको अपने २ स्थान में निविष्ट करके अपने २ कार्य में रत करके, समस्त शरीर में पञ्च महाभूतों के गुणों को तृप्त करने लग जाते हैं। वस्ति के वीर्य को व्यान वायु शरीर भर में ले जाता है, अपान वायु अधोभाग में तथा प्राण वायु शरीर के ऊपरी भाग में नाडियों-स्रोतों-सिराओं द्वारा ले जाता है यह सब वैसे होता है जैसे जल हारिणियों—नीरहरियों-नहरों द्वारा एक स्थान से, दूसरे स्थानों में चला जाता है। उक्त प्रकार से वस्ति का विधिपूर्वक प्रयोग करने पर—उक्त वायुओं के प्रभाव से सिराओं द्वारा—वस्ति का वीर्य शरीर भरमें व्याप्त होता हुआ—कष्ट साध्य रोगों को भी शीघ्र या बलात् नष्ट कर देता है। इस लिये वस्ति वमनादि सब कर्मों—चिकित्सा पद्धतियों—उपचारों में प्रधान मानी जाती है और वह सब रोगों को मूलतः नष्ट कर देती है, तथा स्रोतों के भीतरी दोषों को शुद्ध करके, तेजस् शुक्र मेधा तथा अग्नि को बढ़ाती है।

भावार्थ—जैसे मुख भाग से उदर में गये—द्रव्यों का वीर्य समस्त शरीर में व्याप्त होकर हानि लाभ करता है वैसे ही वस्ति द्वारा गुदमार्ग से मलाशय में गये द्रव्यों का वीर्य-शरीर में व्याप्त होकर हानि लाभ करता है। उदर में गये द्रव्यों का पाचन होने पर उनका रस रसवाही स्रोतों द्वारा रक्त में मिल कर शरीर में व्याप्त होता है और मलाशय में गये द्रव्यों का सार भाग मूत्रवाही स्रोतों द्वारा रक्त में मिलकर शरीर में व्याप्त होता है। इसी प्रकार त्वचा पर लगाये गये लेप एवं अभ्यङ्ग आदि द्रव्यों का सार त्वचा में विपक्व होकर स्वेदवाही स्रोतों द्वारा शरीर में व्याप्त होता है। देखिये सु. शा. अ. ६ पाठ ९।

इति अष्टाङ्गहृदये कल्पसिद्धिस्थाने चतुर्थोऽध्यायः । ४ ।

पञ्चमोऽध्यायः—

वस्तिव्यापत्सिद्धि

अथातो वस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहु रात्रेयादयो महर्षयः ।

अब वस्तियों से उत्पन्न होने वाली व्यापदों का तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस वस्ति व्यापद् एवं इसकी सिद्धि का वर्णन—च. सि. अ. ४, ५, ७, १० तथा १२ में, सु चि. अ. ३६—३७ तथा ३८ में तथा अ. सं. क. ६ तथा ७ में देखिये। अष्टाङ्ग संग्रह क. अ. ६ में १२ व्यापद् कही हैं यथा—

विबन्धगौरवाध्मानशिरोरुक्वाहन ऊर्ध्वगाः ।
कुक्षिशूलाङ्गरुक् हिध्मा हृत्पीडा कर्तनस्रवाः ।
अयोगात् अतियोगात् च वस्तेः स्युः षट् षट् आपदः ।

अर्थात् उक्त १२ व्यापद् वस्तिके अयोग-हीनयोग तथा अतियोग से उत्पन्न हो जा सकती हैं। वस्ति के प्रयोग की विधि सू. अ. १९ में देखिये।

१—विबन्ध नामक व्यापद्—

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य गुरुकोष्ठस्य योजितः ।
शीताऽल्पस्नेहलवणद्रवमात्रो घनोपि वा ॥ १ ॥
बस्तिः सङ्क्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोत्ययोगं तेन स्याद्वातमूत्रशकृद्ग्रहः ॥ २ ॥
नाभिबस्तिरुजादाहो हृल्लेपः श्वयथुर्गुदे ।
कण्डूर्गण्डानि वैवर्ण्यमरतिर्वह्निसादनम् ॥ ३ ॥
क्वाथद्वयम् प्राग्विहितं मध्यदोषेऽसारिणि ।
उष्णस्य तस्मादेकस्य तत्र पानं प्रशस्यते ॥ ४ ॥
फलवर्त्यस्तथा स्वेदाः कालं ज्ञात्वा विरेचनम् ।
बिल्वमूलत्रिवृद्दारु-यवकोलकुलत्थवान् ॥ ५ ॥
सुरादिमांस्तत्र बस्तिः स प्राक्येष्यस्तमानयेत् ।

व्याख्या—यदि कदाचित्—स्नेहन एवं स्वेदन न करके तथा कोष्ठ में गुरुता रहने पर—शीतल, अल्प स्नेह युक्त अल्प लवण युक्त, अल्प वस्ति द्रव्य युक्त तथा अल्पमात्रा वाली अथवा घन (सान्द्र-गाढ़ी) वस्ति का प्रयोग किया जाता है तो वह वस्ति—दोष को संचालित तो कर देती है परन्तु दुर्बल—शक्तिहीन होने के कारण उसे निकाल नहीं सकती फलतः वस्ति का "अयोग" हो जाता है और इस अयोग से—वायुरोध, मूत्ररोध तथा पुरीषरोध, नाभि एवं वस्ति में वेदना, दाह, हृदय में चिपचिपाहट, गुद में शोथ, कण्डू, गलगण्ड, विवर्णता (कान्ति नाश), अरति तथा मन्दाग्नि नामक विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इस व्यापद् में—मध्यकोटि के अतिसार के लिये चि. स्था अ. ९ में बतलाये गये दो क्वाथ लाभ दायक होते हैं उनमें से किसी एक क्वाथ को उष्ण २ पीना प्रशस्त होता है। तथा—मल प्रवर्तनी फलवर्तियों का प्रयोग, सब प्रकार के ताप स्वेद आदि स्वेदन तथा समयानुसार विरेचन का प्रयोग प्रशस्त होता है।

अथवा—बिल्वादि की जड़ की छाल, निशोथ, देवदारु (का गोन्द), जौ, बेर तथा कुलथी का क्वाथ, सुरा एवं गोमूत्र आदि लेखन द्रव और पूर्वोक्त कल्क मिलाकर दी गई बस्ति—प्रथम दी गई बस्ति को लौटा लेती है (अर्थात् यह बस्ति पहिले दी गई—रुकी हुई बस्ति को लेकर निकल जाती है) ॥

वक्तव्य—क्वाथ द्रव—दो क्वाथ—चि. अ ६—

१—भूतीकं पिप्पली शुण्ठीवचाधान्यहरीतकी ॥

२—अथवा बिल्वघनिकामुस्तनागरवालकम् ।

समाक् पेष्य—पूर्वोक्त कल्क—कल्प स्थान अ. १ में कहा गया—बलां गुडूचीं ······ द्मुमेव तत्र । श्लो० २।

२—गौरव नामक व्यापद्—अ. सं. अ ६—

सशेषामे निरूहेण मृदुना दोष ईरितः ।
मूर्च्छयत्यनिलं, मार्गं रुणद्ध्यग्निं हिनस्ति च ।
गौरवक्लमहृच्छूलदाहसम्मोहवेष्टनम् ।
ततः कुर्यात्, उपचरेत् तं रूक्षस्वेदपाचनैः ॥
पिप्पलीकत्तृणोशीरदारुमूर्वाशृतं जलम् ।
पिबेत् सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम् ॥
वचानागरशठ्यो वा दधिमण्डेन मूर्च्छिताः ।
पेयाः प्रसन्नया वा स्युः अरिष्टेनासवेन वा ॥
दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम् ।
पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत् क्षारांश्च दीपनान् ॥
बस्तिमस्य विदध्यात् च समूत्रं दाशमूलिकम् ।
(समूत्रमथवा व्यक्तलवणमाधुतैलिकम्—
च सि. अ. ७।४) ।

अर्थात्—यदि आम दोष में मृदु निरूहण बस्ति दे दी जाती है तो दोष प्रेरित होकर वायु को प्रतिलोम कर देता है, उसके मार्ग को रोक देता है और अग्नि को मन्द कर देता है । अतएव गौरव, क्लम, हृदयशूल, दाह, मूर्च्छा एवं ऐण्ठन उत्पन्न कर देता है । इस व्यापद में —रूक्षस्वेदन तथा पाचन उपचार करे और—पीपल, रोहिषतृण, खस, देवदारु तथा मूर्वा (मरोड़ फली) का क्वाथ—सौंचर लवण मिलाकर पीना चाहिये उस से अग्नि प्रदीप्त होती है और हृदय की शुद्धि हो जाती है

अथवा—बालवच, सोंठ एवं कचूर को दही के पानी में अथवा प्रसन्ना में अथवा किसी अरिष्ट में अथवा किसी आसव में मिलाकर पीना चाहिये ।

अथवा—देवदारु, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, पलाश की छाल, चित्रामूल, कचूर तथा कूठ को पीसकर—चूर्ण या कल्क बनाकर गोमूत्र के साथ अथवा गुल्म रोग चिकित्सा में कहे गये दीपन क्षारों को गोमूत्र के साथ पीना चाहिये । अथवा—दशमूल के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर बस्ति दे देवे (गोमूत्र एवं पर्याप्त लवण मिलाकर "माधु तैलिक" बस्ति देवे) ॥ १–५ ॥

३—आध्मान व्यापद्—

युक्तोऽल्पवीर्यो दोषाढ्ये रूक्षे क्रूराशयेऽथवा ॥ ६ ॥
बस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुन्ध्यात्समारणम् ।
सविमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम् ॥ ७ ॥
विदाहं गुदकोष्ठस्य मुष्कवङ्क्षणवेदनाम् ।
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति ॥ ८ ॥
स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तत्र बस्तीन्प्रयोजयेत् ।
बिल्वादिश्च निरूहः स्यात्पीलुसर्षपमूत्रवान् ॥ ९ ॥
सरलाऽमरदारुभ्यां साधितं वाऽनुवासनम् ।

व्याख्या—यदि दोष युक्त, रूक्ष अथवा क्रूर कोष्ठ में—अल्प वीर्य (हीन वीर्य) बस्ति दी जाती है तो वह—मलाशय गत दोषों से आवृत होकर और मार्ग रुक जाने पर—वायु को अवरुद्ध कर देती है (स्वयं रुक कर वायु को रोक देती है) और इस कारण—विमार्गगामी (प्रतिलोम) वायु—ऐसा आध्मान कर देता है जिसका हृदय पर भी दबाव पड़ता है (जो हृदय को भी पीड़ित कर देता है—करने लगता है और साथ २—गुद एवं कोष्ठ में विदाह; मुष्कों (अण्डकोश) एवं वंक्षणों में वेदना को उत्पन्न करता है और वह वायु - हृदय की गति को रोकने लगता है अथवा रोक ही देता है (मृत्यु हो जाती है) अथवा विविध प्रकार के शूल पीड़ा करता हुआ इधर-उधर दौड़ता है । इस व्यापद् में—शरीर भर में अभ्यङ्ग तथा स्वेदन करके मल—वायु प्रवर्तनी वर्तिका का प्रयोग करे और—पीलुफल, सरसों तथा गोमूत्र मिलाकर बिल्वमूलादि (श्लो० ३) क्वाथ का निरूहण देवे अथवा सरल (चीड़) एवं देवदारु के योग से सिद्ध तेल का अनुवासन देवे ।

४—शिरोरुक् नामक व्यापद्—अ. सं. क. अ. ५—

बहुदोषबले क्रूरकोष्ठे बस्तिः तनुः मृदुः ।
शीतोऽल्पश्च वृत्तो दोषैः प्रतिहन्ति समीरणम् ।
ऊर्ध्वं सोऽनुसरन् देहं कुर्याद् वायुः शिरोरुजम् ।
ग्रीवास्तम्भं प्रतिश्यायं बाधिर्यं दृष्टिविभ्रमम् ॥
मुण्णतैलवणं प्रादेधं स्विन्नमर्दितम् ।
तीक्ष्णैः धूमैः प्रधमनैः नस्यैः आस्यविरेचनैः ॥
विरेकैः बस्तिभिश्चाशु योजयेत् आनुलोमिकैः ।

अर्थात्—यदि दोषों का बल अधिक होने पर तथा क्रूर कोष्ठ में—तनु (पतली), मृदुवीर्य, शीत तथा मात्रा में अल्प बस्ति दी जाती है तो—वह दोषों—मलों के द्वारा आवृत—अवरुद्ध होकर वायु को प्रतिलोम कर देती है और वह वायु—शरीर में ऊपर की ओर जाता हुआ

शिरोरुक् —शिर में वेदना को उत्पन्न कर देता है और साथ २ ग्रीवास्तम्भ (मन्यास्तम्भ), प्रतिश्याय, बाधिर्य (बहरापन) तथा दृष्टि विभ्रम को उत्पन्न कर देता है। इस व्यापद् में—तत्काल उष्ण २ तेल एवं लवण से अभ्यङ्ग, स्वेदन तथा मर्दन करे और तीक्ष्ण धूमपान, प्रधमन नस्य, मुखस्रावण (लाला स्राव करनेवाले कवलोंका) विरेचनों तथा वायु का अनुलोमन करनेवाली वस्तियों का प्रयोग करे।

५—वाहन नामक व्यापद्—

स्निग्धस्विन्ने महादोषे वस्तिः मृद्वल्पभेषजः।
उत्क्लेश्याऽल्पं हरेत् दोषं जनयेत् च प्रवाहिकाम्॥
शोफो वस्तौ अपाने च सदन चोरुजंघयोः।
विबद्धमारुतो जन्तुः अभीक्ष्णं स प्रवाहते॥
स्वेदाऽभ्यङ्गान् निरूहान् च शोधनीयाऽनुलोमिकान्।
विदध्यात् लंघयित्वा च वृतिं तस्य विरिक्तवत्॥

अर्थात्—यदि दोषों की अधिकता में स्नेहन एवं स्वेदन करके मृदु वीर्य एवं अल्प मात्रा वाली वस्ति दी जाती है तो वह दोषों को उत्क्लिष्ट तो कर देती है परन्तु थोड़ा २ निकालती है फलतः—प्रवाहिका को उत्पन्न कर देती है और साथ २ वस्ति एवं गुद में शोथ तथा ऊरु एवं जंघा में शिथिलता उत्पन्न कर देती है और प्राणी—वायु के अवरुद्ध हो जाने से बराबर प्रवाहण करता है--काँखता है। इस व्यापद को दूर करनेके लिये स्वेद अभ्यंग निरूहण, शोधन और आनुलोमिक चिकित्सा करे, रोगी को लंघन देकर विरेचन के बाद जैसा उपचार आहार-विहार आदि किया जाता है ऐसी ही व्यवस्था उसके लिये करें॥६-९॥

६—ऊर्ध्वमारुता व्यापद्

कुर्वतो वेगसंरोधं पीडितो वाऽतिमात्रया॥ १०॥
अस्निग्धलवणोष्णो वा बस्तिरल्पोऽल्पभेषजः।
मृदुर्वा मारुतेनोर्ध्वं विक्षिप्तो मुखनासिकात्॥ ११॥
निरेति मूर्च्छाहृल्लासतृड्दाहादीन्प्रवर्तयन्।
मूर्च्छाविकारं दृष्ट्वाऽस्य सिञ्चेच्छीताम्बुना मुखम्।१२।
व्यजेदाक्लमनाशाच्च प्राणायामं च कारयेत्।
पृष्ठपार्श्वोदरं मृद्यात्करैरुष्णैरधोमुखम्॥ १३॥
केशेपूत्क्षिप्य धुन्वीत भीषयेद्व्यालदंष्ट्रिभिः।
शस्त्रोल्काराजपुरुषैर्बस्तिरेति तथा ह्यधः॥ १४॥
पाणिवस्त्रैर्गलापीडं कुर्यान्न म्रियते यथा।
प्राणोदाननिरोधाद्धि सुप्रसिद्धतरायनः॥ १५॥
अपानः पवनो बस्तिं तमाश्वेवापकर्षति।
कुष्ठक्रमुककल्कं च पाययताम्लसंयुतम्॥ १६॥
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात्सरत्वाच्च बस्तिं सोऽस्यानुलोमयेत्।
गोमूत्रेण त्रिवृत्पथ्याकल्कं चाथोऽनुलोमनम्॥ १७॥
पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः।
यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रशोधितैः॥ १८॥
बस्तिर्गोमूत्रसिद्धैर्वा सामृताबंशपल्लवैः
पूतीकरञ्जत्वक्पत्र-शटीदेवाह्वरोहिषैः॥ १९॥
सतैलगुडसिन्धूत्थ-विरेकौषधकल्कवान्।
बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो बस्तिरुर स्थिते॥ २०॥
शिरःस्थे नावनं धूमं प्रच्छार्द्यं सर्षपैः शिरः।

व्याख्या—निरूहण बस्ति देने पर यदि उसके वेग (अधः प्रवृत्ति) को रोका जाता है अथवा बस्ति देते समय वस्ति को अत्यधिक पीडन किया जाता है अथवा अधिक मात्रा (परिमाण) में वस्ति दे दी जाती है अथवा स्नेह एवं लवण रहित तथा शीतल वस्ति दी जाती है। अथवा मात्रा में स्वल्प अथवा अल्प औषध वाली अथवा मृदु व स्त दी जाती है तो वह—वायु द्वारा ऊपर की ओर फेंकी (ढकेली) हुई मुख एवं नासा से निकल आती है और मूर्च्छा, हृल्लास तृषा एवं दाह आदि को उत्पन्न कर देती है। इस व्यापद् में—मूर्च्छा को देखकर (यदि मूर्च्छा हो तो) मुख पर शीतल जल के छींटे देवे और क्लम नाश (मानसिक अस्वस्थता दूर होने पर्यन्त) पंखा करे, और रोगी प्राणायाम करे; उसके पीठ, पार्श्व तथा उदर का उष्ण हाथों से नीचे की ओर मर्दन करे, केशों से पकड़ कर एवं उठाकर धुने झटके देवे) तथा सर्प एवं सिंह आदि से डरावे (जिससे विरेचन हो जाय) अथवा शस्त्रों, उल्काओं (जलते काष्ठों) एवं राजपुरुषों से डरावे इन उपायों से ऊपर की ओर प्रवृत्त वस्ति नीचे की ओर चली जाती है, अथवा हाथों अथवा वस्त्र से वैसे गला दबावे जैसे रोगी मर न जाय, क्योंकि इस प्रकार प्राण एवं उदान वायु के निरोध से मलाशय एवं गुद की ओर गतिशील अपान वायु उस वस्ति को नीचे की ओर खींच ले जाता है. अथवा—कूठ एवं सुपारी का कल्क काञ्जी में मिलाकर पिला देवे यह योग—उष्ण तीक्ष्ण एवं सर (सारक) होने के कारण वस्ति का अनुलोमन (गुद की ओर गमन) कर देता है। अथवा निशोत एवं हरड़ का कल्क गोमूत्र के साथ पीने से भी अनुलोमन होता है। यदि दोष—पक्वाशय में स्थित हो तो स्वेदन करके दाशमूलिक निरूहण वस्ति (अ. ४ श्लो० ३) देवे अथवा—जौ, बेर तथा कुलथी के योग से सिद्ध गोमूत्र की वस्ति देवे। अथवा—गिलोय, बाँस के पत्र, पूतीकरञ्ज छाल चीनी, तेज पत्र (अथवा पूती करञ्ज की छाल एवं पत्र) कचूर, देवदारु तथा रोहिषतृण को गोमूत्र में पकाकर तथा तैल, गुड़, सैन्धव लवण एवं त्रिवृत् आदि विरेचन

द्रव्यों का कल्क मिलाकर वस्ति देवे। यदि दोष उरस् में स्थित हो तो बिल्वादि पञ्चमूल के क्वाथ की वस्ति देवे और यदि दोष शिर में स्थित हो तो तीक्ष्ण नस्य देवे तथा धूम पान करावे और शिर पर सरसों का लेप करे॥

वक्तव्य—उक्त ६ व्यापद् वस्ति के अयोग (हीनयोग) की व्यापद् हैं। उक्तऊर्ध्वं मारुता व्यापद् का पाठ च. सि. अ. ७ श्लो० ३२—३६ से मिलाकर देखिये और विचार कीजिये कि—अस्निग्ध······मृदुर्वा, पाठ कैसा है॥१०-२०॥

७ कुक्षिशूल व्यापद्

बस्तिरत्युष्णतीक्ष्णाम्लघनोऽतिस्वेदितस्य वा॥ २१॥
अल्पे दोषे मृदौ कोष्ठे प्रयुक्तो वा पुनः पुनः।
अतियोगत्वमापन्नो भवेत्कुक्षिरुजाकरः॥ २२॥
विरेचनातियोगेन सतुल्याकृतिसाधनः।

व्याख्या—अत्यधिक स्वेदन करके—अत्यन्त उष्ण तीक्ष्ण, अम्ल एवं घन (सान्द्र) वस्ति यदि अल्प दोष में तथा मृदु कोष्ठ में अथवा बार २ दी जाती है तो वह वस्ति अतियोग को प्राप्त होकर (अत्यधिक प्रवृत्त होकर) कुक्षि में रुजा-शूल कर देती है इस व्यापद् में विरेचन के अति योग के समान लक्षण होते हैं और उसी के समान चिकित्सा की जाती है॥

वक्तव्य—वस्ति के अतियोग से कभी २ दाह भी हो सकता है उसकी चिकित्सा अ. सं. में इस प्रकार लिखी है। यथा—

पृश्निपर्णीं स्थिरां पद्मं काश्मर्यं मधुकोत्पलं।
पिष्ट्वा द्राक्षां मधूकं च क्षीरे तण्डुलधावने।
द्राक्षायाः पक्वलोष्टस्य प्रसादे मधुकस्य वा।
विनीय सघृतं वस्तिं युञ्ज्यात् दाहेऽयोगितः॥

और अङ्गरुक् हिध्मा, हृत्पीडा तथा कर्तन नामक चार व्यापदों का वर्णन—अ. सं. क. अ. ६—

८—स्नेहस्वेदैः असम्पाद्य गुरुस्तीक्ष्णोऽतिमात्रकः।
दुःस्थिताय प्रणिहितो वस्तिः दुःशयिताय वा॥
अतिप्रवृत्तो मरुतं कोपयेत् स विमार्गगः।
करोत्यङ्गरुजां जृम्भां स्तम्भं भेदं च पर्वणाम्॥
तं तैललवणाऽभ्यक्तं स्वेदितं संस्तरादिभिः।
बिल्वकोलयवैरण्डवर्षाभूबृहतीद्वयैः।
सकुलत्थैः शृतैर्मस्तुफलसौवीरकान्वितैः।
आस्थापयेत् ससिन्धूत्थैः जाङ्गलैराशितं रसैः॥
तैलेनाऽनिलजिद्द्रव्य विपक्वेनानुवासयेत्।

९—हिध्मानामक व्यापद्—

मृदुकोष्ठेऽबले बस्तिः अतितीक्ष्णोऽति निर्हरन्।
कुर्यात् हिध्मां हितं तत्र हिध्माघ्नं बृंहणं च यत्॥
बला वृहत्यादिवराकाश्मर्यफलसैन्धवैः।
सप्रसन्नाऽऽरनालाम्लैः तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत्॥
उष्णाम्बुनाऽद्यं पिप्पल्या दद्यात् लवणसंयुतम्।
धूमलेहरसक्षीरस्वेदाः अन्नं च वातजित्॥

१०—हृत्पीडा नामक व्यापद्—

अतितीक्ष्णः सवातो वा न वासम्यक् प्रपीडितः।
घट्टयेत् हृदयं वस्तिः तत्र काशकुशोत्कटैः॥
स्यात् साम्ललवणस्कन्धकरीरबदरीफलैः।
शृतैः वस्तिः हितः सिद्धो वातघ्नैश्चानुवासनम्॥

११—कर्तन नामक व्यापद्

मृदु कोष्ठाऽल्पदोषस्य रूक्षतीक्ष्णाऽतिमात्रकः।
हृत्वा वस्तिः मलान् शीघ्रं वातपित्ते प्रकोपयेत्॥
नाभिवस्तिगुदान् ते हि कृन्ततोऽस्य मुहुर्मुहुः।
विवर्णाऽल्पाऽल्पमुत्थानं वस्ति निर्लेखनात् भवेत्॥
स्वादु शीतौषधैः तत्र पयस्येक्ष्वादिभिः शृतः।
यष्ट्याह्वतिलकल्काभ्यां वस्तिः स्यात् क्षीरभोजिनः॥
ससर्जरसयष्ट्याह्व जिङ्गिणीकर्दमाऽञ्जनम्।
विनीय दुग्धे वस्तिः स्यात् व्यक्ताऽम्लरसभोजिनः॥
पिच्छिलश्च हितो वस्तिः स्नेहश्च मधुरैः शृतः।

अर्थात्—स्नेहन एवं स्वेदन न कर के, गुरु, तीक्ष्ण एवं अधिक मात्रावाली वस्ति, यदि दी जाती है तो वह अधिक रूप से प्रवृत्त हो कर वायु को कुपित करदेती है और वह विमार्गगामी वायु शरीर भर में वेदना तथा जृम्भा, स्तब्धता एवं पर्वों में भेदन की सी पीड़ा उत्पन्न करदेता है। इस अङ्गरुक् नामक व्यापद् में—तैल एवं लवण का अभ्यङ्ग करे, संस्तर आदि से स्वेदन करे और बिलगिरी, बेरफल, जौ, एरण्ड, पुनर्नवा, कण्टकारी वनभण्टा तथा कुलथी का क्वाथ, दही का पानी, काञ्जी तथा मैनफल का कल्क मिलाकर निरूहण वस्ति दे देवे और सैन्धवलवणयुक्त जाङ्गल मांस रस के साथ भोजन खिला कर वात नाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल का अनुवासन देवे।

हिध्मा नामक व्यापद्

मृदु कोष्ठ एवं दुर्बलता में यदि अत्यन्त तीक्ष्ण वस्ति दे दी जाती है तो वह अधिक रूप से प्रवृत्त होकर हिध्मा (हिक्का—हिचकी) को उत्पन्न कर देती है। इस व्यापद् में —हिध्मा नाशक उपाय तथा बृंहण आहार लाभप्रद होते हैं। और बला, लघु पञ्चमूल, त्रिफला, गम्भार के फलों का रस, सैन्धव लवण, प्रसन्ना, आरनाल तथा कांजी के योग से सिद्ध तैल का अनुवासन देवे। और बहेड़ा, तथा लवण का चूर्ण उष्ण जल के साथ पीवे। और हिध्मानाशक धूम, अवलेह, मांस रस, दूध, स्वेदन तथा वात नाशक आहार का प्रयोग करे।

हृत्पीडा नामक व्यापद्

यदि अत्यन्त तीक्ष्ण, वायु पूरित तथा उचित रूप से पीडित न करके वस्ति दी जाती है तो वह हृदय का घट्टन (पीडन) करती है। इस व्यापद् में कांश, कुश, इत्कर, अम्लवर्ग लवण वर्ग, करीर फल, बेर फल तथा मदन फल का क्वाथ बना कर वस्ति देवे और वात नाशक स्नेह का अनुवासन देवे।

कर्त्तन नामक व्यापद्

यदि मृदु कोष्ठ में, अल्पदोष में—रूक्ष, तीक्ष्ण एवं अधिक मात्रा वाली वस्ति दी जाती हैं तो वह—मलों को शीघ्र निकाल कर वायु एवं पित्त को कुपित कर देती है, और वे वात एवं पित्त उसके नाभि (अन्त्र) वस्ति प्रदेश एवं गुदवलियों में कर्त्तन (खरोंच-क्षत) कर देते हैं, कान्ति विकृत हो जाती है, बार २ थोड़ा २ उत्थान (मल प्रवृत्ति) होता है। यह कर्त्तन वस्ति द्वारा लेखन होने से होता है। इस व्यापद् में—क्षीर विदारी कन्द एवं ईख आदि मधुर एवं शीतल द्रव्यों का क्वाथ, मुलेठी एवं तिल का कल्क मिलाकर वस्ति देवे, दूध के साथ भोजन देवे, राल, मुलेठी जिंगनी की छाल, मिट्टी का घोल एवं श्वेत सुरमा की भस्म दूध में मिलाकर वस्ति देवे, अम्ल रस के साथ भोजन देवे, शाल्मली (सेमल) के फूलों की पिच्छा (लुआब) निकाल कर वस्ति देवे और मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध स्नेह का अनुवासन देवे। २१-२२॥

११—स्रव नामक व्यापद्—

बास्तः क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णलवणो पैत्तिकस्य वा ॥ २३ ॥
गुदं दहन् लिखन् क्षिण्वन्करोत्यस्य परिस्रवम्।
सविदग्धं स्रवत्यस्रं वर्णैः पित्तं च भूरिभिः ॥ २४ ॥
बहुशश्चातिवेगेन मोहं गच्छति सोऽसकृत्।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया तत्र प्रशस्यते ॥ २५ ॥
दाहादिषु त्रिवृत्कल्कं मृद्वीकावारिणा पिबेत्।
तद्धि पित्तशकृद्वातान्हत्वा दाहादिकाञ्जयेत् ॥ २६ ॥
विशुद्धश्च पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम्।
युञ्ज्याद्वाऽतिविरिक्तस्य क्षीणविटकस्य भोजनम् ॥२७॥
माषयूषेण कुल्माषान्मानं दध्यथवा सुराम्।

व्याख्या—यदि अत्यन्त क्षार (खारी), अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण एवं (अथवा) लवण वाली अथवा पित्त-रोग (पित्तरक्त रोग) में दी जाती है तो वह वस्ति—गुद में दाह, लेखन (छीलन) एवं क्षत उत्पन्न करती हुई "स्रव" परिस्रव नामक व्यापद् कर देती है। इस व्यापद् में—विदग्ध रक्त एवं अनेक वर्णों वाला (नीला हरा पीला) पित्त बार २ एवं अत्यन्त वेग के साथ झरता है और रोगी बार २ मोह (चित्तविकृति) को प्राप्त होता है। इस व्यापद् में—रक्त पित्तनाशक चिकित्सा प्रशस्त होती है और दाह आदि में—त्रिवृत् का कल्क दाख के रस के साथ पीना चाहिये क्योंकि वह—पित्त, पुरीष एवं वायु को निकाल कर दाह आदि को शान्त कर देता है और इस प्रकार शोधन हो जानें पर—खण्ड मिश्रित शीतल यवागू (दलिया) खाना चाहिए और अत्यन्त विरेचन होने से यदि पुरीष क्षय हो जाय तो उरद के यूष के साथ कुल्माषों का भोजन करे और दही अथवा सुरा पीवे ॥

वक्तव्य—देखिये च. सि. अ. ७ श्लो० ५७—६२। जैसे कुसुम्भ मिश्रित जल में रङ्ग को वस्त्र खींच लेता है वैसे ही शरीर में मलों को निरूहण वस्ति खींचकर निकाल देती है ॥२३-२७॥

उपसंहार—

सिद्धिर्बस्त्यापदामेवं, स्नेहबस्तिषु वक्ष्यते ॥ २८ ॥

व्याख्या—इस प्रकार निरूहण वस्ति की व्यापदें एवं उन की सिद्धि (चिकित्सा) का वर्णन कर दिया गया है और स्नेह वस्ति (अनुवासन वस्ति) की व्यापदों का एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया जायगा।

वक्तव्य—अनुवासन वस्ति में ८ व्यापद् होती हैं यथा-आयुर्वेद रसायन टीका में उद्धृत पाठ—

स्नेहवस्तौ मरुत् पित्त कफाऽत्यशनविड्ऽऽवृते।
अभुक्तशून्यपाय्वासदत्तेऽष्टौ व्यापदः स्मृताः।

स्नेह वस्तियों की व्यापदों का वर्णन सु. चि. अ. ७ में देखिये तथा च. सि. अ. ४ में अ सं, क. अ. ७ में ॥२८॥

५ व्यापदों का कारण—

शीतोऽल्पो वाधिके वाते पित्तेऽत्युष्णः कफे मृदुः।
अतिभुक्ते गुरुर्वर्चःसञ्चयेऽल्पबलस्तथा ॥ २९ ॥
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो नायात्यभिभवादपि।

व्याख्या—१—वायु की अधिकता में शीत अथवा अल्पमात्र, २—पित्त की अधिकता में अत्यन्त उष्ण, ३—कफ की अधिकता में मृदु वीर्य, ४—अधिक भोजन के अनन्तर गुरु वीर्य, तथा ५—पुरीष का सञ्चय रहने पर अल्पबल किया गया स्नेह (अनुवासन)—उक्त वातादि के द्वारा आवृत (अवरुद्ध) हो जाने के कारण तथा वातादि द्वारा अभिभूत होने के कारण लौट कर नहीं आता।

वक्तव्य—सू. अ. १९ देखिये—यथा—

निवृत्तिकालः परमः त्रयो यामाः ततः परम्
अहोरात्रमुपेक्षेत परतः फलवर्तिभिः।
तीक्ष्णैः वा वस्तिभिः कुर्यात् यत्नं स्नेहनिवृत्तये।

और—अति रौक्ष्यात् अनागच्छन् न चेत् जाड्यादिदोषकृत्।

उपेक्षेद् एव हि ततोऽव्युषितश्च निशां पिबेत् ।
प्रातः तगर धान्याम्बुः कोष्णं केवलमेव वा ।
आदि २ पाठ ॥ २९ ॥

वातावृत स्नेह व्यापद्—(१)—

स्तम्भोरुसदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः ॥ ३० ॥
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात् वायुना स्नेहमावृतम् ।
स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्ना-पीतद्रुतैलिकः ॥ ३१ ॥
सौवीरकसुराकोल-कुलत्थयवसाधितैः ।
निरूहैर्निर्हरेत्सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः ॥ ३२ ॥
ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ।

व्याख्या—यदि शरीर में स्तब्धता, ऊरुओं में अवसाद, आध्मान, ज्वर, शूल, अङ्गमर्द, पार्श्वशूल तथा शरीर (अथवा उदर) में उद्वेष्टन (ऐण्ठन) हो तो समझना चाहिये कि अनुवासन का स्नेह वायु द्वारा आवृत हो गया है। इस व्यापद् में—स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा उष्ण तथा रास्ना तैल एवं सरल तैल से युक्त सौवीरक, सुरा, बैर, कुलथी तथा जौ के द्वारा बनाये गये निरूहण देकर अथवा गोमूत्र युक्त पञ्चमूल क्वाथ के निरूहण देकर उसे निकाल देवे और सायंकाल रास्ना तैल तथा सरल तैल का अनुवासन दे देवे। इसके पूर्व मध्याह्न में भोजन करा देवे ॥ ३१-३२ ॥

पित्तावृत स्नेह व्यापद् (२)

तृड्दाहरागसम्मोह-वैवर्ण्यतमकज्वरैः ॥ ३३ ॥
विद्यात्पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं बस्तिभिर्हरेत् ।

व्याख्या—यदि स्नेह वस्ति देने पर—तृषा, दाह, नेत्रादि में लालिमा, मोह, विवर्णता, तमकश्वास एवं ज्वर हो जाय तो समझना चाहिये कि स्नेह पित्त के द्वारा आवृत हो गया है। इस व्यापद् में—स्वादु (मधुर) एवं तिक्त वस्ति देकर उसे निकाल देवे ॥ ३३ ॥

कफावृत स्नेह व्यापद्—(३)

तन्द्राशीतज्वराऽऽलस्य प्रसेकारुचिगौरवैः ॥ ३४ ॥
सम्मूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणा स्नेहमावृतम् ।
कषायतिक्तकटुकैः सुरागोमूत्रसाधितैः ॥ ३५ ॥
फलतैलयुतैः साम्लैर्बस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ।

व्याख्या—यदि स्नेह वस्ति देने पर—तन्द्रा, शीतज्वर, आलस्य, लालास्राव, अरुचि, गौरव, मूर्च्छा तथा ग्लानि हो जाय तो समझना चाहिये कि—स्नेह कफ के द्वारा आवृत हो गया है। इस व्यापद् में—कषाय, तिक्त, कटु, सुरा, गोमूत्र, मैनफल तथा तैल एवं कांजी के योग से बनाए गये निरूहण द्वारा उसे निकाल देवे ॥३४-३५॥

अत्यशनावृत स्नेह व्यापद् (४)—

छर्दिमूर्च्छाऽरुचिग्लानिशूलनिद्राऽङ्गमर्दनैः ॥ ३६ ॥
आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम् ।
कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् ॥ ३७ ॥
मृदुर्विरेकः सर्वश्च तत्रामविहितं हितम् ।

व्याख्या—यदि स्नेह वस्ति देने पर—छर्दि, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्रा, अङ्गमर्द, आलस्य आदि आमाजीर्ण के लक्षण एवं दाह हो तो समझना चाहिये कि—स्नेह अत्यशन (अधिक भोजन) के द्वारा आवृत हो गया है। इस व्यापद् में—कटु एवं लवण के क्वाथ के साथ—कोई पाचन चूर्ण देवे, मृदु विरेचन देवे और सब प्रकार की वह चिकित्सा करे जो आमाजीर्ण में हित होती है।

वक्तव्य—यह व्यापद तब होती है जब अधिक भोजन खाकर स्नेह वस्ति का प्रयोग किया जाता है ॥३६-३७॥

विडावृत स्नेह व्यापद्—(५)

विण्मूत्रानिलसङ्गार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः ॥ ३८ ॥
स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ।
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः ॥ ३९ ॥
निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च ।

व्याख्या—यदि स्नेह वस्ति देने पर—पुरीष, मूत्र एवं वायु का निरोध, गुद एवं हृदयग्रह हो जाय तो समझना चाहिये कि स्नेह पुरीष द्वारा आवृत हो गया है। इस व्यापद् में—स्नेहन, स्वेदन, फलवर्त्ति (पुरीष प्रवर्तिनी वत्ती) और श्यामा (काली निसोत) तथा बिल्वादि पंच मूल आदि द्रव्यों के योग से सिद्ध निरूहणों एवं अनुवासनों अथच उदावर्त्त नाशक उपायों द्वारा उसे भली भाँति निकाल देवे ।३८-३९॥

अभुक्त व्यापद् तथा शून्य पायु व्यापद् (६-७)

अभुक्ते शून्यपायौ वा पेया मात्राशितस्य वा ॥ ४० ॥
गुदे प्रणिहितः स्नेहो वेगाद्धावत्यनावृतः ।
ऊर्ध्वकायं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि ॥ ४१ ॥
मूत्र-श्यामा त्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान् ।
तत्सिद्धतैलो देयः स्यान्निरूहः सानुवासनः ॥ ४२ ॥
कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः ।
छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य कुर्यान्निबर्हणं ॥ ४३ ॥

व्याख्या—अभुक्त(भूखे पेट) में अथवा शून्य पायु-रिक्त गुद में केवल पेया खिला-पिलाकर—गुद में दिया गया स्नेह अथवा वेग के साथ दिया गया स्नेह—ऊपर की रुकवट न रहने के कारण—ऊपर की ओर चला जाता है कभी कभी गलमार्ग तथा नासा मार्ग आदि से निकल आता है। इन व्यापदों में—गोमूत्र श्यामा तथा त्रिवृत से सिद्ध जौ, कोल तथा कुलथी के क्वाथ से युक्त निरूहण वस्ति देवे और गोमूत्र आदि के योग से सिद्ध तैल का अनुवासन देवे। और यदि—स्नेह कण्ठ (गला) :

निकला हो—निकल रहा हो तो—श्वासावरोध करे, कण्ठ का उचित निपीड़न करे, विरेचन देवे तथा छर्दि नाशक उपाय करे ।।

वक्तव्य इस पाठ में 'शून्य पायु' (च. सि अ. ४ श्लो० ३८-४०) के स्थान पर 'शून पायु' बनाकर—पाठ मानकर सर्वाङ्गसुन्दराकारने घोर प्रमाद किया है ।।४०-४३।।

आमदत्त स्नेह व्यापद् (८)

नापक्वं प्रणयेत्स्नेहं गुदं स एव पलिम्पति ।
ततः कुर्यात्स तृण्मोहकण्डूशोफान् क्रियाऽत्र च ।। ४४।।
तीक्ष्णा बस्तिस्तथा तैलमर्कपत्ररसे श्रुतम् ।

व्याख्या—अपक्व (आम) स्नेह की वस्ति न देवे क्योंकि वह स्नेह गुदवलियों-मलाशय में लिपट जाता है फलतः वेदना, मोह, कण्डू तथा शोथ उत्पन्न कर देता है। इस व्यापद् में—गोमूत्र आदि की तीक्ष्ण वस्ति देवे तथा अर्क पत्रों के रस में सिद्ध तैल का अनुवासन देवे ।।

वक्तव्य—च. सि. अ. ४—

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहवस्तिः अनिःसृतः ।
सर्वोऽल्पो वा आवृतो रौक्षात् उपेक्ष्यः स विजानता । ४१ ।

इनके अतिरिक्त नेत्र (वस्ति नेत्र), वस्ति पुट, शय्या (लेटना) तथा प्रणेता (वस्ति देने वाला) के दोष से अन्यान्य व्यापदें भी होती हैं । यथा—अ. सं. क. अ. ७—

ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम्
पार्श्वं छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ।

इनके दोष—व्यापद्

अप्राप्ति प्रतिगति क्षोभ कषण क्षणन श्रवाः
गुदपीडा गतिः जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम् ।

वस्ति पुट के दोष—

मांसल स्निग्ध विषम जालवत् स्थूल वातलाः ।
छिद्रः (छिन्नः) विलवच्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत् ।

इनके दोष—व्यापद्

गतिवैषम्य दौर्गन्ध्य जिह्मत्व स्नुति दुर्ग्रहाः ।
फेनिल च्युतिः अधार्यत्वं वस्तेः स्युः वस्तिदोषतः ।

शय्या के दोष—

उच्चकैः अत्यवाक्शीर्षम् ऊर्ध्वं संकुचितं स्थितम् ।
उत्तानं दक्षिणं पार्श्वं सप्त शय्याः परित्यजेत् ।

इनके दोष—व्यापद्

मूत्राघातोऽन्त्रसम्प्राप्तिः अप्राप्तिः साधु नाऽऽगतिः ।
आस्याऽऽगतिः मरुत्कोप. तृप्तिः पक्वाशयस्य च ।
तत दोषाः स्युः विधातव्यं यथोपयिकमत्र च ।

प्रणेता के दोष—

सवाताऽतिद्रुतोत्क्षिप्त तिर्यक उल्लुप्तकम्पिताः ।

इनका वर्णन च. सि. ५ तथा सु. चि. अ. ३५ में देखिये ।

प्रणेता के दोष (भूल) से उत्पन्न व्यापद्—

सवातप्रणीत—व्यापद्—

अनुच्छ्वास्य तु बद्धे वा दत्ते निःशेष एव च ।। ४५ ।।
प्रविश्य क्षुभितो वायुः शूलतोदकरो भवेत् ।
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ।। ०६ ।।

व्याख्या वस्ति कर्म के समय—वस्ति का श्वास (वायु) निकाले बिना नेत्र बांध देने पर अथवा समस्त वस्ति द्रव दे देने (मलाशय में पहुँचा देने) पर—वस्ति गत वायु मलाशय में प्रविष्ट हो कर और वहाँ क्षुभित हो कर शूल एवं व्यथा को उत्पन्न कर देता है । इस व्यापद् में—शरीर भर में अभ्यङ्ग, गुद में (पर) स्वेदन तथा वातनाशक आहार का प्रयोग करना चाहिये ।।

वक्तव्य—देखिये सू. अ. १९ के श्लोक—

अथास्य नेत्रं प्रणयेत् स्निग्धे स्निग्धमुखे गुदे ।
उच्छ्वास्य वस्तेः वदने बद्धे हस्तमकम्पयन् ।
पृष्ठवंशं प्रति ततो नाऽतिद्रुतविलम्बितम् ।
नातिवेगं न वा मन्दं सकृत्नेव प्रपीडयेत् ।
सावशेषं च कुर्वीत मन्युः शेषे हि तिष्ठति ।

तात्पर्य यह है कि—वस्ति देते समय उसकी वायु को अवश्य निकाल देवे और वस्तिगत द्रव समस्त नहीं देवे अन्यथा उक्त व्यापद् हो सकती हैं । वस्ति पुट को दबा कर वायु निकाल दी जाती है और थोड़ा द्रव अवशिष्ट रख लिया जाता है ।।४५ ४६।।

अतिद्रुत तथा उत्क्षिप्त व्यापद्—

द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा ।
स्यात्कटीगुदजङ्घोरुबस्तिस्तम्भार्तिभेदनम् ।। ४७ ।।
भोजनं तत्र वातघ्नं स्वेदाभ्यङ्गाः सबस्तयः ।

व्याख्या—यदि वस्ति द्रुत—शीघ्रता पूर्वक दी जाती है और सहसा निकाल ली जाती है अथवा उत्क्षिप्त अर्थात् पृष्ठ वंश के प्रति नहीं दी जाती है तो कटि, गुद, जंघा ऊरु तथा मूत्राशय में स्तब्धता, वेदना तथा भेदन (गुद एवं मूत्राशय का फट जाना) हो सकता है । इस व्यापद् मे—वातनाशक भोजन, स्वेदन, अभ्यङ्ग तथा वातनाशक वस्तियों का प्रयोग करे ।। ४७ ।।

उल्लुप्त व्यापद्—

पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः ।। ४८ ।।
उरःशिरोरुजं सादमूर्वोश्च जनयेद्बली ।
बस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादि-फलश्यामादिमूत्रवान् ।। ४९ ।।

व्याख्या—यदि वस्ति देते समय—अधबीच में देना रोक दिया जाता है तो—गुद में प्रतिहत वायु बलवान् (कुपित) होकर उरस् एवं शिर में वेदना तथा सक्थियों में

अवसाद उत्पन्न कर देता है। इस व्यापद् में—बिल्वादि पंचमूल का क्वाथ तथा श्यामा एवं मदनफल का कल्क तथा गोमूत्र मिलाकर बस्ति देवे।

वक्तव्य—कम्पित—व्यापद्—अ. सं. क. अ. ७—

स्याद् दाहो दवथुः शोफः कम्पनाभिहते गुदे।
कषाय मधुराः शीताः सेकाः तत्र सवस्तयः।

अर्थात्—बस्ति देते समय यदि प्रणेता का हाथ कांपने से गुदवलियों में आघात हो जाता है तो—गुद में—दाह, सन्ताप तथा शोथ हो सकता है। इस व्यापद में—कषाय, मधुर एवं शीतल सेचनों तथा बस्तियों का प्रयोग करे।

तिर्यक् व्यापद्—

तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बद्धे वाऽपि न गच्छति।
नेत्रे, तद् ऋजु निष्कास्य संशोध्य च पुनः नयेत्।

अर्थात्—यदि गुदद्वार तिर्यक् वलियों द्वारा आवृत रहता है अथवा नेत्र तिर्यक्—टेढ़ा बंधा रहता है तो स्नेह मलाशय में नहीं पहुँचता। इस दशा में नेत्र को सीधा निकाल कर, मार्ग को शुद्ध करके पुनः नेत्र का प्रवेश करे।

अतिप्रणयन—व्यापद्—

अतिमात्रप्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद् वलेः।
स्यात् सार्तिदाहनिस्तोदगुदवर्चःप्रवर्तनम्।
तत्र सर्पिः पिचुः क्षीरं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते।

अर्थात्—बस्ति देते समय यदि नेत्र का अधिक प्रणयन—प्रवेश कर दिया जाता है तो वलियों में क्षत हो जाने के कारण गुद में वेदना दाह तथा व्यथा हो जाती है और गुदभ्रंश एवं पुरीषप्रवृत्ति होने लगती है। इस व्यापद् में गुद में घृत का पिचु (रूई का फोहा) दुग्ध पान तथा पिच्छिल बस्ति प्रशस्त होती है।

मन्द एवं बाह्य व्यापद्—

न भावयति मन्दस्तु बाह्यश्चाऽऽशु निवर्त्तते।
स्नेहः, तत्र पुनः सम्यक् प्रयोज्यः सिद्धिमिच्छता।

अर्थात्—मन्द स्नेह (मन्द गति से दिया गया स्नेह) पक्काशय में नहीं पहुँचता और बाह्यस्नेह (जो बाहिर ही रह गया) —शीघ्र ही लौट आता है। इन दोनों में पुनः भलीभांति (उक्त दोष से रहित) स्नेह बस्ति देवे।

स्नेहबस्ति देने के अनन्तर ऐसे उपाय किये जाते हैं जिनसे स्नेह शीघ्र न निकलने पावे। क्योंकि 'स्नेहो ऽतिष्ठन् न कार्यकृत्-योज्यः शीघ्र निवृत्ते उन्यः' सू. अ. १९ देखिये—दत्ते तूत्तानदेहस्य'········'कार्यकृत्। पाठ देखिये।

अतिवेग व्यापद्—

अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम्।
तत्र बस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च ॥ ५० ॥

व्याख्या—बस्ति देते समय यदि बस्तिपुटक अत्यन्त वेग के साथ पीडित किया जाता है तो—स्नेह कोष्ठ (अन्त्र) में जाकर रुक जाता है अथवा गल में जा पहुँचता है। इस व्यापद् में निरूहण बस्ति अथच विरेचन देवे और गलपीडन आदि कर्म करे जैसा श्लोक ४३ में बतलाया गया है ॥५०॥

वमनादि के अनन्तर कर्त्तव्य—

वमनाद्यैर्विशुद्धं च क्षामदेहबलानलम्।
यथाण्डं तरुणं, पूर्णं तैलपात्रं यथा तथा ॥५१॥
भिषक् प्रयत्नतो रक्षेत्सर्वस्मादपवादतः।
दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ ॥५२॥
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः।
अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः ॥५३॥
व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत्।
सर्वसहः स्थिरबलो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥५४॥

व्याख्या—वमन, विरेचन एवं बस्ति कर्म के अनन्तर विशुद्ध प्राणी का शरीर, बल एवं अग्नि क्षीण हो गये होते हैं अतः उसकी रक्षा का वैसे प्रयत्न करे (रक्षा में सावधान रहे) जैसे कच्चे अन्डा की और तैलपूर्ण भाण्ड की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार वैद्य सब प्रकार के अपवादों—निन्दाओं से बचा रहता है। (सर्वाऽपवादतः के स्थान में सर्वाऽपचारतः पाठान्तर है अर्थात् रोगी को सब प्रकार के अपचार—मिथ्या आहार व्यवहार से बचा कर रखने का प्रयत्न करे)।

उस प्राणी को प्रथम—मधुर एवं हृद्य (हृदय का बल बढ़ानेवाले—रुचिकारक) आहार देवे तत्पश्चात् अम्ल एवं लवण रसवाले तत्पश्चात् मधुर एवं तिक्त रस वाले और फिर कषाय एवं कटु रस वाले आहार देवे और—परस्पर प्रतिकूल रसों तथा स्निग्ध एवं रूक्ष आहारों का परिवर्त्तन पूर्वक उपयोग करके उस प्राणी को प्रकृति-स्वास्थ्य की प्राप्ति करावे। अर्थात् स्वस्थ होने तक उसकी रक्षा करता रहे।

स्वस्थ का लक्षण—जब प्राणी सब कुछ सहने में समर्थ हो जाता है, पुष्ट एवं बलवान् हो जाता है तब उसे स्वस्थ मान लिया जाता है ॥

वक्तव्य—अ. सं. क. अ. ७—

अत्राऽन्तरे त्यजेत् अष्टौ भाष्यादीनि विशेषतः।
उच्चैः भाष्यात् शिरोरोगस्तिमिरोरःस्वरव्यथाः।
रक्तनिष्ठीवतमकज्वराद्याः तत्र साधनम्।
अभ्यङ्गस्वेदनस्याऽधो भक्तस्नेहोपसेवनम्।
मौनं विधिर्वातहरो यथास्वं च विकारजित्।
आस्यया यानयानाभ्यां सन्धिमर्मग्रन्थिकादि रुक्।
अतिचंक्रमणात् पादजङ्घोरुसदनादयः।

तेषां वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि शस्यते ।
अजीर्णं भोजनात् आमविषच्छर्दिज्वराऽऽदय: ।
तत्र मात्राऽशितीयोक्तो विधेयो विधिरामहा ।
अहिताऽन्नात् यथा दोषं रोगा: स्यु: भेषजानि च ।
हलीमकादय: प्रोक्ता दिवास्वप्नात् पुरा गदा: ।
विदध्यात् कफजित् तेषु धूमरूक्षान्न लङ्घनम् ।
व्यवायात् जीवितभ्रंश: तै: तै: अस्याऽनिलामयै: ।
गुदो विलुप्यत इव भ्रमतीव च चेतना ।
मेढ्रं धूमायति मन: तमसीव निवेश्यते ।
जीवनीयमृतक्षीररसर्पिषोरुपयोजनम् ।
आहारो बृंहणस्तत्र वृष्यास्ते ते च वस्तय: ।

अर्थात्—पञ्च कर्म करते समय तथा स्वास्थ्य लाभ के पूर्व निम्नलिखित उच्चैर्भाष्य आदि भावों का परित्याग करना चाहिये—

१—ऊँचे २ बोलने से शिरोरोग, तिमिर (नेत्ररोग-विशेष), उरस् में व्यथा, स्वरभेद, थूक में रक्तस्राव, अन्धकार की प्रतीति तथा ज्वर आदि हो सकते हैं। इस दशा में—अभ्यङ्ग, स्वेदन, नस्यकर्म, भोजन के पूर्व स्नेहपान, मौन, वातनाशक आहार विहार तथा रोगानुसार चिकित्सा का प्रयोग करे।

२-३—अधिक बैठने से तथा रथ आदि पर यात्रा करने से सन्धियों, शिर तथा त्रिक आदि में वेदना हो सकती है।

४—अत्यन्त चलने से—पाँव, जङ्घा तथा ऊरुओं में अवसाद (शिथिलता) हो सकता है। इन तीनों दशाओं में वात नाशक सब आहार विहार एवं स्नेहन स्वेदन आदि प्रशस्त होते हैं।

५—अजीर्ण रहने पर भोजन करने से—आमविष (सू. अ. ८ श्लो० १३ देखिये), छर्दि तथा ज्वर आदि हो सकते हैं। इस दशा में मात्राशितीय अध्याय (सू. अ. ८) में कही गई आमनाशक चिकित्सा करे।

७—अहित आहार करने से—दोषों के कोपानुसार कोई भी रोग हो सकते हैं। उस दशा में जो रोग हो उसकी उचित चिकित्सा करे।

१—दिवास्वप्न से—हलीमक एवं पाण्डुरोग तथा प्रतिश्याय आदि रोग हो सकते हैं। इस दशा में कफनाशक-धूमपान रूक्ष आहार तथा लंघन आदि करे।

८—व्यवाय (मैथुन) करने से—वात जनित रोगों द्वारा मृत्यु हो सकती है अथवा—गुदवलियों का विलोप सा प्रतीत होता है, चेतना में भ्रम (घुमटा-चक्कर आता) सा प्रतीत होता है। शिश्न में से धूम सा निकलता प्रतीत होता है और मनस्-तमस् में प्रविष्ट होता प्रतीत होता है। इस दशा में—जीवनीयगण (सू. अ. १५) के योग से सिद्ध दूध तथा घृत का उपयोग करे और पुष्टिकारक आहार तथा वृष्य (शुक्र-वर्द्धक) वस्तियाँ देवे ॥५२-५४॥

इति अष्टांगहृदये कल्पसिद्धिस्थाने पञ्चमोऽध्याय:

षष्ठोऽध्याय:

भेषजकल्प

अथाऽतो भेषजकल्पं व्याख्यास्याम: ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय: ।

अब भेषजकल्प की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—भेषज—द्रव्य कल्प का वर्णन—च. क. अ. १ तथा १२ में और सू. अ. ४ में सु. सू. अ. ३६ तथा चि. अ. ३१ में और अ सं. कल्प अ ८ में देखिये।

औषध देश आदि—

धन्वे साधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ ।
श्मशानचैत्यायतनश्वभ्रवल्मीकवर्जिते ॥ १ ॥
मृदौ प्रदक्षिणजले कुशरोहिषसंस्तृते ।
अफालकृष्टेऽनाक्रान्ते पादपैर्बलवत्तरै: ॥ २ ॥
शस्यते भेषजं जातं युक्तं वर्णरसादिभि: ।
जन्त्वजग्धं दवादग्धमविदग्धं च वैकृतै: ॥ ३ ॥
भूतैश्छायातपाम्बवाद्यैर्यथाकालं च सेवितम् ।
अवगाढमहामूलमुदीचीं दिशमास्थितम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—जाङ्गल अथवा साधारण, समतल, पवित्र-स्वच्छ तथा उत्तम मिट्टीवाले देश में तथा श्मशान, चैत्य (विशिष्ट देवताऽधिष्ठित वृक्ष विशेष), आयतन (यज्ञ भूमि तथा कारखाना—कार्यालय—घर), श्वभ्र (गढा-खाई-मलिन जलाशय-गन्दानाला देवयजनागार-वधस्थान-कसाईखाना आदि) तथा वाल्मीक से रहित-दूर देश-स्थान में, मृदु भूमि में, प्रदक्षिण-अनुकूल जलवाले स्थान में, कुश एवं रोहिषतृण वाले स्थान में, जहाँ हल न चलाया जाता हो—अन्य प्रकार की कृषि न की जाती हो ऐसे स्थान में जहाँ दूसरे वट पीपल आदि बड़े २ वृक्ष न हों—उनकी छाया न पड़ती हो ऐसे स्थान में उत्पन्न शालपर्णी आदि औषधि प्रशस्त-उत्तम होती है। और जो औषधि-अपने वर्ण, रस, गुण गन्ध एवं विपाक, पत्र, पुष्प एवं फल आदि से युक्त हो, कृमि आदि जन्तुओं द्वारा खाई न हो, वनाग्नि द्वारा दग्ध (जलाई-झुलसी गई) न हो, धर्मबाधा आदि पाप कर्म से दूषित देश, काल, जल एवं वायु (जनपदोद्ध्वंस के जो कारण कहे गये हैं च. वि. अ. ३) के द्वारा विदग्ध-दूषित न हो,

तथा छाया, धूप एवं जल आदि के द्वारा समयानुसार सेवित हो—जिसे आवश्यकतानुसार छाया, धूप एवं जल आदि दिये गये हों, जिसका गहरा तथा पुष्ट मूल (जड़) हो और रोगों के निवास स्थान से उत्तर दिशा की ओर उत्पन्न हो वह औषधि प्रशस्त होती है (ऐसे स्थानों में उत्पन्न औषधियाँ उत्तम गुण वाली होती हैं क्योंकि उन स्थानों का वातावरण शुद्ध होता है ।

वक्तव्य—तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षावसन्तयोः ग्राह्यं । ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा शीर्णप्ररूढपर्णानाम् । शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि । हेमन्ते साराणि । यथा ऋतुफलपुष्पम् । अन्ये पुनः आहुः—सौम्यानि औषधानि सौम्येषु ऋतुषु आग्नेयानि आग्नेयेषु । एवमव्यापन्नानि आपूर्णतररसवीर्याणि भवन्ति । अ. सं. क. अ. ८ ।

अर्थात्—उन औषधों की शाखा-प्रशाखा एवं पत्र जो थोड़े समय से उत्पन्न हुये हों (अर्थात् कोमल हों) वर्षा एवं वसन्त ऋतुओं में लिये जायें । मूल ग्रीष्म ऋतु में अथवा शिशिर ऋतु में जब पुराने पत्र गिर जायें और नूतन पत्र निकल जायँ तब लिये जायें । त्वक् (छाल), एवं दूध शरद् ऋतु में लिये जायें । सार (मध्य काष्ठ जैसे चन्दन एवं खैर के सार)—हेमन्त ऋतु में लिये जायँ और फल एवं पुष्प ऋतु के अनुसार (जो ऋतु में फलें फूलें) लिये जायँ (अऋतु में जो फलें-फूलें वे न लिये जायँ) । औषध—आग्नेय (उष्ण) ऋतुओं में लिये जायँ । प्रतीत होता है यह कथन उन औषधों के लिये विशेष रूप से कहा गया है जिनका पञ्चाङ्ग या सर्वाङ्ग लिया जाता है ॥१-४॥

औषध संग्रह विधि—

अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः ।
गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत् ॥५॥
सक्षीरं तदसम्पत्तावनतिक्रान्तवत्सरम् ।
ऋते गुड घृत-क्षौद्र धान्यकृष्णा-विडङ्गतः ॥६॥

व्याख्या—औषध संग्रह करने वाला-सदाचारी, श्रद्धावान् (औषधों पर विश्वास रखने वाला), स्नानादि द्वारा शुचि होकर तथा उस दिन उपवास करके औषध का संग्रह-संचय-उत्खनन-उत्पादन करे । और सुन्दर रूप से उन्नित स्थान में रक्षित, रसयुक्त औषध का समय २ पर उपयोग करे । यदि रसयुक्त (हरी-ताजी) औषध न मिल सके एक वर्ष व्यतीत होने के पूर्व सूखी औषध का प्रयोग करे । (१ वर्ष से अधिक पुरानी औषध का प्रयोग न करे । वह हीनवीर्य हो जाती है) । परन्तु-गुड़, घृत, मधु, धनियाँ पीपल एवं विडंग एक वर्ष से अधिक पुराने भी उपयोगी होते हैं ।

वक्तव्य—अ. सं. क. अ. ८—

अथ मंगलाचारकल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः (श्वेत वस्त्र पहिन कर), सम्पूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणान् च (इष्ट देवता, सुरवैद्य अश्विनी कुमारों, गौ तथा ब्राह्मणों की पूजा करके), कृतोपवासः प्राङ्मुखः उदङ्मुखो वा (पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके) गृह्णीयात् । गृहीत्वा च अनुरूपगुणवद्भाजने संस्थाप्य (स्वच्छ भाण्ड में धर कर) अंगारेषु पूर्वोत्तर द्वारेषु निर्वातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहारबलिकर्मसु (पूर्व अथवा उत्तर की ओर द्वार वाले घरों में जहाँ एक देश निर्वात एवं प्रवात वाला हो—जहाँ स्वच्छ वायु आता हो तथा जहाँ प्रतिदिन पुष्पोपहार एवं बलिकर्म किया जाता हो रख देवे) अग्निसलिलोपस्वेदधूमरजमूषिकपशुप्रभृतीनि अनभिगमनीयानि (जहाँ अग्नि का भय न हो, जल का प्रवेश न हो, सील-सीलन न हो, धूआँ न जाता हो, धूल न पड़ती हो, चूहे एवं पशु न आ सकते हों), स्ववश्यानि (अपने अधीन हो-ताला कुञ्जी अपने पास हो-समय पर ली जा सकें), शिक्येषु आसज्य स्थापयेत् (छिकहर टाँड आलमारी-बोरी थैला आदि में रख कर धर देवे) । पाठान्तर

महेन्द्र रामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि ।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ।
मन्त्रेणाऽनेन मतिमान् सर्वमप्यौषधं नयेत् ।

अर्थात्—हे औषधो ! महेन्द्र, राम, कृष्ण, ब्राह्मणों गौवों के तप एवं तेज से आप शान्त रहो और कल्याण का हेतु बनो । इस मन्त्र द्वारा सब प्रकार की औषधों का संग्रह करना चाहिये । यह पाठ कुछ प्रतियों में मिलता है परन्तु इस पर सर्वाङ्गसुन्दरा तथा आयुर्वेद रसायन नामक टीकाएं नहीं मिलती हैं । औषध कल्पनार्थ द्रव्यों की नूतनता एवं प्रमाणता के विषय में एक अनपवाद वाक्य सु. सू. अ. ३६ में है—

विगन्धेनाऽपरामृष्टम् अविपन्नं रसादिभिः ।
नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेव विनिर्दिशेत् । १५ ।

अर्थात् जिसकी गन्ध विकृत न होगई हो और रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव नष्ट न हो गये हों वह द्रव्य नूतन हो अथवा पुरातन हो ग्राह्य—ग्रहणयोग्य होता है ॥५-६॥

प्राणिज द्रव्यों के ग्रहण का संकेत—

पयो बाष्कयणं ग्राह्यं विण्मूत्रं तच्च नीरुजम् ।
वयोबलवतां धातुपिच्छशृङ्गखुरादिकम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—दूध चिर प्रसूता का लेवे, गोबर एवं मूत्र नीरोग का लेवे, धातु (मज्जा, रक्त, शुक्र अस्थि एवं वसा आदि), पिच्छ (पूंछ के बाल एवं पंख) सींग एवं खुर आदि वयःस्थों (युवकों) तथा बलवान् प्राणियों के लेवे ।

वक्तव्य—च. सू. अ. १—

विट् मूत्र चर्म रेतस् अस्थि स्नायु शृङ्गनखाः खुराः ।
जङ्गमेभ्यो प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः । ६९ ।

अर्थात्—उक्त द्रव्य जङ्गमों—प्राणियों के शरीरों से प्राप्त कर औषध रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

भेषजागार—औषधसंग्रहालय-सु०सू० अ० ६—

प्लोत मृद्भाण्ड फलक शङ्कु विन्यस्तभेषजम्
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते ।

अर्थात्—प्लोत (थैली, बोरी, गठरी आदि), मृद्-भाण्ड (घड़ा, मर्तबान् शीशी, बोतल आदि) फलक (पट्टा, तख्ता टांड, आलमारी आदि) तथा शंकु (कीला, खुण्टी, विलंग, शिकहर, छिक्का आदि) में तथा पर द्रव्य रखे गये हों जिस घर में तथा जो प्रशस्त दिशा में हो तथा साफ-सुथरा हो वह भेषजागार उत्तम होता है ।।७।।

कषाय कल्पना—

कषाययानयः पञ्च रसा लवणवर्जिताः ।
रसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टश्चेति प्रकल्पना ।।८।।
पञ्चधैव कषायाणां पूर्वं पूर्वं बलाधिका ।

व्याख्या लवण रस से अतिरिक्त ५ रस (मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त एवं कषाय रस) कषाय के हेतु होते हैं अर्थात् मधुर आदि रसों को प्राप्त करने के लिये ही काथय बनाये जाते हैं। कषाय कल्पना ५ प्रकार की होती है - १ — रस—स्वरस, २—कल्क, ३—शृत (पकाकर बनाया गया क्वाथ, निर्यूह)४—शीतकषाय (हिम) तथा ५— फाण्ट । उन कषायों में पूर्व पूर्व बलवान्—(अधिक कार्यकर) होते हैं ।

वक्तव्य—च. सू. अ. ४—

पञ्च कषाययोनय इति—मधुरकषायः, अम्लकषायः, कटुकषायः, तिक्तकषायः, कषायकषायश्चेतितन्त्रे संज्ञा । ७ । किसी द्रव्य में से सार भाग लेने के लिये उक्त उपाय किये जाते हैं और लवण तो स्वयं सब घुल जाता है अतः लवण कषाय नहीं माना जाता और भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में यह अपने तन्त्र-शास्त्र की संज्ञा—पारिभाषिक नाम है। वैसे तो लवण को जल में पका कर वमनार्थ प्रयोग में लाया ही जाता है और गुड़ एवं खण्ड आदि मधुर द्रव्य भी सबके सब घुल ही जाते हैं और घोल कर प्रयुक्त भी किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि—मधुर आदि रसों वाले द्रव्यों में से मधुर आदि रस पृथक् करने के लिये कषाय बनाये जाते हैं और कल्क तो पचने के लिए ही बनाया जाता है ।।८।।

उक्त कषाय बनाने की विधि तथा मात्रा—

सद्यःसमुद्धृतात्क्षुण्णाद्यः स्रवेत्पटपीडितात् ।। ९ ।।
स्वरसः स समुद्दिष्टः कल्कः पिष्टो द्रवाप्लुतः ।
चूर्णोऽप्लुतः शृतः क्वाथः शीतो रात्रिं द्रवे स्थितः ।१०।
सद्योऽभिषुतपूतस्तु फाण्टः तन्मानकल्पने ।
प्रयुञ्ज्याद्व्याध्यादिबलतस्तथा च वचनं मुनेः ।।११।।
मात्राया न व्यवस्थाऽस्ति व्याधिं कोष्ठं बलं वयः ।
आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना ।। १२ ।।

व्याख्या—स्वरस बनाने की विधि—औषध को तत्काल (हरी हरी—ताजी) उखाड़ कर, कूट-पीसकर, और कपड़ा में से निचोड़ कर लिया गया रस—स्वरस कहलाता है। कल्क—शिला पर, कुण्डी में अथवा दान्तों से पीसी गई औषध का नाम "कल्क" (चटनी) है जो आर्द्र रहता है अथवा सूखी औषध में जल आदि द्रव देकर और पीसकर बनाया जाता है वह "कल्क" कहलाता है। चूर्ण—जो सूखे द्रव्य को पीसकर एवं कपड़ा में से छानकर बनाया जाता है वह "चूर्ण" कहलाता है। शृत- जो पकाकर बनाया जाता है वह शृत तथा "क्वाथ" कहलाता है। शीत—जो औषध को रात्रि भर द्रव में भिगो कर बनाया जाता है वह शीत (हिम) कहलाता है। फाण्ट—औषध कूटकर उष्ण जल में डालकर और तत्काल छान कर जो बनाया जाता है वह "फाण्ट" कहलाता है। इनके प्रयोग का परिमाण तथा कल्पना —निर्माण—रोग औषध एवं रोगी के बल के अनुसार इन स्वरस आदि का उपयोग (खिलाना—पिलाना) किया जाता है क्योंकि मुनि (पुनर्वसु-आत्रेय) का कथन है कि—औषध की मात्रा की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है और स्वरस आदि की भी कोई व्यवस्था नहीं है इसलिये—रोग, कोष्ठ (पाचन शक्ति), रोग एवं रोगी के बल, वयस्, देश तथा काल का विचार करके मात्रा का निर्णय—निश्चय तथा रस आदि की कल्पना का निश्चय करना चाहिये। ७ ।

वक्तव्य—अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी न त्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति । ८ । (च. सू. अ. ४) अर्थात् कषाय की कल्पना रोग एवं रोगी के बल की अपेक्षा रखती है। इस लिये सब कषाय सर्वत्र उपयोगी नहीं होते। क्वाथ में जल का परिमाण—अ. स. अ. ८—

क्वाथो निर्यूहः । स तु भेद्यानि औषधानि अणुशो भेदयित्वा छेद्यानि छेदयित्वा प्रक्षाल्यमुदकेन शुची रूक्षायां (स्वच्छायां) अधः प्रलिप्तायां ताम्राऽयोमृण्मय्याऽन्यतमस्थाल्यां समावाप्य बहुलपानीयप्राहितानामौषधानामाकलय्य यावता मुक्तनारसता स्यात् तावत् उदकमासेचयेत् शोषयेच्च । अथ अग्नौ अधिश्रित्य महति आसने सुखोपविष्टः सर्वतः सततमवलोकयन् दर्व्या च विघट्टयन् मृदुना च परिहः समुपगच्छता अनलेन साधयेत् । अर्थात् औषध को दरदरा कूटकर उतने जल में डाल कर भिगो देवे जितने जल में औषध का रस आ सके फिर ताम्र लोहे अथवा मिट्टी के भाण्ड में डाल कर अग्नि

पर चढ़ा कर दर्वी (कड़छुली) से चला २ कर मन्द २ अग्नि पर पकावे और फिर छान कर पिलावे। यह क्वाथ की विधि है। दूध में औषध पकाने की विधि—क्षीरादिसहितं च द्रव्यं न सम्यक् सुकरसं भवति इति वारिक्वाथपूर्वकं क्षीरादीः तत् उपदेशेन अनुपदग्धं क्वाथयेत्। अं. सं. क. अ. ८ अर्थात्—दूध के साथ पकाने पर औषध का रस पूर्णरूप से दूध में नहीं आ सकता क्योंकि दूध शीघ्र गाढ़ा हो जाता है अतः प्रथम जल में क्वाथ करके और फिर दूध में पका लेवें अथवा दूध में जल मिला कर पका लेवे। यह कठोर द्रव्य के लिये कहा गया है मृदु द्रव्य (वासा एवं तुलसी आदि के हरे पत्र आदि का) रस तो केवल दूध में पकाने से भी आ जाता है। और सामान्यतः यह विचार कर लिया जाता है कि जिस द्रव्य का प्रयोग करना है उसका रस गुण एवं वीर्य द्रव्य में आगया कि नहीं। तदेवमभीष्टं बुद्धिमतां ज्ञानप्रबोधाय। यथा तु सर्वं भिषजो विज्ञास्यन्ति तथा उपदेक्ष्यते— ॥९-१२॥

सामान्य मात्रा आदि का निर्देश—

मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुःपलम्।
पेष्यस्य कर्षमालोड्य तद्द्रवस्य पलत्रये ॥ १३ ॥
क्वाथं द्रव्यपले कुर्यात्प्रस्थार्धं पादशेषितम्।
शीतं पले पलैः षड्भिः चतुर्भिश्च ततोऽपरम् ॥ १४ ॥

व्याख्या—स्वरस की मध्यम मात्रा ४ पल (१६ कर्ष) होती है। कल्क अथवा चूर्ण की मात्रा १ कर्ष होती है और उसे तीन पल द्रव पदार्थ में घोल कर प्रयुक्त करे। क्वाथ के लिये—१ पल (४ कर्ष) द्रव्य लेकर ८ पल द्रव—जल म पकावे और २ पल रहने पर छान कर पिलावे। शीत कषाय के लिये १ पल द्रव्य लेकर ६ पल द्रव में भिगो देवे और छान कर पिलावे। और फाण्ट के लिये—१ पल द्रव्य लेकर ४ पल द्रव में डालकर और छान कर पिलावे।

वक्तव्य—निर्यासस्य (स्वरसस्य) मध्यमा मात्रा चतुष्पलम्। कल्कचूर्णयोः कर्षः पलत्रयं (द्रवस्य) तदाऽऽलोडने। नियूहे (क्वाथे) भेषजपलं उदकार्धप्रस्थं अधिश्रित्य (अग्नि पर पकाकर) पादशेषमवतारयेत्। शीतफाण्टयोः भौषधपलम् षड्भिः चतुर्भिः अम्बुपलैरासुतमिति।

स्नेह पाक विधि—

स्नेहपाके त्वमानोक्तौ चतुर्गुणविवर्धितम्।
कल्कस्नेहद्रवं योज्यम् अधीते शौनकः पुनः ॥ १५ ॥
स्नेहे सिद्ध्यति शुद्धाम्बुनिःक्वाथस्वरसैः क्रमात्।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ १६ ॥
पृथक् स्नेहसमं दद्यात्पञ्चप्रभृति तु द्रवम्।

व्याख्या—स्नेह पाक में जहाँ पाक स्नेह, कल्क एवं द्रव का मान न कहा गया हो वहाँ—कल्क से चतुर्गुण स्नेह और स्नेह से चतुर्गुण द्रव डालना चाहिये।

महर्षि शौनक का कथन है कि—यदि स्नेह का पाक केवल जल के योग से करना हो तो कल्क स्नेह से चतुर्थांश, क्वाथ से करना हो तो षष्ठांश और स्वरस से करना हो तो अष्टमांश डालना चाहिये। यदि चार से अधिक ५-६-७ आदि द्रवों के योग से स्नेह का पाक करना हो और उन द्रवों का मान न बतलाया गया हो तो प्रत्येक द्रव स्नेह के समान डालकर पाक करे।

वक्तव्य—अ. सं. क. अ. ८—

अनिरूपितकल्पनं भेषजं कल्कीकुर्यात्। अथ ऐकध्यं प्रतिसंसृज्य अधिश्रित्य च नियूहवत् साधयेत्। अर्थात्—जिस द्रव की कल्पना का निरूपण न हो उसका कल्क बनाकर स्नेह में डालना चाहिये और कल्क, स्नेह एवं द्रव को एक में मिलाकर, अग्नि पर चढ़ाकर क्वाथ के समान पाक करे। (श्लोक ९-१२ का वक्तव्य देखिये) ॥१५-१६॥

स्नेहसिद्धि का लक्षण

नाङ्गुलिग्राहिता कल्के न स्नेहेऽग्नौ सशब्दता ॥१७॥
वर्णादिसम्पच्च यदा तदैनं शीघ्रमाहरेत्।
घृतस्य फेनोपशमः, तैलस्य तु तदुद्भवः ॥ १८ ॥

व्याख्या—स्नेह का पाक करते समय—जब कल्क अंगुली पर चिपके नहीं और स्नेह की बूंद अग्नि-कोला पर डालने से चिटचिट शब्द न हो और उचित वर्ण, गन्ध एवं रस की उत्पत्ति हो जाय तब तत्काल अग्नि पर से उतार लेवे। अथवा जब घृत में फेन की शान्ति हो जाय और तैल में फेन (झाग) आने लगे तब उतार लेवे॥

वक्तव्य—तत्र यदा विरमति शब्दः, प्रसादमापद्यते स्नेहः, यथास्ववर्णगन्धरसोपपत्तिः। भेषजं (स्नेह-गत कल्कं) अंगुलिभ्यां मृद्यमानमनतिमृदुमति दारुणमनंगुलिग्राहि च स्यात् स कालः तस्यावतारणाय। अर्थात् जब स्नेह का कल्क—अत्यन्त मृदु तथा कठोर न हो और अंगुलियों द्वारा मलने पर बत्ती सी बनने लगे तब उतार लेवे। अन्यथा वह आम रह जाता है अथवा दग्ध हो जाता है। अ. सं. क. अ. ८॥१७-१८॥

अवलेह बनाने की विधि—

लेहस्य तन्तुमत्ताऽप्सु मज्जनं शरणं न च।

व्याख्या—अवलेह पाक करते समय जब उसमें तन्तुबार पड़ने लग जायँ, शुद्ध एवं शीतल जल में डालने पर वह डूब जाय, और बिखरे नहीं तब समझना चाहिये कि उचित पाक हो गया है।

वक्तव्य—अवलेह अर्थात् लेह दो प्रकार के बनाए जाते

हैं—१. केवल द्रव द्रव्य में खण्ड मिलाकर पाक कर दिया जाता है इसका उत्तम पाक होने पर तर्जनी एवं अंगुष्ठ के द्वारा देखने पर तार पड़ने लगती है और वह जल में डूब जाता है तथा बिना घोले नहीं घुलता। इसी लेह के उक्त लक्षण श्री वाग्भट ने लिखे हैं। और २ वह जिसमें कल्क अथवा पीठी एवं चूर्ण आदि मिलाए जाते हैं जैसे च्यवनप्राश आदि। परन्तु उनमें तार पड़ने का विचार नहीं किया जाता और वे जल में शीर्ण भी हो जाते हैं। प्रतीत होता है यही "लेहस्य शरणं न च" पाठ "पाकस्तु चिक्कणः" पाठ के नीचे होना चाहिये।

स्नेह पाक के भेद—

पाकस्तु त्रिविधो मन्दश्चिक्कणः खरचिक्कणः ॥१९॥
मन्दः कल्कसमे किट्टे चिक्कणो मदनोपमे।
किंचित्सीदति कृष्णे च वर्त्यमाने च पश्चिमः ॥२०॥
दग्धोऽत ऊर्ध्वं निष्कार्यः स्यादामस्त्वग्निसादकृत्।
मृदुर्नस्ये, खरोऽभ्यङ्गे, पाने बस्तौ च चिक्कणः ॥२१॥

व्याख्या—स्नेह पाक तीन प्रकार का होता है—१—मन्द पाक, २—चिक्कण पाक (उचित पाक—मध्य पाक) तथा ३—खर चिक्कण। मन्द पाक—इसमें कल्क कल्क जैसा ही बना रहता है—उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। इसमें द्रव का पाक तो हो जाता है परन्तु कल्क का नहीं। चिक्कण पाक—इसमें द्रव का पाक हो जाने पर कल्क का पाक भी हो जाता है अतः कल्क मोम जैसा हो जाता है—उसकी वत्ती सी बनने लगती है। यह उत्तम पाक या मध्य पाक कहलाता है। ३—खर चिक्कण पाक—इसमें कल्क कुछ टूटने लगता है और कुछ २ काला हो जाता है। इसके पश्चात् भी यदि पाक किया जाता है तो दग्ध पाक हो जाता है उसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता और आम पाक भी मन्दाग्नि आदि विकार उत्पन्न करता है। मृदु (मन्द पाक) स्नेह नस्य में, खरचिक्कण (पाक) अभ्यङ्ग में तथा चिक्कण पाक-पान वस्ति में प्रयुक्त करने के लिये बनाया जाता है।

वक्तव्य—पाक के पश्चात्—'अथ अवतार्य शीतीभूतम् अहतेन वाससा परिपूय शुचौ दृढे कलशे समासिच्य अपिधानेन पिधाय (अपिधाय) शुक्लेन वस्त्रपट्टेन अवबध्य सूत्रे सुबद्धं अनुपहतमनुगुप्तं शुचौ देशे सुस्थितं स्थापयेत्। (अ. सं. क. अ. ८)—उतार कर, शीतल होने पर (घृत एवं मोम आदि युक्त स्नेह उष्ण रहते ही) छानकर स्वच्छ एवं दृढ़ भाण्ड में डालकर, ढकना से ढीक कर, स्वच्छ वस्त्र से ढंक कर, सूत्र से भलीभांति बांधकर सुरक्षित एवं स्वच्छ स्थान में धर देवे ॥१९-२१॥

मान (तोल) का वर्णन—

शाणं पाणितलं मुष्टिं कुडवं प्रस्थमाढकम्।
द्रोणं वहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम् ॥२२॥

व्याख्या—शाण, पाणि तल (कर्ष), मुष्टि (पल), कुडव (४ पलात्मक मान), प्रस्थ, आढक, द्रोण, तथा वह (वाह, गोणी) ये मान उत्तरोत्तर चतुर्गुण होते हैं ॥

वक्तव्य—शाण का परिमाण—अ. सं. क. अ. ८—परिमाणं पुनः—षड् वंश्यो मरीचिः, ताः षट् सर्षपः, ते अष्टौ तण्डुलः, तौ धान्यमाषः, तौ यवः, अतः परं चतुर्गुण-वृद्ध्या अण्डिका, माषक, (शाण) कर्ष, पल, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण, वहाः कल्प्यन्ते। अर्थात्—६ वंशी (त्रसरेणु)—१ मरीचि, ६ मरीचि—१ सर्षप, ८ सर्षप—१ तण्डुल (चावल), २ तण्डुल—१ धान्यमाष (उरद का दाना), २ धान्यमाष—१ जौ, ४ जौ—१ अण्डिका, ४ अण्डिका—१ माषक (हेममाषक—सुवर्ण तौलने का माशा) और ४ शाण का १ कर्ष आदि सब मान चतुर्गुण होते हैं। वंशी उस धूलि कण का नाम है जो सर्वदा आकाश में उड़ता रहता है और केवल झरोखा में गई सूर्यकिरण के प्रकाश में दिखाई पड़ता है ॥ २२ ॥

आर्द्र एवं द्रव द्रव्यों के मान का संकेत—

द्विगुणं योजयेदार्द्रं कुडवादि तथा द्रवम्।

व्याख्या—उक्त प्रकार का मान सूखे द्रव्यों का माना जाता है परन्तु तुल्यमान का निर्देश रहने पर शुष्क द्रव्य के अभाव में आर्द्र द्रव्य कुडवादि परिमाण द्वारा कहा गया होने पर द्विगुण लेना चाहिये तथा शुष्क एवं द्रव द्रव्य के मान का निर्देश न रहने पर द्रव द्रव्य भी द्विगुण लेना चाहिये ॥

वक्तव्य—अ. सं. क. अ. ८—

शुष्कमेये स्थितं मानं द्विगुणं तु द्रवाऽऽर्द्रयोः;

अर्थात् शुष्क द्रव्यों का मान करने के लिये यह जो मान कहा है वह निर्देश न रहने पर द्रव एवं आर्द्र द्रव्यों का द्विगुण मान समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यदि दशमूल आदि द्रव्य सूखे न मिलें तो उनको निर्दिष्ट मान से द्विगुण ले लेना चाहिये यथा—१ पल का निर्देश हो तो दो पल ले लेवे ॥

स्नेह पाक में द्रव का संकेत—

पेषणालोडने वारि स्नेहपाके च निर्द्रवे ॥२३॥

व्याख्या—स्नेह पाक में यदि किसी द्रव का निर्देश न हो तो निर्दिष्ट औषध को पीसने तथा घोलने के लिये जल का प्रयोग करे अर्थात् सूखी औषध से स्नेह पाक न करे ॥ २३ ॥

औषध मान का संकेत—

कल्पयेत्सदृशान् भागान् प्रमाणं यत्र नोदितम् ।
कल्कीकुर्याच्च भेषज्यमनिरूपितकल्पनम् ॥२४॥

व्याख्या—जहाँ औषध द्रव्यों के परिमाण का निर्देश न हो वहाँ सब द्रव्यों का मान सदृश-समान-तुल्य भाग मान किया जाता है । और यदि औषध के स्वरस आदि कल्पों का निर्देश न हो तो उसका कल्क अवश्य बना लेना चाहिये अर्थात् सूखी औषध नहीं चबाना चाहिये ।

वक्तव्य—अ. सं. अ. ८—

अङ्गानुक्तौ तु मूलं स्यात् अप्रसिद्धो तदेव तु ।

अर्थात्—यदि औषध के मूल एवं फल आदि का निर्देश न हो तो उस औषध का मूल लेवे और यदि उसके अङ्ग की प्रसिद्धि न हो तो भी मूल ही लेवे और प्रसिद्धि होने पर फल आदि का ग्रहण करे जैसे हरीतकी कहने पर हरीतकी वृक्ष के फल का और विदारी कहने पर उसके कन्द का, धातकी कहने पर उसके पुष्प का ग्रहण किया जाता है ॥२४॥

मानविषयक अन्य संकेत—

द्वौ शाणौ वटकः कोलं बदरं द्रङ्क्षणश्च तौ ।
अक्षं पिचुः पाणितलं सुवर्णं कवलग्रहः ॥२५॥
कर्षो बिडालपदकं तिन्दुकं पाणिमानिका ।
शब्दान्यत्वमभिन्नेऽर्थे शुक्तिरष्टमिका पिचू ॥२६॥
पलं प्रकुञ्चो बिल्वं च मुष्टिराम्रं चतुर्थिका ।
द्वे पले प्रसृतस्तौ द्वावञ्जलिस्तौ तु मानिका ॥२७॥
आढकं भाजनं कंसो द्रोणः कुम्भो घटोऽर्मणम् ।
तुलापलशतं तानि विंशतिर्भार उच्यते ॥२८॥

इति श्री वैद्यपतिसिंहगुप्तसूनु-श्रीवाग्भट-
विरचितायामष्टाङ्गहृदय संहितायांपञ्चमे
कल्पसिद्धिस्थाने द्रव्यकल्पो
नाम षष्ठोऽध्यायः ।

व्याख्या—दो शाण का एक वटक नामक मान होता है, इसके पर्याय हैं—कोल, बदर तथा द्रंक्षण । और दो वटक (कोल) का अक्ष (कर्ष) होता है उसके पर्याय हैं पिचु, पाणितल, सुवर्ण, कवल ग्रह, कर्ष, बिडालपदक-(बिडाल पद,) तिन्दुक तथा पाणिमानिका । इनमें कोई भेद नहीं है केवल शब्दभेद है अर्थात् एक ही मान के सूचक हैं । दो पिचु (कर्ष) की १ शुक्ति तथा अष्टमिका होती है । पल के पर्याय हैं—प्रकुञ्च, बिल्व, मुष्टि, आम्र तथा चतुर्थिका । तथा "षोडशी" भी एक पर्याय है । दो पल का १ प्रसृत मान होता है , दो प्रसृत की अञ्जलि (नामक मान) होती है (उस के पर्याय हैं—कुडव, अर्द्ध शरावक तथा अष्टमान) । दो कुडव की १ मानिका होती है (उसके पर्याय शराव, शरावक तथा अष्टपल) । आढक के पर्याय हैं—भाजन तथा कंस (तथा चतुःषष्टि पल इस में ६४ पल होते हैं) द्रोण के पर्याय हैं—कुम्भ, घट तथा अर्मण (और कलश, उन्मन, उन्मान, नल्वण तथा राशि) ।

१०० पल की १ तुला होती है । और २ सहस्र पल का १ भार होता है ॥

वक्तव्य—और २ द्रोण का एक शूर्प होता है । दो शूर्प की १ द्रोणी होती है । उसके पर्याय हैं—वाह तथा गोणी । ४ द्रोणी की १ खारी होती है और वह ४०९६ पल की होती है । धरण नामक मान पल का दसवाँ भाग होता है । मान का वर्णन च. क. अ. १२ में तथा सु. चि. अ. ३१ में देखिये । यह सब प्राचीन काल का मान है जो आयुर्वेदीय औषध निर्माण आदि में प्रयुक्त होता है । सामान्यतः कर्ष १ तोला के समान मान लिया जाता है, माषक उसका सोलहवाँ भाग । और पल आदि उसी के अनुसार मान लिये जाते हैं । त्रसरेणु-वंशी वह धूलिकण है जो सर्वदा वायु मण्डल में उड़ता रहता है और अंधेरे घर के भीतर जब झरोखा में से सूर्य की किरण पहुँचती है तब उड़ता हुआ दिखाई पड़ता है ॥२५-२८॥

औषध भूमि—

हिमवद्विन्ध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा ।
सौम्यं पथ्यं च तत्राऽऽद्यमाग्नेयं वैन्ध्यमौषधम् ॥२९॥

व्याख्या—समस्त भूमि (भूमण्डल-भूगोल) प्रायः—हिमवान् (हिमालय) तथा विन्ध्य नामक पर्वतों से व्याप्त है । उन में—हिमवान् की औषध शीतवीर्य एवं पथ्य होती हैं और विन्ध्य की औषध आग्नेय (उष्ण वीर्य) होती है तथा प्राणी के लिये हिमालय की औषधों के समान पथ्य नहीं होती ।

वक्तव्य—च. सू. अ, २५ पाठ ४०—हिमवान् औषध-भूमीनाम् । तथा च. चि. अ. १ पाद ३—

ओषधीनां परं भूमिः हिमवान् शैलसत्तमः ॥१८॥

अर्थात् ओषधियों की भूमि में हिमालय सर्वश्रेष्ठ है । भूमण्डल सामान्यतः दो भागों में विभक्त है । १—शीतकटि-

बन्ध और २—उष्ण कटिबन्ध । प्राणी शीतसात्म्य होते हैं और विशेषतः शीतकटिबन्ध में सुखी, दीर्घायु एवं कार्यक्षम रहते हैं । जहाँ अति शीत अथवा अति उष्ण रहता है वहाँ प्राणियों (मानवादि तथा औषध-वृक्ष) की उत्पत्ति ही नहीं होती । अल्पशीतोष्ण भूप्रदेशों में प्राणियों की उत्पत्ति अधिक होती है । जहाँ मानव की उत्पत्ति होती है हाँ औषधि की उत्पत्ति भी होती है अतः जहाँ मानव का निवास होता है वहाँ की औषध देशसात्म्य के अनुसार उस के लिये सात्म्य होती हैं अतः—अन्येष्वपि प्ररोहन्ति वनेषूपवनेषु च । शा. सं. । श्री शाङ्गंधराचार्य ने कहा है कि—अन्यान्य वनों एवं उपवनों में भी जो औषध उत्पन्न होती हैं उनका ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ २६ ॥

इति अष्टाङ्गहृदये कल्पसिद्धिस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं पंचमं कल्पसिद्धिस्थानम् ॥ ५ ॥

अष्टाङ्गहृदये-उत्तरस्थानम्

—:****:—

प्रथमोऽध्याय

अथाऽतो बालोपचरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब बालोपचरणीय (बालोपचार वाले अध्याय की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—बालोपचार का वर्णन—च. शा. अ ८ में, सु शा. अ १० में और अ. सं. उ. अ. १ में देखिये ।

जन्म के अनन्तर उल्ब-शोधन आदि उपचार—

जातमात्रं विशोध्योल्वाद् बालं सैन्धवसर्पिषा ।
प्रसूतिक्लेशितं चानु बलातैलेन सेचयेत् ॥१॥
अश्मनोर्वादनं चास्य कर्णमूले समाचरेत् ।
अथास्य दक्षिणे कर्णे मन्त्रमुच्चारयेदिमम् ॥२॥
"अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदां शतम् ॥३॥
शतायुः शतवर्षोऽसि दीर्घमायुरवाप्नुहि ।
नक्षत्राणि दिशो रात्रिरहश्च त्वाभिरक्षतु ॥४॥

व्याख्या—जन्मते ही बालक की उल्ब (ओल-अपरा) को सैन्धव लवण के सूक्ष्म चूर्ण से मिश्रित घृत द्वारा दूर कर देवे, तदनन्तर प्रसूति-जन्मकाल के कष्टों से क्लिष्ट बालक को बला तैल से सिञ्चित-अभ्यक्त करे। जब वह कुछ-कुछ स्वस्थ हो जाय तब उसके कर्णों के समीप दो पत्थरों को टक्-टक् बजावे, यदि इतने पर भी वह चेष्टाहीन रहे तो उसके कर्ण में अङ्गादङ्गादित्यादि मंत्र का उच्चारण करे —

अर्थात्—"हे बालक तू मेरे अङ्ग-अङ्ग से निर्मित हुआ है, हृदय से प्रादुर्भूत हुआ है, आत्मा (मेरा शरीर एवं चेतना धातु) ही पुत्र नाम में उत्पन्न हुआ है। वह तू सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रह । और तू शतायुः होकर—सौ वर्ष की लम्बी आयु प्राप्त कर, नक्षत्र, दिशा, रात्रि तथा दिन सावधान होकर तुम्हारी रक्षा करें।" इस मन्त्र का उच्चारण जनक (बाप) करे ।

वक्तव्य—अथ खलु जातमात्रमेव बालमुल्बात् सैन्धवसर्पिषा विशोधयेत् । ततोऽस्यातिप्रबलमोहज्वरपरीतसर्वगात्रस्य क्रोशितुमपि रुजा अनुरूपमसमर्थस्य अनवस्थिताऽशेषदेहधातोरसम्भाव्ययौवनाद्यवस्थस्य क्रकचमिव करक्षसनशयनसंस्पर्शं मन्यमानस्याविकल्पितमङ्गानि विक्षिपतः पुनरिव मरणमनुभवतो लीयमानसंज्ञस्य अतिसम्बाधयोनिपुटाऽवपीडितप्राणप्रत्यानयनाय बलातैलेन परिषेकं कुर्यात् । कर्णमूले च अश्मनोः संघट्टनं (कुर्यात्) यदि वा अचेष्ट एव स्यात् ततः कृष्णकपालिकाशूर्पेण च एवमभिनिष्पुणीयुः, दक्षिणकर्णमूले च मन्त्रमस्य उच्चारयेत् । अङ्गादङ्गात्—अभिरक्षतु । प्रत्यागतप्राणस्य च प्रकृतिभूतस्य नाभिनालं मूलात् चतुरङ्गुलस्य ऊर्ध्वं क्षौमसूत्रेण बध्वा तीक्ष्णेन शस्त्रेण वर्धयेत् (छेदयेत्) ।

भावार्थ—जन्म लेते समय बालक को अत्यन्त क्लेश होता है; क्लेश के कारण वह भली-भाँति रोने में असमर्थ रहता है, शरीर के सब धातु अव्यवस्थित होते हैं, प्रतीत होता है कि जीवित नहीं रहेगा, उस समय वह हाथों के वस्त्रों के तथा शयन के स्पर्श को भी आरी के समान दुःखदायी मान रहा होता है, अव्यवस्थित रूप से हाथ पांव पटकता है, पुनः मृत्यु का सा अनुभव करता है संज्ञाहीन सा हो जाता है और अत्यन्त संकुचित भग मार्ग से निकलते समय उसके प्राण पीड़ित हो जाते हैं उनको पुनः लाने के लिये बलातैल से सेचन करे। फिर भी यदि चेष्टाहीन रहे तो पाषाणवादन, मन्त्रोच्चारण, सूप से वीजन करे और शीत अथवा कोष्ण जल के मुख पर छींटे देवे। यह सब तब तक करे जब तक श्वास लेने लग जाय। स्वस्थ होने पर नाल-छेदन करे। अ. सं. उ.अ. १। जन्मते ही बालक आयँ-आयँ करने लगता है यदि न करे तो उक्त उपाय करने की आवश्यकता होती है। बहुधा प्रसूता परिचारिका एवं दाई समयानुसार सब कार्य कर लेती है ॥१-४॥

नालछेदन एवं स्नान—

स्वस्थीभूतस्य नाभिं च सूत्रेण चतुरङ्गुलात् ।
बद्धोर्ध्वं वर्धयित्वा च ग्रीवायामवसञ्जयेत् ॥ ५ ॥
नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत्स्नपयेदनु ।
क्षीरिवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा ॥ ६ ॥
कोष्णेन तप्तरजत-तपनीयनिमज्जनैः ।

व्याख्या—जब बालक पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाय तब उसकी नाभि को चार अंगुल अथवा आठ अंगुल पर रेशमी सूत्र (डोरा) बाँधकर ऊपर से तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा काट देवे और अवशिष्ट सूत्र से बंधी नाल को बन्धन सूत्र से ग्रीवा में लटका देवे। और नाभि एवं नाल पर कूट के योग से सिद्ध तैल लगा देवे और प्रतिदिन लगाता रहे। इसके पश्चात्—बट आदि क्षीरी वृक्षों के छाल के क्वाथ से अथवा सर्वगन्धगण की औषधियों के क्वाथ से अथवा सन्तप्त रजत एवं स्वर्ण बुझा कर किये गये कोसे जल से नहला देवे ॥

वक्तव्य—यदि गर्भ के साथ ही अपरा बाहिर निकल जाती है तो उक्त प्रकार से नाल छेदन किया जाता है परन्तु यदि नहीं निकलती हो तो नाल पर दो बन्धन लगाए जाते हैं और दोनों बन्धनों के मध्य भाग में छेदन किया जाता है। बन्धन बांधने से नाल में से रक्त स्राव नहीं हो पाता जो माता की ओर से बालक में और बालक की ओर से माता में जाता आता रहता है। इसके पश्चात् अपरा स्वयं गिर जाती है अथवा उपायों द्वारा गिरा दी जाती है। ५-७ दिन में बालक की नाभि से भी नाल स्वतः उखड़ कर गिर जाती है ॥ ५-६ ॥

स्नेह पिचु आदि उपचार—

ततो दक्षिणतर्जन्या तालून्नम्याऽवगुण्ठयेत् ॥ ७ ॥
शिरसि स्नेहपिचुना प्राश्यं चास्य प्रयोजयेत् ।
हरेणुमात्रं मेधायुर्बलार्थमभिमन्त्रितम् ॥ ८ ॥
ऐन्द्रीब्राह्मीवचाशङ्खपुष्पीकल्कं घृतं मधु ।
चामीकर-वचा-ब्राह्मी-ताप्य-पथ्या-रजीकृताः ॥ ९ ॥
लिह्यान्मधुघृतोपेता हेमधात्रीरजोऽथवा ।
गर्भाम्भः सैन्धववता सर्पिषा वामयेत्ततः ॥ १० ॥
प्राजापत्येन विधिना जातकर्माणि कारयेत् ।

व्याख्या—तत्पश्चात् - दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली का नख उतार कर, अंगुली पर स्वच्छ रूई का पिचु लपेट कर बालक की जीभ, कण्ठ तथा ओठों को धीरे २ स्वच्छ करके और उसी अंगुली से तालु को उठा कर, सिर पर स्नेह पिचु भर कर ढंक देवे (शीत काल में तैल तथा उष्ण काल में नवनीत का पिचु धरे)। इस कर्म के पश्चात् निम्नलिखित किसी एक प्राश (अवलेह) का प्रयोग करे—चटावे—उसकी मात्रा १ हरेणु परिमित (मटर भर) होनी चाहिये, उसके प्रयोग से मेधा, आयु एवं बल की वृद्धि होती है; चटाने के पूर्व उस प्राश को कुश के साथ पूर्वोक्त 'अङ्गादङ्गा' आदि मन्त्र से अभिमन्त्रित कर लेना चाहिये। प्राशयोग—ऐन्द्री, ब्राह्मी, बालवच तथा शंखपुष्पी का कल्क, घृत एवं मधु अथवा सुवर्ण भस्म, बालवच ब्राह्मी, स्वर्ण माक्षिक भस्म तथा हरड़ का सूक्ष्म चूर्ण घृत एवं मधु में मिलाकर अथवा स्वर्ण भस्म एवं आमला का चूर्ण—घृत एवं मधु में मिलाकर चटावे। जीभ पर लगा देवे। तत्पश्चात्—सैन्धव लवण युक्त घृत चटा कर गर्भोदक का वमन करा देवे। इस प्रकार बालक के कण्ठ एवं उरस् की शुद्धि हो जाने पर लघुता एवं रुचि उत्पन्न हो जाती है। इन सब उपचारों के पश्चात्—गृह्य सूत्रों की विधि से जात कर्म, नाम करण आदि संस्कार करे ॥

वक्तव्य स्नेह पिचु का धारण वर्ष-दो वर्ष पर्यन्त करते रहना चाहिये। बला तैल का सेचन-अभ्यङ्ग भी उसी प्रकार करते रहना चाहिये, प्राशों का लेहन भी यथा सम्भव अधिक से अधिक दिन करते रहना चाहिये। ऐन्द्री अर्थात् इन्द्र वारुणी—इन्द्रायण की जड़। सुवर्ण को घिस कर अथवा उसके सूक्ष्म पत्र (वर्ग) अथवा भस्म देना चाहिये। उन प्राशों के सेवन से बालक शीघ्र बोलने लगता है—वाक् शुद्धि हो जाती है। नाभिनाल प्रायः तीन, पांच अथवा सात दिन में स्वतः गिर जाती है। इसके पूर्व उसे स्नेह के अभ्यङ्ग से स्निग्ध रखना चाहिये और टूटने से बचाना चाहिये। एतदर्थ उसे ग्रीवा में सूत्र द्वारा बांध रखना चाहिये अथवा उस पर स्वच्छ रूई रख कर पट्टी बांधनी चाहिये टूट जाने से नाभि पर व्रण आदि विकृतियां हो जाती हैं। यदि कदाचित् गर्भावरण गर्भाशय में ही फट जाने के कारण गर्भोदक बालक के मुख द्वारा उदर में चला जाता है तो जन्मोत्तर स्वतः वमन होने लगता है जो एक दो बार होता है अथवा १-२ दिन कई बार होता रहता है। यदि वमन न हो तो गुड़ एवं अजवायन का क्वाथ पिलाया जाता है। और यदि उसके मुख में गर्भोदक नहीं जाता तो वमन नहीं होता और वमन कराने की भी आवश्यकता नहीं होती। उल्व विशोधन—नवजात शिशु के शरीर पर श्लेष्मा जैसा पिच्छिल पदार्थ चिपका रहता है उसे लवण मिश्रित घृत अथवा तैल मल कर उतार देना चाहिये। और उसके मुख एवं नासा को स्वच्छ कर देना चाहिये। कर्ण के समीप मन्त्रोच्चारण—इसका भिन्न २ रूप सभी देशों, जातियों सम्प्रदायों एवं गृहस्थों में होता है। जन्मोत्तर घर में गाना-बजाना आदि इसी कर्म के रूपान्तर हैं। स्नानार्थ जल को कोष्ण करने के लिये चान्दी अथवा सोना के किसी भांति भूषण का उपयोग होता है अथवा ताम्र आदि किसी

धातुमय भाण्ड में उष्ण कर लिया जाता है। तालु का उन्नमन—मुख स्वच्छ करते समय—तालु को (मुख तालु को) अंगुली से कुछ ऊपर की ओर दबा दिया जाता है। जातकर्म—देश, जाति, सम्प्रदाय एवं कुल की परम्परा के अनुसार किया जाता है। इसी प्रकार नालच्छेदन भी देशादि की परम्परानुसार—घोड़ा की पूंछ के बाल, चाकू, कैंची, बांस की छाल अथवा सोना चान्दी आदि के शस्त्र द्वारा किया जाता है ॥७-१०॥

स्तन्य प्रवृत्ति—

सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात्प्रसूतितः ॥ ११ ॥
तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते।

व्याख्या—हृदय से सम्बद्ध सिराओं का मुख खुलने से स्तन्य की प्रवृत्ति होती है और वह प्रसव से तीसरे अथवा चौथे दिन होती है।

वक्तव्य—किसी २ को ८ प्रहर के पश्चात् भी स्तन्याऽवतरण होता है और इस समय प्रायः प्रसूता को थोड़ा बहुत ज्वर हो जाता है जो १—२ दिन में शान्त भी हो जाता है।

स्तन्याऽवतरणे चैव ज्वरो दोषैः प्रवर्तते। सू. उ. अ. ३९। और हृदयस्थ सिराओं द्वारा स्तनों में प्राप्त रस। रक्त मिश्रित रस से स्तन्य की उत्पत्ति होती है और वह स्तन्य अपत्य (पुत्र, पौत्र, दौहित्र अर्थात् पुत्र एवं पुत्री की सन्तान) के स्पर्श से, देखने से, स्मरण करने से अथवा गोद लेने से प्रवृत्त होता है और—सु. नि. अ. १०

स्नेहो निरंतरस्तत्र प्रसवे हेतुः उच्यते। २३।

अर्थात्—निरन्तर-छलरहित-सच्चा स्नेह-प्रेम ही स्तन्य के अवतरण में हेतु है। अतएव अनेकों नारियों का स्तन्य दूसरियों के सन्तान के लिये भी उतरने लगता है ॥११॥

स्तन्याऽवतरण के पूर्व शिशु का आहार—

प्रथमे दिवसे तस्मात् त्रिकालं मधुसर्पिषी ॥ १२ ॥
अनन्तामिश्रिते मन्त्रपाविते प्राशयेच्छिशुम्।
द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं तृतीये च घृतं ततः ॥ १३ ॥
प्राङ्निषिद्धस्तनस्यास्य तत्पाणितलसम्मितम्।
स्तन्यानुपानं द्वौ कालौ नवनीतं प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥

व्याख्या—उक्त तीन चार दिन पर्यन्त स्तन्य (मातृदुग्ध) का अभाव होने के कारण प्रथम दिन स्वर्ण मिश्रित मधु एवं घृत का लेह मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बालक को तीन बार (दिन भर में तीन बार) चटा देवे। दूसरे दिन लक्ष्मणा के योग से सिद्ध घृत चटावे, और तीसरे दिन भी लक्ष्मणा के योग से सिद्ध घृत चटावें। इसके पश्चात् जब तक स्तन्यावतरण न हो। अथवा जननी किसी कारण से दूध पिलाने योग्य न हो तथा धात्री का प्रबन्ध न हो। तब तक—एक कर्ष परिमित नवनीत दोनों समय चटावे और स्तन्यावतरण होने पर भी नवनीत चटाना चाहिये और साथ २ स्तन्यपान भी करना चाहिये।

वक्तव्य—आज कल देखा जाता है कि गुड़ एवं अजवायन को जल में पकाकर कोमल वस्त्र की बत्ती द्वारा चुसाया जाता है। स्वर्ण चौथाई रत्ती से १ रत्ती की मात्रा में दिया जा सकता है और मधु एवं घृत १ तोला।

अन्यान्य उपचार—अ. सं. उ. अ. १—

अहरहश्चास्य स्रोतः शृङ्गाटकं स्नेहाऽऽप्लुतेन पिचुना प्रच्छादयेत्, प्राक्शिरसं च एनं क्षौमनिचये संवेशयेत् उच्छीर्षके चाऽस्य अभिमन्त्रितम् उदककुम्भं स्थापयेत् द्वारपक्षयोश्च, अदारी विदारी बदरी खदिर पीलु बिम्ब परूषकशाखाभिः एनं बीजयेत्, ताभिश्च समन्ततः सूतिकाऽऽगारं परिवारयेत्, सर्षपाः कणिकाः च अन्तर्बहिः प्रकिरेत्, सायं प्रातः च बलिं, ग्रहोक्तैः गुग्गुल्वादिभिः धूमं कुर्वीत, तथा ब्राह्मणात् अथर्ववेदो दशाहं शान्तिकर्म आर्यां महामायूरीं आर्यं रत्नकेतुचारिणीं च उभयकालं वाचयेत्, हिंगु वचाऽरुष्कररक्षोघ्नैः पोटलिकमुत्तरदेहल्यामासज्जेत्, कुमारस्य च सह मातुः कण्ठे उच्छीर्षके च, तद्वत् आर्यपर्णीं शतावरी आर्याऽपराजितां च रोचनाऽभिलिखितां द्वारे च, देहली मनुतिर्यक् मुशलं निधापयेत्, कणकण्टकतिनुकेन्धनस्य अग्निः नक्तंदिनं जागृयात्, तथा अनुरक्ताः स्त्रियः सुहृदश्च प्रहृष्टजनसम्पूर्णं च तद् वेश्म कार्यम्। इसी प्रकार का पाठ चरक सु० शा० अ. ८ में है देखिये पाठ ५१। अदारी शब्द के स्थान में चरक में आदनी पाठ है और चक्रपाणि ने उसका अर्थ घोषक भेद बतलाया है। और इसी प्रकार का पाठ सु. शा अ. १० में है।

अर्थात्—प्रतिदिन नासा में स्नेह लगाये शिर पर स्नेह पिचु रखे. रेशमी अथवा मृदु वस्त्रों की गद्दी पर, पूर्व की ओर शिर करके लेटावे—सुलावे, सिरहाने तथा द्वार के दोनों ओर अभिमन्त्रित जलपूर्ण कलशों का स्थापन करे, अदारी, विदारी, बेर, खैर, पीलु, निम्ब अथवा फालसा की टहनियों से वायु करे, उन्हीं को घर के सब ओर टांग देवे—वन्दनवार बना कर लटका देवे, घर के भीतर एवं बाहिर सरसों एवं चावलों की कणियां बिखेर देवे, प्रातः सायं बलि देवे तथा गूगल आदि ग्रहनाशक द्रव्यों की धूप देवे, अथर्ववेदवेत्ता ब्राह्मणों द्वारा शान्तिकर्म करावे, दोनों समय आर्या महा मायूरी एवं आर्या रत्नकेतु चारिणी देवियों के स्तोत्रों का पाठ करावे, हींग,बालवच,भिलावा तथा पीली सरसोंआदि ग्रहशामक द्रव्यों की पोटलियां बनाकर द्वार के ऊपर वाली देहली (पञ्जाब में उसे "सरदल" कहते हैं) पर लटका देवे और शिशु एवं

प्रसूता के गले में पहना देवे, सर्वदा कण कण्टक एवं तिन्दुक के इन्धन की अग्नि सूतिका गृह में प्रज्वलित रहे। अनुरागवती, तथा सहृदय नारियां जागरण करें, प्रसन्न मन वाले जनों से समस्त घर परिपूर्ण रहे। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—निरन्तर दान, मङ्गल, आशीष, स्तुति, गीत, वादन होती रहे तथा उत्तम कोटि के अन्न एवं पान (भोजन) तैयार होते रहें और हवन आदि शुभ कार्य होते रहें। यह सब कार्य कुमार एवं सूतिका के कल्याणार्थ १० अथवा १२ दिन पर्यन्त होते रहे।

प्रसूता के उपचार शा. स्था. अ. १ में देखिये ॥१२-१४॥

शिशु के लिये दुग्ध व्यवस्था—

मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये ।
स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पदि वत्सले ॥ १५ ॥
अव्यङ्गे ब्रह्मचारिण्यौ वर्णप्रकृतितः समे ।
नीरुजे मध्यवयसौ जीवद्वत्से न लोलुपे ॥ १६ ॥
हिताहारविहारेण यत्नादुपचरेच्च ते ।

व्याख्या—यथा सम्भव बालक जननी का ही दूध पीवे क्योंकि वह दूध बालक की पुष्टि के लिये सर्वश्रेष्ठ होता है। यदि किसी कारण से जननी का दूध उपलब्ध न हो तो दो स्तन्य धात्रियों का प्रबन्ध करे जो वत्सला अर्थात् स्नेह करने वाली हों, विकलाङ्गी न हों, ब्रह्मचारिणी हों (स्वाध्यायशीला पढ़ी लिखी—समझदार—बुद्धिमती हों), वर्ण एवं स्वभाव (कर्म) में शिशु के—शिशु कुल के समान हों, स्वस्थ—नीरोग हों, मध्यम वयस् वाली हों (बाला अथवा वृद्धा न हों), उनकी अपनी सन्तान जीवित हों (मृतवत्सा न हो), तथा लोभिन—लालची न हो। वे दोनों पुष्टिकारक आहार-विहार द्वारा प्रयत्न पूर्वक उस शिशु का उपचार—देखभाल पालन पोषण करती रहें।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १—

अथाऽस्य समानवर्णा, मध्यमवयाः, शुचिः (पवित्र रहने वाली), अलोलुपा, निभृता (पुष्ट एवं विनीत), अनातुरा (नीरोग), जीवद्वत्सा, वत्सला, ब्रह्मचारिणी, अव्यङ्गा बहुक्षरी (पर्याप्त दूधवाली), शुक्लाम्बराऽऽचारा (श्वेत स्वच्छ वस्त्रों वाली तथा शुद्ध आचरण वाली), दीर्घह्रस्वाऽऽदिदेहदोषाऽष्टकरहिता, लम्बोर्ध्वचूचुकाऽतिहीनपीनस्तन दोषरहिता युक्तचूचुका धात्री (धाय) स्यात् तस्या एव (उसी का—अन्य स्त्री का नहीं) स्तन्यं पिबेत्। दीर्घह्रस्वादि —मानव शरीर के आठ दोष—च. सू. अ. २१ — १—अति दीर्घ (लम्बा), २—अतिह्रस्व (नाटा—वामन), ३—अति लोमा (अधिक लोमों वाली), ४—अलोमा (लोमरहित), ५—अतिकृष्ण, ६—अतिगौर, ७—अतिस्थूल तथा ८—अतिकृश। ३। इन ८ दोषों से रहित धात्री का चुनाव करे।

स्तनसम्पत्—च. शा. अ. ८—

न अति ऊर्ध्वौ न अति लम्बौ अनतिकृशौ अनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति स्तनसम्पत्। ५७। जिसके स्तन—अत्यन्त ऊँचे, अत्यन्त लम्बे, अत्यन्त कृश, अत्यन्त पीन न हों तथा उपयुक्त चूचुक वाले हों और सुखपूर्वक पीने योग्य हों—शिशु को स्तन्य पान करने में क्लेश न हो उस धात्री का चुनाव करे। एक ही धात्री का दूध चुंवाना चाहिये जिस-किसी का नहीं। बड़े मानव के लिये भी एक ही गौ, भैंस अथवा बकरी का दूध अधिक उपयोगी—सात्म्य होता है अतएव घर में गोपालना उत्तम समझा जाता है। श्री वाग्भट ने दो धात्री करने का उपदेश इसलिये किया है कि यदि एक धात्री दूध पिलाने योग्य न रहे तो दूसरी पिलावे और प्रायः एक जननी का दूध एक ही शिशु के पीने भर होना है और धात्री अपने शिशु को भी दूध पिलाती रहती है अतः दो धात्रियाँ रखना आवश्यक है जिससे शिशु को उचित मात्रा में दूध मिलता रहे। दूध शुद्ध होना-रहना चाहिये उसकी परीक्षा —उ. अ. २ के श्लो० ३–४–५ देखिये और उसकी शुद्धि के उपाय श्लो० १० से २५ देखिये ॥१५-१६॥

स्तन्य नाश तथा स्तन्य वृद्धि—

शुक्-क्रोध-लङ्घनाऽऽयासाः स्तन्यनाशस्य हेतवः ॥१७॥
स्तन्यस्य सीधुवर्ज्यानि मद्यान्यानूपजा रसाः ।
क्षीरं क्षीरिण्यऔषध्यः शोकादीनां विपर्ययः ॥ १८ ॥

व्याख्या—शोक, क्रोध, उपवास एवं परिश्रम से स्तन्य का (अल्पता—सर्वनाश) हो जाता है। और सीधु के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के मद्यों का पान सूअर आदि अनूप देशीय मांस रसों का पान, दुग्ध एवं दुग्धवर्द्धक औषधियों का विधिपूर्वक सेवन और शोक एवं क्रोध आदि का परित्याग एवं हर्ष प्रसाद, पुष्टिकारक आहार एवं विश्राम-आराम का सेवन करने से दुग्ध की वृद्धि होती है।१७-१८।

रोग कारक दूध—

विरुद्धाहारभुक्तायाः क्षुधितायाः विचेतसः ।
प्रदुष्टधातोर्गर्भिण्याः स्तन्यं रोगकरं शिशोः ॥ १९ ॥

व्याख्या—विरोधी आहार खाने वाली, भूखी, विकृत चित्त वाली, दूषित रक्तादि धातुओं वाली तथा गर्भवती का दूध—शिशु के शरीर में रोग उत्पन्न कर देता है। १९।

उक्त स्तन्य के अभाव में—

स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् ।
ह्रस्वेन पञ्चमूलेन स्थिरया वा सितायुतम् ॥ २० ॥

व्याख्या—जननी अथवा धात्री का दूध न मिलने पर बकरी अथवा गौ का शुद्ध दूध पिलाना चाहिये अथवा शालपर्णी आदि लघु पञ्चमूल के द्रव्यों के अथवा

केवल शालपर्णी के योग से सिद्ध दूध पिलाना चाहिये। उसमें खण्ड मिला लेनी चाहिये।

वक्तव्य—दुग्ध पिलाने की विधि—अ. सं. उ. अ.—अथ च धात्री, स्नाता, अनुलिप्ता, नित्यमहतवासाः सुमनाः सुपुत्राः स्थापनीवधीः शिरसा बिभ्राणा प्राङ्मुखी स्तनं प्राक् दक्षिणं धौतमीषत् परिस्रुतं पाययेत्। नानास्तनस्य हि असात्म्यत्वात् नानाविधव्यापदो भवन्ति, अपरिस्रुते च अतिस्तन्यपूर्णस्तनपानेन वास्नेहनात् कासश्वासज्वरछर्दिषां सम्भवः। न अजीर्णौषधं च बालं पाययेत्।

अर्थात्—धात्री प्रतिदिन स्नान एवं शरीर पर अनुलेपन करे, अच्छे वस्त्र पहिने जो फटे पुराने न हों, प्रसन्न मन वाली सुखी सन्तान वाली, ऐन्द्री (च. शा. अ ८—६२) आदि औषधियों को शिर पर धारण किये, पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठकर, बालक को गोद में लेकर पहिले दाहिना स्तन पिलावे और पिलाने से पूर्व स्तन को धो देवे और थोड़ा चुवा देवे। अनेकों का दूध असात्म्य होने से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। चुआए विना स्तन्य पान करने से—अधिक दुग्धपूर्ण फलतः स्तब्ध स्तन पीने से कण्ठ गल में स्नेहन—पूरण होने के कारण—कास श्वास ज्वर अथवा छर्दि की उत्पत्ति हो सकती है। और यदि शिशु को कोई औषध दी गई हो तो जब तक औषध पच न जाय तब तक स्तन्य पान न करावे ॥२०॥

षष्ठी (छठी) विधान—

षष्ठीं निशां विशेषेण कृतरक्षाबलिक्रियाः।
जागृयुर्बान्धवास्तत्र दधतः परमां मुदम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—जन्म से छठी रात्रि में—घर वाले तथा बान्धव—विशेष रूप से रक्षा कर्म, बलिदान आदि शुभ कर्म करें और रात्रि भर जागरण करें तथा आमोद-प्रमोद करते रहें। २१।

सूतिकोत्थान एवं नामकरण

दशमे दिवसे पूर्णे विधिभिः स्वकुलोचितैः।
कारयेत्सूतिकोत्थानं नाम बालस्य चार्चितम् ॥ २२ ॥
बिभ्रतोऽङ्गैर्मनोह्वाऽऽलरोचनाऽगुरुचन्दनम्।
नक्षत्रदेवतायुक्तं बान्धवं वा समाक्षरम् ॥ २३ ॥

व्याख्या—दशवां व्यतीत होने पर, अपने २ कुल की विधि के (कुल परम्परानुसार—कुलाचारों के अनुसार) अनुसार सूतिका का उत्थान (सूतिकागार से निष्क्रमण) करावे और बालक का नामकरण करे। बालक का नाम—प्रशस्त—कुल एवं जाति तथा देश के अनुकूल रखना चाहिये, जिस अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र में जन्म हुआ हो उसके देवता (अक्षर) से युक्त नाम हो—जिसमें जन्म हो वह अक्षर नाम के पूर्व हो, कुल के किसी पूर्वज के नाम पर हो तथा सम (२, ४) अक्षरों वाला नाम हो। तीन—पांच अक्षरों वाला नहीं। नामकरण के समय बालक के शरीर पर मैंनसिल, हरिताल, गोरोचन अगुरु तथा चन्दन का धारण किया हुआ हो।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १—

दशमे द्वादशे वाऽह्नि गोत्रोच्चारैः शुभैः शुभे।
सूती स्नानोत्सवं कुर्यात् पिताऽपत्यस्य नाम च।
दिने शततमे वाऽऽथवा पूर्णे सम्वत्सरेऽथवा।
बिभ्रतोऽङ्गं मनोह्वाल रोचना गुरुचन्दनम्।
पूज्य त्रिपुरुषाऽनूकं आदौ घोषवदक्षरम्।
अवृद्धं कृतमूष्मान्त मनऽरातिप्रतिष्ठितम्।
नक्षत्रदेवता युक्तक्तं तदेव नतु केवलम्।
मङ्गल्यमन्तरन्तःस्थं न दुष्टं न च तद्धितम्।
पुंसो विसर्जनीयान्तमसवर्णं स्त्रियाः पुनः।
विषमाऽक्षरमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोरमम्।
सुखोत्थं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाऽभिधानवत्।

अर्थात्—दशवें अथवा बारहवें दिन "सूतिका स्नानोत्सव करे (इसी का नाम सूतिकोत्थान) है। उक्त दिन शुभ हो तथा उस दिन गोत्रोच्चारण किया जाय अथच कुलाचार किये जायं। और उसी दिन अथवा सौवें दिन अथवा १ वर्ष पूर्ण होने पर "नाम करण" संस्कार करे। नाम—विगत तीन पीढ़ी के किसी पूज्य-मान्य पुरुष के अनुकूल हो, नाम के आदि में घोष अर्थात् घ, झ, ढ, ध तथा भ नामक अक्षरों में से कोई अक्षर हो, लम्बा नाम न हो, दो अथवा चार अक्षर वाला हो अन्त में ऊष्म अर्थात् श, ष, स, तथा ह नामक अक्षरों में से कोई अक्षर हो, शत्रु के नाम वाला न हो, निन्दित नाम न हो, नक्षत्र के अक्षर से युक्त हो, एक ही नाम न हो अर्थात् एक जन्म नाम हो और दूसरा अभीष्ट नाम हो, शुभ नाम हो, मध्य में अन्तःस्थ अर्थात् य, र, ल अथवा व अक्षर हो, दुष्ट नाम न हो और तद्धित प्रत्यय लगा हुआ नाम न हो जैसे गाणपत (गणपति का अपत्य) आदि। और बालक का नाम विसर्जनीयान्त—जिसके अन्त में विसर्ग हो, समान वर्णों—अक्षरोंवाला न हो और बालिका का नाम विषम (३—५—७) अक्षरों वाला हो, क्रूर न हो स्पष्ट अर्थवाला तथा मनोहर हो, सुख पूर्वक उच्चारण करने योग्य हो, अन्त में (आ, ई, ऊ ए, ऐ, ओ औ) दीर्घ अक्षर हो तथा आशीर्वादात्मक नाम हो। नक्षत्र देवता—नक्षत्रों के अधिदेवता-देखिये श्लोक २४ का वक्तव्य।

आयु की परीक्षा

ततः प्रकृतिभेदोक्तरूपैरायुःपरीक्षणम्।
प्रागुदक्शिरसः कुर्याद्बालस्य ज्ञानवान् भिषक् ॥ २४ ॥

व्याख्या—नामकरण संस्कार के अनन्तर—बुद्धिमान् चिकित्सक—प्रकृतिभेद (शा. अ. ३) में वर्णित लक्षणों

को देख भाल कर आयु की परीक्षा करे और उस समय बालक—बालिका को पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर शिर करके लेटा देना चाहिये।

वक्तव्य—चरक शा. ८ में नामकरण संस्कार हो जाने के अनन्तर ज्ञानार्थ परीक्षा का विधान किया गया है। देखिए पाठ ५५ ॥२४॥

शिशु के शय्या आदि—

शुचिधौतोपधानानि निर्बलीनि मृदूनि च।
शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च॥ २५॥

व्याख्या—शिशु के उपधान (उपबर्ह-उपबर्हण-सिर सिरहाना-तकिया) स्वच्छ धुले हुए रहने चाहिये, वलीक (सिलवट) रहित तथा मृदु कोमल रहना चाहिये और शय्या, बिस्तर तथा अन्यान्य वस्त्र—स्वच्छ, धुले हुए, वलीक रहित, मृदु तथा गुग्गुलु आदि रक्षोघ्न धूपों से सुधूपित रहने चाहिये॥

वक्तव्य—उपधान शब्द के स्थान में "उपवान" पाठान्तर भी है अर्थात् सूखे। और च. शा. अ. ८ का पाठ अधिक विशद है यथा—शयनाऽऽसनाऽऽस्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदु लघु शुचि सुगन्धीनि स्युः। स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः। असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः॥ ६४॥

अर्थात्—शिशु के शय्या, आसन, बिस्तर एवं प्रावरण (ओढने का वस्त्र)—मृदु, लघु स्वच्छ तथा सुगन्धित हों। स्वेद मल जूंए आदि जन्तु, मूत्र एवं पुरीष से युक्त शय्या आदि का त्याग कर देवे, यदि त्याग न किया जा सके तो उन्हीं को भली भाँति धोकर, धूप देकर, सुगन्धित करके एवं सुखाकर उपयोग में लाया जाय।

कुमारागार—अ. सं. उ. अ. १—

प्रशस्तवास्तुशरणं सज्जोपकरणं शुचि।
निवातं च प्रवातं च वृद्धस्त्रीवैद्यसेवितम्।
निर्मत्कुणाऽऽखुमशकं अतमस्कं च शस्यते।

अर्थात्—घर भर का प्रशस्त शरण अर्थात् घर (एक कोष्ठ कमरा), जिसमें सब आवश्यक वस्तुएँ सज्जित—प्रस्तुत हों जो पवित्र—स्वच्छ हों, वायु रहित हो परन्तु एक देश वायु युक्त हो, जहाँ वृद्धा एवं बहुशः प्रसूता स्त्रियाँ उपस्थित हों—समय २ पर आ जा बैठ सकती हों तथा वैद्य आ जा तथा बैठ सकता हो. जहाँ खटमल, मशक एवं मच्छर न हों तथा अन्धकार न हो। विशेष देखिये च.शा.अ.८ पाठ—६३। नक्षत्र देवता—अश्विन्याः—अश्विनौ, भरण्याः—यमः। कृत्तिकानामग्निः, रोहिण्याः प्रजापतिः, मृगशिरसो मृगाङ्कः (चन्द्रः) आर्द्रायाः रुद्रः, पुनर्वसूनां अदितिः। पुष्यस्य बृहस्पतिः, अश्लेषाया; सर्पाः, मघानां पितरः, पूर्वाफाल्गुनीनां भगः, उत्तराफाल्गुनीनां अर्यमा, हस्तस्य मैत्रः, चित्रायाः त्वष्टा, स्वात्या वायुः, विशाखाया इन्द्राग्नी, अनुराधाया मैत्रः, ज्येष्ठाया इन्द्रः, मूलस्य निर्ऋतिः, पूर्वाषाढाया आपः, उत्तराषाढाया विश्वेदेवाः श्रवणस्य विष्णुः, धनिष्ठाया वसवः, शतभिषजो वरुणः, पूर्वाभाद्रपदानां अजैकपात्, उत्तराभाद्रपदानाम् अहिर्बुध्न्यः, रेवत्या पूषा। इन देवताओं से युक्त नाम रखना चाहिये॥२५॥

धूपन द्रव्य—

काको विशस्तः शस्तश्च धूपने त्रिवृतान्वितः।

व्याख्या—शिशु के शय्या आदि के धूपन के लिये—मारा हुआ काक (अथवा कङ्क) पक्षी, त्रिवृत् मिलाकर प्रशस्त होता है।

वक्तव्य—अ सं. उ. अ. १—

वचाद्यकुष्ठश्रीवेष्टसर्षपैः धूपयेत् सदा।

अर्थात्—वचादि गण (सू. अ. १५), सुगन्धी कूठ, गन्धा बिरोजा तथा सरसों की धूप सर्वदा देवे। और—च. शा. अ. ८—

धूपनानि पुनः वाससां शयनाऽऽस्तरणप्रावरणानां च यव। सर्षप अतसी हिंगु गुग्गुलु वचा चोरक वयःस्था गोलोमी जटिला पलङ्कषा(लोबान), अशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि (केंचुली) घृतसिक्तानि स्युः।

धारण योग्य मणि एवं औषधी—

जीवत्खड्गादिशृङ्गोत्थान् सदा बालः शुभान् मणीन्॥२६
धारयेदौषधीः श्रेष्ठा ब्राह्मैन्द्रीजीवकादिकाः।
हस्ताभ्यां ग्रीवया मूर्ध्ना विशेषात्सततं वचाम्॥ २७॥
आयुर्मेधास्मृतिस्वास्थ्यकरीं रक्षोऽभिरक्षिणीम्।

व्याख्या—जीवित खड्ग (गैंडा) रुरु (मृग विशेष) गवय (नीलगाय) तथा बैल के दाहने सींगो के अग्रभाग को काटकर बनाई गई सुन्दर—कल्याणकारी मणियों (मनिकों) का तथा ब्राह्मी इन्द्रायण एव जीवक ऋषभक आदि श्रेष्ठ औषधियों का विशेषतः बालवच का—हाथों ग्रीवा तथा शिर पर सर्वदा धारण करना चाहिये। इनके धारण से विशेषतः बालवच के धारण से—आयुः, मेधा, स्मृति तथा स्वास्थ्य की वृद्धि होती है॥ २७॥

वक्तव्य—बालकों के क्रीडनक (खिलौने) अ.सं.उ.अ.१—

जातुषं घोषवत् चित्रमत्रासं रमणं बृहत्।
अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादि मंगल्यमथवा फलम्।

अर्थात्—खिलौने—लाख के हों, ध्वनिवाले (छुन छुने—बजने वाले) हों, विचित्र हों, भयावने न हों, सुन्दर हों, बड़े २ (जो मुख नासा आदि में न जा सके) हों, तीखे न हों, गौ एवं घोड़ा, हाथी तथा हरिण आदि मंगल रूप प्राणियों की आकृति के हों अथवा आम आदि फलों के आकार वाले हों।

खेलने का भूमि—

क्रीडाभूमिः समा कार्या निःशस्त्रोपलशर्करा
विल्वोषणकणाऽभीभिः सिक्ता निम्बोदकेन वा।

अर्थात्—क्रीडा भूमि—समतल हो, उसमें से लोहकण्टक पाषाण एवं कंकड़ निकाल दिये जायँ और वहाँ विल की जड़ का, मरिच का, पीपल का अथवा निम्ब की छाल का कषाय छिड़क दिया जाया करे जिस बालक मिट्टी खाना न सीख जाय।

कुमारधार—

अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः।
कुमारधारः कर्तव्यः तत्राऽऽद्यो बालचित्तवित्।
अधार्मिकं दुराचारः स्थूलो विकटगामिनम्।
करोति लोलुपो बालं भस्मरस्वेन रोगिणम्।

अर्थात्—बालक को खेलाने—देखभाल करने वाला "कुमारधार" कहलाता है और वह—अभियुक्त (एक ही हो तब तक जब तक बालक की देखभाल की आवश्यकता हो अर्थात् स्थिर-स्थायी हो), सदाचारी हो, अत्यन्त स्थूल न हो और लोलुप—लालची न हो। अभियुक्त—बालक की चित्त वृत्तियों का ज्ञाता हो जाता है, दुराचारी कुमार धार बालक को अधार्मिक बना देता है। अति स्थूल कुमार धार बालक को विकटगामी बना देता है अर्थात् अतिस्थूल के साथ रहने से बालक विकल गति वाला हो जाता है और लोलुप के साथ रहने से बालक अधिक खाने लगता है और रोगी हो जाता है।

बहिर्निष्क्रमण—

चतुर्थे सूतिकाऽऽगारात् अग्निस्कन्दपुरोगमात्।
मासे निष्क्रामयेत् देवान् नमस्कर्तुं स्वलंकृतम्।

अर्थात्—जन्म से चौथे मास में बालक को सूतिकागार से बाहिर ले जाय और उस समय उसके आगे २ अग्नि ले जाय और अलंकार—भूषण तथा वस्त्र पहना कर देव दर्शनार्थं ले जाय ॥२६-२७॥

उपवेशन एवं अन्न प्राशन—

पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि धरण्यामुपवेशयेत् ॥ २८ ॥
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत्।

व्याख्या—पांचवें मास में किसी शुभ दिन (वार, तिथि, नक्षत्र, करण एवं मुहूर्त) में शिशु को भूमिपर बैठाना प्रारम्भ करे (इससे पूर्व—शय्या एवं गोद में रहना चाहिये, शक्तिमान् होने पर बैठना प्रारम्भ करे, उस समय शिशु स्वतः बैठना चाहता है। छठे मास में क्रमशः थोड़ा २ अन्नप्राशन का प्रयोग करे। अन्नप्राशन भी शुभ दिन देख कर प्रारम्भ करना चाहिये।

वक्तव्य—अन्य उपचार—अ. सं. उ. अ. १—

बोधयेत् सहसा सुप्तं नो, नचैनं समुत्क्षिपेत्।
यथा ह्यस्य समुत्त्रासो वेगरोधश्च जायते।
माक्षिकाऽऽमलकव्योष बृहतीमूलसैन्धवैः।
श्लेष्माऽपनोदरुच्यर्थं मुखमन्तः परामृशेत्।
स्तन्यदोषात् गदाः तस्य यथोक्तं तत् पिबेदतः।
पीनोऽति कन्धराभंगं कुर्यात् ऊर्ध्वोऽक्षमूर्ध्वगः।
उच्छ्वासाऽवरोधात् लम्बोऽतिस्तनौ जीवितसंशयम्
न गर्भिण्याःपिबेत् स्तन्यं पारिगर्भिककृत् हि तत्।
स्तन्याभावे पयः छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्।
मूलैः सिद्धं बृहत्याद्यैः स्थिराभ्यां वा सितायुतम्।
पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि धरण्यामुपवेशयेत्।
द्विकिष्कुमात्रं लिप्तायां बलिं दत्वा चतुर्दिशम्।
धरणि ! अशेषभूतानां मातात्वमसि कामधुक्।
अजरा चाऽप्रमेया च सर्वभूतनमस्कृता।
चराचराणां लोकानां प्रतिष्ठाऽस्यव्ययाऽसि च।
कुमारं पाहि मातेव ब्रह्मा तदनुमन्यताम्।
स्वाहा इति मन्त्रेणाऽनेन प्रत्यहं च ततः परम्।
साश्रयं सावलम्बं च कटचादीन् मर्दयेत् अनु।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात् तत् च प्रयोजयेत्।
चिरात् निषेवमाणोऽन्नं बालोनातुर्यम् श्रुवे।
भजेत् यथा यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा।

अर्थात्—सोए हुए शिशु को सहसा न जगावे, उसे उछाले भी नहीं ऐसा करने से उसे त्रास होता है और पुरीष मूत्र आदि के वेगों का रोध हो सकता है। श्लेष्मा के शमन एवं निःसरण के लिये और रुचि की उत्पत्ति के लिये—आमला, सोंठ, मरिच, पीपल, वनभण्टा की जड़ तथा सैन्धव लवण का चूर्ण मुख के अन्दर लगावे। जननी अथवा धात्री के दूध के दोष से शिशु के शरीर में अनेक रोग हो सकते हैं अतः उनके दूध की परीक्षा करता रहे तथा शिशु शुद्धदूध ही पीवे। स्तन दोषों से भी हानि होती है यथा पीन स्तन शिशु की ग्रीवा पर दवाव डालते हैं, ऊंचे स्तन के कारण शिशु के नेत्र ऊँचे हो जाते हैं लम्बे स्तन शिशु का श्वास रोक देते हैं जिससे मृत्यु भी हो सकती है। गर्भवती का दूध भी नहीं पीवे उससे पारिगर्भिक रोग हो जाता है। जननी अथवा धात्री का दूध न मिलने पर बकरी अथवा गौ का दूध पीवे और उसे भी लघु पञ्चमूल अथवा शालपर्णी एवं पृष्ठ पर्णी के प्रयोग से सिद्ध करके तथा खंड मिलाकर पीवे। पञ्चम मास में शिशु को भूमि पर बिठाना प्रारभ करे विधि यह है—दो हाथ परिमित भूमि को गोबर मिट्टी से लीप कर और चारों दिशाओं में वलियां देकर और—"धरणि स्वाहा" इस मन्त्र का उच्चारण करके उपबर्ह आदि का आश्रय लगाकर और हाथों का सहारा देकर विठावे और इसके पश्चात् उसकी कटि आदि

का मर्दन करे। ऐसा प्रतिदिन तब तक करे जब तक बैठने में पूर्ण रूप से समर्थ न हो जाय। मन्त्र का अर्थ—हे धरणी देवी ! तू सब प्राणियों की माता है, सब कामनाओं की दाता है, अजरा है, अनन्ता है, चराचर का आश्रय है और व्यथा रहित है, सब तुमको नमस्कार करते हैं अतः माता के समान शिशु की रक्षा कर। एतदर्थं ब्रह्मा तुमको अनुमति दे। छठे मास में अन्नप्राशन का प्रारम्भ करे अथवा इसके पश्चात् क्योंकि जितना ही विलम्ब से अन्न का सेवन करता है बालक उतना ही निरोग रहता है जैसे २ अन्न का सेवन बढ़ता जाय वैसे २ स्तन्य पान घटता रहे।

भगवान् धन्वतरि के शब्दों में – सु. शा. अ, १०— बालं पुनः गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेत् वित्रासभयात्, सहसा नापहरेत् (उठावे-छीन कर लेवे) उत्क्षिपेत् वा वातादिघातभयात्, नोपवेशयेत्कौब्ज्य भयात् (जब तक स्वयं बैठने में समर्थ न हो तब तक न बैठावे), नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैः अजिघांसु, एवं अविहतमनाः हि अभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्वसम्पन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाः च भवति। वातातपविद्युत् प्रभापादपलताशून्याऽऽगारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत्

नाशुचौ विसृजेत् बालं नाकाशे विषमे न च।
न ऊष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु न। ४७।
क्षीर सात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथाऽपि वा।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेः बालानां वीक्ष्य मात्रया। २८।

कर्णवेध–संस्कार

षट्सप्तमाष्टमासेषु नीरुजस्य शुभेऽहनि ॥ २९ ॥
कर्णौ हिमागमे विध्येद्धात्र्यङ्कस्थस्य सान्त्वयन्।
प्रागदक्षिणं कुमारस्य भिषग्वामं तु योषितः ॥ ३० ॥
दक्षिणेन दधत्सूचीं पालिमन्येन पाणिना।
मध्यतः कर्णपीठस्य किंचिद्गण्डाश्रयं प्रति ॥३१॥
जरायुमात्रप्रच्छन्ने रविरश्म्यवभासिते।
धृतस्य निश्चलं सम्यगलक्तकरसाङ्किते ॥ ३२ ॥
विध्येद्दैवकृते छिद्रे सकृदेवर्जु लाघवात्।
नोर्ध्वं न पार्श्वतो नाधः सिरास्तत्र हि संश्रिताः ॥३३॥
कालिका मर्मरी रक्ता तद्व्यधाद्रागरुग्ज्वराः
सशोफदाहसंरम्भमन्यास्तम्भाऽपतानकाः ॥ ३४ ॥
तेषां यथामयं कुर्याद्भिषज्याशु चिकित्सितम्।
स्थाने व्यधान्न रुधिरं न रुग्रागादिसम्भवः ॥ ३५ ॥
स्नेहाक्तं सूच्यनुस्यूतं सूत्रं चानु निधापयेत्।
आमे तैलेन सिञ्चेच्च बहलां तद्वदारया ॥ ३६ ॥
विध्येत्पालीं हितभुजः सञ्चार्याथ स्थवीयसी
वर्तिस्त्र्यहा ... वो रूढं वर्धयेत शनैः शनैः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—रक्षा एवं भूषण धारण के निमित्त शिशु के कर्ण वेधे जाते हैं और छठे, सातवें आठवें मास में, शीत काल के प्रारम्भ में स्वस्थ शिशु के कर्ण, शुक्ल पक्ष में, प्रशस्त - तिथि, करण, मुहूर्त एवं नक्षत्र वाले शुभ दिन में वेधना चाहिये और शिशु को धात्री की गोद में बैठा— लेटाकर सान्त्वना देते हुये बालक का दाहिना और बालिका का बायां कर्ण पहिले वेधना चाहिये (फिर दूसरा) चिकित्सक दाहिने हाथ में सूची पकड़े और बायें हाथ से कर्ण पाली को पकड़े। और शिशु को खिलोनों से परचा कर तत्काल—सूची से सीधा वेध कर देवे। वेध—कर्ण के दैवकृत छिद्र में करे, दैवकृत छिद्र—जरायु मात्र से ढंका रहता है उसमें से सूर्य का प्रकाश अवभासित होता है और वह छिद्र—कर्ण पीठ (कर्ण शष्कुली – बाह्य कर्ण) के मध्य भाग में रहता है और गण्डस्थल के कुछ ऊपर (पेपड़ी) में भी रहता है वेध के पूर्व उस छिद्रस्थल पर अलक्तक का बिन्दु लगाकर चिह्न बना लेना चाहिये। उस समय शिशु के शिर हाथों एवं पाँवों की भली भांति पकड़ रखना चाहिये जिससे वह हिले नहीं। वेध एक बारगी शीघ्रता पूर्वक करना चाहिये—बार २ एवं धीरे २ नहीं। दैवकृत छिद्र के ऊपर, समीप एवं नीचे वेध न करे क्योंकि वहां कालिका (सिरा) मर्मरी (मर्मरिका अर्थात् स्नायु —वात नाड़िया) तथा रक्ता (लोहितिका—धमनी—शुद्ध रक्त वाहिनी) नामक सिरा रहती हैं। उनका वेध हो जाने से—राग (लालिमा), वेदना, ज्वर, शोथ, दाह, संरम्भ, मन्या स्तम्भ एवं अपतानक (अपतन्त्रक) आदि उपद्रव हो सकते हैं। इन उपद्रवों की रोगानुसार तत्काल चिकित्सा करे। दैवकृत छिद्र पर वेध होने से न रक्त स्राव होता है और न वेदना एवं राग आदि उपद्रव ही होते हैं। इस प्रकार उचित वेध के पश्चात् सूची में पिरोया गया सूत्र, स्नेह में भिगोकर छिद्र में डाल कर एक ढीली सी ग्रन्थि लगा देवे और आम तैल (कोल्हू का कच्चा तैल) सर्वदा उस पर लगाना—चुपड़ना चाहिये। छोटा वेध सूची से करे और बड़ा वेध आरा नामक शस्त्र से करे (जैसे नाथ सम्प्रदाय में किया जाता है)। इसके पश्चात् हित आहार विहार का आदेश—उपदेश दे देवे। तीन २ दिन के पश्चात् उस छिद्र में मोटी बत्ती देते जाना चाहिये और आम तैल लगाते रहना चाहिये। जब छिद्र के व्रण का भली भांति रोपण हो जाय तब उसमें निम्ब की अनुशाखा के तिलक के डाल २ कर आवश्यकतानुसार उस छिद्र को बड़ा कर लेना चाहिये।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १—

स्वेदितोद्वर्तितं कर्णमध्यकं गृह्णीत पुनः

नाऽजीर्णेन मलोद्रेके न चाऽत्युष्णे विवर्द्धयेत् ।
सदा च युञ्ज्यात् अभ्यंगान् कर्णपालीगदोदितान् ।
पुष्टिनीरुक्त्ववननान् इति संवर्धिते पुनः ।
कलधौताऽवबद्धानि कर्णे रत्नानि निक्षिपेत् ।

अर्थात्—कर्णछिद्र का वर्द्धन—स्वेदन, उबटन तथा बृंहण स्नेहों का अभ्यंग करते २ करना चाहिये । जिस समय अजीर्ण हो, मलों का उद्रेचन हो अथवा अत्यन्त उष्ण काल हो उस समय छिद्र का वर्द्धन नहीं करना चाहिये । वर्द्धन के लिये सर्वदा कर्णपाली के रोगों के लिये बतलाए गये स्नेहों का अभ्यंग करना चाहिये उनसे कर्ण की पुष्टि भी होती है और रोग-वेदना की शान्ति भी होती है । इस प्रकार कर्णछिद्र बढ़ जाने पर कलधौत अर्थात् शुद्ध स्वर्ण अथवा शुद्ध रजत में जड़े गये रत्नों का भूषण पहना देवे । रत्न-जटित कर्णभूषण पहिनावे ।

दुष्ट वेध—

जिह्मसूचीव्यधात् वर्त्तेः गाढत्वादथवा मलैः ।
जाते महति संरम्भे वर्त्तिमाश्वपनीय तत् ।
यवैरण्डजटायष्टिमञ्जिष्ठाऽऽद्यैः प्रलेपयेत् ।
सुदृढं च पुनः विध्येत्, त्वरया तु विवर्द्धनात् ।
छिद्येत पालीं शुद्धस्य शुद्धाऽस्रां सन्दधीत ताम् ।
कर्णामयनिषेधोक्तसन्धानविधिना भिषक् ।

अर्थात्—टेढ़ी-मेढी अथवा अप्रशस्त सूई के द्वारा वेधने से अथवा मोटी कठोर वर्ति देने से अथवा वातादि दोषों के प्रकोप से यदि महान् संरम्भ (क्लेश) उत्पन्न हो जाय तो उस वर्त्ति को तत्काल निकाल देवे और विद्ध व्रण पर—जौ, एरण्डमूल, मुलेठी एवं मञ्जीठ आदि रोपण (रक्त शामक) द्रव्यों का लेप करे । इस प्रकार जब पाली दृढ हो जाय तब पुनः पूर्वोक्त विधि से वेध करे । छिद्रको अति शीघ्रता पूर्वक बढ़ाने से पाली फट जाती है । इस दशा में—कर्णरोगप्रतिषेधाऽध्याय (उ. अ. १८) में कही गई विधि से उसका सन्धान कर देवे परन्तु शिशु का शोधन एवं उसके रक्त का शोधन करके सन्धान करे अन्यथा पाक प्रारम्भ हो जाता है । शेष देखिये सु. सू. अ. १६ । कर्ण पाली में अनेक दैव कृत छिद्र होते हैं अतः स्त्रियों के कर्णों में अनेक छिद्र किये गये देखे जाते हैं । नासा वेध—कर्ण वेध के समान नासापुट एवं नासाप्राचीर में भी वेध किया जाता है । वहाँ भी कर्ण के समान दैव कृत छिद्र होता है । नासा में भी रक्षा एवं भूषण के निमित्त वेध किया जाता है (कर्ण वेध देखिये सु. सू. अ. १६) ॥१९-३७॥

स्तन्य-पान से निरोध—

अथैनं जातदशनं क्रमेणापनयेत् स्तनात्।
पूर्वोक्तं योजयेत्क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम् ॥ ३८ ॥
प्रियालमज्जा-मधुक-मधु-लाजा-सितोपलैः ।
अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकं शिशोः ॥ ३९ ॥
दीपनो वालबिल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः ।
सङ्ग्राही धातकीपुष्प-शर्करालाजतर्पणैः ॥४०॥

व्याख्या—जब दन्त उत्पन्न हो जायँ तब स्तन्य पान से धीरे २ रोकना चाहिये और पूर्वोक्त बकरी अथवा गौ का दूध एवं लघु तथा पुष्टिकारक अन्न में वृद्धि करते जाना चाहिये । स्तन पान छोड़ देने पर—चिरोंजी की मज्जा, मुलैठी मधु, लावा तथा मिश्री के संयोग से बनाया गया मोदक—शिशु की तृप्ति के लिये प्रयोग में लाना चाहिये । अग्नि दीपन के लिये—बिलगिरी, बड़ी इलायची, खण्ड तथा लावा के सत्तू का मोदक देना चाहिये । यदि पुरीष पतला आता हो तो धायके फूल, खण्ड एवं लावा के सत्तू का घोल पिलाना चाहिये ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १—

कुर्यात् अपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः ।
बीभत्सैः यावकासेककृत्रिमक्षतदर्शनैः ।
बुभुक्षा चेत् प्रबलतामपस्तन्यस्य गच्छति ।
अत्यग्निजित् हितं तस्य विधानं पारिगर्भिकम् ।
वर्षं स्ववसतेः बाह्यं कुमारस्य न दर्शयेत् ।
दीपमातपमग्निं च रूपमन्यच्च भासुरम् ।

अर्थात्—शिशु का स्तन्यपान स्नेह पूर्वक छुड़ावे (झिड़क कर अथवा मारपीट कर नहीं) अथवा—ग्लानिजनक लेप सेक—सेचन लगा कर अथवा कृत्रिम क्षत-व्रण-घाव दिखाकर छुडावे । कोई २ शिशु सरलता से स्तन्य पान नही छोड़ते उस दशा में उक्त उपायों से छुड़ावे । स्तन्य पान छोड़ने पर यदि भूख बढ़ जाय तो तीक्ष्णाग्नि चिकित्सा एवं पारिगर्भिक रोग की चिकित्सा करे । एक वर्ष पर्यन्त शिशु को ग्राम से बाहिर न ले जाय और अधिक समय तक दीपक (अधिक प्रकाश वाला दीपक), तेज धूप, तेज अग्नि तथा चमकीले रूप न दिखावे । तेल का दीपक देखने से हानि नहीं होती और शिशु सर्व प्रथम केवल तैल दीपक को टकटकी लगा कर देखता है फिर चन्द्रमा को ॥ ३८-४० ॥

अन्यान्य संकेत—

रोगांश्चास्य जयेत्सौम्यैर्भेषजैरविषादकैः ।
अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेर्विरेकं सुतरां त्यजेत् ॥ ४१ ॥
त्रासयेन्नाविधेयं तं त्रस्तं गृह्णन्ति हि ग्रहाः ।
वस्त्रवातात्परस्पर्शात् पालयेल्लङ्घिताच्च तम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—शिशु के रोगों की चिकित्सा—सौम्य (शांत वीर्य) तथा मधुर मृदु, लघु, सुगन्धित एवं कल्याणकारी औषधों द्वारा करे । और अत्यन्त आवश्यकता के बिना विरेक—वमन विरेचन न करे । यदि शिशु रार कर रहा हो तो भी उसे डराना—झिड़कना नहीं चाहिये क्योंकि डरे हुए शिशु को ग्रहावेश हो जाता है : उसे वस्त्र की वायु न करे

खरदरा स्पर्श न करे (खरदरे बिस्तर आदि पर न लेटावे) और उपवास से बचावे—भूखा न रहने दे ।। ४१-४२ ।।

ब्राह्मी घृत—

ब्राह्मयादिघृतम्

ब्राह्मी-सिद्धार्थक-वचा-सारिवा-कुष्ठ-सैन्धवैः
सकणैः साधितं पीतं वाङ्मेधास्मृतिकृद्घृतम् ।। ४३ ।।
आयुष्यं पाप्मरक्षोघ्नं भूतोन्मादनिबर्हणम् ।

व्याख्या—ब्राह्मी, पीली सरसों, बालवच, सारिवा, कूठ, सैन्धव लवण तथा पीपल के योग से सिद्ध घृत—वाक् शक्ति, मेधा, स्मृति तथा आयुः को बढ़ाता है, पाप (अपराध प्रवृत्ति), भूतावेश तथा भूतोन्माद को नष्ट करता है । ४३ ।

अष्टाङ्ग घृत—

वचेन्दुलेखामण्डूकी-शङ्खपुष्पीशतावरीः ।। ४४ ।।
ब्रह्मासोमामृताब्राह्मीः कल्कीकृत्य पलांशिकाः ।
अष्टाङ्गं विपचेत्सर्पिः प्रस्थं क्षीरं चतुर्गुणं ।। ४५ ।।
तत्पीतं धन्यमायुष्यं वाङ्मेधास्मृतिबुद्धिकृत् ।

व्याख्या—बालवच, वाकुची, मण्डूकपर्णी, शंख पुष्पी शतावर, विधारा, गिलोय तथा ब्राह्मी का कल्क १-१ पल गो घृत १ प्रस्थ, गो दुग्ध ४ प्रस्थ मिलाकर पाक करे । यह सिद्ध घृत "अष्टांग" कहलाता है । यह घृत—धन्य है, आयुवर्द्धक है , वाक् शक्ति, मेधा, स्मृति तथा बुद्धि को बढ़ाता है ।। ४४-४५ ।।

सारस्वत घृत —

अजाक्षीराभयाव्योष-पाठोग्राशिग्रुसैन्धवैः ।। ४६ ।।
सिद्धं सारस्वतं सर्पिर्वाङ्मेधास्मृतिवह्निकृत् ।

व्याख्या—बकरी का दूध (४ प्रस्थ), हरड़, सोंठ मरिच, पीपल, पाठा, बालवच, सहजन की छाल एवं सैन्धव लवण का कल्क (चौथाई प्रस्थ) तथा घृत (१ प्रस्थ) मिलाकर सिद्ध किया गया घृत "सारस्वत" घृत कहलाता है । यह घृत—वाक् शक्ति, मेधा, स्मृति तथा अग्नि को बढ़ाता है । ४६ ।

वचादि घृत—

वचाऽमृताशठीपथ्याशंखिनीवेल्लनागरैः ।। ४७ ।।
अपामार्गेण च घृतं साधितं पूर्ववद्गुणैः ।

व्याख्या—बालवच, गिलोय, कचूर, हरड़, शंखपुष्पी, विडंग, सोंठ तथा अपामार्ग के योग से सिद्ध घृत भी सारस्वत घृत के समान गुणोंवाला होता है । ४७ ।

चार योग—

हेम श्वेतवचा कुष्ठम् अर्कपुष्पी सकाञ्चना ।। ४८ ।।
हेम मत्स्याक्षकः शङ्खः कैडर्यः कनकं वचा ।
चत्वार एते पादोक्ताः प्राश्या मधुघृतप्लुताः ।। ४९ ।।
वर्षं लीढा वपुर्मेधा-बलवर्णकराः शुभाः ।

व्याख्या—१—स्वर्ण, श्वेतवच (बालवच) तथा सुगंधी कूठ, २—स्वर्ण तथा अर्कपुष्पी, ३—स्वर्ण, मछेछी तथा शंख भस्म तथा ४—कायफल, स्वर्ण तथा बालवच । ये ४ योग पृथक् २ (इन में से कोई एक) लेकर तथा घृत एवं मधु में मिलाकर १ वर्ष प्रतिदिन चटावे । ये योग—शरीर, मेधा, बल तथा कान्ति बढ़ाते हैं और सब प्रकार से कल्याणकारी हैं ।। ४८-४९ ।

वाक् शुद्धिकर योग —

वचा-यष्टयाह्व-सिन्धूत्थाभया-नागर-दीप्यकैः ।। ५० ।।
शुद्धयते वाग्घविलीढैः सकुष्ठकणजीरकैः ।। ५१ ।।

व्याख्या—बालवच, मुलेठी, सेंधव लवण, हरड़, सोंठ, अजवायन कूठ, पीपल तथा जीरा का चूर्ण-मधु एवं घृत में मिलाकर चटाने से वाणी शुद्ध हो जाती है—मिन्मिनत्व एवं गद्गदत्व आदि वाणी के विकार नष्ट हो जाते हैं ।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १—

शक्तिमन्तं यथावर्णं विद्यामध्यापयेत् ततः ।
अनुशिष्यात् सदा चैनं धर्माय विनयाय च ।
यथा नेन्द्रिय दुष्टाश्वैः ह्रियते यौवनागमे ।
अभ्यङ्गोद्वर्त्तनं स्नानं प्रत्यहं च समाचरेत् ।
नित्यं मृद्भक्षणात् रक्षेत् तथा स्युः नियतं गदाः ।
पाण्डुत्वश्वयथुश्वासकसातिसारजन्तवः ।
छर्दिमूर्च्छाऽग्निसदनस्तन्यद्वेषाः सरुग्भ्रमाः ।
भक्षयेत् दन्तधवनं नाऽऽस्यदृढबन्धनः ।
तस्य तत् वदने क्रुद्धः कुर्यात् दन्तामयान् बहून् ।
शूरायुधिभिः गुप्तमधृष्यं नगरं परैः ।
यथा शिशोः वपुः तद्वत् यथोक्तैः विधिभिः ग्रहैः ।

अर्थात्—पढ़ने—कुछ सीखने योग्य शक्ति आ जाने पर —वर्ण (ब्राह्मणादि वर्ण) के अनुसार विद्या —वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, शस्त्रविद्या, व्यापार, कला कौशल, पशुपालन एवं अन्यान्य सेवा धर्म—कर्म कौशल का अध्ययन —अभ्यास करावे । और सर्वदा उसे धर्म विषयक एवं विनय विषयक शिक्षा देवे जिससे यौवन आने पर इन्द्रियों के विषयों का व्यसनी न हो जाय ।

प्रतिदिन—अभ्यंग, उबटन तथा स्नान करावे । और मिट्टी खाने के व्यसन से सदा रक्षा करनी चाहिये क्योंकि—उससे—पाण्डुरोग, शोथ, श्वास, कास, अतिसार, क्रिमि, छर्दि, मूर्छा, मन्दाग्नि, स्तन्यद्वेष (अरुचि) ज्वर आदि रोग अथवा भ्रम आदि रोग अवश्य हो जाते हैं । जब तक दन्त सुदृढ़ न हो जावें काष्ठ की दतवन नहीं करे [illegible] उस

से मुख में खरोश आदि उपद्रव हो सकते हैं। शिशु का पालन पोषण ऐसे नगर में होना चाहिये जो डाकुओं एवं शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षित हो—जहाँ वे आक्रमण न कर सकें। जैसे २ शिशु का शरीर बड़ा होता जाय वैसे २ उसका सब प्रकार से ध्यान रखना चाहिये।

सु. शा. अ. ८—

एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेः धर्मार्थकौशलाऽऽगमनाच्चानुपालयेत् ।७। अर्थात् इस प्रकार यौवनप्राप्ति पर्यन्त और अथवा धर्म, अर्थ एवं कौशल की प्राप्ति पर्यन्त इस बालक का पालन पोषण करना चाहिये और फिर तो वह स्वयं अपने तथा दूसरों के पालन पोषण में समर्थ हो जाता है।

सु. शा. अ. १०—

शक्तिमन्तं चैनं यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ।५२। अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्, पित्र्य धर्मं अर्थं कामं प्रजाः प्राप्स्यति इति ।५३।

ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।

यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ।५६।

जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।

तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाऽऽधानं न कारयेत् ।५५। अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेण उपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत पुरुषस्याऽप्येवंविधस्य त एव दोषाः सम्भवन्ति ।५६।

अर्थात्—शक्तिमान् होने पर अपने वर्णानुसार विद्या ग्रहण करावे और २५ वर्ष का होने पर १६ वर्ष की लडकी से विवाह कर देवे जिससे पितृविषयक कर्म, धर्म, अर्थ काम (सुख) तथा प्रजा की प्राप्ति कर सके। २५ वर्ष से पूर्व पुमान् यदि १६ वर्ष से न्यून वयस वाली नारी में गर्भाधान करता है तो वह गर्भ गर्भाशय में ही मर जाता है, यदि जन्मता भी है तो चिरायु नहीं होता, चिरायुः होता है तो उसकी इन्द्रियाँ (शरीर एवं मनस्) दुर्बल होती हैं— वह निकम्मा जीवन भर निकम्मा बनकर जीता है। इसलिये अत्यन्त बाला नारी में कदापि गर्भाधान न करे।

अत्यन्त वृद्धा—अपने से बड़ी वयस् वाली में, दीर्घ रोग वाली में तथा उपदंश आदि रोगों वाली में भी गर्भाधान न करे। और इस प्रकार के— बड़ी वयस् वाले, दीर्घरोग वाले तथा उपदंश आदि रोगों वाले पुमान् भी गर्भाधान के योग्य—विवाह के योग्य नहीं होते।

दन्तोद्भेद—काश्यप संहिता सू. अ. २०—

अथातः दन्तजन्मिकमध्यायं व्याख्यास्यामः ।१।

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।२।

वृद्धजीवक उवाच—अथ खलु भगवन् ! देहिनां जातानां भवर्द्धमानानां कतिषु मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते, निषिक्ताश्च कियता कालेन मूर्तीभवन्ति, मूर्तीभूताश्च कदा उद्भिद्यन्ते, कानि च एषां पूर्वरूपाणि के च उपद्रवाः, कश्च एषामुपक्रमः किं च दन्तजन्म प्रशस्तमप्रशस्तं च किं, कस्मात् स्वामङ्गम् अभिवर्द्धमानं प्राणसंशयाय भवति. कियन्तः च दन्ताः, कति च एषां द्विजाः, कियता च कालेन पतन्ति, पतिता वा जायन्ते, दन्तसम्पद् असम्पद् च कीदृशी इति ।३।

अथ उवाच भगवान् कश्यपः—इह खलु नृणां द्वात्रिंशत् दन्ताः, तत्र अष्टौ सकृत्जाताः सुदृढ दन्ताः भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः। यावत्सु एव च मासेषु दन्ताः निषिच्यन्ते तावत्सु एव अहःसु उद्भिद्यन्ते। यावत्सु एव च मासेषु जातस्य सतः उद्भिद्यन्ते तावत्सु एव च वर्षेषु पतिताः पुनः उद्भिद्यन्ते। तत्र मध्ये द्वौ उत्तरौ राजदन्तसंज्ञौ भवतः तौ पवित्रौ तस्मात् ताभ्यां खण्डे न श्राद्धम् अर्हति अपवित्रो हि सः। तयोः उनयतः पार्श्वयोः बस्तौ तयोः अपि दष्ट्रू, शेषा स्वरुद्धा ज्ञातव्या इति च उच्यन्ते तथा अधस्तात् ।४।

तत्र कुमारीणामाशुतरमल्पाबाधकरं च दन्त जन्म, सुषिरत्वात् दंशानामृतुस्वभावात् च। प्रकृष्टकालमाबाधाबहुलं तु कुमाराणामाचक्षते, घनत्वात् दंशानां स्थिरस्वभावात् च। दन्तानां निषेकमूर्तित्व उद्भेद वृद्धि पतन पुनर्भाव निवृत्ति स्थिति परिक्षय चलन पतन दृढ दुर्बलता जाति विशेषात् निषेकात् स्वभावात् मातापित्रोः अनुकरणात् स्वकर्म विशेषात् च इत्याचक्षते महर्षयः, तथा अन्येऽपि शरीर वृद्धि ह्रास गुण दोष प्रादुर्भावाः ।५।

नृणां तु चतुर्थादिषु मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वम् उत्तर जन्म च विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिक दन्तता, करालदन्तता च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता च, अमङ्गल्या भवति। तत्र शान्त्यर्थम् मारुतींष्टिं निर्वपेत्, स्थालीपाकमनाहिताग्नेः प्राजापत्यामिष्टिं के, तथा अन्येषामपि स्वाङ्गोनाधिकभावेषु, तथा तद् घोरं प्रशाम्यति ।६।

चतुर्विधं तु दन्तजन्म आचक्षते-सामुद्गं, संवृतं, विवृतं, दन्तसम्पद् इति। तत्र सामुद्गं क्षयि नित्यसम्पातात्, संवृतं अधन्यं मलिछम्, विवृतं वीतम् अनित्यलालोपहतं असंछन्नदन्तत्वात् आशुदन्तवैवर्ण्यकरमासन्नाबाधमिति ।७।

चतुर्थे तु मासि दन्ता निषिक्ता दुर्बला भवन्ति आशु क्षयिणः च आमयबहुलाः च। पञ्चमे स्पन्दनाः च प्रहर्षिणः च, आमयबहुलाः च। षष्ठे प्रतीपाश्च मलग्राहिणश्च, विवर्णाश्च घुणदन्ताश्च भवन्ति। सप्तमे द्विपुटाः स्फोटिनश्च, राजिमन्तश्च, खण्डाश्च रूक्षाश्च विषमाश्च, उन्नताश्च भवन्ति। तथा अष्टमे मासि सर्वगुणसम्पन्नाः भवन्ति।

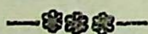
पूर्णता समता घनता शुक्लता स्निग्धता श्लक्ष्णता निर्मलता निरामयता किञ्चिदुत्तरोन्नतता दन्तबन्धनानां च समता

रक्तता स्निग्धता बृहद् घन स्थिर मूलता च इति दन्तसम्पद् उच्यते, हीनोल्बणसिताऽसिताऽप्रविभक्तदन्तबन्धनत्वमप्रशस्तं ऋषयो वदन्ति । तत् स्वभावात् दन्तोखलकेषु यत् शोणितं गर्भे निषिक्तं तं जातस्य देवतोऽभिवर्द्धमानस्य क्रमेण''''''।

खेद है कि इसके आगे के पाठ अनुपलब्ध हैं।

भावार्थ—मानव के ३२ दन्त होते हैं। उनमें जो दूध के दन्त कहे जाते हैं २४ होते हैं। ये ६-७-८ वर्ष की आयु में गिर कर पुनः उत्पन्न हो जाते हैं अतः ये "द्विज" अर्थात् द्विजन्मा कहलाते हैं और ८ दन्त एक ही बार उगते हैं और वे सुरूढ़ दन्त कहे जाते हैं ये वृद्धावस्था में गिरते हैं। जितने मास में दन्तोद्गम प्रारम्भ होता है उतने दिनों में दन्त दिखने लगते हैं। जितने मास में दन्त उगते हैं उतने वर्ष में दन्त गिर कर पुनः उग आते हैं। ऊपर एवं नीचे के मध्यम दो दो दन्त "राजदन्त" कहे जाते हैं। उनके दोनों पार्श्वके एक एक दन्त "बस्त" कहे जाते हैं। उनके पास के एक एक तीखे दन्त "दंष्ट्रा" कहे जाते हैं। और शेष बीस "हातव्य" (दाढ़) कहे जाते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के दन्त कुछ शीघ्र एवं सरलता से उग आते हैं। शरीर के आकार प्रकार के समान जाति, माता-पिता, स्वभाव एवं पूर्व जन्म कृत कर्म का प्रभाव दन्तों पर भी होता है। यथा अनेकों के दन्त माता अथवा पिता कैसे होते हैं आदि। चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम अथवा अष्टम मास में दन्त उगते हैं। प्रायः सप्तम एवं अष्टम मास में उगते हैं। अष्टम मास में दन्त उगना उत्तम माना जाता है। चतुर्थ मास में उगे दन्त—दुर्बल, शीघ्र टूटनेवाले होते हैं और उगते समय अधिक कष्ट होता है। और पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम मास में उगे दन्त भी बहुत अच्छे नहीं होते। दन्तसम्पत्—जो दन्त—पूर्ण, सम, घन, शुक्ल, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, निर्मल; निरोग तथा तीखे होते हैं वे उत्तम होते हैं। और दन्तवेष्ट भी सम, रक्त, स्निग्ध, महान्, घन एवं स्थिर उत्तम होते हैं।

इति अष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



द्वितीयोऽध्यायः—

बालामयप्रतिषेधः—

अथाऽतो बालाऽऽमयप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब बाल रोगों का वर्णन किया जायगा और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—बालरोगों का वर्णन—च. चि. अ. ३० सु. शा. अ. १०, नि. अ. १०, चि. अ. १७, अ. सं. उ. अ. २ में देखिये।

बाल के तीन प्रकार—

त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तनः।
स्वास्थ्यं ताभ्यामदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां रोगसम्भवः ॥१॥

व्याख्या—बालक तीन प्रकार का होता है—१. क्षीरवृत्ति—केवल दूध पीकर निर्वाह करनेवाला, २. अन्नवृत्ति—दूध के बिना भी केवल अन्न पर निर्वाह करनेवाला, तथा ३. उभयवृत्ति—दूध एवं अन्न पर निर्वाह करनेवाला—जब तक थोड़ा २ अन्न खाता है। यदि दूध एवं अन्न शुद्ध रहता है तो स्वास्थ्य बना रहता है और यदि वे अशुद्ध—दूषित रहते हैं तो रोग उत्पन्न हो जाते हैं—हो सकते हैं।

वक्तव्य—वयस्त्वाषोडशं बालम् (शा. अ. ३) अर्थात् १६ वर्ष तक "बाल" कहलाता है। इस वयस् में ६ मास पर्यन्त केवल दूध पर फिर २।३ वर्ष तक दूध एवं अन्न पर निर्वाह होता है इसके पश्चात् केवल अन्न से भी निर्वाह हो सकता है। तत्र बालमपरिपक्वधातु अजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलश्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षम् (च. वि. अ. ८-१२४)।

शुद्ध एवं अशुद्ध दूध—

यदद्भिरेकतां याति न च दोषैरधिष्ठितम्।
तद्विशुद्धं पयः, वाताद् दुष्टं तु प्लवतेऽम्भसि ॥ २ ॥
कषायं फेनिलं रूक्षं वर्चोमूत्रविबन्धकृत्।
पित्ताद् दुष्टाम्लकटुकं पीतराज्यप्सु दाहकृत् ॥ ३ ॥
कफात् सलवणं सान्द्रं जले मज्जति पिच्छिलम्।
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥ ४ ॥
यथास्वलिङ्गांस्तद्व्याधीन् जनयत्युपयोजितम्।

व्याख्या—जो दूध जल में डालते ही उसके साथ मिल जाता है और वातादि दोषों से व्याप्त नहीं रहता वह विशुद्ध होता है और उसके पान से स्वास्थ्य बना रहता है। वात दूषित दूध—जो दूध—जल पर तैरता है, कसैला, झागवाला तथा रूक्ष होता है और पुरीष एवं मूत्र का विबन्ध करता है वह "वातदुष्ट' होता है। पित्त दूषित दूध—उष्ण, अम्ल, कटु होता है तथा जल में डालने पर पीली राजियाँ दिखती हैं और दाहकारक होता है। धात्री के स्तनों में भी दाह होता है। कफ दूषित दूध—कुछ २ लवणरस युक्त, गाढ़ा, जल में डूबने वाला तथा पिच्छिल होता है। दो दो दोषों से दूषित दूध—दो दो के उक्त लक्षणों से युक्त होता है और त्रिदोष दूषित दूध—तीनों दोषों के लक्षणोंसे युक्त होता।

और उस दूषित दूध के पान से दोषानुसार रोगों की उत्पत्ति हो जाती है ॥ २-४॥

शिशु की वेदना की परीक्षा—

शिशोस्तीक्ष्णमभीक्ष्णं च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥ ५ ॥
सोऽयं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्रुजं मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥६॥
हृदि जिह्वौष्ठदशन-श्वासमुष्टिनिपीडितैः ।
कोष्ठे विबन्धवमथु-स्तनदंशान्त्रकूजनैः ॥७॥
आध्मानपृष्ठनमन-जठरोन्नमनैरपि
बस्तौ, गुह्ये च विण्मूत्रसङ्गत्रासदिगीक्षणैः ॥८॥

व्याख्या—शिशु की तीक्ष्ण अथवा अतीक्ष्ण वेदना को उस के तीक्ष्ण अथवा अतीक्ष्ण रोदन से जान लेना चाहिये। वह शिशु अपने शरीर के जिस अवयव का अधिक—बार २ स्पर्श करे अथवा जहाँ स्पर्श का सहन न करे वहाँ वेदना समझनी चाहिये। यदि नेत्र मीचता-मून्दता हो तो समझे कि उसके शिर में वेदना हो रही है। जीभ तथा ओठ का दशन कर रहा हो, श्वास हो तथा मुट्ठी बाँधता हो तो समझे कि हृदय एवं फुफ्फुस में वेदना हो रही है। पुरीष एवं मूत्र का निरोध हो, छर्दि हो, स्तन का दंशन करता हो तथा अन्त्र में कूजन हो तो समझे कि उसके कोष्ठ-उदर में वेदना हो रही है और अफरा हो, पीठ की ओर नमता हो तथा उदर को ऊँचा कर रहा हो तो भी समझे कि उदर में वेदना हो रही है। पुरीष एवं मूत्र की रुकावट हो, घबराहट हो तथा वह इधर-उधर देखता हो तो समझे कि वस्ति अथवा गुह्य स्थलों (गुद अथवा मूत्र मार्ग अथवा योनि में) वेदना हो रही है। और—सर्वत्र च स्वभावातिरिक्तरोदनेन मुख-विकूणनेन च। अर्थात्—स्वभाव से अधिक रोदन से तथा मुख विचकाने से सर्वत्र वेदना समझे॥

वक्तव्य—शिशु अपनी वेदना को बोल कर तो बतला नहीं सकता अतः चतुर चिकित्सक उक्त लक्षणों से उसकी वेदना को अनुमान से समझने का प्रयत्न करे। और प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यंग को भली भाँति देख कर कोई निश्चय करे॥ ५-८॥

धात्री की चिकित्सा—

अथ धात्र्याः क्रियां कुर्याद्यथादोषं यथामयम् ।

व्याख्या—शिशु को रोगी देखकर, दोष एवं रोग के अनुसार धात्री—दूध पिलाने वाली की चिकित्सा करे।

उनकी चिकित्सा—

तत्र वातात्मके स्तन्ये दशमूलं त्र्यहं पिबेत् ॥९॥
अथवाऽग्निवचापाठा-कटुकाकुष्ठदीप्यकम् ।
सभार्ङ्गीदारुसरल-वृश्चिकालीकणोषणम् ॥१०॥
ततः पिबेदन्यतमं वातव्याधिहरं घृतम् ।
अनु चाच्छसुरामेवं स्निग्धां मृदु विरेचयेत् ॥११॥
वस्तिकर्म ततः कुर्यात्स्वेदादींश्चानिलापहान् ।
रास्नाऽजमोदासरल-देवदारुरजोऽन्वितम् ॥१२॥
बालो लिह्याद् घृतं तैर्वा विपक्वं सखितोपलम् ।
पित्तदुष्टेऽमृताभीरुपटोलीनिम्बचन्दनम् ॥१३॥
धात्री कुमारश्च पिबेत् क्वाथयित्वा ससारिवम् ।
अथवा त्रिफलामुस्तभूनिम्बकटुरोहिणीः ॥१४॥
सारिवादिं पटोलादिं पद्मकादिं तथा गणम् ।
घृतान्येभिश्च सिद्धानि पित्तघ्नं च विरेचनम् ॥१५॥
शीतांश्चाभ्यङ्गलेपादीन् युञ्ज्यात् श्लेष्मात्मके पुनः ।
यष्ट्याह्वसैन्धवयुतं कुमारं पाययेद् घृतम् ॥ १६ ॥
सिन्धूत्थपिप्पलीसद्वा पिष्टैः क्षौद्रयुतैरथ ।
राठपुष्पैः स्तनौ लिम्पेच्छिशोश्च दशनच्छदौ ॥१७॥
सुखमेवं वमेद्बालः तीक्ष्णैर्धात्रीं तु वामयेत् ।
अथाऽचरितसंसर्गी मुस्तादिं कथितं पिबेत् ॥ ८॥
तद्वत्तगर-पृथ्वीका-सुरदारु-कलिङ्गकान् ।
अथवाऽतिविषां-मुस्त-षड्ग्रन्था-पञ्चकोलकम् ॥१९॥
स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् ।
विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥२०॥
शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम् ।
ज्वराऽरोचक-तृट्छर्दि-शुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥२१॥
अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः
घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येपि, तं गदम् ॥ २२ ॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ।
तत्राशु धात्रीं बालं च वमनेनोपपादयेत् ॥२३॥
विहितायां च संसर्ग्यां वचादिं योजयेद्गणम् ।
निशादिं वाऽथवा माद्रीपाठातिक्तघनासयान् ॥२४॥
पाठाशुण्ठ्यमृतातिक्ततिक्तादेवाह्वसारिवाः
समुस्तमूर्वेन्द्रयवाः स्तन्यदोषहराः परम् ॥२५॥
अनुबन्धे यथाव्याधि प्रतिकुर्वीत कालवित् ।

व्याख्या—वातदूषित दूध हो तो—दशमूल का क्वाथ तीन दिन पीवे। अथवा—चित्तामूल, बालवच, पाठा, कुटकी, कूट, अजवायन, भारंगी, देवदारु, चीढ़, बिछुवा, पीपल एवं मरिच का क्वाथ तीन दिन पीवे॥

तत्पश्चात्—वातव्याधि नाशक किसी एक घृत का पान करे और अनुपान में अच्छसुरा का पान करे। इस प्रकार स्निग्ध हो जाने पर मृदु विरेचन करना चाहिये और तत्पश्चात् वस्तियाँ देवे और वातशामक स्वेदन, अभ्यङ्ग एवं प्रलेप आदि करे। और शिशु को—रास्ना, अजमोद, सरल, देवदारु का चूर्ण मिलाकर घृत चटावे अथवा—रास्ना आदि के योग से सिद्ध घृत—मिश्री मिलाकर

चटावे। यदि दूध पित्त से दूषित हो तो—गिलोय, शतावर, परवल के पत्र, निम्ब की छाल, लाल चन्दन तथा सारिवा का क्वाथ करके धात्री भी पीवे और बालक भी पीवे। अथवा—हरड़, बहेड़ा, आमला, मोथा, चिरायता तथा कुटकी का क्वाथ अथवा सारिवादिगण, पटोलादिगण अथवा पद्मकादि गण (सू. अ. १५) का क्वाथ पीवे अथवा इन गणों के योग से सिद्ध घृतों का पान करे और पित्त नाशक विरेचन तथा शीतल अभ्यङ्ग एवं लेप, सेचन आदि का प्रयोग करे। यदि दूध कफ से दूषित हो तो बालक को मुलेठी एवं सैन्धव लवण मिलाकर घृत पिलावे अथवा सैन्धव लवण एवं पीपल मिलाकर घृत पिलावे। इस प्रकार स्नेहन हो जाने पर वमन भी हो जाता है। न हो तो - मैनफल के पुष्पों को पीसकर और मधु में मिलाकर स्तन चूचुकों पर लेप करके स्तन पिलावे अथवा शिशु के ओठपर लेप कर देवे वह उसे स्वतः चाटता है और वमन हो जाता है। इस प्रकार शिशु को सुख से वमन हो जाता है और धात्री को भी तीक्ष्ण वमन कराना चाहिये। इसके पश्चात् पेया विलेपी आदि से संसर्जन क्रम करके मुस्तादिगण (सू. अ. १५) का क्वाथ पीवे। अथवा—तगर, कलौञ्जी, देवदारु तथा इन्द्रजौ का क्वाथ पीवे। अथवा—अतीस, मोथा, बालवच तथा पञ्चकोल का क्वाथ पीवे।

क्षीराऽलसक नामक रोग—

जब त्रिदोष दूषित दूध का पान करता है तब—शिशु को—दुर्गन्ध युक्त, आम, जल जैसा, गांठों वाला, स्वच्छ, फटा फटा सा तथा झाग वाला अतिसार होने लगता है और शूल आदि वेदना एवं लाल काला आदि अनेक वर्ण वाला अतिसार होता है और मूत्र-पीला श्वेत एवं गाढ़ा होता है और साथ २—ज्वर, अरुचि, तृषा, छर्दि, सूखे उद्गार, जृम्भा अङ्गभङ्ग (एंठन), अङ्गविक्षेप (टांगें एवं बाँहें पटकना), कूजन (अन्त्र कूजन) कम्पन, भ्रम, नासा पाक, नेत्र पाक, मुख पाक एवं स्वर भेद आदि अन्यान्य उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इसका नाम "क्षीराऽलसक" है और यह अत्यन्त दारुण होता है तो मृत्यु का हेतु होता है। इस रोग में तत्काल धात्री एवं बालक को वमन करा देवे और उसके अनन्तर पेया आदि संसर्जन क्रम करके वचादि गण (सू. अ, १५) का क्वाथ दोनों को पिलावे अथवा—अतीस, पाठा, कुटकी एवं कूठ का क्वाथ पिलावे।

स्तन्य दोष नाशक योग—

पाठा, सोंठ, गिलोय चिरायता, कुटकी, देवदारु, सारिवा, मोथा, मरोड़ फली तथा इन्द्र जौ का क्वाथ दुग्ध दोष नाशक उत्तम योग हैं। यदि बार २ स्तन्य दुष्टि होती हो तो रोगानुसार एवं समयानुसार उचित चिकित्सा करे॥ २६॥

वक्तव्य—दुग्ध दुष्टि—अ. सं. उ. २—

क्षीरं हि यथोक्तैः दोषप्रकोपणैः आहारविहारैः धात्र्याः व्यापन्नं विविधाऽऽमयोदयाय बालस्य कल्पते।

और—यदा पुनः धात्री सन्निपातप्रकोपणानि आसेवेत तदाऽस्याः त्रयो मला युगपत् वयोऽभिप्रपन्ना क्षीरावहा रसायनीः समनुश्रित्य संकीर्णलिङ्गं स्तन्यमावहन्ति। तत् च इदमविज्ञानात् सततमत्यवेक्षणात् प्रमादात्वा मातु कुमारः पिबति ततः स तेन क्षीरालसरोगेण पीडितो भवति।

और—सु. शा. अ. १०—

मिथ्याऽऽहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयः, तेन शारीरा व्याधयः शिशोः।
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यक् विभावयेत्॥३३॥

अर्थात्—यदि धात्री वातादि दोषों को कुपित-विकृत करने वाले आहारों का सेवन करती रहती है तो उसका दूध दूषित हो जाता है फलतः शिशु के शरीर में रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। दुष्ट दोष रक्तवाही सिराओं द्वारा स्तनों में प्राप्त होकर—दुग्ध को दूषित कर देते है धात्री के अज्ञान से निरन्तर देखभाल न करने से अथवा प्रमाद (जानबूझकर भी उपेक्षा) करने से शिशु—बिचारा शिशु उस दूध को पीता है—पीता रहता है और रोगी हो जाता है। धात्री एवं चिकित्सक दोनों ही दूध की शुद्धि की ओर ध्यान देते रहें, थोड़ी सी भी अशुद्धि होने पर उचित उपचार करे अन्यथा उसका कुफल कुमार को भोगना पड़ता है। १-१५॥

दन्तोद्भेद—

दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्॥ ६॥
विशेषाज्ज्वरविड्भेदकासच्छर्दिशिरोरुजाम्।
अभिष्यन्दस्य पोथक्या विसर्पस्य च जायते॥ २७॥
पृष्ठभङ्गे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे।
दन्तोद्भवे च बालानां नहि किञ्चिन्न दूयते॥ २८॥
यथादोषं यथारोगं यथोद्रेकं यथाशयम्।
विभज्य देशकालादींस्तत्र योज्यं भिषग्जितम्॥ २९॥

व्याख्या—दन्तोद्भेद (दन्तोत्पत्ति) सभी रोगों का कारण हेतु होता है विशेषतः—ज्वर, पुरीष भेद (मलभेद अतिसार) कास, छर्दि, शिरोवेदना, अभिष्यन्द, पोथकी तथा विसर्प रोग का कारण होता है। बिडालों के पृष्ठ भंग के समय, मोरों की शिखा उत्पन्न होने के समय तथा बालकों के दन्त उगने के समय—शरीर का कोई अवयव नहीं जो पीडित न हो अर्थात् समस्त शरीर में कष्ट होता है। उस समय उत्पन्न सभी रोगों में—दोषानु-

सार, रोगानुसार, दोषों के बलानुसार, रोगों के मूलस्थानानुसार तथा देश एवं काल (सत्व, सात्म्य, प्रकृति के अनुसार भली भाँति विचार करके चिकित्सा करे ।

जक्तव्य—अ. सं. उ. २—

दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगाऽऽयतनम् । विशेषेण तु तन्मूला ज्वर, शिरोऽभिताप, तृष्णा, भ्रम, अभिष्यन्द, कुकूणक, पोथकी, वमथु, कास, श्वास, अतिसार, विसर्पाः । से दीर्घायुषोः अष्टमात् मासात् परतो प्रवर्त्तते, इतरेषां तु चतुर्थान्ते, अतिबाल्येहि दन्तोत्पादवेदनया पीडिता न सम्यक् सम्पूर्ण धातुबला भवन्ति (बालाः)। तत्र अस्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतू । तदा च तयोः असंपूर्णवीर्यत्वात् पुनः कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्यमाणधातुत्वात् च पुनः उत्थानं, अतएव च वृद्धानां पुनः दन्तोत्पत्तेः बलात् निपातितानां तु सहसा तदधिष्ठानगतधातुबीजभ्रंशात् सन्ततिव्यवच्छेदवत् तथा शोणितप्रवृत्त्या अभिघातात् च निःसारत्वात् सिराणां पुनः अनुत्पादः । एतेन रोगच्युता अपि व्याख्याताः । तौ तु धातू कालक्रमेण पच्यमानौ यदा दन्ताशयमनुप्रपद्येते तदा अस्य किञ्चित् उत्सेधेन ऊर्ध्वाऽधो दन्तमांससंघट्टनात् अङ्गहर्षो जायते, तद्गतेन च श्लेष्मणा कण्डूः, तदा चूचकं दंदश्यते, यत् यत् आलभते तत् तत् आस्यमानयति । मारुतश्च अस्य दन्तमूलेषु मूर्छति । ततः स कफानुविद्धो अस्थिमज्जस्थितः सर्वतो विसरन् सहपित्तेन धातून् मलांश्च दूषयन् विशोषयति, तत् द्विजानामसम्भवः एव इति ।

अर्थात्—दन्तोद्भेद सब रोगों का घर है विशेषतः उससे ज्वर, शिर की वेदना एवं तपन, तृषा, भ्रम, अभिष्यन्द, कुकूणक, पोथकी, छर्दि, कास, अतिसार अथवा विसर्प नामक रोग उत्पन्न हो सकते हैं । दीर्घायुः बालक का दन्तोद्भेद आठ मास के पश्चात् होता है और अल्पायुः बालकों का दन्तोद्भेद चौथे मास के अन्त में हो जाता है । अति बाल्यकाल में दन्तोद्भेद की वेदना से पीडित बालक अच्छे पुष्ट एवं बलवान् नहीं होते—कृश एवं दुर्बल रह जाते हैं । अस्थि एवं मज्ज धातुओं से दन्तों का निर्माण होता है । उस बाल्यकाल में अस्थि एवं मज्जा पूर्ण रूप से शक्तिमान् नहीं रहते अतः उन दन्तों का कालान्तर (६-७ वर्ष) में पतन हो जाता है और उस वयस् में उन धातुओं की पूर्ति हो रही होती है अतः पुनः दन्तों की उत्पत्ति हो जाती है । और यही कारण है कि—वृद्धों के शरीर में अस्थि एवं मज्जा की शक्ति हीन हो जाती है फलतः दन्तमूल में उनकी शक्ति का भ्रंश हो जाता है । इसलिये दन्तों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती जैसे वृद्धोंमें सन्तानोत्पत्ति की शक्ति का विनाश हो जाता है वैसे ही पुनः वृद्धों के दन्त भी नहीं उगते और दन्तों पर आघात होने से दन्तमूल का रक्त निकल जाता है और वहाँ की सिरा भी शक्तिहीन हो जाती है अतः वहाँ दन्त नहीं उगते । इसी प्रकार रसकर्पूर आदि के दुरुपयोग से यदि दन्त गिर जाते हैं तब भी पुनः नहीं उगते और दन्तोद्भेद के समय अस्थि एवं मज्जा नामक धातु कालक्रम से पकते हुए जब दन्तों के आशयों में प्राप्त होते हैं तब वहाँ कुछ शोथ उत्पन्न होता है जिससे ऊपर नीचे दन्तवेष्टों में संघटन होने के कारण—अङ्गहर्ष (धुकधुकी) होता है, तद्गत कफ से वहाँ कण्डू होती है फलतः बालक चूचुक को अथवा अंगुलि को काटता है जो कुछ मिलता है उसीको मुख में ले लेता है एवं उसे काटता है । किसी २ शिशु के दन्तवेष्टों में वायु वैकृत होकर एवं कफ से मिलकर, अस्थि एवं मज्जा में जाकर सब ओर फैलता हुआ पित्त के साथ मिलकर धातु एवं मलों को दूषित करके सुखा देता है फलतः दुबारा उगनेवाले दन्तों की उत्पत्ति ही नहीं होती । ऐसा कहीं २ देखा जाता है ।

आचार्य वाग्भट ने दन्तों के विषय में इतना विवेचन किया है और भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है कि—सु. शा अ. २ ।

> सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ।
> तलेष्वसम्भवो रोम्णां सर्वमेतत् स्वभावतः ॥५९॥

अर्थात् दन्तों का एक बार गिरना और पुनः उत्पन्न होना स्वभाव से होता है अर्थात् इसका कारण स्वभाव है ।

शिशु की औषध मात्रा—

> त एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च यत् ।
> अतस्तदेव भेषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ॥ १० ॥
> सौकुमार्याल्पकायत्वात्सर्वान्नाऽनुपसेवनात् ।

व्याख्या—बालकों के शरीर में वे ही वातादि दोष दुष्ट होते हैं, वेही रसादि धातु दूषित होते हैं तथा वे ही ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं अतः वही चिकित्सा की जाती है । तथापि—औषधों की मात्रा थोड़ी दी जाती है क्योंकि बालक सुकुमार होते हैं, उनका शरीर छोटा होता है और सब प्रकारके अन्नों का सेवन भी नहीं करते । १० ।

वमन का विधान—

> स्निग्धा एव सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात् ॥ ११ ॥
> सद्यस्तान् वमनं तस्मात्पाययेन्मतिमान् मृदु ।
> स्तन्यस्य तृप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरान्नसेविनम् ॥ १२ ॥
> पीतवन्तं तनुं तेषामन्नादं घृतसंयुताम् ।

व्याख्या—घृत एवं दूध का सेवन होते रहने से बालक—सदैव स्निग्ध रहते हैं अतः स्नेहन किये बिना तत्काल

वमन दे देवे परन्तु उनको मृदु वमन देवे। क्षीर सेवी (दुग्ध वृत्ति) बालक को भर पेट दूध पिलाकर, दुग्धान्न सेवी बालक को पतली पेया पिलाकर और अन्नसेवी बालक को घृत मिश्रित पेया पिलाकर वमन देवे ॥ ३१-३२ ॥

विरेचन एवं मर्श नस्य—

बस्तिं साध्ये विरेकेण मर्शेन प्रतिमर्शनम् ॥ ३३ ॥
युञ्ज्याद्विरेचनादींस्तु धात्र्या एव यथोदिताम् ।

व्याख्या—शिशु को विरेचन साध्य रोग हो तो वस्ति देवे मर्शसाध्य रोग हो "प्रतिमर्श" नस्य (सू. अ. २०) देवे और विरेचन एवं मर्श नस्य का प्रयोग केवल धात्री को करे (शिशु को नहीं) और धात्री को भी रोगानुसार ही करे—अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही करे—यथासम्भव न करे ॥ ३३ ॥

स्तन्य दोष नाशक लेह—

मूर्वाव्योषवराकोलजम्बुत्वग्दारुसर्षपाः ॥ ३४ ॥
सपाठा मधुना लीढाः स्तन्यदोषहराः परम् ।

व्याख्या—मरोडफली, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, बेर की छाल, जामुन की छाल, देवदारु, सरसों तथा पाठा का चूर्ण—मधु के साथ मिलाकर चटाने से दूध शुद्ध हो जाता है ॥ ३४ ॥

दन्तोत्पत्ति के उपाय—

दन्तपालीं समधुना चूर्णेन प्रतिसारयेत् ॥ ३५ ॥
पिप्पल्या धातकीपुष्पधात्रीफलकृतेन वा ।
लावतित्तिरवल्लूररजः पुष्परसप्लुतम् ॥ ३६ ॥
द्रुतं करोति बालानां दन्तकेसरवन्मुखम् ।
वचाद्विबृहतीपाठाकटुकातिविषाघनैः ॥ ३७ ॥
मधुरैश्च घृतं सिद्धं सिद्धं दशनजन्मनि ।

व्याख्या—यदि दन्तोद्भेद में विलम्ब हो रहा हो तो —दन्त पाली पर—पीपल का चूर्ण मधु में मिलाकर मले अथवा धाय के फूल तथा आमला का चूर्ण मधु में मिलाकर मले। और—लवा पक्षी तथा तीतर के बल्लूर —सूखे मांस का सूक्ष्म चूर्ण—मधु में मिलाकर दन्त पाली पर मलने से बालकों का मुख—दन्तोंवाला हो जाता है —दन्त उग आते हैं। अथवा—बालवच, कण्टकारी, वनभण्टा, पाठा, कुटकी, अतीस, नागरमोथा तथा मधुर गण (सू. अ. १०) के योग से सिद्ध घृत का पान करने से दन्तोत्पत्ति में सफलता मिलती है ॥

वक्तव्य—जब कभी दन्तोद्भेद के समय दन्तोद्भेद जनित कष्ट तो होता है परन्तु दन्त नहीं निकलते हैं तब उक्त उपाय किये जाते हैं ॥३५-३७॥

रजन्यादि चूर्ण—

रजनीदारुसरलश्रेयसीबृहतीद्वयम् ॥ ३८ ॥
पृश्निपर्णी शताह्वा च लीढं माक्षिकसर्पिषा ।
ग्रहणीदीपनं श्रेष्ठं मारुतस्यानुलोमनम् ॥ ३९ ॥
अतीसारज्वरश्वास-कमलापाण्डुकासनुत् ।
बालस्य सर्वरोगेषु पूजितं बलवर्णदम् ॥ ४० ॥

व्याख्या—हल्दी, देवदारु, सरल, गजपीपल, कण्टकारी, वनभण्टा, पृष्ठपर्णी तथा सोया का चूर्ण—मधु एवं घृत के साथ चाटने से—अग्नि को प्रदीप्त करता है, वायु का अनुलोमन होता है, अतिसार, ज्वर, श्वास, कामला, पाण्डुरोग तथा कास को नष्ट करता है, बालक के सभी रोगों में लाभ करता है और बल एवं कान्ति को बढ़ाता है।

वक्तव्य—यह चूर्ण दन्तोद्भेद कालीन रोगों में दिया जाता है ॥ ३८-४० ॥

वृद्ध कश्यपोक्त घृत—

समङ्गाधातकीरोध्रकुटन्नटबलाह्वयैः ।
महासहाक्षुद्रसहा-क्षुद्रबिल्वशलाटुभिः ॥ ४१ ॥
सकार्पासीफलैस्तोये साधितैः साधितं घृतम् ।
क्षीरमस्तुयुतं हन्ति शीघ्रं दन्तोद्भवोद्भवान् ॥ ४२ ॥
निर्विधानामयानेतद्-वृद्धकाश्यपनिर्मितम् ।

व्याख्या—मजीठ (अथवा लजावन्ती), धाय के फूल, लोध, सोना पाठा, बलामूल, मासपर्णी, मुद्गपर्णी, बिल्गिरी तथा कपास के फलों (बिनौले—बीज) का क्वाथ, दूध, दही का पानी तथा घृत मिलाकर सिद्ध किया गया घृत— दन्तोद्भेद जनित अनेक रोगों को नष्ट करता है। इस घृत का निर्माण—उपदेश श्री वृद्ध कश्यप ने किया था ॥ ४१-४२ ॥

आहार विहार—

दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमतियन्त्रयेत् ॥ ४३ ॥
स्वयमप्युपशाम्यन्ति जातदन्तस्य यद्गदाः ।

व्याख्या—दन्तोद्भेद जनित रोगों में बालकको अधिक नियन्त्रित न करे क्योंकि—दन्त निकल आने पर उसके सब रोग स्वयं शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २—

यावन्मासस्य यो जातः तावद् वर्षस्य स द्विजः ।
पतति, प्रायशोऽष्टाब्दे तेषां पूर्वस्य सम्भवः

अर्थात्—जितने मास के शिशु का जो दन्त उत्पन्न होता है वह उतने वर्ष का होने पर गिर जाता है और प्रायः आठवें वर्ष में दूध के दन्त गिरते हैं। और उनमें जो प्रथम गिरता है वही दन्त प्रथम उगता है ॥४३॥

बालशोष—सुखण्डी—सोका—

अत्यह्नःस्वप्न-शीताऽम्बुश्लैष्मिक-स्तन्यसेविनः ॥४४॥
शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रसवाहिषु ।
अरोचकः प्रतिश्यायो ज्वरः कासश्च जायते ॥ ४५ ॥

कुमारः शुष्यति ततः स्निग्धशुक्लमुखेक्षणः ।

व्याख्या—दिन में अधिक सोने से, शीतल जल पीने से तथा कफ दूषित दूध पीने से शिशु के रसवाही स्रोतस् कफ द्वारा अवरुद्ध हो जाते हैं। अरुचि, प्रतिश्याय, ज्वर तथा कास उत्पन्न हो जाते हैं और कुमार सूख जाता है। मुख एवं नेत्र स्निग्ध एवं शुक्ल-श्वेत हो जाते हैं।

वक्तव्य—इस रोग में मांस पेशियाँ सूख जाती हैं। त्वचा में वलियाँ पड़ जाती हैं, मुख बानराकार हो जाता है, स्फिक् सर्वथा सूख जाते हैं, त्वचा पतली हो जाती है, पृष्ठवंश दिखने लगता है, कर्ण पाली के पीडन का अनुभव नहीं होता इसे सुखण्डी एवं सोका-सोखा कहते हैं ॥४४-४५॥

सुखण्डी की चिकित्सा—

सैन्धव-व्योष-शाङ्गेष्टा-पाठा-गिरिकदम्बकान् ॥ ४६ ॥
शुष्यतो मधुसर्पिर्भ्यामरुच्यादिषु योजयेत् ।
अशोकरोहिणीयुक्तं पञ्चकोलं च चूर्णितम् ॥ ४७ ॥
बदरीधातकीधात्रीचूर्णं वा सर्पिषा द्रुतम् ।
स्थिरा-वचा-द्विबृहती-काकोली-पिप्पली-नतैः ॥ ४८ ॥
निचुलोत्पलवर्षाभू-भार्ङ्गीमुस्तैश्च कार्षिकैः ।
सिद्धं प्रस्थार्धमाज्यस्य स्रोतसां शोधनं परम् ॥ ४९ ॥
सिंह्यश्वगन्धासुरसा-कणागर्भं च तद् गुणम् ।
यष्ट्याह्व-पिप्पली-रोध्र-पद्मकोत्पलचन्दनैः ॥ ५० ॥
तालीससारिवाभ्यां च साधितं शोषजिद् घृतम् ।
शृङ्गीमधूलिकाभार्ङ्गीपिप्पलीदेवदारुभिः ॥ ५१ ॥
अश्वगन्धाद्विकाकोली रास्नर्षभकजीवकैः ।
शूर्पपर्णीविडङ्गैश्च कल्कितैः साधितं घृतम् ॥ ५२ ॥
शशोत्तमाङ्गनिर्यूहे शुष्यतः तुष्टिकृत्परम् ।
वचा-वयस्था-तगर-कायस्था-चोरकैः शृतम् ॥ ५३ ॥
वस्तमूत्रसुराभ्यां च तैलमभ्यञ्जने हितम् ।

व्याख्या—सैन्धवादि चूर्ण—सैन्धव लवण, सोंठ, मरिच, पीपल, शाङ्गेष्टा (काकजंघा) पाठा तथा गिरि कदम्बक (धारा कदम्ब) का सूक्ष्म चूर्ण—मधु एवं घृत के साथ मिलाकर—बाल शोष जनित अरुचि आदि में प्रयुक्त करे। अथवा—अशोक की छाल, कुटकी, पीपल पीपलामूल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ का चूर्ण अथवा बेर की छाल, धाय के फूल तथा आमला का चूर्ण—घृत में मिलाकर चटावे।

स्थिरादि घृत—शालपर्णी, बालवच, कण्टकारी, वन भण्टा, काकोली, पीपल, तगर, वेतस, कमल, पुनर्नवा भारङ्गी तथा मोथा १-१ कर्ष और गो घृत आधा प्रस्थ घृत सिद्ध करे। यह घृत रसवाही स्रोतों का शोधन करता है फलतः सुखण्डी रोग नष्ट हो जाता है।

सिंह्यादि घृत—कण्टकारी, असगन्ध, तुलसी तथा पीपल का कल्क देकर सिद्ध किया गया घृत भी रसवाही स्रोतों का शोधन करता है।

यष्ट्यादि घृत—

मुलेठी, पीपल, लोध, पद्मकाष्ठ, कमल, लालचन्दन, तालीस पत्र तथा सारिवा के योग से सिद्ध घृत—शोष (सोका-सूखा) को नष्ट करता है।

शृंग्यादि घृत—काकड़ासिंगी, मुलेठी, भारङ्गी. देवदारु. असगन्ध, काकोली, क्षीर काकोली, रासना, ऋषभक, जीवक, मासपर्णी तथा विडङ्ग का कल्क १ भाग, खरगोश के शिर का क्वाथ १६ भाग तथा गो घृत ४ भाग घृत सिद्ध करे। यह घृत सूखते हुए बालक को पुष्टि करता है।

वचादि तैल—

बालवच, गिलोय. तगर, हरड़ तथा चोरपुष्पी का कल्क १ भाग, तैल ४ भाग, बकरा का मूत्र तथा सुरा १६ भाग मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल—सुखण्डी में अभ्यङ्ग करने से लाभ करता है ॥ ४६-५३ ॥

लाक्षादि तैल—

लाक्षारससमं तैलप्रस्थं मस्तु चतुर्गुणम् ॥ ५४ ॥
अश्वगन्धानिशादारुकौन्तीकुष्ठाब्दचन्दनैः ।
समूर्वारोहिणीरास्नाशताह्वामधुकैः समैः ॥ ५५ ॥
सिद्धं लाक्षादिकं नाम तैलमभ्यञ्जनादिदम् ।
बल्यं ज्वरक्षयोन्मादश्वासापस्मारवातनुत् ॥ ५६ ॥
यक्षराक्षसभूतघ्नं गर्भिणीनां च शस्यते ।

व्याख्या लाख का रस १ प्रस्थ, तिल तैल १ प्रस्थ, दही का पानी ४ प्रस्थ, असगन्ध, हल्दी, देवदारु, सम्भालू के बीज, कूठ, मोथा, लाल चन्दन, मरोड़ फली, कुटकी, रासना, सोया तथा मुलेठी का कल्क तैल से चतुर्थांश। सबको मिलाकर तैल सिद्ध करे। इसका अभ्यङ्ग करने से बल बढ़ता है। यह तैल—ज्वर, क्षय, उन्माद, श्वास, अपस्मार तथा वातव्याधि को और यक्ष, राक्षस एवं भूतों की बाधा को नष्ट करता है गर्भवती को लाभ करता है।

वक्तव्य—सुखण्डी में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा भी की जाती है और उससे आश्चर्य जनक लाभ होता है ॥५४-५६॥

अतिविषा लेह—

मधुनाऽतिविषाशृङ्गीपिप्पलीर्लेहयेच्छिशुम् ॥ ५७ ॥
एकां वातिविषां कासज्वरच्छर्दिरुपद्रुतम् ।

व्याख्या—कास, ज्वर एवं छर्दि से पीड़ित बालक को अतीस काकड़ासिंगी एवं पीपल का चूर्ण अथवा अकेली अतीस का चूर्ण मधु में मिलाकर चटावे। ५७।

दुग्ध जनित वमन की चिकित्सा—

पीतं पीतं वमति यः स्तन्यं तं मधुसर्पिषा ॥ ५८ ॥

द्विवार्ताकीफलरसं पञ्चकोलं च लेहयेत् ।

व्याख्या—जो शिशु दूध पी-पी कर—पीते ही वमन कर देता है उसे—कण्टकारी एवं वनभण्टा के फलों का रस तथा पञ्चकोल (पीपल, पीपला मूल, चव्य, चित्ता तथा सोंठ) का चूर्ण मधु एवं घृत में मिलाकर चटावे ॥

वक्तव्य—कोई २ शिशु कभी २ दूध पीते ही वमन कर देता है, इसमें फटा २ तथा श्वेत वमन होता है इस विकार को "दूध उगलना" कहते हैं । यद्यपि विश्वास किया जाता है कि इससे बालक स्वस्थ रहता है और पुष्ट भी होता है तथापि है यह एक प्रकार का विकार ही ॥५८॥

अन्य उपाय—

पिप्पलीपञ्चलवणक्रिमिजित्पारिभद्रकम् ॥ ५९ ॥
तद्वल्लिह्यात्तथा व्योषं मर्षीं वा रोमचर्मणाम् ।
लाभतः शल्यकश्वाविद्गोधर्क्षशिखिजन्मनाम् ॥६०॥

व्याख्या - अथवा—पीपल, पाँचों लवण, विडंग, फरहद की छाल (निम्ब की गिरी भी डालते हैं) अथवा यथा लाभ—सेह (साही), श्वाविद् (भाहा), गोह, भालू तथा मोर के रोम एवं चर्म की मसी (काली भस्म) तथा त्रिकुट को मधु एवं घृत में मिलाकर चटावे । इससे दुग्ध पान जनित छर्दि शान्त हो जाती है ।

वक्तव्य—सेह के कण्टकों तथा मोर के पंखों की अन्तर्धूम भस्म बनाकर प्रायः प्रयोग में लाते हैं और उससे बहुत लाभ भी होता है । केवल मोर के पंखों की भस्म (मयूर पिच्छ भस्म) सब प्रकार की छर्दि में लाभ करती है ॥५९-६०॥

अन्य उपाय—

खदिरार्जुनतालीस-कुष्ठचन्दनजे रसे ।
सक्षीरं साधितं सर्पिर्वमथुं विनियच्छति ॥ ६१ ॥

व्याख्या—खैरसार, अर्जुन की छाल, तालीस पत्र, कूट तथा चन्दन का क्वाथ, दूध एवं गो घृत मिलाकर घृत सिद्ध करे । यह घृत भी दुग्ध वमन को नष्ट करता है ।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में और अ. सं. उ. अ. २ में निम्न लिखित दो श्लोक इस प्रकार हैं—

हनुमूलगतो वायुः दन्त देशाऽस्थि गोचरः ।
यदा शिशोः प्रकुपितो नोतिष्ठन्ति तदा द्विजाः ।
रूक्षाशिनो वातिकस्य चालयत्यनिलः सिराः ।
हन्वाश्रया प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दं करोत्यतः ।

अर्थात्—हनुमूलगत वायु दन्तप्रदेश की अस्थि में जाकर (दन्तदेशान् विशोषयेत् इति पाठान्तरम् अर्थात् दन्तकी उत्पत्ति के प्रदेशों को सुखा देता है) और वहाँ प्रकुपित हो जाता है तब दन्त नहीं उगते । जब बालक रूक्ष आहार खाता है और वह वातप्रकृति होता है और वायु—उस की हनुमें आश्रित सिरा (स्नायु) का चालन करता है तब बालक—सोया हुआ दन्त किटकिटाता है—इसे "दन्त शब्द" कहते हैं शा. स. प्र. ख. अ. ७ देखिये । इन दोनों विकारों में वातनाशक स्नेहन, अभ्यङ्ग, स्वेदन, मर्दन आदि उपचार करे ॥६१॥

सदन्त जनन में शान्ति कर्म—

सदन्तो जायते यस्तु दन्ताः प्राग्यस्य चोत्तराः ।
कुर्वीत तस्मिन्नुत्पाते शान्तिकं च द्विजातये ॥६२॥
दद्यात्सदक्षिणं बालं नैगमेषं च पूजयेत् ।

व्याख्या—यदि कोई शिशु दन्त सहित जन्मता है अथवा जिसके ऊपर के दन्त प्रथम उगते हैं तो इस उत्पात (विकृति) में शान्ति कर्म करे और दक्षिणा के साथ २ बालक को भी ब्राह्मण को दे देवे तथा नैगमेष ग्रह का पूजन करे ॥

वक्तव्य—विसर्प रोग—अ. सं. उ. अ. २—

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः ।
पद्मवर्णो महापद्मो बाले दोषत्रयोद्भवः ।
शंखाभ्यां हृदयं याति हृदयात् वा गुदं व्रजेत् ।

अर्थात्—शिशु के वस्ति अथवा शिर पर विसर्प होता है जो प्राणनाशक होता है । और बालक के एक महापद्म नाम का त्रिदोषज रोग होता है जिसका वर्ण कमल जैसा लाल होता है वह- शंखों- पुट-पुटियों में उत्पन्न होकर—हृदय की ओर अथवा हृदय पर उत्पन्न होकर गुद की ओर बढ़ता है ।

उक्त श्लोक ६१ में कथित विकृति में प्रायश्चित्त की विधि—

वत्सस्य मधुलाजानामापूर्य प्राङ्मुखो मुखम् ।
चुम्बेत् कुमारस्त्रीन् वारान् प्रायश्चितमिदं परम् ।
नावमारोहयेत् बालं स्नातं स्कन्धं गजस्य च ।
भोजयेत् ब्राह्मणान् चात्र पायसं मधुसर्पिषा ।

अर्थात्—बछड़ा के मुख में लाजा भर देवे और उसके मुख का बालक पूर्व की ओर मुख करके—तीन वार चुम्बन करे - यह उत्तम प्रायश्चित्त है । और बालक को नहला कर नाव—नौका पर चढ़ावे और हाथी पर बैठावे तदनन्तर—ब्राह्मणों को मधु घृत मिश्रित खीर का भोजन करावे ।

पारिगर्भिक रोग—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि ।
कायाऽग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्याऽरुचिभ्रमैः ।
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिणम् ।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात् तत्राग्निदीपनम् ।
पिप्पलीपिप्पलीमूलकटुकादेवदारुभिः ।
क्षारद्वयविडाजाजी विल्वमध्याग्निदीप्यकैः ।
दधिसौवीरकसुरामण्डैश्च विपचेत् घृतम् ।
हन्ति प्रयुक्तं तत् काले रोगान् परिभवाश्रयान् ।

अर्थात्—बालक गर्भवती माता का दूध पीता रहता है तो—शिथिलता, मन्दाग्नि, छर्दि, तन्द्रा, कृशता, अरुचि तथा भ्रम से युक्त हो जाता है और उसका उदर बढ़ जाता है। इस रोग का नाम "पारिगर्भिक" तथा "परिभव" है।

इस रोग में अग्निदीपन औषधों का प्रयोग करे और गर्भवती माता का दूध न पीने दे। एतदर्थ पिप्पल्यादि घृत—पीपल, पीपलामूल, कुटकी, देवदारु, जोखार, सज्जीखार, विड लवण, जीरा, विलगिरी, चित्ता, अजवायन, दही, कांजी तथा सुरामण्ड के योग से घृत पाक करे। यह घृत—पारिगभिक रोग तथा उसके उपद्रव को नष्ट करता है।

सान्नस्तन्य पान—

अन्नेनोपहितं स्तन्यं पिबतो विहितात परम्।
इमानेव गदान् कुर्यात् कुर्यात् तेष्वेतदेव च।

अर्थात्—जो बालक अन्न खाना प्रारम्भ करने पर भी माता का दूध अधिक दिन तक पीता रहता है उसे भी पारिगर्भिक रोग हो जाता है और उसमें पारिगर्भिक के समान ही चिकित्सा की जाती है।

स्तन्य जनित अतिसार—

पीतं पीतं च यः स्तन्यं सवातमतिसार्यते।
तस्याऽप्येतत् परंपथ्यं दीपनं बलवर्णकृत्।

अर्थात्—स्तन्य पान करते करते यदि अतिसार हो जाता हो तो उसके लिये पारिगर्भिक की चिकित्सा लाभ करती है।

अतिक्षुधा—

अत्युद्रिक्तक्षुध बालं परिभूतं तु लेहयेत्।
विदारीयवगोधूमकणाचूर्ण घृताऽऽप्लुतम्।
पाययेदनु च क्षीरं शृतं समधुशर्करम्।
अक्षमज्जाद्विकाकोलीयष्टिमधुकमोरटैः।
श्रपयेत् क्षीरमाज्यं वा बीजैः इक्षुरकस्य च।
तत् प्रयोज्यं गुरुस्निग्धं यच्चाऽत्यग्नौ पुरेरितम्।
श्ववायसविडालानामुच्छिष्टेन जलेन च।
स्नापयेत् तं, न चेत् एवं क्षुत् तस्य प्रशमं व्रजेत्।
क्षीरिपादपमूलस्थं विधिना स्नापितं ततः।
वस्त्ररत्नाद्यलङ्कारैः कुमारं भूषयेत् मितैः।
वृक्षं चाऽनु ततः कुर्यात् भूषणव्यत्ययं तयोः।
एतत् आयुःप्रदं धन्यं स्नपनं सर्वरोगजित्।

अर्थात्—जिस बालक को अत्यन्त अधिक क्षुधा लगती हो, पारिगर्भिक रोग होने पर अधिक भूख लगती हो उसे विदारी कन्द, जौ, गेहूं तथा पीपल का चूर्ण—घृत में मिलाकर चटावे और अनुपान में - पका हुआ दूध मधु एवं खण्ड मिलाकर पिलावे।

अथवा—बहेड़ा की गिरी, काकोली, क्षीर काकोली, मुलेठी, ईख की जड़ तथा तालमखाना के बीजों के योग से दूध अथवा घृत पका कर पिलावे—चटावे। और गुरु एवं स्निग्ध पदार्थों का सेवन करावे तथा तीक्ष्णाग्नि के समान चिकित्सा करे।

और कुत्ता, कौवा, बिलाव के जूठे पानी से नहलावे। यह सब करने पर भी यदि क्षुधा शान्त न हो तो वट आदि क्षीरी वृक्ष के मूल पर बिठा कर विधि पूर्वक स्नान करावे और बालक तथा वृक्ष को समान वर्ण के वस्त्र, रत्न तथा भूषणों से विभूषित करे और फिर उन वस्त्र आदि को एक से उतार कर दूसरे को पहना देवे। यह स्नपन (स्नान कराना)—आयुवर्द्धक है, धन्य है तथा सर्व रोग नाशक है।

पर्वानुप्लव—

शिरः पृष्टं ततो मुष्कौ ततः पादौ च योजयेत्।
हस्ताभ्यामुत्थितो वायुः स पर्वानुप्लवः स्मृतः।
गौरी वचा सदा पुष्पी हयगन्धा कटुत्रयैः।
सकटफलद्विवार्त्ताकीवयस्थाहिंगुरोहिषैः।
वस्तमूत्रसुरायुक्तैः साधितं तस्य योजयत्।
तैलमभ्यंजने शेषं वातव्याधिवदाचरेत्।

अर्थात्—हाथों से उठकर वायु—शिर, पीठ, फिर मुष्क और पावों को जोड़ देता—स्तब्ध कर देता है इस विकार का नाम है "पर्वानुप्लव"।

इस विकार में—हल्दी, बालवच, आक, असगन्ध, सोंठ मरिच, पीपल, कायफल, कण्टकारी, वनभण्टा, गिलोय, हींग तथा रोहिष तृण का कल्क १ भाग, तिल तैल ४ भाग बकरा का मूत्र तथा सुरा १६ भाग। तैल सिद्ध करके अभ्यंग करे और वात व्याधि के समान चिकित्सा करे ॥६२॥

तालु कण्टक—

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम् ॥ ६३ ॥
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते।
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात्पानं शकृद्द्रवम् ॥ ६४ ॥
तृडास्यकण्ड्वक्षिरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः।
तत्रोत्क्षिप्य यवक्षारक्षौद्राभ्यां प्रतिसारयेत् ॥ ६५ ॥
तालु तद्वत्कणाशुण्ठी-गोशकृद्रस-सैन्धवैः।
शृङ्गवेरनिशाभृङ्गं कल्कितं वत्पल्लवैः ॥ ६६ ॥
बद्ध्वा गोशकृता लिप्तं कुकूले स्वेदयेत्ततः।
रसेन लिम्पेत्तात्वास्यं नेत्रं च परिषेचयेत् ॥ ६७ ॥
हरीतकीवचाकुष्ठ-कल्कं माक्षिकसंयुतम्।
पीत्वा कुमारः स्तन्येन मुच्यते तालुकण्टकात् ॥ ६८ ॥

व्याख्या—तालु प्रदेश के मांस में कफ कुपित होकर "तालु कण्टक" रोग को उत्पन्न करता है। इस रोग के—शिर पर तालु प्रदेश निम्न—नीचा हो जाता है, तालु—मुख की छत झुक जाती है, स्तन्य पान में अनिच्छा होती है और कष्ट होता है, पुरीष पतला आता है, तृषा,

मुख के भीतर कण्डू, नेत्र में वेदना, ग्रीवा में शिथिलता और छर्दि होती है।

इस रोग में—जौखार को पीसकर और मधु में मिला कर, अंगुली अथवा अंगूठा में लगा कर, मुख में डाल कर तालु—मुख की छत के ऊपर की ओर उठा देवे और जौखार एवं मधु मल देवे, इसी प्रकार—पीपल, सोंठ, गोबर का रस तथा सैन्धव लवण से उठावे और उसे तालु पर मले। और—अदरक हल्दी एवं भाँगरा का कल्क बना कर, वट के पत्तों में लपेट कर, ऊपर से गोबर का लेप करके पुटपाक विधि से कुकूल अर्थात् तुषाग्नि का स्वेदन करे और फिर उसका रस निचोड़ कर तालु एवं मुख के भीतरी तालु पर लेप करे और उसी रस को नेत्र में टपकावे। और—हरड़, बालवच तथा सुगंधी कूठ का कल्क—मधु मिला कर और माता के दूध में मिला कर बालक को पिलावे। इस योग का सेवन करने से बालक तालु कण्टक रोग से मुक्ति पा जाता है॥

वक्तव्य—तालु शिर पर के उस भाग का नाम है जहाँ शिशु की कपालास्थि अपूर्ण रहती है जो बड़ा होने पर पूर्ण हो जाती है, शिशु के शिर पर उस स्थल को दबाने से वह स्थल पिलपिला प्रतीत होता है, इस रोग में वह स्थल दब जाता है—दबा हुआ दिखता है इसे शिरःतालु कहते हैं या तालुवा और मुख के भीतर जो मुख की छत है उसे भी तालु कहते हैं इस रोग में वह नीचे की ओर दब जाता है—दबा हुआ दिखता है। इस रोग का नाम तालुपात भी है। सु. शा. अ. १० में इसका वर्णन इस प्रकार है—

मस्तुलुङ्गक्षयात् यस्य वायुस्तालवस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम्। ४२।
पानाऽभ्यञ्जनयोः योज्यं शीताम्बूद्वेलनं तथा।

अर्थात्—मस्तुलुङ्ग—मस्तिष्क मज्जा के क्षय से कुपित वायु तालु की कोमल अस्थि को नमा देता है, उस समय तृषा लगती है और शिशु दीन हो जाता है। इस दशा में मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत का प्रयोग पान में तथा अभ्यंग में करे और शीतल जल के छींटे मारकर शिशु को उद्विग्न करे।

इस रोग में तालु पर माखन का फोहा रखने से बहुत लाभ होता है॥६३-६८॥

अहिपूतन रोग—

मलोपलेपात्स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवः।
ताम्रो व्रणोऽन्तःकण्डूमान् जायते भूर्युपद्रवः॥ ६९॥
केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽहिपूतनम्।
पृष्ठारुगुदकन्दं च केचिच्च तमनामिकम्॥ ७०॥
तत्र धात्र्याः पयः शोध्यं पित्तश्लेष्महरौषधैः।
शृतशीतं च शीताम्बुयुक्तमन्तरपानकम्॥ ७१॥
सक्षौद्रतार्क्ष्यशैलेन व्रणं तेन च लेपयेत्।
त्रिफलाबदरीप्लक्षत्वक्क्वाथपरिषेचितम्॥ ७२॥
कासीसरोचनातुत्थमनोह्वाऽऽलरसाञ्जनैः।
लेपयेदम्लपिष्टैर्वा चूर्णितैर्वाऽवचूर्णयेत्॥ ७३॥
सुश्लक्ष्णैरथवा यष्टीशङ्खसौवीरकाञ्जनैः।
सारिवाशङ्खनाभिभ्यामसनस्य त्वचाऽथवा॥ ७४॥
रागकण्डूत्कटे कुर्याद्रक्तस्रावं जलौकसा।
सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके॥ ७५॥

व्याख्या—मूत्र एवं पुरीष से लिप्त, गुद अर्थात् गुद के आसपास स्वेद आने पर यदि धोया नहीं जाता-बालक नहलाया नहीं जाता तो—रक्त एवं कफ के प्रकोप से वह प्रदेश लाल हो जाता है और वहाँ कण्डू होती है तथा व्रण हो जाते हैं उन व्रणों में भी कण्डू होती रहती है और इनमें से बहुत स्राव होता है तथा ज्वर आदि उपद्रव भी हो जाते हैं। इस विकार को कुछ आचार्य "मातृका दोष" कुछ पूतन या अहिपूतन (सु. नि. अ. १३), कुछ "पृष्ठारु" कुछ "गुद कुन्द" या "गुद कुट्टक" तथा कुछ आचार्य "अनामिक" कहते हैं।

इस विकार में—पित्त-कफ नाशक द्रव्यों के द्वारा धात्री का दुग्ध शुद्ध करे और इन्हीं द्रव्यों के योग से पका हुआ शीतल करके जल पिलावे और उसी जल में मधु एवं रसवत घोल कर व्रण पर लेप करे, त्रिफला, बेर की छाल, पिलखन की छाल के क्वाथ का सेचन करे और कासीस, गोरोचन, तूतिया, मैनशिल, हरिताल तथा रसवत को काञ्जी में पीस कर लेप करे, व्रण समतल हो जाने पर कासीस आदि द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण व्रणों पर बुरके, अथवा—मुलेठी, शंख एवं श्वेताञ्जन का चूर्ण बुरके अथवा—सारिवा एवं शंखनाभि का चूर्ण बुरके अथवा विजयसार की छाल का सूक्ष्म चूर्ण बुरके। यदि लालिमा एवं कण्डू अधिक हो तो जोकों द्वारा रक्त निकाल देवे और सब प्रकार की चिकित्सा करे जो पित्तज व्रण को नष्ट करने वाली हो।

वक्तव्य—इस रोग का वर्णन—सु. नि. अ. १३ में तथा चिकित्सा विधि—सु. चि. अ. २० में देखिये॥६९-७५॥

मृद्-भक्षण जनित रोग चिकित्सा—

पाठावेल्लद्विरजनी-मुस्तभार्ङ्गीपुनर्नवैः।
सबिल्वत्र्यूषणैः सर्पिर्वृश्चिकालीयुतैः शृतम्॥ ७६॥
लिहानो मात्रया रोगैर्मुच्यते मृत्तिकोद्भवैः।

व्याख्या—पाठा, विडंग, हल्दी, दारु हल्दी, मोथा, भारंगी, पुनर्नवा, बिलगिरी, सोंठ, मरिच, पीपल तथा वृश्चिकाली के योग से सिद्ध घृत को मात्रा पूर्वक चटाने से

—बालक—मिट्टी खाने से उत्पन्न दोषों से मुक्ति पा जाता है।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २—

अनामस्थौल्यपित्तास्रकण्डूगण्डगलामये।
उदुम्बरोन्मितं श्रेष्ठं तार्क्ष्यमन्तरपानकम्।

अर्थात्—अनामक रोग में, स्थूलता में, पित्त रक्त जनित रोगों में, कण्डू में तथा गलगण्ड में १ कर्ष रसवत को जल में घोल कर पिलावे।

गृह्णाति सूतिकाऽऽगारे न स्तनं चेत्, स्पृशेत् ततः।
पथ्या धात्रीफलकणैः जिह्वां सघृतमाक्षिकैः।

अर्थात्—सूतिकाऽऽगार में यदि शिशु स्तन का ग्रहण न करे तो-हरड़, आमला तथा पीपल का चूर्ण—घृत एवं मधु में मिलाकर जीभ पर लगावे-मले।

वक्तव्य—देखा जाता है कि—सूतिका गृह में वास के समय कोई २ शिशु स्तन ग्रहण नहीं करते उनका उपाय उक्त विधि से करे। इस दशा में झाड़ना एवं इष्ट देवता की मनौती आदि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा भी की जाती है।

पिप्पलीत्रिफलाचूर्णं घृतक्षौद्रपरिप्लुतम्।
रुदते त्रस्यते चावलेहं दद्यात् सुखावहम्।

अर्थात्—यदि शिशु अधिक रोता रहता हो अथवा डरता रहता हो—चुभकता रहता हो, रह रह कर कांपता हो तो पीपल एवं त्रिफला का चूर्ण घृत एवं मधु में मिलाकर चटावे।

नाल पतन—

प्रदीप्ताङ्गाररजसा प्रशान्तेनावचूर्णयेत्।
पञ्चमेऽह्नि पतन् नालं लेपयेत् वा गुडाम्भसा।
सान्द्रेण भूमौ घृष्टेन, नालपातेऽपि चोन्नताम्।
नाभिं छागेन शकृता दग्धेनाऽन्तर्विचूर्णयेत्।
अश्वगन्धाञ्जनाऽजाऽविविड् यष्टिमधुकादिभिः।
रोपयेत् चूर्णितैः नाभिं स्नेहयुक्तैरनुन्नताम्।
यष्टिरोध्रनिशाश्यामाकल्कपक्वेन सेचयेत्।
नाभिपाके तु तैलेन तच्चूर्णैः चाऽवचूर्णयेत्।

अर्थात्—जन्म से पाञ्चवें दिन जब नाल गिरने वाली हो तब कोसी कोसी भस्म बुरक देवे अथवा—गुड को जल में मिलाकर गाढा घोल बनावे और उसे भूमि पर घिस कर लेप करे।

नाल गिरने पर भी यदि नाभि ऊँची रहे (गहरी न हो) तो बकरी की मेंगन की अन्तर्धूम भस्म बनावे और उसे उस नाभि पर बुरक देवे-बुरकता रहे।

यदि नाल गिरने पर नाभि ऊँची न हो तो-उसके व्रण का रोपण-असगन्ध, श्वेताञ्जन, बकरी एवं भेड़ की मेंगन तथा मुलेठी का सूक्ष्म चूर्ण बुरक कर करे अथवा स्नेह में मिलाकर लेपन करे। अथवा—मुलेठी लोध, हल्दी तथा श्यामा निसोत (अथवा अनन्त मूल—काला सारिवा) के कल्क के योग से सिद्ध तैल का सेचन करे-पिचु धरता रहे।

यदि नाल गिर जाने पर नाभि पक जाय तो यष्ट्यादि तैल का सेचन करे और उन्हीं के चूर्ण को बुरके।

तुण्डी आदि का वर्णन—

वातेनाऽऽध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः।
असम्यक् कल्पनात् नाभेः स्यात् विनामो विजृम्भिका।
वातपित्तहरं कर्म तत्राऽन्तर्बहिरा चरेत्।
गर्भाम्भसामवमनात् श्लेष्मणः कण्ठगस्य वा।
सम्पर्कात् हृदये दुष्टो मार्गानावृणुते रसः।
बद्धमुष्टिः ततो मुह्येत् रोगैः बालोऽभिभूयते।
हृद्रोगाऽऽक्षेपकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिः।
उल्बकं सहजं व्याधिमम्बुपूर्णं च तं वदेत्।
स्रोतोविशोधनं प्रातः तस्मिन्नन्तरपानकम्।
विदध्यात् छागलं मूत्रं पानाभ्यङ्गौ च वर्जयेत्।

अर्थात् नाल गिर जाने पर यदि नाभि वायु द्वारा फूल जाती है और उसमें वेदना होती है तो उसे "तुण्डी" कहते हैं। उसे वात नाशक स्नेहों, स्वेदों तथा उपनाहों—द्वारा शान्त करे। किसी २ की नाभि जीवन भर फूली रहती है। नाभि नाल का कल्पन (काटना) उचित प्रकार में न होने पर विनाम अथवा विजृम्भिला नामक विकृतियाँ हो जाती हैं। उनमें—भीतरी एवं बाहिरी वात नाशक चिकित्सा करे।

गर्भोदक का वमन न होने से अथवा कण्ठगत फुप्फुस गत कफ का हृदय में सम्पर्क होने से रस दुष्ट होकर रस-वाही एवं श्वासवाही स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है जिससे बालक मुट्ठी बाँधता है और व्याकुल हो जाता है तथा हृद्रोग, आक्षेपक, श्वास (हब्बा डब्बा), कास छर्दि तथा ज्वर आदि रोगों से पीड़ित हो जाता है—होता रहता है। इस विकार को—उल्बक, सहज, और अम्बु पूर्ण कहते हैं। इस रोग में—वमन, विरेचन तथा नस्य कर्म द्वारा प्रातःकाल स्रोतों का शोधन करे और विलम्ब से दूध पिलावे और बकरी का मूत्र पिलावे। और अन्य दुग्ध आदि का पान तथा अभ्यङ्ग स्नान आदि का त्याग करे।

वक्तव्य—इस उल्बक व्याधि को 'हब्बा डब्बा' या "पसली चलना" या "वखी का रोग" कहते हैं। कुकूणक नामक बाल रोग का वर्णन उ. अ. ८ में देखिये। अजगल्लिका नामक बाल रोग का वर्णन उ. अ. ३१ में देखिये। असम्यक् कल्पने हि नाड्या आयाम व्यायाम उत्तुंडिता पिण्डलिका विनामिका विजृम्भिका बांधेश्यो धयम्। तत्र अवि-

दाहिभिः वातपित्तप्रशमनैः अभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिभिश्चोपक्रमेत मुहु लाघवम् अभिसमीक्ष्य । ४६ । च. शा. अ. ८ ॥७६॥

स्तन लेपन—

व्याधेर्यद्यस्य भैषज्यं स्तनस्तेन प्रलेपितः ।
स्थितो मुहूर्तं धौतोऽनुपीतस्तं तं जयेद्गदम् ॥७७॥

व्याख्या— जस रोग की जो औषध (खाने योग्य औषध) होती है उसका लेप स्तनपर कर लेवे और दो घड़ी के पश्चात् धो देवे और फिर बालक को पिलावे (यदि वह उस रोग से पीडित है) तो उस रोग को अवश्य नष्ट करती है ॥

वक्तव्य—बालक-केवल दूध पीने वाला बालक जिस रोग से पीडित हो उस रोग को नष्ट करनेवाली औषध का लेप स्तन पर करके दो घड़ी के पश्चात् स्तन को धो देवे और फिर बालक को स्तन पिलावे । लेपन से औषध की रोगनाशिनी शक्ति स्तन गत दूध में व्याप्त हो जाती है और उस दूध का पान करने से बालक का रोग शान्त हो जाता है ।

ग्रहैरपि हि जायन्ते प्रच्छन्नैः व्याधयः शिशोः ।
कर्म शस्तमतः तेषु दैवयुक्त्याश्रयं सदा । अ.स.उ. अ. २ ।

अर्थात्—शिशु को ऐसे रोग भी होते हैं जिनमें ग्रह दोष प्रकट नहीं होते—ग्रहों के व्यक्त लक्षण नहीं दिखते परन्तु ग्रहदोष होता है अत: सब रोगों में दैव व्यपाश्रय एवं युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये ।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो बालग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब बाल ग्रहों का वर्णन किया जायगा और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—बाल ग्रहों का वर्णन—सु. उ. अ. २७ से ३७ तक के अध्यायों में और अ. सं. उ. अ. ३ से ६ तक के अध्यायों में किया गया है । और वर्तमान चरक संहिता में इस प्रकार का स्पष्ट या विशद वर्णन नहीं मिलता तथापि—बालरक्षार्थ—भूतघ्न-ग्रह नाशक-धूपन, मणिधारण तथा औषध धारणकी व्यवस्था शा. अ. ८ में पाई जाती है और शा. अ ८ के सू. ६८ में—राक्षस, पिशाच एवं पूतना की चर्चा भी मिलती है और—च. चि. अ. ३० में—

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये ।
ते एवं सर्वे बालानां... ....। २८२ ।

अर्थात्—जो वातादि दोष रसादि दूष्य तथा पुरीषादि मल तथा ज्वर आदि एवं उन्माद अपस्मार आदि रोग—बड़ों—युवको एवं वृद्धों में होते हैं वे सब बालकों में भी होते हैं । यह कह कर ग्रहबाधाओं की ओर संकेत किया गया है ।

बालग्रहों की उत्पत्ति एवं संख्या—

पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिताः शूलपाणिना ।
मनुष्यविग्रहाः पञ्च सप्त स्त्रीविग्रहा ग्रहाः ॥१॥
स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहःपितृसंज्ञितः ।
शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना ॥२॥
मुखमंण्डलिका तद्वद्रेवती शुष्करेवती ।

व्याख्या—पूर्व काल में श्री महादेव (शिव) ने अपने पुत्र कार्तिकेय की रक्षा के लिये १२ ग्रहों की सृष्टि की थी । इन में ५ ग्रह मनुष्य शरीरवाले और ७ स्त्री-शरीर वाले थे । मनुष्य—नर शरीरवाले ग्रह हैं—१—स्कन्द, २—विशाख, ३—मेष (नैगमेष), ४—श्वग्रह तथा ५—पितृ नामक । स्त्री शरीर (नारी शरीर) वाले ग्रह हैं—१—शकुनि, २—पूतना, ३—शीत पूतना, ४—दृष्टि पूतना, ५—मुखमण्डलिका, ६—रेवती तथा ७—शुष्करेवती ।

वक्तव्य—अ. सं. अ. ३—

ते कामरूपिणः स्कन्दम् उपचेरुः समाहिताः ।
स्कन्दस्य बालधारत्वात् तेषु स्कन्दोऽग्रणीः अभूत् ।
स्कन्देऽथ यौवनं प्राप्ते सैनापत्यं च, तान् ग्रहान् ।
रौद्रान् रुद्रोऽनुजग्राह प्राञ्जलीन् वृत्यभिलाषिणः ।
न तिथिष्वप्यतिथयो देवताः पितरोऽपि वा ।
येषु वेश्मसु पूज्यन्ते निवृत्ताऽऽचारकर्मसु ।
उत्सन्नबलिहोमेषु भिन्नकांस्याऽऽदिभोजिषु ।
हरध्वं तेषु बालानामारोग्यं धर्मचारि च ।
शूलिनेति नियुक्ताः ते बलि पूजाऽभिकांक्षिणः ।
बालान् कश्मलधात्रीकान् सन्ध्यासु रुदतोऽशुचीन् ।
क्रुद्धान् भीतान् विमनसः शून्यस्थानैकचारिणः ।
परोपभुक्तकुसुमवस्त्राऽऽभरणधारिणः ।
ऋक्षोलूकबिडालादि रूपैरन्यैः तथाऽद्भुतैः ।
सन्त्रासयन्ति शयितान् कदाचित् जाग्रतोऽपि वा ।
प्रायः पर्वसु गृह्णन्ति ग्रहाः छिद्रप्रहारिणः ।
आविशन्तश्च लक्ष्यन्ते केवलं शास्त्रचक्षुषा ।
शुद्धेन देहं बालानां ग्रहगन्धर्वयोषिताम् ।

अर्थात्—भूत विद्यानुसार—जिन ग्रहों की सृष्टि श्री महादेवजी ने की थी वे भिन्न २ यथेष्ट रूप धारण कर सकते हैं और उन्होंने सावधान हो कार्तिकेयका उपचार किया उन में स्कन्द नामक ग्रह—कार्तिकेय का बालधार होने से मुख्य

माना जाता था (महादेव के पुत्र का भी नाम "कार्त्तिकेय" था)। जब कार्त्तिकेय—युवक हो गया और देवसेना का सेनापति हो गया तब भगवान् महादेव ने उन वृत्ति—वेतन के इच्छुक बुद्धिमान् एवं रौद्र (रुद्रानुयायी–रुद्र जात) ग्रहों पर अनुग्रह किया कि आप सब - उन घरो के बालकों के आरोग्य तथा धर्माचरण का अपहरण करो जिन घरो में—निश्चित तिथियों में भी—अतिथियों, देवताओं तथा पितरों का पूजन नहीं किया जाता और जिनमें सदाचार छोड़ दिया गया है, बलिदान एवं हवन करना छोड़ दिया गया है और टूटे फूटे कांस्य भाण्डो में भोजन किया जाता है। इस प्रकार नियुक्ति होने पर वे—बलि एवं पूजा की आकांक्षा से–मलिन धात्री वाले, सन्ध्या काल में रोते हुए, अपवित्र, क्रुद्ध, भीत, विकृत मन वाले, सूने स्थान में अकेला घूमने वाले तथा दूसरों के उपभुक्त—फूल, वस्त्र तथा भूषण धारने वाले बालकों को—भालू, उल्लू एवं बिडाल आदि तथा अन्यान्य अद्भुत–भयावने रूपों द्वारा–सोते समय कभी २ जागते समय भी डराते हैं। ग्रहों का आवेश प्रायः पर्व (अमावस आदि) के दिनों में होता है। और आवेश करते समय—वे केवल शुद्ध शास्त्रचक्षु से देखे जाते हैं। चर्मचक्षु से नहीं।

वक्तव्य—इसका वर्णन सु.उ.अ. २७ में देखिये ॥१-२॥

ग्रहावेश का पूर्वरूप—

तेषां ग्रहीष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः ॥ ३ ॥

व्याख्या—निरन्तर रोना तथा ज्वर ग्रहावेश का पूर्व रूप है ॥ ३ ॥

ग्रहावेश का सामान्य रूप—

सामान्यं रूपमुत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः।
फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदन्तदंशप्रजागराः ॥४॥
रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम्।
नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम् ॥५॥

व्याख्या—ग्रहावेश का सामान्य लक्षण—त्रास—उद्वेग, जृम्भा, भ्रूविक्षेप (भौं का टेढा पन) दीनता, मुख से लाला स्राव, ऊपर की ओर देखना, ओठ एवं दन्त काटना, निद्रा नाश—थोडी निद्रा, रोना, कुरलाना, स्तन्य पान में द्वेष, स्वर में विकृति और किसी कारण के बिना ही अपने तथा धात्री के शरीर को नखों से खरोचना ॥

वक्तव्य—ये लक्षण प्रायः सभी ग्रहावेशों में होते है ॥५॥

१—स्कन्दावेश का लक्षण—

स्कन्दगृहीतलक्षणम्।

तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः।
हतैकपक्षः स्तब्धाङ्गः सस्वेदो नतकन्धरः ॥६॥
दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरः।
वक्रवक्त्रो वमेल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते ॥७॥
वसाऽसृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः।
चालितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः ॥८॥
स्कन्दाऽऽर्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद् ध्रुवम्।

व्याख्या—स्कन्द नामक ग्रह से पीडित बालक के एक नेत्र से स्राव होता है, वह शिर को पटकता है—है—हिलाता है, उसका एक पक्ष मारा जाता है पक्षाघात हो जाता है, शरीर स्तब्ध हो जाता है, पसीना आता है, ग्रीवा गिर जाती है, दन्त काटता है—दन्त लग जाते हैं, स्तन नहीं चूँसता, डरता है—चिहुँकता है, रोता रहता है, स्वर विकृत हो जाता है, मुख टेढा हो जाता है, लाला स्राव लाला की वमन होती है, सर्वदा ऊपर की ओर देखता है, शरीर से वसा अथवा रक्त की सी गन्ध आती है, उद्विग्न—घबराया हुआ रहता है, मुट्ठी बाँधे रहता है, पुरीष रुक जाता है, एक नेत्र एक गण्डस्थल तथा एक भौं विचलित रहती है, दोनों नेत्र लाल हो जाते हैं। इस स्कन्दावेश से विकलता अथवा मृत्यु अवश्य हो जाती है ॥ ६–८ ॥

२—स्कन्दापस्मार-लक्षण

विशाखगृहीतलक्षणम्।

सञ्ज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः ॥९॥
विनम्य जृम्भमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम्।
फेनोद्वमनमूर्ध्वेक्षा-हस्तभ्रूपादनर्तनम् ॥१०॥
स्तनस्वजिह्वासन्दंशसंरम्भज्वरजागराः।
पूयशोणितगन्धिश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥११॥

व्याख्या—स्कन्दापस्मार अर्थात् विशाख नामक ग्रह का आवेश होने पर—बार-बार संज्ञा नाश, केश नोचना ग्रीवा गिरना, विनत होकर जम्हाई लेते रहना और उसी समय पुरीष एवं मूत्र की प्रवृत्ति, झाग की वमन, शिर घुमाना, नेत्र, हाथ, भौं तथा पाँव नचाना, स्तन तथा अपनी जीभ काटना, संरम्भ, ज्वर, जागरण तथा पूय एवं रक्त की गन्ध। यह स्कन्दापस्मार का लक्षण है।

वक्तव्य—सु. उ. अ. ३७—

स्कन्दाऽपस्मारसंज्ञो यः सोऽग्निनाऽग्निसमद्युतिः।
सच स्कन्दसखा नाम विशाख इति च उच्यते। ७।

अर्थात्—स्कन्दापस्मार नामक ग्रह का नाम विशाख है। उसकी सृष्टि अग्नि ने की थी. वह अग्नि के समान द्युति वाला है तथा स्कन्द ग्रह का मित्र है ॥९–११॥

३—नैगमेष ग्रह का लक्षण—

मेषलक्षणम्।

आध्मानं पाणिपादस्य स्पन्दनं फेननिर्वमः।

तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः ॥१२॥
कूजनं स्तननं छर्दिः कासहिध्माप्रजागराः ।
ओष्ठदंशाङ्गसङ्कोचस्तम्भबस्ताऽऽमगन्धताः ॥१३॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं मध्ये विनमनं ज्वरः ।
मूर्च्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाक्रान्तः ॥१४॥

व्याख्या—नैगमेष अर्थात् मेष नामक ग्रह का आवेश होने पर—आध्मान, हाथ, पाँव तथा मुख में कम्पन, मुख से झाग जाना, तृषा, मुट्ठी बँधना, अतिसार, स्वर वैठना, कान्ति नाश—वर्ण की विकृति, कुरलाना, स्तनन—आराँ २ करते रहना—मेष—मेड के समान शब्द करना—काँखना, छर्दि, कास, हिक्का, जागरण, ओठ काटना, अंगों का संकोच एवं स्तब्ध होना, बकरा की सी गन्ध अथवा आम की सी गन्ध आना, ऊपर को देखकर हँसना, मध्य काय का झुकना, ज्वर, मूर्छा तथा एक नेत्र में शोथ । ये लक्षण होते है ॥ १२–१४ ॥

४—श्वा नामक ग्रह के लक्षण

श्वग्रहलक्षणम् ।

कम्पो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम् ।
बहिरायामनं जिह्वादंशोऽन्तः कण्ठकूजनम् ॥१५॥
धावनं बिट्सगन्धत्वं क्रोशनं श्वानवच्छुनि ।

व्याख्या—श्वा नामक ग्रह का आवेश होने पर-कम्पन, रोमाञ्च, स्वेद, नेत्रमीचना, बाह्यायाम, जीभकाटना, कण्ठ के भीतर ही कुरलाना, इधर उधर दौड़ना, पुरीष की सी गन्ध आना तथा कुत्ता के समान भूकना । ये लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—इस का वर्णन वर्तमान सुश्रुत में नहीं है ॥१५॥

पितृ ग्रह का लक्षण—

पितृग्रहः ।

रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः ॥१६॥
कासातिसारवमथुजृम्भातृट्शवगन्धताः ।
अङ्गेष्वाक्षेपविक्षेपशोषस्तम्भविवर्णताः ॥१७॥
मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे ।

व्याख्या—पितृ ग्रह का आवेश होने पर—रोमाञ्च, वार २ डरना, एकाएकी रोना, ज्वर, कास, अतिसार, छर्दि, जृम्भा, तृषा, शव की सी गन्ध, अंगों में आक्षेप (झटके लगना) तथा अंग पटकना, शोष, स्तब्धता तथा वर्ण की विकृति होना, मुट्ठी बन्धना, तथा नेत्रों से पानी जाना । ये लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—इस ग्रह का वर्णन वर्तमान सुश्रुत में नहीं है ॥ १६–१७ ॥

शकुनी ग्रह का लक्षण –

शकुनि. ।

स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वातालुगले व्रणाः ॥१८॥
स्फोटाः सदाहरुक्पाकाः सन्धिषु स्युः पुनःपुनः ।
निश्यन्हि प्रविलीयन्ते पाको वक्त्रे गुदेऽपि वा ॥१९॥
भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे ।

व्याख्या—शकुनि नामक ग्रह का आवेश होने पर-शरीर में शिथिलता, अतिसार, जीभ, तालू (मुख की छत) तथा गले के भीतर व्रण—क्षत, सन्धि स्थलों पर—रात्रि में बार २ दाह, वेदना एवं पाक से युक्त स्फोट (फफोले–फोड़े) उत्पन्न हो जाते हैं और दिन मे विलीन हो जाते हैं, मुख एवं गुद में पाक- क्षत होता है, भय लगना, पक्षी के समान गन्ध आना तथा ज्वर ये लक्षण होते है ।

वक्तव्य—सु. उ. अ. २७ में इसका लक्षण है—

स्रस्ताङ्गो भय चकितो विहङ्गगंधिः
संस्रावि व्रणपरिपीडितः समन्तात् ।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकैः
विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या । १० ।

२—पूतना ग्रह का लक्षण—

पूतना

पूतनायां वमिः कम्पस्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः ॥२०॥
हिध्माध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः ।
स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्वं काकवत्पूतिगन्धता ॥ २१ ॥

व्याख्या—पूतना ग्रह का आवेश होने पर—छर्दि, कम्पन, तन्द्रा, रात्रि में जागरण, हिक्का, अफारा, मलभेद, तृषा, मूत्ररोध, शरीर में शिथिलता, रोम हर्ष तथा काक के समान गन्ध आना । ये लक्षण होते हैं ।। २०-२१ ॥

३—शीत पूतना ग्रह का लक्षण—

शीतपूतना

शीतपूतनया कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणम् ।
तृष्णाऽन्त्रकूजोऽतीसारो बसावद्विस्रगन्धता ॥ २२ ॥
पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च ।

व्याख्या—शीत पूतना ग्रह का आवेश होने स—कम्पन, रोदन, तिरछा देखना, तृषा, अन्त्रकूजन, अतिसार, वसा की सी विस्र (अरुचिकर) गन्ध आना, शरीर के एक ओर का भाग शीत तथा दूसरी ओर का भाग उष्ण होना ये लक्षण होते हैं ॥ २२ ॥

४—अन्ध पूतना ग्रह का लक्षण—

अन्धपूतना ।

अन्धपूतनया छर्दिर्ज्वरः कासोऽल्पनिद्रता ॥२३॥
वर्चसो भेदवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यान्यङ्गशोषणम् ।
दृष्टिसादोऽतिरुक्कण्डूपोथकीजन्मशून्यता ॥ २४ ॥
हिध्मोद्वेगस्तनद्वेष-वैवर्ण्यं स्वरतीक्ष्णता ।
वेपथुर्मत्स्यगन्धित्वमथवा साम्लगन्धिता ॥२५॥

व्याख्या—अन्धपूतना अर्थात् दृष्टिपूतना ग्रह से—छर्दि, ज्वर, कास, मन्दाग्नि (अल्पनिद्रता पाठान्तर भी है), पुरीष का भेद, वर्णविकृति तथा दुर्गन्ध, शरीर के अंगों का शोष, दृष्टि में दुर्बलता, अत्यन्त वेदना, कण्डू पोथकी (रोहे) तथा शून्यता, हिक्का, उद्वेग, स्तन द्वेष, कान्ति में विकृति, स्वर में तेजी, कम्पन तथा मछली की सी अथवा काञ्जी की सी गन्ध आना। ये लक्षण होते है ॥ २३-२५ ॥

५—मुखमण्डिता ग्रह का लक्षण—

मुखमण्डतिका।

मुखमण्डितया पाणिपादस्य रमणीयता।
सिराभिरसिताभाभिराचितोदरता ज्वरः ॥२६॥
अरोचकोऽङ्गग्लपनं गोमूत्रसमगन्धता।

व्याख्या—मुख मण्डिता अर्थात् मुख मण्डलिका ग्रह का आवेश होने से—हाथ पाँव में सुन्दरता, उदर पर काली २ सिरा दिखाई देना, ज्वर, अरोचक, शरीर में कृशता तथा गो मूत्र की सी गन्ध आना। ये लक्षण होते हैं। २६।

६—रेवती ग्रह के लक्षण—

रेवती।

रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम् ॥२७॥
कासहिध्माक्षिविक्षेप-वक्त्रवक्रत्वरक्तताः।
बस्तगन्धो ज्वरः शोषः पुरीषं हरितं द्रवम् ॥२८॥

व्याख्या—रेवती ग्रह का आवेश होने से—वर्ण में कालापन तथा नीलापन, बालक कानों, नासा एवं नेत्रों को हाथों से मलता रहता है, कास, हिक्का, नेत्र का विक्षेप—घुमाना, मुख में टेडा पन तथा लालिमा, बकरा की सी गन्ध आना, ज्वर, शोष तथा पुरीष में हरापन तथा पतलापन। ये लक्षण होते हैं। २७-२८।

७—शुष्क रेवती ग्रह के लक्षण—

शुष्करेवती।

जायते शुष्करेवत्यां क्रमात्सर्वाङ्गसङ्क्षयः।

व्याख्या—शुष्क रेवती का आवेश होने पर—समस्त अंग क्रमशः क्षीण—कृश एवं बलहीन होता जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में शुष्क रेवती का वर्णन नहीं है। इस में सुखण्डी की सी दशा हो जाती है। और दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से लाभ होता है।

असाध्य ग्रहावेश का लक्षण—

असाध्यलक्षणम्।

केशशातोऽन्नविद्वेषः स्वरदैन्यं विवर्णता ॥२९॥
रोदनं गृधगन्धित्वं दीर्घकालानुवर्तनम्।
उदरे ग्रन्थयो वृत्ता यस्य नानाविधं शकृत् ॥३०॥
जिह्वाया निम्नता मध्ये श्यावं तालु च तं त्यजेत्।

व्याख्या—ग्रहावेश में—केश उखड़ जाय, अन्न में द्वेष हो, स्वर में दीनता हो, वर्ण में विकृति हो, रोदन हो गिद्ध कीसी गन्ध आती हो, दीर्घ काल का आवेश हो, उदर में अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ हों, अनेक प्रकार का पुरीष आता हो, जीभ के मध्य भाग में निम्नता हो और तालु (मुख तालु) काला हो गया हो तो उस रोगी बालक की चिकित्सा न करे। क्योंकि वह असाध्य होता हैं ॥ २९-३० ॥

शुष्करेवती का असाध्य लक्षण—

भुञ्जानोऽन्नं बहुविधं यो बालः परिहीयते ॥३१॥
तृष्णागृहीतः क्षामाक्षो हन्ति तं शुष्करेवती।

व्याख्या—अनेक प्रकार का (रुचिकारक) आहार करता हुआ भी बालक यदि क्षीण होता जाता हो और तृषा तथा नेत्रों में दुर्बलता हो तो उस बालक को शुष्क रेवती ग्रह मार डालता है, (सुखण्डी में अण्डा खाने से लाभ होता है परन्तु यदि अण्डा आदि पोषक आहार से भी लाभ न हो तो समझो कि असाध्य है) ॥ ३१ ॥

ग्रहावेश के कारण—

हिंसारत्यर्चनाकाङ्क्षा ग्रहग्रहणकारणम् ॥३२॥

व्याख्या—ग्रहावेश-ग्रहों का आवेश होने के तीन कारण हैं—१—हिंसा-मार डालने की इच्छा, २—रति-रमण की इच्छा तथा ३ पूजा-बलि आदि को लेने की इच्छा ॥

वक्तव्य – च. शि. अ. ७—

त्रिविधं तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति, तत् कथा—हिंसा, रति, अभ्यर्चनं चेति। तेषां तं प्रयोजनविशेषमुन्मत्ताऽऽचारविशेषैः विद्यात् ॥ ३२ ॥

हिंसा के लिये आवेश के लक्षण—

तत्र हिंसात्मके बालो महान् वा स्रुतनासिकः।
क्षतजिह्वः क्वणेद्गाढमसुखी साश्रुलोचनः ॥३३॥
दुर्वर्णो हीनवचनः पूतिगन्धिश्च जायते।
क्षामो मूत्रपुरीषं स्वं मृद्नाति न जुगुप्सते ॥३४॥
हस्तौ चोद्यम्य संरब्धो हन्त्यात्मानं तथा परम्।
तद्वच्च शस्त्रकाष्ठाद्यैरग्निं वा दीप्तमाविशेत् ॥३५॥
अप्सु मज्जेत्पतेत्कूपे कुर्यादन्यच्च तद्विधम्।
तृड्दाहमोहान् पूयस्य छर्दनं च प्रवर्तयेत् ॥३६॥
रक्तं च सर्वमार्गेभ्यो रिष्टोत्पत्तिं च तं त्यजेत्।

व्याख्या—यदि हिंसा के लिये ग्रह बालक अथवा महान् (बड़ा-युवक एवं वृद्ध) में आवेश करता है तो—नासा से स्राव होता है, जीभ पर क्षत होते हैं, रोगी कुरळाता है तथा अत्यन्त दुःखी रहता है, नेत्र से आंसू

गिरते रहते हैं, वर्ण बिगड़ जाता है, स्वर बैठ जाता है, दुर्गन्धि आती है, क्षीण हो जाता है, अपने मूत्र एवं पुरीष को मलता है और उससे घृणा नहीं करता, हाथों को उठाकर तथा घुड़क कर अपने को तथा दूसरे को मारता-पीटता है। इसी प्रकार शस्त्र एवं लाठी आदि से मारता है—प्रहार करता है अथवा स्वयं अग्नि में कूद पड़ता है, जल में डूब मरता है, कूप में गिर पड़ता है, अथवा आत्मघात के लिये अन्यान्य फांसी लेना आदि उपाय करता है, तृषा, दाह, मोह एवं पूय की छर्दि प्रारम्भ हो जाती है सब स्रोतों से रक्त जाने लगता है अथवा अन्यान्य रिष्ट लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस दशा में असाध्य समझ कर उसकी चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—च. नि. अ. ७—

तत्र हिंसार्थिना (भूतेन) उन्माद्यमानो अग्निं प्रविशति, अप्सु निमज्जति, स्थलात् श्वभ्रेवा निपतति शस्त्र कशा काष्ठ लोष्ठ मुष्टिभि हन्ति आत्मानम्, अन्यत् च प्राणवधार्थम् आरभते किञ्चित् तमसाध्यं विद्यात्, साध्यौ पुनः द्वौ इतरौ ।१७। अर्थात् प्राणी की हिंसा की इच्छा से यदि भूत (ग्रह) आवेश करता है तो वह असाध्य होता है और दूसरी दो इच्छाओं की पूर्ति के लिये यदि भूत आवेश करता है तो साध्य होता है उचित उपचार से लाभ हो जाता है ।।३३-३ ।।

रति के लिये आवेश के लक्षण—

रहः स्त्रीरतिसंलापगन्धस्रग्भूषणप्रियः ।।३७।।
हृष्टः शान्तश्च दुःसाध्यो रतिकामेन पीडितः ।

व्याख्या—यदि किसी को रति-रमण की इच्छा पूर्ति के लिये-ग्रह पीडित करता है—आविष्ट होता है तो रोगी—एकान्त निवास की, मैथुन की, सुन्दर वार्तालाप की, गन्ध (इत्र आदि सुगन्धियों की), मालाओं तथा भूषणों की अभिलाषा करता है, प्रसन्न तथा शान्त रहता है। यह कष्ट साध्य होता है।

बलि के लिये आवेश के लक्षण—

दीनः परिमृशोद्वक्त्रं शुष्कोष्ठगलतालुकः ।। ३८ ।।
शङ्कितं वीक्षते रौति ध्यायत्यायाति दीनताम् ।
अन्नमन्नाभिलाषेऽपि दत्तं नाति बुभुक्षते ।। ३९ ।।
गृहीतं बलिकामेन तं विद्यात्सुखसाधनम् ।

व्याख्या—बलि की कामना अभिलाषा से यदि ग्रह आवेश करता है तो—रोगी—दीन बना रहता है, कुछ बोलने के लिये विचारता रहता है, उसके ओठ, गल तथा तालु रूखे रहते हैं, शंकित होकर इधर उधर देखता है. रोता है. चिन्ता करता है और डरता है, खाने पीने की इच्छा होने पर भी दिये गये आहार को अधिक मात्रा में नहीं खाता। इस दशा में उसे बलि के अभिलाषी ग्रह द्वारा गृहीत—आविष्ट समझना चाहिये। यह सुख साध्य होता है—बलि देने पर ग्रह-छोड़ देता है ।। ३८-३९ ।।

अन्य संकेत—

हन्तुकामं जयेद्धोमैः सिद्धमन्त्रप्रवर्तितैः ।। ४० ।।
इतरौ तु यथाकामं रतिबल्यादिदानतः ।

व्याख्या—हिंसाभिलाषी ग्रह का आवेश होने पर भी सिद्ध मन्त्रों द्वारा हवन करके उसे शान्त करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। और रत्यभिलाषी ग्रह को रति दान से और बल्यभिलाषी ग्रह को बलिदान से शान्त करना चाहिये।

वक्तव्य—श्लोक ३० से ३८ तक का प्रसंग श्री वाग्भट ने इस अध्याय में इसलिये रख दिया है कि १६ वर्ष की वयस् तक नर एवं नारी बालक कहे जाते हैं अतः उनको यदि भूतावेश होता है तो वह "बाल ग्रह" ही माना जाता है। यह प्रसंग च. नि. अ. ७ तथा चि. अ ९ अर्थात् उन्माद रोग में और सु. उ. अ. ६० अर्थात् अमानुषोपसर्ग में वर्णित है। सुश्रुत के उक्त अध्याय में लिखा है कि—

हिंस्युः हिंसा विहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ।। ५ ।

अर्थात्—देव एवं राक्षस् आदि ग्रह-हिंसा के लिये अथवा विहार-रति के लिये अथवा सत्कार-बलि-पूजा के लिये आवेश करते हैं ।।४०।।

ग्रहावेश की चिकित्सा—

क्रियाक्रममाह—

अथ साध्यग्रहं बालं विविक्ते शरणे स्थितम् ।। ४१ ।।
त्रिरह्नः सिक्तसम्मृष्टे सदा सन्निहितानले ।
विकीर्णभूतकुसुमपत्रबीजान्नसर्षपे ।। ४२ ।।
रक्षोघ्नतैलज्वलित-प्रदीपहतपाप्मनि ।
व्यवायमद्यपिशित-निवृत्तपरिचारके ।।४३।।
पुराणसर्पिषाऽभ्यक्तं परिषिक्तं सुखाम्बुना ।
साधितेन बलानिम्बवैजयन्तीनृपद्रुमैः ।।४४।।
पारिभद्रककट्वङ्गजम्बूवरुणकट्तृणैः ।
कपोतवङ्कापामार्गपाटलामधुशिग्रुभिः ।। ४५। ।
काकजङ्घामहाश्वेता-कपित्थक्षीरिपादपैः ।
सकदम्बकरञ्जैश्च धूपं स्नातस्य चाचरेत् । ४६।।
द्वीपिव्याघ्राहिसिंहर्क्षचर्मभिर्घृतमिश्रितैः ।

व्याख्या—साध्य ग्रह से गृहीत बालक को एकान्त तथा स्वच्छ घर में रखना चाहिये और वहाँ दिन भर में तीन बार अभिमन्त्रित जल का सिञ्चन—छिड़काव होना चाहिये और वह सिञ्चन सूख जाना चाहिये, वहाँ सर्वदा अग्नि रहे, भस्म, पुष्प, पत्र, रीठा आदि के बीज, अन्न तथा श्वेत सरसों बिखरी रहे, भूत शामक तैल अथवा सर्षप तैल का दीपक जलता रहे और उससे पाप का

विनाश होता रहे या शान्ति कर्म आदि से पाप का विनाश —शमन होता रहे (प्रदीपे पाठान्तर भी है), वहाँ के सब परिचारक-मैथुन, मद्यपान तथा मांस-भक्षण से निवृत्त रहें। वहाँ बालक को पुराने घृत का अभ्यङ्ग करके कोसे जल से नहलावे। वह जल—बला, निम्ब, अरणी, अमलतास के पत्र, फरहद (अथवा पारिजातक) सोनापाठा, जामुन के पत्र, वरुण की छाल, रोहिष तृण, हुलहुल, अपामार्ग, पाढल, मीठा सहजन, काकजंघा, कोयल, कैथ के पत्र, वट आदि क्षीरी वृक्षों की छाल, कदम्ब छाल तथा करञ्ज के पत्रों के योग से सिद्ध किया गया हो।

नहलाने के अनन्तर—शार्दूल नामक वाघ सर्प, सिंह तथा भालू के चमड़ों को घृत में मिलाकर धूप देवे। ४१-४६।

पूत्यादि धूप—

पूतीदशाङ्गसिद्धार्थवचाभल्लातदीप्यकैः ॥ ४७ ॥
सकुष्ठैः सघृतैर्धूपः सर्वग्रहविमोक्षणः।

व्याख्या—पूति करञ्ज (डिठोरीनामकवृक्षो वाराणसी नगरे प्रसिद्धः) दशाङ्गी (देखिये श्लोक ४८), सुफेद सरसों, बालवच, भिलावा, अजवायन तथा सुगन्धि कूठ को घृत में मिलाकर धूप देवे। इस धूप से सब ग्रहों से मुक्ति प्राप्त होती है। ४७।

दशाङ्गी धूप—

वचाहिङ्गुविडङ्गानि सैन्धवं गजपिप्पली ॥४८॥
पाठा प्रतिविषा व्योषं दशाङ्गः कश्यपोदितः।

व्याख्या— १—बालवच, २—हींग, ३—विडंग, ४—सैन्धव लवण, ५—गज पीपल, ६—पाठा, ७—अतीस, ८—सोंठ, ९—मरिच तथा १०—पीपल। इन १० द्रव्यों के योग का नाम "दशाङ्ग" है और यह महर्षि कश्यप का कथन है।

वक्तव्य—उ. अ. ३७ श्लोक ३० देखिये वहाँ इस इस योग का नाम "दशाङ्ग अगद" है ॥४८॥

सर्षपादि धूप—

सर्षपा निम्बपत्रार्कमूलमश्वखुरा वचा ॥ ४९ ॥
भूर्जपत्रं घृतं धूपः सर्वग्रहनिवारणः।

व्याख्या—श्वेत सरसों, निम्ब के पत्र तथा मूल, घोड़ा का खुर (सुम). बालवच, भोजपत्र तथा घृत का धूप—सब ग्रहों का निवारण करता है। ४९।

अनन्तादि घृत—

अनन्ताऽऽम्रास्थितगरं मरिचं मधुरो गणः ॥५०॥
शृगालविन्ना मुस्ता च कल्कितैस्तैर्घृतं पचेत्।
दशमूलरसक्षीरयुक्तं तद्ग्रहजित्परम् ॥ ५१ ॥

व्याख्या—जवासा, आम की गिरी, तगर, मरिच, मधुर गण (सू अ. १०) के द्रव्य, पृश्नपर्णी तथा मोथा का कल्प १ भाग, गो घृत ४ भाग तथा दशमूल का क्वाथ १६ भाग और गो दुग्ध ४ भाग मिलाकर घृत पकावे। यह घृत सब ग्रहों को शान्त करता है। ५०-५१।

रास्नादि घृत—

रास्ना द्वयंशुमती वृद्ध-पञ्चमूलवचाघनात्।
क्वाथे सर्पिः पचेत्पिष्टैः सारिवाव्योषचित्रकैः ॥५२॥
पाठाविडङ्गमधुकपयस्याहिंगुदारुभिः।
सग्रन्थिकैः सेन्द्रयवैः शिशोस्तस्सततं हितम् ॥ ५३ ॥
सर्वरोगग्रहहरं दीपनं बलवर्णदम्।

व्याख्या—रासना, शालपर्णी, विल्वादि पञ्चमूल, बालवच, तथा मोथा का क्वाथ १ भाग, घृत ४ भाग, सारिवा, सोंठ, मरिच, पीपल, चित्तामूल, पाठा, विडंग, मुलेठी, क्षीर विदारी कन्द, हींग, देवदारु, पीपलामूल तथा इन्द्र जौ का कल्क १ भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—शिशु के लिये सर्वदा कल्याण कारक है, सब रोगों तथा ग्रहों को शान्त करता है, दीपन है तथा बल एवं कान्ति बढ़ाता है ॥ ५२,५३ ॥

सारिवादि घृत—

सारिवासुरभिब्राह्मीशङ्खिनीकृष्णसर्षपैः ॥ ५४ ॥
वचाऽश्वगन्धासुरसायुक्तैः सर्पिर्विपाचयेत्।
तन्नाशयेद् ग्रहान् सर्वान् पानेनाभ्यञ्जनेन च ॥५५॥

व्याख्या—सारिवा, सुरभी, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, काली सरसों, बालवच, असगन्ध तथा तुलसी के योग से घृत सिद्ध करे। यह पान एवं अभ्यङ्ग द्वारा सब ग्रहों को नष्ट करता है ॥ ५४,५५ ॥

गो शृङ्गादि धूप—

गोशृङ्गलोमबालाहिनिर्मोकवृषदंशविट्।
निम्बपत्राज्यकटुका-मदनं बृहतीद्वयम् ॥ ५६ ॥
कार्पासास्थियवच्छागरोमदेवाह्वसर्षपम्।
मयूरपत्रश्रीवासं तुषकेशं सरामठम् ॥ ५७ ॥
मृद्भाण्डे बस्तमूत्रेण भावितं श्लक्ष्णचूर्णितम्।
धूपनार्थं हितं सर्वभूतेषु विषमे ज्वरे ॥ ५८ ॥

व्याख्या—गौ का सींग एवं रोम (अथवा चर्म पाठान्तर हैं अतः त्वचा) एवं पूंछ के बाल, साँप की केंचुली, बिल्ली का पुरीष, निम्ब के पत्र, घृत, कुटकी, मोम, कण्टकारी के फल, वनभण्टा के फल, बिनौला, जौ, बकरा के रोम, देवदारु, सरसों, मोर के पंख, गन्धाबिरोजा (लोबान) तुष, मानव के केश तथा हींग। सबको पीस कर मिट्टी के भाण्ड में रख कर बकरा के मूत्र की भावना देवे।

यह योग—सब प्रकार के भूतावेश में तथा विषम ज्वर में धूप देने से लाभ करता है ॥ ५६-५८ ॥

संकेत—

घृतानि भूतविद्यायां वक्ष्यन्ते यानि तानि च ।
युञ्ज्यात्तथा बलिं होमं स्नपनं मन्त्रतन्त्रवित् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—भूत विद्या (अ. ५) में जो २ घृत कहे गये हैं उनका तथा बलियों का, होम एवं स्नपन (नहलाना) का प्रयोग—मन्त्र एवं तन्त्र—मन्त्र शास्त्र का वेत्ता-विद्वान् करे ।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ४—बलि होम तथा अ. ५ स्नपन की विधि इसप्रकार है—

हस्तमात्रं शुचौ देशे गोमयेनोपलेपयेत् ।
तत्राक्षतानां चोक्षाणां स्थाप्यं पात्रं सदक्षिणम् ।
विधूमश्चानलः तोयं गुग्गुलुः सर्पिराहुतिः ।
शुक्लं पुष्पं बलिः धूपं दूर्वाः श्वेताश्च सर्षपाः ।
प्राक् मुखोऽथ शुचिः वैद्यः त्रिवर्णामथवाऽसिताम् ।
उपविष्टः प्रतिसरां गृहीत्वा वेष्टयेत् तया ।
भूर्जे रोचनया विद्यां लिखितामपराजिताम् ।
विधिना साधितां भूतैः सर्वैरप्यपराजिताम् ।
लक्ष्मणाऽऽदिपरीवारां नित्याऽनुस्मृतिसेविताम् ।
लक्ष्मणा, सहदेव्याख्या, नागदन्ती, कटम्भरा ।
मर्कटी, कर्कटी, लम्बा बृहती कण्टकारिका ।
खरनासा, मृगेर्वारुः, महाकोशा, शतावरी ।
उदक् मुखस्य बालस्य बध्नीयाच्च ततो गले ।
तत अभावे दृढं क्षौमं सूत्रं मंत्र मिमं जपन् ।
बध्नाम्यहं प्रतिसरां नमस्कृत्य स्वयंभुवे ।
बालानां रक्षणार्थाय शिवां पूर्वर्षिनिर्मिताम् ।
इन्द्रः प्रतिसरां तुभ्यं ये च तस्याऽनुसारिणः ।
वज्राऽशनिपराभूता मेघवृन्दाऽनुसारिणः ।
ऐरावतस्कन्धगतं येऽनुयान्ति पुरन्दरम् ।
मेषसूकरसिंहोष्ट्रगजवाजिसमाऽऽनना ।
कालाःकालाऽऽयसैःपाशैःस्तब्धाऽक्षभ्रुकुटीमुखाः ।
शक्तिमुद्गरहस्ताश्च खड्गप्रासधराश्च ये ।
पाशभृत् वरुणो राजा तोयभृत् सागरालयः ।
शारदाऽभ्रघनाकारा ये च तस्याऽनुसारिणः ।
महोर्मिमन्तं वेगेन क्षोभयन्ति सरित्पतिम् ।
धनाऽधिपो वैश्रवणः सर्वयक्षाऽधिपो भुवि ।
नानाऽऽकाराश्च येभूताः तस्यैवाऽनुचराःसदा ।
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाऽश्विनो अपि ।
ते ते सर्वेऽनुमन्यन्तां इमां प्रतिसरक्रियाम् ।
दीर्घमायुररोगत्वं तव दास्यन्ति स्वस्ति ते ।
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति नारदपर्वतौ ।
स्वस्ति वेदाश्च यज्ञाश्च अग्नीषोमौ तु स्वस्ति ते ।
स्वस्ति ते श्रीः धृतिः कान्तिः लक्ष्मी मेधा क्षमा द्युतिः ।
स्वस्ति तुष्टिश्च पुष्टिश्च वपुःह्रीः बुद्धिः एव च ।
स्वस्ति रुद्रो विशाखश्च स्कन्दः शक्तिधरश्च ते ।
स्वस्ति धाता विधाता च सुपर्णश्च महाबलः ।
स्वस्ति देवाश्च यक्षाश्च मा च ते पापमागमत् ।
दुर्व्याहृतानि दुःस्वप्ने मनसा चिन्तितानि च ।
दुष्टादीना भयकृतो वाचः प्रतिहता मया ।
रक्षा प्रतिसरां तुभ्यं बद्धा इयं पापघातिनी ।
निर्दुःखस्त्वं निरुद्वेगो जीव वर्षशतं सुखी । इति ।

अर्थात्—पवित्र स्थान में—एक हाथ भर चतुष्कोण भूमि गोबर से लीपे, वहाँ उत्तम चावलों का पात्र दक्षिणा युक्त रख देवे, धूप रहित अग्नि एवं जल कुम्भ धर देवे और अग्नि में गूगल एवं घृत की आहुति डाले, श्वेत पुष्प, बलि (नारियल), धूप, दूब तथा श्वेत सरसों धर देवे । पूर्व दिशा की ओर मुख करके वैद्य बैठ जाय और तीन वर्ण के सूत्रों की अथवा काले सूत्र की प्रतिसरा (रक्षासूत्र) बनावे, भोजपत्र पर गोरोचन के घोल से "अपराजिता" नामक सिद्ध मन्त्र लिखकर अथवा लक्ष्मणा आदि कोई एक औषधि उस रक्षा सूत्र में बाँध कर बालक के गले में पहना देवे । यदि यह सब न हो सके तो केवल रेशम का डोरा "बध्नाम्यहं.........इति" इस मन्त्र का जप—उच्चारण करके पहना देवे ।

बलि एवं धूप —

अपूप पूप संयाव स्वस्तिका लोपिकादयः ।
पायसो मिश्रकः कूरो गुडकूरो हरिद्रकः ।
कृशरा यावकः क्षौद्रं पललं लवणं हविः ।
दधि कुल्माष निष्पावा रक्तो भूतौदनः पयः ।
पक्वाऽऽममांसरुधिरमद्यनुक्तसुरासवाः ।
गन्धं माल्यं फलं हेम, धूपः सपुरकुन्दरुः ।
सुरसार्जकनिर्गुण्डी कुसुमं च सपल्लवम् ।
बलिः सशस्त्रैः देयः स्यात् भवनस्य चतुर्दिशम् ।
चतुष्कचैत्यत्रिपथदेवाऽऽयतन गोपुरे ।
एकवृक्षोदपाने च सन्ध्ययोः दीपवान् निशि ।

अर्थात्—अपूप एवं पूप आदि बनाकर मृत्तिका पात्र में धरे और मधु, तिलकुट, लवण, घृत, दही, उबाले हुए मटर एवं लाल चावल, दूध, पक्व एवं अपक्व मांस, रक्त, मद्य, इत्र, फूल, फल तथा सुवर्ण धर, गूगल एवं कुन्दरु की धूप देकर, तुलसी आदि फूल एवं पत्र धर, हाथ में शस्त्र लेकर बालक के घर की चारों दिशाओं में बलि देवे अथवा चौराहे आदि पर सन्ध्या काल में बलि देवे और रात्रि में दीप सहित बलि देवे ।

होम—

ओं क्षानीला खला काला कुमार पिचाश रेवती रोदन त्रासन क्रम्पन जम्भण उत्थापय देवयक्षगन्धर्वभूतानां नागराक्षससन्तर्जनदण्डना विधूसारय भगवन् अग्निदण्ड अग्निवीर्य नमस्तेजसा स्वेन त्यक्तम् उत्सादय स्वाहा भूर्भुवाय स्वाहा, दीप्ततेजसे स्वाहा, हव्यवाहाय स्वाहा, यमाय स्वाहा। इस प्रकार होम करे। इस होम से सब बाल ग्रह शान्त हो जाते हैं। इसका नाम कुल विद्या है। यदि होम के समय अग्नि स्वाभाविक रूप वाली प्रज्वलित हो तो आरोग्य लाभ होता है और यदि विकृत वर्ण वाली हो और विकृत गन्ध वाली हो तो आरोग्य लाभ नहीं होता।

स्नपन—अ. सं. उ. अ. ५—

सरित्संगमगोतीर्थगजेन्द्रस्कन्धगोकुले।
चतुष्पथे वा स्नपयेत् बालं सस्तन्यमातरम्।
श्मशाने दीर्घरोगार्त्तं मृतापत्यं च पोषि.म्।
दूर्वा क्षीरि द्रुमवती प्राक् उदक् प्रवणा मही।
स्निग्ध नीरुज पुष्पाढ्याः पादपाः स्नपने शुभाः।
रेवती श्रवण स्वाती प्राजापत्योत्तरेऽहति।
पुष्पे मूले च बालस्य स्नानं पर्वदिनेषु च।

अर्थात्—नदियों के संगम पर, गो घाट पर, हाथी के स्कन्ध पर, गोशाला में अथवा चौरास्ता पर—दूध पिलाने वाली माता के साथ बालक का स्नान करावे।

दीर्घ कालीन रोग से पीडित बालक तथा मृतवत्सा स्त्री का स्नान श्मशान में करावे।

स्नान भूमि—दूब वाली, वट आदि क्षीरी वृक्ष वाली तथा पूर्व अथवा उत्तर की ओर ढलाउ हो। अथवा हरे भरे वृक्ष के नीचे स्नान करावे। रेवती, स्वाती, श्रवण, पुष्प अथवा मूल नक्षत्र में अथवा पर्व के दिन स्नान करावे। प्रत्येक ग्रह की शान्ति के उपाय—अ. सं. अ. ६ तथा सु. उ. तं. अ. २८ से ३६ में देखिये ॥५९।

स्नानार्थ जल—

पूतीकरञ्जत्वक्पत्रं क्षीरिभ्यो बर्बरादपि।
तुम्बीविशालारलुकाशमीबिल्वकपित्थतः॥ ६०॥
उत्क्वाथ्य तोयं तद्रात्रौ बालानां स्नपनं शिवम्।

व्याख्या—पूती करञ्ज के, वट आदि के, बर्बर (चन्दनाकार वृक्ष) के, तुम्बी के, इन्द्रायण के, सोना पाठा के, शमी (जण्डी) के, बिल के तथा कैथ के पत्र एवं छाल को जल में पका कर और छान कर रात्रि में बालक का स्नान करावे तो कल्याण हो जाता है। ६०।

चिकित्सा का संकेत—

अनुबन्धाद्यथाकृच्छ्रं ग्रहापायेऽप्युपद्रवान्।
बालामयनिषेधोक्तभेषजैः समुपाचरेत् ॥६१॥

व्याख्या—ग्रहों की शान्ति हो जाने पर भी यदि ज्वर आदि उपद्रव लगे रहें तो उन रोगों को चिकित्सा बालामय प्रतिषेधाध्याय (अ. २) में कही गई औषधियों के द्वारा करनी चाहिये।

इति कौमार तन्त्रम्।

—:o:—

चतुर्थोऽध्यायः

भूत विज्ञान

अथाऽतो भूतविज्ञानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब भूतविज्ञान (भूत विद्या) का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—भूत विज्ञान का वर्णन—च. नि. अ. ७ तथा चि. अ. ९ में और सु. उ. अ. ६० में और अ. सं. उ. अ. ७ में देखिये। भूत विद्या अष्टाङ्ग आयुर्वेद का एक अङ्ग है इसमें देव असुर आदि भूतों के आवेश का तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन है यथा—भूत विद्या नाम देव असुर गन्धर्व यक्ष रक्षः पितृ पिशाच नाग ग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् (सु. सू. अ. १-८) और—तस्य आयुर्वेदस्य अङ्गानि अष्टौ, तद् यथा—काय चिकित्सा, शालाक्यम्, शल्याऽपहर्तृकम्, विषगरवैरोधिक प्रशमनम्, भूतविद्या, कौमारभृत्यकम्, रसायनानि वाजीकरणम् इति। २८। च, सू. अ. ३०। इन सब में भूत विद्या का संकेत है।

भूतावेश का सामान्य लक्षण—

लक्षयेज्ज्ञानविज्ञानवाक्चेष्टाबलपौरुषम्।
पुरुषेऽपौरुषं यत्र तत्र भूतग्रहं वदेत्॥ १॥

व्याख्या—जिस पुरुष (नर नारी) में—पुरुष से विलक्षण ज्ञान, विज्ञान, वाक् (वाणी—भाषा), चेष्टा (कर्म-व्यापार) बल (शक्ति) तथा पौरुष (उत्साह-तेजस्) दिखाई देवे उसमें भूत ग्रह का आवेश समझना चाहिये। १।

भूतावेश के विशिष्ट लक्षण—

भूतस्य रूपप्रकृतिभाषागत्यादिचेष्टितैः।
यस्यानुकारं कुरुते तेनाविष्टं तमादिशेत्॥ २॥
सोऽष्टादशविधो देवदानवादिविभेदतः।

व्याख्या—जो देव आदि भूत के रूप, प्रकृति—स्वभाव भाषा (बोली) तथा गति (चलना,-प्राप्त करना आदि चेष्टाओं का अनुकरण करता है उस पुरुष को उस

भूत से आविष्ट समझना चाहिये। वह आवेश करने वाले भूत १८ माने जाते हैं—

१—देव (सुर), २—दानव (असुर), ३—गन्धर्व, ४—उरग (सर्प-नाग), ५—यक्ष, ६—ब्रह्म राक्षस, ७—राक्षस, ८—पिशाच, ९—प्रेत, १०—कूष्माण्डक, ११—कालाद (निषाद) १२—औकिरण, १३—वेताल, १४—पितृ १५ ऋषि, १६—गुरु, १७-वृद्ध तथा १८—सिद्ध। २।

हेतुस्तदनुषक्तौ तु सद्यः पूर्वकृतोऽथवा ॥ ३ ॥
प्रज्ञापराधः सुतरां तेन कामादिजन्मना ।
लुप्तधर्मव्रताचारः पूज्यानप्यतिवर्तते ॥ ४ ॥
तं तथा भिन्नमर्यादं पापमात्मोपघातिनम् ।
देवादयोऽप्यनुघ्नन्ति, ग्रहाश्छिद्रप्रहारिणः ॥ ५ ॥

व्याख्या—उक्त भूतों की अनुषक्ति—आवेश का कारण—इस जन्म में अथवा पूर्व जन्म में किया गया "प्रज्ञाऽपराध" (अशुभ कर्म) ही है। उस प्रज्ञापराध से जिस काम एवं क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है, मानव के धर्म व्रत एवं आचार लुप्त हो जाते हैं और वह पूजनीय गुरु एवं वृद्ध आदि का एवं देव आदि का अपमान करता है, मर्यादाओं का उल्लंघन करता है और पाप कर्म करता है जिनसे उसका अपना अहित होता है इस दशा में उस पुरुष को देव आदि ग्रह (भूत) ग्रहण कर लेते हैं-उसमें आविष्ट हो जाते हैं क्योंकि वे देवादि ग्रह छिद्र —अवसर पाकर प्रहार—आक्रमण करते हैं। ३-५।

छिद्र—आवेश का अवसर—

छिद्रं पापक्रियारम्भः पाकोऽनिष्टस्य कर्मणः ।
एकस्य शून्येऽवस्थानं श्मशानादिषु वा निशि ॥ ६ ॥
दिग्वासस्त्वं गुरोर्निन्दा रतेरविधिसेवनम् ।
अशुचेर्देवताचादि परसूतकसङ्करः ॥ ७ ॥
होममन्त्रबलीज्यानां विगुणं परिकर्म च ।
समासाद्दिनचर्यादिप्रोक्ताचारव्यतिक्रमः ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्रहार का छिद्र—अवसर है पाप कर्म का प्रारंभ समय, पाप कर्म के परिणाम—परिपाक का समय, सूने घर में अकेला रहना अथवा रात्रि में श्मशान चौरास्ता एवं वधस्थान में रहना, नग्न रहना, गुरुजनों की निन्दा, सन्ध्या समय एवं पर्व के दिन आदि में मैथुन करना, अपवित्र रह कर देव पूजन, प्रसव काल में अपवित्रता, विधि रहित हवन करना, मन्त्र सिद्ध करना, बलि दान करना तथा यज्ञ करना और विधि रहित वमन विरेचन आदि करना और सामान्यतः दिनचर्याऽध्याय के प्रतिकूल आचरण करना।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ७—

एवंविधांस्तु पुरुषान् अनिष्टाऽऽघातकालेषु अभिगच्छन्ति—तत् यथा—पापस्य कर्मणा समारम्भे पूर्वकृतस्य वा परिणाम काले एकस्य वा शून्यगृहनिवासे, चतुष्पथाऽधिष्ठाने वा, सन्ध्या वेलायां अप्रयतमाने वा पक्षसन्धिषु वा, मिथुनीभावे रजस्वलाऽधिगमने वा, विगुणे वा अध्ययन होम बलि मङ्गल प्रयोगे, नियम ब्रह्मचर्य व्रतभंगे वा महाऽऽहवे वा, देशपुरकुलविनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रिया वा प्रजननकाले, विविध भूताऽशुचिस्पर्शे वा, वमन विरेचन रुधिर स्रावा ऽसुचेः अप्रयतस्य चैत्यदेवाऽऽयतनाभिगमने वा, मांस मद्य मधु तिल गुडोच्छिष्टे वा, दिग्वाससि वा, निशिनगरचतुष्पथोपवनश्मशानाऽभिगमने वा, द्विज गुरु सुरपति पूज्य व्यतिक्रमे वा। अर्थात् इन अवसरों में भूतावेश हो जाता है ॥ ६-८ ॥

आवेश की तिथियाँ एवं काल—

गृह्णन्ति शुक्लप्रतिपत्त्रयोदश्योः सुरा नरम् ।
शुक्लत्रयोदशीकृष्णद्वादश्योर्दानवा ग्रहाः ॥ ९ ॥
गन्धर्वास्तु चतुर्दश्यां द्वादश्यां चोरगाः पुनः ।
पञ्चम्यां शुक्लसप्तम्येकादश्योस्तु धनेश्वराः ॥ १० ॥
शुक्लाष्टपञ्चमीपूर्णमासीषु ब्रह्मराक्षसाः ।
कृष्ण रक्षःपिशाचाद्या नवद्वादशपर्वसु ॥ ११ ॥
दशामावास्ययोरष्टनवम्योः पितरोऽपरे ।
गुरुवृद्धादयः प्रायः कालं सन्ध्यासु लक्षयेत् ॥ १२ ॥

व्याख्या—सुर- (देव)—शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तथा त्रयोदशी में, दानव (असुर)—शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी तथा कृष्ण पक्ष की द्वादशी में, गन्धर्व—चतुर्दशी एवं द्वादशी में, उरग (सर्प)—पंचमी में, यक्ष—शुक्ला सप्तमी एवं एकादशी में, ब्रह्मराक्षस—शुक्ला अष्टमी, पंचमी एवं पूर्णमासी में, राक्षस, पिशाच, प्रेत, कूष्माण्डक, कालाद, औकिरण एवं वेताल नामक ग्रह—कृष्ण पक्ष की नवमी, द्वादशी एवं पर्व के दिनों में, पितृ ग्रह—दशमी, अमावास्या में,और अन्य गुरु एवं वृद्ध आदि अष्टमी एवं नवमी में आवेश करते हैं और उक्त तिथियों में भी प्रायः सन्ध्या काल में आवेश करते हैं।

वक्तव्य—षष्ठ्यां नवम्यां च ऋषयः (च. चि. अ. ९ पाठ २८) तथा प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां च गुरुवृद्धसिद्धाः तयोरेव च ········ ऋषयः। (अ. सं. उ. अ ७)। देवादि के आवेश का प्रयोजन अ. २ के श्लोक ३० से ३८ देखिये।

भूतावेश का पूर्व रूप—अ. सं. उ. अ. ७

तेषां तु गृहीष्यतां पूर्वरूपाणि—तद् यथा—देवगोब्राह्मण तपस्विनां हिंसारुचित्वं, नृशंसाऽभिप्रायता, कोपनत्वं, अरतिः,

ओजो वर्णच्छायाबलवपुषां च उपतप्तिः स्वप्ने देवादिभिः अभिभर्त्सनं च । अर्थात्—भूता वेश का पूर्वरूप है— देव, गौ, ब्राह्मण तथा तपस्वियों को सताना निर्दयता, क्रोध, बेचैनी, ओजस्, कान्ति, छाया, बल एवं शरीर का क्षय, स्वप्नों में देवादि द्वारा तर्जन—झिडकना— शाप देना और किसी कर्म के लिये प्रवृत्त करना । हमारे विचार में यह वह दशा है जिसमें भूतों को आवेश करने का अवसर मिल जाता है । अथवा वात व्याधि के समान यह अव्यक्त लक्षण है ।९-१२।

देवावेश का लक्षण—

फुल्लपद्मोपममुखं साम्यदृष्टिमकोपनम् ।
अल्पवाक्स्वेदविण्मूत्रं भोजनानभिलाषिणम् ॥ १३ ॥
देवद्विजातिपरमं शुचिसंस्कृतवादिनम् ।
मीलयन्तं चिरान्नेत्रे सुरभिं वरदायिनम् ॥ १४ ॥
शुक्लमाल्याम्बरसरिच्छैलोच्चभवनप्रियम् ।
अनिद्रमप्रधृष्यं च विद्याद्देवशीकृतम् ॥ १५ ॥

व्याख्या—यदि भूतावेश होने पर—मुख खिले हुए कमल कासा सुन्दर हो, दृष्टि सौम्य—प्रसन्न हो, कोप का नाश हो, वाणी स्वल्प हो, स्वेद, पुरीष तथा मूत्र की स्वल्प प्रवृत्ति हो, भोजन की अभिलाषा न हो, देवता एवं द्विजों में भक्ति युक्त हो, शुचि—पवित्र—स्वच्छता का प्रेमी हो, संस्कृत भाषा में बोलता हो, नेत्रों में विलम्ब से निमेष —चिर काल तक नेत्र खुले रहते हों, शरीर से शुभ गन्ध आती हो, वरदान देता हो—सबको "खुशी रहो" प्रसन्न रहो, तुम्हारा कल्याण हो आदि वाक्य कहता हो, श्वेत फूलों की माला, श्वेत वस्त्र, नदी, शैल तथा ऊँचे भवन का प्रेमी हो, निद्रा न आती हो तथा तेजस्वी हो तो समझो कि देव नामक भूत का आवेश है ।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ ७—

तत्राऽपि गोवृषमिव नर्दन्तं दीप्तमुखनयनम् आदित्येन भास्वरेण सर्वम् आभाषमाणमीश्वरेण । मेघस्तनितविद्युत्वृष्टीः वाचा विसृजन्तम् इन्द्रेण । धनानि वाचा प्रयच्छन्तम् आच्छिन्दन्तं च धनदेन । सुराऽऽसवसमगन्धं काष्ठतृणरज्ज्वादिसर्वपाशम् अभिगम्यमानं वरुणेन । अर्थात्—उक्त देवग्रह के लक्षणों के साथ यदि सांड के समान नर्दन करता हो, मुख एवं नेत्र प्रदीप्त हों, वार्त्तालाप के समय मुख प्रदीप्त हो जाता हो तो समझो कि शिव का आवेश है । यदि—मेघ के समान गर्जता हो, बिजली की कडक के समान तथा वर्षा के समान मुख से ध्वनि करता हो तो समझो कि इन्द्र का आवेश है । यदि वाणी द्वारा दूसरों को धन दे रहा हो, अथवा छीनता हो तो समझो कुबेर का आवेश है और यदि सुरा एवं आसव के समान गन्ध आती हो, काष्ठ तृण एवं रस्सी आदि पाश लेकर घूमता हो तो समझो वरुण देवता का आवेश है ।।१३-१५।।

असुरावेश के लक्षण—

जिह्मदृष्टिं दुरात्मानं गुरुदेवद्विजद्विषम् ।
निर्भयं मानिनं शूरं क्रोधनं व्यवसायिनम् ॥ १६ ॥
रुद्रः स्कन्दो विशाखोऽहमिन्द्रोऽहमिति वादिनम् ।
मद्यमांसरुचिं विद्याद्दैत्यग्रहगृहीतकम् ॥ १७ ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि दृष्टि टेढी हो, मनस् दुष्ट-विकृत हो, गुरु, देव तथा द्विजों से द्वेष करता हो—रखता हो, निर्भय अभिमानी, शूर एवं क्रोधी हो, व्यवसायी हो किसी न किसी काम में लगा रहता हो, मैं रुद्र हूँ, कार्तिकेय हूँ, विशाख हूँ अथवा इन्द्र हूँ ऐसा बोलता रहता हो और सुरा एवं मांस में रुचि रखता हो तो समझो कि दैत्य (असुर-दानव) ग्रह द्वारा अनुग्रहीत है।।१६-१७।।

गन्धर्वावेश का लक्षण—

स्वाचारं सुरभिं हृष्टं गीतनर्तनकारिणम् ।
स्नानोद्यानरुचिं रक्तवस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥ १८ ॥
शृङ्गारलीलाभिरतं गन्धर्वाध्युषितं वदेत् ।

व्याख्या—भूतावेश होने पर—उत्तम आचरण हो, सुगन्धि आती हो, प्रसन्न हो, गायन एवं नृत्य करता हो, स्नान एवं उपवन भ्रमण में रुचि हो, लाल वर्ण के वस्त्रों में, पुष्पों में तथा लेपन (तिलक) में रुचि हो और शृङ्गार एवं लीला करने में लगन हो तो समझो कि गन्धर्व ग्रह का आवेश है ॥ १८ ॥

उरगावेश का लक्षण—

रक्ताक्षं क्रोधनं स्तब्धदृष्टिं वक्रगतिं चलम् ॥ १९ ॥
श्वसन्तमनिशं जिह्वालोलिनं सृक्किणीलिहम् ।
प्रियदुग्धगुडस्नानमधोवदनशायिनम् ॥ २० ॥
'उरगाधिष्ठितं' विद्यात्त्रस्यन्तं चाऽऽतपत्रतः ।

व्याख्या—भूतावेश होनेपर—यदि नेत्र लाल हों, क्रोध हो. दृष्टि स्तब्ध-अचल हो, गति टेढी हो, चञ्चल हो, निरन्तर-शीघ्र २ श्वास छोड़ रहा हो—ले रहा हो, जीभ लपक रही हो, सृक्कणी अर्थात् ओष्ठ के अन्तिम प्रदेश को चाटता हो, दूध, गुड तथा स्नान में रुचि हो, औन्धा होकर सोता-लेटता हो और छाता से डरता हो तो समझो कि सर्प ग्रह का आवेश है ॥ १९-२० ॥

यक्षावेश का लक्षण—

त्रिप्लुतत्रस्तरक्ताक्षं शुभगन्धं सुतेजसम् ॥ २१ ॥
प्रियनृत्यकथागीतस्नानमाल्यानुलेपनम् ।
मत्स्यमांसरुचिं हृष्टं पुष्टं बलिनमव्ययम् ॥ २२ ॥
चलिताग्रकरं कस्मै किं ददामीति वादिनम् ।
रहस्यभाषिणं वैद्यद्विजातिपरिभाविनम् ॥ २३ ॥
अल्परोषं द्रु(द्रु)तगतिं विद्याद् 'यक्षगृहीतकम्' ।

व्याख्या—यक्षावेश होने पर यदि—चञ्चल, भयभीत

तथा लाल नेत्र हों, शुभ गन्ध आती हो, तेजस्वी हो, नृत्य, कथा, गीत, स्थान, पुष्प तथा अनुलेपन (तिलक) में प्रीति-रुचि हो, मछली के मांस में रुचि हो, प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हो, बलवान् हो, व्यथा रहित हो, अंगुलियां चञ्चल हों किसको क्या देदूँ ऐसा बोलता हो, रहस्य गुप्त बातें कहता हो, वैद्य तथा द्विजों का तिरस्कार करता हो, क्रोध स्वल्प हो तथा शीघ्रगामी हो तो समझो कि यक्ष ग्रह का आवेश है ॥ २३ ॥

ब्रह्मराक्षसावेश का लक्षण—

हास्यनृत्यप्रियं रौद्रचेष्टं छिद्रप्रहारिणम् ॥ २४ ॥
आक्रोशिनं शीघ्रगतिं देवद्विजभिषग्द्विषम् ।
आत्मानं काष्ठशस्त्राद्यैर्घ्नन्तं भोःशब्दवादिनम् ॥ २५ ॥
शास्त्रवेदपठं विद्याद् गृहीतं ब्रह्मराक्षसैः ।

व्याख्या—ग्रहावेश होने पर यदि—हंसने एवं नाचने में रुचि हो, चेष्टाएँ भीषण हों, अवसर पाते ही प्रहार करता हो, चिल्लाता हो, शीघ्र २ चलता हो, देव द्विज एवं वैद्य से द्वेष रखता हो, अपने शरीर पर लकड़ी एवं शस्त्र का प्रहार करता हो भोः भोः शब्द बोलता हो तथा शास्त्र एवं वेद पढ़ता हो तो समझो कि ब्रह्मराक्षस का आवेश है । २४-२५ ।

राक्षसावेश का लक्षण—

सक्रोधदृष्टिं भ्रूकुटिमुद्वहन्तं ससम्भ्रमम् ॥ २६ ॥
प्रहरन्तं प्रधावन्तं शब्दन्तं भैरवाननम् ।
अन्नाद्विनाऽपि बलिनं नष्टनिद्रं निशाचरम् ॥ २७ ॥
निर्लज्जमशुचिं शूरं क्रूरं परुषभाषिणम् ।
रोषणं रक्तमाल्यस्त्रीरक्तमद्यामिषप्रियम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा च रक्तं मांसं च लिहानं दशनच्छदौ ।
हसन्तमन्नकाले च राक्षसाधिष्ठितं वदेत् ॥ २९ ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—नेत्रों में क्रोध भरा हो, भौंह चढ़ी हों, क्षोभ युक्त हों, दूसरों पर प्रहार करता हो, दौड़ता हो, चिल्लाता हो, मुख भीषण—डरावना हो, भोजन न खाता हो तथापि बलवान् बना हो, निद्रा न आती हो, रात्रि में घूमता रहता हो, लज्जा नष्ट हो गई हो—नग्न रहता हो, अपवित्र रहता हो, शूर हो, क्रूर हो, कठोर वचन बोलता हो, रोष करता हो—रूठा रहता हो, लाल वर्ण के फूल, मैथुन, रक्त (शोणित), मद्य तथा मांस में रुचि हो, रक्त अथवा मांस को देखकर ओठ चाटने लगता हो, भोजन के समय हंसता हो तो समझो कि राक्षस नामक ग्रह का आवेश है ।२६-२९।

पिशाचावेश का लक्षण—

अस्वस्थचित्तं नैकत्र तिष्ठन्तं परिधाविनम् ।
उच्छिष्टनृत्यगान्धर्व-हासमद्यामिषप्रियम् ॥ ३० ॥
निर्भर्त्सनादीनमुखं रुदन्तमनिमित्ततः ।
नखैर्लिखन्तमात्मानं रूक्षध्वस्तवपुःस्वरम् ॥ ३१ ॥
आवेदयन्तं दुःखानि सम्बद्धाऽबद्धभाषिणम् ।
नष्टस्मृतिं शून्यरतिं लोलं नग्नं मलीमसम् ॥ ३२ ॥
रथ्याचैलपरीधानं तृणमालाविभूषणम् ।
आरोहन्तं च काष्ठाश्वं तथा सङ्करकूटकम् ॥ ३३ ॥
बह्वाशिनं पिशाचेन विजानीयादधिष्ठितम् ।

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—चित्त चंचल-विकृत हो एक स्थान पर ठहरता न हो, इधर उधर दौड़ता न हो, जूठे पदार्थों में, नाचने, गाने, हँसने, मद्यपान तथा मांस भक्षण में रुचि हो, झिड़क देने पर मुख दीन हो जाता हो, कारण विना ही रोने लगता हो, अपने शरीर पर नखों की खरोंश मारता हो, शरीर रूक्ष हो, स्वर बैठ गया हो, दुखों का वर्णन करता हो, कभी सम्बद्ध (ठीक २) और कभी असम्बद्ध बातें करता हो, स्मृति नष्ट हो गई हो, एकान्त में रुचि हो, खाने पीने आदि में लालची हो, नग्न एवं मलीन रहता हो, गलियों में पड़े फटे पुराने कपड़े पहनता हो, लकड़ी तथा पत्थर पर अथवा लकड़ी के घोड़े पर (काष्ठाश्वं पाठान्तर है) तथा कूड़ा के ढ़ेर पर चढ़ता रहता हो और अधिक खाता हो तो समझो कि—पिशाच का आवेश है । ३२ ।

वक्तव्य—अ, सं. उ. अ. ७—

तत्रापि भोजनं दृष्ट्वा हसन्तं विस्वरं क्रोशन्तं नित्य भीतं करमलेन । सर्वगात्राणि स्पन्दयन्तं मुहुर्धावन्तं भीषयमाणं नवा कृवेन । वैद्यं दृष्ट्वा कुप्यन्तं भ्रमद्भ्रोणिनं बह्वाशिनं भस्म गुण्ठनशयनं स्त्रियों मार्गे रुन्धानंमूत्र पुरीष विमर्दिनं निस्तेजसा । अर्थात्—उसमें भी—यदि भोजन को देख कर हंसता हो, स्वर विकृत हो गया हो, चिल्लाता हो तथा सर्वदा भयभीत रहता हो तो समझो कि करमल नामक भूत का आवेश है । यदि सब अंगों को कम्पित—चालित करता हो बार २ दौड़ता हो तथा डरता हो तो समझो कि "नवकृवा" का आवेश है । यदि वैद्य को देखकर कुपित हो जाता हो, घूम १ कर खाता हो, अधिक मात्रा में खाता हो, शरीर पर भस्म पर लेटता—सोता हो, स्त्रियों का मार्ग रोकता हो और मूत्र एवं पुरीष को मलता हो तो समझो कि "निस्तेजस्" नामक पिशाच का आवेश है । करमल आदि पिशाच नामक भूत के भेद हैं ॥३०-३३॥

प्रेतावेश का लक्षण—

प्रेताकृतिक्रियागन्धं भीतमाहारविद्विषम् ॥ ३४ ॥
तृणच्छिदं च प्रेतेन गृहीतं नरमादिशेत् ।

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—प्रेत—मृत की सी आकृति, कर्म एवं गन्ध हो, भयभीत रहता हो, आहार

का द्वेषी हो और तृण तोड़ता रहता हो तो समझो कि प्रेत नामक ग्रह का आवेश है । ३४ ।

कूष्माण्डावेश का लक्षण—

बहुप्रलापं कृष्णास्यं प्रविलम्बितयायिनम् ॥ ३५ ॥
शूनप्रलम्बवृषणं कूष्माण्डाधिष्ठितं वदेत् ।

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—बहुत प्रलाप करता हो, मुख का वर्ण काला हो गया हो, बिलम्ब से चलता हो और वृषण सूज गये हों तथा लटक गये हों तो समझो कि "कूष्माण्ड" नामक भूत का आवेश है । ३५ ।

निषादावेश का लक्षण—

गृहीत्वा काष्ठलोष्ठादि भ्रमन्तं चीरवाससम् ॥ ३६ ॥
नग्नं धावन्तमुत्त्रस्तदृष्टिं तृणविभूषणम् ।
श्मशानशून्यायतन-रथ्यैकद्रुमसेविनम् ॥ ३७ ॥
तिलान्नमद्यमांसेषु संरक्तं रक्तलोचनम् ।
निषादाधिष्ठितं विद्याद्वदन्तं परुषाणि च ॥ ३८ ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—लकड़ी एवं ढेला लेकर घूमता हो, फटे पुराने कपड़े लपेटता हो, नग्न रहता हो, दौड़ता रहता हो, नेत्रों से प्रतीत हो जैसे डरा हुआ है, तृणों के भूषण पहनता हो, श्मशान में, शून्य स्थान—घर में, गलियों में तथा अकेले किसी वृक्ष के नीचे बैठा—पड़ा रहता हो, तिल, भोजन, मद्य तथा मांस को एकटक देखता हो और कठोर वाक्य बोलता रहता हो तो समझो कि "निषाद" (कालार्द) नामक भूत का आवेश है ॥ ३६-३८ ॥

औकिरणावेश का लक्षण—

याचन्तमुदकं चान्नं त्रस्ताऽऽलोहितलोचनम् ।
उग्रवाक्यं च जानीयान्नरम्-औकिरणार्दितम् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—जल और अन्न की मांग करता हो, नेत्र त्रस्त एवं लाल हों और कठोर वाक्य बोलता हो तो समझो कि—"औकिरण" नामक भूत का आवेश है । ३९ ।

वेतालवेश का लक्षण—

गन्धमाल्यरतिं सत्यवादिनं परिवेपिनम् ।
बहुनिद्रं च जानीयाद् वेतालेन वशीकृतम् ॥ ४० ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—इत्र आदि गन्धों में एवं पुष्पों में रुचि हो, सत्य बोलता हो, कांपता हो, और निद्रा अधिक हो तो समझो कि "वेताल" नामक भूत का आवेश है ॥ ४० ॥

पितृग्रहावेश का लक्षण—

अप्रसन्नदृशं दीनवदनं शुष्कतालुकम् ।
चलनयनपक्ष्माणं निद्रालुं मन्दपावकम् ॥ ४१ ॥
अपसव्यपरीधानं तिलमांसगुडप्रियम् ।
स्खलद्वाचं च जानीयात् पितृग्रहवशीकृतम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर यदि—नेत्र अप्रसन्न हों, मुख दीन हो, तालु सूखा हो, नेत्रों के पक्ष्म चलायमान हों, निद्रा अधिक हो, जठराग्नि मन्द हो, दाहिने कन्धे पर जनेऊ अथवा वस्त्र रखता हो, तिल, मांस एवं गुड़ में रुचि हो, वाणी में स्खलन हो तो समझो कि पितृग्रह का आवेश है ॥ ४१-४२ ॥

गुरु आदि से अभिशप्त का लक्षण—

गुरुवृद्धर्षिसिद्धाभिशापचिन्तानुरूपतः ।
व्याहाराहारचेष्टाभिर्यथास्वं तद् ग्रहं वदेत् । ४३ ॥

व्याख्या—गुरु, वृद्ध, ऋषि तथा सिद्ध जनों के शाप तथा अनिष्ट चिन्तन (अभिध्यान) के अनुरूप (सदृश) व्याहार (बोलना), आहार (खाना पीना) तथा चेष्टा (कर्म-व्यापार) को देख-विचार कर गुरु आदि का आवेश कहना चाहिये ।

वक्तव्य—गुरु जन आदि के शाप से भी उन्माद हो जाता है उसे भी स्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार इस प्रकरण में लिखा गया है। यद्यपि जैसे सुर आदि दिव्य आत्माएँ प्राणियों में आविष्ट या प्रविष्ट होती हैं वैसे गुरु जन आदि की आत्मा आविष्ट नहीं होती हैं । इस प्रकार के उन्माद का कारण अगले अ. ६ में "पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" कह कर बतलाया है । सु. उ. तं. अ. ६० में भूतों के आवेश का प्रकार लिखा है कि—

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा ।
स्वमणिं भास्करस्योस्रा यथा देहं च देहधृक् ।
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहाः तद्वत् शरीरिणम् । १९ ।

अर्थात्—जैसे दर्पण एवं निर्मल जल में प्रतिबिम्ब, प्राणी के शरीर में शीत एवं उष्ण, सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरण तथा शरीर में आत्मा प्रविष्ट होते हैं परन्तु दीखते नहीं हैं वैसे ही प्राणी में ग्रह अर्थात् भूत प्रविष्ट होते हैं परन्तु दिखते नहीं हैं । कुछ भूतविद्याऽऽचार्यों का कथन है ग्रह स्वयं आविष्ट नहीं होते अपितु उनके परिचारक ग्रह आविष्ट होते हैं । सुर आदि का नाम भूत एवं ग्रह है ।

ग्रहसंज्ञानि भूतानि यस्मात् वेत्त्यनया भिषक् ।
विद्यया, भूतविद्यात्वमतएव निरुच्यते । २७ ।

अर्थात्—चिकित्सक जिस विद्या-ज्ञान से भूतों को समझता है उसका नाम "भूतविद्या" भूतशास्त्र है ।४३।

असाध्य भूतावेश—

कुमारवृन्दानुगतं नग्नमुद्धतमूर्धजम् ।
अस्वस्थमनसं दैर्घ्यकालिकं तं ग्रहं त्यजेत् ॥ ४४ ॥

व्याख्या—भूतावेश होने पर—जिस ग्रह पीड़ित के

पीछे २ बालकों का झुण्ड लगा रहता हो, जो नङ्गा होकर घूमता हो, जिसके शिर के बाल ऊपर की ओर खड़े हों, मन चंचल—विकृत हो तथा ग्रहावेश दीर्घ काल से हो उसकी चिकित्सा का व्यर्थ प्रयत्न न करे ।

वक्तव्य—भूत विद्या पर विश्वास या श्रद्धा करने का कारण भी है यथा—सु. उ. तं. अ. ६०—

गुह्याऽनागतविज्ञानम् अनवस्था असहिष्णुता ।
क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ।

अर्थात्—जहाँ गुप्त विषय का तथा भविष्य का ज्ञान हो, दशा एक जैसी न हो, सहनशीलता न हो तथा वैसे कर्म हों जिनको वह मानव कर न सकता हो वहाँ ग्रहावेश समझना चाहिये । सचमुच ऐसी अवस्था कभी २ देखी जाती है । और च. नि. अ. ७—तस्य इमानि रूपाणि भवन्ति तद् यथा—अन्यात्मबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहण धारणस्मरणज्ञानवचनविज्ञानानि, अनियतश्च उन्माद-कालः । १६ । जहाँ अपने बल वीर्य आदि से अतिरिक्त—विलक्षण बल वीर्य आदि हो तथा उन्माद का समय वातादि दोषों के कालानुसार न हो उसे भूतोन्माद कहना चाहिये । सचमुच ऐसी अवस्था देखी जाती है । जैसे वातादि दोष कुपित—विकृत हो कर रसादि धातुओं एवं पुरीषादि मलों को दूषित करते हैं वैसे देव आदि भूत उन को दूषित नहीं करते उन सूक्ष्म आत्माओं का प्रभाव प्राणी की आत्मा अर्थात् सूक्ष्म शरीर पर ही पड़ता है । अतएव उनके लक्षण भी ऐसे होते हैं जो वातादि दोषों के नहीं होते और न हो सकते हैं । भगवान् पुनर्वसु प्रतितन्त्र सिद्धान्त का लक्षण करते समय लिखते हैं—वातादिकृताः सर्वे विकारा यथाऽन्यत्र अत्र वातादि कृता भूत कृताश्च प्रसिद्धाः (वि. अ. ८।३७) अर्थात् पंचमहा-भूतात्मक द्रव्यों में सब विकार (विकृति) केवल वायु, अग्नि एवं जल के कारण होती है वैसे आयुर्वेद में सब विकार वातादि दोषों तथा भूतों से उत्पन्न किये गये माने जाते हैं ।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरतन्त्रे चतुर्थोऽध्यायः । ४ ।

—:०:—

पञ्चमोऽध्यायः

अथाऽतो भूतप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब भूत प्रतिषेध (भूत चिकित्सा) का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. चि. अ. ९, सु. उ. अ. ६० तथा अ. सं. उ. अ. ८ में देखिये ।

भूतावेश की चिकित्सा—

भूतं जयेदहिंसेच्छं जपहोमबलिप्रवैः ।
तपःशीलसमाधानज्ञानदानदयादिभिः ॥ १ ॥

व्याख्या—जो भूत हिंसार्थ आविष्ट नहीं हुआ हो उसे जप, होम, बलिदान, तपस्, शील, समाधान (समाधि) ज्ञान, दान एवं दया आदि के द्वारा शान्त करे ।

वक्तव्य—उक्त जप एवं होम आदि सब उपाय उन विद्वानों से पूछ कर करे जो मन्त्र शास्त्र, भूतविद्या तथा कर्म काण्ड के ज्ञाता हों । आप्तजन—सत्यवादी हों और दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा में निपुण हों । १ ॥

औषधमाह—

हिंग्वादि वर्ग—

हिङ्गुव्योषाल नेपालीलशुनार्कजटाजटाः ।
अजलोमी सगोलोमी भूतकेशी वचा लता ॥ २ ॥
कुक्कुटी सर्पगन्धाख्या तिलाः काण(ल) विषाणिके ।
ब्रह्मप्रोक्ता वयस्था च शृङ्गी मोहनवल्ल्यपि । ३ ॥
स्रोतोजाञ्जनरक्षोघ्नं रक्षोघ्नं चान्यदौषधम् ।
खराश्वश्वाविदुष्ट्रर्क्षगोधानकुलशल्यकात् ॥ ४ ॥
द्वीपीमार्जारगोसिंहव्याघ्रसामुद्रसत्त्वतः ।
चर्मपित्तद्विजनखा वर्गेऽस्मिन् साधयेद् घृतम् ॥ ५ ॥
पुराणमथवा तैलं नवं तत्पान-नस्ययोः ।
अभ्यंगे च प्रयोक्तव्यमेषां चूर्णं च धूपने ॥ ६ ॥
एभिश्च गुटिकां युञ्ज्यादञ्जने सावपीडने ।
प्रलेपे कल्कमेतेषां क्वाथं च परिषेचने ॥ ७ ॥
प्रयोगोऽयं महोन्मादान्सापस्मारान् शमं नयेत् ।

व्याख्या—हींग, सोंठ, मरिच, पीपल, हरिताल, मैनसिल, लशुन, आक की जड़, जटामांसी, अजलोमी, भूतकेशी, बालवच, प्रियंगु, कुक्कुटी, सर्पगन्धा, तिल, काकोली, क्षीर काकोली, मेढ़ासिंगी मूल, गिलोय, काकड़ा सिंगी, मोहन वल्ली (ब्राह्मी अथवा सिरस), काला सुरमा, सरसों तथा गुग्गुल आदि अन्यान्य भूत नाशक औषध द्रव्य और गधा, घोड़ा, सेह, ऊँट, भालू, गोह, नेवला, शल्य (साहा), बाघ, बिल्ली, गौ, सिंह, शार्दूल नामक व्याघ्र तथा समुद्री जीव-जन्तु के चर्म, पित्त द्रव, दन्त तथा नख । इस वर्ग में विधि पूर्वक पुराना घृत अथवा नूतन तैल सिद्ध करे । उस घृत अथवा तैल को पान में, नस्य में तथा अभ्यङ्ग में प्रयुक्त करे और इसी वर्ग का चूर्ण—धूप में प्रयुक्त करे इसी वर्ग के द्रव्यों की गोली बनाकर अञ्जन रूप में प्रयुक्त करे, और उन्हीं द्रव्यों का स्वरस निकाल कर नस्य देवे, उन्हीं द्रव्यों के कल्क का सिर पर लेप करे और क्वाथ से सेंचन स्नान करे । यह प्रयोग—भूतोन्माद अपस्मार को शान्त करता है ।

वक्तव्य—यह वर्ग सु, उ. अ. ६० के श्लो० ५३ में वर्णित है और इसका नाम "अपराजित" है ॥ २-७ ॥

गजाह्वादि योग

गजाह्वा पिप्पलीमूलव्योषामलकसर्षपान् ॥ ८ ।
गोधानकुलमार्जारझषपित्तप्रपेषितान् ।
नावनाभ्यञ्जसेकेषु विदधीत ग्रहापहान् ॥ ९ ॥

व्याख्या—गजपीपल, पीपलामूल, सोंठ, मरिच, पीपल आमला तथा पीली सरसों को—गोह, नेवला, बिल्ला तथा मगर मत्स्य के पित्त द्रव में पीसकर—नस्य में, अभ्यङ्ग में तथा सेचन में प्रयुक्त करे। यह योग भी भूतोन्माद का शमन करता है ॥ ८, ९ ॥

सिद्धार्थ तैल का अगद—

सिद्धार्थकं वचा हिङ्गु प्रियंगु रजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठा श्वेतकटभी वचा श्वेताद्रिकर्णिका ॥ १० ॥
निम्बस्य पत्रं बीजं तु नक्तमालशिरीषयोः ।
सुराह्वं त्र्यूषणं सर्पिर्गोमूत्रे तैश्चतुर्गुणे ॥ ११ ॥
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम पाने नस्ते च योजितम् ।
ग्रहान्सर्वान्निहन्त्याशु विशेषादासुरान् ग्रहान् ॥ १२ ॥
कृत्याऽलक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारपाप्म च ।
एभिरेवौषधैर्बस्तवारिणा कल्पितोऽगदः ॥ १३ ॥
पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्वर्तनयोजितः ।
गुणैः पूर्ववदुद्दिष्टो राजद्वारे च सिद्धिकृत् ॥ १४ ॥

व्याख्या—पीली सरसों, बालवच, हींग, प्रियंगु, हल्दी, दारुहल्दी, मञ्जीठ, श्वेत घुंघची, हरड़, बहेड़ा, आमला, श्वेत पुष्प की गिरिकर्णिका (अपराजित कोयल) निम्ब के पत्र, करञ्ज के बीज, सिरस के बीज, देवदारु, सोंठ, मरिच, तथा पीपल १ भाग, गो घृत १ भाग तथा गोमूत्र ४ भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे। इसका नाम सिद्धार्थक घृत है। इसका प्रयोग पीने में तथा नस्य में किया जाता है। और यह घृत—सब ग्रहों को और मारण मोहन आदि कृत्याओं को, अलक्ष्मी, विषविकार, उन्माद ज्वर, अपस्मार तथा पाप (बौद्धिक विकार जनित रोग) को नष्ट करता है।

और इन्हीं सिद्धार्थ आदि द्रव्यों को बकरा के मूत्र में पीस कर बनाया गया "अगद" पान में, नस्य में अञ्जन में, स्नान में तथा उबटन में प्रयुक्त करने से उक्त सिद्धार्थक घृत के समान गुण करता है और राज दरबार (कचहरी आदि) में सफलता देता है ॥ १०–१४ ॥

सिद्धार्थ गुडक गुटिका—

सिद्धार्थकव्योषवचाऽश्वगन्धा
निशाद्वयं हिङ्गुपलाण्डुकन्दम् ।
बीजं करञ्जात्कुसुमं शिरीषात्
फलं च वल्यश्च कपित्थवृक्षात् ॥ १५ ॥
समाणिमन्थं सनतं सकुष्ठम्
स्योनाकमूलं किणिही सिता च ।
बस्तस्य मूत्रेण विभावितं तन्
पित्तेन गव्येन गुडान् विदध्यात् ॥ १६ ॥
दुष्टव्रणोन्मादतमोनिशान्धा-
नुद्बद्धकान् वारिनिमग्नदेहान् ।
दिग्धायतान् दर्पितसर्पदष्टां-
स्ते साधयन्त्यञ्जननस्यलेपैः ॥ १७ ॥

व्याख्या—पीली सरसों, सोंठ, मरिच, पीपली, बालवच, असगन्ध, हलदी, दारु हलदी, हींग. पियाज, करञ्ज के बीज, सिरस के फूल, कैथ के फल तथा छाल, सैन्धव लवण, तगर, कुठ, सोना पाठा की जड़, अपामार्ग तथा मिश्री। सब द्रव्य समान भाग लेकर बकरा के मूत्र तथा गौ के पित्त द्रव की भावना देकर गोलियाँ बनावें। इनका अञ्जन करने, नस्य लेने अथवा लेप करने से—दुष्ट व्रण, उन्माद, तिमिर रोग, रतौन्धी, फांसी लेने से उत्पन्न मूर्छा, जल में डूबने से उत्पन्न मूर्छा, विषप्रदिग्ध शस्त्र लगने से उत्पन्न विकार और दुष्ट सर्प के विष में लाभ होता है ॥ १५-१७ ॥

कार्पासास्थ्यादि धूप—

कार्पासास्थिमयूरपिच्छबृहतीनिर्माल्यपिण्डीतक-
त्वङ्मांसीवृषदंशविट्तुषवचाकेशाऽहिनिर्मोचनैः ।
नागेन्द्रद्विजशृङ्ग हिंगुमरिचैस्तुल्यैः कृतं धूपनं
स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षससुराऽऽवेशज्वरघ्नं परम् १८

व्याख्या—बिनौले, मोर के पंख, बनभण्टा के फल, निर्माल्य (असवर्ग अथवा शिवलिंग पर चढ़ाये गये बिल पत्र आदि) मैनफल, दाल चीनी, जटामांसी (वांसी इति पाठान्तरम्—वंश लोचन) बिल्ली का पुरीष, धान के तुष (भुस्सी) बालवच, मानव के केश, सर्प की केञ्चुली, हाथी के दन्त का बुरादा, गौ का सींग, हींग तथा मरिच। सब द्रव्य समभाग लेकर धूप—स्कन्द (बालग्रह) जनित उन्माद, पिशाचावेश, राक्षसावेश, सुरावेश तथा ज्वर को नष्ट करती है। १८।

भूत राव घृत—

त्रिकटुकदलकुङ्कुमग्रन्थिकक्ष्मारसिंही-
निशादारुसिद्धार्थयुग्माम्बुशाक्राह्वयैः ।
सितलशुनफलत्रयोशीरतिक्तावचा-
तुत्थयष्टीबलालोहितैलाशिलापद्मकैः ।
दधित्तगरमधूकसारप्रियाह्वा-
निशाख्याविषातार्क्ष्यशैलैः सचव्यामयैः

कल्कितैर्घृतमभिनवमशेषमूत्रांशसिद्धं मतम्
भूतरावाऽऽह्वयं पानतस्तद् ग्रहघ्नं परम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—सोंठ, मरिच, पीपल, तमाल पत्र, केशर, पीपलामूल, जौखार, वनभण्टा के फल, हल्दी, देवदारु, पीली सरसों, काली सरसों, नेत्र बाला, इन्द्र जौ, श्वेत चन्दन, लशुन, हरड़, बहेड़ा, आमला, खस, कुटकी, बालवच, तूतिया, मुलेठी, बलामूल, मञ्जीठ, बड़ीइलायची, मैनशिल, पद्म काठ, कैथ, तगर, महुवा का सार, प्रियंगु, कलिहारी कन्द, अतीस, रसवत, चव्य तथा कूठ का कल्क, गो घृत तथा अष्ट मूत्र (सू. अ. ५) मिला कर सिद्ध किया गया घृत "भूत राव" कहलाता है इसका पान करने से—ग्रहावेश की शान्ति होती है । १९ ।

महाभूतराव घृत—

नत-मधु करञ्ज-लाक्षा-पटोली समङ्गा-वचा-
पाटलीहिंगुसिद्धार्थसिंहीनिशायुगलतारोहिणी-
बदरकटुफलत्रिकाकाण्डदारुक्रमिघ्नाजगन्धा
मरा ङ्कोल्लकोशातकीशिग्रुनिम्बाम्बुदेन्द्राह्वयैः ।
गदशुकतरुपुष्पवीजाग्रयष्ट्यद्रिकर्णी निकुम्भा-
ग्निबिल्वैः समैः कल्कितैर्मूत्रवर्गैश्च सिद्धं घृतम् ।
विधिविनिहितमाशु सर्वैः क्रमैर्योजितं हन्ति
सर्वग्रहोन्मादकुष्टज्वरांस्तन्महाभूतरावं स्मृतम् ॥२०॥

व्याख्या—तगर, मुलेठी, करञ्ज बीज, लाख, परवल के पत्र, मञ्जीठ, बालवच, पाढल की छाल, हींग, पीली सरसों, वन भण्टा के फल, हलदी, दारु हल्दी, प्रियंगु, कुटकी, बेर के फल, मरिच, हरड़, वहेड़ा, आँवला देवदारु, वाविडंग, अजमोद, निर्गुण्डी, अङ्कोल, कोशातकी (क. अ. १), सहजन के बीज, निम्ब की छाल, नागर मोथा, इन्द्र जौ, कुठ, सोना पाठा के पुष्प, वांस के बीज, मुलेठी, कोयल (अपराजिता), दन्ती मूल, चित्ता तथा बिलगिरी का कल्क, मूत्र वर्ग (अष्ट मूत्र) तथा गो घृत मिला कर सिद्ध किया गया और विधि पूर्वक सुरक्षित एवं पान आदि विधि से प्रयुक्त किया गया घृत सब प्रकार के भूतोन्मादों, कुष्ट तथा ज्वरों को नष्ट करता है । इसका नाम है "महाभूत राव" । २० ।

अन्यान्य संकेत—

ग्रहा गृह्णन्ति ये येषु तेषां तेषु विशेषतः ।
दिनेषु बलिहोमादीन्प्रयुञ्जीत चिकित्सकः ॥ २१ ॥
स्नान-वस्त्र-वसा-मांस-मद्य-क्षीर-गुडादि च ।
रोचते यद्यदा येभ्यस्तत्तेषामाहरेत्तदा ॥ २२ ॥
रत्नानि गन्धमाल्यानि बीजानि मधुसर्पिषी ।
भक्ष्याश्च सर्वे सर्वेषां सामान्यो विधि रित्ययम् ॥२३॥

व्याख्या—जिन दिनों में ग्रहावेश प्रारम्भ हो अथवा वृद्धि हो उन्हीं दिनों में ग्रहावेश एवं होम आदि करना चाहिये । और जिन ग्रहों (भूतों) के लिये जो जो स्नान (स्नपन), वस्त्र, वसा, मांस. मद्य, दूध अथवा गुड़ आदि पदार्थ रुचिकर हों उन भूतों के आवेश में उन्हीं स्नान आदि की व्यवस्था करे । सब प्रकार के रत्न, गन्ध पुष्प, जौ एवं तिल आदि बीज, मधु, घृत तथा मोदक एवं भात आदि भक्ष्य सब ग्रहों की शान्ति के लिये विधिपूर्वक दिये जाते हैं । २२-२३ ।

विशेष संकेत—

सुरर्षिगुरुवृद्धेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सुरालये ।
दिश्युत्तरस्यां तत्रापि देवायोपहरेद्बलिम् ॥ २४ ॥
पश्चिमायां यथाकालं दैत्यभूताय चत्वरे ।
गन्धर्वाय गवां मार्गे सवस्त्राभरणं बलिम् ॥ २५ ॥
पितृनागग्रहे नद्यां नागेभ्यः पूर्वदक्षिणे ।
यक्षाय यक्षायतने सरितोर्वा समागमे ॥ २६ ॥
चतुष्पथे राक्षसाय भीमेषु गहनेषु च ।
रक्षसां दक्षिणस्यां तु पूर्वस्यां ब्रह्मरक्षसाम् ॥ २७ ॥
शून्यालये पिशाचाय पश्चिमां दिशमास्थिते ।
शुचिशुक्लानि माल्यानि गन्धाः क्षैरेयमोदनम् ॥२८॥
दधि च्छत्रं च धवलं देवानां बलिरिष्यते ।

व्याख्या—सुर, ऋषि, गुरु तथा सिद्धों के आवेश एवं शाप में—देव मन्दिर में और विशेषतः देवावेश (सुरावेश) में उत्तर दिशा में बलि देवे । दैत्य असुर के लिये—पश्चिम दिशा के चतुष्पथ पर सायंकाल बलि देवे । गन्धर्व के लिये—गो मार्ग (गोहर—जिस मार्ग से गोवें चरने जाती हैं) में वस्त्र एवं भूषण से युक्त बलि देवें । पितृ ग्रह एवं उरग (नाग - सर्प ग्रह) के लिये—नदी में विशेषतः नाग ग्रह के लिये पूर्व दक्षिण कोण (अग्नि कोण) में बलि देवें । यक्ष के लिये—यक्ष के मन्दिर में अथवा वट वृक्ष के मूल में अथवा नदियों के संगम में बलि देवें ।

राक्षस ग्रह के लिये—दक्षिण दिशा में और ब्रह्मराक्षस के लिये पूर्व दिशा में चतुष्पथ पर और भीषण वन में बलि देवे । पिशाच के लिये—पश्चिम दिशा में स्थित सूने घर में बलि देवे । देवग्रहों के लिये—पवित्र एवं श्वेत पुष्प, गन्ध दूध की खीर एवं भात, दही तथा श्वेत छाता की बलि देवे ॥ २४-२८ ॥

हिंग्वादि घृत —

हिङ्गुसर्षपषड्ग्रन्थाव्योषैरर्धपलोन्मितैः ॥ २९ ॥
चतुर्गुणे गवां मूत्रे घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
तत्पाननावनाभ्यङ्गै र्देवग्रहविमोक्षणम् ॥ ३० ॥

व्याख्या—छाग, सरसों, बालवच, सोंठ, मरिच एवं पीपल २-२कर्ष, गोघृत १ प्रस्थ तथा गोमूत्र ४ प्रस्थ मिला कर घृत सिद्ध करे। इसका पान नस्य एवं अभ्यङ्ग करने से देव ग्रह से मुक्ति प्राप्त होती है। २९-३०।

असुरग्रह में नस्य एवं बलि

नस्याञ्जनं वचाहिंगुलशुनं वस्तवारिणा।
दैत्ये बलिर्बहुफलैः सोशीरकमलोत्पलैः॥ ३१॥

व्याख्या—असुरग्रहावेश में—बालवच, हिंगु तथा लशुन को बकरा के मूत्र में पीसकर नस्य देवें और अञ्जन करे। और बहुत से अनार आदि फल, खस, लाल कमल तथा श्वेत कमल धर कर बलि देवें॥३१॥

नाग ग्रह में बलि, नस्य एवं अञ्जन—

नागानां सुमनोलाजगुडापूपगुडौदनैः।
परमान्नमधुक्षीरकृष्णमृन्नागकेसरैः॥ ३२॥
वचापद्मपुरोशीररक्तोत्पलदलैर्बलिः।
श्वेतपत्रं च रोध्रं च तगरं नागसर्षपाः॥ ३३॥
शीतेन वारिणा पिष्टं नावनाञ्जनयोर्हितम्।

व्याख्या—नाग नामक भूत के लिये—चमेली आदि के फूल, लावा, गुड़, माल पूए, गुड़ के योगसे बनाया गया भात, खीर, मधु, दूध काली मिट्टी, नाग केशर, बालवच, कमल, गुग्गुल, खस, लाल कमल तथा उसके पत्र धर कर बलि देवे। श्वेत कमल, लोध, तगर, नाग केशर तथा सरसों को शीतल जल में पीसकर नस्य देवे तथा अञ्जन करे। ३२-३३।

यक्षग्रह में बलि, पान, नस्य तथा अञ्जन—

यक्षाणां क्षीरदध्याज्यमिश्रकौदनगुग्गुलुः॥ ३४॥
देवदार्वुत्पलं पद्ममुशीरं वस्त्रकाञ्चनम्।
हिरण्यं च बलिर्योज्यो मूत्राज्यक्षीरसेकतः॥ ३५॥
सिद्धं समांशितं पाननावनाभ्यञ्जने हितम्।
हरीतकी हरिद्रे द्वे लशुनो मरिचं वचा॥ ३६॥
निम्बपत्रं च बस्ताम्बु-कल्कितं नावनाञ्जनम्।

व्याख्या—यक्ष ग्रह के लिये—दूध दही घृत, रूई धान्य मिलाकर बनाया गया भात, (खिचड़ी), गूगल, देवदारु, कमल, श्वेत कमल, खस, वस्त्र, चन्दन तथा सुवर्ण धर कर बलि देवे। और गोमूत्र, गोदुग्ध तथा गोघृत समभाग एक साथ पकाकर पान में नस्य में तथा अभ्यङ्ग में प्रयुक्त करे। इरड़, हलदी, दारु हलदी, लशुन, मरिच, बालवच, तथा निम्बपत्र को बकरा के मूत्र में पीसकर नस्य देवे तथा अञ्जन करे। ३४-३६।

ब्रह्मराक्षस ग्रह में बलि आदि—

ब्रह्मरक्षोबलिः सिद्धं यवानां पूर्णमाढकम्॥ ३७॥
तोयस्य कुम्भः पललं छत्रं वस्त्रं विलेपनम्।
गायत्रीविंशतिपलक्वाथेऽर्धपलिकैः पचेत्॥ ३८॥
त्र्यूषणत्रिफलाहिंगुषड्ग्रन्थामिशिसर्षपैः।
सनिम्बपत्रलशुनैः कुडवान्सप्त सर्पिषः॥ ३९॥
गोमूत्रे त्रिगुणे पाने नस्याभ्यङ्गेषु तद्धितम्।

व्याख्या—ब्रह्मराक्षसके लिये-जौ के भात से भरा पात्र, जल का कलश (जल पूर्ण घट) मांस, छाता, वस्त्र तथा चन्दन एवं सिन्दुर आदि लेपन-तिलक द्रव्य धर कर बलि देवे। खैर का क्वाथ २० पल, सोंठ, मरिच, पीपल, इरड़, बहेड़ा आमला, हींग, बालवच, सोया, सरसों, निम्बपत्र तथा लशुन २-२ कर्ष (कल्क), गोघृत ७ कुडव (२८ पल) गोमूत्र २१ कुडव (८४ पल) मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत पीने में, नस्य में तथा अभ्यङ्ग में लाभ करता है॥ ३७-३९॥

राक्षस ग्रह में बलि आदि—

रक्षसां पललं शुक्लं कुसुमं मिश्रकौदनम्॥ ४०॥
बलिः पक्वाममांसानि निष्पावा रुधिरोक्षिताः।
नक्तमाल-शिरीषत्वक्मूलपुष्पफलानि च॥ ४१॥
तद्वच्च कृष्णपाटल्या बिल्वमूलं कटुत्रिकम्।
हिङ्ग्विन्द्रयवसिद्धार्थलशुनामलकीफलम्॥ ४२॥
नावनाञ्जनयोर्योज्यो वस्तमूत्रद्रुतोऽगदः।
एभिरेवघृतं सिद्धं गवां मूत्रे चतुर्गुणे॥ ४३॥
रक्षोग्रहान् वारयते पानाभ्यञ्जननावनैः।

व्याख्या—राक्षसके लिये-मांस, श्वेत पुष्प, मिश्रक भात पक्व एवं अपक्व मांस, तथा रक्त से सिञ्चित निष्पाव (मटर अथवा खेसारी के दाने) धर कर बलि देवे। करञ्जबीज, सिरस की छाल, मूल, पुष्प तथा फल (बीज) काले फल के पाटल की छाल, मूल, पुष्प तथा फल (बीज), बिल की जड़, सोंठ, मरिच, पीपल, हींग, इन्द्र जौ, पीली सरसों लशुन तथा आमला को बकरा के मूत्र में पीसकर गोली बनावे। यह अगद-नस्य तथा अञ्जन में प्रयुक्त करे। और उन्हीं करञ्जबीज आदि का कल्क १ भाग, गोघृत ४ भाग तथा गोमूत्र १६ भाग मिला कर सिद्ध किया गया घृत—पान में, अभ्यङ्ग में तथा नस्य में प्रयुक्त करने से राक्षस नामक ग्रहों—भूतों का निवारण करता है। ४१।

पिशाच ग्रह में बलि आदि—

पिशाचानां बलिः सीधु पिण्याकः पललं दधि॥४४॥
मूलकं लवणं सर्पिः सभूतौदनग्राबकम्।
हरिद्राद्वयमञ्जिष्ठामिसिसैन्धवनागरम्॥ ४५॥
हिंगुप्रियंगुत्रिकटुरसोनत्रिफला वचा।
पाटलाश्वेतकटभीशिरीषकुसुमैर्घृतम्॥ ४६॥
गोमूत्रपादिकं सिद्धं पानाभ्यञ्जनयोर्हितम्।
वस्ताम्बुपिष्टैस्तैरेव योज्यमञ्जननावनम्॥ ४७॥

व्याख्या—पिशाच के लिये सीधु (शिरका) खली, मांस, दही, मूली, लवण; घृत, भूतौदन (मांस के योग से बनाया गया भात) तथा जौ की बाटी (सेटी अथवा दलिया) धर कर बलि देवे । हलदी, दारुहल्दी, मजीठ, सोया (सौंफ), सैन्धव लवण, सोंठ, हींग, प्रियंगु, सोंठ, मरिच, पीपल, लशुन, हरड़, बहेड़ा, आमला, बालवच, पाढ की छाल, श्वेत कटभी (श्वेत माल कांगुनी तथा सिरस के पुष्प का कल्क १ भाग, घृत ४ भाग और गोमूत्र १ भाग मिला कर घृत सिद्ध करे । यह घृत—पिशाचावेश में—पीने से तथा अभ्यङ्ग करने से लाभ करता है । और उक्त हलदी आदि द्रव्यों को बकरा के मूत्र में पीस कर अञ्जन करे तथा नस्य देवे ॥ ४४-४७ ॥

अन्यसंकेत—

देवर्षिपितृगन्धर्वैं तीक्ष्णं नस्यादि वर्जयेत् ।
सर्पिःमानादिमृद्वस्मिन् भैषज्यमवचारयेत् ॥ ४८ ॥
ऋते पिशाचान्सर्वेषु प्रतिकूलं च नाचरेत् ।
सर्वेऽघ्नमातुरं घ्नन्ति क्रुद्धास्ते हि महौजसः ॥ ४९ ॥

व्याख्या—देव, ऋषि, पितृ तथा गन्धर्व नामक भूतों के आवेश में तीक्ष्ण नस्य एवं अञ्जन आदि का प्रयोग न करे । पिशाच नामक भूत के अतिरिक्त देव एवं गन्धर्व आदि भूतों में तीक्ष्ण नस्य आदि तथा ताड़न एवं त्रासन आदि प्रतिकूल (कष्टप्रद) उपाय न करे क्योंकि प्रतिकूल उपाय करने से देव आदि महातेजस्वी भूत—क्रुद्ध होकर चिकित्सक तथा रोगी को मार डालते हैं ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—च, चि, अ. ९—

शुद्धस्याऽऽचार विभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ।
ताड़नं च मनोबुद्धिदेहसंवेजनं हितम् ॥३६॥
यः सक्तोऽविनये पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः ॥
अपेत लोहकाष्ठाद्यैः सरोधश्च तमागृहे ॥३७॥
तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम् ।
विस्मयो विस्मृतेः हेतो नयन्ति प्रकृतिं मनः ॥ ३८ ॥

अर्थात्—दोनों प्रकार (दोषज एव भूतज) उन्मादो में—तीक्ष्ण नस्य एवं अञ्जन, ताड़न (मारना पीटना) डराना धमकाना, अविनय करने पर (इधर-उधर दौड़ने भागने, दूसरों को सताने आदि में प्रवृत्त होने पर) कपड़ा की पट्टियों—रस्सियों से बाँधकर लोह लकड़ आदि से रहित अन्धेरे घर में डाल देना, झिड़कना, उद्विग्न करना तथा भयभीत करना आदि क्रूर-प्रतिकूल उपाय करे इन उपायों से मन प्रकृतिस्थ हो जाता है। इस प्रकार के प्रतिकूल उपाय देवोन्माद आदि में न करे। पिशाचोन्माद में किये जा सकते हैं। देखिये अगला अ. ६ श्लो० १२ ॥४८-४९॥

शिवपूजन आदि उपाय—

ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम् ।
सर्वव्याधिचिकित्सन्तं जपन् सर्वग्रहान् जयेत् ॥५०॥
तथोन्मादानपस्मारानन्यं वा चित्तविप्लवम् ।
महाविद्यां च मायूरीं शुचिं तं श्रावयेत्सदा ॥ ५१ ॥
भूतेशं पूजयेत् स्थाणुं प्रमथाख्यांश्च तद्गणान् ।
जपन् सिद्धांश्च तन्मंत्रान् ग्रहान्सर्वानपोहति ॥ ५२ ॥

व्याख्या—द्वादशबाहु, विश्वनाथ, भगवती पार्वती द्वारा अवलोकित तथा सर्वव्याधि नाशक भगवान् शिव के "ओं नमः शिवाय" आदि किसी सिद्ध मन्त्र का जप करके सभी भूतों का शमन करे तथा उन्मादों को अपस्मारों को अथवा अन्यान्य उद्वेग, अतत्त्वाभिनिवेश, अतत्त्वक आदि मानसिक रोगों का शमन करे और रोगी को स्नानादि से शुद्ध करके, बौद्धागम में सुप्रसिद्ध मायूरी नामक महा विद्या (स्तोत्र) का पाठ सुनावे । भूतेश्वर भगवान् शिव का तथा प्रमथ नामक उनके गणों का षोडशोपचार से पूजन करे और शिव सम्बन्धी सिद्ध मन्त्रों का जप करके सब ग्रहों-भूतों का शमन करे ॥

वक्तव्य—विश्वास करना चाहिये कि रोगों में सिद्ध मन्त्रों के जप से, उनके द्वारा झाड़ने से, प्रोक्षण से तथा यन्त्र बाँधने आदि से वैसे ही लाभ होता है जैसे अन्यान्य शमन चिकित्साओं से । विशेषतः उन्माद आदि बुद्धि विभ्रंश जनित रोगों में मन्त्रों का-मन्त्र चिकित्सा का बहुत प्रभाव देखा जाता है । एक उक्ति है "सिद्धवैद्यस्तु मांत्रिकः" अर्थात् मन्त्रों से चिकित्सा—रोग शान्ति करने वाला वैद्य 'सिद्धवैद्य" कहलाता है । यद्यपि इस प्रकार के सिद्ध वैद्य बहुत थोड़े देखे जाते हैं और वे कोई दूकान जमा कर जीविकोपार्जन भी नहीं करते रोगियों से कुछ शुल्क के रूप में धन भी नहीं लेते प्रायः परोपकारार्थ मन्त्र साधन आदि तपस भी करते हैं और अनेक रोगों की केवल मन्त्र द्वारा सफल चिकित्सा करते हैं । तथापि ऐसे सिद्ध वैद्य देखे अवश्य जाते हैं । उन पर कोई चञ्चल चित्त विश्वास करे अथवा न करे ॥ ५०-५२ ॥

अन्य संकेत—

यच्चानन्तरयोः किंचिद्वक्ष्यतेऽध्याययोर्हितम् ।
यथोक्तमिह तत्सर्वं प्रयुञ्जीत परस्परम् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—और अगले उन्माद प्रतिषेध (अ. ६) तथा अपस्मार प्रतिषेध (अ- ७) नामक दो अध्यायों में जो कुछ चिकित्सा कही जायगी (कही गई है) और जो कुछ चिकित्सा इस अध्याय में कही गई है वह सब मिला जुला कर भूत शान्ति के लिये प्रयुक्त करनी चाहिये । ५३ ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि भूतावेश में भूतनाशक उपायों के साथ २ वातादि दोष शामक चिकित्सा भी करते रहना चाहिये। यह वाक्य इस विचार से लिया गया है क्योंकि—वर्त्तमान आयुर्वेदिक ग्रंथ—सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिताः मलाः। तथा वायुः पित्तं कफ इवेति त्रयो दोषाः समासतः। विकृताः अविकृता देहं घ्नन्तिते वर्त्तयन्ति च (सू, अ, १) त्रिदोष सिद्धान्त को अधिक महत्व देते हैं और मानसिक रोगों का प्रभाव स्थूल शरीर पर भी थोड़ा बहुत अवश्य पड़ता है।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथाऽत उन्मादप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब उन्माद रोग की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस अध्याय में उन्माद रोग का ही वर्णन किया गया। इस विषय का वर्णन च. नि. अ. ७ तथा चि. अ. ६ में, सु. उ. अ. ६२ तथा अ. सं. उ. अ. ९ देखिये।

उन्मादरोग की संख्या—

उन्मादाः षट् पृथग्दोषनिचयाऽथविषोद्भवाः।

व्याख्या—उन्माद ६ प्रकार का होता है—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-त्रिदोषज, ५—शोक एवं काम आदि मानसिक क्लेश से उत्पन्न तथा ६ - धत्तूर आदि विष से उत्पन्न ॥ २ ॥

वक्तव्य—च नि.अ. ७ में उन्माद ५ प्रकार माना है वहां पांचवे एवं छठे उन्माद को आगन्तु मान लिया गया है और सुश्रुत में उक्त प्रकार से ६ प्रकार का ही माना है। चरक में आगन्तु उन्माद भूतज माना है।

उन्माद का सामान्य लक्षण—

उन्मादो नाम मनसो दोषैरुन्मार्गगैर्मदः ॥ १ ॥

व्याख्या—वातादि दोषों के विमार्गगामी हो जाने से मनस् में जो "मद" उत्पन्न हो जाता है उस का नाम "उन्माद है ॥ ३ ॥

वक्तव्य—श्लोक ३ की व्याख्या सर्वाङ्ग सुन्दरा के आधार पर की गई है परन्तु हमारा विचार है कि—यह व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये यथा—

उन्मादो नाम मनसो दोषैरुन्मार्गगैः मदः।
शारीर मानसैः दुष्टैः।

अर्थात्—वातादि शारीर दोषों तथा रजस् एवं तमस् तथा त्रिगुण सत्त्व नामक मानस (मानसिक) दोषों के दुष्ट होने (निम्न लिखित कारणों द्वारा दुष्ट होने) से उन्मार्ग गामी होने से जो मनस् का मद होता है (मद्यपान जनित मद सदृश मद) होता है उसका नाम "उन्माद" है। हमारी इस व्याख्या का आधार अष्टांग संग्रह उ. अ. ९ का यह पाठ है—

तत्र उन्मादो नाम यत् उन्मार्गगैः शारीरमानसैः दोषैः मनसो मादनम्। तेषां पुनः उन्मार्गगत्वे हेतुः समलं विकृतो पहितं अहितमनुचितमन्नपानविधि निरपेक्षमाहारजातं, अत्युपक्षीण देहानां व्यवायः, व्याधिवेग समुद्गमेव विषम शरीर चेष्टोपसेवा, देवद्विज गुरुलंघनं वा, रागद्वेष जनिताभिः आधिभिः मनोविघातो, विषोपविषगरोपयोगश्च।

अर्थात्—उन्माद नामक रोग वह है जो शारीर एवं मानस दोषों के उन्मार्गगामी होने से मनस् का मादन (मत्त होना) होता है। और उन दोषों के उन्मार्गग मी होने का हेतु है—मलिन, मलिन व्यक्ति द्वारा परोसा गया, अहित, असात्म्य तथा अन्नपान विधि का विचार किये बिना खाया गया, मैथुन, ज्वर आदि रोग के वेग की वृद्धि, शरीर की विषमचेष्टाओं का सेवन, देव, द्विज एवं गुरुजनों का अपमान, राग (काम) एवं द्वेष (क्रोध) आदि से उत्पन्न आधियों (मानसी व्यथाओं) से मनस् पर आघात और विष, उपविष तथा गरविष का सेवन ॥ १ ॥

उन्माद का निदान सम्प्राप्ति एवं सामान्य लक्षण

शारीरमानसैर्दुष्टैः अहितादन्नपानतः।
विकृताऽसात्म्यसमलाद् विषमादुपयोगतः ॥ २ ॥
विषण्णस्याल्पसत्त्वस्य व्याधिवेगसमुद्गमात्।
क्षीणस्य चेष्टावैषम्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमात् ॥ ३ ॥
आधिभिश्चित्तविभ्रंशाद् विषेणोपविषेण च।
एभिर्विहीनसत्त्वस्य हृदि दोषाः प्रदूषिताः ॥ ४ ॥
धियो विधाय कालुष्यं हत्वा मार्गान् मनोवहान्।
उन्मादं कुर्वते तेन धी-विज्ञान-स्मृति-भ्रमान् ॥ ५ ॥
देहो दुःखसुखभ्रष्टो भ्रष्टसारथिवद्रथः।
भ्रमत्यचिन्तितारम्भः

व्याख्या—अहित, विकृत, असात्म्य एवं मलिन अन्न एवं पान से, अन्नपान का विषम उपयोग करने से, विषाद युक्त अथवा हीन सत्त्ववाले (मानसिक शक्ति से हीन) मानव को किसी रोग का वेग बढ़ जाने से, क्षीण (शरीर एवं मनस की क्षीणता से युक्त) मानव को विषम चेष्टा करने से, देव, द्विज एवं गुरु का व्यतिक्रम (उल्लंघन-अपमान) करने से, काम एवं शोक आदि मानसिक व्यथाओं के कारण चित्त का विभ्रंश होने से और विष

तथा उपविषयों का सेवन करने से शरीर एवं मानसिक दोष उन्मार्गगामी हो जाते हैं।

सम्प्राप्ति—उक्त कारणों से सत्त्व (सत्त्वगुण अथवा मनस्) का क्षय होने पर, हृदय में दोष अत्यन्त दुष्ट होकर बुद्धि को मलिन करके, मनोवाही मार्गों (स्रोतों) को विकृत (आवृत) करके "उन्माद" को उत्पन्न करते हैं। सामान्य लक्षण—उन्माद होने पर बुद्धि, विज्ञान तथा स्मृति का विभ्रम-विभ्रंश-विकृति हो जाने के कारण दुःख एवं सुख के ज्ञान से शून्य होकर देह अविचारित कर्म करता हुआ घूमता है जैसे सारथी के नष्ट हो जाने पर जुता हुआ रथ ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ९—एभिः हीनसत्त्वस्य मनसि उपहते बुद्धौ प्रचलितायां अत्युदीर्णत्वात् दोषाः प्रकुपिताः हृदय उपसृत्य, मनोवहानि स्रोतांसि आवृत्य जनयन्ति उन्मादम्। तस्यसामान्यलिंगम्—मनोबुद्धिस्मृत्यादिसंप्रमोहः, ततश्च देहो हतसारथिः इव रथः, अकर्णधार इव च अप्सु प्लवः (नौः) सुख दुःखाचार धर्माऽधर्मं प्रलुप्तो अकस्मात् भ्रमति। इस पाठ में "मनसि उपहते जनयन्ति उन्मादम्" पाठ चरक से अविकल उठाया गया है और अन्य पाठ थोड़े हेरफेर के साथ। चरक में उन्माद का लक्षण है—उन्मादं पुनः मनोबुद्धि संज्ञा ज्ञान स्मृति भक्ति शील चेष्टाऽऽचार विभ्रमं विद्यात् ॥ ५ ॥ अर्थात् मनस् आदि के विभ्रम का नाम उन्माद है विभ्रम अर्थात् विशेष रूप से भ्रान्ति युक्त होना अनवस्थित होना।

दोषज उन्माद के पूर्व रूप—अ सं. उ. अ. ९—तत्र शिरसः शून्यता, चक्षुषोः अस्वस्थत्वं स्वनः कर्णयोः, उच्छ्वा साधिक्यं, आस्यस्रवणं, अन्नाऽनभिलाषो, अरोचकः अविपाको, हृदयग्रहो, अस्थाने ध्यानाऽऽयाससंमोह उद्वेगाः, सततं रोमहर्षो, ज्वरोऽभीक्ष्णं अभीक्ष्णं उन्मत्तचित्तत्वं अर्दिताकृतिकरणं, स्वप्ने च दर्शनम् अभीक्ष्णं भ्रान्त, चलिताऽनवस्थितानाम् अप्रशस्तानां च रूपाणां, तिलपीडकचक्राधिरोहणं, वातकुण्डलिकाभिः उन्मथनं कलुषाणां अम्भसां आवर्त्तेषु, चक्षुषोश्च अपसर्पणं इति दोषनिमित्तानामुन्मादानां पूर्वरूपाणि। ततोऽन्तरं उन्मादाऽभिनिर्वृत्तिः एव।

अर्थात्—शिर में शून्यता की प्रतीति, नेत्रों में व्याकुलता, कानों में साँय २ ध्वनि, श्वास संख्या में वृद्धि, मुख से पानी जाना, अन्न की अनिच्छा, अरुचि, अपच, हृदय की गति में रुकावट (नाड़ी रुक रुक कर चलना) कारण के बिना ही चिन्तन, आयास (उद्योग-प्रयास) व्याकुलता तथा घबराहट, निरन्तर रोमांच, बार २ ज्वर, बार २ चित्त में उन्मत्तता, अर्दित रोग के समान मुख टेढ़ा करना, स्वप्नों में बार २ घूमते हुए, चञ्चल तथा अस्थिर एवं गर्हित रूपों का दर्शन तथा कोल्हू पर चढ़ना, वायु के बवण्डर में फँसना, मलिन जलों के आवर्त्तों में डूबना तथा नेत्रों का विनाश दिखाना। यह सब दोषज उन्मादों के पूर्व रूप हैं। इनके अनन्तर उन्माद की उत्पत्ति होही जाती है। भूतोन्माद में सहसा उन्माद हो जाता है पूर्वरूप होते ही नहीं ॥ २-५ ॥

वातज उन्माद का लक्षण—

तत्र वातात्कृशाङ्गता ॥ ६ ॥
अस्थाने रोदना-क्रोशहसितस्मितनर्तनम्।
गीतवादित्रवागङ्ग-विक्षेपास्फोटनानि च ॥ ७ ॥
असाम्ना वेणुवीणादिशब्दानुकरणं मुहुः।
आस्यात्फेनागमोऽजस्रमटनं बहुभाषिता ॥ ८ ॥
अलङ्कारोऽनलङ्कारैरयानैर्गमनोद्यमः।
गृद्धिरभ्यवहार्येषु तल्लाभे चाऽवमानता ॥ ९ ॥
उत्पीडितारुणाक्षित्वं जीर्णे चान्ने गदोद्भवः।

व्याख्या—वायु से उत्पन्न उन्माद में—शरीर में कृशता, किसी कारण के बिना ही रोना, चिल्लाना, हँसना, मुस्कराना, नाचना, गाना, बजाना, बोलना, हाथ आदि चलाना-पटकना तथा अंगुलियाँ आदि मटकना और उद्धत होकर बांसुरी एवं वीणा आदि की ध्वनियों का अनुकरण बार २ करना मुख से झाग जाना, निरन्तर घूमते रहना, अधिक बोलना, अलंकार के अयोग्य सवारियों द्वारा चलने का उद्योग करना खाने के पदार्थों को खाने की इच्छा करना परन्तु उनके मिलने पर उनको न खाना और बखेर देना, नेत्रगोलकों का गोल २ तथा लाल हो जाना और आहार पच जाने पर उन्माद की उत्पत्ति तथा वृद्धि होना। ये लक्षण होते हैं ॥

वक्तव्य—यद्यपि उन्माद रोग एक मानसिक रोग है तथापि उसका प्रभाव मनस् के साथ २ शरीर परभी पड़ता है क्योंकि वातादि दोष शारीरिक दोष हैं अतः कृशांगता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ६-९ ॥

पित्तज उन्माद का लक्षण—

पित्तात्सन्तर्जनं क्रोधो मुष्टिलोष्टाद्यभिद्रवः ॥ १० ॥
शीतच्छायोदकाकांक्षा नग्नत्वं पीतवर्णता।
असत्यज्वलनज्वालातारकादीपदर्शनम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—पित्त से उत्पन्न उन्माद में—दूसरों को झिड़कना, क्रोध, मुक्का तान कर एवं ढेला—पत्थर आदि लेकर दूसरों की ओर दौड़ना, शीतल छाया एवं जल की अभिलाषा, नग्न रहना, वर्ण में पीला पन, और अविद्यमान अग्नि की ज्वाला, तारे तथा दीप दिखाना। ये लक्षण होते हैं ॥ १०-११ ॥

कफज उन्माद के लक्षण—

कफादरोचकश्छर्दिरल्पेहाहारवाक्यता।

स्त्रीकामता रहःप्रीतिर्लालासिङ्घाणकस्रुतिः ॥ १२ ॥
बैभत्स्यं शौचविद्वेषो निद्रा श्वयथुराननेे ।
उन्मादो बलवान् रात्रौ भुक्तमात्रे च जायते ॥ १३ ॥

व्याख्या—कफ से उत्पन्न उन्माद में—अरोचक, कभी २ छर्दि, स्वल्प चेष्टा, स्वल्प आहार, स्वल्प बोलना, मैथुन की अभिलाषा, एकान्त में रहने की इच्छा, लाला-स्राव, सींढ अधिक आना, बीभत्स (गन्दा) बना रहना स्वच्छता से द्वेष करना, निद्रा आना, मुख पर शोथ, रात्रि में तथा भोजन करने पर उन्माद की वृद्धि। ये लक्षण होते हैं ॥ १२-१३ ॥

त्रिदोषज उन्माद का लक्षण—

सर्वायतनसंस्थानसन्निपाते तदात्मकम् ।
उन्मादं दारुणं विद्यात् तं भिषक्परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

व्याख्या—सब कारणों तथा सब लक्षणों का संयोग होने पर त्रिदोष जनित उन्माद समझना चाहिये। यह बहुत भीषण होता है और असाध्य होता है अतः इसकी चिकित्सा का विफल प्रयत्न न करे ॥ १४ ॥

आधिज उन्माद का लक्षण—

धनकान्तादिनाशेन दुःसहेनाभिषङ्गवान् ।
पाण्डुर्दीनो मुहुर्मुह्यन् हाहेति परिदेवते ॥ १५ ॥
रोदित्यकस्मान्म्रियते तद्गुणान् बहु मन्यते ।
शोकक्लिष्टमना ध्यायन् जागरूको विचेष्टते ॥ १६ ॥

व्याख्या—धन—सम्पत्ति के विनाश से अथवा कान्त आदि बन्धु—बान्धव आदि के विनाश (वियोग अथवा मृत्यु) से दुःसह क्लेश होने पर जो उन्माद होता है उससे रोगी—पाण्डुवर्ण (पीला श्वेत), दीन तथा बार २ अर्धमूर्छित सा रहता है और हाय २ करके विलाप करता रहता है और रोता रहता है, किसी विशिष्ट कारण के बिना ही मर जाता है, जीवित रहता है तो उस धन अथवा बन्धु आदि के गुणों का वर्णन करता रहता है, उसका मन शोक से अत्यन्त दुःखी रहता है, चिन्ता करता रहता है उन्हीं का स्मरण करता रहता है, जागता रहता है (निद्रा नहीं आती) तथा विपरीत चेष्टा करता रहता है ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. ६२—

चौरैः नरेन्द्रपुरुषैः अरिभिः तथाऽन्यैः
वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयात् वा ।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोः
जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः ॥१२॥

अर्थात्—चोरों, राजपुरुषों, शत्रुओं तथा अन्यान्य सिंह सर्प आदि द्वारा डराए-धमकाए जाने पर, अथवा धन अथवा बान्धव का क्षय होने पर अथवा मैथुन की उत्कट अभिलाषा होनेपर यदि मन में आघात पहुंच जाता है तो भीषण उन्माद हो जाता है ॥१५-१६॥

विषज उन्माद—

विषेण श्यावबदनो नष्टच्छायाबलेन्द्रियः ।
वेगान्तरेऽपि सम्भ्रान्तो रक्ताक्षस्तं विवर्जयेत् ॥१७॥

व्याख्या—विष से जो उन्माद होता है उससे मुखपर कालापन हो जाता है, कान्ति, बल तथा इन्द्रियों का नाश हो जाता है (और विष का वेग शान्त होनेपर शान्त हो जाता है।) यदि वेग शान्त हो जाने पर भी उन्माद बना रहे और नेत्र लाल हो गये हों तो उसे त्याग देवे—विफल प्रयत्न न करे क्योंकि उस दशा में मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—धतूरा के बीज खाने से उन्माद हो जाता है और ५।७-१०,२० दिन में स्वयं शान्त हो जाता है परन्तु उसके अनन्तर भी यदि उन्माद बना रहता है तो फिर वह जीवन भर शान्त नहीं होता। और उसी प्रकार भांग एवं गांजा आदि के विषय में देखा गया है और मद्य एवं अफीम से क्षणिक उन्माद होता है, परन्तु मद उतर जानेपर शान्त हो जाता है ॥१७॥

सामान्य चिकित्सा—

अथानिलज उन्मादे स्नेहपानं प्रयोजयेत् ।
पूर्वमावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ १८ ॥
कफपित्तभवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम् ।
स्निग्धस्विन्नस्य बस्तिं च शिरसः सविरेचनम् ॥ १९ ॥
तथास्य शुद्धदेहस्य प्रसादं लभते मनः ।
इत्थमप्यनुवृत्तौ तु तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ॥ २० ॥
हर्षणाऽऽश्वासनोत्त्रास-भयताडनतर्जनम् ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनालेपधूमान् पानं च सर्पिषः ॥२१॥
युञ्ज्यात्तानि हि शुद्धस्य नयन्ति प्रकृतिं मनः ।

व्याख्या—वातज उन्माद में-प्रथम स्नेहपान करे—उन्माद नाशक स्नेहों का पान करे। यदि पित्त आदि का संसर्ग हो—पुरीषरोध हो तो स्नेहपान के पूर्व स्नेह युक्त एवं मृदु विरेचन करे। और कफज एवं पित्तज उन्माद में भी प्रथम स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन एवं विरेचन करे और वस्तियाँ देवे तथा शिरोविरेचन करे। इस प्रकार शरीर का शोधन हो जाने पर मनस् प्रकृतिस्थ हो जाता है—उन्माद शान्त हो जाता है। इतनी सब चिकित्सा करने पर भी यदि उन्माद शान्त न हो तो तीक्ष्ण नस्य का तथा तीक्ष्ण अञ्जन का प्रयोग करे और हर्षण (शोकज उन्माद में प्रसन्न रहने के उपाय), आश्वासन (नष्ट हुई वस्तु की पुनः प्राप्ति का विश्वास), उत्त्रासन (उद्वेजन) डराना, ताड़न (मारना-पीटना), तर्जन (झिड़कना), अभ्यङ्ग उबटन, लेपन, धूमपान एवं धूप देना, और

घृतपान का प्रयोग करे । शोधन—वमन आदि द्वारा हृदय, इन्द्रिय—मनोवाही स्रोतस्, शिर तथा उदर का शोधन हो जाने पर उक्त हर्षण आदि उपाय—मनस् को प्रकृतिस्थ कर देते हैं अर्थात् उन्माद को शान्त कर देते हैं ॥ १८-२१ ॥

हिंग्वादि घृत—

हिङ्गुघृतम् ।

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम् ॥ २२ ॥
सिद्धं समूत्रमुन्मादभूतापस्मारनुत्परम् ।

व्याख्या हींग, सौंचर लवण, सोंठ, मरिच तथा पीपल २-२ पल गोघृत १ आढक तथा गोमूत्र ४ आढक मिलाकर घृत सिद्ध करे । यह घृत—उन्माद, भूतावेश तथा अपस्मार को नष्ट करता है ॥२२॥

ब्राह्मी घृत—

(ब्राह्मीघृतम्)

द्वौ प्रस्थौ स्वरसाद् ब्राह्म्या घृतप्रस्थं च साधितम्॥२३॥
व्योषश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खपुष्पीनृपद्रुमैः ।
ससप्तलाकृमिहरैः कल्कितैरक्षसम्मितैः ॥२४॥
पलवृद्ध्या प्रयुञ्जीत परं मात्राचतुष्पलम् ।
उन्मादकुष्ठापस्मारहरं बन्ध्यासुतप्रदम् ॥ २५ ॥
वाक्स्वरस्मृतिमेधाकृद् धन्यं 'ब्राह्मीघृतं' स्मृतम् ।

व्याख्या—ब्राह्मी का स्वरस २ प्रस्थ, घृत १ प्रस्थ, सोंठ, मरिच, पीपल, काली निसोत, दन्तीमूल, शंखपुष्पी, अमलतास का गूदा, सप्तपर्ण की छाल तथा वायविडंग १-१ कर्ष का कल्क मिला कर घृत सिद्ध करे ।

मात्रा—१ पल से बढ़ाते २ चार पल पर्यन्त । यह ब्राह्मी घृत—उन्माद, कुष्ठ, तथा अपस्मार को नष्ट करता है, बन्ध्या नारी को पुत्र देता है, वाक् शक्ति स्वर, स्मृति तथा मेधा को बढ़ाता है तथा धन की प्राप्ति का साधन है ॥

वक्तव्य—ब्राह्मी घृत की मात्रा पर ध्यान देना चाहिये क्योंकि अल्प मात्रा से लाभ नहीं भी होता । २३ १५॥

कल्याण घृत एवं महाकल्याण घृत—

कल्याणकं घृतम् ।

वराविशालाभद्रैलादेवदार्वेलवालुकैः ॥ २६ ॥
द्विसारिवा-द्विरजनी-द्विस्थिरा-फलिनीनतैः ।
बृहतीकुष्ठमञ्जिष्ठा-नागकेसरदाडिमैः ॥ २७ ॥
वेल्लतालीसपत्रैला-मालतीमुकुलोत्पलैः ।
सदन्तीपद्मकहिमैः कर्षांशैः सर्पिषः पचेत् ॥ २८ ॥
प्रस्थं भूतग्रहोन्माद-कासापस्मारपाप्मसु ।
पाण्डु-कण्डूविषे शोफे मोहे मेहे गरे ज्वरे ॥ २९ ॥
अरेतस्यप्रजसि वा दैवोपहतचेतसि ।
अमेधसि स्खलद्वाचि स्मृतिकामेऽल्पपावके ॥ ३० ॥
बल्यं मङ्गल्यमायुष्यं कान्तिसौभाग्यपुष्टिदम् ।
'कल्याणकमिदं' 'सर्पिः' श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ॥ ३१ ॥

महाकल्याणकं घृतम् ।

एभ्यो द्विसारिवादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ।
रसे तस्मिन् पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरचतुर्गुणम् ॥३२॥
वीराद्विमेदाकाकोलीकपिकच्छूविषाणिभिः ।
शूर्पपर्णीयुतैरेतन् 'महाकल्याणकं' परम् ॥३३॥
बृंहणं सन्निपातघ्नं पूर्वस्मादधिकं गुणैः ।

व्याख्या—हरड़, बहेड़ा, आमला, इन्द्रायणमूल, बड़ी इलायची, देवदारु, एलवालुक, सारिवा, कृष्णसारिवा, हल्दी, दारुहल्दी शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, प्रियंगु, तगर, वनभण्टा की जड़, कुठ, मञ्जीठ, नागकेसर, अनारदाना, वायविडंग, तालीसपत्र, छोटी इलायची, चमेली की कली, नीलकमल, दन्तीमूल, पद्मकाष्ठ, तथा श्वेत चन्दन का कल्क १-१ कर्ष गोघृत एक प्रस्थ मिलाकर घृत सिद्ध करे । ये २८ द्रव्य हैं । (चरक संहिता में घृत से चतुर्गुण जल देकर पाक करने का विधान किया है ।)

इस घृत का प्रयोग—भूतोन्माद, बालग्रह, कास, अपस्मार, पाप (पापकर्म का पश्चात्ताप) पाण्डुरोग, कण्डू विष विकार, शोथ, मोह, प्रमेह, गरविष, ज्वर, शुक्रक्षय, रजःक्षय या बन्ध्यात्व, दैवोन्माद या चेतना शक्ति के क्षय, बुद्धिदौर्बल्य, स्मृतिक्षय, गद्गदत्व, स्मरण शक्ति की कामना में तथा मन्दाग्नि में किया जाता है । यह बल वर्द्धक, मङ्गल-कल्याणकारक, आयुवर्द्धक, कान्ति सौभाग्य तथा पुष्टि का दाता है । यह कल्याणक घृत उच्चकोटि का पुंसवन है कन्या के स्थान में पुत्र देता है ।

महाकल्याण घृत—उक्त कल्याण घृत में कहे गये सारिवा आदि २१ द्रव्यों के क्वाथ में गोघृत १ प्रस्थ, प्रथम प्रसूता गौ का दूध ४ प्रस्थ तथा शतावर, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, किवाँच बीज, काकड़ासिंगी तथा माषपर्णी का कल्क (१-१ कर्ष) मिलाकर घृत सिद्ध करे । इसका नाम "महा कल्याण घृत" है । यह पुष्टिकारण, त्रिदोषनाशक तथा कल्याण घृत से गुणों में अधिक है ॥२६-३३ ॥

महा पैशाचिक घृत—

महापैशाचिकं घृतम् ।

जटिला पूतना केशी चारटी मर्कटी वचा ॥ ३४ ॥
त्रायमाणा जया वीरा चोरकः कटुरोहिणी ।
कायस्था शूकरीच्छत्रा सातिच्छत्रा पलङ्कषा ॥ ३५ ॥
महापुरुषदन्ता च वयस्था नाकुलीद्वयम् ।
कटम्भरा वृश्चिकाली शालिपर्णी च तैर्घृतम् ॥ ३६ ॥

सिद्धं चातुर्थिकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्।
महापैशाचकं नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम् ॥ ३७ ॥
बुद्धिमेधास्मृतिकरं बालानां चाङ्गवर्धनम्।

व्याख्या—जटा मांसी, हरड़, गन्धमांसी, पद्म चारिणी, किवाँच के बीज, बालवच, त्रायमाण, अरणी की छाल, काकोली, चोरपुष्पी (चण्डा), कुटकी, आमला, विधारा, धनियाँ, सौंफ, लाख, शतावर, क्षीरकाकोली, सर्पाक्षी, सर्पगन्धा, कटम्बरा (प्रसारणी), बिछुवा, तथा शालपर्णी के योग से सिद्ध घृत—चातुर्थक ज्वर, उन्माद, ग्रहावेश, तथा अपस्मार को नष्ट करता है, अमृत के समान है तथा बुद्धि, मेधा एवं स्मृति को बढ़ाता है और बालकों के शरीर को बढ़ाता है। इसका नाम "महापैशाचिक" घृत है ॥ ३४-३७ ॥

ब्रह्मादि वर्त्ति—

उन्मादसूदनी वर्त्तिः।

ब्राह्मीमैन्द्रीं विडङ्गानि व्योषं हिङ्गु जटां मुराम् ॥ ३८ ॥
रास्नां विशल्यां लशुनं विषघ्नां सुरसां वचाम्।
ज्योतिष्मतीं नागविन्नामनन्तां सहरीतकीम् ॥३९ ॥
काङ्क्षीं च हस्तिमूत्रेण पिष्ट्वा छायाविशोषिता।
वर्तिर्नस्याञ्जनालेपधूपैरुन्मादसूदनी ॥ ४० ॥

व्याख्या—ब्राह्मी, इन्द्रायण की जड़, वायविडंग, सोंठ, मरिच, पीपल, हिंगु, जटामांसी, रासना, गिलोय लशुन, हल्दी (अथवा अतीस); तुलसी, बालवच, माल कांगुनी, नागदन्ती कृष्णसारिवा, हरड़, तथा फिटकिरी को सम भाग लेकर और हाथी के मूत्र में पीसकर गोली बनावे और छाया में सुखा लेवे। इसका नस्य, अञ्जन, लेप तथा धूप में प्रयोग करने से उन्माद शान्त होता है ॥३८-४०॥

अन्यान्य उपाय—

अवपीडाश्च विविधाः सर्षपाः स्नेहसंयुताः।
कटुतैलेन चाभ्यङ्गो ध्मापयेच्चास्य तद्रजः ॥ ४१ ॥
साहिङ्गुस्तीक्ष्णधूमश्च सूत्रस्थानोदितो हितः।

व्याख्या—अनेक प्रकार के अवपीड नामक नस्य (सू. अ. २०) सरसों के तेल में मिलाकर देवे, कटु तैल का अभ्यंग करे (और धूप में लेटावे), तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण की नस्य देवें, हिंगु मिश्रित तीक्ष्ण (अजवायन आदि) द्रव्यों का धूम पिलावे जो सू. अ. २१ में मूर्धविरेचन के लिये लिखा गया है ॥ ४१ ॥

अन्य धूप एवं धूम आदि—

शृगालशल्यकोलूक-जलौकावृषवस्तजैः ॥४२ ॥
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्मभिराचरेत्।
धूपधूमाञ्जनाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेचनम् ॥ ४३ ॥

व्याख्या—सियार, सेह, उल्लू पक्षी, जतूका (चमगादड़), बिल्ली तथा बकरा के मूत्र, पित्तद्रव, पुरीष, लोम नख तथा चर्म की धूप देवे, धूम पिलावे, उन सबको पीसकर अंजन करे, तैल में पकाकर अभ्यंग करे, कल्क बनाकर लेप करे तथा जल में पकाकर परिसेचन करे—छीटें देवे तथा स्नान करावे ॥४२-४३॥

अन्यान्य उपाय—

धूपयेत्सततं चैनं श्वगोमत्स्यैस्तु पूतिभिः।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः पैत्तिके तु प्रशस्यते ॥ ४४ ॥
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः।
शिशिराण्यन्नपानानि मधुराणि लघूनि च ॥४५ ॥

व्याख्या—वात कफज उन्माद में—सड़े हुए कुत्ता, गौ मछली की निरन्तर धूप देवे। पित्तज उन्माद में—तिक्तक घृत, जीवनीय घृत तथा मिश्रक स्नेह का पान एवं अभ्यंग आदि करे और शीतल मधुर एवं पान का सेवन करावे।

वक्तव्य—तिक्तक सर्पि—कुष्ठ अ. १९ में देखिये।

जीवनीय सर्पिः—अ. सं. चि. अ. २४ में इस प्रकार है—दशमूल, पुनर्नवा, एरण्ड, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, महामेदा, शतावरी, रास्ना, अवाक्पुष्पी, शंखपुष्पी बला अतिबला २-२ पल, लेकर १ द्रोण जल में पकावे चौथाई जल रहने पर, बकरा का मांस, आमला का रस, ईख का रस, गौ घृत तथा गोदुग्ध १-१ आढक मिला कर तथा पीपल, गम्भार का फल, कमल, मेदा, महामेदा, मुण्डी, गोरखमुंडी शतावर, पुनर्नवा, सोंठ, मञ्जीठ, वंशलोचन, क्षीरकाकोली, दाख, अखरोट की गरी, कमल गट्टा, सिंघाड़ा, निकोचक (नियोजा की गिरी), कमरख, खुमाणी, खजूर, बादाम भुञ्जातक तथा पिशाता का कल्क १ प्रस्थ मिला कर पाक करे। यह जीवनीय घृत—वातपित्तजनित रोगों को विशेषतः पाण्डुरोग, ज्वर, अपस्मार, भगन्दर, श्वास, कास, हिक्का, स्वरभेद पार्श्वशूल, यक्ष्मा, प्लीह, मूत्राघात, अश्मरी, वातरक्त सर्वाङ्गघात तथा पक्षाघात को नष्ट करता है। और बल्य, वर्ण्य, वृष्य, चक्षुष्य तथा पुत्र प्रद है।

मिश्रक स्नेह—गुल्म चि. अ. १४ में देखिये ॥४४-४५॥

उन्माद में सिरावेध—

विध्येच्छिरां यथोक्तां वा तृप्तं मेद्यामिषस्य वा।
निवाते शाययेदेवं मुच्यते मतिविभ्रमात् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—उन्माद रोग में—सू. स्था. अ. ७ में बतलाई गई सिरा का वेध करके रक्तमोक्षण करे। अथवा सूअर आदि मेदस्वी प्राणियों का मांस भरपेट खिलाकर निवात स्थान में (घर के भीतरी भाग में) सुलादेवे। इस प्रकार उन्माद से मुक्त हो जाता है ॥

वक्तव्य—च. चि. अ. ६—

शंखकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेत् ज्ञो भिषक् शिराम् ।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ ८४ ॥
घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत् सुखम् ।
त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते ॥८५॥

अर्थात्—शिरावेध करने में कुशल चिकित्सक—शंख केशों की सन्धि में शिरावेध करे यह शिरावेध—उन्माद, विषम ज्वर तथा अपस्मार में लाभ करता है

अथवा घृत में सिद्ध मांस भरपेट खिलाकर सुखपूर्वक निवात स्थान में सुला देवे। ऐसा करने से रोगी उन्माद रोग का परित्याग करके और संज्ञा (समीचीन ज्ञान) प्राप्त करके जागता है। सचमुच उन्माद रोग में शिरावेध महत्त्वपूर्ण चिकित्सा है। यूनानी पद्धति के चिकित्सक शिरा वेध का बहुत प्रयोग करते हैं ॥४६॥

अन्य उपचार—

शोषयेद्वा बुभुक्षया ।
आश्वासयेत्सुहृत्तं वा वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ॥ ४७ ॥
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ।
बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यस्तं चोत्तानमातपे ॥ ४८ ॥
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत् ।
कशाभिस्ताडयित्वा वा बद्धं श्वभ्रे विनिक्षिपेत् ॥ ४९ ॥
अथवा वीतशस्त्राश्मजने सन्तमसे गृहे ।
सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम् ॥ ५० ॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम् ।
त्रापयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ ५१ ॥
देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं मतम् ।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥५२॥
सिद्धा क्रिया प्रयोज्येयं देशकालाद्यपेक्षया ।

व्याख्या—उन्माद से पीड़ित रोगी को—सूखे कूप में डालकर भूख से कृश करे। अथवा—मित्रजन धर्म एवं अर्थ सम्बन्धी वाक्यों से आश्वासन देवें—सदुपदेशों द्वारा समझावें-बुझावें। अथवा—उसके पुत्र-पत्नी आदि इष्टजनों का तथा धन सम्पत्ति आदि इष्ट द्रव्यों का विनाश सुनावें। अथवा—अद्भुत दृश्य दिखावें। अथवा—सरसों (राई) का तैल शरीर पर लगाकर, हाथ-पाँव बाँधकर, धूप में चित लेटा देवे। अथवा—किवाँच लगा देवे अथवा तपाए गये लोह की छड़, तैल अथवा जल का स्पर्श करे। अथवा—चाबुक से पीटकर और बाँधकर गहरे गढ़ा में डाल देवे। अथवा—शस्त्र एवं पत्थर आदि से रहित एवं सूने तथा अन्धेरे घर में डाल देवे। अथवा—विष दन्त रहित सर्प से, सिंह से, हाथी से अथवा शस्त्र-बनावटी चोरों-डाकुओं से अथवा शत्रुओं (उसके सच्चे शत्रुओं से मिलकर यह कार्य करा देना चाहिये) से डरावे। अथवा—राजपुरुष उसे बाँधकर, बाहिर लेजाकर, झिड़कते हुए राजा की आज्ञा (झूठी आज्ञा) नुसार फाँसी सूली का भय दिखावें। सच यह है कि शारीरिक कष्टों एवं भयों की अपेक्षा प्राणों (जीवन नाश) का भय बहुत अधिक भीषण होता है अतः प्राणभय से—उन्मादी का इधर-उधर दौड़ता हुआ मन शान्ति लाभ करता है फलतः उन्माद शान्त हो जाता है। यह सब सिद्ध चिकित्सा है इसका प्रयोग देश एवं काल आदि का विचार करके करना चाहिये ॥ ४७-५२ ॥

अन्य उपचार—

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते ॥ ५३ ॥
तस्य तत्सदृशप्राप्तिः सान्त्वाश्वासैः शमं नयेत् ।
कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान् ॥ ५४ ॥
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ।

व्याख्या—कान्त-कान्ता आदि अथवा इष्ट धन-सम्पत्ति आदि के विनाश के कारण जिसका मनस् उपहत-उन्मत्त हो गया हो उस रोगी को उन कान्त कान्ता आदि के सदृश दूसरे-दूसरे कान्त-कान्ता आदि की प्राप्ति की व्यवस्था करे अथवा सान्त्वना देवे अथवा उनकी प्राप्ति का विश्वास दिलावे इस प्रकार उसके मनस् को शान्त करे। और काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या तथा लोभ से उत्पन्न उन्माद को काम आदि के प्रतिकूल उपायों द्वारा शान्त करने का प्रयत्न करे ॥

वक्तव्य—इस दशा में काम आदि की शान्ति का यथा सम्भव—यथोचित उपाय करे ॥ ५३-५४ ॥

भूतानुबन्धी उन्माद की चिकित्सा—

भूतानुबन्धमीक्षेत प्रोक्तलिङ्गाधिकाकृतिम् ॥ ५५ ॥
यद्युन्मादे ततः कुर्याद् भूतनिर्दिष्टमौषधम् ।
बलिं च दद्यात्पललं यावकं सक्तुपिण्डिकाम् ॥ ५६ ॥
स्निग्धं मधुरमाहारं तण्डुलान् रुधिरोक्षितान् ।
पक्वामकानि मांसानि सुरामैरेयमासवम् ॥ ५७ ॥
अतिमुक्तस्य पुष्पाणि जात्याः सहचरस्य च ।
चतुष्पथे गवां तीर्थे नदीनां सङ्गमेषु च ॥ ५८ ॥

व्याख्या—यदि उक्त दोषज उन्माद में—उक्त वातज उन्माद आदि के लक्षणों की अपेक्षा अधिक लक्षण हों, भूतावेश के लक्षण भी साथ २ उत्पन्न हो गये हों तो उसमें भूतों का अनुबन्ध समझना चाहिये और उस दशा में—भूत प्रतिषेध अध्याय ५ में बतलाई गई चिकित्सा भी साथ-साथ करे।

यथा—मांस, जौ के दलिया आदि पदार्थ, सत्तू के मोदक—पेड़े, स्निग्ध एवं मधुर आहार, रक्त में सने

चावल, पक्व एवं अपक्व मांस, सुरा, मैरेय, आसव, माधवी लता के पुष्प, चमेली के पुष्प तथा कारवैया के पुष्प धर कर, चौरास्ते पर, गोघाट पर अथवा नदियों के संगम पर बलि देवे ॥ ५५-५८ ॥

किसको उन्माद नहीं होता ?—

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान्न स युज्यते ॥ ५९॥

व्याख्या—जो मांस एवं मद्य (मादक द्रव्य) का सेवन नहीं करता, पथ्य आहार करता है, प्रयत्नशील रहता है—सदा कर्तव्य पालन में लग्न रहता है और शरीर एवं मनस से पवित्र रहता है तथा मानसिक शक्ति सम्पन्न होता है वह दोषज अथवा भूतज उन्माद से युक्त नहीं होता ॥

वक्तव्य—जो मांस मद्य का सेवन करते हैं, अपथ्य आहार करते हैं, कर्तव्यपालन में प्रमाद करते हैं, अपवित्र रहते हैं तथा सत्वहीन होते हैं उन्हीं को उन्माद होता है।५९।

उन्माद मुक्ति का लक्षण—

प्रसाद इन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा ।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥ ६० ॥

व्याख्या—जब इन्द्रियाँ अपने २ विषयों का उचित रूप से ग्रहण करने लग जायँ, बुद्धि आत्मा एवं मनस् स्वस्थ हो जायँ तथा रस-रक्तादि धातु स्वाभाविक स्थिति में आ जायँ तब समझना चाहिये कि उन्माद रोग शान्त हो गया है ॥

वक्तव्य—उन्माद रोग के भी तृतीयक ज्वर आदि के समान वेग होते हैं—बीच २ में ऐसी दशा होती है जिसमें प्रतीत होता है कि रोग शान्त हो गया है अतः उक्त उन्माद मुक्ति के लक्षणों पर ध्यान देना चाहिये ।

सु. उ. अ. ६२—

मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मात् उन्मार्गमागताः ।
मानसोऽयमतो व्याधिः उन्माद इति कीर्तितः ॥३॥

अर्थात्—उत्-ऊर्ध्वं—उत्तमांगे शिरसि-मस्तिष्के गत्त-प्राप्ता दोषा-शारीरा एवं मानसा दोषा उन्मार्गं-विमार्गं आगताः स्वमार्गान् परित्यज्य विमार्गान् प्राप्ताः सन्तः मदयन्ति-मदमनो बुद्धि-इन्द्रियाणां विभ्रमं घनयन्ति अतः हेतो अयं मानसः-मानसिकः व्याधिः 'उन्मादः' इति नाम्ना कीर्तितः । अत्र उत् इति हृदयतः शिरसि गता इत्यर्थः च. सि. अ. ९—

तत्र हृदये दश धमन्यः प्राणाऽपानौ मनः, बुद्धिः चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि, शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यं इव गभस्तयः संश्रितानि ॥४॥ तथा—च. सू. अ. १—

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणः चेतः चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥४॥

तथा—च सू. अ. १०—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥१२॥

तथा सु. शा. अ ६—पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ता सीमन्ता नाम तत्र उन्मादभयचित्तनाशैः मरणम् । घ्राण श्रोत्र अक्षि जिह्वा सन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये शिरः स्रोतः सन्निपाताः तानि शृंगाटकानि चत्वारि मर्माणि । मस्तकाऽभ्यन्तरतो उपरिष्ठात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तो अधिपतिः । एवं भूते शिरसि यदा दुष्टा दोषा व्याप्नुवन्ति तदा उन्मादो नाम व्याधिः समुत्पद्यते । इति तात्पर्यम् । उन्माद रोग का बुद्धिपर प्रभाव होता है या यों कहिये कि इस रोग में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती ।

इति अष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथाऽतोऽपस्मारप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब अपस्मार रोग का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—अपस्मार का वर्णन च. नि. अ ८ तथा च. चि. अ. १० में और सु. उ. अ. ६१ में तथा अ. सं. उ. अ. १० में देखिये ।

निदान, सम्प्राप्ति, सामान्य लक्षण तथा संख्या—

स्मृत्यपायो ह्यपस्मारः स धीसत्त्वाभिसम्प्लवात् ।
जायतेऽभिहते चित्ते चिन्ताशोकभयादिभिः ॥ १ ॥
उन्मादवत्प्रकुपितैश्चित्तदेहगतैर्मलैः ।
हते सत्त्वे हृदि व्याप्ते संज्ञावाहिषु खेषु च ॥ २ ॥
तमो विशन्मूढमतिर्बीभत्साः कुरुते क्रियाः ।
दन्तान् खादन् वमन् फेनं हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥ ३ ॥
पश्यन्नसन्ति रूपाणि प्रस्खलन्पतति क्षितौ ।
विजिह्माक्षिभ्रुवा दोषवेगेऽतीते विबुद्ध्यते ॥ ४ ॥
कालान्तरेण स पुनश्चैवमेव विचेष्टते ।
अपस्मारश्चतुर्भेदो वाताद्यैर्निचयेन तु ॥ ५ ॥

व्याख्या—स्मृति-ज्ञान में अपाय का नाम "अपस्मार" है अर्थात् इस रोग का जब वेग होता है तब स्मृति का सर्वथा विनाश हो जाता है । इस समय बुद्धि एवं मनस् का लोप हो जाता है । निदान-चिन्ता, शोक तथा भय आदि द्वारा मनस् पर आघात होने पर इस रोग की उत्पत्ति-प्रवृत्ति होती है । सम्प्राप्ति—उन्माद के समान वातादि शारीरिक दोष तथा रजस् एवं तमस् नामक

मानसिक दोष जब कुपित हो जाते हैं और उनसे मनस् पर आघात होता है तथा हृदय एवं मनोवाही स्रोतस् व्याप्त हो जाते हैं तब यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

सामान्य लक्षण—इस रोग का जब वेग होता है तब रोगी—अन्धकार में प्रविष्ट अर्थात् संज्ञा हीन हो जाता है, मति नष्ट हो जाती है और बीभत्स चेष्टाएँ करता है यथा—दन्त लग जाते है तथा किटकिटाते हैं, मुख से झाग जाती है, हाथों एवं पावों-टांगों को पटकता है—धरती पर रगड़ता हैं, प्रारम्भ में अविद्यमान-भयावने रूपों-आकृतियों को देखता हुआ तथा लड़खड़ाता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ता है, उस समय उसके नेत्र तथा भौंह टेढे हो जाते हैं और दोषों का वेग समाप्त हो चुकने पर विबुद्ध-संज्ञावान् हो जाता है—स्वयं उठ बैठता है और कालान्तर में फिर इस प्रकार की विकृत चेष्टा करता है अर्थात् अपस्मार का वेग हो जाता है।

संख्या—यह रोग ४ प्रकार का होता है—१-वातज, २-पित्तज, -कफज और ४-त्रिदोषज।

वक्तव्य—इस रोग को मृगी या मिरगी कहते हैं।

च. चि. अ. १०—

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद् वा कुपिता मलाः।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चित् अथ अन्तरम् ॥१३॥

अर्थात्—१५ दिन पर अथवा १२ दिन पर अथवा एक मास पर अथवा इसके पश्चात् अथवा भीतर वातादि दोष कुपित होकर अपस्मार के वेग उत्पन्न करते हैं।

सु. उ. अ. ६१—

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयः ॥१६॥

अर्थात्—जैसे भूमि में पड़े कुछ बीज वर्षा होने पर भी—वर्षा ऋतु में नहीं उगते और शरद् ऋतु में उगते हैं वैसे अपस्मार का वेग होता है अर्थात् रोग बीज (वातादि दोष) शरीर में रहते पर भी वेग सदा नहीं होता। यही चतुर्थक आदि ज्वरों में होता है ॥१-५॥

अपस्मार का पूर्वरूप—

रूपमुत्पित्स्यमानेऽस्मिन् हृत्कम्पः शून्यता भ्रमः।
तमसो दर्शनं ध्यानं भ्रूव्युदासोऽक्षिवैकृतम् ॥ ६॥
अशब्दश्रवणं स्वेदो लालासिङ्घाणकस्रुतिः।
अविपाकोऽरुचिर्मूर्च्छा कुक्ष्याटोपो बलक्षयः॥ ७॥
निद्रानाशोऽङ्गमर्दस्तृट् स्वप्ने गानं सनर्तनम्।
पानं मद्यस्य तैलस्य तयोरेव च मेहनम् ॥ ८॥

व्याख्या—यह रोग जब उत्पन्न होने वाला होता है तब हृदय में कम्पन (धड़कन), सब ओर सूना पन भ्रम, तमस् का दर्शन (नेत्रों के आगे अन्धकार की प्रतीति), ध्यान (चिन्ता), भौं का टेढापन, नेत्रों में विकृति, अविद्यमान शब्द सुनना, स्वेद, लालास्राव, नासा से सींढ़ जाना, अपच, अरुचि, मूर्च्छा, उदर में गुड़गुड़ाहट, दुर्बलता, निद्रानाश, थोड़ी निद्रा आना, शरीर में मर्दन, तृषा तथा स्वप्नों में गाना, नाचना, मद्य तथा तैल पीना और उन्हीं का सा मूत्र आना ॥ ६-८ ॥

वातज अपस्मार का लक्षण—

तत्र वातात्स्फुरत्सक्थि प्रपतंश्च मुहुर्मुहुः।
अपस्मरति संज्ञां च लभते विस्वरं रुदन् ॥ ९॥
उत्पिण्डिताक्षः श्वसिति फेनं वमति कम्पते।
आविध्यति शिरो दन्तान् दशत्याध्मातकन्धरः॥ १०॥
परितो विक्षिपत्यङ्गं विषमं विनताङ्गुलिः।
रूक्षश्यावारुणाक्षित्वङ्नखास्यः कृष्णमीक्षते ॥ ११॥
चपलं परुषं रूपं विरूपं विकृताननम्।

व्याख्या—वातजनित अपस्मार में—टाँगों में स्फुरण, बार२ गिरना-लड़खड़ाना, बार २ अपस्मार के वेग और संज्ञा लाभ, स्वरभेद, रोना, नेत्रगोलक गोल २ से होजाना, श्वास की संख्या में वृद्धि, झाग का वमन, कम्पन, शिर का कम्पन, दन्त लगना-किटकिटाना, ग्रीवा में आध्मान, टाँगों बाँहों का पटकना-धरती पर रगड़ना, अँगुलियों का विषम तथा विनत होना, नेत्रों में, त्वचा में, नखों में तथा मुख पर रूक्षता, श्यावता तथा अरुणता, काले रूप दिखना तथा चञ्चल, खरदरे, विकृत एवं विकृत मुखवाले रूप दिखाई देना। ये लक्षण होते हैं॥ ९-११ ॥

पित्तज अपस्मार का लक्षण—

अपस्मरति पित्तेन मुहुः संज्ञां च विन्दति ॥ १२॥
पीतफेनाक्षिवक्त्रत्वगास्फालयति मेदिनीम्।
भैरवाऽऽदीप्तरुषित-रूपदर्शी तृषान्वितः ॥ १३॥

व्याख्या—पित्त जनित अपस्मार में—बार २ अपस्मार के वेग होते हैं और बार २ संज्ञा लाभ होता है, मुख से जाने वाली झाग, नेत्रगोलक तथा त्वचा का वर्ण पीला पीला होता है, भूमि को टाँगों बाँहो से रौन्दता है, भयानक, चमकीले तथा क्रुद्ध अथवा हिंसक रूपको देखता है तथा तृषा लगती है ॥ १२-१३॥

कफज तथा त्रिदोषज अपस्मार का लक्षण—

कफाच्चिरेण ग्रहणं चिरेणैव विबोधनम्।
चेष्टाऽल्पा भूयसी लाला शुक्लनेत्रनखास्यता ॥ १४॥
शुक्लाभरूपदर्शित्वं सर्वलिङ्गं च वर्जयेत्।

व्याख्या—कफज अपस्मार में-वातज एवं पित्तज अपस्मार की अपेक्षा विलम्ब से अपस्मार वेग होता है और विलम्ब से ही संज्ञा लाभ होता है, टाँगों की चेष्टा (विक्षेप) अल्प होती है, लाला अधिक जाती है, नेत्र

गोलक, नख तथा मुख पर श्वेतता रहती है, श्वेत वर्ण के रूप देखता है। त्रिदोषज अपस्मार में उक्त वातादि के सब लक्षण होते हैं और वह असाध्य होता है ।।१४।।

अपस्मार की सामान्य चिकित्सा—

अथाऽऽवृतानां धीचित्त-हृत्खानां प्राक्प्रबोधनम् ।।१५।।
तीक्ष्णैः कुर्यादपस्मारे कर्मभिर्वमनादिभिः ।

व्याख्या—सर्वप्रथम—अपस्मार रोग में—अवरुद्ध बुद्धि, मनस् तथा हृदय के स्रोतों को वमन एवं नस्य आदि तीक्ष्ण कर्मों-उपायों द्वारा प्रबुद्ध-शुद्ध करे ।।१५।।

विशेष चिकित्सा—

वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तप्रायो विरेचनैः ।। १६ ।।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ।
सर्वतस्तु विशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च ।।१७।।
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान्संशमनान् शृणु ।

व्याख्या—वातजनित अपस्मार में अधिक बस्तियों का, पित्तजनित में विरेचनों का तथा कफजनित अपस्मार में अधिक वमनों का प्रयोग करे। इस प्रकार उदर एवं शिरस् की शुद्धि हो जाने पर, भलीभान्ति आरोग्य लाभ का आश्वासन देकर अपस्मारक की समूल शान्ति के लिये संशमन योगों का प्रयोग करे ।।१६-१७।।

पञ्चगव्य घृत—

पञ्चगव्यं घृतम् ।
गोमयस्वरस-क्षीर-दधिमूत्रैः श्रृतं हविः ।।१८ ।।
अपस्मारज्वरोन्माद-कामलान्तकरं पिबेत् ।

व्याख्या—गोबर का स्वरस, गोदुग्ध, गौ का दही, गोमूत्र तथा गोघृत मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत—अपस्मार, ज्वर, उन्माद तथा कामला को शान्त करता है।

महा पञ्चगव्य घृत—

महापञ्चगव्यं घृतम् ।
द्विपञ्चमूलीत्रिफलाद्विनिशाकुटजत्वचः ।।१९।।
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ।
शम्पाकपुष्करजटा-फल्गुमूलदुरालभाः ।। २० ।।
द्विपलाः सलिलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ।
भार्गीपाठाढकीकुम्भ-निकुम्भव्योषरोहिषैः ।। २१ ।।
मूर्वाभूतीकभूनिम्ब-श्रेयसीसारिवाद्वयैः ।
मदयन्त्यग्निनिचुलैरक्षांशैः सर्पिषः पचेत् ।। २२ ।।
प्रस्थं तद्वद् द्रवैः पूर्वैः पञ्चगव्यमिदं महत् ।
ज्वरापस्मारजठरभगन्दरहरं परम् ।। २३ ।।
शोफार्शःकामलापाण्डु-गुल्मकासग्रहापहम् ।

व्याख्या—बृहत्पञ्चमूल तथा लघु पञ्चमूल के पृथक् २ द्रव्य, हरड़, बहेड़ा, आमला, हल्दी, दारु हल्दी, कुरैया की छाल, सप्तपर्ण की छाल, अपामार्ग, नील के पत्र, कुटकी अमलतास, पोहकर मूल, गूलर की जड़ तथा जवासा २-२ पल लेकर १ द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे, भारंगी, पाठा, अरहर, निसोत, दन्तीमूल, सोंठ, मरिच, पीपल, सुगन्धीतृण, मरोड़फली, करञ्जबीज, चिरायता, गज पीपल, सारिवा, कृष्णसारिवा, मालती के पुष्प, चित्तामूल तथा वेतसफल १-१ कर्ष लेकर कल्क करे, गोघृत तथा गोबर का रस, गोदुग्ध, गौ का दही तथा गोमूत्र १-१ प्रस्थ। सब को मिला कर घृत—सिद्ध करे। इसका नाम "महापञ्चगव्य" है। यह घृत—जीर्ण ज्वर, अपस्मार, उदररोग, भगन्दर, शोथ, अर्श, कामला, पाण्डुरोग, गुल्म, कास तथा ग्रहावेश को नष्ट करता है ।।१९-२३।।

ब्राह्मी घृत—

ब्राह्मीरस-वचा-कुष्ठ-शङ्खपुष्पी-श्रृतं घृतम् । २४ ।।
पुराणं मेध्यमुन्मादाऽलक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित् ।

व्याख्या—ब्राह्मी का स्वरस ४ सेर, बालवच, कूठ तथा शंख पुष्पी का कल्क १ पाव पाक करे। यह घृत—बुद्धि को बढ़ाता है, उन्माद, अलक्ष्मी, अपस्मार तथा पापकर्म प्रवृत्ति को नष्ट करता है ।।२४।।

यमक स्नेह—

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।। २५ ।।
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविमोक्षणम् ।

व्याख्या—तिलतैल तथा गोघृत १-१ प्रस्थ, जीवनीय गण (सू. अ. १५) के द्रव्य १-१ पल, गोदुग्ध १ द्रोण मिला कर घृत सिद्ध करे। यह स्नेह अपस्मार को नष्ट करता है ।।२५।।

अन्य घृत—

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे ।। २६ ।।
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च सर्पिःप्रस्थं विपाचयेत् ।
वातपित्तोद्भवं तीव्रमपस्मारं निहन्ति तत् ।। २७ ।।

व्याख्या—गो दुग्ध एवं ईख का रस १ आढक, गंभार का क्वाथ ८ प्रस्थ, जीवनीय गण (सू. अ. १५) के द्रव्य १-१ कर्ष तथा गोघृत १ प्रस्थ मिला कर पाक करे। यह घृत वातज एवं पित्तज अपस्मार को शीघ्र नष्ट करता है ।।२६-२७।।

कासादि दुग्ध—

तद्वत्काशविदारीक्षु-कुशक्वाथश्रृतं पयः ।

व्याख्या—काश (कांही), विदारी कन्द, ईख की तथा कुश की जड़ के क्वाथ में सिद्ध दूध भी अपस्मार को नष्ट करता है।

वक्तव्य—च. चि. अ. १० में—

तद्वत् काशविदारीक्षुकुशक्वाथ श्रृतं घृतम् ।।३ ।। पाठ है।

कूष्मांड घृत—

कूष्माण्डस्वरसे सिर्पिरष्टादशगुणे शृतम् ॥ २८ ॥
यष्टीकल्कमपस्मारहरं धीवाक्स्वरप्रदम् ।

व्याख्या—कोंहड़ा का स्वरस १८ प्रस्थ तथा मुलेठी का कल्क ४ पल मिलाकर घृत सिद्ध करे । यह घृत—अपस्मार को नष्ट करता है, बुद्धि, वाणी तथा स्वर को बढ़ाता है ।

नस्य योग—

कपिलानां गवां पित्तं नावनं परमं हितम् ॥ २९ ॥
श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च पूजितम् ।
गोधानकुलनागानां वृषभर्क्षगवामपि ॥ ३० ॥
पित्तेषु साधितं तैलं नस्येऽभ्यङ्गे च शस्यते ।
त्रिफलाव्योषपीतद्रु-यवक्षारफणिज्जकैः ॥ ३१ ॥
श्यामापामार्गकारञ्ज बीजैस्तैलं विपाचितम् ।
बस्तमूत्रे हितं नस्यं चूर्णं वाऽऽध्मापयेद्भिषक् ॥ ३२ ॥

व्याख्या—कपिला (काले स्तनवली) गौ का पित्त तथा कुत्ता, सियार, बिल्ली तथा सिंह आदि प्राणियों का पित्त—नस्य देने से अपस्मार को नष्ट करता है । गोह, नेवला, हाथी, बैल, भालू तथा गौ के पित्त के योग से सिद्ध तैल नस्य तथा अभ्यङ्ग में प्रशस्त है । हरड़ बहेड़ा आमला, सौंठ, मरिच, पीपल, दारु हल्दी, जौखार, मरुवा के पत्र, काली निसोत, अपामार्ग तथा करञ्ज बीज का कल्क १ भाग तैल ४ भाग बकरा का मूत्र १६ भाग मिला कर पाक करे इस तैल का नस्य देने अथवा त्रिफला आदि का चूर्ण नासा में डालने से अपस्मार को नष्ट करता है ॥२९-३२॥

धूप—

नकुलोलूकमार्जार गृध्रकीटाहिकाकजैः ।
तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूममस्य प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—नेवला, उल्लू पक्षी, बिल्ली, गिद्ध, बिच्छू आदि कीट, सर्प तथा कौवा के—यथा लाभ—चोंच, पंख तथा पुरीष मिला कर धूप का प्रयोग करे ॥३३॥

अपस्मार नाशक योग—

शीलयेत्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम् ।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—अपस्मार रोग में—दीर्घ काल पर्यन्त—तैल के साथ लहसुन का, दूध के साथ शतावर का, मधु मिश्रित ब्राह्मी स्वरस, सुगन्धी कूठ के स्वरस—क्वाथ का अथवा बालवच के चूर्ण का मधु में मिला सेवन करे ।३४।

अन्यान्य उपचार—

सर्म क्रुद्धैरपस्मारो दोषैः शारीरमानसैः ।
यज्जायेते यतश्चैष महामर्मसमाश्रयः ॥ ३५ ॥
तस्माद्रसायनैरेनं दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत् ।
तदार्तं चाग्नितोयादेर्विषमात्पालयेत्सदा ॥ ३६ ॥

व्याख्या—क्योंकि—अपस्मार नामक रोग—वातादि शारीरिक एवं रजस् तमस् नामक मानसिक दोषों के एक साथ कोप से उत्पन्न होता है और महामर्म (हृदय एवं शिरस्) में इस रोग का आश्रय रहता है इस लिए इस कष्ट साध्य रोग की चिकित्सा रसायन योगों से करे । और उस से पीड़ित रोगी को सदा—सर्वदा अग्नि एवं जल से तथा ऊँचे नीचे स्थलों से बचावे ।

वक्तव्य—देखा जाता है कि अग्नि एवं जल के पास इस रोग का वेग अधिक होता है और यदि ऐसी दशा में वेग होता है तो अग्नि दाह एवं जल में डूब जाने से मृत्यु हो सकती है । ऊँचे स्थान से गिर कर भीषण अनिष्ट हो सकता है । उन्माद में भी रोगी की इसी प्रकार रक्षा रखनी चाहिये।

रोग शान्ति के पश्चात् कर्त्तव्य—

मुक्तं मनोविकारेण त्वमित्थं कृतवानिति ।
न ब्रूयाद्विषयैरिष्टैः क्लिष्टं चेतोऽस्य बृंहयेत् ॥३७॥

व्याख्या—रोग शान्ति हो जाने पर—कभी उससे यह न कहे कि तुम अपस्मार रोग के कारण ऐसा २ किया करते थे । और रोग से खिन्न मनको इष्ट अभीष्ट विषयों द्वारा पुष्ट-प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

वक्तव्य—रोग का स्मरण होने से पुनः रोग की उत्पत्ति हो सकती है यथा—च. चि. अ. ३—

ज्वरस्य वेगं कालं च चिन्तयन् ज्वर्यते तु यः ।
तस्य इष्टैश्च चित्रैश्च विषयैः नाशयेत् स्मृतिम् ॥२२३॥

अर्थात्—ज्वर के वेग एवं काल का स्मरण करने से भी ज्वर हो जाता है अतः उसे भुलाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

चरक संहिता के इसी अध्याय में "अतत्त्वाभिनिवेश" नामक रोग का वर्णन है यथा—

अनन्तरं उवाच इदं अग्निवेशः कृताञ्जलिः ।
भगवन् ? प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः ॥५४॥
(सू अ. १९)

अतत्त्वाभिनिवेशो यः तस्य हेतु आकृति भेषजम् ।
तत्रोक्तं श्रोतुमिच्छामि तत् वद अनुग्रहात् ॥५५॥
शुश्रूषते वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः ।
महागदं सौम्य ! शृणु सहेत्वाकृति भेषजम् ॥५६॥
मलिनाहारशीलस्य वेगान् प्राप्तान् निगृह्णतः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः हेतुभिश्चातिसेवितैः ॥५७॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनो बुद्धि वहाः सिराः ।
दोषाः संदूष्य तिष्ठन्ति रजो मोहावृतात्मनः ॥५८॥

रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते ।
हृदये व्याकुले दोषैः अथ मूढोऽल्पचेतनः ॥५९॥
विषमां कुरुते बुद्धिं नित्याऽनित्ये हिताऽहिते ।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥६०॥
स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः ।
कृतसंसर्जनं मेध्यैः अन्नपानैः उपाचरेत् ॥ ६१ ॥
ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम् ।
तत् सेव्यं शंखपुष्पी च यत् च मेध्यं रसायनम् ॥६२॥
सुहृदः च अनुकूलाः तं स्वाऽऽप्ता धर्मार्थवादिनः ।
संयोजयेयुः विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥६३॥

अर्थात्—भगवान् पुनर्वसु से अग्निवेश ने कहा कि च. सू. स्था अ. १९ में जिस महागद—अतत्त्वाभिनिवेश नामक रोग का उल्लेख हैं उसका हेतु लिंग एवं चिकित्सा क्या है ?

भगवान् पुनर्वसु ने कहा है कि—

मलिन आहार करने से, पुरीषादि के वेग रोकने से तथा शीत अथवा उष्ण, स्निग्ध अथवा रूक्षका अधिक सेवन करने से—वातादि दोष हृदय में आश्रित होकर और मनस् बुद्धि का वहन करनेवाली सिराओं को दूषित कर देते हैं और रजस् एवं तमस् मनस् को आवृत कर लेते हैं फलतः रोगी का चित्त विकृत हो जाता है, चेतना दुर्बल हो जाती है और रोगी—नित्य एवं अनित्य विषयों में तथा हित एवं अहित विषयों में विषम-विपरीत धारणा करता है—इसका नाम "अतत्त्वाभिनिवेश" है ।

इस रोग में स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन विरेचन से शोधन करे और बुद्धिवर्द्धक आहार देवे । पञ्चगव्य घृत में ब्राह्मी का स्वरस मिलाकर अथवा शंखपुष्पी अथवा मेध्य रसायन का प्रयोग करे और मित्रजन धैर्य बँधावें, समझावें, और उसके विचारों का समाधान करें ।

देखा गया है कि इस रोग में वास्तविकता से विपरीत धारणा उठती रहती हैं और व्यग्रता बनी रहती है ।

इत्यष्टाङ्ग हृदये तृतीयं भूततन्त्रं (भूतविद्या) समाप्तम् । अर्थात् अ. ४ से अ. ७ पर्यन्त भूतविद्या नाम अङ्ग का वर्णन किया गया है ।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरतन्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथाऽतो वर्त्मरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब वर्त्मगत रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा है कि—

वक्तव्य—वर्त्मगत रोगों का वर्णन सु. उ. अ. ३ में, अ. सं. उ. अ. ११ में देखिये और च. चि. अ. २६ में केवल तीन श्लोकों (१२९-१३०-१३१) में अत्यन्त संक्षेप से सभी नेत्ररोगों का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि—यद्यपि नेत्र रोगों को संख्या ९६ है और उनका वर्णन शालाक्य तन्त्रों में विशेष रूप से किया गया है नेत्ररोगों का वर्णन तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन सु. उ. तन्त्र अ. १ से अ. १९ में देखिये । वर्त्म नेत्र का वह अवयव है जो नेत्र-गोलक के ऊपर रहता है और जिस में निमेष एवं उन्मेष होता रहता है, उसका दूसरा नाम 'नेत्रच्छद" है । वर्त्म दो होते हैं १—ऊर्ध्व वर्त्म तथा २—अधो वर्त्म । इनको हिन्दी में पलक कहते हैं । इनसे नेत्रगोलक की रक्षा होती है, नेत्र गोलक पर पड़ने वाली घूलि पुंछती रहती है, निद्रावस्था में नेत्रगोलक ढक जाते हैं, आघात आदि के समय नेत्रगोलक ढंक जाते हैं फलतः नेत्र आघात से बच जाते हैं । यह नेत्र-मण्डल का बाहिरी आवरण है । यहाँ से शालाक्य तन्त्र का वर्णन प्रारम्भ होता है ।

नेत्ररोगों का सामान्य निदान एव सम्प्राप्ति—

सर्वरोगनिदानोक्तैरहितैः कुपिता मलाः ।
अचक्षुष्यैर्विशेषेण प्रायःपित्तानुसारिणः ॥ १ ॥
सिराभिरूर्ध्वं प्रसृता नेत्रावयवमाश्रिताः ।
वर्त्म सन्धिं सितं कृष्णं दृष्टिं वा सर्वमक्षि वा ॥२॥
रोगान् कुर्युः

व्याख्या—निदानस्थान अध्याय १ में कहे हुये दोष कोपक आहार विहारों के सेवन से विशेषतः नेत्र को हानि पहुँचाने वाले अन्यान्य अनेक कारणों से कुपित वातादि दोष—और प्रायः पित्त प्रधान दोष—सिराओं द्वारा ऊपर की ओर आकर, नेत्रसम्बन्धी अवयवों में आश्रित होकर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं । नेत्र के अवयव हैं—१ वर्त्म, २—सन्धि, श्वेतभाग, कृष्ण भाग, दृष्टि भाग तथा समस्त नेत्र । इनमें से किसी एक अवयव में भी रोग होते हैं और समस्त नेत्र में भी ।

वक्तव्य—सु. उ. अ. १—

मण्डलानि च सन्धीन् च पटलानि च लोचने ।
यथाक्रमं विजानीयात् पञ्च, षट् च, षट् एव च ॥१४॥
पक्ष्म वर्त्म श्वेत कृष्ण दृष्टीनां मण्डलानि तु ।
अनुपूर्वं तु ते मध्याः चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ॥१५॥
पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिः, वर्त्म शुक्लगतोऽपरः ।
शुक्लकृष्णगतः तु अन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः ॥१६॥
ततः कनीनिकागतः षष्ठः च अपाङ्गगः स्मृतः ।
द्वे वर्त्मपटले विद्यात् चत्वारि अन्यानि च अक्षिणि ।
जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः । १७॥

अर्थात्—नेत्र में ५ मण्डल, ६ सन्धियाँ तथा ६ पटल होते हैं।

मण्डल १—पक्ष्म मण्डल, जिसमें रोम उगते हैं, २—वर्त्म मण्डल, जो नेत्रच्छद या पलक कहलाता है, ३—श्वेत मण्डल (नेत्र गोलक का श्वेत भाग), ४—कृष्ण मण्डल (नेत्र गोलक का काला भाग) तथा ५—दृष्टि मण्डल (जो कृष्ण मण्डल के मध्य भाग में रहता है)।

सन्धियाँ १—पक्ष्म मण्डल तथा वर्त्म मण्डल की सन्धि, (सन्धिस्थल), २—वर्त्म तथा श्वेत मण्डल की सन्धि, ३—शुक्ल तथा कृष्ण भाग की सन्धि, ४ कृष्ण तथा दृष्टि मण्डल की सन्धि, ५—कनीनिका (कोया) की सन्धि तथा ६—अपाङ्ग (नेत्र बाह्यकोण) की सन्धि।

पटल—२ वर्त्म रूप पटल होते हैं और ४ पटल नेत्र गोलक पर होते हैं जिनमें तिमिर नामक रोग होता है।

चक्षु नामक इन्द्रिय का अधिष्ठान दोनों नेत्र हैं, उसकी उत्पत्ति का विशिष्ट द्रव्य ज्योतिः—अग्नितत्त्व है, इसका विषय रूप (रूपवान् पदार्थ) हैं।

नेत्र रोगों का निदान है—धूप एवं अग्नि से प्रतप्त का जल में प्रवेश—शीतल जल से नहाना, मुह धोना आदि, दूर तक देखना, समय पर न सोना अथवा न जागना, अधिक काल पर्यन्त रोना, क्रोध करना, शोक करना, क्लेश सहना, नेत्र पर अथवा शिरपर आघात, अधिक मैथुन, शिरका काञ्जी, अम्ल पदार्थ, कुलथी तथा उड़द का अधिक सेवन, पुरीषादि के वेग का निरोध, नेत्र में स्वेद, धूलि अथवा धूम पड़ना-लगना, आँसू के वेग को रोकना तथा सूक्ष्म वस्तुओं का निरीक्षण ॥ १-२ ॥

पद्म तथा वर्त्म के २४ रोग—

·········चलास्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः।
सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम् ॥ ३ ॥
पांसुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च।
विमर्दनात्स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तत् ॥ ४ ॥
चालयन्वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः।
करोत्यरुङ् निमेषोऽसौ वर्त्म यत्तु ।नमील्यते ॥ ५ ॥
विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं हीनं वातहतं हि तत्।
कृष्णाः पित्तेन बह्वयोऽन्तर्वर्त्म कुम्भीकबीजवत् ॥६॥
आध्मायन्ते पुनर्भिन्नाः पिटिकाः कुम्भिसंज्ञिताः।
सदाहक्लेदनिस्तोदं रक्ताभं स्पर्शनाक्षमम् ॥ ७ ॥
पित्तेन जायते वर्त्म, पित्तोत्क्लिष्टमुशन्ति तत्।
करोति कण्डूं दाहं च पित्तं पक्ष्मान्तमाश्रितम् ॥ ८ ॥
पक्ष्मणां शातनं चानु पक्ष्मशातं वदन्ति तम्।
पोथक्यः पिटिकाः श्वेताः सर्षपाभा घनाः कफात् ॥९॥
शोफोपदेहरुक्कण्डूपिच्छिलाश्रुसमन्विताः।
कफोत्क्लिष्टं भवेद्वर्त्म स्तम्भक्लेदोपदेहवत् ॥ १० ॥
ग्रन्थिः पाण्डुररुक्पाकः कण्डूमान् कठिनः कफात्।
कोलमात्रः स लगणः किंचिदल्पस्ततोऽपि वा ॥ ११ ॥
रक्तं रक्तेन पिटिका तत्तुल्यपिटिकाचिता।
उत्सङ्गाख्या तथोत्क्लिष्टं राजिमत्स्पर्शनाक्षमम् ॥१२॥
अर्शोऽधिमांसं वर्त्मान्तः स्तब्धं स्निग्धं सदाहरुक्।
रक्तं रक्तेन तत्स्रावि छिन्नं छिन्नं च वर्धते ॥ १३ ॥
मध्ये वा वर्त्मनोऽन्ते वा कण्डूषा रुग्वती स्थिरा।
मुद्गमात्राऽसृजा ताम्रा पिटिकाऽञ्जननामिका ॥१४॥
दोषैर्वर्त्म बहिः शूनं यदन्तः सूक्ष्मखाऽऽचितम्।
सस्रावमन्तरुदकबिसाभं बिसवर्त्म तत् ॥ १५ ॥
यद्वर्त्मोत्क्लिष्टमुत्क्लिष्टमकस्मान्म्लानतामियात्।
रक्तदोषत्रयोत्क्लेशाद् वदन्त्युत्क्लिष्टवर्त्म तत् ॥१६॥
श्याववर्त्म मलैः सास्रैः श्यावं रुक्क्लेदशोफवत्।
श्लिष्टाख्यवर्त्मनी श्लिष्टे कण्डूश्वयथुरागिणी ॥१७॥
वर्त्मनोऽन्तः खरा रूक्षाः पिटिकाः सिकतोपमाः।
सिकतावर्त्म कृष्णं तु कर्दमं कर्दमोपमम् ॥ १८ ॥
बहलं बहलैर्मांसैः सवर्णैश्चीयते समैः।
कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्ततः ॥ १९ ॥
स्यात्तेन शिशुरुच्छूनताम्राक्षो वीक्षणाक्षमः।
सवर्त्मशूलपैच्छिल्यः कर्णनासाक्षिमर्दनः ॥ २० ॥
पक्ष्मोपरोधे सङ्कोचो वर्त्मनोर्जायते तथा।
खरतान्तर्मुखत्वं च लोम्नामन्यानि वा पुनः ॥ २१ ॥
कण्टकैरिव तीक्ष्णाग्रैर्घृष्टं तैरक्षि शूयते।
उष्यते चानिलादिद्विड्लपाहः शान्तिरुद्धृतैः ॥ २२ ॥
कनीनके बहिर्वर्त्म कठिनो ग्रन्थिरुन्नतः।
ताम्रः पक्वोऽस्रपूयास्रुत्-अलज्या ध्मायते मुहुः ॥२३॥
वर्त्मान्तर्मांसपिण्डाभः श्वयथुर्ग्रथितोऽरुजः।
सास्रैः स्यादर्बुदो दोषैर्विषमो बाह्यतश्चलः ॥२४॥
चतुर्विंशतिरित्येते व्याधयो वर्त्मसंश्रयाः।

व्याख्या—१—कृच्छ्रोन्मील नामक रोग—सोकर जागने के अनन्तर, कुपित वायु वर्त्माश्रित सिराओं में प्राप्त होकर, वर्त्मों को स्तब्ध कर देता है, उनमें वेदना होती है; प्रतीत होता है जैसे नेत्रों में धूलि पड़ गई हो, नेत्र खोलने में कष्ट होता है और आँसू निकलते हैं, नेत्रों को मलने से शान्ति हो जाती है। इस विकार का नाम "कृच्छ्रोन्मील" है। २—निमेष नामक रोग—इसमें वायु बार २ वर्त्मों—पलकों को चालित करता है फलतः बारबार निमेष एवं उन्मेष होता है तथा किसी प्रकार की वेदना नहीं होती। ३—वातहत नामक रोग—इस विकार में वर्त्म प्रायः ऊपरवाला वर्त्म—नेत्र गोलक पर छाया रहता है, उस की संकोच-प्रसार की सन्धि शिथिल हो

जाती है फलतः वर्त्म की चेष्टा सर्वथा नष्ट अथवा हीन-क्षीण हो जाती है। (वर्त्म उन्मीलित नहीं होता) ॥ ३ ॥

४—कुम्भी नामक रोग—वर्त्म के भीतर की ओर, कुम्भीक के बीज जैसी काली पिडका निकल आती हैं। फूटने पर या फोड़ देने पर भी पुनः फूल-भर जाती है। यह पित्त के कोप से होती हैं। कुम्भीक कोई दाडिम फलाकार फल है ॥ ४ ॥

५—पित्तोत्क्लिष्ट नामक रोग—इस रोग में-पित्त की विकृति से वर्त्म दाह, क्लेद (सडन आर्द्रता) तथा व्यथा से युक्त, तथा लाल वर्ण का हो जाता है, छूने से वेदना होती है। इसका नाम "पित्तोत्क्लिष्ट" है ॥ ५ ॥

६—पक्ष्मशात नामक रोग—नेत्रपद्म पर के लोमों की जड़ में पित्त विकृत होकर प्रथम कण्डू और दाह उत्पन्न कर देता है और उन लोमों को गिरा देता हैं। इसका नाम "पक्ष्म शात" है ॥ ६ ॥

७—पोथकी का लक्षण—वर्त्म के भीतर की ओर कफ की विकृति से—श्वेत वर्ण की, सरसों की सी, सघन पिंडका उत्पन्न हो जाती हैं और उनमें शोथ, उपदेह (मोटापन), वेदना कण्डू तथा पिच्छिल (चिपचिपे) आँसू होते हैं। इन्हें "रोहे" कहते हैं ॥ ७ ॥

८—कफोत्क्लिष्ट—इस रोग में—वर्त्म में शोथ तथा क्लेद होता है और वर्त्म में लेप सा रहता है ॥ ८ ॥

९—लगण नामक रोग—कफ के कोप से झर बेर की सी अथवा उससे कुछ छोटी ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है जो वर्ण में पाण्डुर, वेदना एवं पाक से रहित; कण्डू युक्त तथा कठोर होती है। उस का नाम "लगण" है ॥ ९ ॥

१०—उत्सङ्गा या उत्सङ्गिनी नामक रोग—रक्त की विकृति से उत्पन्न लाल वर्ण की एक पिटिका जो बहुत सी लाल २ पिटिकाओं से घिरी हुई होती है उसका नाम "उत्सङ्गा" है। और सुश्रुत के शब्दों में—वह वर्त्म के बाहर होती है और उसका मुख भीतर की ओर अथवा वर्त्म के अधोभाग (जहाँ लोम होते हैं) में होता है। १० ॥

११—उत्क्लिष्ट वर्त्म नामक रोग—इस में वर्त्म पर राजियाँ (रेखा-धारियाँ) उत्पन्न हो जाती हैं तथा स्पर्श का सहन नहीं होता ॥ ११ ॥

१२—अर्शो वर्त्म नामक रोग का लक्षण—वर्त्म के भीतर की ओर अर्श का सा मांसांकुर उत्पन्न हो जाता है जो स्तब्ध (कठोर), स्निग्ध, दाह तथा वेदना से युक्त और लाल वर्ण का होता है, इसमें से स्राव होता रहता है और बार २ काटने पर बार २ बढ़ता रहता है यह रोग रक्त की विकृति से होता है ॥ १२ ॥

१३—अञ्जन नामिका नामक रोग—जो पिटिका (फुन्सी) -वर्त्म के मध्य में अथवा अन्त में-कण्डू एवं वेदना से युक्त. स्थिर-अचल, मूंग के दाना के समान तथा लाल वर्ण वाली, रक्त की विकृति से उत्पन्न हो जाती है वह "अञ्जन नामिका" कहलाती है ॥१२॥

१४—बिस वर्त्म नामक रोग—इस रोग में-वातादि दोषों की विकृति से वर्त्म के ऊपरी भाग में शोथ होता है और भीतरी भाग में सूक्ष्म २ अनेक छिद्र होते हैं, कमल नाल के समान उनमें से स्राव होता रहता है ॥ १४ ॥

१५—उत्क्लिष्ट वर्त्म नामक रोग-इसमें-रक्त की विकृति होती है तथा वातादि तीनों दोषों के प्रकोप से—वर्त्म उत्क्लेश युक्त हो होकर सूखता रहता है। इसे "उत्क्लिष्ट वर्त्म" कहते हैं ॥ १४ ॥

१६—श्याववर्त्म नामक रोग—इसमें वातादि दोषों तथा रक्त की विकृति से वर्त्म काला हो जाता है (बाहर तथा भीतर से काला हो जाता है) और वेदना, क्लेद तथा शोथ से युक्त होता है। इसका नाम "श्याव वर्त्म" है ॥१५॥

१७—श्लिष्ट वर्त्म नामक रोग—इस रोग में—दोनों वर्त्म परस्पर सटते रहते हैं (निमेष के समय सट जाते हैं उन्मेष के समय प्रयत्न करना पड़ता है) और कण्डू, शोथ तथा लालिमा से युक्त रहते हैं। सुश्रुत में इसका नाम अक्लिन्न वर्त्म है ॥ १६ ॥

१८—सिकता वर्त्म नामक रोग—वर्त्म के भीतर की ओर—बालू की सी खरदरी तथा रूक्ष पिटिका हो जाती हैं। इस विकार का नाम सुश्रुत में वर्त्म शर्करा है।

१९—कर्दम वर्त्म नामक रोग—इसमें वर्त्म काला और कीचड़ के से क्लेद से युक्त हो जाता है। सुश्रुत के कथनानुसार जब पित्त रक्त को विदग्ध कर देता है। तब क्लेद का रूप धारण कर लेता है यह दशा क्लिन्न वर्त्म के अनन्तर उत्पन्न होती है ॥ १९ ॥

२०—बहल वर्त्म—इस रोग में—वर्त्मों की मांस पेशियाँ मोटी हो जाती हैं परन्तु वर्ण में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। सुश्रुतानुसार—वर्त्म पर समान वर्ण की बहुत सी पिडका उत्पन्न हो जाती हैं ॥२०॥

२१—कुकूणक रोग—यह रोग शिशु को ही होता है और दन्तोद्भेद के कारण उत्पन्न होता है। इससे नेत्र सूज जाते हैं और लाल हो जाते हैं, सामने की ओर शिशु देख नहीं सकता—नेत्र खुलते नहीं, वर्त्मों में शूल होता है एवं चिपचिपापन बना रहता है और शिशु कर्ण, नासा तथा नेत्रों को हाथों से मलता रहता है ॥२१॥

२२ - पक्ष्मोपरोध नामक रोग—इसमें वर्त्मों का संकोच होता है तथा लोम खरदरे हो जाते हैं, भीतर की

और तीक्ष्ण लोम निकल आते हैं अथवा अधिक लोम उत्पन्न हो जाते हैं। उन लोमों द्वारा—तीखे कान्टों के समान, निमेषोन्मेष के समय नेत्र गोलक पर घर्षण होता रहता है, फलतः नेत्रगोलक सूज जाता है, उसमें दाह होता है तथा वायु लगने से तथा धूप एवं अग्नि की ओर देखने में कष्ट होता है और उन लोमों को उखाड़ देने पर कुछ दिन शान्ति रहती है जब तक वे पुनः उत्पन्न नहीं होते। सुश्रुत में इसका नाम "पक्ष्म कोप" है ॥२२॥

२३—अलजी नामक रोग—कनीनिका (कोया-नासा की ओर का नेत्र कोण)-में वर्त्म के बाहर की ओर, कठोर, ऊँची तथा लाल ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है, पकने पर उसमें से लाल पूय निकलता है और वह बार २ फूलती रहती है। इस का नाम "अलजी" है ॥२३॥

२४—अर्बुद नामक रोग—वर्त्म के भीतर और मांस पिण्ड का सा, ग्रथित, वेदना रहित शोथ हो जाता है और वह बाहर की ओर विषम (ऊँचा नीचा) तथा चल होता है। इसका नाम "अर्बुद" है और रक्त-युक्त वातादि दोषों की विकृति से उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

ये २४ रोग वर्त्म में होते हैं।

वक्तव्य—सु. उ. ३ में वर्त्म रोग केवल २१ ही माने गये हैं। श्रीवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह के उ. अ. ११ के अनुसार २४ रोग माने हैं। इस प्रकरण में पक्ष्म एवं वर्त्म नामक दोनों अवयवों के रोगों का वर्णन किया गया है ।३-२४

चिकित्सा संकेत—

आद्योऽत्र भेषजैः साध्यो द्वौ ततोऽर्शश्च वर्जयेत् ॥२५॥
पक्ष्मोपरोधो याप्यः स्याच्छेषाञ्छस्त्रेण साधयेत् ।
कुट्टयेत्पक्ष्मसदनं छिन्द्यात्तेष्वपि चार्बुदम् ॥ २६ ॥
भिन्द्याल्लगणकुम्भीकाबिसोत्सङ्गाञ्जनालजीः ।
पोथकी-श्याव-सिकता—श्लिष्टोत्क्लिष्टचतुष्टयम् ॥२७॥
सकर्दमं सबहलं विलिखेत्सकुकूणकम् ॥

व्याख्या—इन २४ रोगों में से—प्रथम रोग (कृच्छ्रो-न्मीलनामक रोग)—खाने एवं लगाने की औषधों द्वारा साध्य होता है। दूसरा एवं तीसरा रोग (निमेष तथा वातहत नामक रोग) तथा अर्शोवर्त्म नामक रोग (१२ हवाँ रोग) असाध्य होते हैं।

पक्ष्मोपरोध (पक्ष्म कोप २२ वाँ रोग) याप्य होता है। और अवशिष्ट १६ रोगों में शस्त्र चिकित्सा से लाभ होता है ॥

पक्ष्मोपरोध (२२) में सूचिका नामक शस्त्र से कुट्टन अर्थात् छेदन कर्म करे जैसा अ० ९ के श्लोक २६ में कहा गया है। अर्बुद रोग में (२४ वाँ रोग) वृद्धिपत्र आदि से छेदन कर्म करे और तदनन्तर क्षार अथवा अग्नि का प्रयोग करे जैसा अ. ६. के श्लोक २७ में कहा गया है।

लगण (६), कुम्भीका (४), बिसवर्त्म (१४), उत्संगा (१०), अञ्जननामिका (११) तथा अलजी नामक (२३) रोगों में भेदन कर्म करे। पोथकी (७), श्याववर्त्म (१६), सिकता वर्त्म (१८), श्लिष्ट वर्त्म (१७) तथा चार प्रकार के उत्क्लिष्ट (पित्तोत्क्लिष्ट ५, कफोत्क्लिष्ट ८, रक्तोत्क्लिष्ट ६, तथा उत्क्लिष्ट (१५) और कर्दमवर्त्म (१९), बहलवर्त्म (२०) तथा कुकूणक नामक वर्त्म रोग (२१) में लेखन कर्म करे ॥

वक्तव्य—इन रोगों की चिकित्सा का विशिष्ट वर्णन अ. ६ में देखिये ॥ २५-२७ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः।

अथातो वर्त्मरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब वर्त्मगत रोगों की चिकित्सा का व्याख्यान किया जायगा और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन सु. उ. अ. १२-१३-१४-१५ तथा १६ में और अ. सं. अ. १२ में देखिये। प्रतीत होता इन अध्यायों में आत्रेय आदि का नामोल्लेख पूर्वाभ्यासानुसार कह दिया गया है जब कि अष्टांग संग्रह के अनुसार पाठविन्यास किया गया है।

कृच्छ्रोन्मील चिकित्सा—

कृच्छ्रोन्मीले पुराणाज्यं द्राक्षाकल्काम्बुसाधितम् ।
ससितं योजयेत्स्निग्धं नस्यधूमाञ्जनादि च ॥ १ ॥

व्याख्या—कृच्छ्रोन्मील नामक रोग में—दाख के कल्क (१ भाग) तथा दाख के क्वाथ (१६ भाग) के योग से सिद्ध किया गया पुराना घृत (४ भाग) रात्रि में खण्ड मिलाकर खावे और स्निग्ध नस्य धूम तथा अञ्जन का प्रयोग करे। तर्पण तथा पुटपाक का प्रयोग करे ॥

वक्तव्य—अ. सं. अ. १२ में कुछ पाठ है—यथा—वातहरद्रव्य कल्पितान् च वस्तीन्, क्षीरस्विन्नैरण्ड-पल्लवैः स्वेदंवर्त्मनाम्, एवं अशान्तौ मुद्गमात्रान्तरैः पदैः, अग्निना स्वग्दाहं बिन्दुभिः आचरेत्। अर्थात्—वातनाशक द्रव्यों के योग से निर्मित पदार्थों तथा स्नेहों की वस्तियाँ देवे और दूध में स्विन्न एरण्ड के कोमल पत्तों के कल्क से वर्त्मों पर स्वेदन करे। ऐसा करने पर भी यदि लाभ न हो तो—मूंग के दाना भर अन्तर पर पक्ष लगावे और आव-

स्यकृता हो तो विन्दु २ रूप में अग्नि कर्म करे और दूसरा निमेष नामक रोग और तीसरा वातहत नामक रोग दोनों असाध्य हैं अतः उनकी चिकित्सा नहीं लिखी गयी है ॥ १ ॥

कुम्भीका चिकित्सा

कुम्भीकावर्त्म लिखितं सैन्धवप्रतिसारितम् ।
यष्टीधात्रीपटोलीनां क्वाथेन परिषेचयेत् ॥ २ ॥

व्याख्या—कुम्भीका रोग में वर्त्म का लेखन करके सैन्धव लवण के सूक्ष्म चूर्ण का प्रतिसारण मलना-रगड़ना करे और फिर मुलेठी, आमला तथा परवल के पत्तों के क्वाथ से सेचन करता रहे (तथा गो घृत लगाता रहे अ. सं.) ॥२॥

लेखन विधि का वर्णन—

निवातेऽधिष्ठितस्याप्तैः शुद्धस्योत्तानशायिनः ।
बहिः कोष्णाम्बुतप्तेन स्वेदितं वर्त्म वाससा ॥ ३ ॥
निर्भुज्य वस्त्रान्तरितं वामाङ्गुष्ठाङ्गुलीधृतम् ।
न स्रंसते चलति वा वर्त्मैवं सर्वतस्ततः ॥ ४ ॥
मण्डलाग्रेण तत्तिर्यक् कृत्वा शस्त्रपदाङ्कितम् ।
लिखेत्तेनैव पत्रैर्वा शाकशेफालिकादिजैः ॥ ५ ॥
फेनेन तोयराशेर्वा पिचुना प्रमृजन्नसृक् ।
स्थिते रक्ते सुलिखितं सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥ ६ ॥
यथास्वमुक्तैरनु च प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा ।
घृतेनासिक्तमभ्यक्तं बध्नीयान्मधुसर्पिषा ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वाधः कर्णयोर्दत्वा पिण्डीं च यवसक्तुभिः ।
द्वितीयेऽहनि मुक्तस्य परिषेकं यथायथम् ॥ ८ ॥
कुर्याच्चतुर्थे नस्यादीन्मुञ्चेदेवाह्नि पञ्चमे ।
समं नखाभं शोफकण्डूघर्षाद्यपीडितम् ॥ ९ ॥
विद्यात्सुलिखितं वर्त्म लिखेद्भूयो विपर्यये ।
रुक्पक्ष्मवर्त्मसदनं स्रंसनान्यतिलेखनात् ॥ १० ॥
स्नेहस्वेदादिकस्तस्मिन्निष्टो वातहरः क्रमः ।
अभ्यज्य नवनीतेन श्वेतरोध्रं प्रलेपयेत् ॥ ११ ॥
एरण्डमूलकल्केन पुटपाके पचेत्ततः ।
स्विन्नं प्रक्षालितं शुष्कं चूर्णितं पोट्टलीकृतम् ॥ १२ ॥
स्त्रियाः क्षीरे छगल्या वा मृदितं नेत्रसेचनम् ।
शालितण्डुलकल्केन लिप्तं तद्वत्परिष्कृतम् ॥ १३ ॥
कुर्यान्नेत्रेऽतिलिखिते मृदितं दधिमस्तुना ।
केवलेनाऽपि वा सेकं मस्तुना जाङ्गलाशिनः ॥ १४ ॥
पिटिकां व्रीहिवक्त्रेण भित्त्वा तु कठिनोन्नताम् ।
निष्पीडयेदनु विधिः परिशेषस्तु पूर्ववत् ॥ १५ ॥
लेखने भेदने चायं क्रमः सर्वत्र वर्त्मनि ।

व्याख्या—प्रथमतः रोगी को वमन विरेचन एवं शिरोविरेचन नस्य के द्वारा शुद्ध करे फिर स्वस्थ होनेपर निवात घर में आप्तजनों द्वारा पकड़ाकर चित्त लेटा देवे और नेत्र वर्त्म पर कोसे जल में वस्त्र भिगो २ कर स्वेदन करे और फिर बायें हाथ के अंगूठा एवं तर्जनी अंगुली से वर्त्म को उलटा कर कपड़ा के पिचु को नेत्र गोलक एवं वर्त्म के मध्य में धर देवे इस प्रकार वर्त्म गिरता भी नहीं और इधर-उधर हिलता भी नहीं। तत्पश्चात्—पिचु से पोंछकर मण्डलाग्र शस्त्र द्वारा तिरछे पच्छ लगाकर उसीसे लेखन करे। अथवा—शाक पत्र अथवा शेफालिका आदि के पत्रों (ये पत्र खरदरे होते हैं) से अथवा समुद्र फाग से लेखन करे और पिचु से रक्त को पोंछता रहे और भलीभाँति लेखन होने पर और रक्त स्राव रुक जाने पर, मैनसिल, कसीस, सोंठ, मरिच, पीपल, रसाञ्जन तथा सैन्धव लवण का सूक्ष्म चूर्ण मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे (सु. उ. अ. १३ श्लो. ७)। तत्पश्चात् उष्ण जल से धोकर कोसे घृत का सेवन करे और फिर मधु घृत का मिश्रण चुपड़ कर और जौ के सत्तू का पिण्ड भर कानों के उपर की तथा नीचे की ओर से पट्टी घुमा कर बन्धन कर देवे (कानपर से बन्धन न करे)।

दूसरे दिन खोलकर पूर्ववत् परिषेचन आदि करे। फिर चौथे दिन स्वेदन एवं नस्य आदि करे और पाँचवें दिन बन्धन खोल देवे।

सुलिखित—सम्यक् लिखित का लक्षण—

जो वर्त्म—लेखन कर्म करने पर—समतल, नख के सदृश वर्ण वाला (स्वस्थ मानव के नख का सा लाल) तथा शोथ कण्डू, घर्ष (रगड़-रडक) तथा रक्त स्राव से रहित हो उसे "सुलिखित" समझे और यदि इससे विपरीत लक्षण हों तो हीनलिखित समझे इस दशा में स्नेहन आदि करके पुनः लेखन करे।

अति लिखित का लक्षण—लेखन करने पर यदि वेदना हो, वर्त्म कट गया हो—व्यावृत्त हो गया हो तथा लोम उखड़ जायँ तथा स्रंसन—स्रावाधिक्य हो तो समझो कि अतिलेखन हो गया है। इस दशा में स्नेहन एवं स्वेदन आदि वातनाशक चिकित्सा करे। अथवा अतिलेखन हो जानेपर—श्वेत लोध पर नवनीत लगाकर, एरण्ड मूल की छाल के कल्क का लेप करे और उसपर वट पत्र आदि लपेट कर तथा मिट्टी लगाकर पुटपाक करे, स्विन्न होनेपर लोध को धोकर सुखा लेवे, फिर चूर्ण बनाकर स्वच्छ वस्त्र खण्ड में बांध पोटली बनावे और नारी के दूध में अथवा बकरी के दूध में भिगोकर नेत्रपर सेचन करे।

अथवा—श्वेत लोध की छालपर—नवनीत चुपड़ कर शालि चावलों के कल्क का लेप करे और पूर्ववत् पुट-पाक विधि से पाक करे, स्विन्न होने पर धोकर, सुखा कर

तथा पीस कर पोटली बनावे और उसे दही के पानी में भिगो २ कर नेत्रपर सेचन करे। अथवा—केवल दही के पानी से सेचन करे और इस दशा में हरिण आदि जंगल-देशीय मांस रस के साथ भोजन करना चाहिये। नेत्र वर्त्म पर जो कठोर एवं ऊँची पिटिका हो उसे व्रीहिमुख शस्त्र द्वारा फोड़-फाड़ कर निचोड़ देवे—दबा कर उसका रक्त या पूय निकाल देवे, और शेष उपचार—लेपन, अभ्यङ्ग, प्रक्षालन, बन्धन एवं सेचन आदि पूर्ववत्—अति लिखित वत् करे। यह सब उपचार वर्त्मके सभी लेखन एवं भेदन कर्म में लाभप्रद होते हैं॥

वक्तव्य—यह लेखन एवं भेदन कर्म की विधि सु. उ. तं. अ. १३ के श्लोक ३ से ६ में लिखी है। ३-१५।

पित्तोक्लिष्ट एवं रक्तोक्लिष्ट की चिकित्सा—

पित्तास्रोत्क्लिष्टयोः स्वादुस्कन्धसिद्धेन सर्पिषा ॥१६॥
सिराविमोक्षः स्निग्धस्य त्रिवृच्छ्रेष्ठं विरेचनम्।
लिखिते स्रुतरक्ते च वर्त्मनि क्षालनं हितम्॥ १७॥
यष्टीकषायैः सेकस्तु क्षीरं चन्दनसाधितम्।

व्याख्या—पित्तोक्लिष्ट एवं रक्तोक्लिष्ट रोग में—मधुर गण के द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत द्वारा स्नेहन करके सिरावेध करे और फिर—त्रिवृत् से विरेचन करे। और फिर लेखन कर्म करके रक्त स्रावण करे तदन्तर—मुलेठी के क्वाथ से प्रक्षालन करके चन्दन से सिद्ध दूध का सेचन करे॥

वक्तव्य—शिर तथा मुख पर शीतल एवं स्निग्ध लेप करे (अ. सं. उ. अ. १२) ॥१६-१७॥

पक्ष्मशात रोग चिकित्सा—

पक्ष्मणां सदने सूच्या रोमकूपान् विकुट्टयेत् ॥१८॥
ग्राहयेद्वा जलौकाभिः पयसेक्षुरसेन वा।
वमनं नावनं सर्पिः श्रृतं मधुरशीतलैः॥ १९॥
सञ्चूर्ण्य पुष्पकासीसं भावयेत्सुरसारसैः।
ताम्रे दशाहं परमं पक्ष्मशाते तदञ्जनम्॥ २०॥

व्याख्या—पक्ष्मों के सदन में (पक्ष्मशात में)—लोम कूपों का सूई के अग्रभाग से कुट्टन—छेदन करे अथवा जोंक लगाकर रक्त निकाले, और दूध अथवा ईख के रस का पान कराकर वमन देवे और मधुर एवं शीतल द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत की नस्य देवे। और पुष्पकासीस को पीसकर ताम्र की कटोरी में डाल कर तुलसी के रस की १० दिन में १० भावना देवे और उसे पीसता रहे तत्पश्चात् उसका अञ्जन करे। इस विधि से पुनः लोम उग आते हैं॥१८-२०॥

पोथकी चिकित्सा—

पोथकीर्लिखिताः शुण्ठीसैन्धवप्रतिसारिताः।
उष्णाम्बुक्षालिताः सिञ्चेत् खदिराढकिशिग्रुभिः॥२१॥
अप्सिद्धैर्द्विनिशाश्रेष्ठा मधुकैर्वा समाक्षिकैः।

व्याख्या—पोथकी नामक वर्त्म रोग में—उक्त लेखन विधि से पिटिकाओं का लेखन करे और सोंठ एवं सैन्धव लवण के सूक्ष्म चूर्ण से प्रतिसारण करे तथा उष्ण जल से धोकर—खैरसार, अरहर की जड़ तथा सहजन की छाल के क्वाथ का अथवा - हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा मुलेठी के क्वाथ में मधु मिला कर सेचन करता रहे॥

वक्तव्य— अ. सं. उ. अ. ८—

ततश्च आम्रजम्बूप्रवालक्वाथेन आश्च्योतनम्, त्रिफला-खदिरसारादेकेन वा मधुयुक्तेन। विडङ्गलाक्षादार्वीत्वग् गैरिकआलमनोह्वा चूर्णः क्षौद्रान्वितोऽञ्जनम्। एवं अपि अनुपशमे, जलौकसो योजयेत् पुनः वा लेखयेत्। परिषेकं त्रिफला मधुक द्विहरिद्रा कषायेण मधुयुक्तेन कुर्यात्। मस्तु शर्करा कपित्थ पत्राऽम्बुना वा। अर्थात् सेचन के अनन्तर आम एवं जामुन के कोमल पत्तों के क्वाथ का आश्च्योतन करे - बिन्दु टपकाता रहे। अथवा त्रिफला एवं खैरसार के क्वाथ में मधु मिलाकर आश्च्योतन करे। और विडंग, लाख, दारुहल्दी की छाल, गेरु, हरिताल, मैनसिल को पीस कर और मधु मिलाकर अञ्जन करे। इन सब उपचारों से भी यदि शान्त न हो तो जोंक लगाकर रक्त निकाले अथवा पुनः लेखन कर्म करे और फिर त्रिफला, मुलेठी, हल्दी तथा दारुहल्दी की छाल के क ाय में मधु मिलाकर सेचन करे अथवा दही का पानी, खण्ड एव कैथ के पत्तों का रस मिला कर सेचन करे।।२१॥

कफोक्लिष्ट-चिकित्सा—

कफोत्क्लिष्टे विलिखिते सक्षौद्रैः प्रतिसारणम्॥ २२॥
सूक्ष्मैः सैन्धवकासीस-मनोह्वाकणतार्क्ष्यजैः।
वमनाञ्जननस्यादि सर्वं च कफजिद्धितम्॥ २३॥

व्याख्या—कफोक्लिष्ट नामक रोग में—पूर्वोक्त विधि से लेखन कर्म करके—सैन्धव लवण, कसीस, मैनसिल, पीपल तथा रसवत् का सूक्ष्म चूर्ण—मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे और फिर—वमन, अंजन तथा नस्य, धूमपान तथा आहार सब कफनाशक उपचार करे।२२-२३।

लगण की चिकित्सा—

कर्तव्यं लगणेऽप्येवमशान्तावग्निना दहेत्।

व्याख्या—लगण नामक रोग में—उल्लिखित कफोक्लिष्ट के समान सब उपचार करे। वैसा करने पर भी यदि शान्ति न हो तो अग्नि कर्म विधि से दाह करे॥

वक्तव्य - अ. सं. उ. अ. १२—

लगणं कफोत्क्लिष्टवत् साधयेत्, अशाम्यति अग्निदाहो

वमनविरेचनं च। पिप्पली मधुकं निम्ब ज्योतिष्मती देवदारु विडङ्ग प्रियंगु त्रिफला कुष्ठ शताह्वा सैन्धवैः सिद्धं तैलं नावयेत्। तीक्ष्णाऽवपीडाऽञ्जन कवलांश्च विदध्यात् उष्णोपचारं च। अर्थात् लगण में कफोत्क्लिष्ट के समान चिकित्सा करे, उससे लाभ न हो तो अग्नि कर्म करे, वमन एवं विरेचन देवे। पीपल, मुलेठी, निम्ब की छाल, मालकंगुनी, देवदारु, विडंग, प्रियंगु, त्रिफला, कूठ, सोया तथा सैन्धव लवण के योग से सिद्ध तैल की नस्य देवे और तीक्ष्ण अवपीडन नस्य, अंजन तथा कवलों का प्रयोग करे तथा उष्ण उपचार आहार-विहार करे।

उत्सङ्गपिटिका तथा अंजन नामिका की चिकित्सा

स्विन्नां भित्वा विनिष्पीड्योत्संगां चाऽञ्जननामिकाम्।
शिलैला सैन्धव नतैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत्॥

यह पाठ—१ श्लोक किसी २ प्रति में पाया जाता है और अ. सं. उ. अ. १२ में इसका पाठ इस प्रकार है—यथा—उत्सङ्ग पिटिकां अंजन नामिकां च भित्वा निष्पीड्य च उल्लिखितां तगर एला सैन्धव नेपाली चूर्णेन सक्षौद्रेण प्रतिसारयेत्। हरिद्रामधुक पटोलरोध्राः समाक्षिकाः परिषेकः। अर्थात्—उत्संग पिटिका और अजन नामिका नामक पिटिका का भेदन करके निष्पीडन करे अथवा लेखन करे और फिर तगर, बड़ी इलायची, सैन्धव लवण तथा मैनसिल का सूक्ष्म चूर्ण मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे फिर हल्दी, मुलेठी, परवल के पत्र तथा लोध के क्वाथ में मधु मिलाकर परिषेचन करता रहे।

विसवर्मादिषु बहलवर्मान्तेषु सैन्धवं प्रतिसारणम्। विसश्लिष्टवर्मनोः तथाऽनुपशमे अग्निना क्षारेण वा दहनम्। अर्थात्—विसवर्म, श्लिष्टवर्म श्याव वर्म, श्लिष्ट वर्म, सिकता वर्म तथा बहलवर्म में सैन्धव लवण के चूर्ण से प्रतिसारण करे। विसवर्म श्लिष्ट वर्म में उक्त प्रकार से यदि शान्ति न हो तो अग्नि से अथवा क्षार से दाह कर्म करे।

कुकूणक चिकित्सा-

कुकूणे खदिरश्रेष्ठानिम्बपत्रैः शृतं घृतम्॥ २४॥
पीत्वा धात्रीं वमेत्कृष्णायष्टीसर्षपसैन्धवैः।
अभयापिप्पलीद्राक्षाक्वाथेनैनां विरेचयेत्॥ २५॥
मुस्ताद्विरजनीकृष्णाकल्केनालेपयेत्स्तनौ।
धूपयेत्सर्षपैः साज्यैः शुद्धां कथं च पाययेत्॥ २६॥
पटोलमुस्तमृद्वीकागुडूचीत्रिफलोद्भवम्।
शिशोस्तु लिखितं वर्त्म स्रुतासृग्वाऽम्बुजन्मभिः॥२७॥
धात्र्यश्मन्तकजम्बूत्थपत्रक्वाथेन सेचयेत्।
प्रायः क्षीरघृताशित्वाद्बालानां श्लेष्मजा गदाः॥२८॥
तस्माद्वमनमेवाग्रे सर्वव्याधिषु पूजितम्।
सिन्धूत्थ-कृष्णाऽपामार्ग-बीजाज्यस्तन्यमाक्षिकम्॥२९॥
चूर्णो वचायाः सक्षौद्रो मदनं मधुकान्वितम्।
क्षीरं क्षीरान्नमन्नं च भजतः क्रमशः शिशोः॥ ३०॥
वमनं सर्वरोगेषु विशेषेण कुकूणके।
सप्तलारससिद्धाज्यं योज्यं चोभयशोधनम्॥ ३१॥
द्विनिशारोध्रयष्ट्याह्वरोहिणीनिम्बपल्लवैः।
कुकूणके हिता वर्तिः पिष्टैस्ताम्ररजोन्वितैः॥ ३२॥
क्षीरक्षौद्रघृतोपेतं दग्धं वा लोहजं रजः।
एलारसोनकतकशंखोषणफणिज्जकैः॥ ३३॥
वर्तिः कुकूणपोथक्योः सुरापिष्टैः सकट्फलैः।

व्याख्या—कुकूणक नामक वर्त्म रोग में—धात्री—दूध पिलानेवाली—खैरसार, त्रिफला तथा निम्ब पत्रों के योग से सिद्ध घृत पीकर—पीपल, मुलेठी, सरसों तथा सैन्धव के क्वाथ से वमन करे। और फिर हरड़, पीपल तथा दाख के क्वाथ को पीकर विरेचन करे और स्तनों पर मोथा, हल्दी, दारुहल्दी की छाल तथा पीपल का लेप करे—उबटन करे। श्वेत सरसों तथा घृत की धूप देवे तथा नस्य देवे। इस प्रकार शोधन के अनन्तर—परवल के पत्र, मोथा, मुनक्का, गिलोय तथा त्रिफला के क्वाथ का सेवन करावे—कई दिन या सप्ताह पर्यन्त पिलावे।

इस प्रकार धात्री के दुग्ध की शुद्धि के उपायों के साथ २ बालक के वर्त्म का उक्त विधि से लेखन कर्म करे अथवा जोंक लगाकर रक्त निकाले और फिर—आमला, अश्मन्तक तथा जामुन के पत्तों के क्वाथ का सेचन करे। दूध और घृत पीते खाते रहने से प्रायः शिशुओं को कफज रोग होते हैं इसलिये उनके सब रोगों में प्रथमतः वमन ही लाभदायक सिद्ध होता है।

वामक योग—सैन्धव लवण, पीपल, अपामार्ग के के बीज, घृत, धात्री का दूध तथा मधु मिलाकर वमन देवे अथवा वालवच का चूर्ण मधु में मिलाकर अथवा मुलेठी के क्वाथ में मैनफल का चूर्ण मिलाकर और शिशु को चटाकर या पिलाकर वमन करावे। ये तीनों वामक योग क्रमशः—दूधमात्र पीनेवाले, दूध एवं अन्न पर निर्वाह करनेवाले तथा केवल अन्न पर निर्वाह करनेवाले शिशु को दिये जाते हैं क्योंकि शिशुके सब रोगों में विशेषतः कुकूणक रोग में वमन से बहुत लाभ होता है। सप्तपर्णी के रस के योग से सिद्ध घृत पान करने से वमन भी हो जाता है और विरेचन भी। हल्दी, दारुहल्दी की छाल, मुलेठी, कुटकी, निम्ब के पत्र तथा ताम्रभस्म को जल में पीसकर बत्ती बनावे और कुकूणक रोग में—वर्त्म उलटकर लगावे।

अथवा लोहचूर्ण को दुग्ध, मधु तथा घृत के योग से

भस्म बनाकर नेत्र में लगावे अथवा लोह भस्म को दुग्ध, मधु एवं घृत में मिलाकर लगावे। बड़ी इलायची, लेहसुन, निर्मली, शंख, मरिच, मरुवा के पत्र तथा कायफल की छाल को सुरा में पीसकर बत्ती बनावे और उसे जल में घिसकर नेत्र वर्त्म पर लगावे। इससे कुकूणक तथा पोथकी में लाभ होता है ॥ २४-३३ ॥

पक्ष्मोपरोध की चिकित्सा—

पक्ष्मरोधे प्रवृद्धेषु शुद्धदेहस्य रोमसु ॥ ३४ ॥
उत्सृज्य द्वौ भ्रुवोऽधस्ताद्भागौ भागं च पक्ष्मतः।
यवमात्रं यवाकारं तिर्यक्छित्त्वाऽऽर्द्रवाससा। ३५ ॥
अपनेयमसृक् तस्मिन्नल्पीभवति शोणिते।
सीव्येत्कुटिलया सूच्या मुद्गमात्रान्तरैः पदैः ॥ ३६ ॥
बद्ध्वा ललाटे पट्टं च तत्र सीवनसूत्रकम्।
न तिगाढश्लथं सूच्या निक्षिपेदथ योजयेत् ॥ ३७ ॥
मधुसर्पिःकवलिकां न चास्मिन् बन्धमाचरेत्।
न्यग्रोधादिकषायैश्च सक्षीरैः सेचयेद्रुजि ॥३८ ॥
पञ्चमे दिवसे सूत्रमपनीयावचूर्णयेत्।
गैरिकेण व्रणं युञ्ज्यात्तीक्ष्णं नस्याञ्जनादि च ॥ ३९ ॥

व्याख्या—पक्ष्मोपरोध नामक रोग में (पक्ष्मकोप—परवाल नामक रोग में)—वमन विरेचन आदि से शोधन करने के पश्चात् रोमों को काट देवे और फिर भौंके नीचे वर्त्म के दो भाग छोड़ कर और पक्ष्म प्रदेश (जहाँ स्वाभाविक लोम मूल—कूप रहते हैं) के एक भाग को छोड़ कर, कनीनिका एवं अपाङ्ग की समान रेखा पर, जौ के आकार में जौ परिमित तिरछा वह स्थान जहाँ पर बाल उगा हो या उगे हों काट कर निकाल देवे और आर्द्र कोमल वस्त्र के पिचु से या स्वच्छ रूई के फोहा से रक्त को पोंछ देवे और जब रक्त स्राव स्वल्प हो जाय तब कुटिला-धनुर्वक्रा सूची द्वारा मूँग २ भर पर सीवन कर्म कर देवे और फिर सीवन सूत्र को मस्तकपर बान्धी गई पट्टी के साथ उसी सूई से सी देवे और सीवन सूत्र को न कस कर सीवे और न अत्यन्त ढीला सीवे। इस के पश्चात् मधु एवं घृत की कवलिका (फोहा) धर देवे परन्तु बन्धन (पट्टी) न बान्धे। यदि वेदना होने लगे तो न्यग्रोधादि (वट आदि) पञ्च वल्कल के योग से पक्व दूध का सेचन करे। पांचवें दिन (अथवा छठे दिन) शस्त्र व्रण स्थिर हो जाने पर-व्रणरोपण हो जाने पर, सूत्र निकाल देवे- टाँके काट देवे और व्रण पर गेरू का सूक्ष्म चूर्ण बुरक देवे और तीक्ष्ण नस्य एवं अञ्जन का प्रयोग करे ॥ ३४-३९ ॥

अन्य विधि – तथा अलजी एवं अर्बुद चिकित्सा—

दहेद्दशान्तौ निर्भुज्य वर्त्मदोषाश्रयां वलीम्।
सन्दंशेनाधिकं पक्ष्म हृत्वा तस्याश्रयं दहेत् ॥४०॥
सूच्यग्रेणाग्निवर्णेन दाहो बाह्यालजेः पुनः।
भिन्नस्य क्षारवह्निभ्यां सुच्छिन्नस्यार्बुदस्य च ॥ ४१ ॥

व्याख्या—उक्त प्रकार की चिकित्सा करने पर भी यदि लाभ न हो तो वर्त्म को उलटा करके दोष युक्त वली को जला देवे अथवा लोभ को संदंश—मोचना से उखाड़ कर उसके आश्रय कूप को तपी हुई सूई के अग्रभाग से जला देवे। जो अलजी बाहर की ओर हो उसका भेदन करके क्षार अथवा अग्नि द्वारा जला देवे। और अर्बुद का मूलतः छेदन करके, लेखन तथा उचित प्रतिसारण करके क्षार अथवा अग्नि से जला देवे तथा व्रण के समान उपचार करे ॥

वक्तव्य—पक्ष्म कोप की चिकित्सा ४ प्रकार से की जाती है—१—मोचना - सन्दंश यन्त्र के द्वारा बालों को उखाड़ते रहना यह अस्थायी उपाय है अत एव इस रोग को याप्य कहा है। अ. ८ श्लोक २४ देखिये। २—पक्ष्म कोप के लोम का मूल को ही काट कर-उलट कर निकाल देना इसकी विधि-श्लो० २६ द्वारा बतलाई गई है। इस शस्त्र कर्म में वर्त्म के बाहर अथवा भीतर की ओर छेदन कर्म किया जाता है और यह कर्म प्रायः "प्रवृद्धेषु लोमसु" लोम बढ़ जाने पर आवश्यक होता है जब लोम खरदरा या खरदरे हो जाते हैं। अ. ८ श्लो० २० देखिये।

३ —दाह कर्म अग्नि कर्म-यह कर्म वर्त्म को उलट कर भीतर की ओर अग्निप्रतप्त सूची के अग्रभाग से किया जाता है इसके द्वारा लोम कूप का स्थान ही जला दिया जाता है।

४ —क्षार कर्म - रोम कूप का स्थान क्षार द्वारा दग्ध कर दिया जाता है। इन कर्मों के पश्चात्—सु, उ. अ. १६ के अनुसार—विरेचनाऽऽश्च्योतनधूमनस्यलेपाऽञ्जनस्नेहरसक्रियाश्च ॥ ९ ॥

अर्थात्—कोष्ठ विरेचन आश्च्योतन (नेत्र में बूंदें टपकाना), धूमपान, नस्य कर्म, लेपन (नेत्र वर्त्म पर उचित लेप), अञ्जन स्नेहनरसक्रिया—स्निग्धरसरूप (काजल) अञ्जन का यथोचित प्रयोग करना-करते रहना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः।

अथाऽतः सन्धिसितासितरोगविज्ञानमारभ्यते ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब नेत्र की सन्धियों, श्वेत भाग तथा कृष्ण भाग

के रोगों का वर्णन किया जायगा और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इन रोगों का वर्णन सु. उ. तं. अ. २—२४ तथा ५ में और अ. सं. उ. अ. १३ में देखिये।

सन्धियों के रोग ८ होते हैं यथा—सु. उ. अ. २—

पूयालसः सोपनाहः स्रावाः पर्वणिकाऽलजी।
कृमिग्रन्थिश्च विज्ञेयाः रोगाः सन्धिगता नव ॥३॥

अर्थात्—१—पूयालस, २—उपनाह, चार स्राव, ३—पूयास्राव, ४—श्लेष्मास्राव, ५—रक्तास्राव, तथा पित्तास्राव, ७—पर्वणिका, ८—अलजी और ९—कृमि ग्रन्थि। इस प्रकार कुल ९ रोग हैं परन्तु श्री वाग्भट्ट ने अ. सं. के अनुसार एक जलस्राव माना है पित्तास्राव नहीं माना है। और उसका हेतु वायु माना है जो उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि वायु तो शोषण का हेतु हो ा है। परन्तु जल जैसा स्राव होता अवश्य है उसे पञ्जाब में "डलका" कहते हैं।

१. जलास्राव का वर्णन—

वायुः क्रुद्धः सिराः प्राप्य जलाभं जलवाहिनीः।
अश्रुस्रावयते वर्त्मशुक्लसन्धेः कनीनकात् ॥ १ ॥
तेन नेत्रं सरुग्रागशोफं स्यात्स जलास्रवः।

व्याख्या—वायु कुपित होकर और जलवाहिनी सिराओं में प्राप्त होकर, कनीनिका नाम वर्त्म एवं शुक्ल भाग की सन्धि में से जल सदृश आँसुओं को बहाता है। इस रोग से नेत्र में वेदना, लालिमा तथा शोथ हो जाता है—बना रहता है। इसका नाम "जलस्रव" या 'जलस्राव" है ॥

वक्तव्य—हमारा विचार है कि शोथ के स्थान में शोष होना चाहिये क्योंकि जलस्राव से नेत्र गोलक छोटा हो जाता है। इस रोग में जल का सा स्राव सर्वदा होता रहता है ।१।

२. कफस्रव का वर्णन—

कफात्कफास्रवे श्वेतं पिच्छिलं बहलं स्रवेत् ॥२॥

व्याख्या—कफ की विकृति से वर्त्म एवं शुक्ल भाग की सन्धि में से—श्वेत वर्ण का, पिच्छिल तथा गाढ़ा स्राव होता रहता है इसका नाम कफस्रव है ॥ २ ॥

३. उपनाह रोग का वर्णन—

कफेन शोफस्तीक्ष्णाग्रः क्षारबुद्बुदकोपमः।
पृथुमूलबलः स्निग्धः सवर्णमृदुपिच्छिलः ॥ ३ ॥
महानपाकः कण्डूमान् उपनाहः स नीरुजः।

व्याख्या—कफ के प्रकोप से जो तीक्ष्ण अग्रभागवाला, पकते हुए क्षार द्रव के बुलबुला जैसा, चौड़े मूलवाला. बलवान्-कठोर, स्निग्ध, समान वर्णवाला, मृदु, पिच्छिल, महान्—बड़ा सा, पाकरहित, कण्डूयुक्त तथा वेदनारहित जो शोथ होता है वह "उपनाह" कहलाता है ॥

वक्तव्य—सुश्रुत उ. अ. ८ के अनुसार यह उपनाह नामक विकार दृष्टिसन्धि—कृष्णमण्डल एवं दृष्टिमण्डल की सन्धि में—पर होता है। यथा—ग्रन्थिः नाऽल्पो दृष्टिसन्धौ अपाकः कण्डूप्रायो नीरुजस्तु उपनाहः ॥३॥

४. रक्तस्रव का वर्णन—

रक्ताद् रक्तास्रवे ताम्रं बहूष्णं चाश्रु संस्रवेत् ॥ ४ ॥

व्याख्या—रक्त की विकृति से लाल वर्ण के, मात्रा में अधिक तथा स्पर्श में उष्ण आँसू बहते रहते हैं इसका नाम 'रक्तस्रव' है ॥ ४ ॥

५. पर्वणी का वर्णन—

वर्त्मसन्ध्याश्रया शुक्ले पिटिका दाहशूलिनी।
ताम्रा मुद्गोपमा भिन्ना रक्तं स्रवति पर्वणी ॥ ५ ॥

व्याख्या—वर्त्म तथा शुक्लमण्डल की सन्धि में उत्पन्न दाह एवं शूल से युक्त, लाल वर्णवाली मूँग के दाना की सी पिटिका (फुन्सी वृत्त शोथ-गोल २) उत्पन्न हो जाती है और फूटने पर उसमें से रक्त वर्ण का स्राव होता है उसका नाम "पर्वणी" है ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में—जाता सन्धौ कृष्णशुक्ले, के अनुसार इसकी उत्पत्ति कृष्णमण्डल तथा शुक्लमण्डल की सन्धि में बतलाई है ॥५॥

६. पूयास्राव का वर्णन—

पूयास्रवे मलाः सास्रा वर्त्मसन्धेः कनीनकात्।
स्रावयन्ति मुहुः पूयं सास्रत्वङ्मांसपाकतः ॥ ६ ॥

व्याख्या—कनीनिका नामक वर्त्मसन्धि में से—बार-बार पूय का स्राव होता रहता है। यह रोग—रक्त युक्त तीनों दोषों की विकृति के कारण रक्त, त्वचा तथा मांस का पाक हो जाने से उत्पन्न होता है। इसका नाम "पूयास्राव" है ॥ ६ ॥

७. पूयालस का वर्णन—

पूयालसो व्रणः सूक्ष्मः शोफसंरम्भपूर्वकः।
कनीनसन्धावाध्मायी पूयास्रावी सवेदनः ॥ ७ ॥

व्याख्या—कनीनिका नामक सन्धि में—शोथ हो जाता है और फिर पककर फूट जाता है फलतः उसमें छोटा सा व्रण हो जाता है और उसमें से वेदना के साथ पूय का स्राव होता है यदि स्राव रुकता है तो आध्मान हो जाता है—फूल जाता है और फूटने पर पुनः स्राव होता है। इसका नाम 'पूयालस है' ॥ ७ ॥

८. अलजी का वर्णन—

कनीनस्यान्तरलजी शोफो रुक्तोददाहवान्।

व्याख्या—कनीनिका नामक सन्धि के भीतर—वेदना

व्यथा तथा दाह से युक्त शोथ हो जाता है उसका नाम "अलजी" है ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इसकी उत्पत्ति कृष्णमण्डल एवं शुक्लमण्डल की सन्धि में बतलाई है।

९. कृमिग्रन्थि का वर्णन—

अपाङ्गे वा कनीने वा कण्डूषापक्ष्मपोटवान् ॥८॥
पूयास्रावी कृमिग्रन्थिर्ग्रन्थिः कृमियुतोऽर्तिमान् ।

व्याख्या—अपाङ्ग में अथवा कनीनिका में—कण्डू तथा पक्ष्मटोप (फुलाव या शोथ) युक्त ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है उसमें से पूय का स्राव होता है और कृमि पड़ने पर बड़ी हो जाती है। इस का नाम "कृमि ग्रन्थि" है ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. २ में इसका वर्णन इस प्रकार है—कृमिग्रन्थिः वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूकुर्युः कृमयःसन्धिजाताः नानारूपा वर्त्म शुक्लान्तसन्धौ चरन्तोऽन्तरनयनं दूषयन्ति॥९॥

अर्थात्—वर्त्म एवं पक्ष्म की सन्धि में उत्पन्न क्रिमि कण्डू उत्पन्न करते हैं और वर्त्म एवं शुक्लमण्डल की सन्धि के भीतर घूमते हुए—खाते हुए नेत्रगोलक को दूषित कर देते हैं ॥ ८ ॥

चिकित्सा संकेत—

उपनाह-कृमिग्रन्थि-पूयाऽलसक-पर्वणीः ॥ ९ ॥
शस्त्रेण साधयेत्, पञ्च साऽलजीनास्रवांस्त्यजेत् ।
इति सन्धिरोगा नव ।

व्याख्या—उपनाह, कृमिग्रन्थि, पूयालस तथा पर्वणी में शस्त्रकर्म करके सफलता प्राप्त करे और अलजी तथा जलस्राव, कफस्राव, रक्तस्राव तथा पूयस्राव नामक ५ रोगों को असाध्य समझकर छोड़ देवे ॥ ९ ॥

सित-श्वेतमण्डल के रोगों का वर्णन—

श्वेत मण्डल में ११ रोग होते हैं। सु. उ.अ. ४ देखिये—

१. शुक्ति-शुक्तिका रोग—

पित्तं कुर्यात्सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान् ॥ १० ॥
मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक् ।
रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः ॥११॥

व्याख्या—पित्त कुपित होकर—शुक्लमण्डल पर—एक अथवा अनेक विन्दु उत्पन्न कर देता है, उनका वर्ण काला, काला सा एवं पीला सा होता है अथवा समस्त शुक्लमण्डल मलिन काँच का सा हो जाता है और उनमें दाह एवं वेदना होती रहती है। इस रोग का नाम "शुक्तिका" है क्योंकि इनका वर्ण सीप का सा होता है (शुक्त्याभाः—सु.) । इस रोग में—मलभेद, तृषा तथा ज्वर भी रहता है ॥ १०-११ ॥

२-३. शुक्लार्म एवं बलासग्रथित का वर्णन—

कफाच्छुक्ले समं श्वेतं चिरवृद्ध्यधिमांसकम् ।
शुक्लार्मशोफस्त्वरुजः सवर्णो बहलो मृदुः ॥ १२ ॥
गुरुः स्निग्धोऽम्बुबिन्द्वाभो बलासग्रथितं स्मृतम् ।

व्याख्या—कफ की विकृति के कारण—शुक्लमण्डल में जो सम (अविषम-समतल), श्वेत सा, चिरकाल में बढ़नेवाला और मांसमय (मांस का प्रचय) उत्पन्न हो जाता है उसका नाम "शुक्लार्म" है। और जो शुक्लमण्डल में—वेदना रहित, समान वर्णवाला, मोटा-पुष्ट, कोमल, गुरु, स्निग्ध तथा जल के विन्दु का सा शोथ हो जाता है उसका नाम "बलासग्रथित" है ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. ४ में इसका वर्णन इस प्रकार है—कांस्याभो भवति सितेऽम्बुबिन्दुतुल्यः स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलाससंज्ञः ॥९॥ कांस्याभः—कांसा नामक मिश्रधातु के से वर्णवाला ॥१२॥

४. पिष्टक नामक रोग का वर्णन—

बिन्दुभिः पिष्टधवलैरुत्सन्नैः पिष्टकं वदेत् ॥ १३ ॥

व्याख्या—शुक्लमण्डल पर जो उरद की पीठी के सदृश श्वेत एवं ऊँचाई युक्त विन्दु उत्पन्न हो जाते हैं उस रोग का नाम "पिष्टक" है ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. ४ में पिष्टक का वर्णन है—उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः ।

अर्थात्—ऊँचाई युक्त, जलविन्दु का सा गोल एवं पीठी का सा श्वेत जो विन्दु हो जाता है वह "पिष्टक" होता है ॥१३॥

५–६. सिरोत्पात तथा सिराहर्ष—

रक्तराजीततं शुक्लमुच्यते यत्सवेदनम् ।
अशोफाश्रूपदेहं च सिरोत्पातः सशोणितात् ॥
उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन् ।
कुर्यात्सास्रं 'सिराहर्षं' तेनाक्ष्युद्वीक्षणाऽक्षमम् ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिस रोग में शुक्लमण्डल लाल २ राजियों से व्याप्त हो जाता है और दाह एवं वेदना से युक्त होता है और शोथ, आँसू तथा उपदेह (नेत्र दूषिका-कीचड़-गिड्डु) से रहित रहता है वह "सिरोत्पात" कहलाता है और वह रोग रक्त की विकृति से होता है। और यदि सिरोत्पात की उचित चिकित्सा नहीं की जाती तो "सिराहर्ष" नामक रोग हो जाता है। उसमें वे राजियाँ अधिक लाल हो जाती हैं और लाल २ आँसू बहते हैं तथा नेत्र देखने में असमर्थ हो जाता है ॥१४-१५॥

७. सिराजाल का वर्णन—

सिराजाले 'सिराजालं' बृहद्रक्तं घनोन्नतम् ।

व्याख्या—सिराजाल नामक रोग में—शुक्लमण्डल का सिराजाल (सिराओं का जाल—सन्तान) बड़ा, लाल, सघन तथा ऊँचा (ऊँचाई युक्त) हो जाता है ॥

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त जाल के ही भेद सिरोत्पत्ति तथा सिराहर्ष नाम से श्री वाग्भट महाशय द्वारा लिखे गये प्रतीत होते हैं। जो कुछ हो उसने तो अष्टांगसंग्रह का अनुसरण किया है। सुश्रुत का पाठ है—यथा—जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ॥८॥

८. शोणितार्म का वर्णन—

शोणितार्मसमं श्लक्ष्णं पद्माभमधिमांसकम् ॥ १६ ॥

व्याख्या—शुक्लमण्डल पर जो समतल, श्लक्ष्ण (चिकना-अखर) तथा लाल कमल के समान वर्णवाला मांसमय संचय हो जाता है उसका नाम "शोणितार्म" है ॥ १६ ॥

९. अर्जुन का लक्षण—

नीरुक् श्लक्ष्णोऽर्जुनंबिन्दुः शशलोहितलोहितः।

व्याख्या—शुक्लमण्डल पर—वेदनारहित, श्लक्ष्ण एवं शशक (खरगोश) के रक्त का सा लाल जो एक विन्दु उत्पन्न हो जाता है उसका नाम "अर्जुन" है।

१०—११ प्रस्तारी अर्म एवं स्नायु अर्म—

मृद्वाशुवृद्ध्यरुङ्मांसं प्रस्तारि श्यावलोहितम् ॥ १७ ॥
प्रस्तार्यर्म मलैः सास्रे स्नावार्म स्नावसन्निभम्।

व्याख्या—शुक्लमण्डल में—कोमल, शीघ्र बढ़ने-फैलनेवाला, कुछ काला लाल सा मांसमय चिन्ह उत्पन्न हो जाता है वह "प्रस्तारी अर्म" कहलाता है और वह रक्तयुक्त तीनों दोषों की विकृति से उत्पन्न होता है। और जो स्नायु जैसा चिन्ह होता है वह "स्नायु अर्म" कहलाता है।

वक्तव्य—स्नायु अर्म—स्नायु के समान कठोर एवं श्वेत सा होता है। सु, उ. अ. ४ श्लो. ६ ॥ १७ ॥

१२-१३. अधिमांसार्म एवं सिराज पिटिका—

शुष्कासृक्पिण्डवच्छ्यावं यन्मांसं बहलं पृथु ॥१८॥
अधिमांसार्म, तद्दाह-घर्षवन्त्यः सिरावृताः।
कृष्णासन्नाः सिरासंज्ञाः पिटिकाः सर्षपोपमाः ॥ १९॥

व्याख्या—शुक्लमण्डल में जो मांसमय चिन्ह—सूखे रक्त का सा श्याव, मोटा एवं चौड़ा—बिछा हुआ सा हो जाता है उसका नाम "अधिमांसार्म" है।

शुक्लमण्डल में जो सरसों जैसी, दाह एवं घर्ष से युक्त सिराओं से आवृत और कृष्णमण्डल के आसपास फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनका नाम "सिराज पिटिका" है ॥

वक्तव्य—श्री वाग्भट ने सिरोत्पात एवं सिराहर्ष नामक दो रोग पृथक् माने हैं अतः शुक्लमण्डल के रोगों की संख्या १३ हो गई है ॥ १८–१९ ॥

चिकित्सा सूत्र—

शुक्ति हर्ष-सिरोत्पात-पिष्टक-ग्रथिताऽर्जुनम्।
साधयेदौषधैः षट्कं, शेषं शस्त्रेण सप्तकम् ॥ २० ॥
नवोत्थं तदपि द्रव्यैः अर्मोक्तं यच्च पञ्चधा।
तच्छेद्यमसितप्राप्तं मांसस्नावसिरावृतम् ॥ २१ ॥
चर्मोद्दालवदुच्छ्रायि दृष्टिप्राप्तं च वर्जयेत्।

व्याख्या—शुक्ति, सिराहर्ष, शिरोत्पात, पिष्टक, ग्रथित, (बलास ग्रथित) तथा अर्जुन नामक इन छः (६) रोगों में औषधों (सेचन एवं अञ्जन आदि) के प्रयोग करे और शेष सात रोगों (५ अर्म सिराजाल तथा सिराजपिटिका) में शस्त्र कर्म करे। परन्तु यदि वे रोग नूतन हों तो औषधों के प्रयोग करे। ५ प्रकार के अर्मों का छेदन करे और जो अर्म कृष्णमण्डल में प्राप्त हो गया हो, मांस, स्नायु एवं सिरा से आवृत हो और मटर के समान चर्म उठा हुआ हो उसका भी छेदन करे और जो दृष्टिमण्डल में प्राप्त हो उसको असाध्य समझ कर त्याग देवे ॥

वक्तव्य—सर्वाङ्गसुन्दरा नामक टीका में—यत् कृष्णभागप्राप्तं मांसस्नायुसिरावृतं चर्मोद्दालवत् उच्छ्रायि तत् वर्जयेत् न चिकित्सेत् यत् च दृष्टिप्राप्तं तत् अपि वर्ज्जयेत्। ऐसा अर्थ किया है तथापि—हमने सुश्रुत उ. अ. १५ के निम्नलिखित पाठ के अनुसार व्याख्या की है यथा—

चर्मभिर्बहलं यत्तु स्नायुमांसघनावृतम्।
छेद्यमेव तदर्म स्यात् कृष्णमण्डलगं च यत् ॥ १८ ॥

कृष्ण मण्डल के रोगों का वर्णन—

इनका वर्णन सु. उ. अ. ५ में देखिये ॥ २०-२१ ॥

इति सितभागरोगाः।

१. क्षत शुक्र का वर्णन—

पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत् ॥ २२ ॥
छित्त्वा त्वचं जनयति तेन स्यात्कृष्णमण्डलम्।
पक्वजम्बूनिभं किञ्चिन्निम्नं च क्षतशुक्रकम् ॥ २३ ॥
तत्कृच्छ्रसाध्यं याप्यं तु द्वितीयपटलव्यधात्।
तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता ॥ २४ ॥
तृतीयपटलच्छेदादसाध्यं निचितं व्रणैः।

व्याख्या—पित्त विकृत होकर कृष्णमण्डल अथवा दृष्टिमण्डल में त्वक् अर्थात् बाहिरी प्रथम पटल को छेदकर (फूली) को उत्पन्न करता है। वह शुक्र—व्यथा, आँसू तथा लालिमा से युक्त होता है। इस शुक्र से कृष्णमण्डल—पकी जामुन के समान आकार तथा वर्ण-वाला हो जाता है और सूई से विद्ध के समान कुछ निम्न

सा होता है। इसका नाम "क्षत शुक्र" (सव्रण शुक्र) है। यह "क्षत शुक्र" कष्ट साध्य होता है। और यदि दूसरे पटल का व्यध छेद होने से शुक्र उत्पन्न होता है तो उसमें उक्त तोद-व्यथा आँसू एवं लालिमा की अधिकता होती है और सूई से विंधे के सदृश निम्नता तथा कृष्णता (कालापन) होती है। यह शुक्र याप्य होता है।

जो शुक्र तीसरे पटल के व्यध-छेद से उत्पन्न होता है वह अनेक पुणों-क्षतों (व्यधों) से युक्त होता है और वह असाध्य होता है॥

वक्तव्य—यह तीनों प्रकार के शुक्र सव्रण शुक्र कहे जाते हैं। इनमें पित्त दोष की विकृति होती है। और ये व्रण अर्थात् क्षत से उत्पन्न होते हैं। आँख चुभने से उत्पन्न होनेवाला फूला यही है॥ २३-२४॥

२. शुद्ध शुक्र का वर्णन—

शङ्खशुक्लं कफात्साध्यं नातिरुक् शुद्धशुक्रकम्॥२५॥

व्याख्या—जो शुक्र कृष्णमण्डल अथा दृष्टिमण्डल पर कफ की विकृति से उत्पन्न होता है वह शंख के सदृश श्वेत अथवा कुछ काला (साँवला) होता है और उसमें अधिक वेदना नहीं होती। उसका नाम शुद्ध शुक्र (अव्रण शुक्र) है॥ २५॥

३. अजका का वर्णन—

आताम्रपिच्छिलास्रस्रुदाताम्रपिटिकातिरुक्।
अजाविट्सदृशोच्छ्रायकार्ष्ण्यो वर्ज्याऽसृजाऽजका॥२६॥

व्याख्या—रक्त की विकृति से—अजका (अजका जात) नामक रोग होता है वह बकरी के पुरीष के आकार का तथा काला होता है, उस रोग में लाल एवं पिच्छिल आँसू बहते रहते हैं, वह लाल वर्ण की एवं अत्यन्त वेदनावाली पिटिका (मांसमय शोथ) होती है और असाध्य मानी जाती है।

वक्तव्य—सु. उ. अ. ५—

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः।
विदार्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तं चाजका जामिति व्यवस्येत्॥

अर्थात्—कृष्णमण्डल को फाडकर बकरी के पुरीष का सा, वेदना युक्त, कुछ लाल, तथा लाल एवं पिच्छिल आसुओं वाला जो प्रचय (मेंगन का सा लम्बा-गोल) उत्पन्न हो जाता है उनका नाम "अजका जात" है॥ २६॥

४. सिरा शुक्र—

सिराशुक्रं मलैः सास्रैस्तज्जुष्टं कृष्णमण्डलम्।
सतोद्दाहं ताम्राभिः सिराभिरवतन्यते॥ २७॥
अनिमित्तोष्णशीताच्छघनास्रस्रुच्च तत्त्यजेत्।

व्याख्या—रक्त युक्त तीनों दोषों की विकृति से "सिराशुक्र" होता है। इससे युक्त कृष्णमण्डल—व्यथा एवं दाह से युक्त लाल २ सिराओं से व्याप्त हो जाता है—सिराओं का ताना-वाना (जाल सा) दीखने लगता है। इस रोग में—किसी कारण के विना ही—कभी उष्ण और कभी शीत, स्वच्छ कभी गाढ़े आँसू बहते रहते हैं। यह असाध्य होता है॥ २७॥

५. अक्षिपाकात्ययजनित शुक्र—

दोषः सास्रैः सकृत्कृष्णं नीयते शुक्लरूपताम्॥२८॥
धवलाभ्रोपलिप्ताभं निष्पावार्धदलाकृति।
अतितीव्ररुजाराग-दाह-श्वयथुपीडितम्॥२९॥
पाकात्ययेन तच्छुक्रं वर्जयेत्तीव्रवेदनम्।

व्याख्या—रक्त युक्त वातादि तीनों दोषों की विकृति से कृष्णमण्डल एकाएक श्वेत हो जाता है, उसका वर्ण—श्वेत अभ्र (बादल) खण्ड का सा होता है और आकार—मटर की आधी दाल का सा होता है। इसमें अत्यन्त वेदना, लालिमा दाह तथा शोथ होता है। यह अक्षिपाकात्यय से उत्पन्न होता है और तीव्र वेदनायुक्त हो तो असाध्य होता है। इसमें वेदना आदि लक्षणों के साथ २ शुक्र की उत्पत्ति होती है और शुक्र की उत्पत्ति के पश्चात् वेदना आदि शान्त हो जाते हैं॥

वक्तव्य—यह पाठ जैसा है वैसा ही अष्टांगसंग्रह में भी है परन्तु इस विषय का वर्णन करनेवाला सुश्रुत का पाठ भी देखना चाहिये॥ २८-२९॥

अन्यान्य शुक्र—

यस्य वा लिङ्गनाशोऽन्तःश्यावं यद्वा सलोहितम्।
अत्युत्सेधावगाढं वा साश्रुनाडीव्रणावृतम्॥ ३०॥
पुराणं विषमं मध्ये विच्छिन्नं यच्च शुक्रकम्।
पञ्चेत्युक्ता गदाः कृष्णे साध्यासाध्यविभागतः॥३१॥

व्याख्या—जिस शुक्र में भीतर २ दृष्टिनाश हो गया हो। जो भीतर से श्याव (काला सा) अथवा लाल हो गया हो।

जो बहुत ऊँचा एवं गहरा हो अर्थात् बहल (मोटा) हो। जो आँसू युक्त नाडी व्रण से युक्त हो, जो पुराना हो एक वर्ष का पुराना हो। जो आकार में विषम हो—जो बीच में से कटा हो—दो भागों में या अनेक भागों में विभक्त हो गया हो। उक्त सब प्रकार के शुक्र असाध्य होते हैं। इस प्रकार कृष्णमण्डल के ५ रोगों का साध्य एवं असाध्य के विभाग से वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—सुश्रुत उ. अ. ५ में कृष्णमण्डल के ४ रोग माने हैं यथा—

यत् सव्रणं शुक्र मथाऽव्रणं वा पाकात्ययश्चापि अजका तथैव।
चत्वार एतेऽभिहिता विकारा कृष्णाश्रयाः संग्रहतः पुरस्तात्॥

अर्थात् १ सव्रण शुक्र, २—अव्रण शुक्र, ३—पाकात्यय तथा ४—अजका—अजका जात। श्री वाग्भट ने अ सं. के अनुसार एक सिरा शुक्र अधिक माना है। अभिष्यन्द से उत्पन्न शुक्र साध्य होता है। अक्षिपाकात्यय जनित शुक्र शीतला निकलने पर किसी २ को हो जाता है वह असाध्य होता है। अजका जात में शस्त्र क्रिया से वेदना आदि शान्त हो जाते हैं परन्तु दृष्टि नहीं आती। नेत्र रोगों की असाध्यता इतनी ही होती है कि उस रोग की शान्ति नहीं होती परन्तु वे मारक नहीं होते जैसे ज्वर, अतिसार एवं ग्रहणी रोग तथा रक्त पित्त आदि रोग मारक होते हैं। अथवा यों कहिये कि वे नेत्र रोग जीवन भर बने रहते हैं।

इत्यष्टांगहृदये उत्तरतन्त्रे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

———

एकादशोऽध्यायः।

अथातः सन्धिसितासितरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब अध्याय १० में कहे गये सन्धिगत श्वेतमण्डलगत तथा कृष्णमण्डलगत रोगों की चिकित्सा कही जायगी और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य— इसका वर्णन—सु. उ. अ. १२,१४ तथा १५ में और अ. सं. उ. अ. १७ में देखिये।

उपनाह चिकित्सा—

उपनाहं भिषक् स्विन्नं भिन्नं व्रीहिमुखेन च।
लेखयेन्मण्डलाग्रेण ततश्च प्रतिसारयेत् ॥ १ ॥
पिप्पलीक्षौद्रसिन्धूत्थैर्बध्नीयात्पूर्ववत्ततः।
पटोलपत्रामलकक्वाथेनाश्च्योतयेच्च तम् ॥ २ ॥

व्याख्या—उपनाह नामक सन्धि रोग में—अध्याय ९ में कहे प्रकार से—उष्णोदक में भिगोई गई पोट्टली से स्वेदन करके व्रीहिमुख नामक शस्त्र द्वारा भेदन कर्म करे और मण्डलाग्र शस्त्र द्वारा लेखन कर्म करे तत्पश्चात् पीपल एवं सैन्धव लवण का चूर्ण मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे और पूर्ववत् (अ. ९ के श्लो० ४ में कथित विधि से)—प्रक्षालन, अभ्यङ्ग तथा पिण्डी दान पूर्वक बन्धन लगा देवे। और पाँचवें दिन बन्धन खोल देवे और परवल के पत्र तथा आमला के क्वाथ का आश्च्योतन करे ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. १४ का श्लो. ९-१० तथा ११ देखिये ॥१-२॥

पर्वणी चिकित्सा—

पर्वणी बडिशेनाऽऽत्ता बाह्यसन्धित्रिभागतः।
वृद्धिपत्रेण वर्ध्याऽर्धे स्यादश्रुगतिरन्यथा ॥ ३ ॥
चिकित्सा चार्मवत्क्षौद्रसैन्धवप्रतिसारिता।

व्याख्या—पर्वणी को तिहाई भाग में—बडिश यन्त्र द्वारा पकड़कर, अर्ध भाग पर से वृद्धिपत्र नामक शस्त्र द्वारा काट देवे, अधिक भाग काटने से अश्रुनाड़ी हो सकती है। इसके पश्चात् सैन्धव लवण का चूर्ण मधु में मिला कर प्रतिसारण करे और—अर्मरोग के समान चिकित्सा करे। देखिये श्लोक ॥१५॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. १५ के श्लोक २३-२४ तथा २५ देखिये ॥३॥

पूयालस चिकित्सा—

पूयालसे सिरां विध्येत्ततस्तमुपनाहयेत् ॥ ४ ॥
कुर्वीत चाक्षिपाकोक्तं सर्वं कर्म यथाविधि।
सैन्धवार्द्रककासीसलोहताम्रैः सुचूर्णितैः ॥ ५ ॥
चूर्णाञ्जनं प्रयुञ्जीत सक्षौद्रैर्वा रसक्रियाम्।

व्याख्या—पूयालस नामक रोग में—सिरावेध करके रक्त मोक्षण करे, तत्पश्चात् उपनाह स्वेद करे अक्षिपाक के समान, विधिपूर्वक सब उपचार करे। और सैन्धवलवण का चूर्ण, अदरक, कसीस, लोह भस्म तथा ताम्रभस्म को मिलाकर चूर्ण रूप अञ्जन करे अथवा मधु में मिलाकर रस रूप अंजन करे ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. ८ में पूयालस रोग में सिराव्यध का संकेत किया है। तथा देखिये—सु. उ. अ. १२ के श्लोक ४५ तथा ४६। नेत्रपाक की चिकित्सा सु. उ. अ. १२ के श्लोक ३८ से ४४। अक्षिपाक का वर्णन अ० हृ० उ. अ. १५ में देखिये तथा चिकित्सा अ. १६ में देखिये।४-५।

कृमिग्रन्थि की चिकित्सा—

कृमिग्रन्थिं करीषेण स्विन्नं भित्त्वा विलिख्य च ॥६॥
त्रिफलाक्षौद्रकासीससैन्धवैः प्रतिसारयेत्।

व्याख्या—कृमिग्रन्थि का गोबर द्वारा स्वेदन करके व्रीहिमुख आदि शस्त्र द्वारा भेदन एवं लेखन करे और फिर—त्रिफला, मधु, कासीस एवं सैन्धव लवण मिला प्रतिसारण करे ॥

वक्तव्य—तदनन्तर व्रणोपचार विधि से रोपण करे। सु. उ. तं. अ. १४ का श्लोक ८ देखिये ॥६॥

शुक्तिका, बलास ग्रथित तथा पिष्टक चिकित्सा—

पित्ताभिष्यन्दवच्छुक्तिं बलासाह्वयपिष्टके ॥ ७ ॥
कफाभिष्यन्दवन्मुक्त्वा सिराव्यधमुपाचरेत्।
बीजपूररसाक्तं च व्योषकट्फलमञ्जनम् ॥ ८ ॥
जातीमुकुलसिन्धूत्थदेवदारुमहौषधैः।
पिष्टैः प्रसन्नया वर्तिः शोफकण्डूघ्नमञ्जनम् ॥ ९ ॥

व्याख्या—शुक्तिका नामक रोग में पित्ताभिष्यन्द के समान चिकित्सा करे। देखिये अ. १६।

वलास ग्रथित तथा पिष्टक रोगों की चिकित्सा—कफाभिष्यन्द के समान करे परन्तु सिरावेध न करे। कफाभिष्यन्द की चिकित्सा अ. १६ में देखिये। और सोंठ, मरिच, पीपल तथा बायफल के चूर्ण को विजौरा के रस में पीसकर अञ्जन करे।

अथवा—चमेली की कली, सैन्धव लवण, देवदारु तथा सोंठ को प्रसन्ना में पीसकर वत्ती बनावे और उससे अञ्जन करे यह अञ्जन—शोथ तथा कण्डू को नष्ट करता है ॥ ७-६ ॥

सिरोत्पात, सिराहर्ष, सिराजाल तथा अर्जुन चिकित्सा—

रक्तस्यन्दवदुत्पातहर्षजालार्जुने क्रिया।

अञ्जनान्याह—

सिरोत्पाते विशेषेण घृतमाक्षिकमञ्जनम् ॥ १० ॥
सिराहर्षे तु मधुना श्लक्ष्णघृष्टं रसाञ्जनम्।
अर्जुने शर्करामस्तुक्षौद्रैराश्च्योतनं हितम् ॥ ११ ॥
स्फटिकः कुङ्कुमं शङ्खो मधुको मधुनाऽञ्जनम्।
मधुना चाञ्जने शङ्खः फेनो वा सितया सह ॥ १२ ॥

व्याख्या—सिरोत्पात, सिराजाल तथा अर्जुन नामक रोगों की चिकित्सा रक्ताभिष्यन्द के समान करे। देखिये अ. १६।

विशेषतः—सिरोत्पात में—घृत एवं मधु मिलाकर अञ्जन करे। सिराहर्ष में—रसवंत को मधु में पीसकर अञ्जन करे।

अर्जुन में—दही के पानी में खांड तथा मधु मिलाकर आश्च्योतन करे। अथवा—फिटकिरी केशर, शंखभस्म, तथा मुलेठी का चूर्ण मधु में मिलाकर अञ्जन करे। अथवा—शंख भस्म को मधु में मिलाकर अञ्जन करे। अथवा समुद्र झाग तथा मिश्री को पीसकर अञ्जन करे॥

वक्तव्य—इन रोगों की चिकित्सा सु उ. अ. १२ में देखिये ॥१०-१२॥

अर्म की सामान्य चिकित्सा—

अर्मोक्तं पञ्चधा तत्र तनु धूमाविलं च यत्।
रक्तं दधिनिभं यच्च शुक्रवत्तस्य भेषजम् ॥ १३ ॥

व्याख्या—अध्याय १० में जो ५ प्रकार के अर्म कहे हैं उनमें जो तनु अर्थात् पतला अर्म हो अथवा जो धूम का सा मलिन हो अथवा लाल हो अथवा दही के समान वर्णवाला हो उसकी चिकित्सा शुक्र के समान करे।

वक्तव्य—शुक्र की चिकित्सा इसी अध्याय में आगे देखिये और सु. उ. अ. १२ के श्लोक १७ से १९ देखिये।

अर्म की विशेष चिकित्सा—

उत्तानस्येतरत् स्विन्नं ससिन्धूत्थेन चाञ्जितम्।
रसेन बीजपूरस्य निमील्याक्षि विमर्दयेत् ॥ १४ ॥
इत्थं संरोषिताक्षस्य प्रचलेऽर्माधिमांसके।
घृतस्य निश्चलं मूर्ध्नि वर्त्मनोश्च विशेषतः ॥ १५ ॥
अपाङ्गमीक्षमाणस्य वृद्धेऽर्मणि कनीनकात्।
वली स्याद्यत्र तत्रार्म बडिशेनावलम्बितम् ॥ १६ ॥
नात्यायतं मुचुण्ड्या वा सूच्या सूत्रेण वा ततः।
समन्तान्मण्डलाग्रेण मोचयेदथ मोक्षितम् ॥ १७ ॥
कनीनकमुपानीय चतुर्भागावशेषितम्।
छिन्द्यात्कनीनके रक्षेद्वाहिनीश्चाश्रुवाहिनीः ॥ १८ ॥
कनीनकव्यधाद्श्रुनाडी चाक्ष्णि प्रवर्तते।
वृद्धेऽर्मणि तथाऽपाङ्गात्पश्यतोऽस्य कनीनकम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—और जो अर्म उक्त प्रकार का न हो उसमें—रोगी को चित लेटाकर (लेटाने के पूर्व—स्नेहन करे तथा उस दिन—पेया अथवा विलेपी अथवा जाङ्गल मांस रस के साथ आहार खिला देवे) अर्म पर स्वेदन करे (स्वेदन उष्ण जल में फोहा भिगो २ कर करे) और फिर विजौरा निम्बू के रस में सैन्धव लवण पीसकर अञ्जन करे और नेत्र मूँदकर अंगूठा से तबतक मले जबतक अर्म वलासग्रथित का सा हो जाय, उसी समय अर्म मांस प्रचलित होनेपर, परिचारक द्वारा उसका सिर भलीभाँति थाम लिया जाय और दूसरे परिचारक द्वारा उसके वर्म थाम लिये जायँ और रोगी से कहे कि अपाङ्ग की ओर देखो, इस प्रकार कनीनिका से अर्म बढ़ा हो जाने पर जहाँ वली (झुरी) पड़े वहीं बडिश नामक यन्त्र से पकड़ कर अथवा मुचुण्डी (मोचना) नामक यन्त्र से थोड़ा उठा लेवे अथवा सूई के डोरा द्वारा वेध कर उठा लेवे और तीक्ष्णमण्डलाग्र शस्त्र द्वारा लेखन कर के शुक्र मण्डल तथा कृष्णमण्डल से पृथक् कर लेवे और पृथक् हो जाने पर कनीनिका की ओर लेजाकर और चौथाई छोड़ कर काट देवे जिससे कनीनिका का अश्रुवाही स्रोतस् न कटने पावें क्यों कि कनीनिकाग्रन्थि कट जाने से नेत्र में अश्रुनाडी हो जाती है— अश्रु स्राव होता रहता है। अतः उसे बचा कर अर्म काटने से नेत्र में कोई व्यापत्ति नहीं होती।

और यदि अर्म—अपाङ्ग की ओर हो तो रोगी से कहे कि कनीनिका की ओर देखो और इस प्रकार उक्त विधि से अर्म का छेदन करे। और अपाङ्ग की सिराओं को कटने से बचावे ॥-१४ ॥

पश्चात्कर्म—

सम्यक् छिन्नं मधुव्योषसैन्धवप्रतिसारितम्।

उष्णेन सर्पिषा सिक्तमभ्यक्तं मधुसर्पिषा ॥ २० ॥
बध्नीयात्सेचयेन्मुक्त्वा तृतीयादिदिनेषु च ।
करञ्जबीजसिद्धेन क्षीरेण कथितैस्तथा ॥ २१ ॥
सक्षौद्रैर्द्विनिशारोध्रपटोलीयष्टिकिंशुकैः ।
कुरण्टमुकुलोपेतैर्मुञ्चेदेनाह्नि सप्तमे ॥ २२ ॥
सम्यक् छिन्ने भवेत्स्वास्थ्यं हीनातिच्छेदजान्गदान् ।
सेकाञ्जनप्रभृतिभिर्जयेल्लेखनबृंहणैः ॥ २३ ॥
सिता-मनःशिलैलेय लवणोत्तमनागरम् ।
अर्धकर्षोन्मितं तार्क्ष्यं पलार्धं च मधुप्लुतम् ॥ २४ ॥
अञ्जनं श्लेष्मतिमिरपिल्लशुक्रार्मशेषजित् ।

व्याख्या—उक्तविधि से सम्यक्—उचित छेदन होने पर मधु, त्रिकटु तथा सैन्धव लवण मिला कर प्रतिसारण करे फिर कोसे घृत का सेचन करे और फिर मधु एवं घृत के मिश्रण को चुपड़ कर बन्धन बांध देवे।

और फिर तीसरे आदि दिनों में बन्धन खोल कर करञ्ज बीज के योग से सिद्ध दूध से सेचन किया करे तथा (अथवा)— हलदी, दारुहलदी, लोध, परवल के पत्र, मुलेठी, पलास के फूल तथा कटसरैया की कलियों के क्वाथ में मधु मिलाकर सेचन करता रहे और सातवें दिन बन्धन सदा के लिये खोल देवे (आतपाऽऽकाशदर्शनं परिहरेत्)।

सम्यक् छेदन होने पर नेत्र स्वस्थ हो जाता है और हीनच्छेदन तथा अतिच्छेदन से उत्पन्न रोगों—उपद्रवों को लेखन एवं बृंहण सेचनों तथा अञ्जनों के प्रयोग से शान्त करे।

यथा लेखन अञ्जन—मिशरी, मैनसिल, ऐलवालुक नामक सुगन्धी द्रव्य, सैन्धव लवण तथा सोंठ आधा कर्ष, रसवत २ कर्ष पीसकर मधु में मिला देवे यह अञ्जन— कफ विकार, तिमिर, पिल्ल, शुक्र तथा अर्मशेष (हीन-छिन्न अर्म) को नष्ट करता है ॥ २०-२४ ॥

त्रिफलैकतमद्रव्यत्वचं पानीयकल्किताम् ॥ २५ ॥
शरावपिहितां दग्ध्वा कपाले चूर्णयेत्ततः ।
पृथक्स्रोतोऽञ्जनरसैः पृथगेव च भाविताम् ॥ २६ ॥
सा मषी शोषिता पेष्या भूयो द्विलवणान्विता ।
त्रीण्येतान्यञ्जनान्याह लेखनानि परं निमिः ॥ २७ ॥

महर्षि निमिप्रोक्त तीन अञ्जन—

व्याख्या—त्रिफला के किसी एक फल का छिलका लेकर और जल में पीसकर, मिट्टी के कपाल में धर कर और उसका शराव (ढकना) से मुख रोधकर जला देवे, शीतल होने पर निकाल कर पीस लेवे, और त्रिफला के पृथक् २ रस की भावना देकर और सुखा कर पुनः पीस लेवे और सैन्धव लवण तथा सोंचर लवण सम भाग मिलाकर—भलीभाँति पीसकर रख लेवे। यह तीन अञ्जन मषी के से काले होते हैं। यह लेखन अञ्जन हैं और इनका निर्माणोपदेश महर्षि निमि ने किया था ॥

वक्तव्य—निमि विदेहाधिप महर्षि का नाम है वह शालाक्यतन्त्र का विद्वान् था। उसकी चर्चा सु. उ. तं. अध्याय १ में इस प्रकार है—

शालाक्यतन्त्राऽभिहिता विदेहाऽधिपकीर्तिता ॥२५-२७॥

सिराजाल चिकित्सा—

सिराजाले सिरा यास्तु कठिना लेखनौषधैः ।
न सिध्यन्त्यर्मवत्तासां पिटिकानां च साधनम् ॥२८॥

व्याख्या—सिराजाल नामक रोग में—जो सिरा कठोर होती हैं वे लेखन औषधों से सिद्ध नहीं होतीं उनकी चिकित्सा अर्म के समान करे और कठोर सिरापिटिकाओं की चिकित्सा भी अर्म के समान करे ॥

वक्तव्य—अ. सं. अ. १४ का पाठ इस प्रकार है यथा—सिराजाले तु सिराः स्थूलाः कठिनाश्च (वाः स्थूः ताः) बडिशेन गृहीत्वा मण्डलाग्रेण उल्लिखेत्। सिरापिटिकाः सूच्यग्रेण अवलम्बिताः कृष्णं अनुपघ्नन् छिन्द्यात् त्वचः लिखेत् अर्मवत् च एतयोः शेष माचरेत्। अर्थात् सिराजाल नामक रोग में जो स्थूल एवं कठोर सिरा हों उनको बडिश नामक यन्त्र द्वारा पकड़ कर मण्डलाग्र नामक शस्त्र द्वारा लेखन करे। अर्म और सिराज पिटिकाओं को सूची के अग्रभाग से लटका—उठा कर कृष्णमण्डल को बचाकर छेदन कर्म करे तथा त्वचा का लेखन करे और शेष उपचार अर्म के समान करे। इसके लिये—सु. उ. अ. १५ के श्लोक २०-२१ तथा २२ देखिये ॥२८।

कृष्णमण्डल गत रोगों की चिकित्सा—

शुक्र चिकित्सा—

दोषानुरोधाच्छुक्रेषु स्निग्धरूक्षवराघृतम् ।
तिक्तमूर्ध्वमसृक्स्रावो रेकसेकादि चेष्यते ॥ २९ ॥

व्याख्या—सामान्य चिकित्सा—शुक्र नामक रोगों में—दोषों के अनुसार स्नेह मिश्रित अथवा रूक्ष-केवल वरा (त्रिफला) का चूर्ण खाना चाहिये। अथवा—तिक्त घृत का पान करे और रक्तमोक्षण करे तथा विरेचन एवं सेचन आदि करे ॥

वक्तव्य - अ. सं. उ. अ. १४—

शुक्रकेषु यथास्वं दोषानुसारेण त्रिफला घृत पान रक्त मोक्ष विरेचन आश्चोतन मुखालेप तर्पण पुटपाकान् प्रयुञ्जीत।

विशेष चिकित्सा—

त्रिवृद्दारिणा पक्वं क्षतशुक्रे घृतं पिबेत् ।
सिरयाऽसृग् हरेद्रक्तं जलौकोभिश्च लोचनात् ॥३०॥
सिद्धेनोत्पलकाकोलीद्राक्षायष्टिविदारिभिः ।
सासतेनाजपयसा सेचनं सलिलेन वा ॥ ३१ ॥

रागाश्रुवेदनाशान्तौ परं लेखनमञ्जनम् ।

व्याख्या—क्षतजनित शुक्र रोग में—निसोत के क्वाथ से तीन बार पकाया गया घृत पीवे । इससे विरेचन किया जाता है । सिरावेध करके रक्तमोक्षण करे और नेत्र में सञ्चित रक्त को जोंक लगाकर निकाले । जोंक वर्त्मों पर लगाई जाती है ।

तत्पश्चात्—कमल, क्षीरकाकोली, दाख, मुलेठी तथा विदारीकन्द के योग से सिद्ध बकरी के दूध में खण्ड मिलाकर सेचन करे अथवा कमल आदि से सिद्ध जल से सेचन करे ।

इस प्रकार—लालिमा, अश्रुस्राव तथा वेदना की शान्ति हो जाने पर निम्नलिखित लेखन अञ्जन का प्रयोग करे ।।३०-३१।।

क्षतशुक्रहर वर्ति —

वर्तयो जातिमुकुललाक्षागैरिकचन्दनैः ॥ ३२ ॥
प्रसादयन्ति पित्तास्रं घ्नन्ति च क्षतशुक्रकम् ।
दन्तैर्दन्तिवराहोष्ट्रगवाश्वाजखरोद्भवैः ॥ ३३ ॥
सशङ्खमौक्तिकाम्भोधिफेनैर्मरिचपादिकैः ।
चक्षुशुक्रमपि व्यापि दन्तवर्तिर्निवर्तयेत् ॥ ३४ ॥
तमालपत्रं गोदन्तशङ्खफेनोऽस्थि गार्दभम् ।
ताम्रं च वर्तिर्मूत्रेण सर्वशुक्रकनाशिनी ॥ ३५ ॥
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाणि धातवस्त्र्यूषणं त्रुटिः ।
करञ्जबीजं लशुनो व्रणसादि च भेषजम् ॥ ३६ ॥
सव्रणाव्रणगम्भीरत्वक्स्थशुक्रघ्नमञ्जनम् ।

व्याख्या—चमेली की कलियाँ (अविकसित पुष्प), लाख, गेरू तथा श्वेत चन्दन (अथवा लाल चन्दन) को जल में पीसकर बत्ती बनावे और जल में घिसकर नेत्र में लगावे । यह बत्ती—पित्त एवं रक्त को शुद्ध करती है तथा क्षतज शुक्र को नष्ट करती है ।

दन्त वर्ति—

हाथी, सूअर, ऊंट, गौ, घोड़ा, बकरा तथा गधा के दन्त, शंख, मोती तथा समुद्र फेन १-१ तो० मरिच ॥ तो० सबको जल में पीसकर बत्ती बनावे । यह बत्ती कृष्णमण्डल पर व्याप्त क्षत शुक्र को तथा शुद्ध शुक्र को नष्ट करती है ।

तमालपत्र, गौ का दन्त, शंख, समुद्र झाग, गधा की अस्थि तथा ताम्र भस्म । सबको गोमूत्र में पीसकर बत्ती बनावे । यह सब प्रकार के शुक्र को नष्ट करती है ।

सब प्रकार के यथालाभ रत्न, हाथी आदि के दन्त, गौ आदि के शृंग, ताम्र आदि धातु, सोंठ, मरिच, पीपल, छोटी इलायची, करंज के बीज, लशुन तथा व्रणसादी—स्वर्णक्षीरी आदि औषध द्रव्य को जल में पीसकर अंजन बनावे । यह अंजन व्रण शुक्र, अव्रण शुक्र तथा गम्भीर त्वचा में स्थित शुक्र को नष्ट करता है । देखिये अ. ११ का श्लोक ।।२४-२५।।

वक्तव्य—इस अञ्जन का पाठ-अ. सं. उ. अ १४ में इस प्रकार है—वैडूर्यं स्फटिक शंख मुक्ता विद्रुम रूप्य अयस् त्रपु ताम्र सीस आल मनःशिला कुक्कुटाण्डत्वक् समुद्रफेन रसांजन सैन्धवैः अजापयः पिष्टैः वर्त्यः छायाशुष्काः क्षौद्रमृष्टाः प्रातः सायं च प्रयुक्ताः व्रणशुक्रनुदः ॥ ३२-३६ ॥

निम्नक्षत शुक्र चिकित्सा—

निम्नमुन्नमयेत्स्नेहपाननस्यरसाञ्जनैः ॥ ३७ ॥
सरुजं नीरुजं तृप्तिपुटपाकेन शुक्रकम् ।

व्याख्या—निम्न शुक्र (अ. ११ का श्लोक २३ देखिये) यदि वेदनायुक्त हो तो उसे स्नेहपान, स्निग्ध नस्य तथा स्निग्ध रसांजन (रस रूप अंजन काजल) का प्रयोग करके ऊपर उठावे—निम्न स्थल को ऊँचा करे । यदि वेदनारहित हो तो तर्पण योगों एवं पुटपाक योगों के प्रयोग से ऊपर उठावे ।।

वक्तव्य—और उठ जाने पर उपनाशक उपचार करे ।३७।

शुद्ध शुक्र चिकित्सा—

शुद्धशुक्रे निशायष्टीसारिवाशाबराम्भसा ॥ ३८ ॥
सेचनं रोध्रपोटल्या कोष्णाम्भोमग्नयाऽथवा ।
बृहतीमूलयष्ट्याह्व-ताम्रसैन्धवनागरैः ॥ ३९ ॥
धात्रीफलाम्बुना पिष्टैर्लेपितं ताम्रभाजनम् ।
यवाज्यामलकीपत्रैर्बहुशो धूपयेत्ततः ॥ ४० ॥
तत्र कुर्वीत गुटिकास्ता जलक्षौद्रपेषिताः ।
'महानीला' इति ख्याताः शुद्धशुक्रहराः परम् ॥४१॥

व्याख्या—शुद्ध शुक्र नामक रोग में—हल्दी, मुलेठी, सारिवा तथा पठानी लोध के क्वाथ से सेचन करे अथवा लोध के चूर्ण की पोटली को कोसे जल में भिगोकर सेचन करे ।

महानीला गुटिका—

वनभण्टा की जड़ की छाल, मुलठी, ताम्र भस्म, सैन्धव लवण तथा सोंठ को आमला के रस में पीसकर ताम्र के कटोरा में लेप कर देवे और जौ तथा आमला के पत्रों को घृत में मिलाकर बहुत बार धूप देवे तत्पश्चात् गोलियाँ बनावे । इनका नाम "महानीला" है क्योंकि इनका वर्ण नीला होता है । इनको जल एवं मधु में घिस कर नेत्र में लगावे । ये शुद्ध शुक्र को नष्ट करती है ॥

वक्तव्य—पूर्वोक्त दन्तवर्त्ति भी (श्लो० ३५) शुद्ध शुक्र को नष्ट करती है ॥ ३८-४१ ॥

स्थिर शुक्र चिकित्सा—

स्थिरे शुक्रे घने चाऽस्य बहुशोऽपहरेदसृक् ।

शिरःकायविरेकांश्च पुटपाकांश्च भूरिशः ॥४२॥

व्याख्या—जो शुक्र स्थिर (चिरकालीन-पुराना) तथा घन (बहल-मोटा-स्थूल) हो उसका बहुत बार रक्तस्रवण करे और शिरोविरेचन नस्य देवे एवं कायविरेचन करे तथा बहुत बार पुटपाक योगों का प्रयोग करे ॥

वक्तव्य—शुक्रोत्सेधनार्थं शुद्ध शुक्र में हर्षण कर्म किया जाता है ॥ ४२ ॥

शुक्रहर्षण के उपाय—

कुर्यान्मरिचवैदेहीशिरीषफलसैन्धवैः ।
हर्षणं त्रिफलाक्वाथपीतेन लवणेन वा ॥ ४३ ॥
कुर्याद्ञ्जनयोगौ वा श्लोकार्धगदिताविमौ ।
शङ्ख-कोलास्थि-कतक-द्राक्षा-मधुक-माक्षिकैः ॥ ४४ ॥
सुरादन्तार्णवमलैः शिरीषकुसुमान्वितैः ।
धात्रीफणिज्जकरसे क्षारो लाङ्गलिकोद्भवः ॥ ४५ ॥
उषितः शोषितश्चूर्णः शुक्रहर्षणमञ्जनम् ।

व्याख्या शुद्ध शुक्र में—मरिच, पीपल, सिरस के बीज तथा सैन्धव लवण का अञ्जन करे। अथवा—लवण को त्रिफला के क्वाथ की भावना देकर—अंजन करे। इस अंजन से शुक्र का हर्षण होता है—वह उगल आता है—ऊँचा हो जाता है।

अथवा—शंख, बेर की गुठली की गिरी, निर्मली, दाख, मुलेठी तथा मधु मिलाकर अंजन करे।

अथवा—सुरा, गौ का दन्त, समुद्रफेन तथा सिरस के पुष्प पीसकर अंजन करे। इनसे भी हर्षण होता है।

अथवा—कलिहारी के क्षार को—आमला तथा मरुवा के रस में डालकर धर देवे सूखने पर पीस लेवे और अंजन करे। यह शुक्र का हर्षण करता है ॥४३-४५॥

शुक्रनाशक अंजन—

मुद्गा वा निस्तुषाः पिष्टाः शङ्खक्षौद्रसमायुताः ॥४६॥
सारो मधूकान्मधुमान् मज्जा वाऽक्षात्समाक्षिका ।
गो-खराऽश्वोष्ट्रदशनाः शङ्खः फेनः समुद्रजः ॥ ४७ ॥
वर्तिरर्जुनतोयेन हृष्टशुक्रकनाशिनी ।

व्याख्या—हरे मूंग की धुली दाल का आटा शंख तथा मधु मिलाकर अथवा महुवा का सार मधु मिलाकर अथवा बहेड़ा की गिरी मधु मिलाकर, अथवा—गौ, गधा, घोड़ा तथा ऊँट के दन्त, शंख, समुद्र फेन को अर्जुन वृक्ष की छाल के क्वाथ में पीस बत्ती बना अंजन करने से हृष्ट (जिसका उक्त विधि से हर्षण किया गया है) शुक्र का नाश हो जाता है ॥ ४६-४७ ॥

शुक्र में लेखन कर्म आदि—

उत्सन्नं वा सशल्यं वा शुक्रं वालादिभिर्लिखेत् ॥४८॥
सिराशुक्रे त्वदृष्टिघ्ने चिकित्सा व्रणशुक्रवत् ।

व्याख्या—जो शुक्र—ऊँचा हो अथवा शल्य युक्त हो उसको वाल आदि द्वारा लेखन करे। और जो सिरा शुक्र हो परन्तु उससे दृष्टि का नाश न हो गया हो उसकी चिकित्सा व्रणशुक्र (क्षत शुक्र) के समान करे ॥४९॥

अंजन वर्ति—

पुण्डर्यष्ट्याह्वकाकोलीसिंहीलोहनिशाऽञ्जनम् ।
कल्कितं छागदुग्धेन सघृतैर्धूपितं यवैः ।
धात्रीपत्रैश्च पर्यायाद्वर्तिर्नेत्राञ्जनं परम् ॥ ५० ॥

व्याख्या—पुण्डेरिया, मुलेठी, काकोली, वनभण्टा की जड़ की छाल, लोहभस्म, हलदी तथा काला सुरमा लेकर बकरी के दूध में पीसकर और गोघृत तथा जौ की धूप और आमला के पत्तों की धूप पर्यायपूर्वक कई बार देकर बत्ती बनावे। यह अंजन भी शुक्र नाशनार्थ उत्तम है। जल में घिसकर लगाया जाता है। यह सिरा शुक्र नाशक है ॥४९-५०॥

तथा—

अशान्तावर्मवच्छस्त्रमजकाख्ये च योजयेत् ।

व्याख्या—यदि उक्त चिकित्सा द्वारा—सिराशुक्र शान्त न हो तो अर्म के समान शस्त्र कर्म करे और अजका जात में भी शस्त्र कर्म करे ॥

वक्तव्य—अप्रशान्तमेवममंवत् साधयेत्, समाक्षिकं तु रसाञ्जनं प्रतिसारणम् । सप्तमे च दिवसे कुक्कुटाण्डकपाल-स्फटिकशंखचन्दनमनःशिलाऽऽलैः अश्ववराहदशनैः च वर्त्तिं कृत्वा अञ्जयेत् । उदधिकफशंखचन्दनैः जलपिष्टैः वर्त्तिः मधुघृष्टा प्रत्यञ्जनम् । शिराशुक्रवत् अनुपशमे पश्यति च गातुरे किञ्चित् इदमेव वा सकृत् कुर्वीत । अर्थात्—यदि शिरा शुक्र शान्त न हो तो अर्म के समान चिकित्सा करे और विशेषतः रसवत को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे और सातवें दिन—मुरगी के अण्डों के छिलके, स्फटिक भस्म, शंख, लालचन्दन, मैनसिल, हरिताल घोड़ा का तथा सूअर का दन्त पीसकर बत्ती बनाकर अञ्जन करे और समुद्र फेन, शंख तथा लालचन्दन को जल में पीसकर, बत्ती बनाकर अञ्जन तथा मधु में घिसकर प्रत्यंजन—प्रति दिन अंजन करे। यदि ऐसा करने पर भी शिराशुक्र शान्त न हो तथा रोगी देखता हो—दृष्टि का नाश न हो गया हो तो यही सब चिकित्सा एक बार करे। अ. सं. उ. अ १४। शुक्र की चिकित्सा सु. उ. अ. १२ में देखिये।

अजका चिकित्सा—

अजकायामसाध्यायां शुक्रेऽन्यत्र च तद्विधैः ॥ ५१ ॥
वेदनोपशमं स्नेहपानासृक्स्रावणादिभिः ।
कुर्याद्वीभत्सतां जेतुं शुक्रस्योत्सेधसाधनम् ॥ ५२ ॥
नालिकेरास्थिभल्लातताळवंशकरीरजम् ।

भस्माद्भिः स्रावयेत्ताभिर्भावयेत्करभास्थिजम् ॥ ५३ ॥
चूर्णं शुक्रेष्वसाध्येषु तद्वैवर्ण्यघ्नमञ्जनम् ।
साध्येषु साधनायालमिदमेव च शीलितम् ॥ ५४ ॥

व्याख्या—यद्यपि अजका नामक रोग असाध्य होता है तथापि उसमें तथा असाध्य शुक्र में—स्नेहपान तथा रक्तस्रावण आदि उपायों द्वारा वेदना की शान्ति करे तथा बीभत्सता (असुन्दरता) को दूर करने के लिए—शुक्रोत्सेधन चिकित्सा करे ।

शुक्रोत्सेधाऽञ्जन—नारियल का खोपड़ा, भिलावा, हरिताल तथा बाँस के करीर की भस्म को जल में घोल-छानकर क्षार जल निकाल लेवे और उससे ऊँट की अस्थि के चूर्ण की भावना देवे तथा पीसता रहे ।

यह अञ्जन—असाध्य शुक्रों की भी विवर्णता को नष्ट करता है और इसी अंजन को दीर्घकाल पर्यन्त लगाने से साध्य शुक्र तो नष्ट हो ही जाते हैं ॥५१-५४॥

अजका पर शस्त्र कर्म—

अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या विस्राव्य चोदकम् ।
समं प्रपीड्याङ्गुष्ठेन वसार्द्रेणानुपूरयेत् ॥ ५५ ॥
व्रणं गोमांसचूर्णेन बद्धं बद्धं विमुच्य च ।
सप्तरात्राद्व्रणे रूढे कृष्णभागे समे स्थिरे ॥ ५६ ॥
स्नेहाञ्जनं च कर्तव्यं नस्यं च क्षीरसर्पिषा ।
तथापि पुनराध्माने भेदच्छेदादिकां क्रियाम् ॥ ५७ ॥
युक्त्या कुर्याद्यथा नातिच्छेदेन स्यान्निमज्जनम् ।

व्याख्या—अजका को एक ओर (पार्श्व) से सूई द्वारा वेधकर उसका जल निकाल देवे और तदनन्तर—अंगूठा पर वसा लगाकर दबा देवे—वसालिप्त अंगूठे द्वारा दबा देवे और वसा चुपड़ कर गोमांस का चूर्ण व्रण में भर देवे और सात दिन इसी प्रकार बन्धन करता रहे। सातवें दिन बन्धन खोल देवे। जब व्रणरोपण हो जाय तथा कृष्ण भाग समतल तथा स्थिर—दृढ़ हो जाय तब स्निग्ध अंजन करता रहे और दूध से निकाले गये घृत का नस्य देता रहे ।

इसी प्रकार उपाय करने पर भी यदि पुनः फूल जाय तो भेदन एवं छेदन आदि उपयुक्त कर्म युक्तिपूर्वक करे जिससे दृष्टि का नाश न हो जाय ॥५५-५७॥

अन्य उपचार—

नित्यं च शुक्रेषु शृतं यथास्वं
पाने च मर्शे च घृतं विदध्यात् ।
न हीयते लब्धबला तथान्त-
स्तीक्ष्णाञ्जनैर्दृक् सततं प्रयुक्तैः ॥ ५८ ॥

व्याख्या—शुक्र रोगों में—प्रति दिन त्रिफला घृत आदि का पान होना चाहिये और उन्हीं की नस्य का प्रयोग होना चाहिये इस प्रकार दृष्टि को बल मिलता रहता है और शुक्र नाशन के लिये निरन्तर प्रयुक्त तीक्ष्ण अंजनों से भीतर २ दृष्टि का नाश भी नहीं होता ॥

वक्तव्य—तीक्ष्ण अञ्जनादि के दीर्घकाल पर्यन्त लगाने से दृष्टि दुर्बल अथवा नष्ट हो सकती है अतः स्नेहों का पान एवं नस्य करने से दृष्टि की रक्षा हो सकती है। अजका जात को बकरी की मेंगन का सा लिखा है परन्तु प्रारम्भ में वह गेहूँ के दाना जैसी अथवा उससे भी छोटी रहती है।५८।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथाऽतो दृष्टिरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब दृष्टि मण्डल के रोगों का वर्णन करेंगे। इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—दृष्टिगत रोगों का वर्णन सु. उ. अ. ७ तथा अ. सं. उ. अ. १५ में देखिये।

दृष्टिरोग का सामान्य लक्षण—

सिरानुसारिणि मले प्रथमं पटलं श्रिते ।
अव्यक्तमीक्षते रूपं व्यक्तमप्यनिमित्ततः ॥ १ ॥
प्राप्ते द्वितीयं पटलमभूतमपि पश्यति ।
भूतं तु यत्नादासन्नं दूरे सूक्ष्मं च नेक्षते ॥ २ ॥
दूरान्तिकस्थं रूपं च विपर्यासेन मन्यते ।
दोषे मण्डलसंस्थाने मण्डलानीव पश्यति ॥ ३ ॥
द्विधैकं दृष्टिमध्यस्थे बहुधा बहुधा स्थिते ।
दृष्टेरभ्यन्तरगते ह्रस्ववृद्धविपर्ययम् ॥ ४ ॥
नान्तिकस्थमधःसंस्थे दूरगं नोपरि स्थिते ।
पार्श्वे पश्यन्न पार्श्वस्थे तिमिराख्योऽयमामयः ॥ ५ ॥
प्राप्नोति काचतां दोषे तृतीयपटलाश्रिते ।
तेनोर्ध्वमीक्षते नाधस्तनुचैलावृतोपमम् ॥ ६ ॥
यथावर्णं च रज्येत दृष्टिर्हीयेत च क्रमात् ।
तथाप्युपेक्षमाणस्य चतुर्थं पटलं गतः ॥ ७ ॥
लिङ्गनाशं मलः कुर्वन् छादयेद् दृष्टिमण्डलम् ।

व्याख्या—सिरा मार्गों द्वारा जब दोष—प्रथम (बाह्य-बाहिरी पटल में आश्रित हो जाता है तब—अक्षर आदि रूपों को अव्यक्त (अस्पष्ट) देखता है, कभी कभी किसी कारण के बिना ही व्यक्त भी देखता है। अर्थात्—सब रूप अव्यक्त दीखते हैं और कभी २ व्यक्त भी दीखते हैं। जब दोष दूसरे पटल में आश्रित होता है तब अभूत-अविद्यमान—मक्षिका, मशक, केश, जाल, मण्डल,

पताका, मरीचि, कुण्डल वर्षा, मेघ तथा अन्धकार आदि दिखाई पड़ते हैं और भूत अर्थात् विद्यमान भी मक्षिका आदि नहीं दीखते या यत्न करने पर दीखते हैं, समीपस्थ रूप दूर प्रतीत होते हैं और सूक्ष्म रूप तो दिखते ही नहीं। दूर के रूप समीप और समीप के दूर प्रतीत होते हैं।

जब दोष मण्डलाकार स्थित होता है तब अभूत मण्डल दिखते हैं (मण्डलाकार रूप प्रतीत होते हैं)।

जब दोष दृष्टिमण्डल के मध्यभाग में स्थित होता है तब एक रूप (पदार्थ) दो भागों में विभक्त दीखता है।

जब बहुत—अनेक भागों में विभक्त दोष रहता है तब एक द्रव्य अनेक भागों में विभक्त दीखता है।

जब दोष दृष्टि के भीतर स्थित रहता है तब—छोटा रूप बड़ा और बड़ा रूप छोटा प्रतीत होता है। जब दोष दृष्टि के अधो भाग में स्थित रहता है तब समीपस्थ रूप नहीं दीखता।

जब दोष—दृष्टि मण्डल के ऊपरी भाग में स्थित रहता है तब दूरस्थ रूप नहीं दीखता।

जब दोष—दृष्टि मण्डल के एक ओर स्थित रहता है तब उस ओर का रूप नहीं दीखता !

इन सब का नाम "तिमिर रोग" है। और जब दोष तृतीय पटल में आश्रित होता है तब उक्त तिमिर रोग "काच" भाव को प्राप्त हो जाता है उससे—ऊपर की ओर का रूप दीखता है परन्तु नीचे की ओर का रूप नहीं दीखता। और जो कुछ दीखता है वह पतले वस्त्र से ढंका प्रतीत होता है यथा—मानव का शरीर—कर्ण, नासा एवं नेत्र से विहीन दीखता है। और वातादि दोषों में से जिस दोष की प्रबलता होती है उसके अनुसार दृष्टिमण्डल का वर्ण हो जाता है। और दृष्टि (दर्शन शक्ति) क्रमशः क्षीण होती जाती है।

इस दशा में भी यदि उपेक्षा की जाती है उचित उपचार नहीं किया जाता तो—दोष चौथे पटल में पहुँच कर लिङ्ग अर्थात् दृष्टि का नाश करता हुआ दृष्टिमण्डल को ढंक लेता है।

वक्तव्य—सु. उ. अ. ७—

मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।
खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः।३।
आवृतां पटलेनाऽक्ष्णोः बाह्येन विविराऽऽकृतिम्।
शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुः नयनचिन्तकाः।४।

अर्थात्—दृष्टिमण्डल मसूर की दाल के समान आकार वाला दीखता है, वह मण्डल-पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के स्वच्छ भागों से निर्मित है, उसका वर्ण—खद्योत (जुगनू) अथवा स्फुलिङ्ग (अग्नि कण) का सा है और अविनाशी तेजस् से समिद्ध है अर्थात् अग्नि तत्त्व ही उसका इन्धन है। बाह्य पटल से आवृत रहता है और भीतर से विवर के आकार वाला है, उस मण्डल को शीत आहार विहार अनुकूल होते हैं—लाभदायक होते हैं और उष्ण हानिकारक। ऐसा नेत्र निर्माण के विद्वानों का कथन है। यह दृष्टिमण्डल – नेत्र गोलक के मध्य में स्थित है।

नेत्र गोलक—सु. उ. अ. १—

विद्यात् द्वयंगुलबाहुल्यं स्वांऽगुष्ठोदरसम्मितम्।
द्वयंगुलं सर्वतः सार्धं भिषक् नयनबुद्बुदम्॥ १०॥
सुवृत्तं गोस्तनाऽऽकारं सर्वभूतगुणोद्भवम्।
पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात्॥ ११॥
आकाशात् अश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे।

अर्थात्—नेत्रगोलक दो अंगुल मोटा, अंगूठा के उदर के समान उन्नतोदर तथा २॥ अंगुल लम्बा एवं चौड़ा होता है और गौ के स्तन के समान आकार वाला गोल होता है। इसकी उत्पत्ति पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के सारभाग से होती है। इसमें मांस पृथ्वी का, रक्त अग्नि का, कृष्ण भाग वायु का, श्वेतभाग जल का तथा अश्रुमार्ग आकाश का विशिष्ट भाग होता है। यह चक्षु नामक इन्द्रिय का अधिष्ठान है इसके द्वारा रूप का ग्रहण-ज्ञान होता है।१-७।

तिमिर रोग का विशिष्ट लक्षण—

तत्र वातेन तिमिरे व्याविद्धमिव पश्यति॥ ८॥
चलाविलारुणाभासं प्रसन्नं चेक्षते मुहुः।
जालानि केशान्मशकान् रश्मींश्चोपेक्षितेऽत्र च॥ ९॥
काचीभूते दृगरुणा पश्यत्यास्यमनासिकम्।
चन्द्रदीपाद्यनेकत्वं वक्रमृज्वपि मन्यते॥ १०॥
वृद्धः काचो दृशं कुर्याद्रजोधूमावृतामिव।
स्पष्टारुणाभां विस्तीर्णां सूक्ष्मां वा हतदर्शनाम्॥ ११॥
स लिङ्गनाशो वाते तु सङ्कोचयति दृक्सिराः।
दृङ्मण्डलं विशत्यन्तर्गम्भीरा दृगसौ स्मृता॥ १२॥

व्याख्या—तिमिर रोग में वायु की अधिकता रहने पर, रूप विन्धे से, चञ्चल-चलायमान, मलिन अथवा लाल काले से दीखते हैं और कभी-कभी स्वच्छभी दीखते हैं और जाल, केश, मच्छर तथा रश्मियाँ कभी कभी दीखने लगती हैं। इस अवस्था में भी यदि रोग की उपेक्षा की जाती है तो तिमिर काच का रूप धारण कर लेता है उस दशा में—दृष्टि का वर्ण अरुण (लाल काला) हो जाता है और दूर से दूसरे का मुख नासिका रहित दीखता है, चन्द्र एवं दीपक अनेक दीखते हैं सीधा रूप रेखा एवं स्थाणु आदि टेढा दीखता है। और जब काच बढ़ जाता है तब—दृष्टि – धूलि एवं धूम से ढकी सी प्रतीत होती है और उस का वर्ण अरुण सा स्पष्ट दीखता है तथा दृष्टिमण्डल फैला

हुआ अथवा सिकुड़ा हुआ रहता है तथा दृष्टि (दर्शन शक्ति) नष्ट हो गई होती है (यह सब वैद्य को देखने में आता है)। यह "लिंगनाश" कहलाता है।

गम्भीरिका नामक दृष्टि रोग का वर्णन—
जब वायु दृष्टि मण्डल की शिराओं को संकुचित करने लगता है तब दृष्टि मण्डल भीतर की ओर प्रविष्ट हो जाता है इस दृष्टि रोग का नाम "गम्भीरिका" है।

वक्तव्य—सु. उ. तं. अ. ७—

दृष्टिः विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति।
रुजाऽवगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥४१॥

अर्थात्—वायु की विकृति से—दृष्टिमण्डल का रूप विकृत हो जाता है और वह भीतर की ओर धँस जाता है तथा गहरी वेदना होती है इस दृष्टि रोग का नाम 'गम्भीरिका" है ॥८-१२।

पित्तज दृष्टिरोग

पित्तजे तिमिरे विद्युत्खद्योतद्योतदीपितम्।
शिखितित्तिरिपिच्छाभं प्रायो नीलं च पश्यति॥ १३॥
काचे दृक् काचनीलाभा तादृगेव च पश्यति।
अर्केन्दुपरिवेषाग्निमरीचीन्द्रधनूंषि च ॥ १४॥
भृङ्गनीला निरालोका दृक् स्निग्धा लिङ्गनाशतः।
दृष्टिपित्तेन ह्रस्वाख्या सा ह्रस्वा ह्रस्वदर्शनी ॥ १५॥
भवेत्पित्तविदग्धाख्या पीता पीताभदर्शना।

व्याख्या—पित्तजनित तिमिर रोग में— बिजली, जुगनू तथा अन्यान्य चमकीले रूप दीखते हैं और मोर एवं तीतर के पंख के से नीले रूप बार बार दीखते हैं। जब पित्तजनित काच हो जाता है तब—दृष्टि मण्डल नीले काच का सा दीखता है हो जाता है और वैसे ही नील रूप दीखते हैं तथा—सूर्य, चन्द्र तथा उनके परिवेष (मण्डल) अग्नि, मरीचियाँ एवं इन्द्रधनुष दिखाई पड़ते हैं। लिंगनाश हो जाने पर—दृष्टिमण्डल—भ्रमर का सा नीला तथा स्निग्ध हो जाता है और दर्शनशक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। ह्रस्व नामक दृष्टि रोग—पित्त की विकृति से—ह्रस्व या ह्रस्वजाड्य नामक दृष्टि रोग हो जाता है उससे दृष्टि छोटी हो जाती है तथा रूपों को छोटा देखती है अर्थात् रूप छोटे प्रतीत होते हैं । पित्तविदग्ध दृष्टि—इस रोग में दृष्टिमण्डल—पीला हो जाता है और रूप भी पीले प्रतीत होते हैं—पीले दीखते हैं।

वक्तव्य—सु. उ. तं. अ. ७—

सह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्रात्ह्रस्वानिरूपाणि च येनपश्येत्।४०।

तथा

पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिः पीता भवेत् यस्य नरस्य दृष्टिः।
पीतानि रूपाणि च मन्यते यः स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः।३५।

अर्थात् वह ह्रस्व या ह्रस्वजाड्य नामक रोग है जिससे—दिन में कष्ट से दीखता है और सब रूप छोटे प्रतीत होते हैं।

पित्तविदग्ध दृष्टि—पित्त की विकृति से दृष्टि पीली हो जाती है और रूप भी पीले प्रतीत होते हैं उसका नाम "पित्त विदग्धा" है ॥ १३-१५॥

कफज दृष्टि रोग—

कफेन तिमिरे प्रायः स्निग्धं श्वेतं च पश्यति ॥ १६॥
शंखेन्दुकुन्दकुसुमैः कुमुदैरिव चाचितम्।
काचे तु निष्प्रभेन्द्वर्कप्रदीपाद्यैरिवाचितम् ॥ १७॥
सिताभासा च दृष्टिः स्याल्लिङ्गनाशे तु लक्ष्यते।
मूर्तः कफो दृष्टिगतः स्निग्धो दर्शननाशनः ॥ १८॥
बिन्दुर्जलस्येव चलः पद्मिनी पुटसंस्थितः।
उष्णे सङ्कोचमायाति छायायां परिसर्पति ॥ १९॥
शङ्खकुन्देन्दुकुमुद-स्फटिकोपमशुक्लिमा।

व्याख्या—कफ जनित तिमिर रोग में—प्रायः सब रूप (पदार्थ)—स्निग्ध एवं श्वेत तथा शख, चन्द्र, कुन्दपुष्प तथा श्वेतकमलों से व्याप्त हुए से दीखते हैं—प्रतीत होते हैं। कफजनित काच में—प्रभाहीन चन्द्र, सूर्य तथा दीप आदि से व्याप्त रूप (पदार्थ) दिखाई पड़ते हैं और दृष्टिमण्डल श्वेत सा दीखता है। कफजनित लिङ्ग नाश में—दृष्टि-मण्डल में—मूर्तिमान्तथा स्निग्ध कफ दिखलाई पड़ता है दृष्टि का नाशक है और वह कमलिनी के पत्रपर स्थित जल के बिन्दु का सा श्वेत होता है तथा उष्ण धूप में संकुचित हो जाता है और छाया में फैल जाता है और वह शंख, कुन्द पुष्प, चन्द्र, श्वेत कमल अथवा स्फटिक मणि का सा श्वेत होता है ॥ १६-१९ ॥

रक्तज दृष्टि रोग—

रक्तेन तिमिरे रक्तं तमोभूतं च पश्यति ॥ २०॥
काचेन रक्ता कृष्णा वा दृष्टिस्तादृक् च पश्यति।
लिङ्गनाशेऽपि तादृग् दृङ् निष्प्रभा हतदर्शना ॥ २१॥

व्याख्या—रक्त की विकृति से उत्पन्न तिमिर रोग में—लाल २ और अन्धकार के समान रूप दीखते हैं। रक्तजनित काच हो जाने पर—दृष्टिमण्डल लाल एवं काल हो जाता है और सभी रूप लाल एवं काले दीखते हैं। और रक्तजनित लिङ्गनाश में भी दृष्टिमण्डल लाल एवं काला सा हो जाता है और प्रभाहीन होता है तथा दृष्टि नष्ट हो जाती है ॥ २०-२१ ॥

द्वन्द्वज तथा त्रिदोषज दृष्टि रोग—

संसर्ग सन्निपातेषु विद्यात्सङ्कीर्णलक्षणान्।
तिमिरादीनकस्माच्च तैः स्याद्व्यक्ताकुलेक्षणम् ॥ २२॥
तिमिरे शेषयोर्दृष्टौ चित्रो रागः प्रजायते।

व्याख्या—द्विदोषज तथा त्रिदोषज तिमिर, काच

तथा लिङ्गनाश में उक्त सब लक्षण मिले जुले रहते हैं। उक्त तिमिर में कभी कभी व्यक्त —स्पष्ट और कभी कभी व्याकुल दृष्टि होती है। और काच तथा लिङ्गनाश में विचित्र वर्ण होता है—वातादि दोषों के उक्त वर्णों का मिश्रित वर्ण होता है ॥ २२ ॥

नकुलान्ध या नकुलान्ध्य लक्षण—

द्योत्यते नकुलस्येव यस्य दृङ् निचिता मलैः ॥ २३ ॥
नकुलान्धः स तत्राह्नि चित्रं पश्यति नो निशि।

व्याख्या—जिस रोगी की दृष्टि—दोषों से विकृत होकर नेवले की दृष्टि के सदृश चमकती है वह "नकुलान्ध" कहलाता है अथवा जिस रोग में वैसा होता है वह रोग" "नकुलान्ध्य" कहलाता है। वह रोगी दिन में रूप–पदार्थों को विचित्र विविध वर्ण युक्त देखता है और रात्रि में कुछ नहीं देखता ॥

वक्तव्य—पदार्थों का रूप विचित्र प्रतीत होता है।२३।

दोषान्ध—रतौन्धी या नक्तान्ध्य लक्षण—

अर्केऽस्तमस्तकन्यस्तगभस्तौ स्तम्भमागताः ॥ २४ ॥
स्थगयन्ति दृशं दोषा दोषान्धः स गदोऽपरः।
दिवाकरकरस्पृष्टा भ्रष्टा दृष्टिपथान्मलाः ॥ २५ ।
विलीनलीना यच्छन्ति व्यक्तमत्राह्नि दर्शनम्।

व्याख्या—जब सूर्य की किरण अस्ताचल के मस्तक पर चली जाती हैं अर्थात् सूर्य छिप जाता है तब दोष—स्तब्ध होकर दृष्टि को ढक देते हैं। वह रोग "दोषान्ध" कहलाता है। और दिन में सूर्य की किरणों का स्पर्श होने से वे दोष—दृष्टि मार्ग से भ्रष्ट होकर और पिघल कर विलीन—नष्ट हो जाते हैं अतः दिन में स्पष्ट दर्शन होने लगता है—दीखने लगता है ।

वक्तव्य—इसका नाम "रतौंधी" है ॥२४-२५।

उष्ण विदग्ध दृष्टि—

उष्णतप्तस्य सहसा शीतवारिनिमज्जनात् ॥२६ ॥
त्रिदोषरक्तसम्पृक्तो यात्यूष्मोर्ध्वं ततोऽक्षिणि ।
दाहोषे मलिनं शुक्लमह्न्याविलदर्शनम् ॥ २७ ॥
रात्रावान्ध्यं च जायेत विदग्धोष्णेन सा स्मृता।

व्याख्या—उष्ण (धूप या अग्नि) से प्रतप्त मानव सहसा तत्काल शीतल जल में डुबकी मारता है तो उसकी उष्मा—वातादि तीनों दोषों एवं रक्त से मिलकर ऊपर की ओर नेत्रों में जा पहुँचती है इसलिये नेत्रों में दाह एवं सन्ताप होता है, शुक्ल भाग मलिन हो जाता है, दिन में धूमिल दिखता है, और रात्रि में कुछ नहीं दिखता अन्धापन हो जाता है। इस रोग का नाम "उष्ण विदग्ध दृष्टि" है ॥

वक्तव्य—सु. उ. तं. अ. ७ में दिवान्ध का वर्णन इस प्रकार है—

प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येत् निशि वीक्षते च।
रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताऽल्पभावादपि तानि पश्येत् ॥

नक्तान्ध्यका वर्णन—

त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य।
दिवा स सूर्याऽनुगृहीतचक्षुरीक्षेत रूपाणि कफाल्पभावात् ॥ ३८॥

अर्थात्—तीसरे पटल में दोष प्राप्त होने पर—दिन में नहीं दीखता परन्तु रात्रि में दीखता है क्योंकि रात्रि में दृष्टि पर शीत का अनुग्रह (शीतसात्म्य) होने के कारण तथा पित्त स्वल्प हो जाने से रात्रि में दीखने लगता है। इस दशा का नाम "दिवान्ध" या दिनौंधी है और जब स्वल्प दोष—तीनों पटलों में व्याप्त होता है तब नक्तान्ध्य नामक रोग सहसा उत्पन्न हो जाता है। इसमें रात्रि में नहीं दीखता परन्तु दिन में दीखता है क्योकि दिन में दृष्टिपर सूर्य का अनुग्रह (क्योंकि चक्षु की उत्पत्ति तेजस् से होती है) रहता है तथा कफ अल्प रहता है। इस दशा का नाम "रतौन्धी" है ॥२६-२७॥

अम्ल विदग्धा दृष्टि का लक्षण—

भृशमम्लाशनाद्दोषैः सास्रैर्या दृष्टिराचिता ॥२८ ॥
सक्लेदकण्डूकलुषा विदग्धाम्लेन सा स्मृता।

व्याख्या—अम्ल रसको अधिक खाने से रक्त युक्त तीनों दोषों की विकृति से जब दृष्टिमण्डल व्याप्त हो जाता है तब दृष्टि (सम्पूर्ण नेत्र ही)—क्लेद एवं कन्डू से युक्त एवं मलिन हो जाता है। इस रोग का नाम "अम्ल विदग्धा" है ॥

वक्तव्य—अम्लोषित, जो सु. उ. अ. ६ में अम्लाध्युषित कहा गया है, का वर्णन अगले अ. १५ के श्लो० १३ में देखिये ॥२८॥

धूमर रोग का वर्णन—

शोकज्वरशिरोरोगसन्तप्तस्यानिलादयः ॥ २९ ॥
धूमाविलां धूमदृशं दृशं कुर्युः स धूमरः।

व्याख्या—शोक, ज्वर अथवा शिरोरोग के सन्ताप से कुपित वातादि दोष—दृष्टिमण्डल को धूम का सा मलिन कर देते हैं और उससे सब रूप धूमिल-धूम के से मलिन दिखाई पड़ते हैं। इस रोग का नाम "धूमर" है ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. ७ में इस रोग का नाम "धूमदर्शी" है। यथा—

शोक ज्वराऽऽयास शिरोभितापैः अभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः।
स धूमकान् पश्यति सर्वभावात् तं धूमदर्शीति वदन्ति रोगम् ॥ ३९॥

अर्थात् शोक, ज्वर परिश्रम अथवा शिरोरोग से—जो दृष्टि पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे कि—सब पदार्थ धूमिल—धूसर दीखने लगते हैं उस रोग का नाम 'धूमदर्शी" है। अ. हृ. का किसी किसी प्रति में "धूसर" पाठान्तर है ॥२९॥

औपसर्गिक लिंगनाश का वर्णन—

सहसैवाल्पसत्त्वस्य पश्यतो रूपमद्भुतम् ॥ ३० ॥
भास्वरं भास्करादिं वा वाताद्या नयनाश्रिताः ।
कुर्वन्ति तेजः संशोष्य दृष्टिं मुषितदर्शनाम् ॥ ३१ ॥
वैडूर्यवर्णां स्तिमितां प्रकृतिस्थामिवाव्यथाम् ।
औपसर्गिक इत्येष लिङ्गनाशो

व्याख्या—मानसिक दौर्बल्य युक्त मानव—यदि सहसा—सुर ऋषि एवं गन्धर्व अथवा महासर्प आदि किसी अद्भुत रूप को देखता है अथवा सूर्य आदि अत्यन्त चमकीले रूप को अधिक समय तक—टकटकी लगाकर देखता है तो वातादि दोष—तेजस्—आलोचक पित्त को सुखाकर—दर्शन शक्ति को नष्ट कर देते हैं—दृष्टि की देखने की शक्ति को चुरा लेते हैं। इस दशा में दृष्टि मण्डल-वैडूर्य मणि के समान निर्मल बनी रहती है एवं स्वस्थ के समान किसी भी प्रकार की व्यथा से रहित बनी रहती है इस लिङ्गनाश का नाम औपसर्गिक-लिङ्गनाश है।

वक्तव्य—सु. उ. अ. ७ के अनुसार—

बाह्यो पुनः द्वौ इह संप्रदिष्टो निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ।
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापात् ज्ञेयस्त्वभिष्यन्द निदर्शनश्च ।
सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां सन्दर्शनेनाऽपि च भास्वराणाम् ॥४३॥
हन्येत दृष्टिः मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ।
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ।४४।

और—अभिघात चोट लगने से भी दृष्टि नष्ट हो जाती है उसका वर्णन इस प्रकार है—

विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणां अभीघातहता तु दृष्टिः ।४५।

अर्थात्—अभिघात—चोट लगने से—दृष्टि फट जाती है अथवा मन्द हो जाती है अथवा नष्ट हो जाती है ॥३०-३१॥

साध्याऽसाध्य विवेचन—

अत्र वर्जयेत् ।
विना कफाल्लिङ्गनाशान् गम्भीरां ह्रस्वजामपि ॥ ३२ ॥
षट् काचा नकुलान्धश्च याप्याः, शेषांस्तु साधयेत् ।
द्वादशेति गदा दृष्टौ निर्दिष्टाः सप्तविंशतिः । ३३ ॥

व्याख्या—उक्त सब रोगों में—कफजनित लिंगनाश के अतिरिक्त १—वातजलिंग नाश, २—पित्तज लिङ्गनाश, ३—संसर्गजलिङ्ग नाश, ४—संनिपातज लिङ्नाश, ५—रक्तज लिङ्गनाश तथा ६—औपसर्गिक लिङ्गनाश नामक ६ लिङ्ग नाश और गम्भीर तथा ह्रस्वजा (ह्रस्वा-ह्रस्व जाड्य) नामक दो रोग (सब ८ रोग) असाध्य होते है। और ६ काच अर्थात् १—वातज, २—पित्तज, ३—कफज, ४—ससर्गज, ५—संनिपातज तथा ६—रक्तज काच और नकुलान्ध नामक सात रोग याप्य होते हैं। और अवशिष्ट १२ रोग अर्थात् १ वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज, ५ संसर्गज, ६-संनिपातज तिमिर रोग, ७-कफजलिङ्ग नाश, ८-पित्तविदग्ध दृष्टि, ९-दोषान्ध (रतौन्धी) १०-उष्णविदग्ध दृष्टि, ११-अम्लविदग्ध दृष्टि तथा १२-धूमर नामक रोग साध्य होते हैं।

इस प्रकार दृष्टिमण्डल में २७ रोग होते हैं।

वक्तव्य—साध्याऽसाध्य का विवेचन करके चिकित्सा करनी चाहिये। जब रोग असाध्य अवस्था में हो तब चिकित्सा न करे और जब याप्य अथवा साध्य अवस्था में हो तब चिकित्सा करे। यथा जब तक काच कच्चा रहता है तब तक चिकित्सा नहीं की जाती और जब पक जाता है तब की जाती है ।३२-३३।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरतन्त्रे द्वादशोऽध्यायः ।१२।

त्रयोदशोऽध्यायः

अथाऽतस्तिमिरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब तिमिर रोग की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—तिमिर रोग चिकित्सा सु. उ. अ. १७ में तथा अ. सं. उ. अ. १६ में देखिये।

चिकित्सा संकेत—

तिमिरं काचतां याति, काचोऽप्यान्ध्यमुपेक्षया ।
नेत्ररोगेष्वतो घोरं तिमिरं साधयेद् द्रुतम् ॥ १ ॥

व्याख्या—उचित चिकित्सा न करने से—तिमिर रोग काच रोग का रूप धारण कर लेता है और काच रोग लिङ्गनाश का रूप धारण कर लेता है इस विचार से तिमिर रोग को बड़ा भीषण रोग समझना चाहिये। अतः उसकी चिकित्सा भी अत्यन्त शीघ्र करनी चाहिये ।२।

वक्तव्य—जिससे काच रोग एवं तदनन्तर लिङ्गनाश नामक रोगावस्था ही न आने पावे ॥१॥

जीवन्त्यादि घृत द्राक्षादि घृत—

तुलां पचेत जीवन्त्या द्रोणेऽपां पादशेषिते ।
तत्क्वाथे द्विगुणक्षीरं घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २ ॥
प्रपौण्डरीककाकोली-पिप्पलीरोध्रसैन्धवैः ।
कताह्वामधुक-द्राक्षा-सितादारुफलत्रयैः ॥ ३ ॥
कार्षिकैर्निशि तत्पीतं तिमिरापहरं परम् ।
द्राक्षाचन्दनमञ्जिष्ठा-काकोलीद्वयजीवकैः ॥ ४ ॥
सिताशतावरीमेदा-पुण्ड्राह्वमधुकोत्पलैः ।
पचेज्जीर्णं घृतप्रस्थं समक्षीरं पिचून्मितैः ॥ ५ ॥
हन्ति तत्काचतिमिर-रक्तराजीशिरोरुजः ।

व्याख्या—जीवन्ती १ तुला लेकर १ द्रोण जल में

पकावे और चौथाई रहने पर छान लेवे फिर उसमें १ प्रस्थ गो घृत तथा २ प्रस्थ गो दुग्ध, पुण्डेरिया, काकोली, पीपल, लोध, सैन्धव लवण, सोंया, मुलेठी, दाख, मिश्री, देवदारु, हरड़, बहेड़ा तथा आमला १-१ कर्ष लेकर एवं कल्क बनाकर डाल देवे और घृत सिद्ध करे। इसका पान रात्रि में सोते समय निरन्तर करना चाहिये। यह तिमिर रोग की उत्तम औषध है।

द्राक्षादि घृत

अथवा दाख, लाल चन्दन, मंजीठ, काकोली, क्षीर-काकोली, जीवक, मिश्री, शतावर, मेदा, पुण्डेरिया, मुलेठी, तथा कमल १-१ कर्ष लेकर कल्क बनावे, पुराना गोघृत १ प्रस्थ, गोदुग्ध १ प्रस्थ। सबको मिलाकर घृत सिद्ध करे।

यह घृत—काच, तिमिर, रक्तराजि (सिराजाल) तथा शिरोरोग को नष्ट करता है ॥२-५॥

पटोलादि घृत—

पटोलनिम्बकटुका-दार्वीसेव्यवरावृषम् ॥ ६ ॥
सधन्वयास-त्रायन्ती-पर्पटं पालिकं पृथक्।
प्रस्थमामलकानां च क्वाथयेन्नल्वणेऽम्भसि ॥ ७ ॥
तदाढकेऽर्धपलिकैः पिष्टैः प्रस्थं घृतात्पचेत्।
मुस्तभूनिम्बयष्ट्याह्व-कुटजोदीच्यचन्दनैः ॥ ८ ॥
सपिप्पलीकैस्तत्सर्पिर्घ्राणकर्णास्यरोगजित्।
विद्रधिज्वरदुष्टास्र-विसर्पापचि-कुष्ठनुत् ॥ ९ ॥
विशेषाच्छुक्रतिमिर-नक्तान्ध्योष्णाम्ल-दाहहृत्।

व्याख्या—परवल के पत्र, निम्ब की छाल, कुटकी, दारुहल्दी की छाल, खस, हरड़, बहेड़ा, आमला, अडूसा, धमांसा, त्रायमाणा तथा पित्तपापड़ा १-१ पल तथा आमला १ प्रस्थ लेकर १ द्रोण जल में पकावे, १ आढक (चौथाई) रहने पर छान लेवे, मोथा, चिरायता, मुलेठी, करैया की छाल, नेत्रबाला, लालचन्दन तथा पीपल २-२ कर्ष लेकर कल्क बनावे तथा गोघृत १ प्रस्थ। सबको मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत नासा रोग, कर्ण रोग, मुख रोग, विद्रधि, ज्वर, दुष्ट व्रण, विसर्प, अपची तथा कुष्ठ को विशेषतः—शुक्र, तिमिर, रतौन्धी, उष्णविदग्ध तथा अम्लविदग्ध नामक नेत्र रोगों को नष्ट करता है ॥ ६-९ ॥

त्रिफला घृत—

त्रिफलाष्टपलं क्वाथ्यं पादशेषं जलाढके ॥१० ॥
तेन तुल्यपयस्केन त्रिफलापलकल्कवान्।
अर्धप्रस्थो घृतात्सिद्धः सितया माक्षिकेण वा ॥११॥
युक्तं पिबेत्तिमिरी तद्युक्तं वा वरारसम्।

व्याख्या—त्रिफला ८ पल लेकर १ आढक जल में पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे, गो दुग्ध १ प्रस्थ, त्रिफला १ पल लेकर कल्क बनावे, गोघृत आठ पल। सबको मिलाकर घृत सिद्ध करे। इस घृत को मिश्री में अथवा मधु में अथवा त्रिफला के क्वाथ में मिलाकर पीवे। यह तिमिर रोग को नष्ट करता है ॥ १०-११ ॥

महा त्रिफला घृत—

यष्टीमधुद्विकाकोलीव्याघ्रीकृष्णाऽमृतोत्पलैः ॥ १२ ॥
पालिकैः ससिताद्राक्षैर्घृतप्रस्थं पचेत्समैः।
अजाक्षीरवरावास-मार्कवस्वरसैः पृथक् ॥ १३ ॥
महात्रैफलमित्येतत्परं दृष्टिविकारजित्।

व्याख्या—मुलेठी, काकोली, क्षीरकाकोली, कण्टकारी, पीपल, गिलोय, कमल, मिश्री तथा दाख १-१ पल लेकर कल्क करे, गो घृत १ प्रस्थ, बकरी का दूध, त्रिफला का क्वाथ, अडूसा का स्वरस तथा भाँगरा का रस १-१ प्रस्थ। सबका मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत दृष्टिगत सब रोगों को नष्ट करता है ॥ १२-१३ ।

त्रिफला घृत पर महर्षि निमि का विचार—

त्रैफलेनाथ हविषा लिहानस्त्रिफलां निशि ॥ १४ ॥
यष्टीमधुकसंयुक्तां मधुना च परिप्लुताम्।
मासमेकं हिताहारः पिबन्नामलकोदकम् ॥ १५ ॥
सौपर्णं लभते चक्षुरित्याह भगवान्निमिः।

व्याख्या—महर्षि निमि का कथन है कि—यदि एक मास पर्यन्त प्रति दिन रात्रि में सोते समय-त्रिफला का चूर्ण तथा मुलेठी का चूर्ण उक्त महा त्रैफल घृत एवं मधु मिलाकर चाटता रहे और ऊपर से आमला का रस पीता रहे तो गरुड पक्षी के समान दृष्टि को प्राप्त करता है ॥७॥

त्रिफला योग—

ताप्यायोहेमयष्ट्याह्व-सिताजीर्णाज्यमाक्षिकः ॥ १६ ॥
संयोजिता यथाकामं तिमिरघ्नी वरा वरा।

व्याख्या—स्वर्ण माक्षिक भस्म, लोह भस्म २-२ रत्ती, स्वर्ण भस्म १ रत्ती, मुलेठी चूर्ण २० रत्ती, मिश्री ४० रत्ती पुराना घृत ४० रत्ती, मधु ५ तोला तथा त्रिफला चूर्ण १ तोला, मिलाकर खाने से तिमिर रोग नष्ट होता है ॥

वक्तव्य—उक्त मात्रा में इच्छानुसार न्यूनाधिक्य किया किया जा सकता है ॥१६॥

त्रिफला का अन्य योग—

सघृतं वा वराक्वाथं शीलयेत्तिमिरामयी ॥ १७ ॥
अपूपसूपसक्तून् वा त्रिफलाचूर्णसंयुतान्।

व्याख्या—अथवा तिमिर रोगी त्रिफला का क्वाथ घृत मिलाकर १-२ मास पीता रहे। अथवा त्रिफला चूर्ण से युक्त-रोटी, दाल तथा सत्तू खाता रहे (घृत मिलाकर खाता रहे) ॥ १७ ॥

त्रिफला और हरड़ के योग—

पायसं वा वरायुक्तं शीतं समधुशर्करम् ।। १८ ।।
प्रातर्भक्तस्य वा पूर्वमद्यात्पथ्यां पृथक् पृथक् ।
मृद्वीकाशर्कराक्षौद्रैः सततं तिमिरातुरः ।। १९ ।।

व्याख्या—तिमिर रोग से पीडित मानव—शीतल खीर में त्रिफला चूर्ण, मधु तथा खण्ड मिलाकर, कई मास प्रातःकाल खाता रहे। अथवा भोजन के पूर्व प्रति दिन हरड़ का चूर्ण मुनक्का में अथवा खण्ड में अथवा मधु में मिलाकर सदा खाता रहे ।।१८-१९।।

चूर्णांजन—

स्रोतोजांशांश्चतुःषष्टिं ताम्रायोरूप्यकाञ्चनैः ।
युक्तान् प्रत्येकमेकांशैरन्धमूषोदरस्थितान् ।। २० ।।
ध्मापयित्वा समावृत्तं ततस्तच्च निषेचयेत् ।
रस-स्कन्ध-कषायेषु सप्तकृत्वः पृथक् पृथक् ।। २१ ।।
वैडूर्यमुक्ताशङ्खानां त्रिभिर्भागैर्युतं ततः ।
चूर्णाञ्जनं प्रयुञ्जीत तत्सर्वतिमिरापहम् ।।२२ ।।

व्याख्या—काला सुरमा ६४ तोला, ताम्र भस्म, लोह भस्म, रजत भस्म, तथा स्वर्ण भस्म १-१ तोला मिलाकर अन्ध मूषा में (सम्पुट में) धरकर, सन्धि रोध करके अग्नि में धौंकनी द्वारा धौंककर पाक करे, शीतल होनेपर शिला पर (खरल में) पीस लेवे तत्पश्चात् जल में टिकिया बनाकर सुखा लेवे और अग्नि में तपा २ कर मधुर गण आदि सब गणों के रसों—क्वाथों, फाण्टों एवं हिमों में पृथक् पृथक् सात बार बुझावे तत्पश्चात् वैदूर्य, मुक्ता (मोती) तथा शंख १-१ तोला मिलाकर पीस लेवे। यह अंजन सब प्रकार के तिमिर रोग को नष्ट करता है ।। २०-२२ ।।

मांस्यादि अंजन—

मांसीत्रिजातकाऽयःकुङ्कुमनीलोत्पलाऽभयातुत्थैः ।
सितकाचशङ्खफेनक मरिचाञ्जनपिप्पलीमधुकैः ।। २३।।
चन्द्रेऽश्विनीसनाथे सुचूर्णितैरञ्जयेद्युगलमक्ष्णोः ।
तिमिरार्मरक्तराजीकण्डूकाचादिशममिच्छन ।। २४ ।।

व्याख्या—जटामांसी, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, लोहभस्म, केशर, नीलकमल, हरड़, तूतिया (अग्नि पर भूना गया तूतिया), श्वेत काँच भस्म, शंख, समुद्रफेन, मरिच, काला सुरमा, पीपल तथा मुलेठी। सम भाग सब द्रव्य लेकर उस दिन खरल करे जिस दिन चन्द्रमा अश्विनी नक्षत्र पर हो। भली भाँति पिस जाने पर दोनों नेत्रों में अंजन लगाता रहे जो मानव-तिमिर, अर्म, रक्तराजी कण्डू तथा काच आदि नेत्र रोगों की शान्ति चाहता हो ।।

वक्तव्य तूतिया को तवा पर रखकर तबतक उष्ण करे जब तक उसका पानी सूख जाय और वर्ण श्वेत हो जाय। और काँच को तपाकर त्रिफला के क्वाथ में तब तक बुझावें जबतक वह सरलता से टूटने लग जाय और उसकी चमक सर्वथा नष्ट हो जाय। तब उनको अञ्जन में मिलाकर पीसे। और लोह एवं ताम्बा आदि धातुओंकी भस्म बनाकर अंजनों में डाली जाती है। स्वर्ण एवं रजत कोमल धातु हैं वे सुरमा के साथ पिस जाते हैं। उनमें वर्क अथवा कण्टकवेधी पत्र बनाकर सुरमा में पीसे जाते हैं। शंख, मुक्ता, स्फटिक तथा वैदूर्य आदि रत्नों की पिष्टि बनाकर सुरमा में पीस ली जाती है ।।२३-२४।।

मरिचादि अंजन—

मरिचवरलवणभागौ भागौ द्वौ कणसमुद्रफेनाभ्याम् ।
सौवीरभागनवकं चित्रायां चूर्णितं कफामयजित् ।।२५।।

व्याख्या—मरिच, सैन्धव लवण, पीपल तथा समुद्र-फेन २-२ भाग श्वेत सुरमा ९ भाग लेकर खरल में पीस लेवे। यह अंजन नेत्र के कफजनित रोगों को नष्ट करता है ।।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में अशीति गुण नामक अञ्जन का निम्नलिखित अधिक पाठ पाया जाता है। यथा—

मनोह्वा तुत्थ कस्तूरी मांसीमलय रोचनाः ।
दश कर्पूरसंयुक्तं अशीतिगुणमञ्जनम् ।

अर्थात्—मैनसिल, भुना तूतिया, कस्तूरी, जटामांसी, श्वेत चन्दन तथा गोरोचन १-१ तोला और सबसे दशमांस कपूर मिलाकर पीसा गया अञ्जन "अशीति गुण" कहलाता है अर्थात् इस अंजन में ८० गुण हैं ।।२५।

विदेहपतिनिर्मित अंजन—

द्राक्षामृणालीस्वरसे क्षीरमद्यवसासु च ।
पृथग् दिव्याप्सु स्रोतोजं सप्तकृत्वो निषेचयेत् ।। २६ ।।
तच्चूर्णितं स्थितं शङ्खे दृक्प्रसादनमञ्जनम् ।
शस्तं सर्वाक्षिरोगेषु विदेहपतिनिर्मितम् ।। १७ ।।

व्याख्या—काला सुरमा को तपा २ कर—दाख के रस में, मृणाल (कमलमूल-बिस) के रस में, दूध में, सुरा में, वसा में तथा वर्षा जल में ७-७ बार बुझावे और फिर पीसकर शंख में रख लेवे। यह अंजन नेत्रों को स्वच्छ करता है तथा सभी नेत्र रोगोंमें लाभ करता है। इसका निर्माण श्री विदेहपति महाराज निमि ने किया था ।२६-२७।

भास्कर अंजन—

निर्दग्धं बादराङ्गारैस्तुत्थं चेत्थं निषेचितम् ।
क्रमादजापयः सर्पिः क्षौद्रे तस्मान् पलद्वयम् ।। २८ ।।
कार्षिकैस्ताप्य–मरिच स्रोतोज-कटुका-नतैः ।

पट्टु-राघ्र-शिला-पथ्या-कणैलाञ्जनफेनिकैः ॥२९॥
युक्तं पलेन यष्ट्याश्च मूषान्तर्ध्मातचूर्णितम् ।
हन्ति काचार्मन क्तान्ध्य-रक्तराजीः सुशीलितः ॥ ३० ॥
चूर्णो विशेषात्तिमिरं भास्करो भास्करो यथा ।

व्याख्या - बेर की लकड़ी के अंगारों पर तूतिया को तपा कर क्रमशः बकरी के दूध में घृत में तथा मधु में सात २ बार बुझावे। इस प्रकार बुझाया गया तूतिया २ पल (८ कर्ष), स्वर्ण माक्षिक, मरिच, काला सुरमा कुटकी, तगर, सैन्धव लवण, लोध, मैनसिल, हरड़, पीपल, बड़ी इलायची श्वेत सुरमा तथा समुद्रफेन १-१ कर्ष तथा मुलेठी ४ कर्ष मिलाकर सम्पुट में धरकर पुट दे देवे, शीतल होने पर निकाल कर पीस लेवे।

यह अंजन—निरन्तर प्रतिदिन रात्रि में लगाने से—काच, अर्म, रतौन्धी, रक्तराजी तथा तिमिर रोग को वैसे ही नष्ट करता है जैसे सूर्य तिमिर—अन्धकार को नष्ट करता है ॥

वक्तव्य—तूतिया को कड़छुली में धरकर अंगारों पर तपावे अन्यथा वह हाथ नहीं लगता ॥ २८-३० ॥

तिमिरान्तकर अंजन—

त्रिंशद्भागा भुजङ्गस्य गन्धपाषाणपञ्चकम् ॥
शुल्वतालकयोर्द्वौ द्वौ वङ्गस्यैकोऽञ्जनात्त्रयम् ॥३१॥
अन्धमूषीकृतं ध्मातं पक्वं विमलमञ्जनम् ।
तिमिरान्तकरं लोके द्वितीय इव भास्करः ॥३२॥

व्याख्या—सीसक १० भाग, गन्धक ५ भाग, ताम्र तथा हरिताल २-२ भाग, वंग १ भाग, काला सुरमा ३ भाग। सबको एक साथ पीसकर सम्पुट में धरकर, कपड़ मिट्टी करके पुट दे देवे अथवा कोलों में धरकर धौंकनी से पकावे। धूम रहित हो जाने पर निकाल कर पीस लेवे। यह अंजन—संसार में दूसरे सूर्य के समान तिमिर रोग को नष्ट करता है ॥

वक्तव्य—सर्वाङ्गसुन्दरी नामक टीका में लिखा है कि—सीसक आदि द्रव्य शुद्ध करके प्रयुक्त किये जायँ मार कर नहीं। पाक करने में गन्धक एवं हरिताल उड़ जाते हैं और शेष द्रव्य भस्मप्राय हो जाते हैं और पीसने पर पिस जाते हैं। सीसक आदि के शोधन की विधि रसेन्द्रसारसंग्रह एवं शार्ङ्गधरसंहिता आदि ग्रन्थों में देखिये ॥ ३१-३२ ॥

तुत्थांजन—

गोमूत्रे छगणरसेऽम्लकाञ्जिके च
स्त्रीस्तन्ये हविषि विषे च माक्षिके च ।
यत्तुत्थं ज्वलितमनेकशो निषिक्तं
तत्कुर्याद्गरुडसमं नरस्य चक्षुः ॥ ३३ ॥

व्याख्या—तूतिया को लेकर और कड़छुली में धरकर अग्नि पर तपावे और उसे गोमूत्र में, बकरा के मूत्र में, खट्टी कांजी में, स्त्री के दुग्ध में, घृत में, सिंगिया विष के क्वाथ में तथा मधु में सात २ बार बुझावे। अन्त में पीस लेवे। यह अंजन दृष्टि को गरुड़ के समान कर देता है ॥ ३३ ॥

सीसक शलाका—

श्रेष्ठाजलं भृङ्गरसं सविषाज्यमजापयः ।
यष्टीरसं च यत्सीसं सप्तकृत्वः पृथक् पृथक् ॥ ३४ ॥
तप्तं तप्तं पायितं तच्छलाका
नेत्रे युक्ता साञ्जनाऽनञ्जना वा ॥
तैमिर्यार्मस्रावपैच्छिल्यपैल्लं
कंडूं जाड्यं रक्तराजीं च हन्ति ॥ ३५ ॥

व्याख्या—सीसक नामक धातु को तपा-तपा—पिघला २ कर सात २ बार, त्रिफला के रस में, भांगरा के रस में, सिंगिया विष के योग से सिद्ध घृत में, बकरी के दूध में तथा मुलेठी के क्वाथ में बुझावे। अन्त में उस सीसक की सलाई बनावे। इस सलाई को केवल अथवा कोई अंजन लगाकर नेत्र में घुमावे—लगावे। यह सलाई—तिमिर रोग, अर्म रोग, स्राव रोग, पिच्छिलता—उपदेह, पिल्लरोग, कण्डू, ह्रस्व, जाड्य तथा रक्तराजी को नष्ट करती है ॥

वक्तव्य—पिल्ल रोग-अमरकोश द्वि०का० मनुष्य वर्ग—
स्युः विलचाक्षे चुल्ल चिल्ल पिल्ला क्लिन्नेक्षिण वाप्यमी ॥
अर्थात्—क्लेद युक्त नेत्र का नाम पिल्ल है। देखिये नेत्र रोगों का वर्णन ॥३४-३५॥

रसेन्द्राऽञ्जन—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाऽञ्जनम् ।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—पारद एवं सीसक दोनों के समान भाग काला सुरमा तथा सबसे १६ वाँ भाग कपूर मिलाकर अंजन बनावे। यह अंजन तिमिर को नष्ट करता है।

वक्तव्य—सीसक को पिघलाकर पारा डाल दिया जाता है और उसे हिला दिया जाता है फिर खरल में डालकर घोटा जाता है फिर सुरमा एवं कपूर मिलाकर पीसा जाता है। शा. सं. उ. खं. अ. १३ में इसका नाम "नयनामृताञ्जन" है और दशमांश कपूर डालने का विधान है ॥३६॥

गृद्ध्रांजन—

यो गृध्रस्तरुणरविप्रकाशगल्ल-
स्त ास्यं समयमृतस्य गोशकृद्भिः ।
निर्दग्धं समघृतमञ्जनं च पेष्यं
योगोऽयं नयनबलं करोति गार्ध्रम् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—जो गिद्ध तरुण सूर्य के समान लाल २

गालोंवाला हो और मर गया हो उसके मुख भाग को लेकर उपलों की अग्नि में जला देवे, शीतल होनेपर उसे लेकर सम भाग काला सुरमा मिलाकर सम भाग घृत में पीस लेवे। यह अंजन—गिद्ध के समान दृष्टिशक्ति करता है—इसको नेत्रों में आंजने से दृष्टि का बल गिद्ध के समान हो जाता है ॥ ३७ ॥

कृष्णसर्पास्यांजन—

कृष्णसर्पवदने सहविष्कं दग्धमञ्जनमनिःसृतधूमम्।
चूर्णितं नलदपत्रविमिश्रं भिन्नतारमपि रक्षति चक्षुः॥३८॥

व्याख्या—काले सर्प के मुख में काला सुरमा तथा घृत भर देवे (सुरमा को घृत में पीसकर भर देवे) और उसे संपुट में धर कर कपड़ मिट्टी कर के पुट दे देवे, शीतल होने पर निकाल कर और सम भाग जटामांसी मिलाकर भलीभाँति पीस लेवे। यह अंजन—फूटे हुए तारा अर्थात् दृष्टिमण्डलवाले नेत्र की भी रक्षा करता है।

वक्तव्य—तारा या तारक दृष्टिमण्डल का नाम है यद्यपि दृष्टिमण्डल फूट जाने पर दृष्टि की रक्षा नहीं हो सकती तथापि इसकी शक्ति की अधिकता बतलाने के लिये ऐसा कहा गया है यह सर्वाङ्गसुन्दरीकार का कथन है परन्तु हमारा विचार हैं कि—जिस नेत्र में भेदन कर्म किया गया हो उसमें रोपण हो जाने के पश्चात् इस अंजन का प्रयोग दृष्टि वृद्धि के लिये करना चाहिये क्योंकि सर्प वसा के अंजन दृष्टि वर्द्धक अवश्य होते हैं। देखिये श्लोक० ४१ ॥ ३८ ॥

कुक्कुट पुरीषांजन—

कृष्णं सर्पं मृतं न्यस्य चतुरश्चापि वृश्चिकान्।
क्षीरकुम्भे त्रिसप्ताहं क्लेदयित्वाथ मन्थयेत् ॥ ३९ ॥
तत्र यन्नवनीतं स्यात्पुष्णीयात्तेन कुक्कुटम्।
अन्धस्तस्य पुरीषेण प्रेक्षते ध्रुवमंजनात् ॥ ४० ॥

व्याख्या—मरा हुआ काला सर्प तथा चार बिच्छू लेकर, दूध के घड़ा में डाल देवे, २१ दिन के पश्चात् गल जाने पर उस दूध को मथे और जो नवनीत प्राप्त हो उसे थोड़ा २ मुरगा को खिलावे और वह मुरगा जो बीट करे उसका सञ्चय करता रहे और उसे पीसकर अंजन बनावे। इसे नेत्र में लगाने से अन्धा भी देखने लगता है ॥ ३९-४० ॥

सर्पवसांजन—

कृष्णसर्पवसा शङ्खः कतकात् फलमंजनम्।
रसक्रियेयमचिरादन्धानां दर्शनप्रदा ॥ ४१ ॥

व्याख्या—काले सर्प की चरबी, शंख नाभि, निर्मली बीज तथा काला सुरमा को पीसकर रसरूप अंजन (काजल) बनावे। यह अन्धों को दर्शन शक्ति देता है ॥

वक्तव्य—सर्प की चरबी (वसा) सपेरों से प्राप्त की जा सकती है वह गो घृत की सी पीताभ होती है और शीत काल में घृत के समान जम जाती है। इस अंजन को लगाते समय कुछ कोसा करके लगाया जाता हैं जैसे अन्यान्य काजल लगाए जाते हैं ॥४१॥

अप्रतिसार-अंजन—

मरिचानि दशार्धपिचुस्ताप्याल्तुत्थार्धपलं पिचुर्यष्ट्याः।
क्षीराद्रंदग्धमंजनमप्रतिसाराख्यमुत्तमं तिमिरे ॥ ४२ ॥

व्याख्या—मरिच १० दाना, स्वर्णमाक्षिक आधा कर्ष, तूतिया १ पल (४ कर्ष) तथा मुलेठी १ कर्ष। सब को दूध में भिगो कर सम्पुट में धर कर जला देवे। शीतल होने पर पीस कर रख लेवे। इस का नाम "अप्रतिसार अञ्जन" है और तिमिर रोग में लगाया जाता है ॥४२॥

अक्षबीजादि गुटिका—अञ्जन—

अक्षबीजमरिचामलकत्वक्-
तुत्थयष्टिमधुकैर्जलपिष्टैः।
छाययैव गुटिकाः परिशुष्का
नाशयन्ति तिमिराण्यचिरेण ॥ ४३ ॥

व्याख्या—बहेड़ा की गिरी, मरिच, आमला, दालचीनी, तूतिया (भुना हुआ तूतिया) तथा मुलेठी को समान भाग लेकर, जल में पीस कर गोलियाँ बनावे और छाया में सुखा कर रख लेवे। इन को नेत्र में सलाई के समान घुमावे। यह तिमिर रोगों को नष्ट करती हैं ॥

वक्तव्य—अञ्जन तीन प्रकार के बनाए जाते हैं १—चूर्ण रूप, २—रसरूप तथा ३—गुटिका—गोली रूप ॥४३॥

षण्माक्षिक अञ्जन—

मरिचामलकजलोद्भव-
तुत्थाञ्जनताप्यधातुभिः क्रमवृद्धैः।
षण्माक्षिक इति योग-
स्तिमिरार्मक्लेदकाचकण्डूहन्ता ॥ ४४ ॥

व्याख्या—मरिच १ माग, आमला २ भाग, समुद्रफेन ३ भाग, भुना तूतिया ४ भाग, काला सुरमा ५ भाग, तथा स्वर्ण माक्षिक ६ भाग मिला कर पीस लेवे। यह षण्माक्षिक नामक अञ्जन—तिमिर, अर्म, क्लेद, (पिल्ल), काच तथा नेत्र कण्डू का नाशक है ॥ ४४ ॥

रत्नांजन—

रत्नानि रूप्यं स्फटिकं सुवर्णं
स्रोतोंजनं ताम्रमयः सशङ्खम्।
कुचन्दनं लोहितगैरिकं च
चूर्णांजनं सर्वदृगामयघ्नम् ॥ ४५ ॥

व्याख्या—हीरा एवं वैदूर्य आदि यथा लाभ रत्न, शुद्ध चान्दी, स्फटिक मणि, स्वर्ण, काला सुरमा, ताम्रभस्म, लोह भस्म, शंख, लाल चन्दन, केशर तथा गेरू समान

भाग लेकर पीस लेवे। यह चूर्णाञ्जन नेत्र के सब रोगों को नष्ट करता है ॥

वक्तव्य—हीरा, वैडूर्य एवं स्फटिक मणि (बिल्लौर) आदि कठोर रत्नों की भस्म अंजनों में मिलानी चाहिये ।४५।

तिलतैलादिनस्य—

तिलतैलमक्षतैलं भृङ्गस्वरसोऽसनाच्च निर्यूहः।
आयसपात्रविपक्वं करोति दृष्टेर्बलं नस्यम् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—तिल तैल, बहेड़ा की गिरी का तैल, भाँगरा का रस तथा विजयसार का क्वाथ—मिला कर लोह की कड़ाही में पकावे। सिद्ध होने पर तैल की नस्य प्रातः काल एवं रात्रि में प्रति दिन लेता रहे। इस से दृष्टि का बल बढ़ता है ॥ ४६ ॥

चिकित्सा संकेत—

दोषानुरोधेन च नैकशस्तं स्नेहास्रविस्रावणरेकनस्यैः।
उपाचरेदंजनमूर्धबस्तिबस्तिक्रियातर्पणलेपसेकैः ॥४७॥

व्याख्या—तिमिर रोग में—दोषानुसार, अनेक वार आवश्यकतानुसार,—विधिपूर्वक—स्नेहपान (सू. अ. १६), रक्तस्रावण (सू. अ. २७), विरेचन (सू. अ. १८) नस्य कर्म (सू. अ. २०), अंजन, शिरोवस्ति (सू. अ. २२), वस्ति कर्म (सू. अ. १९), तर्पण (सू. अ. २४) लेपन तथा सेचन एवं आश्च्योतन (सू. अ, २२ तथा २३) द्वारा उचित चिकित्सा करे ॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि—केवल अंजनों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये और तिमिर रोग का मूल केवल नेत्रों में ही नहीं समझना चाहिये अपितु समस्त शरीर का उचित उपचार करना चाहिये ॥ ४७ ॥

उपसहार

सामान्यं साधनमिदम् ,प्रतिदोषमतः शृणु।

व्याख्या—तिमिर रोग की सामान्य चिकित्सा उक्त प्रकार से कह दी गई है और दोषानुसार विशेष चिकित्सा आगे सुनिये ॥

वातज तिमिर चिकित्सा—

वातजे तिमिरे तत्र दशमूलाम्भसा घृतम् ॥ ४८ ॥
क्षीरे चतुर्गुणे श्रेष्ठाकल्कपक्वं पिवेत्ततः।
त्रिफलापञ्चमूलानां कषायं क्षीरसंयुतम् ॥ ४९ ॥
एरण्डतैलसंयुक्तं योजयेच्च विरेचनम्।
समूलजालजीवन्तीतुलां द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥ ५० ॥
अष्टभागस्थिते तस्मिंस्तैलप्रस्थं पयः समे।
बलात्रितयजीवन्तीवरीमूलैः पलोन्मितैः ॥ ५१ ॥
यष्टीपलैश्चतुर्भिश्च लोहपात्रे विपाचयेत्।
लोहे एव स्थितं मासं नावनादूर्ध्वजत्रुजान् ५२ ॥
वातपित्तामयान् हन्ति तद्विशेषाद् दृगाश्रयान्।
केशास्यकन्धरास्कन्धपुष्टिलावण्यकान्तिदम् ॥ ५३ ॥
सितैरण्डजटासिंहीफलदारुवचानतैः।
घोषया विल्वमूलैश्च तैलं पक्वं पयोऽन्वितम् ५४ ॥
नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातश्लेष्मामयार्तिजित्।
वसांजने च वैयाघ्री वाराही वा प्रशस्यते ॥ ५५ ॥
गृध्राहिकुक्कुटोत्था वा मधुकेनान्विता पृथक्।
प्रत्यंजने च स्रोतोजं रसक्षीरघृते क्रमात् ॥ ५६ ॥
निषिक्तं पूर्ववद्योज्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम्।
न चेदेवं शमं याति ततस्तर्पणमाचरेत् ॥ ५७ ॥
शताह्वाकुष्ठनलद-काकोलीद्वययष्टिभिः।
प्रपौण्डरीकसरलपिप्पलीदेवदारुभिः ॥ ५८ ॥
सर्पिरष्टगुणक्षीरं पक्वं तर्पणमुत्तमम्।
मेदसस्तद्वदेणेयाद्दुग्धसिद्धात्खजाहतात् ॥ ५९ ॥
उद्धृतं साधितं तेजो मधुकोशीरचन्दनैः।
श्वाविच्छल्यकगोधानां दक्ष-तित्तिरिबर्हिणाम् ॥ ६० ॥
पृथक्पृथगनेनैव विधिना कल्पयेद्वसाम्।
प्रसादनं स्नेहनं च पुटपाकं प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥
वातपीनसवच्चात्रनिरूहं सानुवासनम्।

व्याख्या—वातजनित तिमिर रोग में—दशमूल का क्वाथ १ भाग, गोदुग्ध १ भाग तथा त्रिफला का कल्क घृत से चौथाई भाग मिला कर सिद्ध किया गया घृत पीवे। इस प्रकार स्नेहन हो जाने के पश्चात्—त्रिफला तथा बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ तथा दूध मिला कर, उसमें एरण्ड तैल मिला कर विरेचन का प्रयोग करे॥

नस्य के लिये जीवन्ती तैल—

मूल जाल समेत जीवन्ती १ तुला (१०० पल) लेकर १ द्रोण जल में पकावें, अष्टमांश रहने पर छान लेवे उस में तिल १ प्रस्थ, गो दुग्ध १ प्रस्थ तथा बला अति बला, नागबला, जीवन्ती तथा शतावर १-१ पल एवं मुलेठी ४ पल का कल्क मिला लोह की कड़ाही में पाक करे और एक मास पर्यन्त लोह पात्र में ही पड़ा रहने देवे अन्त में छान कर इस तैल का नस्य में प्रयोग करे। यह तैल—जत्रु से ऊपर होने वाले बात पित्त जनित रोगों को विशेषतः नेत्र रोगों को नष्ट करता है और केश मुख के दन्त आदि अवयवों, ग्रीवा तथा स्कन्ध प्रदेश को पुष्ट करता है, सौन्दर्य तथा कान्ति को उत्पन्न करता है ॥

अन्य नस्य तैल—

श्वेत एरण्ड की जड़, वनभण्टा, त्रिफला, देवदारु, वाल बच, तगर, घोषा (मीठी सौंफ) तथा विल की जड़ की छाल का क्वाथ (११ भाग तथा कल्क (१ भाग) तिल तै (४ भाग) तथा गोदुग्ध (१ भाग) मिलाकर पाक क । सिद्ध होने पर नस्य में प्रयुक्त करे। यह नस्य—

जत्रु से ऊपरी भाग में होने वाले वात कफ जनित सभी रोगों को नष्ट करती है ॥

अंजन—

वाघ की अथवा सूअर की वसा का अंजन लाभ करता है अथवा—गिद्ध की अथवा सर्प की अथवा मुर्गा की वसा में मुलेठी का सूक्ष्म चूर्ण मिला कर अंजन करने से लाभ होता है ॥

प्रत्यंजन—

प्रत्यंजन अर्थात् प्रति दिन अंजन लगाने के लिये—काला सुरमा को तपा तपाकर मांस रस, दूध तथा घृत में ७-७ बार बुझावे और पीसकर रख लेवे। तिमिर रोग के विनाशार्थ इसका प्रति दिन प्रयोग करे ॥

यदि इन सब उपायों से भी वातजनित तिमिर रोग शान्त न हो तो तर्पण का प्रयोग करे ॥

यथा—सौंफ, सुगन्धी कूठ, जटामाँसी, काकोली, क्षीर काकोली, मुलेठी, पुण्डेरिया, चीढ़ के बीज (न्योजा) पीपल तथा देवदारु का क्वाथ १६ भाग, कल्क १ भाग, गोघृत ४ भाग तथा गो दुग्ध ८ भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे और उससे नेत्र का तर्पण करे। यह उत्तम कोटि का तर्पण है। तर्पण की विधि सू. अ. २४ में देखिये ॥

दूसरा तर्पण—

काले हरिण की मेदस् को दूध में डालकर पकावे और फिर मथकर सार भाग (मेदस् मिश्रित घृत) निकाल लेवे फिर उसे मुलेठी, खस तथा चन्दन के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध करके तर्पण करे ॥

अन्यान्य तर्पण—

इसी विधि से—सेह (झाहा), साही, गोह, मुरगा, तीतर तथा मोर की वसा (मेदस्) को (पृथक् २ दूध में पकाकर, मथकर तथा सार भाग निकाल कर) बनाकर तर्पण में प्रयुक्त करे ॥

प्रसादन एवं स्नेहन पुट पाकों (सू. अ. २४) का प्रयोग करे। और वातपीनस के समान चिकित्सा करे तथा वातनाशक निरूहण एवं अनुवासन वस्तियों का साथ साथ प्रयोग करे ॥ ४८-६१ ॥

पित्तज तिमिर चिकित्सा—

पित्तजे तिमिरे सर्पिर्जीवनीयफलत्रयैः ॥ ६२ ॥
त्रिपाचितं पाययित्वा स्निग्धस्य व्यधयेत्सिराम्।
शर्करैलात्रिवृच्चूर्णैर्मधुयुक्तैर्विरेचयेत् ॥ ६३ ॥
सुशीतान् सेकलेपादीन् युंज्यान्नेत्रास्यमूर्धसु।
सारिवापद्मकोशीरमुक्ताशाबरचन्दनैः ॥ ६४ ॥
वर्तिः शस्तांजने चूर्णस्तथा पत्रोत्पलांजनैः।
सनागपुष्पकर्पूरयष्ट्याह्वस्वर्णगैरिकैः ॥ ६५ ॥
सौवीरांजनतुत्थक-शृङ्गीधात्रीफलस्फटिककर्पूरम्।
पञ्चांशं पञ्चांशं त्र्यंशमथैकांशमंजनं तिमिरघ्नम् ॥ ६६ ॥
नस्यं चाज्यं शृतं क्षीरजीवनीयसितोत्पलैः।

व्याख्या—पित्तजनित तिमिर रोग में—जीवनीयगण (सू. अ. १५) के द्रव्य तथा त्रिफला के योग से सिद्ध घृत पिलाकर स्नेहन करे और फिर सिरावेध करके रक्त मोक्षण करे ॥

विरेचन—

तत्पश्चात्—खण्ड, बड़ी इलायची तथा निसोत का मधु में मिलाकर समय समय पर खिलाकर विरेचन करे ॥

सेचन एवं लेपन आदि—

नेत्र, मुख एवं शिर पर सुशीतल द्रव्यों के सेचन एवं लेपन आदि का प्रयोग करे ॥

वर्ति—अंजन—

सारिवा, पद्मकाष्ठ, खस, मोती, पठानी लोध तथा चन्दन को जल में पीसकर बत्ती बनावे और उससे अंजन करे।

चूर्ण—अंजन—

लाल कमल, श्वेत कमल, काला सुरमा, नागकेसर, कपूर, मुलेठी तथा सोना गेरू पीसकर चूर्ण बनावे और उससे अंजन करे ॥

सौवीरादि अंजन—

श्वेत सुरमा तथा भुना तूतिया ५-५ भाग, काकड़ासिंगी तथा आमला ३ ३ भाग, स्फटिक मणि तथा कपूर १-१ भाग मिलाकर पीस लेवे। यह अंजन तिमिर को नष्ट करता है ॥

नस्य—

गोघृत ४ भाग, जीवनीयगण तथा श्वेत कमल का कल्क १ भाग तथा गो दुग्ध १६ भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे और उसकी नस्य का प्रयोग करे ॥ ६२-६६ ॥

कफज तिमिर की चिकित्सा—

श्लेष्मोद्भवे ऽमृताक्वाथ-वराकणशृतं घृतम् ॥ ६७ ॥
विध्येत्सिरां पीतवतो दद्याच्चानु विरेचनम्।
क्वाथं पूगाभयाशुण्ठी-कृष्णाकुम्भनिकुम्भजम् ॥ ६८ ॥
ह्रीबेरदारुद्विनिशा-कृष्णाकल्कैः पयोऽन्वितैः।
द्विपञ्चमूलनिर्यूहे तैलं पक्वं च नावनम् ॥ ६९ ॥
शङ्खप्रियङ्गुनेपाली- कटुत्रिकफलत्रिकैः।
दृग्वैमल्याय विमला वर्तिः स्यात्कोकिला पुनः ॥ ७० ॥
कृष्णलोहरजोव्योष-सैन्धवत्रिफलांजनैः।
शश-गो-खर-सिंहोष्ट्र-द्विजा लालाटमस्थि च ॥ ७१ ॥
श्वेतगोवालमरिच-शङ्खचन्दनफेनकम्।
पिष्टं स्तन्याजदुग्धाभ्यां वर्तिस्तिमिरशुक्रजित् ॥

व्याख्या—कफजनित तिमिर रोग में—गिलोय का क्राथ १६ भाग, त्रिफला तथा पीपल का कल्क १ भाग तथा गोघृत १ भाग मिलाकर पाक करे। इस घृत का पान कराकर स्नेहन करे और फिर सिरावेध करके रक्तमोक्षण करे तथा फिर विरेचन करें ॥

विरेचन योग—

सुपारी, हरड़, सोंठ, पीपल, निसोत, तथा दन्तीमूल के क्वाथ का विरेचन देवे ॥

नस्य—

नेत्रवाला, देवदारु, हलदी, दारुहल्दी की छाल तथा पीपल का कल्क १ भाग, गोदुग्ध ४ भाग, महापंचमूल तथा लघु पंचमूल का क्वाथ १६ भाग तथा तिल तैल ४ भाग मिलाकर पाक करे। इस तैल का नस्य में प्रयोग करे ॥

विमला वर्ति—

शंख पिष्टि, फूल प्रियंगु, मैनसिल, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा तथा आमला। सब द्रव सम भाग लेकर, जल में पीसकर बत्ती बनावे। इसका नाम "विमला वर्त्ति" है और इसका अंजन नेत्र की विमलता—शुद्धि के लिये किया जाता है।

कोकिला वर्त्ति—

लोह भस्म, सोंठ, मरिच, पीपल, सैन्धव लवण, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा काला सुरमा। सब द्रव्य सम भाग लेकर जल में पीसकर वत्ती बनावे। इसका नाम "कोकिला" वर्त्ति है। इसका प्रयोग कफजनित तिमिर में करे ॥

शशदन्तादि वर्त्ति-

शशक, गौ, गधा, सिंह तथा ऊण्ट के दन्त तथा माथा की अस्थि, श्वेत गौ के बाल—रोम (पूञ्छ के बाल), मरिच शंख, लाल चन्दन तथा समुद्र फेन। सब द्रव सम भाग लेकर और स्त्री के तथा बकरी के दूध में पीसकर बत्ती बनावे। यह बत्ती—तिमिर तथा शुक्र नामक नेत्र रोग को नष्ट करती है ॥ ६७-७१॥

रक्तजतिमिर चिकित्सा—

रक्तजे पित्तवत्सिद्धिः शीतैश्चास्रं प्रसादयेत् ॥ ७२ ॥
द्राक्षया नलदरोध्रयष्टिभिः
शङ्खताम्रहिमपद्मपद्मकैः।
सोत्पलैश्छगलदुग्धवर्तितै
रस्रजं तिमिरमाशु नश्यति ॥ ७३ ॥

व्याख्या—रक्त जनित तिमिर रोग में—पित्तजतिमिर के समान चिकित्सा करे और शीतल आहार विहार एवं औषध के द्वारा रक्त की शुद्धि करे ॥

वर्ति अंजन—

दाख, जटामांसी, लोध, मुलेठी, शंख, ताम्रभस्म, कपूर, कमल, पद्मकाष्ठ तथा श्वेत कमल, सब द्रव्य समभाग लेकर बकरी के दूध में पीस कर बत्ती बनावे। यह बत्ती—रक्तज तिमिर को शीघ्र नष्ट करती है। ७२-७३।

द्वन्द्वज तथा त्रिदोष तिमिर चिकित्सा—

संसर्गसन्निपातोत्थे यथादोषोदयं क्रिया।
सिद्धं मधूककृमिजिन्मरिचामरदारुभिः ॥ ७४ ॥
सक्षीरं नावनं तैलं पिष्टैर्लेपो मुखस्य च।
नत-नीलोत्पलानन्ता-यष्ट्याह्वसुनिषण्णकैः ॥७५॥
साधितं नावने तैलं शिरोबस्तौ च शस्यते।
दद्यादुशीरनिर्यूहे चूर्णितं कणसैन्धवम् ॥ ७६ ॥
तच्छ्रुतं सघृतं भूयः पचेत्क्षौद्रं घने क्षिपेत्।
शीते चास्मिन् हितमिदं सर्वजे तिमिरेऽञ्जनम् ॥७७॥
अस्थीनि मज्जपूर्णानि सत्त्वानां रात्रिचारिणाम्।
स्रोतोजाञ्जनयुक्तानि वहत्यम्भसि वासयेत् ॥ ७८ ॥
मासं विंशतिरात्रं वा ततश्चोद्धृत्य शोषयेत्।
समेपश्रृङ्गीपुष्पाणि सयष्ट्याह्वानि तानि तु ॥ ७९ ॥
चूर्णितान्यञ्जनं श्रेष्ठं तिमिरे सान्निपातिके।

व्याख्या—द्विदोषजतिमिर तथा त्रिदोषज तिमिर रोगों में वात आदि दोषों की प्रधानता का विचार करके उचित चिकित्सा करें ॥

विशेषतः—

महुवा के फूल, वाविडंग, मरिच तथा देवदारु के क्राथ, कल्क, तथा दूध के योग से सिद्ध तैल की नस्य देवे और उन्हीं द्रव्यों को दूध में पीस कर मुख पर लेप करे ॥

नस्य एवं शिरोवस्ति—

तगर, नीलकमल, कृष्णशारिवा, मुलेठी तथा सुसनी नामक शाक के योग से सिद्ध तेल की नस्य देवे और उसी तैल का प्रयोग शिरोवस्ति में करे ॥

रस रूप अंजन—

खस के क्राथ में पीपल एवं सैन्धव लवण का चूर्ण डाल देवे, भली-भाँति भीग जाने पर उस क्राथ को छान लेवे फिर उसमें घृत डाल कर पकावे, गाढ़ा होने तथा शीत शीत होने पर मधु मिला कर रख लेवे। इसका अंजन त्रिदोषज तिमिर रोग में—लाभ करता है ॥

चूर्ण—अंजन—

रात्रिचारी प्राणियों की मज्जा पूर्ण अस्थियाँ तथा काला सुरमा कपड़ा में बाँध कर बहते जल में धर देवे, एक मास अथवा २० दिन के पश्चात् निकाल कर सुखा लेवे तत्पश्चात् उन्हें पीस लेवे और साथ में—मेढ़ा सिंगी के

फूल तथा मुलेठी पीस देवे । यह चूर्ण रूप अंजन त्रिदोषजनित तिमिर रोग में लाभ करता है ।।

वक्तव्य—रात्रिचारी प्राणी—शृगाल, मूषक एवं उल्लू आदि कहे जा सकते हैं ।।७४-७९।।

काच चिकित्सा—

काचेऽप्येषा क्रिया मुक्त्वा सिरां, यन्त्रनिपीडिता ।।८०।।
आन्ध्याय स्युर्मला, दद्यात्माव्ये रक्ते जलौकसः ।
गुडः फेनोऽञ्जनं कृष्णा मरिचं कुङ्कुमाद्रजः ।।८१।।
रसक्रियेयं सक्षौद्रा काच-यापनमञ्जनम् ।

व्याख्या—जब तिमिर रोग का रूप धारण कर लेता है तब भी तिमिर रोग के समान ही चिकित्सा की जाती है केवल सिरावेध नहीं किया जाता क्योंकि सिरावेध के लिये बान्धे गये यन्त्र से प्रपीडित वातादि रोग-आन्ध्य-लिङ्ग नाश का हेतु-उत्पादक कारण हो जाते हैं परन्तु यदि रक्त निकालना आवश्यक हो तो जोंक लगा कर निकालना चाहिये ।

रसरूप अंजन—

और काचयापन के लिये—उसकी वृद्धि रोकने के लिये गुड़. समुद्रफेन, कालासुरमा, पीपल, मरिच तथा केसर का सूक्ष्मचूर्ण—मधु में मिला कर रख लेवे और इस रस क्रिया- रस रूप अंजन का प्रतिदिन रात्रि में प्रयोग करे ।

वक्तव्य—इस रसक्रिया के सेवन से काच की वृद्धि रुक जाती है ।। ८०-८१।।

नकुलान्ध्य चिकित्सा—

नकुलान्धे त्रिदोषोत्थे तैमिर्यविहितो विधिः ।।८२।।

व्याख्या—नकुलान्ध नामक रोग त्रिदोषज एवं याप्य होता है उसमें तिमिर रोग नाशक चिकित्सा करे ।।८२।।

निशान्ध्य चिकित्सा—

रसक्रिया घृतक्षौद्रगोमयस्वरसद्रुतैः ।
तार्क्ष्यगैरिकतालीसैर्निशान्ध्ये हितमञ्जनम् ।।८३।।
दध्ना विघृष्टं मरिचं रात्र्यान्ध्याञ्जनमुत्तमम् ।
करञ्जिकोत्पलस्वर्णगैरिकाम्भोजकेसरैः ।।८४।।
पिष्टैर्गोमयतोयेन वर्तिर्दोषान्ध्यनाशिनी ।
अजामूत्रेण वा कौन्ती-कृष्णास्रोतोजसैन्धवैः ।।८५।।
कालानुसारीत्रिकटु-त्रिफलाऽऽलमनःशिलाः ।
सफेनाश्छागदुग्धेन रात्र्यान्ध्ये वर्तयो हिताः ।। ८६ ।।
सन्निवेश्य यकृन्मध्ये पिप्पलीर्दहनेपचेत् ।
ताः शुष्का मधुना घृष्टा निशान्ध्ये श्रेष्ठमञ्जनम् ।।८७।।
खादेच्च प्लीहयकृती माहिषे तैलसर्पिषा ।
घृते सिद्धानि जीवन्त्याः पल्लवानि च भक्षयेत् ।।८८।।
तथातिमुक्तकैरण्ड-शेफाल्यभिरुजानि च ।
भ्रष्टं घृतं कुम्भयोनेः पत्रैः पाने च पूजितम् ।। ८९ ।।

व्याख्या—निशान्ध अर्थात् रतौंधी नामक रोग में—रसवत, गेरू तथा तालीसपत्र को पीस कर, गोघृत मधु तथा गौ के गोबर के स्वरस में मिला कर रख लेवे और उस रसक्रिया-रसरूप-द्रवरूप अंजन को नेत्र में लगाने से लाभ होता है अथवा— मरिच को दही में पीस कर रतौन्धी में अंजन करे ।।

निशान्ध्य नाशक वर्ति—

करंज बीज, श्वेतकमल, सोनागेरू, तथा लालकमल का केशर । सब द्रव्य समानभाग लेकर गोबर के स्वरस में पीस कर बत्ती बना लेवे । यह बत्ती रतौन्धी को नष्ट करती है । अथवा—सम्भालू के बीज, पीपल, काला सुरमा तथा सैन्धव लवण को बकरी के मूत्र में पीसकर बत्ती बनावे । अथवा—कृष्णसारिवा, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, शुद्ध हरिताल तथा मैनसिल और समुद्रफेन । सबको समान भाग लेकर बकरी के दूध में पीसकर बत्तियाँ बनावे । ये बत्तियाँ नेत्र में लगाने से रतौन्धी में लाभ करती हैं ।।

पिप्पली पुट पाक—

बकरा के यकृत् में पीपल (१०-२० पीपल) धरकर पुट पाक विधि से पाक करे तत्पश्चात् पीपल निकाल कर सुखा लेवे और पीसकर मधु में मिलाकर अंजन करे । इससे भी रतौन्धी नष्ट होती है ।।

खाने की औषध—

भैंस की प्लीहा एवं यकृत् को तैल एवं घृत के साथ (तलकर) खावे । अथवा जीवन्ती के पत्तों को घृत में पकाकर खावे । अथवा—तिनिस वृक्ष के पत्रों, एरण्ड के पत्रों, सम्भालू के पत्रों तथा शतावर के कोमल पत्रों को घृत में पकाकर खावे ।

घृतपान—

अगस्त्य वृक्ष के पत्तों के योग से सिद्ध घृत पान भी लाभदायक है ।।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १६—

व्रणवत् चाऽक्षिरोगेषु भोज्यान्यन्नानि निर्दिशेत् ।
अविधारित वेगस्य भजतोऽञ्जनानि ।
त्यजतः क्रोधशोकौ च तिमिरं नाद्यतेतराम् ।
त्रिफलामश्नतो रात्रौ संस्कृतं पिबतो घृतम् ।
भुक्त्वा च पिबतः तोयं तिमिरं लघु शाम्यति ।
सुषभव्यं सुकान्तं च स्कन्दं च्यवनमश्विनौ ।
षट् एतानि स्मरेत् नित्यं तस्य चक्षुः न हीयते ।

अर्थात्—नेत्र रोगों में व्रण रोगी के समान आहार-विहार की व्यवस्था करे ।

जो मूत्र पुरीषादि के वेगों को नही रोकता, अंजन एवं स्नेहन नस्य का सेवन करता है तथा क्रोध एवं शोक का परित्याग करता है उसे तिमिर रोग नहीं होता।

जो रात्रि में त्रिफला का सेवन करता है, त्रिफला के योग से सिद्ध घृत का पान करता है और भोजन के पश्चात् जल पीता है उसका तिमिर रोग शान्त हो जाता है।

जो सुपभव्य, सुकान्त, स्कन्द च्यवन तथा दोनों अश्विनी कुमारों का प्रति दिन स्मरण करता है उसकी दृष्टि का क्षय नहीं होता ॥८३-८६॥

धूमर आदि रोगों की चिकित्सा—

धूमराख्याम्लपित्तोष्ण-विदाहे जीर्णसर्पिषा।
स्निग्धं विरेचयेच्छीतैः शीतैर्दिह्याच्च सर्वतः ॥ ९० ॥
गोशकृद्रसदुग्धाज्यैर्विपक्वं शस्यतेऽञ्जनम्।
स्वर्णगैरिकतालीस-चूर्णावापा रसक्रिया ॥ ९१ ॥
मेदाशाबरकानन्ता-मञ्जिष्ठादार्वियष्टिभिः।
क्षीराष्टांशं घृतं पक्वं सतैलं नावनं हितम् ॥९२॥
तर्पणं क्षीरसर्पिः स्यादशाम्यति सिराव्यधः।

व्याख्या—धूमर नामक रोग, अम्लविदग्धादृष्टि, पित्तविदग्धादृष्टि, तथा उष्णविदग्धादृष्टि (देखिये अ १२) नामक रोगों में-प्रथम पुरातन घृत पिला कर स्नेहन करे तत्पश्चात् अमलतास आदि शीतल द्रव्यों द्वारा विरेचन देवे और चन्दन आदि शीतल द्रव्यों का नेत्र पर लेप करे।

अञ्जन—

गौ के गोबर का रस, गोदुग्ध तथा गो घृत को पका कर अंजन करे अथवा-सोना गेरू तथा तालीसफा का चूर्ण उक्त घृत में मिला कर रस क्रिया बनावे और उसका अंजन करे।

नस्य—

मैदा, पठानी लोध, अनन्तमूल, मञ्जीठ, दारु हल्दी की छाल तथा मुलेठी का कल्क १ भाग, गोदुग्ध ८ भाग तथा घृत एवं तेल ४ भाग मिला कर पाक करे। सिद्ध होने पर उसकी नस्य लेने से लाभ होता है।

तर्पण—

दूध को विलो कर निकाला गया घृत पिला कर तर्पण करे अथवा उससे नेत्र का तर्पण करे। इतना सब उपाय करने पर भी यदि उक्त रोगों में शान्ति न हो तो सिरावेध करके रक्त मोक्षण करे ॥९०-९२॥

दृष्टि दौर्बल्य का वर्णन—

चिन्ताभिघातभीशोक-रौक्ष्यात्सोत्कटकासनात् ॥९३॥
विरेकनस्यवमन-पुटपाकादिविभ्रमात्।
वेदग्धाहारवमनात्क्षुत्तृष्णादिविधारणात् ॥९४॥
अक्षिरोगावसानाच्च पश्येत्तिमिररोगिवत्।
यथास्वं तत्र युञ्जीत दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥९५॥

व्याख्या—तिमिर रोग न होने पर भी यदि कोई-चिन्ता, चोट, भय, शोक, रूक्षता, उत्कटक आसन, विरेचन, नस्य, वमन, पुटपाक, आदि नेत्र रोग चिकित्सा में भूल, अम्लपित्त जनित वमन; क्षुधा एवं तृषा के निरोध अथवा अभिष्यन्द आदि नेत्र रोग के कारण तिमिर रोगी के समान देखता हो तो उसके उक्त कारणों तथा दोषों का विचार करके उचित औषध करे॥

वक्तव्य—देखा जाता है कि उक्त चिन्ता आदि के कारण दृष्टि मन्द हो जाती है परन्तु वह तिमिर नामक रोग नहीं होता और वह तात्कालिक रोग होता है जैसे भय के समय कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता परन्तु भय दूर होने पर नेत्र स्वस्थ हो जाते हैं इसी प्रकार भूख प्यास के समय दृष्टि दुर्बल हो जाती है परन्तु भोजन तथा जलपान करने पर स्वस्थ हो जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य कारणों से क्षणिक दृष्टि दौर्बल्य हो जाता है और फिर दूर हो जाता हैं। अक्षिरोगावसानात्—अभिष्यन्द आदि नेत्र रोगों के अन्त में कुछ दिन तक दृष्टि दुर्बल बनी रहती है फिर ठीक हो जाती है ॥९३-९५॥

सन्तर्पण—

सूर्योपरागानलविद्युदादिविलोकनेनोपहतेक्षणस्य।
सन्तर्पणंस्निग्धहिमादिकार्यंतथाञ्जनंहेमघृतेनघृष्टम्।

व्याख्या—अधिक समय तक सूर्यग्रहण देखने से, अग्नि की ओर देखने से अथवा बिजली आदि चमकीले प्रकाश की ओर देखते रहने से दृष्टि उपहत—नष्ट अथवा दुर्बल हो जाती है उस दशा में —स्निग्ध एवं शीतल आहार आदि से सन्तर्पण करना चाहिये और घृत में स्वर्ण घिस कर अंजन करना चाहिये ॥

वक्तव्य—देखा गया है कि इस प्रकार के दृष्टि दौर्बल्य में रात्रि में निर्मल चन्द्रमा की ओर कुछ समय तक देखते रहने से लाभ होता है ॥ ९६ ।

दृष्टि रक्षा की आवश्यकता—

चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यै
यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां
पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते ॥९७॥

व्याख्या—मानव को जीवन भर सदा-सर्वदा दृष्टि की रक्षा का प्रयत्न करते रहना चाहिये क्योंकि सब प्रकार की सुख सम्पति रहने पर भी अन्धा हो जाने पर यह सब संसार व्यर्थ हो जाता है उस समय उसे दिन रात्रि में भी कुछ भेद की प्रतीति नहीं होती ॥ ९७ ।

दृष्टि रक्षा का प्रयत्न—

त्रिफलारुधिरस्रुतिर्विशुद्धिर्मनसोनिर्वृतिरञ्जनंचनस्यम्।
शकुनाशनता सपादपूजाघृतपानंचसदैव नेत्ररक्षा॥९८॥
अहितादशनात्सदानिवृत्तिर्भृशभास्वच्चलसूक्ष्मवीक्षणाच्च।
मुनिना निमिनोपदिष्टमेतत् परमं रक्षणमीक्षणस्य पुंसाम्॥

व्याख्या—नेत्र रक्षा के प्रयत्न-त्रिफला का बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग, सिरावेध द्वारा रक्तस्रावण, वमन विरेचन द्वारा उदर का तथा स्नान आदि द्वारा शरीर का विशोधन, मनस् की प्रसन्नता-शोक एवं क्रोध आदि से आक्रान्त न होने देना, अंजन लगाते रहना तथा नस्य लेते रहना, पक्षियों के मांस का भक्षण, पाद पूजा अर्थात् पावों में अभ्यङ्ग करना, उबटन लगाना, जूता-मोजा पहिनना तथा उनको स्वच्छ रखना तथा घृतपान-घृतसेवन करना और सर्वदा-धूलि एवं आघात आदिसे नेत्रों की रक्षा करते रहना। अहित-हानिकर आहार का सेवन न करना तथा अत्यन्त चमकीले, चलायमान तथा सूक्ष्म रूप न देखना। नेत्रों की रक्षा के लिये-भगवान् निमि (विदहाधिप) ने यह सब उपदेश दिये हैं। इनसे नेत्र की रक्षा होती है।

वक्तव्य—नेत्र चक्षुनामक इन्द्रिय का अधिष्ठान है जिसके द्वारा रूप का ग्रहण होता है--देखा जाता है, अधिष्ठान--आश्रय की रक्षा करने से आश्रित की रक्षा हो सकती है, अतः नेत्र की रक्षा करना परमावश्यक है।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः ।१३।

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथातो लिङ्गनाशप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब लिङ्गनाश नामक रोग की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा है कि--

वक्तव्य—इसका वर्णन सु० उ० अ० १७ तथा अ० स० उ. अ. १७ में देखिये। उक्त अध्याय में अष्टाङ्गसंग्रहकार का पाठ इस प्रकार है—लिङ्गनाशो निलीका (निलीका) पटलं चान्ध्यं इति पर्यायाः। स श्लैष्मिक एव प्राक् साध्योऽभिहितः। तस्य पुनः षट् उपद्रवाः १ - आवर्त्तकी, २—शर्करा ३—राजीमती, ४—छिन्नांशुका, ५—चन्द्रकी, ६—छत्रकी चेति। अर्थात्—लिङ्गनाश (दृष्टिनाश) निलीका पटल तथा आन्ध्य (अन्धापन ये चारों शब्द पर्याय (एकार्थवाची) हैं सब लिंगनाशों में कफजलिङ्गनाश साध्य होता है। आवर्तकी आदि उसके ६ उपद्रव माने जाते हैं। लिङ्गनाश--यहाँ नाश शब्द का अर्थ लोप है सर्वथा अभाव नहीं।

लिंगनाश में वेधन कर्म—

विध्येत्सुजातं निःप्रेचं लिङ्गनाशं कफोद्भवम्।
आवर्तक्यादिभिः षड्भिर्विवर्जितमुपद्रवैः॥ १॥
सोऽसञ्जातो हि विषमो दधिमस्तुनिभस्तनुः।
शलाकयाऽवकृष्टोऽपि पुनरूर्ध्वं प्रपद्यते॥ २॥
करोति वेदनां तीव्रां दृष्टिं च स्थगयेत्पुनः।
श्लेष्मलैः पूर्यते चाशु सोऽन्यैः सोपद्रवैश्चिरात्॥ ३॥
श्लैष्मिको लिङ्गनाशो हि सितत्वाच्छ्लेष्मणः सितः।
तस्यान्यदोषाभिभवाद्भवत्यानीलता गदे॥ ४॥

व्याख्या—वेधन कर्म तभी करना चाहिये जब लिङ्गनाश सुजात-संजात--परिपक्व हो गया हो अर्थात् श्लेष्मपिण्ड के समान घनीभूत दिखलाई पड़ता हो तथा दर्शन शक्ति रहित होगया हो और कफजनित हो (शेष सब लिङ्गनाश असाध्य होते हैं) तथा आवर्तकी आदि ६ उपद्रवों (में से किसी एक से भी) से रहित हों।

असंजात लिंग नाश का लक्षण—

असंजात (असुजात-अपरिपक्व) लिंगनाश-विषम होता है (सम आकार वाला नहीं होता) और दही के पानी के सदृश आभा वाला तथा पतला होता (उसमें से कुछ २ दिखलाई पड़ता) है (सर्वथा दर्शन शक्ति रहित नहीं होता) और इस अवस्था में यदि वह वेधन कर्म करके शलाका द्वारा निकाला गया तो भी पुनः प्रवृत्त हो जाता है--उत्पन्न होने लगता है और उसमें तीव्र वेदना होने लगती है तथा पुनः दृष्टि को रोक देता है--ढँक देता है। वेधन कर्म के पश्चात्--कफवर्द्धक आहार विहार करने से शीघ्र और वातपित्त वर्धक आहार विहार करने से चिर--विलम्ब से दोष पूर्ण हो जाता है और साथ २ आवर्त्तकी आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। और कफजनित लिंगनाश--श्वेत वर्ण का होता है क्योंकि कफ स्वयं श्वेत होता है। और अन्य दोष अर्थात् वात एवं पित्त की अधिकता होने से "आनीलता" नामक लिंगनाश हो जाता है॥

वक्तव्य--अ० सं. उ. अ. ७ में मूलपाठ इस प्रकार है—
असंजाता हि विषमा दधिमस्तु तनुश्चया।
शलाकया विकृष्टाऽपि पुनः ऊर्द्ध्वं प्रपद्यते।
करोति वेदनां तीव्रां दृष्टिं च स्थगयेत् पुनः।
सा च संपूर्यते शीघ्रं श्लेष्मलैः, वातपित्तलैः—
चिरात्, सोपद्रवा च स्यात् निष्क्रियाऽर्हति व्यधम्।

अर्थात् जो निलीका (लिंग नाश) ----विषम तथा दही के पानी के समान पतली होती है वह अपरिपक्व (अर्थात कच्चा मोतिया) होती है वह शलाका द्वारा गिराई गई भी पुनः ऊपर आजाती है। और तीव्र वेदना करती है और दृष्टि

को पुनः ढंक देती है। वह कफ कारक आहार विहार से शीघ्र पूर्ण हो जाती है और वातपित्तकारक आहार विहार से चिर से पूर्ण होती है और आवर्त्तकी आदि उपद्रवों से युक्त हो जाती है। और जो निलीका—दृष्टि शक्ति रहित होती है वही वेधन कर्म के योग्य होती है।

तात्पर्य यह है कि—श्वेत लिङ्गनाश (निलीका) ही में वेधन करे अन्यान्य वर्ण युक्त लिंगनाश में न करे। श्वेत लिंगनाश साध्य होता है और अन्यान्य लिंगनाश असाध्य होते हैं। श्वेत मोतिया साध्य और काला मोतिया असाध्य होता है, पका मोतिया शस्त्रकर्म के योग्य होता है और कच्चा मोतिया अयोग्य। कच्चा मोतिया वह होता है जिसमें कुछ-कुछ दिखता है और पका मोतिया वह है जिसमें कुछ नहीं दिखता। कच्चा मोतिया असंजात तथा पका मोतिया सुजात कहा गया है। काला मोतिया को "आनीलता" गद (रोग) कहा गया है। पुनः ऊर्ध्वं प्रपद्यते का तात्पर्य है कि—शलाका द्वारा दबाव देकर लिंगनाश को दृष्टिमण्डलसे दूर अर्थात् सामने से इधर-उधर कर देने पर भी वह पुनः दृष्टिकेन्द्र के ऊपर आ जाता है। कभी कभी मोतिया निकालते समय वह पटलों के भीतर चला जाता है। उसके पुनः सामने—स्वस्थान में आजाने की सम्भावना रहती है॥ १-४॥

आवर्त्तकी आदि उपद्रवों के लक्षण—

तत्रावर्त्तचला दृष्टिरावर्त्तक्यरुणाऽसिता।
शर्करार्कपयोलेशनिचितेव घनाति च॥ ५॥
राजीमती दृङ्निचिता शालिशूकाभराजिभिः।
विषमच्छिन्नदग्धाभा सरुक् छिन्नांशुका स्मृता॥ ६॥
दृष्टिः कांस्यसमच्छाया चन्द्रकी चन्द्रकाकृतिः।
छत्राभा नैकवर्णा च छत्रकी नाम नीलिका॥ ७॥

व्याख्या—१. आवर्त्तकी नामक उपद्रव में—दृष्टि—आवर्त्त (जल का भ्रम—भँवर जो बाढ़ के समय नदियों के जल में पड़ता है) के समान अनवस्थित होती है तथा उसका वर्ण लाल अथवा काला सा हो जाता है। २. शर्करा नामक उपद्रव में दृष्टि (दृष्टिमण्डल)—आक के दूध से व्याप्त होने के समान हो जाती है और घन—ठोस हो जाता है। ३. राजीमती नामक उपद्रव में—दृष्टि—चावलों के शूकों कीसी राजियों से व्याप्त होती है। ४. छिन्नांशुका नामक उपद्रव में दृष्टि—तारा (दृष्टि-मण्डल)—विषम (निम्नोन्नत सी) तथा कटी जली सी तथा वेदना युक्त होती है। ५. चन्द्रकी नामक उपद्रव में दृष्टि—काँसा धातु के समान वर्ण वाली तथा मोर के पंख के चन्द्रक के समान आकारवाली होती है। ६. छत्रकी नामक उपद्रव में दृष्टि—छत्रा (सोंफ) के समान वर्ण वाली तथा अनेक वर्ण वाली एवं नीली होती है॥

वक्तव्य—प्रतीत होता है ये सब उपद्रव आनीला या नीलिका नामक रोग के भिन्न भिन्न लक्षण हैं या अवस्था भेद अथवा प्रकार हैं। इस सन्दर्भ का वर्णन सु. उ. अ. १७ में इस प्रकार है—

श्लैष्मिके लिंगनाशे तु कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
न चेत् अर्द्धेन्दु घर्माम्बुबिन्दु मुक्ताकृतिः स्थिरः॥५५॥
विषमो वा तनुः मध्ये राजिमान् वा बहुप्रभः।
दृष्टिस्थो लक्ष्यते दोषः सरुजो वा सलोहितः॥५६॥

अर्थात्—कफज लिंगनाशक (मोतिया) की चिकित्सा आगे कही जायगी परन्तु वह तभी करनी चाहिये यदि दृष्टि-मण्डलगत दोष (लिंगनाशोत्पादक विकृत पदार्थ)—अर्द्ध चन्द्र कासा, स्वेद के बिन्दु कासा, मोती कासा, स्थिर-अचल, विषम (निम्नोन्नत), पतला, मध्य में राजियोंवाला अथवा अनेक प्रकार की रंग बिरंगी प्रभा-चमक वाला अथवा वेदना युक्त अथवा लाल सा न हो तो चिकित्सा (वेधन कर्म) करने से लाभ होता है। इस वर्णन में उक्त ६ उपद्रवों का अपने शब्दों में वर्णन किया गया है। पाठक ध्यान देकर विचार करें। इस प्रकार के मोतिया की चिकित्सा करने से चिकित्सक इनकार कर देता है॥५-७॥

वेधन विधि के अयोग्य—

न विध्येदसिराह्राणां न तृक्पीनसकासिनाम्।
नाजीर्णिभीरुवमितशिरःकर्णाक्षिशूलिनाम्॥ ८॥

व्याख्या जो रोगी सिरावेध के अयोग्य हैं देखिये सू. अ. २७) और जो तृषा, पीनस-प्रतिश्याय, कास अथवा अजीर्ण से पीडित हों, जो भीरु (डरने वाले) हो, जो वमन-छर्दि, से पीडित हों तथा शिरः शूल (अनन्त वात आदि से, कर्ण रोग से अथवा अभिष्यन्द आदि किसी नेत्र रोग से पीड़ित हैं उसके नेत्र में वेधन कर्म न करे।

वक्तव्य—नात्युष्णशीतवाताभ्रे नाऽसम्पूर्णां च नीलिकाम्। अर्थात् अत्यन्त उष्ण तथा शीत काल में, वायु एवं मेघ के समय तथा अपरिपक्व लिंगनाश का वेध न करे॥८॥

वेधन कर्म की विधि—

अथ साधारणे काले शुद्धसम्भोजितात्मनः।
देशे प्रकाशे पूर्वाह्ने भिषग् जानूच्चपीठग॥ ९॥
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्विन्नाक्षस्य मुखानिलैः।
अंगुष्ठमृदिते नेत्रे दृष्टौ दृष्ट्वोत्प्लुतं मलम्॥ १०॥
स्वनासां प्रेक्षमाणस्य निष्कम्पं मूर्ध्नि धारिते।
कृष्णादर्धाङ्गुलं मुक्त्वा तथार्धमपाङ्गतः॥ १ ॥
तर्जनीमध्यमांगुष्ठैः शलाकां निश्चलं धृताम्।
दैवच्छिद्रं नयेत्पार्श्वादूर्ध्वमामन्थयन्निव॥ १२॥
सव्यं दक्षिणहस्तेन नेत्रं सव्येन चेतरत्।
विध्येत् सुविद्धे शब्दः स्यादरुक् चाम्बुलवस्रुति॥१३॥

सान्त्वयन्नातुरं चानु नेत्रं स्तन्येन सेचयेत् ।
शलाकायास्ततोऽग्रेण निर्लिखेन्नेत्रमण्डलम् ॥ १४ ॥
अबाधमानः शनकैर्नासां प्रतिनुदंस्ततः ।
उच्छिन्दनाद्यापहरेद् दृष्टिमण्डलगं कफम् ॥ १५ ॥
स्थिरे दोषे चले वाऽपि स्वेदयेदक्षिबाह्यतः ।
अथ दृष्टेषु रूपेषु शलाकामाहरेच्छनैः ॥१६॥
घृताप्लुतं पिचुं दत्वा बद्धाक्षं शाययेत्ततः ।
विद्धादन्येन पार्श्वेन तमुत्तानं द्वयोर्व्यधे ॥१७॥
निवाते शयनेऽभ्यक्तशिरःपादं हिते रतम् ।

व्याख्या—सम शीतोष्णकाल में (जब अत्यधिक उष्ण एवं शीत न हो तब) विरेचन द्वारा शोधन करके तथा स्निग्ध आदि समीचीन भोजन खिलाकर, प्रकाश युक्त स्थान में बिठाकर प्रातः स्वस्ति वाचन आदि मंगलाचरण करके रोगी को परिचारक द्वारा पकड़ा कर, चिकित्सक जानु भर ऊँचे पीढापर बैठ जावे, रोगी को परिचारक की गोद में बैठा देवे और मुख की वायु—भाप से उसके नेत्रपर स्वेदन करे और नेत्र को अंगूठा से मले जब देखे कि दृष्टि पर मल दोष उभर आया है तब रोगी से कहे कि अपनी नासा की ओर देखो अर्थात् वह दृष्टिमण्डल को नेत्र की ओर ले जाय, उस समय परिचारक रोगी के शिरको इस प्रकार पकड़े जिससे हिले नहीं। चिकित्सक तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियों एवं अंगूठा से शलाका को कसकर पकड़े और उसे—कृष्ण मण्डल से आधा अंगुल तथा अपाङ्ग की ओर से चौथाई अंगुल छोड़कर पार्श्व भाग से आलोडन करता हुआ—शलाका घुमाता हुआ ऊपर की ओर दैवकृत छिद्र पर्यन्त ले जावे। इस प्रकार वाम नेत्र को दक्षिण हाथ से और दक्षिण नेत्र को वाम हस्त से बींधे (उस पर वेधन कर्म करे)। सम्यक् वेध होने पर वेदना से रहित शब्द (टक् ध्वनि) होता है और जलकण का स्राव होता है।

तदनन्तर चिकित्सक—रोगी को सान्त्वना देता हुआ नेत्र पर स्त्री दुग्ध का सेचन करे और तत्पश्चात् शलाका के अग्रभाग से दृष्टिमण्डल का लेखन करे परन्तु धीरे-धीरे और बाधा रहित लेखन कर्म करे और नासा की ओर कफज दोष को प्रेरित कर देवे।

इस प्रकार उत्सिञ्चन से दृष्टिमण्डलगत कफ को दृष्टि केन्द्र से दूर कर देवे। दृष्टिरोधक दोष स्थिर हो अथवा विचलित हो गया हो तो नेत्र पर बाहिर की ओर स्वेदन करना चाहिये। इसके पश्चात् जब रूप (सामने की वस्तु) दिखने लगें तब धीरे-धीरे शलाका को निकाल लेवें। और कोसे घृत में भीगा फोहा धर कर, पट्टी बान्ध कर लेटा देवे। जिस ओर बेध किया गया हो उसके दूसरे पार्श्व लेटाना चाहिये। यदि दोनों नेत्रों में वेध किया गया हो तो चित लेटाना चाहिये।

शयन कक्ष—वायु रहित होना चाहिये। और रोगी के शिर तथा पावों पर अभ्यङ्ग करते रहना चाहिये। और निम्नलिखित पथ्याऽपथ्य का विचार करके रोगी पथ्य आहार विहार में दत्तचित्त रहे ॥ ९-१७ ॥

पथ्याऽपथ्य का निर्देश—

क्षवथुं कासमुद्गारं ष्ठीवनं पानमम्भसः ॥ १८ ॥
अधोमुखस्थितिं स्नानं दन्तधावनभक्षणम् ।
सप्ताहं नाचरेत्स्नेहपीतवच्चात्र यन्त्रणा ॥ १९ ॥
शक्तितो लङ्घयेत्सेको रुजि कोष्णेन सर्पिषा ।
सव्योषामलकं वाद्यमश्नीयात्सघृतं द्रवम् ॥ २० ॥
विलेपीं वा त्र्यहाच्चास्य क्वाथैर्मुक्त्वाऽक्षि सेचयेत् ।
वातघ्नैः सप्तमे त्वह्नि सर्वथैवाक्षि मोचयेत् ॥ २१ ॥
यन्त्रणामनुरुध्येत दृष्टेरास्थैर्यलाभतः ।
रूपाणि सूक्ष्मदीप्तानि सहसा नावलोकयेत् ॥ २२ ॥

व्याख्या—रोगी—तीन दिन पर्यन्त—छींकने का, खाँसने का, उद्गार का तथा थूकने का परिहार करे, सात दिन पर्यन्त जलपान (अधिक जलपान) का, नीचे की ओर मुख करके बैठने एवं लेटने का, स्नान का, काष्ठ की दतवन का तथा चना आदि चाबने का परिहार करे। और स्नेहपान के समान (देखिये सू. अ. १६) आहार विहार करता रहे। यथा शक्ति उपवास करे, नेत्र में वेदना हो तो कोसे घृत का सेचन करे। उपवास के पश्चात् सोंठ मरिच, पीपल तथा आमला चूर्ण एवं घृत मिला कर पतला दलिया अथवा लपसी खाता रहे। तीन दिन के पश्चात् पट्टी खोल कर वात नाशक द्रव्यों के क्वाथ का सेचन करे। और सातवें दिन सर्वथा—सदा के लिये—पट्टी खोल देवे। परन्तु जब तक दृष्टि स्थिरतालाभ न करे-बलवती—स्वस्थ न हो जाय तबतक उक्त पथ्यापथ्य का ध्यान रखना चाहिये। और सहसा—शीघ्र—सूक्ष्म एवं चमकीले रूपों को न देखे। इस प्रकार रहने से शोथ, राग एवं वेदना आदि व्यापद् नहीं होते ॥

वक्तव्य—जानूच्चपीठगः के स्थान में—नात्युच्चपीठगः पाठ भी है। वात नाशक क्वाथ—अ० सं० अ० ७—तृतीये च अह्नि मुक्त्वा अक्षि सेचयेत्-एरण्डपल्लवशृतेन दुग्धेन, जीवनीयैः वा सिद्धेन पयसा, हविषा वा तद्वत् लघुना पंचमूलेन ततः पूर्ववत् बध्नीयात्—

अर्थात्—तीसरे दिन पट्टी खोल कर—एरण्ड के कोमल पत्तों के योग से सिद्ध दूध का, अथवा जीवनीय गण के योग से सिद्ध दूध का अथवा घृत का अथवा लघुपंचमूल के योग से सिद्ध दूध अथवा घृत का सेचन करके पूर्ववत् पट्टी बान्ध देवे।

और ७-८-९-अथवा १० दिन पर पट्टी खोल दी जाती है। कभी कभी इससे भी अधिक दिनों पर पट्टी खोली जाती है तात्पर्य यह है कि चिकित्सक जब देखे कि—वेदना आदि कोई उपद्रव नहीं रह गया और व्रणका रोपण भली भाँति हो गया तब पट्टी खोल देवे। इसके पश्चात् भी हरे अथवा काले कपड़ा से नेत्र को ढाँक कर रखना चाहिये जब तक पूर्ण रूप से दृष्टि सबल हो जाय। आज कल इस क्रिया के पश्चात् ऐलोपैथ चिकित्सक चश्मा लगाते हैं हमारे विचार में—त्रिफला आदि चक्षुष्य उपचारों का प्रयोग होना चाहिये।।१८-२२।

वेधकालीन व्यापद्—

शोफरागरुजादीनामधिमन्थस्य चोद्भवः।
अहितैर्वेधदोषाद्वा यथास्वं तानुपाचरेत्॥ २३॥
कल्किताः सघृता दूर्वा यवगैरिकसारिवाः।
मुखालेपे प्रयोक्तव्या रुजारागोपशान्तये॥ २४॥
ससर्षपास्तिलास्तद्वन्मातुलुङ्गरसाप्लुताः।
पयस्यासारिवापत्रमञ्जिष्ठामधुयष्टिभिः।।२५।।
अजाक्षीरयुतैर्लेपः सुखोष्णः शर्मकृत्परम्।
रोध्रसैन्धवमृद्वीकामधुकैश्छागलं पयः॥ २६॥
शृतमाश्च्योतनं यार्य रुजारागविनाशनम्।
मधुकोत्पलकुष्ठैर्वा द्राक्षालाक्षासितान्वितैः ॥२७॥
वातघ्नसिद्धे पयसि शृतं सर्पिश्चतुर्गुणे।
पद्मकादिप्रतीवापं सर्वकर्मसु शस्यते॥ २८॥

व्याख्या—वेधन कर्म के समय किसी प्रकार की भूल हो जाने से अथवा उसके पश्चात् अपथ्य आहार विहार करने से—नेत्र में—शोथ, राग (लाली तथा वेदना) आदि अथवा अधिमन्थ नामक रोग की उत्पत्ति हो सकती है उस दशा में उचित उपचार करे। यथा—वेदना एवं राग की शान्ति के लिये—दूब, जौ, गेरू तथा सारिवा को पीस कर और उसमें घृत मिला कर मुख पर लेप करे। अथवा—सरसों तथा तिलों को पीस कर और घृत मिला कर एवं बिजौरा निम्बू के रस में सान कर मुख पर लेप करे। इस से भी रुजा एवं राग की शान्ति हो जाती है। अथवा—क्षीर काकोली, सारिवा, कृष्ण सारिवा, मञ्जीठ तथा मुलेठी को बकरी के दूध में पीस कर और उसे कोसा करके मुख पर लेप करे। इससे भी सुख लाभ होता है। और—लोध, सैन्धव लवण, मुनक्का तथा मुलेठी को बकरी के दूध में पका कर नेत्र में आश्च्योतन करे—बून्दें टपकावे। इससे भी रुजा एवं राग का नाश होता है। अथवा—मुलेठी, श्वेत कमल एवं सुगन्धी कूठ, दाख, लाख तथा मिश्री को बकरी के दूध में पकाकर नेत्र में आश्च्योतन करे। और—एरण्ड आदि वात नाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध गोदुग्ध १६ भाग, गोघृत ४ भाग तथा पद्मकादि गण (सू. अ. १५) का कल्क १ भाग मिला कर घृत सिद्ध करे। यह घृत—पान में तथा आश्च्योतन एवं सेचन आदि सब कर्मों में प्रशस्त—लाभ दायक होता है॥ २३-२८॥

।सिरावेध—

शिरां तथानुपशमे स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत्।
मन्थोक्तां च क्रियां कुर्याद्व्यधे रूढेऽञ्जनं मृदु॥ २९॥

व्याख्या—उक्त व्यापदों में उक्त प्रकार की चिकित्सा करने पर भी यदि शान्ति न हो तो—स्नेहन एवं स्वेदन करके सिरावेध (सू अ. २७ देखिये) करके रक्त स्रावण करे। और अधिमन्थ के समान चिकित्सा करे तत्पश्चात् वेध जनित व्रण का भली भाँति रोपण हो जाने पर किसी मृदु अञ्जन का प्रयोग करे॥

वक्तव्य—अ० सं० उ० अ० १७—

यथोक्ताऽऽचाराऽतिक्रमात् तु व्यधः पामुकपयाति, अक्षिष्यन्द अधिमन्थादयश्च स्युः व्यधदोषाश्च, तान् यथास्वमुपक्रमेत्।

व्यधदोषः पुनः ऊर्ध्वं, अधः, कृष्णासन्नं, अपांगासन्नं, सिराव्यधश्च। तत्र अधोव्यधात् अत्यर्थशूलाश्रुरागाः शलाकायाश्च उपलेपो बहुल पिच्छिलः कृष्णं च बलिभिः उपचीयते नयनं च निःस्रवति तद् वर्जयेत्।

ऊर्ध्वव्यधात् अतिमात्ररुक्, तत्रात्युष्णघृतपरिषेको वातहरं च कर्म।

कृष्णासन्नव्यधात न सुखमुपनीयते पटलं, कृष्णे रुजा, दृष्टिः अपि रक्ताऽवच्छादिता कृष्णमण्डलाभा भवति। तत्र सर्पिःसेकविरेकरक्तमोक्षैः सिद्धिः।

अपांगासन्नव्यधात् शोक शूलतोदोद्भेद सास्राश्रु स्रुतयः। तत्र मूत्रघृतसेकोपवासौ भ्रुवोः अन्तरे च दाहः। सिराव्यधात् रक्तागमो विविधाश्च वेदनाः। तत्र स्तन्यमधुविपक्वेन सर्पिषा परिषेकोऽपांगे च दाहः। सिराजालवति तु नेत्रे प्राक् सिरा जालमपनयेत्। ततो लब्धबलं स्निग्धं च व्यध्येत्।

अथो शलाकाभ्रमण दोषाः—क्षोभणं (शलाका क्षोभणं) ऊर्ध्वं (ऊर्ध्वं प्रणयनम्), अधः (अधः प्रणयनम्), अत्यर्थं दृष्टिघट्टनं, अतिदृष्टिप्रेरणं च। तत्र शलाकाक्षोभणात्—विस्यन्दनतोदभेदवारिमन्थाः। तस्मिन् यष्टिमधुकपटोल्या घृतमृदितया सेको जलौकसंच।

ऊर्ध्वप्रणयनात् रागोऽतिवेदना च। तत्रोपवासो घृतसेकश्च स्पर्शसुखः। अधःप्रणयनात्—शूलं रक्तागमश्च। तत्रक्षोभणवत् सिद्धिः। अत्यर्थं दृष्टिघट्टनात्–दृष्ट्याऽऽकुलता तस्मिन् सर्पिर्मण्डानुवासनं च। अतीत्य दृष्टिं शलाकायाः प्रेरणात रक्तस्रवणं रक्ताभरूपदर्शनं च। तत्र सर्पिःसेकोपवासौ जलौकसश्च। लिंगनाशदोषास्तु—स्फुटनमपगलनं विस्तरणमुत्तमवमं लीनता च। तत्र शलाकया स्पृष्टो लिंगनाशो यः स्फुटति

तमेरण्डपत्रस्विन्नं खण्डशःशोधयेत् । ततः कृष्णा सैन्धव मधुभिः अवपीडनम् । अवगलति तु शलाकामपनीय स्तन्यसेक वद्यात् अवपीडनं शुण्ठीगुड जलौकसश्च । विस्तीर्यमाणे—मुखे सुखोष्णाम्बुप्लुतेन वाससा स्वेदो घृतमण्डस्य प्रतिमर्शः सद्यवत् उत्प्लवमाने वित्रासनं च शीताम्भसा चोत्सिचनम् । स्थिरे चले च दोषे पत्रभंगस्वेदः, तथापि अनवगच्छति, शलाकोपगमे वा पुनः उत्प्लवने स्नेहपाननस्यादिभिः उपपाद्य पुनः व्यध्येत्, एवमपि पुनः उत्प्लवने—भ्रुवोः अन्तरे दाहः । यस्तु अपकृष्यमाणो दृष्टिमण्डले लीयते—तत्र क्षीरेण नाड़ीस्वेदं दद्यात्, शताह्वा मधुकचूर्णं संसृष्टं च घृतं प्रतिमर्श इति ।

भवति चात्र

विद्धेऽक्षिण कार्ये स्वेदादौ नियमाऽयं विधीयते ।
स्वेददाहप्रतिमर्शाः सद्यो विद्धे तु सेचनम् ।
अवपीडं तृतीयेऽह्नि युंज्यात् तद्वत् जलौकसः ।
सप्ताहान्ते सिरामोक्षं विरेकं वस्ति-कर्म च ।

अर्थात्—उक्त आहार विहार (श्लो. १८-२० देखिये) का अतिक्रमण करने से —शलाका वेध का स्थान पक सकता है तथा अभिष्यन्द एवं अधिमन्थ आदि रोग हो सकते हैं अथवा निम्न लिखित व्यधदोष ही सकते हैं— उस दशा में उचित उपचार करे। व्यधदोष ये हैं १—ऊर्ध्ववेध २-अधोवेध, ३--कृष्णाऽऽसन्नवेध (कृष्णमंडल के समीप वेधन कर्म), ४--अपांगाऽऽसन्नवेध (अपांग के समीप वेधन कर्म) तथा ५--सिराव्यध (नेत्रगत सिराओं का विध जाना)। इनमें—अधोवेध से—अत्यन्त शूल, अश्रु स्राव तथा लाली, शलाका पर बहुत पिच्छिल उपलेप, कृष्णमण्डल पर बलियों (झुरियों) का पड़ना और नेत्र के समस्त जलीयांश का स्राव हो जाना (नेत्र गोलक सूखना) होता है। इस दशा में किसी भी चिकित्सा से लाभ नहीं होता (नेत्र गोलक नष्ट ही हो जाता है)। अर्ध्व वेध (उक्त वेध—स्थान से ऊपर वेध होने) से—अत्यन्त वेदना होती है। इस दशा में--उष्ण घृत का सेचन करे तथा वात नाशक चिकित्सा करे। कृष्णमण्डल के समीप वेध होने से- पटल सुख पूर्वक उपनीत नहीं होता--नहीं किया जा सकता, कृष्ण मण्डल में वेदना होती है और दृष्टिमण्डल भी रक्त से अवच्छादित होकर कृष्णमण्डल के सदृश वर्णवाला हो जाता है। इस दशा में घृत का सेचन करे और विरेचन तथा रक्तमोक्षण से सफलता मिलती है। अपांग के समीप वेध होने से--शोथ, शूल व्यथा भेदन (फट जाना) तथा रक्त मिश्रित अश्रुस्राव होता है। इस दशा में—मूत्र मिश्रित घृत का सेवन, उपवास तथा भौंवों के मध्य भाग में दाह कर्म—अग्नि कर्म करे। सिरा का वेध हो जाने से (दैवकृत छिद्र में सिरा नहीं रहती है)—रक्त स्राव होता है तथा विविध प्रकार की वेदना होती है। इस दशा में--नारी दुग्ध तथा मुलेठी योग से सिद्ध घृत का सेवन और अपांग में दाह कर्म करे। यदि नेत्र में लिंगनाश के साथ-साथ सिराजाल नामक रोग हो तो प्रथम सिराजाल की चिकित्सा करे तत्पश्चात् नेत्र स्वस्थ हो जाने पर स्नेहन करके वेध कर्म करे।

शलाका भ्रमण में उत्पन्न होने वाले दोष (व्यापद्) ये हैं—१—शलाका का क्षोभण-विचलन-संचलन, २, उपर की ओर प्रणयन- लेजाना चला जाना, ३ नीचे की ओर प्रणयन, ४, दृष्टिमण्डल का अत्यधिक घट्टन (चलित होना)। ५, दृष्टिमण्डल का अत्यधिक प्रेरण (इधर उधर करना) इनमें से १, शलाका क्षोभण से- स्पन्दन- कम्पन (अथवा विस्यन्दन-स्रावण) होता है तथा व्यथा, भेदन एवं परिमथन- (विलोडन) होता है इस दशा में- मलेठी तथा पटोल पत्र का स्वरस घृत में मिला कर सेवन करे और जोंक लगावे।

२—ऊपर की ओर प्रणयन करने से-नेत्र में लाली तथा अत्यधिक वेदना होती है। इस दशा में- उपवास करावे तथा कोसे-कोसे घृत का सेवन करे। ३, नीचे की ओर प्रणयन होने से- शूल तथा रक्त स्राव होता है। इस दशा में क्षोभण के समान चिकित्सा करने से सफलता मिलती है। ४, अत्यर्थं दृष्टिघट्टन से- दृष्टि में व्याकुलता- व्यस्तता होती है। इस दशा में घृतमंड का सेवन करे और अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे। ५, दृष्टिमंडल के आगे तक शलाका चली जाने से रक्त का स्राव होता है अथवा सब द्रव्य लाल से दिखते लगते है। इस दशा मे- घृत का सेवन करे उपवास करावे तथा जोंक लगावे।

लिंगनाश के दोष ये हैं।

स्फुटन- फूटना २, अवगलन-अवगलित होना स्वस्थान से च्युत हो जाना (अथवा गल स्रवणे चु० अ० सेट् धातु मान कर स्रुत होजाना)। ३, विस्तरण-विस्तृत होना-फैलना। ४, उत्प्लवन- ऊपर उठना ५, लीनता, सट जाना- चिपक जाना।

इनमें—१--जोलिंगनाश--शलाका स्पर्श से फूट-टूट जाय उसे एरण्ड पत्रों से स्वेदित करे और उसका प्रत्येक टुकड़ा निकाल देवे। तत्पश्चात्--पीपल, सैन्धव लवण तथा मधु की नस्य देवे। २—यदि अवगलित हो रहा हो तो शलाका निकाल कर नारी दुग्ध का सेचन करे, सोंठ एवं गुड की नस्य देवे तथा जोंक लगावें। ३ विस्तीर्ण हो रहा हो तो--कोसे जल में भीगे वस्त्र से मुख पर स्वेदन करे और घृतमण्ड का प्रतिमर्श नस्य देवें। ४. उत्प्लव हो रहा हो तो--रोगी को भयभीत करे और मुख पर शीतल जल का सिंचन करे--छींटे देवे यदि दोष (लिंग नाश) स्थिर अथवा चल हो तो—पत्रभंग का स्वेदन करे इतना सब करने पर भी यदि अवगत न हो अथवा शलाका प्रयोग करने पर पुनः उत्प्लव हो तो स्नेहपान

एवं नस्य आदि का प्रयोग करके पुनः वेधन कर्म करे। ऐसा करनेपर भी यदि पुनः उल्लवन हो तो भौंवों के मध्यभाग में दाह कर्म करे। जो लिंग नाश अपकर्षण करने पर भी दृष्टिमण्डल में लीन--सटा चिपका रहता है उस (दशा) में--दूध द्वारा नाड़ी स्वेदन करे और सोया एवं मुलेठी का चूर्ण मिला कर घृत की नस्य देवे। इस सम्बन्ध में पूर्वज महर्षियों का कथन है कि, नेत्र में वेधनकर्म करने पर यदि उक्त व्यापदों में स्वेदन आदि कर्मों की आवश्यकता हो तो निम्नलिखित नियम, व्यवस्थानुसार स्वेद, दाहकर्म तथा नस्य का प्रयोग करे। यथा—वेधन के पश्चात् तत्काल सेचन करे अर्थात् स्वेदन करे। तीसरे दिन--नस्य एवं जोंक का प्रयोग करे। और सातवें दिन--सिरामोक्षण, विरेचन तथा वस्ति कर्म करे॥ २९॥

वर्त्ति अञ्जन—

आढकीमूलमरिचहरितालरसाञ्जनैः।
विद्धेऽक्ष्णि सगुडा वर्तिर्योज्या दिव्याम्बुपेषिता॥३०॥

व्याख्या—वेधन कर्म के पश्चात्—अरहर की जड़ की छाल, मरिच, हरिताल, रसवत तथा गुड़ सबको सम भाग लेकर और वर्षा के जल में पीसकर बत्ती बनावे और उसका अञ्जन करे॥

वक्तव्य—वेधजनित व्रण का पूर्णरूपेण रोपण हो जाने पर इस बत्ती का प्रयोग दृष्टि की शक्ति बढ़ाने के लिये करे॥ ३०॥

पिष्टाञ्जन—

जाती-शिरीष-धव-मेषविषाण-पुष्प-
वैडूर्यमौक्तिकफलं पयसा सुपिष्टम्।
आजेन ताम्रमनुना प्रतनु प्रदिग्धं
सप्ताहतः पुनरिदं पयसैव पिष्टम्॥ ३१॥
पिण्डाञ्जनं हितमनातपशुष्कमक्ष्णि-
विद्धे प्रसादजननं बलकृच्च दृष्टेः।
स्रोतोज-विद्रुम-शिलाऽम्बुधिफेन-तीक्ष्णै—
रस्यैव तुल्यमुदितं गुणकल्पनाभिः॥ ३२॥

व्याख्या—चमेली के पुष्प, सिरस के पुष्प, धव के पुष्प तथा मेढ़ासिंगी के पुष्प और वैडूर्यमणि तथा मोती। सब समभाग लेकर और बकरी के दूध में पीसकर ताम्र के पत्तों पर पतला २ लेप करे सात दिन के पश्चात् उसे ताम्र के पत्तों पर से उतार कर पुनः बकरी के दूध में पीसकर तथा छाया में सुखाकर और पुनः पीसकर रख लेवे। यह अञ्जन—वेध कर्म के पश्चात् लगाते रहना चाहिये। यह नेत्रों को स्वच्छ करता है और दृष्टि को बल देता है।

इसी विधि से—काला सुरमा, मूँगा, मैनसिल, समुद्र फेन तथा मरिच का अञ्जन बनावे। यह उक्त अञ्जन के समान गुणों वाला है॥

वक्तव्य—काला सुरमा आदि को चमेली आदि के फूलों के साथ पीसकर ताम्र के पत्तों पर लेप करना आदि सब विधि करे॥ ३१-३२॥

इत्यष्टांगहृदये उत्तरस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथाऽतः सर्वाक्षिरोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब समस्त नेत्र पर प्रभाव डालनेवाले नेत्र रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इसका वर्णन च. चि. अ. २६, सु. उ. अ. ६ तथा अ. सं. उ. अ. १८ में देखिये। ये वे रोग हैं जिनका प्रभाव समस्त नेत्र तथा नेत्र से सम्बद्ध समस्त अवयवों पर पड़ता है।

वाताभिष्यन्द, अधिमन्थ तथा हताधिमन्थ—

वातेन नेत्रेऽभिष्यण्णे नासानाहोऽल्पशोफता।
शङ्खादिभ्रूललाटस्य तोदस्फुरणभेदनम्॥ १॥
शुष्काल्पा दूषिका शीतमच्छमश्रु चला रुजः।
निमेषोन्मेषणं कृच्छ्राज्जन्तूनामिव सर्पणम्॥ २॥
अक्ष्याध्मातमिवाभाति सूक्ष्मैः शल्यैरिवाचितम्।
स्निग्धोष्णैश्चोपशमनं सोऽभिष्यन्द उपेक्षितः॥ ३॥
अधिमन्थो भवेत्तत्र कर्णयोर्नदनं भ्रमः।
अरण्येव च मथ्यन्ते ललाटाक्षिभ्रुवादयः॥ ४॥
हताधिमन्थः सोऽपि स्यात् प्रमादात्तेन वेदनाः।
अनेकरूपा जायन्ते व्रणो दृष्टौ च दृष्टिहा॥ ५॥

व्याख्या—नेत्र में वातजनित अभिष्यन्द नामक रोग में—नासारन्ध्रों में रुकावट तथा थोड़ा शोथ, शंख, समस्त नेत्र, भौं तथा माथा में व्यथा, फरफराहट तथा भेदन की सी वेदना, नेत्रों में सूखापन तथा थोडी २ दूषिका (कीचड़-गिड्ड) शीतल तथा स्वच्छ आँसू, चल-लहर वाली वेदनाएँ, निमेष तथा उन्मेष में कष्ट, नेत्र में क्रिमियों के घूमने की प्रतीति, नेत्र में आध्मान—फुलाव-खिंचाव सा नेत्र में सूक्ष्म शल्य तृण-कांटे पड़े प्रतीत होना और स्निग्ध तथा उष्ण आहार एवं औषध से शान्ति लाभ। यह सब लक्षण होते हैं।

अधिमन्थ—उक्त अभिष्यन्द की उपेक्षा करने से—उचित उपचार न करने से अधिमन्थ नामक रोग हो जाता है-हो सकता है-उसके लक्षण हैं-कानों में नाद, शिर में चक्कर और माथा, नेत्रों तथा भौं में अरणी

के मन्थन की सी भीषण वेदना (रोगी के शब्दों में उक्त अंग फटते हैं फटे जाते हैं आदि २। और वाताभिष्यन्द के सब लक्षणों की उग्रता।

उक्त अधिमन्थ रोग में भी प्रमाद करने से—उचित उपचार न करने से—हताधिमन्थ नामक रोग हो जाता है। इसमें अनेक प्रकार की अनिर्वचनीय वदना होती हैं और नेत्र में व्रण हो जाता है तो दृष्टि सर्वथा नष्ट हो जाती है॥

वक्तव्यं—सु. उ. अ. ६—

उपेक्षणात् अक्षि यदाऽधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य।
रुजाभिः उग्राभिः असाध्य एष हताधिमन्थः खलु नामरोगः २३
अन्तःसिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टि प्रतिक्षिपन्।
हताधिमन्थं जनयेत् तमसाध्यंविदुः बुधाः ॥२४॥

अर्थात् जब वातजनित अधिमन्थ-उपेक्षा करने से उग्र वेदनाओं द्वारा नेत्र को अवसन्न कर देता है तब वह "हताऽधिमन्थ" कहलाता है और वह असाध्य होता है। भगवान् धन्वन्तरि का कथन है कि—सिराओं के भीतर रहने वाला वायु - दृष्टि को अवसन्न करता हुआ "हताधिमन्थ" नामक रोग को उत्पन्न करता है वह असाध्य होता है—उसे नेत्र चिकित्सक असाध्य मानते हैं॥१ ५॥

अन्यतोवात तथा वात विपर्यय—

मन्यादिशङ्खतो वायुरन्यतो वा प्रवर्तयेत्।
व्यथां तीव्रामपैच्छिल्यरागशोफं विलोचनम् ॥६॥
सङ्कोचयति पर्यश्रु सोऽन्यतोवातसंज्ञितः।
तद्वन्नेत्रं भवेज्जिह्ममूनं वावातपर्यये ॥ ७॥

व्याख्या—अन्यतोवात नामक रोग का वर्णन—जब कुपित वायु—मन्या, नेत्र तथा शंख प्रदेश से अथवा अवटु, कर्ण, शिर तथा हनु से तीव्र वेदनाओं को प्रारम्भ करता है और नेत्र को संकुचित कर देता है और नेत्र में पिच्छिलता दूषिका, लालिमा एवं शोथ नहीं होता परन्तु आँसू बहुत जाते हैं तब उस विकार को "अन्यतोवात" कहते हैं। वातवितर्यय में— उक्त अन्यतोवात के समान सब लक्षण होते हैं और नेत्र गोलक टेढा तथा ऊन-न्यून-छोटा हो जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—इसका नाम—"वात पर्याय" है और इसकी वेदना पर्यायशः घूमती है। उक्त दोनों रोगों में मन्या आदि अवयवों से नेत्र में तथा नेत्र से मन्या आदि में वेदना के तरङ्ग उठते हैं और आते-जाते प्रतीत होते हैं॥६-७॥

पित्तज एवं कफज अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ—

दाहो धूमायनं शोफः श्यावता वर्त्मनो बहिः।
अन्तःक्लेदोऽश्रु पीतोष्णं रागः पीताभदर्शनम् ॥ ८ ॥
क्षारोक्षितक्षताक्षित्वं पित्ताभिष्यन्दलक्षणम्।
ज्वलदङ्गारकीर्णाभं यकृत्पिण्डसमप्रभम् ॥ ९ ॥
अधिमन्थे भवेन्नेत्रं स्यन्दे तु कफसम्भवे।
जाड्यं शोफो महान् कण्डूर्निद्राऽन्नानभिनन्दनम्॥१०॥
सान्द्रस्निग्धबहुश्वेतपिच्छावद्दूषिका श्रुता।
अधिमन्थे नतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम् ॥ ११ ॥
प्रसेको नासिकाध्मानं पांशुपूर्णमिवेक्षणम्।

व्याख्या—पित्त जनित अभिष्यन्द का लक्षण—नेत्रों में दाह, धूआँ सा निकलना, शोथ, वर्त्मों पर, वर्त्मों के भीतर की ओर क्लेद—सडन-आर्द्रता, अश्रुओं का वर्ण पीला और स्पर्श उष्ण नेत्र गोलक पर लालिमा सब वस्तु पीली सी दिखना तथा—क्षार दग्ध के समान नेत्र में क्षत होना। पित्त जनित अधिमन्थ के लक्षण—समस्त नेत्र जलते अंगारों से व्याप्त—झुलसा सा हो जाता है। कफ जनित अभिष्यन्द का लक्षण—नेत्र गोलक में जड़ता-नेत्रगोलक में मन्दता तथा दृष्टि में दुर्बलता, अत्यधिक शोथ, कण्डू, निद्राधिक्य, भोजन में अरुचि, अश्रु तथा दूषिका में गाढ़ापन, स्निग्धता अधिकता. तथा चिपचिपापन। कफ जनित अधिमन्थ में—कृष्ण मण्डल अवनत तथा शुक्लमण्डल उन्नत हो जाता है, लालास्राव, नासारन्ध्रों में आध्मान और नेत्रों में धूलि भरी प्रतीत होना। ये लक्षण होते हैं॥ ८-११ ॥

रक्तज अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ—

रक्ताश्रुराजीदूषीकशुक्लमण्डलदर्शनम् ॥ १२ ॥
रक्तस्यन्देन नयनं सपित्तस्यन्दलक्षणम्।
मन्थेऽक्षि ताम्रपर्यन्तमुत्पाटनसमानरुक् ॥ १३ ॥
रागेण बन्धूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम्।
असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम् ॥ १४ ॥

व्याख्या—रक्त जनित अभिष्यन्द से—आँसू, सिराओं तथा दूषिका (कीचड) में लालिमा, शुक्लमण्डल तथा दृष्टि मण्डल में भी लालिमा तथा सब लक्षण पित्तजनित अभिष्यन्द के समान होते हैं। और रक्त जनित अधिमन्थ में—नेत्र गोलक का वर्ण ताम्र का सा लाल, उसमें फटने के समान वेदना, बन्धूक (गुड़हल) के पुष्प के समान लालिमा, अन्धकार की प्रतीति, स्पर्श का सहन न होना, नेत्र छूने में भी अत्यधिक वेदना का अनुभव, कृष्णमण्डल रक्त में डुबाए रींठाका सा हो जाना तथा नेत्रों के सामने अग्नि की प्रतीति। ये लक्षण होते हैं॥१२-१४॥

अधिमन्थ का सामान्य लक्षण—

अधिमन्था यथास्वं च सर्वे स्यन्दाधिकव्यथाः।
शङ्ख-दन्त-कपोलेषु कपाले चाऽतिरुक्कराः ॥ १५ ॥

व्याख्या—सब अधिमन्थ अपने २ अभिष्यन्द से

अधिक—उग्र वेदना करते हैं और उनमें शंख, दन्त, कपोल तथा शिर में अत्यधिक वेदना होती है ॥

वक्तव्य—४ प्रकार के अभिष्यन्द तथा चार प्रकार के अधिमन्थ होते हैं। अधिमन्थ में अभिष्यन्द के लक्षणों के साथ २—उक्त विशिष्ट लक्षण हो जाते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—सु उ. अ. ६—

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।

शिरसोऽर्द्धं च तं विद्यात् अधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥ ११ ॥

अर्थात् अधिमन्थ रोग में—प्रतीत होता है कि नेत्र गोलक उखाड़ा—फाड़ा जा रहा है और शिरका आधा भाग मथा जा रहा है। इसे सम्बल वायु तथा पञ्जाब में उलल एवं उलली कहते हैं ॥१५॥

शुष्काक्षिपाक का वर्णन—

वातपित्तोत्तरं घर्षतोदभेदोपदेहवत्।
रूक्षदारुणवर्त्माक्षि-कृच्छ्रोन्मीलनमीलनम् ॥ १६ ॥
विकूणनविशुष्कत्वशीतेच्छाशूलपाकवत्।
उक्तः शुष्काक्षिपाकोऽयं

व्याख्या—यह शुष्काक्षिपाक नामक रोग—वातपित्त प्रधान होता है (अर्थात् इस रोगमें वायु एवं पित्त के लक्षण होते हैं) अतएव नेत्र में घर्षण (रड़क), व्यथा, भेदनवत् पीड़ा तथा उपदेह (कीचड़ एवं शोथ) होता है, वर्त्म (पलक)—रूक्ष तथा कठोर हो जाते हैं उनके उन्मीलन तथा निमीलन में कष्ट होता है, नेत्र निमीलित रहता है, सूखा रहता है, शीत स्पर्श की इच्छा बनी रहती है अर्थात् नेत्र में जलन होती है, शूल तथा पाक हो जाता है।

वक्तव्य—सु. उ. अ. ६

यत् कूणितं दारुण रूक्ष वर्त्म विलोकने चाऽऽविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥२६॥

अर्थात्—जो नेत्र निमीलित रहता है, वर्त्म कठोर एवं रूक्ष बने रहते हैं, दृष्टि मलिन—मन्द हो जाती है जागने में कष्ट होता है वह नेत्र "शुष्काक्षिपाक" से उपहत कहा जाता है ॥ १६ ॥

सशोफ पाक रोग का वर्णन—

सशोफः स्यात्त्रिभिर्मलैः ॥१७॥
सरक्तैस्तत्र शोफोऽतिरुग्दाहष्ठीवनादिमान्।
पक्वोदुम्बरसङ्काशं जायते शुक्लमण्डलम् ॥ १८ ॥
अश्रूष्णशीतविशदपिच्छिलाच्छघनं मुहुः।

व्याख्या—सशोफ नेत्र पाक नामक रोग—रक्त युक्त वातादि तीनों दोषों की विकृति से उत्पन्न होता है और उसमें नेत्र गोलक सूज जाता है, अत्यधिक वेदना, दाह तथा मल से लालास्राव होता है, नेत्र गोलक का शुक्ल मण्डल-परिपक्व गूलर के समान लाल तथा पिलपिला हो जाता है और आँसू-कभी उष्ण, कभी शीत, कभी विशद तो कभी पिच्छिल और कभी स्वच्छ तो कभी घन (गाढ़े) और बार २ बहते हैं ॥ १७-१८ ॥

अल्पशोफ का वर्णन—

अल्पशोफेऽल्पशोफस्तु पाकोऽन्यैर्लक्षणैस्तथा ॥ १९ ॥

व्याख्या—अल्प नेत्र पाक में शोथ स्वल्प होता है और सशोथ पाक के अन्य लक्षणों युक्त पाक हो जाता है।

वक्तव्य—सु. उ. अ. ६.में इन दोषोंका वर्णन है।यथा—

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः।
दाहसंहर्षताम्रत्व शोफ निस्तोद गौरवैः ॥२१॥
जुष्टो मुहुः स्रवेत् चाऽस्रं उष्णशीताम्बुपिच्छिलम्।
संरम्भो जायते यश्च नेत्रपाकः स शोफजः ॥२२॥
शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे।

अर्थात्—शोथ जनित नेत्रपाक में—नेत्र गोलक में परिपक्व गूलर के समान वर्णवाला शोथ हो जाता है, वह—कण्डू, दूषिका तथा आँसू से युक्त और दाह, संहर्ष (सघर्षण) लालिमा, सूजन, व्यथा तथा गुरुता से युक्त होता है और कभी उष्ण तो कभी शीत, जल के से तो कभी पिच्छिल आँसू बहते रहते हैं और वह शोथ—वेग के साथ—शीघ्र ही पक जाता है। यह नेत्रपाक शोफज-शोथ जनित कहलाता है और अशोफजनित नेत्र पाक में शोथ के अतिरिक्त सब लक्षण होते हैं। इस रोग में नेत्र गोलज फोड़ा के समान पक कर नष्ट हो जाता है और अशोफज नेत्र पाक में फोड़ा न बन कर नेत्र गोलक सूख जाता है कभी २ कुछ छोटा होकर रह भी जाता है। सशोथज नेत्रपाक से नेत्र "काना" हो जाता है ॥१९॥

अक्षिपाकात्यय का वर्णन—

अक्षिपाकात्यये शोफः संरम्भः कलुषाश्रुता।
कफोपादग्धमसितं सितप्रक्लेदरागवत् ॥ ०॥
दाहो दर्शनसंरोधो वेदनाश्चानवस्थिताः।

व्याख्या—अक्षिपाकात्यय नामक रोग में—शीघ्रता पूर्वक शोथ उत्पन्न होता है, मलिन आँसू बहते हैं, और कृष्ण मण्डल कफ से लिपा रहता है तथा श्वेत मण्डल सड़न तथा लालिमा से युक्त हो जाता है, दाह होता है और दृष्टि दर्शन शक्ति—दृष्टि मण्डल का नाश हो जता है और अनवस्थित वेदना होती हैं ॥

वक्तव्य—इस दशा में नेत्र गोलक पक कर सड़ जाता है फलतः नेत्र नष्ट हो जाता है और रोगी सदा के लिये काणा काना हो जाता है। इस रोग को अतएव असाध्य माना है देखिये श्लोक २३। अक्षिपाकात्यय अर्थात् नेत्रका पंका

अत्यय अर्थात् अति क्रमण—पराकाष्टा फलतः नेत्र विनाश। सु. उ. अ. १ में इसे असाध्य माना है। यथा—

पूयास्रावो नाकुलान्ध्य अक्षिपाकात्ययोऽलजी।
असाध्या सर्वजाः...................॥१६॥

अम्लोषित का वर्णन—

अन्नसारोऽम्लतां नीतः पित्तरक्तोल्वणैर्मलैः ॥ २१ ॥
सिराभिर्नेत्रमारूढ़ः करोति श्यावलोहितम्।
सशोफदाहपाकाश्रु भृशं चाविलदर्शनम् ॥२२॥
अन्नोषितोऽयम्

व्याख्या—पित्त एवं रक्त है अधिक कुपित जिन में ऐसे वात एवं पित्त नामक दोषों द्वारा जब आहाररस अम्ल हो जाता है और वह अम्ली भूत रस—सिराओं द्वारा नेत्र में पहुँच जाता है तब वह नेत्र को साँवला लाल कर देता है और उसमें शोथ, दाह, पाक तथा अश्रुस्राव होता है और दृष्टि मलिन हो जाती है। इसका नाम "अम्लोषित" है।

वक्तव्य—सु. उ. अ ६में इसका नाम "अम्लाऽध्युषित" है। यह अम्ल पदार्थ खाने से अम्लपित्त नामक रोग के प्रभाव से होता है। और अम्लदग्धा दृष्टि नामक रोग का वर्णन अ हृ. अ. १२ श्लो० १४ में देखिये।

सर्वगत रोग संख्या—

इत्युक्ता गदाः षोडश सर्वगाः।

व्याख्या—इस प्रकार समस्त नेत्र पर प्रभाव डालने वाले १६ रोगों का वर्णन कर दिया गया है॥

वक्तव्य—१. वाताभिष्यन्द, २. वाताधिमन्थ ३. हताधिमन्थ, ४. अन्यतो वात, ५. वातपर्यय, ६. पित्ताऽभिष्यन्द, ७. पित्ताधिमन्थ, ८. कफाभिष्यन्द, ९. कफाऽधिमन्थ, १०. रक्ताभिष्यन्द, ११. रक्ताधिमन्थ, १२ शुष्काभिपाक १३. सशोफ, १४. अल्पशोफ १५. अक्षिपाकात्यय तथा, १६. अम्लोषित। इन १६ रोगों का प्रभाव समस्त नेत्र एवं नेत्र से सम्बद्ध भी, शंख एवं अन्यान्य अवयवों पर पड़ता है और नेत्रगोलक का विनाश तक हो जाता है।

असाध्य रोग—

हताधिमन्थमेतेषु साक्षिपाकात्ययं त्यजेत् ॥२३॥

व्याख्या—इन १६ रोगों में—हताधिमन्थ तथा अक्षिपाकात्यय नामक २ रोग असाध्य होते हैं (मारकनहीं)।

वक्तव्य—हताधिमन्थ में दृष्टि का नाश और अक्षिपाकात्यय में नेत्र गोलक का नाश हो जाने पर सब वेदना नष्ट हो जाती है॥ २३॥

अधिमन्थ की काल मर्यादा—

वातोद्भूतः पञ्चरात्रेण दृष्टिं
सप्ताहेन श्लेष्मजातोऽधिमन्थ.।
रक्तोत्पन्नो हन्ति तद्वत्त्रिरात्रात्
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥२४॥

व्याख्या—अधिमन्थ नामक रोग में मैथुन आदि मिथ्या आचरण—आहार विहार करने से वात जनित अधिमन्थ—५ दिन में, कफ जनित अधिमन्थ सात दिन में, रक्त जनित अभिमन्थ तीन दिन में और पित्तजनित अधिमन्थ तत्काल दृष्टि-दर्शन शक्ति को नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—अधिमन्थ नामक रोग को "सम्बल वायु" तथा पञ्जाब प्रदेश में "उलल" कहते हैं। अभिष्यन्द रोग में उपेक्षा करने अथवा मिथ्या आहार विहार करने से हो जाता है अभिष्यन्द को आँख आना, आँख दुखना कहते हैं। इस रोग में नेत्र से अभितः—सर्वतः स्यन्दन—स्राव होता है और अधिमन्थ में नेत्र में तथा ग्रीवा के ऊपर के समस्त अवयवों—शिर भर में मन्थन कीसी भीषण वेदना होती है॥ २४॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः।

अथाऽतः सर्वाक्षिरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब अध्याय १४ में कहे गये सर्वाक्षिगत रोगों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य इस विषय का वर्णन—च. चि. अ. २६, सु. उ. अ. ९-१० ११ तथा १२ में और अ. सं. उ. अ. १९-२० में देखिये

अभिष्यन्द के पूर्वरूप में—

प्राग्रूप एव स्यन्देषु तीक्ष्णगण्डूषनावनम्।
कारयेदुपवासं च कोपादन्यत्र वातजात् ॥१॥

व्याख्या—सभी प्रकारके अभिष्यन्दों की पूर्वरूपावस्था में—अर्थात् प्रारम्भ में—तीक्ष्ण द्रव्यों के गण्डूष (कवल-कुल्ले) तथा नस्य का प्रयोग करे जिस से दोषों का स्रावण होकर बल घट जाय और उपवास करे। परन्तु वात जनित अभिष्यन्द में उक्त चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—अपितु—स्नेहपान, स्वेदन आदि वात शामक उपचार करे॥१॥

बिड़ालक विधान—

बाह्योपदेहरागाश्रु-शोफशान्त्यै बिडालकम्।
कुर्यात्सर्वत्र पत्रैलामरिचस्वर्णगैरिकैः॥ २॥
सरसाञ्जनयष्ट्याह्व-नतचन्दनसैन्धवैः।
सैन्धवं नागरं तार्क्ष्यं भृष्टं मण्डेन सर्पिषः॥ ३॥

वातजे घृतभृष्टं वा योज्यं शावरदेशजम् ।
मांसीपद्मककाकोलीयष्ट्याह्वैः पित्तरक्तयोः ॥ ४ ॥
मनोह्वाफलिनीक्षौद्रैः कफे सर्वैस्तु सर्वजे ।

व्याख्या—सब प्रकार के अभिष्यन्दों में—दाह, उपदेह (कीचड़-चिपचिपाहट), लालिमा, अश्रुस्राव तथा शोथ की शान्ति के लिये तेजपत्ता, बड़ी इलायची, मरिच, सोनागेरू, रसवत, मुलेठी, तगर, लालचन्दन तथा सैन्धव लवण को जल में पीसकर विडालक (अर्थात् नेत्र के बाहिर वर्त्मों पर लेप) करे। वातजनित अभिष्यन्द में सैन्धव लवण, सोंठ तथा रसवत को घृतमण्डमें उष्ण करके अथवा पठानी लोध को घृत में उष्ण करके विडालक करे। पित्त जनित अभिष्यन्द में तथा रक्त जनित अभिष्यन्द में—जटामांसी, पद्मकाठ, काकोली तथा मुलेठी को जल में पीस कर विडालक करे। और कफ जनित अभिष्यन्द में—मैनसिल, प्रियङ्गु तथा मधु का विडालक करे। और त्रिदोषजनित अभिष्यन्द में—उक्त सब द्रव्यों को जल में पीसकर विडालक करे॥

वक्तव्य—विडालक—शालाक्य तन्त्र में विडालक उसे कहते हैं जो नेत्र के बाहिर—पलकों पर लेप किया जाता है। विडालको नेत्रबहिर्लेपः शालाक्ये उच्यते (च. चि. अ. २६ श्लोक २३१-२६१ की चक्रपाणि व्याख्या)। विडालको वहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जितः। शा. उ. ख. अ. १३। शालाक्य तन्त्र का यह पारिभाषिक शब्द है ॥ २-४ ॥

अवगुण्ठन विधान—

सितमरिचभागमेकं चतुर्मनोह्वं द्विरष्टशाबरकम् ।
संचूर्ण्य वस्त्रबद्धं प्रकुपितमात्रेऽवगुण्ठनं नेत्रे ॥ ५ ॥

व्याख्या—श्वेतमरिच १ भाग, मैनसिल ४ भाग, पठानी लोध १६ भाग। सब का सूक्ष्म चूर्ण बना कर और स्वच्छ वस्त्र में बान्ध कर और नेत्र पर धर कर पट्टी बान्ध देवे। यह उपचार अभिष्यन्द की उत्पत्ति होते ही करना चाहिये॥

वक्तव्य—अवगुण्ठन—इसका अर्थ अवचूर्णन या नेत्र में बुरकना है यथा—शिग्रुफल (श्वेत मरिच) मनोह्वा (मैनसिल) शावरलोधैः क्रमात् चतुर्गुणप्रवृद्धैः श्लक्ष्णरजोभिः सूक्ष्मतान्तवस्थैः नयनमवचूर्णयेत् (अ. सं. उ. अ. १९)। अर्थात् उक्त द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण सूक्ष्म वस्त्र में बान्धकर नेत्र में बुरकना चाहिये। एतत् अवगुण्ठनं शूल दाह अश्रु श्वयथु कण्डूषा पाक क्लेदोपदेहहरम् (अ. सं. अ. १९)। अर्थात् यह अवगुण्ठन—शूल आदि को नष्ट करता है। हमारे विचार से अवगुण्ठन का अर्थ—सूखे चूर्ण की ढीली पोटली से नेत्र को ढँकना ही है ॥५॥

चाकसू का अवचूर्णन—

आरण्याश्छगणरसे पटावबद्धाः
सुस्विन्ना नखवितुषीकृताः कुलत्थाः ।
तच्चूर्णं सकृदवचूर्णनान्निशीथे
नेत्राणां विधमति सद्य एव कोपम् ॥६॥

व्याख्या—जंगली कुलथी को कपड़ा में बान्ध-ढीली पोटली बना कर गोबर के रस में स्वेदन करे फिर उसके छिलके उतार कर सुखा लेवे और पीसकर सूक्ष्म चूर्ण बना लेवे। रात्रि में—इस चूर्ण का अवचूर्णन केवल एक वार करने से नेत्रों के कोप को तत्काल शान्त करता है। कोप अर्थात्—अभिष्यन्द॥

वक्तव्य—आरण्य कुलत्थ का नाम "चाकसू" है इस का उक्त विधि से प्रयोग भारत वर्ष की वृद्धा प्रायः रोहों में करती हैं इसके चूर्ण की चुटकी भर कर नेत्र में डाल दी जाती है इससे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वे चाकसू में थोड़ा तैल तथा उष्ण जल लगा कर रात्रि में धर देती हैं प्रातः काल उरद एवं मूंग की धुली दाल बनाने की विधि से उस का छिलका उतार देती हैं और रहा सहा नखों द्वारा उतार देती हैं। इस का चूर्ण—आटा या मैदा बना लेती हैं। यह चूर्ण अत्यन्त मृदु बनता है। यह पोथकी की (रोहे) की सुप्रसिद्ध औषध हैं ॥६॥

मूती विधान—

घोषाभयातुत्थकयष्टिरोध्रैः
मूती ससूक्ष्मैः श्लथवस्त्रबद्धैः ।
ताम्रस्थधान्याम्लनिमग्नमूतिः
रर्त्तिं जयत्यक्षिणि नैकरूपाम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—सौंफ हरड, मुलेठी तथा लोध १-१ तो. और भुना हुआ तूतिया १ माशा लेकर पीस लेवे और ६-६ की मूती अर्थात् पोटलिका—पोटली बना लेवे, पोटली सूक्ष्म एवं स्वच्छ कपड़ा में बनावे और ढीलीढाली रखनी चाहिये जिससे औषध सरलता से भीग सके फिर इस एक पोटली को तामा की कटोरी में काञ्जी डालकर भिगो देवे, भीगने पर उसे नेत्र पर इस प्रकार घुमावे जिससे उसका रस कुछ २ नेत्र में जाता रहे। यह अभिष्यन्द में होने वाली सब प्रकार की पीड़ा को शान्त करती है॥

वक्तव्य—पोटली का उपयोग सेचन का ही एक प्रकार है। पोटली नेत्र पर घुमाते समय औषध का रस नेत्र में पड़ता है ॥७॥

दारुहल्दी का सेचन—

षोडशभिः सलिलपलैः पलं तथैकं कटङ्कटेर्याः सिद्धम् ।
सेकोऽष्टभागशिष्टः क्षौद्रयुतः सर्वदोषकुपिते नेत्रे ॥८॥

व्याख्या—दारुहल्दी की छाल अथवा काष्ठ को कूट कर १६ पल जल में पकावे, दो पल रहने पर छान लेवे। इस क्वाथ में १–२ तोला मधु मिला कर नेत्र में सेचन करे। यह सेचन—सब प्रकार के अभिष्यन्दों में लाभ करता है ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. १९ में इस क्वाथ का आश्च्योतन करने का विधान है। आश्च्योतन में बूंदें टपकाई जाती हैं तात्पर्य दोनों का एक ही है ॥८॥

शिग्रुपत्रस्वरस का सेचन—

वातपित्तकफसन्निपातजां नेत्रयोर्बहुविधामपि व्यथाम्।
शीघ्रमेव जयति प्रयोजितः शिग्रुपल्लवरसः समाक्षिकः॥

व्याख्या—सहजन के पत्तों का स्वरस मधु मिला कर नेत्र में डालने से—वातज, पित्तज, कफज तथा त्रिदोषज अनेक प्रकार की नेत्राभिष्यन्द में होने वाली वेदनाओं को शीघ्र ही शान्त करता है ॥

वक्तव्य—सहजन की छाल के रस अथवा क्वाथ का भी आश्च्योतन किया जाता है। यह नेत्राभिष्यन्द की उत्तम औषध है ॥९॥

वातज अभिष्यन्द नाशक योग—

तरुणमुरुबूकपत्रं
मूलं च विभिद्य सिद्धमाजे क्षीरे।
वाताभिष्यन्दरुजं
सद्यो विनिहन्ति सक्तुपिण्डिका चोष्णा ॥१०॥

व्याख्या—एरण्ड के कोमल पत्र तथा आर्द्र मूल की छाल को दरदरा कूटकर बकरी के दूध में सिद्ध करे। यह दूध नेत्र में डालने से वातजनित अभिष्यन्द की वेदना को शीघ्र शान्त करता है। अथवा सत्तू को उस दूध में सानकर नेत्रपर बाँधने से वाताभिष्यन्द की वेदना शान्त होती है ॥ १० ॥

अन्यान्य आश्च्योतन—

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः।
कोष्णः सहैरण्डजटा-बृहतीमधुशिग्रुभिः ॥ ११ ॥
ह्रीबेरबकशार्ङ्गेष्टोदुम्बरत्वक्षु साधितम्।
साम्भसा पयसाऽऽजेन शूलाश्च्योतनमुत्तमम् ॥ १२ ॥
मञ्जिष्ठारजनीलाक्षा-द्राक्षार्द्धिमधुकोत्पलैः।
क्वाथः सशर्करः शीतः सेचनं रक्तपित्तजित् ॥ १३ ॥

व्याख्या—वातजनित अभिष्यन्द में—बिल्वादि पञ्चमूल के द्रव्यों तथा एरण्डमूलत्वक्, वनभण्टा की जड़ एवं मीठे सहजन की छाल का क्वाथ कोसा २ नेत्र में आश्च्योतन करने से लाभ होता है। नेत्रबाला, तगर, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा-मसी) तथा गूलर की छाल को कूटकर बकरी के दूध तथा जल में सिद्ध करके नेत्र में आश्च्योतन करे। यह शूल को शान्त करता है। मञ्जीठ, हलदी, लाख, दाख, मुलेठी, जलमुलेठी, तथा कमल का क्वाथ—खण्ड मिलाकर और शीतल होनेपर नेत्र में सेचन करे। यह रक्तपित्त जनित नेत्र रोग (अभिष्यन्द) को शान्त करता है ॥ ११-१३ ॥

अन्य आश्च्योतन—

कसेरुयष्ट्याह्वरजस्तान्तवे शिथिलं स्थितम्।
अप्सु दिव्यासु निहितं हितं स्यन्देऽस्रपित्तजे ॥ १४ ॥

व्याख्या—कसेरू एवं मुलेठी के चूर्ण को कपड़ा में ढीली पोटली बनाकर वर्षा के स्वच्छ जल में धर देवे—भिगो देवे और उसे रक्तपित्त जनित अभिष्यन्द में नेत्रपर घुमावे, उसका आश्च्योतन—सेचन करे ॥ १४ ॥

अन्य पोटली—

पुण्ड्रयष्टीनिशामूर्ती प्लुता स्तन्ये सशर्करे।
छागदुग्धेऽथवा दाहरुग्रागाश्रुनिवर्तनी ॥ १५ ॥

व्याख्या—पुण्डेरिया, मुलेठी तथा हलदी की मूर्ति अर्थात् पोटली नारी के दूध में मिश्री मिलाकर अथवा बकरी के दूध में भिगो देवे और उसे नेत्रपर घुमावे। यह मूर्ती—अभिष्यन्द रोग के दाह, वेदना, लालिमा तथा अश्रुस्राव को नष्ट करती है ॥ १५ ॥

लोध्रादि पोट्टली—

श्वेतलोध्रं समधुकं घृतभृष्टं सुचूर्णितम्।
वस्त्रस्थं स्तन्यमृदितं पित्तरक्ताऽभिघातजित् ॥ १६ ॥

व्याख्या—श्वेत लोध की छाल और मुलेठी को कूटकर थोड़ा घृत में भून-तल लेवे और फिर कपड़ा में पोटली बनाकर नारी के दूध में भिगो देवे, भीगने पर मलकर नेत्र में आश्च्योतन करे। यह पित्त, तथा अभिघात से उत्पन्न नेत्रविकार को शान्त करता है ॥ १६ ॥

नागरादि आश्च्योतन—

नागरत्रिफलानिम्ब-वासारोध्ररसं कफे।
कोष्णमाश्च्योतनं मिश्रैर्भेषजैः सान्निपातिके ॥ १७ ॥

व्याख्या—कफजनित अभिष्यन्द में—सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आमला, निम्ब की छाल, अडूसा के पत्र तथा लोध का क्वाथ बनाकर, कोसा २ नेत्र में आश्च्योतन करे। त्रिदोषज अभिष्यन्द में—उल्लिखित वात, पित्त, कफ तथा रक्त का शमन करने वाली औषधियों को मिला-जुलाकर उक्त विधि से प्रयुक्त करे ॥ १७ ॥

अभिष्यन्दों में अन्यान्य उपचार—

सर्पिः पुराणं पवनं पित्ते शर्करया युतम्।
व्योषसिद्धं कफे पीत्वा यवक्षारावचूर्णितम् ॥ १८ ॥
स्रावयेद्रुधिरं भूयस्ततः स्निग्धं विरेचयेत्।
आनूपवेसवारेण शिरोवदनलेपनम् ॥ १९ ॥

उष्णेन शूले, दाहे तु पयःसर्पिर्युतैर्हिमैः ।
तिमिरप्रतिषेधं च वीक्ष्य युञ्ज्याद्यथायथम् ॥ २० ॥

व्याख्या—वातजनित अभिष्यन्द में पुराना घृत पीवे, पित्त जनित अभिष्यन्द में मिसरी खण्ड मिलाकर घृत पीवे और कफ जनित अभिष्यन्द में—त्रिकटु के योग से सिद्ध घृत में जौखार मिलाकर पीवे। इस प्रकार स्नेहन के अनन्तर और रक्त जनित अभिष्यन्द में भी उक्त प्रकार से वातादि दोष का अनुबन्ध देखकर स्नेहन के अनन्तर रक्तस्रावण करे और फिर स्नेहन करके विरेचन करे। और साथ-साथ अनूपदेशीय सूअर आदि के मांस को पीसकर तथा घृत तैल आदि में संस्कृत करके शूल हो तो उष्ण २ लेप—शिर एवं मुखपर करे। और यदि दाह हो तो उल्लिखित मांस को दूध एवं घृत में मिलाकर शीतल २ शिर एवं मुखपर लेप करे। और तिमिर रोग की चिकित्सा (अ. १३) के अनुसार दोषादि का विचार करके उचित उपचार करे ॥ १६-२० ॥

अधिमन्थ चिकित्सा—

अयमेव विधिः सर्वो मन्थादिष्वपि शस्यते ।
अशान्तौ सर्वथा मन्थे भ्रुवोरुपरि दाहयेत् ॥ २१ ॥

व्याख्या—सब प्रकार के अधिमन्थों में भी अभिष्यन्द के समान सब विधि-चिकित्सा का प्रयोग करे। यदि इससे शान्ति न हो तो—भौंओं के ऊपर की ओर दाह कर्म करे।

अधिमन्थों में वर्ति अञ्जन—

रूप्यं रूक्षेण गोदध्ना लिम्पेन्नीलत्वमागते ।
शुष्के तु मस्तुना वर्तिर्वाताद्यामयनाशिनी ॥ २२ ॥
सुमनःकोरकाः शङ्खत्रिफला मधुकं बला ।
पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा ॥ २३ ॥
सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः ।
फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत् ॥ २४ ॥

व्याख्या—वात जनित अधिमन्थ में वर्ति—चान्दी के पत्तों पर, स्नेह रहित गोदधि का लेप करे, जब लेप नीला हो जाय और सूख जाय तब उतार कर दही के पानी में पीसकर बत्ती बनावे और उसका अञ्जन करे। यह वर्ति वात जनित अधिमन्थ को नष्ट करती है।

पित्तजनित अधिमन्थ में वर्ति—चमेली की कलियाँ, शंख की पिष्टि, हरड़, बहेड़ा, आमला, मुलेठी, तथा बला मूलत्वक् को वर्षा के स्वच्छ जल में पीसकर बत्ती बनावे यह बत्ती—पित्त जनित एवं रक्त जनित अधिमन्थ को शान्त करती है।

कफजनित अधिमन्थ में वर्ति—सैन्धव लवण, हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मरिच, पीपल, शंखनाभि, समुद्रफेन, छरीला तथा राल को स्वच्छ जल में पीसकर बत्ती बनावे। यह कफजनित अधिमन्थ को शान्त करती है।

वक्तव्य—उक्त बत्तियों को जल आदि किसी उपयुक्त द्रव में घिसकर नेत्र में लगाया जाता है ॥२२-२४॥

पाशुपत योग—

प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं दार्वीं चाष्टपलं पचेत् ।
जलद्रोणे रसे पूते पुनः पक्वे घने क्षिपेत् ॥ २५ ॥
पुष्पाञ्जनाद्दशपलं कर्षं च मरिचात्ततः ।
कृतश्चूर्णोऽथवा वातः सर्वाभिष्यन्दसम्भवान् ॥ २६ ॥
हन्ति रागरुजाघर्षान् सद्यो दृष्टिं प्रसादयेत् ।
अयं पाशुपतो योगो रहस्यं भिषजां परम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—पुण्डेरिया, मुलेठी तथा दारुहल्दी की छाल ८-८ पल लेकर १ द्रोण जल में पकावे, अष्टमांश रहने पर अथवा जब उन द्रव्यों का रस जल में आ जाय तब उतारकर छान लेवे, उस क्वाथ को पुनः पकावे जब गाढा हो जाय तब उसे उतार लेवे, शीतल होनेपर उसमें पुष्पाञ्जन १० पल तथा मरिच १ कर्ष पीसकर मिला देवे सूखने पर चूर्ण अथवा कुछ आर्द्र रहने पर बत्ती बना लेवे। यह अञ्जन सब प्रकार के अभिष्यन्दों से उत्पन्न लालिमा, वेदना तथा घर्ष (रड़क) को नष्ट करता है, दृष्टि को स्वच्छ करता है। यह पाशुपत नामक अंजन चिकित्सकों का गुप्त योग है ॥

वक्तव्य—पुष्पाञ्जन—यशद के फूल का नाम है यथा—मदन विमोद निघण्टु सुवर्णादि वर्ग ४—

पुष्पाञ्जनं पुष्पकेतु रीतिजं कुसुमांजनम् ।
पुष्पांजनं क्षारमुष्णं काचामपटलापहम् ॥ ४१ ॥

यह यशद नामक धातु को जलाकर बनाया जाता है, जयपुरी सुफेदा तथा सुफेदा काशगरी नाम से मिलता है, वर्ण अत्यन्त श्वेत, रस कुछ खारा सा होता है। नेत्र के रोहे आदि में लाभदायक है। रोहों में चुटकी भरकर डाल दिया जाता है ॥ २५-२७ ॥

शुष्काक्षिपाक चिकित्सा—

शुष्काक्षिपाके हविषः पानमक्ष्णोश्च तर्पणम् ।
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन चाणुना ॥२८॥
परिषेको हितश्चात्र पयः कोष्णं ससैन्धवम् ।
सर्पिर्युक्तं स्तन्यपिष्टमञ्जनं हि महौषधम् ॥ २९ ॥
वसा चानूपसत्त्वोत्था किंचित्सैन्धवनागरा ।
घृताक्तान् दर्पणे घृष्टान् केशान् मल्लकसम्पुटे ॥३०॥
दग्ध्वाऽऽज्यपिष्टा लोहस्था सा मषी श्रेष्ठमञ्जनम् ।

व्याख्या—शुष्काक्षिपाक नामक रोग में—घृतपान, जीवनीय घृत से तर्पण (सू. अ. २४ देखिये), अणु तैल की नस्य, तथा दूध में थोड़ा सैन्धव लवण मिलाकर सेचन (आश्च्योतन) करे और—सोंठ को नारी के दूध

में पीस कर तथा घृत में मिला कर अञ्जन करे अथवा पीस कर तथा घृत में मिला कर अञ्जन करे अथवा अनूप देशीय सूअर आदि प्राणियों की वसा में थोड़ा सैन्धव लवण एवं सोंठ का चूर्ण मिलाकर अञ्जन करे।

अथवा—मानव के केशों को कैंची से काट २ कर सूक्ष्म खण्ड बनावे और थोड़ा घृत मिला कर काच के खरल में पीसे और सम्पुट में धर कर पुट दे देवे, शीतल होने पर निकाले, यह काले वर्ण की मसी प्राप्त होती है उसमें थोड़ा घृत मिला कर पुनः पीस कर लोह की सुरमेदानी—अञ्जनाधानी में धर देवे। यह भी श्रेष्ठ अञ्जन है ॥ २८-३० ॥

सशोफ तथा अल्प शोफ की चिकित्सा—

सशोफे चाल्पशोफे च स्निग्धं च व्यधयेत्सिराम् ॥३१॥
रेकः स्निग्धे पुनर्द्राक्षापथ्याक्वाथत्रिवृद्घृतैः।
श्वेतरोध्रं घृतभृष्टं चूर्णितं तान्तवस्थितम् ॥३२॥
उष्णाम्बुना विमृदितं सेकः शूलहरः परम्।
दार्वीप्रपौण्डरीकस्य क्वाथो वाऽऽश्चोतने हितः ॥३३॥

व्याख्या—सशोफ तथा अल्प शोफ नामक रोगों में प्रथम स्नेहन करके सिरावेध द्वारा रक्त मोक्षण करे तत्पश्चात् पुनः स्नेहन करके-दाख तथा हरड़ के क्वाथ में त्रिवृता घृत मिला कर विरेचन देवे। श्वेत लोध (पठानी लोध) को घृत में तल कर पीस लेवे और कपड़ा में पोटली बना बना कर उष्ण जल में भिगो देवे फिर मल कर नेत्र में सेचन करे। इससे शूल शान्त हो जाता है। अथवा—पुण्डेरिया तथा दारु हलदी की छाल का क्वाथ बना कर आश्च्योतन करने से लाभ होता है ॥

वक्तव्य—यदि प्रारम्भ में ही ये उपचार किये जायँ तो उक्त रोगों की वृद्धि रुक जाती है ॥ ३१-३३ ॥

सन्धाव नामक योग—

सन्धावांश्च प्रयुञ्जीत घर्षरागाश्रुरुग्घरान्।
ताम्रं लोहे मूत्रघृष्टं प्रयुक्तं,
नेत्रे सर्पिर्धूपितं वेदनाघ्नम्।
ताम्रैर्घृष्टो गव्यदध्नः सरो वा,
युक्तः कृष्णासैन्धवाभ्यां वरिष्टः ॥३४॥
शङ्खं ताम्रे स्तन्यघृष्टं घृताक्तैः
शम्याः पत्रैर्धूपितं तद्यवैश्च।
नेत्रे युक्तं हन्ति 'सन्धावसंज्ञं'
क्षिप्रं घर्षं वेदनां चातितीव्राम् ॥३५॥
उदुम्बरफलं लोहे घृष्टं स्तन्येन, धूपितम्।
साज्यैः शमीच्छदैर्दाहशूलरोगाश्रुहर्षजित् ॥३६॥
शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुघृष्टस्ताम्रसम्पुटे।
घृतेन धूपितो हन्ति शोफघर्षाश्रुवेदनाः ॥३७॥
तिलाम्भसा मृत्कपालं कांस्यं घृष्टं सुधूपितम्।
निम्बपत्रैर्घृताभ्यक्तैर्घर्षशूलाश्ररागजित् ॥३८॥
सन्धावेनाऽञ्जिते नेत्रे विगतौषधवेदने।
स्तन्येनाश्चोतनं कार्यं त्रिःपरं नाञ्जयेच्च तैः ॥३९॥

व्याख्या—उक्त रोगों में निम्नलिखित सन्धावों का प्रयोग करे ये सब घर्ष, लालिमा, अश्रुस्राव तथा वेदना को शान्त करते हैं ॥

१—लोहपात्र में ताम्र को गोमूत्र के साथ घिस कर और उसे घृत की धूप देकर नेत्र में लगावे। इससे वेदना शान्त होती है। २—गौ के दही की मलाई में तामा को घिस कर उस में पीपल तथा सैन्धव लवण मिला कर नेत्र में लगावे यह भी सर्वश्रेष्ठ अञ्जन है। ३—तामा के पात्र में शंख को नारी के दूध में घिसे और उसको शमी (जाँटी छण्डी) के पत्तों तथा जौ में घृत मिला कर धूप देवे। यह सन्धाव नामक योग—नेत्र में लगाने से—घर्ष तथा अत्यन्त तीव्र वेदना को शीघ्र नष्ट करता है। ४—गूलर के फलों को लोह के पात्र में नारी के दूध में घिसे और उसको शमी के पत्र में घृत मिला कर धूप देवे। इस सन्धाव को नेत्र में लगाने से दाह, शूल, लालिमा, अश्रुस्राव तथा घर्ष का नाश हो जाता है। ५—सहजन के पत्तों का स्वरस ताम्र की कटोरी में डाल कर घिसे, फिर घृत की धूप देवे। यह सन्धाव शोथ (सूजन), घर्ष, अश्रुस्राव तथा वेदना को शान्त करता है। ६—मिट्टी के कपाल को काँसा के पात्र में तिल के क्वाथ में घिसे और निम्ब के पत्तों में घृत मिला कर धूप देवे। यह सन्धाव—घर्ष, शूल, अश्रुस्राव तथा लालिमा को नष्ट करता है। उक्त किसी सन्धाव नामक योग का अञ्जन करने के अनन्तर जब सन्धाव को लगाने से उत्पन्न वेदना शान्त हो जाय तब नारी के दूध का आश्च्योतन करना चाहिये। इन सन्धावों का अञ्जन तीन बार से अधिक वार नहीं करना चाहिये ॥

वक्तव्य—इन अंजन योगों का नाम "सन्धाव" है। इनमें विशेषता यह है कि इनमें धूप दी जाती और इन का तीन दिन में तीन बार ही प्रयोग किया जाता है। प्रतीत होता है "सन्धाव" शब्द शालाक्य तन्त्र का पारिभाषिक शब्द है।

तालीसपत्रचपला-नतलोहरजोऽञ्जनैः।
जातीमुकुलाकासीस-सैन्धवैर्मूत्रपेषितैः ॥४०॥
ताम्रमालिप्य सप्ताहं धारयेत्पेषयेत्ततः।
मूत्रेणैवानु गुटिकाः कुर्याच्छायाविशोषिताः ॥ ४१ ॥
ताः स्तन्यघृष्टा घर्षाश्रशोफकण्डूविनाशनाः।

तालीसादि गुटिकांजन—

व्याख्या—तालीसपत्र, पीपल, तगर, लोहरजस् (लोह

का मोर्चा-स्वर), काला सुरमा, चमेली की कलियाँ, कासीस तथा सैन्धव लवण को गोमूत्र में पीसकर ताम्र के पत्तों पर लेप कर देवे सात दिन के पश्चात् उतारकर और गोमूत्र के साथ पीसकर गोलियाँ (लम्बी २ वत्तियाँ) बनाकर छाया में सुखा लेवे। इनको नारी के दूध में घिसकर नेत्र में अंजन करे। यह गुटिकांजन—घर्ष, अश्रुस्राव, शोफ तथा कण्डू को नष्ट करता है ॥ ४०-४१ ॥

व्याघ्र्यादि सन्धाव—

व्याघ्रीत्वङ्मधुकं ताम्ररजोऽजाक्षीरकल्कितम् ॥ ४२ ॥
शम्यामलकपत्राज्यधूपितं शोफरुकप्रणुत ।

व्याख्या—कण्टकारी, दालचीनी, मुलेठी तथा ताम्र-भस्म (अथवा ताम्र का जंगाल-नील) को बकरी के दूध में पीसकर कल्क बनावे और उसे शमी के तथा आमला के पत्तों में घृत मिलाकर धूप देवे। यह सन्धाव शोफ तथा वेदना को नष्ट करता है ॥ ४२ ॥

अम्लोषित चिकित्सा—

अम्लोषिते प्रयुञ्जीत पित्ताभिष्यन्दसाधनम् ॥ ४३ ॥

व्याख्या - अम्लोषित नामक रोग में—पित्ताभिष्यन्द के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥४३॥

पिल्लरोग तथा उनकी चिकित्सा—

उत्क्लिष्टाः कफपित्तास्र-निचयोत्थाः, कूकूणकः ।
पक्ष्मोपरोधः शुष्काक्षिपाकः पूयालसो बिसः ॥ ४४ ॥
पोथक्यम्लोषितोऽल्पाख्यः स्यन्दमन्था विनाऽनिलात् ।
एतेऽष्टादश पिल्लाख्या दीर्घकालानुबन्धिनः ॥ ४५ ॥
चिकित्सा पृथगेतेषां स्वं स्वमुक्ताऽथ वक्ष्यते ।
पिल्लीभूतेषु सामान्याद् अथ पिल्लाक्षिरोगिणः ॥४६॥
स्निग्धस्य च्छर्दितवतः सिराविद्धहृतासृजः ।
विरिक्तस्य च वर्त्मानु निर्लिखेदाविशुद्धितः ॥ ४७ ॥

व्याख्या—१-कफज उत्क्लिष्ट वर्त्म, २-पित्तोत्क्लिष्ट वर्त्म, ३-रक्तोत्क्लिष्ट वर्त्म, ४-निचय वर्त्म, ५-कुकूणक, ६-पक्ष्मोपरोध (अ ८), ७-शुष्काक्षिपाक (अ. १५), ८-पूयालस (अ० १०), ९-बिसवर्त्म (अ० ८,), १०-पोथकी (अ० ८), ११-अम्लोषित (अ० १५), १२-अल्प शोफ (अ० १५), १३-पित्ताभिष्यन्द, १४-पित्ताधिमन्थ, १५-कफाभिष्यन्द, १६-कफाधिमन्थ, १७-रक्ताभिष्यन्द, १८-रक्ताधिमन्थ (अ. १५)।

ये १८ रोग यदि दीर्घकाल पर्यन्त बने रहते हैं तो "पिल्ल" कहे जाते है। इन सब रोगों की चिकित्सा पृथक् २ कह दी गई है और "पिल्ल" हो जानेपर जो चिकित्सा करनी चाहिये उसका वर्णन नीचे लिखा जायगा-

पिल्ल रोगों की सामान्य चिकित्सा—

जब उक्त रोग दीर्घकालीन होने पर पिल्ल हो जायँ तब—पिल्लाक्षिरोगी को—स्नेहन करे, वमन करावे, सिरा वेध करके रक्तस्रावण करे, विरेचन करावे तत्पश्चात् वर्त्म-गत रोगों में—वर्त्म का लेखन करे, एक बार लेखन करने पर शान्ति न हो तो पुनः पुनः लेखन कर्म करे। जबतक रोग शान्ति न हो जाय ॥ ४० ॥

वक्तव्य—अ. स. उ. अ. २०—

जलौकोभिश्च ग्राहयेत् अर्थात् जोंकें लगाकर रक्तस्रावण भी करे। पिल्ल रोगों के रोगी को दूसरे जन "चिपडू या चोन्धरदास या चोन्धू कहने लगते हैं।

विशेष चिकित्सा—

तुत्थादि सेचन—

तुत्थकस्य पलं श्वेतमरिचानि च विंशतिः ।
त्रिंशता काञ्जिकपलैः पिष्ट्वा ताम्रे निधापयेत् ॥ ४८ ॥
पिल्लानपिल्लान् कुरुते बहुवर्षोत्थितानपि ।
उत्सेकेनोपदेहाश्रुकण्डूशोफांश्च नाशयेत् ॥ ४९ ॥

व्याख्या—तूतियां १ पल, श्वेतमरिच २० दाना पीस लेवे और ३० पल काञ्जी में डालकर ताम्र भाण्ड में धर देवे। इस का नेत्र में सेचन (आश्चोतन करने से-बहुत वर्षों से उत्पन्न पिल्ल रोग शान्त हो जाते हैं और उपदेह, कण्डू तथा शोफ भी शान्त हो जाते है ॥

वक्तव्य—पिल्लानपि अपिल्लान् कुरुते—पिल्लरोग वालों को पिल्लरोग रहित कर देता है यह सेचन ॥४८-४९॥

करञ्जादि रसक्रिया—

करञ्जबीजं सुरसं सुमनःकोरकाणि च ।
सङ्क्षुद्य साधयेत्क्वाथे पूते तत्र रसक्रिया ५० ॥
अञ्जनं पिल्लभैषज्यं पक्ष्मणां च प्ररोहणम् ।

व्याख्या—करञ्ज के बीज, तुलसी के पत्र तथा चमेली की कलियाँ लेकर, कूट कर क्वाथ करे फिर क्वाथ को पका कर गाढ़ा करके—रसक्रिया—रसरूप अञ्जन बनावे। यह अंजन पिल्ल रोगोंकी परमौषध हैं और पक्ष्मों-को उगाती है—पक्ष्मशात को शान्त करती है ॥ ५० ॥

रसांजनादि अंजन—

रसाञ्जनं सर्जरसो रीतिपुष्पं मनःशिला ॥ ५१ ॥
समुद्रफेनं लवणं गैरिकं मरिचानि च ।
अञ्जनं मधुना पिष्टं क्लेदकण्डूघ्नमुत्तमम् ॥ ५२ ॥

व्याख्या—रसवत, राल, पुष्पांजन (जस्ता का फूला) मैनसिल, समुद्रफेन, सैन्धव लवण, गेरू तथा मरिच लेकर पीस लेवे और मधु में मिला कर अंजन करे। यह अञ्जन क्लेद तथा कण्डू को नष्ट करता है ॥५१-५२॥

पिल्लनाशक दो अंजन—

अभयारसपिष्टं वा तगरं पिल्लनाशनम् ।
भावितं बस्तमूत्रेण सस्नेहं देवदारु च ॥ ५३ ॥

व्याख्या—नगर को हरड़ के रस-क्वाथ में पीस कर अंजन करे अथवा—स्नेह युक्त देवदारु के चूर्ण को बकरा के मूत्रकी भावना देकर अंजन करे। यह दोनों अंजन पिल्ल को नष्ट करते हैं ॥५३॥

पिल्ल शुक्र नाशक वर्ति—

सैन्धवत्रिफलाकृष्णा-कटुकाशङ्खनाभयः।
सताम्ररजसो वर्तिः पिल्ल-शुक्रक-नाशिनी ॥ ५४ ॥

व्याख्या—सैन्धवलवंण, बहेड़ा आमला, पीपल, कुटकी, शंख नाभि तथा ताम्र भस्म (अथवा तामा का जंगाल) लेकर जल में पीस बत्ती बनावे। यह पिल्ल तथा शुक्र को नष्ट करती है ॥५४॥

पुष्प कासीसादि अंजन—

पुष्पकासीसचूर्णो वा सुरसारसभावितः।
ताम्रे दशाहं तत् पैल्लथपक्ष्मशातजिदञ्जनम् ॥ ५५ ॥

व्याख्या—पुष्पकासीस के चूर्ण को ताम्रपत्र में धर कर तुलसी के रस की १० भावना देवे। यह अंजन—पिल्ल रोग तथा पद्मशात को नष्ट करता है॥

वक्तव्य—यह श्लोक अ. ९ के श्लोक १३ का परिवर्त्तित पाठ है इसके गुण वर्णन में "पैल्ल्य" पाठ मात्र अधिक है। पुष्पकासीस कासीस लोह का योगिक है जैसे ताम्र का तूतिया कासीस का वर्ण हरा होता है और पुष्पकासीस का कुछ पीला। दोनों नेत्र के लिये लाभदायक हैं। परन्तु पुष्प कासीस अत्यन्त तीक्ष्ण होता है उसे शुद्ध जल में बना कर नेत्र में डाले। २ रत्ती पुष्पकासीस को १०० रत्ती जल में घोला जाता है॥ ५५ ॥

आलादि चूर्णांजन—

आलं च सौवीरकमञ्जनं च
ताभ्यां समं ताम्ररजश्च सूक्ष्मम्।
पित्लेषु रोमाणि निषेवितोऽसौ
चूर्णः करोत्येकशलाकयाऽपि ॥ ५६ ॥

व्याख्या—हरिताल तथा श्वेत सुरमा १-१ भाग, ताम्ररजस् २ भाग। सब को पीस कर रख लेवे। इस चूर्णांजन की एक शलाका (सलाई भर) लगाने से भी पिल्ल रोगों में होने वाले पद्म शात रोग में रोम उगा देती है॥ ५६ ॥

लाक्षादि मषी (काजल)—

लाक्षानिर्गुण्डीभृङ्गदार्वीरसेन
श्रेष्ठं कार्पासं भावितं सप्तकृत्वः।
दीपः प्रज्वाल्यः सर्पिषा तत्समुत्था
श्रेष्ठा पिल्लानां रोपणार्थे मषी सा ॥ ५७ ॥

व्याख्या—स्वच्छ रुई को—लाख, सम्भालू के पत्र, भाँगरा तथा दारुहल्दी की छाल अथवा काष्ठ के रस-क्वाथ की सात भावना देकर बत्ती-मोटी बनावे उसका घृत में दीपक जलावे और उस दीपक की लौ के ऊपर लोह की अथवा ताम्र की कटोरी औन्धी करके तिपाई पर रख देवे। उस कटोरी में जो मषी (काजल) लगे उसे ले लेवे। यह काजल पिल्ल रोगों में बहुत लाभ करता है।

वक्तव्य—इस मसी को और बत्ती के जले हुए भाग को तथा दीपक में बचे हुए घृत को कांसा की थाली में डालकर सुपारी से घिसा जाता है। कुछ सुपारी भी घिस जाती है। यह काजल बहुत ही उत्तम होता है सुघड़ माता बच्चों के नेत्र में प्रतिदिन अपनी अंगुली से लगाती हैं। इससे अथवा इसी प्रकार किसी अन्य काजल से बालक के नेत्र स्वस्थ बने रहते हैं॥ ५७ ॥

पिल्ल रोगों में लेखन कर्म—

वर्त्मावलेखं बहुशस्तद्वच्छोणितमोक्षणम्।
पुनःपुनर्विरेकं च नित्यमाश्च्योतनाञ्जनम् ॥ ५८ ॥
नावनं धूमपानं च पिल्लरोगातुरो भजेत्।

व्याख्या—उक्त पिल्ल रोग से पीड़ित रोगी—बार-बार वर्त्म पर लेखन कर्म का, रक्तस्रावण का, बार-बार विरेचन का, प्रतिदिन किसी प्रकार के आश्च्योतन तथा अंजन का नस्य तथा धूमपान का सेवन करता रहे ॥५८॥

पूयालस रोग में दाह कर्म—

पूयालसे त्वशान्तेऽन्तर्दाहः सूक्ष्मशलाकया ॥ ५९ ॥

व्याख्या—पूयालस नामक रोग में यदि उचित उपचारों से लाभ न हो तो—सूक्ष्म—पतली सिलाई को अग्नि में तपाकर दाह कर्म कर देना चाहिये ॥ ५९ ॥

उपसंहार—

चतुर्नवतिरित्यक्ष्णोर्हेतुलक्षणसाधनैः।
परस्परमसङ्कीर्णाः कार्त्स्न्येन गदिता गदाः ॥ ६० ॥

व्याख्या—इस प्रकार (अ० ८ से १६) आठ अध्यायों में नेत्रों के ९४ रोगों का वर्णन किया गया है, उनके हेतु—उत्पादक कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का पूर्ण रूप से वर्णन कर दिया गया है। ये ९४ रोग परस्पर-भिन्न २ रोग हैं।

वक्तव्य—इनके संकर परस्पर संकीर्ण होने से तो असंख्य रोग माने जा सकते हैं। वर्त्मगत रोग २४, सन्धिगत रोग ९, श्वेतमण्डल गत रोग १३, कृष्ण मण्डल गत रोग ५, दृष्टिमण्डल गत रोग २७, सर्व नेत्र गत रोग १६। योग ९४। सुश्रुत संहिता में केवल ७६ रोगों का वर्णन किया गया है ॥६०॥

नेत्रों के लिये पथ्य—

सर्वदा च निषेवेत स्वस्थोऽपि नयनप्रियः।
पुराणयवगोधूमशालिषष्टिककोद्रवान् ॥ ६१ ॥

मुद्गादीन् कफपित्तघ्नान् भूरिसर्पिःपरिप्लुतान् ।
शाकं चैवंविधं मांसं जाङ्गलं दाडिमं सिताम् ॥ ६२ ॥
सैन्धवं त्रिफलां द्राक्षां वारि पाने च नाभसम् ।
आतपत्रं पदत्राणं विधिवद्दोषशोधनम् ॥ ६३ ॥

व्याख्या—नेत्रों से प्यार करनेवाला नेत्र रोगी मानव सदा-सर्वदा पुराने जौ, गेहूँ, शालिधान्य, साठी धान्य, कोदो के चावल तथा, मूँग आदि कफ पित्त नाशक आहारों का सेवन करे और पर्याप्त घृत मिलाकर अथवा घृत में बनाकर। और कफ पित्त नाशक एवं घृत में पकाकर शाकों तथा हरिण आदि जाङ्गल देशीय प्राणियों के मांसों का सेवन करे। अम्ल पदार्थों में अनार, मधुरों में मिशरी—श्वेत खण्ड, लवणों में सैन्धव लवण, फलों में त्रिफला तथा दाख और पीने के जलों में आकाश-वर्षा के जल का सेवन करता रहे। सदा सर्वदा—छाता लगाता रहे और त्राण अर्थात् जूता-मोजा पहिनता रहे। और समय-समय पर आवश्यकता पडने पर—स्निग्धन स्वेदन द्वारा विधिपूर्वक दोषों का शोधन करता रहे।६१-६३।

अपथ्य—

वर्जयेद्वेगसंरोधमजीर्णाध्यशनानि च
शोकक्रोधदिवास्वप्ननिशाजागरणानि च ॥ ६४ ॥
विदाहि विष्टम्भकरं यच्चेहाऽऽहारभेषजम् ।

व्याख्या—और नेत्र रोग का रोगी तथा स्वस्थ मानव मूत्र पुरीषादि के वेग के निरोध का; अजीर्ण का, अध्ययन का, शोक का, क्रोध का, दिवास्वप्न का, रात्रि जागरण का और विदाहकारी तथा विष्टम्भकारी आहार एवं औषध का परित्याग करता रहे ॥ ६४ ॥

नेत्रों में पादोपचार आदि—

द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे
सिरे गते ते बहुधा च नेत्रे ।
ताम्रक्षणोद्वर्तनलेपनादीन्
पादप्रयुक्तान्नयनं नयन्ति ॥ ६५ ॥
मलोष्णसङ्घट्टनपीडनाद्यै-
स्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः ।
भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मा-
दुपानदभ्यञ्जनधावनानि ॥ ६६ ॥

व्याख्या—पावों के मध्य भाग—तलुवे में दो विस्तार रूप सिराएँ हैं और वे नेत्र में जाकर अनेक शाखा प्रशाखाओं में परिणत होकर रहती हैं। वे सिराएँ—पावों में प्रयुक्त अभ्यङ्ग, उबटन तथा लेप आदि के वीर्य—सार को नेत्रों में ले जाती हैं। और पावों में लगी मैल, उष्णता, आघात तथा पीडन आदि से दुष्ट होकर नेत्रों को दूषित करती हैं नेत्रों में विकृति उत्पन्न कर देती हैं। इसलिये नेत्रों की रक्षा के लिये सदा पावों में जूता-मोजा अभ्यङ्ग तथा धावन-प्रक्षालन एवं उबटन का सेवन करते रहना चाहिये।

वक्तव्य—पावों पर मेंहदी आदि का लेप, तैल का अभ्यङ्ग तथा नवनीत का अभ्यङ्ग नेत्रों तथा मस्तिष्क को बहुत शान्ति देता है अभिष्यन्द आदि नेत्र रोगों में लाभ करता है। यथा—निद्रा नाश में पावों के तलुओं पर अभ्यङ्ग करने से लाभ होता है और अभिष्यन्द में तथा नेत्र दाह में—निम्बू के कोमल पत्तों का, बबूर के पत्तों का अथवा मेंहदी के पत्तों का लेप नेत्र की वेदना तथा लालिमा को शान्त करता है। और नेत्र रोग प्रायः उन्हीं में देखे जाते हैं जो पावों को स्वच्छ रखने की ओर ध्यान नहीं देते अथवा नहीं दे पाते जैसे किसान, घसियारे तथा अन्यान्य पैदल एवं नंगेपावं घूमते रहते—चलते हैं। और उन जनों में नेत्ररोग अनुपाततः थोड़े देखे जाते हैं जो जूता, मोजा पहिने रहते हैं और पावों को स्वच्छ रखते हैं एवं उनमें तैल तथा मेंहदी आदि लगाते रहते हैं।६५-६६।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातः कर्णरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब कर्ण के रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एव धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—कर्णरोग का वर्णन—च. चि. अ.२६ में सु. चि. अ. २५ तथा ३० अ. २० में और. अ सं. उ. अ. २० में देखिये।

वातज कर्णशूल का वर्णन—

प्रतिश्यायजलक्रीडा-कर्णकण्डूयनैर्मरुत् ।
मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः ॥ १ ॥
प्राप्य श्रोत्रसिराः कुर्याच्छूलं स्रोतसि वेगवत् ।
अर्धावभेदकं स्तम्भं शिशिराऽनभिनन्दनम् ॥ २ ॥
चिराच्च पाकं पक्वं तु लसीकामल्पशः स्रवेत् ।
श्रोत्रं शून्यमकस्माच्च स्यात्सञ्चारविचारवत् ॥ ३ ॥

व्याख्या—जब वायु—प्रतिश्याय से, जल में डुबकी लगाने (विशेषतः वर्षा के मलिन जल में डुबकी लगाने से अथवा उस जल के कान में पड़ जाने) से, कान को खुजाने से, शब्द के अतियोग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग से अथवा अन्यान्य कारणों से कुपित होकर कर्ण संस्थान में जाने वाली सिराओं में पहुँच कर कर्णविवर में शूल उत्पन्न करता है तब वह शूल वेगवान् (लहरों वाला)

और अर्द्धावभेदक के रूप में होता है—आधे शिर में होता है, कर्ण में स्तब्धता रहती है, उस समय शीतल आहार विहार अच्छे नहीं लगते और यदि उसमें कण्डूयन करते समय कोई खरोंच होजाता है तो वह विलम्ब से पकता है और जब पक जाता है तब थोड़ी-थोड़ी लसीका बहती है—चिपचिपा पूय बहता है। कर्ण शून्य प्रतीत होता है और कर्ण रुका हुआ और कभी खुला हुआ प्रतीत होता है ॥

पित्तशूल का वर्णन—

शूलं पित्तात्सदाहोषा- शीतेच्छाश्वयथुज्वरम् ।
आशुपाकं प्रपक्वं च सपीत-लसिका-स्रुति ॥ ४ ॥
सा लसीका स्पृशेद्यद्यत्तत्तत्पाकमुपैति च ।

व्याख्या—जब पित्तप्रकोपक कारणों द्वारा कुपित पित्त से कान में शूल होता है तब—उसके साथ-साथ दाह, सन्ताप, शीतल आहार विहार की इच्छा, कान में शोथ तथा ज्वर रहता है और कान शीघ्र पक जाता है और पकने पर पीली लसीका का स्राव होता रहता है और वह लसीका कर्ण विवर से बह कर कर्ण शष्कुली तथा उसके आसपास जहाँ-जहाँ लगती है वहाँ-वहाँ फुन्सियाँ निकल कर पक जाती हैं—क्षत (चचराइ) होता जाता है ॥४॥

कफज शूल का वर्णन—

कफाच्छिरोहनुग्रीवागौरवं मन्दता रुजः ॥ ५ ॥
कण्डूः श्वयथुरुष्णेच्छा पाकाच्छ्वेतघना स्रुतिः ।

व्याख्या—जब कफप्रकोपक कारणों द्वारा कुपित कफ से शूल होता है तब—शिर, हनुप्रदेश तथा ग्रीवा में भारीपन का अनुभव, थोड़ी-थोड़ी वेदना, कण्डू, शोथ तथा उष्ण आहार विहार की इच्छा होती है और पक जाने पर श्वेत और गाढ़ा स्राव बहता है ॥५॥

रक्त शूल का वर्णन—

करोति श्रवणे शूलमभिघातादिपीडितम् ॥ ६ ॥
रक्तं पित्तसमानार्ति किंचिद्वाधिकलक्षणम् ।

व्याख्या—अभिघात आदि से दूषित रक्त जब कान में शूल करता है तब पित्तजनित शूल के समान लक्षण होते हैं परन्तु उससे कुछ अधिक बलवान् लक्षण होते हैं ।६।

त्रिदोषज शूल का वर्णन—

शूलं समुदितैर्दोषैः सशोफज्वरतीव्ररुक् ॥ ७ ॥
पर्यायादुष्णशीतेच्छं जायते श्रुतिजाड्यवत् ।
पक्वं सितासितारक्त-घनपूयप्रवाहि च ॥ ८ ॥

व्याख्या—समस्त दोषों के प्रकोप से जो शूल होता है वह शोथ, ज्वर तथा तीव्र वेदना से युक्त रहता है उस समय कभी उष्ण और कभी शीतल आहार विहार की इच्छा होती है और उसमें स्राव तथा जड़ता (बधिरता) होती है। जब पक जाता है तब उसमें से—श्वेत कभी काला, लाल, गाढ़ा और अधिक पूय बहता रहता है ।

वक्तव्य—श्रुतिजाड्यवत् के स्थान में श्रुतिजाड्यवत् पाठान्तरानुसार सुनने में जड़तायुक्त अर्थ अधिक युक्ति संगत है। कर्णस्राव के व्रण में विशेष प्रकार की, अप्रिय गन्ध होती है ॥ ७-८ ॥

कर्णनाद का वर्णन—

शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने मुहुः ।
नादानकस्माद्विविधान्, कर्णनादं वदन्ति तम् ॥ ९ ॥

व्याख्या—जब वायु शब्दवाही सिराओं में विकृत तब—अकस्मात् अनेक प्रकार के शब्द (ध्वनियाँ) सुनाई पड़ते हैं। इसका नाम "कर्णनाद" है । ९ ।

उच्चैः श्रुति तथा बधिरता—

श्लेष्मणाऽनुगता वायुर्नादो वा समुपेक्षितः ।
उच्चैः कृच्छ्राच्छ्रुतिं कुर्याद्बधिरत्वं क्रमेण च ॥ १० ॥

व्याख्या—जब वायु श्लेष्मा के साथ मिल कर शब्दवाही सिराओं में विकृत होजाता है अथवा कर्णनाद नामक उल्लिखित रोग की उचित चिकित्सा नहीं की जाती तब क्रमशः—उच्चैःश्रुति ('ऊँचे सुनना), कृच्छ्र श्रुति (कष्ट से सुनना) बधिरता नामक विकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

वक्तव्य—प्रथम उच्चैःश्रुति, फिर कष्टश्रुति और फिर बधिरता हो जाती है ।

प्रतिनाह रोग का वर्णन—

वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत् ।
रुग्गौरवपिधानं च, स प्रतीनाह संज्ञितः ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब वायु द्वारा सुखाया कफ कर्ण के स्रोतस् में लिपट-चिपट जाता है तब—कर्ण में वेदना भारीपन की प्रतीति तथा अवरोध (रुकावट) हो जाता है ।

वक्तव्य—सु. उ. अ. २० मे इसका वर्णन इस प्रकार है कफेन कण्डूः प्रचितेन. कर्णयोः भृशं भवेत् स्रोतसि कर्णसंज्ञिते। विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा नृणां भवेत् स्रोतसि कर्णगूथकः स कर्णगूथो द्रवतां यदागतो विलायितोघ्राणमुख प्रपद्यते । तदा स कर्णप्रतिनाह संज्ञितो भवेत् विकारः शिरसोऽभितापनः।

अर्थात्—कानो में कफ का सञ्चय होने से कानों में कण्डू होती है। जब पित्त द्वारा कफ सूख जाता है तब "कर्णगूथ" (कान में मैल की अधिकता) हो जाती है ।

और वह कर्णगूथ—जब कभी द्रवरूप हो कर नासा एवं कण्ठ से निकलने लगता है और शिर में वेदना करता है तब वह " कर्णप्रतिनाह" कहलाता है ।

कर्णकण्डू तथा कर्णशोफ—

कण्डूशोफौ कफाच्छ्रोत्रे स्थिरौ तत्संज्ञया स्मृतौ ।

व्याख्या—कफ की विकृति से कर्ण में स्थायी कण्डू होती है वह "कर्णकण्डू" कहलाती है ।

और जो शोथ होता है वह "कर्णशोथ" कहलाता है

वक्तव्य—कर्ण शोथ ४ प्रकार का वैसे ही होता है जैसे अन्य शोथ नामक रोग। देखिये निदान अ. १३ ॥ ११ ॥

पूतिकर्णक रोग

कफो विदग्धः पित्तेन सरुजं नीरुजं त्वपि ॥ १२ ॥
घनपूति बहुक्लेदं कुरुते पूतिकर्णकम्।

व्याख्या—जिस कर्णरोग में पित्त द्वारा विदग्ध—दूषित कफ की विकृति से—वेदना युक्त अथवा वेदना रहित गाढ़ा, दुर्गन्धयुक्त तथा अधिक क्लेद (पूय युक्त पन्छा) बहता रहता है उसका नाम "पूतिकर्णक" है ।१२।

कृमिकर्णक—

वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजां रुजम् ॥ १३ ॥
खादन्तो जन्तवः कुर्युस्तीव्रां स कृमिकर्णकः।

व्याख्या—जब कर्ण वातादि तीनों दोषों द्वारा दूषित होजाता है फलतः मांस एवं रक्त के क्लेद (सड़न) में कृमि उत्पन्न होजाते हैं और वे कर्ण के उस भाग को खाने लगते हैं तथा तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं तब उस रोग को "कृमिकर्णक" कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत उ. अ. २०।१३ में उसका वर्णन इस प्रकार है—

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवापि मक्षिकाः।
तदञ्जनत्वात् श्रवणो निरुच्यते भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः।

अर्थात्—जब कर्ण में तीनों दोष सम्मिलित हो कर कुपित होजाते हैं अथवा कृमियों को उत्पन्न करदेते हैं अथवा किरौनी (पञ्जाब में इस मक्षिका को "हाई" कहते हैं) मक्षिका बैठकर अण्डे देकर कृमि उत्पन्न कर देती हैं तब कृमि पड़ जाने के कारण इस रोग को "कृमिकर्णक" कहते हैं। स्मरण रहे कि ये कृमि जो मक्षिका से उत्पन्न होते हैं वे "जन्तुमाता" कृमि कहलाते हैं। देखिये नि० अ०१४ ।१३।

विद्रधि, शोथ, अर्श तथा अर्बुद—

श्रोत्रकण्डूयनाज्जाते क्षते स्यात्पूर्वलक्षणः ॥ १४ ॥
विद्रधिः पूर्ववच्चान्यः शोफोऽर्शोऽर्बुदमीरितम्।
तेषु रुक्पूतिकर्णत्वं बधिरत्वं च बाधते ॥ १५ ॥

व्याख्या—कान को खुजाने से कभी-कभी क्षत होजाता है और उससे कर्ण विद्रधि हो जाती है उसके लक्षण वेही होते हैं जो निदान स्थान अ० ११ में कहे गये हैं। और कर्ण के भीतर शोथ वैसा ही होता है जैसा निदन अ० १३ में कहा गया है। कर्ण के भीतर अर्श का अंकुर भी वैसा ही हो जाता है जैसा नि० अ० ७ में कहा गया है। और कर्ण मे अर्बुद भी वैसा ही होजाता है जैसा उ. अ. ८ में वर्त्मार्बुद अथवा उ. अ. २९ में कहा गया है। इन सब में कर्ण में वेदना, दुर्गन्ध तथा बधिरताकी बाधा होती है ।१४।

वक्तव्य—ये सब रोग कर्णविवर में होते हैं इनकी संख्या सुश्रुत उ. अ. २० में २८ बतलाई है यथा—

कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्य्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णगूथस्तथैव च ।३।
क्रिमिकर्णप्रतिनाहौ, विद्रधिर्द्विविधः तथा।
कर्णपाकः, पूतिकर्णः,तथैव अर्शः चतुर्विधम् ।४।
कर्णार्बुदं सप्तविधं शोथश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ।५। ॥१४-१५॥

कर्णशष्कुली के रोग—

कूचिकर्णक का वर्णन—

गर्भेऽनिलात्संकुचिता शष्कुली कूचिकर्णकः।

व्याख्या—गर्भावस्था में वायु की विकृति के कारण—कान की शष्कुली (बाह्यकर्ण) संकुचित होजाती है उस विकार का नाम "कूचिकर्णक" है।

वक्तव्य—पाठक महाशयों ने कभी देखा होगा कि—किसी-किसी के कान जन्म से ही संकुचित रहते हैं जिससे वे असुन्दर होते हैं उसका नाम "कूचिकर्णक" है। किसी का एक कर्ण संकुचित अर्थात् छोटा होता है और किसी का होता ही नहीं। इसे पञ्जाब में "बूच्चा" कहते हैं।

पिप्पली एवं विदारिका का वर्णन—

एको नीरुगनेको वा गर्भे मांसांकुरः स्थिरः ॥ १६ ॥
पिप्पली पिप्पलीमानः सन्निपाताद्विदारिका।
सवर्णः सरुजः स्तब्धः श्वयथुः स उपेक्षितः ॥ १७ ॥
कटुतैलनिभं पक्वः स्रवेत् कृच्छ्रेण रोहति।
सङ्कोचयति रूढा च सा ध्रुवं कर्णशष्कुलिम् ॥ १८ ॥

व्याख्या—१—गर्भावस्था में कर्णशष्कुली पर—एक अथवा अनेक मांसांकुर (मस्से) उत्पन्न हो जाते हैं, उनमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती और वे जीवन भर बने रहते हैं तथा लम्बाई में एवं आकार में पीपल जैसे होते हैं इस विकृति का नाम "पिप्पलि" या कर्णपिप्पली है।

२—गर्भावस्थामें अथवा जन्मके पश्चात् कर्ण शष्कुली पर—वातादि तीनों दोषों की विकृ त से कान के समान वर्णवाला वेदना युक्त एवं कठोर शोथ उत्पन्न हो जाता है उसका नाम "विदारिका" है। उसकी उचित चिकित्सा न करने से वह शोथ पक जाता है और उसमें से कड़ुवे तैल कासा स्राव बहता है तथा उसका रोपण बहुत कष्ट से होता है और रोपण हो जाने पर भी कर्ण शष्कुली अवश्य संकुचित हो जाती है।

वक्तव्य—कभी-कभी कर्णशष्कुली सर्वथा नष्ट हो जाती है ॥ १६-१८ ॥

पाली शोष का वर्णन—

सिरास्थः कुरुते वायुः पालीशोषं तदाह्वयम् ।

व्याख्या—गर्भावस्था में अथवा जन्म के पश्चात् सिराओं में स्थित वायु कर्ण पाली को सुखा देता है उस का नाम पालीशोष है ।

वक्तव्य—जब कभी कर्णपाली-पोषक रस कर्णपाली में नहीं पहुँचता तब कर्णपाली सूख जाती है ।

तन्त्रिका का वर्णन—

कृशा दृढा च तन्त्रीवत् पाली वातेन तन्त्रिका ॥ १९ ॥

व्याख्या—गर्भावस्था में अथवा जन्म के पश्चात्—वायु की विकृति से—कर्ण पाली कृश (पतली) तथा दृढ (कठोर) हो जाती है तान्त के समान । इस विकृति का नाम "तन्त्रिका" है ।१९।

परिपोट एवं उत्पादन का वर्णन—

सुकुमारे चिरोत्संगात्सहसैव प्रवर्धिते ।
कर्णे शोफः सरुक् पाल्यामरुणः परिपोटवान् ॥ २० ॥
परिपोटः स पवनात् उत्पातः पित्तशोणितात् ।
गुर्वाभरणभाराद्यैः श्यावो रुग्दाहपाकवान् ॥ २१ ॥
श्वयथुः स्फोटपिटिका रागोषाक्लेदसंयुत.

व्याख्या—१. बालक-बालिका को सुकुमार समझ कर यदि चिर काल पर्यन्त कर्ण वेध नहीं किया जाता और बड़ी वयस् में वेध किया जाता है अथवा वेधते समय शीघ्रता से वेध किया जाता है तो कर्ण पाली पर—वेदना युक्त, लाल काला सा एवं फटा फूटा शोथ हो जाता है । इसका नाम "परिपोट" है और इसमें वायु की विकृति होती है । २. उत्पात—यह पित्त एवं रक्त की विकृति में होता है । कान में—भारी भूषण पहिनने से—साँमला, वेदना, दाह एवं पाक से युक्त शोथ हो जाता है और वह फट-फूट जाता हैं, फफोले अथवा पिडका निकल आती हैं, लाल बना रहता है अथव दाह एवं सड़न होती हैं ।

वक्तव्य—सुश्रुत के शब्दों में उत्पात का वर्णन—

गुर्वाभरणसंयोगात् ताडनात् घर्षणादपि ।
शोफः पाल्यां भवेत् श्यावो दाहपाकरुगन्वितः ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यां उत्पातः सगदो मतः ।

अर्थात्—भारी भूषण पहिनने से अथवा ताड़न-कान पकड़ कर खींचने से अथवा घर्षण से (पहलवानों में कान मल दिये जाते हैं) यह रोग उत्पन्न हो जाता है ।

सु. चि अ. २५ ॥२०-२१॥

उन्मन्थ का वर्णन—

पाल्यां शोफोऽनिलकफात्सर्वतो निर्व्यथः स्थिरः ।।२२॥
स्तब्धः सकर्णः कण्डूमान् उन्मन्थो गल्लिरश्च सः ।

व्याख्या—कफ एवं वायु की विकृति से—कर्णपाली पर सब ओर—वेदना रहित, स्थिर, समान वर्ण वाला तथा कण्डूयुक्त जो शोथ हो जाता है उसका नाम "उन्मन्थ" है और उसका नाम "गल्लिर" भी है ॥

वक्तव्य—सु. चि. अ. २५—

बलात् वर्द्धयतः कर्णं पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ ७ ॥
गृहीत्वा स कफं कुर्यात् शोफं स्तब्धमवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ ८ ॥

अर्थात्—बलपूर्वक कर्णवेध करते समय वायु कुपित हो जाता है और वह कफ को साथ लेकर कठोर, थोड़ी वेदना युक्त शोथ उत्पन्न कर देता है और उसमें कण्डू होती है । इस विकार का नाम "उन्मन्थक" है यह कफ एवं वायु की विकृति से उत्पन्न होता है ।।२२॥

दुःख वर्द्धन का वर्णन—

दुर्विद्धे वर्धिते कर्णे सकण्डूदाहपाकरुक् ॥ २३ ॥
श्वयथुः सन्निपातोत्थः स नाम्ना दुःखवर्धनः ।

व्याख्या—कर्ण का अनुचित वेध करने पर अथवा विद्ध कर्ण का छिद्र अनुचित रूप से बड़ा करने पर—वात, पित्त एवं कफ की विकृति से कण्डू, दाह, पाक तथा वेदना से युक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है उसका नाम 'दुःखवर्द्धन" है ॥ २३ ॥

लेह पिटिका का वर्णन—

कफासृक्कृमिजाः सूक्ष्माः सकण्डूक्लेदवेदनाः ॥२४॥
लेह्याख्याः पिटिकास्ता हि लिह्युः पालीमुपेक्षिताः ।

व्याख्या—कर्णपाली पर—कफ, रक्त एवं कृमियों की विकृति से छोटी २, कण्डू, सडन एवं वेदना से युक्त पिटिका हो जाती हैं उनका नाम 'लेह" है । यदि तत्काल उचित उपचार न किया जाय तो वे पिटिका कर्णपाली को चाट जाती हैं—खा जाती हैं ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इस बिकार का नाम परिलेही है—

कफासृक् कृमयः कुर्युः सर्षपाभा विकारिणीः ।
स्राविणीः पिडकाः पाल्यां कण्डूदाहरुजान्विताः ॥ १० ॥
कफासृक्कृमिसम्भूतः स विसर्पन् इतस्ततः ।
लिह्यात् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥ ११ ॥

अर्थात्—कफ, रक्त एवं कृमियों के विकार से विकारकारिणी एवं स्रावयुक्त पिडका उत्पन्न हो जाती हैं कर्णपाली पर, उनमें कण्डू, दाह एवं वेदना होती है । यह विकार विसर्प के समान इधर-उधर फैलते-फैलते कर्णशष्कुली एवं कर्णपाली को चाट जाता है । इसका नाम "परिलेही" है । यह कफ, रक्त एवं कृमियों से उत्पन्न होता है ।

कान के तीन विभाग हैं—कर्णविवर या कर्णकुहर, २—कर्ण शष्कुली और ३—कर्णपाली । इन दोनों में रक्षा एवं भूषण के लिये कर्णवेध किया जाता है और इनकी

सहायता से ध्वनि कर्ण कुहर में प्रविष्ट होती है। कर्णपाली कर्ण शष्कुली की पाल है ॥२४॥

साध्याऽसाध्य विवेक एवं संख्या—

पिप्पली सर्वजं शूलं विदारी कूचिकर्णकः ॥ २५ ॥
एषामसाध्या, याप्यैका, तन्त्रिकाऽन्यांस्तु साधयेत्।
पञ्चविंशतिरित्युक्ताः कर्णरोगा विभागतः ॥ २६ ॥

व्याख्या—इन सब कर्ण रोगों में—१—पिप्पली, २—त्रिदोषज शूल (श्लो० ६), ३—विदारी (श्लो० १५) तथा ४—कूचिकर्णक (श्लो० १४) नामक रोग असाध्य हैं। एक तन्त्रिक नामक रोग याप्य है और शेष २० रोग साध्य हैं। इस प्रकार कर्ण के २५ रोग कहे गये हैं॥

वक्तव्य—उक्त असाध्य रोगों में त्रिदोषज कर्ण शूल से मृत्यु हो सकती है और शेष रोग असाध्य इसी अर्थ में होते हैं कि वे शान्त नहीं किये जा सकते। कर्णस्राव भी बहुत दिन तक कष्ट देता रहता है परन्तु उचित उपचार से शान्त हो जाता है। २५-२६॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अथाऽतः कर्णरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब कर्ण रोगों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—कर्ण रोगों की चिकित्सा च. चि. अ. २६ में, सु. सू. अ. १६, चि. अ. २५, उ. अ. २१ में तथा अ. सं. उ. २२ में देखिये।

वातजकर्ण शूल चिकित्सा—

कर्णशूले पवनजे, पिबेद्रात्रौ रसाशितः।
वातघ्नसाधितं सर्पिः कर्णं स्विन्नं च पूरयेत् ॥ १ ॥
पत्राणां पृथगश्वत्थ-बिल्वार्कैरण्डजन्मनाम्।
तैलसिन्धूत्थदिग्धानां स्विन्नानां पुटपाकतः ॥ २ ॥
रसैः कवोष्णैस्तद्वच्च मूलकस्याऽऽरलोरपि।
गणे वातहरेऽम्लेषु मूत्रेषु च विपाचितः ॥ ३ ॥
महास्नेहो द्रुतं हन्ति सुतीव्रामपि वेदनाम्।
महतः पञ्चमूलस्य काष्ठात्क्षौमेण वेष्टितात् ॥ ४ ॥
तैलसिक्तात्प्रदीप्ताग्रात् स्नेहः सद्यो रुजापहः।
योज्यश्चैवं भद्रकाष्ठात् कुष्ठात् काष्ठाच्च सारलात् ॥५॥
वातव्याधिप्रतिश्याय-विहितं हितमत्र च।
वर्जयेच्छिरसा स्नानं शीताम्भः पानमह्न्यपि ॥ ६ ॥

व्याख्या—वात जनित कर्ण शूल में—रात्रि में—मांसरस के साथ भोजन करे और वातनाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत का पान करे। कर्ण पर नाड़ी स्वेदन विधि से स्वेदन करे तदनन्तर—पीपल वृक्ष के कोमल पत्रों, बिल्व के पत्रों, आक के पीले पत्रों, मूली के पत्रों अथवा टेण्टू नामक वृक्ष के पत्रों पर तैल चुपड़ कर तथा सैन्धव लवण का चूर्ण बुरक कर पुटपाक विधि से पाक करके और निचोड़ कर कोष्ण २ रस कान में डाले।

अथवा—वात नाशक गण (सू. अ. १५), अम्लगण तथा गोमूत्र आदि में पकाया गया महास्नेह (घृत, तैल, वसा एवं मज्जा का मिश्रण)—कान में डालने से अत्यन्त तीव्र, वेदना को भी शीघ्र शान्त करता है। अथवा—बिल्व आदि महा पञ्चमूल के किसी एक काष्ठ पर रेशमी कपड़ा लपेट कर, उस पर तैल सींच कर लटका देवे और निचले छोर पर अग्नि लगा देवे उससे जलते समय जो तैल टपके उसे कटोरी में टपकाता रहे यह तेल कान में डालने से वेदना को तत्काल शान्त करता है। अथवा इसी विधि से देवदारु, सुगन्धी कूठ अथवा चीड़े की लकड़ी से प्राप्त तैल भी कर्ण शूल को शान्त करता है। और वात व्याधि अथवा प्रतिश्याय के समान चिकित्सा करे। अपथ्य—शिर का स्नान तथा दिन रात्रि में शीतल जल का पान न करे ॥ १-६ ॥

पित्तज कर्णशूल चिकित्सा—

पित्तशूले सितायुक्त-घृतस्निग्धं विरेचयेत्।
द्राक्षायष्टिशृतं स्तन्यं शस्यते कर्णपूरणम् ॥ ७ ॥
यष्ट्यनन्ता-हिमोशीर-काकोलीरोध्रजीवकैः।
मृणालबिसमञ्जिष्ठा-सारिवाभिश्च साधयेत् ॥ ८ ॥
यष्टीमधुरसप्रस्थं क्षीरद्विप्रस्थसंयुतम्।
तैलस्य कुडवं नस्यपूरणाभ्यञ्जनैरिदम् ॥ ९ ॥
निहन्ति शूलदाहोषा; केवलं क्षौद्रमेव वा।
यष्ट्यादिभिश्च सघृतैः कर्णौ दिह्यात्समन्ततः ॥ १० ॥

व्याख्या—पित्त जनित कर्णशूल में—प्रातः काल खण्ड मिला कर घृत पान करावे स्निग्ध होने पर विरेचन करे। और स्त्री के दूध में दाख एवं मुलेठी पका कर, छान कर कान में डाले—कर्ण कुहर भर देवे। अथवा—मुलेठी, दूर्वा, श्वेत चन्दन, खस, काकोली, लोध, जीवक, मृणाल (जटामांसी), बिस (भें, भिस), मञ्जीठ तथा सारिवा का कल्क १ पल, मुलेठी का क्वाथ १ प्रस्थ, गोदुग्ध २ प्रस्थ तथाय तैल १ कुडव ~~मिला कर तैल सिद्ध~~ करे इस तैल की नस्य लेने से कान में डालने से और कान पर तथा उसके आस पास अभ्यङ्ग करने से शूल, दाह तथा सन्ताप का नाश हो जाता है। अथवा—केवल मधु कान में डालने से उक्त शूल आदि का नाश

हो जाता है। अथवा—उक्त मुलेठी एवं दूर्वा आदि को पीस कर तथा घृत फेण्ट कर कान पर सब ओर मोटा लेप करे॥ ७-१०॥

कफज कर्ण शूल चिकित्सा—

वामयेत् पिप्पलीसिद्धसर्पिः स्निग्धं कफोद्भवे।
धूमनावनगण्डूष-स्वेदान् कुर्यात्कफापहान्॥ ११॥
लशुनार्द्रकशिग्रूणां सुरङ्गया मूलकस्य च।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठःकदुष्णाः कर्णपूरणे॥ १२॥
अर्काङ्कुरानम्लपिष्टांस्तैलाक्तांल्लवणान्वितान्।
सन्निधाय स्नुहीकाण्डे कोरिते तच्छदावृतान्॥ १३॥
स्वेदयेत्पुटपाकेन सरसः शूलजित्परम्।
रसेन बीजपूरस्य कपित्थस्य च पूरयेत्॥ १४॥
शुक्तेन पूरयित्वा वा फेनेनान्ववचूर्णयेत्।
अजाविमूत्रवंशत्वक् सिद्धं तैलं च पूरणम्॥ १५॥
सिद्धं वा सार्षपं तैलं हिंगुतुम्बरुनागरैः।

व्याख्या—कफजनित कर्णशूल में—पीपल के योग से सिद्ध घृत पिलावे, स्नेहन हो जाने पर वमन करावे और फिर कफनाशक धूमपान, नस्य, गण्डूष एवं स्वेदन का प्रयोग करे।

कर्ण में—लशुन, अदरक, सहजन, गिलोय का, मूली अथवा केलाकी जड़का स्वरस कोसा करके डालना चाहिये। अथवा—आक की कोपलों को कांजी में पीसकर, तैल एवं लवण मिलाकर, सेहुण्ड के दण्ड को उकर कर और उसमें भरकर तथा सेहुण्ड के पत्तों से आवृत करके पुटपाक विधि से पाक करे, पसीज जाने पर निचोड़ कर कोसा २ रस कान में डालने से शूल शान्त हो जाता है। अथवा—विजौरा निम्बू का अथवा—कैथ का कोसा २ रस डाले अथवा—कांजी डालकर समुद्रफेन का चूर्ण बुरक देवे। अथवा—बकरी का मूत्र एवं भेड़ का मूत्र १६ भाग, बाँस की कोमल छाल का कल्क १ भाग तथा तिल का तैल ४ भाग मिलाकर तैल सिद्ध करे और कान में डाले। हींग, तुम्बरु (तेजबल के बीज) तथा सोंठ का कल्क १ भाग तथा सरसों का तैल ४ भाग मिलाकर तैल सिद्ध करे और कान में डाले॥

वक्तव्य—काञ्जी आदि अम्ल द्रव डालकर जब समुद्रफेन का चूर्ण डाला जाता है तब उस रस में फेन उठती है जैसे दाल में उबाली आती है और सन् सन् ध्वनि सुनाई पड़ती है उस दशा में घबराना नहीं चाहिये थोड़े समय के पश्चात् फेन शान्त हो जाती है फिर सूई के फोहा से साफ कर दिया जाता है इससे कर्णस्राव में भी लाभ होता है ११-१५

रक्तज शूल चिकित्सा—

रक्तजे पित्तवत्कार्यं सिरां चाशु विमोक्षयेत॥ १६॥

व्याख्या—रक्तजनित कर्ण शूल में-पित्तज कर्ण शूलके समान चिकित्सा करे और सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करे।

वक्तव्य—उक्त सब चिकित्सा कर्णशूल की प्रारम्भिक दशा में की जाती है परन्तु जब पाक का प्रारम्भ हो जाता है तब निम्नलिखित उपचार करना चाहिये॥१६॥

कर्णपाक की चिकित्सा

पक्वे पूयवहे कर्णे धूम-गण्डूष-नावनम्।
युञ्ज्यान्नाडीविधानं च दुष्टव्रणहरं च यत्॥ १७॥
स्रोतः प्रमृज्य दिग्धं तु द्वौ कालौ पिचुवर्तिभिः।
पूरेण धूपयित्वा वा माक्षिकेण प्रपूरयेत्॥ १८॥
सुरसादिगणक्वाथफाणिताक्तां च योजयेत्।
पिचुवर्तिं सुसूक्ष्मैश्च तच्चूर्णैरवचूर्णयेत्॥ १९॥
शूलक्लेदगुरुत्वानां विधिरेष निवर्तकः।

व्याख्या—जब पक जानेपर कान के विवर में से पूय बहने लगती है तब—धूमपान, गण्डूष धारण तथा नस्य का प्रयोग किया जाय और नाडी द्वारा स्वेदन किया जाय तथा व्रण नाशक उपचार किया जाय।

यथा—कर्णस्रोतस् में चिपकी हुई पूय को प्रातः सायं-पिचु—रूई की बत्ती से भलीभाँति मार्जित करके और गूगल की धूप देकर मधु से भर दिया करे। अथवा—सुरसादिगण (सू. अ. १५) के क्वाथ का रस क्रिया में रूई की बत्ती भिगोकर कर्ण में डालता रहे और सुरसादिगण के सूक्ष्म चूर्ण को उसपर बुरकता रहे.

इस उपचार से—शूल, क्लेद-पूय तथा भारीपन की निवृत्ति हो जाती है॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २२—

एषा मेव कषायेण सक्षौद्रेण कपित्थस्वरसेन वा प्रक्षालनम्। तथा सुरसादिवर्गः प्रक्षालनाऽवचूर्णनयोः प्रयोज्यः।

अर्थात्—बेर, जामुन, वर एवं गूलर आदि की छाल एवं कोमल पत्तों के क्वाथ में मधु मिलाकर अथवा कैथ के स्वरस में मधु मिलाकर कान का प्रक्षालन करे अथवा सुरसादि गण के क्वाथ से प्रक्षालन करे और उन द्रव्यों के चूर्ण को बुरके। प्रक्षालन पिचकारी अर्थात् व्रणवस्ति द्वारा किया जाता है और अन्त में रूई से सुखा कर उचित तैल डाला जाता है। यथा—॥ १७-१९॥

कर्णस्राव नाशक तैल—

प्रियंगुमधुकाम्बष्ठा-धातक्युत्पलपर्णिभिः॥ २०॥
मञ्जिष्ठा लोध्रलाक्षाभिः कपित्थस्य रसेन च।
पचेत्तैलं तदास्रावं निगृह्णात्याशु पूरणात्॥ २१॥

व्याख्या—प्रियंगु, मुलेठी अम्बष्ठा (पाठा अथवा जूही के फूल), धाय के फूल, श्वेत कमल, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी, मंजीठ, लोध तथा लाख का कल्क

१ भाग, कैथ का रस १६ भाग तथा तैल ४ भाग मिला कर पाक करे सिद्ध होने पर तैल छान कर रख लेवे। यह तैल कान में भरने से कर्ण स्राव को शीघ्र रोक देता है। तैल को कोसा करके कान में डाले ॥

वक्तव्य—तैल का पाक "खर" होना चाहिये अथवा तैल में रुई के फाहा को भिगो कर पुनः कोला पर पका लेना चाहिये ॥२०-२१॥

कर्णनाद एवं बाधिर्य की चिकित्सा—

नादबाधिर्ययोः कुर्याद्वातशूलोक्तमौषधम् ।
श्लेष्मानुबन्धे श्लेष्माणां प्राग्जयेद्वमनादिभिः ॥ २२ ॥
एरण्डशिग्रुवरुण मूलकात्पत्रजे रसे ।
चतुर्गुणे पचेत्तैलं क्षीरे चाष्टगुणोन्मिते ॥ २३ ॥
यष्ट्याह्वाक्षीरकाकोली कल्कयुक्तं निहन्ति तत् ।
नादबाधिर्यशूलानि नावनाभ्यङ्गपूरणैः ॥ २४ ॥
पक्वं प्रतिविषाहिंगुमिसित्वक्स्वर्जिकोषणैः ।
ससूक्तैः पूरणात्तैलं रुक्स्रावश्रुतिनादनुत् ॥ २५ ॥
कर्णनादे हितं तैलं सर्षपोत्थं च पूरणे ।

व्याख्या—कर्णनाद एवं बाधिर्य में—वातज कर्णशूल नाशक चिकित्सा करे (देखिये श्लोक १-६)। यदि उक्त रोगों में कफ का अनुबन्ध हो तो प्रथम वमन नस्य एवं तीक्ष्ण धूम पान आदि से कफ को शान्त करे।

एरण्डादि तैल—

एरण्ड, सहजन, वरुणवृक्ष एवं मूली के पत्तों का स्वरस ४ भाग, तैल १ भाग, गो दुग्ध ८ भाग तथा मुलेठी एवं क्षीर काकोली का कल्क तैल से चतुर्थांश मिला कर पाक करे। तैल सिद्ध होने पर छान कर रख लेवे। यह तैल—नस्य लेने, अभ्यङ्ग करने तथा कान में भरने से कर्णनाद, बाधिर्य तथा शूल को नष्ट करता है।

अतिविषादि तैल—

अतीस, हींग, सौंफ, दालचीनी, सज्जीखार तथा मरिच का कल्क १ भाग, तिल तैल ४ भाग तथा काञ्जी अथवा सिरका १६ भाग मिला कर तैल सिद्ध करे। यह तैल कान में भरने से—कर्ण शूल, कर्णस्राव, बाधिर्य तथा कर्णनाद को नष्ट करता है। और कर्णनाद में सरसों का तैल कान में भरने से लाभ होता है ॥ २२-२५ ॥

क्षार तैल—

क्षारतैलम् ।

शुष्कमूलकखण्डानां क्षारो हिंगु महौषधम् ॥ २६ ॥
शतपुष्पावचाकुष्ठदारुशिग्रुरसाञ्जनम् ।
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकौद्भिदसैन्धवम् ॥ २७ ॥
भूर्जग्रन्थिविडंमुस्ता मधुसूक्तं चतुर्गुणम् ।
मातुलुङ्गरसस्तद्वत् कदलीस्वरसश्च तैः ॥ २८ ॥
पक्वं तैलं जयत्याशु सुकृच्छ्रानपि पूरणात् ।
कण्डूं क्लेदं च बाधिर्यं पूतिकर्णं च रुक्कृमीन् ॥ २९ ॥
क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदन्तामयेषु च ।

व्याख्या—सूखी मूली के टुकड़ों का क्षार (मूलीखार) हींग, सोंठ, सोंफ, बालवच, सुगन्धी कूट, देवदारु, सहजन की छाल अथवा बीज, रसवत, सौंचर लवण, जौखार, सज्जीखार, ऊपर लवण (रेही का नमक) सैन्धव लवण, भोजपत्र, पीपलामूल, विडलवण तथा मोथा का कल्क १ भाग, मधु शुक्त, निम्बू का रस तथा केला की जड़ का रस १६-१६ भाग तथा तैल ४ भाग मिला कर पाक करे। तैल सिद्ध होने पर छान कर रख लेवे। यह तैल—कान में भरने से—कष्ट साध्य कण्डू क्लेद (स्राव), बाधिर्य, पूतिकर्ण, कर्णशूल तथा कर्णकृमि को शीघ्र नष्ट करता है और मुख रोगों तथा दन्त रोगों में मुख में एवं दन्तों पर लगाना चाहिये ॥

वक्तव्य—मधुशुक्त—शा. सं. म. खं. अ. ६—

जम्बीराणां फलरसः प्रस्थैकः कुडवोन्मितम् ।
माक्षिकं तत्र दातव्यं पलैका पिप्पली स्मृता ।
एतदेकीकृतं सर्वं मृद्भाण्डे विनिधापयेत् ।
धान्य राशि स्थितं मासं मधु शुक्तमुदाहृतम् ॥१८०॥

अर्थात् निम्बू का रस १ प्रस्थ, मधु १ कुड़व तथा पीपल १ पल मिला कर मिट्टी के भाण्ड में डाल कर धान्य राशि में दबा देवे एक मास के पश्चात् निकाल कर छान लेवे। इसका नाम "मधु शुक्त" है। इस क्षार तैल का वर्णन भी "शार्ङ्गधर संहिता" के उक्त अध्याय में देखिये ॥२६-२९॥

कर्ण स्वाप चिकित्सा—

अथ सुप्ताविव स्यातां कर्णौ रक्तं हरेत्ततः ॥ ३० ॥

व्याख्या—जब कान सुप्त-शून्य से हों तब कान के समीप की सिरा का वेध करके रक्त निकाल देवे ॥

वक्तव्य—कर्ण की शून्यता का उल्लेख अ. १७ के श्लोक २ में देखिये। सिरावेध की विधि सू. अ. २७ में देखिये ॥ ३० ॥

कर्ण रोगों में वमन—

सशोफक्लेदयोर्मन्दश्रुतेर्वमनमाचरेत् ।

व्याख्या—कर्ण के शोथ में, क्लेद—परिस्राव में तथा मन्द श्रुति (उच्चैः श्रवण) में वमन देवे ॥

बाधिर्य चिकित्सा—

बाधिर्यं वर्जयेद्बालवृद्धयोश्चिरजं च यत् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—बालक एवं वृद्ध का तथा पुराना बाधिर्य रोग असाध्य होने के कारण त्याज्य होता है ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २२—

बाधिर्यं च बालवृद्धक्षीणकासशोषिणांशिरोत्थितं वर्जयेत् ।

इतरे तु स्नेहस्वेदनस्यशिरोवस्तिवस्तिकर्म—प्रभृतिभिः दोषानुबन्धमपेक्ष्य साधयेत् । तत्र प्रागेव पुराण—सर्पिषा वातहरतैलेन वा स्निग्धं स्नेहेनैव विरेचयेत् । कृतसंसर्जनस्य पुनः स्निग्धस्य शोणितमपहरेत् कर्णासन्नं जलौकोभिः, ततो वस्तिकर्मपूर्वंतैलेन, नस्य धूमान् कर्णपूरणं च शीलयेत् । बिल्वादितैलतरुणबिल्वफलानि गोमूत्रेण क्वाथयेत् तेन सितामधुकवीजकवीजकल्केन पयोयुक्तं तैलं पाचयेत् तत् तैलं उष्णं शीते बिल्वक्वाथे प्रक्षिप्य मन्थयेत् यावत् पिण्डीभूतमुद्धृत्य च एतत् पुनः अन्यत्र बिल्वोदकेन मन्थयेत्, ततश्च उद्धृत्य अष्टगुणे पयसि समधुकचन्दनगर्भसाधितमाशु -कर्णपूरणात् बाधिर्यं नाशयति ।

अर्थात्—बालक, वृद्ध, क्षीण-कृश, कास रोगी तथा शोषरोगी का बाधिर्य असाध्य होता है और पुराना भी । इनके अतिरिक्तों के बाधिर्य में वातादि दोषों के अनुबन्ध के अनुसार—स्नेहन, स्वेदन, नस्य, शिरोवस्ति तथा वस्तिकर्म की व्यवस्था करे । सर्व प्रथम—पुराने घृत से अथवा नारायण तैल स्नेह से विरेचन करे । विरेचन के पश्चात् पेयाविलेपी आदि संसर्जन क्रम से प्रकृति भोजन कराकर पुनः स्नेहन करके कर्ण के समीप जोंक लगाकर रक्त निकाल देवे तत्पश्चात्—वस्ति कर्म के साथ २ तैल की नस्य, धूप तथा कर्णपूरण का अभ्यास करे ।

बिल्वादि तैल—

बिलगिरी का गोमूत्र में क्वाथ करे यह क्वाथ १६ भाग, मिश्री, मुलेठी तथा विजयसार के बीज का कल्क १ भाग, गो दुग्ध ४ भाग तथा तेल ४ भाग मिलाकर पाक करे अन्त में छानकर उष्ण २ तेल को बिलगिरी के शीतल क्वाथ में डालकर मथे जब माखन जैसा पिण्ड बन जाय तब निकाल कर पुनः बिलगिरी के क्वाथ में मथे अन्त में निकाल कर आठगुने गो दुग्ध में तथा मुलेठी एवं चन्दन का कल्क मिलाकर तेल सिद्ध करे । यह तेल कान में भरने से बधिरता को नष्ट करता है ॥३१ ॥

प्रतिनाह, कर्णकण्डू एवं शोथ चिकित्सा—

प्रतीनाहे परिक्लेद्य स्नेहस्वेदैर्विशोधयेत् ।
कर्णशोधनकेनानु कर्णौ तैलस्य पूरयेत् ॥३२ ॥
ससूक्तसैन्धवमधोर्मातुलुङ्गरसस्य वा ।
शोधनाद् रूक्षतोत्पत्तौ घृतमण्डस्य पूरणम् ॥३३॥
क्रमोऽयं मलपूर्णेऽपि कर्णे कण्डवां कफापहम् ।
नस्यादि तद्वच्छोफेऽपि कट्वुष्णैश्चात्र लेपनम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—प्रतिनाह नामक कर्ण रोग में—स्नेहन स्वेदन से कर्ण विवर को आर्द्र करके कर्ण शोधन शलाका द्वारा कानों का शोधन करे तदनन्तर कानमें तैल भर देवे । अथवा शिरका सैंधव लवण एवं मधु मिला कर निम्बू का रस भर देवे । यदि कर्ण शोधन के अनन्तर कान में रूक्षता रहने लगे तो घृतमण्ड भरना चाहिये । यह सब उपचार कान की मैल में भी करे । कर्ण कण्डू में—कफ नाशक नस्य एवं धूम आदि की व्यवस्था करे । कर्ण शोथ में—कटु तिक्त एवं उष्ण द्रव्यों का लेप एवं सेचन करे और उक्त सब उपचार करे ॥

वक्तव्य—अ० सं० उ. अ. २२—शोध्यमाने वेदना रक्तागमो वा यदि भवेत् ततो घृतमण्डेन पूरयेत् नस्यं च शीलयेत्। कण्ड्वां तीक्ष्णधूमनस्यादीन् कफघ्नान् वितरेत्, रूक्षकटुतिक्तश्च आहारः, शोफेऽपि अयमेव विधिः कटुतिक्तोष्णाः च प्रदेहाः परिषेकाः—

अर्थात्—कर्णशोधन के समय शलाका के दुष्प्रयोग से वेदना अथवा रक्तस्राव होने लगे तो कान में घृत मण्ड भरे तथा उसी की नस्य लिया करे । कर्ण कण्डू में कफ नाशक धूम एवं नस्य का अभ्यास करे, रूक्ष, कटु एवं तिक्त द्रव्यों का आहार करे । कर्ण शोथ में इस उपचार के साथ २ कटु, तिक्त एवं उष्ण द्रव्यों के लेप एवं सेचन करे ॥३२–३४॥

पूति कर्ण एवं कर्णकृमि की चिकित्सा—

कर्णस्रावोदितं कुर्यात्पूतिकृमिणकर्णयोः ।
पूरणं कटुतैलेन विशेषात् कृमिकर्णके ॥ ३५ ॥

व्याख्या—पूतिकर्ण एवं कृमिकर्ण में स्राव के समान चिकित्सा करे । विशेषतः कृमिकर्णक में कान में कटु तैल डालना चाहिये ॥

वक्तव्य—कृमिकर्णक में—हारिताल मिश्रित गोमूत्र डाले और भण्टा के बीज की धूप देवे (अ. सं, उ. अ. २१)।

कर्णविद्रधि की चिकित्सा—

वमिपूर्वा हिता कर्णविद्रधौ विद्रधिक्रिया ।
पित्तोत्थकर्णशूलोक्तं कर्तव्यं क्षतविद्रधौ ॥ ३६ ॥

व्याख्या—कर्णविद्रधि में—वमन करा कर आम एवं पक्व विद्रधि के समान चिकित्सा करे । क्षतजनित विद्रधि में—पित्त जनित शूल के समान चिकित्सा करे ॥ ३३ ॥

अर्श, अर्बुद एवं विदारिका की चिकित्सा—

अर्शोऽर्बुदेषु नासावत् आमा कर्णविदारिका ।
कर्णविद्रधिवत्साध्या यथादोषोदयेन च ॥ ३७ ॥

व्याख्या—कर्णार्श एवं कर्णार्बुद में नासार्श एवं नासाऽर्बुद के समान चिकित्सा करे (देखिये अ. २०) । अपक्व कर्ण विदारिका की चिकित्सा वातादि दोषों का भलीभाँति विचार करके कर्ण विद्रधि के समान करे ॥

वक्तव्य—आम—अपक्व विदारिका की तत्काल प्रयत्न पूर्वक चिकित्सा करे क्योंकि पक जाने पर वह असाध्य हो जाती है— देखिये (अ. १७) ॥ ३५-३७॥

कर्ण शुष्कुली एवं कर्णपाली के रोगों की चिकित्सा—

पाली शोष की चिकित्सा—

पालीशोषेऽनिलश्रोत्र-शूलवन्नस्यलेपनम्।
स्वेदं च कुर्यात् स्विन्नां च पालीमुद्वर्तयेत्तिलैः॥ ३८॥
प्रियालबीजयष्ट्याह्व-हयगन्धायवान्वितैः।
ततः पुष्टिकरैः स्नेहैरभ्यङ्गं नित्यमाचरेत्॥ ३९॥
शतावरी वाजिगन्धापयस्यैरण्डजीवकैः।
तैलं विपक्वं सक्षीरं पालीनां पुष्टिकृत्परम्॥ ४०॥
कल्केन जीवनीयेन तैलं पयसि पाचितम्।
आनूपमांसक्वाथे च पालीपोषणवर्धनम्॥ ४१॥
पालीं छित्त्वातिसङ्क्षीणां शेषां सन्धाय पोषयेत्।

व्याख्या—पाली शोष में—वात जनित कर्ण शूल के समान नस्य एवं लेप करे और स्वेदन करे फिर स्वेदन के अनन्तर पाली पर तिल, चिरौंजी, मुलेठी, असगन्ध तथा जौ के कल्क में तैल मिला कर उबटन करता रहे और प्रतिदिन बला तैल आदि पुष्टि कारक तैलों का अभ्यङ्ग करे।

अभ्यङ्गार्थ तैल—

शतावर, असगन्ध, क्षीर विदारी, एरण्ड मूली तथा जीवक के क्वाथ एवं कल्क तथा गोदुग्ध के योग से सिद्ध तैल कर्णपाली को पुष्ट करता है। जीवनीयगण (सू. अ. १५) का कल्क १ भाग, तैल तथा गोदुग्ध ४-४ भाग और सूअर आदि अनूप देशीय प्राणी के मांस का क्वाथ १६ भाग मिला कर तैल सिद्ध करे। इसका अभ्यङ्ग करने से पाली पुष्ट होती है और बढ़ जाती है। इतना सब उपचार करने पर भी जो पाली—अत्यन्त क्षीण हो रही हो उस के दूषित भाग को काट कर शेष पाली का सन्धान करके उक्त प्रकार के अभ्यङ्ग एवं उबटन करके पाली का पोषण करे॥

वक्तव्य—वातज कर्णशूल के लिये अ. सं. अ. २२ में नस्य एवं लेप का तथा स्वेदन का विधान इस प्रकार है—नस्य तो प्रतिश्याय के समान देवे देखिये अ. २०। लेपन—श्रेयसी देवदारु काकोली कुष्ठ निचुलबीजैः क्षीरपिष्टैः तैलयुतैः कर्णं बहिः लेपयेत्। अर्थात्—गजपीपल, देवदारु, काकोली, कूठ तथा जलबेत के बीज को दूध में पीस कर और तैल मिला कर कान के बाहिर लेप करे। स्वेदन—सर्वधान्यस्नेहगोक्षीरसिद्धामुत्कारिकामेरण्डपत्राऽवच्छादिते कर्णे स्वेदाय प्रणयेत्। पुनः पुनः नाडीस्वेदं कुर्यात्, पिण्डस्वेदेन वा। अर्थात्—गेहूँ आदि सब धान्यों का आटा सब प्रकार के स्नेहों में भूनकर और गोदुग्ध डाल कर लपसी (हलुवा) बनावे और कान पर एरण्ड के पत्र धर कर उस लपसी से स्वेदन करे॥३८-४१॥

तन्त्रिका एवं परिपोट की चिकित्सा—

याप्यैवं तन्त्रिकाख्यापि परिपोटेऽप्ययं विधिः॥ ४२॥

व्याख्या—तन्त्रिकारोग याप्य होता है अतः उक्त प्रकार की चिकित्सा द्वारा उसका यापन करे। और परिपोट नामक रोग में भी पाली शोष के समान उचित उपचार करे॥

तन्त्रिकामपि चैवमेव नस्याऽभ्यङ्गाविभिः यापयेत्। परिपोटकेऽपि अयमेव विधिः, तथा मधुकखरमञ्जरी सैन्धवाश्वगन्धादेवदारुमूलकाऽवल्गुजलमूलमधूच्छिष्टैः सक्षीरैः सिद्धो महास्नेहोऽभ्यङ्गः, तिलमधुक प्रपौण्डरीक सिद्धार्थक क्षीरकृतया उत्कारिकया उपनाहः। अर्थात्—तन्त्रिका नामक रोग का नस्य एवं अभ्यङ्ग आदि द्वारा यापन करे परि पोटक में भी यही चिकित्सा की जाती है तथापि—मुलेठी, अपामार्ग, सैन्धव लवण, असगन्ध, देवदारु, मूली के बीज, बाकुची के बीज एवं मूल तथा मोम का कल्क १ भाग, गोदुग्ध ४ भाग तथा घृत आदि चारों स्नेह ४ भाग मिलाकर पाक करे। सिद्ध होने पर कर्ण पाली पर अभ्यङ्ग करे। और तिल, मुलेठी, पुण्डेरिया, श्वेत सरसों तथा दूध के योग से बनाई गई लप्सी (पतला हलुवा) का उपनाह करे॥ ४२॥

उत्पात चिकित्सा—

उत्पाते शीतलैर्लेपो जलौकोद्धृतशोणिते।
जम्ब्वाम्रपल्लवबला-यष्टीरोध्रतिलोत्पलैः॥ ४३॥
सधान्याम्लैः समञ्जिष्ठैः सकदम्बैः ससारिवैः।
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलं विसर्पोक्तघृतानि च॥ ४४॥

व्याख्या—उत्पात नामक कर्ण रोग में—जोकों द्वारा रक्त निकाल कर शीतल द्रव्यों का लेप करे। और—जामुन एवं आम के कोमल पत्र, बलामूल, मुलेठी, लोध, तिल, कमल, मञ्जीठ, कदम्ब की छाल तथा सारिवा का कल्क १ भाग, कांजी १६ भाग तथा तैल ४ भाग मिलाकर तैल सिद्ध करे। इस तैल का कर्णपाली पर अभ्यङ्ग करे और विसर्प रोग की चिकित्सा (चि. अ. १८) में कहे गये घृतों का अभ्यंग एवं पान करे।४३-४४।

उन्मन्थ चिकित्सा—

उन्मन्थेऽभ्यञ्जनं तैलं गोधाकर्कवसान्वितम्।
तालीपत्र्यश्वगन्धार्क-बाकुचीतिलसैन्धवैः॥ ४५॥
सुरसालाङ्गलीभ्यां च सिद्धं तीक्ष्णं च नावनम्।

व्याख्या—उन्मन्थ (गल्लिर) नामक रोग में—गोह एवं केंकड़ा की वसा और तैल मिलाकर—ताड के कोमल पत्र, असगन्ध, आक की जड़ की छाल, बाकुची, तिल, सैन्धव लवण, तुलसी के पत्र तथा कलिहारी कन्द का कल्क मिलाकर पाक करे सिद्ध होने पर अभ्यङ्ग करे और कटफल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों की नस्य देवे॥ ४५॥

दुःख वर्द्धन चिकित्सा—

दुर्वर्द्धेऽश्मन्तजम्ब्वाम्र-पत्रक्वाथेन सेचिताम् ॥४६॥
तैलेन पालीमभ्यक्तां सुश्लक्ष्णैरवचूर्णयेत्।
चूर्णैर्मधुकमञ्जिष्ठाप्रपुण्ड्राह्वनिशोद्भवैः ॥ ४७ ॥
लाक्षाविडङ्गसिद्धं च तैलमभ्यञ्जने हितम्।

व्याख्या—दुर्विद्ध अर्थात् दुःखवर्द्धन नामक रोग में—अश्मन्तक, जामुन एवं आम के कोमल पत्तों के क्वाथ का सेचन करे फिर कर्णपाली पर तैल चुपड़कर मुलेठी, मंजीठ, चकवड के बीजों तथा हल्दी के सूक्ष्म चूर्ण को बुरक देवे। भलीभाँति रोपण हो जाने पर लाख एवं वाविडंग के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करता रहे ॥४६-४७॥

लेह चिकित्सा—

स्विन्नां गोमयजैः पिण्डैर्बहुशः परिलेहिकाम् ॥ ४८ ॥
विडङ्गसारैरालिम्पेदुरभ्रीमूत्रकल्कितैः।
कोटजेङ्गुदकारञ्ज-बीजशम्याकवल्कलैः ॥ ४९ ॥
अथवाभ्यञ्जने तैर्वा कटुतैलं विपाचयेत्।
सनिम्बपत्रमरिच-मदनैर्लेहिकाव्रणे ॥ ५० ॥

व्याख्या—लेह (परिलेही या लेहिका) नामक रोग में—गोबर की पोटलियों से अनेक बार स्वेदन करे फिर वाविडंग को भेड़ी के मूत्र में पीसकर लेप करे।

अथवा—इन्द्र जौ, इंगुदी के बीज, करंज बीज तथा अमलतास की छाल को भेडी के मूत्र में पीसकर लेप करे।

अथवा—इन्द्र जौ, इंगुदी के बीज, करंज बीज, अमलतास की छाल, निम्ब के पत्र, मरिच तथा मोम के योग से सिद्ध तैल का लेहिका व्रणों पर अभ्यङ्ग करे—चुपड़े—फोहा धरे ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २२—

परिदहने जलजाभिः असृक् स्रावयेत्, शीतैश्च प्रदिह्यात्। सर्वेषु च पालीरोगेषु स्नेह स्वेद शोधन अभ्यङ्ग प्रदेह नस्य अस्रविस्रावणानि यथार्हं प्रयुञ्जीत। प्रकोपकारणानि च परिहरेत्। उत्पद्यमानायां तु पाल्यां सर्जरसाऽपामार्गपटोललिकुचत्वग्भिः आलेपः। उत्पतन्त्यां शिग्रुशम्याकपूतीकगोवराहपित्तगोधावसासर्पिर्भिः। श्यावायां गौरीसुगन्धाश्यावाऽनन्तातण्डुलीयकमूलैः। कण्डूमत्यां पाठाऽनन्तातार्क्ष्यशैलेयमाक्षिकैः दह्यमानायां क्षीरिवृक्ष जीवनीय कल्क मधुकृतैः। व्र[illegible]यां क्षौद्रजीवनीयैः। कृशायां गोधावराहादि वसाभिः। ग्रथितायां ग्रन्थिं पाटयित्वा अवलिख्य च कृष्णासैन्धवमधुभिः प्रतिसारयेत्। स्राववत्यां मधुमधूकमधुपर्णीभिः लपः। एभिः एव च यथास्वं स्नेहान् अभ्यङ्गार्थे प्रकल्पयेत्।

अर्थात्—कर्णपाली में यदि सन्ताप हो तो जोक लगाकर रक्त निकाले और शीतल द्रव्यों का लेप करे। और सभी प्रकार के पाली रोगों में स्नेहन, स्वेदन, शोधन, अभ्यंग, प्रदेह, नस्य तथा रक्तमोक्षण आवश्यकतानुसार करे। और दोष प्रकोपक आहार विहार का परित्याग करे।

यदि पाली उत्पन्न हो रही हो तो—राल, अपामार्ग परवल के पत्र एवं बड़हर की छाल का लेप करे। उत्पतित हो रही हो तो—सहजन की छाल, अमलतास की छाल, पूतिकरंज के बीज, गौ एवं सूअर के पित्त द्रव, गोह की वसा एवं गोघृत का लेप करे। कर्णपाली साँवली हो गई हो तो—हलदी, सुगन्धा, श्यावा, कृष्णसारिवा तथा चौलाई की जड़ों का लेप करे। पालीपर कण्डू हो तो—पाठा, कृष्णसारिवा, रसवत, शरीला तथा मधु का लेप करे। दाह हो रहा हो तो -वट आदि क्षीरीवृक्षों की छालों तथा जीवनीयगण (सू. अ १५) के द्रव्यों का कल्क मधु एवं घृत में फेंट कर लेप करे। कर्णपाली पर व्रण हो तो—मधु एवं जीवनीय गण के द्रव्यों का लेप करे। कर्णपाली कृश हो रही हो तो—गोह एवं सूअर की वसा का लेप करे। कर्णपाली पर ग्रन्थि हो गई हो तो—ग्रन्थिपर पाटन एवं लेखन कर्म करके—पीपल सैन्धव लवण तथा मधु का प्रतिसारण करे। स्राव हो रहा हो तो—मधु, महुवाके फूल तथा गिलोय के पत्तों का लेप करे। और उक्त सब के लिये—उक्त औषधों के योग से स्नेहों की कल्पना करे ॥४८-५०॥

छिन्न कर्ण की चिकित्सा—

छिन्ने तु कर्णे शुद्धस्य बन्धमालोच्य यौगिकम्।
शुद्धास्रं लगयेल्लग्ने सद्यश्छिन्ने विशोधनम् ॥ ५१ ॥

कर्णरोगविधानम्—

अथ ग्रथित्वा केशान्तं कृत्वा छेदनलेखनम्।
निवेश्य सन्धिं सुषमं न निम्नं न समुन्नतम् ॥ ५२ ॥
अभ्यज्य मधुसर्पिर्भ्यां पिचुप्लोतावगुण्ठितम्।
सूत्रेणागाढशिथिलं बद्ध्वा चूर्णैरवाकिरेत् ॥ ५३ ॥
शोणितस्थापनैर्व्रण्यमाचारं चादिशेत्ततः।
सप्ताहादामतैलाक्तं शनैरपनयेत् पिचुम् ॥ ५४ ॥
सुरूढं जातरोमाणं श्लिष्टसन्धिसमस्थिरम्।
सुवर्त्माणं सुरागं च शनैः कर्णं विवर्धयेत् ॥ ५५ ॥

व्याख्या—कर्णवेध की विकृति से अथवा भूषणाकर्षण आदि असद् व्यवहार से यदि कर्णपाली कट-फट जाय तो विरेचन से शोधन करके वहाँ का रक्त शुद्ध होने-रहने पर, उपयोगी बन्ध लगाकर पाली का सन्धान कर देवे इस प्रकार सन्धान होने पर यदि शीघ्र कर्ण वेध किया जाता है तो पुनः फट जाता है इस दशा में पुनः शोधन एवं सन्धान कर्म करे। सन्धान की विधि यह है कि केशों को ऊपर की ओर बान्ध कर, आवश्यकतानुसार छेदन एवं लेखन करके, कटी हुई पाली सन्धि इस प्रकार बैठावे

जिस प्रकार वह भलीभाँति सम हो न निम्न हो और न उन्नत हो, उस पर मधु एवं घृत का लेप करके फोहा अथवा कागली से ढंक कर सूत्र से इस प्रकार बन्धन करे जिस प्रकार न गाढ़ा बन्धन हो और न ढीला। बन्धन पर रक्त स्थापन द्रव्यों का चूर्ण (सू. अ. २७ देखिये) बुरक देवे और व्रणोपयोगी आहार विहार की व्यवस्था कर देवे। एक सप्ताह के पश्चात् आम तैल (कोल्हू का कच्चा तैल) सींच कर स्निग्ध-आर्द्र होने पर धीरे २ फोहा उतार देवे। इस प्रकार जब भलीभाँति छिन्नव्रण का रोपण हो जाय, वहाँ रोम उग आयें, सन्धित सन्धि-सम एवं स्थिर हो जाय, कान्तिमान् एवं लाल वर्ण वाला हो जाय-सुवर्णमरोगं च-अच्छे चर्म वाला एवं वेदना रहित (अ. सं. उ. अ. २२) हो जाय तब पुनः धीरे २ (सम्भल कर कर्णवेध करे) कर्णपाली की वृद्धि करे॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २२—

न च आविशुद्धरक्तातिप्रवृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा सन्दध्यात्। तस्य हि स्वयमपि सन्धिः विश्लिष्यते, ध्मायते, श्यावतामुपैति, पच्यते, शुष्यति, चिरात् रोहति रूढोऽपि आभरणं न क्षमते, सशोफकण्डूसन्तापोपग्रन्थिमान् वा भवति। तत्र यथास्वं प्रतिकुर्वीत। दुष्टरक्ते च रक्तमेवावसेचयेत्, क्षीणरक्तं स्नेहपाननस्यमांसाऽशनाऽभ्यङ्गैः बृंहयेत्। सर्वत्र च एवमेव सोपद्रवसन्धौ सन्धिं विमुच्य पूर्वाऽपचारोपस्थापितस्मृतिं सम्यक् सन्धीत इति। भवन्ति चात्र—

न कर्णे शोफरागादियुक्ते सन्धानमाचरेत्।
न बस्मरस्य नाऽत्युष्णे नाऽविशुद्धतनोरपि।
अन्यथा दाहरुक् तोदशोफाः स्युः तत्र कारयेत्।
शीतान् प्रदेहसेकादीन् शुद्धिं च क्लेदनाशिनीम्।
कठिनाः सरुजः श्यामाः पाल्यः स्वेदितमर्दिताः।
अभ्यक्ताश्चैव जायन्ते मृदवो नीरुजः स्थिराः॥

अर्थात्—यदि रक्त शुद्ध न हो, अधिक बह रहा हो अथवा क्षीण हो गया हो तो कर्णपाली का सन्धान न करे। क्योंकि उस दशा में सन्धान स्वयं खुल जाता है—सटता नहीं है अथवा कर्णपाली फूल जाती है, काली हो जाती है, पक जाती है अथवा सूख जाती है अथवा विलम्ब से रुह—रोपित होती है और रूढ़ हो जाने पर भी भूषण का भार नहीं सहती। अथ च—शोथ, कण्डू एवं सन्ताप से युक्त हो जाती है अथवा ग्रन्थियुक्त हो जाती हैं। इस दशा में यथोचित उपचार करे। यदि रक्त दूषित हो तो जोंक लगाकर रक्त स्रावण करे। क्षीण हो तो स्नेह पान, स्निग्ध नस्य, मांसरस के साथ भोजन तथा अभ्यङ्ग के द्वारा बृंहण करे। अधिक क्या कहें सन्धान के सब उपद्रवों में सन्धान खोल कर पुनः सावधान होकर—सब प्रकार के मिथ्या आहार विहार को बचा कर पुनः भली भाँति सन्धान करे। प्राचीनों का कथन है कि—शोथ एवं राग—लालिमा आदि से युक्त कर्णपाली का सन्धान करे। और बहुभोजी का तथा अशुद्ध शरीर वाले का एवं अत्यन्त उष्ण काल में सन्धान न करे। यदि किया जाता है तो दाह, वेदना, व्यथा अथवा शोथ हो सकते हैं इस दशा में शीतल द्रव्योंका लेप तथा सेचन आदि करे और क्लेद—पाक नाशक विरेचनादि द्वारा शोधन करे। जो पाली—कठोर, वेदना युक्त तथा क्षीण रहती हैं वे स्वेदन, मर्दन एवं अभ्यङ्ग करने से कोमल, वेदना रहित तथा स्थिर पुष्ट हो जाती हैं।

कर्णपाली वर्द्धक स्नेह—

जलशूकः स्वयङ्गुप्ता रजन्यौ बृहतीफलम्।
अश्वगन्धाबलाहस्तिपिप्पलीगौरसर्षपाः॥ ५६॥
मूलं कोशातकाऽश्वघ्नरूपिकासप्तपर्णजम्।
छुच्छुन्दरी कालमृता गृहं मधुकरीकृतम्॥ ५७॥
जतूका जलजन्मा च तथा शाबरकन्दकम्।
एभिः कल्कैः खरं पक्वं सतैलं माहिषं घृतम्॥ ५८॥
हस्त्यश्वमूत्रेण परम्-अभ्यङ्गात्कर्णवर्धनम्।

व्याख्या—जल शूक (सिवार—काई) किवाँच बीज, हल्दी, दारु हल्दी की छाल, कण्टकारी, वनभण्टा, असगन्ध, बलामूल, गजपीपल, श्वेत सरसों, कोशातकी, की, कनेर की, आक की, तथा सतवन की जड़ की छाल, स्वयं मरी हुई छुछुन्दर, मधु मक्षिका का छत्ता, चमगादड़, जोंक तथा लशुन का कल्क १ भाग, तैल तथा भैंस का घृत ४ भाग, हाथी एवं घोड़ा के मूत्र १६ भाग मिला कर खरपाक पाक करे। इसका अभ्यङ्ग करने से कर्णपाली की वृद्धि हो जाती है॥ ५६-५८॥

नासासन्धान विधि—

अथ कुर्याद्वयस्थस्य छिन्नां शुद्धस्य नासिकाम्॥ ५९॥
छिन्द्यान्नासासमं पत्रं तत्तुल्यं च कपोलतः।
त्वङ्मांसं नासिकासन्ने रक्षंस्तत्तनुतां नयेत्॥ ६०॥
सीव्येद् गण्डं ततः सूच्या सेविन्या पिचुयुक्तया।
नासाच्छेदे च लिखिते परिवर्त्योपरि त्वचम्॥ ६१॥
कपोलबन्धं सन्दध्यात्सीव्येन्नासां च यत्नतः।
नाडीभ्यामुत्क्षिपेदन्तः सुखोच्छ्वासप्रवृत्तये॥ ६२॥
आमतैलेन सिक्त्वा तु पतङ्गमधुकाञ्जनैः।
शोणितस्थापनैश्चान्यैः सुश्लक्ष्णैरवचूर्णयेत्॥ ६३॥
ततो मधुघृताभ्यक्तं बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत्।
ज्ञात्वावस्थान्तरं कुर्यात् सद्योव्रणविधिं ततः। ६४॥
छिन्द्याद्वृद्धेऽधिकं मांसं नासोपान्ते च चर्म तु
सीव्येत्ततश्च सुश्लक्ष्णं हीनं संवर्धयेत्पुनः॥ ६५॥

निवेशिते यथान्यासं सद्यश्छेदेऽप्ययं विधिः ।

व्याख्या—यदि कर्ण के समान किसी तरुण स्त्री पुरुष की नासा कट जाय तो मंगलाचरण—इष्ट देवता का स्मरण करके विरेचन द्वारा शरीर शोधन करके, वट आदि वृक्ष का पत्र कटी नासा के परिमाण से काट कर और उतना ही कपोल प्रदेश से त्वचा युक्त मांस काट कर कपोल के व्रण को तत्काल सी देवे और उस त्वचा युक्त मांस को कटी नासा का लेखन करके, तत्स्थानीय त्वचा का परिवर्त्तन करके और उस पर धर कर जोड़ कर देवे तथा श्वास के आवागमनार्थ दोनों नासा पुटों में दो नालियाँ लगा देवे और नासा पुटों को उचित रूप से ऊँचा करके सीवन कर्म कर देवे तथा उस पर पिचु धर कर आम तैल का सर्वदा सेचन करता रहे और रक्त स्राव के निरोधार्थ उस पर—रक्तरोधक पतङ्ग काष्ठ, मुलेठी एव अंजन के सूक्ष्म चूर्ण अथवा अन्यान्य रक्त रोधक पदार्थों (देखिये सू. अ. २७) के सूक्ष्म चूर्ण को बुरक देवे, रक्त रोध हो जाने पर मधु एवं घृत का लेप करके उचित बन्धन बांध कर स्नेहविधि सू. अ. १६ में कहा गया आचार—आहार विहार का आदेश देवे । और नासाच्छेद के अवस्थान्तर में—उक्त उपचार न कर सकने पर सद्योव्रण (सू. अ. २९) के समान उपचार करके व्रणरोपण कर देवे इस दशा में सदा के लिये "नकटा" रह जाना होता है । अस्तु क्या किया जाय । उक्त प्रकार से नासा सन्धान का रोहण-रोपण हो जाने पर यदि नासा के समीप अधिक मांस एवं चर्म-त्वचा या त्वचायुक्त मांस बढ़ा हुआ रह जाय या बढ़ जाय तो उसे काट कर सी देवे अर्थात् नासा को स्वाभाविक आकार की कर देवे जिस से असुन्दरता न हो, यदि नासा का अग्रभाग हीन-निम्न रह जाय तो उसे पुनः बढ़ाने का प्रयत्न करे । यदि नासा का अग्रभाग तत्काल कटा हो तो उस कटे भाग को तत्काल उचित स्थान—उसी स्थान पर भलीभाँति धर कर उल्लिखित विधि से सन्धान कर देवे ॥५९-६५॥

ओष्ठसन्धान विधिः—

नाडीयोगाद्विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिः ॥ ६६ ॥

व्याख्या—ओष्ठ कट जाने पर—नाड़ी-नालियों के विना नासासन्धान के समान चिकित्सा करे ॥

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन सु. सू. अ. १६ में देखिये । कर्णवेध, नासावेध प्राचीन काल से मानव समाज में प्रचलित है और अफ्रीका आदि में ओष्ठ वेध भी किया जाता है । उक्त तीनों वेध रक्षार्थ एवं भूषण धारणार्थ किये जाते हैं । कभी २ चोर दस्यु भूषण लोभ से आक्रमण करते समय भूषण को खींच लेते हैं अथवा अन्यान्य धन कलह करते समय—नासा एवं कान काट देते हैं और गिरने पड़ने से ओठ कट जाते हैं इस दशा में उक्त प्रकार से सन्धान क्रिया की जाती है । कभी २ नासा की असुन्दरता दूर करने के लिये—शस्त्र कर्म भी किया जाता है जिससे कुशल चिकित्सक नासा को सुन्दर बना देता है । विश्व भर के चिकित्सकों का विश्वास है कि यह सन्धान विधि समस्त विश्व ने भारत से सीखी है जो कुछ हो परन्तु यह सन्धान विधि का सर्वांग पूर्ण उपदेश है आश्चर्यजनक । मानव प्राचीनकाल में भी इतना कुशल था, शस्त्र कर्म में इतना उन्नत था तथा चिकित्सा कार्य में इतना अभिज्ञ था इन सबका विचार करके अपने पूर्वजों पर गर्व होना स्वाभाविक है ॥६६॥

इत्यष्टांगहृदये उत्तरस्थाने अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो नासारोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब नासागत रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—नासागत रोगों का वर्णन च. चि. अ. ८ तथा २६ में सु. उ. अ. २२ तथा २४ में और अ. सं. अ. २३ में देखिये ।

प्रतिश्याय का सामान्य वर्णन—

अवश्यायानिलरजोभाष्यातिस्वप्नजागरैः ।
नीचात्युच्चोपधानेन पीतेनाऽन्येन वारिणा ॥ १ ॥
अत्यम्बुपानरमणच्छर्दिबाष्पग्रहादिभिः ।
क्रुद्धा वातोल्वणा दोषा नासायां स्त्यानतां गताः ॥२॥
जनयन्ति 'प्रतिश्यायं' वर्धमानं क्षयप्रदम् ।

व्याख्या—ओस में नंगे शिर सोने, बैठने अथवा घूमने से, वायु लगने से, धूलि पड़ने से, अधिक बोलने से अधिक सोने से-दिनमें भी सोने से, अधिक जागने से, नीचा अथवा ऊँचा सिरहाना लगने से, देशान्तर का जल पीने से—जलपरिवर्त्तन से, अधिक जल पीने से, अधिक मैथुन से, छर्दि एव बाष्प के वेग रोकने आदि कारणों से-कुपित वातादि दोष नासा संस्थान में घन रूप को प्राप्त होकर "प्रतिश्याय" नामक रोग को उत्पन्न करदेते हैं और वह रोग यदि बढ़ता जाता है तो "क्षय"—राजयक्ष्मा हो जाता है ।

वक्तव्य—सु. उ. अ. २४ में प्रतिश्याय का वर्णन है—नारी प्रसंगः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमभिप्रतापः । सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्याय निदानमुक्तम् । ३ । चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताः च तथैव शोणितम्। प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैः नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि । ४ । शिरोगुरुत्वं क्षवथोः प्रवर्त्तनं तथाऽङ्गमर्दः परिहृष्-

रोधता। उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः। ५। अर्थात्-मैथुन, शिरोरोग, धूम लगना, धूलि लगना, शीत लगना, धूप अथवा अग्नि का सन्ताप और मूत्र अथवा पुरीष के वेग को रोकना तत्काल प्रतिश्याय कर देते हैं।

वात आदि दोष पृथक् २ अथवा तीनों मिलकर अथवा रक्त उक्त कारणों से अथवा अन्यान्य कारणों से शिर में संचित होकर प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं—

प्रतिश्याय के पूर्वरूप या प्रारम्भिक लक्षण हैं—शिर में भारी पन, बार २ छींक आना, शरीर टूटना, रोमांच तथा अन्यान्य मन्द ज्वर एवं कास आदि उपद्रव। ।१-२।।

वातजप्रतिश्याय का लक्षण—

तत्र वातात्प्रतिश्याये मुखशोषो भृशं क्षवः ।। ३ ।।
घ्राणोपरोधनिस्तोद-दन्तशङ्खशिरोव्यथाः ।
कीटका इव सर्पन्ती मन्यते परितो भ्रुवौ ।। ४ ।।
स्वरसादश्चिरात्पाकः शिशिराऽच्छ-कफस्रुतिः ।

व्याख्या—वात जनित प्रतिश्याय में—मुखशोष, छींकों की अधिकता, नासा का अवरोध (एक अथवा दोनों नासा रन्ध्रों से श्वास न आना), नासा में व्यथा, दन्तों, शंखों (पुटपुटियों) तथा शिर में वेदना, भौंओं के आस-पास चींटियों के चलने की प्रतीति, स्वर बैठना, आहार विलम्ब से पचना, और नासा में से शीतल एवं पतले कफ पानी का स्राव होना। ये लक्षण होते हैं ।३-४।

पित्तज प्रतिश्याय का लक्षण—

'पित्तात् तृष्णाज्वरघ्राण पिटिकासम्भवभ्रमाः ।। ५ ।।
नासाग्रपाको रूक्षोष्णताम्रपीत-कफस्रुतिः ।

व्याख्या—पित्तजनित प्रतिश्याय में—तृषा, ज्वर, नासारन्ध्रों में फुन्सियाँ, भ्रम, नासा के अग्रभाग में पाक और नासा में से रूक्ष, उष्ण, लाल एवं पीली कफ का स्राव। ये लक्षण होते हैं ।।५।।

कफज प्रतिश्याय—

कफात् कासोऽरुचिः श्वासो वमथुर्गात्रगौरवम् ।। ६ ।।
माधुर्यं वदने कण्डूः स्निग्धशुक्लघना स्रुतिः ।

व्याख्या—कफ जनित प्रतिश्याय में—कास, अरुचि, श्वास, छर्दि, शरीर में भारीपन, मुख में मधुरता तथा कण्डू और नासा से स्निग्ध, श्वेत एवं गाढ़ा कफ जाना। ये लक्षण होते हैं ।। ६ ।।

त्रिदोषज प्रतिश्याय का लक्षण—

सर्वजो लक्षणैः सर्वैरकस्माद् वृद्धिशान्तिमान ।। ७ ।।

व्याख्या—त्रिदोषजनित प्रतिश्याय-उक्त सब लक्षणों से युक्त होता है और बार २ बढ़ता घटता रहता है ।। ६ ।।

रक्तज प्रतिश्याय का लक्षण

दुष्टं नासासिराः प्राप्य प्रतिश्यायं करोत्यसृक् ।
उरसः सुप्तता ताम्रनेत्रत्वं श्वासपूतिता ।। ८ ।।
कण्डूः श्रोत्राक्षिनासासु पित्तोक्तं चात्र लक्षणम् ।

व्याख्या—उक्त कारणों से दूषित रक्त—नासागत सिराओं में प्राप्त होकर प्रतिश्याय कर देता है उसमें—उरस् में स्वाप—शून्यता की प्रतीति, नेत्रों में लालिमा, श्वास में दुर्गन्ध, कान, नेत्र एवं नासा में कण्ड तथा पित्तज प्रतिश्याय के सब लक्षण होते हैं ।। ८ ।।

दुष्ट प्रतिश्याय का वर्णन

सर्व एव प्रतिश्याया दुष्टतां यान्त्युपेक्षिताः ।। ९ ।।
यथोक्तोपद्रवाधिक्यात्, स सर्वेन्द्रियतापनः ।
साग्निसादज्वरश्वासकासोरःपार्श्ववेदनः ।। १० ।।
कुप्यत्यकस्माद्बहुशो मुखदौर्गन्ध्यशोफकृत् ।
नासिकाक्लेदसंशोषशुद्धिरोधकरो मुहुः ।। ११ ।।
पूयोपमाऽसिता रक्तग्रथिता श्लेष्मसंस्रुतिः ।
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयो दीर्घस्निग्धसिताणवः ।। १२ ।।

व्याख्या—उक्त सभी प्रतिश्याय उचित उपचार न करने पर दुष्टता को प्राप्त हो जाते हैं और उस दुष्ट प्रतिश्याय में उक्त सब लक्षण अधिक बलवान् होने के कारण श्रोत्र आदि सब इन्द्रियों में सन्ताप विकार हो जाता है और-मन्दाग्नि, ज्वर, श्वास, कास, उरस् एवं पार्श्वों में वेदना होती है, किसी कारण के विना ही प्रतिश्याय बढ़ जाता है, मुख में दुर्गन्ध एवं मुख पर शोथ कर देता है बार २-नासा आर्द्र हो जाती है तो कभी सूख जाती है, कभी-कभी खुल जाती है तो कभी रुक जाती है। नासा से—पूय जैसा, श्वेत एवं रक्त युक्त अथवा रक्त की गांठ वाला कफ निकलता है और इस प्रतिश्याय में कभी २ कृमि उत्पन्न हो जाते हैं जो लम्बे, स्निग्ध, श्वेत एवं छोटे छोटे होते हैं।

वक्तव्य—कृमि उत्पन्न हो जाने पर बड़ी करुणा जनक दशा हो जाती है, कभी-कभी कृमि नासारन्ध्र द्वारा कण्ठ में जा गिरते हैं और कभी-कभी तालु में छेद कर देते हैं और उस में से मुख में गिरते हैं, भीषण वेदना होती है परन्तु इस दशा में भी उचित चिकित्सा करने से आरोग्य लाभ हो जाता है, तालु का छेद भी रूढ हो जाता है। ये कृमि जौं जैसे देखे जाते हैं ।।९-१२।।

पक्व प्रतिश्याय का वर्णन—

पक्वलिङ्गानि तेष्वङ्ग-लाघवं क्षवथोः शमः ।
श्लेष्मा सचिक्कणः पीतोऽज्ञानं च रसगन्धयोः ।। १३ ।।

व्याख्या—पक्व—निराम प्रतिश्याय के लक्षण हैं—उक्त सब प्रतिश्यायों में शरीर में लघुता, छींकों की शान्ति

चिकना एवं पीताभ कफ निकलना और रस एवं गन्ध का सम्यक् ज्ञान—अनुभव होना।

वक्तव्य—अपक्व—साम प्रतिश्याय में इस से विपरीत लक्षण होते हैं। यथा—शरीर में भारीपन, छीकें आना, पतला कफ—पानी जाना तथा रस एवं गन्ध का ज्ञान न होना। दुष्ट प्रतिश्याय—सु. उ. अ. २४—

बाधिर्य्यमान्ध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान्।
कासाऽग्निसादशोषांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः। १७।

अर्थात्—प्रतिश्याय बढ़ कर—दुष्ट हो कर—बधिरता, अन्धापन गन्ध ज्ञान का नाश, घोर नेत्र रोग तथा कास, मन्दाग्नि अथवा शोष को उत्पन्न कर देते हैं। इसी को श्री वाग्भट ने "सर्वेन्द्रियतापनः" कहा है ॥१३॥

भृशंक्षव—क्षवथु का लक्षण

तीक्ष्णाऽऽघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः।
वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थिनि ॥ १४ ॥
विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धः शृङ्गाटकं व्रजन्।
निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुं स भृशक्षवः ॥ १५ ॥

व्याख्या—मरिचा आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का नासा में उपयोग होने—करने से सूर्य की किरणों के नासा में प्रवेश होने से—सूर्य की ओर नासा उठा कर देखने से अथवा सूत्रबत्ती अथवा तृण आदि का नासा की तरुणास्थि पर स्पर्श होने से तथा प्रतिश्याय आदि वातकोपक अन्यान्य कारणों से—क्रुद्ध—कुपित वायु—रुक कर शृंगाटक मर्म की ओर जाता हुआ लौट कर अधिक छींकें करना है इसका नाम "भृशंक्षव" है।

वक्तव्य—कभी २ छींक आना आरोग्य का लक्षण है परन्तु अधिक संख्या में छींकें आना रोग है अतः उसे उक्त नाम का रोग माना है उसका शब्दार्थ भी "अधिक छींक आना" ही है। शृंगाटक मर्म का वर्णन शा. अ. ४ में देखिये। इसका व्यञ्जन है "छींक"। देखा जाता है कि किसी २ को १००–१०० या ५०–५० छीकें एक साथ आती हैं। ॥ १४–१५ ॥

नासा शोष एवं नासानाह के लक्षण—

दुष्टप्रतिश्यायः।

शोषयन्नासिकास्रोतः कफं च कुरुतेऽनिलः।
शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादुच्छ्वसनं ततः ॥ १६ ॥
स्मृतोऽसौ नासिकाशोषो नासानाहे तु जायते।
नद्धत्वमिव नासायाः श्लेष्मरुद्धेन वायुना ॥ १७ ॥
निःश्वासोच्छ्वाससंरोधात् स्रोतसी संवृते इव।

व्याख्या—जब वायु—नासा रन्ध्रों को तथा तद्गत श्लेष्मा को सुखाता हुआ—नासा को शूकों से व्याप्त सी कर देता है और उससे श्वास प्रश्वास में कष्ट होता है इस विकार का नाम "नासिकाशोष" है। नासानाह नामक रोग में तो—उदान वायु कफ द्वारा आवृत होकर नासा रन्ध्रों को अवरुद्ध कर देता है फलतः निःश्वास एवं उच्छ्वास में रुकावट हो जाती है और नासारन्ध्र रुके से प्रतीत होते हैं। इस विकार का नाम नासानाह है।

वक्तव्य—नासिका शोष का व्यञ्जन है नासारन्ध्रों का सूखना और सु. उ. अ. २२ में इसका नाम नासा-परिशोष है। और नासानाह का व्यञ्जन है नासारन्ध्रों में रुकावट। इस का नाम सुश्रुत में "नासा प्रतिनाह" है। कभी एक ओर कभी दोनों नासारन्ध्र अवरुद्ध हो जाते हैं इस दशा में नासा से श्वास नहीं आता। वह विकृति प्रायः प्रतिश्याय में होती है ॥ १६–१७ ॥

घ्राणपाक तथा नासास्राव का वर्णन—

पचेन्नासापुटे पित्तं त्वङ्मांसं दाहशूलवत् ॥ १८ ॥
स घ्राणपाकः स्रावस्तु तत्संज्ञः श्लेष्मसम्भवः।
अच्छोजलोपमोऽजस्रं विशेषान्निशि जायते ॥ १९ ॥

व्याख्या—पित्त कुपित होकर—रन्ध्रों की त्वचा एवं मांस को पका देता है और वहाँ दाह एवं वेदना होती है इसका नाम "घ्राण पाक" (नाक पकना) है। कफ कुपित होकर—नासास्राव नामक रोग को उत्पन्न करता है इसमें—स्वच्छ जल कासा स्राव निरन्तर होता रहता है। रात्रि में विशेष रूप से स्राव होता है ॥

वक्तव्य—घ्राणपाक का व्यञ्जन है नासारन्ध्रों का पकना—उन में फुन्सियाँ निकल आना। सुश्रुत में इसका नाम "नासिका पाक" है। नासा स्राव का व्यञ्जन है नाकसे पानी जाना। सुश्रुत में इसका नाम "नासा परिस्राव" है। लिखा तो है कि विशेषात् निशि जायते, परन्तु देखा जाता है कि दिन में अधिक स्राव होता है और रात्रि में नहीं अथवा थोड़ा ॥ १८–१९ ॥

अपीनस का वर्णन—

अपीनसमाह—

कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वा स्रोतांस्यपीनसम्।
कुर्यात्स घुर्घुरं श्वासं पीनसाधिकवेदनम् ॥ २० ॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका।
अजस्रं पिच्छलं पीतं पक्वं सिङ्घाणकं घनम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—नासा प्रदेश में कफ बढ़ कर और नासा रन्ध्रों को रोक कर—रुकावट करके अपीनस नामक रोग को उत्पन्न कर देता है इसमें श्वास के समय घुर्घुर ध्वनि होती है और पीनस की अपेक्षा अधिक कष्ट होता है और भेड़ की नासा के समान नासा सर्वदा बहती है तथा आर्द्र बनी रहती है और चिपचिपा, पीला, पका तथा गाढ़ा सींढ़ा निकलता रहता है।

वक्तव्य—किसी २ प्रति में "अवीनस" पाठान्तर है—अवि अर्थात् मेष—भेड़, नस अर्थात् नासा। पीनस—प्रतिश्याय का नाम है। प्रतिश्यायस्तु पीनसः (अमरकोष) तथा अ. २० का श्लो० १ देखिये ॥ २०–२१ ॥

दीप्ति रोग का वर्णन—

रक्तेन नासा दग्धेन बाह्यान्तः स्पर्शनाऽसहा।
भवेद्धूमोपमोच्छ्वासा सा दीप्तिर्दहतीव च ॥ २२ ॥

व्याख्या—जिस रोग में नासा जली हुई सी प्रतीत हो, बाहिर एवं भीतर से स्पर्श करने पर भी कष्ट हो, भीतर की ओर से आने वाला श्वास धूम का सा उष्ण हो तथा नासा प्रदेश जलता प्रतीत हो। उसका नाम "दीप्ति" है। यह रोग रक्त की विकृति से होता है ॥

वक्तव्य—इस का व्यञ्जन है नासा रन्ध्रों में दाह। सुश्रुत में इसका नाम "दीप्त" है ॥२२॥

पूतिनास का वर्णन—

तालुमूले मलैर्दुष्टैर्मारुतो मुखनासिकात्।
श्लेष्मा च पूतिर्निर्गच्छेत्, पूतिनासं वदन्ति तम् ॥२३॥

व्याख्या—तालुमूल में मलों की दुष्टि होने से—मुख एवं नासा में से वायु एवं कफ दुर्गन्ध युक्त निकलता है इस रोग का नाम "पूतिनास" है ॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. २२ में पूतिनास का वर्णन इस प्रकार है—

दोषैः विदग्धैः गलतालुमूले संवासितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिः मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनासं प्रवदन्ति रोगम् ॥७॥

अर्थात्—गल एव तालु के मूल प्रदेश में दूषित दोषों के प्रभाव से वायु—विशेष प्रकार की गन्ध से युक्त होकर मुख एवं नासा से निकलती है। इसका नाम "पूतिनास" है। इसका व्यञ्जन है नासा से गन्ध युक्त वायु का निकलना ॥ २३ ॥

पूयरक्त रोग का वर्णन—

निचयादभिघाताद्वा पूयासृङ् नासिका स्रवेत्।
तत् पूयरक्तमाख्यातं शिरोदाहरुजाकरम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—नासा प्रदेश में तीनों की विकृति से अथवा आघात लगने से नासा में से पूययुक्त रक्त का स्राव होता है और साथ २ शिर में दाह एवं वेदना होती है इसका नाम है "पूयरक्त" ॥१९॥

वक्तव्य—सुश्रुत उ. अ. २२ में इसका वर्णन इस प्रकार है—

दोषैः विदग्धैः अथवापि जन्तोः ललाट देशेऽभिहतस्य तैस्तु।
नासा स्रवेत् पूयमसृग् विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥१०॥

अर्थात्—ललाट प्रदेश के भीतर दोषों के विदाह से अथवा आघात लगने से—नासामार्ग से रक्तमिश्रित पूय निकलता है उसका नाम "पूयरक्त" है। इसका व्यञ्जन है नासा से पूय एवं रक्त निकलना ॥२४॥

पुटक का वर्णन—

पित्तश्लेष्मावरुद्धोऽन्तर्नासायां शोषयेन्मरुत्।
कफं स शुष्कपुटतां प्राप्नोति पुटकं तु तत् ॥ २५ ॥

व्याख्या—जिस विकार में—नासा के भीतर—पित्त एवं कफ से आवृत वायु कफ को सुखा देता है और वह सूखकर पुट-पापडी का रूप धारण कर लेता है उसका नाम "पुटक" है ॥

वक्तव्य—इसका व्यञ्जन है नासा में सींढ का सूखकर जम जाना। बोलचाल में इसे "चूहा" कहते हैं नासा की भित्तियों पर सींढ सूखकर काला हो जाता है ॥२५॥

नासार्श एवं नासार्बुद का निर्देश—

अर्शोऽर्बुदानि विभजेद्दोषलिङ्गैर्यथायथम्।
सर्वेषु कृच्छ्राच्छ्वसनं पीनसः प्रततं क्षवः ॥ २६ ॥
सानुनासिकवादित्वं पूतिनासः शिरोव्यथा।

व्याख्या—नासारन्ध्रों में उत्पन्न अर्शोंकुर—मस्सों तथा अर्बुदों का विभाग—अर्शोरोग (नि. अ. ७ देखिये) के समान और अर्बुद रोग (उ. अ. २९ देखिये) के समान दोष लक्षणों से करे। उक्त सब प्रकार से नासार्शों में तथा नासार्बुदों में—नासा द्वारा श्वास लेने में कष्ट, पीनस-प्रतिश्याय, निरन्तर छींक आना, बोलने में अनुनासिक शब्द—मिन्मिनाना, नासा से दुर्गन्ध आना तथा शिर में वेदना ये लक्षण होते हैं ॥ २६ ॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

अष्टादशानामित्येषां यापयेद्दुष्टपीनसम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—उक्त नासागत रोग १८ हैं इनमें—दुष्ट पीनस अर्थात् दुष्ट प्रतिश्याय "याप्य" है शेष १७ रोग साध्य हैं ॥

वक्तव्य—सु.उ.अ. २ में नासा रोग ३१ माने हैं यथा—

अपीनसः, पूतिनस्यं नासापाकः तथैव च।
तथा शोणितपित्तं च पूयशोणितमेव च ॥ ३ ॥
क्षवथुः भ्रंशथुः दीप्तो नासानाहः परिस्रवः।
नासाशोषेण सहिता दशैका (११) ईरिता गदाः ॥ ४ ॥
चत्वारि अर्शांसि चत्वारः शोफा सप्तार्बुदानि च।
प्रतिश्यायाश्च ये पञ्च वक्ष्यन्ते सचिकित्सिताः ॥ ५ ॥
एकत्रिंशत् (३१) मिताः ते तु नासारोगाः प्रकीर्तिताः।

सुश्रुत में अपीनस का वर्णन इस प्रकार है—

आनह्यते यस्य विधूप्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसान् च जन्तु जुंष्टं व्यवस्येत् तमपीनसेन।

और वाग्भट ने नासा रोग १८ ही माने हैं यथा—

१—वातप्रतिश्याय, २—पित्तप्रतिश्याय, ३—कफज

प्रतिश्याय, ४—त्रिदोषज प्रतिश्याय, ५—रक्तज प्रतिश्याय, ६—भृशक्षव, ७—नासा शोष, ८—नासानाह, ९—घ्राणपाक, १०—नासास्राव, ११—अपीनस, १२—दीप्ति १३—पूतिनास, १४—पूयरक्त, १५—पुटक, १६—नासार्श, १७—नासाऽर्बुद, १८—दुष्ट प्रतिश्याय।

इन रोगों का प्रभाव घ्राणेन्द्रिय एवं उसके अधिष्ठान पर पड़ता है अथवा यों कहिये कि—घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठान में विकृति आने से उक्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं। घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान—घ्राणमार्गमुभयतः नासास्रोतोमार्गं प्रविष्टे अभ्यन्तरतः फणे नाम मर्मणी तत्र गन्धाऽज्ञानम् तथा घ्राणश्रोत्र अक्षिजिह्वा (रसना) सन्तर्पणीनां सिराणां मध्येशिरः स्रोतः सन्निपातः तानि शृङ्गाटकानि चत्वारि मर्माणि तत्राऽपि सद्यो मरणम्। सु. शा. अ. ६। अर्थात् नासा से शृङ्गाटक मर्म पर्यन्त घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है ॥२७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

———

विंशोऽध्यायः।

अथातो नासारोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब नासागत रोगों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—नासा रोगों की चिकित्सा—च. चि. अ. ८ एवं २६ में सु. उ. अ. २३ एवं २४ में तथा अ. सं. उ. अ. २४ में देखिये।

प्रतिश्याय की चिकित्सा—

सर्वेषु पीनसेष्वादौ निवातागारगो भवेत्।
स्नेहन-स्वेद-वमन-धूम-गण्डूष-धारणम् ॥ १ ॥
वासो गुरूष्णं शिरसः सुघनं परिवेष्टनम्।
लघ्वम्ललवणं स्निग्धमुष्णं भोजनमद्रवम् ॥ २ ॥
धन्वमांसगुडक्षीरचणकत्रिकटूत्कटम्।
यवगोधूमभूयिष्ठं दधिदाडिमसाधितम् ॥ ३ ॥
बालमूलकजो यूषः कुलत्थोत्थश्च पूजितः।
कवोष्णं दशमूलाम्बु जीर्णां वा वारुणीं पिबेत् ॥ ४ ॥
जिघ्रेच्चोरकतर्कारी-वचाजाज्युपकुञ्चिकाः।

व्याख्या—सभी प्रकार के पीनसों में—सर्व प्रथम रोगी वायुरहित घर के भीतर निवास करे—खुली वायु में आकाश के नीचे न घूमे और न रहे—सोवे—लेटे।

पतला हलुवा आदि खाकर स्नेहन, भारी वस्त्र ओढ कर स्वेदन, वमन, धूमपान तथा गण्डूष—कवल धारण करे इनसे कफ ढीला होकर, पककर निकल जाता है। सर्वदा भारी एवं उष्ण वस्त्र पहने, शिरपर गाढ़ा वस्त्र लपेटे रहे, लघु, अम्ल, लवणयुक्त, स्निग्ध, उष्ण तथा द्रवरहित—सूखा-रूखा भोजन करे।

जङ्गल देशीय मांस, गुड़, दूध, भुने छिलका युक्त चने, त्रिकटु युक्त जौ एवं गेहूँ रोटी एवं दलिया, दही एवं अनार दाना के योग से सिद्ध व्यञ्जन—तर्कारी एवं शाक आदि, कच्ची मूली का जूस, कुलथी का यूष तथा दशमूल का कोसा क्वाथ लाभदायक हैं। पुरानी सुरा पीवे और चोरपुष्पी, अरणी की छाल का चूर्ण, बालवच, जीरा अथवा कलौंजी का चूर्ण कपड़ा में धर पोटली बनाकर सूँघते रहना चाहिये॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २४—
पाचनार्थं च गुडाऽऽर्द्रक क्षीर त्रिकटुकाऽजमांस मद्याऽम्लभोजनानि पक्वे तु शिरोविरेचनमवपीडं च युञ्ज्यात्। निदानोक्तानि वर्जयेत्।

अर्थात् आम पीनस में दोषपाचन के लिये—गुड़ एवं अदरक का भक्षण करे अथवा अदरक के योग से परिपक्व दूध में गुड़ मिला कर पीवे, त्रिकटु का चूर्ण बकरा के मांस में मिला कर खावे, मद्यपान करे तथा अम्लरस युक्त भोजन खावे पक्व पीनस में दोष निकालने के लिये शिरोविरेचन कोई नस्य अथवा अवपीड नस्य लेवे। और प्रतिश्याय जनक आहार विहार (अ. १९ का श्लो. २ देखिये) का परित्याग करे—सेवन न करे॥१-४॥

व्योषादि वटी—

व्योषतालीसचव्याम्लिकातिन्तिडीकाम्लवेतसम् ॥ ५ ॥
साग्न्यजाजि त्रिपलिकं त्वगेलापत्रपादिकम्।
जीर्णाद्गुडात्तुलार्धेन पक्वेन वटकीकृतम् ॥ ६ ॥
पीनसश्वासकासघ्नं रुचिस्वरकरं परम्।

व्याख्या—सोंठ, मरिच, पीपल, तालीसपत्र, चव्य, तिन्तडीक (चिरिंक) अम्लवेत, चित्रा तथा जीरा चूर्ण ३-३ पल, दाल चीनी, इलायची बड़ी तथा तेजपत्ता २-२ कर्ष तथा पुराना गुड़ ५० पल। गुड़ का पाक करे और उसमें उक्त द्रव्यों का चूर्ण मिला कर चने की सी गोलियाँ बना लेवे। इनको चूसने से पीनस, श्वास एवं कास का नाश होता है और रुचि एवं स्वर की वृद्धि होती है॥

वक्तव्य—दिनरात्रि में ५-७ गोलियाँ चूसी जा सकती हैं। च. चि. अ. २६-१३५ ॥५-६॥

प्रतिश्याय में धूमपान—

शताह्वात्वग्बलामूलं स्योनाकैरण्डबिल्वजम् ॥ ७ ॥
सारग्वधं पिबेद्धूमं वसाज्यमदनान्वितम्।
अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसम्पुटे ॥ ८ ॥

व्याख्या—सोंठ, दालचीनी, बलामूल, सोनापाठा, एरण्ड तथा बिल के मूल और अमलतास का चूर्ण—बना, घृत एवं मोम मिला कर अथवा केवल सत्तू घृत में मिला कर और चिलम में धर धूमपान करे ॥७-८॥

प्रतिश्याय में अपथ्य—

त्यजेत्स्नानं शुचं क्रोधं भृशं शय्यां हिमं जलम् ।

व्याख्या—प्रतिश्याय में—शीतल जल का स्नान, शोक, क्रोध, अधिक सोना तथा शीतल जल का पान त्याग देवे—इन से बचा रहे ॥

वातप्रतिश्याय चिकित्सा—

पिबेद् वातप्रतिश्याये सर्पिर्वातघ्नसाधितम् ॥९॥
पञ्चपञ्चकसिद्धं वा विदार्यादिगणेन वा ।
स्वेदनस्यादिकां कुर्यात् चिकित्सामर्दितोदिताम् ॥१०॥

व्याख्या—वात जनित प्रतिश्याय में—वात नाशक गण के द्रव्यों के योग से सिद्ध किया गया अथवा विदार्यादिगण (सू. अ. २५) के योग से सिद्ध किया गया घृत पीवे । और अर्दित रोग (चि. अ. २१) में कहे गये स्वेदन एवं नस्य आदि का सेवन करे ॥९-१०॥

पित्तज एवं रक्तज प्रतिश्याय चिकित्सा—

पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ।
परिषेकान्प्रदेहांश्च शीतैः कुर्वीत शीतलान् ॥ ११ ॥
धवत्वक्त्रिफलाश्यामाश्रीपर्णीयष्टिबिल्वकैः ।
क्षीरे दशगुणे तैलं नावनं सनिशैः पचेत् ॥ १२ ॥

व्याख्या—पित्त जनित एवं रक्त जनित प्रतिश्यायों में मुलेठी आदि मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत पीवे तथा शीतल द्रव्यों के शीतल २ परिषेचन तथा शीतल २ लेप करे । और—धव वृक्ष की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, सारिवा, गम्भार की छाल, मुलेठी, बिलगिरी तथा हल्दी का कल्क १ भाग, तिल तैल ४ भाग तथा गोदुग्ध ४० भाग मिला कर तैल सिद्ध करे और उसकी नस्य लेवे ॥११-१२॥

कफज प्रतिश्याय चिकित्सा—

कफजे लङ्घनं लेपः शिरसो गौरसर्षपैः ।
सक्षारं वा घृतं पीत्वा वमेत् पिष्टैस्तु नावनम् ॥ १३ ॥
बस्ताम्बुना पटुव्योषवेल्लवत्सकजीरकैः ।

व्याख्या—कफ जनित प्रतिश्याय में—उपवास करे, शिर पर श्वेत सरसों का लेप करे. जौखार मिला कर घृत पीवे । ऊपर से उष्ण जल पीवे स्निग्ध हो जाने पर (अ. सं.) वमन करे और—लवण, सोंठ, मरिच, पीपल, बिडंग, कुरैया की छाल तथा जीरा को बकरा के मूत्र में पीस कर नस्य लेवे ॥ १३ ॥

वक्तव्य—कफजे तु यवक्षारावचूर्णितमुष्णोदकानुपानं घृतं पाययेत्, जीर्णे च तिलमाषपललवतीं यवागूम् । ततो वामनीयौषधक्वाथसिद्धया सर्पिष्कया ससैन्धवमाषचूर्णप्रगाढया पेयया उष्णाम्भसा च वामयेत् । ततः तीक्ष्णकवल-यवाक्षचणकयायाऽऽहारनाडीस्वेदैः उपाचरेत् । अ. सं. उ. अ. २४।

अर्थात्—कफज प्रतिश्याय में—जौखार मिश्रित घृत पीवे, घृत पच जाने पर तिल, उरद एवं मांस के योग से बनी यवागू खावे, तत्पश्चात् किसी दिन मैनफल आदि वामक द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध, घृतमिश्रित सैन्धव लवण एवं उरद का चूर्ण मिलाकर पेया पीकर वमन करे जैसे २ वमन हो उष्ण जल पीता रहे इस प्रकार भलीभाँति वमन हो जाने के अनन्तर—तीक्ष्ण द्रव्यों का धूम पान कवल ग्रहण तथा जौ एवं चना का आहार तथा नाडी स्वेद देकर उपचार करे ॥ १३ ॥

त्रिदोषज प्रतिश्याय की चिकित्सा—

कटुतीक्ष्णैर्घृतैर्नस्यैः कवलैः सर्वजं जयेत् । १४ ।

व्याख्या—त्रिदोष जनित प्रतिश्याय को कटु एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत की नस्यों तथा कवल ग्रहणों द्वारा शान्त करे ॥ १४ ॥

दुष्टप्रतिश्याय की चिकित्सा—

यक्ष्मकृमिक्रमं कुर्वन् यापयेद्दुष्टपीनसे ।

व्याख्या—दुष्ट प्रतिश्याय याप्य होता है अतः राजयक्ष्मा (चि, अ. ५) तथा कृमिरोग (चि. अ. २०) के समान चिकित्सा करता हुआ उसका यापन करे ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २४—

दुष्टप्रतिश्याये व्योषचित्रकयवक्षारबीजकविडंगत्वक् लवणत्रयी मांसरसप्रतिवापविपक्वं सक्षौद्रं सर्पिः पाययेत् । जीर्णे घृते जाङ्गलरसेन तैलोपसेकं भोजयेत्, स्निग्धं च प्रतिश्यायवत् उपाचरेत् । पक्वे अवपीडं व्योषद्रव्य विडंगसारजीरकसैन्धवैः वस्तमूत्रपिष्टैः दद्यात् । विशुद्ध घ्राण स्रोतसं च पुनः उपवेश्य विरेचयेत् । भृष्टान् यवान् भूस्तृणकाऽऽम्रातक जीरक त्रिवृतायुक्तान् गोमूत्रैः क्वाथयेत्, तं क्वाथं अभया नागरमरिचक्रमुकसैन्धवयावशूकचूर्णं युक्तं सबीजपूरकरसं पाययेत्, कोष्णोदकं च अनुपाययेत् । विरक्तं च काले मुस्ताहरिद्रानागरयवक्षारपूतिकरञ्जरेणुकाभिः अजाविगोमूत्रदधिभिश्च सिद्धं सर्पिः उपयोजयेत्, तीक्ष्णानि च निरूहानुवासनानि, अरिष्टांश्च पानार्थे । एवमपि अशान्तौ हिंगु क्षाराऽमरदारुविपक्वं घृतं मांसरसानुपानं पिबेत् । कण्टकारिका सारिवा उरुबूक हिंस्रा निम्ब शिग्रुफल रक्षोघ्न कृमिघ्न दन्ती पूतिकरञ्ज पिप्पली वार्त्ताक बीजाऽहिमारकमूलत्वक् पत्रपुष्पफलैः अजाऽश्वशकृत्-रसयुक्तैः धूमवर्त्ति कृत्वा घृताऽभ्यक्तां पातुं प्रयच्छेत् । पिप्पलीवर्द्धमानं च उपयुञ्जीत । कृमिघ्नैश्च योगैः यापयेत् ।

अर्थात् दुष्ट प्रतिश्याय में—सोंठ. मरिच, पीपल, चित्रा, जौखार, विजयसार, वायविडंग, दालचीनी, तीनों लवण तथा मांस रस मिलाकर पकाया गया घृत—मधु मिलाकर पिलावे। घृत पच जाने भूख लगने पर जांगल-देशीय मांस रस के साथ—तैलसिक्त भोजन देवे। इस प्रकार स्निग्ध होने पर प्रतिश्याय के समान चिकित्सा करे। प्रतिश्याय निराम हो जाने पर त्रिकटु, इन्द्रजौ, बिडंग, जीरा तथा सैन्धव लवण को बकरा के मूत्र में पीस तथा निचोड़ कर अवपीड नस्य देवे। इस प्रकार नासा स्रोत विशुद्ध हो जाने पर पुनः स्नेहन करके विरेचन देवे। और फिर भुने जौ, सुगन्धी तृण, आमड़ा वृक्ष की छाल, जीरा तथा निसोत का गोमूत्र में क्वाथ करे और उस क्वाथ को हरड़, सोंठ, मरिच, सुपारी, सैन्धव लवण तथा जौखार का चूर्ण मिलाकर तथा बिजौरा का रस मिलाकर पिलावे। उसके पश्चात् उष्ण जल पिलावे।

इस प्रकार विरेचन हो जाने पर—समयानुसार—मोथा, हल्दी, सोंठ, जौखार, पूतिकरञ्ज के बीज, तथा रेणुका का कल्क १ भाग, बकरी, भेंड तथा गौ के मूत्र एवं दही १६ भाग तथा गो घृत ४ भाग मिलाकर सिद्ध किया गया घृत उपयोग में लावे—दीर्घकाल पर्यन्त पिलावे। समय-समय पर तीक्ष्ण निरूहण एवं अनुवासन देवे। पीने के लिये द्राक्षारिष्ट आदि अरिष्ट देवे।

यदि इतना उपचार करने पर भी प्रतिश्याय शान्त न हो तो—हींग, जौखार तथा देवदारु के योग से सिद्ध घृत मांस रस के साथ पिलावे और कुश, आम के कोमल पत्र, मरोड़फली, अरणी की छाल, एंगुदी के फल, मरुवा, तुलसी. महत्पंचमूल, कण्टकारी, सारिवा, एरण्डमूल, हींस की जड़, निम्ब तथा सहजन के बीज, श्वेत सरसों, विडंग, दन्तीमूल, पूतिकरंज के बीज, पीपल, भण्टा के बीज तथा नागदमन के मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प तथा फल को बकरी एवं घोड़ा के शकृत् के रस में पीसकर, बत्ती बनाकर और उसे घृत से चुपड़ कर धूम पान करावे। तथा बर्द्धमान पिप्पली का प्रयोग करे और कृमिनाशक उपचार करे। वर्द्धमान पिप्पली का विधान उ. अ. ३९ में देखिये।

धूम वर्ति—

व्योषोरुबूककृमिजिद्दारुमाद्रीगदेङ्गुदम् ॥ १५ ॥
वार्ताकबीजं त्रिवृता सिद्धार्थः पूतिमत्स्यकः।
अग्निमन्थस्य पुष्पाणि पीलुशिग्रुफलानि च ॥ १६ ॥
अश्व विड्रससूत्राभ्यां हस्तिमूत्रेण चैकतः।
क्षौमगर्भां कृतां वर्तिं धूमं घ्राणस्यतः पिबेत् ॥ १७ ॥

व्याख्या—दुष्ट पीनस में—सोंठ, मरिच, पीपल, एरण्ड मूल, विडंग देवदारु, अतीस, कूट, घृत, भण्टा के बीज, निसोत, सरसों श्वेत, सड़ी मछली, अरणी के फूल, पीलु एवं सहजन के बीज सब को घोड़ा की लीद के रस तथा मूत्र में और हाथी के मूत्र में पीस कर, रेशमी वस्त्र को सलाई पर लपेट कर और उस पर बत्ती बनावे। उस बत्ती का धूम मुख एवं नासा से पीवे ॥१५-१७॥

भृशक्षव एवं पुटक की चिकित्सा—

क्षवथौ पुटकाख्ये च तीक्ष्णैः प्रधमनं हितम्।
शुण्ठीकुष्ठकणावेल्लद्राक्षाकल्क कषायवत् ॥ १८ ॥
साधितं तैलमाज्यं वा नस्यं क्षवपुटप्रणुत्।

व्याख्या—भृशक्षव एवं पुटक नामक नासारोगों में—तीक्ष्ण द्रव्यों की प्रधमन नस्य देवे। और सोंठ, कूट, पीपल, विडंग तथा दाख के कल्क एवं कषाय के योग से सिद्ध किया गया तैल अथवा घृत नस्य देने से भृशक्षव एवं पुटक को नष्ट करता है ॥ १८ ॥

नासाशोष तथा नासानाह की चिकित्सा—

नासाशोषे बलातैलं पानादौ भोजनं रसैः ॥ १९ ॥
स्निग्धो धूमस्तथा स्वेदो नासानाहेऽप्ययं विधिः।

व्याख्या—नासाशोष में—बलातैल (चि. अ. २१) का पान, नस्य एवं अभ्यङ्ग करे और मांसरस के साथ भोजन देवे, स्निग्ध धूम (सू. अ. २१) तथा स्वेद कर्म (सू. अ. १७) करे। और नासानाह में भी यही चिकित्सा करने से लाभ होता है ॥ १९ ॥

नासा पाक. दीप्ति एवं नासास्राव की चिकित्सा—

पाके दीप्तौ च पित्तघ्नं तीक्ष्णं नस्यादि संस्रुतौ ॥२०॥

व्याख्या—नासापाक एवं दीप्ति नामक नासा रोगों में पित्त नाशक चिकित्सा करे और नासा स्राव में तीक्ष्ण नस्य देवे ॥

वक्तव्य—नासापाके दीप्तौ च जलौकोभिः अस्रविस्रावणं, शीतैः ऊर्ध्वाऽधो विरेको लेपसेकौ च। नासास्रावे तीक्ष्णं नस्यं धूमश्च। अ. सं. उ. अ. २४।

अर्थात्—नासापाक एवं दीप्ति नामक रोगों में नासा पर जोंक लगाकर रक्तस्रावण करे, शीतल द्रव्यों से वमन एवं विरेचन करे तथा लेपन तथा सेचन करे और नासा-स्राव में तीक्ष्ण नस्य तथा धूम का प्रयोग करे ॥२०॥

पूतिनासा एवं अपीनस की चिकित्सा—

कफपीनसवत्पूतिनासापीनसयोः क्रिया।
लाक्षाकरञ्जमरिचवेल्लहिङ्गुकणागुडैः ॥ २१ ॥
अविमूत्रद्रुतैर्नस्यं कारयेद्वमने कृते।
शिग्रुसिंहीनिकुम्भानां बीजैः सव्योषसैन्धवैः ॥ २२ ॥
सवेल्लसुरसैस्तैलं नावनं परमं हितम्।

व्याख्या—पूतिनासा तथा अपीनस रोगों में कफ पीनस के समान-चिकित्सा करे और विशेषतः वमन करने

के पश्चात्—लाख, करञ्जबीज, मरिच, विडंग, हींग, पीपल तथा गुड़ को भेड़ के मूत्र में घोल कर नस्य लेवे।

अथवा—सहजन, कण्टकारी तथा दन्ती के बीज, त्रिकटु, सैन्धव लवण, विडंग तथा तुलसी के योग से सिद्ध तैल की नस्य लेने से बहुत लाभ होता है।२१-२२॥

पूयरक्त, अर्श तथा अर्बुद की चिकित्सा—

पूयरक्ते नवे कुर्याद्रक्तपीनसवत्क्रियाम् ॥ २३ ॥
अतिप्रवृद्धे नाडीवत् दग्धेष्वर्शोऽर्बुदेषु च।
निकुम्भकुम्भसिन्धूत्थमनोह्वालवणाग्निकैः ॥ २४ ॥
कल्कितैर्घृतमध्वाक्तां घ्राणे वर्तिं प्रवेशयेत्।
शिग्र्वादि नावनं चात्र पूतिनासोदितं भजेत् ॥ २५ ॥

व्याख्या—पूयरक्त नामक नासारोग में—रक्तपीनस के समान चिकित्सा करे। और रोग बढ़ गया हो तो नाड़ीव्रण के समान चिकित्सा करे (वमन करा कर नस्य एवं धूम का प्रयोग करे)। नासार्श तथा अर्बुद पर—क्षार अथवा अग्निकर्म द्वारा दाह करके, दन्तीबीज, निसोत, सैन्धव लवण, मैनसिल, हरताल, पीपल तथा चित्रक का कल्क बना कर बत्ती बनावे और उस पर घृत एवं मधु चुपड़ कर नासा में धरे। श्लोक २२ में कहे गये—सहजन आदि से सिद्ध तैल की नस्य देवे। यह सब उपचार पूतिनास नामक रोग में भी करने से लाभ होता है।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २४—

अर्बुदं बडिशेन गृहीत्वा मण्डलाग्रेण मूले समं भिन्द्यात्। छेद्यं च उच्छेदयेत्, चलं प्रमृष्टं च व्रणं शलाकया दहेत्। तैलेन वा अग्निदग्धमुक्षयेत्, ततः शिशिरप्रदेहः उपरूढव्रणस्य रोध्राऽऽक्वाथं तीक्ष्णोष्णलवणद्रव्यगोमूत्रयुक्तं सार्षपं कारञ्जं वा तैलं नावनम्। पित्तजे रक्तजे वाऽर्बुदे गोदन्त सैन्धव ताल कासीस कांस्य नीलैः अम्बुपिष्टैः आलेपः। ततश्च शीताः प्रदेहसेकाः शीतैः एव च साधितानि अभ्यङ्ग नस्य पानानि। मांस मेदः सन्निपातार्शोऽर्बुदानि च साधयेत् इति।

भवन्ति चात्र—

हीनच्छेदात् पुनः वृद्धिः अतिच्छेदात् स्वरक्षयः।
गन्धाऽज्ञानं च वीसर्पो मूर्च्छा छिन्द्यात् अतः समम्।

अर्थात् अर्बुद को बडिश नामक यन्त्र से पकड़ कर मण्डलाग्र नामक शस्त्र से मूल में समरूप से भेदन करे यदि छेदन योग्य हो तो मूल से छेदन करे, चल एवं प्रमृष्ट व्रण को शलाका से दग्ध स्थल पर तैल चुपड़े। तत्पश्चात् शीतल द्रव्यों का लेप करे। व्रण भर जाने पर लोध का कल्क, तीक्ष्ण, उष्ण एवं लवण का गोमूत्र में बनाया गया क्वाथ तथा सरसों अथवा करञ्ज का तैल मिला कर पाक करे, तैल सिद्ध होने पर नस्य देवे। पित्त जनित अथवा रक्त जनित अर्बुद में गौके दन्तों की छाल, सैन्धव लवण, हरिताल, कासीस तथा कांस नील (कांसा का जंगाल) जल में पीस कर लेप करे तत्पश्चात् शीतल लेप एवं सेचन करे और शीत द्रव्यों के अभ्यङ्ग, नस्य एवं पान का प्रयोग करे। इसी प्रकार मांसज, मेदोज तथा त्रिदोषज अर्श एवं अर्बुद की चिकित्सा करे।

प्राचीनों का कथन है कि—

अर्बुद का एवं अर्श का हीन छेदन होने से पुनः वृद्धि हो जाती है, अति छेदन से स्वरक्षय, गन्ध के ज्ञान का नाश, विसर्प तथा मूर्च्छा रोग हो जाता है। अतः सम छेदन करे ॥२३-२५॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः।

अथातो मुखरोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब मुख रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—मुख गत रोगों का वर्णन—च. चि. अ. १२ तथा २६ में, सु. नि. अ. ११ तथा १६ में तथा अ. सं. उ. अ. २५ में देखिये।

मुख रोगों का निदान एवं सम्प्राप्ति—

मात्स्यमाहिषवाराह-पिशिताऽऽमकमूलकम्।
माष-सूप-दधि-क्षीर-शुक्तेक्षुरसफाणितम् ॥ १ ॥
अवाक्शय्यां च भजतो द्विषतो दन्तधावनम्।
धूमच्छर्दनगण्डूषानुचितं च सिराव्यधम् ॥ २ ॥
क्रुद्धाः श्लेष्मोल्वणा दोषाः कुर्वन्त्यन्तर्मुखे गदान्।

व्याख्या—मछली का मांस, भैंस का मांस तथा सूअर का मांस, कच्ची मूली, उरद की दाल, दही, दूध, कांजी या सिरका, ईख का रस तथा राब खाने-पीने से, शिर की ओर नीची शय्यापर लेटने-सोने से, दतवन न करने से, धूमपान न करने से, वमन न करने से तथा कुल्ले न करने से, आवश्यक होनेपर भी सिरावेध न करने से—कफ वातादि दोष कुपित होकर मुख के भीतर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—मुख रोगों के स्थान—दोनों ओठ, दन्तमूल अर्थात् मसूड़े—दन्तवेष्ट, दन्त, जीभ, तालु तथा कण्ठ।१-२।

खण्डौष्ठ का वर्णन—

तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनोष्ठो द्विधा कृतः ॥ ३ ॥

गर्भावस्था में ही वात की विकृति से ओठ दो भागों

में विभक्त हो जाता है। उस विकार का नाम खण्डोष्ठ है। इस प्राणी को "खण्डुवा" कहते हैं ॥

वक्तव्य—किसी २ के दन्त पंक्ति का कुछ भाग अथवा तालु का कुछ भाग खण्डित रहता हैं। जन्म के पश्चात् भी आघात आदि से ओठ कट जानेपर उक्त विकृति हो जाती है।३।

ओष्ठ रोगों का वर्णन—

ओष्ठकोपे तु पवनात् स्तब्धावोष्ठौ महारुजौ।
दाल्येते परिपाट्येते परुषासितकर्कशौ ॥ ४ ॥
पित्ततीक्ष्णसहौ पीतौ सर्षपाकृतिभिश्चितौ।
पिटिकाभिर्महाक्लेदावाशुपाकौ कफात्पुनः ॥ ५ ॥
शीतासहौ गुरू शूनौ सवर्णपिटिकाचितौ।
सन्निपातादनेकाभौ दुर्गन्धाऽऽस्रावपिच्छलौ ॥ ६ ॥
अकस्मान्म्लानसंशूनरुजौ विषमपाकिनौ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ ७ ॥
खर्जूरसदृशं चाऽत्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत्।
मांसपिण्डोपमौ मांसात् स्यातां मूर्च्छत्कृमी क्रमात्॥८॥
तैलाभश्वयथुक्लेदौ सकण्ड्वौ मेदसा मृदू।
क्षतजावबदीर्येते पाट्येते चासकृत्पुनः ॥ ९ ॥
ग्रथितौ च पुनः स्यातां कण्डूलौ दशनच्छदौ।
जलबुद्बुदवद्वातकफादोष्ठे जलार्बुदम् ॥ १० ॥

व्याख्या—वातजनित ओष्ठ रोग में—ओष्ठ—स्तब्ध, अत्यन्त वेदना युक्त, खरदरे, काले तथा कर्कश—पपड़ी युक्त हो जाते हैं और उनकी त्वचा एक स्थान पर अथवा अनेक स्थानों पर फट जाती है। इसे ओठ फटना कहते हैं॥ पित्तजनित ओष्ठ रोग में—ओठ—मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्यों को सहन नहीं करते हैं, सरसों जैसी फुन्सियों से व्याप्त हो जाते हैं अधिक सड़न से शीघ्र पक जाते हैं। इसे ओष्ठपाक—ओठ पकना कहते हैं। और कफजनित ओष्ठ रोग में—ओठ—शीत द्रव्यों का स्पर्श नहीं सहते—शीत बने रहते हैं, भारी प्रतीत होते हैं, शोथ युक्त हो जाते हैं तथा समान वर्ण की पिडिकाओं—फुन्सियों से व्याप्त हो जाते हैं (कण्डू युक्त तथा पिच्छिल—चिपचिपे बने रहते हैं)। त्रिदोष जनित ओष्ठ रोग में ओष्ठ—कभी कृष्ण, कभी पीत तो कभी श्वेत होते रहते हैं, दुर्गन्ध युक्त स्राव से पिच्छिल बने रहते हैं, कभी मलिन, शोथ युक्त तो कभी वेदना युक्त होते रहते हैं और किसी-किसी स्थानपर पक जाते हैं—अनेक वर्ण की फुन्सियों से व्याप्त रहते हैं ॥

रक्तजनित ओष्ठ रोग में—ओठ लाल हो जाते हैं तथा उनमें से रक्त का स्राव होता है और रक्त का क्षय हो जाने पर—खजूर के फल का सा अर्बुद निकल आता है (खजूर के फल की सी फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं सुश्रुत), मांस जनित ओष्ठ रोग में—ओठ—मांस पिण्ड के समान हो जाते हैं और आगे चलकर वहाँ कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, मेदोजनित ओष्ठ रोग में—ओठ—तैल अथवा घृत मण्ड के समान वर्णवाले, शोथ एवं सड़न से युक्त, कण्डू-युक्त तथा कोमल हो जाते हैं (उनमें से स्फटिक का सा श्वेत स्राव बहता है तथा वे भारी प्रतीत होते हैं। सुश्रुत)।

क्षत अर्थात् अभिघात—चोट लगने से ओठ—कुछ कट जाते हैं अथवा अधिक फूट जाते हैं, उचित उपचार न होने से बार-बार फटते हैं अथवा उनपर ग्रन्थि बन जाती है और कण्डू होती रहती है। और वात एवं कफ के प्रकोप से ओष्ठ पर—जल के बुलबुले का सा "जलार्बुद) हो जाता है ॥

वक्तव्य—खण्डोष्ठ, २—वातज, ३—पित्तज, ४—कफज, ५—त्रिदोषज, ६—रक्तज, ७—मांसज, ८—मेदोज, ९—क्षतज, १०—ग्रथित तथा ११—जलार्बुद। इस प्रकार ओष्ठों के ११ रोग होते हैं। सु. नि. अ. १६ में केवल—८ रोग माने हैं अंक २ से ९ पर्यन्त ॥ ४-१० ॥

गण्डालजी का वर्णन—

गण्डालजी स्थिरः शोफो गण्डे दाहज्वरान्वितः।

व्याख्या—गण्ड (गाल) के भीतरी भाग पर जो स्थिर-अचल, दाह एवं ज्वर से युक्त शोथ होता है उसका नाम "गण्डालजी" है ॥

वक्तव्य—यह गण्ड स्थल का एक रोग माना गया हैं।

दन्त रोगों का वर्णन—

वातादुष्णसहा दन्ताः शीतस्पर्शाधिकव्यथाः ॥ ११ ॥
दाल्यन्त इव शूलेन शीताख्यो दालनश्च सः।
दन्तहर्षे प्रवाताम्लशीतभक्ष्यासहा द्विजाः ॥ १२ ॥
भवन्त्यम्लाशनेनैव सरुजाश्चलिता इव।
दन्तभेदे द्विजास्तोदभेदरुक्स्फुटनान्विताः ॥ १३ ॥
चालश्चलद्भिर्दशनैर्भक्षणादधिकव्यथैः।
करालः सुकरालानां दशनानां समुद्भवः ॥ १४ ॥
दन्तोऽधिकोऽधिदन्ताख्यः स चोक्तः खलु वर्धनः।
जायते जायमानेऽतिरुग् जाते तत्र शाम्यति ॥ १५ ॥
अधावनान्मलो दन्ते कफो वा वातशोषितः।
पूतिगन्धः स्थिरीभूतः शर्करा सोऽप्युपेक्षितः ॥ १६ ॥
शातयत्यणुशो दन्तात्कपालानि कपालिका।
श्यावः श्यावत्वमायातो रक्तपित्तानिलैर्द्विजाः ॥ १७ ॥
समूलं दन्तमाश्रित्य दोषैरुल्बणमारुतैः।
शोषिते मज्ज्ञि सुषिरे दन्तेऽन्नमलपूरिते ॥ १८ ॥
पूतित्वात्कृमयः सूक्ष्मा जायन्ते जायते ततः।
अहेतुतीव्रार्तिशमः ससंरम्भोऽसितश्चलः ॥१९॥
प्रभूतपूयरक्तस्तु स चोक्तः कृमिदन्तकः।

व्याख्या—१—दालन रोग-वायु की विकृति से-दन्त

उष्ण स्पर्श का सहन करते हैं परन्तु शीत का स्पर्श होने से उनमें अत्यधिक व्यथा हो जाती है, शूल इतना होता है जैसे दन्त फट-फूट रहे हों। इसका नाम शीत दन्त तथा दालन है। २—दन्त हर्ष रोग—इस रोग में दन्त—शीतल वायु, अम्ल पदार्थ तथा चना आदि भक्ष्य पदार्थों का स्पर्श नहीं सहते और अम्ल पदार्थ खाने से वेदना होने लगती है तथा प्रतीत होता है कि दन्त हिल गये हैं। ३—दन्त भेद रोग—इस रोग में दन्त—चुभने कीसी व्यथा, फटने-फूटने कीसी वेदना तथा वेदना-शूल से युक्त हो जाते हैं तथा फूट टूट अथवा फट जाते हैं। ४—दन्त चाल रोग—इस रोग में दन्त हिलने लगते हैं तथा खाते समय उनमें अधिक वेदना होती है। ५—कराल दन्त—इस रोग में दन्त—ऊँचे नीचे एवं आगे पीछे उगते हैं अर्थात् एक से तथा एक पंक्ति में नहीं उगते। इस प्रकार के मानव को "दन्तुर" कहते हैं। ६—अधिदन्त नामक रोग—इस विकार में ३२ दन्तों के अतिरिक्त दन्त उग आता है उसे "वर्द्धनक" भी कहते हैं। दन्त उगते समय अत्यन्त वेदना होती है और उत्पन्न हो जाने पर शान्त हो जाती है। ७—शर्करा नामक रोग—दतवन न करने से मल अथवा दतवन करते रहने पर भी वायु द्वारा सुखाया गया कफ दन्तों पर स्थिर हो जाता है और मुख से दुर्गन्ध आने लगती है इसमें बालू का सा मल उतरता है। इसका नाम "शर्करा या दन्त शर्करा" है। ८—दन्त कपालिका रोग—दन्त शर्करा की उपेक्षा करने से—उचित उपचार न करने से—कपालिका नामक विकार हो जाता है। इसमें दन्तपर से छोटे-छोटे कपाल उतरते रहते हैं—पपड़ी सी—उतरती रहती है कभी २।

९—श्याव दन्तक रोग—इस रोग में—रक्त, पित्त एवं वायु की विकृति से दन्त साँवला हो जाता है। कभी २ दन्तों में रेखा पड़ने से दन्त नीला हो जाता है।

१०—कृमिदन्तक—जब वात प्रधान पित्त, कफ एवं रक्त-दन्त एवं दन्तमूल में कुपित होकर दन्त की मजा को सुखा देते हैं तब दन्त (दंष्ट्रा-दाढ़) में गढ़ा हो जाता है और उसमें अन्न एवं मल गिरने लगता है तथा उसकी सड़न से वहाँ सूक्ष्म २ कृमि उत्पन्न हो जाते हैं फलतः किसी विशिष्ट कारण के बिना ही तीव्र वेदना होने लगती है और किसी उपचार के बिना ही वह शान्त भी होती रहती है कभी २ दन्त मूल-वेष्ट में शोथ हो जाता है, दाढ़ का वह भाग भीतर से काला हो जाता है और दाढ़ हिलने लगती है और कभी २ दन्त वेष्ट में से अत्यधिक पूय एवं रक्त का स्राव होता है। इसका नाम कृमिदन्त है। यह रोग—जाढ़-दाढ़ में होता है। ये कृमि दन्ताद कहे जाते हैं॥

वक्तव्य—इस प्रकार दन्तों के १०-१० रोग कहे गये हैं। कृमिदन्तक रोग में प्रथम—मज्जाशोषण के समय भीषण वेदना होती है, फिर दाढ़ मध्य में टूट जाती है और सब ओर खड़ी रहती है बीच में गढ़ा हो जाता है. किसी २ की दाढ़ सर्वथा-सर्वतः टूट जाती है पर मूल बचा रहता है जो बुढ़ापे तक चर्वण में सहायता देता है ॥११-१९॥

दन्तमूल अर्थात् दन्तवेष्ट के १३ रोगों का वर्णन—

श्लेष्मरक्तेन पूतीनि वहन्त्यस्रमहेतुकम् ॥ २० ॥
शीर्यन्ते दन्तमांसानि मृदुक्लिन्नाऽसितानि च ।
शीतादोऽसौ उपकुशः पाकः पित्तासृगुद्भवः ॥ २१ ॥
दन्तमांसानि दह्यन्ते रक्तान्युत्सेधवन्त्यतः ।
कण्डूमन्ति स्रवन्त्यस्रमाध्मायन्तेऽसृजि स्थिते ॥ २२ ॥
चला मन्दरुजा दन्ताः पूति वक्त्रं च जायते ।
दन्तयोस्त्रिषु वा शोफो बदरास्थिनिभो घनः ॥२३॥
कफास्रात्तीव्ररुक् शीघ्रं पच्यते दन्तपुप्पुटः ।
दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ॥२४॥
सरुग्दाहः स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ।
श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् पित्तरक्तजः ॥२५॥
लालास्रावी स सुषिरो दन्तमांसप्रशातनः ।
स सन्निपातज्वरवान् सपूयरुधिरस्रुतिः ॥२६॥
महासुषिर इत्युक्तो विशीर्णद्विजबन्धनः ।
दन्तान्ते कीलवच्छोफो हनुकर्णरुजाकरः ॥२७॥
प्रतिहन्त्यभ्यवहृतिः श्लेष्मणा सोऽधिमांसकः ।
घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान् ॥ २८ ॥
यस्मिंश्चलन्ति दन्ताश्च स विदर्भोऽभिघातजः ।
दन्तमांसाश्रितान् रोगान् यः साध्यानप्युपेक्षते ॥२९॥
अन्तस्तस्यास्रवन् दोषः सूक्ष्मां सञ्जनयेद्गतिम् ।
पूयं मुहुः सा स्रवति त्वङ्मांसास्थिप्रभेदिनी ॥३०॥
ताः पुनः पञ्च विज्ञेया लक्षणैः स्वैर्यथोदिते ।

व्याख्या—१—शीतादरोग—जिस रोग में—कफ एवं रक्त की विकृति के कारण-दन्तमांस-(मसूड़े-दन्तवेष्ट)—सड़ जाते हैं, उनमें से किसी आघात आदि हेतु के बिना ही रक्त का स्राव होता है, वे फट जाते हैं तथा मृदु (पिलपिले), क्लेद युक्त तथा काले से हो जाते हैं—बने रहते हैं उसका नाम "शीताद" है।

२ - उपकुश नामक रोग—जिस रोग में-पित्त एवं रक्त की विकृति से दन्तमांसों में पाक हो जाता है, दाह होता है, वे लाल, शोथयुक्त तथा कन्डूयुक्त हो जाते हैं—बने रहते हैं और उनमें से रक्त बहता है, रक्त रुक जाने पर वे फूल जाते हैं, दन्त हिलने लगते हैं, मन्द २ वेदना

होती है तथा मुख दुर्गन्ध युक्त बना रहता है। उसका नाम है उपकुश यह रोग प्रायः शीताद के पश्चात् हो जाता है। ३—दन्तपुप्पुट नामक रोग—जिस रोग में—कफ एवं रक्त की विकृति से—दो दन्तों अथवा जाढों के मसूड़ों अथवा तीन दन्तों—जाढों के मसूड़ों में बेर की गुठली का सा कठोर तथा तीव्र वेदनावाला शोथ हो जाता है और वह शोथ—एक दो दिन में पक जाता है और पूय निकल जानेपर बैठ जाता है अथवा वैसे ही—पके विना ही बैठ जाता है उसका नाम "दन्तपुप्पुट" है। इसे मसूड़ा फूलना कहते हैं। ४—दन्त विद्रधि नामक रोग—रक्तयुक्त वातादि दोषों की विकृति से जो मसूड़ों पर बाहर तथा भीतर की ओर भारी शोथ हो जाती है और उसमें वेदना एव दाह होता है फिर पककर फूटने पर उसमें से पूय मिश्रित रक्त बहता है उसका नाम "दन्तविद्रधि" है यह दन्त वेष्ट का फोड़ा कहलाता है। ५—सुषिर नामक रोग—पित्त एवं रक्त की विकृति से—दन्त वेष्टों में वेदना युक्त शोथ हो जाता है और उस दशा में मुख से लाला बहती रहती है तथा दन्तों का मांस फट जाता है इसका नाम "सुषिर" है (सुश्रुत में शौषिर नाम है)। ६—महा सुषिर नामक रोग—रक्तयुक्त वातादि तीनों दोषों की विकृति से—वही सुषिर नामक उल्लिखित रोग—जब ज्वर से युक्त होता है और उसमें से पूयमिश्रित रक्त का स्राव होता है दन्तवेष्ट विशेषरूप से फट जाते हैं तब उसे "महासुषिर" कहते हैं (सुश्रुत में महाशौषिर)। ७—अधिमांसक रोग—कफ की विकृति से—दन्तपंक्ति के अन्तिम दन्त के मूल में—कील का सा कठोर शोथ हो जाता है और उससे हनु-अस्थि तथा कान मे वेदना होती है तथा आहार करने-चबाने में रुकावट पड़ती है (लालास्राव भी होता है) उसका नाम "अधिमांसक" है। ८—विदर्भ नामक रो[illegible] दन्तों पर चोट लगने से किसी प्रकार मसूड़ों पर घर्षण-रगड़ लगने से वहाँ बड़ा सा शोथ हो जाता है और दन्त हिल जाते हैं हिलने लगते हैं। उसका नाम "विदर्भ" है (सुश्रुत में दन्तवैदर्भ)।

९—५ प्रकार के नाडी व्रण—जो रोगी दन्तवेष्टगत साध्य रोगों की भी उपेक्षा करता है—उचित चिकित्सा नहीं करता है उसके दन्त वेष्टों के भीतर दोष चूकर—सूक्ष्म मुखवाली गति (नाड़ी व्रण) को उत्पन्न कर देता है उसमें से बार-बार पूय का स्राव होने लगता है और वह दन्तवेष्ट की त्वचा, मांस तथा अस्थि का भेदन कर देती है। वे नाडी व्रण—उ. अ. २९ में कहे अनुसार अपने-अपने कारणों एवं लक्षणों के अनुसार ५ प्रकार के होते हैं॥

वक्तव्य—इस प्रकार उक्त ८ शीताद आदि रोग तथा ५ नाडी रोग योग १३ रोगों का वर्णन कर दिया गया है।

जिह्वा के रोगों का वर्णन—

शाकपत्रखरा सुप्ता स्फुटिता वातदूषिता॥ ३१॥
जिह्वा पित्तात् सदाहोषा रक्तैर्मांसांकुरैश्चिता।
शाल्मलीकण्टकाभैस्तु कफेन बहला गुरुः॥ ३२॥
कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः।
मत्स्यगन्धिर्भवेत् पक्वः, सोऽलसो मांसशातनः॥ ३३॥
प्रबन्धनेऽधो जिह्वाया शोफो जिह्वाग्रसन्निभः।
सांकुरःकफपित्तास्रैर्लालोषास्तम्भवान् खरः॥ ३४॥
अधिजिह्वः सरुक्कण्डूर्वाक्याऽऽहारविघातकृत्।
तादृगेवोपजिह्वस्तु जिह्वाया उपरि स्थितः॥३५॥

व्याख्या—१—वायु की विकृति से जीभ—सागौन वृक्ष के पत्र के समान खरदरी, शून्य—रस ज्ञानरहित तथा फटी सी होती है (सूखी-रूखी एवं कालिमा युक्त)।

२—पित्त की विकृति से—जीभ—दाह एवं सन्ताप से युक्त तथा लाल-लाल मांसांकुरों से व्याप्त होती है (पीताभ तथा लाल)।

३—कफ की विकृति से जीभ सेमल के कण्टकों के से मांसांकुरों से व्याप्त, मोटी तथा भारी [illegible] है। (श्वेताभ) चिपचिपी तथा मलिन होती है। [illegible]—अलस नामक रोग—कफ एवं पित्त की विकृति से—जीभ के नीचे शोथ हो जाता है, उससे जीभ स्तब्ध हो जाती है और वह शोथ ऊँचा तथा मछली की सी गन्ध वाला होता है और जब पक जाता है तब मांस को फाड़ देता है—स्वयं फट जाता है उसका नाम "अलस" (और सुश्रुत में "अलास" है॥ ५—अधिजिह्व नामक रोग—जीभ के मूल में नीचे की ओर, जीभ के अग्रभाग जैसा, अंकुरो से युक्त, लाला स्राव, दाह तथा स्तब्धता से युक्त शोथ हो जाता है और उस में—वेदना तथा कण्डू होती है, वह आहार करने-खाने एवं निगलने में रुकावट डालता है। इसका नाम "अधिजिह्व" है और यह कफ, पित्त एवं रक्त की विकृति से उत्पन्न होता है। ६—उसी प्रकार का जो जीभ के ऊपर होता है वह "उपजिह्व" कहलाता है॥३१-३५॥

वक्तव्य—इस प्रकार जीभ के ६ रोगों का वर्णन कर दिया गया है। सुश्रुत निः. अ. १६ में जीभ के ५ रोग माने हैं और "अधिजिह्व" को कण्ठ रोगों में गिना है॥

तालुगत रोगों का वर्णन—

तालुमांसेऽनिलाद्दुष्टे पिटिकाः सरुजः खरा।
बह्वयो घनाः स्रावयुक्तास्तास्तालुपिटिकाः स्मृताः॥३६॥
तालुमूले कफात्सास्रान्मत्स्यबस्तिनिभो मृदुः।
प्रलम्बः पिच्छिलः शोफो नासयाऽऽहारमीरयन्॥३७॥

कण्ठोपरोधतृट्कासवमिकृद् गलशुण्डिका ।
तालुमध्ये निरुङ्मांसं संहतं तालुसंहतिः ॥ ३७ ॥
पद्माकृतिस्तालुमध्ये रक्ताच्छ्वयथुरर्बुदम् ।
कच्छपः कच्छपाकारश्चिरवृद्धिः कफादरुक् ॥ ३९ ॥
कोलाभः श्लेष्ममेदोभ्यां पुप्पुटो नीरुजः स्थिरः ।
पित्तेन पाकः पाकाख्यः पूयास्रावी महारुजः ॥ ४० ॥
वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः ।

व्याख्या—१. तालु पिटिका—वायु की विकृति से तालुमांस दूषित होने पर वहाँ वेदनायुक्त, खरदरी, घन-ठोस तथा स्रावयुक्त अनेक फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं वे तालुपिटिका कही जाती हैं। २. गलशुण्डिका—तालुमूल भाग में रक्तयुक्त कफ की विकृति से मछली की वस्ति (मूत्राशय) जैसा, कोमल, लम्बा तथा चिपचिपा शोथ हो जाता है। उससे निगलते समय आहार नासारन्ध्र की ओर आ जाता है और कण्ठ रुकता है तथा तृषा,कास तथा छर्दि होती हैं। इसका नाम "गलशुण्डिका" है। सुश्रुत में कण्ठशुण्डी नाम है। ३. तालुसंहति नामक रोग—तालु के मध्य भाग में वेदना रहित मांस कठोर हो जाता है। इसका नाम "तालुसंहति" है। सुश्रुत में तालुसंघात। इस रोग में तालुगत मांस सूज जाता है। ४. अर्बुद नामक रोग—तालु के मध्य भाग में रक्त की विकृति से कमल का सा शोथ हो जाता है उसका नाम अर्बुद है। ५. कच्छप नामक रोग—तालु प्रदेश में रक्त की विकृति से कछुआ के आकारवाला, चिरकाल में बढ़ने वाला तथा वेदनारहित शोथ "कच्छप" कहलाता है। ६. तालुप्रदेश में कफ एवं मेदस् की विकृति से बेर जैसा, वेदनारहित तथा स्थिर अचल-कठोर शोथ हो जाता है वह "पुप्पुट" कहलाता है। ७. तालु पाक—तालु प्रदेश में पित्त की विकृति से पाक हो जाता है उसमें से पूय का स्राव होता है तथा अत्यन्त वेदना होती है वह तालुपाक कहलाता है। ८. तालु शोष नामक रोग—तालुप्रदेश में वायु एवं पित्त की विकृति से ज्वर एवं क्लेश से युक्त तालु में शोष होता है—तालु प्रदेश सूखा बना रहता है वह 'तालुशोष" कहलाता है। सुश्रुत के कथनानुसार तालु फट जाता है और साथ २ श्वास भी हो जाता है ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—इस प्रकार तालु के ८ रोगों का वर्णन किया गया है। सुश्रुत में इनके अतिरिक्त अध्रुष तथा तुण्डीकेरी नामक रोग माने गये हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है—

शोफः स्तब्धो लोहितः तालुदेशे रक्तात् ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुक् ज्वराऽऽढ्यः ॥ ४१ ॥ अर्थात्—तालुप्रदेश में रक्त की विकृति से—स्तब्ध, लाल तथा वेदना एवं ज्वर से युक्त शोथ हो जाता है वह "अध्रुष" कहलाता है। और तुण्डीकेरी का वर्णन इस प्रकार है—शोफः स्थूलः तोद दाह प्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डीकेरी मता तु ॥ ४२ ॥ अर्थात्—तालुप्रदेश में कफ एवं रक्त की विकृति से—स्थूल तथा व्यथा, दाह एवं पाक से युक्त जो शोथ हो जाता है वह "तुण्डीकेरी" कहलाता है। श्री वाग्भट ने अ. सं. के अनुसार एक तालु पिटिका नामक रोग अधिक माना है। इस प्रकार सुश्रुत में ९ और अष्टाङ्ग हृदय में ८ रोग माने हैं।

कण्ठ रोगों का वर्णन—

जिह्वाप्रबन्धजाः कण्ठे दारुणा मार्गरोधिनः ॥४१॥
मांसांकुराः शीघ्रचया रोहिणी शीघ्रकारिणी ।
कण्ठास्यशोषकृद्वातात्सा हनुश्रोत्ररुक्करी ॥४२॥
पित्ताज्ज्वरोषातृण्मोह-कण्ठधूमायनान्विता ।
क्षिप्रजा क्षिप्रपाकार्तिरागिणी स्पर्शनासहा ॥४३॥
कफेन पिच्छिला पाण्डुः असृजा स्फोटकान्विता ।
तप्ताङ्गारनिभा कर्णरुक्करी पित्तजाकृतिः ॥४४॥
गम्भीरपाका निचयात्सर्वलिङ्गसमन्विता ।

व्याख्या—कण्ठप्रदेश में जहाँ जीभ का मूल है वहाँ दुःसह क्लेशकारक, कण्ठमार्ग (अन्नमार्ग एवं श्वास-मार्ग) को रोकने वाले तथा शीघ्र-क्षण २ में बढ़ने वाले मांसांकुर उत्पन्न हो जाते हैं इस विकारका नाम "रोहिणी" है। यह श्वासावरोधक होने के कारण शीघ्र मारक होती है इसके द्वारा श्वासावरोध हो जाने के कारण शीघ्र मृत्यु हो जाती है। यह ५ प्रकार की होती है—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज तथा ५-त्रिदोषज। यथा—

१—जो रोहिणी वातज होती हैं वह—कण्ठ एवं मुख में शोष तथा हनुओं एवं कान में वेदना उत्पन्न करती है। २—जो रोहिणी पित्तज होती है वह—ज्वर, सन्ताप, तृषा तथा मोह से युक्त होती है और कण्ठ में से धूम सा निकलता है। और वह शीघ्र उत्पन्न होती है, शीघ्र पक जाती है, वेदना तथा लालिमा से युक्त होती है तथा स्पर्श का सहन नहीं करती। ३—जो रोहिणी कफज होती है वह चिपचिपा तथा पाण्डु श्वेत वर्ण वाली होती है। ४—जो रोहिणी रक्तज होती है फफोलों से व्याप्त जलेअंगार कीसी लाल एवं उष्ण, कर्ण में वेदना करने वाली तथा पित्तजरोहिणी के समान लक्षणों वाली होती है। ५—जो रोहिणी त्रिदोषज होती है वह—मूल में भीतर ही भीतर पकने वाली उल्लिखित सब लक्षणों से युक्त होती है ॥

वक्तव्य—इस प्रकार रोहिणी ५ प्रकार की होती है।

६—शालूक का वर्णन—

ओष्ठे: कफोल्बणैः शोफः कोलवद् ग्रथितोन्नतः ॥४५॥

शूककण्टकवत्कण्ठे शालूको मार्गरोधनः ।

व्याख्या—कण्ठ-गल प्रदेश में-कफ प्रधान दोषों की विकृति से बेर कासा ग्रथित एवं उन्नत शोथ हो जाता है, प्रतीत होता है जैसे कण्ठ में शूक या काण्टा धंसा हो और उससे कण्ठमार्ग रुकने लगता है । इस विकार का नाम "शालूक" है ॥ ७५ ॥

७—वृन्द रोग का वर्णन—

वृन्दो वृत्तोन्नतो दाहज्वरकृद् गलपार्श्वगः ॥४६॥

व्याख्या—गल के पार्श्वभाग में—गोल २, ऊँचा और दाह एवं ज्वर करने वाला शोथ हो जाता हैं उसका नाम "वृन्द" है ॥

वक्तव्य—सु. चि. अ, १६ में इसका वर्णन इस प्रकार है—

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपात् विद्यात् सतोदं पवनास्रजं तु॥५६॥

व्याख्या--कण्ठ में जो ऊँचा, गोल, भीषण दाह तथा तीव्र ज्वर से युक्त शोथ होता है वह 'वृन्द' कहलाता और वह पित्त एवं रक्त की विकृति से होता है और जिसमें वेदना व्यथा होती है वह वात एवं रक्त की विकृति से होता है ॥ ४६ ॥

८—तुण्डीकेरी का वर्णन—

हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः ।
पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका ॥४७॥

व्याख्या—हनुसन्धि में आश्रित, कण्ठ के भीतर कपास के फल कासा, चिपचिपा, मन्द वेदना वाला तथा कठोर शोथ होता है वह "तुण्डिकेरी" कहलाता है ॥४७॥

९—गलौघ का वर्णन—

वाह्यान्तः श्वयथुर्घोरो गलमार्गार्गलोपमः ।
गलौघो मूर्धगुरुतातन्द्रालालज्वरप्रदः ॥४८॥

व्याख्या—कण्ठ के भीतर तथा बाहिर भीषण शोथ हो जाता है जो गल में अर्गला के समान आहार-अन्न-जल एवं श्वास प्रश्वास की गति को रोक देता है और शिर में भारीपन, तन्द्रा, लाला स्राव तथा ज्वर को उत्पन्न करता है यह "गलौघ" कहलाता है ॥५१॥

१०—वलय का वर्णन—

वलयं नातिरुक् शोफस्तद्वदेवायतोन्नतः ।

कण्ठ के भीतर श्वास मार्ग एवं अन्नमार्ग पर वलय-कंगन के समान गोलाकार, चौड़ा एवं उन्नत जो शोथ होता है "वलय" कहलाता है ॥

वक्तव्य—सु चि. अ. १६ में इसका वर्णन है—

वलास एवाऽऽयतमुन्नतं च शोफं करोति अन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाऽप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥५२॥

अर्थात् —कण्ठ में कफ विकृत होकर आकत एवं उन्नात शोथ उत्पन्न करता है, वह आहार की गति को रोक देता है । उसको वलय कहते हैं और वह असाध्य—तत्काल मारक होता है ॥

११—गलायु का वर्णन—

मांसकीलो गले दोषैरेकोऽनेकोऽथवाऽल्परुक् ॥४९॥
कृच्छ्रोच्छ्वासाभ्यवहृतिः पृथुमूलो गिलायुकः ।

व्याख्या—कण्ठप्रदेश में दोषों की विकृति से—एक अथवा अनेक मांस कील उत्पन्न हो जाते हैं उस में उस में थोड़ी वेदना होती है. श्वास प्रश्वास में तथा आहार निगलने में कष्ट होता है और उस मांस कील का मूल चौड़ा होता है । इस रोग का नान "गलायु" है ॥ ५३ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इसका नाम "गिला" है और—ग्रन्थिः गले तु आमलकाऽस्थि मात्रः स्थिरोऽल्प रुक् स्यात् कल रक्तमूर्तिः । संलक्ष्यते सक्तं इव अशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायु सञ्ज्ञः । वह ग्रन्थ आमला की गुठली के समान, अचल एवं रक्त की विकृति से होती है, प्रतीत होता है जैसे कण्ठ में ग्रास रुका हो । यह ग्रन्थि शस्त्र साध्य होती है और गिलाय्र कहलाती है ॥४९॥

१२—शतघ्नी का वर्णन—

भूरिमांसांकुरवृता तीव्रतृड्ज्वरमूर्धरुक् ॥ ५० ॥
शतघ्नी निचिता वर्तिः शतघ्नीवातिरुक्करी ।

व्याख्या—कण्ठ प्रदेश में जो बत्ती (काथा कुछ लम्बा शोथ)—बहुत से मांसांकुरों मे ढँकी हुई और तीव्र तृषा, ज्वर एवं शिरो वेदना से युक्त तथा स्थूल होती है और शतघ्नी नामक शिला जैसे अस्त्र के समान वेदना करनेवाली होती है उसका नाम "शतघ्नी" है ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—शतघ्नी सेकड़ों को मार डालनेवाली शिला का नाम है इसमें लोह कील जड़े रहते हैं जब शत्रु दुर्ग के द्वार आदि के पास आ जाते हैं तब ऊपर से ढकेल दी जाती है उसके नीचे दबकर तथा कीलों से विधकर अनेक शत्रु मर जाते या आहत हो जाते हैं । किसी २ का कथन है कि लोह कण्टक जड़ी यष्टि-लाठी का नाम है अस्तु । इस रोग का वर्णन सुश्रुत नि० अ. १६ में इस प्रकार है—

वर्त्तिः घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषात् ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्नी-असाध्या ॥

अर्थात्--कण्ठ प्रदेश में--तीनों दोषों की विकृति से--एक बत्ती उत्पन्न हो जाती है जो घन--ठोस, कण्ठमार्ग को रोकनेवाली, अनेक मांसांकुरों से व्याप्त तथा अनेक प्रकार की वेदना करने वाली और सेकड़ों--सब को मार डालने-वाली शतघ्नी नामक शिला के समान अतएव असाध्य होती है वह "शतघ्नी" कहलाती है ॥ ५० ॥

१३—गलविद्रधि का वर्णन—

व्याप्तसर्वगलः शीघ्रजन्मपाको महारुजः ॥ ५१ ॥
पूतिपूयनिभस्रावी श्वयथुर्गलविद्रधिः ।

व्याख्या—कण्ठप्रदेश में जो शोथ—समस्त गल में व्याप्त होता है, शीघ्र उत्पन्न होता तथा पकता है, अनेक प्रकार की वेदनाओं वाला तथा दुर्गन्ध युक्त पूय के स्राव वाला होता है वह गलविद्रधि कहलाता है ॥

वक्तव्य—सुश्रुत के कथनानुसार यह त्रिदोषज होता है और त्रिदोषज विद्रधि जैसा ही होता है ॥५१॥

१४—गलार्बुद का वर्णन—

जिह्वावसाने कण्ठादावपाकं श्वयथुं मलाः ॥ ५२ ॥
जनयन्ति स्थिरं रक्तं नीरुजं, तद् गलार्बुदम् ।

व्याख्या—जीभ के मूल तथा कण्ठ के मध्य में वातादि दोष विकृत होकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं जो कभी नहीं पकता और स्थिर, अचल, लाल तथा वेदना रहित होता है उसका नाम गलार्बुद (गल की रसौल) है ।

१५-१६-१७ गलगण्ड का वर्णन—

पवनश्लेष्ममेदोभिर्गलगण्डो भवेद्बहिः ॥ ५३ ॥
वर्धमानः स कालेन मुष्कवल्लम्बतेऽतिरुक् ।
कृष्णोऽरुणो वा तोदाढ्यः स वातात्कृष्णराजिमान् ।५४।
वृद्धस्तालुगले शोषं कुर्याच्च विरसास्यताम् ।
स्थिरः सवर्णः कण्डूमान् शीतस्पर्शो गुरुः कफात् ।५५।
वृद्धस्तालुगले लेपं कुर्याच्च मधुरास्यताम् ।
मेदसः श्लेष्मवद्धानि-वृद्ध्योः सोऽनुविधीयते ॥ ५६ ॥
देहं वृद्धश्च कुरुते गले शब्दं स्वरेऽल्पताम् ।

व्याख्या—वायु, कफ एवं मेदस् की विकृति से कण्ठ-गल के बाहरी प्रदेश पर "गलगण्ड" नामक शोथ हो जाता है वह बढ़ते २ समय पाकर घृषण के समान लटकने लगता है या गल पर सटा रहता है । इसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती । १५—वायु की अधिकता से इसका वर्ण काला अथवा कालापन लिये लाल होता है और इसमें कुछ २ व्यथा होती रहती है. इसपर काली २ रेखाएँ होती हैं और जब वह बड़ा हो जाता है तब मुख में शोष-सूखापन तथा विरसता बनी रहती है । १६—कफ की अधिकता से—वह स्थिर-अचल-ठोस तथा भारी होता है। और जब वह बड़ा हो जाता है तब तालु एवं गल में लेप—चिपचिपाट तथा मुख में मीठापन बना रहता है । १७—मेदस् की अधिकता से जो गलगण्ड होता है उसमें कफज गलगण्ड के समान लक्षण होते हैं विशेषतः शरीर की पुष्टि तथा कृशता में गलगण्ड की पुष्टि एवं कृशता होती है और बोलते समय तथा श्वासप्रश्वास में कण्ठ में अव्यक्त ध्वनि होती है तथा स्वर में अल्पता होती है।

वक्तव्य—श्री वाग्भट ने गलगंड को कण्ठ रोगों में इस लिये गिन दिया हैं क्योंकि इसका प्रभाव कण्ठ पर भी पड़ता है लक्षणों पर ध्यान दीजिये । इस रोग का वर्णन—च. चि. अ. १२ में—शोथ साधर्म्य के विचार से शोथाधिकार में किया गया है और सु नि. अ. ११ में किया गया है ग्रन्थि एवं अर्बुद की समानता के विचार से । यह रोग वहाँ अधिक होता है जहाँ कुल्याओं एवं तालों का जल पिया जाता है ॥ ५३—५६ ॥

१८—स्वरहा रोग का वर्णन—

श्लेष्मरुद्धानिलगतिः शुष्ककण्ठो हृतस्वरः ॥५७॥
ताम्यन् प्रसक्तः श्वसिति येन स स्वरहानिलात् ।

व्याख्या—जिस रोग से—वायु की विकृति के कारण श्वास प्रश्वास की गति में कफ द्वारा रुकावट होती है, कण्ठ सूखता रहता है, स्वर बैठ जाता है, नेत्रों के आगे अन्धकार प्रतीत होता है और श्वास की गति में श्वास रोग के समान कष्ट होता है वह रोग—"स्वरहा" या स्वरघ्न कहलाता है ।

वक्तव्य—इस प्रकार कण्ठ के १८ रोगों का वर्णन किया गया है । सुश्रुत में भी कण्ठ के १८ रोग माने गये हैं परन्तु वे इस प्रकार हैं—५ प्रकार की रोहिणी, ६—कण्ठ शालूक, ७—अधिजिह्व, ८—वलय, ९—बलास, १०—एक वृन्द, ११—वृन्द, १२—शतघ्नी, १३ गिलायु, १४—गलविद्रधि, १५—गलौघ, १६—स्वरघ्न, १७—मांसतान तथा १८—विदारी । इस गणना में—एक वृन्द, मांसतान तथा विदारी नामक तीन रोग अधिक गिने गये हैं—

१—वृन्द का वर्णन—

सु. नि. अ. १६

वृत्तोन्नतो यः श्वयथुः सदाहः कण्डून्वितोऽपाक्यमृदुः गुरुश्च ।
नाम्ना एकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिः बलासक्षतजप्रसूतः ५५

अर्थात्—जो शोथ—गोल, ऊँचा, दाह एवं कण्डू से युक्त, पाक रहित, कठोर तथा गुरु होता है यह एकवृन्द कहलाता है और कफ एवं रक्त से उत्पन्न होता हैं ।

मांसतान—

प्रयत्नवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतोविकारः ६२

व्याख्या—जो शोथ-प्रतान—जाल वाला, कष्ट प्रद तथा अवलम्बी होता है कमशः कण्ठ को रोकता हैं और मार डालता है वह मांसतान कहलाता है एवं त्रिदोष की विकृति से उत्पन्न होता हैं ।

विदारी वर्णन—

सदाहतोदं श्वयथुं सरक्त अन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।

पित्तेन विद्यात् वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ६३

अर्थात्—गल के भीतर—दाह एवं व्यथा से युक्त जो शोथ होता है और विशेषतः उस ओर होता है जिस ओर मानव विशेष रूप से लेटता है और आगे चल कर उसका मांस सड़ एवं फट जाता है इस शोथ का नाम 'विदारी' है और यह पित्त की विकृति से उत्पन्न होती है ।५७।

सर्वमुख व्यापी रोगों का वर्णन

वातजमुखपाक—

करोति वदनस्यान्तर्व्रणान्सर्वसरोऽनिलः ॥ ५८ ॥
सञ्चारिणोऽरुणान् रूक्षानोष्ठौ ताम्रौ चलत्त्वचौ ।
जिह्वा शीतासहा गुर्वी स्फुटिता कण्टकाचिता ॥ ५९ ॥
विवृणोति च कृच्छ्रेण मुखं पाको मुखस्य सः ।

व्याख्या—सर्वसर—समस्त मुख में गतिशील वायु (अथवा व्यान वायु) विकृत होकर—मुख के भीतर—व्रण—क्षत उत्पन्न कर देता है, वे व्रण—सञ्चारी—फैलनेवाले, कालिमा युक्त लाल तथा रूक्ष होते हैं, ओष्ठ—लाल तथा छिले से हो जाते हैं, जीभ शीत द्रव्यों का सहन नहीं करती, भारी प्रतीत होती है, फटी हुई तथा काण्टों से व्याप्त हो जाती है, मुख खोलने में कठिनाई होती है । वह मुख पाक कहलाता है ।

वक्तव्य—सु, चि, अ. १६ में इस रोग का नाम—वातज सर्वसर है इसे मुखमकना या निनामा कहते हैं ।५८-५९।

ऊर्ध्वगुद रोग का वर्णन

अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्मकफादिभिः ।
यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगदस्तु सः ॥ ६० ॥

व्याख्या—अर्श रोग, गुल्म रोग अथवा कफ आदि की विकृति से—अपान वायु—नीचे से प्रतिहत होकर ऊपर की ओर चला जाता है फलतः मुख में दुर्गन्ध कर देता है । इसका नाम "ऊर्ध्वगुद" है ।

वक्तव्य—इसका व्यञ्जन है मुख से दुर्गन्ध आना, इसका अनुभव रोगी से अधिक पास बैठनेवालों का होता है ।

पित्तज तथा रक्तज मुखपाक का वर्णन—

मुखस्य पित्तजे पाके दाहोषे तिक्तवक्त्रता ।
क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणाः तद्वच्च रक्तजे ॥ ६१ ॥

व्याख्या—पित्तजनित मुख पाक—दाह एवं सन्ताप होता है, मुख में तिक्तता बनी रहती है और प्रतीत होता जैसे चूना आदि क्षार के प्रयोग से मुख के भीतर क्षत हो गये हों । रक्तजनित मुख पाक में भी पित्तज मुखपाक के समान लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—अन्तर यह है कि—पित्तज मुखपाक के क्षत—पीताभ और रक्तज के रक्त होते हैं ।

कफज मुख पाक का वर्णन—

कफजे मधुरास्यत्वं कण्डूमत्पिच्छिला व्रणाः ।

व्याख्या—कफज मुख पाक में मुख में मीठापन रहता है और व्रणों में कण्डू तथा चिपचिपाहट रहती है ६१।

मुखार्बुद का वर्णन—

अन्तःकपोलमाश्रित्य श्यावपाण्डु कफोऽर्बुदम् ॥६२॥
कुर्यात्तत्पाटितं च्छिन्नं मृदितं च विवर्धते

व्याख्या—कफ विकृत होकर—कपोल के भीतरी भाग पर साँमले एवं पाण्डु वर्ण वाला अर्बुद उत्पन्न कर देता है । वह अर्बुद पाटन, छेदन एवं मर्दन करने पर भी रहता है इसका नाम "मुखार्बुद" है ।। ६२ ।

त्रिदोषजमुखपाक का वर्णन—

मुखपाकोभवेत्सास्त्रैः सर्वैः सर्वाकृतिर्मलैः ॥६३॥

व्याख्या—रक्तयुक्त तीनों मलों—दोषों की विकृति से उसका लक्षणों वाला मुखपाक होता है ॥

वक्तव्य—सुश्रुत चि. अ. १६ में मुखपाकों का नाम "सर्वसर" है और वहाँ सर्वसर चार माने गये हैं—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज तथा ४-रक्तज ॥ ६३ ॥

पूतिनामक विकार का वर्णन—

पूत्यास्यता च तैरेव दन्तकाष्ठादिविद्विषः ।

व्याख्या—दतवन कुल्ला न करने से—वातादि दोषों की विकृति से मुख में दुर्गन्ध हो जाती है उसका नाम पूतिमुखता है ॥

वक्तव्य—इस प्रकार समस्त मुख के ८ रोगों का वर्णन कर दिया गया है ।

मुख रोगों की संख्या एवं साध्याऽसाध्यता—

ओष्ठे गण्डे द्विजे मूले जिह्वायां तालुके गले ॥ ६४ ॥
वक्त्रे सर्वत्र चेत्युक्ताः पञ्चसप्ततिरामयाः ।
एकादशैको दश च, त्रयोदश तथा च षट् ॥६५॥
अष्टावष्टादशाष्टौ च क्रमात् तेष्वनुपक्रमाः ।
करालो मांसरक्तोष्ठावर्बुदानि जलार्बुदा ॥ ६६ ॥
कच्छपस्तालुपिटिका गलौघः सुषिरो महान् ।
स्वरघ्नोर्ध्वगदश्यावशतघ्नीवलयालसाः ॥६७॥
नाड्योष्ठकोपौ निचयात् रक्तात्सर्वैश्च रोहिणी ।
दशने स्फुटिते दन्तभेदः पक्वोपजिह्विका । ६८॥
गलगण्डः स्वरभ्रंशी कृच्छ्रोच्छ्वासोऽतिवत्सरः ।
याप्यस्तु हर्षो भेदश्च, शेषान् शास्त्रौषधैर्जयेत् ॥६९॥

व्याख्या—ओष्ठों पर ११, गण्डमें १, दन्तों में १०, दन्तवेष्टों में १३, जीभ पर ६, तालु में ८, गल-कण्ठ में १८ तथा, समस्त मुख में ८ । इस प्रकार मुख में ७५ माने गये हैं ॥

इन ७५ रोगों में असाध्य हैं—१-कराल नामक

दन्तरोग, २-मांसज एवं ३-रक्तज ओष्ठरोग, जलार्बुद, कच्छप, तालुपिटिका, गलोघ, महासुषिर, स्वरघ्न, उर्ध्वगुद श्यामदन्त, शतघ्नी, वलय, अलस (दे० श्लो० ३१), त्रिदोषज दन्तनाडी एवं त्रिदोषज ओष्ठ कोप, रक्तज तथा त्रिदोषज रोहिणी, दन्तफूट जाने पर, दन्तभेद, पक जाने पर अधिजिह्व रोग, एक वर्ष बीत जाने पर गलगण्ड, स्वरभ्रंश (स्वरहा) कृच्छ्रश्वास से युक्त। दन्त हर्ष तथा दन्तभेद याप्य होते हैं और अवशिष्ट रोगों को शस्त्रचिकित्सा तथा औषध चिकित्सा से शान्त करे-वे सब साध्य होते हैं।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः।

अथातो मुखरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब मुख रोगों की चिकित्सा लिखेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—मुख रोग चिकित्सा च. चि. अ. १२ तथा २६ में, सु. चि. अ. १८ (में गलगण्ड की) तथा अ. २२ में और अ. सं. उ. अ. २६ में देखिये।

खण्डोष्ठ चिकित्सा—

खण्डौष्ठस्य विलिख्यान्तौ स्यूत्वा व्रणवदाचरेत्।
यष्टीज्योतिष्मतीरोध्रश्रावणीसारिवोत्पलैः ॥ १ ॥
पटोल्या काकमाच्या च तैलमभ्यञ्जनं पचेत्।
नस्यं च तैलं वातघ्नमधुरस्कन्धसाधितम् ॥ २ ॥

व्याख्या—खण्डौष्ठ रोग में—खण्डित ओठ की कोनों पर लेखन करके और फिर दोनों को सीवन कर्म द्वारा सीकर रोपण आदि व्रणोपचार करे। व्रणपर शोधन एवं रोपण के लिये तैल—मुलेठी, मालकांगुनी, लोध, गोरखमुण्डी, सारिवा, कमल, परवल की जड़ तथा मकोय के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे (फोहा धरे—चुपड़े)। और वातनाशक गण एवं मधुर स्कन्ध (गण) के यथा लाभ द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल की नस्य का प्रयोग करे।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २६—

स्निग्धस्विन्नस्य खण्डौष्ठस्य ओष्ठान्तौ विलिख्य सुश्लिष्टौ क्षौमसूत्रेण सीव्येत्, शतधौतघृताऽभ्यक्तां च अस्मै कवलिकां व्रणस्य उपरि दद्यात् प्रक्लिन्नं च व्रणं चिकित्सया साधयेत्।

अर्थात्—स्नेहन एवं स्वेदन करके, ओष्ठ के दोनों छोर पर लेखन करके तथा उनको भलीभांति सटा-जोड़ कर रेशमी सूत्र से सी देवे और उसपर शतधौत घृत से भीगी कवलिका धर बन्धन कर देवे और व्रण की चिकित्सा व्रण के समान करे ॥१-२॥

वातज ओष्ठ रोग की चिकित्सा—

महास्नेहेन वातौष्ठे सिद्धेनाक्तः पिचुर्हितः।
देवधूपमधूच्छिष्टगुग्गुल्वमरदारुभिः ॥ ३ ॥
यष्ट्याह्वचूर्णयुक्तेन तेनैव प्रतिसारणम्।
नाड्योष्ठं स्वेदयेद्दुग्धसिद्धैरेरण्डपल्लवैः ॥ ४ ॥
खण्डौष्ठविहितं नस्यं तस्य मूर्ध्नि च तर्पणम् ॥

व्याख्या—वातजनित ओष्ठ रोग में—राल, मोम, गूगल, तथा देवदारु के गोन्द के योग से सिद्ध महास्नेह (चारों स्नेहों का मिश्रण) सिद्ध करके और उससे लिप्त पिचु धरे। और महास्नेह में मुलेठी का चूर्ण मिलाकर प्रतिसारण करे (ओठों पर लगाकर मले)। ओष्ठपर नाडी द्वारा स्वेदन करे स्वेदन में एरण्ड के कोमल पत्तों से सिद्ध दूध का योग करे। खण्डोष्ठ के लिये बतलाए गये तैल की नस्य देवे और उसी से शिरोवस्ति विधि से शिर का तर्पण करे अथवा अभ्यङ्ग, पिचु एवं सेचन करे ॥ ३-४ ॥

पित्तज अभिघातज रक्तज एवं कफज ओष्ठ रोगों की चिकित्सा—

पित्ताभिघातजावोष्ठौ जलौकोभिरुपाचरेत् ॥ ५ ॥
रोध्रसर्जरसक्षौद्रमधुकैः प्रतिसारणम्;
गुडूचीयष्टिपतङ्गाङ्गसिद्धमभ्यञ्जने घृतम् ॥ ६ ॥
पित्तविद्रधिवच्चात्र क्रियाशोणितजेऽपि च।
इदमेव भवेत्कार्यं कर्म ओष्ठे तु कफोत्तरे ॥ ७ ॥
पाठाक्षारमधुव्योषैर्हृतास्रे प्रतिसारणम्।
धूमनावनगण्डूषाः प्रयोज्याश्च कफच्छिदः ॥ ८ ॥

व्याख्या—पित्तजनित एवं अभिघातजनित ओष्ठ रोग में—जोंक लगाकर रक्तस्राव करे। और—लोध, राल तथा मुलेठी का चूर्ण मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। गिलोय, मुलेठी तथा पतङ्ग काष्ठ के योग से सिद्ध घृत का अभ्यङ्ग करे—चुपड़े। और पित्तविद्रधि के समान सब उपचार करे। रक्तजनित ओष्ठ रोग में भी यही सब उपचार करे।

कफजनित ओष्ठ रोग में—जोंक लगाकर अथवा शाक पत्र से रगड़कर रक्त निकाले। तदनन्तर—पाठा, जौखार, सोंठ, मरिच एवं पीपल का चूर्ण मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। और कफनाशक धूमों के पान; कफनाशक नस्य तथा कफनाशक गण्डूष-कवल का प्रयोग करे।

वक्तव्य—अष्टाङ्ग संग्रहके अनुसार स्वेदन भी करे ।५-८

मेदोज ओष्ठ रोग की चिकित्सा—

स्विन्नं भिन्नं विमेदस्कं दहेन्मेदोजमग्निना ॥
प्रियङ्गुरोध्रत्रिफलामाक्षिकैः प्रतिसारयेत् ॥ ९ ॥

व्याख्या—मेदोजनित ओष्ठ रोग में—ओष्ठ पर स्वेदन करके तथा वृद्धिपत्र नामक शस्त्र से भेदन करके दूषित

मेदस् निकाल देवे, शुद्ध होनेपर अग्नि द्वारा दाह कर्म करे और फिर—प्रियंगु, लोध, हरड़, बहेड़ा तथा आमला के चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे ॥

वक्तव्य—तथा रोपण करने के लिये—हलदी, मुलेठी, लोध. मालतीके पुष्प, हरेणु तथा तगरसे सिद्ध तैलकाअभ्यङ्ग करे दे० अ सं. उ. अ. २६ जलार्बुद चिकित्सा ॥९॥

जलार्बुद की चिकित्सा—

सक्षौद्रा घर्षणं तीक्ष्णा भिन्नशुद्धे जलार्बुदे ।
अवगाढेऽतिवृद्धे वा क्षारोऽग्निर्वा प्रतिक्रिया ॥१०॥

व्याख्या—जलार्बुद में भेदन तथा शोधन कर्म के अनन्तर सोंठ, मरिच, पीपल, कुटकी, तेजबल के बीज, जौखार, सैन्धव लवण, सज्जीखार तथा कासीस आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। यदि जलार्बुद अत्यन्त गम्भीर हो अथवा बढ़ा हो गया हो तो क्षार द्वारा अथवा अग्नि द्वारा दाह कर्म करके उचित रोपण आदि उपचार करे ॥

वक्तव्य—और रोपण के लिए हलदी एवं मुलेठी आदि (देखिये श्लोक. ९ का वक्तव्य) से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे ॥ १० ॥

गण्डालजी की चिकित्सा—

आमाद्यवस्थास्वलजीं गण्डे शोफवदाचरेत् ।

व्याख्या—गण्डालजी—कपोल में उत्पन्न अलजी नामक फोड़ा की—आम, पच्यमान एवं पक्व अवस्थाओं में व्रण शोथ के समान चिकित्सा करे ॥

वक्तव्य—गण्डालजीमपक्वां शोफवत् विदग्धामुपनाह्य पक्वां विदार्य व्रणवत् साधयेत् । अ. सं. उ. अ. २६—

अर्थात्—गण्डालजी पर उपनाह लगाकर पका देवे और पकने पर दारण कर्म करके व्रण के समान शोधन-रोपण करे । इस प्रकार ओष्ठ रोगों की चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है ।

दन्तरोगों की चिकित्सा—

स्विन्नस्य शीतदन्तस्य पालीं विलिखितां दहेत् ॥११॥
तैलेन प्रतिसार्या च सक्षौद्रघनसैन्धवैः ।
दाडिमत्वग्वरातार्क्ष्यकान्ताजम्ब्वस्थिनागरैः ॥१२॥
कवलः क्षीरिणां क्वाथैरणुतैलं च नावनम् ।

व्याख्या—शीतदन्त नामक रोग में—पाली अर्थात् दन्तपंक्ति पर उष्ण जल से स्वेदन करके, व्रीहिमुख शस्त्र से दन्तों का लेखन करके—उनको स्वच्छ करके उष्ण तैल के पिचु से दाह कर्म करे । तत्पश्चात्—दन्त पंक्तिपर अनार फल का छिलका, त्रिफला, रसवत्, प्रियंगु, जामुन की गुठली की गिरी, सोंठ, मोथा तथा सैन्धव लवण के चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। और वट एवं गूलर आदि क्षीरी वृक्षों की छाल के क्वाथ से कुल्ले करे और अणु तैल की नस्य का प्रयोग करे ॥ ११-१२ ॥

दन्तहर्ष चिकित्सा—

दन्तहर्षे तथा भेदे सर्वा वातहरा क्रिया ॥१३॥
तिलयष्टीमधुशृतं क्षीरं गण्डूषधारणम् ।

व्याख्या—दन्तहर्ष नामक रोग में तथा दन्तभेद नामक रोग में—सब प्रकार की वातनाशक चिकित्सा करे और तिल तथा मुलेठी के योग से परिपक्व दूध के गण्डूषों का धारण करे ॥ १३ ॥

दन्त चाल चिकित्सा—

सस्नेहं दशमूलाम्बु गण्डूषः प्रचलद्द्विजे ॥१४॥
तुत्थरोध्रकणाश्रेष्ठापत्तङ्गपटुघर्षणम् ।
स्निग्धाः शील्या यथावस्थं नस्यान्नकवलादयः ॥१५॥

व्याख्या—दन्तचाल नामक रोग में—दशमूल के क्वाथ में तैल आदि स्नेह मिलाकर कुल्ले करे और—तूतिया, लोध, पीपल, त्रिफला, पतङ्ग काष्ठ तथा लवण का प्रतिसारण-मञ्जन करे और नस्य भोजन तथा कवल आदि में उचित स्नेहों का प्रयोग करे ॥ १४-१५ ॥

अधिदन्त की चिकित्सा—

अधिदन्तकमालिप्तं यदा क्षारेण जर्जरम् ।
कृमिदन्तमिवोत्पाट्य तद्वच्चोपचरेत्तदा ॥ १६ ॥
अनवस्थितरक्ते च दग्धे व्रण इव क्रिया ।

व्याख्या—अधिदन्तक नामक रोग में—उस अधिक दन्त पर क्षार का लेप करे जब दन्त जरजर—भंगुर हो जाय तब कृमि दन्तक (देखिये श्लो. १९) की विधि से उसे उखाड़ देवे और उसी प्रकार से उपचार करे। उखाड़ने के पश्चात् यदि रक्तस्राव न रुके तो अग्नि से दाह कर्म करके व्रण के समान उपचार करे ॥ १६ ॥

दन्त शर्करा चिकित्सा—

अहिंसन् दन्तमूलानि दन्तेभ्यः शर्करां हरेत् ॥१७॥
क्षारचूर्णैर्मधुयुतैस्ततश्च प्रतिसारयेत् ।

व्याख्या—दन्त शर्करा में दन्तमूलों को हानि न पहुँचाते हुए दन्तों पर से, दन्तलेखन शस्त्र द्वारा शर्करा उतार देवे और जौखार आदि किसी क्षार के चूर्ण को मधु में मिला कर प्रतिसारण करे ॥ १७ ॥

कपालिका चिकित्सा—

कपालिकायामप्येवं हर्षोक्तं च समाचरेत् ॥ १८॥

व्याख्या—दन्त कपालिका में भी दन्तशर्करा के समान और तत्पश्चात् दन्तहर्ष के समान चिकित्सा करे।

वक्तव्य—दन्तशर्करां दन्तमूलानि अपीडयन् दन्तलेखनकेन विलिख्य क्षारतैलेन अवसेचयेत् । ऊषायां कर्पूरपाटली त्वक् चूर्णेन प्रतिसारणम्. सदा च दन्तधावनादि निषेवेत ।

दन्त हर्षोक्तं च कुर्यात्। कपालिकायामेतत् एव विशेषतः शीलयेत्। अ. सं. उ. अ. २६

अर्थात्—दन्तमूलों को बचाकर, दन्तलेखन शस्त्र द्वारा शर्करा को खुरच कर क्षारयुक्त तैल का सेचन करे, दाह, हो तो कपूर एवं पाढल की छाल के चूर्ण से प्रतिसारण करे और प्रतिदिन दन्त धावन आदि दन्तशोधन उपचार करता रहे, दन्त हर्ष के समान बात शामक दन्त मञ्जन एवं स्नेह गण्डूष करता रहे और कपालिका में भी यही सब उपचार तत्परता से करे ॥१८॥

कृमिदन्तक चिकित्सा—

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्।
स्निग्धश्चालेपगण्डूषनस्याहारैश्चलापहैः॥ १९॥
गुडेन पूर्णं सुषिरं मधूच्छिष्टेन वा दहेत्।
सप्तच्छदार्कक्षीराभ्यां पूरणं कृमिमूलजित्॥२०॥
हिंगु-कट्फल कासीस-स्वर्जिकाकुष्ठवेल्लजम्।
रजो रुजं जयत्याशु वस्त्रस्थं दशने धृतम्॥२१॥
गण्डूषं धारयेत्तैलमेभिरेव च साधितम्।
क्वाथैर्वा युक्तमेरण्डद्विव्याघ्रीभूकदम्बजैः॥२२॥
क्रियायोगैर्बहुविधैरित्यशान्तरुजं भृशम्।
दृढमप्युद्धरेद्दन्तं पूर्वं मूलाद्विमोक्षितम्॥ २३॥
सन्दंशकेन लघुना दन्तनिर्घातनेन वा।
तैलं सयष्ट्याह्वरजो गण्डूषो मधुना ततः॥२४॥
ततो विदारियष्ट्याह्वश्रृङ्गाटककसेरुभिः।
तैलं दशगुणक्षीरसिद्धं युञ्जीत नावनम्॥२५॥
कृशदुर्बलवृद्धानां वातार्तानां च नोद्धरेत्।
नोद्धरेच्चोत्तरं दन्तं बहूपद्रवकृद्धि सः॥२६॥
एषामप्युद्धृते स्निग्धः स्वादुः शीतक्रमो हितः।

व्याख्या—कृमिदन्तक रोग में यदि दन्त अचल स्थिर हो—हिलता न हो तो उसकी वेदना को स्वेदन तथा विस्रावणों—रक्तस्रावण एवं लालास्रावणों द्वारा शान्त करे। और वातशामक एवं स्निग्ध—लेपों, गण्डूषों, नस्यों तथा आहारों के प्रयोग से शान्त करे। यदि इस प्रकार के सब उपचार करने पर भी दन्त दाढ़ का मध्य सुषिर अर्थात् खोखला हो जाय तो उस खोखले भाग में गुड़ अथवा मोम भरकर तप्त शलाका द्वारा दाह कर्म कर देवे। सतवन अथवा आक के दूध से उस खोखले भाग को भरना भी कृमिजनित शूल को शान्त करता है। और हींग, कायफल, कासीस, सज्जीखार, कूठ तथा विडंग के चूर्ण की पोटली—दाढ़ में धरने से भी उक्त शूल शान्त होता है। और उन्हीं हींग एवं कटफल आदि द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल का गण्डूष भी उक्त शूल को शान्त करता है। अथवा—एरण्डमूल, कण्टकारी मूल, बनभण्टा मूल तथा गोरखमुण्डी के क्वाथ में उक्त तैल मिलाकर गण्डूष करने से भी उक्त शूल शान्त हो जाता है। इस प्रकार बहुत से उपचार करने पर भी यदि शूल शान्त न हो तो—अचलदन्त को भी उखाड़ देवे परन्तु उखाड़ते समय दन्तवेष्ट के मांस को दन्तमूल से शस्त्र द्वारा हटाकर छोटे संदंश नामक यन्त्र से अथवा दन्त निर्घातन नामक यन्त्र की सहायता से उखाड़ देवे और तदनन्तर—मुख धुलाकर, मलेठी का चूर्ण मिलाकर तैल अथवा मधु के कुल्ले करावे। और फिर विदारीकन्द, मुलेठी, सिंघाड़ा तथा कसेरू का कल्क १ भाग, तैल ४ भाग, दूध ४० भाग मिलाकर सिद्ध किये गये तैल की नस्य का प्रयोग करे। कृश, दुर्बल, वृद्ध तथा वात पीड़ित का दन्त न निकाले—उखाड़े और ऊपर का दन्त भी न निकाले क्योंकि उसको उखाड़ने से बहुत—अधिक मात्रा में रक्तस्राव और रक्तस्राव से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग (उपद्रव) हो सकते हैं।

दन्त उखाड़ने पर—स्निग्ध, मधुर, तथा शीतल आहार-विहार का सेवन लाभप्रद होता है॥

वक्तव्य—न तु उत्तरम्, तस्योद्धरणात् शोणितात्ययः स्यात्, ततश्च इन्द्रियभ्रंशो वातव्याधिः वा। अ.सं.उ.अ.२६–

अर्थात्—यथा सम्भव ऊपर का दन्त—दाढ न उखाड़े क्योंकि उसको उखाड़ने से रक्तस्राव अधिक हो सकता है और उससे इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास अथवा कोई वातज रोग हो सकता है॥१९-२६॥

दन्त वेष्ट के रोगों की चिकित्सा—

शीताद चिकित्सा

विस्रावितास्रे शीतादे सक्षौद्रैः प्रतिसारणम्॥२७॥
मुस्तार्जुनत्वक्त्रिफला-फलिनीतार्क्ष्यनागरैः।
तत्क्वाथः कवलो नस्यं तैलं मधुरसाधितम्॥ २८॥

व्याख्या—शीताद नामक दन्तवेष्ट रोग में—मसूड़ों में से रक्त स्रावण करने के अनन्तर—मोथा, अर्जुन की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, प्रियंगु, रसवत तथा सोंठ का चूर्ण तथा मधु मिला कर प्रतिसारण करें। और उन्हीं मोथा आदि के क्वाथ के कवल करे तथा मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल की नस्य का प्रयोग करे।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २६—तेजोवतीहरिद्राद्वय-कुष्ठपाठाकटुकारोहिणीरोध्रसमंगामुस्तैः प्रतिसारणम् सर्वदन्त-मांसाऽऽमयेषु कण्डूश्वयथुवेदनारक्तस्रुतिहरम्। तथा व्योषयवक्षारमनःशिलाऽऽलसैन्धवदार्वीत्वग्भिः एवं च औषधैः गुलिकाः सर्वमुखरोगहराः—अर्थात्—तेजबल के बीज एवं त्वचा, हल्दी, दारुहल्दी की छाल, कूठ, पाठा, कुटकी, लोध, मजीठ तथा नागरमोथा का मञ्जन दन्त

तथा दन्तवेष्ट के रोगों में कण्डू, शोथ, वेदना तथा रक्तस्राव को नष्ट करता है। और त्रिकटु, जौखार, मैनसिल, हरिताल, सैन्धव लवण तथा दारुहल्दी नामक औषधों से बनाई गई गोलियाँ—सब प्रकार के मुखरोगों को नष्ट करती हैं ॥ २७-२८ ॥

उपकुश रोग की चिकित्सा—

दन्तमांसान्युपकुशे स्विन्नान्युष्णाम्बुधारणैः।
मण्डलाग्रेण शाकादिपत्त्रैर्वा बहुशो लिखेत् ॥२९॥
ततश्च प्रतिसार्याणि घृतमण्डमधुद्रुतैः।
लाक्षाप्रियंगुपत्तङ्गलवणोत्तमगैरिकैः ॥३०॥
सकुष्ठशुण्ठीमरिचयष्टीमधुरसाञ्जनैः।
सुखोष्णो घृतमण्डोऽनु तैलं वा कवलग्रहः ॥३१॥
घृतं च मधुरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः।

व्याख्या—उपकुश नामक दन्तवेष्ट रोग में उष्ण जल के गण्डूषों द्वारा स्वेदन करके, दन्तवेष्टों का मण्डलाग्र शस्त्र द्वारा अथवा शाक पत्र एवं गोजिह्वा (गाजवान्) आदि के खरदरे पत्रों द्वारा अनेक बार लेखन करे। इस प्रकार रक्त स्रावण हो जाने पर लाख, प्रियंगु, पतङ्ग काष्ठ, सैन्धव लवण, गेरू, कूठ, सोंठ, मरिच, मुलेठी तथा रसवत का चूर्ण घृत मण्ड एवं मधु में मिला कर प्रतिसारण करे। तत्पश्चात् कोसे २ घृतमण्ड अथवा तैल के कवल—कुल्ले करे। और मधुरगण के द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत का प्रयोग—कवल एवं नस्य में करे।

वक्तव्य—पुनः पुनश्च रुधिराऽवसेकः—अ. सं. उ. अ. २६ अर्थात्—उक्त उपचार के बीच २ रक्तस्रावण करना चाहिये ॥ २९-३१ ॥

दन्तपुप्पुट चिकित्सा—

दन्तपुप्पुटके स्विन्नछिन्नभिन्नविलेखिते ॥३२॥
यष्ट्याह्वसर्जिकाशुण्ठीसैन्धवैः प्रतिसारणम्।

व्याख्या—दन्त पुप्पुटक नामक दन्त वेष्ट रोग में—दन्तवेष्ट का स्वेदन, छेदन, भेदन अथवा लेखन करने के अनन्तर मुलेठी, सज्जीखार, सोंठ तथा सैन्धव लवण के चूर्ण का मञ्जन करे। ३२।

विद्रधि चिकित्सा—

विद्रधौ कटुतीक्ष्णोष्णरूक्षैः कवललेपनम् ॥३३॥
घर्षणं कटुकाकुष्ठवृश्चिकालीयवोद्भवैः।
रक्तोत्पाकं हिमैः, पक्वः पाट्यो दाह्योऽवगाढकः ॥३४॥

व्याख्या—विद्रधि नामक दन्तवेष्ट रोग में कटु, तीक्ष्ण, उष्ण एवं रूक्ष द्रव्यों का कवल एवं लेपन करे और—कटुकी, कुष्ठ (कूठ), बिछुवा तथा जौखार का मञ्जन करे। और यथा शक्ति रूक्ष एवं शीत द्रव्यों का भीतरी (खाने पीने में) तथा बाहिरी (लेपन आदि) प्रयोग करके विद्रधि का पाक न होने देवे। ऐसा करने पर भी यदि पक ही जाय तो पाटन—भेदन करे, गम्भीर विद्रधि हो तो अग्नि कर्म करके जला देवे।

वक्तव्य—तत्पश्चात्-त्रिफलासुमनाऽरिष्टक्वाथो गण्डूषः, यष्टिमधुकसिद्धः सर्पिर्मण्डो नस्यम्—अ. सं. उ. अ. २६—अर्थात्—त्रिफला, चमेली के पत्र तथा नीम की छाल के क्वाथ के गण्डूष करे और मुलेठी के योग से सिद्ध घृतमण्ड की नस्य का प्रयोग करे। ३४।

सौषिर चिकित्सा—

सुषिरे छिन्नलिखिते सक्षौद्रैः प्रतिसारणम्।
रोध्रमुस्ताभिशिश्रेष्ठातार्क्ष्यपत्तङ्गकिंशुकैः ॥३५॥
सकट्फलैः कषायैश्च तेषां गण्डूष इष्यते।
यष्टीरोध्रोत्पलानन्तासारिवागुरुचन्दनैः ॥३६॥
सगैरिकसितापुण्ड्रैः सिद्धं तैलं च नावनम्।

व्याख्या—सुषिर नामक दन्तवेष्ट रोग में शस्त्र द्वारा छेदन एवं लेखन कर्म करने के अनन्तर—लोध, मोथा, सौंफ, त्रिफला, रसवत, पतङ्ग काष्ठ, केसू (पलाश के फूल) तथा कायफल का चूर्ण मधु में मिला कर प्रतिसारण करे और उन्हीं लोध आदि के क्वाथ के गण्डूष करे और मुलेठी, लोध, कमल, कृष्ण सारिवा, अगुरु, लाल चन्दन, गेरू, खण्ड तथा पुण्डेरिया के योग से सिद्ध तैल की नस्य का सेवन करे ॥ ३५-३६ ॥

अधिमांस चिकित्सा—

छित्त्वाधिमांसकं चूर्णैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥३७॥
वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायवशूकजैः।
पटोलनिम्बत्रिफलाकषायः कवलो हितः ॥ ३८ ॥

व्याख्या—अधिमांसक नामक दन्तवेष्ट रोग में—छेदन कर्म के अनन्तर—घालवच, तेजबल के बीज (तुम्बरु) पाठा, सज्जी खार तथा जौखार का चूर्ण मधु में मिला कर प्रतिसारण करे और परवल एवं निम्ब के पत्र तथा त्रिफला के क्वाथ से गण्डूष करे।

वक्तव्य—अधिमांसकमचिरोत्थं स्रावयेत्, विरूढं तु बडिशेन मुचुण्ड्या वा गृहीत्वा मण्डलाग्रेण छित्त्वा तीक्ष्णैः प्रतिसारयेत्, कटुतीक्ष्णैः कवलः तैलं वा यवक्षारावचूर्णितम्—अर्थात् नूतन अधिमांसक का स्रावण—रक्त स्रावण करे और पुराने को बडिश नामक यन्त्र से अथवा मुचुण्डी नामक यन्त्र से पकड़ कर मण्डलाग्र नामक शस्त्र से काट देवे और फिर तेजबल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का मंजन करे और कटु एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के क्वाथ के कुल्ले करे अथवा यवक्षार मिश्रित तैल के कुल्ले करे ॥ ३७-३८ ॥

विदर्भ चिकित्सा—

विदर्भे दन्तमूलानि मण्डलाग्रेण शोधयेत्।

क्षारं युञ्ज्यात्ततो नस्यं गण्डूषादि च शीतलम् ॥३९॥

व्याख्या—विदर्भ नामक दन्तवेष्ट रोग में—दन्त वेष्टों को मण्डलाग्र नामक शस्त्र से शुद्ध करे तत्पश्चात्—क्षार का प्रयोग करे। दग्ध हो जाने पर शीतल नस्य एवं गण्डूष करे।

वक्तव्य—विदर्भे दन्तमूलानि शस्त्रेण विशोध्य, क्षारं प्रयुज्य, घृतमण्ड गण्डूषे दद्यात्, रोध्रप्रियंगुमजिष्ठामधुक-चूर्णैः प्रतिसारणम्, काकोलीयष्टिमधुशर्कराविपक्वतैलं नावनम्—अर्थात् विदर्भ रोग में दन्तवेष्टों को शस्त्र द्वारा शुद्ध करके, क्षार का प्रयोग करके, घृतमण्ड के कुल्ले देवे, फिर लोध, प्रियंगु, मंजीठ तथा मुलेठी के चूर्ण का प्रतिसारण करावे और काकोली, मुलेठी तथा खण्ड के योग से सिद्ध तैल की नस्य का प्रयोग करे ॥ ३९ ॥

दन्त नाडी चिकित्सा—

संशोध्योभयतः कायं शिरश्चोपचरेत्ततः।
नाडीं दन्तानुगां दन्तं समुद्धृत्याग्निना दहेत् ॥४०॥
कुब्जां नैकगतिं पूर्णां मदनेन गुडेन वा।
धावनं जातिमदन खदिरस्वादुकण्टकैः ॥४१॥
क्षीरिवृक्षाम्बुगण्डूषो नस्यं तैलं च तत्कृतम्।

व्याख्या—दन्तवेष्ट के नाड़ी व्रणों में वमन एवं विरेचन से शरीर का और प्रधमन अथवा अवपीड नस्य से शिर का शोधन करके तत्पश्चात् दन्त नाड़ी का उपचार करे यथा—दन्त को उखाड़ कर अग्नि द्वारा दाह क्रिया कर देवे। यदि नाड़ी की गति कुब्ज—टेढ़ी मेढ़ी हो अथवा उसमें अनेक छिद्र हों तो उसमें मोम अथवा गुड़ भर कर तप्त शलाका द्वारा जला देवे। तत्पश्चात्—चमेली के पत्र, मैनफल, खैरसार तथा गोखरू के क्वाथ से धो देवे और फिर वट आदि क्षीरी वृक्षों के क्वाथ के कुल्ले करे और उन्हीं वट आदि के योग से सिद्ध तैल की नस्य का प्रयोग करे।

वक्तव्य—दन्तनाडीमेषयित्वा, संवृतां शस्त्रेण विचार-यित्वा, तदाऽऽश्रितं दन्तशेषमुद्धृत्य शलाकया दहेत्, कुब्जा-मवगाढामनेक गतिं गुड़मधुसिक्थान्यतमपूर्णाम्। ततः क्षीरिवृक्षकषायेण गण्डूषान् धारयेत्। तत्सिद्धेन वा तैलेन नस्यं च। दन्तीखदिरसारमदनस्वादुकण्टकक्वाथे लोध्रबाल-कोशीरदेवदारुमंजिष्ठामधुककल्के विपक्वं तिलतैलं सर्षपतैलं वा नाडीशोधनं रोपणं च। प्रपौण्डरीकहरिद्राद्वयमधूकमधू च्छिष्टरोध्रकटुशर्करापद्मकचन्दनदूर्वा उपोदिका वास्तूकतण्डु-लीयकमंजिष्ठाऽम्लीकाकपित्थैः पत्रैः वा। नस्यं च विडंग-मधुमुस्तानिर्गुण्डीखदिरमंजिष्ठोशीरसुरतरुसिद्धं तैलम्। धूमपानाऽसृक्स्रावणनावनानि शीलयेत् नाड़ीशोधनं च ईक्षेत। अ. सं. उ. अ. २६—अर्थात्—दन्त नाड़ी का एषणी द्वारा एषण कर्म करके, अवरुद्ध मुखी का शस्त्र द्वारा मुख खोल कर, उससे आश्रित दन्त को उखाड़ कर शलाका से जला देवे, टेढ़ी मेढ़ी, गहरी अथवा अनेक मुख वाली नाड़ी—(नासूर) में गुड़ अथवा मोम भर कर जलाना चाहिये। तत्पश्चात् वट आदि क्षीरी वृक्ष के क्वाथ के कुल्ले करावे और उन्हीं के योग से सिद्ध घृत की नस्य देवे.......। धूमपान, रक्तस्राव—स्रावण तथा नस्य का प्रयोग करें और नाड़ीव्रण चिकित्सा करे। देखिये—उ. तं. अ. ३०। इस प्रकार दन्तवेष्टोंके रोगों की चिकित्सा लिखी गई है ॥ ४०-४१ ॥

जीभ के रोगों की चिकित्सा—

कुर्याद्वातौष्ठकोपोक्तं कण्टकेष्वनिलात्मसु ॥४२॥
जिह्वायां पित्तजातेषु घृष्टेषु रुधिरे स्रु ते।
प्रतिसारणगण्डूषनावनं मधुरैर्हितम् ॥४३॥
तीक्ष्णः कफोत्थेष्वप्येवं सर्षपत्र्यूषणादिभिः।
नवे जिह्वालसेऽप्येवं तं तु शस्त्रेण न स्पृशेत् ॥४४॥
उन्नम्य जिह्वामाकृष्टां बडिशेनाधिजिह्विकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णोष्णैर्घर्षणादि च ॥४५॥
उपजिह्वां परिस्राव्य यवक्षारेण घर्षयेत्।

व्याख्या—वात जनित जिह्वा कण्टकों में—वात जनित ओष्ठरोग के समान (देखिये श्लो० ३-४) उपचार करे। पित्तजनित जिह्वाकण्टकों में—शाक पत्र आदि से घर्षण करके रक्त निकाल देवे तत्पश्चात् मधुर द्रव्यों के प्रतिसारण, गण्डूष तथा नस्य देवे। कफ जनित जिह्वा कण्टकों में भी उसी प्रकार सरसों (राई) एवं त्रिकटु आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से प्रतिसारण, गण्डूष एवं नस्य का प्रयोग करे।

अलस रोग चिकित्सा—

नूतन अलस रोग (देखिये अ० २१ श्लो० ३३) में भी उसी प्रकार सरसों एवं त्रिकटु आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से प्रतिसारण, गण्डूष एवं नस्य का प्रयोग करे परन्तु इस रोग में शस्त्रकर्म न करे। सिरावेध किया जा सकता है (अ. सं. उ. अ. २६)। अधिजिह्व चिकित्सा—देखिये अ. २१ श्लो० ३४—इस रोग में जीभ को उठा कर और अधिजिह्विका को बडिश नामक यन्त्र द्वारा खींच कर—मण्डलाग्र शस्त्र से काट देवे तत्पश्चात्—उक्त सरसों एवं त्रिकटु आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से प्रतिसारण, गण्डूष एवं नस्य का प्रयोग करे। उपजिह्वा की चिकित्सा—देखिये अ. २१ श्लो० ३५ उपजिह्वा नामक रोग में—उपजिह्वा पर शाक पत्र अथवा अंगुलि शस्त्र से लेखन करके रक्त निकाल देवे और तत्पश्चात्—जौखार का प्रतिसारण करे। इस प्रकार जिह्वा के रोगों की चिकित्सा लिखी गई है ॥४२-४५॥

तालुगत रोगों की चिकित्सा—

गल शुण्डिका की चिकित्सा—

कफघ्नैः शुण्डिका साध्या नस्यगण्डूषघर्षणैः ॥ ४६ ।
ऐर्वारुबीजप्रतिमं वृद्धायामसिराततम् ।
अग्रे निविष्टं जिह्वाया बडिशाद्यवलम्बितम् ।४७।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण नात्यग्रे न च मूलतः ।
छेदेऽत्यसृक्क्षयान्मृत्युर्हीने व्याधिर्विवर्धते ।४८॥
मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः ।
छिन्नायां सपटुक्षौद्रैर्घर्षणं कवलः पुनः ॥ ४९ ॥
कटुकातिविषापाठानिम्बरास्नावचाम्बुभिः ।

व्याख्या—गलशुण्डिका की चिकित्सा—प्रथम कफ नाशक (संकोचक अनारफल के छिलकों तथा अन्यान्य कषायरसवाले) द्रव्यों की नस्य, गण्डूष तथा प्रतिसारण से करे। यदि वह गलशुण्डिका ककड़ी के बीज के समान काली एवं लम्बी होकर, सिराओं से रहित होकर जीभ पर लटक आई हो—लटक कर—बढ़ कर जीभ को छू रही हो तो उसे बडिश नामक यन्त्र से पकड़ कर मण्डलाग्र शस्त्र द्वारा काट देवे और छेदन न अग्रभाग में हो और न अत्यन्त मूल भाग में हो। क्योंकि मूल में छेदन होने पर रक्त का अधिक क्षय—स्राव होने से मृत्यु हो सकती है और हीन छेद (अग्रभाग में) होने से वह पुनः बढ़ जाती है। उचित स्थान पर छेदन करने के अनन्तर मरिच, अतीस, पाठा, बालवच, कूठ, सोना पाठा की छाल तथा सैन्धव लवण का चूर्ण मधु में मिला कर प्रतिसारण करे और फिर कुटकी, अतीस, पाठा, निम्ब की छाल, रासना तथा बाल वच के क्वाथ के कुल्ले करे॥ ४६-४९ ॥

तालुसंघात, तालु पुप्पुट तथा कूर्म की चिकित्सा—

सङ्घाते पुप्पुटे कूर्मे विलिख्यैवं समाचरेत् ॥५०॥

व्याख्या—तालुसंघात पुप्पुट एवं कूर्म अर्थात् कच्छप नामक रोगों में लेखन कर्म करने के पश्चात् गल शुण्डिका के समान चिकित्सा करे॥५०॥

तालुपाक की चिकित्सा—

अपक्वे तालुपाके तु कासीसक्षौद्रतार्क्ष्यजैः ।
घर्षणं कवलः शीतकषायमधुरौषधैः ॥५१॥
पक्वे ऽष्टापदवद्भिन्ने तीक्ष्णोष्णैः प्रतिसारम् ।
वृषनिम्बपटोलाद्यैस्तिक्तैः कवलधारणम् ॥५२॥

व्याख्या—तालुपाक के अपक्व शोथ में कासीस तथा रसवत के चूर्ण को मधु में मिला कर प्रतिसारण करे और शीतवीर्य, कषायरस एवं मधुर रसवाली औषधों के क्वाथ के कुल्ले करे। इस प्रकार वह बैठ जाता है परन्तु यदि न बैठे और पकने लग जाय तो—मण्डलाग्र द्वारा अष्टापद—चतुरङ्ग पीठ के समानाकार भेदन कर्म करने के पश्चात् तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों का प्रतिसारण करे और अडूसा निम्ब की छाल तथा परबल के पत्र आदि तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से कुल्ले करावे।

वक्तव्य—अष्टापद का आकार चतुरङ्ग पीठ अर्थात् चौपड के समान होता है। अष्टापदं शारिफलम् इत्यमरः अर्थात् शारियों—गोटियों के खेलने का पट्ट—पट्टी। इसका आकार + इस प्रकार का होता है ॥५१ ५२॥

तालु शोष चिकित्सा—

तालुशोषे त्वतृष्णस्य सर्पिर्भक्तस्य शस्तकम् ।
कणा शुण्ठीशृतं पानमम्लैर्गण्डूषधारणम् ॥५३॥
धन्वमांसरसाः स्निग्धाः क्षीरसर्पिश्च नावनम् ।

व्याख्या—तालु शोष नामक तालु रोग में—यदि तालु शोष के साथ २ तृषा—प्यास न हो तो भोजन के अनन्तर घृतपान करना चाहिये और पीपल एवं सोंठ के योग से पका जल पीवे, अम्ल द्रव्यों के क्वाथ का गण्डूष धारण करे काञ्जी का गण्डूष धारण करे, स्नेह युक्त जङ्गल देशीय प्राणियों का मांसरस पीवे और दूध से निकाले गये घृत की (माखन की) नस्य लेवे।

वक्तव्य—तृषा रोग में तालु शोष होता है अतः यदि तृषा से तालु शोष हो तो तृषा नाशक उपचार करे। इस प्रकार तालु गत साध्य रोगों की चिकित्सा लिखी गई है और तालु पिटिका आदि असाध्य होने के कारण उनकी चिकित्सा नहीं लिखी गई ॥५३॥

कण्ठ रोगों की चिकित्सा—

सामान्य चिकित्सा—

कण्ठरोगेष्वसृङ्मोक्षस्तीक्ष्णैर्नस्यादि कर्म च ॥ ५४॥
क्वाथः पानं च दार्वीत्वङ्निम्बतार्क्ष्यकलिङ्गजः ।
हरीतकीकषायो वा पेयो माक्षिकसंयुतः ॥ ५५ ॥
श्रेष्ठाव्योषयवक्षार-दार्वीद्वीपिरसाञ्जनैः ।
सपाठातेजिनीनिम्बैः शुक्तगोमूत्रसाधितैः ॥५६॥
कवलो गुटिका चाऽत्र कल्पिता प्रतिसारणम् ।
निचुलं कटभी मुस्तं देवदारु महौषधम् ॥५७॥
वचा दन्ती च मूर्वा च लेपः कोष्णोऽर्तिशोफहा ।

व्याख्या—सभी कण्ठ रोगों में—यदि उनमें ज्वर आदि कोई उपद्रव न हो तो—रक्त मोक्षण करे, तीक्ष्ण द्रव्यों के नस्य, गण्डूष एवं प्रतिसारण करे। और दारु हल्दी की छाल, निम्ब की छाल रसवत एवं इन्द्र जौ का क्राथ अथवा मधु मिश्रित हरीतकी क्वाथ पीना चाहिये। त्रिफला, त्रिकटु, जाखार, दारु हल्दी की छाल, चित्ता की जड़, रसवत, पाठा, तेजबल के बीज (तुम्बरु) तथा निम्ब के पत्र अथवा अन्तर छाल को सिरका एवं गोमूत्र

में पका कर कुल्ले करे अथवा उक्त त्रिफला आदि को शिरका एवं गोमूत्र में पीस कर गोलियाँ बनावे और उनका मञ्जन करे और चूर्ण करे। और—नलवेतस के फल (समुद्र फल), श्वेता अपराजिता (श्वेत फूल की कोयल), नागर मोथा, देवदारु का गोन्द, सौंठ, बाल वच, दन्तीमूल तथा मरोड़फली को जल में पीस, कोसा करके रूई के फोहा से बार २ लेप करे। यह लेप वेदना एवं शोथ को शान्त करता है।

वक्तव्य—रक्त मोक्षण सिरावेध द्वारा करे, इस प्रकार शोथ का बल घट जाता है॥५४-५७॥

वातजरोहिणी चिकित्सा—

अथाऽन्तर्बाह्यतः स्विन्नां वातरोहिणिकां लिखेत् ॥५८॥
अंगुलीशस्त्रकेणाऽऽशु पटुयुक्तनखेन वा।
पञ्चमूलाम्बुकवलस्तैलं गण्डूषनावनम् ॥५९॥

व्याख्या—वात जनित रोहिणी नामक रोग में उष्ण जल से भीतर—कण्ठ में और उपनाह आदि से बाहिर ग्रीवा पर—ठोड़ी के नीचे गल पर स्वेदन करे फिर अंगुली शस्त्र द्वारा अथवा लवण युक्त नख द्वारा—वात-रोहिणी का—मांसांकुरों का लेखन कर देवे और फिर बृहत्पञ्च मूल के क्वाथ के कवल करे और तैल के गण्डूष करे तथा नस्य लेवे।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २६—अथ वातरोहिणिकां अन्तर्बहिः स्विन्नां अंगुलीशस्त्रकेण मधुलवणगर्भेण वा नखेन विस्राव्य तीक्ष्णैः प्रतिसारयेत्, महापञ्चमूलाक्वाथो गण्डूषः, एलापुनर्नवासिंहीकपित्थकल्कपयोविपक्वं तैलं गण्डूषो नावनं च। अर्थात्—वातज रोहिणी पर भीतर एवं बाहिर से स्वेदन करके अंगुली शस्त्र द्वारा अथवा मधु एवं लवण के घोल से लिप्त नख द्वारा लेखन करके रक्तस्रावण करे और फिर तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण का प्रतिसारण करे, महा-पंचमूल के क्वाथ से गण्डूष करे। और बड़ी इलायची, पुनर्नवा, कण्टकारी एवं कैथ के कल्क एवं गोदुग्ध के योग से सिद्ध तैल के गण्डूष करे तथा नस्य लेवे॥५८-५९॥

पित्तज रोहिणी चिकित्सा—

विस्राव्य पित्तसम्भूतां सिताक्षौद्रप्रियंगुभिः।
घर्षेत्सरोध्रपत्तङ्गैः कवलः कथितैश्च तैः ॥६०॥
द्राक्षापरूषकक्काथो हितश्च कवलग्रहे।

व्याख्या—पित्तज रोहिणी नामक रोग में—वातज रोहिणी के समान लेखन द्वारा रक्त स्रावण करने के पश्चात् खण्ड, प्रियंगु, लोध तथा पतङ्गकाष्ठ के चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे और उन्हीं के क्वाथ से कुल्ले करे अथवा दाख एवं फालसा के क्वाथ से कवल धारण करे॥

वक्तव्य—द्राक्षापरूषकउशीरमधुकचन्दनक्वाथो वा,त्रिफला तिल्वकदयामाश्रीपर्णीकल्क मधुयष्टिकाभिः दशगुणे पयसि सिद्धं सर्पिः नस्यकवलभोजनेषु। अ. सं. उ. अ. २६—अर्थात्—अथवा दाख, फालसा, खस, मुलेठी तथा चन्दन के क्वाथ से कुल्ले करे। त्रिफला, लोध, कृष्णसारिवा, गम्भार की छाल तथा मुलेठी का कल्क १ भाग, घृत ४ भाग तथा गो दुग्ध ४० भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे और उसका प्रयोग—नस्य, कवल धारण तथा भोजन में करे॥ ६०॥

रक्तज रोहिणी चिकित्सा—

उपाचरेदेवमेव प्रत्याख्यायाऽस्रसम्भवाम् ॥६१॥

व्याख्या—रक्तजनित रोहिणी में पित्तजनित रोहिणी के समान सब उपचार करे॥

वक्तव्य—रक्तजामप्येवं प्रत्याख्याय उपाचरेत्- अर्थात्—इसका प्रत्याख्यान -नकार करके उपचार करे क्योंकि वह असाध्य है देखिये अ. २१ श्लो. ७०॥ ६१॥

कफज रोहिणी चिकित्सा—

सागारधूमैः कटुकैः कफजां प्रतिसारयेत्।
नस्यगण्डूषयोस्तैलं साधितं च प्रशस्यते ॥ ६२॥
अपामार्गफलश्वेता-दन्तीजन्तुघ्नसैन्धवैः।

व्याख्या—कफजनित रोग में पूर्वोक्त प्रकार से लेखन करके रक्तस्रावण करे और फिर गृहधूम युक्त त्रिकटु आदि कटु वर्ग के द्रव्यों (त्रिफला एवं सैन्धव लवण मिलाकर अ. सं.) से प्रतिसारण करे। और—अपामार्ग के बीज, अपराजिता, दन्तीमूल, विडंग तथा सैन्धव लवण के योग से सिद्ध किया गया तैल नस्य एवं गण्डूषधारण में प्रशस्त है॥ ६२॥

वृन्द, शालूक, तुण्डीकेरी तथा गिलायु—

तद्वच्च वृन्द-शालूक-तुण्डिकेरी-गिलायुषु ॥६३॥

व्याख्या—वृन्द, शालूक, तुण्डीकेरी तथा गिलायु नामक रोगों में रोहिणी के समान सब उपचार करे॥६३॥

विद्रधि-चिकित्सा—

विद्रधौ स्राविते श्रेष्ठारोचनातार्क्ष्यगैरिकैः।
सरोध्रपटुपत्तङ्गकणैर्गंडूषघर्षणे ॥ ६४॥

व्याख्या—गलविद्रधि में लेखन द्वारा रक्तस्रावण करे और फिर त्रिफला, गोरोचन, रसवत्, गेरू, लोध, लवण, पतङ्गकाष्ठ तथा पीपल के क्वाथ के गण्डूष और चूर्ण से प्रतिसारण करे॥ ६४॥

गलगण्ड चिकित्सा—

गलगण्डः पवनजः स्विन्नो निस्रुतशोणितः।
तिलैर्बीजैश्चलट्वोमा-प्रियालशणसम्भवैः ॥६५॥
उपनाह्यो व्रणे रूढे प्रलेप्यश्च पुनः पुनः।
शिग्रु-तिल्वक-तर्कारी-गजकृष्णा-पुनर्नवैः ॥६६॥

कालामृतार्कमूलैश्च पुष्पैश्च करहाटजैः ।
एकेषिकान्वितैः पिष्टैः सुरया काञ्जिकेन वा ॥ ६७ ॥
गुडूचीनिम्बकुटज-हंसपादीबलाद्वयैः ।
साधितं पाययेत्तैलं सकृष्णादेवदारुभिः ॥ ६८ ॥
कर्तव्यं कफजेऽप्येतत् स्वेदविम्लापने त्वति ।
लेपोऽजगन्धातिविषा-विशल्याः सविषाणिकाः ॥६९॥
गुञ्जालाबुशुकाह्वाश्च पलाशक्षारकल्किताः ।
मूत्रशृतं हठक्षारं पक्त्वा कोद्रवभुक् पिबेत् ॥७०॥
साधितं वत्सकाद्यैर्वा तैलं सपटुपञ्चकैः ।
कफघ्नान् धूमवमन-नावनादींश्च शीलयेत् ॥७१॥
मेदोभवे सिरां विध्येत्कफघ्नं च विधिं भजेत् ।
असनादिरजश्चैनं प्रातर्मूत्रेण पाययेत् ॥७२॥
अशान्तौ पाटयित्वा च सर्वान् व्रणवदाचरेत् ।

व्याख्या—वातजनित गलगण्ड पर—स्वेदन करे फिर उसमें से लेखन कर्म द्वारा रक्त निकाले और फिर उसपर तिल, लट्वा (लम्बा) अतसी चिरोञ्जी तथा शण के बीजों का उपनाह (पुल्टिस—उष्ण २ मोटा लेप—उपनाह स्वेद विधि देखिये सू. अ. १७) नामक लेप करे इस प्रकार उपनाह करने से वह पककर फूट जाय तो शोधन रोपण विधि द्वारा व्रणरोपण हो जाने पर सहजन के बीज, लोध की छाल, अरणी की छाल, गजपीपल, पुनर्नवा, नील के पत्र, गिलोय, आक की जड़ की छाल, मैनफल के फूल तथा निसोत को सुरा अथवा काञ्जी में पीसकर बार-बार लेप करे और गिलोय, निम्ब की छाल, कुरैया की छाल, हंसराज, बला, अतिबला, पीपल तथा देवदारु के योग से सिद्ध किया गया तैल पिलादे। कफजनित गलगण्ड में भी उक्त वातज-गलगण्ड के समान सब चिकित्सा करे किन्तु स्वेदन एवं विम्लापन अधिकरूप से करना चाहिये कफ की शान्ति-विलयन के लिये। और अजमोद (अथवा तुलसी का भेद—ववरी के बीज—स्यात् तुख्मेलङ्गा), अतीस, विशल्या (लाङ्गली—कलिहारी नामक कन्द) काकड़ासिंगी, गुञ्जा, सोनापाठा की छाल तथा पलाशक्षार को सुरा अथवा काञ्जी में पीसकर लेप करे। और हठ अर्थात् जलकुम्भी के क्षार को गोमूत्र में पकाकर पीवे तथा कोद्रव—कोदों के चावल का भोजन करे। अथवा वत्सकादि गण (सू, अ. १५) के द्रव्यों तथा पाँचों लवणों के योग से सिद्ध तैल पीवे। और कफ नाशक धूमपान का, वमन का तथा नस्य शिरोविरेचन—तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करे। मेदोजनित गलगण्ड में सिरावेध करके रक्त निकाले और कफज गलगंड नाशक सब उपचार करे। असनादि गण (सू, अ. १५) के सार काष्ठों का चूर्ण प्रति दिन प्रातःकाल गोमूत्र के साथ पीवे।

इस प्रकार यदि शान्ति लाभ न हो तो—सभी प्रकार के गलगंडों का पाटन करके—मेदस् निकाल व्रण के समान सीवन एवं शोधन रोपण आदि उपचार करे।

वक्तव्य—दाह योग्यं वा वसाघृतक्षौद्राऽन्यतमेन यथावत् दहेत्, रोचनाकासीसतुत्थकचूर्णावचूर्णितं तैलं व्रणशोधन-रोपणम्। असनादिसारं गोमयरसयुक्तं वा अर्थात्—यदि दाह के योग्य हो तो वसा, घृत अथवा मधु को तपाकर दाहकर्म करे और व्रण पर गोरोचन, कासीस तथा तूतिया का चूर्ण बुरक कर किसी शोधन एवं रोपण तैल का पिचु भरे। अथवा असनादि गण के सार को गोबर के रस में मिला कर भरे। अ. सं. उ. अ. २६। ये सब पाठ सु. चि. अ. १८ से अष्टांगसंग्रहकार ने और अष्टाङ्ग संग्रह से श्री वाग्भट ने उद्धृत किये हैं ॥ ६५-७२ ॥

'मुखपाकों की सामान्य चिकित्सा—

मुखपाकेषु सक्षौद्रा प्रयोज्या मुखधावना ॥७३॥
क्वथितास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः ।
निष्ठीव्या भक्षयित्वा वा कुठेरादिर्गणोऽथवा ॥७४॥

व्याख्या—मुखपाक नामक मुख रोगों में मधुमिश्रित मुखधावनों—कवलों गण्डूषों का प्रयोग करे यथा—त्रिफला, पाठा, मुनक्का तथा चमेली के कोमल पत्तों के क्वाथ में मधु मिला कर कुल्ले करे। अथवा त्रिफला आदि द्रव्यों को चबा २ कर थूके—लार टपकावे अथवा कुठेरादि हरीतक गण (सू. अ. ६ देखिये) के द्रव्यों को चबा २ कर लार टपकावे ॥ ७३-७४ ॥

मुखपाकों की विशिष्ट चिकित्सा—

मुखपाकेऽनिलात् कृष्णापटूवेला प्रतिसारणम् ।
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥ ७५ ॥
पित्तास्रे रक्तपित्तघ्नः कफघ्नश्च कफे विधिः ।
लिखेच्छाकादिपत्रैश्च पिटिकाः कठिनाः स्थिराः ॥७६॥
यथादोषोदयं कुर्यात्सन्निपाते चिकित्सितम् ।

व्याख्या—वात जनित मुखपाक में—पीपल, लवण तथा बड़ी इलायची के चूर्ण का प्रतिसारण करे। वात नाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल के कवल एवं नस्य भी लाभदायक होते हैं। पित्त एवं रक्त से उत्पन्न मुखपाकों में—रक्तशामक एवं पित्त शामक कवल एवं प्रतिसारण आदि करे। कफ जनित मुख पाक में कफ नाशक कवल आदि का प्रयोग करे। मुख के भीतर जो कठोर एवं अचल पिटिका अथवा व्रण हों उनका शाकपत्र आदि से लेखन करे रक्त निकल जाने पर उचित कवल धारण एवं प्रतिसारण आदि उपचार करे। और त्रिदोष जनित मुखपाकों में प्रवृद्ध दोषानुसार उचित चिकित्सा करे।

वक्तव्य—ग्रहणी रोग एवं पित्तातिसार आदि में जो मुखपाक होता है वह रोगशान्ति हो जाने पर स्वतः शान्त हो जाता है ॥ ७५-७६ ॥

मुखार्बुद की चिकित्सा—

नवेऽर्बुदे त्वसंवृद्धे च्छेदिते प्रतिसारणम् ॥७७॥
स्वर्जिकानागरक्षौद्रैः क्वाथो गण्डूष इष्यते ।
गुडूचीनिम्बवल्कोत्थो मधुतैलसमन्वितः ॥७८॥
यवान्नभुक् तीक्ष्णतैलनस्याभ्यङ्गांस्तथाचरेत् ।

व्याख्या—नूतन मुखार्बुद में—जो बड़ा न हो गया हो उसमें—छेदन कर्म करके सज्जीखार तथा सोंठ के चूर्ण में मधु मिला कर प्रतिसारण करे और गिलोय एवं निम्ब की छाल के क्वाथ में मधु एवं तैल मिला कर गण्डूष धारण करे, जौ के दलिया का आहार करे और तीक्ष्ण द्रव्यों की नस्य तथा तीक्ष्ण तैलों का अभ्यङ्ग—लिप्त व्रण पर पिचु धारण करे । ७७-७८ ।

पूति मुख रोग की चिकित्सा—

वमिते पूतिवदने धूमस्तीक्ष्णः सनावनः ॥७९॥
समङ्गाधातकीरोध्रफलिनीपद्मकैर्जलम् ।
धावनं वदनस्यान्तश्चूर्णितैरवचूर्णनम् ।
शीतादोपकुशोक्तं च नावनादि च शीलयेत् ॥ ८० ॥

व्याख्या—पूति मुख (अ. २१ श्लो० ६६ पूत्यास्य) नामक रोग में स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन करे फिर तीक्ष्ण धूम तथा तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करे। और मञ्जीठ, धाय के फूल, लोध, प्रियंगु, तथा कमल के क्वाथ के कवल धारण करे और उन्हीं मञ्जीठ आदि के चूर्ण से मुख के भीतर अवचूर्णन करे और शीताद एवं उपकुश नामक रोगों में बतलाए गये नस्य, धूम, कवल एवं प्रतिसारण आदि उपचार करे ॥ ७९-८० ॥

महर्षि विदेह प्रणीत गुटिका—

फलत्रयद्वीपिकिराततिक्तयष्ट्याह्वसिद्धार्थकटुत्रिकाणि ।
मुस्ताहरिद्राद्वययावशूकवृक्षाम्लकाम्लाग्निमवेतसाश्च ८१
अश्वत्थजम्ब्वाम्रधनञ्जयत्वक्
त्वक्चाहिमारात्खदिरस्य सारः ।
क्वाथेन तेषां घनतां गतेन
तच्चूर्णयुक्ता गुटिका विधेया ॥८२॥
ता धारिता घ्नन्ति मुखेन नित्यं
कण्ठौष्ठताल्वादिगदान् सुकृच्छ्रान् ।
विशेषतो रोहिणिकाऽऽस्यशोष-
गन्धान्विदेहाधिपतिप्रणीताः ॥८३॥

व्याख्या—त्रिफला, चित्ता, चिरायता, मुलेठी, सरसों, त्रिकटु; मोथा, हलदी, दारु हलदी. जौखार, वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, पीपल वृक्ष की छाल, जामुन की छाल, आम की छाल, अर्जुन की छाल, कनेर की छाल तथा खैरसार को समभाग लेकर, कूट कर और आठ गुने जल में क्वाथ करे अष्टमांश रहने पर छान कर पुनः पाक करे जब गाढ़ा हो जाय तब उसमें उक्त द्रव्यों का चूर्ण क्वाथ द्रव्यों से चतुर्थांश मिला कर मटर की सी गोलियाँ बना छाया में सुखा लेवे । इन गोलियों को सर्वदा मुख में रखना चाहिये । इनसे कष्टसाध्य—कण्ठ, तालु एवं ओष्ठों के रोगों में विशेषतः रोहिणी, तालु शोष तथा पूतिगन्ध नामक रोगों में लाभ होता है । इस योग का उपदेश महर्षि विदेह ने किया था वे शालाक्य के आचार्य थे ८१-८३

खदिरादि तैल—

खदिरतुलामम्बुघटे पक्त्वा तोयेन तेन पिष्टैश्च ।
चन्दन-जोङ्गक-कुङ्कुम-परिपेलव-वालकोशीरैः ॥८४॥
सुरतरु-रोध्र-द्राक्षा-मंजिष्ठ-चोच-पद्मक-विडङ्गैः ।
स्पृक्का-नत-नख-कट्फल-सूक्ष्मैला-ध्यामकैः सपत्तङ्गैः ८५
तैलप्रस्थं विपचेत् कर्षांशैः पाननस्यगण्डूषैस्तत् ।
हत्वास्ये सर्वगदान् जनयति गार्ध्रीं दृशं श्रुतिं च वाराहीम् ॥

व्याख्या—खैरसार १ तुला (१०० पल) लेकर और कूटकर १ द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे, चन्दन, अगुरु, केशर, नागर मोथा, नेत्र वाला, खस, देवदारु, लोध, दाख, मञ्जीठ, दालचीनी, पद्म काष्ठ, वायविडंग, असवर्ग, तगर, नाखूना (सुगन्धि द्रव्य), कायफल, छोटी इलायची, सुगन्धी तृण तथा पत्तङ्ग काष्ठ १–१ कर्ष लेकर कल्क करे और तैल १ प्रस्थ ! सबको मिलाकर पाक करे । इसका प्रयोग—पीने में, एवं गण्डूष धारण में करे । यह मुख के सभी रोगों को नष्ट करता है और गिद्ध जैसी दूरदर्शिनी दृष्टि तथा सूअर जैसी श्रवण शक्ति कर देता है ॥ ८४-८६ ॥

मुख कान्ति कारक उबटन—

उद्वर्तितं च प्रपुन्नाटरोध्रदार्वीभिरभ्यक्तमनेन वक्त्रम् ।
निर्व्यङ्गनीलीमुखदूषिकादिसञ्जायतेचन्द्रसमानकान्ति ॥

व्याख्या—मुख मण्डल पर प्रथम तैल का अभ्यङ्ग करे फिर चकवँड़ के बीज, लोध की छाल एवं दारु हलदी की छाल के चूर्ण का तैल एवं जल में सान कर उबटन करने से व्यङ्ग, नीलिका (झांई) तथा मुख दूषिका आदि शान्त हो जाते हैं और मुख चन्द्रमा के सामने कान्ति वाला हो जाता है ।

वक्तव्य—व्यङ्ग आदि का वर्णन क्षुद्ररोग उ. अ. ३१ में देखिये ॥८७॥

मुख रोग नाशक वाणादि तैल—

पलशतं वाणात्तोयघटे पक्त्वा रसेऽस्मिंश्च पलांघकैः ।
खदिरजम्बूयष्ठ्यानन्तामरैहिमारन्नीलोत्पलान्वितैः ॥८८

तैलप्रस्थं पाचयेच्छ्लक्ष्णपिष्टैरेभिर्द्रव्यैर्धारितं तन्मुखेन।
रोगान्सर्वान्हन्तिवक्त्रेविशेषात्स्थैर्यंधत्तेदन्तपंक्तेश्चलायाः

व्याख्या—बाण अर्थात् नीले फूल वाला करसरैया—१०० पल लेकर, कूट कर १ द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे, खैरसार, जामुन की छाल, मुलेठी, अनन्तमूल, आम की छाल, अरिमार (अपामार्ग) तथा नील कमल २-२ कर्ष लेकर कल्क करे और १ प्रस्थ तैल। सबको मिला कर पाक करे तैल सिद्ध होने पर छान लेवे। इसे मुख के भीतर लगाने से—गण्डूष करने से—मुख के सभी रोगों का नाश हो जाता है और विशेषतः हिलते हुए दन्त भी दृढ़ हो जाते हैं—शीघ्र हिलने नहीं लगते॥ ८८-८९॥

खदिरादि गुटिका—

खदिरसाराद् द्वे तुले, पचेद्वल्कातुलां चारिमेदसः।
घटचतुष्के पादशेषेऽस्मिन्, पूते पुनः क्वथनाद्घने॥९०॥
आक्षिकं क्षिपेत्सुसूक्ष्मं रजःसेव्याम्बुपत्तङ्गगैरिकम्।
चन्दनद्वयरोध्रपुण्ड्राह्वयष्ट्याह्वलाक्षाञ्जनद्वयम्॥ ९१॥
धातकीकट्फलद्विनिशात्रिफलाचतुर्जातजोङ्गकम्।
मुस्तमञ्जिष्ठान्यग्रोधप्ररोहमांसीयवासकम्॥ ९२॥
पद्मकैलेयसमङ्गाश्च शीते, तस्मिंस्तथा पालिकांपृथक्।
जातिपत्रिकां सजातीफलां सहलवङ्गकङ्कोलिकाम्॥ ९३॥
स्फटिकशुभ्रसुरभिकर्पूरकुडवं च तत्रावपेत्ततः।
कारयेद्गुटिकाः सदा चैताः धार्या मुखे तद्गदापहाः॥९४॥

व्याख्या—खैरसार २ तुला (२०० पल) तथा दुर्गन्धि खैर की छाल १ तुला (१०० पल) दोनों को भली भांति कूट कर ४ द्रोण जल में पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे और उसे पुनः पका कर गाढ़ा कर लेवे (यह कत्था—असली कत्था है) फिर उसमें खस, नेत्र बाला, पतङ्ग काष्ठ, गेरू, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, लोध, पुण्डेरिया, मुलेठी, लाख, काला सुरमा, श्वेत सुरमा, धाय के फूल, कायफल, हलदी, दारु हल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, दाल चीनी, बड़ी इलायची, तेज पत्ता, नाग केसर, अगुरु, मोथा, मञ्जीठ, वट के प्ररोह (दाढ़ी), जटामांसी, जवासा, पद्म काष्ठ, एलुवा नामक सुगन्धी द्रव्य तथा लज्जावन्ती का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण १-१ कर्ष मिला देवे। शीतल होने पर—जावित्री, जायफल, लवङ्ग तथा शीतल चीनी का सूक्ष्म चूर्ण १-१ पल और—फिटकिरी के समान श्वेत एवं सुगन्धित कपूर का चूर्ण १ कुड़ब (१६ कर्ष) मिला देवे और फिर भली भांति कूट कर मटर की सी गोलियाँ बना कर छाया में सुखा लेवे। इनको मुख में रखने से—मुख के सब रोग शान्त हो जाते हैं॥ ९०-९४॥

अरिमेद आदि तैल—

क्वाथेन कल्कस्य प्रयोजनेन तैलं पचेत्कल्पनयाऽनयैव।
सर्वास्यरोगोत्कृतये सदाहुर्दन्तास्थिरत्वेऽपि तदेव मुख्यम्॥ ९५

व्याख्या—खैरसार १ तुला तथा दुर्गन्धी खैर की छाल २ तुला का क्वाथ १ द्रोण और खदिरादि गुटिका के सब द्रव्यों का कल्क १-१ कर्ष तथा तैल १ आढ़क मिला कर पाक करे अन्त में जावित्री आदि द्रव्य १-१ पल तथा कपूर १ कुड़ब डाल कर इतना उष्ण करे जिससे कपूर पिघल जावे और बोतलों में डाल मुखरोध करके धर देवे। यह तैल मुख में लगाने से मुख के सब रोगों को नष्ट करता है और दन्तों को दृढ़ करने में सर्व श्रेष्ठ है॥ ९५॥

उक्त गुटिका तथा तैल की प्रशंसा—

खदिरेणैता गुटिकास्तैलमिदं चारिमेदसा प्रथितम्।
अनुशीलयन् प्रतिदिनं स्वस्थोऽपि दृढद्विजो भवति॥९६

व्याख्या—उक्त खदिरादि गुटिका तथा अरिमेद आदि तैल का प्रति दिन सेवन करने से—स्वस्थ मानव के भी दन्त दृढ़ बने रहते हैं। अर्थात् स्वस्थ भी इनका सेवन करे तो अच्छा है॥ ९६॥

क्षुद्रादि कवल—

क्षुद्रागुडूचीसुमनःप्रवालदार्वीयवासत्रिफलाकषायः।
क्षौद्रेण युक्तः कवलग्रहोऽयं सर्वामयान् वक्त्रगतान्निहन्ति

व्याख्या—कण्टकारी, गिलोय, चमेली के कोमल पत्र, दारु हल्दी की छाल, जवासा तथा त्रिफला के क्वाथ में मधु मिला कर कवल—कुल्ले करने से मुख के सब रोग शान्त हो जाते हैं। ९७।

पाठादि मञ्जन—

पाठादार्वीत्वक्कुष्ठमुस्तासमङ्गा-
तिक्तापीताङ्गारोध्रतेजोवतीनाम्।
चूर्णः सक्षौद्रो दन्तमांसार्तिकण्डू-
पाकस्रावाणां नाशनो घर्षणेन॥९८॥

व्याख्या—पाठा, दारु हल्दी की छाल, कूठ, मोथा, लाजवन्ती (या मञ्जीठ), कुटकी, पीताङ्गी (पिण्ड हरिद्रा), लोध तथा तेजबल के बीज का चूर्ण मधु में मिला कर दन्तों पर मलने से—दन्त वेष्टों की कण्डू तथा वेदना को और मुखपाक तथा लालास्राव की शान्ति हो जाती है ९८।

कालक चूर्ण—काला मञ्जन—

गृहधूमतार्क्ष्यपाठाव्योषक्षाराग्न्ययोवरातेजोह्वैः।
मुखदन्तगलविकारे सक्षौद्र कालको विधार्यश्चूर्णः॥९९॥

व्याख्या—गृहधूम, रसौत, पाठा, सोंठ, मरिच, पीपल, जौखार, चित्रा की जड़ लोह भस्म, हरड़, बहेड़ा,

आमला तथा तेजवल के बीज (तुम्बरु—तुम्बरु) का चूर्ण—मधु मिला कर—सभी मुख रोगों में लगाना चाहिये।

वक्तव्य - महर्षि जतु कर्ण ने इस प्रकार लिखा है कि—

पाठा रसाञ्जन व्योष तेजोह्वा त्रिफलाऽग्निकम्।
गृहधूम यवक्षार शस्त्रं शस्तं च कालकम्।

इसमें शस्त्र नाम से लोह का निर्देश है. और श्री वाग्भट ने भी इसी पाठ का अनुसरण किया है परन्तु च. चि अ २६ में लोह का निर्देश नही है. यथा—

गृह धूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम्। १९४।
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकश्चेति चूर्णितम्।
सक्षौद्रं धारयेत् एतत् गलरोगविनाशनम्। १९५।
कालकं नाम तत् चूर्णं दन्ताऽऽस्यगलरोगनुत्।

इस पाठ में लोध्र —लोध लोह के स्थान में पढ़ा गया है। इस मंजन से दन्तों के मूल भाग काले हो जाते हैं। और इसका वर्ण भी काला होता है अतः इसका नाम कालक चूर्ण है ॥ ९९ ॥

पीतक चूर्ण —पीला मञ्जन—

दार्वीत्वक्सिन्धूद्भवमनःशिलायावशूकहरितालैः।
धार्यः पीतकचूर्णो दन्तास्यगलामये समध्वाज्यः ।१००।

व्याख्या - दारु हलदी की छाल, सैन्धव लवण, मैनसिल, जौखार तथा हरिताल का चूर्ण पर्याप्त घृत एवं मधु में मिला कर दन्त मुख एवं गल के रोग में लगाना चाहिये।

वक्तव्य—इस चूर्ण—मंजन का वर्ण पीला होता है अतः इसका नाम पीतक चूर्ण है इसमें घृत पर्याप्त मात्रा में मिलाना चाहिये अन्यथा दन्त वेष्टों पर तथा ओठ आदि पर क्षत हो सकता है ॥१००॥

क्षिताराादि रस क्रिया—

क्षितारधूमकवरापञ्चपटुव्योषवेल्लगिरिताद्यैः।
गोमूत्रेण विपक्वा गलामयघ्नी रसक्रियैषा ॥१०१॥

व्याख्या—सज्जीखार, जौखार, गृहधूम, हरड़, बहेड़ा, आमला, पाञ्चों लवण पृथक् २. सोंठ, मरिच, पीपल, विडंग, गेरू तथा रसवत समभाग लेकर गोमूत्र में पाक करे जब मधु का सा गाढा हो जाय तब उतार कर रख लेवें। यह रसक्रिया (पतला मञ्जन) गल रोगों को नष्ट करता है ॥

वक्तव्य—इसे फोहा से कण्ठ रोगों पर लगाना चाहिये ॥ १०१ ॥

मुख रोगों में पथ्या पयोग—

गोमूत्रक्वथनविलीनविग्रहाणां
पथ्यानां जलमिशिकुष्ठभावितानाम्।
अत्तारं नरमणवोऽपि वक्त्ररोगाः
श्रोतारं नृपमिव न स्पृशन्त्यनर्थाः। १०२।

व्याख्या—हरड़ों को गोमूत्र में उबाले और फिर सोया या सौंफ तथा कूठ के क्वाथ की भावना देकर सुखा लेवे। इन हरड़ों को खानेवाले को मुख रोग स्पर्श भी नहीं करते जैसे सुनने वाले—मन्त्रणा पर ध्यान देने वाले नरपति को अनर्थ—आपत्तियाँ ॥ १०२ ॥

मुखपाक नाशक सप्तच्छदादि काथ—

सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्त-हरीतकीतिक्तकरोहिणीभिः।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचन्दनैश्च क्वाथं पिबेत्पाकहरं मुखस्य॥

व्याख्या—सतवन की छाल, खस, परवल के पत्र, नागरमोथा, हरड़, कुटकी, मुलेठी, अमलतास का गूदा, तथा लालचन्दन का क्वाथ पीने से मुखपाक का नाश होता है ॥

वक्तव्य—यह क्वाथ विरेचन है—पुरीषरोध से उत्पन्न मुख पाक उदरशुद्धि हो जाने से शान्त हो जाता है ॥१०३॥

पटोलादि क्वाथ—

पटोलशुण्ठीत्रिफलाविशाला-
त्रायन्तितिक्ताद्विनिशामृतानाम्।
पीतः कषायो मधुना निहन्ति
मुखस्थितश्चास्यगदानशेषान् ॥१०४॥

व्याख्या —परवल के पत्र, सोंठ, त्रिफला, इन्द्रायण की जड़, त्रायमाणा, कुटकी, हल्दी, दारुहल्दी की छाल तथा गिलोय का क्वाथ—मधु मिलाकर पीने से, तथा मुख में रखने—गण्डूष धारण से मुख रोगों को शान्त करता है ॥ १०४ ॥

दार्वी का धन क्वाथ—

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतः सगैरिकः।
आस्यस्थः समधुर्वक्त्रपाकनाडीव्रणापहः ॥१०५॥

व्याख्या—दारुहल्दी के स्वरस को पकाकर गाढ़ा कर और उसमें गेरू मिलाकर तथा मधु मिलाकर मुख में लगावे इससे मुखपाक तथा नाडी व्रण नष्ट हो जाते हैं ।१०५।

परवल आदि के घन क्वाथ—

पटोलनिम्बयष्ट्याह्वासाजात्यहिमारकैः
खदिरस्य वरायाश्च पृथगेवं प्रकल्पना ॥ १०६ ॥

व्याख्या—दारु हल्दी के समान—परवल के पत्र, निम्ब की छाल, मुलेठी, अडूसा, चमेली के पत्र, अरिमेद नामक खैर की छाल. खैरसार तथा त्रिफला के पृथक् २ क्वाथ को पकाकर गाढ़ा होनेपर गेरू एवं मधु मिलाकर मुख में लगावे ॥ १०६ ॥

खदिरादि गण्डूष—

खदिरायोवराधार्थंसमन्वयन्सप्ताहिमारकः।

गण्डूषोऽम्बुश्रृतैर्योगो दुर्बलद्विजशान्तये ॥१०७॥

व्याख्या—खैरसार, अगुरु (अथवा लोहभस्म), त्रिफला, अर्जुन की छाल, मालती के पत्र तथा अरिमेद की छाल के क्वाथ के गण्डूष धारण से—दुर्बल दन्त दृढ हो जाते हैं ॥१०७॥

मुख रोगों में रक्तस्रावण आदि—

मुखदन्तमूलगलजाः प्रायो रोगाः कफास्रभूयिष्ठाः ।
तस्मात्तेषामसकृद् रुधिरं विस्रावयेद्दुष्टम् ॥ १०८ ॥
कायशिरसोर्विरेको वमनं कवलग्रहाश्च कटुतिक्ताः ।
प्रायः शस्तं तेषां कफरक्तहरं तथा कर्म ॥१०९॥
यवतृणधान्यं भक्तं विपलैः क्षारोषितैरपस्नेहाः ।
यूषा भक्ष्याश्च हिता यच्चान्यच्छ्लेष्मनाशाय ॥११०॥
प्राणानिलपथसंस्थाः श्वसितमपि निरुन्धते प्रमादवतः।
कण्ठामयाश्चिकित्सितस्ततो द्रुतं तेषु कुर्वीत ॥ १११ ॥

व्याख्या—मुख, दन्तवेष्ट एवं गल रोग प्रायः कफ एवं रक्त की विकृति से उत्पन्न होते हैं अतः उनमें बार-बार दूषित रक्त निकालते रहना चाहिये। और उन रोगों में—विरेचन, नस्य द्वारा शिरोविरेचन, वमन, कटु एवं तिक्त द्रव्यों के कवल एवं गण्डूष तथा कफ रक्त शामक अन्यान्य आहार-विहार आदि प्रायः लाभप्रद होते हैं। जौ एवं सामा आदि तृण धान्य के आहार, क्षारों से भावित मूँग आदि की स्नेह रहित दालें तथा जूस और अन्यान्य कफ नाशक अन्न। प्राण वायु के मार्ग में स्थित कण्ठ रोग प्रमाद करने—समय पर चिकित्सा न करनेवाले के श्वास को भी रोक देते हैं इसलिये उनमें तत्काल चिकित्सा करनी चहिये ॥ १०८-१११ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातः शिरोरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब शिरो रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—शिरो रोगों का वर्णन चरक सू. अ० १७ तथा चि० अ० २६ में, सुश्रुत नि० अ० १३ तथा उ. अ. २५ में और अ. सं. उ. अ. २७ में देखिये।

शिरो रोगों का वर्णन—

धूमाऽऽतपतुषाराम्बुक्रीडाऽतिस्वप्नजागरैः ।
उत्स्वेदाऽऽधिपुरोवात-बाष्पनिग्रह-रोदनैः ॥१॥
अत्यम्बुमद्यपानेन कृमिभिर्वेगधारणैः।
उपधानमृजाभ्यङ्ग-द्वेषाऽधः प्रतनेक्षणैः ॥ २ ॥
असात्म्यगन्धदुष्टामभाष्याद्यैश्च शिरोगताः ।
जनयन्त्यामयान् दोषाः तत्र मारुतकोपतः ॥३॥
निस्तुद्येते भृशं शङ्खौ घाटा सम्भिद्यते तथा ।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च पततीवातिवेदनम् ॥४॥
बाध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येते इवाक्षिणी ।
घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते ॥ ५ ॥
स्फुरत्यतिसिराजालं कन्धराहनुसंग्रहः ।
प्रकाशाक्षमता घ्राणस्रावोऽकस्माद्व्यथाशमौ ॥ ६ ॥
मार्दवं मर्दनस्नेहस्वेदबन्धैश्च जायते ।
शिरस्तापोऽयमर्धे तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः ॥७॥
पक्षात्कुप्यति मासाद्वा स्वयमेव च शाम्यति ।
अतिवृद्धस्तु नयनं श्रवणं वा विनाशयेत् ॥ ८ ॥
शिरोऽभितापे पित्तोत्थे शिरोधूमायनं ज्वरः ।
स्वेदोऽक्षिदहनं मूर्च्छा निशि शीतैश्च मार्दवम् ॥ ९ ॥
अरुचिः कफजे मूर्ध्नो गुरुस्तिमितशीतता ।
सिरानिष्पन्दतालस्यं रुग्मन्दाऽह्न्यधिका निशि॥१०॥
तन्द्रा शूनाक्षिकूटत्वं कर्णकण्डूयनं वमिः ।
रक्तात् पित्ताधिकरुजः सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणः ॥११॥
सङ्कीर्णैर्भोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे ।
कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः ॥१२॥
शिरसस्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः ।
चित्तविभ्रंशजननीर्ज्वरः कासो बलक्षयः ॥१३॥
रौक्ष्यशोफव्यधच्छेददाहस्फुरणपूतिताः ।
कपाले तालुशिरसोःकण्डूः शोषःप्रमीलकः ॥१४॥
ताम्राच्छसिङ्घाणकता कर्णनादश्च जन्तुजे ।

व्याख्या—धूमपान से तथा धूआँ लगने से, अग्नि एवं धूप—घाम के सन्ताप से, ओस में रहने—बैठने, लेटने एवं सोने से, जल में अधिक समय तक रहने से, अधिक सोने एवं अधिक जागने से, अधिक स्वेदन से, मानसिक कष्ट से, पूर्वी दिशा की वायु चलने से, आँसुओं का वेग रोकने से, अधिक रोने से, अधिक जल तथा मद्य पीने से, शिर के भीतर कृमि उत्पन्न हो जाने से, पुरीष आदि का वेग रोकने से, सिरहाना न लगाने से, शिर का बाहिरी एवं भीतरी शोधन न करने से, शिर पर तैल का अभ्यङ्ग न करने से, पढ़ने एवं कसीदा काढ़ने आदि के समय अधिक काल पर्यन्त नीचे की ओर देखते रहने से, असात्म्य—प्रकृति प्रतिकूल गन्ध सूंघने से, दूषित जल पीने से तथा अधिक बोलने आदि कारणों से कुपित वातादि दोष शिर में जाकर शिरोरोगों को उत्पन्न कर देते हैं। १—वात जनित शिरोरोग का लक्षण—वायु का कोप होने से शिर में व्यथा होती है। शंख एवं घाट

(घींटी—शिर का—ग्रीवा का पिछला भाग) फटती प्रतीत होती है, भौंवों का मध्य भाग तथा माथा गिरता सा प्रतीत होना है और वहाँ अत्यन्त वेदना होती है, कानों में वेदना तथा स्वन (सायँ २ ध्वनि) होता है, नेत्र गोलक निकलते—खिंचते प्रतीत होते हैं, शिर घूमता सा, सन्धियों से खुलता सा प्रतीत होता है, शिराएँ फरकती हैं, ग्रीवा एवं हनु जकड़ जाते हैं, प्रकाश अच्छा नहीं लगता, नासा से पानी जाता है, किसी विशिष्ट कारण के बिना ही व्यथा की वृद्धि एवं शान्ति होती रहती है।

उपशय—शिर का मर्दन करने से, स्नेहन (अभ्यङ्ग आदि रूप में तेलादि का प्रयोग करने) से, स्वेदन से तथा बन्धन—शिरो वेष्टन से शान्ति लाभ—वेदना में न्यूनता होती है। इसका नाम शिरस्ताप है। २—अर्द्धावभेदक का लक्षण—उक्त प्रकार की वेदना यदि शिर के आधे भाग में होती है तो वह 'अर्द्धावभेदक'' या "आधासीसी" कहलाता है। १५ दिन अथवा १ मास पर बार २ उत्पन्न होता रहता है और स्वयं शान्त होता रहता है। परन्तु यदि अधिक बढ़ जाता है तो नेत्र अथवा कर्ण की शक्ति को नष्ट कर देता है। ३—पित्तज शिरो रोग का लक्षण—पित्त जनित शिरो रोग में—शिर में से (तालु, कर्ण, नेत्र, नासा एवं मुख में से) धूमसा निकलता प्रतीत होता है, साथ २ ज्वर हो जाता है, स्वेद आता है, नेत्रों में दाह, कभी २ मूर्च्छा आती है।

उपशय—रात्रि में तथा शीतल आहार विहार एवं चिकित्सा से वेदना में कुछ न्यूनता अथवा पूर्ण शान्ति हो जाती है। ४—कफ जनित शिरोरोग का लक्षण—कफ से उत्पन्न शिरोरोग में—अरुचि, शिर में भारीपन मन्दता—क्रियाहीनता तथा शीतता का अनुभव, शिराओं में फरकन का अभाव, आलस्य, दिन में वेदना की न्यूनता तथा रात्रि में वृद्धि, तन्द्रा, नेत्र कूटों पर शोथ, कर्ण में कण्डू तथा कभी २ वमन। ५—रक्तज शिरोरोग का लक्षण—रक्त जनित शिरोरोग में पित्तज शिरो रोग के लक्षण कुछ उग्र होते हैं (और स्पर्श का सहन नहीं होता सुश्रुत)। ६—त्रिदोषज शिरोरोग का लक्षण—इसमें उक्त सब शिरोरोगों के लक्षण होते हैं। ७—कृमिज शिरोरोग का वर्णन—संकीर्ण भोजनों (तिल, दूध, गुड़, कच्चे एवं सड़े गले भोजनों) के सेवन से—शिर में रक्त एवं मांस का क्लेद—सड़न हो जाने पर फलतः तीनों दोषों का प्रकोप हो जाने पर—शिर के भीतर कृमि उत्पन्न हो जाते हैं (चरक के शब्दों में किसी पाप का उदय होने पर यह बीभत्स दशा होती है) और वे शिर के भीतर रक्त का पान करते २ भीषण वेदना जिनसे चेतना का विभ्रंश—क्षय होता है उत्पन्न करते हैं, साथ २ ज्वर, काम एवं बलहानि, शिर के भीतर रूक्षता, शोथ, बिंधने की सी, छेदन—कटने की सी, जलने तथा फटने की सी वेदना होती है और नाक एवं मुख से दुर्गन्ध आती है—दुर्गन्ध युक्त स्राव नासा से होता है, तालु एवं शिर भर के कपालों में कण्डू होती है, मुख सूखता रहता है, नेत्र मिचते हैं (वेदना के मारे), लाल—रक्त मिश्रित एवं स्वच्छ सींढ़ बहने लगता है और कानों में नाद होता है॥ १-१४॥

८—शिरः कम्प का लक्षण—

वातोल्बणा शिरःकम्पं तत्संज्ञं कुर्वते मलाः॥१५॥

व्याख्या—वात प्रधान सब दोष—शिर में कम्पन उत्पन्न करते हैं उसका नाम "शिरःकम्प" है।

वक्तव्य—चरक सू. अ. २० में वेपथुश्च अर्थात् कम्पन को ८० वातज रोगों में गिना है। और सु. नि. अ. १ में कम्प को स्नायु प्राप्त वायु का लक्षण माना है देखिये श्लो०। २७। १५॥

९—शंखक रोग का वर्णन—

पित्तप्रधानैर्वाताद्यैः शङ्खे शोफः सशोणितैः।
तीव्रदाहरुजारागप्रलापज्वरतृड्भ्रमाः॥ १६॥
तिक्तास्यः पीतवदनः क्षिप्रकारी स शङ्खकः।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिध्यत्यप्याशु साधितः॥ १७॥

व्याख्या—पित्त प्रधान वात, कफ एवं रक्त के प्रकोप—विकृति से—शंख (पुटपुटी) पर शोथ उत्पन्न हो जाता है और साथ-साथ अत्यन्त भीषण—दाह, वेदना, लालिमा, प्रलाप, ज्वर, तृषा तथा भ्रम होते हैं, मुख में तिक्तता, मुख पर पीलापन होता है तथा यह रोग शीघ्र मारक होता है। प्रायः रोगी की तीन दिन में मृत्यु हो जाती है और शीघ्र चिकित्सा करने से यह रोग शान्त भी हो जाता है।

वक्तव्य—शंख प्राण के आयतन हैं अतः वहाँ विकृति होने से मृत्यु हो सकती है—च. सू. अ. २९—

दशैवाऽऽयतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥ ३॥

अर्थात्—१-२—शंख, ३—हृदय, ४—वस्ति, ५—शिर, ६—कण्ठ, ७—रक्त, ८—शुक्र, ९—ओजस् तथा १०—गुद। १६-१७॥

१०—सूर्यावर्त्त का वर्णन—

पित्तानुबद्धः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः।
रुजं सस्पन्दनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयाम्॥१८॥
आमध्याह्नं विवर्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषतः।
अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम्॥१९॥
सूर्यावर्तः स इत्युक्ता दश रोगाः शिरोगताः।

व्याख्या—पित्तानुबन्धी वायु—शंखों, नेत्रों, भौंवों तथा माथा में कम्पन—फरकन युक्त वेदना को उत्पन्न करता है यह वेदना सूर्योदय के समय उत्पन्न होती है मध्याह्न पर्यन्त बढ़ती है और उसके पश्चात् सायंकाल पर्यन्त घटती २ शान्त हो जाती है। यह—भूखे पेट विशेष रूप से होती है और कभी शीत तो कभी उष्ण आहार-विहार से सुख लाभ होता है। इस रोग का नाम "सूर्यावर्त्त" है। इस प्रकार शिर के १० रोगों का वर्णन कर दिया गया है॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. २५—में ११ रोग माने गये हैं यथा—

शिरोरुजति मर्त्यानां वातपित्तकफैः त्रिभिः।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिः तथा॥ ३॥
सूर्यावर्त्ताऽनन्तवाताऽर्धावभेदक शंखकैः।
एकादश प्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते॥ ४॥

अर्थात्—१—वात से, २—पित्त से, ३—कफ से, ४—त्रिदोष से, ५—रक्त से, ६—क्षय से, ७—क्रिमियों से, ८—सूर्यावर्त्त, ९—अनन्त वात, १०—अर्द्धावभेदक तथा ११—शंखक।

क्षयज शिरोरोग का वर्णन—

वसा बलासक्षतसम्भवानां शिरोगतानामिह संक्षयेण।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेत् उग्ररुजोऽतिमात्रम्॥१६॥

अर्थात्—शिरोगत वसा—मस्तिष्क मज्जा, स्नेहन, कफ तथा रक्त का क्षय हो जाने से क्षयज शिरोरोग हो जाता है यह अत्यन्त कष्टसाध्य एवं वेदनायुक्त होता है।

अनन्त वात का वर्णन—

दोषास्तु दुष्टाः त्रय एव मन्यां सम्पीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम्।
कुर्वन्ति साऽक्षिभ्रुवि शंखदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु।
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्॥१४॥
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्।

अर्थात्—तीनों दोष कुपित होकर—मन्याओं का पीड़न करके घाटाओं (घाटी) में तीव्र वेदना करते हैं और वह वेदना—नेत्रों, भौवों तथा शंखों में तरङ्ग के समान आकर ठहरती है, गण्ड के पास कम्पन होता है, हनु जकड़ जाते हैं तथा नेत्र रोग हो जाते हैं। इस रोग का नाम "अनन्त वात" है। प्रतीत होता है श्री वाग्भट ने अष्टांगसंग्रहकार के अनुसार इन दोनों को वातज शिरोरोग में मान लिया है लक्षणों पर ध्यान दीजिये॥ १८-१९॥

शिरः कपाल के रोग-

शिरस्येव च वक्ष्यन्ते कपाले व्याधयो नव॥२०॥

व्याख्या—शिरः कपालों (के बाहिरी भाग) में ९ रोग होते हैं॥ २०॥

१—उपशीर्षक का वर्णन—

कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्याऽपि जायते।
सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम्॥२१॥

व्याख्या—गर्भावस्था में ही—यदि कपाल के भीतर वायु की विकृति हो जाती है तो शिर फूल जाता है, उसमें न वर्ण की विकृति होती है और न किसी प्रकार की वेदना।

वक्तव्य—यह विकृति—जन्म के साथ ही उत्पन्न होने लगती हैं देखते २ शिर बहुत बड़ा हो जाता है मुख, नासा एवं नेत्र बहुत ही छोटे प्रतीत होने लगते हैं, यदि इस विकृति में—४-६ मास व्यतीत हो जाते हैं तो शिर पुनः छोटा होने लगता है और धीरे २ स्वभाविक रूप में आ जाता है। परन्तु अधिकतर मृत्यु हो जाती है। आज कल के लेखक इसे "शीर्षाम्बु" लिखते हैं॥ २१॥

२-३-४—पिटिका, अर्बुद एवं विद्रधि—

यथादोषोदयं ब्रूयात् पिटकाऽर्बुदविद्रधीन्।

व्याख्या—वातादि दोषों के अनुसार—शिर पर भी पिटिका, अर्बुद अथवा विद्रधि उत्पन्न हो जाते हैं। वे वैसे ही होते हैं जैसे शरीर पर अन्यत्र होते हैं।

५—अरुंषिका का वर्णन—

कपाले क्लेदबहुलाः पित्तासृक्श्लेष्मजन्तुभिः॥२२॥
कंगुसिद्धार्थकनिभाः पिटिकाः स्युररूंषिकाः।

व्याख्या—शिर पर जो—पित्त, रक्त, कफ एवं कृमियों की विकृति से काँगुनी धान्य एवं सरसों जैसी छोटी २ और बहुत क्लेद—सड़न वाली पिटिका हो जाती हैं उनका नाम "अरुंषिका" है।

वक्तव्य—ये पिटिका एक साथ असंख्य होती हैं और इनमें से पीला २ एवं दुर्गन्ध युक्त क्लेद—स्राव निकल कर वहीं जमता जाता है और चप्पड़ सा होता जाता है। यह रोग प्रायः पीछा नहीं छोड़ता बचपन से यौवन समाप्ति पर्यन्त और कभी बुढ़ापा पर्यन्त पीछा नहीं छोड़ता, जहाँ अधिक उग्र होता है वहाँ के केश भी उखड़ जाते हैं। परन्तु दाढ़ी में की अरुंषिका प्रायः शीघ्र शान्त हो जाती हैं॥२२॥

६—दारुणक का वर्णन—

कण्डूकेशच्युतिस्तापरौक्ष्यकृत् स्फुटनं त्वचः॥२३॥
सुसूक्ष्मं कफवाताभ्यां विद्याद्दारुणकं तु तत्।

व्याख्या—कपाल पर—कफ एवं वायु की विकृति से शिर की त्वचा का अत्यन्त सूक्ष्म स्फुटन हो जाता है और उससे कण्डू होती है, केश गिरने एवं छोटे होने लगते हैं, केश भूमि शून्य—स्पर्श ज्ञान शून्य तथा रूक्ष हो जाती है। इसका नाम "दारुणक" है।

वक्तव्य—कंघी करते समय श्वेत २ पत्ती २ सी झरती

है इसको पञ्जाब में कर क्षीर वाराणसी के आसपास रूसी कहते हैं ॥२३॥

७—इन्द्रलुप्त का वर्णन—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ॥२४॥
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ।
रोमकूपान् रुणद्ध्यस्य तेनाऽन्येषामसम्भवः ॥२५॥
तदिन्द्रलुप्तं रुज्यां च प्राहुश्चाचेति चापरे ।

व्याख्या—रोम कूपगत—केशमूल गत पित्त वायु के साथ २ विकृत होकर—रोमां—केशों को गिरा देता है—मूलतः उखाड़ देता है तदनन्तर - रक्त युक्त कफ विकृत होकर रोमकूपों को अवरुद्ध कर देता है फलतः अन्य रोमों की उत्पत्ति नहीं होती । इस विकार का नाम इन्द्रलुप्त, रूह्या, बरुजा, रुज्या, रुह्म्फा एवं चाच है ।

वक्तव्य—इस रोग में प्रायः किसी २ स्थान के सब केश उखड़ जाते हैं—चट्टे पड़ जाते हैं और उचित उपचार से २-४ मास पर पुनः उग आते हैं । यह विकार कभी २ दाढ़ी एवं मूछों में भी होता है ॥ २४-२५ ॥

८—खलति का वर्णन—

खलतेऽपि जन्मैवं सदनं तत्र तु क्रमात् ॥२६॥
स वातादग्निदग्धाभा पित्तात्स्विन्नसिरावृता ।
कफाद्घनत्वग्वर्णाश्च यथास्वं निर्दिशेत् त्वचि ॥२७॥
दोषैः सर्वाकृतिः सर्वैरसाध्या सा नखप्रभा ।
दग्धाग्निनेव निर्लोमा सदाहा या च जायते ॥२८॥

व्याख्या—खलति नामक विकार की उत्पत्ति भी इन्द्र लुप्त के समान होती है परन्तु उसमें धीरेधीरे केश उखड़ते हैं । वह खलति—वायु की अधिकता से यदि उत्पन्न होती है तो शिर की त्वचा अग्नि द्वारा जली सी होती है । पित्त की अधिकता से यदि उत्पन्न होती है तो स्वेद युक्त तथा सिराओं से व्याप्त होती है । यदि कफ से उत्पन्न होती है तो वहाँ की त्वचा कुछ मोटी हो जाती है और उक्त तीनों में त्वचा के वर्ण वातादि दोषों के अनुसार होते हैं । वातादि सब दोषों की विकृति से जो खलति होती है वह असाध्य होती है - वहाँ पुनः रोम—केश नहीं उगते और उस स्थान की त्वचा का वर्ण नख जैसा लाल होता है तथा वह अग्निदग्ध स्थान के समान लोम रहित होती है और जो दाहयुक्त होती है वह भी असाध्य होती है ।

वक्तव्य—इस विकार का नाम खलति, खलित्य और हिन्दी में "गञ्ज" है इसमें माथा की ओर से अथवा तालु पर से केश उखड़ना प्रारम्भ होता है । यह प्रायः धनिकों एवं विद्वानों के शिर में होता है ॥२६-२८॥

९—पलित का वर्णन—

शोकश्रमक्रोधकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
केशान् सदोषः पचति पलितं सम्भवत्यतः ॥२९॥
तद्वातात्स्फुटितं श्यावं खरं रूक्षं जलप्रभम् ।
पित्तात्सदाहं पीताभं कफात्स्निग्धं विवृद्धिमत् ॥३०॥
स्थूलं सुशुक्लं सर्वैस्तु विद्याद्व्यामिश्रलक्षणम् ।
शिरोरुजोद्भवं चान्यद्विवर्णं स्पर्शनासहम् ॥३१॥

व्याख्या—शोक, परिश्रम अथवा क्रोध के प्रभाव से शरीर की ऊष्मा शिर में जाकर—केशों को पका देती है—श्वेत कर देती है । इस विकार का नाम "पलित" है । इसमें दोष संसर्गानुसार कुछ भेद होता है यथा—वायु के संसर्ग से—केश, दाढ़ी, मोच्छ एवं शरीर के रोम—टूटे एवं फटे, साँवले, खरदरे, रूक्ष एवं शुद्ध जल के समान वर्ण वाले होते हैं, पित्त के संसर्ग से—दाह युक्त एवं पीताभ—पीले से एवं चमकीले होते हैं, कफ के संसर्ग से स्निग्ध एवं वृद्धि युक्त होते हैं, त्रिदोष से मोटे एवं कुछ श्वेत होते हैं और दो दो दोषों के संसर्ग से मिश्रित लक्षणों वाले होते हैं । और दूसरा पलित शिरो रोग से होता है वह विविध वर्ण वाला तथा स्पर्श का सहन नहीं करता ।

वक्तव्य—इस विकार में बुढ़ापा के पूर्व ही बाल—श्वेत होने लगते हैं कभी कभी १६-१८ वर्ष की वयस् में ही बाल पकना प्रारम्भ हो जाता है । पलित का प्रभाव शिर पर ही नहीं समस्त शरीर के रोमों पर पड़ता है ॥२९-३१॥

साध्याऽसाध्य विचार—

असाध्या सन्निपातेन खलतिः पलितानि च ।
शरीरपरिणामोत्थान्यपेक्षन्ते रसायनम् ॥३२॥

व्याख्या—त्रिदोष जनित खलति नामक रोग तथा पलित नामक रोग असाध्य होते हैं । और शरीर के परिणाम से उत्पन्न पलित रोग रसायन विधि का सेवन करने से रुक जाता है ।

वक्तव्य—यदि शरीर में अकाल—यौवन काल से बुढ़ापा आने से बाल पकने लगते हैं तो रसायनों का सेवन करने से बाल पकना रुक जा सकता है । और देखा जाता है कि—किसी २ कुल में ७०-७५ वर्ष की वयस् पर्यन्त बाल काले बने रहते हैं और किसी २ कुल में १६-१८ वर्ष से ही बाल पकने लगते हैं । और खलति भी वंशपरम्परानुसार देखी जाती है यद्यपि कहीं २ अपवाद भी होता है और नारियों में खलति प्रायः नहीं ही होती और उन पर वंश का प्रभाव भी नहीं होता । नारियों में पलित भी नरों की अपेक्षा विलम्ब से प्रारम्भ होता है । खलति प्रायः बुद्धिमानों एवं धनवानों में अधिक देखी जाती है सूक्ति है— खल्वाटो निर्धनः क्वचित्—अर्थात् खल्वाट अर्थात् खलति वाला कहीं २ निर्धन देखा जाता है वह प्रायः धनवान् होता है । हमारे विचार से उक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये यथा—

सन्निपात से उत्पन्न खलति असाध्य होती है और शरीर के परिणाम (परिपाक अर्थात् बुढ़ापा) से उत्पन्न पलित भी असाध्य होता है और शेष खलति एवं पलित रसायन सेवन से शान्त हो सकते हैं एवं रुक सकते हैं। उक्त व्याख्या हमने सर्वाङ्गसुन्दरानुसार की है ॥३२॥

———

चतुर्विंशोऽध्यायः।

अथातः शिरोरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब शिरोरोगों की चिकित्सा लिखेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य-शिरोरोगों की चिकित्सा—च. चि. अ. २६ में, सु. चि. अ २० तथा २५ में और उ. अ. २५ में तथा अ. सं. उ. अ. २८ में देखिये।

वातजशिरोरोग चिकित्सा—

शिरोऽभितापेऽनिलजे वातव्याधिविधिं चरेत्।
घृताभ्यक्तशिरा रात्रौ पिबेदुष्णपयोऽनुपः॥१॥
माषान् मुद्गान् कुलत्थान्वा तद्वत्खादेद्घृतान्वितान्।
तैलं तिलानां कल्कं वा क्षीरेण सह पाययेत्॥२॥
पिण्डोपनाहस्वेदाश्च मांसधान्यकृता हिताः।
वातघ्नदशमूलादिसिद्धक्षीरेण सेचनम्॥ ३॥
स्निग्धं नस्यं तथा धूमः शिरःश्रवणतर्पणम्।
वरणादौ गणे क्षुण्णे क्षीरमर्धोदकं पचेत्॥ ४॥
क्षीरावशिष्टं तच्छीतं मथित्वा सारमाहरेत्।
ततो मधुरकैः सिद्धं नस्यं तत्पूजितं हविः ५॥
वर्गेऽत्र पक्वं क्षीरे च पेयं सर्पिः सशर्करम्।
कार्पासमज्जा त्वङ् मुस्ता सुमनःकोरकाणि च॥६॥
नस्यमुष्णाम्बुपिष्टानि सर्वमूर्धरुजापहम्।
शर्कराकुंकुमशृतं घृतं पित्तासृगन्वये॥ ७॥
प्रलेपः सघृतैः कुष्ठकुटिलोत्पलचन्दनैः।
वातोद्रेकभयाद्रक्तं न चास्मिन्नवसेचयेत्॥८॥
इत्यशान्तौ चले दाहः कफे चोष्णं यथोदितम्।

व्याख्या—वातजनित शिरोरोग में सामान्य रूप से वात व्याधि (चि० अ० २१) के समान चिकित्सा करे। विशेषतः शिरपर घृत का अभ्यंग करके, रात्रि में घृत पीवे और अनुपान में उष्ण दूध पीवे। इसी प्रकार—उरद अथवा मूँग अथवा कुलथी को उबालकर और घृत डालकर खावे और ऊपर से उष्ण दूध पीवे। अथवा तिल का तैल अथवा तिलों का कल्क (तिलकुट-कुल्लर) पी, खाकर ऊपर से दूध पीवे। मांस के एवं उरद गेहूँ आदि धान्यों के पिण्ड स्वेदन-उपनाह स्वेदन भी लाभप्रद होते हैं। वात नाशक एरण्ड मूल आदि तथा दशमूल के योग से सिद्ध दूध का शिर पर सेचन करे। सूअर आदि की वसा की नस्य देवे और स्निग्ध धूम का पान करे तथा शिरोवस्ति आदि से शिर का तर्पण करे तथा कान में स्नेह डालकर तर्पण करे। वरुणादि गण (सू. अ० १५ के द्रव्यों को कूट कर आठगुना दूध तथा आठगुना जल डालकर पकावे जब दुग्धमात्र रह जाय तब शीतल करके और मथकर सार (माखन) निकाल लेवे और उसमें मधुर द्रव्यों का कल्क एवं क्वाथ मिलाकर घृत सिद्ध करे और उसकी नस्य देवे। वरुणादि गण के कल्क एवं क्वाथ तथा दूध में सिद्ध घृत खण्ड मिलाकर पीना चाहिये।

नस्य योग—कपास के बीजों की गरी तथा मल की छाल, मोथा तथा चमेली की कलियों को उष्ण जल में पीसकर नस्य लेने से सब प्रकार के शिरोरोग शान्त हो जाते हैं। यदि वातज शिरोरोग में—पित्त एवं रक्त का संसर्ग हो तो खण्ड एवं केशर के योग से पक्व घृत की नस्य से लाभ होता है। लेप—कूठ, तगर, कमल तथा श्वेत चन्दन को पीसकर और घृत में फेंट कर लेप करने से लाभ होता है। इस रोग में वायु की वृद्धि के भय से रक्त स्रावण न करे।

इन सब उपचारों से भी यदि शान्ति न हो तो वायु की अधिकता में दाह कर्म करे और कफ की अधिकता में विधिपूर्वक उष्ण उपचार करे॥

वक्तव्य—उक्त उपचारों के अतिरिक्त 'वस्तिकर्म चाचरेत्'—वातज शिरोरोग में वस्तिकर्म भी करे। अ.सं.उ.अ. ८।

अर्द्धावभेदक चिकित्सा—

अर्धावभेदकेऽप्येषां यथादोषान्वयात् क्रिया॥६॥
शिरीषबीजापामार्ग-मूलं नस्यं बिडान्वितम्।
स्थिररसो वा लेपे तु प्रपुन्नाटोऽम्लकल्कितः॥१०॥

व्याख्या—अर्द्धावभेदक नामक शिरोरोग में भी—वातादि दोषों के संसर्ग अनुसार वातज शिरोरोग के समान चिकित्सा करे। और विशेषतः—सिरस के बीज, अपामार्ग की जड़ तथा विड लवण (नरसार-नौसादर) को पीस कर नस्य देवे। अथवा शालपर्णी के स्वरस की नस्य देवे और चक्रमर्द (चकवँड़-पनवाड़) के पंचांग को कांजी आदि किसी अम्ल द्रवमें पीसकर लेप करे॥

वक्तव्य—असाम्यति दोषानुबन्धमवेक्ष्य प्रति कुर्वीत—अर्थात्—इतना सब करने पर भी यदि शान्त न हो तो दोषों के संसर्ग का विचार करके उचित उपचार करे। अ. सं. उ. अ. २८। ६-१०॥

सूर्यावर्त्त चिकित्सा—

सूर्यावर्ते तु तस्मिंस्तु सिरयाऽपहरेदसृक्।

व्याख्या—सूर्यावर्त्त नामक रोग में—वात जनित शिरोरोग के समान चिकित्सा करे। विशेषतः सिरावेध द्वारा रक्त निकाल देवे।

वक्तव्य—सुश्रुत उ. अ. २६—

सूर्यावर्त्ते विधातव्यं नस्यकर्माऽऽदि भेषजम्। ३०।

भोजनं जाङ्गलप्रायं क्षीराज्ञविकृतिर्घृतम्:

तथाऽर्धभेदके व्याधौ प्राप्तमन्यच्च यद् भवेत्। ३१।

शिरीषमूलकफलैः अवपीडोऽनयोर्हितः।

वंशमूलककर्पूरैः अवपीडं प्रयोजयेत्। ३२।

अवपीडो हितश्चात्र वचामागधिकायुतः।

मधुकेनाऽवपीडो वा मधुना सह संयुतः। ३३।

मनःशिलाऽवपीडो वा मधुना चन्दनेन वा।

तेषामन्ते हितं नस्यं सर्पिर्मधुरसान्वितम्। ३४।

सारिवोत्पलकुष्ठानि मधुकं चाऽम्लपेषितम्।

सर्पिस्तैलप्रदो लेपो द्वयोरपि सुखावहः। ३५।

अर्थात्—सूर्यावर्त्त में नस्य कर्म आदि चिकित्सा करे और जङ्गल देशीय प्राणियों का मांस और दूध की खीर एवं रबड़ी, मलाई तथा घृत का भोजन करे (रात्रि में दूध में भिगोई गई जिलेबी प्रातः काल उठते ही खावे)। अर्द्धावभेदक में भी सूर्यावर्त्त के समान चिकित्सा करे और उसके अतिरिक्त दोषानुसार अन्यान्य आवश्यक उपचार करे दोनों में—सिरस के बीज तथा मूली के बीजों को जल में पीस कर तथा निचोड़ कर नस्य देवे। और इसी प्रकार बाँस के बीज, मूली के बीज तथा कपूर की नस्य देवे। अथवा—बालवच तथा पीपल की नस्य देवे अथवा इसी प्रकार मुलेठी एवं मधु की नस्य देवे अथवा मैनसिल को जल में पीस कर अथवा चन्दन को मधु में पीस कर नस्य देवे और नस्य के अनन्तर—घृत एवं रासना की नस्य देवे। और दोनों में—सारिवा, कमल, सुगन्धी कूठ एवं मुलेठी को काञ्जी आदि किसी अम्लद्रव में पीस कर और घृत एवं तैल में फेंट कर माथा पर लेप करे।

अनन्तवात चिकित्सा—

अनन्तवाते कर्तव्यः सूर्यावर्त्तहरो विधिः। ३६।

सिरा व्यधश्च कर्त्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये।

आहारश्च विधातव्यो वातपित्तविनाशनः। ३७।

अर्थात्—अनन्त वात में सूर्यावर्त्त नाशक चिकित्सा करे और सिरा वेध करके रक्त निकाले तथा वातपित्त नाशक आहार की व्यवस्था करे।

क्षयज शिरोरोग चिकित्सा—

क्षयजे क्षयमासाद्य कर्त्तव्यो बृंहणो विधिः।

पाने नस्ये च सर्पिः स्याद् वातघ्नमधुरैः शृतम्। १५।

क्षयकासापहं चाऽत्र सर्पिः पथ्यतमं विदुः।

अर्थात्—क्षय जनित—मस्तिष्क की दुर्बलता से उत्पन्न शिरो वेदना में बृंहण—पुष्टिकारक उपचार करे और वात नाशक द्रव्यों के योग से परिपक्व घृत का प्रयोग पान में एवं नस्य में करे और क्षयज कास नाशक घृत (देखिये चिकित्सा अ० ३) इस रोग में बहुत लाभ करता है।

पित्तज, रक्तज एवं शंखक की चिकित्सा—

शिरोऽभिघाते पित्तोत्थे स्निग्धस्य व्यधयेत्सिराम्॥११॥

शीताः शिरोमुखालेप-सेकशोधनबस्तयः।

जीवनीयशृते क्षीरसर्पिषी पाननस्ययोः॥१२॥

कर्तव्यं रक्तजेऽप्येतत् प्रत्याख्याय च शङ्खके।

व्याख्या—पित्तजनित शिरोरोग में स्नेहन करके सिरावेध करे और शीतल द्रव्यों द्वारा शिर एवं मुखमण्डल पर लेप, एवं सेचन और विरेचन तथा बस्तियों का प्रयोग करे और जीवनीय गण (सू०अ० १५) के द्रव्यों के योग से सिद्ध दूध एवं घृत का प्रयोग पान में एवं नस्य में करे। रक्त जनित शिरो रोग में भी यही चिकित्सा करे और शंखक में प्रत्याख्यान—नकार करके यही चिकित्सा करे।

वक्तव्य—विसर्पवच्च, विशेषतस्तु कृष्णतिलशतावरी-नीलोत्पलदूर्वापुनर्नवैः लेपः। अ. सं. उ. अ. २८—

अर्थात्—शंखक रोग में विसर्प के समान भी चिकित्सा करके देखे। विशेषतः—काले तिल, सतावर, नील कमल दूब तथा पुनर्नवा को जल में पीस कर लेप करे॥११-१२॥

कफज एवं त्रिदोषज शिरोरोग चिकित्सा—

श्लेष्माभितापे जीर्णाज्यस्नेहितः कटुकैर्वमेत्॥१३॥

स्वेदप्रलेपनस्याद्या रूक्षतीक्ष्णोष्णभेषजैः।

शाम्यन्ते चोपवासोऽत्र निचये मिश्रमाचरेत्॥ १४॥

व्याख्या—कफ जनित शिरो रोग में—पुराने घृत से स्नेहन करने के पश्चात् पिप्पली आदि कटु द्रव्यों से वमन और रूक्ष, तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों से स्वेदन, लेपन एवं नस्य आदि (धूमवर्त्ति, कवल एवं प्रधमन नस्य) का प्रयोग करे और प्रारम्भ में उपवास करने से भी लाभ होता है। और त्रिदोष जनित शिरो रोग में उक्त सब चिकित्सा दोषानुसार मिला जुला कर करनी चाहिये।

वक्तव्य—कट्फलचूर्णस्य मुहुर्मुहुः आघ्राणम्—अर्थात् इसमें कटफल—कायफल की छाल का चूर्ण बार २ सूंघना। स्वेदः पिण्डेन रूक्षेण, शिग्रुनिम्बैरण्डक्वाथेन वा नाडीस्वेदेन वा देवकाष्ठकुष्ठशार्ङ्गेष्ठासरलरोहिषैः सलवणैः सुखोष्णैः आलेपः······विडंग तैलं नस्यं सार्षपं वा, एभिरेव धूमवर्तिः शिरोविरेचनान्ते कणनादावक्त स्नेहनस्यम्। अ. स. उ. अ, २८—अर्थात् रूक्ष द्रव्यों द्वारा पिण्डस्वेद

करे अथवा सहजन की छाल, निम्ब की छाल तथा एरण्ड मूल की छाल के क्वाथ द्वारा नाड़ीस्वेदन करे। देवदारु, कूठ, शार्ङ्गेष्ठा, साल (चीढ़) काष्ठ तथा सुगन्धी तृण एवं लवण को जल में पीस कर और कोसा करके लेप करे, विडंग तैल अथवा सरसों के तेल की नस्य देवे तथा देवदारु आदि द्रव्यों की अथवा विडंग एवं सरसों की धूमवर्त्ति का प्रयोग करे और शिरोविरेचन के अन्त में कर्णनाद नामक रोग में कहे गये तैल की नस्य देवे ॥१३-१४॥

क्रमिज शिरोरोग चिकित्सा—

क्रमिजे शोणितं नस्यं तेन मूर्छन्ति जन्तवः।
मत्ताः शोणितगन्धेन निर्यान्ति घ्राणवक्त्रयोः ॥१५॥
सुतीक्ष्णनस्यधूमाभ्यां कुर्यान्निर्हरणं ततः।
विडङ्गस्वर्जिकादन्तीहिंगुगोमूत्रसाधितम् ॥१६॥
कटुनिम्बेंगुदीपीलुतैलं नस्यं पृथक् पृथक्।
अजामूत्रद्रुतं नस्यं क्रमिजित् क्रमिजित्परम् ॥१७॥
पूतिमत्स्ययुतैः कुर्याद्धूमं नावनभेषजैः।
क्रमिभिः पीतरक्तत्वाद्रक्तमत्र न निर्हरेत् ॥१८॥

व्याख्या—क्रमिजनित शिरोरोग में—रक्त की नस्य देवे। इस प्रकार रक्त की गन्ध से मदमत्त होकर क्रमि मूर्छित हो जाते हैं और कट्फल आदि की तीक्ष्ण नस्य से अथवा मरिच आदि के तीक्ष्ण धूम के प्रयोग से नासामार्ग से एवं नासा के पिछले मार्ग द्वारा मुख से होकर निकल जाते हैं इस प्रकार एक दो दिन में क्रमि निकल जाने के पश्चात्—विडंग, सज्जीखार, दन्तीमूल तथा हींग का कल्क १ भाग, तैल ४ भाग तथा गोमूत्र १६ भाग मिलाकर सिद्ध किये गये तैल की नस्य देता रहे अथवा सरसों निम्ब इंगुदी (हिंगोट) अथवा पीलु के तेल की पृथक् २ नस्य देता रहे। अथवा हींग (अथवा विडंग) को अजामूत्र में घोलकर नस्य देता रहे। और सड़ी हुई मछली तथा विडंग आदि शिरोविरेचन गण (सू. अ. १५) मिलाकर धूम देवे। इस प्रकार क्रमि निकल जाते हैं और पुनः उत्पन्न भी नहीं होते। इस रोग में रक्त मोक्षण न करे क्योंकि शिर का रक्त क्रमियों द्वारा पहिले ही पिया जा चुका होता है ॥

वक्तव्य—नतु जातु रुधिरमवसेचयेत्, जन्तुभिः पीतशोणिते हि शिरसि पुनः अस्राऽवसेकात् अकाण्डे मृत्युः स्यात्। क्रमिचिकित्सितं च ईक्षेत। अ. सं. उ. अ. २८—

अर्थात्—क्रमिजनित शिरोरोग में कदापि रक्त स्रावण न करे क्योंकि क्रमियों द्वारा शिर का रक्त पिया गया होने पर पुनः रक्तस्रावण करने से अकाण्ड में ही मृत्यु हो सकती है और क्रमि चिकित्सा (चि. अ. २०) को भी देखकर उचित व्यवस्था करे ॥१५-१८॥

शिरःकम्प चिकित्सा—

वाताभिताप विहितः कम्पे दाहादिना क्रमः।

व्याख्या—शिरःकम्प नामक रोग में वातजनित शिरोरोग के समान चिकित्सा करे॥

वक्तव्य – शिरःकम्पमक्षीणस्याऽन्यव्याध्यनुपद्रुतस्य दाहवर्जं मारुतविधानेनोपक्रमेत्। अ. सं. उ. अ. २८—

अर्थात्—शिरः कम्प का रोगी यदि क्षीण न हो तथा अन्य किसी रोग से पीड़ित न हो तो दाह क्रिया के अतिरिक्त वातनाशक सब उपाय करे। वृद्ध का शिरः कम्प अथवा हस्तादि कम्प असाध्य होता है।

उपशीर्षक चिकित्सा—

नवे जन्मोत्तरं जाते योजयेदुपशीर्षके ॥१९॥
वातव्याधिक्रियां, पक्वे कर्म विद्रधिचोदितम्।

व्याख्या—जन्म के पश्चात् उत्पन्न तथा नूतन उपशीर्षक रोग में वातव्याधि के समान चिकित्सा करे और पक जाने पर विद्रधि के समान चिकित्सा करे॥

वक्तव्य—उपशीर्षके जन्मोत्तरकालजातोत्थिते वातव्याधिविहितं स्नेहपानं नावनाऽभ्यंजनेषु उपयोजयेत्, अभ्यक्तं च स्वेदयित्वा उपनाहयेत् यथा विदाहो न भवति, विदाहे विद्रधिवत् कर्म कुर्यात्। अ. सं. उ. अ. २८—

अर्थात्—जन्म के पश्चात् उत्पन्न उपशीर्षक रोग म—वात व्याधि चिकित्सा में कहे गये किसी स्नेह का पीने में नस्य में तथा अभ्यंग में प्रयोग करे और फिर स्वेदन करके इस प्रकार के उपनाह करे—कसकर बन्धन करे या पञ्चवल्कल आदि के कल्क का लेप करे जिससे पाक का प्रारम्भ न हो तथापि यदि पक जाय तो विद्रधि के समान उपचार करे। आजकल के चिकित्सक इस रोग को शीर्षाम्बु कहते हैं।

विद्रधि, पिटिका तथा अर्बुद की चिकित्सा—

आमपक्वे यथायोग्यं विद्रधौ पिटिकार्बुदे ॥२०॥

व्याख्या—आम एवं पक्व विद्रधि एवं पिटिकाओं में तथा अर्बुद में यथायोग्य चिकित्सा करे॥

वक्तव्य – व्रणीभूतासु पिटिकासु निम्ब निशा मधुक धात्रीफलैः विपक्वं तैलं शोधनरोपणम्। विद्रधिषु एभिरेव च सिद्धं सर्पिः नस्यम्। रूढे तु विद्रधौ यदि त्वक् सुप्ता इव भवति ततो वामयेत्, उप स्निग्धं च विरेचयेत्। अ. सं. उ. अ. २८—अर्थात्—यदि पिटिका फूट कर व्रण रूप हो जायें तो—निम्ब की छाल हल्दी, मुलेठी तथा आमला के योग से सिद्ध तैल शोधन एवं रोपण के लिये लगावे। विद्रधि में निम्ब की छाल आदि से सिद्ध घृत की नस्य देवे। विद्रधि का रोपण हो जाने पर यदि त्वचा सुप्त सी—शून्य सी हो तो वमन करे और स्नेहन करके विरेचन करे।

अरुंषिका चिकित्सा—

अरुंषिका जलौकोभिर्हृतास्रा निम्बवारिणा।
सिक्ता प्रभूतलवणैर्लिम्पेदश्वशकृद्रसैः॥ २१॥
पटोलनिम्बपत्रैर्वा सहरिद्रैः सुकल्कितैः।
गोमूत्रजीर्णपिण्याक-कुक्कवाकुमलैरपि। २२॥
कपालभृष्टं कुष्ठं वा चूर्णितं तैलसंयुतम्।
रूंषिकालेपनं क्लेदकण्डूदाहार्तिनाशनम्॥२३॥
मालतीचित्रकाश्वघ्न-नक्तमालप्रसाधितम्।
वचारूंषिकयोस्तैलमभ्यङ्गः क्षुरघृष्टयोः॥२४॥
अशान्तौ शिरसः शुद्ध्यै यतेत वमनादिभिः।

व्याख्या—अरुंषिका में जोंक लगाकर रक्त निकाले, फिर निम्ब के क्वाथ का सेचन करे और फिर पर्याप्त लवण मिला कर, घोड़ा की लीद के रस का लेप करे। अथवा—परवल के पत्र, निम्ब के पत्र तथा हलदी के कल्क का लेप करे अथवा गोमूत्र, में पुरानी खली तथा मुरगा की बीठ को पीस कर लेप करे। और सुगन्धी कूट को कपाल में भून कर तथा पीस कर और तैल में मिला कर अरुंषिका पर लेप करे इससे कण्डू, क्लेद, दाह तथा वेदना शान्त हो जाती है। चाच अर्थात् इन्द्र लुप्त तथा अरुंषिका को छुरा—उस्तरा द्वारा रगड़ कर—चमेली के पत्र एवं पुष्प, चित्ता, कनेर के पत्र तथा करञ्ज के पत्र के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करे। इन सब उपायों से भी यदि शान्ति न हो तो—नस्य आदि से शिर की शुद्धि का तथा वमन विरेचन से शरीर की शुद्धि का प्रयत्न करे॥२१-२४॥

दारुण रोग चिकित्सा—

विध्येच्छिरां दारुणके लालाख्यां शोलयेच्छुजाम्॥२५॥
नावनं मूर्ध्नि बस्तिं च लेपयेच्च समाक्षिकैः।
प्रियालबीजमधुक-कुष्ठमाषैः ससर्षपैः॥ २६॥
लाक्षाशम्याकपत्रैडगजधात्रीफलैस्तथा।
कोद्रवतृणक्षारवारिप्रक्षालनं हितम्॥२७॥

व्याख्या—दारुणक नामक विकार में माथा की सिरा का वेध करके रक्त स्रावण करे और सदा शिर की शुद्धि की ओर ध्यान देता रहे तथा स्नेहन (नस्य तथा शिरो बस्ति का सेवन करे और चिरौञ्जी, मुलेठी, कूठ, उरद तथा सरसों के कल्क में मधु मिला कर लेप करे अथवा—लाख, अमलतास के पत्र, पनवाड़ के बीज तथा आमलों का कल्क मधु में मिला कर लेप करे और कोदों के घास के क्षार के जल का सेचन करे॥२५॥

इन्द्रलुप्त चिकित्सा—

इन्द्रलुप्ते यथाऽऽसन्नं सिरां विद्ध्वा प्रलेपयेत्।
प्रच्छाय गाढं कासीस-मनोह्वातुत्थकोषणैः॥२८॥
वन्यामरतरुभ्यां वा गुञ्जामूलफलैस्तथा।
तथा लाङ्गलिकामूलैः करवीररसेन वा॥ ९॥
सक्षौद्रक्षुद्रवार्ताकस्वरसेन रसेन वा।
धत्तूरकस्य पत्राणां भल्लातकरसेन वा॥३०॥
अथवा माक्षिकहविस्तिलपुष्पत्रिकण्टकैः।
तैलाक्ता हस्तिदन्तस्य मषी चाचौषधं परम्॥ ३१॥

व्याख्या—इन्द्र लुप्त नामक विकार में इन्द्र लुप्त के समीप की सिरा का वेध करके रक्त स्रावण करे और फिर पच्छ लगा कर कासीस, मैनसिल, तूतिया तथा मरिच का लेप करे। अथवा सुगन्धी मोथा (केवटी मोथा) तथा देवदारु का लेप करे अथवा गुञ्जा के मूल एवं फल को पीस कर लेप करे अथवा कलिहारी को भैंस के दूध में पीस कर लेप करे अथवा कनेर के पत्तों के रस का लेप करे अथवा कण्टकारी के रस में मधु मिला कर लेप करे अथवा धत्तूरा के पत्तों के रस का लेप करे अथवा भिलावा के रस का लेप करे अथवा मधु, घृत, तिल के पुष्प एवं गोखरू का लेप करे। हाथी के दन्त की मसी (काली भस्म या कोला) को तैल में मिला कर लेप करना भी चाच—इन्द्र लुप्त की उत्तम औषध है॥

वक्तव्य—खलतिविहितानि च आचरेत्, सलिलसेकं आ रोमोद्गमात् परिहरेत्। अर्थात् इन्द्र लुप्त में खलति के समान चिकित्सा करे और जब तक रोम न उगें तब तक जल का सेचन—स्पर्श न करे। अ. सं. उ. अ. २८।२८-३१।

पलित चिकित्सा—

शुक्लरोमोद्गमे तद्वन्मषी मेषविषाणजा।

व्याख्या—जब श्वेत केश उत्पन्न होने लगें तब—भेड़ा के सींग की मसी को तैल में मिला कर लेप करना प्रारम्भ कर देवे।

इन्द्र लुप्त में जलस्पर्श का निषेध—

वर्जयेद्वारिणा सेकं यावद्रोमसमुद्भवः॥३२॥

व्याख्या—जब तक रोमों की उत्पत्ति हो तब तक इन्द्र लुप्त पर जल का स्पर्श न करे। ३२।

खलति एवं पलित की चिकित्सा—

खलतौ पलितं वल्यां हरिल्लोम्नि च शोधितम्।
नस्यवक्त्रशिरोऽभ्यङ्गप्रदेहैः समुपाचरेत्॥ ३३॥
सिद्धं तैलं बृहत्याद्यैर्जीवनीयैश्च नावनम्।
मासं वा निम्बजं तैलं क्षीरभुङ्नावयेद्यतिः॥३४॥

व्याख्या—खलति में, पलित मे, वालियों—झुरियों में तथा लोमों के पीताभ होने में—वमन विरेचन से शोधन करके, नस्यों का, मख एव शिर पर अभ्यङ्ग तथा लेपों

का प्रयोग करे। यथा—लघु पञ्चमूल के क्वाथ तथा जीवनीय गण के कल्क के योग से सिद्ध तिलतेल की अथवा निम्ब के तैल की एक मास पर्यन्त नस्य लेवे और केवल दूध का आहार करे और ब्रह्मचर्य का पालन करे ॥ ३३-३४ ॥

पलित में नीलयादि तैल की नस्य—

नीलाशिरीषकोरण्ट-भृङ्गस्वरसभावितम् ।
शेल्वक्षतिलरामाणां बीजं काकाण्डकीसमम् ॥३५॥
पिष्ट्वाऽजपयसा लोहाल्लिप्तादर्कांशुतापितात् ।
तैलं स्रुतं क्षीरभुजो नावनात् पलितान्तकृत् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—नीली के पत्रों, सिरस के पत्रों, कटसरैया के पत्रों तथा भांगरा के रस से भावना दिये गये—लिसोड़ा के बीज, बहेड़ा के बीज, तिल तथा रामा (काली तुलसी) के बीज १ भाग और काकाण्डकी के बीज (गुन्जा-घुंघची) १ भाग लेकर बकरी के दूध में पीस लोह की कड़ाही पर अथवा लोह के पत्रों पर लेप कर देवे और धूप में सुखावे फिर उसे उतार कर, तैल में डाल कर पाक करे (पाक के समय तैल से चौगुना जल भी डालना चाहिये पाचनार्थ)। इस तैल की नस्य के प्रयोग से अकाल पलित का नाश हो जाता है।३५-३६।

क्षीरादि तैल की नस्य—

क्षीरात्सहचराद् भृङ्गरजसः सौरसाद्रसात् ।
प्रस्थैस्तैलस्य कुडवः सिद्धो यष्टीपलान्वितः ॥३७॥
नस्यं शैलोद्भवे भाण्डे शृङ्गे मेषस्य वा स्थितः ।

व्याख्या—गौ अथवा बकरी का दूध, कटसरैया का रस, भांगरा का रस तथा तुलसी का रस १-१ प्रस्थ, तैल १ कुडव तथा मुलेठी का कल्क १ पल मिला कर शैल (पाषाण) के भाण्ड में तैल सिद्ध करे। इसको भेड़ा के सींग की कुपी में धर देवे। इसकी नस्य का प्रयोग पलित को नष्ट करता है ॥ ३७ ॥

पलित में लेप—

क्षीरेण श्लक्ष्णपिष्टौ वा दुग्धिका-करवीरकौ ॥३८॥
उत्पाट्य पलितं देयावाशये पलितापहौ ।

व्याख्या—दूधी तथा कनेर की जड़ की छाल को दूध के साथ भली भाँति पीस लेवे और श्वेत बाल को उखाड़ कर उसके मूल पर लेप कर देवे। इससे भी पलित का नाश होता है—वहाँ पुनः श्वेत बाल नहीं उगता—काला उगता है ॥ ३८ ॥

हरिल्लोम तथा बलियों लेप—

क्षीरं प्रियालं यष्ट्याह्वं जीवनीयो गणस्तिलाः ॥३९॥
कृष्णाः प्रलेपो वक्त्रस्य हरिल्लोमवलीहितः ।

व्याख्या—चिरौजी मुलैठी, जीवनीय गण के द्रव्य तथा काले तिलों को दूध में पीस कर मुख मंडल पर लेप करने से बालों की पिंगलता (भूरापन) में तथा झुरियों में लाभ होता है ॥ ३९ ॥

केशवृद्धिकर लेप—

तिलाःसामलकाः पद्मकिञ्जल्को मधुकं मधु ॥ ४० ॥
बृंहयेद्रंजयेच्चैतत् केशान्मूर्धप्रलेपनात् ।
मांसी कुष्ठं तिलाः कृष्णाः सारिवा नीलमुत्पलम् ॥४१॥
क्षौद्रं च क्षीरपिष्टानि केशसंवर्धनं परम् ।

व्याख्या—१—तिल, आमला, कमल का केशर, मुलेठी तथा मधु का लेप शिर पर करने से केशों को बढ़ा और काला करता है। २—जटामांसी, कूठ, काले तिल, सारिवा तथा नील कमल दूध में पीस कर और मधु में फेंट कर शिर पर लेप करने से केश बढ़ते हैं लम्बे एवं घने हो जाते हैं ॥ ४०-४१ ॥

पलित नाशक दो योग—

अयोरजो भृङ्गरजस्त्रिफला कृष्णमृत्तिका ॥ ४२ ॥
स्थितमिक्षुरसे मासं समूलं पलितं रजेत् ।
माषकोद्रवधान्याम्लैर्यवागूस्त्रिदिनोषिता ॥४३॥
लोहशुक्लोत्कटा पिष्टा बलाकामपि रञ्जयेत् ।

व्याख्या—१. लोह चूर्ण, भाँगरा का चूर्ण, त्रिफला का चूर्ण तथा काली मिट्टी को ईख के रस में डाल कर रख देवे एक मास के पश्चात् केशों पर लेप करे। यह श्वेत बालों को काला करता है।

२. उरद तथा कोदों के चावलों को काञ्जी में पकाकर यवागू-खिचड़ी बनाकर धर देवे फिर तीन दिन के पश्चात् उसमें लोह के योग से बनाया गया शुक्त (सिरका) मिला कर लेप करे यह लेप बगुला को भी काला कर देता है ॥ ४२-४३ ॥

प्रपौण्डरीकादि तैल—

प्रपौण्डरीकमधुक-पिप्पलीचन्दनोत्पलैः ॥४४॥
सिद्धं धात्रीरसे तैलं नस्येनाभ्यञ्जनेन च ।
सर्वान् मूर्धगदान् हन्ति पलितानि च शीलितम् ॥४५॥

व्याख्या—पुण्डेरिया, मुलेठी, पीपल, लालचन्दन तथा कमल का कल्क १ भाग, तिल तैल ४ भाग तथा आमलों का रस १६ भाग मिला कर तैल सिद्ध करे। इस तैल की नस्य तथा अभ्यङ्ग का दीर्घ काल पर्यन्त सेवन करने से शिर के सब रोग विशेषतः पलितविकार का नाश हो जाता है ॥

वक्तव्य—इसके आगे निम्नलिखित श्लोक किसी २ प्रति में है—

मधुयष्टि कृमिजित् विश्वभृंगैः शृतं ह्यजः ।
षडबिन्दु नाम तन्नस्यं सर्वमूर्धाऽऽमयापहम् ।

अर्थात्---मुलेठी, विडंग, सोंठ तथा भांगरा के योग से पक्व घृत का नाम षड्बिन्दु है। इसकी नस्य के प्रयोग से शिर के सब रोगों का नाश होता है ॥४४-४५॥

यमक नस्य—

वरीजीवन्तिनिर्यासपयोऽसिर्यमकं पचेत्।
जीवनीयैश्च तन्नस्यं सर्वजत्रूर्ध्वरोगजित् ॥४६॥

व्याख्या---शतावर एवं जीवन्ती का क्वाथ १६ भाग, घृत एवं तैल दोनों ४ भाग, जीवनीय गणका कल्क १ भाग मिला कर स्नेह सिद्ध करे। उसकी नस्य से जत्रु के ऊपर अर्थात् शिर के सब रोग शान्त हो जाते है ॥ ४६ ॥

मयूर घृत—

मयूरं पक्ष-पित्ताऽन्त्र-पाद-विट्-तुण्ड-वर्जितम्।
दशमूलबलारास्ना-मधुकैस्त्रिपलैर्युतम् ॥४७॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत्।
कल्कितैर्मधुरद्रव्यैः सर्वजत्रूर्ध्वरोगजित् ॥ ४८ ॥
तदभ्यासीकृतं पान-बस्त्यभ्यञ्जननावनैः।

व्याख्या---पक्ष, पित्ताशय, अन्त्र, पाँव, पुरीष तथा चोंच से रहित मोर का समस्त शरीर (मांस) एवं दशमूल बलामूल, रासना तथा मुलेठी ३-३पल लेकर चौगुने जल में पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे। उसमें गोघृत १ प्रस्थ, गोदुग्ध १ प्रस्थ तथा मधुर द्रव्यों का कल्क १ कुडव मिलाकर पाक करे सिद्ध होने पर घृत का-पीने में, बस्ति में अभ्यङ्ग में तथा नस्य में दीर्घ काल पर्यन्त सेवन करे। यह घृत-शिर के सब रोगों को नष्ट करता हैं

वक्तव्य---मधुर द्रव्यों के नाम से जीवनीय गण के द्रव्य लेना चाहिये ऐसा विचार चक्रपाणि एवं श्रीकण्ठ आदि टीकाकारों का है ॥४७-४८॥

महामायूर घृत-

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ४९ ॥
चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः।
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्धीकार्द्धिपरूपकैः ॥५०॥
समङ्गाचविकाभार्ङ्गीकाश्मर्यकर्कटाह्वयैः।
आत्मगुप्तामहामेदा-तालखर्जूरमस्तकैः ॥५१॥
मृणालबिसखर्जूर-यष्टीमधुकजीवकैः।
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः ॥५२॥
मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभक शृङ्गाटककसेरुकैः।
रास्नास्थिरातामलकी-सूक्ष्मैला-शटि-पौष्करैः। ५३॥
पुनर्नवातवक्षीरी-काकोलीधन्वयासकैः।
मधूकाक्षोटवाताम-मुञ्जाताभिषुकैरपि ॥५४॥
महामायूरमित्येतन्मायूरादधिकं गुणैः।
धात्विन्द्रियस्वरभ्रंश-श्वासकासार्दितापहम् ॥५५॥
योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वन्ध्यासुतप्रदम्।

व्याख्या—उक्त मयूरघृत वाला क्वाथ ४ प्रस्थ, गोघृत १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ और जीवन्ती, त्रिफला, मेदा, ऋद्धि, फालसा के फल, मजीठ, चव्य, भारंगी, गम्भार की छाल, काकड़ासिंगी, किवाँच के बीज, महामेदा, तालका मस्तक (ताड़ के शिखर का गूदा-जहाँ हरे पत्र रहते हैं वहाँ का कोमल भीतरी भाग), कमलनाल, भिस, पिण्ड खजूर के फल, मुलेठी, जीवक, शतावर, विदारी कन्द, ईख की गण्डेरी, बनभण्टा, सारिवा, कृष्णसारिवा, दूब, गोखरू, ऋषभक, सिंघाड़ा, कसेरू, रासना, शालपर्णी, भूमि आमला, छोटी इलायची, कचूर, पोहकर मूल, पुनर्नवा मूल, वंश लोचन, काकोली, धमांसा, महुवा के फूल अथवा गरी, अखरोट की गरी, बादाम की गरी, मुञ्जातक तथा पिशता का कल्क १-१ कर्ष मिलाकर पाक करे। इस घृत का नाम "महामायूर" है और मायूर घृत की अपेक्षा अधिक गुणों वाला है। यह रस रक्त आदि धातु के, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के तथा स्वर के भ्रंश-क्षयको, श्वास, कास तथा अर्दित को नष्ट करता है और योनि रोगों में, रक्त विकारों में तथा शुक्रदोषों में प्रशस्त है तथा वन्ध्यादोष को नष्ट करके पुत्रदान करता है ॥ ४९-५५ ॥

अन्यान्य घृतों की कल्पना

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चेति प्रकल्पयेत् ॥५६॥

व्याख्या---जैसे मायूर घृत अथ च महा मायूर घृत का उक्त विधान है वैसे ही मयूर के स्थान में---मूसे, मुर्गे, हंस तथा खरगोश के मांस से घृतों का निर्माण करे ॥५६॥

शालाक्य तन्त्र के रोगों की संख्या—

जत्रूर्ध्वजानां व्याधीनामेकत्रिंशच्छतद्वयम्।
परस्परमसङ्कीर्णं विस्तरेण प्रकाशितम् ॥५७॥

व्याख्या—जत्रु से ऊपर के भाग अर्थात् उत्तमांग के २३१ पृथक् २ रोगों का विस्तार से वर्णन किया गया है। संकीर्ण होनेपर तो वे रोग असंख्य हो जाते हैं।

वक्तव्य—नेत्र रोग ९३, कर्ण रोग २५, नासारोग १८, मुख रोग ७५ तथा शिरोरोग १९। योग २३१। ॥५७॥

उत्तमाङ्गगत रोगों की चिकित्सा में सावधानता

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः।
मूलप्रहारिणस्तस्मात् रोगान् शीघ्रतरं जयेत् ॥ ५८ ॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥ ५९ ॥

व्याख्या – महर्षियों का (गीता में भगवान कृष्ण का भी) कथन है कि मानव का मूल ऊपर की ओर अर्थात् उत्तमाङ्ग है और उसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं अतः मूलपर प्रहार करनेवाले रोगों की चिकित्सा

शीघ्रातिशीघ्र करनी चाहिये। क्योंकि उत्तमांग में सब इन्द्रियाँ तथा प्राण आश्रित हैं इसलिये उत्तमांग की रक्षा में सावधान रहना चाहिये।

वक्तव्य---च. सू. अ० १७---

प्राणाः प्राणभृतो यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।

यत् उत्तमाङ्गः अङ्गानां शिरः तत् अभिधीयते। १२।

अर्थात्---जहाँ प्राणियों के प्राण तथा सब इन्द्रियाँ आश्रित हैं वह सब अंगों-अवयवों में सर्वश्रेष्ठ अङ्ग "शिरस्" कहा जाता है। और शिर में ३७ मर्म स्थल हैं जिनकी विकृति से मृत्यु अथवा भीषण रोग उत्पन्न हो सकते हैं (सु. शा. अ.)। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में----च. सि. अ. ६----सप्तोत्तरं मर्मशतं अस्मिन् शरीरे स्कन्धशाखा समाश्रितं अग्निवेश! तेषामन्यतमपीडायां समधिका पीडा भवति चेतनानिबन्धवैशेष्यात्, तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि शाखानां तदाश्रितत्वात्, स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद् वस्ति शिरांसि तन्मूलत्वात् शरीरस्य। ३। शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि। ४। शिरसि अभिहते मन्यास्तम्भ अर्दित चक्षुर्विभ्रम मोह उद्वेष्टन चेष्टानाश कासश्वासहनुग्रह-मूक गद्गदत्व अक्षिनिमीलन गण्डस्पन्दन जृम्भण लालास्राव स्वरहानि वदनजिह्मत्वादीनि। ६।

भावार्थ---भगवान् पुनर्वसु ने कहा---हे अग्निवेश! मध्यकाय एवं शाखाओं में १०७ मर्म हैं उनमें चेतना का अधिक सम्बन्ध होने से उनके रोगों में अधिक कष्ट होता है, शाखाश्रित मर्मों की अपेक्षा मध्यकाय के मर्म और उनकी अपेक्षा भी हृदय, बस्ति एवं शिर महत्त्वपूर्ण मर्म हैं क्योंकि शरीर या जीवन की स्थिति के मूल वे ही हैं। शिर में इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियवाही स्रोतस् उसी प्रकार आश्रित हैं जैसे सूर्य में उसकी किरणें। शिर पर आघात होने से मन्या स्तम्भ आदि भीषण रोगों की उत्पत्ति हो जाती है अतः शिर को सब प्रकार से रक्षा करते रहना चाहिये।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो व्रणप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब व्रणों का वर्णन तथा उनकी चिकित्सा का विधान कहेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि---

वक्तव्य---इस विषय का वर्णन---च. चि. अ० २५ में सु. सू. अ० १७, १८, २२, २३ एवं २८ में और चि. अ. १ में और अ० सं० अ० २६ तथा ३० में देखिये।

व्रण के भेद---

व्रणो द्विधा, निजागन्तु-दुष्टशुद्धविभेदतः।
निजो दोषैः शरीरोत्थैरागन्तुर्बाह्यहेतुजः॥१॥
दोषैरधिष्ठितो दुष्टः, शुद्धस्तैरनधिष्ठितः।

व्याख्या---विधिभेद से व्रण के दो भेद होते हैं १---निज तथा २---आगन्तु व्रण। और १---दुष्ट व्रण तथा २---शुद्ध व्रण। इनमें निज व्रण वह कहलाता हैं जो वातादि शारीरिक दोषों की विकृति से उत्पन्न होता है और आगन्तु व्रण वह कहलाता है जो शस्त्र, नख आदि अनुशस्त्र, पाषाण, लाठी, डण्डा, दन्त, सींग, विष अथवा भिलावा रस आदि के लगने-छूने आदि बाहिरी कारणों से उत्पन्न हो जाता है। दुष्ट व्रण वह होता है जिस में व्रण होने के पश्चात् भी दोषों की अधिक दुष्टि हो जाती है देखिये श्लो० ३। और शुद्ध व्रण वह होता है जिसमें दोषों की पुनः विकृति-दुष्टि नहीं होती॥ २॥

वक्तव्य---अ. सं. उ. अ. २६---व्रणयति वा शरीरं इति व्रणः----अर्थात् जिसका चिह्न आयुः पर्यन्त---जीवन भर बना रहता है उसका नाम व्रण है। व्रण शब्द की निष्पत्ति व्रण गात्रविचूर्णने नामक चुरादिगणीय धातु से होती है अर्थात् जो शरीर के उस भाग का विचूर्णन कर देता है जहाँ वह होता है। और भगवान् धन्वन्तरि का कथन भी यही है यथा व्रण गात्रविचूर्णने, व्रणयति इति व्रणः। सु. चि. अ. १। व्रण के आश्रय देखिये अगला श्लो० १०। सोऽपि पुनः वातादिभिः अधिष्ठितो निजतां लभते (अ. सं. उ. अ. २६) अर्थात्---आगन्तु व्रण भी वातादि दोषों से अधिष्ठित होकर निजव्रण हो जाता है॥१॥

दुष्ट व्रण का सामान्य लक्षण---

संवृतत्वं विवृतता काठिन्यं मृदुतापि वा॥ २।
अत्युत्सन्नावसन्नत्वमत्यौष्ण्यमतिशीतता।
रक्तत्वं पाण्डुता कार्ष्ण्यं पूतिपूयपरिस्रुतिः॥३॥
पूतिमांससिरास्नायुच्छन्नतोत्सङ्गिताऽतिरुक्।
संरम्भदाहश्वयथु-कण्ड्वादिभिरुपद्रुतिः॥ ४॥
दीर्घकालानुबन्धश्च विद्याद्दुष्टव्रणाकृतिम्।

व्याख्या---व्रण का मुख अत्यन्त अवरुद्ध होना, अथवा अत्यन्त खुला होना, व्रण में अत्यन्त कठोरता अथवा अत्यन्त कोमलता, अत्यन्त ऊँचापन अथवा अत्यन्त नीचापन, अत्यन्त उष्णता अथवा अत्यन्त शीतता अत्यन्त लालिमा अथवा श्वेतता अथवा कालापन, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त पूय का स्राव, सड़े मांस, सिरा एवं स्नायुओं से ढँका रहना, उत्संग अर्थात् कोटरवाला होना, अत्यन्त वेदना, संरम्भ (भीषणता), दाह, शोथ तथा कण्डू पाक एवं

पिडका) से उपद्रुत होना और दीर्घकाल पर्यन्त बना रहना। इन लक्षणों में से सब अथवा कुछ लक्षण हों तो समझना चाहिये कि "दुष्ट व्रण" है ॥

वक्तव्य—शुद्ध व्रण के लक्षण देखिये श्लो० ९ ॥२-४॥

व्रण के १५ प्रकार—

स पञ्चदशधा दोषैः सरक्तैः तत्र मारुतात् ॥ ५ ॥
श्यावः कृष्णोऽरुणो भस्म-कपोतास्थिनिभोऽपि च।
मस्तुमांसपुलाकाम्बुतुल्यतन्वल्पसंस्रुतिः ॥ ६ ॥
निर्मांसस्तोदभेदाढ्यो रूक्षश्चटचटायते।
पित्तेन क्षिप्रजः पीतो नीलः कपिलपिङ्गलः ॥७॥
मूत्रकिंशुकभस्माम्बुतैलाऽऽभोष्ण-बहुस्रुतिः।
क्षारोक्षितक्षतसमःव्यथो रागोष्मपाकवान् ॥ ८ ॥
कफेन पाण्डुः कण्डूमान् बहुश्वेतघनस्रुतिः।
स्थूलौष्ठः कठिनः स्नायुसिराजालततोऽल्परुक् ॥९॥
प्रवालरक्तो रक्तेन सरक्तं पूयमुद्गिरेत्।
वाजिस्थानसमो गन्धे युक्तो लिङ्गैश्च पैत्तिकैः ॥१०॥
द्वाभ्यां, त्रिभिश्च, सर्वैश्च, विद्याल्लक्षणसङ्करात्।

व्याख्या—वात, पित्त, कफ एवं रक्त की विकृति से व्रण १५ प्रकार का होता है। उनमें वायु की विकृति से व्रण का वर्ण—साँवला, काला अथवा कालापन लिये लाल, भस्म का सा, कबूतर का सा श्वेताभ, स्राव—दही के पानी कासा, मांस के धोवन कासा अथवा पुआल एवं क्षार के पानी कासा, पतला एवं अल्प होता है और व्रण में मांस का क्षय, व्यथा तथा फटने की सी दशा एवं रूक्षता होती है और व्रण चटचटाता है (और उसमें अकस्मात् विविध प्रकार के शूल, स्फुरण, तनाव तथा स्वाप होता है अ. सं. उ. अ. २९)। पित्त से—व्रण शीघ्र बढ़ता—फैलता है, पीलासा, अथवा नीलासा, अथवा श्याव-साँवला अथवा वानर के बालों के सदृश वर्णवाला—पीताभ होता है और उसका स्राव मूत्रकासा, भस्म के पानी कासा अथवा तैल कासा तथा उष्ण एवं बहुत होता है और व्रण में क्षत में क्षार बुरकने की सी व्यथा होती है और लालिमा, भाप निकलने की प्रतीति तथा पाक होता है (दाह, ज्वर, अवदरण तथा पिटिकोत्पत्ति होती है अ. सं. उ. अ. २९)। कफ से—व्रण—श्वेत, कण्डूयुक्त और बहुत श्वेत एवं गाढ़े स्राववाला, मोटे ओठों-किनारों-कोरोंवाला, कठोर और स्नायु एवं सिराओं के जाल से व्याप्त तथा थोड़ी वेदनावाला होता है। रक्त से व्रण—मूँगा के से एवं वृन्तों की पपीसियों के से लाल वर्णवाला, रक्तयुक्त पूय का स्राव करनेवाला, घुड़शाल (अश्वशाला-तबेला) के स्थान के समान गन्धवाला तथा पित्त व्रण के समान लक्षणों से युक्त होता है। दो-दो दोषों से तीनों दोषों से तथा उक्त सब लक्षणों से युक्त व्रण द्विदोषज, त्रिदोषज, तथा रक्तसंसृष्ट होता है ॥

वक्तव्य—सु० चि० अ० १ के अनुसार उनके लक्षण हैं—यथा १–तोददाहधूमायनप्रायः पीताऽरुणाभः तद्वर्णस्रावी चेति वातपित्ताभ्याम्, २–कण्डूयनशीलः सनिस्तोदो रूक्षो गुरुः दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छिलाऽल्पस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्याम् ३–गुरुः सदाहः उष्णः पीतः पाण्डुस्रावी चेति पित्तश्लेष्मभ्याम्, ४–रूक्षः तनुः तोदबहुलः सुप्त इव च रक्ताऽरुणाभः तद्वर्णस्रावी चेति वातशोणिताभ्याम्, ५–घृतमण्डाभो, मीनधावनगन्धिः मृदुः विसर्पी उष्णकृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्याम्, ६–रक्तो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरः सरक्तपाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्याम्। ७–स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः पीततनुरक्तस्रावी वातपित्तशोणितेभ्यः, ८–कण्डूस्फुरणचुमचुमायनप्रायः तनुपाण्डुघनरक्तास्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः, ९–दाहपाकरागकण्डूप्रायः, पाण्डुघनरक्तास्रावी चेति पित्तश्लेष्मशोणितेभ्यः, १०–त्रिविधवर्णं वेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफेभ्यः, ११–निर्दहननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकण्डूस्वापबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफशोणितेभ्यः।

अर्थात्–१. व्यथा, दाह, धूम निकलने की प्रतीति, पीला सा एवं अरुण सा वर्ण और उसी वर्ण का स्राव वातपित्त से होता है। २. वात कफ से व्रण-कण्डू तथा व्यथा से युक्त, रूक्ष, गुरु, कठोर तथा बार २ शीत, पिच्छिल एवं थोड़े स्राववाला होता है। ३. पित्तकफ से व्रण–गुरु, दाहयुक्त उष्ण और पीले तथा श्वेत स्राववाला होता है। ४. वातरक्त से व्रण–रूक्ष, तनु (पतला). अधिक व्यथा वाला, सुप्तसा (शून्य सा), लाल एवं अरुण केसे वर्ण से युक्त तथा इसी प्रकार के स्राववाला होता है। ५. पित्तरक्त से व्रण–घृतमण्ड केसे वर्ण वाला, मछली के धोअन कीसी गन्धवाला, मृदु एवं शीघ्र फैलने वाला और उष्ण एवं काले स्राव वाला होता है। कफ शोणित से व्रण-लाल, गुरु, स्निग्ध, चिपचिपा, अधिक कण्डू वाला, तथा स्थिर-कठोर अथवा न फैलने वाला और रक्त एवं श्वेत वर्ण के स्राव वाला होता है। ७. वात पित्त रक्त से व्रण–अधिक स्फुरण (फरकन), तोद तथा दाह से युक्त होता है उस में से धूआं निकलता है और पीला, पतला तथा लाल स्राव होता है। ८. वात कफ रक्त से व्रण–अधिक कण्डू, फरकराहट एवं चुनचुनाहट से युक्त और पतले, श्वेत, गाढ़े तथा लाल स्राव वाला होता है। १०—वात पित्त कफ से व्रण–उक्त (देखिये श्लो० ८) तीनों दोषों के व्रणों वर्णों, वेदना तथा स्रावों से विशेष रूप से युक्त होता है। ११. वात पित्त

कफ रक्त से व्रण—बहुत अधिक दाह, मन्थन की सी वेदना, फरफराहट, व्यथा, दाह, पाक, लालिमा, कण्डू तथा स्राव से युक्त और अनेक प्रकार के वर्णों, वेदनाओं तथा स्रावों से विशेषतः युक्त होता है। इस प्रकार इन ११ तथा वात, पित्त, कफ तथा रक्त से ४ सब मिला कर १५ प्रकार का व्रण होता है उक्त लक्षणों—विकृतियों से रहित व्रण शुद्ध कहलाता है ॥ ५-१० ॥

शुद्ध व्रण लक्षण—

जिह्वाप्रभो मृदुः श्लक्ष्णःश्यावौष्ठपिटिकः समः ॥११॥
किंचिदुन्नतमध्यो वा व्रणः शुद्धोऽनुपद्रवः।

व्याख्या—जो व्रण—जीभ के समान वर्ण वाला, कोमल, श्लक्ष्ण (खरदरा न हो), साँवले ओष्ठों वाला, छोटी २ फुन्सियों वाला, समतल अथवा मध्यभाग में कुछ उन्नत तथा उपद्रवों से रहित होता है वह "शुद्ध व्रण" होता है ॥

वक्तव्य—सु. सू. अ. २३—

त्रिभिर्दोषैः अनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥१८॥

अर्थात्—तीनों दोषों के लक्षणों से रहित, साँवले ओष्ठों वाला, पिडकाओं वाला, समतल, वेदना रहित तथा स्राव रहित व्रण शुद्ध कहा जाता है। सु. चि. अ. १—जिह्वा तलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः। सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥७॥

अर्थात् जब व्रण—जीभ के तल जैसा, मृदु, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, वेदना रहित, सुव्यवस्थित तथा स्राव रहित होता है तब "शुद्ध व्रण" कहलाता है ॥११॥

व्रण के आशय—

त्वगामिषसिरास्नायुसन्ध्यस्थीनि व्रणाशयाः ॥१२॥
कोष्ठो मर्म च तान्यष्टौ दुःसाध्यान्युत्तरोत्तरम्।

व्याख्या—व्रण के आठ आशय-अधिष्ठान हैं—१. त्वचा, २. मांस, ३. सिरा, ४. स्नायु, ५. सन्धिस्थल, ६. अस्थि, ७. कोष्ठ तथा ८. मर्म स्थल। इन में उत्पन्न व्रण—उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं ॥१२॥

सुखसाध्य व्रण—

सुसाध्यः सत्त्व-मांसाऽग्नि-वयोबलवति व्रणः ॥१३॥
वृत्तो दीर्घस्त्रिपुटकश्चतुरस्राकृतिश्च यः।
तथा स्फिक्पायुऽमेढ्रौष्ठ-पृष्ठाऽन्तर्वक्त्रगण्डगः ॥१४॥

व्याख्या—मनोबल, मांसबल (मानसिक एवं शारीरिक बल), जठराग्नि बल तथा वयोबल (यौवन बल एवं बाल्य बल) रहने पर, गोल (जैसा फोड़ा का), लम्बा (जैसा चाकू-तलवार का), तिकोना अथवा चौकोना व्रण और स्फिक (चूतड़) पर, गुद पर मेढ़ (मूत्र मार्ग पर, ओष्ठ पर, पीठ पर, मुख के भीतर तथा कपोल पर का व्रण सुख साध्य होता है—सुख से भर जाता है ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २९—

वयस्थानां दृढानां प्राणवतां दीप्ताग्नीनां च व्रणाः सुचिकित्स्याः। तत्र वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वात् आशु व्रणसंरोहो भवति। दृढानां स्थिरबहुमांसत्वात् शस्त्रमवचार्यमाणं सिरास्नाय्वादीन् न प्राप्नोति। प्राणवतां वेदनाऽऽहारविहारयन्त्रणादिभिः नग्लानिः। सत्त्ववतां दारुणैः अपि क्रियाविशेषैः न व्यथा भवति। दीप्ताग्नीनामप्रक्लिन्नदेहत्वात् प्रकृतितश्च अप्रक्लेदशरीराणां तद्विषयोश्च देशकालयोः आस्रावदौर्गन्ध्याऽभावात् आशु विशुद्धेन मांसेन अनुपद्रवमापूरणम्। एते एव गुणाः वृद्ध कृशाऽल्पप्राणभीरुमन्दाग्निप्रक्लेददेशकालेषु विपरीताः।

अर्थात्—वयस्थों के, दृढों, बलवानों के सत्त्ववानों के तथा दीप्ताग्नियों के व्रणों की सरलता से चिकित्सा हो जाती है क्योंकि—वयस्थों के शरीर में रसादि धातुओं का निर्माण शीघ्रता पूर्वक हो रहा होता है अतः व्रण का रोहण-पूरण-रोपण भी शीघ्र हो जाता है। क्योंकि—दृढों के शरीर में मांस स्थिर एवं अधिक होता है अतः प्रयोग में लाया गया शस्त्र सिरा एवं स्नायु आदि में नहीं पहुँचता। प्राण वालों को वेदना से तथा आहार एवं विहार के नियन्त्रण आदि से ग्लानि नहीं होती। सत्त्ववानों को भीषण से भीषण चिकित्सा विधानों से भी व्यथा नहीं होती और दीप्ताग्नियों के शरीर में प्रक्लेद (अप्राकृत आर्द्रता) न होने से और स्वाभाविक शुद्धि होने से क्लेदयुक्त देश एवं काल में भी स्राव एवं दुर्गन्ध का अभाव रहने से और शीघ्रता पूर्वक मांस की शुद्धि होते रहने से, किसी भी उपद्रव के बिना व्रण का रोपण हो जाता है और इन सब गुणों का अभाव रहने से—वृद्धों के कृशों के अल्पप्राणों के भीरुओं के तथा मन्दाग्नियों के व्रण कष्ट साध्य होते हैं। प्रतीत होता है स्फिक् आदि के उक्त व्रण वे ही सुख साध्य होते हैं जो आवश्यकतानुसार चिकित्सक द्वारा किये जाते हैं क्योंकि गुद का भगन्दर एवं पीठ एवं उदर पर की विनता नामक पिटिका आदि सुख साध्य नहीं होते ॥१३-१४॥

कृच्छ्रसाध्य व्रण—

कृच्छ्रसाध्योऽक्षिदशन-नासिकापाङ्गनाभिषु।
सेवनी-जठर-श्रोत्रपार्श्वकक्षा-स्तनेषु च ॥१५॥
फेनपूयानिलवहः शल्यवानूर्ध्वनिर्वमी।
भगन्दरोऽन्तर्वदनस्तथा कक्ष्यस्थिसंश्रितः ॥१६॥
कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिद्ध्यन्ति तेषां च स्युर्व्रणे व्रणाः ॥१७॥

व्याख्या—नेत्र, दन्त, नासा, अपाङ्ग, नाभि, सेवनी, उदर, श्रोत्र, पार्श्व, कक्षा तथा स्तन पर के व्रण और

फेन युक्त पूय रक्त तथा वायु को बहने वाले व्रण, शल्य युक्त व्रणअधोभाग के व्रणऊर्ध्वभाग की ओर बहनेवाले, भीतर की ओर मुख वाला तथा कटिकी अस्थि में स्थित भगन्दर का व्रण और कुष्ठरोगियों के, विषपीडितों के, शोषरोगियों के तथा मधुमेह वालों के व्रण और जो व्रण होते या किये जाते हैं वे सब व्रण कष्ट साध्य होते हैं ॥ १५-१७ ॥

असाध्य व्रण—

नैव सिद्ध्यन्ति वीसर्पज्वराऽतीसार-कासिनाम् ।
पिपासूनामनिद्राणां श्वासिनामविपाकिनाम् ॥१८॥
भिन्ने शिरःकपाले वा मस्तुलुङ्गस्य दर्शने ।

व्याख्या—विसर्प, ज्वर, अतिसार तथा कास के रोगियों के व्रण; तृषा, निद्रानाश, श्वास तथा अजीर्ण के व्रण और दोषों की विकृति से—शिरः कपाल की अस्थि टूट जाने से मस्तुलुङ्ग का दर्शन होने पर व्रण असाध्य होते हैं ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. २५—

साध्याः पुनः अवपाटिकानिरुद्धमणिरुद्धगुदग्रन्थिप्रभृतयः सर्वास्थिगताश्च । असाध्याः पुनः मांसपिण्डवत् उद्गताः, प्रसेकिनः, अन्तःपूयाः, वेदनावन्तः, अश्वाऽपानवत् उद्वृत्तौष्ठा, कठिनाः, गोशृङ्गवत् उद्गतप्ररोहाः दुष्टशोणितास्राविणः, तनुपिच्छिलाऽऽस्राव स्राविणो वा मध्योन्नताः, समवसन्नसुषिर-पर्यन्ताः, शणतन्तुवत् स्नायुजालवन्तः, दुर्दर्शाः, मेदोमज्जवसा-मस्तुलुङ्ग स्राविणश्च दोषसमुत्थाः । पीताशितमूत्रपुरीषवात-वाहिनश्च कोष्ठस्थाः, रक्ताशयजाश्च क्षारोदकसमाऽऽस्रावाः, तथा आमाशयजाः कलायाऽम्भोनिभाऽऽस्रावाः, पक्वाशयजाश्च पुलाकोदकमिव निःस्रवन्तःक्षीणमांसानां च सर्वतोगतश्च-अणुमुखाः मांसबुद्बुदवन्तः । सशब्दवातवाहिनश्च शिरः कण्ठस्थाः । विसर्पज्वरपिपासाऽरोचकाविपाककासश्वासाऽतिसार छर्दियुताः, भिन्ने च शिरःकपाले मस्तुलुङ्गदर्शनं त्रिदोषलिङ्गप्रादुर्भावो वा स्यात् ।

अर्थात्—वैसे व्रण भी असाध्य होते हैं जो—मांसपिण्ड के समान उभरे हुए हों और पन्छावाले हों, भीतर पूयवाले भी वेदनायुक्त हों, घोड़ा की गुद के समान उलटे ओठों वाले (लीद करने के अनन्तर जैसी गुद होती है) हों, कठोर हों, गौ के सींग के समान ऊँचे प्ररोहों वाले हों, दूषित रक्त के स्राववाले हों अथवा पतले एवं पिच्छिल स्राव वाले हों, मध्य भाग में उभरे हुए परन्तु इधर-उधर कोटर वाले हों, शणके डोरों केसे स्नायुजाल वाले एवं भयावने हों और दोष जनित होते हुए मेदा, मज्जा, वसा एवं मस्तुलुङ्ग (शिर का भेजा) का स्राव करने वाले हों। कोष्ठ के वे व्रण जिनमें से पिया हुआ तथा खाया हुआ पदार्थ तथा मूत्र, पुरीष एवं वायु बहता हो। रक्ताशय के वे व्रण जिनमें से क्षार के जल कासा स्राव बहता हो आमाशय का वह व्रण जिसमें से मटर के जूस कासा स्राव बहता हो और पक्वाशय का वह व्रण जिसमें से पुआल के पानी का स्राव बहता हो। मांसक्षय वालों के वे व्रण जिनमें सब ओर वैसे नाडी व्रण हो जिनका मुख बहुत छोटा हो और वे मांस के बुद्बुद वाले हों। कण्ठ एवं शिर के वे व्रण जिनमें से वायु निकल रहा हो और वे व्रण जिनके साथ २ विसर्प ज्वर, तृषा, अरोचक, अजीर्ण, कास, श्वास, अतिसार एवं छर्दि हो, कपाल फूटने पर मस्तु लुङ्ग बह रहा हो जिसमें वह अथवा जिसमें तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो गये हों वह व्रण असाध्य होता है।

रोपण बाधक हेतु—

साध्यानामप्यसाध्यता—

स्नायुक्लेदात्सिराच्छेदाद्गाम्भीर्यात्कृमिभक्षणात् ॥१९॥
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात्सविषत्वादतर्कितात् ।
मिथ्याबन्धादतिस्नेहाद्रौक्ष्याद्रोमातिघट्टनात् ॥ २० ॥
क्षोभादशुद्धकोष्ठत्वात्सौहित्यादतिकर्शनात् ।
मद्यपानाद्दिवास्वापाद् व्यवायाद्रात्रिजागरात् ॥२१॥
व्रणोमिथ्योपचाराच्च नैव साध्योऽपि रोहति ।

व्याख्या—स्नायु की सड़न से, सिरा कट जाने से गम्भीर धातुओं में होने से, कृमियों द्वारा भक्षण होते रहने से, अस्थि फट जाने से, शल्ययुक्त रहने से, विषयुक्त-विषाक्रान्त होने से, भलीभाँति निदान एवं चिकित्सा न होने से, समीचीन बन्धन न होने से, लेपादि में अधिक स्नेह का मिश्रण होने से अथवा लेपादि से रूक्षता होने से, लोमों का घर्षण होने से, क्षोभ (डोल पड़ना, फिरना हिलाना डुलाना आदि चेष्टा) से उदर में मलदोष रहने से, अधिक आहार से, अत्यन्त भूखा रहना आदि कर्शन से, मद्यपान से, दिन में सोने से मैथुन से रात्रि में जागने से तथा अन्यान्य मिथ्या आहार विहार से साध्य व्रण का भी रोपण नहीं होता ॥ १९-२१ ॥

व्रणरोहण लक्षण—

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ।२२॥
स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।

व्याख्या—जिस व्रण के अन्तर्भाग—कबूतर के समान वर्ण वाले, क्लेद—सड़न से रहित, स्थिर-दृढ़ और चिपिटिका वाले हों वह व्रण भर रहा है—उसका रोपण हो रहा है ऐसा समझना चाहिये—कह देना चाहिये ॥

वक्तव्य—कपोतवर्णप्रतिमा-पाण्डुधूसराः । चिपिटिकावन्त इति चर्मचेलीयुक्ताः विशुष्यमाणत्वात् चर्मचेलीवन्तः । अर्थात्—वे कबूतर जिन का वर्ण श्वेत एव धूसर होता है। चिपिटिका अर्थात् चर्मचेली । जो सूखते हुए व्रण

पर त्वचा के पतले स्तरों का उदय होता है। सम्यक् रूढ व्रण के लक्षण—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम्।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यक् रूढं तमादिशेत् ॥२०॥

अर्थात्—जिस व्रण का रोपण समीचीन प्रकार से होता है उस का मार्ग—गढा भर गया होता है, उसमें गांठ, शोथ एवं वेदना नहीं रहती, उसका वर्ण शरीर के वर्ण के समान हो गया होता है और उसका तल भी शरीर के तल के समान हो जाता है।

व्रणशोथ चिकित्सा

वक्तव्य—देखिये—अ. सं. उ. अ. ३० ॥ २२ ॥

व्रण शोथ में शोधन—

अथाऽत्र शोफावस्थायां यथासन्नं विशोधनम् ॥२३॥
योज्यं, शोफो हि शुद्धानां व्रणश्चाशु प्रशाम्यति।

व्याख्या—व्रण शोथ की शोथावस्था में—शोथ की समीपता के अनुसार वमन अथवा विरेचन करके उदर का शोधन कर देवे इस से व्रण शोधन होता है तथा व्रण भी शीघ्र शान्त हो जाता है॥

वक्तव्य—यदि शोधन सम्भव न हो तो अपतर्पण करे—
अवेक्ष्य दोषप्राणादीन् कर्तव्यमपतर्पणम्।
रागसंरम्भरहिता परिम्लानहताश्रयाः॥
अ. सं. उ. अ. ३०।

अर्थात्—दोषों एवं रोगी के बल आदि का विचार करके उपवास करना चाहिये इससे रसादि धातुओं में न्यूनता होने पर-शोथ का आशय दुर्बल हो जाने पर—शोथ की वृद्धि रुक जाने पर, शोथ की लालिमा एवं संरम्भ-उच्छ्राय-उठाव शान्त हो जाता है—घट जाता है फलतः शोथ बैठ जाता है उसमें पाकादि का प्रारम्भ नहीं होता। शोधन से भी यही लाभ होता है। और—

सद्यःशाम्यन्ति शुद्धानां व्रणाः शोथाश्च देहिनाम्।

अर्थात्—शोधन द्वारा शुद्ध रोगियों के व्रण तथा शोथ शीघ्र शान्त हो जाते हैं ॥२३॥

व्रणशोथ में शीतोपचार—

कुर्याच्छीतोपचारं च शोफावस्थस्य सन्ततम् ॥२४॥
दोषाग्निरग्निवत्तेन प्रयाति सहसा शमम्।

व्याख्या—व्रण शोथ की शोथावस्था में आहार एवं लेपन आदि में शीतल द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये क्योंकि उनका निरन्तर उपयोग करने से दोषों की अग्नि (जो पाकारम्भ का हेतु होती है) तत्काल शान्त हो जाती है जैसे भौतिक अग्नि शीतल जल के सेचन से शान्त हो जाती है ॥ २४ ॥

व्रण शोथ में रक्त स्रावण—

शोफे व्रणे च कठिने विवर्णे वेदनान्विते। २५।
विषयुक्ते विशेषेण जलौकाद्यैर्हरेदसृक्।
दुष्टेऽस्रेऽपगते सद्यः शोफ-राग-रुजां शमः ॥२६॥

व्याख्या—व्रणशोथ अथवा व्रण यदि कठोर हो, विकृत वर्ण वाला हो, वेदना युक्त हो अथवा विष से व्याप्त हों तो विशेषतः जोंक आदि से स्थानीय दूषित रक्त को निकाल देवे। दूषित रक्त निकल जाने पर शोथ, लालिमा तथा वेदना की शान्ति शीघ्र हो जाती है॥

वक्तव्य—रक्त निकाल देने पर वेदना शान्त हो जाती है और पाक का प्रारम्भ नहीं होता। रक्त बार २ थोड़ा २ निकालना चाहिये ॥२५-२६॥

रक्त-मोक्षणानन्तर शीतल लेप एवं सेचन—

हृते हृते च रुधिरे सुशीतैः स्पर्शवीर्ययोः।
सुश्लक्ष्णैस्तद्वहः पिष्टैः क्षीरेक्षुस्वरसद्रवैः ॥२७॥
शतधौतघृतोपेतैर्मुहुरन्यैश्चशोषिभिः।
प्रतिलोमं हितो लेपः सेकाभ्यङ्गाश्च तत्कृताः ॥२८॥

व्याख्या—बार २ रक्त निकालने के अन्त में निम्नलिखित स्पर्श तथा वीर्य में शीतल द्रव्यों को तत्काल दूध अथवा ईख के रस में भली भाँति पीस कर अथवा अन्य द्रव्यों के कल्क को शतधौत घृत में फेण्ट कर लेप करे और लेप प्रतिलोम करना चाहिये (अनुलोम लेप लोमों पर ही रह जाता है)। और स्पर्श एवं वीर्य में शीत द्रव्यों के हिमों से सेचन करना चाहिये ॥२७-२८॥

दाह शामक लेप—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-प्लक्षवेतसवल्कलैः।
प्रदेहो भूरिसर्पिभिः शोफनिर्वापणः परम् ॥२९॥

व्याख्या—वट, गूलर, पीपल वृक्ष, पाकर तथा वेत की छाल के कल्क को पर्याप्त घृत (शतधौत घृत) में फेण्ट कर लेप करने से दाह की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—वट की छाल आदि के हिम से सेचन भी करे इन उपायों से यथा सम्भव पाक रुक जाता है और व्रण शोथ बैठ जा सकता है ॥२९॥

वातज व्रण शोथ चिकित्सा—

वातोल्बणानां स्तब्धानां कठिनानां महारुजाम्।
स्रुतासृजां च शोफानां व्रणानामपि चेदृशाम् ॥३०॥
आनूपवेसवाराद्यैः स्वेदाः सोमास्तिलाः पुनः।
भृष्टा निर्वापिताः क्षीरे तत्पिष्टा दाहरुग्घराः ॥३१॥

व्याख्या—वात प्रधान, स्तब्ध, कठोर एवं अत्यन्त वेदना वाले और जोंक आदि से रक्त निकाल देने पर व्रण शोथों पर और इस प्रकार के व्रणों पर सूअर आदि अनूप देशीय प्राणियों के मांस के कल्क (कुट्टी—कुगदी)

को घृत आदि से संस्कृत करके और उष्ण करके स्वेदन करे अथवा अलसी एवं तिलों को भून कर और दूध में बुझाकर और उसी में पीसकर उष्ण २ लेप करे। इस प्रकार दाह एवं वेदना शान्त हो जाती है (और स्तब्धता एवं कठोरता शान्त हो जाती है) ॥३०-३१॥

विम्लापन विधि—

स्थिरान् मन्दरुजः शोफान् स्नेहैर्वातकफापहैः।
अभ्यज्य स्वेदयित्वा च वेणुनाड्या शनैः शनैः ॥३२॥
विम्लापनार्थं मृद्नीयात् तलेनांगुष्ठकेन वा।
यवगोधूममुद्गैश्च सिद्धपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥३३॥

व्याख्या—जो व्रणशोथ-स्थिर (आम-न पकने वाले) तथा मन्द वेदना वाले हों उन पर वात कफ नाशक (कटु तैल आदि) स्नेहों का अभ्यङ्ग करके तथा स्वेदन करके-वांस की पोरी से अथवा अंगूठा से धीरे २ मर्दन करे अथवा जौ, गेहूँ तथा मूँग को उबाल कर और दूध में पीस कर लेप करे। इस प्रकार व्रणशोथ का विम्लापन-विलय हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

उपनाह विधि—

विलीयते स चेन्नैवं ततस्तमुपनाहयेत्।
अविदग्धस्तथा शान्तिं विदग्धः पाकमश्नुते ॥३४॥
सकोलतिलवल्लोमाद्ध्यम्लसक्तुपिण्डिका।
सकिण्वकुष्ठलवणा कोष्णा शस्तोपनाहने ॥३५॥

व्याख्या—यदि उक्त सभी उपायों से व्रण शोथ का विलय न हो तो उस पर उपनाह नामक स्वेदन करे। उससे अपक्व (आम) शोथ शान्त हो जाता है और विदग्ध अर्थात् पच्यमान शोथ पक जाता है। उपनाह योग—खट्टे बेर, तिल, वल्ल (शिम्बी बीज) अलसी, खली, कूट, लवण तथा सत्तू को अम्ल दही में पीस कर और कोसा करके लेप करे ॥ ३४-३५ ॥

दारण कर्म विधि—

सुपक्वे पिण्डिते शोफे पीडनैरुपपीडिते।
दारणं दारणार्हस्य सुकुमारस्य चेष्यते ॥ ३६ ॥
गुग्गुल्वतसिगोदन्त-स्वर्णक्षीरीकपोतविट्।
क्षारौषधानि क्षाराश्च पक्वशोफविदारणम् ॥३७॥

व्याख्या—जब उक्त उपनाह के प्रयोग से व्रण शोथ भलीभांति पक जाय और पिण्डाकार हो जाय तब—निम्नलिखित (देखिये श्लो० २८-२९ तथा ३०) पीडन द्रव्यों द्वारा भलीभाँति पीडन करके दारण कर्म करे। दारण कर्म-दारणकर्मयोग्य व्रणपर और सुकुमार के व्रण पर करना चाहिये।

दारण लेप—गूगल, अतसी, गौ के दन्त का चूर्ण था भस्म, सत्यानाशी के बीज अथवा मूल, कबूतर की (मुरगा की भी) बीठ, क्षारोपयोगी द्रव्य (सू. अ. ३० में लिखे कालमुष्कक आदि देखिये) तथा जौखार आदि क्षारों का लेप पके शोथ का दारण है (गौ के दन्त के चूर्ण-चूना के अभाव में शुक्ति अथवा शंख की भस्म का प्रयोग करे)॥

वक्तव्य—जहाँ शस्त्र का प्रयोग सम्भव अथवा उचित न हो वहाँ व्रणशोथ पर दारण लेप करने से फोड़े फूट जाते हैं। दारण उसका नाम है जो फाड़ या फोड़ देता है ॥३६-३७॥

पीडन कर्म—

पूयगर्भानणुद्वारान् सोत्सङ्गान्मर्मगानपि।
निःस्नेहैः पीडनद्रव्यैः समन्तात्प्रतिपीडयेत् ॥३८॥
शुष्यन्तं समुपेक्षेत प्रलेपं पीडनं प्रति।
न मुखे चैनमालिम्पेत् तथा दोषः प्रसिच्यते ॥३९॥
कलाययवगोधूममाषमुद्गहरेणवः।
द्रव्याणां पिच्छिलानां च त्वङ्मूलानि प्रपीडनम् ॥४०॥

व्याख्या—जिन व्रणों के भीतर पूय हो, मुख अत्यन्त सूक्ष्म हो, भीतर ही भीतर कोटर हों तथा जो मर्मस्थल पर विद्यमान हों उनपर पीडन करना चाहिये और पीडन स्नेहरहित कलाय (श्लो. ४०) आदि द्रव्यों का सब ओर—मध्य में मुख रखकर लेपन करके किया जाता है। पीडन के लिये जो लेपन किया जाता है उसे सूखने देना चाहिये जिससे व्रण शोथ का पीडन हो और पीडन लेप व्रण के मुखपर नहीं करना चाहिये किन्तु व्रण शोथ पर मुख होने के लिये स्थान छोड़ रखना चाहिये ऐसा करने से पूय आदि दोष निकल जाता है—निकलता रहता है।

पीडन द्रव्य—कलाय (खेसारी), जौ, गेहूँ, उरद, मूंग, तथा मटर और अन्यान्य पिच्छिल द्रव्यों की छालों तथा मूलों (तुलसी आदि के बीजों तथा चीढ़ आदि के गोन्द आदि, का लेपन प्रपीडन होता है अर्थात् उनका लेप करने से व्रण शोथ का प्रपीडन होता है ॥

वक्तव्य—न तु शुष्यत् उपेक्षितव्यं अन्यत्र पीडयितव्यात्, शुष्कं हि दाहोषाराग श्यावत्वशूलानि वर्द्धयति। अ. सं. उ. अ. ३० । अर्थात्—सूखते हुए लेप की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये परन्तु पीडन लेप की उपेक्षा करनी चाहिये। और पीडन के अतिरिक्त लेप की उपेक्षा करने से व्रण शोथ के दाह, ऊषा, राग, श्यावता तथा शूल की वृद्धि हो जाती है ॥३८-४०॥

क्षालन आदि कर्म—

सप्तसु क्षालनाद्येषु सुरसारग्वधादिकौ।
भृशं दुष्टे व्रणे योज्यौ मेहकुष्ठव्रणेषु च ॥४१॥
अथवा क्षालनं क्वाथः पटोलीनिम्बपत्रजः।

अविशुद्धे विशुद्धे तु न्यग्रोधादित्वगुद्भवः ॥ ४२॥
पटोलीतिलयष्ट्याह्व-त्रिवृद्दन्तीनिशाद्वयम् ।
निम्बपत्राणि चालेपः सपटुर्व्रणशोधनः ॥ ४३ ॥
व्रणान् विशोधयेद्वर्त्या सूक्ष्मास्यान् सन्धिमर्मगान् ।
कृतया त्रिवृतादन्तीलाङ्गलीमधुसैन्धवैः ॥ ४४ ॥
वाताभिभूतान् सास्रावान् धूपयेदुग्रवेदनान् ।
यवाज्यभूर्जमदन-श्रीवेष्टकसुराह्वयैः ॥ ४५ ॥
निर्वापयेद् भृशं शीतैः पित्तरक्तविषोल्वणान् ।

व्याख्या—क्षालन आदि सात व्रणोपचारों में सुरसादि गण तथा आरग्वधादि गण का उपयोग अत्यन्त दुष्ट व्रण में तथा प्रमेह पिडकाओं एवं कुष्ठ के व्रणों में करना चाहिये । अथवा—अशुद्ध व्रणमें परवल तथा निम्ब के पत्तों के क्वाथ का प्रक्षालन में प्रयोग करे और शुद्ध व्रण में वट आदि क्षीरी वृक्षों की छाल के क्वाथ का प्रयोग करे। आलेप—व्रण शोधन के लिये परवल के पत्र तथा लवण का लेप व्रण को शुद्ध करता है । वर्त्ति-बत्ती सूक्ष्म मुख वाले तथा सन्धि एवं मर्मस्थल के व्रणों का शोधन—निसोत, दन्तीमूल, कलिहारी, मधु तथा सेन्धव लवण के योग से बनाई गई बत्ती से करे । धूपन—वायु से व्याप्त, स्राव युक्त तथा तीव्र वेदना वाले व्रणों को जौ, घृत, मैनफल (अथवा मोम), गन्धा बिरोजा तथा देवदारु की धूप देवे । निर्वापण—जिन व्रणों में पित्त, रक्त अथवा विष विकार की अधिकता हो उनका अत्यन्त शीतल द्रव्यों के हिम आदि से निर्वापण—(दाह शमन) करे ॥

वक्तव्य—क्षालन आदि सात उपचार—देखिये श्लोक ३६-५१ ॥ ४१-४५ ॥

उत्सादन कर्म—

शुष्काल्पमांसे गम्भीरे व्रणे उत्सादनं हितम् ॥ ४६ ॥
न्यग्रोधपद्मकादिभ्यामश्वगन्धाबलातिलैः ।
अद्यान्मांसादमांसानि विधिनोपहितानि च ॥ ४७ ॥
मांसं मांसादमांसेन वर्धते शुद्धचेतसः ।

व्याख्या—जिस व्रण का मांस सूख गया हो तथा स्वल्प हो और व्रण गम्भीर-गहरा हो उस में उत्सादन कर्म करे । इस दशा में, न्यग्रोधादि गण तथा पद्मकादिगण (सू. अ. १५) के द्रव्य तथा असगन्ध, बलामूल एवं तिलों के क्षालन एवं लेपन करे और मांसाहारी प्राणियों के मांस को विधिपूर्वक पका कर खावे क्योंकि मांसाहारी प्राणी के मांस का भक्षण करने से मांस बढता है और इस दशा में रोगी का मन भी प्रसन्न एवं मैथुन आदि वासनाओं से तथा शोक क्रोध आदि से रहित होना चाहिये (मुक्त रहना चाहिये)।

वक्तव्य—उत्सादनं निम्नव्रणस्य उन्नतीकरणम्—अर्थात् उक्त प्रकार के व्रणों के गहरेपन को ऊँचा करना उत्सादन कहलाता है । इस उपचार से व्रण का गढ़ा भर जाता है और रोपण हो जाने पर व्रणस्थान गहरा नहीं रह जाता ॥ ४६-४७ ॥

अवसादन कर्म—

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम् ॥ ४८ ॥
जातीमुकुल-कासीस-मनोह्वाऽऽल-पुराऽऽग्निकैः ।

व्याख्या—जिन व्रणों में मांस उभरा हुआ तथा मृदु हो उनमें अवसादन नामक उपचार करे वह—चमेली की कलियों, कासीस, मैनसिल, हरताल, गूगल तथा चित्रक मूल की छाल के लेपन से करना चाहिये ।

वक्तव्य—अवसादनमुन्नतव्रणस्य निम्नत्वकरणं—अर्थात् ऊँचे व्रण को नीचा करना अवसादन कहलाता है । मांस कन्दी के निवारणार्थं अवसादन कर्म किया जाता है ॥ ४८ ॥

क्षारकर्म—

उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान्॥४९॥
व्रणान्सुदुःखशोध्यांश्च योजयेत्क्षारकर्मणा ।

व्याख्या—जो व्रण उभरे हुए मांस वाले, कठोर, कण्डुयुक्त तथा चिरकालीन हों और जिनका शोधन उपचारों से भी न हो रहा हो उनका शोधन क्षार कर्म से करे ।

वक्तव्य—क्षार कर्म का विवरण सू. अ. ३० में देखिये । क्षार लगाने से क्षारीय जल द्वारा धोने से उभरे हुए तथा सड़े हुए मांस का एवं पूय का शोधन हो जाता है और व्रण का रोपण प्रारम्भ हो जाता है ॥ ४९ ॥

अग्नि कर्म—

स्रवन्तोऽश्मरिजा मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ॥ ५० ॥
छिन्नाश्च सन्धयो येषां यथोक्तैर्ये च शोधनैः ।
शोध्यमाना न शुद्ध्यन्ति शोध्याः स्युस्तेऽग्निकर्मणा॥५१
शुद्धानां रोपणं योज्यमुत्सादाय यदीरितम् ।

व्याख्या—वस्ति-मूत्राशय के वे व्रण जिनमें से अश्मरी निकाल देने के पश्चात् मूत्र बह रहा हो, जिनमें से रक्त बह रहा हो-रोकने के अन्य उपाय करने पर भी न रुकता हो, सन्धि पर के छिन्न व्रण और जो उचित शोधनों-लेपादि शोधन उपचारों द्वारा शोधन कर्म करने पर भी शुद्ध न हो रहे हों उनका अग्निकर्म द्वारा शोधन करना चाहिये और शुद्ध होने पर रोपण कर्म का प्रयोग करे जो उत्सादन के लिये कहा गया है देखिये श्लोक ४७।

वक्तव्य—शोध्याः स्युः के स्थान में साध्याः स्युः पाठान्तर अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ॥ ५०-५१ ॥

रोपण लेप—

अश्वगन्धा रुहा रोध्रं कट्फलं मधुयष्टिका ॥ ५२ ॥
समङ्गाधातकीपुष्पं परमं व्रणरोपणम् ।

व्याख्या—असगन्ध, वृक्षवन्दा की छाल, लोध, कायफल, मुलेठी, मञ्जीठ तथा धाय के फूल का लेप करने से व्रण का रोपण होता है ॥ ५२ ॥

अन्य रोपण लेप—

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम् ॥ ५३ ॥
कल्कं संरोहणं कुर्यात् तिलानां मधुकान्वितम् ।
स्निग्धोष्णतिक्तमधुरकषायत्वैः स सर्वजित् ॥ ५४ ॥
सक्षौद्रनिम्बपत्राभ्यां युक्तः संशोधनं परम् ।
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चासौ युक्तः स्यादाशुरोपणः ॥५५॥
तिलवद्यवकल्कं तु केचिदिच्छन्ति तद्विदः ।

व्याख्या—जो व्रण मांस में स्थित हों और क्षार कर्म आदि द्वारा सड़ा मांस दूर कर देने पर भी जिनमें रोहण-रोपण न हो रहा हो उन पर तिल एवं मुलेठी का कल्क धर कर बाँध कर संरोहण कर्म करे। वह तिलकल्क-स्निग्ध, उष्ण, तिक्त, मधुर एवं कषाय होने से सर्व दोष शामक होता है और मधु एवं निम्बपत्रों से युक्त उच्चकोटि का शोधन होता है और वह मधु, निम्बपत्र तथा घृत से युक्त तिलकल्क व्रण का रोपण भी करता है। और कुछ आचार्यों का कथन है कि तिल कल्क के समान ही यव कल्क भी कार्य करता है ॥ ५३-५५ ॥

रोपण घृत एवं तैल—

सास्रपित्तविषागन्तु-गम्भीरान्सोष्मणो व्रणान् ॥ ५६ ॥

व्याख्या—रक्तज, पित्तज, विषज, आगन्तुज, गम्भीर तथा ऊष्मा युक्त व्रणों का रोपण-दुग्ध तथा रोपण द्रव्यों (उक्त असगन्ध आदि श्लोक ५३) के योग से सिद्ध घृत के लेप से करे। और कफज एवं वातज व्रणों का रोपण-रोपण औषधों के योग से सिद्ध किये गये तैल के अभ्यंग-लेप से करे ॥ ५६ ॥

रोपण लेप—

काञ्चीरोपणभैषज्य-शृतेनाऽऽज्येन रोपयेत् ।
रोपणौषधसिद्धेन तैलेन कफवातजान् ॥ ५७ ॥
काञ्ची रोध्राऽभया-सर्ज-सिन्दूराऽञ्जनतुत्थकम् ।
चूर्णितं तैलमदनैर्युक्तं रोपणमुत्तमम् ॥ ५८ ।

व्याख्या—फिटकिरी, लोध, हरड़, राल, सिन्दूर (नाग सिन्दूर) श्वेत सुरमा तथा तूतिया का सूक्ष्माति-सूक्ष्म चूर्ण ४ कर्ष बनाकर तैल मदन १६ कर्ष में मिलाकर रख लेवे। यह लेप उत्तम कोटि का रोपण है ॥

वक्तव्य—तैल ४ भाग और मोम १ भाग। तैल को कड़ाही में डाल कर उष्ण करे और मोम को कपड़ा में बाँधकर उसमें घुमावे जब मोम पिघल कर तैल में घुल जावे तब उतार कर शीतल कर लेवे। यह घृत के समान जम जाता है। इसका नाम तैल मदन अथवा मदन तैल है। इसका प्रयोग अभ्यङ्ग में तथा व्रण लेपों में (मलहमों में) किया जाता है ॥५७-५८॥

अवचूर्णन कर्म—

समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां चूर्ण इष्यते ।
ककुभोदुम्बराश्वत्थ-जम्बूकट्फलरोध्रजैः ॥ ५९ ॥
त्वचमाशु निगृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः ।

व्याख्या—जो व्रण रोपण आदि उपचारों द्वारा समतल हो गये हों, जिनका मांस स्थिर-दृढ़ हो गया हो और जो व्रण केवल त्वचा में ही हों जैसे घृष्ट व्रण उन पर चूर्ण का प्रयोग-अवचूर्णन कर्म लाभदायक होता है। यथा—अर्जुन, गूलर, पीपल, जामुन, कायफल तथा लोध की छाल पीस कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण बनाकर अवचूर्णन-अवधूलन करने से व्रण शीघ्र ही त्वचा ग्रहण कर लेते हैं—व्रण पर त्वचा का निर्माण हो जाता है।

वक्तव्य—अवचूर्णन अवधूलन का नाम है। व्रण पर किसी चूर्ण को बुरकना ही अवचूर्णन कहलाता है ॥ ५९ ॥

त्वचाशोधन लेप—

लाक्षामनोह्वामञ्जिष्ठा-हरितालनिशाद्वयैः ॥ ६० ॥
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परम् ॥

व्याख्या—लाख, मैनसिल, मञ्जीठ, हरिताल, हलदी तथा दारु हलदी की छाल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण को घृत एवं मधु में मिला कर लेप करे। यह लेप त्वचा को शुद्ध करता है—व्रण पर उत्पन्न होने वाली त्वचा की विकृति को दूर करता है (अथवा विकृति को उत्पन्न ही नहीं होने देता) ॥ ६० ॥

सवर्णकारक लेप—

कालीयक-लताऽम्रास्थि-हेमकालारसोत्तमैः ॥ ६१ ॥
लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परम् ।

व्याख्या—कालागुरु, प्रियंगु, आम की गरी, नाग केसर, मञ्जीठ तथा सैन्धव लवण का चूर्ण गोबर के स्वरस में मिलाकर लेप करे। यह लेप-व्रण की त्वचा पर उत्पन्न दाग को मिटा देता है—त्वचा का वर्ण शरीर के समान वर्ण वाला हो जाता है ॥ ६१ ॥

रोम सञ्जनन लेप—

दग्धो वारणदन्तोऽन्तर्धूमं तैलं रसाञ्जनम् ॥ ६२ ॥
रोमसञ्जननो लेपस्तद्वत्तैलपरिप्लुता ।
चतुष्पान्नखरोमास्थि-त्वक्शृङ्गखुरजा मषी ॥ ६३ ॥

व्याख्या—हाथी के दन्त को सम्पुट में धर कर काली भस्म बनावे और पीसकर तैल तथा-रसवत मिला कर लेप

करे अथवा चौपाया प्राणियों के नख (सिंह आदि के) लोम, अस्थि, त्वचा, सींग तथा खुर की उक्त विधि से अन्तर्धूम बनाई गई मसी तैल में मिला कर लेप करे। इस लेप से व्रणभूमि पर रोम उत्पन्न हो जाते हैं ॥

वक्तव्य—यदि व्रण पर श्वेत दाग पड़ जाय तो—

अयोरजः सकासीसं त्रिफला कुसुमानि च ।
प्रलेपः कुरुते कार्ष्ण्यं सद्य एव नवत्वचि ।

अर्थात्—तत्काल-त्वचा पुरानी होने के पूर्व—लोहभस्म, कासीस तथा त्रिफला के पुष्प का लेप करने से श्वेत स्थल काला हो जाता है ।

यदि व्रण पर काला दाग पड़ जाय तो—

कपित्थानां समुद्धृत्य मूत्रस्याऽऽजस्य पूरणम् ।
क्षिपेच्चास्मिन् मनोह्वाऽऽलं वंश निर्लेखरोचनाः ।
कासीसं प्रपुन्नाटं च मासं न्यस्तं ततो भुवि ।
अघोऽर्जुनस्य तत्कृष्णे व्रणे लेपः सवर्णकृत् ॥

अर्थात्—कैथ का गूदा निकाल देवे और उसमें बकरी का मूत्र भर देवे तथा मैनसिल, हरिताल, बांस के कण्टक, गोरोचन, कासीस तथा चकवड़ के बीज डाल कर अर्जुन वृक्ष के नीचे भूमि में दबा देवे एक मास के पश्चात् काले दाग पर लेप करने से काला दाग मिट जाता है । व्रण भूमि पर रोम नहीं उगते क्यों ? उनके मूल-लोम कूप नष्ट हो जाते हैं तथापि उक्त उपाय यदि रोपण के अनन्तर तत्काल किया जाय तो उग सकते हैं । और कभी व्रण रोपण के पश्चात् व्रण भूमि पर काले २ एवं मोटे २ बाल उग आते हैं उस दशा में लोम शातन कर्म करे यथा—शंख भस्म २ भाग तथा हरिताल १ भाग । दोनों सिरका अथवा काञ्जी में पीस कर लेप करने से बार २ जब २ बाल उगें तब लेप करने से बाल उखड़ जाते हैं और उनकी उत्पत्ति भी रुक जाती है ॥६२-६३॥

व्रणरोगी का पथ्य—

व्रणिनः शस्त्रकर्मोक्तं पथ्यापथ्यान्नमादिशेत् ।

व्याख्या—व्रण रोगी को शस्त्रकर्मविधि (सू. अ २९) में कहा गया पथ्य एवं अपथ्य बतला देवे और उसी के अनुसार आहार विहार किया जाय ॥

समान्य चिकित्सा निर्देश—

द्वे पञ्चमूले, वर्गश्च वातघ्नो, वातले हितः ॥ ६४ ॥
न्यग्रोधपद्मकाद्यौ तु तद्वत्पित्तप्रदूषिते, ।
आरग्वधादिः श्लेष्मघ्नः कफे, मिश्रस्तु मिश्रके ॥६५॥
एभिः प्रक्षालनाऽऽलेपघृततैल-रसक्रियाः ।
चूर्णा वर्तिश्च संयोज्या व्रणे सप्त यथायथम् ॥ ६६ ॥

व्याख्या - वातजनित व्रणों में—बृहद् पञ्चमूल तथा वातनाशक गण लाभदायक होता है । पित्त जनित एवं पित्तदूषित व्रण में—न्यग्रोधादि गण तथा पद्मकादि गण लाभदायक होता है । कफजनित व्रण में आरग्वधादि गण तथा कफ नाशक गण लाभदायक होता है । और दोषों के मिश्रण में उक्त सब द्रव्यों का मिश्रण लाभ करता है । उक्त गणों का व्रणों में दोषादि के अनुसार-१-प्रक्षालन, २-आलेप ३-घृत, ४-तैल, ५-रसक्रिया, ६-चूर्ण (अवचूर्णन) तथा ७-वर्ति के रूप में प्रयोग करे । अर्थात्-व्रण के ये ७ उपक्रम हैं ॥ ६४-६६ ॥

जात्यादि घृत

जातीनिम्ब-पटोलपत्रकटुका-दार्वीनिशा-सारिवा-
मञ्जिष्ठाऽभयसिक्थ-तुत्थ-मधुकैर्नक्ताह्वबीजान्वितैः।
सर्पिः साध्यमनेन सूक्ष्मवदना मर्माश्रिताः क्लेदिनो ।
गम्भीराः सरुजो व्रणाः सगतयः शुद्ध्यन्ति रोहन्ति च

व्याख्या—चमेली के, निम्ब के, परवल के पत्र, कुटकी, दारु हलदी की छाल, हलदी, सारिवा, मञ्जीठ, खस, मोम, भुना तूतिया तथा करञ्ज के बीज १-१ कर्ष और घृत ५२ कर्ष मिला कर पाक करे । इस घृत का लेप लगाने-बत्ती देने तथा पिचु धरने से छोटे २ मुखवाले व्रण, मर्मस्थलों में आश्रित व्रण , सड़न-पन्छा वाले व्रण, गम्भीर व्रण का शोधन भी होता है और रोपण भी होता है ॥

वक्तव्य—इसके निर्माण की विधि—मोम के अतिरिक्त सब द्रव्यों के कल्क के बड़े बनाकर तल देवे जब वे तैरने लगें तो निकाल देवे और मोम डाल कर पिघलने पर उतार लेवे।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

—:※:—

षड्विंशोऽध्याय: ।

अथाऽतः सद्योव्रणप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब सद्योजात व्रण की चिकित्सा का (थोडा उसके भेदों का भी) वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—सद्यो व्रण का वर्णन—च. चि अ. २५ में, सु. चि. अ. २ में और अ. सं. उ. अ. ३१ में देखिये ।

सद्यो व्रण का वर्णन—

सद्योव्रणा ये सहसा सम्भवन्त्यभिघाततः ।
अनन्तैरपि तैरङ्गमुच्यते जुश्रमष्टधा ॥ १ ॥
घृष्टाऽवकृत्त-विच्छिन्न-प्रविलम्बित-पातितम् ।
विद्धं भिन्नं विदलितं तत्र घृष्टं लसीकया ॥ २ ॥
रक्तलेशेन वा युक्तं, सप्तोषं च्छेदनात् स्रवेत् ।
अवगाढं ततः कृत्तं, विच्छिन्नं स्यात्ततोऽपि च ॥३॥

प्रविलम्बि त्वशेषेऽस्थ्नि, पातितं पतितं तनोः।
सूक्ष्मास्यशल्यविद्धं तु विद्धं कोष्ठविवर्जितम् ॥ ४ ॥
भिन्नमन्यद् विदलितं मज्जरक्तपरिप्लुतम्।
प्रहारपीडनोत्पेषात्सहास्थ्ना पृथुतां गतम् ॥ ५ ॥

व्याख्या—शस्त्र (तलवार, बर्छी, चाकू एवं सूई आदि) के अथवा अस्त्र (पत्थर एवं लाठी आदि) के आघात से व्रण हो जाते हैं वे "सद्यो व्रण" कहे जाते हैं। यद्यपि उन व्रणों के आकार असंख्य प्रकार के होते हैं तथापि उनसे युक्त शरीर या शरीर के अंग-प्रत्यंग आठ प्रकार के कहे जाते हैं यथा—१—घृष्ट, २—अवकृत्त, ३—विच्छिन्न, ४—प्रविलम्बित, ५—पातित, ६—विद्ध, ७—भिन्न तथा ८—विदलित। इनमें घृष्ट अंग वह कहलाता है जिसपर खरोंच से त्वचा फट जाती है और लसीका (त्वचाओं में रहनेवाला लसीला द्रव) निकलती हो और थोड़ा रक्त भी निकलता हो तथा कुछ दाह भी हो। उक्त घृष्ट से कुछ गहरी खरोंश का नाम "अवकृत्त" है। अवकृत्त से भी जो अधिक गहरी खरोंश होती है उसका नाम "विच्छिन्न" है। जिसमें त्वचा एवं मांस कट जाता है अस्थि बच जाती है उसका नाम "प्रविलम्बित" है। जो अंगप्रत्यंग कटकर शरीर से पृथक् हो जाता है उसका नाम "पातित" है जो अंग-प्रत्यंग—प्रहार से, पीडन से अथवा पिसने से रक्त, मज्जा से व्याप्त एवं अस्थि समेत पिस-पिचक जाता है—चिपटा हो जाता है उसका नाम "विदलित" है ॥

वक्तव्य—उक्त आठ प्रकार के व्रणों से युक्त अङ्ग की घृष्ट एवं अवकृत्त आदि संज्ञा है अथवा उक्त प्रकार के व्रणों की घृष्ट व्रण आदि संज्ञा है। विदलित का नाम "पिच्चित" भी है। व्रणमात्र का नाम "क्षत" या घाव है, अनेक प्रकार की आकृतिवाले व्रण इन्हीं ८ प्रकार के व्रणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। व्रणों की आकृतियाँ होती हैं यथा—आयत (चौड़ी), चतुरस्र (चौकोनी), त्र्यस्र (तिकोनी), मण्डली (गोल), अर्द्धचन्द्राकार, विशाल (लम्बी चौड़ी), कुटिल (टेढ़ीमेढ़ी) शराव के समान मध्य में गहरी, यव के समान मध्य भाग में चौड़ी तथा दोनों छोरोंपर पतली आदि २ प्रकार की आकृतिवाले व्रण होते हैं। विधिभेद से व्रण तीन प्रकार के होते हैं—१—दोषज व्रणशोथ जब पककर स्वयं फूटता है, २—चिकित्सक के शस्त्र प्रयोग से होता है और ३—अभिघात लगने से होता है ॥ १-५ ॥

चिकित्सा—सेचन—

सद्यः सद्योव्रणं सिञ्चेदथ यष्ट्याह्वसर्पिषा।
तीव्रव्यथं कवोष्णेन बलातैलेन वा पुनः ॥ ६ ॥

व्याख्या—सद्योव्रण में तत्काल—जब उसमें तीव्र वेदना हो रही हो मुलेठी के योग से सिद्ध तैल अथवा कोसे २ बला तैल का बारबार सेचन करे ॥ ६ ॥

लेपन आदि—

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं तत्कालं विसृतस्य च।
कषायशीतमधुरस्निग्धा लेपादयो हिताः ॥ ७ ॥

व्याख्या—आघात होते ही क्षत की ऊष्मा फैलने लगती है जो वेदना एवं दाह के रूप में अनुभूत होती है उसी से आगे चलकर पाक प्रारम्भ हो जाता है। इसे रोकने के लिये—कषायरसवाले, शीतल, मधुर रस एवं स्निग्ध लेप एवं सेचन आदि से लाभ होता है ॥ ७ ॥

सन्धान—

सद्योव्रणेष्वायतेषु सन्धानार्थं विशेषतः।
मधुसर्पिश्च युञ्जीत पित्तघ्नीश्च हिमाः क्रियाः ॥८॥

व्याख्या—आयत-विशाल सद्योव्रणों में सन्धान के लिये मधु एवं घृत के मिश्रण (दोनों को एक साथ फेंटकर) का प्रयोग-लेपन करे और सर्वपित्त शामक एवं शीतल उपचार करे जिस से पाक का प्रारम्भ न हो ॥८॥

शोधन आदि उपचार—

ससंरम्भेषु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम्।
उपतापो हितं मुक्तं प्रततं रक्तमोक्षणम् ॥ ९ ॥
घृष्टे विदलिते चैष सुतरामिष्यते विधिः।
तयोर्ह्यल्पं स्रवत्यस्रं पाकस्तेनाशु जायते ॥ १० ॥

व्याख्या—संरम्भ युक्त-भीषणतायुक्त-भयावने सद्यो व्रणों में वमन अथवा विरेचन से कोष्ठ शुद्धि करे अथवा उपवास करावे अथवा हित-पाकावरोधक आहार देवे तथा रक्तमोक्षण करे। इस प्रकार व्रण में पाक का प्रारम्भ नहीं होता अथवा बहुत थोड़ा होता है। और घृष्ट एवं विदलित में भी यही उपचार करे क्योंकि उनमें से रक्त का स्राव बहुत थोड़ा होता है फलतः प्रायः उनमें फिर पाक का प्रारम्भ हो जाता है ॥

वक्तव्य—पाक का आरम्भ रोकना अत्यावश्यक है। क्योंकि उससे दीर्घकाल पर्यन्त कष्ट भोगना पड़ता है ॥९-१०॥

स्नेहपान आदि उपचार—

अत्यर्थमस्रं स्रवति प्रायशोऽन्यत्र विद्यते।
ततो रक्तक्षयाद्वायौ कुपितेऽतिरुजाकरे ॥ ११ ॥
स्नेहपानपरीषेकस्वेदलेपोपनाहनम्
स्नेहबस्तिं च कुर्वीत वातघ्नौषधसाधितम् ॥ १२ ॥

व्याख्या—घृष्ट एवं विदलित के अतिरिक्त अन्यक्षतों में रक्त का स्राव प्रायः अधिक हो जाता है अतः उनमें—रक्त का क्षय हो जाने से—वायु कुपित होकर अत्यन्त भीषण वेदनाओं को उत्पन्न कर देता है इसलिये उस दशा में घृत आदि उपयुक्त स्नेह का पान तथा सेचन

करे और उसी से स्वेदन, लेपन तथा उपनाहन करे और स्नेह की ही वस्ति देवे जो वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध किया गया है ॥ ११-१२ ॥

कालनिर्देश—

प्रायः सामान्यकर्मेदं वक्ष्यते तु पृथक्पृथक् ।

व्याख्या—सद्योव्रण की यह सामान्य चिकित्सा कह दी गई और विशिष्ट चिकित्सा पृथक्-पृथक् कही जायगी ।

घृष्ट, अवकृत्त, विच्छिन्न एवं प्रविलम्बित की चिकित्सा—

घृष्टे रुजं निगृह्याशु व्रणे चूर्णानि योजयेत् ॥ १४ ॥
कल्कादीन्यवकृत्तेऽतु विच्छिन्नप्रविलम्बिनोः ।
सीवनं विधिनोक्तेन बन्धनं चानुपीडनम् ॥ १५ ॥

व्याख्या—घृष्ट व्रण में तत्काल यष्टिघृत अथवा बलातैल (श्लो० ६) के सेचन द्वारा वेदना को शान्त करके व्रणचूर्णों (अ० २५ का श्लो० ४८ देखिये) का प्रयोग करे । इस प्रकार क्षत सूख जाता है । अवकृत्त नामक व्रण में उपयुक्त कल्क एवं सेचन का प्रयोग करे । विच्छिन्न तथा प्रविलम्बित नामक व्रणों में—पूर्वोक्त विधि के अनुसार सीवन कर्म एवं बन्धन कर्म (सू० अ० २९ देखिये) करे और पीडन करके कटी हुई त्वचा आदि को यथास्थान बैठाने का प्रयत्न करे ॥ १४-१५ ॥

नेत्रगत सद्यो व्रणों की चिकित्सा—

असाध्यं स्फुटितं नेत्रमदीर्णं लम्बते तु यत् ।
सन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं भिषक् ॥ १६ ॥
पीडयेत् पाणिना पद्मदलाशान्तरितेन तत् ।
ततोऽस्य सेचने नस्ये तर्पणे च हितं हविः ॥ १७ ॥
विपक्वमाजं यष्ट्याह्व जीवकर्षभकोत्पलैः ।
सपयस्कैः परं तद्धि सर्वनेत्राभिघातजित् ॥ १८ ॥
गलपीडावसन्नेऽक्षि वमनोत्क्लेशनक्षवाः ।
प्राणायामोऽथवा कार्यः क्रिया च क्षतनेत्रवत् ॥ १९ ॥

व्याख्या—यदि आघात से नेत्रगोलक फूट गया हो तो यह असाध्य है उसको बचाया नहीं जा सकता नेत्रगोलक निकाल व्रण शामक उपचार करे । यदि फूटा न हो परन्तु बाहिर निकल कर लटक रहा हो और उसकी सिराऐं-बन्धन रज्जु टूट न गये हों तो उसे यथास्थान बैठाकर हाथ की हथेली से कमल की कोमल पंखुरियाँ नेत्रपर धर कर पीडन करे इतना दबावे जिससे वह यथास्थान बैठ जाय । तदनन्तर उसपर घृत का सेवन एवं तर्पण करे (देखिये सू० अ० २३ एवं २४) और नस्य देवे । परन्तु वह घृत बकरी का हो; मुलेठी, जीवक, ऋषभक तथा कमल के कल्क एवं बकरी के दूध के योग से सिद्ध किया गया हो क्योंकि वह घृत नेत्र पर होने वाले सब प्रकार के आघात जनित विकारों को शान्त करता है । यदि नेत्रगोलक आघात से अवसन्न अन्तःप्रविष्ट हो गया हो धँस गया हो तो गला दबावे तथा वमन देवे, खाँसने को कहे रोगी खाँसे, छींक करावे रोगी छींके अथवा रोगी प्राणायाम करे और सब उपचार क्षतनेत्र के समान करे । इस प्रकार धँसा नेत्रगोलक यथास्थान आ जाता है ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ११—

मुखवाष्पोष्णचैलेन स्विन्नं नयनमाहतम् ।
मरिचेनाऽम्बुपिष्टेन पिचुयुक्तेन पूरयेत् ।
दद्याच्चिपिक्तेन जले निशायां सर्पिषा सह ।
साऽस्रश्वयथुरुग्रागे शस्तं चक्षुषि सेचनम् ।
कार्या चाऽनुक्रिया शीता प्रलेपाश्च्योतनादिका ।

अर्थात्—नेत्रगोलक पर आघात हो जाय तो मुख की भाप से उष्ण वस्त्र से स्वेदन करे चुभने पर तो इसी से वेदना शान्त हो जाती है परन्तु यदि न हो तो मरिच (१ दाना मरिच) को जल में पीस कर और उस जल में रूई भिगो कर नेत्र में भर देवे इस प्रकार आँसू बहकर नेत्रगोलक हल्का हो जाता है उस पर शोथादि नहीं होते । और १० दाना मरिच को रात्रि में जल में भिगो देवे और प्रात: काल घृत (तथा मिशरी का चूर्ण अथवा खण्ड मिला कर) के साथ खिलावे । और यदि नेत्र में आघात लगने से अश्रुस्राव हो, शोथ हो, वेदना हो अथवा लालिमा हो तो नेत्र में सेचन करे तथा शीतल लेपन एवं आश्च्योतन आदि सब उपचार करे ॥१६-१९॥

कर्णशष्कुलीच्युति की चिकित्सा—

कर्णे स्थानाच्च्युते स्यूते स्रोतस्तैलेन पूरयेत्

व्याख्या—यदि खींचने आदि से कर्णशष्कुली अपने स्थान से च्युत हो जाय तो उसका सीवन करके कर्ण कुहर में वात नाशक तैल भर देवे और व्रणोपचार करे ॥

वक्तव्य—यह सद्योव्रण का प्रविलम्बित नामक भेद है च्युति का अर्थ अपने स्थान से केवल च्युत होना है पृथक् हो जाना नहीं ।

कृकाटिका छेदन चिकित्सा—

कृकाटिकायां छिन्नायां निर्गच्छत्यपि मारुते ॥२०॥
समं निवेश्य बध्नीयात् स्यूत्वा शीघ्रं निरन्तरम् ।
आजेन सर्पिषा चाऽत्र परिषेकः प्रशस्यते ॥२१॥
उत्तानेऽन्नानि भुञ्जीत शयीत च सुयन्त्रितः ।

व्याख्या—कृकाटिका कट जाने पर भले ही उसमें से होकर श्वास का वायु निकल रहा हो आ-जा रहा हो ता

भी तत्काल कटे भाग को यथास्थान बिठाकर और सीकर बकरी के दूध का निरन्तर सेचन करना चाहिये। और रोगी को चित लेटा रखना चाहिये तथा हिलने डुलने नहीं देना चाहिये और वह पड़ा-पड़ा लेटा-लेटा ही दूध एवं दलिया आदि आहार करता रहे।

वक्तव्य - तलवार आदि के आघात से यदि श्वास मार्ग कट जाय परन्तु सुषुम्णा युक्त कशेरुका अस्थियाँ सुरक्षित हों शिर लटक गया हो और श्वास का वायु कटे स्थान से निकल रहा हो रोगी जीवित हो तो तत्काल उक्त उपचार करने से जीवन रक्षा हो सकती है ॥२०-२१॥

शाखा के आघात की चिकित्सा

घातं शाखासु तिर्यक्स्थं गात्रे सम्यङ्निवेशिते ॥२२॥
स्यूत्वा वेल्लितबन्धेन बध्नीयाद् गाढवाससा।
चर्मणा गोष्फणाबन्धः कार्यश्चासङ्गते व्रणे ॥२३॥

व्याख्या—सक्थियों अथवा बाहुओं में यदि तिरछा आघात हो तो गात्र को यथास्थान भलीभाँति बिठाकर सीवन कर देवे और वेल्लितक बन्धन की विधि से गाढे वस्त्र की पट्टी से बन्धन कर देवे। और यदि अंसदेश पर व्रण हो तो चमड़ा से गोष्फणा बन्धन विधि से बन्धन करे।

वक्तव्य—यह सब चिकित्सा प्रविलम्बित नामक सद्योव्रण की ही है पातित की नहीं ॥२२-२३॥

विलम्बित मुष्क की चिकित्सा—

पादौ विलम्बिमुष्कस्य प्रोक्ष्य नेत्रे च वारिणा।
प्रवेश्य वृषणौ सीव्येत् सेवन्या तुन्नसंज्ञया ॥२४॥
कार्यश्च गोष्फणाबन्धः कट्यामावेश्य पट्टकम्।
स्नेहसेकं न कुर्वीत तत्र क्लिद्यति हि व्रणः ॥२५॥
कालानुसार्यगुर्वेलाजाती-चन्दन-पर्पटैः।
शिलादार्व्यमृतातुत्थैः सिद्धं तैलं च रोपणम् ॥२६॥

व्याख्या—यदि आघात से वृषण—अण्डकोश पर प्रविलम्बित व्रण हो जाय तो पावों एवं नेत्रों पर जल के छींटे देकर रोगी को सावधान—मूर्छित को प्रबुद्ध करके और अण्डों को यथास्थान बिठाकर स्थापित करके तुन्न नामक सीवन विधि से (देखिये सू० अ० २९ में सीवन योग्य व्रण तथा सीवन विधि) सीवन कर देवे। और कटि में कपड़ा लपेट कर उसकी सहायता से गोष्फणा बन्धन बांध देवे। इस व्रण पर स्नेह का सेचन नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वहाँ का व्रण क्लेदयुक्त हो जाता है सड़ने लगता है केवल रोपण के लिये कृष्ण सारिवा, अगुरु, इलायची, चमेली के पत्र एवं पुष्प, श्वेत चन्दन, पित्तपापडा, मैनसिल, दारु हल्दी की छाल तथा अमृतातुत्थ (मुरदासंग नाम से प्रसिद्ध द्रव्य) के योग से सिद्ध तैल लगाना चाहिये ॥२४-२६॥

पातित सद्योव्रण चिकित्सा—

छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन युक्तितः।
बध्नीयात् कोशबन्धेन ततो व्रणवदाचरेत् ॥२७॥

व्याख्या—यदि तलवार आदि के आघात से सक्थि अथवा बाहु अथवा कोई अंगुली सर्वथा कट कट कर शरीर से पृथक् हो गई हो तो युक्तिपूर्वक तैल द्वारा दग्ध करके कोशबन्ध नामक बन्धन कर देना चाहिये और व्रण रोपण के लिये उचित उपचार करना चाहिये।

वक्तव्य—कटा हुआ अङ्ग पुनः जुड़ नहीं सकता परन्तु रक्त प्रवाह रोकने के लिये तत्काल अग्नि कर्म करके कोश बन्धन बांध देना चाहिये फिर व्रण को सुखाने का उपाय कर देना चाहिये इस प्रकार कटी सक्थि वाला अथवा बाहु वाला अथवा अंगुली वाला होकर भी जीवन भर जीवित रह सकता है और शिर अथवा मध्य काय-अन्तराधि कट जाने पर तो मृत्यु ही हो जाती है ॥२७॥

विद्ध एवं विदलित व्रणों की चिकित्सा—

कार्या शल्याहृते विद्धे भङ्गाद्विदलिते क्रिया।
शिरस्थोऽपहृते शल्ये बालवर्तिं प्रवेशयेत् ॥२८॥
मस्तुलुङ्गस्रुते क्रुद्धो हन्यादेनं चलोऽन्यथा।
व्रणे रोहति चैकैकं शनैरपनयेत्कचम् ॥ २९ ॥
मस्तुलुङ्गस्रुतो खादेन्मस्तिष्कानन्यजीवजान्।
शल्ये हृतेऽङ्गादन्यस्मात्स्नेहवर्तिं निधापयेत् ॥३०॥
दूरावगाढाः सूक्ष्मास्या ये व्रणाः स्रुतशोणिताः।
सेचयेच्चक्रतैलेन सूक्ष्मनेत्रार्पितेन तान् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—विद्धनामक व्रण में शल्य निकाल कर, रक्त रोधन आदि व्रणरोपण पर्यन्त उचित उपचार करे। और विदलित नामक व्रण में भंग के समान उपचार करे जैसा अ. २७ में बतलाया गया है। शिर के विरुद्ध व्रण में शल्य निकाल कर, व्रण में बालों-केशों की बत्ती दे देवे जिस से उस व्रण मार्ग से मस्तु लुङ्ग का स्राव होने से वायु कुपित होकर रोगी को मार डालता है। और जब व्रण का रोपण होने लग जाय तब उस बत्ती में से एक २ बाल-केश को धीरे २ खींचकर निकालते जाना चाहिये। यदि बत्ती देने पर भी मस्तुलुङ्गका कुछ स्राव होता हो—हो रहा हो तो बकरा आदि प्राणियों के मस्तुलुङ्ग का भक्षण करना चाहिये। शिर के अतिरिक्त अन्यान्य अंग से शल्य को निकाल कर स्नेहस्निग्ध बत्ती दे देनी चाहिये। जो विद्ध व्रण—बहुत दूर तक गहरे हों, अथवा छोटे मुख वाले हों उनका शल्य निकाल कर, रक्त बह जाने के पश्चात् उन पर चक्र तैल-कोल्हू के तैल को नली में

भर कर सेचन करना चाहिये जिस से तैल व्रण के भीतर जा सके ॥

वक्तव्य—मस्तुलुङ्ग स्राव जनित मस्तुलुङ्ग क्षय में मस्तुलुङ्ग का भक्षण उसी प्रकार लाभप्रद होता है जैसे मांसक्षय में मांस भक्षण एवं रक्त क्षय में रक्त पान आदि लाभप्रद होते हैं। शिर के आघात से कपालास्थि टूट जाने पर भीतर से मस्तुलुङ्ग मज्जा का स्राव होने लगता है परन्तु यदि मस्तुलुङ्ग पर भी आघात हो जाता है तो तत्काल मृत्यु ही हो जाती है ॥२८-३१॥

भिन्न व्रण चिकित्सा—

भिन्न व्रण का वर्णन—

भिन्ने कोष्ठेऽसृजा पूर्णे मूर्च्छाहृत्पार्श्ववेदनाः ।
ज्वरो दाहस्तृडाध्मानं भक्तस्यानभिनन्दनम् ॥३२॥
सङ्गो विण्मूत्रमरुतां श्वासः स्वेदोऽक्षिरक्तता ।
लोहगन्धित्वमास्यस्य स्याद् गात्रे च विगन्धता ॥३३॥
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं जनयत्यपि ।
आध्मानेनाऽतिमात्रेण शूलेन च विशस्यते ॥३४॥
पक्वाशयस्थे रुधिरे सशूलं गौरवं भवेत् ।
नाभेरधस्ताच्छीतत्वं खेभ्यो रक्तस्य चागमः ॥३५॥
अभिन्नोऽप्याशयः सूक्ष्मैः स्रोतोभिरभिपूर्यते ।
असृजा स्यन्दमाने तु पार्श्वे मूत्रेण बस्तिवत् ॥ ३६ ॥
तत्राऽन्तर्लोहितं शीतपादोच्छ्वासकराननम् ।
रक्ताक्षं पाण्डुवदनमानद्धं च विवर्जयेत् ॥३७॥

व्याख्या—भिन्न व्रण होने पर तथा कोष्ठ में रक्त भर जाने पर मूर्च्छा, हृदय एवं पार्श्वों में वेदना, ज्वर, दाह, तृषा, अफरा, अरुचि, पुरीष, मूत्र एवं अपान वायु में रुकावट, श्वास, स्वेद, नेत्रों में लालिमा, श्वास में लोह कीसी गन्ध (तपा कर जल में बुझाए गये लोह की सी गन्ध) तथा शरीर में विकृत गन्ध । ये लक्षण सामान्य रूप से होते हैं। और विशेषतः—यदि आमाशय में रक्त का सञ्चय होता है तो रक्त की छर्दि होती है, अफरा होता है भीषण शूल होता है और रोगी अत्यन्त खिन्न हो जाता है। अथवा मर जाता है। यदि रक्त का सञ्चय पक्वाशय—मलाशय में होता है तो शूल होता है और पक्वाशय में एवं शरीर भर में भारीपन प्रतीत होता है, नाभि के निचले भाग में शीतता होती है और गुद मार्ग से रक्त का स्राव होता है। कभी २ भिन्न व्रण के बिना भी सूक्ष्म २ स्रोतों द्वारा रक्त स्यन्दन होते २ आशय रक्त से पूर्ण हो जाता है जैसे—मूत्र से वस्ति अथवा कोरा घड़ा मुख रोध करके जल में धरा हुआ। इन तीनों प्रकार के कोष्ठान्तर्गत रक्त सञ्चयों में जिस रोगी के पांव, श्वास-वायु, हाथ तथा मुख शीत हो गये हों, नेत्र लाल हों, मुख श्वेत हो तथा उदर में आनाह हो उस की चिकित्सा न करे क्योंकि वह असाध्य होता है ॥ ३२-३७ ॥

भिन्न व्रण की चिकित्सा—

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।
आध्मानेनाऽतिमात्रेण शूलेन च विशस्यते ॥ ३४ ॥
पक्वाशयस्थे रुधिरे सशूलं गौरवं भवेत् ।
नाभेरधस्ताच्छीतत्वं खेभ्यो रक्तस्य चागमः ॥ ३५ ॥
अभिन्नोऽप्याशयः सूक्ष्मैः स्रोतोभिरभिपूर्यते ।
असृजा स्यन्दमानेन पार्श्वे मूत्रेण बस्तिवत् ॥ ३६ ॥
तत्राऽन्तर्लोहितं शीतपादोच्छ्वासकराननम् ।
रक्ताक्षं पाण्डुवदनमानद्धं च विवर्जयेत् ॥ ३७ ॥
आमाशयस्थे वमनं हितं पक्वाशयाश्रये ।
विरेचनं निरूहं च निःस्नेहोष्णैर्विशोधनैः ॥ ३८ ॥
यवकोलकुलत्थानां रसैः स्नेहविवर्जितैः ।
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैन्धवसंयुताम् ॥ ३९ ॥
अतिनिःस्रुतरक्तस्तु भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक् ।

व्याख्या—यदि रक्तसञ्चय आमाशय में हो वमन द्वारा रक्त निकाल देवे और यदि पक्वाशय में रक्त सञ्चय हो तो विरेचन द्वारा अथवा स्नेह रहित एवं उष्ण द्रव्यों के निरूहण द्वारा रक्त निकाल देवे तत्पश्चात् जौ, बेर तथा कुलथी के स्नेह रहित जूस के साथ दलिया खाना अथवा सैन्धव लवण युक्त यवागू का पान लाभदायक होता है। और यदि रक्त बहुत निकल गया हो तो रक्त का पान होना चाहिये जिससे तत्काल शरीर में रक्त वृद्धि हो सके ॥

वक्तव्य—सु. चि. अ. २—

स्वमार्गं प्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः ।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः ॥ ५५ ॥

अर्थात्—उक्त प्रकार की वमन आदि तात्कालिक चिकित्सा तथा उक्त प्रकार के पथ्य सेवन से जब पुरीष, मूत्र एवं अपान एवं समान वायु अपने-अपने मार्गं में गतिशील हो जायँ और किसी प्रकार का आध्मान आदि कोई उपद्रव न रह जाय तथा कोष्ठ में भिन्न व्रण हो जाने पर रोगी के प्राण बच जाते हैं। यद्यपि यहाँ सीवन आदि का स्मरण नहीं किया गया है तथापि उचित उपचार करना आवश्यक है सम्भव है उन सीवन आदि उपचारों से जीवन बच जाय। देखिये निम्नलिखित भिन्नान्त्र का उपचार तथा देखिये श्लोक ॥ ३४-३६ ॥

अन्त्र के भिन्न व्रण—

क्लिन्नभिन्नान्त्रभेदेन कोष्ठभेदो द्विधा स्मृतः ॥ ४० ॥
मूर्च्छादयोऽल्पाः प्रथमे, द्वितीये त्वतिबाधकाः ।

क्लिन्नान्त्रे संशयो देही भिन्नान्त्रो नैव जीवति ॥४१॥
यथास्वं मार्गमापन्ना यस्य विण्मूत्रमारुताः।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवत्यसंशयम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—अन्त्र में भिन्न व्रण दो प्रकार से होता है १—अन्त्र के सड़ने से और २—अन्त्र के फटने से। प्रथम का नाम क्लिन्नान्त्र है और दूसरे का भिन्नान्त्र है। प्रथम अर्थात् क्लिन्नान्त्र में मूर्छा आदि लक्षण (देखिये श्लो० १५) स्वल्प मृदु होते हैं और दूसरे में अत्यन्त भीषण उग्र तीव्र दारुण होते हैं। प्रथम में रोगी की जीवन रक्षा सन्दिग्ध हो जाती है प्रायः मृत्यु हो जाती है और दूसरे में अवश्य मृत्यु हो जाती है। परन्तु यदि कोष्ठ में भिन्न व्रण होने पर उचित उपचार के द्वारा पुरीष, मूत्र एवं वायु अपने-अपने मार्ग में गतिशील हो जायँ और मूर्छा आदि कोई उपद्रव न हो तो रोगी की जीवन रक्षा अवश्य हो जाती है॥

वक्तव्य—क्लिन्नान्त्र वह अवस्था है जिसमें ग्रहणी रोग, पित्त ज्वर (टायफायड ज्वर) तथा अन्त्रशोथ आदि के परिणाम से अन्त्र सड़ जाती है—सड़ने लगती है। टायफायड को आजकल आन्त्रिक ज्वर कहते हैं और अन्य प्रकार से अन्त्र के सड़ने को अन्त्र क्षय कहते हैं। कभी अन्त्र में ग्रन्थियाँ-व्रण शोथ उत्पन्न हो जाते हैं और फिर पक जाते हैं परिणाम के विषय में चिकित्सक समाज भलीभाँति परिचित है अतिसार के असाध्य लक्षणों से भी परिचित है। और छिन्नान्त्र वह अवस्था है जिसमें बाहिर से भाला अथवा तलवार-छुरा आदि शस्त्र उदर की दीवार को चीरता हुआ अन्त्र में घुस जाता है फलतः अन्त्र फट जाती है। इस दशा में प्रायः तत्काल मृत्यु हो जाती है परन्तु यदि न हो तो निम्न लिखित उपचार से जीवन रक्षा हो सकती है। हाँ—उदर पर मुष्टि एवं दण्ड की चोट आदि आघात से भी अन्त्र पर शोथ हो जाता है आगे चल कर उस शोथ का पाक भी हो सकता है वह दशा भी क्लिन्नान्त्र कहलाती है। और कभी २ उदर की दीवार अधिक फट जाती है तो उस मार्ग से अन्त्र बाहिर भी निकल आती है ॥४०-४२॥

उदर गत भिन्नव्रण की चिकित्सा—

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं न त्वतोऽन्यथा।
उत्पिङ्गिलशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु ॥
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांसुभिः।
प्रवेशयेत्कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः ॥ ४४ ॥
क्षीरेणार्द्रीकृतं शुष्कं भूरिसर्पिःपरिप्लुतम्।
अङ्गुल्या प्रमृशेत्कण्ठं जलेनोद्वेजयेदपि ॥ ४५ ॥
तथान्त्राणि विशन्त्यन्तस्तत्कालं पीडयन्ति च
व्रणसौक्ष्म्यान्महत्त्वाच्च कोष्ठमन्त्रमनाविशत् ॥ ४६ ॥
तत्प्रमाणेन जठरं पाटयित्वा प्रवेशयेत्।
यथास्थानं स्थिते सम्यगन्त्रे सीव्येदनु व्रणम् ॥ ४७ ॥
स्थानादपेतमादत्ते जीवितं कुपितं च तत्।
वेष्टयित्वाऽनु पट्टेन घृतेन परिषेचयेत् ॥ ४८ ॥
पाययेत्तं ततः कोष्णं चित्रातैलयुतं पयः।
मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधः प्रवृत्तये ॥ ४९ ॥
अनुवर्तेत वर्षं च यथोक्तां व्रणयन्त्रणाम्।
उदरान्मेदसो वर्तिं निर्गतां भस्मना मृदा ॥ ५० ॥
अवकीर्य कषायैर्वा श्लक्ष्णैर्मूलैस्ततः समम्।
दृढं बद्ध्वाजसूत्रेण वर्धयेत्कुशलो भिषक् ॥ ५१ ॥
तीक्ष्णेनाग्निप्रतप्तेन शस्त्रेण सकृदेव तु।
स्यादन्यथा रुगाटोपो मृत्युर्वा छिद्यमानया ॥५२॥
सक्षौद्रे च व्रणे बद्धे सुजीर्णेऽन्ने घृतं पिबेत्।
क्षीरं वा शर्कराचित्रालाक्षागोक्षुरकैः शृतम् ॥ ५३ ॥
रुग्दाहजित्सयष्ट्याह्वैः परं पूर्वोदितो विधिः।
मेदोग्रन्थ्युदितं तत्र तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥५४॥

व्याख्या—यदि उदर में अधिक चौड़ा व्रण हो गया हो और अन्त्र का भेदन न हुआ हो पर अन्त्र बाहिर निकल आई हो तो—अन्त्र को निम्न लिखित विधि से भीतर प्रविष्ट कर देवे। और यदि अन्त्र भी फट गई हो तो उत्पिंगिलों (अर्थात् पिपीलिका सुश्रुत, मकोड़ा-मोगलीम कीड़ा पञ्जाबी भाषा) को शिर—मुख भाग से ग्रस्त करके-पकड़ा कर अन्त्र को भीतर-यथास्थान प्रविष्ट कर देवे। ऐसा कुछ आचार्यों (शल्य चिकित्सकों) का कथन है।

अन्त्र प्रवेश विधि—

कुशल चिकित्सक—कटे नख वाले हाथ से निकली हुई अन्त्र को, दूध से धोकर, तृण, शोणित एवं पांसु का लेप करके, और घृत लगाकर, धीरे २ अन्त्र को प्रविष्ट कर देवे। यदि अन्त्र सूखो हो तो—दूध से आर्द्र करके और पर्याप्त घृत लगाकर अन्त्र को प्रविष्ट कर देवे। और रोगी के मुख में अंगुली डाल कर कण्ठ का स्पर्श करे जिस से उसे उलटी होने को हो तथा जल के छींटे देकर रोगी को उद्विग्न करे जिससे उसे घुड़ घुड़ी आवे। ऐसा करने से अन्त्र भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और तत्काल अपने स्थान पर बैठ जाते हैं और यदि उदर का व्रण छोटा हो और अन्त्र अधिक निकल आई हो और व्रण छोटा होने के कारण अन्त्र उदर में प्रविष्ट न हो सकती हो तो उदर के व्रणको चीर कर बड़ा कर लेवे और अन्त्र को भीतर प्रविष्ट कर देवे। इस प्रकार अन्त्र प्रविष्ट होकर जब अपने स्थान पर बैठ जावे-भलीभाँति स्थिर हो जावे तब उदर के व्रण का सीवन कर क्योंकि यदि अन्त्र अपने

स्थान पर स्थित नहीं होता तो जीवन ले लेता है—मार डालता है। और स्वस्थान में स्थित होने पर भी अन्त्र में कुछ वेदना आदि हो तो उदर पर वस्त्र लपेटकर घृत सेचन करे और एरण्ड तैल मिश्रित कोसा २ दूध पिलावे इस से पुरीष मृदु हो जाता है और वायु की प्रवृत्ति नीचे की ओर हो जाती है फलतः अन्त्रों पर किसी प्रकार का दबाव नहीं पड़ता। और १ वर्ष पर्यन्त सू. अ. २९ में व्रण रोगी के लिये बतलाए गए आहार विहार का सेवन करे। यदि उदर का भेदन होने से उदर-गर्त में दो वर्त्ति निकल आते तो उस पर उपलों की भस्म अथवा मिट्टी बुरक कर अथवा हरीतकी आदि कषाय द्रव्यों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण बुरक कर और तदनन्तर मूल भाग में सूत्र द्वारा सम एवं दृढ बन्धन बान्धकर कुशलता पूर्वक, अग्नितप्त तीक्ष्ण शस्त्रद्वारा एक ही वार शीघ्रता पूर्वक उसे काट देवे-इस प्रकार छेदन कर्म के साथ दाह कर्म भी हो जाता है। अन्यथा (शीतल एवं कुण्ठित शस्त्र द्वारा तथा विलम्ब से) छेदन करने से वेदना एवं आटोप-शोथ अथवा मृत्यु हो जा सकती है। इस प्रकार छेदन के पश्चात्—व्रण पर मधु का लेप करके बन्धन कर देवे और भूख लगने पर रोगी घृत पीवे अथवा खण्ड, एरण्ड मूल की छाल, लाख, गोखरू तथा मुलेठी के योग से परिपक्व दूध पीवे इससे वेदना एवं दाह की शान्ति हो जाती है। तत्पश्चात्—१ वर्ष पर्यन्त सू. अ. २९ में व्रण रोगी के लिये बतलाए गए आहार विहार का तत्परता पूर्वक सेवन करे। और मेदोग्रन्थि की चिकित्सा (देखिये उ. अ. ३०) में कहा गया तैल अभ्यङ्ग में लाभ प्रद है॥

वक्तव्य—यह तैल मूल पुस्तक में उपलब्ध नहीं है परन्तु अ. सं. उ. अ. ३५ में इस प्रकार है—

गुञ्जाढ्किरञ्जतापसवृक्षवंशावलेखमूत्रसिद्धं तैलमभ्यङ्गः॥४३-४५॥

तालीसादि तैल—

तालीसं पद्मकं मांसीहरेण्वगुरुचन्दनम्।
हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः॥ ५५॥
पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम्।

व्याख्या—तालीसपत्र, पद्मकाष्ठ, जटामांसी, रेणुका बीज, अगुरु, लाल चन्दन, हलदी, दारुहल्दी की छाल, कमल बीज खस तथा मुलेठी के कल्क एवं क्वाथ के योग से सिद्ध तैल सद्यो व्रणों में उत्तम कोटिका रोपण है॥

वक्तव्य—सद्यो व्रणों में- वैद्य कृत तथा आघात कृत व्रणों में उक्त तालीसादि तैल सेचन एवं अभ्यंग करने से पाकारम्भ भी नहीं होता और रोपण प्रारम्भ हो जाता है।

सद्योव्रणों में चिकित्सा संकेत—

गूढप्रहाराभिहते पतिते विषमोच्चकैः॥ ५६॥
कार्यं वातास्रजित्तृप्तिमर्दनाभ्यञ्जनादिकम्।

व्याख्या—गहरे प्रहार का आघात होने पर तथा ऊँचे स्थान से गिर जाने पर-वातरक्त नाशक चिकित्सा करे और मांस रस आदि पुष्टि कारक आहारों द्वारा तृप्ति, उचित मर्दन एवं अभ्यङ्ग आदि का प्रयोग करे।

वक्तव्य—उक्त कारणों से मांसपेशियों, सिराओं कण्डराओं तथा स्नायु आदि पर आघात होता है फलतः शोथ होता जाता है और कभी २ वह शोथ भीतर पक जाता है भले ही त्वचा पर उस समय कोई व्रण नहीं होता इस लिये यदि उक्त कारणों से आहत स्थान पर कुछ भी वेदना हो तथा शोथ हो जाय तो उक्त उपचार करे॥५६॥

तैल द्रोणी का विधान—

विश्लिष्टदेहं मथितं क्षीणं मर्माहतातम्।
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशिनम्॥ ५७॥

व्याख्या—उक्त कारणों से यदि शरीर की सन्धियों का अथवा किसी सन्धि का विश्लेष हो गया हो अथवा शरीर मथ दिया गया हो-नियुद्ध में बलवान् प्रतिद्वन्द्वी द्वारा झकझोर दिया गया हो, अथवा शरीर अत्यन्त कृश हो चुका हो अथवा किसी मर्म स्थल पर आघात हो गया तो उस रोगी को तैल की द्रोणी में लेटा देवे जिस से शक्ति लाभ के साथ २ आरोग्य लाभ होता जाय और पुरीषोत्सर्ग आदि के लिये उठना न पड़े।

वक्तव्य—पशुओं को तो जल में लेटा देने से ही लाभ हो जाता देखा गया है। तैल द्रोणी में लेटने से पाकारम्भ नहीं होता और आहत अवयव स्वस्थ हो जाने पर स्वतः क्रियाशील हो जाता है॥५७॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने षड्विंशोऽध्यायः॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो भङ्गप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब अस्थिभङ्ग का वर्णन तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—भङ्ग का निदान सु. नि. अ. १५ में तथा उपचार सु. चि. अ. ३ में और अ. सं. उ. अ. ३२ में देखिये। सुश्रुत एवं अष्टांग संग्रह में भंग का नाम भग्न है।

भंग का निदान एवं उसके भेद—

पातघातादिभिर्द्वेधा भङ्गोऽस्थ्नां सन्ध्यसन्धितः।

प्रसारणाकुञ्चनयोरशक्तिः सन्धिमुक्तता ॥ १ ॥
इतरस्मिन् भृशं शोफः सर्वावस्थास्वतिव्यथा ।
असक्तिश्चेष्टितेऽल्पेऽपि पीड्यमाने सशब्दता ॥ २ ॥
समासादिति भङ्गस्य लक्षणं बहुधा तु तत् ।
भिद्यते भङ्गभेदेन, तस्य सर्वस्य साधनम् ॥ ३ ॥
यथा स्यादुपयोगाय तथा तदुपदेक्ष्यते ।

व्याख्या—पतन एवं प्रहार आदि कारणों से अस्थियों का अथवा अस्थि का भंग दो प्रकार का होता है। १—सन्धिस्थल से और २—काण्ड से । सन्धिभंग में—शरीर की प्रसारण क्रिया में असमर्थता तथा सन्धि का मुक्त हो जाना-सन्धान हट जाना । और दूसरे (काण्डभङ्ग) में. अत्यन्त भीषण शोथ, सब दशाओं में (लेटने-बैठने आदि में) अत्यन्त वेदना, थोड़ी भी चेष्टा करने में असमर्थता, दबाने पर कड़कड शब्द । यह दोनों प्रकार के भङ्ग का सामान्य लक्षण है यद्यपि वह भंग-भङ्गों के भेद से अनेक प्रकार का होता है उन सब की चिकित्सा जो उपयुक्त है, उसका उपदेश किया जायगा ॥

वक्तव्य—अ सं उ. अ. ६२—

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालदशनप्रभृतिभिः (प्रभृतिभिः) अभिघातविशेषैः अनेकविधं अस्थिभङ्गं उपदिशन्ति । तत्तु भग्नजातमसन्धौ सन्धौ च । तत्र सन्धिमुक्तं षड्विधम् । उत्पिष्टं, विश्लिष्टं अवक्षिप्तं तिर्यक्क्षिप्तं विवर्त्तितमिति तस्य सामान्यलक्षणम्—प्रसारणाऽऽकुञ्चन विवर्त्तनाऽऽक्षेपणाऽऽशक्तिः उग्ररुजता स्पर्शाऽसहिष्णुत्वं चेति । अथ उत्पिष्टे स्वस्थाने एव सन्धिपूभयतः शोफो वेदना विशेषतश्च रात्रौ भवति। विश्लिष्टे अल्पशोफो वेदना सातत्यं सन्धिविक्रियाच । अवक्षिप्ते सन्धिविश्लेषः तीव्रारुक् च अतिक्षिप्ते द्वयोः अपि सन्ध्यस्थ्नोः अतिक्रान्तता वेदना च तिर्यक्क्षिप्ते तु एकस्य अस्थ्नः पार्श्वतो गमनम् अत्यर्थवेदना च । विवर्त्तिते सन्धिपार्श्वगमनात् विषमाङ्गता वेदना च ।

असन्धिभग्नं पुनः द्वादशविधम्, तद् यथा—कर्कटं वक्रं, स्फुटितं, अस्थिच्छल्लिकं, अश्वकर्णं, पिच्चितं, चूर्णितं, दारितं, वेल्लितं, अतिपातितं, शेषितं, मज्जानुगतम् इति । श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनं विवर्त्तनं स्पर्शाऽसहिष्णुता च पीड्यमाने शब्दः स्रस्तांगता वेदनाऽतिप्रवृत्तिः सर्वासु अवस्थासु च शर्म न लभते इति साधारणं असन्धिभग्नरूपम् । वैशेषिकं च—सम्मूढमुभयतोऽस्थि अस्थिमध्ये भग्नं ग्रन्थिः इव उन्नतं कर्कटानुकारि कर्कटकम् आभुग्नं अविप्लुतं मस्थिवक्रम्, शूकपूर्णं मिव आध्मातं विपुलैःदारि स्फुटितम्, द्विधाभूतं वेल्लते प्रकम्पमानं वेल्लितकम्, पार्श्वतोऽस्थिहीने उद्गतेऽस्थि छल्लिका, अश्वकर्णवत् उद्गतमस्थि अश्वकर्णः, पृथुतां गतं अनल्पशोफं पिच्चितम्, अणु बहुदारि वेदनावच्च दारितम्, स्पृश्यमानं शब्दवत् चूर्णितम्, अस्थ्यवयवो अस्थिमध्यमनुप्रवेशी अतिपातितम्, अन्यतरपार्श्वाऽवशिष्टं शेषितम् क्षतं मुन्नं उन्नम्यमानं मज्जति मज्जानुगतम् । अर्थात्—गिरजाने से, पीडन (दबाव) से, दण्ड आदि के प्रहार से, धक्का लगने से अथवा सिंह आदि के दन्तों द्वारा मड़मड़ाने से—चबा देने से तथा इस प्रकार के अन्यान्य आघातों-चोटों से अनेक प्रकार के अस्थिभंग हो जाते हैं किन्तु वे सब विधि भेद से दो प्रकार के होते हैं १—वे जो सन्धिस्थल में होते हैं और २—वे जो अस्थि में होते हैं। सन्धिस्थल के भग्न का नाम सन्धि मुक्त है। इस भग्न में निम्नलिखित प्रकारों से संधि की अस्थियाँ सन्धान पर से हट जाती हैं। सन्धि मुक्त ६ प्रकार का होता है—१ उत्पिष्ट, २–विश्लिष्ट, ३–अवक्षिप्त, ४–अतिक्षिप्त ५–तिर्यक्क्षिप्त तथा ६–विवर्तित । इन भग्नों का सामान्य लक्षण-प्रसारण (पसारने), तथा आकुञ्चन (सिकोड़ने) में घुमाने एवं खींचने या दबाने में असमर्थता, भीषण वेदना तथा छूने में सहन का अभाव अत्यन्त कष्ट । इनके विशेष लक्षण—उत्पिष्ट में-स्थानीय सन्धि के दोनों पार्श्वों में शोथ और वेदना परन्तु वेदना रात्रि में बढ़ जाती है। विश्लिष्ट में-थोड़ा शोथ, निरन्तर वेदना और सन्धि के कार्य में विकृति । अवक्षिप्त में—सन्धि का विश्लेष तथा तीव्र वेदना । अतिक्षिप्त में—सधि की दोनों अस्थियों का अतिक्रमण तथा वेदना । तिर्यक् क्षिप्त में-सन्धि की एक अस्थि का एक ओर हो जाना और अत्यन्त वेदना । विवर्तित में-सन्धि की अस्थि एक ओर चली जाने से अंग की विषमता तथा वेदना। काण्ड भग्न १२ प्रकार का होता है यथा—१–कर्कटक, २—वक्र, ३—स्फुटित, ४–वेल्लित, ५ अस्थिच्छल्लिक, ६–अश्वकर्ण, ७–पिच्चित, ८–दारित, ९–चूर्णित, १०–अतिपातित, ११–शेषित तथा १२–मज्जानुगत । काण्डभग्न का सामान्य लक्षण—शोथ की अधिकता, कम्पन या कुछ हट जाना, घूम जाना, स्पर्श न सहना और दबाने पर शब्द, अंग की शिथिलता, वेदना की अधिकता और सभी दशाओं में सुख का अनुभव न होना अर्थात् किसी भी दशा में शान्ति लाभ न होना । काण्डभग्न के विशेष लक्षण—कर्कटक नामक भग्न में दोनों ओर से टूटी अस्थि के मध्यभाग में अस्थि का भाग केकड़ा नामक प्राणी की पीठ के समान उन्नत होना। वक्र नामक अस्थिभग्न में-अस्थि कुटिल-टेढ़ी हो जाती है परन्तु पृथक्-अलग नहीं होती । स्फुटित में-अस्थि फूट जाती है और उसमें शूक पूर्ण के समान प्रतीति होती है तथा आध्मान फुलाव होता है। वेल्लित में-अस्थि दो भागों मे विभक्त हो जाती है विचलित हो जाती है और वहाँ कम्पन होता है। अस्थिच्छल्लिक में—एक पार्श्व में अस्थि निम्न और एक पार्श्व में उन्नत हो जाती है जैसे काष्ठ पर छिलका । अश्व-

कर्ण में अस्थि का टुकड़ा अश्व-घोड़ा के कान का भाँ उन्नत हो जाता है। पिच्चित में—अस्थि पिचक जाती है फलतः चौड़ी हो जाती है और वहाँ अधिक शोथ हो जाता है। दारित में—अस्थि थोड़ी अथवा बहुत फट जाती हैं और वेदनायुक्त रहती है। चूर्णित में—अस्थि चूर २ हो जाती है और स्पर्श करने पर शब्द होता है। अतिपातित में—अस्थि का टुकड़ा अस्थि में प्रविष्ट हो जाता है शोणित में—अस्थि का कोई पार्श्व टूटने से बच जाता है और कोई टूट जाता है। मज्जानुगत नामक भग्न में—टूटा हुआ टुकड़ा अस्थि में जाकर अस्थिगत मज्जा में डूब जाता है॥ १-३॥

कष्टसाध्य अस्थिभङ्ग—

भाज्यागुदारि यत्त्वस्थि स्पर्शे शब्दं करोति यत्॥ ४॥
यत्रास्थिलेशः प्रविशेन्मध्यमस्थ्नो विदारितः।
भग्नं यच्चाभिघातेन किंचिदेवावशेषितम्॥ ५॥
उन्नम्यमानं क्षतवद्यच्च मज्जनि मज्जति।
तद्दुःसाध्यं कृशाशक्त-बालवृद्धाऽल्पाशिनामपि॥ ६॥

व्याख्या—जो अस्थि बहुत अथवा थोड़ी फट जाती है अर्थात् दारित नामक भंग, जो अस्थिभङ्ग स्पर्श करने पर शब्द करता है। अर्थात् चूर्णित नामक भङ्ग, जिस भङ्ग में अस्थि में अस्थि का टुकड़ा प्रविष्ट हो जाता है अर्थात्—अतिपातित भंग, जहाँ आघात लगने से अस्थि टूट जाती है परन्तु उसका कोई पार्श्व टूटने से बच जाता है अर्थात्—शोषित नामक भङ्ग और जो उठाने पर टूटे काला हो तथा मज्जा में डूब जाय अर्थात्—मज्जानुगत नामक भङ्ग, कष्ट साध्य होते हैं और कृश का, शक्तिहीन का, बालपीडित का तथा अल्प भोजी का कोई भी भङ्ग कष्ट साध्य होता है।

वक्तव्य—एषामन्त्यानि पञ्च कृच्छ्रसाध्यानि। कृशाऽतिबालवृद्धाऽसहानां अल्पाशनानां वातात्मकानां कुष्ठिनामुपद्रववतां च। अ. सं. उ. अ. ३२।

अर्थात्—अन्तिम ५ भङ्ग तथा कृश, बालक, वृद्ध, सुकुमार, अल्पभोजी, वात प्रकृति तथा कुष्ट रोगी का और उपद्रव युक्त भङ्ग कष्टसाध्य होता है—हो सकता है। अति बाल का कष्टसाध्य हो अथवा आवश्यक पथ्यादि का ध्यान न रहने के कारण कष्टसाध्य कहा गया हो वैसे तो देखा जाता है कि बालकों की टूटी अस्थि एवं खिसकी हुई सन्धि का सन्धान शीघ्र हो जाता है॥ ४-६॥

असाध्य भङ्ग—

भिन्नं कपालं यत् कट्यां सन्धिमुक्तं च्युतं च यत्।
जघनं प्रति पिष्टं च भग्नं यत्तद्विवर्जयेत्॥ ७॥
असंश्लिष्टकपालं च ललाटं चूर्णितं तथा।
यच्च भग्नं भवेच्छङ्खशिरः पृष्ठस्तनान्तरे॥ ८॥
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाद् दुर्निबन्धनात्।
संक्षोभादपि यद्गच्छेद्विक्रियां तद्विवर्जयेत्॥ ९॥
आदितो यच्च कुजातमस्थि सन्धिरथापि वा।

व्याख्या—यदि शिरः कपाल फूट गया हो, कटि की सन्धि मुक्त हो गई हो अथवा च्युत हो और जघनास्थि परिपिष्ट हो गई हो तो उसे त्याग देवे सन्धान का विफल प्रयत्न न करे। कपालास्थियों की सन्धि का विश्लेष हो गया हो-सन्धि मुक्त नामक भङ्ग हो गया हो, ललाटास्थि में चूर्णित भङ्ग हो गया हो और जो शंखास्थि में, शिर में, पीठ-पृष्ठ वंश के कशेरुओं में तथा उरोस्थि में जो भंग होता है वह भी असाध्य होता है। अस्थि का उत्तम न्यास (जोड़) न होने से अथवा उत्तम बन्धन न होने से अथवा हिल जाने से जो अस्थि विकृति (टेढे मेढे पन) को प्राप्त हो जाती है उसे भी त्याग देवे—चिकित्सा न करे। और जो अस्थि अथवा अस्थिसन्धि जन्म से ही टेढ़ी मेढ़ी होती है उसे सुधारने का भी विफल प्रयत्न न करे॥

वक्तव्य—देखिये श्लोक २४ का वक्तव्य॥७-९॥

अस्थिभेद से भंग भेद—

तरुणास्थीनि भुज्यन्ते भुज्यन्ते नलकानि तु॥ १०॥
कपालानि विभिद्यन्ते स्फुटन्त्यन्यानि भूयसा।

व्याख्या—आघात आदि से—तरुण नामक अस्थि टेढ़ी हो जाती हैं, नलक नामक अस्थियाँ टूट एवं फट जाती हैं, कपाल नामक अस्थियाँ फट जाती है और रुचक नामक अस्थियाँ तथा वलयनामक अस्थियाँ प्रायः फूट जाती हैं॥ १०॥

सन्धिमुक्त चिकित्सा—

अथावनतमुन्नम्यमुन्नतं चावपीडयेत्॥ ११॥
आञ्छेदतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तयेत्।
आञ्छनोत्पीडनोन्नाम-चर्मसंक्षेपबन्धनैः॥ १२॥
सन्धीन् शरीरगान्सर्वान् चलानप्यचलानपि।
इत्येतैः स्थापनोपायैः सम्यक् संस्थाप्य निश्चलम्॥१३॥
पट्टैः प्रभूतसर्पिर्भिर्वेष्टयित्वा सुखैस्ततः।
कदम्बोदुम्बराश्वत्थ-सर्जार्जुनपलाशजैः॥ १४॥
वंशोद्भवैर्वा पृथुभिस्तनुभिः सुनिवेशितः।
सुश्लक्ष्णैः सुप्रतिस्तम्भैर्वल्कलैः शकलैरपि॥ १५॥
कुशाह्वयैः समं बन्धं पट्टस्योपरि योजयेत्।

व्याख्या—सन्धिगत भंग में—अवनत अस्थि को उन्नत करे, उन्नत को दबाकर अवनत करे, अतिक्षिप्त को खींच कर मिलावे, अधोगत को ऊपर ले आवे। इस प्रकार आकर्षण, उत्पीडन, उन्नमन, मांस पेशियों के संकोचन अथ च बन्धन नामक उपायों द्वारा शरीर की चल एवं अचल सन्धियों को यथा स्थान भलीभाँति

स्थापित करे जिससे वे विचलित न हों तदर्थ—मुलकर चक्रपट्टियों से बन्धन कर देवे और उस पर पर्याप्त घृत का सेचन करता रहे और बन्धन के ऊपर कुश नामक फट्टियाँ धर कर बन्धन कर देवे। फट्टियाँ—कदम्ब वृक्ष की, गूलर वृक्ष की, पीपल वृक्ष की, साल वृक्ष की, अर्जुन वृक्ष की, पलाश वृक्ष की अथवा बाँस की लकड़ी की बनावे जो १–२ अंगुल चौड़ी हों, पतली (१–२ सूत मोटी) हों तथा सुन्दर एवं श्लक्ष्ण (रन्दा से रन्दी गई) हों तथा दृढ़ हों और इस कार्य के लिये—कदम्ब आदि की छाल का भी उपयोग किया जाता है। और उन पट्टियों को भंग स्थान के सब ओर धर कर ऊपर से वस्त्र की पट्टियों का बन्धन कर देना चाहिये। इन पट्टियों को शल्य शास्त्र में "कुश" कहते हैं।

वक्तव्य—इन का एवं इस प्रकार के बन्धन का उपयोग शाखाओं की अस्थियों के भंग में किया जाता है। और नलकास्थियों के भंग में विशेषतः किया जाता है। कदम्ब आदि के काष्ठ फट्टियाँ धर कर बन्धन करने से सन्धान टेढ़ा मेढ़ा नहीं होता ॥ ११–१५ ॥

बन्ध का महत्त्व—

शिथिलेन हि बन्धेन सन्धेः स्थैर्यं न धार्यते ॥ १६ ॥
गाढेनातिरुजादाह्पाकश्वयथुसम्भवः ।

व्याख्या—यदि बन्धन शिथिल—ढीला रहता है तो सन्धि का सन्धान स्थिर नहीं होता और यदि बन्धन गाढ़ (अत्यन्त कसा हुआ) होता है तो वेदना, दाह, पाक अथवा शोथ की उत्पत्ति हो जाती है इस लिये समबन्धन करना चाहिये ॥ १६ ॥

बन्धन परिवर्त्तन—

त्र्यहात्त्र्यहादृतौ घर्मे सप्ताहान्मोक्षयेद्धिमे ॥ १७ ॥
साधारणे तु पञ्चाहाद् भङ्गदोषवशेन वा ।

व्याख्या—उष्ण ऋतुओं में तीन दिन पर, शीत ऋतुओं में सात सात दिन पर और साधारण अर्थात् सम शीतोष्ण काल में पांच पांच दिन पर खोलना चाहिये और अथवा भङ्गगत वातादि दोष के विचार से बन्धन खोलना बदलना चाहिये।

वक्तव्य—बन्धन खोलकर और उस स्थान को स्वच्छ करके पुनः बन्धन कर देना चाहिये ॥ १७ ॥

सेचन एवं लेपन—

न्यग्रोधादिकषायेण ततः शीतेन सेचयेत् ॥ १८ ॥
तं पञ्चमूलपक्वेन पयसा तु सवेदनम् ।
सुखोष्णं वावचार्यं स्याच्चक्रतैलं विजानता ॥ १९ ॥
विभज्य देशं कालं च वातघ्नौषधसंयुतम् ।
प्रततं सेकलेपांश्च विदध्याद् भृशशीतलान् ॥ २० ॥

व्याख्या—बन्धन के पश्चात् तथा सन्धि का सन्धान करने के पश्चात्—न्यग्रोधादि गण (सू. अ. १५) के शीत-कषाय का सेचन करे। यदि वेदना हो तो बिल्वादि पञ्च-मूल के योग से पक्व दूध का सेचन करे। अथवा-कोल्हू के तेल को कोसा करके सेचन करे। और उष्ण, शीत एवं साधारण देश एवं काल के अनुसार वातनाशक द्रव्यों के योग से सिद्ध किये गये तैल का सेचन करे। और यथा सम्भव अत्यन्त शीतल सेचनों एवं लेपनों का प्रयोग करना चाहिये जिससे पाक का प्रारम्भ न हो ॥

वक्तव्य—वातघ्नौषधसंयुतम् पाठ के स्थान में सु. चि. अ. ३ में दोषघ्नौषधसंयुतम् पाठ है जो अधिक युक्ति-संगत तथा प्रकरणानुकूल है ॥ १८–२० ॥

भग्न में लाक्षा योग—

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम् ।
प्रातः प्रातः पिबेद्भग्नः शीतलं लाक्षया युतम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—सब प्रकार के भङ्ग में प्रथम प्रसूता गौ के दूध को मुलेठी आदि मधुर औषधों के योग से सिद्ध करके, घृत एवं लाख का चूर्ण मिलाकर तथा शीतल करके प्रति-दिन प्रातः काल पीना चाहिये ॥

वक्तव्य—विधिभेद से भङ्ग दो प्रकार का होता है—१–अव्रण तथा २-सव्रण। अव्रण में यद्यपि अस्थि टूट फूट जाती है तथापि बाहिर कोई व्रण नहीं होता। ऊपर उसी की चिकित्सा लिखी गई है और सव्रण भंग में अस्थि भग्न के साथ २ त्वचा एवं मांस आदि भी क्षतविक्षत हो जाते हैं ।२१

सव्रण भग्न चिकित्सा—

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणो मधुघृतोत्तरैः ।
कषायैः प्रतिसार्योऽथ शेषो भङ्गोदितः क्रमः ॥ २२ ॥
लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ।
सन्दधीत व्रणान् वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् ॥ २३ ॥
तान्समान्सुस्थिताञ्ज्ञात्वा फलिनीरोध्रकट्फलैः ।
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत् ॥ २४ ॥
धातकीरोध्रचूर्णैर्वा रोहन्त्याशु तथा व्रणाः ।

व्याख्या—व्रणयुक्त भङ्ग में अस्थि को पूर्वोक्त विधि (श्लोक ८–९) से यथा स्थान स्थापित करके, व्रण पर कषाय द्रव्यों का चूर्ण मधु एवं घृत में फेंट कर प्रति सारण करे लगावे और शेष सब चिकित्सा आहार विहार आदि भङ्ग के समान करे। और यदि व्रण के मांस एवं त्वचा लम्बे २ हों तो उनको जोड़ कर यथास्थान बैठा कर घृत एवं मधु के मिश्रण का लेप करके उपयुक्त बन्धन लगा देवे। जब वे व्रण समतल एवं सुस्थित हो जायें तब उन पर प्रियंगु, लोध, कायफल, मञ्जीठ तथा धाय के फूलों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण बुरकना चाहिये।

अथवा धाय के फूलों तथा लोध की छाल का चूर्ण बुरकना चाहिये। इस प्रकार व्रणों का रोपण शीघ्र हो जाता है ॥ २२-२४ ॥

उपसंहार

इति भङ्ग उपक्रान्तः स्थिरधातोर्ऋतौ हिमे ॥ २५ ॥
मांसलस्याल्पदोषस्य सुसाध्यो दारुणोऽन्यथा।

व्याख्या—इस प्रकार चिकित्सा करने से नवयुवक रसादि धातुओं से परिपूर्ण, मांससार पुष्ट एवं दृढ बलवान् तथा अल्प दोष वाले मानव का, शीत ऋतु में भंग सुख साध्य होता है अन्यथा कष्ट साध्य ॥२५॥

सन्धान स्थिरता की अवधि—

पूर्वमध्यान्तवयसामेकद्वित्रिगुणैः क्रमात् ॥ २६ ॥
मासैः स्थैर्यं भवेत्सन्धेर्यथोक्तं भजतो विधिम्।

व्याख्या—उक्त चिकित्सा विधि का सेवन करने से सन्धि मुक्त एवं काण्ड भग्न की सन्धि (सन्धान जोड़) बालक की १ मास में, युवक की दो मास और वृद्ध की तीन मास में स्थिर हो जाती है ॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ३२ —

विश्लिष्टोत्पिष्टयोः सन्धिमेवमेवाऽपघट्टयेत्।

उपाचरेत् यथास्वं च विसर्पादीन् उपद्रवान्।

अर्थात्—विश्लिष्ट एवं उत्पिष्ट नामक सन्धिमुक्त का सन्धान इसी प्रकार करे और यदि कदाचित् वहाँ विसर्प आदि उपद्रव उत्पन्न हो जायें तो उनकी शास्त्रानुसार चिकित्सा करे ॥२६॥

कपाट शयन—

कटी, जंघा तथा ऊरु के भग्न की चिकित्सा—

कटीजङ्घोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ॥ २७ ॥
यन्त्रणार्थं तथा कीलाः पञ्च सार्या निबन्धनाः।
जङ्घोर्वोः पार्श्वयोर्द्वौ द्वौ तल एकश्च कीलकः ॥ २७ ॥
श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा।
विमोक्षे भग्नसन्धीनां विधिमेवं समाहरेत् ॥ २९ ॥

व्याख्या—यदि कटि में, जंघा में अथवा ऊरु में भंग हुआ हो तो—"कपाटशयन" लाभप्रद होता है। कटिभंग में रोगी को, जंघा एवं ऊरु के भंग में सक्थि को कपाट पर लेटा दिया जाता है और उसके यन्त्रण के लिये—कपाट (तख्ता) पर—५ कील होने चाहिये जिनसे शरीर हिलडुल न सके। जंघा एवं ऊरु के पार्श्व में दो दो कील हों और एक कील पाँव के तल के पास हो। और कटीभंग में पृष्ठवंश के भंग में, वक्षस् के भंग में अथवा अक्षकास्थि के भंग में (अस्थिभग्न एवं सन्धिमुक्त में)—भी इसी प्रकार दो-दो कील पार्श्वों में तथा एक शिर की ओर हो। उक्त प्रकार का कपाट शयन सन्धिमुक्त नामक भंग में तथा काण्ड भग्न नामक भंग में उपयुक्त होता है ॥

वक्तव्य—कपाटपर कील इसलिये लगाये जाते हैं जिससे टूटे अवयव का चलन न हो—वह किसी प्रकार हिलने न पावे। और उन कीलों के साथ-साथ बन्धन भी लगाना चाहिये जिससे किसी प्रकार भी, किसी दशा में भी टूटा हुआ तथा मुक्त अवयव हिल न सके। और आहार-विहार सब भग्न के समान होना चाहिये। मूत्रोत्सर्ग एवं पुरीषोत्सर्ग पड़े २ ही करना होता है ॥२७-२९॥

पुराने भंग की चिकित्सा—

सन्धींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान्स्विन्नान् मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च यथास्वं स्थानमानयेत् ॥ ३० ॥

व्याख्या—पुराने सन्धिमुक्त नामक भंग को प्रथम—स्नेहन एवं स्वेदन द्वारा मृदु कर लेवे फिर पूर्वोक्त स्थापनोपायों द्वारा, कुशलतापूर्वक, अस्थियों को अपने स्थान पर ला देवे ॥ ३० ॥

रूढ काण्ड भग्न की चिकित्सा—

असन्धिभग्ने रूढे तु विषमोल्बणसाधिते।
अपोथ्य भङ्गं यमयेत्ततो भग्नवदाचरेत् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—यदि काण्ड भग्न—टेढ़ा-मेढ़ा अथवा ऊँचा-नीचा सन्धान होकर रूढ हो गया हो - जुड़ गया हो तो उस सन्धान को तोड़कर समीचीन बन्धन कर देवे और सब उपचार भग्न के समान करे ॥

वक्तव्य—यद्यपि श्लोक ६ के अनुसार बन्धन आदि के दोष से जो भग्न टेढ़ा-मेढ़ा जुट जाता है वह असाध्य माना जाता है और होता भी है असाध्य ही क्योंकि मर्दन आदि किसी भी उपचार से वह सीधा नहीं हो सकता तथापि यदि वहीं से पुनः भग्न हो जाय अथवा बलपूर्वक भग्न कर दिया जाय और समीचीन बन्धन आदि उपचार किये जायँ तो वह टेढ़ापन आदि दोष से मुक्त हो सकता है ॥ ३१ ॥

पाक रोकने का प्रयत्न

भग्नं नैति यथा पाकं प्रययेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायुः सन्धिः श्लेषं न गच्छति ॥३२॥

जिस प्रकार भग्न स्थान पर पाक का प्रारम्भ न हो उस प्रकार प्रयत्न करना चिकित्सक का परम कर्त्तव्य है क्योंकि—वहाँपर मांस, सिरा एवं स्नायु का पाक हो जाने पर भग्न का सन्धान नहीं होता ॥ ३२ ॥

भग्न में पथ्य एवं अपथ्य—

वातव्याधिविनिर्दिष्टान् स्नेहान् भग्नस्य योजयेत्।
चतुःप्रयोगान् बल्यांश्च बस्तिकर्म च शीलयेत् ॥३३॥
शाल्याज्यरसदुग्धाद्यैः पौष्टिकैरविदाहिभिः।
मात्रयोपचरेद्भग्नं सन्धिसंश्लेषकारिभिः ॥ ३४ ॥

ग्लानिर्न शस्यते तस्य, सन्धिविश्लेषकृद्धि सा।
लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम्।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षं च भोजनम्॥ ३५॥

व्याख्या—भग्न रोग में—वात व्याधि चिकित्सा (चि. अ. २१) में कहे गये स्नेहों का प्रयोग—पान में, नस्य में, अभ्यंग में तथा अनुवासन वस्ति में करे उनसे बल लाभ होता है। और वस्ति कर्म (सू. अ. १९ में कहा गया २० वस्तियों) का विधि पूर्वक प्रयोग करे।

आहार में—शालि धान्यों का, घृत का, मांस रस का तथा दूध आदि अन्यान्य जो पुष्टिकारक हों तथा जो विदाहकारी न हों उन पदार्थों का और जो सन्धि एवं अस्थि का सन्धान करनेवाले हों उन पदार्थों का मात्रा पूर्वक प्रयोग करे जिनसे बल मांस की वृद्धि हो क्योंकि—भग्न रोग में दुर्बलता एवं कृशता प्रशस्त नहीं है कारण उससे सन्धान का संश्लेष नहीं होता और उलटे विश्लेष हो सकता है। और भग्न में—लवण, कटु पदार्थ, क्षार, अम्लरस, मैथुन, अग्नि एवं धूप के सन्ताप, व्यायाम तथा रूक्ष भोजन का सेवन नहीं होना चाहिये॥ ३३-३५॥

गन्ध तैल—

कृष्णांस्तिलान् विरजसो दृढवस्त्रबद्धान्
सप्त क्षपा वहति वारिणि वासयेत।
संशोषयेदनुदिनं, प्रविसार्य चैतान्।
क्षीरे तथैव, मधुकक्वथिते च तोये॥ ३६॥
पुनरपि पीतपयस्कांस्तान् पूर्ववदेव शोषितान् बाढम्।
विगततुषानरजस्कान् संचूर्ण्य सुचूर्णितैर्युञ्ज्यात्॥३७॥
नलदवालकलोहितयष्टिकानखमिशिप्लवकुष्ठबलात्रयैः।
अगुरुचन्दनकुंकुमसारिवासरलसर्जरसाऽमरदारुभिः॥
पद्मकादिगणोपेतैस्तिलपिष्टं ततश्च तत्।
समस्तगन्धभैषज्यसिद्धदुग्धेन पीडयेत्॥ ३९॥
शैलेयरास्नांशुमतीकसेरुकलानुसारीनतपत्ररोध्रैः।
सक्षीरशुक्लैः सपयस्कदूर्वैस्तैलं पचेत्तन्नलदादिभिश्च॥
गन्धतैलमिदमुत्तममस्थिस्थैर्यकृज्जयति चाशु विकारान्।
वातपित्तजनितानतिवीर्यान्व्यापिनोऽपि विविधैरुपयोगैः।

व्याख्या—धूलि रहित काले तिलों को दृढ़ वस्त्र में बाँधकर, चलते पानी में रात्रि को धर देवे और दिन में बिछाकर सुखा लेवे इस प्रकार सात रात्रियों में जल में धरे, और दिन में सुखा लेवे फिर वैसे ही दूध में रात्रि भर भिगोवे और दिन में बिछाकर सुखावे फिर इसी प्रकार मुलेठी के क्वाथ में भिगो २ कर प्रति दिन सुखावे, इसी प्रकार फिर एक रात्रि भर दूध में भिगो कर दिन में भलीभाँति सुखा लेवे फिर कूटकर उनका तुष-छिलका उतार देवे और पछाड़ कर स्वच्छ कर लेवे और कूट कर चूर्ण कर लेवे और उसमें जटामांसी, नेत्र बाला, मञ्जीठ, नख, सौंफ, सुगन्ध मोथा, कूट, बलामूल, अतिबलामूल, नागबलामूल, अगुरु, लालचन्दन, केशर, सारिवा, चीढ का बुरादा, राल, देवदारुका बुरादा तथा पद्मकादि गण के द्रव्य कूट पीस कर मिला देवे। फिर कोल्हू में डाल कर और समस्त (यथा लाभ) सुगन्धि-द्रव्यों के योग से सिद्ध दूध के छींटे दे देकर पीडन करे और जो तैल निकले उसमें छरीला, रासना, शालपर्णी, कसेरू, कृष्णसारिवा, तगर, तेजपत्ता, लोध, क्षीर विदारी तथा श्वेत दूब तथा उल्लिखित जटामांसी आदि द्रव्यों का कल्क (तैल से चतुर्थांश) और दूध (तैल से चतुर्गुण) मिलाकर पाक करे यह उत्तम कोटि का गन्धतैल है। यह गन्ध तैल—अस्थि को स्थिर करता है, वातपित्तजनित सभी भीषण रोगों को जीतता है और पान, नस्य, अभ्यङ्ग तथा सेचन आदि में प्रयोग करने से सर्वशरीरव्यापी रोगों को नष्ट करता है॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ३२—

सामान्यं साधनमिदं विशिष्टं वक्ष्यते ततः।
नखसन्धि समुत्पिष्टं रक्ताऽनुगतमारया।
अत्रमथ्य स्रुते रक्ते शालिपिष्टेन लेपयेत्॥
भग्नान् सन्धिविमुक्तांश्च कृत्वा पूर्ववदंगुलीन्।
तन्तुनाऽऽवेष्टचपट्टेन घृतसेकं प्रयोजयेत्॥
मुशलेन उत्क्षिपेत् कक्षां अंससन्धौ विसंगते।
स्थानस्थितं च बध्नीयात् स्वस्तिकेन समाहितः॥
कोर्परं तु भिषक् सन्धि अगुष्ठेनाऽनुमार्जयेत्।
अनुमृज्य ततः सन्धि पीडयेत् कूर्परात् च्युतम्।
प्रसार्याऽऽकुञ्चयेत् चैनं स्नेहसेकं च कारयेत्॥
मणिबन्धे च जानौ च गुल्फे चैवं क्रियाक्रमः॥
उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः।
बध्नीयात् आमतैलेन परिषेकं च कारयेत्।
प्राक् गोमयस्य पिण्डं वा धारयेत् मृण्मयं ततः।
हस्ते जातबले कार्यं क्रमात् पाषाणधारणम्॥
सन्नमुन्नामयेत् स्विन्नमक्षकं मुशलेन तु।
तथा उन्नतं पीडयेत बध्नीयात् निबिडं ततः॥
ऊरुवत् च विधातव्यं बाहुभंगे प्रसाधनम्॥
ग्रीवायां तु विवृत्तायां प्रविष्टायामथाऽपि वा।
अवटौ अथ हन्वोस्तु प्रगृह्योन्नमयेत् ततः।
समं कुशाभिः बध्नीयात् उत्तानं शाययेत् तम्॥
हन्वस्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंगते।
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीबन्धमाचरेत्।
घृतं वातघ्नमधुरैः सिद्ध नस्यं च पूजितम्॥
दन्तान अभग्नान् चलितान् सरक्तान् अवपीडयेत्।

वयस्थस्याऽम्बुभिः शीतैः परिषिच्य प्रलेपनैः ।
बहिर्निर्वापणैरन्तः सन्धानीयैः उपाचरेत् ।
बलाद्वयशृते क्षीरे पद्मकादि शृतं घृतम् ।
नस्यगण्डूषयोः योज्यं चलद्द्विजहितानि च ।
कल्कितैः तद्विधैः चास्य दन्तमांसानि लेपयेत् ।
त्रीन् मासान् मृदु भुञ्जीत रसान्नं कठिनान् त्यजेत् ॥
नासां निवृत्तां सन्नां वा ऋजुं कृत्वा शलाकया ।
प्रत्येकतः ततो नाडीं द्विमुखीं सम्प्रवेशयेत् ॥
ततः पट्टेन संवेष्टय घृतसेकं प्रदापयेत् ।
भग्नं कर्णं घृताभ्यक्तं न्यस्य बन्धेन योजयेत् ।
सद्यः क्षतविधानं तु ततः पश्चात् समाचरेत् ॥

अर्थात्—अष्टाङ्गहृदय के उक्तपाठ में भग्नों का सामान्य साधन कहा गया है और अष्टांग संग्रह के अनुसार विशिष्ट साधन इस प्रकार हैं—यदि नख की सन्धि उत्पिष्ट हो गई हो तथा रक्त से लथपथ हो तो उस नख को आरा नामक शस्त्र से काट देवे और नख भूमि को लेप के योग्य नंगी कर लेवे फिर रक्त स्राव हो लेने पर शालिधान्यों का लेप करे इस प्रकार वहाँ नूतन नख आ जाता है यदि अंगुली की अस्थि टूट जाय अथवा सन्धिमुक्त हो जाय तो पूर्ववत् अर्थात् पूर्वोक्त सन्धान विधि से जोड़ करके, कपड़ा लपेट कर डोरा बन्धन कर देवे और उस पर घृत का सेचन करता रहे। यदि अंस (काँख-कच्छ) की संधि मुक्त हो गई हो तो कक्षा में मूसल का शिर देकर ऊपर को उठावे इस प्रकार बाहु का ऊर्ध्व भाग अपने स्थान पर स्थित हो जाता है ऐसा हो जानेपर स्वस्तिक बन्धन कर देवे और घृत का सेचन करे। यदि कोहनी की सन्धि मुक्त हो जाय तो उसे अंगूठा द्वारा मले और मलते २ स्थान से च्युत अस्थि को अपने स्थान में बैठा देवे और बाहु को पसारे आकुञ्चित करे जब प्रसारण एवं आकुञ्चन होने लगे तब बन्धन करके स्नेह का सेचन करे। इसी प्रकार—मणि बन्ध के भग्न में, जानु एवं गुल्फ के भग्न में भी उपचार करे। यदि हस्ततल (हथेली) अथवा पादतल में भंग हो गया हो तो—तल प्रदेश की अस्थियों को समतल करके बन्धन कर देवे और आम तैल (कोल्हू के तेल—कच्चे तैल) का सेचन करता रहे जब सन्धान स्थिर हो जाय तब हाथ में प्रथम गोबर का पिण्ड और फिर-मिट्टी का ढेला धारण करे और जब हाथ में कुछ बल आ जाय तब क्रमशः पाषाण-गोल एवं श्लक्ष्ण पत्थर का धारण करे। यदि अक्षक नामक अस्थि मुक्त हो जाने पर सन्न-अवनत हो जाय तो उसे स्वेदन करके ऊपर उठावे और यदि उन्नत हो जाय तो मूसल के शिर के भार से पीडन करके अवनत-स्वभावस्थ करदेवे और गाँठ बन्धन करके स्नेह का सेचन करे। बाहु (प्रगण्ड) के भंग में ऊरु के समान और प्रकोष्ठ के भंग में जंघा के समान सब उपचार करे। यदि ग्रीवा घूर्म गई हो अथवा अन्तराधि की ओर धँस गई हो। जैसे शिर के बल गिरने पर अथवा शिर पर अधिक भार उठाने पर होता है) तो अवटु (गल) और हनु से पकड़ कर सीधा कर देवे और ऊपर उठा देवे तत्पश्चात् कुशाओं (फट्टियों-पाटियों देखिये श्लो० ६) को धर कर बन्धन कर देवे और रोगी को चित लेटा देवे (तब तक जब तक सन्धान स्थिर हो जाय। यदि हनुओं की सन्धि मुक्त हो जाय तो स्वेदन कर के हनुकी अस्थियों को दबाकर स्वस्थान पर लाकर फिर स्वेदन करे और पञ्चांगी नामक बन्धन कर देवे तथा वात नाशक द्रव्य एवं मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध घृत की नस्य देता रहे। यदि युवक के दन्त आघात (गिरने अथवा मुष्टि के आघात) से हिल जायँ परन्तु टूट न गये हों तो जब तक उनमें से रक्तस्राव हो ही रहा हो तभी उन को दन्तोलूखलों में दबा देवे—अपने २ स्थान पर जमा देवें और तत्पश्चात् शीतल जल का सेचन करके, बाहिर एवं मुख के भीतर मसूड़ों पर दाहशामक शीतल द्रव्यों के लेप करे और सन्धान करने वाले द्रव्यों के गण्डूष आदि द्वारा उपचार करे। यथा—बला एवं अति बला का क्वाथ ४ सेर, पद्मकादि गण (सू. अ. १५) का कल्क १ पाव तथा गो घृत १ सेर मिला कर घृत सिद्ध करे और इस का प्रयोग नस्य एवं गण्डूष में करे इससे हिले दन्त स्थिर हो जाते हैं और दन्तों को स्थिर करने वाले प्रति सारण आदि का प्रयोग करे तथा इसी प्रकार के द्रव्यों को पीस कर दन्त वेष्टों (मसूड़ों) पर लेप करे और तीन मास पर्यन्त पतले मांसरस आदि के साथ मृदु आहार करे और चना आदि कठोर पदार्थ न चबावे। यदि किसी प्रकार से आघात से नासा टेढी हो गई हो अथवा बैठ गई हो तो नासा को शलाका यंत्र द्वारा सीधी करके और श्वास प्रश्वास के लिये उसके दोनों नासा पुटों में दोनों ओर मुख वाली (खोखली) दो नलियाँ प्रविष्ट करके, वस्त्र की पट्टी लपेट कर बन्धन करके घृत का सेचन करता रहे। यदि कर्ण (बाह्य कर्ण-कर्ण शष्कुली) उखड़ गया हो तो उसे तत्काल अपने स्थान पर बैठा कर और घृत चुपड़ कर बन्धन कर देवे और सद्योव्रण के समान उपचार करे (देखिये अ. २६)। सु. चि. अ. ३—

पतनात् अभिघातात् वा शूनमङ्गं यदक्षतम् ।
शीतान् प्रदेहान् सेकान् च भिषक् तत्राऽवचारयेत् ४७

अर्थात्—यदि गिरने-पड़ने से अथवा किसी प्रकार को आघात लगने से कोई अवयव सूज जाय और वहाँ

किसी प्रकार का क्षत घाव न हो तो वहाँ—शीतल लेप एवं सेचन करे। और—

कल्पयेत् निर्गतं शुष्कं व्रणान्तेऽस्थि समाहितः।
सन्ध्यन्ते वा, क्रियां कुर्यात् सव्रणे व्रणभग्नवत् ॥५१॥

अर्थात्—यदि व्रण के अन्तिम प्रदेश में सूखी अस्थि निकल आई हो तो उसे वहाँ से अथवा सन्धि के अन्तिम भाग में (सन्धि पर से नहीं) काट देवे और सव्रण भग्न के समान उपचार करे।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो भगन्दरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब भगन्दर रोग का और उसकी चिकित्सा का वर्णन करेंगे। इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—भगन्दर रोग का वर्णन सु. नि. अ. ४ एवं चि. अ. ८ में और अ. सं. उ. अ. ३३ में और च. चि. अ. १२ में देखिये।

भगन्दर का वर्णन—

हस्त्यश्वपृष्ठगमनकठिनोत्कटकासनैः।
अर्शोनिदानाभिहितैरपरैश्च निषेवितैः ॥ १ ॥
अनिष्टाऽदृष्टपाकेन सद्यो वा साधुगर्हणैः।
प्रायेण पिटिकापूर्वो योऽङ्गुले द्व्यङ्गुलेऽपि वा ॥ २ ॥
पायोर्व्रणोऽन्तर्बाह्यो वा दुष्टासृङ्मांसगो भवेत्।
बस्तिमूत्राशयाभ्यास-गतत्वात्स्यन्दनात्मक ॥ ३ ॥
भगन्दरः स, सर्वांश्च दारयत्यक्रियावतः।
भगबस्तिगुदांस्तेषु दीर्यमाणेषु सूरिभिः ॥ ४ ॥
वातमूत्रशकृच्छुक्रं खैः सूक्ष्मैर्वमति क्रमात्।
दोषैः पृथग्युतैः सर्वैरागन्तुः सोऽष्टमः स्मृतः ॥ ५ ॥
अपक्वं पिटिकामाहुः पाकप्राप्तं भगन्दरम्।
गूढमूलां ससंरम्भां रुगाढ्यां रूढकोपिनीम् ॥६॥
भगन्दरकरीं विद्यात् पिटिकां न त्वताऽन्यथा।

व्याख्या—काठी अथवा गद्दी के विना हाथी एवं घोड़ा आदि की पीठ पर यात्रा करने से, काष्ठ आदि के आसन पर बैठने से, पावों के भार बैठने से अर्श के हेतुओं का सेवन करने से, अन्यान्य अपथ्यों का सेवन करने से, पूर्वजन्म कृत पापों का उदय होने से अथवा सत्पुरुषों की निन्दा करने से, अन्यान्य अपथ्यों का सेवन करने से, पूर्व जन्म कृत पापों का उदय होने से अथवा सत्पुरुषों की निन्दा करने से प्रायः गुद के एक अंगुल अथवा दो अंगुल आस पास पिडिका (फुड़िया) उत्पन्न हो जाती है और पकने पर उसका व्रण भीतर की ओर होता है अथवा बाहिर की ओर। वह पिटिका दूषित रक्त एवं मांस में होती है और बस्ति नामक मूत्राशय के समीप होने के कारण उसमें से स्यन्दन-स्राव होता रहता है। इस दशा में उस पिटिका का नाम "भगन्दर" है। यदि तत्काल उचित उपचार न किया जाय तो वह सब प्रकार का भगन्दर भग, बस्ति एवं गुद का दारण कर देता है। और उन अवयवों का दारण हो जाने पर क्रमशः छोटे छोटे अनेक छिद्रों में से अपान वायु, मूत्र, पुरीष एवं शुक्र का निर्गमन होने लगता है। संख्या—भगन्दर आठ प्रकार का होता है—१–वातज, २–पित्तज, ३–कफज, ४–वातपित्तज (परिस्रावी), ५–वातकफज (ऋजु), ६–पित्तकफज (अर्शोज), ७–त्रिदोषज (शम्बूकावर्त्त) तथा, ८–आगन्तुज (क्षतज)। उक्तपिटिका जब तक पकती और फूटती नहीं है तब तक पिटिका कहलाती है परन्तु जब वह पक जाती और फूट जाती है तब भगन्दर कही जाती है। जो पिटिका–गहरे मूल वाली, उठाववाली, वेदना युक्त तथा भीषण कोप– ज्वर आदि उपद्रवों वाली होती है वह भगन्दर रोग करने वाली होती है और इसके विपरीत जो होती है वह "पिटिका" ही कहलाती है॥

वक्तव्य—अर्थात् गुद के आस पास की सभी पिटिका भागन्दरी पिडिका नहीं होतीं। सु. नि. अ. ४—तेषां पूर्वरूपाणि—कटीकपालवेदना, कण्डूः, दाहः शोफश्च गुदस्य भवति। अर्थात् भगन्दर के पूर्वरूप—कटी की कपालास्थियों में वेदना, गुदप्रदेश में कण्डू, दाह एवं शोथ ॥१-४॥

भगन्दर का विशिष्ट वर्णन—

तत्र श्यावारुणा तोदभेदस्फुरणरुक्करी ॥ ७ ॥
पिटिका मारुतात् पित्तादुष्ट्रग्रीवावदुच्छ्रिता।
रागिणी तनुरूष्माढ्या ज्वरधूमायनान्विता ॥ ८ ॥
स्थिरा स्निग्धा महामूला पाण्डुः कण्डूमती कफात्।
श्यावा ताम्रा सदाहोषा घोररुग् वातपित्तजा ॥ ९ ॥
पाण्डुरा किञ्चिदाश्यावा कृच्छ्रपाका कफानिलात्।
पादांगुष्ठसमा सर्वदोषैर्नानाविधव्यथा ॥ १० ॥
शूलारोचकतृड्दाह-ज्वरच्छर्दिरुपद्रुता।

व्याख्या—वातज भागन्दरी पिटिका का लक्षण—इसका वर्ण साँवला तथा अरुण-कालापन लिये लाल होता है। इसमें व्यथा, भेदन कीसी वेदना फरफराहट तथा वेदना होती रहती है। पित्तज भागन्दरी पिटिका–यह ऊँट की ग्रीवा के समान उठी हुई, लालिमा युक्त, पतली, दाहयुक्त, तथा ज्वर युक्त होती है रोगी को प्रतीत होता है जैसे उसमें से धूम निकल रहा हो। कफज भागन्दरी पिटिका–यह–

कठोर, चिकनी, बड़े मूलवाली (चकलीदार) श्वेत तथा कण्डूयुक्त होती है। वातपित्तज भागन्दरी पिटिका—यह साँवली एवं ताम्र की सी लाल, दाह एवं सन्ताप से युक्त तथा भीषण वेदना वाली होती है। वात कफज भागन्दरी पिटिका—यह श्वेत तथा कुछ साँवली होती है और कष्ट के साथ विलम्ब से पकती है। पित्तकफज पिटिका का वर्णन श्लोक १५ में देखिये। त्रिदोषज भागन्दरी पिटिका—यह पावँ के अंगूठा कीसी मोटी होता है और इसमें उक्त तीनों दोषों के समान नाना प्रकार की वेदना होती हैं और शूल, अरुचि, तृषा, दाह, ज्वर तथा छर्दि नामक उपद्रव होते हैं ॥ ७-१० ॥

शत पोनक आदि के लक्षण—

व्रणतां यान्ति ताः पक्वाः प्रमादात् तत्र वातजाः ॥११॥
दीर्यतेऽणुमुखैश्छिद्रैः शतपोनकवत् क्रमात्।
अच्छं स्रवद्भिरास्रावमजस्रं फेनसंयुतम् ॥ १२ ॥
शतपोनकसंज्ञोऽयम् उष्ट्रग्रीवस्तु पित्तजः।
बहुपिच्छापरिस्रावी परिस्रावी कफोद्भवः ॥ १३ ॥
वातपित्तात् परिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतिः।
जायते परितस्तत्र प्राकारपरिखेव च ॥ १४ ॥
ऋजुर्वातकफादृज्व्या गुदो गत्या तु दीर्यते।
कफपित्ते तु पूर्वोत्थं दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः ॥ १५ ॥
अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान् भवेत्।
स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्मूलमर्शसः ॥ १६ ॥
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शो भगन्दरः।
सर्वजः शम्बुकावर्तः शम्बुकावर्तसन्निभः ॥ १७ ॥
गतयो दारयन्त्यस्मिन् रुग्वेगैर्दारुणैर्गुदम्।
अस्थिलेशोऽभ्यवहृतो मांसगृद्ध्या यदा गुदम् ॥१८॥
क्षिणोति तिर्यङ्निर्गच्छन्नुन्मार्गं क्षततो गतिः।
स्यात्ततः पूयदीर्णायां मांसकोथेन तत्र च ॥ १९ ॥
जायन्ते कृमयस्तस्य खादन्तः परितो गुदम्।
विदारयन्ति न चिरादुन्मार्गी क्षतजश्च सः ॥ २० ॥

व्याख्या—उचित उपचार न करने से वे पिटिका पक कर और फूटकर व्रण का रूप धारण कर लेती हैं। उनमें जो वातज पिटिका होती है वह जब फूटती है तब उसमें चलनी के समान छोटे २ मुखवाले अनेक छिद्र दिखाई पड़ते हैं फिर उनमें से स्वच्छ एवं फेनयुक्त स्राव निरन्तर बहता है। इसका नाम "शतपोनक" है। जो भगन्दर पित्त से होता है वह "उष्ट्रग्रीव" कहलाता है। जो कफ से उत्पन्न होता है उसका नाम "परिस्रावी" है उसमें से अधिक परिमाण में पिच्छिल स्राव होता रहता है। वातपित्त जनित भगन्दर का नाम "परिक्षेपी" है उसमें गुदमार्ग से सब ओर कोट की खाई के समान घेरकर गति (नाडी व्रण नासूर) उत्पन्न हो जाती है। वात कफ जनित भगन्दर का नाम ऋजु है इस व्रण की गति सरल सीधी होती है जिससे गुद फट जाता है।

अर्शोज भगन्दर—इसमें अर्श को आश्रय बनाकर अर्शांकुर के मूल में कफ एवं वायु कुपित हो जाते हैं फलतः वहाँ शोथ हो जाता है और उसपर कण्डू तथा दाह आदि होते हैं और वह शोथ—शीघ्र ही पककर फूट जाता है तथा अर्श के मूल को सड़ा देता है जिससे उसमें से सदा छिद्रों द्वारा स्राव होता रहता है। इसका नाम "अर्शोभगन्दर" है।

शम्बूकावर्त्त—यह त्रिदोषजनित होता है और इसके व्रण का आकार शंखों के आवर्त्त का सा होता है इसमें अनेक गतियाँ (छिद्र) गुद, बस्ति एवं भग को फाड़ देती हैं और वेगयुक्त वेदनाएँ होती हैं।

उन्मार्गी भगन्दर—यदि कोई मांसाहारी मांस के साथ २ अस्थि का टुकड़ा निगल जाता है तो वह कभी २ निकलते समय तिरछा होकर गुदवलियों में क्षत कर देता है और उस क्षत से पाक होकर वहाँ गति (नाडी व्रण—नासूर) हो जाती है फिर वहाँ मांस की सड़न से पूय भरा रहता है और और उसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं और वे गुद प्रदेश को खाते २ सब ओर से विदीण कर देते हैं इस प्रकार यह शीघ्र ही क्षत जनित उन्मार्गी भगन्दर भीषण रूप धारण कर लेता है ॥

वक्तव्य—इस प्रकार यह आठ प्रकार का भगन्दर कहा गया है। भगवान् धन्वन्तरि ने ५ प्रकार का माना है यथा—वातपित्तश्लेष्मसन्निपाताऽऽगन्तुनिमित्ताः शतपोनक उष्ट्रग्रीव परिस्रावि शम्बूकावर्त्त उन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च-भगन्दरा भवन्ति। ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणात् "भग-न्दरा" इति उच्यते ॥ ३ ॥ भग मैथुनोपयोगी अवयव का नाम है जो नर एवं नारी में होता है इसकी प्रेरणा से ही उन दोनों में मैथुन की अभिलाषा होती है अतएव भगन्दर में से होकर शुक्र का स्राव होने लगता है। भगन्दर गुदप्रदेश का नाडी व्रण है ॥ ११-२० ॥

लक्षण संकेत—

तेषु रुग्दाहकण्ड्वादीन् विद्याद् व्रणनिषेधतः।

व्याख्या—भगन्दरों में—वेदना, दाह एवं कण्डू आदि लक्षणों को व्रणप्रतिषेधाऽध्याय २५ के अनुसार समझ लेना चाहिये। अर्थात् उस व्रण के समान ही इस व्रण में भी वेदना आदि लक्षण होते हैं ॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

घट्कृच्छ्रसाधनास्तेषां, निचयक्षतजौ त्यजेत् ॥ २१ ॥

प्रवाहिणीं वलीं प्राप्तं सेवनीं वा समाश्रितम् ।

व्याख्या—इन आठ भगन्दरों में ६ भगन्दर कष्ट साध्य होते हैं और त्रिदोषज तथा क्षतज भगन्दर असाध्य होते हैं और जो भगन्दर प्रवाहणी वलि तथा सेवनी में आश्रित होता है वह भी असाध्य होता है ॥ २१ ॥

भगन्दर चिकित्सा—

अथाऽस्य पिटिकामेव तथा यत्नादुपाचरेत् ॥ २२ ॥
शुद्ध्यसृक्स्रुतिसेकाद्यैर्यथा पाकं न गच्छति ।
पाके पुनरुपस्निग्धं स्वेदितं चावगाहतः ॥ २३ ॥
यन्त्रयित्वार्शसमिव पश्येत्सम्यग्भगन्दरम् ।
अर्वाचीनं पराचीनमन्तर्मुखबहिर्मुखम् ॥ २४ ॥
अथान्तर्मुखमेषित्वा सम्यक् शस्त्रेण पाटयेत् ।
बहिर्मुखं च निःशेषं ततः क्षारेण साधयेत् ॥ २५ ॥
अग्निना वा भिषक् साधु क्षारेणैवोष्ट्रकन्धरम् ।
नाडीरेकान्तराः कृत्वा पाटयेच्छतपोनकम् ॥ २६ ॥
तासु रूढासु शेषाश्च मृत्युदीर्णे गुदेऽन्यथा ।
परिक्षेपिणि चाप्येवं नाड्युक्तैः क्षारसूत्रकैः ॥ २७ ॥
अर्शोभगन्दरे पूर्वमर्शांसि प्रतिसाधयेत् ।
त्यक्त्वोपचर्यः क्षतजः शल्यं शल्यवतस्ततः ॥ २८ ॥
आहरेच्च तथा दद्यात् कृमिघ्नं लेपभोजनम् ।
पिण्डनाड्यादयः स्वेदाः सुस्निग्धा रुजि पूजिताः॥२९॥
सर्वत्र च बहुच्छिद्रे छेदानालोच्य योजयेत् ।
गोतीर्थ-सर्वतोभद्र-दललाङ्गल-लाङ्गलान् ॥ ३० ॥

व्याख्या—भागन्दरी पिटिका में सर्व प्रथम-कोष्ठशुद्धि, रक्त मोक्षण तथा शीतल सेचन एवं लेपन आदि के प्रयोगों से वैसे चिकित्सा करे जिस प्रकार उसमें पाकारम्भ न हो और यदि पाकारम्भ हो ही जाय तो प्रथम स्नेहन एवं अवगाह स्वेदन करे, फिर रोगी का अर्शोरोग चिकित्सा (चि. अ. ८) कही हुई विधि से यन्त्रण करके भगन्दर का भलीभाँति निरीक्षण करे और देखे कि भगन्दर का व्रण-अर्वाचीन (नीचे की ओर मुखवाला) है अथवा पराचीन (ऊपर की ओर मुख वाला) है और अन्तर्मुख (भीतर की ओर मुखवाला) है अथवा बहिर्मुख (बाहिर की ओर मुख वाला) है। इस के पश्चात् अन्तर्मुख भगन्दर का एषणी यन्त्रद्वारा भली भाँति एषण करके शस्त्र-द्वारा पाटन कर्म करे अर्थात् आशय समेत निकाल देवे तदनन्तर शोधन रोपण उपचार करे। और बहिर्मुख भगन्दर का आशय समेत पाटन करके, विधि पूर्वक क्षारकर्म अथवा अग्नि कर्म का प्रयोग करे। उष्ट्रग्रीव भगन्दर में उक्तप्रकार से एषण एवं पाटन कर्म के अनन्तर क्षार का ही प्रयोग करे (अग्नि कर्म का नहीं)।

शतपोनक भगन्दर में—एक २ नाड़ी व्रण का पाटन करे और उसका रोपण हो जाने पर अन्यान्य नाड़ी व्रणों का पाटन करे क्योंकि सब का पाटन एक साथ करने से गुद का दारण हो जाता है फलतः मृत्यु हो जाती है। परिक्षेपी भगन्दर में—नाड़ी रोग (अ. २२) में कहे गये क्षार सूत्रों का प्रयोग करना चाहिये। अर्शोजभगन्दर में—सर्व प्रथम अर्श की चिकित्सा करे। क्षतज भगन्दर में—असाध्य कह कर चिकित्सा करना प्रारम्भ करे अर्थात् असाध्य होने पर भी चिकित्सा करके देखे कि क्या फल होता है। यदि उसमें शल्य हो तो प्रथम शल्य निकाल देवे तदनन्तर कृमिनाशक लेपन एवं भोजन आदि की व्यवस्था करे। यदि वेदना हो तो स्निग्ध द्रव्यों के पिण्ड (पोटली) आदि से स्वेदों की व्यवस्था करे। और सभी प्रकार के भगन्दरों में अधिक छिद्र हों तो छिद्रों के अनुसार—गोतीर्थ अथवा सर्वतोभद्र अथवा अर्द्ध लाङ्गलक अथवा लाङ्गलक छेदों के आकार वाले पाटन कर्म करे ॥ २२-३० ॥

गोतीर्थक आदि छेदों का वर्णन—

पार्श्वं गतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको मतः ।
सर्वतः सर्वतोभद्रः पार्श्वच्छेदोऽर्धलाङ्गलः ॥ ३१ ॥
पार्श्वद्वये लाङ्गलकः समस्तांश्चाग्निना दहेत् ।
आस्रावमार्गान्निःशेषान्नैवं विकुरुते पुनः ॥ ३२ ॥
यतेत कोष्ठशुद्धौ च भिषक् तस्यान्तरान्तरा ।
लोपो व्रणे बिडालास्थि-त्रिफलारसकल्पितम् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—जो एक पार्श्व में शस्त्र द्वारा छेदन कर्म किया जाता है उसका नाम "गोतीर्थक" है जो सब ओर से शस्त्र द्वारा छेदन कर्म किया जाता है उस का नाम "सर्वतो भद्र" है। जो पार्श्व में एक छोटा और एक बड़ा छेदन किया जाता है उसका नाम "अर्धलांगलक" है। और जो दोनों पार्श्वों में छेदन किया जाता है उस का नाम "लांगलक" है। उक्त सब प्रकार के छेदन कर्मों के अनन्तर सब व्रणों को अग्नि कर्म द्वारा दग्ध कर देना चाहिये इस प्रकार स्राव मार्गों का दाह हो जाने से पुनः विकार की उत्पत्ति नहीं होती। और इस प्रकार भगन्दर की चिकित्सा करते समय बीच २ में विरेचन द्वारा कोष्ठ शुद्धि का प्रयत्न करते रहना चाहिये। और भगन्दर के व्रण पर त्रिफला के रस में पीसी गई बिलाव की अस्थि का लेप करना चाहिये ॥ ३१-३३ ॥

ज्योतिष्मती तैल—

ज्योतिष्मती-मलयु-लाङ्गलि-शेलु-पाठा
कुम्भाऽग्नि-सर्ज-करवीर-वचा-सुधाऽर्कैः ।
अभ्यञ्जनाय विपचेत भगन्दराणां
तैलं वदन्ति परमं हितमेतदेषाम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—मालकांगुनी, गूलर की छाल, कलिहारी कन्द, निसोड़ा की छाल, पाठा, निसोत, चित्रामूल, राल, कनेर की जड़ की छाल, बालबच, सेहुण्ड का दूध तथा आक की जड़ की छाल, के योग से सिद्ध तैल का अभ्यंग (लगाना–चुपड़ना) उक्त सभी भगन्दरों के लिये लाभ करता है। यह तैल शोधन एवं रोपण है ॥ ३४ ॥

मधुकादि तैल—

मधुकरोध्रकणात्रुटिरेणुकाद्विरजनीफलिनीपटुसारिवा ।
कमलकेसरपद्मकधातकीमदनसर्जरसाभयरोध्रकाः ॥३५॥
सबीजपूरच्छदनैरेभिस्तैलं विपाचितम् ।
भगन्दराऽपची·कुष्ठमधुमेह-व्रणापहम् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—मुलेठी, लोध, पीपल, छोटी इलायची, रेणुका बीज, हलदी, दारुहलदी, प्रियंगु, सैन्धव लवण, सारिवा, कमल का केसर, पद्म काष्ठ, धाय के फूल, मोम, राल, सुगन्धीकूठ, लोध तथा बिजौरा के पत्रों के योग से सिद्ध तैल-भगन्दर, अपची, कुष्ठ, तथा प्रमेह पिडका के व्रणों को नष्ट करता हैं ॥ ३५-३६ ॥

विडंगादि योग—

मधुतैलयुता विडङ्गसार-त्रिफलामागधिकाकणाश्च लीढाः
कृमिकुष्ठभगन्दरप्रमेहक्षत-नाडीव्रणरोपणा भवन्ति॥३७॥

व्याख्या—वाविडंग, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा पीपल सम भाग ले कर चूर्ण बनावे और मधु एवं तैल में मिला कर चाटे। यह योग-कृमि के, कुष्ठ के, भगन्दर के प्रमेह पिटिका के, क्षत-आघात के तथा नाड़ी के व्रण को नष्ट करता है ॥ ३७ ॥

गुग्गुलुके दो योग—

अमृतात्रुटिवेल्लवत्सकं कलिपथ्यामलकानि गुग्गुलुः ।
क्रमवृद्धमिदं मधुद्रुतं पिटिकास्थौल्यभगन्दरान् जयेत् ॥
मागधिकाऽग्निकलिङ्गविडङ्गैर्बिल्वघृतैः सवरा-पलषट्कैः।
गुग्गुलुना सदृशेन समेतैः क्षौद्रयुतैः सकलामयनाशः ॥

व्याख्या—१ अमृता गुग्गुलु-गिलोय १ भाग, छोटी इलायची २ भाग, विडंग ३ भाग, कुरैया की छाल ४ भाग, बहेड़ा ५ भाग, हरड़ ६ भाग, आमला ७ भाग तथा शुद्ध गूगल ८ भाग। सब का चूर्ण, गूगल में मिला कर कूटे और झरबेर की सी गोलियाँ बनावे। सहपान मधु। प्रयोग-प्रमेह पिटिका, स्थौल्य तथा भगन्दर। २-मागधिकादि गुग्गुलु-पीपल, चित्रा, इन्द्रजो तथा विडंग १-१ पल, त्रिफला ६ पल तथा शुद्ध गूगल १० पल। सब को मधु मिला कर कूटे और झरबेर की सी गोलियाँ बनावे। यह योग सर्वरोग नाशक है ॥ ३८-३९ ॥

अन्य दो गुग्गुल योग—

गुग्गुलुपञ्चपलं पलिकांशा मागधिका त्रिफला च पृथक् स्यात्
त्वक्त्रुटिकर्षयुतं मधुलीढं कुष्ठभगन्दरगुल्मगतिघ्नम्॥४०॥
शृङ्गबेररजोयुक्तं तदेव च सुभावितम् ।
क्वाथेन दशमूलस्य विशेषाद्वातरोगजित् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—१-शुद्ध गूगल ५ पल, पीपल, हरड़ बहेड़ा तथा आमला १-१ पल, दाल चीनी तथा छोटी इलायची १-१ कर्ष। सब को कूट कर झरबेर की सी गोलियाँ बनावे। इनको मधु में मिला कर चाटे। यह योग-कुष्ठ, भगन्दर, गुल्मरोग तथा नाडी व्रण को नष्ट करता है। २-गूगल तथा पीपल आदि उक्त योग में सोंठ का चूर्ण १ पल मिला कर दशमूल के क्वाथ की भावना देकर गोलियाँ बनावे। यह योग विशेषरूप से वात रोगो को नष्ट करता है ॥ ४०-४१ ॥

त्रिफला गुग्गुलु—

उत्तमाखदिरसारजं रजः शीलयन्नसनवारिभावितम् ।
हन्ति तुल्यमहिषाख्यमाक्षिकं कुष्ठमेहपिटिकाभगन्दरम्॥

व्याख्या—हरड़, बहेड़ा, आमला तथा खैरसार का समभाग चूर्ण लेकर विजयसार के क्वाथ की भावना देवें अन्त में समान भाग शुद्ध गूगल तथा मधु मिला कर चाटे यह योग—कुष्ठ, प्रमेहपिटिका तथा भगन्दर को नष्ट करता है ॥ ४२ ॥

पथ्यादि का संकेत—

भगन्दरेष्वेष विशेष उक्तः शेषाणि तु व्यञ्जनसाधनानि ।
व्रणाधिकारात्परिशीलनाच्च सम्यग्विदित्वौषधिकं विदध्यात्

व्याख्या—इस प्रकार भगन्दर की विशिष्ट चिकित्सा कह दी गई है और अवशिष्ट सब लक्षण एवं चिकित्सा व्रण प्रतिषेध अ. २५ के अनुसार भलीभांति समझ कर उचित शोधन रोपण आदि उपचार करे ॥ ४३ ॥

अपथ्य—परिहार—

अश्वपृष्ठगमनं चलरोधं मद्यमैथुनमजीर्णमसात्म्यम् ।
साहसानि विविधानि च रूढे वत्सरं परिहरेदधिकं वा॥

व्याख्या—भगन्दर के व्रण का रोहण—रोपण हो जाने पर भी एक वर्ष अथवा एक वर्ष से अधिक काल पर्यन्त घोड़ा आदि की पीठ पर चढ़ कर चलना, अपान वायु का रोकना, मद्यपान, मैथुन अजीर्ण भोजन, असात्म्य आहार तथा दौड़ना कूदना एवं भार उठाना आदि साहसों का परित्याग करे ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—उक्त अपथ्य का सेवन करने से रोग का पुनरावर्त्तन हो सकता है ॥ ४२ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथातो ग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदाऽपचीनाडीविज्ञानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, अपची तथा नाडी व्रण का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इनका वर्णन च. चि. अ. १२, सु नि. अ. १०-११ तथा १२ और अ. सं. उ. अ. ३४ में देखिये। ग्रन्थि का वर्णन सु. नि. अ. ११ में है।

ग्रन्थि का वर्णन—

[अथ ग्रन्थिरोगविज्ञानम्।]

कफप्रधानाः कुर्वन्ति मेदोमांसास्रगा मलाः।
वृत्तोन्नतं यं श्वयथुं स ग्रन्थिर्ग्रथनात्स्मृतः॥१॥
दोषाऽस्र-मांस-मेदोऽस्थि-सिरा-व्रणभवा नव।
ते तत्र वातादायाम तोदभेदान्वितोऽसितः॥२॥
स्थानात्स्थानान्तरगतिरकस्माद्धानिवृद्धिमान्।
मृदुर्वस्तिरिवानद्धो विभिन्नोऽच्छं स्रवत्यसृक्॥३॥
पित्तात्सदाहः पीताभो रक्तो वा पच्यते द्रुतम्।
भिन्नोऽस्रमुष्णं स्रवति श्लेष्मणा नीरुजो घनः॥४॥
शीतः सवर्णः कण्डूमान् पक्वः पूयं स्रवेद्घनम्।
दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु॥५॥
सिरा मांसं च संश्रित्य सस्वापः पित्तलक्षणः।
मांसलैर्दूषितं मांसमाहारैर्ग्रन्थिमाहरेत्॥६॥
स्निग्धं महान्तं कठिनं सिरानद्धं कफाकृतिम्।
प्रवृद्धं मेदुरैर्मेदोनीतं मांसेऽथवा त्वचि॥७॥
वायुना कुरुते ग्रन्थिं भृशं स्निग्धं मृदुं चलम्।
श्लेष्मतुल्याकृतिं देहक्षयवृद्धिक्षयोदयम्॥८॥
स विभिन्नो घनं मेदस्ताम्राऽसितसितं स्रवेत्।
अस्थि भङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत्॥९॥
सोऽस्थिग्रन्थिःपदातेस्तु सहसाम्भोऽवगाहनात्।
व्यायामाद्वा प्रतान्तस्य सिराजालं सशोणितम्॥१०॥
वायुः सम्पीड्य सङ्कोच्य वक्रीकृत्य विशोष्य च।
निःस्फुरं नीरुजं ग्रन्थिं कुरुते, स सिराह्वयः॥११॥
अरूढे रूढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिनः।
सार्द्रे वा बन्धरहिते गात्रेऽश्माभिहतेऽथवा॥१२॥
वातास्रमस्रुतं दुष्टं संशोष्य ग्रथितं व्रणम्।
कुर्यात्सदाहः कण्डूमान्, व्रणग्रन्थिरयं स्मृतः॥१३॥

व्याख्या—ग्रन्थि, की सम्प्राप्ति—कफ प्रधान वातादि दोष मेदस् मांस तथा रक्त में विकृत होकर जिस गोल एवं उन्नत शोथको उत्पन्न करते हैं उसका नाम "ग्रन्थि" है क्योंकि यह शोथ ग्रन्थिकासा एवं ग्रथित-गठा हुआ होता है अत एव "ग्रन्थि" कहलाता है।

संख्या—वह ग्रन्थि ९ प्रकारकी होती है—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज, ५-मांसज, ६-मेदोज, ७-अस्थिज, ८-सिराज तथा, ९-व्रणज।

विशेष लक्षण—वातज ग्रन्थि-तनाव, व्यथा एवं फटने की सी वेदना से युक्त तथा वर्ण में काली सी होती है, कुछ इधर उधर होती है, किसी कारण के बिना ही घटती एवं बढ़ती रहती है, मृदु एवं वस्तिपुटक के समान फूली रहती है। जब फूटती है तब उसमें से स्वच्छ रक्त का स्राव होता है॥

पित्तजग्रंथि में—दाह होता है, उसका वर्ण पीला अथवा लाल होता है, वह शीघ्र पक जाती है, फूटने पर उष्ण रक्त का स्राव होता है। कफज—वेदनारहित, कठोर तथा स्पर्श से शीतल होती है, उसका वर्ण शरीर के समान ही होता है तथा उस में कण्डू होती है और पकने पर—उसमें से गाढ़ा पूय बहता है॥ रक्तज ग्रन्थि—दोषों द्वारा रक्त की दुष्टि हो जाने पर जो ग्रन्थि होती है उसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं और उस का शोथ सिरा एव मांस में स्थित तथा स्वापयुक्त होता है तथा उसमें पित्त ग्रन्थिके सब लक्षण होते हैं। मांसज ग्रन्थि--मांस वर्द्धक आहारों से दूषित मांस जिस ग्रन्थि को उत्पन्न करता है वह स्निग्ध, बड़ी सी, कठोर, सिराओं से व्याप्त तथा कफज ग्रन्थि के लक्षणों से युक्त होती है। मेदोज ग्रन्थि—मेदस् को बढ़ाने वाले आहारों के सेवन से बढ़ा हुआ अथवा वायु द्वारा मांसमें अथवा त्वचामें पहुँचा मेदस् जिस ग्रन्थि को उत्पन्न करता है वह अत्यन्त स्निग्ध तथा मृदु होती है और कुछ इधर उधर हटती बढ़ती रहती है, उसमें कफज ग्रन्थि के समान लक्षण होते हैं और वह शरीर का क्षय होने पर क्षीण - छोटी और शरीर की वृद्धि होने पर बड़ी होती रहती है जब फूटती है तब उसमें से लाल, काला एवं वर्ण का गाढ़ा मेदस् बहता है। श्वेत अस्थिज ग्रन्थि—अस्थि टूटने से अथवा चोट लगने से जो ऊँची नीची ग्रन्थि होती है वह "अस्थि ग्रन्थि" कहलाती है। सिराज ग्रन्थि - पैदल चलते २ (अथवा अन्य प्रकार का व्यायाम-परिश्रम करते २ पसीना आने पर सहसा शीतल जल में अवगाहन करने से वायु विकृत होकर रक्त युक्त सिरा जाल को पीड़ित, संकुचित एवं वक्र टेढ़ा मेढ़ा करके और सुखा कर, स्फुरण रहित-अचल एवं वेदना रहित जिस ग्रन्थिको उत्पन्न करता है उसका नाम "सिराजग्रन्थि" है॥ व्रण ग्रन्थि व्रण का रोहण न होने पर अथवा रोहण होते ही सब रसों (हिताऽहित आहारों का सेवन करने से अथवा आर्द्र व्रण पर बन्धन न करने से अथवा शरीर पर पत्थर की चोट लगने से न बहे हुए दूषित रक्त—चोट

लगने पर रक्त बह जाना अच्छा है) को सुखा कर वायु-जित ग्रन्थिरूप व्रण को उत्पन्न करता है वह "व्रण ग्रन्थि" कहलाता है इसमें दाह एवं कण्डू होती हैं ॥

वक्तव्य—इसके पश्चात् वह ग्रन्थि पकती फूटती भी है और कभी २ बैठ भी जाती है ॥ १-१३ ॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

साध्या दोषाऽस्रमेदोजा न तु स्थूल खराश्चलाः ।
मर्मकण्ठोदरस्थाश्च

व्याख्या—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज तथा मेदोज नामक ग्रन्थियाँ साध्य होती हैं और स्थूल, खरदरी एवं चल ग्रन्थियाँ तथा मर्मस्थल पर, कण्ठ पर और उदर पर स्थिर ग्रन्थियाँ असाध्य होती हैं ।

वक्तव्य—ग्रन्थि को पञ्जाब में मोगली फोड़ा कहते हैं यह अन्य व्रणशोथ के समान पक कर एवं फूट कर शीघ्र शान्त नहीं होता ।

अर्बुद का वर्णन—

महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम् ॥१४॥
तल्लक्षणं च मेदोन्तैः षोढा दोषादिभिस्तु तत् ।
प्रायो मेदः कफाढ्यत्वात्स्थिरत्वाच्च न पच्यते ॥१५॥

व्याख्या—जो बड़ासा ग्रन्थि जैसा ग्रन्थित उभार होता है वह "अर्बुद" कह लाता है । उसका लक्षण—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज एवं मेदोज ग्रन्थि के समान होता है और वह ६ प्रकार का होता है । परन्तु वह अर्बुद कफ एवं मेदस् की अधिकता के कारण तथा स्थिर होने के कारण प्रायः पकता नहीं है ॥

वक्तव्य—उक्त छः प्रकार के अर्बुद स्वभावतः पकते नहीं हैं क्योंकि उनमें दोष स्थिर रहते हैं—क्रियाशील नहीं होते वे जीवन भर बने रहते हैं और उन में किसी प्रकार की वेदना भी नहीं होती । इसे "रसौली" कहते हैं । हमारे विचार में "महत्" विशेषण अनावश्यक है क्योंकि अर्बुद ग्रन्थि से छोटे भी होते हैं ॥१४-१५॥

शोणिताऽर्बुद—

सिरास्थं शोणितं दोषः सङ्कोच्यान्तः प्रपीड्य च ।
पाचयेत तदानद्धं सास्रावं मांसपिण्डितम् ॥१६॥
मांसांकुरैश्चितं याति वृद्धिं चाशु स्रवेत्ततः ।
अजस्रं दुष्टरुधिरं भूरि तच्छोणितार्बुदम् ॥१७॥

व्याख्या—वातादि दोष सिरागत रक्त को सिराओं के भीतर संकुचित एवं प्रपीडित करके पका देता है । वह अर्बुद सदैव तना रहता है, उसमें से स्राव होता रहता है तथा वह मांस पिण्ड का सा एवं मांसांकुरों से व्याप्त रहता है, शीघ्र बढ़ता है और उस में से अधिक मात्रा में दूषित रक्त सर्वदा बहता है । इसका नाम "शोणितार्बुद" (रक्तार्बुद) है ॥ १२-१७॥

साध्याऽसाध्य विवेक—

तेष्वसृङ्मांसजे वर्ज्ये चत्वार्यन्यानि साधयेत् ।

व्याख्या—उक्त छः प्रकार के अर्बुदों में रक्तज एवं मांसज अर्बुद असाध्य होते हैं और दूसरे चार अर्बुद साध्य होते हैं ॥

श्लीपद का वर्णन—

प्रस्थिता वङ्क्षणोर्वादिमधः कायं कफोल्बणाः ॥१८॥
दोषा मांसाऽस्रगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते ।
शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते ॥१९॥
परिपोटयुतं कृष्णमनिमित्तरुजं खरम् ।
रूक्षं च वातात् पित्तात्तु पीतं दाहज्वरान्वितम् ॥२०॥
कफाद् गुरुस्निग्धमरुक् चितं मांसांकुरैर्बृहत ।
तत्त्यजेद्वत्सरातीतं सुमहत्सुपरिस्रुति ॥२१॥
पाणि-नासौष्ठ-कर्णेषु वदन्त्येके तु पादवत् ।
श्लीपदं जायते तच्च देशेऽनूपे भृशं नृणाम् ॥२२॥

व्याख्या—कफ प्रधान वातादि दोष-मांस एवं रक्त में विकृत होकर, अधः काय के वंक्षण से ऊरु की ओर चल कर क्रमशः समय पाकर पाँव पर पहुँच कर धीरे २ घन-ठोस शोथ उत्पन्न कर देते हैं उसका नाम "श्लीपद" है ।

वातज श्लीपद में—त्वचा फटी रहती है, वर्ण काला होता है, किसी कारण के विना ही कभी २ वेदना हो जाती है तथा वह खरदरा एवं रूक्ष होता है । पित्तज श्लीपद—वर्णतः पीला होता है और उसमें दाह बना रहता है और कभी २ ज्वर (शीत ज्वर) हो जाता है । कफज श्लीपद—भारी, स्निग्ध, वेदना रहित, मांसांकुरों से व्याप्त तथा बहुत बड़ा होता है । एक वर्ष पुराना, बहुत बड़ा तथा स्रावयुक्त श्लीपद असाध्य होता है । कुछ आचार्यों का कथन है कि पाद गत श्लीपद के समान हाथ, नासा, ओठ एवं कर्ण में भी जो शोथ होता है वह भी श्लीपद ही होता है । और यह श्लीपद रोग—आसाम एवं बंगाल जैसे अनूप देशों में अधिक होता है ॥ १७ ॥

वक्तव्य—जांगल एवं साधारण देशों में प्रायः नहीं होता । इसे पीलपाँव, फीलपावँ या हाथी पावँ कहते हैं । श्लीपद का शोथ-वंक्षण की कोड़ी से प्रारम्भ होकर धीरे २ ऊरु जानु, जंघा, गुल्फ एवं पावँ तक व्याप्त हो जाता है । यह एक पावँ में होता है किसी २ के दोनों पाँव में भी होता है । इसका वर्णन सु. नि. अ. १२ में देखिये ॥१८-२२॥

अपची· गण्डमाला का वर्णन—

मेदःस्थाः कण्डमन्याक्ष-कक्षावङ्क्षणगा मलाः ।
सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान् वार्ताकामलकाकृतीन् ॥
अवगाढान् बहून् गण्डांश्चिरपाकांश्च कुर्वते ।
पच्यन्तेऽल्परुजस्त्वन्ये स्रवन्त्यन्येऽतिकण्डुराः ॥२४॥

नश्यन्त्यन्ये भवन्त्यन्ये दीर्घकालानुबन्धिनः ।
गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक् ॥ २५ ॥
तां त्यजेत् सज्वर-च्छर्दि-कास-रुक्-श्वास-पीनसाम् ।

व्याख्या—कण्ठ के बाहिरी प्रदेश में, मन्यास्थल में, अक्षकास्थि के आसपास, कक्षा (कांख) में अथवा वंक्षण सन्धि में-वातादि दोष मेदस् में विकृत होकर-शरीर के समान वर्णवाले, कठोर, स्निग्ध, भण्टा (बैंगन) के समान कुछ लम्बाई लिये गोल अथवा आमला के से गोल, आकारवाले, गम्भीर मूल वाले, संख्या में अनेक तथा चिरकाल (वर्षों) में पकने वाले गण्डों (ग्रन्थियों) को उत्पन्न कर देते हैं। इनमें थोड़ी वेदना होती रहती है। तथा कण्डू अधिक होती है। इनमें से कुछ गण्ड पकते हैं, कुछ पक कर बहने लगते हैं कुछ बह कर नष्ट हो जाते हैं और कुछ नूतन गण्ड उत्पन्न होते हैं। यह परम्परा दीर्घ काल पर्यन्त चलती रहती है। इस प्रकार की गण्डमाला (गण्डों की माला-पंक्ति) अपची कहलाती है और दूब नामक घास के समान घटती एवं बढ़ती-सूखती एवं उगती रहती है। जब इस रोग में-ज्वर, छर्दि, पार्श्वशूल, कास एवं प्रतिश्याय नामक उपद्रव हो जाते हैं तब यह रोग असाध्य हो जाता है। इस दशा में यह रोग—राजयक्ष्मा का सा रूप धारण कर लेता है॥

वक्तव्य—इस रोग का वर्णन सु. नि. अ. ११ में देखिये-२५॥

नाडी व्रण का वर्णन—

अभेदात्पक्वशोफस्य व्रणे चापथ्यसेविनः ॥ २६ ॥
अनुप्रविश्य मांसादीन् दूरं पूयोऽभिधावति ।
गतिः सा दूरगमनान्नाडी नाडीव संस्रुतेः ॥ २७ ॥
नाड्येकानृजुरन्येषां सैवानेकगतिर्गतिः ।
सा दोषैः पृथगेकस्थैः शल्यहेतुश्च पञ्चमी ॥२८॥
वातात्सरुक्सूक्ष्ममुखी विवर्णा फेनिलोद्गमा ।
स्रवत्यभ्यधिकं रात्रौ पित्तात्तृड्ज्वरदाहकृत् ॥२९॥
पीतोष्णपूति-पूयाऽऽस्रुद्, दिवाऽचातिनिषिञ्चति ।
घनपिच्छिलसंस्रावा कण्डूला कठिना कफात् ।
निशि चाऽभ्यधिकक्लेदा सर्वैः सर्वाकृतिं त्यजेत् ॥३०॥
अन्तःस्थितंशल्यमनाहृतं तु करोतिनाडींवहतेचसाऽस्य।
फेनानुविद्धं तनुमल्पमुष्णंसास्रं च पूयं सरुजं च नित्यम् ।

व्याख्या—परिपक्व व्रण शोथ पर भेदन-पाटन कर्म न करने से अथवा व्रण रोग में अपथ्य आहार विहार के सेवन से पूय-मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि अस्थि अथवा मज्जा नामक व्रणाश्रयों में प्रविष्ट होकर दूर तक चली जाती है-उनको सड़ा कर अपना आश्रय बना लेती है इस प्रकार दूर तक गति होने से इस व्रण का नाम "गति" है और नाड़ी में से जल स्राव के समान इसमें से पूय स्राव होने से उस व्रण का नाम "नाडीव्रण" है। कुछ आचार्यों का मत है कि जो एक नाडी व्रण टेढा होता है उसका नाम "नाडी" है और जिसमें एक से अधिक नाडी व्रण होते हैं उसका नाम "गति" है। उक्त नाडी व्रण ५ प्रकार का होता है—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-त्रिदोषज तथा ५-शल्यज। वातजनित नाडी व्रण—वेदनायुक्त, सूक्ष्म मुखवाला, विकृत वर्ण वाला—काले से एवं खरदरे से मुखवाला तथा झागयुक्त स्राव वाला होता है और इसमें से रात्रि में स्राव अधिक होता है पित्त जनित नाड़ी व्रण में—तृषा, ज्वर एवं दाह होता है, इसमें से उष्ण एवं दुर्गन्ध युक्त पूय बहता है और वह दिन में अधिक बहता है। कफज नाडी व्रण में से गाढ़ा एवं चिपचिपा स्राव बहता रहता है और व्रण में कण्डू तथा कठोरता होती है और रात्रि में स्राव अधिक होता है।

त्रिदोष जनित नाड़ी व्रण में उक्त सब दोषों के लक्षण होते हैं और वह असाध्य होता है। शल्य कृत नाडी व्रण-यदि शरीर के भीतर गया हुआ शल्य तत्काल नहीं निकाला जाता तो वह नाडी व्रण को उत्पन्न कर देता है और उसमें से—फेन युक्त, पतला, थोड़ा थोड़ा, उष्ण तथा रक्त मिश्रित पूय बहता है और उसमें सर्वदा वेदना बनी रहती है॥

वक्तव्य—नाडी व्रण का वर्णन सु. नि. अ. १० में देखिये। इसे "नासूर" कहते हैं। सामान्यतः नाडी व्रण का मुख अत्यन्त छोटा होता है और भीतर दूर तक कोटर रहता हैं, कभी २ बाहिर से मुख अवरुद्ध हो जाता है कुछ दिन के पश्चात् पुनः स्राव होने लगता है, मुख छोटा होने के कारण भीतर तक औषध का प्रवेश नहीं होता फलतः बहुत समय तक कष्ट होता रहता है ॥ २६-३१ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो ग्रन्थ्यर्बुद-श्लीपदाऽपचीनाडी-प्रतिषेधं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, अपची एवं नाडी व्रण की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. चि. अ. १२ में, सु. चि. अ. १७,१८ तथा १९ में और अ. सं. उ. अ. ३५ में देखिये।

ग्रन्थि चिकित्सा—

अथ ग्रन्थिरोगप्रतिषेधः।

ग्रन्थिष्वामेषु कर्तव्या यथास्वं शोफवत् क्रिया।
बृहतीचित्रकव्याघ्रीकणासिद्धेन सर्पिषा ॥ १ ॥
स्नेहयेच्छुद्धिकामं च तीक्ष्णैः शुद्धस्य लेपनम्।
संस्वेद्य बहुशो ग्रन्थिं विमृद्गीयात् पुनः पुनः ॥२॥
एष वाते विशेषेण क्रमः, पित्तास्रजे पुनः।
जलौकसो हिमं सर्वम् कफजे वातिको विधिः ॥३॥
तथाप्यपक्वं छित्त्वैनं स्थिते रक्तेऽग्निना दहेत्।
साध्वशेषं सशेषो हि पुनराप्यायते ध्रुवम् ॥४॥
मांसव्रणोद्भवौ ग्रन्थी पाटयेदेवमेव च।
कार्यं मेदोभवेऽप्येतत्तप्तः फालादिभिश्च ताम् ॥५॥
प्रमृद्योत्तिलदिग्धेन छन्नं द्विगुण-वाससा।
शस्त्रेण पाटयित्वा वा दहेन्मेदसि सूद्धृते ॥६॥
सिराग्रन्थौ नवे पेयं तैलं साहचरं तथा।
उपनाहोऽनिलहरैर्वस्तिकर्म सिराव्यधः ॥ ७ ॥

व्याख्या—ग्रन्थि की आमावस्था में वातादि दोषों के अनुसार आम व्रण शोथ के समान (अ. २५ देखिये) उपचार करे। विशेषतः—वनभण्टा, चित्ता, कण्टकारी तथा पीपल के योग से सिद्ध घृत का पान करा कर स्नेहन करे, शोधन की आवश्यकता हो तो तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन द्वारा शोधन करे तदनन्तर विम्लापन लेप करे॥ अथवा मांस पिण्ड आदि द्वारा बहुत बार स्वेदन बांस की पोरी अथवा अंगूठा आदि से वार २ मर्दन करे। यह सब उपचार वातज ग्रन्थि में विशेष रूप से लाभदायक होता है। पित्तज एव रक्तजग्रन्थि में—जोंक लगाकर रक्त स्राव करे और सब लेपन, सेचन एवं आहार आदि उपचार शीतल करे। कफज ग्रन्थि में वातज ग्रन्थि के समान करे। इतना सब करने पर भी यदि न पके तो छेदन कर्म (यदि मर्म पर न हो तो) करे जब रक्त बहना रुक जाय तब भलीभाँति मूलतः अग्निद्वारा जला देवे क्योंकि यदि मूलतः नहीं जलाई जाती कुछ अवशिष्ट रह जाती है तो ग्रन्थि पुनः पुष्ट हो जाती है—बढ़ जाती है। मांसज एवं व्रणज ग्रन्थि में भी इसी प्रकार पाटन (छेदन) कर्म करना चाहिये। मेदोज ग्रन्थि में भी इसी प्रकार पाटन कर्म करना चाहिये। अथवा तिल कल्क से प्रलिप्त वस्त्र को दुहरा करके और ग्रन्थिपर रख कर, तपाए गये फाल से मर्दन करे अथवा शस्त्र द्वारा पाटन कर्म करके और मेदस् को निकालकर अग्नि द्वारा जला देवे। सिराग्रन्थि की प्रारम्भिक अवस्था में सहचरादि तैल (चि. अ. २१) का पान करना चाहिये और वातनाशक द्रव्यों का उपनाह, वस्ति कर्म तथा सिरा वेध करना चाहिये॥

वक्तव्य—उक्त प्रकार से पाटन आदि कर्म के पश्चात् अन्य-व्रणों के समान शोधन रोपण आदि उपचार करे। इस ग्रन्थि की चिकित्सा सु. चि. अ. १८ में देखिये।

अर्बुद चिकित्सा—

अर्बुदे ग्रन्थिवत् कुर्याद् यथास्वं सुतरां हितम्।

व्याख्या—अर्बुद में वातादि दोषों का विचार करके ग्रन्थि के समान चिकित्सा करे॥

वक्तव्य—मांसज एवं रक्तज अर्बुद तो असाध्य ही होते हैं और शेष अर्बुद किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते अतः उनकी यथासम्भव उपेक्षा कर दी जाती है। इसकी चिकित्सा सु चि. अ. १८ में देखिये। अष्टाङ्ग सं.उ अ. ३५—वातार्बुदं एरण्डप्रियालनारिकेलमज्जा एर्वारुकर्कारुबीजोत्कारिकया उपनाहयेत्, आनूपाऽऽमिषवेशवारैः वा, नाडीस्वेदं च कुर्यात्, बहुशश्चात्र शृङ्गेण रुधिरमवसेचयेत्, वातहरवर्गक्वाथपयोऽम्लसिद्धं त्रैवृतं पिबेत्। पित्तोत्थे मृदून् स्वेदोपनाहान् कायविरेचनं च प्रयोजयेत्, शाकवाकोदुम्बरिकापत्रघृष्टे प्रियंगुपत्तंगसर्जरसाऽर्जुनरोध्रमधुमधुकैः लेपः। प्रियंगुश्यामागिरिकर्णिकाऽञ्जनक्लीतनद्राक्षासप्तलाऽन्यतमरससाधितं सर्पिः पीतं पित्तार्बुदश्लीपदोदरघ्नम्। श्लेष्मजे तूर्ध्वमधश्च हृतदोषस्य स्रुतरक्तस्य च वमनविरेचनद्रव्यैः प्रलेपः। पलाशक्षारपिष्टैः पिण्याककुलत्थनिष्पावैः वा मांसप्रगाढैः दधिपिष्टैः लेपयेत्, लेपाऽऽस्वादलोभेन च निलीयमाना मक्षिकाः समुपेक्षेत, तद्विमुषतैः कृमिभिः इतरैः वा भक्ष्यमाणं च, ततः कृमिभिः भक्षिताऽवशेषं शाकादिपत्रैः विलिख्याग्निना प्रतिसारयेत्। अलम्बूलं वा त्रपुताम्रायः-सीसपट्टकवेष्टितं पुनः पुनश्च क्षारान् कालाऽपेक्षया योजयेत्। जात्याऽऽस्फोतकरवीर पल्लवांश्च व्रणशोधनाय कल्कादौ, तैलं चात्रपाठाविडंग भार्ङ्गीत्रिफलाकषायसिद्धमभ्यंगः। मेदोऽर्बुदं स्विन्नभिन्नं सुशोधितमेदस्कं उपशान्तरक्तस्रावं सद्यः सीव्येत्। ततो गृहधूमरोध्रमनःशिलाहरिद्रापत्तंगचूर्णैः मधुसर्पिभिः प्रतिसारयेत्। करञ्जतैलं च अभ्यञ्जनार्थं प्रयुञ्जीत। सर्वार्बुदानि च यदृच्छया पर्यागतानि सुपरिशोधितानि रोपयेत्। अपि च—

सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि करोति तस्याऽऽशु पुनर्भवन्ति।
तस्मादशेषोद्धरणं प्रशस्तं क्षारेण शस्त्रेण तथाऽग्निना वा।

अर्थात्—वातजनित अर्बुद पर—एरण्ड की गिरी, चिरोञ्जी, नारियल की गरी एवं ककड़ी तथा खीरा के बीजों की गिरी की लप्सी बनाकर उपनाह करे। अथवा सूअर आदि अनूप देशीय प्राणियों के मांस को कूट पीस कर तथा उष्ण कर उपनाह करे। नाडी स्वेद करे, अनेक बार सिंगो लगाकर रक्त निकाले, वातनाशक गण के द्रव्यों का क्वाथ, दूध तथा काञ्जी मिलाकर सिद्ध किया गया त्रैवृत स्नेह

(घृत, तैल तथा वसा मिश्रण) पीवे। पित्तजनित अर्बुद में—मृदु स्वेदन के लिये उपनाहों का यथा वमन विरेचन का प्रयोग करे, शाकपत्र अथवा कठगूलर के पत्रों द्वारा अर्बुद का घर्षण करके प्रियंगु, पतंग, राल, अर्जुन, लोध, मुलेठी तथा मधु का लेप करे। प्रियंगु, काली सारिवा, कोयल, रसवत मुलेठी, दाख, अथवा सतपर्ण मेंसे किसी एक के योग से सिद्ध किया गया घृत पीने से पित्तार्बुद, श्लीपद तथा पित्तोदर का नाश होता है।

कफजनित अर्बुद में—वमन विरेचन द्वारा शोधन करके सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करके वामक एवं विरेचक द्रव्यों का लेप करे। एक अन्य उपाय—पलाशक्षार के द्रव में खली, कुलथी तथा सेमके बीजों को पीस कर अथवा दही में मांस को पीस कर लेप करे और उस लेप के लोभ से बैठने वाली मक्षिकाओं की उपेक्षा करे—उनको बैठने देवे और किसी किरोनी मक्षिका (इस मक्षिका का नाम हाई मक्खी है) द्वारा दिये गये अण्डों से उत्पन्न कृमियों द्वारा अर्बुद भक्षण कर्म की भी उपेक्षा करे और खाने से अवशिष्ट अर्बुद पर शाक पत्र आदि से घर्षण करके अग्नि कर्म द्वारा जला देवे। प्रारम्भ में जब तक उसका मूल स्वल्प हो तब वंग के, ताम्र के, लोह के अथवा सीसा के पत्र बान्धे जिससे वह बढ़े नहीं अथवा समयानुसार बार २ क्षार लेपादि में प्रयोग करे जिससे वह विलीन हो जाय। वहाँ व्रण हो जाने पर—चमेली एवं कनेर के कोमल पत्तों का कल्क व्रण शोधनार्थं प्रयुक्त करे। और पाठा, विडंग, भारंगी तथा त्रिफला के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

मेदोजनित अर्बुद में स्वेदन कर पाटन करे और उसमें से मेदा निकाल कर, रक्त स्राव हो चुकने पर तत्काल सीवन कर देवे। तत्पश्चात्—गृह धूम, लोध, मैनसिल, हलदी तथा पत्तङ्ग का चूर्ण मधु एवं घृत में फेण्ट कर प्रतिसारण करे और अभ्यङ्ग-में करञ्ज तैल का प्रयोग करे।

अर्बुद प्रायः पकते नहीं तथापि यदि कदाचित् पक जायँ तो भलीभाँति शोधन करके रोपण करे। बढ़ जाता है इस लिये क्षार का शस्त्र का अथवा अग्नि का प्रयोग करके मूलतः उसे उखाड़ देना-नष्ट कर देना चाहिये।

किसी२ प्रतिमें निम्नलिखित तीन श्लोक अधिक हैं यथा—
अजा शकृत् शिग्रुमूलं लाक्षासुरस (लवणक्षार) काञ्जिकैः।
वस्त्रवद्धैः उपस्वेद्य मर्दयित्वा प्रलेपयेत् ॥ १ ॥
उपोदिकाऽर्कपिण्याकच्छदैः आच्छादितं घनम्।
निवेश्य पट्टं बध्नीयात् शाम्यत्येवं नवाऽर्बुदम् ॥ २ ॥
जीर्णे चाऽर्कच्छदसुधा सामुद्र गुडकाञ्जिकैः।
प्रच्छाने पिण्डिका बद्धा ग्रन्थ्यर्बुदविलायनी ॥ ३ ॥

अर्थात्—नवीन अर्बुद पर-बकरी की मेंगन, सहजन की जड़ की छाल, लाख एवं तुलसी के बीज (लवण एवं क्षार) को काञ्जी में पीस कर और वस्त्र में बान्ध कर स्वेदन करे और मर्दन करे इन्हीं का लेप करे अथवा पोई के पत्तों को तथा खलि को पीस कर और टिकिया बना कर अर्बुद पर रख देवे और पत्तों में ढंक कर मोटे कपड़ा की पट्टी बान्ध देवे और और पुराने अर्बुद में—पच्छ लगा कर - आक के पत्ते, सेहुड का गूदा, समुद्र लवण तथा गुड़ को काञ्जी में पीस कर और टिकिया बना कर बान्धने से ग्रन्थि तथा अर्बुद का विलनन हो जाता है ॥१-७॥

श्लीपद चिकित्सा—

अथ श्लीपदरोगप्रतिषेधः।

श्लीपदेऽनिलजे विध्येत् स्निग्धस्विन्नोपनाहिते ॥ ८ ॥
सिरामुपरि गुल्फस्य द्व्यङ्गुले, पाययेच्च तम्।
मासमेरण्डजं तैलं गोमूत्रेण समन्वितम् ॥ ९ ॥
जीर्णे जीर्णान्नमश्नीयाच्छुण्ठीशृतपयोन्वितम्।
त्रैवृतं ना पिबेदेवमशान्तावग्निना दहेत् ॥ १० ॥
गुल्फस्याधः सिरामोक्षः पैत्ते सर्वं च पित्तजित्।
सिरामंगुष्ठके विद्ध्वा कफजे शीलयेद्यवान् ॥ ११ ॥
सक्षौद्राणि कषायाणि वर्धमानास्तथाभयाः।
लिम्पेत्सर्षपवार्ताकीमूलाभ्यां धान्ययाथवा ॥१२॥

व्याख्या—वातजनित श्लीपद में—स्नेहन, स्वेदन एवं उपनाहों का प्रयोग करने के अनन्तर गुल्फ से दो अंगुल ऊपर सिरावेध करे और एक मास पर्यन्त प्रतिदिन-गोमूत्र। (५-१० तो०) में एरण्ड तैल (३-४ तो०) मिला कर पिलावे। भूख लगने पर सोंठ के योग से परिपक्व दूध के साथ पुराने धान्यों का आहार करे। अथवा घृत, तैल तथा वसा मिलाकर पीवे। इस प्रकार उपचार करने पर भी यदि शान्ति न हो तो अग्नि कर्म द्वारा जला देवे।

पित्तजनित अर्बुद में—मृदु उपनाह करने के अनन्तर गुल्फ के नीचे सिरावेध करे और सब आहार-विहार एवं लेपन आदि पित्त शामक करे।

कफज श्लीपद में—अंगूठापर सिरावेध करके, जौ के आहार का, मधु मिश्रित कषाय रसवाले द्रव्यों का तथा वर्द्धमान हरीतकी का सेवन करे। और सरसों (राई) एवं भण्टा की जड़ की छाल अथवा धनियाँ का लेप करे।

वक्तव्य—वर्द्धमान हरीतकी का प्रयोग वर्द्धमान पिप्पली के समान किया जाता है ॥८-१२॥

अपची चिकित्सा—

अथापचीरोगप्रतिषेधः।

उर्ध्वाधः शोधनं पेयमपच्यां साधितं घृतम्।
दन्तीद्रवन्तीत्रिवृता-जालिनीदेवदालिभिः ॥१३॥

शीलयेत्कफमेदोघ्नं धूमगण्डूषनावनम् ।
सिरयाऽपहरेद्रक्तं पिबेन्मूत्रेण तार्क्ष्यजम् ॥१४॥
ग्रन्थीनपक्वानालिम्पेन्नाकुलीपटुनागरैः ।
स्विन्नान् लवणपोटल्या कठिनाननुमर्दयेत् ॥ १५ ॥
शमी-मूलक-शिग्रूणां बीजैः सयव-सर्षपैः ।
लेपः पिष्टोऽम्लतक्रेण ग्रन्थिगण्डविलापनः ॥ १६ ॥
पाकोन्मुखान् स्रुतास्रस्य पित्तश्लेष्महरैर्जयेत् ।
अपक्वानेव वोद्धृत्य क्षाराग्निभ्यामुपाचरेत् ॥ १७ ॥
क्षुण्णानि निम्बपत्राणि क्लिन्नैर्भल्लातकैः सह ।
शरावसम्पुटे दग्ध्वा सार्धं सिद्धार्थकैः समैः ॥
एतच्छागाम्बुना पिष्टं गण्डमालाप्रलेपनम् ।
काकादनीलाङ्गलिकानलिकोत्तुण्डिकीफलैः ।
जीमूतबीजकर्कोटी-विशालाकृतवेधनैः ॥ १८ ॥
पाठान्वितैः पलार्धांशैर्विषकर्षयुतैः पचेत् ।
प्रस्थं करञ्जतैलस्य निर्गुण्डीस्वरसाढके ॥ १९ ॥
अनेन माला गण्डानां चिरजा पूयवाहिनी ।
सिध्यत्यसाध्यकल्पाऽपि पानाऽभ्यञ्जन-नावनैः ॥२०॥
तैलं लाङ्गलिकाकन्द-कल्कपादे चतुर्गुणे ।
निर्गुण्डीस्वरसे पक्वं नस्याद्यैरपचीप्रणुत् ॥ २१ ॥

व्याख्या—अपची नामक रोग में—वमन एवं विरेचन द्वारा शोधन होना चाहिये और एतदर्थ—दन्तीमूल, (जब्बो लोटा की जड़), निशोत, जालिनी (धामार्गव) तथा बन्दाल डोडा के योग से सिद्ध घृत पीना चाहिये इस घृत के पान से वमन एवं विरेचन हो जाता है। शोधन के अनन्तर—कफ एवं मेदस् को नष्ट करनेवाले—धूमों का, गण्डूषों का तथा नस्यों का सेवन होना चाहिये, सिरावेध द्वारा रक्तस्रावण करे और गोमूत्र के साथ रसवत का पान करना चाहिये। गण्डमाला की अपक्व (आम) ग्रन्थियों पर—गन्धनाकुली (नाई), लवण तथा सोंठ का लेप करे और कठोर ग्रन्थियों पर—लवण की पोट्टली से स्वेदन करके अंगूठा आदि से मर्दन करे। शमी के, मूली के तथा सहजन के बीज, जौ तथा सरसों (राई) को कांजी में पीसकर लेप करने से—ग्रन्थि एवं गण्डमाला का विलयन हो जाता है। जो गण्डमाला का गण्ड पकने लग जाय उसमें—सिरावेध द्वारा अथवा जोंक द्वारा रक्त निकालना चाहिये और पित्त कफ शामक लेपन आदि करना चाहिये। अथवा अपक्व गण्डों को ही निकाल कर क्षार अथवा अग्नि का प्रयोग करे।

करञ्ज तैल—गुञ्जा, कलिहारी कन्द, नहिका (शुक नाशा-सोनापाठा), कुन्दरु, जीमूत बीज (पीत घोषक तरोई के) ककोडा, इन्द्रायण फल, कृतवेधन (मृदङ्ग फल नामक तरोई) तथा पाठा २-२ कर्ष शृंगक विष १ कर्ष, करञ्ज का तैल १ प्रस्थ, सम्भालू का स्वरस १ आढक मिलाकर तैल सिद्ध करे। इसका पान करने से, अभ्यङ्ग करने से तथा नस्य लेने से—पुरानी, पूयस्राव युक्त और असाध्य जैसी भी गण्डमाला शान्त हो जाती है। अन्य लाङ्गली तैल—कलिहारी के कन्द का कल्क १ भाग, करञ्ज तैल ४ भाग तथा सम्भालू का रस १६ भाग मिलाकर तैल सिद्ध करे। इसकी नस्य एवं अभ्यङ्ग करने से अपची का नाश हो जाता है ॥ १३-२१ ॥

भद्रश्रितादि तैल—

भद्रश्री-दारु-मरिच-द्विहरिद्रात्रिवृद्घनैः ।
मनःशिलाऽऽल-नलद-विशालाकरवीरकैः ॥ २२ ॥
गोमूत्रपिष्टैः पलिकैर्विषस्यार्धपलेन च ।
ब्राह्मीरसार्कजक्षीरगोशकृद्रससंयुतम् ॥ २३ ॥
प्रस्थं सर्षपतैलस्य सिद्धमाशु व्यपोहति ।
पानाद्यैः शीलितं कुष्ठं दुष्टनाडीव्रणापचीः ॥ २४ ॥

व्याख्या—देवदारु, मरिच, हलदी, दारुहलदी की छाल, निसोत, मोथा, मैनसिल, हरिताल, जटामांसी, इन्द्रायण तथा कनेर की जड़ की छाल १-१ पल तथा सिंगिया विष २ कर्ष लेकर गोमूत्र में पीसकर बनाया गया कल्क, ब्राह्मी का रस, आक का दूध तथा गोबर का रस ४ प्रस्थ, सरसों का तैल १ प्रस्थ मिलाकर सिद्ध किया गया तैल पीने से, नस्य लेने से, तथा अभ्यङ्ग करने से कुष्ठ, दुष्ट नाडी व्रण तथा अपची को शीघ्र नष्ट करता है।

वचादि तैल—

वचाहरीतकीलाक्षा-कटुरोहिणिचन्दनैः ।
तैलं प्रसाधितं पीतं समूलामपचीं जयेत् ॥ २५ ॥

व्याख्या—बालवच, हरड़, लाख, कुटकी तथा लालचन्दन के योग से सिद्ध तैल पीने से अपची को मूलतः नष्ट करता है ॥ २५ ॥

शरपुंखा योग—

शरपुङ्खोद्भवं मूलं पिष्टं तण्डुलवारिणा ।
नस्याल्लेपाच्च दुष्टारुरपचीविषजन्तुजित् ॥ २६ ॥

व्याख्या—शरपुंखा की जड़ को चावल के धोअन में पीसकर नस्य लेने तथा लेप करने से दुष्ट व्रण, अपची विष एवं शोथ आदि विकार तथा कृमियों का नाश होता है ॥ २६ ॥

उत्तमवारुण्यादि तैल—

मूलैरुत्तमवारुण्याः पीलुपर्ण्याः सहाचरात् ।
सरोध्राभययष्ट्याह्व-शताह्वाद्वीपिदारुभिः ॥ २७ ॥
तैलं क्षीरसमं सिद्धं नस्येऽभ्यङ्गे च पूजितम् ।

व्याख्या—इन्द्रायण की जड़, पीलुपर्णी की जड़, कटसरैया की जड़, लोध, हरड़, मुलेठी, सोया, चित्ता

तथा देवदारु का कल्क १ सेर, सरसों का तैल ४ सेर तथा गो-दुग्ध ४ सेर मिलाकर सिद्ध किया गया तैल नस्य एवं अभ्यङ्ग में उत्तम कहा गया है (अपची रोग में)।।२७।।

लेप—

गोऽव्याजाऽश्वखुरा दग्धा कटुतैलेन लेपनम् ॥ २८ ॥
ऐङ्गुदेन तु कृष्णाहिर्वायसो वा स्वयं मृतः ।

व्याख्या—गौ के, भेड़ के, बकरी के तथा घोड़ा के खुरों को सम्पुट में जलाकर काली मसी बना लेवे और उसे राई के तैल में मिलाकर अथवा काले साँप की अथवा स्वयं मरे हुए काक की उक्त प्रकार से बनाई गई मसी इंगुदी के तैल में मिलाकर अपची पर लेप करे ॥२८॥

अपची में शस्त्र कर्म—

इत्यशान्तौ गदस्यान्यपार्श्वजङ्घासमाश्रितम् ॥ २९ ॥
बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद्वा मेदो हृत्वाग्निना दहेत् ।
स्थितस्योर्ध्वं पदं भित्त्वा तन्मानेन च पार्ष्णितः ।
तत ऊर्ध्वं हरेद् ग्रन्थीनित्याह भगवान्निमिः ॥ ३० ॥
पार्ष्णिं प्रति द्वादश चांगुलानि
मुक्त्वेन्द्रबस्तिं च गदान्यपार्श्वे ।
विदार्यमत्स्याण्डनिभानि मध्या-
ज्जालानि कर्षेदिति सुश्रुतोक्तिः ॥३१॥
आगुल्फकर्णात्सुमितस्य जन्तोस्त-
स्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य ।
घ्राणार्जवेऽधः सुरराजबस्ते-
र्भित्त्वाक्षमात्रं त्वपरे वदन्ति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—उक्त सब उपचारों के प्रयोग से यदि अपची शान्त न हो तो—शरीर की मध्य रेखा से वामपार्श्व की अपची में दक्षिण सक्थि की जंघा के पृष्ठ भाग के मध्य भाग में स्थित इन्द्रवस्ति नामक मर्म से नीचे अथवा ऊपर शस्त्र द्वारा नेत्र गोलक परिमित व्रण करके मछली के अण्डों के जाल जैसे मेदस् को निकाल कर व्रण पर अग्नि द्वारा दाह कर देवे ।

महर्षि निमि का कथन—स्थित अर्थात् उत्थित मानव के पाद परिमित (१२ अंगुल) पार्ष्णि—(एड़ी) के ऊपर की ओर जंघा में पाटन करके ग्रन्थियों को निकाल देवे । इस पाठ में शब्दों की कृपणता की गई है भाव वही है । सुश्रुत के शब्दों में—पार्ष्णि के १२ अंगुल ऊपर इन्द्रवस्ति नामक मर्म को बचाकर, अपची वाले पार्श्व से दूसरे पार्श्व की सक्थि में पाटन करके, उसमें से मछली के अंडों के से जाल को निकाल देवे और अग्नि द्वारा जला देवे । अन्य आचार्यों के शब्दों में रोगी को गुल्फ ग्रन्थि से कान पर्यन्त माप लेवे उस माप (लम्बाई) का आठवाँ भाग पाँव की ओर छोड़कर, इन्द्रवस्ति नामक मर्म से नासा की ऊँचाई भर (२ अंगुल) नीचे की ओर नेत्र परिमित स्थान का पाटन करके जालों को निकाल देवे ॥

वक्तव्य—इन सब पाठों का तात्पर्य एक ही है पुरुष की लम्बाई के विषय में सु. सू. अ. ३५ तथा अ. सं. शा. अ. ८ देखिये । इन्द्रवस्ति मर्म को बचा कर उससे ऊपर अथवा नीचे पाटन करना चाहिये । अ. सं उ. अ. ३५ का पाठ इस प्रकार है यथा—एवमनुपशमे वामपार्श्वजायां दक्षिणजंघापृष्ठमध्यात् इन्द्रवस्तेः अधस्तात् ऊर्ध्वं वा शस्त्रेण अक्षिमात्रं व्रणं कृत्वा मत्स्याण्डजालनिभं मेदोऽपनीय अग्निना दहेत्, अनेन इतरपार्श्वजा व्याख्याता, एवं उभय-पार्श्वजायां गण्डमालायां उभयतः ।

अर्थात्—उक्त प्रकार की सब चिकित्सा करने पर भी यदि अपची शान्त न हो और वह शरीर की मध्य रेखा के वामपार्श्व में हो तो दाहिनी सक्थि की जङ्घा के पृष्ठ भाग के मध्य में वर्त्तमान इन्द्रवस्ति नामक मर्म से नीचे अथवा ऊपर शस्त्र द्वारा नेत्रबुद्बुद परिमित व्रण बना कर मछली के अण्डों के जाल जैसे मेदस् को निकाल कर अग्निकर्म कर देवे । इसी प्रकार से दूसरे पार्श्व में स्थित अपची में वाम सक्थि में उक्त कर्म करे । और दोनों की अपची में दोनों ओर की जंघाओं में उक्त कर्म करना चाहिये ॥२९-३२॥

नाड़ी व्रण चिकित्सा—

अथ नाडीरोगप्रतिषेधः ।

उपनाह्यानिलान्नाडीं पाटितां साधु लेपयेत् ।
प्रत्यक्पुष्पीफलयुतैस्तैलैः पिष्टैः ससैन्धवैः ॥३३॥
पैत्तीं तु तिलमञ्जिष्ठा-नागदन्तीशिलाह्वयैः ।
श्लैष्मिकीं तिलसौराष्ट्रीनिकुम्भारिष्टसैन्धवैः ॥३४॥
शल्यजां तिलमध्वाज्यैर्लेपयेच्छिन्नशोधिताम् ।
शशाश्च कृत्यामेषिण्या भित्त्वान्ते सम्यगेषिताम् ॥३५॥
क्षारतोयेन सूत्रेण बहुशो दारयेत् गतिम् ।

व्याख्या—वात जनित नाड़ी व्रण में—उचित उपनाह का प्रयोग करके तत्पश्चात् एषणी द्वारा व्रण की गति का एषण—(अन्वेषण) करके और तदनुसार शस्त्रद्वारा पाटन करके—अपामार्ग के बीज, तिल तथा सैन्धव लवण को पीस कर लेप करे अर्थात् उक्त द्रव्यों का कल्क व्रण में भर कर बन्धन कर देवे । पित्त जनित नाड़ी व्रण में—पद्मकादि गण (सू. अ. १५) के द्रव्यों की दूध एवं घृत में बनाई गई लपसी का उपनाह करे और तत्पश्चात् शस्त्रद्वारा पाटन करके तिल, मञ्जीठ, नागदमन, तथा शरीला का कल्क व्रण में भर कर बन्धन करे ।

कफ जनित नाडी व्रण में जौ के सत्तू, कुलथी, सुरा तथा सरसों की लपसी के उपनाह का प्रयोग करे

एषणी द्वारा व्रण की गति का एषण करके, शस्त्रद्वारा पाटन कर्म करे और तिल, फिटकिटी, दन्तीमूल, निम्बपत्र तथा सैन्धव लवण का कल्क व्रण में भर कर बन्धन कर देवे। शल्यजनित नाडी व्रण में—पाटन छेदन कर्मद्वारा शल्य निकालकर तिल कल्क को मधु एवं घृत में फेण्ट कर व्रण में भर देवे और बन्धन कर देवे। जिन नाड़ी व्रणों में शस्त्रकर्म करना सम्भव न हो वहाँ आस पास केवल एषणी द्वारा भेदन करके और उसकी गति का भलीभाँति एषण करके, क्षार में भिगोई गई बत्ती को बार २ अनेक वार प्रविष्ट करके गति नाड़ी व्रण का दारण करे—उसका मुख इतना बड़ा-चौड़ा कर लेवे जिससे वहाँ भलीभाँति औषध लेप लगाया जा सके ।।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ३५—तदसन्निधाने त्वरया इतरैषिण्या च तेन अनवदीर्णायां तदनुस्यूतं अन्यत् अन्यत् क्षार सूत्रं सञ्चारयेत् आगतिभेदात् अयं अनपायोऽभ्युपायः सूक्ष्माऽनेक गतिषु भगन्दरेषु, मूलेषु च छिद्रितेषु ग्रन्थि-अर्बुदेषु इति। अर्थात्—यदि उक्त क्षार सूत्र का प्रयोग सम्भव न हो अथवा उस प्रयोग से उचित दारण न हो तो एषणी पर ही क्षार सूत्र बान्ध २ कर नवीन२ सूत्र नाडी व्रण के भीतर घुमावे तब तक जब तक गति-नाडी व्रण का भेदन होकर शोधन हो जाय यह हानि रहित उपाय हैं और यह उपाय भगन्दरों में तथा उन ग्रन्थियों एवं अर्बुदों में भी किया जाता है जिनके मूल में अनेक छिद्र हों ।।३३-३५।।

चिकित्सा संकेत—

व्रणेषु दुष्टसूक्ष्माऽऽस्य-गम्भीरादिषु साधनम् ।।३६।।
या वर्त्यो यानि तैलानि तन्नाड़ीष्वपि शस्यते ।

व्याख्या—दुष्ट व्रणों में, सूक्ष्ममुख वाले व्रणों में तथा अन्यान्य गम्भीर (गहरे) व्रणों में—जो चिकित्सा बतलाई गई है और जो जो बत्तियाँ एवं तैल बतलाये गये हैं वे सब अवस्थानुसार नाड़ी व्रणों में भी प्रशस्त हैं ।।३६।।

चञ्चुफल प्रयोग—

पिष्टं चञ्चुफलं लेपान्नाडीव्रणहरं परम् ।।३७।।

व्याख्या—एरण्ड का बीज पीसकर लेप करने से नाडीव्रण का नाश करता है ।। ३७ ।।

नाडीव्रण नाशक वर्ति—

घोण्टाफलत्वग्लवणं सलाक्षं
बुकस्य पत्रं वनितापयश्च ।
स्नुगर्कदुग्धान्वित एष कल्को
वर्तीकृतो हन्त्यचिरेण नाडीम् ।।३८।।

व्याख्या—सुपारी की छाल, सैन्धव लवण, लाख तथा एरण्ड पत्र को नारी के दूध में पीसकर, तथा सेहुण्ड एवं आक के दूध में फेण्टकर और उसकी बत्ती बनाकर नाडी व्रण में प्रविष्ट करने से नाडीव्रण को शीघ्र नष्ट करती है ।। ३८ ।।

अन्यान्य योग—

सामुद्रसौवर्चलसिन्धुजन्मसुपक्वघोण्टाफलवेश्मधूमाः।
आम्रात-गात्रत्रिजपल्लवाश्च कटङ्कटेर्याथ चेतकी च ।।
कल्केऽभ्यङ्गे चूर्णे वर्त्यां चैतेषु सेव्यमानेषु ।
अगतिरिव नश्यति गति-श्चपला चपलेषु भूतिरिव ।।४०।।

व्याख्या—समुद्र लवण, सोंचर लवण, सैन्धव लवण, परिपक्व सुपारी, गृहधूम, आमला के कोमल पत्र, खैरसार के कोमल पत्र, हल्दी, दारुहल्दी की छाल तथा हरड़ का सेवन—कल्क के रूप में, उनके योग से सिद्ध तैल अभ्यङ्ग के रूप में, चूर्ण-अवचूर्णन (बुरकना) के रूप में और बत्ती के रूप में करने से—नाडी व्रण का चिह्न भी नहीं रह जाता है जैसे चञ्चल स्वभाववाले मानवों के पास चञ्चला लक्ष्मी एवं ऐश्वर्य नहीं रह जाता (नाडीव्रण मिट जाता है परन्तु चिह्न अर्थात् दाग तो रह ही जाता है) ।

वक्तव्य—नाडी व्रण की चिकित्सा सु. चि. अ. १७ में देखिये। नाडी व्रण में भीतर ही भीतर दूर तक छिद्र होता है और मुख छोटा होता है अतः उसका मुख बड़ा करने के लिये तथा पूरे व्रण में औषध पहुँचाने के लिये शस्त्र कर्म एवं क्षार कर्म का उपदेश किया गया है ।।३९-४०।।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने त्रिंशोऽध्यायः ।।३०।।

एकत्रिंशोऽध्यायः ।

अथातः क्षुद्ररोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

व्याख्या—अब क्षुद्र रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—क्षुद्र रोगों का वर्णन च. सू. अ. १८ तथा चि अ. १२ में, सु. नि. अ. १३ में तथा अ. सं. उ. अ. ३६ में देखिये। क्षुद्र शब्द के विषय में किसी आचार्य का कथन है कि—

मन्दवेगा महावेगा व्याधयोऽल्पजोऽरुजः ।
ये महातोऽल्पकाश्चैव क्षुद्र रोगास्तुतेस्मृताः ।'

अर्थात्—वे रोग क्षुद्ररोग कहे जाते हैं जिनमें कुछ मन्द वेग वाले तो कुछ महावेग वाले, कुछ अल्प वेदनावाले तो कुछ सर्वथा वेदना रहित और कुछ बड़े तो कुछ बहुत छोटे रोग हैं। इस प्रकार में उन रोगों का वर्णन है जिनका ज्वरादि के समान विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। स्यात् इस लिये ही वे क्षुद्र रोग कहे जाते हैं। हमारे विचार

में आयुर्वेदीय रोगों का यह आकृति गण है। कुछ भी हो इस प्रकरण में ३६ रोगों का वर्णन है। और सु. नि. अ. १३ में—समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्र रोगा भवन्ति ॥३॥

अर्थात्—संक्षेपतः ४४ क्षुद्र रोग होते हैं कहा गया है। और समासतः शब्द का प्रयोग करके श्री धन्वन्तरि ने स्पष्ट कर दिया है कि इनके नाम भी प्रायः रूढ हैं। जैसे अजगल्लिका आदि और कुछ योगिक एवं सार्थक जैसे मुख दूषिका एवं राजिका आदि।

अजगल्लिका—

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा।
पिटिका कफवाताभ्यां बालानाम् अजगल्लिका ॥१॥

व्याख्या-जो कफवात की विकृति से—स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण वाली, ग्रथित-ठोस, वेदना रहित एवं मूँग के दाना कीसी, पिटिका (फुन्सी) होती है उसका नाम "अजगल्लिका" है और यह केवल बालकों में देखी जाती है ॥ १ ॥

यव प्रख्या नामक पिटिका—

यवप्रख्या यवप्रख्या ताभ्यां मांसाश्रिता घना।

व्याख्या—कफ एवं वायु की विकृति से-मांस में आश्रित, ठोस, एवं जौ के समान आकार वाली जो पिटिका होती है उसका नाम 'यवप्रख्या" है ॥

कच्छपी नामक पिटिका—

अवक्त्रा चालजी वृत्ता स्तोकपूया घनोन्नता ॥२॥
ग्रन्थयः पञ्च वा षड्वा कच्छपी कच्छपोन्नता।

व्याख्या—मुख रहित, अलजी नामक पिटिका कीसी गोल, थोड़े पूय वाली, कठोर एवं उन्नत जो ५ अथवा ६ ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उसका नाम "कच्छपी" है क्योंकि वह कछुवा की पीठ के समान उठी हुई है। वह भी कफवातज होती है (सु.)। सुश्रुत ने अन्त्रालजी और कच्छपी नामक दो रोग माने हैं ॥ २ ॥

पनसिका एवं पाषाण गर्दभ का वर्णन—

कर्णस्योर्ध्वं समन्ताद्वा पिटिका कठिनोग्ररुक् ॥३॥
शालूकाभा पनसिका शोफस्त्वल्परुजः स्थिरः।
हनुसन्धिसमुद्भूतस्ताभ्यां पाषाणगर्दभः ॥ ४ ॥

व्याख्या—कर्ण के ऊपर की ओर अथवा सब ओर कहीं भी शालूक कन्द कीसी, कठिन एवं उग्र वेदना वाली जो पिटिका हो जाती है उसका नाम "पनसिका" है। यह भी कफ एवं वायु की विकृति से होती है (सु.)। हनु की सन्धि में कान से नीचे—थोड़ी वेदना से युक्त एवं स्थिर-अचल जो शोथ होता है उसका नाम "पाषाण गर्दभ" है। यह बात कफ से उत्पन्न होता है ॥

वक्तव्य—पाषाण गर्दभ को कनपेड़ा तथा कणेड़ू कहते हैं कहीं २ गालो माता भी कहते हैं ॥ १-४ ॥

मुखदूषिका—

शाल्मलीकण्टकाकाराः पिटिकाः सरुजो घनाः।
मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्यां च मुखदूषिकाः ॥ ५ ॥

व्याख्या—युवक युवतियों के मुख पर-सेमल के कण्टकों (मूलभाग में मोटी) केसे आकार वाली, वेदना युक्त (थोड़ी वेदनायुक्त), सघन एवं गर्भ में मेदस् से युक्त जो पिटिका हो जाती हैं वे "मुखदूषिका" कहलाती हैं जो कफवातज होती हैं (कफमारुतशोणितैः—कफ, वायु एवं रक्त से उत्पन्न होती हैं—सुश्रुत) इसे यौवन पिटिका भी कहते हैं ॥ ५ ॥

पद्मकण्टकका वर्णन—

ते पद्मकण्टका ज्ञेया यैः पद्ममिव कण्टकैः।
चीयते नीरुजैः श्वेतैः शरीरं कफवातजैः ॥६॥

व्याख्या—वेदना रहित एवं श्वेत वर्ण वाले, कमल के कण्टकों केसे कण्टकों से शरीर व्याप्त हो जाता है उनका नाम "पद्मकण्टक" है। ये भी कफवातज होते हैं ॥ ७ ॥

वक्तव्य - सुश्रुत में इसका नाम "पद्मिनी कण्टक" है।

विवृता का वर्णन—

पित्तेन पिटिका वृत्ता पक्वोदुम्बरसन्निभा।
महादाहज्वरकरी विवृता विवृतानना ॥७॥

व्याख्या—पित्त की विकृति से उत्पन्न जो--गोल, पके गूलर फल कीसी लाल, अत्यधिक दाह एवं ज्वर को उत्पन्न करने वाली तथा मुख वाली पिटिका हो जाती हैं वह "विवृत" कहलाती है ॥ ७ ॥

मसूरिका का वर्णन—

गात्रेष्वन्तश्च वक्त्रस्य दाहज्वररुजान्विताः।
मसूरमात्रास्तद्वर्णास्तत्संज्ञाः पिटिका घनाः ॥८॥

व्याख्या—शरीर भर पर तथा मुख के भीतर जो—दाह, ज्वर एवं वेदना से युक्त एवं सघन मसूर के दाने कीसी पिटिका होती हैं वे मसूरिका, कहलाती हैं ॥ ८ ॥

विस्फोट का वर्णन—

ततः कष्टतराः स्फोटा विस्फोटाख्या महारुजाः।

व्याख्या - उक्त मसूरिका से अधिक कष्ट देने वाले एवं अत्यधिक वेदना वाले जो स्फोट (फफोले कीसी बड़ी २ एवं श्वेत वर्ण वाली फुन्सियाँ) होते हैं उनका नाम "विस्फोट" है ॥

वक्तव्य— मसूरिका को छोटी माता अथवा शीतला और स्फोटों को बड़ी माता अथवा शीतला कहते हैं। इनकी पिटिका कभी २ नेत्र गोलक पर भी निकल आती है जिससे

असाध्य फूली पड़ जाती है और दृष्टि नष्ट हो जाती है। ये दोनों कभी २ इतने सघन होते हैं कि तिल रखने भर स्थान भी नहीं रह जाता और कभी २ कुछ इने गिने ही दाने होते हैं। ये दोनों रोग कभी २ जनपदोध्वंस के रूप में भी फैलते हैं।

विद्धातथा गर्दभी का वर्णन—

या पद्मकर्णिकाकारा पिटिका पिटिकान्विता ॥९॥
सा विद्धा वातपित्ताभ्याम् ताभ्यामेव च गर्दभी।
मण्डला विपुलोत्सन्ना सरागपिटिकाचिता ॥१०॥

व्याख्या—वातपित्त की विकृति से जो एक मात्र पिटिका होती है वह "विद्धा" कही जाती है और वह कमलिनी की कर्णिका के आकार की होती है और छोटी २ अनेक पिटिकाओं से व्याप्त रहती है। सुश्रुत में इसका नाम इन्द्र विद्धा या इन्द्र वृद्धा है। और वातपित्त की ही विकृति से—गर्दभी नामक पिटिका होती है वह गोल, मण्डलाकार-बड़ी, ऊँची और लाल २ अनेक पिटिकाओं से व्याप्त होती है। सुश्रुत में इसका नाम "गर्दभिका" है। और यह वेदना युक्त होती है ॥ ९-१०॥

कक्षा का वर्णन—

कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो देशेषुसाऽनिलात्।
पित्ताद्भवन्ति पिटिकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः ॥११॥

व्याख्या—वायु युक्त पित्त की विकृति से काँख के आस पास में—छोटी २ लावा (धान की खील) कीसी एवं सघन जो पिटिका हो जाती हैं वे "कक्षा" कही जाती हैं॥

वक्तव्य—सु. नि. अ. १३ में इसका वर्णन इस प्रकार है—
बाहुपार्श्वांस कक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥१६॥

अर्थात्—पित्त के कोप से (प्रायः उष्ण काल में) कांख में जो काले वर्ण की एवं वेदना युक्त फुड़िया होती हैं उसका नाम "कक्षा" है। इसे कच्छराली भी कहते हैं ये एक से सात तक निकलती देखी जाती हैं स्यात् इसीलिये कच्छराली या कक्षालि—कक्षा पंक्ति कही जाती है ॥११॥

गन्धनामा का वर्णन—

तादृशी महती त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता।

व्याख्या—कक्षा जैसी परन्तु उससे बड़ी जो एक मात्र पिटिका होती है वह "गन्धनामा" कही जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत में इसका वर्णन इस प्रकार है—
एकां एवं विधां दृष्ट्वा पिटिकां स्फोटसन्निभाम्।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते ॥१७॥

अर्थात्—कक्षा जैसी जो एक पिटिका होती है उसका नाम गन्ध नामा या गन्धमाला है यह स्फोट जैसी एवं केवल त्वचागत होती है और पित्त के कोप से उत्पन्न होती है।

राजिका वर्णन—

घर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे पिटिकाः सरुजो घनाः ॥१२॥
राजिकावर्णसंस्थानप्रमाणा राजिकाह्वयाः।

व्याख्या—घाम एवं स्वेद के प्रभाव से-कुछ वेदना युक्त सघन तथा राई के समान वर्ण आकार तथा परिमाण से युक्त जो पिटिका होती हैं वह "राजिका" कहलातोहैं१२

वक्तव्य—उष्ण काल में धूप लगने एवं पसीना आने से यह हो जाती हैं इन्हें अमभौरी या पित्ती (पञ्जाब में) कहते हैं।

जाल गदर्भ का वर्णन—

दोषैः पित्तोल्बणैर्मन्दैर्विसर्पति विसर्पवत् ॥१३॥
शोफोऽपाकस्तनुस्ताम्रो ज्वरकृज्जालगर्दभः।

व्याख्या—मन्दगति वाले पित्तप्रधान दोषों की विकृति से उत्पन्न विसर्प के समान सर्पणशील शोथ हो जाता है, वह शोथ पकता नहीं है, पतला एवं लाल होता है तथा साथ २ ज्वर बना रहता है। इसका नाम "जालगर्दभ" है ॥ १४ ॥

अग्नि रोहिणी का वर्णन—

मलैः पित्तोल्बणैः स्फोटा ज्वरिणो मांसदारणाः॥१४॥
कक्षाभागेषु जायन्ते येऽग्न्याभाः साऽग्निरोहिणी।
पञ्चाहात्सप्तरात्राद्वा पक्षाद्वा हन्ति जीवितम् ॥ १५ ॥

व्याख्या—पित्त प्रधान दोषों की विकृति से कक्षा भागों में—अग्निदग्ध के समान स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं, साथ २ ज्वर हो जाता है, मांस का दारण हो जाता है। इस रोग का नाम "अग्निरोहिणी" है। यह ५, ७ अथवा १५ दिन पर रोगी को मार डालती है॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इसे त्रिदोषज माना है। और स्फोटों में दाह होना लिखा है ॥१४-१५॥

इरिवेल्लिका का वर्णन—

त्रिलिङ्गा पिटिका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका।

व्याख्या—जत्रु से ऊपर के भाग में जो—तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त एवं गोल पिटिका होती है उसका नाम "इरिवेल्लिका" है॥

विदारी लक्षण—

विदारीकन्दकठिना विदारी कक्षवङ्क्षणे ॥ १६ ॥

व्याख्या—कक्षा में अथवा वंक्षण सन्धि में-जो विदारी कन्द के समान गोल एवं कठोर पिटिका होती है उसका नाम "विदारी" है॥

वक्तव्य—सुश्रुत नि. अ. १३ में अधिक पाठ है—
रक्तां विदारिकां विद्यात् त्रिदोषां सर्वलक्षणाम् ॥२५॥

अर्थात्—वह लालवर्ण की होती है और त्रिदोषज होती है अतः सब दोषों के लक्षणों से युक्त होती है। चि. अ. १२ में इसका वर्णन इस प्रकार है यथा—

ज्वरान्विता वंक्षणकक्षगा या वर्त्तिः निरर्त्तिः कठिनायता च।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां .... ॥८१॥

व्याख्या—वंक्षण में अथवा कक्षा (काँख) में—जो पिटिका ज्वर से युक्त, बत्ती की लम्बाई लिये, वेदना रहित (अथवा निःशेष वेदनाओं वाली), कठोर एवं विशाल, तथा कफवातजनित पिटिका होती है वह "विदारिका" कही जाती है। इसे भेल संहिता में "वातालिका" कहा गया है और आज कल भारत में इसे "प्लेग" की ग्रन्थि कहते हैं। देखा गया है कि प्लेग की ग्रन्थि में ज्वर होता भी है और कभी २ नहीं भी होता। यह जनपदोध्वंस के रूप में फैलती है। यह मृदु एवं दारुण भेद से दोनों प्रकार की होती हैं फलतः अनेक रोगी बच जाते हैं और अनेक मर जाते हैं।

शर्कराऽर्बुद का वर्णन—

मेदोऽनिलकफैर्ग्रन्थिः स्नायुमांससिराश्रयैः।
भिन्नो वसाज्यमध्वाभं स्रवेत्तत्रोल्वणोऽनिलः॥ १७॥
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करामुपपादयेत्।
दुर्गन्धं रुधिरं क्लिन्नं नानावर्णं ततो मलाः॥ १८॥
तां स्रावयन्ति निचितां विद्यात्तच्छर्करार्बुदम्।

व्याख्या—स्नायु, मांस एवं सिराओं में आश्रित मेदस्, वायु एवं कफ की विकृति से—ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है और जब वह फूटती है तब उसमें से बसा, घृत एवं मधु का सा स्राव बहता है फिर वहाँ वायु बढ़ कर और मांस को सुखा कर ग्रथित शर्करा उत्पन्न कर देता है। तदनन्तर दोष विकृत होकर वहाँ से दुर्गन्ध युक्त, सड़े हुए तथा अनेक वर्ण वाले रक्त को प्रवाहित करने लगते हैं। इस रोग का नाम "शर्करार्बुद" है।।१७-१८॥

वल्मीक का वर्णन—

पाणिपादतले सन्धौ जत्रूर्ध्वं वोपचीयते॥ १९॥
वल्मीकवच्छनैर्ग्रन्थिस्तद्वद्बहुणुभिर्मुखैः।
सदाहकण्डूक्लेदाढ्यो वल्मीकोऽसौ समस्ततः॥२०॥

व्याख्या—हाथ पाँव के तलों में किसी सन्धि पर अथवा जत्रु-ग्रीव से ऊपर के भाग में धीरे-धीरे वाम्बी कीसी छोटे-छोटे मुखों-छिद्रों वाली ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। वह वेदना, दाह एवं कण्डू से युक्त होती है और उसमें से क्लेद पन्छा बहता रहता है। इसका नाम "वल्मीक ग्रन्थि" है और यह त्रिदोषजनित होती है॥१९-२०॥

कदर का वर्णन

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।
ग्रन्थिः कीलवदुत्सन्नो जायते कदरं तु तत्॥ २१॥

व्याख्या—पाँव में कंकड़ चुभ जाने से अथवा कण्टक आदि से क्षत हो जाने पर बेर कीसी ऊँची ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है उसका नाम "कदर" है।

वक्तव्य—पञ्जाब में इसे "अट्टन" और उत्तर प्रदेश में "गोरखुत्र" कहते हैं। यह अत्यन्त कठोर होती है दवाव पड़ने से काष्ठा के समान चुभती है।।२१॥

रुद्ध गुद का वर्णन—

वेगसन्धारणाद्वायुरपानोऽपानसंश्रयम्।
अणूकरोति बाह्यान्तर्मार्गमस्य, ततः शकृत्॥ २२॥
कृच्छ्रान्निर्गच्छति व्याधिरयं रुद्धगुदो मतः।

व्याख्या—वेग रोध से कुपित अपान वायु-गुद मार्ग को बाहिर (गुदोष्ठ) से तथा भीतरी भाग से छोटा कर देता है फलतः पुरीष कठिनता से निकलता है। इस व्याधि का नाम 'रुद्धगुद' है॥

वक्तव्य—सुश्रुत नि. अ. १३ में इसका नाम संनिरुद्धगुद है। इसमें गुद का स्रोत छोटा हो जाता है। जिससे पुरीष के निर्गमन में कठिनाई होती है।।२२॥

उपनख का वर्णन—

कुर्यात्पित्तानिलं पाकं नखमांसे सरुग्ज्वरम्॥ २३॥
चिप्यमक्षतरोगं च विद्यादुपनखं च तम्।

व्याख्या—पित्त एवं वायु विकृत होकर नखमांस (जहाँ नख रहता एवं उत्पन्न होता है वहाँ) में पाक उत्पन्न कर देते हैं तथा उस समय वेदना एवं ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है। इसका नाम चिप्य, अक्षत रोग एवं उपनख है॥२३॥

कुनख का वर्णन

कृष्णोऽभिघाताद्रूक्षश्च खरश्च कुनखो नखः॥ २४॥

व्याख्या—नख पर चोट लगने से नख—काला, रूक्ष एवं खरदरा हो जाता है। इसका नाम "कुनख" है।

वक्तव्य—यदि बाह्य नख पर आघात होने से बाह्य नख काला होता है तो वह ४-६ मास में नवीन नख आते-आते पूर्ववत् हो जाता है और कभी नख के मूल में विकृति होती है तो सदा के लिए कुनख रोग हो जाता है अथवा जब तक मूल में विकृति रहती है तब तक कुनख बना रहता है। इस रोग में नख के सद्गुण रक्तता एवं स्निग्धता आदि नष्ट हो जाते हैं॥२४॥

अलस का वर्णन—

दुष्टकर्दमसंस्पर्शात् कण्डूक्लेदान्वितान्तराः।
अंगुल्योऽलसमित्याहु :—

व्याख्या– दूषित कीचड़ के स्पर्श से अंगुलियों में कण्डू होने लगती है और फिर क्लेद बहने लगती है। इस विकार का नाम "अलस" है।

वक्तव्य—खुजाने पर दाह होता है। इसे पञ्जाब में खिरही कहते हैं।

तिलकालक आदि का वर्णन —

तिलाभांस्तिलकालकान् ॥ २५ ॥
कृष्णानवेदनांस्त्वक्स्थान् मषांस्तानेव चोन्नतान्।
मषेभ्यस्तून्नततरांश्चर्मकीलान् सितासितान् ॥ २६ ॥
तथाविधो जतुर्मणिः सहजो लोहितस्तु सः।
कृष्णं सितं वा सहजं मण्डलं लाञ्छनं समम् ॥ ७॥

व्याख्या—शरीर की त्वचा में स्थित तिल जैसे तथा वेदना रहित (काले एवं लाल) चिन्ह होते हैं अथवा बुढ़ापा में हो जाते हैं उनका नाम "तिलकालक" या तिल है। और उरद के से ऊँचे जो चिन्ह होते हैं वे माष या मष या मस्से कहे जाते हैं। और जो उरद के दाना से भी अधिक ऊँचे एवं बड़े होते हैं वे "चर्मकील" कहलाते हैं वे श्वेत-त्वचा के समान वर्ण वाले तथा काले भी होते हैं। और जो चर्मकील काला परन्तु सहज शरीरोत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न एवं लाल होता है उसका नाम है "जतुमणि"। और जो काला अथवा श्वेत (कुछ काला), सहज एवं समतल (त्वचा से ऊँचा नहीं) मण्डल होता है वह "लाञ्छन" कहलाता है।

वक्तव्य—उक्त तिलकालक आदि का फलाफल सामुद्रिक शास्त्र में देखिये ॥२६॥

व्यङ्ग का वर्णन—

शोकक्रोधादिकुपिताद्वातपित्तान्मुखे तनु।
श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका ॥२८॥
परुषं परुषस्पर्शं व्यङ्गं श्यावं च मारुतात्।
पित्तात्ताम्रान्तमानीलं, श्वेतान्तं कण्डुमत्कफात् ॥२९॥
रक्ताद्रक्तान्तमाताम्रं सोषं चिमचिमायते।

व्याख्या—शोक अथवा क्रोध करने से प्रकुपित वात पित्त से मुख पर जो साँवला एवं पतला मण्डल हो जाता है वह "व्यङ्ग" कहलाता है (इसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती)। और इसी प्रकार का मण्डल मुख से अतिरिक्त अन्यान्य अवयव पर होता है तो वह "नीलिका" कहा जाता है। परन्तु यह अधिक काला होता है सुश्रुतानुसार यह मुख पर भी होता है। इसका वर्ण व्यङ्ग की अपेक्षा अधिक काला होता है। वायु की अधिकता से व्यङ्ग देखने में तथा छूने में खरदरा एवं साँवला होता है। पित्त की अधिकता से सब ओर से लाल तथा मध्य भाग में नीलाभ होता है। कफ की अधिकता से सब ओर से श्वेत तथा कण्डूयुक्त होता है रक्त की विकृति से सब ओर से लाल मध्य भाग में ताम्र काला लाल, दाहयुक्त तथा चुनचुनाहट युक्त होता है ॥२८-२९॥

प्रसुप्ति का वर्णन—

वायुनोदीरितः श्लेष्मा त्वचं प्राप्य विशुष्यति ॥ ३० ॥
ततस्त्वग्जायते पाण्डुः क्रमेण च विचेतना।
अल्पकण्डूरविक्लेदा सा प्रसुप्तिः प्रसुप्तितः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—वायु द्वारा प्रेरित कफ त्वचा में आकर सूख जाता है उससे त्वचा श्वेत हो जाती है और धीरे-धीरे त्वचा चेतना (स्पर्श ज्ञान) रहित होती जाती है और उसमें थोड़ी कण्डू होती है और क्लेद नहीं होता इसका नाम "प्रसुप्ति" है क्योंकि इसका मुख्य लक्षण ही प्रसुप्ति-स्वाप-शून्यता है ।३०-३१॥

उत्कोठ एवं कोठ का वर्णन—

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः।
मण्डलान्यतिकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ॥ ३२ ॥
उत्कोठः, सोऽनुबद्धस्तु 'कोठ' इत्यभिधीयते।

व्याख्या—उचित रूप से वमन न होने से वमन के हीनयोग से तथा वमन या छर्दि के रूप में निर्गमनोन्मुख पित्त, कफ एवं आमाशय गत अन्न के मुक्ताहार के वेग को रोकने से जो अत्यन्त कण्डू वाले लाल एवं अनेक मण्डल-चप्पड़ उत्पन्न हो जाते हैं। वह "उत्कोठ" कहे जाते हैं और यदि वे मण्डल बार-बार निकलने लगते हैं तो कोठ कहे जाते हैं।

वक्तव्य—पञ्जाब में इसे पित्ती या रक्तपित्ती और उत्तर-प्रदेश में छुई मुई कहते हैं। यह मण्डल कुछ समय के लिये उत्पन्न होकर स्वतः शान्त हो जाते हैं। इसमें शरीर भर का वर्ण लाल हो जाता है। और कोठ में यह दशा मासों अथवा वर्षों चलती है ॥३२॥

उपसंहार—

प्रोक्ताः षट्त्रिंशदित्येते क्षुद्ररोगा विभागशः ॥ ३३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार ये ३६ रोग विभाग से कह दिये गये हैं। ये सब क्षुद्र रोग कहे जाते हैं ॥३३॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

—:*:—

द्वात्रिंशोऽध्यायः।

अथातः क्षुद्ररोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब क्षुद्र रोगों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—क्षुद्ररोग चिकित्सा च. चि, अ० १२ में सु. चि. अ. २० एवं २५ में और अ सं.उ.अ. ३७ में देखिये।

अजगल्लिका, यव प्रख्या, कच्छपी, पनसिका तथा पाषाण गर्दभ की चिकित्सा—

विस्रावयेज्जलौकोभिरपक्वामजगल्लिकाम्।
स्वेदयित्वा यवप्रख्यां विलयाय प्रलेपयेत्॥ १॥
दारुकुष्ठमनोह्वाऽऽलैः इत्यापाषाणगर्दभात्।
विधिस्तांश्चाचरेत्पक्वान् व्रणवत्साजगल्लिकान्॥ २॥

व्याख्या—अजगल्लिका की अपक्वावस्था में—उस पर जोंक लगा कर रक्तस्रावण करे और जौखार, सीव तथा फिटकिरी को जल में पीस लेप करे। और पक जाने पर व्रण के समान उपचार करे (अ. सं उ, अ, ३७ देखिये)। यवप्रख्या की अपक्वावस्था में उसके विलयन विम्लापन के लिए स्वेदन करे और देवदारु, कुठ, मैनसिल तथा हरिताल का लेप करे और जब पक जाय तो व्रण के समान उपचार करे। इसी प्रकार कच्छपी, पनसिका तथा पाषाण गर्दभ की चिकित्सा करे और पक जाने पर व्रण के समान उपचार करे॥१-२॥

मुख दूषिका की चिकित्सा—

रोध्रकुस्तुम्बरु-वचाप्रलेपो मुखदूषिके।
वटपल्लवयुक्ता वा नारिकेलोत्थशुक्तयः॥ ३॥
अशान्तौ वमनं नस्यं ललाटे च सिराव्यधः।

व्याख्या—मुख दूषिका रोग में—लोध, धनियाँ तथा वच का लेप करे। अथवा वट के कोमल पत्र तथा नरियल की गरी का लेप करे। इस प्रकार उपचार करने पर भी यदि शान्ति न हो तो वमन एवं नस्य का प्रयोग करे और ललाट की सिरा का वेध करके रक्त स्रावण कर देवे॥३॥

पद्मकण्टक की चिकित्सा—

निम्बाम्बुवान्तो निम्बाम्बु-साधितं पद्मकण्टके॥ ४॥
पिबेत्क्षौद्रान्वितं सर्पिर्निम्बारग्वधलेपनम्।

व्याख्या—पद्म कण्टक रोग में—निम्ब के पत्तों का क्वाथ पिला कर वमन करावे और फिर निम्ब के कल्क एवं क्वाथ के योग से सिद्ध घृत का मधु मिला कर पान करावे और निम्ब एवं अमलतास के पत्तों का लेप करे।

विवृता, से जालगर्दभ पर्यन्त रोगों की चिकित्सा—

विवृतादींस्तु जालान्तांश्चिकित्सेदिरिवेल्लिकाम्।
पित्तवीसर्पवत् तद्वत्, प्रत्याख्यायाऽग्निरोहिणीम्॥५॥

व्याख्या—विवृता, मसूरिका, विस्फोट, विद्धा, गर्दभी, कक्षा, गन्धनामा, राजिका तथा जालगर्दभ और इरिवेल्लिका नामक रोगों में पित्तविसर्प (चि. अ. १८) के समान चिकित्सा करे। और अग्नि रोहिणीकी चिकित्सा प्रत्याख्यान अर्थात् नकार करके इसी प्रकार करे॥४॥

जालगर्दभ की चिकित्सा—

विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च।
धात्रीप्रयोगान् शिशिरप्रदेहान् कुर्यात्सदा जालकगर्दभस्य।

व्याख्या—जालगर्दभरोग में आवश्यकतानुसार लंघन उपवास करे, जलौका द्वारा रक्तमोक्षण करे, रूक्षण आहार करे, वमन विरेचन द्वारा शरीर शोधन करे, आमला के (च्यवन प्राश आदि) योगों का सेवन करे तथा शीतल द्रव्यों का लेपन करे॥६॥'

विदारिका चिकित्सा—

विदारिकां हृते रक्ते श्लेष्मग्रन्थिवदाचरेत्।

व्याख्या—विदारिका में प्रथम जोंक लगा कर रक्त निकाल देवे तदनन्तर कफज ग्रन्थि के (अ. ३१) समान चिकित्सा करे।

वक्तव्य—विदारिकां जलवासिनीभिः शोधयित्वा बिल्वमूलनागमृत्तिकावर्षाभूअजकर्णपलाशकल्केन प्रलिम्पेत्। एवं अशाम्यन्तीं तु अभ्यज्य स्वेदयित्वा च विम्लापयेत्। पक्वां शस्त्रेण विदार्य निम्बतिलपटोलविदारीकल्केन प्रच्छाद्य बध्नीयात्। क्षीरिवृक्षबदरखदिरकषायो व्रणप्रक्षालनम्। शुद्धं मधुरकषायसंस्कृतेन तैलेन रोपयेत्॥अ.सं.उ.अ. ३७॥

अर्थात् विदारिका में—जोंक द्वारा रक्त निकाल कर बिल की जड़ की छाल, हाथीशाला की मिट्टी, पुनर्नवा तथा पलाश की छाल का लेप करे। इस प्रकार शान्त न हो तो अभ्यङ्ग एवं स्वेदन करके अंगूठा आदि द्वारा विम्लापन करे। यदि पक गई हो तो शस्त्र से चीरा लगाकर, निम्ब के कोमल पत्र, तिल, परवल के कोमल पत्र तथा विदारी कन्द का कल्क रख कर बन्धन कर देवे। प्रतिदिन खोलकर वट आदि क्षीरी वृक्षों की छाल तथा बेरी की छाल एवं खैरसार के क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करे। व्रण का शोधन होने पर मधुर द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ के योग से सिद्ध तैल का पिचु रख कर रोपण करे।

शर्करार्बुद चिकित्सा—

मेदोर्बुदक्रियां कुर्यात्सुतरां शर्करार्बुदे॥ ७॥

व्याख्या—शर्करार्बुद रोग में मेदोर्बुद के समान (अ. २९) चिकित्सा करे।

वल्मीक चिकित्सा—

प्रवृद्धं सुबहुच्छिद्रं सशोफं मर्मणि स्थितम्।
वल्मीकं हस्तपादे च वर्जयेत् इतरत्पुनः॥ ८॥
शुद्धस्यास्रे हृते लिम्पेत् सपटूवारग्वधामृतैः।
श्यामाकुलत्थिकामूलदन्तीपललसक्तुभिः॥ ९॥
पक्वे तु दुष्टमांसानि गतीः सर्वाश्च शोधयेत्।
शस्त्रेण सम्यगनु च क्षारेण ज्वलनेन वा॥ १०॥

व्याख्या—यदि वल्मीक नामक व्रण बढ़ गया हो

बहुत बड़ा हो, अनेक छिद्रों वाला हो, शोथयुक्त हो और मर्मस्थल पर हो अथवा हाथ पाँव पर हो तो उसकी असफल चिकित्सा न करे। इनके अतिरिक्त अन्य वल्मीक में प्रथम वमन विरेचन से शोधन करके और जोंकों द्वारा रक्त निकाल कर सैन्धव लवण, अमलतास के कोमल पत्र, गिलोय के कोमल पत्र, निशोत, कुलथी की जड़, दन्तीमूल, तिल तथा जौ के सत्तू का लेप करे। इस प्रकार पक जाने पर उसमें का दूषित मांस निकाल देवे और सब गतियों—नाड़ी व्रणों का शस्त्र द्वारा भलीभाँति शोधन करके, क्षार द्वारा अथवा अग्नि द्वारा दाह कर्म कर देवे।

वक्तव्य—सुशुद्धे व्रणे च भल्लातकमनःशिलैलाकालानुसार्यगुरुचन्दनैः निम्बतैलं रोपणार्थं श्रपयेत्। अ. सं०

अर्थात् उक्त प्रकार से जब व्रण शुद्ध हो जाय तब भिलावा, मैनसिल, बड़ी इलायची, कृष्णसारिवा के कोमल पत्र, अगुरु तथा लाल चन्दन के योग से सिद्ध निंबतैल का रोपण के लिये प्रयोग करे ॥८-१०॥

कदर की चिकित्सा—

शस्त्रेणोत्कृत्य निःशेषं स्नेहेन कदरं दहेत्।

व्याख्या—कदर को शस्त्र (नहेरना) द्वारा मूलतः उकर कर तप्त स्नेह द्वारा जला देवे।

रुद्धगुद की चिकित्सा—

निरुद्धमणिवत्कार्यं रुद्धपायोश्चिकित्सितम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—रुद्धगुद (संनिरुद्धगुद) में निरुद्ध मणि के समान (अ. ३४) चिकित्सा करे ॥११॥

चिप्प की चिकित्सा—

चिप्पं शुद्ध्या जितोष्माणं साधयेच्छस्त्रकर्मणा।

व्याख्या—चिप्प नामक रोग में—विरेचन द्वारा पित्त (तद्गत दाह) की शान्ति करके शस्त्र का प्रयोग करे।

वक्तव्य—चिप्पं शोणितावसेकसंशोधनैः उपाचरेत्, व्यपगतोष्माणं च एनम् उष्णाम्बुना परिषिच्य यथा योगं शस्त्रेण परिकृत्य अपनयेत्, ततो रसाञ्जनरोचनानेपाली तेजोह्वाकल्कैः अम्बुपिष्टैः शोधयित्वा कालेयकागुरुहरिद्रा-रसाञ्जनसिद्धेन तैलेन रोपयेत्, मधुर कषाय सिद्धेन वा, अवशिष्टं सर्जरसचूर्णेन पूरयेत्।

अर्थात्—चिप्प नामक वातरोग में प्रथम रक्तस्रावण एवं विरेचन करे इस प्रकार ऊष्मा की शान्ति हो जाने पर उष्ण जल का सेचन करके स्वेदन करके उचित रूप से शस्त्र द्वारा परिवर्तन करके पूय निकाल देवे तथा उतना सा नख भी काट देवे जिससे व्रण पर आवरण न रह जाय, तत्पश्चात् रसवत, गोरोचन मेनसिल तथा तेजबल के बीजों को जल में पीस कर लेप कर देवे इस प्रकार व्रण का शोधन हो जाने पर, कालाअगुरु हल्दी तथा रसवत के योग से सिद्ध तैल का पिचु धर कर अथवा मधुर द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल का पिचु धर कर रोपण करे अन्त में राल का सूक्ष्म चूर्ण बुरककर रोहण कर देवे।

कुनख, अलस एवं तिलकालक की चिकित्सा—

दुष्टं कुनखमप्येवं चरणावलसे पुनः ॥ १२ ॥
धान्याम्लसिक्तौ कासीस-पटोलीरोचनातिलैः।
सनिम्बपत्रैरालिम्पेद् दहेत्तु तिलकालकान् ॥ १३ ॥
मषांश्च सूर्यकान्तेन क्षारेण यदि वाऽग्निना।

व्याख्या—दूषित कुनख की भी चिप्प के समान चिकित्सा करे। अलस नामक रोग में पाँवों पर अम्ल-काञ्जी का सेचन करे और कासीस, परवल की जड़, गोरोचन, तिल तथा निम्ब के कोमल पत्रों का लेप करे। तिलकालकों तथा मषों (मस्सों) को सूर्यकान्त (आतशी शीशा) से, क्षार से अथवा अग्नि से जला देवे ॥१२-१३॥

चर्मकील एवं जतुमणि की चिकित्सा

तद्वदुत्कृत्य शस्त्रेण चर्मकीलजतूमणी। १४ ॥

व्याख्या—चर्मकील एवं जतुमणि का शस्त्र द्वारा उत्कर्त्तन करके सूर्यकान्त, क्षार अथवा अग्नि से जला देवे।

वक्तव्य—तदनन्तर व्रण निर्वापण आदि उपचार करके रोपण उपचार करे ॥१४॥

लाञ्छन, व्यङ्ग एवं नीलिका की चिकित्सा—

लाञ्छनादित्रये कुर्याद्यथासन्नं सिराव्यधम्।
लेपयेत्क्षीरपिष्टैश्च क्षीरिवृक्षत्वगङ्कुरैः ॥ १५ ॥
व्यङ्गेषु चार्जुनत्वग्वा मञ्जिष्ठा वा समाक्षिका।
लेपः सनवनीता वा श्वेताश्वखुरजा मषी ॥ १६ ॥
रक्तचन्दनमञ्जिष्ठा-कुष्ठरोध्रप्रियङ्गवः।
वटाङ्कुरा मसूराश्च व्यङ्गघ्ना मुखकान्तिदाः ॥ १७ ॥
द्वे जीरके कृष्णतिलाः सर्षपाः पयसा सह।
पिष्टाः कुर्वन्ति वक्त्रेन्दुम्-अपास्तव्यङ्गलाञ्छनम् ॥१८॥
क्षीरपिष्टा घृतक्षौद्रयुक्ता वा भृष्टनिस्तुषाः।
मसूराः क्षीरपिष्टा वा तीक्ष्णाः शाल्मलिकण्टकाः॥१९॥
सगुडः कोलमज्जा वा शशासृक्क्षौद्रकल्कितः।
सप्ताहं मातुलुङ्गस्थं कुष्ठं वा मधुनान्वितम् ॥ २० ॥
पिष्टा वा छागपयसा सक्षौद्रा मौशली जटा।
गोरस्थि मुशलीमूल-युक्तं वा साज्यमाक्षिकम् ॥ २१ ॥
जम्ब्वाम्रपल्लवा मस्तु हरिद्रे द्वे नवो गुडः।
लेपः सवर्णकृत् पिष्टं स्वरसेन च तिन्दुकम् ॥ २२ ॥
उत्पलपत्रं तगरं, प्रियङ्गुकालीयकं बदरमज्जा।
इदमुद्वर्तनमास्यं, करोति शतपत्रसङ्काशम् ॥ २३ ॥

एभिरेवौषधैः पिष्टैर्मुखाभ्यङ्गाय साधयेत्।
यथादोषर्तुकान् स्नेहान् मधुरककाथसंयुतैः॥ २४॥
यवान् सर्जरसं रोध्रमुशीरं चन्दनं मधु।
घृतं गुडं च गोमूत्रे पचेदादर्विलेपनात्॥ २५॥
तदभ्यङ्गान्निहन्त्याशु नीलिका-व्यङ्ग-दूषिकान्।
मुखं करोति पद्माभं पादौ पद्मदलोपमौ॥ २६॥

व्याख्या—लाञ्छन, व्यङ्ग एवं नीलिका में उनके समीप की सिरा का वेध करके रक्त स्रावण करे और फिर वट आदि क्षीरी वृक्षों की छालों तथा अंकुरों को दूध मे पीस कर लेप करे। विशेषतः-व्यङ्ग पर अर्जुन की छाल अथवा मञ्जीठ के कल्क को मधु में फेण्ट कर लेप करे। अथवा श्वेतवर्ण के घोड़ा के खुर की मसी (काली भस्म) को माखन में फेण्ट कर लेप करे। और लाल चन्दन, मञ्जीठ, कूठ, लोध; प्रियंगु, वट के अंकुर तथा मसूर का लेप व्यंग को नष्ट करता है और मुख की कान्ति को बढ़ाता है: इनके पृथक् लेप भी किये जा सकते हैं॥ और जीरा, कालाजीरा, कालेतिल तथा सरसों को दूध में पीस कर लेप करने से मुखमण्डल व्यंग एवं लाञ्छन से रहित होकर चन्द्रमा का सा कान्तिमान् हो जाता है। और मसूर को भून कर तथा उसका छिलका उतार कर दूध में पीस कर और घृत एवं मधु में लेप करे। अथवा सेमल के काण्टों को दूध में पीस कर लेप करे। अथवा-बेर की गरी को खरगोश (शशक प्राणी) के रक्त तथा मधु में पीस कर एवं गुड़ मिला कर लेप करे। अथवा—सुगन्धी कूठ को निम्बू के रस में या फल में भिगो देवे या धर देवे और सात दिन के पश्चात् पीस कर और मधु मिला लेप करे। अथवा-मुसली को बकरी के दूध में पीस कर मधु में फेण्ट कर लेप करे। अथवा—गौ की अस्थि एवं मुसली को पीस कर घृत एवं मधु में फेण्ट कर लेप करे। जामुन एवं आम के कोमल पत्र, हलदी, दारुहलदी तथा गुड़ को दही के पानी में पीस कर लेप करने से मुख की विवर्णता नष्ट हो जाती है अथवा तेन्दू के फल के रस से पीस कर लेप करने से भी व्यंग का नाश हो जाता है। अथवा—कमल के पत्र, तगर, प्रियंगु, काला अगुरु तथा बेर की गिरी को दूध में पीस कर उबटन करने से मुखमण्डल कमल के समान सुन्दर हो जाता है। और ऋतु एवं वातादि दोषों का विचार करके घृत आदि द्रव्यों कल्क एवं मधुर द्रव्यों के क्वाथ के योग से सिद्ध करे और उनका अभ्यंग करे। यवादि लेप · जौ का आटा, राल, लोध, खस तथा लाल चन्दन का चूर्ण, मधु, घृत तथा गुड़ सब द्रव्य समान भाग लेकर चौगुने गोमूत्र में पाक करे जब कड़छुल में लिपटने लगे तब उतार कर रख लेवे। इसको चुपड़ने से-नीलिका, व्यंग तथा मुख दूषिका (यौवन पिटिका) का नाश हो जाता है और मुख कमल कासा कान्तिमान् तथा पावँ कमल की पंखुरी के समान कोमल एवं लाल हो जाते हैं॥२५-२६॥

कुंकुमादि तैल—

कुङ्कुमोशीरकालीय-लाक्षा-यष्ट्याह्व-चन्दनम्।
न्यग्रोधपादांस्तरुणान् पद्मकं पद्मकेसरम्॥ २७॥
सनीलोत्पलमञ्जिष्ठं पलिकं सलिलाढके।
पक्त्वा पादावशेषेण तेन पिष्टैश्च कार्षिकैः॥ २८॥
लाक्षापत्तङ्गमञ्जिष्ठा-यष्टीमधुककुङ्कुमैः।
अजाक्षीरद्विगुणितं तैलस्य कुडवं पचेत्॥ २९॥
नीलिकापलितव्यङ्ग-वलीतिलकदूषिकान्।
हन्ति तन्नस्यमभ्यस्तं मुखोपचयवर्णकृत्॥ ३०॥

व्याख्या—केशर, खस, काला अगुरु, लाख, मुलेठी, लालचन्दन, वट के अंकुर (वटजटा के कोमल २ अग्रभाग), कमल, कमल का केसर, नील कमल तथा मञ्जीठ १-१ पल लेकर और कूट कर १ आढक जल में पाक करे, चौथाई रहने पर छान लेवे, लाख, पत्तंग काष्ठ, मञ्जीठ, मुलेठी तथा केशर १-१ कर्ष लेकर कल्क बनावे, बकरी का दूध २ कुडव तथा तिल तैल १ कुडव सब को मिला पाक करे। तैल सिद्ध होने पर छान कर रख लेवे। इस तैल की प्रति दिन नस्य लेने से-नीलिका, अकाल पलित, व्यंग, वली (झुरियाँ तिलकालक तथा मुखदूषिका का नाश होता है और मुख मण्डल पुष्ट तथा कान्तिमान् हो जाता है॥ २७-३०॥

मञ्जिष्ठादि स्नेह—

मञ्जिष्ठाशबरोद्भवस्तुवरिका-लाक्षाहरिद्राद्वयं
नेपालीहरितालकुङ्कुमगदा-गोरोचनागैरिकम्।
पत्रं पाण्डुवटस्य चन्दनयुगं कालीयकं पारदं
पत्तङ्गं कनकत्वचं कमलजं बीजं तथा केसरम्॥३१॥
सिक्थं तुत्थं पद्मकाद्यो वसाज्यं
मज्जा क्षीरं क्षीरिवृक्षाम्बु चाग्नौ।
सिद्धं सिद्धं व्यङ्गनील्यादिनाशे
वक्त्रे छायामैन्दवीं चाशु धत्ते॥ ३२॥

व्याख्या—मञ्जीठ, लोध, फिटकिरी, लाख, हल्दी, दारु हल्दी, मैनसिल, हरिताल, केशर, कुठ, गोरोचन, गेरू, वट के पीले पत्ते, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, काला अगुरु, पारद (शिंगरफ), पत्तंग काष्ठ, धतूर की जड़ की छाल, कमल के बीज (कमल गट्टा) तथा कमल का केसर मोम तूतिया तथा पद्मकादि गण के द्रव्यों (सू. अ. १५) का कल्क १ भाग, बसा, घृत तथा मज्जा (मिलित) ४ भाग, गोदुग्ध ४ भाग तथा क्षीरी वृक्षों

की छाल का क्वाथ १६ भाग। सब मिलाकर अग्नि पर पाक करे सिद्ध होने पर स्नेह को छान कर रख लेवे। इसका नस्य एवं अभ्यंग में प्रयोग करने से व्यंग एवं नीलिका आदि में लाभ होता है और मुखमण्डल चन्द्रमा की कान्ति को धारण करता है ॥३१-३२॥

भृंगराज की नस्य—

मार्कवस्वरसक्षीरतोयानीष्टानि नावने।

व्याख्या—भांगरा का स्वरस, भांगरा से सिद्ध दूध तथा भांगरा का क्वाथ नस्य में प्रयुक्त करने से नीलिका आदि में लाभ होता है॥

प्रसुप्ति की चिकित्सा—

प्रसुप्तौ वातकुष्ठोक्तं कुर्याद्दाहं च वह्निना॥

व्याख्या—प्रसुप्ति रोग में वात कुष्ठ के समान चिकित्सा करे और अग्नि द्वारा दाह कर्म करे॥

उत्कोठ की चिकित्सा—

उत्कोठे कफपित्तोक्तं कोठे सर्वं च कौष्ठिकम्॥३३॥

व्याख्या—उत्कोठ रोग में—कफपित्त नाशक और कोठ में कुष्ठ नाशक चिकित्सा करे। ३३॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने द्वात्रिंशोऽध्यायः॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतो गुह्यरोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब गुह्य रोगों का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इन रोगों का वर्णन च. चि. अ. ३० में, सु. नि० अ. १२, १३ तथा १४ में और उ. अ. ३८ में तथा अ. सं. उ. अ. ३८ में देखिये। गुह्य शब्द उपस्थ का वाचक है और उपस्थ शब्द भाग अर्थात् योनि एवं शिश्न का वाचक है। इस प्रकरण में भग तथा शिश्न के रोगों का वर्णन किया गया है। और भग गर्भाशय समेत अपत्य-पथ का नाम है।

गुह्यरोगों का निदान एवं सम्प्राप्ति

स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य सहसा भजतोऽथवा।
दोषाध्युषितसङ्कीर्णमलिनाऽणुरजःपथाम्॥ १॥
अन्ययोनिमनिच्छन्तीमगम्यां नवसूतिकाम्।
दूषितं स्पृशतस्तोयं रतान्तेष्वपि नैव वा॥ २॥
विवर्धयिषया स्तब्धान प्रलेपादीन् प्रयच्छतः।
मुष्टिदन्तनखोत्पीडाविषवच्छूकपातनैः॥ ३॥
वेगनिग्रहदीर्घातिखरस्पर्शविघट्टनैः।
दोषा दुष्टा गता गुह्यं त्रयोविंशतिमामयान्॥ ४॥
जनयन्त्युपदंशादीन्

व्याख्या—मैथुन से अधिक समय पर्यन्त विरक्त रह कर, एकाएक अधिक मैथुन करने से अथवा वातादि दोषों से दूषित, संकीर्ण, मलिन (अस्वच्छ) तथा सूक्ष्म मार्ग वाले भग वाली नारी से मैथुन करने से (अजा आदि अन्य योनि के भग में मैथुन करने से मैथुनाभिलाष रहित नारी से मैथुन करने से (बलात्कार करने से), भगिनी आदि अगम्या नारी से मैथुन करने से तथा नवप्रसूता के साथ मैथुन करने से गुह्य अंग पर दूषित जल का स्पर्श होने से, मैथुन के अन्त में प्रक्षालन न करने से, शिश्न को लम्बा एवं स्थूल करने की इच्छा से तीक्ष्ण द्रव्यों के लेप एवं सेचन आदि करने से, मुष्टि, दन्त एवं नख आदि के पीडन एवं आघात आदि से, विषमिश्रित शूक (वृद्धि कर उपाय) का प्रयोग करने से, शुक्रादि का वेग रोकने से, अथवा दीर्घ एवं अतिखर शिश्न का योनि में विघट्टन होने से (उत्तम रति से) वातादि दोष दूषित होकर तथा गुह्य अवयव (शिश्न एवं भग प्रदेश) में जाकर उपदंश आदि २३ रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—सु. नि. अ. १२ में इसका वर्णन है यथा—तत्र अति मैथुनात्, अतिब्रह्मचर्यात् वा तथा अति ब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां, रजस्वलां, दीर्घरोमां, संकीर्णरोमां, निगूढरोमां, अल्पद्वारां महाद्वारां, अप्रियां, अकामां अचोक्षसलिल प्रक्षालित योनिं, वियोनिं वा नारीं अत्यर्थं उपसेवमानस्य, तथा करजदशनविषशूकनिपातनात्, बन्धनात्, हस्ताभिघातात्, चतुष्पदीगमनात्, अचोक्षसलिलप्रक्षालनात्, अवपीडनात्, शुक्रवेगविधारणात्, मैथुनान्ते वा अप्रक्षालनात् एवं विधात् वा अन्यस्मात् कारणात् मेढ्रम् आगम्य प्रकुपिता दोषाः क्षते अक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति तमुपदंशं इति आचक्षते। स पञ्चविधः, त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैः असृजा च इति ॥४॥

अर्थात्—अति मैथुन से, अति ब्रह्मचर्य से, तथा सर्वथा ब्रह्मचारिणी, चिरकाल से परित्यक्ता, रजःस्वला, दीर्घरोमों वाली, संकीर्ण रोमों वाली, भगमें गूढ रोमों वाली, अल्पद्वार वाले एवं महाद्वार वाले भगवाली, अप्रिया (द्वेष रखने वाली) रति कामना रहित, जिसने दूषित जलसे योनि का प्रक्षालन किया हो अथवा योनि का प्रक्षालन न किया हो, उपदंश आदि योनिरोग से युक्त अथवा स्वभावतः योनि दोष वाली नारी के साथ अथवा अत्यधिक रति करने से अथवा दशन-दन्त का आघात लगने से, करमर्दन से, बकरी आदि चतुष्पदी में गमन करने से, दूषित जल द्वारा धोने से, दबाव पड़ने से, शुक्र का वेग रोकने से, मैथुन के अन्त में प्रक्षालन न करने से अथवा इस प्रकार के अन्य किसी कारण से

शिश्न एवं भग में क्षत हो जाने पर अथवा क्षत न होने पर दोष विकृत होकर वहीं शोथ उत्पन्न कर देते हैं इसका नाम "उपदंश" है। और यह रोग ५ प्रकार का होता है—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-त्रिदोषज तथा ५-रक्तज। जो दोष नारी में बतलाए गये हैं वे दोष नर में हों तो भी उपदंश हो जाता है, यथा उपदंश वाले नर के सहवास से नारी के भग में विकृति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि यह नर एवं नारी में समान रूप से हो जाता है ॥१-४॥

उपदंश का वर्णन—

............उपदंशोऽत्र पञ्चधा।
पृथग्दोषैः सरुधिरैः समस्तैश्च, अत्र मारुतात् ॥ ५ ॥
मेढ्रशोफे रुजश्चित्राः स्तम्भस्त्वक्परिपोटनम्।
पक्वोदुम्बरसङ्काशः पित्तेन श्वयथुर्घनः ॥ ६ ॥
श्लेष्मणा कठिनः स्निग्धः कण्डूमान् शीतलो गुरुः।
शोणितेनासितस्फोट-सम्भवोऽस्रस्रुतिर्ज्वरः ॥ ७ ॥
सर्वजे सर्वलिङ्गत्वं श्वयथुर्मुष्कयोरपि।
तीव्रा रुगाशुपवनं दरणं कृमिसम्भवः ॥ ८ ॥
याप्यो रक्तोद्भवस्तेषां मृत्यवे सन्निपातजः।

व्याख्या—संख्या सम्प्राप्ति—उपदंश ५ प्रकार का होता है—१-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज, तथा ५-त्रिदोषज। वातज उपदंश में—गुह्यांग पर शोथ होता है, विचित्र प्रकार की वेदनाएँ होती हैं, स्तब्धता होती है तथा त्वचा फूल जाती है। पित्तज उपदंश में—पके गूलर का सा लाल शोथ होता है और साथ में ज्वर होता है। कफज उपदंश में शोथ—कठोर, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, शीतल तथा भारी होता है॥ रक्तज उपदंश में—काले वर्ण की फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनमें से लाल वर्ण का स्राव होता है और साथ २ ज्वर हो जाता है। त्रिदोषज उपदंश में—उक्त सब लक्षण होते हैं वृषणों पर भी शोथ होता है, वेदना तीव्र होती है, शीघ्र पाक प्रारम्भ हो जाता है, गुह्य अंग फट जाता है और उस में कृमि पड़ जाते हैं। इनमें रक्तज उपदंश याप्य होता है और त्रिदोषज उपदंश से मृत्यु हो जाती है॥

वक्तव्य—यह रक्तज उपदंश होता है जिसका प्रभाव पुत्र एवं पौत्रों तक पर पड़ता देखा जाता है और जीवन भर पिण्ड नहीं छोड़ता ॥५-८॥

मांस कीलक का वर्णन—

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्गुह्यासृक्पिशिताश्रयैः ॥ ९ ॥
अन्तर्बहिर्वा मेढ्रस्य कण्डूला मांसकीलकाः।
पिच्छिलास्रस्रवा योनौ तद्वच्च च्छत्रसन्निभाः ॥१०॥
तेऽर्शांस्युपेक्षया घ्नन्ति मेढ्रपुंस्त्वभगार्तवम्।

व्याख्या—गुह्यांग में आश्रित रक्त एवं मांस में आश्रय पाकर जब वातादि दोष कुपित हो जाते हैं तब शिश्न के बाहिर अथवा भीतर (मणि पर) कण्डूयुक्त मांसकील (अर्श के से अंकुर) उत्पन्न हो जाते हैं उनमें से चिपचिपा एवं लाल वर्ण का स्राव होता है। इसी प्रकार उक्त कारणों से भग के बाहिर (भगोष्ठ पर) अथवा भीतर छत्राकार मांसकीलक उत्पन्न हो जाते हैं। इनको लिंगार्श तथा योन्यर्श, कहते हैं। इनकी समय पर उचित चिकित्सा न करने से शिश्न का तथा पुरुषत्व (मैथुन सामर्थ्य) का और भग (मैथुन सामर्थ्य) तथा आर्त्तव (जनन शक्ति) का नाश हो जाता है॥

वक्तव्य—इस रोग का प्रभाव नर के शुक्र एवं नारी के आर्त्तव पर पड़ता है ॥९-१०॥

सर्षपिका का वर्णन—

गुह्यस्य बहिरन्तर्वा पिटिका, कफरक्तजाः ॥ ११ ॥
सर्षपामानसंस्थाना घनाः सर्षपिकाः स्मृताः।

व्याख्या—कफ एवं रक्त की विकृति से—गुह्य (शिश्न एवं भग) के बाहिर अथवा भीतर सरसों के परिमाण एवं आकार की पिटिका उत्पन्न हो जाती हैं वे कठोर एवं सघन होती हैं। उनका नाम "सर्षपिका" है॥ ११॥

अवमन्थ का वर्णन—

पिटिका बहवो दीर्घा दीर्यन्ते मध्यतश्च याः ॥ १२ ॥
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षवान्।

व्याख्या—कफ एवं रक्त की विकृति से गुह्याङ्ग पर जो अनेक लम्बी २ फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और आगे चल कर मध्यभाग में से विदीर्ण हो जाती हैं और साथ २ वेदना एवं रोम हर्ष होता है। वह "अवमन्थ" कहलाता है ॥१२॥

कुम्भीका वर्णन—

कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽऽशुजा॥१३॥

व्याख्या—रक्त एवं पित्त की विकृति से-गुह्यांग में जो जामुन की गुठली कीसी पिटिका शीघ्रता पूर्वक उत्पन्न हो जाती है उसका नाम "कुम्भीका" है ॥१३॥

अलजी· उत्तमा तथा पुष्करिका का वर्णन—

अलजीमेहवद्विद्याद् उत्तमां रक्तपित्तजाम्।
पिटिकां माषमुद्गाभां पिटिका पिटिकाचिता ॥ १४ ॥
कर्णिका पुष्करस्येव ज्ञेया पुष्करिकेति सा।

व्याख्या—प्रमेह निदान (च. स्था. अ. १०) में कही गई अलजी नामक पिटिका कीसी गुह्याङ्ग की पिटिका "अलजी" कहलाती है। रक्त एवं पित्त की विकृति से उरद एवं मूँग कीसी पिटिका "उत्तमा" कहलाती है। पित्त एवं रक्त की विकृति से उत्पन्न जो पिटिका कमल

की कर्णिका के समान अनेक छोटी २ पिटिकाओं से व्याप्त होती है वह "पुष्करिका" कहलाती है ॥१४॥

संव्यूढ पिटिका का वर्णन—

पाणिभ्यां भृशसंव्यूढे 'संव्यूढपिटिका' भवेत् ॥ १५ ॥

व्याख्या—हाथों द्वारा शिश्न का घर्षण होने से "संव्यूढ" नामक पिटिका हो जाती है ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इसका नाम "संमूढपिटिका,' है।१५॥

मृदित पिटिका का वर्णन—

मृदितं मृदितं वस्त्रसंरब्धं वातकोपतः ।

व्याख्या—शिश्न का मर्दन होने से अथवा वस्त्र (लंगोट) द्वारा घर्षण आदि से कुपित वायु द्वारा जो शोथ हो जाता है उस का नाम " मृदित " है ॥

वक्तव्य—इस विकृति में शिश्न एक ओर से स्थूल तथा दूसरे ओर से कृश हो जाता है फलतः शिश्न टेढा हो जाता है ।

अष्ठीलिका का वर्णन—

विषमा कठिना भुग्ना वायुनाऽष्ठीलिका स्मृता ॥ १६ ॥

व्याख्या—वायु की विकृति से गुह्यांग पर—विषम (ऊँची नीची— असमतल), कठोर तथा टेढी मेढी जो पिटिका होती है वह "अष्ठीलिका" कहलाती है ॥१६॥

निवृत्त का वर्णन—

विमर्दनादिदुष्टेन वायुना चर्म मेढ्रजम् ।
निवर्तते सरुग्दाहं क्वचित्पाकं च गच्छति ॥१७॥
पिण्डितं ग्रथितं चर्मतत्प्रलम्बमधोमणेः ।
निवृत्तसंज्ञं सकफं कण्डूकाठिन्यवत्तु तत् ॥१८॥

व्याख्या—शिश्न के विशेषरूप से मर्दन आदि द्वारा कुपित वायु से-शिश्न का चर्म (जो मणि पर रहता है) पीछे की ओर हटा रह जाता है उस में वेदना तथा दाह बना रहता है और कभी २ पक भी जाता है, और कभी २ पिण्डाकार एवं ग्रथित कासा) होकर मणि के नीचे लटकने लगता है और यदि उसमें कफ की विकृति होती है तो वह कण्डू एवं कठोरता से युक्त होता है। इसका नाम "निवृत्त" है ॥

वक्तव्य—सु. नि. अ. १३ में इसका नाम परिवर्तिका है क्योंकि चर्म परिवर्तित हो जाता है ॥१७-१८॥

अवपाटिका का वर्णन—

दुरूढं स्फुटितं चर्म निर्दिष्टमवपाटिका ।

उपशय—यदि किसी प्रकार मणि पर रहने वाला चर्म (घूंघट) फट जाता है और उसका रोपण-रोहण बड़ी कठिनता से होता है तो वह "अवपाटिका" कही जाती है ॥ १९ ॥

निरुद्ध मणि का वर्णन—

वातेन दूषितं चर्ममणौ सक्तं रुणद्धि चेत् ॥१९॥
स्रोतोमूत्रं ततोऽभ्येति मन्दधारमवेदनम् ।
मणेर्विकाशरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः ॥२०॥

व्याख्या—वायु से दूषित चर्म (घूंघट) मणि पर से पीछे नहीं हटाया जा सकता अथवा कभी २-उसका इतना संकोच होता है जिस से मूत्रवाही स्रोत भी तङ्ग हो जाता है फलतः मूत्र पतली धारा होकर निकलता है परन्तु मूत्र कृच्छ्र आदि के समान कोई वेदना नहीं होती है केवल मणि का विकास (नंगापन) नहीं होता। इस विकृति का नाम—"निरुद्धमणि" है ॥१९-२०॥

ग्रथित का वर्णन—

लिङ्गं शूकैरिवापूर्णं ग्रथिताख्यं कफोद्भवम् ।

व्याख्या—कफ की विकृति से जो गुह्याङ्ग-शूकों से पूर्ण सा हो जाता है वह ग्रथित कहलाता है ।२०॥

स्पर्शहानि का वर्णन—

शूकदूषितरक्तोत्था स्पर्शहानिस्तदाह्वया ॥२१॥

व्याख्या—शूक प्रयोग से विकृत रक्त से उत्पन्न लो गुह्याङ्ग में स्पर्शज्ञान का अभाव हो जाता है वह "स्पर्शहानि" कहलाती है ॥

वक्तव्य—इस में प्रसुप्ति के समान स्पर्श का अनुभव नहीं होता ॥२१॥

शतपोनक का वर्णन—

छिद्रैरणुमुखैर्यत्तु मेहनं सर्वतश्चितम् ।
वातशोणितकोपेन तं विद्याच्छतपोनकम् ॥२२॥

व्याख्या—वात एवं कफ की विकृति से गुह्याङ्ग—छोटे २ मुख वाले छिद्रों से सब ओर से व्याप्त हो जाता है वह "शतपोनक" कहलाता है ॥ २२ ॥

त्वक् पाक का वर्णन—

पित्तासृग्भ्यां त्वचः पाकस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान् ।

व्याख्या—पित्त एवं रक्त की विकृति से गुह्याङ्ग की त्वचा का पाक होता है और साथ में ज्वर एवं दाह होता हैं उसका नाम "त्वक्पाक" है ॥

मांस पाक का वर्णन—

मांसपाकः सर्वजः सर्व-वेदनो मांसशातनः ॥२३ ।

व्याख्या—त्रिदोष की विकृति से गुह्याङ्ग का मांस पक जाता है और सड़ कर फट जाता है उसका नाम "मांसपाक" है ॥ २३ ॥

रक्तार्बुद का लक्षण—

सरागैरसितैः स्फोटैः पिटिकाभिश्च पीडितम् ।
मेहनं वेदनश्चोग्रास्तं विद्यादस्रगर्बुदम् ॥२४॥

व्याख्या—जिस रोग में गुह्यांग पर लाल २ एवं काले २ स्फोट (फफोले-फोड़े) तथा पिटिका (छोटी २ फुन्सियाँ) निकल आती हैं और भीषण वेदना होती हैं उसका नाम "रक्तार्बुद" या शोणितार्बुद (सु.) है ॥२४॥

मांसार्बुद एवं विद्रधि का संकेत—

मांसार्बुदं प्रागुदितं विद्रधिश्च त्रिदोषजः ।

व्याख्या—उत्तर तंत्र अ. २१ में जैसा मांसार्बुद कहा गया है वैसा गुह्यांग पर भी हो जाता है । निदानस्थान अ. ११ में जैसा त्रिदोषज विद्रधि कहा गया है वैसा गुह्यांग पर भी हो जाता है ।

तिलकालक का वर्णन—

कृष्णानि भूत्वा मांसानि विशीर्यन्ते समन्ततः ॥२५॥
पक्वानि सन्निपातेन तान् विद्यात् तिलकालकान् ।

व्याख्या—त्रिदोष के कोप से—गुह्यांग के मांस (मांस पेशियाँ) काले २ होकर सब ओर फटते जाते हैं उस रोग का नाम "तिलकालक" है ॥

वक्तव्य—क्षुद्ररोग अ. ३१ (उत्तर स्थानीय) में जिन तिलकालकों का वर्णन है वे इनसे भिन्न हैं ॥२५।

साध्यासाध्य विवेक—

मांसोत्थमर्बुदं पाकं विद्रधिं तिलकालकान् ॥ २६ ॥
चतुरो वर्जयेदेषां शेषान् शीघ्रमुपाचरेत् ।

व्याख्या—१-मांसार्बुद, २-मांसपाक, ३-त्रिदोषज विद्रधि तथा ४ तिलकालक । ये ४-रोग असाध्य होते हैं और अवशिष्ट १७ रोगों की चिकित्सा तत्काल करनी चाहिये ॥

वक्तव्य—मांसकील अर्थात् लिंगार्श एवं योन्यर्श का साध्यासाध्य विवेक अर्श रोग में देखिये (नि. अ. १७ में) और उपदंश का साध्याऽसाध्य विवेक इसी अध्याय के ६ वें श्लोक में देखिये ॥२६॥

योनिव्यापद् का वर्णन—

अथ योनिव्यापदः ।

विंशतिर्व्यापदो योनेर्जायन्ते दुष्टभोजनात् । २७ ॥
विषमस्थाङ्गशयनभृशमैथुनसेवनैः ।
दुष्टार्तवादपद्रव्यैर्बीजदोषेण दैवतः ॥ २८ ॥

व्याख्या—योनि में २० व्यापद्—आपत्तियाँ होती हैं और वे दूषित आहार से, शरीर को विषम करके सोने-लेटने से अथवा लेटकर अधिक मैथुन करने से, आर्त्तव रजस् की विकृति से, अपद्रव्यों का प्रयोग करने से, जनक एवं जननी के शुक्र एवं आर्त्तव (शोणित) की विकृति से (जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है उसकी विकृति से) अथवा पूर्वजन्मकृत कर्म के प्रभाव-परिणाम से उत्पन्न होती हैं ॥

वक्तव्य—इनका वर्णन—च. चि. अ. ३० तथा उनकी संख्या का नामनिर्देश सू. अ. १९ में और—सु. उ. अ. ३८ में एवं अ. सं. उ. अ. ३८ में देखिये । योनि—भग समेत गर्भाशय का नाम है, यथा सु. शा. अ. ५—

शंखनाभ्याऽऽकृतिः योनिः त्र्यावर्त्ता सा प्रकीर्तिता ।
तस्याः तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥४३॥

व्याख्या—योनि की आकृति शंख नाभि—शंखावर्त्त के समान है और उसमें तीन आवर्त्त होते हैं उनमें तीसरे आवर्त में गर्भशय्या-गर्भाशय नामक अवयव प्रतिष्ठितः स्थित है । विषमस्थाङ्गशयन—विविध प्रकार के आसन-काम-सूत्रोक्त आसनों द्वारा रति करने से गर्भाशय—धरा में विविध प्रकार की विकृति आ जाती है । अपद्रव्य—उपलिंग—कृतक ध्वज-कृत्रिम लिंग कहलाता है इसके द्वारा नारी सुख का अनुभव करती है । इसका वर्णन कामसूत्रों में देखिये । यह लिंगाकार होता है और विसृष्टि-स्खलन मात्र के लिये प्रयुक्त एवं उपयुक्त होता है ।

बीज दोष—इसीलिये जनक जननी के से आचरण एवं रोग पुत्र-पुत्रियों में देखे जाते हैं । दैवतः—प्रारब्ध के प्रभाव से भी योनि रोग हो जाते हैं जैसे कुष्ठ आदि रोग।

वातज व्यापद्—

योनौ क्रुद्धोऽनिलः कुर्याद्रुक्तोदायामसुप्तताः ।
पिपीलिकासृप्तिमिव स्तम्भं कर्कशतां स्वनम् ॥ २९ ॥
फेनिलारुणकृष्णाल्पतनुरूक्षार्तवस्रुतिम् ।
स्रंसं वङ्क्षणपार्श्वादौ व्यथां गुल्मं क्रमेण च ॥ ३० ॥
तांस्तांश्च स्वान् गदान् व्यापद् वातिकी नाम सा स्मृता।

व्याख्या—योनि में क्रुद्ध वायु से योनि में वेदना, व्यथा, आयाम (तनाव), स्वाप (प्रसुप्ति—स्पर्श ज्ञान का अभाव), चिउँटियाँ चलने की सी प्रतीति, स्तब्धता, खरदरापन, स्वन (भग में अगन वायु के समान फफस ध्वनि अथवा पिड़पिड़ ध्वनि) तथा झाग युक्त, कालापन लिये लाल, काला, थोड़ा पतला तथा रूक्ष आर्त्तव-रजस् का स्राव, गर्भाशय का स्रंसन (खिसकना-गुदभ्रंश के समान बाहिर भी निकल आना) वंक्षण एवं पार्श्व आदि में व्यथा तथा गुल्म रोग होते हैं और क्रमशः अपतानक आदि वात व्याधियाँ हो जाती हैं । इसका नाम 'वातिकी' व्यापद् है ॥ २९-३० ॥

अतिचरणा व्यापद्—

सैवाऽतिचरणा शोफसंयुक्तातिव्यवायतः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—उक्त वातिकी व्यापद् में अति मैथुन से यदि शोथ हो जाता है तो वह व्यापद "अतिचरणा" कहलाती है ॥ ३१ ॥

प्राक्चरणा व्यापद्—

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठजङ्घोरुवङ्क्षणम् ।
रुजन्सन्दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणेति सा ॥ ३२ ॥

व्याख्या—छोटी आयु (१५-१६ वर्ष के पूर्व) में मैथुन करने से वायु—पीठ, जंघा, ऊरु तथा वंक्षणों में वेदना करता हुआ योनि को दूषित कर देता है इसका नाम है "प्राक् चरणा" ॥

वक्तव्य—च. चि. अ. ३० में इसके लक्षण हैं—

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः ।
करोति कुपितो योनौ सा च अतिचरणा मता ॥१९॥

अर्थात्—अति मैथुन से कुपित वायु—नारी की योनि में शोथ, स्वाप एवं वेदना उत्पन्न कर देता है इस विकृति का नाम "अतिचरणा" है। और प्राक् चरणा का पाठ चरक में भी यही है। परन्तु सु. उ. अ. ३८ में पाठ इस प्रकार है—यथा—

मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषात् अतिरिच्यते ।
बहुशश्चाऽतिचरणा तयोः बीजं न विन्दति ॥ १६ ॥

अर्थात्—अचरणा नामक योनिव्यापद् वह है जिसमें नारी नर से पूर्व ही स्खलित हो जाती है। और अति चरणा वह है जिसमें बहुत बार नारी स्खलित (द्रवित) हो जाती है। इन दोनों व्यापदों में गर्भाधान नहीं होता ॥३२॥

उदावृत्त एवं जातघ्नी व्यापद्—

वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुतः ।
सा फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुञ्चति ॥ ३३ ॥
इयं व्यापदुदावृत्ता जातघ्नी तु यदानिलः ।
जातं जातं सुतं हन्ति रौक्ष्याद् दुष्टार्तवोद्भवम् ॥३४॥

व्याख्या—मूत्र पुरीष आदि अथवा रजस् के वेग को रोकने से (अथवा शीतल आहार के कारण रुक जाने से) विकृत वायु योनि (गर्भाशय) में पीडा उत्पन्न कर देता है—(भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में "उदावर्तयते" अर्थात् ऊपर की ओर आवृत्त कर देता—रोक देता है। फलतः उस रुके हुए रजस् (कुछ रुक कर—नारियों के शब्दों में कुछ दिन चढ़कर) का फेनयुक्त एवं कष्ट के साथ स्राव होता है। इस व्यापद् का नाम "उदावृत्ता" है। रजःस्राव हो जानेपर कष्ट शान्त हो जाता है परन्तु अगले मास पुनः वैसा ही कष्ट होता है। इसे "कष्टार्तव" कहते हैं। जब रूक्षता के कारण आर्तव दूषित हो जाता है तब सन्तान हो होकर मर जाती है। इस व्यापद का नाम "जातघ्नी" है। इसको "मृतवत्सा" कहते हैं॥

वक्तव्य—सु. उ. अ. ३८ में पाठ इस प्रकार है—

स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात् ॥१३।

अर्थात्—जिसमें रक्त का स्राव होकर बार २ गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है उसका नाम "पुत्रघ्नी" है। बार-बार अथवा एक बार भी गर्भपात होना योनि व्यापद् ही है।

अन्तर्मुखी व्यापद्—

अत्याशितायाः विषमं स्थितायाः सुरते मरुत् ।
अन्नेनोत्पीडितो योनेः स्थितः स्रोतसि वक्रयेत् ॥३५॥
सास्थिमांसं मुखं तीव्ररुजमन्तर्मुखीति सा ।

व्याख्या—अधिक भोजन के अनन्तर शरीर को विषम करके टेढ़ामेढ़ा करके मैथुन करने से एवं अधिक आहार से उत्पीडित वायु योनि के स्रोतस् में स्थित होकर गर्भाशय के मुख को टेढ़ा कर देता है और भगास्थि में तथा भग की मांस पेशियों में तीव्र वेदना होती है। इस व्यापद् का नाम "अन्तर्मुखी" है॥

वक्तव्य—भृशार्तिः मैथुनासक्ता (च)—मैथुन के समय अत्यन्त वेदना होती है ॥३५॥

सूचीमुखी व्यापद्—

वातलाहारसेविन्यां जनन्यां कुपितोऽनिलः ॥ ३६ ॥
स्त्रियो योनिमणुद्वारां कुर्यात्सूचीमुखीति सा ।

व्याख्या—गर्भवती जननी यदि वातवर्द्धक आहारों का सेवन करती है तो वायु कुपित होकर—कन्यागर्भ की योनि के मुख को सूक्ष्म कर देता है। इस व्यापद् का नाम "सूचीमुखी" है॥

वक्तव्य—सुश्रुत में इसका नाम "सूचीवक्त्रा" है "सूचीवक्त्राऽति संवृता" अर्थात् जिसका मुख-द्वार अत्यन्त संवृत-अवरुद्ध-संकुचित होता है उसका नाम "सूचीवक्त्रा" है। इस व्यापद् में गर्भाशय का पाटन करके गर्भ निकालना पड़ता है। यह व्यापद् सहज होती है परन्तु कभी २ फिर भी हो जाती है और कभी२ कुछ सन्तानों को जनने के पश्चात् भी हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस व्यापद् में गर्भाधान तो हो जाता है परन्तु गर्भाशय का मुख छोटा होने के कारण प्रसव नहीं होता अथवा अत्यन्त कष्ट से होता है॥ ३६ ॥

शुष्का व्यापद्—

वेगरोधादृतौ वायुर्दुष्टो विण्मूत्रसङ्ग्रहम् ॥३७॥
करोति योनेः शोषं च शुष्काख्या सातिवेदना ।

व्याख्या—ऋतु काल में पुरीष एवं मूत्र का वेग रोकने से दूषित वायु पुरीष एवं मूत्र का अवरोध कर देता है और योनि को सुखा देता है अर्थात् रजः स्राव रुक जाता है फलतः अत्यन्त वेदना होने लगती है इसका नाम "शुष्क व्यापद्" है॥

वक्तव्य—इस व्यापद् में भग एवं गर्भाशय सूख जाता है अथवा शुष्क बना रहता है, मैथुन के समय भी आर्द्र नहीं होता ॥३७॥

वामिनी व्यापद्—

षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयान्मरुत् ॥ ३८ ॥
वमेत्सरुङ्नीरुजो वा यस्याः सा वामिनी मता ।

व्याख्या—गर्भाधान के ६-७ दिन पश्चात् वायु विकृत हो कर गर्भाशय गत शुक्र को (शुक्रशोणितात्मक गर्भबीज को) गर्भाशय से बाहिर निकाल देता है। इस समय वेदना होती है और कभी नहीं भी होती। इस व्यापद् का नाम "वामिनी" है॥

वक्तव्य—यदि शुक्र शोणित का संयोग नहीं होता केवल शुक्र ही गर्भाशय में रुका होता है तो वेदना नहीं होती और यदि शुक्र शोणित का संयोग होकर गर्भाधान हो गया होता है तो गर्भस्राव के समान वेदना होती है। क्योंकि इस व्यापद् में शुक्र का वमन-रेचन होता है अतः इस का नाम "वामिनी" है ॥ ३८ ॥

षण्डा व्यापद्—

योनौ वातोपतप्तायां स्त्रीगर्भे बीजदोषतः ॥ ३९ ॥
नृद्वेषिण्यस्तनी च स्यात्षण्ढसञ्ज्ञाऽनुपक्रमा ।

व्याख्या—जनक-जननी के शुक्र शोणित की विकृति से-कन्या गर्भ (गर्भाशय गत कन्या गर्भ) की योनि यदि वायु द्वारा उपतप्त-उपहत हो जाती है तो जन्म के पश्चात् वह कन्या बड़ी होकर-नर से सहवास की द्वेषिणी होती है अर्थात् उसे पूर्ण नारी के समान मैथुन की अभिलाषा नहीं होती और उसके स्तन भी यौवन काल में पुष्ट नहीं होते इस व्यापद् का नाम "षण्डा" है और यह असाध्य होती है।

वक्तव्य—अनार्त्तवाऽस्तना षण्डी (सु.)—अर्थात्—इस व्यापद् वाली नारी को यौवन काल में रजः प्रवृत्ति तथा स्तनों की वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार की व्यापद् वाला नरषण्ड भी होता है। यथा—च. शा. अ. २—

कस्मात् द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिषण्डौ।
वक्री तथेर्ष्याभिरतिः कथं वा सञ्जायते वातिकषण्डको वा।
बीजात् समांशात् उपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः।
शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम् ॥१८॥
शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं कुरुतेऽनिलश्च ।
मन्दाल्पबीजो अबलौ अहर्षौ क्लीबौ च हेतुः विकृतिद्वयस्य ।१९।
मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्यात् बीजदौर्बल्यतया पितुश्च ।
ईर्ष्याभिभूती अपि मन्दहर्षौ ईर्ष्यारतेः एव वदन्ति हेतुम् ।२०
वायु-अग्नि दोषात् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिक षण्डकःसः।
इत्येवमष्टौ विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः ।२१।

श्री अग्निवेश ने प्रश्न किया कि—किन ८ कारणों से-१-द्विरेता, २-पवनेन्द्रिय, ३-संस्कार वाही, ४-नरषण्ड, ५-नारीषण्ड, ६-वक्री, ७-ईर्ष्याभिरति तथा ८-वातिकषण्ड नामक गर्भविकार होते हैं ?

श्रीपुनर्वसु ने उत्तर दिया कि—जनक जननी के शुक्र एवं शोणित गर्भाधान के समय यदि समानांश एवं उपतप्त-विकृत होते हैं तो जो सन्तान होती है वह स्त्री के लिङ्ग अर्थात् योनि एवं पुमान् के लिङ्ग अर्थात् शिश्न वाली तथा दोनों प्रकार के रेतस् वाली (शुक्र एवं शोणित वाली) होती है और उस सन्तान का नाम "द्विरेताः" है। यदि गर्भाशय गत गर्भ के शुक्राशयों को वायु-नष्ट कर देता है तो जो सन्तान होती है वह "पवनेन्द्रिय" कहलाती है। यह व्यक्ति जब कभी मैथुन करता है तो शुक्र के स्थान में केवल वायु ही निकलती है। यदि गर्भाशय गत गर्भ के शुक्राशय के द्वार का विघट्टन-अवरोध हो जाता है तो जो सन्तान होती है वह संस्कारवाही होती है। इसमें वाजीकरण आदि उपाय-संस्कार करने से शुक्राशय के द्वार खुल जाने पर शुक्र की प्रवृत्ति होने लगती है (अन्यथा नहीं होती)। यदि जनक एवं जननी के शुक्र एवं शोणित—मन्दशक्ति वाले तथा स्वल्प होते हैं और जनक एवं जननी दुर्बल एवं मैथुन के समय हर्ष रहित रहते हैं अथवा क्लीव-अपूर्ण नर नारी होते हैं तो उनकी जो सन्तान होती है वह नरषण्ड अथवा नारी षण्ड होती है। सुश्रुत के कथनानुसार वे दोनों शुक्र-शोणित रहित होते हैं। अशुक्रः षण्डसंज्ञकः (सु. शा. अ. २)। यदि जननी के व्यवाय-मैथुन में प्रतिघात—अनिच्छा अथवा विषमाङ्गन्यास होता है जिस से पुमान् के शुक्र में दुर्बलता होती है तो जो सन्तान जन्मती है वह "वक्री" कहलाती है। इसका नाम सुश्रुत में सम्भवतः "कुम्भीक" है। जब दूसरों को मैथुन करते देखकर तथा तथा मन्द हर्ष वाले जनक जननी मैथुन में प्रवृत्त होते हैं और गर्भाधान हो जाता है तब जो सन्तान होती है वह ईर्ष्याभिरति या ईर्ष्यारति होती है सुश्रुत में इसे "ईर्ष्यक" कहा है यह दूसरों को मैथुन करते देखकर ही मैथुन में प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं। और जिसके वृषण (शुक्रोत्पादक अवयव)—वायु एवं पित्त की विकृति से नष्ट (क्रियाहीन) हो जाते हैं वह वातिक षण्डक कहलाता है। ये आठ प्रकार नर-नारी की अपूर्णता के हैं। और नरषण्ड नारी के समान चेष्टा करनेवाला तथा आकारवाला होता है और नारीषण्ड कुछ २ नर के समान चेष्टा करनेवाला होता है। ये दोनों प्रायः हीजड़े कहे जाते हैं। इनके मैथुनोपयोगी अवयव अपूर्ण—अविकसित होते हैं। और चरक शा. अ. ४ में स्त्रीव्यापद् एवं पुरुषव्यापद् का वर्णन पाया जाता है। वह इस प्रकार है—

यदा तु अस्याः (आत्मायाः) शोणिते गर्भाशयबीज-भागाऽवयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानां एकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठमस्त्रियं वार्तां नाम

जनयति तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते। यदा तु अस्य (जनकस्य) बीजे (शुक्रे) बीजभागाऽवयवः पुरुषकराणां च शरीर बीजभागानामेकदेशः प्रकोपमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठं अपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति, तां पुरुषव्यापदमाचक्षते।

अर्थात्—जब कभी जननी के शोणित (गर्भ के उपादानभूत शोणित) में गर्भाशय के बीज भाग का एक देश तथा स्त्रीत्व करनेवाले बीज भागों का एक देश—अंश विकृति को प्राप्त हो जाता है तब जो सन्तान होती है वह अधिकतर स्त्री के समान आकृति वाली होती है परन्तु पूर्ण स्त्री नहीं होती। उसका नाम रान्ता—वार्त्ता या राण्डा है। यह एक प्रकार की स्त्रीव्यापद् है।

इसी प्रकार यदि कभी जनक के शुक्र में—शुक्र बीज भाग का एक देश—अंश अथवा पुरुषत्व-नरत्व करने वाले बीज भागों का एक देश—अंश—विकृति को प्राप्त हो जाता है तब जो सन्तान जन्मती है वह अधिकतर पुमान् के आकारवाली होती है परन्तु पूर्ण पुमान् नहीं होती। इसका नाम तृणपुत्रिक तृणपूलिक (घास का पुतला) है। यह एक प्रकार की पुरुष व्यापद् है ॥३९॥

महायोनि व्यापद् —

दुष्टो विष्टभ्य योन्यास्यं गर्भकोष्ठं च मारुतः ॥ ४० ॥
कुरुते विवृतां स्रस्तां वातिकीमिव दुःखिताम्।
उत्सन्नमांसां तामाहुर्महायोनिं महारुजाम् ॥ ४१ ॥

दुःखप्रदायिनी शय्या पर और अंगों को विषम करके मैथुन करने से दूषित वायु नारी के भगद्वार को तथा गर्भाशय के मुख को स्तब्ध-कठोर कर देता है फलतः भग खुली रहती है और गर्भाशय (धरा) अपने स्थान से खिसक जाता है और वातिकी (श्लोक ३० देखिये) व्यापद के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं तथा मांस सूज जाता है एवं वेदना होती है। इस व्यापद् का नाम "महायोनि" है ॥

वक्तव्य—मांसोत्सन्ना अर्थात् मांस से उपचित होकर अति स्थूल—बड़ी हो जाती है। गर्भाशय की मांसपेशियाँ बड़ी हो जाती हैं, अपमांस सञ्चित हो जाता है फलतः गर्भाधान नहीं होता ॥४०-४१॥

पैत्तिकी एवं रक्तयोनिव्यापद्—

यथास्वैर्दूषणैर्दुष्टं पित्तं योनिमुपाश्रितम्।
करोति दाहपाकोषापूतिगन्धज्वरान्विताम् ॥ ४२ ॥
भृशोष्णभूरिकुणपनीलपीतासितार्तवाम्।
सा व्यापत्पैत्तिकी रक्तयोन्याख्यासृगतिस्रुते ॥ ४३ ॥

व्याख्या—जब पित्तवर्द्धक आहार-विहारों के सेवन से दूषित पित्त योनि में आश्रित हो जाता है तब वहाँ दाह, पाक, ऊष्मा एवं दुर्गन्ध की उत्पत्ति हो जाती है, ज्वर रहने लगता है और अत्यन्त उष्ण, परिमाण में अधिक, मृत की सी गन्धवाला, नीला, पीला अथवा काला रजःस्राव होता है। इसका नाम "पैत्तिकी" व्यापद् है। और जिसमें रक्त का अधिक स्राव होता है उस व्यापद का नाम "रक्तयोनि" है ॥

वक्तव्य—रक्त का अधिक स्राव होने से प्रदर के से उपद्रव हो जाते हैं देखिये श्लो० ४६ का वक्तव्य ॥४२-४३॥

श्लैष्मिकी एवं लोहितक्षया व्यापद्—

कफोऽभिष्यन्दिभिः क्रुद्धः कुर्याद्योनिमवेदनाम्।
शीतलां कण्डुलां पाण्डुपिच्छिलां तद्विधस्रुतिम् ॥४४॥
सा व्यापच्छ्लैष्मिकी वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः।
सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया ॥ ४५ ॥

व्याख्या—अभिष्यन्दी आदि कफवर्द्धक आहार के सेवन से कुपित कफ-योनि में आश्रित हो जाता है तो योनि प्रदेश वेदना रहित, शीतल एवं कण्डुयुक्त तथा श्वेत एवं चिपचिपा बना रहता है और श्वेत एवं चिपचिपा स्राव होता रहता है। इस व्यापद् का नाम "श्लैष्मिकी" है। जिस व्यापद् में वात एवं पित्त की विकृति से रजस् का क्षय हो जाता है और साथ ही दाह, कृशता एवं कान्तिहीनता हो जाती है। इसमें अकाल में ही रजोऽवरोध हो जाता है ॥ ४४-४५ ॥

परिप्लुता व्यापद्—

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्।
पित्तयुक्तेन मरुता योनिर्भवति दूषिता ॥ ४६ ॥
शूना स्पर्शासहा सार्तिर्नीलपीतास्रवाहिनी।
वस्तिकुक्षिगुरुत्वातीसारारोचककारिणी ॥ ४७ ॥
श्रोणिवङ्क्षणरुक्तोदज्वरकृत्सा परिप्लुता।

व्याख्या—पित्त प्रकृति की नारी मैथुन करते समय यदि छींक का वेग रोक लेती है तो पित्त युक्त वायु द्वारा योनि दूषित हो जाती है फलतः वह सूज जाती है, छूने मात्र से वहाँ वेदना होती है और सर्वदा भी वेदना होती रहती है, ऊपर से वस्तिप्रदेश में भारीपन प्रतीत होता है, अतिसार तथा अरोचक, श्रोणि एवं वंक्षण में वेदना तथा व्यथा होती है और ज्वर होता है। इसका नाम "परिप्लुता" व्यापद् है ॥ ४६-४७ ॥

उपप्लुता तथा विप्लुता व्यापद्—

वातश्लेष्मामयव्याप्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥४८॥
उपप्लुता स्मृता योनिः विप्लुताख्या त्वधावनात्।
सञ्जातजन्तुः कण्डूला कण्डवा चातिरतिप्रिया ॥४९॥

व्याख्या—जिस योनिरोग में-वातिकी एवं श्लैष्मिकी श्लोक ३० तथा ४४) योनि व्यापद् के लक्षण होते हैं तथा श्वेत एवं पिच्छिल स्राव होता है उसका नाम

"उपप्लुता" है। और समय पर योनि का प्रक्षालन न करने से–योनि में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं फलतः कण्डू होती रहती है और कण्डू होने से रति की इच्छा अधिक होती है उसका नाम "विप्लुता" है ॥४८–४९॥

कर्णिनी तथा सान्निपातिकी व्यापद्—

अकालवाहनाद्वायुः श्लेष्मरक्तविमूर्च्छितः।
कर्णिकां जनयेद्योनौ रजोमार्गनिरोधिनीम् ॥ ५० ॥
सा कर्णिनी त्रिभिर्दोषैर्योनिगर्भाशयाश्रितैः।
यथास्वोपद्रवकरैर्व्यापत्सा सान्निपातिकी ॥५१॥

व्याख्या—प्रसव के समय—अकाल में प्रवाहण (कांखना-गर्भ निकालने का अनुचित प्रयत्न) करने से कुपित वायु कफ एवं रक्त के साथ मिलकर योनि में "कर्णिका" को उत्पन्न कर देता है। यह कर्णिका (पद्म कर्णिका सा अंकुर) रजस् के मार्ग को रोक देती हैं। इस व्यापद् का नाम "कर्णिका" है। योनि (भगप्रदेश) तथा गर्भाशय में आश्रित तीनों दोषों की विकृति से—वातिकी व्यापद् (श्लोक ३०), पैत्तिकी व्यापत् श्लोक ४०) तथा श्लैष्मिकी व्यापद् (श्लो० ४४) के लक्षणों से युक्त जो व्यापद् होती है वह "सान्निपातिकी" व्यापद् कहलाती है।

वक्तव्य—कर्णिका-कमल की कर्णिका अथवा कमल के बीज कीसी ग्रन्थि ॥५०–५१॥

उपसंहार—

इति योनिगदा, नारी यैः शुक्रं न प्रतीच्छति।
ततो गर्भं न गृह्णाति, रोगांश्चाप्नोति दारुणान् ॥
असृग्धरार्शोगुल्मादीनाबाधांश्चाऽनिलादिभिः ॥५२॥

व्याख्या—इस प्रकार योनि रोगों का वर्णन कर दिया गया है। इनसे पीडित योनि शुक्र का ग्रहण नहीं करती फलतः गर्भाधान नहीं होता है। अपितु नारी-रक्तप्रदर, अर्श एवं गुल्म आदि अनेक दारुण रोगों को प्राप्त करती है तथा अपतन्त्रक आदि वातज, ज्वर दाह आदि पित्तज तथा आलस्य आदि कफज बाधाओं को प्राप्त करती है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि वह नारी स्वस्थ नहीं रहती कुछ न कुछ विकार–शारीरिक एवं मानसिक विकार बना–लगा रहता है। रक्तयोनि व्यापद् (श्लोक ४०)का नाम प्रदर है प्रदर का सामान्य लक्षण है कि–ऋतु काल के अतिरिक्त में भी जो रजः स्राव अथवा रक्तस्राव होता है उसका नाम असृग् दर या प्रदर है। इसमें अंगमर्द, एवं वेदना होती है और अधिक प्रवृत्ति होने पर दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, तमो दर्शन, तृषा, दाह, प्रलाप, पाण्डुरोग तन्द्रा तथा वातज रोग हो जाते हैं (सु. शा. अ. २ देखिये और च. चि. अ. ३० देखिये)। । ५२ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतो गुह्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब गुह्याङ्गगत रोगों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—गुह्याङ्गगत रोगों की चिकित्सा का वर्णन च चि. अ. ३० में; सु. चि. अ. १९, २० तथा २१ में और उ. अ. ३८ में, तथा अ. सं. उ. अ. ३९ में देखिये।

उपदंश चिकित्सा—

मेढ्रमध्ये सिरां विध्येदुपदंशे नवोत्थिते।
शीतां कुर्यात् क्रियां शुद्धिं विरेकेण विशेषतः ॥१॥
तिलकल्कघृतक्षौद्रैर्लेपः पक्वे तु पाटिते।
जम्ब्वाम्रसुमनोनीप-श्वेतकाम्बोजिकांकुरान् ॥२॥
शल्लकी-बदरी-बिल्व-पलाशतिनिशोद्भवाः।
त्वचः क्षीरिद्रुमाणां च त्रिफलां च जले पचेत् ॥ ३ ॥
स क्वाथः क्षालनं तेन पक्वं तैलं च रोपणम्।
तुत्थगैरिकलोध्रैला-मनोह्वाऽऽलरसाञ्जनैः ॥ ४ ॥
हरेणु-पुष्पकासीस-सौराष्ट्रीलवणोत्तमैः।
लेपः क्षौद्रयुतैः सूक्ष्मैरुपदंशव्रणापहः ॥ ५ ॥
कपाले त्रिफला दग्धा सघृता रोपणं परम्।
सामान्यं साधनमिदं, प्रतिदोषं तु शोफवत् । ६ ॥
न च याति यथा पाकं प्रयतेत तथा भृशम्।
पक्वैः स्नायुसिरामांसैः प्रायो नश्यति हि ध्वजः ॥७॥

व्याख्या—नूतन उपदंश में–पाक के निरोधार्थ, स्नेहन (मूत्रमार्ग) के ऊपर स्थित सिरा का वेध करके रक्त मोक्षण कर देवे (अथवा जोंकों द्वारा रक्त मोक्षण करे सु.) और लेपन एवं सेचन आदि के रूप में तथा आहार विहार के रूप से शोधन विरेचन द्वारा करे। इस प्रकार दोषों का निर्हरण हो जाने पर वेदना एवं शोथ तत्काल शान्त हो जाते हैं। यदि रोगी दुर्बल हो और इस लिये विरेचन देना सम्भव न हो तो निरूहण द्वारा मल शोधन कर देवे (अ. सं. एवं सु.)। यदि शोथ पक गया हो तो शस्त्र द्वारा पाटन कर्म करे तथा तिलकल्क को घृत एवं मधु में फेण्टकर लेप करे। तत्पश्चात्–जामुन के, आम के, चमेली के, जल वेतस के तथा श्वेत काम्बोजिका के अंकुर (कोमल पत्र) तथा सलई की, बेरी की, पलाश की तथा विजयसार की छालों तथा वट आदि क्षीरी वृक्षों की छालों एवं त्रिफला के क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करे इस प्रकार व्रण का शोधन हो जाने पर उक्त जामुन आदि क्वाथ द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क के योग से सिद्ध तैल का

रोपणार्थ प्रयोग करे। लेप—भुना हुआ तूतिया, गेरू, लोध, छोटी इलायची, मैनशिल, हरिताल, रसवत, हरेणु बीज, हरा कसीस, फिटकरी तथा सैन्धव लवण का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर और मधु में फेण्ट कर लेप करे इस लेप से उपदंश का व्रण नष्ट हो जाता है। अथवा—त्रिफला को कपाल (मिटी के टीकरा) में धर कर जलावे, कोला हो जाने पर पीस कर और घृतमें मिला कर लेप करे इससे व्रण का रोपण हो जाता है। यह उपदंश का सामान्य उपचार है और विशेष उपचार वातादि दोषों के अनुसार विचार करके व्रण शोथ (अ. २५) के समान करे। सबसे अधिक ध्यान पूर्वक ऐसा प्रयत्न करे जिससे पाक का प्रारम्भ न होंने पावे क्योंकि पाकारम्भ हो जाने पर स्नायु सिरा एवं मांस पेशियों का पाक हो जाने से प्रायः शिश्न का नाश ही हो जाता है ॥

वक्तव्य—रक्तज एवं त्रिदोषज उपदंश की चिकित्सा प्रत्याख्यान करके करनी चाहिये। काम्बोजिका-माषपर्णी १-७

मांसकीलक चिकित्सा—

अर्शसां छिन्नदग्धानां क्रिया कार्योपदंशवत्।

व्याख्या—लिंगार्श एवं योन्यर्श में—अर्शरोग के समान (चि. अ. ८) छेदन कर्म अथवा अग्नि कर्म करने के अनन्तर सब चिकित्सा (शोधन रोपण आदि उपचार) उपदंश के समान करे ॥

वक्तव्य—अर्शांसि च यथायोगं शुद्धदेहस्य शस्त्र-क्षारादिभिः साधयेत्, उपदंशोक्ताश्चात्र रसक्रिया लेपाः (अ. सं.)। अर्थात्—गुह्याङ्ग के अर्श की चिकित्सा—विधिपूर्वक वमन विरेचनादि द्वारा शरीर का शोधन करके, शस्त्र प्रयोग से अथवा क्षार प्रयोग से करे तथा उपदंशोक्त—प्रक्षालन एवं लेपन आदि करे।

सर्षपिका चिकित्सा—

सर्षपा लिखिताः सूक्ष्मैः कषायैरवचूर्णयेत् ॥ ८ ॥
तैरेवाभ्यञ्जनं तैलं साधयेत् व्रणरोपणम्।

व्याख्या—सर्षपिका नामक पिटिका का लेखन करके, कषाय द्रव्यों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण बुरकना चाहिये और कषाय द्रव्यों के योग से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग (चुपड़ना) करना चाहिये इस प्रकार व्रण का रोपण हो जाता है ॥९॥

अवमन्थ चिकित्सा—

क्रियेयमवमन्थेऽपि रक्तं स्राव्यं तथोभयोः ॥ ९ ॥

व्याख्या—अवमन्थ रोग में सर्षपिका के समान चिकित्सा करे और दोनों में जोंक लगाकर रक्त स्रावण करे ॥

वक्तव्य—पक्वभिन्नं धवतिन्दुकशल्लकीपत्तङ्गसर्जकृतेन तैलेन आरोपयेत् (अ. सं.) अर्थात्—यदि अवमन्थ की पिटिका पक कर फूट गई हों तो धव, तेन्दू, सलई, पत्तंग तथा रालके योगसे सिद्ध तैलके अभ्यङ्ग द्वारा व्रण रोपण करे।

कुम्भीका चिकित्सा—

कुम्भीकायां हरेद्रक्तं पक्वायां शोधिते व्रणे।
तिन्दुकत्रिफलारोध्रैर्लेपस्तैलं च रोपणम् ॥१०॥

व्याख्या—कुम्भीका नामक पिटिका में—जब वह आम हो तो जोंक लगा कर रक्त निकाल देवे और यदि वह पक गई हो तो भेदन करे और व्रण का शोधन करे तदनन्तर—तिन्दुक, त्रिफला तथा लोधका लेप और तिन्दुक आदि के योग से सिद्ध तैल लगा कर (चुपड़ कर) रोपण करे ॥ १० ॥

अलजी चिकित्सा—

अलज्यां स्रुतरक्तायामयमेव क्रियाक्रमः।

व्याख्या—अलजी नामक पिटिका में—जोंक लगा कर रक्त निकाल देवे और यदि पक गई हो तो कुम्भीका के समान भेदन एवं व्रण शोधन एवं रोपण आदि सब उपचार करे ॥१२॥

उत्तमा चिकित्सा—

उत्तमाख्यां तु पिटिकां सञ्छिद्य बडिशोद्धृताम् ॥११॥
कल्कैश्चूर्णैः कषायाणां क्षौद्रयुक्तैरुपाचरेत्।

व्याख्या—उत्तमा नामक पिटिका शस्त्र द्वारा छेदन करके और बडिश यन्त्र द्वारा उद्धरण करके कषाय द्रव्यों के कल्क एवं सूक्ष्म चूर्ण को मधु में फेण्ट कर लेप करे १३

पुष्करिका एवं सम्यूढा की चिकित्सा—

क्रमः पित्तविसर्पोक्तः पुष्करव्यूढयोर्हितः ॥१२॥

व्याख्या—पुष्करिका एवं सम्यूढ नामक पिटिकाओं की पित्तविसर्प के समान (चि. अ. १८) चिकित्सा करे १४

त्वक्पाक, स्पर्शहानि तथा मृदित की चिकित्सा—

त्वक्पाके स्पर्शहान्यां च सेचयेन्मृदितं पुनः।
बलातैलेन कोष्णेन मधुरैश्चोपनाहयेत् ॥१३॥

व्याख्या—त्वक् पाक तथा स्पर्शहानि नामक रोगों में विसर्प (चि. अ. १८) के समान चिकित्सा करे। और मृदित नामक रोग में—कोसे २ बला तैल (चि. अ. २१) का सेचन करे। और मधुर वर्ग के उचित द्रव्यों का लेप करे ॥ १५ ॥

अष्ठीलिका की चिकित्सा—

अष्ठीलिकां हृते रक्ते श्लेष्मग्रन्थिवदाचरेत्।

व्याख्या—अष्ठीलिका नामक पिटिका में—जोंक लगा कर रक्त निकाल देवे यदि तब भी शान्त न हो तो कफज ग्रन्थि के (उ. अ. २९) के समान उपचार करे ॥१६॥

निवृत्त एवं अवपाटिका की चिकित्सा—

निवृत्तं सर्पिषाऽभ्यज्य स्वेदयित्वोपनाहयेत् ॥१४॥

त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा सुस्निग्धः साल्वणादिभिः ।
स्वेदयित्वा ततो भूयः स्निग्धं चर्म समानयेत् ॥१५॥
मणिं प्रपीड्य शनकैः प्रविष्टे चोपनाहनम् ।
मणौ पुनः पुनः स्निग्धं भोजनं चाऽत्र शस्यते ॥१६॥
अयमेव प्रयोज्यः स्यादवपाट्यामपि क्रमः ।

व्याख्या—निवृत्त नामक रोग में—घृत का अभ्यङ्ग करे और तीन अथवा पांच रात्रि पर्यन्त शाल्वण आदि (सू. अ. १७) स्निग्ध उपनाहों द्वारा स्वेदन करे और बार २ स्वेदन जब चर्म स्निग्ध हो जाय तब उसे धीरे २ मणि पर लाने का प्रयत्न करे । इस प्रकार जब मणि पर आ जाय तब पुनः २ मणि पर उपनाह स्वेदन करे और इन दिनों में भोजन भी हलुआ आदि स्निग्ध ही होना चाहिये । अवपाटिका नामक रोग में भी इसी प्रकार का उपचार करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

निरुद्ध मणि की चिकित्सा—

नाडीमुभयतोद्वारां निरुद्धे जतुना कृताम् ॥१७॥
स्नेहाक्तां स्रोतसि न्यस्य सिञ्चेत्स्नेहैश्चलापहैः ।
त्र्यहात्त्र्यहात्स्थूलतरां न्यस्य नाडीं विवर्धयेत् ॥१८॥
स्रोतोद्वारमसिद्धौ तु विद्वान् शस्त्रेण पाटयेत् ।
सेवनीं वर्जयन्, कुर्यात्सद्यःक्षतविधिं ततः ॥१९॥

व्याख्या—निरुद्ध मणि नामक विकार में—दोनों ओर मुख वाली, स्वर्ण, रजत, लोह आदि किसी धातु की अथवा काष्ठ की नाली, जो लाख द्वारा लिपी हो, को सूअर की वसा आदि स्नेह से चुपड़ कर, त्वचा के मुख में प्रविष्ट करे और उस पर वात नाशक बला तैल आदि स्नेहों का सेचन करे, तीन २ दिन पर नूतन, पहिली नाली से कुछ मोटी नाली प्रविष्ट कर करके त्वचा को बढ़ावे । इस प्रकार मणि पर की त्वचा बढ़ कर पीछे की ओर हटने योग्य हो जाती है । परन्तु यदि इस प्रकार सफलता प्राप्त न हो तो कुशल चिकित्सक—सीवन को बचा कर त्वचा को काट देवे और तत्काल सद्यःक्षत की विधि से (अ. २६) उपचार करे ॥

वक्तव्य—हमारा अनुभव है कि इस विकार में केवल सूअर की वसा २-४ दिन लगाने से त्वचा मणि पर से पीछे हटने लग जाती है और शस्त्र कर्म आदि की आवश्यकता नहीं होती । यह शस्त्र कर्म वैसा ही है जैसा "सुन्नत" करने में मुसलमानों में किया जाता है । इसमें स्निग्ध आहार का सेवन होना चाहिये ।

ग्रथित की चिकित्सा—

ग्रथितं स्वेदितं नाड्या स्निग्धोष्णैरुपनाहयेत् ।

व्याख्या—इस विकार में—नाड़ी द्वारा स्वेदन करे और स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यों का उपनाह करे ॥२०॥

शतपोनक की चिकित्सा—

लिम्पेत्कषायैः सक्षौद्रैर्लिखित्वा शतपोनकम् ॥२०॥

व्याख्या—शतपोनक का लेखन करे और फिर कषाय द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण को मधु में फेंट कर लेप करे ॥२१॥

शोणितार्बुद की चिकित्सा—

रक्तविद्रधिवत्कार्या चिकित्सा शोणितार्बुदे ।

व्याख्या—शोणितार्बुद में—रक्तविद्रधि (चि.अ. १३) के समान चिकित्सा करे ।

उपसंहार—

व्रणोपचारं सर्वेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥२१॥

व्याख्या—उक्त सब रोगों में—अवस्थानुसार—लेखन आदि कर्म के पश्चात् शोधन रोपण आदि उपचार व्रण चिकित्सा (अ. २५) के समान करे ॥

वक्तव्य—उपदंश आदि सभी रोगों में व्रण साधर्म्य के कारण अन्तः शुद्धि के साथ २ कषाय लेप घृत तैल रस क्रिया एवं अवचूर्णनका शोधन रोपणके लिये प्रयोग करना चाहिये ।

योनिव्यापद् की चिकित्सा—

अथ योनिरोग प्रतिषेधः ।

योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्म वातजित् ।
स्नेहनस्वेदबस्त्यादिवातजासु विशेषतः ॥ २२॥
न हि वाताहते योनिर्वनितानां प्रदुष्यति ।
अतो जित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ॥२३॥
पाययेत बलातैलं, मिश्रकं, सुकुमारकम् ।
स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्समाम् २४
पाणिनोन्नमयेज्जिह्मां संवृतां व्यधयेत्पुनः ।
प्रवेशयेन्निःसृतां च, विवृतां परिवर्तयेत् ॥ २५ ॥
स्थानापवृत्ता योनिर्हि शल्यभूता स्त्रियो भवेत् ।
कर्मभिर्वमनाद्यैश्च मृदुभिर्योजयेत्स्त्रियम् ॥ २६ ॥
सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ।
बस्त्यभ्यङ्गपरिषेकःप्रलेप-पिचुधारणम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—सभी योनिव्यापदों में अधिकतर वात शामक—स्नेहन, स्वेदन एवं वस्ति कर्म आदि चिकित्सा करे और वात जनित योनि व्यापदों में तो विशेषरूप से वात शामक उपचार करे क्योंकि—नारियों की योनि वायु प्रकोप से बिना दूषित नहीं होतीं इस लिये—प्रथम वायु का प्रशमन करके दूसरे दोषों के शमन का उपाय करे । प्रथम— बला तैल (चि. अ. २१), मिश्रक स्नेह (चि. अ. १४) अथवा सुकुमार स्नेह (चि. अ. १३) का पान करावे और फिर लवणमिश्रित स्नेह का योनि में अभ्यङ्ग करके नाड़ी स्वेदन अथवा कुम्भी स्वेदन विधि से स्वेदन करे तत्पश्चात्-यदि योनि (गर्भाशय-धारा-धर) स्थान से भ्रष्ट हो (स्वस्थान से खिसकी हुई हो) तो

उसे हाथ द्वारा स्वस्थान में स्थापित करे। यदि टेढ़ी हो तो उसे सीधी कर देवे। यदि संवृत—अणुमुखी हो तो उसे पृथु—चौड़ो कर देवे—अंगुली द्वारा गर्भाशय का मुख खोल देवे। यदि बाहिर निकल आई हो तो गुदभ्रंश के समान प्रविष्ट कर देवे और गोफणाबन्धा आदि उचित व्यवस्था करे। और यदि घूम गई हो तो उसे घुमा कर स्वस्थिति में स्थापित कर देवे। यह सब उपचार वृद्धा स्त्रियों द्वारा कर लिया जाता है। इन सब विकृतियों का लक्षण है—कि स्वस्थान से हटी हुई योनि (धरा)—शल्य के समान कठोर एवं वेदना कारिणी होती है। इसमें मर्दन आदि उपचार करने से इधर उधर हटी धरा स्वस्थान में स्थित कर दी जाती है फलतः वेदना शान्त हो जाती है। और अन्यान्य योनि व्यापदों में—मृदु वमन एवं विरेचन आदि पञ्चकर्म का प्रयोग करना चाहिये। जब इस प्रकार सर्वथा शोधन हो जाय तब वस्ति (उत्तर वस्ति), अभ्यङ्ग, परि सेचन, लेपन, तथा पिचु धारण आदि अन्यान्य उपचार करना चाहिये॥ २२–२७॥

काश्मर्यादि तैल—

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षा-कासमर्दनिशाद्वयैः।
गुडूचीसैर्यकाभीरु-शुकनासापुनर्नवैः॥ २८॥
परूषकैश्च विपचेत्प्रस्थमक्षसमैर्घृतात्।
योनिवातविकारघ्नं तत्पीतं गर्भदं परम्॥ २९॥

व्याख्या—गम्भार के फल, हरड़, बहेड़ा, आमला, दाख, कसौन्दी की जड़, हलदी, दारुहल्दी की छाल, गिलोय, करसरैया की जड़, शतावर, सोनापाठा की छाल, पुनर्नवा तथा फालसा की छाल, १–१ कर्ष लेकर कल्क बनावे और १ प्रस्थ घृत मिला कर पाक करे इस घृत का पान करने से—वातिकी योनि व्यापद् का नाश हो जाता है फलतः गर्भाधान भी हो जाता है॥ २८–२९॥

वचादि योग—

वचोपकुञ्चिकाजाजी-कृष्णावृषकसैन्धवम्।
अजमोदायवक्षारशर्कराचित्रकान्वितम्॥ ३०॥
पिष्ट्वा प्रसन्नयाऽऽलोड्य खादेत् तद्घृतभर्जितम्॥
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोग-गुल्मार्शोविनिवृत्तये॥ ३१॥

व्याख्या—बालवच, कालाजीरा, जीरा, पीपल, अडूसा के पत्र, सैन्धवलवण, अजमोद, जौखार खण्ड तथा चित्ता मूल को प्रसन्ना (स्वच्छ सुरा) में पीस कर और घोल कर तथा घृत में तल कर खाने से-योनिशूल, पार्श्व-शूल, हृद्रोग, गुल्म तथा अर्शरोग का नाश हो जाता है॥३०–३१॥

अन्यान्य उपचार—

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम्।
पिबेन्मद्यैः सलवणैस्तथा कृष्णोपकुञ्चिकैः॥३२॥
रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः शृतं शूलहरं पयः।
गुडूचीत्रिफलादन्ती-क्वाथैश्च परिषेचनम्॥३३॥
नतवार्ताकिनीकुष्ठ-सैन्धवाऽमरदारुभिः।
तैलात्प्रसाधिताद्धार्यः पिचुर्योनौ रुजापहः॥ ३४॥

व्याख्या—अडूसा के पत्र, निम्बू की जड़ की छाल तथा मल्लिका के पुष्पों को पीस कर सुरा के साथ पीवे। अथवा—पीपल, काला जीरा तथा सैन्धव लवण को पीस कर सुरा के साथ पीवे। अथवा—रास्ना, गोखरू तथा अडूसा के पत्र के योग से सिद्ध दूध पीवे। इन से शूल की शान्ति होती है। गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आमला तथा दन्तीमूलके क्वाथ से सेचन करे। और—तगर, वनभण्टा की जड़, सुगन्धी कूठ, सैन्धव लवण तथा देवदारु के योग से सिद्ध किये गये तैल का पिचु (फोहा) योनि-भग में धारण करे। इससे भी शूल शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—वस्ति कर्म अभीक्ष्णं स्वेदं च प्रयोजयेत्। विशेषतः सुकुमारकबलातैलादिभिः वातहरैः स्नेहैः अनुवासनं उत्तरवस्तिश्च। एष क्रमो विशेषेण योनेः वेदनाकार्कश्य स्तम्भ संस्पर्शहानिघ्नः। अति चरणादिषु सर्वासु अनिलजासु अयं एव क्रमः। धारयेत् च अतिचरणायां यवगोधूमकिण्व-कुष्ठ शतपुष्पा श्यामाह्वा प्रियंगु बलाऽऽखुपर्णी कल्क कृतां उत्कारिकाम्। प्राक्चरणा शुष्का विप्लुता कर्णिनीषु तैलं उत्तरवस्तिं दद्यात्, धारयेत् च विप्लुतायां गोमत्स्यान्यतर-पित्तेन एकविंशकृत्वो भावितान् क्षौमनक्तकान्, किण्वचूर्णं माक्षिकयुतं एवं युक्तं अस्याःस्रोतांसि विशुद्धयन्ति कण्डू क्लेदं शोफाश्च विवर्तन्ते। कर्णिन्यां कुष्ठार्कपल्लवं पिप्पली सैन्धवैः वस्तमूत्रपिष्टैः वर्ति कृत्वा धारयेत्, श्लेष्महरं च सर्वं कर्म। जातघ्नी रक्तयोनि रक्तक्षयासु कुटज काश्मर्य क्वाथ सिद्धं सर्पिः उत्तरवस्तौ दद्यात्। अ॰ सं॰ उ॰ अ॰ ३९।

अर्थात्—वातजनित योनि व्यापदों में—बार २ वस्ति कर्म तथा बार २ स्वेदन करे। विशेषतः सुकुमारक स्नेह अथवा बला तैल आदि वात नाशक स्नेहों की अनुवासन वस्तियाँ तथा उत्तर वस्तियाँ देवे इस विधि से—योनि की वेदना, खरदरापन स्तम्भ तथा स्पर्श हानि का विशेष रूप से शमन हो जाता है। और अतिचरणा आदि वात प्रधान योनि व्यापदों में भी यहीं चिकित्सा करे। विशेषतः—अति चरणा में—जौ, गेहूँ, किण्व, कुठ, सौंफ, कृष्णसारिका, प्रियंगु, बलामूल तथा मूसाकर्णी की लप्सी बनाकर भग में धरे। प्राक् चरणा, शुष्का विप्लुता तथा कर्णिनी नामक व्यापदों में तिल तैल की उत्तर वस्तियाँ देवे। विप्लुता में

विशेषतः—गो पित्त अथवा मत्स्यपित्त से २१ बार भावित रेशमी वस्त्र का पिचु धारण करे अथवा किण्व चूर्ण को मधु में फेंटकर धारण करे। इस प्रकार भगस्रोत शुद्ध हो जाता है और कण्डू, क्लेद तथा शोथ दूर हो जाते हैं। कर्णिनी नामक व्यापद् में—कुठ, आक के कोमल पत्ते, पीपल तथा सैन्धव लवण को बकरा के मूत्र में पीसकर एवं वर्त्ति बनाकर भग में धारण करे और सब सेचन आदि उपचार कफ नाशक करे। जातघ्नी, रक्तयोनि तथा रक्तक्षया नामक व्यापदों में कुरैया की छाल तथा गम्भार की छाल के क्वाथ के योग से सिद्ध घृत की उत्तर बस्ति देवे ॥३४॥

पित्तज योनि व्यापदों की चिकित्सा—

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः।
शीताः पित्तजितः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च ॥३५॥

व्याख्या—पैत्तिकी एवं पित्तप्रधान योनि व्यापदों में—शीतल एवं पित्त शामक द्रव्यों के योगों से सेचन, अभ्यङ्ग एवं पिचु धारण आदि उपचार करे और स्नेहन के लिये घृतों का प्रयोग करे (अन्यान्य तैल आदि का नहीं) ॥३५॥

शतावरी अवलेह—

शतावरीमूलतुला चतुष्कात् क्षुण्णपीडितात्।
रसेन क्षीरतुल्येन पाचयेत घृताढकम् ॥ ३६ ॥
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः।
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्मधुकद्वि बलान्वितैः ॥३७॥
सिद्धशीते तु मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्।
शर्कराया दशपलं क्षिपेल्लिह्यात्पिचुं ततः ॥ ३८ ॥
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं परम्।
क्षतं क्षयमसृक्पित्तकासश्वासहलीमकम् ॥३९॥
कामलां वातरुधिरं विसर्पं हृच्छिरोग्रहम्।
अपस्मारार्दितायाम-मदोन्मादांश्च नाशयेत् ॥४०॥

व्याख्या—चार तुला (४०० पल) शतावर लेकर और उसे कूट कर तथा निचोड़ कर रस निकाल लेवे और जितना रस हो उतना गो दुग्ध तथा १ आढक (६४ पल) गो घृत तथा जीवनीय गण के दस द्रव्य, शतावर, मुनक्का, फालसा के फल, चिरौंजी, बलामूल, अतिबला तथा मुलेठी १-१ कर्ष लेकर कल्क बनावे। फिर सब को मिलाकर पाक करे, सिद्ध होने पर उतार लेवे और शीतल होने पर—मधु एवं पीपल चूर्ण ८-८ पल एवं खण्ड १० पल मिला देवे। मात्रा १ कर्ष लेकर प्रति दिन प्रातः सायं चाटे। यह योग योनि व्यापद्, रजोदोष तथा शुक्रदोष का नाश करता है और उच्चकोटि का पुंसवन (पुमान् सन्तति देनेवाला) और उरः क्षत, क्षय, रक्तपित्त, कास, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, विसर्प, हृदयग्रह, शिरोरोग, अपस्मार, अर्दित, आयाम (धनुस्तम्भ), मद तथा उन्माद को नष्ट करता है ॥ ३६-४० ॥

अन्य दूध एवं घृत—

एवमेव पयः सर्पिर्जीवनीयोपसाधितम्।
गर्भदं पित्तजानां च रोगाणां परमं हितम् ॥४१॥

व्याख्या—जीवनीय गणके द्रव्यों के योग से सिद्ध-गोदुग्ध अथवा गोघृत सिद्ध करे। यह भी पित्त प्रधान योनि व्यापदों का नाश करता है और गर्भाधान का हेतु होता है ॥ ४१ ॥

बलादि यमक स्नेह—

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत्।
क्षीरे चतुर्गुणे कृष्णा-काकनासासितान्वितः ॥ ४२ ॥
जीवन्तीक्षीरकाकोली-स्थिरावीरर्द्धिजीवकैः।
पयस्याश्रावणीमुद्ग-पीलुमाषाख्यपर्णिभिः ॥ ४३ ॥
वातपित्तामयान् हत्वा पानाद्गर्भं दधाति तत्।

व्याख्या—दो द्रोण बलामूल के क्वाथ में १ आढक घृत एवं तिल तैल, गोदुग्ध ४ आढक, पीपल, काकनासा खण्ड, जीवन्ती, क्षीर काकोली, शालपर्णी, शतावर, ऋद्धि, जीरा, क्षीर विदारी कन्द, गोरखमुण्डी, मूंग, पीलू के फल तथा माषपर्णी का कल्क १ प्रस्थ मिलाकर पाक करे। इसका पान करने से वात पित्त जनित योनि रोग, दोष एवं शुक्र दोष का शमन होता है फलतः गर्भाधान हो जाता है ॥४२-४३॥

रक्तयोनि की चिकित्सा

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धमवेक्ष्य च ॥ ४४ ॥
यथादोषोदयं युञ्ज्यात् रक्तस्थापनमौषधम्।

व्याख्या—रक्त योनि नामक व्यापद् में रक्त के वर्णों के अनुसार वातादि दोषों का निर्णय करे। फिर दोष के शमन के साथ-साथ रक्तरोधक चिकित्सा करे।

वक्तव्य - रक्त के वर्णों का विचार सू अ. २७ में कहे गये लक्षणों से कर लेवे। रक्तयोनि का नाम चरक चि. अ. ३० में प्रदर है और सु. शा. अ० २ में असृग्दर है। सुश्रुत का कथन है कि—

रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ॥ २१ ॥

अर्थात् प्रदर में रक्तपित्त के समान चिकित्सा करे। और—अ. सं. उ. अ. २९ में उक्त श्लो० ३८ के नीचे लिखा है—

तिलचूर्णं दधियुतं फाणितं शौकरी वसा।
क्षौद्रयुक्त जयेत् पीतं वातोत्तरमसृग्दरम्।
वराहस्य रसो मेध्यः सकौलत्थश्च तद्गुणः।
पत्रकल्को घृते भृष्टो राजादनकपित्थयोः।
शर्कराक्षौद्रमध्याह्न नागरेश्च युतं दधि।

पयस्योत्पलशालूकबिसकालीयवारिजम् ।
सदयः शर्करा क्षौद्रं रक्तपित्तोत्तरे पिबेत् ।
तन्दुलीयकमूलं वा सक्षौद्रं तन्दुलाऽम्बुना ।
स ताक्ष्यं शैलं लाक्षां वा छागेन पयसा पिबेत् ।
वासाघृतं तिक्तघृतं रक्तपित्ते हितं च यत् ।
मधुकं त्रिफलां लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु ।
मद्यैः निम्बगुडूच्यौ च कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ।

अर्थात्—वात प्रधान असृग्दर (रक्तयोनि प्रदर) में तिलों का चूर्ण दही में मिलाकर पीवे । अथवा रावं एवं सूअर की वसा को मधु मिलाकर पीवे । रक्त पित्त प्रधान असृग्दर में सूअर का मांस रस अथवा कुलथी का जूस पीवे अथवा खिरनी एवं कैथ के पत्तों का कल्क घृत में तलकर खावे अथवा खण्ड, मधु, मुलेठी का एवं सोंठ का चूर्ण दही में मिलाकर पीवे अथवा क्षीरविदारी कन्द, कमलकन्द, विस (भिस), अगुरु तथा कमल को पीसकर दूध, खण्ड तथा मधु में मिलाकर पीवे अथवा चौलाई की जड को पीस कर एवं मधु में मिलाकर चावलों के धोअन के साथ पीवे अथवा रसवत एवं लाख का चूर्ण बकरी के दूध के साथ पीवे । और वासाघृत, तिक्तघृत तथा रक्तपित्तनाशक अन्यान्य औषध एवं आहार विहार का सेवन करे । कफज प्रदर में मुलेठी, त्रिफला, लोध, मोथा, तथा फिटकरी का चूर्ण मधु में मिलाकर चाटे अथवा निम्ब की छाल एवं गिलोय का कल्क मद्य के साथ पीवे और त्रिदोषज प्रदर तो असाध्य ही होता है ॥४४॥

पुष्यानुग चूर्ण

पाठा जम्ब्वाम्रयोरस्थि शिलोद्भेदं रसाञ्जनम् ॥४५॥
अम्बष्ठां शाल्मलीपिच्छां समङ्गां वत्सकत्वचम् ।
बाह्लीकबिल्वातिविषा-रोध्र-तोयद-गैरिकम् ॥ ४६ ॥
शुण्ठीमधूकमृद्वीका-रक्तचन्दनकट्फलम् ।
कट्वङ्गवत्सकानन्ता-धातकीमधुकार्जुनम् ॥ ४७ ॥
पुष्ये गृहीत्वा सञ्चूर्ण्य सक्षौद्रंतण्डुलाम्भसा ।
पिबेदर्शःस्वतीसारे रक्तं यश्चोपवेश्यते ॥ ४८ ॥
दोषा जन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ।
योनिदोषं रजोदोषं श्यावश्वेतारुणासितम् ॥ ४९ ॥
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेण पूजितम् ।

व्याख्या—पाठा, जामुन की गिरी, आम की गिरी शिलाजीत, मोर शिखा, सेमल का गोन्द, (मोचरस), लज्जावन्ती (अथवा मञ्जीठ), कुरैया की छाल, केशर बिलगिरी, अतीस लोध, नागर मोथा, गेरू, सोंठ, महुवा के पुष्प, मुनक्का, लाल चन्दन, कायफल, सोना पाठा की छाल, इन्द्र जौ, अवाशा, धाय के फूल, मुलेठी तथा अर्जुन की छाल । सब द्रव्यों को पुष्य नक्षत्र में लेकर चूर्ण चना लेवे । मात्रा । २-३ माशा । सहपान मधु, अनुपान चावलों का धोअन । प्रयोग—रक्तार्श, रक्तातिसार, बालकों के कृमि, योनिव्यापद्, रजोदोष, श्याव प्रदर, श्वेत प्रदर, लाल प्रदर तथा काला प्रदर अर्थात् सब प्रकार के साध्य प्रदर रोग । इस चूर्ण का नाम पुष्यानुग है और भगवान् आत्रेय ने च चि. अ. ३० में इस की प्रशंसा की है ।

वक्तव्य—वर्तमान चरक संहिता में कुछ पाठभेद है यथा —

दोषाऽऽगन्तु कृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् । ९४ ।
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम् ।
स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य विनिवर्तयेत् । ९५ ।

अर्थात्—बालकों के दोषज तथा आगन्तुज रोगों को नष्ट करता है और नारियों के योनि दोष तथा श्वेत, नील, पीत श्याव तथा अरुण रजोदोष को हठात् दूर करता है । और चरक के पाठ में मरिच का विधान है परन्तु मधूक का नहीं है । सब मिलाकर दोनों पाठों में २६ द्रव्य हैं । और और अ. सं. के पाठ में मरिच का उल्लेख नहीं है परन्तु माचिका (माईं) नामक द्रव्य का विधान है । अस्तु माचिका भी रक्त प्रदर की अच्छी औषध मानी जाती है । निःसन्देह यह योग प्रदर को उत्तम औषध है । रक्तक्षया व्यापद् में—रक्तक्षयायां क्षीरं च जीवनीयशृतं पिबेत् । अर्थात् जीवनीय गण के द्रव्यों से पक्व दूध पीना चाहिये ॥४५-४६॥

श्लैष्मिकी व्यापद् की चिकित्सा

योन्यां बलास-दुष्टायां सर्वं रूक्षोष्णमौषधम् ॥ ५० ॥

व्याख्या—कफप्रधान श्लैष्मिकी आदि व्यापदों में सब प्रकार की सूक्ष्म एवं उष्ण चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—

योन्यां श्लेष्मप्रदुष्टायां वर्तिः संशोधने हिता ।
वाराहे बहुशः पित्तैः भावितैः नक्तकैः कृता ।
भावितं पयसाऽर्कस्य माषचूर्णं ससैन्धवम् ।
वर्तिः कृता क्षणं धार्या सेवतश्चाऽनुसुखाम्बुना ।
पिप्पली माष मरिच शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।
प्रदेशिन्यंगुलीतुल्या वर्तिः योनिविशोधिनी ।

अर्थात्—कफप्रदूषित योनि हो तो योनि शोधन के लिये वत्ती का प्रयोग लाभदायक होता है यथा सूअर के पित्त में कपड़ा को कई बार भिगोकर सुखावे और उस वस्त्र को वत्ती बनाकर योनि-भग में धरे । अथवा उरद का आटा ४ भाग तथा सैन्धव लवण १ भाग लेकर आक के दूध में सान कर बत्ती बनावे और क्षण भर के लिये योनि (भग) में धरे तथा फिर निकाल कर कोसे जल का वस्ति द्वारा

सेचन करे। अथवा—पीपल, उरद, मरिच, सोया, कूठ तथा सैन्धव लवण लेकर एवं जल में पीस कर प्रदेशिनी अंगुली कीसी वत्ती बनावे और भग में धरे क्षणभर के पश्चात् निकाल देवे और कोसे जल से प्रक्षालन करे। इस प्रकार भग में से कफ निकल जाता है और योनि शुद्ध हो जाती है ।।५०।।

धातक्यादि तैल—

धातक्यामलकीपत्र-स्रोतोजमधुकोत्पलैः।
जम्ब्वाम्रसारकासीसरोध्रकट्फलतिन्दुकैः ।।५१।।
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः।
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ।।५२।।
तैलप्रस्थं तदभ्यङ्ग-पिचुबस्तिषु योजयेत्।
शूलोत्तानोन्नता स्तब्धा पिच्छिला स्रावणी तथा ।।५३।।
विप्लुतोपप्लुता योनिः सिद्ध्येत्सस्फोट-शूलिनी।

व्याख्या—धाय के फूल, आमला के पत्र, काला सुरमा, मुलेठी, कमल, जामुन की गिरी, आम की गिरी, हरा कासीस, लोध, कायफल, तिन्दुक की छाल, फिटकिरी, अनार के फल का छिलका तथा गूलर के कच्चे फल १-१ कर्ष लेकर कल्क बना लेवे, बकरी का मूत्र तथा दूध २-२ प्रस्थ और तैल १ प्रस्थ मिला कर पाक करे। इसका प्रयोग अभ्यङ्ग, पिचु-फोहा तथा वस्ति (उत्तर वस्ति) में करे। प्रयोग—शोथ युक्त, उत्तान (विवृता)—तनावयुक्त, उन्नत, स्तब्ध, पिच्छिल, स्रावयुक्त, विप्लुता, उपप्लुता नामक योनि व्यापद् तथा स्फोट एवं शूल से युक्त योनि में सफलता मिलती है ।। ५१-५३ ।।

योनि व्यापदों में अन्यान्य योग—

यवाशनमभयारिष्टं सीधु तैलं च शीलयेत् ।।५४।।
पिप्पल्ययोरजः पथ्याप्रयोगांश्च समाक्षिकान्।

व्याख्या योनि व्यापदों में—जौके दलिया आदि आहार, अभयारिष्ट, सीधु तथा तैल का सेवन करना चाहिये और पीपल, लोहभस्म तथा हरड़ को मधु में मिला कर दीर्घकाल पर्यन्त खाना चाहिये ।। ४२ ।।

अवचूर्णन योग—

कासीसं त्रिफला कांक्षी साम्रजम्ब्वस्थि धातुकी ।।५५।।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारक।

व्याख्या—हीरा कासीस, हरड़, बहेड़ा, आमला, फिटकिरी, आम की गिरी, जामुन की गिरी तथा धाय के फूल लेकर चूर्ण बनावे और मधु में मिला कर भग में लगावे। इससे भग की पिच्छिलता का नाश हो जाता है और भग स्वच्छ रहने लगती है ।।

वक्तव्य—इस योग में यदि कासीस की भस्म बना कर मिलाई जाय तो यह खाने में लाभ करता है। विधि यह है—हीरा कासीस लेकर दोलायन्त्र विधि से भांगरा के रस में दिन भर स्वेदन करे और घीकुआर के रस में पीस कर, टिकिया बना कर पुट दे देवे। इस प्रकार लाल वर्ण की भस्म बन जाती है। मात्रा—२ ४ रत्ती ।।५५।।

अव चूर्णन एवं परिषेचन—

पलाशधातकीजम्बू-समङ्गामोचसर्जजः ।।५६।।
दुर्गन्धे पिच्छिले क्लेदस्तम्भनश्चूर्ण इष्यते।
आरग्वधादिवर्गस्य कषायः परिषेचनम् ।।५७।।

व्याख्या—पलाश का गोन्द (कमरकस) धाय के फूल, जामुन की गिरी, मोचरस तथा राल का चूर्ण—योनि की दुर्गन्ध में, पिच्छिलता में तथा आर्द्रता में बुरकने से उक्त स्रावों को रोकता है। और उक्त प्रकार के दुर्गन्ध आदि में आरग्वधादि गण (सू. अ. १५) का क्वाथ—परिषेचन-प्रक्षालन में प्रयुक्त किया जाता है ।।५६-५७।।

अन्यान्य उपचार—

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम्।
धारणं वेसवारस्य कृशरापायसस्य च ।।५८।।
दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तैलं वा कल्क मेव वा।
चूर्णो वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणः ।। ५९ ।।
श्लेष्मलानां कटुप्रायाः समूत्रा बस्तयो हिताः।
पित्ते समधुकक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः ।। ६० ।।
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम्।

व्याख्या—योनि की स्तब्धता में तथा कर्कशता (खरता) में योनि को मृदु करने के लिये—वेशवार (मांस की लुगदी) अथवा खिचड़ी अथवा खीर-खोया को भग में धारण करना चाहिये। भग की दुर्गन्ध में—यथा लाभ सुगन्धी द्रव्यों के क्वाथ से प्रक्षालन करे, उनसे सिद्ध तैलों का अभ्यङ्ग करे तथा पिचु धारण करे, उनके कल्क को भग में भरे अथवा उनके चूर्ण का अवचूर्णन करे। इस प्रकार भग की दुर्गन्ध का विनाश हो जाता है। कफ प्रधान योनि व्यापदों में—कटुरस के क्वाथों तथा गोमूत्र आदि मूत्रों की वस्तियाँ तथा उत्तर बस्तियाँ देवे। पित्त प्रधान योनि व्यापदों में—मुलेठी के क्वाथ-हिम तथा शीतल गोदुग्ध की वस्तियाँ एवं उत्तर बस्तियाँ देवे। वात प्रधान योनि व्यापदों में—तैल एवं आमला आदि अथवा काञ्जी आदि की वस्तियाँ एवं उत्तर वस्तियाँ देवे। सन्निपात प्रधान योनि व्यापदों में—उक्त सब उपचार मिलाजुला कर करना चाहिये। सम्भव है कुछ लाभ होता रहे ।। ५८-६० ।।

उपसंहार—

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः ।।६१।।

अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति।

व्याख्या – उक्त प्रकार की चिकित्सा द्वारा योनि की शुद्धि हो जाने पर स्त्रियाँ गर्भाधान को प्राप्त कर लेती हैं परंतु तब जब कि नर का शुक्र दोष रहित हो, स्वाभाविक गुण सम्पन्न हो तथा शुक्र शोणित के संयोग में जीव का उपक्रमण हो जाय ।। ६१ ।।

शुक्रदोष चिकित्सा संकेत—

पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ।।६२।।
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ।

व्याख्या—इस लिये—पुमान् के शुक्र की वर्णों तथा वातादि दोषों के लक्षणों से परीक्षा करे यदि वह दुष्ट—दूषित हो तो पुमान् को वमन विरेचनादि पञ्च कर्म से शुद्ध करके दोष शामक उपायों द्वारा शुक्र शोधन करे ।।

वक्तव्य—देखिये शा. अ. १ में शुक्र एवं शोणित की दुष्टि के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा ।।६२।।

मञ्जिष्ठादि योग—फल घृत –

फलसर्पिः ।

मञ्जिष्ठाकुष्ठतगर-त्रिफलाशर्करावचाः ।। ६३ ।।
द्वे निशे मधुकं मेदा दीप्यकः कटुरोहिणी ।
पयस्या-हिंगु-काकोली-वाजिगन्धा-शतावरीः ।।६४।।
पिष्ट्वाक्षांशैर्घृतप्रस्थं पचेत्क्षीरचतुर्गुणम् ।
योनिशुक्रप्रदोषेषु तत्सर्वेषु च शस्यते ।।६५।।
आयुष्यं पौष्टिकं मेध्यं धन्यं पुंसवनं परम् ।
फलसर्पिरिति ख्यातं पुष्ये पीतं फलाय यत् ।। ६६ ।।
म्रियमाणप्रजानां च गर्भिणीनां च पूजितम् ।
एतत्परं च बालानां ग्रहघ्नं देहवर्धमम् ।।६७।।

व्याख्या—मञ्जीठ, कुठ, तगर, हरड़, बहेड़ा, आमला, खण्ड, बालवच, हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी, मेदा, अजवायन, कुटकी, क्षीर विदारी कन्द, हींग, काकोली, असगन्ध तथा शतावर १-१ कर्ष लेकर कल्क बनावे, गोघृत १ प्रस्थ, गोदुग्ध ४ प्रस्थ मिलाकर पाक करे। यह घृत-योनि तथा शुक्र के विकारों में प्रशस्त है, आयुः, पुष्टि, मेधा तथा धन को बढ़ाता है और उत्तम कोटिका पुंसवन है। इसका नाम फल घृत है क्योंकि पुष्य नक्षत्र में इसका पान प्रारम्भ करने से फल प्राप्ति होती है। जिन की सन्तान मर जाती है उन गर्भवतियों के लिये लाभ दायक है अर्थात् पुत्रघ्नी व्यापद् को यह घृत शान्त करता है। और यह घृत - बालकों के ग्रह दोषों को नष्ट करता है तथा उनके शरीर को पुष्ट करता है ।।

वक्तव्य—जब भग समेत गर्भाशय योनि व्यापदों से मुक्त, शोणित रजोदोषों से मुक्त तथा शुक्र शुक्रदोषों से मुक्त होता है और ऋतु काल में नरनारी का संयोग होने पर जीव का उपक्रमण होता है तभी गर्भाधान होता है अतः यदि गर्भाधान न हो रहा हो तो उक्त विषयों पर ध्यान देना चाहिये जिसमें दोष हो उसकी उचित चिकित्सा करनी चाहिये। भगवान् धन्वन्तरि का कथन है—

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्यात् गर्भः स्यात् विधिपूर्वकम् ।
ऋतु क्षेत्राऽम्बु बीजानां सामग्र्यात् अंकुरो यथा ।। ३२ ।।

अर्थात्—जैसे ऋतु, खेत, जल एवं बीज के सद्गुण सम्पन्न होने पर अंकुर फलवान् होता है वैसे ही ऋतु—गर्भाधान का काल (रजः स्नान से १२ रात्रि पर्यन्त); क्षेत्र-गर्भाशय, अम्बु—शोणित तथा बीज-शुक्र के सद्गुण सम्पन्न होने पर विधि पूर्वक गर्भाधान हो जाता है। सु. शा. अ. २। भगवान् पुनर्वसु का कथन है कि—च. चि. अ. २

चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यत् उच्यते ।।४६ ।।

अर्थात्—शुक्र ही ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति शील विश्व धारण शील जीव का रूपवान् द्रव्य है। यद्यपि जीव का दर्शन नहीं हो सकता पर शुक्र ही उसका रूप है । अतः शुक्र को "बीज" गर्भ का बीज कहते हैं। वैदिक ऋषि के शब्दों में—गोत्रं नो वर्द्धताम् अर्थात् हमारा वंश बढ़ता रहे। कह कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

पंचत्रिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो विषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब विष का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

इसका वर्णन च. चि. अ. २३, सु० क. अ. २ तथा अ. सं उ. अ. ४० में देखिये। इन ४ अध्यायों में अगदतन्त्र का वर्णन किया जायगा। श्री वाग्भट ने अगदतन्त्र (विष-विषयक शास्त्र) को सू. अ. १ में आयुर्वेद के आठ अंगों का निर्देश करते समय "दंष्ट्रा अङ्ग" कहा है।

विष की प्रागुत्पत्ति का वर्णन—

मथ्यमाने जलनिधावमृतार्थं सुरासुरैः ।
जातः प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ।। १ ।।
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरित्केशोऽनलेक्षणः ।
जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनाऽसौ विषसंज्ञितः ।। २ ।।
हुङ्कृतो ब्रह्मणा मूर्तौ ततः स्थावरजङ्गमे ।
सोऽध्यतिष्ठन्निजं रूपमुज्झित्वा वञ्चनात्मकम् ।। ३ ।।

व्याख्या—कहा जाता है कि पूर्वकाल में देवगण एवं असुरगण अमृत प्राप्ति के लिये समुद्र का मन्थन करने

लगे, उस समय समुद्र में से अमृत के पूर्व महातेजस्वी, चार दन्तों वाला, वानर के से रोमों—केशोंवाला तथा अग्नि के से नेत्रों वाला अत्यन्त भयावना पुरुष प्रादुर्भूत हुआ। उसे देख कर समस्त संसार विषण्ण-अवसन्न-खिन्न हो गया इस लिये उसका नाम "विष" हो गया। तत्पश्चात् ब्रह्मा द्वारा हुंकृत—तिरस्कृत होने पर वह अपने वज्रनात्मक रूप को त्याग कर संसार की स्थावर एवं जंगम मूर्तियों में अधिष्ठित हो गया—व्याप्त हो गया।

वक्तव्य—यह पाठ चरक संहिता से उद्धृत है इससे नीचे—

जङ्गमस्थावरायां तत् योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत्।
तदम्बु सम्भवं तस्मात् द्विविधं पावकोपमम्॥ ६॥

अर्थात्—ब्रह्मा ने उसे सर्प आदि जङ्गम योनि में तथा वत्सनाभ आदि स्थावर योनि में नियुक्त-स्थापित कर दिया और वह अग्नि कासा विष एक ही जल से उत्पन्न होता है परन्तु उक्त दो योनियों में पाया जाने के कारण दो प्रकार का माना जाता है॥१-३॥

विष के भेद—

स्थिरसत्युलवणं वीर्यें यत्कन्देषु प्रतिष्ठितम्।
कालकूटेन्द्रवत्साख्यशृङ्गीहालाहलादिकम्॥ ४॥
सर्पलूतादिदंष्ट्रासु दारुणं जङ्गमं विषम्।
स्थावरं, जङ्गमं, चेति विषं प्रोक्तमकृत्रिमम्॥ ५॥
कृत्रिमं गरसंज्ञं, तु क्रियते विविधौषधैः।
हन्ति योगवशेनाशु चिराच्चिरतराच्च तत्॥ ६॥
शोफपाण्डूदरोन्माद-दुर्नामादीन् करोति च।

व्याख्या—स्थावर एवं जंगम भेद से विष दो प्रकार का होता है। कन्दों में पाया जाने वाला स्थावर विष-अत्यधिक शक्तिमान् होता है और कन्द विष कालकूट, इन्द्रायुध, वत्सनाभ (वच्छनाग), शृङ्गी (सिंगिया) तथा हलाहल आदि नाम वाले होते हैं। सर्प एवं लूता आदि की दंष्ट्राओं में पाया जाने वाला दारुण विष "जङ्गम" कहलाता है। इस प्रकार स्थावर एवं जङ्गम विष अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक होते हैं इनको मानव के हाथ नहीं बना सकते। और इनके अतिरिक्त एक कृत्रिम (बनावटी) विष होता है जो अनेक प्रकार के औषध-द्रव्यों के संयोग से बनाया जाता है उसका नाम 'गर' है। वह विष-संयोगानुसार शीघ्र मार डालता है अथवा चिरकाल से अथवा अधिक चिरकाल से मार डालता है और मन्द संयोग होने से नहीं मारता तो शोथ पाण्डुरोग, उदररोग, उन्माद अथवा अर्श आदि रोगों को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि तीक्ष्ण विष अधिक मात्रा (घातक मात्रा) में शीघ्र मार डालता है और मन्द विष अथवा अल्पमात्रा में विलम्ब से मारता है अथवा रोगों को उत्पन्न कर देता है। देखिये दूषीविष का वर्णन २५-२७ में। स्थावर विष तो स्वभावतः विष होते हैं परन्तु कुछ द्रव्य विष नहीं होते तथापि संयोग के वश विष हो जाते हैं देखिये सू. अ. ७। वहाँ ये संयोग "विरोधी" कहे गये हैं। विषादजनक द्रव्य "विष" कहलाता है अतः कोई एकाकी द्रव्य और कोई संयोगी पदार्थ विषाद जनक होने के कारण 'विष' कहलाता है॥४-६॥

विष के गुण—

तीक्ष्णोष्णरूक्षविशदं व्यवाय्याशुकरं लघु॥ ७॥
विकाषि(शि)सूक्ष्ममव्यक्तरसं विषमपाकि च।

व्याख्या—विष (पदार्थ) तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, विशद, व्यवायी, आशुकारी; लघु, विकाशी, सूक्ष्म, अव्यक्त रस (अनिर्देश्यरस) तथा अपाकी (पाक द्वारा अपरिवर्त्तन शील) होता है॥ ७॥

विष का मारकत्व—

ओजसो विपरीतं तत् तीक्ष्णाद्यैरन्वितं गुणैः॥ ८॥
वातपित्तोत्तरं नृणां सद्यो हरति जीवितम्।

व्याख्या—वह विष तीक्ष्ण आदि गुणों से युक्त होने से वातपित्तप्रधान होता है और वह जीवन हेतु रस धात्वात्मक ओजस् से विपरीत-विरुद्ध होता है अतः वह प्राणी के जीवन को शीघ्र अथवा विलम्ब से हर लेता है।

वक्तव्य—रसात्मकं वहन्ति ओजः तन्निबद्धं हि चेष्टितम्। शा. अ. ३ श्लोक १८। रस ही ओजस् कहलाता है और वह जीवन का नाशक है क्योंकि विष में जो गुण हैं वे ओजस् के गुणों को नष्ट कर देते हैं तब मृत्यु हो जाती है॥८॥

विष द्वारा मृत्यु

विषं हि देहं संप्राप्य प्राग् दूषयति शोणितम्॥ ९॥
कफपित्तानिलांश्चानु समं दोषान् सहाशयान्।
ततो हृदयमास्थाय देहोच्छेदाय कल्पते॥ १०॥
स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे पूर्वे प्रजायते।

व्याख्या—विष शरीर में प्रविष्ट होकर सर्व प्रथम रक्त को दूषित करता है और तत्काल-साथ ही साथ-आशयों समेत कफ, एवं वायु को दूषित कर देता है तदनन्तर-हृदय (ओजस् एवं चेतना स्थान हृदय) में आकर-अपना स्थान बना कर शरीर के विनाश-मृत्यु का कारण बन जाता है॥

वक्तव्य—खाया हुआ विष-आहार रस के साथ २ रक्त में मिल जाता है और सर्प आदि के दंश द्वारा प्रथमतः ही विष रक्त में मिल जाता है और रक्त विष से दूषित करके हृदय को भी प्रभावित कर देता है फलतः मृत्यु हो

जाती है अथवा मृत्यु के पूर्व रूप मद आदि होने पर उचित उपचार होने अथवा विष के गुणों की मन्दता रहने से प्राण बच जाते हैं ।.९-१०॥

स्थावर विष के सात वेग—

जिह्वायाः श्यावता स्तम्भो मूर्च्छा त्रासः क्लमो वमिः॥११॥
द्वितीये वेपथुः स्वेदो दाहः कण्ठे च वेदना ।
विषं चामाशयं प्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम् ॥ १२ ॥
तालुशोषस्तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम् ।
दुर्बले हरिते शूने जायेते चास्य लोचने ॥ १३ ॥
पक्वाशयगते तोदहिध्माकासान्त्रकूजनम् ।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम् ॥ १४ ॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे ।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना ॥ १५ ॥
षष्ठे संज्ञाप्रणाशश्च सुभृशं चाऽतिसार्यते ।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गो भवेन्मृत्युश्च सप्तमे ॥ १६ ॥

व्याख्या—स्थावर विष का उपयोग करने पर-होने पर प्रथम वेग में जीभ पर साँवला पन, स्तब्धता, मूर्च्छा अथवा त्रास (उद्वेग-घबराहट), क्लम (मनोग्लानि) तथा छर्दि—उलटी नामक लक्षण होते हैं। दूसरे वेग में—कम्पन, स्वेद (पसीना), दाह तथा कण्ठ में वेदना होती हैं और जब विष आमाशय में पहुँच जाता है तब हृदय में वेदना होने लगती है। तीसरे वेग में—तालु सूखता है (तृषा लगती है)। आमाशय में शूल होता है और नेत्र-दृष्टि दुर्बल हो जाती है, नेत्र गोलक हरे तथा शोथ युक्त हो जाते हैं। और यदि विष पक्वाशय में पहुँच गया होता है तो व्यथा, हिक्का, कास तथा अन्त्र कूजन होता है। चौथे वेग में—शिर में भारीपन की प्रतीति होती है। पाञ्चवें वेग में—कफ का प्रसेक—लाला स्राव, शरीर वर्ण में विकृति, पर्वों में भेदन कीसी वेदना, वायु आदि सब दोषों का प्रकोप तथा मलाशय में वेदना होने लगती है। छटे वेग में—संज्ञा का नाश हो जाता है तथा अत्यन्त अधिक अतिसार होने लगते हैं। और सातवें वेग में—स्कन्ध (कन्धे), पीठ तथा कटि का भंग हो जाता है—रोगी चेष्टा हीन हो जाता है और मृत्यु हो जाती है ॥ ११-१६ ॥

विष चिकित्सा—

प्रथमे विषवेगे तु वान्तं शीताम्बुसेचितम् ।
सर्पिर्मधुभ्यां संयुक्तमगदं पाययेद् द्रुतम् ॥ १७ ॥
द्वितीये पूर्ववद्वान्तं विरिक्तं चाऽनु पाययेत् ।
तृतीयेऽगदपानं तु हितं नस्यं तथाञ्जनम् ॥ १८ ॥
चतुर्थे स्नेहसंयुक्तमगदं प्रतियोजयेत् ।
पञ्चमे मधुककाथमाक्षिकाभ्यां युतं हितम् ॥ १९ ॥
षष्ठेतिसारवत्सिद्धिः अवपीडस्तु सप्तमे ।
मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत् ॥ २० ॥

व्याख्या—विष के प्रथम वेग में—तत्काल वमन देकर शीतल जल का सेचन करे और घृत एवं मधु में मिला कर किसी अगद (विष नाशक औषध) का पान करा देवे। इस प्रकार विष विकार शान्त हो जाता है। दूसरे वेग में—तत्काल वमन तथा विरेचन करा कर प्रथम वेग के समान उपचार करे—शीतल जल का सेचन करके घृत मधु में मिला कर किसी अगद का पान करा देवे। इस प्रकार विष विकार शान्त हो जाता है। तीसरे वेग में—वमन विरेचन करा कर अगद का पान करावे और नस्य तथा अञ्जन का प्रयोग करे। चौथे वेग में—किसी अगद को घृत में मिला कर प्रयुक्त करे। पाञ्चवें वेग में—मुलेठी के क्वाथ एवं मधु में मिला कर अगद का प्रयोग करे। छटे वेग में—अतिसार के समान चिकित्सा करे और साथ २ विषनाशक उपचार करे और सातवें वेग में—अवपीड नस्य देवे और शिर पर (जहाँ ब्रह्म रन्ध्र होता है वहाँ) शस्त्र द्वारा काकपद के समान पच्छ लगा कर रक्त युक्त मांस अर्थात् सद्यस्क मांस रख देवे और बार २ बदलता रहे। इस प्रकार विष के विकार शान्त हो जाते हैं क्योंकि विष उस मांस में आ जाता है ॥ १७-२० ॥

विष नाशक यवागू—

कोशातक्यग्निकाः पाठा सूर्यवल्ल्यमृताभयाः ।
शेलुः शिरीषः किणिही हरिद्रे क्षौद्रसाह्वया ॥ २१ ॥
पुनर्नवे त्रिकटुकं बृहत्यौ सारिवे बला ।
एषां यवागूं निर्यूहे शीतां सघृतमाक्षिकाम् ॥ २२ ॥
युञ्ज्याद्वेगान्तरे सर्वविषघ्नीं कृतकर्मणः ।
तद्वन्मधूक मधुक-पद्म-केसर चन्दनैः ॥ २३ ॥

व्याख्या—उक्त प्रकार की चिकित्सा करते हुए वेग के मध्य काल में—निम्न लिखित यवागू का प्रयोग करे—यथा—कोशातकी के फल, चित्त, पाठा, सूर्यवल्ली (हुल हुल), गिलोय, हरड़, लिसोड़ा के फल अथवा छाल, सिरस के बीज, अपामार्ग की जड़, हल्दी, दारुहल्दी की छाल, क्षौद्रसाह्वया (बटपत्री), लाल पुनर्नवा, श्वेत पुनर्नवा, सोंठ, मरिच, पीपल, कण्टकारी की जड़, वनभण्टा की जड़, सारिवा, कृष्ण सारिवा तथा बला को जल में पकावे और उस क्वाथ में यवागू बनावे और शीत होने पर उसमें घृत तथा मधु मिलाकर वेगों के बीच २ जब रोगी स्वस्थता का अनुभव करे पिलावे और अथवा—महुवा के फूल, मुलेठी, कमल केसर तथा लाल चन्दन के क्वाथ में बनाई गई यवागू

का पूर्ववत् पान करावे। इनका पान तब करावे जब उक्त वेग नाशक उपचार किये जा रहे हों। यह सब प्रकार के विष का नाश करती हैं ॥ २२ ॥

वक्तव्य—यह पाठ सु. क. अ. ३ से उद्धृत किया गया है। श्री अष्टाङ्ग संग्रह कार द्वार क्षौद्रसाह्वया पाठ परिवर्तित किया गया है और श्री अरुण दत्त ने सर्वाङ्ग सुन्दरा में इस का अर्थ "वट माक्षिक" किया है। और सुश्रुत में "गिर्याह्वा" पाठ है और उसका अर्थ श्रीडल्लन ने श्वेतस्पन्द किया है। हमारा विचार है कि विष की शान्ति हो जाने पर यवागू का पान करना चाहिये ॥ २१-२३ ॥

चन्द्रोदय नामक अगद—

चन्द्रोदयनामाऽगदः।

अञ्जनं तगरं कुष्ठं हरितालं मनःशिला।
फलिनी त्रिकटुस्पृक्का नागपुष्पं सकेसरम् ॥ २४ ॥
हरेणु मधुकं मांसी रोचना कालमल्लिका।
श्रीवेष्टकं सर्जरसः शताह्वा कुंकुमं बला ॥ २५ ॥
तमालपत्रं तालीसं भूर्जोशीरे निशाद्वयम्।
कन्योपवासिनी स्नाता शुक्लवासा मधुद्रुतैः ॥ २६ ॥
द्विजानभ्यर्च्य तैः पुष्ये कल्पयेदगदोत्तमम्।
वैद्यश्चात्र तदा मन्त्रं प्रयतात्मा पठेदिमम् ॥ २७ ॥
नमः पुरुषसिंहाय नमो नारायणाय च।
अथासौ नाभिजानाति रणे कृष्णपराजयम् ॥ २८ ॥
एतेन सत्यवाक्येन अगदो मे प्रसिद्ध्यतु।
नमो वैडूर्यमाते हुलुहुलु रक्ष मां सर्वविषेभ्यः ॥ ९ ॥
गौरि गन्धारि चाण्डालि मातङ्गि स्वाहा।
पिष्टे च द्वितीयो मन्त्रः ओं हरिमायि स्वाहा ॥ ३० ॥
अशेषविषवेताल-ग्रहकार्मणपाप्मसु।
मरकव्याधिदुर्भिक्ष-युद्धाशनिभयेषु च ॥ ३१ ॥
पाननस्याञ्जनालेप-मणिबन्धादियोजितः।
एष चन्द्रोदयो नाम शान्तिः स्वस्त्ययनं परम् ॥३२॥

व्याख्या—काला सुरमा, तगर, कूठ, हरिताल, मैनशिल, प्रियंगू, त्रिकटु, असवर्ग, नाग केसर के केसर युक्त पुष्प, हरेण, मुलेठी, जटामांसी, गोरोचन, काकनासा, गन्धाबिरोजा, राल, सोया, केशर, बलामुल, तमाल के कोमल पत्र, तालीसपत्र, भोजपत्र, खस, हल्दी तथा दारु हलदी की छाल नामक द्रव्यों को समान भाग लेकर उपवास (भूखे पेट) एवं स्नान करके तथा श्वेत वस्त्र पहिन कर कुमारी लड़की, पुष्य नक्षत्र में, ब्राह्मणों की अर्चना (पूजा-सत्कार) करके, मधु मिलाकर अगद बनावे और उस समय वैद्य वहाँ बैठ कर तथा मनोयोग के साथ निम्न लिखित मन्त्र का जप करे और मन्त्र है—नमः पुरुष⋯⋯मातङ्गि स्वाहा। और जब सब द्रव्य पिस जायँ तब दूसरे मन्त्र का जप करे वह मन्त्र है "ओं हरिमायि स्वाहा"। इस प्रकार इस अगद को बना कर रख लेवे जब आवश्यकता हो तब—सब प्रकार के विष विकारों में, वेताल आदि के भूतवेशों में, बालग्रह की बाधाओं में, विविध प्रकार के कार्मणों—में, मरक—महामारी—जनपदोध्वंस की व्याधियों में, दुर्भिक्ष—दुष्काल—अकाल पड़ने से युद्ध में तथा विद्युत्, विजली आदि के भय में इस अगद का प्रयोग—पान में, नस्य में, अञ्जन में, लेप में तथा मणि बन्ध कण्ठी-कण्डा आदि) के रूप में करे। यह चन्द्रोदय नामक अगद उच्चकोटि का शान्ति कारक एवं कल्याण कारी है।

वक्तव्य—यह पाठ अष्टांग संग्रह से उत्धृत है और वहाँ स्वस्त्ययनं परं पाठ के नीचे निम्न पाठ है यथा—

वासवो वृत्रमवधीत् समालिप्तोऽमुना किल।

अर्थात्—इस अगद का लेप अपने शरीर पर करके इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था। किसी-२ मूल ग्रन्थ में भी यह पाठ पाया जाता है ॥ २४-३२ ॥

दूषीविष का वर्णन—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा।
स्वभावतो वा न गुणैः सुयुक्तं दूषीविषाख्यां विषमभ्युपेति॥
वीर्याल्पभावादविभाव्यमेतत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि।
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो दुष्टास्ररोगी तृडरोचकार्तः ॥३४॥
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विमुह्यन् भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः।
आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी-
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षः स यथा विहङ्गः।
स्थितं रसादिष्वथवा विचित्रान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान् ॥ ३६ ॥
प्राग्वाताऽजीर्णशीताऽभ्र-दिवास्वप्नाऽहिताशनैः।
दुष्टं दूषयते धातूनतो दूषीविषं स्मृतम् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—कोई विष-पुराना होने पर, विषनाशक औषधियों के संयोग से हीन वीर्य हो जाने पर वनाग्नि-दावानल द्वारा झुलसा जाने पर, वायु अथवा धूप के द्वारा अत्यन्त सूख जाने पर अथवा स्वभावतः अपने तीक्ष्ण एवं उष्ण आदि गुणों से हीन रहने पर "दूषीविष" कहलाता है। इस प्रकार वह विष-अपनी शक्ति के स्वल्प होने के कारण—अलक्ष्य रहता है अर्थात् मारता नहीं है तथा अपने उग्र लक्षण उत्पन्न नहीं करता परन्तु कफ के द्वारा आवृत होकर वर्षों शरीर में व्याप्त बना रहता है और इसीलिये दूषीविष से पीडित रोगी का पुरीष पतला होता है, कान्ति बिगड़ जाती है, रक्त में विकृति आ जाती है, तृषा एवं अरुचि बनी रहती है, कभी-२ मूर्छा का वेग

होता है और वमन हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है—वाणी हकलाने लगती है; मोह होता रहता है और दूष्योदर के (नि. अ. १२) के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। और यदि विष का प्रभाव आमाशय पर होता है तो कफ एवं वायु के विकार उत्पन्न होते हैं और यदि पक्वाशय (अन्त्र एवं मलाशय) पर प्रभाव होता है तो वायु एवं पित्त के लक्षण—विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस दशा में रोगी की वैसी दशा हो जाती है जैसी पंख उखड़ जाने पर पक्षी की दशा हो जाती है क्योंकि उस दशा में रोगी के केश एवं रोम उखड़ जाते हैं और अङ्ग प्रत्यङ्ग शिथिल हो जाते हैं। और जब विष का प्रभाव रस एवं रक्त आदि धातुओं पर, होता है तब रसादि धातु गत अनेक प्रकार के विचित्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार का विष—पूर्व दिशा की वायु चलने पर, अजीर्ण होने पर, शीत पड़ते पर, मेघ उमड़ने दिन में सोने पर अथवा अहित आहार करने पर अधिक दुष्ट होकर रसादि धातुओं को दूषित करता है इस लिये इस विष का नाम "दूषी-विष" है ॥

वक्तव्य—इस पाठ के पूर्व सु. क. अ. २ में यह पाठ है यथा—

यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहात् अशेषं यत् अनिर्गतं तत्।

अर्थात्—जो स्थावर विष, जङ्गम विष अथवा गरविष शरीरसे पूर्ण रूपसे नहीं निकली अथवा नहीं निकाली जा सकी वह तथा उक्त जीर्ण आदि हीन विष दूषी विष कहलाती है। और इस पाठ के श्लोक २९ के अन्त का पाठ है यथा—

कोपं च शीतानिल दुर्दिनेषु यात्याऽऽशु पूर्वं शृणु तस्य रूपम्॥
निद्रां गुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षौ अथवाऽङ्गमर्दम्।
ततः करोति अन्नमदाविपाकौ अरोचकं मण्डलकोठमोहान् ॥
धातुक्षयं पादकरास्यशोफं दकोदरं छर्दिमथाऽतिसारम् ।
वैवर्ण्य मूर्छा विषम ज्वरान् वा कुर्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां व.॥
उन्मादमन्यत् जनयेत् तथान्यत् आनाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम्।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तान् तान् विकारांश्च बहुप्रकारान्॥

अर्थात्—वह दूषी विष—शीतकाल में, वायु चलने पर तथा मेघ उड़ने पर अधिक—विशेष रूप से कोप को प्राप्त होता है—उग्र रूप धारण करता है। उस समय उसके लक्षण ये होते हैं—निद्रा अधिक आती है, शरीर में भारीपन का अनुभव होता है, जम्भाइयाँ आने लगती हैं, शिथिलता तथा रोमाञ्च अथवा अङ्गमर्द होता हैं. अन्नमद—भोजन के पश्चात् भाँग कासा मद होता है, अपच, अरुचि, मण्डल एवं कोठों की उत्पत्ति, मोह, धातुक्षय पावों, हाथों तथा मुखपर शोथ हो जाता है. जलोदर, छर्दि रोग अथवा अतिसार होता है, कान्ति की विकृति, मूर्छा, विषम ज्वर अथवा प्रबल तृषा होती है। धतूर आदि कोई विष उन्माद को, अफीम आदि कोई विष आनाह को, कोई विष शुक्र क्षय को (भाँग आदि), कोई विष (शराब आदि) गद्गदता को, कोई विष (पारद आदि) कुष्ठ को और कोई विष—उस प्रकार के अनेक रोगों को उत्पन्न कर देता है ।३३-३७।

दूषी विष की चिकित्सा—

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्ध्वं चाधश्च शोधितम्।
दूषीविषारिमगदं लेहयेन्मधुना प्लुतम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—दूषी विष के विकारों में—स्वेदन करे और वमन एवं विरेचन का प्रयोग करे और फिर निम्नलिखित दूषीविषारि नामक अगद को मधु में मिला कर चटाते रहना चाहिये ॥ ३८ ॥

दूषीविषारि अगद—

पिप्पल्ली ध्यामकं मांसी रोध्रमेला सुवर्चिका।
कुटन्नटं नतं कुष्ठं यष्टी चन्दनगैरिकम् ॥ ३९ ॥
दूषीविषारिर्नाम्नाऽयं न चाऽन्यत्राऽपि वार्यते।

व्याख्या—पीपल, सुगन्धि तृण, जटामांसी, लोध, बड़ी इलायची, हुलहुल के बीज, सुगन्धी मोथा, तगर, सुगन्धी कूठ, मुलेठी, लालचन्दन तथा सोना गेरू को समान भाग लेकर चूर्ण बनावे और मधु के साथ चाटना चाहिये। यह दूषी विष को नष्ट करता है और स्थावर एवं जंगम विष के विकारों में भी लाभ करता है। इसका नाम "दूषी विषारि" है ॥ ३९ ॥

विषदिग्ध विद्ध का वर्णन—

विषदिग्धेन विद्धस्तु प्रताम्यति मुहुर्मुहुः ॥ ४० ॥
विवर्णभावं भजते विषादं चाशु गच्छति।
कीटैरिवावृतं चास्य गात्रं चिमिचिमायते ॥ ४१ ॥
श्रोणिपृष्ठशिरःस्कन्धसन्धयः स्युः सवेदनाः।
कृष्णदुष्टास्रविस्रावी तृण्मूर्च्छाज्वरदाहवान् ॥ ४२ ॥
दृष्टिकालुष्यवमथु-श्वासकासकरः क्षणात्।
आरक्तपीतपर्यन्तः श्यावमध्योऽतिरुग्व्रणः ॥ ४३ ॥
शूयते पच्यते सद्यो गत्वा मांसं च कृष्णताम्।
प्रक्लिन्नं शीर्यतेऽभीक्ष्णं सपिच्छिलपरिस्रवम् ॥४४॥

व्याख्या—विष में बुझाये गये शर आदि से विद्ध रोगी बार-बार मूर्छित—संज्ञाहीन होता है, कान्तिहीन एवं विषण्ण-खिन्न होता है और चिउँटियों से आवृत के समान उसका शरीर चुनचुनाता है और कटी, पीठ, शिर, कन्धों तथा सन्धियों में वेदना होती है और विद्ध व्रण में से काला एवं दूषित रक्त निकलता है तथा तृषा, मूर्छा, ज्वर तथा दाह होता है, नेत्र मलिन हो जाते हैं क्षण-क्षण पर छर्दि, श्वास तथा कास के वेग होते हैं, विद्ध व्रण—सब ओर से लाल एवं पीला हो जाता है और मध्य में

साँवला होता है, तथा उसमें अत्यन्त वेदना होती है और शोथयुक्त होकर व्रण शीघ्र पक जाता है और मांस काला होकर एवं सड़ कर फटने लगता है और निरन्तर पिच्छिल स्राव-पन्छा बहता है।

वक्तव्य—शत्रुजन तीर-तलवार आदि को विष के द्रव में बुझा लेते हैं अथवा विषों का लेप करके उनको विषैला बना रखते हैं और समय पर उनका प्रहार करते हैं। उन शस्त्रों से आहत शत्रु यदि तत्काल नहीं भी मरता तो उक्त प्रकार से घुल २ कर मर जाता है अथवा दीर्घकाल पर्यन्त कष्ट भोगता है। उक्त प्रकार के अस्त्र-शस्त्र 'दिग्ध' कहे जाते हैं ॥४०-४४॥

दिग्ध विद्ध की चिकित्सा—

कुर्यादमर्मविद्धस्य हृदयावरणं द्रुतम्।
शल्यमाकृष्य तप्तेन लोहेनानु दहेद् व्रणम् ॥ ४५ ॥
अथवा मुष्ककश्वेता-सोमत्वक्ताम्रवल्लितः।
शिरीषाद् गृध्रनख्याश्च क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥ ४६ ॥
शुकनासाप्रतिविषाव्याघ्रीमूलैश्च लेपयेत्।
कीटदष्टचिकित्सां च कुर्यात्तस्य यथार्हत. ॥ ४७ ॥
व्रणे तु पूतिपिशिते क्रिया पित्तविसर्पवत्।

व्याख्या—हृदय आदि मर्म में विद्ध तो मर ही जाता है परन्तु अन्यान्य अवयव में विद्ध मानव के हृदय की रक्षा तत्काल करनी चाहिये। और शल्य को निकाल कर, व्रण को अग्नि से प्रतप्त लोह के द्वारा जला देवे जिससे विष का प्रभाव नष्ट हो जाय फलतः शरीर में व्याप्त न होने पावे। अथवा—मोरवा नामक क्षार वृक्ष, श्वेता अपराजिता, कायफल की छाल, मञ्जीठ, सिरस वृक्ष के कोष्ठ तथा नख नामक गन्ध द्रव्य के क्षार का प्रतिसारण करके जला देवे। और सोनापाठा की छाल, अतीस तथा कण्टकारी की जड़ का लेप करे। और अध्याय ३७ के अनुसार कीट दष्ट के समान अवस्थानुसार उपचार करे। और यदि व्रण का मांस सड़ रहा हो तो पित्तज विसर्प के समान (चि. अ. १८) चिकित्सा करे॥

वक्तव्य—हृदयावरण—हृदय संरक्षण—च. चि. अ. २३ में इसका वर्णन इस प्रकार है—

आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्याऽऽवरणं पिबेत् यथा लाभम्।
मधुसर्पिर्मज्जपयो गैरिकमथ गोमयरस वा ॥ ४६ ॥
इक्षुं सुपक्वं अथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं वरणम्।
छागादीनां वाऽसृक्, भस्म मृदं वा पिबेत् आशु ॥४७॥

अर्थात्—विष विकारों में सर्व प्रथम हृदय का संरक्षण करना चाहिये और उसके संरक्षणार्थ—निम्नलिखित द्रव्यों का यथा लाभ पान करना चाहिये। यथा—मधु, घृत, मज्जा दूध तथा गेरू मिलाकर अथवा गौ के गोबर का रस अथवा परिपक्व ईख का रस अथवा काक पक्षी के मांस का स्वरस अथवा बकरा आदि प्राणी का रक्त, भस्म अथवा मिट्टी का घोल तत्काल पीना चाहिये। इनसे विष का प्रभाव हृदय पर नहीं होता फलतः अन्यान्य उपचारों से विष की शान्ति हो जाती है क्योंकि यदि जीवन सुरक्षित रहता है तो चिकित्सा करने का अवसर मिल जाता है।४५-४७।

गरविष का वर्णन—

सौभाग्यार्थं स्त्रियो भर्त्रे राज्ञे वाऽरातिचोदिताः ॥४८॥
गरमाहारसंपृक्तं यच्छन्त्यासन्नवर्तिनः।
नानाप्राण्यङ्गशमल-विरुद्धौषधिभस्मनाम् ॥४९॥
विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर-इति स्मृतः।
तेन पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निः कासश्वासज्वरार्दितः॥५०॥
वायुना प्रतिलोमेन स्वप्नचिन्तापरायणः।
महोदरयकृत्प्लीहो दीनवाग्दुर्बलोऽलसः ॥५१॥
शोफवान् सतताध्मातः शुष्कपादकरः क्षयी।
स्वप्ने गोमायुमार्जार-नकुलव्यालवानरान् ॥५२॥
प्रायः पश्यति शुष्कांश्च वनस्पतिजलाशयान्।
मन्यते कृष्णमात्मानं गारो गौरं च कालकः ॥५३॥
विकर्णनासानयनं पश्येत्तद्विहतेन्द्रियः।
एतैरन्यैश्च बहुभिः क्लिष्टो घोरैरुपद्रवैः ॥५४॥
गरार्तो नाशमाप्नोति कश्चित्सद्योऽचिकित्सितः।

व्याख्या—कभी २ नारियाँ अपने सौभाग्य की दुरभिलाषा से अपने पति को और कभी शत्रुओं द्वारा प्रेरित (बहकाई हुई) नारियाँ अथवा भृत्यजन राजा को आहार में मिला कर गर नामक विष देदेते हैं। गर का लक्षण—अनेक सर्प आदि प्राणियों के अङ्ग प्रत्यङ्ग तथा पुरीष, अनेक विरोधी द्रव्यों की भस्मों तथा हीन वीर्य विषों का योग "गर" कहलाता है। इस गर नामक विष से तत्काल मृत्यु तो नहीं होती परन्तु उसके कुप्रभाव से—मानव का शरीर पाण्डु तथा कृश हो जाता हैं, अग्नि मन्द हो जाती है, कास, श्वास एवं ज्वर होने लगता है और वायु प्रतिलोम हो जाने से—सर्वदा निद्रा एवं चिन्ता बनी रहती है, उदर, यकृत् एवं प्लीहा की वृद्धि हो जाती है रोगी-दुर्बल एवं आलसी हो जाता है, उसके शरीर पर शोथ आ जाता है, उदर में आध्मान बना रहता है, पाँव एवं हाथ सूख जाते हैं और क्षय के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। और सुपनों में वह प्रायः—सियारों, बिलावों, नेवलों, सर्प एवं व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं तथा वानरों को तथा सूखे वृक्षों एवं सूखे जलाशयों को देखता है और गोरा अपने को काला और काला अपने को गोरा समझता है और गरविष के प्रभाव से-कान, नासा एवं

नेत्रों से रहित देखता है एवं चक्षु आदि इन्द्रियाँ विकृत या दुर्बल हो जाती हैं। गरविष से पीडित रोगी—तत्काल उचित चिकित्सा न होने पर उल्लिखित तथा अन्यान्य अनेक घोर उपद्रवों द्वारा क्लेश पाकर कोई शीघ्र ही मर जाता है ॥ ४८-५४ ॥

गरविष की चिकित्सा

गरार्तो वान्तवान् भुक्त्वा तत्पथ्यं पानभोजनम् ॥५५॥
शुद्धहृच्छीलयेद्धेम सूत्रस्थानविधेः स्मरन्।
शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं चूर्णं ताप्यसुवर्णयोः ॥५६॥
लेहः प्रशमयत्युग्रं सर्वयोगकृतं विषम्।
मूर्वामृतानतकणा-पटोलीचव्यचित्रकान् ॥५७॥
वचामुस्तविडङ्गानि-तक्रकोष्णाम्बुमस्तुभिः।
पिबेद्रसेन वाम्लेन गरोपहतपावकः ॥ ५८ ॥
पारावतामिषशठी-पुष्कराह्वशृतं हिमम्।
गरतृष्णारुजाकास-श्वासहिध्माज्वरापहम् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—गरविष विकार में सर्व प्रथम वमन होना चाहिये तत्पश्चात् पथ्य—विषनाशक—विषोपद्रवानुसार पान एवं भोजन खिलाकर और हृदय की शुद्धि हो जाने पर—सू. अ. ७ की विधि से सुवर्ण का सेवन करावे। और—स्वर्ण माक्षिक तथा सुवर्ण का सूक्ष्म चूर्ण खण्ड एवं मधु में मिलाकर चाटने से, सब प्रकार के योगों से बनाई गई भीषण गर विष को शान्त करता है। गरविष के प्रभाव से उत्पन्न मन्दाग्निमें—मरोड़फली, गिलोय, तगर, पीपल, परवल की जड़, चव्य, चित्रामूल, वालवच, नागरमोथा तथा विडंग को पीस कर तक्र, कोष्ण जल, दही का पानी अथवा निंबू आदि के रस के साथ पीना चाहिये। कबूतर का मांस, कचूर तथा पोहकर मूल का क्वाथ शीतल करके पीने से—गर विकार, तृषा, वेदना, कास, श्वास, हिक्का तथा ज्वर का नाश हो जाता है।५५-५९।

साध्यासाध्य विवेक—

विषप्रकृतिकालान्न-दोषदूष्यादिसङ्गमे।
विषसङ्कटमुद्दिष्टं शतस्यैकोऽत्र जीवति ॥ ६० ॥

व्याख्या—उग्रविष, पित्त प्रकृति, ग्रीष्म एवं वर्षाकाल, सरसों आदि विषवर्द्धक आहार, वातपित्त दोष तथा रक्त आदि दूष्य का संगम—संयोग होने पर विष संकट कहलाता है। इस दशा में सौ में कोई एक रोगी जीवित रहता है ९९ की मृत्यु हो जाती है॥

वक्तव्य—विष संकट अर्थात् विष बाधा। इस दशा का नाम विष संकट है ॥६०॥

विष वर्द्धक आहार विहार—

क्षुत्तृष्ण.घर्मदौर्बल्य क्रोधशोकभयश्रमैः।
अजीर्णवर्चोद्रवतः पित्तमारुतवृद्धिभिः ॥ ६१ ॥
तिलपुष्पफल घ्राण-भूबाष्पघनगर्जितैः।
हस्तिमूषिकवादित्र-निःस्वनैर्विषसङ्कटैः ॥ ६२ ॥
पुरोवातोत्पलामोदमदनैर्वर्धते विषम्।

व्याख्या—भूख से, तृषा से, घाम से, दुर्बलता से, क्रोध से, शोक से, भय से, परिश्रम से, अजीर्ण से पुरीष की द्रवता से पित्त एवं वायु की वृद्धि से तिल के फूल एवं फल सूँघने से, भूमि की भाप (जैसे धूप के पश्चात् वर्षा पड़ने पर निकलती है) से, मेघ के गर्जन से, हाथी की चिंघाड़, मूषा की चिमचिम ध्वनि-शब्द तथा ढोल आदि वाद्य का शब्द सुनने से, श्लोक ६० में कहे गये विष संकट से, पूर्व दिशा की वायु चलने से, कमल की गन्ध से तथा काम वासना की वृद्धि से विष का प्रभाव बढ़ जाता है॥

वक्तव्य—अर्थात्—उक्त दशाओं में विष विकारों की वृद्धि हो जाती है—विष अपना प्रभाव अधिक उग्र दिखलाता है और विष संकट उत्पन्न हो जाता है ॥६१-६२॥

विषवृद्धि एवं विष ह्रास का विचार—

वर्षासु चाम्बुयोनित्वात्संक्लेदं गुडवद्गतम् ॥ ६३ ॥
विसर्पति घनापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च।
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये ॥ ६४ ॥

व्याख्या—जल से उत्पन्न होनेके कारण विष वर्षाकाल में गुड़ के समान पिघल कर फैलता है और वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर अगस्त्य तारे विष को नष्ट कर देता है इसलिये शरद् ऋतु आदि में विष हीनवीर्य हो जाता हैं॥

वक्तव्य—यही कारण है जिससे वर्षाकाल में सर्प दंशन आदि आदि की घटना अधिक होती हैं और भांग एवं सुरा आदि का मद तीव्र होता है ॥६३-६४॥

चिकित्सा संकेत—

इति प्रकृतिसात्म्यर्तु स्थानवेगबलाबलम्।
आलोच्य निपुणं बुद्ध्या कर्मानन्तरमाचरेत् ॥ ६५ ॥
श्लैष्मिकं वमनैरुष्ण-रूक्ष-तीक्ष्णैः प्रलेपनैः।
कषायकटुतिक्तैश्च भोजनैः शमयेद्विषम् ॥ ६६ ॥
पैत्तिकं स्रंसनैः सेकप्रदेहैर्भृशशीतलैः।
कषायतिक्तमधुरैर्घृतयुक्तैश्च भोजनैः ॥ ६७ ॥
वातात्मकं जयेत्स्वादु-स्निग्धाम्ललवणान्वितैः।
सघृतैर्भोजनैर्लेपैस्तथैव पिशिताशनैः ॥ ६८ ॥
नाघृतं स्रंसनं शस्तं प्रलेपो भोज्यमौषधम्।
सर्वेषु सर्वावस्थेषु विषेषु न घृतोपमम् ॥ ६९ ॥
विद्यते भेषजं किञ्चिद्विशेषात्प्रबलेऽनिले।
अयत्नाच्छ्लैष्मिकं साध्यं यत्नात्पित्ताशयाश्रयम्।
सुदुःसाध्यमसाध्यं वा वाताशयगतं विषम् ॥ ७० ॥

व्याख्या—इस प्रकार रोगी एवं विषों की प्रकृति

(मृदु दारुण आदि स्वभाव) को, सात्म्य एवं असात्म्य को, वर्षा आदि ऋतु को, विष से प्रभावित शरीर के अवयवों को, देश-भूमि के अनूप आदि देशों को विष के प्रथम द्वितीय आदि वेगों की दशाओं को और रोगी एवं विष के बलाबल को भलीभाँति विचार कर बुद्धि तथा शास्त्र के अनुसार चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। कफ जनक विष को—वमन द्वारा, उष्ण, रूक्ष एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के लेपों द्वारा तथा कषाय, कटु एवं तिक्त आहारों द्वारा शान्त करे। पित्तजनक विष को—विरेचनों द्वारा, अत्यन्त शीतल सेचनों तथा लेपों द्वारा और घृत युक्त कषाय, तिक्त तथा मधुर आहारों द्वारा शान्त करे। विरेचन, लेप, आहार तथा औषध घृत रहित न हों अर्थात् घृतयुक्त हों। क्योंकि—सब प्रकार के विषों में और विष की सभी अवस्थाओं में घृत के समान लाभ दायक अन्य कोई भी औषध नहीं है विशेषतः वायु की प्रबलता में (घृत का ही उपयोग होता है)। कफ जनक विष—सरलता से शान्त हो जाता है, पित्ताशय में व्याप्त विष बड़ी तत्परता से चिकित्सा करने पर शान्त हो सकता है और वाताशय में प्राप्त विष—कष्ट साध्य अथवा असाध्य होता है ॥

वक्तव्य—साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं सम्वत्सरोत्थितम्।
दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याऽहित सेविनः।५५।सु.क.अ.२।

अर्थात्—नूतन दूषीविष-आत्मवान् का साध्य होता है, १ वर्ष पुराना याप्य होता है और क्षीण तथा अहित आहार विहार सेवी का असाध्य होता है ॥६५-७०॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतः सर्पविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब सर्पों का वर्णन, उनके विष का वर्णन तथा उनके द्वारा दष्टों आदि का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इसका वर्णन—च. चि. अ. २३, सु. क. अ. ३, ४, ५, एवं ६ तथा अ. सं. अ ४१ एवं ४२ में देखिये।

दर्वीकरा मण्डलिनो राजीवन्तश्च पन्नगाः।
त्रिधा समासतो भौमा, भिद्यन्ते ते त्वनेकधा ॥ १ ॥
व्यासतो योनिभेदेन नोच्यन्तेऽनुपयोगिनः।
विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादुशीतलम् ॥ २ ॥
विषं दर्वीकरादीनां क्रमाद्वातादिकोपनम्।
तारुण्यमध्यवृद्धत्वे वृष्टिशीतातपेषु च ॥ ३ ॥
विषोल्बणा भवन्त्येते व्यन्तरा ऋतुसन्धिषु।
रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकांकुशधारिणः ॥ ४ ॥
फणिनः शीघ्रगतयः सर्पा दर्वीकराः स्मृताः।
ज्ञेया मण्डलिनोऽभोगा मण्डलैर्विविधैश्चिताः ॥ ५ ॥
प्रांशवोऽमन्दगमना राजीमन्तस्तु राजिभिः।
स्निग्धा विचित्रवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं विचित्रिताः ॥ ६ ॥
गोधासुतस्तु गौधेरो विषे दर्वीकरैः समः।
चतुष्पाद् व्यन्तरान्विद्यादेतेषामेव सङ्करात् ॥ ७ ॥
व्यामिश्रलक्षणास्ते हि सन्निपातप्रकोपनाः।
आहारार्थं भयात्पादस्पर्शादतिविषात् क्रुधः ॥ ८ ॥
पापवृत्तितया वैराद्देवर्षियमचोदनात्।
दशन्ति सर्पास्तेषूक्तं विषाधिक्यं यथोत्तरम् ॥ ९ ॥
आदिष्टात्कारणं ज्ञात्वा प्रतिकुर्याद्यथायथम्।
व्यन्तरः पापशीलत्वान्मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥ १० ॥

व्याख्या—समासतः सर्प तीन प्रकार के होते हैं—१—दर्वीकर, २-मण्डली तथा ३—राजीमान्। और ये ही तीन प्रकार के सर्प भूमण्डल में पाये जाते हैं अतः "भौम" कहलाते हैं। वेही तीन प्रकार के सर्पों के योनि भेद अर्थात् संसर्ग भेद से सर्पों के अनेक भेद (उपजातियाँ) हो जाते हैं। उन सब भेदों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है क्योंकि उन का चिकित्सा में कोई उपयोग नहीं होता।

विष का वर्णन—

विशेषतः दर्वीकर सर्प का विष-रूक्ष एवं कटु होता है और वह वायु को कुपित करता है। मण्डली का विष—अम्ल एवं उष्ण होता है और वह पित्त को कुपित करता है। और राजीमान् का विष मधुर एवं शीतल होता है और वह कफ को कुपित करता है ॥

विषवृद्धि का काल—

दर्वीकर नामक सर्प का विष तरुण अवस्था में एवं वर्षा ऋतु में उग्र होता है। मण्डली नामक सर्प का विष—मध्यम वयस् में तथा शीत ऋतु में उग्र होता है। राजीमान् नामक सर्प का विष वृद्धावस्था में तथा उष्ण ऋतु में उग्र होता है। और व्यन्तर (संकर) जाति के सर्पों का विष ऋतु सन्धियों (सु.अ. ३) में उग्र होता है।

सर्पों के लक्षण—

जिन सर्पों के फण पर अथवा फण के नीचे चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक अथवा अंकुश कासा चिह्न होता है, फल बड़ा होता है तथा गति तीव्र होती है वे सर्प "दर्वीकर" कहे जाते हैं—दर्वी (कड़छुली) के समान कर-फण वाले। ये फणिधर तथा काले नाग कहे जाते हैं।५।

जिन सर्पों के शरीर पर—विविध प्रकार के विचित्र मण्डल होते हैं, शरीर लम्बा होता है और गति मन्द होती है वे "मण्डली" समझे जाते हैं। सुश्रुत में 'प्रांशवः' विशेषण के स्थान में "पृथवः" पाठ है अर्थात् चौड़े-मोटे शरीर वाले। जिन सर्पों के शरीर पर—तिरछी एवं लम्बी तथा विचित्र वर्ण वाली राजियाँ (रेखा), होती हैं और शरीर स्निग्ध होता है वे राजीमान् कहे जाते हैं॥ दर्वीकर नामक सर्प के संयोग से गोधा (में उत्पन्न) का जो पुत्र होता है उसका नाम "गौधेर" है, उसका विष भी दर्वीकर के समान होता है और वह प्राणी चार पाँव वाला है (जनक के समान विष वाला और जननी के समान चार पाँव वाला होता है)। इसी प्रकार के सर्पों एवं सर्पिणियों के संयोग से उत्पन्न अनेक "व्यन्तर" अर्थात् संकर जातियों के सर्प होते हैं—ये सर्पों की संकर जातियाँ होती हैं। अत एव इनके लक्षण भी मिले जुले होते हैं और इन के विष भी "कारणानुरूपं कार्यम्" न्याय से वातादि तीनों दोषों को कुपित करनेवाले होते हैं॥

सर्प दंशन के कारण—

सर्प आहार के लिये, भयभीत होकर, पाँव का स्पर्श होने से, विष की वृद्धि होने से, क्रोध से पापरूप स्वभाव होने से, वैर—शत्रुता से (प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर), देवताओं, ऋषियों अथवा यमराज की प्रेरणा से मानव आदि प्राणियों को दशते—काटते हैं और प्रायः सन्ध्याकाल में काटते हैं। उक्त प्रकार के कारणों से काटने पर उत्तरोत्तर विष का आधिक्य होता है॥

चिकित्सा संकेत—

अतः काटने के उक्त कारणों का विचार करके तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिये॥

व्यन्तर—वर्णसंकर नामक सर्प पापी स्वभाव वाला होने से मार्ग रोक कर खड़ा हो जाता है निरपराधों को काटने के लिये—काटने मात्र के लिये जन मार्ग के आस पास आश्रय बना कर रहता है॥

वक्तव्य—प्राचीनों का कथन है कि—अ.सं. उ.अ.४:—

दिव्यभौमविभागेन द्विविधाः पन्नगाः स्मृताः।
वासुकिः तक्षकोऽनन्तः सागरः सागरालयः॥
तथोपनन्दनन्दाद्याः समिद्धाग्निसमप्रभाः।
दिव्या गर्जन्ति वर्षन्ति द्योतन्ते द्योतयन्ति च॥
धारयन्ति जगत्सर्वं कुर्युः क्रुद्धाश्च भस्मसात्।
दृङ् निश्वासैः नमः तेभ्यो न तेष्वस्ति चिकित्सितम्॥

अर्थात्—विधि भेद से सर्प दो प्रकार के होते हैं। १—दिव्य तथा, २—भौम—भूमि पर पाए जाने वाले। वासुकि, तक्षक, अनन्त—शेष, सागर, सागरालय, उपनन्द तथा नन्द आदि सर्प दिव्य कहे जाते हैं तथा वे इन्धन युक्त अग्नि (प्रज्वलित अग्नि) के समान कान्ति वाले होते हैं और वे गर्जते हैं, बरसते हैं, चमकते हैं और दूसरे विद्युत आदि को प्रकाशित करते हैं तथा समस्त संसार का धारण करते हैं और जब कभी क्रुद्ध हो जाते हैं तब संसार को अपनी दृष्टि मात्रा से तथा निश्वास—फुङ्कार से भस्मीभूत कर देते हैं। उन दिव्य सर्पों के लिये हमारा नमस्कार है—वे नमस्कार मात्र के योग्य हैं। उनके विष की कोई भी चिकित्सा—उपचार नहीं है। और—सु. क. अ. ४—

ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ते दशन्ति च मानुषान्॥ ८॥

अर्थात्—जो भौम सर्प हैं उनकी दंष्ट्रा में विष होता है और वे ही मानव आदि प्राणियों को दशते—काटते हैं। उन्हीं की चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

सर्पदंश के भेद—

यत्र लालापरिक्लेदमात्रं गात्रे प्रदृश्यते।
न तु दंष्ट्राकृतं दंशं तत्तुण्डाहतमादिशेत्॥ ११॥
एकं तु दंष्ट्रापदं द्वे वा व्यालीढाख्यमशोणितम्।
दंष्ट्रापदे सरक्ते द्वे व्यालुप्तं त्रीणि तानि तु॥ १२॥
मांसच्छेदादविच्छिन्नरक्तवाहीनि दंष्ट्रकम्।
दंष्ट्रापदानि चत्वारि तद्वद्दंष्ट्रनिपीडितम्॥ १३॥
निर्विषं द्वयमत्राद्यमसाध्यं पश्चिमं वदेत्।

व्याख्या—जहाँ—शरीर के किसी अवयव पर—केवल लाला—लार का परिक्लेद—स्राव दिखाई दे परन्तु दन्त का दंश न हो उसका नाम "तुण्डाहत" है। जहाँ—दन्त के १ अथवा २ चिन्ह हों परन्तु वहाँ रक्त का स्राव न हो उसका नाम "व्यालीढ" है। जहाँ—दन्तों के दो चिन्ह होते हैं और और उनमें से रक्तस्राव होता है उसका नाम व्यालुप्त" है। जहाँ—दन्तों के दो चिन्ह होते हैं तथा मांस कटा रहता है एवं निरन्तर रक्तस्राव होता है उसका नाम "दंष्ट्रक" या "दष्टक" है। जहाँ दंष्ट्रक के लक्षणों के साथ २ दन्तों के चार चिन्ह हों उसका नाम "दंष्ट-निपीडित" है। इन ५ प्रकार के दंशों में प्रथम दो (तुण्डाहत एवं व्यालीढ) निर्विष—विष रहित होते हैं और अन्तिम दंश (दष्टनिपीडित) असाध्य होता है॥११-१३॥

विष का रक्त से योग —

विषं नाहेयमप्राप्य रक्तं दूषयते वपुः॥ १४॥
रक्तमण्वपि तु प्राप्तं वर्धते तैलमम्बुवत्।

व्याख्या—सर्प विष रक्त में मिश्रित होकर ही शरीर को दूषित करता है। इस लिये रक्त में थोड़ासा भी विष मिलकर जल पर तैल के समान शरीर में फैल जाता है॥

वक्तव्य—इसी लिये तुण्डाहत एवं व्यालीढ से कोई

विकृति नहीं होती। क्योंकि उन में विष का मिश्रण रक्त में नहीं होता ॥१४॥

स्पर्श से शोथ की उत्पत्ति—

भीरोस्तु सर्पसंस्पर्शाद्भयेन कुपितोऽनिलः ॥ १५ ॥
कदाचित्कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत्।

व्याख्या—कभी २ भीरु मानव के शरीर से यदि सर्प का स्पर्श हो जाता है तो भय से वायु कुपित होकर शोथ उत्पन्न देता है परन्तु उसमें विष का विकार नहीं हता। इस दशा का नाम "सर्पाङ्गाभिहत" है ॥ १५ ॥

शंका विष—

दुर्गान्धकारे विद्धस्य केनचिद्दष्टशङ्कया ॥ १६ ॥
विषोद्वेगो ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत्।
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वा तच्छङ्काविषमुच्यते ॥ १७ ॥

व्याख्या—कभी २-गहरे अन्धकार में, किसी निर्विष प्राणी द्वारा विद्ध होने पर, सर्पविष की शङ्का (सन्देह) से विष का उद्वेग (घबराहट अथवा उद्रेक) हो जाता है फलतः—ज्वर, छर्दि, मूर्च्छा एवं दाह अथवा ग्लानि, मोह एवं अतिसार हो जाते हैं इस दशा का नाम "शङ्का विष" है॥

वक्तव्य—जैसे किसी पेय अथवा खाद्य में भांग का सन्देह हो जाने पर कुछ २ मद हो जाता है ॥१६-१७॥

तुद्यते सविषो दंशः कण्डूशोफरुजान्वितः।
दह्यते ग्रथितः किञ्चिद् विपरीतस्तु निर्विषः ॥ १८ ॥

व्याख्या—जिस में व्यथा हो, कण्डू, शोथ एवं वेदना हो तथा दाह हो और कुछ ग्रन्थित हो जाय वह दंश "सविष" होता है और इसके विपरीत "निर्विष" विषरहित होता है ॥

वक्तव्य—कभी २ निर्विष प्राणी—सर्प आदि काट लेते हैं परन्तु उस दंश में व्यथा आदि लक्षण नहीं होते ॥१८॥

दर्वीकर सर्प के विष के वेग—

पूर्वे दर्वीकृतां वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक्।
श्यावता तेन वक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटकाः ॥ १९ ॥
द्वितीये ग्रन्थयो वेगे, तृतीये मूर्ध्नि गौरवम् ॥
दुर्गन्धो दंशविक्लेदश्चतुर्थे ष्ठीवनं वमिः ॥ २० ॥
सन्धिविश्लेषणं तन्द्रा पञ्चमे पर्वभेदनम्।
दाहो हिध्मा च, षष्ठे च हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥२१॥
मूर्च्छाऽविपाकोऽतीसारः, प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—दर्वीकर नामक सर्प द्वारा काट लेने पर—प्रथम वेग में, रक्त दूषित होकर साँवला हो जाता है इस लिये—मुख एवं नख आदि में साँवलापन आ जाता है तथा दष्ट व्यक्ति को प्रतीत होता है कि उसके शरीर में चिउंटियाँ सरसरा रही हैं। दूसरे वेग में—शरीर में एवं दंश स्थल में ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तीसरे वेग में—शिर में भारी पन, शरीर में दुर्गन्ध तथा दंश स्थल में सड़न होते हैं। चौथे वेग में—लालास्राव, छर्दि, सन्धियों में विश्लेष (उठने की असमर्थता) तथा तन्द्रा होते हैं। पांचवें वेग में पोर २ में फटने की सी वेदना दाह तथा हिक्का की उत्पत्ति हो जाती है। छठे वेग में—हृदय में पीडा, शरीर में भारीपन, मूर्छा, दंश स्थल में पाक तथा अतिसार की उत्पत्ति हो जाती है। और सातवें वेग में—विष शुक्र धातु में पहुँच जाता है फलतः—कन्धों में, पीठ में तथा कटी में टूट जाने की सी दशा हो जाती जिससे शरीर की सभी चेष्टाओं का नाश हो जाता है ॥१९-२२॥

मण्डली सर्प के विष के वेग—

अथ मण्डलिदष्टस्य दुष्टं पीतीभवत्यसृक्।
तेन पीताङ्गता दाहो, द्वितीये श्वयथूद्भवः ॥ २३ ॥
तृतीये दंशविक्लेदः स्वेदस्तृणा च जायते।
चतुर्थे ज्वर्यते, दाहः पञ्चमे सर्वगात्रगः ॥ २४ ॥

व्याख्या—मण्डली नामक सर्प द्वारा काटने पर—दष्ट व्यक्ति का रक्त, विष से दूषित होकर पीला हो जाता है फलतः शरीर का वर्ण पीला हो जाता है तथा दाह होता है यह प्रथम वेग के लक्षण हैं। दूसरे वेग में—दंश पर शोथ की उत्पत्ति हो जाती है। तीसरे वेग में—दंश सड़ जाता है, स्वेद आने लगता है और तृषा लगती है। चौथे वेग में—ज्वर एवं दाह की उत्पत्ति हो जाती है। पाञ्चवें वेग में—समस्त शरीर में दाह होता है। छठे एवं सातवें वेगों में—मूर्च्छा, लाला स्राव तथा समस्त शरीर में स्वाप—शून्यता की उत्पत्ति हो जाती है ॥२३-२४॥

राजीमान् सर्प के विष के वेग—

दष्टस्य राजिलैर्दुष्टं पाण्डुतां याति शोणितम्।
पाण्डुता तेन गात्राणां द्वितीये गुरुताऽति च ॥ २५ ॥
तृतीये दंशविक्लेदो नासिकाक्षिमुखस्रवाः।
चतुर्थे गरिमा मूर्ध्नो मन्यास्तम्भश्च पञ्चमे ॥ २६ ॥
गात्रभङ्गो ज्वरः शीतः शेषयोः पूर्ववद्वदेत्।

व्याख्या—राजिल अर्थात् राजीमान् सर्पद्वारा काटने पर प्रथम वेग में रक्त का वर्ण श्वेत हो जाता है अतः शरीर का वर्ण भी श्वेत हो जाता है। दूसरे वेग में—शरीर में भारीपन का अनुभव होता है। तीसरे वेग में—दंश का स्थल सड़ने लगता है तथा नासा, नेत्र तथा मुख से स्राव होने लगता है। चौथे वेग में—शिर में अत्यन्त गुरुता का अनुभव एवं मन्यास्तम्भ की उत्पत्ति हो जाती है। छठे तथा सातवें वेगों में दर्वीकर के उक्त वेगों के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २५-२६ ॥

चिकित्सा निर्देश—

कुर्यात्पञ्चसु वेगेषु चिकित्सां न ततः परम् । २७ ॥

व्याख्या—उक्त ५ वेगों में उचित चिकित्सा तत्काल करे और छठे एवं सातवें वेग में चिकित्सा न करे क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं होता । (क्योंकि वह दशा असाध्य होती है) ॥ २७ ॥

अल्प विष सर्प—

अल्पविषाः

जलाप्लुता रतिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः ।
शीतवातातपव्याधि-क्षुत्तृष्णाश्रमपीडिताः ॥ २८ ॥
तूर्णं देशान्तरायाता विमुक्तविषकञ्चुकाः ।
कुशौषधीकण्टकवद् ये चरन्ति च काननम् ॥ २९ ॥
देशं च दिव्याध्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मताः ।

व्याख्या—जो सर्प जल में रहते हों अथवा जल में—नदी के जल में बह रहे हों, जो सर्प रतिक्रिया—मैथुन से बल हीन हों, भयभीत हों, नेवला से लड़ते २ पराजित हो गये हों और शीत से, वायु से, धूप से, किसी रोग से, भूख से, प्यास से, अथवा दौड़ने आदि श्रम से पीड़ित हों. तत्काल ही देशान्तर से आए हों, जिसने तत्काल अन्यत्र विष का परित्याग किया हो, केञ्चुली का परित्याग किया हो, जो कुश, विष नाशक औषधियों तथा कण्टकों वाले वन में रहते हों अथवा दिव्य शक्ति सम्पन्न देवता एवं दिव्य औषधियों से युक्त देश में रहते हों वे सर्प अल्प विष वाले होते हैं ॥

वक्तव्य—ऐसे सर्पों के विष का प्रभाव स्वल्प होता है । अथवा इन दशाओं में विष ही स्वल्प होता है ॥ २८-२९ ॥

तीव्र विष वाले सर्प—

असाध्यता ।

श्मशानचितिचैत्यादौ पञ्चमीपक्षसन्धिषु ॥ ३० ॥
अष्टमीनवमीसन्ध्यामध्यरात्रिदिनेषु च ।
याम्याग्नेयमघाश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते ॥ ३१ ॥
नैर्ऋताख्ये मुहूर्ते च दष्टं मर्मसु च त्यजेत् ।

व्याख्या—श्मशान भूमि में, चिति (यज्ञ भूमि) में तथा चैत्य (विशिष्ट देवमन्दिर या बौद्ध मन्दिर) में, पञ्चमी, अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी तथा नवमी तिथियों में, सन्ध्या काल में, मध्यरात्रि में, मध्याह्न में, भरणी नक्षत्र में, कृत्तिका नक्षत्र में, मघा नक्षत्र में, अश्लेषा नक्षत्र में, विशाखा नक्षत्र में, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वा भाद्रपदा तथा मूल नक्षत्र में, और नैर्ऋत नामक मुहूर्त (दिन का बारहवाँ मुहूर्त) में तथा हृदय एवं क्षिप्र आदि मर्म स्थल में सर्प द्वारा जो व्यक्ति दशा-काटा जाता है उसकी चिकित्सा का व्यर्थ प्रयत्न न करे ।

वक्तव्य—हमारा विचार है कि चिकित्सा तो करनी ही चाहिये फल हो अथवा न हो ॥ ३०-३१ ॥

असाध्य लक्षण—

दंशमात्रः सितास्याक्षः शीर्यमाणशिरोरुहः ॥ ३२ ॥
स्तब्धजिह्वो मुहुर्मूर्च्छन् शीतोच्छ्वासो न जीवति ।
हिध्मा श्वासो वमिः कासो दष्टमात्रस्य देहिनः ॥३३॥
जायन्ते युगपद्यस्य स हृच्छूली न जीवति ।

व्याख्या—यदि सर्प द्वारा काटे जानेपर—तत्काल मुख एवं नेत्र श्वेत हो जायँ, शिर के बाल झड़ने लग जायँ, जीभ स्तब्ध हो जाय, बार बार मूर्च्छा हो रही हो और श्वास शीतल हो गया हो तो मृत्यु हो जाती है । और यदि तत्काल—एक साथ-हिक्का, श्वास, छर्दि, कास तथा हृदय शूल की उत्पत्ति हो जाय तो भी मृत्यु हो जाती है ॥ ३२-३३ ॥

सर्पदष्ट की मृत्यु के पूर्व रूप—

फेनं वमति निःसंज्ञः श्यावपादकराननः ॥ ३४ ॥
नासावसादो भङ्गोऽङ्गे विड्भेदः श्लथसन्धिता ।
विषपीतस्य दष्टस्य दिग्धेनाभिहतस्य च ॥ ३५ ॥
भवन्त्येतानि रूपाणि सम्प्राप्ते जीवितक्षये ।

व्याख्या—जब विष पीने एवं खाने से, सर्प के दंशन से अथवा विष दिग्ध शस्त्र-अस्त्र द्वारा आहत होने से मृत्यु होनेवाली होती है तब—मुख से झाग आती है, संज्ञा का नाश हो जाता है, पाँव, हाथ तथा मुख का वर्ण साँवला हो जाता है, नासा वंश टेढ़ा हो जाता है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भंग हो जाता है, मलभेद—अतिसार एवं सन्धि शैथिल्य की उत्पत्ति हो जाती है ॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि उक्त लक्षणों की उत्पत्ति हो जाने पर समझ लेना चाहिये कि कुछ क्षणों में मृत्यु हो जायगी । उपचार करने पर भी आरोग्य लाभ नहीं होगा ॥ ३४-३५ ॥

अन्य लक्षण—

न नस्यैश्चेतना तीक्ष्णैर्न क्षतात्क्षतजागमः ॥ ३६ ॥
दण्डाहतस्य नो राजिः प्रयातस्य यमान्तिकम् ॥

व्याख्या—जब विष के प्रभाव से मृत्यु होनेवाली होती है तब—तीक्ष्ण नस्य देनेपर भी चेतना—संज्ञा की प्राप्ति नहीं होती, क्षत होने या करने पर भी रक्तस्राव नहीं होता और दण्ड का आघात करने पर भी शोथ की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३६ ॥

चिकित्सा संकेत—

साध्यता ।

अतोऽन्यथा तु त्वरया प्रदीप्तागारवद्भिषक् ॥ ३७ ॥
रक्षन् कण्ठगतान् प्राणान् विषमाशु शमं नयेत् ।

व्याख्या—उक्त लक्षणों से विपरीत अवस्था में—जलते घर के समान, तत्काल कण्ठगत प्राणों की रक्षा करने के लिये विष की शान्ति का उपाय करना चाहिये।

वक्तव्य—अर्थात् घर में अग्नि लग जाने पर जैसे उस को बुझाने का शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न किया जाता है वैसे ही विष शान्ति का उपाय भी शीघ्र तिशीघ्र करना चाहिये क्योंकि विष आशुघाती होता है और शीघ्र ही उचित उपचार करने से जीवन रक्षा हो सकती ।। ३७ ।।

विष संक्रमण काल—

मात्राशतं विषं स्थित्वा दंशे दष्टस्य देहिनः ।। ३८ ।।
देहं प्रक्रमते धातून् रुधिरादीन् प्रदूषयेत् ।
एतस्मिन्नन्तरे कर्म दंशस्योत्कर्तनादिकम् ।। ३९ ।।
कुर्याच्छीघ्रं यथा देहे विषवल्ली न रोहति ।

व्याख्या—विष—दंशस्थान में १०० मात्रा परिमित काल पर्यन्त ठहर कर शरीर की रक्त आदि धातुओं को दूषित करता हुआ समस्त शरीर में संक्रमण कर लेता है—व्याप्त हो जाता है। फलतः विष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं इस लिये—इस १०० मात्रा परिमित (लग भग ३ मिन्ट) काल के भीतर ही शस्त्र द्वारा दंश स्थान का उत्कर्तन-काट कर निकाल देना अथवा क्षारकर्म द्वारा अथवा अग्नि कर्म द्वारा जला देना आदि स्थानिक उपचार शीघ्रातिशीघ्र कर देना चाहिये जिससे विषलता—(विष का प्रभाव) शरीर पर न चढ़ जाय—शरीर भरमें व्याप्त न हो जाय ।।

वक्तव्य—इस कर्तन आदि उपचार से-विष दंश का स्थान अलग हो जाने से और क्षारकर्म आदि द्वारा दग्ध हो जाने से विष वहीं नष्ट हो जाता है-शरीर में व्याप्त ही नहीं होता। दाह कर्म दर्वीकर एवं राजीमान् के दंश में ही करना चाहिये मण्डली के दंश में नहीं क्योंकि वह पित्त प्रकृति का होता है ।। ३८-३९ ।।

तात्कालिक अन्य उपचार—

दष्टमात्रो दशेदाशु तमेव पन्नगाशिनम् ।। ४० ।।
लोष्टं महीं वा दशनैश्छित्त्वा चाऽनु ससम्भ्रमम् ।
निष्ठीवेन्न समालिम्पेद्दंशं कर्णमलेन वा ।। ४१ ।।

व्याख्या—ज्योंही सर्प काटे त्योंही उस सर्प को पकड़ कर दष्ट मानव-काट लेवे यदि ऐसा सम्भव न हो तो तत्काल मिट्टी के ढेला को अथवा भूमि को दन्तों से काट कर थूक देवे अथवा दंश स्थान पर कान का मल लगा देवे ।।

वक्तव्य—सर्प को पकड़ कर काट लेना सपेरों के लिये सम्भव है सर्वसाधारण के लिये नहीं। परन्तु सर्वसाधारण लोष्ठ एवं भूमि को तो काट ही सकता है और कान का मल भी लगा सकता है यह सब उपचार सर्वसाधारण को सदा विदित रहना चाहिये क्योंकि उस समय—चिकित्सक की प्रतीक्षा का अवसर नहीं होता। और निम्नलिखित अरिष्टा बन्धन भी सबको स्मरण रखना चाहिये ।। ४१ ।।

अरिष्टा बन्धन—

दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरंगुले ।
क्षौमादिभिर्वेणिकया सिद्धैर्मन्त्रैश्च मन्त्रवित् ।। ४२ ।।
अम्बुवत्सेतुबन्धेन बन्धेन स्तभ्यते विषम् ।
न वहन्ति सिराश्चाऽस्य विषं बन्धाभिपीडिताः ।।४३।।

व्याख्या—दंश स्थल के ४ अंगुल ऊपर (अथवा जहाँतक विष का प्रभाव हो चुका हो उससे ऊपर) की ओर अरिष्टा बाँध देनी चाहिये। यह अरिष्टा—रेशमी वस्त्र आदि की वेणी (रस्सी) की हो और उसे सर्प विष नाशक सिद्ध मन्त्र का उच्चारण करता हुआ मन्त्रवेत्ता बान्धे। जैसे बाँध बाँधने से जल का प्रवाह रुक जाता है वैसे ही अरिष्टा बन्धन से विष का वेग रुक जाता है क्योंकि बन्धन से पीडित सिरा विष का वहन नहीं कर सकती (फलतः विष का प्रभाव शरीर में व्याप्त नहीं होता) ।।

वक्तव्य—फलतः अन्यान्य विष नाशक उपचार करने का अवसर मिल जाता है। अरिष्टाबन्धन बाहु एवं सक्थि में ही किया जा सकता है अन्यत्र नहीं ।। ४२-४३ ।।

उत्कर्त्तन कर्म—

निष्पीड्यानूद्धरेद्दंशं मर्मसन्ध्यगतं तथा ।
न जायते विषावेगो बीजनाशादिवाऽङ्कुरः ।। ४४ ।।

व्याख्या—यदि दंश मर्मस्थल पर अथवा सन्धिस्थल पर न हो तो इधर-उधर से निपीडन करके—दंश स्थल को शस्त्र से काटकर अलग कर देना चाहिये, ऐसा करने से विष के वेग नहीं होते जैसे—बीज का नाश हो जानेपर अंकुर उत्पत्ति नहीं हो सकती ।। ४४ ।।

विष पर अग्नि कर्म—

दंशं मण्डलिनां मुक्त्वा पित्तलत्वादथाऽपरम् ।
प्रतप्तैर्हेमलोहाद्यैर्दहेदाशूल्मुकेन वा ।। ४५ ।।
करोति भस्मसात्सद्यो वह्निः किं नाम न क्षणात् ।

व्याख्या—मण्डली नामक सर्प पित्त प्रकृति का होता है अतः उसके दंश को छोड़कर, दर्वीकर एवं राजीमान् के दंश स्थलपर, अत्यन्त प्रतप्त स्वर्ण आदि धातु से अथवा जलते हुए कोयला से तत्काल अग्नि कर्म कर देवे। क्योंकि अग्नि सब द्रव्यों को तत्काल भस्मीभूत कर देता है और दंशगत विष का तो कहना ही क्या ।।

वक्तव्य—देखिये श्लो० ३८-३९ का वक्तव्य ।।४५।।

आचूषण लेपन एवं सेचन—

आचूषेत्पूर्णं वक्त्रो वा मृद्भस्मागद गोमयैः ।। ४६ ।।

प्रच्छायान्तररिष्टाया, मांसलं तु विशेषतः ।
अङ्गं सहैव दंशेन लेपयेदगदैर्मुहुः ॥ ४७ ॥
चन्दनोशीरयुक्तेन सलिलेन च सेचयेत् ।

व्याख्या—अथवा (यदि मण्डली सर्प का दंश हो तो)—चिकित्सक अपने मुख से सब ओर चिकनी-पोतनी-गाजनी मिट्टी अथवा भस्म अथवा कोई अगद अथवा गोबर लगाकर और दंश पर अथवा अरिष्टा बन्धन के भीतर किसी मांस युक्त स्थान पर उस्तुरा से पच्छ लगाकर चूषण करके थूकता जाय—अर्थात् वहाँ से रक्त चूस-२ कर निकाल देवे यह क्रिया तबतक करे जबतक रक्त में मिला विष पूर्णरूप से निकल जाय। और फिर तत्काल उस अवयव पर तथा दंशपर किसी अगद का (देखिये अ. ३५ का दूषीविषारि अगद श्लो. ३६ तथा चन्द्रोदय अगद श्लो, २४) बार-बार लेप करे और लाल चन्दन एवं खस के पानी का सेचन करे॥

वक्तव्य—यह सब उपाय तभीतक किये जाते हैं जबतक विष शरीर भर में नहीं फैलता। आचूषण कर्म सिंगी से भी किया जा सकता है। रक्त के साथ विष निकल जाता है ॥४६-४७॥

सिरावेध आदि—

सिरामोक्षः ।
विषे प्रविसृते विध्येत्सिरां सा परमा क्रिया ॥ ४८ ॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे हि कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम् ।
दुर्गन्धं सविषं रक्तमग्नौ चटचटायते ॥ ४९ ॥
यथादोषं विशुद्धं च पूर्ववल्लक्षयेदसृक् ।
सिरास्वदृश्यमानासु योज्याः शृङ्गजलौकसः ॥ ५० ॥
शोणितं स्रुतशेषं च प्रविलीनं विषोष्मणा ।
लेपसेकैस्तु सुबहुशः स्तम्भयेद्भृशशीतलैः ॥ ५१ ॥
अस्कन्ने विषवेगाद्धि मूर्च्छाय-मद-हृद्द्रवाः ।
भवन्ति, तान् जयेच्छीतैर्वीजेच्चारोमहर्षतः ॥ ५२ ॥
स्कन्ने तु रुधिरे सद्यो विषवेगः प्रशाम्यति ।

व्याख्या—शरीर भर में विष फैल जानेपर—सिरावेध करके रक्तस्राव करना चाहिये, उस समय वही चिकित्सा लाभदायक—सर्वश्रेष्ठ होती है क्योंकि रक्त निकालने से रक्त में मिला हुआ समस्त विष निकल जाता है। विष युक्त रक्त की परीक्षा—विष मिश्रित रक्त—दुर्गन्ध युक्त होता है और अग्नि पर डालने से चट चटाता है (जब तक इस प्रकार का रक्त निकलता रहे तब तक निकालते जाना चाहिये) और उस का वर्ण दोष दूषित रक्त जैसा होता है। शुद्ध रक्त निकलने लगे तब उसे रोक देना चाहिये। यदि सिरा दिखाई न देवे तो सींगी अथवा जोंक लगाकर रक्त निकालने का प्रयत्न करे। रक्त बह जाने पर अवशिष्ट रक्त यदि विष की उष्णता से अत्यन्त पिघल जाने के कारण न रुक रहा हो तो उसे—अत्यन्त शीतल लेपों एवं सेचनों से रोकने का उपाय करे। (रक्तातिस्राव से भी मृत्यु हो सकती है देखिये सू. अ. २७)। इस प्रकार शीतल लेप आदि से रक्त वहाँ का अर्थात् दंश स्थान का रक्त जम जाता है जिस में रक्त गत विष वहीं रह जाता है—शरीर में व्याप्त नहीं होता। और यदि रक्त नहीं जमता तो विष के वेग से मूर्च्छा, मद एवं हृदय में वेदना की उत्पत्ति हो जाती है इन उपद्रवों को भी शीतल उपचारों से शान्त करे तथा पंखा की वायु करे। यह सब तब तक करे जब तक लोमहर्ष होने लगे। इस से समझना चाहिये कि रक्त (दंश स्थल का विष मिश्रित) गति हीन या मन्द गति हो गया है अब दंश स्थल का विष वहीं रुक गया है। क्योंकि रक्त जम जाने पर विष का वेग (फैलना) तत्काल शान्त हो जाता है॥

वक्तव्य—रक्त निकालने से बहुत कुछ विष रक्त के साथ निकल जाता है और रहा सहा शीतल उपचारों से शान्त किया जा सकता है और रक्त की गति मन्द हो जाने से दंश स्थल गत विष शीघ्र शरीर में व्याप्त नहीं हो पाता और तब तक अगदपान आदि उपचार करने का अवसर मिल जाता है ॥४८-५२॥

हृदयाऽऽवरण—

विषं कर्षति तीक्ष्णत्वाद् हृदयं, तस्य गुप्तये ॥ ५३ ॥
पिबेद् घृतं घृतक्षौद्रमगदं वा घृताप्लुतम् ।
हृदयावरणे चास्य श्लेष्मा हृद्युपचीयते ॥ ५४ ॥
प्रवृत्तगौरवोत्क्लेशहृल्लासं वामयेत्ततः ।
द्रवैः काञ्जिककौलत्थतैलमद्यादिवर्जितैः ॥ ५५ ॥
वमनैर्विषहृद्भिश्च नैवं व्याप्नोति तद्वपुः ।

व्याख्या—तीक्ष्ण होने के कारण (तीक्ष्ण गुण के प्रभाव से) विष हृदय का कर्षण करता है अतः हृदय की रक्षा के लिये-घृत अथवा घृत मधु मिलाकर अथवा किसी अगद को घृत में मिला कर पीना चाहिये। और हृदयावरण में—हृदय (आमाशय एवं फुफ्फुसों) प्रदेश में कफ का सञ्चय हो जाता है फलतः जब गुरुता, उत्क्लेश एवं हृल्लास का प्रारम्भ हो तब वमन करा देना चाहिये। और वमन विष नाशक (तूतिया आदि) द्रव्यों से होना चाहिये और अनुपान में—काञ्जी, कुलथी का क्वाथ, तैल एवं मद्य आदि विष वर्द्धक द्रव्यों से अतिरिक्त दूध आदि विष शामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

इस प्रकार वमन हो जाने पर वह विष शरीर में व्याप्त नहीं होता ॥ ५३-५५ ॥

वक्तव्य—सु. क. अ. ५—
द्रवमन्यत् तु यत् किञ्चित् पीत्वा पीत्वा तदुद्वमेत् ।
प्रायो हि वमनेनैवं सुखं निर्ह्रियते विषम् ॥१९॥

अर्थात्—उक्त काञ्जी आदि से अतिरिक्त द्रवों को पी २ कर वमन करे क्योंकि इस प्रकार वमन होने से विष सुख पूर्वक निकल जाता हैं। यह सब प्रकार के सर्प विष की सामान्य चिकित्सा है। तात्पर्य यह है कि वमन से आमाशय एवं हृदय आदि की शुद्धि हो जाती है जिससे श्वासावरोध नहीं होता ।

विशेष चिकित्सा—

भुजङ्ग-दोष-प्रकृति-स्थान-वेग-विशेषतः ॥ ५६ ॥
सुसूक्ष्मं सम्यगालोच्य विशिष्टां चाऽऽचरेत्क्रियाम् ।

व्याख्या—सर्पों के, दोषों के, प्रकृति के, स्थान तथा वेग के भेद से भलीभाँति सूक्ष्म विचार करके, तदनुसार विशिष्ट चिकित्सा करे ॥ ५६ ॥

दर्वीकर विष चिकित्सा—

सिन्दुवारितमूलानि श्वेता च गिरिकर्णिका ॥ ५७ ॥
पानं दर्वीकरदृष्टे नस्यं मधु सपाकलम् ।
कृष्णसर्पेण दष्टस्य लिम्पेद्दंशं हृतेऽसृजि ॥ ५८ ॥
चारटीनाकुलीभ्यां वा तीक्ष्णमूलविषेण वा ।
पानं च क्षौद्रमञ्जिष्ठा-गृहधूमयुतं घृतम् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—दर्वीकर नामक सर्प के द्वारा दशा जाने पर सम्भालू की जड़ तथा श्वेत अपराजिता को इन्हीं के रस में पीस कर पीना चाहिये और सुगन्धी कूठ को मधु में मिला कर नस्य लेना चाहिये। कृष्ण सर्प (दर्वीकर की जाति का एक सर्प) के दंश में, रक्तस्रावण के अनन्तर घुङ्घची एवं नाकुली का अथवा खिंगिया आदि विष का लेप करे। और मधु, मञ्जीठ चूर्ण तथा गृह धूम मिला कर घृत पीवे ॥ ५७-५९ ॥

तण्डुलीयकादि अगद—

तण्डुलीयककाश्मर्य-किणिहीगिरिकर्णिकाः ।
मातुलुङ्गी सिता सेलुः पाननस्याञ्जनैर्हितः ॥ ६० ॥
अगदः फणिनां घोरे विषे राजीमतामपि ।

व्याख्या—चौलाई की जड़, गम्भार के फल, अपामार्ग, अपराजिता, निम्बू की जड़, खण्ड तथा लिसोड़ा की छाल को जल अथवा दूध के साथ पीने से, नस्य लेने से तथा अञ्जन करने से—दर्वीकर एवं राजिमान् के विष में लाभ होता है ॥ ६० ॥

सुगन्धादि अगद—

समा सुगन्धा मृद्वीका श्वेताख्या गजदन्तिका ॥ ६१ ॥
अर्धांशं सारसं पत्रं कपित्थं बिल्वदाडिमम् ।
सक्षौद्रो मण्डलिविषे विशेषादगदो हितः ॥ ६२ ॥

व्याख्या—गन्धनाकुली, मुनक्का, श्वेता अपराजिता तथा चीढ़ का काष्ठ २-२ तोला, तुलसी के पत्र, कैथ के पत्र, बिल के तथा अनार के पत्र १-१ तो०। सबको पीसकर चूर्ण बनावे। सहपान—मधु। यह अगद—मण्डली नामक सर्प के विष में विशेष रूप से लाभ करता है ॥ ६१-६२ ॥

हिमवान् अगद—

पञ्चवल्कवरा-यष्टी-नागःपुष्पैलवालुकम् ।
जीवकर्षभकोशीरं सितापद्मकमुत्पलम् ॥ ६३ ॥
सक्षौद्रो हिमवान्नाम हन्ति मण्डलिनां विषम् ।
लेपाच्छ्वयथुवीसर्प-विस्फोटज्वरदाहहा ॥ ६४ ॥

व्याख्या—पञ्चवल्कल (सिरस, पीपल, वट, पाकर तथा वेतस की छालें), त्रिफला, मुलेठी, नागकेसर, एलुवा नामक सुगन्ध द्रव्य, जीवक, ऋषभक, खस, खण्ड, पद्म काष्ठ तथा कमल। सब द्रव्य सम भाग लेकर चूर्ण बनावे और मधु में मिलाकर लेप करे। यह मण्डली नामक सर्प के विष को नष्ट करता है और शोथ, विसर्प, विस्फोट, ज्वर तथा दाह को नष्ट करता है। इसे खिलाया भी जा सकता है ॥ ६३-६४ ॥

काश्मर्यादि पान—

काश्मर्यवटशुङ्गानि जीवकर्षभकौ सिता ।
मञ्जिष्ठा मधुकं चेति दष्टो मण्डलिना पिबेत् ॥६५॥

व्याख्या—गम्भार की छाल, वट के शुङ्ग, जीवक, ऋषभक, खण्ड मञ्जीठ तथा मुलेठी को जल में पीसकर पीवे इसमें मण्डली सर्प के विष में लाभ होता है ॥ ६५ ॥

अष्टाङ्ग अगद—

वंशत्वग्बीजकटुका-पाटलीबीजनागरम् ।
शिरीषबीजातिविषे मूलं गावेधुकं वचा ॥ ६६ ॥
पिष्टो गोवारिणाष्टाङ्गो हन्ति गोनसगं विषम् ।

व्याख्या—बाँस की छाल एवं बीज, कुटकी, पाढल के बीज, सोंठ, सिरस के बीज, अतीस, गवेधु नामक तृण धान्य की जड़ तथा बालवच को गोमूत्र में पीसकर पिलाने, लेप करने, नस्य एवं अंजन के रूप में प्रयुक्त करने से गोनस नामक सर्प के विष का नाश होता है। इस योग का नाम "अष्टांग" है।

वक्तव्य—गोनस नामक सर्प—अ. सं. उ. अ. ४१—
गोनसा घर्मतप्तानां ते गवां नासिकोद्भवाः ॥६६॥

अर्थात्—गोनस नामक सर्प वे हैं जो घाम से सन्तप्त गौवों की नासिका से उत्पन्न हुए थे। सम्भव है प्रारम्भ में इस जाति के सर्प की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई हो। और सुश्रुत कल्प अ. ४ में गोनस एवं वृद्ध गोनस नामक सर्प मण्डली सर्प की जाति के माने गये हैं ॥६६॥

कटुकादि अगद—

कटुकातिविषाकुष्ठ-गृहधूमहरेणुकाः ॥ ६७ ॥
सक्षौद्रव्योषतगरा घ्नन्ति राजीमतां विषम् ।

व्याख्या—कुटकी, अतीस, सुगन्धी कूठ, गृहधूम, हरेणुका बीज, मधु, सोंठ, मरिच, पीपल तथा तगर का योग—लेपादि के रूप में प्रयुक्त करने से राजीमान् सर्प के विष को नष्ट करता है ॥ ६७ ॥

काण्डचित्रा विष चिकित्सा—

निखनेत्काण्डचित्राया दंशं यामद्वयं भुवि ॥ ६८ ॥
उद्धृत्य प्रच्छितं सर्पिर्धान्यमृद्भ्यां प्रलेपयेत् ।
पिबेत् पुराण च घृतं वराचूर्णावचूर्णितम् ॥ ६९ ॥
जीर्णे विरिक्ते भुञ्जीत यवान्नं सूपसंस्कृतम् ।

व्याख्या—काण्डचित्रा नामक सर्प के द्वारा दष्ट अवयव को भूमि में गाड़ देवे फिर दो प्रहर के पश्चात् निकाल कर, पच्छ लगाकर, घृत एवं धान के खेत की मिट्टी का लेप कर देवे और त्रिफला के चूर्ण को पुराने घृत में मिलाकर पीवे, घृत पच जाने और विरेचन हो जाने पर जौ का दलिया दाल के साथ खावे ॥

वक्तव्य—काण्ड चित्रा नामक सर्प का वर्णन खोजने पर भी न मिला स्यात्, सुश्रुत पठित मण्डली सर्प की जाति में कहा गया चित्रक नामक सर्प है । जो हो ॥ ६८-६९ ॥

करवीरादि अगद—

करवीरार्ककुसुम-मूलजाङ्गलिकाकणा ॥७०॥
कल्कयेदारनालेन पाठामरिचसंयुता ।
एष व्यन्तरदष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ॥ ७१ ॥

व्याख्या—कनेर एवं आक के पुष्प एवं मूल, कलिहारी, पीपल, पाठा तथा मरिच को कांजी में पीसकर कल्क बनावे । यह अगद-पान, नस्य, अञ्जन, लेपन एवं सेचन आदि सब कर्मों में प्रयुक्त किया जाता है और व्यन्तर—संकर जातियों के सर्पों के विष में लाभ करता है ॥ ७०-७१ ॥

शिरीषादि अगद—

शिरीषपुष्पस्वरसे सप्ताहं मरिचं सितम् ।
भावितं सर्वदष्टानां पाने नस्येऽञ्जने हितम् ॥ ७२ ॥

व्याख्या—श्वेत मरिच को सिरस के पुष्पों के स्वरस की सात भावना देकर रख लेवे । इसका पान, नस्य एवं अंजन करने से सब सर्पों के विष की शान्ति हो जाती है ॥ ७२ ॥

नतादि अगद—

द्विपल नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम् ।
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत्सुखप्रदम् ॥ ७३ ॥

व्याख्या—तगर एवं कुठ १-१ पल और घृत एवं मधु २-२ पल मिलाकर पीने से—तक्षक सर्प से दष्ट प्राणी को भी सुख प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

वेगानुसार चिकित्सा—

अथ दर्वीकृतां वेगे पूर्वे विस्राव्य शोणितम् ।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं त्वरितं पिबेत् ॥ ७४ ॥
द्वितीयं वमनं कृत्वा तद्वदेवागदं पिबेत् ।
विषापहैः प्रयुञ्जीत तृतीयेऽञ्जननावने ॥ ७५ ॥
पिबेच्चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूं वमने कृते ।
षष्ठपञ्चमयोः शीतैर्दिग्धं सिक्तमभीक्ष्णशः ॥ ७६ ॥
पाययेद्वमनं तीक्ष्णं यवागूं च विषापहैः ।
अगदं सप्तमे तीक्ष्णं युञ्ज्यादञ्जननस्ययोः ॥७७॥
कृत्वाऽवगाढं शस्त्रेण मूर्ध्नि काकपदं ततः ।
मांसं सरुधिरं तस्य चर्म वा तत्र निक्षिपेत् ॥७८॥

व्याख्या—दर्वीकर नामक सर्प के विष के प्रथम वेग में सर्व प्रथम—दंश स्थान पर से अथवा सिरावेध द्वारा रक्त निकाल कर किसी अगद को घृत एवं मधु में मिला कर तुरन्त पीवे । दूसरे वेग में—वमन करके किसी अगद को मधु एवं घृत में मिला कर पीवे । तीसरे वेग में विष नाशक द्रव्यों का अञ्जन करे और नस्य देवे । चौथे वेग में—वमन करने के पश्चात्—पूर्वोक्त (देखिये श्लोक ५०) यवागू पीवे । पाञ्चवें एवं छठे वेगों में—शीतल द्रव्यों का बार २ लेपन एवं सेचन करे और तीक्ष्ण वमन करे तथा वमन के अनन्तर विषनाशक द्रव्यों के योग से बनी यवागू पीवे । सातवें वेग में—अञ्जन एवं नस्य में—तीक्ष्ण अगद का प्रयोग करे और शिर पर (ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर) शस्त्र द्वारा थोड़ा गहरा तथा काकपदाकार पच्छ लगाकर, रक्त युक्त मांस अथवा रक्त युक्त चर्म रख देवे ॥

वक्तव्य—रक्त युक्त मांस सजीव होता है । और उसे बार-२ उतार कर फैंक देवे तथा दूसरा रख देवे इस प्रकार विष का अंश उस मांस एवं चर्म में आता जाता है और शिर—मस्तिष्क विष से सुरक्षित रहता है । मांस काक, मोर, बकरा, गौ, भैंस अथवा मुर्गा का हो और एक एक बार में १ पल भर हो । ७४-७८ ॥

मण्डली की वेगानुसार चिकित्सा—

तृतीये वमितः पेयां वेगे मण्डलिनां पिबेत् ।
अतीक्ष्णमगदं षष्ठे गणं वा पद्मकादिकम् ॥७९॥

व्याख्या—मण्डली सर्प की विष के तृतीय वेग में—वमन के पश्चात् विष नाशक द्रव्यों के योग से बनाई गई पेया पीवे । छठे वेग में—मृदु द्रव्यों से बना अगद अथवा पद्मकादि गण (सू. अ. १५) पान एवं नस्य लेपन एवं सेंचन आदि में प्रयोग करे ॥ ७९ ॥

वक्तव्य—शेष वेगोंमें दर्वीकरके समान सब उपचार करे।

राजीमान् की वेगानुसार चिकित्सा—

आद्येऽवगाढं प्रच्छाय वेगे दष्टस्य राजिलैः।
अलाबुना हरेद्रक्तं पूर्ववच्चागदं पिबेत् ॥ ८० ॥
षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीडं च योजयेत्।
अनुक्तेषु च वेगेषु क्रियां दर्वीकरोदिताम् ॥ ८१ ॥

व्याख्या—राजीमान् सर्प के विष के प्रथम वेग में—दंश स्थान पर गहरे पच्छ लगाकर, अलाबू द्वारा रक्त निकाल देवे और किसी अगद का पूर्ववत् पान करे। छठे वेग में—अत्यन्त तीक्ष्ण अञ्जन तथा अत्यन्त तीक्ष्ण अवपीड़ नस्य का प्रयोग करे। और शेष वेगों में दर्वीकर के वेगानुसार उपचार करे ॥८०-८१॥

चिकित्सा संकेत—

गर्भिणीबालवृद्धेषु मृदु, विध्येत्सिरां न च।

व्याख्या—सब प्रकार के विषों में—गर्भवती, बालक तथा वृद्ध की यथा सम्भव मृदु चिकित्सा करे और सिरा वेध तो करे ही नहीं ॥

वज्रनामक अगद—

त्वङ्मनोह्वानिशे वक्ररसः शार्दूलजो नखः ॥ ८२ ॥
तमालः केसरं शीतं पीतं तण्डुलवारिणा।
हन्ति सर्वविषाण्येतद्वज्रिवज्रमिवासुरान् ॥ ८३ ॥

व्याख्या - दालचीनी, मैनसिल, हलदी, दारुहलदी की छाल, तगर, पारद (शिग्रफ), व्याघ्र का नख, तमाल के पत्र, नाग केसर, श्वेत चन्दन (अथवा कपूर) को चावलों के धोअन में पीस कर पीवे। यह वज्र नामक अगद—सब विषों को वैसे नष्ट करता है जैसे इन्द्र का वज्र असुरों को ॥ ८२-८३ ॥

बिल्वादि अगद—

बिल्वस्य मूलं सुरसस्य पुष्पं
फलं करञ्जस्य नतं सुराह्वम्।
फलत्रिकं व्योषनिशाद्वयं च
बस्तस्य मूत्रेण सुसूक्ष्मपिष्टम् ॥ ८४॥
भुजङ्गलूतोन्दुरवृश्चिकाद्यै-
र्विषूचिकाजीर्णगरज्वरैश्च।
आर्तान्नरान् भूतविधर्षितांश्च
स्वस्थीकरोत्यञ्जनपाननस्यैः ॥८५॥

व्याख्या—बिल का मूल; तुलसी के पत्र, करञ्ज के बीज, तगर, देवदारु, त्रिफला, त्रिकटु, हलदी तथा दारुहलदी को बकरा के मूत्र में भलीभाँति पीस कर, अञ्जन, पान एवं नस्य के रूप में प्रयुक्त करे। यह अगद—सर्प के, लूता के मूसा के, तथा विच्छू के विष में विसूचिका, अजीर्ण, गर दोष तथा ज्वर में और भूतावेश में स्वास्थ्य प्रदान करता है ॥ ८५ ।

विषोद्धरण की आवश्यकता—

प्रलेपाद्यैश्च निःशेषं दंशादप्युद्धरेद्विषम्।
भूयो वेगाय जायेत शेषं दूषीविषाय वा ॥ ८६ ॥

व्याख्या—उक्त लेपन आदि उपायों—उपचारों द्वारा दंशस्थल में से, समस्त विष निकाल देवे क्योंकि यदि थोड़ा भी विष शरीर में रह जाता है तो पुनः २ उसके वेग उत्पन्न हो सकते हैं अथवा दूषी विष के रूप में अन्यान्य रोगों की उत्पत्ति हो सकती है ।

वक्तव्य—दूषी विष-गरविष का वर्णन देखिये अ. ३५ में ॥ ८६ ॥

पश्चात्कर्म—

विषापायेऽनिलं क्रुद्धं स्नेहादिभिरुपाचरेत्।
तैलमद्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैः पवननाशकैः ॥ ८७ ॥
पित्तं पित्तज्वरहरैः कषायस्नेहबस्तिभिः।
समाक्षिकेण वर्गेण कफमारग्वधादिना ॥ ८८ ॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से विष की शान्ति हो जाने पर भी यदि कदाचित् वायु का प्रकोप हो जाय तो—सू. अ. १३ के अनुसार स्नेहन आदि उपचारों द्वारा वायु को शान्त कर देना चाहिये परन्तु उस दशा में-तैलों, मद्यों, कुलथी तथा अम्ल द्रव्यों के अतिरिक्त वातशामक द्रव्यों का प्रयोग करे। यदि पित्त का प्रकोप हो जाय तो-पित्त ज्वर नाशक स्वरस एवं हिम आदि कषायों, स्नेहों तथा वस्तियों का प्रयोग करके पित्त का शमन करना चाहिये। और यदि कफ का प्रकोप हो जाय तो आरग्वधादि गण (सू. अ. १५) के क्वाथ में मधु मिलाकर पीवे ॥

वक्तव्य—विष शान्ति के पश्चात् यदि कोई वातादि दोष जनित रोग उत्पन्न हो जाय तो उसकी चिकित्सा उन द्रव्यों से करे जो विषवर्द्धक न हों ॥८७-८८॥

सर्पाङ्गाभिहत एवं शंकाविष की चिकित्सा—

सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु।
पानं समन्त्रपूताम्बुप्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम् ॥ ८९ ॥
सर्पाङ्गाभिहते युञ्ज्यात्तथा शङ्काविषार्दिते।

व्याख्या—खण्ड, गन्धक, दाख, क्षीर विदारी तथा मुलेठी का क्वाथ मधु मिलाकर पीना, मन्त्राभिमन्त्रित जल का प्रोक्षण (सिञ्चन—छींटे देना), सान्त्वना देना तथा प्रसन्न रखना। यह सब सर्पाङ्गाभिहत में तथा शंका विष में—प्रयुक्त करना चाहिये ॥

वक्तव्य—सर्पाङ्गाभिहत तथा शंकाविष का वर्णन देखिये अ. ३६ के. श्लो० १३ एवं १४ ।८९।

दिव्योषधि धारण—

कर्केतनं मरकतं वज्रं वारणमौक्तिकम् ॥ ९० ॥

वैडूर्यं गर्दभमणिं पिचुकं विषमूषिकाम् ।
हिमवद्गिरिसम्भूतां सोमराजीं पुनर्नवाम् ॥ ९१ ॥
तथा द्रोणां महाद्रोणां मानसीं सर्पजं मणिम् ।
विषाणि विषशान्त्यर्थं वीर्यवन्ति च धारयेत् ॥९२॥

व्याख्या—विष की शान्ति के लिये निम्नलिखित द्रव्यों का यथा लाभ धारण करना चाहिये—यथा कर्केतन—माणिक्य नामक रत्न, मरकत—पन्ना नामक रत्न, हीरा, गजमुक्ता, वैडूर्य—लहसुनिया रत्न, गर्दभ मणि, पिचुक, विषमूषिका नामक औषधि, हिमालय पर्वत की वाकुची, पुंनर्नवा की जड़, द्रोणा, महाद्रोणा तथा ब्राह्मी नामक औषधि, सर्प की मणि तथा सिंगिया आदि तीव्र विष। इसके धारण से सुना जाता है सर्प आदि समीप नहीं आते ॥ ९०-९२ ॥

छत्र आदि का धारण—

छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ विशेषतः ।
यच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्ति भुजङ्गमाः ॥९३॥

व्याख्या—सर्वदा विशेषतः रात्रि में छाता लगाकर और हाथ में फटा बाँस लेकर चलना चाहिये क्योंकि छाता की छाया से और फटे बाँस के शब्द से डरकर सर्प भाग जाते हैं ॥ ९३ ॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतः कीटलूतादिविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

व्याख्या—अब कीटों एवं लूताओं का वर्णन एवं उनके विष की चिकित्सा कही जायगी और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि ऐसा कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. चि. अ २३ सु. क. अ. ८ तथा अ. सं. उ. अ, ४३, ४४ एवं ४५ में देखिये।

कीटों का वर्णन—

अथ कीटादिविषप्रतिषेधः ।

सर्पाणामेव विण्मूत्र-शुक्राण्डशवकोथजाः ।
दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च युक्ताःकीटाश्चतुर्विधाः ।।१॥
दष्टस्य कीटैर्वायव्यैर्दंशस्तोदरुजोल्वणः ।
आग्नेयैरल्पसंस्रावो दाहरागविसर्पवान् ॥२॥
पक्वपीलुफलप्रख्यः खर्जूरसदृशोऽथवा ।
कफाधिकैर्मन्दरुजः पक्वोदुम्बरसन्निभः ॥ ३ ॥
स्रावाढ्यः सर्वलिङ्गस्तु विवर्ज्यः सान्निपातिकैः ।
वेगाश्च सर्पवच्छोफो वर्धिष्णुर्विस्ररक्तता ॥ ४ ॥
शिरोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा भ्रमः श्वासोऽतिवेदना ।
सर्वेषां कर्णिका, शोफो, ज्वरः, कण्डूररोचकः ॥ ५ ॥

व्याख्या—सर्पों के—पुरीष, मूत्र, शुक्र, अण्डों एवं शव (मृत शरीर) के कोथ में उत्पन्न अनेक प्रकार के कीट (कीडे-कृमि) दोष भेद से चार प्रकार के होते हैं यथा—१-वात प्रकृति, २-पित्त प्रकृति, ३-कफ प्रकृति तथा ४-त्रिदोष प्रकृति। ये क्षुद्र क्रिमि होने पर भी बड़े भयानक होते हैं। वातप्रकृति कीट द्वारा दष्ट प्राणी का दंश स्थल भीषण व्यथा एवं वेदना से युक्त होता है। पित्त प्रकृति कीट का दंश स्थल-थोड़े स्राव वाला, दाह, लालिमा तथा विसर्प से युक्त होता है और परिपक्व पीलु फल कासा अथवा खजूर के फल कासा (पीला) होता है कफ प्रकृति कीट का दंश-मन्द २ वेदना वाला, तथा पके गूलर कासा लाल होता है। त्रिदोष प्रकृति कीट का दंशस्थल-स्राव युक्त तथा उक्त सब लक्षणों वाला होता है। इनमें त्रिदोष प्रकृति का दंश असाध्य होता है। उनके विष के वेग सर्पविष के वेगों के समान होते हैं और शोथ बढ़ता जाता है, रक्त में कच्चे मांस कीसी अप्रिय गन्ध, शिर एवं नेत्र में गुरुता मूर्च्छा, भ्रम, श्वास एवं अत्यन्त वेदना की उत्पत्ति हो जाती है और सभी कीटों के दंश में कर्णिकाकार ऊँचा शोथ, ज्वर, कण्डू तथा अरोचक आदि लक्षण होते हैं ॥ २-८ ॥

वक्तव्य—सु. क. अ. ८ तथा अ. सं उ. अ. ४३ के अनुसार ये कीट—१८ वात प्रकृति वाले, २४ पित्त प्रकृति वाले, १३ कफ प्रकृति वाले और १२ त्रिदोष प्रकृति वाले होते हैं। इनका अधिक विवरण लिखना कठिन है या तो मानव इन को भूल चुका है या वर्तमान समय में ये सब पाए ही नहीं जाते। इन में-वरटी (वर्रे या भिण्ड या भरिण्ड) भ्रमर—भौंरा तथा ब्राह्मणिका वामनी नामक कीट अवश्य देखे जाते हैं। हाँ शतपादक शतपदी-गोजर-खन्जखजूरा भी परिचित है ॥ १-५ ॥

वृश्चिक का वर्णन—

वृश्चिकस्य विषं तीक्ष्णमादौ दहति वह्निवत् ।
ऊर्ध्वमारोहति क्षिप्रं दंशे पश्चात्तु तिष्ठति । ६ ॥
दंशः सद्योऽतिरुक्श्यावस्तुद्यते स्फुटतीव च ।
ते गवादिशकृत्कोथाद्दिग्धदष्टादिकोथतः ॥ ७ ॥
सर्पकोथाच्च सम्भूता मन्द-मध्य-महाविषाः ।
मन्दाः पीताः सिताः श्यावा रूक्षकर्बुरमेचकाः ॥ ८ ॥
रोमशा बहुपर्वाणो लोहिताः पाण्डुरोदराः ।
धूम्रोदरास्त्रिपर्वाणो मध्यास्तु कपिलारुणाः ॥ ९ ॥
पिशङ्गाः शबलाश्चित्राः शोणिताभा महाविषाः ।
अग्न्याभा द्व्येकपर्वाणो रक्तासितसितोदराः ॥१०॥
तैर्दष्टः शूनरसनः स्तब्धगात्रो ज्वरार्दितः ।
खैर्वमन् शोणितं कृष्णमिन्द्रियार्थानसंविदन् ॥११॥

स्विद्यन् मूर्च्छन् विशुष्कास्यो विह्वलो वेदनातुरः ।
विशीर्यमाणमांसश्च प्रायशो विजहात्यसून् ॥१२॥

व्याख्या—विच्छू का विष तीक्ष्ण होता है, प्रथम उसके द्वारा दष्ट स्थान अग्नि के कोला के स्पर्श के समान जलता प्रतीत होता-दंश में दाह होता है और फिर ऊपर की ओर वेदना तरङ्ग के समान चढ़ती हुई प्रतीत होती हैं और घड़ी दो घड़ी कभी-कभी ५-७ घड़ी के पश्चात् केवल दंश में वेदना एवं दाह रह जाता है तत्काल दंश स्थल में अत्यन्त वेदना होती है, वह स्थान काला हो जाता है, वहाँ व्यथा होती है और वह स्थान फटता सा प्रतीत होता है। वे विच्छू तीन प्रकार के होते हैं—१-वे जो गौ एवं गधा आदि के पुरीष में उत्पन्न होते हैं और उनका विष मन्द-(हीन वीर्य) होता है। २-वे जो दिग्ध-विष दिग्ध शस्त्र से अथवा सर्प आदि काटने से मरे प्राणियों के सड़े शरीर से उत्पन्न होते हैं उनका विष मध्यम कोटि का होता है। और ३-वे जो सर्प के सड़े शरीर से उत्पन्न होते हैं उनका विष तीव्र होता है। जो विच्छू-पीले, श्वेत साँवले, रूक्ष, कर्बुर (चितकबरे), काले लोमों वाले, अनेक पर्वो पोरों (गाण्डों) वाले, लाल तथा श्वेत उदर वाले होते हैं वे "मन्द विष" होते हैं। जो विच्छू—धूमिल उदर वाले, पुच्छ प्रदेश में तीन पर्वो वाले, कपिल वर्ण तथा अरुण वर्ण वाले, पिंगल वर्ण वाले, शवल (कर्बुर) वर्ण वाले, विचित्र वर्ण वाले तथा लाख वर्ण वाले मध्य विष होते हैं—इनका विष मध्यम कोटि का होता है। जो विच्छू—अग्नि के समान वर्ण वाले, दो अथवा एक पर्व वाले और उदर भाग में लाल, काले अथवा श्वेत वर्ण वाले होते हैं वे महाविष होते हैं- उनका विष अत्यन्त तीव्र होता है। इन महाविष विच्छुओं द्वारा दशने पर जीभ सूज जाती है, शरीर स्तब्ध हो जाता है, ज्वर चढ़ जाता है, नासा आदि छिद्रों से काला रक्त बहने लगता है, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से शब्द आदि का ज्ञान नहीं होता, पसीना आता है, मूर्च्छा हो जाती है, मुख सूखता है, व्याकुलता होती है, वेदना सताती है, और मांस फटने लगता है तथा मृत्यु हो जाती है ॥

वक्तव्य—जैसे सर्प के दशनों (दन्तों) में विष होता है अथवा यों कहिये कि दन्तों के मार्ग से अन्य प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होता है वैसे विच्छू की पूंछ में एक सूई कासा डंक होता है जिस में से होकर विष अन्य प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होता है। सामान्यतः मन्द विच्छू देखे जाते हैं। शाखाओं में दंशन होने पर ऊपर की ओर भेदन कीसी वेदना चढ़ती प्रतीत होती है यथा—अंगुलि पर काटने से कांख पर्यन्त और पांव में काटने से वंक्षण सन्धि पर्यन्त वेदना की लहरें उठती प्रतीत होती हैं। इस समय भीषण बेचैनी होती है ॥ ६-१२ ॥

उच्चिटिङ्ग कीट का वर्णन—

उच्चिटिङ्गस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः ।
साध्यतो वृश्चिकात्स्तम्भं शेफसो हृष्टरोमताम् ॥१३॥
करोति सेकमङ्गानां दंशः शीताम्बुनेव च ।
उग्रधूमः स एवोक्तो रात्रिचाराच्च रात्रिकः ॥ १४ ॥

व्याख्या—उच्चिटिङ्ग नामक कीट-मुख से काटता है और साध्य-मन्दविष विच्छू की अपेक्षा अधिक व्यथा होती है और शिश्न स्तब्ध हो जाता है, रोमाञ्च होता है तथा प्रतीत होता है जैसे समस्त शरीर शीतल जल से सींच दिया गया हो अर्थात् ठण्ढे पसीने आते हैं। इस कीट का नाम उग्रधूम है और रात्रि में घूमने के कारण "रात्रिक" भी है ॥

वक्तव्य—सु. क. अ. ८ में इसे वात प्रकृति का कीट माना है। श्लोक ५। यह कीट ऊँट के समान वर्ण वाला होता है (अ. सं.) ॥१३-१४॥

कीटों की प्रकृति तथा चिकित्सा का संकेत—

वातपित्तोत्तराः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभोन्दुराः ।
प्रायो वातोल्वणविषा वृश्चिकाः सोग्रधूमकाः ॥१५॥
यस्य यस्यैव दोषस्य लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत् ।
तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः, क्रियाम् ॥१६॥

व्याख्या—सभी कीट-वात पित्त प्रधान प्रकृति वाले होते हैं विशेषतः—कणभ एवं उन्दर नामक कीट कफ प्रकृति वाले होते हैं और विच्छू एवं उच्चिटिङ्ग नामक कीट प्रायः वात प्रकृति वाले होते हैं। जहां २ जिस २ दोष की अधिकता-प्रबलता दिखाई देवे वहाँ उस २ दोष के विपरीत गुण वाली औषधों से चिकित्सा करे ॥ १६ ॥

वक्तव्य—विकार साधनाऽभेदात भेदाः सन्तोऽपि नोदिताः ।
(अ. सं. उ. अ. ४३)—अर्थात्—कीटों के विष के लक्षण विकार तथा उनकी चिकित्सा में भेद न होने के कारण अनेक भेद होने पर भी यहां उनका वर्णन नहीं किया गया है। केवल वातादि भेद से संकेत कर दिया गया है। जिस प्रकृति का कीट होता है उसका विष भी उसी प्रकृति का होता है।

वातादि कोपक विष के लक्षण—

हृत्पीडोर्ध्वानिलस्तम्भः सिरायामाऽस्थिपर्वरुक् ।
घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे ॥१७॥
संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता ।
मांसावदरणं शोफो रक्तः पीतश्च पैत्तिके ॥ १८ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशपीनसैः ।
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—यदि विष–वात प्रधान होता है तो—हृदय में पीड़ा, उद्गार की प्रवृत्ति, शरीर की स्तब्धता, सिराओं का तनाव, अस्थियों एवं पर्वों में वेदना, घुमटा–चक्र, एण्ठन, तथा साँवला पन आदि लक्षण होते हैं। यदि विष पित्त प्रधान होता है तो—संज्ञा नाश, श्वास में उष्णता, हृदय में दाह, मुख में कटुता, मांस फटना तथा शोथ पर लालिमा एवं पीलापन आदि पित्त के लक्षण होते हैं। यदि विष कफ प्रधान होता है तो—छर्दि, अरोचक, मिचली, लालास्राव, उत्क्लेश, पीनस, शीत लगना तथा मुख में मीठापन आदि कफ के लक्षण होते हैं ॥ १८–१९ ॥

चिकित्सा—

पिण्याकेन व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके।
नाडीस्वेदः पुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥ २० ॥
पैत्तिकं स्तम्भयेत्सेकैः प्रदेहैश्चातिशीतलैः।
लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥ २१ ॥
कीटानां त्रिप्रकाराणां वित्रैश्यन प्रतिक्रिया।
स्वेदालेपनसेकांस्तु कोष्णान् प्रायोऽवचारयेत् ॥ २२ ॥
अन्यत्र मूर्च्छितादृदंश पाकतः कोथतोऽथवा।

व्याख्या—वात प्रधान विष में—दंश स्थलपर खली का लेप करे, तिल तैल का अभ्यंग करे, नाडी स्वेद एवं पुलाक स्वेद आदि विधि से स्वेदन करे और बृंहण का सेवन करे। पित्त प्रधान विष में—अत्यन्त शीतल सेचन एवं लेपन करे। कफ प्रधान विष में—लेखन, छेदन, स्वेदन तथा वमन का प्रयोग करे। इस प्रकार तीन प्रकार के कीटों की तीन प्रकार की चिकित्सा बतला दी गई है। इनके विष में कोसे २ स्वेदन, लेपन तथा सेचन करे परन्तु मूर्छा, दंश का पाक तथा दंश की सड़न हो तो शीतल लेपन एवं सेचन करे ॥

वक्तव्य—च. चि. अ. २२ में पिण्याकेन व्रणालेपः पाठ के स्थान में—खण्डेन च व्रणालेपः पाठ है (श्लो. १७०)।

विष नाशक धूप—

नृकेशाः सर्षपा पीता गुडो जीर्णश्च धूपनम् ॥ २३ ॥
विषदंशस्य सर्जस्य काश्यपः परमब्रवीत्।

व्याख्या—महर्षि काश्यप का कथन है कि—नर के केश, पीली सरसों तथा पुराना गुड़ मिलाकर धूप देने से सब प्रकार के विष शान्त हो जाते हैं ॥ २३ ॥

चिकित्सा संकेत—

विषघ्नं च विधिं सर्वं कुर्यात्संशोधनानि च ॥२४॥
साधयेत्सर्पवद्दष्टान् विषोग्रैः कीटवृश्चिकैः।

व्याख्या—सब प्रकार के कीट विषों में—सब प्रकार विष नाशक चिकित्सा एवं वमन विरेचन करे। उग्र विष वाले कीटों एवं बिच्छुओं के विष में सर्प विष के समान चिकित्सा करे ॥ २४ ॥

विरेचन योग—

तण्डुलीयकतुल्यांशां त्रिवृतां सर्पिषा पिबेत् ॥ २५ ॥
याति कीटविषैः कम्पं न कैलास इवानिलैः।

व्याख्या—अन्यान्य लेपन एवं धूपन आदि उपचारों के साथ २ यदि चौलाई की जड़ तथा निसोत का चूर्ण घृत में मिलाकर पी लिया जाय तो विष का शरीर पर कोई प्रभाव नहीं होता जैसे कैलाश पर्वत पर वायु का कोई प्रभाव नहीं होता (वायु के प्रभाव से कैलाश पर्वत हिल नहीं सकता) ॥ २५ ॥

अन्यान्य योग—

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धेः कीटविषापहः ॥ २६ ॥
मुक्तालेपो वरः शोफतोददाहज्वरप्रणुत्।
वचाहिङ्गुविडङ्गानि सैन्धवं गजपिप्पली ॥ २७ ॥
पाठा प्रतिविषा व्योषं काश्यपेन विनिर्मितम्।
दशाङ्गमगदं पीत्वा सर्वकीटविषं जयेत् ॥ २८ ॥

व्याख्या—वमन विरेचन द्वारा शोधन होने के पश्चात् दंश पर बट आदि क्षीरी वृक्षों की छाल का लेप कीट विष को नष्ट करता है; मोती का लेप—शोथ, व्यथा, दाह तथा ज्वर को नष्ट करता है। महर्षि काश्यप का कथन है कि—बालवच, हींग, विडंग, सैन्धव लवण, गजपीपल, पाठा, अतीस तथा त्रिकटु का अगद पीने से सब प्रकार के कीटों का विष शान्त हो जाता है। इसका नाम "दशाङ्ग" है। त्रिकटु के तीनों द्रव्य पृथक् २ लिये जायँ जिससे "दशाङ्ग" नाम सार्थक हो ॥ २६–२८ ॥

बिच्छू के विष की चिकित्सा—

सद्यो वृश्चिकजं दंशं चक्रतैलेन सेचयेत्।
विदारिगन्धासिद्धेन कवोष्णेनेतरेण वा ॥ २९ ॥
लवणोत्तमयुक्तेन सर्पिषा वा पुनः पुनः।
सिञ्चेत्कोष्णारनालेन सक्षीरलवणेन वा ॥ ३० ॥
उपनाहो घृते भृष्टः कल्कोऽजाज्याः ससैन्धवः।
आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छाय प्रतिसारयेत् ॥ ३१ ॥
रजनासैन्धवव्योषशिरीषफलपुष्पजैः।
मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाग्रजम् ॥ ३२ ॥
लेपः सुखोष्णश्च हितः पिण्याको गोमयोऽपि वा।
पाने सर्पिर्मधुयुतं क्षीरं वा भूरिशर्करम् ॥ ३३ ॥
पारावतशकृत्पथ्यातगरं विश्वभेषजम्।
बीजपूररसोन्मिश्रः परमो वृश्चिकागदः ॥ ३४ ॥
सशैवलोष्ट्रदंष्ट्रा च हन्ति वृश्चिकजं विषम्।
हिङ्गुना हरितालेन मातुलुङ्गरसेन च ॥ ३५ ॥
लेपाञ्जनाभ्यां गुटिका परमं वृश्चिकापहा।

करञ्जार्जुनशैलूनां कटभ्याः कुटजस्य च ॥ ३६ ॥
शिरीषस्य च पुष्पाणि मस्तुना दंशलेपनम् ।

व्याख्या—विच्छू के दंश स्थल पर तत्काल चक्रतैल (कोल्हू के कच्चे तैल) का सेचन करे। अथवा शालपर्णी के योग से सिद्ध तेल से सेचन करे अथवा चक्रतैल को कोसा करके सेचन करे। अथवा घृत में सैन्धव लवण मिलाकर बार २ सेचन करे। अथवा—कांजी को कोसा करके सेचन करे अथवा कांजी में दूध एवं लवण मिलाकर सेचन करे। जीरा एवं सैन्धव लवण का कल्क बनाकर एवं घृत में तलकर लेप करे। अथवा स्थल के आसपास उष्णोदक से स्वेदन करके, हल्दी, सैन्धव लवण, सोंठ, मरिच, पीपल, सिरस के बीजों तथा पुष्पों का चूर्ण मले। स्वेदन के अनन्तर दंश स्थल पर पच्छ लगाकर मलना चाहिये। अथवा—तुलसी के पुष्पों को निम्बू, कांजी तथा गोमूत्र में पीसकर लेप करे। अथवा खली अथवा गोबर को कोसा करके लेप करे। अथवा—दूध में घृत, मधु तथा पर्याप्त मात्रा में खण्ड मिलाकर पीवे। विच्छू के विष के लिये—कबूतर की बीठ, हरड़, तगर तथा सोंठ के चूर्ण को निम्बू के रस में मिलाकर लेपन एवं पान में प्रयुक्त करे। यह उत्तम कोटिका "वृश्चिकागद" है। अथवा—ऊँट की दाढ़ सिवार में घिसकर लेप करे और हींग तथा हरिताल को निम्बू के रस में पीसकर गोली बनावे और उसका लेप तथा नेत्र में अंजन करने से विच्छू का विष शान्त हो जाता है। अथवा—करंज के, अर्जुन के, लिसोड़ा के, कटभी के, कुरैया के तथा सिरस के पुष्पों को मधु में पीसकर विच्छू के दंशपर लेप करे ॥ २९-३६ ॥

अन्यान्य उपचार—

यो मुह्यति प्रश्वसिति प्रलपत्युग्रवेदनः ॥ ३७ ॥
तस्य पथ्यानिशाकृष्णा-मञ्जिष्ठातिविषोषणम् ।
सालाबुवृन्तं वार्ताकरसपिष्टं प्रलेपनम् ॥ ३८ ॥
सर्वत्र चोग्रालिविषे पाययेद्दधिसर्पिषी ।
विध्येत्सिरां विदध्याच्च वमनाञ्जननावनम् ।
उष्णस्निग्धाम्लमधुरं भोजनं चानिलापहम् ॥ ३९ ॥
नागरं गृहकपोतपुरीषं बीजपूररसं हरितालम् ।
सैन्धवं च विनिहन्त्यगदोऽयं लेपतोऽलिकुलजं विषमाशु ॥
अन्ते वृश्चिकदष्टानां समुदीर्णे भृशं विषे ।
विषेणालेपयेद्दंशमुच्चिटिङ्गेऽप्ययं विधिः ॥ ४१ ॥
नागपुरीषच्छत्रं रोहिषमूलं च शेलुतोयेन ।
कुर्याद् गुटिकां लेपादियमलिविषनाशनी श्रेष्ठा ॥४२॥
अर्कस्य दुग्धेन शिरीषबीजं
त्रिर्भावितं पिप्पलिचूर्णमिश्रम् ।
एषोऽगदो हन्ति विषाणि कीट-
भुजङ्गलूतोन्दुरवृश्चिकानाम् ॥ ४३ ॥
शिरीषपुष्पं सकरञ्जबीजं
काश्मीरजं कुष्ठमनःशिले च ।
एषोऽगदो रात्रिकवृश्चिकानां
सङ्क्रान्तिकारी कथितो जिनेन ॥४४॥

व्याख्या—विच्छू के विष के प्रभाव से जब मोह हो, श्वास बढ़ गया हो, प्रलाप हो तथा भीषण वेदना हो तब हरड, हल्दी, पीपल, मंजीठ, अतीस, मरिच तथा लौकी के कोमल पत्र लेकर भण्टा के रस में पीसकर लेप करे। तीव्र विषवाले सब विच्छुओं के विष विकार में दही एवं घृत मिलाकर पिलावे। और सिरावेध द्वारा रक्त स्रावण करे तथा वमन, अम्ल तथा मधुर भोजन एवं वातनाशक उपचार करे। नागरादि अगद - सोंठ, गृह कपोत (पालतू कबूतर) की बीठ, हरिताल तथा सैन्धव लवण को निम्बू के रस में पीसकर लेप करे। यह अगद सब प्रकार के विच्छुओं के विष को शान्त करता है। यदि हाथ पाँव आदि की अंगुलियों में विच्छू का दंश हो और विष का प्रभाव अत्यन्त उग्र हो तो दंश स्थल पर स्थावर विष (सिंगिया अथवा संखिया) का लेप कर देवें। उच्चिटिंग के विष में भी यही उपचार करे। विष नाशक गुटिका—हाथी के पुरीष पर उत्पन्न छत्र (खुम्ब) तथा रोहिष तृण का मूल लेकर लिसोड़ा के स्वरस में पीसकर गोली बनावे। यह गोली लेप करने से विच्छू के विष को नष्ट करती है। शिरीषादि अगद—सिरस के बीज तथा पीपल का चूर्ण बनाकर आक के दूध की तीन भावना देकर गोली बना लेवे। इसका लेप करने से—कीटों का लूता का, मूषक का तथा विच्छू का -विष शान्त हो जाता है। संक्रान्तिकारी अगद - सिरस के फूल, करंज के बीज, कश्मीर देश का कूठ तथा मैनसिल लेकर और जल में पीसकर लेप करे। यह अगद—उच्चिटिंग तथा विच्छू के विष को शान्त करता है। इसका उपदेश भगवान् जिन ने किया था ॥

वक्तव्य—हरिताल एवं संखिया आदि के लेप से फफोला पड़ जाता है उससे लाभ ही होता है ॥३७-४४॥

लूता का वर्णन—

अथ लूताविषविज्ञानम् ।

कीटेभ्यो दारुणतरा लूताः षोडश ता जगुः ।
अष्टाविंशतिरित्येके ततोऽप्यन्ते तु भूयसीः ॥ ४५ ॥
सहस्ररश्म्यनुचरा वदन्त्यन्ये सहस्रशः ।
बहूपद्रवरूपा तु लूतैकैव विषात्मिका ॥ ४६ ॥
रूपाणि नामतस्तस्या दुर्ज्ञेयान्यतिसङ्करात् ।

नास्ति स्थानव्यवस्था च दोषतोऽतः प्रचक्ष्यते ॥४७॥
कृच्छ्रसाध्या पृथग्दोषैरसाध्या निचयेन सा ।
तद्दंशः 'पैत्तिको' दाह-तृट्स्फोटज्वरमोहवान् ॥४८॥
भृशोष्मा रक्तपीताभः क्लेदी द्राक्षाफलोपमः ।
श्लैष्मिकः कठिनः पाण्डुः परूषकफलाकृतिः ॥ ४९ ॥
निद्रां शीतज्वरं कासं कण्डूं च कुरुते भृशम् ।
वातिकः परुषः श्यावः पर्वभेदज्वरप्रदः ॥ ५० ॥
तद्विभागं यथास्वं च दोषलिङ्गैर्विभावयेत् ।
असाध्यायां तु हृन्मोह-श्वासहिध्माशिरोरुजाः ॥५१॥
श्वेताः पीताः सिता रक्ताः पिटिकाः श्वयथूद्भवः ।
वेपथुर्वमथुर्दाहस्तृडान्ध्यं वक्रनासता ॥ ५२ ॥
श्यावौष्ठवक्त्रदन्तत्वं पृष्ठग्रीवावभञ्जनम् ।
पक्वजम्बूसवर्णं च दंशात्स्रवति शोणितम् ॥ ५३ ॥
सर्वापि सर्वजा प्रायो व्यपदेशस्तु भूयसा ।
तीक्ष्णमध्यावरत्वेन सा त्रिधा, हन्त्युपेक्षिता ॥ ५४ ॥
सप्ताहेन दशाहेन पक्षेण च परं क्रमात् ।
लूतादंशश्च सर्वोऽपि दद्रुमण्डलसन्निभः ॥ ५५ ॥
सितोऽसितोऽरुणः पीतः श्यावो वा मृदुरुन्नतः ।
मध्ये कृष्णोऽथवा श्यावः पर्यन्ते जालकावृतः ॥५६॥
विसर्पवांश्छोफयुतस्तप्यते बहुवेदनः ।
ज्वराऽऽशुपाक-विक्लेद कोथाऽवदरणाऽन्वितः ॥५७॥
क्लेदेन यत्स्पृशत्यङ्गं तत्राऽपि कुरुते व्रणम् ।
श्वासदंष्ट्राशकृन्मूत्र-शुक्रलालानखार्तवैः ॥ ५८ ॥
अष्टाभिरुद्वमत्येषा विषं वक्त्रैर्विशेषतः ।
लूता नाभेर्दशत्यूर्ध्वमूर्ध्वं वाऽधश्च कीटकाः ॥ ५९ ॥
तद्दूषितं च वस्त्रादि देहे पृक्तं विकारकृत् ।
दिनार्धं लक्ष्यते नैव दंशो लूताविषोद्भवः ॥ ६० ॥
सूचीव्यधवदाभाति ततोऽसौ प्रथमेऽहनि ।
अव्यक्तवर्णः प्रचलः किंचित्कण्डूरुजान्वितः ॥ ६१ ॥
द्वितीयेऽभ्युन्नतोऽन्तेषु पिटकैरिव वा चितः ।
व्यक्तवर्णो नतो मध्ये कण्डूमान् ग्रन्थिसन्निभः ॥ ६२ ॥
तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमण्डलः ।
शरावरूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु संस्रवः ॥ ६३ ॥
महांश्चतुर्थे श्वयथुस्तापश्वासभ्रमप्रदः ।
विकारान् कुरुते तांस्तान् पञ्चमे विषकोपजान् ॥ ६४ ॥
षष्ठे व्याप्नोति मर्माणि सप्तमे हन्ति जीवितम् ।
इति तीक्ष्णं विषं मध्यं हीनं च विभजेदतः ॥ ६५ ॥
एकविंशतिरात्रेण विषं शाम्यति सर्वथा ।

व्याख्या—कीटों से भी भीषण लूता कही जाती है। कुछ आचार्य १६ कुछ २८ तथा कुछ अनेक संख्यक मानते हैं और सूर्योपासक आचार्यों का कथन है लूता सहस्रों प्रकार की होती हैं। परन्तु आचार्य वाग्भट का कथन है कि—लूता एक ही होती है और वह विषैली होती है। उस एक लूता के नामानुसार अर्थात् जो नाम सुश्रुत कल्प अ. ८ में तथा अ. सं. उ. अ. ४४ में कहे गये हैं उनके अनुसार लूताओं के रूपों को जानना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उनका वंश संकीर्ण हो गया है और अब उनके स्थान की भी कोई व्यवस्था नहीं रह गई है कि वे कहाँ होती हैं और कैसी होती हैं अथवा किन नामों से पुकारी जाती हैं। इसलिये हम दोषानुसार ही उनका वर्णन कर रहे हैं। वे वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक लूता कष्ट साध्य होती हैं और सान्निपातिक असाध्य होती हैं। उनका पैत्तिक दंश—दाह, तृषा, स्फोट, ज्वर तथा मोह से युक्त होता है और उस दंश में अत्यन्त ऊष्मा होती है तथा उसका वर्ण लाल एवं पीला सा होता है और उसमें से जो पन्छा निकलता है वह दाख के फल जैसा होता है। श्लैष्मिक दंश—कठोर, श्वेत वर्ण वाला तथा फालसा के फल जैसा होता है। उससे निद्रा अधिक आती है, शीत ज्वर होता है, कास तथा कण्डू अधिक होती है। वातिक दंश—खरदरा तथा साँवला होता है और उससे पर्वों में टूटने कीसी वेदना तथा ज्वर होता है। इस प्रकार लूताओं के भेद उक्त प्रकार से दोषों के लक्षण देख कर समझने का प्रयत्न करना चाहिये। असाध्य अर्थात् सान्निपातिक लूता के दंश से—मनोमोह श्वास, हिक्का तथा शिरो वेदना श्वेत, पीत, कृष्ण तथा रक्त पिटिकाओं एवं शोथों की उत्पत्ति, कम्पन, छर्दि; दाह, तृषा, अन्धता, नासापाक, ओंठ, मुख तथा दन्तों में साँवलापन, पीठ तथा ग्रीवा का भंग और दंश में से जामुन के पके फल के समान वर्ण वाले रक्त का स्राव। ये लक्षण होते हैं। प्रायः सभी लूता सान्निपातिक होती हैं केवल लक्षणों की अधिकता से वातिक आदि भेद माने जाते हैं। विधि भेद से लूता तीन प्रकार की होती हैं—१—तीक्ष्ण, २—मध्य तथा ३—अवर-मन्द विष वाली। उसके दंश का उचित उपचार समय पर न होने से—तीक्ष्ण विष लूता १ सप्ताह में, मध्य विष लूता १० दिन में तथा मन्दविष लूता १५ दिन में मार डालती है।

लूता दंश का सामान्य लक्षण—

सभी लूताओं का दंश—दद्रू के मण्डल (चप्पड़) जैसा होता है और वर्णतः—श्वेत, काला, लाल, पीला तथा साँवला होता है, मृदु तथा उन्नत होता है, मध्य भाग में काला अथवा साँवला होता है, सब ओर से जाल के आकार में ढका-घिरा रहता है और विसर्प के समान फैलने वाला तथा शोथ युक्त होता है, तपता है तथा अधिक वेदना युक्त होता है,

उससे ज्वर बना रहता है वह शीघ्र पकता है, सड़ता है तथा फटता है और उसमें से पन्छा बहता है उस पन्छा का जहाँ स्पर्श होता है वहीं व्रण हो जाता है।

विष उगलने का वर्णन—

लूता आठ प्रकार से अपना विष उगलती है—१. श्वास से, २. दन्तों से, ३. पुरीष से, ४. मूत्र से, ५. शुक्र से, ६. लार से, ७. नख से तथा ८. रजस् से और विशेष रूप में मुख से उगलती है। कहा जाता है कि लूता नाभि प्रदेश से ऊपर के भाग में काटती है और अन्य कीट समस्त शरीर में कहीं भी काट लेते हैं। लूता के श्वास एवं पुरीष आदि से दूषित वस्त्र आदि का जहाँ स्पर्श हो जाता है वहीं विष विकार उत्पन्न हो जाता है। लूता विष का दंश ४ प्रहर तो ज्ञात ही नहीं होता और फिर प्रथम दिन (८ प्रहर)-सूई से विद्ध व्रण कासा प्रतीत होता है, वर्ण में कुछ अन्तर नहीं पड़ता, कुछ फैलता है तथा वहाँ कुछ २ कण्डू एवं वेदना का अनुभव होता है। दूसरे दिन—कुछ ऊँचा हो जाता है और सब ओर छोटी २ पिटिका उत्पन्न हो जाती हैं, वर्ण स्पष्ट हो जाता है—दोषानुसार दंश स्थल का वर्ण (श्लोक ५०–५६ देखिये) स्पष्ट दिखने लगता है, शोथ मध्यभाग में अवनत हो जाता है, उसमें कण्डू होती है और वह ग्रन्थि कासा हो जाता है। तीसरे दिन—ज्वर चढ़ जाता है, रोमाञ्च होता है, मण्डल लाल हो जाता है और आकार में खिलौरा कासा हो जाता है, वहाँ व्यथा होती है तथा रोम कूपों में से स्राव होने लगता हैं। चौथे दिन—शोथ बढ़ा हो जाता है और सन्ताप, श्वास एवं भ्रम की उत्पत्ति हो जाती है और पाँचवें दिन-विष के प्रकोप से उत्पन्न पूर्वोक्त विकार उत्पन्न होते हैं। छठे दिन—हृदय आदि मर्म स्थलों में विष व्याप्त हो जाता हैं। और सातवें दिन मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार तीक्ष्ण विष, मध्य विष का विकार २१ दिन में शान्त भी हो सकता है॥

वक्तव्य—लूताओं की आदिम उत्पत्ति के विषय में सुश्रुत ने लिखा है कि—विश्वामित्र ने महर्षि वशिष्ठ को कुपित कर दिया था, कोप के कारण श्री वशिष्ठ के मस्तक से जो स्वेद के विन्दु गिरे उनसे लूता की उत्पत्ति हुई थी। इसके अतिरिक्त अ० सं. में लिखा है कि खाण्डव वन में जलते असुरों के शरीर से जो अग्नि कण निकले उनसे लूता की उत्पत्ति हुई। ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है और कुछ का कथन है कि—आहार के दोष से जो विषैले स्फोट निकलते हैं वे लूता कहे जाते हैं। आज का मानव उनके संबन्ध में अनभिज्ञ है किन्तु कहीं २ के मानव उसे "मकड़ी" कहते हैं। और कहीं २ स्फोट—शीतला को भी लूता कहते हैं। जो हो ॥६५॥

लूता की चिकित्सा—

अथ लूतादिविषप्रतिषेधः।

अथाशु लूतादष्टस्य शस्त्रेण दंशमुद्धरेत् ॥ ६६ ॥
दहेच्च जाम्बवौष्ठाद्यैर्न तु पित्तोत्तरं दहेत्।
कर्कशं भिन्नरोमाणं मर्मसन्ध्यादिसंश्रितम् ॥ ६७ ॥
प्रसृतं सर्वतो दंशं न छिन्दीत दहेन्न च।
लेपयेदगधमगदैर्मधुसैन्धवसंयुतैः ॥ ६८ ॥
सुशीतैःसेचयेच्चानु कषायैः क्षीरिवृक्षजैः।

व्याख्या—लूता के दंश में—दंश को तत्काल शस्त्र कर्म द्वारा मूलतः निकाल देवे और जाम्बवोष्ठ आदि से दाह कर्म कर देवे परन्तु यदि दंश पित्त प्रधान लूता का हो तो दाह कर्म न करे। और यदि दंश-खरदरा हो, वहाँ के रोम उखड़ गये हों और अथवा सन्धि आदि पर हो तों न शस्त्र द्वारा छेदन करे और न अग्नि कर्म द्वारा जलावे जैसा ऊपर कहा गया है। और दाह कर्म के अनन्तर मधु एवं सैन्धव लवण से मिश्रित किसी अगद का लेप करे और फिर वट आदि क्षीरी वृक्ष के हिम आदि कषायों से सेचन करे ॥ ६६–६८ ॥

रक्त स्रावण आदि उपचार—

सर्वतोऽपहरेद्रक्तं शृङ्गाद्यैः सिरयाऽपि वा ॥ ६९ ॥
सेकालेपास्ततः शीता बोधिश्लेष्मान्तकाक्षकैः।

व्याख्या—दंश स्थल पर से सिंगी एवं जोंक आदि द्वारा अथवा सिरा वेध द्वारा सर्व शरीर व्यापी दूषित रक्त को निकाल देवे। तत्पश्चात्—पीपल वृक्ष, लिसोड़ा तथा, बहेड़ा वृक्ष की छाल के शीतकषाय से सेचन करें और कल्क से लेप करे ॥ ६९ ॥

पद्म अगद—

फलिनीद्विनिशाक्षौद्र-सर्पिर्भिः पद्मकाह्वयः ॥ ७० ॥
अशेषलूताकीटानामगदः सार्वकामिकः।

व्याख्या—प्रियंगु, हलदी, दारु हलदी की छाल मधु तथा घृत मिला कर बनाया गया योग-सब प्रकार के लूता के विष को नष्ट करता है। इसका प्रयोग लेप, नस्य एवं पान आदि सब प्रकार से किया जाता है और इसका नाम "पद्मक" अगद है ॥७०॥

चम्पक अगद—

हरिद्राद्वयपत्तङ्गमञ्जिष्ठानतकेसरैः ॥ ७१ ॥
सक्षौद्रसर्पिः पूर्वस्मादधिकश्चम्पकाह्वयः।
वद्धदूगोमयनिष्पीडशर्करा घृतमाक्षिकैः ॥७२॥

व्याख्या—हलदी, दारु हलदी की छाल, पतङ्ग काष्ठ, मञ्जीठ तगर तथा नाग केसर का चूर्ण—मधु एवं घृत में

मिला कर लेप आदि सब कर्मों में प्रयुक्त करने से उक्त पद्मक नामक अगद से भी अधिक लाभ होता है। इसका नाम "चम्पक" अगद है और गोबर का रस, खण्ड, घृत मधु मिला कर उसी प्रकार प्रयोग करने से लाभ होता है ॥ ७१–७२ ॥

मन्दर तथा गन्ध मादन अगद—

अपामार्गमनोह्वाऽऽलदार्वीध्यामकगैरिकैः।
नतैलाकुष्ठमरिच-यष्ट्याह्वघृतमाक्षिकैः ॥ ७३ ॥
अगदो मन्दरो नाम तथाऽन्यो गन्धमादनः।
नतरोध्रवचाकट्वी-पाठैलापत्र कुङ्कुमैः ॥७४॥

व्याख्या—अपामार्ग का मूल, मैनसिल, हरिताल, दारुहल्दी की छाल सुगन्धी तृण, गेरु, तगर, छोटी इलायची, कूठ, मरिच, मुलेठी, घृत तथा मधुके योगसे बनाया गया अगद "मन्दर" कहलाता है। और तगर, लोध, बालवच, कुटकी, पाठा, छोटी इलायची, तेजपत्ता तथा काश्मीरी केशर मिलाकर बनाया गया अगद "गन्धमादन" कहलाता है। इनका प्रयोग लूता आदि के विष नाशनार्थ किया जाता है ॥७३–७४॥

शोधन का विधान—

विषघ्नं बहुदोषेषु प्रयुञ्जीत विशोधनम्।

व्याख्या—लूता विष के विकार यदि अधिक हों तो विष नाशक द्रव्यों के योग से वमन एवं विरेचन करे ॥

वमन योग—

यष्ट्याह्वमदनाङ्कोल्लजालिनीसिन्दुवारकाः ॥७५॥
कफे श्लेष्माम्बुना पीत्वा विषमाशु समुद्धरेत्।
शिरीषपत्रत्वङ्मूलफलं वाङ्कोल्लमूलवत् ॥७६॥

व्याख्या—मुलेठी, मैनफल, अंकोंट के फल, जालिनी (कोशातकी नामक कडुवी तरोई) तथा सम्भालू की जड़ को चावलों के धोअन के साथ पीकर वमन करे इससे—विष का अंश कफ के साथ निकल जाता है। अथवा—सिरस के पत्र, त्वचा, मूल तथा बीज एवं अंकोल की जड़ को पीसकर चावलों के धोअन के साथ पीकर वमन करे ॥ ७५–७६ ॥

विरेचन योग—

विरेचयेच्च त्रिफला-नीलिनीत्रिवृतादिभिः।

व्याख्या—और त्रिफला, नील की जड़ तथा निसोत आदि के प्रयोग से विरेचन करे। इस प्रकार विरेचन के साथ विष निकल जाता है ॥

कर्णिका पातन—

निवृत्ते दाहशोफादौ कर्णिकां पातयेत् व्रणात् ॥ ७७ ॥
कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट्।
त्रिवृतासैन्धवं दन्ती कर्णिकापातनं तथा ॥ ७८ ॥

मूलमुत्तरवारुण्या वंशनिर्लेखसंयुतम्।
तद्वच्च सैन्धवं कुष्ठं दन्ती कटुकरोहिणी ॥७९॥
राजकोशातकीमूलं किणो वा मथितोद्भवः।
कर्णिकापातसमये बृंहयेच्च विषापहैः ॥८०॥

व्याख्या—कीट एवं लूता आदि के दंश स्थल का दाह एवं शोथ आदि शांत हो जाने पर व्रण में से कर्णिका निकाल देवे। उसको निकालने का उपाय यह है कि—कुसुम्भ के पुष्प, गौका दन्त, सत्यानाशी की जड़, कबूतर की बीठ, निसोत, सैन्धव लवण तथा दन्ती की जड़ को जल में पीस कर दंश व्रण पर लेप कर देवे अथवा इन्द्र वारुणी की जड़ तथा बाँस के कण्टक जल में पीस कर लेप करे अथवा—सैन्धव लवण, सुगन्धी कूठ, दन्ती मूल, कुटकी तथा तुम्बिका को पीस कर लेप करे अथवा—राज कोशातकी को पीस कर लेप करे। अथवा तक्र का गाढ़ा भाग (पनीर) लेकर लेप करे। इनमें से किसी लेप से दंश की कर्णिका निकल जाती है। और कर्णिका पातन के समय और उसके पश्चात् विष नाशक आहार एवं औषध के प्रयोग से रोगी को पुष्ट करने का प्रयत्न करे।

वक्तव्य—कर्णिका—दंश स्थल में कमल की कर्णिका जैसी ग्रन्थि का जाल बन जाता है, उसमें विष का बीज रहता है। आवश्यक है कि उसे भी निकाल दिया जाय। जहाँ कर्णिका होती है वह व्रण स्थिर एवं वेदनायुक्त होता है उसे फाड़ कर कर्णिका निकाल दी जाती है और व्रणोपचार से व्रण का रोपण कर दिया जाता है ॥७७–८०॥

विष में घृत का महत्त्व—

स्नेहकार्यमशेषं च सर्पिषैव समाचरेत्।
विषस्य वृद्धये तैलमग्नेरिव तृणोलुपम् ॥८१॥

व्याख्या—विष विकारों में—स्नेह के समस्त कार्य गोघृत से किये जायँ। जहाँ जहाँ स्नेह का विधान अथवा आवश्यकता हो वहाँ २ गोघृत का ही प्रयोग करना चाहिये और तैल का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये भले ही वह भी स्नेह है। क्योंकि—तैल विष की वृद्धि का हेतु होता है जैसे अग्नि की वृद्धि का हेतु तृण एवं लता आदि होते हैं (अथवा तृण का पूला) ॥

वक्तव्य—तैल के संयोग से विष को वृद्धि होती है—विष के गुणों को वृद्धि होती है, उदाहरण के लिये भांग एवं अफीम आदि का मद बढ़ जाता है यदि उसके साथ तैल के पकौड़े आदि का सेवन किया जाता है। कारण यह है कि तैल एवं विष के अनेक गुणों में समानता है अतः तैल के सेवन से विष की वृद्धि होती है ॥ ८१ ॥

तीन अगद—

ह्रीवेरवैकङ्कतगोपकन्यामुस्ताशमीचन्दनटिण्टुकानि।

शैवालनीलोत्पलवक्रयष्टीत्वङ्नाकुलीपद्मकराठमव्यम्८२
रजनीघनसर्पलोचना-कणशुण्ठीकणमूलचित्रकाः।
वरुणागुरुबिल्वपाटली-पिचुमन्दाभयशेलुकेसरम् ॥८३॥
बिल्वचन्दननतोत्पलशुण्ठीपिप्पलीनिचुलवेतसकुष्ठम्।
शुक्तिशाकवरपाटलिभार्ङ्गी सिन्दुवारकरहाटवराङ्गम्८४
पित्तकफानिललूताः पानाऽञ्जन-नस्य-लेप-सेकेन।
अगदवरा वृत्तस्थाः कुमतीरिव वारयन्त्येते ॥८५॥

व्याख्या—१—नेत्र वाला, विकंकत के बीज, सारिवा, मोथा, शमी के बीज, लालचन्दन, सोनापाठा की छाल, खिवार (काई), नील कमल, तगर, मुलेठी, दालचीनी, गन्धनाकुली, पद्मकाठ तथा मैनफल के बीज लेकर बनाया गया अगद पित्त प्रकृति की लूता के विष को नष्ट करता है। २—हलदी, नागर मोथा, सर्पाक्षी, पीपल, सोंठ, पीपला मूल, चित्ता की जड़, वरुण वृक्ष की छाल, अगुरु, बिल गिरी, पाढल की छाल, निम्ब की छाल, हरड़, लिसोड़ा की छाल तथा नाग केसर लेकर बनाया गया अगद कफ प्रकृति की लूता के विष को नष्ट करता है। ३—बिलगिरी, लालचन्दन, तगर, नीलकमल, सोंठ, पीपल, जलवेतस, वेतस, सुगन्धी कूट, सीप, सागवान् का काष्ठ, त्रिफला, पाढल की छाल, भारंगी, सम्भालु को, मैनफल तथा दाल चीनी लेकर बनाया गया अगद वात प्रकृति की लूता के विष को नष्ट करता है। इन अगदों का प्रयोग—पीने में, अञ्जन रूप से, नस्य देने में, लेपन में तथा सेचन में किया जाता है। ये उत्तम कोटि के अगद १-१ श्लोक में कहे गये हैं और ये लूता विषों का वैसे निवारण करते हैं जैसे सद्वृत्त-सदाचार में स्थित मानव कुमति (बुरे विचारों) को रोक लेते-देते हैं ॥ ८२-८५ ॥

रोध्रादि अगद—

रोध्रं सेव्यं पद्मकं पद्मरेणुःकालीयाख्यं चन्दनं यच्च रक्तम्।
कान्तापुष्पंदुग्धिनीकामृणालंलूताःसर्वाघ्नन्तिसर्वक्रियाभिः

व्याख्या—लोध, खस, पद्मकाष्ठ, कमल का केसर—(पराग), काला अगुरु, लाल चन्दन, प्रियंगु के पुष्प, दुग्धिका तथा कमल की जड़ को लेकर बनाया गया अगद पीने आदि सब कर्मों में प्रयुक्त करने से सब प्रकार की लूताओं के विष को नष्ट करता है अथवा लोध आदि एक एक द्रव्य सब लूतओं के विष को नष्ट करते हैं॥८६॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतो मूषिकाऽलर्कविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

व्याख्या—अब मूसा तथा कुत्ता के विष का वर्णन करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि ऐसा कह गये हैं कि—

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन—च. चि. अ. २३, सु. क. अ.७ तथा—अ. सं. उ. अ. ४६ में देखिये।

मूसा-चूहा का वर्णन—

अथ मूषिकाविष प्रतिषेधः।

लालनश्चपलः पुत्रो हसिरश्चिक्किरोऽजिरः
कषायदन्तः कुलकः कोकिलः कपिलोऽसितः ॥१॥
अरुणः शबलः श्वेतः कपोतः पतितोन्दुरः।
छुच्छुन्दरो रसालाख्यो दशाष्टौ चेति मूषिकाः ॥ २ ॥
शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रदिग्धैः स्पृशन्ति वा।
यदङ्गमङ्गैस्तत्राऽस्रे दूषिते पाण्डुतां गते ॥ ३ ॥
ग्रन्थयः श्वयथुः कोथो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः।
शीतज्वरोऽतिरुग् सादो वेपथुः पर्वभेदम् ॥ ४ ॥
रोमहर्षः स्रुतिर्मूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम्।
श्लेष्माऽनुबद्ध-बह्वाऽऽखु पोतक-च्छर्दनं सतृट् ॥५॥
व्यवाय्याखुविषं कृच्छ्रं भूयो भूयश्च कुप्यति।
मूर्च्छाङ्गशोफवैवर्ण्य-क्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ॥६॥
शिरोगुरुत्वं लालाऽसृक्छर्दिश्चासाध्यलक्षणम्।
शूनबस्ति विवर्णौष्ठमाखुनाभैर्ग्रन्थिभिश्चितम् ॥ ७ ॥
छुच्छुन्दरसगन्धं च वर्जयेदाखुदूषितम्।

व्याख्या—मूसा की १८ जातियाँ हैं—१—लालन, २—चपल, ३—पुत्रक, ४—हसिर, ५—चिक्किर, ६—अजिर (अजिन), ७ कषायदन्त, ८—कुलक, ९—कोकिल, १०—कपिल, ११—असित (कालेवर्ण का) १२—अरुण (लाल वर्ण का), १३—शवल (चित कबरा), १४—श्वेत (श्वेत वर्ण का), १५—कपोत, १६—पलितोन्दुरः, १७—छुछुन्दर (यह इसी नाम से प्रसिद्ध) तथा १८—रसाल। इन मूसों का शुक्र जहाँ लग जाता है अथवा उनके शुक्र से लिप्त अङ्ग छू जाता है तो मानव का वही अङ्ग—शरीरावयव विकृत हो जाता है, वहाँ का रक्त दूषित हो जाता है और शरीरावयव श्वेत हो जाता है और वहाँ शोथ या ग्रन्थि उत्पन्न होकर ४-६ दिन में सड़ने लगता है, मण्डल उत्पन्न हो जाते हैं और भ्रम, अरुचि, शीतज्वर अत्यन्त वेदना अवसाद कम्पन, पर्वों में भेदन कीसी वेदना, रोमाञ्च, शोथों में से स्राव तथा मूर्छा की उत्पत्ति हो जाती है और यह अवस्था दीर्घ काल पर्यन्त बनी रहती है और कभी २ कफ से सने हुए मूसा के छोटे २ पोतक (शिशु) छर्दि में निकलते हैं एवं तृषा लगी रहती है। मूसा का विष—व्यवायी—सर्व शरीर व्यापनशील होता है इसलिये कष्टप्रद एवं कष्टसाध्य होता है और शान्त होकर वार २ कुपित होता है।

असाध्य लक्षण—

मूर्च्छा, शरीर भर में शोथ, विवर्णता, सड़न—पञ्छा बहना, बधिरता, ज्वर, शिर में भारीपन, लार में रक्त स्राव तथा रक्त मिश्रित छर्दि। और जब मूसा के विष से—वस्ति में शोथ हो जाय, ओठों का वर्ण विकृत हो जाय शरीर भर में मूसा के आकार की ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जायँ तथा छुच्छुन्दर के समान गन्ध दुर्गन्ध हो जाय तब समझना चाहिये कि वह अवस्था असाध्य है॥

वक्तव्य—कभी २ मूसा काटता भी हैं परन्तु उससे विष का सञ्चार नहीं देखा गया। सु. क. अ. ७ में भिन्न २ इन मूसों की विष के भिन्न २ लक्षण भी लिखे गये हैं।१-७।

के विष का वर्णन—

अलर्कादिविषविज्ञानम्।

शुनः श्लेष्मोल्बणा दोषाः संज्ञां संज्ञावहाश्रिताः॥ ८॥
मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम्।
लालावानन्धबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति॥ ९॥
स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धः शिरोदुःखी नताननः।
दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्तः कृष्णं क्षरत्यसृक्॥ १०॥
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भ-तृष्णामूर्च्छोद्भवोऽनु च।
अनेनान्येऽपि बोद्धव्या व्याला दंष्ट्राप्रहारिणः॥ ११॥
कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमाः।
विदाहरागरुक्पाक-शोथग्रन्थिविकुञ्चनम्॥ १२॥
दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च।
सर्वत्र सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे॥ १३॥
दष्टो येन तु तच्चेष्टा-रुतं कुर्वन्विनश्यति।
पश्यंस्तमेव चाकस्मादादर्शसलिलादिषु॥ १४॥

व्याख्या—कभी २ कफ प्रधान वातादि दोष विकृत होकर, संज्ञावाही नाडियों में आश्रित होकर कुत्ता की संज्ञा—(ज्ञान) को विकृत करते हुए उसके रस रक्त आदि धातुओं में भीषण क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। इस दशा में कुत्ता के मुख से लाला स्राव होने लगता है और वह अन्धासा एवं बहिरासा होकर इधर उधर दौड़ता रहता है, उसकी पूंछ सीधी हो जाती है, हनु तथा कन्धे शिथिल हो जाते हैं, शिरमें वेदना होती हैं (स्यात्) इसी लिये शिर को इधर उधर हिलाता एवं पटकता है तथा मुख नीचे लटक जाता है ऊपर नहीं उठता, ग्रीवा झुक जाती हैं। इस दशा में वह मानव एवं गौ आदि को काट लेता है क्योंकि वह उन्मत्त हो जाता है। उन्मत्त कुत्ता जहाँ काटता है वहाँ दंश स्थल में—स्वाप शून्यत्व हो जाता है और दंश स्थल से काला रक्त बहता है फिर १-४ ५-७ दिन के भीतर-हृदय एवं शिर में वेदना, ज्वर, स्तब्धता, तृषा तथा मूर्च्छा की क्रमशः उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार-सियार, तरख, द्वीपी (चित्ता), बाघ तथा वृक (हुण्डार-बघियाड़) आदि प्राणी भी उन्मत्त होते हैं और वे दूसरों पर दन्त का प्रहार करने (काटने) लगते हैं। इन उन्मत्तों द्वारा काटे जाने पर-विष के प्रभाव से सामान्यतः—दंश में कण्डू, व्यथा, विवर्णता, शून्यता तथा क्लेद की उत्पत्ति और ज्वर, भ्रम, दाह, लालिमा, वेदना, शोथ, ग्रन्थियों की वृद्धि, शरीर में तनाव, दंश का फटना स्फोट, कर्णिका तथा मण्डलों की उत्पत्ति हो जाती है। और यदि वे उन्मत्त नहीं होते तो उक्त उपद्रव नहीं होते।

असाध्य लक्षण—

यदि दष्ट मानव उसी कुत्ता एवं सियार आदि के समान चेष्टा करता है—भूँकता है और दर्पण एवं जल आदि में उसी को देखता है तो मर जाता है। और कुत्ता आदि द्वारा काटा गया यदि कोई मानव—जल के शब्द से स्पर्शन से तथा दर्शन से त्रस्त होने लगता है तो वह भी मर जाता है। इस विकार का नाम 'जलत्रास' है ८-१४

जल त्रास का वर्णन—

योऽद्भ्यस्त्रस्येददष्टोऽपि शब्दसंस्पर्शदर्शनैः।
जलसन्त्रासनामानं दष्टं तमपि वर्जयेत्॥ १५॥

व्याख्या—यदि कोई मानव—कुत्ता आदि के द्वारा काटे विना भी—जल के शब्द से, स्पर्शन से अथवा दर्शन से त्रस्त—भीत होने लगता है तो वह मर जाता है। इस विकार का नाम 'जलत्रास' है॥

वक्तव्य—यह त्रास उन्मत्त कुत्ता आदि के काटने से प्रायः हो जाता है और कभी २ विना काटे भी हो जाता है दोनों की मृत्यु अवश्य हो जाती है। कुत्ता आदि द्वारा काटा गया मानव अथवा गौ आदि पशु भी उन्मत्त होकर दूसरों को काटने दौड़ते हैं—काट लेते हैं। स्वस्थ कुत्ता आदि के काटने पर विष के लक्षणों की उत्पत्ति नहीं होती॥१५॥

आखु विष चिकित्सा—

आखुना दष्टमात्रस्य दंशं काण्डेन दाहयेत्।
दर्पणेनाथवा तीव्ररुजा स्यात्कर्णिकाऽन्यथा॥ १६॥
दग्धं विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत्।
शिरीषरजनीवक्रकुङ्कुमामृतवल्लिभिः॥ १७॥
अगारधूममञ्जिष्ठा-रजनीलवणोत्तमैः।
लेपो जयत्याखुविषं कर्णिकायाश्च पातनः॥ १८॥
ततोऽम्लैः क्षालयित्वा तु तोयैरनु च लेपयेत्।
पालिन्दी-श्वेतकटभी-विल्वमूल-गुडूचिभिः॥ १९॥
अन्यैश्च विषशोफघ्नैः सिरां वा मोक्षयेद् द्रुतम्।
छर्दनं नीलिनीक्वाथैः शुकाख्याङ्कोल्लयोरपि॥ २०॥
कोशातक्याः शुकाख्यायाः फलं जीमूतकस्य च।

मदनस्या च सञ्चूर्ण्य दध्ना पीत्वा विषं वमेत् ॥ २१ ॥
वचामदनजीमूत-कुष्ठं वा मूत्रपेषितम् ।
पूर्वकल्पेन पातव्यं सर्वोन्दुरविषापहम् ॥ २२ ॥
विरेचनं त्रिवृन्नीली-त्रिफलाकल्क इष्यते ।
अञ्जनं गोमयरसो व्योषसूक्ष्मरजोन्वितः ॥ २३ ॥
कपित्थगोमयरसो मधुमानरलेहनम् ।
तण्डुलीयकमूलेन सिद्धं पाने हितं घृतम् ॥ २४ ॥
द्विनिशाकटभीणक्ता-यष्ट्याह्वैर्वाऽमृतान्वितैः ।
आस्फोतमूलसिद्धं वा तद्वकापित्थमेव वा ॥ २५ ॥
सिन्दुवारनतं शिग्रुबिल्वमूलं पुनर्नवा ।
वचाश्वदंष्ट्राजीमूतमेषां क्वाथं समाक्षिकम् ॥२६॥
पिबेच्छाल्योदनं दत्वा भुञ्जानो मूषिकार्दितः ।
तक्रेण शरपुङ्खाया बीजं सञ्चूर्ण्य वा पिबेत् ।।२७।।
अङ्कोल्लमूलकल्को वा वस्तमूत्रेण कल्कितः ।
पानालेपनयोर्युक्तः सर्वाखुविषनाशनः ॥ ८॥
कपित्थमध्यतिलक-तिलाङ्कोल्लजटा पिबेत् ।
गवां मूत्रेण पयसा मञ्जरीं तिलकस्य वा ॥२६॥
अथवा सैर्यकान्मूलं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
कटुकालाबुविन्यस्तं पीतं वाम्बु निशोषितम् ॥३०॥
सिन्दुवारस्य मूलानि विडालास्थि विषं नतम् ।
जलपिष्टोऽगदो हन्ति नस्याद्यैराखुजं विषम् ॥३१॥
सशेषं मूषिकविषं प्रकुप्यत्यभ्रदर्शने ।
यथायथं वा कालेषु दोषाणां वृद्धिहेतुषु ॥३२॥
तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः ।
यथास्वं ये च निर्दिष्टास्तथा दूषीविषापहाः ॥३ ॥

व्याख्या—मूसा के विष विकार में तत्काल दंश स्थल को शरकाण्ड की अग्नि से अथवा सन्तप्त काँच से जला देवे अन्यथा वेदना युक्त कर्णिका उत्पन्न हो जाती है। दाह क्रिया के पश्चात् यदि विष विकार शान्त न हो तो पच्छ लगाकर रक्त निकाल देवे और लिर—सिरस के, हल्दी, तगर, कश्मीरी केशर तथा गिलोय का लेप करता रहे। और गृहधूम, मञ्जीठ, हलदी तथा सैन्धव लवण का लेप - मूसा के विष को शान्त करता है और कर्णिका को निकाल देता है॥ तत्पश्चात्—काञ्जी आदि अम्लद्रवों से धोकर, निसोत, श्वेत कटभी (माल कांगुनी), बिल की जड़ तथा गिलोय का लेप करे अथवा अन्यान्य विष नाशक द्रव्यों का लेप करे और सिरावेध करके यथा सम्भव शीघ्रातिशीघ्र रक्त मोक्षण कर देवे॥ और नील की जड़ के क्वाथ से अथवा सिरस एवं अंकोल की छाल के क्वाथ से वमन कर देवे। अथवा—कोशातकी, सिरस, जीमूतक एवं मैनफल के चूर्ण को दही के साथ पीकर वमन कर देवे इस प्रकार विष निकल जाता है॥ अथवा—बाल वच, मैनफल, जीमूतक फल एवं कूठ को गोमूत्र में पीस कर और दही के साथ पीवे इस से भी वमन हो जाता है और मूसों का विष नष्ट हो जाता है। और विरेचन के लिये—निसोत, नील की जड़ तथा त्रिफला का कल्क खिलाना चाहिये। शिरोविरेचन के लिये—सिरस का मध्य काष्ठ पीस कर अथवा बीज पीस कर नस्य देवे। और अञ्जन के लिये—गोबर के स्वरस में त्रिकटु का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर नेत्र में लगावे। और कैथ के फल का तथा गोबर का स्वरस मधु मिला कर अवलेहन करे—चाटे। चौलाई की जड़ के योग से सिद्ध अथवा हलदी, दारु हलदी की छाल, माल कांगुनी, मञ्जीठ, मुलेठी तथा गिलोय के योग से सिद्ध अथवा आक की जड़ के योग से सिद्ध अथवा कैथ के पञ्चाङ्ग के योग से सिद्ध घृत का पान करे। और सम्भालू की जड़, तगर, सहजन की छाल, बिल की जड़, पुनर्नवा, बालवच, गोखरू तथा जीमूतक का क्वाथ मधु मिला कर पीवे। और शाली चावलों का भात दही के साथ खाता रहे। यह सब क्रम तब तक होता रहे जब तक मूसा के विष का कुछ भी प्रभाव बना रहे। अथवा—शरपुंख के बीजों का चूर्ण तक्र के साथ पीवे। अथवा अंकोठ की जड़ को बकरा के मूत्र में पीस कर कल्क बनावे और पीने खाने तथा लेप में प्रयुक्त करे। यह प्रयोग सब प्रकार के मूसों के विष को नष्ट करता है। अथवा—कैथ का गूदा, तिलक (ताल मखाना) तिल तथा अंकोठ की जड़ को गोमूत्र में पीस कर पीवे अथवा ताल मखाना की मञ्जरी को गौ के दूध में पीस कर पीवे। अथवा—कटसरैया (पीला बाँसा) की जड़ को पीस कर एवं मधु में मिला कर चावलों के धोअन के साथ पीवे। अथवा—रात्रि भर कटुतुम्बी में धरा गया जल, प्रातःकाल पीवे। अथवा - सम्भालू की जड़, बिल्ली की अस्थि, सिंगिया आदि कोई विष तथा तगर को जल में पीस कर नस्य एवं लेप आदि में प्रयुक्त करे। यह अगद—मूसा के विष को शान्त करता है। यदि मूसा का विष थोड़ा भी अवशिष्ट रह जाता है तो जब २ मेघ—बादल छाते हैं तब २ प्रकुपित हो जाता है अथवा—वातादि दोष वर्द्धक काल में कुपित हो जाता है उस दशा में अवस्थानुसार दूषी विष नाशक उपचार करना चाहिये जैसा अ. ३५ में निर्देश किया गया है। और प्रयोग के समय वातादि दोषों का विचार अवश्य कर लेना चाहिये॥ १६—३३॥

कुत्ता आदि के विष की चिकित्सा—

अथालर्कविष प्रतिषेधः ।

दंशं ह्यलर्कदष्टस्य दग्धमुष्णेन सर्पिषा ।

प्रदिह्यादगदैस्तैश्च पुराणं च घृतं पिबेत् ॥३४॥
अर्कक्षीरयुतं चाऽस्य योज्यमाशु विरेचनम् ।
अङ्कोल्लोत्तरमूलाम्बु त्रिफलं सहपिप्पलम् ॥३५।
पिबेत्सधत्तूरफलां श्वेतां वाऽपि पुनर्नवाम् ।
ऐकध्यं पललं तैलं रूषिकायाः पयो गुडः ॥३६॥
भिनत्ति विषमालर्कं घनवृन्दमिवानिलः ।
समन्त्रं सौषधीरत्नं स्नपनं च प्रयोजयेत् ॥३७॥

व्याख्या—कुत्ता के दंश स्थल को उष्ण घृत से दग्ध कर देवे और फिर उन २ अगदों का लेप करे, पुराने घृत का पान करे, अर्क दुग्ध से मिश्रित कोई विरेचन देवे। अंकोल वृक्ष की उत्तर दिशा की ओर की जड़ का स्वरस २ पल तथा गोघृत १ पल मिला कर पीवे अथवा—श्वेत पुनर्नवा की जड़ एवं धत्तूर के बीज पीस कर पीवे। और तिलों का चूर्ण, तैल, आक का दूध तथा गुड़ को मिला कर खाने से कुत्ताका विष विरेचन द्वारा निकल कर नष्ट हो जाता है जैसे वायु द्वारा मेघ दूर हो जाता है। सिद्ध मन्त्रों का, औषधों का, रत्नों का तथा स्नानों का प्रयोग करे ॥

वक्तव्य—यह सब पाठ सु. क. अ. ७ से उद्धृत किया गया है और वहाँ कुछ पाठ छोड़ दिया गया है।

यथा-मूलस्य शरपुंखायाः कर्षं धत्तूरकार्धिकम् ॥५३॥
तन्दुलोदकमादाय पेषयेत्तन्दुलैः सह ।
उन्मत्तकस्य पत्रैस्तु संवेष्ट्याऽऽपूपकं पचेत् ॥५४॥
खादेत् औषधकाले तमलर्कविषदूषितः ।
करोति श्वविकारांश्च तस्मिन् जीर्यति चौषधे ॥५५॥
विकारा' शिशिरे याप्याः गृहे वारि विवर्जिते ।
ततः शान्तविकारस्तु स्नात्वा चैवाऽपरेऽहनि ॥५६॥
शालिषष्टिकयोर्भक्तं क्षीरेणोष्णेन भोजयेत् ।
दिनत्रये पञ्चमे वा विधिः एषोऽर्धमात्रया ॥५७॥
कर्तव्यो भिषजावश्यमलर्कविषनाशनः ।
कुप्येत् स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः ॥५८॥
तस्मात् प्रकोपयेदाशु स्वयं यावत् न कुप्यति ।
बीजरत्नौषधी गर्भैः कुम्भैः शीताम्बु पूरितैः ॥५९॥
स्नापयेत् तं नदीतीरे समन्त्रैः वा चतुष्पथे ।
बलिं निवेद्य तत्रापि पिण्याकं पललं दधि ॥६०॥
मत्स्यानि च विचित्राणि मांसं पक्वाऽऽमकं तथा ।
मन्त्र-अलर्काऽधिपते यक्ष सारमेय गणाधिप ॥६१॥
अलर्कजुष्टमेतं मे निर्विषं कुरु माचिरात् ।
दद्यात् संशोधनं तीक्ष्णं एवं स्नातस्य देहिनः ॥६२॥
अशुद्धस्य सुरूढेऽपि व्रणे कुप्यति तद्विषम् ।

अर्थात्—शरपुंखा की जड़ १ कर्ष तथा धत्तूरा की जड़ आधा कर्ष और चावल १०-२० कर्ष लेकर चावलों के पानी से पीसे और उसे धत्तूरा के पत्तों में लपेट कर रोटियाँ पकावे इन्हीं रोटियों को औषध समझ कर खावे। जब यह पचती है तब धत्तूरा के प्रभाव से रोगी उन्मत्त होकर, कुत्ता के समान भूँकना आदि चेष्टा करने लग जाता है, इस अवस्था में उस रोगी को जल रहित शीतल घर में तब तक रखना चाहिये जब तक उसके उक्त विकार-(चेष्टा) शान्त न हो जायँ तत्पश्चात् अगले दिन-स्नान करा कर शाली अथवा साठी धान्यों का भात कोसे दूध के साथ खिलावे। तीसरे अथवा पाचवें दिन-उक्त प्रकार की शरपुंख आदि की रोटियाँ आधी मात्रा में बना कर खिलावे और उसी प्रकार की व्यवस्था करे इस प्रकार कुत्ता का विष नष्ट हो जाता है। यदि कुत्ता का विष स्वयं कुपित होता है (अर्थात् उक्त धत्तूरा के प्रयोग के बिना) रोगी उन्मत्त हो जाता है तो अवश्य मृत्यु हो जाती है। इसलिये धत्तूरा के प्रयोग से रोगी को उन्मत्त कर देना चाहिये जिस से कुत्ता के विष से उन्मत्त न होने पावे। धत्तूर प्रयोग जनित उन्माद शान्त हो जाने के पश्चात् सरसों आदि बीज, रत्न तथा विष नाशक शरपुंखा आदि औषध से युक्त शीतल जल से परिपूर्ण घटों से नदी के तीर पर अथवा चतुष्पथ पर, मन्त्रोच्चारण पूर्वक स्नान करावे और खली, तिलकुट, दही, मछली का मांस तथा बकरा आदि का पका एवं कच्चा मांस पत्तल पर धर कर बलि देवे। स्नान एवं बलिदान के समय "अलर्काधिपते ········ माऽचिरात्" मन्त्र का उच्चारण करे। और स्नान के पश्चात् उचित उपचार द्वारा दंश व्रण का पूर्ण रूप से रोपण हो जाने पर भी तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन द्वारा संशोधन करना चाहिये अन्यथा व्रण में बचा खुचा विष कभी फिर कुपित हो सकता है ॥३४-३७॥

अन्यान्य प्राणियों के विष की चिकित्सा—

चतुष्पाद्भिर्द्विपाद्भिर्वा नखदन्तपरिक्षतम् ।
शूयते पच्यते राग-ज्वरस्रावरुजान्वितम् ॥३८॥
सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपादिका ।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥३९ ॥

व्याख्या—हाथी घोड़ा आदि चौपाये एवं मनुष्य आदि द्विपाये प्राणियों के नख एवं दन्त-चोञ्च आदि का क्षत--सूज जाता है फिर पक जाता है और लाली, ज्वर, स्राव तथा वेदना से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में—कायफल, अश्व कर्ण, पलाश की छाल, गेरू का लेप करे। इससे नख एवं दन्त का विष शान्त हो जाता है ॥

वक्तव्य—कभी २ मानव आदि निर्विष प्राणियों के दन्त एवं नख के क्षत भी विकृत हो जाते हैं। उस दशा में उक्त उपचार करने की आवश्यकता पड़ जाती है ।३८-३९।

इति विष तन्त्रं समाप्तम् ।

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो रसायनाध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

व्याख्या—अब रसायनाध्याय—रसायन नामक आयुर्वेदाङ्ग का व्याख्यान करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि इस प्रकार कह गये हैं कि—

वक्तव्य—रसायन विधि का वर्णन च. चि. अ. १ के चारों पादों में, सु. अ. ९, १०, १३, २७, २८, २९ तथा ३० में और अ. सं. उ. अ. ४९ में देखिये ।

रसायन का फल तथा निरुक्ति—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥ १ ॥
वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ २ ॥

व्याख्या—रसायन का सेवन करने से—दीर्घ आयु की, स्मृति-स्मरण शक्ति की, मेधा—उपदेश धारण शक्ति की, आरोग्य-स्वास्थ्य की, तरुण वयस् (यौवन जैसी कूदने फान्दने की सामर्थ्य युक्त अवस्था) की, प्रभा (कान्ति) की, वर्ण की, स्वर की, उदारता की, शरीर पुष्टि की, इन्द्रिय शक्ति की, बल वृद्धि की, वाक् सिद्धि (वचनों की सफलता) की, वृषत्व की एवं कान्ति (सुखोपभोग-कामना) की प्राप्ति होती है । प्रशस्त रस रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति—(लाभ) के उपाय का नाम "रसायन" है ॥

वक्तव्य—जिस आहार, विहार, एवं औषध के सेवन से प्रशस्त—उत्तम रस रक्त आदि धातुओं की उत्पत्ति होती है उस आहार आदि का नाम "रसायन" है जब रसायन सेवन से प्रशस्त रस रक्त आदि धातुओं का निर्माण होता है तब दीर्घायु आदि आदि सद्गुणों की प्राप्ति भी अवश्य होने लगती है । इन सद्गुणों से सम्पन्न मानव के सब मनोरथ सफल हो जाते हैं। देखिये प्रभावशाली मानवों को और औषधियाँ ही रसायन होती हैं ऐसा नहीं है उत्तम कोटि के आहार विहार-आचरण भी रसायन हैं । देखिये श्लोक १०३, १०४ तथा १०५ ॥ १-२ ॥

रसायन के समय आदि—

पूर्वे वयसि मध्ये वा तत्प्रयोज्यं जितात्मनः ।
स्निग्धस्य स्रुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा ॥ ३ ॥
अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः ।
वाजीकरो वा मलिने वस्त्रे रङ्ग इवाफलः ॥ ४ ॥

व्याख्या—बाल्यकाल एवं यौवन काल में रसायन का सेवन करे, उससे पूर्व संयमी होकर, स्नेहन, रक्तमोक्षण तथा संशोधन का भली भाँति प्रयोग करे । शरीर का शोधन किये विना यदि रसायन का प्रयोग किया जाता है अथवा वाजीकरण का प्रयोग किया जाता है तो वह निष्फल जाता है जैसे मलिन वस्त्र पर चढ़ाया गया रङ्ग ॥

वक्तव्य—रसायन अथवा वाजीकरण के पूर्व शरीर का शोधन परमावश्यक है अन्यथा पूरा २ लाभ नहीं होता है । वाजीकरण का वर्णन अ. ४० में देखिये ॥ ३-४ ॥

रसायन सेवन के दो प्रकार—

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः ।
कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा ॥ ५ ॥

व्याख्या—रसायनाचार्य महर्षियों का कथन है कि रसायन सेवन के दो प्रकार हैं १—कुटी प्रावेशिक अर्थात् कुटी में प्रविष्ट होकर रसायन का सेवन करना, यही मुख्य-श्रेष्ठ है और २—वाताऽऽतपिक अर्थात् वायु एवं धूप में घूमते फिरते रसायन का सेवन करना—और यह उतना श्रेष्ठ नहीं है ॥ ५ ॥

वक्तव्य—अ. स. अ. ४९—सर्वे च दोषा भवन्ति प्राज्यात् आहारात्, अम्ल लवण कटुक क्षार विरुद्धाऽसात्म्य रूक्षाऽभिष्यन्दि क्लिन्न गुरु पूति पर्युषित नवधान्य शुष्क शाक मांस तिल कुलत्थ दधि शुक्त काञ्जिक मिष्टान्न विरूढ निषेविनां, क्रोध लोभ भय शोकाऽऽयास बहुलानाम्, पापकर्मणां असमञ्जसाऽऽहारव्याहारनीहारनिरतानां, अतोनिमित्तंहि अविशुद्धः सञ्जायते रसो, विदह्यते रक्तं, शिथिली भवन्ति मांसानि विष्यन्दते मेदो. दूष्यन्ते दोषाः, विमुच्यन्ते सन्धयो, न सन्धीयन्तेऽस्थिषु मज्जानो न आप्यायते शुक्रं न ओजो न बलं न वीर्यम्, तत एवंभूतो ग्लायति सीदति निद्रातन्द्राऽऽलस्य-समन्वितः स्विद्यते निर्विद्यते निरुत्साहोऽसमर्थः शरीरमानसानां विशिष्टानां, भ्रष्टच्छायो नष्टस्मृतिः, अल्पबुद्धिः, असंपाद्य-मानाऽभिलषितार्थोऽहर्निशं अनिशमनिशं निःश्वसन् अधिष्ठान-भूतो रोगाणां न उपात्तमपि सर्वं आयुरवाप्नोति, तस्मात् बुद्धिमान् अपास्य यथोक्ताहारादि दोषान् निर्वाह्य च पूर्वोपदिष्टान् रसायनं विधिसहितमुपसेवेत ।

अर्थात्—अधिक मात्रा में आहार करने से, अम्ल, लवण, कटु, क्षार, विरोधी, असात्म्य, रूक्ष, अभिष्यन्दी क्लेदयुक्त, गुरु, दुर्गन्धयुक्त, पर्युषित—बासी तिवासी, आहार, नूतन धान्य, शुष्क शाक एवं मांस, तिल, कुलथी, दही, शिरका, काञ्जी, पीठी के कचौरी आदि पदार्थों, अथवा, विरूढों—(अंकुरित धान्यों) का सेवन करने से, दिन में सोने से, मद्यपान से, प्रति दिन मैथुन करने से, विषम एवं अत्यधिक व्यायाम करने से, शरीर को झकझोरने से अत्यधिक क्रोध लोभ, भय, शोक एवं आयास—प्रयास करने से, पाप कर्म करने से, अनुचित आहार करने, वचन बोलने तथा ओस में बैठने एवं लेटने से शरीर में दोष—(विकार) उत्पन्न हो

जाते हैं इन्हीं सब कारणों से-रस धातु अशुद्ध (विकृत) हो जाता है, रक्त धातु विदग्ध हो जाता है, मांस शिथिल हो जाता है, मेदो धातु पिघल जाता है, वातादि दोष दूषित हो जाते हैं, सन्धियाँ विमुक्त-निर्बल हो जाती हैं, अस्थियों के भीतर मज्जा का उचित सञ्चय नहीं होता और शुक्र, ओजस्, बल तथा वीर्य की पुष्टि नहीं होती और इन्हीं सब कारणोंसे ग्लानि (मानसिक शिथिलता) तथा अवसाद (शारीरिक शिथिलता) निद्राधिक्य, तन्द्रा एवं आलस्य (अनिच्छा) बने रहते हैं, स्वेद अधिक आता है, उत्साह नष्ट होता हैं, शारीरिक एवं मानसिक कार्यों में असमर्थता, कान्ति नाश, स्मरण शक्ति का नाश, बौद्धिक दुर्बलता, अभीष्ट कार्यों के सम्पादन में असमर्थता, दिन, रात बार २ निःश्वास भरना (आहें भरना) तथा रोगों का आश्रय बन जाना आदि अवस्था बनी रहती है फलतः निश्चित आयु की प्राप्ति भी नहीं होती—अकाल में ही मृत्यु हो जाती है। इस लिये बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है कि मृत्यु के पूर्व उक्त अवस्था में, उक्त प्रकार के आहार आदि का परित्याग करके तथा शरीर में सञ्चित दोषों को निकाल कर, विधि पूर्वक रसायन का सेवन करे ॥ ५ ॥

कुटी निर्माण विधि—

निर्वाते निर्भये हर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे।
दिश्युदीच्यां शुभे देशे त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ॥ ६ ॥
धूमातपरजोव्याल-स्त्रीमूर्खाद्यविलङ्घिताम्।
सज्जवैद्योपकरणां सुमृष्टां कारयेत्कुटीम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—कुटी प्रावेशिक विधि से रसायन सेवन के लिये— डाकू एवं चोर आदि के भयसे रहित; धार्मिक जनों के निवास स्थान तथा सब आवश्यक द्रव्यों की प्राप्ति के योग्य ग्राम अथवा नगर के समीप उत्तर दिशा की ओर प्रशस्त स्थान में कुटी बनावे। वह कुटी ऐसी हो जिसमें झोंके की वायु का सीधा प्रवेश न हो, उसमें तीन गर्भ गृह हों तथा छोटे २ झरोखे हों, उसकी दीवारें मोटी हों तथा वह साफ सुथरी एवं रमणीक हो। उसमें धूम, धूप धूलि, सर्प आदि व्याल, गम्या नारी तथा मूर्ख जन का प्रवेश न हो। वहाँ वैद्य, परिचारक एवं औषध आदि सब आवश्यक द्रव्य सर्वदा विद्यमान हों। तथा वह साफ सुथरी हो ॥

वक्तव्य—उसमें एक स्थान ऐसा भी हो जहाँ खुली एवं स्वच्छ वायु का प्रवेश हो सकता हो, वह ऊँचाई एवं लम्बाई में पर्याप्त विस्तृत हो, सब ऋतुओं के अनुकूल हो, उसका द्वार पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर हो, उसके आस-पास, शमी, बिल अथवा वट आदि क्षीरी वृक्ष हों ॥६-७॥

प्रवेश आदि की विधि—

अथ पुण्येऽह्नि सम्पूज्य पूज्यांस्तां प्रविशेच्छुचिः।
तत्र संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः ॥ ८ ॥
ब्रह्मचारी धृतियुतः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
दानशीलदयासत्य-व्रतधर्मपरायणः ॥ ९ ॥
देवतानुस्मृतियुतः युक्तस्वप्नप्रजागरः।
प्रियौषधः पेशलवाक् प्रारभेत रसायनम् ॥ १० ॥

व्याख्या—इस प्रकार की कुटी में—प्रशस्त दिन एवं नक्षत्र आदि का विचार करे, गुरु आदि पूज्य जनों का पूजन-सत्कार करके और सबाह्यान्तः शुचि होकर प्रवेश करे। वहाँ—वमन विरेचन आदि से शोधन करके, पेयादि क्रम का सेवन करते २ जब पूर्ण रूप से सुखी एवं पूर्ववत् बलवान् हो जाय तब—ब्रह्मचारी धीर-गम्भीर, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, दानशील, दया सत्य व्रत तथा धर्ममें परायण रह कर, इष्ट देवताओं का स्मरण करता हुआ, औषध का आदर करता हुआ, तथा मधुर वाणी का प्रयोग करता हुआ रसायन सेवन का प्रारम्भ करे ॥ ८-१० ॥

विरेचन योग—

हरीतकीमामलकं सैन्धवं नागरं वचाम्।
हरिद्रां पिप्पलीं वेल्लं गुडं चोष्णाम्बुना पिबेत् ॥११॥
स्निग्धः स्विन्नो नरः पूर्वं तेन साधु विरिच्यते।
ततः शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ॥ १२ ॥
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा सप्ताहं वा घृतान्वितम्।
दद्याद्यावकमाशुद्धेः पुराणशकृतोऽथवा ॥ १३ ॥
इत्थं संस्कृतकोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत्।
यस्य यद्यौगिकं पश्येत्सर्वमालोच्य सात्म्यवित् ॥ १४ ॥

व्याख्या—छोटी हरड़, आमला, सैन्धव लवण, सोंठ, बालवच, हलदी, पीपल तथा विडङ्ग का चूर्ण समभाग बनावे और सब के समान अथवा द्विगुण गुड़ मिलावे। मात्रा—१ तोला के लगभग, खाकर उष्ण जल पीवे। इस विरेचन योग का सेवन करने के पूर्व—विधि पूर्वक स्नेहन एवं स्वेदन कर लेना चाहिये। इसके द्वारा—भली भाँति विरेचन करे। तदनन्तर-शोधन हो जाने पर, पेया एवं विलेपी आदि (सू. अ. १८ देखिये) से संसर्जन क्रम का सेवन करे। यदि किसी कारण से विरेचन देना सम्भव न हो तो तीन, पाँच अथवा सात दिन अथवा जब तक पुराना पुरीष निकल कर उदर सर्वथा शुद्ध हो जाय तब तक जौ का दलिया घृत मिलाकर खाना चाहिये। इस प्रकार उदर संस्कार करनेके अनन्तर किसी एक रसायन योग का सेवन करे। चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि सात्म्य आदिका भली भाँति विचार करके जिसके लिये जो रसायन योग उपयोगी समझे उस योग का प्रयोग करे ॥११-१४॥

ब्राह्म रसायन योग—

पथ्यासहस्रं त्रिगुणधात्रीफलसमन्वितम्।
पञ्चानां पञ्चमूलानां सार्धं पलशतद्वयम्॥ १५॥
जले दशगुणे पक्त्वा दशभागस्थिते रसे।
आपोथ्य कृत्वा व्यस्थीनि विजयामलकान्यथ॥ १६॥
विनीय तस्मिन्निर्यूहे योजयेत्कुडवांशकम्।
त्वगेलामुस्तरजनी पिप्पल्यगुरुचन्दनम्॥ १७॥
मण्डूकपर्णीकनकशङ्खपुष्पीवचाप्लवम्।
यष्ट्याह्वयं विडङ्गं च चूर्णितं तुलयाधिकम्॥ १८॥
सितोपलार्धभारं च पात्राणि त्रीणि सर्पिषः।
द्वे च तैलात्पचेत्सर्वं तदग्नौ लेहतां गतम्॥ १९॥
अवतीर्णं हिमं युञ्ज्याद्विंशैः क्षौद्रशतैस्त्रिभिः।
ततः खजेन मथितं निदध्याद् घृतभाजने॥ २०॥
या नोपरुन्ध्यादाहारमेकं मात्रास्य सा स्मृता।
षष्टिकः पयसा चाऽत्र जीर्णे भोजनमिष्यते॥ २१॥
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चाऽन्ये तपोधनाः।
ब्रह्मणा विहितं धन्यमिदं प्राश्य रसायनम्॥ २२॥
तन्द्राश्रमक्लमवलीपलितामयवर्जिताः।
मेधास्मृतिबलोपेता बभूवुरमितायुषः॥ २३॥

व्याख्या—एक सहस्र बड़ी हरडें तथा तीन सहस्र आमले तथा पाँचों पञ्चमूल २॥ सौ पल लेकर दस गुने जल में पकावे, दशमांश रहने पर छान लेवे और हरड़ों तथा आमलों की गुठलियाँ निकाल कर पुनः उस क्वाथ में डाल देवे और उस में—दालचीनी, बड़ी इलायची, मोथा, हलदी, पीपल, अगुरु, लालचन्दन, मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी) नागकेसर, शंखपुष्पी, बालवच, सुगन्धी मोथा, मुलेठी तथा वाविडंग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण १-१ कुडव, खण्ड ११ सौ पल, घृत ३ आढक तथा तिल तैल २ आढक मिला कर मन्द २ अग्नि पर पाक करे जब अवलेह बन जाय तब उतार कर तथा शीतल हो जाने पर १६० पल मधु मिला देवे और भली भाँति मथ कर घृत स्निग्ध भाण्ड में डाल कर रख देवे। इस रसायन योगकी मात्रा इतनीहो जिससे सायंकाल के भोजनमें रुकावट न हो अर्थात् दिनमें भूख लगने लगे। पच जाने पर सायं काल-साठी चावलोंका भात गो दुग्ध के साथ खाना चाहिये। प्राचीन आचार्यों का कथन है कि ब्रह्माजी द्वारा बनाए गये इस रसायन का सेवन करके वैखानस, वालखिल्य एवं अन्यान्य अनेक तपस्वी जन तंद्रा, श्रम, ग्लानि, बली, पलित तथा रोगों से रहित रहते हुए, मेधा, स्मृति तथा बल से युक्त होकर दीर्घ आयु को प्राप्त हुए थे। यह योग धन्य (धन की प्राप्ति का हेतु) है—स्वास्थ्य लाभ होने पर धन लाभ भी होता है॥

वक्तव्य—यह योग च. चि अ. १ पाद१ से उद्धृत है। पांच पञ्चमूलों का वर्णन देखिये सू. अ. ६ में। हरड़ एवं आमला हिमवान् पर्वत प्रदेश का लेना चाहिये॥ १५-२३॥

इति ब्राह्मरसायनम्।

अभयामलकाऽवलेह—

अभयामलकसहस्रं निरामयं पिप्पलीसहस्रयुतम्।
तरुणपलाशक्षारद्रवीकृतं स्थापयेद्भाण्डे॥ २४॥
उपयुक्ते च क्षारे च्छायासंशुष्कचूर्णितं योज्यम्।
पादांशेन सितायाश्चतुर्गुणाभ्यां मधुघृताभ्याम्॥ २५॥
तद्घृतकुम्भे भूमौ निधाय षण्माससंस्थमुद्धृत्य।
प्राह्णे प्राश्य यथानलमुचिताहारो भवेत्सततम्॥ २६॥
इत्युपयुञ्ज्याऽशेषं वर्षशतमनामयो जरारहितः।
जीवति बलपुष्टिवपुःस्मृतिमेधाद्यन्वितो विशेषेण॥२७॥

व्याख्या—अच्छी हरड़ एवं अच्छे आमले ५००-५००, पीपल १ सहस्र लेकर मिट्टी के कुण्ड में धर देवे और तरुण (थोड़ी वयस् के) पलाश वृक्ष का क्षारोदक डालकर भिगो देवे, भींग जाने-क्षारोदक व्याप्त हो जाने पर छाया में सुखा लेवे फिर गुठली निकाल देवे और चूर्ण बना लेवे तथा उससे चतुर्थांश खण्ड तथा चतुर्गुण घृत एवं मधु मिला कर घृतस्निग्ध भाण्ड में रख कर भूमि में गाड़ देवे। ६ मास के पश्चात् निकाल कर उचित मात्रा में प्रातः काल खावे, पच जाने पर जठराग्नि के अनुसार सदा उचित आहार करता रहे। इस प्रकार इस रसायनका उपयोग करने से सौ वर्ष, नीरोग तथा जरा रहित रह कर जीवित रहता है और विशेष रूप से बल, पुष्टि, वपुः (कान्ति), स्मृति तथा मेधा आदि सद्गुणों से युक्त बना रहता है॥ २४-२७॥

इति अभयामलकावलेहः।

आमलक रसायन—

नीरुजार्द्रपलाशस्य छिन्ने शिरसि तत्क्षतम्।
अन्तर्द्विहस्तं गम्भीरं पूर्यमामलकैर्नवैः॥ २८।
आमूलं वेष्टितं दर्भैः पद्मिनीपङ्कलेपितम्।
आदीप्य गोमयैर्वन्यैर्निर्वाते स्वेदयेत्ततः॥ २९॥
स्विन्नानि तान्यामलकानि तृप्त्या
खादेन्नरः क्षौद्रघृतान्वितानि।
क्षीरं शृतं चाऽनु पिबेत्प्रकामं
तेनैव वर्तेत च मासमेकम्॥ ३०॥
वर्ज्यानि वर्ज्यानि च तत्र यत्ना-
त्स्पृश्यं च शीताम्बु न पाणिनाऽपि।
एकादशाहेऽस्य ततो व्यतीते
पतन्ति केशा दशना नखाश्च॥ ३१॥

अथाल्पकैरेव दिनैः सुरूपः स्त्रीष्वक्षयः कुञ्जरतुल्यवीर्यः।
विशिष्टमेधाबलबुद्धिसत्त्वो भवत्यसौ वर्षसहस्रजीवी ३२

व्याख्या—कोठर आदि रोगों से रहित हरे पलाश वृक्ष (ढाक) को शिर-मध्य भाग से काटे और कटे स्थान के भीतर दो हाथ गहरा गर्त्त (गढ़ा) बनावे और उसमें नूतन (हरे-ताजे) आमले भर देवे फिर मूल से कटे भाग पर्यन्त हरी कुशाओं से लपेट कर कमलों वाले ताल की मिट्टी का मोटा लेप कर देवे तथा सब ओर जङ्गली उपलों को चुन कर इतनी अग्नि का सन्ताप देवे जितनी से आमले स्विन्न हो जायँ—मृदु हो जायँ। उचित यह है कि सब ओर आड़ बना देवे जिससे अग्नि पर वायु का प्रभाव न हो अथवा यह व्यवस्था उस समय करे जब वायु न चल रहा हो। इन स्विन्न आमलों को मधु एवं घृत में डुबा कर रख देवे और घृत एवं मधु के साथ ही जितने खाये जा सकें खावे और साथ में औटाया हुआ दूध जितना पी सके पीवे इस प्रकार एक मास पर्यन्त इसी प्रकार निर्वाह करे। अन्य कोई पदार्थ न खावे। इस समय—मैथुन एवं क्रोधादि का सर्वथा परित्याग करे। (देखिये श्लोक ९ का वक्तव्य) और शीतल जल को तो हाथ से भी न छूवे—पीना आदि तो दूर रहा। कहा जाता है कि—११ वाँ दिन व्यतीत होने पर केश, दन्त तथा नख गिर जाते हैं जिससे रूप अत्यन्त सुन्दर हो जाता है। मैथुन शक्ति संपन्न, हाथी के समान बलवान् तथा विशेष रूप से मेधा, बल, बुद्धि तथा मनोबल से युक्त हो जाता है और १ सहस्र वर्ष जीता है।

वक्तव्य—प्रशंसा में अतिशयोक्ति प्रतीत होती है, श्री श्रीमदनमोहन मालवीय जी पर इस रसायन का प्रयोग किया था परन्तु ८० या ८२ वर्ष की आयु में, जब कि विधान है पूर्व अथवा मध्य वयस् (श्लोक ३) में। प्रयोगकर्त्ता एक संन्यासी बाबा थे। कोई उल्लेखनीय फल नहीं हुआ था तथापि वे कुछ उत्साह एवं लघुता आदि का अनुभव अवश्य करने लग गये थे॥ २८–३२॥

च्यवन प्राश रसायन—

दशमूलबलामुस्तजीवकर्षभकोत्पलम्।
पर्णिन्यौ पिप्पली शृङ्गी मेदा तामलकी त्रुटिः॥३३॥
जीवन्ती जोङ्गकं द्राक्षा पौष्करं चन्दनं शठी।
पुनर्नवर्द्धिकाकोली काकनासामृताह्वयाः॥३४॥
विदारीवृषमूलं च तदैकध्यं पलोन्मितम्।
जलद्रोणे पचेत्पञ्च-धात्रीफलशतानि च॥३५॥
पादशेषं रसं तस्माद्ध्यस्थीन्यामलकानि च।
गृहीत्वा भर्जयेत्तैल-घृतात् द्वादशभिः पलैः॥३६॥
मत्स्यण्डिकातुलार्धेन युक्तं तल्लेहवत्पचेत्।
स्नेहार्धं मधु सिद्धं तु तवक्षीर्याश्चतुःपलम्॥३७॥
पिप्पल्या द्विपलं दद्याच्चतुर्जातं कर्षाधिकम्।
अतोऽवलेहयेन्मात्रां कुटीस्थः पथ्यभोजनः॥३८॥
इत्येष च्यवनप्राशो यं प्राश्य च्यवनो मुनिः।
जरार्जरितोऽप्यासीन्नारीनयननन्दनः॥३९॥
कासं श्वासं ज्वरं शोषं हृद्रोगं वातशोणितम्।
मूत्रशुक्राश्रयान् दोषान् वैस्वर्यं च व्यपोहति।
बालवृद्धक्षतक्षीण-कृशानामङ्गवर्धनः॥४०॥
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वमायुःप्रकर्षं पवनानुलोम्यम्।
स्त्रीपुप्रहर्षं बलमिन्द्रियाणामग्नेश्च कुर्याद्विधिनोपयुक्तः ४१

व्याख्या—महा पञ्चमूल एवं लघु पञ्चमूल के १० द्रव्य, बलामूल, मोथा, जीवक, ऋषभक, कमल, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, पीपल, काकड़ा सिंगी, मेदा, भूमि आमला, छोटी इलायची, जीवन्ती, अगुरु, दाख, पोहकर मूल, लालचन्दन, कचूर, पुनर्नवा, काकोली, क्षीरकाकोली, काकनासा, गिलोय, विदारी कन्द तथा अडूसा की जड़ १-१ पल लेकर जौ कुट करे और १ द्रोण जल में डाल देवे तथा उसी में ५०० आमले डाल कर पकावे चतुर्थांश रहने पर छान लेवे और आमलों की गुठली निकाल कर, तिल तैल तथा घृत १२-१२ पल मिलाकर तले। जब हलुवा जैसा हो जाय तब उसमें ५० पल खण्ड मिला कर और बचा हुआ क्वाथ मिला कर लेह के समान पाक करे। जब सिद्ध हो जाय तब उतार कर शीतल हो जाने पर १२ पल मधु मिला देवे और वंशलोचन ४ पल, पीपल २ पल, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता तथा नागकेसर का १-१ कर्ष सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण बनाकर मिला देवे। इसमें से उचित मात्रा लेकर खावे, कुटी में प्रविष्ट रहकर, पथ्य आहार करे। इसका नाम च्यवनप्राश है इसका सेवन करके च्यवन मुनि वृद्धावस्था में भी युवक जैसा हो गया था। यह अवलेह—कास, श्वास, ज्वर, शोष, हृद्रोग, वातरक्त, मूत्रदोष—प्रमेह आदि मूत्र विकार शुक्र दोष तथा स्वरभेद को नष्ट करता है और बालक, वृद्ध, क्षत, क्षीण तथा कृश के शरीर की वृद्धि करता है। इस का रसायन विधि से सेवन किया जाय तो—मेधा, स्मृति कान्ति, आरोग्य, दीर्घायु, वायु की अनुलोमता, रतिशक्ति, इन्द्रिय शक्ति तथा पाचन शक्ति का लाभ होता है॥

वक्तव्य—यह योग—च. चि. अ. १ पाद १ से लिया गया है। चरकमें अमृता—हरड़ का भी उल्लेख हैं सम्भवतः श्री वाग्भटाचार्य ने अमृता शब्द से गिलोय एवं हरड़ दोनों का ग्रहण कर लिया है अतः एव हरड़ का पृथक् उल्लेख नहीं किया। हमने अपने सम्प्रदायानुसार घृत एवं तैल का परिणाम १२-१२ पल किया है यद्यपि श्री चक्रपाणि ने

दोनों को मिला कर १३ पल माना है। सरलता के लिये—प्रथम दशमूलादि क्वाथ द्रव्यों का क्वाथ करके छान लेवे और फिर उस क्वाथ में आमले डाल कर पकावे, स्विन्न होने पर गुठलियाँ निकाल देवे और आमलों को कपड़ा में मल २ कर पीठी बना लेवे इस प्रकार आमलों का रेशा निकल जाता है, पीठी तथा अवशिष्ट क्वाथ को स्नेह में पका कर हलुवा जैसा बना लेवे और अन्त में खण्ड मिला कर, थोड़ा उलट पुलट कर नीचे उतार लेवे। आमलों के छोटे बड़े होने की समस्या का समाधान—आधा २ कर्ष के आमले ५ सौ लेवे अथवा ६२॥ साढ़े बासठ पल तोल कर ले लेवे। मात्रा इतनी हो जिससे मध्याह्न में भूख न लगने पर सायं काल अवश्य लगे। उत्तम पक्ष है केवल दुग्ध पान। सम्भव न हो तो दूध भात आदि उपयुक्त पथ्य सेवन।

त्रिफला रसायन योग—

मधुकेन तवक्षीर्या पिप्पल्यासिन्धुजन्मना।
पृथग्लोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ॥४२॥
सितया वा समा युक्ता समायुक्ता रसायनम्।
त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा ॥४३॥

व्याख्या—त्रिफला का मुलेठी के साथ, वंश लोचन के साथ, पीपल के साथ, सैन्धव लवण के साथ, रजत भस्म के साथ ताम्रभस्म के साथ, सीसक भस्म के साथ, वंग भस्म के साथ, लोहभस्म के साथ, सुवर्ण भस्म के साथ, बालवच के साथ अथवा खण्ड के साथ संयोग (मिश्रण) करके और मधु एवं घृत में फेंट कर प्रतिदिन एक वर्ष पर्यन्त सेवन करने से सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं तथा मेधा, आयुः स्मृति एवं बुद्धि का लाभ होता है। यह योग उत्तम कोटि के रसायन हैं॥

वक्तव्य—च. चि. अ. १ पाद १ में इसका पाठ है
मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा।
त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥४५॥
सर्वैर्लोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा।
विडंगपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च ॥४६॥
सम्वत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा।
भवत्यायुःप्रदा धन्या जरारोग निवर्हणी ॥४७॥

टीकाकार चक्रपाणि का कथन है कि—मधुकेन इत्यादिः एकः प्रयोगः सर्वलोहैः इत्यादि: अपरः अर्थात् ये दो योग हैं। चरक के टीकाकार श्री जय्यटाचार्य का भी यही मत है।

मेध्य रसायन—

मण्डूकपर्ण्याःस्वरसंयथाग्निक्षीरेणयष्टीमधुकस्यचूर्णम्।
रसंगुडूच्यास्सहमूलपुष्प्याःकल्कंप्रयुञ्जीतचशङ्खपुष्प्याः
आयुः प्रदान्यामयनाशनानिबलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण तु शङ्खपुष्पी॥

व्याख्या—निम्न लिखित चार रसायन योग—आयु वर्द्धक हैं, रोगनाशक हैं तथा बल, जठराग्नि, वर्ण एवं स्वर को बढ़ाते हैं और मेधा की—मस्तिष्क शक्ति की वृद्धि करते हैं और शंख पुष्पी विशेषतः मेधा शक्ति की वृद्धि करती है। १—ब्राह्मी का स्वरस जितना पच सके पीवे। २—मुलेठी का चूर्ण दूध के साथ पीवे। ३—मूल एवं पुष्प से युक्त गिलोय की लता का स्वरस पीवे जितना पच सके। ४—शंख पुष्पी (शंखाहुली) का स्वरस पीवे जितना पच सके॥

वक्तव्य—उन्माद एवं अपस्मार, अतत्त्वाभिनिवेश सान्निपातिक प्रलापादि बुद्धि विकार तथा मूर्च्छा एवं अपतन्त्रक में इन योगों का सेवन लाभदायक सिद्ध होता है।

नलदादि घृत रसायन—

नलदंकटुरोहिणीपयस्यामधुकं चन्दनसारिवोग्रगन्धाः।
त्रिफलाकटुकत्रयं हरिद्रेसपटोलं लवणं च तैःसुपिष्टैः ४६
त्रिगुणेन रसेन शङ्खपुष्प्याः सपयस्कंघृततन्ल्वणंविपक्वम्
उपयुज्यभवेज्जडोऽपिवाग्मीश्रुतधारीप्रतिभानवानरोगः॥

व्याख्या—खस, कुटकी, क्षीर विदारी, मुलेठी, लाल चन्दन (हमारे विचार से श्वेत चन्दन), सारिवा, बालवच त्रिफला, त्रिकटु, हलदी, दारु हलदी, परवल के पत्र तथा सैन्धवलवण का कल्क १ आढक, शंखपुष्पी का स्वरस ३ द्रोण, गोदुग्ध १ द्रोण तथा गोघृत १ द्रोण मिलाकर पाक करे। इस घृत का उपयोग—(सेवन) करके जड़ मानव भी बाचाल, श्रुतधर तथा प्रतिभा शाली हो जाता है और सदा नीरोग रहता है॥ ४६-४७॥

पद्मारविन्द घृत—

पेष्यैर्मृणालबिसकेसरपत्रबीजैः
सिद्धं सहेमशकलं पयसा च सर्पिः।
पद्मारविन्दमिति तत्प्रथितं पृथिव्यां
प्रभ्रष्टपौरुषबलप्रतिभैर्निषेव्यम् ॥४८

व्याख्या—कमल की नाल, बिस, केसर, पत्र तथा बीज (कमल गट्टा) लेकर कल्क बनावे, कल्क से चतुर्गुण घृत तथा घृत से चतुर्गुण दुग्ध और सोना के टुकड़े (अधिक से अधिक जितने उपलब्ध हों) मिला कर पाक करे। इसका नाम "पद्मार विन्द घृत" है। इसका सेवन उनको करना चाहिये जिनका पौरुष, बल तथा प्रतिभा का ह्रास हो गया हो।

वक्तव्य—सोना के टुकड़ों का सहपाक होने से घृत में गुणाधान हो जाता है यद्यपि सोना कुछ घुलता नहीं है।४८।

चतुष्कुवलय घृत—

यन्नालकन्ददलकेसरवद्विपक्वं
नीलोत्पलस्य तदपि प्रथितं द्वितीयम्।

सर्पिश्चतुःकुवलयं सहिरण्यपत्रं
मेध्यं गवामपि भवेत्किमु मानुषाणाम्॥४९॥

व्याख्या—जो घृत—नील कमल के नाल, कन्द, पत्र तथा केसर के योग से गोदुग्ध एवं सोने के पत्तों को मिला मिला कर सिद्ध किया जाता है उसका नाम- चतुष्कुवलय है। इसका सेवन करने से—बैलों की भी मेधा शक्ति बढ़ जाती है मनुष्यों की तो बढ़ती ही है॥

वक्तव्य—सोना के पत्र अथवा टुकड़े डालकर पाक किया जाता है अन्त में वे निकाल लिये जाते हैं अथवा घृत में ही पड़े रहते हैं॥४९॥

ब्राह्म्यादि रसायन—

ब्राह्मीवचासैन्धवशङ्खपुष्पी
मत्स्याक्षकब्रह्मसुवर्चलैन्द्र्यः।
वैदेहिका च त्रियवाः पृथक् स्यु-
र्यवौ सुवर्णस्य तिलो विषस्य॥५०॥
सर्पिषश्च पलमेकत एतद्-
योजयेत्परिणते च घृताढ्यम्।
भोजनं समधु वत्सरमेवं
शीलयन्नधिकधीस्मृतिमेधः॥५१॥
अतिक्रान्तजराव्याधितन्द्रालस्यश्रमक्लमः।
जीवत्यब्दशतं पूर्णं श्रीतेजःकान्तिदीप्तिमान्॥५२॥
विशेषतः कुष्ठकिलासगुल्म-
विषज्वरोन्मादगरोदराणि।
अथर्वमन्त्रादिकृताश्च कृत्याः
शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः॥५३॥

व्याख्या—ब्राह्मी, बालवच, सैन्धव लवण, शंखपुष्पी, मत्स्याक्षी (मछेछी), हुलहुल के बीज, इन्द्रायण की जड़; तथा पीपल ३-३ जौ परिमित, सुवर्णभस्म २ जौ परिमित विष (वत्सनाभ या सिंकिया) १ तिल भर तथा गोघृत १ पल मिला कर चाटे। पचजाने पर—भूख लगने पर—घृत एवं मधु मिला कर भात-दलिया आदि भोजन करे। इस रसायन का सेवन १ वर्ष प्रतिदिन करे। इसके सेवन से—बुद्धि, स्मृति, एवं मेधा शक्ति की वृद्धि होती है, अकालजरा, व्याधि, तन्द्रा, आलस्य अवसाद एवं ग्लानि का नाश होता है, सौ वर्ष पर्यन्त जीता है, श्री, तेज, कान्ति तथा दीप्ति स्थिर रहती हैं, विशेषतः—कुष्ठ, किलास, गुल्म विष विकार, ज्वर, उन्माद, गरविष विकार उदररोग, अथर्व वेद की विधि से किये गये कृत्या एवं मारण आदि तथा पक्षाघात आदि वातज रोग नष्ट हो जाते हैं॥

वक्तव्य—चरक चि. अ. १, पाद १ में इस का नाम "ऐन्द्र रसायन" है देखिये श्लोक २४ से २९। रस शास्त्रानुसार विष का शोधन करके और सुवर्ण की भस्म बनाकर प्रयुक्त करे॥५०-५३॥

इति ब्राह्म्यादिरसायनम्

नागबला रसायन—

शरन्मुखे नागबला पुष्ययोग समुद्धरेत्।
अक्षमात्रं ततो मूलाच्चूर्णितात्पयसा पिबेत्॥५४॥
लिह्यान्मधुघृताभ्यां वा क्षीरवृत्तिरनन्नभुक्।
एवं वर्षप्रयोगेण जीवेद्वर्षशतं बली॥५५॥

व्याख्या—शरद् ऋतु के प्रारम्भ में पुष्य नक्षत्र वाले दिन नागबला की जड़ें उखाड़ लेवे और उन में से कर्ष भर जड़ को पीस कर दूध के साथ पीवे अथवा मधु एवं घृत में मिला कर चाटे और केवल दूध पर निर्वाह करे किसी प्रकार का अन्न न खावे। इस प्रकार एक वर्ष पर्यन्त रहने से सौ वर्ष जीता है और बलवान् बना रहता है। ५४-५५॥

इति नागबलारसायनम्।

गोक्षुक रसायन—

फलोन्मुखो गोक्षुरकः समूल-
श्छायाविशुष्कः सुविचूर्णिताङ्गः।
सुभावितः स्वेन रसेन तस्मा-
न्मात्रां परां प्रासृतिकीं पिबेद्यः॥५६॥
क्षीरेण तेनैव च शालिमश्नन्
जीर्णे भवेत्स द्वितुलोपयोगात्।
शक्तः सुरूपः सुभगः शतायुः
कामी ककुद्मानिव गोकुलस्थः॥५७॥

व्याख्या—गोखरू के पौदा में जब फूल फूले हों और फल आने को हों उस समय उसे मूल से उखाड़ लेवे, और छाया में सुखा कर चूर्ण बना लेवे तथा उसी के स्वरस की सात भावना देकर रख लेवें। उत्तम मात्रा ८ कर्ष। अनुपान दूध। भूख लगने पर पथ्य-शालिधान्यों का भात-दूध के साथ। इस दो तुला चूर्ण (२०० पल) का सेवन करना चाहिये। इसके सेवन से—बलवान्, सुभग, सौ वर्ष की आयु वाला तथा कामी हो जाता है और साँढ़ के समान पुष्ट हो जाता है॥

वक्तव्य—उत्तम मात्रा ८ कर्ष है और मध्यम मात्रा ४ कर्ष तथा अवर मात्रा २ कर्ष हैं॥५६-५७॥

अन्यान्य रसायन योग—

वाराहीकन्दमार्द्रं क्षीरेण क्षीरपः पिबेत्।
मासं निरन्नो मासं च क्षीरान्नादौ जरां जयेत्॥५८॥
तत्कन्दश्लक्ष्णचूर्णं वा स्वरसेन सुभावितम्।
घृतक्षौद्रप्लुतं लिह्यात्तत्पक्वं च घृतं पिबेत्॥५९॥
तद्वद्विदार्यतिबलाबलामधुकबाकुची:।

श्रेयसी श्रेयसी युक्ता पथ्याधात्रीस्थिरामृताः ॥ ६० ॥
मण्डूकीशङ्खकुसुमा-वाजिगन्धाशतावरीः ।
उपयुञ्जीत धीमेधावयःस्थैर्यबलप्रदाः ॥ ६१ ॥

व्याख्या—प्रति दिन वाराही कन्द (गेठी) को उखाड़ कर खा लेवे—भरपेट खा लेवे और ऊपर से दूध पीवे, जब २ भूख लगे दूध पीवे, अन्न न खावे। इस प्रकार दो मास में अकाल जरा पर विजय की प्राप्ति हो जाती है। अथवा वाराही कन्द के चूर्ण को वाराही कन्द के स्वरस की सात भावना देकर घृत एवं मधु में मिलाकर चाटे। अथवा—वाराही कन्द के कल्क एवं स्वरस के योग से सिद्ध घृत का सेवन करे। इसी प्रकार विदारी कन्द, अतिबला, बला, मुलेठी, मकोय, गज पीपल एवं रासना, हरड़, आमला, शालपर्णी, गिलोय, मण्डूक पर्णी (ब्राह्मी भेद), शंख पुष्पी, असगन्ध तथा शतावरी का पृथक् २ सेवन करे। अनुपान एवं पथ्य विदारी कन्द के समान। इनमें से किसी एक का प्रयोग करने से—मेधा वयस् की स्थिरता तथा बल की प्राप्ति होती है ॥ ५८-६१ ॥

चित्रक रसायन—

यथास्वं चित्रकः पुष्पैर्ज्ञेयः पीतसितासितैः ।
यथोत्तरं स गुणवान् विधिना च रसायनम् ॥ ६२ ॥
छायाशुष्कं ततो मूलं मासं चूर्णीकृतं लिहन् ।
सर्पिषा मधुसर्पिर्भ्यां पिबन् वा पयसा यतिः ॥६३॥
अम्भसा वा हितान्नाशी शतं जीवति नीरुजः ।
मेधावी बलवान् कान्तो वपुष्मान् दीप्तपावकः ॥ ६४ ॥
तैलेन लीढो मासेन वातान् हन्ति सुदुस्तरान् ।
मूत्रेण श्वित्रकुष्ठानि पीतस्तक्रेण पायुजान् ॥ ६५ ॥

व्याख्या—चित्ता तीन प्रकार का होता है—१ पीले फूल वाला २-श्वेतफूल वाला, काले फूलवाला और वह उत्तरोत्तर गुणवान् होता है। उसका सेवन यदि विधि पूर्वक किया जाय तो वह "रसायन" है। इसके मूलों को लेकर छाया में सुखा कर चूर्ण बना लेवे। मात्रा ५-७ रत्ती, सहपान—घृत अथवा घृत एवं मधु का मिश्रण अथवा दूध अथवा केवल जल। आहार विहार—ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रिय संयम और दूध भात आदि रसायनोपयोगी आहार। फल—१०० वर्ष की आयु, आरोग्य, मेधा, बल, कान्ति तथा पुष्टि का लाभ और अग्नि की दीप्ति। प्रयोग काल—१ मास। चित्ता चूर्ण—तैल के साथ चाटने से १ मास में वात जनित रोगों को नष्ट करता है और गोमूत्र के साथ पीने से—श्वित्रकुष्ठों को और तक्र के साथ पीने से अर्श रोग को नष्ट करता है ॥

वक्तव्य—चित्रक या चित्ता का नाम अग्नि भी है क्योंकि यह अग्नि के समान दाहक एवं उष्ण वीर्य होता है, इसको गोमूत्र में पीस कर लेप करने से फफोला उठ आता है। खाने में भी ५-७ रत्ती चूर्ण को घृत आदि में फेण्ट कर प्रयुक्त करे अन्यथा जीभ पर एवं मुख में क्षत हो सकता है।

भल्लातक रसायन—

अथ भल्लातकरसायनम् ।

भल्लातकानि पुष्टानि धान्यराशौ निधापयेत् ।
ग्रीष्मे सङ्गृह्य हेमन्ते स्वादुस्निग्धहिमैर्वपुः ॥ ६६ ॥
संस्कृत्य तान्यष्टगुणे सलिलेऽष्टौ विपाचयेत् ।
अष्टांशशिष्टं तत्क्वाथं सक्षीरं शीतलं पिबेत् ॥ ६७ ॥
वर्धयेत्प्रत्यहं चानु तत्रैकैकमरुष्करम् ।
सप्तरात्रत्रयं यावत् त्रीणि त्रीणि ततः परम् ॥ ६८ ॥
आचत्वारिंशतस्तानि ह्रासयेन वृद्धिवत्ततः ।
सहस्रमुपयुञ्जीत सप्ताहैरिति सप्तभिः ॥ ६९ ॥
यन्त्रितात्मा घृतक्षीरशालिषष्टिकभोजनः ।
तद्वत्त्रिगुणितं कालं प्रयोगान्तेऽपि चाचरेत् ॥ ७० ॥
आशिषो लभते पूर्वा वह्नेर्दीप्तिं विशेषतः ।
प्रमेहकृमिकुष्ठार्शोमेदोदोषविवर्जितः । ७१ ॥

व्याख्या—परिपक्व जामुन केसे परिपुष्ट भल्लातकों का ग्रीष्म ऋतु में संग्रह करके जौ आदि धान्यों के ढेर में दवा देवे और हेमन्त ऋतु (अगहन-पूस) में निकाल कर उपयोग में लावे। उपयोग विधि - मधुर, स्निग्ध एवं शीतल आहार से शरीर का संस्कार करने के पश्चात्—आठ भिलावों को आठगुने जल में पकावे, अष्टमांश रहने पर शीतल करके, दूध मिलाकर पी लेवे। प्रतिदिन १-१ भिलावा २१ दिन पर्यन्त बढ़ावे तदनन्तर ४० पर्यन्त ३-३ भिलावा बढ़ावे तत्पश्चात् जैसे २ भिलावों की संख्या बढ़ाई गई थी वैसे २ घटा कर ८ भिलावा पर आजावे। इस प्रकार ४९ दिन (तीन सप्ताहों) में सहस्र भिलावों का उपयोग करे। उपयोग काल में तथा उपयोग के अन्त में २१ सप्ताह पर्यन्त संयम से रहे और घृत, दूध, शालि धान्य एवं साठी चावल के भात का सेवन करे। इस प्रकार भिलावा का सेवन करने से अपूर्व लाभ होता है विशेषतः जठराग्नि प्रदीप्त होती है और प्रमेह, कृमिरोग, कुष्ट, अर्श तथा मेदो दोष-स्थौल्य से मुक्ति मिलती है।

वक्तव्य—भिलावों को दरदर कूट कर क्वाथ बनावे और मुख के भीतर घृत चुपड़ कर पीवे अन्यथा मुख में क्षत अथवा पिटिका हो जाती हैं। पाठक गणित करके देखें, २५ दिन वृद्धि क्रम में तथा २४ दिन ह्रास क्रम में। इस प्रकार तीन सप्ताह-उन्चास दिनों में १ सहस्र संख्या पूर्ण हो ही जाती है। यह प्रयोग श्वास—तमक श्वास में भी किया जाता है। यदि रोगी सुकुमार हो तो १-२-३ भिलावों का प्रयोग भी पर्याप्त होता है और ५-७ दिन के प्रयोग से भी लाभ होता है ॥६६-७१॥

भल्लातक स्वरस—

द्वितीयं भल्लातकरसायनम्—

पिष्टस्वेदनमरुजैः पूर्णं भल्लातकैर्विजर्जरितैः ।
भूमिनिखाते कुम्भे प्रतिष्ठितं कृष्णमृल्लिप्तम् ॥ ७२ ॥
परिवारितं समन्तात्पचेत्ततो गोमयाग्निना मृदुना ।
तत्स्वरसो यश्च्यवते गृह्णीयात्तं दिनेऽन्यस्मिन् ॥ ७३ ॥
अमुमुपयुज्य स्वरसं मध्वष्टमभागिकं द्विगुणसर्पिः ।
पूर्वविधियन्त्रितात्मा प्राप्नोति गुणान्स तानेव ॥ ७४ ॥

व्याख्या—पुष्ट भिलावों को दरदरा कूट मिट्टी के भाण्ड में भर देवे और काली मिट्टी का लेप करके मुखरोध कर देवें, और इस भाण्ड के तल भाग में छोटे २ पांच सात छिद्र पहिले ही कर लेना चाहिये। इस भाण्ड को भूमि में गाड़े गये अन्य भाण्ड के मुख पर टिकाकर रख देवे और सब ओर जंगली उपले चुन-चिन कर मृदु अग्नि से स्वेदन करे। इस प्रकार भिलावों का स्वरस निचले भाण्ड में सञ्चित हो जाता है, दूसरे दिन सर्वाङ्ग शीतल हो जाने पर उस स्वरस को निकाल कर शीशी में भर कर रख लेवे। इस स्वरस में अष्टमांश मधु तथा द्विगुण घृत मिला कर पीवे। श्लोक ११ में कही गई विधि से संयम पूर्वक रह कर उसी श्लोक में कहे गये गुणों—लाभों को प्राप्त किया जा सकता है ॥

वक्तव्य—यह पाताल यन्त्र कहलाता है, इस विधि से अन्यान्य औषधों का स्वरस भी ग्रहण किया जाता है। यद्यपि इसे "तैल" कहते हैं परन्तु होता है यह रस ही। इस प्रकार निकाले रस की मात्रा का अनुमान वैसे लगाना चाहिये। जैसे लगभग ८–१२ भिलावों का रस १ मात्रा में आवे। इस रस में अत्यन्त दुर्गंध होती है अतः पीने में असह्य क्लेश होता है ॥७२–७४।

अमृत प्राश रसायन—

तृतीयं भल्लातकरसायनम्—

पुष्टानि पाकेन परिच्युतानि भल्लातकान्याढकसम्मितानि।
घृष्टेष्टिकाचूर्णकणैर्जलेन प्रक्षाल्य संशोष्य च मारुतेन
जर्जराणि विपचेज्जलकुम्भे पादशेषघृतगालितशीते ।
तद्रसं पुनरपि श्रपयेत क्षीरकुम्भसहितं चरणस्थे । ७६ ।
सर्पिः पक्वं तेन तुल्यप्रमाणं
युञ्ज्यात्स्वेच्छं शर्कराया रजोभिः ।
एकीभूतं तद्रजक्षोभणेन
स्थाप्यं धान्ये सप्तरात्रं सुगुप्तम् ॥ ७७ ॥
तममृतरसपाकं यः प्रगे प्राशमश्नन्
अनु पिबति यथेष्टं वारि दुग्धं रसं वा ।
स्मृतिमतिबलमेधासत्त्वसारैरुपेतः
कनकनिचयगौरः सोऽश्नुते दीर्घमायुः ॥ ७८ ॥

व्याख्या—पक कर स्वयं गिरे हुए पुष्ट भिलावे १ आढक लेकर, ईंटों के चूर्ण में मसले और जल से धोकर छाया में सुखा लेवे। फिर उन्हें दरदरा कूट कर १ द्रोण जल में पकावे, चौथाई रहने पर छान लेवे, शीतल होने पर उस रस में १ द्रोण गो दुग्ध मिला कर पकावे, चौथाई रहने पर ५ प्रस्थ गोघृत मिलाकर पाक करे—खोया के समान हो जाने पर उसमें आवश्यकतानुसार खण्ड मिला कर मकूसूद से घोट कर भाण्ड में धर देवे और मुख रोध करके धान्य राशि में दबा देवे। सात दिन के पश्चात् निकाल कर २–४ कर्ष की मात्रा, प्रातः काल खावे और ऊपर से जल, दूध अथवा मांस रस का पान करे। जो मानव इस का सेवन करता है वह—स्मृति, मति, बल, सत्त्वगुण एवं त्वक्सार आदि सारों युक्त हो जाता है तथा सोना के समान गोरा होकर दीर्घायु का उपभोग करता है ॥

वक्तव्य—इस में खण्ड प्रायः ५ प्रस्थ मिलाई जाती है। इस का नाम 'अमृतरस पाक" है। च. वि. अ. ७ में–सार ८ कहे हैं यथा—साराणि अष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थं उपदिश्यन्ते तद् यथा—त्वक्, रक्त, मांस, मेदो. अस्थि, मज्ज, शुक्र सत्त्वानि इति ॥ १०४ ॥

भावार्थ—नरनारी के बल के परिमाण की विशेषता के ज्ञानार्थं आठ सारों का उपदेश किया जाता है यथा–त्वक्सार रक्तसार, मांससार, मेदः सार, अस्थिसार, मज्जसार, शुक्रसार तथा आठवाँ सत्त्वसार। इन सब सारों से युक्त पुरुष (नरनारी)—अत्यन्त बलवान्, परम गौरव युक्त, क्लेश सहने में समर्थ, सब कार्यों में सफलता का विश्वास करने वाले, कल्याण–शुभ-मङ्गल भावों में निश्चय रखने वाले, स्थिर एवं सुगठित शरीर वाले, हंस के समान स्थिर गति वाले तथा प्रति ध्वनि युक्त, स्निग्ध, गम्भीर एवं महान् स्वर वाले, तथा सुख, ऐश्वर्य, धन, उपभोग एवं सम्मान को भोगने वाले, शीघ्र जरा एवं रोग से ग्रस्त न होने वाले, अपने जैसी सन्तति उत्पन्न करने वाले तथा चिर जीवी होते हैं। और इसके विपरीत जो नर नारी होते हैं वे असार-सार हीन होते हैं। इस अमृतरस पाक का सेवन करने से सार हीन नर-नारी उक्त प्रकार के सब सारों से युक्त हो जाते हैं ॥ ७५ ७८ ॥

भल्लातक तैल—

चतुर्थं भल्लातकरसायनम् ।

द्रोणेऽम्भसां व्रणकृतां त्रिशताद्विपकात्
क्वाथाढकं पलसमैस्तिलतैलपात्रम् ।
तिक्ताविषाद्वयवरा-गिरिजन्मताद्यैः
सिद्धं परं निखिलकुष्ठनिबर्हणाय ॥ ७९ ॥

व्याख्या—तीन सौ भल्लातकों को १ द्रोण जल में पकावे, १ आढक रहजाने पर छान लेवे और उस क्वाथ में १ आढक तिल तैल तथा १-१ पल कुटकी, अतीस, त्रिफला, शिलाजीत तथा रसावत का कल्क मिला कर तैल सिद्ध करे। इसका प्रयोग-खाने एवं लगाने में सब प्रकार के कुष्ठों के निवारणार्थ करे॥

वक्तव्य—विषाद्वय पाठ से प्रतीत होता है—श्वेत कन्द वालीं विषा तथा श्याम कन्द वाली अतिविषा का निर्देश किया गया है देखिये मदन विनोद निघण्टु अभयादि वर्ग।

भल्लातक के अनेक योग—

सहामलकशुक्तिभिर्दधिसरेण तैलेन वा
गुडेन पयसा घृतेन यवसक्तुभिर्वा सह।
तिलेन सह माक्षिकेण पललेन सूपेन वा
विपुष्करसरुष्करं परममेध्यमायुष्करम्॥ ८०।

व्याख्या—१-आमला के साथ, २—दही की मलाई के साथ, ३—तिल तैल के साथ, ४—गुड़ के साथ, ५—दूध के साथ, ६—घृत के साथ, ७—जौ के सत्तुओं के साथ, ८—तिलों के साथ, ९—मधु के साथ, १०—मांस के साथ अथवा, ११ मूँग आदि के सूप (यूष) के साथ भिलावा का सेवन करने से पुष्टि, मेधा तथा आयु की वृद्धि होती है॥

वक्तव्य—च. चि. अ. १ पाद २ में केवल १० प्रयोग लिखे हैं। रोग, प्रकृति एवं सात्म्य के अनुसार जो प्रयोग उचित हो उसका उपयोग करे। ८०॥

भल्लातक के गुण एवं दोष—

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥८१॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रमग्निबलप्रदम्॥ ८२॥
वातातपविधानेऽपि विशेषेण विवर्जयेत्।
कुलत्थ-दधि-शुक्तानि तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम्। ८३॥

व्याख्या—भिलावे—तीक्ष्ण, पाचक एवं अग्नि के समान दाहक, उष्णवीर्य एवं स्फोटोत्पादक होते हैं तथापि—यदि विधिपूर्वक उनका सेवन किया जाय तो अमृत के समान गुणवान् होते हैं। ऐसा कोई भी कफ जनित रोग नहीं और न कोई विबन्ध ही है जिसको भिलावा नष्ट नहीं करता क्योंकि वह तत्काल अग्नि एवं बल को बढ़ाता है। भिलावा का सेवन यथा सम्भव कुटी प्रावेशिक विधि से करना चाहिये परन्तु यदि वातातपिक विधि से ही सेवन करना पड़े तो—कुलथी, दही, शिरका, काञ्जी, तैलाभ्यङ्ग एवं अग्नि ताप का परित्याग अवश्य करना चाहिये॥८०-८३॥

तुवरक रसायन—

वृक्षास्तुवरका नाम पश्चिमार्णवतीरजाः।
वीचीतरङ्गविक्षोभ-मारुतोद्धूतपल्लवाः॥८४॥
तेभ्यः फलान्याददीत सुपक्वान्यम्बुदागमे।
मज्जा फलेभ्यश्चादाय शोषयित्वाऽवचूर्ण्य च॥८५॥
तिलवत्पीडयेद् द्रोण्यां क्वाथयेद्वा कुसुम्भवत्।
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदासलिलक्षयात्॥८६॥
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत्।
स्निग्धस्विन्नो हृतमलः पक्षादुद्धृत्य तत्ततः॥८७॥
चतुर्थभक्तान्तरितः प्रातः पाणितलं पिबेत्।
मन्त्रेणानेन पूतस्य तैलस्य दिवसे शुभे॥८८॥
"मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय।
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः॥८९॥"
तेनास्योर्ध्वमधस्ताच्च दोषा यान्त्यसकृत्ततः।
सायमस्नेहलवणां यवागूं शीतलां पिबेत्॥९०॥
पञ्चाहानि पिबेत्तैलमित्थं वर्ज्यानि वर्जयेत्।
पक्षं मुद्गरसान्नाशी सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते॥९१॥
तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम्।
निहितं पूर्ववत्पक्षं पिबेन्मासं सुयन्त्रितः॥९२॥
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वन्नाहारमीरितम्।
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत्कुष्ठिनं नरम्॥९३॥
सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराद्विना।
पक्षं मांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम्॥९४॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम्।
वपुष्मन्तं श्रुतधरं करोति त्रिशतायुषम्॥९५॥

व्याख्या—तुवरक नामक वृक्ष-पश्चिम समुद्र के तट पर उत्पन्न होते हैं और सर्वदा समुद्र की तरङ्गों की वायु से झूमते रहते हैं। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में उन वृक्षों के फल परिपक्व हो जाते हैं। उन फलों में से मज्जा-गरी निकालकर, सुखा कर, जौकुट करके और कोल्हू में पीड कर तैल ले लिया जाता है अथवा कड़ाही में कुसुम्भ के समान क्वाथ बना कर उतराया हुआ तैल संग्रहीत कर लिया जाता है। इस प्रकार संगृहीत तैल पुनः पकावे जब तक उसके जलांश का क्षय हो जाय। तदनन्तर अग्नि पर से उतार कर १५ दिन के लिये सूखे गोबर चूर्ण के ढेर में दबा देवे। १५ दिन के पश्चात् निकाल कर प्रयुक्त करे। प्रयोग विधि—विधिपूर्वक-स्नेहन, स्वेदन एवं वमन विरेचन करने के पश्चात्—चौथा अन्न काल अर्थात् दो दिन बिता कर, प्रातः काल तुवरक तैल की १ कर्ष मात्रा का पान करे। मात्रा पान के पूर्व-कोई शुभ दिन चुन तथा 'मज्जसार······ऽच्युतः' मन्त्र से तैल को अभिमन्त्रित कर लेवे। इस मन्त्रका अर्थ है—हे महावीर्य मज्जसार!

शंख, चक्र एवं गदा का धारण करने वाले भगवान् विष्णु तुम को आज्ञा देते हैं कि तू सब धातुओं का शोधन कर दे। तैल पान से—वमन एवं विरेचन द्वारा शरीर गत दोष मुख एवं गुद मार्ग से बार २ निकलने लगते हैं। इस प्रकार वमन एवं विरेचन के पश्चात्—सायंकाल स्नेह एवं लवण से रहित पतला दलिया शीतल करके पिला देवे। इसी विधि से ५ दिन (१-२ दिन का अन्तर देकर ५) तुवरक तैल का पान करना चाहिये। और १५ अपथ्यों का पूर्ण रूप से परित्याग करे तथा केवल मूँग की स्नेह एवं लवण से रहित पतली दाल के साथ भात अथवा रोटी-दलिया आदि खावे। अथवा—तुवरक तैल को—खैरसार के तिगुने क्वाथ में भली भाँति सिद्ध करके, पूर्ववत् गोबर में दबाकर १५ दिन के पश्चात् निकाल कर १ मास पर्यन्त पान करे। इसी तैल का अभ्यङ्ग करे और मूंग की दाल तथा भात खाता रहे। इस प्रकार कुष्ट को शान्त करने का प्रयत्न करे। इस तैल को घृत एवं मधु में मिलाकर पीवे तथा अनुपान में खैर सार का क्वाथ पीवे और मांस रस के साथ भोजन करे। इस प्रकार १५ दिन का प्रयोग करने से दो सौ वर्ष की आयु का लाभ होता है। इस तैल की ५० दिन नस्य लेने से शरीर पुष्ट होता है, मस्तिष्क श्रुत घर हो जाता है। (सुने वृत्त को नहीं भूलता) तथा ३ सौ वर्ष की आयु का लाभ होता है॥

वक्तव्य—तुवरक को आजकल चालमोगरा कहते हैं। इसके वृक्ष जावा, सुमात्रा एवं सिंगापुर आदि प्रदेशों में भी पाए जाते हैं। बड़ी बड़ी कम्पनियों द्वारा तैयार किया गया तुवरक तैल सर्वत्र मिलता है। इस तैल का सेवन उष्ण जल में मिलाकर किया जाता है, १०-२० बून्द से वमन विरेचन नहीं होता, संशमनार्थ इस मात्रा का प्रयोग महीनों किया जाता है, पामा आदि में अभ्यङ्ग से लाभ होता है। भाव प्रकाश निघण्टु के तैल वर्ग में इस तैल का नाम "तुवरीतैल" है। मु. चि. अ. १३ से वह सब पाठ उद्धृत किया गया है। इसकी मज्जा का सेवन करने से कुष्ठ एवं प्रमेह का नाश होता है॥८४-६५॥

पिप्पली रसायन—

पिप्पलीरसायनम्।

पञ्चाष्टौ सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत्॥ ९६॥
तिस्रस्तिस्रश्च पूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः॥९७॥
प्रयोज्या मधुसम्मिश्रा रसायनगुणैषिणा।
क्रमवृद्ध्या दशाहानि दश पैप्पलिकं दिनम्॥९८॥
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथैवापनयेत्पुनः।
जीर्णौषधश्च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा॥९९॥
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम्।
पिष्टास्ता बलिभिः पेयाः शृता मध्यबलैर्नरैः॥१००॥
तद्वच्छागदुग्धेन द्वे सहस्रे प्रयोजयेत्।
एभिः प्रयोगैः पिप्पल्यः कासश्वासगलग्रहान्॥१०१॥
यक्ष्ममेहग्रहण्यर्शःपाण्डुत्वविषमज्वरान्।
घ्नन्ति शोफं वमिं हिध्मां प्लीहानं वातशोणितम्॥१०२
बिल्वार्धमात्रेण च पिप्पलीनां
पात्रं प्रलिम्पेदयसो निशायाम्।
प्रातः पिबेत्तत्सलिलाञ्जलिभ्यां
वर्षं यथेष्टाशनपानचेष्टः॥ १०३॥

व्याख्या—५ अथवा ८, ७ अथवा १० पीपल लेकर और पीस कर मधु एवं घृत में मिलाकर प्रतिदिन प्रातः काल १ वर्ष भर खावे। इस प्रयोग से रसायन सेवन के सब लाभ (देखिये श्लो०२) होते हैं।

पिप्पलियों को पलाश क्षार के पानी की भावना देकर तथा घृत में तलकर रख लेवे और इनमें से तीन पीपल प्रातः काल, तीन भोजन के पश्चात् (दोपहर में) तथा तीन पीपल सायं कालीन भोजन के पूर्व (सायं काल) खाने से—रसायन के गुणों का लाभ होता है। इस प्रयोग में ९ पीपल प्रति दिन खाई जाती है। सहपान-मधु। क्रमशः—वर्द्धमान पिप्पली रसायन—प्रतिदिन १०—१० पीपल बढ़ाकर १० दिन और १०-१० क्रमशः घटाकर ९ दिन, दूध के साथ खावे, पीपल पच जाने पर दूध एवं घृत के सात साठी चावलों का भात खावे। यह १ सहस्र पीपलों का प्रयोग रसायन है। बलवानों को दूध में पीस कर, मध्यबलों को दूध में पका कर और दुर्बलों को दूध में भिगो कर पीपल का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार बकरी के दूध के साथ २ सहस्र पिप्पलियों का प्रयोग भी किया जाता है॥ इन प्रयोगों से पिप्पलियाँ—कास, श्वास, गलग्रह, राजयक्ष्मा, प्रमेह, ग्रहणीरोग, अर्शः, पाण्डुरोग, विषम ज्वर, शोथ, छर्दि, हिक्का, प्लीहविकार तथा वात रक्तको नष्ट करती है। रात्रि में दो कर्ष पिप्पलियों को दूध में पीस कर लोह की कड़ाही में लीप देवे, प्रातःकाल दो अञ्जलि (१२ कर्ष) जल में घोल कर पी लेवे। इस प्रकार १ वर्ष पिप्पलियों का सेवन करे और इच्छानुसार आहार एवं विहार करे॥ ४५॥

वक्तव्य—श्लो० ४ ९६-१०३ का पाठ च. चि.

अ० १ पाद ३ से उद्धृत किया गया है। वहाँ निम्नलिखित पाठ भी है—

दश पैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट् प्रकीर्तितः।
प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान्, स चाऽबलैः। ३९।

अर्थात्—१० पीपलों का प्रयोग श्रेष्ठ, ६ का मध्यम और ३ का कनिष्ठ प्रयोग कहलाता है और कनिष्ठ प्रयोग दुर्बलों को करना चाहिये। सारांश यह है कि पिप्पली का विविध प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है। १० दिन में १० से प्रतिदिन १०—१० बढाते२ एक सौ पर्यन्त ५५० और घटाते-घटाते नौदिन में ४५० पीपलों का योग एक सहस्र होता है। पीपलों की संख्या वृद्धि एवं संख्या ह्रास के अनुसार दूध के परिमाण में भी वृद्धि एवं ह्रास किया जाता है अथवा स्वभावतः होता है। देखा गया है कि १० से १५ सेर तक दूध पच जाता है।

शुण्ठी आदि के रसायन प्रयोग—

अतिदिष्टरसायनानि।

शुण्ठीविडङ्गत्रिफलागुडूचीयष्टीहरिद्रातिबलाबलाश्च।
मुस्तासुराह्वागुरुचित्रकाश्च सौगन्धिकं पङ्कजमुत्पलानि॥
धवाश्वकर्णासनबालपत्रसारास्तथा पिप्पलिवत्प्रयोज्याः।
लोहोपलिप्ताःपृथगेवजीवेत्समाःशतंव्याधिजराविमुक्तः॥
क्षीराञ्जलिभ्यांचरसायनानियुक्तान्यमून्यायसलेपनानि।
कुर्वन्ति पूर्वोक्तगुणप्रकर्षमायुःप्रकर्षं द्विगुणं ततश्च।१०६॥

व्याख्या—सोंठ, विडंग, त्रिफला, गिलोय मुलेठी, हल्दी, अतिबला, मोथा, देवदारु, अगुरु, चित्ता, सौगन्धिक कमल, अन्यान्य कमल, धव, अश्वकर्ण पलाश तथा विजयसार के कोमल पत्र सार। इन सब द्रव्यों के पृथक् योग का पीपल के समान लोह की कड़ाही में रात्रि को लीप कर और प्रातः काल दो अञ्जलि भर जल में घोल कर सेवन करे। इन रसायनों का सेवन करने से रोग एवं अकाल जरा से मुक्त रह कर सौ वर्ष जीता है। अथवा इन सोंठ आदि द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य को पीस कर एवं लोह की कड़ाही में लीप कर तथा दो अञ्जलि दूध में घोलकर पीने से पूर्वोक्त योग की अपेक्षा दूना लाभ होता है और दूनी आयु भोगता है॥१०४-१०६॥

सोमराजी रसायन—

असनखदिरयूषैर्भावितां सोमराजीं
मधुघृतशिखिपथ्यालोहचूर्णैरुपेताम्।
शरदमवलिहानः पारिणामान् विकारान्
जयति मितहिताशी तद्वदाहारजातान्॥१०७॥
तीव्रेण कुष्ठेन परीतमूर्तिर्यः सोमराजीं नियमेन खादेत्।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां स सोमराजीं वपुषाऽतिशेते॥
ये सोमराज्या वितुषीकृतायाश्चूर्णैरुपेतात्पयसः सुजातात्।
उद्धृत्यसारंमधुनालिहन्ति तक्रं तदेवाशुपिबन्ति चान्ते॥
कुष्ठिनः कुथ्यमानाङ्गास्ते जाताङ्गुलिनासिकाः।
भान्ति वृक्षा इव पुनः प्ररूढनवपल्लवाः॥ ११०॥

व्याख्या—सोमराजी (वाकुची) को विजयसार एवं खैरसार के क्वाथों की भावना देवे और पीस कर तथा मधु, घृत, चित्ता, हरड़ तथा लोहभस्म मिलाकर, एक वर्ष भर प्रतिदिन प्रातः काल चाटने से अकाल जरा से उत्पन्न रोग नष्ट हो जाते हैं परन्तु इस रसायन के सेवन काल में—परिमित (स्वल्प) एवं हित भोजन का सेवन होना चाहिये जिस से आहार जनित विकारों की उत्पत्ति न हो। जो कुष्ठ रोगी—सोमराजी तथा काले तिलमिलाकर एक वर्ष भर खाता है और नियम पूर्वक आहार विहार करता है उसका शरीर चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक कान्ति युक्त हो जाता है (उसका कुष्ठ नष्ट हो जाता है)। जो सोमराजी के छिलके उतार कर एव पीस कर और दूध में पका कर, दही जमाकर, विलोकर, घृत निकाल कर और उसे मधु में मिला कर चाटते हैं और ऊपर से उस तक्र को पीते हैं वे शरीर को सड़ाने वाले कुष्ठ से मुक्त हो जाते हैं और उनकी अंगुलियाँ तथा नासिका पुनः उत्पन्न हो जाती हैं जैसे कटे वृक्ष में पुनः नूतन पल्लव उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—सोमराजी अर्थात् वाकुची का छिलका वैसे ही उतारा जाता है जैसे उरद एवं मूंग आदि की दाल का। उक्त पाठ में अतिशयोक्ति अवश्य प्रतीत होती है परन्तु यह भी सत्य है कि सोमराजी कुष्ठ रोग की परमौषध है यदि विधि पूर्वक इसका सेवन निरन्तर किया जाय तो अवश्य लाभ होता है और असाध्यरोग तो असाध्य होता ही है। कुष्ठ के व्रण अवश्य सूख जाते हैं अथवा बढ़ते नहीं है॥ १०७-११०॥

लशुन रसायन—

शीतवातहिमदग्धतनूनां
स्तब्धभुग्नकुटिलव्यथितास्थ्नाम्।
भेषजस्य पवनोपहतानां
वक्ष्यते विधिरतो लशुनस्य॥ १११॥
राहोरमृतचौर्येण लूनाद्ये पतिता गलात्।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः॥ ११२॥
द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्।
साक्षादमृतसम्भूतेर्ग्रामणीः स रसायनम्॥ ११३॥
शीलयेल्लशुनं शीते वसन्तेऽपि कफोल्बणः।
घनोदयेऽपि वातार्तः सदा वा ग्रीष्मलीलया॥ ११४॥
स्निग्धशुद्धतनुः शीतमधुरोपस्कृताशयः।
तदुत्तंसावतंसाभ्यां चर्चितानुचराजिरः॥ ११५॥

तस्य कन्दान् वसन्तान्ते हिमवच्छकदेशजान् ।
अपनीतत्वचो रात्रौ तिमयेन्मदिरादिभिः ॥ ११६ ॥
तत्कल्कस्वरसं प्रातः शुचितान्तवपीडितम् ।
मदिरायाः सुरूढायास्त्रिभागेन समन्वितम् ॥ ११७ ॥
मद्यस्यान्यस्य तैलस्य मस्तुनः काञ्जिकस्य वा ।
तत्काल एव वा युक्तं युक्तमालोच्य मात्रया ॥ ११८ ॥
तैलसर्पिर्वसामज्जक्षीरमांसरसैः पृथक् ।
क्वाथेन वा यथाव्याधि रसं केवलमेव वा ॥ १ ९ ॥
पिबेद्गण्डूषमात्रं प्राक् कण्ठनाडीविशुद्धये ।
प्रततं स्वेदनं चानु वेदनायां प्रशस्यते ॥ १२० ॥
शीताम्बुसेकः सहसा वमिमूर्च्छाययोर्मुखे ।
शेषं पिबेत् क्लमापाये स्थिरतां गत ओजसि ॥ १२१ ॥
विदाहपरिहाराय परं शीतानुलेपनः ।
धारयेत्साम्बुकणिका मुक्ताः कर्पूरमालिकाः ॥ १२२ ॥
कुडवोऽस्य परा मात्रा तदर्धं केवलस्य तु ।
पलं पिष्टस्य तन्मज्ज्ञः सभक्तं प्राक् च शोलयेत् ॥ १२३ ॥
जीर्णशाल्योदनं जीर्णे शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ।
भुञ्जीत यूषैः पयसा रसैर्वा धन्वचारिणाम् ॥ १२४ ॥
मद्यमेकं पिबेत्तत्र तृट्प्रबन्धे जलान्वितम् ।
अमद्यपस्त्वारनालं फलाम्बु परिसिक्थिकाम् ॥१२५॥
तत्कल्कं वा समघृतं घृतपात्रे खजाहतम् ।
स्थितं दशाहादश्नीयात्तद्वद्वा वसया समम् ॥ १२६ ॥

विकञ्चुकप्राज्यरसोनगर्भान्
सशूल्यमांसान् विविधोपदंशान् ।
विमर्दकान् वा घृतशुक्तयुक्तान्
प्रकाममद्याल्लघु तुच्छमश्नन् ॥ १२७ ॥

पित्तरक्तविनिर्मुक्तसमस्तावरणाऽऽवृते ।
शुद्धे वा विद्यते वायौ न द्रव्यं लशुनात्परम् ॥ १२८ ॥
प्रियाम्बुगुडदुग्धस्य मांसमद्याम्लविद्विषः ।
अतितिक्षोरजीर्णे च रसोनो व्यापदे ध्रुवम् ॥ १२९ ॥
पित्तकोपभयादन्ते युञ्ज्यान्मृदु विरेचनम् ।
रसायनगुणानेवं परिपूर्णान्समश्नुते ॥ १३० ॥

व्याख्या—जिन का शरीर शीत, वायु एवं हिम (खूनी वर्फ) से दग्ध हो गया है अथवा जिनकी अस्थियाँ स्तब्ध (कठोर-गति हीन) हो गई हैं, टूट गई हैं, टेढ़ी मेढ़ी हो गई है अथवा पीड़ा युक्त रहती हैं अथवा जो पक्षाघात आदि रोगों से पीड़ित हैं उनके लिये अब लशुन का विधान कहा जाता है। कहा जाता है कि—समुद्र मन्थन के समय जब अमृत निकला तब राहु ने उसे चुरा कर पीलियां और तत्काल भगवान् विष्णु ने उस का गला काट दिया उसमें से अमृत के जो कण (विन्दु) भूमि पर गिरे उनसे लशुन की उत्पत्ति हुई। और यह भी कहा जाता है कि—इस प्रकार दैत्य के शरीर से उत्पन्न होने के कारण - द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) लशुन को नहीं खाते। परन्तु साक्षात् अमृत से उत्पन्न होने के कारण लशुन उत्तम कोटि का रसायन है। (रसायनों का चौधरी है)। लशुन सेवन का काल—लशुन का सेवन शीत काल में करे और कफ की अधिकता होने पर वसन्त ऋतु में भी किया जा सकता है अथवा सब समयों में सेवन किया जा सकता है परन्तु उस समय ग्रीष्म ऋतु की चर्या के समान (सू. अ. ३ में ग्रीष्म ऋतु चर्या देखिये) आहार विहार करना चाहिये। लशुन सेवन के पूर्व—स्नेहन करके शोधन कर लेवे तथा शीतल एवं मधुर आहारों का सेवन करके शरीर को संस्कृत कर लेवे और घर के सब भृत्य आदि प्राणी लशुन की कलियों के कर्णपूर, मुकुट एवं माला आदि भूषण बना कर धारण करके आंगन एवं घर में घूमते रहें (इससे लशुन की गन्ध-दुर्गन्ध) से होने वाली घृणा नष्ट हो जाती है और उसकी उग्रता की प्रतीति भी घट जाती है)। हिमालय के शक प्रदेश में उत्पन्न लशुन का संग्रह वसन्त ऋतु के अन्त में करना चाहिये (चैत्र वैशाख में लशुन के कन्द परिपुष्ट हो जाते हैं)। रात्रि में—लशुन को छील कर मदिरा–सुरा आदि में भिगो देवे प्रातः काल पीस कर एवं कपड़ा में से निचोड़ कर उसके स्वरस को तृतीयांश सुरा में अथवा अन्यान्य किसी मद्य में अथवा तैल में, दही के पानी में अथवा काञ्जी में मिला कर दोषादि के अनुसार मात्रा का विचार करके तत्काल पी लेवे। अथवा—तैल, घृत, वसा, मज्जा, दूध अथवा मांस रस के साथ अथवा रोगानुसार किसी क्वाथ के साथ अथवा केवल रस पिया जा सकता है। प्रथम कण्ठ नाड़ी की शुद्धि के लिये एक गण्डूष भर (घूण्ट भर) रस पीना चाहिये। शरीर में वेदना रहने पर, लशुन का रस पीते ही यदि पसीना आना प्रारम्भ हो जाय तो अच्छा है उस दशा में पंखा आदि करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु यदि—छर्दि अथवा मूर्च्छा आने लग जाय तो मुख पर शीतल जल के छीण्टे देना चाहिये। इस प्रकार तात्कालिक उपद्रव की शान्ति हो जाने से ग्लानि का नाश हो जाने पर तथा ओजस् की स्थिरता हो जाने पर अवशिष्ट रस पी लेना चाहिये। क्योंकि इस की पूर्ण मात्रा १ कुडव (१६ कर्ष) हैं। पान के पश्चात् यदि दाह हो तो उसकी शान्ति के लिये खस आदि शीतल द्रव्यों का लेप करे और मोतियों की एवं कपूर की मालाओं को जल में भिगो २ कर धारण करे। सुरा अथवा तैल आदि से युक्त रस की पूर्ण मात्रा एक कुडव (१६ कर्ष) हैं

अथवा केवल रस की मात्रा आधा कुडव (८ कर्ष) हैं और उसके कल्क की मात्रा १ पल है। इस का सेवन—भात में मिला कर भी किया जाता है अथवा भोजन के पूर्व भी किया जाता है। उक्त प्रकार से रस पीने पर—जब वह पच जाय भूख लग जाय तब पुराने चावलों का भात जो शंख, श्वेत कमल एवं चन्द्रमा के समान श्वेत हो मूँग आदि के यूष के साथ अथवा दूध के साथ अथवा जांगल देशीय हरिण आदि प्राणियों के मांस रस के साथ खावे। साथ में केवल मद्य—सुरा पीवे और उसके पश्चात् जब २ तृषा लगे तब तब जल मिश्रित सुरा पीवे। यदि रोगी सुरापान न करता हो तो काञ्जी पीवे। अथवा अनार अंगूर आदि फलों का रस पीवे अथवा पतली पेया—मण्ड आदि पीवे अथवा लशुन के कल्क में समभाग घृत मिला कर और स्निग्ध भाण्ड में भलीभाँति मथ कर रख देवे और दस दिन के पश्चात् उसे खावे। अथवा इसी प्रकार सूअर आदि की वसा में मिलाकर शूल्य मांस (कबाब) बनावे अथवा अनेक प्रकार के बेसन आदि में पकौड़े—पतोड़े बनावे अथवा घृत एवं सत्तू के विमर्दक (चूरमा—कसाव) बनावे और इनको इच्छानुसार खावे तथा लघु एवं स्वल्प भोजन करे। पित्त एवं रक्त के अतिरिक्त समस्त आवरणों (चि. अ, २२ देखिये) से आवृत वायु के रोगों में अथवा शुद्ध—केवल वायु के रोगों में लशुन से उत्तम कोई द्रव्य—औषध नहीं है (पित्त एवं रक्त के रोगों में लशुन का सेवन नहीं होना चाहिये)। जल, गुड़ एवं दूध का लालच करने वाले, मद्य, मांस एवं अम्ल पदार्थ से द्वेष करने वाले तथा अजीर्ण का परिहार न करने वाले को लशुन के सेवन से अवश्य हानियाँ हो जाती हैं। पित्त के प्रकोप के भय से लशुन प्रयोग के अन्त में मृदु विरेचन अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार लशुन का सेवन करने से रसायन से होने वाले सब गुणों की प्राप्ति होती है ॥

वक्तव्य—लशुन का प्रयोग—सु. उ. अ. ४१ में 'रसोनयोगं विधिवत् क्षयार्त्तः···सेवेत···।५७। क्षय रोग में विहित हैं। विसूची की परमौषध हैं। वात कास (कूकुर खांसी) में लशुन के रस की ५—७ बून्द दूध में मिला कर देते हैं, इसके लेप से त्वचा पर स्फोट उत्पन्न हो जाता है। इसके दो भेद हैं—१—वह जिस में अनेक कलियाँ होती हैं। २—वह जो 'एकपोतिया" कहलाता है यह उत्तम माना जाता है, इसका कन्द छोटे पलाण्डु का सा होता है। आमवात में लशुन सिद्धौषध है। लशुन को तैल में अथवा घृत में तल कर दाल शाक में मिला कर भी खाया जाता है। विषम ज्वर में भी इससे लाभ होता है।

पलाण्डु अ. सं. उ. ". ४९—

रसोनातन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्।
यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव।
स्निग्धाङ्गत्वं गौरवा कान्तिमत्ता वह्नेर्दीप्तिर्वर्ण्यंपुष्टि बृंघत्वम्।
संप्राप्यन्ते यन्त्रणोद्वेगमुक्तैः यस्याऽभ्यासाद्दीर्घमायुः सुखं च।
अभ्याहारे शीलितो दीर्घरात्रं बलपक्षचक्षुस्तर्पणः स्थैर्यकारी।
तैस्तैर्योगैर्योजितोऽयं पलाण्डुस्तानातकान्देहिनामुच्छिनत्ति।
रसं रसोनवत् तस्य पीत्वाऽश्नीयात्तथैव च।
सर्वाजपूरस्वरसं मदिरामधु सीधुषः।
लभते बलवर्णौजो वीर्यस्वरसौमनस्यतेजांसि।
क्षीणशकृद्रुधिरोऽपि च रसोनवत् तद्रसं पीत्वा।

अर्थात्—लशुन के अनन्तर वायु की सर्वश्रेष्ठ औषध पलाण्डु अर्थात् प्याज है। कहा जाता है कि शक सम्राट् का जीवन पलाण्डु पर ही निर्भर था। और पलाण्डु के उपयोग के कारण ही शकनारियाँ इतनी स्वस्थ एवं सुन्दर होती हैं प्रतीत होता है कि लावण्य के सारभाग से उनकी रचना की गई है क्योंकि उनके कपोलों की कान्ति ने चन्द्रमा को भी जीत लिया है। पलाण्डु के सेवन से—शरीर में स्निग्धता, गौरवर्ण, कान्ति, अग्नि की दीप्ति, पुष्टि, रतिशक्ति, दीर्घायु तथा सुख की प्राप्ति होती है विशेषता यह है कि उसके सेवन में किसी प्रकार के नियंत्रण की अवश्यकता नहीं है। उसका सेवन रात्रि में करना चाहिये जब किसी के साथ वार्त्तालाप करने की आवश्यकता न हो क्योंकि वार्त्तालाप में दूसरों को दुर्गन्ध का अनुभव होता है। पलाण्डु—बलवर्द्धक है, नेत्र को तृप्त करता है, शरीर को दृढ़ करता है और घृत एवं तुलसी आदि के साथ तलकर एवं पीसकर खाने से अनेक व्याधियों को नष्ट करता है। लशुन के समान इसका रस पीकर लशुन रसायन में कहे गये आहार का सेवन करे और विजोरा का रस, मदिरा एवं मधु शुक्त पीवे। इसके सेवन से—बल, ओजस्, स्वर, प्रसन्नता एवं तेजस् की प्राप्ति होती है पुरीषक्षय एवं रक्त क्षय में उत्तम लाभ होता है। इसका सेवन—घृत में तल कर किया जाय तो मुख से दुर्गन्ध भी नहीं आती अथवा धनियाँ एवं पुदीना के साथ पीस कर खाने से भी उक्त दोष नहीं रहता। पलाण्डु का एक अनुभूत एवं उत्तम योग—पलाण्डु को काट कर छोटे २ टुकड़े करके भूमि में अथवा गेहूँ के ढेर में दबा देवे और १५ दिन के पश्चात् निकाल कर १-२-३ तोला की मात्रा खाकर ऊपर से दूध पीवे यह योग अच्छा वाजीकरण है ॥१११-१२०॥

शिलाजतुरसायनम् ।

ग्रीष्मेऽर्कतप्ता गिरयो जतुतुल्यं वमन्ति यत् ।
हेमादिषड्धातुरसं प्रोच्यते तच्छिलाजतु ॥ १३१ ॥
सर्वं च तिक्तकटुकं नात्युष्णं कटु पाकतः ।
छेदनं च विशेषेण लौहं तत्र प्रशस्यते ॥ १३२ ॥
गोमूत्रगन्धि कृष्णं, गुग्गुल्वाभं विशर्करं मृत्स्नम् ।
स्निग्धमनम्लकषायं मृदु गुरु च शिलाजतु श्रेष्ठम् ।१३३।
व्याधिव्याधितसात्म्यं, तमनुस्मरन् भावयेदयःपात्रे ।
प्राक् केवलजलधौतं, शुष्कं क्वाथैस्ततो भाव्यम् ।१३४।
समगिरिजमष्टगुणिते निःक्वाथ्यं भावनौषधं तोये ।
तन्निर्यूहेऽष्टांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम् ॥ १३५ ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः ।
स्वैः स्वैरेवं क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत्सप्त ॥ १३६ ॥
अथ स्निग्धस्य शुद्धस्य घृतं तिक्तकसाधितम् ।
त्र्यहं युञ्जीत गिरिजमेकैकेन तथा त्र्यहम् ॥ १३७ ॥
फलत्रयस्य यूषेण पटोल्या मधुकस्य च ।
योगं योग्यं ततस्तस्य कालापेक्षं प्रयोजयेत् ॥ १३८ ॥
शिलाजमेवं देहस्य भवत्यत्युपकारकम् ।
गुणान् समग्रान् कुरुते सहसा व्यापदं न च ॥ १३९ ॥
एक-त्रि-सप्त-सप्ताहं कर्षमर्धपलं पलम् ।
हीनमध्योत्तमो योगः शिलाजस्य क्रमान्मतः ॥ १४० ॥
संस्कृतं संस्कृते देहे प्रयुक्तं गिरिजाह्वयम् ।
[illegible] व्यस्तैः समस्तैर्वा ताम्रायोरूप्यहेमभिः ॥ १४१ ॥
[illegible]रेणालोडितं कुर्याच्छीघ्रं रासायनं फलम् ।
कुलत्थान् काकमाचीं च कपोतांश्च सदा त्यजेत् । १४२ ।
न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपो
जत्वश्मजं यं न जयेत्प्रसह्य ।
तत्कालयोगैर्विधिवत्प्रयुक्तं
स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां दधाति ॥ १४३ ॥

व्याख्या ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों से सन्तप्त पर्वतों में से जो लाख कासा पदार्थ निकलता है उसका नाम शिलाजतु (शिलाजीत) है। वह शिलाजतु स्वर्ण आदि ६ धातुओं का रस होता है यथा—स्वर्ण, रजत, ताम्र, वङ्ग, सीसक तथा लोह धातु मय पाषाण से उत्पन्न शिला जतु ६ प्रकार की होती है। सब प्रकार की शिलाजतु—तिक्त, कटु, समशीतोष्ण, विपाक में कटु तथा छेदनगुण युक्त होती है। उक्त छः प्रकार की शिलाजतुओं में लोह धातुमय शिलाजतु श्रेष्ठ होती है। जो शिलाजतु—गोमूत्र कीसी गन्धवाली, काली, गूगल कीसी, कंकड़ एवं बालू रहित, मृत्स्न (कोमल) स्निग्ध, अम्ल एवं कषायरस से रहित, मृदु तथा गुरु होती है वह उत्तम होती है।

शिलाजतु का शोधन—सर्व प्रथम शिलाजतु को स्वच्छ जल में घोल देवे दो तीन दिन के पश्चात् उसमें मिश्रित अपद्रव्यों को स्रावण आदि क्रिया द्वारा पृथक् कर देवे और फिर—रोग, रोगी एवं रोगी के सात्म्य का विचार करके लोह की कड़ाही में डाल भिन्न उपयोगी क्वाथों की भावना देकर सुखा लेवे।

क्वाथ बनाने की विधि—भावना के लिये उपयुक्त औषध का परिमाण शिलाजतु के समान होना चाहिये और आठगुने जल में पकाकर, अष्टमांश रहने पर छान कर उष्ण २ क्वाथ बना कर उस में डाल देवे। इस प्रकार तत्तद्रोग नाशक क्वाथों की सात भावना देकर सेवन करे।

सेवन विधि—स्नेहन एवं शोधन के पश्चात् तीन दिन, तिक्त द्रव्यों के योग से सिद्ध पञ्चतिक्तक घृत आदि किसी घृत का सेवन करे तत्पश्चात्—त्रिफला के, परवल के पत्तों के तथा मुलेठी के क्वाथ के साथ तीन तीन दिन शिलाजतु का सेवन करे तत्पश्चात् जितने दिन शिलाजतु का सेवन आवश्यक समझा जाय करे। इस प्रकार शिलाजतु का सेवन शरीर के लिये उपकार कारक होता है और सब गुण करता है तथा किसी प्रकार की व्यापद भी उत्पन्न नहीं होती। शिलाजतु के तीन प्रकार प्रयोग होते हैं—१—एक सप्ताह का तथा १ कर्ष मात्रा का। २—तीन सप्ताह का तथा दो कर्ष की मात्रा का। ३—सात सप्ताह का तथा चार कर्ष की मात्रा का। इनमें प्रथम प्रयोग हीन, दूसरा मध्यम तथा तीसरा उत्तम माना जाता है। तत्तद् दोष नाशक क्वाथों द्वारा संस्कृत भावित शिलाजतु का प्रयोग स्नेहन शोधन आदि द्वारा संस्कृत शरीर में, ताम्र भस्म, लोहभस्म, रजत भस्म एवं स्वर्ण भस्म पृथक्-पृथक् अथवा सब मिलाकर और दूध में घोलकर करने से—रसायन गुणों का लाभ शीघ्र होता है। अपथ्य—एक वर्ष अथवा सदा के लिये—कुलथी मकोय तथा कबूतर के मांस का परित्याग कर देना चाहिये। संसार का कोई भी ऐसा साध्य रोग नहीं जिसे शिलाजतु बलात् नष्ट नहीं करती और यदि उसका प्रयोग उचित समय तक तथा उचित अनुपानों एवं सहपानों के साथ विधि पूर्वक किया जाय तो, स्वस्थ के ओजस् को बढ़ाती है।

वक्तव्य—शिलाजीत तिब्बत, भूटान एवं गिलगित नामक प्रदेशों से मँगवाई जाती है परन्तु उसमें मिट्टी, बालू, कंकड़ तथा बकरी की मेंगन आदि अपद्रव्य मिले रहते हैं। शिलाजतु शोधन करनेवाले उसे उक्त विधि से शुद्ध कर लेते हैं ॥१३१-१४३॥

रसायनविधि निर्देश

कुटीप्रवेशः क्षणिनां परिच्छदवतां हितः ।
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सूर्यमारुतिको विधिः ॥ १४४ ॥

व्याख्या—जिनके पास रसायन सेवनार्थ पर्याप्त समय एवं साधन हों उनके लिये कुटी प्रावेशिक विधि हित होती है। और जिनके पास समय एवं साधनों का अभाव हो वे वातातपिक विधि से ही रसायन का सेवन करे।१४४।

इसलिये—

वातातपसहा योगा वक्ष्यन्तेऽतो विशेषतः।
सुखोपचारा भ्रंशेऽपि ये न देहस्य बाधकाः॥ १४५॥

व्याख्या—अब वायु एवं आतप का सहन करनेवाले रसायनों का वर्णन करेंगे जिनमें पथ्यादि की व्यवस्था सरलता से हो सकती है और थोड़ा बहुत अपथ्य होने पर भी अधिक क्लेश नहीं होता॥ १४५॥

वयःस्थापक चार योग—

शीतोदकं पयः क्षौद्रं घृतमेकैकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः॥ १४६॥

व्याख्या—१—शीतल जल, २—दूध, ३—मधु तथा ४—घृत इनमें से १-१ अथवा २-२ अथवा ३-३ अथवा चारों मिलाकर प्रातःकाल पीने से जरा शीघ्र नहीं आती।। १४६॥

हरीतकी रसायन—

सदाऽभयारसायनम्।

गुडेन मधुना शुण्ठ्या कृष्णया लवणेन वा।
द्वे द्वे खादन् सदा पथ्ये जीवेद्वर्षशतं सुखी॥ १४७॥

व्याख्या—गुड़ के साथ, मधु के साथ, सोंठ के साथ, पीपल के साथ, अथवा लवण के साथ, प्रति दिन दो-दो हरड़ों को खाने से सौ वर्ष जीता है और सदा सुखी रहता है॥ १४७॥

अन्य हरीतकी रसायन—

घृतपक्वाऽभयारसायनम्।

हरीतकीं सर्पिषि सम्प्रताप्य समश्नतस्तत्पिबतो घृतं च।
भवेच्चिरस्थायि बलं शरीरे सकृत् कृतं साधु यथा कृतज्ञे।

व्याख्या—एक हरड़ को घृत में तल कर खाते और उस अवशिष्ट घृत को पीते रहने से—शरीर में बल चिरस्थायी होता है जैसे कृतज्ञ मानव में एकबार किया हुआ उपकार चिरस्थायी होता है।।१४८।।

आमलक रसायन—

धात्रीरसक्षौद्रसिताघृतानि हिताशनानां लिहतां जनानाम्।
प्रणाशमायान्ति जराविकारा ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीता॥

व्याख्या—पथ्य आहार करते हुए—आमलों का रस, मधु, खण्ड तथा घृत मिला कर प्रतिदिन चाटते रहने से—जरा जनित विकार नष्ट हो जाते हैं जैसे भली भाँति मन लगा कर न पढ़े गये बड़े २ ग्रन्थ भूल जाते हैं॥ १४९॥

धात्र्यादि रसायन योग—

धात्रीकृमिघ्नाऽसनसारचूर्णं सतैलसर्पिर्मधुलोहरेणु।
निषेवमाणस्य भवेन्नरस्य तारुण्यलावण्यमविप्रणष्टम्॥

व्याख्या—आमला, विडङ्ग तथा विजयसार का चूर्ण, तैल, घृत, मधु तथा लोह भस्म मिलाकर प्रतिदिन खाने से तरुणता एवं लावण्य (कान्ति) का कभी भी नाश नहीं होता।

वक्तव्य—लावण्य—कान्ति। लवणात्विट्—लवणाया भावः लवण्यम्।।१५०।।

लोहभस्मादि रसायन—

लोहं रजो वेल्लभवं च सर्पिः क्षौद्रद्रुतं स्थापितमब्दमात्रम्।
सामुद्रकेबीजकसारक्लृप्ते लिहन् बली जीवति कृष्णकेशः॥

व्याख्या—लोहभस्म तथा विडंग चूर्ण को घृत एवं मधु में मिला कर विजय सार की लकड़ी के भाण्ड में डाल कर रख देवे एक वर्ष के पश्चात्, प्रतिदिन चाटने से जीवन भर बलवान् बना रहता है और केश काले बने रहते हैं॥ १५१॥

विडंगादि रसायन—

विडङ्गभल्लातकनागराणि येऽश्नन्ति सर्पिर्मधुसंयुतानि।
जरानदीं रोगतरङ्गिणीं ते लावण्ययुक्ताः पुरुषास्तरन्ति॥

व्याख्या—वायविडंग, भिलावा एवं सोंठ को घृत एवं मधु में मिला कर जो मानव प्रतिदिन खाते हैं वे रोग रूपी तरङ्गों वाली जरा रूपी नदी को पार कर जाते हैं तथा कान्तिमान् बने रहते हैं॥ १५२॥

त्रिफला रसायन—

खदिरासनयूषभावितायास्त्रिफलाया घृतमाक्षिकप्लुतायाः।
नियमेन नरा विषेवितारो यदि जीवन्त्यरुजं किमत्र चित्रम्॥

व्याख्या—त्रिफला चूर्ण को—खैरसार एवं विजयसार के क्वाथ की सात भावना देकर और घृत एवं मधु में मिला कर जो मानव—नियम पूर्वक प्रति दिन खाते हैं वे यदि नीरोग रह कर जीते हैं तो इस में क्या आश्चर्य है॥ १५३॥

बीजक रसायन—

बीजकस्य रसमङ्गुलिहार्यं शर्करामधुघृतं त्रिफलां च।
शीलयत्सु पुरुषेषु जरत्ता स्वर्गताऽपि विनिवर्तत एव॥

व्याख्या—विजयसार के क्वाथ को पुनः पका कर इतना गाढ़ा करे जिस से वह अंगुली से उठाया जा सके खण्ड, मधु, घृत तथा त्रिफला चूर्ण मिला कर, प्रतिदिन प्रातःकाल खावे। इस योग के सेवन से—आया हुआ भी बुढ़ापा लौट जाता है।। १५४॥

पुनर्नवा रसायन—

पुनर्नवस्यार्धपलं नवस्य पिष्टं पिबेद्यः पयसार्धमासम्।

मासद्वयंतत्त्रिगुणंसमांवा जीर्णोऽपिभूयःसपुनर्नवःस्यात्।

व्याख्या—पुनर्नवा को तत्काल उखाड़ कर एवं पीस कर जो मानव दूध के साथ १५ दिन, दो मास, छ मास अथवा एक वर्ष पीता रहता है वह वृद्ध होने पर भी पुनः युवक कासा हो जाता है ॥१५५॥

पौनर्नव कल्प—

अतिदेशः।

मूर्वाबृहत्यंशुमतीबलानामुशीरपाठाऽसनसारिवाणाम्।
कालानुसार्यागुरुचन्दनानांवदन्तिपौनर्नवमेवकल्पम्॥

व्याख्या—मरोड़फली, बनभण्टा मूल, शालपर्णी तथा बला मूल का, खस, पाठा, विजयसार तथा सारिवा का और तगर, अगुरु तथा लाल चन्दन का सेवन पुनर्नवा के समान करने से वृद्ध भी पुनः युवक कासा हो जाता है।

शतावरी रसायन—

शतावरीकल्ककषायसिद्धं,ये सर्पिरश्नन्तिसिताद्वितीयम्।
ताञ्जीविताध्वानमभिप्रपन्नान्नविप्रलुम्पन्तिविकारचौराः॥

व्याख्या—जो मानव—शतावरी के कल्क एवं क्वाथ के योग से सिद्ध घृत में खण्ड मिलाकर खाते रहते हैं उनको जीवन मार्ग में चलते समय रोगरूपी चोर नहीं लूट सकते ॥ १५७ ॥

अश्वगन्धा रसायन—

पीताऽश्वगन्धा पयसार्धमासंघृतेनतैलेनसुखाम्बुनावा।
कृशस्यपुष्टिंवपुषोविधत्तेबालस्यसस्यस्य यथा सुवृष्टिः॥

व्याख्या—असगन्ध का चूर्ण दूध के साथ, घृत के साथ तैल के साथ अथवा कोसे जल के साथ १५ दिन पर्यन्त पीने से कृश के शरीर को वैसे पुष्ट करता है जैसे छोटी २ फसल को अच्छी वर्षा पुष्ट करती है ॥ १५८ ॥

तिल रसायन—

दिनेदिनेकृष्णतिलप्रकुञ्चंसमश्नतांशीतजलानुपानम्।
पोषःशरीरस्यभवत्यनल्पोदृढीभवन्त्यामरणाच्चदन्ताः॥

व्याख्या—४ कर्ष तिलों को प्रति दिन खाकर ऊपर से शीतल जल पीनेवाले का शरीर भलीभाँति पुष्ट हो जाता है और जीवन भर दन्त दृढ़ बने रहते हैं ॥१५९॥

श्वदंष्ट्रादि चूर्ण—

चूर्णं श्वदंष्ट्रामलकामृतानांलिहन्ससर्पिर्मधुभागमिश्रम्।
वृषःस्थिरःशान्तविकारदुःखःसमाःशतंजीवतिकृष्णकेशः

व्याख्या—गोखरू, आमला तथा गिलोय के चूर्ण को घृत एवं मधु में मिलाकर प्रतिदिन चाटता हुआ मानव—रति शक्ति युक्त, दृढ़, शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों से रहित तथा काले केशोंवाला रहकर सौ वर्ष जीता है ॥ १६० ॥

तिलादि रसायन—

सार्धंतिलैरामलकानिकृष्णैरक्षाणिसङ्क्षुद्राहरीतकीर्वा।
येऽद्युर्मयूराइवते मनुष्या रम्यं परीणाममवाप्नुवन्ति॥

व्याख्या—तिलों के साथ आमले अथवा बहेड़े अथवा हरड़ों को समान भाग पीसकर जो मानव खाते रहते हैं वे मोरों के समान सुन्दर दशा को प्राप्त करते हैं अर्थात् सुन्दर बने रहते हैं ॥ १६१ ॥

शिलाजत्वादि रसायन—

शिलाजतु क्षौद्रविडङ्गसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्षः।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपक्षरात्रेण यथा शशाङ्कः१६२

व्याख्या—शिलाजीत, मधु, वायविडङ्ग, घृत, लोहभस्म, हरड़, पारद (रससिन्दूर) तथा स्वर्णमाक्षिक भस्म को मिलाकर खानेवाला कृश एवं दुर्बल मानव भी १५ दिन में वैसे परिपूर्ण—पुष्ट हो जाता है जैसे चन्द्रमा ॥ १६२ ॥

भृङ्गराज रसायन—

ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति दिनेदिने भृङ्गरजःसमुत्थम्।
क्षीराशिनस्तेबलवीर्ययुक्ताःसमाःशतंजीवितमाप्नुवन्ति॥

व्याख्या—जो मानव भाँगरा के स्वरस को प्रति दिन १ मास पर्यन्त पीते हैं और दूध के साथ भोजन करते हैं वे बल एवं वीर्य से युक्त रहते हुए सौ वर्ष जीते हैं ।१६३।

वचा रसायन—

मासं वचामप्यु पसेवमानाः क्षीरेण तैलेन घृतेन वाऽपि
भवन्ति रक्षोभिरधृष्यरूपामेधाविनो निर्मलमृष्टवाक्याः॥

व्याख्या—बालवच का दूध के साथ, तैल के साथ अथवा घृत के साथ प्रति दिन एक मास पर्यन्त सेवन करने वाले मेधा शक्ति युक्त तथा शुद्ध एवं मधुर वाणी वाले हो जाते हैं और उनपर राक्षस आदि भूतों का प्रभाव नहीं हो सकता ॥ १६४ ॥

मण्डूकपर्णी रसायन—

मण्डूकपर्णीमपि भक्षयन्तो भृष्टां घृते मासमनन्नभक्ष्याः।
जीवन्तिकालंविपुलंप्रगल्भास्तारुण्यलावण्यगुणोदयस्थाः

व्याख्या—मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी या उसका भेद) को घृत में तलकर प्रति दिन एक मास पर्यन्त खानेवाले, अन्न छोड़ कर केवल दूधपर अथवा फलों पर निर्वाह करनेवाले मानव दीर्घकाल पर्यन्त जीवित रहते हैं और प्रतिभावान्, तरुण, सुन्दर तथा गुणवान् हो जाते हैं।१६५।

लाङ्गल्यादि गुटिका—

लाङ्गलीत्रिफलालोहपलपञ्चाशतीकृतम्।
मार्कवस्वरसे षष्ठ्या गुटिकानां शतत्रयम् ॥१६६॥
छायाविशुष्कं गुटिकार्धमद्यात्पूर्वं समस्तामपि तां क्रमेण।
भजेद्विरिक्तः क्रमशश्च मण्डं पेयां विलेपीं रसकोदनं च॥

सर्पिःस्निग्धं मासमेकं यतात्मा
मासादूर्ध्वं सर्वथा स्वैरवृत्तिः ।
वर्ज्यं यत्नात्सर्वकालं त्वजीर्णं
वर्षेणैवं योगमेवोपयुञ्ज्यात् ॥१६८॥
भवति विगतरोगो योऽप्यसाध्यामयार्तः
प्रबलपुरुषकारः शोभते योऽपि वृद्धः ।
उपचितपृथुगात्रश्रोत्रनेत्रादियुक्तः
तरुण इव समानां पञ्च जीवेच्छतानि ॥१६९॥

व्याख्या—कलिहारी कन्द, हरड़, वहेड़ा, आमला तथा लोह भस्म १०-१० पल लेकर भाँगरा के रस में पीसकर ३६० गोलियाँ बनावे और छाया में सुखाकर रख लेवे। प्रथम २-४ दिन आधी २ गोली खावे और फिर १-१ गोली प्रतिदिन खावे। इसके सेवन से पूर्व विरेचन लेवे और विरेचन होने के अनन्तर—क्रमशः—मण्ड, पेया, विलेपी, मांस रस के साथ भात एवं घृतयुक्त भात खावे। और इस प्रकार एक मास पर्यन्त पथ्य आहार-विहार का सेवन करे. तदनन्तर इच्छानुसार खावे पीवे परन्तु अपच न होने देवे। इस प्रकार योग का एक वर्ष पर्यन्त (३६० दिन) उपयोग करे। इस योग के प्रभाव से कष्टसाध्य रोग से पीडित मानव भी नीरोग हो जाता है। पुरुषार्थ की वृद्धि होती है वृद्ध भी युवक कासा कान्तिमान् हो जाता है, शरीर पुष्ट हो जाता है, श्रोत्र एवं नेत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति बढ़ जाती है और तरुण के समान रहकर ५ सौ वर्ष जोवित रहता है ॥

वक्तव्य—विरेचन द्वारा शोधन करके और मण्ड एवं पेया आदि से संसर्जन क्रम का पालन करने के पश्चात् इस योग की ३६० गोलियों का सेवन एक वर्ष में करे। एक वर्ष के ३६५ दिन होते हैं अतः प्रथम ४ दिन आधी २ गोली का सेवन करे फिर १-१ गोली का ॥१६६-१६९॥

नारसिंह घृत रसायन—

गायत्री-शिखि-शिंशपाऽसन-शिवा-वेल्लाऽरुष्करान
पिष्ट्वाऽष्टादशसंगुणेऽम्भसि धृतान् खण्डै.सहायोमयैः ।
पात्रे लोहमये त्र्यहं रविकरैरालोडयन् पाचये-
दग्नौचानु मृदौ सलोहशकलं पादस्थितं तत्पचेत् ॥
पूतस्यांशः क्षीरतोंऽशस्तथांशौ
भार्ङ्गनिर्यासाद् द्वौ वरायास्त्रयोंऽशाः ।
अंशाश्चत्वारश्चेह हैयङ्गवीना-
देकीकृत्यैतत्साधयेत्कृष्णलौहे॥१७१॥
विमलखण्डसितामधुभिः पृथग्
युतमयुक्तमिदं यदि वा घृतम् ।
स्वरुचिभोजनपानविचेष्टितो
भवति ना पलशः परिशीलयन् ॥१७२॥

श्रीमान्निर्धूतपाप्मा वनमहिषबलो वाजिवेगः स्थिराङ्गः
केशैर्भृङ्गाङ्गनीलैर्मधुसुरभिमुखो नैकयोषिन्निषेवी ।
वाङ्मेधाधीसमृद्धः सुपटुहुतवहो मासमात्रोपयोगाद्
धत्तेऽसौनारसिंहंवपुरनलशिखातप्तचामीकराभम्॥१७३॥
अत्तारं नारसिंहस्य व्याधयो न स्पृशन्त्यपि ।
चक्रोज्ज्वलभुजं भीता नारसिंहमिवासुराः ॥ १७४ ॥

व्याख्या—खैरसार, चित्तामूल, शीशम का बुरादा, विजयसार, हरड़, विडंग, वहेड़ा तथा भिलावा समभाग लेकर अठारह गुने जल में डाल कर रख देवे और उसमें लोह के टुकड़े औषधों के समान भाग डाल कर और लोह के भाण्ड में तीन दिन धूप में धर देवे और बीच २ में हिलाता रहे तदनन्तर मन्द २ अग्नि पर पकावे चौथाई रहने पर छान लेवे इसमें एक अंश (भाग) दूध, भांगरा का रस दो भाग, त्रिफला का क्वाथ तीन अंश तथा दही का घृत चार अंश मिला कर और लोह के खण्ड डाल कर पाक करे अन्त में घृत को छान कर रख लेवे। इसमें निर्मल खण्ड एवं मधु पृथक् २ मिलावे अथवा न मिलावे। इसकी मात्रा १ पल है, आहार एवं विहार इच्छानुसार। प्रयोग काल-एक मास। इसका सेवन करता हुआ मानव—श्रीमान् पाप वृत्ति रहित, बनैले भैंसा कासा बलवान्, घोड़ा कासा वेगवान् (दौड़ने वाला), दृढ शरीर वाला, भ्रमर केसे काले एवं चमकीले केशों वाला, मधु के समान मुख की गन्ध वाला अनेक वार मैथुन करने में समर्थ, वाक् शक्ति सम्पन्न, मेधावी, बुद्धिमान् तथा तीक्ष्ण अग्नि वाला हो जाता है। और एक मास में भगवान् नरसिंह के समान शरीर वाला हो जाता है तथा उसका वर्ण अग्नि में तपाये गये सोना कासा हो जाता है। इस नारसिंह रसायन को खाने वाले को रोग छूते भी नहीं जैसे—सुदर्शन चक्र हाथ में लिये भगवान् नरसिंह को डर के मारे असुर नहीं छुते ॥

वक्तव्य—इसमें जो लोह के खण्ड (टुकड़े अथवा लोह चूर्ण) डाले जाते हैं उनका कुछ अंश अम्ल एवं कषाय रस के योग से घुल जाता है और अवशिष्ट लोह छानने में निकाल दिया जाता है। इसका नाम—"नारसिंह घृत" है। खावे समय इसमें स्वच्छ खण्ड एवं मधू मिला लेवे अथवा केवल घृत पी लेवे ॥१७०-१७४॥

अन्य रसायन योग—

भृङ्गप्रवालानमुनैव भृष्टान् घृतेन यः खादति यन्त्रितात्मा ।
विशुद्धकोष्ठोऽसनसारसिद्धदुग्धानुपस्तत्कृतभोजनार्थः॥
मासोपयोगात् स सुखी जीवत्यब्दशतद्वयम् ।
गृह्णाति सकृदप्युक्तमविलुप्तस्मृतीन्द्रियः ॥ १७६ ॥

व्याख्या—इसी नारसिंह घृत में—भाँगरा के कोमल

पत्तों को तल कर जो मानव खाता है और ब्रह्मचर्य आदि नियम से रहता है और अनुपान में—विजयसार के योग से सिद्ध दूध का पान करता है और भोजन में भी इसी घृत का प्रयोग करता है वह सुखी रह कर दो सौ वर्ष जीता है और एक बार कहे गये श्लोक आदि को ग्रहण कर लेता है तथा कभी नहीं भूलता। तथा उसकी इन्द्रियाँ भी नष्ट नहीं होतीं। इसका प्रयोग काल है एक मास। इसके सेवन से पूर्व कोष्ठ शुद्धि कर लेवे ॥१७५-७६॥

नारसिंह तैल रसायन—

अनेनैव च कल्पेन यस्तैलमुपयोजयेत्।
तानेवाप्नोति स गुणान् कृष्णकेशश्च जायते ॥ १७७ ॥

व्याख्या—नारसिंह घृत रसायन की विधि से तैल का जो मानव उपयोग करता है वह उन्हीं सब गुणों को प्राप्त होता है और उसके केश काले बने रहते हैं।

वक्तव्य—नारसिंह घृत रसायन की विधि से तैल का पाक करके एवं नारसिंह घृत के समान सेवन करे ॥ १७७ ॥

उपसंहार

उक्तानिशक्यानिफलान्वितानियुगानुरूपाणिरसायनानि
महानुशंसान्यपिचापराणिप्राप्त्यादिकष्टानिनकीर्तितानि॥

व्याख्या—श्री वाग्भट महाशय कहते हैंकि मैंने उन रसायन योगों का वर्णन किया हैं जिनका निर्माण किया जा सकता है और जो सफल योग हैं तथा समय के अनुरूप हैं और उनका वर्णन नहीं किया है जिन का निर्माण नहीं किया जा सकता अथवा अत्यन्त कष्ट से किया जा सकता है भले ही प्राचीन ग्रन्थों में उनके योग लिखे गये हैं और उनकी प्रशंसा भी बहुत की गई है ॥ १७८ ॥

व्यापद्-चिकित्सा निर्देश—

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि।
यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ॥ १७९ ॥

व्याख्या—यदि रसायन सेवन काल में—किसी अपथ्य सेवन से अथवा उचित आहार-विहार का नियम पूर्वक सेवन न करने से कोई रोग उत्पन्न हो जायँ तो रसायन सेवन को रोककर प्रथम उन रोगों की उचित चिकित्सा करे और स्वस्थ हो जानेपर पुनः रसायन का सेवन करे ॥ १७९ ॥

आचार रसायन—

आचाररसायनम्।

सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्।
शान्तं सद्वृत्तनिरतं विद्यान्नित्यरसायनम् ॥ १८० ॥

व्याख्या—जो मानव सत्य भाषण करता है, क्रोध नहीं करता, जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुख रहती हैं—बहिर्मुख, नहीं होतीं अर्थात् जो इन्द्रियों का अधिक लालन एवं ताडन नहीं करता, शान्त रहता है—हिंसा नहीं करता—किसी को सताता नहीं और जो सद्वृत्त (सू. अ. २) का पालन करता है उसे नित्य-रसायन समझना चाहिये अर्थात् समझना चाहिये कि वह मानव प्रति दिन सर्वदा रसायन का सेवन करता है भले ही वह किसी रसायन योग का सेवन न करता हो ॥ १८० ॥

नित्य रसायन एवं रसायन योगों का फल—

गुणैरेभिः समुदितः सेवते यो रसायनम्।
स निर्वृतात्मा दीर्घायुः परत्रेह च मोदते ॥ १८१ ॥

व्याख्या—और जो मानव—उक्त आचार रसायन के साथ २ किसी रसायन योग का सेवन करता हैं वह सब कार्यों में सफल एवं दीर्घायु होता है और इस लोक तथा परलोक में सुख भोगता है ॥१०४॥

परिपूर्ण रसायन का लक्षण—

शास्त्रानुसारिणी चर्या चित्तज्ञाः पार्श्ववर्तिनः।
बुद्धिरस्खलिताऽर्थेषु परिपूर्णं रसायनम् ॥ १८२ ॥

समाप्तं रसायनतन्त्रम्।

व्याख्या—आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार प्रतिदिन का आहार एवं विहार हों, पुत्र पौत्र एवं भृत्यजन चित्तवृत्ति जाननेवाले एवं तदनुसार कार्य करनेवाले हों—आज्ञाकारी हों और प्रतिदिन के कार्यों में बुद्धि का विधान न हो तो समझना चाहिये कि पूर्ण रूप से रसायन का सेनन हो रहा है ॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि इस दशा में रसायन योगों का सेवन किये बिना भी रसायन के सब गुणों का लाभ होता है। अतः एव इस प्रकार के नर नारी देखे जाते हैं जो दीर्घायु आदि रसायन गुणों से युक्त हैं भले ही वे किसी रसायन योग का सेवन नहीं करते। रसायन का प्रयोग नर एवं नारी दोनों में समान रूप से किया जाता है और किया जाना चाहिये क्योंकि उन दोनों को उसकी समान रूप से आवश्यकता होती है। आचार रसायन का प्रभाव मनस् पर पड़ता है और मनस् का शरीर पर अत: आचार रसायन को सर्व प्रथम स्थान मिलना चाहिये अ. सं. उ. अ. ४९—

आयुर्योगः साध्वपि युक्ता मृदुवह्नौ
नैरर्थक्यं यान्ति कृतघ्नेऽप्युपकाराः।
दीप्ते वह्नौ ते च गुणौघैरपि तुच्छा
विस्तीर्यन्ते पात्रविसृष्टा इव भोगाः।

अर्थात्—जठराग्नि मन्द रहने पर रसायन योगों के सेवन से कुछ लाभ नहीं होता जैसे कृतघ्न मानव में उपकार करने से कुछ लाभ नहीं होता है। और अग्नि प्रदीप्त रहते पर तुच्छ योगों से भी बहुत लाभ होता है जैसे सुपात्र में सुखों का विस्तार होता है। और

गवां मृदुत्वेन कृतानुकारैः अनन्यवागाऽऽशयदेहचेष्टैः ।
स्थिरेन्द्रियायुःज्वलनैः सुशीलैः सुवृद्धगोपैः समधिष्ठितेषु ।
प्राज्याऽऽज्यदुग्धौषधिपादपेषु हंभारवैर्वल्गिततर्णकेषु ।
कुटिप्रवेशेन विनाऽपि सिद्धिं व्रजन्ति गोष्ठेषु रसायनानि ।

अर्थात्—कुटीप्रावेशिक विधि के बिना ही ग्रामों में भी रसायन की सिद्धियों का लाभ होता है जहां गौ के से सीधे, वाचा,मनसा एवं कर्मणा पवित्र, जितेन्द्रिय, दीर्घायु एवं प्रदीप्त अग्नि वाले, सुशील एवं सयाने गोप (ग्वाले) रहते हैं, जहां घृत, दूध, गोमूत्र एवं चना आदि औषधियां तथा वट एवं आम जामुन आदि वृक्ष अधिक होते हैं और रम्भाते हुए छोटे २ बछड़े सदा सर्वदा नाचते कूदते रहते हैं । भावार्थ—यह है कि इस प्रकार ग्रामीण भी रसायनसेवी होते हैं भले हो वे किसी रसायन योग का सेवन नहीं करते । अतएव ग्रामीण एवं वनवासी मानव नागरिकों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होते हैं ।१०१॥

इत्यष्टाङ्गहृदये उत्तरस्थाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥
इति रसायनतन्त्रं समाप्तम् ॥७॥

चत्वारिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो वाजीकरणविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अब वाजीकरण नामक आयुर्वेदाङ्ग की व्याख्या करेंगे और इस विषय में आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षि ऐसा कह गये हैं कि—

वक्तव्य—वाजीकरण का वर्णन च. चि. अ. २ के ४ पादों में, सु. चि. अ. २६ में तथा अ. सं. अ. ५० में देखिये ।

वाजीकरण का विवरण—

वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमान् ।
तुष्टिःपुष्टिरपत्यं च गुणवत्तत्र संश्रितम् ॥ १ ॥
अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यःसम्प्रहर्षणम् ।
वाजीवाऽतिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गनाः ॥ २ ॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते ।
तद्वाजीकरणं विद्धि देहस्योर्जस्करं परम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यम्

धन्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम् ।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ॥ ४ ॥

प्रयोजनम्

अल्पसत्त्वस्य तु क्लेशैर्बाध्यमानस्य रागिणः ।
शरीरक्षयरक्षार्थं वाजीकरणमुच्यते ॥ ५ ॥
कल्पस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवार्यते ॥ ६ ॥

व्याख्या—रसायन सेवन के द्वारा अथवा स्वभावतः स्वस्थ मानव रति कर्म का अभिलाषी हो तो अनुकूल वाजीकरण विधि का निरन्तर सेवन करे ।

वाजीकरण का फल—वाजीकरण विधि का सेवन करने से नर-नारी का परस्पर सन्तोष पुष्टि, उत्तम गुणवान् सन्तान,पुत्र-पौत्रादि से वंश की वृद्धि तथा प्रहर्ष (मैथुनाभिलाष) का लाभ होता है ।

वाजीकरण शब्द की निरुक्ति—जिसके सेवन से अत्यन्त बलवान् हो जाता है, अश्व के समान मैथुन शक्ति प्राप्त होती है, नारियों का प्रेमी हो जाता है, शरीर पुष्ट हो जाता है और शरीर का ओजस् बढ़ता है "वाजीकरण" कहलाता है । श्री वाग्भट महाशय कहते हैं कि—हम तो एकान्त निर्मल ब्रह्मचर्य का अनुमोदन करते हैं क्योंकि उससे धर्म का, यश का तथा आयुः का लाभ होता है और वह इस लोक तथा परलोक दोनों के लिये लाभकारक है । जिनका मानसिक बल स्वल्प हो तथा जो शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों से पीड़ित हों परन्तु राग-मैथुनाभिलाष से युक्त हो उसके शरीर क्षय से रक्षा के लिये—शरीर को क्षय से बचाने के लिये वाजीकरण का उपदेश किया जाता है । जो नीरोग एवं युवक हैं और वाजीकरण का सेवन करता रहता है वह सब ऋतुओं में प्रतिरात्र मैथुन कर सकता है—उसमें कोई हानि नहीं होती ॥

वक्तव्य—जिस विधि से रति शक्ति का लाभ होता है सामान्यतः उसका नाम 'वाजीकरण" है । कुछ आचार्यों का कथन है कि "वाज" शुक्र का नाम है और शुक्रवान् का नाम 'वाजी" है और जिसके द्वारा शुक्र की पुष्टि होती है उस क्रिया का नाम "वाजीकरण" है । शुक्र सम्बद्ध होने पर रति शक्ति निर्भर है अतः शुक्र वृद्धि के उपाय का नाम वाजीकरण है यह केवल वाक्य भेद हैं तात्पर्य एक ही है । रति शक्ति रहने पर भी कोई-कोई सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होते हैं अतः सन्तानोत्पादक उपाय का नाम भी वाजीकरण है ॥ १-६ ॥

वाजीकरण का पूर्व कर्म—

अथ स्निग्धविशुद्धानां निरूहान्सानुवासनान् ।
घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसंयुतान् ॥ ७ ॥
योगविद् योजयेत्पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनम् ।
ततो वाजीकरान् योगान् शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥ ८ ॥

व्याख्या—यदि वाजीकरण की आवश्यकता हो तो सर्व प्रथम स्नेहन करके शोधन करे फिर अनुवासन एवं निरूहण वस्तियों का प्रयोग करे उन वस्तियों में—घृत, तैल, मांस, रस, दूध, खण्ड तथा मधु का मिश्रण होना चाहिये । तत्पश्चात्—दूध अथवा मांस रस का आहार

होना चाहिये। तत्पश्चात्—शुक्र एवं सन्तान की वृद्धि करनेवाले उचित योगों का प्रयोग करे ॥ ७-८ ॥

सन्तान हीन की निन्दा—

अच्छायः पूतिकुसुमः फलेन रहितो द्रुमः।
यतैकश्चैकशाखश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥ ९ ॥

व्याख्या—जैसे छाया रहित, दुर्गन्धी फूलों वाला, फलों से रहित, एकाकी तथा एक मात्र शाखावाला वृक्ष होता है वैसा ही पुत्र कन्या एवं पौत्र दौहित्र आदि से रहित मानव होता है ॥

वक्तव्य—सचमुच सन्तानहीन मानव अन्य प्रकार की सब सम्पत्तियाँ होने पर भी अभागा समझा जाता है। और कहा जाता है—अपुत्रस्य गृहं शून्यम् अर्थात् जिसके सन्तान नहीं उसका घर शून्य होता है। ९ ॥

सन्तान प्रशंसा—

स्खलद्गमनमव्यक्तवचनं धूलिधूसरम्।
अपि लालाविलमुखं हृदयाह्लादकारकम् ॥ १० ॥
अपत्यं तुल्यता केन दर्शनस्पर्शनादिषु।
किं पुनर्यद्यशोधर्म मानश्रीकुलवर्धनम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—पुत्र पौत्र आदि सन्तान जब बचपन में गिरते पड़ते चलती है, ठीक २ बोल भी नहीं सकती, धूलि से लथपथ रहती है और उसका मुख लालास्राव से मलिन रहता है तब भी वह हृदय को आनन्द देती है और देखने एवं गोद में लेने से जो आनन्द मिलता है उसकी उपमा संसार में किस पदार्थ से दी जा सकती है अर्थात् उससे अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है और फिर जब वह सन्तान बड़ी होकर—यश, धर्म, सम्मान, लक्ष्मी एवं कुल की वृद्धि करती है तब तो कहना ही क्या।

वक्तव्य—च. चि. अ. २ प्रथम पाद—

चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुः धातुसन्निभः ॥ १७ ॥
निष्प्रजः तृणपूलीति मन्तव्यः पुरुषाकृतिः।
अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना ॥ १८ ॥
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्याऽपत्यं न विद्यते।
बहुमूर्तिः बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः ॥ १९ ॥
बहुचक्षुः बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः।
मङ्गल्योऽयं प्रशस्योऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम् ।२०॥
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः।
प्रीतिः बलं सुखं वृत्तिः विस्तारो विभवं कुलम् ॥ २१ ॥
यशो लोकाः सुखोदर्काः तुष्टिश्चाऽपत्यसंश्रिताः।
तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चाऽपत्यसंश्रितान् ॥२२॥
वाजीकरणनित्यः स्यात् इच्छन् कामसुखानि च।

अर्थात्—जिसको सन्तान नहीं होती वह भित्ति लिखित दीप जैसा, सूखे तालाब (झील) जैसा, खोटे सुवर्ण का सा तथा घास के पुतले का सा माना जाता है क्योंकि उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, वह नंगा, शून्य तथा एकाकी होता है और क्रियाहीन होता है और इसके विपरीत जिसको बहुत सन्तान होती है वह—अनेक मूर्तियोंवाला, अनेक मुखोंवाला, अनेक व्यूहों—रचनाओंवाला, अनेक क्रियाओं वाला, अनेक नेत्रों वाला, अनेक ज्ञानोंवाला, अनेक आत्माओंवाला, माङ्गलिक, प्रशंसनीय, धन्य, वीर्यवान् तथा अनेक शाखाओं वाला समझा जाकर स्तुति का पात्र होता है और क्योंकि—प्रीति, बल, सुख, वृत्ति (जीविका), विस्तार, ऐश्वर्य, कुल तथा स्वर्गलाभ सन्तान से ही प्राप्त हो सकते हैं अतः सन्तान से उपलब्ध होनेवाले प्रीति आदि गुणों तथा काम जनित सुखों को चाहने वाला सदैव वाजीकरण का सेवन करे।

अ. सं. उ. अ. ५०—

सारो हि जीवलोकस्य स्त्री स्त्रीगुणसमन्विता।
स्त्रियः साधु प्रसवते नरान् गुणमयानिह।
गोत्रवृद्धिकरा ह्येता गृहिण्यो गृहदेवताः।
गृहं हि हीनमेताभिः न श्रीमदपि शोभते।
न तु ता अपि शोभन्ते जरसाऽनुगता इव।
पुंयोगेन विना स्त्रीणां न हि संवननं परम्।
वाजीकरणनित्यस्य कामं कामं निषेविणः।
न शरीरमवाप्नोति न वा रतिरतिः क्षयम्।

अर्थात्—नारी इस जीवलोक का सार है परन्तु वह जो नारी के सद्गुणों से युक्त हो। नारियाँ ही महापुरुषों को जनती हैं। ये ही कुल-वंश की वृद्धि करती हैं और घर की देवता हैं। नारियों के बिना—सम्पत्तियुक्त घर भी सुशोभित नहीं होता। परन्तु वे नारियाँ भी पुमान्—नर के बिना सुशोभित नहीं होतीं जैसे वृद्धा नारियाँ। पुमान् ही नारियों का वशीकरण है—रति शक्ति सम्पन्न नर ही के वश में रहती हैं, रति शक्ति हीन के वश में नहीं रहतीं। जो प्रति दिन वाजीकरण का सेवन करता है और इच्छानुसार रति का सेवन करता है—अधिक नहीं, उसका शरीर क्षीण नहीं होता और रति की इच्छा भी क्षीण नहीं होती।

और—अदृष्टपुत्रपौत्रस्य कुलतन्त्वनुवर्तिनः।
संसारसुखबाह्यस्य कीदृशं नाम जीवितम्।

अर्थात्—जिसको पुत्र पौत्र के दर्शन नहीं होते, जिसकी कुल परम्परा नहीं चलती, जो सांसारिक सुखों से रहित है उसका जीवन ही क्या है। अर्थात् कुछ नहीं—किसी अर्थ का नहीं। और सन्तानहीन के पश्चात् घर ही उजड़ जाता है क्योंकि उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं रह जाता ॥१०-११॥

वाजीकरण प्रयोग—

शुद्धकाये यथाशक्ति वृष्ययोगान् प्रयोजयेत्।

व्याख्या—यथा सम्भव शरीर का भली भाँति विरे-

चनादि द्वारा शोधन करने के पश्चात् वाजीकरण योगों का प्रयोग करना चाहिये ॥

शरमूलादि वाजीकरण योग—

शरेक्षुकुशकाशानां विदार्या वीरणस्य च ॥ १२ ॥
मूलानि कण्टकार्याश्च जीवकर्षभकौ बलाम् ।
मेदे द्वे द्वे च काकोल्यौ शूर्पपर्ण्यौ शतावरीम् ॥ १३ ॥
अश्वगन्धामतिबलामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ।
वीरां पयस्यां जीवन्तीमृद्धिं रास्नां त्रिकण्टकम् ॥ १४ ॥
मधुकं शालिपर्णीं च भागांस्त्रिपलिकान् पृथक् ।
माषाणामाढकं चैतद् द्विद्रोणे साधयेदपाम् ॥ १५ ॥
रसेनाढकशेषेण पचेत्तेन घृताढकम् ।
दत्त्वा बिदारीधात्रीक्षु-रसानामाढकाढकम् ॥ १६ ॥
घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं पेष्याणीमानि चाऽऽवपेत् ।
वीरां स्वगुप्तां काकोल्यौ यष्टीं फल्गुनिपिप्पलीन् ॥१७॥
द्राक्षां विदारीं खर्जूरं मधुकानि शतावरीम् ।
तत्सिद्धपूतं चूर्णस्य पृथक् प्रस्थेन योजयेत् ॥ १८ ॥
शर्करायास्तुगायाश्च पिप्पल्याः कुडवेन च ।
मरिचस्य प्रकुञ्चेन पृथगर्धपलोन्मितैः ॥ १९ ॥
त्वगेलाकेसरैः श्लक्ष्णैः क्षौद्राद् द्विकुडवेन च ।
पलमात्रं ततः खादेत् प्रत्यहं रसदुग्धभुक् ॥ २० ॥
तेनाऽऽरोहति वाजीव कुलिङ्ग इव हृष्यति ।

व्याख्या—शर (सरकण्डा, मूण्ड, सरपत) की, ईख की, कुश की, कास की तथा वीरण की जड़ें, विदारी कन्द, कण्टकारी की जड़, जीवक, ऋषभक, बलामूल, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, शतावर, असगन्ध, अतिबलामूल, किवाँच के बीज, पुनर्नवा, बड़ी शतावर, क्षीर विदारी, जीवन्ती, ऋद्धि, रासना, गोखरू, मुलेठी तथा शालपर्णी, ३-३ पल लेकर और उरद १ आढक लेकर दो द्रोण जल में पकावे, एक आढक जल रह जाने पर छान लेवे। इस क्वाथ में—१ आढक घृत और विदारी का रस, आमलों का रस तथा ईख का रस १-१ आढक मिला कर और चार आढक दूध मिला कर तथा बड़ी शतावर, किवाँच के बीज, काकोली, क्षीर काकोली, मुलेठी, गूलर के फल, पीपल, दाख, विदारी कन्द, खजूर, महुआ के फूल तथा शतावर का कल्क १ प्रस्थ मिलाकर पाक करे। सिद्ध होने पर छान लेवे और उसमें-खण्ड तथा वंशलोचन का चूर्ण १-१ प्रस्थ, पीपल का चूर्ण १ कुड़व (४ पल), मरिच का चूर्ण १ पल, दालचीनी, बड़ी इलायची तथा नाग केसर का चूर्ण २-२ कर्ष और मधु दो कुड़व मिला देवे। इसमें से प्रतिदिन १ पल लेकर खावे और मांस रस अथवा दूध के साथ भोजन करे। इसका सेवन करने से—मैथुन शक्ति की वृद्धि होती है और बार २ मैथुन करने की शक्ति प्राप्त होती है। जैसे अश्व एवं कुलिंग की ॥१२-२०॥

विदार्यादि योग—

विदारीपिप्पलीशालि-प्रियालेक्षुरकाद्रजः ॥ २१ ॥
पृथक् स्वगुप्तामूलाच्च कुडवांशं तथा मधु ।
तुलार्धं शर्कराचूर्णात् प्रस्थार्धं नवसर्पिषः ॥ २२ ॥
सोऽक्षमात्रमतः खादेद् यस्य रामाशतं गृहे ।

व्याख्या—विदारी कन्द, पीपल, शालि चावल, चिरौञ्जी, तालमखाना तथा किवाञ्च की जड़ का चूर्ण १-१ कुडव, मधु १ कुडव (१६ कर्ष), खाण्ड ५० पल तथा गोघृत ८ पल। घृत में चावलों का आटा भून कर द्रव्य मिला कर रख लेवे। इसमें से १ कर्ष लेकर खावे, जिसके घर में १०० नारियाँ हो। १२-२२ ॥

आत्म गुप्तादि योग—

सात्मगुप्ताफलान् क्षीरे गोधूमात् साधितान् हिमान् ॥२३॥
माषान्नान् सघृतक्षौद्रान् खादन् गृष्टिपयोऽनुपः ।
जगर्तिरात्रिं सकलामखिन्नः खेदयेत्स्त्रियः ॥ २४ ॥

व्याख्या—किवाञ्च के बीज तथा गेहूँ को दूध में सिजावे अथवा किवाञ्च के बीज तथा उरदों को दूध में सिजावे, शीतल होने पर उसमें—घृत एवं मधु मिला कर खावे-पेट भर खावे और गृष्टि गौ का दूध पीवे। वह रात्रि भर रति कर सकता है परन्तु थकता नहीं तथा नारियों को थका देता है ॥

वक्तव्य—गृष्टि प्रथम प्रसूता गौ का नाम है ॥२३-२४॥

तिल प्रयोग—

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान् ।
यः खादेत्ससितान् गच्छेत्स स्त्रीशतमपूर्ववत् ॥ २५ ॥

व्याख्या—तिलों को बकरा के अण्ड के योग से सिद्ध दूध की बार २ भावना देकर और उनमें खण्ड मिलाकर—दोनों को एक साथ कूटकर जो खाता है वह सौ नारियों से सहवास कर सकता है ॥ २५ ॥

विदारीकन्द योग—

चूर्णं विदार्या बहुशः स्वरसेनैव भावितम् ।
क्षौद्रसर्पिर्युतं लीढ्वा प्रमदाशतमृच्छति ॥ २६ ॥

व्याख्या—विदारीकन्द के चूर्ण को विदारीकन्द के स्वरस की अनेक भावना देकर और मधु एवं घृत में मिलाकर खानेवाला सौ नारियों से सहवास कर सकता है।

आमलक योग—

कृष्णाधात्रीफलरजः स्वरसेन सुभावितम् ।
शर्करामधुसर्पिर्भिर्लीढ्वा योऽनु पयः पिबेत् ॥ २७ ॥
स नरोऽशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति ।

व्याख्या—काले (सूखे) आमलों के चूर्ण को आमलों के रस की अनेक भावना देकर और खण्ड, मधु एवं घृत में मिलाकर चाटे और ऊपर से दूध पीवे तो ८० वर्ष का वृद्ध भी युवक के समान रति कर सकता है ।।२७।।

मधुयष्टि योग—

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् ।। २८ ।
पयोऽनुपानं यो लिह्यान्नित्यवेगः स ना भवेत् ।

व्याख्या—एक कर्ष मुलेठी चूर्ण को घृत एवं मधु में मिलाकर चाटे और अनुपान में दूध पीवे तो प्रतिदिन सहवास किया जा सकता है ।। २८ ।।

कर्कट शृंगी योग—

कुलीरशृङ्ग्या यः कल्कमालोड्य पयसा पिबेत् ।। २९ ।।
सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते ।

व्याख्या—जो काकड़ासिंगी के कल्क को दूध में घोलकर पीता है और खण्ड, घृत तथा दूध के साथ भोजन करता है वह वृष के समान रति में समर्थ हो जाता है ।। २९ ।।

क्षीरकाकोली योग—

यः पयस्यां पयःसिद्धां खादेन्मधुघृतान्विताम् ।। ३० ।।
पिबेद्बाष्कयणं चानु क्षीरं न क्षयमेति सः ।

व्याख्या—जो क्षीरकाकोली को दूध में पकाकर और उसमें मधु एवं घृत मिलाकर खाता है और अनुपान में—बष्कयणी गौ (चिर प्रसूता—७-८ मास की बियाई गौ) का दूध पीता है वह मैथुन कर्म से क्षीण नहीं होता ।।३०।।

स्वयंगुप्तादि योग—

स्वयङ्गुप्तेक्षुरकयोर्बीजचूर्णं सशर्करम् ।। ३१ ।।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा रासभायते ।

व्याख्या—जो किवाञ्च के बीज तथा तालमखाना के चूर्ण में खण्ड मिलाकर खाते हैं और धारोष्ण दूध पीते हैं रति में अत्यधिक समर्थ हो सकते हैं ।। ३१ ।।

उच्चटा एवं शतावरी के योग—

उच्चटाचूर्णमप्येवं शतावर्याश्च योजयेत् ।। ३२ ।।

व्याख्या—लाल घुंघची के चूर्ण में तथा शतावरी के चूर्ण में खण्ड मिलाकर खाने तथा धारोष्ण दूध पीने से भी रति में अत्यधिक सामर्थ्य लाभ होता है ।। ३२ ।।

दधि योग—

चन्द्रशुभ्रं दधिसरंससितं षष्टिकौदनम् ।
पटे सुसर्जितं भुक्त्वा वृद्धोऽपि तरुणायते ।। ३३ ।।

व्याख्या—चन्द्रमा के समान श्वेत दही की मलाई को वस्त्र में से पनीर के समान निकाल कर और उसमें खण्ड मिलाकर साठी चावलों के भात के साथ खावे तो वृद्ध भी तरुण का सा हो जाता है ।। ३३ ।।

गोक्षुरादि योग—

श्वदंष्ट्रेक्षुरमाषात्मगुप्ताबीजशतावरीः ।
पिबन् क्षीरेण जीर्णोऽपि गच्छति प्रमदाशतम् ।। ३४ ।।

व्याख्या—गोखरू, तालमखाना, उरद, किवाञ्च के बीज तथा शतावर के चूर्ण को दूध के साथ पीने से वृद्ध भी सौ नारियों से गमन कर सकता है ।३४।।

उपसंहार—

यत्किंचिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम् ।
मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ।। ३५ ।।
द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्दर्पितः प्रमदां व्रजेत् ।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ।। ३६ ।।

व्याख्या—जो कोई भी—मधुर, स्निग्ध, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक तथा चित्त में हर्ष उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है वह सब वृष्य अर्थात् "वाजीकरण" कहलाता है ।

इसलिये इस प्रकार के द्रव्यों का सेवन करके दर्पित (दर्पयुक्त) होकर और मनस् में कामवासनाजनित वेग से प्रेरित होकर तथा नारी के गुणों से प्रसन्न होकर प्रमदा—(मैथुनाभिलाषिणी—काममदमत्ता) नारी से सहवास करे ।।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि—नर एवं नारी दोनों वाजीकरण द्रव्यों से तृप्त हों और दोनों परस्पर आकृष्ट हों तथा दोनों में सहवासकी प्रबल अभिलाषा हो तब ही सहवास होना चाहिये अन्यथा नहीं ।।३५-३६।।

विषय सुख की महिमा—

सेव्याः सर्वेन्द्रियसुखा धर्मकल्पद्रुमांकुराः ।
विषयातिशयाः पञ्चशराः कुसुमधन्वनः ।। ३७ ।।

व्याख्या—प्रवृत्ति मार्गवालों को—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण नामक पञ्चज्ञानेन्द्रियों के सुखदायक अत्यन्त मनोहर शब्द (गीतादि), स्पर्श (मृदु आदि), रूप (सुन्दर रूपक आदि), रस (मधुर रस आदि स्वादिष्ट आहार) तथा गन्ध (इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य) का सेवन अवश्य करना चाहिये क्योंकि ये ही पञ्च विषय धर्माचरण रूपी कल्प द्रुम—कल्पना वृक्ष के अंकुर के से अंकुर हैं—फल हैं और ये ही ५ विषय महामहिम भगवान् कामदेव के कुसुम के से कोमल पांच शर अर्थात् बाण कहे जाते हैं ।।

वक्तव्य—निवृत्ति मार्ग वालों की कथा अलग है उसकी कथा वे जानें । इस ग्रन्थमें उसका संकेत श्लोक ४ में देखिये ।

नारी प्रशंसा—

इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्था हर्षप्रीतिकराः परम् ।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये संघातेन प्रतिष्ठिताः ।। ३८ ।।
नामापि यस्या हृदयोत्सवाय यां पश्यतां तृप्तिरनाप्तपूर्वा ।

सर्वेन्द्रियाकर्षणपाशभूताकान्तानुवृत्ति-व्रतदीक्षिता या ।।
कलाविलासाङ्गवयोविभूषा शुचिःसलज्जा रहसि प्रगल्भा
प्रियंवदा तुल्यमनःशया या सास्त्री वृषत्वाय परं नरस्य।।

व्याख्या—उक्त मनोहर शब्द आदि विषय—एक एक भी हर्ष एवं प्रीति को उत्पन्न करते हैं और जब वे नारी के शरीर में मिलकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब क्या कहना अर्थात् तब तो वे अत्यन्त मनोहर हो जाते हैं। क्योंकि जिस नारी का नाम हृदय में उत्सव-उत्कण्ठा का हेतु होता है, जिसको देखते समय हृदय में अपूर्व तृप्ति होती है, जो नारी श्रोत्र आदि सब इन्द्रियों को अपनी ओर खींचने वाले जाल के समान है और जो कान्ता के आचरण रूपी व्रत में दीक्षिता-शिक्षिता है, जो कामशास्त्रोक्त ६४ कलाओं से, विलासों—लीलाओं से, सुन्दर अंगों से तथा यौवन से विभूषित है, शरीर, वस्त्र एवं मनस् से पवित्र रहती है, लज्जालु परन्तु एकान्त-रतिकाल में प्रगल्भ हो जाती है, प्रियवादिनी है तथा जो समकोटि की कामेच्छावाली है वह नारी सर्वश्रेष्ठ वाजीकरण का कारण होती है ।।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ५०—

रुचिभेदेन लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम् ।
तं तं प्राप्य विवर्द्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः ।।
तस्मात् या यस्य हृदयं विशतीव वराङ्गना ।
तुल्यास्वभावा या हावभुजारूपगुणाऽन्विता ।।
पाशभूतैः विहन्त्यङ्गैः लावण्यमिव मूर्त्तिमत् ।
आलपन्त्यमृतेनेवं या गात्राणि निषिञ्चति ।।
पिबन्तीव च पश्यन्ती स्पृशन्ती लिम्पतीव या ।
नित्यमुत्सवभूता या या समानमनःशया ।।
नयत्युत्सुकतां चेतो नित्यं संनिहिता च या ।
यया विमुक्तो निःस्त्रीकं अरतेः मन्यते जगत् ।।
प्रगल्भा रतिसंग्रामे स्वस्था लज्जामयी च या ।
बहुशोऽपि च यां गत्वा तत्पूर्वमिव गच्छति ।।
चरितैः निर्विकारा या चरितैरिव निर्मिता ।
कान्तानुवृत्तिपरमा सा स्त्री वृष्यतमा मता ।

अर्थात्—नर नारी की रुचि भिन्न २ होने से और पूर्वजन्म के संयोग से नारियों के रूप आदि गुण उस २ नर को प्राप्त कर विकसित होते हैं—किसी पर कोई तो किसी पर कोई आसक्त होती है (और नारी को पाकर नर के रूपादि गुण विकसित होते हैं)। इस लिये जो नारी जिस नर के हृदय में प्रवेश कर जाती है, जो समान स्वभाव वाली होती हैं, हावभाव, स्वच्छता, रूप एवं शील आदि तद्गुणों से युक्त होती है, जो पाश भूत अगों से बान्ध लेती है, जो मूर्तिमान् सौन्दर्य सी होती है, जो वार्त्तालाप करते समय अमृत से अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सींचती प्रतीत होती है, देखते समय पीती हुई प्रतीत होती है, स्पर्श करते समय लिपटती प्रतीत होती है, जो सर्वदा उत्सव की सी, समान रूप से कामना वाली तथा चित्त में उत्कण्ठा उत्पन्न करती रहती है, सदा साथ रहती है, जिससे विरहित होकर नर समझता है कि संसार में कोई भी नारी नहीं है—(किसी दूसरी पर आसक्त नहीं होता), जो रति काल में तो प्रगल्भ होती है, अन्य समय में लज्जावती बनी रहती है; जिसके साथ अनेक बार रति करने पर भी तृप्ति नहीं होती, जो सदाचारिणी है, जैसे सदाचारों से ही बनाई गई—रची गई हो, पति के अनुकूल आचरण करने में तत्पर रहती है यह नारी उच्चकोटि का वाजीकरण होती है। और इस प्रकार का नर नारी के लिये वाजीकरण होता है इस प्रकार के नर नारी वाजीकरण योगों के बिना भी साधारण आहार विहार करते हुए रति क्रिया मे समर्थ बने रहते हैं अन्यथा उनकी रतिशक्ति नष्ट हो जाती है अथवा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, परस्पर घृणा उत्पन्न हो जाती है—प्रेम टूट जाता हैं ।।३८-४०।।

रति चर्या की विधि का संकेत—

आचरेच्च सकलां रतिचर्यां
कामशास्त्रविहितामनवद्याम् ।
देशकालबलशक्त्यनुरोधाद्
वैद्यतन्त्रसमयोक्त्यविरुद्धाम् ।।४१।।

व्याख्या—वात्स्यायन कामसूत्र आदि काम शास्त्र में बतलाई गई सब-६४ कलाओं के युक्त रति चर्या का सेवन और उसमें कोई निन्दित कर्म न हो तथा वह देश, काल, शारीरिक बल एवं मानसिक शक्ति के अनुकूल हो और आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त बचनों के विरुद्ध न हो।।

वक्तव्य—कामसूत्र—विशेषतः वात्स्यायन कामसूत्र में ६४ कलाओं का वर्णन देखिये। उसमें पारदारिक आदि का वर्णन हैं परन्तु वह निन्दित कहा गया है अतः भलीभांति विचार कर रति कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये, उसके अधिक सेवन से राजयक्ष्मा आदि घोर व्याधियां हो जाती हैं अतः काम सूत्र ही नहीं आयुर्वेद के नियमों का भी पालन करते हुए रति का सेवन करे। यथा—अ. सं. उ. अ. ५०—

चिन्ताजराभ्यां शुक्रं तु व्याधिभिः कर्मकर्षणात् ।
क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां चाऽतिनिषेवणात् ।।
शुक्रक्षयात्, भयात् शोकात् अविश्रम्भादसेवनात् ।
अतिहर्षात् अतिस्थौल्यात् मलोपचयतः श्रमात् ।।
स्त्रीणां अकौशलात् दोषदर्शनात् अभिचारतः ।
मेढ्रामयात् महतः क्रोधतो मर्मकर्त्तनात् ।।
हृष्टस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते ।

अर्थात् –चिन्ता से, वृद्धावस्थासे, व्याधियों द्वारा तथा कर्मों (काम धन्धों) द्वारा अति कृश हो जाने से, अनशन से, अधिक मैथुन से, शुक्र धातु का क्षय हो जाने से, भय से, शोक से, अविश्वास से, कभी भी रति न करने से, अत्यधिक हर्ष से, अति स्थूलता से, दोषों का सञ्चय रहने से, परिश्रम-थकावट से नारी की (एवं नर की भी) अकुशलता-मूर्खता से, कोई दोष देख लेने से, मन्त्र तन्त्र आदि द्वारा अभिचार कर देने से, उपदंश आदि उपस्थ के रोग से, क्रोध से अथवा अण्डों को नष्ट कर देने से इच्छा होने पर भी नर नारी में मैथुन की शक्ति उत्पन्न नहीं होती । (अथवा योग्यता नहीं रह जाती) । ४१ ॥

सहायक वाजीकरण—

अभ्यञ्जनोद्वर्तनसेकगन्धस्रक्पत्रवस्त्राभरणप्रकाराः ।
गान्धर्वकाव्यादिकथाप्रवीणाः समस्वभावा वशगा वयस्याः॥
दीर्घिका स्वभवनान्तनिविष्टा पद्मरेणुमधुमत्तविहङ्गा ।
नीलसानुगिरिकूटनितम्बे काननानि पुरकण्ठगतानि॥४३॥
दृष्टिसुखा विविधा तरुजातिःश्रोत्रसुखः कलकोकिलनादः
अङ्गसुखर्तुवशेन विभूषा चित्तसुखः सकलः परिवारः॥
ताम्बूलमच्छमदिरा कान्ता निशा शशाङ्काङ्का ।
यद्यच्च किंचिदिष्टं मनसो वाजीकरं तत्तत् ॥ ४५ ॥
मधु मुखमिव सोत्पलं प्रियायाः
कलरणना परिवादिनी प्रियेव ।
कुसुमचयमनोरमा च शय्या
किसलयिनी लतिकेव पुष्पिताग्रा ॥ ४६ ॥
देशे शरीरे च न काचिदर्तिरर्थेषु नाल्पोऽपि मनोऽभिघातः ।
वाजीकराःसन्निहिताश्च योगाःकामस्य कामं परिपूरयन्ति ॥

व्याख्या—अभ्यञ्जन, उवटन, सेचन-स्नान गन्ध-इत्र आदि सुगन्धियाँ, माला, हार, विचित्र वस्त्र, विविध प्रकार के भूषण तथा गायन में, काव्य रचना-कविता करने तथा पुराण आदि की कथा में प्रवीण, समान स्वभाव वाले एवं स्वाधीन वयस्य-साथी, घर के समीप रहने वाली तथा कमलों के पराग एवं मधु मदमत्त पक्षियों से युक्त क्रीडा पुष्करणी (तलाव-तलाई), नीले सानुओं (टिल्लों) वाले पर्वत के समीपस्थ वन एवं नगर के समीपस्थ उपवन, दृष्टि को सुख देनेवाले कोकिलों के मधुर नाद, शरीर को सुख देने वाले एवं भिन्न २ ऋतुओं के अनुकूल भूषण-प्रसाधन सामग्री, चित्त को सुख देने वाली पत्नी, पुत्र, पौत्र, भ्राता भगिनी एवं भृत्य आदि परिवार, ताम्बूल, स्वच्छ-शुद्ध सुरा, प्रिया नारी, चन्द्रमा से सुशोभित रात्रि और अन्यान्य चित्त को सुख देने वाले अभीष्ट आहार एवं विहार वाजीकरण होते हैं। और प्रिया के मुख जैसी एवं कमल की पंखुरियों से युक्त द्राक्षा सुरा, प्रिया के समान मधुर स्वरों वाली वीणा (सितार एवं गीत वाद्य आदि), पुष्पों की मनोहर शय्या, कोमल पत्तों वाली एवं पुष्पों वाली लताएँ, देश में तथा शरीर में डाकुओं एव ज्वरादि रोगों का अभाव, शान्ति एव स्वास्थ्य तथा शब्द-गीत आदि विषयों में मनोविधान का अभाव सब प्रकार के सुखों का लाभ और सब प्रकार के वाजीकरण योगों की सर्वदा प्राप्ति । यह सब कामदेव की भी कामना को पूर्ण कर देते हैं ॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि उक्त अभ्यङ्ग आदि सब उच्च कोटि के वाजीकरण हैं इन से रति की इच्छा उत्पन्न भी होती है और रति की शक्ति बढ़ती भी है ।

अ. सं. उ. अ. ५०—

बृहच्छरीरा बलिनः केचित् नारीषु दुर्बलाः ।
सन्ति चाऽल्पाश्रयाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः ।
नरा- चटकवत् केचित् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् ।
गजवत्तु प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः ।
केचित् प्रयत्नैः बोध्यन्ते वृषा केचित् स्वभावतः ।

अर्थात्—कुछ मानव—विशाल शरीर वाले एवं बलवान् होते हैं परन्तु नारियों से मैथुन में दुर्बल होते हैं (कुछ नारियाँ भी ऐसी होती हैं) । कुछ मानव – छोटे शरीर वाले एवं दुर्बल होते हैं परन्तु मैथुन क्रिया में बलवान् होते हैं । कुछ अधिक सन्तान वाले तथा कुछ अल्प सन्तान वाले होते हैं कुछ सबल सन्तान वाले तथा कुछ दुर्बल सन्तान वाले होते हैं । कुछ कई बार मैथुन कर सकते हैं परन्तु स्खलन के पश्चात् दुबारा तिबारा नहीं कर सकते जैसे हस्ती । १—कुछ वाजीकरण योगों द्वारा रति में समर्थ बनाए जाते हैं परन्तु कुछ स्वभाव से ही रति में समर्थ होते हैं । यही सब दशा नारियों की भी होती है । वाजी करण—वृष्य योगों का प्रयोग नरनारी दोनों में समान रूप से लाभ करता है और दोनों को उसकी आवश्यकता भी पड़ती है । क्लीवता अर्थात् रति की अनिच्छा वा असमर्थता दोनों में पाई जाती है जब वे वाजीकरण योगों की खोज करते हैं । जिन कारणों से नर की रति शक्ति एवं रति की कामना नष्ट होती है उन्हीं कारणों से नारी की भी रति शक्ति एवं रति की कामना नष्ट हो जाती है । रति के विषय में सभी को स्मरण रखना चाहिये । कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥

अर्थात्—काम के उपभोग से काम की शान्ति कदापि नहीं होती अपितु उस काम की वृद्धि होती है जैसे घृत डालने से होमाग्नि की । अतः रति का सेवन सम्भल कर करना चाहिये ॥ ४२-४७ ॥

इति वाजीकरणं तन्त्रं समाप्तम् ।

रोग शामक मुख्य द्रव्य संकेत—

अथाग्र्याणि संगृह्णाति ।

मुस्तापर्पटकं ज्वरे तृषि जलं मृद्भृष्टलोष्ठोद्भवं
लाजाश्छर्दिषु बस्तिजेषु गिरिजं मेहेषु धात्रीनिशे ।
पाण्डौ श्रेष्ठमयोऽभयाऽनिलकफे प्लीहामये पिप्पली,
सन्धाने कृमिजा, विषे शुकतरुर्मेदोऽनिले गुग्गुलु ॥४८॥
वृषोऽस्रपित्ते कुटजोऽतिसारे भल्लातकोऽर्शःसु गरेषु हेम ।
स्थूलेषु ताक्ष्यं कृमिषु कृमिघ्नं शोषे सुराच्छागपयोऽनुमांसम् ॥
अक्ष्यामयेषु त्रिफला गुडूची वातास्ररोगे मथितं ग्रहण्याम्
कुष्ठेषु सेव्यः खदिरस्य सारः सर्वेषु रोगेषु शिलाह्वयं च ।
उन्मादं घृतमनवं शोकं मद्यं व्यपस्मृतिं ब्राह्मी ।
निद्रानाशं क्षीरं जयति रसाला प्रतिश्यायम् ॥ ५१ ॥
मांसं कार्श्यं लशुनः प्रभञ्जनं स्तब्धगात्रतां स्वेदः ।
गुडमज्जार्याः खपुरो नस्यात्स्कन्धांसबाहुरुजम् ॥ ५२ ॥
नवनीतखण्डमर्दितसौष्ट्रं मूत्रं पयश्च हन्त्युदरम् ।
नस्यं मूर्धविकारान् विद्रधिमविरोत्थमस्रविस्रावः ॥५३॥
नस्यं कवलो मुखजान् नस्याञ्जनतर्पणानि नेत्ररुजः ।
वृद्धत्वं क्षीरघृते मूर्च्छां शीताम्बुमारुतच्छायाः ॥५४॥
समशुक्तार्द्रकमात्रा मन्दे वह्नौ श्रमे सुरा स्नानम् ।
दुःखसहत्वे स्थैर्ये व्यायामो गोक्षुराहृतः कृच्छ्रे ॥ ५५ ॥
कासे निदिग्धिका पार्श्वशूले पुष्करजा जटा ।
वयसः स्थापने धात्री त्रिफलागुग्गुलुर्व्रणे ॥ ५६ ॥
बस्तिर्वातविकारान् पैत्तान् रेकः कफोद्भवान् वमनम् ।
क्षौद्रं जयति बलासं सर्पिः पित्तं समीरणं तैलम् ॥५७॥
इत्यग्र्यं यत्प्रोक्तं रोगाणामौषधं शमायालम् ।
तद्देशकालबलतो विकल्पनीयं यथायोगम् ॥ ५८ ॥

व्याख्या—ज्वर में मोथा एवं पित्तपापड़ा के क्वाथ एवं हिम आदि रूप, तृषा में—मिट्टी के ढेले को अग्नि में तपाकर बुझाया गया जल, छर्दि रोग में - चना एवं चावल आदि धान्यों की लाजा-लावा, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी एवं प्रमेह आदि मूत्राशय के रोगों में शिलाजतु, प्रमेहों में—आमला एवं हल्दी, पाण्डु रोग में लोहभस्म एवं मण्डूर भस्म के योग, वात-कफजनित विकारों में—हरड़ के योग, प्लीहजनित विकारों में पीपल, उरःक्षत आदि क्षतों के सन्धान के लिये - लाख, विषविकार में सिरस वृक्ष के बीज आदि, मेदस् एवं वायु के स्थौल्य आदि रोगों में गूगल के योग और रक्त पित्त में अडूसा, अतिसार में करैया की छाल एवं फल (इन्द्र जौ) अर्शः में—भिलावा के योग, गरविष में सुवर्ण का प्रयोग, स्थूलता में रसावत, कृमियों में विडंग, शोषरोग में सुरा, बकरी का दूध एवं मांस, नेत्र रोगों में त्रिफला, वातरक्त रोग में गिलोय, ग्रहणी रोग में मण्ठा-तक्र, कुष्ठ रोग में खैरसार तथा सब रोगों में शिलाजतु और उन्माद में पुराना घृत, शोक में मद्य, अपस्मार एवं विस्मरण में ब्राह्मी, निद्रा नाश में दूध, प्रतिश्याय में रसाला (शिखरन), कृशता में मांस, वायु के विकारों में लशुन, ऊरु स्तम्भ आदि शरीर की स्तब्धता में स्वेदन, सन्धि अंसफलक तथा बाहु की वेदना में काले सेमल के गोन्द की नस्य, अर्दित में माखन एवं खंड का भक्षण, उदर रोगों में ऊण्टनी का मूत्र एवं दूध, शिरोरोगों में नस्य कर्म, आम विद्रधि में रक्तस्रावण, मुख रोगों में नस्य एवं कवल—गण्डूष धारण, नेत्र रोगों में नस्य, अञ्जन एवं तर्पण, जरा-विकार में दूध एवं घृत, मूर्च्छा में शीतल जल, शीतल वायु तथा शीतल छाया, मन्दाग्नि में शिरका में डाला हुआ अदरक, थकावट में सुरा तथा स्नान, दुःख-कष्ट सहने तथा शरीर की स्थिरता के लिये व्यायाम, मूत्र-कृच्छ्र में गोखरू, कास में कण्टकारी की जड़, पार्श्वशूल में पोहकर मूल, यौवन की रक्षा के लिये आंवला, व्रण में त्रिफला एवं गूगल का योग और वात व्याधियों में वस्ति कर्म, पित्तज रोगों में विरेचन, कफज रोगों में वमन और कफज रोगों में मधु, पित्तज रोगों में—घृत, वातज रोगों में तैल । इस प्रकार ये द्रव्य उक्त रोगों को शान्त करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि—इनद्रव्यों का उक्तरोगों में देश, काल एवं बल के अनुसार आवश्यक विकल्प—क्वाथ एवं हिम आदि के रूप में यथायोग्य प्रयोग करे ।

वक्तव्य—इस प्रकार का वर्णन च. सू. अ. २५ के पाठ ४० में विस्तार के साथ किया है ॥४८-५८॥

चिकित्सा एवं अचिकित्सा के विषय में प्रश्नोत्तरी—

इत्यात्रेयादागमय्यार्थसूत्रं
तत्सूक्तानां पेशलानामतृप्तः ।
भेदादीनां सम्मतो भक्तिनम्रः
प्रपच्छेदं संशयानोऽग्निवेशः ॥ ५९ ॥
दृश्यन्ते भगवन् केचिदात्मवन्तोऽपि रोगिणः ।
द्रव्योपस्थातृसम्पन्ना वृद्धवैद्यमतानुगाः ॥ ६० ॥
क्षीयमाणामयप्राणा विपरीतास्तथापरे ।
हिताहितविभागस्य फलं तस्मादनिश्चितम् ॥ ६१ ॥
किं शास्ति शास्त्रमस्मिन्निति कल्पयतोऽग्निवेशमुख्यस्य।
शिष्यगणस्य पुनर्वसुराचख्यौ कात्स्न्र्यतस्तत्त्वम् । ६२ ।
न चिकित्साऽचिकित्सा च तुल्या भवितुमर्हति ॥
विनापि क्रियया स्वास्थ्यं गच्छतां षोडशांशया । ६३ ।
आतङ्कपङ्कमग्नानां हस्तालम्बो भिषग्जितम् ।
जीवितं म्रियमाणानां सर्वेषामेव नौषधात् ॥ ६४ ॥

न ह्युपायमपेक्षन्ते सर्वे रोगा न चान्यथा।
उपायसाध्याः सिध्यन्ति नाहेतुर्हेतुमान् यतः ॥ ६५ ॥
यदुक्तं सर्वसम्पत्तियुक्तयापि चिकित्सया।
मृत्युर्भवति तन्नैवं नोपायेऽस्त्यनुपायता ॥ ६६ ॥
अप्येवोपाययुक्तस्य धीमतो जातुचित्क्रिया।
न सिध्येद्दैव-वैगुण्यान्नत्वियं षोडशात्मिका ॥ ६७ ॥

चिकित्सायाा निश्चितफलत्वम्।

कस्यासिद्धोऽग्नितोयादिः स्वेदस्तम्भादिकर्मणि।
न प्रीणनं कर्शनं वा कस्य क्षीरगवेधुकम् ॥ ६८ ॥
कस्य माषात्मगुप्तादौ वृष्यत्वे नास्ति निश्चयः।
विण्मूत्रकरणाऽऽक्षेपौ कस्य संशयितौ यवे ॥ ६९ ॥
विषं कस्य जरां याति मन्त्रतन्त्रविवर्जितम्।
कः प्राप्तः कल्पतां पथ्यादृते रोहिणिकादिषु ॥ ७० ॥

व्याख्या—श्री वाग्भटाचार्य कहते हैं कि—भगवान् आत्रेय पुनर्वसु से समस्त आयुर्वेद के सार—तत्त्व को समझ लेने के पश्चात् भी श्री पुनर्वसु की मधुर सूक्तियों—वचनों को सुनने की अभिलाषा से तथा अपने सहपाठी भेड, जतुकर्ण, पराशर, हारीत तथा क्षारपाणि की प्रेरणा से, भक्ति से नम्र होकर कुछ और जानने की इच्छा से अग्निवेश ने यह पूछा कि—हे भगवन्! —आत्मिक शक्ति, उपयुक्त द्रव्य तथा परिचारकों से सम्पन्न एवं उच्चकोटि के चिकित्सकों के आदेशानुसार आहार विहार करनेवाले भी कुछ रोगी मरते देखे जाते हैं और इसके विपरीत भी कुछ रोगी स्वस्थ होते देखे जाते हैं। इस लिये हमारा विचार है कि हित-चिकित्सा के और अहित अर्थात् अचिकित्सा के विभाग का फल अनिश्चित है और आप बतलाइये कि इस विषय में आयुर्वेदशास्त्र का क्या शासन—कथन है? इस प्रकार शिष्यों के प्रश्न को सुनकर भगवान् पुनर्वसु ने शास्त्र के शासन की व्याख्या इस प्रकार की—इस प्रकार उत्तर दिया कि चिकित्सा एवं अचिकित्सा दोनों समान नहीं कही जासकतीं। क्योंकि जो १६ पाद वाली चिकित्सा से भी स्वास्थ्य लाभ होता है और नहीं भी होता उसका तात्पर्य यह है कि—रोग रूपी कीचड़ में धँसे मानवों के लिये—चिकित्सा हाथ के—दूसरों के हाथ के अवलम्बन के समान है अर्थात्—चिकित्सा से सुखपूर्वक रोग से मुक्ति मिल जाती है। और यही कारण है कि रोहिणी नामक कण्ठ में चिकित्सा के बिना अवश्य मृत्यु हो जाती है और सभी रोग—जो असाध्य हैं उनमें चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता और जो साध्य हैं उनमें चिकित्सा से लाभ अवश्य होता है अन्यथा आगे चलकर साध्य रोग असाध्य हो जाते हैं और उनमें मृत्यु हो जाती है और जो तुम कहते हो कि सर्व सम्पद्-युक्त चिकित्सा होने पर भी मृत्यु हो जाती है उसका कारण यह है कि वह रोग भी असाध्य होता है क्योंकि जो चिकित्सा है वह साध्य रोग को ही शान्त करती है असाध्य को नहीं—जिन उपकरणों से जो घट पट आदि कार्य बनाये जा सकते हैं उनसे वही बनाये जा सकते हैं दूसरे नहीं जैसे लेखनी से लिखा जा सकता है परन्तु रोटी नहीं पकाई जा सकती। और यदि कभी साध्य रोग में भी चिकित्सा से लाभ नहीं होता तो उसमें दैव-प्रारब्ध का दोष होता है—चिकित्सा को निष्फल नहीं समझा जा सकता। क्योंकि—कौन कह सकता है कि अग्नि के प्रभाव से स्वेद की प्रवृत्ति और जल के प्रयोग से स्वेद की निवृत्ति नहीं हो सकती और कौन कह सकता है कि—दूध के सेवन से पुष्टि तथा गवेधुक नाम तृण धान्य के सेवन से कृशता नहीं होती और किवाँच के बीज आदि को कौन वाजीकरण नहीं मानता, किस को सन्देह है कि जौ से पुरीष की वृद्धि और मूत्र की न्यूनता होती है। और मन्त्र एवं तन्त्र के बिना किस की विष शान्त होती है और रोहिणिका आदि रोगों में उचित पथ्य-उपचार के बिना किस को स्वस्थ होते देखा गया है॥

वक्तव्य—इस विषय का वर्णन च. सू. अ. १० में इस प्रकार है—चतुष्पादं षोडशकलं भेषजम् इति भिषजो भाषन्ते यदुक्तं षोडशगुणं इति पूर्वाध्याये, तद् भेषजं युक्तियुक्तं अलं आरोग्याय इति भगवान् पुनर्वसुःआत्रेयः। १। नेति मैत्रेयः—किं कारणम्? दृश्यन्ते हि आतुराः केचित् उपकरणवन्तश्च परिचारकसम्पन्नाश्च आत्मवन्तश्च कुशलैः च भिषग्भिः अनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमाना तथा युक्ताश्च अपरे म्रियमाणाः तस्मात् भेषजं अकिञ्चित्करं भवति, तथा अपरे दृश्यन्ते अनुपकरणाश्च अपरिचारकाश्च अनात्मवन्तश्च अकुशलैश्च भिषग्भिः अनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः तथा युक्ता म्रियमाणाश्च अपरे। यतश्च प्रतिकुर्वन् सिध्यति, प्रतिकुर्वन्नपि म्रियते, भेषजं अभेषजेन अविशिष्टम् इति मैत्रेयः। मिथ्या चिन्त्यते इति आत्रेयः, किं कारणम्? ये हि आतुराः षोडशगुणसमुदितेन भेषजेन उपपद्यमानाः म्रियन्ते इति यत् उक्तं तत् अनुपपन्नम्, तर्हि भेषजसाध्यानां व्याधीनां भेषजमकारणं भवति, ये पुनः आतुराः केवलात् भेषजात् ऋते समुत्तिष्ठन्ते, न तेषां सम्पूर्णं भेषजोपपादनाय समुत्थानविशेषो नास्ति-यथा हि पतितं पुरुषं समर्थं उत्थानाय उत्थापयन् पुरुषो बलमस्य उपादध्यात्, स क्षिप्रतरं अपरिक्लिष्ट एव उत्तिष्ठेत् तद्वत् सम्पूर्णं भेषजोपालम्भात् आतुराः। ये च आतुराः केवलाद् भेषजादपि म्रियन्ते, न च सर्वे एव ते भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्, नहि सर्वे व्याधयो भवन्ति उपाय

साध्याः। न च उपायसाध्यानां व्याधीनां अनुपायेन सिद्धिरस्ति, न च असाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽयमस्ति। नहि ज्ञानवान् अपि भिषक् मुमूर्षुमातुरं उत्थापयितुम् अलम्, परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति। यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुः आदाय इषुमस्यन् नातिविप्रकृष्टे महति काये नाऽपराधवान् भवति, सम्पादयति च इष्टं कार्यम्—तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्नः उपकरणवान् वीक्ष्य कर्म आरभमाणः साध्यरोगं अनपराधः सम्पादयति एव आतुरमारोग्येण, तस्मात् न भेषजमभेषजेन अविशिष्टं भवति ॥ ५ ॥ इदं च इदं च नः प्रत्यक्षम्—यत्‌''कृशं दुर्बलं च आप्याययामः, स्थूलं मेदस्विनं अपतर्पयामः. शीतेन उष्णाभिभूतमुपचरामः, शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः······तेषां नः तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने कहा कि चिकित्सा करने से आरोग्य लाभ होता है। श्रीमैत्रेय ने कहा कि नहीं, क्योंकि चिकित्सा करने से कुछ रोगी स्वस्थ होते हैं और कुछ मर जाते हैं इसलिये चिकित्सा करना अथवा न करना समान है। भगवान् पुनर्वसु ने कहा—हे मैत्रेय तुम्हारा विचार मिथ्या है क्योंकि—जो तुम कहते हो कि—चिकित्सा करने से रोगी मर जाते हैं यह ठीक नहीं है—क्योंकि साध्य रोगों की चिकित्सा कदापि असफल नहीं होती किसी गिरे हुए मानव को जो स्वयं उठ नहीं सकता दूसरा मानव सहारा देकर सरलता से अवश्य उठा लेता है। और जो चिकित्सा करने पर भी मर जाते हैं उसका कारण है कि वे रोग ही असाध्य होते हैं क्योंकि शास्त्र में जो भी चिकित्सा लिखी है वह साध्य रोगों की ही है मरनेवाले को नहीं बचाया जा सकता। जैसे कुशल धनुर्धर—बाण को लक्ष्य पर मार देता है वैसे चिकित्सक साध्य रोग को अवश्य शान्त कर देता है, कुशल चिकित्सक साध्य रोग में ही चिकित्सा आरम्भ करते हैं और यह प्रत्यक्ष है कि—कृश को पुष्ट, दुर्बल को सबल, स्थूल को कृश किया जा सकता है, उष्ण से उत्पन्न रोग में शीतोपचार से और शीत से उत्पन्न रोग में उष्ण उपचार से लाभ होता है। इसलिये चिकित्सा करना एवं न करना समान नहीं ॥५६–७०॥

कालाऽकाल मृत्यु का विचार—

अपि चाकालमरणं सर्वसिद्धान्तनिश्चितम्।
महतापि प्रयत्नेन वार्यतां कथमन्यथा ॥ ७१ ॥
चन्दनाद्यपि दाहादौ रूढमागमपूर्वकम्।
शास्त्रादेव गतं सिद्धिं ज्वरे लङ्घनबृंहणम् ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अकाल में भी मृत्यु हो जाती है ऐसा सब आयुर्वेद शास्त्रों का निश्चय-अन्तिम निर्णय है यदि अकाल मृत्यु न होती तो बड़े से बड़े प्रयत्न करके उस मृत्यु के निवारण का प्रयत्न क्यों किया जाता। दाह आदि की शान्ति के लिये चन्दन एवं खस आदि द्रव्यों का प्रयोग शास्त्र-आयुर्वेद शास्त्र से ही किया जाता है और ज्वर में आयुर्वेद शास्त्रानुसार अवस्था विशेष का विचार करके—लंघन करने से और जीर्ण ज्वर में घृत पानादि द्वारा बृंहण करने से सफलता मिलती है ॥

वक्तव्य—इन सब कारणों से आयुर्वेद सत्य शास्त्र है और आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार अकाल मृत्यु माना जाती है भले ही कुछ मानव अकाल मृत्यु नहीं मानते। इस विषय में भगवान् पुनर्वसु का विचार मनन करने योग्य है यथा—च. वि. अ. ३—एवं वादिनं भगवन्तम् अग्निवेश उवाच—किं नु खलु भगवन् ? नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वा इति ॥ ३४ ॥ तमुवाच भगवान् पुनर्वसुः—

इह अग्निवेश ! भूतानां आयुः युक्तिमपेक्षते।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं हि अस्य बलाऽबलम् ॥ ३५ ॥
दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यत् इहाऽपरम् ॥ ३६ ॥
तयोः उदारयोर्युक्तिः दीर्घस्य ससुखस्य च।
नियतस्याऽऽयुषो हेतुः विपरीतस्य चेतरा।

तस्मात् उभयदृष्टत्वात् एकान्तग्रहणम् असाधु। निदर्शनमपि च अत्र उदाहरिष्यामः—यदि हि नियतकालप्रमाणं आयुः सर्वं स्यात् तदा आयुष्कामानां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबलिउपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन्, न उद्भ्रान्तचण्डचपलगवादयः मोहलोभाऽऽकुलमतयः, न अरयः, न प्रवृद्धोऽग्निः, न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसं, न अदेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इति, एवमादयो हि भावा न अभावकराः स्युः आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात्, न च अकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनाम्, व्यर्थाश्च आरम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युः महर्षीणां रसायनाधिकारे,''' ''अपि च सर्वं चक्षुषामेवत् परं यत् दिव्यं चक्षुः, इदं चापि अस्माकं तेन प्रत्यक्षम्। यथा—पुरुषसहस्राणामुत्थाय उत्थाय आहवं कुर्वतामकुर्वतां च अतुल्यायुष्ट्वम्, तथा जातमात्राणामप्रतिकारात् प्रतिकाराच्च, अविषविषप्राशिनां च, न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदताम्, तस्मात् हितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्ययात् मृत्युः।'''साहसानवर्जनमारोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे/ सम्यक् उपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ ४२ ॥

अतः परं अग्निवेश उवाच—एवं सति अनियत काल प्रमाणाऽऽयुषां भगवन् ? कथं काममृत्युः अकालमृत्युः वा भवति इति ॥ ४३ ॥

तमुवाच भगवान् आत्रेयः—श्रूयताम् अग्निवेश ? यथा यानसमायुक्तो अक्षःप्रकृत्यैव अक्षगुणैः उपेतः, स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयात् एव अवसानं गच्छेत्, तथा आयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावत् उपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयात् एव अवसानं गच्छति, स मृत्युः काले। यथा च स एव अक्षः अतिभाराऽधिष्ठितत्वात् विषमपथात् अपथात् वा अक्षचक्रभङ्गात् वा वाह्यवाहकदोषात् वा, अणिमोक्षात् वा, पर्यवसानात् वा, अनुपाङ्गाच्च अन्तरा अवसानं आपद्यते तथा आयुः अपि अयथाबलमारम्भात्, अयथाग्नि अभ्यवहरणात्, विषमाऽभ्यवहरणात् विषमशरीर न्यासात्, अतिमैथुनात् असत्संश्रयात्, उदीर्णवेगविनिग्रहात्, विधार्यवेगाऽविधारणात्, भूतविषवायु-उपतापात्, अभिघातात्, आहारप्रतिकारविवर्जनात् यावत् अन्तरा अवसानं आपद्यते। ······स मृत्युः अकाले। तथा ज्वरादीन् अपि आतङ्कान् मिथ्योपचरितान् अकालमृत्यून् पश्याम इति—

भावार्थ—जनपदोध्वंस का वर्णन सुनने के अनन्तर अग्निवेश ने प्रश्न किया कि—हे भगवन् ? समस्त आयु का काल प्रमाण निश्चित है अथवा नहीं—भगवान् पुनर्वसु ने उत्तर दिया कि हे अग्निवेश ? प्राणियों की आयु युक्ति की अपेक्षा रखती है। क्योंकि आयु का बलाबल देव तथा पुरुषकार के अधीन है, पूर्व जन्मकृत कर्म का नाम "दैव" है और पुरुषकार इस जन्म के कर्म का नाम है। इन दोनों उदारों का संयोग दीर्घायुः का हेतु होता है और इन दोनों अधमों का संयोग अल्पायु का हेतु होता है। इसलिये दोनों अवस्था देखी जाने के कारण एक का ही ग्रहण करना समीचीन नहीं है। इसके लिये कुछ निदर्शन भी हैं—यदि आयु का प्रमाण निश्चित होता तो मन्त्र एवं औषध तथा यज्ञों के प्रयोग न किये जाते, दुष्ट साँड़ एवं हाथी आदि से, दुष्ट मानवों से, डाकुओं से, शत्रुओं से, अग्नि से और सर्प आदि से रक्षा का प्रयत्न न किया जाता, साहस एवं मिथ्या आहार-विहार के परित्याग की आवश्यकता न होती, राजा द्वारा दिया गया मृत्युदण्ड दण्ड न समझा जाता और ये सब आयु का अभाव करनेवाले न माने जाते और न अकाल मृत्यु का भय ही होता तथा न आयुवर्द्धक उपायों का उपदेश ही दिया जाता जैसा रसायन तन्त्रों में दिया गया है। यह हुआ आप्तोपदेश—और प्रत्यक्ष भी है कि—युद्धों में बार २ जानेवालों एवं न जानेवालों की, अरक्षित एवं रक्षित नवजात शिशुओं की, विष न खानेवालों एवं खानेवालों की तथा पनघट के घटों तथा चित्र घटों की आयु समान नहीं देखी जाती, और यह भी देखा जाता है कि हित आहार विहार से जीवित बना रहता है और अहित आहार विहार से मृत्यु हो जाती है साहसों का त्याग आरोग्य का हेतु पाया जाता है। यह सुनकर अग्निवेश ने पुनः पूछा कि यदि आयु का प्रमाण नियत ही नहीं तो कैसे कहा जा सकता कि काल मृत्यु होती है। भगवान् आत्रेय ने कहा सुनो अग्निवेश ? जैसे चक्र (पहिया) गाड़ी में लगाया गया पुराना होनेपर टूटता है वैसे ही आयु शरीर के जीर्ण होनेपर समाप्त होती है उस समय जो मृत्यु होती है उसे "काल मृत्यु" कहते हैं। और अधिक भार लादने से, ऊँचेनीचे मार्ग पर चलने से अथवा उलटने आदि अन्यान्य कारणों से वह चक्र बीच में ही पुराना होने के पूर्व ही टूट जाता है इसी प्रकार शरीर से अधिक कार्य करने से, जठराग्नि के विपरीत खाने से, विषम आहार का सेवन करने से, अधिक मैथुन से, दुष्टों का संग करने से, उदीर्ण वेगों का धारण करने से, अधारणीय वेगों का धारण करने से, भूत, विष, वायु अथवा अग्नि के उपताप से, आघात लगने से, अनशन करने से अथवा रोगों की उचित चिकित्सा न करने से बीच ही में आयु समाप्त हो जाती है उसे "अकाल मृत्यु" कहते हैं इसी प्रकार उचित उपचार न होने से ज्वर आदि रोग भी अकाल मृत्यु देखे जाते हैं और चरक शा. अ. ६ में भी इस विषय का वर्णन किया गया है। उसका भी भावार्थ यही है। जैसे काल में वर्षा हुई अथवा अकाल में वर्षा हुई, यह लंघन का काल है अथवा अकाल है, यह शीत का काल है अथवा अकाल है, यह गर्मी का काल है अथवा अकाल है यह—फूलने-फलने का समय है अथवा असमय है आदि २ वाक्यों में जो काल शब्द का अर्थ समझा जाता है वही कालमृत्यु वाक्य में काल शब्द का अर्थ है। सुश्रुत के प्रति भगवान् धन्वन्तरि ने भी यही कहा है—

एकोत्तरं मृत्युशतं अथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषाः तु आगन्तवः स्मृताः।

अर्थात्—१०१ मृत्यु होती हैं ऐसा वैदिक महर्षि कहते हैं। इनमें एक कालमृत्यु होती है और शेष सौ अकाल मृत्यु कहलाती हैं। शतायुर्वै पुरुषः (वेद) मानव की आयु १०० वर्ष है, शरीर का क्रमशः क्षय होनेपर १०० वर्ष पूर्ण होने पर जो मृत्यु होती है वह 'काल मृत्यु" और किसी सांघातिक कारण से जो मृत्यु होती है वह अकाल मृत्यु कहलाती है। ७१-७२॥

चिकित्सा शास्त्र में विश्वास—

चतुष्पाद्‌गुणसम्पन्ने सम्यगालोच्य योजिते।
मा कृथा व्याधिनिर्घाते विचिकित्सां चिकित्सिते॥७३॥

व्याख्या—रोग का निदान एवं पूर्व रूप आदि द्वारा भली भाँति विचार करके, ४ पाद एवं पादों के १६ गुणों से सम्पन्न चिकित्सा करने पर—रोगों (साध्य रोगों) का विनाश अवश्य होता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है॥

वक्तव्य—चिकित्सा के ४ पाद और उनके १६ गुण देखिये सू. अ. १ में। इस विषय का वर्णन च. सू. अ. ९ में देखिये।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिः धातुसाम्यार्था 'चिकित्सा'' इत्यभिधीयते ॥५॥

अर्थात्—शस्त अर्थात् १६ गुणों से युक्त भिषक् चिकित्सक, औषध आदि उपकरण, परिचारक तथा चौथे रोगी की रोगनिवृत्ति के लिये प्रवृत्ति का नाम— 'चिकित्सा'' है और इस प्रकार की चिकित्सा (रोगापनयन) की इच्छा अवश्य सफल होती है इस में कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये, यदि सफल नहीं होंगीं तो उसमें कोई त्रुटि अवश्य होती है और उस त्रुटि का निराकरण हो जाने पर अवश्य सफलता प्राप्त होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये ॥७३॥

चिकित्सा शास्त्र की प्रशंसा—

एतद्धि मृत्युपाशानामकाण्डे छेदनं दृढम्।
रोगोत्त्रासितभीतानां रक्षासूत्रमसूत्रकम् ॥ ७४ ॥

व्याख्या—यह चिकित्सा शास्त्र-अकाल में बिछाए गये मृत्यु पाशों का छेदन करने वाला दृढ़ शस्त्र है और रोगों के त्रास से भय भीतों-स्वस्थों एवं रोगियों की रक्षा का सूत्र रहित सूत्र है ॥

वक्तव्य—रोगों से घबराए एवं डरे रहते हैं स्वस्थ और मृत्यु के पाश हैं रोग, स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगियों के रोग की शान्ति का उपाय यदि कोई शास्त्र बतलाता है तो वह आयुर्वेद ही है। आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाते हुए भगवान् धन्वन्तरि का कथन है कि—वत्स सुश्रुत ? इह खलु आयुर्वेद प्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं च। १४॥ और आयुः अस्मिन् विद्यते अनेन वा आयुर्विन्दति इति आयुर्वेदः ॥१५॥

सु. सू. अ. १।

अर्थात्—जिस से आयु का ज्ञान तथा लाभ हो उसका नाम ''आयुर्वेद'' है ॥७४॥

आयुर्वेद का अमृतत्व—

एतत्तदमृतं साक्षाज्जगत्यायासवर्जितम्।
याति हालाहलत्वं च सद्यो दुर्भाजनस्थितम् ॥ ७५ ॥

व्याख्या—जगत् में यह आयुर्वेद साक्षात् अमृत है परन्तु इसकी प्राप्ति के लिये समुद्रमन्थन की आवश्यकता नहीं है यदि यह अमृत दूषित पात्र में पड़ जाता है तो यह हालाहल विष जैसा हो जाता है ॥

वक्तव्य—अर्थात्—इस अमृत की प्राप्ति के लिये वैसा आयास-श्रम नहीं करना पड़ता जैसा उस अमृत की प्राप्ति के लिये सुरासुरों को समुद्र मन्थन में करना पड़ा था। और यह आयुर्वेदामृत सद्वैद्य के पास रहता है तो अमृत है और वही कुवैद्य के पास जाकर विष के समान हानि कारक हो जाता है। च सू. अ. २५ में लिखा है कि आयुर्वेदो अमृतानाम् अर्थात्—अमृतों में आयुर्वेदामृत सर्व श्रेष्ठ है।

च. सं. उ. अ. ५०—

पितामहेन लोकस्य स्मृत्वा तत् इदमव्ययम्।
अकालमृत्युरक्षार्थं अलोहं वर्म निर्मितम्।

अर्थात्—भगवान् ब्रह्मा ने यह अविनाशी आयुर्वेद अकाल मृत्यु से बचने के लिये लोह रहित वर्म बनाया है। (वर्म अर्थात् कवच—यह लोहे का होता है और इसे पहिन कर योद्धा युद्ध में जाते थे) ॥७५॥

कुवैद्य निन्दा—

अज्ञातशास्त्रसद्भावान् शास्त्रमात्रपरायणान्।
त्यजेद्दूराद्भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव। ७६।

व्याख्या—जिन वैद्यों ने केवल आयुर्वेद के ग्रन्थों को पढ़ा है परन्तु उनके सद्भावों को नहीं जाना है उन वैद्य कहलाने वालों को दूर से ही परित्याग कर देवे क्योंकि वे यमराज के दूत कहे जा सकते हैं ॥ ७६ ॥

सद्वैद्य प्रशंसा—

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम्।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ॥ ७७ ॥

व्याख्या—सदाचारी वैद्यों का भला हो, शास्त्रके सद्भावों-तत्त्वोंको जानने वाले वैद्यों का भला हो, शास्त्रानुसार चिकित्सा करने वाले वैद्यों का भला हो और सब का भला चाहने वाले वैद्यों का भला (कल्याण) हो ॥

वक्तव्य—च. सू. अ. २९—

द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश ! प्राणानामेके अभिसरा, हन्तारो रोगाणाम्, रोगाणामेके अभिसरा हन्तारः प्राणानाम् ॥५॥ एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन् ? ते अस्माभिः कथं वेदितव्या भवेयु इति ॥ ६ ॥

भगवान् उवाच—ये कुलीनाः, पर्यवदानश्रुताः, परिदृष्टकर्माणो, दक्षाः, शुचयो, जितहस्ता, जितात्मानः, सर्वोपकरणवन्तः, सर्वेन्द्रियोपपन्नाः, प्रकृतिज्ञाः प्रतिपत्तिज्ञाः ते प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणाम् इति ॥ ७ ॥ अतो विपर्ययेण विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां भिषक्छद्मप्रतिच्छन्नाः, कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकसधर्माणो राज्ञां प्रमादात् चरन्ति ॥ ८ ॥

अर्थात्—हे अग्निवेश ? वैद्य दो प्रकार के पाए जाते हैं। १—प्राणों के सहायक—रक्षक एवं रोगों के नाशक। और २—रोगों के सहायक—वर्द्धक एवं प्राणों के नाशक। अग्निवेश ने पूछा—कि हे भगवन् ? उनको हम कैसे जानें (पहचानें या समझें)। भगवान् पुनर्वसु ने कहा—जो ये

वैद्य--कुलीन हैं, भली भाँति शास्त्राभ्यास किये हैं, पवित्र रहते हैं, जिन का हाथ एवं मनस् पर अधिकार है. जिन के पास चिकित्सा के सब उपकरण है, जो श्रोत्र आदि सब इन्द्रियों से सम्पन्न हैं, रोग एवं रोगी आदि की प्रकृति को समझते हैं तथा कार्याकार्य को समझते हैं वे प्राणों के सहायक एवं रोगों के नाशक होते हैं। और जो ये वैद्य इसके विपरीत हैं वे रोगों के सहायक एवं प्राणों के नाशक हैं और वे—वैद्य के छल से युक्त हैं, संसार के लिये कण्टक जैसे हैं, तथा नक्कालोंके समान काम करते हैं और राजाओंके प्रमाद से घूमते एवं खाते पीते हैं। राजा—शासकों का कर्त्तव्य है कि ऐसे कुवैद्यों को चिकित्सा न करने दें और रोगियों का भी कर्त्तव्य है कि ऐसे कुवैद्यों को चिकित्सा न करने दें और रोगियों का भी कर्त्तव्य हैं कि वे ऐसे कुवैद्यों से चिकित्सा न करावे ॥ ७७ ॥

ग्रन्थ प्रशंसा—

इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषविवर्जितम् ।
चिकित्साशास्त्रमखिलं व्याप्य यत् परितः स्थितम्॥७८॥
विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम् ।
महासागरगम्भीरसङ्ग्रहार्थोपलक्षणम् ॥ ७९ ॥
अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन ।
योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः ।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतमुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥८०॥

व्याख्या—श्री वाग्भटाचार्य कहते हैं कि—यह अष्टाङ्ग-हृदय नामक शास्त्र (ग्रन्थ)—तन्त्र-शास्त्र के गुणों से युक्त है, शास्त्र के पुनरुक्ति आदि दोषों से रहित है और जितने आवश्यक विषय इधर उधर बिखरे पड़े हैं वे सब इसमें लिख दिये गये हैं—कोई विषय ऐसा नहीं जो इसमें न हो अथवा—इधर उधर स्थित आयुर्वेद विषयक समस्त विषयों को पढ़ इस ग्रन्थ की रचना की गई। यह ग्रन्थ—विशाल एवं निर्मल विज्ञान से युक्त है, आत्रेय एवं धन्वन्तरि आदि महर्षियों के मतानुकूल है (अर्थात् इस ग्रन्थ में स्वकपोलकल्पित कुछ भी नहीं है।) और महा सागर के समान गम्भीर अष्टाङ्ग संग्रह नामक ग्रन्थ के अर्थों—अभिप्रायों को बतलाने वाला है अर्थात्—इस ग्रन्थ में अष्टाङ्गसंग्रह नामक ग्रन्थ के सब विषय कुछ संक्षेप में लिखे गये हैं)। क्योंकि—अष्टाङ्ग (कायचिकित्सा आदि आठ अंगों वाले) आयर्वेद शास्त्र रूपी महासागर के मन्थन—अनुशीलन से जो अष्टाङ्ग संग्रह नामक ग्रन्थ के रूप में महान् अमृत राशि प्राप्त हुई थी उसमें से सारभाग को लेकर इस ग्रन्थ का पृथक् निर्माण किया गया है और उन पाठकों की प्रीति के लिये इसका निर्माण किया गया है जो अष्टांग संग्रह एवं चरक सुश्रुत आदि बड़े २ ग्रन्थों का अध्ययन करने में असमर्थ हैं तथापि इस छोटे ग्रन्थ के अध्ययन से बहुत फल लाभ हो सकता है।

वक्तव्य—श्रीवाग्भटाचार्य ने प्रथम अष्टाङ्ग संग्रह नामक विशाल ग्रन्थ का निर्माण किया था उसमें से सार भाग लेकर उसकी अपेक्षा इस छोटे ग्रन्थ का पुनः निर्माण किया है वह भी इस लिये कि इसे वे भी पढ़ कर लाभ उठा सकें जो अष्टाङ्ग संग्रह पढ़ने में किसी कारण से असमर्थ हैं। उस विशाल ग्रन्थ का नाम अष्टाङ्ग संग्रह इसलिये था कि उसमें आयुर्वेद के आठ अंगों का संग्रह किया गया था और इस ग्रन्थ का नाम अष्टाङ्ग हृदय इसलिये किया गया है कि इस में आठों अंगों का सार है जैसे प्राणी के शरीर में हृदय होता है ॥ ७८—८० ॥

इसके पठन पाठन की प्रेरणा—

इदमागमसिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
मन्त्रवत्सम्प्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथञ्चन ॥ ८१ ॥

व्याख्या—इस अष्टाङ्ग हृदय नामक ग्रन्थ का प्रयोग पठन-पाठन मन्त्र के समान श्रद्धा पूर्वक करना चाहिये और किसी प्रकार का सन्देह मनस् में नहीं रखना चाहिये क्योंकि—यह ग्रन्थ चरक सुश्रुत आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक संहिता ग्रन्थों के अनुकूल होने से सिद्ध अर्थात् प्रामाणिक है और इसके अनुसार चिकित्सा करने से आयु एवं आरोग्य आदि की प्राप्ति अवश्य होती है।४६।

वक्तव्य—श्री वाग्भटाचार्य ने चरक संहिता आदि से पाठ उद्धृत करके अष्टाङ्ग संग्रह का और उसमें से लेकर इस ग्रन्थ का निर्माण किया है अतः यह आगम सिद्ध है। आयुर्वेद का फल तत्काल देखा जाता है अतः इसमें किसी प्रकार के सन्देह का अवसर ही नहीं है ॥ ८१ ॥

इस ग्रन्थ का फल—

दीर्घजीवितमारोग्यं धर्ममर्थं सुखं यशः ।
पाठावबोधानुष्ठानैरधिगच्छत्यतो ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—इस अष्टाङ्ग हृदय ग्रन्थ को पढ़ने से, भली भाँति समझ लेने से और इसके अनुसार चिकित्सा करने एवं सद्वृत का सेवन करने से—दीर्घायुः को, आरोग्य को, धर्म को, अर्थ (धन आदि सम्पत्ति) को, सुख तथा यश को अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥

वक्तव्य—अर्थात् आयुर्वेद के अन्यान्य ग्रन्थों को पढ़ने समझने तथा उनके अनुसार आहार-विहार करने से जो दीर्घायु आदि की प्राप्ति होती है यह सब इस ग्रन्थ के पढ़ने आदि से भी हो जाती है ॥८२॥

अष्टांगहृदय के पाठक की प्रशंसा—

एतत्पठन् सङ्ग्रहबोधशक्तः
स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः ।

आकम्पयत्यन्यविशालतन्त्र-
कृताभियोगान्यदि तन्न चित्रम् ॥ ८३ ॥

व्याख्या—अष्टांगहृदय नामक ग्रन्थ को पढ़कर अष्टांगसंग्रह को समझने में समर्थ हो जाता है और इसके अनुसार चिकित्सा कर्म का अभ्यास करके अप्रकम्प्य अर्थात् दृढ भिषक्-वैद्य बन जाता है और फिर वह वैद्य यदि अन्यान्य चरकसंहिता अथवा सुश्रुत संहिता आदि किसी एक तन्त्र का अभ्यास करनेवालों को आकम्पित अर्थात् पराजित कर देता है तो कोई आश्चर्य नहीं है ।८३।

क्योंकि—

यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः ।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिह खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥८४॥

व्याख्या—क्योंकि—यदि कोई केवल चरकसंहिता का अध्ययन करता है तो वह सुश्रुतसंहिता आदि ग्रन्थों में कहे गये रोगों के नामों से अनभिज्ञ (अनजान) रहता है और कोई चरकसंहिता का अध्ययन नहीं करता और उसके अनुसार चिकित्सा नहीं करता तो वह विचारा वैद्य—रोगियों का क्या भला कर सकता है ? ॥

वक्तव्य—उक्त पाठों में श्री वाग्भटाचार्य की गर्वोक्ति प्रतीत होती है और मानव स्वभावोचित गर्वोक्ति हो भी सकती है । अपने २ उत्कृष्ट कर्म पर मानव मात्र को गर्व भी है परन्तु तथापि इस ग्रन्थ में चरक एवं सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थों से उन सब आवश्यक विषयों को लेकर संग्रह भी इस प्रकार किया है जिससे किसी विषय का अति संक्षेप भी न हो अति विस्तार भी न हो और कुछ ऐसे विषयों का भी संग्रह किया है जो चरक एवं सुश्रुत में नहीं हैं जैसे लशुन रसायन आदि । कुछ भी हो चिकित्सक बनने के लिये यह एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है ॥८४॥

अभिनिवेश की निन्दा—

अभिनिवेशवशादभियुज्यते
सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः ।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं
स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः ॥ ८५ ॥

व्याख्या—जो वज्रमूर्ख अभिनिवेश—दृढ विश्वास एकान्त ग्रहण या पक्षपात के वशीभूत होने के कारण अष्टाङ्गहृदय जैसे सुभाषित ग्रन्थ का आदर नहीं करता वह सौ वर्ष पर्यन्त, प्रयत्न पूर्वक और घबराए बिना सबसे प्राचीन वैद्यक (ब्रह्मसंहिता) का अध्ययन करे ॥

वक्तव्य—सत्य यह है कि—चरक एवं सुश्रुत आदि ग्रन्थ भी संग्रह ग्रन्थ हैं, ब्रह्मसंहिता नामक आदिम संहिता से आवश्यक विषय लेकर बनाए गये हैं और हमने (श्रीवाग्भट ने) भी उन्हीं चरकसंहिता आदि से आवश्यक विषय लेकर इस ग्रन्थ का निर्माण किया है इसलिये यदि कोई इसका आदर नहीं करता तो वह चरकसंहिता आदि का भी आदर न करे अपि तु ब्रह्मसंहिता का जीवन भर कटिबद्ध होकर अध्ययन करे । ब्रह्मसंहिता की चर्चा सु. सू. अ. १ में इस प्रकार है—इह खलु आयुर्वेदं नाम उपाङ्गम् अथर्ववेदस्य, अनुत्पाद्यैव प्रजाः, श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः, ततोऽल्पायुष्ट्वं अल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां, भूयो अष्टधा प्रणीतवान् ॥ ६ ॥

अर्थात्—आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है और इसका निर्माण मानव की सृष्टि के पूर्व ही एक लक्ष श्लोकों तथा एक सहस्र अध्यायों में भगवान् ब्रह्मा ने किया था तत्पश्चात् मानवों की अल्पायु तथा अल्प बुद्धि का विचार करके उस आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त कर दिया जिससे एक २ अंग का अध्ययन भलीभाँति हो सके । परन्तु उसके पश्चात् उन आठों अंगों को मिलाजुला कर १-१ ग्रन्थ की रचना कर दी गई तदनुसार श्री वाग्भटाचार्य ने भी उसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह की रचना की और फिर उसी का सार लेकर अष्टाङ्गहृदय की रचना की, इस प्रकार जब कि इस ग्रन्थ में भी आयुर्वेद का ही संग्रह है तब इसका आदर क्यों न किया जाय । हमारा अनुमान है कि तत्कालीन रूढिवादी कुछ विद्वान् एवं छात्र इस ग्रन्थ के अध्यापनाऽध्ययन के विरोधी थे इसीलिये श्रीवाग्भट को ऐसा लिखना पड़ा था ॥८५॥

अन्य कारण—

वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण ।
एतद् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा
का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोपशक्तिः ॥ ८६ ॥

व्याख्या—वायु के विकारों में तैल, पित्त के विकारों में घृत तथा कफ की शान्ति के लिये मधु पथ्य होता है, इस तथ्य—सचाई को ब्रह्मा का कोई पुत्र कहे परन्तु कहनेवाले की उक्ति के भेद से द्रव्य की शक्ति में कोई भेद नहीं आता और फिर आयुर्वेद कोई मन्त्र भी नहीं है ।

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ५०—

ऊर्ध्वमेति मदनं त्रिवृताऽधो वस्तुमात्रक इति प्रतिपाद्ये ।
मद्विधो यदि वदेदथवाऽत्रिः कथ्यतां क इव कर्मणि भेदः ॥

अर्थात्—मदनफल से वमन होता है और त्रिवृता से विरेचन होता है इस प्रकार द्रव्यमात्र का प्रतिपादन मेरे जैसा कोई करे अथवा महर्षि अत्रि करें आप बतलाइये द्रव्य के कर्म में क्या भेद-अन्तर होता है—आ सकता है । तात्पर्य यह है कि—आयुर्वेद के सब प्रतिपादित विषय सत्य एवं

शाश्वत हैं उनका वर्णन श्री वाग्भटाचार्य करें अथवा भगवान् पुनर्वसु एवं भगवान् धन्वन्तरि जैसे महर्षि करें परन्तु उन सत्य एवं शाश्वत सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं आता। क्योंकि बालादपि सुभाषितम्—यदि कोई बाल-बालक मूर्ख भी अच्छी बात कहता है तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। हाँ मन्त्रों के उच्चारण में वक्ता के उच्चारण की शक्ति अवश्य होती है परन्तु आयुर्वेद शास्त्र कोई मन्त्र नहीं है॥८६॥

इसीका पुनः समर्थन—

अभिधातृवशात् किंवा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम्॥ ८७॥
ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥८८॥

व्याख्या—और क्या केवल कहने वाले के भेद से द्रव्य की वास्तविक शक्ति में कोई विशेषता हो सकती है यदि नहीं तो फिर मत्सर अर्थात् विद्वेष को छोड़ कर मध्यस्थता का अवलम्बन करना चाहिये। और फिर यदि ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में ही प्रीति है तो चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता के अतिरिक्त ऋषि प्रणीत भेल संहिता आदि का पठन-पाठन क्यों नहीं किया जाता। इस लिये सुभाषित ग्रन्थ का ग्रहण-पठनपाठन अवश्य करना चाहिये॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ५०—

साध्वसाधु इति विवेकवियुक्तो लोकपंक्तिकृतभक्तिविशेषः।
बालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एव रमते मतिरस्य॥

अर्थात् जो साधु एवं असाधु के अर्थात् भला एवं बुरा के विवेक से रहित होता है और केवल लोक पद्धति—लोकाचार में विशेष रूप से भक्ति-प्रीति-श्रद्धा-विश्वास रखता है वह अत्यन्त मूर्ख-मूढ होता है और वह विद्वान् नहीं कहलाता (कहा जाता) क्योंकि विद्वान् की मति सुभाषित में ही रमण करती है (तात्पर्य यह है चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता नामक ग्रन्थ भी सुभाषित हैं और मेरे यह अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय नामक ग्रन्थ भी सुभाषित हैं इनका पठन पाठन उन्हीं चरक एवं सुश्रुत के समान होना चाहिये और यदि चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता को केवल ऋषि प्रणीत होने के कारण उत्तम समझा जाता हो तो फिर भेल संहिता, हारीत संहिता एवं पराशर संहिता भी तो ऋषि प्रणीत ग्रन्थ हैं उनका अध्ययनाध्यापन क्यों नहीं किया जाता है। चरक सुश्रुत के समान आदर उनका भी क्यों नहीं किया जाता। इन सब कारणों से सुभाषित का ग्रहण करना चाहिये। साधु एवं असाधु—समीचीन एवं असमीचन का विचार करना विद्वान् का कर्तव्य है इस प्रकार का विचार किये बिना लोक पद्धति—लोक लीक पर चलते रहना मूढता का द्योतक है॥ ८७—८८॥

शुभ कामना—

हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः।
कृत्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः। ८९।
इति श्रीसिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदय-
संहितायामुत्तरस्थानं समाप्तम्॥

व्याख्या—मैंने यह अष्टाङ्ग हृदय नामक ग्रन्थ समस्त आयुर्वेदिक साहित्य सागर का सार है और इस ग्रन्थ को बना कर मैंने जो कल्याण प्राप्त किया है। इस ग्रन्थ से समस्त संसार का परम कल्याण हो॥

वक्तव्य—अ. सं. उ. अ. ५० यही पाठ इसप्रकार है।

इति मुनिवचनानां जीवितोपाश्रयाणां।
अभिलषतसमृद्धौ कल्पवृक्षोपमानाम्।
यदुदितमिह पुण्यं कुर्वतो मेऽनुवादं।
भवतु विगतरोगो निर्वृतस्तेन लोकः।

अर्थात्—जीवन रक्षक एवं अभिलषित समृद्धि के लिये कल्पवृक्ष के समान मुनि वचनों का अनुवाद करने से मुझे जो पुण्य मिला है उससे समस्त संसार—नीरोग एवं सुखी हो जाय। कितनी अच्छी कल्याणमयी कामना थी श्रीवाग्भटाचार्य की समस्त संसार के प्रति। इस लिये अब मैं भी समस्त प्राणियों के प्रति इसी प्रकार की कल्याण कामना करता हूँ—

अष्टाङ्गहृदयस्यास्य मेऽनुवादं प्रकुर्वतः।
यदस्ति सुकृतं किञ्चित् तेन भूयात् सुखी-जनः।

अर्थात्—इस अष्टाङ्ग हृदय नामक महान् ग्रन्थ का अनुवाद—सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या के रूप में करने से मुझे जो कुछ सुकृत पुण्य हुआ है उस सुकृत से प्राणिमात्र सुखी रहे!

यह श्रीसिंहगुप्तसूनु वाग्भटाचार्य विरचित अष्टाङ्गहृदय
की श्रीलालचन्द्र वैद्य कृता सर्वाङ्गसुन्दरी
व्याख्या समाप्त हुई।

